

पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ



उपहार

रामचन्द्र पुरोहित, एम०ए०

॥ श्रीः ॥

साहित्य-वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन-ग्रंथ

प्रधान-संपादक
वासुदेवशरण अग्रवाल

संपादक-मंडल
गुलाबराय ✓
गोरीशंकर 'सत्येंद्र'
गोपालप्रसाद व्यास

एवं
जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रायोजक
अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल
मथुरा

प्र. ३०

रामचन्द्र प्रेस, दिल्ली-१०

प्रकाशक
प्रधान-मंत्री—अखिल-भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल
मथुरा

अक्षय-तृतीया
संवत् २०१०

मुद्रक
के० सी० बोस
बिमाना प्रिन्टर्स सि०,
कलकत्ता

ब्रज-साहित्य-मंडल, मथुरा : परिचय

प्राचीन ब्रजभाषा-साहित्य को प्रकाश में लाने, उसका अनुसंधान करने तथा ब्रज की संस्कृति और लोकजीवन की गवेषणा के निमित्त ब्रजमंडल के केंद्र-स्थल मथुरा में हिंदी-साहित्य-परिषद् द्वारा आयोजित एक सम्मेलन में कांतिक कृष्णा ५ संवत् १९९७ रविवार तारीख २ अक्टूबर सन् १९४० को ब्रज-साहित्य-मंडल स्थापित किया गया। इसके मुख्य उद्देश्य थे ब्रज-साहित्य की रक्षा, उसका प्रचार, लोक-संस्कृति में सौष्ठव की प्राण-प्रतिष्ठा तथा हिंदी-साहित्य की उन्नति व उसके प्रचार का प्रयत्न।

इसी अवसर पर ब्रज-साहित्य की खोज-पत्रिका 'ब्रजभारती' का प्रकाशन करने का भी निश्चय किया गया, जिसका प्रथम अंक फाल्गुण १९९७ में प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका-द्वारा ब्रजभाषा-साहित्य के अनेक प्राचीन कवियों के संबंध में नवीन शोध-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई तथा ब्रज-क्षेत्र की संस्कृति, उसके उत्सव व त्यौहार, ब्रज के महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र, ब्रज के ग्राम-गीत, ग्राम-कहानियाँ व पारिभाषिक शब्द और ब्रज की विविध कलाएँ, ब्रजभाषा-व्याकरण आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर निबंध प्रकाशित किये जाते रहे। इस प्रकार करीब १० वर्ष से ब्रजभारती निरंतर प्रकाशित हो रही है। पहले यह मासिक थी, किंतु अब त्रैमासिक कर दी गई है।

मंडल ने चैत्र शुक्ला १-२ संवत् २००१ तदनुसार २५-२६ मार्च सन् १९४४ को विक्रम-सहस्राब्दी महोत्सव मनाया और एक विक्रम-ग्रंथ प्रकाशित किया। डा० सीताराम इसके अध्यक्ष थे।

ब्रज-साहित्य-मंडल का द्वितीय वार्षिक अधिवेशन ३० मार्च सन् १९४५ को श्री पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी की अध्यक्षता में दिल्ली में हुआ, जिसका उद्घाटन माननीय श्री श्रीप्रकाश जी के करकमलो-द्वारा हुआ। इस सम्मेलन के साथ महाकवि 'निराला' जी की अध्यक्षता में एक मध्य कवि-सम्मेलन भी हुआ जिसका उद्घाटन स्वर्गीय भूलाभाई वेसाई ने किया था। इसी अवसर पर मंडल ने 'अष्ट-छाप'-प्रबर्धन का आयोजन किया, जिसमें ब्रजभाषा के अष्ट-छाप के कवियों के काव्य का ही नहीं, तत्कालीन वेध, भूषा तथा कला का प्रबर्धन भी किया गया।

दिल्ली-सम्मेलन के बाद संस्था को अखिल भारतीय रूप में संगठित किया गया। इसी काल से ब्रज-साहित्य के अनुसंधान के कार्य को बढ़ाने के लिये मंडल ने अपने केंद्र दिल्ली, गोवर्धन, कोसी, सुरी, बरसाना, बुदावन में स्थापित किए, जिनकी संस्था अब लगभग ६० है। इन केंद्रों से बहुत से प्राचीन ग्रंथों का पता लगा तथा खोज-कार्य में प्रगति हुई।

ग्राम-साहित्य के संकलन का कार्य भी व्यवस्थित रूप से इसी समय प्रारंभ कर दिया गया। ब्रज-भाषा-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना पर 'श्री निवासबास-पुरस्कार' देने की घोषणा भी दिल्ली में की गई। मंडल के शोध-केंद्रों को प्रोत्साहन देने के लिये 'भारतेंदु-कलश' की स्थापना की गई जो प्रति वर्ष अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ कार्य करनेवाले केंद्र को प्रदान किया जाता है।

वैशाख कृष्णा ३-४ संवत् २००२ ता० १९-२० अप्रैल सन् १९४६ को मंडल का तृतीय अधिवेशन प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी की अध्यक्षता में सिकोहाबाद में मनाया गया। इस अधिवेशन का उद्घाटन साहित्य मनीषी श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने किया। उसके साथ ही ब्रजभाषा-साहित्य पर गंभीर विचार के लिये एक ब्रजभाषा-परिषद् भी हुई।

इस वर्ष मंडल के लिये भवन-निर्माण के कार्य पर विशेष ध्यान दिया गया और बहुत विचार-विनिमय के उपरांत मथुरा की सीमा पर बुदावन की ओर स्थित 'अंबरीश-टीला' नामक प्रसिद्ध पौराणिक स्थान मंडल के भवन के लिये चुन लिया गया। इस भूमि के क्रय का व्यय रोहवार हीरक-जयंती के अवसर पर पोद्दार-परिवार के कुछ उत्साही युवकों ने उठाने का निश्चय किया और भूमि खरीद ली गई।

माघ शुक्ला ४-५ संवत् २००२ तदनुसार २६-२७ जनवरी ४७ को काव्य-शास्त्र के देशमान्य आचार्य साहित्य-वाचस्पति सेठ श्री कन्हैयालाल जी पोद्दार का 'हीरक-जयंती-उत्सव' मंडल-द्वारा श्री कृष्ण

वत्त जी पालीवाल के सम्भाषित्व में मनाया था। अद्वेय राजपि श्री पुण्योत्सवदास जी टंडन ने इस महोत्सव का उद्घाटन किया। दूसरे दिन वसंतोत्सव मनाया गया जिसके अध्यक्ष श्री विद्योगीहरि जी थे। इस जयंती-महोत्सव के समय पोद्दार जी को एक प्रथम भेंट करने की भावना जयंती के स्वागत मंत्री श्री रामकृष्ण जी अग्रवाल के हृदय में उत्पन्न हुई। वह प्रत्यागम्य में स्वर्गवासी हो गए, किंतु 'गेद्दार-अभि-नन्दन-प्रथ' तैयार करने के लिये हीरक-जयंती पर की गई घोषणा के अनुसार उसे तैयार कराने की व्यवस्था मंडल-द्वारा की गई।

बंशाक्ष भुक्ता ५-६ सवत् २००४ ता० २५-२६ अप्रैल १९४७ को मंडल का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन किरीजावाव में श्री श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल की अध्यक्षता में हुआ। इसी वर्ष भाद्रपद कृष्ण ७ सवत् २००४ सितंबर १९४७ को शिक्षण-शिविर का उद्घाटन किया गया। यह शिविर १५ दिन तक चलता रहा, जिसमें अनेकों विद्वानों-द्वारा व्रज की लोक-वाणी, कला, संगीत, इतिहास, साहित्य, लिपि आदि विषयों पर व्याख्यान दिए गए, जिनका सफल स्वरूप 'व्रज-लोक-संस्कृति' नामक पुस्तक प्रकाशित की गई। इसी वर्ष 'व्रज की लोक-कहानियाँ' नामक लोक-साहित्य की पुस्तक मंडल-द्वारा प्रकाशित की गई।

व्रज-साहित्य-मंडल का पंचम अधिवेशन भी एटा में २१ मई १९४८ को श्री श्रीकृष्णदत्त जी पाली-वाल के सम्भाषित्व में हुआ। इस वर्ष मंडल ने 'सूरदास जी की जयंती' का भव्य आयोजन किया, जिसमें सूर-साहित्य पर गंभीर चर्चा हुई तथा सूरदास जी के चित्र का उद्घाटन किया गया। इस जयंती को दिल्ली-रेडियो ने प्रसारित किया और सभी से 'सूर-जयंती' मनाने की अखिल भारतीय परंपरा का सूत्र-पात हुआ। इसी वर्ष मयूरा में आयोजित सूर-जयंती का उद्घाटन करने के लिये माननीय श्री जग-जीवनराम जी मंडल में प्यारे श्रीर उनको अध्यक्षता में अत्यंत सफलता से उत्सव मनाया गया। मंडल का छठा अधिवेशन सहारनपुर में १० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की अध्यक्षता में अप्रैल सन् १९५० में हुआ। इसी वर्ष माननीय श्री वपुर्णानंद जी मयूरा प्यारे, उनके समान में चैत्र शुक्ला १-२ सवत् २००८ दिनांक ७-८ अप्रैल को मंडल की ओर से व्रज के साहित्यिकों श्रीर कलाकारों की एक गोष्ठी की गई।

मंडल ने मयूरा के इतिहास प्रसिद्ध धवरीपट्टी पर जो भूमि भवन-निर्माण के लिये प्राप्त की है, वहाँ श्री कृष्ण-जन्मशताब्दी सवत् २००७ के पुण्य अवसर पर उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री पंडित गोविंदवल्लभ पंत के कर-कमलों-द्वारा प्राचीन सांस्कृतिक विवि-विधान पूर्वक भवन का शिलान्यास सफल हुआ। इसी वर्ष भवन-निर्माण-सत्र की कोष-सचय का शुभ श्री गणेश भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू-द्वारा प्रवक्तृत्व से हुआ।

चैत्र शुक्ला १-२ सवत् २००८ को सप्तम वार्षिक अधिवेशन मयूरा में आचार्य श्री गुलावराम जी के सम्भाषित्व में हुआ। उसका उद्घाटन माननीय नरहरि मिश्र नाबगल ने किया। श्री जनारसी दास जी चतुर्वेदी व्रज-साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष थे।

सवत् २००९ में हाथरस-सम्मेलन हुआ। यह सेंट गोविंददास जी की अध्यक्षता में हुआ और इसका उद्घाटन महामहिम राज्यपति श्री राजेंद्रप्रसाद जी ने किया। इस अवसर पर निम्न विशेष कार्य हुए—

१, ब्रजनाट्य-परिषद् का उद्घाटन। २, व्रजभाषा-भाव-विभूति का प्रदर्शन।

३, हिंदी जनपदीय परिषद् की स्थापना, जिसकी प्रेरणा व्रज-साहित्य-मंडल की स्थायी-समिति ने हाथरस-सम्मेलन का कार्यक्रम निश्चित करते समय की।

४, नवलकिशोर पुरस्कार की घोषणा। ५, महाकवि तुलसीदास के जन्मस्थान की विविधत शोध के लिए एक समिति का निर्माण।

कृष्ण-मेला—सहारनपुर सम्मेलन में मेले का प्रस्ताव हुआ, परंतु उस वर्ष माननीय पंत जी का परामर्श मानकर मेला स्थगित कर दिया गया था। पुनः सवत् २००८ व २००९ में मंडल ने श्री कृष्णजन्म-भूमि पर मेले का आयोजन किया। माननीय श्री कर्तृयासाल-माणिकलाल जी मुंशी के सम्भाषित्व में मंडल का एक विशेष अधिवेशन मयूरा में हुआ।

नमोवाक

साहित्य-वाचस्पति श्री सेठ 'कन्हैयालाल जी' पोद्दार के अभिनंदन की इस सुंदर योजना में जिन-जिन महानुभावों ने प्रथम के बीजांकुर से लेकर प्रतिम रूप-संपादन तक सहयोग और श्रम-दान विद्यमान हैं, उनके मधुर कार्यों के प्रति 'नमोवाक' अर्पित है।

ऋग्वेद के 'आनो भवती' सूक्त के द्रष्टा ने बहुत ही सुंदर कल्पना की है—

“शतमिन्न शरदो अति देवा यत्रा नक्षत्रा जरस तनूनाम् ।

पुत्रास्तो यत्र पितरो भवति मा नो मध्या रीरिपतायुर्गतो ॥”

आप के शत-रमित वर्षों की निधि देवों ने हमारे पास रख दी है। संवत्सरो के उस सँकड़े पर पहुँच कर हमारे तनू जीर्ण होंगे। वहाँ तक पहुँचते हुए हम पुत्रों को पिता बनता हुआ देखेंगे और पुष्ट होंगे। हमारे आध्यात्म की वेगवती धारा मध्य में कहीं रिसे नहीं।

श्री सेठ जी का सुंदर पुत्र-पौत्रोण रूप, साहित्यिक-यज्ञ की पावमानी स्थिति में पहुँचा हुआ जीवन शतसांवत्सरिक हो, यही उनके सुहृन्मित्रों की अभिलाषा है। इस अभिनंदन-ग्रंथ का पुण्यफल इसी रूप में उन्हें प्राप्त हो।

मथुरा के 'ब्रज-साहित्य-मंडल' ने अपने द्वादशवार्षिक जीवन में साहित्य की वेदि को नई-नई दृष्टियों से पवित्र किया है।

साहित्य की संस्था सच्चमुच्च लोक-कल्याण-कारिणी होती है। उससे निकले हुए साहित्य के निर्भर जन-मानस का संगल-विधान करते रहते हैं। जहाँ साहित्यिक मनीषी सीमनस्य के भावों से एकत्र मिलकर बैठते हैं, ऐसी स्थान देवों की सुधर्म सभा से कम धन्य नहीं कहा जा सकता। वहाँ से साहित्यिक गंगा-यमुनाओं की वेगवती धाराएँ जन्म लेती रहती हैं। 'मंडल' में अपने क्षेत्र में कई उपयोगी कार्य किए हैं। ब्रज के साहित्यिक ऋषि सूरदास जी की जयंती का प्रचार किया, उनके चित्र का उद्घाटन कराया, परासीली में सूर-कुट्टी पर उत्सव किया, अब उस स्थान के पुनरुद्धार के लिये योजना को आगे बढ़ाया है, कृष्ण-जन्म-भूमि (कटरा केदावदेव) पर कृष्ण मेल का आरंभ किया (आशा है कालांतर में इस स्थान पर कृष्ण का एक अव्य सांस्कृतिक स्मारक जन्म लेगा), ब्रज के जनपदीय साहित्य का संग्रह कराया, जनपदीय कार्य की शिक्षा देने के लिये जनपदीय शिक्षण-शिविर की योजना की (इसके प्राण श्री सत्येंद्र जी की महत्वपूर्ण सेवाओं को नहीं मूलाया जा सकता), मथुरा के इतिहास की सामग्री का संकलन किया, ब्रज के प्राचीन स्थलों की रक्षा का आंदोलन किया, करहला की प्रसिद्ध कदबलंडी और कुदरबन के रमणीय स्थान को कटने से बचाया, हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की, ब्रज-साहित्य के प्रकाशन की प्रेरणा दी, ब्रज-जनपद की लोक-कहानियों का ब्रज-बोली में ही प्रकाशन किया, 'ब्रजभारती' पत्रिका द्वारा मंडल की साहित्यिक गति-विधि को अनुप्राणित किया, हिंदी के प्रमुख साहित्यिक और कवियों की कीर्ति-रक्षा के अवसरों में भाग लिया, मथुरा, वृंदावन, आगरा, एटा, सहारनपुर, शिकोहाबाद, फिरोजाबाद, हाथरस आदि केंद्रों में अपने वार्षिक अधिवेशन बनाकर ब्रज के क्षेत्र में साहित्यिकों को प्रेरणा दी, ब्रज के गाँवों में साहित्य और संस्कृति का नया उत्साह जाग्रत किया एवं नागरिक-साहित्य और लोक-साहित्य के बीच के भेद को दूर किया। ब्रज-साहित्य-मंडल अपने कार्यकर्ताओं के विषय में भाग्यशाली रहा है। ब्रज की जनता और साहित्यिक कार्यकर्ताओं के अपूर्व उत्साह के कितने ही मधुर चित्र नेत्रों के सामने आ जाते हैं। अनेक साहित्यिक मित्रों का भूखे स्मरण आता है, जिन्होंने मंडल के इन सांस्कृतिक कार्यों में अपने समय, शक्ति और धन का उन्मुक्त दान दिया। सर्व श्री सत्येंद्र जी, जवाहरलाल जी अनुवंदी, प्रभुदयाल जी सीतल, जोशी बाबा रावेंद्रयाम, गोपालप्रसाद जी व्यास, बाबू गुलाबराय जी, महेंद्र जी, रामनारायण जी अग्रवाल, कृष्णदत्त जी वाजपेयी, मदनमोहन जी नागर, गोपालदत्त जी शर्मा, बनारसी-

दास जी चतुर्वेदी, बालकृष्ण जी 'नवीन', द्वारकाप्रसाद परीख, जगदीशप्रसाद जी चतुर्वेदी, तिब्बेस्वरनाथ श्रीवास्तव, कामेश्वरनाथ जी, चन्द्रभान जी आदि कितने ही समानित साहित्यिकों का स्मरण मन को प्रसन्न करता है। इस परिवार के श्रीर भी गावों में फँले हुए कितने ही सदस्य हैं। काम को उस्ताह पूर्वक वाँट कर आगे बढ़ाने में उन्होंने सदा तत्परता का परिचय दिया और मुझे एक भी अवसर ऐसा याद नहीं जब इन सज्जनों को साहित्यिक कार्य के लिये वी हुई प्रेरणा फलवती न हुई हो।

हमारे इस मुखी सारस्वत कुटुम्ब के 'पितामह' सेठ जी थे। सब उनके साथ प्रेम के मधुर वधन में बँध गए थे। प्रत्येक कार्य में वे युवक-सदृश उस्ताह से प्रेरणा वाँटते, परिपक्व अनुभव से पथ-प्रदर्शन करते और सकल कार्यों की उस 'रीढ़' से भी सहायता करते जिसके भरोसे ऐसे कार्य संपन्न हुआ करते हैं। मडल के भवन का निर्माण करने के लिये प्रबरीध-टीले की भूमि का क्रय उनकी ही सहायता से संभव हुआ। मडल के कार्यकर्ता सेठ जी के इस अभिनवन में अपनी ही साहित्यिक भावनाओं को मूर्तिमान् देखते हैं। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं। साहित्य, सस्कृति और धर्म के साथ उनका सदा गलिय महत्त्व रहता है। सेठजी के निमित्त से इस अनुष्ठान की पूर्ति देखकर प्राज्ञ हम सब प्रसन्न हैं। जैसा श्री सत्येंद्र जी ने भूमिका में लिखा है—'पोद्दार अभिनवन-ग्रंथ' का प्रथम संस्करण स्वर्गाय राम-कृष्ण अप्रवाल के मन में आया और २६ जनवरी १९४७ को अभिनवन-ग्रंथ-निर्माण का निश्चय मडल की प्रबध समिति ने किया, आरम्भ में श्री सत्येंद्र जी ने ही इस कार्य को मुख्य रूप से संभाला। उन्होंने इसकी रूपरेखा तैयार की और अनेक लेखकों को पत्र लिखकर लेखों का संग्रह किया। पीछे ग्रंथ का कार्य कई कारणों से मंद पड़ गया और सन् १९४९ के आरम्भ में लगभग ऐसी स्थिति हो गई कि ग्रंथ-प्रकाशन के विषय में संदेह होने लगा। संयोग से जून १९४९ के अन्तिम सप्ताह में मंथुरा गया, वहाँ राज-साहित्य-मडल की बैठक हुई, साहित्यिक मित्र ग्रंथ के विषय में चिंतित थे। सोचा गया कि इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण आयोजन को असंभापन न रहने देना चाहिए। अतएव अभिनवन-ग्रंथ सबकी समस्त कार्य की पूर्ति के लिये मेरे सुझाव पर एक समिति अलग बना दी गई जिसमें श्री सत्येंद्र जी, श्री गुलाबराय जी, श्री गोपालप्रसाद व्यास और मेरा नाम रखा गया। इस समिति को ग्रंथ की तैयारी संपादन और प्रकाशन के पूरे अधिकार दे दिए गए। तबनुसार सत्येंद्र जी की दिल्ली बुलाकर उस समय तक की सारी हुई सब सामग्री मंने देल ली। आगे के लेखों की रूपरेखा बनवा दी और समिति की एक बैठक में यह तै किया कि संपादन का कार्य दिसंबर १९४९ तक पूरा हो जाय और जनवरी १९५० में ग्रंथ प्रस में दे दिया जाय। इन निश्चयों की सूचना २७/७/४९ के पत्र में मंने अपने प्रिय वधु श्री मदनगोपाल जी पोद्दार को कलकत्ते में वी और जैसे-जैसे ग्रंथ की प्रगति होती रही उससे उन्हें सूचित करता रहा। ग्रंथ की तैयारी वेग से आगे बढ़ी, किंतु प्रयत्न करने पर भी काम को समे-टने में डेढ़ वर्ष का समय और लग गया, इसमें मेरा ही उत्तरदायित्व है जिसके लिये क्षमा चाहता हूँ। अतत २५/६/५१ को सब लेख सामग्री लगभग १३० चित्रों के साथ श्री मदनगोपाल जी की भेजकर मंने प्रार्थना की कि कृपया ग्रंथ के मुद्रण का प्रबध कलकत्ते में करा दें, जहाँ कागज और छपाई दोनों की सुविधा है। इस सत्रध में मैं श्री मदनगोपाल जी का उपकार कभी नहीं मूल सकता। वे साहि-त्यिक अभिर्चि लेकर जन्मे हैं। उनका रोम प्रति रोम साहित्यिक रस में पगा है, जो अब भी उन्हें अपनी ओर खींचता रहता है। कलकत्ते में वे अत्यंत व्यस्त एटार्नों का जीवन व्यतीत करते हैं; फिर भी उन्होंने ग्रंथ की सामग्री देखकर १७/५/५१ के पत्र में सामग्री के परिचर्धन और संशोधन के संबंध में अनेक उपयोगी सुझाव दिए और तब से निरंतर उसके मुद्रण-कार्य को संपन्न कराने में अपना बहुमूल्य समय देते रहे हैं। यह उर्हों की प्रबध-कुशलता का फल है कि ग्रंथ के लिये इतना बढ़िया कागज और सुंदर छपाई उपलब्ध हो सकी। जब इस ग्रंथ के आयोजन का निर्णय हुआ था, उस समय मदन-गोपाल जी को इस विषय में कुछ भी ज्ञात न था और अरसे बाद जब वे मथुरा आए, उस समय यात होने पर मडल के अर्थाभाव को यथासंभव कम करने के लिये उनके कलकत्ते के परिचय का लाभ

मंडल के कार्यकर्त्ताओं ने उठाना चाहा और उन्होंने विश्वास दिलाया कि कलकत्ते में इसके प्रबंध करने का भी उद्योग कर देंगे। हम सब इस आश्वासन से अत्यंत लघुभार हुए। मुझे अतिशय प्रसन्नता है कि उनके बहुविध सहयोग से ग्रंथ इस रूप में संपन्न हो सका है। अपने २६।३।५१ के पत्र में उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि ब्रज-साहित्य-मंडल के एक हितैषी के नाते और साहित्य में कुछ रुचि है इसी प्रेरणा से मैं भी आप लोगों की तरह इस कार्य में सहयोग दे रहा हूँ और साहित्यिक कार्य समझ कर ही इसमें प्रेरित हूँ। यहाँ पर मैं ब्रजभाषा के अनन्य भक्त और ब्रज-साहित्य के उद्धार के लिये रात-दिन चिंतित रहनेवाले श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता। संयोग है कि अप्रैल १९५१ में वे मदनगोपाल जी से कलकत्ते में मिले और ग्रंथ की चर्चा आने पर उन्होंने अपने सहयोग का आश्वासन दिया। अतएव जब जून ५१ के अंत में लेख-सामग्री कलकत्ते पहुँची तो जुलाई में श्री जवाहरलाल जी ने उसे सँभाल लिया और प्रूफ, छपाई-संबंधी सब देख-रेख का भार अपने ऊपर ले लिया। यदि वे ऐसा न करते तो न जाने ग्रंथ के प्रकाशन में अभी कितना विलंब और होता। कलकत्ते में ही रहकर मुद्रण-कार्य को उन्होंने अथक परिश्रम से पूरा कराया। उनके उस श्रम की मधुर स्मृति इस अभिनंदन-ग्रंथ की पूर्णावृत्ति के समय मेरे मन में है। यदि ग्रंथ को और प्रतीक्षा में न रखकर रामनवमी संवत् २०१० के लगभग प्रकाशित करने का आग्रह न होता तो 'छठे खंड' में ब्रज-काव्य-माधुरी का चयन और 'सातवें खंड' में ब्रजभाषा के ग्रंथों की सूचियाँ—नायिकाभेद, नलशिर, रीतिग्रंथ, अलंकारग्रंथ, गद्यग्रंथ, संग्रहग्रंथ, विविधग्रंथ और ब्रजभाषा-कवि-नामावलि, जिन्हें जवाहरलाल जी ने तैयार करने का वचन ही नहीं दिया था, जरूर प्रस्तुत भी कर लिया था और भी संमिलित की जाती। मुझे इस बात का खेद है कि श्री गोपालप्रसाद जी व्यास, जिन्होंने अपने मैत्रित्व-काल में और बाद में भी अभिनंदन-ग्रंथ की तैयारी और संगठन में बहुत सहयोग दिया था, सूरसागर के कठिन शब्दों का कोश, जो वे मेरे अनुरोध से बना रहे थे, समय पर उसे न तैयार कर सके और ब्रजभाषा की वह मूल्यवान् सामग्री, जिसके लिये मैं व्यक्तिगत रूप से उत्सुक था, इसमें न जा सकी।

अतः मैं अपने उन सनस्त मित्रों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ की तैयारी में अपना सहयोग सहर्ष प्रदान किया। इस प्रसंग में लगभग दो वर्षों तक कितने ही विद्वानों से पत्र-व्यवहार का मुझे अवसर मिला। वह मेरे लिये प्रसन्नता का विषय था। कभी-कभी ग्रंथ में अप्रत्याशित विलंब के कारण मुझे ऐसा लगता था कि विद्वान् लेखकों के साथ अन्याय हो रहा है, किंतु आशा है कि अब इस कार्य-समाप्ति के अवसर पर उससे उत्पन्न आनंद में वे भी संमिलित होंगे। श्री जगन्नाथ जी अहिंवासी जिनकी जन्मभूमि ब्रज के बलवाळ जी नामक स्थान में है, देश के प्रसिद्ध चित्र-कारों में हैं। उन्होंने ग्रंथ के लिये ठाकुर जी की वेशभूषा के सबंध में ८५ मूल्यवान् चित्र बनाकर दिए, इसके लिए मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ। श्री नव आबू के शिष्य जगदीश जी मिस्तन भी होनहार चित्रकार हैं, उन्होंने प्राचीन मथुरा-कला के आधारपर अनेक रेखा-चित्र दिल्ली में रहकर मेरे अनुरोध से तैयार किए जो लेखों की पुष्पिका के रूप में छपे हैं, उनका भी मैं आभारी हूँ। बंधुवर श्री मोतीचंद्र जी ने बालगोपाल-स्तुति के साठे और रंगीन ज्ञान अपनी देख-रेख में बर्बाद में तैयार कराए और श्री राय कृष्णदास जी ने धूलगमूर्ति और गोवर्धनचारी के रंगीन ज्ञान ग्रंथ के लिए प्रकाशनार्थ दिए। श्री कल्याण जी भाई (करमसी दासजी) बंबई तथा श्री गोपीकृष्ण जी कानोडिया कलकत्ता के 'होली' 'कृष्णगङ्गा-नीली' में रावाकृष्ण' और 'सूरसागर' के पत्र पर राजस्थानी का एक चित्र दिये हैं। इसके लिये मैं उनका उपकार मानता हूँ। जिन जिन महानुभावों ने आर्थिक सहायता देकर इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में सहयोग दिया है उनका भी मैं आभारी हूँ। श्री बाबू गुलाबराय जी और श्री सत्येंद्र जी तो भावि से अतः तक इस आयोजन से सबलित रहे हैं। एक प्रकार से यह उनके अपने ही परिश्रम का फल है। उनके लिये पदे-पदे कृतज्ञता मेरे मनमें रही है। इस अवसर पर मैं अपने मित्र स्वर्गीय श्री एरिक डिकिंसन का

भी कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करता हूँ। ये लाहोर में मधोकालेज के प्रिन्सिपल थे। १९४७ के आरंभ में मेरा उनसे परिचय हुआ। अग्रेज होकर भी भारतीय कला और हिंदी के ये अत्यंत भक्त थे। मुझे अत्यंत आश्चर्य और आनंद हुआ जब 'कवि जान' कृत 'कथा-कुतूहली' का अग्रेजी अनुवाद एक दिन दिल्ली आकर उन्होंने मुझे सुनाया। उसके लालित्य की किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सता। मेरी भूमिका के साथ ग्रंथ को छपाने की बात थी। बुरा हूँ कि उनके अकस्मात् देहावसान से यह अनुवाद लुप्त हो गया। पोहार-ग्रंथ के लिये उन्होंने अपना अत्यंत सुंदर अग्रेजी लेख 'कृष्णगढ़ की राधा' नामक चित्र पत्र, जिसके आविष्कार का श्रेय पूर्ण मात्रा में उन्हीं को था, लिए कर दिया। वर्षोयुद्ध १० रामदहिन जो मिश्र का भी लेख-रूप में आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। रोद हूँ कि ये भी ग्रंथ को प्रकाशित रूप में न देरा सके।

कुछ लेख ऐसे भी हैं कि जो ग्रंथ के लिये प्राप्त होने पर भी स्थान की मर्यादा के कारण इसमें सम्मिलित न किए जा सके। बिद्वान् लैसकी से सहायक-मजल के साथ मे लामा प्रार्थी हूँ।

कलकत्ते के विनानी प्रिंटिंग वर्क्स लिमिटेड के अध्यक्ष सेठ श्री गोवर्धनदास जी विनानी को भी धन्यवाद है जिन्होंने अति तत्परता से मुद्रण-कार्य समाप्त किया। श्री चंद्रभूषण त्रिवेदी ने छेउ-टाइप करने और मुद्रणार्थ पाठ्यलिपि तैयार करने में जो परिश्रम किया उसके लिये ये धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे आशा है कि राज-साहित्य-मंडल के कार्यकर्ता अपने उत्साहयुक्त कार्यों के लिये नए-नए कीर्ति-स्तम्भ स्थापित करेंगे। साहित्यिक कार्य विशाल जनायन पथ हैं। इस पर चलने का सबको आवाहन है। सरस्वती के उधार प्राण में सबके लिये अवकाश है। राज की भागवत स्रष्टृति, जिसके एक भद्र प्रतिनिधि इस ग्रंथ द्वारा अभिनवनीय सेठ जी हैं, समन्वय की सस्कृति है। यह किसी का निराकरण नहीं करती। देव की अनेक विभूतियों में से अपनी-अपनी रत्नि या रस के अनुकूल ग्रहण करती हुई सबके प्रति सीमनस्य भाव से आगे बढ़ती हैं। मयुरा-जनपद ने इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण के निर्माण और प्रसार में दो सहस्राब्दियों तक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। एक प्रकार से समन्वय-प्रधान भागवत दृष्टि-कोण हमारा राष्ट्रीय दृष्टि-कोण हो बन गया है। मेरा आवाहन है कि राजभूमि के कार्यकर्ता अपने इस प्राचीन मंत्र को कभी न भूलें। इस दृष्टि-कोण में अनंत रस का स्रोत है।

काशी-विश्वविद्यालय

बानुदेवशरण

अक्षय तृतीया

२०१०

भूमिका

ऐज-साहित्य-मंडल एक महान् संस्था है, उसके उद्देश्य और कार्य बहुस्वपूर्ण है। लेखक, कवि, कलाकार तथा नवजीवन के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में योग देनेवाले महानुभावों का संमान करना ऐसा उपयोगी कार्य है, जिसे मंडल ने सदा प्रमुख स्थान दिया है। इसी सुंदर उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त एक बिन ऐज-साहित्य-मंडल की कार्य-कारिणी ने यह निश्चय किया कि सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार की 'हीरक-जयंती' मनाई जाय। इस कार्य-कारिणी में एक अत्यंत उत्साही नवयुवक भी था, जिसका नाम रामकृष्ण अग्रवाल था। मंडल का और हमारा दुर्भाग्य है कि यह नवयुवक अल्पायु में स्वर्ग सिंघार गया। विशेष खेद इस लिये है कि उसका स्वप्न जिस समय पूर्ण हो रहा है, उस समय उसे देखने के लिये वह स्वर्ग जीवित नहीं। इस युवक ने हीरक-जयंती के समस्त आयोजन का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया और उसे निभाने में वह पूर्णतः सफल हुआ। जिस कार्य-कारिणी में हीरक-जयंती-समारोह-संपन्न कराने का निश्चय किया गया था, उसी में इस युवक ने इस बात पर जोर दिया कि हीरक-जयंती मना लेने से ही हमें संतोष नहीं होना चाहिए इस अवसर की स्मृति में कोई ठोस कार्य होना चाहिए। तभी अभिनंदन-ग्रंथ का विचार उदय हुआ और श्री रामकृष्ण के विशेष आग्रह से अभिनंदन-ग्रंथ प्रस्तुत करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। स्वर्गीय रामकृष्ण अग्रवाल! आज तुम्हारा संकल्पित कार्य पूर्ण हो रहा है। यह सत्य है कि रामकृष्ण अग्रवाल ने न तो इस ग्रंथ के प्रकाशन में योग दिया है, न संपादन में, न किसी अन्य प्रकार से सहायता वह दे सका है, क्योंकि ऐसे किसी भी प्रकार के सहयोग के लिए वह जीवित ही नहीं रह सका, फिर भी बीज उसी का बोया था। इसी लिए हम कण्ठार्द्र होकर यों स्मरण कर रहे हैं।

स्वरूप और संपादक मंडल

इस निश्चय का सभी ने मुक्त कंठ से स्वागत किया, इसका एक कारण था। अभिनंदन-ग्रंथों की एक अग्रणी परंपरा है। इस परंपरा में इन ग्रंथों के संपादक भी बहुत उच्च कोटि के विद्वान् रहे, किंतु इस परंपरा में उस समय तक के सभी ग्रंथों में कई ऐसी बातें थीं जिन्हें दोष अथवा अभाव कहा जा सकता था। इनमें किसी व्यवस्थित स्वरूप का पता नहीं चलता, केवल बड़े से बड़े विद्वानों के उनके मनचाहे लेख इन ग्रंथों में संमिलित कर दिए जाते थे, ग्रंथ एक उद्देश्यहीन संग्रह होता था। इसमें अधिकांश भाग अभिनंदनीय व्यक्ति के जीवन के विषय में अथवा उसके व्यक्तित्व के विषय में रहता था। मंडल की कार्य-कारिणी ने एक नयी दृष्टि प्रदान की। उसने आरंभ में ही यह लक्ष्य स्वीकार किया, कि इस अभिनंदन-ग्रंथ को अज का 'विश्वकोश' बनाया जाय। उसने यह भी निर्देश किया कि ग्रंथ में अभिनंदनीय व्यक्ति के संबंध में ४०-५० पृष्ठ के लगभग ही दिए जायें। इस नवीन दृष्टिकोण के कारण मंडल के इस विचार का हार्दिक स्वागत किया गया। मंडल का लक्ष्य ऊँचा था, लगभग एक हजार पृष्ठों का ग्रंथ हो, अज्ञ-विषयक समस्त सामग्री पर प्रामाणिक निबंध हो, एवं उसकी छपाई-सफाई का स्तर भी ऊँचा हो। इतना ऊँचा लक्ष्य यो ही तो पूरा नहीं हो सकता था। उसके लिए धन का प्रबंध होना आवश्यक था। धन के प्रबंध के संबंध में मंडल को अधिक चिंतित नहीं होना पड़ा। कलकत्ता के एक प्रतिष्ठित सेठ श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार तथा सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के एक सुपुत्र कलकत्ता के प्रभावशाली अटर्नी श्री मदनगोपाल पोद्दार ने इसका उत्तरदायित्व संभाल लिया। उन्होंने कहा कि हम कलकत्ता से इसकी व्यवस्था कर लेंगे। धन के इस प्रबंध से कठिन कार्य था अभिनंदन-ग्रंथ के संपादक-मंडल का निर्माण, इस और काफी सोच विचार के उपरांत यह निश्चय किया गया कि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल को प्रधान संपादक बनाया जाय। डा० अग्रवाल उस समय विल्ली में एशियन ऐंटिक्विटीयल म्यूजियम के सुपरिटेण्डेंट थे और मयूरा के बहुत निकट। डा० सत्येंद्र को यह कार्य सोपा गया

कि वे डा० अग्रवाल से यह भार सँभालने की स्वीकृति प्राप्त कर लें, किंतु उस समय डा० अग्रवाल इतने अधिक व्यस्त थे कि बहुत लिखा-पढ़ी के उपरांत भी यह कार्य सँभालना स्वीकार नहीं किया। डा० सत्येंद्र को लिखा हुआ उनका अंतिम पत्र इस प्रकार था—

नई दिल्ली
ता० २०।१।४७

प्रिय सत्येंद्र जी,

आप का ६।१।४७ का कृपापत्र साहौर में मिला था। परसो प्रातः मैं लौट कर आया। आशंका है फिर एक बड़ी यात्रा के लिए न जाना पड़े। अपनी वर्तमान परिस्थिति में मेरे लिए अभिनन्दन-ग्रंथ किंवा तत्सदृश अन्य साहित्यिक योजनाओं में सहयोग असंभव है। ऐसा कई बार लिखने पर भी आपको विश्वास नहीं हुआ, यह आप के स्नेह का ही सूचक है। परंतु सत्य से हम सब बँचे हैं और सत्य वही है जो मैं लिख चुका हूँ। मेरी यह इच्छा है कि इस ग्रंथ का संपादन आप ही करें। आप की महीती साधना का भी जनता को परिचय होना आवश्यक है।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ग्रंथ के लिए आर्थिक प्रश्न हल हो गया है, आशा है इसे वज्र का सांस्कृतिक कोश बनाने का आप का उद्देश्य सफल होगा।

भवदीय
वासुदेवशरण

सब पोद्दार जी की हीरक-जयंती के अवसर पर मंडल की स्थायी समिति ने सर्व श्री गुलाबराय जी तथा डा० सत्येंद्र को इस ग्रंथ का संपादक नियुक्त किया। बड़ी प्रगति से कार्य आरंभ हुआ, ग्रंथ की विस्तृत योजना प्रसारित हुई, लेखकों से संपर्क स्थापित हुए, उनके वचन आए और उनके निबंध आने आरंभ हो गए, किंतु सभी बड़े कार्यों में कुछ न कुछ विघ्न उपस्थित होते ही हैं। इतना कार्य करके कुछ व्यस्तता के कारण भूझे संपादन कार्य से विरत होना पड़ा। कुछ समय के लिए कार्य रुक गया। एक बार पुनः डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से प्रार्थना की गयी, इस बार सौभाग्य से डा० साहब ने कार्य सँभाल लिया। यह हम सबके लिए सौभाग्य और प्रसन्नता की बात थी। मंडल उनका चिर श्रेणी है और मेरे लिए तो यह ठीक वैसी ही आनंददायक थी जैसे भक्त की भगवान पर विजय आनंदप्रद होती है। देर से सही, ग्रंथ के हित में मेरा जो पहला संकल्प था कि डा० वासुदेवशरण ही इसके प्रधान संपादक हों वह पूर्ण हुआ। इसका शुभ परिणाम यह सुंदर ग्रंथ स्वयं प्रस्तुत है। हाँ, तब, एक संपादन-समिति का निर्माण किया गया। कार्य की सिधिलता दूर हुई और संपादन कार्य भी चल पड़ा। इस समिति की बैठकें दिल्ली में हुईं। ग्रंथ की समस्त रूप-रेखा ब्रह्मरपी गयी। अब सामग्री व्यवस्थित करके और अन्य आवश्यक निबंध संग्रह प्रकाशन का कार्य आरंभ कराया गया।

प्रकाशन की समस्या कम कठिन नहीं थी—कहाँ जूँ, कोन छपाई का कार्य सँभाले, कोन प्रूफ चेक, कोन उसके सौष्ठव का उत्तरदायित्व ले। इस कार्य में श्री भवनगोपाल पोद्दार ने बहुत सहायता पहुँचाई। उन्होंने छपवाने की संपूर्ण व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। बहुत अच्छे प्रेस का प्रबंध कलकत्ते में किया और अपने मित्र प० जवाहरलाल चतुर्वेदी को छपाई और सौष्ठव की देख-भाल के लिए नियुक्त किया। प० जवाहरलाल चतुर्वेदी तो इस फन के उस्ताद ठहरे, सतीयोग से कार्य करने में प्रवृत्त हुए। १९५२ के जून के महीने में मैं भी इस कार्य के लिए कलकत्ता रहा।

संपादन और भूषण के अंतर्गत ही एक और महत्वपूर्ण बात रहता है, चित्र और सज्जा का। मेरे संपादन काल में वज्र के प्रसिद्ध चित्रकार जगन्नाथ सिंह महिपासी ने इस विधा में पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया था। उन्होंने ग्रंथ-सज्जा के लिए कितनी ही अभिप्राय प्रकट कर भेजे थे। बाद

में श्री वासुदेवशरण जी और पं० जवाहरलाल जी, चतुर्वेदी ने अभिप्रायो का संकलन किया। श्री वासुदेवशरण जी ने बहुमूल्य ऐतिहासिक और प्रामाणिक चित्रों की व्यवस्था करायी।

इस प्रकार २६ जनवरी १९४७ को जिसका संकल्प किया गया था वह महान् और पुनीत कार्य आज संपूर्ण हो रहा है, ६ वर्ष की दीर्घ अवधि और उसी के अनुकूल परिश्रम के उपरान्त।

ग्रंथ की मूल रूप-रेखा

यह ग्रंथ एक हजार पृष्ठ से कम का नहीं होगा। इसमें भारत के प्रसिद्ध चित्रकारों के अनूठे चित्रों की भी यथास्थान सयोजना रहेगी। विविध लेख भी यथा संभव सचित्र होंगे।

यह ग्रंथ अपने ढंग का बिल्कुल नया होगा। इसमें सेठ जी का परिचय तो होगा ही, इसके प्रतिरिक्त निम्न खंड रहेंगे—

१ अलंकार साहित्य-खंड इस खंड में संस्कृत और हिंदी के अलंकार-शास्त्रों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से विशद अध्ययन और शोध-पूर्ण सामग्री रहेगी।

२ व्रज संस्कृति कला-खंड व्रज की संस्कृति और कला सबधी प्रायः प्रत्येक ज्ञातव्य बातों पर शोध-पूर्ण निबन्ध इसमें रहेंगे।

३ धर्म-खंड इसमें व्रज की धार्मिक दैन और विविध संप्रदायों पर रचनाएँ रहेंगी।

४ पुरातत्व और इतिहास-खंड इसमें व्रज का भूगोल, पुरातत्व और इतिहास सबधी विषयों का निरूपण होगा।

५ साहित्य-शोध-खंड व्रज-भाषा और साहित्य की शोध का विस्तृत दिग्दर्शन इस खंड का विषय होगा।

६ हिंदी साहित्य-खंड हिंदी-साहित्य के रचनात्मक तथा आलोचनात्मक रूपों का परिचय।

७ व्रज-परिचय खंड व्रज का विविध दृष्टियों से परिचय—पशु, पक्षी, जन, उद्योग-वधे आदि।

८ बृहत्तर व्रज-खंड में व्रज का संस्कृत, वगला, गुजराती, मराठी आदि में जो रूप और महत्त्व रहा है उसका परिचय रहेगा। इनके साथ उच्च कोटि के कवियों की कविताओं का भी संग्रह इसमें होगा।

९ मारवाड़ तथा मारवाडी-साहित्य पर भी एक खंड रहेगा।

संक्षेप में यह अभिनंदन-ग्रंथ प्रमुखतः “व्रज का सांस्कृतिक विद्व-कोश होगा”, पर यह सिद्ध सत्य था कि न तो रूप-रेखा से किसी लेखक को पूर्णतः बाँधा जा सकता था और न लेखक प्रत्येक विषय पर साधिकार लिख सकते थे। प्रत्येक लेखक अपनी सीमाओं को स्वीकार करके ही सहयोग दे सकता था। फलतः उक्त योजना के अनुसार पूर्ण सफलता मिलना तो संभव कहाँ था, इसी कारण संपादन-समिति ने उसे झुकाया। इस समिति ने ग्रंथ को जो रूप प्रदान किया था उसके अनुसार सामग्री का संकलन और संपादन हो चुकने पर जब पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी जी को मुद्रण का भार सौंपा गया और उन्होंने समस्त सामग्री का निरीक्षण किया तो उन्होंने भी कितने ही उपयोगी सुझाव रखे। प्रधान संपादक ने उनसे परामर्श करके ग्रंथ को अंतिम रूप दिया। इसी अंतिम रूप में यह ग्रंथ प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ पाच खंडों में है—

प्रथम—जीवन और अभिनंदन-विषयक खंड।

दूसरा—साहित्य खंड।

तीसरा—संस्कृति (नीला) खंड

चौथा—इतिहास खंड।

पाँचवाँ—जनपदीय खंड।

इनके अतिरिक्त 'व्रज-काव्य-चयन' और व्रज-साहित्य-नर्तकी-ग्रन्थों की सृजियाँ भी देने का विचार छोट्टे-सातवें खंड के रूप में था, किंतु ग्रंथ के अतिशय विस्तार के कारण वह अत्रा स्थगित कर देना पड़ा। आशा है 'व्रज-भारती' के द्वारा वह सामग्री कभी सुलभ की जा सकेगी।

प्रत्येक खंड में अधिकारी विद्वानों के विचार पूर्ण प्रामाणिक निष्पक्ष दिये गये हैं। यह स्वाभाविक है कि साहित्य-खंड सबसे बड़ा खंड हुआ है। कारण स्पष्ट है सैठ जी की भी रचित साहित्य में विशेष रही है। उच्च साहित्यिक के नाते यह अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है, इसी के साथ व्रज-भाषा-साहित्य-ग्रंथों लेखकों का समुदाय भी अधिकारशत साहित्यिक है। कुछ विद्वानों ने हमारे आग्रह से सांस्कृतिक ज्ञान-बढ़क विषयों पर लिखना स्वीकार भी किया, उस कार्य में प्रवृत्त हुए, सामग्री एकत्र कर ली, मौलिक और प्रामाणिक साक्ष्य जुटा लिये, अध्ययन कर लिया और अब लिखकर निबंध पुरा करने का विचार कर रहे हैं। उदाहरणार्थ एक मित्र ने व्रज के पशु-पक्षियों का स्वयं निरीक्षण और अध्ययन करके निबंध लिखना आरंभ कर दिया है, दूसरे ने व्रज के वृक्ष-वनस्पति पर पूरी तैयारी के बाद लेखनी उठा ली है, एक व्रज के वर्तमान तथा ऐतिहासिक भूगोल का अध्ययन कर चुके हैं—आदि; किंतु यह अभिनंदन-ग्रंथ अब उनकी साधना के परिणाम का साम नहीं उठा सकेगा। इस ग्रंथ के सपावकों को प्रसन्नता केवल यह होगी कि उनकी प्रेरणा से व्रज के जनपदीय अध्ययन की किन्हीं दिशाओं में कुछ प्रभाव की प्रति हो सकी। फिर भी इनकी ऐसे क्षेत्र श्रेय हैं, जिनका सुझाव हम लोगों ने प्रस्तुत किया, किंतु कुछ भी कार्य नहीं हो सका, आशा है कि भविष्य में उन विषयों पर भी विद्वान् लेखक प्रवृत्त होंगे और 'व्रज-भारती' के द्वारा अपने प्रयत्नों का फल प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि मूल योजना में हरे-फरे हुई है, फिर भी मूल-नुष्टि-विबुध से ग्रंथ ज्युत नहीं हुआ। व्रज के छोट्टे-से 'विश्वकोश' का कार्य यह अली प्रकार दे सकता है। प्रायः सभी शास्त्रिक विषयों पर यत्न-चित्त यहाँ मिलेगा और वह अधिकारी लेखकों से लिखा गया सम्मान। हम अनुभव करते हैं कि व्रज-विषयक अध्ययन और शोध के समय इस ग्रंथ का उपयोग विद्वानों के लिए अनिवार्य हो जायेगा।

व्रज के साहित्य, वर्म, संस्कृति ने भारतीय राष्ट्र के ऐक्य और समन्वय में बड़ा भाग लिया है। फलतः व्रज का अपना जनपदीय रूप तो है ही व्रज का बृहत्तर भारतीय रूप भी है। व्रज अपनी भूमि में अपने सत्य वृक्ष, सता, भवन, पर्वत, सरिताओं और प्राणियों में अब भी सजीव है, उससे भी अधिक यह व्रज समस्त भारत के जन-जन में भाषा तथा प्रकृति की सीमाओं की अवहेलना करके व्याप्त है नामों में, भावों में, उत्सवों में, त्यौहारों में; अनुष्ठानों में, व्रज दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम में विद्यमान है। इसमें साहित्य, संगीत और कला में प्रेरणा प्रदान की है, इस ग्रंथ में इन दोनों का स्वरूप दीख सकता है। इसमें उस व्रज की अनुभूति पाई जा सकती है, जिसे हृदयंगम करने के लिए बीसवीं शताब्दी में 'अखिल भारतीय व्रज-साहित्य-संजल' सचेष्ट है।

इस युग में व्रज-साहित्य-संजल ने कितने ही विवादों का कार्य किये हैं। क्या उसका लोक-संस्कृति विषयक दृष्टिकोण, क्या उसका लोक-संस्कृति-परायण विमर्श-निर्विह, क्या उसका लोक-संप्रदायों का प्रायो-जन, क्या उसका कवियों की स्मृति-रक्षा का उद्योग, क्या उसका ऐतिहासिक-रक्षा का भाव, क्या उसका गाँवों में साहित्य का दीप प्रज्वलित करने का आयोजन तथा क्या गाँव-गाँव में साहित्यिक और सांस्कृतिक जागरण का अभिनिर्देश—सभी में ऐसा कुछ रहा है जो प्रभावित, आकर्षित और उत्साहित कर सके। उसी प्रकार यह अभिनंदन-ग्रंथ भी आगे के लिए विरवर्धक हो सकता है, ऐसा हमारा अनुमान है।

अंत में हमारा यह कर्तव्य है कि उन समस्त विद्वान् लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें, जिन्होंने इस आयोजन को सफल बनाने के लिए अपनी अमूल्य रचना हमें प्रदान की, उन कला-कारों का आभार मानें जिनकी कला ने इस ग्रंथ को वैभवपूर्ण और उपयोगी बनाया है, उन बाल-वाताओं को बधाई के पुष्प अर्पित करें जिनके स्पर्श से ग्रंथ प्रकाशित हो सका है। ग्रंथ की तैयारी,



संपादन, मुद्रण और प्रकाशन में जिन-जिन सज्जनों ने सहयोग और सहायता दी है उन सबके प्रति हम कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं।

हम सबके अभिनंदनीय और वंदनीय सेठ कन्हैयालाल पोद्दार जी के जो इच्छा हैं, उनकी पुण्य भूमि को नमस्कार कर, सेठ जी के निमित्त से ब्रज के समस्त भक्तों का अभिनंदन करने के लिए यह प्रथम अंश हिंदी की साहित्य-वेदी पर समर्पित है।

आगरा

सत्येन्द्र

अक्षय तृतीया

२०१०

चित्र-सूची

१ श्री गोविन्ददेव जी मधुरा-मन्दिर (पोद्दार जी के इन्स्ट्रक्शन्),	मुख-पृष्ठ
२ मेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार,	" १.
३ न्याय्य सेठ श्री गुरुसहायमल जी पोद्दार, स्व० सेठ श्री घनश्यामदास जी पोद्दार और स्व० मेठ श्री जयनारायण जी पोद्दार,	" ६.
४ युगत-पत्रि (बहुरंग),	" ७३.
५ मूर के पुरुष पद पर प्राचीन राजस्थानी-कला-चित्र,	" ११६.
६ किशनगड-चित्रशैली में बनीठनी राधा,	" २६५.
७ श्री गोवर्धनधरण (बहुरंग),	" ६१०.
८ रागरीता के विदेशी वर्णक,	" ७१२.
९ गुणागट (रागबान) शैली का एक प्राचीन चित्र श्री राधाकृष्ण,	" ७२५.
१० दिन-दिन वालिक और-हो-और सबधी ८५ चित्र,	" ७३०.
११ यन्त्र-मन्त्रदाय के देवालियों में खलित-कला,	" ७५६.
१२ प्रतिष्ठा-उद्धार (बहुरंग),	" ७६२.
१३ श्री रामारुण और प्रियन्तपत्न्या,	" ७६८.
१४ होतों,	" ८००.
१५ गन की गोनी-कला-मन्त्रधी पाँच चित्र (बहुरंग),	" ८३०.

लेख-सूची

श्रद्धांजलि

प्रथम-खंड

१. अभिनदन (कविता), रचयिता—राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त चिरगाँव-झाँसी, आदि पृष्ठ
२. भगलाचरण (कविता-संकलन), श्रीम.झांगवल, महाभारत, श्री नंददास, " १,
- श्री परमानंददास, श्री सूरदास (अष्टछाप), कविवर सूदन, " २,
३. श्रद्धांजलि—श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार संपादक—'कल्याण', गोरखपुर " ३,
४. सेठजी के व्यक्तित्व सूत्र—श्री बासुदेवशरण जी अग्रवाल, काशी विश्वविद्यालय, " ५,
५. श्रद्धा के कुछ पुष्प—श्री पं० देवीदत्त जी शुक्ल, भू० पू० संपादक—सरस्वती, प्रयाग, " ७,
६. पोद्दारजी का घराना और पोद्दारजी—श्री पं० शारदामल जी शर्मा, भू० पू० संपादक—कलकत्ता-समाचार, खेतड़ी " ६,
७. पोद्दारजी का प्रभाव—श्री पं० हरिशंकर जी शर्मा, संपादक—मार्क्समार्टेड, आगरा, " २७,
८. कवियों की श्रद्धांजलि (कविता) रचयिता—श्री गोविंद जी कवि, श्री रामलला जी, श्री चुन्नीलाल जी 'शेष', मथुरा " ३०,
९. विनम्र श्रद्धांजलि—श्री भगवानदास जी केला, प्रयाग " ३१,
१०. प्रणामांजलि—श्री गोपालप्रसाद जी व्यास, सहस्रपादक—'हिंदुस्तान' (हिंदी) दिल्ली " ३३,
११. सेठजी का साहित्यिक यश.शरीर—श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा " ४५,
१२. सेठजी के साहित्यिक लेखों की सूची (संकलन) " ७२,

साहित्य

द्वितीय-खंड

१. साहित्य (कविता-संकलन), रचयिता—श्री अभिनवगुप्ताचार्य, श्री गोस्वामी तुलसीदास पृष्ठ ७४,
२. शौरसेनी भाषा की प्राचीन परंपरा—श्री डा० सुनीलकुमार चाटुर्ज्य, एम० ए०, डी० लिट्, भाषा-तत्त्वविद् कलकत्ता " ७५,
३. पाँच प्राचीन पद (कविता-संकलन), रचयिता—श्री भट्ट, हरिव्यास जी, श्री परसुरामदेव जी, " ८४,
४. भाषामणि ब्रजभाषा—श्री चंद्रबली पांडे, एम० ए०, काशी " ८५,
५. सोलहवीं शती में सगुण भक्ति के मेघजल—श्री डा० बासुदेवशरण जी अग्रवाल, काशी विश्वविद्यालय, " ८९,
६. सूर के प्रति (कविता), रचयिता—श्री नर्मदेवचर उपाध्याय, " ८४,
७. अष्टछाप की मयूर-भक्ति—श्री डा० दीनदयाल जी गुप्त, एम० ए०, एल० बी०, डी० लिट्, अग्र्यक्ष—हिंदी-विभाग लखनऊ-विश्वविद्यालय " ८५,
८. सूरदास का काव्य—श्री पं० नवदुलारे वाजपेयी, एम० ए०, अग्र्यक्ष—सागर-विश्वविद्यालय, सागर " १०७,
९. हम असि, गोकुलनाथ-अराध्या (कविता-संकलन), श्री सूरदास जी (अष्टछाप) " ११८,
१०. सूरसागर का विकास और उसका रूप—श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा " ११६,

११. ब्रजभाषा का काव्य और शृंगार रस—श्री डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी, एम० ए०,
डी० लिट् (लदन), कुलपति—सागर-विश्वविद्यालय, सागर पृष्ठ १३३,
१२. श्री सूर का एक पद—श्री गोस्वामी श्री ब्रजभूषणलाल जी, काँकरीली (मेवाड़) " १४१,
१३. श्री सूर के पाँच नये पद (कविता-संकलन), श्री सूरदास (अष्टछाप) " १४८,
१४. ब्रजभाषा में नव रस—श्री राजेश्वरप्रसाद जी चतुर्वेदी, एम० ए०, आगरा " १४९,
१५. ब्रजभाषा साहित्य-शशि तुलसी के तीन पद (कविता-संकलन), श्री गो० तुलसीदास जी " १६६,
१६. विन्य कवि सूरदास—श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा, एम० ए०, लखनऊ " १६७,
१७. ब्रज साहित्य के शृंगार रस की सीमासा—श्री प्रो० मुकुन्दप्रसाद जी टंडन एम० ए०,
लखनऊ—श्यामलियर " १७५,
१८. गोस्वामी तुलसीदास श्री कृष्ण-गीतावली (कविता-संकलन) श्री गो० तुलसीदास, " १८६,
१९. स्वामी हरिदास जी की वाणी—श्री प० गोपालचंद जी, एम० ए०, मथुरा " १८७,
२०. बल्लभाचार्य का साधन मार्ग—श्री प० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, काशी " १९७,
२१. नवदास अष्टछाप—श्री डा० राकेश गुप्त, एम० ए०, डी० फिल, काशी " २०३,
२२. पुष्टिमार्गीय सिद्धांत की आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि—श्री पी० कठमणि जी शास्त्री,
अध्यक्ष—विद्या-विभाग काँकरीली (मेवाड़) " २१३,
२३. परमानंद-सागर : परमानंददास—श्री ललितकुमारदेव चतुर्वेदी, मथुरा " २२७,
२४. हरिवंश और हिंदी वीर्य-काव्य—श्री डा० राजेश्वर शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्, प्रयाग " २४३,
२५. रूप-रसिक जी की वाणी (कविता-संकलन), श्री रूप-रसिक जी, " २६४,
✓ २६. हिंदी साहित्य में राजा-कृष्ण की भावना का विकास—श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा एम० ए०,
लखनऊ " २६५,
२७. सरस-मंजारी (कविता-संकलन), श्री सहचरिचरण जी, " २८०,
✓ २८. गोस्वामी तुलसीदास की ब्रजभाषा-साहित्य को देन—श्री डा० रामचंद्र-कृष्णचंद जी
भारद्वाज एम० ए० (नय), एल० एल० बी०, एल० टी०, पी० एच० डी०, शास्त्री—कासगज
(एटा) " २८१,
२९. कुछ विभिन्न पद-रचयिताओं के पद (कविता-संकलन), श्री रूपरंग जी, श्री ब्रह्मदास जी
(बीरवल), श्री छविनायक, श्री चंचल शशि, श्री अकबर (मुगल सम्राट्), श्री सदारंग " २९०,
✓ ३०. भालम और रसखान—श्री डा० भवानी शंकर जी याज्ञिक, एम० बी० बी० एम०, डी० जी०
एच०, असिस्टेंट डायरेक्टर इंचार्ज, प्राथमिक हाईस्कूल इन्स्टीट्यूट तथा प्रो०—आफ़ सोसल
मेडिसन एण्ड पब्लिक हेल्थ मेडिकल कालेज लखनऊ-विश्वविद्यालय, लखनऊ " २९१,
३१. श्री भगवतरसिक जी की वाणी (कविता-संकलन), श्री भगवत रसिक वृंदावन " ३१८,
✓ ३२. ब्रजभाषा के गुजराती पद-ग्रंथेता—श्री डा० जगदीश प्रसाद जी गुप्त एम० ए०, पी० एच०
डी०, प्रयाग " ३१९,
३३. विष्णुदास और मेहा के पद (कविता-संकलन), श्री विष्णुदास और मेहा श्याम, " ३२६,
३४. अमरगीत की परंपरा—श्रीमती सरला शुक्ल एम० ए०, लखनऊ " ३२७,
३५. ब्रजविलास—श्री संकटाप्रसाद सिंह एम० ए०, मथुरा " ३४९,
३६. आनंदधन और रूपमती (दाजबहादुर) के पद (कविता-संकलन), श्री आनंदधन और श्री रूपमती-
दाजबहादुर " ३५६,
✓ ३७. बल्लभ-सम्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य की खोज—श्री प्रभुबहाल जी सीतल मथुरा " ३५७,
✓ ३८. मुगलसम्राटों की ब्रजभाषा गैय-यव रचनाएँ (कविता-संकलन), श्री अकबर शाह, श्री शाह
आजम, श्री बहादुर शाह, श्री सलीम शाह, श्री सदारंग, श्री तान-सरंग " ३६४,

३६. मीरा : पद-विधान—श्री कुमारी जगदीश्वरी सिंह, एम० ए०, लखनऊ पृष्ठ ३६५,
- ३० श्री चैतन्य और साकार-निराकार वाद—श्री डा० राजनारायण जी कपूर एम० ए०, पी० ऐच० डी०, आगरा ,, ३७१,
- ✓ ४१. श्री निबार्क-संप्रदाय के हिंदी कवि—श्री डा० गोरीशंकर जी 'सत्येंद्र' एम० ए०, पी० ऐच० डी०, आगरा ,, ३७६, ✓
४२. रासपंचाव्यासी . भागवत—श्री गोविंदलाल हरमोविंद भट्ट एम० ए०, शास्त्री बड़ोदा-कालेज बड़ोदा (गुजराती), अनुवाचक—श्री पं० अनंतराम नागर, मथुरा ,, ३६५,
४३. रास के पद (कविता-संकलन), श्री कृष्णदास, श्री चतुर्भुजदास, श्री नवदास (अष्टछाप), श्री विष्णुदास, श्री व्यास, श्री आसकरन, ,, ३६८,
- ✓ ४४. रीतिकाल : पृष्ठ-भूमि—श्री डा० गोरीशंकर जी 'सत्येंद्र' एम० ए०, पी० ऐच० डी०, आगरा ,, ३६६ ✓
- ✓ ४५. ब्रजभाषा का नायिका-भेद—श्री डा० राकेल गुप्त एम० ए०, पी० ऐच० डी०, प्रयाग ,, ४०३,
- ✓ ४६. गुजरात के ब्रजभाषी शुक-पिक—श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा ,, ४१३,
- ✓ ४७. काव्य-साहित्य में अलंकारों का स्थान—श्री कवि शिरोमणि पं० मयुरानाथ जी भट्ट शास्त्री, जयपुर (मारवाड़) ,, ४४१,
- ✓ ४८. ब्रज की अलंकार परंपरा—श्री बाबू ब्रजरत्नदास जी अग्रवाल बी० ए०, एल० एल० बी०, काशी ,, ४४७, ✓
४९. हिंदी के प्राचीन आलंकारिक आचार्य—श्री पं० रामदहिन जी मिश्र, पटना ,, ४५३,
५०. अलंकार : एक अध्ययन—श्री बद्धीप्रसाद जी वाजपेयी एम० ए०, जबलपुर (मध्य देश) ,, ४६५,
५१. ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य—श्री शिवनाथ जी एम० ए०, 'शांतिनिकेतन' हिंदी-विभाग ,, ४७३,
५२. ब्रजभाषा के नाटक—श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा ,, ४८७,
१. नहुष-नाटक, रचयिता—महाकवि श्री गिरिधरदास जी उपनाम बा० गोपालचंद्र जी—प्रथम अंक (यावत् प्राप्त) ,, ४८८,
२. चंद्रावली-नाटिका, रचयिता—श्री मारतेंदु बा० हरिवचंद्र जी (दूसरा-अंक), ब्रजभाषा-अनुवाचक—पं० हीरालाल जी चतुर्वेदी, मथुरा ,, ४६५,
- ✓ ५३. ब्रजभाषा : साहित्य-शोध—श्री डा० जानकीसिंह जी 'मनोज', एम० ए०, डी० फिल लखनऊ ,, ४६७,
५४. मीरा जी के पद (कविता-संकलन), श्री वाई मीरा, सं० १६४२ की डाकोरवाली प्रति से ,, ४१८,
- ✓ ५५. ब्रजभाषा के काव्य-प्रयोगों की खोज—श्री पं० किशोरीदास जी वाजपेयी, कलकत्ता (हरिद्वार) ,, ४१६,
- ✓ ५६. ब्रजभाषा का सबसे प्राचीन व्याकरण : एक परिचय—श्री चंद्रभान 'रावे-रावे' एम० ए०, लोहबन (मथुरा) ,, ४२१,
५७. ब्रजभाषा-व्याकरण (काव्य) रचयिता—श्री बा० गोपालचंद्र जी (गिरिधरदास), भारतेंदु बा० हरिवचंद्र जी के पिता, संपादक—श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा ,, ४२६,
५८. ब्रजभाषा के कोष-ग्रन्थ—श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा ,, ४३७,
५९. हिंदी में शब्द-समस्या—श्री बाबू रामचंद्र जी वर्मा, काशी, ,, ४४७,
६०. कवि-समय—श्री बाबू गुलाबराय जी एम० ए० (वर्तमानशास्त्र), आगरा ,, ४५३,
६१. विद्यापति-पदावली (कविता-संकलन) सं०—पं० श्री सूर्यनारायण झा, जजुआर, (मुजफ्फरपुर) ,, ४६०,
- ✓ ६२. प्राच्युक्त ब्रजभाषा के कुछ कवियों का परिचय—श्री पं० जयप्रकाशदास जी शर्मा एम० ए०, काशी ,, ४६१,
- ✓ ६३. ब्रजभाषा के प्राच्युक्त कवि—श्री रामनारायण जी अग्रवाल साहित्य-रत्न, मथुरा ,, ४७१,
- ✓ ६४. ब्रजभाषा और मुसलमान कवि-गण—श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा ,, ६०३,

श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ

तृतीय-खंड

- १ कृष्ण जो न होते... (कविता-संकलन), रचयिता—बन्धू कवि, पृष्ठ
- २ श्री कृष्णावतार पर वैज्ञानिक दृष्टि—श्री महामहोपाध्याय पंडितवर गिरिधर जी शर्मा चतुर्वेदी, जयपुर
- ३ प्रकट लीला या नरलीला—श्री आचार्य डा० हजारी प्रसाद जी एम० ए०, अच्युत—हिंदी-विभाग (काशी-विश्वविद्यालय), काशी
- ४ ब्रज का प्राक्यात्मिक रहस्य—श्री बासुदेवशरण जी अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्, काशी विश्वविद्यालय
- ५ वेदों में ब्रज-लीला—श्री नीरजाकांत चौधुरी देव शर्मा
- ६ श्री कृष्ण का लीला-मय—श्री बासुदेवशरण जी अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्, काशी विश्वविद्यालय
- ७ रासलीला—श्री प्रो० मृशाराम जी शर्मा 'सोम', एम० ए०, कानपुर
- ८ पहाड़ी लोक-गीतों में कृष्ण-लीला—श्रीमद् भूषणदास जी बहुगुणा एम० ए०, सखनक
- ९ महारास (कविता-संकलन), महाकवि श्री सुरदास, श्री द्योतस्वामी (अष्टछाप)
- १० श्री कृष्ण का ऐतिहासिकसमय—श्री तिलकधर शर्मा (शास्त्र-विशारद), विल्सी
- ११ मालन बोरी-रहस्य—श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार, सपादक—कल्याण, गोरखपुर
- १२ महामारत और श्रीकृष्ण—श्री प्रो० मृशाराम जी शर्मा 'सोम', एम० ए०, कानपुर
- १३ गीता-ज्ञान—श्री बासुदेवशरण जी अग्रवाल, एम० ए०, बी०, डी० लिट्, काशी
- १४ श्रीमद्भगवद्गीता-महिमा (कविता-संकलन),
- १५ प्राचीन जैनग्रंथों में कृष्ण-चरित्र—श्री अमरचंद जी नाहुटा, बीकानेर
- १६ रासलीला के विवेची बर्णक—श्रीयुक्त नारायण हार्दन हेवन, येन-विश्वविद्यालय अमरीका
- १७ कृष्ण की बुलेनखंडी रास-मंडली (कविता-संकलन), संकलनकर्ता—श्रीकृष्णानंद जी गुप्त यरोठा-सीसी
- १८ प्राचीन गुजराती-साहित्य में श्रीकृष्ण—श्री वेधरदास जी बोधी, बडोदरा—गुजरात

इतिहास, पुरातत्त्व और कला

चतुर्थ-खंड

- १ सलिल ब्रज-देस (कविता-संकलन), रचयिता श्री चतुर्भुजदास जी (अष्टछाप) पृष्ठ
- २ किशनगढ़-चित्र-शैली में बनींठनी राधा—श्री एरिक डिकिंसन् (अंग्रेजी), अनुवादक—श्री बासुदेवशरण जी अग्रवाल
- ३ छिन-छिन बानिक और-ही-और—श्री प० जगन्नाथप्रसाद जी अहिवासी, प्रसिद्ध चित्रकार, प्रो० जे० जे० फ्राई स्कूल बर्बई
- ४ छिन-छिन बानिक और-ही-और : चित्र-परिचय—श्री डा० बासुदेवशरण जी अग्रवाल एम० ए०, डी० लिट्, काशी विश्वविद्यालय,
- ५ मयुरा-महिमा (संस्कृत-कविता), रचयिता—श्री महादुर सिंहजी 'छावडा'
- ६ श्रीकृष्ण . जन्म-भूमि या कटरा केशवदेव—श्री बासुदेवशरण जी अग्रवाल एम० ए०, डी० लिट्, काशी विश्वविद्यालय

७. गुर्जर-चित्रशैली में लिखित गीतगोविंद : एक सचित्र प्रति—श्री नान्हालाल चमनलाल मेहता आई० सी ए०, बंबई (गुजराती), अनुवादक—श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल पृष्ठ ७५३,
 ८. गीतगोविंद : एक पद (कविता-संकलन), रचयिता—भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी (भारतेंदु-प्रयावली से)

- ✓ ९. बल्लभ-संप्रदाय के देवालयों में ललित-कलाएँ—श्री रमणलाल नागर मेहता एम० ए०, आरकलोनी डिपार्टमेंट बड़ोदा विश्वविद्यालय, बड़ोदा (गुजरात)
 १०. पश्चिमोत्तरी में बालगोपाल-स्तुति : एक और प्रति—श्री डा० मंजुलाल रणछोड़लाल मजूमदार एम० ए०, एल० एल० बी, पी० ऐच० डी०, पुरातत्त्व-विभाग बड़ोदरा (गुजरात) विश्वविद्यालय—बड़ोदा, (गुजराती) अनुवादक—श्री कतेहचंद जी बेलानी नई दिल्ली
 ११. अलम लोक-नृत्य में कृष्ण-लीला—श्रीयुक्त कमलनारायण जी,
 १२. मोहेंजोदड़ो से प्राप्त यम नार्जन-द्रव्य : मिट्टी-गुटिका—श्रीवासुदेवशरण जी अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्, काशी विश्वविद्यालय
 १३. मयुरा-कला—श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्, काशी विश्वविद्यालय
 १४. ओकारवद के मदिर में कृष्ण-लीला के दृश्य—श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल एम० ए०, डी० लिट्, काशी विश्वविद्यालय
 ✓ १५. एक : पद (कविता-संकलन) संस्कृत गीतगोविंद के एक पद का ब्रजभाषानुवाद, अनुवादक—भारतेंदु हरिश्चंद्र जी (भारतेंदु-प्रयावली से)

ब्रजजनपदीय

पंचम-खंड

- ✓ १. ब्रजभाषा : महिमा—(कविता-संकलन) रचयिता—श्री विमोगीहरि जी, पु
 ✓ २. अष्टादश पुराणों में मयुरा—श्रीयुक्त भास्करनाथ जी मिश्र एम० ए०, क्यूरेटर—सारनाथ-संग्रहालय दिल्ली
 ३. श्री मयुरा : महिमा (कविता-संकलन), रचयिता—श्री सूरदास जी (अष्टछाप)
 ✓ ४. ब्रज और राजस्थान—श्री श्रीपतराम जी गौड़ विशारद-साहित्य-रत्न, जयपुर (मारवाड़)
 ५. प्राचीन जैन-साहित्य में मयुरा—श्री जगदीशचंद्र जी जैन, एम० ए०, पी० ऐच० डी०, बंबई
 ६. विवेकी लेखको का मयुरा-वर्णन—श्री पं० कृष्णदत्त जी वाजपेयी एम० ए०, (पुरातत्त्व-विभाग) उत्तर प्रदेश लखनऊ
 ७. भगवान् श्रीकृष्ण के ब्रज : नाम (कविता-संकलन), रचयिता—श्री नागरीदास जी महाराज—किशनगढ़ (नागर-समुच्चय से),
 ✓ ८. अन्नकूट—श्री कृष्णकान्त जी बागोरा, नाथद्वारा (सेवाड़)
 ✓ ९. अन्नकूट की सांस्कृतिक परंपरा—श्री पं० कृष्णचंद्र जी साहित्य-रत्न, साहित्याचार्य, धर्म-व्याकरण शास्त्री, काण्व-सौर्य, नाथद्वारा (सेवाड़)
 ✓ १०. यमुना का प्रदेश—श्री डा० अमृत वसंत पंड्या, डाइरेक्टर—पुरातत्त्व-विद्यालय-बल्लभनगर अनंद (गुजरात)
 ✓ ११. श्री यमुना जी के पद (कविता-संकलन)—श्री छोट स्वामी, श्री परमानंददास, श्री सूरदास (अष्ट छाप), श्री ब्रजपति, श्री इच्छाराम,
 १२. साँझी-कला—श्री ज्योतिषी पं० राधेक्याम जी द्विवेदी, मयुरा
 ✓ १३. ब्रजवाटिका के पशु-पक्षी—श्री कुंवर सुरेशसिंह जी, कालाकार (अवध)
 १४. गली साँकरी माय, साँकरी पाँड़ गड़ुहुँ (कविता), रचयिता—श्री रामनिवास जी विद्यापी

३०-३१

- ✓ १५ गैयों के लोकवैया : एक बुदेलवंडी लोक-गीत—श्री कृष्णानंद जी गरोठा—झाँसी (उत्तर-प्रदेश) पृष्ठ १
- ✓ १६ योवारेन के पद (कविता-चं ह नन) श्री चतुर्वृजदास, श्री छीन स्वामी, श्री नंददास, श्री कृष्णदास (अष्टछाप), श्री रसिक प्रीतम, श्री विठ्ठल गीरिवरन " १
- ✓ १७ रसिया की भाव-भूमि—श्री देवेंद्र जी 'सत्यार्थी' दिल्ली " १
- ✓ १८ रासलीला का उदय और विकास—श्री रामनारायण जी अग्रवाल, साहित्य-रत्न, मयुरा " १
- ✓ १९ ब्रज-जनपद की एक विशेष कव्यधारा . ख्याल-लावनी—श्री रतनलाल जी बसल, फिरोजाबाद " १
- २० सत्यनारायण : कविरत्न—श्री जनारसीदास जी चतुर्वेदी, टीकमगढ़ " १
- २१ प्राचीन मध्यमिका की नारायण-वाटिका—श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल एम० ए०, डी० लिट्० काशी, विद्वद्विद्यालय " १
- २२ ब्रज का लोक-साहित्य—श्री डा० मोरीशंकर जी 'सत्येंद्र', एम० ए०, पी० एच० डी०, आगरा " १
- १ ब्रज : लोक-गीत, " १
- २ ब्रज : कहानियाँ, " १६
- ३ ब्रज : लोकोक्तियाँ, " १६
- ४ ब्रज : ग्राम्य-लोकोक्तियाँ, " १६
- ५ ब्रज के मेले और उत्सव, " १६



© 2000 Wally



પ્રદ્ધાઝાલિ

अभिलेख

जियो, काव्य के जगत्सेठ, तुम कृती कन्हैयालाल ;
भावो का व्यापार तुम्हारा चला करे चिरकाल ।

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

॥ श्रीहरिः ॥

मंगलाचरण

— .०. —

वदन्तितत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यद् ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेतिपरमात्मेति भगवानिति ज्ञायते ॥

—श्रीमद्भागवत,

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥

—महाभारत, आरण्यक पर्व ८६।२२,

पवित्राणां हि योविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मंगलानां च मंगलम् ॥

—महाभारत, आरण्यक पर्व ८६।२३,

राग—सारंग

जाको बेद रटत, ब्रह्मा रटत, संभु रटत, सेस रटत,
नारद-सुक-श्यास रटत पावत नहि पार-री ।
ध्रुव-जन-पह्लाद रटत, कुंती के पूत रटत,
द्रुपद-सुता रटत नाथ-नाथन प्रतिपार-री ॥
गनिका-गज-गोध-रटत, गौतम की नारि रटत,
राजन की रमनी रटत सुतन करि-करि प्यार-री ।
'नन्ददास' श्रीगुपाल, गिरिबरधर रूप जाल,
जमुषा की कुँवर लाल, राधा-उर-हार-री ॥

राग—भैरव

मंगल साधो-नाम उचार ।

मंगल बदन, कमल-कर मंगल, मंगल-जन के सदा सँहार ॥
देखत मंगल, पूजत मंगल, गावत मंगल चरित उदार ।
मंगल सवन, कथा-रस मंगल, मंगल-तन बसुदेव-कुमार ॥

शोकुल मंगल, मधुवन मंगल, मंगल रवि वृंदावन-चंद ।
 मंगल करन गोबरघनधारी, मंगल भेष जसोदा-चंद ॥
 मंगल बेनु-रेनु-भुव मंगल, मंगल मधुर वजावत जैन ।
 मंगल गोप-बच्चू-परिरंभन, मंगल कालिबी-पय-फैन ॥
 मंगल चरन-कमल-मनि मंगल, मंगल कीरत जगत-निवास ।
 अनुविन मंगल ध्यान वरत मुनि, मंगल मति 'परमानंददास' ॥

राग—केदारा

हरि जू की आरती बनी ।

अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ॥
 कच्छप अथ आसन अनूप अति, डाँड़ी सेत-फनी ।
 मही सराब, सप्त सागर घृत, वाती सेल धनी ॥
 रवि-ससि-ज्योति जगत परिपूरन, हरत तिमिर रजनी ।
 उद्धत फूल उडुगन नभ अंतर अंजन घटा धनी ॥
 नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर, नर, असुर अनी ।
 काल-करन-गुन-आवि-अंत नहि, प्रभु हृद्धा रचनी ॥
 यह प्रताप दीपक सु निरंतर लोक सकल मजनी ।
 'सूरदास' सब प्रगट ध्यान में, अति विचित्र सजनी ॥

राग—केदारा

बबो चरन-सरोज तिहारे ।

सुंदर स्थान कमल-दल-लोचन, ललित त्रिभगी प्रान-पियारे ॥
 जे पद-पदम सबौ सिब के धन, सिद्ध-मुक्ता उरते नहिं टारे ।
 जे पद-पदम तात-रिस-आसत, अन-अच-क्रम पैह्लाद सेभारे ॥
 जे पद-पदम-परति जल पावन, सुरसरि-धरस कटत अघ भारे ।
 जे पद-पदम परति रियि-मतिनी, बसि, नृग, व्याध पतित बडु सारे ॥
 जे पद-परम रमत वृंदावन, अहि-सिर धरि अगनिंत रिपु सारे ।
 जे पद-पदम परति ब्रज-भामिनि सरवस दे सुत-सवन विसारे ॥
 जे पद-पदम रमत पाद-बल, दूत गए सब काज सेवारे ।
 'सूरदास' तेई पद-पदम, त्रिभिध-ताप-नुख-हरन ह्वारे ॥

कवित्त

एठ बांध्यो मुकट, सेंभेट घुंघरारे-वार, कुडल चढाए कान कँलगी सुघट की ।
 लांधिया जकरिकें, अकरि अग-राग करि, कटिमें लपेटो कसि पेटी पीत-पट की ॥
 भुगु-भद अक ढाल सकति ठियाकी चिन्ह, 'सूदन' सनाह बनमाल साल टटकी ।
 कोटैन सुभट की, मिहारि मति सटकी, सो सुंदर गुपाल की धरैन भेष नट की ॥

श्रद्धांजलि

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

पूज्यचरण भाई साहेब सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार हिंदी-जगत् के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान्, सुप्रसिद्ध समालोचक तथा श्रेष्ठ कवि हैं—पुराने साहित्यिक महारथियों में से एक हैं। आचार्य द्विवेदीजी के बाद प्राचीन शैली के आलोचको और विचारको में आपका सबसे ऊँचा स्थान है। आधुनिक आलोचना-साहित्य पर विदेशी शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय साहित्यिक परंपरा का अध्ययन और अनुशीलन करके उसी दृष्टि से साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा करनेवाले विद्वान् प्रायः कम देखने में आते हैं। सेठ कन्हैयालालजी ऐसे ही विरल विचारको में समाहित स्थान के अधिकारी हैं। अग्रवाल समाज के सुप्रसिद्ध व्यापारी-कुल में जन्म लेकर भी लक्ष्मी की सेवा में न लगकर आपने अपने जीवन का अधिकांश समय सरस्वती की सेवा में ही लगाया। आपका संस्कृत और हिंदी-ज्ञान अगाध है। संस्कृत रचनाओं के मर्म तक आपकी बुद्धि पहुँची है। आपके लेख और कविताएँ बहुत वर्षों से हिंदी के पाठ्यग्रंथों में अध्ययन के लिए संकलित हैं। 'काव्य-कल्पद्रुम' में आपने काव्य के सभी अंगों का मार्मिक विवेचन किया है। काव्य-प्रकाश के निर्माता आचार्य भस्मट तथा ध्वन्यालोक के लिए लोचन प्रदान करनेवाले आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने रस-सिद्धांत की जो गंभीर आलोचना की है, वह बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी बुरा है। काव्य-कल्पद्रुम में उन सबकी छाया लेकर बड़े मार्मिक ढंग से आलोच्य विषयों को स्पष्ट किया गया है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्वसनविष्पतिः' इस भरत-सूत्रपर जो भट्ट लोल्लट, श्रीशकुल, भट्टनाथक तथा अभिनवगुप्तपाद की विभिन्न व्याख्याएँ हैं, उनका मर्म समझने में साहित्य के विद्यार्थी प्रायः भूल कर जाते हैं। श्रीकन्हैयालालजी ने अपने ग्रंथ में उपर्युक्त आचार्यों के क्रमशः आरोपवाद, अनुमितिवाद, भोगवाद और अभिव्यक्तिवाद का एक-दूसरे से अंतर बताते हुए स्पष्ट विवेचन करके अध्ययनशील छात्रों का महान् उपकार किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना-वृत्तियों के निरूपण में भी आपको पर्याप्त सफलता मिली है। महिमभट्ट के मतका निराकरण करते हुए व्यञ्जना-वृत्तिकी स्थापना का प्रकरण भी आपने अच्छी तरह हृदयगम कराने का प्रयत्न किया है। साहित्य पर्यालोचको में आचार्य भस्मट के सिद्धांतपर ही आपकी अधिक आस्था है और उनके सिद्धांत को आपने बड़ी सफलता के साथ स्पष्ट किया है। अलंकारों के लक्षण-विवेचन के साथ ही अनुकूल उदाहरण रूप में हिंदी-साहित्यसे उत्तमोत्तम पद्यों का उद्धरण देकर आपने ग्रंथकी सरसता एवं उपादेयता को बहुत आगे बढ़ा दिया है।

आपका दूसरा ग्रंथ 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' है, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। उसके द्वारा भी हिंदी में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। इसमें संस्कृत-काव्य-परंपरा, काव्यगत विशेषताओं की आलोचना-परंपरा तथा साहित्य-समीक्षक विद्वानों की संप्रदाय-परंपरा का जो क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है, वह हिंदी में अद्वितीय है। प्रत्येक पृष्ठ में, जहाँ दृष्टि जाती है, लेखक के गंभीर अध्ययन, दीर्घकालिक मनन, सूक्ष्म दर्शन तथा चमत्कारपूर्ण विवेचन-कलाका परिचय मिलता है। संस्कृत-साहित्य के अनुशीलन से आपकी ज्ञान-गरिमा बढ़ी है और प्रतिपादन-शैली में बड़ी प्रौढ़ता आ गयी है। इन दोनों के अतिरिक्त भी कई छोटे-मोटे ग्रंथ आपने हिंदी-जगत्को नेंट किये हैं। निबंध लिखने की कला में भी आप सिद्धहस्त हैं। महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवत आदि

पौराणिक साहित्य का भी आपने गहरा अध्ययन किया है। आपके साहित्यिक ही नहीं, धार्मिक निबन्ध भी बड़े मार्मिक होते हैं। प्रायः प्राचीन साहित्य-समीक्षक लौकिक रति को ही रस मानते आये हैं। देवविषयक या भगवद्विषयक रति को उन्होंने 'भाव' माना है। सस्कृत में सर्वप्रथम गौडीय विद्वानों ने भगवद्विषयक रति को ही वास्तविक रस मानने की बात उठाई है। हिंदी में सर्वप्रथम केवल सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार ने 'कल्याण' में एक लेख लिख कर 'भक्तिरस' को सर्वोत्कृष्ट 'रस' सिद्ध किया है और इस प्रकार रसनित्य का निरूपण करनेवाले हिंदी के साहित्यिकों के समक्ष एक नूतन सिद्धांत विचार के लिए प्रस्तुत किया है। समझ है, उसे पढ़कर आधुनिक आलोचक भवतक की मानी हुई धारणा को बदलें और भक्तिरस को ही 'रसरत्न' की उपाधि से विभूषित करें। कल्याण के 'श्रीकृष्णार्क' में सेठ श्री कन्हैयालालजी ने भवतारो के भेद-उपभेदों की शास्त्रीय दृष्टिसे जो सूक्ष्म विवेचना की है, वह अनुपम है, उनसे आपकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। आपने 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो नञ्छति धीमताम्' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए नि स्वार्थ भावसे ही हिंदी-साहित्य की सेवा तथा श्रीवृद्धि की है। आपमें मस्कृत के श्लोको का उसी छंद में हिंदी-अनुवाद करने की अद्भुत प्रतिभा देखी जाती है। कालिदास के 'मघदूत' का हिंदी पद्यानुवाद आपने इसी प्रकार किया है और वह अनुवाद भाव तथा भाषा सभी दृष्टियों से सफल हुआ है। सेठजी ने दीर्घकालतक हिंदी-साहित्य को अपनी विचार-पूर्ण कृतियों के द्वारा समुन्नत एवं सभानित किया है, यह हिंदी-जगत् के लिये सीमाव्य की बात है। हिंदी-जगत् आपके इस उपकार का बदला नहीं चुका सकता। इस 'अभिनदन-ग्रंथ' द्वारा हम लोग अपने देश की इस अनुपम विभूति की यत्किञ्चित् श्रद्धा करने अपने-आपको ही गौरवान्वित कर रहे हैं। उनका गौरव तो स्वतः सिद्ध है। आपकी विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ ही आपके नाम और यश को सदा प्रकाशित करती रहेंगी। भारतवर्ष को सेठजी के सदृश धर्मपरायण, सयमी, सदाचारी तथा प्रतिभाशाली विद्वान् साहित्यकार की सदा आवश्यकता रहेगी। जीवन के शेष भाग में आप स्वयं भगवच्चिन्तन करते हुए साहित्यिकों के जीवन में भी भगवद्भाव को बढ़ानेवाली प्रेरणाएँ देते रहें। इन शब्दों के साथ मैं आपकी सेवा में अपनी श्रद्धाजलि भेंट करता हूँ और छोटे साईं के नाते आपके श्रीचरणों में श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करता हुआ ऐसा आशीर्वाद चाहता हूँ कि जिससे मेरा शेष जीवन अब श्रीभगवान् के स्मरण-चिन्तन में ही व्यतीत हो।



सेठजी के व्यक्तित्व सूत्र

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

सेठजी से मेरा परिचय सन् १९३१ में हुआ, जब मैं मथुरा-संग्रहालय में कार्य करने गया। मथुरा में जिन साहित्यिक मित्रों ने मुझे अपनी ओर खींचा, उनमें श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार मुख्य थे। 'मिचलूत' पर लिखी हुई उनकी टीका से मैं पहले ही परिचित हो चुका था, परन्तु अब सेठजी के खिलखिलाते व्यक्तित्व की परिधि का मैं भग बन सका।

स्वामीघाट के निकट चूल्वालो का महल भव्य स्थान है। मथुरा के अनेक साहित्यिक मित्र वहाँ समय-समय पर एकत्र होते और गोष्ठी-सुख का अनुभव करते थे। यह सब मेरे उदीयमान मन के लिये आकर्षण की वस्तु थी और उसमें सेठजी की बालसुलभ सरलता, उनका उन्मुक्त हास्य, आठ पहर खुला हुआ स्वागत-भाव और हिंदी तथा संस्कृत-साहित्यों से सबंध रखनेवाली प्रत्येक बात में गहरी रुचि, ऐसा धरेलू वातावरण उत्पन्न करती थी कि वे गोष्ठियाँ साहित्य-सेवियों के लिये सचमुच रस-तृप्ति की साधन बन गई थी। एक बात जो हम सबके मन पर असर डालती, वह यह थी कि साहित्यिकों के साथ सेठजी सोलह आने सरस्वती-पुत्र की तरह ही संपर्क में आते। एक भी उदाहरण ऐसा याद नहीं, जब धन-सवधी नीरसता ने बीच में व्यवधान डाला हो। यही कारण था कि मित्र लोग स्वच्छंदतया वहाँ जमते और सारस्वत गोत्रियों का जो सरल आनंद है उससे छककर लौटते एवं बार-बार उसका स्वाद लेने यमुना तट के समीप उस भवन में एकत्र होते। आज मथुरा पीछे छूट गई है, परन्तु दस वर्षों तक अजस्र प्राप्त साहित्यिक बैठकों के वे सुख भूलने के नहीं।

जीवन में रच-पचकर बहुत से सेठ-सेठिये धन के सुमेरु खड़े करते हैं, पर साहित्यिकों को उसमें अमरता की गंध नहीं आती। कहते हैं सोने में सुगंध नहीं होती, इसी कारण साहित्य के अमर वहाँ नहीं पहुँचते। परन्तु सरस्वती का कमल जहाँ खिलता है, वहाँ भीना सौरभ चारों ओर फैलता ही है। सेठजी ने भी जीवन में सफल व्यापार किया है। वैद्यों की सहज पैनी बुद्धि से इस क्षेत्र में प्राप्त सिद्धि उनके लिये सच्चे सतोष का कारण है। किंतु उनका साहित्यिक भावों का व्यापार विलक्षण ही है, जिससे उन्होंने अपने मानस के देवायतन में शारदा के लिये पूजा के कुछ फूल चढ़ाए। आज इसीलिये हम उनका 'अभिनवन' करते हैं।

अस्सी वर्षों की आयु में भी सेठजी के मन में साहित्य-संस्कृति-सवधिनी रुचि के वे अक्रूर विद्यमान हैं, जो केवल सरस्वती-पुत्रों के ही बाँट में आते हैं। उनका मन द्विधा विभक्त नहीं है, जीवन में जिस वस्तु की उन्होंने उपासना की उसे पाया, यह सतोष उनके श्रद्धावान् मन को आज प्रसन्न रखता है। पाणिनी के शब्दों में कहें तो 'पुत्र-पौत्रमनु भवति' वाले उनके पुत्र-पौत्रीण रूप को देखकर आज उनके मित्र हृदय से प्रसन्न हैं। जीवन में सबको परिमित समय और शक्ति ही मिलती है, उनका सदुपयोग यदि समय रहते किया जा सके तो यही लाभ है।

सेठजी प्राचीन परंपरागत जीवन-विधि के प्रति आस्थावान् हैं। वे उस परंपरा के प्रतीक हैं, जो शास्त्रानुमोक्षित धर्म-कर्मों के श्रद्धायुत प्रतिपालन पर आश्रित है। किंतु उनके ये विचार और जीवन-धर्म एकानंत निजी व्यक्तित्व की परिधि में सिमटे हुए हैं। अतएव वे सर्वथा निर्विरोध रहकर जगत् के नितप्रति परिवर्तनशील नूतन विधि-विधानों के साथ टकराते नहीं। यह उनके और

उनके मित्रों के लिये पारस्परिक समझौते का कारण तो है ही, स्वयं उन्हें वर्तमान समाज से खीझने का अवसर नहीं देता ।

साहित्य के क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण इसी भाव से प्रेरित है । कालिदास, तुलसीदास, व्यास, वाल्मीकि के चार दृढ़ स्तंभों पर जिस भवन का निर्माण भारतीय संस्कृति कर सकी, उसके वे एक नागरिक हैं । उन्होंने परंपरागत आलोचनात्मक-तत्त्वों से इन काव्यों का निरंतर रसपान किया है । साहित्यिक जीवन में इसे वे अपनी पूँजी मानते हैं । किसी भी प्रकार की प्रयत्न-साध्य शिक्षा के बिना इन अमर काव्य-ग्रंथों की कृपा से ही वे भारतीय साहित्य और संस्कृति का साभिध्य प्राप्त कर सके हैं ।

एक बात जो हमारे लिये पहेली रही है और आगे भी जिसकी गूत्नी खुलेगी ऐसी भाषा नहीं, वह सेठजी का अलकारों के क्षेत्र में 'गजावलोकन'—हाथी की तरह घूम कर पूरी तरह देखना—है, अथवा हम इसे 'भ्रमगाहिक्या' प्रवेश कर्हे तो उपयुक्त रहेगा, अर्थात् अलकारों के 'भरखा वेल' के सींग पकड़ कर उसे सीघा कर लेना, इसे सचमुच हम सेठजी का साका कहते हैं । हमारी निजी प्रवृत्ति तो साहित्य की उस अनलकृता शकुंतला की ओर रही है, जिसके लिये कालिदास ने लिखा था—
किमिव हि मयुराणां भंडनं नाकृतीनाम् ?

किंतु इच्छा से, अनिच्छा से, अलकारों की महिमा तो माननी ही पड़ेगी । उनसे सचमुच काव्य का शरीर सजता है । उनकी परछाईं झुल्लू भले ही हो, वे हैं साहित्य के आवश्यक अंग । सेठजी अलकारों के विषय को अपने साहित्यिक भ्रमण में 'कलोर वछडे' की तरह खेलते हुए पा सके, यह उनकी जन्मांतर सिद्धि है ।

व्रज-साहित्य-मंडल के लिये सेठजी सांस्कृतिक दृष्टि से मयूर के जनपदीय प्रतिनिधि हैं । उनका अभिनंदन व्रज-संस्कृति का अभिनंदन है । साहित्य, संस्कृति, धर्म, कला और लोक के रूप में व्रज-मंडल का जो रूप इतिहास के पृष्ठों में संपादित हुआ है, उसका परिचय 'व्रज-साहित्य-मंडल' और उसके सस्थापक-समर्पक श्री सेठजी दोनों के हृदय की वस्तु है । इसी भाव से यह सामग्री प्रस्तुत है । परिमित होते हुए भी यह श्रद्धा की वस्तु है, अतएव ग्राह्य है ।



श्रद्धा के कुछ पुष्प

श्री देवीदत्त शुक्ल

विजेता मुसलमानों-द्वारा हिंदी के अपदस्थ कर दिये जाने पर भी वह अपदस्थ नहीं हो सकी। हिंदी-भाषियों का सांस्कृतिक दृष्टिकोण इतने ऊँचे स्तर पर था कि राजनैतिक पराधीनता की दुरवस्था में भी वे मातृभाषा का प्रेम नहीं त्याग सके। या यों कहें कि उस दृष्टिकोण के फलस्वरूप उनमें कालांतर में समय-समय पर ऐसे साहित्य-रत्न निकलते आए, जो दूरवस हिंदी-भाषियों को अपनी ओर बराबर आकृष्ट ही नहीं किए रहे, किंतु उनपर ऐसा प्रभाव भी डालते रहे, जिससे उनमें साहित्यानुसार निरंतर वृद्धता ही रहा। यह इसी महान् सतत प्रयत्न का महा फल है कि आज हिंदी देश के साहित्य-क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान ही नहीं प्राप्त किए है, किंतु उसने अपनी स्वाभाविक पद भी प्राप्त कर लिया है और वह आज देश की सरकार-द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण की गई है। यह सब उन स्वार्थत्यागी तथा अनन्य मातृभाषा-प्रेमी विद्वानों की वहीलत हो सका है, जो असुविधाओं और विषम परिस्थितियों की परवा न करते हुए स्वात्म-सुखाय उसकी और उसके साहित्यकारों की सेवा-अर्चा में बराबर सलग्न रहे हैं। प्रसन्नता की बात है कि हम अपनी उस प्राचीन परंपरा को आज भी असुलूण बनाए हुए हैं।

जैसी हमारी समता और शक्ति रही है, हमने बराबर मातृभाषा के साहित्य की अभिवृद्धि भी की है और अपने लोक-समावृत साहित्यकारों की पूजा भी। ऐसी ही पूजा-अर्चा का एक अनिवार्य भाग हम लेकर फिर उपस्थित हुए हैं, जिसकी भेट एक ऐसे ठोस साहित्यिक को की जा रही है, जो आत्म-अभिरूपा या 'प्रोपेगेंडा' से सदैव दूर रहा है और जिसने एकमात्र हिंदी के साहित्य का व्यापक अध्ययन कर अपने 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक एक वृहत् ग्रंथ से सहस्रो हिंदी-भाषियों की ज्ञान-वृद्धि के लिए एक अमूल्य साधन ही नहीं उपस्थित कर दिया है, किंतु अपनी सुकृति से मातृभाषा के साहित्य-मंदार के गौरव को बढ़ाया भी है। वे स्वनामधन्य साहित्य-मनीषी हैं मथुरा के वयोवृद्ध सेठ कन्हैया-लाल पोद्दार। उनकी इस अवसरपर इस प्रकार अभ्यर्थना और पूजा कर इसके सयोजकों ने अपने कर्तव्य का पालन ही नहीं किया है, किंतु अपनी इस सुकृति से उन्होंने मातृभाषा का भी गौरव बढ़ाया है। अतएव इस सत्कार्य के लिए वे लोग भी कम प्रशंसा के पात्र नहीं हैं।

सेठजी का नाम मेने छात्रावस्था में मित्र-मंडली की गोष्ठियों में सुना था और उनके 'अलंकार-प्रकाश' के भी दर्शन किए थे, परंतु उनके वास्तविक रूप का दर्शन मुझे उनके 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक ग्रंथ में हुआ। सेठजी के सपर्क में आने का सौभाग्य मुझे तब प्राप्त हुआ, जब पंडित किशोरीदास बाजपेयी जी ने 'काव्य-कल्पद्रुम' की एक समालोचना 'सरस्वती' में छपवाई। इसका उत्तर पोद्दारजी ने तुरंत ही दिया, जो यथा-समय 'सरस्वती' में छपा। तदुपरांत बाजपेयी जी ने फिर एक लेख लिखा और जब पोद्दारजी ने उसका भी समुचित उत्तर दिया, तब बाजपेयी जी चुप हो गए और वह विवाद एक प्रकार से अबूरा ही रहा। उसका कोई उपयुक्त निष्कर्ष न निकल सका। यह देख कर मुझे कुछ हुआ और मेने इस बातका अनुभव किया कि बाजपेयी जी के लेख को छापकर मेने 'सरस्वती' के पृष्ठों को व्यर्थ ही बरबाद किया और एक आदरणीय वयोवृद्ध साहित्यिक को कुछ पहुँचाया, परंतु पोद्दारजी के जो पत्र मुझे मिले थे, उनको पुनः पढ़कर मेने अपना समाधान कर लिया। उन पत्रों में

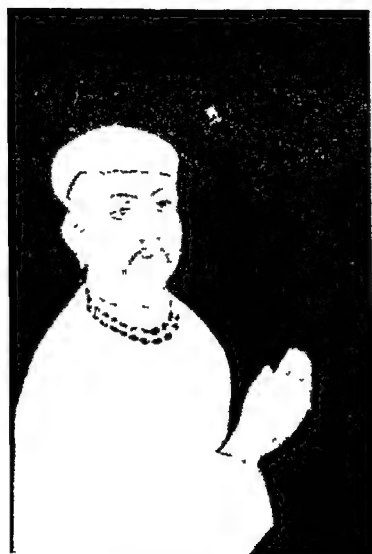
जो सात्विक भाव तथा सद्बिचार सेठजी ने व्यक्त किए थे, वे सर्वथा उनके अनुरूप थे। इसके बाद पंडित भविकाप्रसाद बाजपेयी जी ने 'सरस्वती' में 'रामचरितमानस' के सबंध में अपनी लेखमाला छपवाई तब पोद्दारजी ने उसके विरुद्ध लेख लिख कर भेजा। उसे मैंने आदर के साथ 'सरस्वती' में छापा। यहाँ मैं इतना अवश्य कहूँगा कि पोद्दारजी अपनी आस्तिकता के अतिरेक के कारण धोखा खा गए। बाजपेयी जी ने उक्त लेखमाला विधुद साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखी थी। यो बाजपेयी जी व्यक्तिगत रूप से आस्तिक ही नहीं, नियमपूर्वक ब्राह्मणोचित पूजा-अर्चा के बालपन से अभ्यासी हैं। तो भी यह विवाद साहित्यिको के लिए रुचिकर ही रहा। इन दो प्रसंगों के कारण पोद्दारजी से मेरा जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उससे मैं भले प्रकार जान सका था कि वे साहित्यानुरागी तो हैं ही, उदात्त चरित के सदसद्विवेकी, समयशील भक्त पुरुष भी हैं।

ऐसे महान् पुरुष की आज उनके ८१ वें वर्ष के वय में हिंदी के साहित्यानुरागियों-द्वारा जो अभिनंदन किया जा रहा है, उससे सहयोग करना प्रत्येक मातृभाषा-प्रेमी का कर्तव्य है और नगण्य होते हुए भी इस सत्कार्य में भाग लेने का मित्रवर प० जवाहरलाल नतुर्वेदी ने जो अवसर मुझे प्रदान किया है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए मैं भी सेठजी के कर-कमलों में यह 'शब्द-पुष्पाञ्जलि' अर्पित करता हूँ और जगदीश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतजीवी हों।





ਸਾਹਿਬ ਦੇ ਪੁਰਖਾਨਾ ਸਾਹਿਬ ਦੇਵ



ਸਾਹਿਬ ਦੇ ਪੁਰਖਾਨਾ ਸਾਹਿਬ ਦੇਵ



ਸਾਹਿਬ ਦੇ ਪੁਰਖਾਨਾ ਸਾਹਿਬ ਦੇਵ

पोद्दारजी का घराना और पोद्दारजी

पं० श्री भावरमल्ल शर्मा

"यया चतुर्भिः रत्न परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदेनताप ताडनं ।

तया चतुर्भिः पुण्यः परीक्ष्यते ज्ञानेन द्रोणेन कुलेन कर्मणा ॥"

देग "देगावाटी" राजस्थान-जयपुर विभाग के अन्तर्गत एक उप-विभाग है। वहाँ श्रीवेर—जयपुर के कछवाहा राजवंश की एक वसिष्ठ एवं बहु-गत्या विविष्ट देगावत-आत्मा का आविर्भाव है। कछवाहा-वंश की पान्थावत-शाखा का मूल पुण्य श्रीवेर के तेरहवें अविरति राजा 'उदयकरण' (वि० म० १४२३-१४४५ तदनुसार म० १४८०-१४०२ ई०) के अन्त्यतम पुत्र 'राव देगा' (म० १४६०-१४४५) हुआ, जिसने स्व-बाहुबल से अपनी सत्ता स्थापित की। राव देगा, जोयपुर-राज्य के मन्थामक धीरवर 'गव जोधा' का सम-सामयिक एवं सम-शील योद्धा था। देगावतों का अधिकार स्थापित होने के अनन्तर ही इस भाग का नाम 'देगावाटी' प्रसिद्ध हुआ। 'वाटी' पट्टी का नामांतर है। उदयपुरवाटी^१ मुजुनुवाटी, नरहडवाटी, पिघाटनावाटी, सीकरवाटी और फतहपुरवाटी इत्यादि देगावाटी के ही अंतर्गत हैं। बाँसूर (अलवर) तथा नाण-अमरमर और जडेला के इलाके भी पुरानी देगावाटी के ही अंग हैं। कारण वहाँ देगावत वंश की ही प्रधानता रही है।

रामायण के समय में यह प्रदेश 'मरुकातार' के अंतर्गत था और महाभारत-काल में इसकी गणना 'मत्स्य देश' में की जाती थी, जिसकी राजधानी का गौरव वर्तमान 'बैराठ' को प्राप्त था। बैराठ की प्राचीन नाम 'विराट नगर' है। बैराठ की समीपवर्तिनी एक पहाड़ी की चट्टानपर बौद्ध सम्राट् अशोक का एक अभिलेख प्राप्त हो चुका है, जो विक्रम मवत् के प्राय २०० वर्ष पूर्व का है। यह लेख 'भाबू का पिला लेख' के नाम से प्रसिद्ध है और 'रायल एसियाटिक सोसायिटी बंगाल' के संग्रहालय में सुरक्षित है।

दशवीं-म्यारहवीं शताब्दी—चोहानों के शासन-काल में इस प्रांत का 'सपाद नक्ष'^२ एवं 'अनत'^३ नाम होना पाया जाता है। तत्परवर्ती-समय में चोहान, निर्वाण, मोरी, चंदेल और जोड़ इत्यादि क्षत्रिय वंशों के अतिरिक्त यहाँ कायमखानी और नागड़ पठान भी शासन कर चुके हैं। कायम-खानियों के झुंझू और फतहपुर—दो राज्य थे और नागड़ पठानों का परगना था नरहड। विक्रम की १८ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में देगावत वीर 'गार्दूलसिंह' (उदयपुर) और 'राव शिवसिंह' (सीकर) ने जयपुर-प्रतिष्ठाता महाराजाधिराज 'सवाई जयसिंह' की सहानुभूति और सहायता से उक्त परगनों पर अधिकार स्थापित कर अपने 'देगावत उपनिवेश' की सीमा बढ़ायी।^४

रामगढ़

सीकर-संस्थान के 'राव देवीसिंहजी' (स० १८२०-१८५२) ने अपनी सीमा के अंतर्वर्ती नोसा गाँव की जगह सवत् १८४८ में 'रामगढ़' की नींव डाली और वहाँ चुरू (वीकानेर) से सेठ

^१ यह उदयपुर, मेवाड़ के उदयपुर से भिन्न है।

^२ डान्ढर गौरीशंकर हीराचंद ओझा—'राजपूताना के विभिन्न भागों के नाम'—पृष्ठ ५।

^३ हर्ष के पहाड़ का 'शिलालेख'—श्लोक १६ बी, एपिग्राफिया इंडिका—भाग २।

^४ इस लेख के लेखक-द्वारा लिखित 'देगावाटी के शिलालेख' शीर्षक लेख।

भगोतीरामजी पोद्दार^१ को उनके पुत्रो-सहित धावर पूर्वक लाकर बसाया, अतएव वह छोटासा गाँव कस्बे का रूप धारण कर "सेठो का रामगढ" कहलाया^२। सेठ भगोतीरामजी के कारण थोड़े ही समय में रामगढ की आवादी ही नहीं, प्रत्युत स्मृद्धि के साथ ख्याति भी बढ गई और उसकी गणना शेखावाटी के मुख्य बारह शहरों में हुई।

कहा जाता है, चूल्के तत्सामयिक ठाकुर साहब से जगात के प्रश्न को लेकर सेठ भगोतीरामजी की अन-बन हो गई थी। उस समय राव देवीसिंह जी ने बश-परंपरा के लिये राज-समान के साथ अपनी और से सब तरह की सुविधाएँ देकर उन्हें रामगढ में बसने के लिये उत्साहित किया था। सेठ भगोतीरामजी तीन पुत्रों के पिता और आठ पौत्रों के पितामह थे। उनके पुत्रों में ब्येष्ट सेठ चतुर्भुजजी ने एक सिद्ध महात्मा यति की श्रद्धापूर्वक सेवा की थी। यतिजी ने कृपापूर्वक उन्हें व्यापार के लिये आज्ञा करने का मुहूर्त बताया। तदनुसार चतुर्भुजजी घरसे विदा होकर शहर से बाहर पहुँचे तो मार्ग में दाहिनी ओर एक काला सर्प फन उठाये दृष्टि-गोचर हुआ। सर्पको देखते ही अपवकुल समझकर सेठजी लौट आये और सीधे यतिजी के पास पहुँचे—उन्हें अपने मन की बात कही। यतिजी ने सोचकर कहा—तुमने लौटकर अच्छा नहीं किया, वह अप-वकुल नहीं—शुभ सकुल था और फलतः तुम्हारे सरपर छत्र फिरता, अब भी विलम्ब न कर तुम्हें चले जाओ तुम्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी और तुम्हारा प्रताप बढेगा। अपने श्रद्धेय महात्मा का आशीर्वाद पाते ही चतुर्भुजजी पुनः प्रस्थानित हुए और नौहर से भटिंडे पहुँचकर अपनी कोठी की स्थापना की और विपुल रूप में धनार्जन किया। पचावक भाँटिडा नगर उन दिनों व्यापार का एक प्रधान केंद्र बना हुआ था। भटिंडे का नाम सेठ भगोतीरामजी के कृतज्ञ कुल में अब भी बड़ा शुभदायक समझा जाता है। चतुर्भुजजी-द्वारा प्रतिष्ठित भगवान् श्री चतुर्भुज जी का भविर रामगढ में उनके पवित्र नाम का स्मरण दिलाने के लिये विद्यमान है।

सेठ चतुर्भुजजी के पुत्र ताराचवजी सरल स्वभाव के स्वधर्मनिष्ठ सज्जन थे। अपने पुत्रद्वय गुरुसहाय-मलजी और हरसहायमलजी को छोड़कर वे युवावस्था में ही स्वर्गवासी हो गये थे। सेठ गुरुसहायमलजी और उनके कनिष्ठ सहोदर हरसहायमलजी का परस्पर में बड़ा स्नेह रहा। इन दोनों ही भाइयों ने अपने विशिष्ट गुणों के कारण यथेष्ट स्वात्तिलाभकर स्व-कुल का गौरव बढ़ाया। गुरुसहायमलजी ने सन् १८६०-६१ के लगभग आई से पृथक होकर अपना वैभव विस्तार किया। व्यापार में पृथक्ता रहने पर भी पारस्परिक स्नेहभाव में भाइयों ने किसी प्रकार का अंतर नहीं आने दिया। गुरुसहायमलजी ने जिस प्रकार प्रचुर परिमाण में धनार्जन किया, उसी प्रकार मुक्त हस्त होकर उसका धर्म के कामों में विनियोग किया। हिंदी के अन्यतम निर्माता सुदर्शन-सपादक स्वर्गीय पंडित माधवप्रसादजी मिश्रके शब्दोंमें उनकी धर्मनिष्ठा, ईश्वर-परायणता, सामु-सेवा और ब्रह्मण्यता का चित्र सहूलो लोगो के हृदय-पटलपर अंकित है। उनके चरित से अनेक उपदेशों के साथ यह शिक्षा मिलती है कि दीन-दुखियों की सहायता, विद्वानों का आदर और परोपकार करने से मनुष्य बड़ा होता है—केवल रुपये के बल से नहीं। सेठ गुरुसहायमलजी की महत्ता का इससे बढ़कर उत्कृष्ट उदाहरण क्या हो सकता है कि लोग परस्पर वार्तालाप में कहा करते थे कि 'ऐसा तू बड़ा गुरुसहायमल सेठ आ गया जो, दु ख-

^१ 'पोद्दार-शस्त्र' वृत्ति मूलक है। किसी बावसाह या नवाब की पोतेदारी करने के कारण पोद्दार कहलाये। 'पोद्दार' शब्द लोचन के अग्रवाल वैश्य है।

पोद्दार शब्द का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र प्रकरण ३७ में—“पौतवाध्यस्त पौतवकर्मन्तात् कारयेत्” आया है। निम्न व्यवसाय-वाणिज्य के उपयोगी, अर्थात् रत्न, रत्न से लेकर वस्त्र और पत्थर तक की माप-तोल और बाँटो का निर्धारण करने का अधिकारी।

^२ सोकर का इतिहास पृष्ठ १०१।

दूर कर देगा।' सेठजी का व्यापार भारत के बड़े नगरो, कस्बो और प्रसिद्ध व्यापारिक मंडियों तक फैला हुआ था। यही नहीं—दूर देश चीन के 'हांग-कांग' और 'संघाई' में भी उनकी कोठियाँ थी^१। वैसे तो आपकी कोठियों पर सराफे के साथ-साथ उस समय के प्रचलित सभी व्यापार होते थे, पर अफ़ीम और बीमा का व्यापार मुख्य था। मालवा प्रांत से अफ़ीम खरीद कर बंबई-द्वारा चीन भेजी जाती थी। उस समय अफ़ीम का व्यापार बड़ी उन्नतावस्था में था और सेठ जी उस क्षेत्र में अग्रगण्य थे। बीमाका व्यापार उस समय किसी विदेशी या स्वदेशी कंपनी के हाथ में नहीं था। वह लुट-खसोट का ज़माना था—रक्षा के साधन भी बहुत स्वल्प थे। उस स्थिति में एक स्थान की वस्तु दूसरे स्थान तक सुरक्षित पहुँचा देने का भार उठाने का साहस सेठजी की कोठियाँ ही करती थी^२। व्यापार में जो लाभ होता था उसका एक विशेष भाग पुण्यार्थ-व्यय करने के लिये पृथक् रक्खा जाता था और जो भाग पृथक् रक्खा जाता था उससे भी अधिक व्यय करने में वे भानदानुभव करते थे। मयूरा-वृन्दावन की यात्रा सेठ गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी ने सवत् १६०० के लगभग की थी।

गुरुसहायमलजी के पुत्र घनश्यामदासजी भी साथ थे। उस यात्रा में उनके हृदय में ब्रज में सेठ घनश्यामदासजी निवास करने का अनुराग उत्पन्न हुआ और वे वर्ष में छह महीने मयूरा और छह महीने रामगढ़ रहने लगे। सवत् १६०५ में अपने इष्टदेव श्री गोविन्ददेवजी का मंदिर निर्मित कराके उसके भोगरागकी स्थायी व्यवस्था के लिये लक्षाधिक रुपये की स्थावर और जगम संपत्ति समर्पित की। मयूरा में सेठजी का घराना चूड़ीवालो के नाम से प्रसिद्ध है। वह मुहल्सा भी 'चूड़ीवाले सेठों की गली' कहलाता है। चूड़वाल का अपभ्रंश 'चूड़ीवाल' होगया।

सेठ गुरुसहायमलजी ने काशी की यात्रा के उद्देश्य से जाकर वहाँ भीरघाट के पास एक कोठी खरीदी, जो 'बड़ी कोठी' के नाम से विख्यात है। उसी कोठी में सख्खा उन्होंने शिवालय की प्रतिष्ठा की और 'गुरुसहायमल घनश्यामदास' के नाम से अपना व्यापार आरंभ किया। काशी, मयूरा, वृन्दावन, हरिद्वार आदि तीर्थस्थानों में उनकी ओर से अन्नक्षेत्रों की समुचित व्यवस्था थी। दीन-मुखियों का दुःख-

^१ हांगकांग और संघाई में अफ़ीम के व्यापार के लिये पहले-पहल गद्दी खोलने का साहस राजस्थानी—मारवाड़ी ध्यवसायियों में सेठ भगोतीरामजी पोद्दार के वंशजों ने ही किया था। उनकी 'चार कोठियाँ थीं, जिनके नाम थे—(१) ताराचंद गुरुसहायमल, (२) स्योजीराम भगतराम, (३) स्योजीराम जोखीराम और (४) स्योजीराम हरगोविंद।

^२ सेठजी के यहाँ बीमा के व्यापार का प्रकार यह था कि जो वस्तु जिस जगह से जो कोई व्यक्ति जिस किसी स्थान को भेजने का इच्छुक होता, वहीं सेठजी की गद्दी के मुनीम-गुमास्ते पहुँचा देते। उसको 'हुंडा-भाड़ा' कहते थे। बीमा की दर प्रायः एक रुपया सैकड़ा और नीचे में बारह आने सैकड़ा तक नियत थी। प्रामाणिकता के साथ शुद्धता इतनी थी कि वस्तु को देखते तक नहीं थे। यदि कोई अपनी वस्तुओं को लाखों की जोखिम बेचना चाहता तो उसके लिये भी तैयार रहते थे। जोखिम या बीमाकी वस्तु के बोझ का भाड़ा भ्रलण लिया जाता था। बीमाकी लिखावट यो होती थी—

श्रीरामजी सहाय

भाई नवलकिशोरजी से गारायणप्रसाद का रामराम वंचना। अवरच (कपड़े का, या अफ़ीम का या गहने का) 'हुंडा-भाड़ा' भंडसोर से बंबई तक तुम्हारा लिया, जिसका रुपया रोकड़ी लिया। ताती, सीलो, चोरी, जौरी, भाई, भगभाई हमारी छै। निती-संबत् और मुनीम का हस्ताक्षर।

एक बार शोलावाड़ी के प्रसिद्ध डाकू झूझी-जुहारजी ने एक 'सागा' (चालान) लूट लिया था। फिर भी बीमा बेचनेवालों को उसके १३ लाख रुपये देने में किंचित् भी क्लिंद या सकौच नहीं किया गया था। ऐसे सद्ब्यवहार और उबार प्रवृत्ति के कारण ही सेठजी की गद्दी को मारवाड़ी समाज में सर्वोच्च सरपच होने का समान प्राप्त हुआ था।

मोचन करने के लिये वे सदा तत्पर रहे। विद्वानों का सत्कार और प्रतिष्ठा-मेवा उनके जीवन का व्रत था। राजस्थान के ऋषिकल्प विद्वान् पंडित 'मंगलदत्तजी' और पंडित 'तुलसीरामजी' जैसे त्यागशील, तपोधन महानुभावों के सत्संग और उपदेश का उन्होंने विशेष लाभ उठाया था। विद्याप्रचार-कार्य में सेठजी उनके सहायक स्तम्भ रहे। महात्मा पंडित मंगलदत्तजी एवं पंडित तुलसीरामजी के साथ शत और श्रद्धा शत सत्था में अग्र्ययनशील ब्रह्मचारी विद्यार्थियों का समूह चलता था। वे प्राचीन भारत के कुलपतियों के प्रतीक थे। सेठ गुरुसहायमलजी विमल यग, अनुल मपति और बड़ा परिवार छोड़कर ज्येष्ठ शुक्ल ४ सवत् १६२४ को स्वर्गवासी हुए। रामगढ़ में उनके दाह-स्थानपर स्मारक के रूप में एक विशाल छत्री बनी हुई है।

सेठ गुरुसहायमलजी के पुत्र साधु स्वभाव में घनश्यामदामजी अपने स्वर्गीय पिता के आदर्श-पर व्यापार करते हुए धार्मिक कार्यों में लगन रहे। श्री जगदीशपुरी और श्री रामेश्वर-धाम की यात्रा से प्रत्यावर्तित होते समय जब उनका कलकत्ता और बर्मा जाना हुआ, तब दोनों ही स्थानों पर उनके प्रति भारवाडी समाज के तत्सामयिक प्रमुख सज्जनों ने अपना पूर्ण समान प्रकट किया था। पञ्च-पचायती के कार्यों में सर्वत्र आपके फर्म का नाम सर्वप्रथम लिखने की परंपरा चली आरही है।

सेठ घनश्यामदासजी ने प्रथम पत्नीके देहावसान हो जाने पर अपना दूसरा विवाह किया था। पहली धर्मपत्नी से उनके पुत्र हुए सेठ जयनारायणजी और सेठ लक्ष्मीनारायणजी। दूसरी धर्मपत्नी के गर्भ से सेठ राधाकृष्णजी, सेठ केशवदेवजी और सेठ मुरलीचरजी का जन्म हुआ। ये पाँचों ही भाई परम प्रतापी और स्वनाम-ख्यात हुए।

इनमें ज्येष्ठ जयनारायणजी का जन्म विक्रम सवत् १६०६ में हुआ था। अपने पितामह सेठ सेठ जयनारायणजी गुरुसहायमलजी के जीवनका उनपर विशेष प्रभाव पड़ा था। बाल्यकाल में ही पितामह के सान्निध्य में बैठकर प्रतिदिन वे श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और योगवासिष्ठ आदि की कथाएँ श्रवण करते और यथावकाश उन कथाओं को लिपिबद्ध भी करते रहते थे। उस समय उनके हृदयमें धर्म की भावना दृढ़ता से जम चुकी थी। उनकी दिनचर्या आदर्श थी। वे ब्राह्म मुहूर्त में गानोत्थानकर सूर्योदय पर्यन्त गीता आदि पंचरत्नों का पाठ करते रहते थे। प्रतिदिन श्रीमद्भागवतका पाठ और कथा सुनते थे। सम्प्रोपासनादि नित्यकर्म से लगभग ११ बजे निवृत्त होने के अनंतर अपने पितामह-द्वारा स्थापित श्री गोविन्ददेवजी के मंदिर में १०८ परिक्रमा करने का उनका अवश्य पालनीय नियम था। उनके यहाँ ब्रजके प्रसिद्ध विद्वानों और साधु-संतों की उपस्थिति सदा बनी रहती थी। वे स्वभाव से ही उदार थे। उनकी ओर से धार्मिक ग्रंथों के पाठ और गायत्री के जपानुष्ठान उमकलीत्यर्थ होते ही रहते थे।

सेठ जयनारायणजी ने सवत् १६३२ विक्रमान्द में सकुटुब श्री जगदीशपुरी की यात्रा की थी। उस समय रेल रानीगज तक ही थी। आगे बेल गाड़ियों में जाना पड़ता था। मार्ग में मेदिनीपुर में विश्राम करने के लिये आपका सग ठहरा हुआ था कि रात्रिको भ्रष्टानक मेदिनीपुर की नदी में बाढ़ आ गई। बाढ़ का वेग प्रबल था। जहाँ सेठजी का पड़ाव था, वह स्थान चारों ओर से बाढ़ के जल द्वारा घिर गया। उस दुःस्थिति में सेठजी ने अपने इष्टदेव का स्मरण किया। कहा जाता है, उस समय एक श्यामकाय पुरुष ने हस्तावलंबन पूर्वक पानी के प्रवाह से निकाल कर सेठजी को सपत्नीक और सपुत्र एक ऊँची टेकड़ी पर खड़ा कर दिया। इस विपत्ति से उद्धार पाने के लिये भगवान् का परम अनुग्रह मानकर उनके श्रोत्रार्थ सेठजी ने एक सदा ब्राह्मण भोजन का सकल्प किया। इस प्रकार ब्रज में एक बार नहीं कई बार स्वसकल्पानुसार ब्राह्मणों, साधुओं और दीन-दरिद्रों को भोजन कराके उन्होंने अपनी धर्ममिष्टा प्रकट की थी। वे कृश-काय होने के साथ-साथ प्रायः अस्वस्थ ही रहते थे। सवत् १६४० में उनपर रोगका प्रबल आक्रमण हुआ। अपने रोग की असहाय्यता में उन्होंने बहुत सत्यक स्वर्ण-मुद्राभोग दान धनायो—असमर्थों को देकर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया था। उनकी

अमित दान करने की श्रुत और प्रकट प्रवृत्ति से चितित होकर एक बार उनके पिताजी ने कहा कि तुम गृहस्थ हो, बड़े कुटुंबी हो इसलिये धर्म करने में किंचित् बद्धमुष्ट रहने की आवश्यकता है, इसपर जयनारायणजी ने विनीत भाव से उत्तर दिया कि आपने जितना मुझे दिया है, उतना जब आपकी इच्छा हो, तब सँभाल लीजिएगा। मैं जो कुछ दान-पुण्य करता हूँ, भगवदपण करता हूँ। आश्विन शुक्ला १० संवत् १९४० को श्री गोविन्ददेवजी के चित्र-का दर्शन करते-करते उन्होंने अपने नवर रघीरका त्याग किया। उस समय उनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी और उनके पिता सेठ घनश्यामदासजी विद्यमान थे। अपने जीवन में सेठ घनश्यामदासजी के लिये ऐसा कोई विशेष दुःखद प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ था। अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र के वियोग का शोकाघात वे सहन नहीं कर सके। पुत्र की अस्माधिक मृत्यु का दुःसवाद सुनते ही उनके मुँहसे "जै नही है?" केवल इतना ही निकला और वे अवाक् हो गए। इसके बाद न बोले, न खाया और न पीया। इसी स्थिति में रहकर पाँचवें दिन वे चल बसे। उनकी धर्मपत्नी ने तपस्विनी के रूप में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। वे एक लक्ष भगवन्नाम का प्रतिदिन जापकर भोजन करती थी। कोई याचक उनके पास पहुँच कर रिक्त-हस्त नहीं लौटता था। अतः संवत् १९५२ में हरिद्वार में श्रीगंगाजी के प्रवाह में उस देवीने अपनी देह उत्सर्ग कर शाश्वत-प्राप्त किया।

सेठ जयनारायणजी के कनिष्ठ सहोदर अनन्य भगवद्भक्त, जीवन-मुक्त सेठ लक्ष्मीनारायणजी ब्रज के पुण्यस्थल नदगाँव और बरसाने के बीच 'प्रेम-सरोवर' के तट पर एक विशाल मन्दिर^१ बनाकर अपना अमर यश छोड़ गये हैं। भक्तवर लक्ष्मीनारायणजी की व्यवसाय में कमी हानि उठानी नहीं पड़ी और जो लाभ हुआ, उसमें से कुछ भाग अपने पुत्रों को देकर अवशिष्ट संपूर्ण संपत्ति उन्होंने श्रीकृष्णार्पण कर दिया। सेठ राधाकृष्णजी बड़े प्रेमी, मिलनसार, उदार, गुण-भाहूक और पोद्दार-वश की चिरसंचित कीर्ति के सर्वार्थक हुए। वे श्रीकीर्ति भी एक ही थे। चित्रकूट में उन्होंने संवत् १९७४ में एक सुंदर शिवालय की प्रतिष्ठा की थी। वही संवत् १९७७ में उनका स्वर्गवास हुआ। सेठ केशव-देवजी भी अपने पूर्व-पुरुषों के अनुरूप स्वयंभक्त और श्रद्धालु सज्जन थे। उन्होंने हरिद्वार के पवित्र गंगातट को अपना आवासस्थल बना लिया था। हरिद्वार में ही संवत् २००७ में उनकी शुद्ध, सात्विक जीवन-लीला समाप्त हुई। अपने पाँचों भाइयों में सबसे कनिष्ठ सेठ मुरलीधरजी थे। वे बीतराग

^१ यह दर्शनीय मंदिर पत्थर का सुवृद्ध बना हुआ है और कारीगरी का एक उत्कृष्ट नमूना है। ऊपर की मजिल में रहने के उपयुक्त भव्य एवं विशाल कमरे बने हुए हैं। बाहरी आहूते में धर्मशाला, विद्यालय, अन्नक्षेत्र तथा शोभनीय उद्यान है। ब्रज के दर्शनार्थी और परिक्रमा करने वाले श्रद्धालु जन यहाँ विश्राम के साथ भगवान् के दर्शन-स्नान कर कृतार्थ होते हैं। यहाँ भाद्रपद-शुक्ला ११ को जलझूलनी के उपलक्ष में प्रतिवर्ष मेला लगता है। भगवान् की सबारी 'प्रेम-सरोवर' पर पधारती है। श्री ठाकुर जी नाच में विराज कर जल-विहार करते हैं और रासलीला होती है। इस प्रेम-सरोवर के संबंध में ब्रज में यह बोधा प्रसिद्ध है—

प्रेम सरोवर प्रेम की, भरी रहै दिन रैन।

राधाजू के चरन पै कृष्ण घरे दोउ नैन ॥

भक्तों की भावना है कि श्रीराधाकृष्ण का प्रथम मिलन इसी प्रेम-सरोवर पर हुआ था। इसकी वर्णना में सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार-द्वारा रचित एक सर्वथा यो है—

"उत आनतहे जु गुविंद ग्रहो । इत आत रही वृषभानु-कुमारी,
प्रेम-सरोवर सेंट भई यह प्रेम-निकुण नवीन निहारी ।
प्रिय पुण्डित वाटिका मजु यहाँ रहियै यह कीन विनै जब प्यारी,
नव नित्य निवास कियौ इत है मिल राधे-गुविंद निकुंज-विहारी ॥"

थे। जीवन-भर उत्तराखण्ड (देहरी-गढ़वाल) में एक साधु के रूप में रहे। सेठ केशवदेवजी से पहले उनका देहात मथुरा में हो चुका था।

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार

हमारे चरित नायक सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार, सेठ जयनारायणजी के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपका जन्म मथुरा में विक्रम संवत् १९२८ में हुआ था। आपके कनिष्ठ सहोदर हुए श्री गोविन्द प्रसादजी और श्री कृष्णप्रसादजी। इनमें सेठ गोविन्दप्रसादजी का शरीर नहीं रहा।

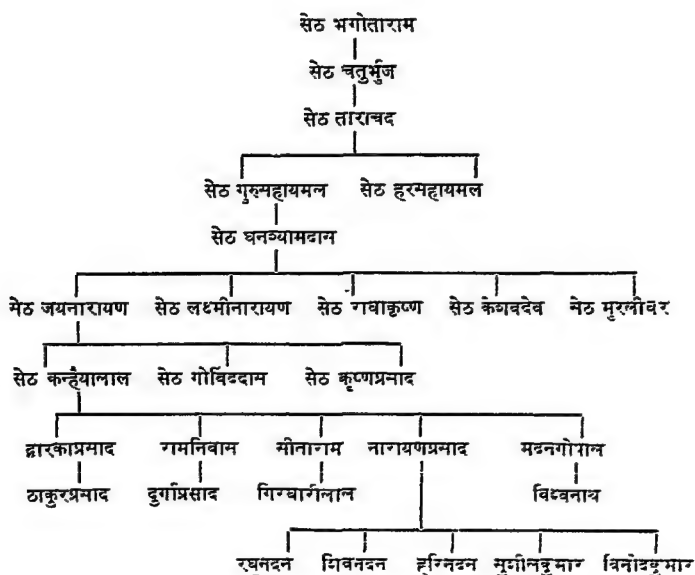
सेठ कन्हैयालालजी का कुल लक्ष्मी का चिरतन कृपापात्र तो था ही, आप लक्ष्मी के साथ-साथ सरस्वती का भी कृपा-वर लब्ध करने में सफल हुए। हिंदी-साहित्य-संसार में सेठ साहब एक सुगुह्य-नामधेय काव्यालंकार-मर्मज्ञ, व्योमबुद्ध साहित्यकार के रूप में सुपरिचित हैं। भारतवर्ष की स्वनामधन्य प्रसिद्ध संस्था—‘काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा, आपको “साहित्य-आचस्पति”—पदवी से विभूषित कर अपना समान प्रकट कर चुकी है। वज्रभाषा और खड़ी बोली—दोनों में संस्कृत-श्लोको का सरल समश्लोकी हिंदी-पद्यानुवाद करने में आप सिद्ध हस्त हैं। मारवाडी समाज में आपको अपने कुलानुरूप प्रतिष्ठा प्राप्त है। युक्त प्रांतीय मारवाडी अग्रवाल सभा (अधिवेशन-स्थान—हयारस सं० १९८० वि०), प्रखिल भारतवर्षीय मारवाडी पंचायत (अधिवेशन-स्थान—बवाई, सं० १९८५ वि० तथा कलकत्ता सं० १९२८ ई०) और प्रखिल भारतवर्षीय समातन-धर्मावलंबीय मारवाडी युवक-सम्मेलन (अधिवेशन स्थान—सहमणगढ़—सीकर—राजस्थान) आदि संस्थाओं के समापति-पद को आप अलंकृत कर चुके हैं। अध्यसासन से विवेक हुए आपके सभी भाषण विचारपूर्ण और सामंजस्य-स्थापक थे। आप सनातन धर्मानुयायी परमास्तिक, श्रद्धालु, स्व-संस्कृति-भक्त और धर्माधिकार सुधारों के समर्थक महानुभाव हैं।

कन्हैयालालजी को उस समय की प्रथा के अनुरूप दस वर्ष की अवस्था में ही विवाह-वधन में वैधना पड़ा। संवत् १९३८ में फतहपुर निवासी ‘श्रीतुंगनारायणजी’ चौधरी की पुत्री का आपने पाणिग्रहण किया। वधू-पक्ष फतहपुर से विवाह करने के लिये मथुरा आ गया था। समय पक्ष की उदारता और उत्साह से विवाहोत्सव मथुरा में संपन्न हुआ था। आपकी धर्मपत्नी यथावत् रूप में सहधर्मिणी सिद्ध हुई हैं। पाँच वर्ष की वय होनेपर आपकी शिक्षा का श्रीगणेश ‘महाजनी’ से हुआ। बुद्धि आपकी तीक्ष्ण थी। पट्टी-महादो के साथ-साथ विष्णु-सहस्रनाम और गीता के श्लोक आपको कठस्थ करने पड़ते थे। आपके प्रारंभिक शिक्षा-गुरु थे मथुरा-निवासी पंडित हरिश्चंद्रजी जोशी। इन्हीं पंडित हरिश्चंद्रजी ने ‘राजा लक्ष्मणदासजी’ को पढ़ाया था। पंडितजी की अवस्था उस समय ६० वर्ष के लगभग थी। बड़ी शक्त प्रकृति के देवता पुरुष थे। पंडित हरिश्चंद्रजी से ही आपने ‘हंसत’ तक व्याकरण पढ़ा।

संवत् १९४० वि० में एक साथ—पाँच दिन के भीतर आपको अपने पूज्य पिता और पितामह के वियोग का असह्य दुःख सहन करना पड़ा। उम्र आपकी उस समय केवल १२ वर्ष की थी। पिता की मृत्यु से ज्येष्ठत्व के कारण घर-गृहस्थी के साथ ही वैतुक व्यवसाय के संचालन का भार भी आप पर आ गया। इस वंश में नियमित रूप से किसी विद्यालय में प्रविष्ट होकर पढ़ने का सुयोग तो आपके लिये नहीं रहा, पर स्वाध्याय का आपने क्रम-क्रम नहीं होने दिया। तब तक साठेतीन अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता अर्ध-सहित आप पढ़ चुके थे। तदनंतर श्रीमद्भगवत्, श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायण और रामचरितमानस के पाठ में आपका मन अधिक संलग्न हुआ। उसपर महत् रामचरणदासजी धयोध्या निवासी की विशद एवं विस्तृत टीका थी। टीका की भाषा भी धमकी। उसकी तीन-चार आलोपात आनुत्तियाँ आपने मनःयोग से की। इसके प्रतिरिक्त आप ‘भारतेंदु हरिश्चंद्रजी’ की गद्य-पद्य रचनाओं का अवलोकन करते रहते थे। निरंतर और नियमित प्रयासलोकन की प्रवृत्ति ने आपको केवल साहित्यानुरागी ही नहीं, प्रखुर साहित्य-पारंगत विद्वान् बनाया। इसी अवसर में राजस्थान के प्रसिद्ध काव्यकलाविद् गुर्जर ‘गणेशपुरीजी’ के तीन दिन के सत्संग का लाभ उठाने का आपको सुयोग प्राप्त

पोद्दारजी की वंशावली

—०००—



हुआ। गणेशपुरीजी बशभास्कर-रचयिता महाकवि 'सूर्यमल्लजी मिश्रण' के पट्टशिष्य और स्वयं कीरस्स की भोजपूर्ण कविता-रचना में सिद्धहस्त थे। सन् १९४७ वि० के लगभग आपका गणेशपुरीजी के साथ समागम हुआ और उनसे 'भाषाभूषण' का कुछ अंश केवल तीन दिन आपने पढ़ा, जिससे अलंकार-शास्त्र में आपकी अभिरुचि हुई। गणेशपुरीजी ने 'महाराणा सज्जनसिंह जी' (उदयपुर-मेवाड़-धरावीश) के अनुरोध से 'अलंकार-रत्नाकर' नामक पुस्तक का संपादन किया था। वह पुस्तक मंगाकर पढ़ने की उन्होंने सेठजी को समति दी। तदनुसार सेठजी ने पुस्तक मंगाने में विलंब नहीं किया और अपने ज्ञान को बढ़ाया। आपके पितृव्य सेठ राधाकृष्णजी की गुण-ग्राह्यता से उनके पास गुणीजनों का सदा जमाव रहता था। विद्वद्गर गणेशपुरीजी भी उनके आग्रह से रामगढ़ पधारे हुये थे। समागत एव समुपस्थित विद्वानों तथा गुणियों से प्रशंसापूर्ण शब्दों में आपका परिचय देकर मिलाने का आपके पितृव्य महोदय का नियम-सा हो गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस प्रशंसा के अनुरूप अपनी योग्यता बढ़ाने की लगन आपको लगी और हृदय से लगी, जिसने आपकी प्रतिभा को जगा दिया। एक पंडित रामलालजी दिल्ली के निकटवर्ती ग्राम सदर-सराय के रहनेवाले थे। पंडितजी को उनके पांडित्य के विचार से आपके श्री गोविंददेवजी के मंदिर की संस्कृत-पाठशाला के प्रधानाध्यापक-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। वे सर्व शास्त्रदर्शी विद्वान् तो थे ही—वेदांत में उनकी गति विशेष थी। सेठजी ने उनसे 'काव्य-प्रकाश' पढ़ाने का अनुरोध किया। उन्होंने काव्य-प्रकाश पढ़ाना स्वीकार करने के साथ ही अपनी ओरसे 'पंचदशी' पढ़ाने का भी आग्रह प्रकाश किया। सेठजी के समत होने पर पंडित रामलालजी ने काव्य-प्रकाश का अलंकार विषयक दशमोल्लास पढ़ाया और उसके पश्चात् अपना अभिलिखित वेदांत ग्रंथ 'पंचदशी' भी। इसके अतिरिक्त व्यापार-क्षेत्र में निरंतर काम करने के कारण साधारण अंगरेजी का भी अभ्यास आपको हो गया। इस प्रकार आपका विद्यानुराग, सस्संग और अध्यवसाय ही आपकी ज्ञान-वृद्धि का आधार बना। आपका चिर अभ्यस्त अयावलीकान्त-कर्म इस समय भी चालू है।

संस्कृत और हिंदी-काव्यों के अनुशीलन से आपकी प्रवृत्ति रचना की ओर आकृष्ट हुई। आपकी रचना का प्रारंभ पद्य से ही हुआ। उन दिनों हिंदी का पहला दैनिक पत्र 'हिंदोस्थान' काला-कांकर (अवध) से प्रकाशित हो रहा था। उसके संपादकीय भासन पर स्वनाम वन्य पंडित 'मदनमोहनजी' मालवीय, पंडित 'प्रतापनारायणजी' मिश्र और बाबू 'बालमुकुंदजी' गुप्त जैसे महारथी विराजमान थे। हिंदोस्थान के स्तंभों में काव्य-वर्चा के लिये भी स्थान निर्दिष्ट था। उसमें पहले समस्या और उसकी पूर्तियाँ प्रकाशित हुआ करती थी। समस्या-पूर्ति करनेवालों में प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी आदि थे। हमारे पोद्दारजी भी उस समय समस्या-पूर्ति करने भेजे लगे। जब हिंदोस्थान में प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी कृत 'शिव महिम्नस्तोत्र' का पद्यानुवाद निकलने लगा, तब आपने भी उसमें संस्कृत के 'मत्तु' हरि-शतकजय' का पद्यानुवाद कर प्रकाशित कराया, जो छह महीने तक क्रमशः निकलता रहा। खेद का विषय है कि आपकी इस प्रारंभिक रचना की मूल हस्तलिखित प्रति खो गई, इसलिये वह आज उपलब्ध नहीं है। मत्तु हरि के तीनों शतको का पद्यात्मक अनुवाद आपने सन् १९५० के लगभग किया था। अर्न्तर 'सरस्वती' इंडियन प्रेस प्रयाग-द्वारा सन् १९०० ई० में प्रकाशित हुई, तब 'महाकवि भारवि' पर आपका एक परिचयात्मक लेख उसके पहले वर्ष में ही प्रकाशित हुआ, जिसको पाठकों ने बहुत पसंद किया था। वह आपका पहला गद्य लेख था। पश्चात् प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संपादन-काल में समय-समय पर आपकी रचनाएँ 'सरस्वती' में निकलती रही और आपका रचनानुराग बढ़ता ही गया। साहित्यावलोकन ने आपको साहित्यालोचन के लिये उत्साहित किया।

आपने देखा कि जितने रीति-ग्रंथ मिलते हैं, उन सभी में अलंकारों के लक्षण पद्य में ही दिये गये अलंकार-प्रकाश हैं और लक्षणों को समझने के लिये भी उन ग्रंथों में गद्य में स्पष्टता नहीं की गई, इसलिये पाठकों को विषय के समझने में जटिलता प्रतीत होती है। इस अभाव की पूर्ति के लिये आपने एक ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता का अनुभव किया जिसमें 'अलंकार' जैसे गहन

विषयको समझने और समझाने के लिये गद्य में अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरणों के रूप में लक्षणों का समन्वय समझाने को पद्य में स्पष्टता की जाय। यद्यपि अलंकारों का विषय आपका समझा हुआ था, तथापि अपने ज्ञान को और भी अधिक परिपुष्ट करने के लिये आपने पुनः संस्कृत के अलंकार विषयक ग्रंथों का अनुशीलन प्रारम्भ किया और तदनन्तर ग्रन्थ-रचना में हाथ लगाया, जो 'अलंकार-प्रकाश' के नाम से सन् १९५६ वि० में श्री वेंकटेश्वर प्रेस बंबई में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। उस समय हिंदी-साहित्य-संसार में उसका यथेष्ट समादर हुआ। बड़े-बड़े विद्वानों से प्रशंसापूर्वक शब्दों में उसपर अपनी समीक्षा भेजी। अपने समय के प्रख्यात समालोचक बाबू बालमुकुंद गुप्तजी ने 'भारत-सित्र' के चार कालों में विस्तृत आलोचना कर पोद्दारजी के सफल प्रयास की सराहना की थी। यह ग्रन्थ हिंदी-साहित्य-संमेलन प्रयाग द्वारा उसकी मध्यमा-परिक्षा के पाठ्यक्रम में रखा गया।

पोद्दारजी की सत्परवर्ती रचना पंडितराज जगन्नाथ-प्रणीत गंगालहरी के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत गंगालहरी और पद्मगीत के दशम-स्कंधान्तर्गत श्रीकृष्ण-विरित सवधी वेंगुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत एवं महिषीगीत—इन पाँचों मनोहर और रसावह गीतों का व्रजभाषा में समस्तोक्ति पद्यानुवाद है। 'गंगालहरी' और 'पद्मगीत' नामक दोनों ही पुस्तकें सन् १९६०-६१ वि० में प्रकाशित होकर हिंदी-रसिकों के कर-कमलों में पहुँची थी।

आपकी चतुर्थ महत्त्वपूर्ण कृति है—'हिंदी मेघदूत-विमर्श'। संस्कृत-वाङ्मय में महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का स्थान बहुत उच्च है। इस काव्य पर केवल भारतीय विद्वान् मेघदूत-विमर्श ही नहीं, पश्चिमी विद्वान् भी मुग्ध हैं। हमारे पोद्दारजी, हिंदी में उसी मेघदूत का सुंदर समस्तोक्ति पद्य तथा गद्यात्मक अनुवाद के साथ टीका करके साहित्य-पारखी विद्वानों के विशेष प्रशंसा-भाजन हुए हैं। पुस्तक की गवेषणापूर्ण ११० पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में मेघदूत का परिचय, कालिदास की कविता-शक्ति, मेघदूत पर यूरोपीय विद्वानों के मत, मेघदूत का योरप में प्रचार, मेघदूत की टीकाओं का विवरण, मेघदूत और रामायण, मेघदूत के अनुकरण काव्य, मेघदूत के हिंदी-अनुवाद, इस अनुवाद और टीका के सवध में विनीत निवेदन, कालिदास का समय निरूपण, कालिदास और उनके सम-सामयिक कवि एवं सभ्राट् तथा कालिदास का जन्मस्थान—आदि विषयों पर विषद विवेचन करते हुए पूर्ण प्रकाश डाला गया है। टीका में मूल संस्कृत-श्लोक देकर गद्य-गद्यात्मक अनुवाद तथा कवि की वर्णना में आये हुए ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थानों का परिचय, समान भाव-व्यंजक दूसरे कवियों के अवतरण तथा कविके वचन से प्राप्त होनेवाली शिक्षा, अलंकार-इत्यादि समाविष्ट है। थोड़े शब्दों में यो कहा जा सकता है कि मेघदूत-सबधी जितनी तथ्यपूर्ण सामग्री का समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है, वह किसी एक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो सकती। वस्तुतः यह पोद्दारजी के तुलनात्मक अध्ययन, रचना-नैपुण्य और असाधारण काव्य-मर्मज्ञता का परिचायक है। इसका प्रकाशन सन् १९७० (सन् १९२१ ई०) में हुआ था। "हिंदी मेघदूत-विमर्श" को पाकर द्विवेदी-युग के प्रवर्तक चेतनामधन्य स्वर्गीय प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने दौलतपुर—रायबरेली से अपने २५ जनवरी सन् १९२२ ई० के एक पत्र में ग्रन्थकर्ता पोद्दारजी को लिखा था—

"आपने यह पुस्तक बड़ी अच्छी लिखी। बड़ा परिश्रम किया है। बिस्तरों हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातों को एकत्र कर दिया है। मेघदूत का इतना विस्तृत संस्करण इतनी श्लाघ्य बातों से पूर्ण मैंने और कोई नहीं देखा। आपके अनेक ग्रन्थवाद और व्याख्याएँ। आपके इस प्रणयवहारा को बड़े मोल का समझ कर मैं सादर अपने सग्रह में रखूँगा। मेरा कृतज्ञतत्त्वापन स्वीकार कीजिए....।"

रस-मंजरी और अलंकार-भंजरी

पोद्दारजी अपने रचित 'अलंकार-प्रकाश' के द्वितीय संस्करण में अलंकार-विषय के अतिरिक्त रस, भाव-आदि सभी विषयों का समावेश विस्तृत रूप में करना चाहते थे, पर अवकाशाभाव

के कारण अपने विचारानुसार परिवर्द्धन तो नहीं कर सके, फिर भी संक्षेप में रस-भावादि का विषय बढ़ाकर—“काव्य-कल्पद्रुम” का नाम दे दिया, जिसको ‘नागरी-प्रचारिणी सभा आगरा’ ने प्रकाशित किया। इसके बाद के काव्य-कल्पद्रुम के संस्करण दो-भागों में—“रस-मञ्जरी” और “अलंकार-मञ्जरी” के नामसे अब तक उत्तरोत्तर परिवर्द्धित और परिवर्तित रूप में निकलते रहे हैं। इनमें शब्द, अर्थ, अभिधालक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि, रस-भावादि, गुणीभूत-व्यग्य एवं काव्य के गुण-दोष और अलंकारों का विश्लेषण किया गया है। हिंदी में यद्यपि साहित्य विषयक प्राचीन रीति-ग्रंथ अनेक हैं और काव्य-कल्पद्रुम के प्रकाशित होने के अनंतर भी सुयोग्य लेखकों-द्वारा कतिपय ग्रंथ लिखे गये हैं, तथापि काव्य-कल्पद्रुम में काव्य-साहित्य के सभी विषयों का पाठ्यपूर्ण आलोचनात्मक विवेचन किया गया है, जिसकी शैली नवीन और अपूर्व है। यह ‘हिंदी-साहित्य-समेलन’ प्रयाग की ‘रत्न-मरीक्षा’ और कलकत्ता, आगरा-आदि के विद्वद्विद्यालयों तथा कई विद्यापीठों के पाठ्य-क्रम में स्वीकृत है। इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण ‘अलंकार-प्रकाश’ के प्रकाशित होने के अनंतर जितने ग्रंथ प्रस्तुत विषय के अन्य लेखकों-द्वारा लिखे गये हैं, उनमें अलंकार-प्रकाश के अनुकरण रूप में लक्षण वास्तिक (गुप्त) में लिखा जाना प्रचलित हुआ है। यही नहीं, प्रत्युत बाबू जगन्नाथदासजी ‘भानु’ ने काव्य-प्रभाकर में, छाया भगवानदीनजी ‘दीन’ ने अलंकार-मञ्जूषा और व्याख्यान-मञ्जूषा में, श्री रामशंकरजी शुक्ल ने अलंकार-पीयूष में, अलंकार-प्रकाश और काव्य-कल्पद्रुम की सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है। पोद्दारजी ने हिंदी-साहित्य-समेलन के अनुरोध से समेलन की मध्यमा (विशारद) परीक्षा के लिये अपनी अलंकार-मञ्जरी को संक्षेप में एक पृथक् पुस्तक का रूप देकर—‘संक्षिप्त अलंकार-मञ्जरी’ के नाम से भी संकलित कर दी है, जिसका स्वत्वाधिकार समेलन को दे दिया गया है।

पोद्दारजी की अमर कृतियों के परिचय-अकरण में ‘संस्कृत-साहित्य का इतिहास’ भी उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ के दो भाग हैं। दोनों सन् १९३६ ई० में एक साथ प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में वैदिक काल से आरम्भकर भरतमुनि और उनके नाट्य-शास्त्र, वागीकीय रामायण, महाभारत और अग्निपुराण पर लिखते हुए ब्रह्महर्षे से पंडितराज जगन्नाथ-सक के साहित्याचार्य और उनके ग्रंथों के सबंध में ऐतिहासिक आलोचनात्मक वर्णना की गई है। द्वितीय भाग में साहित्य-ग्रंथों के विषय और साहित्य के पाँच संप्रदायों (स्कूलों)—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पर काव्य-शास्त्र के आचार्य भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ के समय-तक काव्य के उक्त पाँचों संप्रदायों के विकास-क्रम के ऐतिहासिक विवेचन के साथ ही संस्कृत के विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखे गये काव्य के लक्षणों एवं विषयों पर गंभीर विचार-विमर्श किया गया है। यह ग्रंथ भी आपके गहरे अध्ययन और सतत अनुशीलन का निदर्शक है।

साहित्य-शास्त्र-भारत पर पोद्दारजी के समय-समय पर लिखे हुए कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखों का सग्रह गत वसंत पंचमी (स० २००७ वि०) के अवसर पर ‘साहित्य-समीक्षा’ के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें काव्य के मिश्रित भेद, लुप्तोपमा और असम, श्लेष अलंकार की व्यापकता, विभावना-विभ्रान्त, भक्ति रस है या भाव, गोस्वामी तुलसीदासजी और कालिदास, कालिदास का काव्य-वैचित्र्य, शब्दार्थ अथवा भावार्थ-साम्य तथा महाकवि भारवि शीर्षक निबंधों के साथ आधुनिक रीति-ग्रंथों पर और भी छह आलोचनात्मक लेखों का समावेश है, जिनके शीर्षक ये हैं—(१) तुलसीदास रामायण और ५० अधिकांश प्रसादजी वाजपेयी, (२) श्री विद्याभास्करजी का काव्य-सर्वस्व, (३) कविराजा का जसवंत-असौभूषण, (४) श्री रामशंकरजी शुक्ल एम० ए० रसाल का अलंकार-पीयूष, (५) दीनजी की अलंकार-मञ्जूषा और (६) भानुजी का काव्य-प्रभाकर। कुल निबंधों की संख्या पंद्रह है। सभी निबंध उच्च समालोचनादर्श से लिखे हुए हैं। आपकी समालोचना-शैली निष्पक्ष तथा विचार-पूर्ण है। हिंदी के प्राचीन और आधुनिक रीति-ग्रंथों के देखने के प्रसंग में जहाँ आपको दोष दिखाई पड़े तथा जिन विद्वानों के साहित्य विषयक प्रकाशित लेखों में सिद्धांत-विरोध दृष्टिगत हुआ

उन्हींको आपने अपनी आशीचना का पात्र बनाया और अपने पक्ष का साधिकार, सप्रमाण प्रतिपादन किया। आपने अपने विषय की परीक्षा और अन्वीक्षा के साथ समीक्षा की है। निस्सन्देह आप हिंदी के गद्य-पद्य के उत्कृष्ट लेखक ही नहीं, एक उच्च कोटि के साहित्य-समीक्षक भी हैं।

आपकी साहित्यिक प्रतिभा के साथ-साथ आपके रचित और प्रकाशित ग्रंथों तथा लेखों का समेप में विवर्धन ऊपर हो चुका है। यहाँ आपके गुफित फुटकल पद्य-समूह से कुछ सुमधुर सूक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

श्री गंगा-स्तुति

भागीरथी, विगरी गति में अथ तू विगरी-गति की है सुधारका
रोगी हो मैं भव-भोगी इसी अथ याकी प्रसिद्ध है तू उपचारक ॥
मैं तुचना अति व्याकुल हो, तू सुधा-रस आकुल ताप-निवारक।
मैं जननी, सरनायक हों अथ तू कचना-रत है जग-तारक ॥

विधि बंजित हूँ, करि किंचित पाप, भयों जिनके चित खेद महा।
तिनके अघ-जारन कों जननी, अवनोतल तीर्थ अनेक यहाँ ॥
जिनको न समर्थ उधारन कौ अघ-नाशक कोउ न कर्म कहा।
उनकों भव-सागर तारन कों इक तो-सी तुही बस है, अघ-हा ॥

भीष्म-प्रतिज्ञा

पांडु-भ्यूह-धीरन प्रसिद्ध रनधीरन कों, तीरन बिदोरन के बीरज छूट हो मैं।
पारथ के सस्त्र और अस्त्रन अकारथ करि, सारथिहू तथा रथ-हाकिन मुलैहों मैं ॥
कौन्ही हों भीषम महाभीषम प्रतिग्या ताहि, गाधि कहीं आज करि धूरन दिखैहों मैं।
कै सौ हरि-हायन में सस्त्र पकरैहों आज, कै लै कबों पान घनु-बान न उठैहों मैं ॥

अन्योक्तियाँ—

उन्मत्त-भृगु

सुभगावलि-गव-अलुक्ख, लिये हरिणी सँग मोद रहा भर है।
अनुरक्त हुआ मधुपावलि-गान, हरे लृण लुक्ख रहा चर है ॥
वृक-संमुख लुक्खक पृष्ठ खडा जिसको शर-सख्य रहा कर है।
फिर भी यह बौड़ रहा भृग मूढ़, उसी पथ में न रहा डर है ॥

आत भ्रमर के प्रति

इस पंकज के विकसे जन में, न यहाँ भ्रम तू मधु-भक्त-भली।
सुख-लेश नहीं प्रति कलैवामयी यह नाशक है सब रंग रली ॥
मतिमूढ़ अरे, इस कानन का, वह भक्षक है गजराज बली।
उड़जा अविलंब, विनाश न हो जब लों दक के इस कंज कली ॥

वसंत

अलि पुंजन की मद गुंजन सों जन कुंजत मंजु बनाय रह्यो।
सगि भंग अर्नग तरंगन सों रति-रंग-असंग बढ़ाय रह्यो ॥
विकसे सर कंजन कपित के रजरंजन ले छिरकाय रह्यो।
मलयानिल मंद बसों विसि में मकरंद अमंद बहाय रह्यो ॥

शरद

सुर-चाप नलक्षत से जिसके यह अंकित पांडु पयोधर हैं ।
सखि, जोकि प्रभावित हो उस से शरदेंडु प्रसिद्ध हुआ फिर हैं ॥
यह देख शरद-श्रेष्ठ का व्यवहार, न जो प्रतिकार सका कर हैं ।
रवि के तन ताप बढ़ा इतना, वह सख्य नहीं धरणी पर हैं ॥

चन्द्रमा और कमलिनी

नलनी जग-जन्म निरर्थक है, करके कवि-चुंब प्रलोभित भी ।
जब देख सकी न कभी वह है, निशिराज नभस्थल शोभित भी ॥
रजनीपति का जग जन्म तथा कहते हम हैं, न प्रशंसित भी ।
मन-मोहक जो नलिनी-प्रतिभा वह देख सका न प्रफुल्लित भी ॥

मेघ

पाके ग्रीष्म-घोर चातक हुआ जो दग्ध संताप से,
तेरा ही रक्ष ध्यान नित्य विन वे काटे बढ़े ताप से ।
देवावीन अदीन दर्शन उसे तेरे हुए आज है,
डाली जो करिका पयोध, अब तू ए रे तुझे क्या कहें ॥

हंस

पय निर्मल मानसरोवर का, कर पान सुगंधित नित्य महा ।
जिसका मुख से सब काल व्यतीत हुआ विकसे कल कंज वहाँ ॥
विभि के वश राज-भराल वही इस पंकिल ताल गिरा अब हा !
बिछरे जल-जाल शिवाल तथैव रहे भर भेक अनेक जहाँ ॥

श्री गंगाजी (हरिद्वार) का वृक्ष

जाती ऊपर नील-मेघपटली छाया गिरे आ कभी,
हैं वो श्वेत-प्रवाह किंतु उससे आधा बने प्र्याम जी ।
आती हैं मिलने कलिव-तनया भागीरथी-द्वार में,
मानो संगम हो यहाँ फिर मिली वे जा रही साथ में ॥

श्री यमुनाजी

दर्शनीय अति रम्य मनोहर है कलिव-तनया का तीर,
कल्लोलित है विमल सरंगित मंद-मंद प्र्यामल शुचि नीर ।
तत्तिकाओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर धीर-समीर,
मधुर-मधुर लेता है उनका सुमन-गंध मनहर गंभीर ॥

घन रंजन बंभन पातन सों र कबंवन सों सरसावनों हैं ।
अति मंजु लतानि के कुंजन में अलि-मुंजन सों मल-भावनों हैं ॥
मलयानिल सीतल मंद वहाँ, हिय काम-उर्मग बढ़ावनो हैं ।
सखु चंदमुखी, जमुना-सद तू सहजें यह कौसी लुभावनी हैं ॥

मस्त्थल के मार्ग-तर की परिस्थिति

रितु निबाध दुःसह समय, भर-भग पयिक अनेक ।
मटै ताप कितेन कौ, यह भारग-सर एक ॥

स्थान-भ्रष्ट गजराज के प्रति

यूथप, तेरे मान सम, धान न इतै लखाहि ।
क्यो हू काटि निबाध-बिन, दीरघ कित इत छाहि ॥

मृग को धन्यवाद

धन-अथन के मृग को न लखै, करि चाटुता झूठ न बोलतु है ।
न सुनै कटु-गर्व-गिरा उनको, करि भ्रास भण्यो नहि डोलतु है ॥
मुहु-खाय समे पै हरे तुन श्री जब नौद लगे सुख सोबतु है ।
धन रे मृग भिन्न, बताय हमै तप कीन्हो कहा जिहि भोगतु है ॥

प्रभात-वर्णनात्मक—

प्रातःसंध्या

अरुण कान्तिमय कोमल जिसके हस्तपाव है कमल स-नाल ।
मधुपावलि ही शोभित कज्जल नीलबोवर नयन विशाल ॥
प्रातः संध्या कल-खग-रव का करती-सी आलाप महान ।
भगी जा रही निशि के पीछे अल्पवयस्का सुता-समान ॥

चंद्रास्त

प्रिया कुमुदिनी हुई निमीलित रही दृष्टि-यथ रजनी भी न ।
हुए समस्त अस्त तारागण रहा सुपरिजन चिन्ह कहीं न ॥
चिताग्रस्त इसी से हिमकर होकर विगत-प्रभा सु प्रभात ।
जलनिधि में गिरता है मानो क्षितिज-निकट जाकर अचिरात ॥

उदयकालीन सूर्य

उदयावल-रुद्ध दिवाकर की प्रतिभा कुछ गूढ़ लगी विकसाने ।
कर-कोमल का जब स्पर्श हुआ, नलिनौ मुख-खोल लगी मुसकाने ॥
अनुरक्त हुए रवि को वह देख, सहास-विकास लगी दिलसाने ।
मकरंद-अलुब्ध स्वभाविक ही, मधुपावली मंजु लगी भँडराने ॥

चंद्रोदय

सरल-सारका-रजनी-मुख को कर निज मुहुल करों से स्पर्श ।
रजनी-पति ने ग्रहण कर लिया, कमलः हो अनुरक्त सहर्ष ॥
रागावृत उत्सुक हो वह भी, विकसित होने लगी सुधान ।
स्खलित हुआ तिमिरांशुक सारा, उसका भी कुछ रहा न ध्यान ॥

गगन-सरोवर का प्रकुलित कमल

कल ब्योम-सरोवर में निखरा सखि, है यह नीलिम-नीर भरा ।
 भ्रति मूयित है उडुपावलि का मुकलावलि-भंडल रम्य धिरा ॥
 कर धोडस है नव पल्लव ये जिनकी छवि से यह है उभरा ।
 नाशि-कांज विकसित है जिसमें स्थित है यह श्रंक मिलिब गिरा ॥

विविध—

मान और अपमान

विष भी युत-मान दिया यदि हो, कर पान उसे मर जाना भला ।
 सहके अपमान सुधारस ले, निज जीवन को न गिराना भला ॥
 यह गौरवपूर्ण उदार चरित्र पवित्र सदा अपमाना भला ।
 वह कुत्सित वृत्ति कदापि कहीं, भ्रति निश्च नहीं दिखलाना भला ॥

राजनीति और वेदया

कभी सत्य तथैव असत्य कभी, मुदु-चित्त कभी, भ्रति क्रूर लखाती ।
 कभी हिंसक और दयालु कभी, सुउदार कभी अनुदार दिखाती ॥
 धन-सुव्यध की बनती कब हो, व्यय में कर-मुक्त कभी दृग-भाती ।
 नृप-नीति की है न प्रतीति सखे, गणिका सम रूप अनेक बनाती ॥

दूढ व्रत

धूर-सस्त्र अरु कृपन-धन कुल-कामिनि कुल-कान ।
 सज्जन पर उपकार को छाँडिदु है गत-भ्रान ॥

नर और शर

लघु पुनि मलिन सपच्छ, गुन-व्युत ह्वै नर और शर ।
 पर भेदन में दच्छ, भय-दायक किहि के न हो ॥

अस्तावल गत सूर्य-द्वारा उपदेश

दूसरो को व्यर्थ करते ताप, वे—
 सपदा बिरकाल तक पाते नहीं ।
 हो रहा है अस्त श्रीष्म-दिनांत में,
 विवस-मणि करता हुआ सूचित यही ॥

चिता और चिता

बहन करती चिता तन जीवन-रहित,
 दुःख का अनुभव अतः होता नहीं ।
 रात-दिन करती बहन जीवन-सहित,
 है न चिता-ज्वाल की सीमा कहीं ।

विष और पर-पीडक
निरपराधी-जनों को करना दुःखित,
विषम-विष से भी अधिक है हीन यह ।
जहर करता मात्र भक्षक को बिनष्ट,
सा-भूल कुल को किन्तु करता क्षीण यह ॥

अपमानित नर और धूलि
अपमान को कर सहन रहते मौन जो,
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं ।
चरण का आघात सहती है न जो,
श्रीश पर चढ़ बैठती है सुरत ही ॥

उत्कठा
स्मरणमात्र से तदनातप को कर कवणा हरता निःशेष ।
जिसके निकट चमत्कृत रहतीं अगणित चपलाएँ सविशेष ॥
अखिल विश्व निज कृपा-वृष्टि से आप्यायित करता निष्काम ।
उत्कठित हूँ सतत कब हो, वह दृग-मय अभिनव धनश्याम ॥

भ्रात पथिक के प्रति
यमुना-तट कानन में स्थित है, मिलता करने पर खोज, पता ।
जन-आश्रित जो रहते, उनका पथ-श्रेय सभी हरता रहता ॥
कमकाम-लता अवलवित है, वह श्याम-तमाल सदा स्फुरता ।
अविलंब शरण लेते, उसकी श्रव कपो यह ताप बूझा सहता ॥

सतजन
मध-धीषम की तन-ताप प्रचंड, असह्य हुई जलते-जलते ।
बल से अविबेक-जैजीर उखाड, नहीं चकते चलते-चलते ॥
उस आत्म-मुखा-सर के तट जा पुकृती जन मन्जन है करते ।
अति शीतल निर्मल-सुस्मयी करने जिसमें रहते भरते ॥

ब्रजस्थ प्रेम-सरोवर
चित्ताकर्षक दृश्य प्रेमसर का, नैसर्ग्य शोभाययी ।
चकाकार सुघाट शोभित जहाँ है दिव्य बुजें कयी ॥
जिसका निर्मल जो हरी कुमुदिवी-ध्याया हुआ नीर है ।
वो अत्यंत सुमिष्ट शीतल सदा सुस्वादु गंभीर है ॥

भाते हैं जन जीवजंतु मनमें आशा लगाये हुए ।
पाते जीवन-दान है सब वहाँ होते हताशा न वे ॥
हैं ये तो गुण-वान, हीन-गुण ये, जिसके न ये भेद ही ।
जो है नित्य उदार चित्त उनका संकीर्ण होता नहीं ॥

घादीं और लता-यता सघन जो झुमें झुकी है भली ।
फूले फूल कबब-झूल उनकी सौरभ्य आती चली ॥
झाया भी रहती निरंतर जहाँ संतापहारी घनी ।
है निर्णक अतीव तीर, उसकी शोभा मनो मोहिनी ॥

है स्वातंत्र्य लगी निकट ही नीरंध्र बुझावली ।
गोलाकार कहीं, कहीं सहज ही सौंदर्य श्रेणी भली ॥
शाखा भूमि लगी विनीत उनकी, है नील पत्रावली ।
फूली चित्र विचित्र मंजुल जहाँ अम्यत्र पुष्पावली ॥

कीडासक्त कहीं कपोत फिरते उम्रत होके म्हा ।
गाती कोकिल-पुंज मंजुल कहीं स्वर्गीय तानें जहाँ ॥
छत्राकार कलाप नृत्य-रत है प्यारी मयूरावली ।
है अत्यंत सुहावनी सुतट की प्रातीय दम्यस्यली ॥

जो है शांत कुटीर तीर उनकी शोभा मनोमोहिनी ।
वे एकांत नितान्त प्रातः उनमें है स्वच्छताई घनी ॥
आती धीर समीर शीतल सब सौरभ्य सानी हुई ।
प्रायः संत जहाँ निवास करते होके समाधिस्थ ही ॥

सुरमित हरियाली में जहाँ मत्त होके,
भुलरित विहंगामी चित्त को है लुभाती ।
सुमधुर रसवाली बोलियों को सुनाके,
मन हर पथिको को पास मानो बुलाती ॥

प्रति-प्रति तक्ष्मों की डालियों पास जाके,
भ्रमरित भ्रमराली क्या यही है बताती ।
यह धन-लतिकाएँ भाग्यशाली म्हा हैं,
प्रतिदिन करते श्री कृष्ण लीला यहाँ हैं ॥

वर्ष का समुद्र-तट
सायंकाल समीर नीर-निधि की वीरोग कारी म्हा,
प्रायः सिक्षित, सभ्य लोग सब हैं आते इसी से म्हा ।
बैठे हास्य-विनोद मोद करते सानंद वे दो घड़ी,
शोभा दृश्य-विचित्र की तब जहाँ सौंदर्य होती बड़ी ॥

होती है तब दिव्य दारि-निधि की क्या ही प्रभा मोहिनी,
संध्याकाल गिरे विनोदकर की रक्ताभ आके घनी ।
नीचे से जब बार-बार उठती ऊँची तरंगावली,
आती है बड़ के सुदूर फिर वे जाती वहाँ है चली ॥

है उद्यान लगी मनोहर जहाँ सौंदर्य धूसावली,
 फूली है कुसुमावली सुमधुरा सौरभ्य आती चली ।
 वैठी स्वागत-सी जहाँ कर रही प्यारी बिहंगावली,
 चित्ताकर्षक है बड़ी जलवि की स्वर्णीय प्रातस्थली ॥

आती है भ्रमलोचनी धुलसना नाना प्रभा-धारिणी,
 वस्त्राभूषण-भूषिता स्मित मुखी, है वे मनोहारिणी ।
 हास्यालाप-निमग्न वे विचरती स्वच्छन्दता से वहाँ,
 आते बालक भी अनेक करने सानब फीड़ा जहाँ ॥

आते हैं जन जो वहाँ अभित हो आशा लगाए यही—
 जाके धीर-समीर शीतल बड़ी स्वच्छन्द सेवें वहाँ ।
 देके स्पर्श करे यथेष्ट उनका आतिथ्य वो भी तया—
 छोटी है अम-स्वेद ग्रीर तनकी सारी मिटाती व्यथा ॥

सुभग सवन-श्रेणी प्रात में दीखती है,
 प्रति-प्रति भवनो में बाटिकाएँ बनीं हैं ।
 सुरभित हरियाली चातुरी से लगी है,
 विकसित कुसुमाली कुडिका भी सजी है ॥

सुशचिर-मुखावली रम्य हर्म्यस्थली वे,
 विविध-विधि सजाये साज-शोभासयी वे ।
 जिस समय वहाँ हो भव्य दीपावली है,
 प्रकटित तब भानो नित्य दीपावली है ॥

विलसित अदिराशी जो वहाँ कामिनी हैं,
 अनुपम-छविवाली वे मनोभाविनी हैं ।
 दृष-यथ करने से चित्त आता यही है,
 सुर-सुर-वनिता ही क्या यहाँ आ गई है ॥

शोभा समुद्र-तट-प्रात बिनात की वो,
 जैसी विचित्र अति नित्य नितांत ही हो ।
 होता यथावत न वर्णन है तबीय,
 है दृश्य केवल प्रहो, वह दर्शनीय ॥

कोकिल

गत जब रजनी हो, किंतु वो शेष भी हो,
 उद्गुण-शय भी हो दीखते भी कहीं हो ।
 मधुर-मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरु,
 तब पिक करती तू बाब्र प्रार्थन तेरा ॥

अति सरस सुरीला शब्द सौंदर्य पाती,
सहृदय जन को तू नौव से है जगाती ।
मन-हरण सुना के भावुरी वो प्रभाती,
अलसित चित को भी सत्य ही तू लुभाती ॥

बिहँग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे,
उस समय दिखाते शब्द-सौंदर्य सारे ।
विरस सब सभी के शब्द तू है बनाती,
जब पिक, अपनी तू चातुरी है दिखाती ॥

सधन उपवनो में, वाटिका में कभी तू,
गिरि-सरित-तटो के प्रांत में भी कभी तू ।
सुरभित हरियाली हो जहाँ बीखती तू,
सुमधुर मतवाली कूक को कूजती तू ॥

पीती स्वयं है, न किसी पिलाती,
प्रमत्त हो तू ध्वनि ही सुनाती ।
तथापि उन्मत्त अहो बनाती,
बता कहीं मादक-ब्रह्म पाती ?

मिला अहो मंजु रसाल ढाल से ?
किंवा किसी गुजित मृग-माल से ?
न सर्वथा ही उनसे मिला तुझे,
न दे दिखाई उनमें कहीं मुझे ॥

तुझे मिला है रिसुराज से यही,
अवश्य देता सबको न है वही ।
मिले न तेरी समता उसे कहीं,
मिलो प्रिया तू उसको, अलभ्य ही ॥

वसंत जाता . जब है यहाँ से,
किसे सुनाती ध्वनि भी नहीं तू ।
वसंत के प्रागम में पुनः यही,
अवश्य मीठी करती ध्वनि है ॥

सदैव तू कोकिल, मंजुभाषिणी,
अतः सभी का मन-मोहती है ।
वियोगियों की दयनीय वो दशा,
कभी नहीं तू कुछ सोचती है ॥

कवि-जल गुण तेरे नित्य गाते तथापि—

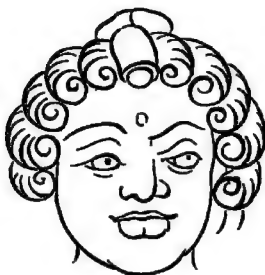
अति परिचय से हो, तू व फीकी कबापि ।

अस अधिक कहें क्या तू मनोभाविनी है,

अनुपम गुणवाली पूर्ण सौभागिनी है ॥

पर दुःख-कातर सहृदय सेठजी पाँच^१ सुयोग्य पुत्रों के भाग्यशाली पिता और “बुद्धिमान मधराभाषी पूर्वभाषी प्रियवद.” के मूर्तिमान उदाहरण है। मिलनसार इस कोटि के है कि एक बार मिलनेवाला सदा के लिये आपके प्रेम-सून में बँध जाता है। स्वधर्मनिष्ठा के साथ अतिथि-सत्कार-परायणता आपका कुल-परंपरागत गुण है। प्राय २५ वर्ष हुए, आप व्यापारिक कार्यों से अवकाश-ग्रहण कर चुके हैं। इस समय आपके दो ही कार्य मुख्य हैं—एक भगवदाराधन और दूसरा साहित्य-सेवा। आपकी साहित्य-सेवाका विशेष महत्त्व इसलिए है कि उसमें व्यवसाय की भावना नहीं। अवस्था ८० वर्ष के लगभग होगी, पर हृदय में उत्साह युवकों के समान है। ईश्वर आपके दीर्घायु प्रदान करे। आपकी गुण-गरिमा से समस्त राजस्थान गौरवान्वित है। आप के “अभिनन्दन” के शुभोप-जय में इन पश्चिमी का लेखक भी आंतरिक समान प्रकट कर अपने कर्तव्य से उपराम होता है।

^१ आप के पुत्र हैं—(१) श्री द्वारका प्रसाद पोद्दार (२) श्री रामनिवास पोद्दार (३) श्री भीताराम पोद्दार (४) श्री नारायण प्रसाद पोद्दार और (५) श्री मदनगोपाल पोद्दार। इनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ व्यवसाय-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं तथा पाँचवें श्री मदनगोपाल पोद्दार कलकत्ता-हाईकोर्ट के एक प्रसिद्धि-प्राप्त प्रभावशाली एटर्नी-एट-लॉ हैं। कलकत्ता के धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्यों में उनका प्रकट और अप्रकट सहयोग रहता है। व्यवसाय-पटु श्री रामनिवास बाबू राजनीति और अर्थशास्त्रविद् होने के साथ ही साहित्यिक भी है। वे ‘भारत में रेल-पथ’ जैसा उपयोगी ग्रंथ लिख कर हिंदी-साहित्य-संसार में सुस्थाति अर्जित कर चुके हैं। उनका कार्य-क्षेत्र बढे है। बाबू नारायण प्रसाद भी मधुर हिंदी लिखते हैं। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख समय-समय पर निकलते रहते हैं। वे मधुरा में अपने पिताजी की सेवा में रहते हैं और वहाँ के कारोबार को सभालते हैं।



पोद्दारजी का प्रभाव

पं० श्री हरिशंकर शर्मा

अद्वेय सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का नाम बचपन से ही सुनता आया है। मेरे स्वर्गीय पिता (पंडित श्री नाथूराम शंकर शर्मा) सेठजी की प्रशंसा मुक्तकठ से किया करते थे। उस समय कभी-कभी मैं भी पिताजी के पुस्तकालय से सेठजी का लिखा 'अलंकार-प्रकाश' लेकर पढ़ लेता था, पर समझ में कुछ न आता था। उदाहरण का यदि कोई छंद समझ में आ जाता तो उसी के आधार पर मैं अपने को सर्वपूर्वक 'अलंकार-प्रकाश' का विशेषज्ञ समझ लेता था। पूज्य पिताजी के अमित्र मित्र तथा मेरे आचार्य स्व० पंडित 'पद्मसिंहजी शर्मा' वर्ष में कई बार हमारे घर (हरदुआ गंज) पधार कर, पंद्रह-बीस दिन रह जाया करते थे। खूब साहित्य-चर्चा रहती थी। रात के दो-बो बजे तक पिताजी और शर्माजी काव्य-विनोद में रत रहते थे। उन्हीं दिनों कभी-कभी साहित्याचार्य पंडित शास्त्रिधाम शास्त्री, पंडित ज्वालादत्त शर्मा, आचार्य नरदेव शास्त्री, महाकवि रत्नाकर, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, विद्वद्धर पंडित भीमसेन शर्मा, ग्रन्थापक श्री रामदास गौड़-भादि भी पधारते थे। साहित्य-मर्मज्ञों की बात छिड़ने पर सपादकाचार्य पंडित खदत शर्मा और श्रीमद् सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का उल्लेख अवश्य होता था। 'उस समय से मैं समझने लगा कि सेठजी वास्तव में बड़े विद्वान् और साहित्य-मर्मज्ञ हैं। जिस विद्वान् को साहित्य के घुरघुर विद्वान् भी विद्वान् कह रहे हैं, उनकी विद्वत्ता में किसी को सदेह ही क्या हो सकता है। यह सब कुछ सुनकर अद्वेय सेठजी के दर्शन करने की लालसा मेरे हृदय में जागृत हुई।

सन् १९२३ या २४ की बात है। मैं अपने कई मित्रों के साथ आगरा में यमुना-तट पर बैठा था, मेरठ के कविधर मराल (स्वर्गीय श्री हरिश्चरण श्रीवास्तव, वी० ए०, एल० एल० वी०) भी हमारी मडली में थे। वे अपनी कविता-सुधा का पान करा रहे थे। उनकी हृदय-हारिणी कविता और पीयूष-वर्षिणी वाणी के प्रभाव से सारी मडली मुग्ध थी। थोड़ी देर में ही काव्य-मर्मज्ञों और कलाकारों की चर्चा चलने लगी। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का जिक्र आया। पंडित रामस्वरूप शास्त्री-काव्यतीर्थ उनके काव्य-ज्ञान की महिमा वर्णन करने लगे। अन्य लोगों ने भी उनकी तारीफ की। मैंने कहा—“भाई, ऐसे विद्वान् के दर्शन करने चाहिए। तुम तो आज सेठजी की प्रशंसा करते हो; मैं तो बहुत पहले से, बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा उनकी तारीफ सुनता आ रहा हूँ।” बातों ने जरा गंभीर रूप धारण किया। सच्चा हो चुकी थी, अंधेरा छाने लगा था। इतने ही में एक झुरमुट से सहसा गुरुवर पंडित श्री भीमसेन शर्मा प्रकट हुए। मैंने और शास्त्रीजी ने उनके चरण छुए। वे बोले—“भाई, मैं बहुत देर से तुम्हारी बातें सुन रहा था। मरालजी के कविता-पाठ में तो सचमुच जादूकासा प्रभाव है। खूब पढ़ते हैं। अच्छा, दो-चार छंद और सुनाइये। फिर तुमको सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के दर्शन कराये जायेंगे।” मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—“गुरुजी, कब—कहाँ?” वे बोले—“अभी, और आगरा में ही।” सुनकर हमारी उत्सुकता का ठिकाना न रहा।

सौर, 'मरालजी' ने अपनी स्वर-लहरी-द्वारा फिर श्रोताओं को मुग्ध करना प्रारंभ किया, पर अब की बार रगत नहीं जमी। एक तो सेठजी के दर्शनों की उत्सुकता और दूसरे गुरुजी की विचगामता, हम लोग मीठी-बिल्ली की भाँति शांत बैठे रहे—सबकी जुबानें बंद थी, न 'बाह' निकलती थी, न 'बाह'। गुरुजी भी हम लोगों की मनोवृत्ति को ताड़ गए। वे बोले—“अच्छा, चलो तुमको सेठजी के दर्शन करावें।”

आगे-आगे गुरूजी और पीछे-पीछे भाठ-दस रंगरूट। हम लोग गुरूजी से तीस-चावीस कदम पीछे चल रहे थे, जिससे वे हमारे मनोविनोद को सुनने न पावें। थोड़े ही चले होंगे कि गुरूजी ने 'बेलन गज' के एक फाटक में प्रवेश किया। हम भी उनके साथ-साथ घुसे। उस समय एक वयोवृद्ध व्यक्ति कुएँ या नल पर बैठे नहा रहे थे, नहाते में कुछ गुनगुनाते भी जाते थे। गुरूजी को देखते ही बोले—“आइये महाराज, प्रणाम। आज प्रातः काल आपके दर्शन नहीं हुए, किधर रम गए थे?”

गुरूजी ने सेठजी की बात सुनी-अनसुनी-सी करके कहा—“देखिये, ये लोग आपके दर्शनों को आए हैं, सब नवयुवक और साहित्य-प्रेमी हैं। मेरा, मरालजी का और रामस्वरूप शास्त्री का गुरूजी ने प्रति सख्ति-सा परिचय भी दिया। अन्य मित्रों को वे जानते न थे। वे लोग कालिब के अध्यापक थे।

सेठजी ने बड़ी विनम्रता से कहा—“पंडितजी, क्यों बनाते हो। मला में भी कोई दर्शन की चीज है।” और, उन दोनों विद्वानों में विनोद प्रारम्भ हो गया और हम लोग प्रणाम करके अपने-अपने घरों को रवाना हुए। बेलन गज से लोहामढी तक बराबर सेठजी की विनम्रता और विद्वत्ता की चर्चा चलती रही। पंडित रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, सेठजी की विद्वत्ता की विशेष प्रशंसा करते आए, क्योंकि उन्होंने उनके ग्रंथों का विधिवत् अध्ययन किया था।

समय १९२९ ई० की बात है। आचार्य श्री पंडित परसिंह शर्मा, वृंदावन—गुरुकुल-महोदय के कवि-समेलन का समापति-मग्न सुसोमित करने पधारे थे। उत्सव की समाप्ति पर गुरुकुल से आगरा चलने का प्रोग्राम बना। आचार्यजी ने कहा—“भार्य, मथुरा में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार से मिलते चलेंगे। क्यों, ठीक है न?” सवने कहा—“जरूर-जरूर।”

पूज्य शर्माजी की मडली तंगी में सवार हो मथुरा के लिए रवाना हुई। मडली में बिहड़र पंडित किशोरीदास बाजपेयी, दर्शन-कैसरी पंडित उदयवीर शास्त्री, पंडित रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, पंडित अमृतलाल चतुर्वेदी और मैं—कुल नौ-दस व्यक्ति थे। भार्य सत्येंद्र एम० ए० के घर सामान रखा और सब लोग श्री सत्येंद्रजी के ही नेतृत्व में घुरत सेठजी के यहाँ चल दिए। सत्येंद्रजी के सिवा सेठजी किसी को न पहचानते थे। सत्येंद्रजी ने सर्वप्रथम पूज्य शर्माजी का परिचय कराया। कठिना से उन्होंने नाम ही लिया होगा कि सेठजी शर्माजी से लिफ्ट-चिपट गए और गद्गद कंठ से अपने को बार-बार 'बन्धु-बन्धु' कहने लगे। दो साहित्य-महारथियों के मिलन का वह दिव्य दृश्य देखने ही लायक था। सेठजी श्री किशोरीदास बाजपेयी के भी दर्शन कर प्रति प्रसन्न हुए। शेष लोगों में से सबको तो नहीं, पर कई को पहले से ही जानते थे—नाम से परिचित थे। उनमें से एक व्यक्ति इन पक्षियों का लेखक भी था।

बातों ही बातों में साहित्य-चर्चा प्रारम्भ हो गई। श्री बाजपेयीजी और श्री सेठजी का किसी विषय पर मतभेद हुआ। पूज्य शर्माजी सब बातें बड़े शांत भाव से सुनते रहे। अंत में, शर्माजी से व्यवस्था याँगी गई और उन्होंने सेठजी के पक्ष की पुष्टि की। विदा माँगने पर सेठजी बोले—“शर्माजी, कुछ भी हो, आप आज सच्चा को बिना भोजन किये नहीं जा सकते। यदि चले जायेंगे, तो मुझे घोर दुःख होगा।” सहृदय-सिरोमणि शर्माजी ने सेठजी का आग्रह बड़े विनीत भाव से स्वीकार कर लिया और सब लोग मथुरा ठहर गए।

रात्रि को प्रीति-भोज हुआ। नगर के कई अन्य साहित्यिक भी उसमें संमिलित थे। वास्तव में वह प्रीति-भोज ही था। सेठजी स्वयं बड़े प्रेम से परोस कर अपनी हार्दिक प्रीति का प्रशसनीय परिचय दे रहे थे। उनका मधुर प्रेम फूटा पड़ता था। वे आतिथ्य में आनंद-विभोर थे—प्रसन्नता का पारावार न था।

भोजन के पश्चात् कवियों का कविता-पाठ हुआ। आगरा के सुकवि श्री अमृतलाल चतुर्वेदी ने ब्रज-काव्य-माधुरी की अनोमुखकारिणी विमल आरा बहाकर सभी बाँध दिया। आनंद की गवा

उमड़ पड़ी। कविता-कल्लोलिनी में बाढ़-सी आ गई। बीच-बीच में साहित्याचार्य पंडित श्री पद्मसिंह शर्मा ने संस्कृत, फारसी और उर्दू-कविता का पुट देना शुरू किया। सारा वायुमंडल 'बाह-बाह' से गूँज उठा। सैकड़ों कवि-समेलनों में भी वैसा मजा नहीं आ सकता, जैसा उस दिन उस गोष्ठी में आया।

रात्रि के बारह बज गए! विसर की कड़कड़ाती सर्दों! परंतु काव्य-धारा में निमग्न मटली अपने आपको भूल चुकी थी। कौसी रात और कैसा जाड़ा!

आधी से अधिक रात बीत जाने पर गोष्ठी का उपसंहार हुआ। उपसंहार करने वाला चायामृतपान और विहारी के दोहों का रसास्वादन था। सब लोग मार्ट सल्वेजरी के घर आए और सेठजी के साहित्य-ज्ञान और आतिथ्य की चर्चा करते-करते मो गए। मुबह पार्टी ने सोरी-द्वारा आगरे को प्रस्थान किया।

उस सुखद घटना को काफी समय हो गया। वर्षों बीत गए, परंतु उसकी ताज़गी बराबर बनी हुई है। आचार्य श्री पद्मसिंह शर्मा नहीं रहे, परंतु उनके वे शब्द अबतक कानों में गूँज रहे हैं—

“हरिश्चकरजी, मथुरा का प्रोग्राम बनाओ। चलो, एक बार फिर मेठजी ने मिल धावे, फिर न जाने क्या हो। तुमको ऐसे जगम तीर्थों के बार-बार दर्शन करने चाहिए।”



कवियों की श्रद्धांजलि

कविता

देव श्री गुर्विन्द के पदारविन्द सेवी भक्त, गुन-अनुरक्त रस पोखन प्रथा के हैं ।
 प्रेम के पुजारी, धृति-विजना विवेकधारी, अलंकार-पिपल प्रवीन कविता के हैं ॥
 'पोद्दार' प्रखन सनातनी समृद्धसाली, बैस्य बस मूपन श्रद्धाखन श्रद्धा के हैं ।
 काव्य-कल्पद्रुम के रचयिता श्री कन्हैयालाल, साहित्य-समुद्र के मयंक्या मयुरा के हैं ॥

—मुकवि श्री गोविन्द चतुर्वेदी

नख-रस धारों रस अति छवि धारों दिये, भावन भँवर भूरि हृवन् उछार हैं ।
 'लला कवि' ज्वार-विजनान को प्रकार चार, कूल-कल्पना को अनूठो हितकार हैं ॥
 अलंकार-संयुत तरी हैं खरी व्यंग-ढंग, नायिका-विभेद बाबवान नुक्ति डार हैं ।
 साहित्य के सिंधु की सु सँर करवाबैं खूब, परम उदार 'पोद्दार' पतवार हैं ॥

केंद्र मयुरा के श्री कन्हैयालाल पोद्दार, मंचु मत महत विराजत गुणी-गंधी ।
 'लला कवि' काव्य-कल्पतरु को सुख-रूप, सुमन सुहाबैं सर्वा सबन सुधी-मयी ॥
 मुकवि-समाज को सुसुद्ध वपुधारी भीष्म, श्रीष्म-शेष-मदन भजावत लयी-पयी ।
 हरि-रस-रति वारी, बिरस-बिरति वारी, तीव्रगति-मति वारी, साहित्य-महारथी ॥

गोसावार, मोसावार, झोसावार, खिरकी तें, ऐठदार अधिक उमठवार सगढी ।
 'लला कवि' रंग चबनी की अभिवंदनीय, वदनीय बिमल बिलासन तें शगढी ॥
 जित-जित थाबैं तित आवर महान पाबैं, लाबैं ना बिलंब दरसाबैं छटा तगढी ।
 बगढी बलन-आगें, रगढी चलैं न रंज, परम-प्रवीन पोद्दार जू की पगड़ी ॥

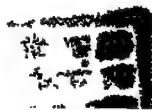
पंडित, प्रवीन, पैल कथक, सिंहामें सर्दा, अतिरैं, उल्लास, उल्लेख, गुन-आवृत्ती ।
 'लला कवि' उमय, अमय बय वारी सजी, झूमका झमक दसैं, दृग अमराकुती ॥
 प्रासन-असार, सवेह, उतप्रेच्छनीय, उपमा, प्रमान, हैं प्रवीण, व्याज, तसूति ।
 पूजन ससी-सी मुख वारी सर्दां मुख वारी, पोद्दार वारी जनी मंजरी अलंकृती^१ ॥

—श्री रामलाल 'लला कवि'

आईं रिपु मुखव सुहासिनी बिलासनी हूँ, छाईं मजु-महिमा ज्यो सौरभ दिगत-री ।
 सुख-सनेह-चित्त सहज प्रबन लागे, बेल पैल बज में अनूप छवि सच-री ॥
 गंध-हीन किंसुक अपत से दिसाँन लागे, मोहकता तेरी लखि मोह्यो मन-कंजरी ।
 पूंज-पुंज भौर-भौर गुजरन लागी द्वार, फूली देखि सरस मुकाव्य-रस-मंजरी ॥

—श्री नृशीलाल 'शेष'

^१ अलंकार-मंजरी ।



विनम्र श्रद्धांजलि

श्री भगवानदास केल

मेरे जीवन में बहुत एकागीपन और सकोच रहा है। बिना किसी खास मतलब के अपने पास रहनेवालों से भी मिलना-जुलना कम रहा है और किसीसे मिलनेपर भी कुछ डरता-झिझकता-सा रहा हूँ। वृंदावन में सन् १९२० से १९४० तक रहने पर भी वहाँ के इने-गिने व्यक्तियों के संपर्क में आया हूँ और मथुरा के तो और भी कम। मुझे श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दारसे मिलाने का श्रेय श्री सत्येन्द्रजी को है, और मुझे श्री सत्येन्द्रजी की योग्यता और साहित्य-सेवा का पता भी वृंदावन-आने के कई वर्ष बाद लगा था। अस्तु सन् १९३२ के लगभग जब मैं राजनीतिक शाब्दावली के संशोधन के प्रसंग में श्री सत्येन्द्रजी की सहायता ले रहा था। तब उन्होंने मुझे श्री रामनिवासजी पोद्दार से मिलाया। श्री रामनिवासजी ने इस कार्य से बहुत सहायुभूति दीरखाई। बहुत से अंग्रेजी-शब्दों के हिंदी-पर्यायों पर विचार विनिमय करके अधिक उपयुक्त शब्द सुझाए। यही नहीं, आपने अंग्रेजी के कितने ही नये शब्दों का समग्र करने उनकी व्याख्या और पर्याय भी तैयार किए। आपसे इस कामके लिए समय-समय पर मिलना होता रहा, मन का सकोच हट गया और विविध सामयिक विषयों पर भी चर्चा होने लगी।

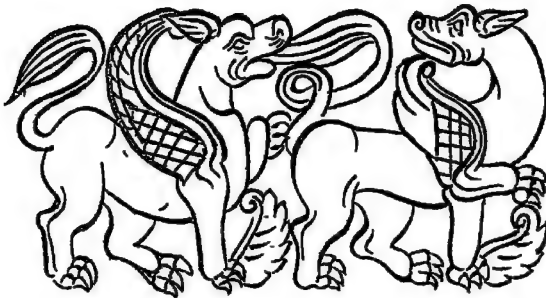
इस सिलसिले में श्री रामनिवासजी के पिता श्री सेठ कन्हैयालालजी के दर्शन होना स्वाभाविक था। पर आपसे कुछ बातचीत करने में बड़ा सकोच था। अद्वेय पोद्दारजी बयोबुद्ध होने के अतिरिक्त अपनी वेशभूषा में भारवादी सेठ थे। क्रमशः मुझे ज्ञात हुआ कि आपने हिंदी की बहुत सेवा की है, 'अलंकार' और 'रस' के भाप एक माने हुए पंडित हैं और 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' लिख कर आपने राष्ट्र-भाषा के भंडार में एक अमूल्य और अनूठी भेंट प्रदान की है। यही नहीं, आप अपनी वृद्धावस्था में भी भरसक लिखने-पढ़ने का काम करते हैं। आप विविध पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन करते हैं और जब कभी किसी लेखक की साहित्य-सवधी मूल देखते हैं तो आप उसका परिमार्जन करनेका प्रयत्न करते हैं। इन बातों को देख-सुन कर मैं क्रमशः आपकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होता रहा। आपके निजी पुस्तकालय से मैं बहुत लाभ उठाने लग गया। अनेक बार जब मेरा वृंदावन से मथुरा आना होता तो आपके दर्शन करने और आपके सत्संग से कृतार्थ होने का अवसर चुकाना ठीक न समझता।

अद्वेय सेठजी, अपनी साहित्यिक योग्यता के कारण 'हिंदी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग' से "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। ब्रज-साहित्य-मंडल ने आपको 'ताम्र-पत्र' भेंट किया है और आपकी हीरक जयंती भी मनाई है। इन बातों से आपकी योग्यता और विद्वत्ता का सहज ही परिचय मिल जाता है। पर मेरे लिए आपका सबसे बढ़िया गुण आपकी विनम्रता या विनयशीलता है। प्रायः जिस आदमी के पास दो पैसे हो जाते हैं, या जो कुछ विद्वान् हो जाता है, अथवा कुछ सार्वजनिक प्रतिष्ठा पा जाता है, उसमें कुछ न कुछ अहंकार या दंभ बढ़ जाता है। कुछ लोग तो दूसरों से अच्छी तरह बात करना भी अपनी शान के खिलाफ समझने लगते हैं। पर श्री पोद्दारजी हैं कि अपने मृदुभाषण और विनयशीलता में विलक्षण रूप से बड़े हुए हैं। अपने से उम्र में छोटी तथा कम शिक्षितों से भी ऐसा व्यवहार करते हैं कि सहसा आपके सामने नत-मस्तक हो जाना पड़ता है। आपसे जब-जब भेंट हुई है तो उससे संस्कृत की कहावत 'विद्या ददाति विनय' याद आती रही है। आजकल

के विद्वान् और प्रतिष्ठा प्राप्त सज्जन श्री पोद्दारजी से विनयशीलता का नागरिक गुण प्राप्त करने की शिक्षा लें तो हमारे स्वतंत्र भारत का नागरिक जीवन कितना अधिक सुखमय हो जाय।

श्री पोद्दारजी ने समय-समय पर साहित्य-कार्य के लिए सहायता या दान करके अपनी उदारता का परिचय दिया है। ब्रज-साहित्य-मंडल के भवन के लिए भूमि आप तथा आपके परिवार-द्वारा दिये गए धन से खरीदी गई है। इससे स्पष्ट है कि आप खास कर ब्रज-साहित्य से कितना अनुराग रखते हैं। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि व्यवसायी होते हुए भी आपने अपने जीवन का बहुत-सा मूल्यवान समय साहित्य-सेवा के लिए अर्पण किया है। आज कल कितने व्यवसायी सेठ हैं, जो साहित्य की गति-विविध से परिचित रहते हैं और कुछ साहित्य-कार्य करने के लिए अवकाश निकाल पाते हैं? प्रायः व्यवसायी होना और साहित्य-कार्य करना दो वेमेल वातें समझी जाती हैं। श्री पोद्दारजी जैसे महानुभाव ऐसी धारणा को हटाने में सहायक ही हुए हैं। आपका उदाहरण बहुत शिक्षाप्रद है। यदि देश का व्यवसायी समान आपका अनुकरण कर कुछ लोभ का त्याग करे और प्रवृत्त हो तो हमारे हिंदी-साहित्य-मंडल के कई प्रकार के अभाव शीघ्र ही दूर होने की आशा हो।

ऐसे महानुभाव को जो व्यवसायी होते हुए भी साहित्य-प्रेमी और साहित्य-सेवी हैं, जो अपने विषय के प्रकाश विद्वान् होते हुए भी विनम्र हैं, जो बयोवृद्ध होते हुए भी अपने से छोटी उम्र वाले तथा युवकों के प्रति मिष्ट-भाषी हैं, उनके प्रति हमारी 'विनम्र-अर्द्धांजलि' सादर समर्पित है।



प्रणामांजलि

श्री गोपालप्रसाद व्यास

श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार द्विवेदी-युग के प्रख्यात कवि, हिंदी में रस और अलंकार-विषय के प्रतिभावान् आचार्य, साहित्य-शास्त्र के प्रामाणिक आलोचक और हिंदी में संस्कृत-साहित्य के इतिहास को प्रथम बार शुद्धलावण्य-रूप में प्रस्तुत करने वाले तथा यशस्वी निबंध-लेखक हैं। आपकी हिंदी-सेबाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हिंदी के इस वयोवृद्ध पितामह-साहित्य-गुरु के समुच्च हमारो मस्तक सहज अर्पण से नत हो जाता है।

लक्ष्मी की जगमगाहट में प्रथम नेत्रोन्मीलन से आज तक स्नात रहते हुए भी उसकी चमक ने इन्हें विमूढ़ नहीं किया, व्यापारिक बाधाओं की लहरियाँ उनके तटस्थ, अचल व्यक्तित्व से टकरायी, पर वे विचलित नहीं हुए, युवावस्था के रागों की उदाम-धाराएँ भी उन्हें पथ-भ्रष्ट न कर सकी और आज वृद्धावस्था की अस्वस्थता भी उन्हें साहित्य-सेवा से विरत करने में असमर्थ सिद्ध हो चुकी है। सेठजी को हम आयु-पर्यंत साहित्य के महासाधक के रूप में देखते हैं। उनकी साठ वर्ष की साहित्यिक प्रगति उनके सत्कारी मन और परम आस्तिक स्वभावका चिन्तन करते हुए आज किसका मन अभिनन्दन के भावों से नहीं भर जाता? कारण यह है कि सेठजी के साहित्य-सर्जन की भूमि ठोस है, वह प्रचार की आकांक्षा से प्रेरित नहीं हुई, वरन् मन की अतनिव अनुभूति पर आधारित है।

सेठजी ने जब साहित्य में प्रवेश किया तब न ऐसे प्रेस थे और न ऐसी पत्रिकाएँ थी। हिंदी के आन्दोलन के लिए तब समा-समेलनों ने भी बल नहीं पकड़ा था। हिंदी भाषा और उसके साहित्य में नवोन्मेष भरने वाली 'सरस्वती' (पत्रिका) का भी जन्म तब तक नहीं हुआ था।

'सरस्वती' हमारे साहित्य में नूतन प्रकाश लेकर अवतरित हुई। आरम्भ से ही सेठजी की रचनाएँ उसमें छपने लगी। पहले वर्ष में ही उसमें लेखकों की जो चित्रावली प्रकाशित हुई, उसमें अगुलियों पर गिने जाने वाले तत्कालीन साहित्य-महारथियों में सेठजी सम्मिलित थे। इस घटना को घटे आज ५० वर्ष बीत गए। इस अर्द्ध शताब्दी में हिंदी में कितनी उथल-पुथल नहीं हुई? युग आये और गये। वाद चले और समाप्त हुए। किंतु सेठजी साहित्य-सर्जन के अपने लक्ष्य पर अडिग, स्थिर रहे और दृढ़ता से पैर उठाते हुए अपने पथ पर चलते रहे।

पोद्दारजी जैसे सजग और अभ्यवसायी लेखक का जीवन-वृत्त आज की पीढ़ी के लिए प्रेरणाओं से भरा हुआ है। उनके व्यक्तित्व के विकास में हिंदी के विकास की कहानी छिपी हुई है।

वंश-परिचय

राजस्थान की वीर-प्रसविका भूमि रण-वैक्रान्तों के लिए ही नहीं, व्यवसाय-व्यापार शिरोमणि खेडियों के लिए भी प्रसिद्ध रही है। राजस्थान के उज्ज्वल इतिहास में जहाँ अनेकानेक सशस्त्र वीरों की प्राणों को प्रकषित करने वाली गाथाओं के प्रमाण मिलते हैं, वहाँ ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि यहाँ के मारवाड़ी व्यापारी समुदाय ने देश-विदेशों से केवल धन का ही संचय नहीं किया, अपितु अपनी परोपकारी वृत्ति से अनाथ धर्म का भी संचय किया है। विगडे दिनों में भारत के सामाजिक शील, साहित्यिक अनुराग और राजनीतिक उत्कर्ष को भी मारवाड़ी जाति से प्रचुर प्रोत्साहन मिला है। मारवाड़ियों का व्यक्तिगत चरित्र गुलामी के दिनों में भी अपनी घुरी से नहीं हटा। ऐसे ही उज्ज्वल कीर्ति एवं गौरवान्वित मारवाड़ी समाज के पोद्दार-वंश में 'श्री कन्हैयालालजी' ने जन्म लिया।

इस पोद्दार-वध में सेठ भगोतीरामजी पोद्दार बड़े भाग्यशाली हुए हैं। वे वीकानेर राज्य के चुरू नामक नगर के निवासी थे और अग्रवाल वंशीय पोद्दार कहलाते थे। सेठ भगोतीरामजी के सबसे बड़े पुत्र का नाम चतुर्भुजदासजी था। सेठ चतुर्भुजदास की एक साधु में बड़ी श्रद्धा थी। साधु ज्योतिष-विद्या में निष्णात थे। उन्होंने सेठजी को व्यापारार्थ प्रस्थान करने के लिए एक मुहूर्त शोध कर बताया। सेठजी उसी शुभ मुहूर्त में चल दिये और पंजाब के भटिंडा शहर में आकर ठूकान बसा ली।

यहाँ कुछ समय-उपरात एक घटना घटी। एक रात्रि को कुछ यात्रियों ने आपकी ठूकान से खाद्य पदार्थ मोल लिए। उनके पास रुपया नहीं था, उन्होंने अपनी कुछ थालियाँ इनके पास रख दी और बदले में आवश्यक सामान ले गए। दूसरे दिन प्रातःकाल शहर के बाहर तबुओं में भाग लगी हुई देखी गई। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि कुछ डाकुओं ने वहाँ डेरा डाला था, परंतु जब उन्होंने देखा कि लोग उनका पीछा कर रहे हैं तो वे तबुओं में भाग-लगा कर भाग गए। सेठजी ने अनुमान लगाया कि रात्रि में जो पुरुष खाद्य-वस्तु खरीदने आए थे वे डाकुही थे। अब उन्होंने परीक्षा की दृष्टि से उन थालियों को देखा। वे थालियाँ पीतल की न होकर सोने की थी। बाद में जब सेठजी को यह विदित हुआ कि जले हुए तबुओं का सामान नीलाम हो रहा है तो सेठजी ने उनका सब सामान नीलाम में खरीद लिया। उस सामान में कई घोड़ों के तौबड़े थे। वे डाकुओं के द्वारा छूटे हुए सोने-चाँदी और हीरे-मोतियों से भरे हुए थे। कुछ समय के अनंतर सेठजी ठूकान का काम मुनीयों को सौंपकर अपने जन्मस्थान चुरू आ गए।

अब तो सेठजी की अनेक स्थानों पर ठूकानें चलने लगी। जगात (कर) के सबसे में चुरू के ठाकुर साहब से अनवन होजाने पर सेठ चतुर्भुजदासजी सीकर के रावराजा देवीसिंहजी बहादुर (राज्य-काल स०-१८२७ वि० से स०-१८५६ वि० तक) से मिले। रावराजाजी के अनुरोध करने पर वे सीकर राज्यांतर्गत "नौसा" ग्राम में (जो चुरू से लगभग ५ कोस अर्थात् १० मील की दूरी पर है) अपने पिता सेठ भगोतीरामजी के साथ रहने लगे। सेठजी के वहाँ आबसने पर आसपास के गाँवों के और लोग भी नौसा गाँव में आ बसे। यही नौसा गाँव आगे चलकर 'सेठों का रामगढ़' कहलाया।

रामगढ़ में सेठ चतुर्भुजजी ने अपने नाम के अनुसार भगवान् चतुर्भुजजी के मंदिर की स्थापना की। उनके एक पुत्र का नाम ताराचंदजी था। सेठ ताराचंदजी के वंशजों में सभी महानुभाव बहुत प्रसिद्ध धार्मिक एवं यशस्वी हुए हैं। सेठ ताराचंदजी बड़े सरल स्वभाव के सयमी और धार्मिक व्यक्ति थे। इनका स्वर्गवास तस्फावस्था में ही हो गया था। उनके दो पुत्र थे—गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी। ये दोनों ही अत्यंत प्रभावशाली थे। राजपूताने में आज भी 'हरसा-गुरसा' कहकर इन दोनों भाइयों के सद्गुणों की प्रशंसा की जाती है। सेठ गुरुसहायमलजी के एकमात्र पुत्र सेठ घनस्यामदासजी हुए।

सेठ गुरुसहायमलजी बड़े आदर्श पुरुष थे। भिवानी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा सुदर्शन-पत्र के संपादक पंडित आषवप्रसादजी मिश्र ने कलकत्ता से प्रकाशित 'वैशेषिककारक मासिक पत्र' में आपके विषय में लिखा था कि परस्पर की बातों में लोग कहा करते थे कि 'तू बड़ा गुरुसहायमल सेठ है, जो झूठ नहीं बोलता।' इनके विषय में ऐसी अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि ये बड़े संयमी और सत्यवादी थे। इनके व्यापारका केंद्र केवल बड़े-बड़े नगरों में ही सीमित नहीं था, परंतु छोटे-छोटे अनेक शहरों और मंडियों से भी इनका व्यापार-संबंध था। हाणकांग और श्याई में भी आपकी कोठियाँ थी। सभी स्थानों पर आपके मुनीम लोग कार्य करते थे। आपकी इन कोठियों पर सराफ़े का ही काम नहीं होता था, उस समय के प्रायः सभी प्रचलित व्यापार होते थे, पर अफीम और वीमा लेने का व्यापार सब में प्रधान था। मालवा-प्रांत से अफीम खरीदी जाती थी। वहूनि बवाई जाती थी और बंबई से श्याई जाती थी। उस समय अफीम का व्यापार बड़ी उन्नतावस्था में था और उस व्यापार में सेठजी अग्रगण्य माने जाते थे। जल-जल सभी प्रकार के

बीमे का काम सेठजी के यहाँ होता था। उस समय बीमे का व्यापार किसी विदेशी या स्वदेशी कपनियों के हाथ में था। व्यापार में जो लाभ होता था उसका विशेष भाग धर्मार्थ के लिये पृथक् रखा जाता था। सेठ गुरुसहायमलजी और घनश्यामदासजी दोनों पिता-पुत्र में धार्मिक भावना अत्यंत बढ्दमूल थी। आपने अपने जन्मस्थान रामगढ़ में श्री वद्रीनाथ के मंदिर की स्थापना की और धर्मशाला बनवाई।

सं० १६०० वि० के लगभग दोनों पिता-पुत्र मथुरा की यात्रा के लिये आए। यहाँ आपने श्री गोविन्ददेवजी के मंदिर की स्थापना की और उसके निस्त-नैमित्तिक व्यय के लिए लाखों रुपए की स्थावर और जगम संपत्ति दान में दी। इसके अतिरिक्त अन्नसत्र (सदाव्रत) का भी आयोजन किया। मथुरा में अपने निवास के लिए भी एक विनाल भवन निर्माण कराया जो श्री यमुना-तट के निकट चुरूवाले सेठों की गली में श्री गोविन्ददेवजी के मंदिर के समीप है। उसी समय से सेठ गुरुसहायमलजी अपने जन्मस्थान रामगढ़ से सपरिवार आकर अधिकतया मथुरा में रहने लगे। मथुरा में आपका घराना चूडीवालों के नाम से प्रसिद्ध है। चुरूवालों का अपभ्रंश ही 'चूडीवाले' हो गया है। आपने काशी में मीरघाट के पास अपनी कोठी के एक भाग में विशाल शिवालय की स्थापना की। काशी, हरिद्वार और वृंदावन-आदि अनेक अन्य तीर्थस्थानों पर भी आपने अन्नसत्रों की आयोजना की। ये राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित मंगलदत्तजी और चिदाबा (जयपुर) के पंडित तुलसीरामजी जैसे वीतराग महात्माओं के उपदेश सुनते थे और उनका सत्संग करते रहते थे। यों तो श्री भगवद्-सेवा के लिए विद्वान् पुजारी नियुक्त थे, परन्तु सेठजी स्वयं नियमित रूप से भगवान् की सेवा करते थे। विद्वानों का सत्कार और अतिथि-सेवा तो आपका व्रत था। सेठ गुरुसहायमलजी अलम्य यज्ञ, अनुल संपत्ति और सत् परिवार छोड़ कर सन् १६२४ के लगभग स्वर्गवासी हो गए। आपकी अत्येष्टि-क्रिया में लाखों रुपयों का दान किया गया था। रामगढ़ में जिस स्थान पर सेठजी का दाह-कर्म हुआ वहाँ एक विशाल धार्मिक स्थापत्य बनाया गया। ऐसे स्मारक सोलावाटी में 'छत्री' कहलाते हैं।

सेठ घनश्यामदासजी अपने स्वर्गीय पिता के आदर्श पर व्यापार और धार्मिक कार्य में सलग्न रहते हुए उत्तरोत्तर वृद्धि करते गए। अपने समय में उनकी ऐसी प्रथा थी कि मारवाडी समाज तो आपको अपना अग्रगण्य ही मानता था। जब सेठजी श्री जगदीश की यात्रा के बाद कलकत्ते और श्री रामेश्वर की यात्रा से लौटते हुए ववाई गए तो दोनों स्थानों पर वहाँ की समस्त मारवाडी समाज ने बड़े उत्साह पूर्वक आपका स्वागत-सत्कार किया। जहाँ-जहाँ सेठजी की कोठियाँ थी, वहाँ-वहाँ के मारवाडी पक्षों में आपके फर्म का नाम सबसे पहले लिखा जाता रहा है। सेठजी को अपने जीवनकाल में दुःख-सहन करने का कोई अवसर नहीं आया। अपनी मृत्यु से केवल पाँच दिन पहले आपको एक बार ही हृदय-विचारक दुःख देखना पड़ा था। उसी दुःख ने ५५ वर्ष की अवस्था में ही मिति प्राप्तिन शुक्ला १५ सं० १६४० वि० को आपके प्राणों की वलि ले ली। आपके ज्येष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हुआ और उसके अनंतर आप केवल पाँच दिन अचेतन अवस्था में ही जीवित रहे। सेठजी की प्रथम पत्नी के दो पुत्र थे—सेठ जयनारायणजी व लक्ष्मीनारायणजी। द्वितीय पत्नी से तीन पुत्र—सेठ राधाकृष्ण जी, सेठ केशवदेवजी और सेठ मुरलीधरजी हुए।

सेठजी के स्वर्गवास के पश्चात् आपकी पत्नी ने तपस्विनी के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया। एक लक्ष भगवत्-नाम का प्रतिदिन जप कर आप भोजन करती थी। आप बड़ी दानशीला एवं दया की भूति थी। आपने सं० १६५२ वि० में हरिद्वार में श्री गंगा के प्रवाह में अपने प्राण-विषर्जन किए। सेठ घनश्यामदासजी के पाँचो पुत्र बड़े प्रभावशाली थे। इनमें सबसे बड़े सेठ जय-नारायणजी थे। इनका जन्म सं० १६०६ वि० में हुआ। आप बड़े भगवद्भक्त, दानशील और पुण्यात्मा थे। अपने पितामह के साथ आप भी प्रतिदिन योगबाधिष्ठ, श्रीमद्भगवत् आदि पौराणिक कथाओं का श्रवण करते और तदनंतर उनको लिपिबद्ध करते थे। बाल्यावस्था से ही आपके हृदय में

धार्मिक संस्कार दृढमूल हो गए थे। आपकी दिनचर्या आदर्श थी। ब्राह्म मुहूर्त में शय्या-छोड़कर सूर्योदय पर्यन्त गीता आदि पचरत्नों का पाठ करते रहते थे। आपका शरीर कृश होने के कारण अस्वस्थ ही रहा करता था। फिर भी आप नित्य श्री यमुना-स्नान करते थे और नियमित रूप से श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करते थे। सध्यापासनादि, नित्यकर्म से लगभग ११ वजे निवृत्त होकर आप अपने पितामह-द्वारा स्थापित श्री गोविन्ददेवजी के मंदिर में १०८ परिक्रमा करते थे। व्यापार-संबंधी पत्रों को सुनकर और मुनीम-गुमास्तों को आदेश देने के पश्चात् आप श्रीमद्भागवत, रामचरित-मानस एवं वितथपत्रिका आदि का पाठ करते थे। आप पर ब्रज के प्रसिद्ध विद्वानों और साधु-महात्माओं की बड़ी कृपा रहती थी।

सेठ जयनारायणजी वडे ही ब्रह्मण्य थे। आपके यहाँ सैकड़ों ब्राह्मण प्रतिदिन श्री भागवतादि का पाठ और गायत्री-आदि का जप किया करते थे। प्रतिदिन अनेक ब्राह्मण और श्रुतिधियों को भोजन कराया जाता था। समय-समय पर महीनो तक सैकड़ों ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराया जाता था। आपने मथुरा के चतुर्वेदियों को, जिनकी संख्या लगभग ४००० है—कई बार भोजन कराया और प्रति मनुष्य एक रुपया दक्षिणा दी। व्यापारिक कार्य में आप बहुत ही कम समय देते थे। सेठजी की अपने इष्टदेव श्री गोविन्ददेवजी पर धीर श्रद्धा और भटल विश्वास था। स० १९३२ वि० में आप सकुटुब श्री जगदीश-यात्रा को गए। उस समय रानीगज से आने बैलगाड़ियों में जाना होता था। रास्ते में मेदनीपुर में पड़ाव किया तो रात में मेदनीपुर की नदी में मयकर बाढ़ आ गई। सेठजी के पड़ाव का स्थान चारों ओर से जलमग्न हो गया। कहते हैं कि उस समय सेठजी ने अपने इष्टदेव श्री गोविन्ददेवजी का स्मरण किया और प्रत्यक्ष-दर्शियों का कहना है कि उस समय एक स्वामकाय पुण्य ने कहीं से प्रादुर्भूत होकर अपना हस्तावलंबन देकर पत्नी और पुत्र के सहित सेठजी को एक ऊँची टेकरी पर ले जाकर खड़ा कर दिया। उसी समय आपने एक लक्ष ब्राह्मण-भोजन का मकल्य किया। स० १९४० वि० में आप रोगग्रस्त हो गए। जब आपको रोग असाध्य प्रतीत होने लगा तो आप स्वर्णमुद्राओं का मुक्त हस्त से अखंड दान करने लगे। आश्विन शुक्ला १० स० १९४० वि० को श्री गोविन्ददेवजी के चित्र के दर्शन करते-करते आपका वैकुण्ठवास हो गया।

जन्म

इन्हीं जयनारायणजी के ज्येष्ठ पुत्र हमारे सेठ श्री कन्हैयालालजी हैं। आपका जन्म मथुरा में भादो सुदी १, सवत् १९२८ को हुआ। अपने कुल की दीर्घ परंपरा से ही इन्हें गहन भगवद्भक्ति के साथ दान-दान और कुल-शील के संस्कार बड़े स्थिर रूप में प्राप्त हुए हैं। शास्त्रों के अध्ययन की निष्ठा, विद्वज्जनों की सगति और साधुजनों की सेवा का निरंतर पीढ़ियों से चले आने वाला तप हमारे नेठ कन्हैयालालजी पोद्दार के व्यक्तित्व में आकर फलीभूत हुआ और साथ ही लक्ष्मी के प्रसाद से समाज में अनंत नमान प्राप्त करने वाले इस यशस्वी कुल पर सरस्वती की भी कृपा हुई।

शिक्षा और संस्कार

पोद्दारजी ने किसी विद्यालय में विविध अध्ययन नहीं किया। क्योंकि आपके पिताजी का वैकुण्ठवास, जब आप केवल १२ वर्ष के ही थे, तभी हो गया था। इसलिए वाल्यावस्था में ही गृहस्थी और व्यापार का मार, आप पर आ पड़ा और गुरु-गृह या विद्यालय की शिक्षा से आप वंचित रह गए। जो कुछ भी शिक्षा आपको मिली वह घर पर मिली। घर की इस शिक्षा में साधारण गणित एवं बहो-गाना और सस्कृत में पचरत्न, कुछ अमरकोष और कुछ सारस्वत तक ही आपकी पढ़ाई सीमित रही। आपके पिताजी अंग्रेजी-शिक्षा के बड़े विरोधी थे, इसलिए उसका प्रयोग ही प्रारंभ में नहीं उठा, किंतु बाद में नतन व्यापार-क्षेत्र में काम पड़ने से आपको अंग्रेजी का भी साधारण ज्ञान हो गया।

अपनी शिक्षा तो आपको भगवान् व्यास की श्रीमद्भागवत और गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस में ही प्राप्त हुई। आपका यज्ञोपवीत संस्कार ६ वर्ष की अवस्था में ही हो गया

था। तभी से श्रीमद्भागवत और तुलसी-कृत रामायण आपके दैनिक पठन-पाठन के ग्रंथ बन गए। टीकाओं-द्वारा इन महान् ग्रंथों की अनेकानेक पाठावृत्तियों ने पोद्दारजी के ज्ञान-कपाट खोल दिए और यही टीकाएँ आपको साहित्य-क्षेत्र की ओर प्रेरित करने का कारण बनीं। फिर आप विविध सस्कृत और हिंदी के साहित्यिक ग्रंथों को भेंगा-भेंगा कर पढ़ने लगे। विद्वान् पंडितों और साहित्यकारों के सत्संग ने इस रुचि को और पुष्ट किया।

राजस्थान के नूची निवासी राजमान्य महाकवि सूर्यमल्लजी के पट्ट शिष्य गणेशपुरीजी से आपने भलकार-विषय का प्रसिद्ध ग्रंथ “भाषामूषण” पढ़ा। यद्यपि यह पढ़ाई केवल तीन दिन ही चली, लेकिन इससे भलकार-विषय में सदा के लिए आपकी अभिरुचि हो गई। मारवाड के गंग कवि से आपने पिंगल भी पढ़ा।

यह पहले बताया जा चुका है कि आपने प्रातः पूजा के समय श्रीमद्भागवत का पठन पहले कुछ दिनों हिंदी-भाषा-टीका के साथ किया, तदनंतर सस्कृत-टीका के साथ करने लगे और इस तरह कई आवृत्तियाँ की, जिससे आपको सस्कृत समझने की बहुत कुछ क्षमता उपलब्ध हो गई और आप सस्कृत के काव्य, नाटक आदि देखने और समझने लगे। साथ-साथ आप हिंदी-भाषा के काव्य-नाटक भी देखते रहे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आदि के नाटकों से आपकी हिंदी-साहित्य की ओर विशेष अभिरुचि हुई। श्री रामचरितमानस का पाठ तो आप प्रतिदिन करते ही थे। इसपर श्री रामचरणदासजी और वैजनाथजी की टीकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत हैं। उनकी भी आपने कई आवृत्तियाँ की। शनैः-शनैः आपका अभ्यास बढ़ता गया। आप सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजने लगे और काव्य-रचना करने लगे। जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने “सरस्वती” का प्रकाशन आरंभ किया तो प्रथम वर्ष ही आपका महाकवि भारवि पर एक उत्कृष्ट निबंध आपके चित्र के साथ निकला था। साहित्य-विषय में आपकी उत्तरोत्तर रुचि बढ़ती गई।

पहली रचना

आपकी सबसे पहली पुस्तक—“मर्तुहृदि-शतक का भाषानुवाद” है। यह १९५० के आस-पास की रचना है। यह अनुवाद कालाकाँकर से निकलने वाले दैनिक “हिंदोस्थान पत्र” में क्रमशः प्रकाशित हुआ था और तब उसकी बड़ी साराहना भी हुई थी।

आपका सबसे पहला लेख भी महामना श्रीमालवीयजी के प्रधान संपादकत्व में ‘हिंदोस्थान’ में ही छपा। उसकी कहानी भी रोचक है। आपने संपादक को पत्र लिखा कि आप जो लेख छापते हैं, उनकी छपाई भी कुछ लेते हैं या यो ही छाप देते हैं? संपादक ने उत्तर देते हुए लिखा कि हम सुंदर लेखों को तो छाप देते हैं और शेष उद्दी की टोकरी में फेंक देते हैं। इस पर आपने वहाँ लेख भेजने आरंभ किए। आपका पहला लेख ‘गेहूँ’ और दूसरा ‘अफीम-निर्यात’ पर था। साहित्य-क्षेत्र में भवतीर्ण होते समय जहाँ हमें एक ओर ‘मर्तुहृदि-शतक’ के नीति-नाशित-काव्य में इनकी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, वहीं दूसरी ओर देश के व्यवसाय-व्यापार से संबंधित आर्थिक विषयों की ओर भी प्रवृत्ति मिलती है। इस दिशा में इनके अपने प्रत्यक्ष व्यापारिक अनुभवों से इन्हें प्रेरणा मिली थी, इस ओर भी यदि ये अपनी अभिरुचि बनाये रहते तो आज आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्र को कुछ मौलिक सामग्री मिली होती।

भलकारों की ओर

पोद्दारजी से पहले हिंदी-ग्रंथों में भलकारों का विषय प्रायः पक्ष-बद्ध था। प्राचीन कविगण राज-समाज और पंडित-प्रवीणों में आदर-आप्त करने के लिए नीति-ग्रंथों की रचना किया करते थे। उन ग्रंथों में प्रधान प्रतिपाद्य नायिका-भेद था और भलकार-विषय भी था, पर किंचित गीण। इन ग्रंथों में भलकारों के प्रतिपादन के लिए अधिकतया सस्कृत के चंद्रालोक और कुवलयानंद को ही आधार माना गया प्रतीत होता है। सस्कृत-ग्रंथों में भलकारों के पद्यात्मक लक्षणों का प्रथम तो

अलकारों ने स्वयं अपनी वृत्ति में ही स्पष्टीकरण कर दिया है, फिर उन पर प्रकाश विद्वानों-द्वारा लिखी गई टीकाओं में विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया। पर हिंदी के रीति-ग्रन्थकारों ने प्रथम तो अलकार-विषय को समझने का कष्ट ही नहीं उठाया, फिर उनके लक्षण भी पद्य में मिले। पद्य में दिये गए लक्षण कभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो तो, उन पर वृत्ति या व्याख्या की आवश्यकता होती ही है। किंतु हिंदी में उनका कुछ भी स्पष्टीकरण गद्य में नहीं किया गया। फलतः हिंदी-साहित्य के पाठकों एवं विद्यार्थियों तक के लिये इन ग्रंथों की कोई उपयोगिता नहीं हो सकी। अलकारों की प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण और उनकी व्याख्या-आदि के लिये, अत्यंत गहन विवेक तथा सूक्ष्म तत्त्वदर्शी भेषा की आवश्यकता होती है। उस भेषा के बिना तथा तत्संबंधी विवाद, व्यापक पाठ्य के बिना अलकारों के सूक्ष्म भेदों के मनोवैज्ञानिक तत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकते। हिंदी में इसका एकांत अभाव था।

पोद्दारजी ने हिंदी के रीति-ग्रंथों की इस कृति को लक्ष्य में रखकर संस्कृत के उपलब्ध प्राचीन साहित्य-ग्रंथों का विशद अध्ययन किया और उनके आधार पर अपने ग्रंथों की रचना की। पोद्दारजी से पूर्व हिंदी-साहित्य के विद्वानों ने संस्कृत के प्राचीनतम भाचार्यों की और वृत्तिपात भी नहीं किया था। भामह, वकी, उद्भट, वामन, वरह, ध्वनिकार एवं रुच्यक-आदि और पंडितराज जगन्नाथ-पादि-द्वारा प्रणीत काव्यालंकार, काव्यादर्श, काव्यालंकार-सार-संग्रह, काव्यालंकार-सूत्र, काव्यालंकार, ध्वन्यालोक एवं अलंकार-सर्वस्व और रस-भाषाधर आदि ग्रंथ इनके लिए अत्युत्तम ही रहे थे। पहली बार पोद्दारजी ने ही काव्य-प्रकाश, कुवलयानंद और साहित्य-दर्पण के अतिरिक्त उपर्युक्त समस्त संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर विभिन्न वैज्ञानिक प्रणाली से अपने साहित्य-ग्रंथों में साहित्य-शास्त्र की विवेचना की।

पोद्दारजी के इस परिश्रम से साहित्य के अभ्येताओं को बहुत लाभ हुआ। पोद्दारजी के अलंकार-संबंधी ग्रंथ उनके लिए वरदान सिद्ध हुए। आपने अलंकार जैसे जटिल विषय को अत्यंत सरल बना दिया और उसमें जो दुरुहता और प्राचीन पंडिताक्रमन था उसे निकाल कर उसके स्थान पर ऐसा वैज्ञानिक विवेचन किया जो नवीन शिक्षा-प्रणाली के विद्यार्थियों की समता के अधिक अनुकूल था। अलकारों के लक्षणों को पद्य-बद्ध लिखने की परिपाटी आपने बदल दी। आपने ये गद्य में लिखे। उनके उदाहरण श्रेष्ठ कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं में से चुन-चुन कर रखे। प्राचीन परिपाटी के रीति-ग्रंथों में उदाहरण-संबंधी बहुत प्रमाद था। सेठजी ने अपने अध्ययन-साय से शुद्ध उदाहरण ही चुन कर प्रस्तुत किए। जहाँ अन्य विद्वानों के श्रेष्ठ उदाहरण नहीं मिले वहाँ पोद्दारजी ने अपने स्वयं के लिखे उदाहरण दिये और इस प्रकार अलंकार-शास्त्र का प्रथम बार प्रामाणिक प्रणयन हिंदी में आपके हाथ हुआ, जिसमें आपने अलकारों के वर्गीकरण और विवेचन की प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही प्रणालियों का उपयोगी समन्वय प्रस्तुत किया।

अलंकार-प्रकाश

अलंकार-विषय पर आपकी पहली कृति 'अलंकार-प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुई। इसे सबसे के बेंकटेश्वर प्रेस ने छपा था। इस पुस्तक का हिंदी में बड़ा उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ। तत्कालीन विद्वानों ने इसकी मुक्तकठ से प्रशंसा की, पत्र-पत्रिकाओं में इसकी महत्वपूर्ण चर्चा हुई और परीक्षाओं में भी इसे स्थान दिया गया। दाबू वालमूकुंद गुप्त ने अपने 'भारतमित्र' में इसकी प्रशंसात्मक आलोचना लिखी थी। यह ग्रंथ पोद्दारजी ने स्वातंत्र्य-सुखाय ही लिखा था। हिंदी वालों ने इसे बड़ी श्रद्धा के साथ अपनाया तो नेठजी ने अपने आपको इस शास्त्र की सेवा के लिये और अधिक विनियुक्त किया।

काव्य-कल्पद्रुम

पोद्दारजी का विचार था कि 'अलंकार-प्रकाश' का दूसरा संस्करण केवल अलंकारों के प्रतिपादन तक ही सीमित न रखा जाय। वे उनमें रस, भावादि सभी विषयों का समावेश करना

चाहते थे। पर समयाभाव में वे अपने विचारानुकूल वह संस्करण प्रस्तुत नहीं कर सके। फिर भी संक्षेप में 'रस-भावादि का विषय उन्होंने बढ़ा दिया और उसको 'काव्य-कल्पद्रुम' का नाम देकर नागरी-अचारिणी-सभा आगरा के द्वारा प्रकाशित कराया गया। इस प्रकार 'अलंकार-प्रकाश' समृद्ध हुआ और काव्य-कल्पद्रुम बन गया। काव्य-कल्पद्रुम के बाद के समस्त संस्करण दो भागों में विभक्त होकर 'रस-मञ्जरी' और 'अलंकार-मञ्जरी' के नाम में निकलते रहे हैं। ये दोनों ग्रंथ उत्तरोत्तर परिष्कृत और परिवर्तित होते गए हैं। पोद्दारजी में सार-ग्राहिणी वृत्ति सदा ही अत्यंत प्रबल रही है। उनका अध्ययन तथा अध्ययन अलङ्कार और अदृष्ट रहा है। इसी कारण प्रत्येक नये संस्करण में उन्होंने महत्वपूर्ण परिवर्द्धन और परिवर्तन किए। नये-से-नये प्रकाशनों का भी मनोयोग पूर्वक आपने पारायण किया, और उसमें से सार-ग्रहण करके स्वतंत्र मनन-पूर्वक अपने ग्रंथ में उसका समावेश किया, इस प्रकार ग्रंथ प्रगति के साथ पूर्ण बनता गया। यों तो हिंदी में साहित्य-विषयक प्राचीन रीति-ग्रंथ अनेक हैं। 'काव्य-कल्पद्रुम' के बाद भी आधुनिक लेखकों-द्वारा कुछ ग्रंथ लिखे गए हैं, पर जिस नवीन शैली से 'काव्य-कल्पद्रुम' में काव्य-साहित्य के सभी विषयों का विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक विषय विवेचन किया गया है, वह अपूर्व है और पोद्दारजी की साहित्य-विषयक विद्वत्ता का परिचायक है। पोद्दारजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से गहराई में पैठ कर संस्कृत के आचार्यों तक के प्रमाद का उद्धार करने में सकोच नहीं किया और ऐसा उन्होंने अद्वैतपूर्वक सास्वत-धर्म समझ कर ही किया। हिंदी ही नहीं, संस्कृत के भी अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ पर अपनी बहुमूल्य प्रशंसित समीक्षाएं प्रदान की हैं। अलंकार-प्रकाश के प्रकाश में आने के बाद जितने भी ग्रंथ इस विषय के अन्य लेखकों-द्वारा हिंदी में लिखे गए हैं, उनमें अलंकार-प्रकाश के अनुकरण पर गद्य में लक्षण लिखा जाना प्रचलित हुआ है। उन दिनों अलंकार-प्रकाश, अलंकार-विषय के लेखकों के लिए आधार-ग्रंथ का काम देता था। बाबू जगन्नाथ प्रसादजी 'मानु' ने अपने 'काव्य-प्रसाकर' में लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने अपनी 'अलंकार-मञ्जूषा' तथा 'व्यंग्यार्थ-मञ्जूषा' में, और श्री रामचन्द्रजी शुक्ल 'रसाव' ने 'अलंकार-पीयूष' में, 'अलंकार-प्रकाश' और 'काव्य-कल्पद्रुम' की सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है।

रस, ध्वनि और अलंकार-विषय पर सेठजी ने जो प्रशंसनीय कार्य किया, उसकी महत्ता को हिंदी के मान्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। आचार्य द्विवेदीजी, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम-मुंदरदास, डा० पीतांबर दत्त बडधवाल आदि ने आपके ग्रंथों की भूरि-भूरि सराहना की। 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास' लिखनेवाले पंडित श्री कृष्णचक्र शुक्ल की समीति देखिये—

“हिंदी में अलंकारों के ठीक-ठीक उदाहरण ढूँढ़ना बहुत परिश्रम का काम है और जो उदाहरण लक्षण की माँग पूरी करते हैं, उनमें उतना कवित्व नहीं रह जाता। संस्कृत के उदाहरणों के अनुवाद करने में भी कठिनाइयाँ हैं। मैंने आपकी पुस्तक (अलंकार-मञ्जरी) भूमिका-सहित पढ़ी। आपका अध्ययन गंभीर है। हिंदी-साहित्य का भी आप घरेलू परिचय रखते हैं। घरेलू से मेरा तात्पर्य 'निकट' का है। पुस्तक बहुत अच्छी बन पड़ी है। इसे मैं तो अपने साहित्य की इस विषय की सर्वश्रेष्ठ रचना मानता हूँ।”

पोद्दारजी ने अलंकार-विषय पर जहाँ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के भ्रमों और भूलों का परि-आर्जन किया है, वहाँ अपने समकालीन लेखकों को नयी शैली और नया प्रकाश भी प्रदान किया है। रस, ध्वनि-आदि रीति-विषयों पर तो हिंदी में पहली बार साधिकार लेखनी पोद्दारजी ने ही उठाई और उन्होंने ही इन विषयों का प्रथम बार हिंदी में वैज्ञानिक विवेचन किया।

कवि-रूपमें

रस और अलंकार-विषय पर सेठजी ने जो हिंदी में सर्वप्रथम और सर्वोत्तम कार्य किया, उसके प्रकाश में आज आपका कविरूप ढक-सा गया है, नैकिन कविता के क्षेत्र में भी आपकी मेवाएँ

द्विवेदी-काल के किसी अन्य कवि से कम उल्लेखनीय नहीं। यह ठीक है कि आपने भौतिक रचनाएँ कम लिनी, आपके सभी काव्य-ग्रंथ संस्कृत से अनूदित हैं, लेकिन संस्कृत का समश्लोकी अनुवाद और उसके साथ-साथ कवित्व के गुणों का सम्यक् निर्वह, अनुवाद की इन दो महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को निवाहने में सेठजी, हिंदी में अकेले ही सफल हो सके हैं। आपके चार काव्य प्रकाशित हुए हैं— (१) भर्तृहरिगतक (२) गगलहरी, (३) पचगीत और (४) हिंदी मेघदूत-विमर्श। 'भर्तृहरिगतक' का अनुवाद आपने 'अजभापा' में किया था। यह सन् १९५० के आसपास की रचना है। यह कालाकाँकर के हिंदोस्थान में क्रमशः छपा था। इन्हीं दिनों द्विवेदीजी का भी गगलहरी का अनुवाद हिंदोस्थान में छप रहा था। पोद्दारजी ने पंडितराज जगन्नाथ की 'गगलहरी' और 'पचगीत' अर्थात् श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध के पाँच अध्यायों का समश्लोकी अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

हिंदी मेघदूत-विमर्श

कवि रूप में सबसे अधिक ख्याति आपको 'हिंदी मेघदूत-विमर्श' से मिली। इसमें मूल संस्कृत के श्लोकों के साथ बोलचाल की भाषा में समश्लोकी पद्यानुवाद हैं। पद्य के साथ-साथ गद्य में भी मूल के अर्थ को बड़े ही सरल ढंग से समझाया गया है। समश्लोकी अनुवाद के कुछ उदाहरण देखिए—

छसोपान्तं परिणतफलद्योतिभिः काननार्चै-
स्त्वय्यारुढे शिखरमञ्चलः स्निग्धवेणीसवर्णं ।
नूनं यास्यत्यमरमियुनप्रेक्षणीयामवस्थां-
सम्ये श्याम-स्तन इव सुवः शेषविस्तारपांडुः ॥११८

पद्यानुवाद—

वन्याओ के तब फल-पके छा रहे प्रांत भाग-
बैठेगा तू शिखर-गिरि के स्निग्ध-वेणी-समान ।
देखेंगे तो ललित-छवि वो, देव-देवांगना यो
मानो गोरे-सुवि-उरज के बीच में श्यामता हो ॥११८

दीर्घोर्जुन्यमदुमदकलं कृजितं सारसानां—
प्रत्युपेयु स्फुटितकमलाभोदनीश्रीकषाय ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतम्लानिमंगानुकूलः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः ॥११३२

पद्यानुवाद—

चेतोहारी ध्वनि मद-भरी सारसों की बढाके,
प्रातः फूले कमल-रज की गंध को भी उढाके-
शिप्रा-वायु प्रिय-सम जहाँ प्रार्थना से रिसाता,
कताओ का श्रम, सुरत का स्पर्श से है मिटाता ॥११३२

यशोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा,
हंसश्रेणीरचितरसना नित्यपद्मानलिन्यः ।
केकोत्कंठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलाप-
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥१२३

पद्यानुवाद—

भू'गाली में भुंगरित जहाँ पुष्प हैं नित्य पुष्पा,
हंस-श्रेणी-ललित-रसना-यशिनी नित्य-पद्मा ।

पिच्छामा से घृत गृह-शिखी नित्य-उत्कांठ-धोषा-
हैं ज्योत्स्ना से विगत-तम की नित्य-रम्या प्रदोषा ॥२१३

नूनं तस्याः प्रबलघटितोच्छ्वानेन प्रियाया—
निद्रासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तान्यस्तं मुखमसकलव्यवित् लंबालकत्वा—
विदोर्देन्यं त्वदनुसरणं क्लिष्टकालेभिर्मति ॥२१२३

पद्यानुवाद—

निद्रा के उसके अति रुदन से सूजे हुए जो ।
हुए रुखे-अधरयुत भी तप्त-निद्रास पा जो ॥
छूटे केरो-गत मुख, घरा हाथ पै होयगा सो ।
घारें तेरे अनुगत अहो, चंद्र की दीनता को ॥२१२३

मत्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलंबे-
तत्कल्याणित्वमपि नितरां मागमः कातरस्त्वम् ।
कल्यैकांतं सुखमुपनतं दुःखमेकांततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशावचकनेमिकमेण ॥२१४८

पद्यानुवाद—

आशा से मैं दृढ़-चित्त किमें धारता प्राण जो कि-
तू भी होना न दुःखित यही सोच कल्याणि, क्योकि-
किसको होता अति-सुख तथा दुःख किसको सदा है ?
ऊँची-नीची चतित-रण के चक्र की-सी दशा है ॥२१४८

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कठलग्ना पुरा मे ।
निद्रां गत्वा किमपि शयती सत्त्वं विप्रबुद्धा ॥
सांतर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे ।
वृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥२१५०

पद्यानुवाद—

बोला है यों फिर, भुन, कभी साथ तू सो रही थी ।
पाके निद्रा कुछ चकित-सी शीघ्र रोती उठी थी ॥
पूछा मैंने बहुत तब यों झोलके तू हँसी थी—
अन्य-कोड़ा-रत ठग, तुम्हें स्वप्न में देखती थी ॥२१५०

कालिदास के मदाश्रयता-छन्द की विशेषताओं को अशुण्ण रखते हुए और कला-पक्ष के साथ-साथ भाव-पक्ष का भी रसपूर्ण निर्वाह करते हुए पोद्दारजी ने समूचे मेघदूत का हिंदी में अनुवाद किया है। इस अनुवाद के साथ पोद्दारजी ने पाठित्यपूर्ण भूमिका भी इसमें जोड़ दी, जिससे सोने में सुगंध आ गई। इस अनुवाद को देखकर आचार्य द्विवेदीजी ने बड़ी प्रशंसा की थी।

‘कलकत्ता-समाचार’ ने तो अपने १४ मई १९२२ अंक के संपादकीय अग्रलेख—‘हिंदी की श्रीवृद्धि’-शीर्षक में यहाँ तक लिखा था—

“हम इसे हिंदी का गौरव-वर्द्धक ग्रंथ समझते हैं। मेघदूत के कई गद्यात्मक एवं पद्यात्मक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं, किंतु आलोच्य पुस्तक में अन्य अनुवादों से अंतर ही नहीं,

महद्-अंतर है। अब तक इसके समान विशद-व्याख्या-सयुक्त मेघदूत का संस्करण समृद्धशाली जग-भाषा या महाराष्ट्र-भाषा में भी प्रकाशित नहीं हुआ।”

मेघदूत की भूमिका बड़ी शोधपूर्ण और उपयोगी है। उसमें मेघदूत का परिचय, कालिदास की कविता-शक्ति, मेघदूत की टीकाओं का विवरण, मेघदूत और रामायण, मेघदूत के अनुकरण पर रचे गए काव्य, मेघदूत के हिंदी-अनुवाद आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

कालिदास किस समय हुए—इस विषय को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। इन प्रश्न पर पोद्दारजी ने जो युक्तियाँ उपस्थित की हैं वे सप्रमाण और अनुठी हैं। पोद्दारजी ने महाकवि भास को ‘चन्द्रगुप्त मौर्य’ का समकालीन माना है। कालिदास को वे भास के बाद और भामह से पहले हुआ मনেते हैं। भामह ने वररुचि के प्राकृत-प्रकाश की टीका लिखी है और वररुचि का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है। इसलिए भामह का इस समय के पीछे होना सिद्ध है। मगध के अंतिम राजा बृहद्रथ के बाद पुष्पमित्र हुआ। इसने अश्वमेध यज्ञ किया था। इसका उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में है। यह ईसा से पहले दूसरी शताब्दी की रचना कही जाती है। इसी पुष्पमित्र का पुत्र अग्निमित्र था, जिसके नाम पर कालिदास ने ‘मालविकाग्निमित्र’ नाटक लिखा है। पुष्पमित्र का समय ईसा से १८१ से १४८ वर्ष पहले बताया जाता है। अग्निमित्र इसके बाद आता है। अस्तु सेठजी का कथन है कि मालविकाग्निमित्र का काल ही कालिदास का काल समझना चाहिए।

पोद्दारजी ने कालिदास के बंगाली होने की कल्पना का भी सप्रमाण खंडन किया है और उनकी जन्मभूमि काश्मीर मानी है और कहा है कि उन्होंने अपनी युवावस्था और प्रौढ़ावस्था उज्जयिनी में व्यतीत की थी। स्मरण रहे कि अग्निमित्र पहले यहाँ के प्रातपति थे।

इस प्रकार सेठजी ने मेघदूत के समकालीन अनुवाद के साथ मेघदूत-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की गवेषणा भी की और कालिदास के समय-निरूपण के प्रसंग को इतिहास-वेत्ताओं की भाँति तर्कपूर्ण भाषा में सिद्ध किया। फलतः ‘मेघदूत-विमर्श’ केवल काव्य-रसिकों के आनंद की ही वस्तु नहीं रह गया, वह विद्वानों के अध्ययन और विचार के योग्य भी हुआ है। किसी काव्य या उसके अनुवाद को ऐसी विस्तृत शोधमयी आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित करने की परिपाटी भी हिंदी के लिए नयी थी और उसका गौरव तथा गरिमा बढ़ाने वाली यह प्रणाली संस्कृत में भी कहीं प्रचलित थी। स्पष्ट ही पाश्चात्य विद्वानों-द्वारा निर्देशित नई प्रणाली सेठजी ने भारतीय निष्ठा के साथ इस ग्रंथ के रूप में प्रदान की। इसके द्वारा सेठजी की तत्त्ववेत्ती प्रतिभा का प्रथम किंतु पुष्ट दर्शन हिंदी को मिला।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

कालिदास के मेघदूत का विद्वत्तापूर्ण विमर्श उपस्थित करने के बाद सेठजी की रचित संस्कृत-साहित्य के ऐतिहासिक अनुसंधान की ओर और भी तीव्र हो गई। उसका एक बड़ा कारण था। सेठजी को भारतीय पूर्वजों के ज्ञान में अपूर्व श्रद्धा है। उन्होंने मेघदूत के अध्ययन के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के भ्रमों का भी अवलोकन किया। उनकी नई प्रणाली तो इन्हें पसंद आई, पर प्रमाणों और निष्कर्षों तथा सामग्री के उपयोग में व्याप्त मनोवृत्ति से इन्हें बहुत शक्यता लगी। इन्होंने उन्हीं की प्रणाली से उनकी उत्तर देने और उनके भ्रम को दूर करने का निश्चय किया। तत्सर्वी देशी-विदेशी समस्त सामग्री का इन्होंने गंभीर अध्ययन किया और उसका फल ‘संस्कृत-साहित्य के इतिहास’ के रूप में प्राप्त हुआ।

यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। प्रथम-भाग में वैदिक काल से लेकर भरतमुनि और उनके नाट्य-शास्त्र, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और अग्निपुराण पर लिखकर फिर भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक के साहित्याचार्यों और उनके ग्रंथों के विषय में ऐतिहासिक आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। द्वितीय-भाग में साहित्य-ग्रंथों के विषय और साहित्य के प्रचलित पाँचों

संप्रदायो (स्कूलो)—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पर विचार किया गया है। इसमें काव्य-शास्त्र के आचार्य भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ के समय तक काव्य के विकास-क्रम का भी सतर्क सप्रमाण प्रतिपादन है और उनका ऐतिहासिक विवेचन भी है। इतिहास में संस्कृत के विभिन्न आचार्यों-द्वारा लिखे गए काव्य के लक्षणों पर गंभीर आलोचना की गई है, जिसके द्वारा पोद्दारजी के साहित्य-विषयक गहरे अध्ययन का पर्याप्त परिचय मिलता है।

हिंदी में यह अपने विषय का प्रथम ग्रंथ है। श्री 'काणे' और 'ठे' महोदय के अंग्रेजी भाषा के ग्रंथों को यदि छोड़ दिया जाय तो अन्य भाषाओं में भी यह अपने विषय का प्रथम ग्रंथ है।

वाह्य सामग्री के अभाव में यह ग्रंथ स्वतंत्र रूप से लिखा गया है और इसलिए इसमें एक नवीन दृष्टिकोण और मौलिकता है। संस्कृत-कवियों के समय-निरूपण और उनके कवित्व के विश्लेषण में पोद्दारजी ने विद्वत्ता और सहृदयता का परिचय दिया है। ग्रंथ के प्रथम-भाग में आपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर लिखनेवाले देशी और विदेशी विद्वानों की त्रुटियाँ दिखाई हैं और पाश्चात्य विद्वानों के अध्यानुकरण का साहसपूर्वक खंडन किया है। स्वयं श्री एस० के० दे ने 'माडर्न-रिब्यू' में पोद्दारजी के इस ग्रंथ की सराहना की और इसे भारतीय भाषा के माध्यम से संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का परिचय प्राप्त करने के लिए उपयोगी साधन बताया तथा लेखक के स्वतंत्र चिंतन और विषय-विवेचन की सराहना की। स्वर्गीय डाक्टर पीतावरदत्त बड्डियाल की इस ग्रंथ के सवध में समर्पित विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—

“यह ग्रंथ विस्तृत अध्ययन और गहन पाठित्य का परिचायक है। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र के क्रम-विकास पर इस ग्रंथ से पूर्ण प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध सामग्री का इसमें अच्छा उपयोग किया गया है और स्वतंत्र चिंतन से काम लेने के कारण ग्रंथ का महत्त्व बढ़ गया है।”

निस्संदेह 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' पोद्दारजी की सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण रचना है।

निबंध-लेखन

सेठजी ने समय-समय पर आलोचनात्मक निबंध भी प्रचुर मात्रा में लिखे हैं। इन निबंधों का हिंदी में अपना स्थान है।

'काव्य-कल्पद्रुम' लिखते समय आपको हिंदी-भाषा के प्राचीन और आधुनिक ग्रंथों को देखने का अवसर हुआ तो आपने अनुभव किया कि उन ग्रंथों के लेखकों-द्वारा अपने अधिकृत विषयों का निरूपण बहुत ही अनविकारपूर्ण किया गया है। इसका परिणाम पाठकों के लिए हानिकारक होने के कारण आपने उनकी आलोचना करना आवश्यक समझा। आपने अवकाशानुसार हिंदी के ऐसे ग्रंथों की निष्पक्ष एवं निर्भीक आलोचना लिखना प्रारंभ कर दिया। सबसे प्रथम आपने श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानू' के 'काव्य-प्रभाकर' की आलोचना लिखी^१। दूसरी आलोचना काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी 'दीन' कृत 'अलंकार-मञ्जूषा' और 'व्याख्यान-मञ्जूषा' की लिखी^२। श्री बाबूराजी वित्थरिया के 'हिंदी में नवरस' पर भी आपने अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किए^३। श्री रामशंकर शुक्ल 'रसावली' कृत 'अलंकार-मीमांसा' पर भी आपकी आलोचना प्रकाशित हुई^४। जोरधुन के राज्य-कवि कविराजा मुरारीदास कृत 'जसवतजसोभूषण' हिंदी-भाषा के साहित्य-ग्रंथों में केवल

^१ भापुरी, अगस्त सन् १९२८।

^२ भापुरी, अगस्त सन् १९२८। भूदेव शर्मा के नाम से।

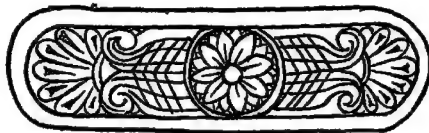
^३ भापुरी, सन् १९२८।

^४ भापुरी, वर्ष—८, खंड—२, सप्त्या—३, ५।

आकार मे ही नहीं किन्तु विषय-निरूपण में भी बड़ा महत्वपूर्ण है। उसका हिंदी-साहित्य में विशेष स्थान है। कविराजा ने एक नवीन सिद्धांत कि—‘अलंकार के नामों में ही संक्षण है’, स्थापित करने की चेष्टा की और इसी सिद्धांत को लेकर संस्कृत-साहित्य के प्राचीनतम महान् आचार्यों की बड़ी गर्व-पूर्वक कटु आलोचना की है। पोद्दारजी ने उनके इस सिद्धांत का युक्तिपूर्वक खंडन कर इस ग्रन्थ की आलोचना की, जो ‘द्विवेदी-अभिनदन-ग्रन्थ’ में छपी। श्री मिश्रादीदासजी कृत ‘कान्य-निर्णय’ के सिद्धांतों पर भी आलोचना के रूप में आपके विचार प्रकाशित हुए हैं।

हिंदी-साहित्य के ग्रन्थों की आलोचना के अतिरिक्त अन्य विद्वानों के साहित्य-विषयक लेख पत्र-पत्रिकाओं मे निकले। उनमे जिन विषयों से पोद्दारजी को अपना मतभेद दृष्टिगत हुआ, उन पर भी आपने बहुत से लेख लिखे हैं। अभी कुछ दिन हुए हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व समापति श्री अदिकाप्रसादजी बाजपेयी की रामचरितमानस पर एक आलोचनात्मक लेखमाला सरस्वती पत्रिका में निकली थी। उसकी प्रत्यालोचना पोद्दारजी ने बड़ी मार्मिकता के साथ लिखी थी, वह ‘सरस्वती’, ‘भारत’ और ‘सिद्धांत’ पत्रों में निकली है। आपके समालोचनात्मक निबन्धों का एक संग्रह ‘साहित्य-समीक्षा’ नाम से छपा है। साहित्य-विषयक लेखों के सिवा आपके भक्तियोग-संबन्धी लेख भी प्रसिद्ध पत्र ‘कल्याण’, मे बराबर निकलते रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेठजी हिंदी में संस्कृत-भाषा, भारतीय संस्कृति और साहित्य-नुराग से प्रेरित होकर आए। उन्होंने अपने विषय का शरीर अध्ययन किया और अत्यंत चिंतन और मनन के बाद अपनी लेखनी उठाई। साहित्य को उन्होंने जीविका का नहीं, अपने अनुराग का, ज्ञानवर्द्धन का साधन बनाया और जो कुछ लिखा उससे पाठकों का अनुरजन के साथ-साथ ज्ञानवर्द्धन भी हुआ। सेठजी जब हिंदी में आए तब हिंदी में कवियों, कहानीकारों और नाटककारों की धूम थी और आज भी साहित्य में उन्हीं का बोलबाला है। सेठजी चाहते तो आसानी से कविता के क्षेत्र में घूमघाम से उतर सकते थे, लेकिन उन्होंने क्षीघ्र यश प्राप्त करने का साधन न चुनकर अपनी यात्रा के लिए दुर्गम पथ ही चुना। उन्होंने स्वयं कवि न बनकर कवियों को बनानेवाले ध्वनि, रस-रीति और अलंकार जैसे विषय अपने लिए चुन लिए। उन्होंने अपना भ्रमण से कोई दूत नहीं भ्रमण-पुरी को नहीं भेजा, अपितु महाकवि कालिदास का कीर्तिमान किया और उनके यश को चौगुना चमका दिया। उन्होंने अपने यश को फैलाने की चिन्ता नहीं की, संस्कृत-साहित्य के शांत और अशांत सरस्वती-पुत्रों को प्रकाश में ले आए। वे सस्ते यश की तरफ नहीं दौड़े, उन्होंने अध्ययन, चिंतन और साहित्य-साधना को अपना लक्ष्य बनाया और उसमें वे सफल हुए। पोद्दारजी की साहित्यिक साधना के लिए हमारे हृदयों में कृतज्ञता के जो भाव हैं, वही अद्भुत-सहित इस ‘अभिनदन-ग्रन्थ’ के रूप में प्रस्तुत है। इसे स्वीकार करके वयोवृद्ध पोद्दारजी भानवित और शतजीवी हो, ऐसी हम सबकी अभिलाषा है।



सेठजी का साहित्यिक यशःशरीर

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

कवियों ने लक्ष्मी और सरस्वती में सपत्नी-भाव, अर्थात् सौहार्द के अभाव का वर्णन किया है^१ और इन्हीं प्रकार 'सुवर्ण में सुगंध' तथा 'सुगंध में सुवर्ण'^२ की कल्पना भी कवि-मुखों से ही कही-सुनी जाती आई है। इन कवि-मुख-वर्णित 'लोक-वदतियों का यदि कभी कहीं सगम दिखलाई पड़ जाता है तो वह गंगा-यमुना के सुंदर नैसर्गिक सगम की रमणीय शोभा से कम शोभा-अद नहीं होता। उक्त उभय-गुण-विशिष्ट साहित्य-जगत के सुनाम-ख्याति "साहित्य-वाचस्पति" सेठ कन्हैया-लालजी पोद्दार' ऐसे-ही गिने-चुने साहित्य-भूजेताओं में हैं, जिन्होंने प्रशंसा से दूर 'स्वात सुखाय तुलसी रघुनाथ-भाषा' की भाँति सरस्वती को तथा साहित्य-रचयिताओं और साहित्यिक संस्थाओं के लालन-पालन के लिए लक्ष्मी को अपनाया। वह समय, जिस समय सेठजी ने हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया था, ऐसा ही था। भारतेंदुजी से आदि लेकर कुछ इने-गिने साहित्यिक महानुभाव ही थे, जिन्होंने सेठजी की भाँति 'माता भारती' का आह्वान पा उसकी 'लोकनमस्कृत-डेवडी' पर अपने-अपने रचना-अभूषण चढाए। इन भारती-भक्तों में सेठजी के अतिरिक्त प्रातःस्मरणीय श्री मदनमोहनजी मालवीय, बाबू बालमुकुंद गुप्त, पंडित बालकृष्ण शर्मा भट्ट, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, तथा कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, शोभाराम घेनुसेवक, गिरिधर शर्मा नवरत्न, ठा० गोपालशरणसिंह आदि कितने ही ज्ञात-अज्ञात हिंदी के वरद-मुख थे, जिन्होंने अपने-अपने ध्येय से हिंदी-साहित्य की अमृत सेवा की। सेठजी ने भी हिंदी-साहित्य के कठोर तथा वनजर अलंकार-क्षेत्र को चुना और उसमें स्वकीति-रूप 'अलंकार-अकाश' नाम का एक छोटासा बोध-नम्य 'बिरला' का आरोपण किया, जो आगे चलकर—'काव्य-कल्पद्रुम' के रूप में पल्लवित होकर 'रम-भजरी' और 'अलंकार-भजरी' के रूप में फला-फूला। सम-श्लोकी-अनुवाद करने में पटु पोद्दारजी ने समय-समय पर 'भट्टहरि-शतक', मेघदूत, श्रीमद्भागवत के पञ्च-गीत—वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, महिषीगीत, और गगलहरी आदि संस्कृत-काव्य-ग्रंथों के हृदयहारी अनुवाद किए तथा संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखा।

साहित्य

साहित्य के आलोचकों ने साहित्य को कला के साथ संबधित कर कुछ अनुचित ही किया है। साहित्य तो शाश्वत सत्य तथा शिवस्व का अति सुंदर रूप है। साहित्य-सृजन तथा परीक्षण से परे कोई अन्य आनंद है, कहा नहीं जा सकता। भारतीय वाङ्मयकारों ने साहित्य को—"ब्रह्मानंद सहोदर" जैसे समाननीय संबोधन से संबोधित कर साहित्य-सृजेताओं को—

"कविर्भनीषी परिसूः स्वयंभूः।"

कह कर स्तुति की है। सेठजीने इस साहित्य शब्द की उपयुक्त सुंदर व्याख्या करते हुए—"साहित्य क्या है, वह कैसे बना, उसकी व्युत्पत्ति क्या है, साहित्य शब्द का प्रयोग काव्यके लिए ही क्यों किया जाय"—आदि का विवेचन बड़े सुंदर ढंग से किया है। जिसे हम उनके ही शब्दों में यहाँ उद्धृत करते हैं।

^१ कुटिला लक्ष्मीयंत्र प्रभवति न सरस्वती वसति तत्र।

प्रायः प्रवक्ष्यन्त्युद्योतं दूष्यते सौहार्दं लोके ॥

^२ सोने में सुगंध, ना सुगंध में सुन्यो-री सोनों, सोनो श्री सुगंध तो मैं दोनों देखियतु है।

“बदे कर्धोद्भववर्द्धुलास्यमदिरनर्तकोम् ।
देवौ सूक्तिपरिस्पदसुंदराभिनयोज्ज्वलाम् ॥”

‘साहित्य’ शब्द महित् शब्द से भाव के अर्थ में ‘प्यञ्’ प्रत्यय के सयोग से बनता है। सहित का अर्थ है मेलन—महित+प्यञ्=साहित्यम् (मेलनम्)।—‘साहित्यस्य भाव साहित्य’, अर्थात् जिसमें एक से अधिक वस्तु मिली हो वह ‘साहित्य’ कहा जाता है। शब्दसन्धि-अकाशिका-आदि ग्रंथों में साहित्य की जो—‘तुल्यवदेक क्रियान्वयित्व वृद्धिविशेषविषयत्व साहित्य’—इत्यादि परिभाषाएँ दी गई हैं, उनसे भी यही अर्थ निश्चिन्त होता है। इसी अर्थ को लेकर भाषा-विशेष के समस्त विषयों का ग्रंथ-समूह उस भाषा का साहित्य कहा जाता है। व्याकरण, न्याय, भीमासा-आदि शास्त्रों के ग्रंथ-समूह के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग किया गया है—

“साहित्यभाषोनिधिमन्यनोत्थं,
काव्यामृतं रसत हे कवीन्द्रा ।
यत्तस्य दैत्या इव लुठनाय
काव्यार्थचोराः प्रगुणी भवति ॥”

—विक्रमाकदेव-चरित १।११

इसमें संस्कृत के समस्त विषयों के ग्रंथ-समूह के लिए सामान्यतया साहित्य शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है। किंतु प्राचीनकाल से ही साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर काव्य के पर्यायवाची विशेष अर्थ में प्रचलित है। जैसे—

“पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीय ।”

—कविराज राजशेखर-काव्यभीमासा ५०-४

“व्याकरणभीमासातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् ।”

—मुकुल भट्ट-अभिधावृत्तिमात्रिका ५०-२१

“भीमासासारमेधात्पदजलधिबिधोस्तर्कमार्गिक्यकोशात् ।

साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुलुममथो सौरिपादान्त्रभृगात् ॥”

—प्रतिहारदुर्गाज^१

“विना न साहित्यविद्या परत्र गुणा कथंचित्प्रयते कवीनाम् ।”

—महाकवि मत्सक-श्रीकठचरित २।१२

इन वाक्यों में काव्य के लिये ही ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों-द्वारा किया गया है। अब यह विवेचनीय है कि मनी शास्त्रों के लिये व्यापक रूप में प्रयोग किये जानेवाले ‘साहित्य’ शब्द का ‘काव्य’ के विशेष अर्थ में कब से प्रयोग होने लगा है। ऊपर जिनके वाक्य उद्धृत किये गए हैं, वे साहित्याचार्य या काव्य-वेत्ता हैं और वे मनी लगभग ईसा की दशम शताब्दी में हुए हैं। किंतु, इनके पूर्व भी काव्य के लिये ‘साहित्य’ का प्रयोग प्राचीन समय में अन्य शास्त्रकारों-द्वारा भी किया गया है। भट्टहरि का समय मेरुमूल^२ के मतानुसार ९४० ई० है। भट्टहरि महान् वैयाकरण भी थे। इनकी ‘मार्’ नामक महाभाष्य की टीका का पन्निच कर्गने हुए व्याकरणशास्त्रार्थ कस्यट अपनी ‘प्रदीप’ टीका में कहते हैं—

“तथापि हरिवद्वेन सारेण ग्रन्थेभ्युना ।

अममाण शनं पार तस्य प्राप्तोऽस्मि पंगुवत् ॥”

ऐसे महान् व्याकरणाचार्य श्री भट्टहरि ने भी ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग काव्य के लिए ही किया है—

^१ उद्धृत के ‘काव्यालङ्कार-मार्-महर्ष’ की व्याख्या का अंतिम पृष्ठ ।

“साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।”

उक्त उपलब्ध ग्रंथों में ईसा की सप्तम शताब्दी के लगभग से काव्य के विशेष अर्थ में ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग मिलता है और इसका कारण यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों समिलित रूप में प्रयुक्त होते हैं। आचार्य्य भामह ने जो ईसा की सप्तम शताब्दी के ही लगभग हुए हैं, काव्य का लक्षण—

“शब्दायौ सहितौ काव्यम् ।”

—काव्यालंकार १।२९

लिखा है। किन्तु प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होने के कारण काव्य के अतिरिक्त ग्रन्थ सभी शास्त्रों में भी शब्द और अर्थ समिलित ही रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ में ही क्या विशेषता है, जिसके कारण काव्य को ‘शब्दायौ सहितौ’ कहा गया? इस प्रश्न का समाधान राजशेखर की दी हुई साहित्य की—

“शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।”

—काव्यमीमांसा, पृ० ५

इस परिभाषा-द्वारा हो जाता है। इस परिभाषा में ‘यथावत् सहभाव’ पद-द्वारा स्पष्ट है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप में तुल्य-रक्ष होना अपेक्षित है, जब कि अन्य शास्त्रों में केवल अर्थ की प्रतीति के लिये ही शब्द का आश्रय लिया जाता है किन्तु काव्य में शब्द के अनुरूप अर्थ का और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है। जैसा कि राजानक उक्त ने कहा है—

“न चे काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनाभ्यूह्यातिरिक्तत्वम् ।”

—व्यक्तिविवेक-व्याख्या

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुतक ने साहित्य शब्द का विवेचन करते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। कुतक का कहना है—

“वाच्यायौ वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।

तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थमेतयोः ॥

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्त्वपि ।

अर्थः सहृदयाङ्गावकारिस्त्वयंसुन्दरः ॥”

—वक्रोक्तिजीवित १।५-६

अर्थात् प्रथम तो अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रों में वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु काव्य में वर्णनीय अर्थ के वाचक अन्य बहुत से शब्दों के होते हुए भी ऐसे ही शब्द का प्रयोग होता है, जो कवि के केवल विवक्षित (ईप्सित) अर्थ का ही वाचक होता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में जो अर्थ होता है, वह भी काव्य-मार्ग सहृदय-जनों के चित्त को एक बार ही आङ्गाद से परिप्लुत करनेवाला होता है। फिर काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर सहित भाव (साहित्य) भी अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विलक्षण होता है। अतः काव्य के लिये ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग किये जाने में यही विशेषता है। कहा है—

“साहित्यमनयोः शोभा शास्त्रितां प्रति काव्यसी ।

अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिष्यवस्थितिः ॥”

—वक्रोक्तिजीवित १।१७

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनातिरिक्त परस्पर में स्पष्टपूर्वक मनोहारिणी स्थापनीय स्थिति हो वह साहित्य है। साहित्य में वाचक (शब्द) की वाचकांतर के साथ और वाच्य (अर्थ) की वाच्यांतर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप में न्यति अर्थ शास्त्रों में न रहकर काव्य में ही रहती है। जैसे—

“द्वयं गत सप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

‘कला च सा कातिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥”

—कुमारसम्व ५/७१

इस पद्य में भगवान् शंकर के साथ विवाह के लिए तपश्चर्या करती हुई पार्वतीजी के प्रति प्रेम-परीक्षा लेने को ब्रह्मचारी का छयवेष्ट-धारण कर गये हुए स्वयं भी शंकर की उन्मत्त है—“हे पार्वती, तेरे द्वारा कपाली (महादेव) के समागम की प्रार्थना किये जाने के कारण अब दो व्यक्ति शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। एक तो कलाघारी चद्रमा की वह कातिमती कला और दूसरी तू जो प्रसिद्ध विश्व के नेत्रों को आह्लादकारिणी है।”

भगवान् शंकर के नाम-वाचक सहस्रो शब्दों के होते हुए भी यहाँ ‘कपाली’ (नर-कपाली की भांसा धारण करने वाला) शब्द का प्रयोग ही कवि के विवक्षित प्रर्थ का (जो शंकर को प्रत्यत घृणास्पद और निख सूचन करना है, उस अर्थ का) वाचक है। यदि ‘कपाली’ के स्थान पर यहाँ ‘पिनाकी’-आदि शंकर के नाम-वाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता तो वह कवि के इस विवक्षित प्रर्थ का वाचक नहीं हो सकता था। प्रत्युत ‘पिनाकी’ (घनूप धारण करने वाला) आदि शब्द-द्वारा शंकर का वीरत्व-आदि सूचन होता जो कि शंकर की निंदा के प्रसंग-विरुद्ध है। फिर यहाँ ‘सप्रति’ और ‘द्वय’ ये दोनों शब्द भी कवि के इस विवक्षित प्रर्थ के वाचक होने के कारण इनका प्रयोग भी बहुत उपयुक्त हुआ है, अर्थात् पद्य से पहले कपाली के ससर्ग में रहने के कारण एक चद्रकला ही लोक में शोचनीय हो रही थी, पर ‘सप्रति’ अब ‘कपाली’ जैसे घृणास्पद व्यक्ति के समागम की प्रार्थना करने वाली दूसरी तू भी उसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई है। यहाँ ‘प्रार्थनया’ शब्द भी अपना एक महत्त्व रखता है। अर्थात् तेरी यह शोचनीय दशा ‘काकतालीय’ घटना-द्वारा भस्मसात् नहीं हो गई है, किंतु तू तो समझवूझ कर ऐसे अमंगल और घृणास्पद व्यक्ति की प्राप्ति के लिये घोर तपश्चर्या-द्वारा प्रार्थना कर रही है। इन शब्दों के अतिरिक्त यहाँ ‘कलावत’ ‘कातिमती’ और ‘लोकस्य च नेत्रकौमुदी’ ये विशेषण-त्मक शब्द भी क्रमशः चद्रकला और पार्वती जी के अलौकिक सौंदर्य के उत्कर्षक और कपाली के साथ उनके सवध की अयोग्यता-सूचक होने के कारण शोचनीय अवस्था की परिपुष्टि कर रहे हैं। अतः यहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ स्पष्टपूर्वक समान रूप में चमत्कारक है। यह प्रधानतया शब्द-सौंदर्य विन्यास के परस्पर साहित्य का दिग्दर्शन है। अब देखिये, परस्पर वाच्य (अर्थ) के रमणीय साहित्य का भी एक उदाहरण, जैसे—

“तामभ्यगच्छद्विज्ञानुसारी मुनिः कुशेभ्याहरणाय यातः ।

निषावविद्धाजदर्वनोत्थः इलोकत्वमापन्नत यस्य शोकः ॥”

—रघुवश १४/७०

इसमें भगवान् श्री रामचंद्र की आज्ञा-वश सीताजी को लक्ष्मणजी-द्वारा वन में छोड़ने के बाद का वर्णन है कि—‘कुश और समिधा लेने को जाते हुए कवि (महर्षि वाल्मीकि) सीताजी के रुदन का अनुसरण करते हुए उनके (सीताजी के) सन्मुख प्राप्त हुए। कौन से कवि?—वही कवि-जिनका वह शोक, जो व्याध-द्वारा विद्ध किये गये श्रौच पक्षी को देखने से उत्पन्न होकर श्लोक में परिणत हो गया था।’

यहाँ ‘कवि’ शब्द-द्वारा निर्देश किये हुए मुनि का परिचय ‘वाल्मीकि’ कह देने मात्र से दिया जा सकता था। किंतु यहाँ पद्य के उत्तरार्द्ध में महर्षि वाल्मीकिजी का परिचय पूर्वानुगत श्रौच पक्षी के वृत्तांत-द्वारा देकर कविशेखर कालिदास ने यह सूचित किया है कि जिन परम काव्यिक मुनि के अंतःकरण का वह शोकोद्धार, जो एक पक्षी की शोचनीय दशा देखने पर उत्पन्न हुआ था—श्लोक-रूप में बलात् मुख से निकल पड़ा था, उनके अन्तःकरण की वह कुरापाप्मावित विवश-दशा, जो निर्जन वन में परित्यक्ता जनकराज-पुत्री साकेताधिपति महाराजाधिराज श्री रामचंद्र जी की प्रार्थनाया गतिनी सीताजी की तादृश अत्यंत शोचनीय अवस्था को देखने पर हुई, किस प्रकार कथन की जा सकती है—अनिर्वचनीय है।

इस पद्य के पूर्वादे का अर्थ जिस प्रकार 'करण रस' से परिपूर्ण है, उसी प्रकार उत्तरादे का अर्थ करण रस का परिपोषक होने के कारण दोनों अर्थ स्पष्टपूर्वक सहृदय-जनों के हृदय के आह्लाषक हैं।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में जिस प्रकार वाचक के साथ वाचकांतर की तथा वाच्य के साथ वाच्यांतर की समान रूप में सौंदर्य-स्थिति है, उसी प्रकार वाचको (शब्दों) की वाच्यो (अर्थों) के साथ भी तुल्य-कक्षता है—वर्णनीय विषय के अनुकूल पदावली है। शब्द और अर्थ की परस्पर तुल्य-कक्षता का एक उदाहरण और भी देखिये—

“ततोऽरुणपरिस्पंदमंदीकृतवपुः शशी ।

दध्ने कामपरिक्षामकामिनीगडपांडुताम् ॥”^१

अरुणोदय के प्रारंभ-समय में अस्तायमान निष्प्रभ चंद्रमा को यहाँ काम-मीढा से क्षीण-काय होने वाली कामिनी के कपोलों की पांडुता-धारण करने वाला कहा गया है। अतः जिस प्रकार यहाँ 'निवर्धना' अलंकार की स्थिति-द्वारा अर्थ की चमत्कृति है उसी प्रकार 'स्पंद-मंद'—आदि में वर्णों की साम्यता के कारण व्युत्पानुप्रास है—उसके द्वारा शब्द की चमत्कृति भी है। यहाँ अर्थ और शब्द परस्पर स्पष्टपूर्वक शोभायमान हैं। इसके विपरीत जहाँ शब्द या अर्थ का समान रूप में सह-भाव (साहित्य) नहीं होता, वहाँ वह वर्णन साहित्य या सत्काव्य-पद के अधिकार से च्युत भी हो जाता है। इसका भी एक उदाहरण देखिये—

“कल्लोलवेल्लितवृक्षपरिहारै रत्नान्यमूनि मकराकर मा वनस्था ।

किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम यांचाप्रसारितकरः पुष्पोत्तमोऽपि ॥”

—मल्लट शतक

इस पद्य में अन्योक्ति रूप से समुद्र को उपालम दिया गया है कि—हे मकराकर, तू अपनी उत्तुंग तरंगावली से संचालित पापाणों के भयंकर प्रहार से इन रत्नों का तिरस्कार न कर। देख, कौस्तुभ रत्न ने तेरा कैसा यश प्रसिद्ध कर दिया है—जिसके लिये स्वयं पुष्पोत्तम भगवान् श्री कृष्ण ने हाथ पसार कर तेरे से याचना की थी।

अद्यपि अन्य शास्त्रों के समान शब्दों-द्वारा यहाँ अर्थ की प्रतीति अवश्य हो जाती है, किंतु काव्योपयोगी शब्द-प्रयोग समान रूप से यहाँ नहीं हो पाया है। यहाँ सामान्य रूप में रत्नों की अवहेलना करने का समुद्र को उपालम देकर कवि का ईप्सित तात्पर्य यह है कि उन रत्नों में के एक रत्न ने ही तेरा किसना उपकार किया है। पर उत्तरादे में सामान्य रूप में रत्नों का महत्त्व न वतला कर एक विशेष रत्न 'कौस्तुभ' का प्रयोग किया है, जिसके द्वारा सामान्यतया सभी रत्नों का महत्त्व सूचन नहीं हो सका है—केवल कौस्तुभ की ही प्रशंसा सूचित होती है। इस कथन से कवि के दिले हुए उपालभात्मक अर्थ की पुष्टि नहीं हो सकी है—कौस्तुभ के सिवा अन्य रत्न ऐसे महत्त्वपूर्ण न होने के कारण उनका तिरस्कार समुद्र-द्वारा किया जाना अनुचित नहीं हो सकता। यदि तीसरे पाद में 'किं कौस्तुभेन विहितो' के स्थान पर 'एकेन किञ्च विहितो' ऐसा प्रयोग किया जाता तो कवि के निवक्षित अर्थ (उपालम) की पुष्टि हो जाने से अर्थ के अनुरूप शब्द-न्यास हो सकता था, क्योंकि प्रसंगा अर्थ यह होता है—'जिनकी तू अवहेलना कर रहा है उनमें के एक रत्न ही ने तेरा दिगंत-व्यापी यश प्रसिद्ध कर दिया।'

इस विवेचन-द्वारा स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का तुल्य-कक्ष सहभाव काव्य में ही होता

^१ इस पद्य को सुभाषितावली संख्या २१५३ में श्री वाल्मीकिजी का श्रीर-काव्यप्रकाश की आभारार्थी की टीका पृ० ४६६ में महाभारत के द्रोणपर्व का कमलाकर मठ के अनुसार बताया गया है, किंतु यह वाल्मीकि-रामायण और महाभारत दोनों ही में नहीं मिलता है।

है और इसलिये साहित्य शब्द का वास्तविक प्रयोग काव्य के लिये ही उपयुक्त और समुचित है। अस्तु, वर्तमान काल में साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य-ग्रंथों के लिये ही रूढ़ हो रहा है।^१

काव्य या साहित्य क्या है? इस विषय पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने अनेक रीति-ग्रंथ लिखे हैं। उनमें काव्य-शास्त्र-सवर्षी अत्यंत भवेष्टापूर्ण गंभीर विवेचन किया गया है। काव्य के रहस्य से अभिन्न होने के लिये, एव उसके ज्ञानदानुभव के लिये, काव्य-सवर्षी 'रीति-ग्रंथ' ही एकमात्र साधन है। केवल व्याकरण-आदि शास्त्रों के जो विद्वान् हैं वे 'कणवितस' और 'जघनकावी'-आदि प्रयोगों के साहित्यिक रहस्यों को नहीं समझ सकते। साहित्य के अध्ययनशील विद्वान् ही यह जान सकते हैं कि इन शब्दों के प्रयोग में कौन-सा निर्दोष है और कौन-सा सदोष^२ है। रघुवंश-आदि महाकाव्यों में किस-किस शब्द, पद अथवा वाक्य का प्रयोग स्थूल विशेष पर क्यों किया गया है और उन प्रयोगों में क्या विशेषता है—उन प्रयोगों के व्याख्यात्मक या भ्रमकारात्मक रचनाओं में क्या चमत्कार है, उसका दिकदर्शन ऊपर करवा ही गया है। इस रहस्य को साहित्य-भर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते हैं। व्याकरण-आदि शास्त्रों के ज्ञान से शब्दार्थ मात्र का ही बोध हो सकता है, न कि महा-कवियों के रचना-रहस्य का। भ्रालकारिकों के शिरोभूषण महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

“शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।

वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥”

—ध्वन्यालोक १/७

काव्य-कल्पद्रुम

अनेक विद्वानों ने हिंदी में रीति-ग्रंथों की रचना की है। इनमें कुछ रीति-ग्रंथों का निर्माण हिंदी के सुप्रसिद्ध आचार्यों-द्वारा भी हुआ है। अतः इस विषय के जो भी ग्रंथ अब तक दृष्टिगत हुए हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्रंथ किसी न किसी संस्कृत के रीति-ग्रंथ के आधार पर लिखा गया है। फलतः किसी ग्रंथ में केवल भ्रालकार-विषय का प्रतिपादन है और किसी में केवल रस-विषय का। किसी-किसी ग्रंथ में प्रतिपादित प्रधान विषय के प्रतिरिक्त काव्य के अन्य अंगों का भी संक्षिप्त उल्लेख है। हिंदी के रीति-ग्रंथों में विषयों का जो प्रतिपादन किया गया है, वह स्थूल दृष्टि से किया गया है, अर्थात् संस्कृत के ग्रंथों में विषयों का जो भासिक विवेचन है वह किसी भी हिंदी-भाषा के ग्रंथों में दृष्टिगत नहीं होता। दूसरी बात यह है कि इन ग्रंथों में वास्तविक (गद्य) में कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। अतएव उल्लिखित विषयों का यथार्थतः समझना बहुत कठिन है।

पोद्दारजी का 'काव्य-कल्पद्रुम' इस कमी को पूरी करता है। उन्होंने ने महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र, आचार्य भामह के काव्यालंकार, उद्भट के काव्यालंकारसार-संग्रह, वामनाचार्य के काव्यालंकार-सूत्र, रुद्र के काव्यालंकार, ध्वनिकारों के ध्वन्यालोक, मम्मटाचार्य के काव्यप्रकाश, रुयक के भ्रालकारसर्वस्व, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण, जयदेव के चंद्रालोक, भण्ण दीक्षित के कुवलयार्णव एवं चित्र भोगासा और पंडितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर-आदि ग्रंथों का आश्रय लेकर अपने ग्रंथ का निर्माण किया है।

वागु जगन्नाथ प्रसाद 'मानु' ने अपने काव्य-ग्रन्थकार में, पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भ्रालकार-पीठप में तथा और भी आधुनिक रीति-ग्रंथों के रचयिताओं ने अपने-अपने ग्रंथों में—सहायक ग्रंथों की नामावली में प्रायः संस्कृत के सभी प्रधान ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया है। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह उल्लेख केवल उन ग्रंथों को गौरवान्वित करने मात्र के लिये किया गया है। वास्तविक वस्तुस्थिति का परिज्ञान पोद्दारजी-द्वारा इन ग्रंथों की आलोचनाओं से ही हो सकता है^३।

^१ 'कणवितस' का प्रयोग निर्दोष और 'जघनकावी' के प्रयोग में दोष है।

^२ ये आलोचनाएँ समय-समय पर 'मायूरी'-आदि मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, अब ये पोद्दारजी के आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह "साहित्य-समीक्षा" में प्रकाशित हुई हैं। ✓

हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथों से पोद्दारजी के काव्य-कल्पद्रुम में जो विशेषताएँ हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१—काव्य-कल्पद्रुम से पहले के जो भी हिंदी के रीति-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उनमें अलंकार-श्राद्ध के लक्षण और उदाहरण दोनों पक्षों में लिखे गये हैं और जो पद्यात्मक उदाहरण दिये गये हैं उनका लक्षणों के साथ किस प्रकार संतुलन और समन्वय होता है यह नहीं समझाया गया है। काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम संस्करण 'अलंकार-प्रकाश' में सर्वप्रथम काव्य और उसके भेद तथा उपभेदों के लक्षण गद्य में लिखकर उदाहरणों में लक्षणों का समन्वय किस प्रकार होता है, यह समझाया गया है। जिससे विषय के समझने में कुछ भी कठिनाता नहीं रहती है। काव्य-कल्पद्रुम के उक्त प्रथम संस्करण के पश्चात् हिंदी के जितने भी रीति-ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें काव्य-कल्पद्रुम के आवशं पर आंकिक में लक्षण-लिखना प्रारंभ हुआ है।

२—काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम भाग—'रस-मंजरी' में शब्द और अर्थ एवं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शक्तियों के भेद-उपभेदों का उदाहरणों के साथ जो विस्तृत विवेचन है वह अन्य किसी हिंदी-ग्रंथ में देखने को नहीं मिलता है।

३—ध्वनि के लक्षणा-मूला 'अविषक्षितवाच्य' के चार और अभिधा-मूला 'विवक्षितवाच्य' के सैतालीस भेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है। विवक्षितवाच्य-ध्वनि के एक भेद असंततक्यकम-ध्वनि के अंतर्गत नव-रस-प्रकरण में आलवन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के निरूपण में जो विवेचन पोद्दारजी ने किया है, वह भी अपूर्व है।

४—स्वामी भावों की रस अवस्था और रस की अभिव्यक्ति के विवेचन में भट्ट खोल्लट्ट के श्रादोप-वाद, श्री शंभुक के अनुबालवाद, भट्ट नायक के भोगवाद और श्री अभिनवगुप्तचार्य के व्यक्तित्ववाद का पोद्दारजी ने नाट्य-शास्त्र की अभिनवभारती-व्याख्या एवं काव्य-प्रकाश के अनुसार बहुत ही विद्वत्पूर्ण भाषिक एवं विशद विवेचन किया है, किंतु इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अन्य किसी ग्रंथ में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है।

५—भाव क्या पदार्थ है, रस और भाव में क्या अंतर है, इस पर भी काव्य-कल्पद्रुम में जिज्ञास विचार किया गया है। यह प्रकरण भी हिंदी के किसी अन्य ग्रंथों में दिखाई नहीं देता है।

६—काव्य-प्रकाश के आधार पर 'व्यंजना-शक्ति' के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी सहस्र भट्ट-आदि का जो खंडन काव्य-कल्पद्रुम में किया गया है, वह हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथों से एक नवीनता है।

७—गुण और अलंकार दोनों रस के उपकारक माने गये हैं। रस का गुण के साथ और अलंकारों का रस के साथ क्या संबंध है तथा अलंकारों की स्थिति किस अवस्था में रस की उपकारक हो सकती है—इत्यादि रस-विषय की जो सीमांसा काव्य-कल्पद्रुम में मिलती है इसका अन्य हिंदी-ग्रंथों में सर्वथा अभाव है।

८—गुणीभूत-व्यंग्य की जरूरी अन्य किसी हिंदी के रीति-ग्रंथों में नहीं मिलती है, काव्य-कल्पद्रुम में इस विषय का बहुत ही भाषिक विवेचन किया गया है। जैसे—काकु-उक्ति-व्यंग्य, गुणीभूत-व्यंग्य का विषय है और 'काकुवासित'-व्यंग्य ध्वनि-काव्य के अंतर्गत है, इस प्रकार की विभिन्नताओं को काव्य-कल्पद्रुम में गली-गाली समझाया गया है। गुणीभूत-व्यंग्य का हिंदी के अन्य एक-दो रीति-ग्रंथों में बहुत संक्षिप्त तथा स्थूल रूप में निर्देशमात्र किया गया है। कतिपय प्राच्युक्तिक रीति-ग्रंथोंकारों ने काव्य-कल्पद्रुम के इस विवेचन का अनुकरण किया है, किंतु वे इस कार्य में विचकल सफल नहीं हो सके हैं। अस्तु गुणीभूत-व्यंग्य का विवेचन काव्य-कल्पद्रुम में वस्तुतः उत्तेजनीय है।

९—काव्य-कल्पद्रुम के दूसरे भाग 'अलंकार-मंजरी' में उक्ति वैजिज्य-द्वारा किसी एक विषय के वर्णन में किस प्रकार विभिन्न अलंकारात्मक वर्णन होता है—इसका जो विवेचन किया गया है, वह अन्य हिंदी-ग्रंथों में नहीं देखा जाता। संस्कृत के साहित्याचार्यों-द्वारा अलंकारों का वर्णन-प्रकाश एवं अलंकारों की संख्या में किस प्रकार क्लेशः वृद्धि होती रही और किस-किस आचार्य-द्वारा पिन्ने-

कितने अलंकार माने गये हैं तथा किन-किन आचार्यों ने किन-किन नवीन अलंकारों का आविष्कार किया है, इन विषयों का ऐतिहासिक विवरण जो कि बहुत महत्वपूर्ण और उपादेय है; सब प्रथम पोद्दारजी ने ही किया है।

१०-अलंकारों के जो नाम हैं वे अलंकारों के स्थूल चमत्कार के आधार पर हैं। इस विषय में जोधपुर के कवि राजा मुरारीदासजी ने 'नाम ही लक्षण' इस सिद्धांत का जो प्रतिपादन किया है, उसका काव्य-कल्पद्रुम में विद्वत्तापूर्ण खंडन किया गया है।

११-अलंकार का विषय मनोवैज्ञानिक होने के कारण अत्यंत गहन है। बहुत से अलंकार ऐसे हैं जिन के उदाहरणों में दूसरे अलंकार का भ्रम हो जाता है। कितने ही अलंकार ऐसे हैं जिनमें किसी दूसरे अलंकार से बहुत सूक्ष्म अंतर है, ऐसे अलंकारों के विवेचन में उनके विषय-विभाजन को जिस सुंदर रीति से श्री पोद्दारजी ने स्पष्ट किया है, वह बात किसी भी हिंदी के ग्रन्थ रीति-ग्रंथों में देखने को नहीं आती है।

१२-अलंकार-आवि के लक्षण निर्माण करने में यदि कुछ असावधानी हो जाती है तो लक्षण में अशुद्धि, अतिव्याप्ति और असमब दोष आ जाते हैं। हिंदी के ग्रन्थ रीति-ग्रंथों में इस प्रकार की असावधानी के अनेक प्रमाण मिलते हैं। काव्य-कल्पद्रुम में इस प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये बहुत सावधानी रखी गई है।

अस्तु इस प्रकार की अनेक विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य-कल्पद्रुम में विषय-प्रतिपादन तथा उनके सम्यक् उदाहरणों की अनेक विशेषताएँ हैं।

काव्य-कल्पद्रुम की आलोचना करते हुए हिंदी के कुछ मान्य विद्वानों ने लिखा था कि "काव्य-कल्पद्रुम में संस्कृत-साहित्य के आचार्यों के मतों का ही प्रतिपादन है—हिंदी (ब्रजभाषा) के आचार्यों का नहीं।" पोद्दारजी का कहना है—“ब्रजभाषा के आचार्यों का कोई स्वतंत्र मत नहीं है। उनकी रचनाओं के मूल-स्रोत संस्कृत-साहित्य के ही विविध-ग्रंथ हैं। महाकवि केशव की 'कवि-प्रिया' हरिचरणदास का 'सभा-प्रकाश' और भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय'-आदि के मूलाधार क्रमशः ढंडी का काव्यादर्श, राजशेखर की काव्यमीमांसा, केशवभट्ट का अलंकारशेखर एवं विश्वनाथ का साहित्यदर्पण हैं। जोधपुर-नरेश महाराज जसवंतसिंहजी का भाषाभूषण, पद्माकरजी का पद्मभरण, और ग्वाल कवि का अलंकारभ्रम-संज्ञन-आदि अलंकार-ग्रन्थ भी कुशलयादन और चंद्रालोक के आधारपर ही लिखे गये हैं। ब्रजभाषा का नायका-भेद जो अपनी वारीकी तथा मुदरता में संस्कृत के साथ भारतीय अन्य साहित्यों से भी बढ़-चढ़ कर है, संस्कृत की रसमजरी, रस-नगणिणी और साहित्य-दर्पण पर ही अवलंबित है। सेठजी कहते हैं—“ब्रजभाषा के प्राचीन कवि वि मदेह बड़े प्रतिभाशाली थे और उनका प्रधान ध्येय अपने-अपने आश्रय-दाताओं के मनोरंजन के वहाने ब्रजभाषा-साहित्य की शीवृद्धि करना था। उन्होंने प्रायः शृंगार-रस के आलंबन-उद्दीपन-विभावों के अत्यंत नायिका-भेद और पदश्रुति-आदि अनुभावोंके वर्णन में, उनके उदाहरण प्रस्तुत करने में तथा विषय को पल्लवित करने में ही अपनी प्रतिभा को समाप्त कर दिया है। संस्कृत-साहित्य-ग्रंथों में वर्णन किये गये गंभीर और भाविक विवेचन को उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया। अतः दुष्परिणाम यह हुआ कि इन ब्रजभाषा-साहित्य-रचयिता अति प्रतिभाशाली विद्वानों-द्वारा जहाँ गंभीर रीति-ग्रन्थ लिखे जाने चाहिये थे, वहाँ वे विविध नायिकाओं के वर्णन में उलझ कर, नायिका-भेदादि के विवेचनात्मक-ग्रन्थ संस्कृत-जैसे नहीं लिख पाये हैं। यही नहीं, ये साहित्य के विषय को भी कहीं तक समझ पाये हैं और अपने श्रयो के आधारभूत सद्गुण-ग्रंथों के अनुसार विषयों को समझने में भी कहीं तक सफल हुए हैं, इस पर प्रकाश डालना ब्रजभाषा-साहित्य के लिये यथार्थ है। उदाहरण-रूप सेठजी का कहना है—“ब्रजभाषा के आचार्यों ने संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर अपने श्रयो में यह वान नो अघटन लिखी कि 'रस और उनके म्यायी एवं मचारी भावों का (उन्ही) दादों में स्पष्ट रूपन करना साहित्य-दोष है—रस-दोष है।' किंतु इन महानुभावों ने अपने श्रयो में इन-विषय के

जो भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनमें प्रायः रस और उनके स्थायी भावों का स्पष्ट रीति से नामोल्लेख किया है। उदाहरण जैसे—

“भीड़ मारघौ कलह, बिधोग मारघौ बोरिकें, मरोरि मारघौ अभिमान भरघौ भय भान्यो है।

सबको सुहाग-अनुराग लूटि लीन्हो, दीन्हो राधिका कुँवरि कहँ सब सुख-सान्यो है ॥

कपट-झाड़के डरघौ निपटिकें (जु) औरन सो, भेंटी पैहचान मन में हैं पैहचान्यो है।

जीत्यों रति-रन, मध्यो मनमय हू को मन 'कैसीराह' कोन हू पै 'रोष' उर आन्यो है ॥”

यह छंद महाकवि केशव ने 'रसिक-प्रिया' के रीढ़-रस' के उदाहरण में दिया है। अतः रीढ़ के स्थायी भाव 'रोष' का यहाँ स्पष्ट कथन होने से आपका यह उदाहरण काव्य-दोष-रहित नहीं कहा जा सकता। मिस्त्रादीदासजी के 'काव्य-निर्णय' में भी इस प्रकार के दोष हैं, जैसे—

“कोऊ एक बास काऊ साहब की आसमें कितेक दिन बीतें रीत्यों सबेँ भाँति चल है।

बिद्या जो बिनै सो करे ऊँतर याहि सो लहै, सेवा-फल हँही रहै, यामें नाहि चल है ॥

एक दिन 'हास'-हित आयी प्रभु-पास, तन राखे ना पुराने बास कोऊ एक थल है।

करत प्रनाम सो 'बिहँसि' बोख्यो पै कहा, कह्यो कर-बोरि बेब-सेवा ही की फल है ॥”

इस पद्य में भी हास्य-रस का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दासजी ने 'हास' तथा 'बिहँसि' शब्दों का स्पष्ट प्रयोग कर वही दोष किया है।

सोमनाथजी ने भी अपने 'रस-पियूष' में इस प्रकार की भूलें की हैं। एक उदाहरण जैसे—

“गँव के लाइवे के मिस कै, हँसिकें कडि ग्वालन-संग विहार तें।

पीत-पट्टी कटि सो कसिकें, उर में डरघ्यो न कलिबी की चार तें ॥

ए 'सस्तिनाथ' कहा कहिए, जु बड़ी अरुनाई 'उछाह' अपार तें।

काली फनिद के कदन को, चढ़ि कूखी गुबिब कदंब की डार तें ॥”

इस छंद में भी वीर-रस के स्थायी भाव उत्साह (उछाह) का स्पष्ट कथन होने से रस-दोष आ गया है। बेनीप्रबोहन ने 'नवरस-तरंग' में, पद्याकार ने 'जगत-विनोद' में, रसलीन ने 'रस-प्रबोध' में और ग्वाल कवि ने अपने 'रस-रस' में इसी प्रकार 'रस-दोष' की भूलें की हैं।

यहाँ सेठजी के आलोचक कह सकते हैं कि ऐसे 'दोष' तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने 'मानस' में अनेक स्थलों पर किये हैं। उदाहरण जैसे—

“धुनि केवट के बँत, प्रेम-लपेटे अटपटे।

'बिहँसि' कदना-पूँन, चित्त जानकी-लखन-तन ॥”

यहाँ साहित्यिक वारीकी पकड़ने पट्ट पोद्दारजी कहते हैं कि 'इस दोहे में बिहसे पद से हास-स्थायी-भाव का शब्द-द्वारा स्पष्ट कथन अवश्य है, पर यहाँ वह काव्य वा रस-दोष नहीं है। क्योंकि केवट के अटपटे वचन अनुभाव हैं, जिससे हास्य की ही नहीं, विस्मय-आदि की भी प्रतीति होती है।

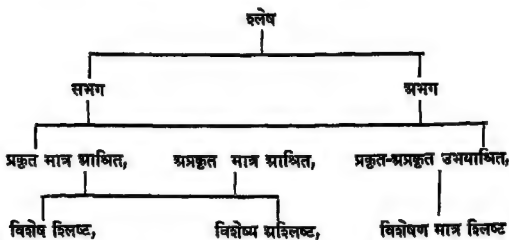
अलंकार-विवेचन

अलंकार-प्रकाश और उसके परिवर्धित-रूप-काव्य-कल्पद्रुम तथा काव्य-कल्पद्रुम के भी परिवर्धित और परिवर्धित-रूप अलंकार-मञ्जरी में सेठजी ने बड़े गहरे पैठ कर अलंकारों की पहिचान, उनकी पृथक्ता तथा जहाँ अनेक अलंकारों का आधिक्य हो वहाँ किस की प्रधानता-आदि पर गभीर मनन-योग्य सामग्री प्रस्तुत की है। सेठजी का कहना है—“अलंकारों का विषय अत्यंत जटिल एवं बहु विवादान्वित है और उनका परिभाषित तथा निर्दोष निरूपण किया जाना अति दुःसाध्य-व्यापार है। अलंकारों के आचार्यों श्री भम्मद-जिन्हें विद्वत्सभाज सरस्वती का अवतार कहता है, उन्होंने भी उक्त विषय पर अत्यन्त विचार और बड़ी गभीरता के साथ अपनी लेखनी उठाई है। सस्कृत-साहित्य के आचार्यों तथा विद्वान् व्याख्याताओं का अलंकारों के विषय में काफी—गहरा मतभेद है। ऐसी परिस्थिति में अलंकारों का यथार्थ तात्पर्य समझना और दूसरे को समझाना या आलोचनात्मक विवेचन करना अपना उनकी एक दुनारे में पृथक्ता और श्रेष्ठता बनाना ऐसी-अर्थ नहीं।

है। यो तो सभी अलंकारों का विवेचन कठिन है, पर विशेषकर—“श्लेष, समासोक्ति, उल्लेख, निदर्शना तथा पर्यायोक्ति”—आदि का तो इतना गहन और मिलाजुला विषय है कि उसपर अलंकार-शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने भी बहुत कुछ सोच-समझकर ही लिखा है।” उदाहरण रूप में ‘श्लेष-अलंकार’ पर सेठजी के विचार संक्षिप्त रूप से उन्हीं के शब्दों में नीचे देखिये। जैसे—

श्लेष-अलंकार

श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) किये जाने को ‘श्लेष’ कहते हैं। ‘श्लेष’ शब्द ‘श्लिष्’ धातु से बना है, जिसका अर्थ है चिपकना—मिलना। श्लिष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपटे या मिले रहते हैं। अतः जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं, उसे ‘श्लिष्ट’ शब्द कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—समग और अमग। जिस पूर्ण-शब्द के दो अर्थ होते हो वह ‘अमग’ और जिस शब्द के भग करने (तोड़ने) पर दूसरे-दूसरे अर्थ होते हो, उसे ‘समग’-श्लिष्ट कहा जाता है। अमग-समग श्लेषों में जहाँ दोनों अर्थों, अर्थात् जब दो से अधिक अर्थ हो उन सभी अर्थों में ‘प्रकृत’^१ का वर्णन किया जाय, वहाँ ‘प्रकृत-मात्र’ आश्रित श्लेष और जहाँ सभी अर्थों में ‘अप्रकृत’^२ का वर्णन किया जाय वहाँ ‘अप्रकृत’ मात्र आश्रित श्लेष कहा जाता है। अब जहाँ एक अर्थ में प्रकृत वर्णन और दूसरे अर्थ में, या एक से अधिक अर्थ हो वहाँ उन सभी में, ‘अप्रकृत’ का वर्णन होता हो वहाँ ‘प्रकृत-अप्रकृत’ उभयाश्रित श्लेष कहा जाता है। श्लेष में विशेषण-पद तो सर्वत्र श्लिष्ट ही होते हैं, किंतु विशेष्य-पद कहीं श्लिष्ट और कहीं अश्लिष्ट नहीं होते।



प्रकृत और अप्रकृत मात्र—आश्रित श्लेष में विशेष्य का श्लिष्ट होना नियत—अनिवार्य नहीं। क्योंकि कहीं विशेष्य श्लिष्ट होता है और कहीं विशेष्य श्लिष्ट न होकर केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है, पर प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है, विशेष्य नहीं। क्योंकि जहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट होंगे वहाँ ‘शब्द-शक्ति-मूला ध्वनि’ होगी, न कि श्लेष अलंकार। इसके अतिरिक्त प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में—विशेषण मात्र की श्लिष्टता में, प्रकृत और अप्रकृत (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों-द्वारा कथन होना आवश्यक है, केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द-द्वारा कथन होने पर ‘समासोक्ति’ अलंकार होगा, श्लेष नहीं।”

सेठजी कहते हैं—“श्लेष, शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार इस विषय में भी अलंकार-आचार्यों में मत-भेद है। ल्यक का मत है कि ‘समग-श्लेष’ शब्दालंकार और ‘अमग-श्लेष’ अर्थालंकार है, क्योंकि

^१ जिसका वर्णन करना कवि को प्रधानतया अभिष्ट होता है उसे प्रकृत या प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक अर्थ कहते हैं। प्रकृत या प्रस्तुत-आदि का प्रयोग प्रायः उपमेय के लिये किया जाता है।

^२ जिसका वर्णन किया जाना प्रधान न हो उसे अप्रकृत या अप्रस्तुत अथवा अप्राकरणिक कहते हैं। इसका प्रयोग उपमान के लिये किया जाता है।

समग-श्लेष में "जतु काष्ठ-न्याय"^१ से दूसरा शब्द या पद भिन्न होने पर भी एक शब्द या पद में मिला रहता है, इसलिए वह शब्दालंकार है और अमग-श्लेष में—"एक वृत्त फल द्वय"^२ के न्यायानुसार एक-ही शब्द या पद में दो अर्थ लगे रहते हैं, अतः वह अर्थालंकार है।^३

आचार्य उद्धट ने समग और अमग को क्रमशः शब्द तथा अर्थ-श्लेष बता कर दोनों को अर्थालंकार ही माना है। केवल शब्द की विचित्रता के कारण समग को शब्द-श्लेष मानते हुए भी उसे शब्दालंकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुतः श्लेष अर्थ के ही आश्रित है और जब तक श्लेष-अलंकार में एक से अधिक अर्थों की प्रतीति न हो तब तक उसे श्लेष-अलंकार कहा ही नहीं जा सकता। अतः श्लेष को अर्थालंकारों के अंतर्गत मानना ही युक्ति-युक्त है।

आचार्य मम्मट ने अमग और समग दोनों श्लेषों को शब्दालंकार माना है। मम्मट कहते हैं—गुण, दोष और अलंकारों का शब्द तथा अर्थ-गत विभाग 'अन्वय'^३ और 'व्यतिरेक'^४ पर निर्भर है। अमग-श्लेष जहाँ आश्रित होगा वही अर्थालंकार माना जायगा, शब्दाश्रित होने पर नहीं और जहाँ शब्दाश्रित अमग-श्लेष होगा वहाँ वह शब्दालंकार ही माना जायगा। अमग-श्लेष अर्थालंकार वहाँ ही हो सकता है, जहाँ शब्द-परिवर्तन करने पर भी दो अर्थ बने रहें। आचार्य मम्मट ने उद्धटाचार्य के मत की आलोचना करते हुए आगे कहा है कि 'समग को शब्द-श्लेष और अमग को अर्थ-श्लेष स्वीकार कर फिर दोनों को अर्थालंकार कहना कहाँ का न्याय है? क्योंकि विचित्रता-ही-अलंकार-के-आण-है। अतः जहाँ अर्थ में विचित्रता हो वहाँ अर्थालंकार और जहाँ शब्द में विचित्रता हो वहाँ शब्दालंकार मानना चाहिये। केवल अनेक अर्थ होने के कारण अर्थ का सहयोग मान कर श्लेष को अर्थालंकार नहीं कहा जा सकता। अर्थ के सहयोग की अपेक्षा तो अनुप्रास, वक्रोक्ति और यमक में भी रहती है, फिर वे अर्थालंकार न माने जाकर शब्दालंकार क्यों माने जाते हैं? यही क्यों, शब्द के गुण और दोषों में भी अर्थ का सहयोग अपेक्षित है, क्योंकि वहाँ अर्थ के सहयोग-द्वारा ही गुण और दोषों का निर्णय हो सकता है तथा अर्थ के गुण-दोषों में भी शब्द के सहयोग की अपेक्षा रहती है,—शब्द के द्वारा ही उनका प्रतिपादन किया जाता है, फिर भी गुण और दोषों का शब्द तथा अर्थ-गत विभाग है। निष्कर्ष यह है कि शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक के सहयोग-विना दूसरे में गुण, दोष और अलंकार का प्रतिपादन नहीं हो सकता। अतएव जहाँ जिसकी प्रधानता हो वहाँ वही माना जाना चाहिये^५। अर्थात् जिस अलंकार की विचित्रता शब्दाश्रित हो उसे शब्दालंकार और जिस अलंकार की विचित्रता अर्थ के आश्रित हो उसे अर्थालंकार मानना उचित है। अतः जहाँ शब्द बदल देने पर श्लेष न रहे ऐसा अमग-शब्द-अपरिवर्तनशील श्लेष और समग दोनों श्लेषों में शब्द के आश्रित अलंकार होने के कारण इन्हें शब्दालंकार मानना ही उचित है।

श्लेष की अन्य प्रलंकारों से पृथक्ता

सेठ जी का कथन है कि "श्लेष का विषय बहुत व्यापक है, क्योंकि श्लेष की स्थिति बहुत मे

^१ जतु—ताला लकड़ी से भिन्न होती हुई भी उसीपर चिपकी रहती है, इस न्यायानुसार।

^२ एक मुच्छे में दो फल।

^३ कारण के रहने पर कार्य का अवश्य रहना 'अन्वय' कहा जाता है। अर्थात् जिसके रहने पर उसके साथ रहने वाले दूसरे की स्थिति भी रहती हो जैसे—पूजा होने पर अग्नि की प्रतीति।

^४ कारण के अभाव में कार्य का न होना 'व्यतिरेक' है। अर्थात् जिसके न रहने पर उसके साथ रहने वाले दूसरे की स्थिति भी नहीं होती, जैसे जहाँ अग्नि नहीं होनी वहाँ पूजा भी नहीं होता।

^५ प्राधान्येन व्यपदेशा भवति।

अलंकारों में रहती है। वह प्रायः सभी अलंकारों का बोधाकारक है^१। अतएव श्लेष का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण और विवाद-अस्त है। सस्कृत-ग्रन्थों में श्लेष पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है, पर हिंदी के किन्हीं सी रीति-ग्रन्थ में इस विषय पर कुछ भी कहने योग्य नहीं है।^२

“काव्यालंकार-सार-संग्रह के प्रणेता उद्भटाचार्यादि का मत है कि ‘जहाँ श्लेष होता है, वहाँ दूसरा अलंकार अवश्य रहता है—अन्य अलंकार से विविक्त (स्वतन्त्र) शुद्ध श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता। प्रकृत अथवा अप्रकृत मात्र के वर्णन से श्लेष के उदाहरणों में प्रकृत-अप्रकृत के एक धर्म का कथन होने के कारण श्लेष के साथ ‘तुल्ययोगिता’^३ अलंकार रहता है। इसी प्रकार प्रकृत-अप्रकृत दोनों के वर्णन वाले श्लेष के उदाहरणों में एक धर्म के कथन से श्लेष के साथ ‘दीपक’^४ अलंकार और साथ ही ऐसे उदाहरणों में ‘संदेह’^५ अलंकार भी रहता है।

सुविष्ट करन जन-मन विमल, राजत है असमान ।

रम्य सकल-कल पुर लसत, यह ससि-विष-समान ॥

अर्थात् उदाहरणों में श्लेष के साथ ‘उपमा’^६ अलंकार भी है। अतः इस मत के प्रतिपादकों का कहना है कि इस प्रकार श्लेष का स्वतन्त्र उदाहरण नहीं हो सकता और यदि इस प्रकार के उदाहरणों में अन्यान्य अलंकार मान लिये जायेंगे तो श्लेष नाम का अलंकार ही नहीं रह सकता। अतएव जहाँ श्लेष के साथ तुल्य-योगिता-आदि अन्यान्य अलंकार हों वहाँ श्लेष को—अन्य अलंकार का आभास (अलंक) मात्र समझ कर “निरवकाशो विधिरपवाद”^७ के न्याय-द्वारा उस अन्य अलंकार का—जिसकी स्थिति श्लेष के बिना भी हो सकती है, वाचक—अर्थात् अन्य अलंकारों को हटाने वाला मान कर श्लेष को प्रधान समझना चाहिये और इस रीति से श्लेष स्वतन्त्र अलंकार माना जा सकता है।

सेठ जी कहते हैं—“आचार्य मम्मद को यह मत स्वीकार नहीं। मम्मद का कहना है कि यह बात नहीं कि दूसरे-दूसरे अलंकारों के बिना विविक्त (स्वतन्त्र) श्लेष नहीं हो सकता। जहाँ तुल्ययोगिता श्लेष के साथ कही जाती है वह तो शुद्ध श्लेष का उदाहरण है, क्योंकि तुल्ययोगिता में जिन प्रकृत-अप्रकृत का वर्णन किया जाता है, उनका एक ही धर्म कहा जाता है। इसके विपरीत श्लेष में, जिन प्रकृत-अप्रकृतों का अथवा दोनों का एक साथ वर्णन किया जाता है, वहाँ उन सबके लिए क्लिष्ट (दो-अर्थ वाले) शब्दों-द्वारा पृथक्-पृथक् धर्म कहे जाते हैं। तुल्ययोगिता-मिश्रित श्लेष के जो उदाहरण देखने में आते हैं, वहाँ केवल शुद्ध श्लेष है और जो दीपक-मिश्रित श्लेष के उदाहरण हैं वहाँ भी शुद्ध श्लेष ही है, क्योंकि दीपक में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म ही कहा जाता है, पर उदाहरणों में पृथक्-पृथक् धर्म कहे गए हैं—इत्यादि। सेठ जी कहते हैं कि आचार्य मम्मद के मत का यह तात्पर्य नहीं है कि श्लेष के साथ अन्य अलंकार मिश्रित नहीं होते। उनका कहना तो यह है कि श्लेष शुद्ध भी होता है और अन्य अलंकारों से मिश्रित भी। किन्तु जहाँ श्लेष के साथ कोई अन्य अलंकार समिलित होता है वहाँ न तो सर्वत्र श्लेष ही माना जा सकता है और न अन्य अलंकार ही, किन्तु दोनों में जिसकी प्रधानता हो उसे ही मानना चाहिये।

^१ श्लेषः सर्वासु पुष्पाति प्रायो बकोक्तिषु धियम् ।

—काव्यादर्श, २।३६३,

^२ तुल्ययोगिता—तुल्य-पदार्थों के योग को कहते हैं। जहाँ अनेक प्रस्तुतों का अनेक अप्रस्तुतों के गुण वा क्रिया-रूप एक धर्म में योग—संबन्ध का कथन किया जाय, वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार माना जाता है।

^३ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एकधर्म कहने को ‘दीपक’ अलंकार कहते हैं।

^४ किसी वस्तु के विषयमें सादृश्य-मूलक संशय होने में ‘संदेह’ अलंकार होता है।

^५ दो पदार्थों के सामर्थ्य को उपमान-उपमेय भाव से कहने पर ‘उपमा’ अलंकार होता है।

^६ जिस वस्तु के रहने के लिए किसी विशेष स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान नहीं होता, वह वस्तु उस दूसरी वस्तु को (जिसे के लिए अन्यत्र स्थान भी हो) उसके स्थान से हटा कर वहाँ स्वयं प्रधानता प्राप्त कर से उसे उक्त न्याय कहते हैं।

जिन उदाहरणों में श्लेष के साथ 'सदेह' का मिश्रण कहा गया है, वहाँ सदेह गीण है—सदेह का आभास मात्र है, अर्थात् श्लेष का वह अंग है, श्लेष का सहायक होकर उसकी पुष्टि करता है। वहाँ प्रधान चमत्कार श्लेष ही में है, जो कवि को अभीष्ट है। किंतु—“मुदित करन जन-मान विमल” में उपमा के साथ श्लेष मिश्रित होने पर भी यहाँ उपमा प्रधान है, श्लेष नहीं। अतः यह उपमा का उदाहरण ही हो सकता है। यदि यहाँ श्लेष को उपमा का वाचक मान कर श्लेष ही माना जाय तो फिर 'पूर्णोपमा' का कोई उदाहरण न मिलेगा। पूर्णोपमा में इस प्रकार के श्लेष का होना अनिवार्य है। यदि यह भी कहा जाय कि श्लेष-रहित पूर्णोपमा के भी उदाहरण जैसे—“पुर ससि विव समान” हो सकते हैं, पर यहाँ समान धर्म का कथन न होने से धर्म-सुप्ता (सुप्तोपमा) का उदाहरण होगा, पूर्णोपमा का नहीं।

निष्कर्ष यह कि उद्धृष्टाचार्य-आदि तो समान-धर्म-स्रोतक होने वाले पदों में शब्द-श्लेष होने के कारण श्लेष को उपमा का वाचक मान कर श्लेष अलंकार मानते हैं, पर आचार्य मम्मट कहते हैं कि “इमे यदि इस प्रकार श्लेष मानते हो तो जहाँ अर्थ-श्लेष हो वहाँ उसे उपमा का वाचक क्यों नहीं मानते? और यदि शब्द-श्लेष को ही उपमा का वाचक मानते हो तो अर्थ-श्लेष को उपमा का वाचक क्यों नहीं मानते? जिस प्रकार अर्थ-श्लेष को उपमा का वाचक नहीं माना जाता, उसी प्रकार शब्द-श्लेष भी उपमा का वाचक नहीं माना जा सकता। प्रत्युत पूर्णोपमा का श्लेष के बिना स्वतंत्र स्थान न होने के कारण पूर्वोक्त—“निरव-काशो विधिरपवाद”—न्याय से उपमा, श्लेष की वाचक है, अतः वहाँ उपमा ही है, श्लेष नहीं।”

आचार्य मम्मट यह भी कहते हैं कि यह आपत्ति भी नहीं हो सकती कि उपमा, गुण या क्रिया के के सादृश्य में ही हो सकती है, शब्द-मात्र के सादृश्य में नहीं। अस्तु, जहाँ गुण-क्रियात्मक सादृश्य नहीं है केवल शब्द-मात्र का सादृश्य है, वहाँ उपमा किस प्रकार सम्भव है? वहाँ सेठजी कहते हैं कि “वास्तव में बात यह नहीं है, केवल शब्द मात्र-सादृश्य में भी उपमा होती है। आचार्य रुद्र ने गुण और क्रिया की भाँति शब्द-साम्य को भी उपमा के सादृश्य का प्रयोजक बतलाया है^१। अतः उक्त स्थलो पर उपमा ही है, श्लेष नहीं। केवल उपमा ही नहीं, श्लेष-मिश्रित अन्य अलंकारों में भी अनेक स्थलों पर श्लेष गीण होकर अन्य अलंकारों की भी पुष्टि करता है। एक उदाहरण, जैसे—

“सखि, यह अचरज है हमें, लखि तुष दृगन - बिलास।

कृष्ण-रंग-रत तउ करत करन - निकट नित बास ॥”

यहाँ 'कृष्ण' और 'करन' शब्द विलिप्त हैं, अतः विरोधाभास के साथ श्लेष है। इसलिए श्लेष की प्रधानता नहीं, केवल उसका आभास मात्र है, अर्थात् श्लेष विरोधाभास का अंग है, क्योंकि श्लेष के बिना यहाँ विरोध का आभास नहीं हो सकता। अतः श्लेष का वाचक होकर विरोधाभास ही प्रधान है। प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार विरोध के आभास में 'विरोधाभास' अलंकार माना जाता है, उसी प्रकार श्लेष के आभास में श्लेष क्यों नहीं मान लिया जाय? सेठजी कहते हैं—“इसका उत्तर यह है कि वास्तविक विरोधात्मक वर्णन में तो दोष माना गया है, इसलिये विरोध के आभास में ही अलंकार माना जाता है, किन्तु वास्तविक श्लेष में कोई दोष नहीं और न श्लेष के आभास में चमत्कार ही है। जहाँ श्लेष की प्रधानता होती है, वहाँ ही श्लेष अलंकार माना जा सकता है। इस उदाहरण में विरोध के आभास में ही चमत्कार होने के कारण विरोधाभास की ही प्रधानता है, अतः पूर्वोक्त “प्राधान्येन व्यपदेशा भवति”—न्याय से विरोधाभास ही माना जाना युक्ति-संगत है।”

“अरि-कमला संकोच रवि गुनि-मानस सु मराल।”

^१ मम्मटमर्यालंकारवेत्तावृषभसमुच्चयौ। किन्तु आश्रित्य शब्दमात्रं मामान्यमिहापि भवन्नः ॥

आदि पदों में रूपक के साथ श्लेष है, पर यहाँ मानस शब्द विलुप्त होते हुए भी कवि का अभीष्ट अर्थ 'राजा को विद्वानों के मन-रूप मानसरोवर में निवास करने वाला हंस कहने का है, अतः यहाँ रूपक प्रवाल है, पर मानस के श्लेषार्थ मानसरोवर के कहे बिना रूपक भी नहीं बन सकता, अतः यहाँ रूपक का श्लेष अग है।

“नहिं भगुर गुन कज-सप्त, तुम गाढे गुनवार ।”

यहाँ भी व्यतिरेक के साथ श्लेष है, क्योंकि गुण-शब्द विलुप्त है। परन्तु राजा को कमल की अपेक्षा उत्कृष्ट कहना अभीष्ट होने से व्यतिरेक होने के कारण श्लेष उसका पोषक होकर अभीष्ट है।

“अनुरक्ता सध्या तथा विन हूँ सनमुख आत ।

तब न समागम हूँ अहो, बिचि-गति कही न जात ॥”

यहाँ सायकाल के वर्णन में 'अनुरक्ता'-आदि विलुप्त शब्दों के विशेषणों-द्वारा परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति भी कवि ने कराई है, इसलिए समासोक्ति के साथ श्लेष है। यहाँ प्रकरण के अनुसार सायकाल के वर्णन की प्रधानता होने के कारण श्लेष समासोक्ति का सहायक मान है।

सेठ जी कहते हैं—“आचार्य मम्मद के इस मत को उनके परवर्ती हेमचन्द्र और विश्वनाथ-आदि ने भी स्वीकार किया है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति होती है, वहाँ किस अलंकार को प्रधान मानना चाहिये, इस निर्णय के लिये यही देखना आवश्यक होगा कि उनमें कौन-सा अलंकार प्रधान है और जहाँ जिस अलंकार की प्रधानता हो वहाँ वही मानना चाहिये।”

श्लेष अलंकार और ध्वनि का पृथक्-करण

सेठ जी कहते हैं—“अलंकारों के अतिरिक्त विलुप्त शब्दों का ध्वनि-काव्य के साथ भी गहरा संबंध है। श्लेष-मय अलंकारों में विलुप्त शब्दों-द्वारा एक से अधिक जितने अर्थ होते हैं, वे सब अमिधा-शक्ति-द्वारा वाच्यार्थ ही तो होते हैं। श्लेष की ध्वनि में अतिव्याप्ति न होने के लिये ही श्लेष अलंकार के लक्षण में 'अभिधान' पद का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् श्लेष में जो दो या दो-से अधिक अर्थ होते हैं, वहाँ वे शब्द-द्वारा स्पष्ट कहे जाते हैं। श्लेष के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उसमें एक से अधिक सभी अर्थ अमिधा-शक्ति के अभिधेय—वाच्यार्थ होने के कारण उनका एक ही साथ ज्ञान हो जाता है। ध्वनि में एक के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का एक सग बोध नहीं होता, अपितु अमिधा-द्वारा एक वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर प्रकरण-आदि के कारण अमिधा की शक्ति रुक जाती है। वह दूसरे-दूसरे अर्थ का बोध नहीं करा सकती। उसके बाद ही दूसरा अर्थ (व्यग्यार्थ) ध्वनित होता है।

अप्य दीक्षित ने, जहाँ विशेष्य-वाचक पद विलुप्त होता है, वहाँ प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित गूढ श्लेष अलंकार ही माना है, ध्वनि नहीं। दीक्षित जी कहते हैं कि इस प्रकार के उदाहरणों में काव्य-प्रकाश-आदि में जो शब्द-शक्ति मूला ध्वनि मानी गई है, वहाँ उपमेय-उपमान भाव के कारण उभया की ही प्रतीति होती है और उभो में वह समव भी है, अप्राकृत-वर्णन में नहीं। यहाँ शका हो सकती है कि जहाँ अप्राकृत शब्द के अर्थ का बोध सौष्ट्र नहीं होता, वहाँ ध्वनि क्यों नहीं मानी जाय ? —यह ठीक है कि, अप्राकरणिक शब्द-वाचक पद के अर्थ का प्राकरणिक शब्दार्थ के समान उतना शीघ्र बोध नहीं होता, पर तत्त्विक विलव से अर्थ का बोध होने मान से भी तो ध्वनि नहीं मानी जा सकती। यदि अप्राकृतिक शब्द का अर्थ विलव से प्रतीत होता है तो उसे 'गूढ श्लेष' कहा जा सकता है, ध्वनि नहीं। सेठ जी कहते हैं कि “हमारे विचार से दीक्षित जी का यह मत उपयुक्त नहीं, ऐसे उदाहरणों में श्लेष न मान कर ध्वनि मानना ही युक्ति-संगत है। इस विषय में पंडितराज जगन्नाथ जी ने प्रति विस्तार से विवेचन किया है। यद्यपि दंडी ने ऐसे स्थलों पर श्लेष अलंकार ही माना है, क्योंकि दंडी के समय ध्वनि-सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं हुआ था।”

सेठजी का रस-विवेचन

नरतमुनि के मुन—“विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रसनिपत्ति ” पर सेठजी के अपने मौनिक और गभीर विचार हैं। वे कहते हैं—“काव्य में रस ही दुर्लभ और सर्वोपरि चमत्कारक होने के पाक

आस्वादन करने योग्य पदार्थ हैं। रस के स्वरूप का ज्ञान और उसका आस्वादन ही काव्य के अध्ययन और मनन का सर्वोपरि फल है।”

लोक-व्यवहार में रति-आदि चित्त-वृत्तियों के—मनोविकारों के जो कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे नाटक और काव्य में रति-आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।” इन विभाविकों के द्वारा ही स्थायी भाव व्यक्त होकर ‘रस’ कहा जाता है।

विभाव के कारण निमित्त और हेतु पर्यायवाची शब्द हैं, जो एक ही अर्थ के बोधक हैं^१। रति-आदि एक प्रकार के विशेष मनोविकार हैं, वे काव्य-नाटकों में स्थायी-भाव कहे जाते हैं। ये रति-आदि स्थायी एवं व्याभिचारी भाव सामाजिको—काव्य-पढनेवालों तथा नाटक देखनेवालों के हृदयों में वासना रूप से अत्यंत सूक्ष्म रूप में स्थित रहते हैं उन भावों को ये विभावन करते हैं—आस्वाद के योग्य पदार्थ हैं, अतः ये ही रस के उत्पादक हैं^२।” पोद्दारजी, इस प्रकार अनुभाव, सात्विक भाव, सचारी भाव और रूपांगी भावों का वर्णन-विवरण करते हुए आगे ‘स्थायी भावों की रस-अवस्था’ पर अपने सुलझे विचार रस प्रकार प्रकट करते हुए कहते हैं—“विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव ही रस है^३।” व्याप्त का अर्थ है दूसरे रूप में परिणत हो जाना, जैसे—दूध से दही। अस्तु, रति-आदि स्थायी भाव, जो सामाजिकों के अतः करण में वासना-रूप से पहिले से ही विद्यमान रहते हैं, उनके साथ जब विभावादि का संयोग होता है, तब वे ही रूपांतरित हो ‘रस’-रूप में व्यक्त होने लगते हैं। मिट्टी के नये पात्र में गंध पहिले से है, पर उसकी प्रतीति नहीं होती, जलके संयोग होने पर वह व्यक्त होने लगती है। इसी प्रकार सहृदय-जनों के हृदयों में पूर्वाभूत रत्यादि-मनोविकार अव्यक्त रहते हुए भी काव्य के पढने-सुनने अथवा नाटक देखने से—रति-आदि मनोविकार विभावादि का संयोग पाकर जाग्रत हो जाते हैं और उससे आनंदानुभव होने लगता है। अतः इस प्रकार रति-आदि स्थायी भाव ही रस-संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।”

रस : अभिव्यक्ति

रस की अभिव्यक्ति के सबब में पोद्दारजी कहते हैं—“विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को रति-आदि स्थायी-भावों के क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कारण का रूप बतलाया गया है, पर रस की कारण, कार्य और सहकारी कारण के रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीति रस के उद्बोध होने के पूर्व-ही होती है, उसने उद्बोध के समय इनकी पृथक्ता की प्रतीति नहीं होती। उस समय विभावन के अलौकिक व्यापार-द्वारा ही विभाव, अनुभाव और सचारी समूह-रूप से रसको व्यक्त करते हैं और उस समय में तीनों समूह-रूप में

^१ कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च ।

रत्यादेः स्थायिनां लोके तानिचैस्नाट्यकाव्ययोः ॥

विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

—काव्यप्रकाश, ४।३७-३८,

^२ विभावः कारण निमित्त हेतुरिति पर्याया. ।

—भरत-नाट्यशास्त्र.

^३ बहुव्रीह्याविभाव्यते धागंगाभिनयापथ्या. ॥

मनेन यस्मात्तेनायं विभावइति कथ्यते ॥

—भरत-नाट्यशास्त्र ६।६

^४ व्यक्त स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ।

—काव्यप्रकाश, ४।३८

कारण बन जाते हैं^१। अर्थात् रस के आनदानुभव के समय ये तीनों अपनी पृथक्ता-त्याग कर समूह-रूप से मिलकर, स्थायी भाव को 'प्रपानक-रस' की भाँति अखण्ड रस के रूप में परिणत कर देते हैं। जैसे जल में डालने से प्रथम चीनी, मिर्च, जीरा, हींग और नमक-आदि का स्वाद विभिन्न होते हुए भी इन सबको मिलाने के बाद उनका मिश्रत्व न रहकर एक विलक्षण-आस्वाद युक्त पेय बन जाता है, उसी प्रकार विभावादि से मिलकर स्थायी भाव अखण्ड घन चिन्मय रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। सेठजी का कथन है कि "विभावादि के समिलित होने पर ही व्यञ्जनीय रस की व्यञ्जना हो सकती है, केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भावों के स्वतन्त्र रूप से अकेले रहने पर नहीं। क्योंकि विभावादि स्वतन्त्र-रूप से अकेले किसी रस के लियत नहीं है। जैसे सिंह-आदि हिंसक जीव कायर मनुष्य के लिये भय के कारण होते हुए भी 'भयानक रस' के आलवन-विभाव कहे जाते हैं? पर वे वीर-पुरुष के लिये उत्साह और शोक के कारण भी बनते हैं और इस प्रकार वीर और रौद्र रस के आलवन भी होते हैं। अश्रु-मातादि प्रिय-वियोग में होते हैं, इसलिए ये विप्रलम्भ-शृंगार के अनुभाव हैं, पर भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, यहाँ ये भयानक एवं कर्षण रस के अनुभाव हैं। चिंता-आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलम्भ-शृंगार के सञ्चारी हैं, पर भय और शोक में भी चिंता-आदि भाव होते हैं, जो भयानक और कर्षण रस के सञ्चारी हैं। अतः पोद्दारजी कहते हैं—“इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रहकर भी किसी रस विशेष के व्यञ्जक नहीं हो सकते, अपितु जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव एक साथ जिस विशेष रस में होते हैं, वे ज्यों के त्यों मिले हुए किसी दूसरे रस में नहीं हो सकते। अतः विभावादि तीनों के समिलन पर ही रस की अभिव्यक्ति होती है। जिससे रस—विभावादि-समूहालबनात्मक कहा जाता है।

ये तो किसी-किसी वर्णन में कहीं अनुभाव और सञ्चारी के बिना केवल विभाव, कहीं विभाव और सञ्चारी के बिना केवल अनुभाव तथा कहीं विभाव-अनुभाव के बिना केवल सञ्चारी दृष्टिगत होते हैं, और वहाँ रस की व्यञ्जना भी होती है। अतएव इस अवस्था में प्रश्न हो सकता है कि फिर विभावादि तीनों के समिलित होने पर ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? यहाँ पोद्दारजी कहते हैं—“वात यह है कि जहाँ केवल विभाव या अनुभाव अथवा सञ्चारी ही हो वहाँ भी रस की व्यञ्जना 'विभावादानुभावसञ्चारी' के समूह-द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस किसी भाव की स्थिति रहती है वहाँ वह व्यञ्जनीय रस का अभाधारण सबधी होने के कारण किसी अन्य रस की व्यञ्जना नहीं होने देता। अपितु एक भाव से ही अन्य दो भावों का आक्षेप-समिलन हो जाता है। अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यञ्जनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावों का बोध करा देता है।”

रसात्त्वाव

“रस का आस्वाद—आनदानुभव किस को होता है। रति-आदि स्थायी भाव जो एक प्रकार के मनोविकार हैं वे नायक-नायिकादि आलवनों में उत्पन्न हो रति-आदि—विभावानुभावसञ्चारी के संयोग से रस रूप हो जाते हैं, इसलिए रस का आनदानुभव उन्हीं नायक-नायिकादि को होता है, सामाजिक^२ जिन पूर्वकालीन दुष्यन्त-शकुन्तला-आदि के चरित्र काव्य में पढ़ते या नाटक में देखते हैं, उनका न तो कभी सामाजिकों से साक्षात् हुआ है और न वे सामाजिकों के सामने रहते ही हैं, और न सामाजिकों का चरित्र कोई सवध ही है। ऐसी परिस्थिति में दुष्यन्तादि के रति-जन्य रस के अनुभवों का आनन्द सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है? अन्य के दिये हुए आनन्द का अनुभव अन्य व्यक्ति को किस प्रकार हो सकता है, इत्यादि पर भरत-मुनि के उपर्युक्त सूत्र—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्ति' को आधार मान उनके परवर्ती सम्पूर्ण के

^१ कार्य कारण संचारिरूपा अपि हि लोकतः ।

रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येवमेतत् ॥

—काव्यप्रकाश,

^२ काव्य के पाठक-श्रोता तथा नाटकों के दर्शक—सामाजिक कहे जाते हैं ।

“यही दुष्यत है” यह समझ लेना चाहिये । तदनन्तर उस नट ने विभावादि-द्वारा रस सामाजिको को दृष्टि-पथ होने लगेंगे । क्योंकि नाट्य-कला-कुशल नट दुष्यतादि के अनुकरण (अभिनय) करने में अत्यन्त अभ्यस्त होता है, जिससे अनुकरण के समय उसे स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि मैं किसी का अनुकरण—अभिनय कर रहा हूँ । उस समय तो वह अपने को दुष्यतादि ही समझने लगता है और उनकी सपूर्ण अवस्थाओं को अपने में उनके समान ही अनुभव करने लगता है । इस प्रकार नाट्य-कला के अभ्यास तथा काव्य के अनुसंधान—कवि के अभीष्ट को साक्षात् के समान अनुभव करने के बल पर नट विभावादि को प्रगट करता है, अतः नट की चेष्टाएँ कृत्रिम प्रतीत नहीं होती और दुष्यतादि के रति-आदि भावों का सामाजिको को अनुमान होने लगता है । यद्यपि सामाजिक नट में ही दुष्यतादि की रति का अनुमान करते हैं, तथापि काव्य-नाटको के वस्तु-सौंदर्य के प्रभाव से उसमें रसनीयता आ जाती है । अतः वे रति-आदि भाव अन्य अनुपमेय से विलक्षण हो जाते हैं । सामाजिको को यह ध्यान ही नहीं रहता कि हम दूसरों की रति-आदि का अनुमान कर रहे हैं । अतः अपने में न रहता हुआ रस सामाजिको को अपनी वासना से आस्वादित होता हुआ रसानुभव होने लगता है ।”

भरत-सूत्र के तीसरे व्याख्याता हैं भोगवादी साख्यमतानुयायी भट्ट नायक । ये शकुन्तल के उक्त अनुमानवाद को संतोषप्रद नहीं मानते । आप का मत है कि अन्य व्यक्ति में उद्भूत होने वाले रस का अन्य व्यक्ति अनुमान करके आस्वाद नहीं कर सकता वह तो प्रत्यक्ष-ज्ञान से ही रसास्वादन कर सकता है । अर्थात् अन्य की आत्मा में स्थित (दुष्यतादि में स्थित शकुन्तला-विषयक) रति के ज्ञान का अन्य की आत्मा (अनुकरण करने वाले नटों और सामाजिको की आत्मा) में अनुमान करने से रसास्वाद कदापि नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि शकुन्तलादि विषयक दुष्यतादि की आत्मा में स्थित रति की प्रतीति सामाजिको को आत्मगतत्वेन होती है, तो उसमें अनेक दोष हैं । कहीं वे वर्मात्मा यशस्वी सद्भाद और कहीं हम वर्त्तमानकालीन क्षुद्र जीव । शकुन्तला-विषयक प्रेम का हमारे हृदय में उदय होना एक बार-ही महान् पाप-वृत्ति है, क्योंकि जिसे हम अपना प्रेम-पात्र बनाना चाहते हैं उसमें हमारे प्रेम-पात्र होने का भ्रौत्विक आवश्यक है । उसका केवल स्त्री होना ही पर्याप्त नहीं है । स्त्री तो अग्निनी-आदि भी होती है । अतः सामाजिको के प्रेम के शकुन्तलादि आलवन कदापि नहीं हो सकते और आलवन के बिना रति स्वायी का प्राविर्भाव होना असंभव है, अतः रसास्वाद कहीं ? इस प्रकार अनुमान-ज्ञानजन्य रसास्वाद की कल्पना निस्सार मान कर भट्ट नायक कहते हैं—

“भरत-सूत्र के ‘सयोग’ शब्द का अर्थ है ‘भोग्य-भोजक-भाव-संबन्ध’ और ‘निष्पत्ति’ का अर्थ है ‘भक्ति’ । अर्थात् काव्य की क्रियाएँ ही रस के उद्बोध का कारण हैं । क्योंकि काव्य सत्त्वात्मक है और उस शब्द के तीन व्यापार हैं—‘अभिधा, भावना और भोग ।”

अभिधा-द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है और भावना का व्यापार है—‘साधारणीकरण’ । अतः इस व्यापार-द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्भूत रति-आदि स्वायी भाव, व्यक्तिगत सबंध छोड़कर साधारण (सामान्य) रूप में प्रतीत होने लगते हैं । जैसे दुष्यत-शकुन्तला के प्रेम का इन दोनों (दुष्यत-शकुन्तला) से व्यक्तिगत संबंध न रह कर सामान्य दापत्य-प्रेम-रूप से प्रतीत होता । इस भावना के व्यापार-द्वारा रति-आदि भाव साधारण हो जाने पर अभ्यस्य होना-आदि विरोधी-ज्ञान हट जाता है, फल यह होता है कि यही भावना सपूर्ण वाता को साधारण बना देती है और तब उसमें किसी व्यक्ति विशेष या देश-काल-आदि का सबंध प्रतीत नहीं कर रसास्वाद का प्रतिकूल-भावरण हट जाता है ।

भोग-व्यापार-द्वारा भावना के प्रभाव से, अर्थात् अपना और परमापन दूर हो जाने पर साधारणीकृत विभावादि से सामाजिको को निर्वाच रसास्वादन होने लगता है । भोग का अर्थ है—

“सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद् विचारिताः ।”

अर्थात् सत्त्वगुण के उद्रेक^१ से प्रादुर्भूत प्रकाश-रूप आनन्द का अनुभव। यह आनदानुभव वेदांतरसंपर्कगून्प है, अन्य-सवधी-ज्ञान से रहित है—लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है। इसी 'भोग-व्यापार'-द्वारा रस का आस्वाद सामाजिको को होता है।

सेठ जी कहते हैं—“भट्ट नायक के उक्त मत का निष्कर्ष यह है कि “काव्य-नाटको के सुनने और देखने पर तीन कार्य जैसे—प्रथम उसका अर्थ समझ में आता है, फिर उसकी—काव्य-नाटको में देखे-सुने की, भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह अनुभव नहीं कर पाते कि काव्य-नाटको में जो सुना-देखा है, वह किसी दूसरे से सवध रखता है, या यह हमारा ही है। इसके बाद सत्त्व-गुण के उद्रेक से और आत्मचैतन्य से प्रकाशित^२ साधारणीकृत रति-आदि स्थायी भावों का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है।”

व्यक्तिवाद के आचार्य अभिनवगुप्त^३ तथा मम्मट, भट्ट नायक के मत 'भोगवाद' को युक्ति-युक्त नहीं मानते। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि में वस्तुतः, 'व्यंग्य-व्यञ्जक'—प्रकाश्य-प्रकाशक सवध है। अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यञ्जना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, जिसके अलौकिक विभावन-व्यापार यानी साधारणी-करण के द्वारा सामाजिकों की वासना^४ जाग्रत हो जाती है, वही रस की अभिव्यक्ति है—निष्पत्ति है। सेठ जी कहते हैं कि “ये अभिनवगुप्त और मम्मट, भट्ट नायक-द्वारा प्रतिपादित साधारणी-करण को तो मानते हैं, पर इनका कहना है कि भावना और भोग को शब्द के व्यापार मानना निर्भूल कल्पना है। क्योंकि केवल शब्दों-द्वारा न तो भावना ही उत्पन्न हो सकती है और न भोग^५। वास्तव में भावना और भोग की सिद्धि व्यञ्जना-द्वारा व्यञ्जित होकर ही हो सकती है। अर्थात् ये भी अंततः व्यञ्जना पर ही अवलंबित हैं^६। निष्कर्ष यह कि अभिनवगुप्ताचार्य-आदि भट्ट नायक के अनुसार साधारणी-करण भावना का व्यापार नहीं, किंतु व्यञ्जना का अलौकिक विभावन—व्यापार मानते हैं। इस विभावन-व्यापार के, अर्थात् साधारणी-करण के प्रभाव से सहृदय-सामाजिक^७ विभावादिको में—“अयं निज परोवेति, अयं यि मेरे ही हैं”,

^१ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक वा प्राधान्य का अर्थ है, अपने से निम्न दो गुणों का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्त्वोद्रेक का अर्थ रजोगुण-तमोगुणों को दबा कर सत्त्वगुण का प्रकाश होना है। सत्त्वोद्रेक का प्रभाव आनंद का प्रकाश करना है और उस आनंद का अनुभव 'भोग' है।

^२ 'आत्म चैतन्य से प्रकाशित' का भाव यह है कि आत्मा और अंतःकरण दो दर्पण-रूप हैं। इनमें आत्म-रूप-दर्पण चैतन्यमय आनंद-स्वरूप सर्वदा स्वच्छ है तथा अंतःकरण रूप-दर्पण रजोगुण-तमोगुणों के आवरणों से मलिन रहता है। सत्त्वोद्रेक से रजो-तमोगुणों के दब जाने पर वह—अंतःकरण रूप दर्पण, स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ अंतःकरण रूप-दर्पण में जब आत्म-चैतन्य आनंद-स्वरूप दर्पण का प्रतिबिंब या प्रकाश पड़ता है तब वह भी आनंद-स्वरूप हो जाता है। स्वच्छ-दर्पण में अभिमुख वस्तु का प्रतिबिंब पड़ने से दर्पण का तदाकार हो जाना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

^३ अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती-व्याख्या, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश—रस-प्रकरण।

^४ पहिले किसी समय की अपनी रति (प्रेम-व्यापार) आदि के आनंदानुभव का अपने अंतःकरण में जो संस्कार हो जाता है, उसे 'वासना' कहते हैं।

^५ न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वं . . . भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते।

^६ अर्थशायामपि भावनाया कारणं शो ध्वननमेव निपतति। भोगकृतं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे निष्येत्।

—ध्वन्यालोक-टीका, पृ० ३०

^७ अभिनवगुप्त और मम्मट के मतानुसार सहृदय सामाजिक, काव्य-नाटको के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं, जो नायक-नायिका की चेष्टा-आदि से उनकी पारस्परिक रति-आदि का अनुभव करने में मुदस होने हैं और जिनको तत्काश ही नाटकादि में प्रदर्शित और वर्णित पात्रों की रति-आदि का अनुभव हो जाना है।

‘ये दूसरे के हैं’, ‘भरे नहीं हैं’ वा ‘ये दूसरे के नहीं हैं’ इत्यादि सबध विशेष का अनुभव नहीं करते। फलतः अपने को तथा काव्य-नाटको के दुष्यत-शकुन्तलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं। उनको—मैं दुष्यत-शकुन्तला के प्रेम-व्यापार का दृश्य देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं रहता और न यही ज्ञान रहता है कि मैं—अपने प्रेम-व्यापार का आनदानुभव कर रहा हूँ, अर्थात् सामाजिक काव्य-नाटको के विभावो के प्रेम-व्यापार का आनदानुभव अभिलता से करते हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिको को काव्य-नाटको के दुष्यत-शकुन्तलादि के विभावो में केवल अपने ही प्रेम-व्यापार-आदि की प्रतीति होती है तो ऐसा होने में लज्जा और पापावरण-आदि^१ दोष आते हैं और यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिको को दुष्यत-नाटको के प्रेम-व्यापार का ही आनदानुभव होता है, तब प्रथम तो साक्षात् सबध न होने के कारण अन्य-द्वारा दिये प्रेम के व्यापार का अन्य व्यक्ति को आनदानुभव हो ही नहीं सकता, दूसरे अन्यदीय रहस्य-दर्शन लज्जास्पद और निश्चय, ऐसी दशा में काव्य-नाटको के द्वारा आनदानुभव कहाँ? अतएव ‘रस’ के व्यक्त करने वाले जो विभावादि हैं उनमें जो रस प्रकट करने की शक्ति है, वही व्यक्तिगत विशेष सबध को हटा कर रसास्वाद करने वाला साधारणी-करण है। अभिनवगुप्त और मम्मट दोनों आचार्यों का कहना है कि जैसे मिट्टी के पात्र में गंध रहते हुए भी वह व्यक्त नहीं होती, जल के संयोग से ही वह तत्काल प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार सामाजिको के अतः करण में रति-आदि की वासना पहिले से ही अव्यक्त-रूप में वर्तमान रहती है और वह काव्य-नाटको^२ के विभावादि व्यक्तको के संयोग से अभिव्यक्त—जाग्रत या उत्तेजित हो जाती है। अर्थात् रति-आदि स्थायी भावों के आनन्द का अनुभव होने लगता है। वही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।^३

रस अलौकिक है

आलम्बन-उद्दीपन विभावो के अनुभाव और संचारी यद्यपि लौकिक हैं, तथापि काव्य-नाटको के अतर्गत होने से उनमें विभावन-आदि अलौकिक व्यापार का समावेश हो जाता है। इस अलौकिक व्यापार के कारण ही विभावादिको को अलौकिक कहते हैं। जब विभावादि अलौकिक हैं तो उनके द्वारा व्यक्त रस भी अलौकिक होना चाहिये, क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य होते हैं। यदि यह कहा जाय कि शृंगार-रस तो लौकिक ही है? इस शका का निवारण करते हुए सेठ जी कहते हैं—“रस का चमत्कार तो वास्तव में अलौकिक ही है, पर दुष्यत-आदि के हृदय में जो शकुन्तला-आदि विषयक वास्तविक रति उत्पन्न हुई, वह साधारण वास्तव-रति थी, इसमें कोई विशेषता या विलक्षणता न होने के कारण वह लौकिक प्रथम थी। यदि काव्य-नाटको में दुष्यत-शकुन्तलादि की रति को भी लौकिक मान लें तो वह अन्यदीय होने से (पर रहस्य-दर्शन लज्जास्पद होने के कारण) रस-आस्वाद के अयोग्य होगी। अतः वास्तव में काव्य-नाटको में दुष्यत-शकुन्तला-आदि की रति, विभावन के अलौकिक व्यापार-द्वारा अपने-परायेपन के भेद से रहित होकर—लज्जास्पद न रह कर रस का आस्वाद कराती है, ” रस अलौकिक ही है।^४

“दुष्यत-शकुन्तला-आदि में जो रति उत्पन्न हुई उसका आनन्द दुष्यत-शकुन्तलादि तक ही सीमित था। किन्तु काव्य-नाटको में विभावादि-द्वारा प्रदर्शित रति स्थायी भाव, जो रस-रूप से व्यक्त होता है, दुष्यत-आदि में व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोताओं और दृष्टाओं के द्वारा एक ही साथ समान रूप में आस्वादीय होता है। अतः वह अपरिमित होने के कारण अलौकिक है।”

“लौकिक-मयार्थ या तो जाग्रत^५ होते हैं या कार्य-रूप, किन्तु रस को न तो जाग्रत ही कह सकते

^१ शकुन्तलादि समान्य व्यक्तियों के साथ अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करना पापावरण कहा जाता है।

^२ काव्य में केवल शब्दों-द्वारा और नाटको में शब्दों और पात्रों की शारीरिक चेष्टाओं-द्वारा।

^३ जिस वस्तु का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के द्वारा होता है, उसे ‘जाग्रत’ कहते हैं और जिसके द्वारा निम्न दूसरी वस्तु का ज्ञान हो उसे जापक कहा जाता है। जैसे—अंधेरे में दीपक-द्वारा घटा-आदि का ज्ञान होने में घटा जाग्रत और दीपक जापक होता है।

है और न कार्य, क्योंकि ज्ञाप्य वही हो सकता है, जो ज्ञापक-हेतु के जाने पर प्रत्यक्ष हो जाय। जैसे पहिले से विद्यमान 'घट' अपने ज्ञापक-हेतु दीपक या प्रकाश के जाने पर स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है, पर रस पहिले से तो विद्यमान होता नहीं, उसका अनुभव तो तभी होता है जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग होता है, अतएव उसे ज्ञाप्य नहीं कह सकते। रस को कार्य भी किस प्रकार कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहता है। जैसे—कुम्हार और चाक-आदि के नष्ट हो जाने पर भी घट विद्यमान रहता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो रस भी अपने कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर स्थित रहना चाहिये, किंतु वह उपलब्ध नहीं होता, अथवा कार्य और कारण का ज्ञान एक साथ नहीं होता। यदि विभावादि को को कारण और रस को कार्य मान लिया जाय तो रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। किंतु रस और विभावादि तो 'समूहावलंबनात्मक' है—रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति भी होती ही है। अतः रस को कार्य नहीं कहा जा सकता।" यदि यह शका की जाय कि रस कार्य नहीं है, तो विभावादि रस के कारण क्यों कहे गये? सेठ जी कहते हैं—“इसका समाधान यह है कि रस की चर्चना—उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ-सा और चर्चना (आस्वाद) के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ-सा ज्ञात होता है। वास्तव में चर्चना की उत्पत्ति ही रस है। लोक-व्यवहार में रस को विभावादि का कार्य कहना केवल उपचार^२ मात्र है।”

“लौकिक वस्तु की भाँति रस को नित्य भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि नित्य वस्तु असंवेदन^३-काल में नष्ट नहीं होती, पर रस असंवेदन-काल में नष्ट हो जाता। अर्थात् रस की विभावादि-ज्ञान के पूर्व स्थिति नहीं होती। इसलिए भी रस अलौकिक है।”

“लौकिक पदार्थ मृत, भविष्यत् और वर्तमान होते हैं। रस न तो भविष्य में होने वाला है और न भूतकालीन ही है। यदि ऐसा होता तो उस (रस) का साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता था। क्योंकि कब होने वाली वस्तु का, या जो वस्तु हो चुकी है उसका साक्षात्कार आज नहीं हो सकता और न रस को वर्तमान ही कह सकते हैं, क्योंकि वर्तमान वस्तु या तो ज्ञाप्य होती है या कार्य, किंतु रस न ज्ञाप्य है और न कार्य। इसी प्रकार “रस निर्विकल्पक-ज्ञान” का विषय भी नहीं है। निर्विकल्पक-ज्ञान में नाम, रूप, जाति-आदि किसी विशेष प्रकार के सवधों का भान नहीं होता। किंतु रस विशेषरूप से भासित होता है, अर्थात् रस की प्रतीति में भृंगार, हास्य, कर्ण-आदि रस विशेषरूप से विदित होते हैं। रस^४ सविकल्पक-ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक-ज्ञान के विषय घट-पटादि शब्द-द्वारा कहे जा सकते हैं, किंतु रस शब्दों-द्वारा नहीं कहा जा सकता, अर्थात् रस, रस पुकारने से रसानुभव नहीं हो सकता। जब वह विभावादि-द्वारा व्यक्त होता है—व्यञ्जना-द्वारा व्यजित होता है, तब आस्वादीय होता है। रस की यह भी अलौकिकता है।”

आगे सेठजी कहते हैं—“रस का ज्ञान परोक्ष का विषय भी नहीं, क्योंकि परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता और रस का साक्षात्कार होता है। रस अपरोक्ष भी नहीं, अपरोक्ष-मार्ग का प्रत्यक्ष

^१ अनेक पदार्थों का समूह रूप से एक ही साथ प्रतीत होना—“समूहावलंबन-ज्ञान” है। जैसे—घट, पट, लकुटादि बहुत से पदार्थों पर दृष्टि जाने पर वे एक ही साथ समूह-रूप से प्रतीत होते हैं और जैसे—दीपक के प्रकाश में घट-पटादि के साथ दीपक भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार रसास्वाद के समय भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भाव जो स्थायी भाव को व्यक्त (प्रकाश) करते हैं, वे स्थायी भाव के साथ प्रकाशित होते हैं।

^२ किसी वस्तु के धर्म का, किसी विशेष संबंध के कारण दूसरी वस्तु में प्रतीत होना ‘उपचार’ है।

^३ ज्ञान के अभाव-काल में, अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं होता वह समय।

^४ घट-पटादि किसी विशेष वस्तु की प्रतीति न होकर सामान्यतः ‘कुछ है’ ऐसा प्रतीत होना ‘निर्विकल्पक-ज्ञान’ है।

होना समभव है, पर रस प्रत्यक्ष दृष्टिगत नहीं हो सकता । उसकी शब्दार्थ-द्वारा केवल व्यञ्जना होती है । यह भी उसकी अलौकिकता है ।^१

कार्य, ज्ञात्य, नित्य, अनित्य, भूत्, भविष्यत्, वर्तमान, निर्विकल्पक और सविकल्पक-ज्ञान का विषय तथा परोक्ष-अपरोक्ष-आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं, उन सभी का रस में अभाव है । तब प्रश्न होता है कि फिर वह क्या वस्तु है ? और उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है ? सेठजी कहते हैं—“वस्तुतः रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, असङ्ग और कुतूहल है । इसीलिए उसका रसास्वाद—“ब्रह्मानन्द सहोदर”^२, कहा गया है । जैसे ब्रह्मानन्द का अनुभव विरले योगी-जन ही कर पाते हैं, उसी प्रकार रस का आस्वादन भी सहृदय-जन ही कर सकते हैं^३ और रस के अस्तित्व में सहृदय काव्य-मर्मज्ञोंकी चर्चना, अर्थात् रस के आस्वाद का अनुभव ही प्रमाण है । चर्चना से रस अभिन्न है ।”

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि आनन्दानुभव को ही ‘रस’ कहा जाता है तो करुण, वीरत्स और भयानक-आदि-द्वारा जब प्रत्यक्षतया दुःख, घृणा और भय-आदि उत्पन्न होते हैं तब उन्हें रस क्यों माना जाता है ? सेठजी कहते हैं कि “श्रीकादि कारणों से दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार में है—जीराम-वन-गमनादिक लोक में ही दुःख के कारण होते हैं और जब वे काव्य-रचना में निबद्ध हो जाते हैं या नाटकों के अभिनयों में विखिलाए जाते हैं, तब उनमें पूर्वोक्त विभावन-नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है । अतः विभावना-द्वारा उनसे आनन्द ही होता है, लोक में चाहे वे दुःख के ही कारण क्यों न हों । यदि करुण-आदि रस दुःखोत्पादक ही होते तो करुण रसादि प्रधान काव्य-नाटकों को कौन पढ़ता, सुनता और देखता ? पर वे भृगु-रसात्मक काव्य-नाटकों के समान ही सहर्ष पढ़े, सुने और देखे जाते हैं । इस विषय में सहृदय-जनो का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है । यद्यपि करुण-अशान हरिश्चन्द्रादि के चरित्रो-द्वारा सामाजिकों के अशुभादि अवश्य होते हैं, किंतु वे चित्त के द्रवीभूत होने-से होते हैं । चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोत्प्रेरक ही नहीं, आनन्द का आधिक्य भी होता है । अतः आनन्द-जन्य अशुभात् भी होता है^३ ।”

वह सेठजीका मेघदूत-विमर्श

महाकवि कालिदास के ‘मेघदूत’ पर पाश्चात्य और एतद्देशीय अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है । मेघदूत के अनेक पद्यमय अनुवाद भी किये गये हैं, जो सभी अच्छे हैं । परन्तु श्री पोद्दार जी के ‘हिंदी मेघदूत-विमर्श’ में इन सबसे विशेषता तथा अपूर्वता है । इस ग्रन्थ में जो समस्लोकी हिंदी-पद्यानुवाद है, उसमें कविकुल-मुकुट-मणि कालिदास कृत जैसी-ही सुंदर, सरल तथा स्वाभाविक रचना का आस्वाद भली-भाँति उपलब्ध होता है और जो गद्यानुवाद है वह भी अन्य-अनुवादों की अपेक्षा अधिक सुंदर तथा उसके गूढ़ भावों को समझने में अद्वितीय है । प्रत्येक पद्य का प्रासंगिक भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विवेचन बड़ा विद्वत्सापूर्ण है । अन्य महा कवियों ने मेघदूत की सतुक्तियों के अनुकरण पर जो पद्य-रचनाएँ की हैं, उनकी सुखनात्मक आलोचना की गई है । ११० पृष्ठों की ‘भूमिका’ अनेक दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है । इसमें मेघदूत विषयक अनेक ज्ञातव्य बातों का उल्लेख जिस सुंदर ढंग से किया गया है, वह दर्शनीय है । महाकवि कालिदास के समय-निर्णय करने के

^१ यहाँ ‘ब्रह्मानंद’ से संप्रज्ञात (सविकल्प) समाधि से तात्पर्य है, क्योंकि उसीमें आनंद और अभिज्ञात-आदि आलंबन रहते हैं । पातंजलि-सूत्र (समाधिपाद सूत्र—१७) में कहा है कि “वितर्क विचारानां वास्तितास्वभावात्-गमात् संप्रज्ञातः ।” इसी प्रकार रसास्वाद में भी विभावनादि आलंबन रहते हैं । अतएव संप्रज्ञात समाधि के आनंद के समान ही रसास्वाद कहा जा सकता है, असंप्रज्ञात-समाधि के समान नहीं, क्योंकि वह निरालंब है ।

^२ पुष्पवंतः प्रपिप्बन्ति योगिवद्वस संतसिम् ।

^३ आनंदमार्थान्या भूमानंजुं अणादभयान्छोकात् ।

अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगामवेदालम् ॥

सबष मे प्रसंग-वस 'महाकवि भास', सम्राट् 'महापद्मनद', सम्राट् 'चंद्रगुप्त' मौर्य, सम्राट् 'अशोक', महाराज 'पुष्यमित्र', भास और 'चाणक्य', भास और 'पणिनि', भास के समय पर अनेक विद्वानों के मत, भास और कालिदास, कालिदास और 'भामह', कालिदास और 'विह्वान', कालिदास और 'विक्रमादित्य', कालिदास और 'अग्निमित्र'—आदि के समय पर साहित्यिक और ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। ऐसा विवेचन हिंदी के मेघदूत-विषयक अन्य ग्रंथों में देखने में नहीं आता। अस्तु, मेघदूत जैसे विश्व-विश्रुत सरस काव्य का आस्वादन पोद्दारजी के उक्त ग्रंथ-द्वारा ही भली प्रकार हो सकता है। इस ग्रंथ की भारत के सभी प्रतिष्ठित और अगणित विद्वानों ने बहुत प्रशंसा की है।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

संस्कृत-साहित्य का इतिहास—नाम से हिंदी में और भी कई ग्रंथ विद्वानों-द्वारा लिखे गये हैं, जिनमें प्राचीन कवियों और महाकवियों के समय और उनके काव्य-नाटकों का नाम निर्देश किया गया है। पोद्दारजी प्रणीत 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' हिंदी साहित्य में एकदम नई चीज है। यह ग्रंथ दो-भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में निम्नलिखित शीर्षकों में शब्दपणापूर्वक संस्कृत के इतिहास का महत्त्वपूर्ण विशद विवेचन है—

१—'साहित्य' शब्द के अर्थ और प्रयोग का क्रमशः विकास।

२—काव्य-रचना का वैदिक काल से कालक्रमानुसार विकास।

३—श्रीमद्वाल्मीकीय 'रामायण', भरतमुनि प्रणीत—'नाट्य-शास्त्र', 'महाभारत और अग्निपुराण की रचना-काल के विषय में पाश्चात्य और एतद्देशीय अन्य विद्वानों के मत पर आलोचनात्मक मंथन विवेचन।

४—भट्टि, भामह, लङ्कट, वामन, बंडी, कन्नड, ध्वनिकार, राजशेखर, महाराज मोहन, क्षेमंद, भट्टाचार्य, रघुपति, मंथक, केशव मिश्र, श्री रूपगोस्वामी, हेमचंद्र जैनाचार्य, वाग्भट्ट, विश्वनाथ, अण्णय वीक्षित और पंडित राज जगन्नाथ-आदि संस्कृत के सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के लगभग पर आलोचनात्मक विवेचन और उनके ग्रंथों का परिचय।

५—संस्कृत-साहित्य के विभिन्न रीति-ग्रंथों का विषय विवरण।

६—काव्य के प्रयोजन और काव्य के हेतु के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का विवेचन।

७—भिन्न-भिन्न साहित्याचार्यों-द्वारा निमित्त काव्य के लक्षणों पर आलोचनात्मक द्वास्तुत विवेचन में काव्यप्रकाशोक्त 'काव्य-लक्षण' पर चंद्रालोक-कर्ता जयदेव तथा साहित्यदर्पण-प्रणेता विश्वनाथ-द्वारा किये गये कटु आक्षेपों का विद्वत्तापूर्ण खंडन।

८—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-काव्य के जो ये पाँच संप्रदाय स्थूल रूप से प्रचलित हैं, इन संप्रदायों के आचार्यों तथा इन संप्रदायों के विषय में भिन्न भिन्न आचार्यों-द्वारा की गई आलोचना और इस प्रसंग पर पोद्दारजी का मत।

९—काव्य के दोषों पर विवेचन।

१०—दृश्य और अव्य-काव्य के भेद तथा उपभेदों का विवरण।

हिंदी-साहित्य में इस शीर्षक का यह अनुपम ग्रंथ है। इस ग्रंथ के समक्ष का और कोई ग्रंथ हिंदी में अब तक दृष्टि-गोचर नहीं हुआ है।

सेठ जी का आलोचक-रूप

कवि-जगत् का कहना है—'काव्य के तत्त्व को विरले ही जान-महिज्ञान सकते हैं। यो तो पुष्पों के सौंदर्य से सभी का मन प्रसन्न होता है, पर उसमें स्थित मधुर रस का मर्मज्ञ भ्रमर ही होता है'। इसी प्रकार

^१ तत्त्वं किमपि काव्यानां, जानाति विरलो मुवि।

मामिकः को मरदाना मंतरेण मधुव्रतम् ॥

“सरस कविन के चित्त को बेधत है, सो कोन ।”

जैसेगूढ प्रश्न का उत्तर देने वाले साहित्य के वे ही पारखी हैं, जो अपनी पैनी दृष्टि से साहित्य के अतिनिहित भावों को निरखने-परखने में पटु और उसके अनुभवी हैं। अतः वे ही इसके उत्तर-रूप में खुले हृदय से कह सकते हैं—

“असमझवार सिराहिबौ, समझवार कौ मोन ।”

सेठ जी ऐसे ही साहित्य-रस के लोभी भ्रमर और उसके रहस्य को समझने वाले रसज्ञ, एक ही व्यक्ति हैं। वे किसी की, वह चाहे कवि हो या कविराजा, साहित्य के प्रति ‘मदाखलतवेज’ को चुपचाप देखते रहना, उसके प्रति कुछ न कहना उपयुक्त नहीं समझते। फलतः सेठ जी आलोचना-क्षेत्र में भी काफी सफल रहे। यहाँ भी आपने अपनी प्रतिभा में ‘चार-चाँद’ लगाये। स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल जैसे प्रतिष्ठित विद्वानों ने अपनी साहित्य-मर्मज्ञता की ‘लकदक’ चार चाँदनी से आलोचना-क्षेत्र को अवश्य बगमगा दिया था, पर वह पाश्चात्य-विचार (आलोचना) शैली से प्रभावित जैसी है। शुक्लजी भारतीय-विचार-वीथी से—उसकी परंपरा से दूर-दूर रहे हैं। सेठ कन्हैयालाल जी ने अपनी प्राचीन आलोचना-परिपाटी को पाश्चात्य-शैली का नया जामा पहिनाकर एक नई सुंदरता उत्पन्न की है। उदाहरण-रूप में सेठ जी के एक आलोचनात्मक-निबन्ध को उनके ही शब्दों और विचारों में नीचे उद्धृत करते हैं, जैसे—

अलंकार के नामों में ही हैं लक्षण यह नव सिद्धांत,
इस जसवतजसोभूषण में, प्रतिपादित, वह भ्रांत नितांत।
भरत-भ्रावि पूर्वाचार्यों पर मिथ्याश्लेष, सर्गवं महा—
किया उसी का इस निबन्ध में खंडन है ब्रह्मव्य यहाँ ॥

“जोधपुर-नरेश महाराजा ‘जसवतसिंहजी’ के राज-कवि चारण-कुलावतस कविराजा मुरारी-दान जी ने अपने उक्त आश्रय-दाता महाराजा के नाम को चिरस्थायी रखने के लिये ‘मोल और तोल में भारी’ ‘जसवत जसोभूषण’ की रचना की। उक्त ग्रन्थ का हिंदी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कविराजा ने ‘सुगह्याप्य शास्त्री’ जैसे उल्लेख विद्वान्-द्वारा साहित्यिक शिक्षा प्राप्त की थी। शास्त्री जी को उदयपुराधीश स्वनामधन्य स्वर्गीय महाराजा ‘सज्जनसिंहजी’ बहादुर ने इसीलिए जोषपुर भेजा था। कविराजा मुरारी-दान स्वयं भी साहित्यिक विद्वान् थे। फिर इस ग्रन्थ की रचना में शास्त्रीजी की सहायता का सुयोग भी प्राप्त था। यही नहीं, श्री शास्त्रीजी-द्वारा जसवतजसोभूषण का संस्कृत-भाषा में अनुवाद भी—‘यशवतयशोभूषण’ नाम से प्रणीत किया गया था। अस्तु इस ग्रन्थ में कविराजा मुरारीदान जी ने अत्यंत गर्व के साथ यह घोषणा की—

“अलंकारों के नामों में ही अलंकारों के लक्षण हैं और इस रहस्य को खोज तक किसी भी प्राचीन आचार्यों ने नहीं समझा। यदि वे इस रहस्य को जानते तो अलंकारों के लक्षण निर्माण न करते भ्रावि।”

किंतु, कविराजा की यह गर्वोक्ति केवल मिथ्यालाप है। न तो इस रहस्य से प्राचीन आचार्य अनभिज्ञ-ही थे और न सभी अलंकारों के नामों के अर्थ में लक्षण ही हैं। एव न कविराजा अपने इस भ्रात-मत को निःभ्रात सिद्ध ही कर सके हैं। कविराजा ने अपने इस भ्रात-मत की पुष्टि में एक विशिष्ट प्रमाण भी उपस्थित किया है। वे कहते हैं कि ‘जयदेव’ प्रणीत ‘चंद्रालोक’ की—

“स्यात्स्मृतिभ्रातिसदेहस्तत्कालं कृतिं जयम् ।”

इस कारिका-द्वारा सिद्ध होता है कि श्री जयदेव के मत में भी इन्हीं तीन—स्मृति, भ्राति और सदेह अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के नामों में लक्षण नहीं। पर चंद्रालोक की उक्त कारिका-द्वारा कविराजा के कथन का समर्थन कदापि नहीं होता। इस कारिका का अभिप्राय केवल यही है कि इन स्मृति, भ्राति और सदेह

अलंकारों में 'लोक-प्रसिद्ध वैचित्र्य' है, इसलिए इनके लक्षण लिखना अनावश्यक है, इनके नाम ही 'लक्षण-रूप' हैं। इन तीनों के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण अलंकार इतने सुबोध नहीं, जिनका यथार्थ-स्वरूप नाम-मात्र के सुनने से समझ में आ जाय। अलंकारों के नामों में केवल उनके स्थूल चमत्कारों का संकेत-मात्र सूचित है, जो प्राचीन आचार्यों को स्वीकृत थे। वे नाम में ही लक्षण वाली बात नहीं मानते थे। क्योंकि अलंकारों के नामों में लक्षण नहीं हो सकता। यदि प्राचीन संस्कृत-साहित्याचार्यों को यह ज्ञात न होता कि 'अलंकारों के नाम उनके स्थूल चमत्कार के संकेत-सूचक हैं', तो वे काव्यप्रकाशादि अपने साहित्य-ग्रंथों में अलंकारों के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार दिखाई जा सकती थी? काव्यप्रकाश की वामनाचार्य कृत 'वालवोचिनी' टीका में अलंकारों के नामार्थ, व्युत्पत्ति-द्वारा इस प्रकार समझाये गये हैं।

१, उपमेयोपमा—'उपमेयेन उपमा—उपमेयोपमा ।'

२, समासोक्ति—'समासेन—संक्षिप्तेणार्थं द्वयकथनं समासोक्तिः ।'

३, निदर्शना—'निदर्शनं—दृष्टान्तकरणम् ।'

४, दृष्टान्त—'दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः ।'

५, दीपक—'एकस्यैव समस्तवाक्यदोषनात्—दीपकम् ।'

यह नामार्थ-व्युत्पत्ति का निदर्शन मात्र है और कविराजा-द्वारा की गई अलंकारों के नामार्थ की स्पष्टता भी प्रायः इसी का अनुकरण मात्र है। जैसे—

"१, उपमेयोपमा—उपमेयेन उपमा ।

२, समासोक्ति—संक्षेपे ये सब पर्याय हैं ।

३, निदर्शना—कर दिखाता ।

४, दृष्टान्त—दृष्टः अंतः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः ।

५, दीपक—दीपयतीति दीपकम् ।"

जबत-जसोभूषण के इन अवतरणों से स्पष्ट है कि 'कविराजा ने नामार्थ स्पष्ट करने में प्रायः काव्यप्रकाश का ही अनुसरण किया है। फिर भी आप 'उपमा' का नामार्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'यहाँ उप—उपसर्ग का अर्थ है—समीपता। कहा है 'चिंतामणिकोष'कार ने—'उप सामीप्ये। माड् धातु से 'मा' शब्द बना है। माड् धातु 'मान'-अर्थ में है—कहा है धातुपाठ में 'माड्-माने', उप-सामीप्याद् मा मानम्—उपमा। समीपता करके किया गया मान, अर्थात् विशेष ज्ञान। यह उपमा का अक्षरार्थ है। उपमा के नाम का यह साक्षात् अर्थ प्राचीनों के ध्यान में नहीं आया। आया होता तो यह 'व्युत्पत्ति' क्यों नहीं लिखते।"

खेद है, कविराजा जैसे मान्य विद्वान्-द्वारा ऐसे मिथ्या वाक्य लिखे गये हैं। जब कि उपमा का नामार्थ काव्यप्रकाश में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"उपमेति। उपसमीपे सीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्ता उपमेय कर्म) अनयेत्युपमा। उप-प्रवर्त्त माड्-माने—इति जौहोत्यादिकाभ्यामातो। 'आतश्चोपसर्ग' (३-३, १०६) इति पाणिनि सूत्रेण करणे अद्-प्रत्ययः त अकर्त्तरि कारके इत्यनुवृत्तेरिति बोध्यम्।—पञ्चजादिवत् योगरुद्विदमुपमा-पदम् ।"

कहना अनावश्यक है कि काव्यप्रकाश में उपमा के नामार्थ की व्याख्या में जो कुछ कहा गया है, कविराजा ने उसी का भावार्थ हिंदी में लिख दिया है। अतएव कविराजा की—'अलंकारों के नामार्थ का ज्ञान प्राचीन आचार्यों को न था', यह गर्वोक्ति अकाङ्क्षान्वित मात्र है।

कविराजा जी का आशय यह भी है कि 'प्राचीन आचार्यों को नामार्थ का ज्ञान होना तो थे लक्षण क्यों लिखते।' इसका उत्तर यह है कि सभी अलंकारों के नाम-मान में लक्षण हो ही नहीं सकते। उदाहरणार्थ में—'प्रथम श्लोके मक्षिकापात' की लोकोक्ति को चिन्तित करने वाला 'बर्मादि'—प्रकरण को नगिरे।

इस अलंकार में 'वक्र' (टेढ़ी) उक्ति में चमत्कार होता है, जो इसके नामार्थ-द्वारा स्पष्ट नहीं होता। अतः 'काव्यप्रकाश' में इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

“यद्युक्तमन्यथावाक्यमन्यथान्येन योज्यते।

श्लेषेण काव्या वा श्रेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥”

अर्थात् अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य का दूसरे व्यक्ति-द्वारा श्लेष वा काकु-उक्ति से अन्य अर्थ—वक्ता के कहे हुए वाक्य का अन्य (दूसरा) अर्थ कल्पित किया जाय, वहाँ 'वक्रोक्ति' अलंकार होता है। उस अन्य-अर्थ की कल्पना श्लेष वा काकु-उक्ति-द्वारा होती है। किंतु वक्रोक्ति के नामार्थ से यह बात स्पष्ट नहीं होती। इसलिए लक्षण-निर्माण किया जाना अनिवार्य था।

नाम में ही लक्षण कहने वाले कविराजा जी ने वक्रोक्ति-अलंकार के नामार्थ की स्पष्टता इस प्रकार की है—

“वक्र शब्द का अर्थ है कुटिल और इसके पर्याय हैं—बाँका, टेढ़ा इत्यादि तथा वक्रोक्ति-नाम की व्युत्पत्ति है—वक्रो कृता उक्ति, बाँकी की हुई उक्ति। उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही हो सकता है।... वक्रोक्ति में कहीं श्लेष होता है, परंतु वह गौण रहता है।”

इतना लिख कर कविराजा धामे फिर लिखते हैं—

“वक्र-करण पर-उक्ति को, नृप वक्रोक्ति-निहार।

स्वर-विकार श्लेषादि सो, होत जु बहुत प्रकार ॥”

अतः कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ यह जो लिखा कि 'उक्ति का बाँका करना तो पर की-उक्ति का ही होता है', 'यह अर्थ वक्रोक्ति के अक्षरों से, कहीं और कैसे निकलता है, समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त—स्वर-विकार और श्लेषादि अर्थ भी वक्रोक्ति-शब्द के अक्षरों से नहीं निकलता है और उनका यह कहना भी कि वक्रोक्ति, 'पर' अर्थात् अन्य की उक्ति की ही की जा सकती है', सर्वथा मिथ्या-प्राप्त है। क्योंकि वक्रोक्ति स्वयं वक्ता अपनी उक्ति में भी कर सकता है, जैसे—

“चौराणि किं पथि न संति विज्ञाति भिक्षाम्,

नैवाभिप्राः परभृतः सरितोऽप्य शुष्यन्।

रुद्धा गुहाः किम् क्षितोऽजति नोपसभान्—

कस्माद्भुजंति कवयो धनवुर्भवाण्यन् ॥

—श्रीमद्भागवत, २।२।१५,

उक्त पद्य में श्री शुक्रदेवजी ने अपनी ही उक्ति में वक्रोक्ति की है। उन्होंने कहा है कि क्या मार्ग में बिथड़े (फटे वस्त्र) नहीं मिलते? क्या वृक्ष फल नहीं देते? क्या नदियों का जल सूख गया है? क्या रहने के लिये गिरि-कदरों पर वद हो गई हैं? क्या शरणागतों की भगवान् रक्षा नहीं करते? अतः फिर विद्वज्जन धन-मदायों की क्यों इच्छा करते हैं। किंतु काकु-उक्ति-द्वारा इसका यह अर्थ होता है कि 'पहलने के लिये मार्ग में वस्त्र अवश्य ही मिल सकते हैं, भोजन के लिये वृक्षों में फल भी हैं, पीने के लिये नदियों में जल भी प्रस्तुत है, रहने के लिये गिरि-गुहाएँ भी हैं और शरणाधियों की भगवान् रक्षा भी अवश्य करते हैं, इसलिए विद्वज्जनों को धन-मदायों से किसी वस्तु की इच्छा न करनी चाहिये।' यहाँ वक्रोक्ति होते हुए भी वक्रोक्ति-अलंकार नहीं है। क्योंकि प्राचीनाचार्यों ने वक्रोक्ति-अलंकार की वक्ता की उक्ति का किसी अन्य व्यक्ति-द्वारा अन्याय कल्पित किसे जाने में ही उसे सीमाबद्ध कर दिया है। अतएव जहाँ स्वयं वक्ता अपनी उक्ति में वक्रोक्ति करता है, वहाँ वक्रोक्ति-अलंकार न होकर 'काव्यवाचित्त-गुणीभूतव्यंग्य' अथवा अवस्था विशेष में 'काकु-व्यंग्य' काव्य होता है। वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार तो पर तथा वक्ता की स्व-उक्ति दोनों ही ग्रहण की जा सकती है। इसीलिए अगत्या कविराजा जी को भी वक्रोक्ति के नाम के अक्षरों में समझ न होने पर भी—'पर की उक्ति' जैसा वाक्य अधिक जोड़ना पड़ा है। कविराजा का 'नामार्थ में ही लक्षण है'—बाला सिद्धांत तो सभी सिद्ध हो सकता था जब कि वे ऊपर से कुछ भी अधिक न कह केवल वक्रोक्ति के

अक्षरार्थ में ही वक्तोक्ति-अलंकार का सर्वांगपूर्ण लक्षण स्पष्ट करके दिखलाते । अतएव कविराजाजी के 'नाम में ही लक्षण' वाले सिद्धांत में अतिव्याप्ति-दोष अनिवार्य रूप से आ गया है । ऐसी अवस्था में उनकी यह वक्तोक्ति कि—'नाम में ही लक्षण' वाले सिद्धांत में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति-दोष नहीं हो सकता, मन-मोदको का आस्वाद मात्र है । आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में कविराजा जी ने केवल प्राचीन साहित्याचार्य महामुनि भरतादि महानुभावों पर ही नहीं, भगवान् श्री वेदव्यास जी पर भी आक्षेप किया है, उसी लक्षण-निर्माण के सुगम-पथ का स्वयं उन्होंने भी अनुसरण किया है । यहाँ तक कि आप ने अलंकारों के लक्षणों के लिये जो भी भाषा-श्रद्ध निर्माण किये हैं, वे प्रायः संस्कृत-साहित्य-ग्रंथों में कथित लक्षणों का कोरा—नीरस अनुवाद मात्र हैं ।

सत्य तो यह है कि अलंकारों के स्वरूप समझने-समझाने के लिये महानुभाव प्राचीन साहित्याचार्यों ने जो बात लक्षणात्मक कारिका या सूत्र-द्वारा संक्षेप में कह दी है, उसे समझाने के लिए कविराजा जी ने कोपादिक के अनेक प्रमाणों-द्वारा अत्यंत विस्तार के साथ बड़ी कष्ट-कल्पनाएँ एवं अनुपयुक्त खेचातानी करने के बाद भी वे अपने सिद्धांत की स्थापना करने में तनिक भी सफल नहीं हो सके हैं । अतः तोगत्वा उन्हें भी प्राचीन-आचार्यों का ही अनुसरण करना पड़ा है । ऐसी अवस्था में उनकी इस वक्तोक्ति का मूल्य क्या हो सकता है—

“भोज-समै निकसी नहीं, भरताविक की भूल ।

सो निकसी जसवैत-सगै, भए भाग अनुकुल ॥”

यही नहीं, इसी नामार्थ में लक्षण के सिद्धांत-रूप चक्र में अग्रित होकर आप ने बहुत से स्वतंत्र अलंकारों को दूसरे-दूसरे अलंकारों में समावेश कर दिया है, जिसकी आलोचना के लिये अधिकाधिक समय की अपेक्षा है । साहित्य-विद्वानों के लिये उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त है ।”

श्री पोद्दारजी के 'सत्य शिव सुंदर' रूप रस, अलंकार, हिंदी मेघदूत-विमर्श, संस्कृत-साहित्य का इतिहास-आदि और आलोचना के गहन विचार-युक्त अवतरण उनके शब्दों में ही दिये हैं, ये उनके गहरे साहित्य-परिशीलन की एक अलंकृत मान्य है । इस से अधिक उन्हें निरखने-परखने के लिये उनके ही वे शब्द पर्याप्त हैं, जो उन्होंने इस लेख के अंत में दिये हैं—

“..... आलोचना के लिये अधिकाधिक समय की अपेक्षा है । साहित्य-विद्वानों के लिये उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त है ।”



सेठजी के साहित्यिक लेखों की सूची

शीर्षक	पत्रिका,	वर्ष,	संख्या,	पृष्ठ,
१ महाकवि भारवि,	सरस्वती	१९००	जनवरी	२१३-२१६
२ महाकवि माघ,	सरस्वती	१९०६	जनवरी	२८७-२९६
३ हिंदुस्थान का वस्त्र-व्यवसाय,	सरस्वती	१९१४	जून	३१८
४ व्यंग्यार्थ-मजूषा (आलोचना)	माधुरी	१९२८	अप्रैल ३१३-३१८	हितैषी के नामसे ।
५ काव्य-अभाकर (आलोचना)	माधुरी	१९२८	अगस्त	५४-६२
६ काव्य-अभाकर (आलोचना)	माधुरी	१९२८	अगस्त	८३२-८३७
७ हिंदी-काव्य में नवरस,	माधुरी	१९२८		१०-१५
८ "दीनजी" की अलंकार-मजूषा,	माधुरी	१९२८	अगस्त	६०-६६ भूदेव शर्मा विद्यालंकार के नामसे ।
९ अलंकार पीयूष (आलोचना)	माधुरी	वर्ष ८	खंड २	संख्या ३ २६०-२६५
१० अलंकार-पीयूष (आलोचना)	माधुरी	वर्ष ८	खंड २	संख्या ५ ५८६-५९२
११ विद्यापति ठाकुर का एक पद्य,	माधुरी	१९३३	वैशाख सं०	१९६० वि० ५१०-५१२
१२ महाभारत,	माधुरी	१९३३	श्रावण वर्ष १३	खंड १ संख्या १ ५१-५७
१३ साकेत और रामचरित-मानस,	माधुरी	१९३६	मार्च	१७७-१८०
१४ अलंकारों का क्रम विकास,	माधुरी	१९३६	अगस्त	३-१२
१५ महाकवि कालिदास और दिङ्नाग,	माधुरी	१९३७	जुलाई	८६४-८६७
१६ काव्य में अलंकार क्या पदार्थ हैं ?	सुधा	१९३७	अगस्त	५५-५६
१७ काव्य में रस-अलंकार,	वीणा	१९३७	सितंबर	८३५-८३८ भाद्रपद १९३४
१८ लुप्तोपमा और असम,	सुधा	१९३६	सितंबर	२२५-२३०
१९ शब्दार्थ-साम्य अथवा शब्दापहरण,	माधुरी	१९३६	अगस्त	४७-५१
२० असम और लुप्तोपमा,	मराल	१९३६	दिसंबर	७ संख्या २२
२१ 'विभावना' अलंकार,	माधुरी	१९४२	अगस्त	७४-७८
२२ श्लेष अलंकार और उसकी व्यापकता,	वीणा	१९४३	मई	२६३-२६८
२३ तुलसीकृत रामायण की आलोचना,	सरस्वती	१९४३	जनवरी	१९३-१९८ पीप १९६६
२४ रामायण में इतिहास,	सिद्धांत	१९४३	सितंबर	२८ १६७-१६८
२५ तुलसीकृत रामायण और वाजपेयीजी, सिद्धांत		१९४३	नवंबर	२ २०७-२०८
२६ क्या विभावना अलंकार असकीर्ण है ?	माधुरी	१९४५	मई	४६८-४६९
२७ विभावना अलंकार,	माधुरी	१९४५	अगस्त	२०७-२०८
२८ श्री विद्याभास्करजी की मृत विभावना,	माधुरी	१९४६	जनवरी	४७६-४७७
२९ काव्य-कल्पद्रुम और विद्याभास्करजी,	माधुरी	१९४७	फरवरी	५२-५५
३० श्री विद्याभास्करजी का काव्य सर्वस्व,	माधुरी	१९४७	मई	३६६-४७२



समाहित्य

साहित्य

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्—
जगद्ग्राव प्रख्य निजरसभरात्सारयति च ।
कृमात्प्रख्यो पाख्य प्रसर सुभग भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयतात् ॥
—अभिनवगुप्ताचार्य,

कीरत मनति भूति भलि सोई ।
सुरसरि-सम सब कहै हित होई ॥
—गोस्वामि तुलसीदास,

शौरसेनी भाषा की भाषा सा परंपरा

श्री सुनीतकुमार चाटुज्या

भाषा के विषय में आज हम अनिश्चितता की कुहेलिका में नहीं हैं। जो अपरिहार्य और अवश्यभावी था, उसे हमारे राष्ट्र-परिचालकों ने मान लिया है। हर्ष है कि अब भाषे से भाषा के विषय में समस्त विवाद, विचार-वितंडा, तर्कजाल भारतीय जनता को और विभ्रान्त नहीं कर सकेंगे। निखिल-भारत की राष्ट्रभाषा के स्थान पर हिंदी प्रतिष्ठित हो गई है। जिस और प्रकृति की गति थी, वहाँ स्कावट की आकांक्षा और चेष्टा व्यर्थ हो गई है। आदर्श की प्रतिष्ठा हो गई है, एवं आदर्श-विपर्यय के डर में हम मुक्त हो गए हैं। अब हिंदी-हिंदुस्तानीवाली लड़ाई मिट गई है। पर समस्या का अंत नहीं हुआ है। जीवन तो रणागनी की समष्टि है। नई समस्याएँ हमारे दृष्टिपथ पर आ खड़ी हुई हैं। इन्हें भी हल करना हमारा महान् कर्तव्य होगा।

राष्ट्र-परिचालकों ने इस समय हिंदी को जो मर्यादा दी है, वह उसके अपने अधिकार की की स्वीकृति ही है। यह मर्यादा बहुत पहले ही हिंदी को मिलनी चाहिए थी। हिंदी का आधुनिक महत्त्व केवल इन दिनों के प्रचार का फल नहीं है। हिंदी की आत प्रादेशिकता कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों का फल है। इस समय जिनके द्वारा अपनी शिक्षा तथा बाहरी जीवन के क्षेत्रों में हिंदी व्यवहृत की जाती है, उनकी सख्या कोई चौदह करोड़ से कम नहीं होगी। आस्तवर्ष में इन चौदह करोड़ मनुष्यों को लेकर इस विशाल देश का 'हिंदी-ससार' बना है। पर यह भी विचारणीय है कि इन चौदह करोड़ों में पाँच करोड़ से अधिक लोग हिंदी को अपनी मातृभाषा के रूप में घरेलू बोली के तौर पर नहीं बोलते। अधिक से अधिक पाँच करोड़ मनुष्य उन बोलियों को (जिन्हें शास्त्रीय दृष्टि से हम 'पछाई हिंदी' बोलते हैं और जो हिंदी की जड़ हैं) मातृभाषा के रूप में बोलते हैं, जैसे—दिल्ली की खड़ी बोली, मेरठ-रोहिलखंड आदि स्थानों की 'जानपद हिंदी', बगैर (जादू या हरियाली), ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली। इन सबों के लिए हिंदी अपने पितृ-पुरुषों से प्राप्त 'मिरास' या 'रिक्च' है। इनके अतिरिक्त 'हिंदी-ससार' के अवशिष्ट ती करोड़ लोग घर में और भाषाएँ बोलते हैं, जैसे हिंदकी पंजाबी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, विभिन्न राजस्थानी बोलियाँ तथा मालवी, कोसली या पूर्वी हिंदी, भोजपुरी, सयानी या छोटा नागपुरिया, मगही और मैथिली। परंतु हिंदी को इन्होंने अपनाया है, हिंदी के सिवा इस समय इनका ध्यान और दूसरी किसी भाषा या बोली पर नहीं है। हम जो 'हिंदी-ससार' के साथ अंतरण नहीं बने, पर हिंदी से जिनका सहयोग और साहचर्य वनिष्ठ रूप से है—अर्थात् गुजराती, मराठी, उडिया, बँगला, आसामी आदि स्वतंत्र भाषाओं के बोलनेवाले उनके लिए ऐसी परिस्थिति कुछ आश्चर्यजनक है। पर यह बात पृथ्वी में कोई नई या असामान्य नहीं है। भाषा मुख्यतः संस्कृति का प्रकाश-क्षेत्र है। सांस्कृतिक संयोग या प्रभाव के कारण पड़ोस की भाषा का असर अक्सर किसी भाषा पर आ पड़ता है, खास करके जहाँ के शिक्षित लोग अपनी मातृभाषा के सवध में उदासीन रहते हैं, या एक या एकाधिक ऐतिहासिक कारणों से जहाँ के जन-समाज के परिवालक-स्वल्प उच्च वंश के मनुष्य अपनी खास प्रातीय जनता की भाषा छोड़ कर और किसी नजदीक की भाषा की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे हिंदी के दो रूप ब्रजभाषा और खड़ीबोली का गहरा प्रभाव पंजाब तथा राजस्थान एवं पूर्व अर्थात् कोसल की बोलियों और बिहार-भास की बोलियों पर आ गया है, यहाँ तक कि

इन सब जगहों के लोगो ने हिंदी को साराह अपना लिया है। यह सांस्कृतिक इतिहास है। अस्तु, इतिहास जो हो सो हो, पर यह बात है कि पंजाबी (कुछ सिक्ख पंडितों की कुछ छोड़ कर), राजस्थानी, कोसली, गढ़वाली, कुमाऊँनी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि भाषाओं के बोलनेवाले बड़े अभिमान के साथ अपने को हिंदी-भाषी कहते हैं, और पछाही हिंदी बोलनेवालों से भी ज्यादा जोश के साथ हिंदी की सेवा में आत्म-नियोजित हुए हैं। यह तो सच ही है कि हिंदी के प्रसार के लिए भोजपुरी, मैथिली, मगही और कोसली बोलनेवालों ने, राजस्थानी और पंजाबी बोलनेवालों ने, जो अनमोल काम किया है, वह आधुनिक भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक बड़ी भारी लक्षणीय वस्तु है।

हिंदी-संसार के अलावा—अर्थात् पछाही हिंदीवालों और उनके साथ ही हिंदी को अपनाए हुए लोगो के अलावा भारत के 'आर्य-संसार' या आर्य-भाषी जनो की संख्या बारह करोड़ होगी। 'हिंदी-संसार' के चौदह करोड़ और गैरहिंदी आर्य-भाषियों के बारह करोड़, समूचे में छत्तीस करोड़ मनुष्यों में हिंदी भाषा किसी न किसी रूप में चालू है। हिंदी-संसार के बाहर के आर्य-भाषी लोगो की स्वाभाविक और सहज आत-प्रादेशिक भाषा हिंदी ही है। भारत के छत्तीस करोड़ आर्य-भाषियों में (जो समय-समय पर बदलती जाती हैं) हिंदी की प्रतिष्ठा है। संख्या के विचार से हिंदी पृथ्वी की तो तीसरी भाषा है। उत्तरी चीनी और अंग्रेजी इन दोनों के बाद हिंदी का स्थान है। हिंदी के पीछे हमें इन भाषाओं को मानना पड़ेगा—रूसी, जर्मन, जपानी, हिस्पानी, बंगाली और फ्रांसीसी। संस्कृति की दृष्टि से फ्रांसीसी की जो गरिमा है, वह आधुनिक जगत् में न रूसी की है, न चीनी की और न हिंदी की। पर इसे संस्कृति-वाहिनी, आधुनिक भाषाओं में एक मुख्य भाषा बनाने की जिम्मेदारी हम भारतीयों की ही है, क्योंकि आधुनिक भारत की यह भाषा अपनी संख्या और अपने स्तर वैश्विक के कारण प्रतिभू-स्थानीय भाषा बनी है। इसे अपने बहुत प्रचार के कारण तथा सहज-बोधता के कारण हम 'समानानु प्रथमा' मानते हैं।

हिंदी भारतीय जनता के कल्याण के लिए एक महत्वपूर्ण साधन है। उत्तर-भारत को छोड़ दीजिए। दक्षिण-भारत की आम जनता के कुछ लोग शहरों में अंग्रेजी बोल लेते हैं, यह सच है, परंतु उत्तर-भारत की आधुनिक भाषाओं में यदि कोई भी भाषा सब से अधिक लोगो की समझ में आती है, तो वह हिंदी ही है। निखिल भारतीय जनो के लिए जो तीर्थ-स्थान बने हैं, ऐसे मंदिर या क्षेत्र—जैसे तिरुपति या वालाजी, मधुरा, श्रीरंगम, सेतुबंध रामेश्वर, कन्याकुमारी, तिरुवनंतपुरम, मैसूर, श्रवण-बेलगोला इत्यादि स्थानों में हिंदी बोलनेवाले पंडे, दुकानदार, व्यापारी, होटल-वाले आदि बहुत से मिलेंगे। भारत के दूसरे अनार्यभाषी लोगो में भी हिंदी का ही प्रचार विस्तार होता है। अपने देश से प्रेम रखनेवाले, जो भारतीय राष्ट्र को एक और प्रखंड मानते हैं, वे अवश्य स्वीकार करेंगे कि हमारी राष्ट्रीय, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक एकता के लिए हिंदी भाषा एक बड़े भारी कार्य का साधन है—यहाँ तक कि मैं इस खंड, छिन्न और विलिप्त देश में—तो, संस्कृत के बाद हिंदी को ही ईश्वर के आशीर्वाद-स्वरूप मानता हूँ। हमारे इस विराट् विशाल देश में—जो अपने आयतन में रूस को छोड़ कर सारे योरोप-खंड के समान है और जहाँ एक दर्जन से अधिक बड़ी-बड़ी भाषाएँ चालू हैं, और विरोधी मनोवृत्ति तथा भारत-विरोधी जनो के कथनानुसार जहाँ कई सौ भाषाएँ और उप-भाषाएँ चालू हैं—वहाँ हिंदी ही के द्वारा हमें भाषा-संकट से छुटकारा मिल गया है। इंग्लैण्ड और फ्रांस में केवल ३० मील की इंग्लिश चैनल का व्यवधान 'डोवर' और 'कैले' बंदरगाहों का अंतर है, पर अंग्रेज जब इंग्लैण्ड से फ्रांस आता है तब वह दुस्तर भाषा-संकट में पड़ जाता है। फिर कई मीलो के बाद पच्छिमी वेल्जियम में फ्लेमिश भाषा मिलती है, और फिर जर्मनी, जहाँ की भाषा फ्रांसीसी से भी एकदम अलग है। जिसे अच्छी तरह से इन तीन-चार भाषाओं का ज्ञान न हो, उसके लिए योरोप की सैर में बड़ी विपत्ति होती है। पर हमारे भारत में—विशेषतः उत्तर-भारत में—भाषा की चिंता हमें नहीं होती। कोई बंगाली बंदई आने, या कोई सिन्धी, गुजराती, महाराष्ट्र या

आसाम तक जाय, तो वह कभी भी भाषा के संबन्ध में सोचता ही नहीं। दूरी-फूटी बाजार हिंदी के सहारे हम कश्मीर और पेशावर तक आसानी से काम चला सकते हैं। अखिल-भारतीय राष्ट्रीय एकता का एक मुख्य प्रतीक हमारी हिंदी भाषा है। इस विचार को हमारे देश के लोगों ने निःशब्द भाव से मान लिया है कि जो केवल अपनी प्रातिक भाषा जानता है, वह प्रादेशिक और सीमित रह जाता है, और जिसका हिंदी से परिचय है, वह सचमुच निखिल-भारतीय बन जाता है।

हिंदी के इस सर्वजन-स्वीकृत अखिल-भारत-व्यापी प्रभाव का ऐतिहासिक कारण क्या है? हिंदी का अपना देश है—आधुनिक पूर्वी पंजाब और पश्चिमी समुद्र या उत्तर-प्रदेश। इस स्थान का प्राचीन नाम है 'मध्यदेश'। कुरु-पांचाल राष्ट्र या कुशक्षेत्र-मंडल यह तो इस मध्यप्रदेश का ही एक अंग है। ईसा के जन्म के पूर्व की पहली सहस्राब्दी के आरम्भ में मध्यप्रदेश आर्यभाषामय भारत का केंद्र था। इसके पूर्व में थे 'प्राच्य' या पूरव के देश, कोसल या अवध, काशी या भोजपुर-प्रदेश, विदेह या उत्तर-विहार, और भगव अर्थात् मगही-भाषा का प्रात, पश्चिम और उत्तर में था 'उदीच्य' देश—मद्र या उत्तर-पंजाब, कंकय और गांधार या पश्चिम-पंजाब, और दक्षिण में थी राजपूताना की मरभूमि। इस मध्यदेश को, जो भारतीय आर्य नया आर्य-पूर्व (द्राविड, निषाद और किरात) जातियों के सांस्कृतिक मिश्रण का केंद्र था, हम हिंदू-ब्राह्मण सभ्यता का भी केंद्र या जन्मभूमि कह सकते हैं। इसी प्रात में ईसा के जन्म के पूर्व लगभग दसवीं शती में मिश्र-आर्यनार्य संस्कृति ने अपना विशिष्ट रूप प्राप्त किया था। इसलिए इस देश का एक खास महत्त्व सबों ने माना है। इसी स्थान पर महर्षि वेदव्यास ने ब्राह्मणों के मुह से सुने गए चार वेदों की संहिताओं का संग्रह किया था और आर्यों तथा भाषा के अनुसार द्राविड, निषाद, किरात आदि अनार्यों की पुराण-कहानी का संग्रह करना शुरू किया था। इसी जगह पर श्री कृष्ण बासुदेव ने अपनी शिक्षा का प्रचार किया था, जिसमें हिंदू चिन्ता-धाराओं का एक महान् समन्वय सामने आया। 'निगम' अर्थात् वेद और 'आगम' अर्थात् वेद-ब्राह्म तन्त्रादि शास्त्र, इन दोनों की उपासना-रीति अलग-अलग थी। वेद-मार्ग में अग्नि द्वारा हुवन और देवताओं के उद्देश्य से पशुओं के भास-भेदादि की आहुति दी जाती थी, और तत्र या आगमिक मार्ग की पूजा-रीति में देवता की मूर्ति पर या दूसरे प्रतीक पर फूल, पत्ते, फल, चावल, पानी, खाद्य मिठाई (नैवेद्य) आदि चढाए जाते थे। इन दोनों को एक साथ मिला देने की सार्थक चेष्टा कृष्ण बासुदेव ने ही की थी। भारतीय सभ्यता ने आर्यों के आगमन के बाद वेद, पुराण और गीता को लेकर, मध्यदेश ही में अपनी खास विशिष्टता प्राप्त की थी। मध्यदेश की संस्कृति अखिल आर्य प्रातों की एकमात्र संस्कृति बनी और यहाँ के बौद्धिक नेताओं की विद्वत्ता, लोक-परिचालन-शक्ति प्रभृति गुणों के कारण यहाँ के लोगों की भाषा सभी आर्य-भाषियों के लिए एक प्रामाणिक भाषा मानी गई। केन्द्रीय स्थान की भाषा होने के कारण दूर-दूर के प्रातों के लोग इसे ही समझ सकते थे। पर इनमें एक प्रात के लोग सुदूर प्रातों की बोली समझने में कठिनाई अनुभव करते थे। पश्चिम-पंजाब या महाराष्ट्र के आर्य-भाषी लोग पूरव के विहार-प्रात के आर्य-भाषी की बोली को दुर्बोध्य समझते हैं, और वैसे अतीत में भी समझते थे; पर बीच की बोली होने के कारण मध्यदेश की बोली का सब कोई पीढ़ी-दर-पीढ़ी अच्छी रीति से उपयोग करते आए हैं और करते हैं। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के इतिहास के प्राथमिक या आरम्भिक युग में इस मध्यदेश में प्रचलित संस्कृत भाषा ही हमारी सभ्यता या संस्कृति का अनमोल प्रकाश-स्तम्भ या माध्यम बनी। पंजाब और मध्यदेश से यह नवीन हिंदू सभ्यता जब समग्र उत्तर-भारत में फैली, तब से संस्कृत भाषा इसका माध्यम या वाहन बनी। हिंदू-सभ्यता का वाहन और साथ ही इसका प्रतीक बन कर यह संस्कृत भाषा समग्र भारत भूमि पर फैल गई, और साथ ही मध्यदेश की यह भाषा यथा-समय सब लोगों से अपनाई गई। पिछले काल में संस्कृत परिवर्तित होकर प्राकृतिक और अपभ्रंश में रूपांतरित हो गई। परन्तु मध्यदेश की प्राकृत, जो संस्कृत का ही परिवर्तित रूप थी, संस्कृत की ही राह पर चली। बुद्धदेव के समय में, अर्थात् ईसा के पूर्व की सहस्राब्दी के मध्यभाग में, संस्कृत

जब (खास कर के प्राच्य देश या पूरब में) कुछ पुरानी और अप्रचलित होनेवाली हो गई, तब बौद्ध और जैन धर्म-नेताओं ने जनता की लोकभाषा प्राकृत को साहित्य की भाषा के रूप में अपनाया। इसका फल यह हुआ कि ग्राम लोगों में चालू मौखिक या घरेलू बोलियों में साहित्य-सर्जना का आरम्भ हुआ। यो जैनों और बौद्धों के अपने-अपने धर्म-स्थापकों के उपदेश की भाषा पूर्वी प्राकृत में उच्च कोटि का दर्शन और विचार-मूलक साहित्य बन गया। महावीर स्वामी की जीवन-कथाओं और उनके उपदेशों के आधार पर जो लोकभाषामय नया साहित्य बन गया, वही अविध्य काल में कुछ परिवर्तित होकर हमारे सामने अत में जैन अर्ध-मागधी साहित्य के रूप में विद्यमान है। यह जैन अर्धमागधी महावीर स्वामी के समय की पूरब की भाषा का उत्तर-कालीन कुछ-कुछ परिवर्तित निदर्शन है। बुद्धदेव ने तो साफ-साफ कह दिया था कि अपने उपदेश लोग अपनी-अपनी खास भाषाओं या बोलियों में सुने। उनकी शिक्षा पहले-पहल मगध की बोली में ही दी गई थी। शिक्षापदों का पहला संग्रह इसी प्राच्य या पूरब की मागधी भाषा में हुआ था। पर तुरन्त बुद्ध-वचनों के विभिन्न अनुवाद विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में होने लगे। निदान यह हुआ कि मूल बुद्धोपदेश, जो कि मागधी में सब से पहले लिखित हुआ था, इस समय संपूर्णतया अवलुप्त हो गया है। पर इसके अस्तित्व के कुछ प्रमाण हमें मिलते हैं। इधर अशोक की धर्म-लिपि (इस अवलुप्त बुद्धवचन) से दो-चार वाक्य मिल गए हैं, उधर दूसरी प्राचीन शिला-लिपियों के कुछ शब्द और वाक्य तथा पालि में उपलब्ध बौद्धग्रंथों में कहीं पालि के अंतराल में उसके पहले की पूर्व प्राकृत में लिखे गए मूल-स्वरूप बौद्ध शास्त्र की भाषा के कुछ शब्द-रूप और दूसरे चिह्नावशेष मात्र मिले हैं। हमें अब पता चला है कि प्राचीन भारत में बुद्धवचन के कम से कम तीन अनुवाद हुए थे—एक पालि में, दूसरा बौद्ध संस्कृत में और तीसरा उदीच्य या उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित प्राकृत में (जिस प्राकृत को हम 'गांधारी' प्राकृत कह सकते हैं)। इतनी तीनों के प्रतिरिक्त प्राच्य भाषा में लिखा हुआ मूल बुद्धवचन या बौद्धशास्त्र तो था ही। उदीच्य की बोली में लिखी गई बुद्धवचन की पुस्तकें न केवल आजकल के पंजाब, कश्मीर और सीमांत-प्रदेश में चालू थी, पर उन प्रांतों से सब मध्य-एशिया में भी फैल गई थी, जहाँ उदीच्य के लोग भारतवर्ष से आये संस्कृति तथा भाषा लेकर कुस्तन (खोतन) आदि नगर बना कर बस गए थे। मध्य-एशिया के सहरो में से इस उदीच्य प्राकृत में लिखे हुए बौद्ध शास्त्र-ग्रंथों के कुछ प्रश्न मिले हैं। उनसे इस लुप्त साहित्य की सूचना मिलती है। संस्कृत में अनुवाद किए बौद्ध शास्त्रों का बहुत प्रश्न नेपाल के बौद्धों ने बड़े ही यत्न के साथ संरक्षित किया है। वह हमें प्राप्त हुआ है। पालि-भाषा में जो अनुवाद हुआ था वह सिंहल के बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अबतक सुरक्षित होकर चला आया है। सिंहल से हीनयान मत के बौद्धों के शास्त्र के रूप में यह पालि-अनुवाद वर्मा, कंबोज और स्याम में लाया गया। वहाँ के भिक्षुओं में यह पालि-शास्त्र अब भी जीवित है। हीनयान मत के वैरवाद या स्वविरवाद संप्रदाय के बौद्ध लोगों ने आग-वर्ष ही में इस पालि अनुवाद को जलाया था। कब और कहाँ? इसका स्थिर निश्चय अब तक नहीं हुआ। पर जहाँ तक हमें पता चला है, हमारा विचार यह है कि यह अनुवाद मध्यदेश की प्राकृत के बोलनेवाले बौद्ध गुरुओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। महाराज अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री तपस्विनी का जन्म मालव-देश के एक प्रधान नगर विदिशा में हुआ था। उनकी माँ देवी नाम की तट-धर की बेटी अशोक से ब्याही गई थी, जिस समय राजकुमार अशोक अपने पिता मौर्य सम्राट विट्ठलर अभिशेक के प्रतिनिधि बन कर मालव-सूते का शासन करते थे। बचपन में राजघराने के दो बड़े भाई-बहन विदिशा में ही पालित हुए थे। वहाँ की बोली, जो मध्यदेश की ही प्राकृत थी, इनकी अपनी भाषा बनी। अपने पिता अशोक की घरेलू बोली उनसे दूर रहने के कारण इनकी बोली नहीं हो सकी। बुद्ध-वचन इन्होंने इसी मध्यदेश की भाषा में ही पढ़े, और जब बाद में अशोक ने स्व-प्रचार के लिए अपनी पुत्री और पुत्र को लका दीप भेजा, तब वे जो बुद्धशास्त्र वहाँ में साथ लाए वह मध्यदेशीय प्राकृत ही में लिखा हुआ था। पिछले समय उनका नाम बना पालि। पर निम्न के

विश्वामित्रों का उत्तर-भारत की भाषा-विषयक हालत से कुछ भी परिचय नहीं था। वे जानते थे कि बुद्धदेव मगध के थे, और प्रातीय मागधी प्राकृत में उपदेश किया करते थे। और मगध से मौर्य सम्राट् के द्वारा प्रेषित होकर मगध ही से शास्त्र लेकर जब राजघराने के प्रचारक आए, तो उनके लाए हुए शास्त्र की भाषा मागधी के सिवा और हो ही क्या सकती थी? यो तो गलती से सिंहल के पालि-शास्त्र की भाषा का 'मागधी' नाम हुआ, पर प्राकृत भाषा-तत्त्व की एक साधारण बात यह है कि पालि का मेलजोल उस मागधी प्राकृत से बिल्कुल नहीं है, जिस मागधी प्राकृत के व्याकरण तथा कुछ निदर्शन मिले हैं। इसका सादृश्य पुरानी 'शौरसेनी' प्राकृत ही से है। अब हम कह सकते हैं कि बौद्ध साहित्य की एक ग्रीव भाषा पालि मध्यदेश की प्राकृत शौरसेनी के प्राचीन रूप पर ही आधारित है। संस्कृत नाटकों से हमें पता चलता है कि ईसा के आसपास की शक्तियों में जितनी प्राकृत या आर्य लोक-भाषाएँ उत्तर-भारत में चालू थीं, उनमें शौरसेनी प्राकृत—यानी मध्यदेश के अंतर्गत शूरसेन या ब्रजमंडल की प्राकृत सब प्राकृतों में उन्नत, शिष्ट और भद्र मानी जाती थी। जहाँ नाटकों के पात्रों को अपने अभिजात्य के कारण संस्कृत ही में बोलना चाहिए था, वहाँ नारी या शिशु होने के कारण जिनसे संस्कृत बोली नहीं जाती थी, वे सहज रूप में शौरसेनी प्राकृत ही बोलते थे। ऐसे ही जब प्राकृत परिवर्तित होकर अपभ्रंश की अवस्था में आ पहुँची, तब भी हम देखते हैं कि और सब प्रातीय अपभ्रंशों का शौरसेनी या मध्यदेशीय अपभ्रंश के सामने कोई भी मर्यादापूर्ण स्थान नहीं था। लगभग ८०० ईस्वी से शुरू कर १२००-१३०० तक शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो 'नागर अपभ्रंश' भी कहलाने लगी, उत्तर भारत में एक विराट् साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। संस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रंश ही का स्थान उस समय था। विभिन्न प्रातीय अपभ्रंश भाषाएँ थी तो सही, पर उनमें साहित्य-सर्जना मानो नहीं होने के बराबर ही थी। चार-छ सौ वर्षों तक सिंधु-प्रदेश से पूर्वी-बंगाल तक और कश्मीर, नेपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र और उड़ीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था। राजपूत राजाओं का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है। पर मेरी राय में इससे उत्तर-भारत का एक साधारण भाषा-साध्य या भाषा-विषयक सहज-बोधता भी प्रमाणित होती है। शौरसेनी अपभ्रंश में सिंध, महाराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर, विहार, और बंगाल तक के कवियों के पद और दूसरी कविताएँ मिली हैं। साथ ही किसी-किसी प्रांत में प्रातीय भाषाओं की उत्पत्ति के समय इनमें भी स्थानीय कवि लोग रचना करते थे—जैसे बंगाल और मिथिला में। पछाह-खंड में, जो कि शुद्ध हिंदी का अपना देश है, और मालव, राजस्थान तथा गुजरात में तो शौरसेनी अपभ्रंश की निजी मृत्ति ही थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि लगभग ८००-१००० ईस्वी में किसी उत्तर-भारतीय आर्यभाषी को यदि देशाटन करना और साथ-साथ साधारण जनो तथा शिष्ट जनो से मिलना होता था, तो संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी अपभ्रंश के सिवा उसका काम ही नहीं चलता था। यह सच है कि शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनों की प्रात प्रादेशिक भाषा ही थी और आजकल की ब्रजभाषा, खड़ी बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिंदी का उद्भव इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है। अब की तरह एक हजार वर्ष पहले हिंदी ही अपने पूर्व रूप में प्रात प्रादेशिक भाषा के रूप में अखिल उत्तर-भारत पर फैली थी और तमाम आर्य-भाषी लोगों में पढ़ी-पढ़ाई और लिखी जाती थी। इस तरह मध्यदेश की ही भाषा सिलसिलेवार विभिन्न युगों में भारत की मुख्य राष्ट्रिक तथा सांस्कृतिक एवं एकमात्र प्रात प्रादेशिक भाषा (संस्कृत के बाद यह तो मानना ही है) बन कर चली आई है। इसका सांप्रतिक इतिहास और भी स्पष्ट है। यद्यपि बीच की कुछ बातें हमारे लिए व्यास-कूट या संशयमय बन रही हैं। विदेशी तुर्कों लोगों ने मुसलमान-धर्म लेकर जब भारत पर चढ़ाई की और हिंदू-भारतीयों को हराकर उत्तर-भारत के राजा बने, तब उत्तर-भारतीय आधुनिक भाषाएँ अपने-अपने सूतिकागार में थी। पड़ितों में शिष्ट भाषा, ज्ञान-विज्ञान के लिए प्रात प्रादेशिक काम-काज की भाषा तो संस्कृत थी, पर जनता में शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रचलन था। शौरसेनी अपभ्रंश मौखिक

चालू बोलियों के मकाबले कुछ प्राचीन भवन-ग्रन्थ थी। फिर मुसलमान राज्य कायम होने का पहला फल यह हुआ कि राजपूत हिंदू-राजाओं की समाधियों में अपभ्रंश के लेखक और कवियों को जो पृष्ठ-पोषकता मिलती थी, मुसलमान सुल्तानों के दरबारों में वह क्षतम हो गई। डचर लोक-भाषाओं के प्रकट होने का समय आया। मुसलमान राज के पहले दो शताब्दी तक नवीन लोक-भाषाएँ बच्चों की तरह पद-स्खलन करती हुई आगे बढ़ी। हिंदू-जनता और हिंदू-राजाओं को इन नवीन लोक-भाषाओं ने अपने वश में कर लिया। अपभ्रंश को अब ज्यादातर जैन संस्थाओं के पंडित और साधु लोगों के पास ही आश्रय मिला। पर धीरे-धीरे अपभ्रंश के दिन लद चुके थे। पंजाबी (पश्चिमी और पूर्वी), सिंधी, मारवाड़ी, गुजराती, ब्रजभाषा, कोसली (या वैसवाड़ी), मैथिली, बँगला, उडिया, आसामी, मराठी आदि सब बोल-चाल में अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हुईं, और इनमें कुछ भाषाओं के लिए कवि लोग भी सचेत हुए एवं अपनी मातृभाषा समझ इन्हें भी प्रीति-भरी दृष्टि के साथ देखने लगे। जैसे बगदेश के एक अज्ञातनामा कवि ने, जो सिर्फ 'बंगाल कवि' नाम से परिचित है, ईस्वी १२०० वर्ष से पहले ही अपनी मातृभाषा के संबंध में 'सद्बुक्ति-कणमुत' नाम की श्लोक-संग्रह पुस्तक में जो कि १२०५ ईस्वी के आस-पास बंगाल के प्रतिम हिंदू राजा लक्ष्मण सेन की सभा में अवस्थित पंडित और धर्मात्य शीवर-दास द्वारा बनाई गई थी, यह कविता लिखी है—

“वनरसमयी गैरीरा वकिमसुभगोपजीविता कविभिः।

अवगाढा च पुनीते गया बंगाल वाणी च ॥”

अर्थात् गया तथा बगवाणी, इन दोनों में अवगाहन करने से वे मनुष्य को पवित्र कर देती हैं। गया प्रचुर जलमयी है, बगभाषा नाना काव्य-रस से भरी है, गया गहरी नदी है, बगभाषा अर्थ या भाव-भरी है, गया नदी टेढ़ी-बाँकी रीति से प्रवाहिता है, सुंदर है और कवियों के द्वारा वर्णित है, और बँगला भाषा में बाँकापन या सावलील सौंदर्य है—यह भाषा सुंदर है, बहुत से कवि लोगों ने इसमें लिखा है और अब भी लिखते हैं।

यो बँगला, मैथिली, उडिया, कोसली, ब्रजभाषा तथा प्राचीन राजस्थानी-गुजराती और मराठी के साहित्यिक भव्यावा मिली, पर अपभ्रंश का पुराना स्थान रातो-रात नहीं मिटने का था। अखिल-भारत पर उसका प्रभाव चलता ही रहा। धीरे-धीरे मध्यदेश की दो भाषाएँ अपभ्रंश की बाहिर-बनी—आगरी मधुरा और खालियर की ब्रजभाषा और दिल्ली की खड़ी बोली। वैसवाड़ी या कोसली को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला, जो भाषा मध्यदेश से संपर्कित ग्रयोष्या में चालू थी। मध्ययुग के उत्तर-भारत के साहित्यिक इतिहास में ब्रजभाषा का स्थान सबको विदित है। ऐसा जँचता है कि अपनी बेंटी ब्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला, नये आयुकाल को उसने प्राप्त कर लिया। उधर बंगाल से लेकर महाराष्ट्र और पश्चिम-पंजाब तक ब्रजभाषा कविता संगीत और राष्ट्रीय-विषयक वैष्णव शास्त्र-ग्रंथों की आशा बनी। बंगाल के कवियों की लिखी ब्रजभाषा कविता मिली है, जैसे शौरसेनी अपभ्रंश की। कवि भूषण ने अपनी ओजसवी ब्रजभाषा में महाराष्ट्र-कुल-भूषण हिंदू-तिलक श्री शिवराज की प्रशंति की, जो शिवाजी महाराज के लिए उद्दीपनामय अनुप्राणना बनी। मराठे 'पोवाडा' या युद्धगीत के लेखक लोग भी कभी-कभी ब्रजभाषा या दूसरी मध्यदेशीय भाषा का व्यवहार करते थे। सिक्ख गुरुओं के धर्मोपदेश की भाषा तो अपने मूल में ब्रज और खड़ी बोली ही है। उसमें जो पंजाबीपन दिखाई देता है, वह केवल स्थानीय भाषाओं के अंतर या प्रभाव के तौर पर। तुर्क और पठान सुल्तानों के राज्यकाल में, दिल्ली में और उसके बाद अकबर बादशाह के समय में आगरे में जब मुसलमान सल्तनत की राजधानी प्रतिष्ठित हुई और बाहिर जब दिल्ली फिर पायस्त बनी, तब ब्रजभाषा और दिल्ली की खड़ी बोली, हिंदी के ये दो रूप उत्तर-भारत में फिर प्रतिष्ठित हुए। उधर ईस्वी १५ वीं शताब्दी में सत कबीरदास की रचनाओं में दिल्ली की खड़ी बोली को स्थान मिला, कभी शुद्ध रूप में, कभी ब्रजभाषा से मिले-जुले रूप में। दक्षिण-

ही एक शाखा ईस्वी १४ वीं शती से प्रतिष्ठित हुई और उसके सहारे १६वीं शती की या 'दक्कनी' भाषा और साहित्य की नींव डाली गई। फिर इसी दक्कनी के प्रभाव में १८वीं शती के मध्य भाग में 'मुसलमानी हिंदी' या उर्दू की प्रतिष्ठा हुई। इसके सन् १८०० में कलकत्ते में हिंदी-उर्दू दोनों ने आधुनिक उत्तर-भारत के साहित्यिक तथा जीवन में अपने स्थान बना लिये, और आजकल की 'साधु' या मधुसूदनी की हिंदी का प्रसार होने लगा। धीरे-धीरे शिक्षा के विस्तार के साथ ही साथ पछाह के बाहर पंजाब, जस्थान, मालवा, बिहार, मध्य-प्रदेश आदि प्रांतों में एक विराट् नया 'हिंदी-संसार' १९ वीं शती आरंभ से तैयार होने लगा।

हिंदी अब अपने प्रसार के कारण मध्यदेश की भाषा के गौरवमय इतिहास की नये तौर पर राक्षिकारिणी बनी। मध्यदेश का प्राचीन गौरव और उस स्थान की आधुनिक भाषा की सख्या-युक्तिता दोनों एकत्र हो गए। अखिल-भारत की अखंडता के सम्बन्ध में हमारे राजनीतिक तथा सांस्कृतिक नेता लोग बड़े जोर के साथ सोचने लगे—खास करके बंगाल के कुछ प्रख्यात बौद्धिक नेता। उन्होंने हिंदी को भी अखिल भारतीय ऐक्य के संगठन की दृष्टि से देखा, और भारत के आयदा युग के इतिहास में हिंदी के स्थान और हिंदी द्वारा होनेवाली एकता बढ़ने की सम्भावना पर उन्होंने दूर-दृष्टिसंपन्न भविष्यवादी की नजर से देखा। यो ईस्वी सन् १८७५ में बंगाल में केशवचन्द्र सेन ने अपने समाचार-पत्र में 'हिंदी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्र भाषा बनने के योग्य है', इस विषय पर निबन्ध लिखा। सन् १८७७ ई० में बकिमचन्द्र चाटुर्ज्या द्वारा संपादित 'बंग दर्शन' पत्रिका में, राष्ट्रीय ऐक्य के क्षेत्र में हिंदी की उपयोगिता के विषय में निहायत अनुकूल एक लेख निकला था, जो निश्चित रूप से स्वयं बकिमचन्द्र का अनुमोदित था। गुजरात प्रांत से आए हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अपनी अनमोल सेवा कर श्रीगणेश इसी समय से कर दिया था, जिसने पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थान में बड़ा ही काम किया। १८०२ में राज नारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुखुर्ज्या ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र में बाँधने के लिए हिंदी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्ज्वल वकालत की। सन् १९०५ से जब बंगाल में वग-भग के बाद स्वदेशी आंदोलन का आरम्भ हुआ, जिसके साथ हमारे स्वाधीनता संग्राम की नींव पड़ी, उस समय कालीप्रसाद 'काव्य-विशारद' जैसे कुछ बंगाली नेताओं ने हिंदी के पक्ष में प्रयत्न किया कि हिंदी के सहारे जनता में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आकांक्षा फैलाई जाय। फिर १९२० के बाद गांधी जी राष्ट्र-संग्राम के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और हिंदी को उन्होंने भारत के राष्ट्रीय और प्रांत-प्रादेशिक जीवन में फौरन अपना यथायोग्य स्थान दिया। कुछ वर्षों तक हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी मामले के कारण देश में आदर्श-विपर्यय आ गया। बहुत से लोग विभ्रान्त हो गए पर अब अत मे यह आवर्त आत हो गया और हिंदी अपने अधिकार से "समानासु प्रथमा" मानी ही गई है।

ऐसे भारत में आर्य भाषा के इतिहास की पर्यालोचना करते हुए हम देखते हैं कि हिंदी कम से कम तीन हजार वर्षों की एक चारा—एक सिलसिले—के अंत में आ रही है। हिंदी एक प्रवाह या परंपरागत वस्तु है, अचानक सामने आकर खड़ी हुई कोई नई चीज नहीं है। मध्यदेश की भाषा-परंपरा में निम्नलिखित चारा के अनुसार हिंदी को अत प्रादेशिकता की मर्यादा मिली है (१) संस्कृत, (२) प्राचीन शौरसेनी, जिसका एक साहित्यिक रूप है 'पालि', (३) शौरसेनी प्राकृत, (४) शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसी का रूप-भेद नागर अपभ्रंश, (५) राजस्थान की 'पिंगल' भाषा तथा 'दुर्लामी ब्रजभाषा', (६) मध्यकालीन ब्रजभाषा, ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली मिश्र बोली, (७) दक्कनी, (८) दिल्ली की खड़ी बोली, (९) आधुनिक नागरी हिंदी और उसका मुसलमानी रूप उर्दू, जिस उर्दू को अपनी स्वाभाविक गति मिलेगी—'सागरे मिलावत सागर-लहरी-समाना'—शुद्ध हिंदी ही के भाग में इस मुसलमानी हिंदी यानी उर्दू की लहर मिल जायगी।

यह तो हिंदी का बाहरी इतिहास है। भारत के गौरव के साथ ही साथ यह इतिहास और भी गौरवमय बनेगा। भारत के दो-तिहाई से अधिक लोगो में तो हिंदी किसी न किसी रूप में चालू है ही, पर समग्र भारतीय जनता के लिए भी हिंदी ही गृहीत होनेवाली है। अंतर्राष्ट्रीय राष्ट्रनीति के क्षेत्र में भारत का महत्त्व बढ़ता जाता है। इसी के साथ-साथ भारत की राष्ट्रभाषा का महत्त्व भी बढ़ेगा। विश्व-राष्ट्रसंघ में इस समय सत्कार की जो प्रमुख भाषाएँ मानी गई हैं, वे पाँच हैं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, हिस्पानी, रूसी और चीनी। हमारी राय में भाषा-भाषियों की संख्या के हिसाब से इनमें हिंदी को भी स्थान मिलना चाहिए। हमारा विश्वास है, एक दिन वह मिलेगा भी। परंतु इस दायित्वपूर्ण परिस्थिति के लिए हमें तैयार होना चाहिए।

यह सच है कि इस समय अहिंदी प्रांतों के लोगों के लिए, जिनमें बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू आदि साहित्य-समृद्ध भाषाएँ चालू हैं, सिर्फ राष्ट्रीयकरण के सिवा अर्थात् राजनीतिक ऐक्य में सहायक होने के सिवा हिंदी के प्रति और कोई आकर्षण नहीं है। इनके लिए हिंदी भव तक संस्कृतिवाहिनी भाषा नहीं बन सकती। राजनीतिक आवश्यकता को छोड़ देने से बहुतेरे अहिंदी-भाषियों के विचार में हिंदी अनावश्यक है। हिंदी जिनकी मातृभाषा है, या जिन्होंने हिंदी को अपनाया है, उनको इस बात पर गौरव करना चाहिए। जिससे हमारी मानसिक और आत्मिक पुष्टि हो, रस-साहित्य के पर्याप्त परिमाण में नहीं होने से हिंदी लोकार्कषक नहीं होगी। हम अहिंदी-प्रांतों के लोगों का सहज अधिकार तो इस विषय में है नहीं, हिंदी हमारी पूर्व-मुखागत मिरास या रिश्त तो है नहीं, अतएव अपनी-अपनी मातृ-भाषा छोड़ कर हिंदी में साहित्य सर्जना की शक्ति हमें मिलनी अप्रसाधारणतया कठिन होगी। पर हम मामूली तौर पर कुछ ज्ञान या विद्या तो यथाशक्ति हिंदी के माध्यम से परोस ही सकते हैं। हिंदी को सूचनात्मक साहित्य के योग्य भाषा बनाने के लिए कुछ जिम्मेदारी, कुछ अधिकार, कुछ शक्ति, हम अहिंदी बोलनेवालों में अवश्य है। यदि न हो, तो इसके लिए हमें योग्यता का अर्जन करना होगा। हमारे इस विषय पर दत्त-चित्त होने से अखिल-भारत का कल्याण ही होगा।

और एक बात है। आजकल अंग्रेजी के विरोध में कहीं-कहीं जनमत तैयार करने की कोशिश हो रही है। हमारी राय में यह मत भ्रात और आत्मघाती है। हम कभी अंग्रेजी से सब कुछ तोड़ नहीं सकते, क्योंकि हमारे आधुनिक सांस्कृतिक मंदिर के जीवन में बाहर से हवा और रोशनी आने के लिए अंग्रेजी एकमात्र वातायन-पथ बनी है। इसे कभी रुक नहीं करना चाहिए। अपनी भारतीय जाति की कई पीढ़ी-व्यापी अभिज्ञता के अनुसार सांस्कृतिक व्यापार के सबंध में, साहित्य-सर्जन के सबंध में, दुर्ध-निश्चय होकर हम सलाह देते हैं कि हिंदी तथा अन्यत्र भारतीय भाषाओं के साहित्य को पुष्ट और सुसमृद्ध करना चाहो, तो अच्छी तरह से अंग्रेजी भी सीखो। एक साधारण अंतर्राष्ट्रीय मान या विचार-बोध, आधुनिक जगत् के लिए उपयोगी विश्व-मानवता, अंग्रेजी के सिवा हमें कहाँ मिलेगी? हमारे मध्ययुग के भक्त कवि और अनुभव कवि जो थे, जैसे कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, स्यामी हरिदास, हितहरिवंश, अष्टछाप के अन्य कवि, हरिराम व्यास, चाचा बुढानदास, दाऊदयाल, भीराबाई, गुरुनानक, भानुदत्त तथा हिंदी के अन्य दूसरे सत् कवि लोग—उनकी बात छोड़ दीजिए, वे सदा के लिए आध्यात्मिक रस-पिपासु मानव के चित्त को पुलकित करते हुए जीवित रहेंगे। पर भानुदत्त की बात दूसरी है। क्या अंग्रेजी जाने बिना रवींद्रनाथ और गांधी जी अपने प्रभाव को दूरगामी बना सकते थे? अंग्रेजी भाषा भव केवल अकेले अंग्रेजी की ही संपत्ति नहीं है। यह विश्व-नम्यता का एकमात्र साधन, वाहन या माध्यम हो गई है। विश्व से हम बाहर नहीं हैं।

अखिल भारत के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय ऐक्य के लिए, अहिंदी-भाषियों के लिए जैसे हिंदी आवश्यक की जायगी, वैसे ही हिंदी-भारत के लिए भी उसके परिवर्तन में किसी एक प्रभुत्व माननीय भाषा को अपने सुभिते या र्षि के मुताबिक चाहे वह मराठी हो, चाहे गुजराती, चाहे बंगला चाहे

तेलंगू, चाहे उडिया, चाहे कन्नड अवश्य पढ़नी होगी। भावग्राही होकर, देश का सर्वांगीण कल्याण सोचकर सब को इस बात की युक्तिमत्ता पर ध्यान देना चाहिए। अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक भाषा अरवी की अरबो ने जिस उच्छ्वसित भाव से तारीफ की थी कि “अल्-हम्दु लिल्लाहि, अल्लाही खलक-ल्-लिसान-ल्-अरबिय्यह, अल्-लिसान-ल्-अह सन मिन् कुल्लि-ल्-अलसान्” अर्थात् ईश्वर की स्तुति इसलिए हो कि उन्होंने अरबी भाषा को बनाया, जो सब भाषाओं में सुंदरतम है, उसीके भूतबिक हम भी कहेंगे—

“सर्वज्ञं तदहं वंदे परं ज्योतिस्तमोहयम् ।
प्रवृत्ता यन्मुखाद् देवी सर्वभाषासरस्वती ॥
आर्याणां भारतीयानां विश्वसंस्कृतिवाहिनी ।
वह्न्युषा च सा नित्या प्रत्ननूत्नप्रभेदतः ॥
एतज्जातीयभाषासु सर्वास्तुल्पास्याप्यसौ ।
नव्या हंववी भाषा स्याद् राष्ट्रं कथयवर्धनी ॥”



पाँच प्राचीन-पद

श्रीमद्—(स १३५२ वि०)

(राग-कैवारा)

ब्रज-भूमि मोहनी में जानी ।

मोहन कुंज, मोहन वृंदावन, मोहन जमुना - पानी ॥

मोहन नारि सकल गोकुल की, बोलति मोहन बानी ।

‘श्रीमद’ के प्रभु मोहन नागर, मोहन राधा-राँनी ॥

जागौ मन वृंदा-विपिन हरघौ ।

निरखि निकुंज पुल-छवि राधे-कृष्ण-नाम उर धरघौ ॥

स्यामा-स्याम-सरूप-सरोवर - परि स्वारथ विसरघौ ।

‘श्रीमद’ राधे-रसिकराइ तहँ सरबस वै निबरघौ ॥

हरिष्यासवेवाचार्य—(सं०—१३२० वि०)

(राग-विहाग)

जगमगै चब-बदन की जोति ।

अति सुंदर सोभा की सीमा लखि चकचोयी होति ॥

पीतम के मुख-अंबुज-रस करि, चित्रित अमिit उबोति ।

लखि सुख ‘श्रीहरि-प्रिया’ हितु सखि, वारति हँ लर-भोति ॥

(राग-आनदसिंधु)

हो कहा कहौ, सुख-फूल-मई ।

फूलें फूल फवे सब धन में, तन-मन की सब सुल गई ॥

फूल दिसन-बिबिसन में फूले, छिति-अंबर में फूल छई ।

फूली खता, द्रुम, सरित, सरन में, जग, भृग सब ठाँ फूल ठई ॥

फूल निकुंज-निलय-निकरनि में, वरन-वरन में फूल नई ।

‘श्रीहरि-प्रिया’ निरखि नैनन-छवि, फूलन के उर फूल भई ॥

परसुरामदेव—(सं०—१४५० वि०)

(राग-विहागरी)

मन श्री मोहन के रंग रेंघी, सो न जात निचोरघी ।

रग तजें फीब्यो परै, झलैं झरुसोरघी ॥

हरि-सनमुख जब-हौं चली, तब मैं न बहोरघी ।

हरि सो मिलि सरबसु दियो, मोते मुख-भोरघी ॥

पलटि प्रान तहँ की भयो, मोते चित खोरघी ।

हरि-आघीन कुरग ज्यो, डोलत संग डोरघी ॥

जतन-जतन करि प्रीति सों, पैहलें मैं जोरघी ।

तापन-बरसि प्रबल भयो, दूदत नहिं सोरघी ॥

मन, मो तन चितथी नहीं, मैं हँ न निहोरघी ।

नैन उभै सुख - सिंध तयो, धावत न अहोरघी ॥

एकमेक पिय-अंभ सों, भ्रंग - संग दुहोरघी ।

‘परसा’ पै-पाती मित्यो, बिधू-रत न बिधोरघी ॥

भाषामणि, ब्रजभाषा

श्री चंद्रबली पंडे

मुगल-दरबार के गवैये जिस भाषा को भाषामणि कह कर उसका गान करते थे और मुगल वादशाह भी जिसमें रचना कर अपने को वन्द्य समझते थे, उसी का अपकार अंगरेजी शासन में कैसे हो गया, यह विचार करने की बात है। इसकी सच्ची जानकारी के बिना हमारी आँख नहीं खुल सकती और न हम अपनी राष्ट्रभाषा का मर्म ही इसके अभाव में पा सकते हैं। कहने को तो ब्रिटिश शासन की छाया में रहते हुए भी लल्लूजी लाल ने अपनी 'लालचक्रिका' की भूमिका में लिख दिया—

पौरुष कविता त्रिबिध है, कवि सब कहत बखानि ।
प्रथम देववानी बहुरि, प्राकृत भाषा जानि ॥
देस-भेद लें होति सो, भाषा बहुत प्रकार ।
बरनत हैं तिन सबनि में, खारियरी रस सार ॥
ब्रजभाषा भावत सकल, सुरवानी सम तुल ।
ताहि बखामत सकल कवि, जानि महा रस-मूल ॥

किंतु स्वयं 'फोर्टे विलियम' में रह कर किया यह कि 'ब्रजभाषा' को 'रेखता' में डालने लगे। सुनिये, उन्हीं का कहना है—

"एक दिन साहिब ने कहा कि 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेखते की बोली में कहो ? मैंने कहा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखने वाला दीजो, तो भली-भाँति लिखी जाय।' उन्होंने दो आइर मेरे तैनाथ किये, मजहूर धली खान, बिला श्री मिरजा कामज अली जवाँ। एक वरख में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया।"

'ब्रजभाषा' के ग्रंथों का अनुवाद 'रेखते की बोली' में न होता तो आगे चल कर क्या होता इसे कौन नहीं जानता ? निश्चय ही ब्रजभाषा ही आज हमारी राष्ट्रभाषा होती और फलतः देश में हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का कोई कांड भी नहीं उठता। शासन की सुविधा अथवा कूटनीति के चक्कर में पिस कर ब्रजभाषा कैसे पीछे छूट गई और उसकी उपजीवी 'रेखता' उर्दू तथा 'हिंदुस्तानी' के रूप में आगे बढ़ निकली, यह इतिहास की बात ठहरी। किंतु कृतज्ञ रहिए 'डाकटर मिलकिरिस्त साहिब' के कि उन्होंने ब्रजभाषा को भी कुछ सहाय दिया। कारण स्वयं श्री लल्लूजी लाल का लेख है—

"संवत् १८५७ में आजीविका कंपनी के कालेज में स्थित हुई। इसे जमीन बरप हुए।

इसमें जो पोथियाँ ब्रजभाषा की खड़ी बोली और रेखते की बनाईं सो सब प्रसिद्ध हैं।"

श्री लल्लूजी लाल ने 'लालचक्रिका' की भूमिका में अपना जो यह परिचय दिया है वह बड़े महत्व का है। कारण हम देखते हैं कि 'ब्रजभाषा' जब तक मैदान में रही 'खड़ी बोली' ने उनका दृढ़ चलता रहा, और जब राजाश्रयहीनता के कारण वह पीछे छूट गई तब 'खड़ी बोली' और 'हिंदुस्तानी' का झगडा छिड़ गया। मानो श्री लल्लूजी लाल को इन्हीं 'निकडम' के हेतु फोर्ट विलियम कालेज में चाकरी मिली थी। जो हो, माहिबों ने आगे चलकर 'ब्रजभाषा' का मर्म वा बहिष्कार कर दिया और धीरे-धीरे वह कविता के क्षेत्र में भी धोसल हो गई। मोक्षिये तो नहीं वहाँ श्री लल्लूजी लाल ने उत्थान में आप ही लिखा था—

अजभाषा भावत सकल सुरवानी सम मूल ।
 कहाँ म्यति यह हो गई कि 'भाषा' करके उसकी अवहेलना होने लगी और—
 ताहि बखानत सकल कवि जानि महा रस मूल ॥
 के स्थान पर अजवासी भी उसके बखान से मुँह मोड़ने लगे । उसके अंतिम साइले का विषाद है—
 बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देश में ।
 अटक कटक पर्यंत कहिय भारत असेस में ॥
 एक राष्ट्र भाषा की त्रुटि जो पूरत आई ।
 इतने दिन सो करति रही तुम्हरी सिक्काई ॥
 सत समरथ कवियनु की कविता प्रमान जानें ।
 निरखहु नैन उधारि कहाँ लौं सबनु गिनायें ॥
 इकदिन जो माधुर्य कातिमय सुखद सुहाई ।
 मंजु मनोरम मूरति जाकी जग जिय भाई ॥
 देखत तुम निर्हासित जात ताके अब प्राना ।
 अमागिनी सोकारत कहहु को तासु समाना ॥
 लिखन रह्यो इक ओर तासु पडिबौहु त्यागी ।
 माता सो भुख भोरि कहाँ तुव मन अनुराग्यो ॥
 सुभ राष्ट्रीय निवारनु को जब पुन्य-प्रचारा ।
 कंसो याके संग कियो तुम्हने उपकारा ॥
 रह्यो बनावनु याहि राष्ट्रभाषा इक ओरी ।
 उलटो जासु अनिष्ट करन लागे बरजोरी ॥
 या जीवन-संग्राम माहि पावत सहाय सब ।
 नाम लें हूँ तज्यो किनु तुम्हने याको अब ॥
 क्यों यासों मन फिरयो कृपा करि कछु क जतावो ।
 वृथा आत्मा या अजभाषा की न सतावो ॥
 जिनके तुम बस परे अहहि ते सकल विमाता ।
 अजभाषा ही सुद संस्कृत साँची माता ॥

कविरत्न श्री सत्यनारायणजी का यह विषाद कितना साध है इसके विषाद में हम नहीं पडते, पर प्रसंगवश 'विमाता' के प्रसंग में इतना कह ही देते हैं कि समय पर सचेत न होने का परिणाम है 'विमाता' के हठ से देश का विभाजन । पाकिस्तान ।। कौन नहीं जानता कि उर्दू वनी नहीं कि अजभाषा पर वज्रपात हुआ, पर साथ ही इसना और कितने लोग जानते हैं कि उर्दू वनी ही क्यों । जो हो, उर्दू के अमर अदीब मीलाना 'आजाद' का अपनी प्रसिद्ध रचना 'घावे ह्यान' के प्रारम्भ में ही कहना है—

"इतनी बात हर शब्द जानता है कि हमारी उर्दू जवान अजभाषा से निकली है और अजभाषा सास हिंदुस्तानी जवान है ।"

पणु आज इस सब की जानी हुई बात को माननेवाले कितने हैं ? भाषामनीषी नृपजी कहते हैं पर उर्दू का इतिहास साक्षी है इस कथन का कि उर्दू अजभाषा पर से बनाई गई । 'भादार' फिर भी अभी कल के प्राणी है । उनसे कितने दिन पहले मद्रास के बाबा जानर 'भाषा' न बरा या मन् १७६८ ई० में कि—

"और हिंदुस्तान मुदत लग जवान हिबी कि उसे अजभाषा बोलते हैं रिबाज रक्की को ।"
 (मद्रास में उर्दू, श्राहीमिया मदीन प्रेम हैदराबाद, १६३८ ई०, पृ० ४६) तथा—

“भीखे भूहावरा ब्रज में अल्फाब्र भरवी वो फारसी बतदरीज बाखिल होने लगे और अस्त-
त्र आस को खोलने लगे। सबब से इस आमेजिब के यह खवान रैखता से मुसमा हुई।” (वही)

‘रैखता’ और ‘उर्दू’ के इतिहास में जाने से कोई लाभ नहीं। सखेप में कहना यहाँ यह है
ब्रज दिल्ली की संजुमन में उर्दू का निर्माण हुआ तब—

“हिब के मिरजाओ और फसीह सुफियों की खोलचाल की भाषा को लिया गया। इसके
रिक्त धारों और की भाषा यहाँ तक कि हिंदी को जिसे ‘भाखा’ कहते हैं छोड़ दिया गया।”

उर्दू के आदि उस्ताद शाह हासिम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘दीवानबादा’ की भूमिका में इसे
स्पष्ट लिखा और खुल कर कह दिया कि अब ‘उर्दू’ अथवा मुगल दरबार में ब्रजभाषा का मान नहीं।
अब वो वहाँ सत्कार है वही की बोली का। मुगल राजकुमारों और गहरे मजहबी सुफियों की बोली का।

उत्तर ‘दरबार’ में ब्रजभाषा की अवहेलना हुई तो उसके बाहर भी उसका मोल घटा, किन्तु
इसके ठीक पहले स्वयं दरबार की स्थिति यह थी कि भाषा में प्रमाण ‘ब्रज’ का ही माना जाता था।
ध्यान देने की बात है कि बाकबाले खान आरजू—जिनका निधन उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष श्री हासिम
के ‘दीवानबादा’ का उदय, ‘उर्दू की खवान’ को प्रमाण नहीं मानते। उनके इस विचार को देख कर
उर्दू के लोग विस्मय में पड़ जाते हैं। सुनिये, श्री हाफिज महमूद गेरानी साहब फरमाते हैं—

“इस सिलसिला में बाबू बक्त उन्होंने मुसभिक पर चोटें भी की हैं। सबसे खयाबा जिस
बात से तथानुब होता है यह है कि खान देहली की खवान और उर्दू को भी बकअत की निगाह
से नहीं देखते। उनके लखवीक हिंदुस्तानी खवानों में सबसे खयाबा शाइस्ता और मुहब्बत खवान
खालियादी है।”

श्री गेरानी साहब ने अपने लेख (ओरियंटल कालेज मंगलौर लाहौर नवंबर सन् १९३१ ई०)
में अनेक अवतरण दिये हैं जिनसे समझ में आता है कि ‘खालियादी’ और ब्रजभाषा में कोई ऐसा भेद
नहीं कि दोनों को एक दूसरे से अलग माना जाय। श्री चिंतामणि का कथन है—

“जो न प्रयोगी सत कविन, भाषा काँची जान।

मथुरा भंडल, खालियार की परिपक्व बखान।”

‘चिंतामणि’ और ‘खान आरजू’ में कैसी एकता है। कैसा था वह समय। जी हाँ, तो
पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इस जन ने सिद्ध कर दिया है कि सन् १७४४-४५ में कभी दिल्ली में ‘उर्दू
की ईबाद’ हुई और इसके ११-१२ वर्ष बाद खान आरजू का निधन हुआ। अजब नहीं कि उनके निधन में ही
हासिम को विशेष बल मिला हो और उन्होंने ‘दीवानबादा’ का निर्माण ‘भाषा’ के विनाश के लिये किया हो।
जो हो, इस परिस्थिति से इतना तो पक्का हो गया कि लगभग १७५० ई० के उर्दू से ब्रजभाषा को गहरा बन्का
सगा और चलते-चलते सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम में पहुँच कर अंगरेजी शासन में वह बिल
हो गई। इसके पहले मुगल में इसका कितना महत्त्व था, उद्देश्य से ज्ञात जा सकता है कि वहाँ
‘ब्रजबोली’ का अलग साहित्य ही बन गया है। श्री सत्यनारायण जी कविरत्न ने ठीक ही तो कहा है—

“बरनन को करि सकत भला तिहु भाषा-कोटी।

मजलि, मजलि, भाँयो जामें हरि भाँखन-रोटी॥”

पर विधि की बिडंबना तो देखिये कि आज उनी रोटी के अभाव के कारण आज हमको
कोई पुष्टता भी नहीं है। खोज के लोप भी ‘बड़ी बोली’ के ही गोजी बन गये हैं। हा हन!

किन्तु एक दिन का कि अपनी महिमा के कारण ब्रजभाषा का सर्वन नमान जा। यहाँ नर
कि कट्टर अंगरेजों के शासन में उनके आदेश में गजबुमारों की मोगिन के निवेद उमंग घागना
भी कारनी में रचा गया। उसके रचयिता नीरवा शा ने उनमें स्पष्ट नर—

“ब्रजवासियों की भाषा सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। गंगा और यमुना के बीच में जो देश है, जैसे—चंबवार आदि, वह भी शिष्ट गिना जाता है। चंबवार एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित प्रांत है। चूंकि इसी भाषा में प्रिय-प्रिया की प्रवांसा और सरस तथा अलंकृत कविता है। एव यही भाषा शिष्टो और काव्य की व्यापक भाषा है, इसलिये इसके व्याकरण की रचना की जाती है।” (ए प्रामर आद्य ब्रजभाषा, विद्वत्भारती, १९३५, पृ० ५४)

श्री गीतराजा खा की इस गवाही के सामने श्री सत्यनारायण जी का यह कथन कितना साधु और सटीक ठहरता है—

“सुरपद बरन सुभाव, विविध रसमय अति उत्तम ।
सुद्ध संस्कृत सुखद आत्मजा अभिनव अनुपम ॥
देसकाल-अनुसार भाव निज व्यक्त करन में ।
मंजु मलोहर भाषा या सम कोउ न जग में ॥
ईश्वर मान्य-श्रेम दोउ इक संग सिद्धावति ।
उज्ज्वल-स्यामल-प्यार जुगल यो जोरि मिलावति ॥
भेद-भाव तजिबे की प्रतिभा जब रस-पूनी ।
जोग गहत तिनसो तब सुंदर बहति त्रिवेनी ॥
करी जाय जवि जासु परीच्छा सविधि जघारथ ।
याही में सब जग को स्वारथ अरु परमारथ ॥”

इसी परम लाभ के विचार से तो भवष के ‘रसलीन’ विलगामी ने अपनी अनूठी रचना ‘भंग-वर्णन’ में लिखा सन् १७३७ ई० में—

“ब्रजवासी सीखन रची, यह ‘रसलीन’ रसाल ।
गुन, सुवरन, नग, अरथ जहि, हिय धरियो ज्यो माल ॥”

और भवष के मिशारीदास जैसे आचार्य ने कहा यह कि—

“ब्रजभाषा हेतु ब्रज-भास ही न अनुमानो, ऐसे-ऐसे कविन की बानी हूँ सो जानियें।”
इतना ही नहीं, कृपा कर उन्होने इतना और भी स्पष्ट कर दिया—

“ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहूँ सुमति सब कोइ ।
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रगट जु होइ ॥”

स्मरण रहे ‘ब्रजभाषा’ की यह व्यवस्था सन् १८०३ वि० अर्थात् सन् १७४६ ई० की है। कहलें उर्दू की ईजाद के ठीक बाद की। ‘उर्दू क्यों कर पैदा हुई’, इसे सीयद ईशा अल्लाह के मुह से सुनिये। किस सच्चाई से साफ कह जाते हैं कि शाहजहानाबाद के—

“छुशबानो ने मुसफिक होकर मुताहिद जवानों से अच्छे-अच्छे तपज निकाले और बाबे इबारतो और अल्फाब में तसर्वफ करके और जवानो से अलग एक नई जवान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखला।”

तो फिर इस कतर-ज्योत और हेरफेर से वनी उर्दू की किसी सहज ‘भाषा’ से कैसे निग सकती थी। फलतः ‘आख्यान’ की उपेक्षा हुई और लोग ‘भाका’ से चिढ़ने लगे। मुहम्मदशाह ‘रंगीला’ का रंगीला शासन इस प्रकार ‘भाषामणि ब्रजभाषा’ के लिये घातक सिद्ध हुआ और वह जाने की बीज भर रह गई। अंगरेजी शासन में प्रमाद और नीतिवश जब उर्दू ही हिंदुस्तानी के नाम से लोकभाषा मान ली गई तब ब्रजभाषा की रही-सही प्रतिष्ठा भी जाती रही और निदान ‘शान्कर गिरिकिरित्त’

साहब को भी पछताना तथा कोसना पड़ा कि 'ब्रजभाषा' के साथ ही 'खड़ी बोली' को भी छोड़ कर 'फोर्ट विलियम' वालों के छात्रों का बड़ा ग्रहित किया। उनका मूल कथन है—

I very much regret that along with Brij Bhasa, the Khuree bolee was omitted since this particular idiom or style of the Hindoos-
tance would have proved highly useful to the student of that language (The Oriental Fabulist, 1803, p 5)

अर्थात् मुझे बड़ा खेद है कि ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली को छोड़ दिया गया, क्योंकि हिंदुस्थानी का यह विशेष मुहावरा वा शैली उस भाषा को विद्यार्थी के लिये विवेक रूपसे लाभदायक सिद्ध हो सकती थी।

फलत उपयोगिता के कारण 'खड़ी बोली' का फिर नाम फिरा और उसका दोहरा द्वंद्व छिड़ा। राजकाज में उसकी उर्दू से मुठमेठ हुई तो गद्य-पद्य में ब्रजभाषा से। गद्य के क्षेत्र में तो ब्रजभाषा अधिक नहीं श्रद्धा पर पद्य के क्षेत्र में उसकी 'खड़ी बोली' से ठन गई और अंत में हार भी उसी की हुई। फलत आज 'खड़ी बोली' किंवा 'नागरी' का राज है। इस राज्य के सवध में संप्रति इतना ही कहना है कि स्वर्गीय श्री प्रतापनारायण मिश्र जी की वाणी में—

"ब्रजभाषा भी नागरी बेबी की सगी बहिन है। उसका निज स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना साहब्यता के गले पर छुरी फेरना है।"

निश्चय ही इस 'छुरी' से बचना चाहिए, अन्यथा राष्ट्र का सारा गौरव मिट्टी में मिल जायगा। और स्मरण रखना चाहिए कि श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र जैसे पारखी की भाषा में ब्रजभाषा के—

"कवियों ने अर्थ के लिये अपने व्यक्तित्व का, अपने आदर्श का, अपनी प्रतिभा का सर्वथा विनाश ही कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। अपने आश्रय वातावरणों की वैयक्तिक प्रशंसा या विस्वावली इन्होंने जो ही चार छंदों में गाई है। पूरा काव्य उन्होंने बखान में रचा हो, ऐसा नहीं। जो चाटुकारिता वर्तमान स्वतंत्र भारत में राजकीय मंत्रियों को अभिरंजन-अर्थ समर्पित करने में हिंदी के कविमन्य और पंडितमन्य महानुभावों के द्वारा देखी जा रही है, उस का शतांश ही उनमें मिल सकता है। दरबारी मनोवृत्ति संप्रति आज कहीं अधिक है और राजनीति के नाम पर साहित्य न्यूछावर हो रहा है। रीतिबद्ध कवि 'नीति गलित' नहीं थे और न बैसा करके धन अंदोरना चाहते थे। सभ्यता अपने विकास के साथ सचाई छिपाने के जितने अधिक साधन और मार्ग आज निकाल चुकी है, उतने उस समय नहीं थे। जितने थे भी उनका उपयोग कोई कवि कुदितता पूर्वक नहीं करता था। उन्होंने जो कुछ किया था जो कुछ लिखा, प्रत्यक्ष किया और लिखा। इस प्रत्यक्षवादिता के लिए सांप्रतिक राजनीति-सवलित कवि-युगवर्ग और साहित्यिकों से अधिक प्रशंसा के भाजन अवश्य है। वे अर्थ की अपेक्षा राजसभा में बड़प्पन पाने के अभिलाषी थे। वे स्वार्थ-सिद्धि के स्थान पर समाज-सिद्धि का भी ध्यान रखते थे। रीतिबद्ध-काव्य हिंदी को शृंगार की उक्तियों का जैसा भारी भांडार सौंप गया है उसमें कूड़ा-करकट या केवल प्रशिष्ट या अश्लील वर्णन ही नहीं हैं, उसमें शृंगार की प्रभूत परिमाण में अच्छी-अच्छी उक्तियाँ भी सजित हैं। जितनी संस्कृत तथा किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इसे इसकी कड़ी से कड़ी अलोचना करने वाले महानुभावों ने भी स्वीकार किया है।"

—विहारी, वाणी-वितान-ब्रह्मनाल काशी, पृ० ६३-४

कहने का तात्पर्य यह कि व्रजभाषा का गहरा अनुशीलन होना चाहिए और किसी भासमानी घरका में आ कर उससे जी चुराना छोड़ देना चाहिए । 'प्रगति' या 'प्रयोग' के प्रेमी यदि 'पहचान' और 'परख' से जी बचाना चाहते हैं तो चार दिन के लिये चाहे जैसा रंग जमा लें, किंतु अंत में उतरना है उन्हें भी उसी घाट जिसे कहते हैं 'शृंगार वा रसराज' । 'प्रगटत दुरत' वे आ भी रहे हैं उसी मार्ग पर । ऐसी परिस्थिति में आवश्यक है कि इस 'भाषामणि' की परीक्षा और इसके परिशीलन में दत्तचित्त हो कुछ चित्तवृत्ति को जाना जाय और मनसाराम को परख कर ही नित नया-नया मनसूवा बाँधा जाय । जिससे—

“जगमगाय जातीय प्रेम सुधरै चरित्र-बल ।
सब के हो आदरस उच्च उत्तम अथ उज्जल ॥
विद्या, बिलय, विवेक, प्रकृति छवि मनहि सुभावे ।
दुख कौ हो बस अंत देस भारत सुख पावै ॥”

—सत्यनारायण



सोलहवीं शती में सगुण भक्ति के मेघजल

भी वासुदेव शरण अभवाळ

भारतीय धार्मिक विचार-धारा में तीन बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं। पहली क्रांति वेदव्यास के द्वारा हुई, जिन्होंने वैदिक तत्त्वज्ञान को लोक में व्याप्त निषाद-संस्कृति के धार्मिक आचार-विचारों के साथ मिला कर महाभारत में दोनों का समन्वय किया। दूसरी बड़ी क्रांति विक्रम सप्त के लगभग भागवत-धर्म और महायान-धर्म के समन्वय-प्रधान चिंतन के रूप में शारभ हुई, जिसके द्वारा मोक्ष-प्रधान सन्यास-मार्ग और प्रवृत्ति-प्रधान गृहस्थ-मार्ग के बीच में पड़ी हुई खाई को पाटा गया, जिसके अंत में 'प्राप्तो गृहस्थैरपिमोक्षमार्गः' वाला चौड़ा मार्ग या महायान प्रचारित हुआ। शुग, कुपाण और गुप्ताकाल के समस्त धार्मिक आंदोलन इसी सेतुत्व की ओर लक्ष्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं। विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी का धार्मिक इतिहास भागवत-धर्म के समन्वयात्मक प्रयत्नों का इतिहास है। इन प्रयत्नों में जैन, बौद्ध, शैव सभी ने एक ही मूल प्रेरणा से केवल नाम-भेद रखते हुए भाग लिया। भागवतो के जगत् में अचिंत्य ब्रह्मतत्त्व विष्णु बन कर प्रकट हुए। सब प्राणियों को, सब विचार-धाराओं को अपने में व्याप्त कर लेना, सब में स्वयं व्याप्त हो जाना, यही विष्णु की विशेषता थी। अतएव इस अन्वय नाम की ओर इस सहस्राब्दी में समन्वय के प्रयत्न अपना ताना-बाना बुनते रहे। कालिदास ने अपने समन्वय प्रधान दृष्टिकोण से इसी युग-सत्य को विष्णु की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा—

“बहुधाभ्यागमैर्मिलताः पन्थानः सिद्धिहेतवः।

तव्येव निपतन्मोधा जगद्बोधा इवार्थवे ॥”

—रघुवरा १०।२६

‘सिद्धि को प्राप्त करानेवाले अनेक मार्ग आगम-सिद्धांतों के अनुसार भलग-भलग बड़े हैं, किंतु वे सब तुम्हारे पास ही पहुँचते हैं, जैसे गंगा के प्रवाह समुद्र में मिलते हैं।’

विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में फिर एक क्रांति के लिये जगह बनी। गुप्त तर्क-प्रतिपादित निर्गुण अद्वैत-तत्त्व का भार मानवी-बुद्धि के लिए बुरा हो गया। विचार-जगत् में पंडित-धर्म और लोक एक दूसरे से विछुड़ गए। पंडितों के पास तर्क की पैनी कैंची थी। निर्गुण तत्त्व की उससे मनमानी कतर-झोत की जा सकती थी। बौद्धों के अनेक प्रकार के अद्वैतवादी तर्क निर्गुणरूपी वज्र को काटते-छेदते रहे। शंकराचार्य और उनके उत्तराधिकारी दार्शनिकों के मायावाद में भी बुद्धि पर आश्रित तर्कों का ही बोलबाला था। आठवीं शती से न्यायहवीं शती तक पतननेवाले सिद्ध और उनके उत्तराधिकारियों नाथ गुरु निर्गुण की बात ही जनता की भाषा में कहने का प्रयत्न करते रहे, किंतु उनकी गनी हट्ट बाराहखड़ी से जनता के लिये हृदयग्राही रसानुभूति की कोई विशेष बात न बन सकी। आत्मा नाम इस धारीरूपी कुड्डली या कुटिया में रम रहा है, इडा, पिंगला, मुमुक्ष्या की कला करने में उसे बग में किया जा सकता है, यह बात कितनी ही ठीक भी हो पर भी एकरस नीरस। उसे मुन बग मोर के मन में किसी तरह की फरहरी या गुदगुदी उत्पन्न नहीं होती थी। निर्गुणी वाद्य के धन में रज्ज की बाणी प्रतिम पराकाष्ठा है। उनमें धोख और कथिता का भरपूर आनंद है, पर रसानुभूति के लिये उसकी अनभिनता का सजीव प्रायः प्रत्येक पाठक का अपना मन है। आश्रय में दिगंत जाने जनों-निकों की पटकार से लोक का क्या भला हो सकता है? उनमें निज निज आनंद निज निज

आवश्यकता थी, वह विष्णु स्वामी रामानुज, निदाक, मध्व, रामानन्द, बल्लभ, चैतन्य आदि आचार्यों, सत्तो और भक्तों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस क्रांति की मुख्य विशेषता श्रद्धा-वेदात और भक्ति का समन्वय था। लोक-मानस के जिस सरोवर में शताब्दियों से सूखा पड़ा हुआ था वही भक्ति-जन्य मनो-भावों का अटूट जल बरस पड़ा। सगुण-सीलाओं को याने के लिये जनता तरस रही थी, उसके लिये द्वार खुल गया। तुलसी के शब्दों में साधुस्त्री भेष राम के व्रश का सुंदर जल लेकर चारों ओर बरसने लगे—

बरषहि राम सुजल बरबारी। मधुर मनोहर मंगलकारी ॥

प्रेम उस जल का मिठास था, भक्ति उसकी शीतलता थी। वही लोक के मनस्वी सरोवर में भर गया। वैसे एक सरोवर की कल्पना तुलसीदास का रामचरितमानस है। इस तालाब में जिसने डुबकी लगाई उसी का मन आनन्द से भर गया। तुलसी आदि भक्त सत्तो का मत वेदमत (ऊँचाधार्मिक ज्ञान), पुराणमत (कथा-कहानी, देवचरित आदि) और सतमत (भक्तिज्ञान कृत साक्षात् अनुभव), इन तीनों का समन्वय था। तुलसी ने कहा है कि रामभक्ति की जो गंगा है, वेदमत और लोकमत उसके दो किनारे हैं, जिनको सीचती हुई वह जलधारा बही है।

सोलहवीं शताब्दी में इस प्रकार की वेगवती भावधारा देश के प्रत्येक भाग में वह निकली। राम और कृष्ण उसके प्रतीक बने। वे ही रस-तत्त्व के सगुण और साकार रूप बन कर लोक में मान्य हुए। जहाँ निर्गुण का ताना बुना हुआ था, वहाँ सगुण रूप का गान करके भक्तों ने अपने मन की शक्ति से भरपूर रस उठेला और लोक के मानस पट को खूब भिगोया। भारतीय इतिहास की यह अनूठी विशेषता है कि उसमें समय-समय पर होनेवाली धार्मिक हलचलों की छाप प्रायः सारे देश पर एक सी पड़ी है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों के धार्मिक आंदोलन ने प्रत्येक प्रांतीय भाषा के साहित्य को सफाई कर दिया। असम भाषा के श्री शंकर नामक महाकवि ने अपनी प्रतिभा से भागवत का महान् काव्यानुवाद किया जो आज भी उस भाषा का भूषण है। रामसरस्वती नामक महाकवि ने फेंटा बाँध कर रामायण और महाभारत दोनों ही काव्यों का असम भाषा में अनुवाद कर डाला। बंगाल में तो चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण को केंद्र में रख कर भक्ति की बहिष्ठा ही बहा दी जिसका प्रभाव उड़ीसा, बृजवन और कर्नाटक तक हुआ। चंडीदास की 'कृष्ण-भक्ति-पदावली' पद-साहित्य का वैसा ही प्रयत्न है जैसा हिंदी-साहित्य में पदनिर्मिता कवियों ने किया। जब गुवाँईशी ने रामचरितमानस लिखा उसी समय कीर्तिदास ओझा ने बंगीय रामायण लिखी। उड़ीसा में सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जगन्नाथदास ने भागवत, बलराम ने रामायण, शारदादास ने महाभारत और अच्युतानन्द ने हरिवंश के काव्यानुवाद उत्कल भाषा में तैयार किए, लेकिन उत्कल भाषा का कठहोर सोलहवीं शती में ही निर्मित 'रस-कल्लोल' नामक मनोहर काव्यग्रंथ है, जिसमें राधाकृष्ण के सीला-विलास का वर्णन हुआ है। लगभग इसी समय भक्त शिरोमणि पोतनामाय्य ने तेलगु भाषा में भागवत का अनुवाद किया।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में विजयनगर सम्राट् कृष्णराय के समय में धारवाड जिले के कुमार व्यास कवि ने कन्नड महाभारत की रचना की। इसी शताब्दी में कुमार जल्मीकि ने कन्नड रामायण बनाई। चाट्ट विठ्ठलनाथ ने इसी शताब्दी में भागवत पुराण का कन्नड भाषा में काव्यानुवाद किया। कन्नड-साहित्य की एक विशेष विभूति वैष्णवों के रहे हुए पद हैं, जिनकी रचना शिव-गाँव में पैदल घूमते हुए भक्तों ने मध्वाचार्य और चैतन्य की शिक्षा के अनुसार की। धासर पदगल (धासो की पदावली) नाम से इन पदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनमें सबसे प्रसिद्ध पदरूपुर के निवासी पुरंदरदास थे जिनकी १५६४ ई० में मृत्यु हुई। इन्हीं के समकालीन 'कन्नकदास' थे जिन्होंने कृष्ण के सबब में पौराणिक कथाओं को लेते हुए 'मोहन तरंगिणी' नामक ग्रंथ की रचना की। पुरंदरदास और कन्नकदास कन्नड भाषा के सूर और तुलसी हैं। मध्वाचार्य और चैतन्य के प्रभाव से

दाससङ्गक भक्तों ने जिस वैष्णव धर्म की स्थापना की वह कन्नड प्रदेश का समन्वय-प्रधान जातीय धर्म बन गया और उसी की गोद में जैन एवं लिंगायत धर्म की चारों ओर भी लीन हो गई। सोलहवीं शताब्दी में पाटण गुजरात के महाकवि भालण ने भागवत दशमस्कंध का बहुत ही सलित पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इससे पूर्व भी सन् १५२८ में प्रभास पट्टन के कायस्थ केशवहृदयराय ने भागवत दशमस्कंध का पद्यानुवाद रचा था। उसके कुछ ही वर्ष बाद सन् १५४१ में सिद्धपुर पाटण के भीमनायक कवि ने 'हरिलीला षोडश-कला' नामक कृष्ण-चरित की रचाना की। गुजराती पदों की रचना में कवि परमानन्द (१७ वीं १८ वीं शती) का स्थान बहुत ऊँचा है। इस प्रकार प्रायः प्राचीन साहित्य ने सोलहवीं शती की भक्ति-प्रधान क्रांति में और साहित्यिक पुनरुत्थान में भाग लिया।

हिंदी के क्षेत्र में तुलसी और सूर इस युग के मुख्य प्रतिनिधि हैं, जिनमें एक ही युगचारा राम और कृष्ण को प्रतीक बना कर दो रूपों में प्रकट हुई। कृष्ण-साहित्य के निर्माण की प्रेरणा में वल्लभाचार्य (जन्म स० १५३५, मृत्यु स० १५८७) और उनके प्रतिभाशाली पुत्र विठ्ठलनाथ (जन्म स० १५७२, मृत्यु १६४२) ने प्रमुख भाग लिया। वल्लभाचार्य ने जो तो सारे देश में भ्रमण किया था, किंतु व्रज को विशेष रूप से अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। उनके द्वितीय पुत्र विठ्ठलनाथ में लोक-संग्रह की विलक्षण क्षमता थी। उन्होंने कला, साहित्य और संगीत की योजना से वल्लभाचार्य के भक्ति धर्म को बहुत ही स्वरूपवान् बना दिया। कृष्ण-भक्ति के गायक आठ कवियों को लेकर अष्टछाप की कल्पना का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है। अष्टछाप के आठों विद्वानों का कार्य-काल सोलहवीं शताब्दी ही है। इनमें से कुमनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास के दीक्षा-गुरु वल्लभाचार्य और गोविन्द-स्वामी, नन्ददास, छीतरवामी और चतुर्मुजदास के दीक्षा-गुरु विठ्ठलनाथ थे। अष्टछाप के कवियों का हिंदी-साहित्य के लिये बहुत ही महत्त्व है। उत्तरभारत के लोकमानस से निर्गुण परंपरा हटाकर उसमें सगुण भावों के प्रति आस्था भरने का बहुत अधिक श्रेय अष्टछाप के महायानी कवियों को है। हिंदी-जगत् के धार्मिक इतिहास की जमी हुई तहों को जब हम खोलना चाहेंगे तब अष्टछाप का उद्घाटन किए बिना हमारा काम नहीं चलेगा।



श्री स्वर के प्रति

श्री नमोदेस्वर उपाध्याय

ज्योतिमय बाणी तुम्हारी, रूपमय बाणी तुम्हारी ।
गूँजती मञ्ज-बीणियो में, भ्रमृतमय बाणी तुम्हारी ॥
कवि, तुम्हें पा कर घरा ने, व्यक्ति को अभिव्यक्ति पाई,
कवि, तुम्हें पा कर घरा ने, सृजन की नव शक्ति पाई ।
स्वप्न था संसार, तुम ने सत्य धरणी पर उतारा,
कवि, तुम्हें पा कर स्वयं भगवान ने निज भक्ति पाई ।
आदि कवि की भाँति मुखरित हो रही बाणी तुम्हारी,
ज्योतिमय बाणी तुम्हारी, रूपमय बाणी तुम्हारी ।
सहज शोषक रूप धारण कर सजल धनश्याम आये,
प्रेम की बारी तुम्हारी, लहरियों पर स्वर^१ बजाये ;
चित्र प्रति सुकुमार तुम ने था बनाया राविका का,
कृष्ण आ कर के तुम्हारी तुलिका में मुस्कराये ।
भक्त उद्धव की कहानी, कह रही बाणी तुम्हारी,
ज्योतिमय बाणी तुम्हारी, रूपमय बाणी तुम्हारी ।
कवि, तुम्हारी पक्तियों में झूमती धन की घटाएँ,
कवि, तुम्हारी पक्तियों में गूँजती मधु की निशाएँ^२ ।
कृष्ण-सुधि में सजल स्यामल आत्म-विस्मृत दीपिकाएँ^३
उतर आती हैं तुम्हारी पक्तियों में पोषिकाएँ ।
प्राँसुओं में डूबती ही जा रही, बाणी तुम्हारी,
रूपमय बाणी तुम्हारी, ज्योतिमय बाणी तुम्हारी ।

^१ स्वर लहरियों पर,

^२ झूमती धन की निशाएँ,

^३ कृष्ण-सुधि की सिसकियों में सजल दीपक को जला कर,

अष्टछाप की मधुर भक्ति

श्री दीनदयाल गुप्त

हिंदी ब्रजभाषा के नीचे कहे आठ कवि 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सूरदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, कृष्णदास अधिकारी, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामी। इनमें प्रथम चार आचार्य श्री वल्लभ (संवत् १५३५ से संवत् १५८७ तक) के शिष्य थे और अंतिम चार आचार्यजी के उत्तराधिकारी गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी (संवत् १५७२ से संवत् १६४२) के शिष्य थे। ये आठों भक्त कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहवासमें एक-दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन की सेवा और वही रहकर भगवद्धर्मिण रूप में पद-रचना किया करते थे। उस समय के वल्लभ संप्रदायी अनेक कवियों का उल्लेख उक्त संप्रदाय की वातशिो में आता है। परंतु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने संप्रदाय के अनुयायी भक्त कवियों में से सर्वश्रेष्ठ भक्त, काव्याकार और सगीतज्ञ इन्हीं आठ सज्जनों को छाँटा तथा इन पर अपनी प्रशंसा और आशीर्वाद की छाप लगाई। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की इस मौलिक तथा प्रशंसात्मक छाप के बाद ये महानुभाव 'अष्टछाप' कहलाने लगे।

ये आठों कवि उष्णकोटि के भक्त, कवि तथा सगीताचार्य थे। अपनी रचनाओं में प्रेम की बहुरूपणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवियों ने उपस्थित किये हैं, वे काव्य की दृष्टि से वास्तव में उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। वात्सल्य, सख्य, माधुर्य, हास्य और शांत-भावों की भक्ति का जो झोत अपने काव्य में इन भक्तों ने खोला है वह भी अत्यंत सुखकारी है। लौकिक तथा अध्यात्मिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान् है।

'शाब्दिक्य—भक्तिसूत्र' में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'सा परानुरक्तिरीश्वर' ईश्वर में अत्यंत अनुरक्ति ही भक्ति है और 'नारद-भक्तिसूत्र' में भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपः ॥२॥ अमृत स्वरूपा च ॥३॥ अल्लभ्या पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति, तुष्टो भवति ॥५॥

अर्थात् "ईश्वर के प्रति प्रेम का नाम भक्ति है, वह अमृत स्वरूपा है, जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तुष्ट हो जाता है। फिर वह किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता, न वह शोक करता है और न द्वेष। न किसी सासारी वस्तु में आसक्त और न उस वस्तु से उत्साहित होता है।"

श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ३, अध्याय २५, श्लोक ३२-३३ में भक्ति के विषय में कहा गया है कि सासारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप में भगवान् में जब लगती है, तब उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं। श्री वल्लभाचार्यजी ने इन सब व्याख्यानों का समन्वय करके 'सत्त्वदीप निबन्ध शास्त्रार्थ-प्रकरण' श्लोक ४६ में भक्ति का लक्षण बताया है—

"भगवान् मे माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सुदृढ और सतत् स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे अधिक और सरल उपाय नहीं है।" माहात्म्य-ज्ञान और भगवान् के प्रति स्नेह के विषयमें श्री हरिराय गोस्वामी ने कहा है—

"श्री आचार्यजी के मारग को स्वरूप कहा है, जो माहात्म्य-ज्ञान पूर्वक दृढ स्नेह ती सबोंपरि है सो ठाकुरजी को बहुत प्रिय है, परंतु जीव माहात्म्य राखै। सो काहे ते। जो माहा-

सत्य-विना अपराध की भय मिट जाय तातो प्रथम दशा में माहात्म्य-श्रुत-स्नेह अवश्य कहिये । तातो माहात्म्य बिचारै और अपराध सो डरपै । जब सर्वोपरि स्नेह होइयो तब आपसी ते स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य को छुड़ाव देयगो ।”

अष्टछाप-भक्तो ने जहाँ कृष्ण को वात्सल्य, सख्य, दास्य और काता भावो से भजा है, वहाँ उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है । ईश्वर कृष्ण के लोक-चरित्रो के वर्णन में भक्त की चित्त-वृत्ति कही लोक में ही न फँसी रह जाय, इसलिये वे बार-बार याद दिला देते हैं कि ये बालवत् या किशोरवत् लीलाएँ मनुष्य रूप में अवतरित भगवान की हैं, मायिक मनुष्य की नहीं हैं ।

भक्ति दो प्रकार की कही गई है—‘गोपी’ और ‘परा’ । साधन दशा की भक्ति गोपी कहलाती है और सिद्ध दृश्य की भक्ति परा भक्ति है । ‘गोपी-भक्ति के पुन दो भेद हैं—‘वैधी’ तथा ‘रागानुगा’ । जिस भक्ति का साधन शास्त्रोक्त विधिपूर्वक होता है और जिसके विविध श्रुगो का नियमपूर्वक साधन होता है उसे वैधी भक्ति कहते हैं । वैधी भक्ति को कुछ लोग मर्यादा भक्ति भी कहते हैं—

“शासानेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ।

इत्यसौ स्याद्विधित्यः सर्ववर्णाश्रमाविषु ॥”

—हरिभक्ति रसामृत सिंधु पूर्वभाग, लहरी २, श्लोक ४.

जिस प्रेम भाव की अनुभूति से भक्त के हृदय में परम शांति और आनंद का उदय हो जाता है उसे ‘रागानुगा भक्ति’ कहते हैं । श्री रूप गोस्वामीजी ने ‘हरिभक्ति रसामृत सिंधु’ के पूर्व विभाग लहरी २, श्लोक ६३ में इसे दो प्रकार का कहा है—एक ‘काम रूपा’ और दूसरी ‘सवय रूपा’ । इन्द्रियो की तुष्टि की कामना लोक से न कर भगवान् से करने की इच्छा भक्ति पक्ष में ‘काम’ कहलाती है तथा दास, सखा, पिता-माता, पुत्र-मति-आदि के सवय में जो काम-रहित प्रेम है वह सवय-स्वरूपा—‘रागात्मिका भक्ति’ है । वैधी और रागानुगा भक्तियाँ दोनों साधन दशा की ही भक्ति हैं । जब भक्त पूर्ण शांति की अवस्था को पहुँच जाता है तब इसे किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रहती । कामना-रहित प्रेमानंद में ईश्वर से प्रेम करना ही ‘परा भक्ति’ है । ‘गौडी भक्ति’ और परा भक्ति को ‘साध्य भक्ति’ भी कहते हैं ।

मग्न योग की अग्न स्वरूपा भक्ति के अतिरिक्त वैधी और रागानुगा भक्ति को एक स्वतंत्र साधन भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने माना है और इसमें मग्न योग के कुछ विधान जैसे—ईश्वर-मूर्ति की पूजा, अर्चना तथा ईश्वर-नाम रूप का ध्यान भी प्रविष्ट कर लिये गये हैं । ‘शाङ्ख्य-भक्तिसूत्र’, ‘नारद-भक्तिसूत्र’, ‘हरिभक्ति-रसामृत सिंधु’—आदि ग्रन्थों में स्वतंत्र भक्तिमार्ग की वैधी, रागानुगा तथा परा भक्तियों का विवेचन है । साधन स्वरूपा भक्ति की सिद्धि की दो अवस्थाएँ हैं—एक पूर्ण ज्ञान की अवस्था, दूसरी पूर्ण प्रेम भाव की अवस्था । श्री वल्लभाचार्य जी ने ज्ञान के साधन रूप में भक्ति का प्रचार नहीं किया । यद्यपि वल्लभ संप्रदाय में ‘साधन भक्ति’ और ‘साध्य भक्ति’ दोनों प्रकार की भक्तियों को अंगीकार किया है । परंतु साधन भक्ति का लक्ष्य ज्ञान अथवा मोक्ष न होकर इस मार्ग में पूर्ण प्रेम अवस्था का प्राप्त करना ही है । वैधी साधन भक्ति में आचार्य जी और गोस्वामी विद्वठलनाथ जी ने पूजा, अर्चा, सेव्य स्वरूप (मूर्ति) का ध्यान, नाम-स्मरण आदि तथा आठ प्रहर की स्वरूप-सेवा-विधि को स्थान दिया है । भाव-भक्ति-द्वारा परा भक्ति का, निष्काम प्रेम या प्रेयसवशा भक्ति का प्राप्त करना इस संप्रदाय की भक्ति का ध्येय है । परा भक्ति अहेतुकी है, उस समय भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ (वर्ग, अर्थ, काम, मोक्ष) नहीं चाहिये । साधन-स्वरूपा रागानुगा-भक्ति की सिद्ध अवस्था में आकर भक्त प्रेमोन्मत्त होकर विधि-नियमों की भूल जाता है और प्रेम-भक्ति की व्याकुल विरहान्ति में उसके सब पाप-कर्म भुन जाते हैं ।

श्रीमद्भागवत (स्कंध ३, अध्याय २९ श्लोक ७।१४) में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की कही गयी है। इस प्रकार का विभाजन बल्लभ संप्रदाय में तथा सूरदास-द्वारा भी किया गया है। श्रीमद्भागवत का गुरु समत अनुकरण करते हुए सूरदास जी कहते हैं—

“माता भक्ति चारि परकार, सत, रज, तम-गुन सुद्धासार।

तमोगुनी चाहै या भाद, मन धैरी क्यों हूँ मरि जाइ।

भक्ति सात्वकी चाहति मुक्ती, रजोगुनी बन, कुटुम्भ-अनुरक्ती।

सुद्धा भक्ती मोच्छन चाहै, मुक्तिहु को सो नहि अवगाहै।”

इस प्रकार से सूरदास ने दो प्रकार के भक्त कहे हैं—एक ‘सकाम भक्त’ और दूसरे ‘निष्काम भक्त’।

भक्ति की प्रथम साधन अवस्था में बल्लभाचार्य जी ने गृहस्थाश्रम में रह कर धर्म-पालन करने का आदेश दिया है और गृहस्थ के कर्मों को कृष्ण की इच्छा मान कर करने का उपदेश दिया है^१। वहाँ पर आचार्य जी ने प्रेम-भक्ति का अंकुर उगाने के लिए कर्म और भक्ति का मेल कर दिया है। इसी प्रकार उन्होंने जब यह कहा है—“भगवान् सब कुछ हैं, उन्हीं का रूप सर्वत्र है और उन्हीं से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, भक्त को ऐसा माहात्म्यज्ञान धारण करना चाहिये”, उस समय उन्होंने साधन-रूप में ज्ञान को भक्ति में स्थान दे दिया है। यह बात ध्यान करने की है कि बल्लभाचार्य और अष्टछाप-कवियों के मत में कर्म और ज्ञान, ये प्रेम-भक्ति की अवस्था प्राप्त करने के साधन-मात्र ही हैं, लक्ष्य रूप नहीं हैं।

बल्लभ-संप्रदाय के उपास्य देव सगुण रस-रूप श्री परब्रह्म श्री कृष्ण हैं। वहाँ यह भी बताया गया है कि इस मत में कृष्ण के दो रूप मान्य हैं—एक ‘पूर्ण पुरुषोत्तम रस-रूप ब्रज-कृष्ण’ और दूसरे ‘धर्म-संस्थापक ब्रह्मात्मक रूपवारी, (ऐश्वर्य-रूप) मधुरा-द्वारिका के वासुदेव’। अष्टछाप भक्तों की आस्था ईश्वर के सगुण, निर्गुण, पंचदेव और चौबीस लीलावतार सभी रूपों में थी, परन्तु उनकी प्रेमाभक्ति के उपास्य देव बाल, गूँगड और किशोर अवस्थाओं में लीलावारी ब्रज-कृष्ण ही थे। एक स्थल पर गोपी-वचनों में सूरदास जी कहते हैं—

“हो कैसे के बरसन पाऊँ ।

सुनहुँ पथिक, बा बेल-द्वारिका जो तुम्हरे संग जाऊँ ॥

बाहर भीर बहुत भूपन की, बूझत बदन डुराऊँ ।

भीतर भीर भोग-भाभिनि की, तिहि ठाँ कौन पठाऊँ ॥

बुधि-बल-बुझित-गतन करि बा पुर, हरि-पिय पै पहुँचाऊँ ।

अब बन-बसि निसि कुंज-रसिक-विन, कोनहि दसा सुनाऊँ ॥

सम के ‘सूर’ जाउँ पिय-पासहि, मन में भलें मनाऊँ ।

नव-किसोर-मुल-मुरली-विन, इन नैनन कहा दिसाऊँ ॥”

“हे पथिक, मैं प्यारे कृष्ण के कैसे दर्शन पाऊँ। मैं तुम्हारे साथ द्वारिका चल सकती हूँ, परन्तु वहाँ तो कृष्ण के राजसी ठाट होंगे। वहाँ भोग-भरे भवन में मेरी पहुँच नहीं है। यदि अपनी बुद्धि और यन्त्रों के साधन से मैं वहाँ पहुँच भी जाऊँ तो ब्रज-निकुंज के रसिक विना किसको अपने विगृह-दृश्य मुना-ऊँगी। मैं, नव किशोर-रत्न मुख-मुरलीधारी कृष्ण के बिना इन नेत्रों को क्या दिखाऊँगी।” चतु श्लोकी (पोड्य प्रश्न) में श्री बल्लभाचार्य जी ने कहा है—

“सर्वदा सर्व भावेन भजनीयो ब्रजाधिप”

भगवान् सर्वदा सर्वभाव से भजनीय हैं। प्रेम में, क्रोध में, भाव-कुभाव में अर्थात् सर्व भावों में यदि कृष्ण का ध्यान किया जाय तो वे भाव कल्याणकारी ही होते हैं। भागवतकार का भी मन्त्र

^१ श्रीबल्लभाचार्य—भक्तिवर्षिणी श्लोक—५,

है कि "काम, क्रोध, मय, स्नेह, ऐश्वर्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भाव भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ कर ईश्वरीय हो जाते हैं।" नारद-भक्तिसूत्र में कहा गया है कि "यदि सब आचार भगवान् को अर्पण करने पर भी काम, क्रोध अभिमानादि मानसिक भाव पीछा न छोड़ते हो तो उन्हें भी परमात्मा के प्रति करना चाहिये।" इन कथनों का वास्तव में तात्पर्य यही है कि किसी भी भाव से सही परमात्मा का सर्वदा ध्यान होना चाहिये और सब प्रकार के भावों का अवलंबन ईश्वर ही हो। इस प्रकार के अभ्यास से साधक की चंचल-मनोवृत्ति लोक से हट कर ईश्वर में ही केंद्रीभूत हो जाती है। यह भाव का योग है। भाव-द्वारा चित्त-वृत्ति का निरोध है।

मानव अनुभूति के विविध प्रकार के भावों में से भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने केवल प्रेम-प्रीति के भावों को ही चुना है और उन्हीं को लोक से उठा कर ईश्वर में लगाया है। इस प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यतः चार प्रकार से होती है। वास्तव में मानव-प्रेम के जितने रूप हैं उन सभी में प्रीति-सवधों को भक्तों ने परमात्मा से जोड़ा है और उसी के अनुसार भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने भक्ति के भावों का नाम-करण कर दिया है। जैसे—

“१. परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा स्वामि-भक्त दास हूँ। यह दास्य-प्रीति या दास्य-भक्ति है।

२. परमात्मा दुःख-मुक्त, अमोघ-अमोह में मेरा साथी है, वह मेरा परम मित्र है, बंधु है, उसके सिवाय मेरा अन्य कोई ऐसा मित्र या बंधु नहीं है। यह सख्य-प्रीति या सख्य-भक्ति है।

३. परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मैं उसकी पालक माता हूँ—बावी हूँ, मैं उसका पिता हूँ। शिशु के प्रति यह भाव दास्य-प्रीति अथवा दास्य-भक्ति है।

४. परमेश्वर पति है, मैं उसकी पत्नी हूँ, अथवा परमेश्वर प्रिय है, मैं उसका प्रेमी हूँ या परमात्मा प्रेमी है और मैं उसकी प्रिया हूँ। यह रति-प्रेम अथवा माधुर्य-भक्ति है।

भक्ति के ऊपर कहे चार-भावों के अतिरिक्त पाँचवाँ भाव शांता-भक्ति का भी है। उक्त चारों भावों की ईश्वरोन्मुख अनुभूति से, ससार की प्रस्थिर अवस्था तथा तत्त्व के ज्ञान से और बास-नाशों के क्षमन से जो चित्त की स्थिर अवस्था होती है, उसे भक्ति का 'धर्म' भाव अथवा 'शांता-भक्ति' कहते हैं।

सगुण ईश्वरके उपासक भक्तों ने पीछे कहे सवधों में ईश्वर को तीन रूपों में देखा—एक, स्त्री-रूप में, दूसरे पुरुष-रूप में और तीसरे युगल-रूप में। स्त्री-रूप के उपासकों ने भगवान् को मातृ-रूप तथा प्रिया-रूप इन दो रूपों में भजा है। भारतवर्ष के शाक्त उपासकों की एक शाखा ने परम-तत्त्व ईश्वर की आराधना 'मातृ-भाव' अथवा 'जननी-जन्य-भाव' से की है। प्रिया-रूप में अथवा 'मातृ' के रूप में भजने वालों में सूफी प्रेमी हुए हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह आदि ईश्वर के रूपों की उपासना करने वाले भक्तों ने ईश्वर को एक तो पुरुष-रूप मान कर उससे सभी सवध जोड़े हैं दूसरे उसकी स्त्री-पुरुष दोनों की समष्टि-भावना में भी देखा है। 'पुरुष-रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री-रूप है, वह अद्वैत वैष्णव संप्रदायों के अनुसार उसी की भक्ति है। भगवान् और उसकी महाशक्ति दोनों अभिन्न हैं और एक ही के दो रूप हैं। इसलिये भक्तों ने यदि भगवान् को पालक 'पिता' कहा तो भगवान् की शक्ति को 'माता' और यदि भगवान् को 'रस-रूप-परम पुरुष' कहा तो उसकी शक्ति को उसकी 'प्रिया'। गद्यछाप-कवियों की रचनाएँ राधाकृष्ण के युगल-रूप तथा केवल कृष्ण-रूप दो प्रकार के उपास्य की ओतक हैं। ईश्वर को केवल स्त्री-रूप में देख कर जैसी भक्ति शाक्त और सूफी-मतावलंबी-उपासना पद्धति में है, वैसी इन भक्तों की रचनाओं में नहीं है।

मूर्धा-भक्ति में भगवान् के साथ वे ही भाव जुड़ते हैं जो लोक-मर्यादा से मुक्त हैं। परब्रह्म-भक्ति में विधि-निषिद्ध का ध्यान नहीं है। इसमें अण्डे-बुरे सभी सवध परमात्मा के माथे

जुड़ते हैं। प्रीति चाहे काम-रूपा हो, चाहे सब-रूपा उसका एक रूप स्त्री-पुरुष-रति का भी होता है। भक्ति-शास्त्र में इस रति-भाव-जन्य आनन्द को 'मधुर-रस' कहते हैं और लोक-पक्ष में इसे 'शुगार-रस'। काव्य-शास्त्र में स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति चाहे स्वकीय-भाव की हो चाहे परकीय-भाव की शुगार-रसामास का कारण होती है। भक्ति में शुगार-रस तथा शुगार-रसामास दोनों के भाव को 'मधुर-रस' की संज्ञा दी जाती है। काव्य-शास्त्र में मधुर भावादि की भक्ति के आनन्द को रस की संज्ञा नहीं दी गई, केवल भाव-कोटि में ही इसे गिना गया है। जिस प्रकार की रस-सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भाव) शुगार-रस अथवा शुगार-रसामास की होती है उसी प्रकार की रस-सामग्री 'मधुर-रस' या 'उज्ज्वल-रस' की है। अतः केवल इतना ही है कि मधुर-रस में जो प्रेम 'पति' अथवा 'जार' भाव से किया जाता है, उसका आलवन लोक-नायक न होकर ईश्वर या ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है। चैतन्य संप्रदाय के श्री रूपगोस्वामी जी ने अपने ग्रंथ 'हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु' में भक्ति-रस के विवेचन के अंतर्गत इस मधुर-रस का भी निरूपण किया है। ब्रज-कृष्ण तथा उनकी प्रियाएँ (भक्त) इस रस के आलवन हैं। मुरली का मधुर स्वर, सखा, सखी—आदि इसके अनुभाव हैं तथा निर्वेद, हर्षादि जो शुगार-रस के व्यभिचारी भाव हैं वे इसके भी हैं। कृष्ण ने रति इस रस का स्थायी भाव है—इत्यादि। शुगार-रस की तरह मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—'सयोगात्मक' और 'वियोगात्मक'। सयोग-वियोग की वे ही अवस्थाएँ भक्ति-शास्त्र में कही गई हैं जो काव्य-शास्त्र में मानी गई हैं। क्योंकि प्रेम-भाव का मनोविज्ञान दोनों अवस्थाओं में (लौकिक प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम) एक-सा ही रहता है। इसी से भक्ति-प्रेम तथा लोक-प्रेम के चित्रण हमें एक-से प्रतीत हुआ करते हैं। मुरादा-भक्ति, जैसे दास्य, 'शीतल-भक्ति' भी कहलाती है और अमर्यादित भक्ति जैसे 'मधुर'—'उष्ण-भक्ति' कहलाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य मात्र का सबसे अधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। प्रीति के जितने सब-वस्तु हैं उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम में अधिक आकर्षण होता है, इसके अंतर्गत भी या तो प्रेम की पूर्वराग-अवस्था में अथवा स्वकीय-प्रेम की अपेक्षा परकीय-प्रेम या स्वकांत की अपेक्षा पर-पुरुष-प्रेम में अधिक तीव्रता, गहनता और टीस के आनन्द होते हैं। इसीलिए अनेक आध्यात्मिक साधकों ने जहाँ प्रेम का साधन मार्ग लिया है, वहाँ उन्होंने वात्सल्य, सख्य, दास्य और दापत्य-भावों की अपेक्षा 'पूर्वराग' अथवा 'जार'—प्रेम पर अधिक जोर दिया है। लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-सब-वस्तु की व्यापकता को देख ज्ञानी साधकों ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक सब-वस्तु की अनुभूतियों को लौकिक शुगार की भाषा तथा अन्योनित्तियों में प्रकट किया है। काव्यशास्त्रकारों ने रति-भाव के रस को 'रस-राज' कहा है, क्योंकि एक तो यह व्यापक भाव है, दूसरे अन्य मानव-अनुभूत भावों का भी समावेश इसमें बड़ी हद तक हो जाता है। भक्त-शास्त्रियों ने भी मधुर-रस को भक्ति का मुख्य और सर्व श्रेष्ठ रस माना है। काता-भाव की प्रीति में प्रेम की आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति की अवस्था पूर्णरूप में आ जाती है। आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण, प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन के साधन में जो अंतिम अवस्था आत्म-निवेदन की कही गई है वह काता-भाव में ही पूर्ण होती है और विशेष रूप से 'जार-भाव' में।

अष्टछाप-भक्तों की रचनाओं के देखने से पता चलता है कि उनकी रागानुभूति प्रेम के विविध सब-वस्तु में प्रकट हुई है, परन्तु इन सब सब-वस्तु में उनकी मानसिक वृत्ति मधुर-प्रेम में अधिक रही है और मधुर-प्रेम की जितनी अवस्थाएँ होती हैं उन सब का व्यक्तीकरण उन्होंने किया है। इन भक्तों का वास्तव में चरम लक्ष्य भी यही है कि गोपी-भाव से वे भगवान् के सहवान में अखंड आनन्द-ज्ञान करे। वियोग और सयोग अवस्थाओं में स्त्री रूप को लेकर उन्होंने जो प्रेमानु-भूति की है वह बहुधा स्वकीय भाव की ही है। परकीय भाव की व्यक्तीकरण इनकी रचनाओं में

है कि "काम, क्रोध, मय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भाव भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ कर ईश्वरीय हो जाते हैं।" नारद-भक्तिसूत्र में कहा गया है कि "यदि सब आचार भगवान् को अर्पण करने पर भी काम, क्रोध अभिमानादि मानसिक भाव पीछा न छोड़ते हो तो उन्हें भी परमात्मा के प्रति करना चाहिये।" इन कथनों का वास्तव में तात्पर्य यही है कि किसी भी भाव से सही परमात्मा का सर्वदा ध्यान होना चाहिये और सब प्रकार के भावों का अवलंबन ईश्वर ही हो। इस प्रकार के अभ्यास से साधक की चंचल-मनोवृत्ति लोक से हट कर ईश्वर में ही केंद्रीभूत हो जाती है। यह भाव का योग है। भाव-द्वारा चित्त-वृत्ति का निरोध है।

मानव अनुभूति के विविध प्रकार के भवों में से भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने केवल प्रेम-प्रीति के भावों को ही चुना है और उन्हीं को लोक से उठा कर ईश्वर में लगाया है। इस प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यतः चार प्रकार से होती है। वास्तव में मानव-प्रेम के जितने रूप हैं उन सभी में प्रीति-सबधों को भक्तों ने परमात्मा से जोड़ा है और उसी के अनुसार भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने भक्ति के भावों का नाम-करण कर दिया है। जैसे—

“१. परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा स्वामि-भक्त दास हूँ। यह दास्य-प्रीति या दास्य-भक्ति है।

२. परमात्मा दुःख-सुख, आमोद-प्रमोद में मेरा साथी है, वह मेरा परम मित्र है, बंधु है, उसके सिवाय मेरा अन्य कोई ऐसा मित्र या बंधु नहीं है। यह सख्य-प्रीति या सख्य-भक्ति है।

३. परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मैं उसकी पालक माता हूँ,—बावी हूँ, मैं उसका पिता हूँ। शिशु के प्रति यह भाव दास्य-प्रीति अथवा दास्य-भक्ति है।

४. परमेश्वर पति है, मैं उसकी पत्नी हूँ, अथवा परमेश्वर प्रिय है, मैं उसका प्रेमी हूँ या परमात्मा प्रेमी हूँ और मैं उसकी प्रिया हूँ। यह रति-प्रेम अथवा माधुर्य-भक्ति है।

भक्ति के ऊपर कहे चार-भावों के अतिरिक्त पाँचवाँ भाव आता-भक्ति का भी है। उक्त चारों भावों की ईश्वरानुभूति अनुभूति से, ससार की अस्थिर अवस्था तथा तत्त्व के ज्ञान से और वासनाओं के शमन से जो चित्त की स्थिर अवस्था होती है, उसे भक्ति का 'शर्म' भाव अथवा 'आता-भक्ति' कहते हैं।

सगुण ईश्वरके उपासक भक्तों ने पीछे कहे सबधों में ईश्वर को तीन रूपों में देखा—एक स्त्री-रूप में, दूसरे पुरुष-रूप में और तीसरे युगल-रूप में। स्त्री-रूप के उपासकों ने भगवान् को मातृ-रूप तथा प्रिया-रूप इन दो रूपों में भजा है। भारतवर्ष के शक्त उपासकों की एक शाखा ने परम-तत्त्व ईश्वर की आराधना 'मातृ-भाव' अथवा 'जननी-जन्य-भाव' से की है। प्रिया-रूप में अथवा 'मातृ' के रूप में भजने वालों में सूफी प्रेमी हुए हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह आदि ईश्वर के रूपों की उपासना करने वाले भक्तों ने ईश्वर को एक तो पुरुष-रूप मान कर उससे सभी सबध जोड़े हैं दूसरे उसको स्त्री-पुरुष दोनों की समष्टि-भावना में भी देखा है। 'पुरुष-रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री-रूप है, वह अद्वैत वैष्णव संप्रदायों के अनुसार उसी की शक्ति है। भगवान् और उसकी महाशक्ति दोनों अभिन्न हैं और एक ही के वे दो रूप हैं। इसलिये भक्तों ने यदि भगवान् को पालक 'पिता' कहा तो भगवान् की शक्ति को 'माता' और यदि भगवान् को 'रस-रूप-परम पुरुष' कहा तो उसकी शक्ति को उसकी 'प्रिया'। अष्टछाप-कवियों की रचनाएँ राधाकृष्ण के युगल-रूप तथा केवल कृष्ण-रूप दो प्रकार के उपास्य की ओतक हैं। ईश्वर को केवल स्त्री-रूप में देख कर जैसी भक्ति शक्त और सूफी-मतावलंबी-उपासना पद्धति में है, वैसी इन भक्तों की रचनाओं में नहीं है।

मर्यादा-भक्ति में भगवान् के साथ वे ही भाव जुड़ते हैं जो लोक-मर्यादा से समत हैं। पण्डित रागानुगा-भक्ति में विधि-निषिद्ध का ध्यान नहीं है। इसमें भक्तेन्द्रों सभी संवध परमात्मा के भाव

जुड़ते हैं। प्रीति चाहे काम-रूपा हो, चाहे सबब-रूपा उसका एक रूप स्त्री-पुरुष-रति का भी होता है। भक्ति-शास्त्र में इस रति-भाव-जन्य आनंद को 'मधुर-रस' कहते हैं और लोक-यक्ष में इसे 'शृंगार-रस'। काव्य-शास्त्र में स्त्री-मुख की परस्पर प्रीति चाहे स्वकीय-भाव की हो चाहे परकीय-भाव की शृंगार-रसाभास का कारण होती है। भक्ति में शृंगार-रस तथा शृंगार-रसाभास दोनों के भाव को 'मधुर-रस' की संज्ञा दी जाती है। काव्य-शास्त्र में मधुर भावादि की भक्ति के आनंद को रस की संज्ञा नहीं दी गई, केवल भाव-कोटि में ही इसे गिना गया है। जिस प्रकार की रस-सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव) शृंगार-रस अथवा शृंगार-रसाभास की होती है उसी प्रकार की रस-सामग्री 'मधुर-रस' या 'उज्ज्वल-रस' की है। अतएव केवल इतना ही है कि मधुर-रस में जो प्रेम 'प्रति' अथवा 'जार' भाव से किया जाता है, उसका आलवन लोक-नायक न होकर ईश्वर या ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है। चैतन्य संप्रदाय के श्री रूपगोस्वामी जी ने अपने ग्रंथ 'हरिभक्ति-रसामृत-सिध्द' में भक्ति-रस के विवेचन के अंतर्गत इस मधुर-रस का भी निरूपण किया है। अज-कृष्ण तथा उनकी प्रियाएँ (अवत) इस रस के आलवन हैं। मुरली का मधुर स्वर, सखा, सखी—आदि इसके अनुभाव हैं तथा निर्वेद, हर्षादि जो शृंगार-रस के व्यभिचारी भाव हैं वे इसके भी हैं। कृष्ण में रति इस रस का स्थायी भाव है—इत्यादि। शृंगार-रस की तरह मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—'सयोगात्मक' और 'वियोगात्मक'। सयोग-वियोग की वे ही अवस्थाएँ भक्ति-शास्त्र में कही गई हैं जो काव्य-शास्त्र में मानी गई हैं। क्योंकि प्रेम-भाव का मनोविज्ञान दोनों अवस्थाओं में (लौकिक प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम) एक-सा ही रहता है। इसी से भक्ति-प्रेम तथा लोक-प्रेम के चित्रण हमें एक-से प्रतीत हुआ करते हैं। मधुबि-भक्ति जैसे दास्य, 'वीतल-भक्ति' भी कहलाती है और भगवद्भक्ति भक्ति जैसे 'मधुर'—'उष्ण-भक्ति' कहलाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य मात्र का सबसे अधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। प्रीति के जितने सबब हैं उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम में अधिक आकर्षण होता है, इसके अंतर्गत भी या तो प्रेम की पूर्वराग-अवस्था में अथवा स्वकीय-प्रेम की अपेक्षा परकीय-प्रेम या स्वकांत की अपेक्षा पर-पुरुष-प्रेम में अधिक तीव्रता, गहनता और टीस के आनंद होते हैं। इसीलिये अनेक आध्यात्मिक साधको ने जहाँ प्रेम का साधन मार्ग लिया है, वहाँ उन्होंने वात्सल्य, सख्य, दास्य और दापत्य-भावों की अपेक्षा 'पूर्वराग' अथवा 'जार'—प्रेम पर अधिक जोर दिया है। लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-सबब की व्यापकता को देख जानी साधको ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक सबब की अनुभूतियों को लौकिक शृंगार की भाषा तथा अन्योक्तियों में प्रकट किया है। काव्यशास्त्रकारों ने रति-भाव के रस को 'रस-राज' कहा है, क्योंकि एक तो यह व्यापक भाव है, दूसरे अन्य मानव-अनुभूत भावों का भी समावेश इसमें बड़ी हद तक हो जाता है। भक्त-शास्त्रियों ने भी मधुर-रस को भक्ति का मुख्य और सर्व श्रेष्ठ रस माना है। काता-भाव की प्रीति में प्रेम की आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति की अवस्था पूर्णरूप में आ जाती है। आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण, प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन के साधन में जो प्रतिम अवस्था आत्म-निवेदन की कही गई है वह काता-भाव में ही पूर्ण होती है और विशेष रूप से 'जार-भाव' में।

अष्टछाप-भक्तों की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनकी रागानुभूति प्रेम के विविध स्वरूपों में प्रकट हुई है, परंतु इन सब सबधों में उनकी मानसिक कृति मधुर-प्रेम में अधिक रही है और मधुर-प्रेम की जितनी अवस्थाएँ होती हैं उन सब का व्यक्तीकरण उन्होंने किया है। इन भक्तों का वास्तव में चरम लक्ष्य भी यही है कि गोपी-भाव से वे भगवान् के सहवास में अखंड आनंद-लाला करें। वियोग और सयोग अवस्थाओं में स्त्री रूप को लेकर उन्होंने जो प्रेमानुभूति की है वह बहुधा स्वकीय भाव की ही है। परकीय भाव की व्यक्तीकरण इनकी रचनाओं में

‘नन्ददास’ प्रभु जाके नाम-मुनत ऐसी गति,

साधुरी मूरति कैबौ कैसी बई-री ॥

चाहे प्रेम अनन्य-पूर्व (स्वकीय) हो अथवा अन्य-पूर्व (परकीय) हो, श्रृंगार-रति की उलट पूर्वराग-भवस्था में प्रेमी लोक-साज और कुल-मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाते हैं, ठीक यही दृश्य भगुर-प्रेम की ‘पूर्वराग-भवस्था’ में भक्तों का होता है। लोक-मर्यादा की दृष्टि से देखे हुए अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के ससार को पीछे छोड़ा है तथा वे विधि-निषेध के बावों की उपेक्षा कर हृद-पूर्ण ससार से ऊँचे उठे हैं। परन्तु इस विषय में एक बात ध्यान रखने की यह है कि सभी कृष्ण-पूजा-संप्रदायों ने साधन की आरम्भिक अवस्था में मर्यादा का लगाव रखा है। अन्यथा ईश्वरोन्मुख-प्रेम की असिद्ध-भवस्था में साधक के आरम्भ से ही पथ-भ्रष्ट होने की आशंका होती है। प्रेमी भक्तों ने लौकिक प्रेम-भाव को एक दम छोड़ा नहीं है। उनका प्रेम लोक से हट कर ईश्वर की ओर मुड़ा है। जिसके ससर्ग में सभी भाव सम-भवस्था में आ जाते हैं। अष्टछाप-भक्तों ने भी गोपी-प्रेम-द्वारा अपनी प्रेम-लक्षणा-भक्ति का परिचय देते हुए लोक-साज तथा लोक-वेद की उपेक्षा का भाव प्रकट किया है।

मधुर प्रेम का सयोग-सुख

गोपी-कृष्ण-कथा में भागवत्कार से लेकर सभी लेखकों ने कुज-लीला में गोपी-कृष्ण का सयोग कराया है। हिंदी-भाषा के भक्त कवियों ने इस प्रसंग को बहुत विस्तार दिया है। यह सयोगावस्था एक तो गोपियों की उलट अभिलाषा-द्वारा उनके मानसिक जगत के काल्पनिक-मिलन में प्रकट हुई है, दूसरे वृंदाविपिन की कुंजों के रास-रूप में। काल्पनिक सयोग-सुख भी गोपियों की पूर्वराग-भवस्था में तथा उनके प्रवास-वियोग में, इन दो स्थलों पर प्रकट हुआ है। इस प्रकार के मिलन को काव्य-शास्त्र में ‘वियोग में सयोग’ कहा है। अष्टछाप कवियों ने इन प्रसंगों के चित्रण में अपने हृदय की प्रगाढ़ अनुभूति का परिचय दिया है।

प्रेम के जो उत्कर्ष-वर्द्धक-भाव होते हैं, जो सचारी रूप से मुख्य भाव के सहायक बनते हैं तथा कुछ वस्तुएँ और व्यापार भी जो उद्दीपन-विभाव रूप में प्रेम की वृद्धि करते हैं, उन सबका समावेश भक्ति-शास्त्र में किया गया है। अष्टछापी कृष्ण-भक्तों ने राधा के मान, गोपियों की लक्षिता, वासकसज्जा, अभिसारिका-आदि अवस्थाओं तथा सखी-सखा, नख-शिला की खोसा, श्रुतु-वर्णन, यमुना, चद्र-चाँदनी, मोर, मुरली-गान-आदि के विशद वर्णन में कृष्ण-प्रेम के उत्कर्ष-वर्द्धक उपकरणों का चित्रण किया है। उनके उदाहरण सहित विवरण यहाँ विषय विस्तार के भय से नहीं दिये जा रहे हैं। प्रेम के इन सब लोकानुभूत-प्रसंगों के चित्रण में इन भक्तों की साग मधुर-भक्ति का ही दृष्टिकोण है।

मधुर-भक्ति का वियोग-पक्ष

वल्लभ-संप्रदायी भक्ति-पद्धति में ही नहीं, प्रेम-भक्ति के सभी उपासकों ने प्रिय परमात्मा से प्रेमी आत्मा के बिछड़ने के ज्ञान और उससे पुनर्मिलन की विकल अभिलाषा को भक्ति के साधनों में एक आवश्यक अनुभूति माना है। ‘नारद-भक्तिसूत्र’ में भी भक्ति की ११ आसक्तियों में से एक ‘परम विरहसक्ति’ भी बताई गई है। सच्चे प्रेम की गहराई का परिचय, चाहे वह प्रेम लौकिक हो, चाहे भगवान् के प्रति, वास्तव में प्रेमी की विरह-व्याकुलता ही से मिलता है। बहुधा देखा गया है कि विरह-ससर्ग से ही किसी अनुकूल भाव का प्रस्कृतन होता है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन-लालसा की पुष्टि, इस विरह-भाव की मिश्र-भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से ही होती है। लौकिक प्रेम से कहीं अधिक बड़ी-बड़ी व्याकुलता की मधुर-भावना पतित-पावनी गंगा की तरह भक्त की हृदय-भूमि में उसके बावों की ओर उसके कर्णों को पवित्र करती हुई विराट्-प्रेम-समुद्र की ओर बहा करती है। प्रेमीजन अपने प्रिय परमात्मा की

याद में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उनको आत्म-विस्मृति हो जाती है और वे अपने आपको प्रिय ही में मिला पाते हैं, अथवा प्रिय को ही अपने में और अपने से सर्वत्र देखते हैं^१। प्रेम में विरह-भान की अनुभूति की आवश्यकता तथा उसकी महत्ता का वर्णन सूरदास, परमानंद दास और नंददास ने कई स्थलों पर अपनी रचनाओं में किया है। सूरदास जी विरह की महत्ता के विषय में कहते हैं—

“विरह-नुद जहँ नाहि जमित, नाहि उपजत प्रेम ।”

अथवा—

“ऊषो, बिरही, प्रेम करै ।

ज्यो बिन-मुद पट गहत न रंग को, रंग न रसै परै ॥

ज्यो घर बहै बीज-अंकुर गिरि, तो सत फलन करै ।

ज्यों घट-अनल बहत तन अपनो, पुनि पय अमी भरै ॥

क्यों रन-सूर सहै सर सनमुख, तो रवि-रय हूँ अरै ।

‘सूर’ गुणल-प्रेम-पथ चलिकें, क्यो दुख-सुखन डरै ॥”

अष्टछाप भक्तों ने अनेक प्रकार से अपनी विरह-जन्य मानसिक अवस्था के चित्र शक्ति किये हैं। काव्य-शास्त्र में कही हुई विषयों की सभी अवस्थाओं को जैसे—अमिलापा, चिंता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, सन्माद, व्याधि, जडता-आदि तथा विरह-वेदना से प्रताडित शारीरिक तथा भानसिक व्यापारों के जैसे—मलिनता, पादुता, कुण्ठा, अश्वि, दैन्य, तन्मयता—आदि बड़े ही हृदय-आही वर्णन उन्होंने किये हैं। इन वर्णनों में इन कवियों का, मुख्यतः सूरदास, परमानंददास तथा कुमनदास का सच्चा भक्त-रूप प्रकट होता है। इन गोपी-रूप-भक्तों की विरह-वेदना दैन्य-भाव धारण कर उन्हें तन्मय बना देती है। उस समय वे अपने भाव-जगत में जीवन-मुक्ति के परमानंद का अनुभव करने लगते हैं। “दर्द का हृद से गुजरना है बवा हो जाना ।”

“मधुर कौन मनायो मीनै ।

हम अपने ब्रज ऐसोंह रहि हैं, विरह-वाह-वीरानैं ॥

जागत, सोवत, स्वप्न, बिबल-निसि, रहि हैं रूप परवानैं ।

बारक लाल किसोरी-सीला सोभा-समुद समानैं ॥

जिनके तन, मन, प्राण ‘सूर’ पुनि, मुख-मुसिकानि बिकानैं ।

परी जो पय निबि अल्प-बूंद जल, सु पुनि कौन पैहवानैं ॥

जो कोऊ विरहिनि को दुख जानैं ।

तौ तजि सगुन साबरी मूरति, कित उपदेसै ग्यानैं ॥

कुमुद, चकोर मुदित बिद्य-निरखत, कहा करै लै भानैं ।

चातक सदाँ स्वाँति को सेवक, दुखित होत बिन पानैं ॥

भँवर, कुरंग, काग, कोइल को कधि-जन कपट बखानैं ।

‘सूरदास’ जो सरवस दीजै, कारी, कृति-ही न भानैं ॥”

अष्टछाप कवियों की रचनाओं में शृंगार-भाव की जिस मधुर-भक्ति का हमें परिचय मिलता है, उसकी परंपरा इन कवियों से पहले की है और उनके समकाल में तो उसका बहुत ही प्रचलन हो गया था। नारद-भक्तिसूत्र, ‘श्रीमद्भगवत’ तथा ‘भागवत’ के अनेक टीकाकारों ने इस भक्ति को स्वीकार

^१ हों जानो पिय-मिलन तें, विरह अधिक सुख होइ ।

मिलतें मिलिये एक तें, बिछुरै सब ठी सोइ ॥

—नंददास

किया है। दक्षिण भारत के आठवार भक्त, निंदाकाचार्य—आदि के कृष्णोपासक लगभग सभी संप्रदायों ने इस प्रकार की भक्ति को अपनाया था। चैतन्य संप्रदायी श्री रूपगोस्वामी जी ने मधुर-रस की भक्ति का विस्तार से विवेचन, अपने ग्रंथ 'उज्ज्वलनील-मणि' तथा 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिंधु' में किया है। सस्कृत-कवि जयदेव ने इसी भाव को लेकर 'राधाकृष्ण-अनुराग' के मधुर पद लिखे। सूरदास के पूर्ववर्ती मैथिल कोकिल विद्यापति के 'राधाकृष्ण-विषयक शृंगार-काव्य' से तो हिंदी-जगत मिला ही है। हिंदी-भाषा के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के कृष्णोपासक भक्त कवियों ने भी, जैसे—बंगला के चंडीदास, गुजराती के नरसी महुता और मीरा—आदि भक्त, इस भाव का अनुगमन किया था।

पीछे कहा गया है कि मानव-अनुभूति में यह भाव व्यापक और स्वाभाविक होते हुए भी, लोक-मर्यादा की दृष्टि से सयम और सकोच में ही रखा गया है और इसके उत्कर्ष को निंदनीय ही कहा गया है। भक्ति-मग्न में मधुर-भाव की निर्दोषिता पर भागवतकार से लेकर अब तक के कृष्णोपासक आचार्य और भक्त-जन कथन करते आये हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी-टीका के 'रास-प्रकरण' में कहा है—

“कृष्ण-रस में काम की सब क्रियाएँ हैं, परंतु उनमें लौकिक-काम नहीं है। निष्काम भगवान् के ससर्ग-द्वारा गोपियों के लौकिक-काम का क्षमल और अलौकिक-काम की पूर्ति हुई। यदि लौकिक-काम से काम की पूर्ति होती तो संसार उत्पन्न होता, परंतु गोपियों की तो संसार से निवृत्ति^१ हुई।”

संन्यास-निर्णय ग्रंथ में उन्होंने कहा है—

“विषयाश्रयात् देहानां नावेशः सर्वथा हरेः।”

जिनका मन विषयो से आक्रांत है उनमें प्रभु-प्रेरणा का आवेशकारी नहीं होता।

भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने इस भाव के अनुगमन के अधिकारी, भक्ति के साधन की एक विशेष अवस्था पर पहुँचे हुए भक्त ही बताये हैं। भाव-भक्ति की प्रथम सीढ़ी वल्लभ-मत में 'बाल-भाव-भक्ति' मानी गई है और अंतिम सीढ़ी मधुर-भक्ति की है, जिसके काल्पनिक सयोग और त्रियो-गात्मक अभ्यास से चित्त की वृत्ति का कृष्ण में निरोध होता है और पुण्य और पापों का क्षमन होता है।

मधुर-भाव की उच्चता और अनुकरण की निर्दोषिता के विषय में भी इस मार्ग के अनुगामी भक्त ये तर्क रखते हैं—

१ इस भाव के नायक अप्राकृत देहधारी ईश रूप, परब्रह्म श्री कृष्ण हैं।

२. विकार-पूर्ण लौकिक भावों का कृष्ण के साथ आरोप उनके संसर्ग से शुद्ध हो जाता है।

३ जैसे भगवान् के साथ माता-पिता, बंधु-सखा, पुत्रादि के संबंध जुड़ते हैं, उसी प्रकार 'पति' और 'जात' के संबंध भी उनके साथ जुड़ सकते हैं।

^१ क्रिया सर्वत्र सैवापि पर कामो न विद्यते।

तासां कामस्य संपूर्तिर्निष्कामेति तात्पर्यम् ॥

कामेन प्रेरित काम संसारं जनयेत्स्फुटम् ।

कामाभावेऽन्यथास्तु निष्कामः स्यात् न सतामय ॥

अतो न कापि मर्यादा भग्न्या मोक्षफलापि च ।

अतएतच्छ्रुतेर्लोको निष्कामः सर्वदा भवेत् ॥

भगवत्प्रति सर्वं यतो निष्काममीयते ।

अतः कामस्य नोद्वेगः ततः शुक्लचः स्फुटम् ॥

—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध-फल-प्रकरण-कारिका,

श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध अध्याय २६, श्लोक १५ में कहा गया है कि, काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ ईश्वरीय हो जाते हैं^१। इसी अध्याय के ११ वें श्लोक में भागवतकार ने कहा है—

“जिन्होने परमात्मा का जार-बुद्धि से ध्यान किया, उनके भी बंधनों का क्षय हो गया और गुणमय शरीर से मुक्ति मिल गई। गोपियों का काम-भाव लोक से हटकर साधनावस्था में भगवान् से लगा या। जब ससीम भाव निस्सीम हो जाय और भाव और भावुक एक हो जायें तभी भाव-रूप भगवान् का साक्षात्कार है^२।”

लौकिक काम शृंगार को मिटाने के लिये इस प्रकार की मधुर-भक्ति में काम-शृंगार-भाव का ही प्रयोग किया गया है। विष की दवा विष अथवा काँटे से काँटा निकालने के सिद्धांत में विष और काँटे के प्रयोग की सावधानी की आवश्यकता है, अन्यथा ये घातक हो सकते हैं। नददास ने ‘रूप-मजरी’ ग्रंथ में एक स्थान पर इस प्रकार की मधुर भक्ति के विषय में कहा है कि इस भक्ति में गरल और अमृत एक जगह ही रखे हुए हैं। जो ‘नीर-क्षीर-विवेक’ से इनको अलग-अलग कर केवल अमृत-गृहण करता है वही भगवान् के सानिध्य का सुख लाभ करता है, अन्यथा वासना के गर्व में और भी मानव फँसता है—

गरल-अमृत इक ठाँ करि राखे, भिन्न-सिद्ध करि बिरले वाले।

नीर-क्षीर निरवारै जोई, या मग प्रभु-पव पावै सोई।

और रास तथा रास में व्यक्त मधुर-भाव के विषय में नददास ने अपनी पुस्तक ‘सिद्धांत-पचाध्यायी’ में कहा है—

“सधन सच्चिदानंद नंद-नदन ईश्वर-जस।
तैसैई तिनके भगते, जगत, में भए भरे रस॥
‘नहि कछु इन्द्रिय-गामी-कामी कामिन के जस।
सब घट अतरजामी स्वामी परम एक रस॥”

ॐ

“नाहिन कछु सिंगार कथा ये पचध्याई।
सुंदर अति निर्वृत्ति-पराते इती बडाई॥
जे पंडित सिंगार-ग्रंथ-मत यामें सानें।
ते कछु भेव न जानें, हरि कौं विपई मानें॥
अनाकृष्ट मन कृष्ण कुष्ट-मद-हरन पियारे।
जहँ-जहँ जज्जल परम घरम ताके रखवारे॥

अथवा—

विकीर्णितं ब्रजबधूमिरिवं च विष्णोः—

अध्वान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।

^१ कामं क्रोधं भयं स्नेहमेकं सौहृदमेव च ।

नित्यं हरौ विद्यते योति तन्मयता हि ते ॥

^२ तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि संगताः ।

जगुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीयन्वन्धना ॥

भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं—

हृद्रोगमाश्रयपद्मिनोत्पचिरेण धीरः ॥

—श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध ३३।४०

राग-द्वारा राग को हटाकर वीतराग बनने तथा मानसिक भैल-काटने का यह साधन आर-भिक साधन नहीं कहा गया है। अष्टछाप-भक्तों ने पहले अपनी मानसिक वृत्ति भगवान् के बाल-रूप में रमाई थी। उनकी मुक्ति उत्तरोत्तर सख्य और वात्स्य में होती हुई काता-भाव-में प्रविष्ट हुई थी और अंत में इस भाव की तन्मय आत्म-निवेदन अवस्था में उन्होंने मुक्ति पाई थी। यह एक अत्यंत कठिन मार्ग है। लोक-व्यवहार में यह मार्ग अनुकरणीय नहीं है और सब अवस्था के पाठको के लिये इस भाव का कुछ अथ में, अष्टछाप-काव्य भी पढ़ने की वस्तु नहीं है।



सूरदास का काव्य

श्री नंददुलारे धाजपेयी

महाकवि सूरदास का काव्य, अवतक सम्यक् रूप से हमारे ध्वन्यपन और समीक्षण का विषय नहीं बन सका है। इसके जो दो मुख्य कारण हमें दीप्तते हैं, उनमें पहला यह है कि सूरदास जी के प्रधान काव्य-ग्रन्थ 'सूरसागर' का कोई ऐसा संस्करण अवतक प्रकाशित नहीं हुआ है जिसे सुंदर और विद्विष्ट तो क्या, संतोषजनक भी कहा जा सके। दूसरा कारण जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है और जो बहुत अग्रो तक पहले के लिए जिम्मेवार भी है—वह है, प्राच्य साहित्य के विद्वानों की मनोवृत्ति। यह मनोवृत्ति ऐसी है जो सूरदास जी की काव्यगत विशेषताओं की परख के लिए अनुकूल नहीं कही जा सकती। पहले तो हम सूरदास जी के वास्तव्य और शृंगार-रस प्रधान काव्य को, अपनी अँधी आदर्शवादिता के कारण, श्रेष्ठकाव्य मानने में ही हिचकते हैं; फिर उसे धार्मिक काव्य की श्रेणी में रखना तो हमारे लिए और भी कठिन हो जाता है। काव्य और धार्मिक काव्य दोनों ही के संबंध में हमने जो पैमाने बना रखे हैं, उनमें सूरदास जी की कविता किसी तरह पूरी नहीं उतरती। हमारे कहने का यह आशय नहीं कि हम सूरदास जी को कवि ही नहीं मानते, पुरानी प्रथा के अनुसार हम उनकी गणना गोस्वामी तुलसीदास जी के साथ भी कर लिया करते हैं। पर हम हृदय से यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सूरदास को गोस्वामी तुलसीदास की बराबरी का पद दिया जाना चाहिए। आज तक मेरे देखने में ऐसी एक भी समीक्षा नहीं आई जिसमें स्पष्ट रूप से प्रमाण देकर सूरदास के काव्य को तुलसीदास जी के काव्य की बराबरी में रखा गया हो। कहीं तो प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य के कृत्रिम विभेद खड़े कर, कहीं जीवन परिस्थितियों की व्यापकता और विस्तार की दुहाई देकर तथा कहीं लोकधर्म, मर्यादा और शील का नाम लेकर सूरदास जी की ठेकी दिखाई गई है। इस सब के मूल में जो स्थूल आदर्शवादी और शुष्क नीतिवादी विचारणा है, वह काव्य के मूल्य-निरूपण में बड़ी हद तक बाधक रही है। किंतु इस विचारणा से यह सारा युग आक्रांत है। सुख, किंतु जीवन की गहराई में स्थित स्थिर मनोवैगो का उद्घाटन और चित्रण क्या जीवन-परिस्थितियों की व्यापकता और विस्तार का बदला नहीं चुका लेते? लोकधर्म, मर्यादा और शील के निरूपण की अपेक्षा वास्तविकता की निर्द्वंद्वी शीलाओं, नटखटपन और नैसर्गिक स्नेहोद्गम का चित्राकण और ग्राम्य तथा वन्य जीवन की सहज सुषमा का प्रदर्शन क्या काव्य और कला के लिए कम उपयोगी या उत्कर्ष-साधक है? प्रबंध और मुक्तक की बाहरी भेदों के आग्रह करने की अपेक्षा काव्य के अंतरंग गुणों—रस की प्रगाढ़ता और उसकी मानस-प्रसालन-समता—की परीक्षा क्या कला-विवेचन के लिए अधिक आवश्यक नहीं? पर हम कब इन कार्यों में प्रवृत्त होते हैं? कब तटस्थ होकर और आगे मानेवाली आदर्शवादिता को किनारे रखकर, विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य-चर्चा करते हैं?

सूरदास जी का सूरसागर केवल काव्य ही नहीं है, वह धार्मिक काव्य भी है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उसका समान जन-समाज में तो है, किंतु विद्वानों के बीच अक्सर इस विषय के विवाद उठा करते हैं कि सूरसागर की गणना धार्मिक काव्य-ग्रन्थों में होनी चाहिए या नहीं? धार्मिक काव्य के विषय में इन विद्वानों के विचार बहुत कुछ विलक्षण हैं। अधिकांश लोगों का ऐसा स्थान है कि त्याग, संन्यास और वैराग्य की शिक्षा देनेवाली रचनाएँ ही धार्मिक काव्य कहला सकती हैं। इस दृष्टि से द्विती में कवीर और दादू भादि को ही धार्मिक कवि माना जा सकता है। तुलसीदास

को हम इस श्रेणी में इसलिए स्वीकार कर लेते हैं कि उन्होंने नीति और मर्यादा-बद्ध राम के उदात्त चरित्र का चित्रण किया है और भक्ति की महिमा सुनाई है। शोषा में हम सूर, मीरा आदि की उन रचनाओं को भी बार्मिक काव्य कह लेते हैं, जो मजनों के रूप में प्रचलित हो गई हैं तथा जिनमें किसी चरित्र-विशेष का उल्लेख नहीं। किंतु जब श्रीकृष्ण के और गोपियों के चरित्र की बात आती है तब हमारे विद्वान् पक्षोपेक्ष में पड़ जाते हैं। वे या तो कृष्ण-गोपी-चरित्र को आत्मा-परमात्मा का रूपक कह कर टाल देते हैं, या फिर विरोधी आलोचना करने में प्रवृत्त होते हैं। 'ईश्वर की छिछा-लेदर' और 'राधाकृष्ण' के सबंध में निकले हुए व्यंग्यात्मक लेख हिंदी-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ये दोनों ही दृष्टिकोण सूरदास जी के काव्य और उसकी कलात्मक विशेषताओं के अध्ययन में विशेष रूप से बाधक हैं। इनमें से पहला जो आरम्भ ही से सारे चरित्र को रूपक मान लेता है, काव्य के द्वारा उत्पन्न किए गए चारित्रिक महत्त्व और उसके प्रभावों का अनुभव करने का अवकाश ही नहीं देता। कवियों की कलाजन्य विशेषताएँ और काव्यजन्य उत्कर्ष प्रदर्शित ही नहीं हो पाते, क्योंकि हृष तो पहले से ही मान बैठे हैं कि राधा और कृष्ण में से एक आत्मा है और दूसरा परमात्मा। जहाँ मान ही लेने की बात हो, वहाँ कवि और कवि-कर्म की परीक्षा कैसे हो सकती है? कवि-कवि में जो अंतर है उसका आकलन कैसे किया जा सकता है और सच तो यह है कि उस दशा में काव्य और कला के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। इसी प्रकार दूसरा दृष्टिकोण जो राधा और कृष्ण के चरित्रों का नाम सुनकर ही चौंक पड़ता है और भटक उठता है, कविकी रचना-चातुरी और मनोभावना की सम्यक् परीक्षा के विलकुल विपरीत है। इसे हम एक प्रकार का स्थूल और उजड़ दृष्टिकोण कह सकते हैं, क्योंकि इसमें भी काव्य गुणों के अनुसंधान का प्रयास नहीं है। केवल कथा की बाहरी रूप-रेखा सुनकर जो काव्य पर आक्रमण आरम्भ कर देते हैं उन्हें काव्य या कला-विवेचक कौन कहेगा? कुमारी मरियम को कोमार्य में ही ईसामसीह उत्पन्न हुए थे। श्व यदि केवल इस ऊमरी बात को लें तो कितनी अविश्वसनीय और अपवादजनक यह प्रतीत होगी। किंतु इसी को लेकर ईसाई कलाकारों ने संसार की श्रेष्ठ कला कृतियों—मूर्तियों और चित्रों का निर्माण किया है जिनके दर्शन से हृदय में पवित्र भावना का प्रवाह वह चलता है। इस अवस्था में उस ऊमरी और अपवादजनक बात का क्या मूल्य रहा और उसी को मुख्यता देनेवाले व्यक्तियों की क्या वक्त हो सकती है? कथा या कहानी तो बिना खराद का वह ऊबड़-खाबड़ पत्थर है जिस पर कलाकार अपना कार्य आरम्भ करता है। मूर्ति के निर्माण हो जाने पर जब हम उस कला-वस्तु के सामने उपस्थित होते हैं तो क्या उस पत्थर की भी याद हमें आती है, जिसे काट-छाँट कर सँवारा गया और अशेष परिश्रम व्यय कर यह मूर्ति बनाई गई है? और क्या मूर्तियाँ भी सब एक-सी होती हैं? रचयिता की मनोभूमि जितनी ही प्रशस्त और परिष्कृत होगी, जितनी ही दिव्य और उदात्त कल्पनाओं का वह भविष्य होगा, साथ ही तराश के काम में जितना ही निपुण होगा—जितनी बारीकी से जितने गहरे प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखेगा, मानव-हृदय के रहस्यों को समझने और तदनुरूप अपनी कलावस्तु का निर्माण करने में वह जितना ही कुशल होगा, उसकी कला उतनी ही उदात्त और प्रशंसनीय कही जाएगी। कला विवेचक का कार्य यह नहीं होता कि वह मूल कहानी या कच्चे माल को देखकर ही कोई धारणा बना ले अथवा अपने किन्हीं व्यक्तिगत संस्कारों और प्रेरणों से परिचालित होकर कोई राय कायम कर ले, बल्कि उसे कला निर्माण सबकी विशेषज्ञता प्राप्त करनी होगी, कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन करना होगा और अतएव कवि की मूल संवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना होगा कि वह अपने उद्देश्य में कहीं तक सफल अथवा असफल हुआ है।

इसी दृष्टि से हम सूरदासजी के काव्य का अध्ययन आरम्भ करेंगे। पाठकों को यह विवक्षित है कि सूरदासजी ही सूरदासजी का प्रमुख काव्य-ग्रन्थ और उनकी कीर्ति का स्थायी स्तम्भ है। सूर-

सागर में यद्यपि श्रीमद्भागवत की कथा का अनुसरण किया गया है और भागवत के ही अनुसार इसमें भी बारह स्कंध रखे गए हैं, किंतु वास्तव में सूरदासजी का मुख्य उद्देश्य श्रीकृष्ण के चरित्र का ही आलेख करना था। इसीलिए उन्होंने एक चौथाई से भी कम हिस्से में सूरसागर के ग्यारह स्कंध समाप्त कर शेष तीन चौथाई से अधिक मात्रा में एक ही (दशम) स्कंध को पूरा करने में लगाया है। यही दशम स्कंध कृष्ण-चरित्र है, जिसमें कवि की काव्यकला का सर्वाधिक विकास हुआ है। शेष स्कंधों की रचना को हम परंपरा-पालन अथवा भूमिका मान मान सकते हैं। प्रस्तुत सग्रह में इसीलिए हमने कृष्ण-चरित्र के ही चुने हुए अथ एकत्र किए हैं। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि इन ग्यारह स्कंधों में यत्र-तत्र बिखरे हुए आख्यानों और विचारों को लोग सूरदासजी की अपनी रचना और अपने विचार मान कर उद्धृत करते हैं। वास्तव में सूरदासजी का स्वतंत्र कौशल और उनकी निजी विचारणा यदि कहीं व्यक्त हुई है तो एकमात्र दशम स्कंध में ही। शेष सभी स्थल अधिकांश श्रीमद्भागवत के संक्षेप-मात्र हैं। उनसे सूरदास का सबंध केवल अनुवाद कर्ता का-सा है। इस बात को ध्यान में न रखने के कारण अक्सर ऐसे स्थलों और विचारों से सूरदासजी का सबंध जोड़ दिया जाता है, जिनसे उनका कुछ भी वास्तविक संपर्क नहीं। इस गलतफहमी से बचने के लिए ही ऊपर का उल्लेख है।

सूरदासजी का काव्य यद्यपि अधिकतर गीतिबद्ध है, पर साथ ही छोटे-छोटे कथा प्रसंग और घटनाएँ भी गीतों के भीतर वर्णित हैं। यदि हम सूरसागर के दशम स्कंध को ही लें तो देखेंगे कि श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उनके वाल्य और कैशोर वय के चरित्र तथा उनका मथुरागमन और कसबध तक की मुख्य घटनाएँ भी यहाँ सग्रहीत हैं। सूरदासजी के काव्य की एक विशेषता यह है कि उसमें एक साथ ही श्रीकृष्ण के जीवन की श्रृंखला भी मिल जाती है और अत्यंत मनोरम रूप और भाव सृष्टि भी। प्रायः मुक्तक गीत ऐसे प्रसंगों को लेकर रचे जाते हैं जिनमें कथा का कोई क्रमबद्ध सूत्र नहीं मिलता, बल्कि कथा-अंश की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें दूसरे विवरणों का आश्रय लेना पड़ता है। गीतमात्र में केवल रूप या सौंदर्य आलेख के टुकड़े, सूक्ष्म मानसिक गतियाँ अथवा किसी विशेष अवसर पर उठने वाले मनोवेगों का प्रदर्शन ही प्राप्त होता है। स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करे, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाएँ, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गोचरण अथवा गोवर्द्धन-वार्ण के प्रसंग कथात्मक हैं, किंतु उन कथाओं को भी सजा कर सुंदर भावगीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौंदर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर घटना का विकास देख रहे हैं। इन दोनों के समिश्रण में प्रदुभुत सफलता सूरदासजी को मिली है।

कहीं कथनोपकथन की नियोजना करके (जैसे दानवीला में) और कहीं कथा की पृष्ठ-भूमि को ही (उदाहरणार्थ वन में विचरण, अथवा वन से ब्रज को लौटना) गीत में सज्जित करके समय, वातावरण और कथासूत्र का हवाला दे दिया गया है। सूरदासजी किसी नाटकीय स्थिति-विशेष अथवा किसी ऐकांतिक मनोभावना-विशेष से आकर्षित होकर परिचालित नहीं हुए हैं। कृष्ण के संपूर्ण बालचरित्र पर ही वे मुख हैं। फलतः वे मुक्तक गीतों के अंतर्गत सारे कथा सूत्र की रक्षा करने में समर्थ हुए हैं। अवश्य जहाँ काव्य अधिक अंतरमुख और मनोमय हो उठा है—जैसे वंशी के प्रति उपासना, नेत्रों के प्रति आरोप, विरह, अमर-गीत आदि में—वहाँ भाव ही कथा-रूप में परिणत हो गए हैं। कथा की पृथक् योजना वहाँ हम नहीं पाते।

अब हम सूरसागर के अन्य अनावश्यक अंशों को छोड़कर मुख्य दशम स्कंध को लें। वर्षा-ऋतु भाद्रपद मास (कृष्णपक्ष) अष्टमी की अघोरी राधा रात को चंद्रमा उदय होने के समय कृष्ण

का भाविर्भाव होता है। सूरदास इस बात का उल्लेख करना नहीं भूले हैं कि आकाश चन्द्रोदय के समय भी अश्वरा है, किंतु पृथ्वी पर नवज्योति का आगमन हुआ है। कृष्ण-काव्य की परंपरा के अनुसार कृष्ण का चार भुजा धारण कर अवतार लेना सूरदासजी ने भी सिखाया है, किंतु वह चतुर्भुज मूर्ति भी शिशु स्वरूप में है और उसके पृथ्वी पर आते ही माता उन अप्राकृतिक चिन्हों को विधा देती है। बालक कृष्ण अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने आते हैं। कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक शान्ति और उपयोगी सभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतने गहरे वह नहीं पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पड़े, यद्यपि उस माधुर्य की तह में ऐश्वर्य की एक हलकी आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है।

असंभव या अलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति को और भी क्षीण करने में सहायक होता है—कृष्ण का उसी रात स्थानांतरित होना, बल्य स्थान छोड़कर गोकुल पहुँचाया जाना। मार्ग में कृष्ण की ज्योति का न छिपना और बड़ी हुई यमुना का कृष्ण के पैर स्पर्श करते ही रास्ता दे देना, पिता बसुदेव की प्रसन्नता और उत्साह का सूचक है। साथ ही मानव-व्यापार में प्रकृति के सहयोग की कल्पना भी इसमें निहित है।

असंभव या अलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति के स्थान पर उसकी एक सहज योजना कृष्ण के गोकुल भ्राने से हो जाती है। वह योजना है कृष्ण के अयोनिज होने की। इसकी बड़ी नैसर्गिक और कलात्मक प्रतिष्ठा की जाती है। यह स्पष्ट है कि कृष्ण यशोदा के भगजात नहीं हैं और योनिज सवध न होने पर भी यशोदा के मन में परिपूर्ण पुत्र-भाव स्थापित होता है। क्योंकि कृष्ण यशोदा की भगजा के स्थानापन्न होकर आए हैं। यशोदा को इसकी सुख नहीं, किंतु पाठक इसे जानें रहते हैं। इस द्विविधा के द्वारा काव्य के भाव-सौंदर्य की वृद्धि होती है और अध्यात्मिकता अपने सहज कलात्मक रूप में प्रतिष्ठित होती है।

यशोदा का यह प्रीतिवस्था का पुत्र है, जबकि माता यौवन की सीमा पर पहुँच कर ठहर चुकी है और निराशा के साथ नीचे डलना आरंभ कर रही है। इस सचि-काल का स्पर्श करना कृष्ण-काव्य की एक बड़ी कलात्मक सूझ है। कृष्ण के प्रति अकेले और बड़े साथ के बाद पाए हुए पुत्र का प्यार उभर पड़ता है। कुमारी मरियम का पुत्र यौवन के अवधीचे आरंभ का है। और यशोदा का पुत्र यौवन के अंतिम अवशेष क्षण का है। युवती की प्रतिमा दोनों ओर है—एक यौवन के इस पार, दूसरी उस पार। एक का पुत्र आशा के पहले और दूसरे का आशा के पश्चात् प्राप्त होता है।

कृष्ण का व्यक्तित्व कुछ अपने सौंदर्य के, कुछ माता के स्नेहातिरेक के कारण—ये दोनों ही नैसर्गिक अनुपात में हैं, इसलिए काव्य के कलात्मक विकास में सहायक भी—तथा शेष कुछ पिता के ग्रामाधिपति होने के कारण (यह एक आकस्मिक अवघा सयोग सिद्ध प्रसंग है, जिस पर आवश्यक भार कवि ने कभी नहीं चढ़ने दिया) प्रमुख रूपसे सामने आता है और अतः वह निरस्यत प्रमुख ही रहता है। प्रमुखता तो काव्यो के सभी नायक मात्र के लिए आवश्यक होती है, किंतु कृष्ण की प्रमुखता कुछ ऐसी विशेषताएँ रखती है जो प्राध्यात्मिक काव्य के लिए आवश्यक है। इनमें सबसे पहली और मुख्य विशेषता है चरित्र के अंतर्गत एक रहस्यात्मक गुट की। रहस्यात्मक गुट तो जो भी जितना चाहे रख सकता है, किंतु काव्य में मनोवैज्ञानिक विवक्षनीयता भी अतिशय आवश्यक होती है। इन दोनों का सामंजस्य स्थापित करने में ही बार्मिक अवघा प्राध्यात्मिक काव्य की सफलता है। कोरे वरम प्रथ और उन्नत धार्मिक काव्य में यही मुख्य अंतर है कि एक में हमारे विश्वास को असीम मानकर वर्णित जाता है और दूसरे में हमारे स्वस्थ मानसिक उपकरणों के साथ न्याय किया जाता है। सक्षम दोनों का एक ही होता है—चरित्र की अलौकिकता की नियोजना करना, किंतु इन दोनों की प्रणालियों में सारा अंतर हुआ करता है।

जिन असाधारण और शिष्टवर्ग से घटी प्रथम दिन की घटनाओं का विवरण हम दे चुके हैं और साथ ही जिन मानसिक परिस्थितियों और प्रतिक्रियाओं का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं उनके बाद कृष्ण चरित्र की असाधारणता के लिए जमीन तैयार है, ऐसा कहा जा सकता है। देखना यह है कि वह असाधारणता अथवा रहस्यात्मकता कितने नैसर्गिक रूप से प्रस्फुटित होती है। कृष्णजन्म की वधाई वज्र चुकी है और विशेष उत्सव मनाए जा चुके हैं। अन्नप्राशन और जन्म दिन की तिथियाँ बड़े समारोह के साथ संपन्न हुई हैं। दिन-अर गाँव-अर की ग्रीव नद के आँगन में रहा करती है, बालक कृष्ण की क्रीड़ाएँ देखने के लिए गोपियों का आवागमन लगा ही रहता है। नव का आँगन भणियों का वना है, खमे कचन के वने हैं, इतनी अतिरिक्त सौंदर्य-योजना आसानी से खप जाती है।

तीन वर्ष बीतते ही बीतते कृष्ण आरम्भ करते हैं चोरी, घर के भीतर नहीं, बाहर समाज में चोरी, गोपियों के घर-अर में मालन और दही की चोरी और उत्पात। चोरी सामाजिक धारणा में एक अपराध है, पाप है और गोपियों को रोज-रोज तग करना भी कोई सदाचार नहीं। पर ग्राम के बातावरण और गोपियों की मन स्थिति में बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-मुष्ण निःस्पृह दीख पड़ती है। चोरी करते हुए भी वे गोपियों के मोद के हेतु वनते हैं और अपने उत्पातो-द्वारा उनके प्रेम के अधिक निकट पहुँचते हैं। पाप-मुष्ण निःस्पृह इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किए कैसे होती? अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रकृत काव्यवर्णना का अंग बन कर आया है, यही सूरदास की विवेकता है। सूर के भक्तिकाव्य का यह कौशल ध्यान देने योग्य है।

कृष्ण के इस स्वाभाविक नटखटपन के साथ जिस रहस्य की सृष्टि हो गई है, कवि समस्त काव्य में उसकी रक्षा और प्रवर्धन करता रहता है। स्वाभाविकता में अलौकिकता का विन्यास सूरदास की मुख्य काव्य साधना है। इस साधना में सर्वत्र वे सफल ही हुए हो यह नहीं कहा जा सकता, कहीं-कहीं वे रुझियों में भी फँस गए हैं, वहाँ काव्य का मनोवैज्ञानिक सूत्र खो गया है; फिर कहीं-कहीं वे परंपरा प्राप्त 'मान' आदि के विस्तृत विवरणों में इतने व्यस्त हो गए हैं कि उनका रहस्यात्मक पक्ष नीचे धब गया है, ऊपर आ गई है चोरी और स्थूल शृंगारिकता। मैं इन स्थलों को सूरदास के काव्य की असफलता मानता हूँ, किंतु सफलता के स्थल असफलता से कहीं अधिक हैं।

यहाँ मैं असफलता के कुछ हवाले दूँगा। कृष्ण के बाल्य-चरित्र में कतिपय राक्षसी और राक्ष-सिनियों के वध किये जाने के आख्यान मिलते हैं। कतिपय विद्वानों ने इन आख्यानों में कृष्ण की शक्तिमत्ता का निदर्शन पाया है। जब से आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने शक्ति, सौंदर्य और शील की पराकाष्ठा राम के चरित्र में दिखाई है, तब से लोगों ने समझ लिया है कि ये तीनों गुण काव्य चरित्रों के लिए अनिवार्य हैं और जहाँ कहीं अवसर आए इनकी ओर इंगित कर देना चाहिए। यह भाति कला की विवेचना में अत्यधिक बाधक हो रही है। केवल शक्ति की, सौंदर्य की अथवा शील की पराकाष्ठा दिखाना किसी काव्य का लक्ष्य नहीं हो सकता। काव्य का लक्ष्य तो होता है रस-विशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना। इस काव्य-लक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पड़ता है। फिर तो किसी पात्र में किन्हीं गुणों की योजना कर देना—वे गुण चाहे काव्य शैली से प्रभावोत्पादक अथवा विषवसनीय बनाए जा सकें हो या नहीं—कवि कर्म समझा जाने लगता है। यह कलात्मक और काव्यात्मक ह्रास का लक्षण है। कृष्ण के साथ बाल्यावस्था में राक्षस वध की जो अलौकिक लीलाएँ जुड़ी हुई हैं, जब तक उनका सकेतात्मक मानसिक आधार नहीं मिलता, तब तक काव्य की दृष्टि से उसका क्या मूल्य है? कोई यह नहीं कह सकता कि कृष्ण ने वास्तव में वे कार्य नहीं किए थे, किंतु काव्य कृति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अस्मभ के आधार पर वह अपना कार्य आरंभ न करे। प्रतीति के लिए उन मानस-सूत्रों का समूह आवश्यक है जो उन घटनाओं को विषवसनीय ही नहीं वास्तविक भी बना सकें। काव्य में किसी चरित्र के साथ किसी गुण की पराकाष्ठा नियोजित करना पर्याप्त नहीं है; उसकी प्रतीति की पराकाष्ठा भी नियोजित करनी होगी।

कई राक्षस पक्षी, वृद्ध, गवहे और भाँधी आदि का बेप वना कर आए थे, कृष्ण के द्वारा उनका पछाड़ा जाना स्वाभाविक रूपसे चित्रित है, पर कतिपय आख्यानों में सूरदासजी ने परंपरा का पालन भर कर दिया है, कथा को कला का स्वरूप देने की चेष्टा नहीं की। ब्रह्मा-द्वारा वृद्धों के हरे जाने पर नए वृद्धे गोपबालक उत्पन्न करने वाला आख्यान पूतना-वध तथा ऐसे ही अन्य कतिपय प्रसंग धन्या सत्यक मनोवैज्ञानिक आधार सूर के काव्य में नहीं पा सके हैं। उद्र का देवताओ सहित कृष्ण के पास वज्र आना केवल पौराणिक चित्रण है।

इसी प्रकार सूरदासजी के द्वारा चित्रित गोपिका-मान-प्रसंग को भी सीजिए। सूरदासजी ने उसका मूलगत रहस्यात्मक आशय खूब अच्छी तरह समझा था। उन्होंने आरंभ में वडे सुंदर ढंग से इस रहस्य की सूचना दी है। राधा का मान वास्तव में आतिमूलक था। उन्होंने कृष्ण के हृदय में अपनी परछाही देल कर यह समझ लिया कि इनके हृदय में कोई दूसरी गोपी बसती है। वस इसी कल्पना के आधार पर वे रुठ गई। कवि का प्रारंभिक आशय यह दिखाना रहा है कि गोपियाँ राधा की ही परछाई या प्रतिरूप हैं। कृष्ण का उनसे सम्पर्क राधा के प्रति ही सम्पर्क है। सोलह हजार एक सौ आठ गोपिकाओ से कृष्ण का संबंध दो दृष्टियों से प्रदर्शित है। एक तो कृष्ण के प्रेम की व्यापकता और सार्वजनीनता दिखाने के लिए (जिसमें ऐंद्रिय भाव संस्कृत और कलात्मक उच्चो, नृत्य, गीत आदि में लीन हो जाए) और दूसरा कृष्ण चरित को निसर्गत रहस्यात्मक या अलौकिक स्तर पर पहुँचाने के लिए। किंतु हुआ क्या? हुआ यह कि काव्य में कृष्ण को बहु-नायकत्व ही अधिक उभर उठा है। रहस्यात्मक पक्ष पिछड़ गया है। कृष्ण एक-एक रत एक-एक गोपी के साथ व्यतीत करते और प्रातः काल रक्तिम नेत्र, विचित्र बेप वनाकर दूसरी गोपिका के घर पहुँचते हैं। वहाँ उनका जैसा स्वागत होना चाहिए वैसा ही होता है। फलतः यहाँ कृष्ण थोड़ी-सी निर्लज्जता भी धारण करके स्थिति का सामना करते हैं। एक तो इस प्रसंग को इतना अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है कि मूल भाव से भले नहीं सँमलता और दूसरे इसकी वर्णना में रहस्यात्मक व्यभिचार (सब गोपिकाओ से, जो वास्तव में एक ही गोपी की प्रतिरूप है, समान प्रेम) ने स्थूल जारत्व का रूप धारण कर लिया है। भेरे विचार से सूरदास की कला इस प्रसंग में उस उच्च उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकी है जिसके लिए इस प्रसंग की नियोजना की गई थी। यहाँ वह अपने उच्च लक्ष्य और समुन्नत मानसिक धरातल से स्थलित होकर रुढ़ि के अनुसरण में सलग्न हो गई है।

इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि इस प्रसंग को यहाँ रखने का उद्देश्य केवल कृष्ण की इस प्रतिज्ञा की पूर्ति करना है कि जो कोई उन्हें जिस भाव से भजता है, उसको वे उसी भाव में मिलते हैं। सब गोपिकाओ ने मिलकर उन्हें पति रूप में सजा था, इसलिए सबके प्रति वे समान व्यवहार दिखाना चाहते हैं। किंतु इस प्रतिज्ञा को इस हद तक खींचना ठीक न होगा कि काव्य में कृष्ण व्यभिचारी और कामुक के रूप में दिखाई देने लगे। गोपिकाओ की कामना पूर्ति बडे सुंदर, स्वाभाविक और रहस्यात्मक रूप में रास-रत्ना द्वारा हो चुकी थी। बाह्य ऐंद्रिय संबंध को शब्दशः पूर्णता तक पहुँचाना सूरदास जैसे उच्चकोटि के कवि का लक्ष्य नहीं हो सकता। भावूम होता है उस युग की बहुपत्नी-प्रथा के दुष्परिणाम से सूरदासजी का काव्य भी कोरा न रह सका। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ह्लासोन्मुखी साहित्यिक रुढ़ियों का अतिवर्धन प्रभाव भी सूरदास के काव्य पर पड़ा।

किंतु ऐसे स्थलों को हम अपवाद स्वरूप ही ले सकते हैं। मुख्यतः सूरदासजी की कला उदात्त मानसिक भूमि पर ही खड़ी है। अवश्य कई बार राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों में धारीरिक सयोग की भी चर्चा आई है। हमारे देश के कवियों ने प्रेम के इस परिपाक को स्वाभाविक मानकर स्वीकार किया है, 'भोगाटिक' टग से किनारा काटने की प्रथा उनकी नहीं थी। पर ये स्थल, काव्य में अन्य स्थलों की भाँति ही प्रसंगत था गए हैं, इनके लिए कतिपय अतिवादी कवियों की भाँति कोई खास तैयारी सूरदासजी ने बही की है।

मेरी अपनी धारणा यह अवश्य है कि सूरदासजी को ऐसे स्थल बचा देने चाहिए थे, भ्रमना संकेत से काम ले लेना था, क्योंकि धार्मिक काव्य के रचयिता को सामाजिक मर्यादा अधिक बर्तनी होती

है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि स्नायुओं को विकृत कर देनेवाली आजकल की दीर्घसूत्री अनुराग वचनों की अपेक्षा सूरदास जी का उपक्रम फिर भी दुरा नहीं। अवश्य उन्हें प्रेम या अनुराग की यह परिणति दिखाने से कोई नहीं रोकता—वल्कि यह आज के समाज के लिए किसी अथा तक उपयोगी भी है, किन्तु शिष्टाचार के विचार से ऐसे प्रसंगों को मर्यादा की सीमा में रखना था। सर्वत्र सूरदास जी ने ऐसा नहीं किया है, उनके समय की काव्य परिपाटी में जान पड़ता है, इस प्रकार का कोई प्रतिवचन नहीं था।

ऐसे ही, चौरहरण के अवसर पर कृष्ण के मुख से गोपियों से यह कहलाना कि तुम हाथ ऊपर कर जल से निकलो और अपने-अपने वस्त्र लो, सूरदास जी की सुश्रुति का परिचायक नहीं है। सच्चे प्रेम की अगोपनीयता प्रकट करने के लिए कवि के पास कोई दूसरा उपाय नहीं था, यह मैं नहीं कह सकूँगा। उनके उद्देश्य के सबब मैं शकान रखते हुए भी यहाँ उनकी शैली को मैं निर्दोष नहीं कह सकता।

पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, ये इने-गिने स्थल अपवाद स्वरूप ही हैं और सूरदास जी के बृहत् काव्य पर कोई गहरा छव्वा नहीं लगाते। जो बच्चे हमें आज की दृष्टि से देख भी पड़ते हैं वे समझ हैं किसी युग-विशेष में क्षम्य भी हो। कम से कम यह तो कोई नहीं कह सकता कि सूरदास जी के काव्य में विचित्र राधा और कृष्ण का प्रेम अतिरिक्त भावात्मक उद्वेग या उवाल का द्योतक है। अथवा उसमें बिधास्त कामुकता या दपति-वासना के लक्षण हैं। यदि यह श्रुति नहीं है तो और सब आरोप गौण हो जाते हैं। यदि अनुराग के आरम्भ में तीव्र आकर्षण, ऐकान्तिक मिलनेच्छा और सामाजिक मर्यादाबधन की प्रेरणाएँ काम करती हैं तो प्रथम मिलन के पश्चात् तत्काल ही राधा में प्रेम-गोपन चातुरी, वाग्बिलास आदि की सामाजिक भावना जागृत हो जाती है जो प्रेम के स्वस्थ विकास का परिचायक है।

अब मैं कृष्ण की माखन-चोरी-वाले प्रसंग पर छूटी हुई सूरसागर की अपनी सरसरी आलोचना के सूत्रों को फिर से पकड़ लूँ। मैं कह चुका हूँ कि यह प्रसंग जहाँ एक ओर गोपियों के स्नेह की सहज धारा प्रवाहित कर देता है वहीं यह पाप-गुण्य से निर्लिप्त कृष्ण के उपास्य और रहस्य शुद्धादित के बाल रूप का भी उद्घाटन करने में सहायक हुआ है।

इसके पश्चात् सूरदास जी निरंतर नायक (कृष्ण) का सहज और साथ ही रहस्यमय गौरव दिखाते हुए और उपासना की दोहरी आवश्यकता-पूर्ति करते गए हैं। माखन चोरी का ही वय प्राप्त स्वरूप कृष्ण की दानलीला में दिखाई देता है। यहाँ प्रेम कला के खले हुए दृश्य हमें दिखाई देते हैं। कृष्ण के दधिदान (दधि पर लगने वाला कर) माँगने पर गोपियों को कृष्ण से उलझने, वाग्युद्ध करने, धमकी देने और बदले में धमकी पाने का अवसर मिलता है। अतः मैं एक ओर राधा और उनकी सब सखियाँ तथा दूसरी ओर कृष्ण तथा उनके सब सखा खलकर आपस में कहा-मुनी करते हैं। हाथा-पाई की नौबत भी आती है और अतः गोपी-दल सखा-समेत कृष्ण को भरपूर माखन और दधि-दान देकर, अपने सामने भोजन करा निवृत्त होता है। गोपियों के प्रेम की यह दूसरी बड़ी स्वीकृति कृष्ण ने दी है।

इसके पूर्व ही राधा का कृष्ण से परिचय—समागम हो चुका है। राधा की भावी सास (यशोदा) ने उसकी माँग गुंथी और नई फरिया (बिना सिला लहंगा) भेंट की है। अचल मेने डाले हैं। राधा की माता को पुत्री के सामने गाली दी और पिता को भी बिनोद-वचन कहे, जिस पिछले का बदला वह राधा के द्वारा ही पा चुकी है। फिर उसने सूर्य की ओर अचल-वसार कर उनसे आशीर्वाद माँगा है कि नई दपति का कल्याण हो।

इस रमणीय प्रेम और गार्हस्थ्य पुन रहस्य की आभा से अनुरजित करने के लिए सूरदास जी ने समस्त कुमारिकाओं से कात्यायनी व्रत कराया और पति रूप में कृष्ण को पाने की कामना करके कांतिक चतुर्विंशी को उपवास और रात्रि-जागरण के पश्चात् पूर्णमासी को यमुना स्नान करते हुए दिखाया है। यही अवसर चौर-हरण का है।

मागवत में राधा का व्यक्तित्व परिस्पष्ट नहीं हो पाया है, इसलिए वहाँ व्यक्तिगत प्रेमालाप, वैवाहिक लोकाचार आदि का अवसर ही नहीं मिला। बिना व्यक्तित्व के प्रेम की प्रगल्भता कैसे प्रकट होती ?

सूरदास जी ने इस अश्व की सम्यक् पूति की और फिर भागवत की ही भाँति उपास्य कृष्ण की भी स्थापना कर दी। जिस कौशल के साथ राधा और कृष्ण के एकनिष्ठ, व्यक्तिगत, प्रगाढ़ प्रेम सबध को सामूहिक स्वरूप सूरदास जी ने दिया है,—कृष्ण की प्रेम-भूति को जिस चातुरी के साथ समाजव्यापी आराधना का पात्र बना दिया है, धार्मिक काव्य के इतिहास में उसके जोड़ की कोई वस्तु शायद ही मिले।

कृष्ण के सौंदर्य को राधा की अनुरक्त दृष्टि ने रहस्यमय बना दिया है, गोपियाँ जब कि कृष्ण के अंग-अंग के सौंदर्य का वर्णन करती हैं तब राधा कहती हैं मैंने तो कृष्ण को देखा ही नहीं। एक अंग पर दृष्टि पड़े ही आँखें भर आती हैं, सारे अंगों को देखने की कौन कहे ? उनके अंगों पर कभी निगाह ही नहीं ठहरती। सौंदर्य भी प्रसिद्ध और ही रूप धारण कर लेता है। यह रहस्यमय सौंदर्य दर्शन है, जिसकी शिक्षा गोपियाँ राधा से लेती हैं।

राधा तो कृष्ण प्रेम की प्रयोग कर्त्री हैं। वे स्वतः प्रेम की आकर हैं। किंतु सूरदास जी का प्रयोजन एकमात्र आकर से ही नहीं सिद्ध होता, वे घर-घर उस आकर का प्रसार भी चाहते हैं। एतदर्थ राधा की सखियों की नियोजना की गई है जो प्रयोग कर्त्री राधा के संदेश को शतशः प्रणालियों से सारी दिखाओ में फैला देती हैं। राज की रज-रज में कृष्ण-प्रेम की सुगंधि व्याप्त हो गई है। भक्ति की वेल इसी रस में से अक्रुरित होती, बढ़ती और छा जाती है।

राधा श्रीकृष्ण की भक्त है अथवा प्रेमिका ? सूरसागर में वे सर्वत्र कृष्ण की समानाधिकारिणी प्रेमिका है। उनकी श्री—शोभा पर कृष्ण मुग्ध है। कृष्ण के रूप-भावण्य पर राधा रीझी है। क्या यह भक्ति का सबध है ? नहीं यह प्रेमी-प्रेमिका का सबध है। किंतु इसी प्रेमी-प्रेमिका-सबध का जब सामाजीकरण होता है, जब प्रत्येक गोपी राधा बन कर कृष्ण की आराधना करती है तब स्वभावतः भक्ति का आगमन होता है। प्रेमी कृष्ण के द्वारा ही आराध्य कृष्ण की स्थापना सूरदास जी ने जिस सुचारु क्रोटिकल से कराई है वह काव्य-जगत में एक दम अनोखा है।

रास वह स्थल है जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का सबध समाज-व्यापी होकर रहस्यमयी भक्ति में परिणत हो जाता है। श्रीकृष्ण सहस्रो गोपिकाओं के साथ रास में समिलित होते और सबकी कामना-पूति करते हैं। यहाँ प्रेमिका का व्यक्तिगत सबध-धारणा और तज्जन्य गर्व का निराकरण भी किया गया है। राधा यह सबध-धारणा रखती थी, इसलिए कृष्ण कुछ काल के लिए अतर्पण हो जाते हैं। जब राधा का यह गर्व दूर होता है तब कृष्ण पुनः उसके सामने आते हैं।

प्रेमी-प्रेमिका-सबध की यह अंतिम परिणति ध्यान देने योग्य है। यह व्यक्तिगत सबध का पूर्ण सामाजीकरण है, जिसे हम भक्ति कह सकते हैं। रास में असंख्य गोपियों का भाग लेना, नृत्प-गीत आदि के द्वारा सबकी कामनापूति, रहस्यमय रूप से सारी मढली का कृष्ण-केंद्र से संपर्कित होना और फिर रास में कृष्ण के वशी-बादन का प्रभाव—पाषाणों का द्रवित होना, यमुना की गति का स्तमित होना, चंद्रमा का ठहर जाना, सभी एक ही लक्ष्य की ओर इंगित करते हैं—शांत का अन्त में, अष्टि का समष्टि में पर्यवसान। इसलिए कृष्ण का रास अन्त कहा गया है। यह वह आदर्श-स्थिति है जिसमें पूर्ण सामरस्य की स्थापना हो गई है, विशेष का कहीं अस्तित्व नहीं। सकीर्णता के हेतुभूत गर्व और अहंकार गलित हो गए हैं,—धुल कर बह गए हैं और धुल कर निकली है दुग्ध-धवल चंद्रिका में सब ओर छिटक रही उज्ज्वल कृष्ण भक्ति।

यह न समझना चाहिए कि हम आज दिन बाजारों में रासलीला सबधी जो भड़े चित्र देखा करते हैं वही सूरदास का भी रास है। रास नाम तो दोनों में समान है, किंतु उसके अक्षरों में सूरदास जी की समता करना साधारण चित्रकारों का काम नहीं। रास की वर्णना में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक उँचाई पर पहुँच गया है। श्रीमद्भागवत की परंपरागत अनुकृति कवि ने नहीं की है, वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठ भूमि बनाई है, जिस प्रशांत और समुज्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो सज्जा, गोपियों का

जैसा मधुघन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केंद्रीकरण दिखाया है तथा रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की वैधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्ध्ना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अतर्दृष्टि के द्योतक हैं। उनके काव्य-चमत्कार की तुलना में वाजारू चित्रों को रखना, मणियों का मूल्य आक-भाजी-द्वारा आँकना है।

रास के पश्चात् विशेषतः मान का वर्णन कवि ने किया है, जिसके सबध में हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। मान का हेतु है राधा का अन्य गोपियों से अपने को पूयक् समझना, जब कि कवि की रहस्योन्मुख कला में वे राधा की प्रतिच्छाया मात्र हैं। इस लीला का आशय इस रहस्य को मुखरित करना ही था, किन्तु वर्णन की अतिरञ्जना में कवि का मूल उद्देश्य विलुप्त हो गया और राधा की भाति के स्थान पर कृष्ण का अपराधी रूप ही उभर आया है। निम्नव्य ही यह कवि की भावना के अनुरूप सृष्टि नहीं है।

कला की दृष्टि से मान-प्रसंग का एक दूसरा प्रयोजन राधा के व्यक्तित्व की, विशेषतः उसके सौंदर्य की प्रतिष्ठा करना भी हो सकता है—वह सौंदर्य जिसका आकर्षण कृष्ण को भी विभ्रान्त कर देता है (गोपियों की तो हस्ती ही क्या ?) और वह व्यक्तित्व जिसके सामने कृष्ण भी झुक कर प्रार्थी होते हैं। किन्तु इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं कहा जा सकता। इसमें राधा का सौंदर्याकर्षण यद्यपि प्रमुख हुआ है, किन्तु उससे भी प्रमुख हो गई है उनकी गोपियों के प्रति ईर्ष्या। क्या कवि का यह उद्देश्य (ईर्ष्या को प्रमुखता देना) हो सकता है ?

उच्च कला और सौंदर्यस्थापन की दृष्टि से इसका समर्थन नहीं किया जा सकता, यद्यपि एक प्रकार के श्रद्धालु यह कहेंगे कि राधा की ईर्ष्या उनके अन्य गोपियों की अपेक्षा सुंदर सज्जा करने और कृष्ण-प्रेम की एकात अधिकारिणी बनने में सहायक हुई है। उस समर्थक वर्ग की दलील भी हम सुन चुके हैं जो यह कहता है कि प्रत्येक गोपी ने जिस-जिस भाव से कृष्ण को भजा उसकी पूर्ति उन्होंने की। उन्हीं में के कुछ यह भी कहेंगे कि बिना शारीरिक सयोग के गोपियों में उस विरह की जागृति दिखाना सम्भव न था जो कृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् समस्त ब्रज में छा गया है। इस प्रकार की विचारणा उस विशेष वर्ग की है जो तात्त्विक रहस्यवादी पद्धतियों का अनुगामी है। मेरे विचार से श्रेष्ठ कला और दर्शन की आवश्यकताएँ इससे भिन्न हैं।

मान-मोचन के बाद ही वसंत और होली के अवसर आते हैं, जिनमें सामूहिक गान, वाद्य और छीना-झपटी के चटकीले और रंगीन दृश्य दिखाई देते हैं। इसके पश्चात् सागर-स्नान और स्नानान्तर स्वच्छ नूतन वस्त्र धारण करना और फिर पुष्प मालाओं से आच्छादित स्वर्ण-हिडोल में गोपियों से परि-वेष्टित राधा-कृष्ण की झूलती हुई ऐश्वर्यशालिनी झाँकी। यही कृष्ण की ब्रजलीला समाप्त होती है। पर्व गिरता है। प्रधात शोचस्विता और प्रसन्न समावर के प्रभाव लेकर दर्शक मडली (ब्रज की गोप-गोपियाँ) घर लौटती हैं।

इस अवसर पर जब ब्रज में सब ओर सुख-समृद्धि छा गई है और हिडोल-स्थित राधा-कृष्ण की किशोर मूर्ति चरम आकर्षण का विषय बन चुकी है, एक ऐसी निष्क्रियता और आत्मनिद्रा की सभावना है जो स्वाभावतः ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होती है। नेपथ्यायी भगवान नारायण के-से दिव्य, किन्तु प्रस्थिर और गति-हीन स्वरूप का उद्घाटन करना सूरदास की कला का लक्ष्य नहीं था, नहीं तो वे इसी स्थान पर अपना काव्य समाप्त कर देते। पर वे सारे ब्रजमंडल को चौंका देते हैं, कृष्ण की मथुरा जाने की सूचना दे कर। असमाधिक रूप से एक ऐसा झोका माता है जो सुख के प्रधात पारावार को दुःख की तरंगों से अभिभूत कर देता है। सब के सब व्यथित हो रहते हैं और कर्तव्य-शून्य होकर क्षोभ के महानद में डूबते-उतरते हैं। काव्य में जीवन की प्रगति का यही स्वरूप है। कृष्ण का कार्य अब ब्रज में नहीं मथुरा में है। इसलिए वे समस्त काम्य-सबधों और प्रेम-बन्धनों को दूसरे ही क्षण तोड़ देने को (हृदय पर पत्थर रख कर) तैयार हो जाते हैं।

विजय का पूर्ण विश्वास प्रतिक्षण मन में रखते हुए भी, अर्थात् भीतर से निश्चित होते हुए भी, बाहर विफट सषर्षों का सामना कृष्ण को करना पड़ता है। वे सच्चे अर्थ में आतिकाारी का आत्म-विश्वास और उसी की-सी कष्ट सहिष्णुता लेकर इस नए नाट्य में प्रवेश करते हैं। अपने से अदना कार्य वे अपने हाथों करते हैं। क्योंकि वे किसी समृद्धि सेना के नायक नहीं, नए आतिकाारी हैं और अदनी से अदनी बात सुनने को तैयार रहते हैं। सूरसागर के इस प्रसंग को देखने पर इसकी अद्भुत समानता उन रचनाओं से देख पड़ती है जिनमें प्रचलित समान व्यवस्था अथवा राज व्यवस्था के विरुद्ध आतिकाारी चरित्रों की अवतारणा की गई है। रजक के साथ कृष्ण का झगडा, उसके कपड़े छीन कर अपने हाथियों को पहनाना (बहाना यह कि राजा के दरबार में मैंने कपड़े पहन कर कैसे जायें)। आत्म-विश्वास आतिकाारी प्रसंगों की याद दिलाता है। मलयुद्ध के पूर्व कुवरी का मिलना और तिलक सारांश एक ऐसा विचित्र और शुभ-सूचक मनोवैज्ञानिक उपादान है जो आधुनिक आतिमूलक रचनाओं में भी किसी न किसी रूप में मिल जाता है। कस-वध के पश्चात् कृष्ण सबसे पहले कुवरी के घर जाकर ही उसका स्वागत-सत्कार स्वीकार करते हैं। कस के दुराचारी के मार से दब कर ही मानो वह कुवरी हो गई थी और कृष्ण के आते ही वह सुदर अगवाली हो जाती है।

यहाँ, व्रज में, कृष्ण कितने कोमल प्रेम-तनुओं को छिन-भिन्न कर गए हैं, इसका कुछ अवाज गोपियों की विरह कातर पुकार से लग सकेगा। आज के समीक्षक को यह एतराज है कि कृष्ण के कुछ भील दूर मथुरा जाने पर गोपियों के रोने-बोने का इतना बडा पर्वोदा सूरदास ने क्यों एकत्र किया? यही नहीं, सूरसागर काव्य के जो उत्कृष्ट स्थल हैं—वशी को लक्ष्य करके दिए गए सँकडों उपास, जिनमें सुख प्रेम-भावना भरी हुई है, नेत्रों पर किए गए अनेकानेक आरोप जिनमें रहस्यमय सौंदर्य-व्यवना है, इन आलोचकों की व्यर्थ की मानसिक उधेड़-धुल और एक अतिभावुक युग का काव्यावरोध समझ पड़ता है। किंतु यह समझ एकदम आत है। असल में इन्हीं वर्णनाओं में, जो कवि की उत्कृष्ट तत्त्वीयता और सुख मानसिक पहुँच और अधिकार की द्योतक है, कवि ने कृष्ण के रहस्यमय स्वरूप का निर्देश किया है, वह स्वरूप जो भक्ति का आधार और भक्तों का इष्ट है। भक्ति और भक्त का नाम सुन कर कोई भिन्ना धारणा नहीं बना लेनी चाहिए। मैं कह चुका हूँ कि व्यक्तिगत प्रेम का सामूहिक सामाजिक स्वरूप ही भक्ति है और साथ ही मैं कवि सूरदास की उन काव्य-वेष्टाओं की भी कुछ सूचना दे चुका हूँ, जिनमें उन्होंने इस समाज-व्यापिनी कृष्ण-भक्ति की नियोजना की है। इन्हीं वेष्टाओं के सर्वश्रेष्ठ अंश वे हैं जिन्हें उपर्युक्त आलोचक मानसिक बिजु भणा कह कर टाल देना चाहते हैं। पर इस प्रकार वे टाले नहीं जा सकेंगे। व्यक्त सौंदर्य की जो अभ्यस्त और निगूढ अतर्गतियाँ कवि ने दिखाई हैं वे कृष्ण को रहस्य स्वरूप प्रदान करती हैं। इसी रहस्यमय स्वरूप से उपास्य कृष्ण की प्रतिष्ठा होती है। जो प्रेम प्रसंग व्यक्तिगत और बाह्य पटनाओं से प्रकट हैं उनका उपयोग भी क्रमशः अनिवार्य, रहस्यमय, सामूहिक प्रेम (भक्ति) की अनिव्यक्ति के लिए ही होता है। सूरदास की यही मुख्य काव्य-साधना है।

व्रज रहते, कृष्ण का जो प्रेम, गोपियों में इधर-उधर विस्तार था, अब उनके मथुरा जाने पर वह छनकर एकत्र हो रहा है। गोपियों के विरह-गीतों में उसका समाजवादी स्वरूप धारण करना जारी है। मिलने के अवसर पर जो रडे-सहे भेद-भाव थे, अब मिट गए हैं (जिन लोगों ने यह शका की है कि सूरसागर में सोलह हजार गोपिका-सहचरियों से कृष्ण का प्रेम सब वषों दिखाया गया है? उन्हें ऊपर के उत्तर से समाधान कर लेना चाहिए)। प्रेम-भावना अपना रहस्यमय सामाजिक स्वरूप धारण कर रही है।

और जब उद्वह निर्गुण का सदेश लाते हैं तथा गोपियाँ भ्रमर को संबोधित कर उन्हें अर्पण करती हैं, तब तो रहस्य खुल ही जाता है। गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म का तिरस्कार क्यों करती हैं? क्योंकि वे जिसकी प्रेमिका या उपासिका हैं, वह निर्गुण से क्या कम है? निर्गुण से क्या कम सुंदर है? क्या कम श्रेष्ठ है? जिसकी योगी योग द्वारा समाधि साध कर प्राप्त करते हैं उसे ही (नामान्तर से) गोपियों ने प्रेम-वि-ध्या से प्राप्त किया है। क्यों वे इसे छोड़कर उसे हैं? क्या विशेषता है उसमें, जो इसमें नहीं है? क्या

रहस्य है उसमें, जो इसमें नहीं है ? जो विशेषण उसके साथ लगते हैं, वे सब इसके साथ भी लगते हैं । यह कोई व्यक्ति कृष्ण नहीं, यह तो रहस्यमयी परमसत्ता, परम उपास्य ही कृष्ण है और यही आकर सूरदास जी की आरम्भिक प्रतिज्ञा भी सार्थक हो जाती है—

अविगत - गति कछु कहत न आवै ।

सब विधि भगम विचारहि तातै 'सूर' सगुन-पद गावै ॥

अविज्ञात निर्गुण के समकक्ष विज्ञात सगुण कृष्ण के रहस्यमय लीला-पद सूरदास सुनाते हैं ।



हम अलि, गोकुलनाथ-अराध्या

महाकवि सुरदास

राग—सोरठ

हम अलि, गोकुलनाथ-अराध्या ।

मन, वच, क्रम हरि सो धरि पतिव्रत, प्रेम-जोग-तप-साध्या ॥
मात-पिता हित प्रीति नियम-पथ तजि दुख-मुख भ्रम नाथ्या ॥
मान, समान परम परितोषी, अस्थिर-चित मन राख्यो ॥
सकुचासन कुल, सील करषि करि, जगतबंद करि बवन ॥
मान, अपवाद पवन अवरोधन, हित-क्रम काम-निकदन ॥
गुरुजन-कौनि अगिनि चहुँ दिसि, नभ तरनि ताप बिन देखे ॥
पिबत धूम उपहास जहाँ तहै, अपजस लवन अलेखे ॥
सहज समाधि बिसारि बपु बानक निराखि, निनेख न लागत ॥
परम जोति प्रति अंग माधुरी, धरत यहै निसि जागत ॥
त्रिकुटी संग भू-अंग तराटक, नैन, नैन लगि लागे ॥
हेतन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि, चब-सूर अनुरागे ॥
मुरली अघर लवन धुनि सो धुनि अनहद नाद प्रमनि ॥
वरसत रस वचि बचन संग सुख, पद आनंद समनि ॥
मंत्र दियो मन जात भजन लगि ग्यान-ध्यान हरि हो कौ ॥
'सूर' कहौ गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फोकौ ॥

राग-भलार

प्रीति बा देस, न कोऊ जानत ।

तू तौ बात कहत अलि, ऐसी, बिया नाहिँ पैहवानत ॥
जो गुपाल ब्रजमें घर-घरते, दूध दह्यौ लै खात ॥
सो अब दुःख देत ब्रज-जासिहू, निठुर भए पुर-जात ॥
नख-सिख-लो बिष-रूप बसत है, मधुबन नाम कहावत ॥
'सूर' कुटिलता सो सुनियत है, लोग पुरातन गावत ॥

राग-भलार

मधुकर, तुम्ह रस-लपट लोग ।

कमल-कोष-अस रहत निरतर, हमें सिखावत जोग ॥
अपने काख फिरत बन अंतर, निमिष नाहिँ अकुलात ॥
पुष्ट पणें बहुरी बेलिन के, नैक निकट नाहिँ जात ॥
तुम्ह जंचल, वे चोर सकल अंग, बातहू को पतियात ॥
'सूर' बिधाता बोल रचे है, मधुप-न्यास इक गात ॥

लाञ्छनं यथाप्राप्तं तत्तु तमद्वयं ननु तालमस्य वरास्यस्य मृत्तुन कृत्वा नाका
 भारमुत्तापुत्तु वाराधनं वनोक्तं जलवनमिदं नाधनुदुहावत्तु पातनाको छत्रे वरा
 लकुटीकरः परमभगवत्पुत्रो लतुन कोतापुत्रो वरुणः ॥ २० ॥ राममेघमलार
 मुनीकुंजवातैः सुदृक्छिन्नमाचार जीवो जपसीलीलाचावर्त



श्री सरदासजीके एक पद पर प्राचीन राजस्थानी-चित्र

सूरसागर का विकास और उसका रूप

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

बहुत दिन से मन में कुछ विचार संचर्य कर रहे थे कि 'श्रीसूर' के 'सागर' का वर्तमान—“भागवत-अनुसार द्वादशस्कधात्मक” रूप सूरदास कृत नहीं है। इसके कुछ कारण थे और भी उनमें सत्यता। फिर भी विचार व्यक्तिक्रम के कारण पकड़ में नहीं आ रहे थे। उन पर श्रद्धा-अश्रद्धा का आवरण जब-तब उतरता-चढ़ता रहता था। वे कारण थे—श्री गोकुलनाथजी की 'वार्त्ता', उस पर श्री हरिरायजी का 'प्रकाश', नामादास जी का 'भक्तमाल', प्रियादासजी की भक्तमाल पर 'टीका', भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, गीता के महाराज रघु राज सिंह आदि से लेकर अनेक 'भक्त-चरित्रात्मक' विवरणों के रचयिताओं के अनंतर हिंदी-साहित्य के वे इतिहास-ग्रंथ जो 'शिवसिंह-सरोज' से लेकर अबतक प्रकाश में आ चुके हैं। इन सब ग्रंथों में सूर और उनके सागर के प्रति विभिन्न मत होते हुए भी इस एक बात को सब ने दुहराया है कि श्रीसूर ने 'लक्ष्मावधि' वा 'सहस्रावधि'-पद-रचना की, जो विचारणीय है, किन्तु यहाँ लक्ष्मावधि वा सहस्रावधि सजा किसी हृद वा परिमाण की छोटक नहीं, उसकी अपारता की छोटक है। फिर भी उदयपुर के मोतीलाल मेनारिया एम० ए० ने इस सहस्रावधि-पद मस्या को ही आधार मान कर अपने एक लेख में सूर के सागर को एक हजार पदों की परिधि में समाप्त होने वाला ग्रंथ बतलाया है। यह हजार पदों की सख्या का दायरा उदयपुर और बीकानेर के सरस्वती-भट्टारो से प्राप्त प्रतियों पर अवलंबित है। अन्य प्रतियाँ जो उनके इस दायरे से कहीं अधिक हैं, उनके लिये नायद आप के हृदय में स्थान नहीं। सूरसागर के रूप पर भी उन्होंने कुछ प्रकाश नहीं डाला है कि वह सग्र-हात्मक है वा भागवत-अनुसार द्वादशस्कधात्मक, यद्यपि इन भट्टारो की प्रतियाँ उनके देखने में आ चुकी थी। सूर के सब व में लिखे गये अनेक ग्रंथों के साथ-साथ समय-समय पर सूरसागर की प्रतियाँ यन्त्र-तंत्र से हमारे देखने में भी आईं, जो सब द्वादशस्कधात्मक, अर्थात् भागवत-अनुसार प्रथम स्कंध से लेकर द्वादशस्कंध तक अनु-वाद जैसी थी और इन्हें अप्रमाणिक मानने में किसी आधार के बिना लोक-सज्जा थी। फिर भी हृदय सागर के इस द्वादशस्कधात्मक रूप को मानने में विवश था—इनकार कर रहा था, क्योंकि 'नवलकिशोर प्रेस लखनऊ' की प्रति जो मुद्रित प्रतियों में उस समय सब से प्राचीन थी और जिसके—प्रथम संस्करण का संपादन ब्रजभाषा के जाने-माने कवि महाराज मानसिंहजी उपनाम 'द्विजदेव' अयोध्या की देख-रेख में उस समय के किन्हीं प० कालीचरण ने किया था और जिसके अनेक संस्करण आज तक निकल चुके हैं। वह संस्करण सग्रहात्मक है,—द्वादशस्कधात्मक नहीं। द्विजदेवजी ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे—उसके मर्मज्ञ थे और थे उस (ब्रज-भाषा) के कवियों से, उसके इतिवृत्त से तथा उसके साहित्य से परिचित एवं विज्ञ। जब उन्होंने अपनी देख-रेख में प्रकाशित होने वाले 'सूरसागर' को सग्रहात्मक रूप में प्रकाशित कराया, तब उसकी मान्यता के कुछ कारण अवश्य होने चाहिये, जो आज भ्रंशित हैं। द्विजदेवजी-द्वारा मान्य सूरसागर का सग्रहात्मक रूप मोटे तौर पर विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत इस प्रकार है—

“सूरसागरवली (सवालख पदों की सूची), नित्यकीर्त्तन (विभिन्न गेय-पद-रचयिता कवियों का संग्रह), नचाई के पद, बाल-लीला (माटी-भक्षण), माखन चोरी, दामोदर लीला, बत्सहरण लीला, राधा कृष्ण प्रथम मिलन—जकई-भोरा खेलन लीला, गोलबर्चन लीला, गोचारण लीला, कालीबलन-लीला, बाबानल-पान लीला, गोबोहन लीला, भुवंगम-डसन लीला, व्रतचर्या—बस्त्रहरण लीला, पनघट-लीला, दान लीला, अनुराग लीला, मुरली के पद, रास लीला, वियन के पद, मयुरा-गमन लीला और अमरगीत-संबंधी पद।”

वार्ता तथा भक्तमाल-आदि ग्रन्थों में जैसा लिखा जा चुका है कि श्रीमूर ने लक्षावधि या सहस्रावधि, अर्थात् किसी सरया के दायरे में न आनेवाले रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण के लीलात्मक पदों की रचना की। इस प्रमाण की अपुष्टता के प्रति कोई दलील नहीं दी जा सकती। यहाँ असत्यता की भी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि वार्ता तथा भक्तमाल के उभय-रचयिता मूरदासजी के समकालीन थे। उन्होंने सूर के पदों का सकलन भागवत-अनुसार द्वादशस्कंधात्मक रूपमें नहीं देखा था, जिस से सागर के द्वादशस्कंधात्मक होने में प्रमाण की अपुष्टता ही सिद्ध होती है। फिर भी समय-समय पर सूर के सागर का द्वादश-स्कंधात्मक रूप ही प्राप्त होने से उसका यह रूप मानने में सकोच होता था। यह बात सच है—

“जिन खोजा तिन पाइयाँ, गैहरे पानी पैठ ।”

अस्तु, कुछ काल बाद “मूरसागर” की छोज में ही ‘जयपुर’ जाना पड़ा। वहाँ अनेक राजकीय बाबाओं के रहते हुए भी उस समय के उच्च श्रद्धाकारी ‘सर मिर्जाडस्मादल’, तथा ‘विजयानन्दजी चतुर्वेदी’ की कृपा में बड़ी कठिनाइयों के बाद राज्यपुस्तकालय (पोथीखाना) में सूरसागर की एक प्रति ढोखडों में लिखी मिली। पुस्तक प्रति सुंदर अक्षरों में जयपुर के सांगानेरी कागज पर काली चमकनी स्थाई से सुनहले बाढेरो के बीच लिखी हुई थी। पुस्तक की घोभा उसकी सज-अज देखते ही बनती थी। प्रति देख कर मन तो प्रसन्न हुआ ही; बहुत दिन की साधन बाका भी दूर हो गयी, क्योंकि पुस्तक सग्रहात्मक थी—द्वादशस्कंधात्मक नहीं। फिर तो उदयपुर, कांकरोली, कुचामन, किशनगढ़, कोटा, बूंदी, जोधपुर, बीकानेर-आदि से जितनी भी सूरसागर की प्रतियाँ देखने में आईं, वे सब सग्रहात्मक थीं।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान में रखने की है कि ये सब सग्रहात्मक प्रतियाँ सूरसागर के द्वादशस्कंधात्मक रूप वाली प्रतियों से कहीं अधिक पुरानी हैं। इनमें-उनमें भी वर्ष का अंतर है। ये प्रतियाँ पाठ में शुद्ध, सुंदर और ब्रजभाषा की उच्चारण प्रणाली के भी अति निकट थीं। बात जैच गयी श्रीर हृदय ने उसे स्वीकार कर लिया। श्रीमूर ने महामुग्ध श्री बल्लभाचार्य की शरण में आने से पूर्व जो कुछ गेय-पद रूप में साहित्य-गुञ्ज किया वह विनय के—दीनता रूप अक्षकचरे बरसाती पानी के समान नीरस और स्वादहीन था। बाद में जब सूर—

“सूर हैं कों काहे कों विधिघात हों, कछु भगवद लीला बरनन करो”

के सुहाये से उज्ज्वल हुए तब लीलात्मक पद-रचना करने लगे, जिसका श्रीगणेश निम्न पद से हृषा था—

“ब्रज भयी मैंहैर कों पुत, जब दी बात सुनी ।”

यह रचना-क्रम उस समय तक निर्वाधगति से चलता रहा जबतक कि आपने अपने शौतिक शरीर का त्याग नहीं किया। तब आप को भागवत-अनुसार द्वादशस्कंधात्मक पद-रचना करने का अथवा अपने सागर को तद्-रूप क्रम बैठाने का कब समय मिला? यह विचारणीय था, सदिग्ध था और मानने के योग्य नहीं था। वास्तव में श्री-सूर-सुत सागर का रूप सग्रहात्मक ही होना चाहिये, क्योंकि सूर लेखक न थे,—रचयिता थे।

“स्वात सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा ।”

की तरह कृष्ण-गाथा के, उनकी लीलाओं के गायक थे। वे लिखा नहीं करते थे, गाया करते थे। श्रीनिरंराजजी के ऊपर स्थापित अपने आराध्य देव श्री श्रीनाथजी की मूर्ति के समुच्च अपने वनये नित्य नये लीलात्मक पद गाकर आत्म-विशोर हुआ करते थे। श्रीनिरंराजजी के प्रकाश के अनुसार सूर जन्माय थे—सिक्पट अचे, अर्थात् दोनों पलक जुड़े हुए बरोनिर्या-रहित। अतः सूर-आरा अपने सागर का द्वादशस्कंधात्मक रूप रचने वा क्रम के देने का प्रश्न ही नहीं उठता? आप तो भगवल्लीला के उत्पन्न गायक थे, जो गाते थे। रचने वाले थे, जो नित्य नये-नये रूप में अपनी जन-मन-मोहनी सुमधुर ब्रजवाणी में पद-रच कर और अपने प्रभु के सान्निध्य में गाकर अपने को धन्य किया करते थे। उनमें सग्रह की चाह थी और न थी उनमें कोई नव बैठाने की उभय। उनका कार्य था अपने प्रियकी गुणावली गाना, उसके रसमें विलीन हो भूमना और भगवान् श्रीकृष्ण की विविध बाल-लीलाओं से लेकर पीगढ़ तक की लीलाओं में तत्वात्मक से मग्न होना। वहाँ धन्य बातों या किसी क्रम को बैठाने के लिये स्थान ही नहीं था—उस नित्य नये सुमधुर रस से विलगाव ही कहीं था, जो इस द्वादशस्कंधात्मक-रचना वा उसके क्रम के बैठाने के पचढे में पडते। किंतु सूर तथा उनके सगी अष्टछाप के

कवियों—“कृष्ण दास, गोविंद स्वामी, कुमन दास, नंद दास, चतुर्भुज दास, परमानंद दास तथा श्रुत स्वामी” के साथ-साथ इनके अन्य अनुयाई कवियों—पद-रचयिताओं के पदों का संग्रह—सांप्रदायिक क्रम के अनुसार उन (सूर) के समय में हो चुका था, जो ‘नित्य कीर्तन’ तथा ‘वर्षोत्सव’ के नाम से पुकारे जाते हैं, क्योंकि श्री आचार्य महाप्रभु के पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी के समय में ही ‘श्रीनाथजी’ से भिन्न उनकी अन्य सेव्य-भूक्तियाँ श्री विट्ठलनाथजी के वंशजों-द्वारा ब्रज से बाहर यत्र-तत्र जाने लगी थी। कारण जो कुछ रहा हो, पर वे गयी और अपने साथ अष्टछाप के कवियों के वे कीर्तनों (पदों) के संग्रह भी जिन्हें—नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के पद नाम से सत्ता दी जा चुकी थी, लिखवा कर—लिपि-प्रतिलिपि कराकर लेती गयी। पुष्टि, अर्थात् बल्लभ संप्रदाय में, उसकी सेवा-प्रणाली में “साहित्य, संगीत और कला” का जो सुमधुर मिश्रण किया गया है वह अन्यत्र नहीं। सुवह से लेकर साक्ष तक जो कुछ सेवा का क्रम नियुक्त किया गया है, वह साहित्य, कला तथा संगीत से ऐसा भ्रोत-भ्रोत है कि वर्णन नहीं किया जा सकता। कीर्तन के बिना सेवा नहीं और सेवा के बिना कीर्तन नहीं। इसी प्रकार साहित्य और कला का समिश्रण किया जो उनकी सेवा प्रणाली में, उनके वस्तु-विन्यास में सुंदर से सुंदरतम रूप में समाई हुई है। अस्तु, वे कीर्तन, संग्रह रूप में प्रस्तुत होकर गये जो आज भी आचार्य-धरो में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में ही सही, पर सच्चे रूप में मिलते हैं। कुछ समय बाद ये संग्रह बोझिल हो जाने के कारण तीन रूपों—‘नित्य-कीर्तन, वर्षोत्सव तथा वसंत-बमार संग्रह’ में परिणत हो गये। पुष्टिभारतीय वैष्णवों ने भी इनके प्रसार में सहायता दी, फलस्वरूप आज हजारों-लाखों धरो में ये संग्रह ग्रंथ दो वा तीन रूपों में विराज कर उन्हें उज्ज्वल और पावन बना रहे हैं। यह पूर्व-अनुमोदित क्रम आज भी चल रहा है तथा आगे भी चलते रहने की आशा है, क्योंकि इस में श्रेय और प्रेय का जितना लोक-रजक मधुर मिश्रण हुआ है वह अन्य संप्रदायों में कठिनाता से ही मिलेगा। इन संग्रह-ग्रंथों की संख्या आज गिनती से परे है। मुद्रण-यंत्रों ने भी इस प्रवाह में अमोघ गति ही बढ़ायी। यह गति मथुरा के लीथो प्रेसों से लेकर गुजरात के अनेक प्रेसों-द्वारा बढ़ती गयी। वैष्णव ठाकुरदास सूरदास, लल्लू भाई छगनलाल देसाई, वसंत-राम हरिकृष्ण शास्त्री, भारत के प्रसिद्ध चित्रकार जगन्नाथ अहिवासी तथा इस लेख के लेखक से आदि लेकर अनेक महानुभावों, प्रकाशकों तथा मुद्रण-यंत्राधिकारियों ने इनके प्रसार में अति सहयोग दिया, जो अवर्णनीय है। ये संग्रह-ग्रंथ ही मूल रूप में ‘सूरसागर’ के छाता-विछाता बने, उसकी उत्पत्ति के कारण बने—जनक बने। आगे चलकर इन नित्य-कीर्तन, वर्षोत्सव तथा वसंत-बमार संग्रहों से सूर-पदों का सागर ही नहीं, अष्ट-छाप के प्रायः सभी कवियों के ‘सागर’ बने, जिन में तीन—‘सूर-सागर’, ‘कृष्ण-सागर’ और ‘परमानंद-सागर’ मिलते हैं। नंद-सागर, अर्थात् नंददास जी के पदों के सागर का नाम-भर सुना जाता है, देखने में नहीं आया है। गोविंद स्वामी के दो सी वाचन पदों का संग्रह भी बहुत देखने में आता है। इसी प्रकार, कुमनदास, चतुर्भुजदास तथा श्रुत स्वामी के भी छोटे-मोटे पदों के संग्रह यत्र-तत्र मिलते हैं। फिर तो यह विकास नित्य नया रूप धारण करने लगा, फलस्वरूप सूर-पदों के तीन रूप, संग्रहात्मक तदनंतर द्वादशस्कंधात्मक तथा साहित्य-सहरी जो सूर के कूट पदों का सकलन है बने, जिनके निर्माण का—संग्रह का इतिहास आज समय के पृष्ठों पर से घुल-घुल गया है। सूर के सागर का यह संग्रहात्मक रूप मोटे तौर पर इस प्रकार है—

“भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-जवाई, उनकी दाललीला—(पालना-आदि), ब्रज की अन्य लीला-रासात्मिक से लेकर बिरह-पदावली तक, जिसे अंबरगीत नाम से उल्लेख किया जाता है। तदनंतर तीनों—नृसिंह, बावन और राम-जयंतियों के बाव विनय के पदों पर समाप्त हो जाता है।”

ये विनय-पदावली वही है जिसे श्री सूर ने श्री बल्लभ-चरण-धारण के आने से पूर्व रचा था। किन्हीं रसम व्यक्त ने इन संग्रहों से कुछ विशिष्ट दृष्टिकूट (प्रथ-संगति में कठिन) पदों का सकलन ‘साहित्य-सहरी’ नाम से किया। सूर की दृष्टि-कूट, अर्थात् अर्थ में कठिनाता उत्पन्न करने वाले पद-रचना करने की प्रेरणा महाभारत से मिली अथवा कहीं अन्यत्र से, यह कहना कठिन है, परन्तु—सूर के समय यह प्रणाली इस प्रकार की रचनाओं के लिये चल पड़ी थी।

सूर के सागर का दुसरा रूप द्वादशस्कधात्मक, अर्थात् भागवत-अनुसार बना। वह कब भी कसने बनाया वा सग्रह किया, इसका आज कुछ पता नहीं चलता। अस्तु, सूर के पद रूप द्वादशांशों में—लीलात्मक पद, जयति-पद, विरह-पद (अंबरगीत) और विनय के पदों में ये निर्वफल-समान कथात्मक पद वच और कसने मिला दिये कुछ कहा नहीं जा सकता। उपलब्ध सामग्री से यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सागर का वर्तमान—द्वादशस्कधात्मक रूप सत्रहवीं शताब्दी तक नहीं बन सका था, इसमें प्रथम वह अपने सग्रहात्मक रूप में था। पर जैसा कि कहा जा चुका है आगे चलकर वह द्वादश स्कधात्मक रूप में कब परिणत हुआ इसका इतिहास अभी अवकाश में है। अस्तु, सूर के पद रूप हीरो से इन काँच के रत्नियों का पृथक् किया जाना दुस्तर कार्य है और जिसे समय ही जगहि कर अपने से पृथक् करेगा। पर आज तो ये सूर-पद-श्रेणियों के लिये एक समस्या बन रहे हैं, इस सत्यता में मूढ़ नहीं भोबा जा सकता। सूरसागर का वर्तमान रूप (द्वादशस्कधात्मक) विनय-पदों के अनंतर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थस्कधादि में परिणत व परवर्धित होकर द्वादशस्कधात्मक बन गया है। यह कम भाव भी चल रहा है। प्रमाण में बेंकटेंदर प्रेस बंबई-द्वारा प्रकाशित प्रति, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित (दो छंदों में) बृहत् रूप, तत्पश्चात् विद्योगी हरि, मिश्रबधु, डा० ज्योतिप्रसाद आदि अनेक संपादकों-द्वारा संपादित सूरसागर के सक्षिप्त वाल्य-रूपों का नाम लिया जा सकता है। यही नहीं, सूरसागर की अतर्गत लीलायें भी पृथक्-पृथक् अपनी खूबि अनुसार सग्रह की गयीं और छापी गयीं। सूरसागर से एक-एक विषय के जैसे—विनय के पद गोस्वामी तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' के रूप में, राम-चरित्रात्मक पद 'सूर-रामायण' के रूप में, नेत्र-सवधी पद 'सूरदास . नयन' के रूप में, मुरली-सवधी पद 'मुरली-माधुरी' के रूप में तथा विरह-सवधी पद 'अमर-गीत' रूप में पृथक् हुए,—सग्रह हुए और यत्र-तत्र छपे। विनय पदावली के भी छोटे-भोटे रूप बने, जिन्हें—सूर-साठी, सूर-सतक आदि नाम दिये गये। इनके भी अनेक मस्करण मुद्रित और हस्तलिखित रूप में आज मिलते हैं। भयवल्लीशात्मक पदों का भी विभाजन हुआ। राम और कृष्ण-लीलायें भी पृथक्-पृथक् सग्रह और प्रकाशित हुईं। कृष्ण-लीला के भी विभिन्न रूपों से सग्रह हुए और छपे। इन लीलाओं से भी भक्त-चरित्रात्मक लीलायें पृथक् हुईं। बाल लीला, गोलधन लीला, चीरहरण लीला, रास लीला ही नहीं, भोरज्वल लीला, ध्रुव-लीला, प्रह्लाद लीला आदि-आदि, जो इस लेख के अंत में दिये गये वश वृक्ष से क्रमानुसार अधिक सुगमता से समझ में आ सकेंगे।

उपरोक्त वश वृक्ष से सागर के मूल वश-विकाश के अतिरिक्त श्री सूर की इन संपूर्ण रत्नियों को एक नजर में भी देखा जा सकता है। जैसे—

१. साहित्य-सहरी,

२. सूर सागर (सग्रहात्मक, द्वादशस्कधात्मक तथा सक्षिप्त और पृथक्-पृथक् लीलायें)—“भोपालगारी, गोवर्द्धन लीला—छोटी-बड़ी, चीरहरण लीला, दशमस्कंध भागवत, दान लीला, दीनता-आश्रय के पद, नाग लीला (काली-दमन), पदसग्रह, आन-म्यारी (क्याम सगई), वांसुरी लीला, बावट-माता (माती), बाल लीला, ब्याहलौ (ब्याह के पद), भगवत्चरण-चिह्नवर्णन, भागवत, मान-सौग, मानसागर (मान के पद), श्री राधा नख-शिला, राधा-रस-केलि-कौतुक, रामजन्म के पद, रामायण-पद, रास लीला के पद, वैराग्य-सतक, सूर-छत्तीसी, सूरदास के पद, सूर-पंचोत्ती, सूर-ज्योत्ती, सूरमागर-मा, सूर-साठी तथा रुक्मिणी मंगल और सुदामा चरित्र वा लीला।”

३. सूर-भोता, (गीता का अनुवाद)¹

४. सेवाफल, (गद्य)²

५. सूर-साराबली, (अनेक दृष्टियों में)

¹ यह पुस्तक जयपुर (राजपुताना) से प्राप्त हुई है।

² यह पुस्तक श्री बल्लभाचार्य के संस्कृत ग्रंथ 'सेवाफल' का ब्रजभाषा-अनुवाद है।

सुरसागर की प्रतियाँ

सुरसागर की हस्त-लिखित तथा मुद्रित-प्रतियाँ—संग्रहात्मक तथा द्वादशस्कन्धात्मक जो हमारे देखने-सुनने^१ में आई हैं, उनके प्राप्त-स्थानों का विवरण अकारादि क्रम के अनुसार लिपि काल-सहित नीचे दिया जाता है ।

हस्तलिखित

अज्ञात स्थानों की प्रतियाँ—

१. सुरसागर, सं० १७३५ की प्रति
२. सुरसागर, सं० १८१६ की प्रति^२

बाबू राधाकृष्ण-द्वारा उल्लिखित—

१. सुरसागर, (प्रथमस्कन्ध से नवमस्कन्ध तक) प्रा० स्था०—खड्ग-विलास प्रेस पटना,
२. सुरसागर, (दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध) भारतेन्दु बा० हरिदत्त-मुस्तकालय, काशी,
३. सुरसागर, (दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध से द्वादशस्कन्ध तक) काशी राज्य—रामनगर की प्रति,

मिश्रवधुमो-द्वारा उल्लिखित—

सुरसागर, (पद-संख्या बारह हजार) खत्री मुहम्मद लखनऊ,
अमदावाद (गुजरात)—

सुरसागर, (संग्रहात्मक) प्रा०—प० केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात बर्नक्लीयर सोसा-
यिटी, भद्रकाली ।

अलीगढ़ (याज्ञिक-पुस्तकालय)—

१. सुरसागर प्रथमस्कन्ध, नं०—२६७।२६,
२. सुरसागर (संपूर्ण), नं०—२६६।५४, सं० १८५४ की प्रति^३,
३. सुरसागर (अपूर्ण), नं०—३७५।२६,
४. सुरसागर (अपूर्ण), नं०—४०१।२६, सं० १६०० की प्रति,
५. सुरसागर (अपूर्ण), नं०—४०२।२६, सं० १६०० की प्रति,
६. सुरसागर (दशम, अपूर्ण), नं०—८१३।२६,

उज्जैन (मध्यभारत)—

सुरसागर, प्रा०—ओरियन्टल अनस्कूप्ड लायब्रेरी—उज्जैन,

उदयपुर (मेवाड़) सरस्वती-मठार—

१. सुरसागर (संपूर्ण संग्रहात्मक), सं० १६६७ की प्रति,
२. सुरसागर (संपूर्ण संग्रहात्मक), सं० १७६३ की प्रति,
३. सुरसागर (संपूर्ण संग्रहात्मक),

अन्य—

१. सूर-मदावली (संक्षिप्त), सं० १७६० की प्रति,
२. सूर-सारावली (संक्षिप्त), अंतिम पद—“ब्रज ते पावस पे न गई ।”

^१ यहाँ ‘सुनने’ का आशय उन खोज-रिपोर्टों से है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई हैं ।

^२ दे० खोज-रिपोर्ट सन् —१६०६,

^३ ये पुस्तकें अब ‘नागरी प्रचारिणी सभा काशी’ में आ गई हैं ।

कलकत्ता—

१. पूर्णचंद्र नाहर—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)

२. हनुमानप्रसाद पोद्दार, कर्म—“साराचंद्र घनश्यामदास”

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं० १८६६ की प्रति
काँकरोली^१ (मेवाड़) “सरस्वती-भंडार”—

१. सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक), बंध-सं०-१,

२. सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक), बंध-सं०-७, पुस्तक-सं०-५

३. सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक), बंध-सं०-२।४६, पुस्तक-सं०-५,

४. सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक), बंध-सं०-४७, पुस्तक-सं०-५,

५. सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक), बंध-सं०-६६, पुस्तक-सं०-१,

६. सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक), बंध-सं०-८१, पुस्तक-सं०-५,

७. सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक), सं०-१६१२ की प्रति,

८. सूरसागर (दशमस्कंध), बंध-सं०-४६, पुस्तक-सं०-५,

९. सूरदास के पद (स्फुट), बंध-सं०-१०४, पुस्तक-सं०-३,

१०. सूरदास के पद (स्फुट), बंध-सं०-२५, पुस्तक-सं०-४,
कामवन (भरतपुर) “देवकीनंदन-मुस्तकालय”^२—

सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक),

कालाकाँकर (धवध), राज्यपुस्तकालय,—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८८६ की प्रति,

काशी, “नागरी प्रचारिणी सभा”—

१. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं० १८८० की प्रति,

२. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं० १९०६ की प्रति ‘सुबा साहिब वाली’ प्रति

३. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं० १९१६ की प्रति,

४. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक),

५. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), डा० श्यामसुंदरदास वाली प्रति,

अन्य—

१. शाहू केशवदास ‘रईश’ काशी—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १७५३ की प्रति,

२. जानोमल खनाबी, काशी^३—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं० १९०२ की प्रति,

३. राम कृष्णदास काशी—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १९२६ की प्रति,

१. यहाँ ब्रजभाषा-साहित्य की हस्त-लिखित पुस्तकों का बड़ा भारी और सुंदर संग्रह है।

२. कामवन के ‘देवकीनंदन-मुस्तकालय’ में—श्री सूर कुल ‘गोवर्धनसीला’ तथा ‘प्रलप्यारों’—
(श्याम सगर्हि) भी हैं।

३. डा० राधाकृष्णदास ने स्व-संपादित बेंकटेश्वर प्रेस बंबई से मुद्रित सूरसागर की मुद्रिका
इनका नाम—जानोमल खानचंद लिखा है।

—दे० बेंकटेश्वर की प्रति सं०-१९५३ का मन्सूर,

४. गोकुलदास, 'रईश'—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
५. पं० रघुनाथराम, गायघाट,—काशी^१—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
६. सा० रामरत्न छागरा, सगरा वाला, २४।२ लक्कड़ गली, काशी,—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
७. काशीराज—राज्य-पुस्तकालय 'सरस्वती-भंडार' रामनगर—(काशी)—
सूरसागर, (पूर्ण दो खंडों में, द्वादशस्कंधात्मक)
- किशनगढ़, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—संस्कृती-भंडार,—
सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)
- कुचामन, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भंडार,—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६७५ की प्रति,
- कोटा, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भंडार,—
१. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६७० की प्रति,
२. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

खोज रिपोर्ट^२ (रिसर्च) के अनुसार

१. खोज रिपोर्ट सन् १९०१-४ तथा ६, (उत्तरप्रदेश सरकार-द्वारा प्रकाशित)—
१. सूरसागर, सं० १७६२ की प्रति,
२. सूरसागर, सं० १८५३ की प्रति,
३. सूरसागर, सं० १८६६ की प्रति,
४. सूरसागर, सं० १८७३ की प्रति,
२. खोज रिपोर्ट सन्—१९०६-१० तथा ११, पृ०—७, ८—
सूरसागर,
३. खोज रिपोर्ट सन्—१९०२,—
सूरदास के पद, (स्फुट)
४. खोज रिपोर्ट, सन्—१९०६-७, ८—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६६७ की प्रति,
छतरपुर (बुंदेलखंड) 'राज्य पुस्तकालय',—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)
- जयपुर, (राजपूताना) राज्य 'पुस्तकालय'—
सूरसागर (पूर्ण दो खंडों में, संग्रहात्मक) सं० १८५४ की प्रति,

^१ यह प्रति बहुत सुंदर तथा पाठ भी शुद्ध है, तथा ने अपने सूरसागर का मपादन व मुद्रण कराते समय इसका उपयोग नहीं किया है।

^२ खोज-रिपोर्ट के अनुसार इन सूरसागरों का ठीक-ठीक पता प्राप्त न होने ने संपादन में किसी ने इनका उपयोग नहीं किया है। इन खोज-रिपोर्टों में—'पद-मग्रह' (जो० रि० सन् १९०० तथा ६), 'श्री आचार्य धल्लभाचार्य के 'उत्पद्य-पद' (जो० रि० सन् १९००), 'कीर्तन'-पद (जो० रि० सन् १९०६) तथा इसी प्रकार—'खाल-उष्पा' (जो० रि० सन् १९००)—'त्रादि मग्रह'-यों में श्री सूर के पदों का बहुत अधिक संग्रह है।

अन्य स्थान—'गिरवारी जी का मंदिर'—जयपुर—

सूरसागर, (संग्रहात्मक)

जामनगर^१ (सौराष्ट्र) "बडी हवेली" (मंदिर)—

सूरसागर, (संग्रहात्मक)

जूनागढ़^२ (सौराष्ट्र) "बडी हवेली" (मंदिर)—

सूरसागर, (संग्रहात्मक)

जीनपुर (उत्तरप्रदेश), प० गणेशविहारी मिश्र (मिश्रदधु) के पास लखनऊ—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८५४ की प्रति,

लासरापाटन, (राजपूताना) 'राज्य पुस्तकालय'—

१. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६७८ की प्रति,

२. सूरदास जी के पद, (स्फुट-संग्रह)

दरियाबाद—(लखनऊ) राय राजेश्वरवली सिंह—पुस्तकालय,

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८८२ की प्रति, लिपि-फारसी

दतिया (बुंदेलखंड) राज्य पुस्तकालय,—

१. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १८०६ की प्रति,

२. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

दिल्ली,—प्रो० नगेंद्र-द्वारा प्राप्त—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८७७ की प्रति

नाथद्वारा^३ (मेवाड़) सरस्वती-मंडार—'श्रीनाथ जी का मंदिर'—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६५८ की प्रति,

पवार्या (भाहजहपुर—उत्तरप्रदेश) प० लालमणि-पुस्तकालय,—

सूरसागर, (पूर्ण, तीन खंडों में द्वादशस्कंधात्मक)

पूना, 'दक्खिन कालेज' पुस्तकालय—

सूर-पदावली, (स्फुट)

प्रयाग—

१ न्यूमिस्मिल-न्यूजियम (अजायबघर)—

१ सूरसागर, (केवल दान के पद) वं० सं०-२१८, पु० सं०-६५,

२ सूरसागर, (रास के पद) वं० सं०-२१६, पु० सं०-७४ (१)

३ सूरसागर, (अपूर्ण) पद संख्या २०११, वं० सं०-२१६, पु० सं०-८८

४. सूरसागर, (अपूर्ण) पद संख्या २५१६, वं० सं०-२१३, पु० सं०-१७, सं० १७५३ की प्रति

५ सूरदास के पद (छोटा संग्रह), वं० सं०-२०८, पु० सं०-५,

६ सूरपदावली, (खंडित प्रति), वं० सं०-२१७, पु० सं०-१३३,

७ सूरदास-भजनावली, (नई प्रति) वं० सं०-१८६, पु० सं०-३५,

८ सूर-नुलसी-भजनावली, (संग्रह) वं० सं०-२१६, पु० सं०-२०१,

१, २ जामनगर और जूनागढ़ (सौराष्ट्र) की इन हवेलियों में हिंदी (बनभाषा) साहित्य का बहुत कुछ भंडार है, जो देखने योग्य है।

३ नाथद्वारा के सरस्वती-मंडार में हिंदी (बनभाषा) साहित्य का अत्यंत भंडार है, जो अभी तक देखने में नहीं आया है। यहाँ के पुराने अध्यक्ष श्री स्वर्णाय श्री रामनाथजी देवसिंह-द्वारा एक ही 'सूरसागर' की प्रति का उल्लेख आया है, वैसे यहाँ सूरसागर की बहुत अधिक प्रतियाँ हैं।

२ विहारी जी का मंदिर (निबार्क-पुस्तकालय) महाजनी टोला—

सूरसागर, (संग्रहात्मक खंडित प्रति)

३ द्विी साहित्य-समेलन—

१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) वंस०-२१६, पु०स०-४७, स०१८५० की प्रति,

२ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) वंस०-२१६, पु०स०-३, स०१८३६ की प्रति,

३ सूरसागर के पद, (संग्रह) वंस०-१४६, पु०स०-२०८,

४ सूरदास के पद, (संग्रह, लिपि-फारसी) पु०स०-८६१,

५ सूरदास के भजन, (संग्रह, लिपि-फारसी) पु०स०-८५५,

बवई, 'बैकटेवर प्रेस'—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशांस्कधात्मक) बा० रावाकृष्णदास काशी की प्रति—यत्र-तत्र उन्हीं-द्वारा सशोधित,

बरोली (भरतपुर स्टेट) पो० पहाडी, ठा० रामप्रसाद सिंह—

सूरसागर, (पुस्तकनाम—“भागवत सूरदास कृत”, पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १७६८ की प्रति,

बाजपेयी का पुरवा, (बहुरायच) पो० मिमिया, प० जिवनारायण बाजपेयी—

सूरसागर, (पूर्ण द्वादशांस्कधात्मक) स० १८६६ की प्रति,

बिजावर (बुंदेलखंड) स्टेट,—राज्यपुस्तकालय,—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १८७३,

बीकानेर (राजपूताना) अनूप मस्कृत-लायब्रेरी (पुस्तकालय) राज्य, 'कोट' में—

१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १६८१ की प्रति, बुरहानपुर, (दक्षिण) वाली,

२ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १६६५ की प्रति, प० बेणी जी की लिखी,

३ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १६६८ की प्रति, मथुरा (केशवदेवजी का मंदिर मल्ल-पुरा) के बंछ विष्णु भट्ट की लिखी,

४ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १७७३ की लिखी,

५ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

६ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

७ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

८ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

९ सूरसागर, (खंडित, संग्रहात्मक)

१० सूरसागर, (खंडित, संग्रहात्मक)

सूर-छत्तीसी (छोटा-सा संग्रह)

सूर-पञ्चीसी (छोटा-सा संग्रह)

द्वी (राजपूताना) राज्यपुस्तकालय—‘सरस्वती-मंदार’—

सूरसागर री पोथी, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १६८१ की प्रति,

बेसबाँ (अलीगढ़) ठा० मत्तगण्डजप्रसाद सिंह का पुस्तकालय—

१ सूरसागर, (प्रथमस्कंध से नवमस्कंध तक) स० १८७६ की प्रति,

२ सूरसागर, (दशमस्कंध से द्वादशांस्कंध तक) स० १८७६ की प्रति,

भरतपुर (स्टेट) राज्य,—पब्लिक-लायब्रेरी—

१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

२ सूर-पञ्चीसी, (छोटा-सा संग्रह)

भिन्ना स्टेट (बहरायच) राज्य-पुस्तकालय—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) पद-सं०—२१२४,

मथुरा—

१ प० नटवरलाल चतुर्वेदी, सीतला पाडसा, नई कोतवाली के पास—

१ सूरसागर, (पुस्तकनाम—भागवत सूरदास कृत) पूर्ण, संप्रहात्मक, सं० १६८८ की प्रति,
तथा कुछ अंश सं०—१७४५ का लिखा पृथक्,

२ सूरसागर, (पूर्ण, संप्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति,

२ प० गोपालशंकर नागर—बिहारीपुरा (सेठ मीलचंद गली)—

सूरसागर (पूर्ण, संप्रहात्मक) सं० १७५८ की प्रति,

३ जवाहरलाल चतुर्वेदी, कूवावाली गली,—

सूरसागर, (पूर्ण, संप्रहात्मक) सं० १६४४ की प्रति, (यह प्रति सब से प्राचीन है)

महावन (मथुरा) बा० कृष्णजीवन लाल वकील,

१ सूरसागर, (पुस्तक नाम—‘भागवत-पद’ पूर्ण, संप्रहात्मक) सं० १८१० की प्रति,

२ सूरसागर, (खंडित—स्कंधात्मक) दशमस्कंध के अतिरिक्त प्रथमस्कंध से द्वादशस्कंध तक
पूर्ण, सं० १८६७ की प्रति,

३ सूरपञ्चोत्ती (स्फुट पद)

मिर्जापुर (बहरायच) पो०—बहरायच, बिठुलदास महत—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १६०४ की प्रति,

रीवा (बघेलखंड) राज्य पुस्तकालय,—

१ सूरसागर, (पूर्ण, संप्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति,

२ सूरसागर, (खंडित प्रति)

रेवाड़ी (गुडगावाँ) प० रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, संस्कृत अध्यापक—अहीर हार्ड्स्कल—

१ सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)

२ रासलीला, (सूरदास कृत)

लखनऊ—

१, ला० क्षामसुंदरदास अग्रवाल, मसकगज,—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८६६ की प्रति,

२, प० बद्रीनाथ भट्ट बी० ए०, प्रो०—लखनऊ यूनिवर्सिटी—

१ सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)

२ सूरसागर, (खंडित प्रति) द्वादशस्कंधात्मक

अन्य—

१ अक्षरगीत—सूरदास,

२ रुक्मिणीमंगल—सूरदास,

३ सुदामा-चरित्र—सूरदास,

३, प० क्षामविहारी मिश्र (मिश्रवट्ट)—

सूरसागर-सार, (स्फुट पदों का संग्रह)

लखेदपुर (बहरायच) बा० पद्मवकस सिंह,

सूरसागर, (पूर्ण, दशमस्कंध)

धारेगढ़ (मथुरा) वा० गोकुलप्रसाद सक्सेना,

सूरसागर, (पुस्तक नाम—‘सूरदास के पद’ पूर्ण, सप्रहात्मक) स० १६८२ की प्रति,
स्वागोदियाल का पुरवा (वहारायच) पो०—सिसिया, प० स्वामीनारायण, बाजपेयी—

१ सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक) स० १८६६ की प्रति,

२ अमरगीत,—सूरदास, (सग्रह) स० १८६१ की प्रति,

अन्यत्र

भारत में बाहर अमरीका और यूरोप में भी ‘सूरसागर’ की प्रतियाँ मिलती हैं। जैसे—

अमरीका, “हार्डवर्ड यूनिवर्सिटी—लायब्रेरी”—

सूरसागर, (पूर्ण, सप्रहात्मक)

पेरिस, (फ्रांस) ‘पेरिस लायब्रेरी’—

१ सूरसागर-किताब, (लिपि-फारसी, स्कधात्मक) स० १७६६ की प्रति,

२ सूरसागर-किताब, (लिपि-फारसी, सप्रहात्मक) स० १७७१ की प्रति,

लंदन, “ब्रिटिश-म्यूजियम”,—

१ सूरसागर, (कापी) पूर्ण—द्वादशस्कधात्मक, स० १७८० की प्रति,

२ अमरगीत—सूरदास, स० १७६६ की प्रति, श्यामजू पाँडे लिखित,

मुद्रित प्रतियाँ

सूरसागर की मुद्रित प्रतियों के दोही संस्करण—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, तथा बेकटेद्वर प्रेस बवर्ड के कहे-मुने जाते रहे हैं,—मिलते भी यही थे। कलकत्ता से भी एक छोटा-सा सग्रह—‘सूरसगीत-सार’ नाम से प्रकाशित हुआ था। ‘राग-कल्पद्रुम’ में भी—जो तीन खंडों में कलकत्ता से ही प्रकाशित हुआ था, ब्रजभाषा के अनेक पद-रचयिताओं के पदों के साथ श्री सूर के अधिकाधिक पद छपे हैं, पर इन सब मुद्रित प्रतियों में नवलकिशोर प्रेस की प्रति ही सब से पुरानी है। ऊपर खोज से ‘सूरसागर’ की इनसे भी पुरानी मुद्रित प्रतियाँ मिली हैं, जिन का विवरण निम्न प्रकार है—

आगरा—

१ सूरसागर, प्र०-मु०—मतवश ईजाद प्रेस (लीथो), सन् १८६७, तीसरी बार

२ सूरसागर, प्र०-मु०—मतवश कृष्णलाल प्रेस, सप्रहात्मक, (लीथो) सन् १८८२,

कलकत्ता—

१ सूर-सगीत-सार, प्र०—अरुणोदयराय, मु०—बगवासी प्रेस, सन् १९०२, “बिनय तथा बाल-लीला से लेकर अमरगीत के पदों तक का संक्षिप्त सग्रह”

२ राग-कल्पद्रुम, भाग—१, २, ३, सग्र०—कृष्णानंद ‘राग सागर’, स०—तर्गोदनाथ बसु, प्र०—अर्णोयसाहित्य-परिषद् कलकत्ता, मु०—विश्वकोष प्रेस कलकत्ता, स०—१९७१-७३,

काशी—

१ सूरसागर-रत्न, (सप्रहात्मक पूर्ण) स०—रघुनाथदास, मु०—बनारस लाइट प्रेस, सन् १८६७, (लीथो)

२ सूरसागर, स०—‘रत्नाकर’, प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, मु०—इंडियन प्रेस बनारस-शाखा, स० १९३४, आठ खंडों में (अपूर्ण)

३ सूरसागर, (अमरवासा पूर्ण, दो खंडों में) प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) मु०—हिंदी टायमवेबुल प्रेस, स०—२००४,

जयपुर—(राजपूताना)—

सूरसागर, (पूर्ण, सप्रहात्मक) प्र०—मतवश ई ईजाद प्रेस (लीथो) सन् १८६४,

दिल्ली—

सुरसागर, (पूर्ण, संप्रहात्मक) प्र०—मतदम इलाही प्रेस, (लीयो) सन् १८६०,

मथुरा—

सुरसागर, (पूर्ण, संप्रहात्मक) प्र०—मुंबईजल उलूम प्रेस, (लीयो) सन् १८६०,

ववई—

१ सुरसागर, (पूर्ण, बड़ा आकार—द्वादशशतकात्मक) स०—वा० राधा कृष्णदास काशी,
प्र०—बैकटेश्वर प्रेस, स० १९५३,२ सुरसागर, (पूर्ण मंशोला आकार—द्वादशशतकात्मक) प्र०—बैकटेश्वर प्रेस, स० १९६१,
लखनऊ—

१ सुरसागर, (पूर्ण, संप्रहात्मक) प्र०—नवलकिशोर प्रेस, सन् १८६४ प्रथम बार (लीयो)

२ सुरसागर, (पूर्ण, संप्रहात्मक प्रथमवाला) स०—पं० कालीचरण, प्र०—नवलकिशोर प्रेस,
(दायप में)३ सुरसागर, (ऊपर वाला ही) स०—पं० रामरत्न बानपेयी, प्र०—नवलकिशोरप्रेस,
स०—१८७४ (दायप में) तथा आठवीं बार स० १९०२ में,

दृष्टिकूट पद (साहित्य-छहरी),

हस्त-लिखित प्रतियाँ

काँकरीली (मेवाड़)—सरस्वती-मंडार—

१. सुरदास जी के 'दृष्टिकूट-पद', ब०सं०—१२४, पु०सं०—१, (मूल)

२. सुरदास जी के 'गुढार्थ पद', (सटीक) टी०क०—अज्ञात, ब०सं०—३४, पु०सं०—६

३. सुरदास जी के दृष्टिकूटों की टीका^२, टीका-कर्ता—श्रीबालकृष्ण, ब०सं०—८८, पु०सं०—१।

काशी—नागरी प्रचारिणी सभा (याज्ञिक-मुक्तकालय)—

दृष्टिकूट के पद की प्रर्थ (केवल दो पद)

मुद्रित-प्रतियाँ

आगरा—

दृष्टिकूट-पद. प्र०—हाजी प्रेस (लीयो), सन् १८६२

काशी—

दृष्टिकूट, (सटीक), टीका-कर्ता—सरदार कवि (काशीराज के आनित), प्र०—गोपीनाथ पाठक,
मु०—धनारस लायट प्रेस, मन् १८६९ ई०, द्वितीय बार सन् १८७९ ई०^३।

दिल्ली—

सुरदास जी का 'दृष्टिकूट-पद', प्र०—हुसैनी प्रेस (लीयो) मन् १८५२ ई०।

मथुरा—

दृष्टिकूट पद, सुरदास कृत, प्र०—मुंबईजल-उलूम प्रेस, (लीयो) सन् १८६४।

१ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित ये सभी सुरसागर सुरसागर—“रागमन्दम” नाम से प्रकाशित हुए हैं। सुरसागर प्रथम अयोध्या के महाराज श्रीमानसिंह जी उपनाम “विजयेव” के सत्पादयार्थ तथा मुन्शी—अमनाप्रसाद की देख-रेख में पं० कालीचरण-द्वारा संशोधित होकर स० १९२० में प्रकाशित हुआ।

२. इस प्रति का उल्लेख खोज रिपोट सन् १९०० तथा १९०६ में भी है।

३. ये दोनों प्रतियाँ काशी—रामनगर के राज्य-मुक्तकालय में हैं।

पटना—

१ सूर-सतक (पूर्वार्द्ध) सटीक, 'सूरदास कृत' दृष्टिकूट पदो को टीका, टीकाकर्त्ता—बालकृष्ण दास, संपा०, सशो० तथा परिवर्धक भारतेन्दु बा० हरिदचन्द्र, प्र० खड़गबिलास प्रेस बाँकीपुर पटना, सन् १८८६, प्रथम बार ।

२, साहित्य-लहरी (सूरदास जी के दृष्टिकूट पद सटीक), संपा० तथा सपा०—भारतेन्दु बा० हरिदचन्द्र, प्र०—खड़गबिलास प्रेस बाँकीपुर-पटना, सन् १८९२. पुस्तक में टीकाकार का नाम—सूरदास लिखा है, जैसे—“इतिथी कूटपद, सूरदास-टीका मंथकत, संपूर्णम् ।

लखनऊ—

श्री सूरदास का दृष्टिकूट, (सटीक), टी०क०—सरदार कवि, प्र०—नवल किशोर प्रेस, सन् १९१२ ई०, चौथी बार^१

लहेरियासराय (दरभंगा)—

साहित्य-लहरी—महात्मा सूरदास कृत (सरस टीका सहित), टी०—महादेव प्रसाद एम० ए० (संस्कृत-हिंदी), प्र०—पुस्तक भंडार लहेरियासराय, भू०—विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय, स० १९६६ । विषय—‘वक्तव्य, प्रस्तावना—१, व्यक्ति सूर, २, भक्त सूर, ३, कवि सूर, अकाराबिनुक्रम से पद-मूची, साहित्य-लहरी ।

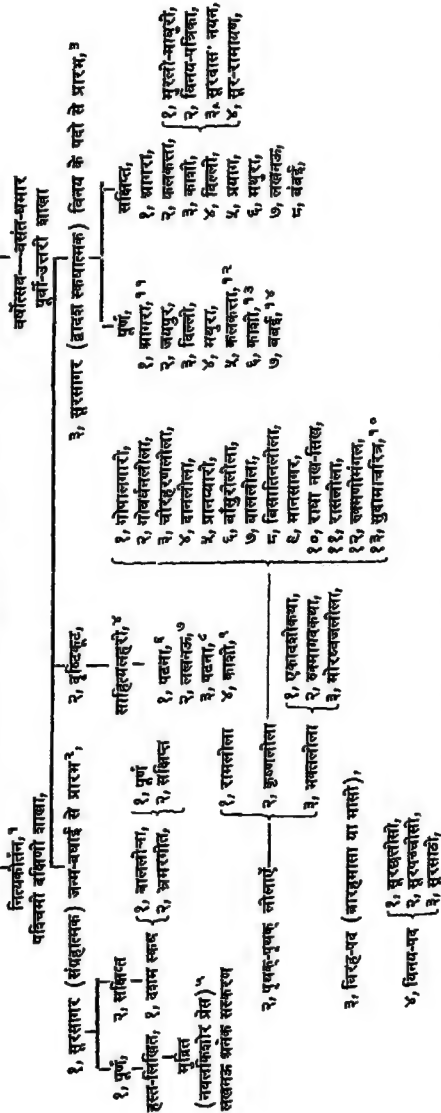
सूरसागर और दृष्टिकूट की इन उपलब्ध प्रतियों में—अमवादाव अलीगढ़, उज्जैन, उदयपुर (मेवाड़), कांकीरीली (मेवाड़), कामवन (अरतपुर), किशनगढ़, कुचामन, कोटा, (गजपूताना), खोज रिपोर्ट सन् १९०६, छतरपुर, (बूंदेलखंड), जयपुर, (गजपूताना), जामनगर, जुनागढ़, (बीकानेर), झालगपाटन (गजपूताना), दतिया (बूंदेलखंड), नाथद्वारा, (मेवाड़), प्रयाग—बिहारी जी का मंदिर, हिंदी साहित्य ममेलन, वरीली (अरतपुर), विजावर (बूंदेलखंड), बीकानेर, बूंदी (गजपूताना), भगतपुर मथुरा, महावन (मथुरा), रोवाँ, गेरगढ़ (मथुरा) और भारत मे बाह्य अमरीका तथा पेन्सिल्वेनिया की हस्तलिखित प्रतियाँ एवं आगरा (मतवन-ईजाद प्रेम), काशी (सूरसागर - गूढ), जयपुर, दिल्ली, मथुरा और लखनऊ के नवलकिशोर प्रेम की मुद्रित प्रतियाँ ‘मग्नहात्मक’ है और द्वादशस्कंधात्मक प्रतियों में कहीं अधिक पुरानी है । इन प्रतियों में यह भली-भाँति प्रगट हो जाता है कि श्री मूर के ‘भाग्य’ का मूल रूप ‘मग्नहात्मक’ ही था—द्वादशस्कंधात्मक नहीं । वह अपने मग्नहात्मक रूप स्वाभाविक मात्र-नज्जा को त्याग कर स्व-प्रकृति में विपरीत द्वादशस्कंधात्मक के निर्जीव ललड़े (शरीर) में कब प्रविष्ट हुआ यह साहित्य के इतिहासकारों को आज विचारणीय है ।

सूर के पदों का शुद्ध पाठ भी आज प्राप्ति का विषय बना हुआ है । वह इन द्वादशस्कंधात्मक प्रतियों के कारण अपने मूल रूप में कितना भिन्न और विकृत हो गया है, यह भी इन मग्नहात्मक प्रतियों तथा सूरसागर के मूलपुस्तक-रूप ‘नित्यकीर्तन’ और ‘वर्षोत्सव’ की प्रतियों में सहज ही जाना जा सकता है । श्री सूर के पदों का शुद्ध रूप जब मे उन (सूर) के कलकठ से विलग हुआ तब मे आज तक अपने मूलरूप में—नित्यकीर्तन और वर्षोत्सव की प्रतियों के साथ इन मग्नहात्मक प्रतियों में मुग्न है । गी वर्प के अंतर में सूर के पदों का मूल पाठ इन द्वादशस्कंधात्मक प्रतियों में कितना—‘अष्ट, कितना—कण-वट्ट और कितना—ब्रजभाषा की श्रुत-मधुर प्रणाली में परे बना दिया, वह अकथनीय है । श्री वेक्टरवर्ग प्रेम वर्बर्ग की वान छोटिये, काशी की ‘भागनी प्रचारिणी मभा’ जो एक सर्वमान्य मन्थ्या है, मूरनाग के शुद्ध पाठ की और दृष्टिपान न कर् स्वर्गीय श्री रत्नाकर जी के मित्रातो के विपरीत उनके नाम पर पाठ-अपटना के बार बाद न्याय दिये हैं ।

^१. इस प्रति के पृ०—७७ पर “इति दूसरा-भाग” लिखा है पर यह द्वितीय-भाग नहीं है प्राग्ग होता है, कुछ पता नहीं चलता ।

श्री.

सूरसागर-मूलपुरुष



^१ स० १६३० की प्रतियाँ, सिंह-कीर्तन और यगोत्सव के भागों चलकर पाँच रूप हुए—निर्य-कीर्तन, यगोत्सव, वसन्त-धमार, प्रीति-पद, तथा रास के पद ।
^२ स० १६५४ की प्रतियाँ १३ स० १७५७ की प्रतियाँ १४ इसकी हस्त-सिंहित प्रतियाँ विलीय नहीं मिलती ।^{१५} स० १६२० प्रथम ।^{१६} सन् १८६२ प्रथम ।^{१७} सन् १८६० प्रथम ।
^{१८} स० १८६५ प्रथम ।^{१९} सन् १८६६ प्रथम । साहित्य-लहरी (वृद्धिकूट) प्रथम मथुरा, भागरा तथा विल्ली के भी प्रकाशित हो चुकी हैं ।^{२०} ये लीलाएँ भी अनेक स्थानों पर प्रकाशित हैं ।^{२१} लीलाओं में १२ टापस में ।^{२२} दो संस्करण ।^{२३} दो संस्करण ।

ब्रजभाषा का काव्य और शृंगार रस

श्री रामप्रसाद त्रिपाठी

हिंदी-काव्य का दर्शन मगधे पहिले उय समय हुआ जव मस्कृत-काव्य का ह्रास और भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था में विप्लवात्मक परिवर्तन हो रहा था। हिंदी के कवि प्रायः भाट या चारण होते थे। इनका मुख्य काम था अपने आश्रयदाता राजा के वश का गुण-गान करना और अपनी ओजस्विनी कविता में योद्धाओं को उत्तेजित और रणाभिलाषी बनाना। तत्कालीन विद्वानों में हिंदी का विशेष आदर हो ही कैसे सकता था? उसके अविष्य का ज्ञान भी किसी को न था? हिंदी-कविता यद्यपि ओजस्विनी और सबल हो चली थी, परंतु उसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य कोई बात न थी। हिंदू-राज्य की सत्ता ज्यों-ज्यों शिथिल होती गई त्यों-त्यों कविता भी निर्वल अथवा निस्सार होती गई। यद्यपि ऐसा विरला ही दरबार था, जहाँ भाट या चारण न हो, परंतु उनमें कोई विशेष रूप में उल्लेख्य नहीं।

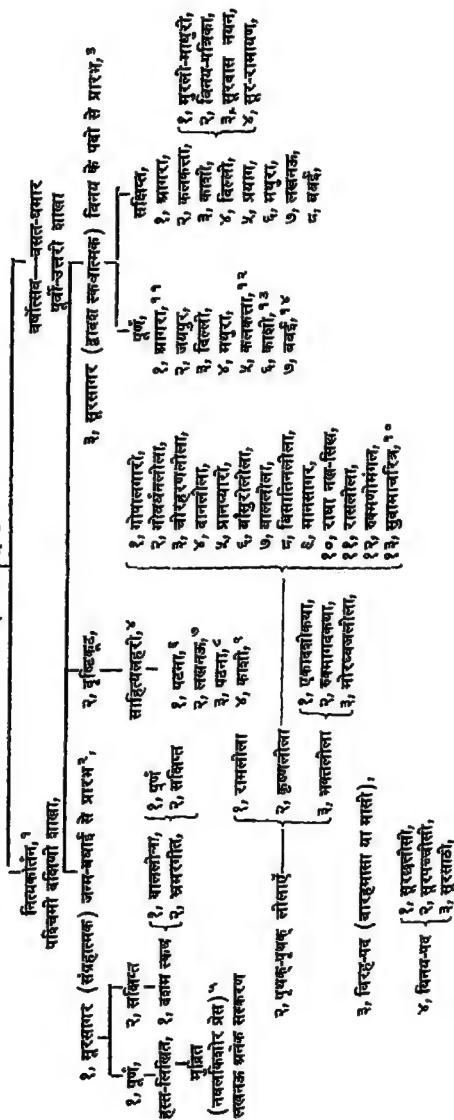
विक्रम की नवीं शताब्दी में लेकर भारत में जो परिवर्तन हुआ उस पर सूक्ष्म रूप से विचार करना आवश्यक है, क्योंकि हिंदी-साहित्य के साथ उसका घना संबंध है और उसके जाने बिना हिंदी-साहित्य की उत्पत्ति का तथा उसके रूप का ठीक-ठीक ज्ञान होना कठिन है। प्रत्येक देश या जाति के इतिहास का संबंध उस देश या जाति के साहित्य में होता है और कोई कारण नहीं कि यह नियम भारत के लिए चरितार्थ न हुआ हो।

भारत में मुसलमानों के आगमन से कुछ पूर्व, धार्मिक क्षेत्र में पौराणिक हिंदू-धर्म बल पकड़ने लगा था। उसमें व्यापकता के लक्षण भी स्पष्ट रूप में प्रकट हो गए थे। वैदिक धर्म के कर्मकांड की जड़ को बौद्ध लोग पहले ही हिला चुके थे। उस जड़ को मजबूत करने के लिए किए गए गुप्तवंशी राजाओं के भारे प्रयत्न निष्फल हुए, किंतु समय के फेर से बौद्ध-धर्म भी लोगों को रुचिकर न रहा। उस पर वेदांत ने विजय तो प्राप्त कर ली, पर उसमें जो सन्यास और वैराग्य के आदर्श थे वे जनता को कठिन और दुर्गम जैसे। अतएव थोड़े ही समय में, पुराण-अतिपादित भागवत-धर्म की उत्पत्ति होने लगी और उत्तरोत्तर उसकी इतनी वृद्धि हुई कि चौदहवीं शताब्दी से लगभग अठारहवीं शताब्दी तक भारत में इस विषय का आंदोलन जोरो पर रहा। भागवत-धर्म और भक्ति-मार्ग में वैष्णव-मत का यद्यपि बहुत घना संबंध है, तथापि इसका प्रभाव तत्कालीन अन्य मतों पर भी पड़ा।

नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की राजनैतिक अवस्था अत्यंत शोचनीय रही। इस समय उत्तरी और दक्षिणी साम्राज्यों का अंत हो चुका था। भारत के बग, गुर्जर और कान्यकुब्ज राजाओं के साम्राज्य-विधायक उद्योग निष्फल हो चुके थे। इस समय भारत में कई छोटे-छोटे राज्य थे। इन्हें आपसी झगड़ों में ही फुरसत न थी। तुर्कों ने भी इसी समय धीरे-धीरे पैर फैलाना प्रारंभ कर दिया। बारहवीं शताब्दी का अंत होते-होते उन्होंने सिंधु नदी में लेकर शोमली तक सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। अगली दो शताब्दियों में तुर्कों ने धीरे-धीरे समग्र उत्तरी भारत और दो तिहाई के लगभग दक्षिण देश को भी अधिकार-भूक्त कर लिया। इसमें हिंदुओं की राजनैतिक स्वतंत्रता तो चौपट हो ही गई, उनकी सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता पर भी गहरा धक्का लगा। साहित्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। निराशा-महभूमि में साहित्य-सरस्वती के विभूत होने की भी कुछ दिनों तक आशाका रही। इस समय गुण-ग्राहकता का बाजार इतना ठंडा पड़ गया था कि उसमें आने का साहस सहृदयों को भी न होता था। इस संबंध में हमें फारसी का एक घेर याद आता है—

श्री:

सूरसागर-मूलपुरुष



^१ स. १६३० की प्रसिद्धी, नित्य-कोर्त्तन और वर्षोत्सव के प्रागे चलकर पाँच रूप हुए—नित्य-कोर्त्तन, वर्षोत्सव, वसत-यमार, शीमन्-यव, तथा रात के यव । स. १६४४ की प्रति ।^२ स. १७५७ की प्रति ।^३ इसको हस्त-सिद्धि प्रतिमां विज्ञेय नहीं मिलती ।^४ स. १६२० प्रथम ।^५ स. १८६२ प्रथम ।^६ स. १८६५ प्रथम ।^७ स. १८६५ प्रथम ।^८ स. १८६५ प्रथम ।^९ स. १८६५ प्रथम ।^{१०} स. १८६५ प्रथम ।^{११} नौमी से ।^{१२} दादन से ।^{१३} हो सरकरण ।^{१४} दो सरकरण ।

श्री रामप्रसाद त्रिपाठी

हिंदी-काव्य का दर्शन सबसे पहिले उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य का ह्रास और भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था में विप्लवात्मक परिवर्तन हो रहा था। हिंदी के कवि प्रायः भाट या चारण होते थे। इनका मुख्य काम था अपने आश्रयदाता राजा के वश का गुण-गान करना और अपनी ओजस्विनी कविता से योद्धाओं को उत्तेजित और रणमिलायी बनाना। तत्कालीन विद्वानों में हिंदी का विशेष आदर हो ही कैसे सकता था? उसके भविष्य का ज्ञान भी किसी को न था? हिंदी-कविता यद्यपि ओजस्विनी और सवल हो चली थी, परंतु उसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य कोई बात न थी। हिंदू-राज्य की सत्ता ज्यों-ज्यों क्षिणिल होती गई त्यो-त्यो कविता भी निर्बल अथवा निस्तार होती गई। यद्यपि ऐसा बिरला ही दरबार था, जहाँ भाट या चारण न हो, परंतु उनमें कोई विशेष रूप में उल्लेख्य नहीं।

विक्रम की नवी शताब्दी से लेकर भारत में जो परिवर्तन हुआ उस पर सूक्ष्म रूप से विचार करना आवश्यक है, क्योंकि हिंदी-साहित्य के साथ उसका घना संबंध है और उसके जाने बिना हिंदी-साहित्य की उन्नति का तथा उसके रूप का ठीक-ठीक ज्ञान होना कठिन है। प्रत्येक देश या जाति के इतिहास का संबंध उस देश या जाति के साहित्य से होता है और कोई कारण नहीं कि यह नियम भारत के लिए चरितार्थ न हुआ हो।

भारत में मुसलमानों के आगमन से कुछ पूर्व, धार्मिक क्षेत्र में पौराणिक हिंदू-धर्म बल पकड़ने लगा था। उसमें व्यापकता के लक्षण भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो गए थे। वैदिक धर्म के कर्मकांड की जड़ को बौद्ध लोग पहले ही हिला चुके थे। उस जड़ को मजबूत करने के लिए किए गए गुप्तवंशी राजाओं के सारे प्रयत्न निष्फल हुए, किंतु समय के फेर से बौद्ध-धर्म भी लोगों को दृक्चक्र न रहा। उस पर वेदात ने विजय तो प्राप्त कर ली, पर उसमें जो सन्यास और वैराग्य के आदर्श थे वे जनता को कठिन और दुर्गम जैवें। अतएव थोड़े ही समय में, पुराण-प्रतिपादित भागवत-धर्म की उन्नति होने लगी और उत्तरोत्तर उसकी इतनी बृद्धि हुई कि चौदहवीं शताब्दी से लगभग अठारहवीं शताब्दी तक भारत में इस विषय का आंदोलन जोरो पर रहा। भागवत-धर्म और भक्ति-मार्ग से वैष्णव-मत का यद्यपि बहुत घना संबंध है, तथापि इसका प्रभाव तत्कालीन अन्य मतों पर भी पड़ा।

नवी से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की राजनैतिक अवस्था अत्यंत शोचनीय रही। इस समय उत्तरी और दक्षिणी साम्राज्यों का अंत हो चुका था। भारत के बग, गुर्जर और कान्यकुब्ज राजाओं के साम्राज्य-विधायक उद्योग निष्फल हो चुके थे। इस समय भारत में कई छोटे-छोटे राज्य थे। इन्हें आपसी झगड़ों से ही फुरसत न थी। तुर्कों ने भी इसी समय धीरे-धीरे पैर फैलाना आरंभ कर दिया। बारहवीं शताब्दी का अंत होते-होते उन्होंने सिंधु नदी से लेकर गोमती तक सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। अगली दो शताब्दियों में तुर्कों ने धीरे-धीरे समग्र उत्तरी भारत और दो तिहाई के लगभग दक्षिण देश को भी अधिकार-मुक्त कर लिया। इससे हिंदुओं की राजनैतिक स्वतंत्रता तो चौपट हो ही गई, उनकी सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता पर भी गहरा घक्का लगा। साहित्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। निराशा-मरुभूमि में साहित्य-सरस्वती के विलुप्त होने की भी कुछ दिनों तक आशाका रही। इस समय गुण-माहकता का बाजार इतना ठंडा पड़ गया था कि उसमें आने का साहस सहृदयों की भी न होता था। इस संबंध में हमें फारसी का एक गेर याद आता है—

“बुनी कलहसाली मुव अवर वसिक ।

कि यारां करामोशकईन्व इन्क ॥”

बाहुरवालों के समागम से हमारी सामाजिक अवस्था भी डाँबाडोल थी। पवित्रता-प्रिय आर्यजाति बाहरी जाति के साथ एकाएक कोई सामाजिक सबब कैसे स्थापित कर सकती थी। अन्य है उस समय के समाज-धुरंधरों को जिन्होंने इस विकट समस्या को भी हल करने का प्रयत्न किया। पर तुर्कवंशी मुसलमानों के आक्रमण से यह काम अधूरा ही रह गया। इस समय हमारे सामाजिक जीवन का अंत तो नहीं हुआ, ही शरीर सूख कर काँटा अवश्य हो गया।

बगल की अवस्था और प्रातो से कुछ भिन्न थी। स्वतंत्र मुसलमानी राज्य वहाँ आरम्भ ही से स्थापित हो गया था। विल्ली के कई वादवाहों ने समय-समय पर उसे अपने अधिकार में लाने की चेष्टा की, पर उन्हें स्थायी सफलता न हुई। इसका कारण यह था कि बगल के मुसलमानों ने हिंदू प्रजा से सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। मुसलमानों की नीति और प्रातो की अपेक्षा बगल में कुछ नरम थी। अतएव हिंदी-साहित्य की सेवा राजस्थान, दक्षिण और बगल में ही थोड़ी बहुत होती रही, क्योंकि दक्षिण और राजस्थान में ही हिंदू नरेशों की वास्तविक सत्ता थी।

जिन्होंने रामायण, महाभारत तथा पुराण-आदि पठे या सुने हैं वे जानते हैं कि भगवान् के अवतार लेने का कारण ‘धर्म की लालि’ और ‘दुष्कृतों की प्रबलता’ होना बताया गया है। अशुरों के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी, गाय का रूप धारण कर विधाता को दुखड़ा सुनाने गई। पृथ्वी और देवताओं की यह हानत देख कर विधाता को दया आई। उन्होंने अपनी शीर से तथा देवताओं की शीर से भी आर्यमा की। आर्यमा स्वीकृत हुई और नये युग का आरम्भ हुआ। सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक हिंदुओं पर अगणित आततियाँ पड़ी। पहिले की तरह उन्हें असुर-निकदन की शरण लेनी पड़ी। रघुवध (१०, ३४, ३८), कुमार सभ (३, ५१) और माघ (१, ७२, ७३) आदि साहित्य-ग्रंथों में ये भाव गरे पड़े हैं। पृथ्वीगर्भ-विजय-काव्य के निर्माता ‘जोनराज’ कवि ने तो कासा उपासना दिया है—

“त्वयाऽपि नून कलिकास राज्ञी निद्राविचयेत्यमुपासतेन ।

केसात्पन्नालजितधूर्णेन हिता स्थित आतितया जितसे ॥”

मनुष्यों के हृदय में इसी प्रकार के भाव स्थान पा रहे थे। अतएव उन्हें मर्मांश पुष्पोत्तम श्रीरामचंद्र और योगेश्वर श्री कृष्णचंद्र के चरित्र अधिक रुचिकर और आशाजनक ज्ञात हुए। इसी मे मनुष्यों की प्रकृति भागवत-धर्म की ओर सहज ही हो गई।

आत्मिक कष्ट के समय उत्तरी भारत को दक्षिण से श्री शंकराचार्य-द्वारा सहायता मिल चुकी थी। वहीं के श्री रामानंद कृष्णोपासना के प्रचार के लिए अग्रणी बने। यहाँ, उत्तरी भारत में कई परिवर्तन भी हो गए। पठान-साम्राज्य का अंत हो गया। राजस्थान में मेवाड़ ने अश्वत्थी उन्नति की। समयानुसार सिद्धांत ग्रहण करने के लिए जनता भी प्रस्तुत हो गई थी। इसी समय महात्मा ‘रामानंद’ दक्षिण में बंगाल होते हुए मध्यदेश में धर्म प्रचार करने पधारे। धर्म को सब के ग्रहण करने योग्य बनाने के लिए ‘ब्रह्मा योग-नाथ’ आदि ने हिंदी भाषा में उपदेश देना आरम्भ किया था। अतएव रामानंदजी ने भी हिंदी भाषा का ही सहारा लिया। आपके के शिष्य ‘कबीरदासजी’ ने ऐसा ज्ञानामृत बरसाया कि मत्सूत्रि में भी ज्ञान का मोल ब निकला। आपके ज्ञान-सागर से सत्पुष्ट होकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने ‘रामचरित मानस’ की सृष्टि की।

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में तैलंग देश से महाप्रभु वल्लभाचार्यजी मधुरा के समीप दरे। आप बड़े भारी विद्वान् थे। शीघ्र ही आपके प्रतिष्ठा होने लगी। आपके आगमन ने ब्रज में कि प्रभ की यमुना बहने लगी। आज भी ब्रज के मुख्य-मुख्य स्थानों को देख कर हृदय पुलकित हो जाता है। वल्लभाचार्यजी का और उनके पुत्र भक्त-शिरोमणि विठ्ठलनाथजी का हृदय भागमन हो गया तो इनमें आनंद ही क्या? कविवर विहारीदास ने ठीक ही कहा है—

“सधन कुंज छाया सुखब, सीतल मंद समीर ।
मन ह्वै जात अजो वहै, वा जमुना के तीर ॥”

—विहारी-सतसई

कृष्ण-मत्स्यात्मक धर्म ग्रहण करने के लिए ब्रजवासी तैयार थे ही । वल्लभाचार्य के उपदेश सुन कर उनके हृदय गद्गद हो गए । उनके भाव, काव्य के रूप में प्रकट हो गए । ब्रजमंडल और ब्रजवासी प्रेम में किसी से पीछे कैसे रहते ? ब्रजवासियों और ब्रजवालाओं की भाव-लतिका, भाषा और जीवनचर्या रसमयी तथा साहित्य-पूर्ण थी । अतएव कविता के लिए ब्रज से बढकर उत्तम क्षेत्र और कौन हो सकता था । ‘मुरली मनोहर’ ने यही तो मधुर मुरली बजाई थी । आपके रस-रास का कीड़ा-स्थल भी यही स्थान था ।

सच पूछिए तो हिंदी-साहित्य की उन्नति और काव्य की सरसता ब्रजवासियों की भावुकता का ही फल है । इसके पहिले इने-गिने दो-चार कवियों और काव्य-गुस्तकी को छोड़ कर हिंदी में और था ही क्या । गोरख, कबीर और अन्य सत-महंतों की रचना ज्ञान से पूर्ण है सही और काव्य में वह रत्न-सदृश तथा आदरणीय भी है, पर उसमें विशेष रस नहीं । उनकी रचना के कारण कविता-सरिता के आगे वह निकलने में सहायता भी खूब मिली, परंतु वह रचना उच्च श्रेणी में नहीं रखी जा सकती । हिंदी-काव्य तो कृष्ण के उपासक ब्रजवासियों की सहृदयता और मधुर ब्रजभाषा का ही प्रसाद है ।

हिंदी-कविता की वृद्धि का कारण राजस्थान के मेवाडवर्ष की उन्नति भी है । इससे हिंदुओं के हृदय आशान्वित होकर भाव-पूर्ण कविता लिखने की ओर झुके । राना सप्राप्तसिंह की हार से कविता की उन्नति में ठेस लग जाती, यदि ब्रज के समीप आगरे में सहृदय सम्राट् अकबर राजधानी को न उठा लाते । राजधानी और राजदरबार का ब्रजमंडल के निकट आ जाना ब्रजभाषा की उन्नति के लिए दूढ़ कारण हो गया । अकबर के दरबार और दरबारियों में साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्य की छासी चहल-पहल रही । साहित्य-सेवा की इच्छा से फारस और अन्यदेशों से आ-आकर, सहृदय कवि राजधानी में बस गए । फारसी आचार-विचार, भाव और काव्यशैली की उन्नति ब्रजभाषा और कविता के लिए सहायक हुई । ब्रजवासी सहृदय, प्रेमी, सौंदर्य के उपासक, शृंगार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे । फारसी के प्रेमी भी ऐसे ही थे । इनके बीच एक प्रकार की मित्रता हो गई । सम्राट् और कुछ मुख्य सचिव, सेना-नायक एवं राजकवि ब्रजभाषा के प्रेमी हो गए । इनकी देखा-देखी ओरों में भी ब्रजभाषा का आदर बढ़ा । छोटे-छोटे राजाओं और नवाबों के दरबारों में भी ब्रजभाषा और हिंदी-काव्य की पहुँच हो गई, क्योंकि बड़े दरबारों की नकले ही तो छोटी बैठकें हैं । भाषा-कवियों के भाग्य खुल गए । वे राजसी ठाट-बाट से रहने लगे । इनका आदर देख और लोग भी हिंदी-कविता और ब्रजभाषा का अध्ययन, ध्यान लगा कर करने लगे । क्योंकि इससे अनोविनोद तो होता ही था, साथ ही आर्थिक लाभ की भी आशा थी । भक्ति और शृंगार-विषयक कविता कुछ हिंदू ही न करते थे, मुसलमानों ने भी इस ओर ध्यान दिया है । कवि ‘होलराय’ ने एक प्रकार से ठीक ही कहा है—

“विल्ली ते न तखत ह्वै हैं, बखत ना मुगल कैसी, ह्वै हं ना नगर बड़ि आगरा नगर ते ।
गंग ते न शुनी, तानलैन ते न तानबाज, मान ते न राजा औ न दाता वीरबर ते ॥
खान खानखाना ते न, नर नरहरि ते न, ह्वै हं ना दिवान कोऊ बेडर टडर ते ।
नभी खंड, सात दीप, सात हू समुद्र पार, ह्वै हं ना जलालदीन साह अकबर ते ॥”

ब्रजभाषा के काव्य और उसकी उत्पत्ति पर विचार हो चुका । अब देखना है कि वह काव्य कैसा है । ब्रजभाषा में कृष्णमत्स्यात्मक और खास कर शृंगार-रस की कविता है । डाक्टर प्रियंसन आदि कुछ विद्वानों और तदनुकूल विचार रखने वाले कुछ भारतीय विद्वानों की भी समझ में शृंगार-रस का प्राधान्य तत्कालीन भोग-विलासिता का चोतक है और इसका प्रभाव हमारे विचारों पर तथा भाग्य पर प्राचरण पर बुरी तरह पड़ा है । अतएव इस ओर भी सावधानी से विचार कर लेना आवश्यक है ।

साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा कई प्रकार की बनाई है, परन्तु उनके मुख्य भाष्य में विशेष अंतर नहीं। भाव-लहरी, पद-सालित्य और सुंदर-शब्दावली की मूढ और मृदु मयी से काव्य की उत्पत्ति हो जाती है। भाव और रस के मुख्य भेदों को कवियों ने गिनाया है, परन्तु वास्तव में इनकी सख्या करना आकाश की तारावली गिनना है। सद्बुद्ध और तरंगित हृदयों में पात्र के अनुकूल ये उत्पन्न होते रहते हैं, परन्तु इनको वाक्य-स्तुतियों से बांध लेना कवियों ही का काम है। जातीय काव्य का उद्भव तभी होता है जब एक ही काल में बहुत से व्यक्तियों के हृदयातर्गत समान भावों की जागृति होती है। यह अवस्था समय-विशेष की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्यान्य सर्वव्यापक कारणों के योग से उपस्थित हो जाती है। अतएव जातीय साहित्य और काव्य, कालक्रम के अनुसार स्थिर किया जाता है। संसार की सभी जातियाँ उनके कार्यक्रम और ऐतिहासिक संस्करण एक-ना नहीं होता। सब में किसी न किसी प्रकार की विशेषता अथवा भिन्नता अवश्य रहती है। सब फूलों और लताओं के रंग-रूप एक-से नहीं होते। उनके गुणों और सौंदर्य में भी समता या सादृश्य नहीं होता। इसी कारण, प्रत्येक जाति का साहित्य भी भिन्न-भिन्न होता है। यदि किसी देश का साहित्य बुरा है तो उससे यह फल निकलता है कि उस देश की साधारण अवस्था अवश्य बुरी होगी। साहित्य की हीनता पर शोक प्रकट करने के पहले तत्कालीन इतिहास और सम्प्रदाय पर दो आँसू डालना न्याय-संगत और स्वाभाविक है। इसी प्रकार साहित्य की श्रेष्ठता और परिपूर्णता से जातीय श्रेष्ठता और परिपूर्णता का भी अनुमान किया जा सकता है।

हम पहिले लिख चुके हैं कि पद्महवी और सोलहवीं शताब्दियों में भागवत धर्म की उत्पत्ति हो रही थी, परन्तु भक्तिमार्ग के वैष्णव-संप्रदाय की प्रबलता थी। यही भाव अनुष्णों के हृदयों को बाधित कर रहे थे। इन्हीं भावों का विकास कवियों की अमृतमयी भाषा में हुआ। ब्रजभूमि में पहुँच कर वैष्णव-धर्म ने और भी बल प्राप्त किया और इस पर एक विशेष रंग चढ़ गया। ब्रजनायक श्री कृष्णचंद्र के जीवन-चरित्र का प्रथमांक यहीं पर खेला गया था और वहीं रहस्य यहाँ के निवासियों के हृदयों में प्रतिध्वनित हो रहा था। अतएव उनकी रुचि और भक्ति उस भाव और उस कला की ओर विशेष रूप से झुक गई। जो संज्ञक इस रस-काव्य को शृंगार-रस से संयुक्त होने के कारण भोग-विलासिता का प्रतिबिम्ब समझते हैं वे भगवद्भक्तों की शृंगारमय उपासना तथा उनके भावों की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नहीं देते। भारत-वर्ष में 'व्यास जी' के सद्बुद्ध कोई सम्यक् दृष्टिमान् और महाकवि नहीं हुआ और यह बात भी प्रसिद्ध है कि उनके काव्य में 'भागवत' का स्थान सबसे ऊँचा है। श्रीमद्भागवत में 'रासपचाध्यायी' द्वय में मध्वन के तुल्य हैं। भक्त लोगों का हृदय उसे पढ़ अथवा सुनकर आज भी गद्गद हो जाता है। ऐसे महर्षि के भक्त-मनोहारी और रोमांचकारी काव्य को व्यभिचार और भोगविलासिता का प्रतिपादक और प्रचारक समझना केवल दृष्टि-दोष और ज्ञान-दोष ही है। इन्हीं महात्मा के काव्य का स्तब्ध स्रोत अनुकूल समय पाने पर ब्रजभूमि में पुनः प्रवाहित हो गया। इस काव्य को नवीन काव्य और इस भाव को नवीन भाव कहना भूल है। यह तो उसी वशी का प्रतिनाद है, जिसको व्यासजी शब्दों और वाक्यों में भर कर, भारतीयों के शोक और सदाश के नाश के लिए छोड़ गए थे। ब्रजभूमि तो पूर्णकला-प्रवीण मुरलीमनोहर की रगस्थली ही थी, उसका कहना ही क्या। वग और विहार में जयदेव, विद्यापति ठाकुर और चंडीदास भी इस भाव से उत्पन्न होकर तमय हो गए थे। उनके गीतों और पदों को श्री चैतन्य महाप्रभु नेचो में आँसू भर-भर कर गाते थे। भारत-वासियों को जब तक अपने आत्मीयत्व का स्मरण रहेगा, वे इन कवियों और इनके काव्य का भाव और अभिमान करते रहेंगे। किसी को यह काव्य बुरा और दुर्गन्ध-युक्त मले ही देख पड़े, पर शक्तों को तो यह प्राणों से भी प्यारा है। कविवर "विहारीलाल" भी इसकी गवाही देते हैं—

“ब्रजवासिन कौं उचित धन, सो धन रहित न कोइ ।

सुचित न आयो सुचितई, कहौ कहीं ते होइ ॥”

इस पर यदि कतिपय न्यायपचानन हमारे कथन को भक्तों के धार्मिक काव्य के लिए ही उपयुक्त समझें, औरों के लिए नहीं, तो हम इस संका पर भी शुद्ध रूप से विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

हिंदी-काव्य की सृष्टि पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक हुई है। कतिपय सज्जन इसे धार्मिक और मानुषिक दो मुख्य भागों में विभक्त करते हैं। धार्मिक काव्य मुख्यतः वह है जिसका प्रादुर्भाव भक्तों के द्वारा हुआ। इस श्रेणी में सूर, तुलसी, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास, नवदास, मीरा, रसखान, कबीर इत्यादि की गणना है। दूसरा, अर्थात् मानुषिक काव्य वह है जिसे राजकवियों तथा भक्तोंतर मनुष्यों ने लिखा है। इस श्रेणी में गग, मतिराम, बिहारी, घनानंद और देव और पद्माकर आदि कवि माने जाते हैं। इन दो मुख्य श्रेणियों के अंतर्गत और भी अनेक भेद बतलाये गये हैं, जिनमें दो-चार जानने लायक हैं। धर्म-काव्य में एक तो सत्ता का ज्ञानात्मक दूसरे भक्तों की भक्ति और राम-कृष्ण-लीलात्मक भेद हैं। इसी प्रकार मानुषिक काव्य में शृंगार-रसात्मक, सदाचार-शिक्षक और वीर-काव्य ये तीन भेद विशेष हैं। हमारी समिति में काव्य का यह विभाग उत्तम नहीं। यहाँ हम इसके मुख्य दोषों का संकेत कर देना अनुचित नहीं समझते। प्रथम दोष तो यह है कि इसमें एक श्रेणी के गुण दूसरी श्रेणी में विद्यमान हैं। दृष्टांत के लिए नवदास-कृत 'रसपञ्चाध्यायी', बिद्यापति ठाकुर-कृत 'पदावली' आदि ग्रंथ लीजिए। इनमें शृंगार-रस का इतना प्राधिक्य है कि इन्हें हम धर्म-काव्य से निकाल कर शृंगार के अंतर्गत कर दे सकते हैं। अंतर यह हो जायगा कि ये कवि देव, मतिराम और बिहारी की श्रेणी में आ जायेंगे। दूसरा दोष यह है कि यह विभाग बहुत कुछ अगंतावद्ध-सा है। दृष्टांत के लिए तुलसीदास जी का काव्य, जो एक प्रकार से किसी भी श्रेणी में नहीं आता। यह धर्म-ग्रंथ उसी प्रकार का है जैसा कि यहाँपि वाल्मीक का आदि काव्य। परंतु क्या वाल्मीकि की रामायण को धर्म-ग्रंथों में रखना संस्कृत उचित समझते हैं? क्या वे इसे इतिहास की श्रेणी में नहीं रखते? फिर तुलसीदास की रामायण और विनय-पत्रिका काव्य की दृष्टि से, एक ही श्रेणी के अंतर्गत नहीं? तीसरा दोष यह है कि इसमें नायिका-भेद आदि विषयक ग्रंथ भी मिला लिए गए हैं। दृष्टांत के लिए मतिराम-कृत 'रसरज', पद्माकर-कृत 'जगद्गिनोद'। यह ठीक है कि ये कवि काव्य करने बैठे थे, परंतु इनका मुख्य आशय नायक-नायिका-भेद, हाव-भाव वर्णन आदि भी था, अतएव इनकी सरस्वती स्वतंत्र और अप्रतिबद्ध न सही, किंतु कतिपय भाव-विशेषों को उद्भासित करने में व्यग्र हो पड़ी थी। जिससे इनकी निर्धारित स्रोत में बलात् बहना ही पड़ा।

हिंदी-काव्य के विभाजन की किसी नई शैली पर हम विचार नहीं करना चाहते। हम तो यह आशा करते हैं कि साहित्य-मर्मज्ञ यूरोपियनों की बताई हुई शैली का अवलंब छोड़ कर स्वतंत्र रूप से विचार किया करें, क्योंकि यूरोपियनों की शैली सतोपजनक नहीं है। हिंदी के माध्यमिक काव्य तथा ब्रजभाषा के काव्य पर विचार करते समय इस पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि इस स्रोत का मूल वैष्णव-मगवद्भक्ति में है, राज-समाधो में नहीं। यह काव्य न तो मात और चारणों की सृष्टि है और न 'मोग-विलासिता' की उपज। वास्तव में ब्रजभाषा का काव्य ब्रजकिशोर, राधारमण, नटवर श्रीकृष्णचंद्र की लीलाओं से प्रसूतित हुआ है। इनकी लीलाओं में जो वैचित्र्य है, वह ब्रजभाषा के काव्य में थोड़ा बहुत प्रतिबिंबित है। अतः जिस प्रकार कृष्णलीलाओं पर विचार किया जाता है उसी प्रकार इन कवियों के भावों पर भी विचार होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ब्रजभाषा के काव्य पर श्रीमद्भागवत् तथा वेदव्यास का बहुत प्रभाव पड़ा है। अतएव इस ग्रंथ के प्रकाश में उस पर विचार करना ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय-संगत होगा। भागवत के दशमस्कंध में लीकिकता और श्लोकीकता दोनों विद्यमान हैं, वही बात भाषा-काव्य में भी है। इसलिए इसको केवल एक दृष्टि या एक ही भाव से देखना अपर्याप्त और अपूर्ण होगा। यह भी भूलना न चाहिए कि इस काल की भाषा में गद्य का अभाव था। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह वास्तविक कवि हो या न हो, अपने मले-नुरे विचारों को छोड़ोबद्ध करने को बाध्य था। कवित्व एक ईश्वरदत्त शक्ति है, जो हर एक व्यक्ति में नहीं पाई जाती और काव्य में भावोद्घाटन करना सर्वसाधारण के सामर्थ्य में बाहर है। अतएव काव्य पर समालोचना करते समय दौरे और गढ़े कवियों को उसके अंतर्गत कर लेना कूडा-कंकट को काव्य मगझना होगा। काव्य का स्थान ऊँचा है। उसको दूषित करने से ऊटपटांग समालोचना होने की नबई घ्रातका है। उस पर विचार करते समय देख लेना चाहिए कि किस वास्तविक कवि की कहीं तक पहुँच है और काव्य की उच्चतम तरल-तरंग-माला किस शिखर तक कब पहुँची। इस पर भी जो सज्जन शृंगार का नाम

लेते ही नाक-भौं सिकोड़ते हैं और उससे दूर भागते हैं, उनसे हम प्रार्थना करते हैं कि वे परमात्मा से सविनय सहृदयता का दान मांगें और जरा भक्त की दृष्टि से उस पर विचार करने की कृपा करें।

इन विचारों पर दृष्टि रखते हुए यदि हिंदी-काव्य की आलोचना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उसमें न तो शृंगार-काव्य की इतनी अकथनीय अधिकता है और न शृंगार-रस ही इतना बुरा है कि उससे भय उत्पन्न होने की शका हो। यदि प्रेम और शृंगार-रस को आप निकाल दें तो क्या काव्य की सरसता उतनी रह सकती है? और क्या ऐसा करना हिंदी के साध्यमिक साहित्य को निर्जीव करने के समस्त नहीं? मनुष्य के हृदय में प्रेम के सदा कोई उच्च भाव नहीं और साधारण मनुष्य के लिए सौख्य से बंद कर कोई उपासना नहीं। यह प्रेम, स्वार्थ और कुत्सित विचारों से दूषित होकर, कुपात्र-द्वारा मयान और राक्षसी भाव ग्रहण कर लेता है। परंतु ऐसी अवस्था में उसे प्रेम न कह कर 'विषय-वासना' कहता ही ठीक होगा। इस संदेह को हिंदी-भाषा के कवि भली भाँति समझते थे और यद्यपि उसमें परकीया तथा अन्य नायिकाओं के अथवा उनके प्रति भावों का भी वर्णन किया गया है, परंतु वह विषय के वैज्ञानिक अथवा बो कहिए कि अन्य भगो की प्रति के लिए है, अनुकरण के लिए नहीं। देखिए न, 'वात्स्यायन' ने 'कामसूत्र' की रचना करते हुए स्पष्ट कह दिया है—

“धर्मं धर्मं च कामं च प्रत्यर्थं लोकेनैव च ।

पश्यत्येतस्य तत्त्वतो न च रागात्प्रवर्तते ॥

तवेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाविना ।

विहितं लोकयाजार्थं न रागार्थस्य सविधिः ॥

असंगृहीत भार्यां च ब्रह्मस्त्रीं यं वचणच्छति ।

सूतकं सततं तस्य ब्रह्महत्या विने विने ॥”

देव कवि ने 'सुजानविनोद' में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

“विषई जन व्याकुल बिषे, बेले बिष न पिपूष ।

सीठी सीठी सी उन्हें, जूठी जबपि मधूष ॥”

“अबै बिचारि प्रेमीन को, विषई जन कौ नाहि ।

बिष विकाने जनन की, प्रेमी छियत न छाहि ॥

जप, तप, व्रत, रितु नैन सो, प्रेमी जन नर क्यात ।

पूरन प्रेम प्रसन्न मन, ब्रह्मानंद समात ॥”

यह तो हुई केवल साधारण और सासारिक दृष्टि, पर यदि आप इसे कृष्ण-भक्त की दृष्टि से देखें तो परकीया आदि नायिकाएँ गोपों की प्रेम-सदमाती गोपिकाएँ हैं, श्रीकृष्णजी ने इनके साथ रासरीझ की। अतः कवियों ने भी अपनी कीर्तन-शैली के अतर्गत इस विषय को कर लिया। इस पर राजा परीक्षित ने शका की तब श्रीशुकदेव ने कहा—

“अत्पादपंकजपरामनिषैवतुप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबधा ।

स्वैरं वरंति मुनयोऽपि न लह्यमाना स्तस्येच्छमाऽस्तवपुत्रः कुत एव बधः ॥”

—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध ३३।३५,

यह विषय असौकिक है, इसको अच्छता रखना साहित्य-सेवियों का परम धर्म है। हिंदी के कवियों ने अपने काव्य के नायक और नायिका को प्रायः स्पष्ट बतला दिया है और इस पर भी यदि कोई अपने दृष्टि-दोष से अन्यथा समझे तो इसमें उनका क्या दोष है। देखिए न—

“सत्य रसायन कविन को, श्री राधा-हरि सेव ।”

❀

“भाषा देवी नाइका, नाइक पुष्य जु आपु ।
सबै वंपतिन सैं प्रगट, देव करै तिहि जापु ॥
वरति नाइका-नायकन, रज्यौ ग्रंथ मतिराम ।
लीला राधारमन की, सुंदर जस अभिराम ॥”

—रसराज

“या अनुरागी चित्त की, गति जानत नहिं कोइ ।
ज्यो-ज्यो बूझै स्याँन रंग, त्यो-त्यो ऊँजर होइ ॥”
“तजि तोरय हरि राखिक, तन-नुति कर अनुराग ।
जिहि ब्रज-केलि-निहुँज भग, पग-पग होत प्रयाग ॥”

—विहारी

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, परंतु हमारे कथन के लिए यही पर्याप्त हैं जो भी इस अलौकिक प्रेम की टिप्पणी में परकीया ऐसी नायिका का प्रेम-विषयक सबैया सुन कर फिर आगे चलिए—

“क्यो इन नैनन सो निरसंक ह्वै, मोहन की तन पानिप पीजै ।
नैकु निहारै कलंक लगै, इहि गाँव वसैं कहु कैसैंक जीजै ॥
होत रहै मन यो ‘मतिराम’ कहैं बन जाइ वडौ तप कीजै ।
ह्वै बलमाल हिऐँ लगिएँ अर ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै ॥”

—रसराज

अब दूसरा प्रश्न यह है कि इस काव्य का प्रभाव सर्वसाधारण के हृदय पर कैसा पड़ा ? हम मुनते-मुनते थक गए कि इस काव्य का प्रभाव युवकों पर बुरा पड़ा, परंतु हमें इसकी पुष्टि के लिए अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला । इस काव्य से हमारे सामाजिक जीवन में कौन सी बुराई उत्पन्न हो गई ? हमारी समझ में इससे कोई हानि-विशेष नहीं हुई । हाँ, इससे ब्रजभाषा के काव्य में मधुरता और सरसता अधिक बढ़ गई, जिससे उसका और कृष्ण-भक्ति का प्रचार खूब हुआ । शृंगार-रस हिंदी-साहित्य का कलक नहीं वह तो उसका शिरोभूषण है ।

कतिपय सज्जन कह बैठे हैं कि हिंदी-साहित्य शृंगार-रस से इतना भरा पड़ा है कि उसने जी ऊब जाता है और उसमें विषय-वैचित्र्य का शोचनीय अभाव है । उनकी यह धारणा हिंदी-साहित्य का समुचित प्रकाशन होने के कारण है । इसमें न्यूनाधिक रूप में नवो रसों का समावेश है । योरोपियन साहित्य के पढ़नेवालों को यह धाका विशेषतया इस कारण होती है कि उसमें मनुष्य और प्रकृति को एक दूसरे में मिला माना है । अतः दोनों एक दूसरे से विलकुल पृथक् प्रतीत होते हैं, परंतु हमारे देश में, मनुष्य और प्रकृति विभिन्न नहीं । दोनों का पारस्परिक योग ही ठीक माना गया है । मनुष्य की श्रेष्ठता पर हमारे धर्म और शास्त्रों ने इतना जोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति दब सी जाती है । अतः हमारे कविगण जब कभी नैसर्गिक और प्राकृतिक विषयों का वर्णन करते हैं तब उनका तात्पर्य नायक अथवा नायिका, या यो कविये कि पुरुष और स्त्री के गुणों को और भी उत्कृष्ट करना तथा प्रकृतिवत् मानसिक भावों का तारनम्य दिवाना होता है, उसे मनुष्य की दूसरी प्रेयसी अथवा नायिका की नीति बनाना नहीं । इस भाव के लिए न ब्रजभाषा

का दोष है और न कवियों का, क्योंकि यह हमारे मानसिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन में बड़ा विकल है। शोक करने की इसमें कोई बात नहीं और न कोई अपूर्णता है। प्रत्युत यदि धार मृदु और विचार करे तो इसमें पूर्णता ही दीख पड़ेगी।

इस लेख को और अधिक बढ़ाना अनावश्यक है। इतने पर भी यदि प्रेम और भुक्तान के दोषों में किसी को सदेह रह गया हो तो हम उनकी सेवा में वही उत्तर देते हैं जो कि बुद्धा की टॉप-टॉप अर्थात् उद्धव को ब्रज-वनिताओं ने दिया था—

“भक्ति भक्ति आपकी अबल अबला सी लगे, सागर-सनेह कहौ कैसे पार पावंगी।
छोलिये न जीह और लीजिये न नाम हल, ‘बलबेब’ ब्रजराम जू को सुधि आवंगी ॥
सुनतहि प्रलय-भयोधि नाहि एक ऐसी, कंहर करनहारी लंहर सिधावेगी।
रावे-दुग-सलिल-प्रवाह नाहि ब्रज ऊँची, राखे समेत ग्याँ-गाया रहि जावंगी ॥”

और स्वर्गीय श्री जगन्नाथ दास (रत्नाकर) जी के दावों में भी यही कहना उपयुक्त होगा—

“कीस ग्याँ-भाँनु की प्रकास गिरि-सुगन पे, ब्रज में सिहारी कला नेंकु छटि हैं नहीं।
कहै ‘रत्नाकर’ न प्रेम-सख पैहँ सुखि, धाकी डार-पात तून-तूल घटि हैं नहीं ॥
रसना हमारी चार घातकी बनी है ऊँची, पी-पी की बिहाइ और रद रहि हैं नहीं।
लौटि-पीटि घात की बवंडर बनावत बयो, हिय तें हमारे धनस्याम हटि हैं नहीं ॥”

(मरस्यगी में)



श्री सूर का एक पद

गो० श्री ब्रजभूषणलाल

‘सूर आयी सीस पै, छाया आई पाँइन तर, पयो सब झुकि रहे देखि छाँह गँहरी ।
घंघी-जन घंघि-छाँड़ि रहे-रो सब रूप ही ते, पसु, पंछी, जीव, जंतु चिरैयाँ रूप चँहरी ॥
ब्रज के सुकुमार लोग है-किवार सोइ रहे, उपवन की ध्यार तामें क्यों न सुख लँहरी ।
‘सूर’ अलबेली चलि काहे को डरात जिय, माघ-मधि-रात जैसी जेठ की दुपँहरी ॥’

श्री सूरदास का यह पद स्थूलरूप में प्रगट में रीति-शास्त्र के अनुसार एक नायिका विधेय का निरूपण है, जिसका पर-पुरुष से प्रेम है, इसलिए धर्मानुसार यह नायिका—‘परकीया’ है^१ । परकीया में प्रणय की उत्कृष्टता, प्रेम की अनन्यता और लगन की एकनिष्ठ महत्ता अन्य नायिकाओं में कहीं अधिक कहीं गई है । वह ‘ऊढा’^२ भी है, क्योंकि पर-पुरुष से प्रेम रखती है और कार्यात् होकर स्वयं नायक के पास—रूप-जनित कुछ मान के कारण अनमनी-सी होते हुए भी, जाने को उद्यत होने के कारण ‘अभिसारिका’^३ भी है । दिन में ही मिलन के कारण से वह ‘दिवाभिसारिका’^४ है । दूती,^५ नायिका के अननिष्ठ मिलन रूप

‘दुरैं-दुरैं पर-पुरुष सो, सुंदरि करै जु प्रीति ।
बुद्धि, चतुरई, चौगुनी, ‘परकीया’ की रीति ॥

—मनोज-मजरी—२।२७

‘जो व्याही तिय और की, करति और सो प्रीति ।
‘ऊढा’ तासो कहत है, हिएँ राखि रस रीति ॥

—मनोज-मजरी—२।२८

‘केलि-हेतु पिय-मल गमन, करै बिलच्छन कोइ ।
पिय-हि बुलावै आपु-बल, ‘अभिसारिका’ जु होइ ॥

—हित-सरगिनी—कृपाराम

‘संस्कृत-रीति ग्रंथों में ‘अभिसारिका’ के ज्योत्स्नाभिसारिका, दिवाभिसारिका और तमोभिसारिका नाम से तीन भेद कहे हैं । ब्रजभाषा के आचार्य केशव ने प्रथम—स्वकीया-सामान्याभिसारिका का गवयन कर उसके—प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका तथा कामाभिसारिका विभेद करते हुए प्रत्येक के ‘प्रचुर’ और ‘प्रकाश’ नाम से दो-दो भेद और किए हैं । चितामणि ने संस्कृत रीति-ग्रंथों के अनुसार ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोभिसारिका तथा दिवाभिसारिका नाम से तीन भेद माने हैं, परंतु सर्वसंमति से अभिसारिका के शुभ्रा, कृष्णा तथा दिवाभिसारिका भेद ही अधिक प्रचलित हैं ।

‘मिलि न सकैं जे तिय-पुरुष, तिहि चित हित उपजाइ ।

छल, बल आनि मिलाव ही, सो दूती ठहगइ ॥

—मनोद-मजरी—३।६

उल्लाह को अपने मधुर वचनों द्वारा और भी सचेत कर 'अभिसार' के लिए प्रेरित कर रही है, इसलिए द्विती भी उत्तमा^१ है, क्योंकि—'क्यों न सुख लैहरी' उसका सकेत है और 'अलवेली' जैसा सार्थक संवोधन है। नायिका में लज्जा और काम दोनों समान रूपसे हैं जिससे उसे 'मध्या'^२ भी कहा जा सकता है। जेठ की दुपहरी (मध्याह्न) तथा उपवन की व्याघ्रि (हवा) दोनों ही लज्जा और सुख की कामना के चोटक होने के साथ-साथ काम-भाव के कारण भी है। अभिसार का समय केवल दिन या प्रकाशमय समय ही नहीं, जेठ की ठीक दुपहरी (दिन का मध्य भाग), अर्थात् अति प्रकाशपूर्ण समय है। अतः प्रस्तुत पद की नायिका को—'द्विती-प्रेरित परकीया मध्यादिवाभिसारिका' कहा जा सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि उक्त नायिका ब्रज की कोई यौवनवती—अलवेली गोपिका है। वह काम-वती है, उद्वोषिता है, साथ ही गुरुजन-समीप्ता है, अतएव दुःस्वाध्या है तथा नायक राजराज कुँवर स्वयं श्रीकृष्ण है, जिनकी रस-केलि से ब्रज के समस्त वन-उपवन, निकुञ्ज-कुञ्ज, सर-सरिता-उट उत्सहित हैं। ब्रज, एक ऐसे नैसर्गिक मधु-अञ्चल में अवस्थित है जहाँ के मनुष्य ही नहीं पशु और पक्षी भी भावुक हैं। प्रकृति की मादक और कोमल गोध में पले होने के कारण वे सहज ही सुकुमार हैं। इसलिए कामभाववशविलत-नायक-नायिकाओं का सुकुमार होना निस्संदिग्ध है। कवि उसी व्यापक सुकुमारता का निर्दर्शन कर रहा है।

ज्येष्ठ मास के मध्याह्न का तीव्रतम उत्ताप है। प्राणीमात्र के लिए वह असह्य है। सूर्य भी ठीक शिरोचिंदु (माथे के ऊपर) पर आ गया है। प्राणियों वा पदार्थों की छाया उसके पथ-तल में सिमित कर केंद्रीभूत हो गई है। इस समय पथिक-गन गहन छाया ढूँढ़ वहाँ दुपहरी बिताने के लिए 'शुक'—अति असक्त-से शीघ्र ठहरने की कामना करते हैं। यही दशा अमिक वर्ग की है। वे अम तभी तक करना चाहते हैं जब तक कि वह उनके लिए उल्लासमय हो—असह्य कष्ट साध्य नहीं। जब मनुष्य की यह दशा है तब अन्य पशु-पक्षी—जीव-जंतु तो इनकी अपेक्षा निर्बल वा कोमल-तर हैं। वे निवाह-याग के प्रमत वेग को कैसे सह सकते हैं—

“कहिलाने एकत बसन, अहि, मयूर, भृग, बाघ ।

अगत तपोवन-सौ कियो, खोरघ दाघ-निबाध ॥”

—बिहारी

अतः, वृक्ष-लताओं के निमृत् कोटरो में, उनकी तल-छाया में निस्तब्ध, निस्वन् होकर वे विश्राम करना चाहते हैं। ब्रज के इन कोमल पशु-पक्षियों की कोमल वृत्ति को देखिए कि वे इस तीव्र-ताप से उत्तापित हो चढ़कने के मीठे स्वरो से भी मुक्ति चाह कर पूर्ण विश्राम की कामना करते हैं। उषर ब्रज के नागरिक-जन शीघ्र की अति उत्तप्त पवन और विषम भूप के प्रकाश से सुरक्षित होने के लिए अपने-अपने गृह-कपाटों को बंद किए सो रहे हैं। वे दूसरे देखो की तरह जह-यत्र की भाँति शीघ्र की इस जलती दुपहरी में निरवधि चलायमान रहना नहीं चाहते। वे सारे दैनन्दिन व्यापार को स्थगित कर विश्राम कर रहे हैं। आधिर जीवन निरंतर पिसते और जलते रहने के लिए ही तो नहीं। उसमें कुछ क्षण स्वस्थता और शांति के लिए भी सुरक्षित होने चाहिए। ये ब्रज-वासी मानो अपने उस नागरिक अधिकार को खोना नहीं चाहते। ब्रज का माधुर्य-कोट ही ऐसा है। इस प्रकार प्रकृति के साथ-साथ नागर-जीवन में भी एक छात निस्तब्धता और

^१ मयुरे बचन सुनाइ को, जो तिम-मन-हुरि लेत ।

तासो उत्तम वृत्तिका, सकल सुकवि कहि बैत ॥

—सुदरी-सर्वस्व

^२ मुग्धा जामें पाइये, जोबन-आगम-रोति ।

मध्या में लज्जा-मदन, प्रौढा में पति-प्रीति ॥

—रसप्रबोध—रससीन

जन-रव बाँ जन-व्यापार के कोलाहल का अभाव है। उबर शीतल-मद-सुगन्ध से अनुप्राणित ब्रज के वन, उपवन और निकुञ्जों में सुख, शांति तथा शीतलता खेल रही है। ऐसे समय प्रिय-मिलन कितना सुखद, कितना सरस होगा, यह रसिक हृदय ही जान सकते हैं।

अभिसार, वह भी एक मध्या परकीया का, अधिक से अधिक गोपन और अपने अनुकूल उपकरण वा वातावरण चाहता है। अभिसारिका घर से निकल कर अभिसार-पथ पर वहेगी। सबव है गुहजन वा पुर-जन उसकी अनुगामिनी छाया को देख कर कुछ भ्रम करले, पर इस समय वह भी भय नहीं है, क्योंकि—

“छाया आई पाँइन तर ।”

छाया पावो-तले आगई है। फिर यह छाया दृष्टिगत न भी हो, नायिका स्वयं ही दृष्टि पड़ जाय, पर उसे भी यहाँ कौन देखेगा ? क्योंकि—

“ब्रज के सुकुमार लोग दै-किवार सोइ रहे ।”

जो सुकुमार हैं, वे वद कपाटों के रक्षो से भी प्रकाश व तप्त वायु न आजाय, ऐसा प्रवध कर सोये होंगे और जब सो-ही गए नव देखेगा कौन ? यही नहीं, उनकी निद्रा को गहन वा उन्हें निद्रागत करने में असहायक पशु-पक्षियों के कलरव का भी अभाव है। अतः प्रकृति की निस्तब्धता में किसी का जागरूक रहना असम्भव है। उबर उपवन का ग्राम-मार्ग है—जन-व्यापार से शून्य, क्योंकि पशु-पक्षियों की भर्त्ति मार्ग के बटोही एवं “वधो-जन” निष्क्रय और निःशब्द होकर विश्राम कर रहे हैं। सघन छाया की शीतलता की ओर से आँखें हटाकर इस चिलकती धूप की ओर कौन देखने का साहस करेगा ? अस्तु, यह जेठ मास की दुपहरी माघ मास की मध्य रात्रि की भाँति एकांत, शांत और निश्चांत है। यहाँ श्री सूर के शब्दों की कितनी सुंदर ध्वनि है। अभिसार की समय अनुकूलताएँ यहाँ समविगत है।

इन्ही अनुकूलताओं से लाभ उठाने के लिए दूती—सखी, अपनी ‘अलवेली’ नायिका को उद्बोधित कर रही है। अलवेली शब्द जहाँ नायिका की उत्कण्ठता का द्योतक है वहाँ उसके मधुर यौवन के साथ-साथ काम-जनित मनोभावों को भी प्रगट करता है। इसमें एक अनुपम रस-वृत्ति है, उसके प्रतिफलन की कामता में एक अनुठापन है—अटपटापन है। अतः ऐसी ‘टीक दुपहरी’ की विभीषिका में भी उसके अतरस्तर में एक स्निग्ध भाव-रस की धारा उसके मानस की तरल भाव-बीधियों के साथ आपूरित कर रही है। वह अपनी रस-धारा में मानो शीघ्र की ऊष्मा को डुबो देगी—अपने चिर सतप्त हृदय को उपवन की शीतल-सुगन्धित-समीर के झकोरो से आलोकित कर तीव्र-तपन को शमित कर देगी। काम का तीव्र-उद्वेग, भावों की झझा, स्नेह का निर्वाण प्रवाह, स्थूल प्रकृति के प्रभावों को भी आभूल परिवर्तन कर प्रणयी के अनुकूल बना देते हैं। वह अणु-अणु को अपनी साव-बारा में निमज्जन करता हुआ पाता है। उसके लिए प्रकृति अपने गुण-धर्मों को छोड़ देती है। यह तीव्र सवेदनशीलता भावुकता की पराकाष्ठा है। इमीलिए जेठ मास की दुपहरी नायिका को माघ मास की मध्य रात्रि की भाँति एकांत और शीतलता देने वाली है। दूती, नायिका के मन के विकारों को,—उसके विज्ञान को परखती है और उसकी मुकुमारता को जानने हुए भी ऐसी टीक दुपहरी में उपवन की शीतल विचार में प्रिय-मिलन का सुख लेने के लिए प्रेरित करती है। मार्ग में, एक तो अभिसार के मादन भावों में डूबी हुई नायिका को जेठमास की टीक दुपहरी का उनाप अनुभव ही न होगा और यदि किंचित् हुआ भी तो उपवन की शीतल समीर उसे निवृत्त कर देगी। प्रिय के आश्लेष और परिभ्रमण का महासुख ही ऐसा है कि उससे ऐसे कष्टतम मार्ग की समस्त क्लान्ति को निवृत्ति मिलन के एक पल मात्र में हो जाती है। फिर समग्र प्रकृति उसके अनुकूल है। एकांत निम्नव्य वातावरण में लोक-लज्जा का भय भी नहीं। माघ की मध्य-रात्रि में जहाँ अभिसार के लिए निगोपदना होती है वहाँ, वसंतकालीन निसर्ग सुषमा-बीच मादक काम-भाव और उसकी पूर्ति के अनुरूप उल्लामय वातावरण भी होता है। जेठ की दुपहरी में भी निकुञ्जों के प्रसन्न कैलि-स्थलों में यही बात है। अतएव दूती को उत्तिन—

“कहो को डरात जिय ।”

संगत और समीचीन है। इधर निकुञ्ज-स्थित नायक की तीव्र उत्कण्ठा की भी कल्पना करे कि द्विती-श्रेष्ठ के बाद प्रेक्ष्यता नायिका के साथ इस अल्प कालीन भ्रम्याह्न-व्यापिनी उपवन के समीर सुसोपयोग के लिए वह कितना उत्कण्ठित है—उल्लसित है।

प्रस्तुत पद, ‘सयोग-अगार’^१ का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। नायक-नायिकाओं के हृदय में परस्पर मधुर मिलन की समुत्सुकता उनके रति-भाव की द्योतक है। रति, हृदय का एक मानव भाव है और भाव, अतस्तत्त्व की एक कोमल वृत्ति है—हृदय का एक तरल स्पन्द है। अतः जब यह भाव हृदय में स्थायित्व पाकर अपने आलवन का सबल ले तथा उद्दीपन, संचारी-विभाव और अनुभावों से परिपुष्ट होता है तब वह परिपक्व रस-संज्ञा पाता है।^२ रस, एक भाव चमत्कृति है,—मानव-मन के सवेदनशील कोमल तनुओं की एक स्निग्ध श्रुति है। इसलिए रस में एक सहज सुकुमारता है। रति-भाव में यह सुकुमारता और भी निखरती है। रति, हास, शोक, मय, उत्साह-आदि भाव मानव-हृदय में वीज रूप से स्थिर रहते हैं। अतएव इन्हें स्थायी भाव^३ कहा गया है। स्थायी-भावों का कोई आलवन होता है, जिसके आश्रय से उनकी स्थिति समव है। रति के आलवन विभाव नायक-नायिका वा प्रेमपात्र होते हैं^४। आलवन को पाकर बाह्य उपकरणों के द्वारा स्थायी-भाव उद्दीप्त होता है^५। ये बाह्य उपकरण वा रस-सामित्री भावों में तीव्रता लाकर उन्हें उत्तेजित करती हैं, जिसे साहित्य-शास्त्र ‘उद्दीपन-विभाव’ कहते हैं^६। रति की उद्दीपन-सामित्री रस-शास्त्रों में अनेक गिनार्ड गई हैं। इन स्थायी भावों की सर्वोपरिता होते हुए भी अत-निधि-तरल-तरंगों की भाँति हृदय में अनेक आनुषंगिक भावनाएँ संचारित होकर उठती-बैठती हैं। अतएव इन तात्कालिक उद्भावनाओं को ‘संचारी-भाव’ संज्ञा मिली है। प्रमुखतः इनकी गणना तैत्तिरी की गई है। ये रति में भी संचारित होते हैं। हृदय जब इस भाव-भूमि पर पहुँच जाता है तब उसकी सवेदना आंतर परिवेष्टन में विरवदिनी नहीं रह पाती और तब जलधि-उर्मियों की भाँति सीमाबद्ध मर्यादाओं का अतिचलन कर बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से वह प्रकट चेष्टा रूप में परिलक्षित होती है। ये ही अनुभाव हैं।

^१ मिलि दपति बहु भाँति की, कीडा करत अछेह ।

ताहि ‘सँजोग सिंगार’ बुझ, बरनत सहित समेह ॥

^२ विभावानुभावव्याभिचाररसयोगादसमिप्यति ।

—भरत नाट्य-शास्त्र, अ०—६

^३ नायक सब-ही भाव को, डारे डारे न रूप ।

तासो ‘थाई’ रूप कहि, बरनत है कवि-भूष ॥

—रस-पियूष-सोमनाथ

^४ “रस उपजै ‘आलंब’ जिहि, सो ‘आलवन’ होइ ।

रस-हि जगलैं वीप ज्यो, उद्दीपन कहि सोइ ॥

—भाव-विलास—देव

^५ थाई कारन को सुकवि, कहत विभाव बिसेख ।

सो ह्वैं बिधि आलंबमय, उद्दीपन अवरेख ॥

सखा, सखी, झूती, सुबन, षट्ठरिनु, उपवन, मौन ।

उद्दीपन हि विभाव में, बरनत कवि मति-भौन ॥

जंब, चौदमी, चंदनहुँ, पुहुप, पराग समेत ।

यो ही और सिंगार-सब, उद्दीपन के हेत ॥

—मनोज-मजरी—अजानि

अनुभावों की भी अपरिमित गणना है, जिसमें आठ सात्त्विक अनुभावों का विशेष विचार किया गया है। रति-भाव में भी इनमें से अधिकांश समावेश होते हैं और रस की सृष्टि करते हैं। प्रस्तुत पद में इसी प्रक्रिया से शृंगार रस का परिपाक हुआ है।

शृंगार को 'रस-राज' कहा गया है। सृष्टि का मूल ही शृंगार है। द्वित्व या युग्म की भावना—एकत्व में अनेकत्व की कल्पना, यही तो सृष्टि है और काम-वृद्धि की प्राप्ति ही उसका आवि कारण है। शब्दांतर में यही शृंगार है, जिससे काम-भाव अकुरित होता है। अतएव समस्त रस शृंगार पर आधारित है। शृंगार रस के देवता स्वयं रसेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जिनका वर्ण 'श्याम' माना गया है। इसीलिए श्री कृष्ण को—

“रसो वं सः ।”

कहा गया है। सूरदास ने इन्हीं रस-रूप श्रीकृष्ण को अपनी साहित्य-साधना का केंद्रबिंदु मान उनमें अधिष्ठित शृंगार रस को अपने काव्य का आधार बनाया है। भाव-अंगत में तो श्रीकृष्ण, सूर के सर्वस्व आराध्य हैं, वे उनके सखा हैं, स्वामी हैं,—सहचर हैं। इस दृष्टि से सूर के काव्य और भक्ति का चरम आवर्ध अभिन्न है।

कवि सूर ने अपनी चरित्र-नायिका को अभिसारिका के रूप में इसी उदात्त शृंगार के काम-भाव का स्फुरण निर्देशित किया है। उसके स्थायी भाव रति के आलवन सामान्य नायक नहीं, शृंगार, काव्य और भक्ति के आदर्श ग्रथिपति 'श्यामसुंदर श्रीकृष्ण' ही हैं। उनके मधुर मिलन के लिए वह आर्तभाव से उत्कण्ठित है। सूर्य का सिर पर आजाना, छाया का पद के तल में पहुँचना, निकुंज में गहन तरु-बल्लरियो की गहन-छाया का विस्तार, पक्षियों का कोटरों में झुक रहना, घधीजनो का घबे को त्याग किसी शीतल स्थान में निस्तब्ध हो जाना, पशु, पक्षी, जीव, जंतुओं का भीन-साधन, ब्रज के सुकुमार लोगों द्वारा दुरत जेठ की टीक दुपहरी से घबड़ा कर विश्रामार्थ किए गए निज-निज घरों के बंद-कपाट, उपवन की शीतल पवन और उससे मुख-उपभोग की मृदु कल्पना तथा जेठ मास की दुपहरी-जनि न सह सकने योग्य तीव्र-ताप के कारण सर्वत्र नगर तथा अभिसार-मार्ग एवं केलि-स्थलों में सहज निस्तब्धता की अनुकूलताएँ और दूती-द्वारा तत् ओर सकेत किया जाना आदि नायिका के रति-भाव को उत्तेजित करने वाली संपूर्ण रस-सामग्री—उद्दीपन विभाव हैं। अलवेली के हृदय में, किसी की दृष्टि में उसका अभिसार न आजाय, यह जो वितर्क, शका, चिंता और तज्जनित भय के भाव हैं, वे क्रमशः एक के बाद एक उत्पन्न और विलीन होते रहने के कारण ही सचारी-भाव हैं। दूती की उपस्थिति और उसकी प्रेरणा वा सदेश भी उद्दीपन में सहायक है। कामार्तता और मिलन की तीव्र इच्छा होते हुए भी नायिका अभिसार में प्रवृत्त न होकर स्थिर भाव से जो अपने स्थान पर बैठी है, यह उसका स्तम्भ रूप बाह्य-वेष्टा अथवा अनुभाव है। इस प्रकार कवि ने शृंगार रस के परिपाक के उपयुक्त सभी अंग-उपांगों का इस पद में समावेश किया है। शृंगार की सफल व्यञ्जना सूर के समग्र काव्य में प्राप्त होती है। यही वस्तुतः उनका काव्य-नीबर्ध और भाव-पूर्णता है। तथ्य तो यह है कि कवि स्वयं अपने उस भावोन्मादिनी नायिका के भावावेश से ओतप्रोत हैं। किसी भाव-विशेष से हृदय का साक्षात्प्राप्त वा सद्-रूपता ही भाव-सृष्टि की चरम कोटि है और वही कवि कवि है, कलाकार—सच्चा कलाकार है। सूर में यही बात है।

अस्तु, इस अभिसारिका में हम सूर के हृदय की ही छाया पाते हैं। उसमें उन्हीं की गोपी-भाव-विभूषित सरस अनुरक्ति का अभिनिवेश है। इस नायिका-भेद की पृष्ठभूमि में सूर ने वह उच्चस्तर का आध्यात्मिक आदर्श भरा है जो उनकी जीवन-साधना का साध्य—(आदर्श) और उनके साहित्य का सर्वस्व है। सूर-सदृश विरसत महानुभाव के लिए यह सर्वथा संभव नहीं कि वे किसी सामान्य वा लौकिक कामिनी के मनोविकारों का विश्लेषण करते हुए क्षुद्र ऐहिक शृंगार रस में अपनी दिव्य प्रतिभा को डुबो दें। जो त्यागी सत, वडे से वडे वैभव को ठुकरा कर, कामिनी-काचन की मोह-भरीचिका से मुख मोड़ चुका, वह फिर

उसके मनोभाव रूप कल्पित रस-वृत्ति में उलझ नहीं सकता। अतएव उनके भ्रूणार में—उनकी सन्तति उद्भावनाओं के अस्तित्व में, उस महान् मिलन के भाव गूँज रहे हैं जिसकी प्राप्ति के साधन-मार्ग में उनके परम गुरु श्रीवल्लभाचार्य ने उन्हें नियोजित किया था। वे गुरु-चरणों का आश्रय ले उस पुष्टिमार्ग पर गति-शील हैं जो दैवी जीव को उसकी अद्वैता-ममता का निरसन कर, मोह-ज्वाला के ताप-दाप से निवृत्त कर, माया से निरावृत्त विशुद्ध सच्चिदानन्द मय ब्रह्म से सबद्ध कराता है। वे उस प्रेमलक्षणा-अभित-पथ के पथिक हैं, जिसमें प्रभु का अनुग्रह ही सर्वस्व है, जहाँ का सर्वस्व निवेदन—शरणार्थाति ही मूलमंत्र है। श्री गुरु ने एक ऐसा साधन पाया है जो जीव के समस्त दोषों की निवृत्ति कर विशुद्ध स्वरूप में सत्य और आत्म-निवेदन की चरम कोटि की अन्तिम-द्वारा प्रभु की प्राप्ति कराता है। क्योंकि जीव साधक है, प्रभु साध्या है, अन्तिम साधन है और गुरु, प्रभु-प्राप्ति के माध्यम है। अतएव उनकी साहित्य-कला की साधना का चरम ध्येय वे ही प्रभु हैं।

सूर-काव्य के मूल में यही सांप्रदायिक-सिद्धांत की भावना समा रही है, उसके कण-कण में विरम रही है। अस्तु, इस विवेच्य पथ की अभिसारिका एक दैवी जीव के स्थानापन्न है और नायक श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म स्वरूप है। नायिका उसी अखंड ब्रह्म का एक अणुरूप है। जो उस (ब्रह्म) का एक अग्रिम अंश होने हुए भी विकेंद्रित होकर सीतामय के इस कौतुकपूर्ण श्रीढाभा-जगत में उसकी प्रेरणा से आता है। ब्रह्म और जीव के बीच भाया का एक अतीना आवरण है। जिसके हटने पर ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होगी, किन्तु इनके लिए उसमें तीव्र उत्कण्ठा चाहिए—गहरी आकुल पिपासा होनी चाहिए। जब जीव का पृथक् गृहत्व वा लिंगत्व नष्ट हो जाता है, वह द्वंद्व-भाव को भूल कर एकत्व की उपलब्धि के लिए उत्संसित होता है, तब ब्रह्म की ओर प्रधावित होकर उससे तादात्म्य पाकर एक अनिवर्चनीय आनन्द को समाधिगत करता है। प्रकृति और पुरुष, स्थूल और सूक्ष्म वा पार्थिव और चैतन, इन द्वि-विध आसमान् तत्वों के दोनों पारस्विकत्व ही पूर्णत्व की कोटि में आते हैं। इसी में द्वित्व की निवृत्ति और एकत्व की स्थापना है। सृष्टि-चक्र एकत्व को प्रसूति है, द्वित्व की अनल-श्रीढा है और पुन एकत्व में पर्यवसित हो जाना उसकी चरम साधना की पग-काष्ठा है। नायक-नायिकाओं की ससृष्टि, उनके मूल में चेतनाओं का आकर्षण-विकर्षण अथवा मिलन-विरुद्ध उसी जीव-ब्रह्म के परस्पर आकर्षण-प्रत्याकर्षण वा संयोग-वियोग का प्रतीक विधान है। जिसे बर्णित ने सहज सबेरा मनोहर रूप देकर मानव सुलभ रस-वृत्ति को प्रोज्जीवन देते हुए उसी पगालर अक्षिप ब्रह्म के स्वरूप को और सकंते किया है।

सूर की नायिका में नायक श्रीकृष्ण के मधुर मिलन और उद्भूतता में उसकी चरम परिणति के लिए तीव्र—उत्कण्ठा लालसा है। उसमें समुद्भूत उद्दाम प्रणय वा काम-भावना ही उसे नायक की ओर खींच रही है, किन्तु उस (नायिका) के और नायक के बीच लोक-मर्यादा बाधक बन रही है। उन्हें अभी अग्रभावे हैं, वह अभी अपना पृथक् अस्तित्व मान रही हैं। अतः जब तक उसमें यह द्वंद्व-भावना है तब तक उस (ब्रह्म) के मिलन में विघ्न है। नायक (ब्रह्म) तो अपनी अहंलुकी छपा की डोर से उसे सीन रहा है। इसी-प्रेषण का उद्देश्य भी यही है, किन्तु अभी नायिका में लज्जा है, मकोह है धीम शील है। वह ऐहिक मर्यादाओं—विधि-निषेध और लोक-सीमाओं की बन्दिनी है। जिस दिन सासारिक अद्वैता-ममता बचन में वह मुक्त हो जायगी, तभी उसे परम नायक श्रीकृष्ण की प्राप्ति होगी और तभी वास्तविक रूप में निः निदाध-ताप में बच कर निकुञ्ज-स्वापिनी गिल्लीय धीतलता से हृदय और जीवन को चिर-मुनी बन मनेगी।

गुरु, भक्त और भगवान के बीच की एक मधुर परदृढ़ कड़ी है जो दोनों को मिलाने है, प्रभु को एकत्व में परंप्रित करती है। वे प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का निर्देशन कर बाधक तत्वों में निरुति और नाश तत्वों से अनुरक्ति का साधन देते हैं। मामात्म्य निस्साधन जीव प्रभु की सहज में प्राप्ति मंत्री बन गये। वह गभीर ज्ञान और अनुभव के असाव में समीचीन पथ में विचलित हो सक्ता है। दानिप, गुरु-पद-पथ है। यहाँ इती, गुरु-स्थानापन्न है जो नायक ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण से नायिका रूप जीव, धर्मात्मा बन गयी है।

गना को महा मिलन के लिए प्रेरित कर रही है। उसके निर्मूल भय और लोक-लज्जा वा सयावा रूप माया के झीने आवरण को निवारण कर निकुञ्ज-स्थित परम प्रभु नायक की ओर अभिसार करने का उद्बोधन दे रही है।

सूर के काव्य में नायिका-भेद का यही रहस्य है। अभिसारिका (नायिका) का अंतरंग स्वरूप भी यही है। बाह्यत वे लौकिक श्रुंगार अथवा मानवीय रस-वृत्ति का निरूपण करते-से प्रतीत होती हैं, किंतु महा भाव के ग्राहक 'सूर' के लिए ऐसी कल्पना करना भी हेय और असंगत है। उनके काव्य की यही विशेषता है, जिसमें हम उनके भक्त और कलाकार दोनों रूपों के विश्व-मंगल का दिव्य-दर्शन पाते हैं।



श्री सूर के पाँच नये पद

राग—भटाना

सुंदर बदन सबन सोभा कौ, निरखि नैन-मन थाक्यौ ।
हों ठाढ़ी बीथिन्हि ह्वै निकस्यौ, उझकि शरोखें झाँक्यौ ॥
मोहन ब्रह्म चतुराई कीन्हौ, गैह-उछारि गगोन-मिस ताक्यौ ।
बारो-रो लाज, बैरिन भई भो को, हो गैमारि मुख-झाँक्यौ ॥
जितबन में कछु करि गयौ टोना, अब न रहत मन राख्यौ ।
'सूरदास' प्रभु सरबस लै के, हँसत-हँसत रख हाँक्यौ ॥

राग—रामकली

तुम्हें कोऊ डेरति है जू कान ।
भोरी-सी गोरी थोरे दिनेन्ह की, बारी बैस उठान ॥
छूटौ अलक, नील-मट ओछें, चंचल जतुर सुजान ।
कहा कहौ बाफे मुख की सोभा, मानो ऊप्यो जान ॥
बंसीबट को धोर गई है, रसिक लिरोमनि जान ।
'सूरदास' उठि चले जू मोहन, नई करेन पैहचान ॥

राग—सारंग

तब लों किए रहति ही मान ।
जोवन-गुन-गरबित सुनि सजनी, तख्यौ नाहिं अग्यनि ॥
आज खिरक ते निकसे मोहन, अँग-अँग रूप-निधान ।
निरखि बदन-झवि उरखि परचौ मन, भूली सब सयान ॥
को जानें तब ते नैनन की, कहा भई गति आन ।
'सूर' सु को जू रहै अपने बल, सुनत बेंनु-कल-गान ॥

राग—मलार

सखी-री, सानन झूहै आयी ।
चार भास कौ लगन लिखायौ, बबरन्हें अंबर छापी ॥
बिजुरी चपल, बराती बगुल, कोकिल सबद सुनायी ।
बाबुर, मोर, पपीहा डेंभगे, इंद्र निसान बजायी ॥
हरित भूमि पै जगद देखियत सबज बिछोना छापी ।
'सूरदास' प्रभु सुम्हरे मिलन को, सखियेन्ह मंगल गायी ॥

राग—मलार

बरसै मेहा मंद, मंद ।
कंसुभी चोर अग पै भोजै, निरखि हँसि नैद-नद ॥
भुरि मुसिकाइ जली, फिरि सकुबी, कर दै आनन-बंद ।
'सूर' स्थान पद-पीत उडावल, पुलकत अनंद-कद ॥

ब्रजभाषा में नव रस

श्री राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

“नारायण ब्रज भूमि की, को न नचावै माथ ।

जहाँ आह गोपी भए, श्री गोपेस्वर नाथ ॥”

“ब्रजभाषा” इसी पुण्य भूमि ब्रज की भाषा है । इसी भाषा के पियूष पयोधि में “मंचलि-मंचलि माँगी हरि माँखन-रोटी ।” इसी सरल भाषा में भक्त और सत कवियों ने प्रेम-पयस्वनी की दिव्य धाराएँ बहाई हैं । जिस समय समस्त भारतवर्ष मुगलों एवं यवनो के अत्याचारों से आक्रांत था । जिस समय लोगो में ग़ज़ की डेर सुनकर आने वाले खराबि एवं द्रौपदी का आर्तनाद सुनकर आने वाले मुरारि में विश्वास नहीं रह गया था । उस समय इस भाषा के महात्मा कवियों ने ब्रज भाषुरी-द्वारा अपने मानस को सरस सुह्रामना बनाया और बगो विद्याधो में जगन्मोहन की मधुर मुरली सुनाई ।

इन दिनों एक और सत-ज्ञानियों के वेदाती उपदेशों के द्वारा सांसारिक निस्सारता का प्रतिपादन हो रहा था और ब्रूखरी और आक्रमण कारियों के अत्याचारों के कारण दिहू जाति में जीवन के प्रति प्रायः कोई आकर्षण शेष न रह गया था । इस प्रकार देश का जीवन नैराश्रय ही था । इन महात्मा कवियों ने अपने दिव्य प्रेम संगीत-द्वारा जीवन की मधुरिमा को उपस्थित किया तथा जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की । इस प्रेम-सुधा-धारा में लोक के सुखद पक्ष के दर्शन हुए, फैली हुई उदासी या क्षिप्तता बह गई ।

जयदेव की कोमलकांत पदावली युक्त देववाणी की सिंगध सुधा-धारा जो काल की कठोरता में बह गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरिता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयो में विद्या-पति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चल कर ब्रज के करील-कुंजों में फैली और मुख्याये मनो को सुधारस का पान कराकर हुरामरा करने लगी ।

महाकवि जयदेव ने स्वयं ही कहा था कि लोक का चित्त रमाने के लिए ही उन्होंने भगवान की भक्ति के लिए काव्य रचना की तथा विलासपूर्ण गैली को अपनाया है । यथा—

“यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास कलासु क्षुत्तुहलम् ।

मधुर कोमल कांत पदावलीं श्रुणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ॥”

—गीतगोविंद

आगे चल कर ब्रजभाषा के कवियों ने भी इसी परंपरा को अपनाया और कृष्ण-नाम की रसायन को शृंगार के मधुरावेष्टन में पर्यवेष्टित कर जाति को नव किसलय युक्त मधुर जीवन प्रदान किया ।

इसी सुशीतल प्रेम निकुंज की सुखद छाया में सहस्रो ससार-सतप्त प्राणियों ने गाति पाई थी । प्रेमोन्मत्त मन इसकी भनक पड़ते ही आज भी आपे को भूलकर नाच उठते हैं ।

“बह मुरली अधरान की, बह चितवन की कोर ।

सघन कुंज की बह छटा, और बह जमुन हिलोर ॥”

“होत रहै मन यो ‘मतिराम’ कहूँ बन जाइ बडीं तप कीजै ।

हूँ बन बाल हिउँ लगिऐ अरु हूँ मुरली अधरा-रस लीजै ॥”

जब तक भारत की भारती और भारतीयता शेष है, जब तक गंगा-जमुना में बल शेष है, जब तक हमारे हृदय पटल पर अज-बल्लभ की मधुर मूर्ति यत्नित है, तब तक ब्रज की बोधार्प कृष्ण-कीर्तन कर्त्री रहेंगे और ब्रजभाषा-साहित्य हमारी अक्षुण्ण निधि के रूप में बचा रहेगा ।

हिंदी का जन्म तलवारों की छपाछप और तीरों की सनसनाहट के बीच हुआ है। उसका आदि युग वीर गायानों का युग है। इन दिनों मालों की छाया में ही विवाह-सम्पन्न रचा जाता था। इस काल में विशेषतः वीर-काव्य ही रचे गए थे। इन काव्यों में दो प्रकार की भाषा व्यवहृत होती थी। एक भाषा का ढाँचा तो बिल्कुल राजस्थानी या गुजराती का होता था, जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द मिले रहते थे। यह भाषा बहुत काल तक चारणों में प्रचलित रही है। घोर प्रातीयता के कारण वह 'पिंगल' के अनुकरण पर 'डिंगल' कहलाई। दूसरी भाषा एक ऐसी सामान्य साहित्यिक भाषा थी, जिसका प्रयोग वे विद्वान् करते थे, जो अपनी रचना को देश व्यापक एवं अमर बनाना चाहते थे। यह शास्त्रानुसार छन्द-बद्ध होती थी और 'पिंगल' कहलाती थी। यह पिंगल और कुछ नहीं "व्रजभाषा" का ही प्राचीन रूप है।

यद्यपि हिंदी का जन्म तो अपभ्रंश के अंतिम दिनों में ही हो गया था और सिद्धों की भाषा में हों इसका पूर्व रूप भी मिलता है, तथापि वर्तमान हिंदी तथा व्रजभाषा के रूप का आभास 'पृथ्वीराजरासो' में पाया जाता है। देखिए रासो का शृंगार वर्णन—

“मनहुँ कला ससि-मनि कला सोलह सो बसिय ।
बाल बैस सिसुता समीप अमृत रस पिबिय ॥
बिगसि कमल मृग भ्रमर नैन खजन मृग लुटिय ।
हीर कीर अरु बिब मोति नख सिख ग्रहि धुटिय ॥
छत्रप गयब हरि हस गति, बिह बनाइ सेंच सज्जिय ।
पवमिनिय रूप पद्मावतिय, मनु काम कामिनि रचिय ॥”

तथा—

तिहि रिजुजय पुर हरन को, भे पुथिराज नरिब ।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में 'अमीर खुसरो' हुए। वह अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत और हिंदी के विद्वान् और कई भाषाओं के कवि थे। उनके गीत और दोहों की भाषा "व्रजभाषा" के बिल्कुल निकट है। यथा—

“खुसरो रैन सुहाग की, जाणी पी के सग ।
तन मेरी, मन पीड की, दोऊ भए इक रग ॥

* * *
गोरी सोवै खेज पै, मुल पै डारै केस ।
चल 'खुसरो' घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥”

* * *
चुक भई कछु धासों ऐसी, बेन छोड भयो परदेसी,

अमीर खुसरो के बाद सत कवियों का समय आता है। देखिए कबीर की सयुक्कड़ी भाषा व्रजभाषा के कितनी निकट आ चुकी थी—

“हौं बलि, कब देखौंगी तोहि ।
अहनि स आतुर बरसन कारनि, ऐसी व्यापी मोहि ॥”

* * *
“जल में धरै कमोविनी, चढा बरै अकाल ।
जो है जा को भावती, सो तहरी के पास ॥”

* * *
“प्रीतम को पतियाँ जिखूँ, जो कहूँ होइ बिबेस ।
तन में, मन में, नैन में, ताको कहा सेवस ॥”

“साईं के सँग सासुर आई ।

संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाई ॥

जना चारि मिलि लगन सुधायी, जना पाच मिलि माँझी छायी ।

भयी बिबाह चली बिनु झूलह, वाट जात समथी समझाई ॥”

इस काल के बाद तो ब्रजभाषा का मोत ही फूट पड़ा था तथा अनेक कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएँ कीं। चलती हुई ब्रजभाषा में सर्वप्रथम साहित्यिक रचना करने वाले कवि हैं साहित्य ससार के सूर्य महात्मा मूरदाम। उनकी साहित्यिक रचना उनकी मधुर, प्रगल्भ और काव्याग पूर्ण हैं कि अन्य कवियों की रचनाएँ उनकी जूझी जान पड़ती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि विक्रम की १५वीं शताब्दी तक ब्रजभाषा का साहित्यिक भाषा के रूप में मफलतापूर्वक प्रयोग होने लगा था। ‘सूरसागर’ परंपरागत साहित्यिक भाषा का विकास है,—चलने वाली परंपरा का मूल रूप नहीं। मूर गीत-परंपरा के पहिले ही कवि नहीं थे। उनके हाथों वह पूर्ण रूप में निगरी अवस्थ है, परंतु उनके पूर्ववर्ती ‘बैजू बावरा’ के कुछ श्रृंगार-गीत प्राप्त हुए हैं, जिनमें स्पष्ट है कि उग प्रकाश की रचना पहले से ही होती आ रही थी। देखिए—

“मूरसो वजाइ रिझाई लई मुख मोहन तें ।

गोपी रोमि रही रस-तानिन सो, सुघ-बुघ सब विसराई ॥

धुनि सुनि मन मोहे भगन भई देखत हरि भानिन ।

जीव जंतु पसु पछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानिन ॥

‘बैजू’ बनवारी वसो अघर घरि बू शवन-चंद, बस किए सुनतहि कानिन ॥”

ब्रजभाषा के श्रृंगार साहित्य का जो निखरा हुझा रूप सूरदास की रचना में दिखाई देता है, वह एकदम नहीं बन गया था। ब्रज-गीतो की स्थानीय परंपरा तथा चैतन्य महा प्रभु-द्वारा लाई गई जयदेव, चंडीदास तथा विलापनि की वैष्णव-गीत-परंपरा का उनमें सुखद समिश्रण हो गया था।

अन्य भाषाओं की भाँति ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप भी मिश्रित ही था। प्राचीन रूप पिंगल में, षड्डी बोली, पंजाबी, गुजस्थानी तथा गुजराती के शब्द स्वतंत्रतापूर्वक मिले रहते थे। आज दिन भी गुजरात में ब्रजभाषा के अनेक शब्द प्रचलित हैं। वास्तव में ब्रजभाषा बहुत दिनों तक मिश्रित बनी रही। चंद ने स्वयं कहा है—‘पद भाषा पुरान च कुगन च कथित मया’। इस पद भाषा का अर्थ स्पष्ट करने के लिए मिश्रणीयता का निम्न दोहा विचारणीय है—

“ब्रज भाषाधी मिलै अमर, नाग यमन भाखानि ।

सहज पारसी हूँ मिलै, पद बिधि कहत बखानि ॥”

परंतु यह मिथ्या ऐसा नहीं था कि ब्रजभाषा अपनापन छोड़ देती।

“ब्रजभाषा भाषा रचिर, कहैं सुमति सब कोइ ।

मिलि ससकृत पारस्यो पं अति प्रकट जु होइ ॥”

सूरदास जी की भाषा में भी पंजाबी के प्रयोग पाए जाते हैं, जैसे ‘महुरि’ के अर्थ में ‘ध्यारी’ शब्द। सूर के परवर्ती कवियों की रचनाओं में तो फारसी के शब्दों का भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग होने लगा था। ये सब बातें ब्रजभाषा के व्यापक अस्तित्व को सूचित करती हैं तथा इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रजभाषा परंपरागत एवं चिर प्रतिष्ठित देश की व्यापक साहित्यिक भाषा है।

ब्रजभाषा-काव्य की अग्रय निधि को पूर्ण करने में कितने महा कवियों ने योग दिया है, इसका बताना सहज नहीं। सूरदास के बाद नवदास, सेनापति, विहारी, पद्माकर, खाल, देव, मतिराम, भवानंद आदि अनेक ब्रजभाषा के महारथी हुए। इनका एक-एक शब्द नाविक का तीर है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के समय से ब्रजभाषा का प्रयोग कम हो चला है। आज कल भी यत्र-तत्र ब्रजभाषा में रचनाएँ होती रहती हैं। नवनीत चतुर्वेदी, रत्नाकर तथा सत्यनारायण एक प्रकार से ब्रजभाषा के अंतिम कवि कहे जा सकते हैं।

अभी हाल में 'प्रेमी' नाम के मुसलमानी कवि की एक हस्त लिखित पुस्तक मिली है। यह फ़ारसी लिपि में होते हुए भी ब्रजभाषा में है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्राचीन गद्य भी ब्रजभाषा में ही है। सन् १४०० के आस-पास रचे हुए हठ योग, ब्रह्म योग से संबंध रखने वाले अनेक गोरख-ग्रंथी ग्रंथ मिलते हैं। इनकी भाषा में प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप उपलब्ध है। भक्ति काल में कृष्ण भक्ति-शास्त्रा के अंतर्गत रचे गए गद्य ग्रंथों में आते-आते तो ब्रजभाषा का स्वरूप बहुत कुछ अग्रस्थित हो चका था। गोस्वामी विठ्ठलनाथ विरचित "भृगुरास-मठन" के अतिरिक्त 'दो सौ बावन वैष्णवों की वात्ता' तथा 'चौरासी वैष्णवों की वात्ता' इन दो सांप्रदायिक गद्य-ग्रंथों का उत्कृष्ट धावक है। इनके अतिरिक्त भी ब्रजभाषा में अनेक गद्य-ग्रंथ मिलते हैं, यथा अष्ट छाप—नामावांस, अगहन महारस्य तथा वैसाख महात्म्य—चैकुठमणि शुक्ल, नाथि-केतोपाख्यान, बैताल पञ्चीसी—सुरति मित्र, झाड़ने धकवरी की भाषा वचनिका आदि।

काव्य की आत्मा रस

भक्ति-काल में ब्रजभाषा के स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और रीति-काल में उसे खूब सान-सँवारकर एक वम परिकृत एवं सर्व रसोन्मूल तथा सर्व विषयोपयोगी बना दिया गया था। "कविर्भरीषी परिभू स्वभू" —जिस प्रकार वैदिक वाणी के प्रथम प्रकाशक ऋषी को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी के सर्व प्रथम वर्णयिता महर्षि वाल्मीकि भी "आदि कवि" की पदवी से विभूषित हुए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा इस प्रकार की है—

"जिस प्रकार आत्मा की मूलावस्था का नाम ज्ञानवशा है अथवा सिद्धावस्था है, ठीक उसी प्रकार हृदय की मूलावस्था का नाम "रसवशा" है। इसी रसवशा की प्रगति के लिए मनुष्य की वाणी समय-समय पर जो शब्द-विधान करती आई है, उसी का नाम "कविता" है।"

निस्संदेह काव्य वही है जिसमें चित्त रमण करे, जो चित्त को अपने आप में लगा ले। काव्यात्मक लोकोत्तर आनंद है। वह स्वार्थ सबको से सर्वथा परे है। उसका उपभोग सहृदय जन ही कर सकते हैं।

कविता की यह परिभाषा 'वाक्य रसात्मक काव्य' का ही रूपांतर है। रस ही काव्य की आत्मा है। अपनी-अपनी रुचि तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से चाहे उसे अलंकार कहें, चाहे वक्रोक्ति अथवा ध्वनि परतु सहृदयों के लिए 'रस' ही सुख है। नीलकण्ठ दीक्षित इस तथ्य को बिल्कुल स्पष्ट करते हैं—

"रस रसज्ञा कलयाति वाधि परे पवार्थान परे पदानि।

वत्स कुविदा वणिजो विभूषा रूप युवानस्य यथा युवत्याम् ॥"

रसज्ञ (रसिक) कविता में रस बूँदते हैं, दूसरे विषय को बूँदते हैं, तीसरे पद साहित्य पर दृष्टि देते हैं, जिस प्रकार किसी युवती को देखकर युवा उसके स्वरूप को सराहते हैं, बुलाते, वत्स के व्यापारी, वत्स की प्रशंसा करते हैं और सराफ उसके आभूषणों पर परख की दृष्टि डालते हैं।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अभ्यसन' में इसी का आशय लेकर विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए काव्य की इस प्रकार परिभाषा की है—

"प्रति कवि की भाषा भाव प्रधान, किंतु क्षुद्र वैयक्तिक संबंधों से मुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के संधि में डली हुई, श्रेय की प्रेय रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। प्रभावोत्पादक शब्द-श्राव भाषा की शक्तियों और अलंकारादि के साथ पाठक को और भी संकेत हो जाता है।" इस परिभाषा में प्रायः सभी बातें आ जाती हैं। किंतु उसमें वह लाघव नहीं जो "वाक्य रसत्वं काव्य" में है। वास्तव में यह उसका गृहम् संस्करण है।

रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है। रस, ध्वनि अथवा रस-चमत्कार ही वास्तव में काव्य का सर्वस्व है। शब्दाढवर-युक्त एवं सालंकार पकितयों नीरस होने पर व्यर्थ ही है, क्योंकि जीवन ज्योति-रहित शब्द विभिन्न वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होने पर भी मिट्टी ही है। चमत्कृत भाव भाषा की अपेक्षा नहीं करते, उन्हें किसी प्रकार व्यक्त किया जाये, वे अपना प्रभाव डाल ही देते हैं—

“जामें रस कछु होत है, ताहि पढत सब कोइ ।
भाव झँनूठी चाहिये, भाषा कोऊ होइ ॥”

वयोकि—

“नहौं मुहताज जेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी ।”

साहित्यदर्पणकार ने काव्य के विभिन्न अवयवों का स्थान निर्वाणित करते हुए उसके स्वरूप की इस प्रकार प्रतिष्ठा की है—

“काव्यस्य शब्दार्थः शरीर, रसादिश्चात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, दोषा काणत्वादिवत्, रीतयोऽव-
यव सस्यान विशेषवत्, अलंकारा कटककुडलादिवत् इति ।”

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा रसादि आत्मा हैं, मायुयादि शौर्य-शीलादि की भाँति गुण हैं, श्रुतिकट्वादिक दोष काणापन की भाँति हैं। वेदभी, पाचाली-आदि रीतियाँ अवयवों के सगठन के सदृश्य हैं। अलंकार कुडल और ककण की भाँति हैं। काव्य की कला से समता कर गीति-गुण-आदि का यथार्थ स्थान बता दिया है।

रस ही काव्य की आत्मा है, उसका जीवन है। मम्मटाचार्य ने भागती की वदना “आह्लादिक-मयी” करके की है। यह आह्लाद मानसिक होता है, जो ‘रस’ द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है।

‘रस्यते इति रस’, अर्थात् जिसका स्वाद लिया जाय, वह रस है। यह ‘रम्’ वातु से बना है, जिसका अर्थ ‘आस्वादन करना है’ अथवा स्वाद लेना है। स्वाद आनन्ददायक वस्तु में ही आता है। अत आस्वादन का अर्थ केवल चखना ही नहीं वरन् चखकर आनन्द लेना है। वेद में परमात्मा को ‘रम्’ कहा गया है—‘रसो वै स ।’ काव्य-जन्य आनन्द रस का स्वरूप है, अत अनिर्वचनीय है, किन्तु सहृदय जनो-द्वारा ही उसका आस्वादन या अनुभव किया जा सकता है।

‘रस’ के मर्म को सर्वप्रथम भारतवर्ष के ऋषि-मुनियों ने ही समझा था। इसकी कल्पना मस्कृत-ग्रंथों में ही हुई है। महामुनि भरत के कथनानुसार ‘बृह्णि, नामक किन्हीं आचार्यों द्वारा इसका आविष्कार हुआ था

एते ह्यष्टौ रसा प्रोक्ता बृह्णिने महात्मना ।

—भरत नाट्य-शास्त्र

हालाँकि भरत मुनि को इस विषय का आविष्कारक तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु फिर भी मस्रार में रस प्रकरण के विवेचक वे ही हैं। शास्त्र के रूप में तत्त्वबो विधिवत वर्णन करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। इस प्रकार भरतमुनि कृत “नाट्य-शास्त्र” ही इस विषय का प्राचीनतम ग्रंथ ठहरता है। नाट्य-शास्त्र का समय कम से कम आज से दो हजार वर्ष पूर्व का है। आचार्य विष्णुनाथ ने रस की व्याख्या इस प्रकार की है—

“विभावितानुभावेन व्यक्त-संचारिणा तथा ।

रसतामेतिरत्यादि स्थायिभावा सचेतसाम् ॥”

—पाहित्य-दर्पण

अर्थात् सहृदयों के हृदयों में स्थित वामना रूप रति-आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और न चारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं।

भाव में रस की उत्पत्ति मानी गई है। काव्य शास्त्र के आचार्यों ने मानसिक विकास अवस्था वामना को ही भाव माना है। वास्तव में भावों की परिपक्वता ही रस है। आचार्य भग्न मुनि ने भाव और रस को अत्योन्याश्रित कहा है—

“न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।”

—भग्न नाट्य-शास्त्र

अभी हाल में 'प्रेमी' नाम के मुसलमानी कवि की एक हस्त लिखित पुस्तक मिली है। यह फारसी लिपि में होते हुए भी ब्रजभाषा में है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्राचीन गद्य भी ब्रजभाषा में ही है। सन् १४०० के आस-पास रचे हुए हठ योग, ब्रह्म योग से सबंध रखने वाले अनेक गोरख-ग्रंथी ग्रंथ मिलते हैं। इनकी भाषा में प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप उपलब्ध है। भक्ति काल में कृष्ण भक्ति-शाखा के अंतर्गत रहे गए गद्य ग्रंथों में आते-आते तो ब्रजभाषा का स्वरूप बहुत कुछ व्यवस्थित हो चका था। गोस्वामी विद्वत्नाथ विरचित "शुभाररस-मंडन" के अतिरिक्त 'दो सौ वावन वैष्णवों की वास्त' तथा 'चौरासी वैष्णवों की शर्त्ता' इन दो सांप्रदायिक गद्य-ग्रंथों का उल्लेख आवश्यक है। इनके अतिरिक्त भी ब्रजभाषा में अनेक गद्य-ग्रंथ मिलते हैं, यथा अष्ट छाप—नामादास, अग्रहून महात्म्य तथा वैसाख महात्म्य—वैकुण्ठमणि शुक्ल, नामि-केतोपाख्यान, वैताल पच्चीसी—सूरति मिश्र, आर्द्धने अकबरी की भाषा कथनिका आदि।

काव्य की आत्मा रस

भक्ति-काल में ब्रजभाषा के स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और रीति-काल में उसे खूब साव-
 ८-सँवारकर एक दम परिष्कृत एवं सर्व रसोन्मूल तथा सर्व विषयोपयोगी बना दिया गया था। "कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू"—जिस प्रकार वैदिक वाणी के प्रथम प्रकाशक ब्रह्मा को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी के सर्व प्रथम वर्णयिता महर्षि वाल्मीकि भी "आदि कवि" की पदवी से विभूषित हुए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा इस प्रकार की है—

"जिस प्रकार आत्मा की मूलावस्था का नाम ज्ञानवशा है अथवा सिद्धावस्था है, ठीक उसी प्रकार हृदय की मूलावस्था का नाम "रसवशा" है। इसी रसवशा की प्राप्ति के लिए मनुष्य की वाणी समय-समय पर जो शब्द-विधान करती आई है, उसी का नाम "कविता" है।"

निस्संदेह काव्य वही है जिसमें चित्त रमण करे, जो चित्त को अपने आप में लगा ले। काव्यान्व लोकोत्तर आनंद है। वह स्वायं सबको से सर्वथा परे है। उसका उपभोग सहृदय जन ही कर सकते हैं।

कविता की यह परिभाषा 'वाक्य रसात्मक काव्य' का ही रूपांतर है। रस ही काव्य की आत्मा है। अपनी-अपनी रचि तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से चाहे उसे भलकार कहें, चाहे वक्रोक्ति अथवा ध्वनि परसु सहृदयों के लिए 'रस' ही सुख है। नीलकण्ठ दीक्षित इस तथ्य को बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं—

"रस रसज्ञा कलयति वाचि परे पदार्थान परे पद्वानि।

वत्स कुंभिवा वणिजो विभूषा रूपं ध्यानस्थं यथा युवत्याम् ॥"

रसज्ञ (रसिक) कविता में रस ढूँढते हैं, दूसरे विषय को ढूँढते हैं, तीसरे पद लालित्य पर दृष्टि देते हैं, जिस प्रकार किसी युवती को देखकर युवा उसके स्वरूप को सराहते हैं, जुलाहे, वत्स के व्यापारी, वत्स की प्रशंसा करते हैं और सर्राफ उसके आभूषणों पर परख की दृष्टि डालते हैं।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अभ्ययन' में इसी का आशय लेकर विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए काव्य की इस प्रकार परिभाषा की है—

"अति कवि की भाषा भाव प्रधान, किंतु सुबुद्ध वैयक्तिक संबंधों से मुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के संचि में डली हुई, श्रेय की प्रिय रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। प्रभावोत्पादक शब्द-द्वारा भाषा की शक्तियों और अलंकारादि के साथ पाठक को और भी संकेत हो जाता है।" इस परिभाषा में प्रायः सभी बातें आ जाती हैं। किंतु उसमें यह लाघव नहीं जो "वाक्य रसात्मक काव्य" में है। वास्तव में यह उसका बृहत् संस्करण है।

रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है। रस, ध्वनि अथवा रस-चमत्कार ही वास्तव में काव्य का सर्वत्व है। शब्दाढवर-मुक्त एवं सालंकार पक्षितयों नीरस होने पर व्यर्थ ही है, क्योंकि जीवन ज्योति-गहिरा गव विभिन्न वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होने पर भी मिट्टी ही है। चमत्कृत भाव भाषा की अपेक्षा नहीं करते, उन्हें निग्न प्रकार व्यक्त किया जाये, वे अपना प्रभाव डाल ही देते हैं—

“जामें रस कष्ट होत है, ताहि पढत सब कोइ ।
भाव अँनूँठौ चाहिये, भाषा कोऊ होइ ॥”

क्योंकि—

“नही गुहृतत्त्व जेवर का जिते लूबी लुदा ने बी ।”^{१५२}

साहित्यदर्पणकार ने काव्य के विभिन्न अवयवों का स्थान निर्धारित करते हुए उसके स्वरूप की इस प्रकार प्रतिष्ठा की है—

“काव्यस्य शब्दार्थः शरीर, रसादिश्चात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, बोधाः काण्ठबाधिवत्, रीतयोजन-
यव सस्थानं विज्ञेयवत्, अलंकाराः कटककुडलादिवत् इति ।”

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा रसादि आत्मा है, माधुर्यादि शौर्य-शीलादि की भाँति गुण है, भुक्तिकट्वादि बोध काणापन की भाँति है। वैदर्भी, पाचाली-आदि रीतियाँ अवयवों के सगठन के सदृश्य हैं। अलंकार कुडल और ककण की भाँति हैं। काव्य की कला से समता कर रीति-गुण-आदि का यथार्थ स्थान बता दिया है।

रस ही काव्य की आत्मा है, उसका जीवन है। मम्मटाचार्य ने भारती की वदना “आह्लादेक-
मयी” करने की है। यह आह्लाद मानसिक होता है, जो ‘रस’ द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है।

‘रस्यते इति रस’, अर्थात् जिसका स्वाद लिया जाय, वह रस है। यह ‘रस’ वातु से बना है, जिसका अर्थ ‘आस्वादन करना है’ अथवा स्वाद लेना है। स्वाद आनन्ददायक वस्तु में ही आता है। अत आस्वादन का अर्थ केवल चखना ही नहीं वरन् चखकर आनन्द लेना है। वेद में परमात्मा को ‘रस’ कहा गया है—‘रसो वै स ।’ काव्य-जन्य आनन्द रस का स्वरूप है, अत अनिर्वचनीय है, किन्तु सहृदय जनो-
द्वारा ही उसका आस्वादन या अनुभव किया जा सकता है।

‘रस’ के मर्म को सर्वप्रथम भारतवर्ष के ऋषि-भुक्तियों ने ही समझा था। इसकी कल्पना सस्कृत-
ग्रन्थों में ही हुई है। महामुनि भरत के कथनानुसार ‘द्रुहिणः, नामक किन्ही आचार्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ था

एते द्रुष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।

—भरत नाट्य-शास्त्र

हालाँकि भरत मुनि को इस विषय का आविष्कारक तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु फिर भी ससार में रस प्रकरण के विवेचक वे ही हैं। शास्त्र के रूप में तत्सबची विधिवत वर्णन करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। इस प्रकार भरतमुनि कृत “नाट्य-शास्त्र” ही इस विषय का प्राचीनतम ग्रन्थ ठहरता है। नाट्य-
शास्त्र का समय कम से कम आज से दो हजार वर्ष पूर्व का है। आचार्य विश्वनाथ ने रस की व्याख्या इस प्रकार की है—

“विभावैवानुभावेन व्यक्तः सचारिण्या तथा ।

रसतामेतिरत्यादि स्थायिभाषा सचेतसाम् ॥”

—साहित्य-दर्पण

अर्थात् सहृदयों के हृदयों में स्थित वासना रूप रति-आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं।

भाव से रस की उत्पत्ति मानी गई है। काव्य शास्त्र के आचार्यों ने मानसिक विकार अथवा वासना को ही भाव माना है। वास्तव में भावों की परिपक्वता ही रस है। आचार्य भरत मुनि ने भाव और रस को अस्योन्यासित कहा है—

“न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।”

—भरत नाट्य-शास्त्र

रसो कौ सख्या

मनुष्य के हृदय में अनेक भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इनमें कुछ भाव तो ऐसे होते हैं, जो कुछ समय तक अपना प्रभाव दिखाकर विलीन हो जाते हैं। उनकी स्थिति सागर की लहरों के समान मानवी चाहिए, उन्हें 'संचारी भाव' कहते हैं और कुछ भाव ऐसे होते हैं जो विरोधी एवं अविरोधी भावों से विन्मुख नहीं होते, अपितु विरुद्ध भावों को भी अपने रूप में परिणत कर लेते हैं, इन्हें 'स्थायी भाव' कहते हैं। ये ही स्थायी भाव विभावादि-को के सवय से 'रस रूप' बन जाते हैं। 'स्थायी भाव' वास्तव में वासना रूप से हृदय में विद्यमान रहते हैं और जब विभावादि-द्वारा उनको उद्बुध होने का अवसर मिलता है, तभी वे जाग्रत होकर अनुभाव तथा संचारी भावों की सहायता से रस रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार रस के पूर्ण परिपाक के लिए निम्नलिखित सामग्री आवश्यक है। स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव (आलवन तथा उद्दीपन) तथा अनुभाव (अतर्भावों की सूचक वाह्य चेष्टाएँ आदि)। जो भाव को विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं वे 'विभाव' कहलाते हैं। यद्यपि विभावों, संचारियों और अनुभावों में कार्य-कारण संबंध है तथापि रस की निष्पत्ति में ये सभी कारण हैं। इसीलिए भरत मुनि ने इसी सामग्री को रस की निष्पत्ति में कारणता दी है—

“विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्वस निष्पत्तिः।”

और किसी काव्य की रसात्मकता प्रमाणित करने में इसी सामग्री की खोज की जाती है।

स्थायी भाव नौ हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, रगति, आश्चर्य तथा निर्वेद। प्रत्येक स्थायी भाव के आधार पर एक-एक रस की कल्पना की गई है। यथा—शृंगार रस, हास्य रस, कण्ठ रस, गैर रस, वीर रस, भयानक रस, वीरमत्स रस, अद्भुत रस तथा शांत रस। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने इसमें—'वात्सल्य रस' भी माना है। वात्सल्य रस का स्थायी भाव 'स्नेह' है, जो छोटी-कोटी प्रेम—रति का ही एक भेद होने के कारण 'शृंगार रस' के ही अंतर्गत आ जाता है। इस प्रकार रसों की संख्या नौ ही ठहरी है।

ब्रजभाषा-काव्य के अंतर्गत नवों रसों से सवचित सुंदर रचनाएँ हुई हैं। ब्रजभाषा के कवियों ने किसी भी रस को अछूता नहीं छोड़ा है। सभी का पूर्ण परिपाक हुआ है। ब्रजभाषा केवल शृंगार, कण्ठ तथा शांत जैसे कोमल रसों के ही उपयुक्त नहीं, बरन् उसमें रौद्र, वीर-आदि कठोर रसों के भी परिपाक की क्षमता है। वह पूर्ण सामर्थ्यवान् है।

शृंगार रस

शृंगार रस के संयोग और वियोग दो पक्ष होते हैं। यद्यपि आचार्यों ने दापत्य-रति को ही शृंगार रस का मूल माना है और पुत्र-विषयादिक रतियों को भाव कहा है, तथापि आलवन-भेद से और इसमें प्रत्यक्ष भ्रमत्कार होने के कारण पुत्र-विषयक रति को 'स्नेह' के नाम से 'वात्सल्य' का 'स्थायी भाव' माना है। कुछ आचार्यों ने इसी प्रकार भक्ति को भी स्वतंत्र स्थान दिया है। संस्कृत के आचार्यों ने रति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“रतिर्ननोनुकूलैर्धर्म मनसः प्रवणायितम्।”

अर्थात् मन के अनुकूल अर्थ में हृदय के प्रवीभूत होने को 'रति' कहते हैं। इसी भाव को महाकवि देव ने इस प्रकार कहा है—

“मैंकु जो प्रिय जन देखि-सुनि, आन भाव चित होइ।

अति कोविद-वृत्ति-कविन के, सुमति कहति रति सोइ॥”

संयोग शृंगार-वर्णन

दर्श, स्पर्श, सलापादि जनित अश्रु-पुलकादि से व्यञ्जित परस्परानंद का वर्णन 'संयोग शृंगार' का विषय बनता है। यथा—

“ए री! आज काल्हि कुल-कानि सब त्यागि दोऊ, सीखे हैं सब जिधि सनेह सरसाहो।

कहै 'रसखनि' दिना है मैं बात फैलि जै है, कहाँ लो सयांनी जब हायेंहु दुराहो॥

कालि हो निहार्यो वीर निपट कलिबी तोर, दोउन को दोउ न सो मुरि मुसिकाइवौ ।
दोऊ परे पइयाँ, दोऊ लेत हूँ बलइयाँ, उन्हें मूलि गई गैयाँ, इन्हें गागरि उठाइवौ ॥”

‘सनेह’ शब्द से ‘रति स्यायी’ व्यजित है । कृष्ण तथा राविका भालवन है । एकांत कालिदी-
कूल उद्दीपन विभाव है । बात फैल जाने का डर, शका एवं चिंता मचारी भाव है । दोनों की पारस्परिक
चेष्टाएँ, ‘दोउन को दोउन सो मुरि मुसिकाइवौ’, तथा ‘पैयाँ पडना’ एवं ‘बलैयाँ’ लेना कायिक अनु-
भूतिभाव एवं हाव-भाव है । गैयाँ-भूल जाना तथा गागर (घड़े) का ध्यान न रहना ‘स्तम’ सात्विक अनुभाव है ।
महा कवि नन्ददास-द्वारा किए गए रस वर्णन का अवलोकन कीजिए—

“दौरि लिपटि गई ललित लाल, सुख कहत न भाव ।
मीन उछरि ज्यों पुलि न परे पै पानी पावै ॥”

“नूपुर, ककन, किकिनि, करतल, मंजुल, मुरली ।
ताल, मृदंग, उपग, चग, एकहि सुर जुरली ॥
तैसिय मृदु पद पटकनि, चटकनि कट तारन की ।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुडल, हारन की ॥
सुघर साँवरे पिय-सग, निरतति यो ब्रज-बाला ।
ज्यों धन भडल मजुल खेलति बामिनि-माला ॥”

शृंगार रस का परिपाक एवं निर्देशन तो है ही, साथ ही नृत्य का सजीव स्वरूप भी सम्मुख उपस्थित
हो जाता है । भाषा सर्वथा भावों की अनुगामिनी और ध्वनि मात्र से अर्थ की व्यञ्जक है । इसके शब्द ध्वन्यात्मक
हैं । वे नृत्य की ताल-स्वर मय गति के द्योतक हैं । इन पदों में शब्द नृत्य के हार्मोल्लास-पूर्ण गति मय पद-
संचारण के द्योतक हैं । भाषा भावानुसारिणी होने के कारण रस के परिपाक में पूर्ण सहायक हुई है । रस-
नृत्यादि शृंगार के उद्दीपन माने गए हैं । इसमें ‘हृष’ मचारी है । मिलन से पूर्व जो उत्कठा होती है,
उसकी भी व्यञ्जना ‘मीन उछरि ज्यों पुलि न परे पै पानी पावै’ कह कर की गई है । अन्य उदाहरण, जैसे—

“बतरस-लालच लाल, की मुरली घरी लुकाइ ।
सोह करै, भोहन हँसै, वैन कहै नटि जाइ ॥”

—बिहारी,

यहाँ ‘भ्रू-विलास’ अनुभाव का जीता जागता उदाहरण है । ‘सोह करै, वैन कहै नटि जाइ’, में
‘अनुभाव’ तथा ‘हाव’ दोनों का सुखद समिश्रण है । यहाँ शब्दों में ही ‘चल-चित्र’ की-सी गति आ जाती
है । एक के बाद दूसरा दृश्य उपस्थित हो जाता है । गोपियों की सजीवता तथा मन की चंचलता व्यजित है ।
‘चपलता’ सचारी भाव है ।

विप्रलम्भ शृंगार

नायक-नायिका के पारस्परिक क्षणिक या बिरकालीन साक्षिष्य, विच्छेदप्रयत्न या मानसिक साम्य न
रहने के कारण जो मिलन के सुख का अनुभाव रहता है, वही ‘वियोग शृंगार’ का विषय होता है । यथा—

“भोहि तजि मोहनँ मिल्यो हूँ मन मेरी दौरि, नैन हूँ मिले हूँ देखि-देखि साँवगै सरीर ।

कहै ‘पदमाकर’ त्यों तान-मय कान भए, हो तो रही जकी, थकी, भूली-सी, भ्रमी-सी वीर ॥

वहँ निरदई ताते इनको बधा न वई, ऐसी बसा भई जाते कैसे वरो मन वीर ।

हो तो मन हूँ कँ मन नैन के नैन जो पै, कानन कँ कान, तो पै जानते पराई पीर ॥”

प्रथम दृष्टान्त में प्रेम उत्पन्न हो जाने पर गोपिका कृष्ण से न मिल सकने के कारण धवीर है ।
अतः पूर्वानुराग-हेतुक विप्रलम्भ शृंगार है । गोपी का जकी-सी, थकी-सी, भ्रमी-सी, भूली-सी रह जाना

अनुभाव है। कानो में मुरली की टेर समा जाने के कारण रति उत्पन्न हुई है। श्रम, आलस्य, मोह, दीनता तथा जड़ता सचारी भाव है।

“दूरि जङ्गुराई, ‘सेनापति’ सुखदाई रितु पावस की आई, न पाई प्रेम-पतियाँ।
घोर जलघर की सुनत धुनि घरकी है, बरकी सुहागिल की छोह-भरी क्षतियाँ॥
आईं सुधि बर की, हीए मैं आनि खरकी, तू मेरी प्रान-प्यारी ए पीतम की बतियाँ।
बीती औष आवन की, लाल मनभावन की, डग भईं बावन की, सावन की रतियाँ॥”

यहाँ प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ शृंगार है, पावस की ऋतु, सावन का महीना और भ्रंशेरी रत में पानी बरसना, किसे अपने प्रीतम की याद न दिलायेंगे? ये उद्दीपन हैं। प्यारे की सुधि तक न मिलना और आने की अवधि बीत जाना तरह-तरह के वितर्क उत्पन्न करते हैं। ‘शका’ एवं ‘वितर्क’ सचारी भाव है। छाती में घड़कन होना मानसिक अनुभाव है। प्रियतम की बातों (प्राण प्यारी कह कर बुलाना—आदि) की याद आना ‘स्मृति’ एवं ‘गर्व’ सचारी भाव की व्यञ्जना है। ‘डग भईं बावन की सावन की रतियाँ’—यह द्योतित करता है कि वह उत्सुकता पूर्णक बाट जोह रही है और उसे नींद नहीं आ रही है। यहाँ ‘उत्सुकता’, ‘विषाद’ एवं ‘उद्वेग’ सचारी भाव है।

‘प्रिय-वियोग’ में सुखदायक वस्तुएँ भी दुःखदाईं लगती हैं। शीतल मद समीर, तू की तप की भाँति उष्ण लगती है। चद्र की शीतल किरणें अगार जान पड़ती हैं—

“बिन गुपाल बैरिन भईं कुजें।

जो बे सता लगत तन शीतल, अब भईं विषम अनल की पुजें॥
बुध्याँ बहत जमुना तट सगरौ, बुध्याँ कमल-फूलन अलि गुजें।
पवन, पानि, घनसार, सुभन हूँ, बधि-सुत-किरनि भागु सी भुजें॥
ए ऊबरी, कहियो मावौ सो, मदन भारि कीन्हौं हम लुजें।
‘भूरवास’ प्रभु तुम्हरे बरस कौं, मग जोवत अँखियन भइं भुजें॥”

गोपाल आलवन है। लताएँ, शीतल वायु, यमुना-तट आदि उद्दीपन विभाव हैं। दग्ग का मग जोवत से उत्कृष्ट और उत्सुकता तथा ‘मदन भारि कीन्हौं हम लुजें’ से जड़ता सचारी भाव व्यजित है। प्राचीन सुखों की याद ‘स्मृति सचारी’ भाव है। मग जोते आँखों का धुजे (धुँधला) हो जाना काविक अनुभाव है तथा इनके द्वारा अश्रु सात्विक व्यञ्जित है। ये सब उद्दीपन विभाव हैं। एक ही उद्दीपन दृश्य स्थिति-भेद से संयोग में सुख की अनुभूति को तीव्रता प्रदान करता है और ‘वियोग’ में पूर्वानुभूति की स्मृति दिला कर वियोग के ताप को बढ़ा देता है। इस पद का सानुस्वार शब्द-विन्यास माधुर्य गुण का सूचक है।

केवल प्रिय-दर्शन की लालसा शेष है, संयोग जन्म सुख प्राप्ति की इच्छा तक नहीं, प्रेम में आत्मोत्सर्ग की यही पहिचान है।

उद्दीपन आदि का स्वतन्त्र वर्णन

शृंगार रस वर्णन के अंतर्गत उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव का स्वतन्त्र वर्णन भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। नायिका भेद, नख-शिख-निरूपण और ऋतु वर्णन इन्हीं के उपाग समझने चाहिए।

“रनित भ्रूंग छटावली, झरत दान मधु नीर।

मद-मद आधत चल्थो, कुजर कुज समोर॥”

—विहारी

यहाँ मद पवन का वर्णन किया गया है। मद समीर की हाथी में समता की गर्ज है। प्रेमी प्रकार मत्त मतमज मद टपकाता, छटा घहराता मद गति से चलता है, उसी प्रकार कुज-समीर घन गुलन रूपी छटा-रव करता एवं मधुर रस रूपी दान टपकाता दृष्टा मन्थर गति में चला आ रहा है। बसत ऋतु का सरिलप्ट योजना-युक्त वर्णन भी देख लीजिए—

“कृकि उठी कोकिला, सु गुंजि उठी भौर-भौर, डोलि उठे सौरभ समीर तरसावने ।
फूलि उठी लतिका है लोगन की लोनी-लोनी, झुमि उठी डारियाँ कदब सरसावने ॥
चहकि चकोर उठे, कीर करि सौर उठे, टेरि उठी सारिका बिनोद उपजावने ।
चटकि गुलाब उठे, लटकि सरोज पुज, खटकि मराल रितुराज सुनि आवने ॥”

ऋतुराज की भगवानी करने के लिए प्रकृति पूरी तरह में तैयार है । कण-कण में चहल-पहल है । वसंत मदन महीप का बालक है^१ । जब चेतन सब मस्त बने हुए मदन-महिमा का प्रदर्शन कर रहे हैं । स्पष्ट है कि ब्रजभाषा के अतर्गत भृगार रस का सागोपाग एवं प्रचुर वर्णन तथा निरूपण हुआ है ।

आलवन के अतर्गत नायक-नायिका माते हैं नायिकाओं के विवलेपण और वर्गीकरण में ब्रजभाषा के कवि कुछ बदनाम में हो गए हैं, किंतु जहाँ ग्राज कल का विज्ञान कीट-पतंगों तक का वर्गीकरण करता है वहाँ यदि मनोदशाओं के आधार पर सजीव नायिकाओं का वर्गीकरण किया जाय तो हानि ही क्या है ? ‘नायिका भेद’ वर्णन में ब्रजभाषा के कविवर अपने अग्रज सम्स्कृत-आचार्यों को भी पीछे छोड़ गए हैं ।

वात्सल्य रस का वर्णन

जहाँ ‘स्नेह’ भाव की पुष्टि होती है वहाँ ‘वात्सल्य रस’ माना गया है । पुत्र, शिष्य, मित्र आदि बालक रूप इसके ‘आलवन विभाव’ माने गए हैं । देखिए—

“बर बत की पगति कुब कली, अधराधर पल्लव खोलन की ।
चपला चमकें घन-बीच जग छवि मोतिन-माल भ्रमोलन की ॥
बुधराली लटें लटकें मुख-ऊपर, कुडल लोल कपोलन की ।
निबछावर प्रान करै ‘तुलसी’ बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥”

—गोस्वामी तुलसीदास

बालक राम आलवन है । मुख पर लटकती हुई बुधराली लटे, मोतियों की माला आदि ‘उद्दीपन’ है । उनकी मधुर छवि, भ्रमलोकन, चितवन अनुभाव है तथा हृषं मचारी भाव है । पूर्ण रसत्व है ।

ब्रजभाषा-साहित्य-सागर में श्रीकृष्ण के बाल्यकाल में सवधित वात्सल्य-रस की सरिता अबाध रूप से बहाई गई है । महा कवि अथे ‘सूर’ की अतर्दृष्टि से इसका कोई कोना अछूता रहा ही नहीं है । इस रस का उनके द्वारा अद्भुत मनोवैज्ञानिक विवलेपण हुआ है । वियोग-जन्य वात्सल्य रस का परिपाक भी देख लीजिए—

“सँदेसो, देवकी सो कहियो ।

हो तो धाइ सिंहारे धुत की, मया करत ही रहियो ॥

उबटन, तेल और ताली जल, बेखत ही भजि जाते ।

जोई-जोई मंगल सोई-सोई देती, घरम-करम के नाते ॥

^१ “आर-भ्रम पलना, विछोना नव पल्लव की, सुमन क्षणला सोई तन छवि भारी दे ।
पवन झुलावें, केकी-कीर बतरावें ‘देव’, कोकिल झुलाइ झुलसावें कर सारी दे ॥
पूरित पराय सो उतारी करै राई-लोन, झुज-कली पाइका सतौनि सिर सारी दे ।
मदन महीप जू की ‘बालक वसंत’ ताहि, प्रात-हौं जगावत गुलाब नूटकारी दे ॥”

तुम तौ डेव जानति ही हूँ हौ, तऊ मोहि कहि आवैं ।
प्रात उठत मेरे लाड-सईतेहि, माँखन-रोटी भावैं ॥^१

यहाँ पर वियुक्त प्रिय पुत्र का 'गुण' कथन है तथा सुख के अनिश्चय की शका तक न पहुँचती हुई भावना, 'वीनता' और क्षोभ जन्य 'उदासीनता' उपर्युक्त वचनों से व्यक्त रही है। दूसरी ओर बालक को माता-पिता की याद किस प्रकार आती है, तनिक उसे भी सुन लीजिए—

"नीकें रहियो जलुमति सैया ।
जा दिन तें हम भुम ते बिछुरे, कोऊ न कहत कन्हैया ॥
प्रात न काहु कलेबा वीन्हो, साँझ न पीन्हो धैया ।

* * *

कहियो जाइ नंद बाबा सो, निपट कठिन हिय कीन्हो ।
'सूर' स्याम पहुँचाइ मधुपुरी, बहुरि सेवेस न लीन्हो ॥^२

इसमें उपालम है, जो 'मति' सचारी के नाम से आता है। 'स्मृति' तथा 'उत्कठा' सचारी भी है। यहाँ प्रेम के उद्दीपनों का प्रभाव दिखाया गया है।

कुछ आलोचकों का कथन है यदि उसे हम आक्षेप कहे, तो अनुचित न होगा कि ब्रजभाषा की कोमल-कात-पदावली शृंगार रस के ही अनुकूल है, अन्य रसों के परिपाक की उसमें क्षमता नहीं। यहाँ हम निवेदन कर देना चाहते हैं कि ब्रजभाषा-साहित्य की अक्षुण्ण निधि में सब प्रकार के रस हैं। उसमें अन्य रसों पर भी कविता हुई है और खूब हुई है। भाषा किस प्रकार भावों के अनुगामिनी बन जाती है ? उसमें अन्य रसों के परिपाक की कितनी क्षमता है, यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट विदित हो जायगा।

^१ सैंवेसौ देवकी सो कहियो ।

हो तौ बाइ तिहारे धुत की, मया करत हो रहियो ॥
जउषि डेउ तुम्ह जानत उनको, तऊ मोहि कहि आवैं ।
प्रात होत मेरे लाड-सईते, माँखन-रोटी भावैं ॥
तेल-उबटनो श्री तातौ जल, ताहि देखि भजिजाते ।
जोई-जोई माँगत सोई-सोई देती, कम-क्रम करिके लूते ॥
अलक-सईती मो मन-मोहन, हूँ हँ करत सँकोच ।
'सूर' पथिक सुनि मोहि रैन-दिन, बढायो रहत उर मोच ॥

^२ नीकें रहियो, जलुमति सैया ।

आमंगे दिन चार-पाँच में, हम हलधर वोड भैया ॥
नोई, बेंत, बिषाँन, बाँसुरी, द्वार अबेर-सबेर ।
सै जिन जाइ चुराई राधिका, कछू खिलोना मेरे ॥
जा दिन ते हम तुम्हते बिछुरे, कोउ न कहत कन्हैया ।
उठ न सबेरें कियौ कलेबा, साँझ न पीई धैया ॥
कहियो हतौ नंद बाबा सो, किनी निद्र मैन कीन्हो ।
'सूर' बास पोहचाइ मधुपुरी, केरि न सुधि तुझ लीन्हो ॥

हास्य रस^१

इसका स्थायी भाव 'हास' है 'कौतुकार्थ' अनुपयुक्त वचन वा विकृत-रूप रचना मे आत्माद-युक्त मनोविकांग को 'हास' कहते है। यथा—

"चदकला चुनि छूनरी वाह बई पहिराइ लगाइ सु रोरी ।

बैंदी बिसाखा रची 'पवमाकर', अंजन आंजि समाजि कं गोरी ॥

लागी जब ललिता पहिरावन, कान्हू को कचुकी केसर-बोरी ।

हेरि हरे मुसिकाइ रही, अंचरा मुख-बै बृषभान किसोरी ॥"

कृष्ण को कचुकी पहनाते समय सखियो को हँसी आ जाना स्वाभाविक ही है। यह 'स्मिन्' हान है।

"आध पाव तेल में तयारी भई रोसनी की, आध पाव रई में मुसाक बनी बर की ।

आध पाव धोले के गिनोरे दिए भाइन को, मांगि-मांगि लायी है पराई बीज घर की ॥

आधी-आधी जोरि 'कवि बेनी' की बिवाई कीन्हैं, व्याहि आयी जब ते न धोलै बात थिर की ।

देखि देखि कागज तवियत सु भावी भई, सादी कहा भई बरबादी भई घर की ॥"

इसमे किसी कजूस मक्खी-बूस का मुदर खाका उढाया गया है। इसमे उनकी कजूषी विकृति की अवस्था तक पहुँच जाती है। कहीं शादी का सुअवसर और कहाँ यह कजूसी।

साधारणतया विवाहादि के अवसर पर लोग उदार बन जाते हैं और वे प्रसन्न वदन रहते हैं। यहाँ कजूस शादी को बर्बादी समझता है, सभी वस्तुओं के हास्यास्पद मात्रा मे लब्ध होने पर यही विकृति अवस्था अनुपयुक्तता हास्य का मूल है।^१

सूरदास तथा नवदाम के अमरगीत मे 'असूया' भाव मे प्रेरित कुब्जा और कृष्ण के ऊपर सुंदर व्यंग्य मिलते हैं, जैसे—

"ऊधो, जान्यो ग्यान तिहारौ ।

जानें कहा राज-गति लीला, अत अहीर बिचारी ॥

आवत नाहि लाज के मारें, मानहुँ कान्हू खिसाँव्यो ।

हम बु अर्धानी, एक सयानी कुब्जा सो मन मान्यो ॥

ऊधो, जाहु वॉह घरि लाओ, सुंदर स्याम पिपारौ ।

व्याही लाख, धरौ दस कुबरी, अतहि कान्हू हमारौ ॥"^२

—सूरदास,

^१ हास्य के प्रथम—उत्तम, मध्यम और अधम भेद होते हैं। तबन्तर इनके दो-दो भेद जैसे—
उत्तम के—स्मित और हसित, मध्यम के—विहसित और उपहसित तथा अधम के अपहसित और अविहसित भेद होते हैं। अजभापा-काव्य में इनके उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं और वे आज तक नहीं चुने गए।

^२ ऊधो, जान्यो ग्यान तिहारौ ।

जानें कहा नीति राजन की, अत अहीर बिचारी ॥

भली भई हम सब अर्धानी, स्यानी भो मन-मानो ।

आवत नाहि लाज के मारे, भयो बीर, खिसियायो ॥

जै आओ हम कधू न कहि है, मिलि है प्रान-पिपारौ ।

व्याही बीस, धरौ दस कुब्जा, अत-हि स्याम हमारौ ॥

मुनि-री सखी, कछू नाहि कहिए, माधो-हि श्रामन दीजै ।

'सूरदास' प्रभु प्रान मिलें जब, हाँसी करि-करि लीजै ॥

“कोऊ कहँ रे मनुष, होहि तुम्ह से जो सगी ।
 क्यों न होहि तन-स्पर्श, सकल बातें जोरंगी ॥
 गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहि मुरारि ।
 मदन-ब्रजपी प्रापु है, करी ब्रजगी नारि ॥

—रघुन-सौल की”

—नन्ददास

गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति के अतर्गत ‘हास’ का सुंदर समावेश किया है—

“जिध के ब्राह्मी, उवासी, तपोव्रत-धारी महा बिनु नारि दुखारे ।
 गौतम-तीय तरी ‘तुलसी’, सो कथा सुनि भे मुनि-बूढ़ दुखारे ॥
 हूँ है सिला सब छब-मुली, परसैं पद-मजुल-कज तिहारे ।
 कीन्हौं भली रघुनाइक जु, फटना करि कानन को पग धारे ॥”

बहुत समय है कि फ्राइड के मतानुसार मनोवैज्ञानिक इसमें लैंगिकता का उभार देखें तथा दास्य रति की व्यञ्जना का आभास पावें । हमारा उनसे निवेदन है कि गोस्वामी जी का अभिप्राय केवल भगवान की चरण-रज की पावनता का दिग्दर्शन कराना मात्र है ? स्त्री-भावना आदि की ओर तो उनका ध्यान ही न था ।

“भाजू महारानी को बुलायो महाराज हूँ कौ, लीजँ भत के कई-सुमित्रा हूँ के जिय कौ ।
 रातें के बीच सात दिखित के बिससत, सुनौ उपदेस ता धरपती के सिय कौ ॥
 ‘सैनापति’ बित्त में धखाने बिस्वामित्र नाम, शुक्र बोलि पुछिऐ, प्रबोध करे हिय कौ ।
 सोलिऐ निसंक यह बनुष न सकर कौ, कुँवर भयंक-मुख ककन है सिय कौ ॥”

जिष्ट हास्य का यह एक अत्यंत सुंदर उदाहरण है ।

कथन रस

कथन रस का स्थायी भाव ‘शोक’ है । प्रिय-पदार्थ के वियोग—‘इष्ट के वियोग से उत्पन्न हुए रति-रहित मनोविकार को ‘शोक’ कहते हैं । विप्रलम्भ-शृंगार से प्रिय-मिलन की आशा रहती है, कथन में नहीं । यथा—

“पियरी परी श्रोप कपोलन की, तन में डुबराई बडी अति सारी ।
 लटकाएँ लटें बिजरी मुख पै, उर सोचति मोचति लोचन-बारी ॥
 अति दीखति आकुल सोग-सनी, कसना-रस की मनु मुरति प्यारी ।
 तन-धारी बयोग बिधा-सी किछो, बन आइ रही सिबिलेस-बुलारी ॥”

—सत्यनारायण कविरत्न

निर्जन वन में भगवान राम तथा अयोध्या का चिर वियोग उद्दीपन है । अश्रु, मुख का क्लिब हो जाना, गात्र की शिथिलता, मुख का पीला पड़ जाना—आदि अनुभव हैं । चिंता तथा विषाद ‘भचारी भाव’ है ।

कथन रस का नाम आ जाना रस-बोध अवश्य है, पर वैसे जानकी जी माझात् करणा की मूर्ति बनी हुई है ।

“मेरो सब पुरुषारथ थाकी ।

बिपति-जटावन बहु-झाड़ु जिन, करीं भरोसी काकी ॥
 सुनु सुग्रीव, सोचें हैं मोपर, फेरपी बहन विधाता ।
 ऐसे सर्म सैमर-सकट हों तज्यौं लखन सी आता ॥

गिरि, कानन जै हं साखामुग, हो पुनि अनुज-सँघाती ।
ह्वै हं कहा बिभीषण की गति, रही सोच-भरी छाती ।
‘तुलसी’ मुनि प्रभु-वचन भालु-कपि, सकल विकल हिय हारे ।
जामवत हनुमत बोलि तब, श्रीसर जानि प्रचारे ॥”

—गीतावाली

लक्ष्मण का भून गरीर ‘आलवन विभाव’ है, ‘समर-सकट’ एवं ‘वानर-निकर’ ‘उद्दीपन विभाव’ है। राम के शोक-पूर्ण वचन कायिक अनुभाव है। ‘सोच भरि छाती’ मानसिक अनुभाव की व्यञ्जना करता है। ‘अश्रु’ सात्विक अनुभाव है। वैराग्य, निर्वेद, चिन्ता, स्मृति, व्याधि, दैन्य तथा चित्तक संचारी भाव है। अतः शोक स्थायी पूर्णतया पुष्ट होकर ‘कृष्ण रस’ हुआ।

रींद्र रस

रींद्र का स्थायी भाव ‘क्रोध’ है। अपमानादि से उत्पन्न हुए, हर्ष के प्रतिकूल मनोविकार को ‘क्रोध’ कहते हैं। मन की चंचलता और आवेग रस की विशेषता है। इन्द्रियो की प्रचलता इसका सबसे बड़ा लक्षण है। यथा—

“बारि-दारि डारो, कुभकरनहि बिदारि डारो, मारो मेघनाई आबु, यो बल अनत हो ।
कहै ‘पदमासर’ बिकूट हू को डाइ डारो, डारत करेई जातुधानन को अत हो ॥
अच्छहि निरच्छ, कपि-रच्छ ह्वै उचारो इमि, तोसे तिच्छ तुच्छन कछू वै न भगत हो ।
जारि डारो लकहि, उजारि डारो उपवन, भारि डारो रावन को लो भैं हनुमत हो ॥”

यहाँ पर हनुमान जी वन-महित रावण के नाश करने का प्रण कर रहे हैं। रावण-कुभकर्णादि शत्रु-वर्ग आलवन है। हनुमान जी को बाँध लाना, कटु वाक्य कहना-आदि राक्षसी की चेष्टाएँ ‘उद्दीपन विभाव’ है। ललकारना तथा अपने बल-विक्रम का बखान करना अनुभाव तथा ‘गर्व’ ‘अमर्ष’ तथा क्रूरता ‘संचारी भाव’ है। अतएव क्रोध स्थायी की पूर्ण पुष्टि है।

उक्त पद की शब्दावली विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। टकार, डकार युक्त वर्ण तथा अच्छहि, निरच्छ, रच्छहि, तिच्छ, तुच्छन-आदि शब्द हनुमान जी के रोद्र रूप को मजीब बना देते हैं। रींद्र-रस में ऐसी ही श्रोत्रमयी पदावली का विधान है। यहाँ पर भाषा भाव की अनुगामिनी है। निम्न सवैया में परशुराम जी के क्रोध का वर्णन है—

“गर्म के अर्मक काटन को पटु भार कुठार कराल है जाको ।
सोई हो बूझत राज-सभे, बगु को बलि हो, बलिहो बल ताकी ॥
छोटे मुँह उत्तर देत बडौ, लरि है, सरि है, करि है कछू साकी ।
गोरी गवर गुमान भरी कही कौसिक, छोटी-सी डोटा है काकी ॥”

टटा हुआ बगुन आलवन है। लक्ष्मण जी के उपाहास्यास्पद-वाक्य उद्दीपन है। परशुराम जी द्वारा बल एवं तेज का बखान तथा कुठार दिखाना अनुभाव है। बाल-बब-डारा पाप का भाव ‘वितर्क’ संचारी भाव है।

वीर रस

वीर का स्थायी भाव उत्साह है। बैरी, भिक्षु वा दीन को देख कर, बैरी को पराजित करना तथा भिक्षु और दीन का कष्ट निवारण करने की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इच्छा में आनदानुभूति का होना उत्साह है। पराक्रम, शरीर-बल, आत्मरक्षा, साहस, हिम्मत, बहादुरी, दृढ़तापूर्वक कार्य करने की शक्ति, निर्भयता और दृढ़-आदि करने की तत्परता-आदि कार्यों में ‘वीर रस’ का ग्रहण किया जाता है। यथा—

“छ उत कॅमान और तोर, गोली, बॅलन के, मुसकिल होत मुरबाँन हू की ओट में ।
ताही सभे सिवराज हुमुक के हल्ला कियौ, बाबा बाँधि परे बीर बीर मठ ओट में ॥
‘भूषन’ भनत तेरी हिमत कहाँ लो कहौ, किमत इहाँ लगि है जाकी मठ-ओट में ।
ताब बै-बै मूँछन, कँगूरन पै पाँव बै-बै, अरि-मुछ छाव बै-बै कूल परे ओट में ॥”

यहाँ पर ‘मुछ बीर’ का सजीव वर्णन है। अवयव स्पष्ट है। शत्रु तथा उसका ऐश्वर्य ब्रालबन है। शत्रुओं की चेष्टाएँ तथा रण-क्षेत्र एवं अस्त्र-शस्त्र की शकार उद्दीपन है और ‘हुकार’, ‘सैन्य-संग्रह’, ‘मूँछो पर ताबदेना’, ‘अग स्फुरण’ तथा ‘रोमांच’ अनुभाव है। ‘उन्नता’ एवं ‘गर्ब’ संचारी भाव व्यजित है। ‘बीर-रस’ के तीन अन्य भेद भी होते हैं—दानवीर, वयावीर, और धर्मवीर।

“बैचि बेह-दारा-मुछन, होइ वास हू मढ ।

रखि हौं निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिबद ॥”

यह ‘धर्म वीर’ का उदाहरण है।

भयानक रस

भयानक का स्थायी भाव ‘भय’ है। अपराध, विकृत शब्द, चेष्टा वा विकृति-बीवादि से उत्पन्न हुए मनोविकार को भय कहते हैं और इन्द्रिय-विक्षोभ-सहित भय की परिपुष्टता को ‘भयानक रस’ कहते हैं। देखिए—

“होले कच्छ देव फॅन फैलत फली के मुख, बैसि गई घरा, घराघर उर घर के ।
कुरकै रहे न भौनु भरके सुरण कहैं, भागि चले दाहन बिरचि, हरि-हर के ॥
क्षपित गगन झुकि कपित भुवन हलैं, कपित दुवन, गुन खैचें रघुवर के ।
बती बबे आसन, सकाने पाक सासन, न कोऊ बिर आसन, सरासन के करके ॥”

यहाँ शिव जी के वनप्र-दृष्टने का भयानक शब्द ‘भालवन विभाव’ है। घरा का घसकना, पर्वतो का विदीर्ण होना आदि भयोत्पादक दृश्य उद्दीपन हैं। अस्त इत्यादि देवताओं का सकपकावा, दिग्मंजो का कौप उठना अनुभाव है। ‘त्रास’, ‘दैन्य’, तथा ‘शका’ संचारी भाव है।

निम्न पद में दावानल के वर्णन में भयानक रस पूर्ण परिपुष्ट है—

“मैहरात, मैहरात, दावानल भायौ ।

जेरि चहुँ ओर, करि सोर, अघर बन, धरनि-अकास चहुँ पास छावौ ॥
बरत बन-बाँस, बरहरत कुस-काँस, जरि उखत है सोस अति प्रबल भायौ ।
झपटि झपटत सपट, पटक फूल, फूटत ड्रुम फटि चटक लट लटक नवायौ ॥
अति अगिन-झार, भँमार धुआरि करि, उचटि अगार झझार छावौ ।
बरत बन-यास, मैहरात, मैहरात, अररात तब सहा, धरनी गिरायौ ॥
तुना, कैसी, सकट, बकी, बक, अधालुर, बास कर गिरि राखि ज्यो उबारचौ ॥”

उक्त पद में झकार, हुकार, शब्द भीषणता का भाव उत्पन्न करने में सहायक है।

“हाट, बाट, कोट, ओट अटनि अमार पोरि, खोरि-खोरि दौरि-दौरि दोह्यौ अति भायि है ।
आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू, व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि है ॥
बालवी फिरावै, बार-बार सहुराबै, झरै, बुँदियाँ-सी सक सिधलाइ पाग-भायि है ।
‘तुलसी’ विलोकि अकुलागो जातुपानी कहैं, बिजड़ के कपि सो निसाचर न लागि है ॥”

लका-बह्न का सजीव एवं चित्रात्मक वर्णन है। चारो ओर उद्दीपन ही उद्दीपन है। लोगों का भागना, जिल्लाना अनुभाव है। ‘मोह’, ‘शका’, ‘त्रास’ तथा ‘विषाद’ संचारी भाव है। ‘बिजड़ के कपि नो निसाचर न लागि है’ से ‘भय’ स्थायी स्पष्ट ही व्यजित है। अतः ‘भयानक रस’ का पूर्ण परिपुष्ट है।

बीभत्स रस

जुगुप्सा जनितेद्रिय-सकोचकारी रस को 'बीभत्स' कहते हैं। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा या ग्लानि है। मरघट में चिताओं की चरचराहट, मास-भेद की दुर्गंधि, श्वान-आदि का मास-भक्षण, गिट्ट-कौओं-द्वारा अंतर्द्विषा निकाला जाना तथा क्रमी-इत्यादि 'बीभत्स' रस के उद्दीपन बिभाव हैं। यथा—

“सिर पै बैठ्यो काग, आँख दोड खात निकारत ।

खँचत जीमहि स्यार, अतिहि आँनव उर-धारत ॥

गिट्ट जाँघ कहै खोबि-खोबि कै माँस उधारत ।

स्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खान-बिचारत ॥

बहु नील नोचि लै जात तुच, मोद-मदचौ सब की हियौ ।

मनु ब्रह्म-भोज जिनमाँन कोड, आनु भिखारिन कहै दियौ ॥”

निम्न पद में फूहड़ स्त्री का ग्लानि उत्पन्न करने वाला वर्णन भी देख लीजिए—

“मोड़े मुख-भार बहै, आँखिन में डोढ, राखि कान में, सिमक रेड भीतन पै डार देति ।

खर-खर खुरखि खुजावे मदुका सौ पेठ, दूढ़ी लो लटकते फुचन को उधार देति ॥

लौटि-लौटि चीन घाँघरे की बार-बार फिरि, बीनि-बीनि डोंगर नखन धरि मार देति ।

लूगरा गँघात, चढी चीकट-सौ गात, मुख घोबै न अङ्गात प्यारी फूहर बहार देति ॥”

इन धिनीनी बातों को देख कर नाक सिकोडना, आँख फेरना तथा थूकना-आदि अनुभाव प्रकट होना स्वाभाविक ही हैं। बीभत्स रस के अतर्गत हमें इमगान के अनेक वर्णन मिलने हैं।

अद्भुत रस

अनिवार्य विस्मय के परिपाक को 'अद्भुत रस' कहते हैं। स्थायी भाव 'आश्चर्य' है। मग्न में न आने वाली वस्तुओं को देखने-सुनने वा स्मरण करने से उत्पन्न हुए मनोविकांग को 'आश्चर्य' कहने हैं। देखिए—

“आयु सित-सित रूप चित्तैचित, स्थाम सरोर रगे रँग रातें ।

‘केसव’ कानन हीं न सुनें, सु कहै रस की रसना बिन बातें ॥

बैन कियो कोउ अतरजामी हीं, जानति वातन बूझति तातें ।

दूर लौ दौरत है बिन पाँइन, दूर-दुरी दरसै मति जातें ॥”

वह बिना कानों के सुनता और बिना बाणी के बोलता है। नेत्र न होने हुए भी घट-पट की बातें देखता और बिना पैरों के दूर तक दौड़ लगाता है। ये लोकोत्तर कार्य-कलाप आलवन विभाव हैं। 'रोमांच' तथा 'सन्नम', सात्विक अनुभावों की व्यञ्जना हैं। 'वितर्क' एवं 'हर्ष' मचागी भाव हैं।

“देखिरी देखि, अद्भुत रीत ।

जलज-रिपु सो रिपु कियो हित, छाँडि डई अनीत ॥

कोर, कमठ, कपोत, कोकिल, कियो ढिंग-ढिंग वास ।

धनुष-ऊपर तिलक-रेखा, भयो न रिपु को भास ॥

जलज-माल सुदार ऊपर, निरखि मुदित अनग ।

‘सूर’ स्थाम-निहारि पै छवि, भई मनना पग ॥”

अनिवार्य विस्मय स्पष्ट है।

“संकगाय हरि जाके लरजि रह्यो हं ह्रिय, मवर उठायो जो दिगबर मुखेन की ।

राजा, राज कुँवर, सुभट पुर तोन हूँ के, बल करि थाक्यो जो यकायन मुरेस की ॥

कवि ‘लक्ष्मीराम’ जोर-सोर अचरज छायाँ, कप सरमायो पल हीं मैं देन-देन की ।

कर में तिनूका-सम करिके कुँमार राम, मद मुसिकाइ तोरयो धनुष मतेन की ॥”

जिस रावण ने मदराचल को उठा लिया था, वह भी शिव जी के धनुष को न उठा सका, परन्तु रामचन्द्र जी ने उसे पल भर में तिनके की तरह उठा कर तोड़ डाला। कुमार राम का यह अद्भुत कार्य किसे आश्चर्य में नहीं डाल देगा ?

यहाँ 'रोमाच', 'गद्गद् स्वर', 'नेत्र विकास' एवं 'सञ्जम' अनुभावों की व्यवस्था है। 'गर्व', 'भ्रांति' एवं 'हर्ष' संचारी भाव है। विस्मय का परिपाक होने से 'अद्भुत' रस हुआ।

वैष्णव-आचार्यों ने चार प्रकार का 'अद्भुत रस' माना है—वृष्ट, श्रुत, सकीर्तित और अनुमित। ब्रजभाषा-काव्य में प्रत्येक से अवचित छंद उपलब्ध है।

शात रस

“नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।

सम सर्वेषु भूतेषु सशात प्रथितो रसः॥”

अर्थात् जहाँ न सुख है न दुःख है, न द्वेष है, न मात्सर्य और जहाँ पर सब भूतों में समान भाव रहता है, वह 'शात रस' कहा जाता है।

काम-क्रोधादि शमन पूर्वक निर्वेद की परिपुष्टता को 'शात रस' कहते हैं, अर्थात् शात रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है। ज्ञान के विकास से सासारिक पदार्थों में तिरस्कार-बुद्धि का होना 'निर्वेद' कहलाता है।

ससार की असारता और अनित्यता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप-ज्ञान इसके आलम्बन है। सद्गुरु-प्राप्ति, सत्संग, पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन, श्मशान एवं मृतक व्यक्ति-आदि उद्दीपन है।

रोमाच, आनदाश्रु, गद्गद् कण्ठ-आदि शात रस के अनुभाव हैं। वृत्ति, भक्ति, हर्ष, स्मरण, प्राणियों पर दया-आदि इसके संचारी भाव हैं। निर्वेद जब तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न होता है, तब वह स्थायी भाव होता है और जब निर्वेद इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट की प्राप्ति से होता है तब वह व्यक्तिचारी (संचारी) भाव कहा जाता है। यथा—

“सबै दिन गए विषे के हेत ।

तीनो पन्ह ऐसैं ही बीते, केस भए सब सेत ।

आखिन धंध, स्रजन नहिं सुनियत, थाके चरन सँभेत ।

गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि-तज पुजत प्रेत ॥

मन-बच-क्रम जो भजै राम को, चार पदारथ वेत ।

ऐसी प्रभू छाँडि क्यों भटकै, भजहुँ चेत अचेत ॥

राम-नाम दिन क्यों छूँहोगे, वह-गहूँ क्यों केत ।

‘सूरदास’ कछु सरव न लागत, राम-नाम मुख लेत ॥”

बुद्धावस्था में भ्रम-बौद्धिक्य के कारण ससार की असारता का बोध उत्पन्न होना ही 'निर्वेद' है। आँखों से दिखाई न देना, कानों से सुनाई न देना-आदि तथा सत्संग-द्वारा राम-नाम की महिमा का ज्ञान आना उद्दीपन है। भगवान का स्मरण करते समय रोमाच एवं आनदाश्रु अनुभाव हैं तथा पुराने इत्थो का स्मरण तथा तद्बुद्धि पश्चात्ताप, वृत्ति एवं वितर्क संचारी भाव हैं। अतएव 'निर्वेद' पुष्ट होकर शात रस के रूप में परिणत हुआ है।

वलाति और वैकल्य, व्यक्ति को किस प्रकार तत्त्व-चिंतन की शोर प्रेरित करती हैं यह गम-गोण की प्रतिक्रिया नीचे लिखे छंद में स्पष्ट ही व्यक्त की गई है। इसे स्वयं कवि के राम की वचन ही समझना चाहिए—

"हाइ कहा कहीं चचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी ।
हैं समुद्राह कियौ रस-भोग, न 'देव' तऊ सिसनी बिनसानी ॥
बाबिम, बास, रसाल, सिता, मनु, ऊल पिए औ पियूष से पानी ।
पै न तऊ तरुनी-लिय के अघरान के पीवे को प्यास बुलानी ॥"

अथवा—

"ऐसी जो हो जानतो कि जै है तू बिच के संग, घरे मन मेरे हाथ-पाँह तेरे तोर तो ।
आबु तो हो कत नर-नाहन की नाहीं सुनि, नेह सो निहारि हारि बदन निहोर तो ॥
चचल न देतो 'देव' चचल अचल करि, जाबुक चिताउनीनि मारि भूँह भोर तो ॥
भारी प्रेम-भावर नयारौ बै गये तैं बाँधि, राधावर-बिरद के बारिधि में भोर तो ॥"

यही कारण है कि उल्लेख जीवन के सभी प्रकार के विषयों से विरक्त हो गई। उस भोग की यही प्रतिक्रिया 'निर्वै' की जननी है।

ब्रजभाषा में समस्त रसों से सबधित प्रचुर एवं सफल काव्य-रचना हुई है। स्थानाभाव के कारण यहाँ तो प्रत्येक रस के एक-एक दो-दो उदाहरण देकर केवल दिग्दर्शन कराना मात्र ही अभीष्ट था। पाश्चात्य सभ्यता के शोको तथा खड़ी बोली के आन्दोलन की लहरों के कारण ब्रजभाषा-काव्य-सरिता अबकद ही नहीं हो गई है बल्कि उसके अवयव भी खिन्न-मिन्न हो गए हैं। यही कारण है कि इस प्रेम-प्रयोग के रस-रत्नों के सुधारस पान से हम वंचित बने हुए हैं। देखे यह नीरसता कब दूर होती है।

"सधन सजन धनस्यारि, अब होजै रघु वरसाइ ।
जासो ब्रजभाषा-लता, हरी-भरी संहराइ ॥"



ब्रजभाषा : साहित्य-शशि 'तुलसी' के तीन पद

राग-केदारौ,

रघुबर, बाल-छवि कहौं बरनि ।

सकल सुख की सीब, कोट-मनोज-सोभा-हरनि ॥
बसी भाली चरन-कमलन्हें, अखनता तजि तरनि ।
रचिर नूपुर, किकिनी मन-हरत केनहुँ-करनि ॥
भजू मेचक, मृदुल-सन, अनुहरत मूषन-भरनि ।
जनु सुभग सिंगार-सिसु-सद, फरचौ भदभुत करनि ॥
भुजें भुजंग, सरोज मँनन, बदन बिभू-जित तरनि ।
रहे कुहरै, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ॥
लसत कर प्रतिविम्ब भनि-आँगन घुटुखन-भरनि ।
जनु जलज-सपुट सुखजि भरि-भरि भरत उर घरनि ॥
पुष्प-फल अनुभवति, सुत-हि बिलोकि दसरथ-घरनि ।
बसत 'तुलसी' हृदें प्रभु-किलकौनि, ललित लरखरनि ॥

राग-केदारौ

नैकि बिलोकि धौ रघुबरनि ।

चाह फल त्रिपुरारि तो को, दिए कर नृप-घरनि ॥
बाल भूषन, बसैं, तन सुंदर रचिर रज-भरनि ।
परसपर खेलैं अचिर, उठि चलैं, गिरि-गिरि घरनि ॥
झंकान झाँकन, छाँह सो किलकौन, नटैं, हठि लरनि ।
तोतरैं बोलैं, बिलोकैं, मोहनी मन-हरनि ॥
सखि-बचैं सुनि कोसिला, लखि, सुंदर पति डरनि ।
लेति भरि-भरि भ्रक सैतत, पैत जनु बुद्ध करनि ॥
चरित निरखत बिबुध 'तुलसी' श्रोत बै जल-घरनि ।
चँहत मुर मुरपति भयो, मुरपति भयो चँहें तरनि ॥

राग-कान्हरी

आँगन फिरत, घुटुखन बाए ।

नील-जलब-तन-स्याम-रौम-सिसु, जननि निरलि-भूष निकट नुसाए ॥
बधुक-सुभन-अचन-पद-पकज, अकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए ।
नूपुर जनु भुनिबर-फल-हसैन्ह, रचे लोड बै बाँह बसाए ॥
कटि-मेखला, बर हार श्रीब-वर, रचिर बाँह भूषन पैहराए ।
उर श्रीवच्छ भनोहर हरि-नख, हँस-सध्य मनि-गत बहु ल्याए ॥
सुभग चिबुक, द्विज, अवर, नासिका, लवन, कपोल मोहि अति भाए ।
भ्रू सुंदर, कलना-रस-पूरन, लोचन मनो जुगल जलबाए ॥
भाल बिसाल, ललित लटकन बर, बाल-बसा के किनुर सुहाए ।
मनू दोख मुर-सनि कुज-आगें करि, तसि-हि मिलन तब के गत आए ॥
उपमा एक अमृत भई तब, जब जननी पट-भीत उठाए ।
नील-जलब पै उडगल निरखत, तजि सुभाव मनो तखित धियाए ॥
अंग-अंग पै मार-निकर मिलि, छवि-समह लै-लै जनु छाए ।
'तुलसि बाल' रघुनाथ-कप-गुन, तौ कहौ जो विधि होंहि बनाए ॥

दिव्य कवि सुरदास^१

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा

“हाथ सितारौ सुर करघौ, मुख में मवरा बोल ।
कान्हूँ के रंग में, सुरदास की चोल ॥”

दिव्य कवि सुरदास व्यक्ति विशेष नहीं, व्यक्ति सामान्य है । कवियों का व्यक्तित्व जिस में धूल मिल कर एक हो गया है उस कवि सुरदास ने मुक्तक गेय पदों में रचना की है, उस रचना में गीति काव्य के श्रेष्ठतम कवियों रवीन्द्रनाथ, विद्यापति और मीरा की रचनाओं में, का-सा हृदय-आत विराट सगीत चाहे कितनी ही अल्प मात्रा में क्यों न हो, है अवश्य । गीति काव्य और गेय काव्य दोनों एक ही वस्तु नहीं है । गेय काव्य, गीति काव्य न हो यह हो सकता है । सुर के पदों में शास्त्रीय सगीत है । दोहे^२ कवित्त^३ भी रागों में ढले हैं । किसी भी मगीत-प्रेमी के द्वारा राग-रागिनियों में गाये जा सकते हैं, किंतु सुरदास स्वयं भी सगीतज्ञ थे । तानसेन और नामादास ने उनके पदों के झुमा देने वाले सगीत की प्रशंसा की थी और उन्होंने भी अपने सगीत-ज्ञान के दूते पर तानसेन की तान की दाद दी होगी—

“विचिना अस जिय जानि कैं, सेसहिं विष्ट न काँन ।
धरा मेव सब डोलते, तानसेन की तान ॥”

सुरसागर के अभी तक छपे संस्करणों में जो पद हैं वे विलावल, सारंग बनाथी, केदारा, कान्हूरा मलार, देवगावार, गौरी, आसावरी, सोरठ, मारु, रामकली, नट, कल्याण, बिहागरी और गुजरी आदि-आदि में मिलते हैं । यदि स्वयं सुरदास भी उन्हें इन्हीं रागों में गाते रहे हो तो प्रतीत होता है कि विलावल, सारंग और बनाथी राग उन्हें अधिक प्रिय थे । इन में भी विलावल का स्थान उनकी नज़रों में सब से ऊँचा था । सुरसागर (राधाकृष्ण-संस्करण) का आरम्भ विलावल से हुआ है और विलावल में ही उसकी समाप्ति हुई है । यही नहीं, सागर का प्रत्येक स्कंध केवल दशम को छोड़ कर विलावल से आरम्भ हुआ है । दशम स्कंध का परिचयात्मक आरम्भ सारंग राग से किया है, किंतु लीला आरम्भ के लिए उसमें भी विलावल ही चुना गया है । रागों में होने से पदों में श्रुति-मधुरता आ जाती है अन्यथा फीके पद भी सुनने पर प्रभाव पूर्ण प्रतीत होते हैं । पहली पंक्ति की टेक भी सौंदर्य को बढ़ाती है । बोह्रा, रोला और टेक का समिश्रण जो कि जनमुकुंद कृत ‘अमरगीत’ में अपने अम्यतम कलात्मक रूप में पहुँचा है और जिसे पहली बार स्वामी अग्रदास ने अपनाया था, सुरदास में मिलता है, किंतु शिथिल रूप में । मारु राग एक प्रकार से आल्हा का ही सत-भजनीय संस्करण है । मुद्दों के लिये प्रेरणा देने वाली उत्साह भावना सतों के द्वारा इस राग के प्रयोग से ईश्वरोन्मुखी कर दी गई ।

सुरदास ने महाभारत-रामायण की परंपरा को न अपनाकर भागवत और गीतगोविंद की परंपरा को अपनाया है । सुर सागर में उन्होंने कहा भी है—

^१ ना. प्र. सभा के सुरसागर-संस्करण, पृष्ठ ७०, अंश संख्या १३२ में पंक्ति है—

“तो जानो जो मोहि तारि हो, ‘सूर’ कूर कवि ठोठ ॥”

^२ वही पृष्ठ १७०, अंश संख्या ३२५

^३ वही पृष्ठ २७७, अंश संख्या ४३२

“ब्यास कहे सुकदेव सों, द्वावस कंष बनाइ ।

सूरदास सोई कहै, पद भाषा कर गाइ ॥”

किंतु सूरसागर, भागवत का अनुवाद मात्र नहीं है। उसमें मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं। अनुवाद जहाँ है वहाँ प्रायः कथा-प्रसंग अथवा राग-समाप्त होने पर कह दिया है—‘सुक ज्यो नृप को कहि समुदास सूरदास त्योही कहि गाथौ ।’ जहाँ स्वतंत्र उद्भावनाएँ हैं वहाँ ऐसा नहीं कहा। कथा शैली और मुक्त धर्म सूरसागर को पौराणिक ढंग का महाकाव्य और स्वतंत्र मुक्तक काव्य दोनों एक साथ बना देती है, पर उसमें तुलसी के ग्रंथों की-सी सुसबद्धता नहीं है, भावों का दुहराव है। घोर से घोर नग्न भुगार हैं। प्रच्छन्नहस्त और पुलकित गंभीर वात्सल्य तथा उल्लास पूर्ण सख्य, कोमल माधुर्य, ओजस्वी वीर, प्रतापी रौद्र, लिख शान, वर दास्य, विस्मित भीमत्स और चकित कर देनेवाला अद्भुत रस है। वस्त्र, भोजन और मिष्ठानत की सबी नोड़ी सूची तथा रहन-सहन और सामान्य विषयों के लगे-बीड़े व्योरे चाहे कितने ही जीवनोपयोगी क्यों न हों तनिक भी काव्योपयोगी नहीं है। कथा-क्रम को जोड़नेवाले गीरस स्थलों की ऋक को दसम स्कंध के विपुन-विस्तार से दूर किया है। इसी स्कंध में प्रेमा-भक्ति की उदार हरि-लीला कथा है, जिस के यथोपाय में मूर की अपनी प्रतिभा खूब खिली है। नवम स्कंध में गंगा-जन्म के पश्चात् त्रिवेणी पर गंगा का आशोक देखा भव्य विषय सूरदास की अपनी देन है। ये तीन पद गंगा-विष्णुपादोंकी की स्तुति में विभावित, भैरो और विलास में रचे हैं। जान पड़ता है सूर उस समय प्रयाग में थे और राम-कथा लिखने के लिये काशी, जहाँ कि गोस्वामी तुलसीदास जी थे, जा रहे थे। राम-कथा को सूर ने भागवत के अनुकूल ही, किंतु भावुकता के साथ लिखा है। परंतु सूर की प्रतिभा की त्रिवेणी सागर के दशम-स्कंध में है जिसमें हरिदास, हित हरिवंश और बल्लभ की भी अवधारण मिली हुई है।

“तत्रैव गंगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिंधु सरस्वती च ।

सर्वाणि तीर्थानि वसति तत्र यन्मायुतोदार कथा प्रसंग ॥”

सूर की प्रेम-भक्ति की कथा कृष्ण-जन्म तथा उनकी रम्य बाल-लीलाओं से श्रारम्भ होती है। ईश जन्म और वषाई आदि के बाद यदुवश का वह राजकुमार, गौको के बीच में प्यार से पलने लगता है। यशोदा की गोद भर उठती है। मातृ-हृदय का प्राणवान स्वरूप, सूर ने यशोदा में अकित किया है। माँ-पुत्र के मापस रस पर ऐसे सुंदर अनेकों पद रचे हैं, जिन्होंने साहित्य-शास्त्रियों को, अपत्य प्रेम को स्थाई रूप में स्वीकारने की प्रेरणा दी। यशोदा अपने लाल को कभी तो लोरी दे सुलाती हैं, उसकी एक-एक क्रिया देखती हैं और वह मुग धर्म हैं जो कि अमर-मुनियों को भी दुर्लभ है। कभी वह अपने पुत्र को आचर-तले डक कर दूध पिलाती हैं और कभी मुँह देख फूली नहीं समाती। मातृ-हृदय की इस अनन्य प्रानद-अनुभूति को ही समझ कर सूर ने कहा—‘धन्य धन एको पस धा सुख, का सत कलप जिएँ’। वास्तव में जिसने उस सौंदर्य को दर्शन पत्र भर कर लिए हैं उसका जीवन सफल हो गया। यशोदा फिर कभी अपने कृष्ण को झगलियों को बल चलना सिखाती हैं। लोरी दे यदि मुना, तो प्रभात के समय उन्हें कृष्ण-भन-भावनी चतुराई-भरी बातें कह-कह कर जगाती हैं। कृष्ण कभी गो-पान नाम से चिल्ला उठते हैं, चद्र के लिए कभी मचलते हैं, कभी दूध पीने से आनाकानी करते हैं, चोटी उठते हैं सातव पा दूध पीते ही चोटी टटोल कहने लगते हैं।

“भैया, कब बाईगी चोटी ?

कितो बार मोहि दूध पिपति भई, ये अजहूँ हैं छोटी !”

कृष्ण धीरे-धीरे कुछ बड़े होते हैं। खेलने बाहर जाते हैं तो लोग उन्हें चिटाने हैं, “कोरे नग, तग गौरी, तुम कित लोभ सरीर ?” तग था, पर था, यशोदामे पूछते हैं तो यशोदा का ममत्व-भग वन निम्न ! “मोहि गोधन की सो, हो माता तू पूत”। अहीरो के लिए गोधन से बचकर है ही क्या ? उगी गोतन की भी है ! विरवास उत्पन्न कराती है। इस विध्वंस, इस प्रेम से यह भी ध्वनित हो जाता है कि पारये पूत की भी है ! किस प्रकार अपना ही निजी सगा बनाया जा सकता है और यही प्रेम भाग्य चक्कर देदरी को ? यशोदा का जवाब है—“मैं तो कृष्ण की धाम भर रही, माता तुम ही हो, तब भी उसकी भावों को मैं भली तरह जान

हैं, नहाने से दूर भागता है, सी तरह के लालच दिलाकर काबू में आता है। उठते ही उसे माखन रोटी चाहिए—आदि।

कृष्ण कुछ और बड़े होते हैं और गाये चराने जाते हैं। बलराम उन्हें घने कुज में ले जाकर—‘काटि खाउ रे हाऊ,’ को सीप बेते हैं। ग्वाले उन्हें छित्री गायों को समेटने दीड़ते हैं, उनका कवल छिगा देते हैं। लौटने पर कृष्ण अपना कवल बँडने लगते हैं तो उन्हें तग किया जाता है—अरे उसे तो गाय खा गई, वह देखो यमुना में वही चली जा रही है—इत्यादि^१। कभी उन्हें अपनी गायें भलग कर लेने की घमकी देते हैं, पर वे भलग होते कब है! इसी तरह उनकी बाँसुरी बजती है, गोबुलि से कुचित केगो युक्त ग्वाले सँझ को घर की ओर लौटते हैं और सूरदास उनके सौंदर्य के गान में तल्लीन हो जाते हैं—“सोभा कहत कहे नहि आनै।” दृष्टि जहाँ-जहाँ जाती है, वही-वही लवलीन हो जाती है। इसी प्रकार न जाने कितने पद सूर ने कहे।

धीरे-धीरे कृष्ण किशोरावस्था में पहुँचते हैं। उनकी बाँसुरी की ध्वनि सुन, गोपियाँ घरबार छोड़, बिचीं चली आती हैं। अपनी सुघ-बुघ भूल जाती हैं—

“अंगलि की सुधि भूलि गई,

स्वामि-अधर मुहु सुनत मुरलिका, चकित नारि भाई।”

मुरली के प्रसंग में लोगो ने माया-जीव और ब्रह्म के बार्थनिक अर्थ भी जोड़े हैं। सूर भी इस भाव की अभिव्यक्ति कर उठते हैं, पर ये पद वैसे ही हो जाते हैं जैसे कि बाल-वर्णन में प्रलय-मयनी आदि वाले चित्र।

धीरे-धीरे ये कृष्ण और गोप-गोपिया बड़े हो जाते हैं। मुरली अपने जीवन के स्वर्ग सुनाने लगती है। एक ओर सौंदर्य, दूसरी ओर कपन, वचन का स्नेह प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। सयोग भृगुार के अनेक चित्र सूर ने इस अवस्था के अंकित किए हैं। गोपियाँ कृष्ण के रूप को देखकर रीझने लगती हैं। सदैव उस रूप का पान करना चाहती हैं, पर आखे तो दो ही हैं। विधाता को अपने वश में कर सकती तो यही माँगती रोम-रोम को आँखों में परिणित कर दो। कृष्ण की माधुरी ने उन्हें मोल लिया है। उनके नेत्रों को कृष्ण की सुख-शोभा को ही निहारते रहने की टेव पड़ गई है—

“अश्रियन यह ईं टेव परी।

कहा करो बारिज-मुख अपर लागति ज्यो भ्रमरी।”

सूरदास की ये गोपियाँ, ग्राम-बालाओं की तरह अत्यंत भोली हैं। उन्होंने छल-कपट नहीं सीखा, बात बनाना नहीं जाना, अपने हृदय की दशाओं को वे सीधे से कह देती हैं।

एक दिन ब्रज को ऐसी स्थिति में छोड़, कृष्ण मथुरा चले जाते हैं। सारा ब्रज उनके वियोग में पागल हो उठता है—

“ब्रज के विरही लोग दुखारे।

बिन गुपाल ठगे से ठाढे, अति दुरबल तन भारे।”

यशोदा बेचारी अपने प्रियपुत्र को खो बिकल हो जाती है। वह खीझकर नद में कहती है—नुगने दधारय की राह क्यों नहीं अपनाई? “छाँड़ि सनेह चल मथुरा कह दीरी न भीर गह्यो, फाटि न गई नच की छाती, कित यह सूख सझा।” यशोदा का नद को उलहना देना, यह मोचना कि जिस दुख ने उनकी छाती फटी जा रही है उसको यह ब्रजभूमि कैसे झेल रही है, यशोदा के मानु-हृदय के दर्शन कराने को बहून है।

^१ मंया, मेरी कामरि चोरि लई।

एक कहै कान्हा तेरी कामरि, सुरभी पाई लई।

एक कहै कान्हा तेरी कामरि, जमुना में जात बही।

‘सूरदास’ जमुना के आगे, नैनन-नदी धही॥

—राग-आनावरी

धीरे-धीरे उसकी यह झुंझलाहट दीनता का रूप ले लेती है और वह दीनता—“सदेसी देवकी सो कहियो” में फूट पड़ती है ।

बेचारी भोली-भाली गोपियाँ तो इस वियोग से पगला जाती हैं, उनका मन उनके हृदय में नहीं रहता । सब की भूमि, उस के वन-उपवन, वे ही परिचित मधुवन उन्हें काटने को दौड़ते हैं । वे उन्हें कोत्ते से सपनी हैं—“मधुवन तुम कित रहत हरे ? विरह-वियोग स्याम-मुदर के छावे कसो न जरे ?” पगीहा उन्हें प्रियतम की याद दिखाता है, उनकी पीडा को बढ़ाता है और वे झुंझला कर कहती हैं—“हैं तो मोहन के विरह बरीरे । तू कित जारत ? रे पापी तू पखि पपीहा ! ‘पिउ-पिउ-पिउ’ अघि रात पुकारत ।” कभी वह मनेक बन जाता है । आकाश में चिरे मेघ, कृष्ण की याद उन्हें दिलाते हैं—“भ्राजु घनस्यामि की अनुहारि, आए जं जं जं सजनी, लेहु रूप निहारि ।”

गोपियाँ इसी तरह जीवन काट रही थी । उदय का आना उनकी विरह्याग्नि में भी आस देता है । इतने दिन की वेदना बरस पड़ती है और वे अपना सारा क्रोध उदय पर ही निकाल बैठती हैं । और वो सवे-धित कर सारे व्यंग उसी पर कसे जाते हैं । वे भोली-भाली गोपिकाएँ, कृष्ण के ऐसा सखे मेने जे की बात पर विश्वास नहीं कर पाती । अभी कल-परसो तक तो राग-रग में वे मस्त थे, योग की गठरी कहीं से भव भोग ले दी । उनकी सरल वृद्धि यही समझती है । कृष्ण ने प्रवक्ष्य ही उदय को वेवक्ष्य बनाया है और इसी से वे पूछने लगती हैं—“साँच कही तुम को अपनी सी वृजति बात निदाने, ‘सूर’ स्याम अब तुम्हें पठाए, तब नैक भूषकाने ?”, किन्तु बेचारियों की रही-सही आशा भी खो जाती है तो उदय से वे कहती हैं—रूप व्रज की भोली बनितारें हैं । हमारे पास एक ही मन था वह तो कृष्ण के हाथो विक गया अब किस मन से निर्गुण को भर्षे ।—“ऊबो, मन नाही दस-बीस, एकहुतो सो गयो स्याम-सँग को धारावे ईस ।” भ्राजें तो हरि-व्रजन की श्रुती हैं । ये योग की बातें उनको नहीं रुचती । मन ठिकाने नहीं है, उसे तो कृष्ण से गये—“ऊबो, मन नाहि हाथ हमारे, रज-पडाए हरिसग गए ए, मथुरा जवै सिघारे ।” यह सब जानते हुए भी कृष्ण कैसा सदेसा भेज रहे हैं । उन्हें विश्वास नहीं होता और उदयसे वे कहती हैं—“ऊबो, जाह तुम्हें हम जाने, स्याम तुम्हें यहाँ गाहि पठाए, तुम्हा हो बीच भुगतो, ब्रजवासिन सो भोग कहत हो, दातहु कहत न जाने ।” भ्रत में वे निराश होकर कह उठती हैं—“ऊबो, अब नाहि स्याम हमारे ।” उनकी भ्राजें निशिदिन बरसती हो रही हैं । लोगों को कम से कम स्वप्न में तो कुछ मिल जाता है, परंतु इन बेचारियों को स्वप्न में भी सोच है । जैसे ही विश्राम दिया कि हरि ने उन्हें कठ लगाया है, वैसे ही नींद उचट गई । विधाता को काल्पनिक मिलन मे भी इप्प्यां मानो होती है । कालिदास के यक्ष की तरह वे भी सोचने लगती हैं । चकई अपने प्रतिविम को चक्का समझ कर कुछ पा रही थी । विधाता ने वैरिन निद्रा को उचटा दिया । पवन ने लहरो को कँपा दिया । प्रतिविम को भी मिटा दिया । उल्लेखा का इससे अधिक सामिक सुंदर प्रयोग और क्या हो सकता है । उदय के विदा होते समय वे कहती हैं—“ऊबो, इतनी कहियो जाह, अति कस गाव गई ए तुम विन परम दुलारी गाह ।” खलि हुई-गायो की यह दशा है तो हमारी क्या दशा होगी । इद्विर्वा इतनी विकल है तो मन पर क्या बात रही होगी । पक्षु होकर भी स्नेह को ये समझती है और प्रेमी ईश्वर पुरुष होकर भी प्रकृति को इस विकलता को, हमारी इस वेवला को तुम बिसारे हुए हो । ऐसा सदेसा भेज रहे हो ।

गोपियों का व्यक्तित्व सामूहिक है, किन्तु उन में से सूर ने एक राधा को अलग अलग किया है । वचनपन से ही कृष्ण की वह अधिक प्रिय रही है । खेल में भी और जीवन में भी, सभी से वह ऊँची है । इन की वार उसीके मुखपर पड़ी है, ‘तुम्हारा क्या चोर लेवे’—सुनने का सीमाय उसी को प्राप्त हुआ । राधा का संयम-पूर्ण कलात्मक विषय-विषय सूरदास की वह अपूर्व देन हिंदी साहित्य को है जो उन्हें कालिदास की कोटि का विषय कलाकार कवि बनाकर बल्लभ-संप्रदाय के महत्वाकांक्षी गर्व राहु को छुसी चुनौती दे रहा है । सूरदास बल्लभ-संप्रदाय के ही नहीं राधावल्लभीय संप्रदाय के भी हैं, छिट हरिदास और हरिदास स्वामी का भी उन पर गहरा-अभास पड़ा है । रास के एक पद में सूरदास ने वहाँ रहने की चाह भी प्रकट की है जहाँ कि हिन-
| हरिदासी और हरिदासी भोग रहते हैं । यथा—

“निस दिन स्याम सेअँ मैं तोहिं, इहँ कृपा करि दीजँ मोहिं ।

नब निकुंज सुख पुंज मैं, हरिवंसी-हरिदासी जहाँ, हरि करि कृपा राखु तहाँ ॥”

भ्रमरगीत के सारे प्रमग मे सूर ने राधा को चित्रपट के पीछे कर दिया है, उसकी व्याख्या अकथनीय है, शब्दों में सामर्थ्य नहीं जो उसे व्यक्त कर सके । सूरदास यदि अपनी वाणी को मूक पाते हैं तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गान में । गोपियाँ व्यग भी कर लेती हैं, हँसी भी उडा लेती हैं, रो भी लेती हैं, पर राधा मौन है । इस मौन से ही सूरदास ने राधा की शाश्वत कलात्मक दिव्य मूर्ति अकित की है । बाल-लीला के पदों में विनय है, सजीवता है, स्वाभाविक प्रमत्तता है, पर कलात्मक सयम की वह निपुणता जो कि एक बार रघुबन्ध के कालिदास में देखी गई थी और जिस की कुछ किरणें बिद्यापति के पदों में खिली हैं, सूरदास की राधा में एक बार फिर सौंदर्य के शृंगो पर पहुँच जाती है । राधा की जो दिव्य मूर्ति सूरदास ने हमें दी है, अकेली वह ही उन्हें विवध के महान् से महान् कलाकार कवि के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है ।

“लरिकाईँ की प्रेम कैसेँ अलि भूलि है १”—

यदि सत्य है तो इस वट-बीज से जो विनाल वृक्ष राधा के प्रेम का सूरदास ने अपने सागर में विकसित किया है, उसीके पत्रों पर बाल गोविंद खेलते हैं, अपने पाँव का भ्रंगुटा मुँह में डाले रहने के कारण कभी बूढ़े नहीं होते । उसी वट-वृक्ष की घनी छाया में गोप-गोपिकाएँ, गाएँ तथा व्रज के प्राणी कृष्ण की शाश्वत सुरीली बिकल मुरली, शरद ज्योत्स्ना में थिरकती कालिंदी के तीर सुनते हैं । सयोग और वियोग मे सौंदर्य का ज्योत्स्ना-सिन्धु, सूरदास ने लहराया है । उसीमें रस-रूपिणी राधा की मौन वेदना है । राधा मौन है, पर सूरदास ने उसकी वेदना को व्यजना का मुख दिया है । गोपियाँ कहती हैं,—“विनु माघो, राधा-सन सजनी, सब विपरीत भई ॥” मथुरा से कृष्ण अपना सदेशा यशोदा तथा नद के लिये भेजते हैं—“जादिन ते हम तुम ते बिछूँ रे कोऊ न कह्यो कह्यो, कहियो जाइ नद बबा सो बहूत निदुर मन कीन्हो, सूरदास पहुँचाइ मधुपुरी बहुरि न सोघी लीन्हो ॥” उडव भी मथुरा लौटने पर कहते हैं—“गोकुल की सुरति छाँड़ि कँ कहाँ वसे हो आइ ॥” कृष्ण एक आह भर छोड़ते हैं—“ऊबी, मोहिं व्रज विसरत नाही ॥” कचन की नगरी द्वारिका में पहुँच कर भी वे व्रज को नहीं भूल पाते, ‘रह-रह कर रसिमणी से कहते हैं बजो उस व्रजभूमि को चलें, जहाँ हस-सुता के तीर सुंदर सरल जीवन है, जहाँ हमारी वचपन की एक सबी रहती है । इस सबी (राधा) के दर्शन कुक्षेत्र मे पर्व के दिन कृष्ण ने रसिमणी को भी करवाये और सूरदास ने इस अवसर पर इतना ही कहा—“बोनो ऐसे ही मिली जैसे कि बहुत समय से बिछुड़ी हुई एक बाप की दो बेटीयाँ मिलती हैं ॥” सूर का सागर, तलैया भर रह जाता, यदि उसमे राधा-गोविंद की यह गभीर प्रेम-भावना और उससे सवधित ग्रथिव्यक्ति-नैपुण्य न होता ।

भावनाओं की सुंदरता को देखने में सूर की दृष्टि जितनी पेनी है उतनी ही तीव्र वह उन्हें कलात्मक ढंग से व्यक्त करने में भी है । सूर की अनुभूति जन्य भाव-प्रवण-कल्पना, उनके सघे हुए सगीत स्वरो और मधुर कोमलकांत-जीलाओं से मिल कर एक हो गई है । क्षण भर मे वह यशोदा की दृष्टि बन जाती है, क्षण

१ लरिकाईँ की प्रेम कहीं अलि, कैसेँ छूटत ।

कहा कहीं अजनाय-वरित, अंतरगत लूटत ॥

वह चितवन, बौं बाल मनोहर, बौं मुसकान, भद-धुनि गावन ।

नटवर-भेष नंद-नंदन कौं, वह बिनोद, बौं बन ते आवन ॥

चरन-कौमल की सोह करति हों, पै संवेस मोहिं बिष लागत ।

‘सूरदास’ पल मोहिं न बिसरत, मोहम-मूरत सोबत-जागत ॥

—राग-धनाश्री

आ दिन तें बिछूरे नैद-मदन ता दिन ते यह पोच", "मनो गुपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही, कहा करो बैरिन भई निदिया, निमिष न और रही", ज्यो "चकई प्रतिबिंब देखि के आनंदी पिय जानि, सूर पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि"—आदि-आदि भाव प्रवण कल्पना के रस सिद्ध अलंकारों के चित्रोच्चली सौंदर्योत्तेजक एक से एक सुंदर उदाहरण सूरदास की पदावली में भरे पड़े हैं।

उपरोक्त उदाहरणों में से अंतिम तीन की ओर ध्यान दीजिए। पहिले चित्र में वन से लौटते समय कृष्ण के शोभन रूप का वर्णन है। केशों का वर्णन करते समय सूर की कल्पना, भीरो में साम्य देखती है। यदि पहिली ही पंक्ति रही होती तो बालों का उतना सुंदर चित्र नहीं खिंच पाता जितना कि उपयुक्त और सुंदर साम्य के आ जाने से हो गया है। बाल कुछ घुँघराले हैं, सघन भी हैं और बूल से भरे हुए हैं, मानो, कमल के पराग से रजित भीरे हो। भीरो का लाना, घुँघरालेपन का भाव तो वे ही बताते हैं, किन्तु पराग और बूल का साम्य भी सामने आ जाता है। साथ ही वन से घर आती हुई दौड़ती गायँ, दूबते सूर्य की रश्मियों से रजित अरुण सुनहरी धूल का कोमल सुंदर चित्र दिखलाई देने लगता है और सौम्य-आत प्रभाव का अनुभव होने लगता है।

दूसरे चित्र में, कृष्ण को सोया देख खाल-खाल वापिस लौट जाते हैं, यह ऐसा ही है जैसा कि कमल के न दिखने पर मधुकरी का आ-आ कर लौट जाना। समय प्रभात का है, पक्ष-सौंदर्य से आकर्षित हो-हो भीरे कमल की ओर जैसे जाते हैं, खाल-सखा अपने प्रिय कृष्ण की ओर वैसे ही आ रहे हैं। वापिस लौटने में निराणा का और बार-बार जाने में आशा, आत्सुक्य, उत्कठा तथा स्नेह गाम्भीर्य का साम्य है।

तीसरे चित्र में भाभिक वेदना के साथ सौंदर्य-प्रभाव का साम्य व्यंजना सहित है। स्वप्न के के टूटने पर गोपी की बही हालत हो रही है जो कि चकई की तब होती है जब कि वह अपने ही प्रतिबिंब की जल में देख उसे प्रिय चकवा समझा खुश होने लगती है, पर उसी समय निठुर बिधाता पवन को भेज कर जल को हिला देता है, उसका भ्रम-सुख मिट्टी हो जाता है^१ और इस अवस्था को देखने वाले पाठक के मुख से सहसा निकल पड़ता है—“कूरस्तस्मिन्मपि न सहते संगमं नौ कुतस्तः” और उसे धिब प्राप्ति की कामना करने वाली सती की तीसरे पहर रात की—“असत्यकंठापित बाहु बंधना” की वधा याद आ जाती है। इस कोमल कठोर वेदना-चित्र में व्यंजना है, जिस की स्वप्न में यह वधा है उसकी जाग्रत अवस्था में क्या वधा होगी? स्वप्न का वर्णन दो-एक पंक्तियों में ही करके जाग्रत की सारी कल्पना, कवि ने पाठक पर छोड़ दी है। थोड़े से थोड़े शब्दों में उल्लेख के द्वारा जो कुछ समझ है कवि ने कह दिया है, जिनका कहा है उसने अधिक ध्वनित किया है। इसी में कला की निपुणता है। इसी भाँति की व्यंजना—“ऊँची इतनी कहियो जाइ” तथा—

८

“बद ए बदरा हूँ बरबँल आए।

अपनी अवध जान नैवन्दन, गरजि गगन घँन छाए ॥

कहियत है सुर लोक वसत सखि, सेवक सदा पराए।

चातक पिक की पीर जानि कौं, तेउ तहाँ ते घाए ॥

^१ हम को, सपने-हूँ में सोच ।

जा दिन ने बिछूरे नैवन्दन, ता दिन ते यह पोच ॥

जनु गुपाल आए मेरे घर, हँसि-करि भुजा गही ।

कहा कहीं बैरिन भई निदिया, निमिष न और रही ॥

ज्यो चकई प्रतिबिंब देखि कौं, आनंदी पिय-जानि ।

‘सूर’ पवन-मिसि निठुर बिधाता, चपल कियो जल आनि ॥

—राग-मनार

हुम किए हरित, हरखि बेलों मिली, बाबुर भूतक-जिबाए ।
 साजत निविड मोड़ तुन सजि-सजि, पछिन हूँ मन-भाए ॥
 समझति नाहिं चूक सखि अपनी, बौहते हरि दिन लाए ।
 'सूरदास' भ्रभु रसिक-सिरोमनि, मधुवन-वसि बिसराए ॥

—राग-मलार

—आदि पदों में सूर की भाव-प्रवण कल्पना अत्यंत सजीव हो गई है ।

श्रीमद्भागवत की प्रेम-मयस्विनी, गीतगोविंद की कोमलकांत सरस्वती तथा विद्यापति की सरस पदावली और मीरा की संगीत मदाकिनी के प्रसवित होने के समय से लेकर आज तक न जाने कितने कवियों ने गोविंद-गुणगान किया, न जाने कितने प्रेमी सत्तो, भक्तों और संगीतज्ञों ने इयाम् भूति को गगनो में धारण किया पर उन सूर के सवे संगीत के स्वरों की कुछ बात ही निराली है, जिनके हृदय से वह गगन भूति छिन भर भी डगर-डगर नहीं गई—

“चलत, चितवत, बिबस, जागत, सुपन सोवत रात ।

हूबै तें वह स्याम-मूरति, छिन न इत उत जात ॥”

सूर ने अपना अस्तित्व ही हरि-गुणगान में लीन कर दिया था । “सोई रसना जो हरि गुण गावै” के किन्वाही इस दिव्य कवि के लिए ‘सौ’ वातन की एक बात’ यही थी कि “हरि हरि हरि सुमिरौ दिन-रात”, इतीसिए वे अपने पदों में बार-बार गाते रहे हैं—“हरि-हरि-हरि-हरि सुमिरन करौ, हरि-नरनारायण उर धरौ” । हरि-राधिका को चरण-कमलों की बदला कर वे अपने हृदय के अनिर्वचनीय इद्रियातीत अविगत एक रस आनंद को रूप और वाणी देने के लिए सगुण-लीला के पदों में लीन हो जाते हैं—

“रूप-रेख-गुन जाति जुगति बिलु, निरालंब मन चहुत धावै ।

सब विधि अगम विचारहि तातें, 'सूर' सगुन लीला पढ़ गावै ॥”

उनकी सगुण लीला के पदों के केंद्र में दिव्य ज्ञान-स्वरूप वह भुवन मोहक वातक है जिसका बास योगी और सत्तो की शब्दावली में उध गगन शिखर में है जहाँ कोई जस्ती नहीं तथा—

चद्र-बिहीन चाँदनी जहाँ सदैव खिलती है ।

वैष्णवों ने शेषशायी, बट-वृक्ष-वासी, शास्वत पुराण पुरुष बालक उसे कहा है और उसकी प्राप्ति के लिए विनय की सात भूमिकाओं—(१) दीनता, (२) मानमर्षता, (३) भय दर्शन, (४) भर्त्सना, (५) भाष्य-सन, (६) मनोराज्य, (७) विचारण और ‘रहनि’ के छ नियमों—(१) अनुकूल सकल्प, (२) प्रतिकूल वर्जन, (३) रक्षित-विश्वास, (४) गोप्तत्व वर्णन, (५) आत्म निक्षेप, (६) कार्यन्ध, तथा ‘भक्ति’ के छ रसों—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) माधुर्य, (४) शृंगार, (५) वात्सल्य, (६) और वात का विधान किया है । सूर ने सत्य के लिए उद्वेग, सुंदर के लिए राधा-गोविंद-गोपी और शिव के लिए भावे-निलक चद्र तथा गले में शेष नाग लपटाने वाले बाल गोगी को प्रतीक बनाया है । बालक में ब्रह्म और ब्रह्म में बालक का तथा विघट विश्व में के, हरि जू की भारती बनाने का काम सूरदास ने वृष की चाँदनी ने किया है । सूर ने ब्रह्मिंशुंरी की साहित्याकाश में तुलसी का उदय हुआ ।

“मन समुद्र औ सूर कौ, सीप भए चख लाग ।

हरि-मुक्ताहल परत ही, भूँदि गए ततकाल ॥”

ब्रज साहित्य के शृंगार रस की मीमांसा

श्री गुरुप्रसाद टंडन

साहित्य की आत्मा रस है। रस-शून्य भाव साहित्य की कोटि में नहीं आ सकता। रस में भी विशेष रस को ही महत्व दिया गया है। जो रस विशेष प्रभावशाली और मनमोहक होना है, उसे ही रसिक उत्तम ठहराने हैं। जिस प्रकार ईश्वर में मंगल की विविध वस्तुओं को शृंगार ने विभूषित कर रखा है, उसी प्रकार साहित्य के लिए 'शृंगार रस' की उपयोगिता आवश्यक मानी गई है। जगन का यह स्वन निष्ठ नियम है कि शृंगार-रस वस्तु ही अधिक मान्य होनी है। यद्यपि यज्ञ, ज्ञानी, योगी, महात्मा-आदि विभिन्न मार्गावलम्बी शृंगार रस देख सम्मानित हैं, तब भी किसी न किसी रूप में वे शृंगार के उपासक हैं। जब वे अपने इसी देव का वर्णन करने लगे तो अवश्य ही शृंगार-रस गुदर मूर्ति के रूप में उनका स्वन होगा। अतएव शृंगार रस जो जगन के सा-प्रणु में रस रहा है और जिसके प्रेम ने सभी बंधे हैं, साहित्य में उसका उत्तम स्थान होना अभिन्न मध्य है। जैसा कि कवि तो उसे परम-परम अपनाते ही हैं, किन्तु साधारण बोधवान् में भी जोग उनकी मरणा स्वीकार करने हैं। साधारण व्याख्यान-ज्ञान भी प्रायः आपा-धर्मी ऐसे मुदर रूप में धनद्वन्द्व करने हैं कि जिसमें श्रोताओं में विशेष आनन्द का मन्त्र हो और जनता भी उनकी ओर आकर्षित हो जाय। जैसा कि शृंगार रस ही भावुकता में नन्मय होकर पीयूष वर्षा-धारा से नन्मयी या अनिपेक्ष करने है। साहित्याचार्यों ने शृंगार रस को प्रधान रस स्वीकार लिया माना है कि बिना रस में प्रेम जिस कोई लेखक या कवि, यथार्थ में उन पद्यों के उपयुक्त नहीं ठहरता। बिना रस के उनकी रचना रचना ही नहीं बहती जा सकती।

मानव शृंगार, देव शृंगार या प्राकृतिक शृंगार में से किसी न किसी शृंगार को कविगण अवश्य ही अपनाते हैं। यह बात ठीक है कि वे अपने पात्रों में प्रधानता एक रस को दे अपना दूसरे को। यह कवियों की नैसर्गिक रुचि, जन-समाज-वर्ग तथा देश-स्थिति के कारण निर्भर है। यदि सृष्टि में आज तक के लिये कवि हुए हैं और यदि वे कवि कहलाने योग्य हैं तो उनके हृदय में शृंगार रस के प्रति अत्यंत प्रेम-भाव रहा है और रहेगा। जिस प्रकार मिठाई का प्राकृतिक गुण मिठाई है, प्रकृति का गुण रम्यता है, अथवा शिशु का गुण कोमलता है, उसी प्रकार कवि का जन्म में ही नैसर्गिक गुण कवितागन शृंगार है। पुण्य प्रभात, मरल मध्याह्न निमग्न निश्वस-आदि प्राकृतिक शृंगार की मामुश्रियों को देख कवि के हृदय में मधुर भावकता छलका करती है। आराम सृष्टि मात्र में शृंगार रस का माझग्य है।

भक्ति और शृंगार

साहित्यिक नियमानुसार समार की सभी आपाओं पर शृंगार रस का आधिपत्य है। ब्रजभाषा में इस रस की अधिक विशेषता है। ब्रजभाषा की उत्पत्ति का एक प्रधान कारण यही रस है। इस रस का आधिपत्य ब्रजभाषा पर प्राकृतिक काल में ही है। शृंगार, माधुर्य और भक्ति का घनिष्ठ संयोग है। भक्ति ही के प्रभाव से ब्रजभाषा और श्रीकृष्ण का अत्यंत घनिष्ठ संबंध बंध हो चुका है। ब्रज-साहित्य श्रीकृष्णात्मक है। ब्रह्मा ने गोपी, शाल और श्रीकृष्ण के प्राकट्य के साथ ही ब्रज की प्रकृति को भी मनोहरता की चरम सीमा तक अलंकृत किया था जिसका अवशिष्ट अंग आज भी 'निधिवन', 'मेवाकुण्ड' आदि कतिपय स्थानों में उस दिव्य दृश्य को प्रदर्शित करता है। ब्रजभाषा ने उत्पत्ति काल से ही इसी भक्ति के विस्तृत क्षेत्र में पदार्पण किया है। आगत्य के कवियों की प्रकृति आदि काल में देव-भाव-संयुक्त रही है। देव-भाव पर ही संस्कृति

और प्राकृतिक साहित्य भरा है। इस प्रकार सभी मनोवाञ्छित साधन उपस्थित रहने से ब्रजभाषा ने श्रान्त कवियों की परिपाटी को विशेष उत्तेजन दिया। वैसे तो ईश्वरीय भाव मात्र कविता के उत्कर्ष का पन्था साधन है, किंतु श्रीकृष्ण विषयक ईश्वरीय भाव अन्य ईश्वरीय भावों की अपेक्षा अधिक विविष्टता रखता है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि श्री राम-आदि अन्य अवतार उससे कम महत्त्वशाली थे, किंतु भाव यह है कि श्रीकृष्ण-वतार में भगवान ने भक्ति का सुललित स्रोत बढ़ा और गीता का उपदेश दे मानव समाज के कर्तव्यों तथा सुख प्राप्ति के उपायों का जो निदर्शन किया है वह अन्य अवतारों में अलभ्य है। यह विषय भक्षत है। महाभाषा व्यास जी ने ठीक ही कहा है—

“भरतखंड को सुकवि भङ्गलो, बरनत हू न अघात।”

इधर भारतेन्दु जी भी स्वर मिला रहे हैं—

“जदपि कह्यौ बहू बिधि कविन, बरनि अनेक प्रकार।

तदपि सर्वां नित-नित नवल, कृष्ण-चरित्र उबार।।”

भक्ति का शृंगार के साथ नित्य संचय है। जब हम किसी शृंगार सुसज्जित सुंदर पद को देखते हैं तो उसके प्रति स्वभावतः मन आकर्षित हो जाता है। सुंदर शृंगार से विभूषित प्रकृति हृदय में रस विशेष उपजाती है। भगवद्भक्ति-प्रचार के निमित्त विस्तृत शृंगार-पूर्ण वर्णन कई अर्थों में विशेष लाभदायी होते हैं। श्रीकृष्ण के दिव्य रहस्य का आश्रय पाकर ब्रजभाषा में शृंगार रस की विशेष प्रसिद्धि हुई है। श्रीकृष्ण के रहस्यों का अद्भुत और विचारपूर्वक चिन्तो ने मनन किया है वे ही विज्ञान-ब्रज-साहित्य का पूर्णतः रसास्वादन कर सकते हैं।

ब्रजभाषा के कवि समुदाय ने दो दृष्टियों से शृंगार रस को ग्रहण किया है। पहिली तो यह है कि उन्हें भगवान् की ललित लीलाओं का वर्णन शृंगारमय करना ही पड़ता था। भगवद्भक्ति के निमित्त शृंगार-पूर्ण वर्णन अत्यंत मनोहर होते थे। विरक्त होकर भी शुकदेव, समर्थ रामदास, जानदेव, चैतन्य देव, स्वामी हरिदास-आदि महात्माओं ने भगवद्शृंगार का बड़ा ही अलौकिक और हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। दूसरी बात यह है कि कवियों ने शृंगार रस को एक केंद्र मानकर अपनी काव्य-कला प्रदर्शित की है।

ब्रजभाषा के कुछ कवियों ने नायक-नायिका भेदोपभेद तथा उनके नख-खिल-आदि का विषय वर्णन गोपिकाओं और श्रीकृष्ण के मवष पर घटा डाला है। कुछ कवियों ने स्वतंत्र रूप से भी नायक-नायिका भेद-रूपादि शृंगारपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। नायक-नायिका भेद अथवा नख-खिल वर्णन में शृंगार की प्रचुरता होनी अनिवार्य है। अवस्थानुसार शृंगार को संकुचित रूप भी दिया जा सकता है, किंतु भगवत्प्रभ का वर्णन में कविगण अश्लीलता के गंदे गड्डे की तरह तब तक इस तरह डूब जाते हैं कि उन्हें दीन और दुनिया का कुछ विचार भी नहीं रहता। यद्यपि उस सांसारिक विषय-लित शृंगारी साहित्य में मानव मनान के धृष्टि व्यवहारों की दुर्गंध आती है और उसके लिये हम कवियों को दोषी भी ठहरा सकते हैं, तथापि उसमें बड़े-बड़े चमत्कारपूर्ण वर्णन देखने में आते हैं। उस रस में मस्त होकर कवि को अनूठी-अनूठी वन्य-नाएँ सुसती हैं, उन्हीं कल्पनाओं-द्वारा वह अपना काव्य-पीयूष बरसाता है।

हमारे आचार्यों ने शृंगार को सर्व श्रेष्ठ रस मान रखा था। इसी में उसकी ओर सहस्रों कवि-आँस बह किए फिसलते ही चले गए। फलतः ब्रजभाषा में दो तिहाई भाग शृंगारी साहित्य है और शेष भाग में अन्य रस विभक्त हैं। शृंगारी साहित्य दो प्रकार का है। एक में तो बड़े-बड़े विद्वान् महात्म्यों ने उच्चकोटि का भगवद्शृंगार वर्णन किया है और दूसरे में नायक-नायिका भेद-प्रधान मानव शृंगार का वर्णन ससारी कवियों ने किया है। यह कहने में हमें कोई मकोच नहीं कि ब्रजभाषा में द्वितीय तथा तृतीय दोनों ही प्रकार का प्रचुर शृंगारी साहित्य है।

दिव्य शृंगार

दिव्य शृंगार ‘शृंगार’ के किसी भेद का नाम नहीं है, किंतु वह शृंगार रस की उन उच्चतम का द्योतक है जहाँ न्याय का अभाव और नम्रयता की परमावस्था रहती है। दिव्य शृंगार में मानव —

भगवद्भक्त-मनसि साहित्य में है जो भगवद्भक्तों की गोप्य रसों में युक्त हो। श्रीकृष्णचंद्र भक्ति और प्रेम के नायक हैं। प्रेम के रूप में उनका रूप जानना प्रेमियों के 'प्रसन्न', 'अव्यक्त' ब्रह्म का-या नहीं है, यहाँ तो उनका वह स्वरूप है। 'पद्मेक शाल्या उनकी अनुमति है।' भक्तों के मन में ब्रह्म-बुद्धि का यह सबब निम्न है। शेष है। गोपियों का भीरुता के प्रति उनकी प्रकृति प्रेम है। श्रीकृष्णचंद्र में मोदक, प्रेम, ज्ञान, रसा और सेवा का सत्त्व विद्यमान है। उनके मोदक और प्रेम के दर्शन वृंदावन में, ज्ञान के मयूर और बुद्धि में तथा सेवा और दया के ज्ञान में होते हैं। शृंगार रस के यही कृष्णचंद्र देवता हैं। प्रेमियों का मत है कि वृंदावन जाने वाले में ही भगवत्ता का सत्त्व अतिवृत्ति मगाने हुआ है। शृंगार रस की कविता में कृष्ण के नायक और शक्ति के भाग्य के होने का ही रहस्य है। श्रीकृष्ण या अन्य अवतारी महापुरुष सबकी जितना साहित्य व्रजभाषा में है वह सभी उच्च होना ही है। शृंगार रस है, उसमें काव्यकला का पर्याप्त प्रदर्शन है। यद्यपि वृंदावन की नायिका का वैशालिक डान दिख शृंगारी साहित्य की भी अस्मिता की नाय में नहीं, किन्तु यहाँ में उसे हम अस्मितापूर्ण कदापि नहीं कह सकते। जिनके हृदय में भाव विभोक्ता, तन्मयता और तनक है वही दिव्य रस का सन्मय का सत्त्व है, जानी, ध्यानी नहीं। तभी तो वक्ता हस-मस रहते हैं—

“कोऊ बहू भूलि जिन कहियो, नेमी सो यह धानी।

भंगे भिद तासु उर अंतर, ज्यो पावर में पानी॥”

जो भगवद्भक्त शृंगार में अस्मिता का आरोप करते हैं उनमें हम यह पूछते हैं कि एक पाँच वर्ष के तन मनने हुए मध्य शालक की देवता उनका हृदय बाल्य या प्रेम रस में क्यों परिपूर्ण हो जाना है? और एक नवयुवकी को देखते ही वह क्यों विषय-तरंगों में डूबने लगता है? उन प्रश्नों का उत्तर प्राकृत और अप्राकृत शृंगार का भेद बता देना। शालक की की महज स्वभाव परमहंसवस्था में ईश्वरीय बुद्धि की शलक धानी है, जिनके प्रभाव में हम उनके शुद्ध स्नेह में प्लावित हो अपने को भूल जाते हैं। भगवद्भक्त का यही महज मुद्रा रूप है। जिन भगवद्भक्तों ने अपने उत्कृष्ट प्रेमावेश में श्री राधा-कृष्ण का नख-गिख या गोपिकाओं का बिह्व वर्णन किया है, उसे हम किसी प्रकार अस्मितापूर्ण नहीं कह सकते। वृंदावन के कृष्ण का जीवन गोप-जीवन ही मनोमय प्रतिकृति है। विद्वानों का मत है कि यह जीवन नितांत मरल, निर्दोष और कुटिलता मुक्त है। ऐसे जीवन का वर्णन करने में प्रेम भक्ति की रमणीयता ही प्रकट होती। मृदाय, स्वामी हरिदास, स्वामी हित हन्विष प्रगति विरल महात्माओं ने भगवद्भक्तों का बड़ा अवैकिक वर्णन किया है। म्यान-भान पर श्री राधिका जी के अग्र-प्रत्यक्ष का भी वर्णन आ गया है। तो क्या इन चिक्क महात्माओं ने उस वर्णन का विषय वाचना की दृष्टि ने प्रत्यक्ष अनुभव किया था? कदापि नहीं। वे महात्मागण अपनी उत्कृष्ट भक्ति ध्वनि हुए श्रीकृष्ण के प्रेम में ऐसे निमग्न हो जाते थे कि उनके सामने मूर्तिमान विशुद्ध शृंगार नाचने लगता था। उन्होंने अपनी भक्ति के प्रभाव से भगवद् सीलाओं का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, वे उन भूत उद्गारों को जलित काव्य के रूप में प्रकट करते थे। भक्त कवियों के शृंगार वर्णन में लाक्षणिका का भी उचित समावेश है। 'जन्म कर्म व मे दिव्य' के अनुसार कृष्ण के कुछ विनायक रूप अनीकिक माने जा सकते हैं, परंतु इस मर्यादा की आवश्यकता नहीं। भक्त कवियों की यह प्रतिपत्ति सगहनीय है कि उन्होंने काव्य को रसात्मकता से वंचित नहीं होने दिया।

कहते हैं कि 'अह्लात्मैय' में ही तन्मयता की पूर्ण अनुभूति होती है, पर जिस स्पष्ट रूप में प्रेमियों के हृदयों में हम तन्मयता की दशा देखते हैं उस रूप में अह्लात्मैय-वाचियों को कदाचित् ही कभी वह अनुभव में आती हो। वे कहते हैं 'मोहमस्ति' (वह मैं हूँ), अथवा 'तत्त्वमसि' (वह तू है)। यहाँ 'स' और 'अह' अथवा 'तत्' और 'त्वम्' इन शब्दों का कुछ न कुछ स्मरण रहता ही है, पर भक्तों को तो 'वह' मुझमें है या 'मैं' उसमें हूँ, वह 'मैं' है या मैं 'वह' हूँ इसका विचार ही नहीं रहता। हरिदास-इत्यादि भक्तजनों की तन्मयता ऐसी थी—

“कान्हू भए प्राण-मय, प्राण भए कान्हू-मय, हिय में न जान परै कान्हू है कि प्राँन है ।”

—भारतेंदु हरिश्चन्द्र

तन्मयता की इस मस्ती पर जिगर का एक शेर याद था रखा है—

“कुछ खटकता तो है, पहलू में मेरे रह-रह कर ।

अब खुदा जाने तेरी याद है, या दिल मेरा ॥”

यह नहीं, इन भक्तों की प्रीति एक रस और अनन्य थी । जिस ठाकुर को वे अनन्यता के नाम उपासना करते थे उसके स्वरूप वर्णन में, सासारिक दृष्टि से वे मर्यादा पालन करता उचित न मन्ते थे । उनकी शृंगार-पूरित रचनाओं में हृदय के मनोवेगों की झलक है, काव्य-रचना के उद्देश्य से प्रीति हो उनकी रचना हुई थी, प्रत्युत भक्ति-प्रदर्शन ही उनका अभीष्ट था । इस अनन्यता की नुकवि ठाकुर ने बड़ी सुंदर व्याख्या की है—

“कौनन दूसरी नाम तुनें नहि, एक ही रंग-रंग्यो यह भोरी ।

धोखेंहुँ दूसरी नाम कहे, रसना मुख-बाँधि हलाहल-भोरी ॥

‘ठाकुर’ चित्त की वृत्ति इही, हम कैसेहुँ टेक तजै नहि भोरी ।

बाबरी बे ओखियाँ जरि जाउ, जो साँबरी-छाँड़ि निहारतों गोरी ॥”

कितनी चोज-भरी गर्वीली उक्ति है, पर सूरदास जी ‘निहारने’—इत्यादि की कष्ट-कल्पना में नहीं पड़े । उनका घर तो पहिले ही से भरा हुआ है, फिर भला वे दूसरे की खोज क्यों करें—

“माहिन रही मन में ठौर ।

नद-नंदन अछत कैसे, आनिऐं उर और ॥

चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत रात ।

हुदे ते वी स्थान भूरति, छिन न इत-उल जात ॥”^१

अस्तु, तन्मयता और अनन्यता के उपर्युक्त रूपों को समझ लेने पर सूरदास, हितहरिवंश अथवा हरिदास के शृंगारी पदों की दिव्यता का सहज अनुमान हो सकता है । उनमें किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं है । उक्त अप्राकृत शृंगार से प्रेम और भक्ति की वृद्धि होती है । श्री राधा-कृष्ण प्रवृत्ति और पुरुष के अवतार थे । गोपिकाएँ कोई मायाजन्य विकारों से युक्त ससारी नायिकाएँ नहीं थी, प्रत्युत वे प्रेम के उच्चादर्श और भक्ति की उच्चावस्था को प्राप्त दैव मूर्तियाँ थी । श्रीमद्भागवत में तो इन्हें वेद की श्रृंखलाएँ कहा है । भारतेंदु जी ने “श्री चंद्रावली नाटिका” में नारद जी के मुख से इन महाभाग गोपिकाओं के विषय में क्या ही अनूठा पद कहलाया है—

“गोपिन की सरि कोऊ नहीं ।

जिन तून-सम कुल-साल-निगड सब, तोरी हरि-रस माहीं ॥

जिन निज घस कीन्हें नंद-नदन, बिरही दै गल बाँहीं ।

सब संतन के सीस रहौ इन चरन-छत्र की छाँहीं ॥”

गोपियों के चरण सत्ता के छत्र हैं—यह भक्ति का गूढ रहस्य है, आनंदों के रंगों की नहीं । गोपियाँ, निस्संदेह प्रेम की शुद्ध मूर्तियाँ थी । श्री कृष्णार्पण माहित्य ने वे निष्प्र मन्त थी न सकती और न ऐसे साहित्य को हम अदलील ही कह सकते हैं । जमी भगवद्शृंगार पर मोहि तो निम्न ही महात्माओं ने परमहमावस्था प्राप्त की है । अतएव उक्त दिव्य शृंगार को हम साहित्य में सर्वोत्कृष्ट

^१ कहत क्या अनेक ऊषी, लोय लोभ दिलाइ ।

कहा करौ भन प्रेम-भूरन, घट न लिधु ममाइ ॥

स्थान गात, सरोज आनन, ललित मृदुभय-हास ।

‘सूर’ इनके दरस कारन भगत लोचन प्याम ॥

पर सुशोभित करेगे। व्रज-साहित्य का अधिकांश भाग दिव्य शृंगार-संयुक्त है। उसके पढ़ने से हृदय में दिव्य रस का उद्दीपन होता है। ऐसे शृंगार के हम सदैव उपासक रहेंगे।

लौकिक या अश्लील शृंगार

अश्लील का अर्थ है—अशिष्ट, लज्जाजनक कामोद्दीपक भाव। जिस वस्तु में लज्जाजनक व्यवहार प्रतीत हो वही अश्लील है। साधारणतः अश्लीलता की परिभाषा यही है, किंतु दूसरो को वैसी नहीं प्रतीत होनी। हृदय के भावानुसार यह अपवाद प्रायः सभी जगह रहता है। जो बात सर्व साधारण को लज्जाजनक ज्ञात हो, शाब्दिक परिभाषा के अंतर्गत वह भले ही न आवे, पर वही अश्लील है। ससारी जनो की दृष्टि में जो बात अश्लील है, वही उच्चावस्था-प्राप्त योगियों को तथा भोले-भाले वालकों को अश्लील नहीं ज्ञात होती। इसका कारण यह है कि बालकों की बुद्धि अनाघात-कलिका के सदृश्य निर्मल होती है, वे समारी-प्रपञ्चों में अनभिज्ञ रहते हैं। यथार्थ में बालक का सौंदर्य और उसकी प्रतिभा इसी सरलता में है। कितने ही महात्मा भी इस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। श्री शुकदेव जी, राजर्षि जनक और रामकृष्ण परमहंस इसी अवस्था के राजयोगी थे, किंतु यह बात पहुँचे हुए योगियों के लिये है, जिन्हें अश्लीलता अथवा अश्लीलता का आभास तक नहीं होता, साधारण लोगों के लिये नहीं। साधारण जन को तो अवश्य ही साधनावस्था में इससे बचना चाहिये। इसके अतिरिक्त कितने ही भक्त-गण या आस्तिक-जन ऐसे होते हैं कि उन्हें भगवद्संघर्षी गुप्त-साहित्य में अश्लीलता नहीं ज्ञात होती, किंतु वही बात दूसरो को अवश्य ही अश्लील प्रतीत होगी। वस्तुतः अश्लीलता को कोई भी निश्चित रूप नहीं दिया जा सकता, क्योंकि देव, समाज और प्रकृति के अनुसार उसके रूपों में अंतर होता रहता है। फिर भी साहित्यिक दृष्टि से देखने पर हमारा यही मत है कि साहित्य स्वयं उतना अश्लील या अश्लिकर नहीं है, जितना भावों की सचि के अनुरूप वह बनाया जाता है।

पुस्तक की अश्लीलता के सबध में दिसंबर १९२८ में एक मनोरंजक मुकदमा 'इग्लेड' में हुआ था। उसका सार हम नीचे देते हैं—

मिस 'रैडक्लिफ हॉल' के उपन्यास "दी बाल आफ लोनलीनेस" को अश्लीलतापूर्ण बतला कर 'सर चार्ल्स विरन' ने उसकी प्रतियाँ नष्ट करने की आज्ञा दी थी। लेखिका ने अपने उपन्यास में युरोप की उन ललनाओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की है जो कुलवती स्त्रियों की भाँति जीवन नहीं व्यतीत करती और स्वेच्छाचार करती हैं। यही नहीं, उनके पक्ष का मुद्दा भाषा में समर्थन करते हुए लेखिका ने ईश्वर का शास्त्रान किया है कि ससार के मिल-भिन्न समाज चाहें उस स्त्रियों का परित्याग कर दें, पर ईश्वर के आगे उन्हें स्थान मिलना ही चाहिए। मिस हॉल के पक्ष वाले वकील ने कहा था—“The book could not be described fairly as obscene because in the course of it there were no filthy words—that it was well written and should be regarded as a work of literature”

अर्थात् पुस्तक की रचना सुंदर ढंग से हुई है, उसमें अशिष्ट शब्द नहीं हैं। इसलिये उसे अश्लील न कह कर साहित्य में स्थान दिया जाना चाहिए।

जब ने 'obscene' शब्द के अर्थ कोप के अनुसार ये बतलाए—'offensive to chastity, delicacy or decency or offensive to the moral senses as to excite lustful passions', और कहा—“The better an obscene book is written the greater the public to whom it is likely to appeal, the more palatable the poison the more insidious”

अर्थात् एक अश्लील पुस्तक जितनी सुचारु रूप से लिखी जायगी उतनी ही अधिक मत्स्या में जनता उसे अपनावेगी। जितना स्वादिष्ट विष होगा उतनी ही अधिक उसकी भयकरता होगी।

उक्त उपन्यास वाले मुकदमे में 'filthy words' (अशिष्ट शब्द) और “To excite lustful passions (विषय भोग की उत्तेजना) विचारणीय हैं। प्रायः हिंदी-साहित्य के यमानोचक अश्लीलता की परछाई 'अशिष्ट शब्दों' से करते हैं। इन परख में सबसे बड़ा दोष यह है कि 'अश्लीलता' के गुण का आरोप शब्दों में हो जाता है, आंतरिक भाव से उसका कोई मन्वय नहीं और जैसा कि हम पहिले कह चुके

है 'अस्लीलता' भाव की वस्तु है। अस्लीलता की परिभाषा में "To excite lustful passions" रस से वह परिभाषा समुचित हो जाती है, क्योंकि अस्लीलता के कई प्रकार हो सकते हैं।

अस्तु, विद्वानों की अधिकांश रचि के अनुसार ही व्रज-साहित्य के अस्लील भाग पर विवेक करता उचित है। व्रजभाषा के कुछ कवियों ने स्पष्ट शब्दों में नायिकाओं के भग-प्रत्यय का वर्णन किया है, जैसा कि हम कह भाये हैं। व्रजभाषा में अस्लील शृंगार का साहित्य मुसलमानी साम्राज्य के समय में विशेष रूप से धाया है। उस समय नायक-नायिका भेद, तदीय नख-शिख आदि के वर्णन की ऐसी प्रवृत्ति चल गई थी कि कवियों ने उस पर सहस्रो ग्रंथ रच डाले। कितनी ने तो नायक-नायिका वक्ष्य रख, गोपी काँधों और श्रीकृष्ण को लपेट लिया है, उसे हम अवश्य अस्लील कहेंगे। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि वह भी तो भगवद्-शृंगार है, उसे क्यों अस्लील कहा जाता है? इसका उत्तर यही है कि कवि की वर्णन-शैली ही स्पष्ट बतला देती है कि इसने अपना मुख्य विषय सखारी शृंगार का वर्णन रखा है, न कि विभूत शृंगार-रामक भक्ति-भाव प्रदर्शन। भक्त कवियों की विद्युत् भावुकता में और अलङ्कार काल के कवियों की रीति-बद्ध कविता में अंतर मनोवैज्ञानिक दृष्टि का है। चाहे नख-शिख शृंगार हो या भगवल्लीला वर्णन, कवि की वास्तविक संवेदना छिप नहीं सकती। इस शैली के कवियों में कितने तो आबन्ध शृंगार रस में डूबे रहे और कितने ने अन्य विषयों का वर्णन किया भी तो उसमें भी शृंगार को ला दूँगा। इस वर्णन कार्य के लिये वे कवि अत्यंत दोष-भागी हैं। यदि वे राधा-कृष्ण के गुणगान के मिस कवित्व-उपासना करते तो उसे हम दिव्य शृंगार में परिणत कर सकते थे, किन्तु उन्होंने तो अपने रीति-ग्रंथों के प्रत्येक विषय को राधा और कृष्ण पर बटाया है, यह विचार ही नहीं रखा कि वहाँ कहीं तक हमारे विषय की सगति रह सकती है। राधा-कृष्ण हमारे पूज्य भाराध्यदेव हैं, धर्म्य मान की उन पर वृद्ध श्रद्धा है, अतएव, उन्हें समारी शृंगार भा विषय मान कर कलंकित करना अत्यंत निन्दनीय और नीचता-पूर्ण कार्य है। वे विषय कुलचि के उत्तरावृत्त हैं। उनसे वैष्णव-भक्ति पर भी आघात पहुँचा है। विधर्मियों को हिन्दू-धर्म पर कुटिल आक्षेप करने का अवसर मिला है।

अतः ऐसे साहित्य को जिसके द्वारा श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम को कलंकित करने की उद्देश्य कुचेष्टा की गई है, उसे हम उपेक्षणीय समझने के पक्षपाती हैं, भले ही उसमें काव्य के उत्कृष्ट गुण हों। ऐसे साहित्य से हम उस साहित्य को श्रेष्ठ समझते हैं जिसमें नायक-नायिका-भेद साधारणतः नायक-नायिका के रूप में वर्णन किया गया है।

रीति-काल में अलंकार, पिङ्गल, रस-आदि जितने कुछ काव्य के विषय थे उन सब पर शृंगार रस का प्राधिपत्य था। रीति-ग्रन्थ लिखने की कुछ चाल थी पढ़ गई थी। इनके प्रत्येक अंगोपान्त में, उदाहरणों के रूप में कवियों ने शृंगार रस में डूबोया है। पदश्रुति-वर्णन किया है तो वह भी हाव-भाव से भरा हुआ न रह सका। सादृश्य, वह युग शृंगार का था। जो कवि नायक-नायिका के ही पीछे पड़े रहे, उनके पदों में अस्लीलता की यन्त्र-तन्त्र खुब दुर्गन्ध मिलती है। इस साहित्य के परिपोषक मुत्तल केशव, बलभद्र मल्लिनाथ, सुखदेव, पद्मनभ, मोक्ष, पद्माकर, द्विजदेव-आदि हैं। बिहारी और देव ने दिव्य और तौकिक दोनों ही प्रकार के शृंगार का वर्णन किया है और भी कितने ही कवियों के काव्यों में यन्त्र-तन्त्र उभय प्रभं हैं शृंगार का समावेश पाया जाता है। ५० कृष्णबिहारी मिश्र एक स्थान पर लिखते हैं—

"इन कवियों की निदा इस कारण होनी चाहिए कि उन्होंने शृंगार रस के उस सुहर रूप को भी क्यों नहीं दिखलाया, न कि इस कारण कि जो रूप उन्होंने दिखाया है, वह उन्हें दिखलाना ही न चाहिए था। विषय-रस में सराबोर कविता में भी रमणीयता है। उसके लिए उन्हें आप देने की आवश्यकता नहीं है।... उन्होंने प्रतिकूल समय में कविता के दीपक को बुझने से तो बचाया। क्या हुआ, जो दूरे तेल के कारण दीपक से कुछ मिलन धुँध्रा भी निकला।"

मिश्र जी कितनी ही उदारता से क्यों न विचार करें, पर उनके विचार सर्व ममत नहीं हो सकते। जिस नग्न रूप को कवियों ने शृंगार रस में दिखाया है उसे मिश्र जी किसी भग्न नग्न उच्च नमन

है। विषय-रस-पूर्ण कविता में रमणीयता है, किंतु क्या केवल रमणीयता ही कविता के लिए अपेक्षित है ? कविता का एक प्रधान गुण है कि जिन भावों को कवि की चिरकृती हुई कल्पना प्रकट करती है उनके फन-स्वरूप पाठक अथवा श्रोता के हृदय में भी एक प्रकार की कल्पना करने की शक्ति अथवा सूक्ष्म (Creative power) जागृत हो जाय। रीति-विषय अथवा केवल नायक-नायिका भेद-विभेद वर्णन करने में कवि की कल्पना-शक्ति सकुचित हो जाती है, मानव चरित्र का वास्तविक चित्र नहीं उपस्थित होता। इसके अतिरिक्त रमणीयता तो नवीनता से रहती है। ब्रज-साहित्य के शृंगारी भाग पर दृष्टिपान करने से यह ज्ञात होगा कि विहारी, देव-आदि कतिपय कवियों को छोड़ कर प्रायः अन्य कवियों के शृंगारी वर्णन पिष्ट-पेषण है, नवीन नहीं और फिर विशुद्ध रस की सत्ता वहाँ कितनी है ? हमें ध्यान रखना होगा कि कुसुचि-पूर्ण रचनाओं को आचार्यों ने रस नहीं रसाभास की कोटि में रखा है। हाँ, इन शृंगारी कवियों का पञ्च-उमर्चन एक दूसरे रूप से किया जा सकता है। वह है देश, काल और परिस्थिति का प्रभाव। आधुनिक युग के सर्वत्र उस काल में मनोरंजन के अनेकानेक साधन अनुपस्थित थे। उपन्यास, गल्प-विषयो पर कदाचित् ही कोई ग्रंथ उस युग में लिखा गया हो। उस समय इन्हीं रीति-विषयक ग्रंथों से समाज का मनोरंजन होता था। प्रकृति, जन-रुचि, नैतिक व सामाजिक अवस्था तथा स्वभाव का कवि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कवि केवल एक सामयिक अवस्था का निरीक्षक और प्रदर्शक है।

अदलील शृंगार के सबब में सहृदयवर स्वर्गीय प० पद्मसिंह गर्मा ने 'विहारी सतसई' की भूमिका में लिखा है—

“ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति-श्रद्धा और कुसुचिसंपन्न बनाने से नहीं होता ; ऐसे प्रसंग पढ़ कर घूर्तविटो की गूढ़ लीला के दासघात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके—इस विषय में सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसंग वर्णन का प्रयोजन है।”

इससे स्पष्ट है कि गर्मा जी की राय में अदलील शृंगार भी लोकोपकारी हो सकता है, किंतु इसमें सदेह के लिये स्थान है। घूर्तविटो के जाल में किसी कामिनी को फँसा, उसका चरित्र-भ्रष्ट कर देने यह शिक्षा ग्रहण करना कि “घूर्तविटो से जनता सचेत हो जाय” कहाँ तक ग्राह्य है, कुछ समझ में नहीं आता। यह तो पाश्चात्य-सभ्यता का आदर्श है कि दुःखीत अभिनय-द्वारा जनता को उपदेश दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त दुष्टान से हमें तो यही शिक्षा मिलती है कि हम भी अनाचार में प्रवृत्त हो ? प्राच्य-आदर्श तो यह है कि यदि हमें विरक्ति-भाव उत्पन्न करना है तो हम नायक या नायिका के मूढमं गरीर का ऐसा वीभत्स और घृणित वर्णन करें कि वह हमें एक नारकीय कीड़ा ममझ पड़े। उनके द्वारा विग्न हो मननी है न कि किसी कामिनी को व्यभिचार में प्रवृत्त कर गार्हस्थों को नष्ट-भ्रष्ट कर यह परिणाम निकालना कि कामिनी हेय वस्तु है। इसका परिणाम तो व्यभिचार-वृद्धि ही होगा।

ब्रजभाषा के शृंगारी साहित्य के प्रथक्-प्रथक् विवेचन के अतिरिक्त हमें यह निर्णय भी करना चाहिये कि ब्रजभाषा में शृंगाराधिक्य क्यों है और जनता को उमसे क्या-क्या हानि-नाम हुए एवं आधुनिक साहित्य-मसार की उस पर कैसी रुचि है।

ब्रजभाषा में शृंगार कविता अधिक क्यों हुई ?

मलेप में, ब्रजभाषा में शृंगाराधिक्य के निम्नलिखित कारण दृष्टिगत होने हैं—

१ संस्कृत तथा प्राकृत में शृंगार रस का प्रचुर साहित्य है। काव्यागो की दृष्टि में स्वयं नैन-प्रिय भी उन भाषाओं में लिखे गए हैं। ब्रजभाषा पर स्वभावतः उन भाषाओं की जादा पट्टी प्राग्-रीति-प्रिय के विस्तार में शृंगार रस को सहारा मिला।

२ श्री कृष्ण-संबंधी रहस्य की कल्पनाएँ करके कवियों ने गोपिकाओं और श्रीकृष्ण पर प्रेम वर्णन प्राकृत शृंगार-युक्त किया है। श्री कृष्ण की लीलाएँ ही अस्ति-पूर्ण हैं, अस्तित्व उनमें शृंगार का अस्तित्व अनिवार्य था।

३. ब्रजभाषा की साहित्यिक अवस्था में शृंगार रस की विशेष वृद्धि हुई है। उस समय मुगल-बरखार से ब्रजभाषा को अच्छा समान प्राप्त हुआ। मुसलमान बादशाह प्रायः शृंगार-प्रिय थे। उन्हें शृंगारी वर्णन सुहाता था, उनके मनोरंजनार्थ कवियों को शृंगार रस-पूर्ण ग्रंथ लिखने पड़ते थे। बहुत से देशी नरेश भी शृंगार के अत्यंत रसिक थे। राजाओं को या बादशाहों को राज्य-भद के कारण भोग-विलास विशेष प्रिय था, शृंगारी कामोत्तेजक कविताएँ सुनने का विशेष श्राव था। शृंगारी कविताओं पर कवियों को यथेष्ट पुरस्कार भी प्राप्त होता था, फिर भला वे स्थिति के अनुसार कविताएँ क्यों न करते ?

४. फारसी तथा उर्दू भाषा में शृंगार का विशाल साहित्य है। उनमें आशिक-भावुक की प्रेम-पहेलियों पर शृंगार-पूर्ण वर्णन करने की सनातन प्रथा है। ब्रजभाषा का फारसी से संपर्क रहा है इसलिए मुसलमानों की रचि के अनुसार भारतीय कवियों ने भी अपनी कविताओं को शृंगार-रस-पूर्ण प्रारंभ किया। फिर भी मुसलमानी शृंगारी-साहित्य और भारतीय शृंगारी-साहित्य में अतिरिक्त अंतर रहा है। पहिला मानव-भाव-प्रधान है तो दूसरा देव-भाव-प्रधान, किंतु फारसी-साहित्य की छया से ब्रजभाषा का साहित्य अछूता नहीं रहा और धीरे-धीरे इसी प्रभाव से प्रभावित होकर देव-भाव में भी ह्रास होता गया और विषय-लिप्त शृंगारी साहित्य की वृद्धि होती गई।

५. मुसलमानी साम्राज्य में विशेषतः मुगल साम्राज्य में जनता को शांति, सुख, व्यापार, वाणिज्य-आदि का सुभीता था। यद्यपि मुसलमानों के अत्याचार होते जाते थे, तो भी ऐश-आराम को विशेष वृद्धि थी। तत्कालीन जनता पर भी सत्ताधारियों का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार जब देश में शृंगार रस को राज्य की ओर से सहानुभूति प्राप्त हुई तब ब्रजभाषा में भी कवियों ने उसी रस की प्रधानता रखी।

६. संगीत और शृंगार रस का अत्यंत अनिष्ट संबंध है। संगीत मनुष्य को हृदय-रसिनी-शक्ति पर विशेष प्रभाव डालता है। जब से मुसलमान भारत में आए तभी से वे राग-रग, नाच-नाच के प्रेमी थे। केवल भारतीय संगीत को ही उन्होंने आश्रय न दिया प्रत्युत ब्रज-साहित्य के संगीत-सगत पदों को उनसे बड़ा उत्तेजन मिला। भजन, कीर्तन और रास-लीला की दृष्टि से महात्मा घुरदास, त्यागी हितहरिवंश, हरिदास, चाचा हित वृंदावनदास—इत्यादि कवि और भक्त जनो के पदों में पद-नालित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। इन पदों का प्रचार केवल ब्रजमंडल में ही सीमा बद्ध न था, किंतु मुगल-राज, मारवाड़ और बंगाल के अनेकों प्रांतों में वे पद बड़े श्राव से गाए जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रज-साहित्य के शृंगार रस का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत होता गया। उपासकों और पुजारियों की दृष्टि पर ध्यान रख कर भक्त गण कविता रचते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने गोपाल नायक का, अकबर ने तानसेन का, बरम खां ने दादा रामदास का और छाहजहाँ ने प० जयसाय राम त्रिभुली का जो समान किया था वह किसी से छिपा नहीं है। कहना न होगा कि नर्तकियों-द्वारा उर्दू-गजलें-आदि गाने से प्रबल अब भी लोग ब्रजभाषा की मधुर रागिनी गाने का अनुरोध करते हैं। अस्तु, लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से संगीत ने ब्रजभाषा में शृंगार-वृद्धि की है।

७. जिस संप्रदायों में श्री राधिका जी की भक्ति को प्रधानता दी गई, अथवा जिनमें स्त्री-वंश-द्वारा श्री कृष्ण की अनन्य प्रेमिका का भाव प्रदर्शित करने की प्रथा प्रचलित की गई, उनसे ब्रजभाषा के शृंगार रस को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। पहिली श्रेणी में हितहरिवंश का राधावल्लभ संप्रदाय मुख्य है और दूसरी में हरिदास का दृढ़ी संप्रदाय या सखी संप्रदाय। देव, विहारी, चाचा हित-वृंदावनदास, व्यास-आदि कविगण राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। इसी प्रकार नागरीदास, धान-धन, सहचरिधारण, भगवत रसिक—इत्यादि कविगण 'दृढ़ी संप्रदाय' के अनुयायी थे। जिस प्रकार राधिका जी की भक्ति में शृंगार रस की विशेषता स्वाभाविक थी, उसी प्रकार अपने में स्त्री रूप का आरोपण करने से स्त्री-सुलभ शृंगार-प्रियता का भाव आना स्वतः सिद्ध था। यही कारण है कि हित-

हरिवंश जी के अनेको शृंगार-परिप्लुत रहस्यपूर्ण पदों को 'हित निकुंज' के गोसाईं जी प्रकाशित करने का साहस नहीं करते। निस्संदेह अनधिकारियों के हाथों में उन पदों की बुराई होने की ही संभावना है। पंडित या जानी, प्रेम-श्रुति के अधिकारी नहीं होते। सखी संप्रदाय के उपासकों को शिक्षित समुदाय लोग कह सकता है, किंतु एक आलोचक की दृष्टि से हम यही कहेंगे कि उक्त मत के गोप्य रहस्यों तथा सिद्धान्तों को समझने वाले नियम-नियंत्रण से परे भुक्तभोगी ही हो सकते हैं। तभी तो भगवत रसिक ने लिखा है—

“भगवतरसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोऊ समझि सकै ना ।”

ॐ

“तेरी मुख चंद, चकोर री मेरे नैन।

अरबरात मिलने को निस-दिन, ऐसे मिलें मनो कबहुँ मिले ना ॥

अति आरत अनुरागी लपट, भूल गई गति पल-हु लखै ना ।

‘भगवत रसिक’ रसिक की बातें, बिना रसिक कोऊ समझि सकै ना ॥”

—राग-टोड़ी

विरह-व्यथित ‘भानवधन’ जी एक पग आगे बढ़ कर कहते हैं—

“जग की कविताई के धोलें रहै, हूँ प्रवीनन की मति जाति जकी।

समझै कविता ‘भनअनिद’ की, हिय आँखिन नेह की पीर तकी ॥”^१

ब्रजभाषा के विषय तथा लौकिक शृंगार रस से साधारणतः निम्नांकित लाभ हुए हैं—

“साहित्य के प्रचार में शृंगार रस से बड़ी सहायता मिलती है। जनता ने शृंगारी रुचि होने के कारण ब्रजभाषा के शृंगारी साहित्य को अपना कर हिंदी के प्राचीन साहित्य को बढ़ा उत्तेजन दिया है। यदि तत्कालीन प्रवाह के साथ ब्रजभाषा में शृंगार का महत्व न होता तो ब्रजभाषा को अन्य रसों-द्वारा कदाचित् उत्तना उत्तेजन न मिलता जितना कि मिला है। शृंगारी रचनाओं के कारण अनेको कवियों को राजाश्रय मिला है। यह प्रलोभन कवियों की यथेष्ट वृद्धि में सहायक हुआ। मुसलमानों में ब्रज-साहित्य के पठन-पाठन की रुचि बढ़ गई। उनके हृदय में उसके प्रति आदर भाव हुआ। परोक्ष रीति से अनेको के हृदय में भगवद्भक्ति का भी उदय हुआ।

शृंगाराधिक्य से निम्न लिखित हानियाँ अभूत हुई हैं। शृंगार वर्णन की प्रथा चल जाने से कवियों ने शृंगार रस को ही अपना मुख्य विषय बनाया। सूरदास जी के समय में अन्य लोकोपकारी विषयों की रचनाएँ प्रायः रुक सी गईं। वही पुराना पिष्ट-पेषण बहुत काल तक स्थायी बना रहा। अन्य रसों को लोगो ने भुला दिया।

शृंगारी साहित्य के प्रचार से धार्मिक साहित्य भी बढ़ चला। ब्रजभाषा के प्रारम्भिक युग में वैष्णव-धर्म तथा मुसलमानी राज्यों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। उस-समय विषय शृंगार का काल था। कुछ कालांतर में मुसलमानी-आदर्शों में प्रभावित हो ब्रजभाषा के शृंगारादि वर्णनों से जनता में कुचिन्तार फैलने लगा। उस समय के युग का विपरीत प्रभाव आज भी उसी प्रकार स्थित है।

जिन कवियों ने राधाकृष्ण को अपने विषयायुक्त वर्णन की वस्तु बनाकर शुद्ध शृंगार के रूप में चित्रित किया है उन्होंने समाज के प्रति अन्याय किया है। इसके कारण आर्य-समाजी-आदि भूति-खडक उन

^१ प्रेम सदा अति अँको लहै, तु कहुँ इहि भाँति कि बात छकी।

सुनिकें सब के मन लालच-दीरि, पै बोरे लखें सब बुद्धि चकी ॥

जग की कविताई के धोलें रहै हूँ प्रवीनन की मति जति जकी।

समझै कविता ‘भनअनिद’ की, हिय-आँखिन नेह की पीरतकी ॥

पर दोष आरोपित कर उनके चरित्र को कलंकित करने का दुस्साहस करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसी दोष के कारण ब्रज-साहित्य के शुभ्र यश पर कुछ कालिमा लगी है।

शृंगारी साहित्य के कारण जब अग्रेजी राज्य में रूचि पलटी तब ब्रजभाषा में शैल्य प्राणे लगा। आधुनिक शिक्षित समाज ब्रज-साहित्य मात्र की अपेक्षा कह कर उसकी उपेक्षा करने लगा।

बालिकाओं को ब्रज-साहित्य का परिचय देने में सकोच होता है। यों तो सूरदास-प्रादि महात्माओं के भजन प्रचलित हैं ही, किंतु देव, विहारी, मतिराम, केशव—प्रादि ब्रजभाषा के रसिकाग्रण्यों की ललित रचनाओं का अवगाहन किये बिना ब्रज-साहित्य का रसास्वादन पूर्णतः नहीं प्राप्त हो सकता, पर इन कवियों की कविताओं में ऐसे-ऐसे विचित्र शृंगारी वर्णन प्राये हैं कि जिन्हें बालिकाओं के गुरु, पिता या भाई सकोच-वश उन्हे पढ़ाने में असमर्थ हैं। इसी से किसी अथ तक स्त्री-शिक्षा पर बड़ा कुठाराघात हुआ है।

ब्रज-साहित्य के शृंगार रस में एक अंग की कुछ कमी है। शृंगार में आध्यात्मिक भाव के मधुर सकेत कम है। कवियों ने रहस्य-पूर्ण लौकिक प्रेम का चित्रण प्रायः नहीं किया, जिसका लक्ष्य कभी-कभी पारलौकिक प्रेम की ओर होता है। इस प्रेम में साधारण प्रेमी अथवा प्रेमिका में दिव्य गुणों का आरोप किया जाता है, 'इस्क मिजाजी' के द्वारा 'इस्क हकीकी' का लक्ष्य रहता है। आधुनिक 'छायावाद' अथवा 'रहस्यवाद'-पूर्ण कविताओं में उसी आवर्ण की हमें झलक मिलती है। जिस लौकिक प्रेम में सच्ची लगन या व्यक्तित्व हृदय की एक हूक उठती है, वही समय पाकर पारलौकिक प्रेम में परिणत हो सकता है। अफर ने यह भाव क्या अच्छा प्रकट किया है—

“न कुछ हम हैंस के सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं।

जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, किसी के होके सीखे हैं॥”

इसी पर वियोगी हरि लिखते हैं—

“जब तक तुम किसी के हो नहीं गये, तब तक बेखुबी का मीठा-मीठा भजा मिलने का नहीं।”

परंतु ब्रज-साहित्य में 'आनंदधन' को छोड़ कर किसी ने लौकिक प्रेम का रहस्यात्मक शृंगार-मग्न नहीं लिया है।

आधुनिक रूचि

आधुनिक युग में ब्रज-साहित्य के शृंगार रस को प्रायः अग्रेजी पढ़े-लिखे सज्जन उपेक्षणीय समझते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जहाँ हमें अस्सील साहित्य दुःख पहुँचाता है, वही दिव्य शृंगारी साहित्य से हमारा मन आनंदोत्फुल्ल हो जाता है। और फिर अस्सील साहित्य का तिरस्कार कबिगण कैसे कर सकते थे, जब कि हम 'राजसेखर' को यह लिखते हुए देखते हैं—

“तद्विदुः श्रुती शास्त्रे जोपलभ्यते।”

अर्थात् इस प्रकार का साहित्य जिसे हम अस्सील और असभ्य समझते हैं, श्रुतियों और शास्त्रों में भी पाया जाता है।

इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि हम नायक-नायिका-भेद जानें या नख-गिख पढ़ें। हमें आवश्यकता है सूर और मीरा के हृदय वेधक पदों की, केशव और देव के उत्कृष्ट कवितों की, विहारी, ग्हीम और वृंद के मंत्र-मूकने वाले दोहों की। जहाँ हमें अस्सीलता का आभास मिले वहाँ काव्य-वैचित्र्य पर ही ध्यान देना चाहिए। यदि हम अपने विचारों को अच्छे प्रवाह में बहायेंगे तो सुललित काव्य-प्रसूत मिलेंगे, अन्यथा अवश्य ही काँटों में छिन्न-भिन्न होना पड़ेगा। जिनके विचार स्वभावतः भूषित होते हैं, उन्हें पद-पद पर अस्सीलता प्राप्त होती है। इसके विपरीत सहृदयों को लौकिकता में भी दिव्यता का आनंद प्राप्त हो सकता है। कवि के काव्य-कौशल, दूर दगिता और नैसर्गिक प्रवाह का प्रादुर्भाव हमें ग्रहण करना चाहिए। जहाँ पर रूचि

ने शश्वील वर्णन किया है, वहाँ पर हमें उस वर्णन के अगोपागो को देख उस विषय में तल्लीन हो आसक्त होने की आवश्यकता नहीं, वरन् कवि की अनूठी उक्तियों की प्रशंसा करना ही हमारा कर्तव्य है।

कोई-कोई मन चले ब्रज-साहित्य के शृंगाराधिक्य को सामाजिक ह्रास का एक प्रधान कारण बतलाते हैं। खड़ी बोली वाले भी प्रायः यह दोष ब्रजभाषा पर आरोपित करते हैं। इस बात पर बड़ी हैसी आती है। यह लोग इस बात को भूल जाते हैं कि सामाजिक पतन का प्रधान कारण गंदे उपन्यासों का प्रचार है, क्योंकि उपन्यासों तथा रसीली कहानियों के रसिक आपको लाखों मिलेंगे, ब्रज-साहित्य के पढ़ने और समझने वाले एक प्रति मैकडा भी न होंगे। पात्रापात्र का विचार कर शृंगारी-साहित्य का पठन-माठन उचित है। बालक, ब्रह्मचारी, योगी, यती को शृंगारी-साहित्य पढ़ाने की आवश्यकता नहीं, परिपक्व विचार वाले पुरुषों को ही साहित्य-रसास्वादन के निमित्त उसमें योग देना चाहिए।

समयानुसार कवियों की रूचि में परिवर्तन होता है। ब्रज-साहित्य के कवियों ने अपने मनोरजनार्थ तथा सामाजिक सुसुचि के अनुसार शृंगार रस का विशेष परिपोषण किया। समाज को उन्नत अथवा अवतत करने की दृष्टि से उन्होंने सामयिक काव्य नहीं रचे थे। उनका मुख्य तात्पर्य मनोरजन था। उसी साहित्य में ब्रजभाषा के रत्न भरे पड़े हैं। विहारी की सतसई, प्रेम-चंद्रिका, ललित-मल्लाम, सुजान-सागर-आदि काव्य अगूठी पर नगीने से जड़े हैं। इनमें शोब, प्रसाद, रचना चातुर्य, भाव शायीय-आदि लोकोत्तर साहित्यिक चमत्कारों का समावेश हुआ है। अतः हम अपने पाठकों से यही कहेंगे कि वे नीर-क्षीर विवेकी बनकर दिव्य और लौकिक साहित्य का विश्लेषण कर उसके उत्तम रत्नों का ज्वीहर परखें।



गोस्वामी तुलसीदास : श्री कृष्ण-गीतावली

राग-विलावल

भाता, उछल गौनब-लै मुख बार-बार निरखै ।
 पुलकित तन आनवधन, छिन-छिन मन-नुरखै ॥
 पूछत तुलसीत बात, भात-हू जवुराई ।
 अतिसै मुख कामें तोहि, मोहि कहौ माई ॥
 देखत तब बदन-कमल, मन-अनव होई ।
 कहै कोन, रसना सौन, जानै कोइ-कोई ॥
 सुवर मुख नित दिखाउ, इच्छा पै मोरै ।
 मम संमान पुन-पुन, नाहीं केहु औरै ॥
 'तुलसी'-अभु प्रेम-बिबस, मनुज-रूप-धारी ।
 बाल-केल-लोला-रस, बज जन-हितकारी ॥

राग-आसावरी

तोहि स्याम की सोह जसोधा, आइ देखि घर मेरे ।
 कंसी हाल करचौ तो डोठा, छोटे, निपट अनरे ॥
 गोरस-हूनि सहो, न कहौ कछ, धा बज-बास-बसेरे ।
 दिन-दिन बासैन कोन बिसाहूँ, घर निधि काहू करे ॥
 किएँ तिमारे हँसत, खिलत, नहिँ डाढत नैन-नरेरे ।
 अब-ही ते ए सीखे काथो चरित, ललित सुत तेरे ॥
 बैठचौ सकुचि साधू भयो चाहत, भात-बदन-सन हेरे ।
 'तुलसीदास'-अभु, कहौ वे बातें, जो कहि भजे सबेरे ॥

भोको, झूठे-हों दोष लगावत ।

भैया, इन्हें बान पर-धर की, नाना जुगत बनावत ॥
 इनके लिएँ खेलिबौ छाँडिचौ, तऊ न उबरैन पावत ।
 भाजन-फोर, बियोर सु गोरस, बें उराहुनौ आवत ॥
 कबहूँ बाल-बबाइ, पाँनि-गहिँ, मिस-मिस करि उठि धावत ।
 करै आप, सिर-धरत आँन के, बचन-विरंजि-हूरावत ॥
 मेरी टेज बूझि हलधर सो, संतत संग खिलावत ।
 जे अग्याइ करत काहूँ कौ, ते सिधु मोहि न भावत ॥
 सुनि-सुनि बचन-वातुरी ग्वालिन, हँसि-हँसि बदन दुरावत ।
 बाल गुपाल-केल-कल-कीरत, 'तुलसीदास' मुनि गावत ॥

कबहूँ न जात पराए बाँस-हिँ ।

खेलति-ही देखौ निज आँगन, सबै सहित-बलराम-हिँ ॥
 मेरे कहा दोट गोरस कौ, नख-निधि-मंभिर जाँम-हिँ ।
 ठालौ ग्यारि उराहुने के मिस, आइ बकें बेकौम-हिँ ॥
 हो बलि जाँउ जाहु कितहूँ जिन, भात सिखावत स्याम-हिँ ।
 बिन कारन हठि दोष लगावत, तात गएँ गृह तौम-हिँ ॥
 हरि-मुख निरखि, पुण्य-वाँनी सुनि, अधिक-अधिक अभिराम-हिँ ।
 'तुलसीदास'-अभु देख्यो-ही चाहैं, श्रीउर ललित ललाम-हिँ ॥

स्वामी हरिदास जी की वाणी

श्री गोपालदत्त

नित्य वृंदावन की निकुंज-केलि के माधुर्य का वर्णन तो बहुतो ने किया, परंतु उसका आस्वादन केवल रसिक गिरोमणि स्वामी 'हरिदास' जी ने ही किया। अनन्य रसिकता के बकि पथ से चलकर वे उस भाव-भूमि में अवतीर्ण हो चुके थे जहाँ उनकी स्वामिनी श्यामा और स्वामी कुंजबिहारी का हँसना, खेलना, बोलना, मिलना, परस्पर वीरी खाना और खिलाना तथा दामिनी और घन की मिथ क्रीडा जैसा गुरत का दान और प्रतिदान हरिदास जी के नयनों के आगे नाचता था। अर्थ निशा है, श्यामा और श्याम का भूत-रगातरंग दरबार लगा है, साखियाँ तार, खाव, अघौटी, वीन और मृदंग बजा रही है, श्रुतियाँ 'धुरि' रही हैं, राग कैदारा तो सगरीर उपस्थित है और निकुंज-केलि में सहचरी रूप ललितावतार स्वामी श्री हरिदास अपने दिव्यातन्त्रबधुओं से बहु-भाँति के उस परम सुख को 'रोर' रहे हैं—

राग-कैदारी

"हँसत, खेलत, बोलत, मिलत देखो मेरी आँखिन सुख।

वीरी परसपर लेत-खावावत, ज्यो दामिनी घन-चमचमात सोभा बहु भाँतिन सुख ॥

श्रुति धुरि राग कैदारी जम्मी अघ-रात निसा रोरों सुख।

'श्री हरिदास' के स्वामी-स्यामा-कुंजबिहारी के गावत, गुर देत मोर भयो परम सुख ॥"¹

¹, स्वामी हरिदास जी के केवल १२६ श्रुपद मिलते हैं, जिनमें से १८ उपदेशात्मक हैं, जो 'सिद्धांत के पद' कहे जाते हैं। शेष १०८ (किसी-किसी के अनुसार ११०) श्री राधाकृष्ण के निकुंज-बिहार के वर्णन विषयक हैं, जिनका सग्रह 'श्रीकेलि-माल' नाम से अभिहित होता है।

स्वामी हरिदास जी के पदों को 'पद' न कह कर 'श्रुपद' कहना अधिक युक्ति-युक्त है। इनकी संवी शब्द-योजना और यति के विलक्षण प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि ये पदों के लिये नहीं, केवल (श्रुपद) गाने के लिये ही लिखे गये हैं। श्रुपद के गायन में बिना डुबारा श्वास लिये जैसा संवा स्वर का साधन करना पड़ता है, उसके अनुकूल शब्द-योजना के लिये संवी-संवी पंक्तियाँ ही अधिक उपयुक्त होती हैं। इनका प्रत्येक श्रुपद—अस्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग नामक श्रुपद-संगीत के शास्त्रीय विभागानुसार चार पंक्तों में बँटा रहता है। श्रुपद की चारों पंक्तियों में समान वर्ण योजना की कोई आवश्यकता नहीं रहती और न पदों के लय-सौकर्य का ही ध्यान रखा जाता है। वर्ण-योजना का एकमात्र आधार यही होता है कि वर्णों की लय श्रुपद की ताल पर ठीक बैठे। यही कारण है कि स्वामी जी के पद जो यो ही पढ़ने में कुछ अटपटे-से लगते हैं, वे किसी श्रुपद के गायक के मुख से सुनने में अद्भुत शक्ति और प्रवाह से भरे जात होते हैं। साधारण पाठक को इनकी गमक और नाद-सौंदर्य का यत्किंचित् आभास भी तभी हो सकता है जब इन्हें श्रुपद की लय में पढ़ा जाय। इन छंदों की इस विलक्षणता के कारण ही इनके प्रति, 'पद' शब्द का प्रयोग न कर 'श्रुपद' शब्द का प्रयोग किया है। इन छंदों के लिये 'श्रुपद' शब्द का प्रयोग पहले से भी विविक्त रूप से होता आया है। प्रमाण के लिये विभिन्न छंदों के अलग-अलग अधिकारी कवियों का नाम-ग्राहक यह कवित्व देखिये—

"चंदजू की छंद, छरप नामा श्री वंतालजू की, केसो की कवित्व, दोहा विहारी के गीत की।

बल्लभरसिकजू की भाँत, गिरधर कवि कुंडलिया, बाजिद की भरिल जो अतिरि प्रकाश की।

रसरस देखता श्री दात बोरबलजू की, तुलसी की चौपई असलीक वेदव्यास की।

भगत 'गुपाल' ए जहाँन बीच जाहिर है, सूर की पद श्री धुरपद हरिदास की ॥"

यही परमसुख स्वामी जी का परम काव्य है, उनके लोक-परलोक की इच्छा है। भगवत् तत्त्व की कामना है कि इस अखिल विषय ब्रह्मांड में न किसी और को देखूँ, न किसी और को जानूँ, न कही और जाऊँ और न किसी और से अनुराग करूँ, अर्हतिवा नेत्रों की वृत्ति युगल-स्वरूप में लगी रहे। प्यारे की भाँवती लाडलीजू और भाँवती के प्यारे लालजू वस इन्ही दो से जान-महवान हो। एकमात्र वृत्ति है 'श्रीवन' का सेवन करूँ, किसी भी परिस्थिति में यहाँ से इधर-उधर हटना न पड़े। नेत्र, बुद्धि और मन का यावत् दृश्य ज्ञेय और प्रेय है, उस सब को खेँक कर खामा और कुजबिहारी की वही कुज-श्रीवासना बँकी-भाँकी जब निरंतर भाँखो में झूलती रहे तभी तो जीवन-ग्रहण का चरम साफल्य है—

राग-काङ्क्षरौ

“ऐसे-ही देखत रहौ जनम सुफल करि मानौ।

प्यारे की भाँवती, भाँवती के प्यारे, युगल-किसोरि जानौ ॥

खिन न टरो, पल न होउ इति-उत, रहौ एक तानौ।

‘श्रीहरिदास’ के स्वामी-स्वामी-कुजबिहारी, मन-रानौ ॥”

इस अनन्य प्रेमाभक्ति के दिव्य आलवन युगलकिशोर स्वयं सहज-स्वरूप है। भगवत्काल से उनकी निकुञ्ज-केलि इसी भाँति चलती आई है और अनन्त काल तक इसी भाँति चलती रहेगी। मूल, वर्तमान और भविष्य में यह जोड़ी ही तो एकमात्र अपरिवर्तनीय है। सदा वही जन-श्रीमती से उज्ज्वल वर्ण, वही सुधराई, वही सुधरता और वही किशोर वयस। हरिदास जी जैसे किसी निरले साधक के सम्मुख ही यह चिरतन ज्योति-पुञ्ज सहज-युगल आविर्भूत होता है—

राग-काङ्क्षरौ

“भाई, सहज जोरी प्रगट भई, रंग की गौर-स्वामी जन-श्रीमती जैसैं।

प्रथम हूँ हुतौ, भवहूँ आगे हूँ रहि है, न टरि है तैसैं ॥

अंग अंग की उजराई, सुधराई, सुधरता ऐसैं।

‘श्री हरिदास’ के स्वामी स्वामी कुजबिहारी सम-वैस वैसैं ॥”

खामा-खाम के अगणित लीला-विलास स्वामी जी के नेत्रों के आगे किसी अनन्त चमच्चित्र के बदलते हुए दृश्यों की भाँति निरन्तर आते चले जाते हैं। प्रत्येक ऋतु की अलग-अलग लीलाएँ हैं और प्रत्येक प्रहर का अलग-अलग खेल। शरद्वतु का पूर्ण चन्द्र आकाश में उचित है। त्रिविध पवन बह रहा है। वृक्षान की कुज-कुज फूलों से महक रही है। ऐसे अनुकूल समय में किशोरी और किशोर रासमंडल में नृत्य कर रहे हैं। सखियाँ बीन, तार, भषोटी, क्षिरनौ, किलरी, चंग, उपग, रवाव, ड्रक, बेंगु, दामुरी, मेरि, महबरी, सहनाई (सहदान), राइ गिरगिरी, रज, मृग, पद्मावज, भावज, डोल, डोलकी, निसान, दुडुमी, डक, डफिया, मुरज, शक्ति-आदि वाद्य बजा रही हैं। समय-समय पर ध्रुपद की आचार्या जलित सखी विभिन्न बाणी में गायन कर सिद्ध राग-रागिनियों के धूँ के धूँ साकार उपस्थित कर देती हैं। नृत्य के अनुकूल राइ, उपग, चर्चरी, क्षपटार, ध्रुवा, चद्रागति की तालों का बधान वैध रहा है, मृदंग की तत्तवेई, तत्तवेई, रूंग, रूंग, धवनना, तन्नना, तक्-तक् रूंग-ध्वनि पर युगलकिशोर के श्रीचरण सहज गति से उठते बते जा रहे हैं। कभी लाडलीजू देसी में नाचती हैं तो लालजू त्रिभंगी-मुत्त सुधग में। ठाडव, सात्य-आदि अगणित नृत्य-मेव प्रकट हो रहे हैं। उरप, तिरप, मुलप, सुधर, श्रीधर गति के मानों की लागाटा, डक गुन, दुगुन, तिरगुन, चतुरागुन होकर बढ रही हैं। युगल नर्तकों के नृत्यानुकूल अभिनय में हस्तक-भेद, मस्तक-भेद, नेत्र-भेद, भ्रू-भेद और ग्रीवा-भेद के अगणित प्रकारों का सम वैधा है। इस महा रास के अलौकिक स्वरूप का दर्शन कर मनुष्य स्तब्ध हो अपनी गति भूल गई। कामदेव इस छवि पर तृण तोड़ा है। देव-गण पुण्य वरसते हैं। इस अलौकिक रास का वर्णन करने में किसी की रसना समर्थ हो सकती है—

राग-केदारी

“अद्भुत गति, उपजत अति नूतन दोह मडल कुँवर-किसोरी ।
सकल सुधम अग-अंग भरि भोरी पीय नूतन नुसकें मुखमोरी, परिंभन रस रोरी ॥
ताल धरें बनिता भुवग चंद्रागति घात बजें थोरी-थोरी ।
समं पाइ भाषा विचित्र ललिता गायन चित-जोरी ॥
श्री बृंदावन फूलन फूल्यो, पूरन ससि, त्रिविध पवन वहै थोरी-थोरी ।
गति बिलास रस हास परसपर भूतल अवभुत जोरी ॥
जमुना-जल विथकित पुहपनि बरषा, रति-मति डारत नून तोरी ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्यामा-कुज बिहारोज की रस, रसना कहूँ को री ॥”

गीत श्रुत आ गई है। भीनी-भीनी ठंड पड़ने लगी है। रात हो आई, परंतु राधाजू मान किधे वैठी है, भयन नहीं करती। तब प्यारेजू अनुनय करते हैं—‘बाली चुनरी में तो जाड़ा लगता होगा। अब सुखतन पर चलिये। आप तो घड़ी-घड़ी में रुसती हैं और हर बार भवाने में एक-एक पहर बीत जाता है। रात तो यो ही निकल जायगी। उठिये, मैं सबके जाऊँ, बलैया लूँ, ऐसी प्रकृति तो न होने चाहिए। प्रेमियो का व्यवहार तो कामदेव ही निर्धारित किया करना है—

राग-विभास

“चुनरी में जाड़ी सागत हूँ है री, कीजिए सुख सैन ।
धरी-धरी के रुसने पहर मनावत जात भीठें बेंन ॥
उठि सबकें बलाइ लोइ प्रकृति यो न चाहिये, चाह्ये ज्यो सैन ।
‘श्रीहरिदास’ के स्वामी-स्यामा-कुजबिहारी गहि, लपटाइ रहे मान सबे सुख चैन ॥”

श्रीवन में वसत का पदार्पण हुआ। रसिक विहारी और विहारिनि का रति-भोग नित नूतन बनने लगा। अब तो लाल को सखियों की उपस्थिति का व्यवधान भी नहीं सुहाता। कहते हैं—‘बलो जी, उस निभूत निकुज में वसत खेलें जहाँ सबी तो क्या कोई पछी तक न पहुँचे। वहाँ दोनों जने एक दूसरे के मुख पर ‘बूका’ छिरकेंगे।’ फिर बड़े चाव से बोले—‘अब के वसत का खेल न्यारे ही रह कर खेचना है। यह निश्चय कर लिया है कि तुम्हारे अतिरिक्त और किसी के साथ वसत खेलेंगे ही नहीं। बुचिते रहने में कुछ मजा नहीं आता। तुम्हें हमारी सौगव, तुम भी इन दिनों किसी सबी से मत मिलो, फिर देखो राग-रागिनियों का क्या रग जमता है—

राग-वसत

“जलि री, भीर ते न्यारे खेलें। कुज निकुज मनु में झेलें ॥
तहाँ पछिन सहित सबी न लग कोऊ, तिहि वन जलि मिलि खेलें ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी स्यामा, प्रेम परसपर बूका बबन मेलें ॥”

राग-वसत

“अब कें वसत न्यारेई खेलें, काहूँ सो न मिलि खेलें री तेरी सो ।
बुचिते होत कछू न सचु पाइये, तू काहूँ सबी सो न मिलि मेरी सो ॥
बेखँयो जु रंग उपजंगी परसपर, राग-रागिनीन के फेरा फेरी सो ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्यामा-कुजबिहारी, राग ही में रंग रहे एरी सो ॥”

निकुज-अवन में ‘होरी’ हो रही है। सखियाँ गोल बर्षे डफ-तार बजाती, होरी गाती, प्यारे और प्यारीजू को होरी खिला रही है। बीच-बीच में ‘हो-हो-होरी’ की उच्च ध्वनि गुंज उठती है। दोनों ही ‘हरिहार’ बड़े सुकुमार हैं। अम-कणो ने बैसे ही अग में अरगजा की कीच मचा रखी है, उस पर जवाब, कपूर, कस्तूरी छिड़के जा रहे हैं। अवीर उड़ रहा है। कुमकुमा और बूका ताक-ताक कर बलाये

जा रहे हैं। बातों ही बातों के विनोद से अनुराग बढ रहा है। युगल किशोर निकुञ्ज की निभूति नीमियों की ओर दौड-दौड जाते हैं। होरी खेलते में दोनों जो परस्पर मिड गये तो क्या छवि बनी है, माने क्या तमाल से कचन की तत्त्वगी लता उलझ रही हो—

राग-काह्लरी

“बिन डफ-सार बजावत, गावत, भरत परसपर छिन-छिन होरी।

अति सुकमार बदन त्रम बरसत, भले मिले रसिक किसोर-किसोरी ॥

बातन बत-बतात राग-रंग रमि रह्यो, इत-उत चाह चलत तकि क्षोरी।

सुनि ‘हरिदास’ तमाल स्वाम सो, लता लपटि कचन की क्षोरी ॥”

सखियों की भीड से दूर जब साडली और लाल एकांत निकुञ्ज में प्रविष्ट हो गये तो सखियाँ भटकने लगीं। कुछ दिन तो यो ही बीते फिर उनमें से एक बोली—‘चलो री चलो, कुज-बवन में चलें। रसिक बिहारी को ‘चैत’ भी दे आवेंगे और उनकी ‘भावती’ के दर्शन भी कर आवेंगे।’ दूँदवी-दूँदवी अचानक उसी ओर भा निकली, जहाँ क्या-क्याम विराजे थे तो क्या देखती हैं कि क्या-क्याम से पैर चँपा रही हैं। सन्धिदानदघन जिनके पाँव दवाएँ उन नवल किशोरी की महिमा का क्या कहना—

रागिनी-गोरी

“चली सखी, कुज-बिहारी सों मिलि चैत दै, देखें हम उनकी भावती।

सुवर सो सुवरि मिलि खेलत, कैसें भो गावती ॥

आँचक आह परीं सखी तहाँ, जहाँ पिय पै पाई चपावती।

‘श्री हरिदास’ के स्वामी स्वामा सो मिलि पौढी, तन-मन राखती ॥”

ग्रीष्म ऋतु में कभी राधिकाजी ग्राम की अन्य गोपियों के साथ यमुना-स्नान को गईं। गढनागर भी उधर भा निकले। अपरिचित स्त्रियों को देख सीधे राधा से बात न कर सके, परन्तु मिलने की श्रमुला उत्कट थी। कुछ न बना तो गोपियों से राधा का नाम-पता ही पूछने लगे। राधिकाजी बोली—सखियों, तुम चुप रहो, मैं ही उत्तर देती हूँ—ललन, तुम महीं से चले जाओ। यह गाँव बाप से बावला हो रहा है। न जाने क्या-क्या अफवाह लगावेगा। सखियाँ तो ‘छिरका’ खेलने लगीं। राधा ने कहा—‘तुम सब ठहरना, तब तक मैं स्नान कर लूँ।’ जल में डुबकी जो ली तो उधर कुञ्ज भी डुबकी लेकर गले से आ गये। अब तो बड़े असमंजस में पड गईं लाडली जू—

राग-विभास

“कहाँ मैं काको बेटी, कहाँ धो कहा है कुवरि काँ नाँव।

तुम सब रही री, हो ही अंतर देहो, चले किमि जाड डोटा, बाह-बावरी गाँव ॥

सब सखि मिलि छिरका खेलन लागीं, तौलो तुल रही री, जौलो हों ज़ाँव।

‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्वामा-कुजबिहारी, लं डुबकी गरें लागे, चोकि परी कहाँ हों जाँव ॥”

श्रीवन में हिलोला पड गया। ‘बिहारी-बिहारिनि’ डोल भूल रहे हैं। सखियाँ बाघ बना रही हैं—गा रही हैं, कोई-कोई अरगजा छिडक रही है। कीडा के कौतुक में क्या-भा और क्या-म ने डोल की डडिवाँ हाथों से छोड दी और बड-बड कर ‘झोटा’ लेते गए। आश्चर्य है उनके पैर कैसे जमे रहे। नागरी और नाग दोनो ही भूलने में बडे निपुण हैं। उनके खेल को भला कोई पा सकता है।

राग-कल्याण

“डोल भूलत बिहारी बिहारिनि, राग रमि रह्यो।

काहू के हाथ अघौटी, काहू के बीन, काहू के भुदंग, कोऊ गहें सार, काहू के अरगजा छिरकत रग रह्यो ॥

डौड़ी छौडें खेल बडची जो परसपर, नाहीं जानियत पग क्यों रह्यो ॥

‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्वामा-कुजबिहारी की खेल खेलत काहू ना रह्यो ॥”

सखी रूप से स्वामी हरिदास जी प्रत्येक क्रीडा में युगल किशोर की सेवा को उपस्थित रहते हैं। कैसा अद्भुत सौभाग्य है। 'डोल-झूलने' के अवसर पर कभी क्या स्वामिनीजू पर भविर छिड़कते हैं तो कभी स्वामिनीजू श्याम पर, किन्तु हरिदासजी दोनों पर समान रूप से भविर छिड़क-छिड़क कर जीवन का सार प्राप्त कर रहे हैं। युगल सरकार की खवासी का यह अधिकार तो महामुनियों को भी नहीं मिलता —

राग-विभास

“डोल झूलत एक सनें इकात जन में कुंजबिहारी ।
छोटा देत परसपर सब मिलि, भविर उड़ावत डारी ॥
कबहुँक वे उनके वे उनके, हो दुहन के इक सारी ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी स्वामी कुंजबिहारी, रह्यो रंग भारी ॥”

वर्षाकाल में घटाएँ उमड़-धुमड़ कर फिर आईं। बादल की गरज सुन बनात में भोर नाच उठे। उषर नटवरलाल का नृत्य भी प्रारंभ हुआ। दोनों ही नाचने में एक से एक चतुर। मोरों में और श्याम में होड़ बढ़ गई। श्याम बोले—‘देखें, किसका रंग जमता है। जब-जब कर गति लेते जाओ। हमारे-तुम्हारे बीच राधाजी मध्यस्थ हैं और किसीसे न्याय कराना चाहो तो उससे करा लो।’ फिर क्या था। दुग्गुन, तिगुन, चतुरागुन की चालें चलने लगी—

राग-विभास

“होड़ परी मोरन्ह और स्वामी ।
आवहु मिलहु मधि सच की गति लेंहि, रंग वो काँम ॥
हमारे तुम्हारे मध्यस्थ, राखे, और जाहि बढो बूझि देखी तिहूँ वै कहा है काँम ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी को चौपरि को सौ खेल, इक गुन, दुगुन, तिगुन, चतुरागुन री जाके काँम ॥”

अलौकिक नृत्य-समाज जुड़ा है। श्याम मोरों के संग नाच रहे हैं। कोकिला अलाप ले रही है। पपीहा सुर भरता है। मेघ मृदंग बजाता है। दामिनि दीप दिखा रही है। सारी प्रकृति ही नटवर किशोर के नृत्य-विलास में सहयोग दे रही है। कृष्ण ने अपनी कला से राधेजू को मुग्ध कर लिया और स्वामिनीजू ने उन्हें कृपाकर आलिंगन का पुरस्कार दिया—

राग-मलार

“नाँवत मोरैन-संग स्वामि मुदित स्वामी रिखावत ।
तैसीऐ कोकिला अलापत, पपीहा बेत सुर, तैसौई मेघ गज्जि मृदंग-बजावत ॥
तैसीऐ स्वामि घटा निशि कारी, तैसीऐ दामिनी कोधि दीप-दिखावत ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी स्वामी-कुंजबिहारी, रीति राखे हँसि कंठ लगावत ॥”

घटा घहरा आई। वृद्धें गिरने लगी। नन्ही-नन्ही बूढ़ों की फुहार बड़ी भली लग रही है। युगल किशोर का भवन में जाने को मन नहीं करता। रसिकवर बोले—‘अपने श्रीभग की चुनरी मुझे दे दीजिए। कहीं भीग न जाय और फिर अपने वक्षस्थल में आपको ऐसा छूपा लूँगा जो बीछार की फुहिएँ भी न लगेंगी। विजली कोच रही है। अब ‘हो’ कीजिए, यह ‘हैं’ करने का अवसर नहीं—

राग-मलार

“बूढ़ें सुहावनी री लागत, मति भीजें तेरी चुनरी ।
मोहि वै उतार धरि राखो बगल में सों चुनरी ॥
लागि लपटाइ रहै छाती सो छाती, जो न भावें तोहि बीछार की फूनरी ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्वामी-कुंजबिहारी कहत, बीजुरी कोजें करि हाँ कि हूँ न री ॥”

उषर बीछारे आई और उषर रस बरसने लगा—

राग-मलार

“भीजन लागे री, बोक जन.

अंचरा की ओट करत बोक जन ॥

अति उनमत्त रहत निसि-वासर, राग ही के रंग रेंगे बोक जन।

‘श्री हरिदास’ के स्वांमी-स्यामा-कुंजबिहारी, प्रेम परसपर नृत्य करत बोक जन ॥”

कविजन, सावधान ! कही श्यामा-स्याम के इस नृत्य-विहार को दामिनी और मेघ की परस्पर क्रीडा की उपमान दे बैठना, वरना झूठे वनोगे। युगलकिशोर की केलि को देख दामिनी मेघ से कहती है, ‘जिन्होने इन दोनों की उपमा हम से दी वे बड़े अनजान थे। सच्चे मेघ तो घनस्याम हैं और क्षची विदु-त्सला श्यामाजू। भला कभी किसी ने सुना है कि कण बूद से बड़ा होता है या बूद समुद्र से श्रेष्ठ है। अटल-प्रीति के मन्वैया इन कहँया और किशोरी के देह-सौंदर्य के आगे हम जब लोगो की भला क्या गिनती—

राग-मलार

“दामिनि कहत मेघ सो हमारी उपमा देहि ते झूठे, एई मेघ, एई बीजुरी साँची।

जिन-जिन हमारी उपमा दीन्हो, तिन-तिन की भति काँची ॥

ऐसी कहँ सुनीं जु बूंद तें कन न्यारी, ता पटतर ब्यो बीजें समुद्र राँची।

‘श्री हरिदास’ के स्वांमी-स्यामा-कुंजबिहारी, अटल प्रीति साँची ॥”

मालूम होता है कि स्वामी हरिदास जी को श्रीवन (निधिवन) की वर्षाऋतु अन्य सब ऋतुओं से प्यारी लगती है। चारो ओर ओरो की कुहकन, मेघ की गर्जन, वृदावन के लता-वृक्षों की शोभा, इंद्र-धनुष की छटा, हरी-हरी भूमि, उसपर लाल-लाल वीर बूटियों का रेगना—क्या ही अद्भुत दृश्य है। वे कामना करते हैं कि ऐसी ऋतु तो सदा सर्वदा बनी रहे। इसी ऋतु में तो बिहारी और बिहारिनि का रति-रग दिन दूना वृद्धि पाता है। यही तो उनके मिल कर मलार गाने का समय है—

राग-मलार

“ऐसी रितु सवाँ सरबदा जो रहै बोलति मोरनि।

नीके बावर, नीकी बनुष चहँ विसि, नीकी श्रीबूँदावन आछी नीकी मेघनि की धोरनि ॥

आछी नीकी भूमि हरी-हरी, आछी नीकी बूढ़िनि की रँगनि, काम की रोरनि।

‘श्री हरिदास’ के स्वांमी-स्यामा-कुंजबिहारी के मिल गावत, जस्यौ राग मलार कितोर-कितोरनि ॥”

प्रियाजू की एक-एक झाँकी, उनके श्रीअंग की एक-एक झलक निरासी है। प्यारे श्याम-सुंदर के लोचन अमर उस रूप-मकरद का पान करते कभी भ्रमाते ही नहीं। साबलीजू सोघे से स्नान कर फुलबारी में बैठे अलकें सुखा रही हैं—वे अपनी कोमल चपकली सी अँगुलियों से बिखरी सटो को ‘सुखा’ रही हैं। मसृण, चिक्कण, श्यामल सटकारे, केशो में उलझे उनके ज्योतिष्मत् नख जब चमकते हैं तो ऐसी शोभा होती है मानो नव-धन से तारागण झक रहे हों—

रागिनी-गौरी

“सोघे न्हाइ बैठे पैहैरि पट सुंदर, जहाँ फुलबारी तहाँ सुखबत झलकें।

कर-नख-सीमा कल केस संहारत, मनो नवधन में उडुगन झलकें ॥

बिनिष सिगार लिए आगें ठाड़ी प्रियसखी, भयो भवभ्रांति रति-मति-दल-बलकें।

‘श्री हरिदास’ के स्वांमी-स्यामा-कुंजबिहारी की छवि निरलस लागत नाहीं पलकें ॥”

काम-कला-कोविद नवल नटनागर प्यारी की लाड लठाने में सदा व्यस्त रहते हैं। उन्हें रिझाने का कोई भी अवसर वे हाथ से नहीं जाने देते। चाटु बचनों में बड़े चतुर हैं। प्यारीजू को स्नान किये बैठे देखा तो बोले—आपकी बेणी में ही शूयूगा। इस कला में मेरी ‘रीस’ (होइ—बराबरी) कोई नहीं कर सकता। सिर पर ऐसी ‘सिलसिली पाटी’ डालूँ, अलकों के बीच-बीच में चपकली और मयंग

यूषिका गूह कर, डोरी और चक्रिका बाँध, रोरी और सिद्धर की 'पनारी' निकाल, मुदर 'चुटिला' देकर वह सुहार वेणी गूँथू जो आपकी सूटम कटि के मणिमञ्जीर-युक्त प्रदेश में 'हरकती' डोले—

राग-सारंग

“बैनी गूँथ कहा कोड जानें, मेरी-सो तेरी सो ।
बिज-बिज फूल सेत, पिल, रातें, और को करि सकें एरी सो ॥
बंटे रसिक सेंहारन वारन, कोमल कर ककहो सो ।

‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्वामी-कुंजबिहारी, नख-सिख लो-बनाह दें काजर नख ही सों ॥”

इधर प्यारीजू की वैनी गूँथ रही है, उधर सखियों ने अंग-अंग के प्रमाण और वस्त्राभूषण सामने ला रखे । अनेक प्रकार के ‘वागे’ हैं—“नील निचोल, मुखसारी, लाही-अंगिया, अतलस का लाल अतरौटा, नारी कुजर का सिलसिला लहंगा, सार की उडैनी, झूमक सारी, श्याम-कचुकी, चूनी । हाथों के नखों को मेहदी, पाँव के तलुओं को कुकुम, चरण नखों को महावर । पाँवों को मृगमद ।” भ्राम्पण तो अनगिनती है—“सिर के लिए टिपारी, हँसिखड, चुग, चँदिवा, वेणी को चुटिला और चक्रिका, माथे को तिलक, कंठ की जगाली पोत की दुलरी, लाल पाट की चौकी, लटकन, मखतूली पोत, कंठसिरी, हीरक-हार, शजमोतिन के गजरे और कमक-कमल की दो कली, कानों को खुशी (खुहनी), खुटिला, झुलमुली, तरकुली, बीरे, श्रवण-फूल, कुडल और मणि के ताटक, ‘सुवासारी’ नाक को नकफूल, गजमुक्ता, लटकन और नकवेमर, हाथों को चार-चार सादा चूरी, एक-एक कंकण, वलय, खमक, मखतूली, पहुँची, बाँहों को चौपहलू नवैया और अँगुलियों को नगजरी मुँदरी, कटि को किंकिनी, तिरनी, मनि-मञ्जीर और चद्राक तथा दोनों चरणों को इकसार चौवारी (चौपहलू) चूरा, चूँचरू और नूपुर ।” सोलह गृहार कर वनी-ठनी स्वामिनीजू जब मुख-सिंहासन पर बैठी तो श्री बिहारी लाल अति आधीन आतुर हो लटपटाने लगे —

राग-काह्लरौ

“जोवन-रंग रंगीली सोने-से गात, डरारे नैना, कंठ पोत मखतूली ।
अंग-अंग अंगण झलकत, सोहत काननि बीरें सोभा देत, देखत हो बनें जोन्ह में जोन्ह-सी फूली ॥
तन मुखसारी, लाही अंगिया, अतलस अतरौटा, छवि चार-चार चूरी—
पहुँचिन पहुँची खमकि बनी, नकफूल जेव, मुखवीरा चौका कीवें संचम मूली ।
ऐसी नित्य बिहारिन श्री बिहारीलाल संग, अति आधीन आतुर—
लटपटात ज्यो तब तमाल कुंज-द्वार ‘श्री हरिवासी’ जोरी सुरत-हिंदोरें झूली ॥”

मुरतात में चन्ही प्यारीजू की अल्पाभरण छवि लालजू के मन को और भी मोह लेती है । सौंदर्य की अविच्छाद्य स्वामिनीजू के श्रीअंग की असंकरण तो अनुहार भी नहीं करते—

राग-काह्लरौ

“है-सर मोतिन की, एक पुजा पोत की सादा, नैनन बुष्टि लागी जिनि मेरी ।
हाथेन चारि-चारि चूरी, पाँयन इकसार चूरा चौपहलू, इकटक रहे हरि हेरी ॥
एक मरगजी सारी, तन ते कंचुकी न्यारी, अरु अंधरा की बाँई गति मोरि उरसन फेरी ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्वामी-कुंजबिहारी, या रस-जस भए हरे-हरे सरकन मेरी ॥”

श्री राधिका जी का सौंदर्य अंग-क्षण में नवीनता प्राप्त करता है, पल-पल में हुना होता है । कवि तो चकित है कि यह क्या बात है, ऐसा सौंदर्य तो त्रिभुवन में और निकाल में कहीं न होगा—

राग-कल्याण

“यह कोन बात जू अबहि और, अबहि और, अबहि और ।
देव-नारि, नाय-नारि, श्रीरौ नारि, तेन होहि और की और ।

पाछें न सुनीं ऐसी, अबहूँ, आगे हूँ न हूँ हूँ, ये गति रूप की अवधुत और की औरें ।
‘श्री हरिदास’ के स्वामी-स्वामी-कुंजबिहारी, या रस ही बस भए यह सब और की औरें ॥”

श्री निकुंजबिहारी स्वामिनी जी के पूर्णत आधीन है। वे ही तो उनके प्राणों की रक्षा करने वाली है। सदा उनके यश का बखान करने में लगे रहते हैं, फिर भी पार नहीं पाते। राविका जी के गुण भी तो ऐसे हैं जिन्हें गाने बैठो तो बात में से बात निकले। एक जिह्वा भला उनका क्या पार पायेगी—

राग-केदारौ

“रोम-रौम जो रसना होती, तौक तेरे गुन न बखाने जात।

कहा कहो एक जीम सखी री, बात की बात बात ॥

भानु समित और ससि हूँ समित, भई और जुबति जात।

‘श्रीहरिदास’ के स्वामी-स्यामा-कहत री प्यारी, तू राखत भान जात ॥”

कोई पूछे—‘भला ऐसी क्या बात है जिसके कारण कृष्ण भी राधाजी की इतनी चाटुकापी करते हैं। इतनी अनुनय-विनय करते हैं, इतनी कृपजता-ज्ञापन करते हैं? अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के स्वामी, भर्ता और हरता की एक गोप-बधू के समुख इतनी चिरीरी (खुशामद) तो शोभा नहीं देती।’ स्वामी हरिदास जी इस शका का उत्तर देते हैं—‘स्वामिनी जू के महत्व को पहचानो। उनके कृपा कटाख से ही बिहारी, बिहारी हो सके हैं। जिसके दिये गुणों ने उन्हें इस पदवी पर पहुँचाया उसके कृतज्ञ न होंगे। विष्णु में और सब से वे बड़े हैं, पर स्वामिनी जू से बड़े नहीं हो सकते—

राग-काह्लरी

“सुघर भए बिहारी, याही छाँह ते।

जे-जे गटी सुघर जानपने की, ते-ते याही बाँह ते ॥

हूते तौ बड़े अधिक सब ही ते, पै इनकी कस न खटात याहि ते।

‘श्रीहरिदास’ के स्वामी-स्यामा-कुंजबिहारी, जाकि रहे चाहि ते ॥”

रसिक बिहारी हैं तो बड़े आधीन पर आखिर को हैं तो बड़ी—“चौरजारशिखामणि”। कभी-कभी चोरी पकड़ी जाती है तो बड़ी बेढव अटकती है। राधाजी को जहाँ सदेह हुआ कि मान कर बैठे। कभी-कभी तो सलियाँ मध्यस्थ बन जाती हैं, पर जब कोई सखी आसणम नहीं होती तो मनमोहन स्वयं ही समझाने की चेष्टा करते हैं—‘मोचिये तो प्यारीजू, हम-तुम में से ही एक रुठ जायगा तो प्रीति के पन की रक्षा कैसे होगी? हमारी बेवना को जानने वाला यहाँ और कौन बैठा है? मैं और तुम दोनों एक दूसरे का दुतत्त्व कर रहे हैं तो श्रीरो को बीच में डालने प्रीण उनसे निपटारा कराने की क्या आवश्यकता है—

राग-विभाग

“प्यारी, हम-तुम बोक एक कुंज के सखा, रुठें क्यों बनें।

इहाँ न कोऊ मेरी न तेरी हित, जो यह पीर जनें ॥

हाँ तेरी बसोठ, तू मेरी, तो मेरे बीच और न सनें।

‘श्रीहरिदास’ के स्वामी-स्यामा-कुंजबिहारी, कहत प्रीति पनें ॥”

कभी-कभी अपने समझाने से बात नहीं बनती तो श्री हरिदास जी (सखी भाव में स्वामी हरिदास जी) की गवाही दिलानी पड़ती है। हरिदास जी का विश्वास स्वामिनी जू की भी बहुत है। उनकी बात मान व ‘रिस’ छोड़ देती है—

राग-काह्लरी

“राधा सो रसिक कुंज-बिहारी कहत, जू हों न कहूँ गयीं सुनि-सुनि राखे तेरी-सो।

मोहि न पत्याहू तो संग हरिदासी हुती, प्रीति बेखि, भट्ट कहि घों कहा भयो मेरी-सो ॥

प्यारी तोहि गठों न प्रतीति, छाँड़ि छोया जान ई इतनी सब ए री-सों।

‘श्रीहरिदास’ के स्वामी-स्यामा-कुंजबिहारी, राहि सटपटाइ रहे बोक छँल, छाती तो छाती लगाइ कर केरी-नो ॥”

परंतु हरेबार ऐसा सस्ता दाँव नहीं चलता। स्वामिनी रुठ कर जा बैठी, रासमंडल में आती ही नहीं। प्रीतमजू घाट देखते-देखते थक गये। तब हरिदासी जी गई, किसी-किसी भांति मना-मनू कर बुज-भवन में लाई। राधाजू के आगेप तो सच्चे थे, अतः श्याम उन्हें देख केवल हाथ जोड़ मौन होकर रह गये। कुछ करते न बना। हरिदासी जी कटुती है—तला, खोट तो प्राप्त करते हो और फिर चाहते हो कि प्यारीजू तुम्हारा कैलि का धामधन स्वीकार कर ले। क्यों बरे? भला 'जात के हेटे' की राधी खीर कौन सा ऊँच जाति का खा लेगा।' वह तो यह कहो कि मैं न जाने कैसे-कैसे इन्हें गना लाई—

राग-केवारी

“प्यारी अब क्यों हैं-क्यों हैं आई हैं।

तुम इत बहुत रुमित भनमोहन, मैं क्यों हूँ समझाई हैं॥

उत हठ करत बहुत नव नागरि, तैसी ये नई ठकुराई हैं।

‘श्री हरिदास’ के स्वामी-पर्यामा-कुंजविहारी, कर जोर भोन हूँ दूबरे की राधी खीर कहीं कौनों खाई हैं॥”

धन्य है वे सत शिरोमणि स्वामी हरिदास जिन्होंने श्री श्यामा और कुंजविहारी के नित्य विहार की डम प्रकार प्रत्यक्षवत् अनुभूति प्राप्त की और अपने अनन्य राग और परम विराग का चरमोत्कृष्ट मार्ग साधकों को दिखा गये और संसार को उपदेष्टा दे गये कि हित करना है तो कमल-नयन से करो, जिसके प्रेम के आगे सभी प्रेम फीके हैं, या साधु-संगति से हित करो, जिससे मन की शुद्धि हो। संसार का हित तो ऐसा है जैसे बासी फूल का रंग और कुंजविहारी का हित ऐसा है जैसे मजीठ का रंग जो धोये न बुले। इसी प्रेम से जीव के हित का चरम साधन होता है —

“हित तो कीज कमल-नयन सो, जा हित के आगे और हित लागे फीको।

कै हित कीज साधु संगति सो, कल-मल जाइ जी को॥

हरि की हित ऐसी जैसी रंग मजीठ, संसार को हित जैसी कसूम दिन डुती को।

कहि ‘श्री हरिदास’ हित कीज विहारी सो, और निबाह जानि जी को॥”

स्वामी जी ने बताया कि हरि के नाम लेने में आलस्य मत करो। काल सिर पर सँहरा रहा है, न जाने कब छायेगा और अधी की तरह उठा ले जायेगा। तब हीरा-जवाहर हाथी-कोड़े, और जनी-ठनी वनिता कोई साथ नहीं जायगा। इसलिये तुरत संसार का मोह छोड़ हरि की शरण गहो—

“हरि के नाम को आलस मत करत है रे, काल फिरत सर-साँचे।

बेर-भुबेर कछू नहि जानत, चढ़यो फिरत है कबिँ॥

हीरा बहुत जवाहर सचे, कहा भयो हस्ती दर बाँचे।

कहि ‘श्री हरिदास’ महल में बनिता बनि ठाडी, एकौ न चलत जब आवत भंत की बाँचे॥”

संसार भ्रम में पड़ जाय, परंतु हे वैष्णव! तुम भ्रम में न पड़ जाना। जिस पति की शरण में आने को गले में कठी बाँधी है उसे छोड़ किसी दूसरी ओर ताकना भी तुम्हारे पतिव्रत ओ दूषित कर देगा। भक्ति के पथ में चलनेवाला जब हरि के चरणों की अनन्य प्रीति प्राप्त करने के लिए संसार को छोड़ता है, तब उसके सभी वधनों को तोड़ कर आता है। सहज भक्ति के मार्ग में यज्ञ और देव-पूजा, पितृ-सर्पण और धाढ़ सभी कुछ बाधक हैं। अग्नि, देवता और पितरों को मनाने में जोर रहे तो प्यारे कुंजविहारी को क्या भूँड़ लेकर रिझाओगे—

“लोग तो भूलें भूलें, तुम मति भूलो माता घारी।

अपनो पति छाँड़ि औरन सों रति, ज्यो बारन में बारी॥

स्वामि कहत ते जीव मोसो बिमुख भए, ऐसीक कौन जिन दूसरी करि बारी।

कहि ‘श्री हरिदास’ जम्म, देवता, पितरों को अछा भारी॥”

भक्त के लिये एक ही धर्म है, एक ही मार्ग है। संसार के सारे लबाजमें जो छोड़ मृत्तिका या कच्चा हाथ मे ले और श्यामा तथा कुंजविहारी की पावन चरण-रेणु से अकित व्रज-वीथियों को दुबारा करे। प्रीति के शृंगार के अर्थ जीवन (निधि वन) की लताओं से गुजा एकत्रित कर उनकी माना पिरोये। गोधो, बछरो, मृगी और मृग-छोनो को छोड़ किसी और के शरीर पर दृष्टि भी न डाले। अनन्य प्रीति के पथ में एक-एक पग फँक-फँक कर रखना पड़ता है। जैंगे गूजरों का चित्त प्रतिक्षण अपने सिर पर रखी मटकी में लगा रहता है कि ब्यान बँटा और मटकी हाथ से गई, उसी प्रकार एकतान वृत्तिसे श्यामा और कुंजविहारी ने ली लगी रहे। यही भक्त के जीवन का परम पुरुषार्थ है—

‘मन लगाइ प्रीति कीजँ कर करवा सो, व्रज-बीधिन दीजँ सोहनी ।

बूँदावन सो, उपवन सो, गुंज माल पोहनी ॥

गो-गो-सुतनि सो, मृगी-मृग-सुतनि सो, और-तन नँकु न जोहनी ।

‘श्री हरिदास’ के स्वामी-श्यामा-कुंजविहारी सो चित्त, ज्यो सिर पै बोहनी ॥”

इस लेख में वस्त्रामूपणो तथा नृत्य-गीत-वग्धादि के भेदों के जितने भी नाम प्रयुक्त हुए हैं उनमें से अधिकांश ‘स्वामी’ हरिदास जी की वाणी के हैं। शेष स्वामी जी के ही समकालीन बूँदावन-निवासी महानुभावों तथा—श्री हरिराम व्यास प्रभृति की वाणी से लिये गये हैं।



ऋचारूपी गोपियाँ

श्रुत्यन्तर रूपाणां गोपिकानाम् ।

—वल्लभाचार्ये

ब्रजसुन्दरि नहिं नारि, रिचा-स्रुति को सब आहों ।
मैं ब्रह्मा अरु सिब पुनि लछमी, तिन सँम कोऊ नाहों ॥

—सूरसागर

वेद-रिचा होइ गोपिका, हरि सों कियौ बिहार ।

—सूरसागर

वल्लभाचार्य : वचन सूर-प्रति

“सूर हैं कें ऐसौ काहे विधियातु है, कछु भगवद-जम वरनन करि ।”

—चौरासी वैष्णव . वार्ता

बल्लभाचार्य का साधन मार्ग

श्री बलदेव उपाध्याय

वल्लभाचार्य भारतवर्ष के माननीय आचार्यों में अन्यतम हैं। इन्होंने पंद्रहवीं शताब्दी में यह संप्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा की। इस संप्रदाय के माननीय आचार्य थे—श्रीविष्णु स्वामी, परंतु कराल कलि के विलास में उनका आचार्य रूप में केवल अभिमान ही अवशिष्ट है। वैष्णव-ग्रंथों में उपलब्ध उल्लेख उनके जीवन-वृत्त विषयक हमारी जिज्ञासा को कथमपि शांत नहीं करते। नाभादासजी के 'भक्तमाल' से पता चलता है कि विष्णु स्वामी के संप्रदाय में ही गभीर भक्ति ज्ञानदेव नामक सत हुए थे तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना बुद्धाद्वैत मूलक पुष्टि-मार्ग चलाया। यदि ये ज्ञानदेव, सुप्रसिद्ध गीता-व्याख्या ज्ञानेश्वरी के रचयिता 'ज्ञानदेव' (१२७५-१२९६ ई०) ही हों, तो यह उल्लेख अपना ऐतिहासिक मूल्य रखता है। रसेश्वर-दर्शन के प्रसंग में भावभाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में इनका एक पद्य प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। इन्हीं वैष्णवों के यह संप्रदाय के प्रवर्तक श्री विष्णु स्वामी के मत का उद्धार किया श्री वल्लभाचार्य (जन्म १४७६ ई०) ने। ब्रज-भाषा का सर्वातिशायी मधुर साहित्य वल्लभाचार्य के व्यापक महत्त्व को सदैव उद्घोषित करता रहेगा। 'अष्ट-छाप' के विख्यात भक्त कवियों की कविता आप ही के छाप के कारण इतनी समृद्ध हुई थी। हिंदी-साहित्य-गगन के सूर्य स्थानीय सूरदास जी आचार्य वल्लभ के ही पट्ट शिष्य थे तथा सूर की पदावली में वल्लभ के भक्त-सिद्धांतों की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है, इसे हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञों के सामने उद्घाटन करने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

आचार्य वल्लभ की दार्शनिक दृष्टि बुद्धाद्वैत की है, जिसका व्यवहार पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रख्यात है। आचार्य जीव और ब्रह्म की नितात एकता के पक्षपाती हैं, परंतु उनके विचार में ब्रह्म नितात विषुद्ध माया के संपर्क लेख से भी सर्वथा अस्पष्ट रहता है। माया शबल ब्रह्म के मानने वाले शाकर-वेदांत से अपने मत की भिन्नता दिखलाने के लिये उन्होंने 'अद्वैत' से पूर्व 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग कर अपने मत की शुद्धाद्वैत के नाम से व्यवहृत किया है। 'शुद्धाद्वैतमार्तंड' इस विचित्र नामकरण का यही कारण वतलाता है—

“माया संबंध रहितं शुद्धमित्युच्यते त्वं: ।

कार्य कारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥”

माया के सबंध से रहित होने के कारण ब्रह्म शुद्ध कहा जाता है और यही माया रहित स्वतंत्र ब्रह्म इस ससार में कार्य तथा कारण रूप सर्वत्र व्यापक है। इसी कारण यह मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस मत में ब्रह्म सर्व-धर्म-विशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विशुद्ध धर्मों की सत्ता भी नित्य है। अद्वैत-वेदांत के अनुसार ब्रह्म का श्रेष्ठ रूप निर्गुण है। वह माया के सबंध से सगुण रूप धारण करता है। वह सगुण के सम प्रतीत होता है, परंतु शुद्धाद्वैती-वल्लभ माया की सत्ता स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म-विशुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती, प्रत्युत वह स्वाभाविकी है। भगवान् की महिमा अनवगाह्य है। अखिल रसामृत भूति श्री भानद-कद कृष्ण ही यह परम ब्रह्म है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में प्राविर्भूत होता है। भगवान् सच्चिदानंद रूप है। वह अपनी इच्छा से अपने तीनों गुणों को लेकर ईश्वर रूप से प्रकट होता है। वे अपने भानदास को तिरोहित कर जीव की सृष्टि करते हैं और चित् तथा भानद-दोनों को तिरोहित कर जब जगत् की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार ईश्वर में सत्, चित् तथा भानद इन तीनों गुणों का विकास रहता है और 'आनंद' की ही प्रधानता रहती है। जीव में आनंद को छोड़कर शेष दो गुण विद्यमान

रहते हैं और चित् की प्रधानता रहती है। जगत् में एक ही गुण विद्यमान रहता है और वह है केवल 'मत्', प्रग-
जड में सत्ता की ही एकमात्र स्थिति रहती है।

भगवान् ही इस सृष्टि के कर्ता है। इच्छा वाला ही व्यक्ति किसी कार्य का कर्ता या सहायक बनता है, भगवान् तो वही आप्त काम। तब स्पृहा कैसी ? “आप्त कामस्य का स्पृहा”। इसका उत्तर बन्तभाचार्यदेवें है कि भगवान् स्वतन्त्र है। यह जगत् उनकी लीला का विलास है। वह स्वेच्छया श्रीडा में निरत होने हैं। मुनि जिस प्रकार लीला हैं, सहार भी उसी प्रकार लीला हैं। वह लीला-निकेतन सलित लीलाएँ किया कर्मा हैं। हमारी श्रीडा या वालक की श्रीडा तथा भागवती श्रीडा में विशेष अंतर है। इस भेद का स्पष्टीकरण यह स्मरण करता है—

"क्रोडायामुद्यमोऽर्मस्य कामदिवक्रोडिषाऽन्यत ।

स्वतस्तुप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः ॥”

अर्मक की क्रीडा में तीन बातें साफ दीख पड़ती हैं—उद्यम, बालक का प्रयत्न, काम-देखना नया दृष्टि के साथ की अपेक्षा, परन्तु भगवान् तो स्वतः तृप्त ठहरे, समग्र कामनाएँ तृप्त हैं तथा सदा दूसरे में निवृत्त रहें। अतः उनमें उद्यम तथा अन्य-सम्पर्क की आवश्यकता ही नहीं रहती। हा, विनाश की इच्छा प्रबल रहती है। गरी तो लीला है, परन्तु पूर्णतः रूप भगवान् में यह न तो कोई प्रयास उत्पन्न करती है और न कोई बाहरी शक्ति में पैदा करती है। इस लीला-सत्त्व की व्याख्या सुबोधिनी में आचार्य चरण ने बड़े ही सुंदर पन्नों में की है—

“सीला नाम विलासेच्छा । कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम् । न तथा कुर्याद्विहि कार्यं जन्तवे जगितमरि
कार्यं नामिप्रेतम् । नापि कर्तरि प्रयास जनयति । किंतु अंतःकरणे पूर्णं ज्ञानदे तद्वत्सासेन कार्यजनन मद्वौ
क्रिया काचिदुत्पद्यते ।”

—सुखोधिनी, भागवत तुनीय-स्वप

द्विविध मार्ग

बल्लभाचार्य के अनुसार मार्ग दो प्रकार के होते हैं—मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग। मर्यादामार्ग यौन मार्ग है, जिसमें लोक-भयविदा की रक्षा प्रधान लक्ष्य है। मर्यादामार्ग का मूल मंत्र है—“कर्मण्येवाङ्मयः कृतम्। जैत्रं जैना कर्म करेण, भगवान् उने वैसा ही फल देते हैं। कर्म की विशेष महिमा है। कर्म के द्वारा जीवबद्ध को फल देने के लिए भगवान् भी कर्म के द्वारा परतत्त्व है। भगवान् फल देने के लिये जीव के कर्मों की रक्षा करते हैं। कर्म का करना प्रयत्न के ऊपर सापेक्ष है। प्रयत्न में काम की अपेक्षा है। काम में प्रवाह की रक्षा रहती है। इसी मर्यादा की रक्षा करने के लिये भगवान् ने वेद की रचना की। इसलिए वेद में दोष नहीं है। श्रीगुरु ने हममें उत्तम ऐश्वर्य-भाव का ही अभाव मयत्न होता है। मर्यादामार्ग की निमित्त ऐसी है कि दत्त फल प्रदान करने के लिए जीवों के कर्मों की अपेक्षा करते हैं। वे स्वयं उस विषय में मयत्न करते हैं। आचार्य के शब्दों में ही मर्यादामार्ग की विचित्रता देखिए—

“कलदाने कमपिषः । कर्मकारये प्रयत्नापेक्षे । प्रयत्ने कामपेक्षे । कामे प्रवृत्तपेक्षे । इति मर्यादा रक्षार्थं वेद चकार । ततो ब्रह्मविदो योगधर्मोपनिषन् आनीदमन्वत्सम् । मर्यादानामास्य तथैव निर्माणम् ।”

—सन्तुभाष्य सूत्र, २१२।१०

[illegible]

“पौषणं तदनुग्रहः” ।”

—भागवत २।१०।४

ज्ञान-कर्म की अपेक्षा मर्यादामार्ग में रहती है। पुष्टिमार्ग इनके निरपेक्ष रहता है। पुष्टि का प्रधान साधन है भक्ति-प्रपत्ति। बिना भगवान् के शरणापन्न हुए भक्ति नहीं होती और यह भक्ति भी ‘आनन्द-कव श्री ब्रजचन्द’ के अनुग्रह से ही साध्य है। जगत का साधारण व्यापार भी बिना भागवती कृपा के सुलभ नहीं होता, तब भक्ति जैसे पदार्थ की प्राप्ति भी उसके बिना सुतरा दुष्कर है। भागवत जिसे ‘पुष्टि’ के नाम से पुकारता है वही है तन्त्रों की भाषा में ‘शक्तिपात’। किन्हीं धर्म में इसी का नाम है—

Descent of Divine Grace (डिसेंट ऑफ़ डिव्वाइन ग्रेस)

जीव में भगवत् कृपा का पतन होने पर ही वह अकुठित शक्ति होकर भुक्ति की ओर अग्रसर होता है, भक्ति करने का अधिकारी बनता है। वल्लभाचार्य के शब्दों में पुष्टिमार्ग—

“अनुग्रहक साध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः ।”

—शं. सू०-४।४।६ पर अनुभाष्य

पुष्टिमार्ग एक अनुग्रह के ही द्वारा साध्य होता है, इसकी सिद्धि का अन्य मार्ग है ही नहीं। इसलिए यह प्रमाणमार्ग (मर्यादामार्ग) से विलक्षण होता है। पुष्टिमार्ग वही है जिसमें साधक सर्वथा समग्र विषयों को त्याग कर अपनी देह, वासना, कामना-आदि समस्त पदार्थों का समर्पण भगवान् में कर देता है—

“समस्तविययत्यागं सर्वभावेन यत्र हि ।

समर्पणं च वेहादेः ‘पुष्टिमार्गं’ स कथ्यते ॥”

इस मार्ग में भक्ति ही प्रधान साधन है। भगवान् सर्वथा स्वतंत्र हैं। फल देने के लिए वे कर्म की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखते। वह सर्वशक्तिशाली प्रभु अपनी दया से आत्म समर्पणशील जीवों का उद्धार करता है। वह उनके न तो कुकर्माँ पर दुष्टि डालता है और न वह उनके अज्ञान की ही ओर अपना ध्यान देता है। इस मार्ग में भगवान् की भगवत्ता तथा सर्वशक्तिमत्ता का पूर्ण रक्षण है। भगवान् को कमसिद्धी मानने वाले मार्ग भगवान् की शक्तिमत्ता का निर्वहण क्या अच्छे ढंग से कर सकते हैं ?

व्यवहार-यक्ष

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धांत। अब इसके व्यावहारिक साधन की ओर ध्यान दीजिए। इसका जिस विधि के द्वारा व्यावहारिक रूप निष्पन्न होता है उसका सप्रदाय में अभिधान है—“ब्रह्म संबंध”। आचार्य वल्लभ ने अपने ‘सिद्धांत रहस्य’ नामक प्रख्यात स्तोत्र में इस अनुष्ठान का उत्प्रेक्ष स्वयं किया है। इस अनुष्ठान के द्वारा भागवत-तत्त्ववेत्ता गुरु, मुमुक्षु शिष्य का भगवान् के साथ सबंध जोड़ देता है। अधिकारी शिष्य को ही सुयोग्य गुण ‘शरणागमन’ का उपदेश देते हैं। यह मननीय मंत्र है—

“श्रीकृष्णं कारणं मम ।”

आचार्य पाद ने स्वयं इस मंत्र के विषय में अपने ‘नवरत्न’ में कहा है—

“तस्मात् सर्वात्मना नित्यं ‘श्री कृष्णः कारणं मम ।’

यदिभरेत् सततं स्थेयमित्येष मे भक्तिः ॥”

—नवरत्न, ६

इसके अनंतर गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रह के पास ले जाता है, कंठी और माला बेकर ‘दीक्षामंत्र’ का उपदेश देता है। यह सुतरा योग्य मंत्र ‘आत्मनिवेदन मंत्र’ के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधक अपनी समस्त

स्थितिवैकुण्ठविजयः “पौषणं तदनुग्रहः ।

मन्त्रतराणि सद्धर्मं ऊतयः कर्मवासनाः ॥

वस्तुओं को अपनी देह, इन्द्रिय, प्राण, अतः करण को, उनके धर्मों के साथ अपनी आत्मा को भी भगवान् को निवेदन कर देता है । वद मत्र यह है—

“सहस्र परिवत्सरमितकालजातं कृष्णं वियोगं जनितं तापत्कोट्यान्तं तिरोभाषोऽहं भवतो कृष्णाय
वेहेन्द्रियं प्राणांतं करणानि तद् धर्माच्च दारामार पुत्रास्त्यवितोहापरणि आत्मना सह समर्पयामि
दासीऽहं कृष्ण तवास्मि ।”

सुनते हैं कि श्री कृष्ण ने ही आचार्यचरण को इस मंत्र का स्वयं उपदेश दिया था । इस मन्त्र-दीक्षा के अनंतर साधक का नवीन जन्म संपन्न हो जाता है । मर्यादामार्ग में जीव के दो ही जन्म होते हैं, परंतु पुष्टिमार्ग में बीसा के द्वारा जीव का तृतीय जन्म होता है । भक्त को गोष्ठियों का भावार्थ पालन करना चाहिए । भगवान् को आत्म-समर्पण के अनंतर भक्त को अपने जीवन पर तनिक भी ममता नहीं—स्वतन्त्रता नहीं । वह तो यत्रवत् भगवान् की ही प्रेरणा से प्रपन्न में निरत रहे, तो भी उसके पतन का कोई भय नहीं, परंतु साधक में होनी चाहिए सच्ची प्रपत्ति, सत्यनिष्ठा, ऐकांतिकी भक्ति, अनन्या भक्ति । भगवत् की यह उक्ति यथार्थ है—

“तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम् ।

तावन्मोहोऽह्मिः प्रणिगडो यावत् कृष्ण ! न ते जना. ॥”

—भगवत् १०।१४।३६

राग-द्वेष तभी तक चोर के समान हृदयकी छाति को चुराते हैं, तभी तक गृह कारागृह है—जेल-खाने के समान भयानक तथा स्वतन्त्रता का अपहर्ता है—तभी तक मोह पैर का बधन है, जब तक है कृष्ण, हम आपके जन, सेवक, दास, शरणाग्रस्त नहीं हो जाते ।

जगत् के प्रपन्न से भागने की आवश्यकता नहीं है । भाग कर कोई जा ही कहाँ सकता है ? आवश्यकता है इसी ब्रह्म-संबंध की, अपनी समग्र कृतियों को, समग्र कामनाओं को भगवान् को समर्पण कर देने की । भगवान् के दास, भगवज्जन, भवनीय होते ही भक्त की सत्ता ही प्रथमरूपेण नहीं रहती । उसका जीवन भगवन्मय हो जाता है और इसी कारण ससार में साधारणतया जो पदार्थ बधन का कार्य करते हैं वे ही इस दशा में भुक्ति के साधक बन जाते हैं । यह परिवर्तन तथा परिणाम ब्रह्मसबध की स्थापना पर ही सिद्ध होता है ।

मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग

अतः मर्यादामार्ग से पुष्टिमार्ग की विलक्षणता स्पष्ट है । मर्यादामार्ग वैदिक है जो ‘अक्षर ब्रह्म’ की क्षणीय उत्पत्ति हुआ है, परंतु पुष्टिमार्ग पुरुषोत्तम के साक्षात् सरीर से निकला है । ध्येय की भी दोनों में विविधता है । मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवण-स्मृति साधनों के द्वारा सामूह्यभक्ति की प्राप्ति ही ध्येय है, परंतु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना ‘आत्मसमर्पण’ तथा ‘विप्रयोग’ रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्द-धाम भगवान् के साक्षात् अश्वरामृत का पान ही मुख्य फल है । हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग की विशिष्टता अतीव सुंदर शब्दों में अभिव्यक्त की है —

“अनुग्रहेणैव सिद्धिः लौकिकी यत्र वैदिकी ।

न यत्नादप्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गं स कथ्यते ॥”

भक्ति साधन भी है और साध्य भी है । साधन-भूता भक्ति से ज्ञान का उदय होता है और इस ज्ञान के उदय से भक्ति उत्पन्न होती है । गीता के अनुसार भी साधन-मार्ग का यही क्रम है । गीता का साधन-रूप भी यही है—कर्म-ज्ञान-भक्ति । कर्म के मथावदनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में ही ज्ञान-धारण करने की योग्यता है । पूर्णज्ञान के उदय होने पर भक्ति की उत्पत्ति होती है, परंतु यह भक्ति साधन-रूपान्तर होकर साध्य-रूपा है । साधन-रूपा भक्ति ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है, परंतु प्रेम-रूपिणी भक्ति का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जो पूर्ण ज्ञान से संपन्न होता है । गीता ने भक्ति को ज्ञान का साधन स्पष्टतया उद्घोषित किया है—

“भक्त्या भगवन्निजानाति भगवान् पश्यामि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते यद्वनंतस्म ॥”

—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।१५

साधक भक्ति के द्वारा भगवान् को तत्त्वतः जानता है। तत्त्व-ज्ञान की दो रूप से प्राप्ति होती है—
“यवान् और य” —भगवान् का विस्तार तथा भगवान् का तात्त्विक स्वरूप। जगत् का यह विस्तार उपाधिकृत है। यह समग्र जगत् ही उसके विस्तार का पर्यवसान है, परन्तु यह समस्त उपाधिनिमित्त है; भगवान् का “तत्त्वतो पश्यामि ।”

तात्त्विक रूप समग्र उपाधियों से रहित है। वह उत्तम पुरुष है तथा आकाश के समान निरञ्जन, अद्वैत तथा अमर है। इसकी उपलब्धि भक्ति के द्वारा होती है।

भक्ति-मीमांसा

संपूर्ण ज्ञान होने पर ही सच्ची भक्ति का उदय होता है। शाब्दिक के शब्दों में भक्ति ईश्वर में परा, श्रेष्ठ अनुरक्ति है—“सा परानुरक्तिरीश्वरे” । भक्ति परम प्रेम-रूपा है। भक्त शिरोमणि रूप गोस्वामी ने भक्ति का बड़ा ही सुंदर तथा तात्त्विक लक्षण इस प्रकार किया है—

“अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माधनाबुद्धम् ।

ज्ञानकूलेन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥”

—भक्तिरसामृतसिंधु १।१।११

भगवान् श्री कृष्ण परमहंसोत्पद हैं। भक्त उनके अनुशीलन को भक्ति कहते हैं, जिसमें अन्य किसी पदार्थ की अभिलाषा न हो, ज्ञान (निर्गुण ब्रह्मानुसंधान) तथा कर्म (स्मृति में प्रतिपादित नित्य-नैमित्तिक-आदि) का आचरण न हो, परन्तु कृष्ण के अनुकूल होनेवाली प्रवृत्ति की सत्ता हो। इस भक्ति का उदय ज्ञान के के अनन्तर ही होता है। इसी लिए ज्ञानी भक्त की गीता में सर्वश्रेष्ठ भक्त के रूप में गणना है। इतना ही क्यों ? ज्ञानी भक्त तो भगवान् की ही आत्मा है—“ज्ञानी त्वात्मेव मे मतम्” । ज्ञानी भक्त की इस महती प्रतिष्ठा का एक कारण है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्त सकाम रहते हैं, क्योंकि वे अपनी किसी कामना की पूर्ति में निरत रहते हैं, परन्तु ज्ञानी होता है अमृत काम, अर्थात् निष्काम भक्त। कामना विरहित होने से ही ज्ञानी भक्त भगवान् का विशेष प्यारा होता है। गीता के ऐसे कथन की ‘ब्रह्मसूत्र’ भी प्रमाणित कर रहा है। ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट कथन है कि भगवान् मुक्त पुरुषों के द्वारा उपसर्पणीय होते हैं—

“मुक्तोऽप्युपसर्पयिष्यात् ॥” १।२।४

सागवत पुराण भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन विशिष्ट शब्दों में इसी प्रकार करता है—

“आत्मा हि मुनयो निर्गुण्यप्रभुरक्रमे ।

कुर्वन्त्य हेतुर्कीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥”

—सागवत

आशय यह है कि भगवान् श्री कृष्णचक्र इतने कमनीय गुणों के आगार हैं कि ससार की अभियों का उन्मोचन करने वाले भी, आत्मा में रमण करने वाले सत लोग भगवान् में बिना किसी कामना के ही भक्ति किया करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णज्ञानी ही भक्ति का विशिष्ट अधिकारी होता है, परन्तु यह साधन-भक्ति न होकर साध्य-रूपा भक्ति है। चैतन्य संप्रदाय के लोग भक्ति की तीन भूमिकाएँ मानते हैं—(१) साधन-भक्ति, (२) भाव-भक्ति तथा (३) प्रेमा-भक्ति। साधन-भक्ति वैबी तथा रागानुगा रूप से दो प्रकार की है। साधन-भक्ति का उत्कृष्ट रूप भाव-भक्ति है और यह धनीभूत भाव ही प्रेमा-भक्ति के नाम से कहा जाता है। रूप गोस्वामी के शब्दों में अंतिम दोनों भक्तियों के रूप इस प्रकार है—

“शक्तिभविष्यत्तात्पुण्यकृदसौ भाव उच्यते ।

भावः स एव साक्षात्मा बुधः प्रेमा निगद्यते ॥”

गौडीय वैष्णवों की भक्ति के इन तीन प्रकारों को वल्लभ-भक्तों ही प्रकार की भक्ति के अतर्गत मानते हैं। एक है मर्यादाभक्ति और दूसरी है पुष्टिभक्ति। जिनमें पहली है साधन-रूपा और दूसरी है साध्य-रूपा। भक्ति होने में यही सर्वतोभावेन श्रेष्ठ साधन है।

इस प्रकार वल्लभाचार्य के मत से भगवान् श्री कृष्ण ही परम ब्रह्म हैं। उनके अनुग्रह से ही जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। इसका प्रधान साधन साध्य-रूपा भक्ति है। वल्लभ-मत के अनुसार ससार में तीन ही मुख्य लक्ष्य हैं—(१) आचार्य वल्लभ का आश्रय। (२) भागवत् पुराण की वल्लभाचार्य रचित रहस्योद्घाटिनी सुवोधनी नामक टीका। (३) भगवान् राधिकानाथ श्री कृष्ण की उपासना। बस वल्लभ-मत में ये ही तीन सार हैं।

“नाभितो वल्लभावीक्षो न त दृष्टा सुबोधिनी ।

नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतल ॥”

और स्तुति-रूप में—

“नायावाधिकरींद्र दर्पबलने नास्येदु राजोद्गत,

श्रीमद्भूगवताख्यदुर्लभ सुधावर्षेण वैदोक्तिभिः ।

राधावल्लभसेवया तदुचितप्रेम्णोपवेशैरधि,

श्रीमद्वल्लभनामधेयसद्वृत्तो भावी न भूतोऽस्त्यपि ॥”

—स्फुरत्कृष्णप्रेमाभूत, ५



नंददास : अष्टद्वाप

श्री राकेश गुप्त

उस युग में भी, जब कि समालोचना का एक शास्त्र के रूप में विकास नहीं हुआ था और लेखकों को भाषा, भाव तथा यैली सबकी विधेयताओं का सूक्ष्म विवेचन करने के लिए बड़े-बड़े लेख अथवा ग्रंथ नहीं लिखे जाते थे, हमारे देश के सहृदय काव्य-प्रेमी किसी भी कवि का वास्तविक मूल्य पहचानने में प्रायः कोई भूल नहीं करते थे। वे विन्न रसिक अपने अध्ययन के निचोड़ के रूप में कभी-कभी किसी लेखक के सबंध में सूत्र रूप में कोई ऐसी बात कह देते थे जो अपनी यथार्थता के कारण शीघ्र ही व्यापक प्रचार पा जाती थी। महाकवि नंददास के संबंध में भी इसी प्रकार की एक अत्यंत प्रसिद्ध उक्ति है—

“नंददास जडिया, और सब गडिया।”

यद्यपि इस उक्ति के कहनेवाले का परिचय आज हमें प्राप्त नहीं है, पर इसकी औचित्य एवं सार्थकता को सराहना एक स्वर से हिंदी के सभी समालोचकों ने की है। नंददास ने अपनी रचनाओं में कहीं पर तो भस्कर की मुसम्मत मनोहर पदावली की योजना की है और कहीं पर नित्य प्रयोग में आनेवाले बोलचाल के शब्दों की स्वाभाविक छटा दिखाई है, पर दोनों स्थलों पर शब्दों का चुनाव इतना सयत एवं उपयुक्त है कि वे सचमुच ही कविता की स्वर्णमयी स्रोतस्विनी में रत्न-दीपों की भाँति चमकते हुए प्रतीत होते हैं।

बोलचाल की ब्रजभाषा के सहज एवं स्वाभाविक सौंदर्य के दर्शन हमें नंददास के ‘भैरवगीत’ में होते हैं। इस रचना में लेखक ने माधुर्य और प्रसाद की एक अजस्र-धारा प्रवाहित करने के साथ ही साथ अपनी प्रबल-पटुता एवं सगीत-मर्मज्ञता का भी परिचय दिया है। ‘भैरवगीत’ के जिस मार्मिक विषय को महाकवि सूरदास ने मुक्तक के रूप में अत्यंत विस्तार के साथ गाया था, उसी को नंददास ने प्रबल-काव्य के एक छोटे, किंतु सुसंगठित वस्तु-विन्यास में ढाल दिया है। एक रोला तथा एक दोहे के पर्याप्त दस मात्राओं की एक टेक के क्रम में इस रचना की मगीतात्मकता को बहुत बढ़ा दिया है। उद्धव जब ब्रज में आकर गोपियों को श्रीकृष्ण का संदेश सुनाते हैं तथा उनके शीघ्र सौटकर आने की बात कहते हुए उन्हें साल्ना देने का प्रयत्न करते हैं, तो प्रेममयी गोपियाँ श्रीकृष्ण के मधुर रूप का स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो जाती हैं—

“सुनि मोहन-संदेश, रूप सुमिरत हूँ आयी।

पुलकित आँखें अलक भ्रंज आवेस अनायी ॥

विह्वल हूँ घरनी परी, ब्रज बनिता मुरझाई।

दे अल-छाँट प्रमोषहीं ऊँची बात बनाई ॥

धुनी ब्रज नागरी ॥”

वस यही से गोपियों के इस भ्रूलौकिक प्रेम को उनका मोह मात्र समझते हुए उद्धव उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना आरम्भ कर देते हैं और गोपियाँ अपनी अनुभूति और तर्क के आधार पर उद्धव की समस्त उक्तियों का विदग्धता-पूर्ण खंडन करती चली हैं। उद्धव और गोपियों के इस उत्तर-प्रत्युत्तर में, इस सजीव कथोप-कथन में, एक विशेष नाटकीय सौंदर्य की सृष्टि हुई है, जिस तक पहुँचने में भैरवगीत के परवर्ती लेखक समर्थ नहीं हो सके। निर्गुण ब्रह्म को ज्ञान की आँखों से देखने के लिए कहने पर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

“कोन ब्रह्म को जोति ? रयान का सो कहौ ऊँची ?

हमरे सुंवर स्थान, प्रेम की मारग सुथी ॥

नैन, बेंन, छुति, नासिका, मोहन-रूप दिखाइ ।

सुबि-बुधि सब मुरली हरी, प्रेम-उगोरी लाइ ॥

सखा सुनि, स्याम के ॥^१

और इसके पश्चात् ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन वे कितने आत्म-विश्वास के साथ करती हैं—

“जो उनके गुन नाहि, और गुन भए कहाँ तें ?

बीज-विना तब जर्म, मोहिं तुम कहाँ कहाँ तें ?

वा गुन की परछाईं री, माया-वरपन-बीज ।

गुन ते गुन न्यारे भए, अमल बारि मिलि कीच ॥

सखा सुनि, स्याम के ॥^२

उद्धव के साथ इस प्रकार कुछ समय तक वाद-विवाद कर चुकने पर गोपियो फिर प्रेम-विह्वल हो जाती है और इस अवस्था में उनके प्रियतम का चित्र उनके नेत्रों के आगे छा जाता है। अब वे उद्धव की ओर से अपना ध्यान हटाकर अपने प्यारे कृष्ण को ही संबोधित करती हुई अत्यंत दीन और करुण वाणी में उनकी बे मर्मस्पर्शी उपालम देती है —

कोऊ कहै अहो स्याम, कहा इतराई गए हो ।

मथुरा की अधिकार पाइ, महाराज भए हो ॥

तथा—

कोऊ कहै अहो स्याम, जहैं मारन जो ऐलें ।

गिरि-शोबरधन-बारि, करी रच्छा तुम कैलें ?

ध्याल, अनल, बिष-ज्वाल तें, राखि लई सब डोर ।

अब बिरहानल बहुत हो, हँसि-हँसि नब कितोर ॥

चोरि चित लै गयो ॥^३

गोपियो के इस उपालम में श्रीकृष्ण के प्रति उनका अनन्य प्रेम तथा उनके हृदय की विश्रुता-पूर्ण वेदना मानो मूर्त हो उठी है। उनके प्रेम के इस सँग-युक्त प्रवाह में यदि उद्धव का ‘नेम’ बह गया और वे उनकी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण करने को तैयार हो गए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इसी समय कहीं से एक और उन ब्रज-बालाओं के बीच में उठकर गुजारने लगा। गोपियो को उसके रूप में मानो एक भवलव मिला। उद्धव से सीधे कुछ अभिय वात कहना कदाचित् शालीनता और शिष्टचार के विरुद्ध होता, पर अब तो वे उस मधुकर के बहाने से उद्धव और कृष्ण दोनों पर कठोर व्यस्य-वाणों की बर्षा करने लगी। ‘नावक के तीरो’ की भाँति वेने ये व्यस्य-वाण न केवल उद्धव को ही बेधते हैं, बल्कि सहृदय पांडुरों के भी मर्मस्थल में गहरा घाव करते हैं। उद्धव के योग की उपमा काले विषाक्त सर्प से देती हुई वे कहती हैं—

“कोऊ कहै री विस्व-मति, जैतिक है कारे ।

कपटी, कुटिल, कठोर, परम मानस मति हारे ॥

एक स्याम-अंग परति कैं जरत आब सों अंग ।

त पाछैं फिर मधुप दै लायी जोग-मुजग ॥

कहा इन को क्या ॥^४

^१ विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमाप्सदा वैद्युतानलात् ।

वृषमयात्मजाद् विश्वतोमयावृषम ते वय रजिता मुहुः ॥

—भागवत १०।११।१३

श्रीमद्भागवत के इस शुकोच्छिष्ट अनुवाद-रूप अमृत फल में—‘अब बिरहानल बहुत हो, हँसि-हँसि नदकितोर, चोरि-चित लै गयो’ रूप उलाहने की अनूठी मिश्री मिलाकर कितनी मथुरा बढ़ा दी है, अन्य कवि ।

फिर वे श्रीकृष्ण को कपटी और गोरस-चोर विशेषणों से विमूषित करती हुई आपस में एक-दूसरे को सावधान करती है—

“कोउ कहूँ रे मधुप, भेव उनहीं की वारधौ ।
 स्यास-पीत गुंजार, बॅन किफिन शनकारधौ ॥
 वा पुर गोरस चोरि कै, फिरि धायो वा बेस ।
 इनको जिनि मानौ कोऊ, कपटी इनको भेस ॥

चोरि जिनि जाइ कछु ॥”

श्रीकृष्ण ने गोपियों को छोड़ कर कुब्जा से अपना जो नवीन प्रेम-सबब जोड़ा है, उसे स्त्रियाँ होने के नाते वे कैसे सहन कर सकती हैं ?—

“कोउ कहूँ रे मधुप, तुम्हें लाजौ नहिँ आर्य ।
 स्वामी तुम्हरी स्यास, कूबरीनाथ कहावें ॥
 ह्याँ नीच पखी हुती, गोपीनाथ कहइ ॥
 अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी जूठन जाइ ॥

मरत कहा बोल को ॥”

पर गोपियों के व्यग्र-बाणों का तूणीर असय तो नहीं था । अतः मे वह रिक्त हुआ और उसके रिक्त होने के साथ ही उनके विरह-सतप्त हृदय से प्रेम का समुद्र आँखों की राह बाहर उमड़ चला । उनके आँसुओं की इस बाढ़ से न केवल उनकी कबुकियाँ और हार ही भीगे, वरन् उसमें उड़ब और उनकी शान की मेंड भी बह चली । उड़ब को विश्वास हो गया कि उनका ज्ञान-मार्ग गोपियों के प्रेम-मार्ग की तुलना में वैसा ही है जैसा हीरे की तुलना में काच—

“जो ऐसैं मरजाव-मेंडि, मोहन को ध्यावें ।
 क्यों नहिँ परमालंद प्रेम-पदवी को पावें ॥
 स्यानि, जोग सब करम ते, प्रेम परे ही साँव ।
 हो यहि पटतर बेल हों, हीरा-आगें काँव ॥

बिषमता बुझि की ॥”

और यह विश्वास होने पर उड़ब के मन में गोपियों और उनके व्रज के प्रति इतनी अद्वा उत्पन्न होती है कि वे ज्ञाप की घूलि अथवा लता बनने की कामना करते हैं ।^१

संस्कृत की सुललित पद-योजना के सहारे माधुर्य गुण की पराकाष्ठा का निदर्शन है नददास की रास-पञ्चाध्यायी । अपनी इस छोटी-सी रचना में लेखक ने अपनी सपूर्ण भावुकता और काव्य-कीशल को मानो ‘गामर में सागर’ के समान भर दिया है । उन्होंने इस कृति के अंत में स्वयं लिखा भी है—

“यह उज्जल रस-माल, कोटि जतनन करि पोई ।
 सावधान ह्वै पहिरौ, इहिँ तोरी मति कोई ॥”

शृंगार के वियोग और संयोग दोनों पक्षों से सबब रखनेवाली अनेक भावनाओं और परिस्थितियों का चित्रण इस रचना में इस कुशलता के साथ किया गया है कि पठते समय नेत्रों के सामने चल-चित्र सा खिंचता चला जाता है । अनुप्रास की अवाध छटा, उत्प्रेक्षा की मधुर उड़ान से इस रचना का स्वाभाविक मोदर्य और भी निखर आया है । इसके अतिरिक्त मिलप्लता के अभाव ने इस रचना के बीच से स्वच्छन्दता-पूर्वक बहते हुए रस के प्रवाह की गति को सर्वदा अप्रतिहत रहने दिया है ।

^१ आसामहोचरण रेणुज्यामहंस्या वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

या दुस्पर्जं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजमुकंदपवर्जो भूतिनिविमृश्याम् ॥

शरद-पूर्णिमा की रात्रि को दूर वन-प्रात से श्रीकृष्ण की मुरली का मनोहर सगीत सुनकर गोपियाँ उनसे मिलने के लिए, माता और पिता, पति और भाई के अवरोध का उल्लंघन करके, घर से चले पड़ी। उनके निकट आने पर श्रीकृष्ण ने प्रेम की जिस तल्लीनता से उनका स्वागत किया, उसकी कितनी सुंदर अन्वना इन पणितियों में है—

“तिनके नूपुर-नौद सुने जब परम सुहाए ।
तब हरि के मन-नैन समिटि सब खनननि भाए ॥
बनुक-सुनुक पुनि भली भाँति सौ प्रगट भई जब ।
पिय के अँग-अँग समिटि मिले है रसिक नैन तब ॥”

कामदेव को भी मोह लेनेवाले श्रीकृष्ण जिनके बस में है, ऐसी गोपियाँ यदि अपने रूप, गुण और प्रेम पर अभिमान करे तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है, पर भगवान् अभी उनके अपने प्रति प्रेम को और भी अधिक बढ़ाना चाहते हैं और इसी लिए वे थोड़ी देर के लिए कुछ में छिप जाते हैं। लेकिन गोपियाँ ?—उनके लिए तो पलकातर का वियोग भी करोड़ों युगों के बराबर है। फिर अलावे इस अवस्था में पागल कैसे न बनें ?

“हूँ गई बिरह बिकल मन, धूमत दूम बेली बन ।
को जड़, को चेतन, कछु न जानत बिरही जन ॥”

हे चंदन, दुल-कंदन सब को जरमि जुडावहु ।
नैद-नंदन जग-नंदन, चंदन, हमहि बतावहु ॥”

पृष्णित लताओं तथा प्रसन्न-नयन हरिणियों को देखकर उन्हें सरल विश्वास हो जाता है कि अवश्य ही उन्हें (हमारे) प्रियतम का स्पर्श और दर्शन प्राप्त हुआ है—

“पूछी री, इन लतनि, फूल रही फूलन जोई ।
सुंदर पिय के परस बिना, अस फूल न होई ॥
हे सखि, ए मृग-बधू, इनहि किन पृच्छतु अनुसरि ।
बहुबहे इनके नैन, अबहि कहूँ देखे हैं हरि ॥”

पर वे वृक्ष और लताएँ, वे पक्ष और पक्षी, वह पवन और पृथ्वी उन्हें क्या उत्तर देते ? अंत में इनके उत्तर न देने पर इतना ही व्यग्य करके रह गई—

“जमुन-निकट के बिटप-पूछि भई निपट उवासी ।
क्यो कहि है सखि, महा कठिन ए तीरथ-वासी ॥”

जब उनका बिरह-उन्माद और बढ़ा, तो वे श्रीकृष्णमयी होकर अनेक प्रकार से उन्हीं की लीलाएँ करने लगी। तत्पश्चात् अत्यंत दीन वाणी में श्रीकृष्ण को पुकार-पुकारकर वे उनसे प्रकट होने की प्रार्थना करने लगी। ऐसा करते हुए प्रेम में अत्यंत विह्वल होकर जब वे अटपटे वचन बोलने लगी, तब अपनी यद और मधुर मुस्कराहट को बिखेरते हुए श्रीकृष्ण एकाएक उनके बीच में प्रकट हो गये। इस समय अपने बिछुड़े हुए प्रियतम से मिलने के लिए गोपियों की आतुरता का दृश्याकन इन पणितियों में कितने स्वाभाविक तथा आकर्षक रूप में हुआ है—

“पियहि निरखि तिय बूँद उठे सब इक बेर यो ।
धट भाएँ ज्यो प्रान, बहुदि उलकत इंद्री ज्यों ॥
महा-छुवित कों ज्यों भोजन सों प्रीति सुनी है ।
ताहूँ ते सतयुनी, सहस किधो कोटि गुनी है ॥”

१ धूमज्योति सलिलमयता सन्निपातः क्व मेघः-

संवेद्यार्थाः क्व पट्टकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।

इत्यौत्सुक्याद्वरिगणयन् गुह्यकस्तं यथाचे-

कामार्ताहि प्रकृतिकृपयास्तेनाचेतनेषु ॥ —मेषदूत-कालिदास १

“दीरि लिपटि गई ललित लाल, मुख कहत न आवै ।
भीन उछर सर-पुलिन परै पुनि यानी पावै ॥
कोउ चटपट सो कर लपटी, कोउ उर बर लपटी ।
कोउ गर लपटी कहति भले जू काँहुर कपटी ॥”

श्रीर इसके बाद वे श्रीकृष्ण को उनकी निष्ठुरता के लिए उपालम देना नहीं मूलती—

“इक भजते को भजै, एक दिन भजते भवहीं ।
कहौ कृष्ण, वे कौन आहिं, जे बोहुन तबहीं ?”

पर श्रीकृष्ण गोपियों के इस मधुर उपालम का उन्हें क्या उत्तर देवे ? लोक और वेद की सुदृढ़ भूखलाओं को तृण के समान तोड़कर जिन गोपियों ने सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया है, उनके तो वे अनतकाल के लिए ऋणी हैं—

“तब बोले बजराल कुँवर, हों रिनी तिहारौ ।
अपने मन ते डूरि करौ, किन्तु बोव हमारौ ॥
कोटि कलप-लगि तुम्ह प्रति कहु उपकार करहुँ जी ।
हे मन-हरनी, तरनी, उरनी नाहि होहुँ तो ॥
सकल बिस्व अप बसकरि मो माया मोहत है ।
प्रेम-मयी तुम्हरी माया सो मो मोहत है ॥
तुम्ह जु करो सो कोउ न करै सुनौ नवल कियोरी ।
लोक, वेद की सुदृढ़ भूखला तुन-सम तोरी ॥”

मिलन-उद्वेग के काम होने पर अब उस ‘महारास’ का प्रारम्भ होता है जिसका मुख स्वर्ग के देवताओं के लिए भी दुर्लभ है । दो-दो गोपियों के बीच में श्रीकृष्ण की ओमा तथा उनके साथ उनके चंचल नृत्य का दृश्याकन करते हुए उनके सबब में लेखक की उत्प्रेक्षाएँ कितनी सजीव और मोहक हैं—

“नव मरकत-मनि स्यामि, कनक-मनि-गन ब्रजबाला ।
बू-बावन को रीति मनो पैहराई माला ॥
साँबर पिय-सँग निरत चंचल ब्रज की बाला ।
जनु घन-मडल मजुल खेलति दामिनि-माला ॥”

श्रीर निम्नांकित पक्तियों को पढ़ते समय तो उस दिव्य रास के संगीत और नृत्य की अकार मूर्त होकर कानों में गुंजने लगती है—

“नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली ।
ताल, मृग, उपंग चंग एकहि सुर जुरली ॥
मृदुल मुरज-टंकार, तार झंकार मिली धुनि ।
मधुर जंत्र के तार, मँवर गुंजार रली पुनि ॥
तैसिय मृदु पद-पटकनि, चटकनि फट तारन को ।
लटकनि, मटकनि, झलकनि कल कुंडल हारन को ॥”

इस नाद-सौंदर्य-पूर्ण अब्ध-योजना के माधुर्य की समता करनेवाली पक्तियाँ स्वभावतः मधुर ब्रजभाषा के भी दूसरे कवियों की रचनाओं में कठिनाता से ही मिलेंगी ।

रास के पञ्चात् सयोग का यह दृश्य अस्सीलता की सीमाओं को वचाता हुआ भी कितना नादकता-पूर्ण सरस और चित्रोपम है—

हार, हार में उरझि, उरझि बहियाँ में बहियाँ ।
नील पीत-पट उरझि, उरझि बेसर नय सहियाँ ॥

और फिर यमुना में कृष्ण के साथ जल-विहार करते हुए ब्रज-बालाओं की भाव-भगी का यह दृश्य जितना स्वाभाविक है, उतना ही मनोहर भी है—

“छिरकत है छवि छैल, जमुन-जल अंजुलि भरि-भरि ।
 भ्रमन कमल-मंड़ली फाय खेलत जनु रंग करि ॥
 रचिर वृगंचल चंचल अंचल में झलकत भस ।
 सरस कनक को कंजन खंजन जाल परे जस ॥”

इस प्रकार अनेक सरस दृश्यो एव मधुर भावनाओं के सविधान से युक्त नददास की यह अनुपम रचना समाप्त होती है ।

नददास की कौति को अमर बनाने के लिए यद्यपि उनकी ये दो छोटी रचनाएँ—भँवरगीत और राम पचाव्यायी ही पर्याप्त थी, पर उन्होंने इनके अतिरिक्त और भी सुंदर कृतियों की मृष्टि की है । यहाँ पर उनके सबंध में विस्तृत विवेचन करने का तो अवकाश नहीं है, पर उनका सक्षिप्त निर्देश अवश्य किया जाना चाहिये ।

‘रूप-मजरी’ एक रस-पूर्ण प्रेम-कहानी के आवरण में वास्तव में एक रूपक-कथा है । इसमें पुष्टिमात्र के सिद्धांतों का प्रेम-साधना के क्षेत्र में व्याप्त व्यावहारिक रूप निदर्शित किया गया है । नददास कहते हैं—

“भूत छिएँ, भविरा पिएँ, सब काहू सुधि होइ ।
 प्रेम-सुधा-रस जो पिएँ, तिहि न रहै सुधि कोइ ॥
 जबपि भ्रम ते भ्रति भ्रम, निगम कहत है ताहि ।
 तबपि रैगीले प्रेम ते, निपट निकट प्रभु आहि ॥”^१

रूप मजरी के सुंदर वय का वर्णन भी सुंदर हुआ है जैसे—

“ता भूपति के भवन की, उदै निवारै सांस ।
 बिन हूँ दीपक दीप जनु, बिए कुँवरि घर-मांस ॥
 बाल-बंस को रूप जनु, दीप ज्यों जग ऐन ।
 उछि-उछि भरत पतंग ज्यो, नर-नारिन के नैन ॥”

इस रचना में प्रसंगवश पट्ट-कृतु वर्णन को भी स्थान मिला है ।

‘विरह-मजरी’ में एक ब्रजवाला के विरह-वर्णन के वहाने ‘वारह मासा’ लिखा गया है । कवि ने सयोग में विधोय का कारण देते हुए कितना सुंदर कहा है—

“हो जानो पिय-मिलन ते विरह अधिक मुख होइ ।
 मिलि तैं मिलिए एक तैं, बिछुरे सब ठी सोइ ॥
 और भाँति ब्रज को विरह, धर्म न काहू भग ।
 पूरनता हरि ग्रह की, परत न ता में भग ॥
 ‘अल नयो इक, सुंदर स्याम, सदा बसत, ब्रुंदावन-वास ।
 बाको विरह जु उपज्यो महा, कहाँ ‘नंद’ सो कारन कहा ।
 परस प्रेम उच्छलन को, बढ्यो जु तन-अन-मैन ।
 अज-वाला विरहिन भई, कहत खंड सो बैन ॥
 जलजर ज्यो जल-भीर में, परसत नाहिं पीर ।
 बिछुर परे जब तीर वै, तब जानै गुन-बीर ॥”

और इस प्रकार नददास ने विरह के चारों अंग—प्रत्यक्ष, पलकांत, वनांतर और देशान्तर ना वर्णन कर के बरह महीनों के साथ किया है । जैसे—

बँगाळ

या बिधि बल बैसाळ जो, बीत्यों मुख-दुख लागि ।
 सँढसी भई नुहार को, छिन पानी छिन भागि ॥

ज्येष्ठ

“तनक न रही उमैठ, कहियो नदकिशोर सों ।
निपट निलज ये जेठ, धाड़ धाड़ बधुअन गहत ॥

भावो

भावो अति दुख-ऐन, कहियो चब गुबिंद सो ।
घन ओ धन के नैन, होइन बरसत रैन-दिन ॥

क्वार

कहियो उबप उबार, सुबर नंद किसोर सो ।
अस कस कौहीं क्वार, हार-भार हू डरत जिय ॥

माघ

माह भास के कदन करि, मास रह्यो नाहि बेह ।
सास रही घट लिपट के, बदन-चहून के नेह ॥”

‘स्याम-सगाई’ में कृष्ण और राधा की सगाई के सबंध में कुछ सरस प्रसंगों की उद्भावना करके कवि ने एक मनोहर कथा कही है। सारी रचना प्रसाद गुण-पूर्ण सरस पदों से भरी पड़ी है।

“इक बिन राधा कुँवरि, नद-धर-खेलन आई ।
चँखल और बिचित्र देखि, जनुमति मन-भाई ॥
नंद मैहरि मन में कह्यो, देखि रूप की रासि ।
ये कन्या मो स्याम-लगि, गोविंद-मुखि ब्रास ॥

—कि जोरी सौहनी ।

तेरी राधे कुँवरि, स्याम मेरी अति नौकी ।
सुम किरपा करि करी, भाल मेरे कौ टीकी ॥
सब भाँतिन सुख होइगो, हम-सुम्ह बाँडे प्रीति ।
और न कछु मन में चहो, यही जगत की रीति ॥

—परसपर कीजिए ।

रानी उत्तर दियो, नाहिं ये करो सगाई ।
मेरी राधा सुधि, स्याम तेरी अतिहि चबाई ॥
जो छोठा लपर महु, बधि-साँजन को जोर ।
कहत-सुनैत लज्जा नहीं, करत और सो और ॥

—कि लरिका अचपलौ ।

मन हरि लोन्हो स्याम, परी राधे मुरझाई ।
बोहैत सिमिल भई बेह, बात कछु कहत न जाई ॥
बौरि सखी कुनन बली, नैनन डारत नीर ।
अरी बौर, कछु जतन करि, व्याकुल-खिरह-सरीर ॥

—हरषी मन सौहनी ।”

‘रुक्मिणी-संगल’ में श्रीकृष्ण-द्वारा रुक्मिणी-हरण की कथा है। जैसे—

“सिधुपालहि को बेति, रुक्मिणी बात सुनीं जब ।
चित्र लिखी-सी रही, बई ये कहा भई अब ॥
चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी-माल ते ।
भयो बबै कछु मलिन, नलिन जनु रलित माल ते ॥

अलि पूँछति बलि बात, कहौ नैनन क्यो पानी ।
 पुहुप-रैनु उडि परी, कहति तिन्ह सो मृदु-बानी ॥
 टप, टप, टप, टप, टपकि नैन सो अँसुवा ढर-हीं ।
 मनु नबनील-कमल-दल ते भल मुतियाँ भर-हीं ॥
 सुक, पिक, चातक-सबद, सुसीढी-धुन थो रट-हीं ।
 मनो मार-चटसार, सुढार चटा से पढ-हीं ॥
 और बिहंगम रंगन-भरि, बोलत हिय-हर-हीं ।
 मनु तरवर रस-भरे, परसपर बातें कर-हीं ॥”

सिद्धात-यचाध्यायी में रास-यचाध्यायी के आध्यात्मिक पक्ष को पुष्टिभार्य के सिद्धातो के आधार पर स्पष्ट किया गया है। दशम स्कन्ध मे श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के पहले जननीस अध्यायो की कथा सलेप में चौपाई तथा दोहा छंदो मे कही गई है। यह ग्रन्थ यद्यपि रचना-परिमाण की दृष्टि से सबसे बड़ा है, पर कवि नददास की सहज भावुकता के दर्शन इसमे प्राय नही होते। ह्रीं, दार्शनिक सिद्धातो के प्रतिपादन की दृष्टि से अवश्य इसका महत्व है।

नददास के स्फुट पद भी काव्य-कला की दृष्टि से असाधारण कोटि के है। वे भाषा के कोमल और सरस सौचे मे ढल कर सगीत की ध्वनि पर थिरकते हुए अनोखे सुंदर रूप में अवतरित हुए हैं। जैसे—

राग-आसावरी

“जुरी चली है बघावन नंद मैहर-धर, सुंदर ब्रज की बाला ।
 कंचन-थार-हाथ बंचल छवि, कहि न परत तिहि काला ॥
 डहकहे मुख कुंमकुम-रंग-रंजित, राजत रस के ऐता ।
 कजन पर खेलत मनो खंजन, अंजन जुत घने नैना ॥
 बमकत कठ पदक, मनि-कुंडल, नवल प्रेम-रंग बोरी ।
 आसुर गति मनु बंध उदै भएँ, धावत विधित चकोरी ॥
 खसि-खसि परत सुमन सीसन ते, उपमा कहा बखानो ।
 चरन चलन पर रीति चिकुर-चर, बरखत फूलन मानो ॥
 गावत गीत, पुनीत करत जग, जसुमति-भविर आई ।
 बदन-बिलोक बर्तया लै-लै, देति असीस सुहाई ॥
 मंगल-कलस निकट दीपावलि, देखि-देखि मन भूल्यो ।
 मानो आगम नंद-सुवन के, सुवरन-फूल अज फूल्यो ॥
 ता पाछे गैन-गोप ओप सो आए, प्रति सं सोहै ।
 परमानंद कद रस-भोने, निकर-पुरंदर को है ॥
 आनवधन ज्यो गावत राजत, बाजत बुझि-भेरी ।
 राग-रागिनी गावत हरखत, बरखत पुल की डेरी ॥
 परम धाम, जग-धाम, स्याम अभिराम श्रीगोकुल आए ।
 भिति गए दुद ‘नंद दासन’ के, भए अनोरस भाए ॥”

—बघाई-गद

राग-भंडासा

“जरि जाघी-रो जाग, भेरें ऐसी कीन काज आवै, कमल-नैन नीकें करि देखन न दीने ।
 बन ते आवत मारग में भेंट नई, सकुचि रह्यो-रो इन लोगन के सतिने ॥

कोटि जतन करि हारी-री निहारिबे कोँ, अँजरा की ओट ई-ई कोटि खम कोने ।
‘नंददास’ प्रभु-प्यारी ता दिन ते मेरे जेना, उनहीं के अंग-अंग-रंग-रस भोने ॥”

—शयन-समय

“तेरी भोह की मरोरेन ते ललित त्रिभगी भयो, अँजन ई जितई तो भए स्याम बाँम ।
तेरी मुसिकाँनि देखि बाँमिनि-सी कोष जात, बीन हूँ जाँजत प्यारी लेत राखे भाषी नाम ॥
ज्यो-ज्यो नचावौ चहूँ, तैसे-हूँ हरि नाचत बलि, अब तो भया कीजै बसिए निकुंज-बाँम ।
‘नंददास’ प्रभु बोली तो बुलाइ लाऊँ, उनको तो कलप बोले, तेरी घरी जाँम ॥”

—राग-अढाना

“तुम्ह पैहलें तो देखौ आइ मानिनी की सोभा लाल,
पाछे तें मनाइ लोखें प्यारे हो गुबिबा ।
कर पर घरि कपोल, प्यारी रही नैन-भूँद,
कमल-बिछाड़ मानों सोयी सुख चंदा ॥
रिस-मरी भोह ता पै भौरा बडे भरवरात,
इंडु तर आयी मकरंद-हित भरविबा ।
‘नंददास’ प्रभु ऐसी काहे को हसै बाल,
जाके मुख देखे ते निटत दुख-मुँदा ॥”

—मान

नंददास के पद-साहित्य पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है—साटी स्वर्ण को कसीटी पर कसकर देखने जैसा है ।

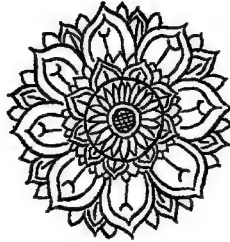
नंददास केवल कवि और दार्शनिक ही नहीं, आपा और साहित्य-शास्त्र के भी प्राचार्य थे । मान-मंजरी, (नाममाला) नामक ग्रंथ में उन्होंने अमरकोष के आधार पर एक पर्यायवाची शब्द-कोष का निर्माण किया है । इसकी एक अद्भुत विशेषता यह है कि जिन शब्दों के पर्याय लिखे गये हैं, उन्हीं शब्दों को लेकर राधा की मान-कथा का भी वर्णन किया गया है और यह वर्णन इतने सुंदर तथा आकर्षक ढंग से हुआ है कि कही पर कृत्रिमता अथवा अस्वाभाविकता की झलक भी नहीं दिखायी देती । ‘अनेकार्थ-मंजरी’ में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दोहो में दिये गये हैं । ‘रस मंजरी’ नायक-नायिका-भेद सबकी रचना है । हिंदीमें कृपाराम मिश्र की ‘हिततरंगिणी’ इस विषय का पहला ग्रंथ है और यह दूसरा । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विभिन्न प्रकारकी नायिकाओं के लक्षण इसमें इतनी सरसता से दिये गये हैं कि उनसे न केवल नायिकाओं का स्वरूप ही स्पष्ट होता है, वरन् मौलिक काव्य-रस का आनंद भी प्राप्त होता है । उदाहरण के लिए उत्कृष्टता का लक्षण देखिये—

“नाथि सँकेत पीठ नहिं आवै ।
चिंता करि तिय अति दुख पावै ॥
आरति कर संताप जुड़ाई ।
तन तोरति अब लेति जंभाई ॥
भरि-भरि नैन अवस्था कहै ।
उत्कृष्टता नाइका सु कहै ॥”

नंददास के सबब में यह कथन समाप्त करने से पहले उनके उस ‘रसिक मित्र’ का स्मरण और वदन करना आवश्यक है जिसकी प्रेरणा से उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ निमित्त कर ब्रज-भास्ती को अर्पित की । नंददास से जो आधुन्य-गुण-पूर्ण श्रेष्ठ काव्य-संपदा हिंदी को प्राप्त हुई है, उसके लिए हिंदी-संसार को नंददास से भी अधिक उनके इस ‘विचित्र मित्र’ का आभार स्वीकार करना चाहिये ।

नददास रचित-ग्रंथों के प्रति बड़े आत्मिक विचार रहे हैं। उनकी सख्या कोई कुछ और कोई कुछ मानता था। यही नहीं, एक ही ग्रंथ विशेष को, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में लिखे नाम-भेद के कारण पृथक्-पृथक् कई ग्रंथों के रूप में मान लिया गया है। उदाहरण के लिए 'नददास' की 'अनेकार्य-मंजरी' के "अनेकार्य-मापा, अनेकार्य-मंजरी, अनेकार्यमणि-मंजरी, अनेकार्यनाम-माला, अनेकार्य-मणिमाला और अनेकार्य-माला" नाम मिलते हैं, जिन्हें हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों ने पृथक्-पृथक् ग्रंथ मान लिया था। इन्हीं प्रकार और भी। मला हो 'जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा' का जिन्होंने सर्वप्रथम कलकत्ता के 'विशाल भारत' में, जब कि उसके संपादक माननीय बनारसीदास चतुर्वेदी थे, नददास के वास्तविक ग्रंथों पर प्रकाश डाला। अस्तु नददास की प्रामाणिक ग्रंथ-रचनाएँ इस प्रकार हैं—

"पाच मंजरी-ग्रंथ—रस-मंजरी, विरह-मंजरी, अनेकार्य-मंजरी, मान-मंजरी, रूप मंजरी। रास-पंचाध्यायी, इयामसगार्ह, गोवर्धनलीला, भ्रमरगीत, रुक्मिणीमंगल, सुदामा-चरित्र, भागवत-दशम स्कंध, सिद्धांत-पंचाध्यायी, भास्तिनीलीला, धीणावाचिन-लीला, प्रेम-चारहूखड़ी (नवीन खोजसे प्राप्त) और पदावली।"



पुष्टिमार्गीय सिद्धांत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

श्री प्रो० कंडमणि

सांस्कृतिक परंपराओं से ओतप्रोत भारतीय दिव्य जीवन के मूल-स्रोतों में जिन मौलिक तत्वों का समावेश है, उनमें अध्यात्मवाद अपने आप में परिपूर्ण, अगाध अथवा सर्वतोविलक्षण एक ऐसा तत्व है जिसकी कोई उपमा नहीं और नहीं जिसका कोई प्रतिबिंब। वह सहृदयक सवेद्य शाश्वत सत्य, शिव, सुंदर विज्ञान है जो आप ही आप भारतीय जीवन-धारा की अतल काल में अभिविच्छिन्न प्रवाहित करता आया है और करता रहेगा। उसे 'लौकिक' कहो चाहे 'भौलौकिक', अध्यात्मवाद की परिस्फुटता समय-समय पर उन गभीर विचारशील महापुरुषों की गवेषणाओं के द्वारा होती रहती है जो अपने युग के प्रवर्तक, विभूति एवं भावि पुरुष माने जाते हैं।

भारतीयता के विद्यालय अचल में जिन कल्याणकारी प्रादर्शों की समय-समय पर अभिव्यजना हुई है, उनमें जीवन को सरल, मुखद और सरस बनानेवाला एक मार्ग भक्तिमार्ग है जो अनादिकाल से भातृत्व-भावना के प्रतिफल रूप वास्तव्य, विश्व-बधुत्व की भावना के प्रतिफल रूप सम्य और दापत्यभावना के प्रतिफल रूप माधुर्य-भाव से विष्व की क्रीडास्थली में मानव-जीवन के साथ अनुस्यूत होता चला आ रहा है। मानव-समाज ने जब से मानवता की उपाधि धारण की यह तीनों उसके जीवन के मूल आधार रहे हैं और भविष्य में रहेंगे।

पाश्चात्य प्रादर्श की भांति भारतीय प्रादर्श कभी एकांगी नहीं रहा है। वह भीतिमत्ता के परिधान से वन्धित होता हुआ भी उसकी सीमा को लांघ कर कहीं दूर, बहुत दूर उस व्यापक क्षेत्र तक विस्तृत हो गया है जिसमें भौतिक, आत्मिक और दैविक इन तीनों बादों का पर्यवसान हो जाता है।^१ यह सूक्ष्म ईशिका उन विचारशील महापुरुषों के द्वारा व्यक्त होती आई है, जिन्हें वैदिक-संज्ञा में मन्-दर्शी ऋषि, पौराणिक-संज्ञा में 'व्यास' और सांप्रदायिक-संज्ञा में 'आचार्य' के अभिधान से अभिहित किया जाता है।

निगम-कल्पतरु की शुभोदकौदयशालिनी लहलहाती भक्ति-शाखा में भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे कई मनोहर सुमनों का यथा समय विकास हुआ है जो सामयिकता की प्रतर्वाणी में मरणोन्मुख-जीवन को ओजस्विनी चेतना प्रदान करने वाले ही नहीं थे, अपितु विविध आपदा-विपदाओं के सघर्षों से उसे सुरक्षित रख कर भविष्य के लिये विश्व-कानन को स्वकीय आध्यात्मिक सौरभ से सुवासित करने वाले थे। भारत के प्रागण में वही मत, वही संप्रदाय, वही प्रादर्श पनप सका जो जन-जीवन के लिये अनिवार्य आवश्यक लौकिक और भौलौकिक इन समयबादों का मौलिक रूप में व्यावहारिकतया समन्वय कर सका। स्थिति-स्थापकता की उपेक्षा न कर निजी मौलिकता के अर्थ उद्ग्राह्य रह सका। शेष ? शेष अस्त, ध्वस्त और परास्त हो जाने के कारण उन्मूलित कर फेंक दिये गये। इतिहास इसका साक्षी है और सुधी-समुदाय इसका निर्देशक है।

धार्मिक तत्व

वेद-शास्त्रादि प्रतिपादित विष्व जनीन एक ही धर्म, प्रादेशिक सघर्षों पर विजय पाने के लिये देश-काल-व्यवस्था, सामाजिक सघर्षों पर विजय पाने के लिये वर्ण-व्यवस्था, पारिवारिक सघर्षों से बचाने के लिये तत्तदधिकारानुकूल आश्रम-व्यवस्था और एषणाओं पर विजय लाभ के लिये नित्य-नैमित्तिक काम्य-कर्म आदि कर्तव्य व्यवस्था के कारण विविध रूप हो जाता है। त्रिविध गुण एवं विभिन्न परिस्थितियों के विभेद-वश दो

^१ अध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।

यस्तत्रोभय विच्छेदः सःस्मृतो आधिभौतिकः ॥

इस धर्म में विशेष विभिन्नताएँ विशात होने लगती हैं, जिससे धर्म का वास्तविक मौलिक स्वरूप साधारण कोटि के जने-समाज के मस्तिष्क में नहीं आता। फलतः वहाँ मुख्य स्तूल-ग्रन्थ व्यक्ति उसका समन्वय न कर सकने के कारण उसका विरोध करते हुए निष्कारण समाज के संमुख धर्म को एक विभीषिका के रूप में उपस्थित करते हैं, वहाँ स्थित-ग्रन्थ आचार्यवर्ग उसका वास्तविक रूप से सामयिक समाज को अपने उपदेशों-द्वारा परिचित करा उस की उपादेयता का प्रचार करते हैं, तदुपरि आपातत आगत धावरणों का निवारण करते हैं। उक्त परिस्थितियों को ध्यान-पथ में रख कर जब प्रसस्य धर्म-रहस्य समझने की चेष्टा की जाती है, तभी उसका स्वच्छ सर्वजनीन स्वाभाविक रूप हृदयगम होता है। अन्यथा वह परसार-विरुद्ध प्रतीत होने लगकर विवाद एवं अभावहारिकता का विषय बन जाता है।

"यस्तकंयानु संवत्ते सधर्मं वेद नेतरः।"

इस वाक्य के 'तर्क' शब्द से यही स्वारस्य प्रकट होता है।

भारतीय काल-गणना के आधार पर निर्धारित चतुर्थ्युग का एक विशेष महत्व है जो देश के मानव-जीवन के व्यापक कार्य-क्रम को परिदक्षित करने वाला एक प्रकार से नैतिक स्तर का सूचक परिपत्र है।

कृतयुग में सामूहिक जीवन-स्तर को सूचित करनेवाले धर्म के चार चरण—तप, शौच, दया और सत्य चर्तमान रहते हैं। प्रेता में तप के अतर्हित हो जाने पर धर्म विपाद, द्वापर में तप और शौच के अतर्हित हो जाने से द्विपाद और कलि में तप, शौच तथा दया इन तीनों के अतर्हित हो जाने से वह धर्म एकपाद माना जाता है। समय-प्रवाह से अतर्हित धर्म के उक्त साधन तत्तद्युगों में संबंधान्तर होकर न्यून प्रचार, कष्ट-साध्य एवं फल-दान में प्रायः असमर्थ हो जाते हैं। इसीलिये अपवाद रूप में इनका स्वचित्-स्वचित् अनुष्ठान परिलक्षित होता रहता है।

धर्म का प्रतिपक्षी अधर्म है। उसके भी चार चरण हैं, जो समय (युग), तप, दया और अनृत के रूप हैं। मागवतीय ग्रंथमन्त्रक के 'पृथ्वी-धर्म सवाद' के अध्यायों में धर्म को 'वृषभ' स्वरूप कहा गया है, जिसका यशोर वैज्ञानिक-रहस्य है। 'इष्ट' अधर्म, अहंकार किंवा अविवेक रूप होने के कारण, रासम स्वरूप है। धर्म के चरणों के लिये यहाँ प्रमाण-प्रवृत्ति रूप दो शफों (खुरों) की आवश्यकता है, वहाँ अधर्म प्रवृत्ति रूप एक शफ (मुर) वाला ही है। उसके लिये प्रमाण की आवश्यकता न होकर केवल मात्र प्रवृत्ति ही पर्याप्त है। आप्त-शास्त्री के प्रमाण-वाक्य और आदर्श पुरुषों की प्रवृत्ति के उदाहरण जन-समाज को धर्माचरण के लिये उद्योतित एवं उत्साहित करते हैं, वहाँ पापाचरण के लिये न तो किसी प्रमाण-वाक्य की अपेक्षा होती है और न प्रवृत्ति के किसी उदाहरण की परमुखापेक्षिता की ही। उसमें स्वाभाविकतया जीवों की प्रवृत्ति हो जाना करती है। अतः इन दोनों के चरणों की विभिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है। सखेपत धर्म द्वि शफ है और अधर्म एक शफ।

सामयिक-वैशिष्ट्य

धर्माधर्मों की स्थिति एवं प्रचार के लिये देश-काल की अपरिहार्य उपयोगिता है। वैज्ञानिक यह समझ-बरा-मडल किसी एक के चार चरणों के ही प्रतिष्ठान के लिये परिमित है। फिर वे चाहें केवल धर्म के ही किंवा अधर्म के अथवा व्यतिक्रम रूप से दोनों के। धर्म और अधर्म यह दोनों स्वकीय स्थिति का विस्तार देश की विमानता के अनुरूप कर लिया करते हैं। क्षेत्र का परिणाम उभय के लिये समान है। इसी प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति भेद से काल भी दोनों के लिये समान है, उसमें किसी एक के लिये पक्षपात नहीं है। युग-प्रवृत्ति में काल-धर्म न संस्थापक और युग-निवृत्ति में वही अधर्म का संस्थापक होता रहता है। इस कारण जहाँ किसी एक के चरणों की प्रवृत्ति होती है, वहाँ अन्य की स्वतः निवृत्ति होने लग जाती है। प्रकृति परिवर्तन के कारण न ही अपरिच्छिन्न काल छन, प्रेता, द्वापर और कलि इन अवच्छेदकों (खंडों) के द्वारा बाला व्यवहन होता है।

इस कथन का यह निष्कर्ष है कि केवल धर्म के अवच्छेदक काल की मन्ना 'वृत्तयुग' है और अधर्म के अवच्छेदक काल की कलि। मागम दोनों के अवच्छेदक काल को प्रेता और नमन दोनों के अवच्छेदक काल को द्वापर कहते हैं।

“ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् ।”

इत्यादि श्रुति इमी अथका प्रतिपादन करती है ।^१

उपर्युक्त स्मय, मग, मद और अनृत इन चार चरणों वाले धर्म-अवतार कलियुग में जब कि धर्म का एक ही चरण सत्य, अनृत से बाधित न होकर प्रवृत्तिशील रहता है तो एक ऐसा मनोरम अवसर भी उपलब्ध होता है जो साधन-हीन साधकों के लिये खिन्न फल-दायक गिना जाता है । वह समय कलि के आद्य दश सहस्र वर्षों का है ।^२

ब्रह्मांड पुराण में कलियुग के आदिम दश सहस्र वर्षात्मक समय की सार-युक्तता और अवशिष्ट समय की सार-हीनता का युक्ति-पूर्ण विशद वर्णन किया गया है । वहाँ कलियुग को पुच्छ-सहित यव की उपमा देकर उसके प्राथमिक दस हजार वर्षों को ‘यवाकारवत्’ एवं अवशिष्ट वर्षों को यव की सत्वहीन तुषमात्र पुच्छ के समान चतलाया गया है । जिस प्रकार यव, सत्व-मपन्न होते हुए भी अपेक्षाकृत अत्यधिक अपनी सत्वहीन पुच्छ में अतिशय अल्प होता है, उमी प्रकार कलिका आदिम १०००० वर्षात्मक काल स्वल्प होते हुए भी सत्व-विशिष्ट और अवशिष्ट भाग अधिक होते हुए भी, सर्वथा सार-विहीन है । यहाँ सत्व (सार) का तात्पर्य उस भगाव आध्यात्मिकता से है, जो भारतीय संस्कृति का मेरुदंड है । जिसके बिना उसकी स्थिति सर्वथा असंभव है । नि सत्त्वा से तात्पर्य उस भौतिकता से है जो मृत कलेवरवत् है ।

यव के प्रारंभिक भाग में केवल तुप की एक तीखी नोक होती है, उसके ऊपरी भाग में तुप और नीचे प्रारंभ में क्रमशः बहिष्णु सत्व होता है । मध्यभाग में पूर्ण सत्व और अंतिम भाग में क्रमशः क्षयिष्णु सार-भाग होता है । ठीक इसी प्रकार की स्थिति कलियुग की भी कही गई है । कलि की नि सारता धर्म-ग्लानि और सत्वविशिष्टता उसकी धर्म-स्थिति तथा धर्म-अरक्षण की सूचक है । कलि के प्रारंभिक काल से अद्यावधि बहित धार्मिक इतिहास की घटनाओं का सिंहावलोकन करने से यह कथन अक्षरशः चरितार्थ हो जाता है ।

कलि की प्रारंभिक अवस्था में यव की नोक के समान नि सत्त्वा । रूप जब धर्म-ग्लानि का समय आया तब धर्म-चक्र के आधिदैविक धर्मों स्वरूप परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण अपने लीलानाट्य का सवरण कर अतर्हित हो गये । अनंतर उसके आधिभौतिक स्वरूप धर्मराज युधिष्ठिर भी स्वक्रिया-शक्तियों के साथ भूतल का परित्याग कर गये । मागवत में बणिन ‘पृथ्वी-धर्म-संवाद’ तथा ‘कलि-निग्रह’ नामक प्रसंग हमारे सम्मुख इसी वृत्तान्त का चित्रपट उपस्थित करते हैं ।

इस प्रारंभिक धर्म-ग्लानि के अनंतर यव के समान कलि में क्रमशः सत्व स्वरूप आध्यात्मिक भागवत-धर्म का विकास होने लगा । यद्यपि यव के उपरिष्ठ तुप के तुल्य परितः नि सत्त्वा के कारण समय-समय पर धर्म परिम्लान होता था, पर साथ ही साथ मध्यस्थ सत्व की क्रमिक अभिवृद्धि होते रहने से उसका सर्वथा लोप होना संभव नहीं था । ऐतिहासिक परंपरा के साथ एकवाक्यता करते हुए इस समय का परिचय हमें उस रूप में उपलब्ध होता है जब भगवान् बुद्धावतार के द्वारा वैदिक धर्म का उच्छेद हुआ और तदनु नास्तिकता के प्रबल आघात से भौतिक भोगवाद का जन्म हुआ । इसके अनंतर कुमारिल भट्ट, मध्व मिश्र जैसे प्रकांड पंडितों और जगद्गुरु शंकराचार्य के द्वारा वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा से आस्तिकता पनपी, फूली और फली । कठोर कर्मवाद

^१ तप शौच दया सत्यमिति पादा. प्रकीर्तिताः ।

अवर्मांश्च स्वयो भग्ना. स्मय संगमर्दस्त्व ॥

—भाग० प्र० स्क० अ० १७।२३ सुबोधिनी

^२ कलौ दश सहस्रेण विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम् ।

तदर्थं जान्नुवीतोयं तदर्थं सर्वं देवता ॥

—ब्रह्मांड

कृते यद्व्याप्यतो विष्णु जेताया यजतो भक्षे. ।

हापरे परिचर्याया कलौतद्धरिर्कीर्तनात् ॥

—भागवत प्र० स्क०-कारिका

की श्रुत्याश्रयो को तोड़कर जन-जीवन ने ज्ञान-विज्ञान के उन्मुक्त वातावरण में साँस ली। इस परिवर्तन के अनन्तर यव की क्रमिक वर्षिष्णु अत सारतावत् यथा समय श्री विष्णुस्वामी, उनके सिद्धांत-प्रवर्तक अनेक आचार्य, पूजनीय रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य-आदि ने अवतार लेकर अपने उपदेशामूर्तसिचन-द्वारा जीवों के कल्याणार्थ भागवत धर्म की अभिवृद्धि की। यह समय कलि के दो हजार में चार हजार वर्षों के भीतर का माना जा सकता है।^१

यवाकार के प्रतिरूप कलि का सत्त्व-विशिष्ट मध्यभाग उसके ४५०० वर्षों के अनन्तर १५०० वर्षों के भीतर मानना चाहिये। इसमें भी अधिक सत्त्व-पूर्ण विशिष्ट मध्य भाग तो ५००० वर्षों के लगभग ही परिगणित किया जा सकता है। कलि के पांच हजार वर्ष पूरे हो जाने पर यवाकारवत् उसकी क्रमिक सत्त्वहीन स्थिति का शरार होने लगता है। अतः तोगत्वा नि सत्त्वावस्था में उसके दस हजार वर्ष पूर्ण हो जाते हैं। अवसान में यव की पुच्छ के समान उसका सार-विहीन अंतिम अधिक लंबा भाग अवशिष्ट रह जाता है। कलि के इस शान्-वृद्धि-ह्रास के अनुरूप धार्मिक भावनाओं एवं क्रिया-कलापों में समाज-शक्ति का भी वृद्धि-ह्रास होना रहता है। अतः में एक ऐसा भी समय आता है जब केवल मात्र प्रभूत शक्तिवाद ही व्याप्त हो जाता है। सर्वथा आध्यात्मिक भावना से विहीन शक्तिता ही जन-जीवन का उपादेय पुरुषार्थ मानी जाती है। इस समय को पुराण अपनी परिभाषा में 'घोर कलि-काल' नाम से पुकारते हैं।

भारतीय निगमागम के कथनानुसार जन-समज के लिये कल्याण मार्ग के निर्माण का ऐसा सुप्रवर्ण-तथाकथित कलि के आरम्भसहस्र वर्षों के मध्यभाग जैसा फिर नहीं आता। वास्तव में विक्रम की नौलहवीं शताब्दी, जो उक्त निर्दिष्ट अवधि के भीतर आई—आध्यात्मिकता के लिये सुवर्ण-काल थी। यही तो धर्म-जालि के पुन आगरण का वह उप काल था, जब भागवत-मूर्धन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य ने अपने हरि-मकीर्तन की ध्वनि-द्वारा सुश्रुत समुदाय के कर्ण-कुहरो में आत्म-चेतना का परिपेचन किया था। गिरिधर गोपाल के प्रोद्गम प्रेम-रस में भवमाती मीरा ने आत्मिक-भावना में विशोर होकर अपनी कोमलकातपदावली गाकर जन-मानस को उल्लसित किया था। रामचरित-मानसकार महात्मा तुलसीदास ने अभिनव उच्च आदर्श स्थापित कर समाज की रम-रग में रक्त का संचार किया था। बाल गोपाल की रूप-भाषुनी पर निष्ठावर होने वाले, 'द्विविध शबरे' भक्त कवि सूरदास ने जगत को साहित्यिक दिव्य प्रकाश प्रदान किया था। इस महापुण्यमय सन्नति के अवतार काल में जिन अन्य महानुभावों ने अवतार लिया, उन्होंने अपनी-अपनी साहित्यिक साधना की सुर-संगिता के आध्यात्मिक प्रवाह से समस्त भारत को आम्नायित कर दिया था।

इसी समय जबकि भारतीय सांस्कृतिक-आध्यात्मिक परंपरा को सर्वविध क्रांति ने आक्रांत कर वन्दित कर दिया था, म० १५३५ वि० में वदनीय विभूति बल्लभाचार्य का प्राकट्य हुआ। इस महापुरुष ने श्वीय कल्याणपूर्ण वाणी में तत्सामयिक भारतीय मानव-जीवन के रेखा-चित्र को हमारे सम्मुख उपस्थित किया—

सर्वमार्गेषु मध्ये कलौ च लल धर्मिणि ।
पाषड प्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥

^१ यवाकार. कलिल्लय. काल रूपेण केवलम् ।
सपुच्छस्तु यवो ज्ञेयः पुच्छं शुक्लमिति स्मृतम् ॥
आद्यं दश सहस्रं तु यवस्य प्रकीर्तितम् ।
तदूर्ध्वं पुच्छं संज्ञं स्यात् कलिकालं तु नीरसम् ॥
तुषाधिकोऽल्पसत्त्वश्च ह्यादावन्ते यवो भवेत् ।
सत्त्वाधिको मध्य भागे पुच्छे सारांशं वजितः ॥

—प्रवदायप्रदीपस्य ब्रह्माड पुगण-नाम्य

स्नेह्याक्रान्तेषु देवेषु पार्ष्णिकनिलयेषु च ।
सत्प्रीडाव्यय लोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥
नानाधाव विनष्टेषु सर्वं कर्म प्रतापिषु ।
पाषाणैक प्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥
अपरिज्ञान नष्टेषु संश्लेषव्रत योगिषु ।
तिरोहितार्थं देवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥

—कृष्णाश्रय स्तोत्र

अपरिग्रह वृत्ति, सौम्य साधुजीवन को कार्य रूप में प्रतिफलित कर समस्त भारत का त्रिवार पदातिपरिभ्रमण करते हुए प्रभुपुत्र समाज को उपदेशामृत पिलाकर जामृत किया । सिद्धात-प्रतिपादन-द्वारा उन्होंने मस्तिष्क को विवेकशील बनाया और विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिये उसके शरीर को सुदृढ़ सौने में ढाला ।

योगिक समन्वय

आप श्री ने स्वकीय सिद्धातो-द्वारा ऐसे मार्ग का प्रचार किया जिसमें न तो कठोर कर्मवाद की जड़ता थी, न शोषे ज्ञानवाद की उलझी हुई पहेलियाँ थी और न था नीरस भक्तिवाद का आडंबर । यह सत्य है कि भारतीयता ने कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों के योग (कर्म कौशल की समन्वयात्मक पद्धति) को नैज उभय-विध उन्नति का साधन माना था, पर मूल आचार्यों के अनंतर विषयावबोध के लिये विरचित मोमासा और भाष्यो ने जैसे-जैसे प्रतिपाद्य वस्तु को विशद बनाने की चेष्टा की वह और दुर्लभ होती गयी ।

कर्म रहस्य की मौलिक धारणा लुप्त प्राय हो गई और उसके विधि-विधानों, क्रिया-कलापों, आचार-विचारों और बाह्यावरो ने समाज-जीवन को इतना डक लिया कि जहाँ उसके वैद्व्यात्मिक शुद्ध स्वरूप के दर्शन दुर्लभ हो गए वहाँ उस की भ्रमाच्छाया अनुशासन प्रणाली से उस को विराग हो गया । ज्ञान-विज्ञान के महान् भार और उस की उलझी हुई पहेलियों को सुलझाने-सुलझाते विचारशील सर्व सन्यास-पूर्वक कर्मक्षेत्र से निर्वासित होकर कैवल्य मोक्ष की साधना में तप्त हो गये । समाज में सन्यास-धर्म की बाढ़ आ गई । नीरस भक्तिवाद के घटाटोप ने मानव जीवन के लिये एक विचित्र समस्या उपस्थित कर दी जिसके कारण वह उस की 'ह्योपादेयता' को भी न समझ सका, पूजा मार्ग का प्रवाह चल पड़ा ।

फलतः कर्मवाद ने ज्ञान-भक्ति का, ज्ञानवाद ने कर्म-भक्ति का और भक्तिवाद ने कर्म-ज्ञान की नि सारता का उद्घोष कर दिया था । जिस का परिणाम यह हुआ कि वे तीनों व्यवहार जगत् की वस्तु न रह कर केवल अध्ययन की सामग्री बन गये ।

दूसरे शब्दों में हम उक्त कथन को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जहाँ भारतीय जीवन शरीर, मस्तिष्क और हृदय इन तीनों के सापेक्षिक सन्तुलन अथवा समन्वय से संचलित होना चाहिए था, वहाँ यह तीनों परस्पर विद्रोही बन गये थे । परिश्रमशील शरीर के आगे विज्ञानशील मस्तिष्क और भावनाशील हृदय की कुछ न बन पड़ी । उसने विचार और विवेक के नियन्त्रणको मानने से जहाँ विद्रोह कर दिया, वहाँ भावुकता को कार्यरता का रूप मान कर उसे तिलाजलि दे बैठा । विचारशील मस्तिष्क ने शारीरिक नश्वरता का इदमत्ययता निर्णय कर आत्मिक कोमल भावनाओं को तर्क के द्वारा ऐसी ठोकर लगाई कि वे फिर पनप न सकी । हृदय ने भी अपने को उभयतः अश्रुहाय पाकर श्रम और विचार दोनों से अपना पिंड छड़ा लिया, वह भावुकता का अपना अलवैला अलग बजाने लगा ।

प्रयत्न-प्रशक् वर्ग की स्थापना और उसकी स्वतंत्रता समाज के लिये घातक हो जाती है, यदि उसमें मधुसूक्तमुत्थान के सौष्ठव का सर्वथा लोप हो जाय । वे एकागीवर्ग अन्य का सहयोग न पाकर जहाँ स्वयं विनष्ट हो जाते हैं, वहाँ दूसरे वर्ग के विनाश के लिये भी वे कारण छोड़ जाते हैं । अतः समय की आवश्यकता थी कि उक्त तीनों सिद्धांतों का सकलन एवं यथोचित उपयोग किया जाय और उनके मौलिक समन्वय में जन-जीवन को आगे बढ़ने के लिये ससम बनाया जाय ।

इस प्रकार की सामयिक परिस्थिति के पर्यालोचन के अनन्तर आचार्य महाप्रभु श्री क्लृप्त ने वि-
सिद्धात की तीव्र डाँकी, उसे वाद-विवादों और समर्थन-विद्वानों की शास्त्रार्थ-सभाओं में प्रतिपादित वैदिक पद्धति
पर प्रतिष्ठित 'शुद्ध-अद्वैतवाद' कहा जाता है। सिद्धात और उपदेश-ग्रन्थों में इन शास्त्र-रीत्या प्रतिपादित 'निर्गु-
न-भक्ति' मार्ग कहते हैं और स्थापित सेवा-प्रणाली के रूप में हार्दिक भावना के अनुरूप 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं।^१ ए
मार्ग में क्षारीरिक, मानसिक उभयविध शुद्धि के लिये कर्म की आवश्यकता है, अथ अर्था के विनिवारण एवं विवेक-
पूर्ण आचरण के लिये ज्ञान-मार्ग की उपादेयता है और उच्छृंखलता एवं पाप के अपाकरणार्थ वैष्णव-शास्त्र में
प्रतिपादित भक्तिमार्ग की उपयोगिता है। नारद पञ्चरात्रादि वैष्णव-शास्त्रों में निर्णीत भक्तिमार्ग दिगुण पर
अवलम्बित होने के कारण सगुण भक्तिमार्ग कहा गया है। गुणत्रय से परे शुद्ध अतः करण की अभिव्यक्ति-रूपे-
शमदमोपेत मानसिक निर्मल सवेदना किंवा आध्यात्मिकता की कोमल भावनाएँ कहा जा सकता है—विशेष
अश्रय देने के कारण वल्लभाचार्य के सिद्धात को निर्गुण^२ भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिमार्ग^३ वह सज्ञा प्रदान की
गई है।

वास्तव में भ्रमक वस्तु में गुण और दोष की वृद्धि करना ही दोष-वृद्धि है और इन दोनों में रहित
उसके शुद्ध रूप की वृद्धि करना ही गुण-वृद्धि है—यही निर्गुणता की वृद्धि है। निर्दोष सम ब्रह्म की वृद्धि में परमार्थ-
दोष और गुण वस्तुगत न होकर वृद्धिगत है जिनका पदार्थों पर आरोप कर लिया जाता है।^४ गुणवृद्धि में की गई
अवृत्ति और दोषवृद्धि से की गई निवृत्ति इन दोनों से ऊपर उठकर असत्त वृद्धि से की गई अनवच्छिन्न भगवद्विषय
मनोगति ही इस पुष्टि-मार्ग का मूल कारण है। येनकेनाप्युपाय से की गई ईश्वर-विषयक मनोगति में गुण-दोष
वृद्धि के अवरोधक साधन नहीं आने चाहिये। गता-अवाहबत् शाश्वत ज्ञानदीपति में लीन होने के लिये जिन मार्ग
का निर्देश किया गया हो, वही भगवत्कृपा-मार्ग है, अनुग्रह-मार्ग है, पुष्टिमार्ग है।

प्रामाण्य परिदर्शन

महाप्रभु श्री क्लृप्त-द्वारा स्थापित शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग, किन्हीं नवीन कल्पित धारणा के साथ
एवं उच्छृंखलता के अभिप्राय से उसे सुरक्षित रखने के लिये ही किसी शास्त्रीय वाक्य-प्रामाण्य पर भवन्नि-
रहती किया गया है, अतः भारतीय सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परंपरा की सुरक्षा के लिये उसे उसी स्थान में
टाला गया है जिसमें उसके पूर्ववर्ती सहृदि उसे ढालते आये थे।

चारों वेद, जो सत्य के सशोधक, ईश्वरीय लिखित स्वरूप एवं ज्ञान-विज्ञान के धन भंडार होने के
कारण स्वतः प्रामाण्यपूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं, शब्द-प्रमाण हैं। परम्पर प्रमाण-रूप अन्य भाषों को प्रो-
कर गीतान् श्रीकृष्ण-वाक्य, ज्ञानावतार महर्षि वेदव्यास कृत ब्रह्मसूत्र (उत्तर मीमांसा) ओम् महाभू-
तात्त्वमसिहिता भागवत की मयाभिप्राय, इस प्रमाण त्रुट्य की भिति पर इस अनुपम अति-मिद्वान्
प्रामाद रखा किया गया है।^५

^१ प्रगुण्य विषया चेदा निरुद्धगुणो भवाऽर्जुन ॥—गीता

^२ भागवत शास्त्रके अपरिज्ञान के कारण कुछ अतिविमतप्रत संश्रवाय को दमनद्वान्ति
न्यति को देखकर 'पुष्टि' शब्द का विकृत अर्थ कर इस भक्तिमार्ग को भोग-जिज्ञासा एवं हानि
और उसे उपहासास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं, पर वे "विषयाकत देहात्मनोऽपि सर्वथा हरे" (निर-
निर्णय) तथा "काम शोषो हरि प्राप्ति-अतिवचक पंती"—इत्यादि मिद्वान-वाक्यों पर वृद्धि रि-
नहीं करते। पुष्टि शब्द का तात्पर्य "पोषण तदनुग्रह" में ईश्वरीय अनुग्रह का अर्थ होता है।

^३ गुण दौष्ट दुष्टि दोष. गुणानुभवजनित ।—भागवत नृनाम स्कन्ध

^४ चेदा श्रीकृष्ण-वाक्यानि व्यामनूत्राणि चैव हि ।

मयाभिप्रायाप्यात्मन्य प्रमाण तदनुष्ठयम् ॥

—शास्त्रार्थ-निर्णय

वल्लभाचार्य के पूर्ववर्ती सिद्धांत-स्थापक अन्य आचार्यों ने वेद, गीता एवं व्याससूत्र को ही प्रमाण मान कर प्रस्थानत्रयी की परिपाटी चलाई थी, पर श्री वल्लभ ने आध्यात्मिक ज्ञान के अग्रावध वारिधि भागवत की प्रामाणिकता का अपलाप नहीं किया। निगमकल्पतरु के देव-दुर्लभ अमृत-द्रव सयुत, परमहंस शुक-मुख से आत्वादित इस सुषुम्न फल की मशरिमा से कैसे वचित रहा जा सकता था ? जिसका आविर्भाव ही नि साधन, धीन, हीन, स्त्री, शूद्र, द्विज-वृद्धों के लिये ही हुआ था। श्री भागवत को प्रमाण-कोटि में सन्निविष्ट कर आचार्य वल्लभ ने जहाँ प्रस्थान चतुष्टय-कोटि का आविष्कार किया था, वहाँ उसका एक तात्त्विक उपयोग भी था।

अल्पायुष्ट्य रूप सहज दोष, चित्त जाड्य (आलस्य), मदमत्तिस्वरूप ज्ञानेन्द्रिय दोष तथा मदमाभ्युत्थ रूप अदृष्ट दोष इन चतुर्विध आगतुक दोषों से परिग्रस्त मानव-देहधारी जीवों के लिये सुस्पष्ट रूप से वैदिक रहस्य को समझ लेना जहाँ सरल नहीं था^१ वहाँ उसके परिज्ञान में पदे-पदे उद्भूत संदेहों के निवारण का साधन भी सुदुर्लभ था। एतदर्थ वल्लभाचार्य ने गीता के श्री कृष्ण-वाक्यों का आश्रय लिया। गीता के सशयो की निवृत्ति के लिये व्यास-सूत्रों और उसमें उद्गृत शकाश्रयों के अपाकरणार्थ सात्वत-महिता भागवत शास्त्र को अवलंब बनाया।

इस प्रकार चारों की एक वाक्यता-द्वारा प्रतिफलित सिद्धांत पुष्टिमार्ग के रूप में स्वीकार किये गये। श्रुति-वाक्यों की विविधता, स्मृतियों के बाहुल्य, मुनियों के प्रथक्-प्रथक् मतों की विभिन्नता के कारण धर्म का सहृदय हृदयकमवेष्ट-तत्त्व किसी अज्ञात गुहा में निहित हो गया था। प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता की कसौटी एक कठिन समस्या थी, जिसका कोई हल नहीं था। वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र इन तीनों की परस्पर विसवादी प्रतीत होने वाली उलझी हुई गुथी आचार्य वल्लभ ने सर्वसदेह-सदोहवारक भागवत शास्त्र के द्वारा सुलझाई और उन्नत प्रमाण चतुष्टय की एकवाक्यता से डब भर भी विरुद्ध जानेवाले विचार की अग्राह्यता, अथवा इससे अविरुद्ध सभी विचारों की मान्यता का निश्चय समर्थन किया।^२

भागवत-वैशिष्ट्य

अशेष सगयोच्छेदक भागवत के अभिप्राय परिज्ञानार्थ आचार्य महाप्रभु ने एक विशिष्ट व्याख्यान-शैली को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि भागवत एक शास्त्र है, जिसमें कई स्कंध हैं। स्कंधों में कई प्रकरण, उनमें कई अध्याय और अध्यायों में कई श्लोक (वाक्य) हैं। वाक्यों में पद और पदों में कई अक्षर हैं। अतः जिस प्रतिपाद्य विषय का भागवत में प्रतिपादन होता है, उसकी निःसंशयता के लिये शास्त्र, स्कंध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य और पद तथा अक्षर इन सातों के अर्थों की एक वाक्यता होना नितांत आवश्यक है। यदि वे सभी एक दूसरे से विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, एक दूसरे से विसवादी हो जाते हैं, तो भागवत की मौलिकता, प्रामाणिकता और सर्वसदेहवारकता ही क्या ? अविरोध-पद्धति से सात प्रकार से प्रतिपादित एकार्थ की ही परि-

^१ प्रायेणाल्पायुष सभ्य कलावस्तिन्युगे जनाः ।

मदाः सुमवभतयो मद भाग्याह्युपद्रुताः ॥

—भाग० प्र० स्क० ५ अ० १० श्लोक सुबोधिनी

^२ उत्तर पूर्व सदेह वार क परिकीर्तितम् ।

एतद्विषयं यत्सर्वं नतन्मानं कथंचने ॥

अविरुद्धं तु यत्तस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा ॥८॥

अर्थोऽप्येव निखिलैरपिबेव वाक्यं —

रामायणी संहिता भारत पंच रात्रिः ।

अर्थैश्च शास्त्रवचनैः सहसत्त्व सूत्रैः—

निर्णीयते सहृदय हरिणा सर्वैः ॥१०८॥

—शास्त्रार्थ-निबन्ध

पुष्टि होनी चाहिये ।^१ ऐसा होने पर ही भागवत-ज्ञान का परम फल प्राप्त हो सकता है । यह परम फल ब्रह्मात्म-महात्मक ससार के नाशके अनन्तर होने वाली जीव की स्वस्वरूपस्थिति है और यही कृतार्थता अथवा मुक्ति है । पञ्चपर्वी अविद्या के द्वारा जीव ने आत्मस्वरूप को विस्मृत कर जो अन्यथा स्वस्वरूप-ज्ञान कर लिया है उसने छुटकारा पाकर परमानन्द की प्राप्ति ही उसका चरम लक्ष्य है ।^२

यहाँ यह ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि सच्चिदानन्द की सीलात्मक सृष्टि स्वरूप प्रपञ्च एक नित्य कारण का कार्य है, जिसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और नाश नहीं । ब्रह्मात्ममहात्मक ससार एक भावसिद्ध भावना है, जिसका ज्ञान के द्वारा निराकरण करना स्वस्वाभावस्थान (मोक्ष) के लिये अपरि-हार्थ है । स्वरूप प्रपञ्च अविकृत परिणामवाद-रूप में ब्रह्म कारण का कार्य होने से ब्रह्मरूप है और ब्रह्मात्ममहा-त्मक ससार अविद्या का कार्य होने से त्याज्य है । मुक्ति में ससार का तो लय हो जाता है, पर प्रपञ्च का नहीं ।^३

श्री महाप्रभु ने भागवत के शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय-आदि सातों के अर्थ का समन्वय कर उसी भागवत-तत्त्व-विज्ञान की पुष्टि की जो अविरोध रूप में एक दूसरे में अनुस्यूत होता चला जाय । 'आपठार्थ-निबन्ध' ग्रन्थ में महाप्रभु ने शास्त्र, स्कन्ध और प्रकरण इन तीनों की एकार्थता का प्रतिपादन किया है । फलतः भागवत-शास्त्र का अर्थ सच्चिदानन्द, भवितव्य कर्मा, परमात्मा, श्री हरि की शानमयी लीला का वर्णन ही है ।

इस भागवत में त्रिविध भाषाओं का वर्णन है । 'भाषा' शब्द से तात्पर्य व्याख्यान से है, अर्थात् इन अनुपम ग्रन्थ-रत्न में 'लौकिक', 'परमत्' और 'समाधि' नामक तीन भाषाओं में शास्त्रीय विषय का प्रतिपादन हुआ है । प्रस्तुत भाषात्रय का परिज्ञान कोई जटिल प्रश्न नहीं है । साधारणतया (१) जिस स्थल में लौकिक विषयो का प्रसंगवाच्य वर्णन हुआ है, वह लौकिक भाषा है—जैसे पुरु, श्राम, नगर-यात्रादि का वर्णन और नागरिक जीवन का उल्लेख । (२) सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए जहाँ अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख किया गया है, वहाँ 'परमत् भाषा' मानी गई है और (३) महामुनि वेद व्यास ने स्वयं समाधि में अनुभव कर जिस सिद्धान्त का निरूपण किया है वह 'समाधि-भाषा' कही जाती है । संक्षेपतः 'लौकिक' और 'परमत्' भाषा (व्याख्यान) को छोड़ कर अवशिष्ट भागवतीय सिद्धांत 'समाधि-भाषा' कही जाती है । उक्त दोनों भाषाएँ समाधि-भाषा की पोषिकाएँ हैं । अतः चन-उन भाषाओं के वक्तव्यों के अतिश्राय परत्वेन उन को प्रमाणिक कोटि में बिना जा सकता है । साक्षात् प्रतिपादित सिद्धांत के सन्ध में समाधि-भाषावत् उनका प्रामाण्य नहीं माना जाता । इन दोनों भाषाओं का स्पष्टतया उल्लेख आचार्य ने स्वनिर्मित सुवोचिनी में तत्तत्स्थलों पर कर दिया है ।^४

^१ शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।

एकार्थं सप्तभाषा ज्ञानम् अविरोधेन मुच्यते ॥२॥

—भागवतार्थ-निबन्ध

^२ ब्रह्मा भवता नाशे सर्वथा निरहंकृतौ ।

स्वरूपस्थो यदाजीव कृतार्थः स निगच्छते ॥

मुक्तिरहित्वाऽन्यथा रूपं स्वस्वयेण व्यवस्थितिः ॥

—श्रीदश-ग्रन्थ

^३ प्रपञ्चोभयवक्तव्यस्तद्वृत्तौ भाषया भवत् ।

—शास्त्रार्थ-निबन्ध

ससारस्वस्योमुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिहित् ॥

—श्रीदश-ग्रन्थ

^४ एषा समाधिभाषा हि व्यासस्थानित लेखः ।

लौकिकीचान्द्रभाषा च समाधौ पोषिकेतु ते ॥

—भागवतार्थ-निबन्ध

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि बल्लभाचार्य के प्रतिपादित यावन्मात्र सिद्धांतों की मौलिकता आध्यात्मिक स्वरूप में भागवत की समाधि-भाषा पर आकर अवलंबित हो जाती है। जिसके परिज्ञान से सर्वसंदेह-निवारण पूर्वक वास्तविक तत्त्व का परिज्ञान होता है।

इस समाधि-भाषा का समस्त व्याख्यान शुद्ध-अद्वैत साकार ब्रह्म के प्रतिपादन, उसकी सर्वोत्तम शक्ति-रूप माया के निरूपण, इस शक्ति के द्वारा सर्वत्र होने वाले समोह एवं उससे मोचन करानेवाली शक्ति के सागोपाग वर्णन में समाविष्ट हो जाता है।^१

इस प्रकार आधिभौतिक रूप में यावन्मात्र ब्रह्मांड रूप में अवस्थित आधिदैविक रूप में अतर्बहि व्याप्य-व्यापकतया विद्यमान एवं तदतिरिक्त अचित्त्व, अनंत शक्तिमान् वाङ्मनोगोचरातीत रूप में अवशिष्ट, अथवा आध्यात्मिक रूप में सर्वोत्तमिनी, रसस्वरूप, परिपूर्ण, आत्मकाम, आनंदमय उस परमात्मा सर्वदुःख-हर्ता श्री हरिकी लीलाओं का प्रतिपादन संपूर्ण भागवत का शास्त्रार्थ है।

इस समय शास्त्र में बारह स्कंध हैं, जिन में तृतीय से लेकर द्वादश स्कंध तक दस स्कंधों में (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) अति, (६) मन्वतर, (७) ईशानुक्ता, (८) निरोध, (९) मुक्ति और (१०) आश्रय इन दशविध लीलाओं का वर्णन किया गया है।^२ अचित्त्व, अनंत शक्तिमान् परब्रह्म की शक्ति-द्वारा व्यापक ब्रह्मांड में प्रतिक्षण अनायास ही घटित होनेवाली क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का नाम ही भागवत शास्त्र में 'लीला' है। समस्त भागवत में इन्हीं लीलाओं का प्रतिपादन है, जैसे—

- (१) इन ईश्वरीय लीलाओं के अभिज्ञानार्थ अधिकारी श्रोता और वक्ता के लक्षणों का परिज्ञान आवश्यक है, अतः प्रथम स्कंध में इसका इवमित्यतया निरूपण किया गया है।
- (२) द्वितीय स्कंध में भागवतीय रहस्य-ज्ञान के लिये अपेक्षित साधनों का निरूपण है। जिसमें तत्त्व-व्यापनहृत्प्रसाद और मनन इन तीन प्रकरणों का १० अध्यायों में विश्लेषण किया गया है।
- (३) 'सर्ग' (भौतिक सृष्टि) लीला प्रतिपादक तृतीय स्कंध में लौकिक-बंध-सृष्टि और अलौकिक-मुक्त-सृष्टि इन दो प्रकरणों का ३३ अध्यायों में विस्तार है।
- (४) 'विसर्ग' (वैव-सृष्टि) लीला प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ स्कंध में चतुर्विधपुरुषार्थों के चार प्रकरण हैं, जिन के अंगोपांगों का वर्णन ३१ अध्यायों में हुआ है।
- (५) 'स्थान' (सर्वोत्कृष्टता) लीला के प्रतिपादक पंचम स्कंध में प्राकृत पदार्थ जय और आत्म-जय नामक दो प्रकरणों का वर्णन २६ अध्यायों में हुआ है।
- (६) 'पोषण' (पुष्टि-अगंबद्वनूपह) लीला के निरूपक षष्ठ स्कंध में नाम, ध्यान और अर्चन नामक तीन प्रकरण हैं, जिन का १९ अध्यायों में वर्णन है।
- (७) 'अति' (कर्मवासना) लीला निरूपक सप्तम स्कंध में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप त्रिविध कर्म अथवा असद्वासना, सद्वासना और निमित्त वासना इन त्रिविध-वासनाओं का विश्लेषण १५ अध्यायों में है।
- (८) 'मन्वतर' (सद्धर्म) लीला निरूपणात्मक अष्टम स्कंध है। जिसमें हरिस्मरण, दान, स्वोक्त निर्वाह तथा मत्स्यचरित्र नामक चार प्रकरण और २४ अध्याय हैं।

^१ साकार ब्रह्म शुद्ध हि माया तच्छक्तिरस्तमा।

तया सर्वत्र संभोह साक्षाद्भक्तिवचमोचिका ॥

^२ आनवस्य हरेर्लोला शास्त्रार्थो दशबाहिना

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थान पोषणमृत्युः।

मन्वतरेशानु कथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥

अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि।

- (६) 'ईशानुक्त्या' नामक लीला के निरूपक नवम स्कंध में ईश और उसके अनुवर्ती भक्तों के चरित दो प्रकरणों में वर्णित हैं, जिसमें २४ अध्याय हैं ।
- (१०) 'निरोध' (आत्मशक्ति) के साथ ब्रह्मकी स्थिति) लीला-निरूपक दशम स्कंध में—जन्म प्रकरण, तामस प्रकरण, राजस प्रकरण, सात्त्विक प्रकरण और गुण प्रकरण ऐसे पाँच प्रकरण हैं, जिसके विभागों का वर्णन ८७ अध्यायों में किया गया है । वत्स-हरण-प्रसंग के तीन अध्याय प्रसिद्ध माने गए हैं ।
- (११) 'मुक्ति' (मोक्ष—स्वरूपावस्थान) लीला निरूपक एकादश स्कंध में जीव-मुक्ति और ब्रह्म-मुक्ति दो प्रकरण हैं, जिसमें ३१ अध्याय हैं ।
- (१२) 'आश्रय' (सर्वाधिष्ठान) लीला के प्रतिपादक द्वादश स्कंध में कुण्डलाश्रय, जगदाश्रय, वेदाश्रय, भक्तियोगाश्रय तथा भागवताश्रय नामक पाँच प्रकरणों का समावेश १३ अध्यायों में किया गया है ।

अधिकारी नर-समाज की श्रेयोवृत्तता और कर्तव्य-विधित्ता की लक्ष्य में रखकर भांगवत-सिद्धांत में जिन त्रिविध कर्म, ज्ञान और भक्ति के योगों का आविष्कार किया गया था,^१ बल्लभाचार्य के पूर्व उसका कोई समन्वयात्मक प्रत्यक्ष आकार व्यवहार रूप में दृष्टिगत नहीं होता था । अद्यावधि कर्म, ज्ञान, भक्ति इस त्रितय का एकीकरण करीर, भक्ति और हृदय के सामंजस्य रूप में प्रकृतिलत नहीं हो पाया था—मगवती गीता का त्रिविध योगोपदेश अपना प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दे पाया था ।

गीता-सिद्धांत के अनुसार कर्मक्षेत्र (भू मंडल) में अवतरित कोई भी जीव जब क्षण भर भी 'अकर्मकृत्' होकर नहीं रह सकता तो सर्वतोभावेन उसका त्याग किस प्रकार संभव है ? अतः कहा गया है कि अनासक्ति योग (फलभिसंधिरहित्य) पूर्वक कृष्णार्पणता की बुद्धि ही उस का उपयोग है । अतः बाह्यान्तर शुद्धि जिसमें त्रिविध कर्म-फल के वासना-संशोधन का भी समावेश हो जाता है, के निमित्त कर्म करते रहने की नितांत आवश्यकता है । तात्त्विक वस्तु-परिज्ञान के अतिरिक्त गतव्य पथ, उपादेय सत्य और प्राप्त्यनुप्राप्त की प्राप्ति सर्वथा असंभव है । हेयोपादेयता एवं इतिकर्तव्यता का परिज्ञान भी नितांत आवश्यक है । ऐसी अवस्था में कर्म-ज्ञान दोनों की संशोधित रूप में स्वीकृति से विमुक्त नहीं हुआ जा सकता । साधन रूप गुणात्मिका भक्ति के सतत अनुष्ठान से ही गुणातीत साध्य भक्ति की उपलब्धि होती है ।

फलतः बल्लभाचार्य के सिद्धांत में उभयविध शुद्धि के अर्थ सात्त्विकीत कर्म करने की, सच्चिदानंद पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण के लीला माहात्म्यावबोध के लिये ज्ञान की एक विधिनियेष्वात्मक रूप में प्रतिपादित सात्त्विक साधन-रूपाभक्ति की आवश्यकता का निर्देश है । ऐसी अवस्था में ही परमप्रेमरूप व्यसनात्मिका (एकतानता) रूप साध्य (फलरूपा) निर्गुणभक्ति की सिद्धि हो सकती है । सर्वतः परम शरीर वस्तु में गंगा के अविविद्ध प्रवाह के समान प्रवहती और अव्यवहित चित्त की सतत एकतानता का नाम ही निर्गुणता है ।^२

आनंदधन परब्रह्म श्रीकृष्ण विषयक उक्त सतत सान्निधी भावना के लिये (चित्त की तत्त्व प्रवणता प्राप्त करने के लिये) आचार्य महाप्रभु ने तनुजा (शारीरिक) और वित्तजा (आर्थिक) सेवा को साधन रूप से ग्रहण किया है । तनुजा-वित्तजा इस उभयविध सेवा के सतत आचरण से मानसी (आध्यात्मिक) सेवा-भावना

^१ योगाश्रयो भवाप्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्तया ।

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपयोऽन्योऽस्ति कश्चन ॥

—भांगवत एकादश स्कंध २० अ०

^२ ब्रह्मगुणभूतिमात्रेण भयि सर्वगुहाशये ।

मनोपतिरविच्छिन्ना यथागंगांसोऽञ्जयो ॥

लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहर्तम् ।

अहेतुव्यव्यवहितं या भक्तिः पुण्योत्तमे ॥

—भागवत ३।२६।११-१२

की प्राप्ति होती है और ऐसा करने से ही सासारिक दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और परमानन्द रूप ब्रह्म-बोधन होता है। इस मार्ग में दुःखामाव और सुख-प्राप्ति यह दो पुरुषार्थ माने गये हैं।^१

अधिकारिता

इस स्वकीय सिद्धांत की स्थापना बल्लभाचार्य ने जिस जिज्ञासु-वर्ग के लिये प्रतिष्ठापित की है, उसकी कक्षा उन सासारिक जीवों की अपेक्षा बहुत ऊंची है, जो भौतिक आवरण में आच्छन्न होने के कारण अतः परिक्रिन्नत, अधिकारी अजर, अमर आनन्द-रूप आत्मिक वस्तु का दर्शन नहीं कर सकते। ऐसे जीवों को "अबाह्यमार्गस्थजीव"-संज्ञा दी गई है। अहंता, ममता की गह्रित सासारिक आवागमन एवं भोग-विलास की पक्षणा के चक्र में पड़े रहना अथवा तदुत्पादक कारणों का आश्रय लिये रहना ही जिन का एकांततः स्वभाव-सा बन गया है—गीता की दृष्टि में द्विविध भृष्टि के अतः पाती वे आसुरी सपद् के जीव हैं और तदातिरिक्त दैवी सपद् के।

ऐसे भौतिकवाद को आश्रय देने वाले किंवा तदीय रस में आपादबूझ निमग्न रहने के अभिवलायुक्त जीवों का इस पावन पथ में समावेश नहीं हो सकता। तुच्छ विषय रस के कीटाणु स्वच्छ आनन्दानुनिधि के अमृत रसास्वादन में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ?

गुदाद्वैत का सिद्धांत, भक्ति-मार्ग की सरणि, पुष्टि का अनुपम पथ उन्हीं अधिकारी जीवों के उपयोग की वस्तु हैं जो गीता के मत में दैवी-सपद् में अभिजात हुए हैं। स्वभाव, प्रकृति की अपेक्षा अधिक, वेद-शास्त्रादि ? विहित अलौकिक-आध्यात्मिक-कार्य करने वाले विशुद्ध सात्विक पुरुष ही इसमें अधिकारी हैं। दैवी संपत्ति के गुणों से विभूत अथवा जिनकी हृदय-भूमि में इन गुणों के बीज विद्यमान हैं वही भगवत् सेवक हैं, वही निष्काम होने के कारण मुक्ति के अधिकारी हैं। ऐसे अधिकार से संपन्न मानवों के—जिन्होंने एतदर्थ ही चरम शरीर प्राप्त किया है, अतः करण में इस आध्यात्मिक तत्त्व का प्रतिफलन हो सकता है।

इस आध्यात्मिक तत्त्व-प्राप्ति की योग्यता के लिये सत्त्वपरिमाजित बुद्धि, मानवीय जीवन की उपयोगिनी पूर्ण स्वस्थ आयु, सहज और आनन्दु दोषों का अभाव एवं बीज-भाव से विद्यमान भगवद्विषयक सुदृढ़ सर्वतोऽधिक स्नेह, ये आवश्यक गुण माने गये हैं। जिसमें ये गुण नहीं हैं उसे भला अधिकारिता क्या प्राप्त हो सकती है ?

भागवतशास्त्र के अनुसार इस सदनृष्ठान में सबसे अधिक फल का वाचक 'भद' (दर्प) है। इसका उल्लेख अधर्म के चार चरणों के रूप में किया जा चुका है। साधारणतया जब इस भद का स्वल्पांश भी मानसी-सेवा (आध्यात्मिक भावना) के अनुसरण में वाचक हो जाता है तब यदि वर्द्धमान-दशा में यह विद्यमान हो तो फिर इसकी उग्रता का क्या कहना ? उच्चकुल में प्राप्त जन्म, राज्यादि के द्वारा अधिगत ऐश्वर्य, शास्त्राध्ययनोत्तम ज्ञान, एवं विभूति-रूप में समागत श्री के द्वारा यह भद अधिवृद्धि की प्राप्त हो जाता है।

यद्यपि सत्कुलीन जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्राध्ययन-आदि सद्गुण परमार्थ साधना में सहायक हैं, परंतु वे ही अधिवैकल्य-मदोत्पादक हो जाने के कारण अथ पात के आदि कारण हो जाते हैं। दृष्टांततया तदुलादिषाम् भोवन के रूप में पितृ-देव-मनुष्यों की वृत्ति-जनक अथच अमृत-स्वरूप होने पर भी विकृत अवस्थामें मदिरा-रूप में पर्यवसित होने पर त्याग्य हो जाते हैं, एतावता उसका सग्रह अपेक्षणीय नहीं हो सकता। इसी प्रकार आसुरी

^१ कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता ।

चेतस्तत् प्रवर्ण सेवा तत् सिद्धये तनुविस्तला ॥

ततः संसार दुःखस्य निवृत्तिरहंबोधनम् ॥ —सिद्धांत-मुक्तावली

दुःखाभावः श्रमार्थं खड्गपुष्पैव भवति । —सर्वनिर्णय-निबन्ध

^२ सात्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ।

भवांत संभवा देवा स्तेषामर्थे निरूप्यते ॥

बुद्धिश्चायुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः ।

अस्य नैते भविष्यंति तस्य नास्त्याधिकारिता ॥

—शास्त्रार्थ-तत्त्वदीप-निबन्ध

सपद् के समावेश से जन्म, ऐश्वर्य, ज्ञान तथा श्री भी उन्मादक हो जाते हैं। जो कुछ गोबोद्धवता अविकृत रूप में कही भविक अधिकारिता से संयुक्त हो सकती थी, वह ऐश्वर्य जो—अपने अविकृत रूप में धार्मिक प्रवाहन का कारण हो सकता था—मद-सबलित हो जाने से लोकोद्देशक हो जाता है। वह शास्त्र-ज्ञान जो सीधीसिध एवं विवेक का आश्रय पाकर जनता का सम्मार्ग-दर्शक हो सकता था, मदमिभूत होने से विवर्तनवाद का कारण और असत् मत का स्थापक हो जाता है। वह श्री, जो अपने लोकोत्तर निर्मलरूप में लोकोपकारिणी हो सकती है मदाधिष्ठित होने से विलासोत्पादिका और क्रुमार्ग-गामिनी हो जाती है^१।

इस प्रकार के किसी भी मद से भाविष्ट पुरुष जो, उस मद की पक्षपादस्था में धागे चलकर भात सज्जन-गुरु-भादि के द्वारा भी अनियम्य हो जाते हैं, इस भक्ति-मार्ग के अनधिकारी गिने गये हैं। वे किसी सत्कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनका ऐश्वर्य देवस्थानीय है, उनका शास्त्रीय ज्ञान गभीर है, उनकी श्री परोपकार-श्रम है आदि हेतु उनकी मदाधिष्ठिता के कारण सम्राह्य नहीं है। ऐसे व्यक्तियों की अधिकारिता का स्वरूप निराकरण नहीं किया जाता, क्योंकि भक्ति-मार्ग सर्व सुलभ है, उन्मुक्त कथा है, फलतः केवल उनकी अनधिकारिता सिद्ध होती है। संक्षेपतः अनधिकारिता का कारण ऐसे पुरुषों के हृदय में भगवदावेश का अभाव ही है। उनके मूल से होने वाला ईश्वरीय गुणानुवाद परमार्थ न होकर व्यवहार मात्र होता है। अतः भक्ति-मार्ग की अधिकार सिद्धि के लिये विषयो का सर्वथा त्याग, दुःसंग का परिवर्जन, काम-क्रोध-मदादि आसुरी-सपद् के लक्षणों का गहिर्य और शम-मदादि देवी सपद् के गुणों का आधिर्भाव अत्यावश्यक है^२।

ब्रह्म-संपत्ति

भक्तिमार्ग की अधिकार-प्राप्ति में मानवता की दृष्टि से निराकरणीय जहाँ कई स्वयंभावि नानसिक अवरोध हैं, वहाँ उसकी सर्व सुलभता का भी लोप नहीं हो जाता। सत्कुलीन जन्म, उच्च जाति, कमनीय रूप, उदात्त विद्या, विपुल धन, पवित्र देश और अनुकूल काल-आदि किसी प्रकार की साधन-संपत्ति की संपत्तिता उसके लिये अनिवार्य नहीं है—आत्मा से सबधित होने के कारण यह मानव-जीवन तक ही परिमित नहीं है। इसमें व्यावहारिक जगत् की नीचातिनीच और उच्चातिउच्च परिगणित कलाश्रयोकी जीव-श्रेणी का समाग्राधिकार है^३। अनात्म्य धर्मों से असंपृक्त आत्मा और हृदय जहाँ भी विद्यमान है वही अक्षुरित ईश्वरीय प्रेम-वीज अनुकूल वातावरण पाकर पनप सकता है। सुदृढ़ एवं सर्वतोऽधिक होने तक उस स्नेह-वृत्तिका को विपरीत वातावरण से सुरक्षित रखने के लिये साधनों की आवश्यकता था पड़ती है। इसीलिये शास्त्रीय साधनानुष्ठान की महत्ता का

^१ जन्मैश्वर्यभूत श्रीनिरेषमानभव पुमान् ।

नैवाहृत्यभिधातु वै स्वामकिचन गोचरम् ॥२५॥

—भागवत १।८।२५ सुबोधिनी

^२ न भजति कुमनीषिणा स इन्द्रा हरिचनात्सधनप्रियो रसतः ।

मुत्तमकुलकर्षणा नवैर्यं विवधति पापमकिचनेषु सत्सु ॥

—भागवत ४।३।१२१

देवी सपद् विमोक्षाय निवधायासुरी मता ॥

—गीता १६।५

^३ वेयोऽसुरो मनुष्यो वा यसौ गर्भं एव च ।

भजन्मुकुलचरण स्वस्तिमान्स्याद् यथा जगम् ॥

नाल द्विजत्वं देवत्वं मुत्तित्वं वासुरात्मना ।

श्रीगणाय मुकुदस्य न दत्तं न बहुमता ॥

—भागवत ७।७।५०-५१

सगामुगाः पापजीवाः सति ह्यभ्युत्तांगता ॥

—भागवत ७।७।५४

यत्र-तत्र प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा तो यह मार्ग नि साधन जनोद्धारक ही है। गुणात्मक विधि-निषेध तो देह-इन्द्रियों के ही सबधी है, निर्गुण आत्मा के लिये परमार्थ इनकी आवश्यकता नहीं है।

रस-स्वरूप आनन्दमय परमात्मा की लीला-सृष्टि में सारतम्य का कारण केवल मात्र उसकी इच्छा ही है। सजातीय, विजातीय, स्वगतद्वैतवर्जित उस ब्रह्म के सबध में किसी अन्य वस्तु की व्यवधान-सत्ता का स्वीकार करना कोई महत्व नहीं रखता। अतः उसकी इच्छा ही एकमात्र कारण है। विभिन्नता एवं वैचित्र्य का अपर नाम ही सृष्टि है। जहाँ एक रसता और एक रूपता है वहाँ सृष्टि कैसी? दृष्ट-दृश्यत्व, ज्ञातृ-ज्ञेयत्व, प्राप्त-प्राप्तव्य इन भेदाऽऽहिष्णु भ्रमेदो का मौलिक कारण सर्वकाम परब्रह्म की वह कामना है जो सृष्टि के आदि में अभिव्यक्त होती है^१। वैदिक सृष्टि-भद्रति के अनुरूप जगत् को निरानन्द, जीवो को गुप्तानन्द और ब्रह्म को पूर्णानन्द की स्थिति में अवस्थित माना गया है। ऐसी परिस्थिति में अपने लोभे हुए आनन्द की संप्राप्ति के लिये स्पृहयानु तथाच प्रयत्नशील होना जीवात्मा का स्वाभाविक कर्तव्य है, नैसर्गिक अभिरुचि है और वास्तविक धर्म है। वही उसका गतव्य पथ है, प्राप्तव्य सध्य है और ज्ञातव्य रहस्य एवं दर्शनीय दृश्य है^२।

अतएव जीवात्मा के लिये अपने परम ध्येय की प्राप्ति में किसी भौतिक कारण की अवरोधकता को स्वीकार करना भागवत शास्त्रानुसार श्री वल्लभाचार्य को समत नहीं है। वह एक प्रकार का आत्मावसादन ही है। बिना किसी भेद-भाव के जीवात्मा को इस अधिकार की प्राप्ति और प्रापण का नाम ही पुष्टि-मार्ग में 'ब्रह्म-सबध' करना और कराना कहा गया है। यह एक प्रकार की अधिकार-प्राप्ति किंवा दीक्षा है। दीक्षित-अन अपने ध्येय के प्रति अग्रसर होता है।^३ वह ब्रह्म-सबध के द्वारा स्वकीय काल, कर्म, स्वभाववशा आये हुए भविष्य जनित दोषों से निवृत्त होकर निर्दुष्ट शुद्ध स्वरूपावस्थित होकर निर्दोष सर्व सम ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण की प्राप्ति करता है।

इस सर्वोच्च आध्यात्मिक 'ब्रह्म-सबध' के रहस्यकी संप्राप्ति अन्य साधारण साधनों के द्वारा संभव नहीं है। जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, साधनों की उपयोगिता तभी तक है जब तक आत्मा की एकतानता (प्रवणता) नहीं हो जाती। उस के अनन्तर देह और इन्द्रियों के द्वारा अनुष्ठित साधनों की उतनी उपादेयता नहीं रहती जितनी साधनावस्था में प्रथम गिनी जाती है। इस आत्मिक प्रवणता के लिये नि साधनता-साधनराहित्य की भावना (दैन्य भाव) की नितात आवश्यकता है^४। इस दैन्यभावना के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार—जिसे शब्दशतरो में परमात्मदर्शन, ब्रह्मसायुज्य किंवा भगवत्-प्राप्ति कह सकते हैं—फल की प्राप्ति हो जाती है। औपनिषद-सिद्धांत में जिसे 'आत्मवरण' कहते हैं पुष्टि मार्ग में उसे ब्रह्म-सबध इस भूमिधान से प्रसिद्ध किया गया है।

यह औपनिषद-आत्मवरण उसी को समधिगत होता है जिसको परमात्मा स्वयं स्वीकार करता है, जिस पर उस दयार्णव की दया होती है, जिस ईवी जीव पर उस कृपा-निकेतन का अनुग्रह फलित होता है। परमात्मा

^१ लोकात्मयत बहुस्या प्रजायेय ।

—श्रुति

^२ गुप्तानन्द यतो जीवा निरानन्द जगद्व्यत ।

पूर्णनिर्दोहरित्तस्याज्जीव सैव्य सुखार्थिभिः ॥

—भागवत सुबोधिनी-दशम-कारिका

^३ सर्वेषां प्रभु संबधो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

—नवरत्न ३

ब्रह्मसबध करणात्सर्वेषां देहजीवयोः ।

सर्वदोष निवृत्तिर्हि बोधाः पचविधाः स्फुताः ॥

—सिद्धांत-रहस्य २

^४ भवतानां दैन्यमेकं हि हरि तोषण साधनम् ॥

—भागवत-सुबोधिनी दशम स्कन्ध-कारिका

की प्राप्ति के मार्ग का यह प्रकार ही 'कृपा मार्ग', 'अनुग्रह मार्ग' किंवा 'पुष्टि मार्ग'—यादि किन्ने ही नामों में संबोधित किया जाता है ।^१

इस 'अनुग्रह-मार्ग' का अधिक बन कर अधिकारी जीव, आनेवाली विपद्-बाधाओं, आसार्गिक विभीषिकाओं और वैयक्तिक प्रलोभनों से सावधान रह कर आत्मिक आनन्द के रूप में सर्वत्र मुक्त, परमात्म-रस-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के सतत चिंतन से ही उन्हें समधिगत कर सकता है ।^२

वेदात-शास्त्र में जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है, स्मृति अथवा पुराणों में जो परमात्मा शब्द में मन्त्रित है, भागवत शास्त्र में जिसे 'भगवान्' शब्द से व्यक्त करते हैं, वही पुष्टि-मार्ग में रस-स्वरूप 'श्रीकृष्ण' है । नाम-रूप के विभेद से यही अनंत नामा और अनंत रूप है । यही सकल कलानिधि अपनी अचिंत्य, अनंत पतिनी लक्ष्मी से सेव्यमान होकर बाह्याभ्यन्तर इन अभयवृत्तिवाली कामना रूप रसनाओं से मयुक्त सहस्रानन वाचे अतः करण रूप शेष-शय्या पर मुलशायी होकर लीला-क्षीराब्धि में विराजमान है ।^३

यही विशुद्ध, 'योगिभिर्ध्यान गम्य' परम तत्त्व-आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिये दापत्य-भावना की मधुरिमा के साकार प्रतिफल रूप में कोटिकदर्य लावण्यानुनिधि-‘राधाकृष्ण’ है, यही सत्य-भावना की अग्न्या स्वरूप में 'सुदामा-कृष्ण' है और यही जगत् के सर्वस्व वात्सल्य-भावना की महिमाके धादक 'यशोदोत्सव सातिन नन्द-नन्दन' है । इसकी इस त्रिविध सौंदर्य-सुधा पर बाणी के रूप में महानुभाव सत कवियों का काव्य-जगत्, व्यवहार के रूप में विश्व-मुहूर्त महात्मा साधु पुरुषों का नैतिक जगत् तथा दिव्य आध्यात्मिक रूप में भावुक अर्थों का रसात्मक जगत् अनुस्यूत हो रहा है—अरित हो रहा है, अथवा स्वयं निष्ठावर होकर कृतकृत्य होना बना जा रहा है । और—

“यही जगद्गुरु श्री बल्लभाचार्य के सिद्धांत की आध्यात्मिक पृच्छमूर्ति है ।”

- १ नाथमात्मा प्रबलतेन सन्धो-
न मेघया न ब्रह्मना श्रुतेन ।
यमेवैव वृणुते तेन सन्धो-
तस्मैव आत्मा विवृणुते तनुस्वाम् ।

—छ०७०

- २ तस्मात् श्रीकृष्ण मार्गस्यो विमुक्तः सर्वं लोकेत ॥
आत्मानन्द समुद्रस्य कृष्णमेव विचिंतयेत् ।

—सिद्धांत-मुक्तावली १२।१६

- ३ नमामि हृदये शोषे लीला क्षीराब्धिं शायिनम् ।
सक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमात्रं कलानिधिम् ॥
—भागवत-मुद्रोद्दिनी उगम स्कन्ध-कान्ति

परमानंद-सागर : परमानंद दास

श्री छलितकुमार देव

“परमानंद और सूर मिल, गाई सब ब्रज-रीति ।
भूलि जात बिधि-भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति ॥”

—ध्रुवदास

अष्टछाप के प्रात स्मरणीय रमणीय रत्नों में परमानंद स्वरूप ‘परमानंद दास’ का उतिवृत्त भी अन्य अष्टछाप के कवियों-अमृतों की भांति समय के पक्षों पर कुछ ऐसा छिप गया है जो आज ढूढ़ने पर भी नहीं मिलता । संप्रदाय में प्रचलित ‘वार्ता’ तथा उस पर श्रीहृग्गिय की ‘भाव-प्रकाश’ टीका के आधार पर कहा जा सकता है कि आपका जन्म उत्तर प्रदेश के ‘कन्नौज’ नगरमें मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी स० १५५० वि०को ‘कान्य-कुब्ज-ग्राह्मण के कुल’ में हुआ था । यही समय श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के रचयिता प्रसिद्ध ‘श्री गोकुलनाथ जी’ का भी है । परमानंददास जी के माता-पिता का नामोल्लेख वार्ता तथा भाव-प्रकाश में नहीं है, किन्तु उससे इतना भव्य ज्ञात होता है कि आपका कुल अच्छा खाता-पीता-संपन्न था । कहते हैं कि जिस दिन परमानंददास जी का जन्म हुआ उस दिन आपके पिता को नगर के किमी सप्पन्न सेठ ने दान में विशेष धन दिया था, जिससे उन्हें ‘परम-आनंद’ हुआ था, फलत आपने अपने पुत्र का नाम—‘परमानंद’ रख दिया । नाम-करण के समय राशि-गणनानुसार ज्योतिषी ने भी यही नाम रखने का आग्रह किया ।

परमानंददास जी के माता के कोमल-ज्वाले में उतरने पर उनके लालन-पालन के माथ-साथ शिक्षा-दीक्षा का सुंदर प्रवर्ध किया गया । विनोदकर साहित्य और संगीत की प्रचुर शिक्षा उन्हें दी गई, जिससे वे अपने समय के योग्य कवि और श्रेष्ठ गायक-कीर्तन-कर्ता बने । ये नित्य नई पद-रचनाकर उन्हें विविध रागानुसार गाते रहते थे । परमानंददास गुणी होने के कारण गुणी-जनों का भी अति आदर किया करते थे और उन्हें अपने साथ रखा करते थे । एक समय कन्नौज में भारी अकाल पड़ा तो वहाँ के हाकिम ने इनके पिता का सारा धन लूट लिया, जिससे वे बहुत दुःखी हुए । फलत परमानंददास जी से धनोपाजन के लिये कहा । परमानंददास जी के पास संगीत और काव्य में निपुण होने के कारण धन की कुछ कमी न थी, पर ये उदार-हृदय उसका संघर्ष न कर उसको अपनी प्रवृत्ति के वर गुणीजनों और साधुओं में वितरण कर दिया करते थे । आपके पिता धन के प्रति इनकी इस प्रकार विरक्ति देखकर अप्रसन्न हो द्वय के लिए दक्षिण-दिश चले गये । पिता के बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी आपने विवाह नहीं किया ।

सन् १५७६ वि० के लगभग ये भाव-स्थान के लिए अपने दलबल के साथ ‘प्रयागराज’ गये । वहाँ भी आपके काव्य और मुडगमय विविध रागों में गाने की विज्ञता की धूम मच गई । प्रयाग के आस-पास के अनेकानेक गुणीजन, साधु-महात्मा इनके सुमधुर कीर्तन का आस्वादन करने के लिए वहाँ आने-जाने लगे । जिन दिनों परमानंददास जी प्रयाग में अपने कलकठ से निवृत्त कीर्तनों का समा बाँध रहे थे, उन्ही दिनों प्रयाग के उस पार अहिल, प्राचीन नाम ‘अलकपुर’ में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी विराज रहे थे । परमानंददास जी के कमनीय कीर्तनों की चार चर्चा आपके समीप भी चली । अत आपने कहा—

“परमानंददास वैवी जीव है, बाकी ह्याति हौंनो ही जाहिऐ ।”

यह बात भी आचार्य-चरण के एक निज्य ‘कपूर लकी’ ने भी सुनी, जो पोरबंदर (सौराष्ट्र) का रहने वाला था और आप (वल्लभाचार्य जी) की जल-सेवा (पानी भरने का कार्य) किया करता था । अत

कपूर सगीत-प्रेमी होने के कारण परमानन्ददास जी के कीर्तन सुनने को लालायित हो उठा और वहाँ जाने का अवकाश बूढ़ने लगा। ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी की रात्रि को वह श्री आचार्य-वरणों के सो जाने के बाद यमुना के उस पार प्रयाग जाने और परमानन्ददास जी के कीर्तन सुनने को प्रस्तुत हुआ। ज्येष्ठ की श्रीयमुना आज कल की देश-संपत्ति की भाँति सकीर्ण हो चुकी थी, उसमें पहिला (श्रावण-भाद्रपद) जैसा प्रवाह ब वित्सार न था। कपूर यमुना के उस पार जाने का कोई साधन न पा जल में तैर कर वहाँ पहुँचा जहाँ परमानन्ददास जी का कीर्तन समाज जुड़ रहा था। कपूर के पहुँचने पर वहाँ उपस्थित श्री आचार्य के श्रम्य सेवकों ने उसे पहिचानकर आदर के साथ आगे बिठलाया। परमानन्ददास जी ने कीर्तन करना प्रारम्भ किया और मगबलीला के रात्रि के विविध रागों में गाये जाने वाले पदों के बाद कुछ विरह-सवधी पद भी गाये। सगीत-मुग्ध कपूर कीर्तन-समाज की समाप्ति पर परमानन्ददास जी को भगवत्स्मरण—“जयश्रीकृष्ण” कह कर उसी प्रकार पुन तैर कर अर्द्धत पहुँचा। इधर परमानन्ददास जी कीर्तन-सेवा में कुछ श्रमित होने के कारण निश्चित हुए तो उन्हें रात्रि के उस पिछले पहर में एक सुंदर स्वप्न दिखलाई दिया कि कपूर की गोदी में बैठे हुए साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ‘नव-नीतप्रिय’ के रूप में कीर्तन सुन रहे हैं। परमानन्ददास जी पर इस स्वप्न का बड़ा प्रभाव पड़ा और वे कपूर क्षी से मिलने को उत्तापले हो गये। प्रातः काल होते ही ये ‘अर्द्धत’ पहुँचे और वहाँ श्री आचार्य-वरणों के दर्शनो से बहुत प्रभावित हुए। श्री आचार्य ने भी परमानन्ददास का परिचय पाकर उन्हें निकट बैठने का अनुरोध करते हुए कोई सीलात्मक पद सुनाने का आग्रह किया। परमानन्ददास जी ने आप की आज्ञा पा एक विरह-सवधी पद गाया, जो इस प्रकार है—

“जिय की साथ, जियाहि रहो री।

बहुनि गुपाल देखि नाँह पाए, बिलपति भुंज अहीरी ॥

इक दिन सो नु सखी, या मारग बेचन जात बहीरी ।

प्रीति-कोलि-दान-मिस मोहन, मेरी बाँह गहीरी ॥

बिन देखैं छिन जात कलप-भरि, बिरहा-भनल बहीरी ।

‘परमानन्द’ स्वामी बिन बरसैन, नैनन-नदी बहीरी ॥”

अथवा—

“सुधि करत कवल-वल-नैन की ।

भरि-भरि लेति तीर अति आनुर, रसि नु दावत जैन की ॥

देवै गाढे आलिषन सो मिलन लता-दुम-भुंज ऐन की ।

जे बतियाँ कैसैं करि बिसरैं, बाँह उसीसा सैन की ॥

बसि निरुंज में रास रजायौ, बिया गैमाई सैन की ।

‘परमानन्द’ प्रभु सो क्यों जोवै, जे पोखी मुकु-जैन की ॥”

श्री बल्लआचार्य जी ने पद सुने और उनकी काव्य तथा सगीतज्ञता पर मुग्ध होते हुए परमानन्ददास को कोई अन्य बाल-सीलात्मक पद सुनाने का आग्रह किया, तो ये जोले—

“जै, मोहि बाल-सीला की अनुभव नाहीं ॥”

श्री आचार्य-वरणों ने परमानन्ददास से यह सुन कर और उन्हें स्नान करवा कर धन्यवाद की दीक्षा दी।

परमानन्ददास जी के शरण (दीक्षा) का समय ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी न० १५७६ वि० कहा जाता है, पर यह समय आपके बैठक-वरिचों के अनुसार आपकी हरिद्वार-यात्रा का होता है। इसके बाद ही आप (१७-

१ इस अंतिम पुक के दो पाठ-भेद और मिलते हैं, जैसे—

“नैनन-नदी बहीरी ।”

“नैनन-नीर बहीरी ।”

मानददाम) शत्रु में छाए होये। परानन्द इन के चरण-शरण का गण १४३३ वि० मानता धर्मिक उपायों होता। परमानन्दान जी की छवियाँ भी उस समय बीम में गीत करने के साथ होती जातीये।

श्री यदुनाथ जी का 'स्वभक्त-निर्दिष्ट' में लिखा है कि म० १४३३ वि० में गोम्बामो श्री विठ्ठल-नाथ जी के श्रमोन्मत्त के बाद श्री धानाजी पुनार (नर्दिष्ट) ने धर्म-पथ पर से योग गता उन्नीने विठ्ठलनाथ का यमोन्मत्त-मन्त्राङ्ग श्रित था। उसका बाद 'नर्दिष्ट' की यात्रा। यह समय मन्त्राङ्ग में म० १४३६ वि० माना जाता है। नर्दिष्टानाथ जी ने मोरने पर धार पुन, 'धर्म' पगारे। श्री गणय 'मन्त्रपुत्र्यान्' दामोन्मत्तान के पास में श्री श्रिनिवासाय श्री का श्रम-धर्म-पथ पर गताया गया था। श्री श्रिनिवासाय जी की 'प्रागटप-यार्थ' में भी यह समय (म० १४३६ वि०) ही माना जाता है। स्वभक्त-निर्दिष्ट में वर्णों 'श्री यदुनाथ' जी करने हैं—

"तत्र म० १४३३ द्विगुणपुस्तक पंचदशानन्दे धर्मोन्मत्त गोम्बामो श्री विठ्ठलनाथानां प्रादुर्भाव समयवत्। धर्म पुनर्द्विगुणाया जाता। तत श्री गोपीनाथ यतोपयोगी महोत्सव समयभूत। ततो जगदीशयात्राया पगामाग प्राप्ति। हृदयवर्धनमिन्दनम्। रघुप्राप्तोत्सवोजात। ततो जगदीशप्रयागमन धामभूत। ततो हरि-द्वार यात्रा। तत, पुनस्तत्रपुरे समागमनमभूत्। तत्र श्रिनिवासाय श्रितम्। काव्यकुञ्ज परमानन्द भगवद्गुरु-मोवादात्मनं च श्रितम्। तत श्री विठ्ठलनाथ यतोपयोगीत्सव, कृतः। तत द्वारिकेशागमनम्।"

—१०-१३-१३

उनने भी शत्रु का समय पुनर्-निर्दिष्ट म० १४३३ वि० ही प्रकट होता है।

उक्त समय के बाद धर्मोन्मत्त म० १४३३ वि० के धाम-नाथ श्री महाप्रभुने विठ्ठलनाथ जी को श्री नाथ जी के चरण-शरण करने के लिए राजा की ओर गमन करने का निश्चय किया तो परमानन्ददाम जी ने भी मेवा में माय चरने के लिए निश्चय करने हुए यह पद गाया—

"यं भाग्यं, गोपीजन-मल्लभ।

मानव-जनम और हरि-सेवा, ब्रज-सत्सवी कीर्ति मोहि सुल्लभ॥

श्री बल्लभ-भुक्त की रहे धेरी, बल्लभ-जन की दास कहाऊँ।

श्रीजयनाथ नित-प्रति कृष्ण, मन-मन-करम कृष्ण-गुन-भाऊँ॥

श्रीभागवत अध्याय सुनो नित, इन तजि चित्त कहूँ धेनत न लाऊँ।

'परमानन्ददाम' ये माँगत, नित निरखौं कबहूँ न प्रधाऊँ॥"

अन्तु, परमानन्ददाम जी भी आचार्य-चरणों के साथ राज आने लगे तो मार्ग में आपका नगर— 'कदोश' पड़ा। वहाँ परमानन्ददाम जी ने श्री आचार्य-चरणों को अपने पर बैठे डाटवाट के साथ पथगकर अर्चना-मन्दारि के बाद यह पद गुनाया—

"हरि, तेरी लीला की सुधि भावै।

कल-नैन मन-मोहन मूरत, मन-मन चित्र भावै॥

एक बार जिहि मिलत मया करि, सो कैसे बिसरावै।

भुख सुसिकान, चक भवलोकेन, चाल मनोहर-भावै॥

कबहूँ निबिड तिमिर आलिगन, कबहूँ पिक-सुर गावै।

कबहूँ नैन-सूदि अतरगत, सनि-भासा मोहरावै।

'परमानन्द' प्रभु स्वामि-व्यान करि, ऐसे बिरह-नैमावै॥"

बार्ताकार कहते हैं—श्री आचार्य महाप्रभु को यह पद सुनकर तीन दिन तक देहानुसंधान नहीं रहा और बार-बार उक्त पद की पुनरावृत्ति करते हुए निरंतर अश्रुधारा बहाते रहे। इस विमुख-वशा के बाद श्री आचार्य परमानन्ददास की अनन्य शक्ति-अन्य निष्ठा और उनके कोमल काव्य-कोशल की प्रशंसा करते हुए राज पधारें तथा उन्हें "श्री नवनीत प्रिय" तथा "श्री श्रीनाथ" जी के दर्शन करा सामीप्य में कीर्तन-करने की सेवा मोषी। परमानन्ददाम, श्री गिरिराज जी की सुंदर तलहटी में स्थित—'सुरभीकुंड' (जतीपुरा) पर जहाँ

इंद्र ने सुरभि-गौ के पुत्र से भगवान श्रीकृष्ण का 'गोविंदामिषेक' किया था, श्यामतमाल वृक्ष के नीचे कुटो बना कर रहने और श्रीनाथ जी की श्री सूर के साथ कीर्तन-सेवा करने लगे।

परमानंद जी का निधन-समय सप्रदाय-साहित्य के अनुसार 'भाद्रपद कृष्णा नवमी स० १६४१ वि०' माना जाता है, जो कि साहित्य-सूर्य 'सूर' के यस्ताचलमयमन-काल से एक वर्ष बाद का है। श्री सूर का निधन-काल स० १६४० वि० है। वार्त्ता-साहित्य में कहा गया है कि परमानंददास जी ने अपने अंतिम समय पर किसी वैष्णव को लक्ष्य कर श्री बल्लभाचार्य जी की स्तुति-युक्त यह यह पाद गाथा पा—

“प्रातः समे उठि करिऐ श्री लखमन-सुत-गान ।
प्रघट भएँ 'बल्लभ प्रभु', वेत भक्ति-दान ॥
'विठ्ठल' महाप्रभु रूप के निधान ।
'गिरिधर' श्री गिरिधर, उई भएँ मान ॥
'गोविंद' आनंद-कंद, बरनों गुन गान ।
'बालकृष्ण' बाल-केलि, रूप ही सुहान ॥
'गोकुलनाथ' प्रघट कियी, मारग बखान ॥
'रघुनाथ लाल' देखि-देखि, मनमथ लखान ॥
'श्री कबुलाथ' महाप्रभु, पूरन भगवान ।
'श्री चनक्याम' पूरन काम, पोथी में ध्यान ॥
पांडुरंग विठ्ठल, करत 'बेद-मान ।
'परमानंद' निरखि लीला, थके सुर-बिमान ॥”

वैष्णव-प्रति गाये गए इस उद्बोधन-रूप पद में परमानंददास जी ने श्री आचार्य-वरगो के साथ-साथ आपके पुत्र गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी तथा उनके सातों पुत्रों का अंत परिचय-सहित स्मरण व वंदन किया है, यह तनिक विचारणीय है।

गोस्वामी जी के सातवें लाल जी (पुत्र) श्री चनक्यामलाल जी का जन्म स० १६२८ वि० कहा गया है। परमानंददास जी ने आप के प्रति—

“श्रीचनक्याम, पूरन-काम, पोथी में ध्यान ॥”

रूप वदना करते हुए दो विशेषणों—“पूरन काम, पोथी में ध्यान” का प्रयोग किया है। इन सामिप्राय विशेषणों से ज्ञात होता है कि श्री चनक्याम लाल जी आप के समय १२ या १३ वर्ष की वय में रहे होंगे। सप्रदाय में गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी का लीला-अवेश सवत् १६४२ वि० माना जाता है। परमानंददास जी का निधन आपके लीला-अवेश से अग्रम का है। अस्तु, श्री चनक्याम जी के जन्म-समय में यदि १२ या १३ वर्ष की सख्या और बदा दी जाय तो आप (परमानंददास) के निधन का समय कम-सिखा स्पष्ट हो जाता है।

परमानंददास—कवि, गायक (मगीतज्ञ) और भक्त थे। ब्रजभाषा साहित्य-मूर्त 'श्रीमूर' की रीति आपने भी 'सख्य-भक्ति' को अपने जीवन का अवलंबन बनाया। भाव-श्रकाश में आपकी उक्त भक्ति-आदर्श का द्योतक एक सुंदर प्रसंग है—

“एक समय कोई राजा कुदृष्ट-सहित श्री गिरिराज में श्रीनाथ जी के दर्शन के लिये ब्रज आया। चरपी कुल-भयविानुसार अंत पुर-वासिनीयों के लिये दर्शनो के समय परदे का प्रबंध किया गया। ब्रज के अकुर (राजा) ने भी सामने परदा ? यह श्री श्रीनाथ जी (भगवान) को अरुचि-प्रतीत हुआ। गुप्त-इन्द्र-शक्ति ने मंदिर का मुख्य-द्वार खोल दिया। बाहर खड़ी दर्शनार्थी सीट सीट भर गई। परदा करने का मूर्त आयोजन निष्फल हो गया। परमानंददास पास ही कीर्तन कर रहे थे, उन्हें आप (श्रीनाथजी) की मर-मदासलत-बेजाई—मनद न आई। धीरे ही एक नये पद की रचना कर कीर्तन करने लगे—

“कोन यै खेलिवे की बान ।”

श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी श्रीनाथजी की सेवा में सलग्न थे । अतः आप को परमानन्ददास का यह उलहने का कीर्तन पद न आया और उन्हें टोकते हुए आज्ञा-रूप में बोल—“परमानन्द, यै ठीक नाही, या पद को या प्रकार गाओ”—

“भली यै खेलिवे की बान ।”

श्री आचार्यचरणों-द्वारा ‘कोन’ के स्थान पर ‘भली’ को तरजीह देना—बदलना, आपके ब्रजभाषा-ज्ञान और उसके मुष्ट प्रयोग का अच्छा-खासा परिचय देता है । साथ ही ब्रजभाषा में आपकी कितनी गति थी, काव्य के अतर्गत भावों के अनुकूल शब्द-व्ययन में कितनी सावधानी थी, यह आपके इन अल्प परिवर्तन से जानी जा सकती है । वास्तव में ‘कोन’ के स्थान पर ‘भली’ में अपनापन लिए गहरा व्यंग्य है, जो देखते-समझते बनता है ।

श्री हरिराय जी ने अपने भाव-प्रकाश में उक्त प्रसंग का उल्लेख करते हुए लिखा है—“परमानन्द दास हैं, उन्हें प्रभु के प्रति “कोन” ऐसी कहनी उचित नाही ।” यह सपूर्ण पद इस प्रकार है—

“भली यै खेलिवे की बान ।

मवगुपाल लाल काहू की, राखत नाहिन कानि ॥
अपने हाथ देत बनचरनन्है, बूष, भात, घृत-सानि ।
जो बरजो तो आँख दिखावत, पर घर फूद निबानि ॥
सुनि-री जमुआ करतव सुत के, यै लै माँह-मयानि ।
फोरि, डोरि, बधि डारि अजिर में, कोन सहै नित हानि ॥
ठाढी हैसति नदनु की रानी, मूँब-कमल-मुल-यानि ।
‘परमानन्ददास’ जानत है, बोलि बूझि जो आनि ॥”

श्री गोकुलनाथ जी ने—‘बीरासी वैष्णव की वार्ता’ में तथा नामादास ने अपने ‘भक्तमाल’ में परमानन्ददास जी के कीर्तनों की, भक्ति की और भावों की मूरि-मूरि प्रशंसा की है । वास्तव में परमानन्ददास भगवान् श्रीकृष्ण की बाल, पौगड और किशोर लीलाओं के वर्णन में बेजोड़ हैं । वार्ता में उनके इस साहित्य-सृजन को प्रथम ‘भवतार-लीला’, फिर ‘निकुललीला’ (रासादिक), तदनन्तर ‘चरण-बदनादि’, ‘स्वरूपवर्णन’ और ‘प्रभु-माहात्म्य’ में विभक्त कहा गया है । जैसे—

“मोहन, नंदराह-कुमार ।

प्रचट ब्रह्म निकुलनाथिक, भक्त-हित आसार ॥
प्रथम चरन-सरोज बंदो, स्वामि घन गोपाल ।
मकर-कुंडल-गंड-मंडित, चाद नैन बिसाल ॥
राम-सहित बिनोद-लीला, सेस-संकर ह्वेत ।
‘दास परमानन्द’ प्रभु हरि, निगम बोलत नेत ॥”

भक्ति-दृष्टि से भी आपका काव्य-बाल, कला और दास-भाव की भक्ति से परिपूर्ण है ।

वार्ता में कहा गया है कि परमानन्ददास जी समय-समय पर नित्य नये पद रचकर श्री नवनीत-प्रिय जी के और अनोसर (अन्य अवसर) होने पर श्री आचार्य-चरणों के समक्ष ब्रजलीला-सवधी पद गाया करते थे । साथ ही श्री आचार्य-मुल से मागवत-सुबोधिनी टीका, जो आप की एक अद्वितीय भावाविशिष्ट रचना है, सुनते और तदनुसार पद-रचना कर श्री आचार्य महाप्रभु को सुनाया करते थे । फलतः आपके रचे कीर्तनों (पदों) की संख्या हजारों पर पहुँच गई । इन्हीं की बाद में संकलित करके ‘सागर’ नाम दिया गया । श्री गोकुलनाथ जी ने अपनी वार्ता में अपने पितृ-चरण गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ के वे वचन जो आपने परमानन्ददास और उनके सागर (परमानन्द सागर) के प्रति कहे थे प्रतिकूलरूप से डुहराते हुए कहा है—

“वैष्णव तो औरतू अनेक श्री आचार्य जी के कृपा-पात्र हैं, पर सूरदास और परमानन्ददास ए दोऊ ‘सागर’ भए । इन दोऊन के कीर्तनन की संख्या नाही ।”

“पुष्टि मार्ग में दोह 'सागर' भए । एक ती सुरदास और दूजे परमानन्ददास । सो तिन कौ हुदय अगाध-रस सागर जहाँ भगवत्सोला के रतन भरे परे हैं ।”

अस्तु, खोज में 'परमानन्दसागर' की जो प्रतियाँ मिली हैं, वे इस प्रकार हैं—

- १ परमानन्द सागर, प्राप्तिस्थान—विद्याविभाग काँकरीली (मेवाड़), वय-सं० ४५, पुस्तक-सं० १। पृष्ठ-सं० ११४, पद-सं० ८५०। सं० १६८० के लगभग लिखी हुई प्रति (अपूर्ण) ।
- २ परमानन्द सागर, प्राप्तिस्थान—विद्याविभाग काँकरीली (मेवाड़), वय-सं० ५७, पुस्तक-सं० ४। पृष्ठ-सं० ६ से १५३ तक । लिपि-समय वही सं० १६८० के लगभग । अपूर्ण, जोमें होते हुए भी सुबर ।
३. परमानन्द सागर, प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरीली (मेवाड़), वय-सं० ५७, पुस्तक-सं० ३। पृष्ठ-सं० १५२, पद-सं० ११०२ । अंत में लिखा है—“इति श्री परमानन्ददास जी के पद संपूर्ण, पोथी वैष्णव हरिदास की । पृ० १५२ से १५४ तक परमानन्ददास जी के कुछ और पद भी लिखे हैं ।
४. परमानन्द सागर, प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरीली (मेवाड़), वय-सं० ३६, पुस्तक-सं० ४। पृष्ठ-सं० १७६, पद-सं० ७४१ । लिपि सुंदर, सुवाच्य और शुद्ध । पुस्तक में शीर्षक रूप से—“परमानन्ददास के कीर्तन” लिखा है ।
- ५ परमानन्द सागर (पुटका), प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरीली (मेवाड़), वय-सं० १६, पुस्तक-सं० ६। पृष्ठ-सं० ३१४, पद-सं० १००० । हासिये पर—“परमानन्द” लिखा है जिससे—“परमानन्दसागर” और कीर्तन दोनों ही शीर्षक समझे जा सकते हैं ।
६. परमानन्द सागर, प्राप्तिस्थान—श्री द्वारिकाधीश काँकरीली (मेवाड़) के कीर्तनियाँ प० छोटे साल । प्रति सुंदर और पद सख्या ऊपर लिखी प्रतियों से कहीं अधिक ।
- ७ परमानन्द सागर, प्राप्तिस्थान—अबाहुरलाल चतुर्वेदी, मयुरा । पुस्तक अल्प है, पद सख्या—लगभग ७०० । प्रामाणिकता में विशेष शुद्ध । चतुर्वेदीजी का कहना है कि “यह पुस्तक—बाई राधा सट्ट, ३२, बांसतला गली कलकत्ता की है ।”
८. परमानन्द सागर, प्राप्तिस्थान—असिद्ध कीर्तनियाँ जमुनादास—गोकुल (मयुरा) अथवा नाथद्वारा (मेवाड़) पुस्तक नई लिखी-सी प्रतीत होती है, फिर भी सुबर है ।

इनके अतिरिक्त काँकरीली (मेवाड़) के विद्या-विभाग में परमानन्ददास जी के कीर्तनों की और भी छोटी-मोटी सप्रहात्मक प्रतियाँ हैं । साथ ही अहाँ सांप्रदायिक नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के पद-ग्रंथों की भी गिनती से परे प्राचीन तथा नवीन लिखी हुई अनेक प्रतियाँ हैं, जिनमें अष्टछाप के अन्य कवियों के साथ परमानन्ददास जी के कीर्तन भरे पड़े हैं । इन प्रतियों अर्थात् 'परमानन्द सागर' की इन विविध प्रतियों में तथा नित्यकीर्तन और वर्षोत्सवों में परमानन्ददास जी के ऐसे अनेक पद हैं जो एक-दूसरे में नहीं हैं । अस्तु, परमानन्द सागर की इन उपलब्ध प्रतियों के आधार पर पद-संकलन का विषय-क्रम इस प्रकार है—

“१ भगलाचरण, २ जल-समय के पद, ३ पलना के पद, ४ छड़ी के पद, ५ स्वामिनीजू के जल-समय के पद, ६ बाल-लीला के पद, ७ उरलहने के वचन गोपिकाजू के रानीजू सो, ८ जसोबानू की उत्तर गोपिका वृ सो, ९ जसोबानू की धरजिबी प्रभुजू प्रति, १० गोपिकाजू के वचन प्रभुजू प्रति, ११ प्रभुजू के वचन जसोबानू प्रति, १२ परस्पर हास्य-वचन, १३ सखन सो खेल, १४ अतुर-भर्जन, १५ श्री यमना जी के तीर-मिलन, १६ निषा-तर दर्शन, १७ गोबोहन-असंग, १८ जन-क्रीडा छाक के पद, १९ गोचारण समय २० दान-असंग, २१ द्विज-मेलि कौ प्रसंग, २२ जन से जन को पाँजधारिबी, २३ बेणु गान, २४ गोपिकाजू के आसक्ति वचन, २५ आसक्ति कौ वर्णन, २६ आसक्ति कौ अवस्था, २७ साक्षात् स्वामिनीजू के आसक्ति वचन, २८ साक्षात् भक्तन कौ प्रार्थना प्रभुजू प्रति, २९ साक्षात् प्रभुजू के वचन भक्तन प्रति, ३० प्रभु कौ स्वरूप-वर्णन, ३१ स्वामिनीजू की स्वरूप वर्णन, ३२ जगलरस वर्णन, ३३ अतचर्या प्रसंग, ३४ रास समय के पद, ३५ अतर्प्यान समय, ३६ जल-क्रीडा, ३७ सुरतति, ३८ छडिता के वचन, ३९ छडिता कौ प्रत्युत्तर, ४० मानापनोब, ४१ मध्या के वचन, ४२ प्रभुजू कौ मनाहबी, ४३ प्रभु कौ मान, ४४ किसोर लीला, ४५ फूल-मडली के पद, ४६ दीप-मासिक, गोवर्धनीद्वारा

अन्नकूट के पद, ४६ प्रबोधिनी के पद, ४८ वसन्त-समय के पद, ४९ वमार (होरी) के पद, ५० डोल-जल्लव के पद, ५१ स्वामिनीजू की उत्कर्षता, ५२ सकेत के पद, ५३ वज्रवासिन की माहात्म्य, ५४ मन्दिर की सोभा, ५५ ब्रज की माहात्म्य, ५६ श्री जमुनाजू के पद, ५७ अक्षय तृतीया के पद, ५८ स्नान-यात्रा के पद, ५९ रथ-यात्रा के पद, ६० वर्षा-रितु के पद, ६१ हिंडोरा के पद, ६२ पवित्रा के पद, ६३ रक्षावधन के पद, ६४ वसुधारा के पद, ६५ अपनी चीनत्व, प्रभु की माहात्म्य तथा बिनती, ६६ समुदाय पद, ६७ भयुरा-गमनादि के पद, ६८ गोपिन के विरह के पद, ६९ अमर गीत, ७० जसोदा तथा मन्जू के वचन उद्धव-प्रति, ७१ उद्धव के वचन प्रभु से, ७२ जरासव के युद्ध की प्रसंग, ७३ द्वारिकालीला, ७४ रामोत्सव, ७५ नरसिंघज के पद, ७६ बामनज के पद, ७७ समुदाय पद, ७८ फुटकर पद—इत्यादि ।”

यह संपूर्ण विषय-क्रम सूर के ‘सागर’ का ही रूपांतर है, जो अपनी भाव-व्यंजना, काव्य-सौष्ठव तथा कला के उपकरण—छंद (राग), अलंकार के साथ-साथ स्वभावोक्ति के सहज मार्च्य गुण मेलिपटा साफ-सुथरी भाषा का परिचायक है । उदाहरण जैसे—

राग-बिलावल

बाल-बिनोद गुपाल के, देखत मोहि भावें ।
प्रेम-गुलकि अनन्द-मरि, जसुमति गुन-भावें ॥
बल-सैमेत धन-सामरौ, प्रांगन में धावें ।
बदन-चूनि कोरें लिए, सुत जानि खिलावें ॥
सिब, बिरचि, भुनि, देवता, जा की अत न पावें ।
सो ‘परमानन्द’ खारि कौ, हँसि भली यनावें ॥

राग-सारंग

रहि-री खारि, जोबन-मद-माँती ।

मेरे छाँन-मार्ग से लाल हि, कित लै उछैग लगावति छाती ॥
खीकत ते अब ही राख्यो है, नहानी उठत बूझ की दाँती ।
खेलन वै, घर आहु आपने, डोलति कहा इती इतराती ॥
उठि चली खारि, लाल लगे रोमन, तब जसुमति बुलाइ बहु-भाँती ।
‘परमानन्द’ ओट वै आँचर, फिरि आई नैनन-भुसिकाती ॥

राग-सारंग

कोऊ नैया, बेर बेचैन आई ।

सुनत हि डेरि नव-राज्रि में, भीतर लई बुलाई ॥
सुखत भान परे प्रांगन में, कर-अजुली बनाई ॥
दुमक-दुमक चलत अपने रँग गोपी-जन बलि जाई ॥
तए उठाइ, लगाइ हूवे सों, मुख-चूँमत न धवाई ।
‘परमानन्द’ स्थानी आँनदे, बौहौत ‘बेर’ जब पाई ॥

राग सारंग

एक समे जसुमति सखियेन सो बातें कहति बनाइ ।
भो देखत कब धो मेरी लालन, भूषि-खरैगी पाँइ ॥
फिर मोसो नैया कब कहि है, कुँमर कछुक सुतराइ ।
अरि है कभू बूझ के कारन, तन गोरज-लपटाइ ॥
खिरक-कुर्तान-जाति मोहि कब, भान मिलैगी घाड़ ।
धो धो छोत होइगी कबहूँ, ललेन दुईगी गाइ ॥

सोपि वैष्णवी सुतहि चरावन, गैया घर, बनराइ ।
ए अभिलाष करत अनुमति जिय, 'परमानन्द' बलिजाइ ॥

राग-रामगिरि विलावल

ये तन बारि डारों कमल-नेन पर, सर्मलिया मोहि भाव ।
चरन-कमल की रंनु जसोधा, लै-लै सिरहि खडाव ।
लै उर्ध्व मुख निरखन लागी, रहि-रहि लौन उसारै ।
कोन निरासी दीठि लगाई, लै-लै अचर हारै ॥
तू मेरी बालक हो नैद-नवन, तोहि विसंभर राखै ।
'परमानन्द'-स्वामी चिरजीयो, बार-बार ओ भाखै ॥

राग-धनाश्री

जसोधा, चंचल तेरी प्रीत ।

अनिष्टो ब्रज-भीतर डोलै, करै अटपटे सूत ॥
बहूँची, दूध, धूत लै आगें करि, अहूँ-अहूँ धरो दुराह ।
अंधियारे-धर कोहू न जानै, तहाँ पैहलें हूँ जाइ ॥
गोरस को सब भाजन फोरै, माखन खाइ चुराइ ।
सरकन्ह के कर-कान भरोरै, तहें ते चर्ल पराह ॥
बाँट देत वनचरन्ह कौतुकी, करै बिनोब बिचारि ।
'परमानन्द'-अभु गोपी-अल्लभ, भावै मदन-मुरारि ॥

राग-सारंग

ढोटा, रंचक माखन लायो ।

काहे कोहू करत तू खालिनि, सब ब्रज पाजि हलायो ॥
जा को जितनों होइ बाबरी, दूनों मोपै लेनु ।
मेरी कान्हू यहू इकलौती, सब असोस मिलि बेनु ॥
कमल-नेन मो अखियेन-सारी, कुल-दीपक ब्रज-गेह ।
'परमानन्द' कहति नैद-रानी, सुत-अति अधिक सनेह ॥

राग-सारंग

हुसि-भुहि ल्यावल, धोरी गैया ।

कमल-नेन को अति भावत हूँ, मय-मय प्याबत घेया ॥
हैंस-हैंस खाल कहत सब बातें, सुन गोकुल के रैया ।
ऐसी स्वाव कभू नहि पायो, अपनी सोहू कन्हैया ॥
मोहन अधिक भूँख जो लागी, छाक बाँट दै रैया ।
'परमानन्द' दास को दीजै, पुनि-पुनि लेत बलैया ॥

राग-गौरी

नैंकि पठै, गिरिधर को रैया ।

रही भिलसाइ, पतयाइ न झोरै, इनके हाथ लगी मेरी रैया ॥
खाल-बाल सब सखा सयानि, पविहारे बलबाळ रैया ।
हूँक-हूँक इनहीं तन चितबल, चौहत नाहिन अपनी रैया ॥
सुनू ए बचन हाथ कौरें रहूँ, दिशि चितवत कुंभर कन्हैया ।
'परमानन्द' अनुमति भुसकानी, सग बियो गोकुल को रैया ॥

राग-बिलावल

नैकि लाल, टेकौ मेरी बहियाँ ।

झौघट-घाट जह्यौ नहि जाई, रपटति हो कालिंदी-महियाँ ॥
सुबर, स्याम, कमल-बल-लोचन, देखि सख्य ग्वारि उरझानी ॥
उपखी प्रीति, काम-अंतरगत, तब नागर नागरि पैहूचानी ॥
हैंस ब्रजनाथ गह्वौ कर-भल्लब, ज्यो नागर-सिर गिरन्हू न पावै ॥
'परमानन्द' सयानी ग्वारिनि, कमल-नैन-तन परस्यौ भावै ॥

राग-आसावरी

सामरी बल देखि लुभानी ।

चले जात फिरि चितथी मो तन, तब ते सग लगानी ॥
वे बा घाट चरावत गैयाँ, हो इत तैं गई पानी ॥
कमल-नैन उपरैनाँ फेरघौ, 'परमानन्द' हि जानी ॥

राग-सारंग

गोरस बेचति ही ठगी ।

कहा करो वाक्ये बस नाहीं, मनसा भ्रंनत लगी ॥
खेलत बीच मिल्यौ नैद-नवन, कालिंदी के तीर ॥
चितथी तनक कमल-दल-लोचन, मन-मोहन बल-बीर ॥
और सखी सब बूझन लागीं, करत कोन कौ मोल ॥
'परमानन्ददास' बलिहारी, मोठे तैरे बोल ॥

राग-आसावरी

अरी, गुपाल सो मेरी मन-मान्यो, कहा करंगो कोउ री ।
अब तौ चरन-कमल लपटांनी, जो भावै सो होउ री ॥
माइ रिताइ, बाप घर-मारै, हूँ बटाऊ लोग री ।
अब तौ जिय ऐसी बनि झाई, बिघनाँ रज्यौ सँजोग री ॥
बच वै लोक जाइ किन्हि मेरी, अब परलोक नसाइ री ।
नैद-नवन हो तऊ न छाडो, मिलो निसान-बजाइ री ॥
बहुँ वै तन बरि काँ पैहो, बल्लभ-भेष मुरारि री ।
'परमानन्द'-स्वामी के ऊपर, सरबस वै हो बारि री ॥

राग-धनाश्री

भावै मोहि मोहन बँन-बजावन ।

मदनगुपाल देखि हो रीझी, मोहन की मटकबावन ॥
कुठल लोल, कपोल लोल सधु, लोचन चाव चलावन ॥
कुंठल कुटिल, मनोहर अंगन, भीठें वेंनु-बलावन ॥
स्याम सुभग तन चंदन-मंडित, उर, कर, अंग, नचावन ।
'परमानन्द' ठगी नैद-नवन, दसैं-कुंद-मुलकावन ॥

राग-धनाश्री, सारंग

जब ते प्रीति स्याम सो कीन्हौ ।

ता दिन ते मेरे इन नैनन, नैक-नू नाँव न लीन्हौ ॥
सर्वा रहत बित पाक-जह्यौ सौ, और कछू न सुहाइ ।
मन में रहै उपाइ मिलन की, यहै विचारत जाइ ॥

‘परमानन्द’ में पीर प्रेम की, काहू सो नहि कहिये ।
जैसे बिया मूक बालक की, अपने तन-मन सहिये ॥

राग-सारंग

भन, हरषी कमल-दल नैना ।
चितवन चारु चतुर चितामनि, मृदु, मधु भाषी-बेना ॥
कहा करो घर गयी न भावै, चलन-बलन गति थाकी ।
स्याम सुंदर हठि दासी कीन्हों, लखि न परै गति ताकी ॥
कहि उपदेश सहचरी मोली, कहाँ जाँउ, कहाँ पाँऊ ।
‘परमानन्ददास’ को ठाकुर, जहाँ लै नैन मिलाऊ ॥

राग-धनाश्री

भे, तू कै विरियाँ समझाई ।
उठि-उठि, उलकि-उलकि हरि-हेरति, चंचल देव न जाई ॥
छिन-छिन, पल-पल, रह्यो न परै तब, सहचरि भोट लगाई ।
कमल-नैन को फिरि-फिरि चितबल, लोक की लाज मिटाई ॥
को प्रति उत्तर देइ सखी को, गिरिधर बुद्धि चुराई ।
मदनमोहन-राधा-रस-लीला, कछु ‘परमानन्द’ गाई ॥

राग-सारंग

सोहत नव कुंजन छवि भारी ।
भवभुत रूप-समाल सो लिपटी, कनक-बेलि सुकमारी ॥
बदन सरोज, बहबहे लोचन, निरखि छबी सुखकारी ।
‘परमानन्द’-प्रभु-भक्त-भवुष है, बुझाँन-सुता कनवारी ॥

राग-सारंग

नव-रंग कचुकी तन गाढी ।
नव-रंग सुरंग चूनरी ओढ़ै, बंद-बधू सो ठाढी ॥
नव-रंग मदनमुपाल लाल सो, प्रीति निरंतर वाढी ।
स्याम-समाल-लाल-मन लिपटी, कनक-सता सो भाढी ॥
सब रंग सुंदर भबल किंसोरी, कोक-कला गुन-माढी ।
‘परमानन्द’-स्वामी की जीवन, रस-सागर-मधि काढी ॥

राग-सारंग

सुनत हि जिय-धरि मुरि मुसकानी ।
कोन स्याम, नद-सुत कंसो, अलगद-छोली-झानी ॥
कछु अनुराग जनायो भव को, मलकसद्वी मन-छानी ।
लै स्यामिता नैन में राखी, अजन-नेख स्यानी ॥
जिय की बात न प्रगट अनावत, चोप रहत क्यो छानी ।
‘परमानन्द’ प्यारी बिभिन्न प्रति, मुख रुखी, हिय सानी ॥

राग-विलावल

चली उठि, कुज-भंजन ते मोर ।
डगमगात, लटकत लट छूटी, पैहरें पीत-पटोर ॥
अवन नैन धूमत आलस-बस, जन रस-सिध-हिलोर ।
गिरि-गिरि परत गलित कुसुमावलि, सिधिल सोल कच-डोर ॥

पद-मख अक जुगल राजत वर, सुभग-हिणें तन-गोर ।
'परमानन्द' प्रभु रसी निता, अब लिपटि हँसी मख-भोर ॥

राग-सारंग

छाँड़ि देत झूठी अभिमानी ।

मिल रस-रीति-श्रुति करि हरि सो, सुवर हँ भगवान् ॥

यै जोवन-धन दिवस च्यारि कौ, पलटत रँग ज्यो पान ।

बोहोरि कहाँ यै श्रीसर मिलि है, गोप-भेख को ठान ॥

बारबार दूतिका सिखवत, करि-री, अघर-रस पान ।

'परमानन्द'-स्वामी मुख-सागर, सब गन रूप-निधान ॥

राग-कान्हरी

मानिनी ऐसी मान न कीजै ।

यै जोवन अंजलि को जल ज्यो, जब गुपाल माँगि तब दीजै ॥

दिन-दिन घटै, घटै नहि सुदरि, जैसे कला चंद की छोड़ै ।

पूरन पुष्प, सुकृत फल तेरी, क्यो न रूप नैन-भरि पीजै ॥

चरन-कमल को सपथि करत हो, ऐसी जीवन-दस जीजै ।

'परमानन्द'-स्वामी सो मिलकें, अपनो जन्म सफल करि लीजै ॥

राग-सारंग

काँह, कमल-दल नैन तिहारे ।

अरुन, बिसाल, बक अवलोकेंहु, हठि मन हरत हमारे ॥

तिन्हू पै बनी कुटिल अलकावलि, मानो मधुप झंकारे ।

अतिसै रसिक, रसाल, रस-भरे, चित ते द्रवत न टारे ॥

भदन कोटि, रवि कोटि, कोटि ससि, ते सुह-ऊपर वारे ।

'परमानन्द दास' के जीवन, गिरिधर, नद-बुलारे ॥

राग-कल्याण

अमृत-निचोड़, किमी इक ठौर ।

तेरी बबन सँवारि सुधा-निधि, ता दिन बिधिना रचीन और ॥

सुनि राखे, का उपमा बीज, स्याम मनोहर भए चकोर ।

सादर पियत, मुक्ति तोहि देखत, तपत काम उर नब-किसोर ॥

कोन-कोन अँग करो निरूपन, गुन श्री साँब रूप की रासि ।

'परमानन्द'-स्वामी-मन वाँच्यो, लोचन, वचन प्रेम की फासि ॥

राग-सारंग

बिधिना, बिधि करी बिपरीत ।

स्याम मनोहर बिछुरन लागे, बाल-पने के भीत ॥

लै अकलर जले मधुबन को, सब व्रज अति भँ-भीत ।

सखि भए तब-ही हम जानें, गन जो गाए गीत ॥

चूक परी सेवन नहि पाए, चरन-सरोज पुनीत ।

'परमानन्द' अब कब हि मिलेंगे, सुवल-सीवामा-भीत ॥

राग-कैदारा

रैन, पपीहा जोल्यो-री माई ।

नीद गई, चित चित दाढ़ी, सुरति स्याम की आई ॥

सौमन-भाँस देखि बरखा-रितु, हो उठि भाँगन धाई ।
 गरजत गगँन, बाँसिनी बसकत, तामें जीव उडाई ॥
 राग मलार कियौ जब काहु, मुरली मधुर बजाई ।
 बिरहिन विकल 'बास परमानंद', धरनि परी मुरसाई ॥

राग-झारग

मोहन, धौ क्यों प्रीति बिसारी ।

कहल, सुनत, सँमसत, उर-अंतर, दुख लागत है भरी ॥
 एक बिबस खेलत जन भीतर, बैनी हाथ सँभारी ॥
 वीनत फूल गयो चुमि काँटी, ऐसी सही बिचारी ॥
 हम पे कठिन हुई अब कीन्हो, साल गुबरवन-वारी ॥
 'परमानंद' बल-बीर बिना हम, मरत बिरह की मारी ॥

राग-गौरी

ब्रज की ओरें रीति भई ।

प्रात-समैं अब नाहिन सुनियत, घर-घर चलत रई ॥
 सति की किरन तरनि-सम लागत, जागत निसा गई ॥
 जदभट भूप मकर-केतन की, आग्या होत नई ॥
 नृ-दासन की भूमि भाँसती, ग्वालेंह छाँडि गई ॥
 'परमानंद'-स्वामी के बिछुरें, बिधि कछु ओर उई ॥

राग-सारंग

गोबिंद, बीच दें सर मारी ।

उर-तन-मुदी बिरह-बाधामल, फूक-फूक सौंघि जारी ॥
 सोच-बीच तन छीन भयो अति, कंसी बेह बिचारी ॥
 जो पैहलें बिधि हरि के कारण, अपने हाथ सँवारी ॥
 बस गोपी-धर जनम न लेती, रहत गरम में डारी ॥
 'परमानंद' एती कित ब्रज में नाँव धरयो ब्रज-नारी ॥

राग-सारंग

ता दिन, सरबस बेहूगी बषाई ।

जा दिन दौरि कहं कोहु सजनी, भाए कुँवर कन्हाई ॥
 में अपनो-सौ बोहीत करत हो, साल न देति बिखाई ॥
 सोबत, जागत, बिन अवलोकत, बौ मन कजहूँ न जाई ॥
 मेरी उनकी प्रीति निरंतर, बिछुरत पल न बटाई ॥
 'परमानंद' बिरहनी हरि की, सोचत बस पछिताई ॥

राग-सारंग

किते बिन गए रैन सुख-सोएँ ।

कछू न सुहाई गुपान्ति-बिछुरें, रही पूजनी-सो खोएँ ॥
 जब ते गए नंदलाल मधपुरी, चीर न कोहु धोएँ ॥
 मुज न तँबोर, नैन नहिं काजर, बिरह सरीर बिगोएँ ॥
 दूँदत बाढ, घाढ, बन, परबत, जहाँ-जहाँ हरि जेले ॥
 'परमानंद' प्रभु अपनो पीतांबर, मेरे सिर पे मेले ॥

राग-कल्याण

हरि-बिन, बैरिन रेन बढी ।

हम अपराधिन निठुर विधाता, काहे सँवारि गढी ॥
तन, धन, जोवन धूषाँ जात है, बिरहा अनल रढी ।
नबनँदन कौ रूप विचारत, निस-धर होरि चढी ॥
जिहि गुपाल भेरे बस होते, सो विद्या न पढी ।
'परमानन्द'-स्वामी न मिले तौ, घर ते भली मढी ॥

राग-सारंग

ऊधौ, नाहिन परत कहौ ।

जब ते हरि मधपुरी सिघारे, बौहौतहि विधा सहौ ॥
सुँभरि-सुँभरि बौ सुरति स्थाँन की, बिरहा बौहौत दहौ ॥
निकसत प्राँन अटक नैं राखे, अवधौ जान रही ॥
'परमानन्द'-स्वामी के बिन अब नैनन नबी बहौ ॥

राग-विहाग

माईरी, चंद लग्यो दुख बॅन ।

कहाँ बी देस, कहाँ मन-मोहन, कहाँ बी सुख की रॅन ॥
तारे गिनत गई-री सब मिस, नॅक न लागे नॅन ।
'परमानन्द'-अभु पिय बिछुरे ते, पल न परत चित जॅन ॥

राग-गौरी

बदरिया, तू कित ब्रज पै बौरी ।

असलॅन साल सलामिन लागी, बिधनाँ लिख्यो बिछौरी ॥
रहौ, जु रहौ, जाहु घर अपने, दुख पावत है किसौरी ॥
'परमानन्द'-अभु सो कयो जीबै, जा की बिछुरी जोरी ॥

राग-सारंग

पतियाँ, बाँचैहूँ न आवै ।

बेखत अंक नॅन जल पूरे, गदगद प्रॅम जनावै ॥
नबकिसोर सुहृद अच्छर लिखि, ऊधौ-हाय पठाए ॥
समाचार-मधुवन गोकुल में, मुल-ही बाँचि सुनाए ॥
ऐसी दसा देखि गोपिन की, मक्त भरॅम सब जान्यो ॥
मन, कम, वचन, प्रॅम-पद-अँबुज, 'परमानन्द' मन मान्यो ॥

राग-सारंग

गुपाल-बिन कैसेँ ब्रज रहिबौ ।

धूसर अग उठाइ गोब लै, लाल कोन सो कहिबौ ॥
जो मधुपुरी दिवस लागत हैं, सोच सूल तन सहिबौ ॥
'परमानन्द' स्वामी को तजिकें, सरॅन कोन की रहिबौ ॥

राग-सारंग

बदसि बनीं कमल-दल-लोचन ।

चितवन आरधपुर चितामनि, बिन गुन बाँप सदन-सर भोजॅन ॥
कटि पीतांबर, लाल उपरॅनै, मायें पाग, मनोहर कुंडल ॥
मुक्ता कंठ, हाय में बीरा, पाँइ पाँमरी, गति ब्रज-मंगल ॥

नंद-किसोर कूल-कालिंदी, संग गुपाल सभा को मदन ।
'परमानन्ददास' बलिहारी, जै जगदीश कस-कुल-सदन ॥

राग-सारंग

भारग, भावो को जोवै ।

धौ अनुहारि न देख्यो कोऊ, जो नैन-कुल-खोवै ॥
बाल-बिनोद किए नंद-नंदन, सुंमरि-सुंमरि गुन रोवै ॥
बासर प्रति गृह-काज न भावै, निस भरि नींद न सोवै ॥
अतरगत की बिधा मानसी, सो तन अक्षि बिगोवै ॥
'परमानन्ददास' गोविंद-बिन, अंजुवन-जल जर बोवै ॥

राग-सारंग

मेरी मन-गह्वी आई, मुरली को नाई ।

आसन पोन, ध्यान नहि जाँको कोन करे अब बाल-विवाद ॥
मुक्ति वेष्टु संन्यासिन को हरि, कामिनि-वेष्टु काम की रास ॥
घरमिन वेष्टु घरम को भारग, मो मन रहै पव-अंजुन-भास ॥
जो कोऊ कहै ज्योति सब यामें, सपनेष्टु छियो न तिहारो जोग ॥
'परमानंद' स्वामि-देगराती, सब सहो मिलि इक भोग सोग ॥

राग-गुजरी

वो मुख, देख्यो ही मोहि भावै ।

मदन गुपाल जगत की ठाकुर, बन ते जब घर भावै ॥
लोचन सोल, नासिका सुंदर, कुबल ललित कपोल ॥
बसैं कुंद, बिबाधर राते, मधु ते सीठे बोल ॥
कुचित केस पीत-रज मंजित, जनु मौरन की पति ॥
कमल-कोस ते कदि ढिंग बैठे, पीठुर बरन सुवात ॥
चंदक चाव मुकड सिर सोहत, बीच-बीच मलि-गुजा ॥
गोपी-मोहन अमिनव मूरत, प्रघट प्रेम के पुंजा ॥
कंठ कंठमनि, स्वामि मनोहर, पीतांबर वनमाल ॥
'परमानंद' सबै न मनि मंगल, कूलत जेनु रसास ॥

राग-सारंग

जाको दुम्ह, अगीकार कियो ।

तिन्हें के कोट बिछेन हरि टारे, अमै प्रताप कियो ॥
बहु सासनी बई पैह्लावै, तऊ निसंक जियो ॥
निकते लम-मध्य ते नरहरि, आयुन राखि लियो ॥
दुरदासा अवरोध-सतायो, सो पुनि सरै न लियो ॥
राखि प्रतिप्या मदन मोहन उल-ही पै पठै कियो ॥
मृतक भाएँ हरि सबै जिवाए, बीठ हि अमृत पियो ॥
'परमानंद' अगत के बस सो, उपमाँ कोन कियो ॥

परमानन्ददास जी के सागर में 'वार्ता' के अनुसार पूर्व में कहे गए वाक्य से लेकर काला धीरे धीरे भाव-विभूषित भक्ति के-स्नेह के जितने भी भाव्य और आकर्षक चित्र हो सकते हैं, वे सब उनकी अजनाविभूषित भाषा के सहारे, सत्यानुभूति के साँचे में ढल कर कुछ इस प्रकार निखर कर काव्य-भूमि पर उतरे हैं कि उनके सकलन में—उदाहरण खीटने और प्रस्तुत करने में, नवदास जी की यह उक्ति—

“भरे भँवन के चोर भए बदलत ही हारे ।”

बार-बार विवश कर देती है। सागरके रत्न-रूप पदोंकी व्याख्या करने वा सुदरताके विषय में कुछ कहने-सुनने में भी विचार उत्पन्न होता है कि कहीं अल्पज्ञता वश उनके काव्यरूप यथा शरीर की किसी ‘रंग’ पर कठोर कलम का नस्तर न लग जाय—उनके भाव-भरे कोमल हृदय के किसी कोने को इस प्रकार न छू दिया जाय कि वह कराह उठे। सच तो यह है कि परमानन्ददास ने उस समय की राष्ट्रभाषा—ब्रजभाषा की लोक-यावन-प्रणालिका के सहारे ब्रजभारती का वह अजस्र सहज स्रोत बहाया जो ‘सत्यम् शिव सुंदर’ के स्वाभाविक रूप में परिणत होकर “ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द” कहा जाता है। परमानन्ददास जी ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, भाव-प्रवणता और कल्पना के स्वानुभूति पूर्ण सहज रंगों के सहारे मानव की लोकरजक-भावनाओं की पृष्ठ-भूमि पर ऐसे अलौकिक चित्र अंकित किए हैं, जिससे श्रोता-वक्ता, बिना किसी कठिन कल्पना के अपनी ही आत्म-अनुभूतियों में डूबता-उतरता श्रीकृष्ण-भक्ति में निमग्न हो अपने को भूल जाता है—रस तृप्त हो जाता है। अस्तु, संगीत-श्रवणी परमानन्ददास जी की रचना उच्चकोटि की है, उसमें रस प्रवाहिनी काव्य-शक्ति का रूप मुख्य कर है—आकर्षक है। मापा सजीव है, सरल है, सुबोध और मधुर है। स्वाभाविक रूप से प्राप्य हुए अलंकारों के साथ काव्योचित अन्य गुणों और रीतियों का जाल नहीं, उनमें सच्ची स्वाभाविकता है। आपका शब्द-विन्यास नाद-सौंदर्य की तरल-तरंगों पर अटकेलियाँ करता हुआ काव्य के अतर्गत भावों को दबने नहीं देता, अपितु उन्हें अधिकाधिक खिलाता है। शब्दों के अर्थ संकेत के साथ उनकी लाक्षणिक ध्वनि बड़ी विलक्षण है जो भाव-भूमि को और भी उबरा वनाती हुई उसकी श्री को अनुपम रूप से उद्भासित करती है। लोकवृत्ति, परमानन्ददास जी को, प्रेम के अतर्गत भाव-क्षेत्र में सीमित रहनेवाला कह सकती है, वे सूर की भाँति वहाँ अधिक गहरे न उतरे हों, यह भी हो सकता है, पर अपनी अनुभूति के छोटे से दायरे में ही सही, वे बड़े गहरे उतरे हैं। वहाँ उनकी ऐनी दृष्टि अधिक प्रखर हुई है।

मुष्टि-संप्रदाय में अष्टछाप के कवियों के प्रति सुंदर भावनाएँ प्रचलित हैं। ये भावनाएँ उसकी निराली सूर-भूष की खेतक तो हैं ही साथ ही सांप्रदायिक रहस्य के समझने में भी बड़ी सहायक हैं। अतएव उक्त भावानुसार परमानन्ददास—

“सारस्वत कल्प में गोलोक वासी भगवान् श्रीकृष्ण के सखा तोष, श्री राधा-सहचरी—चंद्रभागा, वर्षा-कैसरिया, प्रिय रितु-सिंशिर, प्रिय कुंज-मान, प्रिय मनोरथ-गुप्तरस, सेवा कार्य-चित्रकारी, दूतीपन, कामशास्त्र, वशीकरण और स्वात बोलना एवं श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के समय आपका प्रिय स्वरूप नवनीत प्रिय, प्रिय भृंगार-बालपगा, प्रियलीला-बाल कहीं गई है। आपके भ्रंग गायक थे—पद्मानाभास, गोपालदास, आसकरण, गदाधरदास, सगुनदास, हरिजीवनदास, मानिकचंद, और रसिक बिहारी ।”

पद्मानाभास जी के पद मुद्रित होकर पृथक् रूप से प्रकाश में आ चुके हैं। अन्य भ्रंग-स्वरूप कवियों की कृतियाँ—नित्यकीर्तन और वर्षोत्सव में संकलित हैं।

परमानन्दसागर का संपादन जैसा सुंदर ढंग से होना चाहिए था, वैसा हो चुका है। उदयपुर (मेवाड़) ‘साहित्य-सम्मेलन’ के अवसर पर जब हम लोग परम अद्वेय राजर्षि टंडन जी के साथ ‘कॉकरीली’ (मेवाड़) गये थे, तब उसे देखा था। सागर के संपादक हैं—ब्रजभाषा के विरपरिचित मर्मज्ञ तथा उसके प्रसिद्धि-प्राप्त ज्ञाता—जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मयुरा। अब तो उसके प्रकाश में आने की देर है। कॉकरीली नरेश गोस्वामी श्री ब्रजभूषण लाल जी महाराज उसके मुद्रण की चेष्टा में प्रयत्नशील हैं। गोस्वामी जी ने चतुर्वेदी जी को कॉकरीली में अपने पास रख कर तथा अपने सुमधुर सहयोग दे परमानन्द-सागर का संपादन कराया था।

परमानन्ददास जी की कुछ अन्य रचनाएँ भी कहीं-सुनी जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

दानलीला, उडबलीला, श्रवचरित्र और सस्कृत-रत्नमाता ।

ये रचनाएँ अभी प्रकाश में नहीं आई हैं। हो सकता है कि ये रचनाएँ किसी अन्य ‘परमानन्ददास जी’ की हों, पर उनका भी तो पता लगना चाहिये, उनका इतिवृत्ति भी तो प्रकाश में आने की चाह रखता है।

परमानन्द-सागर में परमानन्ददास जी को नाम-छाप भिन्न-भिन्न है, जैसे—“परमानन्द, परमानन्द-दास, परमानन्द प्रभु, परमानन्द स्वामी और दास परमानन्द ।”

डा ‘दीनदयाल गुप्त, लगनऊ’ ने एक और नई छाप—जो हमारे देखने में नहीं आई ‘शरणागत सारंग’ का अपनी पुस्तक—“अष्टछाप और बल्लभ मप्रदाय पृ०—११३” पर उल्लेख किया है तथा प्रमाण बी-पुष्टि में ‘भक्तमाल’—‘नाभादाम’ का यह पद दिया है—

“वाल, पौगड, कितोर-गोप-सीता सब गाई ।

अचरज का ये बात, हतो पैहले जू सिखाई ॥

मैनन नीर-प्रवाह, रहत रोमाच रैन दिन ।

गदगद-गिरा उदार स्पाम-सोभा-भौंज्यो तन ॥

‘सारंग’ छाप ता की भई, अवन सुतत आवेत बेत ।

अज-बधू-रीति कलजुग विर्य, परमानन्द भी प्रेम-केत ॥”

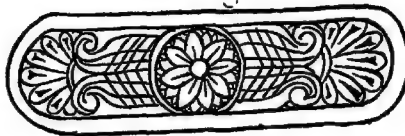
डा गुप्त लिखते हैं कि “परमानन्ददाम जी के जिनने पद उपलब्ध हैं इनमें दो-तीन पदों में ही लेख (डा० गुप्त) ने कवि के नाम के साथ ‘मारग’ शब्द देया है” और उदाहरण के लिये नीचे टिप्पणी (नोट) में यह अधूरा पद दिया है—

“जेहि भुज गोवर्धन राख्यो जिहि भुज कमला धर आनी ।

जिहि भुज कंसादिक रिपु मारे, परमानन्द प्रभु ‘सारंग’ पानी ॥”

—अष्टछाप और बल्लभ मप्रदाय पृ०—११४

यहाँ ‘सारंग’ शब्द छाप-रूप में नहीं ‘प्रभु’ के साथ ‘पानी’ (पाणि) से सबड होकर भगवान् श्रीकृष्ण के एक नाम-विशेष के रूप में आया है । साथ ही—‘गोवर्धन’ और ‘राख्यो’-शब्द-ब्रजभाषा की कोमल-शब्द-योजना तथा उसके अर्थ के प्रति कितना कुठाराघात कर रहे हैं ! इसी प्रकार-‘प्रभु’ और ‘स्वामी’ छाप भी भगवान् श्रीकृष्ण की छोटक है । इनकी अर्थ-संगति उन्हीं के साथ बैठती है—‘परमानन्द’ के साथ नहीं ।



हरिवंश और हिंदी वैष्णव काव्य

श्री ब्रजेश्वर वर्मा

वाल्टर रूवेन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि हरिवंश वस्तुतः महाभारत का 'रिबल' तथा समस्त पुराणों के पहले की रचना है^१। उन्होंने हरिवंश के प्रसिद्ध अंशों का अनुमान करके उसके मूल रूप में वर्णित कृष्ण-कथा का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की थी^२। यदि महाभारतोपरात कृष्ण-कथा का मूल रूप हरिवंश से जाना जा सके तो कृष्ण-साहित्य के विकास-क्रम को समझने में बहुमूल्य उपोद्घात सहायता मिलेगी। परंतु अपने वर्तमान रूप में, अनेक प्रक्षेपों का समावेश किए हुए भी, हरिवंश से हिंदी के कृष्ण-काव्य की ही नहीं, उत्तर भारत के समस्त वैष्णव साहित्य की पृष्ठभूमि समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। वस्तुतः हिंदी-वैष्णव-काव्य के साथ वर्तमान हरिवंश की तुलना करने में उसके प्रसिद्ध अंश बाधक नहीं, अपितु सहायक हैं, क्योंकि जैसा कि हम आगे देखेंगे मूल और प्रक्षेप—संपूर्ण हरिवंश की रचना हिंदी-कृष्ण-काव्य के बहुत पहले हो चुकी होगी। हरिवंश और हिंदी भक्ति-काव्य के बीच पर्याप्त व्यवधान और कालांतर है। उस व्यवधान में पौराणिक, साहित्यिक तथा विकासशील लौकिक-चारिक अनेक शृंखलाएँ हैं। श्रीमद्भागवत इन शृंखलाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शृंखला कही जा सकती है, जिसमें हिंदी-कृष्ण-काव्य से ही नहीं, समस्त वैष्णव-साहित्य से अत्यधिक निकटता एवं घनिष्ठता पाई जाती है।

हरिवंश में कृष्ण-कथा एवं कृष्ण-भक्ति का ही वर्णन प्रधान है, विष्णु के अन्य अवतारों की कथाएँ अत्यंत संक्षेप से आनुसंगिक रूप में आई हैं, परंतु ऐसा नहीं कि हरिवंश से केवल कृष्ण-काव्य की ही समानता हो, उससे उस समस्त वैष्णव-काव्य की तुलना की जा सकती है जिसमें कृष्ण और राधा-कृष्ण की भक्ति वाले समस्त संप्रदायों की रचनाएँ ही नहीं, अपितु राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएँ भी आ जाती हैं। इस हिंदी वैष्णव-काव्य के अंतर्गत कृष्ण और राम की भक्ति के स्वरूप तथा परिणामतः उनसे सबद्ध काव्य एक दूसरे से बहुत भिन्न बिल्खाई देते हैं, तथापि दोनों में हरिवंश-वर्णित वैष्णव-भक्ति के भिन्न-भिन्न पहलुओं से विलक्षण समता है। हिंदी कृष्ण-काव्य में विभिन्न संप्रदाय-समत विविध प्रकार की रचनाएँ हैं, परंतु सामान्यतः हम भक्त-प्रवर 'सूरदास' को उसका प्रतिनिधि कवि मान सकते हैं। राम-भक्ति के तो एक मात्र समर्थ कवि गोस्वामी 'तुलसीदास' ही हैं। अतः हरिवंश से हिंदी वैष्णव-काव्य की तुलना करने में इन्हीं दो कृष्ण और राम-भक्ति के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं को लक्ष्य किया गया है।

हिंदी के वैष्णव-काव्य में इसका संकेत भी नहीं मिलता कि मध्ययुग का वैष्णव-आंदोलन प्राचीन वासुदेवोपासना अथवा नारायणीय-धर्म का पुनरुत्थान था^३। हिंदी काव्य के कृष्ण तो केवल वसुदेव-युग होने के कारण वासुदेव हैं, उनके वासुदेवत्व की ऐतिहासिकता का कही संकेत नहीं मिलता,^४ परंतु जिस प्रकार

^१ पौराणिक वीरश—जर्नल ऑव दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९४१, पृष्ठ २४७-२५६

^२ हरिवंश तथा कुछ पुराणों में कृष्णचरित—जर्नल ऑव दी अमेरिकन ओरिएंटल-सोसाइटी, ६१, १९४१, पृष्ठ ११४-१२७

^३ दे० वेंकटबाद, मौवाद् एव अवर धार्मिक पद्धतियाँ—आर० जी० भंडारकर, भाग १, ७-९

^४ सूरसागर के तीसरे पद में अवश्य वासुदेव नाम से विष्णु की वंदना की गई है, जो कृष्ण-चरित से सीधे सम्बन्धित न होने से पुरातन वासुदेव को संकेत करती हुई कही जा सकती है, परंतु इस पद में भी अंत में 'जदुनाय गुसाई' का उल्लेख हो गया है। —दे० सूरसागर (वे० प्रे०),

गीता के श्रीकृष्ण अपने को 'वृष्णिषो मे वासुदेव'^१ घोषित करते हैं, हरिवंश में अनेक स्थानों पर बताया गया कि श्रीकृष्ण ही दूसरे वासुदेव हैं। कृष्ण-जन्म की मणिष्य-वाणी में ही कहा गया है कि वसुदेव से 'दूसरे' वासुदेव का जन्म होगा^२। 'दूसरे' वासुदेव का पद पाने के लिए अन्य समसामयिक व्यक्तियों ने भी प्रयत्न किया था, परन्तु श्रीकृष्ण ने उन्हें परास्त करके अपना वासुदेवत्व प्रमाणित किया। करवीरपुर में दूसरे वासु-शृगाल वासुदेव इसी प्रकार युद्ध में पराजित किया गया। श्रीकृष्ण से युद्ध करते हुए शृगाल देव कृष्ण वासुदेवत्व की प्रतियोगिता का संकेत करता हुआ कहता है कि तुम्हारे मरने से मैं ही 'एक' वासुदेव रहूँगा और मेरे मरने से तुम्ही 'एक' वासुदेव रहोगे^३। हरिवंश के प्रथम पर्व में इस प्रकार के अनेक संकेत हैं जिनके द्वारा श्रीकृष्ण को प्राचीन भागवत-धर्म के वासुदेव से अभिन्न सिद्ध करने का उद्योग किया गया है। उन्हीं वासुदेव ने मायुर-कल्प में श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लिया^४।

उपरीक्त शृगाल वासुदेव की मूर्ति पौंड्र नामक राजा भी वासुदेव नाम से विख्यात होना चाहता था। वह नारद से कहता है—“आप जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ-वहाँ तप-सिद्धि के लोक विख्यात हैं और वहाँ-वहाँ मैं पौंड्र वासुदेव नाम से विख्यात हूँ। शस्त्र, चक्र, गदा, शार्ङ्ग, तूणीर, धारण किए हुए मैं राजसिंहों का विजेता सर्वदा सबका दाता हूँ। जो यह गोप वासुदेव कहा जाता है उस मेरे नाम धारण करने वाले में शीर्ष और बल नहीं है। यह गोप-जालक व्यर्थ मेरा नाम धारण करता है। हे विभ्रंर, ऐसा निश्चित कहो कि मैं ही 'एक' रहूँ। इस जगत् में उस बलिष्ठ यदु को जीत कर मैं ही वासुदेव कहलाऊँ और सब वृष्णिषों को बल में मार कर उस पुरी का नाश करूँ।” नारद ने पौंड्र के इस वु साहस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि “सर्वश्रमाभी विष्णु, दुष्टों को उनके वधुओं सहित मार कर स्थित है, फिर उन हरि के होते हुए दूसरा कौन

१. वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि,

—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १०, श्लोक ३७

२. द्वितीयोऽयमुदेवाहं वासुदेवो मणिष्यति ।

—विष्णु पर्व, अध्याय २२, श्लोक ६०

३. लोकेऽस्मिन्वासुदेवोऽहं मणिष्यामि हते त्वयि ।

हते मयि त्वमप्येको वासुदेवो मणिष्यसि ॥

—विष्णु पर्व अध्याय, ४४, श्लोक २२

४. विष्णोस्तु मायुरे कल्पे यत्रते संक्षयो महान् ।

वासुदेव गतिश्चैव सामया समुवाहता ॥

—विष्णु पर्व, अ० १२८, श्लोक २६

५. नारदेवं वदत्वं हि यत्र यत्र गतो भवान् ।

तत्र तत्र तपः सिद्धो लोके प्रथित जीर्णवान् ।

पौंड्र एव च विख्यातो वासुदेवेति शब्दित ॥

शंखी चक्षी गदी शार्ङ्गी खड्गी तूणी तनुजवान् ।

विजेता राजसिंहाना दाता सर्वस्य सर्वदा ॥

योऽहं गोपकनामासी वासुदेवेति शब्दित ।

तस्य वीर्यबलेनस्तो नात्मोऽस्य भम धारणे ॥

सहि गोपो ब्रूया दात्याद्वारमस्त्रेव नाम मे ।

इदं निदिचन् विभ्रंर एक एव भवाम्यहम् ॥

वासुदेवो जगत्प्रस्मिन्निजित्य बलिन यदुम् ।

वृष्णीन्सर्वान्बलात् क्षिप्त्वा निहनिष्येच्छतां पुरीम् ॥

—मणिष्य पर्व, अ० ६२, श्लोक ७, ८, ९, १०, ११, १२

वासुदेव नाम रख सकता है ?” इन कथनों से स्पष्ट है कि उस समय तक यह सर्वमान्य गद्दी हो पाया था कि श्रीकृष्ण ही वासुदेव हैं ।

ऋग्वेद में विष्णु-सवयी बहुत कम ऋचाएँ हैं , फिर भी ब्राह्मण-काल तथा उससे कहीं अधिक महाभारत एवं धीराणिक-काल में विष्णु को जो उत्तरोत्तर महत्ता और महिमा प्राप्त होती गई उसका सूत्र आदि पुरुष वैदिक साहित्य में मिलता है^२ । पुराणों में तो विष्णु को ‘परब्रह्म’ और आदिपुरुष’ के रूप में अद्वैत विष्णु उपस्थित किया गया है । हरिवंश भी उन्हें अव्यय , सहस्र-नेत्र, सहस्र-मुख, सहस्र-भुज, सहस्र-विष्णु शिर, सहस्र-कर, सहस्र-जिह्वा और सहस्र-मुकुट बता कर^३ पुरुष सूक्त में वर्णित आदिपुरुष से अभिन्न घोषित करता है । श्रुति के वचनो^४ का मानो इससे भी अधिक घनिष्ठ उत्था करते हुए शिव के मुख से विष्णु के सवध में कहलाया गया है—“तुम सहस्र शीर्ष पुरुष, सहस्राक्ष, सहस्र-पाद, सहस्र-प्रकार, सहस्र-भुज, सहस्रात्मा और स्वर्गपति हो । तुम इस समस्त भूमि में व्याप्त हो कर सप्त द्वीपों और सागरों में व्याप्त हो और अणु रूप से सर्वत्र दशागुल देश में स्थित हो^५ ।” विष्णु की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए शिव ही के द्वारा सृष्टि-काल में ब्रह्मा स्थिति काल में विष्णु और संहार काल में रुद्र और इस प्रकार त्रिवाम वाले कहलाया गया^६ । यही नहीं, उनमें वैदिक ऋद्ध, चद्रमा, शुक्र, बृहस्पति आदि का भी समाहार किया गया^७ । हिंदी के वैष्णव-काव्य में विष्णु को त्रिदेव में सर्वश्रेष्ठ एवं तीनों के एकात्मक रूप में तो उपस्थित किया ही गया, उनके अवतार कृष्ण और राम को त्रिदेव से भी उच्च-आदि सनातन, परात्पर ब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है^८ । हिंदी के भक्ति-काव्य ने इस दिशा में पुराणों से भी अधिक प्रगति की ।

१. विष्णो सर्वत्रगो देवे दुष्टान्हुत्वा सर्वाभिवान् ।

वासुदेवेति को नाम तिष्ठत्यस्मिन्हराविति ॥

—अविष्य पर्व, अ० ६२, श्लो० १६

२. दे० वैष्णववाद शैववाद एवं अवतर धार्मिक पद्धतियाँ—(आर० जी० मंडारकर, भाग १)

३. सहस्राक्षं, सहस्राक्षं सहस्रभुजमव्ययम् ।

सहस्र शिर संवेवं सहस्रकरमव्ययम् ॥

सहस्र जिह्वं भास्वर्तं सहस्र मुकुटं प्रभुम् ।

सहस्रदं सहस्रादि सहस्रभुजमव्ययम् ॥

—प्रथम पर्व, अ० ४१, श्लो० ३, ४

४. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

सभूमिं सर्वतस्पृत्वाऽप्यतिष्ठद्दशागुलम् ॥

—अ० अ० ३१

५. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

सहस्र शिरः साहस्री सहस्रात्मा विवस्वतिः ॥

भूमिं सर्वाभिमं प्राप्य सप्त द्वीपां ससागराम् ।

अणुः सर्वत्रगो भूत्वा अत्यतिष्ठद्दशागुलम् ॥

—अविष्य पर्व, अ० ८८, श्लो० ३३, ३४

६. ब्रह्मात्वं सृष्टि काले तु स्थितो विष्णुरसि प्रभो ।

संहारे रुद्र नामासि त्रिवामा त्वमसि प्रभो ॥

—अविष्य पर्व, अ० ८८, श्लो० ३१

७. हरिवंश प्रथम पूर्व, अ० ४२, श्लो० ४

८. दे० तुलसीदास—आध्यात्मिक विचार शीर्षक अध्याय—टा० माताप्रसाद गुप्त तथा—नूरुद्दाम इन्द्रदेव शीर्षक अध्याय—टा० ब्रजेश्वर वर्मा

वैदिक देवताओं में इन्द्र की अपेक्षाकृत अधिक महत्ता है, क्योंकि वे देवासुर-संग्राम में सुरों का नेतृत्व करते हैं। उनका बल, वीर्य और पराक्रम अद्वितीय है। अतः पुराणों के चतुर रचयिताओं के लिए यह आवश्यक था कि वे विष्णु के समक्ष इन्द्र की हीनता दिखा कर विष्णु में अद्वितीय कीर्त्ता और सुरों की रक्षा की सामर्थ्य प्रतिष्ठित करें। स्पष्टतः इसी उद्देश्य में हरिवंश में देवता और असुरों के तारक-संग्राम का विष्णु और विस्तार के साथ वर्णन किया गया। असुरों-द्वारा विजित भयाश्रित देवताओं को विष्णु भगवान्

इन्द्र ही समयदान दे कर आश्वस्त करते हैं। उस महा भयकर संग्राम में असुरों का नेतृत्व करने वाले असुर श्रेष्ठ कालनेमि को विष्णु-सहित मदराचल के समान विनाश तथा नारायण की शक्ति पराक्रमशाली कहा गया^१ तथा देवताओं पर विजय प्राप्त करने के बाद दैत्यों-द्वारा उसी प्रकार उसका स्तवन कराया गया, जिस प्रकार विष्णु का किया जाता है^२। कालनेमि प्रतुलित बलशाली था, परन्तु विपरीत कर्म करने के कारण उसे वेद, धर्म, क्षमा, सत्य एवं नारायण की आश्रित थी न प्राप्त हो सकी। इसी से सृष्ट हो कर वह 'वैष्णवपद' की इच्छा से नारायण के साथ युद्ध करने को उद्यत हुआ^३। इन्द्रादि देवताओं के विरोधी कालनेमि को इन्द्र से भी अधिक महिमाशाली चित्रित करने का उद्देश्य विष्णु की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित करना ही है। कालनेमि के वैष्णव पद की इच्छा तथा उसके वेदादि से हीन होने में पुनः विष्णु की अद्वितीय महत्ता की व्यञ्जना है।

देवासुर-संग्राम में विष्णु ने इन्द्रादि को पराजित करने वाले दैत्यों का नाश कर के भयाकुल, शरणहीन देवताओं को निर्भय किया। इसी प्रकार जब पृथ्वी पर ईर्ष्यालु राजाओं की बृद्धि हुई, नगर-नगर में एक-एक राजा तथा उन सबके पास कोटि-कोटि सैनिक-दल हो गए, तो उनके परस्पर विग्रह से व्यथित, भयाश्रित पृथ्वी^४ का वीर्य हलका करने के लिए विष्णु भगवान् ने पहले देवताओं को पृथ्वी पर अवतार लेने का आदेश दिया। अस्तु, अनन्त बलशाली देवता सैकड़ों-महजों की सत्प्राप्ति में वृष्णि-वंश में उत्पन्न हुए, कुछ और पांचाल में भी देवताओं ने अवतार लिया^५। दूसरी ओर दैत्यों ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों में पृथ्वी पर जन्म लिया। औरसेन वंशी उग्रसेन का पुत्र कस स्वयं कालनेमि का अवतार था तथा कैवो, वृषभ, कुवलयापीड, प्रलव, वेनुक, मुष्टिक और चाणूर—सभी किसी न किसी दैत्य के अवतार थे। भीमासुर और नरकासुर क्रमशः मय और तारक थे। पृथ्वी पर इन दैत्यों के अत्याचारों से भारत कुल की रक्षा के निमित्त नारद ने विष्णु भगवान् से अवतार लेने की प्रार्थना की।^६ अस्तु, भगवान् विष्णु ने कश्यप के अवतार वसुदेव के यहाँ, जिनकी देवकी और रोहिणी नाम की परित्याग क्रमशः अविति और सुरभी की अवतार थी जन्म लेने की इच्छा की^७। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु ने वस्तुतः देवताओं की रक्षा के ही धर्म पृथ्वी पर अवतार लिया था। उनको इन्द्र के नेतृत्व में सबने वाले देवताओं की रक्षा करने के योग्य, अतः इन्द्र से भी अधिक पूज्य, बनाने के लिए देवताओं का ही सगा सार्द बनाया गया। इस प्रकार पृथ्वी पर विष्णु के रक्षा और संहार के कार्यों में देवासुर-संग्राम की ही पुनरावृत्ति हुई।

द्विती वैष्णव-काव्य में भी हरिवंश तथा अन्य पुराणों की भाँति कृष्ण और राम के माता-पिता को अविति और कश्यप का अवतार तथा कृष्ण और राम के द्वारा सारे हुए दुष्टों को दैत्यों का अवतार कहा गया,

१. हरिवंश प्रथम पर्व अ० ४६ श्लो० ५६-६१

२. वही, अ० ४६

३. प्रथम, पर्व, अ० ४८, श्लो० १-२

४. वही, अ० ५१, श्लो० २१

५. वही, अ० ५३, श्लो० ७३-७४

६. वही, अ० ५४, श्लो० ६४-७७

७. वही, अ० ५५

एव उनके उद्धार-कार्य को पृथ्वी का भार उतारना और देव, मुनि-आदि की रक्षा बताया गया, किंतु इस कार्य को देवलोक के देवासुर-मयाम मे मबद्ध नहीं किया गया। हिंदी-काव्य मे कालनेमि और मय-तारक-सग्राम का उस प्रकार का उल्लेख नहीं आया जिन प्रकार का हम हरिवंश मे पाते हैं। हिंदी-काव्य के राम और कृष्ण मानव-सीता मे ही व्यक्त हैं, देवताओं की ओर उनका ध्यान कम जाता है। निश्चय ही उस समय तक देवताओं की हीनता तथा उनके गजा ड्ड की अपेक्षा विष्णु की अतर्क्य श्रेष्ठता लोक-विश्वास मे इतनी बढमूल हो चुकी थी कि उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। हिंदी के राम और कृष्ण इतने मानव हो गये कि उनके देवोद्धार-कार्य को शका और मदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। अक्रूर के साथ मथुरा जाते हुए कृष्ण के प्रति सूरदासव्यंग मे कहते हैं कि 'कम-निकदन मे देवों को सनाय करने के लिये ब्रजवासियों को अनाथ करने आतुरता मे रख हँकवाया'^१ और, गोस्वामी तुलसीदास तो राम-जनवाम के वर्णन मे बारबार 'स्वार्थी और कुचाली' देवताओं की कटु आलोचना करने हैं।

विष्णु को इन्द्रादि देवताओं का गश्क प्रमाणित करने मात्र से पुराणों का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। यह तो इन्द्रादि के स्थान पर विष्णु की एकमात्र पूजा-आराधना प्रचलित कराने के प्रयत्नों की केवल श्रमिका है। हरिवंश में वर्णित कृष्ण और इन्द्र-मवधी उपास्थानों से सूचित होता है कि उस समय कृष्ण और इन्द्र तक ड्ड की हीनता का उस निर्भीकता एव स्वच्छदता से उल्लेख नहीं हो सकता था, जो कालांतर में दिखाई देता है। हरिवंश के अनुसार ब्रजवासी इन्द्र देवता की मेघों का गजा मानते थे। उनका विश्वास था कि ड्ड की आज्ञा मे ही मेघ जल बरसाते हैं, जिससे धान्य उत्पन्न होता है। पुरंदर पुरंदर ही सूर्य की जलवाली किरणों को ड्ड कर मेघों को जल देते हैं। ड्ड के द्वारा धान्य और शस्य की वृद्धि होने पर पृथ्वी तृप्त होकर अमृतमय दिखाई देती है, गाएँ ड्ड और बछड़े देती तथा वृषभ पुष्ट होते हैं। मेघों के द्वारा आकाश में अभिनव श्री और शोभा का संपादन हो जाता है तथा समग्र प्राणियों को सुख मिलता है। इसी कारण राजा और प्रजा सब मिल कर इन्द्रदेव की अर्चा करते हैं^२। गो-धन और कृषि पर आश्रित देश मे वर्षा के देव ड्ड की पूजा और मान्यता स्वाभाविक है। इस लोक-विश्वास को भंग करने के लिये पुराणों ने देवलोक में विष्णु-द्वारा देवों के रक्षा-कार्य का वर्णन पर्याप्त न समझ कृष्णावतार मे गोवर्धन-धारण के प्रसंग की सृष्टि की। यह दिखाया गया कि ड्ड की अति वृष्टि से रक्षा करने वाले एकमात्र कृष्ण ही हैं तथा गौओं को तृप्त देने वाले कृष्ण-रूप गोवर्धन देव हैं। अतः ड्ड की पूजा-अर्चा करनी चाहिए। अपनी वार्षिक पूजा न पाकर इन्द्र जब वनघोर जल-वर्षण मे भी ब्रज को नहीं बहा सके, तब उन्होंने जाना कि ब्रज के रक्षक स्वयं सुर-राजा विष्णु भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं। अतः उन्होंने ब्रज मे आकर गोवर्धन की धिला पर स्थित गोपवेज-वारी कृष्ण-विष्णु का अभिनंदन किया। उन्होंने स्वीकार किया कि कृष्ण एकमात्र देवता—लोकों के सनातन देव हैं, उनकी समता दूसरा कोई नहीं कर सकता^३। वे ही जगत के उपादान कारण भी हैं। जिस प्रकार घातुओं से काचन बनता है, उसी प्रकार ब्रह्मा ने यह जगत् कृष्ण मे बनाया है^४। श्री कृष्ण का गो-लोक सब लोकों मे ऊपर स्थित है। पाताल, जल, पर्वत, पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और सूर्य-लोक क्रमशः उत्तरोत्तर उच्च और श्रेष्ठ हैं। इनसे भी उच्च देव-लोक है जहाँ इन्द्र देवराज पद पर धामीन है। देवलोक से भी ऊपर ब्रह्म-लोक है तथा सबसे ऊपर

^१ सुरसागर (बें० प्रे०) पृ० ४६० पद ३४

^२ विष्णुपर्व, अ० १५, वली० ५-१९

^३ एकस्त्वमसि देवानां लोकानां च सनातनः।

द्वितीयं नानुपस्थामि यस्तेषां च घुरं बहेत ॥

—विष्णु पर्व १९।३५

^४ स्वच्छरीरं गतं कृष्णं जगत्प्रकरणं त्विदम्।

ब्रह्मणा साधु निर्दिष्टं घातुम्य इव काचनम् ॥

—बही, १९।२३

महाकाश में स्थित गोलोक है। ब्रह्मा भी जिस गोलोक का परिचय इन्द्र को न दे सके, वही श्री कृष्ण के साथ पृथ्वी पर अवतरित हुआ। इस प्रकार इन्द्र ने कृष्ण का स्तवन करके गौधो की प्रशंसा की और कृष्ण को गौधो का राजा तथा स्वयं अपना इन्द्र कह कर अभिषिक्त किया। इसी कारण कृष्ण पृथ्वी पर 'गोविन्द' कहलाते हैं^१। हरिवंश में गोविन्द की यह व्याख्या महाभारत से भिन्न है^२। जो हो, हिंदी-कृष्ण-काव्य के गोपाल-कृष्ण से इतना भेद न मिल जाता है,^३ परंतु कृष्ण की अनुपम बहुता का प्रतिपादन करते हुए भी हरिवंश ने उनके आगे इन्द्र का इतना हीन नहीं चित्रित किया जितना हम परवर्ती कृष्ण-साहित्य, विशेषतया हिंदी-कृष्ण-काव्य में, पाते हैं। हरिवंश के अनुसार पृथ्वी पर अवतरित गोलोक में गौधो के राजा गोविन्द के रूप में कृष्ण का अभिषेक स्वयं इन्द्र करते हैं और कहते हैं—'हे कृष्ण, मैं भूतपति देवराज पुरंदर हूँ और अद्विती के गर्भ-पर्याय से मुझका पूर्वज—ज्येष्ठ भ्राता हूँ^४।' इसी कारण कृष्ण स्वर्गलोक में उषेन्द्र कहे जाते हैं^५। इन्द्र का सयान ही नहीं हरिवंश में उनकी पूजा भी सुरक्षित रखी गई। उन्होंने वर्षा का पूर्वार्ध अपनी पूजा के लिए सुरक्षित रख कर उत्तरार्ध, अर्थात् शरद-काल कृष्ण-पूजा के लिए निर्धारित कर दिया^६।

इसके विपरीत सुरदास के इन्द्र व्रज को बहा देने के प्रयत्न में विफल होने पर ध्यान में हुए अपने अपराध की उसी प्रकार क्षमा मांगते हैं जिस प्रकार ब्रह्मा ने घाल-बत्त-हुरण के अपराध पर मांगी थी। वे

१. विष्णु पर्व—१६-१८-४६

२. डा० भंडारकर के अनुसार गोविन्द ऋग्वेद के गोविन्द-गायों के दूँदने वाले-का परिवर्तित रूप है। गोविन्द का प्रयोग वेद में इन्द्र के लिए हुआ है। यहीं इन्द्र के लिए केशि-निबूदन भी आया है। महाभारत के आदि और शांति पर्व में विष्णु को बाराह रूप धारण कर जल-मग्न पृथ्वी को दूँद लाने के कारण गोविन्द कहा गया है। भगवद्गीता में भी गोविन्द का प्रयोग मिलता है।

—दे० वैष्णवादि, शैववाद, एव अ० पा० भाग १, ६

३. उपर्युक्त गोलोक की उच्च कल्पना भी 'सूरसागर' में संकेतित 'गोलोक' से मेल खाती है। सुरदास ने गोलोक सहित व्रज में अवतरित श्रीकृष्ण के मुरली-बादन पर झुंठुंवासी नारायण और कमला तक की मुग्ध होते चित्रित किया है। सुरदास की कल्पना निम्नवत् ही उनके भक्तिभाव से प्रभावित है। यथा—

"मुरली धुनि वैकुण्ठ गई।

नाराइन, कमला सुनि वंषति अति रुचि हूँ भई ॥

सुनो प्रिया यह बानी अद्भुत वृंदावन हरि देखी।

धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन व्रज की लेखी ॥

रास-विलास करत नंदनदन, सो हमते अति छुरी ॥

धनि बन धाम, धन्य व्रज-धरनी, उठि लागी जो धुरी ॥

यै सुख तिहूँ भुवन में नाही, जो हरि-संग पल एक ॥

'सूर' निरखि नाराइन इक टक, भूले नैन निमेष ॥

—सूरसागर (वै० प्रे०), पृ० ३४८ पद ११

४. अहं भूतपति. कृष्ण देवराज पुरंदर।

अद्विती गम् परमि पूर्वजन्ते पुराकृत. ॥

—विष्णु पर्व १६।३७

५. उषेन्द्र इति कृष्णात्वा गात्र्यंति दिवि देवता ॥

—विष्णु पर्व १६।४६

६. ये चे मे वार्षिका मासाश्चत्वारो विहितामिमम्।

एषामर्थं प्रयच्छामि शरत्कालतु पश्चिमम् ॥

—विष्णु पर्व १६।४८

श्रीकृष्ण के चरणों में लोटते तथा उन्हें ही माता, भ्राता, जगदाता आदि सभी कुछ मान कर उसी प्रकार अपना-पाने की प्रार्थना करते हैं, जिस प्रकार माता अपने अग्रोष्ठ शिशु के अनजाने अपराधों को क्षमा करके अपनाती है^१। सूरदास ने इन्द्र को कृष्ण-भक्तों में भी कोई उच्च स्थान नहीं दिया, उनके पूज्य होने की तो बात ही दूर है। गोस्वामी तुलसीदास ने खलो की वदना करते हुए उनकी, जिन्हें 'मुरानीक' हितकारी^२ है, ऐसे शत्रु से समानता करके इन्द्र पर जो आराम में ही हलका सा व्यंग्य किया है वह आगे स्पष्ट हो जाता है, जब वे 'पोखी मति' वाले 'कुचाली' ईप्सालु देवताओं के 'ऊँचे निवास और नीची करतूत' का वर्णन करते हैं^३। इसी प्रकार गोस्वामी जी ने अनेक बार 'कुटिल अमरपति' तथा अन्य देवताओं को बुरा-भला कहा है^४। उनके पूज्यों में गणेश, सूर्य, शिव-अर्धनारीश्वर, भैरव, दुर्गा, कालिका, गंगा, यमुना, चित्रकूट, सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान आदि तो हैं, पर इन्द्रादि देवताओं पर उनकी सदैव वक्र दृष्टि ही रही।

हरिवंश में गोवर्धन-धारण के प्रसंग की भाँति पारिजात-आनयन की कथा में कृष्ण और इन्द्र का एक और संघर्ष वर्णित है। रुक्मिणी के पास पारिजात-पुष्प देख कर कृष्ण की प्रिय पत्नी 'सत्यभामा' को ईर्ष्या हुई। जब वह किसी प्रकार प्रसन्न न हो सकी, तब श्रीकृष्ण ने पुष्प के स्थान पर पारिजात-वृक्ष लाने का वचन दिया, परंतु कृष्ण का संदेश पाकर इन्द्र ने न केवल पारिजात देना अस्वीकार किया, बरन उन्हें स्वयं आदि कह कर अपमानित भी किया^५। परिणामतः कृष्ण को इन्द्र से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में हरिवंश ने कृष्ण की अपेक्षाकृत अधिक वीरता की व्यंजना करते हुए भी उन्हें युद्ध-विजयी नहीं बनाया, अपितु दोनों के माता-पिता अदिति-कश्यप के द्वारा उनमें समझौता करा दिया है। शांत होकर कृष्ण से इन्द्र ने कहा—'तुम सब लोक के प्रभु हो, हमने तुम्हें राज्य में स्थापित किया है, फिर तुम मेरी अवमानना क्यों करते हो ? हे कमल-पत्राक्ष,

१. सुरपति, चरन परचो गहि धाइ ।

जुग गुन थोड़ सेत गुन जान्यो, सरनहि राखिलेउ सरनाइ ॥
हम बिहारे तुम्हरी माया में, तुम्ह बिनु नाहीं और सहाइ ।
सरन-सरन पुनि-पुनि कहि-कहि मोहि, राखि-राखि त्रिभुवन के राइ ॥
मोते झूक परी बिनु जानें, मैं कौन्हि अपराध बनाइ ।
तुम्ह माता, तुम्हही जगदाता, तुम्ह भ्राता अपराध छिमाइ ॥
जौ बालक जननी सो बिहरी, माता ताकों सेइ मनाइ ।
ऐसेहि मोहि करी करुनामय, 'सुर' स्याम ज्यो सुत-हित माइ ॥

—सूरसागर पृ० २१६, पद ७६

२. बहुरि सक सम दिनवडें तेही । सतत सुरानीक हित जेही ॥

—रामचरित मानस, बालकांड, दोहा ३।५

३. धार-धार गहि चरन सँकोची । जलो विचारि बिबुध मति पोखी ।

ऊँच निवास नीचि करतूती । सकहि न देखि पराइ बिभूती ।

—रामचरित मानस, अयोध्याकांड, दोहा ११।३

४. भोगेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिए उर लाइ ।

लोग उछाटे अमरपति, कुटिल कुअबर पाइ ॥

—रामचरित मानस अयोध्याकांड, दोहा ३१६

५. विष्णु पर्व अ० ६७-७३

नाई होकर मेरी ज्येष्ठता भुला कर तुम मेरे निर्वाण की इच्छा क्यों करते हो ?' शची ने भी कहा—'हे उत्तरे, पारिजात लेकर जाओ और अपनी वधू को उसके मनोकुल पुष्प प्राप्त कराओ' । विवाह होते समय कृष्ण माला-पिटा अविधि-कर्मण्य के साथ शची और इंद्र का भी अभिवादन करते हैं और शची उनकी सोलह सहस्र रागियों के लिए वस्त्राभूषण की मेंट देकर प्रेमपूर्वक विदा करती है^३ । अस्तु, कृष्ण और इंद्र का यह भगवा गृह-कलह से अधिक नहीं जान पड़ता, यद्यपि हरिवंशकार उसके द्वारा सूक्ष्म व्यञ्जना के साथ कृष्ण की सापेक्ष महत्ता-प्रतिपादन का अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेता है। यह स्पष्ट है कि उस समय तक हिंदी के कृष्ण-काव्य की तरह इंद्र के प्रति पूज्य भाव निःशेष नहीं हुआ था ।

इंद्र की ऐंद्रिय लोलुपता की पुराणों में थनेक कथाएँ हैं, परंतु हरिवंश में केवल 'अविध्य पर्व' में अति-तेंद्रिय इंद्र के मृत घोड़े में प्रवेश करके जनमेजय की पत्नी वपुष्टमा से व्यभिचार करने का उल्लेख है । जिसके फलस्वरूप जनमेजय ने उन्हें शाप दिया था कि आज से भ्रवमेध में तुझे कोई न पूजेगा^४ । बहुत समय है वह उल्लेख उपर्युक्त प्रसंगों के बाद रचा जा कर हरिवंश में मिलाया गया हो, क्योंकि इसमें इंद्र की हीनता की व्यञ्जना कहीं अधिक गहरी है ।

वैदिकदेवताओं में इंद्र के प्रतिरिक्त केवल वरुण और इंद्र, जिन्हें उपा-अग्निस्त्व-विवाह के प्रसंग में वैष्णव-वात्सव-द्वारा पराजित होकर कृष्ण की पूजा करते हुए दिखाया गया है^५ । सूरसागर में श्रीमद्भागवत के अनु-कृष्ण और सार एक भिन्न प्रसंग में वरुण को श्री कृष्ण के समक्ष हीन चित्रित करने उनके प्रति वरुण भक्ति-भाव प्रदर्शित करते हुए दिखाया गया है^६ । ऋत के रक्षक महान् वैदिक देवता वरुण उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होते गए और पौराणिक तथा भक्ति-काल में उनका नाम-मात्र शेष रह गया ।

हरिवंश में श्रीकृष्ण की महत्ता विष्णु की सर्वश्रेष्ठता एवं अद्वैतता के वर्णन में विशेष रूप से व्यञ्जित है, स्वयं उन्हें 'आदिदेव' 'सनातन-वराचर-स्वामी' आदि बताते हुए भी विष्णु का भगवातार ही कहा गया है^७ । कृष्ण-विष्णु और इसके विपरीत वैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, हिंदी के वैष्णव-काव्य में राम और शिव कृष्ण को साक्षात् परब्रह्म तथा त्रिदेव के विष्णु से भी उच्च बताया गया है । कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता के प्रतिपादन में हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों ने बाल-वत्स-हरण लीला के द्वारा ब्रह्मा की हीनता का प्रतिपादन तो किया,^८ परंतु शिव के सब में केवल उक्तिपौति ही सत्ता कर लिया गया है, उनको कृष्ण

१. त्वं प्रभुलोकं कृत्स्नं राज्येऽहं स्थापितस्तथा ।
स्थापित्वा कथं नाम पुनर्भविष्यते ॥
भ्रातृत्वमुपगम्यं सर्वेऽहं ज्ञाप्योद्भव ।
कथं कमलपद्माक्ष निर्वाणं कर्तुमिच्छसि ॥

—मही, अ० ७५।२८-२९

२. वही, अ० ७५।३८
३. विष्णु पर्व, अ० ७५, श्लो० ४१, ४२
४. अथ प्रभूति वैश्वेनमर्जितैर्द्विजमस्मिन् ।
शक्रिया वाजिनेजैर्न यशसीति शौनक ॥

—अविध्य पर्व अ० ५ श्लो० १७

५. बि० ५०, अ० १२७

६. सूरसागर (वै. प्र.) पृ० २३२-२३३

७. भगवातारणे कर्त्तुं जाने विष्णोर्विचेष्टितम् । —अविध्य पर्व ५६।३२

८. अनजानतय करी मैं तुमको बरिआई । एसेरे अपराध छवई त्रिभुवन के राई ।
क्यों बालक अपराध सत जाननी, लेति सँभारि । सरल गएँ राजत सदाँ भगवान् सकल विभारि ।

—सूरसागर (वै. प्र.) पृ० १५७।४३०-२८

से हीन प्रमाणित करने के लिये किसी स्वतन्त्र प्रसंग की अवतारणा नहीं की गई। उक्त प्रसंग में ब्रह्मा ही के द्वारा शिव को भी कृष्णके समक्ष नगण्य कहलाते हुए कृष्ण का स्तवन कराया गया है,^१ परंतु हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रत्यक्ष रूप में शिव और शिव-भक्तों की निंदा नहीं की और न उन्हें राम-भक्त तुलसीदास की भांति विष्णुभक्तों में समिलित किया। भ्रमरगीत में अवश्य उद्धव को योगी बना कर 'शैवों' की हीनता व्यंजित की गई है,^२ परंतु वहाँ भी शैवों से अधिक निर्गुणवादी 'अलख, अलख' चिल्लाने वाले गोरख-पंथी दृढ़-योगियों को लक्ष्य किया गया है।^३ एक पद में अवश्य सूरदास प्रकारांतर से शैवों की प्रत्यक्ष हीनता चित्रित करते पाये जाते हैं^४ तथा एक

^१. मैं ब्रह्मा इक लोक कौं, ज्यो गूलर बिच जीव ।

प्रभु तुम्हरे इक रोम प्रति, कोटि ब्रह्म अष्ट सीव ॥

तथा—

—सूरसागर (वें प्रे०) पृ० १५८।४३०-२६

आदि सनातन हरि अविनासी । सदां निरंतर घट-घट बासी ॥

पुरन ब्रह्म पुरान बखानैं ॥ चतुरानन सिव अंत न जानैं ।

—सूरसागर (वे० प्रे०) पृ० १६०।५३

^२ शोकुल सब गोपाल उपासी ।

जे गाहक साधन के ऊथी, ते सब बसत ईस पुर कासी ॥

—सूरसागर (वे० प्रे०) पृ० ५४७।१५

^३. हनतो तबहीं जोग लियो ।

जबही ते मधुकर मधुवन को, मोहन गमन कियो ॥

रहित सनेह सरोख सब तन, शीखंड भसैं चढाए ।

पैंहरि मेखला चीर पुरातन, पुनि-पुनि केरि सियाए ॥

श्रुति, ताटक, नैन मुद्रावलि, औगि अघार-अघारी ।

हरसन भिच्छा मांगत डोलत, लोचन-पत्र पसारी ॥

बाँधी बेंदु कंठ सिंगी पिय, सुमिरि-सुमिरि गुन पावत ।

करवर बेंत बंड डर डरत न, चुनत स्वान दुख बावत ॥

❀

गोरख सबव पुकारत आरत, रस रसना अनुराग ।

भोग भुगति भूलेंहु भावै नहि, भरी बिरह बैराग ॥

तथा—

—सूरसागर (वें प्रे०) पृ० ५२६।२५

यह उपदेश कहाँ है भावौ । करि बिचार सनमुख हूँ सावौ ॥

इंगला, पियला सुषमना नारी । सून्य सहज, मैं बसहि मुरारी ॥

ब्रह्म-भाव करि मैं सब देखौ । अलख निरंजन ही कौं लेखौ ॥

पद्मासन इक मन चित ल्यावौ । नैन-मूढ़ अंतरगत ज्यावौ ॥

हृद-कमल में ज्योति प्रकासी । सो अच्युत अवियत अविनासी ॥

—सूरसागर (वे० प्रे०) पृ० ५५६।८

^४. अपनी भक्ति देहु भगवान ।

❀

जरत ज्वाला, गिरत गिर तैं, स्वकर काटत सीस ।

बेखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न हिस ॥

—सूरसागर (सभा) १०६

धन्य स्थल पर ये श्रीकृष्ण के धूल-पुतरित रूप में जटा-जूट युक्त शिव-भेग का भक्त करके मानो शैवों को कृष्ण की रूप-गति की ओर ध्राक्कृत करते पाये जाते हैं तथा उन ध्याम-शिव का ध्यान करने को कहते हैं जिनके अंग देग कर प्रनग भी तिजयन्ता है^१। इनमें अधिकांश उन्होंने शिव श्री शिव-भक्तों की ओर ध्यान नहीं दिया।

उम मन्त्र में भर्षादावादी रमात गोम्बामी तुलसीदास की श्रुति भिन्न है। उन्होंने ब्रह्मा की हीनता का कोई वर्णन नहीं किया तथा शिव को राम के भक्तों में सर्वोच्च स्थान देकर उनकी महिमा इनकी अधिक बढ़ा कर बताई कि स्वयं राम उनकी भक्ति करते हैं। उन्होंने शिव-भक्ति के बिना नर को राम-भक्ति का अधिकारी तक नहीं माना^२। रामचरितमानस में राम-भक्ति के साथ शिव-भक्ति का शक्ति-कचन मयोग हुआ है, परन्तु फिर भी इसमें नदेह नहीं रहता कि गोम्बामी जी की शिव-भक्ति राम-भक्ति का एक साधन श्रवण अंग भाग है^३। शैवोपासना को मयूर वैष्णव-रूप में प्राप्तमात् कर लेने का यह नतुरतापूर्ण उपाय समन्वय कहा जाता है, परन्तु यह दृढ़ नया नहीं है। वैष्णव पुराणों में इसी प्रकार विष्णु की भाषेय महत्ता का प्रतिपादन होता आया है। तुलसीदास जी ने यह एक विवेचना प्रवर्ण्य है कि उन्होंने अपने समन्वय कार्य में शिव और राम का सर्वत्र नहीं दियाया। जब शिव राम के अनन्य भक्त हैं तो मर्षय का प्रश्न हो नहीं उठता, परन्तु हरिवंश में शिव ने राम का भक्त इनकी गलताना में नहीं बताया जा सकता। कदाचित् उम समय तक शैवोपासना का पर्याप्त जोर था। फलतः उनमें स्थान-स्थान पर शिव की महिमा का प्रतिपादन किया गया है और शिव और कृष्ण-विष्णु में श्रव्यत चतुरतापूर्वक समन्वय-जैसा दृष्टिकोण करने हुए विष्णु श्री कृष्ण की भाषेय महत्ता प्रमाणित की गई है। इन विषय में हर्षिदास धीरे गोम्बामी तुलसीदास में विमर्शण समया दिखाई देती है।

पारिजात के मन्त्र में कृष्ण-उद्भ-युद्ध-रूपी गृह-कलह को रोकने के लिये उनके पिता कश्यप भूतगणों के ईश्वर शीघ्र स्वभाव महात्मा शिव की श्रुति करते हुए उन्हें अनन्यमूर्ति, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगत् और जीविके आदि कारण आदि अनेक विवेचनों में युक्त नया अपने प्रसाद से सत्त्व गुण-प्रधान विष्णु को उत्पन्न करने वाला बनाते हैं^४। इसी प्रसंग में स्वयं कृष्ण पारिजात-प्राप्ति के लिये शिव की आराधना, धर्षना और स्तुति करने दिखाये गए हैं^५। श्री कृष्ण शिव की स्तुति करने हुए उन्हें भक्तों के भक्त, ईश्वरों के ईश्वर, अव्यय, अमरेश, महेश्वर, विश्वकर्मा, अमोघवीर्य, सर्वव्यापक, सूर्य की प्रकाशित करने वाले तथा ब्रह्मा, कपिलदेव एवं स्वयं कृष्ण को उत्पन्न करने वाले आदि विवेचनों में विभूषित करते हैं। शिव जी ने इस स्तवन को सुन कर कृष्ण को वरदान दिया कि तुम्हें पारिजात प्राप्त होगा^६। तदनन्तर श्रीकृष्ण और शिव दोनों ने परियात्र पर्वत पर अपनी-अपनी प्रतिमा के पूजन का माहात्म्य बताया और इस प्रकार परियात्र-स्थित विलोदकेश्वर महादेव की पूजा के साथ कृष्ण की प्रतिमा का पूजन भी सम्मिलित कर दिया गया। इसी अवसर पर महादेव ने श्रीकृष्ण को परियात्र-पर्वत की गुफाओं में बसने वाले उन समस्त शैवों को मारने का आदेश दिया किन्हें स्वयं शिव ने अवध्यत

१. सतीरी नंद नबन देखि ।

शूरि-शूरर जटा-जटली हरि कियो हर-भेग ॥

—सूरसागर (वै० प्रे०) पृ० ७८८,

२. शिव द्रोही भम भगत कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ॥

संकर बिमुख भगति जहूँ मोरी । सो नारकी भूव भति धोरी ॥

संकर प्रिय मन द्रोही, शिव द्रोही भम दास ।

ते नर करहुँ कसप भरि, धीर नरक महुँ दास ॥

—रामचरित मानस, सकाकाठ दोहा ७—

३. होइ अकाम जो छल तजि सेइहि । भगति मोरि तेहि संकर बैइहि ।

—रामचरित मानस सकाकाठ, दोहा ३, चौ० ३

४. विष्णु पर्व अ० ७२

५. विष्णु पर्व अ० ७४

६. विष्णु पर्व, अ० ७४

का वरदान दिया था^१। इसी प्रकार पेचीले ढंग से शिव के द्वारा रक्षा का वरदान पाए हुए निकुंभ दैत्य का श्री कृष्ण-द्वारा वध दिखा कर श्री कृष्ण की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। यह वध भी श्रीकृष्ण ने विल्वोद-केष्वर महादेव की इच्छा से उन्हे नमस्कार करके किया था। अंत में विल्वोदकेद्वर महादेव ने उस पर अत्यंत प्रसन्नता प्रकट की थी^२।

कृष्ण, विष्णु और महादेव के सवध में उपर्युक्त समन्वयात्मक, किंतु निश्चित रूप से वैष्णव दृष्टि-कोण के साथ हरिवंश में दोनों के बीच सीधा सवध भी दिखाया गया है। सबसे भीषण सवध शिव-भक्त अहं-कारी वाणासुर के आख्यान में वर्णित है। जब दैत्यगण युद्ध में श्रीकृष्ण के शस्त्र-प्रहार से भयभीत होकर भागने लगे तब स्वयं महादेव और स्वामी कार्तिक उनके सहायतार्थ आ उपस्थित हुए। विष्णु और रुद्र के घोर सग्राम की भयकरता से समस्त पृथ्वी व्याकुल हो उठी^३। उसने अपना सकट ब्रह्मा को सुनाया। पृथ्वी को आग्रासन देकर ब्रह्मा ने शिव को स्मरण दिलाया कि कृष्ण उन्हीं के आत्मारूप है। यथार्थ ज्ञान होने पर शिव जी युद्ध में विरत हुए और तब शिव और कृष्ण दोनों प्रीति पूर्वक मिले^४। ब्रह्मा ने शिव का हरि-रूप से और नारायण का शिव-रूप से चिंतन किया। उन्होंने देखा जो विष्णु है, वह रुद्र है, जो रुद्र है वह ब्रह्मा है, ये तीनों रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा एक भूति हैं^५। रुद्र के परमरूप विष्णु और विष्णु के परमरूप शिव हैं। एक ही आत्मा द्विधारूप हो कर लोक में नित्य विचरता है। शंकर के बिना विष्णु नहीं और केशव के बिना शिव नहीं, इसलिए रुद्र और उर्ध्व एक ही हैं^६। अस्तु, ब्रह्मा ने हरिहरात्मक स्तोत्र के द्वारा दोनों को भूरि-भूरि नमस्कार किया^७।

दक्ष प्रजापति के यज्ञ के अवसर पर भी विष्णु और रुद्र के युद्ध का वर्णन किया गया है। यहाँ भी भूक्ष्म सकेतो-द्वारा विष्णु की महत्ता व्यजित है,^८ परंतु इस विषय का सबसे अधिक विस्तार पुत्र-प्राप्ति-हेतु कृष्ण की कैलाश यात्रा के उपाख्यान में मिलता है^९। रुक्मिणी को सतुष्ट करने के लिये कृष्ण ने 'तप' और 'ब्रह्मचर्य' से अविनाशी, विरूपाक्ष, शिव देव, अज, विभु, सब प्राणियों के हित में सलग्न, नील लोहित महादेव शंकर की प्रसन्न करके पुत्र-प्राप्ति के लिये कैलाश को प्रस्थान किया^{१०}। उन्होंने वहाँ बारह वर्ष पर्यंत घोर तप किया,

^१ विष्णु पर्व अ० ७४

^२ वही, अ० ८५

^३ वही, अ० १२४

^४ वही, अ० १२५, श्लो० १२-२२

^५ यो विष्णु स तु वै रुद्रो यो रुद्र स पिता महः।

एको भूर्तिस्त्रियो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः॥ —वही, अ० १२५, श्लो० ३१

^६ रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिवः।

एक एव द्विधा भूतो लोके चरति नित्यदाः॥

न विना शंकरं विष्णुर्न विना केशवं शिवः।

तस्मादेकत्वं भाया तौ रुद्रोपेन्द्रौ तु तौ पुरा॥

—विष्णुपर्व, अ० १२५ श्लो० ४१-४२

^७ वही, श्लो० ४३-४६

^८ भविष्य पर्व, अ० ३२

^९ वही अ० ७३-८०

^{१०} तत्रोपास्य महादेवं शंकरं नील लोहितम्।

ततो लब्धास्त्रि पुत्रं ते भवाद्भू तद्विहरेतात्॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सर्वं शंकरमव्ययम्।

लोषयित्वा विरूपाक्षमाविदेवमजं विभुम्॥

—वही, अ० ७३, श्लो० ३६, ३७

जिसे देखने के लिये इन्द्र, धर्मराज, वरुण, आदित्य, वसु, समस्त वर, सिद्ध, मुनि, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, भस्तरा आदि और अत में पार्वती-सहित स्वयं शिव आए। शिव के आने पर भूत, पिशाच, राक्षस, गूहा, खेप्ट मुनि बने मिल कर श्री कृष्ण को विष्णु से अभिन्न बताते हुए उनकी स्तुति की^१। विष्णु भगवान ने समाधि से जाग कर अपने को शिव की स्तुति में असमर्थ बताते हुए 'सर्वात्मन्, सर्व भूतेश, हर' से क्षमायाचनापूर्वक रक्षा की प्रार्थना की^२। शिव जी ने अत्यंत आदर और प्रेम के साथ 'चक्रपाणि, जगत्पति, जनार्दन, देवेश्वर' विष्णु की इच्छा जान उन्हें पुनः-प्राप्ति का वरदान दिया तथा साध्य के अनुसार तत्त्व-विचार करके बताया कि सृष्टि के आदि कारण विष्णु ही हैं^३। विष्णु में उन्होंने केवल ब्रह्मा, विष्णु और छत्र की एकता का ही वर्णन नहीं किया, बल्कि उन्हें 'सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष'—आदि विशेषणों वाला आदि पुरुष बताया^४। शिव जी ने गीता के विभूतियोग (दशम अध्याय) की भाँति विष्णु की अनंत विभूति का वर्णन किया तथा उन्हें—जगत्पति, देवेश, विभु, भूत-भावन, सर्वात्मन् आदि उन्हीं विशेषणों से विभूषित किया जिनका प्रयोग क्षात्रमर पहले स्वयं उनके लिये कृष्ण ने किया था^५। इस परस्पर स्तुति-कथन में यद्यपि शिव और विष्णु की एकता का प्रतिपादन है, तथापि विष्णु की सापेक्ष श्रेष्ठता, शिव की महत्ता को भी स्वीकार करते हुए, असदिष्ट रूप में व्यक्त की गई है। स्वयं शिव अपने भक्त मुनियों को एक मात्र विष्णु की आराधना का उपदेश देकर कहते हैं—'विष्णु नारायण से परे जगत में और कोई देव नहीं है। अतः सदा 'ओम्' नाम से केशव का ही ध्यान और पाठ करना चाहिए। उसी से निःश्रेयस की प्राप्ति होगी'^६। शिव के अघोर-पथी आराधकों के लिये तो कैलाश-यात्रा के भारम में ही, घटाकर्ण और उसके भाई,—दो महा भयानक पिशाचों की विष्णु-भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। ये पिशाच पूर्वजन्म में विष्णु के विरोधी होने के कारण शिव की आराधना करने पर भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके और जब शिव के कहने से उन्होंने जाना कि विष्णु-शरणागति ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है, तब वे कृष्ण-विष्णु की शरण में गए। कृष्ण-विष्णु ने उन्हें अभीष्ट मुक्ति प्रदान की और इस बात का विचार नहीं किया वे कि ब्रह्म-रूपा के अपराधी थे^७।

'हंस-दिभक' की कथा में भी प्रकारांतर से हरिवंश शिव की अपेक्षा विष्णु की महत्ता का प्रतिपादन करता है। शिव के भक्त हंस और दिभक, महादेव के परम पराक्रम तथा भू-मी और रिटि दो भूतों की सहायता प्राप्त करके भी, श्रीकृष्ण और बलराम-द्वारा परास्त होते हैं और वैष्णवात्म्य के आगे नैरात्म्य कुटित होते दिखाया जाता है^८।

^१ वही, अ० ८५

^२ क्षमस्व भगवन्नेव भक्तोऽहं ब्राहिमां हर ।

सर्वात्मन्सर्वभूतेश ब्राहिमां सतत हर ॥

—वही, अ० ८७, श्लो० ३७

^३ भविष्य-पूर्व अ० ८८, श्लो० ३-६

^४ वही, श्लो० ३१-३४

^५ वही, श्लो० ५४-६७

^६ नान्यो जगति देवोस्ति विष्णो नारायणात्पर ।

ओमित्येवं सदा विभ्रा पठत प्यात केशवम् ॥

ततो निःश्रेयस प्राप्तिर्भविष्यति न संशयः ।

एव प्यातो हरि साक्षात्पुनो वो भविष्यति ॥

—वही, अ० ६६, श्लो० ६, १०

^७ वही, अ० ८०-८३

^८ भविष्य पूर्व, अ० १०३-१२६

गोस्वामी तुलसीदास ने विष्णु की महत्ता को प्रतिपादन में शिव और विष्णु की आराधना के बीच समन्वय का जो दृष्टिकोण उपस्थित किया उसमें, जैसा कि पीछे कह आये हैं, हरिवंश की भाँति सवर्ष और विरोध नहीं दिखाया गया। राम के अनन्य भक्त तुलसीदासजी के लिए राम का विरोध कृष्ण और शक्ति और विरोधी सहा नहीं। उनके शिव श्रेष्ठ राम-भक्त हैं और इसी कारण पूज्य हैं।
अथवा देवी इसी नाते गौरी, पार्वती या देवी भी पूज्य हैं। पतिव्रता स्त्रियों के लिये स्वामीजी ने गौरी की विशेष मान्यता बताई है। स्वयं सीता पति-प्राप्ति के लिये गौरी-पूजन करती हैं^१।

इस सवर्ष में सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का भाव भिन्न है। सूरदास की गोपय्या श्रीकृष्ण की पति-रूप में प्राप्ति के लिये गौरी की नहीं, गौरी-पति शिव और रवि की आराधना करती हैं,^२ यद्यपि भागवत में गोपियों को कात्यायनी देवी की पूजा करते हुए दिखाया गया है^३। इन्हीं कात्यायनी देवी को आगे महा-माया, महायोगिनी, भद्रकाली—आदि कहा गया है, परन्तु सूरदास की एकांत भाव-निष्ठा अनन्य कृष्ण-भक्ति में यदि कोई देवी पूज्य है तो आदि शक्ति की अवतार कृष्ण की भद्रांगिनी राधा। हिंदी के अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भी राधा-कृष्ण के अतिरिक्त किसी देवी-देव को पूज्य नहीं माना, परन्तु साथ ही किसी कृष्ण-भक्त कवि ने देवी की विगृह्ण भी नहीं की। कदाचित् शाक्त-मत उस समय तक था तो वैष्णव मत में किसी न किसी रूप में घुलमिल गया था अथवा उसके द्वारा आच्छादित हो गया था, किन्तु हरिवंश में शाक्तों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है तथा शैवी की भाँति उन्हें भी विष्णु-पूजा की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। हरिवंश में महादेवी, महाशक्ति की महिमा का विस्तार पूर्वक वर्णन और उनके अंततः गुणों का बारबार कथन किया गया है, किन्तु फिर भी हरिवंश ने उन्हें मूलतः विष्णु की 'कालरूप निद्रा' मात्र माना है। मनुष्य रूप में वे सर्व प्रथम यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुईं। इन्हीं 'कालरूप निद्रा देवी' ने विष्णु की आज्ञा से अपने में अतर्हित पद्मगर्भा दैत्यो को क्रमशः देवकी के गर्भ में स्थापित किया था तथा सातवें गर्भ को सातवें महीने में 'सकर्षण' कर रोहिणी के गर्भ में पहुँचाया था^४। विष्णु ने उन्हें पहले ही बता दिया था कि तुम कस-द्वारा पटके जाने पर मेरे समान श्याम-छवि और सकर्षण-समान आनन-वाली, निशूल, खड्ग, कवच-आदि धारण कर मुजग के समान भीम भूजाओं से दश दिशाओं को क्षोभित करते हुए चोर प्राणियों से युक्त मेरी आज्ञा की अनुवर्तिनी कीमर-व्रत में स्थित हो स्वर्ग को सिंघारोगी। इद्र मेरे वताये विधान से तुम्हारा अभिवेक करके भगिनी के समान ग्रहण करोगे। कुशिक-गोत्र में होने से तुम कौशिकी होगी। इद्र तुम्हें विध्याचल पर्वत में शास्वत स्थान देगे तथा बाद में तुम सहस्रो स्थानों में स्थित हो पृथ्वी को क्षोभित करोगी। तुम्हीं शुभ-निशुभ दानवों का अनुचरो सहित नाश करोगी। तबगी के दिन तुम, मास और बलि के सहित पूजा को प्राप्त करोगी। मेरे प्रभाव को जानने वाले जो व्यक्ति तुम्हारी बक्ष्णा करेंगे, उनके लिए पुत्र और धन कुछ भी दुर्लभ न होगा। जो भक्तिपूर्वक इस स्तोत्र से तुम्हारी स्तुति करेंगे मैं उन्हें नहीं मारूँगा तथा वे

^१ जय गजवदन षडालन-भाला। जगत जननि दामिनि दुति गाता।

नहि तब आवि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहि जाना।

भव-भव विभव परामय कारिनि। बिस्व बिभोहनि स्वबस बिह्वारिनि।

पति देवता सुतीय महं, मातु प्रथम तब रेख।

महिमा अमित न सकहि कहि, सहस सारदा सेस ॥

—रामचरित मानस, बालकांड, बोद्धा २३४, २३५-२३६

^२ सूरसागर (बं० प्रे०) चौर-हरण सीता, पृ० १२६ पद ५-६

^३ हेमंते प्रथमे मासि नवव्रजकुमारिकाः।

वेहर्षिविष्यं भुजागाः कात्ययन्यर्चनव्रतम् ॥

—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध पूर्वार्ध अ० २२, श्लो० १

^४ विष्णुपर्व, अ० २, श्लो० २५-३५

भी मेरा नाश नहीं करेगा^१ । इस आर्या स्तोत्र में श्री कृष्ण ने देवी को सिद्धि, धैर्य, कीर्ति, विद्या, सति, बुद्धि, प्रभा, धामा, पुष्टि, तुष्टि, क्षमा, दया-आदि भाव-वाचक विशेषणों, सध्या, रात्रि, निद्रा, कालरात्रि, रजनी-आदि ध्रुवस्था-सूचक विशेषणों, ब्रह्माचारिणी, उग्रकर्मा, महाबला, ज्येष्ठा, नीलवस्त्रा, बहुला, विष्णुपात्री, मृत्युस्वल्पा, विशालाक्षी, कलहप्रिया-आदि गुण-सूचक विशेषणों तथा नारायणी, विभुवनेश्वरी, कात्यायनी, कौशिकी, स्कन्द-माता, जया, विजया, शकुनी, पूतना, रेवती, मोहिनी, पौराणी, पार्वती, प्रसूती-आदि नामों से अभिहित किया । साथ ही उन्हें यम की भगिनी, 'बलदेव की भगिनी', नवगोप-मुता^२ एवं सुरा-भास और बलि की इच्छा करने वाली भी कहा^३ । इन देवी को संपूर्ण यादव मन से पूजने लगे, क्योंकि इन्हीं के द्वारा कृष्ण की रक्षा हुई थी^४ ।

देवी के उद्भव की उपर्युक्त कथा के अनंतर जहाँ भी देवी की आराधना-स्तुति का अवसर आया वही हरिवंश ने उन्हें इसी प्रकार विष्णु के प्रथमी घोषित किया । बाण-मुनी 'उषा' के महत्व में वही अनिरुद्ध ने रक्षा-निमित्त जब 'कोटवती देवी' की स्तुति की तो उसने सर्व प्रथम अनंत, प्रथम, दिव्य, आदि देव, सनातन, जगत के प्रभु नारायण को नमस्कार किया । तदनंतर उन्हीं नामों से देवी की स्तुति की जिन नामों से स्वयं हरि ने की थी । उसने भी देवी को 'महेन्द्र और विष्णु की भगिनी', 'कंस की भयदायिनी' तथा 'नंद और यशोदा की आनन्द-वर्द्धिनी, कहा^५ । स्तुति से प्रसन्न हो कर देवी उसे केवल इतना वरदान दे सकी कि 'श्री कृष्ण' आकर बाणासुर की सहस्र भुजाओं को काट कर तुम्हें इस वंश से छुड़ावेंगे^६ । इस आर्या स्तोत्र के पाठ का फल सब पाप से छूट कर 'विष्णुलोक' की प्राप्ति बताया गया है^७ ।

उषा-अनिरुद्ध के ही आख्यान में स्वामिकार्तिक के साथ श्रीकृष्ण के युद्ध का वर्णन है जिसमें स्वामिकार्तिक के द्वारा आहूत शक्ति की महा हुकार मात्र से एकबार श्री कृष्ण भी गिर जाते हैं । पुनः श्री कृष्ण के चक्र सुदर्शन सँभालने पर स्वामिकार्तिक के रक्षार्थ सुतनु, दिम्बसना, लवमाना कोटवी, महाभावा पार्वती के अष्टमांग से उत्पन्न चित्रा, कलक-शक्ति बाणासुर की माता नगी हो कर आ उपस्थित हुई । नन्म देवी को देख कर श्रीकृष्ण ने घुँह फेर लिया तथा समझा-बुझा कर उन्हें हटाने का प्रयत्न किया, परंतु देवी किसी प्रकार नहीं मानी, फिर भी श्रीकृष्ण ने उनके साथ बल का प्रयोग नहीं किया । इस प्रकार देवी के द्वारा स्वामिकार्तिक की रक्षा तो हो गई पर साथ ही श्रीकृष्ण की बीरता, उनके शील-सौजन्य तथा उनकी उच्चतर महत्ता की भी असंदिग्ध रूप से व्यंजना हो गई^८ ।

प्रचलित वैष्णव-मतवाद को देखते हुए स्वयं श्रीकृष्ण-द्वारा वेवीपूजा में उपर्युक्त मास-भिरादि की स्वीकृति विचित्र सी जान पड़ेगी, परंतु हरिवंश में उपर्युक्त घटाकर्णादि ब्राह्मण-मास-मंजी पिशाच, घोवो तथा देवी को बीमत्स बलि देने वाले खाक्तो के हिस, जघन्य और अवैष्णव-कर्मों से भी अधिक वैष्णव मत और वामाचारियों की क्रियाओं को स्वयं वैष्णव-मत के अग्र-रूप वर्णित किया गया है । वामाचार कृष्ण के द्वारा प्रेरित गोप गोवर्धन की पूजा में दूध, मी, चावल आदि के साथ मास के डेर और मेघ, अहिषादि की बलि भी चढ़ाते हैं^९ । बलराम का मदीमन्त तामस रूप एवं तालरस

^१ विष्णुपर्व, इसोक्त २३-५५

^२ वही, अ० ३, इसो० २-२४

^३ वही, अ० ४, इसो० ४८

^४ वही, अ० १२०, इसो० २-७

^५ वही, इसो० ४१

^६ वही, इसो० ४८

^७ वही अ० २२६, इसो० २८-२९

^८ वही, अ० १६, इसो० १४०, १५, १८

और मदिरा का प्रेम तो श्रीमद्भागवत^१ और सूरसागर^२ तक किसी न किसी रूप में चला आया, किंतु हरिवंश ने उनके इस मदनोन्मत्त उच्छृंखल रूप के अपेक्षा-कृत अधिक विशद चित्र दिए हैं। हरिवंश के बलराम मदिरा के इतने प्रेमी हैं कि एकबार गोमत पर्वत पर अकेले विचरण करते हुए मद्य-पवन की गंध पाकर वे प्यास से विकल हो गए और उनका मुख सूख गया। दूसरे दिन उसी स्थान पर जाकर बड़ी तत्परता से उन्होंने वर्षा ऋतु के फूले हुए कदव के ऊपर एक कोटर में एकत्र वारुणी खोज ही तो ली। अर्त के समान उसका पान करने से वे मदनोन्मत्त हो झूमने लगे और उनकी आंखें लाल हो गईं। वह 'मदिरा कादंबरी' कही जाने लगी तथा देवताओं की प्रिय बन गई^३। यही नहीं, वारुणी के साथ बलराम को मदनोन्मत्त अवस्था में मदिरा, कांति और श्री नाम की तीन देव-स्त्रियाँ भी उपलब्ध हुई^४।

बलराम की व्रज-यात्रा में उनके मद्य और तालरस पान करने तथा यमुना के सतीत्व को नष्ट करने वाले उच्छृंखल व्यवहार का भी हरिवंश में विशद वर्णन है,^५ परंतु पिंडार-यात्रा के अवसर पर कृष्ण, बलराम, नारद और समस्त यादवों की जिस नग्न-क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन हरिवंश ने किया, उसके समग्र तादिक चक्र-पूजादि वामाचार भी मानो फीके पड़ जाते हैं। उपरसेन व वसुदेव को नगर-रक्षा के लिए छोड़ कर समस्त यादव सहस्रो वेदयात्रा को लेकर लोकनाथ जनार्दन के साथ पिंडार-यात्रा पर गए। मदनोन्मत्त बलराम रेवती तथा सोलह सहस्र स्त्रियों के साथ-साथ सर्वदृक् गोविंद की जल-क्रीड़ा और रमण के चित्रों में^६ हरिवंश ने गोपी-कृष्ण-विहार की भाँति कृष्ण के दक्षिण नायकत्व, स्त्रियों के किञ्चित् भक्ति-भावना समन्वित ईर्ष्या-हीन प्रेम-भाव, परितृप्ति, प्रेम, गर्वादि के साथ अन्य विवरण भी दिये हैं^७। यह कुतूहल जनक बात है कि इस उद्दाम इन्द्रियोपभोग से परिपूर्ण वर्णन में

१. वे० वृत्तम स्कंध उत्तरार्द्ध, ६७, ८-१६

२. ताल रस के पान से अति मत्त भे बलराह ।

—सूरसागर (वे० प्रे०), पृ० १५०, पद ६८

और—

बावनी बल जूँ लोचन, बिहरत बन सज्जपाए ।

मगहूँ महा मजराज बिराजत, करनि-जूय सँग लाए ॥

तथा—

—सूरसागर (वे० प्रे०) पृ० ५८०, पद ३८

बावनी बलराम मियारी ।

—सूरसागर (वे० प्रे०) पृ० ५८० पद ३६

३. विष्णुपर्व, अ० ४१, श्लो० ५-१३

४. वही, श्लो० १४-३५

५. वही, अ० ४६, श्लो० २२, ४४, ४५,

६. वही, अ० ८८, श्लो०-८-१३

७. सर्वां सुरत चिह्नानिः सर्वां सुरत तपिताः ।

मात मुहुरत्ताः सर्वां गोविंदे बहुमानजम् ॥

अहमिष्टाऽहमिष्टेति स्निग्धे परिजनेतदा ।

नारायण स्त्रियः सर्वामुवासा इत्यादिरे शुभाः ॥

करजह्निज चिह्नानि कुचाभरमतानिताः ।

दृष्ट्वा दृष्ट्वा जह्निरेवर्षणे कमलेश्वाः ॥

एकापित मनो दृष्ट्वा नेष्ट्वा तादृचकिरणेना ।

नारायणेन देवेन तर्प्यमाण मनोरथाः ॥

—विष्णु पर्व, अ० ८८ श्लो० १५, १६, १७, २०

भी जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, कृष्ण के प्रति स्त्रियों की प्रेम-विवशता में शक्ति-भावका आभास दिखाई देता है। सूरदास की रास की गोपियों के समान कमल-लोचना, तनुवस्त्रावृत्त-रमणियों के साथ केलि करते हुए कृष्ण जिस स्त्री का जो भाव है उसके साथ उसी भाव से रमण करते हैं और सब स्त्रियाँ तदनु रूप भावों से भगवान को वश में करती हैं,^१ परंतु सूरदास के कृष्ण के भावमय शैलीक कृष्ण तथा सूरसागर के शत प्रति शत धार्मिक वातावरण से हरिवंश के शरीर-धर्म से आवद्ध कृष्ण एवं उसके ऐंद्रिय वातावरण में पर्याप्त भिन्न हैं। इस वातावरण में उत्तरोत्तर मग्नता एवं वीमत्सता बढ़ती जाती है और ऐंद्रिय भोग में भक्ति-भावना कुछ भी नहीं मिलती। सब यादव-कुमार स्त्रियों के साथ समुद्र के जल में जब स्वच्छन्द-क्रीडा में मग्न होते हैं, तब श्री कृष्ण अपने प्रभाव से पंचचूड़ तथा कुबेर और सहेंद्र की अपराधों को बूला कर नृत्य, गीत, अभिनय-आदि से उन्हीं के समान समस्त यादवों को प्रसन्न करने का आदेश देते हैं^२। इस उन्मत्त केलि-विहार^३ में कादंबिनी के मद में बुर बलराम ही नहीं, रेवती, सत्यभामा, सुगन्धा अर्जुन, गद-सारण, पूष्पम, साव, सात्यकि, चाखेण, निशठ, उत्सुक, अक्रूर, शकु-आदि के साथ स्वयं श्रीकृष्ण समिलित होते हैं^४। यहाँ तक कि एकांत-सेवी नारद भी नहीं बचते^५। स्वयं अग्रमेय भगवान कृष्ण महामुनि नारद का हाथ पकड़ कर सत्राजित की पुत्री (सत्यभामा) और अर्जुन के साथ सागर में कूदते हैं।

१. तनुवस्त्रावृत्तास्तन्व्यो लीलर्मत्यस्तथा पराः ।

चिक्रीडुर्वायुदेवस्य जले जलजलोचनाः ॥

यस्या यस्यास्तु यो भावस्ताता ते नैव केशव ।

अनुभविष्य भावज्ञो निनायात्म वश वशी ॥

मिलाओ—

—वही, श्लो० ३१, ३२

काम क्रोध में नेह घुहवता, काहू बिधि कहीं कोई ।

वरें ध्याम हरि को जो बुढकरि 'सूर' सो हरि तो होई ॥

—सू०सा० (बं० प्रे०) पृ० ३४० पद ६४

और—

भजै जेहि भाव जो मिलै ताहि ल्यो भेदभेदा नहीं पुरुष नारी ।

'सूर' प्रभु ध्याम ब्रज-जर्म आतुर-काम, मिलीं बन-धाम गिरिराज-नारी ॥

—वही पृ० ३४०, पद ६३

२. पृथगोच्छयः कृत्ताराणां प्रकाशं स्त्री गणैः सह ।

अल स्रक्जलं वीराः सागरस्य गुणाकराः ॥

पंचचूडां ततः कृष्णः कौबेरैश्च वराभसराः ।

माहेंद्रोश्चानयामास विष्वक्प्रेमं हेतुना ॥

क्रीडा युवत्यो नैमानां प्रविशन्ममज्ञिताः ।

मस्मिन्पार्थ वरारोहा रमयन् च यावदान् ॥

वशं यच्च गुणात्सर्वान्नुत्य गीतं रहं सु च ।

तथाऽग्निमय योगेषु बाह्येषु विविधेषु च ॥

एवं कृते विधास्यामिष्येयौ वामनसेपितम् ।

मच्छरीर समाहोते सर्वे निरवशेषतः ॥

—वही श्लो० ३६, ३६, ४१, ४२, ४३

३. वही, श्लो० ४६

४. विष्णु पर्व, अ० ८६, श्लो० १८-२१

५. वही, श्लो० २३

इस जल-श्रीडा को भी हरिवंश 'रास' नाम से अभिहित करता है^१। श्रीकृष्ण की आत्मा से समुद्र का खारी जल मधुर हो जाता है और उसमें सुंदर भ्रमर-सेवित कमल खिल जाते हैं तथा गौरी, माध्वी, पेंदी मंदिराग्रो से भरे कलश जल पर उतराने लगते हैं^२। इस पृष्ठभूमि में हरिवंश ने सत्यभामा, नारद और अर्जुन की जलश्रीडा का जो वर्णन किया है वह नभ, गहिर और अश्लील ही कहा जाएगा^३। निर्द्वंद्व और उन्मत्त केलि-विलास के उपरांत पवन मास, अम्ल फल, चूकि, दाडिम, बूल पर भुने हुए मास, मृगों के मास, घृत में तर किए मास-खट, कटुरस तथा पक्षियों से युक्त घृत, मैरेय, माधवी सुरा, आसव-आदि अनेक पदार्थ सब स्त्री-युग्म मिल कर खाते-पीते हैं। केवल उद्धव मास नहीं खाते और शाक एवं फल का आहार करते हैं^४। द्वारिका-वासी श्रीकृष्ण के इस आहार-विहार की परिणति गान, वाद्य और नृत्य में होती है, जिसमें सभी स्त्री-युग्म पूर्ववत् समिलित होते हैं। विशेष रूप में रमा, उर्वशी, हेमा, मिश्रकेयी, तिलोत्तमा और मेनका अपने-अपने नृत्य, गायन-आदि से श्री कृष्ण को प्रसन्न करती हैं। स्वयं श्रीकृष्ण नृत्य और मूरली-वादन, अर्जुन मुदग-वादन तथा नारद भीणा-वादन के द्वारा सबको आनवित करते हैं^५। श्रीकृष्ण के इस विलक्षण रास-विहार में वामभागियों की चक्र-भूजा से अद्भुत समता है। कदाचित ऐंद्रिय भोग-प्रवृत्त शाक्तों और तांत्रिकों को वैष्णवता की ओर आकृष्ट करने का यह भी एक उपाय किया गया था, जिसमें कालांतर में अलौकिकता और रहस्यात्मकता का समावेश होता गया।

यह विस्मयजनक है कि हरिवंश के राजवासी कृष्ण उपर्युक्त द्वारकावासी कृष्ण की भाँति उच्छ खल नहीं है। केवल 'रास' अथवा 'हल्लीस श्रीडा' के वर्णन में उन्हें शरद की मनोहर रात्रि में चंद्रकिरणों से पूर्ण बन को देख कर विहार की इच्छा करते हुए और गोप-युवतियों को प्रसन्न करते दिखाया गया है^६। हल्लीस-श्रीडा के इस वर्णन में बरागला, गोप-युवतियों को उत्तुंग, प्रयुल भग, कटाक्षपूर्ण नेत्र और रति-प्रियता में पति, माता, आत्मा-आदि की अवहेलना का उल्लेख तो है, परंतु पिढार-यात्रा जैसा ऐंद्रिय बातावरण नहीं^७। रास-मंडल में श्रीकृष्ण चक्रवाल से शोभित, शरद् ऋतु की चंद्रिका-वर्जित मनोहर रात्रियों में गोपियों के साथ श्रीडा करके अति प्रसन्न होते हैं^८।

१. रासावसाने त्वं गृह्य हस्ते महामूर्ति नारदमप्रमेयः ।

पपात कृष्णो भगवान्समुद्रे सात्राजितं ज्ञानुर्नैवचाय ॥

—बही, श्लो० ३०

२. बही, श्लो० ३३-३७

३. इतीदमुक्तवा भगवान्समुद्रं ततः प्रचिकीडसहायुर्नेन ।

सिखेच पूर्वं नृप नारदं तु सात्राजिती कृष्णमुल्लंगितम् ॥

—बही, श्लो० ३६

४. बही, श्लो० ५७-६५

५. बही, श्लो० ६७-७२

६. कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशिचंद्रमलौचनम् ।

शारदीं च निशां रम्यां मनश्चकोरितं प्रति ॥

—बही, श्लो० २०, श्लो० १५

७. विष्णुपर्व, अ० २०, श्लो० १५

और—

तावार्थमाया पतिभिर्भानुभिर्भानुमिलितया ।

कृष्णं गोपानगा राज्ञी मुग्धवर्ते रतिमियाः ॥

—बही, श्लो० २४

८. एवं स कृष्णो गोपीना चक्रवालैरलंकृतः ।

शारदीषु सचंद्रासु निशासु मुमुक्षे सुखी ॥

—बही, श्लो० ३५

श्रीकृष्ण के अतिरिक्त हरिवंश में शिव और पार्वती की भी विहार-श्रीडा का वर्णन है, जिसमें गवर्ध-पतिव्रो सहित सैकड़ों अप्सराओं के विहार, नृत्य, गायन, वादन-आदि का उल्लेख है, परंतु पिडार-यात्रा के समान विशद और विस्तृत रूप में नहीं। फिर भी चित्रनेत्रा के साथ शिव-रूप में उनके पापदों की एकांत-श्रीडा और उसे देख कर अप्सराओं के 'किलकिला' शब्द करके हँसने का वर्णन वामाचार की कोटि का ही है^१। हरिवंश के अन्य घोर शृंगारी वर्णनों में उपा-अनिरुद्ध के सयोग और गवर्ध-विवाह का वर्णन भी उल्लेख-योग्य है^२।

हिंदी-कृष्ण-काव्य की राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण लीलाओं में शृंगारी वर्णनों की प्रचुरता है, तथापि जितनी नम्रता और निर्लज्जता हरिवंश में मिलती है, उतनी उन वर्णनों में नहीं मिल सकती। दूसरे हिंदी-कृष्ण-काव्य के शृंगारिक-भाव केवल श्रीकृष्ण में सीमित है, उनके अंतर्गत सखा भी उनकी शृंगारिक लीलाओं की छाया तक नहीं छू पाते। स्वयं श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में बारंबार दुह्राकर ही नहीं, सूक्ष्म दृष्ट्यात्मक सकेतो-द्वारा अलौकिकता की गूढ व्यञ्जना की गई है तथा समस्त वातावरण उस अमिर्वचनीय व्यक्तित्व के प्रति भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। सूरदास ने तो गोपी-कृष्ण लीला की प्रतीकात्मक व्याख्या भी दे दी है^३। इसके विपरीत हरिवंश में श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार कहने के अतिरिक्त उसमें किसी प्रकार की अलौकिकता की व्यञ्जना नहीं की गई, वरन् उनके समस्त क्रिया-कलाप सर्वथा पार्थिव और घोर ऐंद्रिय रूप में उपस्थित किए गए हैं। हिंदी-कृष्ण-काव्य में परमानंद-रूप श्रीकृष्ण की सुख-श्रीडा का वर्णन होते हुए भी हम उससे उस अर्थ में भोगपूर्ण नहीं कह सकते। हरिवंश की भाँति उसमें कहीं मास, मदिरा, वेश्या समितितरमण-आदि वीमत्सु दृश्यों का उल्लेख नहीं है। फिर भी कृष्ण और राधा की नम्र तथा किसी अर्थ में तथाकथित अदलील रति-श्रीडाओं के वर्णन का सूत्र हरिवंश के उपर्युक्त वर्णनों से जोड़ा जा सकता है।

हरिवंश-वर्णित गोपियों की केलि-श्रीडा रास-विहार तक ही सीमित है और उसका भी जैसा कि हम देख चुके हैं, अत्यंत सक्षेप में वर्णन है। हिंदी-कृष्ण-काव्य के रास-विहारी कृष्ण की उपर्युक्त पिडार-यात्रा के कृष्ण से अश्वत्थ समानता प्रतीत होती है, परंतु इस केलि-विहार में कृष्ण के दक्षिण नायकत्व और गोपियों की रतिनायक मान-मनुहार का सूत्र नहीं मिलता। इसका सूत्र हमें पारिजात-मुष्ण के सवय कृष्ण में सत्यमामा और कृष्ण के मान-मनुहार में मिल सकता है^४। सत्यमामा के मान-कोप से अभ्यभीत कृष्ण अत्यंत चाटुकार और स्त्रैण रूप से चित्रित किए गए हैं। सत्यमामा का खोफ उन्हें भस्म किए देता है, जिसके कारण वे अपने प्राणों की क्षय लेंकर उसकी आज्ञा-पालन के लिए उद्यत होते हैं^५। सत्यमामा खडिता गोपियों की भाँति^६ उन्हें धूर्त, छली, चंचल, जन-वचक, घोर के समान प्रवृत्त,

१. वही, अ० ११७, श्लो० १-१२

२. वही, अ० ११८, श्लो० ७०-७७

३. सू० सा० (बै० प्रे०) पृ० २६३-२६४

४. विष्णु पर्व, अ० ६३-६७

५. दहतीवममांगानि शोकः कमललोचने ।

किमुतकारणं येन त्वमेवमिति विक्लवा ॥



शायितार्तास मय प्राणौराजकवानत्ययो यदि ।

श्रोतव्यं यदि भक्त्येन सर्वा सर्वाणि शोभने ॥

—वही, अ० ६७ श्लो २, ३

६. सुरसागर (बै० प्रे०) खडिता-समय, पृ० ३७२-३८१

वाणी मात्र से मधुर, अठ-आदि अनेक प्रेमयुक्त दुर्वचनो से धिक्कारती है^१। श्रीकृष्ण नाना-प्रकार उससे अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करके पारिजात-पुष्प के स्थान पर समूचा पारिजात-वृक्ष लाने का वचन देते हैं^२। मत्स्यभामा को प्रसन्न करने के लिए ही उन्हें ज्येष्ठ भ्राता महेंद्र से युद्ध करना पड़ा।

सूरदास की सड़िता गोपियों के दक्षिण नायक कृष्ण का किंचित् रूप यहाँ मिल जाता है, परंतु हरिवंश के कृष्ण के इस कार्य की सूरदास के दक्षिण नायक कृष्ण की भाँति भक्ति-परक आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती।

हिंदी कृष्ण-काव्य की भाँति हरिवंश में विष्णु अथवा कृष्ण-भक्ति को एकात्मिक धर्म नहीं बताया गया और न योग, यज्ञ, जप, तप-आदि की विगर्हणा की गई, अपितु उसमें उपवास, व्रत, तप, दान-आदि धर्माचरण का नियमित विधान किया गया और सदाचार की महत्ता बताई गई है। इस मन्त्र में यह एक रोचक बात है कि धर्माचरण का विधान विधेयतया स्त्रियों के लिये और मदाचरण का माप भी उन्हीं से संबंधित रखा गया है। हरिवंश में अनेक स्थलों पर स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म की प्रशंसा की गई है। पार्वती के द्वारा अरुचती को सुनाई उपवास, व्रत, दान- हुई 'पुण्यक व्रत' की कथा में बताया गया है कि असती स्त्रियों-द्वारा दिया हुआ दान, आदि धर्माचरण उपवास, पुण्य-आदि सुकृत तथा पुण्य-फल को नहीं प्राप्त होती, वरन् नरक-गामिनी होती है^३। ऐसी स्त्री का प्रायश्चित्त भी नहीं होता। सहस्र कल्पांतर में भी उसकी गति नहीं होती और वह तिर्यक् योनि पाती है। यदि किसी प्रकार मनुष्य-योनि भी मिली तो वह कुते का भोजन करने वाली चांडाल-योनि में जन्म लेती है^४। व्याधि-युक्त, पतित, दीन अथवा कैमा भी पति क्यों न हो उसका त्याग करना उचित नहीं है; यही सनातन धर्म है। अकार्य करने वाले, पतित, गुणहीन पति को भी साध्वी स्त्री अपने साथ तार ले जाती है^५। स्त्रियों का देव सदा पति ही है; जिसका भर्ता उसने प्रसन्न है वही स्त्री सती है^६। पुण्यक-व्रत का विधान भी मन, वचन और कर्म ने पातिव्रत को बृद्ध करने के ही निमित्त है। पतिव्रत और पति-भक्ति से संबंधित उपर्युक्त विचारों से गोस्वामी जी के तत्संबंधी विचार अत्यंत साम्य रखते हैं^७, परंतु गोस्वामी जी का दृष्टिकोण हरिवंश की अपेक्षा अधिक कठोर और अपरिवर्तनवादी है। वे किसी भी दशा में स्त्री के दुराचरण को सहन नहीं कर सकते। इसके विपरीत हरिवंश में जनमेजय की स्त्री वसुपुत्रा के विषय में जो छली श्वर के साथ व्यभिचार-दोष से दूषित

१. विष्णुपूर्व, अ० ६७, श्लो० २२-२६

२. वही, श्लो० २८-३२

३. वही, अ० ७८, श्लो० ५, ६

४. वही, श्लो० ११, १३, १४

५. व्याधितः पतितोवापि दीनोवापि कथंचन ।
न त्यक्तव्यः स्त्रिया भर्ता धर्म एष सनातनः ॥
अकार्यं कारिणं वापि पतितं वापि निर्गुणम् ।
स्त्री पतिं तारयत्येव तथात्मानं शुभानने ॥

—वही, श्लो० ६, १०

६. भर्ता देवः सदा स्त्रीणां सद्बुद्धस्तपोधने ।
यस्या हि पुण्यते भर्ता सा सती धर्मेचारिणी ॥

—वही, श्लो० १५

७. बृद्ध रोग वस जड धन हीवा । अंध वधिर कोपी अति दीन ।
ऐमेव पति कर किए अपमान । नारि पाव जमपुर दुख नान ।
एक धर्म एक व्रत नैमा । काय अचन मन पति पव प्रेमा ।

—रामचरितमानस आरण्यकांड, दोहा ४, चौपाई ४-५

भी, कहा गया है कि वह पाप-रहित है और त्यागने के योग्य नहीं है। अपापा स्त्री को त्यागने से वह शाप लेती है। भद्रुष्ट और विरोधित दिव्य स्त्री को त्यागना नहीं चाहिए^१। स्त्री भानु की प्रभा, अग्नि की विद्या, होता की वेदी है। स्वयं उसकी इच्छा के बिना भोगी हुई स्त्री दूषित नहीं होती। विद्वानों को सबैव उनका ग्रहण, सत्कार और पूजन करना चाहिए। शीलवती स्त्रियाँ नमस्कार योग्य और लक्ष्मी के समान पूजनीय हैं^२। स्वयं अनभेद्य इस स्त्री को त्याग देना चाहता था, क्योंकि उसके विचार से ऐसी स्त्री को ग्रहण करने से मनुष्य न तो मोक्ष में स्वाद ले सकता है और न सुख की नीद सो सकता है। अतः ऐसी स्त्री कुत्ते की छुई हुई हवि के समान त्याग है^३। जनमेजय के इस विचार को बदलने के लिये ही गवर्धराज विष्णुदेवसु के मुख से उन्मुक्त व्यवस्था दिलाई गई। काशिराज की पुत्री वपुष्टमा का दोष इस लिए सार्जनीय था कि वह वस्तुतः रत्ना नामक अप्सरा थी जिसके साथ इन्द्र ने मृत घोड़े में प्रवेश करके इस लिए भोग किया था कि वह जनमेजय के यज्ञ-फल-त्याग करने के कारण उससे डर गया था। नहीं तो वह अपने पौत्र की भार्या के साथ ऐसा व्यवहार कभी न करता^४। सामान्यतया स्त्रियों के सबंध में हरिवंश के विचार मध्ययुगीन हिंदी के भक्त-कवियों, विशेषतया गोस्वामी तुलसीदास के विचारों से अधिक उदार कहे जायेंगे। वस्तुतः हिंदी के सभी भक्त-कवियों ने तारी को काम-प्रवृत्ति का प्रतीक मान कर अपने वैराग्यपूर्ण विचारों के अनुरूप उसकी कटु आलोचना की है। इसी कारण मनुष्य को सचेत करने के लिये विरक्त साधु गोस्वामी तुलसीदास ने स्त्री के सामान्य भ्रवणों पर इतना जोर दिया है। हरिवंश तथा पुराणों के प्रवृत्ति-मार्ग से इसका अंतर स्पष्ट समझ में आ जाता है।

स्त्री के लिये पातिव्रत सबसे बड़ा धर्म है और पति-सेवासबसे बड़ा कर्म; परन्तु यदि किसी स्त्री में तन-मन से यह धर्म-कर्म न बन सके तो उसके लिए हरिवंश ने साधनरूप 'पुण्यक व्रत' का विधान किया है। शरीर और मन की शुद्धि के जिन विविध उपायों का उल्लेख किया गया उसमें पति की सेवा के साथ स्वसुरादि गुणों की सेवा भी समिलित की गई है^५। इस व्रत में स्नान, ध्यान, उपवासदि धर्म-कृत्यों में ब्राह्मणों को शक्ति-शक्ति की दान-दक्षिणा देने का बड़े विस्तार से विधान है। दान में देने योग्य सामान्य वस्तुओं की सभी सूची में मोहन की समस्त सामग्रियाँ, शक्ति-शक्ति के वस्त्राभूषण, बहु-मूल्य धातुओं की देव-प्रतिमाएँ तथा गृह, नखन आदि समिलित किए गए हैं। इस सूची में भर्ता के कते सून के वस्त्र और स्वयं के कते सून का विधान रोजक है। दान के सबंध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कोई भी दान पति-भ्रात्रा के बिना नहीं करना चाहिए^६। विशेष फलों की प्राप्ति के लिये विशेष-विशेष दान भी बताए गए हैं। उदाहरणार्थ ललाट को सुंदर बनाने के लिये चाँदी का वस्त्र, भू की सुंदरता के लिए पके फल, सोने के उर्द, दक्षिणा, लवण, घृतपात्र, कानों के सौंदर्य के लिये घी और दूध में डाल कर सोने के कान, नेत्रों की मृग के समान बनाने के लिए कमल-पत्र से अंकित दुग्ध-पात्र, ओष्ठ की सुंदरता के लिए मृग, दाँतों को साल वर्ण करने के लिए दूध में डाल कर चाँदी के दाँत, मुख के सौंदर्य के

१. भविष्यपर्व, अ० ५ श्लो० २५-३८

२. भानोः प्रभा विद्या बल्लोर्वेदी होवे तथामृतिः ।

परामृष्टाऽप्यसंस्कृतानोपबुध्यन्ति योषितः ॥

प्राह्मण सालयितव्याश्च पूज्याश्च सततं बुधैः ।

शीलवत्यो नमस्कार्याः पुण्याः श्रिय इवस्त्रियः ॥

—बही, श्लो० ३६, ४०

३. न स्वाहु सोऽन्ननाति नरः सुखं स्वपितिवारहः ।

अन्वास्तेयः प्रिया भार्या परेण मुक्तिमिह ॥

पुनर्नैवोपि भुजंति स्वावलीढं हविर्वयम् ॥

—बही, श्लो० २३, २४

४. बही, श्लो० २५—३८

५. विष्णुपर्व, अ० ७८, श्लो० १९-२५

६. बही, अ० ७६

लिए चाँदी का चद्रमा, स्तनो को तालफल के समान बनाने के लिए दक्षिणा सहित सोने के दो बेल, उदर-शीणता के लिए फूल-युक्त जाति लता, हाथों के लिए दो सुवर्ण कमल, ओंघों के लिए लवण तथा प्रजापति के मुख के आकार की स्वर्ण-प्रतिमा, पूर्ण-रत्न और लाल वस्त्र, बाणी के लिए दक्षिणा सहित लवण, गुल्फ को शूढ़ और शिर-चरण को सुंदर बनाने के लिए बृत्त में स्थापित चाँदी के दो कच्छप और स्वर्ण के दो कमल तथा नवग्रहों को गुणी बनाने के लिए स्वर्ण का वृक्ष और सोने का दीपक दान करने का विधान किया गया है। इन दान-दक्षिणादि के साथ अनेक प्रकार के व्रत, उपवास आदि धर्म-कर्मों का भी आदेश है। उदाहरणार्थ भोजन में शाक, तुलसी-फल, उत्पादिका वजित है। गंगा-स्नान का भी विशेष माहात्म्य है।

हरिवंश के उपर्युक्त धर्म-कर्म के विधानों के विपरीत हिंदी कृष्ण-काव्य में कृष्ण और राधाकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त सब प्रकार की पूजा, व्रत, यज्ञादि का स्पष्ट प्रत्याख्यान मिलता है। कृष्ण-भक्ति-संप्रदायों में नाना प्रकार की भोग-सामग्रियों को कृष्ण की सेवा में ही नियोजित करने की व्यवस्था है। अतः प्रकारांतर से उसमें भी दान का माहात्म्य है, यद्यपि काव्य में इस प्रकार के विवरण नहीं मिलते। भोग-सामग्रियों में सुरदासजी ने केवल नाना-प्रकार के शाक और अन्न-भोजनों की लवी-सवी सूचियाँ दी हैं। तुलसीदासजी का दृष्टिकोण इस सब में किंवदंति मिल है। उन्होंने भक्ति के साधन अथवा अंग रूप में जप, तप, व्रत, दानादि की महत्ता को तो स्वीकार किया, किंतु भक्ति के अतिरिक्त उनके किसी इतर फल का प्रयोग नहीं दिया। उन्होंने न तो दानादि के विस्तार दिए और न भोग-सामग्रियों को ही अपने वैराग्य-पूर्ण भक्ति-मार्ग में सम्मिलित किया।

हरिवंश के साथ हिंदी के वैष्णव-काव्य की कृष्ण और राम-भक्ति-धाराओं की तुलना से यह स्पष्ट विदित होता है कि किस प्रकार ये दोनों भक्ति-धाराएँ पुराणों के समान स्रोत से विकसित हो कर भी अपना अलग-अलग स्वरूप सुरक्षित रख सकी। जहाँ एक ओर सुरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने पुराणों के ऐंद्रिय भोग को, सुख कल्पना, तीव्र भावना और आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा, भौतिक और रहस्यात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया और श्री कृष्ण की एकात्मिक भक्ति में सासारिक फल देने वाले किसी देवी-देवता की पूजा तथा व्रत, जप, तप आदि बाह्यकारों को कोई महत्व नहीं दिया, वहाँ दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदास ने वैष्णव-प्रचार के चतुर पौराणिक ढंग को और अधिक चतुराई के साथ प्रयुक्त करके वैष्णव पुराणों के समन्वय जैसे दृष्टिकोण में समन्वयात्मक प्रतीति की और अधिक वृद्धि कर दी, पुराणों के व्रत, तप, दानादि को भक्ति का ही अंग और साधन बना कर उनके सासारिक फल का निराकरण कर दिया, एक पुराणों के भोगवाद के स्थान पर वैराग्यवाद की प्रतिष्ठा कर दी।

कृष्ण और राम-भक्ति की धाराएँ स्वरूप में भिन्न होते हुए भी अनेक बातों में समान हैं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों ने पौराणिक वैष्णव मतवाद को अपने-अपने ढंग से भोग से वैराग्य, पाषण्डता से अलौकिकता, स्थूलता से सूक्ष्मता तथा अनेकता और विशृंखलता से एकता और व्यवस्था की ओर उन्मुख करने में अतीव सहायता पहुँचाई। उसमें सदेह नहीं कि हिंदी की इन काव्य-धाराओं को उनकी भक्ति-भावना के प्रतिपादक आचार्यों से अव्यधिक प्रेरणा और सहायता मिली, फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन काव्य-धाराओं के प्रतिनिधि सुर और तुलसी की विचार-धारा में मौलिकता ही विशेष है। गोस्वामी तुलसीदास की अमर रचना तो इस दृष्टि से एक स्वतंत्र वैष्णव धर्म उपस्थित करने वाला भाषा-धुराण ही कहें जा सकती है, जिसमें पुराणों की वैष्णव अद्वैतता और समन्वयवाद की धर्म परिणति पर पहुँचाया गया तथा वैष्णव धर्म को न केवल पुराणों के स्थूल भोगवाद से, अपितु कृष्ण-भक्ति के सूक्ष्म, आध्यात्मिक, भौतिकीय, किंतु अभावहीन भोगवाद से बचाने का भी उपक्रम किया गया। कृष्ण-भक्ति काव्य में तान्त्रिक वामाचार जैसी उद्देगजनक क्रियाओं को जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति में सम्मिलित करके उनका दैवीकरण और भौतिकीकरण किया गया तथा सासारिक सिद्धियों के हेतु किए जाने वाले जप, तप आदि बाह्यकारों की निंदा की गई उसके लिए ये कवि भी कम सराहनीय नहीं हैं।

रूप-रसिक जी की वाणी

धमार

हो घनस्यामि, भरी जिन मो तन, चोवा छिरकन भोरे ही ।
अपने रंग मिलायी चौहल, सहत नाहि कहु गोरे ही ॥
जानति हो पछितावत ही मन, लखि मो भ्रंगन भोरे ही ।
'रूपरसिक' बिषना के सारे लबैन होत बरजोरे ही ॥

राग-काफ़ी

दुरि-भुरि खेल कहा यै खेलत, खरे रहौ नैक सनमुख बोज ।
हम हूँ निरखि सकै छबि नैलुक, छैल कहावत निज मुख बोज ॥
असि बलि भूमिलाषत हूँ सबही, होत बनें नाहि सनमुख बोज ।
'रूपरसिक' पै होइ रपबई, रूप रहै पदरेन मुख बोज ॥

प्यारे, हैम नहि खेलें होरी ।

हो-हो करत, भरत ही श्रावत, बिखरावत बरजोरी ॥
नए खिलार लाबिले, मुख पै लै लपटावत रोरी ।
'रूपरसिक' ई जानि परी भव, देखत हूँ सब गोरी ॥

राग-सारंग

स्याम-धन-सन चवन छवि देत ।

देखौरी, देखौ अति अदभुत, चितै चुराएँ लेत ॥
मनो मंजु मनि नील सैल पर, खिली चंदनी सेत ।
कै सीतर ते बाहर प्रगट्यौ, प्राण-प्रिया कौ हेत ॥
नहि समान पटतर दैके कौ, उपमा भ्रान प्रचेत ।
'रूपरसिक' रस उपजा मन मनु भीम कैत कौ लेत ॥

जलि, वा कवेम-कुंज कौ श्रोत ।

यै देखौ धन छाड़ रह्यो बन, करत न चहुँ दिस कोट ॥
अब न सोंहरि है तब कहा करि हूँ, परि हूँ पानी-श्रोत ।
'रूपरसिक' हूँ जहँ ततछिन, भ्रम-भ्रम सबगरोट ॥

राग-मलार

स्यामघन, उमगि-उमगि इत भाव ।

जीट, मुकुट, कुंडल, पीतांबर, मनु दामिनि दयकार्य ॥
भोतिन-भास लसत उर-ऊपर, मनु बग-भाति लपार्य ।
मुरखो-गरज मनोहर घुनि घुनि, लबैन मोर सजुवार्य ॥
हम पै कृपा करो हरि भाग्यो मोर-नेह-सर लपार्य ।
'रूपरसिक' यै सोभा मिरखत, तन, मन, मन निराव्य ॥



नित-प्रति एक ही रहत, बैस-बरेन-सन एक ।
 बहियतु सुगल किमोर-जसि, मोचन सुगल अनेक ॥
 —विहारी

हिंदी साहित्य में राधा-कृष्ण की भावना का विकास

श्री रामप्रसाद चट्टोपाध्याय

कृष्ण और राधा भारतीय जीवन में अति प्राचीन काल से विद्यमान हैं, किंतु जिस प्रकार वीज से वृक्ष का विकास, बर्द्धन और परिवर्तन अवस्थानुकूल होता रहता है उसी प्रकार कृष्ण और राधा की भावना का भी वीज तो वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में विद्यमान है, पर उसका स्फुटन, विकास, बर्द्धन, परिवर्तन आगामी युगों में क्रमशः सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल होता चला आ रहा है। हिंदी (ब्रज) साहित्य तथा साधना के क्षेत्र में यह धारा संस्कृत-साहित्य तथा भक्ति के आचार्यों से होकर आई है, इसलिए हिंदी के क्षेत्र में उसका स्वरूप समझने से पहले उसके पूर्वरूप से परिचित हो जाना नितांत आवश्यक है।

वेदों में 'सु'-श्लोक का अधिष्ठाता देवता आदित्य था। मध्य-श्लोक और भू-श्लोक का इद्र था। आदित्य अपने प्रकाश तथा ताप से सृष्टि को जीवन देता था। ताप से वृष्टि होती थी। वृष्टि से वनस्पति, अन्न, फल, फूल उत्पन्न होते थे, जिस से गाय, पशु, मनुष्य आदि सब प्राणी जीवित रहते थे, किंतु वृष्टि का सवध मध्य-श्लोक तथा भू-श्लोक से ही विशेष कर समझा जाता था, इसलिये इद्र वृष्टि, वनस्पति, व्रजभूमि और जीवन की लाघ सामग्री का देवता-‘राधाना पति’ हो गया^१। आदित्य अश्वकार को प्रकाश-द्वारा दूर करता था। हेमंत और शिशिर की ठिठुरी हुई पृथ्वी में प्रकाश के कारण वसंत में जीवन आ जाता था। इसलिये जीवन-भरण के दुःख को दूर करने वाले देवता ‘विष्णु’ का उदय हुआ जो आदित्य का भी देवता समझा जाने लगा और ‘सूर्यलोक’ से भी परे ‘गोलोक’ में उसका निवास माना जाने लगा^२। धीरे-धीरे इस विष्णु का यह महत्व इतना बढ़ गया कि इद्र को लोग भूल से गये^३। अब अन्य देवताओं की कथाएँ भी विष्णु से सबद्ध होने लगी और विष्णु ही ‘त्रिविक्रम विवस्वत’, ‘भुवनस्वराज’ और ‘राधानापति’ हो गये। सूर्यलोक के अतिरिक्त व्रजभूमि में भी उनकी ‘गो-मडली’ समझी जाने लगी। वे व्रजभूमि के गोपति हो गये^४। ऐतरेय-ब्राह्मण में विष्णु सब देवताओं में श्रेष्ठ हो गये^५। राधाना पति की भावना के इस विकास के अनुकूल ही राधा का अर्थ अब अन्न-वनस्पति के स्थान पर संपत्ति (श्री, लक्ष्मी) लिया जाने लगा^६। तत्सारीय आरण्यक में विष्णु एक प्राचीन ऋषि नारायण में समाहित हो गये और पांचरात्र-धर्म में उनकी पूजा होने लगी। बाद की यह सब भावनाएँ एक देवता वासुदेव में मिल गईं, जिसकी पूजा पाणिनि के

^१ अग्नी प्रास्तावृत्ति सभ्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जामते वृष्टिर्बृष्टिरन्नं ततः प्रजा ॥

—मनुसंहिता

“अस्मा अवमधवन् गोमतिं व्रजे । यत्र गावो भूरिभृङ्गा अयासः ।

स्तोत्रराधानापते गिवाहो वीर यस्तते ॥”

—ऋग्वेद ५।६।४६।१३

^२ शतपथ ब्राह्मण — १।५।३।१४,

^३ शतपथ ब्राह्मण — १।६।३।१०

^४ व्रजं च विष्णुं सचिवा अपोरुति । —ऋग्वेद

^५ के० ऐम० मुंशी—‘गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर’ १२६-१२७,

^६ डा० बी० के० गोस्वामी—‘भारती कल्ट इन् इन्स्ट इंडिया’ पृ० ४०-४-६

(ई० पू० समय ५०० शताब्दी) में जनसाधारण में प्रचलित थी^१। पतञ्जलि ने अपने भाष्य में 'विष्णु' और 'वासुदेव' कृष्ण में कोई अंतर नहीं रखा है। इसलिये पतञ्जलि के समय (१५० शताब्दी ई० पू०) से पहले ही विष्णु की भावना वासुदेव कृष्ण में मिल गई होगी^२। पाचरात्र-धर्म महाभारत के नारायणीखंड से ही^३ गीता की 'भक्ति' के पश्चात् विकसित हुआ,^४ क्योंकि उसमें ऐसी बातें आ गई हैं जो गीता और अर्थशास्त्र में साधारण रूप में हैं। गीता में वासुदेव की गिनती वृष्णिगो में हुई है, अर्थशास्त्र में सकर्षण का उल्लेख है, किंतु वहाँ उसका यह महत्व नहीं है जो पाचरात्र में। पाचरात्र में प्रबुद्ध, अनिरुद्ध, सकर्षण और वासुदेव चारों 'व्यूह' माने गये हैं। गीता की रचना 'गौतम युद्ध' के बाद हुई^५ और अर्थशास्त्र का समय ई० पूर्व चार सौ माना जाता है। गौतम ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में विद्यमान थे। अस्तु, पाचरात्र-धर्म का विकास ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी के बाद हुआ होगा, वासुदेव की पूजा पाणिनि के समय ५०० शताब्दी ई० पू० में जनसाधारण में प्रचलित थी। वासुदेव की गिनती गीता में वृष्णिगो में हुई है। वृष्णि, भंडारकर के अनुसार, 'यादव' या 'सात्वत-वंश' का नाम था और वासुदेव इसी वंश में ईसा-पूर्व सौ में एक महान् व्यक्ति हुए, जिन्होंने ईश्वर के एकत्व का प्रचार किया। मृत्यु के बाद स्वयं वे ही भगवान् वासुदेव-रूप से पूजे जाने लगे^६। भगवान्-रूप में उनकी पूजा ईसा-पूर्व पांच सौ और छ सौ के बीच प्रचलित हो जानी चाहिए। ५०० शताब्दी ई० पू० में तो जनसाधारण में भी उनकी पूजा प्रचलित हो गई थी, कदाचित् भगवान् शब्द गौतम के नाम के साथ, 'भारविजय' की उस कल्पना के कारण जो कि प्राचीन आदित्य भाग के अश्वकार और प्रकाश के बीच के युद्ध का ही प्रतीकात्मक रूपांतर थी—तब तक बुझ गया था और गौतम के इस गौरव-प्रदर्शक शब्द से वासुदेव धर्मावलंबी भी अपने महान् व्यक्ति को गौरवान्वित करना चाहते थे। आदर-प्रदर्शक शब्दों का इस प्रकार लिया जाना एक साधारण सी बात है, किंतु इन वासुदेव के साथ भगवान् के अतिरिक्त कृष्ण शब्द भी प्रयोग में आता था। वासुदेव से इस शब्द के संयोग होने के दो कारणों की संभावना बतलाई जाती है। पहले तो यह कि कृष्ण एक वैदिक ऋषि थे, जिन्होंने ऋग्वेद के अष्टम मंडल की रचना की थी। छांदोग्य उपनिषद् में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में आते हैं। ऋग्वेद के समय से छांदोग्य उपनिषद् के समय तक कोई जन-श्रुति (कृष्ण-मवधी) बली आती होगी। इसी के आधार पर प्राचीन कृष्ण का साम्य वासुदेव से तब हुआ होगा जब वे देवत्व के पद पर अभिषिक्त हुए होंगे। दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि जातको की गाथा के भाष्यकार के अनुसार कृष्ण एक गोत्र (जिसका पूरा नाम कृष्णायन है) का नाम है। वासुदेव इसी गोत्र के क्षत्रिय थे, इसलिये वे वासुदेव कृष्ण कहलाये^७।

वासुदेव कृष्ण के साथ विष्णु-नारायण की भावना तो पतञ्जलि के समय के पूर्व ही मिल चुकी थी, किंतु गोपाल-कृष्ण की भावना संभवतया ईसवी की पहली और तीसरी शताब्दी में बीच के आभीरो के देवता गोपाल कृष्ण के कारण आई। महाभारत में आभीरो का उल्लेख इधर-उधर घूमने वाले गोपालों के रूप में हुआ है। संभवतया सन् १५० ई० के पूर्व में आभीरो ने पनाव के कई अशो पर अधिकार कर लिया था। सन् १९१ ई० के अथर्वसंहिता के लेख से पता चलता है कि उनके प्रधान सेनापति रुद्रभूमि आभीरी थे। फिर सन् ३०० ई० के नासिक के गुफा-लेख से पता चलता है कि उन दिनों वहाँ नरपति ईश्वरसेन (जो शिवदत्त के पुत्र थे) का राज्य था।

१. के० ऐम० मुशी—'गुजरात एण्ड इंड्स लिटरेचर' पृ० १२६-१२७

२. इंडियन इन्टीकबेरी-३-१६, जनरल आर्चर रायल एशियाटिक सोसायटी स० १९०८, पृ० १७२,

३. डा० आर० सी० मनुमदार—रिलीजियो फी लोफिक क्लचर आर्च इंडिया,

४. विश्वनाथ—रोसियल सोन्येसीस आर्च हिंदू-कलचर, पृ० २००

५. भंडारकर—वैष्णविज्ज, शोचिज्ज एण्ड भदर रिलीजियस सिस्टम्स पृ० ३, एफ डा० मैकनिक्कील

६. इंडियन योड्ज्म पृ० ७६ ८, इंडियन योड्ज्म पृ०-३३,

७. हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५६६,

३६० ई० के समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले स्तम्भ-लेख से पता चलता है कि आभीर एक शक्तिशाली जाति थी और उसका अधिकार समूचे राजस्थान पर हो गया था^१। ये आभीर गोपालकृष्ण के उपासक थे और सम्भवतः अपने साथ त्राइस्ट शब्द भी लाये थे। फलस्वरूप बामुदेव-कृष्ण और गोपाल-कृष्ण को एक कृष्ण में मिल जाने में देर न लगी^२।

दार्शनिक विकास के साथ विष्णु की भावना में भी अत्यधिक विकास हो चुका था, जिसके फलस्वरूप उपासना के लिये भी एक दृढ़ आधार मिल गया था। उपासना-मदति शब्द अधिक कठिन न रह गई थी, किंतु अभी मनुष्य के हृदय को विद्वत्ता से भर देने के लिये विष्णु को मानव-रूप देने की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही अवतार की भावना का उदय हुआ। महाभारत में विष्णु अवतार धारण कर दिव्य शक्तिशाली नीतिज्ञ कृष्ण के रूप में जनसाधारण के सामने आते हैं। प्रेम-प्रवण और नीति-निपुण कृष्ण की ओर दृष्टिपात करते ही जन-समुदाय के हृदय में प्रेम और विश्वास एक साथ जागरित हो गया। कृष्ण ने जनता के हृदय के कोमल-तनुओं का ही स्पर्श नहीं किया था, उनके हृदय में अपने द्वारा सुर-त्व की दृढ़-भावना भी बढमूल कर दी थी। कृष्ण के प्रेम में जनता ने अर्जुन के समान ही अपने आप को मुरझित समझा। ईसा के चार सौ वर्ष पहले 'चंद्रगुप्त मौर्य' की समा में रहने वाले यवन राजदूत मेगास्थनीज ने जिस 'हिरेक्लीज' (हरि-कृष्ण) को उन 'शौरसेनियों' का उपास्य देव बताया था, जिनके देश में मथुरा नगरी अवस्थित है और यमुना प्रवाहित होती है, वह कृष्ण ही था। पाचरात्रों के कारण यह ऐकात्मिक धर्म (जिसका प्रवर्तन समस्त बदरिकाश्रम में हुआ था) पाचरात्र और सात्वतो के कारण सात्वत-धर्म कहलाया। नारायण के साथ एकत्त्व होकर कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे, इसलिये वह वैष्णव-धर्म कहलाया। इनके भगवान या भगवत् कहलाने से इस धर्म की 'भागवत' सजा भी हुई। ईसा के १४० वर्ष पूर्व तक्षशिला के यवन राजा, 'एटिआल्काइडस' का राजदूत, 'डिओस' का पुत्र 'हेलिओडोरस' जो विदिशा के राजा 'काशिपुत्र भगवद्र' की समा में रहता था, भागवत था। उसने 'देवदेव बामुदेव' का गरुडध्वज स्तम्भ बनवाया था जिस पर उसने अपने आप को स्पष्टतया 'भागवत' लिखा था। 'गुप्तराजकुल' जिसका समय चौथी से आठवीं शताब्दी तक है, वैष्णव था। गुप्त राजा अपने आपको 'परम भागवत' कहा करते थे। उनके सिक्के तथा विहार, मथुरा और मिटारी के उनके शिलालेख इस बात के साक्षी हैं^३।

दक्षिण भारत में भागवत तथा पाचरात्र-धर्म पहिली सदी ईसवी में जनसाधारणके जीवनमें व्याप्त था, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। तामिल सापा के प्रकाश पंडित महामहोपाध्याय 'स्वामीनाथ अय्यर' ने प्राचीन तामिल कवियोंकी कविताओं का एक संग्रह 'परोपदल' प्रकाशित किया है। उसमें 'इलम पेखवि' 'कडुवन इलवैयिनन', 'किराडेन्यर' और 'नल्लेनुनेयर' आदि चार कवियों की विष्णु-भक्ति की कविताएँ हैं, जिनमें पाचरात्र-गूना-विधान तथा कृष्ण की बाललीलाओं का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इन कवियों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है^४। इसलिये यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति और पाचरात्र-धर्म दोनों ही ईसवी सन् १०० से पहले ही घूर दक्षिण मधुरा तक पहुँच गए थे^५। फिर 'बोलमडल' (कारामडल) तट पर बेंगी के पल्लवों के शिलालेखों से पता चलता है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पल्लवराजाओं में भी भागवत-धर्म का समान था^६। गुजरात के नलभियों के सबब में भी यही बात कही जा सकती है। उनके छठी शताब्दी

^१ हिंदी-साहित्य की भूमिका, पृ० २४,

^२ अंडारकर-वैष्णवविजय, जेविजस एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स, पृ० ३८

^३ हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय पृ० ६-१०—आ० पी० बड़वाल।

^४ आलिस हिल्सि आन्ट वैष्णवविजय इन् साऊथ इंडिया, पृ० ६०—आर० एस० कृष्णस्वामी।

^५ डे० अंडारकर—"दिएर इल नयिग टू शो वेट वैष्णवविजय हूड नोट वैमिट्टेड दूब तामिल

कट्टी अलियर डेट इस एवाउड द फस्ट सेंचुरी

^६ कॉनघम—प्राकृतिक साहित्य सर्वे,

के शिलालेख से यह बात स्पष्ट है। शंकर-विनिवर्ज्य के अनुसार शंकर को पाचरात्र और भागवत दोनों में शास्त्रार्थ करना पड़ा था^१। फिर दूसरी से नवी शताब्दी तक के आल्वार-सत्त भागवत-धर्मोपनिषद्^२ जिनकी कविताओं से प्रभावित 'रामानुज' ने भागवत धर्म की दार्शनिक सिद्धांतों के अनुकूल प्रचारित किया। इनसे उन आचार्यों की परंपरा आती है, जिनके कारण भक्ति की लहर समस्त भारत में फैल गई।

पाचरात्र-धर्म और भागवत-धर्म के विकास के साथ भक्ति में सांसारिक प्रेम के नव गुणों का आरोप हुआ। नारद ने भक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेम-स्वरूप बताया है—“सा तस्मिन् परम प्रेम ह्वा।” शाङ्किल्य ने उसे ईश्वरोन्मुखी अनुराग कहा—“भक्तिः परानुरक्तिरौघवरे”^३।

जब प्रेमा-भक्ति का प्राधान्य हो गया तो गो-लोक के गोपाल की पूजा होने लगी और समयानुसार ‘राधानापति’ के अर्थ में भी विकास हुआ। राधा का अर्थ आराधना से लिया जाने लगा और जब कृष्ण ने विष्णु की भावना मिल गई तो ‘राधा’ भक्ति का प्रकृत-मार्ग बनने लगी। तब ब्रजभूमि तथा गोमंडली का मकर-विष्णु-पूजा से हो गया^४।

दक्षिण के आचार्यों ने विष्णु स्वामी और निर्वार्क से पहले विष्णु के गोपाल-रूप और राधा की ओर ध्यान नहीं दिया था। विष्णु स्वामी और निर्वार्क का ध्यान इधर गया। इन्होंने गोपाल-कृष्ण और राधा को भक्ति में प्रधानता दी। पौराणिक काल की रुक्मिणी तथा लक्ष्मी से कहीं अधिक सजीव मानवी राधा की उत्पत्ति प्रेमा-भक्ति के कारण सन् ८०० ई० से पहले ही हो चुकी थी^५। इसके पश्चात् ‘आनन्द-वर्द्धन’ के ‘ध्वन्यालोक’ (८५० ई०) में राधा का उल्लेख मिलता है^६ और धारा के अमोघवर्ष के सन् ९६० ई० के शिलालेख में राधा का उल्लेख कृष्ण की प्रिया के रूप में हुआ है^७। ग्यारहवीं शताब्दी में ‘लीलाधुक्’ के ‘कृष्ण-कर्णामृत’ की रचना हुई^८। अपनी सरसता और तन्मय-भावना के कारण यह अब भी भारतवर्ष में शीघ्र ही फैल गया।

बारहवीं शताब्दी में निर्वार्क (११५० ई०) हुए। इनका जन्म भागवत कुल में, सप्तवत्या विलारी जिले के तैलव ब्राह्मण-वंश में हुआ। इन्होंने वेदामेद सिद्धांत में वैष्णव धर्म की पुष्टि की। रामानुज की धी, श्री और लक्ष्मी के स्थान पर इन्होंने राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। इनके अनुसार ‘सु-कृष्ण (परब्रह्म) की अनन्य सखिनी है और उनके ही साथ गोलोक में निवास करती है। वह प्रेम-स्वरूप। सब इच्छाओं को पूर्ण करत वाली, शृंगार की प्रत्यक्ष मूर्ति है और ब्रज में अपनी आठो प्रधान नर्तनों

^१ हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय पृ० १०,

^२ आर्त्ति हिस्ट्री ब्राव वैष्णविज्म, पृ० ९०

^३ भक्ति कल्ट इन ऐन्संड इंडिया।

^४ के० ऐं भुंशी—गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर,

^५ तेषां गोपचवृत्तिलाससुहृदा राधारह साक्षिणम्।

क्षेत्र भद्र कलिवराजतनयातीरे लतावेग्मनाम् ॥

^६ के० ऐम्० मुंशी—गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर,

^७ हजारो प्रसाद द्विवेदी—हिंदी-साहित्य की भूमिका।

^८ अष्ट-साक्षि नाम जैते—“चंद्रावली, ललिता, विशाला, चंपकलता, चंद्रभागा, राधा, दयामा घोषा भामा। अन्य मत—“ललिता, विशाला, तुलविद्या, रगदेवी, इंदुरेता, चंद्रभागा और चंपकलता।” तृतीय मत—“ललिता, विशाला, चंद्रभागा, दयामा, भामा, कुसुमा, तुलसी तथा माधवी।” चतुर्थ मत है—“ललिता, चंद्रा, चंद्रभागा, चंपकलता, चित्रा, स्वर्णरेता, इंदुमती एवं मध्यावली।”

तत्र-भक्तानुसार इनकी मर्यादा मोल है, जैसे—“ललिता, चंद्रावली, दयामा, चित्रा, चंदी, चंद्रा, हरिप्रिया, मदनमुंदरी, विशाला, प्रिया, शंखा, मन्मथी, वषा, शशिरेता, भद्रा और रमणी।” यही नहीं, कोई दूसरी सत्ता वन, कोई ग्यारह और कोई बारह भी मानते हैं।

(जो कि आठो रसो की प्रतीक है) तथा अन्य सब गोपियों (जो कि सचारी भावों की प्रतीक हैं) के सहित कृष्ण की ही भाँति अवतरित होती है। ब्रज-रूप में ससार की उत्पत्ति है। यमुना जीवन की धारा है और कृष्ण की वशी नादब्रह्म की प्रतीक है। राधा, उसकी सखियाँ तथा गोपिकाएँ परब्रह्म कृष्ण की ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, जो लीला के हेतु तथा जीवों में आनन्द-रूपा-भक्ति उत्पन्न करने के लिए कृष्ण के साथ ब्रजभूमि में अवतरित होती हैं। राधा और कृष्ण की भक्ति उनकी कृपा से प्राप्त होती है, इस लिये कृपा की कामना के लिये प्रेम-भाव से उनकी भक्ति करनी चाहिए। कृष्ण-भक्ति के लिये निर्वार्क ने 'ब्रजभूमि' को ही उत्तम समझा, इसलिये वही राधा-कृष्ण की भक्ति में अपना जीवन बिताया। इनके प्रधान ग्रन्थ वेदांतसूत्र पर भाष्य—'वेदांत पारिजात सौरभ' और 'दश श्लोकी' हैं।

महाभारत और पौराणिक काल में कृष्ण विष्णु के अवतार थे, गीता में वे एकल ब्रह्म के पद पर अविच्छिन्न हो गये। निर्वार्क के कृष्ण पूर्ण परब्रह्म हैं। कृष्ण की कृपा पर भक्ति के अवलंबित होने की भावना एकात्मिक धर्म में महाभारत काल में ही आ गई थी। उपनिषदों में भक्ति का उपाय आत्म-चिंतन था, किंतु महाभारत काल में वह परमात्मा सबीव और अधिक निकट कृष्ण के रूप में आ गया। इस कृष्ण की कृपा पर ही भक्ति निर्भर है। कृष्ण के दर्शन वही कर सकता है जिसे वह अपनी कृपा दे^१। भगवान की कृपा के बिना ज्ञान और कर्म भी जीवन-भरन के बंधन में मुक्त करने में सफल न होंगे। महाभारत में कृष्ण का महत्व जहाँ उनकी क्रिया-कुशलता और नीति के कारण है वहाँ उनकी शक्ति विष्णु का अवतार होने के कारण। गीता से शरणा-गति और प्रपत्ति की भावना का आरम्भ होता है। भगवान—'यदा यदाहि धर्मस्य' कह कर अपने अवतार लेने का कारण बताते हैं। विराट् रूप में अपनी शक्ति का परिचय देते हैं, अर्जुन उन्हें पूर्ण ब्रह्म की विभूतियों में मानते हैं^२। भगवान ने अर्जुन को योग-प्राप्ति के अनेक मार्गों को बताने के उपरांत अंत में सब धर्म-छोड़ कर शरण हो जाने को कहा—'सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज'—इससे भी स्पष्ट रूप में आगे चल कर वे कहते हैं—

“पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तवहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥”

—गीता ९।२६

भागवत के कृष्ण में अलौकिक-लीलाओं का समावेश है। राधा का उसमें नाम नहीं, किंतु गोपियों के विरह-वर्णन, चौर-हरण तथा रास-लीला के द्वारा जीव और परब्रह्म की लीलाओं का आदर्श जनता के सामने रखा गया। फिर भी आध्यात्मिकता की इस पुट के कारण कृष्ण विद्वानों की सीमा से बाहर नहीं आ सके। निर्वार्क ने कृष्ण और राधा को परब्रह्म तथा उसकी शक्ति तो माना, किंतु मनुष्य प्रेम की भावना की पुट देकर उसे जन-साधारण के लिये भी सुलभ कर दिया। माधुर्य की पुट आ जाने से नायक-नायिका-भेद के लिये कृष्ण-चरित्र में पर्याप्त स्थान निकल आया। राधा की प्रेम का अवतार मानने से संस्कृत-साहित्य के 'रस-सिद्धांत' के विकास के अनुसार उसमें 'रसराज शृंगार' की स्थापना हो गई। संस्कृत में रस-सिद्धांत का विकास नाट्य-शास्त्र (जिसमें नायक-नायिका-भेद का पर्याप्त विकास हो चुका था) के आधार पर हो रहा था। इसलिये नायक-नायिका-भेद का समावेश रस-रूप कृष्ण के चरित्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। राधा की आठ प्रधान सखियाँ आठ रसों की और अन्य गोपिकायें सचारी भावों की प्रतीक मानी जाने लगीं जब कृष्ण-भक्ति का यह रूप बगल में पहुँचा तो कृष्ण-भक्ति की माधुर्य भावनाओं को नायक-नायिका-भेद की

^१ महाभारत १२ । ३३७ । २० .

^२ त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य बिद्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययं शाश्वतधर्मगोप्ता पुरातनस्त्व पुरुषो मतो मे ॥

सूक्ष्म से सूक्ष्म नालियों में बहते देर न लगी । वगाल की सामयिक भाव-धारा के समीप से कृष्ण-भक्ति का रूप ही बदल गया ।

वगाल में दशवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म की वज्रयान-शाखा ने तांत्रिक-भावनाओं से प्रभावित हो कर 'सहजिया संप्रदाय' का रूप धारण कर लिया था । भक्ति के लिये कुमारी-पूजा और भुवतियों के संपर्क में रहना अत्यंत आवश्यक समझा जाने लगा था । सखा-भाव और भुव-भाव अथवा कर्ता-भाव की इस भक्ति में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त सखियों को अपना शरीर भी भुव को अर्पण करना होता था । काण्ह मठ (दशवीं शताब्दी) जिस समय इस प्रकार के विकृत बौद्ध-धर्म का प्रचार वगाल में कर रहा था, उस समय तक राधा और कृष्ण की कथाएँ लोक-गीत और उत्सवों के द्वारा जन-साधारण तक पहुँच चुकी थी । धत इन दोनों भाव-धाराओं ने मिल कर कृष्ण-भक्ति को नया ही रूप दे दिया ।

"श्यारहवीं शताब्दी में 'उमापति' (११६ ई०) और चारहवीं में निंबार्क के शिष्य जयदेव (११६३ ई०) ने अपने हृदय के मृदुल श्रु गारी-उद्गारों को प्रकट किया^१ । शीघ्र ही जयदेव के जगत-प्रसिद्ध 'गीतमोविद' की, राधा-भाषव के क्रीडा-कलापो की प्रतिध्वनि में मिल कोकिल 'विद्यापति' (१३६३ ई०) की कोमलकांत 'पदावली' में सुनाई दी । विद्यापति सस्कृत-साहित्य के प्रकाह पंडित और रसिक-अवृत्ति के थे, इसलिये उन्होंने अपनी भावुकता को साहित्य-शास्त्र के ढाँचे में ढाल कर राधा-कृष्ण के चरित्र को नायक-नायिका-भेद का अनुकरणीय जाल बना दिया । विद्यापति के राधा-कृष्ण भक्तों के राधा और कृष्ण न रह कर काम-शास्त्र में निपुण नायिका और नायक हो गये । विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है । आराध्य देव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें न तो राधा या राधा की मंदिर में उन्मत्त एक मुग्धा नायिका की भाँति है और राधा जीवन की मंदिर में उन्मत्त एक मुग्धा नायिका की भाँति । राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है । आनंद ही उसका उद्देश्य है और शरीर ही उसका श्रिया-कलाप । जीवन ही से उसके जीवन का विकास है^२ । विद्यापति की राधा का दर्शन हम उस समय करते हैं जब वह वैचारी विचित्र उत्सव में पड़ी थी । उसके घिसव और जीवन आपस में जुझ रहे थे—एक उसके केशों की ढँकता तो दूसरा उन्हें विपुल देता था^३ । एक उसे हँसाता था^४ तो दूसरा उसके मुख पर भाँचल ला देता था, एक उसकी भाँखों को कानों की ओर फेर देता^५ तो दूसरा उसके हाथ के अचल को बल में गिरा देता था^६ । देखते ही देखते जीवन विजयी हो जाता है । चरणों की चपल गति अब लोचनों में आ जाती है^७ । मुकुर लेकर शृंगार करने का अब नित्य-नियम हो गया है^८ । चित्त-लगा कर अब वह रस-कथा सुना करती है^९ । उसकी घोषा देल कर मग

१ हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १६६

—डा० रामकुमार वर्मा

२ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ४६३.

—डा० रामकुमार वर्मा

३. कबहुँ आपय कब कबहुँ विचार,

४. छन छन बसन छटा छट हास,

५. छन छन नयन कोन अनुसरई,

६. छन छन बसन घूलि तनु भरई,

७. चरन चपल गति लोचन सेल,

८. मुकुर लइ अब करइ शिंगार,

९. सुनत रस कथा थापए चीत,

चकित हो रहे हैं। उसके अभिराम यौवन^१ को देखकर त्रिभुवन के लावण्य-सार कृष्ण तक भी-मूर्छित हो गये हैं^२।

और अब राधा एक विचित्र खेल शुरू करती है—वह गजगामिनी सखियों के साथ च नती हुई पलट कर कृष्ण को देल हँस देती है^३। 'श्वास से कभी उसका अचल उठ जाता है और उसकी तडित लता-सी देह कृष्ण को दीख जाती है^४, कभी घाट पर स्नान करती हुई वह कृष्ण के हृदय पर पदवाणों की वर्ना कर देती है^५ उसकी वाक्पटुता का क्या कहना? एक दिन कुम्भ-भवन से अकेली बाहर निकल कर क्या देखती है कि कृष्ण उसकी राह रोके खड़े हैं और टलते नहीं—वह डुहाई देने लगती है, कहती है—'मावव, मैं तुम्हारे ही नगर में रहती हूँ, बटमारी मत करो^६। एक दिन घाट पर उसकी सखियाँ उसे अकेली छोड़ कर चली गईं, लेकिन कृष्ण वहीं थे। वह वडी मित्रत करती है, कहती है—'कन्हैया मुझे पार कर दे, तुझे एत हार दूंगी^७ और अन्त में कृष्ण जब एक दिन उससे सुरत माँगते हैं तो वह आश्चर्य प्रकट कर कहती है—'वह सुरत नाम का आदमी कहाँ रहना है^८?' विद्यारति की राधा यौवन की-मूर्तिमयी वासना है और कृष्ण मूर्तिमान यौवन।

विद्यारति की श्रृंगारी पदावली ने वगाल की सामयिक प्रवृत्ति को और अधिक उत्तजित कर दिया। इस उत्तेजना की विद्यारति के समसामयिक 'चडीदास' ने जो 'सहज सप्रदाय' में दीक्षित हो चुके थे 'रामी बोजिन' के प्रति रचे गये प्रेम के गीतों से और भी आगे बढ़ा दिया। इस समय वगाल में चैतन्य (विश्वभरनाथ मिश्र), १४८५ ई०—१५३३ ई०, कृष्ण-भक्ति से प्रभावित हो चुके थे। माधव सप्रदायी 'माधव-ब्रपुरी' के शिष्य 'ईश्वरपुरी' से दीक्षित होकर वे भक्ति का प्रचार करने लगे। जयदेव, विद्यापति और चडीदास की श्रृंगारी-पदावलियों को गा-गा कर वे मस्त रहने लगे। विद्यापति और चडीदास की उन्मत्त श्रृंगारी कविताओं में चैतन्य की भक्ति-भावना से भक्ति का संयोग हो गया और नायिका-भेद की भावना के अनुकूल कृष्ण-भक्ति को देखा जाने लगा। परकीया-प्रेम की भावना चैतन्य को कृष्ण-प्रेम के अधिक उपयुक्त ज्ञात हुई। भागवत की इस भक्ति में विद्यापति की नायिकाएँ मिल गईं। कृष्ण-भक्ति गोपी-भाव से होने लगी। चैतन्य गोपी की भाँति कृष्ण के विरह में व्याकुल रहते थे। चैतन्य ने वैधी-भक्ति के स्थान पर रागानुगा भक्ति को प्रमानता दी। रागानुगा भक्ति में भी माधुर्य उन्हें खिंच कर डुबा-ऐश्वर्य नहीं। माधुर्य की पाँच शाखाओं—शांत, दास्य, सख्य, वारस्य और माधुर्य में से अंतिम माधुर्य-भावना की भक्ति चैतन्य तथा वगाल की प्रकृति के अनुकूल थी। इसलिये माधुर्य-भावना की ही भक्ति की प्रधानता चैतन्य में है। चैतन्य के अनुसार राधा (जो कि प्रेम की प्रतीक है) की स्थिति कृष्ण में है और कृष्ण राधा के बिना नहीं रह सकते। कृष्ण में कर्पण है वह समस्त प्रकृति को अपनी ओर खींचत है। उनकी मुरली-ध्वनि ही वह अनादि प्रेम-प्रणीत

१. की ओर नव जोवन अभिरामा,

२. मुरखि परल छिति सन लावन-सार,

३. गेलि कामिनि गजगुगामिनी

विहसि पालटि नेहारि

४. ससन परस खस धंवर रे बेखल छनि देह

कामिनि करइ सिताने

५. हेरदत हृदय हृत पंचवाने

६. कुंज भवन सँई निकसल रे

७. कर वर कब मोहि पारे

वेच मैं अपकब हार कन्हैया

८. सुरतक नाम सुनल हम आज्ञा

न जानिअ सुरत करए कोन जाज

है जिसमें प्रकृति को नाम ले-लेकर वह अपने पास बुलाते हैं। इस ध्वनि को सुन लेने वाली प्राण-रूपी गोपिकायें सब वस्तुओं को त्याग कर प्रियतम कृष्ण के पास चली जाती हैं—रोके नहीं सकती। यथार्थ में राधा तथा गोपिकाएँ ही परम प्रेम-स्वरूपा हैं। वे कृष्ण के विरह में व्याकुल रहा करती थी। एक पलक भी उन्हें कल्प के समान लगता था। यह इसलिये कि कृष्ण के प्रति उनका परम प्रेम था और कृष्ण की प्राप्ति उन्हें सहन नहीं हो सकती थी। वे परकीया थी। सामाजिक बंधन उनके मार्ग में काँटे (रोड़े) थे। उन पर चल कर वे प्रेम नहीं कर सकती थी, इसलिये वे प्रेम की भावार्थ हैं। कृष्ण की भक्ति परकीया-भाव से कर के ही भक्त कृष्ण को प्राप्त कर सकते हैं। चैतन्य की भक्ति आनेशात्मक थी, उनमें कृष्ण का अनन्य प्रेम था, इसलिये उनकी भक्ति में उनके लिये कोई दोष न था, किंतु उनके पश्चात् के दार्शनिक वैष्णव-भक्तों को उनकी परकीया-भाव की भक्ति की कमियाँ खटकने लग गई थी। परकीया-भाव को पवित्र सिद्ध करने के लिये अनेक दार्शनिक उनके चैतन्य के शिष्य 'रूप गोस्वामी' और 'कृष्ण कविराज' आदि भक्तों ने किये। रूप गोस्वामी के अनुसार कृष्ण ने गोपियों से गंधर्व विवाह किया था, इसलिये वे परकीया न होकर यथार्थ में स्वकीया थी। इसी भाँति राधा, जो साधारण रीतसे व्रज के एक गोप आग्र्यन (ऐह्य अथवा अभिमन्यु) की स्त्री समझी जाती है, कृष्ण के सत्, चित् और आनंद स्वरूपों में से आनंद-शक्ति का अवतार है, इसलिये कृष्ण का राधा-प्रेम भी परकीया-प्रेम नहीं बरत स्वकीया-प्रेम है^१। कृष्णदास कविराजके अनुसार राधा कृष्णकी ह्लादिनी-शक्ति की प्रतीक है। राधा और कृष्ण दो शरीर एक प्राण हैं। कृष्ण में दैवी शक्ति थी, जिसके कारण गोपी ने उस समय जब कि गोपियाँ कृष्ण के साथ रास में लीन थी उन्हें अपने ही पास पाया^२। कृष्ण किशोर थे, किशोर अवस्था में शुद्ध प्रेम होता है, गोपियों का कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम था। कृष्ण और गोपियों का प्रेम उन पतितों के उद्धार का भी आयोजन करता है, जिन्हें जीवन में आनंद की कोई भाषा नहीं रहती^३।

यद्यपि कृष्ण-भक्ति के आचार्यों तथा कवियों ने इस प्रकार की सफाई दे कर राधा और कृष्ण की माधुर्य-भाव की भक्ति का प्रचार किया, किंतु वे उससे पढ़ने वाले घुरे प्रभाव को न रोक सके। माधुर्य-भाव की कृष्ण-भक्ति में इसके लिये कोई उपाय न था। राधा-कृष्ण की केलि-कथाओं का स्मरण करना कृष्ण-भक्ति का एक अंग बन गया था। ऐश्वर्य-बोध के लिये उसमें स्थान रखा ही नहीं गया इसलिये दास्य भावना की (सुर के अतिरिक्त किसी में भी) जागति न हुई, फलस्वरूप राधा-कृष्ण की वह भक्ति आदर्श और भावना की पवित्रता के अभाव में जनता को भौतिकता की ओर ही ले गई। समाज की चिंता रखने वाले भक्त तो इस विषय से जातीय जीवन की रक्षा करना चाहते थे, इसलिये महाराष्ट्र में 'नामदेव' (१३१०-१४४० ई०) तथा 'तुकाराम' (१६०३-१६५० ई०) ने कृष्ण-भक्ति में राधा के स्थान पर स्वकीया 'लक्ष्मणी' को प्रधानता दी। मध्यप्रदेश में 'कवीर' ने 'निर्गुण-भक्ति' और तुलसी ने 'राम-भक्ति' का प्रचार किया। राधा और कृष्ण के चरित्र की अपेक्षा सीता और राम के चरित्र में आदर्श और भविका के लिये अधिक स्थान था। तुलसीदास जी ने दास्य-भाव की भक्ति-द्वारा ऐश्वर्य की भावना को प्रधानता देकर भक्ति-आर्य को पतन से बचा लिया। राम और सीता, कृष्ण और राधा की भाँति, आनंद ही आनंद देकर जाति का दुख मुलाने के साधन मात्र न थे उनमें आनंद को सुरक्षित रखने वाली शक्ति और शील भी था। तुलसी के राम और सीता निराश्रय जनता को कृष्ण-भक्त-कवियों के राधा-कृष्ण की अपेक्षा कहीं अधिक धाराओं विव्वास दिलाने में समर्थ हुए, पर विलासी-भृति को अपनी ओर मोड़ने में राधा-कृष्ण की ही जीत रही।

१. उज्जलनीलमणि : रूप गोस्वामी

२. नामसुयन्तनु कृष्णाय मोहितास्तस्य भागिया ।

अन्यमानाः स्वपादर्वस्यास्वास्वात्वारान्मज्जीकतः ॥

—आग्रवत १०।३३।३८

३. पोष्ट चैतन्य-सहजिया कष्ट पृ० २४, २५, २६, ३८

जिस समय बगाल में चैतन्य भक्ति का प्रचार कर रहे थे, उस समय मध्यदेश में 'वल्लभाचार्य' का संप्रदाय बहुत प्रचल हो चुका था। वल्लभाचार्य ने शूद्राद्वैत के दार्शनिक सिद्धांतों को निवारक के कृष्ण-चरित्र से मिला कर राधा-कृष्ण की माधुर्य-भाव की भक्ति का प्रचार सगठित रूप से किया। प्रसिद्ध महात्मा 'सूरदास' को अपने संप्रदाय में इन्होंने ले लिया, जिससे इनका संप्रदाय महत्वपूर्ण हो गया। आत्म-समर्पण की भावना का पवित्र पुट पाकर पुष्टिमार्ग (संप्रदाय) खूब संपन्न हुआ। वल्लभाचार्य भक्त से बढ़ कर विद्वान् और प्रचारक थे ॥

वल्लभ-संप्रदाय में कृष्ण-भक्ति के सबसे बड़े कवि सूरदास हुए। सूरदास के कृष्ण गोपियों के वल्लभ होने के अतिरिक्त गोपों के सखा और यथोदा के बाल-गोविन्द और भक्तों के साकार परब्रह्म भी हैं। वे अलौकिक होते हुए भी लौकिक हैं। सूरदास उद्धव के अवतार कहे जाते हैं—उन्होंने अपने उपास्य-देव को एक सखा की भाँति प्यार किया। महाभारत और गीता के कर्मयोगी कृष्ण के प्रति सूरदास की कुछ भी सहानुभूति नहीं है। वे शील तथा शक्ति के उपासक नहीं, सौंदर्य के उपासक थे। उन्हें उस ब्रह्म से कुछ भी सहानुभूति नहीं, जिसमें रूप, रेखा, रंग, गुण कुछ भी नहीं हैं। जो लोग ससार को माया तथा मिथ्या कहते हैं, उनसे भी उन्हें कुछ सहानुभूति नहीं। उनके गुरु (वल्लभाचार्य) ने उन्हें बतलाया था कि यह ससार मिथ्या नहीं, यह ससार माया नहीं। माया तो केवल समस्त में होती है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा ही माया है। ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति, कृष्ण और राधा—यह उनका युगल स्वरूप है जिसमें वे कल्प-कल्प तक निमग्न रहते हैं। वैकुण्ठ-रूप नित्य ब्रज में होने वाली इस लीला में गोपी-रूप में समिलित होना ही जीव की परमगति है^१।

सूरदास ने उस गोपी की भाँति कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन किया है जिसने अपनी आँखों से एक दिन ब्रज में नंद के दरबार के आगे बसाइयाँ बजती सुनी हो^२, अपनी आँखों से बालक कृष्ण को घुटनों के बल चलते देखा हो^३, अपनी आँखों से हठी बालगोविंद को चढ़ा मागते हुए देखा हो^४ और घर का माखन चुराने पर बीस कर जो कृष्ण को पकड़ कर यथोदा के पास ले गई हो, लेकिन फिर भी मुह में अँगूठा डाले हुए बालक को देख जो यह न भूल गई हो कि उसके इस कृत्य से शिव सोच में पड़ गये हैं और ब्रह्मा बिचार करने लग गये हैं। फिर जीवन के आने पर उन्होंने एक भोली गोपी की भाँति कृष्ण की छवि को प्यार किया है और उनके साहचर्य का सुख प्राप्त किया है। उसे कृष्ण के पलभर 'अंतरधान' हो जाने से भी रुलाई आ जाती है^५, वह पास रह कर भी वियोग-दुःख का अनुभव करती है^६ और विरह में तो उसकी दसा अनोखी हो जाती है। वह अपने संदेशों से कुँए भर देती है^७, पानी भरने नहीं जाती। उसकी आँखों से यमुना बह उठती है^८, वह पपीहे को कोसती

^१. सदा एक रस एक अर्लंबित, आवि अनावि अनुभू ।

कोटि-कल्प नीत नहिं जानत, बिहरत गुह्य सरूप ॥

सकल तत्व ग्राह्य देव पुनि, साया सब बिधि काल ।

प्रकृति-पुरुष श्रीपति-नाराइन, सब हैं अंस गुपाल ॥

करम जोष पुनि ज्ञान उपासन, सब ही अम मरमायी ।

श्रीबल्लभ प्रभु तत्व सुनायी, लीला-मेव बतायी ॥

^२. आबु हो बचाई बाले नंदराय के।

^३. आगल चलत धृष्टकन

^४. ऐसी हठी मेरी बाल गोविदा ।

^५. नागरि मन गई, उरसाह । —ना० प्र० सं० काशी पृ० ४६८,

^६. चलन चेत पग, चलै न घर को । —ना० प्र० सं० काशी पृ० ५१६,

^७. संदेशनि मधुवन कृष भरे ।

^८. भरि-भरि जमुना उमड़ि चली है, इन नैननि के मीर ।

है^१,—मधुवन को धिक्कारती है^२, प्रिय का पत्र पाकर उसे बार-बार छाती से लगाती है, उसे अपने धांसुओं से मिगो देती है^३। उसकी भाँखें सदा बरसती रहती है^४, वह सदा अशोमुख रहती है, ऊपर नहीं देखती^५,—संक्षेप में सूर के राधा-कृष्ण लौकिक-अलौकिक दोनों एक ही साथ है।

वत्सल-संप्रदाय के कवियों (जिनकी सख्या बढ़ताना कठिन है) के अतिरिक्त 'मीरा' भी श्रवण-कृष्ण-भक्त है। उसकी वाणी में स्थल-स्थल पर कृष्ण का उल्लेख है। उसका वहुत सा अंश कृष्ण ही को समर्पित कर कहा गया है। मीरा ने स्वयं कहा है कि 'मीर मुकुटवारी नदनदन' ही मेरे पति हैं। 'गिरिधर-गोपाल' के अतिरिक्त किसी दूसरे से वह अपना सबकुछ ही नहीं मानती थी^६। कृष्ण ही की बाँकी-साँवली-अँबि, टेंटी भलको और जिभगी मूर्ति पर उसकी झुभाई हुई भाँखें भटकती रहती थी^७।

अपने आप को गोपी कल्पित कर वह भाव्यशास्त्रिणी गोपियों के भाग्य पर ईर्ष्या करती है—

स्वयं म्हाँसूँ ऐंछो मोलें हो ।

मीरन सुँ खोलें घंभार, म्हाँसूँ मुखहूँ ना मोलें हो ।

म्हारी गलियाँ ना फिर, बाकी भाँगन मोलें हो ।

म्हारी अँचरा ना छुबै, बाकी धूपट खोलें हो ।

'मीरा' की प्रभु साँवरौ, रँग-रसिया मोलें हो ।

परन्तु यदि गहरे बैठ कर देखा जाय तो ज्ञान पडेगा कि उसका उतना ध्यान भवता^८ की ओर नहीं है जितना ब्रह्म की ओर। जिस नदन-नदन गिरिधर गोपाल के बिरह में वह 'अँसुखन की मासा' परोया करती है^९, जिसकी वाट जोहते-जोहते उसकी 'छमासी' रात बीतती है^{१०}, जिसके रूप पर मग्न होकर उसे सोत-परलोक कुछ नहीं सुहाता है^{११}, जिससे वह अपनी बाँह-मुडवाना और धूपट-खुलवाना चाहती है^{१२}, जिसके नियं

१. तू पापी रे पंखि पपीहा ।

२. मधुवन मुम्ह कत रहत हरे ।

३. निरखत भँक स्वामिसुँ बर के, बार-बार लावति छाती ।

४. तिसिबिन बरसत नैन हमारे ।

५. अशोमुख रहति, उरध नहिँ चित्तवति ।

६. मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरी न कोई ।

जाके सिर मीर मुकुट मेरी पति मोई ॥

७. निपट घफट छवि भटके मेरे नैन, निपट बँकट छवि भटके ।

बेखत रूप सदन-मोहन कौ, पियत मयूखन मटके ॥

धारिज भँवर, अलक टेढी मनो प्रति सुगंध रस भटके ।

टेढ़ी कटि औ मुरली टेढ़ी, टेढ़ी पाग सर लटके ॥

'मीरा' प्रभु के रूप-सुभानी, गिरिधर नामर नटके ।

८. इक बिरहिनि हम देखी, अँसुवन की मासा पोबै—

—बानी पृ० २३, ५१

९. एक टकटकी पय निहाँट, भई छमासी रैन ।

—बानी पृ० २३, ५३

१०. जब से नदननन दृष्टि परपी साई ।

तब से लोक-परलोक कछु ना सुहाई ॥

—बानी पृ० २६, ६७

११. म्हारी अँगुलो ना छुबै, बाकी बहियाँ तोरें ही ।

म्हारी अँचरा ना छुबै, बाकी धूपट खोलें ही ॥ —बानी पृ० ४३, २

वह घायल होकर तड़पती फिरती है,^१ जिसकी वह 'छप्पन भोग' 'छत्तीसो ब्यजन' परोसती है,^२ जिस 'मिठ-बोला' के लिये विकलता ने उसके दिल की घुड़ी खोली है,^३ वह पूर्ण ब्रह्म है,^४ इसी निर्गुण का सुरमा वह अपनी आँखों में लगाती है,^५ वह उसे पूर्णरूप से अपने अदर देखती है^६। उस निर्गुण ब्रह्मा का 'गगन-मंडल' में निवास है^७। गगन-मंडल में विछी हुई सेज पर ही प्रिय के मिलने की उत्कठा वह अपने मन में रखती है^८। सुरति-निरति का वह दीपक बनाती है, जिसमें प्रेम के वाजार में बिकने वाला (प्रेम का) तेल भरा रहता है और मनसा (इच्छा) की बत्ती जलती रहती है^९। उसका प्रेम-मार्ग उसे ज्ञान की गली में ले जाता है^{१०}। उसका मन सुरत की आसमानी-सैर में लगा हुआ है^{११}। वह भ्रम के बेस जाना चाहती है, जहाँ प्रेम की बापी में शुद्ध आत्मा-हस क्रीडा किया करते हैं^{१२}। राणा को डाट कर वह कहती है कि मैं आज की नहीं तब की हूँ जब से सृष्टि बनी है^{१३}। कबीर के मार्ग की भाँति उसकी भी ऊँची-नीची-रपटीली राह है, जिसे वह 'झीनापथ' (सूक्ष्मज्ञान मार्ग) कहती है^{१४}। निर्गुनियों का अम्यास भीरा के निम्न लिखित पद में आगया है—

१. घायल फिर्ह तड़पती, पीर नहिँ जानें कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरी पति सीई । —बानी पृ० ५१, ५२
२. छप्पन-भोग छत्तीसो ब्यजन, सनमुख राखी बाल जी । —बानी पृ०, ५२
३. साजन घर आबो मिठ बोला ।
तुम देख्यो बिन कल न परत है, कर घर रही कपोला ।
'भीरा' दासी जनम-जनम की, बिल की घुड़ी खोला । —बानी पृ०-१७, ३२
४. मात पिता तुमकों दियो, तुम हौं भल जानों हो ।
तुम तबि और भतार को, मन में नहिँ जानों हो ।
तुम प्रभु पुरन ब्रह्म, पुरन पव बीज हो । —बानी पृ० १२
५. सुरत सुहागिन नार- - - निरगुन सुरनौ सार । —बानी पृ० ३१, ७२
६. भेरे पिया मोहिँ साँहिँ बसत है, कहूँ न भ्राती-जाती । —बानी पृ० १०, १६
औरो के पिया परदेस बसत है, लिख-लिख भेजें पाती ।
भेरे पिया हिरवे में बसत है, गुँज कलूँ दिन-राती । —बानी, पृ० २७, ६२
७. गगन-मंडल में सेज पिया की किस बिधि मिलन होई । —बानी पृ० ५, ३
८. तेरा कोई नहिँ रोकनहार, मगन होइ भीरा बली ।
ऊँची अटरिया, लाल किबडिया, निरगुन-सेज विछी ॥- - -
सेज सुखमथा 'भीरा' सोब, सुन है आज घरी । —बानी पृ० ११, १६
९. सुरत-निरत जा बिबला सँजोले, मनसा की कर बाती ।
प्रेम हठी का तेन बना ले, जपा करे दिन राती ॥ —बानी पृ० १०, ३६
१०. मान-अमान दोउ घर पटके, निकली हूँ ग्याल-गली । —बानी पृ० ११, १३
११. भीरा' मन ना गि सुरति, सैल असमानी । —बानी पृ० १६, ४१
१२. बली भ्रम के बेस काल देखत डरे ।
वहाँ भरा प्रेम का होख, हस केला करे ॥ —बानी पृ० १३
१३. आज-काल की मैं नहिँ राणा, जद यह ब्रह्म छापी । —बानी पृ० ६७, ३२
१४. ऊँची-नीची राह-रपटीली, पाँव ना ठहराई ।
सोच-सोच पग थक जतन से, बार-बार डिग जाइ ॥
ऊँचा-नीचा महल पिया का, हम से चढ़पा न जाइ ।
पिया दूर पथ बारा झीणा, सुरत-भकीला खाइ ॥ —बानी पृ० २७

“नैन बनज बसाऊँ री, जो मैं सहिब पाऊँ री।

इन नैनन मोरा साहब बसता, डरती पलक न लाऊँ री ॥

त्रिकुटी-महल में बना है झरोखा, सहाँ से झाँकी लगाऊँ री।

सुन-महल में सुरति जमाऊँ, सुन की सेज बिछाऊँ री।

‘मीरा’ के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ री ॥”

इसमें त्रिकुटी-ध्यान और भू-मध्य-दृष्टि की ओर स्पष्ट संकेत है। मीरा का ध्येय है ‘पूरन पद’^१, निरजन का वह ध्यान करती है^२। अनाहत नाव को सुनती है^३ और ‘आदि-अनादि साहब को’ पाकर भव-सागर से तर जाती है^४।

मीरा की समूह-भावना, निर्गुण-भावना का प्रतीक मात्र थी। वह अवतार-भावना की विरोधिनी नहीं है, परंतु उधर उसका जतना ध्यान नहीं। बल्लभ-संप्रदाय के कवियों की भाँति उसका उद्देश्य रूप की लीलाओं का वर्णन करना नहीं, अपनी अनुभूति का प्रकाश करना था। वह परब्रह्म कृष्ण को गोपी थी^५। उसके कृष्ण मोर, मकूट वाले ‘गिरधर गोपाल’ होते हुए भी परब्रह्म ही हैं।

बल्लभ-संप्रदाय की मार्म्य भाव की भक्ति में ‘रसिक रसखान’ (१५७६-१६१४ ई०) ने हृदय लगाई थी। वे अनन्य प्रेमी थे, इसलिये प्रेम ही रसखान का महामंत्र था। वे श्री राधिका को ‘प्रेम की भवनि’ और नदनदन को ‘प्रेम वरन’ मानते थे।

“प्रेम अयनि श्री राधिका, प्रेम वरन नंदनब ॥”

रसखान के कृष्ण परब्रह्म हैं, जिनके गुणों को ‘सैस, मनेस, महेस, दिनेस और सुरेस’ भी निरंतर गाते रहते हैं, जिनको वेद—‘अनावि, अनंत, अखंड, अछेद, अमैद’ बताते हैं, जिसका पार नारद, शुक और व्यास सरीखे पच-पच कर हारने पर भी न पा सके, किंतु जिन्हें प्रेम के जल से ‘अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर नाच’ नचा सकती हैं—

“सैस, मनेस, महेस, सुरेस, दिनेसहु जाहि निरतर गावैं।

जाहि अनावि, अनंत, अखंड, अछेद, अमैद, सुबेद बतावैं ॥

नारद से सुक व्यास रहे पचि हारेतहु पुनि पार न पावैं।

ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया-भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥”

रसखान की भाँति घनानंद भी कृष्ण-प्रेमी कवि थे, किंतु उनकी दीक्षा निर्वार्क संप्रदाय में हुई थी। निर्वार्क-मत में राधा कृष्ण की अनन्य सगिनी और श्रेय-शक्ति है। वह कृष्ण की ही भाँति भक्त की सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली है। कृष्ण के साथ वह ‘गोलोक’ में निवास करती हैं और सीता के हेतु अपनी अन्य सगिनी (जो कि कृष्ण की ही अन्य शक्तियाँ हैं) सहित ब्रजभूमि में अवतरित होती हैं। अनन्य भाव से गाथा तथा इत्त को आत्म-समर्पण करने तथा उन्हीं के विरह में रहने से उनकी कृपा प्राप्त होती है। इस कृपा के प्राप्त हो जाने से ही ज्ञान की सार्थकता है। अकेले ज्ञान (अनुभूतिहीन, अक्षतरहित ज्ञान) से राधा और कृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। कृष्ण परब्रह्म हैं। परब्रह्म अचित्त्व हैं। उसकी प्राप्ति का ज्ञानद प्रेमाभक्ति (जिसे प्रानातें न दशधा-भक्ति का भी नाम दिया है) से हो सकता है। जीव उसी परब्रह्म का भग है और प्रियानी होने में उन परब्रह्म से अपनी भिन्न सत्ता समझता है। यथार्थ में वह परमात्मा से असम भासित होने पर ठीक वैसा ही निना हुआ है, जैसे लहर समुद्र में। परब्रह्म शांत समुद्र है, जीव क्षुब्ध उठी हुई जल-राशि। जीव मुक्त होने में ही गा-

^१ सुभ प्रभु पूरन ब्रह्म, पूरन पद दीर्घ हो। —वानी पृ० ११२

^२ जा को नाम निरजन कहिए, ताको ध्यान धरूँगी हो। —वानी पृ० २६, ५६

^३ बिन करताल पखावज बाजे, अनहद की झंकार रे। —वानी पृ० ४२, ६

^४ साहय पाया आदि अनादी, नातर भव में जाती ॥ —वानी पृ० ६, ६

^५ डा० बद्धध्याल (१) मोरारदाई और बल्लभभाचार्य (२) हिंदी काव्य की निर्गुणवाद।

अवस्था को प्राप्त होता है। क्रिया-शक्ति का शांत हो कर आनंद-अवस्था में लीन होने का ही नाम मुक्ति है। आनंद-आनुभव तो जीव ब्रह्म की ही भाँति कर लेता है, किंतु विषय की उत्पत्ति, स्थिति और लय उसके अधीन नहीं, ब्रह्म के अधीन है, किंतु विश्व की भी ब्रह्म से मिल सत्ता नहीं है। वह ब्रह्म का ही व्यक्त-आसित रूप है और इस कारण एकाएक असत्य भी नहीं है।

इस सिद्धांतों में दीक्षित घनानंद ने कृष्ण-विरह में एक गोपिका की भाँति जीवन बिताया, साँवरे की रसमयी छवि उनकी आँखों में बस गयी थी, इसीलिये और सब बातें उन्हें आग-सी लगती थी। वे घर, वन, वीथियों में सर्वत्र कृष्ण को ही ढूँढ़ते रहते थे। अपनी भावना की तल्लीनता के कारण उन्हें सर्वत्र कृष्ण नजर आते थे। कभी स्वप्न में भी कृष्ण को देख कर चौंक पड़ते थे, किंतु दूसरे ही क्षण सत्यता का बोध होते ही वे बेचैन हो जाते थे। बेचैनी बढ़ने पर आकाश, पाताल, आग, पानी सब जगह वे हरि को ढूँढ़ने लगते थे। दाढ़ की भाँति प्रियतम के दीदार देखने की मीठी चाह उनके हृदय में भी उठा करती थी। प्रिय का रूप-भर देखने से उन्हें शांति नहीं होती थी, वे स्वाति वृद्ध को भी, प्रेम छट जाने की आशका से, न पीने वाले चातक-हृदय तुलसी की भाँति प्रेम की बढ़ती प्यास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते थे। मीरा की भाँति वे भी अपने को जन्म-जन्म का विरही समझते थे। प्रिय-मिलन की आनंदानुभूति न हो पाने पर वे बेचैन होने लगते थे। उन्हें यही दुःख बना रहता था कि वे उस रस-राशि आनंदधन को नहीं पा सके हैं जो 'चाह का आलवाल' और अचाह का कल्पतरु है, जो निष्काम है, जो अमल, अपूरव, उजागर, अखंड है, जो ताराओं को प्रकाश देता है, जो मित्र-मंडल की शोभा है, जिसकी ज्योति के रस में बूँदें रसिकों की टकटकी उसी की और चकोर की भाँति लगी रहती है, जो आनंद, अमृत-कद-सुषमा की संपत्ति है, और जिसके रूप के सामने कामदेव भी शिखारी लगता है।

घनानंद विरहिन गोपिका की भाँति कृष्ण के प्रेम में धुलते रहे। उनकी आँखें प्रिय का मग माँपते-माँपते थक गईं। वे आशा और निराशा में अपने जीवन को प्रिय का नाम ले-लेकर जिंघाते रहे। कभी किसी पथिक को आता देख कर प्रिय का सदेश पूछने लगते थे, कभी प्रिय के देश की ओर जाने वाले मेघ से अपने अश्रुओं को मुझान के आँगन में से जा कर बरसा देने की^१ प्रार्थना विरही यक्ष की भाँति करते थे और कभी जगत के प्राण पवन से प्रिय के चरणों की धूल ले आने की^२ विनती करते थे। वे उस घड़ी के लिये सदैव उत्कण्ठित रहते थे, जब उनकी तृपित आँखें 'छवि के सदन' कृष्ण को देख सकेंगी, जब आनंदधन कृष्ण चटकीले बेध में, मटकीली-बाल से, अघरो पर शोभित मुरली को लटकाते हुए आयेंगे, जोचन दुरा कर, मीठी हँसी से बात कर उनके विरह-बीरान हृदय को हरा-भरा कर देंगे। उस घड़ी उस सिंगार-मूर्ति के दर्शन से आँखें शांत होगी, ऐसी कल्पना घनानंद करने लगते हैं और सोचते हैं 'उस समय अपनी रसना से मैं उनके पावों को चूम लूँगा, अपने कपोलों से उन पैरों की धूल पोछ लूँगा। मेरा सब दुःख उन्हें देखते ही मिट जाएगा।'

उस दिन को देखने के लिये,—उस प्रेम को पाने के लिये, मोर-पक्षी के बाह्य रूप में ही न भटके रहकर उस सुरुष रूप को भी देख सकने के लिये जिसे योगी ही हृदय में धारण करते हैं, घनानंद ने भगवान से ज्ञान की आँखें मानी और स्वयं सब साधनों की सार उस कृपा को अपने हृदय में सँभारा जिसके तनिक भी आ

^१ पर कारज देह को धारें फिरी, परजन्म अथारन हूँ बरती।

निधि-नीर सुधा के सँभाल करी, सबही बिधि सज्जनता सरती ॥

'घनप्रानंद' जीवन-दाइक हूँ, कष्ट मेरीदु पीर हिएँ परती।

कबहुँ बा बिसारी सुजान के आँगन, मो अँसुवान कौं ले बरती ॥

३. ऐरे पीर, पीन तेरी चहूँ ओर गोन, तो सौ ओर कौन मनहि डरकौँहि जान दै।

जगत के प्रान, ओछे-बड़े सो सँभाल 'घनप्रानंद' निर्धान सुख-दान दुखियाँ दै ॥

रूप उलियादे, गुनबारे, वे सुजान प्यारे, अब हूँ अमोही बँडे पीठ पतियाँ दै।

विरह बिषा की मुरि, आँखिन में राखो पुरि, धूरि तिन्ह पाँदन की हा-हा नँकु आन दै ॥

जाने से नीरस हृदय भी रस-राशि हो जाता है, ऊसर में भी सर उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे मनुष्य के सब दुःख दूर हो जाते हैं, जो विरह की अग्नि में जलते हुए को भी शीतलता प्रदान करती है और मूढ को भी पंडित बना देती है। घनानंद ने प्रियतम को मिला देने वाली इस कृपा की ही कामना सदैव की। ज्ञान, ध्यान, जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि की जरा भी परवाह न कर वे अपनी प्रेमा-भक्ति में ही खीन रहते थे। उनका पक्का विश्वास था कि कृपा ही वह साधन-रत्न है, जिससे सहज ही अनूप गुणी कृष्ण का नाम रूप-भरूप प्राप्त हो जाता है। उनकी मति 'कृपा ठकुराइन' के पावो की चेरी हो कर रहने लगी। उन्होंने अपने मन-अक्षर को क्याम-हृदय-सरोज के कृपा-मकरंद में ही रमाया। विश्वास के बोहित, जहाज, पर चढ़ कर कृपा-सिंधु में भगवाहन किया।

घनानंद भगवान की प्राप्ति मनुष्य-रूप में ही चाहते थे। भगवान को मनुष्य रूप में पाकर ही मनुष्य का विश्वास उनमें जम सकता है—'पीरिति-रतन करिजो जतन, जदि सघाने-सघाने हय ।'

ईश्वर, ईश्वर रह कर हमारी श्रद्धा भले ही पाले, किंतु बिना रूप-आकार के वह हमारे दृढ़ विश्वास पर अवलंबित प्रेम का भाजन सहज ही नहीं हो सकता। इसीलिये मनुष्य ने माता, पिता, सखा, आता, बंधु, पुत्र, पत्नी आदि नाना रूपों में ईश्वर की कल्पना कर अपनी बासनाओं की तुष्टि के लिये दृढ़ आधार ढूँढ निकाला है। इस दृष्टि से किसी (सम्भवतया किसी) ने ठीक ही कहा था कि ईश्वर ने मनुष्य बनाया हो या न बनाया हो, किंतु मनुष्य ने ईश्वर जरूर बनाया है।

घनानंद न अपनी सच्ची प्रेमानुभूतियों और एकनिष्ठ लगन के कारण सुजान कृष्ण और राधा की भिन्न भिन्न लीलाओं को देखने में समर्थ हुए। कभी जिसी कृष्ण की मीठी मुरली उनके हृदय में आनंद देने वाली राग-रागिनी-तरंग की घुनि उपजाती थी, कभी मजु मोर-चक्रिका सहित पचरगी पाग और झीने नीमा पहले कृष्ण सामने दिखाई देते थे, और कभी उनके अग-अगो से धुति की उज्जती हुई तरंगे अपनी अन्ध शोभा की सौंदर्यमयी झलक दिखलाती हुई विविधमत में बिखर जाती और कभी हँसी-मरे बोलों में फूलों की शोभा नजर आती। कभी काननचारी दृग गोरे मुख पर सौंदर्य की वृद्धि करते तो कभी कानों में लटकते कमल ध्यान को अपनी ओर खींच लेते। अत्यंत अग में सौंदर्य अपने उमर से उमड़ता था जिसे देख-देख हृदय में आनंद के फूलों की वर्षा हो जाती थी। कभी वे उस उदार रास-विहारी का रूप देख कर अग में पड़ जाते थे। कृष्ण की जो अनुभूति उन्हें हुई उसका वर्णन करने में उन्होंने वाणी को असमर्थ पाया, किंतु कृष्ण के सामीप्य के आनंद का अनुभव उन्हें होने लगा और वे उसी आनंद में डूबे रहने की चाहना करते रहे।

संक्षेप में घनानंद ने जिस कृष्ण की नाना लीलाओं को अपनी प्रेम-भावना की तल्लीनता के कारण देखा वह अखंड, नित्य, रसानयक, सहज ही रीझने वाला, उदार श्रुंगार-भूति परब्रह्म कृष्ण है, जिसमें प्रेम के कारण सोलह कलाओं को धारण कर चंद्र-वक्ष में जन्म लिया और यशोदा को अपनी माता बनाया। राधिका के मुख-चंद्र का चकौर वही कृष्ण घनानंद का मनोरथ था और मनोरथ को पूर्ण करने वाला 'सुजान' प्रिय भी।

घनानंद रीति-काल में उत्पन्न हुए थे। कृष्ण और राधा की भिन्न-भिन्न लीलाओं में भिन्न-भिन्न नायक-नायिकाओं का पूर्ण विकास उस समय तक हो चुका था। इस प्रवृत्ति का पूर्ण प्रभाव कृष्ण-भक्ति के तथा श्रुंगार-काव्य के कवियों पर पड़ा। यद्यपि घनानंद ने लक्षण-अर्थों को अपना प्रादवं बना कर कविता नहीं की, फिर भी विरहिन गोपिकाओं की भिन्न-भिन्न दशाओं के चित्रण में भिन्न-भिन्न नायिकाओं के जो चित्र पाठकों के सामने आते हैं वे नायिका-प्रभाव की तथा 'विरही घनानंद' की स्वात्म-अनुभूति की सूचना देते हैं। इन मानसिक दशाओं के चित्रण में भावना की पवित्रता सर्वत्र बनी है। कहीं भी उसमें शिथिलता अथवा उच्छ्वेद खला नहीं आने पाई है। वह स्वाभाविक, सरल, स्पष्ट और हृदय-स्पर्शी है। कृष्ण की पवित्रता पूरी बनी

१ रसखान और घनानंद (नागरी प्रचारिणी सभा काशी-संस्करण) छंद सख्या—३३६, ६७, १५३, १६८, २११, २३, ६७, ३५६, १४६, ३३२, २८८, १११, २२, १३१, ७२, ५, १५६, २११, ३३३, ३३४, ३४२, ३३६, ३५४, ३५५, ३४१, ३४३, १८१, ३५६, ४००, ४, १७०, ३१०, २८१ ।

ही हुई है। वे अपने ब्रह्मत्व के पद तथा आनंद-रस-रूप से नीचे नहीं गिरे हैं। इसलिये उनमें रीतिकाल के अन्य कवियों की सी कामुक लपटता का अभाव पाया जाना स्वाभाविक ही है। सच्चे हृदय की स्वाभाविकता में घनानंद के राधा और कृष्ण का सरल सीधे निरर गया है।

वल्लभ-संप्रदाय में समर्पण की भावना थी। इसमें मन, घन के साथ शरीर का भी समर्पण करना होता था। यह समर्पण एक दिन सहजिया-संप्रदाय के समर्पण के रूप में विकृत हो गया। कृष्ण-भक्ति की इस अवस्था में 'सूर' और 'नंददास' के राधा-कृष्ण को लोग भूल गये। सूर और नंददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों के राधा और कृष्ण ब्रह्मा और गोप-कुमार, सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में थे। उनमें आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों थी, किंतु भक्ति की वह भावना जो संप्रदायों में पहले थी वह अब न रह गयी थी। आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता की ओर अधिक प्रवृत्ति थी। फलस्वरूप राधा और कृष्ण के चरित्र से आध्यात्मिकता जाती रही, वे विकृत भावनाओं को प्रकट करने के साधन रह गये।

कृष्ण-भक्ति का यह विकृत रूप जनता को आदर्श से गिरा रहा था, उस समय शक्तिहीन राजाओं में, वैभव की समृद्धि में डूबे हुए आदशाही की विलास-प्रवृत्ति के अनुकरण की होड़ लग रही थी। फलतः कुत्सित श्रृंगारी-साहित्य को प्रोत्साहन मिल रहा था। हल और गोवर्द्धनाचार्य के श्रृंगारी साहित्य का विकास अलंकार-शास्त्र के साथ और भरत के नाट्य-शास्त्र तथा वात्स्यायन के कामसूत्र से प्रभावित नाटक-साहित्य का विकास रस-संप्रदाय के साथ-साथ होता हुआ संस्कृत-साहित्य में चला आया था। जिससे मुक्तक श्रृंगारी साहित्य और नायक-नायिका-भेद का रसानुकूल विवेचन समयानुकूल परिवर्तनों के साथ संस्कृत-साहित्य में हुआ। इस विकास की सारी प्रवृत्ति विद्वन्नाथ के साहित्यदर्पण में आ चुकी थी। इस संस्कृत-साहित्य के विकास का प्रभाव हिंदी के कवियों पर भी पड़ा, किंतु वे उससे पूरा लाभ न उठा सके। संस्कृत के प्रकांड पंडित केशवदास को पांडित्य-अवर्धन करने की प्रवृत्ति ने अलंकारों के जाल में ही भटक दिया। कृष्ण-चरित्र में सब रसों की सामग्री^१ देख लेने पर भी वे उसका उपयोग न कर सके। अपने समय से ऊँचे उठने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी, वरन अपनी शक्ति, पांडित्य और पद के कारण उन्होंने साहित्य की बारा को ही अलंकार-चमत्कार की ओर मोड़ दिया। शक्ति की प्रेरणा न होने तथा इद्रजीत के अखाड़े में रहने के कारण केशव ने राधा-कृष्ण के चरित्र को कुत्सित भावनाओं को प्रकट करने का साधन मात्र बना दिया। कवियों की विकृत भावना को प्रबल करने में फारसी काव्य-धारा भी कम सहायक न हुई। फलस्वरूप कृष्ण और राधा के पवित्र चरित्र से अलौकिक देवत्व की भावना जाती रही। आध्यात्मिकता के दूर हो जाने पर वे अब कविता करने के बहाने मात्र रह गये^२।

^१ श्री भूषभानु, कुमारि हेतु सिंगार रूप भय ।

बास, हास, रस, हेर, मात बंधन कवनामय ॥

केसो प्रति प्रति रौद्र, नीर भारी बल्लाधुर ।

भय बाबल पान किया, बीभत्स बकी उर ॥

प्रति अबभुत बंछि बिरंचीमति, सात संतत सौच चित ।

कहि 'केशव' सेवहु रसिक-जन, नव-रस में बजरज निव ॥

^२ आगे के सुकवि रीति हैं तो कविताई, न तु राबिका-कन्हौ सुमिरन की बहानों है ।

—बास

रसिक रीति हैं जानि, तो हूँ है कविता सफल ।

न तब सब सुखबानि, श्री राधा-हरि को सुजत ॥

—द्विजदेव

सरस-भंजावली

श्री सहचरि शरण

निरबै हृदं न होहु मनोहर, सबै रूखो मन भावन ।
 नवल मोहिलो मोहि तजै जिन, तोहि सोहु प्रिय-भावन ॥
 रसिक 'सहचरी-सरन' स्थाय-धन, रस-बरपावन सावन ।
 बरस देहु बर बदन-भंडमा, जल-बकोर बिलसावन ॥१॥

बाँकी पाग चरिका ता पर तुरी करि रमा है ।
 बर सिरपैच, माल उर बाँकी, पटकी चटक भ्रमा है ॥
 बकि नैन मैनसर बकि, बैन बिनोव भ्रमा है ।
 बकि की बाँकी झाँकी करि बाकी रही कहा है ॥२॥

कटि किकनि, सिर मोर-मुकट, बर, उर बनमाल परी है ।
 करि भूषक्याँन जकाचौधी खिल, चितवलि रंग-भरी है ॥
 'सहचरिसरन' सु बिस्व-बिमोहनि, मुरली अघर घरी है ।
 ललित जिमंगी सजल मेघ-सन, भूरति मंजु खरी है ॥३॥

मलयज तिलक लसाट पटल पट, भटल सनेहु सदक सौ ।
 मदन बिजै अनु करत पुरट मै, कटि किकनी कटक सौ ॥
 'सहचरिसरन' तरनि-सनया-सट, नटवर भुकट लटक सौ ।
 चित-चुरली मुरली-भुनि पावत, आवत चटक-मटक सौ ॥४॥

बुन बनबात रसोले हँसि-हँसि, ललचत नहि मन काके ।
 उर चटपटी लगावत छिन-छिन, बैन मैन मै ताके ॥
 बरबस प्राँन हरत निरखी री, मुल-बिलासत मधु-खाके ।
 'सहचरिसरन' बौरि कोउ रोको, डारत फँव प्रभा के ॥५॥

अधिक सलौना टोना करिकें, बैन बजाइ गयो री ।
 हुतो कोन कौ, कोन कहै किन, कैसेँ गाइ गयो री ॥
 'सहचरिसरन' रंग-अरि अखियाँ, चार्येन चाइ गयो री ।
 मवन भई मै भई बिलोकल, मुल-मदकाइ गयो री ॥६॥

प्रफुलित अंग मिलावत बाँचनि, मुहु कूजनि अनु टोनी ।
 प्रोष निकुंज येसुबनि सीसँ रस-खिल कोटि सलोनी ॥
 स्थाय बिहूँ, बिहूँगनि गोरी, जिमि उरखी गुन गोनी ।
 'सहचरिसरन' अचागर तागद, बर खिलवार खिलौनी ॥७॥

कनक-जटित केकी कस कुंडल, भव भुजंग बिष-भंजन ।
 मन-भेहिन बर बाज भौंह, नख, बज मख गाली गजन ॥
 रतन अमोल अमल बूग आयत, बिपति-बलन मन-रंजन ।
 'सहचरिसरन' त्रिताप तिमिर हर, बदन बंद मति मंजन ॥८॥

छिति-पति लेत भोल पशु-पच्छिन इहि बिधि कबै तहोने ।
 रबि-बुहिता सुर-सरित भूमि जिमि, रस उर कबै बहोने ॥
 यकरत भूँग कीट कौँ जैलें, तैलें कबै गहोने ।
 'सहचरिसरन' मराल मानसर मन इमि कबै रहोने ॥९॥

गोस्वामी तुलसीदास की ब्रजभाषा-साहित्य को देन

श्री रामदत्त, कृष्णदत्त भारद्वाज

ब्रज-क्षेत्र की तट-सीमा पर आविर्भूत हो कर^१ प्रातःस्मरणीय गोस्वामी 'तुलसीदास' ने अपने काव्य-चरित्र में पुराण, निगम, आगम, रामायण और 'ध्वनिदन्त्यतोऽपि' का जो पंचामृत मरा वह इतना प्रशय बना कि तुलसी को तो उसमें अतः मुग़ मिला ही, परवर्ती सहस्रदा^२ भावुक भगतों की भी उससे तृप्ति हुई है, हो रही है और भागे होती रहेगी। इस कवि की साधना ने अनेकानेक जीवों की साधनाओं को राफल कर दिया। तुलसी ने जो कुछ लिया सब उपर्युक्त पुराण-आदि धार्मिक-प्रमाणों के आधार पर ही कहा है। जितना ही तुलसी-साहित्य का अध्ययन किया जाता है, उतना ही इस तथ्य पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता है।

निगम-समत—इंद्र, यम, बरुण, कुबेर आदि बहुत से देवताओं की सत्ता ऋगादि वेदों से प्रतिपादित हुई है। तुलसी का उन सबके अस्तित्व में विश्वास था। देवताओं के आकार-चिंतन में यास्क^३ ने जो कई विकल्प प्रदर्शित किये हैं, कहना न होगा कि तुलसीदास उनमें से पुरुषविधत्ता के विकल्प को मानते थे।

पुराण-समत—तुलसी ने यथास्थान त्रिदेव-वाद का समर्थन किया है। त्रिदेववाद से तात्पर्य है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर जगतके कर्ता, रक्षा, हर्ता हैं। यद्यपि पुराणों के शैव, वैष्णव आदि प्रभेद हैं तथापि त्रिदेववाद उनका समानरूपेण प्रतिपाद्य है^४। तुलसी के राम-काव्य में अनेकत्र इसका उल्लेख है।

आगम-समत—श्री राम के रूप का चिन्मय कह कर प्रतिपादन आगमानुकूल है। न्याय, वैशेषिक, साम्य, योग दर्शनों में रूप का भौतिकत्व ही स्वीकार किया गया है, अद्वैत वेदांत में ईश्वर-रूप का मायिकत्व भी,^५ किंतु वैष्णव-आगमों और तदनुसारी वैष्णव दर्शन-शास्त्र में उसका चिन्मयत्व भी बताया गया है,^६ अतएव तुलसी-द्वारा श्रीराम के विग्रह की चिन्मयता का प्रतिपादन आगम-समत है^७।

१. विशेष परिचय के लिये देखिये श्री रामदत्त भारद्वाज का 'तुलसी का घरबार'

—नेशनल इन्फरमेशन एण्ड पब्लिकेशन्स लि० बवई

२. अथाकारचित्तनदेवानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ।

—निरुक्त, दंतकांड १।६

३. सुष्टित्थित्यंतकरणीं ब्रह्म विष्णु शिवाभिधाम् ।

स संतां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥

—विष्णु पुराण

४. स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् ।

—ब्रह्मसूत्रे आकरभाष्यम् १।१।२०

५. पाङ्गुव्यविग्रहं देवं ।

—सात्वत संहिता, १।२५

सच्चिदानंदसाक्षात्गमिचिदानंद धनाकृतिः ।

—भक्तिरसामृतसिंधु

६. चिदानंदमय देह पुम्हारी, विगत-विकार आन आधिकारी ।

—रामचरित-मानस

बाल्मीकि के अनुसार श्रीविष्णुभगवान् ही ब्रह्मादि के विवेचन से उस धराधाम पर प्रकटीत हुए थे—“सीता लक्ष्मीमैवान् विष्णु” (६।११७।२९) तुलसी ने इस रामायण-समस्त बाद का उल्लेख किया है—

“भए प्रकट कृपाला, दीन बधाला, कौसल्या हितकारी ।

सोचन अभिरामा, तनु धनस्यामा, निज आयुध भुन चारी ॥”

और —‘वचचिदन्वितोऽपि’ यह स्पष्ट है कि श्रीराम ही परात्पर हैं—

“जग पेखन तुम्ह पेखनहारे । विधि हरि संभु नचाबनि हारे ॥”

तुलसी की प्रतिमा वैदिक बहुदेववाद से पौराणिक विवेकवाद की ओर, पौराणिक विवेकवाद से आधुनिक विष्णुवाद की ओर, आधुनिक विष्णुवाद से रामायणीय रामावतार की ओर आकर अंत में ‘वचचिदन्वितोऽपि’ के राम-परत्वं में परिनिष्पन्न हुई है । दूसरे शब्दों में, इन्द्रादि देवताओं से ब्रह्मा, विष्णु, शेषेश अथवा त्रिवेदातर्गत विष्णु बड़े हैं, विष्णु के ही अवतार राम हैं, किंतु तुलसी ने राम को विष्णु का अवतार मान कर भी राम के परत्वं का भी प्रतिपादन किया है, अर्थात् राम विष्णु से भी बड़े हैं—यह माना है । ब्रह्मभाषा में श्री कृष्ण की महिमा प्रायः गाई गई है, किंतु ब्रज-साहित्य को राम की परात्परता तुलसीदास की ही देन है ।

दार्शनिकता और भक्ति

गोस्वामी जी ऊँची धोणी के दार्शनिक थे । उन्होंने जीव, जगत्, माया, ईश्वर आदि विषयों पर अपनी वैदुष्य-पूर्ण, किंतु रोचक शैली में प्रकाश डाला है । विनय पत्रिका का—

“कैसेब, कहि न जाइ का कहिए ।

बेखत सब रचना बिचिन अति, समझि मनहि मन रहिए ॥”

आदि पद में सृष्टि के वैचित्र्य का एक दार्शनिक की दृष्टि से विवेचन करते हुए जो अपनी समति भी है उससे प्रेरित होता है कि उनकी कल्पना की रेखा किस ऊँचाई की थी । पद के अंत में वे कहते हैं—

“कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मारें ।

‘तुलसीदास’ परिहरे तीन भ्रम, सो आपन पहिचानें ॥”

इसमें उन्होंने जगत् के मिथ्यात्ववाद, सत्यत्ववाद और उभयवाद इन तीनों ही बावों को भ्रात बता कर साबक को उनके परित्याग की समति दी है, क्योंकि तुलसी की समति में सभी आत्म-साक्षात्कार समक हैं । यह सिद्धांत प्रद्वैत वेदात के ‘सदसद्भ्यामनिर्वचनीयवाद’ के समकक्ष है* । माया को न सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह त्रिकाश में एक रह नहीं और न असत् ही कह सकते हैं, क्योंकि वह इस समय प्रत्येता की प्रतीति का विषय जो बनी हुई है, एव युगपत्, सदसत् कह कर भी उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस वक्ता में एक ही प्रत्येता को युगपत् दृश्य भी प्रतीति और अप्रतीति होनी चाहिए जो कि अनुभव-विषय है । अतएव दृश्य प्रपञ्च के लिये अनिर्वचनीय कह कर ही दार्शनिक की कल्पना शांति में समाप्त हो जाती है । इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अनिर्वचनीयता माया किंवा प्रपञ्च के लिये ही कही गई है, श्री भगवान् के लिये नहीं । उन्हें तो तुलसी प्रणिगत, गोतीत और मायारहित कह कर सच्चिदानन्द ही बताते हैं—

“अचिंत गोतीत, अरित पुनीत, माया-रहित मुकुंदा ।

निजि-बासर ध्याबहि, गुन गन गाबहि, कथति सच्चिदानन्दा ॥”

इतनी उच्चकोटि के विचारक होते हुए भी वे उच्चकोटि के भक्त भी थे । भगवान् के स्वरूप, रूप, गुण, लीला और धाम का यथा-प्रसंग जो प्रतिपादन उन्होंने किया है उससे उनकी परम और विशुद्ध भक्ति का परिचय मिलता है । उनकी तो आस्था यही रही है कि ‘मगल-मवन, नव-नील-नीरद-सुंदर श्रीराम’ हृदय में बसे रहें, अन्यथा जीवन निरर्थक है—

*. अज्ञान तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीय त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि सावधम् ।

—वेदांतसार ३४

“पम नूपुर औ पट्टेची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिणै ।
नव-नील-कलेवर पीत झगा झलकै पुलकै नूप गोद लिए ।
अरविद सौ अरिन रूप मरद, अरविद लोचन भूंग पिए ।
मन में न बस्यौ अस बालक जो ‘तुलसी’ अंग में फल कोन जिए ॥”

—कवितावली ११२

राम की रूप-माधुरी का वर्णन करते-करते तुलसी थकते ही नहीं । कभी—

“सरब भयक बदन छवि सीमा । आस कपोल चिबुक बर प्रीता ॥
अचर अरुन रव सुंदर नासा । जिघुकर निकर बिनिबक हासा ॥
उर भीबत्स सचिर बनमाला । पदक हार भूषण मनि जाला ॥”

इत्यादि चौपाइयो-द्वारा अपने आराध्य का आराधन करते हैं तो कभी—

“बिहरत भवभ-ओषिनि रसि ।
संग अनुज अनेक सिधु, नख नील नीरव स्याम ॥
तरुन अरुन सरोज पव बनि कनकमय पद-आन ।
पीतपद कटि तून बर कर, ललित लघु बनु-आन ॥
लोचन कौ लहत फल, छवि निरखि पुर-नर-नारि ।
बसत ‘तुलसीदास, उर, अवधेस के सुत आरि’ ॥”

—गीतावली १४१

आदि गीतो के द्वारा उसका गान करते हैं, और कभी—

“जयति सिंगार सर तामरस बाम दुति, देह गुन-गोह बिलोपकारी ।
सकल सौभाग्य सौख्य सुखमारूप, मनोभव कोटि गरबापहारी ॥”

—विनयपत्रिका ४४

की सेवा में अपना विनय-निवेदन करते हैं—

“कबहुँक भंव, ओसर पाइ ।
मेरिअौ सुधि छाईनी, कछु करन कथा चलाई ॥”

—विनयपत्रिका ४१

इत्यादि पद में तो जगज्जननी श्री सीताजी के चरणोंमें अपन उद्धार का भार रखते हुए तुलसी का विनय अत्यंत विनम्र हो गया है । ब्रज साहित्य को तुलसी की यह देन बड़ी सुंदर है ।

उदात्त चरित्र का चित्रण

ब्रजभाषा के किसी श्रम में चरित्र का उदात्त वर्णन नहीं हुआ है जितना मानस में । मानस क्या है ? सत्कृत के श्रीराम-साहित्यरूपी अनेक रमणीय उद्यानों की वचन-कुसुमों का मधुर-मधु है, जिसकी मधुरिया से ब्रजभाषा-साहित्य धलियो से आमोदित होता चला आ रहा है और जिसने अपनी सत्कृष्टता से अब अमरत्व-लाम कर लिया है । गोस्वामीजी ने इस नवीन मधु में पुरातन ‘कृत’^१ का अमृत मिला कर माधुकी के हृदयो

^१ कृत स्मर ।

—ईशोपनिषद्

कृतात्यर्थेऽनुशयवान् इत्यादि ।

—ब्रह्मसूत्र ३।१।८

शुक्रतु बुद्धे एवेति तु बादरिः ।

—ब्रह्मसूत्र ३।१।११

को बहुत ही आकर्षित किया है। कृत के ही कर्म,^१ कर्तव्य, चरित^२, चरित्र, चरण^३, आचार,^४ धर्म,^५ आदि पर्याय हैं। कृत वा चरित्र ही मानव को सांसारिक संकटों में धीरे-धीरे हठा विष्यता के साम्राज्य में पहुँचा देता है। श्रीराम-चरित्र का प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी जी ने मानव-जन्म के समुक्त मानव-चरित्र का अत्यंत उदात्तरूप में निरूपण किया है। इस चरित्र-निर्धार का उद्गम नि सदाय वैदिक ऋचाओं में हुआ है और संस्कृत-साहित्य के विविध उच्चावचस्तरो को इसने अपनी शरी के कलकल से प्रचुरता में मुखरित किया है, किंतु संस्कृत-साहित्य की परिधि से निकाल कर घर-घर तक और जन-जन तक उसके प्रभाव को पहुँचाने का अर्थ गोस्वामीजी को मिला है और अपने इस स्तुत्य प्रयत्न के लिये उन्होंने ब्रजभाषा को ही धर्म-काश में उपयुक्त माध्यम के रूप में प्रतीकार किया।

चरित्र-संबन्धी ऐसी अनेक वैदिक भावनाओं को जो संस्कृत-साहित्य में लिपिबद्ध होने के बाद विद्वानों के ही काम की थी, अपने समय की प्रधान लोकभाषा, अर्थात् ब्रजभाषा में लिख कर यो वासीजी ने हमें साधारण तक पहुँचा दिया। तुलसी के साहित्य का अध्ययन अध्येता के मानस-मटल पर जो सबसे गहरी प्रसिद्धि छापा लगा देता है वह है, चरित्र की छापा। जगत् में मानव रूप से अवतीर्ण सपरिकर श्रीराम के परम सङ्गीत चरित्र का मनन करने पर मनन करने वाले के मन में अपना भी चरित्र उदात्त बनाने की अभिलाषा का उत्तम स्वाभाविक है।

समन्वय

हिंदी-साहित्य में समन्वय की भावना तुलसी के काव्य में सर्वांगीण हो गयी है। यह भावना मान्य में अनादिकाल से चली आ रही है। ऋग्वेद का—“एक सद् विश्वा बहुधा वर्धति” यह वचन इसी का एक प्राचीन निदर्शन है। अनेक धाराओं में अनुस्यूत एक ही परम चरम सत्ता का दर्शन उस समन्वय का एकमात्र लक्षण है। पुराण का निवेद-वाद भी आपाततः तीन विभिन्न मूर्तियों का एक अद्वितीय ईश्वर में समन्वय ही है। “मित्र भद्रम विष्णु”, “सगुण वा निर्गुण”, “एवम् ज्ञानं किंवा भक्ति” ? जैसे जटिल विरोधों का मनोरम समन्वय जिन गोस्वामीजी की रामायण ने किया है उसना और किसी ग्रन्थ ने नहीं। तुलसीदास समन्वय करने में बड़े निदग्ध प्रतीत होते हैं। विनय-भक्तिका का हरिश्चकरीपद प्रसिद्ध है। रामचरितमानस में —

“सिब-ब्रह्मो मम भक्त कहावा, सो नर सपनेहु भोहि न भावा ।”

तथा—

“जा पर कृपा न करहि पुरारो, सो न याव मुनि भक्ति हमारी ।”

आदि वचनों से उन्होंने बड़ी सुगमता-पूर्वक शैव-वैष्णवों के पारस्परिक विद्वेष का समूल उन्मूलन करने का सनीय यत्न किया था। इसी प्रकार—

१. गान्धनवद्यानि कर्माणि ।

—तैत्तिरीय १।१।१२

चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यन्यन्तरम् ।

—ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य ३।१।११

२. गान्धस्माकं सुचरितानि ।

—तैत्तिरीय १।१।१२

३. तदा इह रमणीयचरणाः ।

—छांदोग्य ५।१।०७

४. आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः ।

५. आचारोऽपि च धर्मं विदोष एव ।

—ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य ३।१।११

“सगुनहिं-अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गार्वाहिं मुनि, पुरान, बुष, बेदा ।”

आदि सुकोष वचनावली से उन्होंने परमात्मा के निर्गुण और सगुण-भाव का बड़ा ही रोचक समन्वय कर दिया था । एव—

“ध्यानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा, उमै हरहिं भव-संभव खेदा ।”

कह कर गोस्वामीजी ने ज्ञान और भक्ति के चिरत्न उग्र विवाद को शांत किया था ।

धर्म-ग्रंथ

ब्रजभाषा-साहित्य को गोस्वामीजी ने एक अनुपम ‘धर्म-ग्रंथ’ प्रदान किया । रामचरितमानस एक ऐसा धर्म-ग्रंथ है जिसका मान हिंदू जनता श्रुति, स्मृति, गीता और पुराण के समान ही करती है। इसका प्रत्येक बोद्धा, प्रत्येक चौपाई एक-एक मंत्र के समान भावरणीय है—

“मंगल भवन अमंगल हारी, ब्रजौ सो दसरथ-अजिर बिहारी ।”

आदिक शतश वचनोका मंत्रवत् उच्चारण और जप किया जाता है, समस्त ग्रंथ का नवाह्न और मासिक आदिक के रूप में पारायण किया जाता है और विशेष-विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिये विशेष-विशेष चौपाइयों से अनुष्ठान किये जाते हैं । हिंदू-धर्म के प्रायः सभी मुख्य विषयों का—मुनर्जन्म,^१ वेदों की अपीक्षेयता,^२ आदि,^३ मूर्तिपूजा,^४ अवतार,^५ भक्ति,^६ भगवत्-साक्षात्कार^७ का इस ग्रंथ में परम सौष्ठव से प्रतिपादन हुआ है । इसमें सभी प्रकार के साधकों के लिये सामग्री का सन्निवेश है । गायर में सागर बाछी सुक्ति इस ग्रंथ में पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है । इस ग्रंथ-रत्न को पाकर ब्रज-भाषा और ब्रज-साहित्य धन्य हो गये हैं ।

चौपाई

साहित्यिकों की यह धारणा है कि तुलसी को चौपाइयों में राम-चरित्र लिखने की प्रेरणा जायसी से मिली । यह धारणा सत्य हो सकती है, परंतु निश्चयात्मक प्रमाण की अनुपस्थिति में पूर्णरूपेण इसे सत्य नहीं कहा जा सकता । यद्यपि जायसी, तुलसी के पूर्ववर्ती थे, अतएव जायसी के द्वारा अपनाये हुए छंद से तुलसी का प्रभावित होना संभाव्य है, तथापि इस दिशा में हमारी एक और ही उत्प्रेक्षा है और वह यह कि जिस प्रांत की भाषा में तुलसी ने अपनी रचना का प्रचुर अंश लिखा उस प्रांत में इस चौपाई का प्रचलन जायसी की उत्पत्ति से भी शता-

^१ जनम-जनम मुनि जतन कराहीं । अंत राम मुख निकसत नाहीं ॥

—रामचरितमानस, कि०कांड

^२ जाकी सहज स्वांस कृति चारी, । सो हरि पद यह कौतुक भारी ॥

—वही, बालकांड

^३ सब सुपीबहिं घायसु दीन्हा । मुक्त-कर्म बिबिधत सब कीन्हा ॥

—वही, किष्किंकाकांड

^४ सरसमोप गिरिजा-गुह सोहा । बरनि न जाय देखि मन मोहा ॥

तथा—

खसी माल मूरति मुसकानी ।

—वही, बालकांड

^५ बिप्र बेनु, सुर, संत हित, सोन्ह मनुज अवतार ।

निज इच्छा निमित्त तनु, माया गुन गोपार ॥

—वही

^६ अति बुरतम कंवल्प परम पद । संत पुरान नियम आगम जब ॥

—वही, उत्तरकांड

^७ भगतवल्लभ प्रभु कृपानिधाना । बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥

—वही, बालकांड

न्दियो पूर्व रह चुका था। हमारा अभिप्राय भीम-झागवत की चतुष्पदियों से है। यद्यपि व्यास, ने ब्रह्मैन्द्र-नन्दन श्री कृष्ण की लीला-कथाओं के प्रतिपादन में अनेक 'गीत' भी लिखे थे, जो हमें भागवत में अविकल रूप से उपलब्ध हैं। इन गीतों में से एक का नाम है 'युगल गीत' विज्ञ-जनो से यह तिरोहित नहीं है कि यदि यह युगल-गीत गाय जाय तो इसकी लय ठीक चौपाई के सदृश निकलेगी। उदाहरणार्थ इस गीत के इस पद्य को पढ़िये —

“राम बाहु कृत वामकपोलो, दलितभ्रुरधरापितवेणुम् ।
कोमलांगुलिमिरामित सार्ग गोप्य ईर्यति पद्म मुकुन्दः ॥”

—भागवत १०।३५।२

और अब इसकी तुलना तुलसी की—

“स्याम-तामरस-राम सरीरं, जटा-मुकुट परिधन मुनि वीरं ।
पाणि चाप सर कटि तूनोरं, नीमि निरंतर श्री रघुवीरं ॥”

इस चौपाई से कीजिये। आपको विदित हो जायगा कि युगल-गीत की चतुष्पदी और जायसी-तुलसी की चौपाई में बहुत साम्य है। अंतर केवल अत्यानुप्रास का है। व्यासजी की रचना में उसका उपयोग नहीं हुआ है, किंतु गोस्वामी जी में हुआ है। सारांश यह है कि हिंदी-साहित्य में चौपाई का प्रसन्न युगल-गीत की चतुष्पदी के आधार पर हुआ है। अतएव यह प्रतिपादन अप्रयुक्त न होगा कि तुलसी ने श्री युगल-गीत की चतुष्पदियों से प्रेरणा पाकर अपने आराध्य पुरुषोत्तम के चरित्र-चित्रण के लिये उत्ती छंद को अत्यानुप्रास-पूर्वक अपना कर ब्रजभाषा और साहित्य को अंत कर दिया।

रामचरितमानस की भाषा

गोस्वामीजी की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ विनय-पत्रिका, गीतावली, कृष्ण-भोता वृत्ती और कवित-रामायण शुद्ध ब्रजभाषा में हैं और उनका लोक-प्रिय विषयविस्तृत ग्रंथ 'रामचरितमानस' ब्रजभाषा अथवा ब्रजावली में है। गोस्वामीजी की जन्मभूमि 'सूकरखेत' (सोरो) ब्रज और 'अवधी' प्रान्तों की सीमा पर स्थित है, जहाँ ब्रजभाषा इतने शुद्ध रूप से नहीं मिलती जितनी मथुरा-मुदावन में, सोरो में अवधी की लटक है। वस गोस्वामीजी ने अपने जन्मस्थान की इसी भाषा को अपने हृष्टदेव के चरित-गान के लिये अपनाया। इसमें ब्रजभाषा का बाहुल्य है, किंतु अवधी के भी रूप विद्यमान है, क्रियाओं के रूप प्रायः ब्रजभाषा के हैं। रामचरित-मानस की सभी प्राचीन पांडु-लिपियों और नागरी प्रचारिणी सभा के छपे संस्करणों में रामचरित-मानस का ब्रजावलीत्व निर्दिष्ट है, यद्यपि कुछ अन्य छपे संस्करणों में लोगों ने अम-वध ब्रजभाषा के रूपों को भी अवधी रूप दे देने की चेष्टा की है। देखिये 'रामचरित-मानस' की सर्व प्रथम हिंदी-पंक्तियाँ किस प्रकार प्रारंभ होती हैं—

“जिहि सुमिरत तिवि होइ, गन-नायक करिबर बदन ।
करी अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुन गुन-सवन ॥”

❀

“बंदो गुरु-पद कंज, कृपा-सिन्धु नररूप हरि ।
महा मोह तम पुंज, जातु बचन रवि कर निकर ॥”
“बंदो गुरु-पद पदम-परागा, सुखचि सुबास सरस अनुरागा ॥”

❀

“गुरु-पद भुजु नंजुल रज अंजन, नैन प्रमिय दृग-शेष विभंजन ।
तिहि कर बिलस विवेक विवेचन, बरनौ रामचरित भव-भोजन ॥”

रामचरितमानस की प्रतिम पंक्तिओं को भी देखिए—

“जाकी कृपा सबसै ते, सति भंव तुलसीदास हूँ ।
पायी परम ब्रह्मास, राम संमान प्रभु नाहीं कहूँ ॥
भो लख दीन न दीन हित, तुम्ह समान रघुबीर ।
अस बिचारि रघुबंस-मनि, हृष्ट बिबस भव-भोर ॥

कामिहि नारि पिआरि जिनि, लोमिहि प्रिय जिनि बाम ।

तिनि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागी मोहि राम ॥”

राम-काव्य का केंद्र

वर्णनीय विषय के रूप में राम-चरित्र का वर्णन करके कवि ने ध्वस्त वातुरी को प्रदर्शित किया है । प्रतिपाद्य वस्तु के कथानक-प्रधान होने के कारण कवि की शैली वर्णनात्मक रही है और भावि से अत तक बड़ी प्रभावशालिनी है । तुलसी का राम-काव्य सजीव तो इतना है कि अपने इस गुण के कारण वह हिंदी-साहित्य का मुकुट-मणि बना हुआ है । सजीवता रसाधीन है और तुलसी की रचना में पद-पद पर पाठक को रसास्वाद का अवसर मिलता है । प्रायः सभी रसों का उसमें यथानसर समावेश है, तथापि शृंगार का ही मुख्य सन्निवेश है । शृंगार में प्रेम स्थायी होता है, जिससे तुलसी की राम-रचना अतः प्रोत्त है । अन्य रसों का उसमें ही पर्यवसान हुआ है, उसी की श्री-वृद्धि के लिये मानो उनका अस्तित्व हो । आराध्य देवता के प्रति रति (प्रेम) को साहित्यिक-परिभाषा में ‘भाव’ कहा जाता है, और यह भाव ही तुलसी के राम-काव्य का केंद्र है । इसी केंद्र के चारों ओर तुलसी ने काव्य-साहित्य के क्षेत्र में पर्यटन किया है । यह ठीक है कि वे परम भक्त और भजनानदी थे, किंतु वे रसिक और काव्य के परम मर्मज्ञ भी थे । अनेक लेखकों ने उनकी साहित्यिक उत्कृष्टता पर प्रचुर प्रकाश डाला है, तथापि निम्नलिखित कतिपय उद्धरण ‘स्थालीपुलाक न्याय’ से पर्याप्त होंगे ।

भगवान् रामचंद्र भगवती सीता को घर रहने के लिए अनेक युक्तियाँ उपस्थित करते हैं, किंतु वह साव्धी नहीं मानती । तुलसीदास के शब्द कितने मार्मिक हैं—

“मोहि भग चलत न होइहि हारो, छिन-छिन चरन-सरोज निहारी ।

सबहि भाँति पिय सेवा करिहो, मारग-जनित सकल छम हरिहो ।

पाँइ-पक्षारि बैठ तरु-छाहीं, करिहो गाउ मुदित मन-माहीं ।

जम-कन सहित स्याम तन देखें, कहैं बुझ समउ प्रानपति पेखें ।

सम महि तून तब पल्लव बारी, पाँइ पलोदिहि सब निसि बारी ।

बार-बार मुहु-भूरति जोही, लागहि ताति बयारि न मोही ।

को प्रभु-सँग मोहि चितवनि हारा, सिध-बधुहि जिनि ससक-सियारा ।

“ नै सुकुमारि, नाथ जन-जोगु, सुम्हहि उचित तप, मो कहैं सोगू ।”

राम, सीता और लक्ष्मण वन में चले जा रहे हैं, सीताजी थक जाती हैं, उनकी थकावट का वर्णन कवि ने कितना सुंदर किया है—

“पुरतैं निकसी रघुबीर-बधु, धरि धीर दए भग में डग है ।

झलकैं भरि भाल कानी जल की, पुट सुखि गए मधुराधर वै ॥

फिरि ब्रह्मति है चलिनौब किती, पिय परनकुटी करिहो कित तैं ।

तिय की लखि आतुरता पिय की, अखियाँ प्रति वाय चलीं जल ज्यै ॥

—कवित्त रामायण

मार्ग में ग्राम-बधुएँ इन तीनों सुंदर मूर्तियों को देख कर मुग्ध हो जाती हैं और सीताजी से पूछ बैठती हैं कि इन श्याम और गौर वर्ण वाले व्यक्तियों से तुम्हारा क्या संबंध है । जानकीजी ने उन ग्राम-बधुओं को जो उत्तर दिया उसमें कवि का कौशल छिपा है—

“सहज सुभाइ सुभग तन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे ।

बभ्रुव वदन-विषु अंचल डाँकी, पिय-तन चितैं मोह करि बाँकी ।

खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निजपति कहेउ तिन्हहि सिध सैननि ।”

१. रतिदेवादिधिषया ध्यमिचारी तथाजितः भावः प्रोक्तः ।

—काव्य-प्रकाश ४।३५

कवितावली में यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

“सुनि सुंवर बॅन बुधारस साने, सयांनी हें जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नॅन वै सॅन तिन्हें, समुझाइ कछू भुसुकाइ चली ॥”

केवट ने सुन रखा था कि भगवान् राम ने अहल्या को अपने वरणस्पर्शमात्र से तार दिया था। तुलसी-
द्वयस उसकी भक्तिमयी स्पष्टवादिता का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

“इहि घाट तें थोरिक दूर अहे, कटि लो जल याह विझाइ हो जू ।
परसैं यग धूरि तरै तरनी, घरनी-घर कपो समुझाइ हो जू ॥
‘तुलसी’ अवलंब न धोर कछू, सरिका केहि मांति जिझाइ हो जू ।
अह भारिए मोहि बिना पग धोएँ, हो नाथ न नाव चढाइ हो जू ॥”

—कवित्तरामायण

तुलसी रसिक थे, उनका युवाकाल अपनी विधुषी पत्नी ‘रत्नावली’ के साथ काव्य के रसास्वादन में व्यतीत हुआ था। शोस्वामीजी की रचना में विनोद-प्रियता का आभास मिलता है। उदाहरणतः जनकजी ने जब रामचंद्रजी के वैर विवाहोत्सव पर खूप ये तो दक्षिणा में सीताजी भेंट की, किंतु केवट तो निश्चुलक ही भगवान् के पादस्पर्श का आनंद लूटना चाहता था—

“सुनि केवट के बॅन, प्रेम लपेटे छटपटे ।

विहसे कवना ऐंम, चितै जानकी-लखन-तन ॥”

कृपा-सिंधु चले भुसुकाई, सीढ़ करि बेहि तब नाव न जाई ॥”

इस भाव को कवि ने ‘कवितावली’ में भी अधिक स्पष्ट किया है—

“तुलसी सुनि केवट के बर बॅन, हुंसे प्रभु जानकी ओर हहा हो”

विष्णुचल के तपस्विनी के प्रति तुलसीदासजी की कंसी मोठी वृत्की है—

“विंध्य के जाली डवासी तपोव्रतचारी महा बिनु नारि दुखारे ।

शैलम-तौष ‘तुलसी’ सो कया ‘सुनि’ से मुनि-सुं व सुखारे ॥

कुं है सिला संव चंव-मुखी, ‘परसैं’ पद मजुल कंज तिहारे ।

कौनहीं भली रघुनाथक जू, कवना करि कानन कों पग धारे ॥”

छत्रगानजी ने लंका में भयकर आग लगा दी है, जिससे वहाँ के राक्षस और राक्षसियाँ कितने आत-
किंत हो रहे हैं—

“लागि-लागि आगि, आगि-आगि चले जहाँ तहाँ, बोग को न माइ, बाप पूत न संभारहीं ।

छूटे बार, अक्षय अछादे, पून धुंध अंध, कहे बारे-बूडे ‘बारि-बारि’ बार-बारहीं ॥

हय हिंसिताल-आगे जोत, घहराल गज, भारी मोर डेलि, पेनि, रेंगि लुबि डारहीं ॥

नाम लै जिलात, जिलातल अकुलात अति, तात-तात । सँसियत सँसियत झारहीं ॥”

लंका के युद्धस्थल में योगिनियों के वर्णन में ‘वीमत्स’ की पराकाष्ठा है—

“ओसरी की सोरी काँचे, अतिन की सेलही बाँधें, मूँड के कमंडल, लपर किए कोरि कें ।

‘जोगिनी’ मुदुंग कुंड-मुंड बनी तापसी-सी, तीर-तीर बँधी सो समर सरि खोरि कें ॥

सोनिय लों सानि-सानि गूबा जगत सतुआ से, प्रेत एक पियत बहोरि थोरि-थोरि कें ।

‘तुलसी’ बैताल-भूत-साथ लिए भूतनाथ, हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कें ॥”

निम्नलिखित पक्तियों में ‘अवधूत रस’ कितना स्पष्ट हो चला है—

“सौनहीं डंकारि थहार बिंसाल, जल्यो तेहि काल मिलै न लायी ।

मावत नंदन मावत कौ, मन कौ, लपराल कौ बेग लजायौ ॥

तोखी तुरा ‘तुलसी’ कह्यो, दै हिणें उपमा कौ समाड न पायी ॥

मानौ प्रतच्छ परब्रत की, ‘नभ लीक लसी कपि थों धुकि बायी ॥”

‘सियाराममय सब जग जानी’—रूप प्रत्येक विचार, भाव, कल्पना का पर्यवसान भगवान राम में हो जाता है अतः शांत भाव से तुलसी के साथ गाइए—

“जय राम रमा रमनं समनं, भवन्ताप भयाकुल पाहि जनं ।
भवधेस सुरेस रनेस विमो, सरनाथत मंगित पाहि प्रमो ॥”

{ॐ

गुनसील कृपा परमायतन, प्रनमामि निरंतर श्री रमनं ।

रघुनंद निर्गन्ध द्वंद्व धनं, महिपाल विलोक्य दीनजनं ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने राम का बाल रूप, राम का भावपूर्ण चरित, राम की परात्परता, दर्शन की उच्चातिउच्च कल्पना, ज्ञान-भक्ति और हरि-शकर का समन्वय ब्रज-साहित्य को प्रदान किया । यही नहीं ब्रज-भाषा को चौपाई नामक छंद भी उन्हीं की देन है । तुलसी ने ब्रजभाषा और साहित्य को ‘रामचरितमानस’ नामक धर्म-ग्रंथ में रच दिया जिसने लाखों नर-नारियों का उपकार किया है—वह धर्म-ग्रंथ जो आज उपनिषद् और गीता के समान प्रामाणिक समझा जाता है, जो न केवल भारतवर्ष में अपितु समग्र संसार में अत्यंत आदर से देखा जाता है । ब्रज के दो रत्न हैं—सूर और तुलसी, एक ने मानव-जीवन की सूक्ष्म और कोमल वृत्तियों का विकास किया, दूसरे ने उसे कल्याणमय बनाया । तुलसीदास केवल ब्रज की नहीं विश्व की विभूति है ।



कुछ विभिन्न पद-रचयिताओं के पद

राग-विहाग

जलि बसिए वा गौड़, जहाँ न बजें बाँसुरी ।
वन वन डोल कटाकें बाँस सब, उपजें न बाँस और बाँस न बाँसुरी ॥
काहे को बिरह-विषा तन उपजै, काहे को नीर बहावें बाँसुरी ।
'रूपरंग' बैरिन मैं बाँसुरी, कैलें-कैलें घाग भिटावें पाँसुरी ॥

राग-विहाग

सखी री, होत कहा समझाएँ ।
नैन, बँन बकि रहे री निरखि छवि, मन परधौ हाथ पराएँ ॥
गढी कोर उर बक-बिलोकैं, कदत न क्यों हूँ कटाएँ ।
'महादास' तबहीं भलें जीवन, मोहन-बदन दिखाएँ ॥

राग-भ्राजवरी

आज तोहि न छाँडोगी, मीङ्गोनी मुखसो गुलाल ।
ग्रीष्मक आन फँड गहि मेरी, बँ गारी गए काल ॥
अपनी ओर जोर जुबतिन सो, हँस रस चाखत लाल ।
'छवि-नायक' अब बस परे मेरे, झीङ्गोनी मुरली-माल ॥

राग-टोडी

मेरी बलाइ आबै, जो घरी-घरी मोहि लिजावै ।
ऐसी जंगर खोठ काउए न देखैं, सबै-झाँडि मोही सो नेह जमावै ॥
गुंजन में ठाडी सिन्हें में मोहि सजावै, सगरी तियन में मोहि भोंह जलावै ।
'बचल सति' प्रभु अति ही बहु नायक, काउए आबै मैं काउए न भावै ॥

राग-टोडी

ए, रोइ रोइ राखी री तँ ललन को आली, अपने रस-बस करि ।
रैन-दिनाँ तोही-तोही को जय पिय, सौतिन्ह के तू लेत प्रान हरि ॥
तोही सौँ हँसत, खेलत, मिलत प्रान-प्यारी, पल-पल सङ्ग रहै गुमान भरि ।
अहो वन मान अति भाग-सुहाग तेरी, देखैं रीझे री गुमान और रहत जरि-जरि ॥

राग-टोडी

सोच कहा रहे हौ लालन, मन-ही-मन, अब कोन चितवन आनि चढी ।
नैक होइ सुनि पाँकेँ तो करौ उपज, कोऊ नई के पुरानी अढी ॥
बाहि बेगि साँकेँ मिलाकेँ, परबि राखिए गँठ बाँधि, क्यों न होइ जतुर कडी ।
'सवारण' लालन मोसों न छिपावौ, बात जात है अति बडी ॥

राग-देवगावार

कहिपो ऊँची, मुन्ह जु नेह-बीज वै गमन कीन्हौ सो बिरजा साग्यो राधा के मन ।
दुग तारे कूल कीन्है, अँसुवन जल-धार सीँचि-सीँचि जातें बिरवा अयो सघन धन ॥
भूमि हरी-भरी रोम-रुख तन छए, काम को बेलि चढ़ी-बढ़ी तिय-तन ।
कुच काची रखवारे, फूल-फल हौन लागे, आइकेँ देखिए जीवन-धन ॥

१ महादास—महाराज बीरबल ।

आलम और रसखान

श्री भवानीशंकर याज्ञिक

आलम

हिंदी के मुसलमान कवियों में जायसी, आलम, रसखान तथा रहीम अग्रगण्य हैं। ये चारों कवि समसामयिक हैं और इनकी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं, जिनके कारण इनके समकक्ष अन्य किसी मुसलमान कवि को स्थान देना कठिन होगा। वास्तव में इन चारों कवियों की चलाई काव्य-परिपाटी इतनी महत्वपूर्ण है कि अनेक हिंदू तथा मुसलमान कवियों के लिये ये पथ-प्रदर्शक रहे हैं। इनका अनुसरण करने वाले तथा इनसे प्रभावित होने वाले अनेक कवि हुए पर इनको अपने उच्चासन से ढिया नहीं सके। खेद की बात है कि इन सत्कवियों की वाणी पूर्णतः प्राप्त नहीं है और इनके विषय में जो कुछ जानकारी प्राप्त है वह असतोषजनक है।

आलम के समय-संबंधी भिन्न-भिन्न मत

आलम के सबब में सब से अधिक महत्वपूर्ण जानने योग्य बात यही है कि उसका वास्तविक समय क्या है। यदि उसका समय जायसी, नरहरि, गग, रहीम, ब्रह्म के आसपास प्रमाणित हो सके तो उसका और उसकी रचनाओं का महत्व बहुत बढ़ जायगा। वह अनेक सत्कवियों का परवर्ती न हो कर पूर्वर्ती गिना जा सकेगा और जिन विशेषताओं के लिए अन्य कवियों को श्रेय दिया जाता है उनका न्यायोचित रूप से विचार किया जा सकेगा।

आलम के समय के सबब में जो धारणा हिंदी-संसार में बँधी हुई है उसका मुख्य आधार 'शिवसिंह सैंगर' कृत 'शिवसिंह सरोज' का एक छंद है। इस छंद में औरगजेब के पुत्र मुघज्जमशाह की प्रशंसा है और "आलम" शब्द उसके दूसरे चरण में आया है। शिवसिंह जी ने इस छंद को आलम-रचित मान कर कवि का समय मुघज्जमशाह के समय के आस-पास "सं० १७१२ में उ०" माना। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह समय 'विक्रम संवत्' है या 'ईस्वी सन्'। इसी प्रकार 'उ०' प्रक्षर से 'उत्पन्न' अथवा 'उपस्थित' किसे सार्थक माना जाय।

सं० १७६४ (सन् १७०७ ई०) में औरगजेब के निधन के अनंतर मुघज्जम बहादुरशाह के नाम से राज्यासीन हुआ और सं० १७६६ (सन् १७१२ ई०) में जाजऊ के युद्ध में मारा गया। सरोज-कार-द्वारा दिया हुआ आलम कवि का काल हिंदी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने ठीक मान लिया। इससे ऐसा भ्रम उत्पन्न हो गया जिसका निवारण अभी तक निश्चित रूप से नहीं हो पाया।

'मिश्रवचु विनोद' का प्रथम संस्करण सं० १६७० वि० (सन् १६१३ ई०) में प्रकाशित हुआ था। उसमें "सरोज" के आधार पर मुघज्जम के राज्यकाल (सं० १७६४-१७६६) से मेल रखते हुए आलम कवि का समय सं० १७६० के लगभग निर्धारित किया गया था। इस ग्रंथ-रत्न की समालोचना तथा मूलों का प्रदर्शन अनेक सामयिक पत्रिकाओं में हम समय-समय पर करते रहे हैं। सर्व प्रथम सं० १६७२ में हमारे पितृव्य सद्गुरु 'मयाशकर' जी याज्ञिक ने प्रयाग से प्रकाशित 'मर्यादा' पत्रिका (भाग १० अंक ३, भाद्रपद १६७२, सितंबर १६१५) में आलम रचित 'भावमानल-कामकदला' के आधार पर इस कवि का कविता-काल अक्षर-रूप के समय में निश्चित किया था। जोधपुर के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय मुशी देवीप्रसाद जी मुस्लिम भी इसी मत के पुष्टिदाता थे।

इस भूल-मुबार की श्रौर साहित्य-मर्मज्ञों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ। 'सरोज' के कथन पर 'विनोद' की छाप लग जाने से 'आलम' का भ्रमपूर्ण स० १७६० का समय प्रायः सभी को मस्तिष्क प्रतीत होने लगा और हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में इस भ्रामक बात की गड़ल स्थान मिल गया।

नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा की गई प्राचीन ग्रंथों की खोज में 'माधवानल-कामकदला' की एक प्रति काशी-नरेश के पुस्तकालय में सन् १९०४ ई० में उपलब्ध हुई थी। उसके आधार पर आलम का समय अकबर के राज्य-काल में सिद्ध हो जाता चाहिए था, परंतु खोज-विवरण के संपादक बाबू 'दयाम-सुंदरदास' जी ने आलम नाम के दो भिन्न व्यक्ति, एक अकबर के समय में और दूसरे मुगलजय के समय में घोषित कर दिए, परंतु वे स्वयं ही इस भ्रम-जाल से बाहर न निकल सके। स० १९८० में उन्होंने द्वारा संपादित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग) में स० १७५३ के समय वर्तमान माने जाने वाले आलम को ही 'माधवानल-कामकदला' का रचयिता मान लिया गया। अतएव तथा टोडरमल के समय वाले 'माधवानल-कामकदलाकार आलम' को ही स० १७५३ वाले मुगलजय (बड़ा दुरशाह) का आश्रित मान कर समस्या अविकल जटिल कर दी। दो आलम मानते हुए भी उनके रचयिताओं का धोल-मेल कर दिया। इस भ्रम के निवारण के हेतु हमने इस ग्रंथ की आलोचना एक संग्रहा स० १९८१ वि० में की। यह लेख माधुरी (ज्येष्ठ तु० स० ३००, जून १९२४ ई०) में प्रकाशित हुआ था।

इसके अनंतर मिश्रबधु विनोद के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के पूर्व सलज्ज से प्रकाशित माधुरी (मार्गशीर्ष तु० स० ३०१ दिसंबर १९२४ ई०) में एक लेख-द्वारा "अनेक सत्कवि-राजर्षि सार मय (दोहा सार संग्रह)" के स० १७२० वि० वाले संस्करण के आधार पर प्रमाणित किया था कि स० १७५३ वा १७६० के कई वर्ष पूर्व आलम कवि विद्यमान थे। हमारी धारणा निरस्त नहीं रही कि मुगलजय के समय में न होकर आलम अकबर के समय में हुए थे। इन लेखों द्वारा भ्रम-निवारण करने के प्रयास में हमें पूरी-पूरी सफलता नहीं मिली और 'सरोज', 'विनोद' तथा 'खोज-विवरण' द्वारा पृष्ठ भ्रमपूर्ण भ्रम ही साहित्य-नेताओं ने सत्य मान लिया। इस प्रकार एक के बाद दूसरी भूलों के समामेय से धारण ने समय-सवधि गड़बड़ी का निराकरण अब तक ठीक प्रकार से नहीं हो पाया।

जाला 'मगवान दीन' ने स० १७५३ वि० की एक प्रति के आधार पर संपादित 'आलमकेन' में आलम का कविता-काल स० १७४० से १७६० तक माना है। प० रामनरेश मिश्रा की अपनी 'विद्या कीमुदी' में सरोज के अनुसार स० १७१२ में जन्म मानते हैं। बाबू दयामुंदरदास जी ने स० १९८० में स्वसंपादित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' में आलम को स० १७५३ के समय वर्तमान माना। इसी प्रकार सौराष्ट्र-वासी 'कहानजी धर्मसिंह' ने भी 'सरोज'-मय स० १७१० में जन्म माना। स० १९८६ में 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका में भी एक ही आलम की स्थिति मानी गई। जो मुगलजय के समय में थे।

'माधवानल-कामकदला' के आधार पर अकबर-कालीन ज्ञानय का पना चलने पर आलम नामक दो कवियों की स्थिति अनुमानित की गई। एक वे माधवानल-कामकदला नामक ग्रंथों को दोहा-श्रीपाई-शोरठा में रचने वाले अकबर-कालीन आलम और दूसरे वे मुगल कवि-आलम आलम जो 'सरोज' के अनुसार मुगलजयगढ़ (स० १७६४-६६) के आश्रित मयने जने थे।

स० १९६४ में प्रकाशित मिश्रबधु विनोद में आलम नामधारी दो भिन्न व्यक्तियों की जन्म की गई। डॉ० पीताम्बरदत्त बहुध्याल ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष १९७० स० १७५३ में आलम-द्वारा 'मुदामा-चरित्र' की रचना का उल्लेख करने हुए दो 'आलम' की स्थिति बताई। प० रामचंद्र दुर्जन ने भी अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (स० १९६६) में दो आलम बताए हैं। हिंदुस्थानी एकेडमी में सन् १९४१ ई० में प्रकाशित 'हिंदी के कवि और कविता' में आलम प्रमाद द्विवेदी ने दो आलम होने का मतवा जारी कर अपनी धनपिपरा संस्था का प्रकाशन किया।

माघबानल-कामकदला के आधार पर अकबर के समय में एक आलम का होना तो निर्विवाद है, परन्तु सरोज-रचित मुद्रञ्जम के आश्रित आलम केवल शिवसिंहजी की 'अटकल' द्वारा समूत है। ऐसा होने पर भी मिश्रवधूओ ने पूर्वलिङ्गत काल (स० १६८१-१७६०) के अतर्गत आदिम देवकाल (१७५१-७०) में ही आलम की स्थिति मानी। वास्तव में आलम का समय, जैसा आगे सिद्ध किया जायगा, इससे १००-१२५ वर्ष पूर्व होना चाहिए।

क्या आलम नामधारी दो भिन्न कवि थे ?

आलम नाम हिंदू-मुसलमानों दोनों में प्रचलित है। आलमसिंह, आलमखान, आलमशाह, आलमगीर आदि उसके उदाहरण हैं। 'आलम' स्त्रियों का नाम भी होता है। अकब के अंतिम नवाब वाजिदअलीशाह की एक वेगम का नाम 'आलम' था जिसके नाम से लखनऊ में 'आलमबाग' नाम का स्थान है। वह हिंदी में पद-रचना भी करती थी। "कुलियातअस्तूर" नामक वाजिदअलीशाह की रचनाओं के संग्रह में 'आलम वेगम' रचित पद भी हैं। (देखो माधुरी वर्ष ७ खंड १ भाग २)

चाँद मुत आलम कृत "प्रथ सजीवन" नामक एक वैद्यक ग्रंथ खोज में मिला है। अतएव आलम नामधारी एक से अधिक कवियों का होना असंभव ग्रंथवा असंगत नहीं है, परन्तु मूल प्रश्न तो यह है कि मुक्तक कवित्त-सवैयाकार 'आलम' तथा माघबानल-कामकदलाकार 'आलम' एक ही व्यक्ति हैं अथवा दो भिन्न-भिन्न।

मुद्रञ्जम की प्रगसा का छंद जिसे सरोजकार ने आलम-रचित माना है इस प्रकार है—

"जानत औलि किताबन को जे निसाफ के माने कहे हैं ते चोँहे ।
पास्त हौ इत 'आलम' की उत नीके रहीम के नाम को लोँहे ॥
मौजमसाह तुम्हें करता, करिबे को बिलीपति है बर वीँहे ।
काबिल है ते रहे कितहूँ, कहूँ काबिल होत है काबिल कोँहे ॥"

उपरोक्त छंद के दूसरे चरण में 'आलम' शब्द 'ससार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आलम कवि की छाप नहीं है। इस छंद को आलम-रचित ही क्यों माना जाय ? उसी चरण में रहीम का नाम भी तो है। हमने इस छंद को आलम-रचित कभी नहीं माना। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे पास आलम-रचित जो सामग्री है उसमें यह छंद नहीं है। दूसरे ऐसे प्राचीन-स्फुट संग्रह-ग्रंथों में आलम के छंद प्रचुर मात्रा में मिलते हैं जिनका लिपि-काल मुद्रञ्जम के समय के पूर्व का सहज ही अनुमानित किया जा सकता है। राजस्थान, पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में सर्वत्र ही आलम के ग्रंथ मिलते हैं। कदाचित् ही कोई प्राचीन स्फुट संग्रह-ग्रंथ हो जिसमें आलम के दो चार छंद न दिये हों। आलम के छंद अनंत, प्रसिद्ध, गग, बह्म, मदन आदि अकबर-जहाँगीर-कालीन कवियों के छंदों के साथ संग्रह-ग्रंथों में मिलते हैं।

हमारी ३५ वर्ष पुरानी धारणा अब सत्य प्रमाणित हो चुकी है। उपरोक्त विवादपूर्ण छंद आलम-रचित नहीं है, किंतु 'जैत कवि' का है। जैत कवि ने मुद्रञ्जम के नाम पर 'माजम-प्रभाव' नामक एक अलंकार-ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ में उपरोक्त छंद दिया है, जिससे यह पूर्णतया निश्चित हो गया कि जो विवादपूर्ण छंद आलम-रचित माना जाता था वह वास्तव में जैतसिंह गढ़ापाव का है। सरोजकार का अधानुसरण करने वाले इतिहासकारों की धारणा निर्मूल सिद्ध हुई। हिंदी-साहित्य में इस प्रकार का अधानुसरण का अन्य उदाहरण कदाचित् ही देखने को मिले। जब मुद्रञ्जम के आश्रित किसी आलम का वर्तमान होना निश्चित रूप से असत्य सिद्ध हो गया तो प्रश्न उठता है कि मुक्तक कवित्त-सवैयाकार आलम का वास्तविक काल क्या है ? यदि उसका कविता-काल भी अकबर के समय तक सिद्ध हो सके और बाह्य तथा अंतर्गामी-द्वारा उसे ही माघबानल-कामकदला-कार सिद्ध किया जा सके तो दो आलम मानने की कल्पना भी निर्मूल सिद्ध हो सकेगी। हम अब कुछ ऐसी ज्ञातव्य बातों का उल्लेख करते हैं जो आलम की प्राचीनता निश्चित करने में सहायक हो सकती हैं।

सर्वप्रथम यह मानना पड़ेगा कि 'माधवानल-कामकदला' के कर्ता आलम एक विख्यात कवि थे। उनकी रचना का बहुत आदर हुआ। कई स्थानों से इस ग्रंथ-रत्न की प्रतियाँ मिली हैं। इसके दोहों दारा-शिकोह की भासा से संकलित 'दोहासार संग्रह' में मिलते हैं। इस ग्रंथ के छोटे तथा बड़े दो प्रकार के संस्करण मिलते हैं और दोनों संस्करणों की कई प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि इस ग्रंथ में कामकदला के नृत्य-भाल के वर्णन में कवि ने जो सगीत-शास्त्र-समत राग-रागिनियों का वर्गीकरण किया है वह गुरु-ग्रंथ-साहब जैसे समाहित धार्मिक-ग्रंथ में 'रागमाला' के नाम से दिया हुआ है। गुरु-ग्रंथ-साहब में 'रागमाला' ग्रंथ के अंतिम भाग में दी गई है। आलम की यह रचना गुरु-मुल-बाणी के रूप में समावृत्त हुई, इससे स्पष्ट है कि माधवानल-कामकदला के कर्ता आलम एक लब्धप्रतिष्ठ कवि थे।

आलम के कुछ पद्य 'रागमाला' के नाम से गुरु-ग्रंथ-साहब में हैं। इस सबब में सिक्ख-संग्रह्य में एक समस्या उत्पन्न हो गई। मुद्रञ्जम के आश्रित भी एक आलम की कल्पना होने से रागमाला का ग्रंथ गुरु-ग्रंथ-साहब में प्रसिद्ध समझा जाने लगा। गुरु नानक के पदों का संग्रह अकबर के राज्यकाल में गुरु श्री भगुनदेवजी ने स० १६६१ वि० (कित्ती के मत से स० १६३८) में करवाया था। यही 'आदि ग्रंथ' अथवा 'गुरु-ग्रंथ-साहब' के नाम से प्रसिद्ध है। अंतिम और दसवें गुरु थे गुरु गोबिंदसिंहजी। कहा जाता है कि स० १६६१ वि० के पश्चात् कोई भी ग्रंथ ग्रंथ-साहब में नहीं बढ़ाया गया और गुरु गोबिंदसिंह के अनन्तर तो यह असंभव था। मुद्रञ्जम के समय वाले कल्पित आलम की रचना गुरु गोबिंदसिंहजी के बाद की ठहरती है, इस प्रकार कुछ कट्टर सिक्ख रागमाला वाला आलम-रचित ग्रंथ प्रसिद्ध मानने से भी और उसे गुरु-ग्रंथ-साहब से निकाल देने का प्रयत्न उठाने लगे। इस संवत्स में हम ने स० २००३ में पूछागढ़ भी की गई थी और हमने अपना निश्चित मत देकर इस झूठी कल्पना के आधार पर उठी हुई उलझन को गयासाध्य सुलझाया। इसका परिणाम यह हुआ कि सिक्खों के समाधान के लिए माधवानल-कामकदला का एक संस्करण गुरुमुखी में छपवाया गया।

कवित्त-सर्वयाकार आलम की प्राचीनता तथा लोक-प्रियता का वास्तविक दिग्दर्शन करने की इच्छा से अन्य कवियों के ग्रंथों में जो आलम-संबन्धी उल्लेख मिलते हैं उनका सूक्ष्म कथन इस प्रकार है। नवीन कवि के 'प्रबोध रस सुधासागर' के स० १८८१ और १८६४ वाले दोनों संस्करणों में आलम तथा शेष छाप के छंद दिये गये हैं। सूदन कवि (स० १८०२-१०) ने भी आलम तथा शेष दोनों के नाम अपने सुज्ञान-चरित्र में १७५ कवियों के साथ गिनाये हैं। 'दलपतिराय बनीबर' ने स्वरचित 'अनन्तरत्नाकर' (स० १७६८) में आलम के छंद दिये हैं। कृष्णकवि कुल विहारी-सतसई की टीका (स० १७८८) में शेष तथा आलम की छाप मुक्त तीन छंद दिये हैं। कालिदास संकलित 'हजाग' (स० १७९४) में भी शेष के छंद थे। केशव केशवराय (विहारी कवि के पिता) के नाती कुलपति मिश्र ने स्वचित्र 'मुक्ति-तरंगिणी' (स० १७५३) में आलम के लिये यह दोहा कहा है—

"नव रसमय मूरति सर्वा, जिन बरने नैलाल।

आलम आलम बस कियी, बै निज कविता जाल ॥"

इसी प्रकार 'नूर' कवि ने अपने नल-शिप में शेष का दोहा दिया है—

"जैसर न्यारी वेह छवि 'शेष' हिए पर बाल।

कूल चल्तों मनु फूल सौ, आभा रही पराग ॥"

दोहासार संग्रह (स० १७२० का संस्करण) में एक दोहा आलम की छाप में तथा दो दोहों शेष की छाप वाले दिये हैं जिन्हें हम माधुरी (पार्श्वगीर्ण सु० स० ३०१ दिवम्बर १८२४) में प्रकाशित कर चुके हैं। यही दोहों दारा शिकोह की भासा से संकलित 'दोहासार संग्रह' (स० १७९० का संस्करण) में दिये हुए हैं। आलम प्रत्येक दोहे में अपनी छाप नहीं रखने से इन कारण इनके दोहों को शेष के छाप-संग्रह में से छोटना कठिन है। संभव है इसमें आलम के छाप-रहित दोहे भी हों। इनके दोहों का संग्रह आलम के ४०० छंदों की हमारी एक प्रति (स्व-वर्जित) में है।

इनायत खाँ जी के लिए स० १७६१ में लिखी गई थी। फर्रुखसियर के बाहिने हाथ सैयद हुसैन अलीखाँ आलम की कविता के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने एक पत्र-द्वारा मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी (म० १७१८-१७८२ वि०) में आलम के कवित्त और नखशिप भेजवाये थे^१।

उपरोक्त अवतरणों में आलम की प्राचीनता तथा व्यापक ख्याति का अच्छा दिग्दर्शन हो जाता है। स० १७०० के बहुत पूर्व ही उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी इस कारण उनका समय अकबर के राज्यकाल (स० १६१३-१६६२ वि०) से पूर्णतया मेल खाता है।

जब हम आलम-रचित ग्रंथों के लिपिकाल की ओर दृष्टि करते हैं तो भी कवित्त-सवैयाकार आलम का समय अकबर के समकालीन ही ठहरता है। स० १६६४ के शीतकाल में हमारे पितृव्य नाथार्य नाथद्वारा, काँकरोली, कोटा आदि गये थे और वहाँ के प्रसिद्ध मदिरों के पुस्तकालयों में प्राचीन ग्रंथों की खानवीन की थी। उस सुअवसर पर उन्हें काँकरोली के श्री द्वारकेश पुस्तकालय में आलम के ४०० छंदों की एकप्रति चतु शती (वष ७३ पुस्तक २८) के कल्पित नाम से देखने को मिली, जिसका लिपि-काल स० १७१२ वि० है। इससे अधिक प्राचीन कोई ऐसी प्रति नहीं मिली जिसमें लिपि-काल दिया हो। नाथद्वारा की प्रति (वष ७४ पुस्तक २) हमें सवत २००१ में हालेड-स्थित भारतीय राजदूत डाक्टर मोहन-सिंह महता की जो उस समय उदयपुर राज्य के भाल-विभाग के मंत्री थे, कृपा से देखने को मिली थी। उनमें आलम के ४१० छंद हैं, परंतु लिपि-काल नहीं दिया। दीनजी-द्वारा संपादित 'आलमकेलि' की मूलप्रति स० १७५३ की है। इस प्रकार प्राचीन प्रतियों के लिपि-काल के आधार पर मुक्तक कवित्त-सवैया-रचनाकार आलम का समय स० १७१२ वि० के पूर्व निश्चित रूप से था।

इस सवष में एक बात और ध्यान देने योग्य है। स० १७१२ वाली काँकरोली की प्रति ४०० छंद की है जिसमें कवित्त तथा सवैया छंद अलग-अलग कर एक विशेष क्रम से सकलित है। लगभग ४०० छंदों वाली कई प्रतियाँ हमें देखने को मिली जिनमें छंदों का क्रम थोड़े हेरफेर के साथ प्रायः एक सा ही है। काँकरोली की प्रति, नाथद्वारा की प्रति, हमारी प्रति (१४०।२२), दीनजी-द्वारा संपादित स० १७५३ की प्रति आदि सभी में दो-चार छंदों के हेर-फेर से एक सा ही क्रम है और सब में ४०० के लगभग छंद हैं। कम छंदों वाली प्रतियों में भी छंदों का क्रम विशेष रूप से नहीं बदला गया। इससे सिद्ध होता है कि स० १७१२ के पूर्व ही किसी ने आलम के छंदों में से ४०० छंदों को चुन कर क्रमबद्ध कर दिया था। वह क्रमबद्ध ४०० मुक्तक छंदों का संग्रह उस समय तक विशेष रूप से प्रचलित हो चुका था। आलम के छंदों की सख्या ४०० तक ही सीमित नहीं है। इससे कहीं अधिक छंद मिलते हैं। कहने का तात्पर्य है कि स० १७१२ के पूर्व ही आलमकवि की ख्याति व्यापक रूप से फैल चुकी थी और उनके ४०० छंदों का क्रमबद्ध सकलन दूर-दूर तक प्रचलित हो चुका था।

इन बाह्य प्रमाणों-द्वारा 'माधवानल-कामकदला' के कर्ता और मुक्तक कवित्त-सवैयाकार आलम के समय में कोई विशेष अंतर नहीं रहता।

इस क्रमबद्ध ४०० छंदों के सकलन में मूल संग्रह-कर्ता की मूल से एक छंद दो बार लिख दिया गया, इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देखने में छ प्रतियाँ ऐसी मिली जिनमें छंदों का क्रम एक-सा है और यह दो बार लिखा हुआ छंद सभी प्रतियों में दो स्थानों पर मिलता है।

जब हम आलम के ग्रंथों में से अतः प्रमाणों की खानवीन करते हैं तो आलम नामधारी दो भिन्न कवियों को मानने का कोई कारण ही नहीं रहता। आलम के एक छंद में कामकदला का नाम भी आया है, जिससे पता चलता है कि कवित्त-सवैयाकार आलम कामकदला की प्रेम-कथा से परिचित था। यह प्रेम-कथा बहुत प्राचीन अपभ्रंश काल से चली आती है और अपने रचित छंदों में आलम के अतिरिक्त गग, सीतल आदि ने भी उल्लेख किया है। सरोज में जिस आलम का उल्लेख है उसका एक दोहा उनी ग्रंथ में उदा-

^१ नाथरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२ अंक १, बैशाख-अषाढ २००४, पृ० ३५-३६।

हरण रूप से दिया हुआ है। यह दोहा माधवानल-कामकदला ग्रंथ में 'कदला-प्रेम-परीक्षा' खंड में थोड़े से पाठ-भेद से दिया हुआ है। यह दोहा इस प्रकार है—

“आलम ऐसी प्रीति पर, सरनस बीजें धारि ।

गुप्त-प्रघट कैंसी रहै, बीजें कपड पिटाहि ॥”

माधवानल-कामकदला के छोटे तथा बड़े दोनों संस्करणों की जितनी प्रतियां हमें देखने को मिली उन सभी में 'सरोज'-उद्धृत छंद दिया है।

आलम के कवित्त-सर्वया-छंदों का एक समूह-ग्रंथ, जिसमें ४७१ छंद दिये हैं, कांकरौली में है। इसका वध नंबर ७७, पुस्तक ५ है और इसमें १६८ पृष्ठ हैं। ग्रंथ के आदि-अंत में “कवि शेष आलम कृत कवित्त” नाम दिया है, परंतु पुस्तकालय वालों ने उसका “अक्षरमालिका” नाम कल्पित-रूप से रख दिया है। इसका कारण यह है कि उसमें छंदों का क्रम वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से है। पहिले व्यंजन है और अंत में स्वर। स्वरों में क्रम उलट-पलट गया है। इस प्रति के आदि में मंगलाचरण का प्रथम दोहा इस प्रकार है—

“नाथ निरंजन निरखियन, कलनामय निस्तकाम ।

निस्तारन तारन तरन, रटो निरंतर नाम ॥”

यह दोहा प्रेम-मायाकार आलम के रचित ‘श्यामसनेही’ के मंगलाचरण का है। इसी प्रकार ‘अक्षरमालिका’ का दूसरा छंद एक छप्पय छंद है जिसका पाठ इस प्रकार है—

“मुख-मंडल पर लसै जौन्ह-भंडित मयक जनु ।

जलित जोति अरबंग गौरि भजित बरपन तनु ॥

खल बूरि धरि अग उच्च सोहत संकर बर ।

फलि-भूषित फनपति चाव बूझिय चंदन तर ॥

जिहि मिलत अंग ‘आलम’ सुमति, किय जल-भल उज्जल बरन ।

नव करन जोति नव अंग कहू, सुख बिभूति भव उदरन ॥”

यह छंद भी ‘श्यामसनेही’ के मंगलाचरण का प्रथम छंद है। अक्षरमालिका का ६६ वें छंद का पाठ निम्नलिखित है—

“गह्वर न लावौ सिय-जन को संताप जानि, संकटहरन जानकी ते जान पाए हौ ।

‘आलम’ सरूप स्थान करना के सिंधु स्वामी, तेरे गुन तारा हू अहिल्या नीकें गाए हौ ॥

मेरी यो बिपत्ति बुनि प्यारे प्राननाथ पिय, ऐसैं पांड धारौ जैसे हाथी-काज पाए हौ ।

पातो दीजो पंडित सैंसौ मुख ऐसी कहि, भावन की आसा बाढी मेरे जानि आए हौ ॥”

यह छंद भी श्यामसनेही का है। इस छंद-द्वारा रचिनी ने श्री कृष्ण के पास शाहज-ग्राम एक पत्र के अतिरिक्त भौक्षिक संवेष भेजा है। इन अवसरों से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि ‘माधवानल-कामकदला’ तथा ‘श्यामसनेही’ के रचयिता आलम ही भुक्त कवित्त-सर्वयाकार हैं—दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं। इनके रचित एक ग्रंथ के छंद दूसरे में भी पाये जाते हैं और काल-गणना में भी अंतर नहीं है। अतः अब दो आलम मानना भयकर भूल है। साहित्य-मर्मज्ञों को अपनी पुरानी भूल का परिहार कर आलम नवि को उसके प्राचीन समय और उत्कृष्ट रचनानुसार अधिक गौरवपूर्ण स्थान देना चाहिए। अब तक आलम कवि मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि के परवर्ती माने जाते रहे हैं, परंतु वे उनके पूर्ववर्ती थे।

आलम का वास्तविक कविता काल

एक ही आलम का अकबर के समय में वर्तमान होना सिद्ध कर देने के अनंतर हमें कवि का वास्तविक काल निर्णय करना अभी बांधे रहता है। अकबर का राज्यकाल लगभग ५० वर्ष का था। इन ५० वर्ष के दीर्घकाल में आलम का कविता-काल पूर्वार्ध में था या उत्तरार्ध में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है, ताकि उनके सम-सामयिक अकबरकालीन कवियों में उनका स्थान निर्णय करने की आवश्यकता है। ‘आ-

वानल-कामकदला' के जिन छंदों के आधार पर कवि का काल निश्चय किया गया है, वे सर्व प्रथम हमारे पितृव्य ने प्रयाग से प्रकाशित मर्यादा में स० १६७२ वि० (सितंबर १६१५ ई०) में छपवाये थे । उनका पाठ इस प्रकार है—

“अदली कहीं बखान, सुजस प्रघट चहुँ खड में ।
बिद्या अरय निर्धान, साह अकब्वर जगत गुरु ॥
जगपति राज कोटि जुग जोन । साहि जलाल छत्रपति कीज ।
दिल्लीपति अकबर मुलताना । सप्त दीप में जाकी प्राना ।

ॐ

घरमराज सब देस चलावा । हिंदू, गुरक-पथ दुइ लावा ।
आगें नैव महाबल मंत्री । राजा दीप डोडरमल खत्री ।

ॐ

उत्तपति विरह बियोग, कहीं कथा 'आलम' सुमति ।

पुनि सिंगार सँजोग, नल-कंदल कारन कहत ॥

सन नव से इक्यावन जब हूँ । कथा अरंभ कौन्ह यह तब हूँ ॥”

उपरोक्त उद्धरण स० १६३५ में लिखी एक प्रति के आधार पर दिये थे । लेख-प्रकाशन (स० १६७२) के समय तक हमें कोई अन्य प्रति देखने को नहीं मिली थी । वास्तव में मूल पाठ “सन नव से इक्यावन जब हूँ” है । सन् ६५१ हि० का समय २५ मार्च सन् १५४४ ई० से १४ मार्च सन् १५४५ ई० (स० १६०१-१६०२ वि०) तक था, परंतु यह सन् ६५१ हि० का समय अकबर के राज्यकाल से मेल नहीं खाता जैसा कि निम्नलिखित अकबर सवरी तिथियों से मिलान करने पर प्रतीत होगा—

जन्म—५ रजब ५६४६ हि० अथवा १५ अक्टूबर १५४२ ई० (स० १५६६ वि०)

राज्यारोहण—२ रबी उस्तानी ६६३ हि० अथवा १४ फरवरी १५४६ ई० (स० १६१३ वि०)

मृत्यु—१३ जमाबिल ओखरा १०१४ हि० अथवा १६ अक्टूबर १६०५ ई० (स० १६६२ वि०)

हिजरी सन् ६५१ अकबर के राज्यकाल से मेल नहीं खाता, इसका कारण हमने लिपिकार की भूल मान कर ‘इक्यावन’ शब्द का पाठ ‘इक्यावन’ माना और आलम कवि का कविता-काल ६६१ हि० (सन् १५८३ ई० अथवा स० १६४० वि०) । प्रयाग के प्रोफेसर प० शिवाचार पाडेय ने भी इस सबब में हमें स० १६८० में लिखा था कि ६५१ के स्थान पर ६६१ होगा ।

कालांतर में हमें जब अन्य प्रतियाँ भी देखने को मिली तो हमने कविता-काल-सूचक चौपाई का शुद्ध पाठ जानने का प्रयास किया । माधवानल कामकदला के छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के संस्करणों में चौपाई की यह अर्द्धाली मिलती है । भिन्न-भिन्न प्रतियों में जो पाठ मिलता है वह इस प्रकार है—

१. सभा की प्रति २२६ लिपिकाल सं० १८१७ वि०—“सन नोसे इक्यावनु वै आही ।”

२. हमारी प्रति ३१३।२२ लिपिकाल सं० १८३६ वि०—“सन नोसे इक्यावन जबहूँ ।”

३. हमारी प्रति १०४।२२ लिपिकाल सं० १८७० वि०—“सन नवसे इक्यावन आही ।”

४. हमारी प्रति ५७५।२२ लिपिकाल सं० १९३५ वि०—“सन नवसे इक्यावन जबहूँ ।”

५. पंजाब यूनिवर्सिटी ३४८।४६६ लिपिकाल सं० १८६२ वि०—“सन नवसे इक्यावन जबहूँ ।”

फैजाबाद-निवासी निर्भीक जी की प्रति आवि से खंडित होने के कारण समय-सूचक अर्द्धाली का पाठ उसमें अप्राप्य है । उपरोक्त सभी प्रतियों में सन् ६५१ हि० स्पष्ट है । इसे अशुद्ध मानकर ६५१ को ६६१ कर देना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । खोज-द्वारा प्राप्त प्रति में भी ‘इक्यावनुवै’ पाठ को “इक्या(व)नुवै” कर अप-रचना का समय ६६१ हि० (स० १६४० वि०) माना और ‘हस्त लिखित हिंदी पुस्तकों के सक्षिप्त विवरण’ में ६६१ हि० (स० १६४० वि०) ही स्वीकृत किया गया । रामचंद्र शुक्ल ने भी ६५१ के स्थान में ६६१ (स० १६४० वि०) माना । डा० रामकुमार वर्मा ने ‘हिंदी साहित्य का

आलोचनात्मक इतिहास' के पृ० ३३२ पर न जाने किस आधार पर रचनाकाल स० १६४८ वि० माना है।

इस प्रकार सभी ने समय-सूचक अर्द्धांशों के पाठ को अकबर के राज्य-काल से मेल मिलाने के लिए ६५१ हि० को ६६१ हि० कर दिया। सन् ६६१ हि० (२५ जनवरी १५८३ ई० से १३ जनवरी १५८४ ई०) कर देने से रचना-काल में ३६ वर्ष का अंतर उत्पन्न कर देना अनुचित है। अनेक प्रतियों की छानबीन कर हमें ६५१ हि० (स० १६०१ वि०) ही ग्रथारम्भ का समय उपयुक्त जान पड़ता है। यह समय अकबर के राज्यकाल से मेल नहीं खाता, परन्तु यह ग्रथारम्भ का समय है, जैसा कि "कथा शरम्भ कीन यह तबही" से स्पष्ट है। ग्रन्थ-समाप्ति के समय अकबर का राज्यकाल था इस कारण मसनवी की पद्धति के अनुसार "शाहवक्त्र को सूचित करते हुए अकबर-सबघी पद्य लिख दिये गये।

ठीक इसी प्रकार की समय सबघी गडबडी 'जायसी' के सबघ में भी है। उनका समय—

"सन नवसै सत्ताईस अह। कथा शरम्भ बैन कवि कहा ॥"

के अनुसार सन् ६२७ हि० शेरशाह के समय से मेल नहीं खाता। इतिहासकारों ने ६२७ हि० को ६४७ हि० कर दिया और समय-सबघी गडबडी का परिहार किया। आलम के सबघ में भी यही उत्पन्न है और उसका भी ६५१ को ६६१ कर समाधान कर लिया। हमारे मत से ग्रथारम्भ का समय ६५१ हि० (स० १६०१ वि०) तथा समाप्ति-काल अकबर के राज्यकाल में था। ६५१ हि० में शेरशाह का राज्य था। ग्रन्थ-समाप्ति का समय स० १६३६ से १६४६ वि० के बीच होगा। अकबर-विषयक बीपाश्यों से स्पष्ट है कि वह राज्य-विस्तार कर एकछत्र राज्य स्थापित कर चुका था और 'जगद्गुरु' शब्द से सूचित होता है कि 'दीन-इलाही' का संस्थापन हो चुका था। आलम भी 'दीन-इलाही' में समिलित हो गये होंगे दीन-इलाही की संस्थापना स० १६३६ (सन् १५८२ ई०) में हुई थी। दूसरे 'नैव महाबल मन्त्री' (नायब मन्त्री) टोडरमल का उल्लेख होने के कारण ग्रन्थ-समाप्ति टोडरमल की मृत्यु (स० १६४६ वि०) के पूर्व ही होनी चाहिए। अतएव हमारा अनुमान है कि ग्रन्थ की समाप्ति स० १६३६ और स० १६४६ वि० के बीच में हुई। स० १६६१ में आलम के कुछ पद 'राग-माला' के नाम से गुरु ग्रन्थसाहब में समिलित किये गये थे। इस कारण सन् ६६१ हि० (स० १६४० वि०) की अपेक्षा सन् ६५१ हि० (स० १६०१ वि०) अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

इससे सिद्ध होता है कि आलम का समय अकबर के राज्यकाल के पूर्वार्ध में होना चाहिए इस तर्क से आलम का समय रसखान, रहीम, गंग, ब्रह्मा आदि से कुछ वर्ष पूर्व और नरहरि के समकालीन निश्चित किया जा सकता है। जायसी के पद्यावत तथा आलम के भाषानाल-कामकबला के ग्रन्थ-रस-काल में केवल २४ वर्ष का ही अंतर है। आलम कवि का महत्त्व उनकी प्राचीनता के कारण बहुत बढ़ जाता है। वास्तव में वे केशवदास, गंग, ब्रह्मा, रहीम आदि से पूर्ववर्ती थे।

हमारे इस कथन की पुष्टि में एक प्रमाण यह भी है कि आलम-रचित कई छप्पय छंद 'नरहरि' के छंदों जैसी भाषा में लिखे हुए मिलते हैं, जिसका चलन उस काल तक प्रायः सीमित-था था। राखो-पद्धति में लिखे हुए छंद प्रायः उसी काल के मिलते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'कवित्त-सबैया की पद्धति के प्रवर्तक गंग के स्थान में आलम को ही मानना चाहिए। आलम का समय ६५१ हि० अथवा ६६१ हि० कुछ भी माना जाय वे गंग से बड़े थे। प्रौढ भाष्यमय काल में नरहरि और गंग आदोपमुक्त-कविता के रचयिता थे, जिसमें 'नरहरि' ने 'छप्पय छंद' और 'गंग' ने 'कवित्त (बनासरी)' को विशेष रूप से अपनाया था। परन्तु कवित्त-सबैया की पद्धति में—“नवरसमयी नदलाल की प्रेम-भुषार-मुक्त नाना विषयक कविता रचने की प्रवृत्ति सर्व प्रथम आलम में ही पाई जाती है। वे ही इस पद्धति के श्रवण माने जाने चाहिए। आलम की बलाई हुई पद्धति २००—२५० वर्ष तक कितनी फुली-फली यह सभी जानते हैं। आलम के छोड़ो का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के अनेक उत्कृष्ट कवि आलम के शिष्य हैं। रीति मुक्त-कवियों में आलम का स्थान सर्वोच्च है। इन बातों पर विचार करने से आलम का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। रीति-मुक्त कविताकार होने के कारण उनकी विशेषता और भी बढ़ जाती

है। सच बात तो यह है कि आलम की कविता का अध्ययन बिना किये रीतिकाल की शृंगारमयी कविता की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास अधूरा ही है।

आलम की कृतियाँ

आलम के नाम से जो ग्रंथ मिलते हैं वे हैं—(१) माधवानल-कामकदला, (२) श्याम-सनेही और (३) आलम के कवित। इसके अतिरिक्त 'सुदामा-चरित्र' भी एक आलम रचित मिला है। सुदामा-चरित्र के सबब में श्राव्य चल कर विचार किया जायगा। माधवानल-कामकदला के दो प्रकार के संस्करण मिलते हैं, एक बड़ा और दूसरा छोटा। साहित्यकारों ने यह निश्चय अभी नहीं किया कि कौन सा संस्करण मौलिक है और कौन सा उसका रूपांतर। यह कोई महत्वपूर्ण प्रश्न भी नहीं है। मूलकथा अपभ्रंश काल से चली आती है। 'वोषाकवि' तथा 'हरिनारायण' ने भी यह कथा लिखी है और राजस्थान में भारवाड़ी-बूढ़ा छंद में भी यह कथा लिखी गई थी। श्याम-सनेही में 'रक्मणी-मंगल' की कथा है और माधवानल-कामकदला की तरह दोहा, सोरठा, चौपाई-छंदों में यह ग्रंथ आलम ने रचा है। आलम के कवित, कवित आलम के, रस कवित, आलमकेलि, अक्षरमालिका, चतु शती आदि अनेक नामों से आलम के कवित-सर्वेयो (कुछ छप्य भी) में रचित मुक्त छंदों का संग्रह है। 'दूती-विज्ञप्ति', नल-शिप आदि इसी के अग्र प्रतीत होते हैं। आलम के ४०० छंदों को चुन कर किसी ने इस संग्रह को क्रमबद्ध किया था जिसका प्रचुर प्रचार हुआ। इस ग्रंथ में 'श्लेष' छाप-युक्त छंद भी मिलते हैं। इस संग्रह-ग्रंथ का कोई सर्वमान्य नाम नहीं है। 'चतु शती' और 'अक्षरमालिका' कल्पित नाम हैं। 'आलमकेलि' नाम भी "कवित (आलमके) लिख्यते" के कोष्ठांतर्यव्यक्त विवेक द्वारा अक्षरों के समुदाय से गढ़ा हुआ नाम प्रतीत होता है। आलम कवि ने अपने मुक्तक छंदों का कोई विशेष नाम नहीं दिया। अतएव उन छंदों का क्रमबद्ध संकलन भी आलम ने नहीं किया। यदि ४०० छंदों का संकलन उसी के द्वारा किया हुआ होता तो वह उसका 'नामकरण' भी अवश्य करते।

आलम-कृत सुदामा-चरित्र की सं० १८६७ के पूर्व की एक खलि प्रति के आधार पर सर्व प्रथम हमने 'साहित्य समालोचक' (भाग १ अंक २ वैशाख १९८२, अप्रैल १९२५ ई०) में प्रकाशित एक लेख द्वारा साहित्यवेत्ताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था। तब से हमें इस छोटे से ग्रंथ की कई प्रतियाँ देखने को मिली। यह लावनी के ढग का कुकुम छंद में रेखता-भाषा का ग्रंथ है। किसी में ५२ छंद हैं, किसी में ५१ और किसी में लगभग ६०। सब प्रतियों के छंदों को एकत्रित करने से तब ६४ छंदों का ग्रंथ होता है। हमारे देखने में कोई भी ऐसी प्राचीन प्रति नहीं आई जिससे रचयिता का समय अक्षर-कालीन आलम के समय तक पहुँचाया जा सके। इस ग्रंथ को हम अक्षर-कालीन आलम रचित मानने या न मानने के संबंध में कोई निश्चित मत नहीं दे सकते, परंतु इस संबंध में एक अमात्मक बात मथुरा से प्रकाशित "ब्रजभारती" (सं० १९६१ चैत्र पृ० १८) में छपी है। इस अंक में काँकरीली की सुदामा-चरित्र की प्रति का परिचय पौ० कठमणि शास्त्री ने दिया और विचित्र तर्क के द्वारा उस प्रति का लिपिकाल सं० १७२० निश्चित किया है। यह प्रति वष ७० पुस्तक सं० ८१३ है और हमने भी सं० १९६६ में इसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

प्रति का लिपिकार कुछ विशेष रूप से शिक्षित नहीं था। प्रति बहुत अधुद्ध है। लिपिकार का नाम 'अभयन' (अभिमन्यु ?) था, उसके हाथ के लिखे निम्न लिखित छोटे-मोटे ग्रंथ उसी पुस्तक में हैं—

१-कल्याण-भरण नाटक, लखीराम कृत—“इति कल्याणभरण नाटक संपूर्ण लखीराम कृत लिखित अभयन, वि० लालजी बाचनार्थ।”

२-बंके वाररी नीसाणी (बिबेक वार री नीसाणी)—“इति बंके वाररी नीसाणी” पुरी, आसोज सुब पुन लखी, कातिक जदि ३ पुरी (संबत् नहीं दिया)।”

३-आलम कृत सुदामा चरित्र।

४-असमेष जभ री कथा (असमेष यज्ञ की कथा) मुरली कृत।

५-स्फुट छंद सग्रह ।

६-स्फुट पद ।

७-रेखता इस्क चमन, (नागरीदास जी कृत) “येति ‘अस्कचमन संपूरण’ चरजीवी लालजी पठनार्थ ।”

८-वेणुविलास (नागरीदास जी कृत)—आदि ।

इस प्रति का लिपि-काल निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, किंतु स० १७२० के आस-पास का लिपि-काल कदापि समझ नहीं हो सकता । वि० लालजी को वि० लालाजी (श्री ब्रजभूषण लाल जी) मान कर स० १७२० का अनुमान करना ठीक नहीं है । दो स्थानों पर ‘लालजी’ शब्द है ‘लालाजी’ नहीं । दूसरे, नागरीदास जी के ग्रंथों का प्रतिलिपिकार अमिमम्बु का समय नागरीदासजी के समय (जन्म-सं० १७५६, मृत्यु-स० १८२०) से ७५-१०० वर्ष पूर्व किस प्रकार समझ है ? स्फुट सग्रह में दिये हुए पद या छंदों के कुछ रचयिता भी स० १७२० के बहुत काल बाद के हैं । इस अस्मात्मक लेख-द्वारा ‘सुदामा-चरित्र’ भी प्राचीन ग्रंथ मान लिया गया और उसे अकबर-कालीन आलम-रचित घोषित कर दिया गया है (दे० नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५२ अंक ३ कात्तिक-शुक्ल स० २००४) । इस भूल के सबब में हमने ‘अजयभारती’ वाले लेख के लेखक को इस भूल का दिग्दर्शन उसी समय स० १९६६ में करा दिया था और उसे उन्होंने स्वीकार भी किया था, परंतु अकबर-कालीन आलम की छतियों में ‘सुदामा-चरित्र’ की मिलती होने लगी है, यह अनुचित है । हमें सुदामा-चरित्र के कर्ता आलम का समय स० १८५० के पूर्व मानने का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला । भाषा, छंद, भाव सभी दृष्टि से इस ग्रंथ का अध्ययन करने पर इसे अकबर-कालीन आलम-रचित मानने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता । लालजी का चलन विशेषतः पद्माकर-काल के आस-पास था और सुदामा-चरित्र की प्रतियाँ भी उसी समय की मिलती हैं । पुष्ट प्रमाण के अभाव में एक भूल-भरी धारणा-द्वारा अकबर-कालीन आलम को सुदामा-चरित्र का लेखक मानना ठीक नहीं है । इस भूल का उचित प्रकार से परिहार होना चाहिए ।

आलम तथा शैल

सभी इतिहासकारों ने ‘शैल’ नामक एक रंगरेजिन को आलम की स्त्री माना है । इस सबब में कुछ किंवदंतियाँ भी प्रसिद्ध हैं । ऐसा कहा जाता है कि शैल रंगरेजिन भी काब्यकाल में निपुण थी और इन्हीं के मोह-वशा ब्राह्मण-वशा-जात आलम मुसलमान हुए । कुछ सज्जनों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि अपने इस समाज विरोधी कार्य का औचित्य प्रतिपादन करने के लिये ही आलम ने ‘माधवानल-कामकंदला’ रचकर प्रेम की सर्वोपरि महत्ता प्रकट की । बोधा त्वि ने अपनी प्रेयसी ‘सुभान’ के विरह में ‘विरहवारीध’ नाम से माधवानल-कामकंदला चरित्र रचा था उसी से मेल मिलते हुए आलम और शैल का भी सबब सिद्ध करने का प्रयास किया गया है ।

आलम तथा शैल आपसारी छंदों का मिश्रण सभी पुस्तकों में पाया जाता है । इन छंदों पर विचार करने से यही धारणा दृढ़ होती जाती है कि ‘शैल छाप’ युक्त छंदों के रचयिता स्वयं आलम ही थे । कोई अन्य व्यक्ति नहीं था । आलम ने अपने रचित छंदों में किसी ने ‘शैल’ और किसी में ‘आलम’ छाप का प्रयोग किया । प्रचलित किंवदंतियों का कोई विशेष आधार नहीं है । हमारे कथन का यह तात्पर्य नहीं कि “शैल” नामधारी कोई कवि हुआ ही नहीं । शैल का नाम सूदन कवि की सूची में है । कालिदास के हजारा में भी शैल के छंद हैं । नवीन कवि ने भी ‘कवि नामवद्ध दासवीला’ में २१२ कवियों के साथ ‘शैल’ का नाम भी दिया है । हमारा तो केवल यही कहना है कि आलम के छंदों की प्रतियों में शैल छाप-युक्त जो छंद मिलते हैं वे आलम-द्वारा ही रचित प्रतीत होते हैं ।

एक ही कवि की दो छाप होना अविश्वसनीय नहीं है । ‘सूर’—सूरस्यम, आलमचमन,—यव आनंद जैसे मिलती-जुलती छापें तो बहुत प्रचलित हैं, परंतु किसी-किसी कवि को दो-दो छापें सर्वथा भिन्न

होती थी, "नागर—पंडित, उदैनाथ—कवित्र, नृपसभु—सभुराज, आनन्द—वद, कालिदास—महाकवि, वत्त—गुरुवत्त" आदि इसके उदाहरण हैं।

हमारी धारणा के कई कारण हैं। शेख नाम किसी स्त्री का होना असंगत जान पड़ता है। शेख शब्द तो मुसलमानों के एक समुदाय विशेष का द्योतक है। सैयद, शेख, मुगल और पठान ये मुसलमानों की जातियाँ हैं। शेख समान-सूचक शब्द है। आलम शेख जाति के थे और उनका पूरा नाम 'शेख आलम' था। यह बात सत्य है कि आलम के किसी भी छंद में 'शेख आलम' छाप नहीं है। इसका कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने नाम के साथ समान सूचक शब्दों का प्रयोग स्वयं नहीं करता। अन्य पुरुष ही उस समानित व्यक्ति का संबोधन करते समय उन समान-सूचक शब्दों को उसके नाम के साथ जोड़ता है। आलम स्वयं ही समान-सूचक शब्द का प्रयोग अपने नाम के साथ नहीं कर सकते थे। वे अधिकतर 'आलम' छाप का ही प्रयोग करते थे और कभी-कभी केवल 'शेख' का। दोनों को मिला कर 'शेख आलम' का प्रयोग हास्यास्पक होता।

आलम के शब्दों की प्राचीन प्रतियों के देखने से यह सहज ही पता चल जाता है कि इनका नाम शेख आलम था। हम कुछ ऐसी प्रतियों के आदि-अंत के अवतरण देते हैं जिनसे पता चलेगा कि कवि का नाम शेख आलम था और शेख तथा आलम भिन्न व्यक्ति नहीं थे। जैसे—

१. काँकरीली की प्रति ७३।२८ (चतु.शती-सं० १७१२) —

आदि—“खंडित है । -

अंत—“इति शेष आलम के कवित संपूर्ण ।”

२. काँकरीली की प्रति ७७।१५ (अक्षरमालिका) —

आदि—“अथ कवि शेष आलम कृत कवित ।”

अंत—“इति श्री कवित शेष आलम के समाप्त ।”

३. हमारी प्रति १४०।२२ (रसकवित-आलम को संपह-सं० १७६१)

आदि—“शेष आलम कृत रस कवित लिख्यते ।”

अंत—“इति श्री शेष आलम कृत रस कवित समाप्त संपूर्ण ।”

४. हमारी प्रति १४१।२२

आदि—“कवित सेषसई ।”

ऊपर लिखित अवतरणों से स्पष्ट है कि कवि का पूरा नाम शेष आलम था। शेख शब्द उनके नाम के साथ समान और जाति-सूचक है। यदि शेख नामक कोई भिन्न व्यक्ति होता तो 'शेख और आलम' लिखा होता। अंतिम प्रति में तो स्पष्टतः 'शेख साई' नाम आलम के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि शेख शब्द से आलम का ही तात्पर्य है। इस कारण शेख और आलम एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। शेख तथा आलम छाप-युक्त छंद सभी प्रतियों में ऐसे धुले-मिले हैं और उनके भाव, भाषा आदि इतना अधिक साम्य रखते हैं कि दोनों प्रकार के छंदों में कोई विशेष अंतर नहीं प्रतीत होता। जो नज़्म कुछ अंतर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं वे केवल बाल की खाल उतारने का व्यर्थ प्रयास करते हैं।

आलम कवि शेख थे और इसका इन्हें गर्व था। केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया के अनुसार उम काल में शेख शब्द उन सच्चे-मुसलमानों के लिये प्रयुक्त होता था, जिनकी प्रकृति आध्यात्मिक होनी थी और वे ईश्वर के भक्त माने जाते थे। आलम ने अपने एक छंद में इसी भाव को व्यक्त किया है—

“अपन नाम सोइ जपिय, नहिं वाबन अजर मेह ।

तब सुबरस दरसिए, बिन सुपने-अतच्छ तहें ॥

सुप्त पवन बिन उठै सबद तहें सुनिप खवन बिन ।

तहें न बित्त संबरे, न तहें जुग-सपि दिन-दिन ॥

जल पर जु बरन आलम सुमति, लिखि भेंटत पढ़ि लिखित पुनि ।

सोइ सिद्ध सेख जापर सुमति, यह विवेक बूझै सु मुनि ॥

एक बात और उल्लेखनीय है कि कुछ ऐसे छंद भी हैं जो आलम ग्रंथवा शेर दोनो के नाम से निम्न-निम्न प्रतियोंमें मिलते हैं । यदि एक प्रति में आलम छाप है तो दूसरी में वही छंद कुछ पाठ-भेद से शेर के नाम से मिलता है । ये प्रतियाँ प्रामाणिक हैं । जैसे तो संग्रह-ग्रंथों में एक कवि का छंद दूसरे के नाम से कभी-कभी देखने को मिलता है, परंतु आलम के ग्रंथों में ही किसी प्रति में शेर और किसी में आलम की छाप उसी छंद में होने से यही सार निकलता है कि आलम की ही दो छापें थी ।

आलम तथा उनकी रचनाओं के संबंध में और भी विचारणीय बातें हैं, परंतु लेख-विस्तार के भय से इसे यहीं समाप्त किया जाता है । आलम के सदिग्ध छंदों पर विचार एक लेख-द्वारा करना कठिन है । शायद ही इस लेख-द्वारा आलम-संबंधी भ्रामक बातों का निराकरण होगा और साहित्य के मंच पर आलम को उचित स्थान प्राप्त होगा । साहित्य-मर्मज्ञों ने अभी तक आलम की रचनाओं का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया । उसके ग्रंथों का प्रामाणिक रूप से प्रकाशन भी नहीं हो पाया और इस कारण आलम के साथ अभी तक न्याय भी नहीं हो पाया ।

भक्तकवि 'रसखान'

भक्त कवि 'रसखान' के जीवन वृत्त जानने के लिए उपयोगी सामग्री का सर्वथा अभाव है। इधर-उधर से प्राप्त स्पष्ट उल्लेखों के आधार पर अथवा कल्पना की सहायता से इनके जीवन की घटनाओं का कुछ पता इतिहासकारों ने लगाने की चेष्टा की, परन्तु अनेक आवश्यक बातों का विवक्षित रूप से कुछ पता नहीं चल पाया। अभी तक उनकी रचनाएँ भी पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकी। ऐसी अवस्था में इनकी जीवन की मुख्य घटनाओं का प्रामाणिक विवरण देना दुष्कर सा है।

'प्रेमवाटिका' नामक ग्रंथ में भक्तकवि रसखान ने अपने विषय में केवल चार दोहे लिखे हैं। वे इस प्रकार हैं—

“द्विखि गबर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
 धिर्नाहि बादसा बंस की, ठसक छोरि रसखान॥
 प्रेम निकेतन श्री बर्नाहि, आइ गोबरधन धाम।
 लह्यो सरन चित चाहि कैं, जुगल सरूप सलान॥
 तोरि मानिनी तैं हियौ, फोरि मोहिनी मान॥
 प्रेम-देव की छबिहि लखि, भए निर्मा रसखान॥
 बिघु १ सागरा ७ रस ६ इंदु १ सुभ, बरस सरस रसखान॥
 प्रेम-वाटिका रवि रचिर, चिर हिय हरब बखान॥”

इस से स्पष्ट है कि राज्यलिप्ताजन्म-विप्लव के कारण दिल्ली नगर की हमशानवत् दुर्बसा देख कर बाही बंध का गर्व क्षण भर में छोड़ कर और एक मानिनी प्रेयसी से अपना मन फेर कर रसखान ब्रज में आये। एव सवत् १६७१ वि० (बिघु १, सागर, रस ६, इंदु, १) में 'प्रेमवाटिका' की रचना की। भक्त कवि रसखान की रचनाओं में इस अवसरविषय के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख नहीं है। कुछ बाह्य स्रोतों द्वारा या अन्य ग्रंथों में वर्णित कथाओं से भी रसखान-विषयक कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्राचीन ग्रंथों में रसखान विषयक जो विवरण मिलते हैं, उनका उल्लेख ऐतिहासिक परीक्षा सहित इस प्रकार है—

१—दो सौ बाबन वैष्णव की वार्ता—वल्लभ-संप्रदाय में यह एक प्रतिष्ठित ग्रंथ है। जिस प्रकार 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्यों का वर्णन है उसी प्रकार 'दो सौ बाबन वैष्णव की वार्ता' में गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के शिष्यों तथा सेवकों का वर्णन है। इस प्रकार के वार्ता-साहित्य अथवा सांप्रदायिक ग्रंथों का ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह कहना तो कठिन है, परन्तु इन्हें कल्पित एवं अप्रामाणिक मान कर एक दम अथाह्य भी नहीं कहा जा सकता। ये वार्ताएँ श्री गोस्वामी गोकुलनाथ जी (सं० १६०८-१६१७) के श्रीमूल से उच्चारित हुई और प्रायः उसी समय लिपिबद्ध हो गईं। समस्त वार्ताओं की 'भाव प्रकाश' नामक व्याख्या के कर्ता श्री हरिराय जी का समय सं० १६४७ से १७२ (आयु १२७१ वर्ष) माना जाता है। इन वार्ताओं की कई हस्तलिखित प्रतियाँ और प्रकाशित संस्करण मिलते हैं। यद्यपि उनमें पाठ और भाषा-शैली में कुछ भिन्नता है, परन्तु मूल कथानक एक सा ही है। 'दो सौ बाबन वैष्णव की वार्ता' में २१८ वीं वार्ता भक्तकवि रसखान सबधी है। एक प्रामाणिक प्रतिके अनुसार यह वार्ता इस प्रकार है—

“अब श्री गुसाईं जी के सेवक रसखान पठान दिल्ली में रहते तिनकी वार्ता। सो दिल्ली में एक साहूकार रहती हती। सो बा साहूकार की बेटा बहुत सुंदर हती। बा छोरा सो रसखान की मन बहुत लग गयो। बाहू के पाखें फिरघी करे और बाकी झूठी खाइ और आठ पहर बाहू की नोकरी करे। पगार कछु लेवे नाहीं, दिन-रात बाहू में आसक्त रहै। दूसरे बड़ी जात के (मुसलमान) रसखान की निंदा बहुत करते हते। पर रसखान साहू की सुनते नाहीं हते। और अष्ट ग्रह बा साहू-कार के बेटा में चित लगती रहती। एक दिन बार वैष्णव मिल कैं भगवद-वार्ता करते हते। करते-करते ऐसी बात निकसी जो प्रभु में चित ऐसी लगानो जैसे रसखान की चित साहूकार

के बेटा मैं लगयी है। इतने में रसखान या रस्ता निकल्यो, बिन मैं ये बात सुनी। तब रसखान ने कही जो तुम मेरी कहा बात करी हो। तब वैष्णवन ने जो बात हती सो कही। तब रसखान बोले, प्रभू को स्वरूप दीखे तो चित्त लगाइये। तब वा वैष्णव ने श्रीनाथजी की चित्र बिसायी। सो देखत ही रसखान ने वो चित्र ले लियी और मन में ऐसी संकल्प करयो जो ऐसी स्वरूप बनाने जब भक्त खानों और उहाँ से छोटा पै बैठ को एक रात में बुँदावन आयी और सबरे बिन सब भविरन में ओष बदल को फिरयो और सब भविरन में बरसन किये पर वैसे बरसन नहीं भए। तब गुपत पुर में गयी। और ओष बदल को श्रीनाथजी के दरसन करवे कूँ गयो। तब सिधरीरिया ने भगव-दिच्छा सु वा के चिन्ह वही बात वारे (मुसलमान) के पहिचाने। तब वाकू बसका मार निकास बियो। भीतर पठन न बियो। सो जाइ को 'गोबिन्द कुंड' पर रह्यो। तीन बिनो तई परयो रह्यो। साखे-पोवे को कछु भयेसा राखी नाही। तब श्रीनाथजी ने जानी यह जीव बैबी है और मुब है, और सात्विक है, और मेरी भक्त है, वाकू बरसन देके तो ठीक है। तब श्रीनाथजी ने बरसन दिये। तब मैं उठि को श्रीनाथजी कूँ पकरवे दौरयो। सो श्रीनाथजी भाज गए। फेर श्रीनाथजी ने श्रीगुसाई जी से कही ये जीव बैबी है और म्लेच्छ योनि कूँ पायो है, जातू पाके ऊपर कृपा करी वाकू सरन लेवो। जहाँ तई बुम्हारी संबध जीव कूँ नाही होवै तहाँ तई मैं वा जीव कूँ ख्यां नाही कर्कूँ, वा सूँ बोधू पाहीं हैं और धाके हाथ की साजें नाही, जातू भव याकों भोगीकार करी। तब श्रीगुसाई जी श्रीनाथजी के बचन सुन को गोबिन्द कुंड पै पधारे और वाकू नाम सुनायो और साक्षात श्रीनाथजी के बरसन श्रीगुसाईजी के स्वरूप में वाकू भए। तब श्रीगुसाई जी बिन कूँ संग लै पधारे और उत्थापन के दरसन कराए। बहुप्रसाद लिवायो। तब रसखान जी श्रीनाथ जी के स्वरूप में भ्रासवत भए। तब रसखान ने भनैक कीर्तन और कविता और बोहा बहुत प्रकार के बनाए। बैसे-बैसे लीला के बरसन बिनकूँ भए वैसे ही बरसन किए। सो मे रसखान श्रीगुसाई जी के ऐसे कृपामात्र होते। जिनकूँ चित्रके बरसन करत मात्र ही संसार सूँ चित्त लिखके श्रीनाथजी में लयी। इनके भाव को कहा बडाई करतौ। वार्ता संपूर्ण।”

अन्य संस्करणों के पाठों से मिलान करने पर भूल कथा में कोई विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता, परंतु एक पाठ के अनुसार इन्हें केवल 'पठान' न लिख कर 'सैयद पठान' लिखा है और उसमें दिल्ली-विवासी होने का उल्लेख नहीं है। इस कथा में तथा भक्तमाल-टीका में कथित रहीम की कथा में कुछ अश्वों में साम्य प्रतीत होता है। दोनों का श्रीनाथजी के दर्शन की उत्कट इच्छा से गोबर्द्धन जाता, मुसलमान होने के कारण दोनों की प्रवेश-द्वार पर रुकावट, गोबिंदकुंड पर भगवान का स्वयं दोनों को दर्शन देना और फिर गोस्वामी विठ्ठलनाथजी का दोनों को भगीकार करना और दोनों ही द्वारा, हिंदी-काव्य में श्री कृष्ण का गुणगान किया जाना आदि सभी बातें एक ही हैं। वार्ता में कथित विवरण सर्वथा निराधार नहीं हो सकता। वार्ता से इतना अवश्य ही पता चलता है कि रसखान दिल्ली के पठान थे और प्रेमी स्वभाव के थे। किसी घटनावश रातोंरात चोटे पर सवार होकर ब्रज पहुँचे और श्री विठ्ठलनाथ जी के शिष्य होकर कवित-कीर्तनों-द्वारा इष्ट-गुणगान करने लगे। वार्ता के अनुसार इन्हें श्री कृष्ण लीला के दर्शन होते थे, भर्षत् उन्हें श्रीकृष्ण की मूल लीला—गोधारण, वशीनाथ, रास आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता था और जैसा देखते थे वैसा ही काव्य-गान करते थे। इनकी कविता में कृष्ण लीला का और एक-एक दिन की गोपी-कृष्ण-संबन्धी घटनाओं का जीता-जागता स्वाभाविक वर्णन इनके काव्य की विशेषता को और स्पष्ट संकेत करता है।

चित्र-द्वारा कृष्ण-दर्शन की लासला होने की बात 'वार्ता' में बताई गई है, इसका आभास रसखान की कविता में भी मिलता है। “छवि” शब्द का साधारण अर्थ “छोया” होता है, किंतु कुछ आदेशिक भाषाओं में इस शब्द का अर्थ “चित्र” भी होता है। “भ्रम देव की छविहि लखि, भए भिमा रसखान” में यदि ‘छवि’ शब्द का अर्थ ‘चित्र’ लिया जाय तो ‘दो’ सी वाचन वैष्णव की बातों के विवरण की पुष्टि रसखान के उपरोक्त दोहे से हो जाती है।

२—मूल गुसाईं चरित—संवत् १६८७ में रचित 'बाबा बेणीमाधवदास' कृत 'मूल गुसाईं चरित' में भी रसखान का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि 'रामचरितमानस' की रचना २ वर्ष ७ मास और २६ दिवस में स० १६३३ में समाप्त हुई। सबसे पहिले मिथिला के रूपारण्य स्वामी ने श्रयोध्या में उसे श्रवण किया। फिर सडीले के (हरदोई जिला) के स्वामी 'नवलाल' के शिष्य 'बयालदास' अथवा 'दलालदास' ने उसकी एक प्रति लिखी और अपने स्थान पर लौट कर तीन वर्ष तक 'यमुना-तट' पर 'मानस' को अपने गुरु को और रसखान को सुनाया। मूल ग्रंथ का यह अंश इस प्रकार है—

“मिथिला के सुसंत सुजान हते। मिथिलाधिप भाव पगे रहते ॥
सुचि नाम स्थापन स्वामि जु तो। तिहि औसर^१ औच में आयौ हुतो ॥
प्रथम यह मानस तेई सुने। तिनहीं अधिकारि गुसाईं^२ गुने ॥
स्वामी नंद (सु) लाल^३ को सिष्य पुनी। तिसु नाम 'दलाल' सुदास गुनी ॥
लिखिकें सोई पोधि स्व-ठास गयी। गुरु के ठिंग जाइ सुनाइ दयी ॥
जमुना-तट पै अथ अत्सर लो। रसखानहि जाइ सुनावत भौ ॥”

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि संवत् १६३४ से १६३७ पर्यंत तीन वर्ष तक रसखान ने रामचरित-मानस की कथा सुनी। 'मूल गुसाईं चरित' की प्रामाणिकता पर सदेह किया जाता है। अथ के कुछ अंश सदेहास्पद हो सकते हैं, परंतु रसखान संघी उल्लेख पर सदेह करने का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता। रसखान 'मानस'-प्रेमी भी अवश्य रहे होंगे। श्रीकृष्ण के प्रतिरिक्त शिव जी तथा गया आदि पर भी छंद-रचना करनेवाले रसखान राम-भक्त तथा 'मानस'-प्रेमी भी हो तो आश्चर्य की क्या बात है? 'गीता प्रेस' से प्रकाशित "कल्याण" (वर्ष ५ खंड १ आगवण-१९८७, जुलाई १९३०) के रामायणांक के पृष्ठ २२६ पर रामचरितमानस की प्रशंसा में रसखान के नाम से रचित एक छंद दिया हुआ है जिससे रसखान का मानस-प्रेमी होना संभव है। वह छंद इस प्रकार है—

“सुरत-सतान सारफल है फलित किषो, कामधेनु-धारा सम नेह उपजावनी।
कौनो वितामनिन की माल उर सोभित बिसाल कठ में धरे हैं जोति-श्लकावनी।
प्रभु की कहीनी ते गुसाईं की मधुर वानी, मुक्ति मुखवानी 'रसखानि' भन-आवनी।
खाई की खिजावनी-सी, कद की कुडावनी-सी, सिता की सतावनी-सी सुधा-सकुचावनी ॥”

इस छंद की प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, किसी भी प्रकाशित ग्रंथ या हस्तलिखित प्रति में यह छंद देखने को नहीं मिला। 'रसखानि' शब्द कवि की छाप न होकर 'रस की खानि' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो यह संभव है। इस प्रकार के छंद रसखान रचित न होने पर भी सहज ही में रसखान के मान लेने की भल संभव है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहा रसखान रचित न होकर बाबा बेणीमाधवदास रचित है, परंतु छंद की वनावट से इसे सहज ही रसखान का माना जा सकता है।

“परम मधुर पावन करनि, चार पदारथ बौनि।

गुलसी कृत रघुपति कथा, कं सुरसरि-रसखानि ॥”

हमें रसखान को मानस-प्रेमी सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। 'मूल गुसाईं चरित' के अनुसार तीन वर्ष तक यमुना तट पर 'मानस' की कथा रसखान ने श्रवण की इसमें तर्क-वितर्क की कोई आवश्यकता नहीं है।

३-'भक्तमाल'—नाभादास रचित भक्तमाल में रसखान का नाम तक नहीं है और न त्रिया-दास जी की टीका में ही कुछ वर्णन है। ऐसा कहा जाता है कि भक्तमाल में नाभादास जी ने स० १६४३ तक के भक्तों का ही उल्लेख किया है। अनुमानत स० १६४३ से पूर्व रसखान की ख्याति अधिक

१. रामचरित मानस की रचना समाप्त होने पर स० १६३३ में।

२. संडीला से आइकें, बसु स्वामी नंदलाल।

नहीं हुई। नामादास जी के भक्तमाल में रसखान का नाम न होते हुए भी शिवसिंह जी ने स्वरचित 'शिव-सिंह सरोज' में लिखा है कि 'इनकी कथा भक्तमाल' में पढ़ने योग्य है। इस विरोध को दूर करने के लिए 'रसखान और उनका काव्य' (प्रकाशक—हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग) के लेखक पं० चंद्रशेखर पांडे ने तो 'दो सौ बावन वैष्णव की बातों' को ही भक्तमाल मान लिया। वास्तव में कोई विरोध है ही नहीं। गलत (आमेर-जयपुर) निवासी 'भग्नदास' जी के शिष्य नारायणदास (नामादास) रचित भक्तमाल केवल १६५ छप्पय, १७ दोहे तथा १ कुलिया छंद युक्त ग्रंथ था, परंतु इसकी कवेवर वृद्धि उनके शिष्यों द्वारा होती रही। मूल ग्रंथ में सब मिला कर १२१० पंक्तियाँ बचवा करण थे। नामादास जी की शिष्य-परंपरा के प्रियादासजी ने "भक्तसखीबिनी" नामक ६३४ पंक्तियों की भक्तमाल की टीका स० १७६६ में रच कर ग्रंथ में ३७४६ पंक्तियाँ कर दी। प्रियादासी टीका तो मूल भक्तमाल का अंग ही बन गई। दोनों में से किसी की पृथक सत्ता रही ही नहीं। प्रियादासी टीका रहित भक्तमाल की कोई प्रति देखने को नहीं मिलती। इसी प्रकार प्रियादासजी के पुत्र (बचवा राम) वैष्णवदासजी ने भी गद्य-पद्य-मिश्रित 'भक्तमाल-प्रसंग' की रचना कर भक्तमाल का आकार बढ़ाया। वैष्णवदासजी ने भक्तमाल के प्रचारार्थ बड़ा परिश्रम किया। इन्होंने काबिला निवासी लक्ष्मणदासजी-द्वारा सन् ११५८ हिजरी में भक्तमाल के आधार पर "भक्तमाल उरबसी" नामक फारसी ग्रंथ रचवाया। इन्हीं शब्दों के आधार पर फारसी, उर्दू तथा हिंदी में भक्तों के चरित्र-संबंधी ग्रन्थ ग्रंथ भी रचे गये। इस प्रकार मूल भक्तमाल का रूपांतर होता रहा। नामादासजी तथा प्रियादासजी ने रसखान का उल्लेख नहीं किया, परंतु वैष्णवदासजी ने अपने "भक्तमाल-प्रसंग" (रचना काल स० १८४४) में इनकी कथा इस प्रकार दी है—

"पातस्याह नें बेसी तुरक कंठी पैहरन लगे। तब रसखान चुसाए। देखें तो सो कंठी मार में परी है। तब पूछी रसखान, कंठी क्यों रखे है? तब बें बोले—हुजरत! काठ की नाब पै पत्थर तिरें याते में राखी है। मैं काठ हूँ, मैं पत्थर हूँ। याते राखी हो। तब कंठी—मैंने राखी, परंतु इतक तो हिंदू हूँ नहीं राखें। तब रसखान बोली ने हलकें है। मैं भारी पत्थर हो।"

यह कथा 'भक्तमाल-प्रसंग' में ही नहीं है, किंतु उसके आधार पर रचित 'भक्त कल्पद्रुम' (भक्तमाल) तथा उर्दू भक्तमालों में भी दी हुई है। शिवसिंहजी का उल्लेख इसी कथा की और भक्ति कथा है। रसखान के उत्तर का भाव 'विहारी' के निम्नलिखित दोहे में कितना धरा उतरा है—

"पतवारो-माला-पकरि, और न कछु उपाठ।
सरि संसार-भयोषि को, हरि-नामैं करि नाठ ॥"

अवाला-निवासी तुलसीरामजी ने भक्तमाल तथा उसकी टीका के आधार पर लग्नी-उर्दू में 'भक्तमाल प्रदीपन' की स० १६१३ में रचना की और उसका हिंदी रूपांतर सम्वत् १६२३ में 'भक्त कल्पद्रुम' (भक्तमाल) के नाम से किया गया। उसमें रसखान-भबधी कथा में कंठी-भाभा के प्रपंच से साथ लिखा है कि वे मुसलमान थे। अपने पीर के साथ वृंदावन में आ पहुँचे और वही बंधी-कंधन प्राप्त होते ही बंधी रह गये। अपने पीर के समझाने-बुझाने पर भी शक नहीं छोड़ा। इसमें स्पष्ट है कि शिवसिंहजी का कथन निराधार नहीं था और रसखान भक्तों की श्रेणी में स्थान पा गये थे। भक्तमाल की कथा में कंठी-माला-धारण करने के संबंध में राज्याधिकारियों-द्वारा निषेध करने का उल्लेख है, परंतु कथा यह इतिहास-सिद्ध बात है?

कंठी-माला-धारण के निषेध-संबंधी विद्वस्त ऐतिहासिक प्रमाण गोज निरानने की धन्य चेष्टा की, परंतु सफलता नहीं मिली। नामाजी ने भी एक भक्त की कथा में इमरा उन्नत किया है। बल्लभ-मगधाय के इतिहास में जहाँगीर-द्वारा इन प्रकार की धाजा निकाली जाने और शेरशाही नामाजी-द्वारा उस धाजा का विरोध करने का वर्णन "माला-प्रसंग" के नाम में प्रथम किया है। इस प्रकार की धाजा निकाल देने की वान वैष्णव-समुदाय में सर्व्वी मानी जाती है, यद्यपि इतिहास में

सब में मीन है । कठी-माला के लिए गोस्वामी गोकुलनाथजी ने जो सफल प्रयास किया वह उनके जीवन की एक मुख्य घटना मानी जाती है ।

संक्षेप में माला-प्रसंग की घटना इस प्रकार कही जाती है कि जहाँगीर बाबशाह ने चिद्रूप (जदरूप भयवा जडरूप ?) संन्यासी के कहने से कठी-माला-धारण के विरोध में एक आदेश निकाल दिया । इसका धीरे विरोध होना स्वाभाविक था । गोस्वामी गोकुलनाथजी ने ७० वर्ष की बुढ़ावस्था में काश्मीर-यात्रा कर जहाँगीर से भेंट की और इस आज्ञा को हटवा दिया । जहाँगीर ने चिद्रूप संन्यासी से प्रथम बार भेंट जन्म में भाव शुक्ल पूर्णिमा स० १६७३ को की थी । मथुरा की भेंट आश्विन शुक्ल दशमी स० १६७६ को हुई थी । चिद्रूप से अकबर ने भी एक बार भेंट की थी और ये दाराशिकोह के भी मित्र थे । जहाँगीर ने चिद्रूप संन्यासी की प्रशंसा अपनी दिन चर्या की पुस्तक "तुलुक जहाँगीरी" में विस्तार पूर्वक की है । चिद्रूप संन्यासी का कुंवर ध्यानसिंह-द्वारा चित्रित सत्रहवीं शताब्दी का एक प्राचीन चित्र श्री कश्मीर-मलजी ने 'सुभा' नामक मासिक पत्रिका (वर्ष १ खड २ सख्या ३ पृ० ३२५-२६) में छपवाया था और मुंशी देवीप्रसादजी मुसिफ ने 'श्री धारदा' (वर्ष १ सख्या २ पृ० १०२-१०५) में चिद्रूप संन्यासी सबधी एक लेख छपवाया था । कठीमाला-धारण करने के निषेध में चिद्रूप का ह्रास था या नहीं यह सिद्ध करना कठिन है ।

'मालाप्रसंग' के सबब में श्री हरिरायजी ने गोस्वामी गोकुलनाथजी की प्रशंसा में यह कहा है—

"जयति विद्वत्-सुवन, प्रगट बल्लभ बली, प्रबल पन करि तिलक-माल राखी ।"

इस घटना से सबब रखने वाले हमें एक 'प्रसिद्ध' कवि के १६ छंद खोज में मिले हैं । कठी-माला-निषेध की प्रामाणिकता सिद्ध करने के हेतु केवल दो-चार छंद यहाँ दिये जाते हैं । 'प्रसिद्ध' कवि रहीम, जहाँगीर धादि के समकालीन थे और इनके रचित रहीम की प्रशंसा के छंद मिलते हैं, अर्थात्—

"जती^१ के हुकुमते लगाई न रत्तीक^२ धेर, हुकुम हजूर ही ते साहि^३ के कित्तु भए ।

दूर करी माल, सतकाल डीके मालन तें, काल हू ते बिकराल दीरि हहरी^४ गए ॥

विद्वल्लेख-सुवन^५ दुवन^६ बलि भुवन में, जगत 'प्रसिद्ध' जस समयाने^७ लै छए ।

साहि परनेसुर है, साहि कोन सके मुख, नाहि^८ के हुकुम माला-रखि मुख को बए ॥

माल तजो साहि के कहत ही हजूर^९ गयी, नैक हू न नयो^{१०} एक साँच ही को भाख्यो है ।

ऐक^{११} भरे बेब-सैह^{१२} की न कहू पेंह^{१३} तजी, जगत 'प्रसिद्ध' मरजाद को न नाख्यो है ॥

जान^{१४} जहाँगीर देखि भीर तन काँप उठयो, गालि-छारि तीरय को जानू यह भाख्यो है ।

विद्वल्लेख के सपुत गोकुलेश^{१५} के हुलास, माल-रखि सो कलेस काहु में न राख्यो है ॥

गए कश्मीर न समीर-सीत गन्यो कहूँ, ठौर ठौर परचो सोर जोर पारावार^{१६} लो ।

साहि के हजूर उमराव ठाढ़े सुनत है, ऐसी बात कहो गोकुलेश केती बार लो ॥

कठ तें न माला छारो, माल न तिलक डारो, जगत 'प्रसिद्ध' छन डारोतन छार^{१७} लो ।

तेही छन कीरति धरति चढ़े और फिरी, जाइ देव लोक फिर पैकिनी^{१८} पतार लो ॥

साहू सराहि कही बतियाँ, छतियाँ में गही रिस कँ उसरयो^{१९} ना ।

कठ तें माल बिसाद कँ याहि, तजो न तजो न बजाइ^{२०} करयो ना ॥

^१ चिद्रूप नामक यती संन्यासी, ^२ एक रत्ती भर भी, ^३ जहाँगीर बाबशाह, ^४ सदेसावाहक सेनिक, अहदी, ^५ गो० विद्वल्लेखजी के पुत्र गोकुलनाथ जी, ^६ दुष्ट, छल, ^७ वितान, शामयाना, ^८ उल्लंघन कर, ^९ बाबशाह के समक्ष, ^{१०} झुके, ^{११} गर्व, ^{१२} मर्यादा, ^{१३} मार्ग, ^{१४} चतुर-बिन, ^{१५} गो० गोकुलनाथ जी, ^{१६} सिंघुपार, आरपार, ^{१७} नस्म, क्षार, ^{१८} समा गई, व्याप्त हुई, ^{१९} दूर हटाना, ^{२०} आज्ञा पालन, हुकुम-बजा लाना ।

ऐसी सभा में प्रभा इनके मुझ परम धुरधर जीय बरखी ना ।

गोकुलनाथ जु टेक तें ए जग नास 'प्रसिद्ध' सु नैक दरखी ना ॥

उपर्युक्त अवतरणों से रसखान की भक्तमाल-वर्णित कथा की पुष्टि होती है। चित्रपू सन्यासी से जहाँगीर की भेंट सं० १६७३ तथा १६७६ में हुई थी। प्रेमवाटिका का रचना-काल सं० १६७१ है। इस कारण माला-असंग के समय का रसखान के समय से मेल खाता है। गोकुलनाथजी की कास्मीर-यात्रा तथा जहाँगीर-द्वारा भ्राजा रद्द करने की बात जहाँगीर की मृत्यु (सं० १६८४) के पूर्व ही घटी होगी।

धनुमानत जहाँगीर या उसके राज-प्रदेश के उच्च पदाधिकारी ने केवल मुसलमानों-द्वारा कठीमाला-धारण करने का निषेध किया होगा। भक्तमाल-असंग में "पुरक कठी पहिरन समे" शब्दों में यही संकेत है। मुसलमानों-द्वारा कठीमाला-धारण कर हिंदू-नैस-भूषा में फिरना कट्टर मुसलमानों को अवश्य ही असह्य हुआ होगा। राजद्रोह में सलान मुसलमान हिंदू-नैस-भूषा में विचर कर गुप्त रूप से राजद्रोहात्मक विचारों का प्रचार करते थे, इसलिये राजनैतिक कारणों से भी मुसलमानों का कठीमाला-धारण करना राज्याधिकारियों को सह्य नहीं हो सकता था। कठीमाला-निषेध की भ्राजा इन कारणों से दी गई प्रतीत होती है। इस भ्राजा की वपेट में रसखान भी फँस गये होते तो आश्चर्य ही क्या? चित्रपू सन्यासी का अनुगोपासक कृष्ण-भक्तों से धार्मिक मतभेद होना निश्चय है। उस पर बादशाह से मान पाना वैष्णवों को खटका होगा। चित्रपू के नाम को कथुपित करने के लिये कुछ मनचले वैष्णवों ने शाही भ्राजा का दोष चित्रपू के मल्ले मल दिया होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तमाल की कथा में ऐतिहासिक पुट होना संभव है। यह कथा सर्वांश में कल्पित अथवा अश्राद्ध नहीं मानी जा सकती। कोई शाही भ्राजा न भी दी गई हो, परन्तु कृष्ण-भक्तों में ऐसी भ्राजा पर सबको विश्वास था।

इन वहितस्थि-पूर्ण अवतरणों के अतिरिक्त आधुनिक काल से पूर्व के लेखकों-द्वारा रसखान के विषय में कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं मिलता। कवि-कोविदों ने काव्य के स्फुट सग्रह-ग्रंथों में भक्त-कवि रसखान रचित दो-चार छंदों का समावेश कर इनकी काव्य-प्रतिभा के प्रति समान प्रशंसा प्रस्तुत किया है। भक्तों ने रसखान को भक्तसेवी में गौरवपूर्ण स्थान दिया और श्रात स्मरणीय भक्त-नामावली में इनकी गणना भी कर ली गई। भगवत् चर "भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र" ने अपने "उत्तरार्द्ध भक्तमाल" में तथा पं० 'राधाचरण गोस्वामी' ने अपने "नव भक्तमाल" में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर ही इनका उल्लेख किया, परन्तु व्यापक खोज-द्वारा इनके काव्य-संग्रह के लिये कोई सफल प्रयास नहीं किया। भारतेंदुजी इनकी कविता के अत्यंत प्रेमी थे। आपने भी अपने एक छप्पय छंद में अन्य मुसलमान भक्तों के साथ रसखान का केवल नाम ही गिनाया, पर कोई विशेष परिचय नहीं दिया। वास्तव में 'इन मुसलमान हरिजनन पै, कोदिव हिंदू धारियै' इन थोड़े से शब्दों में सभी कुछ कह डाला। पं० राधाचरण गोस्वामी ने 'नव भक्तमाल' में नामादास जी के ढग पर रसखान का परिचय एक छप्पय छंद में 'दो सौ बावन वैष्णव की बातों' के मुख्य आधार पर इस प्रकार दिया है—

दिल्ली नगर निवास दासदास-वंस बिभाकर ।

चित्र-नेहि मन हरी भरी पन प्रेम सुधाकर ॥

श्री गोबर्धन भाइ जब बरसन नहि पाए ।

देहे-मेहे-वचन-रचन निरभय हूँ गए ॥

तब आप भाइ सु मनाइ करि, सुलूषा सहमान की ।

कवि कोम मिलाई कहि सकै, श्री माय-साय रसखान की ॥

इस वर्णन में तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की बातों' की कथा में मुख्य अंतर यही है कि 'नव भक्तमाल' के कर्ता के अनुसार रसखान ने दर्शन न पाने पर अंग रचना कर भगवान से कुछ उपलब्ध-पूर्ण वचन कहे। भक्त-माल टीका के अनुसार रहीम ने ऐसी ही परिस्थिति में अंग पूर्ण दोहे रचे थे। अनुमान गोस्वामीजी ने ऐसी ही बात रसखान के संबंध में भी कह डाली। ऐसा भी कहा जाता है कि रसखान की

प्रेयसी बहुत मानिनी थी। उससे वे असतुष्ट से हो चले थे। एक बार श्रीमद्भागवत के फारसी अनुवाद में गोपियो का कृष्ण-श्रुति प्रेम का वर्णन पढ़ कर वे कृष्ण प्रेम की ओर आसक्त हो कर व्रज में चले आये।

इन सब बातों से यही सार निकलता है कि रसखान दिल्ली-निवासी थे और पठान वादशाहों के वश में जन्मे थे। राजनैतिक घड्यंत्रों की चपेट में आकर दिल्ली की गृह-कलह और दुश्मिन् के कारण शमशानवत्-दशा देख कर शाही ठाट-बाट और अपनी प्रेयसी को छोड़ व्रज में आ बसे। भगवान का चित्र देख कर उन्हें श्री कृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा हुई और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अंगीकार करने पर हिंदू-भक्तियों में प्रवेश पा हिंदू-भक्त के समान कंठी-माला-धारण कर जीवन व्यतीत करने लगे। स० १६३४ से १६३७ पर्यंत तीन वर्ष तक रामचरितमानस की कथा सुनी और सन्वत् १६७१ में प्रेमवाटिका की रचना की।

भक्त कवि रसखान के कविता-काल संबंधी भिन्न-भिन्न मत

रसखान के जन्म-मरण के सवतो के विषय में अभी तक कोई मत स्थिर नहीं हो पाया है। शिव-सिंहजी ने 'स्वरचित 'शिवसिंह सरोज' में रसखान का जन्म स० १६३० में माना है। इसी के आधार पर बाबू 'राधाकृष्णदास' जी ने व्यक्तेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' की भूमिका में रसखान का जन्म स० १६३१ में माना है। शिवसिंहजी ने कवियों के जो समय दिये हैं वे अटकल से दिये हैं। ये अनेकाश में सदाशिव सिद्ध हो चुके हैं। शिवसिंहजी-द्वारा अनुमानित सवत उचित् परीक्षा के बिना मान्य नहीं होने चाहिए, परंतु अभी तक बिना परीक्षा के ही 'सरोज' के दिये हुए सवतो को शुद्ध मान लेने की भूल होती आई है।

रसखान की कविता का सर्व प्रथम प्रकाशन कराने का श्रेय प० 'किशोरीलाल गोस्वामी' (वृ दावन) को है। उन्होंने प० 'प्रताप नारायण मिश्र' से संपादन करा के १०५ छंदों सहित 'रसखान शतक' छपवाया था फिर 'सुखान रसखान' के नाम से स्वयं भी संपादन किया था। 'सुखान रसखान' में पहले गोस्वामी जी ने रसखान का जन्म-समय, 'प्रेमवाटिका' के रचना-काल, स० १६७१ से २५ वर्ष पूर्व माना था। इस अनुमान से रसखान का गोस्वामी विट्ठलनाथजी (स० १५७२-१६४२) का सेवक होना असंभव हो जाता है। रसखान का निघन-काल प० किशोरीलाल गोस्वामी ने पहिले स० १६७० माना था। यह भी अमान्यक था, कारण कि स० १६७१ में प्रेमवाटिका की रचना के कर्ता रसखान की मृत्यु स० १६७० में संभव नहीं हो सकती। इसके पश्चात् स्वसंपादित 'प्रेमवाटिका' के द्वितीय संस्करण (सन् १९०६-०७ ई०) की भूमिका में अपने पूर्व विचारों को बदल कर गोस्वामीजी ने रसखान का जन्म स० १६७१ से तीस-चालीस या पचास वर्ष पूर्व मानने की राय दी और विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में रसखान का जन्म, कविता-काल तथा मरण माना। स० १६०० वि० के बाद के १६६६ तक के वर्षों को सोलहवीं शताब्दी न कह कर सत्रहवीं शताब्दी कहना चाहिए। स्पष्ट बात तो यह है कि गोस्वामीजी रसखान का समय ठीक-ठीक निर्णय करने में असफल रहे। स्वर्गीय बाबू 'अमरीसिंह' जी ने (सन् १९२८ ई०) 'रसखान और धनानंद' नामक पुस्तक (प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) में प० किशोरीलाल गोस्वामी के मतानुसार रसखान का समय स० १६७१ से तीस या चालीस वर्ष पूर्व और मरण भी उसी शताब्दी में माना है।

मिश्रवचुओ (स० १९७०) ने भी रसखान का वास्तविक समय निश्चित करने की चेष्टा की। रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी। मिश्रवचुओ के मत से यह दीक्षा स० १६४० के लगभग ली गई थी। उनके मत से विट्ठलनाथजी का गोलीक-वास स० १६४३ में हुआ था उनके कुछ वर्ष पूर्व ही यह दीक्षा ली गई होगी। उस समय उनकी आयु २५ वर्ष की मान कर रसखान का जन्म स० १६१५ के लगभग और मरण ७० वर्ष की अवस्था में स० १६८५ में माना। गोस्वामी विट्ठलनाथजी

का नित्यलीला-अवशेष स० १६४३ में मानना ठीक नहीं है। वास्तविक समय शायद ७ स० १६४२ या। यह एक वर्ष की भूल 'मिश्रवधु विनोद' का आधार लेने वाले अन्य साहित्यकारों-द्वारा भी हुई है।

शुद्धाद्वैत-संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान् ५० वसंतराम हरिकृष्ण शास्त्री (अग्रहवादा मिशामी) ने अपने गुजराती ग्रंथ 'पुष्टि मार्गनी इतिहास' में रसखान का विस्तृत चरित्र बड़े रोचक ढंग से दिया है। यह चरित्र स० १६७६ में 'वैष्णव-धर्म पताका' के गुजराती तथा हिंदी दोनों संस्करणों में छपा था। शास्त्री जी ने रसखान का चरित्र एक गल्प के रूप में लिखा था। उसमें ऐतिहासिक समीक्षा का अभाव है। शास्त्री जी ने मिश्रवधु द्वारा रचित 'मिश्रवधु विनोद' के आधार पर ही रसखान का जन्म स० १६१५ में माना है और यह समय गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के समय से मेल भी खा जाता है।

५० रामनरेश त्रिपाठी ने पहिले अपनी "कविता कौमुदी" में रसखान का जन्म स० १६४० में और निधन स० १६८५ में माना था। अनुमानत ५० किशोरीलाल गोस्वामी के पुराने मत के आधार पर ही ये संवत् माने गये थे। त्रिपाठी जी ने अपने संपादित 'रामचरितमानस सटीक' की प्रथिका के पृष्ठ ६२ पर अपना पूर्वं निश्चित मत बदल-सा दिया और स० १६४० में रसखान का जन्म न मान कर अनुमान मिश्रवधु विनोद के आधार पर उसे वैष्णव धर्म-ग्रहण करने का समय माना।

५० विद्योगी हरि ने 'विनोद' के आधार पर रसखान का जन्म स० १६१५ माना। ५० राम-चंद्र शुक्ल ने इनका कविता-काल स० १६४० माना और डाक्टर रामकुमार वर्मा ने स० १६७१। ५० प्रमुदत ब्रह्मचारी जी ने अपनी संपादित 'रसखान पदावली' (हिंदी प्रेस प्रयाग) में रसखान का जन्म स० १६१५ से १६४० के बीच में और निधन १६८० से १६८५ के बीच में माना। इन्होंने उस समय प्रचलित भिन्न मतों का समन्वय करने की चेष्टा की, परंतु यह नहीं बताया कि जन्म-समय स० १६१५ के कुछ वर्ष पूर्व और निधन १६८५ के कुछ वर्ष पूर्व मानने में क्या शका उपस्थित होती है। ५० परमुराम चतुर्वेदी ने जुलाई १६२७ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने एक लेख में 'रसखान' के समय के मध्य में छान-बीन करने की चेष्टा न कर केवल स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी माना।

उपरोक्त विद्वानों में से किसी ने भी रसखान रचित 'प्रेमवाटिका' में दिखे हुए पाठ्य-परिचय सक्की चार दोहे में से प्रथम दोहे पर वास्तविक विचार नहीं किया। रसखान ने दिल्ली की 'गदर' के कारण वमशान के समान देखा और शाही बस का मोह छोड़ ब्रजवास किया। मिश्र वधु तथा उनके अनुयायियों-द्वारा मान्य स० १६१५ में जन्म और १६४० में वैष्णव धर्म ग्रहण करने के बानों की स्वीकार करने में हमें सबसे बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि १६१५-१६४० पचीस वर्ष के समय में ऐसा कोई गदर, उपद्रव या दुर्घटना होने का उल्लेख इतिहास-ग्रंथों में नहीं मिलता जिसके फलस्वरूप दिल्ली नगर दमनायक हो गया हो।

श्री अमृतलाल श्रील ने 'सरस्वती' (अगस्त १९२७ ई०) में प्रकाशित एक लेख-द्वारा दिल्ली की इस दुर्घटना को नादिरशाह के भीषण आक्रमण से मेल मिलाते हुए रसखान का समय गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के समय के १५० वर्ष पश्चात् स० १८०० के लगभग कर दिया। अपने इस कथन के समर्थन के लिये 'प्रेमवाटिका' के रचना काल का स० १६७१ को विक्रम नरत् के स्थान में शक-नरत् बताया। उन्होंने यह विचार करना आवश्यक नहीं समझा कि नादिरशाह के आक्रमण के समय (स० १७६४ वि० ११११ ई० सन् १७३९ ई०) में रसखान गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी से किस प्रकार दीक्षा ले सकते थे? इतिहास के मत अनमानी खिलवाड़ करना अनुचित है।

दिल्ली की दुरवस्था और राजनैतिक विप्लवों के कारण रसखान दिल्ली छोड़ ब्रज में गये थे। इस कारण स० १६१५ से १६४० के अवकाश (अकबर के राज्यकाल) में एक भीषण विप्लव भी गीत हो गई। सामयिक इतिहास ग्रंथों को उलट-पुलट कर एक साधारण नी बटना गीत गिनीने री दी गई। उसे ही रसखान कथित 'गदर' मान लिया गया। ५० चंद्रशेखर पांडे ने अपनी पुस्तक 'मानवीय काव्य' (हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग) में इस प्रकार के गदर का उल्लेख किया है। उन्होंने इसका

की काबुल-विजय को दिल्ली के गदर का रून दिया है। अकबर के धार्मिक विचार कट्टर मुस्लाओं को पसंद न थे। इस कारण वे अकबर और उसके धार्मिक सिद्धांतों का विरोध करते थे। वे अकबर से असंतुष्ट होकर विप्लव की चेष्टा करने लगे, पर कमी सफल न हो पाये। काबुल का शासक मिर्जा मुहम्मद हुकीम अकबर का सौतेला भाई था। मुस्लाओं ने उसे अकबर के विरुद्ध उभारा। उसने पंजाब पर चढ़ाई कर दी। अकबर ने बगाल में उपद्रव शांत कर स० १६८३ में पंजाब की ओर कूच किया, परंतु उसका भाई युद्ध से मुँह छिपाता रहा। वह बड़ा व्यसनी और बराबी था। ६ अगस्त सन १५८१ ई० (स० १६३८) को काबुल-विजय कर काबुल में २० दिवस रह कर, अकबर लाहौर वापिस आ गया और १ दिसंबर १५८१ ई० को दिल्ली पहुँच गया। अत्यधिक शराब पीने के कारण मुहम्मद हुकीम की मृत्यु स० १६४२ (जुलाई सन् १५८५ ई०) में होने पर अफगानिस्तान मुगलराज्य में मिला लिया गया। इस घटना में ऐसी कोई बात नहीं हुई जिसे 'दिल्ली का गदर' कहा जा सके। दिल्ली में तो कदाचित् एक भी गोली न चली हो। इस घटना को दिल्ली का गदर मानना एक विलम्बित कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्या इस गदर से दिल्ली समुद्रानवत् हो गई थी ?

यह अनुपम सूक्ष्म वास्तव में किसी की है यह कहना कठिन है। प० चंद्रशेखर पांडे की पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व भारतवासी प्रेस, दारागंज, प्रयाग से प्रकाशित 'रसखान रत्नावली' में 'कवि किंकर' ने भी इसी घटना को ही दिल्ली का गदर माना है। किसी की भी सूझ हो पर है अनुपम। सवत् १६३८ की इस घटना को दिल्ली का गदर मानने में एक आपत्ति यह भी है कि उस समय रसखान की आयु लगभग २३ की होगी है और उससे पूर्व ही स० १६३४-१६३७ में उसने मानस की कथा सुनी। सवत् १६३८ के गदर के बाद दिल्ली छोड़ने वाले रसखान स० १६३४-१६३७ में मानस की कथा किस प्रकार सुन पाये ? स० १६१५ में जन्म मानने से मानस-कथा-श्रवण के समय रसखान की आयु केवल १९ वर्ष की घाटी है। ये सब बातें असंगत ही हैं और इन्हें मान्यता नहीं दी जा सकती।

प० चंद्रशेखर पांडे ने 'प्रेमवाटिका' के रचना काल के दोहों में 'विष्णु सागर रस इंदु' शब्दों में 'सागर' का अर्थ ७ न मान कर ४ माना है और अथ का रचना-काल स० १६७१ के स्थान में १६४१ माना है। यह इसलिये किया गया प्रतीत होता है कि उनकी धारणा के अनुसार 'प्रेमवाटिका' कवि की प्रारंभिक काल की रचना है और उसके लिये उन्हें एक प्रमाण चाहिए था। अथ की रचना के समय का अपने मत से विरोध दूर करने के लिये रचना काल में ३० वर्ष का अंतर कर दिया। इस अनधिकार चेष्टा ने कवि के कविता-काल में और भी अधिक घाँवली उत्पन्न कर दी है।

रसखान के जन्म-मरण के समयों में जो घाँवली फैली हुई है उसका निराकरण करने के हेतु हमने एक छोटा लेख माधुरी (फाल्गुन स० २००१-मार्च १९४५ ई०) में प्रकाशित कराया था। उस लेख में विस्तार से सभी बातों का उल्लेख न कर केवल सार बातों का ही उल्लेख किया था, परंतु रसखान का समय ठीक निर्णय करने की ओर ठीक-ठीक ध्यान अभी तक किसी ने नहीं दिया। विश्वविद्यालयों में जैसी डिग्रीयाँ प्राप्त करने के हेतु जो निबन्ध लिखे जाते हैं उन में खोज सबकी कुछ चर्चा होती है। इन निबन्धकारों ने मनमानी खोज कर समस्या को और भी जटिल कर दिया है।

रसखान के विषय में एक बात और विचारणीय है। शिवांसह जी ने उन्हें पिहानी-निबानी बताया है और नाम सैयद इब्राहीम लिखा है। 'सुजान रसखान' के सपादक श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने भी यही माना है। 'प्रेमवाटिका' में रसखान ने अपने को दिल्ली-निबानी बादशाह बग का लिया है। इस कारण इन्हें पिहानी-निबानी सैयद इब्राहीम मानना अंग्रेज प्रतीत होता है। रसखान सैयद थे या नहीं, उस पर केवल हस्ताक्षर कहा जा सकता है कि वे पठान थे। सैयद होना न होना दोनों ही संभव हैं।

रसखान का वास्तविक समय

अब तक जिन बातों का उल्लेख किया गया है उसने यह निष्कर्ष निकलना है कि रसखान के वास्तविक कविता-काल-निर्णय के संबंध में कोई निश्चित मन स्थिर नहीं हो सका। केवल एक या दो

बातों के आधार पर समय निश्चित करने की चेष्टा तो की गई, परन्तु इतिहास-सिद्ध प्रमाणों की कमी पर खरा उतरने वाला कविता-काल कोई भी निश्चित नहीं कर पाया। अशुद्ध काल-निर्णय के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह है कि नारद-भक्तिसूत्र तथा अन्य भक्तियोग-संघों समानित ग्रंथों के आधार पर स० १६७१ वि० में रचित 'प्रेमवाटिका' जैसे उत्कृष्ट ग्रंथ को एक साधारण रचना मान कर उसे कवि के जीवन-काल की प्रारम्भिक रचना मान लिया गया है। दूसरा कारण यह है कि 'प्रेमवाटिका' में दिग्गज दोहों पर ठीक-ठीक विचार नहीं किया गया। 'दिलि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान' से जिस समय का संकेत मिलता है उसकी खानगीन आवश्यक है। किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं के कारण कब 'गदर' हुआ और दिल्ली नगर कब ध्वस्तानवत् हुआ, वही समय रसखान-द्वारा बादशाह-वश की ठसक छोड़ ब्रज में जाने का हो सकता है। इस प्रकार से निश्चित किया हुआ समय 'दो सौ सावन वैष्णव की बाती', 'भूल गुवाँई चरित' तथा 'भक्तमाल प्रसंग' में वर्णित विवरणों के अनुकूल सिद्ध होने पर ही ग्रहण करने योग्य माना जा सकता है।

चौसा तथा कन्नौज के युद्धों में शेरशाह से पराजित हो कर हुमायूँ को स० १५१५ वि० में भारत छोड़ जाना पड़ा और कुछ वर्षों के लिये शेरशाह का राज्य स्थापित हो गया। उसकी नींव दृढ़ भी न होने पाई थी कि स० १६०२ (सन १५४५ ई०) में शेरशाह सूर की मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् उसके बड़े पुत्र आदिलशाह के स्थान पर छोटे पुत्र 'सलीमशाह' उपनाम 'इस्लाम शाह' ने राज्य पर अधिकार कर लिया। उसी समय से राज्य-लिप्सा-जन्य गृह-क्रान्तियों का भीमण्डल हुआ। सलीमशाह अत्यन्त इर्ष्यालु था और किसी का विश्वास नहीं करता था। शेरशाह के समय के पुराने विभव सरदार उसे एक-एक कर छोड़ने लगे। उसका बड़ा भाई आदिल खाँ ब्यसनी बा और धामोद-अमोद में व्यस्त रहता था। उसने राज्य प्राप्ति की कोई विशेष चेष्टा नहीं की और केवल बगाना की बागीर लेकर संतुष्ट हो गया, परन्तु सलीमशाह राज्य-प्राप्त कर लेने पर भी अपने बड़े भाई की हत्या में सबैव प्रयत्नशील था। विचारे आदिल खाँ को अपने प्राणों की रक्षा के हेतु भागना पड़ा। सलीमशाह ने उसके पुत्र (अपने गतीने) महमूद खाँ को नजरबंद किया और कुतुब खाँ सूर का दमन किया। अन्य कई सबघियों को दबाया। बलाल खाँ का वध कराया और उसके भाई की हाथी के नीचे कुचलवाया। कुछ सदाँरों ने सलीमशाह की हत्या का षडयंत्र रचा और उसके चचा के पुत्र मुबारिज खाँ को गद्दी पर बैठाने का षडयंत्र किया। मुबारिज खाँ शेरशाह का भतीजा (जिबाम शाह सूर का पुत्र) और सलीमशाह का चचेरा भाई और साला भी था, परन्तु इसी अवसर पर राज्य-प्राप्ति के आठ-नी बर्ष बाद सलीमशाह ग्वालियर में अचानक बीमार पड़ गया और वही स० १६११ (सन् १५५४ ई०) में मर गया। मरते समय अपने १२ वर्ष के पुत्र का राज्य निष्पट्ट करने की इच्छा से अपनी बेगम 'बीबी बार्द' से अपने साले मुबारिज खाँ की हत्या का प्रस्ताव किया, परन्तु उसकी स्त्री ने अपने भाई की हत्या न होने दी। सलीमशाह की मृत्यु (नवंबर सन् १५५४ ई०) के बाद तुरन्त ही ग्वालियर में ही बारह वर्ष का राजकुमार फीरोज गद्दी पर बैठा दिया गया। केवल तीन दिन बाद ही 'मुबारिज खाँ' ग्वालियर पहुँच गया और अपने भाँजे फीरोज को उसकी माँ तथा अपनी बहिन 'बीबी बार्द' की गोद से छीन कर वही कूरता से उसका वध किया और स्वयं मुहम्मद आदिल शाह (महमूद शाह आदिल) का नाथ धारण कर उठे। १६११ वि० में राज्य हस्तगत कर लिया। इतने पर भी राज्य-लिप्सा-जन्य हत्याकांड का अंत न हुआ और उसने शीघ्र ही और भी अधिक उग्र रूप धारण किया।

महमूद आदिल शाह (पूर्व नाम मुबारिज खाँ) ने सलीमशाह के समय के बाजार-बाबरी के पत्र पर स्थित हेनु नामक एक हिंदू व्यक्ति को राज्य का पूर्ण कार्य-भार सौंप दिया। हेनु का प्रमुख निष्पत्ति बढे लगा जिससे किबर कर अन्य सरदारों ने विप्लव किया। उस समय सभी दलबदों में लगे हुए थे और सन्नि-सन्न करने में जुटे हुए थे। महमूद आदिल शाह के चचेरे भाई और साले इब्राहिम खाँ ने राज्य हस्तगत कर महमूद आदिल शाह की पूर्ण की ओर सर्वेद दिया। उसने माग कर कुनारगढ में शरण ली और पूर्वी प्रदेशों पर अपनी सत्ता न्यूनाधिक रूप से जमाये रखी। पश्चिमी प्रदेशों पर इब्राहिम खाँ का ही अधिकार हो गया।

इस प्रकार कुछ ही महीनों में अपने भाँजे का वध कर जो राज्य महमूद आदिल शाह ने प्राप्त किया था उसे वह स० १६१२ वि० (सन् १५५५ ई०) में खो बैठा ।

इसी समय पंजाब के अहमद खान ने इब्राहीम खान को परास्त कर दिल्ली और आगरा जीत लिया और सिकंदरशाह का नाम धारण कर गद्दी पर आरुढ़ हो गया । इब्राहीम खान सभल में मारा गया । सिकंदर शाह (पंजाब का अहमद खान) शेरशाह का भतीजा था और इसकी बहिन का विवाह महमूद शाह आदिल (पूर्व नाम मुबारिक खान) से हुआ था जो इब्राहीम खान से परास्त होकर चुनारगढ़ में जा छिपा था । इस बिकट गृह-कलह का सुझवसर पाकर हुमायूँ ने अपनी शक्ति पुनः संचित कर पंजाब में शरहिंद पर अधिकार कर लिया और दिल्ली की ओर कूच कर स० १६१२ (सन् १५५५ ई०) में अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त किया । इस प्रकार नवंबर १५५४ ई० से जनवरी १५५६ ई० के सवा वर्ष के अल्प समय में राज्य की लालसा-वश दिल्ली में ऐसा भीषण गृह-कलह हुआ कि फीरोज, आदिलशाह, इब्राहीमशाह और सिकंदरशाह ये चार सुलतान हुए और अंत में सभी राज्य सत्ता खो बैठे ।

ठीक इसी समय सन् १६१२ (२३ जनवरी सन् १५५६ ई०) में अपने पुस्तकालय की सीढ़ी से गिर पड़ने के कारण हुमायूँ की अचानक मृत्यु हो गई और अकबर १४ फरवरी सन् १५५६ ई० (स० १६१३ वि०) को गद्दी पर बैठा । उसने पठानों को खदेड़-खदेड़ कर अशक्त कर दिया और कुछ ही वर्षों में सबका दमन कर सूरजगढ़ का नाम मिटा दिया । सिकंदरशाह सूरअकबर से प्राणों की भिक्षा पाकर शेष जीवन बगाल में व्यतीत करने लगा और तीन वर्ष बाद मर गया । महमूदशाह आदिल को, जो चुनारगढ़ में था, बगाल के महमूद खान के पुत्र खिजिर खान ने अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए बिहार में सूरजगढ़ में परास्त कर स० १६१७ में मरवा डाला । इब्राहीम खान जो सभल को भाग गया था, हेमू से बार-बार पराजित होकर बूंदेलखंड और फिर उड़ीसा भाग गया और कुछ वर्षों में मर गया । हुमायूँ की मृत्यु का समाचार मिलते ही हेमू मुगल-सेना से लड़ने गया और ५ नवंबर १५५६ ई० को तीर की चोट से अर्धा होकर बंदी हुआ और बैराम-खान-द्वारा मारा गया ।

उपरोक्त इतिहास प्रसिद्ध गृह-कलह को ही रसखान ने 'गदर' का नाम दिया है । इसी गृह-कलह ने दिल्ली को हमलानवत् कर दिया था । यह राज्य-लिप्सा-जल्प परस्पर का कलह रसखान के निकट-सवधियों के बीच ही हुआ था । वे स्वयं बादशाह वंश के पठान थे और अपने सवधियों में मारकाट मर्षी देख कर व्याकुल हो गए थे । स० १६०२ में इस कलह का बीजारोपण सलीमशाह के द्वारा बड़े भाई का राज्य हड़पने के कारण हुआ और स० १६११-१२ में भयंकर रूप से फैल गया जिसकी लपेट में सूरजगढ़ के पठानों का सर्वनाश हो गया । इस लगातार दो वर्षों के युद्धों के कारण दिल्ली नगर हमलानवत् हो गया था और ठीक इसी वर्ष स० १६१२ वि० में भीषण अकाल के कारण जनता की बड़ी दुर्दशा हुई । सर्वत्र भराजकता फैली हुई थी । युद्ध और दुर्भिक्ष ने पीड़ित जनता में हाहाकार मचा दिया । बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य मरने लगे । उस समय के इतिहासकार 'बदायूनी' ने इस दुर्भिक्ष और युद्ध-पीड़ित जनता का बड़ा हृदय-विदारक वर्णन किया है—

“इस समय (स० १६१३ वि०) एक भयंकर अकाल पड़ा जो आगरा, बयाना तथा दिल्ली में विशेष रूप से प्रचंड था । एक सेर ज्वारी का मूल्य २॥ टंक तक हो गया था और इस ऊँचे भाव पर भी वह अप्राप्य था । बहुतांशों ने विषय होकर मरने के लिए उद्यत हो अपने घरों के द्वार बंद कर लिये जिसमें दस-दस, बीस-बीस या इससे भी अधिक सख्या में प्राणी मरने लगे । अनेकों को न कफ़न मिला न कब्र । हिंदू-जनता भी इसी प्रकार मरी । साधारण मनुष्य काँटेदार बबूल प्रादि वृक्षों के बीज, जंगली घास और पशुओं की दाल पर जो धनिक वर्ग-द्वारा बेची जाती थी, निर्वाह करते थे । कुछ दिनों में हाथ-पैरों में सूजन आ जाने पर मृत्यु होती थी । मैंने स्वयं अपनी आँखों ने देखा है कि मनुष्य नरमांस-भरी हो गये थे । दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की मुत्ताकुति इनकी भयंकर हो गई थी कि उनकी ओर देखना कठिन था । वर्षों की बर्षा, दुर्भिक्ष और अन्तः शत्रुता तथा दो

वर्ष के लगातार युद्ध के कारण समस्त वैद्य भवस्थल हो गया था। रुष्टि के लिये कुपक नहीं बचे थे। जुदेरो ने भी नगरो को खूब लूटा।”

रसखान के दोहे में उपरोक्त ऐतिहासिक घटना का ही उल्लेख है। गदर और दिल्ली की हम्यान-जत दशा देख कर रसखान के मन में वैराग्य-संचार हुआ और वे वादशाह वच की ठसक छोड़ बन में चले गये। इसमें कोई संदेह नहीं कि दोहे में उल्लिखित घटना स० १६१२ वि० के आसपास की है। सन् १६११ में अपने आश्रयदाता सलीमशाह की मृत्यु के बाद की देश की दुरवस्था का कुछ आभास हमें ‘नरहरि’ कवि के निम्नलिखित छंद में भी मिलता है,—जिसमें खेती का सूखना, अन्न-फल का न उपजना, सेवा-द्वारा अन्न-पीठन, फूट के कारण पठानों का नाश, बन और धर्म का अभाव और हिंदू-मुसलमान दोनों की शान्ति-व्याकुलता का उल्लेख है—

“उदक-बनिज सुखि गयेउ,^१ भयेउ नहि पुहुमि^२ अन्न-फल।
अन्न दुखित बल मलित गयेउ फटि फुटि पठान-जल।।
बत सत्त गवजत्त रहैउ धन धरम किति नति^३।
मैडन सोर चहै और^४ बहुरि संवेरेउ मुगल-मति।।
जगदीस बिकाबहि बिछिपे, कहि नरहरि नित-दिन बुरक^५।
सूरन बिन, साहि सलेम बिन, अकल-बिकल हिंदू-बुरक।”

कहने का तात्पर्य यह है कि रसखान ने सन् १६१२ वि० की घटना से अत होकर अपने प्राण-रक्षार्थ या ससार से एकदम विरक्त होकर दिल्ली छोड़ी। इस तथ्य में संदेह का कोई कारण नहीं है। अकबर-द्वारा काबुल विजय की पुच्छ घटना को दिल्ली का गदर मानना भूल है। रसखान पठान थे। पठान वध के गदर से ही उन्हें घृणा हो सकती थी। मुगलवश का गृह-कलह उनके वैराग्य का कारण नहीं हो सकता था।

राजनैतिक कारणों से किये जाने वाले हत्याकांडों से व्यथित होकर अपने प्राण-रक्षार्थ रसखान अपनी शाही वेशभूषा तथा गर्व को त्याग और अपनी मानिमी प्रेयसी को छोड़ स० १६१२ में दिल्ली से बच भाग भागे थे। अब बदल कर हिंदू साधु या भक्त बन कर वे अपना नाम-माँव छिपाते हुए बज में छिपे रहे और धीरे-धीरे हिंदू-से ही बन गये। उन्हें हज्ज करने की स्वयं इच्छा हुई या किसी पीर का आदेश मिला, पर घटनावश न जा सके। हज्ज पर जाना सुगम भी न था। उसी समय के आस-पास वैराग्य सत्ता को हज्ज-आगम करने में ही प्राण-त्याग करने पड़े थे। आत्म-रक्षार्थ अपना परिचय उन्होंने किसी को न दिया होगा। न जाने कितने वर्षों तक उन्हें छपबेश में मारे-मारे फिरना पड़ा होगा। मुगल सेना निरंतर शाही वध के पठानों के दमन में सतन्त थी। रसखान को गुप्त रूप से जीवन यापन करना पड़ा, इसी कारण उनका निवास-स्थान, माता-पिता का नाम तथा उनके वास्तविक नाम तक का भी किसी को पता नहीं चल सका। जो उन्हें पिछली-निवासी सैयद इब्राहीम नाम से मानते हैं वे भूल करते हैं। रसखान का कल्याण अपने आप को गुप्त रखने में था। कालांतर में वातावरण शुद्ध होने पर बृद्धावस्था में ‘मैमबाटिका’ में रसखान ने अपने रहस्यों वीर्य का सूक्ष्म परिचय दिया।

लगभग स० १६१२ में जब रसखान दिल्ली छोड़ बज में भागे उनकी अवस्था वीर्य-बाधक बर्षों हो गयी। शाही ठाठ-बाट ने रहने वाले विपयसक्त व्यक्ति के लिए अशक्त-पुन तथा किसी प्रेयसी में दागल

१. जल तथा बनिज (व्यापार योग्य खेत में उपजा हुआ मांस) सूख गया।
२. पृथ्वी पर।
३. बला, सत्ताधारी और गौरव तथा धन और धर्म कहीं नहीं रहा।
४. भारी और क्षीर भंडार गया।
५. खटक, भय, अवेश।

होने की यही अवस्था उपयुक्त जान पड़ती है। इस अनुमान से इनका जन्म सं० १५६० के लगभग माना जा सकता है।

दिल्ली छोड़ कर रसखान ब्रज में सं० १६१२ के आस-पास आये यह सिद्ध होने के बाद अब यह विचार करना है कि उन्होंने वैष्णव-धर्म कब ग्रहण किया। मिश्रबंधुओं ने रसखान-द्वारा दीक्षा-ग्रहण का समय सं० १६४० माना है। यह केवल अनुमान मात्र है। यदि यह बात सप्त-पंद्रह वर्ष पूर्व भी हुई हो तो कोई बाधा नहीं पड़ती। हमारी धारणा है कि रसखान में हिंदूधर्म के प्रति आस्था सं० १६४० के पूर्व ही हो चुकी थी। यमुनातट पर सं० १६३४ से तीन वर्ष तक निरंतर रामचरितमानस की कथा श्रवण करने की बात हमारी धारणा को पुष्ट भी करती है। गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी (सं० १५७२-१६४२) के चरित्र की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि वे प्रयाग के समीप झंडेल में रहते थे और उन्होंने छ बार सुदूर द्वारिका की यात्रा की। सं० १६२२-२३ में वे पहिली बार थोड़े समय के लिये ब्रज में पधारे थे। अकबर के एक शाही फरमान से सिद्ध होता है कि गोकुल की जमीन उन्हें सं० १६२३ में मिली थी। फाल्गुण कृष्ण ७ सं० १६२७ के दिन से वे सपरिवार गोकुल में स्थायी रूप से वास करने लगे थे। भूतल पर उनकी स्थिति ७० वर्ष २८ दिवस की रही और माघ कृष्ण ७ सं० १६४२ में लीला विस्तारी। इससे ज्ञात होगा कि रसखान को गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी से दीक्षा ग्रहण करने का अवसर उनके गोकुल में स्थायी वास करने पर सं० १६२७ के बाद मिला होगा।

सारास में हमारे मत से रसखान का जन्म सं० १५६० के लगभग हुआ। सं० १६१२ के लगभग दिल्ली छोड़ ब्रज में आये। सं० १६२७ के बाद वैष्णव-धर्म ग्रहण किया। सं० १६३४ से १६३७ तक तीन वर्ष पर्यंत मानस की कथा सुनी और सं० १६७१ में 'प्रेमवाटिका' रची। उनकी मृत्यु इसके कुछ वर्ष बाद लगभग ८५ वर्ष की अवस्था में सं० १६७५ के आसपास हुई होगी। इस प्रकार इनका जीवनकाल गो० 'तुलसीदास' जी और 'राम' कवि के समय से पाँच-सात वर्षों के हेर-केर से मेल खाता है। अष्टछाप के गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के चार शिष्य उनके समकालीन थे, परंतु रसखान के निधन के ३०-३५ वर्ष पूर्व अष्टछाप के सभी कवियों की मृत्यु हो चुकी थी। 'रहीम' कवि रसखान से आयु में छोटे थे और 'तानसेन' तथा 'दीरजल' के निधन के बाद भी रसखान जीवित थे।

रसखान की रचनाएँ

रसखान रचित 'प्रेमवाटिका' उनके जीवनकाल की रचना कदापि नहीं हो सकती। यह धारणा भ्रमपूर्ण है। इस भ्रमात्मक धारणा के आधार पर कविता-काल निश्चय करने के कारण रसखान का समय ठीक-ठीक निश्चि नहीं हो पाया। नारद-शास्त्रिय आदि के भक्ति सवधी प्रतिष्ठित ग्रंथों और श्रीमद्भागवत का मनन करने के बाद ही इसकी रचना रसखान ने की। ध्यान से 'प्रेमवाटिका' को पढ़ने से हमारी धारणा की सत्यता सुगमता से सिद्ध हो जाती है। भक्तियोग के रहस्यपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन तथा गोपी-भाव की प्रेमाभक्ति की उत्कृष्टता का प्रदर्शन सरल बोहो में करना कवि की विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। इस प्रकार की रचना पूर्ण प्रौढावस्था प्राप्त होने पर ही हुई होगी। वह तत्प्रावस्था की रचना नहीं हो सकती।

रसखान के सर्वेसे इतने श्रुति-अधुर और भाव-भरे हैं कि जो कोई भी उन्हें पढ़ता है मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है। हिंदी-प्रेमी सर्वदा ही रसखान की कविता के प्रेमी रहे हैं। कुछ बातों में तो उनकी अपनी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका अनुकरण करने पर भी अन्य कवि उनकी बराबरी नहीं कर सके। एक मुलमान-द्वारा ऐसी रचना करना जो भक्ति-रस से ओतप्रोत हो और मार्मिक भाव के कारण अनुपम हो, कोई साधारण बात नहीं है। साहित्य के मंच पर रसखान का स्थान बहुत ऊँचा है, परंतु खेद है कि उनकी रचित 'प्रेम-वाटिका' और कुछ स्फुट छंदों के अतिरिक्त अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं है। रसखान ने स्फुट छंद पर्याप्त सत्या में लिखे होंगे, परंतु सी सवा सी सबैयों के लगभग ही प्रकाश में आये हैं। जो कुछ प्राप्त है उसके

लिये हिंदी-प्रेमी ५० किशोरीलाल गोस्वामी के चिरकाल तक श्रुणी रहेंगे। उन्हीं के प्रयत्न ने हमें रसखान की कविता का आनंद प्राप्त हो सका है।

मक्त कवि रसखान की कविता की खोज के लिये भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र, ५० प्रतापनारायण मिश्र बाबू राधाकृष्णदास, ५० राधाचरण गोस्वामी आदि ने यथेष्ट प्रयत्न किया था, परन्तु ५० किशोरीलाल गोस्वामी-द्वारा सन्तित सामग्री से अधिक कुछ प्राप्त न हो सका। अन्य सज्जनों ने भी प्रयास किया। तदनन्तर से प्रकाशित मासिक पत्रिका सुधा, (वर्ष १ खंड २ सख्या ५) में 'रसखान-शतक' तथा रसखान के छंदों को प्राप्त करने के लिये एक विज्ञापित भी प्रकाशित हुई थी, परन्तु कुछ नहीं सामग्री हाथ न लगी।

सबसे पहिले ५० किशोरीलाल गोस्वामी ने कानपुर के पं० प्राणनारायण मिश्र से नपारित करा कर १०५ छंदों का संग्रह 'रसखान-शतक' के नाम से प्रकाशित कराया था। तदुपरांत 'सुखान रसखान' स० १९४८ में और दूसरी बार १९७६ में छपवाया। स० १९४८ में उन्हें 'प्रियवाटिका' की प्रति मिली जिसे वह दो बार छपवा चुके हैं। दूसरा संस्करण स० १९६३ में छपा था। व्यक्तेस्वर प्रेस वर्धे से प्रकाशित 'राग रत्नाकर' में जालधर निवासी 'लाला भक्ताराम' ने भी रसखान के १०६ छंद प्रकाशित किये। इनो प्रकार लखनऊ निवासी लाला केदारनाथ ने १०५ छंदों का संकलन "रसखान के कवित्त-सर्वेया" नाम से दो बार छपवाया। दूसरी बार उनका प्रकाशन स० १९७१ में हुआ था। इस प्रकार रसखान के छंदों के तीन स्वतंत्र संकलन छपे जो एक दूसरे से मेल नहीं खाते परन्तु छंद-संख्या में अधिक अंतर नहीं है। 'सुखान रसखान' और 'राग रत्नाकर' में संकलित छंदों के आधार पर अन्य संस्करण छपे, परन्तु लखनऊ से दो बार छपने पर भी लाला केदारनाथ के संग्रह से हिंदी-संसार अनभिज्ञ ही रहा। इन तीनों में प्रकाशित छंद मन्था इस प्रकार है—

	‘सुखान रसखान’	‘राग रत्नाकर’	‘लाला केदारनाथ’	‘संमिलितसंख्या’
	का संग्रह			
संयुक्त दोहे-सोरठे	१४	१	—	१४
सर्वेया	१०३	६८	६६	१२६
कवित्त	१२	११	६	१३
योग—१२६	११०	१०५	१२३	

इसके बाद नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित अमीरसिंह जी का संस्करण स० १९८६ में, हिंदी-प्रेस प्रयाग से श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी की 'रसखान पदावली' स० १९८६ में, भाग्यवती-प्रेस, प्रयाग से किंकर जी की 'रसखान रत्नावली' स० १९९७ में और हिंदी-साहित्य समेलन प्रयाग से चंद्रमोहन पांडेय 'रसखान' स० १९९९ में प्रकाशित हुए। अहमदाबाद से भक्तिग्रन्थमाला में 'महाभूषाव रसखान' प्रकाशित हुआ। इन सब संस्करणों में किसी नवीन सामग्री का समावेश नहीं हो सका। 'प्रियवाटिका' के ३२१ दोहे मिला कर सभी प्रकाशित संस्करणों की संमिलित छंद-संख्या ६४ दोहे, २ मोरठा, १०६ सर्वेया, १३ कवित्त और १५६, इस प्रकार केवल २०७ छंद-पद-आदि से अधिक प्राप्त नहीं है। भारतेन्दु जी के मृत्यु के आज तक अधिक छंदों की खोज निकालने में किसी को भी विशेष सफलता नहीं मिली।

हमने मयुरा, नृदावन, गोकुल, कायवन, नायद्वारा, कांकरौली, वृही, कोटा, मृग पारिम्य में खोज की। मदिरों के तथा अन्य पुस्तकालयों में खानबीन की। सुखरान और गजदामन में भी खोज किया। म० देवीप्रसाद जी जोषपुर, पुरोहित हरिचारायण धर्मा जयपुर, गोविंद मिननाथ जी वसंतराम हरिकृष्ण शास्त्री अहमदाबाद (गुजरात), डाक्टर सगू प्रसाद इंदौर आदि की सहायता से ३० वर्षों के परिश्रम ने कोई नतीजजनक सफलता न मिली। मगध-मयो में ने दो-दो बार खोज की परन्तु सफलता भी विशेष रूप से सहायक न हुआ। इस खोज के फलस्वरूप हम जो सामग्री प्राप्त की है

संतोषजनक न होते हुए भी उससे इस समय प्राप्त सख्या में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। इस सामग्री में 'प्रेमवाटिका' के ५३ दोहे सम्मिलित करने पर जो छंद-सख्या निकलती है उसका विवरण इस प्रकार है—

	सभी प्रकाशित पुस्तकों से प्राप्त छंद	हमारी खोजसे प्राप्त अप्र- काशित अतिरिक्त छंद	पूर्णयोग
दोहा	६४	२	६६
सोरठा	३	१	४
सवैया	१२६	८६	१२५
कवित्त	१३	७	२०
पद	१	४	५
योग	२०७	१०३	३१०

हमारे प्राप्त छंदों से सख्या में ही डेढ़ गुनी वृद्धि नहीं हुई, परंतु प्राप्त छंदों के पाठ मिलने में भी बड़ी सुविधा प्राप्त हुई। विश्वविद्यालयों के विद्याधियों को अध्ययन की सुविधा दी गई और जिससे जैसा बना इन छंदों का उपयोग किया और कुछ छंदों को छपवाया भी। दो-दो चार-चार बिखरे हुए छंद प्राचीन हस्त-लिखित संग्रह-ग्रंथों में अवश्य मिले, परंतु सबसे अधिक छंद हमें स० १८७७ की हस्तलिखित प्रति 'कवित्त रसखान' के से स० १६८२ में प्राप्त हुए। इसमें १७६ छंद हैं जिनमें लगभग १०० छंद ऐसे हैं जो 'सुजान रसखान' में नहीं हैं। इससे अधिक सामग्री प्राप्त होने की आशा नहीं है। हिंदी-प्रेमियों को कदाचित् इतनी ही सामग्री से सतोष करना पड़ेगा। आवश्यकता तो एक प्रामाणिक संस्करण के प्रकाशन की है।



श्री भगवतरसिक जी की वाणी

राग-देवगाधार

सखी, ये सुनों अलौकिक बात ।

स्वामि-समाल-प्रसन्नपन फूले है सुख जलजात ॥

तिन्हू के बलन अप्र-अप्रहि सखि, उड़पति तिविहलजात ॥

तिन्हू के ब्याल-सुनन, बरही-सुत, खेतत हिलिसिलि गात ॥

तिन्हू के कोस अरुनता प्रविचल, वारों अरुन प्रभात ॥

तिन्हू के मूल मराल-भंडली, उछरि-उछरि किलकात ॥

तिन्हू के निकट निवास कुतिन्हू को, कलरब भुनत सिहात ॥

‘भगवत रसिक’ कहति नहि आवै, निरखत नैन सिरात ॥

राग-आसावरी

अलौकिक वृच्छ बिलोच्यो आज ।

फूल्यो, फूल्यो, हरयो नव रंग-रंग, मंजुल, मृदुल समाज ॥

धर पर कमल, कमल पर कदली, कदली ऊपर सुख ॥

सुख ऊपर सुभग मनोहर, नारकेल-रस पुर ॥

नारिकेल पर फूल्यो रवि-भुल, पांच फूल ता गही ॥

जया, कुंघ, तिल, महुवर, अंबुज, उपमा को कछु नही ॥

आलबाब रसिया ‘भगवत’ भुज, वेखत साझु नैना ॥

सेखत, सींचत रहत रैन-दिन, बिमल-बारि डर ऐना ॥

राग-झाझोटी

राधा-बदन पर जलजात ।

जिहुर नभ सीमंत बर कबि पांत कल जलजात ॥

रूप रस ते प्रसद बर सोहै नैन जलजात ॥

हास-रस बचनाबली बरषत सवुर जलजात ॥

कंठ कलित निरेख वेखत जलत बर जलजात ॥

बितन-बेदन हरन को हरि बंद बर जलजात ॥

वारिऐ छवि धरनि ये जैलोक-मनि जलजात ॥

‘रसिक भगवत’ स्वामिनी बर, दान-सक जलजात ॥

राग-राखरी

हो प्यारी राखे, सीमन मन-सीमन मयी, जलित सुरति-हिंघोरें दुसि ॥

हो प्यारी राखे, सांघे सुकट सुहामनों अर नचत सिखिर-ज्वि भोर ॥

हो प्यारी राखे, जैन गरजत, मुरली बजें, अर दामिन मुरि मुसिकान ॥

हो प्यारी राखे, बचन-रचन कल कोकिला अर मुस्ताबलि बय-पाति ॥

हो प्यारी राखे, स्वामि-घटा-तत प्रति बल्यो, अर ईद-यनुय बनमात ॥

हो प्यारी राखे, छूटे कच टूटे घुप, श्री दादुर मुहु भजीर ॥

हो प्यारी राखे, अरुन-बरेन बादर कले, अगुक्ली बर भांस ॥

हो प्यारी राखे, हरित भूमि हरिखो-बुखी, अर इर-बपू भवतस ॥

हो प्यारी राखे, नवल नेह जलही तत, अर कितन-इत-पद-पान ॥

हो प्यारी राखे, संतत रास-विलास की, अर चलत पवन सखीर ॥

हो प्यारी राखे, प्रेम-मुलक रस बरसि-हैं, अर सरसत सरित अनंग ॥

हो प्यारी राखे, ‘भगवत’-उर-सरवर मरखी अर फूले दुन-जलजात ॥

ब्रजभाषा के गुजराती पद-प्रणेता

श्री जगदीश गुप्त

किसी एक प्रदेश के साहित्य में जब किसी अन्य प्रदेश की भाषा का प्रयोग मिलता है तो निश्चय ही उसके पीछे कोई न कोई सा कृतिक आधार रहता है जो कभी राजनीतिक, कभी धार्मिक और कभी साहित्यिक कारणों से अद्भुत होता है। गुजरात के कवियों-द्वारा ब्रजभाषा का जो प्रयोग मिलता है उसका कारण राजनीतिक न होकर पूर्णतया धार्मिक एवं साहित्यिक है। गुजरात तथा सूरसेन-प्रदेश का सांस्कृतिक सबंध अज्ञात काल से रहा है। कृष्ण का यादवों सहित मथुरा छोड़ना और सामूहिक रूप से द्वारावती अथवा द्वारका को अपनी राजधानी बना लेना दोनों प्रांतों के सांस्कृतिक इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना रही है जिसका परोक्ष प्रभाव गुजराती और ब्रज के साहित्यिक सबंधों पर भी पड़ा है। एक महत्वपूर्ण तीर्थ-स्थान के रूप में द्वारका की मान्यता के प्रभाव १० वीं, ११ वीं शती से मिलने लगते हैं और लगभग इसी समय तक प्रभास तथा सोमनाथ आदि का भी सार्वदेशिक महत्व स्थापित हो चुका था। १३ वीं, १४ वीं शती के बालुघो तथा सोलंकियों का शासन कर्नाज तक फैला था और इस समय सूरसेन-प्रदेश से गुजरात का सांस्कृतिक सबंध और भी विकसित हो चुका था। १६ वीं शताब्दी के भक्ति-आंदोलनों ने राजस्थान और गुजरात को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया, किंतु यह प्रभाव उनके साहित्य में पूर्ण रूप से १८ वीं शती के कवि 'दयाराम' में प्रकट हो सका, इस से पूर्व के साहित्य में उसकी अस्मिन्व्यक्ति स्पष्ट रूप में ही मिलती है। शुद्धादित के प्रतिपादक बल्लभाचार्य ने संपूर्ण गुजरात की यात्रा की। 'चौरासी बैठकन के चरित्र' के आधार पर ज्ञात होता है कि उन्होंने द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोवरा आदि अनेक स्थानों का पर्यटन किया और वहाँ ने लौटने के बाद स० १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना की। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक गोम्बावी विठ्ठलनाथ ने स० १६१० से १६२८ तक छह बार गुजरात की यात्रा की^१। इन यात्राओं का उद्देश्य ब्रज में स्थापित पुष्टिमार्ग या भक्ति-संप्रदाय के रूप में व्यापक प्रचार करना था। बल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों की गुजरात की सम्मूर्ति में दृढ़तरी अनुकूलना रही कि कालांतर में गुजरात में 'बैष्णव' शब्द पुष्टिमार्गी भक्त का पर्याय हो गया और गुजरात बल्लभ-मत का घर ही बन गया^२। गोकुल और ब्रज कृष्ण की लीला-भूमि होने के नाते कृष्ण-भक्तों के लिये ऐसे ही पूज्य स्थान थे, संप्रदाय के प्रधान पीठ होने के नाते उसकी मान्यता गुजरात में और भी बढ गयी। जहाँ तक ब्रजभाषा का प्रश्न है, इस ब्रज-प्रदेश की भाषा का जन-भाषा होने के कारण, साहित्य-निर्माण में पहले भी एक लोक-भाषा के रूप था, परन्तु उसका साहित्यिक स्वरूप अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर १६ वीं शती से पूर्व ही स्थिर हो चुका था। १६ वीं तथा १७ वीं शतियों में ब्रजभाषा-साहित्य में चरम उत्थान प्राप्त किया। समस्त उत्तर भारत में उसको आदर्श प्राप्त हुआ, यहाँ तक कि बंगाल में कृष्ण-नाम्न की भाषा का नाम ही 'ब्रजवृत्ति' पड़ गया। गुजरात में भी लगभग इसी काल में अनेक ऐसे कवि उपलब्ध होने लगे जिन्होंने

१. (१) अद्वैत से गुजरात। (२) स० १६१३ में पुनः अद्वैत से गुजरात। (३) स० १६१६ गदा मे। (४) स० १६२३ में मथुरा से। (५) स० १६३१ में गोकुल मे। (६) स० १६३८ में।

—गुजराती-साहित्य, भा. ५, (मध्यजगत् की साहित्य-वर्णना) पृ० ३६५

२. 'दृष्टा मा बल्लभ मतनु पामज गुजरात यह धर्म।'—रत्नचरणों ने संक्षिप्त इतिहास,

—दुर्गागङ्गा बंद-गंगा-मंजरी, पृ० १८६

भालण के दशमस्कंध में ब्रजभाषा के अनेक पद मिलते हैं, जिनमें से छै पद भालण की छाप वाले हैं। शेष में से तीन पद 'सूरदास' के, तीन 'विष्णुदास' के, एक 'मेहरा' का तथा एक 'शीतलनाथ' अथवा 'रसातलनाथ' का है। प्रक्षिप्त पद श्रव की सभी हस्तलिखित प्रतियों में समान रूप से नहीं मिलते। जो प्रतियाँ प्राचीन हैं उनमें सूरदास का केवल एक पद मिलता है और विष्णुदास के ब्रजभाषा के पदों के स्थान पर अन्य गुजराती कवियों के पद प्राप्त होते हैं^१, किंतु जहाँ तक भालण की छाप वाले पदों का संबंध है वे नवीन-प्राचीन सभी हस्तप्रतियों में उपलब्ध होते हैं। इससे उनके भालण कृत होने की ही संभावना अधिक प्रतीत होती है। भालण के छहो पद निम्नलिखित हैं—

“कौन तप कौनो री माई नंद-घरणी ।

लै उछंग हरिहूँ पय प्यावत, मुल चुवन मुख मीनो री ॥
तूपत भए मोहन जु हसत हैं, तब उगमत अबर ही कौनो री ।
(जशोमती) लटपट पूछन लागी, बदन खेंचि तब मीनो री ॥
रिबे लगाये बच जु मोहि तू कुजबेचा मीनो री ।
सुदरता अग-अप कहा बरनूँ, तेज ही सब जुग मीनो री ॥
अतरिच्छ सुर इंद्रादिक बोलत, बज-जन कौ दुख मीनो री ।
इह रससिंधु गान करी गाहत है 'भालण' जन-मन-मीनो री ॥

—पृ० ५३-५४

मैया, मोहे मावे दधि भात ।

निद्रा में हरि ओसो बोले, ठाडी सुनत देवकी भात ॥
तब आगे बंतावावन कौनो, निकट आया जननी कहें प्रात ।
दधि ओवन भोजन करी लालन, जो मन में दधि सामल गात ॥
मैया सो तो खाल कौ खेदी अब मेरे मनने भात ॥
कहाँ गोकुलीजें ते लालन ओसो कहे जननी मुसकात ॥
कहाँ सगो कहाँ दधि-अमुना तट, कहाँ वे रजि कहाँ अमृज पात ॥
'भालण' प्रभु रघुनाथ बबत है, बरस की रही ब्रज में वात ॥

—पृ० १९६-२००

ब्रज को सुख समरत स्याम ।

परनकुटी सो बीसरत नाहीं, नाहीं भाषत सुंदर धाम ॥
बबीर भाव नवनीत के कारन, कलल बांधे ते बहुत दाम ॥
चित्त में बेनु चुभी रही है, चोर-चोर कहते हे नाम ॥
निस दिन फीरती जु सुरभि के संगे, सिर पर परत शीत घन धाम ॥
निस कुनि दोहन-बंधन को सुख, करि बैठत नाहीं जो नाम ॥
भोरपिच्छ गुआफल ले ले, देख बनावत रुचिर लताम ॥
'भालण' प्रभु विधाता की गति, चरित्र, सुमारे हे सब धाम ॥

—पृ० २००-२०१

कहो मैया, कैसे सुख पावें ।

नाहिन सो लोक ओदामा खेलन सग कोन में जावें ॥
नाहिन गुहे वे ब्रजबासीन के, जहाँ चोर-चोर दधि भाजन खावें ॥
नाहिन दू-बावन अति बल्लभ, जा कारन हूँ गो बरावें ॥

^१. हिंदुस्तान (गुजराती दैनिक) मुंबई, आवृत्ति १८-११-४६ पानु ४

नाहिन बूँद जु गोपीजन की, जा कारन मुहु बेन बजाई ।
 नाहिन जमलार्जुन वृक्ष बोझ, जा कारन हूँ आप बँधाई ॥
 नाहिन प्रेम भेसो कोउकुं, जाकुं मेरी कथा सुनाई ।
 'भालण' को उर सीक जु नाहीं, अहिंयाँ के आगे ब्रज के गुन गाई ।

अब पढने को आयीं दिन ।

भेते बरख पढे गने नाहीं, कीडा कीनी नद-मुवन ॥
 सुत को सुख पायीं जसोदा, मेरे पुरब नाहीं जु पुष ॥
 आएँ दो दिन भए जु नाहीं, उठ चले कुन जुग-जीवन ॥
 अहिं धाजकर हरि जु चले फुनि, देखन हूँ कहाँ बूबावन ॥
 हम पर प्रीत नाहिन मोहन की, जेसो ब्रज ऊपर हे मन ॥
 कहाँ कुमति भ्रानकवदुभि की, पढव रहे जो सावर-घन ॥
 पाछे आए की कहाँ आसा, राम सग चले पीत-नसन ॥
 जहाँ सिधार्न गिरिधर वे, अबनी लोक सब भन ॥
 बिरह बेचना हरि नहिं जानत, जानत हे वे 'भालण' जन ॥

सुत, में सुनित लोक में बात ।

मेरे तो तुम सत्य कहौ, सुवर स्यामत गात ॥
 संबीपन की सुत मृत्यु भयो, उबधि जल में पात ॥
 बहोत विवस ताकुं निबड गए ते रोइ रहे वे मात ॥
 तम पे गुब दच्छना माँगी, भ्रानि बीयी विख्यात ॥
 खट सुत कसे बधे हे मेरे, जेष्ट तिहारे आत ॥
 सो भोक्तु को वेत जु नाहीं, जो कछु बल्लभ भात ॥
 'भालण' प्रभु बिरद अति ताते, मेरी मन उकसात ॥"

—पृ० २०१, २०७

भालण के यह सभी पद कृष्ण के बाल अथवा किशोर रूप से संबंधित हैं और इनमें या तो यशोदा का या देवकी का वात्सल्य-भाव अंकित है। भालण ने कृष्ण की बाललीला के विषय में अनेक पद गुजराती में भी लिखे हैं। यह वस्तु-सत्य इस बात की संभावना को और भी बड़ा देता है कि कदाचित् सूरदास के ब्रजभाषा के वात्सल्य विषयक पदों से उनका परिचय पर्याप्त रूप में रहा होगा। सूरदास ने इस तरह के पदों की रचना संप्रदाय-अवेष अर्थात् स० १५६७ के पश्चात् की। अतएव यदि भालण पर सूरदास का प्रभाव स्वीकार किया जाय तो उनका कविता-काल १६ वीं शती ई० का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है। विष्णुदास तथा मेहा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे गुजराती के कवि थे। यही संभावना अधिक है वे ब्रजभाषा के ही कवि रहे होंगे। यो विष्णुदास नामक दो-एक गुजराती कवि भी हुए हैं। मेहा का नाम ब्रजभाषा के कवियों के साथ गिलाया गया है—

“सूरदास, मेहा, परमानंद, नृत्य करें ततचेई ।”

केसवदास के कृष्ण-कीडा-काव्य में केवल एक स्थल पर ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। पहले राधा की मान लीला के सबब का एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

गीत, राग-आसावरी

“बिरह भावे भजतां निशो भामिनी, जानी जगदाधार ।
 साद करे धेम 'राधा राधा' लोहे ने लोले द्वार ॥”

त्यज अभिमान गोबाली ! धरय आयो श्री बनमाली । (ध्रुवपद)
 याके चरण चतुर्मुख सेवे, किकर होय कपासी ॥
 जो बनमाली तो फूल बेचने चुबे बेल गुलाली ॥
 सुण्य चतुरी ! हूं चक्री तूं काण कवण कुलाली ॥
 अरे, अरे अनग हूं अबला "ताग तमें हम नारी ।
 हूं हरि हेला हवा महि रखणी, तू साँकड़ बन मुसारी ॥
 प्रेम कलह प्रेम पस्य पस्य मडे, जम होय कोयक कामी ।
 बार उधाड़ी मल्यौ मधुसूदन, 'केजवबास' चो स्वामी ॥"

इसके आगे फिर चौथे की दो पक्तियाँ गुजराती की हैं, जो वर्ण्य-विषय की सूचना देती हैं, जैसे उपर्युक्त पद में—

"एक बार आवी गोलणी, रात करी केजव नी घणी ।
 मात ! मांड न वारी तस्ने, एम करनी कथम बसिऐ अहो ॥"

तदुपरांत एक निश्चित क्रम से कारिका की एक-एक पक्ति के पश्चात् ओटक की चर-चार पक्तियाँ दी गयी हैं। इस प्रकार ४० पक्तियों का यह ब्रजभाषा का एक दूसरा पद प्राप्त होता है, जो यशोदा और गोपी के सवाद के रूप में पहिले पद के तत्काल बाद में दिया हुआ है। जैसे—

कारिका

"सुन हो जसोमति माय ! कृष्ण करत हैं अति अनियाय ।

ओटक

कृष्ण करत हैं अनियाय, अतलीबल गोपी कौ कछु न मानें ।
 देखत लोक लाज कछु, नाहीं, नारथ बोलावत ही घानें ?
 हम गुनवती सती सुलखणी, यह बिच्य रही न जाय ।
 कोपहि काल्य सुनेगी कंसासुर, सुन हो जसोमति माय ॥

कारिका

अरे, अरे बावरी गोपी ! तें लाज हमारी लोपी ।

ओटक

लाज हमारी लोपी, तुमही सब मिस बाल भूलायौ ।
 जहाँ जहाँ फिरि गहन बन गोचर, तहाँ तहाँ संग आयौ ॥
 अजी अँखियाँ कोयौ तुम अंजन ! "कहे इस माता कोपी ।
 छोड़ी सब चतुरी चतुराई, अरे, अरे बावरी गोपी ॥

कारिका

कपट करे हे तुम आगे, सेज सूये नही जागे ।

ओटक

सेज सूये नहीं जागे, सुंदर बालक आय बोलावे ।
 जमुना-तीर तरन सब देखत, मोहन वेनु बजावे ॥
 लीला चित्त झुराई 'चत्रमुज', कहते कछु न लागे ।
 हम अबला प्रे थीर धरनीधर, कपट कर ही तम आगे ॥

कारिका

कुँअर मेरी री छोटी, माननी बोल नां इस खोटी ।

त्रोटक

क्यों कर चित्त चोरायो, हूं बोलत कुछ, न आवे ।
कल परसु को जायीं तुम चित्त किस्त बिष्य चुरावे ॥
ग्रही अगुली चलावू गोविंद, नाहूँ भावी मोहोदो ।
स्त्री को चरित करो भ्रम आगे, कुँभर मेरी छोटी ॥

कारिका

माता ! कहनो न माने, कामणगारो साहरो कान ।

त्रोटक

कामणगारो काहानउ कहीये, बहु बिष रूप दिखाने ।
हम आगे होय भयण मनोहर, बालक होकर आवे ॥
दूभो नहीं यह पूत के प्राक्रम, जो लहीये भगवाने ।
जीनको भेद कलहि नहीं फन हो, माता कहनो न माने ॥

कारिका

ये भाता सरजी नारी, सहि ते रूप से हारी ।

त्रोटक

सहि ते रूप से हारी, सुनी है अघटित घाट घटावे ।
भाया करके बिषवकू मोहूँ, भवला अचल चलावे ॥
कहाँ तुम सह सगने हो सुबहि, कहाँ यह श्रेक मुरारी ।
त्रिभुवन माँहि नहीं को तोले, भाता सरजी नारी ॥

कारिका

न रुखे नंद की रानी ! मत कहौ मात रिसानी ।

त्रोटक

मत कहौ मात रीसानी, बोलें यह अपराध हमारी ।
घर में रहे सदा गुनसागर, कोमल कुँवर तहारी ॥
सबही सखी तम्हारी पूबें, हम अहिरी अजानी ।
बड़े से हेती ओसी बात न कोजें, न रुखे नंद की रानी ॥

कारिका

यह बिद्ध करही अनुविन क्रीडा, बनिता छाँड्यन ब्रीडा ।

त्रोटक

बनिता ब्रीडा छाँड्य हि बोले, हवें मात हंसावे ।
मिंदर कान करे नही कैरी, मिस कर माननी आवे ।
'केसोदास' कहें धन्य गोपी, धन्य युव सहैनीडा ।

चरण्यकी रेण चतुर्मुख बछे, यह बिष अनुविन क्रीडा ।" —पृ० १०६-६

इसका सवादात्मक रूप, सिंहावलोकन पद्धति, गुजराती पन लिये हुए शब्दावली तथा पद-विन्यास इसे ब्रजभाषा की पदशैली से भिन्न कर देते हैं । लगता है कि कवि को ब्रजभाषा का ऊपरी नाम है और वह उसे काव्य में प्रयुक्त करने का प्रयास सा कर रहा है इसी लिये दोनों का मिश्रण हो गया । केशवदास पर अष्टसंज्ञाओं के काव्य का प्रभाव स्वीकार करने के विषय में गुजराती विद्वानों में मतभेद है । रामलाल बू० मोदी ने इसे स्वीकार किया है और केजवराम काशीराम शास्त्री ने अस्वीकार^१ ।

१ 'ब्रजभाषामा रचेला . . न गई होय ।' —कवि-चरित भाग १ पृ० ८३

यद्यपि अब शास्त्री जी भी दूसरी ओर मुक गये हैं। 'भालण ब्रजभाषा नो आदिकवि' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने भालण के आदिकवि होने की ही बात कही है, केशवदास को छोड़ दिया है।

इन कवियों के बाद 'लक्ष्मीदास', कृष्णदास तथा 'ब्रह्मदेव' पर विचार करना शेष रह जाता है जिनके विषय में समय की सगति-असगति का कोई प्रश्न नहीं उठता।

ब्रह्मदेव की 'अमरगीता' नामक प्रति में भी एक पद ब्रजभाषा का प्राप्त होता है। पद का विषय वही है जो समस्त कृति का। पूर्वापर प्रसंग की दृष्टि से भी यह पद उचित स्थान पर ही प्राप्त होता है। पद निम्नोक्त है—

“प्रीत बनी है ऐसी नीकी।

नाही रो ऊधो दिवस चार की, मोहे तो पेले भवकी ॥

—प्रीत बनी है ऐसी नीकी ॥

बिन-बिन प्रीत बड़ी जाए ऊधो तिल क्यों आ तन छूटे।

अब निसि गाँठ पड़ी साधी सु नवि छूटे तन तूटे ॥

—प्रीत बनी है ऐसी नीकी ॥

साधी बिन मेरे हुँए ऊधो, उर ना कोय छुहाए।

बिबिध रूप छारी मेरे नयना, स्वरूप स्याम को चाहे ॥

—प्रीत बनी है ऐसी नीकी ॥

बखन पराए सुनत बुझ उपजै, हरि-सीला-बिन सोई।

'ब्रह्मदेव' प्रभु बिना रो ऊधो, बानी सफल न होई ॥

—प्रीत बनी है ऐसी नीकी ॥”

—अमरगीता कडबू २५ बृहद्काव्य दोहन भा० १ पृ० ६७५

इस पद के अंत में 'सूरदास प्रभु' की तरह ब्रह्मदेव ने भी अपने नाम की ज्ञाप 'ब्रह्मदेव' के रूप में अंकित कर दी है। अन्य अनेक भक्त-कवियों के पदों में भी इसी प्रकार की शैली मिलती है। ब्रह्मदेव की ब्रजभाषा में केशवदास की अपेक्षा गुजराती का बहुत कम मिश्रण है।

लक्ष्मीदास नामक गुजराती कवि ने भी कृष्ण-भक्ति के अनेक स्फुट पदों की रचना की, जिनमें ब्रजभाषा का पर्याप्त मिश्रण है। कुछ पद तो शुद्ध ब्रजभाषा में ही रचे गये हैं जिनमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है—

“आजु सरे सफल भए नैन।

कोटि मनमथ रूप चतर सु, निरखे गिरिधर जैन ॥

कोटि रवि-छवि जोति आनन, अंबर कोटिक नैन।

‘जन लखिमिदास’ बिचित्र तरुनी, लिखी बित्र से ऐन ॥”

इसके अनंतर चार और पद एक पद 'किदारा' का, एक 'रामगरी' का, एक 'बसंत' का तथा एक 'कानरा' का प्राप्त होते हैं।

कृष्णदास नामक एक अन्य कवि की एक 'श्री रं मणी-विवाह न पदो' नामक रचना में भी कुछ पद ब्रजभाषा के प्राप्त होते हैं। यह रचना बस्तुतः विभिन्न विषयों के पदों का एक लघु मयहमात्र लगती है। सूर आदि कुछ ब्रजभाषा के कवियों के पद भी इसमें प्रक्षिप्त रूप से मिलते हैं। इन पदों की प्रामाणिकता का पूर्णतया निर्धारण संभव नहीं है।

विष्णुदास और मेहा के पद

राग-देवगाधार

कर मोदक माँखन-मिसरी लै, कुँवर के संग बोलत नंदरानी ।
मिस करि पकर नृवायो चाहत, बोलत मधुरी बानी ॥
कॉक-पटा भाँगन में राख्यो, सीत-उल्ल भरि पानी ।
रत्न-कटोरा सोधी-छबटन, चँवन काँकसी भानी ॥
यो साईं मंजन-हित जननी, चित्त चतुरई ठानी ।
भन में मत्तौ करत उठ माने, दुखित केत-भर्यानी ॥
निरख नैन-भरि देखत रानी, सोभा कहत न बानी ॥
गात सचिक्कन यों राजत है, ज्यो घन बिजु लपटांगी ॥
आँखों मनमोहन मेरे डिंग, बात कहो इक छाँनी ।
एक खिचौली तात जु लाए, चल भजहूँ नहिं जानी ॥
राजकुँवर इक न्हात ते भाग्यो, साकी कहूँ कहुँानी ।
बढी न बेंगी रही जु तनक-सी, बाकी दुलहिन देखि हँसानी ॥
बैठे आह न्हाइ पट पैहरे, भनिद मन में भानी ।
'विष्णुदास' चिरिधरन सयाँने, भक्त कही सोई भानी ॥

राग-केदारी

छाँडिई तू माँनिनी, ध्याँन-सग लठिबो ।

रहत दुख-लीन, जल-मीन ज्यो सुंदरी, करौ क्यों न कृपा नवरप पर तुठिबो ॥
जेहि बलि जाँमिनी जात पल-छिन घटत, कुंज में केलि करि भसी-रस-पूठिबो ।
बलि 'विष्णुदास' नाथ नंद-नदन कुँवर, सेज-चंडि ललै-संग मदन-गड लूठिबो ॥

राग-साराग

भागिन नंद के दधिकीदी ।

छिरकत गोपी-बाल परसपर, प्रघटे जग में जावौ ॥
बूध लियो, दधि लियो, लियो घृत, माँखन-माँठ तैजुत ॥
घर-घर ते सब गावत भावत, भयो मँहूर कें पूत ॥
बाजत तूर करत कोलाहल, बारि-बारि बँद बान ॥
जियो जसोबा पूत तिहारो, या घर सदाँ कल्याँत ॥
छिरके लोग रंगीले दोसैं, हरबी पति जु सुबास ॥
'मेहा' भानंद-भुंज सु भगत, या ब्रज सदाँ दुलास ॥

राग-विसावल

हमारो देव गोबरधन परबत, गो-धन जहाँ दुखारो ।
सधवा को बलि-भाग न दीजै, सुनिऐं मत्तौ हमारो ॥
बढ़रे बँठ बिचार मत्तौ कर, परबत को बलि दीजै ।
नंदराइ की कुँवर लाड़िलो काँह कहै सो कीजै ॥
पावक, पवन, चंद, जल, सूरज, वरतत आया सुनिहै ।
या ईश्वर की कियो होत है, कहा ईद के बँहै ॥
जाके भास-पास सब ब्रज-कुल सुखी रहै पसु-भारै ।
जोरौ सकट अछूते लै-लै, भली मत्तौ कोउ डारै ॥
भाँखन, बूध, बह्यो, घृत, घृत-पक, लं जु चले ब्रजबाली ॥
अदभुत रूप धरैं बलि भगतत, परबत सदाँ निबासो ॥
मिटथो भाग सुरपति जब जान्यो, भेध दए हँकराई ।
'मेहा' प्रभु गिरि कर-धरि राख्यो, नव-सुवन सुनवाई ॥

भ्रमरगीत को परंपरा

श्री सरला शुक्ल

हिंदी-साहित्य में भ्रमरगीतों की परंपरा का आरंभ भक्तिकाल में अष्टछाप कवियों के द्वारा हुआ। इस परंपरा का मूलाधार भागवत है, किंतु हिंदी-भ्रमरगीतों और भागवत के भ्रमरगीत में मूलतः अंतर है। भागवत के भ्रमरगीत में आध्यात्म की झलक है, उसमें गोपी-हृदय की विरह-विह्वलता तथा यशोदा के मातृ-प्रेम की उत्कण्ठता का अधिक वर्णन नहीं और न ब्रज के अन्य उपकरणों का शोभाहीन होना, उतना वर्णित है। भागवतकार का ध्येय भक्ति और ममत्व के ऊपर ज्ञान की प्रतिष्ठा करना ही ज्ञात होता है। भागवत के उद्भव गोपियों के उत्कट प्रेम की प्रगटा तो करते हैं, किंतु उससे प्रभावित नहीं होते, विजय ज्ञान की ही होती है। उद्भव की ज्ञान-चर्चा के बाद भागवत की गोपियाँ एकदम गाय हो जाती हैं, उन्हें कृष्ण के सर्वव्यापकत्व का विश्वास हो जाता है और किसी प्रकार का प्रतिरोध किए बिना ही वे उद्भव के मत से सहमत हो जाती हैं। यहाँ गोपी-विरह की व्यापकता तथा गभीरता का वर्णन नहीं होता, ऐसा ज्ञात होता है कि भागवतकार अपने विचारों की बलात् प्रतिष्ठा कर रहा है। भागवत की इस कथा का आधार लेकर भ्रमरगीतों की रचना करने वाले हिंदी-कवियों ने अपने भ्रमरगीतों की दिशा ही परिवर्तित कर दी। भागवतकार ने मातृ-हृदय यशोदा तथा सरल प्रेमिका गोपियों का मूढ़ ज्ञान-वर्चा से वद कर दिया, किंतु बाद के कवियों ने ऐसा नहीं किया। परन्तु सभी भ्रमरगीतों में भक्तियोग की प्रतिष्ठा ज्ञानयोग पर होती है। ज्ञानी उद्भव भी भक्ति से प्रभावित होकर ही लौटते हैं। हिंदी-भ्रमरगीतों में काव्य-सौंदर्य भी अधिक है, वे मनोविज्ञान की दृष्टि से भी सफल हैं, इनमें गोपी-प्रेम की वह प्रबल तथा अनंत धारा बह निकली है, जिसमें ज्ञानयोग के झाड़-झखाड़ बहते चले जाते हैं। वास्तव में गोपियों की अवस्था किसी योगी से कम नहीं है, सभी कवियों ने इस प्रसंग के अंतर्गत "गोपी-उद्भव-सवाद" को लिया है, उसी प्रसंग में मधुकर के प्रवेश के पश्चात् वे उसी को लक्षित कर अपनी वेदना-विमूर्ति करने लगती हैं। किन्हीं कवियों ने मधुप का प्रवेश बिना करायें ही केवल मधुकर शब्द से संवोधित करा के अपना कथन प्रारंभ कर दिया है, किंतु लगभग सभी भ्रमरगीतों में यशोदा के मातृ-हृदय का अभाव है, केवल सत्यनारायण जी कविरत्न ने यशोदा को प्रधानता दी है। उनके भ्रमरगीत में गोपियाँ नहीं श्री यशोदा जी खुसी हैं तथा वे ही मधुकर को अपने साँवले के पास से धापा हुआ जान कृष्ण के प्रति अपनी व्याधा कहने लगती हैं, इनके काव्य में उद्भव का भी अभाव है। श्री कृष्ण स्वयं भ्रमर के रूप में यशोदा के समुच्च प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रमरगीतों की यह परंपरा समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित अवश्य होती गई, किंतु इसके प्रवाह में किंचित भी व्यवधान नहीं आया है।

इस परंपरा के अंतर्गत आने वाले कविगणों में अष्टछाप के कवि प्रमुख हैं। इस प्रसंग की रचना ब्रजभाषा और सड़ी बोली दोनों में ही हुई है। ब्रजभाषा में रचना करने वाले कवियों में सुरदास, नंददास, परमानंददास, सत्यनारायण कविरत्न जी, जगन्नाथदास, रत्नाकर, तथा रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का नाम प्रमुख है। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त ने भी सड़ीबोली में भ्रमरगीतों की रचना की है। भ्रमरगीत की परंपरा का यह संक्षिप्त विवेचन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण होने के साथ ही काव्य की एक परंपरा विशेष की कथा व्यक्त करता है। भ्रमरगीत के अंतर-विकास में साहित्य, दर्शन समाज एवं राजनीति का जो हाथ रहा है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भ्रमरगीत काव्य का मधुर और सरस अंग बन गया। कृष्ण-भक्त कवियों ने इसके द्वारा मनोमाधो का जो चित्र प्रस्तुत किया उसमें उनके हृदय का राग और बुद्धि की वक्रता दोनों का मर्मत मिलता

है। अमरगीत का अमरपरा को प्रधात्मक मुक्तक काव्य कहा जा सकता है। इन वाक्यों में एक कथा-प्रवाह का अनवरत स्रोत प्रवाहित है। छन्द-मीलना भी मुक्तक के ही अनुकूल है, उनमें प्रलेख मात्र स्वतः पूर्ण है। सजीव कथनोपकथन, परिचित भावव्यञ्जना और अद्वितीय काव्य-शौनिक के कारण इस काव्य-परंपरा में विशेषता भी उपलब्ध है। काव्याध्ययन के पदवात् प्रत्येक विश्व मानस-पटल पर स्पष्ट हो जाता है। इस विशेषता तथा सजीवता का कारण है पात्रों के हाग की गई मजीब भाव-व्यञ्जन जो अमूर्त भावनाओं को भी मूर्तरूप प्रदान करने में समर्थ है।

यद्यपि अमरगीत की रचना सजी बोली में भी हुई है, किन्तु प्रजभाषा के साहित्य में इन वाक्यों विषय का क्लेशवर अत्यंत ललित हो उठा है। अष्टछाप के इन कृष्ण-कवियों के काव्य का मुख्य विषय प्रेम की सीलाओं का आभात्मक चित्रण है। इन कवियों ने कृष्ण चरित्र के केवल उन आभात्मक स्वरों को ही चुना है जिनमें उनकी अंतरात्मा की अनुभूति गहरी उतर सकी है। इन कवियों ने वास्तविक विषयों को भी अपनी अनुकरण न करके आत्म विषयात्मक सीमा को ही अपनाया है यही कारण है कि उनमें तन्मय करने वाली हृदय-श्रावक शक्ति है। महाकवि अनुभूति ने वाणी को "आत्मा की कला" कहा है। अष्टछाप कवियों के केवल इसी प्रसंग को पढ़कर पाठक इस उचित की सत्यता का अनुभव कर सेंगे। प्रत्येक भाव की व्यञ्जना इस प्रकार हुई है कि वह स्वतः संपूर्ण रूप से पूर्ण प्रतीत हो। गपक होते ही वह एक प्रारंभ के अवर्णनीय आनंद को उल्लसित कर देती है। कवि के भाव जिस मूर्ति का स्रष्टा होते हैं, उसमें फिर अनाद हो सकते हैं। भावामिव्यञ्जन, ध्वन्यात्मक, उपयुक्त शब्दों में प्रकट भाव जब अनुभूत होता है तब अपने अपने ओर वह एक नये मसार की सृष्टि कर देता है जहाँ केवल यही प्रकाशित होता है और किसी प्रकार की रिक्तता का अनुभाव नहीं होता।

तल्लीनता ही गीतिकाव्य की कलाटी है, जिसकी पूर्ण प्राप्ति हमें अमरगीत-प्रसंग में ही मिलती है। गीति-काव्य हमारे मन में बहुत दिनों का संचित अव्यक्त भाव होता है जो किसी मुयोग या आशय में फूट उठता है। आश्वासन में भरे बावलों में सूने घर की वेदना कितने लोगों के हृदय में जिनने जितना फुल उठता है। आश्वासन में भरे बावलों में सूने घर की वेदना कितने लोगों के हृदय में जिनने जितना फुल उठता है। आश्वासन में भरे बावलों में सूने घर की वेदना कितने लोगों के हृदय में जिनने जितना फुल उठता है।

"भरा बाहर, माह माह, मूल्य महिर मोर।"

कुमारसमय में कवि ने नारी के प्रेम की सबसे अधिक कमनीय मूर्ति तपस्या की प्रतिष्ठा उज्ज्वल करके दिखाई है, उसी कवि ने 'मिचलूत' में प्रिय को प्रियतमा के वियोग में व्याकुल भी देखा है। काव्यगत तल्लीनता ही उसे हृदय की वस्तु बना देती है। यह तल्लीनता विरह-मर्म में भी सजग हो जाती है, क्योंकि यही वह सात्विकोद्रेक की अवस्था है जब मानव, समस्त विद्वत्, तपस्वी भी अपनी भावनाओं से अनुरजित देखता है, यही वह अवस्था है जिसमें जीवन, तपस्या—प्रत्येक व्यक्ति के मनोभावों में साम्य हो जाता है। विप्रलम्भ शृंगार का प्रसंग जीवन के प्रत्येक तथा गंभीर क्षेत्र में है, इसके अंतर्गत मानव के मनोभावों की गूढ़तम विचारों का प्रकट व्यक्तीकरण होता है वंसा और विनी अवस्था में नहीं। विरह की ऐसी चर्चा न्यायमय है जिसकी अभिव्यक्ति अमरगीत प्रसंग में ही हुई हो। केवल मूर के अमरगीत में ही विरह की अवस्था तथा अमोघ्य, मलीनता-आदि प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं।

इन कवियों ने वेदना के स्वरूप का विवर्णन किया है, वेदना की विविधता को भी स्वभावोक्ति में तथा परिचित उपमाओं का आश्रय लिया है। यही मही प्रसंग बना है कि किन्तु वह इसकी कम तथा बुद्धिमत्ता है कि किसी भी प्रकार के समाधान की आवश्यकता नहीं रह जाती प्रत्येक हृदय पर एक प्रसिद्ध विचार बन जाती है। भावामिव्यञ्जन की पृष्ठभूमि में प्रत्येक वाक्य का वर्णन भी प्रसा है। प्रत्येक वाक्य का वर्णन भी प्रसा है। रूप में किया गया है। गोपियों के लिये आनन्द और मध्या रात्रि में ही मूर्त, उनके रूप में किया गया है। गोपियों के लिये आनन्द और मध्या रात्रि में ही मूर्त, उनके रूप में किया गया है।

“मदनगुपाल जिना या तन की, सबै जात बदली ।”

इसी प्रकार पृष्ठभूमि के रूप में कवियों ने लगभग प्रत्येक मास का वर्णन किया है। प्रकृति के इस रूप का विशेष दर्शन सूर और रत्नाकर के भ्रमरगीतों में होता है। सत्यनारायण कविरत्न तथा मैथिलीशरण गुप्त के प्रकृति-वर्णन भी सजीव हैं। हरिऔध जी का पूरा भ्रमरगीत प्रसंग इसीनुसार है। केशव की भाँति हरिऔध जी ने भी प्रकृति के उपकरणों का वर्णन करके सतोप कर लिया है।

भावों के साथ ही भाषा, छंद, श्लोकार-आदि की दृष्टि से भी भ्रमरगीत पूर्ण है। ऐसा झट होता है कि भावों की पूर्ण व्यञ्जना के हेतु ये उपकरण स्वतः उनसे आ मिले हैं। सुंदर मनोभावों के साथ ही उनमें चमत्कृत शैली, शब्द चयन, सरस पदावली, स्वाभाविक कल्पना, वर्णन में मौक्तिक क्रम सजीव साकारता और मधुर संगीतात्मकता के भी दर्शन होते हैं।

भ्रमरगीत में कवियों की तन्मयता और शालोचनात्मक प्रकृति के दर्शन होते हैं। सगुण एवं निर्गुण विचारधारा का खडन-मडन भी मिलता है। उस समय की इस खडन-मडन परंपरा का सामाजिक महत्व है। पूर्ववर्ती कवि कवीर-आदि निर्गुणोपासना पर जोर दे चुके थे, किंतु उनके उपदेश तथा भक्तों से जनता का कोई लाभ न हुआ। लोग भक्ति तथा उपासना के वास्तविक मर्म को न समझ कर केवल श्राव्यिक इद्रजाल में फंसे थे। रहस्यात्मकता के कारण जनता की मनोवृत्तियों में विश्रुतलता उत्पन्न हो गई थी। नतीजतन उन्हें ज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ में आता था और न वे भक्ति की रसात्मकता का अनुभव कर पाते थे। उनकी इसी अवस्था को लक्ष्य करके गोस्वामी जी ने कहा है—

“अंतरजांमिदु तैं बड़ बाहिर जामी ।”

भ्रमरगीतकारों ने सगुणोपासना की बड़ी सफल प्रतिष्ठा की है। इन कवियों ने निराकार ब्रह्म की उपासना का खडन नहीं किया, किंतु सुलभता और उपयोगिता के आधार पर सगुणोपासना की महत्ता स्वीकार की है। रहस्यात्मकता का आधार लेकर विकसित हुआ निर्गुण पथ अधिक उपयोगी है या हृदय की गंभीर तथा विस्तृत-वृत्ति पर आधारित सगुण भक्ति अधिक सुलभ है। यह प्रश्न दार्शनिक न रहकर व्यावहारिक हो गया था। तत्कालीन साहित्य में इस विवाद का दर्शन सर्वत्र हो जाता है। राजस्थान में भी ऐसे ही भ्रमरगीतों तथा सगुण-निर्गुण विवाद-संबंधी पदों की रचना हुई है।

कृष्ण की स्थापना इष्टदेव के रूप में हुई। भक्त अपनी समस्त सद्-वस्तु वृत्तियों को केवल कृष्ण की ओर प्रेरित कर अपने मनोविकारों और चित्त-वृत्तियों के अभ्रमन का प्रयास करता है। गोपियों ने अपनी समस्त भावनाओं को कृष्णार्पण कर दिया था। राधा तो कृष्ण को रटते-रटते कृष्ण ही हो गई। इस भावचित्र में कवि ने इसी (Sublimation) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। गोपियों की प्रत्येक वृत्ति का नग्न चित्र कृष्ण के समुल्लस्य था। वे किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखती, वे अपने समस्त भावों (वास, दास्य, सख्य) का आरोपण कृष्ण पर करती हैं और आरोप्य-वस्तुओं प्रतीक होने के कारण उनकी भावनाएँ भी श्लोकिक हो जाती हैं।

गोपियों का प्रेम एकांगी भक्ति का प्रतीक है। प्रेम का प्रतिदान न लेकर वह अनौक्तिक त्यागमय प्रेम है, जिसकी आवश्यकता समाज को सदैव रही है। आज की अहिंसा तथा काइस्ट की परहित-उत्प्रेक्षा इसी निस्वार्थ प्रेम की प्रतीक है। इस प्रकार कृष्ण के सगुण रूप का आधार लेकर कवियों ने समाज-संस्कार का प्रयास किया। कल्पना के विमान पर बैठ लीलाश्रम की विभिन्न लीलाओं का दर्शन करने वाले श्रद्धे कवि ‘सूरदास’ उस समय की राजनीतिक परिस्थिति से अलग नहीं थे। राजसत्ता के साथ जनता का सहयोग न होने पर उसका निर्वाह कठिन है—

“राज-वरम सब भए ‘सूर’ जहँ प्रजा न जाइ सतारै ॥

तथा—

‘सूर’ स्याम कैंसें निबहूँगी, अंधाधुंध सरकार ॥”

इस प्रकार के कथनों से उस समय की जनता तथा शासकों की मनोवृत्तियों का कुछ प्राभा-
हो जाता है।

आधुनिक 'अमरगीतों' पर तो सामयिक सामाजिक परिस्थिति का स्पष्ट प्रभाव है। बुद्धिवादी युग के कवि और कैसे प्रलो का आरोपण कृष्ण-सीताओं पर भी हुआ। कृष्ण के गोपियों के साथ किए गये विहार (रास) के शीषित्यानीचित्य पर बहुत पहले ही लोक-वृष्टि गई थी और उसे प्राध्यात्मिक चूनरी का आवरण प्रदान कर उसका समाधान कर दिया गया था, किंतु ऐसे आक्षेपजनक प्रभाव तथा परोक्ष तत्वों का आधुनिक समाज सहसा विश्वास नहीं कर पाया। हरिऔध जी ने इसे समझा और उसका समाधान भी किया। सतीशुण प्रधान शरद ऋतु की पूर्णिमा में जब रास हुआ था उस समय केवल गोपियों ही कृष्ण की वेणु से मोहित न हुई थी। गोपियों और रत्ने सब समान रूप से उस रासस्वादन में रत थे। उपाध्याय जी ने 'राधा' को जो नवीन चरित्र प्रदान किया है वह भी उस समय के समाज की आवश्यकता थी। उन्होने भक्ति की ग्यारह आसक्तियों को भी समाज-सेवा के विभिन्न रूपों में देखा है।

कविरत्न जी का 'अमरगीत' समाज के गीत का ही प्रतिविम्ब है, उसमें दार्शनिक-विचारधारा का प्रायः 'सोप-सा' है। यशोदा की कृष्ण-विरह-अवस्था में कवि स्वातंत्र्य-विहीन भारत का ही चित्रण करता है, उसके बाद कवि यशोदा की निरक्षरता की ओर संकेत करता है जो पूर्णतः उस समय की स्त्री-शिक्षा के अभाव का स्पष्टीकरण है। भारतीय समाज सदियों से प्राचीनता का पक्षपाती है, कवि ने उसकी इस मनोवृत्ति से अथास्थान लाभ भी उठाया है तथा स्त्री-शिक्षा के पक्ष में वह प्राचीन मिश्रित चित्रों के ही उदाहरण देता है।

इसी प्रकार नारी-वर्ग के समाज में समाज-अधिकारी की चर्चा चल रही थी, मुगलकाल में जो नारी केवल उपभोग की वस्तु बन कर रह गई थी, वही अब पुनः अर्धांगिनी का रूप धारण कर रही थी। समाजोद्धार और स्वदेशोद्धार, स्त्री शिक्षा के अभाव में असंभव माना जाने लगा था।

उस समय समाज में स्वतंत्रता, समता, सहप्राप्तता की विशेष चर्चा थी, सारा समाज उन तीन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये लालायित था। छूतछात, परतन्त्रता, विषम व्यवहार समाज में निरादर्य, इन मानवताओं का प्रकाशन भी 'कविरत्न' जी ने अपने 'अमरगीत' में किया है।

विदेशी वस्तुओं के प्रति विशेष कर पाश्चात्य-सम्यता और वस्तुओं के प्रति उन समय का समाज विशेष अनुरक्त था। पूर्वजिं सम्यता, आचार-विचार, सामाजिक रहन-सहन प्रत्येक के प्रति निमित्त लोगों के विचार सराहनीय नहीं थे। स्त्रियों का पाश्चात्यो का अनुकरण करना, अपने स्वाभाविक रूप नभ्रता को भुला देना इन सभी बातों का संकेत 'अमरगीत' में प्राप्त होता है। स्वदेशी भेष और भाषा का प्रश्न भी उस रूप धारण कर रहा था। कुछ लोग इनका सर्वथा त्याग करके पाश्चात्य अनुकरण करना चाहते थे और कुछ केवल विचार परिवर्तन के समर्थक थे। लड़ी बोली और ब्रजभाषा का प्रश्न, गोरों का भेष, इन सभी सामाजिक तत्वों की ओर कविरत्न जी ने संकेत किया है।

नये-नये आविष्कारों ने देश के प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट कर दिया था। प्रकृति, दृष्टि, धर्म वृष्टि-आदि से समाज पीड़ित था, शासक वर्ग को केवल भोग्य को चिन्ता थी। इन सभी समस्याओं में डॉ. कविरत्न जी ने संकेत किया है। कविरत्न जी के 'अमरगीत' में जो दार्शनिक पक्ष का प्रभाव है वह भी समाज का अभाव है, आज के वैदिक युग में लोग प्राध्यात्मिक उत्पत्ति की अपेक्षा भौतिक उत्पत्ति की ओर ध्यान देते हैं। इस प्रकार भारत में 'अमरगीत' कवियों के व्यक्तित्व और युग ने निर्माण तमो बन बन गया।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में 'अमरगीत' की इन परंपरा ने नया दम्भान प्राप्त किया और सामाजिक जागरण का संदेश दिया।

इस प्रकार भ्रमरगीत हृदय का स्वाभाविक उद्गार, काव्य की पद्धति विशेष, उपकरण एवं परंपरा और रूढ़ि बना। आगे चल कर यही राजनीतिक और सामाजिक विचारों का सवेन बाहक बना। काव्य की एक ही वस्तु किस प्रकार कवि तथा युग के प्रभाव से भिन्न प्रकार के भावों के वहन का साधन बन जाती है इसकी सुदूर तथा रोचक कथा हमें भ्रमरगीत की परंपरा में प्राप्त होती है।

भ्रमरगीतों में दार्शनिक-पक्ष

मानव एक सीमित शक्ति, बुद्धि और व्यापारों का केंद्र है। वह चेतन अवश्य है, किंतु आनंद से परे। वह अपनी संपूर्ण शक्ति से इसी "आनंद" की खोज में तत्पर रहता है, किंतु ऐश्वर्यादि पद्यों के अभाव में वह अपने प्रयास में सतत तो नहीं, किंतु अधिकांश असफल ही रहा है। उसे सांसारिक आधिष्ठानधियाँ, मोह वधन आकर जकड़ लेते हैं और वह अपने को असहाय, निरवलंब तथा अशक्त पाकर सर्व शक्तिमान् का सबल बूँदता है। विभिन्न बौद्धिक विचार धाराओं ने उस शक्ति को निराकार ब्रह्म अथवा साकार ईश्वर मान कर भिन्न-भिन्न रूपों में परखा।

भारतीय दर्शन के दो भाग सदैव दृष्टिगोचर होते हैं—“भावपक्ष” और “ज्ञानपक्ष”, एक में हृदय की प्रधानता है दूसरे में मस्तिष्क की। वह ईश्वर जिसका सभी सहारा खोजते हैं, सभी जिसके आश्रय को पाने के हेतु लालायित रहते हैं, केवल ज्ञानियों के तर्क का विषय हो कर नहीं रह सकता। उपनिषद् जिसे ‘नेति-नेति’ कह कर अपनी असमर्थता प्रकट करके शांत हो जाते हैं, भावुक भक्त उसी की एक साकार प्रतिमा बना कर अपनी सारी भावनाओं की बागडोर उसे थमा देता है और वह तन, मन, धन से पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। उसे अपने आराध्य में ही सदैव-हृदय के दर्शन होते हैं, जो विपन्नो, विपदग्रस्तों तथा निराश्रयों का सबल है। वर्णाश्रम-धर्म से नियमित भारतीय जीवन किसी न किसी रूप में दर्शन के निकट रहता ही है। कवि-हृदय जो स्वभाव से ही भावुक होता है यदि शील, शक्ति और सौंदर्य के अधिष्ठाता भगवान् की ओर उन्मुख हो उठा तो उसका गान सर्वश्रेष्ठ आश्रय को पाकर सर्व जनहितोपकारक हो उठता है। हिंदी-साहित्य के भक्तिकाल को जन्म देनेवाली परिस्थितियों में राजनीतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत निराश्रयता का भी बड़ा हाथ है। व्यक्ति को जब कोई आश्रय न रहा तो वह अपनी विपत्ति में सबेदनात्मक हृदय की खोज में निकला और उसे भगवान् का आनंद और ऐश्वर्य स्वरूप अपने वरदहस्त से उसकी रक्षा करता हुआ दिखाई दिया। वह तात्त्विकों तथा तात्त्विकों के वहन को छोड़ अपने उपास्य मर्यादा-मुरूपोत्तम राम या लीलावतार आनंद-स्वरूप श्री कृष्ण के गुणगान में लीन हो गया। भक्त भक्ति काल की रचनाओं में दर्शन का प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक स्थान पर होता है।

भ्रमरगीत भी विरह-काव्य होते हुये भी दार्शनिक विचारधारा से पूर्ण है। सभी धर्म-ग्रंथों में श्रेष्ठ भागवत के कोष्ठ में इस प्रसंग का जन्म हुआ और फिर काव्य-क्षेत्र में इसका विस्तार हुआ। विभिन्न कवियों ने जिन्होंने इस विषय पर कुछ लिखा है ज्ञान और भाव दोनों ही पक्षों का उद्घाटन किया है।

कुछ कवियों की कृतियों में निर्गुण-सगुण का विवाद तथा ज्ञानयोग और भक्तियोग की महत्ता का विशेष दर्शन होता है। सूरदास, नवदास तथा जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ के भ्रमरगीतों में दार्शनिक पक्ष विशेष रूप में है।

दार्शनिक पक्ष के विवेचन में इसके दो विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम तो “दार्शनिकपक्ष” और दूसरा “साधनपक्ष”।

सिद्धांत पक्ष के अंतर्गत उद्भव के निर्गुण, निराकार ब्रह्म-मवची विचार तथा गोपियों की सगुण-सरलता मवची विचार-धारा का विवेचन आता है। साधन पक्ष के अंतर्गत गोपियों का सगुण माया-भगवान् की प्राप्ति के लिये भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करना, उद्भव की निर्गुण ब्रह्मोपामना तथा प्राप्ति-विधि के पक्ष में ज्ञानयोग का समर्पण आता है।

धर्म के तीन प्रधान धर्म हैं, ज्ञान, भक्ति और कर्म। इनमें से किसी एक के अभाव में धर्म विकलांग हो जाता है। इन तीनों अंगों या परब्रह्म-प्राप्ति के मार्गों का ध्येयबन्धु होना भी समब है,

जब इन मार्गों में रहस्य या गुह्य का प्रवेश हो जाता है तो यही मार्ग लोक सग्रह न करके मोक्ष-प्राप्त हो जाता है।

“सूरदास” के भाविभक्तिकाल की स्थिति का पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि उनोंने पूर्ण सिद्ध, साधू, तथा योगी अपने विचार जनता के समुल्ल प्रकट कर चुके थे। जनता का मन तथा उन विचारों में पूर्णतः जीवन हो सका। किसी में शारीरिक कठिन यातना थी तो किसी में धूम्र निगम तथा निर्गुण का ध्यान। ये दोनों ही बातें जनता के लिये कष्टसाध्य थी, उनके लिये एक निदिन न था। जनता को इस समस्या को सुलझा कर “सूर” ने सीधा, सरल तथा सहज भक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया। उन्होंने निर्गुण का खंडन करके सगुण की स्थापना तभी की है और न जान को ही भक्ति के गुरु निरर्थक सिद्ध किया है—वरन् भक्ति के द्वारा सगुण ईश्वर की उपासना को सहज तथा सुख बना कर उसे अधिक श्रेयशालिनी घोषित किया है। कुछ आलोचकों ने उनके भ्रमरगीत में योगियों की वेपथुता तप नियमों का सांगोपाग वर्णन पा कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सूरदास जी पहले ‘वैष्णव-प्रयोग’ में थे, किंतु अंत्य यह है कि सूरदास जी अपने समय की स्थिति से पूर्ण परिचित थे और उन्हें योगियों की सिद्धों के सिद्धांतों का भी ज्ञान था।

प्रत्येक भ्रमरगीत-रचयिता ने सगुण-निर्गुण के विवाद को उठाया है और इन में तुलना ने अनुसार—

“ग्यानिहि, भगतिहि नहि कहु भेदा। उमध हरिह नभ समद लेदा ॥”

की समभूमि पर पहुँच कर समन्वय कर दिया है। यद्यपि भक्ति की सरलता और उपयोगिता को ही अधिक श्रेष्ठ बताया है।

क्लेशाचार्य ने पूर्व शंकराचार्य जी अपने विवर्तवाद का प्रतिपादन कर चुके थे। उन्होंने ब्रह्म की नित्याधि, निर्गुण और निर्विशेष ही माना है। वे न ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं, न उपादान। ब्रह्म निम्न एक रस, भविकारी है, वह न कर्ता है न भोक्ता।

क्लेशाचार्य ने उपनिषद् के वाक्यों और बादरायण के ब्रह्म-सूत्रों को लेकर ही ब्रह्म को उद्भूत-लिंग-युक्त तथा निर्गुण और सगुण दोनों ही माना है। उन्होंने ब्रह्म में यमुय की बुद्धि को निर्गुण जान पड़ते हुये धर्म का आरोप किया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के मोक्षधि, नित्याधि, ननु, निर्गुण और व्यावहारिक और परमाधिक ऐसे दो भेद स्वीकार किये हैं। उपनिषद् के ज्ञानकाण्ड में ही ब्रह्म के स्वरूप का कथन कई ठग का है। कहीं ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अमल, अमय, अद्वय, अशब्द, अमय, निर्गुण और अभ्यक्त कहा गया है और कहीं सर्वकर्मा, सर्वरस, सर्वकाम, सर्वज्ञ, सर्वज्ञानमात्र, सर्वज्ञानसुख और सर्वरस। इसके अतिरिक्त बहुत जगह वह उभयात्मक भी कहा गया है।

शंकराचार्य जी ने निर्गुण और अभ्यक्त को ही ब्रह्म का मध्यम स्वीकार किया है, जिसका उद्भूत रहने वाले नाम रूपात्मक जगत् को ब्रह्म की सत्ता से निम्न मिथ्या प्रतीति या भाति का है। जगत् को वास्तविक सत्ता न होते हुये भी मन की विल वृत्ति-द्वारा यह मिथ्या प्रतीति उत्पन्न है, जो ब्रह्म की ‘अद्वैतवाद’ की मञ्जा दी गई है, इसे ‘विवर्तवाद’ भी कहते हैं। इस विवर्तवाद को प्रमाणित करने के लिये शंकराचार्य जी ने परिणामवाद के विरोध में की। उनके अनुसार ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप निम्न प्रकार का है। उसका परिमाण या विकार समबन्धी नहीं है, भूत ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वकामना-रहित, नित्य शुद्ध, बुद्ध, भुक्त होकर, निमित्तजन्य भी नहीं है। न कर्मा हैं न भोक्ता। शंकराचार्य ने उपनिषद्-द्वारा प्रतिपादित गर्वत, गर्वपा, ईश्वर का ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान कर भविकात्मक मोक्षार्थ रूप माना है। उस प्रकार उन्होंने ब्रह्म के दो रूप

“नामरूपादि भेदोपविष्ट” या सगुण और दूसरा “सर्वोपाधिविवर्जित” या निर्गुण। दूसरे प्रकार के निर्गुण, निराकार और निर्विरोध रूप को ही ब्रह्मका वास्तविक या पारमार्थिक स्वरूप माना है^१। सोपाधि सगुण रूप को उन्होंने केवल व्यावहारिक, अर्थात् उपासना के व्यवहार के लिये माना।

शकराचार्य ने जीवात्मा और ब्रह्म के स्वरूप में कई भेद नहीं माना है, वे ब्रह्म के समान आत्मा को भी नित्य, ज्ञान-स्वरूप और विभु मानते हैं। वे जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता नहीं मानते। जीवात्मा में कर्तव्य को भी वे स्वाभाविक नहीं मानते, क्योंकि यदि कर्तव्य स्वाभाविक हो तो वह जीव से उसी प्रकार पुण्य नहीं हो सकता जिस प्रकार ताप अग्नि में पुण्य नहीं हो सकता। कर्तृत्व दुःख रूप है, अतः जीवात्मा का दुःख-मुक्त होना असंभव हो जायगा।

वल्लभाचार्य का सिद्धांत शकराचार्य के विरोध में है। वल्लभाचार्य ने उपनिषद् के वाक्यों और वारदायण के ब्रह्मसूत्रों को ही लेकर ब्रह्म को उभयलिङ्ग-युक्त, अर्थात् ‘निर्गुण’ और ‘सगुण’ दोनों माना^२। उनके अनुसार श्रुति-वाक्यों का समन्वय वारदायण के ब्रह्मसूत्रों में है, इन सूत्रों के द्वारम में जिज्ञासा के उपरांत “जन्माद्यस्य यत” (जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है) द्वारा जिस ब्रह्म का निर्देश किया है वह केवल निर्विशेष और निर्गुण नहीं हो सकता, सर्व शक्तिमान् और सर्वधर्मा ही हो सकता है। यही सर्वशक्तिमान् ब्रह्म कारण रूप में सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है। वल्लभाचार्य के अनुसार यही सारी सृष्टि ब्रह्म की ही आत्मकृति है। इस सारी सृष्टि को वह “लीला” के लिये ही रचता है^३। ब्रह्म का यह परिणाम रूप जगत असत् या मिथ्या नहीं है।

“उसने अपने को स्वयम् किया” “बहुत हो जाना चाहिये” “एक में हूँ बहुत हो जाऊँ”^४ आदि श्रुति-वाक्यों से ब्रह्म का कर्तव्य और कर्मत्व दोनों ही सिद्ध होता है। ब्रह्म का विचार, यह सृष्टि ब्रह्म से अनन्य है, उसी प्रकार जिस प्रकार मिट्टी, मिट्टी के घट से भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

वल्लभाचार्य ने शकराचार्य की भाँति ब्रह्म और जीव के स्वरूप में अभिन्नत्व नहीं माना है। वे “पदोऽस्य सर्वं भूतानि” इस वेद वाक्य तथा “अथो नानाव्यपदेशात्” इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म को सावयव मानते हैं और जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से जीव निकलते हैं^५। वल्लभाचार्य जी ने इसी अणुत्व का प्रतिपादन किया है, इसी कारण उनका भाष्य—“अणुभाष्य” कहलाता है। शकराचार्य ने ब्रह्म को निरावयव माना है और जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप कहा है। वल्लभाचार्य ने जीवात्मा को ज्ञाता माना है। जीवात्मा ब्रह्म में अनन्य भी है और भिन्न भी। यह अभिन्नत्व अधिकत्व का है। ब्रह्म जीवात्मा से अधिक है^६।

^१, द्विरूप हि ब्रह्मावगम्यते। नामरूपविकारभेदोपाधिविषिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। अपि च यत्र नु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपं उपदिश्यते भवति तत्र शास्त्रम्।

—शारीरकभाष्य

^२ उभय व्यपदेशात्त्वद्विकुलवत्। इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार उन्होंने कहा—“यथा सर्पो ऋजुरने-काकार-कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वं प्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति। तस्मात् सकलविण्ड-धर्मा भगवत्येव यन्तस्त इति न कापि श्रुतिरूपवरितार्येति सिद्धम्”

—अणुभाष्य

^३, आत्मकृतेः परिणामात्। “लोकवत् तु लीला कैवल्यम्”।

^४, तदात्मानं स्वयमकुर्वत। “बहु स्यां प्रजायेय”। “एकोऽहं बहु स्याम्”।

^५ ययाने- क्षुद्राः विस्फुलिगाः।

^६, अधिक तु भेदनिर्देशात्।

—ब्रह्मसूत्र,

७) दर्शन के क्षेत्र में बल्लभाचार्य जी की सबसे गहरी पहुँच उनके भाविभाव-तिरोभाव के सिद्धांत में है। अक्षर ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनन्द इन तीनों स्वरूपों का भाविभाव और तिरोभाव करता है। तीनों स्वरूपों का विकास तीन भिन्न-भिन्न शक्तियों से होता है। सत् का प्रकाश "सचिनी" से, चित् का "मवित" से और आनन्द का "ह्लादिनी" से। पुरुषोत्तम ब्रह्म में ये तीनों शक्तियाँ अनाद्यत रहती हैं, जीव में सचिनी और सचित् अनावृत तथा ह्लादिनी आवृत रहती है। इस अवस्था के अनुसार न तो ब्रह्म को अस्त करने वाली उससे अन्य कोई दूसरी वस्तु "माया" है और न जीवात्मा को ही। जीवात्मा भी वस्तुतः ब्रह्म ही है जिसमें 'आनन्द' स्वरूप आवृत रहता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने से यह सिद्धांत "शुद्धाद्वैतवाद" कहलाता है। अमरगीतो के सिद्धांत-पक्ष में शंकराचार्य के मत का आशय केवल ज्ञान-वर्चा तथा निर्गुण-मतप्रतिपादन में प्राप्त होता है। बल्लभाचार्य के सगुण और सोपाधि ब्रह्म का प्रतिपादन गोपियाँ करती हैं। गोपियों के द्वारा ही मुरदास, नवदास तथा रत्नाकर अपने विचारों की विवृति करवाते हैं, जो परोक्ष रूप से बल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रतिपादन ही है।

✓ "मुरदास" "परमानन्ददास" नवदास भावि सभी अद्वैतज्ञापक कवि कृष्ण को ब्रह्म का अवतार या सगुण और साकार रूप मानते हैं। उनके पदों में निर्गुण-ब्रह्म का ही पृथ्वी पर सगुण रूप में अवतरित होना मान्य है।

"बेद-उपनिषद जस कहै, निरगुनाहि बतावै ।

सोहि सगुन होइ नंद की, दाहिरी बनावै ॥"

—सूरसागर

उद्धव शंकराचार्य के "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" सिद्धांत से प्रभावित ज्ञात होते हैं। वे गोपियों को निर्गुण, निराकार तथा निर्विकार ब्रह्म की आराधना करने को कहते हैं, किंतु बल्लभ-संप्रदायी 'सूर' के विचारों की प्रतिनिधि स्वरूपा गोपियाँ उद्धव के सिद्धांतों से सहमत नहीं होती।

"गोपी, सुनहुँ हरि की सदेस ।

कह्यो पुरन ब्रह्म ध्यावौ त्रिगुन मिथ्या-भेव ॥

ॐ

सात-पित कोउ नाहि नारी, जगत मिथ्या स्वाह ।

'सूर' सुख-दुख नाहि जाकैं, भजौ ताको जाह ॥"

गोपियाँ इस जगत को सत्य मानती हैं वे जगत के मिथ्यत्व और मिथ्यावाद के भाव को अस्वीकार करती हैं, किंतु उनके विचारों का आधार, उनकी भावनायें ही हैं। वे केवल इतना ही कह पाती हैं—

"यै मत जाइ तिनहि मुन्हुं सखबहु, जिन हों यै मत सोहत ।

'सूर' आजु लौं सुनौ न देखी, पीत वृत्तरी-पोहत ॥"

'गोपी, सुनो हरि-सखेस ।

कह्यो पुरन ब्रह्म ध्यावौ, त्रिगुन मिथ्या भेव ॥

यै कह्यो सो सत्य सौगो, सगुन दारौ नासि ।

पंच-अथ-गुन सकल देखी, जगत ऐसी भासि ॥

म्यान-बिन नर-मुक्ति नाहीं, यै बिबै संसार ।

रूप, रस न नाम जल-बल, जरेन-अजरैनसार ॥

सात-पित कोउ नाहि नारी, जगत मिथ्या साह ।

'सूर' सुख-दुख नाहि जाकैं, भजौ ताको जाह ॥

—सूरसागर १४६६ ४३०३

नददास की गोपियाँ भी जगत को सत्य मानती हैं। यह सारी सृष्टि ब्रह्म-स्वरूप है, केवल भविष्या-माया के कारण भ्रम ज्ञात होती है। वास्तव में जगत ब्रह्म के सत् अंश का परिणाम है। ब्रह्म सत्य है, अतः जगत भी सत्य है—

“मोमें उनमें अंतरौ, एकी छिन भरि नाहिं।

ज्यों बेशौ मो नाहिं वे, तौ मैं जन्हौं नाहिं ॥

—तरंगनि बारि ज्यो ॥”

इस प्रकार नददास भी ‘शुद्धाद्वैत’ तथा ‘अविकृत परिणामवाद’ का समर्थन करते हैं। उद्धव इस सारे जगत को मिथ्या तथा प्रपञ्च बताते हैं,^१ किन्तु गोपियाँ इस मत का समर्थन किस भाँति कर सकती हैं, जबकि उन्हें इसी जगत के बीच ब्रह्म के भवतार कृष्ण का दर्शन हुआ है। कृष्ण के ससर्ग के कारण उन्हें अपने चारों ओर की सृष्टि सजीव ज्ञात होती है। उस प्रवृत्ति के अंदर भी उन्हें एक अपने समान ही स्पन्दन करता हुआ हृदय दृष्टिगोचर होता है। उनके मतानुसार असत्य वस्तुएँ केवल दो हैं, एक तो “अविद्या—माया” और दूसरा “ससार”। यह माया भी दो प्रकार की है—एक तो ब्रह्म की प्रादि शक्ति स्वल्पा माया जो सृष्टि का सृजन, पालन और लय करती है दूसरी वह माया जो मनुष्य से अहंता-ममता-त्मक ससार की सृष्टि करके उसके ईश्वरीय गुणों का आच्छादन करती है।

उद्धव ब्रह्म के निर्गुण होने की चर्चा करते हैं, गोपियाँ प्रत्युत्तर में उसकी सगुणता प्रतिपादित करती हैं तथा विद्या और अविद्या माया का परिचय देती हैं। वे कहती हैं—

“जो उनके गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ ते।

बीज बिना तब जमें सोहिं तुम्ह कहाँ कहाँ ते ॥

वा गुन की परछाहँ री, माया-वरपन बीच।

गुन ते गुन न्यारे भए असल बारि मिलि कीज ॥

—सखा गुन स्थान के ॥”

ईश्वर यदि निर्गुण हैं तो इस सृष्टि में गुण कहाँ से दिखाई देते हैं, जबकि समस्त विश्व उसी का अक्षमात्र है। वस्तुतः ईश्वर सगुण हैं और उसके गुणों की परछाही ही उसकी छाया के दर्पण में पड़ रही है। ईश्वरीय गुणों से प्रवृत्ति के गुण अविद्या—माया के, ससर्ग के कारण भ्रम दिखाई देते हैं। स्वच्छ जल के समान शुद्ध ईश्वरीय गुणों को, जो प्रकृति माया के माध्यम में परिणाम स्वरूप व्यक्त हो रहे हैं, अविद्या—माया की कीच में सान दिया है और इन्हीं सने हुये गुणों को ससारी-जन अपनाते हैं। नददास ने परिणामवाद के साथ ही अविद्या—माया के द्वारा उपस्थित किये गये भ्रम को भी स्वीकार किया है। मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है—“सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य।” भक्त जब चरम विरह की व्याकुलता में आत्म-विस्मृति कर देता है तब भक्त और भगवान का एकीकरण हो जाता है, यह अवस्था जीवनभूत होने पर प्रेम-भक्ति-द्वारा इसी शरीर के रहते हुये एक प्रकार की ‘सायुज्य’ अवस्था है। इसी लिये सूर आदि क्लेश-भक्तों ने —“विरह की सायुज्य अवस्था तथा परमार्थ भक्ति की सायुज्य अवस्था में ही सायुज्य माना है। सूर की गोपियाँ उद्धव की परमार्थ-वर्चा से ऊब कर कहती हैं “कि तुम्हें विरह और परमार्थ के सामीप्य का ज्ञान ही नहीं है”—

“ऊँचो, जन की दसा बिचारी।

ता पाछें मैं सिद्धि आपनी, जोग-कथा बिस्तारी ॥

ॐ

कितनी बीच विरह-परमारथ, जानति ही मैं नाहीं ।”

^१. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।

गोपियाँ योग, ज्ञान, ब्रह्म तथा समाधि के विभेद को भी उसी प्रकार निरर्थक समझती हैं, जिस प्रकार इस ससार के सारे कर्तव्य । मोह और भ्रमत्व के दृढ़ पाश में ही मुक्ति पाकर वे कहती हैं—

“जोगी होइ सो जोग बखानें, नवधा भक्ति बास रति मानें ।

भजनानंद भली, हम प्यारी, ब्रह्मानंद-मुख कोन बिचारी ॥”

परमानन्ददास तो यहाँ तक कहते हैं—

“सेवा भवनगुपाल को, मुक्ति हूँ ते मीठी ।”

इन अनेक प्रकार के प्राध्यात्मिक सुख और मोक्ष-भ्रमस्या विषयक विचारों के साथ-साथ ‘सूर’ का यह भी मत है कि जो जिस भाव से भगवान् को भजता है उसको भगवान् उसी प्रकार से मिलते हैं तथा उसे इच्छित मोक्ष प्राप्त होता है—

“मनुकर, कोन मनायी मानें ।

सिखबो जाह समाधि-जोग-रस, जहँ सब लोग सयानें ॥

❧

जिन्ह के तन, मन, प्राँन, ‘सूर’ सुनि मुख-मुसकानि बिकानें ।

परी जू पय-निधि अल्प बूँव-जल, सो पुनि को पहिचानें ॥”^१

सूर के इस प्रकार के भाव भगवद्गीता के—“ये यथा भा प्रपद्यते ता तस्यैव भजामहे” से साम्य रखते हैं ।

गोपियों को कृष्ण-ध्यान में ही तथा सगुण ईश्वर की सेवा में ही चारों प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं—

“ऊबो, सुचें नेंकु निहारी ।

हम अबलान को सिखबल धारै, सुनो सयान तिहारी ॥

सेवत सगुन स्वामसुंदर कोँ, मुक्ति लही हम धारी ॥

हम सालोक, सख्य, सरोज्यो, रहत समीप सर्दाई ।

सो तज कहत और की धारै, तुम्ह अलि बडे अवाई ॥”

❧

“ऊबो, सुचें नेंक निहारी ।

हम अबलान को सिखबल धारै, सुनो सयान तिहारी ॥

निरगुन कही कहा कहियसु है, तुम्ह निरगुन अति भारी ।

सेवत सुलभ स्वाम सुंदर कोँ, मुक्ति लही हम धारी ॥

हम सालोक, सख्य, सयुज्यो, रहत समीप सर्दाई ।

सो तज कहत और की धारै, तुम्ह अलि बडे अवाई ॥

१. मनुकर, कोन मनायी मानें ।

अविनासी, अति अगम तुम्हारी, कहा प्रीति-रस जानें ॥

सिखबो जाह समाधि-जोग-रस, जहँ सब लोग सयानें ।

हम अपने ब्रज ऐसैं ही रहि हैं, बिरह-बाइ-बोरानें ॥

जागत, सोवत, सुपन रैन-दिन, बहै रूप उर-आनैं ।

बालमुकद-फिसोर जू लीला, सोभा-सियु-समानें ॥

जिन्ह के तन, मन, प्राँन ‘सूर’ सुनि, मुख-मुसकानि बिकानें ।

परी पयोज जू अल्प बूँव-जल, सो कही को पहिचानें ॥

—सूरसागर (ता० ४० सं० काशी)

हम भूरख, तुम्ह बड़े चतुर हौं, बौहोत कहा अब कहिए ।
 ओ ही काज फिरत भटकत कित, अब मारग निज गहिए ॥
 तुम्ह अग्यानि कर्ताहु उपदेसत, रगान-रूप जब हम हौं ।
 निस-दिन ध्यान 'सूर' प्रभु को अलि, देखत हम जित-तित हौं ॥”

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पृ० १५६२

कृष्ण ने गोपियों के पास उद्धव को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने के लिये सामिप्राय भेजा था । कृष्ण चाहते थे कि गोपियों की प्रीति और तन्मयता देख कर उद्धव शिक्षा-ग्रहण करे और सगुण-मार्ग की सरसता तथा सुगमता के सामने निर्गुण-ज्ञान-गर्भ दूर हो—

“त्रिगुण तन करि लखति हम को, ब्रह्म मानत और ।”

इसी भ्रम का निवारण कृष्ण करना चाहते थे । जगत् से ब्रह्म को सदा अलग मानना, जगत् की नाना-विभूतियों में उसे न स्वीकार करना भक्ति-मार्गियों के निकट बड़ी भारी आति है । वे तो—

“अहमात्मा गुहाकेवा सर्वभूताशयस्थितः ।”

—गीता १०।२०

इस अगवद्वाक्य के सबल के सहारे जीवन-यात्रा पूर्ण करते हैं ।

उद्धव बात-बात में केवल एक ब्रह्म या भद्वैतवाद का राग अलापते हैं, किंतु रस-विहीन उपदेश से जोक-व्यवहार नहीं चलता और न साधारण बुद्धि के व्यक्ति के लिये ऐसे उपदेश हितकारक ही होते हैं । निर्गुण ब्रह्म की इसी बिलप्टता तथा नीरसता का परिचय गोपियों के वाक्यों-द्वारा प्रकट होता है । ज्ञानी उद्धव को उचित था कि वे सगुणोपासक गोपियों को श्रद्धा चलायमान न करे,—श्री कृष्ण स्वयं इस मत के समर्थक हैं—

“प्रकृतेर्गुणसम्भूता सज्जते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मंबानकृत्स्नविश्व विचालयेत् ॥”

—गीता, ३।२६

सारे सासारिक कर्तव्यों से विमुख कृष्ण-विरह में सारी आपदाओं को सहन करते हुए गोपियाँ कृष्ण की अनुयायिनी तथा आश्वासक शिष्याओं की भाँति ज्ञात होती हैं । कृष्ण ने स्वयं कहा है—

“मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीनिर्मनो भूत्वा युद्धधत्त विगतज्वरः ॥”

—गीता, ३।३०

गोपियों को—मेम-वियोगिनियों को मुक्ति से क्या काम । उद्धव का उपदेश उनके लिये निरर्थक था । श्री कृष्ण उनके लिये प्रत्यक्ष थे । उन्हें छोड़कर एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म की कल्पना करके उसकी उपासना करना उन्हें उसी प्रकार उपहासास्पद ज्ञात होता है जैसे दीवाल पर चित्राकन करने के पश्चात् उसी कल्पित चित्र की उपासना करना—

“नंबनैव नत छाडिक्के हो, को लिखि पुजै भीति ।”

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२३

उद्धव गोपियों को सहजोपासना का उपदेश देते हैं—

“एकै असल अपार, आवि अवगत है सोई ।

आदि निरंजन नाम, ताहि रीतें सब कोई ॥

नैन, नासिका अप्र है, तहाँ ब्रह्म की वास ।

अविनाशी बिनसै नहीं हो, सहज जोति-परकास ॥”

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२३-२४

गोपियों को इस "सहज-ज्योति" का ज्ञान समझ में नहीं आता है, उन्होंने अपने उपास्य को, अवतारी ब्रह्म, प्रत्यक्ष और साकार देखा है, फिर भला वे उदब को निराकारोपासना का समर्थन किस प्रकार कर सकती हैं—

"जै बहि कर-मग नाहि, कही ऊल क्यो बानी ।
नैन, नासिका, मुख न, चोरि बनि कौनो जाँची ॥
कौन खिलायो गोब लं, किन्हु कहे तोतरे-जैन ।
ऊचो, ताको न्याज है, जाहि न सुझे जैन ॥"

—सूरसागर (ना० प्र० सं० काशी) पृ० १६२४

गोपियों को उदब की ज्ञान-वर्चा अंधे के न्याय जैसी लगती है जिसे स्वयं तो कुछ दृष्टिगत होता नहीं, पर स्पर्श-द्वारा वस्तु के जिस अक्ष का अनुभव करता है उसे वैसा ही बता देता है । वास्तव में उसका ज्ञान अपूर्ण है । गोपियाँ कृष्ण की प्रत्यक्ष देखती हैं, वे उनके अंतर, बाह्य प्रत्येक रूप से परिचित हैं, फिर भला इस अपूर्ण ज्ञान-वर्चा से कैसे सलुष्ट हो सकती हैं । उन्होंने कृष्ण को विविध बार क्रीड़ाएँ करते तथा किशोरावस्था में चापत्ययुक्त भावभंगिमाओं में रत देखा था । वे एक ऐसी साकार और क्रियाशील मनोहर छवि के समुत् निर्गुण ब्रह्म की अव्यक्तता को कैसे स्वीकार करती । वे उदब को उन्हीं के तर्क-द्वारा परास्त करती हैं—

"तू का की है करत प्रसंसा, कौनो घोष पठावै ।"

ऐसी पक्षितियों में उदब के भ्रजान की ही क्षति किया गया है ।

गोपियाँ अपने लिये योग-वर्चा को सर्वथा निरर्थक समझती हैं । उनको "जोष भगवाने को कहवा" उसी भाँति है जिस प्रकार —

"बूझिहि लूभी, अँधरी काजर, नकदी पीहरें बेसरि ।"

ऊचो, जगत को मिथ्या बताते हैं तथा केवल ब्रह्म को सत्य मान कर उसी सत्य ब्रह्म की आराधना करने को कहते हैं, किंतु गोपियाँ कृष्ण को सत्य मानती हैं, सारे जगत को सत्य मानती हैं । वे ब्रह्म को ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण मानती हैं ।

"कहाँ लो कौनो बहुत बड़ाई ।

अतिहि अगल, अमार, अगोचर, मनसा तहाँ न जाई ॥

जल बिन तरंग, भीति बिन चित्रन, बिन चित हो बतुराई ।

अब बज में अनरीति कछू यह, ऊचो प्राणि बलाई ॥

रूप न रस बरन बपु जाँके, संग न सखा सहाई ।

ता निरगुन सौं प्रीति निरतद, क्यो निबहै रो माई ॥

मन जुमि रह्यो भाधुरी मूरति, रोंम-नोंम अस्साई ।

हो बलि भई 'सूर' प्रनु ताके, जाके स्थान सबी सुखवाई ॥"

१. कहा लै, कौनो बौहोत बड़ाई ।

अति अगल, श्रुति-वर्चन अगोचर, मनसा तहाँ न जाई ॥

जाँके रूप न रस बरन बपु, संग न सखा सहाई ।

ता निरगुन सौं नेह निरतद, क्यो निबहै-रो माई ॥

जल-बिन तरंग, चित्र-बिन भीति, बिन-नेतहि बतुराई ।

अब या बज में नई रीति भै ऊचो प्राणि बलाई ॥

मन हरि लियो भाधुरी मूरति, रोंम-नोंम अस्साई ।

स्थान जुमग तन सुंदर सोचन, 'सूर' निरखि बलि जाई ॥

—सूरसागर (ना० प्र० सं०) पृ० १५०१

ने तप के अन्ते उपकरणों की प्रेमयोग में अपना लिया है, वे मन, वचन तथा कर्म से आरिक्त सबचो के साथ ही साथ उनके सुख-दुख की अनुभूति भी लुप्त भी अपने चित्त को स्थिर रख सकती है। गोपियों ने मानापमान को समान स्थिर कर ब्रह्म में कर लिया है। उनके चारो ओर लोक-और शील भग्नि की भांति तप हो रहा है। कृष्ण का अवधान पचानि तप कर रही है। अपने शरीर की सुख-दुःख गँवा कर केवल न करती है। इस क्रिया में वे निनिमेष हो गई है, इसी प्रकार वे—
रंग भू भंग तराटक, नैन नैन-जगि लागे ।

तस सुमुख कुंडल मिलि, बँव-सुर' अनुरागे ॥”

र तप का साम्य प्रदर्शित करती है। उदब को गोपियों का लौकिक तन वे कृष्ण की सर्वज्ञता और व्यापकता का बोध गोपियों को कराना अपने ब्रह्म स्वरूप से अनुमान में व्याप्त है। उनकी एक व्यक्ति विशेष न तथा सकीर्णता है। इसके विपरीत गोपियों को कृष्ण का अत्यन्त

“जौ पै हिरवे माँझ हरी ।

हि इती अवस्था उन्ह पै, कैसे सही परी ॥

❀

निकसि नंद-नंदन हम सीतल क्यों न करी ॥”

—सूरसागर (पा० प्र० स०) पृ० १५२८

... या समझें, वे अपनी निर्गुण-वर्चा से विरत नहीं होते, निरंतर अपनी ब्रह्म-वर्चा से गोपियों की प्रेम-ज्वाला को और भी तीव्रतर कर देते हैं। उदब की वह ज्ञान-वर्चा ब्रज-वासियों के लिये न तो उपयोगी ही थी और न हृदय-हारिणी। जब वे व्यग्र, लीन, झुंझलाहट आदि भानसिक्त अस्त्रों को विफण होते देखती हैं, तो बड़ी शांति-पूर्वक उन्हें समझाती हैं—

“या ब्रज समुल-दीप परगास्त्री ।

सुनि ऊचौ ! भुकुटी त्रिवेदि तर, निस-दिन प्रघट अभास्त्री ॥

सब के उर सरबनि सनेह भरि, सुमन तिली कौ बास्त्री ।

गुन अनेक ते गुन कपूर सम परमल बारह भास्त्री ॥

❀

गोकुल कछु रस-रीति न जानत, देखत नाहि तमास्त्री ।

‘सुर’ करम की खीर परोसी, फिरि-फिरि भरत जवास्त्री ॥”

नंददास जी के अमरगीत का धारम ही ज्ञानोपदेश में होता है। इनके उदब उपदेश देने में अधिक चतुर ज्ञात होते हैं। वे पहले गोपियों की प्रशंसा करते हैं, फिर क्रमशः मुख्य प्रसंग पर आते हैं। इस प्रकार वे पहले अपने को गोपियों के समुल उनका शुभचिंतक तथा विश्वासपात्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि गोपियाँ उनसे प्रभावित हो सकें। कृष्ण और बलराम की कुशलता का समाचार देते हुये उदब उनके शीघ्र जाने की समाचना बतला कर गोपियों में आशा का संचार करते हैं। गोपियों को कृष्ण का नाम सुनते ही उनका स्मरण हो आता है और वे मूर्च्छित हो जाती हैं। “नंददास” ने इस प्रसंग का समावेश बड़ी चतुराई से किया है, क्योंकि इसके पश्चात् जब वे गोपियों को प्रबोधन दिलवाते हैं तो वह भी सात्वता का ही स्वरूप ज्ञात होता है। नंददास कहते हैं कि कृष्ण सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञा है, वे गोपियों के पास हैं तथा सर्वत्र विद्यमान हैं, अतः उनके लिये

सासारिक मोह और ममता का प्रदर्शन उचित नहीं है। गोपियों को अपने कर्म चक्षुषी-द्वारा नहीं प्र-
विवेक चक्षुषी से उन्हें देखने का प्रयास करना चाहिये—

“वे तुम्हें नहीं दूर, ध्यान की आँखें देखो।”

गोपियाँ अपने प्रेम में मग्न हैं और वे ब्रह्म-ज्योति तथा ज्ञान-मार्ग से सर्वथा अपरिचित हैं।
उन्हें उसकी आवश्यकता भी नहीं ज्ञात होती, क्योंकि गोपियों का प्रेम-मार्ग अत्यन्त सरल तथा सहज है।
वे कृष्ण के सुन्दर रूप और गुणों के चिन्तन में पूर्ण आत्म-विस्मृत हैं। गोपियों के इस रूप, गुण-मान-
सुन कर उद्धव जी निष्पापिब्रह्म का ज्ञानोपदेश देते हैं, उनके इस प्रयास में शंकराचार्य के निष्पावाद-
मूलक दृष्टिगोचर होती है। उद्धव कहते हैं कि ब्रह्म का सोपाधि तथा समुपात्व होना वास्तविक न
है, वे तो—

“यै सब सगुन उपाधि, रूप निरगुन हैं उनको।

निरविकार, निरलेप, लगत नहिं तीनों गुनको॥

हाथ न पाई, न नासिका, नैन, बॅन नहिं कौन।

अभ्युत ज्योति प्रकास हौं, सकल बिम्ब के प्रति॥

—सुनो ब्रज-नागरी॥”

ब्रह्म का लीला के हेतु अवतार ग्रहण करने का सिद्धांत प्रतिपादन करते हुए उद्धव, बल्लभ-मन-
यायी ज्ञात होते हैं। वे ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बताते हुए ‘पुष्टिमार्ग’ का प्रतिपादन करते हैं। योग-
साधन के द्वारा ही ब्रह्मत्व प्राप्त हो सकता है, अतः गोपियों को प्रेमयोग त्याग कर ज्ञानयोग धारण करना
चाहिये। गोपियों को अपना प्रेमयोग तथा समुपोपासना उद्धव के सदृश हितकर और सुखकर प्रतीत होती
है, वे उद्धव के ब्रह्मज्ञान को धारण करना तथा धूरि को समेटना इन दोनों क्रियाओं को समान समझ-
देती हैं। उद्धव धूरि को भी महत्व देते हैं—

“धूर बुरी जो होइ, ईस क्यों सीस चढावै।

धूर-छेत्र में आइ, करम करि हरि-पद पावै॥

धूरहिं ते यै तन भयो, धूरहिं सो ब्रह्म॥

लोक चतुरवस धूर ते, सप्त-बीष, नव संड॥

—सुनो ब्रज-नागरी॥”

अथवा—

“पंचतत्व यै अथम सरीरा। छिति, जल, पावक, गगन, सरीरा॥”

तुलसीदास की भाँति उद्धव भी इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को पंचतत्वों-द्वारा निर्मित मानने में और पूर्ण-
का—पृथ्वी का उसमें महत्वपूर्ण स्थान है। अपने “धूरहिं ते यै तन भयो” विचार के व्यक्तित्व में उद्धव
आँग भाषा के कवि की भाँति Dust thou art to Dust returnest की समीक्षा करने हुए-मग्न हो जाते हैं।

परब्रह्म प्राप्ति या ईश्वर प्राप्ति के तीन साधन कर्म, ज्ञान और भक्ति में उद्धव कर्म-
ज्ञानमार्ग के अनुयायी हैं तथा गोपियाँ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करती हैं। दृढ़ आशय से वे
पश्चात् उद्धव गोपियों को नियत कर्म करने का आदेश देते हैं, इस स्थल पर उल्लास मन मीठा है कर्म से
के सिद्धांत से साम्य रखता है—

“नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

अरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेवकर्मणः॥”

—सुनो ब्रज-नागरी॥”

उद्धव भी “कर्म करि हरि पद पावै” ही कहते हैं। साम्प्रत में पूर्ण योगी को कर्म से दूर रखना है।
वे कर्म, धर्म सब कुछ त्याग कर केवल एक कृष्ण के ध्यान में मग्न हैं, उनकी निताम्यिनी का
उद्धव की अपेक्षा अधिक दृढ़ है। उनका कर्म के गवय में भी एक ही पिया है—

“तब ही तो सब करम हैं, जब सगि हरि उर नाहिं ।”

श्याम-दर्शन के पश्चात् तो सभी कुछ व्याममय हो जाता है, किसी भी वस्तु का कोई भ्रमल अस्तित्व नहीं रह सकता। गोपियाँ कर्म को बधन मानती हैं, एक कर्म दूसरे कर्म को जन्म देता है। इस प्रकार कार्य-कारण की शृंखला सदैव चला करती है और जीव उससे मुक्त नहीं हो पाता। “प्रसाद जी” ने भी एक स्थल पर ऐसा विचार व्यक्त किया है—

“कर्म का भोग, भोग का कर्म—

यही जड़ चेतन का भ्रान्त है ।”

—कामायनी

उदब अपने योगासन-आदि की महिमा का वर्णन करते नहीं थकते तथा ब्रह्म को निर्गुण बताते हैं, किंतु गोपियाँ इस सगुण-सृष्टि के कारण ब्रह्म को निर्गुण मानने के लिये तैयार नहीं हैं। यदि कर्ता गुणवान नहीं है तो उसकी कृति में गुण कहाँ से आ सकते हैं? अपने इस तर्क की पुष्टि के हेतु वे कहती हैं कि जो बीज बोया जायगा उसीके अनुरूप वृक्ष लगेगा और यही पर वे “बल्लभ-मतानुसार” विद्या और भविद्या (माया) का भी परिचय देती हैं। यह जगत सत्य है, किंतु भविद्या (माया) के ससर्ग के कारण ही असत्य भापित होता है—

“जो उनके गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ ते ।

बीज-बिना तर जमें मोहि तुम कहाँ कहाँ ते ॥

वा गुन की परछाँह री, माया-हरपन-बीच ।

गुन ते गुन न्यारे भए, भ्रमल-बारि मिलि कीच ॥”

—सखा सुन स्याम के ॥”

—भ्रमरगीत नददास

उदब उन्हें निष्काम कर्म करने को कहते हैं, वे कहते हैं कर्म करना श्रेय है, किंतु उसके फल की इच्छा त्यागकर तथा सब कुछ ब्रह्मार्पण या कृष्णार्पण करके ही करना चाहिये। ऐसा करने से कर्म का कारण होना नष्ट हो जाता है और फिर वह नये कार्यों को जन्म नहीं दे पाता। प्रत्यक्ष कृष्ण-दृष्टा गोपियाँ सत्य ही—“निरगुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिं” के सिद्धांत को मानती हैं। उदब की बेसिर-पैर की बातें सुनकर गोपियाँ उन्हें नास्तिक मानती हैं तथा उन्हें उदब का ज्ञान थोथा प्रतीत होता है। तत्त्व-ग्रहण करने में असमर्थ “प्रघट भानु को छाँहि गहै परछाँही घूँ” कहती हैं। “सूरदास” और “नददास” दोनों ही अपनी गोपियों-द्वारा निर्गुण ब्रह्म की डुक्कहा तथा गहनता का प्रति-पादन करते हैं। सूरदास ने तो सगुण लीला-गायन के कारण को पहले ही प्रकट कर दिया है—

“अविगत गति कछु कहत न आवै ।

ॐ

रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति-बिन निरालंब भन चकृत आवै ।

सब बिधि भ्रम बिचारै तातैं ‘सूर’ सगुन लीला पद गावै ॥”

इसी प्रकार नददास की गोपियाँ भी ब्रह्म को केवल दिव्य-दृष्टि के द्वारा दर्शनीय मानती हैं और सभी प्राणियों को विवेक-वश उपलब्ध नहीं हैं। वे व्यक्ति कर्म के रूप में टक्करे मारते हुये सत्य से कोमो दूर हैं, ऐसे व्यक्तियों की अपेक्षा तो सगुणोपासक व्यक्ति ही भले हैं—

“जिनकों वे भालैं नहीं, देखैं कब वे रूप ।

तिन्हें सौं बयों उपजैं, जे धरे करम के रूप ॥”

जैसा कि हम ने पीछे कहा है, प्राचिनिक युग के भ्रमरगीतकारों में “रत्नाकर” के भ्रमरगीत में ही दार्शनिक तत्व प्राप्त होता है। यद्यपि विचार सभी प्राचीन और चिर प्रसिद्ध हैं, किंतु उनके सगुण का उग संबंधा भौतिक और स्तुत्य है। ‘उदबगतक’ के उदब तो पहले कृष्ण को ही जानोपदेश

देते हैं। वे “सर्वं खल्विदं ब्रह्म”, “एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति” तथा “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या” का सिद्धांत कृष्ण को बताते हैं और तत्त्वज्ञान के साथ ब्रह्मज्ञान की भी महत्ता मानते हैं। वे कहते हैं—

“प्राचीं तत्त्व माहिं एक सत्त्व की ही सत्ता सत्य, पाही तत्त्व-म्यानि को महव क्षुति गायौ है।”

तथा वे इस ससार को स्वप्नवत् ही मिथ्या मानते हैं। इस प्रकार कृष्ण को अपने विचारों से अवगत कराकर उद्धव कृष्ण के आग्रहानुसार गोकुल जाते हैं, किन्तु मार्गमें ही उनका नीरस, शुष्क, शारी दृश्य सरस हो चलता है। गोपियों के समक्ष पहुँचते ही उनका समस्त ज्ञान-गर्व विगलित हो जाता है, उनके इस दशा का बड़ा सुंदर वर्णन इस कवित्त में है—

“दीन-वसा देखि ब्रज-वात्सल्य की ऊषध की, गरि गौ गुमान-म्यानि-गौरव गुंजने से।”

किन्तु फिर भी उद्धव अपने ज्ञानार्क का दिव्यालोक प्रसारित करना चाहते हैं, वे गोपियों को कृष्ण सयोग प्राप्त करने का साधन बताते हैं, योग की महत्ता उनका प्रिय विषय है। योग के द्वारा भ्रतदृष्टिकरने और हृत्कमल पर जगने वाली ब्रह्म-ज्योति में ध्यान लगाने से भगवान् कृष्ण का सयोग प्राप्त होता है। जब और चेतन के विलास का विकास होकर अपूर्व आनंद प्राप्त होता है। गोपियाँ कृष्ण को ‘मोहाभिरत’ होने के कारण ही अपने से विलग मान रही हैं, अन्यथा कृष्ण तो सर्वत्र, सब में निरंतर ही निवास करते हैं—

“मोह-बस जोहुत बिछोह जिय जाकी छोह, सो ती सब अंतर निरंतर बस्यौ रहै।”

वे ब्रह्म की व्यापकता—“कान्हू सब ही में, कान्हू ही मैं सब कोई है” के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए काँच के टुकड़े में पड़े प्रतिबिम्ब का उदाहरण देते हैं। यह सब माया का ही प्रपञ्च है जिसके कारण सच्चिदानन्द का वह सत्य तत्व (जो पंचतत्त्व-निमित्त इस ससार में एक सा है) अपने सत्य रूप में नहीं प्रकट होता। ससार की सभी वस्तुओं में उसी एक ब्रह्म का रूप है, किन्तु उस रूप का दर्शन विवेक चक्षुषों से होता है इसी लिये भ्रम का निवारण अत्यंत आवश्यक है। इस सारे ससार के अनेकत्व में उसी ब्रह्म के एकत्व का दर्शन होता है तथा उस एक ब्रह्म में यह सारा नामरूपात्मक विस्व समा निष्ट है, *Unity in diversity and diversity in Unity* का सिद्धांत उद्धव जी गोपियों के समक्ष रखते हैं—

“माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रमेद सब, काँच-फलकनि ज्यो अनेक एक सोई है।”

उद्धव उन्हें योग की कष्ट-साध्य-साधना का उपदेश देते हैं। कृष्ण में भी वही ब्रह्म है, गोपियों में भी वही, सर्वत्र अत्येक अणु में वही ब्रह्म व्याप्त है। यदि गोपियाँ उसी सर्वात्मा से ध्वनिन मिलाप चाहती हैं तो उन्हें योगाभ्यास के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर देना चाहिये तथा मन को दीन न करके शरीर को योग की कष्ट-साधना के द्वारा क्षीण कर देना चाहिये। गोपियाँ जो निरंतर कृष्ण का ही ध्यान करती हैं तथा उद्धव के मुँह से भी कृष्ण का प्रिय संदेश ही सुनना चाहती हैं, यह सब सुनकर मूर्च्छित हो जाती हैं। उनकी उस व्यथित दशा का मार्मिक और भावपूर्ण चित्रण ‘रत्नाकर जी’ ने किया है। गोपियों का जीवन रसमय तथा प्रेममय था, वे उद्धव की बात नहीं समझ पाती हैं—

“हूँ तो बिषम-ज्वर-बियोग को चढाई, यह पाती कोन रोग की पठावत दवाई है।”

यदि कृष्ण अपने पूर्व उपकरणों की,—स्थानों की याद करते हैं तो अवश्य गोपियों को भी याद नग्ने होंगे, इसी भाषा पर वे उद्धव से पूछती हैं—

“जाइ जमुना तट पे काहू बट-छाँह माँहि, पाँखुरी उँसाहि कबौ बाँखुरी बनावै है।”

उद्धव बार-बार ब्रह्म ही का गुणगान करते हैं, उनकी इस वृत्ति का उपह्म गोपिजनों प्रकार करती हैं—

“कान्हू-भूत केषों ब्रह्म-भूत छैं वधारे आप।”

गोपियाँ न तो एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व के सिद्धांत को समझ ही पाती हैं और न उन्हें यह प्रिय ही है। वे तो कृष्ण को अपने से पृथक् सौंदर्य, शील के आगार के रूप में देखना चाहती हैं। गोपियाँ प्रत्यक्ष के हेतु प्रमाण, अनुमान की आवश्यकता नहीं समझती, वे तो—

“देखति तो भानति है सुखी न्याय जानति है,....।”

इसी कारण—

“लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म, हम न कहेंगीं तुम लाख कहियौ करी ।”

अनग के ही कारण गोपियाँ विकल भी और ब्रह्म भी अनग है, अतः वे उसकी आराधना नहीं करना चाहती—

“एक ही अर्नग साधि, साध सब पुरीं अब और अग-रहित अराधि करिहै कहा ।।”

गोपियों को अपना सहायक, रक्षक तथा सहयोगी ब्रह्म चाहिये। वे निराकार ब्रह्म को अपने लिये निरर्थक बताती हैं—

“रावरो अनुप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म, ऊँची कही कोन बाँ हमारै काँम भाइ है ।”

ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक मानते हुए भी जगत् को स्वप्नवत् असत्य मानना उपहासास्पद है। चेतन जगत् को स्वप्न तथा मिथ्या मानना ही अपनी निद्रावस्था प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है, अतः गोपियाँ सज्जानी उद्धव को निद्रित तथा विवेकहीन मानती हैं—

“जग सपनो-सो सब परत बिलाई तुम्हें, तातें तूम ऊँची, हमें सोबत लखात हो ।”

ॐ

जग सपनो-सो सब परत बिलाई तुम्हें, तातें तूम ऊँची हमें सोबत लखात हो ।

फहँ ‘रतनाकर’ सुनो को बात सोबत की, जोई सुँह आवत सो बिबस ब्यात हो ।।

सोबत में जागत लखत अपने को जिमि, त्यो हीं तुम आप हीं सुग्यानी समझात हो ।

जोग-जोग कबहुँ न जानै कहा जोहि जाकौ, ब्रह्म-ब्रह्म कबहुँ बहकि बररात हो ।।

वे इसी जन्म में नहीं अपने अन्य जन्मों में भी कृष्ण-मिलन की आशा रखती हैं। वे अपना अह, अद्धा, स्नेह तथा भक्ति सब कुछ कृष्ण को अर्पित कर चुकी हैं। अतः किसी योगी से उनकी समानता हो सकती है। उद्धव ब्रज के प्राकृतिक सौंदर्य तथा गोपियों की भावमयी स्थिति को देख कर अपना ज्ञान-गर्व भूल गये और अपने सिद्धांतों का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सके। उनका ज्ञान गोपियों की अपाह मुक्ति में लुप्त हो गया। ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय हुई। भक्तों ने भक्ति को सदैव श्रेष्ठ माना है। तात्त्विक दृष्टि से ज्ञानी और भक्त में विशेष अंतर भी नहीं—

“भ्यानिहि भगतिहि नहि कछु भेदा। उभय हरहि भव संभव छेदा ।।”

योग और ज्ञान की अपेक्षा गोपियों के प्रेम को महत्ता प्रदान करना मनोवैज्ञानिक सत्य है। मानसिक भावनाओं की अनुभूति में मनोवृत्तियों और बोध-वृत्तियों दोनों का सामंजस्य रहता है। बोध-वृत्तियों में मानसिक भावनाओं की अनुभूति परक व्यंजना आवश्यक नहीं हैं, इसी लिये वह एक देशीय कही हैं। योग ऐसे शुष्क साधन में सभी चित्त-वृत्तियों का नितात निरोध हो जाता है। यही कारण है कि मानसिक भावनाओं की अनुभूति से समाहित मनोवृत्तियाँ बोध-वृत्तियों की अपेक्षा अधिक गूँथर और गंभीर होती हैं। इसी सिद्धांत के आधार पर प्रेम और भक्ति की विजय ज्ञान और योग पर बताई गई।

भक्तियोग और ज्ञानयोग

निष्कण्ठ रूप से ईश्वरानुसंधान ही भक्ति योग है, प्रेम ही इसका आधि, अर्थात् और अवसान है। ‘नारद सूत्र’, ‘शारङ्ग सूत्र’ और ‘नारद पांचरात्र’ प्रभृति शास्त्रों ने स्नेह को ही भक्ति-शब्दार्थ माना है। ‘अगवान् का परम प्रेम ही भक्ति है, जीव इसे प्राप्त करके प्राणिमात्र के प्रति घृणा-शून्य हो जाता है। उसके सारे कर्म प्रेमोन्मत्त होते हैं। इस प्रेम के द्वारा काम्य सात्त्विक वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह

कर्म ज्ञान और योग से भी ओष्ठ है, क्योंकि साध्य विशेष ही उनका लक्ष्य है और भक्ति स्वयं साध्य एवं साधन रूप है^१।

साहित्य भक्ति-सूत्र में भी भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही बताया गया है। पाचरात्र में इसका कुछ अधिक विवेचन है। भक्ति के पूर्व ईश्वर के साहाय्य-ज्ञान की आवश्यकता है। उसकी सहृदयता जान लेने के पश्चात् जो दृढ़ और सर्वाधिक स्नेह उनके चरणों में हो जाता है, वही भक्ति है।

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दें तो भी यही बात सिद्ध होती है। भज—ति=भज प्रकृति और ति=प्रत्यय अर्थात् भज्=सेवा, ति=भाव—भाव-सहित सेवा को ही भक्ति कहते हैं। इसी प्रेम और परानुरक्ति के भाव को गोपियों ने अपना आश्रय चुन लिया। गोपियाँ साध्य या पराभक्ति की अनुयायिनी हैं। प्रेम-लक्षणा भक्ति की अधिकारिणी के केवल कृष्ण-प्रेम में मान है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि मेरा भक्त केवल मेरी कामना करता है—

“न पारमेष्ठ्यं न महर्द्धिष्ठ्यं न सर्वसौम न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्मयं वा भव्यापितात्मेच्छति सहितान्यत् ॥”

—भाववत् ११।१४।१४

भक्ति रस पाँच प्रकार का है और इन्हीं के आधार पर भक्ति भी पाँच प्रकार की है। लब्ध, भाव, दारय, सेव्य और माधुर्य। स्नेह का उद्देश्य प्रत्येक रस तथा भक्ति में होता है, किंतु रस की सर्वोच्च परिणति मधुर रस में होती है। आधुनिक भक्ति इसके विकास की चरमावस्था है। इसमें सब मर्यादा और सकोच दूर हो जाते हैं। श्रृंगार रस की इस सर्वोच्च स्थिति का एक बौद्धिक और तात्त्विक आधार भी है। “सैटो” ने अपने सिमोजियम (Symposium) में काम को मानव आदर्श के प्रति मनुष्य की वह सहज प्रवृत्ति बताया है जिसकी चरितार्थता प्रेम से अथवा मान, ज्ञान या अधिकार प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयत्न से होती है। इसी बात को वैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि श्रृंगार चाहे वह इन्द्रियजन्य हो चाहे अतीन्द्रिय उसका आधार काम ही होता है। वैष्णव भक्तों ने भक्ति-भाव का ऐसा क्रम बताया है जिससे यह भाव अधिकारिक प्रगाढ़ होकर उच्च से उच्चतर स्तर को प्राप्त कर अंत में उस उच्चतम भाव को प्राप्त होता है जिसे ‘महाभाव’ कहते हैं। गोपियाँ इस महाभाव की अवस्था में सदा रहती हैं। तुलसीदास की भाँति वातक के प्रेम को वे भी ओष्ठ मानती हैं और उदब के उपदेश से उसे त्यागने से इकार करती हैं। वे विवश हैं, कृष्ण से प्रेम करना ही उनका धर्म हो गया है। “जिस प्रकार नर्तकी सिर पर जड़ा रख कर नाना प्रकार के तालों से अंग लचकाती हुई नृत्य करती हैं, किंतु ध्यान सिर पर रखे घड़े की ओर ही रहता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त कर्णों में उलझा रहने पर भी ध्यान सिर पर रखे घड़े की ओर ही रहता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त कर्णों में उलझा रहने पर भी हमेशा प्रभु-चरणों में निमग्न रहता है।” भक्ति-रस की अनुभूति भी अपूर्व है, वह भक्तों के हृदय में कृष्ण के रूप तथा लीला-गुण से समृद्ध रागानुगामभक्ति के उद्रेक से उत्पन्न होती है। भक्ति रस के विभाव, अनुभाव भी भिन्न होते हैं। रस-रूप-ब्रह्म के विविध सवधो-द्वारा अनुभूत भक्ति रस भक्तों के हृदय का अपूर्व रस है, मम्मटादि अवलोकिक भक्ति रस को केवल भाव की सीमा तक ही रखते हैं और वैष्णव भक्त उसे पूर्ण रस मानते हैं, भक्ति-काव्य तो रस से अतिप्रति है।

१. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। ॐ सा कर्म परमप्रेमरूपा।

—अनुवाक १, सूत्र २

ॐ सा कामयमाना निरीय रूपत्वात्।

ॐ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽधिकतरा।

ॐ स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमारः।

—नारद भक्ति-नूत

वल्लभाचार्य जी ने तथा अन्य कृष्ण-भक्तों ने नवधा भक्ति^१ को प्रेम-भक्ति का साधन कहा है। वल्लभाचार्य जी ने नवधा भक्ति के अतिरिक्त उसी "प्रेम-लक्षणा-भक्ति" भी मानी है तथा वे इसे सर्वप्रधान मानते हैं, क्योंकि इसके द्वारा भगवान् के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है तथा नवधा भक्ति का साधन वैकल्पिक नहीं अनिवार्य है। अष्टछाप के भक्तों ने भी इन नौ साधनों में वात्सल्य तथा मधुर भावों को और जोड़ दिया है। इन्हीं साधनों के आश्रय से अनन्य भक्ति सुमल बताई है।

'अमर-गीतों' के अतर्गत आनेवाली भक्ति में "श्रवण, कीर्तन, स्मरण, आत्मनिवेदन"—आदि भावों का पूर्ण परिचय है, अन्य भावों के उदाहरण भी गोपी-प्रेम में सुलभ है। गोपियाँ निरंतर कृष्ण-ध्यान में लीन रहती हैं, कृष्ण के रूप-गुण का ध्यान ही उनका आधार है। आपस में कृष्ण-चर्चा का कीर्तन तथा श्रवण ही उन्हें सात्वता प्रदान करता है। अपनी प्रीति तथा विरह-दुःख का निवेदन ही उनका जीवन है।

पंचधा-भक्तियों में से गोपी-प्रेम माधुर्य भक्ति के अतर्गत आता है। शृंगार-भाव की भाँति मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—सयोगात्मक और वियोगात्मक। अमरगीतों के अतर्गत वियोगात्मक मधुर भाव है। नवधा भक्ति के अतर्गत जो अंतिम "आत्म-निवेदन" का भाव है वह काता या माधुर्य-भक्ति में ही पूर्णता प्राप्त करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सर्वाधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। इसके अतर्गत भी परकीय प्रेम में अधिक तीव्रता और गहनता होती है। चैतन्य महाप्रभु भी परकीय प्रेम को ही अधिक महत्त्व देते हैं^२।

लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-संवाद की व्यापकता को देखकर ज्ञानी साधकों ने आध्यात्मिक-प्रेमानुभूतियों को भी लौकिक अन्योक्तियों-द्वारा प्रकट किया है।

गोपियाँ श्रीकृष्ण से,—अपने प्रियतम से विछूँड गई थीं। भक्तों ने कृष्ण-प्रेम की विरह अवस्था की अनुभूति को बहुत महत्त्वशाली माना है। प्रिय-मिलन, कृष्ण-मिलन या ईश्वर-मिलन की व्याकुलता का भक्ति क्षेत्र में अधिक महत्त्व है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन-सालसा की पुष्टि इस विरह-भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से ही होती है। लौकिक प्रेम से कहीं अधिक बढ़ी-बढ़ी व्याकुलता की मधुर-भावना पतित पावनी गंगा की भाँति भक्त की हृदय-भूमि में उसके भावों को और कर्मों को पवित्र करती हुई विराट् प्रेम-समुद्र की ओर बहा करती है। विरह-व्याकुलता की महत्ता के विषय में भी यथेष्ट उक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

“जहुपति, जानि उद्धव-रीति ।

ॐ

विरह-दुःख जहाँ नाहि जायत, नहीं उपजै प्रेम ।”

तथा—

“ऊषी, विरही प्रेम करे ।

ऊषीं बिन पुट पट गहत न रंग को, रगन रस परे ॥

‘सूर’ गुपाल प्रेम-मथ चलि करि, कयो दुख-सुखन डरे ॥”

विरह-तन्मयता में गोपियाँ ने अपनी सब भावनाओं को कृष्ण में ही लगा दिया है। श्री वल्लभाचार्य भी इसी मत को पुष्टि करते हैं—“सर्वथा सर्व भावेन भजनीयो ब्रजाधिपः”। श्रीकृष्ण भी अर्जुन से

^१ श्रवण कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं बंदनं दास्यं सख्यभात्मनिवेदनम् ॥

—भागवत ७।५।२३

^२ परकीया भावे अस्ति रसेर उत्तास ।

अज बिना इहार, अन्यत्र नाहि बास ॥

—श्री चैतन्य-चरितामृत

शरणागत भाव की महत्ता का वर्णन करते हैं, गोपियों अपने शरीरों की चिंता भी केवल कृष्ण को प्रसन्न करने के हेतु करती हैं—

“निजाममपि या गोप्यो भवेति समुपासते ।

ताम्यः परं न मे पाथे निगूढं प्रेमभाजनम् ॥”

गोपी-भाव में पाँच प्रधान बातें हैं—(१) श्री भगवान् के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान, (२) श्री भगवान् में प्रियतम भाव, (३) श्री भगवान् में सर्वस्व अर्पण, (४) निज सुख की इच्छा का पूर्ण त्याग, (५) भगवत्प्रीत्यर्थ जीवन धारण ।

श्री भगवान् की तीन स्वरूपा शक्तियाँ हैं—“सर्वज्ञ, सविनी और ज्ञादिनी । भगवान् का मधुर भवतार ज्ञादिनी नामक आनन्दमयी प्रेम-शक्ति के ही निमित्त हुआ करता है । ज्ञादिनी शक्ति तब “श्री राधिका जी” है । समस्त गोपीजन उन ज्ञादिनी शक्ति की ही अनंत विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं । उनका जीवन स्वाभाविक ही अगदमित है, उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है । “उनके चित्त भगवान् के चित्त हो गये थे, वे उन्हीं की चर्चा करती थी, उन्हीं के लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती थी । इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गई थी और भगवान् का गुणगान करते हुए उन्हें अपने घरों की भी सुधि नहीं रही थी ।”

“तन्मनस्कास्तदात्मास्तद्विषेष्टास्तदस्मिकाः ।

तद्गुणानेव गार्थस्यो नात्मागाराणि सस्मरः ॥”

—भागवत १०।३०।४४

धृष्टा, शका, मय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और मान इन आठों पाशों से वे मुक्त थीं । उनका एक-एक नियम कृष्णार्पण था । मधुर भाव की सर्व व्यापकता मधुर भावापन्न पत्नी को मयी, दासी, माता, दम्पती तथा सखी इन सभी का रूप मानने से ही सिद्ध होती है । इस भाव में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य सभी आनो का समावेश है । हनुमानप्रसाद जी पोद्दार संपादक—कल्याण ने अपनी पुस्तक “गोपी-प्रेम” में लिखा है कि परकीया प्रेम तीन कारणों से अधिक उच्च है—(१) प्रिय का निरंतर ध्यान, (२) प्रिय-मिलन की तीव्र और अनूद्य होने वाली आकांक्षा, (३) प्रिय के अवगुणों का पूर्ण विस्मरण । ये तीनों ही अवस्थाएँ विरहिणी गोपियों के कृष्ण-प्रेम में सुलभ हैं । गोपियों का प्रेम काम-कालिमा से शुद्ध है । काम और प्रेम में बड़ा अंतर है—काम धिक् मिला हुआ मधु और प्रेम स्वर्गीय सुधा है । काम में इन्द्रिय-तृप्ति सुख रूप दीखने पर भी परिणाम में दुःख रूप है, प्रेम सदा अनुत्पन्न होने पर भी नित्य परम सुख रूप है । प्रेम में तन्मयता, प्रियतम-सुख की नित्य प्रबल आकांक्षा है । काम खड और प्रेम मल्ल है । काम का लक्ष्य आत्म-तृप्ति है और प्रेम परम आत्मविस्मृति है । गौतमीय तन्त्र में भी गोपी-प्रेम की महत्ता प्रवर्णित है । गोपियों के प्रेम का नाम काम होने पर भी वास्तव में काम नहीं, किंतु शुद्ध प्रेम है । महान् भगवद्भक्त चन्द्रव भी इसी “काम” नामक प्रेम की अभिलाषा करते हैं । श्री चैतन्य चारितामृत में इन विषयाशक्ति शून्य कृष्ण-मत्त-प्राणा गोपियों के सबंध में कहा है—“अने सन, मन, धन, रूप, जीवन, लोक-परलोक सब को कृष्ण की सुख-सामग्री समझ कर कृष्ण-युक्त के निवे शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपी-भाव है ।

निर्लेख्य-सुख हेतु कामेर तात्पर्य,

कृष्ण-सुख तात्पर्य गोपी-भाव वर्ण ।

❀

कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग,

कृष्ण-सुख हेतु करि शुद्ध अनुराग ॥

गोपी प्रेम में काम-वासना की तृप्ति या रमणानिलापा का तनिक भी आनन्द नहीं गोपी-कृष्ण-लीला का उद्देश्य ही काम विनश्य है । वास्तव में वर्ण में अपने प्रतिविम्ब में स्वरूप

करता है उसी प्रकार कृष्ण ने योगमाया के द्वारा अपनी छाया स्वरूप गोपियों के साथ श्रीढा की। गोपी-प्रेम मे भक्ति का प्रत्येक रूप उपलब्ध है। "मारद-भक्ति-सूत्र" मे प्रेम-भक्ति के ग्यारह प्रकार दिये हैं, इनमे प्रत्येक गोपी-विरह या भ्रमरगीत में उपलब्ध है। भयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने तो भक्ति के इन प्रकारों में भी नवीनता का समावेश कर दिया है। "उपाध्याय" जी की राधा के लिये आतों का कष्टन कदन सुनना ही श्रवण-भक्ति है, विद्वानो और लोकोपकारको के प्रति विनय ही बदन भक्ति है आदि। उनकी राधा ने ससार की सेवा करना ही प्रभु की भक्ति समझ लिया है। गुणमाहात्म्यासक्ति के उदाहरण भ्रमरगीत में प्रचुर तथा सर्वत्र है। गोपियों के बल्लभ श्रीकृष्ण अनुपम रूप तथा गुणों के आगार हैं। गोपियाँ उनके रूप तथा गुण पर मोहित हैं। अतः गुणमाहात्म्यासक्ति और रूपासक्ति तो उनके प्रेम की प्रथम सीढी ही है। पूजासक्ति, दास्यासक्ति और सख्यासक्ति का रूप भ्रमरगीत में गीण है। रमरणासक्ति तो उनका अवलंब ही था, वे स्मृति का सबल लिए हुए अपने विरह-दिवस व्यतीत करती रहीं। घरमेढा विरह तथा मातृ-हृदया गोपियों का कृष्ण विरह बात्सल्यासक्ति के अतर्गत आता है। विरह की अस्वस्था मे जब गोपियाँ कृष्ण बन कर उन्ही के से आपार करने लगती है तथा राधा का कृष्ण रटते-रटते कृष्णमय ही हो जाना तत्त्वयतासक्तिके अतर्गत है। सपूर्ण भ्रमरगीत तो परमविरहासक्ति से ओतप्रोत है।

"इहि बिधि बॅन-बॅन बृक्षि, डूढि उनमत की नाई।
करॅन लगीं मन-हरॅन-लाल-लीला मन-भाई॥"
मोहन लाल रसाल की सीला, प्रन्हूँ सीहै।
केवल तन-मह भई कछु न जानत हम को है॥
भूंगी-भै ते भूंग होत ज्यो कीट महर जड॥
कृष्ण-भगति ते कृष्ण भई, नहि कछु अन्नरज बड॥"

अथवा—

आपनी ओर की चाहँ लिख्यो, लिखि जाति कथा उत मोहन ओर की।
प्यारी, दया करि बेगि मिलौ, सहि जाति बिधा नहिँ मन सरीर की॥
आपु हीं बाँचि लगावति अंग, अहो किन्हु आनी चिठी चित-ओर की।
राबिका, राखे रही जकि ओर लो, हूँ गई मूरति नंदकिशोर की॥

गोपी-प्रेम की महानता उद्धव ऐसे जानी भी मानते हैं। सूरदास ऐसे विरक्त भक्त ने भी गोपी-भाव की महिमा गायी है। चतुर्भुजदास जी ने सूरदास के महाप्रयाण के समय उनसे पूछा था कि "सो कोन प्रकार सो पुष्टिमारण के रस की अनुभव करिऐ।" तब सूर ने एक पद गाकर बताया कि गोपी-जनो के भाव से भावक भगवान् कृष्ण को भजने से "पुष्टि-मारण" के रस का अनुभव होता है। इस 'मार्ग' में वेद-विधि (मर्यादा) का नियम नहीं है। केवल एक प्रेम की ही पहिचान है—

"भजि सखि, भाव भावक देव।

कोटि साधन करौ कोऊ, तऊ न भाने सेव।

ॐ

बेद बिधि की नैम नाहीं न प्रीति की पैहचान।

अज-वधू बस किए मोहन, 'सूर' चतुर सुजान॥

ॐ

"भजि, सखि-भाव-भाविक देव।

कोटि साधन करौ कोऊ, तौऊ न माने सेव॥

धूमकेतु ऊँमार माँगी, कौन मारग प्रीति।

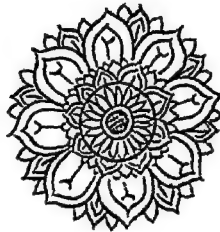
पुरुष ते लिय-भाव उपज्यौ, सब उलटी रीति॥

खसैन, भयैन पलटि पँहरे, भाव सो संजोह ।
 उलटि मुद्रा बई अगन, बरेत सुषे होह ॥
 वेद-विधि कौ नैन माहि, जहँ प्रेम की पहँचान ।
 जज-वधू वस किए मोहन, 'सूर' चतुर सुजान ॥

गोपी-प्रेम की सर्वश्रेष्ठता सर्वमान्य है^१ ।

१. अमरगोत-संबंधी काव्य निम्न-लिखित कवियों का मिलता है—“अक्षर अनन्य (प्रेम-दीपिका), अग्रदास, (फुटकल छंद), आनवधन (फुटकल काव्य), कालिदास (अमरगोत), केशव—‘ये आचार्य केशवदास नहीं, राजपूताने के दूसरे केशव हैं—(अमरगोत), गौरीशंकर (उद्धवसीता), गवाल—जजवासी—(गोपी पंचवीसी तथा फुटकल छंद), घनश्याम कवि (प्रेमरस-सागर), दाम—मिलसारीदास—(फुटकल छंद), देव कवि (फुटकल छंद), नंददास—अष्टछाप—(अंबरगोत), नव-नील—भयुरा—(गोपी-प्रेम-सीमूव प्रवाह, गोपी पंचवीसी), नारायणदास (उद्धव द्रज-गमन तीना), पद्माकर (फुटकल छंद), परमानंददास—अष्टछाप—(अमरगोत), प्रापन—(अमरगोत), प्रेमपन (फुटकल काव्य), विदु (फुटकल काव्य), भारतेंदु भाव हरिविबद (फुटकल छंद), अतिराम (फुटकल छंद), भयूरानाथ (बिरह वत्तीसी), महाराज रघुराज सिंह रीवा (अमरगोत—भागवत-अनुवाद), मैथिलीशरण (सहोबोली फुटकल), रत्नाकर (उद्धव शतक), रसनायक—(अमरगोत), रत्तरप (वियोगबल्ली, उपालंभ-सतक), रसाल (फुटकल छंद), रसिकराय (रसिक पंचवीसी), रहीम (फुटकल छंद), लक्ष्मीनारायण (प्रेम-तरंगिणी), बचनेश (फुटकल छंद), वृंदावनदास—प्राचीन—(अमरगोत), वृंदावनदास—दूसरे रीवा वाले—(गोपी-पंचवीसी), शिवराम (प्रेम-पंचवीसी), लज्जा-नारायण कविरत्न (अमरगोत), सूरदास—अष्टछाप—(अमरगोत), सेन कवि (एक छंद, पर अति सुंदर), सेवाराम (फुटकल छंद), हरिऔध (प्रियप्रवास), हरिराम गोस्वामी—उपनाम ‘हमिराम’—(सनहो लीला) आदि” और भी अनेक कवियों ने इस विषय को छपनाया है। जहाँ-जहाँ उनके सुंदर छंद यदा-कदा मिल जाते हैं ।

—जवाहरलाल नेहरू



ब्रजविलास

श्री संकटाप्रसाद सिंह

प्रबंध के क्षेत्र में कृष्ण-चरित्र की प्रतिष्ठा का श्रेय एकमात्र 'ब्रजवासी' दास को है। पूर्वपर प्रसंगों के अनुवचन में ब्रजविलास की कथा द्रुत-विलंबित गति से प्रवाहित होती है। कही उसका आयास विस्तृत है, कही संकुचित, परंतु अंतरंग तथा बहिरंग में प्रबंधत्व का अभाव दो-बार स्थलों में ही दृष्टि-गोचर होता है। ब्रजविलास के प्रति "प० रामचंद्र शुक्ल" की निष्ठुरता तथा आलोचकों की उबासीनता, आवश्यकता से अधिक गंभीर है।

ब्रजविलास, अपने ढंग का अनूठा काव्य-ग्रंथ है। इसका सृजन समन्वय की उत्कट प्रेरणा का परिणाम है। ग्रंथ-रचना सन् १८०६ वि० में प्रारम्भ हुई^१। इस समय तक काव्य के क्षेत्र में रीति और भक्ति-काव्यों का समन्वय पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। प्रबंध के अंतर्गत कवि ने कथा-प्रसंग को लीलाओं में विभक्त किया है, कांडों और सर्गों में नहीं। अस्तु, फारसी की 'भसनवी-खौली' का प्रभाव नहीं है। भगवान् श्री कृष्ण की लगभग अस्सी, 'लीलाओं'^२ को कवि ने भागवत की भाँति पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में सकलित किया है। अतः कवि कहता है—

“ब्रजविलास ब्रजराज कौ, कौ कहि पावै पार।

भगत-भाष गावत भगत, भजन-प्रभाव बिचार॥”

अस्तु, इन लीलाओं में ब्रज की लीलाएँ ही हैं। मथुरा-गमन लीला के साथ-साथ कसाविक असुर-संहार का कार्य पूर्ण होने पर जब उद्धव गोपियों को कृष्ण का सदेश देकर और उससे भी अधिक स्वयं भक्ति का मार्ग लेकर ब्रज से कृष्ण के पास मथुरा लौट आते हैं और उन्हें ब्रज की दशा का पस्चिच्य करा देते हैं, तभी 'ब्रजविलास' समाप्त हो जाता है।

^१. संवत् सुभ पुरातन सत जानौं, ता पै और नखत्रहि आनौ।

माघ सुमास पच्छ उजियारा, तिथि पंचमी सुभग ससि वारा।

^२ वे लीलाएँ प्रायः ये हैं—बंजना, कथा-प्रसंग, पूतना वध, कागासुर वध, लृणावर्त वध, अल-प्रासन, नामकरण, वर्षगाँठ, ब्राह्मणलीला, चंद्रप्रस्ताव, पुरातन कथा, कर्णछेदन, माँटी भक्षण, शालिग्रामलीला, ज्ञानवान लीला, माखन चोरी, दौबरी बंधन, वृंदावन गमन, बत्सासुर वध, धेनु दुहन, मोतीबोवन लीला, बकासुर वध, बकई-भीरा खेलन, राधा प्रथम मिलन, अधासुर वध, बह्मा मोह, गोबोहन, धेनुक वध, कालीय-वधन, बाबानल पान, प्रलंबासुर वध, पतघट लीला, खीर-हरण, वृंदावन वर्णन, द्विजपति याचन, गोबर्धन-लीला, नव वरुण-द्वारा हरण, वैकुण्ठ वर्णन, दानलीला, गोपी-श्रेय, स्नानलीला, वाट में मिलन, सकेत मिलन, प्यारी के घर मिलन, गर्वव्याज-विरह, परस्पर अभिलाष, भृंगार भूषण, नैन अनुराग, मुरली वर्णन, रासलीला अंतर्ध्यान, महामंगल रास, माल चरित्र, मध्यम पान, गुरु भान, हिंदोरा, फामुन (होरी), मुदर्शन शाय-भोचन, शंखचूड़ वध, वृषभासुर वध, केशी वध, व्योमासुर वध, मथुरा गमन, रजक वध, मल्लयुद्ध, कंस वध, वसुदेव गृह उत्सव, कुब्जा-गृह गमन, नंद-विदा, ब्रज-विरह वर्णन, यज्ञोपवीत, उद्धव ब्रज गमन, उद्धव ब्रज-भागमन, उद्धव-गोपी संवाद, उद्धव विदा। -

—ब्रजविलास (नवलविशोन् प्र० नवमज)

‘ब्रजविलास’ के अंत में कवि ने जिस प्रकार कथा को समाप्त किया है, उसे जानने के लिए कुछ अथा यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

“यो कहि सव ब्रज-बाँस, भई विरह-सागर-भगौन ।
करि ऊँची परनाँस, आए जसुमति-नव पै ॥”

नांगी बिदा जोरि कर दोऊ, तुम्ह-सम धन्य और तहँ कोऊ ।
क्योकि—

राम-कृष्ण करि सुत जिन्ह पाए, बाल-भाव करि गोब खिलाए ।
और—

अब तुम्ह सोको देहु निवेस, जाइ कृष्ण सो कहौं सेवेसु ।
सुनि समीति ऊँची की बात, नंद बबा औ जसुमति माता ।
उँसग्यो प्रेम नैन जल बाढे, भए जोर कर प्रागे ठाढ़े ।
उरवर स्याम-बिरह की पीरा, कहत सेवेस बहुत दूख-नीरा ।
नंद बोहनीं भरि दई (औ) कह्यो नैन-अरि नीर ।
था धौरी की दूध हँ, भावत जो बल-बीर ॥

सोरठा

दई जसोमति भाइ, मुरली ललित गुपाल की ।
ऊँचौ, दीजो जाइ, प्यारी ही अति लाल की ॥
मधुरा लीटने पर कृष्ण उदब से पूछते हैं—

कहिए सखा, कुसल सो आए, ब्रज में जाइ बौहीत बिन जाए ।

❀

कहाँ कहा प्रभु [तुम्हें] पुनाई, ब्रज की रीति कही नहीं जाई ।

★

यद्यपि मैं बोधे बहुत, तुम्ह-बिन कछु न जुहात ।
तिन्ह की दसा बिलोकि मोहि जुग-सम बीती रत ॥

सोरठा

नंद-जसोबहि पाइ, गयी प्रात दूध-भाँगपुर ।
सुनि सब भाईं थाइ, घाँस-काँस तजि भाँग तहँ ॥

❀

जब मैं कह्यो सेवेस तुम्हारी, सुनतहि भायो सबहँ तमारी ।

★

अतिहि मुझित तन छौंन, ब्रजवासी तुम्ह-बिरह-वस ।
तुम्ह तन-धन मन लौंन, रदत जातकी सो सबै ॥

❀

सुनिकें प्रभु ऊँची के बेनी, उँसग्यो प्रेम भरे दोऊ नैनी ।
ब्रज-जन-प्रीति भाइ उर सालो, भए बिजस जन-प्रेम प्रतिपालो ।

★

सुनि हा ब्रज कहि छौंन उसास, पौंछि पीत-मद नैनन-आस ।
ऊँची सो यो बचन उचारे, भले सखा सोख बैं आए ।

मन करि हरि अज में रहे, मिलि अज-जन-मन साथ ।

तन कहि बेवन-काज हित, भए द्वारिकानाथ ॥”

अजबिलास की रीति-मत्ता उसकी श्रृंगारिकता में मुखरित है । भक्ति के अतर्गत कवि ने कृष्ण की लोकोत्तरता स्थान-स्थान पर प्रतिपादित की है—

“कोन्हों तीन पेंड जिन्ह असुधा, बेहरि ताहि लैवावत जसुधा ।

❀

भुजा चारि वरि दरस बिछायो, ग्वालनि लखि अति अचरज पायो ।

दधि-भाँखन के बुब सुहाए, सुमग स्याम-उर अति छवि छाए ।

मानहुँ जमुना जल के माँहीं, बोख परत उड़ुवन-परछाँहीं ।

यै छवि निरखि रही छकि ग्वाली, बौहरो भए द्वि-भुज बनमाली ॥”

—आदि,

इस प्रकार लीलाओं में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक संकेत है । कवि की भक्ति-भावना अभिव्यक्त है, जिसकी समालोचना लौकिक दृष्टि के स्थान पर पारलौकिक दृष्टि से होनी चाहिये ।

अजबिलास में केवल भक्ति और रीति का ही समन्वय नहीं, उसमें सूर, नददास और तुलसी का समन्वय भी है । कवि की अनेक उक्तियों में सूर, नददास तथा तुलसी के स्वर झलकते हैं । सूर से भाव, नददास से युक्ति और तुलसी से काव्य का रूप कवि ने ग्रहण किया है । सूरदास के प्रति तो कवि ने स्पष्ट अपनी कृतज्ञता प्रकट की है, पर तुलसी के प्रति उसकी कृतज्ञता उसकी छंद-प्रणाली और, कवि की शब्दावली स्थान-स्थान पर प्रकट कर रही है । कवि स्वयं मौलिकता का श्रेयार्थी बनना नहीं चाहता । वह कहता है—

“मा में कछु क बुद्धि नहि मेरी, उचित-युक्ति सब ‘सूर’ हि कैरी ।

कियौ ‘सूर’ रस-सिंधु उधारा, तामें प्रेम-सरय अपारा ।

हरि के चरित-रतन बिधि नाना, अजबिलास सो सुधा समाना ।

पद-रचना करि ‘सूर’ बखान्यो, कोमल, बिलस मयुर-रस-साँन्यो ॥”

फिर इस (अजबिलास) की रचना के उद्देश्य-रूप में कवि कहता है—

“अतिसै करि मोहत मनहि, गँवरव गुन के संग ।

कहत जनत तामें नहीं, कम सो कथा-प्रसंग ॥

★

मेरे मन अमिलाव, प्रभु-प्रेरित ऐसी भयो ।

कहि हो सो रस भाव, कम सों कथा प्रसंग सब ॥”

अस्तु, इसके लिए कवि ने तुलसी की बोहा-बोपाई की पद्धति को अधिक सतर्कता से ग्रहण किया है—

“ढावस चौपाई अति बोहा, तहें पुनि एक सोरठा सोहा ।

कहैं कहैं सुम छंद सुहाई, भाषा सरल, न भरथ दुराई ॥”

और इन चौपाइयों तथा छंदों में स्थान-स्थान पर तुलसी की शब्दावली भी चमक उठी है ।

यथा—

“संतन-हितकारी, असुर सँघारी, आबत छिति सुल छाए ।

❀

गुन-गान सब गावैं, प्रभुहि सुनावैं, आनंद वरन सँगाता ॥”

—अजबिलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० २१

“पति वेषता सुतोप कहैं, वेष-वचन परभाँन ।
आहु बेनि हुन्ह पतिन्ह पहुँ, ताते मै बिय जान ॥”

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० स०) पृ० १६१

इस प्रकार रीति-युग में प्रणीत कथा-काव्यों में प्रवचन के समीप यही ग्रंथ पहुँचता है ।

प्रवच-काव्यों की प्राचीन परंपरा के अनुसार कवि ने कथा-प्रसंग के अंतर्गत कृष्ण की कथा संक्षेप में वर्णित कर दी है । इस कृष्ण-कथा की परंपरा का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है —

“श्री सुखदेव कही हरि लीला, सुनीं परीच्छित सब गुन सीला ।
सूरदास सोई रस-सागर, गायी बहु बिष प्रेम-असागर ॥”

ॐ

“सो तो कथा अमित बिस्तारा, सो पै पायी जात न पारा ।
ता में ‘ब्रजविलास’ सुखदाई, सो कछु कहि हो करि चोपाई ।
भाषा की भाषा करो, छुमिऐ सब अपराध ।
जिहि-तिहि बिष हरि पाईऐ, कहत सकल श्रुति-साध ॥”

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० स०) पृ० ३,

कवि ने जिन प्राकृतिक वृत्तों के मध्य में “ब्रजविलास” की अवतारणा की है वे प्राकृति, अति प्राकृत तथा मानवीय सौंदर्य से परिपूर्ण हैं । रास, जिसके सबंध में कवि की उक्ति है—

“बेदभ्यास जो रास बखाने, सो गंधर्व-अगाह-बिधि जाने ॥”

यह रास वृंदावन की जिस रम्य स्थली में अवतरित हुआ है, उसके सौंदर्य का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

“श्री वृंदावन छवि समुदाई, सम्यक वरनि कोन पै जाई ।
जा की पटतर को नहि आना, वन अनुप अहैंत बखाना ।
ऐसी कछु परत है हेरी, है असमूल्य वपुष प्रभु-केरी ।
गोपीजैन इद्रिय-मान ताने, है श्रेष्ठ अग्य हरि जाने ।
नित भूमि ताही ते गायी, ये पटतर मेरे मन भायी ।
सुख-निधि, रस-निधि, रूप-निधि, वृंदा-बिपिन उदार ।
सारद, नारद, सेत, सिव, वरनत बिधि, श्रुति-भार ॥”

—ब्रजविलास (० कि० प्रे० स०) पृ० ३४२,

यह सौंदर्य कथानक का आध्यात्मिक दिव्य सौंदर्य है, जिसमें प्राकृतिव्य उपादान प्रतीक रूप में किसी अलौकिक स्थिति की अनुभूति कराते हैं, किंतु ऐसी दिव्य कथा के प्रतीकों के प्राकृतिक सौंदर्य में भी कवि ने उपेक्षा नहीं की । यह अवश्य है कि ऐसे वर्णनों में कवि ने प्राकृतिक स्त्री के सौंदर्य का ही विशेष ध्यान दिया है । जैसे निम्न अवतरण में—

“बहत समीर बिबिध सुखदाई, कुसुम-सूरि-सुंदरि छवि-दाई ।
उड़त सुगंध-सपट चहुँ ओरा, गुंजत मँवर चाफ जित ओरा ।

ॐ

भई भूमि कपूर-मनि-रै रज बरति जल कुंभ-कुंभ-सिखी ।
बरन कोमल सुनय सीतल, ज्योति मनि-कषण-सिखी ॥
हरति तहँ घनस्थान सुंदर, रास-मंजुल-बिधि रनी ।
बरनि का पै जाइ सो छमि, निराल सारद गति सबी ॥”

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० स०) पृ० ३४२-३४३

इस रास वर्णन में कवि (ब्रजवासीदास) पर अष्टछाप के उस भक्त कवि का काफी प्रभाव पड़ा है, जिसके सबध में उचित है—“श्रीर कवि गङ्गिया, ‘नंददास’ जङ्गिया ।

अस्तु, ब्रजविलास की ऊपर की पक्तियाँ—“बहत समीर त्रिविध सुलदाई, कुसुम-भूरि बूँधरि छवि छाई” श्रीर नंददास जी की निम्न उक्तियाँ साथ-साथ देखें, जैसे—

“कुसुम-भूरि बूँधरी कुंज, छवि-पुंजन छाई ।
गुंजत संजु मल्लिद, वेंनु जनु वजत सुहाई ॥”

—रासपचाध्यायी नंददास

अथवा—

“तव कर-सई सकल गुन बुरली, ललित जोगमाया-सी मुरली ।
नंद ब्रह्म की उतपति जासी, निर्गम-अगम उपजे धुनि तासीं ॥”

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३४३

श्रीर—

“तव लीन्हों कर-कंसल जोगमाया-सी मुरली ।
अधटित-घटना जतुद, बहुरि शबर-रस-बुरली ॥
जा की धुनि ते अगम-निगम, प्रघटे बड़ नागर ।
नंद ब्रह्म की जननि, मोहिनी सब सुख-सागर ॥”

—रासपचाध्यायी नंददास

सगुण-भक्ति-काव्यों में उपास्य के रूप-सौंदर्य के वर्णन उपलब्ध होते हैं । ब्रजविलास में गतिमान सौंदर्य का एक मनोहर वर्णन इन पक्तियों में है—

“नचत भाँवी मोर-जुयैन, मुकट-सदकैन धी कवै ।
चलत गति लै नागरिन्हें सोंग, स्थान नटनागर जबै ॥
घरनि पग-भटकैन, झटकि कर, मोह-भटक न कहि परै ।
श्रील-पालैन, हलैन कुंडल, कर जु फेरन मन-हरे ॥”

कभी-कभी कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के भाव श्रीर भापा के सहारे उनसे कहीं आगे बढ़ जाना है । उदाहरण के लिए जहाँ नंददास जी श्री गोपीजनो द्वारा भगवान् श्री कृष्ण को उनके पास से अतर्ध्यान होनेपर उनका पता वृक्ष-तवादिसे पूछने तथा उनके जड़ होने के कारण कुछ उत्तर न देने पर ‘तीर्थबासियों’ की निष्ठुरता पर एक मुडु कटाक्ष करते हैं—

“जमुना तट के बिटप पूछि भई निपट उदासी ।
क्यो कहि है सखि, महा कठिन तीरथ के बासी ॥”

—रासपचाध्यायी नंददास

जहाँ ब्रजवासीदास जी व्यापक उदारता के भाव का समावेश करके उत्प्रेक्षा का भावानुकूल चमत्कार प्रस्तुत कर देते हैं । वे कहते हैं—

“बोलत नहिं कोउ कहत तबेन को, लै गए स्थान इनहुँ के मन को ।”

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३५७

अथवा—

“इहि बिधि प्रेम-मुखा-निधि बढ गई अधिक कलोलें ।
हैं गई बिल्लुल बाल, लाल सो अतिबल बोलें ॥
तव तिनहीं में प्रघटे, सुंदर नंद-नंदन यों ।
दृष्टि बंद करि डुरै, बहुरि प्रघटै नंदवर ज्यों ॥”

—रामपचाध्यायी . नंददास

“अतर नैक रह्यौ नहि, भईं स्याम ब्रज-धाम ।
तब अतर नहि कर सकै, भए निरतर स्याम ॥”

—ब्रजविलास (न० कि० प्र० स०) पृ० ३५६

“मनि कँठ मुक्ता-माल उर, वनमाल घरनेन तो बनीं ।
बनेन पंकज अलक छम-कैन-अलक छवि सकि को भनीं ॥
पद पीत फरकैन, काछिनीं कटि लाल किकिनि सोहई ।
मलै चित्रित बाहु-भूषेन, स्याम तन-मन मोहई ॥”

❧

“जटित माल, जराब बेदी, उवित हुति भुव-बंक की ।
ललित बेसर नाक, भंजन नैन, खुति ताटक की ॥
अक्षर, बसेन, कपोल, चिबुकैन, कठ-भूषेन अति बने ।
करत रास-विलास अवभुत, हरत मनमोहन मने ॥”

—ब्रजविलास (न० कि० प्र० स०) पृ० ३५०

समस्त काव्य में कवि का उद्देश्य उपमा ध्रुववा रूपको के वर्णन से काव्य को अनुरजित करना न होकर वस्तु को ही वास्तविक तथा प्रभावपूर्ण रूप में उपस्थित करना है। यही कारण है कि कवि ने स्वै-सौंदर्य की तीव्रता और प्रभावोत्पादकता के लिए अलंकारों की विशेष योजना पर ध्यान नहीं दिया है। उसने उतने ही अलंकारों का उपयोग किया है, जितने से लक्ष्य की धारणा सिद्ध हो जानी है। वही भी अतिशय अलंकारों का घटाटोप नहीं है। उदाहरणार्थ राधा पर विमर्श व्यास की दशा का चित्र तीन उपमानों से ही प्रस्तुत कर दिया है—

“भए स्याम मागिर-बस ऐसे, फिरत छाँह सँगही-सँग जैतें ।”

—ब्रजविलास (न० कि० प्र० स०)

‘छाँह’ उपमान के द्वारा श्री कृष्ण को राधा के पीछे-पीछे निरतर फिरते रहने का भाव पूर्ण स्पष्ट हो जाता है। इससे अधिक मुदर उपमान किमी ‘पिछलगू’ के लिए नहीं हो सकता। अथवा—

“बदेन-कैमल-रस-रूप लुभाने, रहत तिलीमुख ज्यों मड़राने ।”

—ब्रजविलास (न० कि० प्र० स०)

यहाँ रूप का लोभ भ्रम-वृत्ति से प्रकट किया है। तदनंतर—

“बचन-नाद-रस मृग ज्यो गीधे, नैन-कटाच्छन्न-सर-बीधे ।”

—ब्रजविलास (न० कि० प्र० स०)

वचन की माधुरी पर—वधीनाद पर रीझे मृग की भाँति कृष्ण को रीझा बनाकर परमार्थ प्रतीति से कटाक्ष-बाण से भी कृष्ण को विद्ध कर दिया है। वम इसके उपमान कवि अक्षरार्थ छोड़ कर अर्थ वर्णन में रस-परिपाक की दृष्टि से मन्त्रागियों का उल्लेख करने लग गया है। इस प्रकार की मन्त्राग प्रभावपूर्ण अलंकार-योजना और रस-योजना की प्रणाली इस रचना में सर्वत्र मिलती है। इनके अतिरिक्त अस्तिष्क और हृदय की मनुजित सौंदर्य-वृत्ति का पता चलता है।

कवि ने अपने वर्णन में परंपरागत उक्तियों से भी अपेक्षित महत्ता दी है—

“अली विवाह प्राज ये, भवभूत छवि अनिराम ।

धूर-उदे-सोवत-कैमल, चंद-उए प स्याम ॥”

❧

“उर-कुच-कुंमहूँ-बाग, अक्षर-वतन हवि रात्र हो ।
रंगी मरावर पाग, ये गोमा अनुपम बनीं ॥”

—ब्रजविलास (न० कि० प्र० स०)

सूर की अपेक्षा ब्रजविलास की राधा और गोपियाँ अधिक मुखर हैं। कृष्ण भी अधिक क्रीडा-शील परिलक्षित होते हैं। गोपियों की मुखरता विरह में भी मीन नहीं दिखलाई पड़ती। उद्धव के प्रति गोपियों की तार्किकता कार्य-कारण परस्पर पर आधारित नहीं, बल्कि तो अपना बल भावुकता से प्राप्त करती हैं। वे स्वयं अपने सबंध में निवेदित करती हैं—

भ्रंष आरती, बहिर धुनि, रोग प्रसित तन भोग ।

उद्धव तिनको न्यास है, हमें सिखावत जोग ॥

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

ब्रजविलास में कवि का ध्यान कृष्ण की बाल-लीला की अपेक्षा उनकी किशोर-लीला पर अधिक स्थिर है। यह किशोर-लीला अपनी समस्त प्रवचता में भी गीतों की सरलता से उद्गेलित है। स्थल-स्थल पर सुकुमार सूक्तियाँ हैं—

"सन्मुख सर सहि सूर, जब रवि-रथ बेघत आइ ।

प्रथम बीज अ'कुरन महि, पुनि फल फरत अघाइ ॥

ॐ

बिन ही तोइ तरंग अर, बिन चेतन चतुराइ ।

अब लो ब्रज में महि हृत्ती, मधुप करी तुम आइ ॥

ॐ

लोचन रूप अर्धान, सगुन सलोने स्यानि के !

क्यों सुख पावै मीन, जल-बिन डारें बूझ में ॥"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

ब्रजविलास का अध्ययन सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से संप्रति आवश्यक है। आशा है इस ओर साहित्य सेवियों का ध्यान आकर्षित होगा।



आनंदघन और रूपमती (बाजबहादुर) के पद

राग-टोडी

ए मेरे मन-नेनन, रोम-रोम मधि कृष्ण रम्यो है ।
कहुँ बेचत कहुँ लेत गुणत गोरस, सो घर-घर—
फिरत बिकात जात कहुँ नीकें नेह जम्यो है ॥
शोकुल प्रेम की पैंठ सुहाई, जहाँ जग-ओवन पाई-भ्रम्यो है ।
'आनंदघन' अचरज सनकादिक, सकर-गिरिजा-सीस तम्यों है ॥

राग-खनाथी

एरी, बन-बाजी बांसुरिया, कैसे रहो घर देया ।
कलमलात जियरा मिलवे को, है कोऊ धीर-धरया ॥
गाल परी या लाज निगोबी, करि हूँ कहा खरया ।
'आनंदघन' पिय उधरि मिलौगों, अब डर कर-बलया ॥

राग-बिहाग

सोहन, प्रीति करी में जानी ।
दे बिसवास भयो तजि मयुरा, राति कुज्जा सो मानी ॥
कपट-भरी प्रति-कारो तेन को, कपट-भरी सब जानी ॥
'आनंदघन' हित-चित्त की बातें जानत नाहिं बिरांती ॥

राग-बिहाग

स्थाय-बिनां डेसगे री, बहु बवरा ।
बरसत रहत रन ओ बासर, हिए कियो अनि कबरा ॥
कासो कहे, सुन को मेरी, जोहत बंदी पिय को मगरा ।
'रूपमती' को बाजबहादुर, तजि बियो शोकुल भिठ गयो मगरा ॥

राग-दैवगंधार

तू जो अब मुखदेखै कहत, एतौ गुमान करे रीसे ललता भाव ।
बादही बफावो करत, पूं छेले उत्तर न देति, कंचन की लस काँच क्यों भाव ॥
साहू कसौटी के नाहू मेरे जान, लही की संहसा जो मन में रहे जाव ।
'रूपमती' कहै ताही को संहनो, ओ बाजबहादुर को आहू रिखाव ॥

राग-टोडी

बेसी री, जो आवत बगर में, होरी लेलत स्थान-सैलोन ।
छिव में मन बस करत सखन को, बाकी मुरली में है कदू टोंग ॥
मोर-मुकट कुंडल की अति छवि, अरुन नैन अजन धरे कोन ।
'रूपमती' मन होत विरागी, बाजबहादुर के नव-दिगोंग ॥

वल्लभ-संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य की खोज

श्री प्रसुदयाल मीतल

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों के कारण ब्रजभाषा-साहित्य पर वल्लभ-संप्रदाय का प्रभाव सर्वे विदित है, किंतु इसका यथार्थ स्वरूप अभी तक हिंदी-जगत् के समुख नहीं आ पाया है। हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में भी इसका वास्तविक मूल्यांकन नहीं किया गया है। इधर जो ब्रजभाषा-साहित्य की नयी खोज हुई है, उसके फलस्वरूप इस संप्रदाय का अपार साहित्य उपलब्ध हुआ है। जिसे देखकर किसी भी ब्रजभाषा-प्रेमी को हर्ष और आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। निंबार्क, हरिदास, हितहरिवंश और चैतन्य आदि वैष्णव-संप्रदायों ने भी ब्रजभाषा-साहित्य की उन्नति में महत्वपूर्ण कार्य किया है, किंतु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर अन्य संप्रदायों की अपेक्षा वल्लभ-संप्रदाय के महत्व का पलटा भारी दिखलाई देता है। अन्य संप्रदायों ने ब्रजभाषा के पद्य-साहित्य की ही अभिवृद्धि की है, किंतु वल्लभ-संप्रदाय ने पद्य के साथ गद्य पर भी अपना व्यापक प्रभाव डाला है।

पुष्टि-संप्रदाय के संस्थापक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने कतिपय सेवकों को श्रीनाथजी के कीर्तनार्थ ब्रजभाषा में पद-रचना करने की प्रेरणा दी थी। उन सेवकों में सूरदास, कुमनदास, परमानंददास और कृष्णदास मुख्य थे, जिनको बाद में विठ्ठलनाथजी ने अष्टछाप में सम्मिलित किया था। अष्टछाप के इन कवियों को प्रेरित करने के कारण ही हिंदी के इतिहास ग्रंथों में वल्लभाचार्य जी का नामोल्लेख किया गया है, किंतु स्वयं वल्लभाचार्य जी ने ब्रजभाषा में रचना की या नहीं तथा उनके अष्टछापी सेवकों के अतिरिक्त अन्य कितने शिष्य-सेवक ब्रजभाषा के काव्य रचयिता थे, इस सब में हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया है। यह बात सर्वे विदित है कि श्री वल्लभाचार्य जी के सहस्रो सेवकों में चौरासी प्रमुख थे, जिनका वृत्तांत ब्रजभाषा-गद्य की प्राचीन रचना 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। इस वार्ता-ग्रंथ का कोई सुसंपादित संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है, अतः हिंदी के साहित्यकारों को उसके वास्तविक स्वरूप का अभी तक बहुत कम ज्ञान है। 'चौरासी वार्ता' पर श्री हरिराय जी ने 'भाव-प्रकाश' नामक टिप्पणी की है। इस टिप्पणी के साथ उक्त वार्ता 'लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णवन की वार्ता' कहलाती है। हिंदी-साहित्यकारों को इस दुर्लभ ग्रंथ का परिचय अभी तक नहीं था। यह ग्रंथ स. १७५२ की हस्तलिखित प्रति के आधार पर अभी छप कर प्रकाशित हुआ है। इससे श्री वल्लभाचार्य जी के सेवकों के सांप्रदायिक महत्व पर तो अच्छा प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही उनकी साहित्य-सेवा के विशेष सफल भी मिलते हैं। लीला-भावना वाली इस 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि अष्टछाप के पूर्वोक्त चार कवियों के अतिरिक्त निम्न लिखित महानुभाव भी ब्रजभाषा के कवि थे—

१. गोपालदास काशीवाले, २. गदाधरदास, ३. मुकुंददास, ४. प्रभुदास भाट, ५. निपुनदास,
६. कृष्णदास घघरी, ७. कृष्णादासी, ८. रामदास सेबाड़ी, ९. भगवानदास सचौरी, १०. लघु पुष्पोत्तमदास ११. कविराज भाट, १२. गोपालदास ईंदोडा क्षत्री, १३. गोपालदास नरोडावाले,
१४. रामदास मुखिया।

इनके अतिरिक्त वल्लभाचार्य जी के कतिपय अन्य सेवकों के कवि होने की सूचना चौरासी-वार्ता से तो नहीं मिलती, पर अन्य वार्ताओं और अतः साक्ष्यादि से उनका कवि होना प्रमाणित है। उन कवियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. बालोदरदास हरसाही, २. पद्मनाभदास, ३. विष्णुदास छोपा, ४. जीवनदास क्षत्री,
५. कन्हैया शाल, ६. अथधृतदास ।

उपर्युक्त सभी महानुभावों के नाम तथा उनका विवरण 'चौरासी वैष्णवी की वार्ता' में दिया हुआ है, चाहे वार्ता में उनके कवि होने का संकेत न मिलता हो। इनके अतिरिक्त बल्लभाचार्य जी ने निम्नलिखित सेवक ऐसे हैं, जिनका विवरण अथवा नाम उक्त वार्ता में नहीं दिया गया है, किंतु खोज में उनकी ब्रजभाषा की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—

१. अग्रदास, (छाप—अगर, अगरदास) २. मादवेंद्र, ३. लकुटी, ४. ज्ञानचन्द्र, ५. विष्णुदास,
६. श्रीमट्ट ।

इनमें अग्रदास और लकुटी विष्णुस्वामी-संप्रदाय में दीक्षित होते हुए भी बल्लभाचार्य जी के सेवक थे। शेष सब पुष्टि-संप्रदाय के अनुयायी थे। जिन 'श्रीमट्ट' का नाम ऊपर लिखा गया है वे निवार्क-संप्रदायी श्रीमट्ट से भिन्न व्यक्ति हैं। उपर्युक्त सभी महानुभावों की ब्रजभाषा-रचनाएँ खोज में प्राप्त हुई हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे उत्कृष्ट कवि थे। आश्चर्य की बात है कि हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में उनके नाम का भी उल्लेख नहीं है।

कुछ लेखकों ने महाप्रभु बल्लभाचार्य के रचे हुए 'विष्णु-पद' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख किया है। यह ग्रंथ ब्रजभाषा का कहा जाता है। हमारी खोज के अनुसार यह ग्रंथ बल्लभाचार्य जी रचिन नहीं है। उनके नाम से प्रसिद्ध 'चौरासी अग्रराव' नामक ब्रजभाषा ग्रंथ की भी एक रचना प्राप्त हुई है, किंतु यह इसी रूप में उनकी लिखी हुई हो, इसमें भारी संशेह है। संभव है, मौखिक प्रचलन के रूप में इसकी रचना बल्लभाचार्य जी द्वारा हुई हो, किंतु अन्य अनेक वार्ता-ग्रंथों की तरह इसको लिखित रूप बाद में गोकुलनाथ जी अथवा हरिराय जी द्वारा ही दिया गया होगा। पुष्टि-संप्रदाय के इतिहास में ज्ञात होता है कि बल्लभाचार्य जी अपने ग्रंथों में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे, किंतु अपने व्याख्यान और प्रचार-कार्य में ब्रजभाषा का उपयोग करते थे। उनको ब्रजभाषा इसलिए भी प्रिय थी कि यह उनके इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-भूमि से संबंधित है। वे इसको 'पुष्पोत्तम-भाषा' कहा करते थे। उन्होंने गुजरात, काठियावाड़ और उत्तर भारत के अनेक दूरस्थ स्थानों में इस भाषा का व्यापक प्रचार किया था। अस्तु, बल्लभाचार्य जी ने भी ब्रजभाषा की उत्थिति में महत्वपूर्ण योग दिया था।

बल्लभाचार्य जी के सुयोग्य पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा ब्रजभाषा-साहित्य की प्रभुपूर्व उत्थिति हुई है। उन्होंने विक्रम की १७ वीं शताब्दी के आदि में सूरदासादि चार अपने पिता के प्रीत गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्मुखदास एवं नंददास आदि चार अपने गिण्यों की एक मंडली बनायी, जो 'अष्टछाप' के नाम से विख्यात है। अष्टछाप की रचनाओं का ब्रजभाषा-साहित्य पर वैतना व्यापक प्रभाव पड़ा है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

अष्टछाप के अतिरिक्त विट्ठलनाथ जी के अनेक गिण्य-मेवकों की ऐसी ब्रजभाषा रचनाएँ गौरव में प्राप्त हुई हैं, जिनके कारण उनका सुकवि होना सिद्ध होता है। पुष्टि संप्रदाय के इतिहास में ज्ञात होता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहस्रों गिण्य-मेवक थे, जिनमें २५२ मुख्य थे। उन 'प्रभुना मेरनों' का वृत्तांत 'दो सी बावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। हम यहाँ पर विट्ठलनाथ जी के हुए दो मेवकों की तालिका देते हैं, जिनके सुकवि होने का निश्चित प्रमाण मिल चुका है। उनमें से अतिरिक्त नामोन्मेष हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में नहीं हुआ है। यह तालिका पद्यांगिद्वय में इस प्रकार है—

१. अलीखान, २. अयोध्या (हृषीकेश), ३. कटहरिया, ४. कान्हराम, ५. कृष्णदास ज्ञात
६. गदाधर भिन्न, ७. गोपालदास (बल्लभाचार्य के रचयिता), ८. लघुगोपाल, ९. गोवर्धनदास
१०. गंगाबाई (जिसने श्रीविट्ठल-गिरिधरन की छाप में काव्य-रचना की है), ११. गोवर्धन
जी (सुप्रसिद्ध वार्ताकार), १२. घनश्याम जी (गोस्वामी जी के सप्तम पुत्र) १३. चतुर्मुख भिन्न
१४. कृष्णजीवन लक्ष्मीराम, १५. चतुरविहारी, १६. चरणदास, १७. जगन्नाथन, १८. जगन्नाथ

कविराय (गोस्वामी जी के दौहित्र), १६. बाबुनाथदास, २०. तुलसीदास जलधरिया (लालदास की छाया), २१. ताज (अकबर की बेगम), २२. बिरदास, २३. ब्याल, २४. ध्यानदास, २५. २५. धर्मदास, २६. बोधी, २७. राजा पर्वतसेन, २८. राजा पृथ्वीसिंह, २९. बीरदास, ३०. बंकट, ३१. भानु, ३२. मान-सुत, ३३. भीमराजा, ३४. मयुरामल्ल, ३५. मदनमोहन, ३६. माणिकचंद्र, ३७. माधवदास, ३८. लघु माधव, ३९. मदनमोपाल, ४०. मुरारीदास, ४१. मुरली, ४२. मेहरा, ४३. मोहनदास, ४४. रघुनाथ जी (गोस्वामी जी के पंचम पुत्र), ४५. राघवदास, ४६. राघवदास की बेटा, ४७. रामदास, ४८. रामदास दूसरे, ४९. रूपमुरारी, ५०. बृंदावन, ५१. ब्यास, ५२. विनय, ५३. श्यामदास, ५४. लीलावर, ५५. सगुणदास, ५६. हरजीवन, ५७. बिलोक, ५८. रामराय, ५९. भगवान हित, ६०. जन भगवान ६१. भगवान दूसरे, ६२. मनोहर ।

हिंदी के इतिहास-ग्रंथों में सुप्रसिद्ध गायनाचार्य तामसेन और अन्त कवि रसखान के अतिरिक्त अकबर के सुप्रसिद्ध मुसाहब वीरवल और टोडरमल का नामोल्लेख हुआ है, किन्तु पुष्टि-संप्रदाय के इतिहास से विवक्षित होता है कि ये गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के भी कृपापात्र थे । राजा आसकरण को 'अक्षतमाल' में किसी अन्य संप्रदाय का अनुयायी लिखा गया है, पर उनकी जो रचनाएँ हैं वे पुष्टि-मार्गीय हैं ।

वल्लभाचार्य जी एवं विठ्ठलनाथ जी से पूर्व ब्रजभाषा-साहित्य का अस्तित्व नाम मात्र को था, अस्तु, उनके प्रोत्साहन से इसकी वर्यष्ट उन्नति हुई । उक्त दोनों महानुभावों के प्रोत्साहन के कारण ही ब्रजभाषा में पद-रचना के रूप में जो पञ्चमयक साहित्य निर्मित हुआ, उसने कई शताब्दियों तक हिंदी-साहित्य को प्रभावित किया तथा आज भी उसके गौरव का कारण माना जाता है । विठ्ठलनाथ जी के पश्चात् भी इस प्रकार के पद-रचयिता कवियों की अटूट शृंखला चलती रही । इन कवियों की अग्रणी रचनाएँ पुष्टि-संप्रदायी मंदिरों के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं ।

गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी ने अपने समय में ही संप्रदाय के मंदिरों की दर्शन-आँकी में पद-नायन की आवश्यक व्यवस्था कर दी थी, जिसका पालन आज तक समस्त भारतवर्ष के पुष्टि-संप्रदायी मंदिरों में होता है । इसके फलस्वरूप समस्त देश में जहाँ भी इस संप्रदाय के मंदिर और अनुयायी हैं, वहाँ ब्रजभाषा-काव्य की लहरी प्रतिदिन अबाध गति से प्रवाहित होती रहती है । यह क्रम कई शताब्दियों से प्रचलित है और जब तक पुष्टि-संप्रदाय का अस्तित्व रहेगा, तब तक यह क्रम प्रचलित रहेगा । इसके अनुकरण पर वैष्णव-धर्म के कई अन्य संप्रदायों ने भी ब्रजभाषा-काव्य को आश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घ काल तक ब्रजभाषा-साहित्य की असीम उन्नति होती रही ।

ब्रजभाषा के ब्रज-साहित्य के विकास और उसकी उन्नति का तो एक मात्र श्रेय वल्लभ-संप्रदाय के वार्ता साहित्य को है । हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी का नाम वार्ताओं के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु कुछ समय से हिंदी के कतिपय विद्वान् इन वार्ताओं की प्रामाणिकता और इनके गोकुलनाथ जी कृत होने में संदेह प्रकट करने लगे हैं । इन विद्वानों के सर पर संदेह का ऐसा भूत चढ़ा है कि उनको पुष्टि-संप्रदाय का समस्त वार्ता-साहित्य अप्रामाणिक ही नहीं, माहिलिक जाल भी मालूम होता है । वास्तविक बात यह है कि इन विद्वानों को समस्त वार्ता साहित्य के अवलोकन करने का अभी अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ । इन्होंने इन मंत्रों को जो थोड़ी-बहुत सामग्री इधर-उधर से देख ली है, उसका भी इन्होंने गंभीर अध्ययन नहीं किया है । इन प्रकार अपने अधूरे ज्ञान के आधार पर इन्होंने अपना अप्रामाणिक मत बना लिया है । श्री डाक्टरादाम परोक्ष, श्री कठमणि शास्त्री और डा० दीनदयाल गुप्त प्रभृति कुछ ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने वार्ता-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है, वे सब इसको प्रामाणिक मानते हैं । इन विषय के अन्य ज्ञान के आधार पर ये निश्चित मन है कि पुष्टि-संप्रदाय का वार्ता-साहित्य ब्रजभाषा-साहित्य की अनूय निरि है । इनसे ब्रजभाषा के आरंभिक गद्य का स्वरूप ज्ञान होता है । उनके माय ही उनके मन्त्रों की

अठारहवीं शतियों के उत्तरी भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार वार्ताओं का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व स्वयं सिद्ध है।

वार्ता-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसका प्रकाश भाग श्री गोकुलनाथ जी एवं श्री हरिराय-द्वारा कथित एवं रचित है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी अपने समय में पुष्टि-संप्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याता एवं मार्मिक वक्ता थे। वे सिद्धांत-ग्रंथों की व्याख्या और सुबोधनी की कथा के अनंतर बल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी के सेवकों की जीवन-वटनाओं की चर्चा भी किया करते थे। गोकुलनाथ जी के मौखिक प्रवचन अत्यंत रोचक और शिक्षाप्रद होते थे और कल्याण भट्ट आदि उनके अनंतर सेवकों-द्वारा वे उसी समय लिपिबद्ध कर लिये जाते थे। खोज में इस प्रकार के लिपिबद्ध विवरण 'वचनामृत' रूप में अल्पविक सख्या में उपलब्ध हुए हैं। इन वचनामृतों में कहीं-कहीं पर इनके लेखन का समय, स्थान, प्रसंग और विनाक का भी उल्लेख मिलता है, जिनके कारण इनका धार्मिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व ज्ञात होता है।

श्री गोकुलनाथ के मौखिक प्रवचन रूप 'वचनामृत' जिन वार्ताओं के मूल रूप हैं, उनमें 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' मुख्य हैं। इन वार्ताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनको स्वयं गोकुलनाथ जी ने कभी नहीं लिखा था। उनके गोकुलनाथ जी कृत होने का इतना ही अभिप्राय है कि इनके मूल वचन सर्व प्रथम उनके श्री मुख से निकले थे। इन वार्ताओं का यथार्थ रूप में सकलन और संपादन बाद में गोकुलनाथ जी के ज्येष्ठ भ्राता गोविंदराय जी के पुत्र और कल्याणराय जी के पुत्र श्री हरिराय जी ने किया था। 'चौरासी वार्ता' और 'दो सौ बावन वार्ताओं के अतिरिक्त श्री गोकुलनाथ जी के नाम से जो अन्य वार्ताएँ प्राप्त हुई हैं, उनमें निम्न लिखित मुख्य हैं—

१. श्री गुप्तार्जुन जी और दामोदरदास जी का सवाद, २. वन-यात्रा, ३. नित्य-सेवा-प्रकार,
४. बैठक चरित्र, ५. घर वार्ता, भावना और हास्य प्रसंग विषयक अनेक वचनामृत।

गोकुलनाथ जी के अंतिम समय में और उन्हीं के तत्त्वावधान में श्री हरिराय जी ने वार्ताओं का सकलन और संपादन किया था। उसी समय वार्ताओं के प्रसंगों की पूर्ति के लिए जहाँ-तहाँ उनमें गोकुलनाथ जी के नाम का भी समावेश किया गया, जो हरिराय जी ने अपनी ओर से किया था। चौरासी और दो सौ बावन वार्ताओं के संपादन के अतिरिक्त हरिराय जी ने 'निजवार्ता', 'घरवार्ता', 'महाप्रभु जी की प्रागट्य वार्ता' आदि अनेक वार्ता-ग्रंथों की स्वयं भी रचना की थी। उन्होंने अपने अंतिम समय में वार्ताओं के प्रसंगों की पूर्ति और उनके स्पष्टीकरण के लिए उन पर टिप्पणियाँ भी लगायी थी। ये टिप्पणियाँ 'भाव' नाम से प्रसिद्ध हैं। हरिराय जी कुछ कई 'भाव' मुक्त वार्ताएँ खोज में प्राप्त हुई हैं, जिनमें 'तीन जन्म की लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णव की वार्ता' और 'अष्टसंख्यान की वार्ता' मुख्य हैं।

पुष्टि-संप्रदाय के वार्ता-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'ब्रजभाषा-ग्रन्थ' के लेखक के रूप में जो श्रेय श्री गोकुलनाथ जी को दिया जाता है, वह वास्तव में श्री हरिराय जी को देना चाहिए, क्योंकि ब्रजभाषा-ग्रन्थ की वार्ता पुस्तकों के यथार्थ रचयिता वे ही थे। खेद है, इतने बड़े साहित्यकार होने पर भी हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनके महत्त्व का दिग्दर्शन नहीं कराया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डा० रामसुंदरदास जैसे धुरधुर विद्वानों के इतिहास-ग्रंथों में हरिराय जी के नाम का भी उल्लेख नहीं है और मिश्रवधूओ एवं 'रसाल' जी के इतिहास-ग्रंथों में उनका वर्णन अग्रणी सूचनाओं के साथ दिया गया है।

'मिश्रवधू-विनोद' में हरिराय जी का जीवन वृत्तान्त न देकर उनकी कुछ रचनाओं का नामों-हलेख मात्र किया गया है। इस ग्रंथ में उनका रचनाकाल स० १६०७ लिखा गया है, जो खोत्र ने अशुद्ध सिद्ध होता है। हरिराय जी का जन्म स० १६४७ में और देहावसान स० १७३२ में हुआ था।

यदि उन्होंने बीस वर्ष की आयु में ग्रन्थ-रचना आरम्भ की हो, तब भी उनका रचनाकाल स० १६६७ से पूर्व नहीं आता है। रसाल जी ने गोकुलनाथ जी कृत गद्य-ग्रन्थों के उल्लेख के अनंतर अपने इतिहास के पृ० ३७४ में लिखा है—

“जान पड़ता है कि वार्ता लिखने की शैली सी चल पड़ी थी, क्योंकि इसी प्रकार की वार्ताएँ श्री हितहरि जी ने भी लिखी हैं”।

श्री हितहरि जी से अभिप्राय साधारणतया श्री हित हरिवंश से होता है, क्योंकि ‘हित’ शब्द का प्रयोग ‘राधावल्लभीय संप्रदाय’ के संस्थापक हरिवंश जी के साथ ही किया जाता है। यह सिद्ध है कि हितहरिवंश जी ने किसी वार्ता पुस्तक की रचना नहीं की थी, अतः रसाल जी का अभिप्राय ‘श्री हितहरि’ से श्री हरिराय जी से ही ज्ञात होता है। पुष्टि-संप्रदाय के कुछ अध्ययनशील व्यक्तियों के अतिरिक्त श्री हरिराय जी इतने बड़े साहित्यकार होते हुए भी, हिंदी-संसार के विद्वानों तथा प्रेमियों के लिए अपरिचित ही बने हुए हैं। हिंदी-जगत् को उनके नाम का परिचय सर्व प्रथम, अभी कुछ वर्ष पूर्व स० १९९६ में हुआ, जब काँकरीली विद्याविभाग-द्वारा ‘प्राचीन वार्ता-रहस्य’ प्रथम भाग छप कर प्रकाशित हुआ। ‘लौला-भावना वाली चौरासी वैष्णवन की वार्ता’ के संपादक श्री द्वारकादास जी परीख ने उसके आरम्भ में पुष्टि-संप्रदाय के विभिन्न लेखकों की ८६ वार्ता-पुस्तकों का नामोल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि वल्लभ-संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा के पद्य-साहित्य के साथ ही साथ उसके गद्य-साहित्य की भी अतीव उन्नति हुई थी और उसका देशव्यापी प्रचार हुआ था। ब्रजभाषा-वार्ता-साहित्य के रूप में हिंदी की ऐसी व्यवस्थित एवं पुष्ट गंली रहते हुए हिंदी गद्य के लिये खड़ी बोली क्यो स्वीकृत हुई, यह एक ऐतिहासिक उल्लेख है, जिसको यथार्थ रूप में सुलझाने की चेष्टा हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में नहीं की गयी है।

वल्लभ-संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य की खोज करने पर यह मलीभाँति ज्ञात होता है कि इस संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा पद्य और गद्य दोनों प्रकार के साहित्य की यथेष्ट अभिवृद्धि हुई थी। ऐसी वंशा में हिंदी-साहित्य का पूर्ण रूपेण अध्ययन करने वाले विद्वानों का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे पुष्टि-संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य का गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करें। खेद की बात है कि हिंदी के अधिकांश विद्वानों ने इस साहित्य को अभी तक उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा है। जिन कतिपय साहित्य-कारों ने इसके अध्ययन की चेष्टा की है, उनका दृष्टिकोण सहानुभूति-रहित ही नहीं, बल्कि शाकापूर्ण रहा है।

इस साहित्य के यथासाध्य अवलोकन और मनन करने के उपरांत मेरा निश्चित मत है कि यदि सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से इस साहित्य का अनुमधान एवं अध्ययन किया जाय, तो हममें से ऐसी अनूत्य-भाषाभी सकलित की जा सकती है, जो प्राचीन हिंदी-साहित्य के महत्त्व की वृद्धि कई गुना अधिक कर सकती है, साथ ही वह हिंदी-साहित्य के इतिहास में क्रांतिकारी परिवर्तन कर सकती है^१।

१. श्रीवल्लभ-संप्रदाय में ‘नित्य-कीर्तन’ और ‘वर्षांतव’ के उपलक्ष्यमें नित्य प्रति सवेरे—‘मंगला’ से लेकर रात्रि—‘शयन-पर्यंत’ तथा भगवान् श्री कृष्ण के ‘जन्म’ से लेकर ‘हिंडोले’ के उत्सव तक जो पद गाये जाते हैं उनमें अष्टछाप के कवियों की भी सम्मिलित करने हुए अत्यंत पद्य (कीर्तन) रचयिताओं की सूची, उनकी अपनी विविध-छाप के अनुसार इस प्रकार है—

“अंग, अग्रदास (अग्रदास), अलीदास, अलीदास, अनुवरदास, आनंददास, आसकरण, इच्छा-राम, उदयराम (उदय), रूपीकेश (हृषीकेश), कटहरिया, कल्याण, फल्याण (दूतरे मुकुंद-नाथ), कविराम भाट, काहूर (कान्हरदास), किशोरीदास, कुंजबिहारी, कुसनदास (अष्टछाप), कृष्णबल, कृष्णजीवन लच्छोदास, कृष्णदास (अष्टछाप), कृष्णदास गगरी, कृष्णादासी, बैरावकिशोर, बैरावकिशोरी, केमोदास (केमो, केमब), गंग, गंगवाल, गंगा दास, गदाधर, गदाधरमिश्र, गदाधरराय, गरीबदास, गिरि-

शर, गिरिधर जन, गिरिधरलाल, गुनरूप, गोकुल, गोकुलचंद, गोकुलनाथ (प्रस्थात वास्त-रचयिता), गोकुलनाथ जू ध्यारे, गोकुलपति, गोपाल, गोपालदास (मवनमोहन), गोपालदास (लघुगोपाल), गोवर्धन, गोवर्धनदास, गोवर्धनेश, गोविंद, गोविंददास, गोविंददास (ब्रह्मरे), गोविंदस्वामी (अष्टछाप), ग्वाल, घनश्याम प्रभु, घनश्याम सनाढ्य, चंचल (शशि), चतुर, चतुरविहारी, चतुरानन, चतुर्भुजदास (अष्टछाप), चरणदास, छविनाथ (छविनाथक) कन्नौजिया, छोटस्वामी (अष्टछाप), जगजीवन (जग), जगत-जनक, जगतानंद, जगन्नाथ कविराय, जगन्नाथ प्रभु, जन, जन भगवान, जन हरिया, जयवेद, जुगल, ठाकुरदास, ताज, तानसेन, तुलसी, इयाराम भाई, दयाल प्रिय, दामोदर बल्लभ (पब किंकर), दामोदर हित, दाससखी (दास-सरण), द्वारिकादास (दास), द्वारिकानाथ, द्वारिकेश, धर्मदास, धर्मराज, धीरज, धौबी, नवदास (अष्टछाप), नवनीत, नवल सखी, नागरीदास (कृष्णजड़), नाथ, नारायण, निज-जन, निज-जन कौ दास, निजदास, निजदासन, निजदासी, निर्मयराम, पद्मानाभदास, परमानंददास (अष्टछाप—छाप, परमानंद, परमानंददास, परमानंद स्वामी), पर्वत, पर्वतसेन, पियविहारी, पुष्पोत्तम, पुष्पोत्तमदास (लघु), पुष्पोत्तम प्रभु, पुष्पोत्तम सेठ, प्रभुदास (भाठ), प्रवीण, प्रह्लाद, प्रानजीवन (प्रान), प्रेमदास, प्रेम प्रभुदास, वंशीधर, बलराम, बलिदास, बलिनंद, बहादुर सिंह (कृष्णजड़), बालकेश, बालकृष्ण (गोस्वामी), बालिकी, बिहारिदास, ब्रह्म (ब्रह्मदास—महाराज बौरवल), भगवानदास, भगवान हित रामराय, भीम (भीमा), मधुराजन, मधुरानाथ, मवनमोहन (श्याम), मधुकद, मधुप, मनोहरदास, मराल, महीपति पांढे, माधुरीदास, माधौ, माधोदास, मानदास, मानिकचंद, मुकुंद प्रभु (माधौ), मुरती, मुरारीदास, नेहा, मोहन, पादवेद (जादो), रघुनंदन, रघुनाथ (रघुनाथदास), रघुवीर, रतनारे, रत्नलाल, रत्निक (गोस्वामी श्रीहरिराय-प्रसिद्ध), रत्निकदास, रत्निकन कौदास, रत्निक विहारी, रहसे, राघव (राधौ) दास, राजाराम, रामकृष्ण, रामदास, रामराय (रामराय के प्रभु), रघुनाथुरी, लच्छीदास, लच्छीराम, ललित, ललितानि, लालगुपाल, लालदास, लाल-सङ्केती, बल्लभ (गिरिधरन), बल्लभ (बल्लभदास), वासुदेव (लाल कल्याण), विचित्रविहारी, विठ्ठल, विठ्ठलगिरिधरन, विठ्ठलदास, विठ्ठलविपिन-विहारी, विठ्ठलविपुल, विष्णुदास, वेणुबाबा, बुंदावन (बुंदावन कौ चंद), बुंदावन हित-माधुरी, बेणीभायव, ब्यास, ब्रजईश, ब्रजजन (ब्रजजन-सिरताज), ब्रज जीवन, ब्रजनाथ, ब्रजपति, ब्रजभूषण, ब्रजभूषण, ब्रजराज, ब्रजाधीश, श्याम, श्यामधन, श्यामदास, श्यामदास हरिनारायण, श्यामसहाय, श्यामसुंदर, श्रीमद्, अतिरूपा आनीद, सयुगदास, सरसरंग, सुंदरदास, सुलसाज (सुजान), सुघरराय, सूरजप्रद, सूरदास (अष्ट-छाप—सूर, सूरज, सूरजदास, सूरजप्रभु, सूर के प्रभु, सूरदास, सूर के प्रभु, सूरश्याम, सूरस्वामी-आदि) सूरदास मवनमोहन, सूरसेन, हरि, हरिजीवन, हरिदास, हरिदास, (हरिदास के स्वामी के स्वामी स्वामी कुंजविहारी), हरिनारायण-श्यामदास, हरिवर, हरिवंश (श्यास), हित हरिवंश, विपुलजन, जिलोकजन, ज्ञान, ज्ञानचंद ।”

इन कवियों अथवा कीर्तन-कत्तियों को बल्लभ-संप्रदाय में आठ-श्रेणियों में विभाजित किया गया है, अर्थात् अष्टछाप के प्रत्येक कवि के अतर्गत आठ-आठ कवि (पद-रचयिता और गायक) अथ-भाव से नियोजित किये गये हैं । जैसे—

“सूरदास” (श्रेण) — “तानसेन, भलीलान, जगन्नाथ कविराय, हरिनारायण-श्यामदास, मुरारीदास, मुकुंददास, जन भगवान, कृष्णजीवन लच्छीराम ।”

“कुमवदास” (श्रेण) — “हित हरिवंश, हरिदास, रत्नलाल, लघु गोपाल, किशोरी, माधुरीदास, दास (शेषज), रत्निक ।”

“परमानंददास” (श्रेण) — “पद्मानाभदास, गोपालदास, आसकरण, भदाधरदास, सगुनदास, हरजीवनदास, मानिकचंद, रत्निकविहारी ।”

“नंददास” (श्रेण) — “हरिदास, ताज, कटहरिया, रामदास, धौबी, भगवानहित-रामराय, रघुनाथदास, जन हरिया ।”

“गोविंद स्वामी” (श्रंग) — “हरिराय, काका वल्लभजी (दास छाप), द्वारिकेश, ब्रजाधीश, न जयति, गंगावाही (बी विठ्ठल गिरिवरन छाप), कृष्णदास (दूसरे), कल्याण के प्रभु ।”

“चतुर्भुजदास” (श्रंग) — “न्यासदास, मानदास, दामोदरहित, विचित्रविहारी, श्रीभट्ट, प्रेमप्रभु, जगजीवन, विहारीदास ।”

“छोतवामी” (श्रंग) — “इयामदास, सुषरराय, केशकिशोरी, अग्रदास, भगवानदास, हृषीकेश, माधुरीदास, जन गिरिवर ।”

“कृष्णदास” (श्रंग) — “रामराय, गोपालदास (भाईला), चतुरविहारी, जन त्रैलोक, दास-साधो, जगजीवन, रूपमाधुरी, नागरीदास ।”

—जवाहरलाल चतुर्वेदी (१९१४)



मुगलसम्राटों की ब्रजभाषा-गेय-पद-रचनाएँ

राग-भैरव

साल के संग ललनाँ रैन-जाली, भए साल लोचन लगी हे भाली, माँनो बधू-पसीडे ।
ता-अधि पूरी ऐसी सोमा माँनो खेर लपटात जन्ह भवि, उड़ि परे रस-भैलीडे ॥
उन्ह के देखे भूख न रही री मेरे जान, खजन, कँमल, भौन, मृग लागे बसीडे ।
'साहू अकबर' पिय मोहन भरसौने नीबन, प्रलख लखे पुनि बाँठ छवि-डीली चितवत मीडे ॥

राग-टोडी

बार-बार बरली तोहि यँ कोम जगुराई ।
क्यों-क्यों प्यारे की प्रकृति, त्यो हीं पँच लए थाही में बडाई ॥
धन तेरी रूप, सुहाग, भाग जानें, सौतिन्ह घट लागत भाई ।
'साहू आखन' कहत री धन तेरी लँहनी, तेरी कृपा सुखवाई ॥

राग-भासावरी

प्यारी, बोली तू चलि री, होई तो सो कहति हो भनि जिन गह ।
नीची नार कहा कर रही री सुवरि, ऊँचे चित्त नैक मो-सन मत जिय में बह ॥
सबरी तियेन में सुही सुभाइ रही पिय-जिय में, कयो हठ हिएँ रहै ।
'साहू बहादुर' तू अति बिचित्र री, ता सो रस-ही-रस निबहै ॥

राग-भैरव

बनि बनित भाई, पिय मन-भाई, सौतिन्ह भवि माँनो फूली फुलवारी ।
एकन सौ नैन-सैन, एकन सौ मीठे बँन, पाखेतें अंक भरत भई झूनी छवि भाई ॥
जसम मधु-रितु फूली, इत काम-बेली, पिय-तिय दोऊ अति इकवाई ।
अति सुख दियो दोऊ बिबसैन राई, 'सुलतान सलैम' पिय रुसी मनाई ॥

क्याल-भैरव

ऐसेँ देखियतु लालन, जागे भाग हमारे आज रस-भीने ।
एक बसंत जान सब कोँ उत बैखत, कृपा ते करि सुगंध मवीने ॥
उदै भएँ गरम दोऊ औ रीते भाए, अजन अघर लगाइ लीने ।
'सवाईराग' महमद साहू छवि-नायक, या ते मन बस कीने ॥

राग-टोडी

अब ही उरि बँ रे ईंदुरिया कन्हूई, मेरी पँच-रँग-पाट की ।
हा-हा खाल तेरे पँथा परति हों, लालच मोहि मयुरा-नगर-हाट की ॥
मेरे सग की डुरि निकति गई, हो न रही किहुँ घाट की ।
'तान-तरंग' प्रभु भगरी ठान्यों, हंसत लुगई बाट की ॥

मीरा : पद-विधान

श्री कुमारी जगदीश्वरी सिंह

मीरा-रचित भजन राग-रागिनियो में वैंचे पदों के रूप में उपलब्ध होते हैं। मीरा का काव्य मुक्तक-शैली में है, प्रबध शैली में नहीं। इसलिए उसमें विषय-विस्तार नहीं है, साथ-साथ भावनाओं का घनत्व और वर्ण-विषय का सकोच भी है। उनके पदों का विषय कृष्ण तथा उनकी कुछ लीलाएँ हैं। लीलाओं में विशेष रूप से दान-लीला, मान-लीला, पनघट-लीला, कुबरी-लीला, गोवर्धन-लीला, रास-लीला, नाग-लीला आदि हैं। इन लीलाओं का भी वर्णन विस्तार से नहीं किया गया है।

मीरा की छाप से प्रचलित कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें उनकी जीवन-सबची घटनाओं का उल्लेख है। ऐसे पद अधिक नहीं हैं। “माता और मीरा का बार्तालाप,” “ऊदावाई और मीरा का बार्तालाप” तथा कतिपय भिन्न स्वतन्त्र प्रसंगों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। कुछ पद राणा और ‘सिसौद्या’ को संबोधित करके लिखे गए हैं, जिनमें कृष्णके प्रति मीरा के अटल प्रेम की अभिव्यक्ति है। इनमें से भी कुछ पदों में उसके जीवन की कुछ घटनाओं का संकेत हुआ है जैसे बिष का प्याला पिलाये जाने, गले में साप डालने जैसी घटनाएँ हैं। ये राणाके कुचक्र की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं।

कुछ ऐसे भी पद मिलते हैं, जिनमें वे गोपी-रूप में अपना प्रेम-निवेदन करती हैं। इन पदों में ‘मीरा’ उस ‘गोपी’ से भिन्न नहीं दिखाई देती जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा था—

“सत्यं सर्वविषयांस्तव पादभूतम् . . . ।”^१

और अपने को उन पर लोछावर कर दिया था।

पूर्णतया भक्ति-भावना से संवधित है जिनमें प्रेम तथा विरह की छाया नहीं है, केवल शात-भाव का प्राधान्य है। ऐसे पदों में ही मीरा के कृष्ण-सबची विचार स्पष्ट होते हैं। कुछ अन्य पद ऐसे भी हैं जिनमें वह स्वयं एक योगिनी के रूपमें हैं तथा योगी-रूप कृष्ण से आत्म-निवेदन करती हैं।

निर्गुणी सत्ता के समान मीरा के पदों में प्रेम की मस्ती, अगहृदनाद की झकार, त्रिकुटी, शून्य, निरजन, राम, साहब, साईयाँ का संबोधन, गुस्की महिमा का वर्णन आदि का भी उल्लेख मिलता है।

मीरा के विरह-निवेदन सबची पद सर्वोत्कृष्ट हैं। इनमें कदना, वेदना और टीस कूट-कूट कर गरी है। विरह की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण भी है। थोड़े पदों में कृष्ण के रूप-सौंदर्य का चित्रण किया गया है। मीरा के पद उसके सरल हृदय के उच्छ्वास हैं—हृदय की वेदना की अनुभूतियों से परिप्लावित। उनमें आदि से अंत तक कोई कथा नहीं है, हृदय की वेदना का अनुभव है।

मीरा का समस्त काव्य गेय है। गीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हूँ उनके पदों में मिलती हैं। गीति-काव्य की प्रधानतया दो विशेषताएँ होती हैं—प्रथम पदों की सगीतात्मकता, द्वितीय स्वानुभूति का प्रकाशन। अतः जिस काव्य में सगीतात्मकता तथा आत्मानुभूति एक साथ पाई जाय वह गीति-काव्य माना जा सकता है। मीरा को गीति-काव्य रचयिताओं में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। उसके पद स्वाभाविक वेदना-विकास के द्योतक हैं। सगीत का अविरल प्रवाह आदि से अंत तक पदों में मिलता है।

^१ भवविभोर्भूतिभवान् शादितु नृशस सत्यं सर्वविषयांस्तव पादभूतम् ।

भक्ता भजत्य दुरवग्रह मा त्पजात्मान्देवोयथाऽऽविपुल्लो भजते भुमुक्षुत् ॥

मीरा के पदों में अतर्जगत् का चित्रण ही प्रधान है। मीरा अपने प्रेम और विरह के निवेदन में इतनी सत्सीन हो जाती है कि बहिर्जगत् का प्रभाव अस्पष्ट होने लगता है। इसी प्रकार के पदों में उसकी आत्मा की गहरी वेदना निहित पुकार है।

“कोई कहियो रे, प्रभु-भावन की।

भावन की, मन-भावन की ॥

आप न आवे लिख नहि मेजै, बाँध पड़ी ललचावन की।

ए दई नैणें कष्टी नहि मानें, नैदिया बहै जैसे सावन की ॥

कहा कहे कछु बस नहि मेरी, पाँख नहौं डठ जावन की।

‘मीरा कहै प्रभु’ कबरे मिलोये, बेरी नई हूँ तेरे दाँवन की ॥”

इस पद में उनकी व्याकुलता, वेदना की तीव्रता और भावों का आलोकन स्पष्ट होता है। दुःख चरम पर पहुँच गया है। शरीर ही वधन हुआ जा रहा है। निश्चित समय की अवधि व्यतीत हो चुकी है। उसके पास ‘पख’ भी तो नहीं है जो उड़कर प्रिय के पास पहुँच जाय।

गीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ मीरा के पदों में मिलती हैं। यह माना जाता है कि मध्यकालीन भक्त-कवियों की रचनाओं में गीति-भावना जितने शुद्ध रूप में मीरा के पदों तथा तुलसी की “विनय-पत्रिका” में मिलती है उतनी उस समय की किसी भी रचना में नहीं है।

पदों में अलंकार-भोजना स्वाभाविक है। अलंकारों को लाने के लिए मीरा ने विशेष प्रयत्न और कवित्व-शक्ति का व्यय नहीं किया है। उनका उद्देश्य साधारण ढंग से अपने प्रेम और विरह का निवेदन करना रहा है। अतः भावोद्गार ‘स्वात सुखाय’ ही व्यक्त हुए हैं। इसी से हृदय-स्थित भाव इनमें सरल ढंग से पद-बद्ध हो गए हैं। इन पदों के सहज, स्वाभाविक अर्थ में ही इतना बल है कि सीधे हृदय की छूते हैं। कृष्ण-भक्त-कवियों ने कृष्ण के जिस रूप-सीदों का वर्णन इतना बढ़ा-बढ़ा कर किया, उसे मीरा ने केवल एक पद की परिधि में ही सीमित कर दिया, जिसमें कृष्ण के जीवन और शैशवावस्था का पूर्ण समन्वय है—

“बस्यो म्हारे नैनाण भाँ नैबलाल।

भोर-मुण्ड मकराकृत कुंडल, धरण तिलक सोहँ भास ॥

मोहण-भूरत साँवराँ सूरत, नैनाँ बण्या बिसाल।

अधर सुषारस मुरली राजाँ, उर बैलैणता भास ॥

‘मीरा’ प्रभु संतों सुखदायाँ भगत बङ्गत घोपाल ॥”

मीरा ने न प्रवच-काव्य लिखा और न लिखने की चेष्टा ही की। अधर-अधर कृष्ण की कुछ लीलाओं का उल्लेख पदों में है, परन्तु उन लीलाओं में से अधिकांश का वर्णन भागवत में वर्णित लीलाओं के समान नहीं है, यद्यपि आधार भागवत का ही है।

मीरा के भाव इतने जटिल नहीं हैं कि उन्हें सुलझाने का बारबार प्रयत्न किया हो। भावों की पुनरावृत्ति पदों में मिलती है जो गीति-काव्य के लक्षण के अनुकूल ही हैं। एक पद एक संपूर्ण भाव का धोतक है। पूरे पद में अपने भावों को व्यक्त करके अंतिम पंक्ति में मीरा की छाप देकर अपनी उत्कट मनिलापा को व्यक्त कर देती है। उसी अंतिम पंक्ति में उसका उद्देश्य और निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है।

पदों की भाषा सरल और सुबोध है। पदों को प्रामाणिक सफलन के प्रभाव में भाषा-नवकी प्रश्न को उठाना कठिन है। जनसाधारण में यह पद इतने अधिक प्रचलित रहे हैं कि भाषा में रूपांतर हो गया है। जो संकलन अभी तक प्राप्त है उनमें विशेषरूप से राजस्थानी, वज्रभाषा और गुजराती का नमिश्रण है तथा कहीं-कहीं पर फारसी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। मीरा के पद गीति-शैली की दृष्टि से पूर्ण मकन हैं।

किसी-किसी संकलन में मीरा के पदों में रागों का निर्देश मिलता है। मीरा ने उन पदों को स्वयं गायक और ताल में बैठकर उन-उन रागों का निर्देश किया था, यह कहना कठिन है। ये पद इनने तोर-मिद

है कि गायक और साधु-भट्टली आज भी इन्हे गाती रहती है। विदित यह होता है कि सग्रह-कर्ताओं ने स्वयं मनमाने ढंग से इन रागों का निर्देश किया है, क्योंकि एक ही पद विभिन्न सकलनों में विभिन्न रागों के अंतर्गत मिलता है। जो कुछ भी हो संगीतात्मकता इन पदों का प्राण है। कमला देवी गर्ग का कथन है—

“लोक-गीतों की भाँति उन्हो (मीरा) ने भी विशेष राग-रागिनियों की धुन अपनाई होगी। इसके अतिरिक्त, राजस्थान में प्रचलित रागिनियों एवं पद्धतियों को ही प्रथम श्रेय मिला होगा। राजस्थान में मारू (कुछ संगीतज्ञ मारवा को मारू मानते हैं, और कुछ मालव को मारू कहते हैं। कुछ मालव की भार्या को मारू मानते हैं), मेवाड़, मारवा, नाँड आदि का प्रचलन विशेष है। नाँड और मेवाड़ा तो पदों की प्रचलित धुन है। लोक-गीतों में इसका प्रचार विशेष है। अतः कीर्तनों में इनका प्रयोग किया जाना अधिक संभव जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न ऋतुओं एवं अवसरों पर गाए जाने वाले लोक-गीतों की धुन जैसे—‘होली’, ‘कजरी’, सावन आदि को भी अपनाया होगा। व्यक्तिगत रूप से स्वयं अपने गाने के लिए संभवतः उन्होंने अपने भावों के अनुकूल कुछ राग-रागिनियों का व्यवहार किया हो। रिषभ, धैवत, मध्यम की कोमलता एवं तीव्रता विभिन्न वृत्तियों एवं मनोदशाओं का संकेत करती हैं। कोमल रिषभ (२) से वैराग्य की ध्वनि फूटती है। कोमल धैवत (४) से कल्याण का बोध होता है। तीव्र मध्यम (५) हृदय की अभिलाषाओं की तीव्रता की ओर संकेत करता है। अतः ‘रे’, ‘ध’, ‘म’ का प्रयोग जित राग-रागिनियों में होता होगा उनका वे विशेष प्रयोग करती होंगी। भैरवी के सारे कोमल स्वरों ने, संभवतः उन्हें आकृष्ट किया हो। पीलू में आतुरता और व्याकुलता ध्वनित होती है। वेदना के अग्र्य उसमें झटके से प्रतीत होते हैं। बगोबरी में कल्याण और आनन्द का बोध होता है। इसी प्रकार सौरभ, भलार, बिहारी, बेश के स्वरों में मीरा ने पदों को गायक अपने को अभिव्यक्त किया होगा।”

उपर्युक्त अनुमान अंशतः ठीक जान पड़ता है। चिरहू के पदों में अभिव्यक्त होनेवाली पीड़ा की भावना देश, बागेश्वरी आदि रागों से व्यक्त की गई होगी, परन्तु साथ ही साथ मीरा के पदों में निरंतर बहने वाले आनंद के स्रोत का भी दर्शन होता रहता है। अतः उन्होंने कुछ इस प्रकार के रागों का भी प्रयोग किया होगा जिनसे आनंद की अधिक अभिव्यक्ति होती है। उनके पदों में कर्ण-कटु-शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता, पद बहुत बड़े भी नहीं हैं। पदों का प्रथम चरण इतना छोटा है कि स्वभावतः उसकी पुनरावृत्ति की जा सकती है।

मीरा ने अधिकारा रूप से पदों में उन्हीं छंदों का उपयोग किया है जिनको उससे पहले के कवि करते चले आए थे। गेय पद राग-रागिनियों में होते हैं। उनमें छंद-योजना भी होती है, यद्यपि गेय होने के कारण उनमें आए छंदों में और साधारण छंदों में कुछ अंतर अवश्य होता है। पदों में एक टेक होती है और उस टेक के अनुसार निश्चित छंद चलता है। प्रत्येक चरण के अंत में टेक की पुनरावृत्ति होती है। एक टेक के साथ कई प्रकार के छंद और एक छंद के साथ कई प्रकार की टेक आ सकती है, परन्तु टेक का और छंद के अंतिम यति-खंड का स्वरान्वरोह एक-सा होना चाहिए। कहीं-कहीं पर छंद के पूरे चरण की ही टेक होती है और कहीं-कहीं आंशिक। छंद का अंतिम यति-खंड यति के अंतिम खंड से अनिवार्यतः मिलता है और ऐसी अवस्था में यति के निश्चित अंतिम खंड के पहले कुछ अनुकूल मात्राएँ भी बढ़ाई जा सकती हैं, किंतु उस अंतिम खंड के पहले एक यति अवश्य होगी। विष्णु-पद छंद २६ मात्राओं का होता है। १६ और दस के बाद यति का प्रयोग होता है। विष्णु-पद की टेक के साथ १० मात्रा के पहले कितनी ही अनुकूल मात्राएँ आ सकती हैं, जैसे—

“बाबल देखाँ झरी स्याम, बाबल देखाँ झरी।

काला पीला घटयाँ ऊमडयाँ, बरस्याँ ध्यार घरी।”

पदों में सर्वत्र छंदों का ही प्रयोग होता है। छंद और पदों में केवल इतना ही अंतर होता है कि पद में प्रथम पंक्ति टेक की होती है और चरण की अन्य पंक्तियों का अन्तानुशास प्रथम पंक्ति के अनुकूल होता है। टेक का और छंद का अभिन्न संबंध है। कुछ निश्चित टेकों के साथ कुछ निश्चित छंद ही पदों में रखे जा सकते हैं, जिनका स्वराबरोह उसी टेक की गति से साम्य रखता है। १६ मात्रा की टेक के साथ सार छंद (१६-१२) का प्रयोग मीरा ने किया है—

“भज भेंग, चरैग कँवल अवर्णासी ।

जे तई वीसाँ बरैग गणैग सँ, ते तई उठु जासी ।”

कहीं-कहीं ३२ मात्राओं की टेक के साथ भी सार छंद का प्रयोग किया है, जैसे—

“निपट बंकट छब अटके, म्हारे गैणाँ निपट बंकट छब अटके ।

देखाँ रूप मदन भँहण री, पियत पियूखैग मटके ॥”

कहीं पर पूरा चरण ही एक टेक के रूप में है—

“स्याम बिण कुलपावाँ सखणी, कुण म्हाँ धीर बंधावाँ ।

यो संसार कुबुध री भाँझी, साव-सगत ना भावाँ ॥

सावाँ जण री निचाँ ठाणाँ, करम रा कुगत कुभावाँ ।

साव-संगत माँ भूल ना जावाँ मूरिख जणम गुमावाँ ॥

भीरौ, रे प्रभु थारी सरणाँ, जीव परम-पद पावाँ ।”

तीस मात्राओं की टेकें भी मीरा के पदों में मिलती हैं—

“बाणै काँई-काँई बोल सुणावाँ, म्हाराँ साँवरा गिरधारी ।”

१२ मात्राओं की टेक के साथ सार छंद का प्रयोग मीरा के पदों में विशेष मिलता है, क्योंकि यह १२ मात्राएँ सार छंद की अंतिम १२ मात्राओं के बराबर होती हैं और लग में एक रूप हो जाती हैं—

“म्हाँ, गिरधर रँग-रँति ।

पबरँग बोला पहेरघाँ सखि म्हाँ, सरमत खेत्याँ जाती ॥”

२६ मात्राओं (१४-१२) की टेक का प्रयोग सरसी छंद के साथ एक पद में मिलता है—

“बे सत बरजाँ साईँ री, साघाँ दरसन जावाँ ।

स्याम रूप हिरवाँ बसाँ म्हारे और ना सावाँ ॥”

११ मात्राओं की टेक के साथ भी सरसी छंद (१६-११) का प्रयोग हुआ है, क्योंकि इसकी अंतिम पंक्ति ११ मात्राएँ टेक के अनुकूल होती हैं। टेक की ११ मात्राओं में गीतात्मकता के अनुसार मात्राओं में परिवर्द्धन भी हो सकता है। उदाहरण के लिए—“साँवरे मारघा तीर” इनमें १२ मात्राएँ हैं, परंतु उच्चारण ११ मात्राओं के अनुरूप ही होता है, क्योंकि ‘साँवरे’ शब्द के ‘३’ अक्षर जो ह्रस्व करके पढ़ा जायगा। इन ११ मात्राओं की टेक के पहले भी कुछ मात्राएँ या मरनी हैं परंतु ऐसी अवस्था में टेक में अंतिम ११ मात्राओं के पहले यत्ति होगी, जैसे—

“जाणाँ मलबा जमणाँ का तीर ।”

इसमें ११ के पहले ६ मात्राएँ हैं। इस प्रकार यह १७ मात्रा की टेक है, परंतु ६ मात्राओं ने बाद एक यत्ति लगती है। इसी प्रकार १५ मात्राएँ भी हो सकती हैं, जिनके साथ मरनी ६: १८ प्रयोग होता है—

“जाणाँ मलबा जमणाँ का तीर ।

बा जमणाँ का निरमल पाँगी, सीतल होयाँ मरीर ॥”

११ मात्राओं के पहले और १२ मात्रा जोड़ कर २३ मात्राओं की टेक भी अंतिम ११ पदों में मिलती है। इसी दशा में १२ मात्राओं पर यत्ति का प्रयोग होता है और उतरे गए ११ छंद का प्रयोग है—

“जाणाँ रे मोहणाँ, जाणाँ चारी भीत ।

प्रेम-भगति से पैदाँ म्हारो, और न जाणाँ रीत ॥

इमरत पाइ बिबा क्यूँ दीजाँ, कुण गाँव री रीत ।

‘मीरा’ रे प्रभु हरि प्रपिताम्ही, अपणो जण रो भीत ॥”

सरसी छंद के प्रयोग में २४ मात्राओं तक की टेकें आई हैं, परंतु उनके अंतिम भाग की ध्वनि अनुकूल होने के कारण गेयता में कोई बाधा नहीं पड़ती, जैसे—

“प्रभु जी, ये कयाँ गया नेहड़ा लगाइ ।

छोड्या म्हाँ विसबास सँगाती, भीत री बाती जगाइ ॥

बिरह समद माँ छोड गया छो, नेह री नाख उचाइ ।

‘मीरा’ रे प्रभु कबरे मिलोगा, ये बिण रह्याँ न जाइ ॥”

सरसी छंद में ११ मात्राओं के पहले भी टेक में कुछ अधिक मात्राओं का प्रयोग मीरा के पदों में मिलता है, जैसे—

“भावाँ मोहणाँ जी, जोवाँ चारी बाट ।

छाण-पाण म्हारे ‘जेक’ गा भावाँ, तेंणाँ झुलाँ कपाट ॥”

११ के पहले १२ मात्राएँ हैं। अंतिम ११ मात्राएँ सरसी छंद की अंतिम ११ मात्राओं के अनुकूल ही हैं, इसलिए लय में कोई अंतर न होने के कारण टेक में ११ मात्राओं के पहले कहीं अनुकूल मात्राओं को भी जोड़ा जा सकता है—

“हेरी म्हाँ तो इरद बिबाणी, म्हारा वरवणाँ जाण्याँ कोइ ।

घायल री गत घायल जाण्याँ हिबड़ो भगैण सँजोइ ॥

जोहर कीमत जोहराँ जाण्याँ, क्या जाण्याँ जिण खोइ ।”

इस पद में सरसी छंद के साथ बीर छंद की टेक आई है और इसकी अंतिम ११ मात्राएँ सरसी के अनुकूल पड़ जाती हैं ।

रूपमाला (१४—१० अंत में गुरु-लघु) छंद के साथ १४ मात्राओं की टेक का भी प्रयोग हुआ है, जिसमें ४ मात्राओं के बाद यति होती है और शेष रूपमाला की अंतिम १० मात्राओं की लय के अनुकूल होती है । उदाहरण के लिए—

“भैल थें परस, हरि के चरण ।

सुगम सीतल, कँवल कोमल, जगत ज्वाला-हरण ॥

इण चरण प्रह्लाव परस्यो, इंद्र-पदवी-चरण ।

इण चरण ध्रुव छटल करस्यो, सरण प्रसरण-सरण ॥”

इस पदमें रूपमाला छंद ही पूरी टेक के रूप में प्रयुक्त हुआ है—

“रास पूणो जणबिया री, राधका अवतार ।

ग्याँ-चौरस भंडी चौहेड, खेलताँ संसार ॥

गिरधराँ री रची बाजी, जीत भावाँ हार ।

साध-सता, ग्यानवंता, धालताँ उच्चा ॥

दासि ‘मीरा’ साल गिरधर जोवणाँ छिण-क्यार ।”

मीरा ने अपने पदों की रचना उक्त विशेष छंदों को दृष्टिकोण में रख कर साभिलाष चाहें न की हो, परंतु उस समय के प्रचलित छंद गीतात्मकता के कारण स्वतः पदों में आ गए हैं ।^१

^१. मीरा के पदों के कितने ही पाठ मिलते हैं, जो विविध प्रयोगों में विद्वानों ने दिये हैं । इस लेखिका ने ‘मीरा-स्मृति-त्रय’ में दिये हुए पाठ को स्वीकार किया है और उस से ही उदाहरण लिये हैं ।

संगीत-निपुण बाई मीरा ने गेय-पद-सम्राट् 'सूर' और संगीत-सम्राट् 'तानसेन' की भाँति कुछ नये रागों का निर्माण किया है। संगीतज्ञों में शुद्ध मलार के अतिरिक्त मेघ मलार, नट मलार, गौड़ मलार, देश मलार, सँभेरी मलार, सोरेठ मलार, घुरिया मलार, पावस मलार, आवणो मलार, मोहन मलार, गुंड मलार, रूपमंजरी मलार, सूर मलार, घरजू दास की मलार, रामदासी मलार, और मियाँ (तानसेन) की मलार के साथ-साथ "मीरा की मलार" भी प्रसिद्ध है। ये मलार रचयिता 'मीरा' कौन-थी इस विषय में संगीतज्ञों का भारी मतभेद है। कोई इन्हीं भक्ताग्रगण्य बाई मीरा को मानते हैं और कोई प्रसिद्ध संगीतज्ञ 'गोपाल नायक' की पुत्री, जिसका नाम भी मीरा या को मानते हैं। बात जो कुछ भी हो, पर है यह मलार स्त्री-गायिका की—रचयिता की उत्पत्ति और उसमें अपनी सात विशेषता है। संगीत के आचार्यों ने मलार, मल्लार या मल्हार को मेघजन्य राग माना है, किन्तु 'संगीत दामोदर' के लेखक ने इसे संपूर्ण आति का राग मानते हुए इसकी 'षट् रागों' में स्थापना की है। एवं इसकी—बेलावली, पूर्वी, कानडा, भाषवी, कोड़ा और केंदरिका पाँच स्त्रियाँ मानी हैं। संगीत दर्पणकार ने भी इसे प्रधान षट् रागों में चौथा स्थान देते हुए लिखा है—

“भैरवः पंचमो माटो, मल्लारो गौड मालवः।

देशव्यवहारे षडरागाः प्रोच्यते लोकविभूतः॥”

राग-विबोधके कर्ता ने भी विविध राग-रागिनियों का वर्गीकरण करते हुए इसे मेघ-जन्य राग, मयक मुखी ने गौड-जन्य राग, राजन्तरिणी के कर्ता ने मेघ-जन्य राग, राग-मंजरी के रचयिता ने केंदरिका-जन्य राग और श्री भातखंडे ने काफी मेल-जन्य राग इसे माना है। मियाँ तानसेन अपनी 'राग माता' में मलार का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

“नट-सारंग सँजीयते, मेघराग की तान।

मिलै एक करि गाइए, ये 'मल्लार' सुजान ॥”

अस्तुः मलार में पाँच—“सा, रे, ग, प, और ध स्वर लगते हैं। धँवत—‘ध’ इसका प्राण है। रिपन—‘रे’ और धँवत—‘ध’ तीव्र, पड़न—‘स’ बावी, तथा पंचम—‘प’ संवादी स्वर है।

घुरपद-गायक इसमें निषाद—नि (कोमल) का प्रयोग भी करते हैं और व्यासिया तीव्र निषाद का। कुछ चाल में भी फरक है। एक ब्रज की मलार भी प्रसिद्ध है, जिसे 'रासधारी' गाया करते हैं और जो संगीतज्ञों में 'अताई मलार' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अन्य मलारों की भरेसी मधुर और सुगम है। इसके स्वर हैं—

“सा रे, नीसा सा ध नी प ।”

मीरा की मलार में ऋषभ—रे तथा धँवत—ध, चढे (तीव्र), गधार—ग और मध्यम—म तथा निषाद—नि उतरे (कोमल) स्वर लगते हैं। आरोह में गधार और निषाद छोड़ दिवें जाते हैं। अवरोह में भी उसका कम ही व्यवहार होता है। अतएव इसको चाल है—“रे, मम पम न प सा ।” इससे ज्ञात होता है कि श्री 'मीरा' संगीत में कितनी पारंगत थीं।

श्री चैतन्य और साकार-निराकार वाद

श्री राजनारायण कपूर

ईश्वर साकार है या निराकार? इस प्रश्न को लेकर दर्शन-शास्त्र के युद्ध-क्षेत्र में न जाने कितने भयंकर युद्ध हो चुके हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धाओं ने अपने बल और पराक्रम की आजमाइश की है। श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य जैसे महारथियों ने अपने तर्क-कौशल के द्वारा विपरीत दल के योद्धाओं को खिन्न-मिन्न कर डालने के प्रयत्न में कोई कसर नहीं रखी है, परन्तु समस्या उतनी ही जटिल होती गई है जितना तर्क-द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। साकारवादियों को निराकारवादियों की बुद्धि पर और निराकारवादियों को साकारवादियों की बुद्धि पर उतना ही खेद और अपने विचारों पर उतना ही दृढ़ विश्वास होता गया है। इस चिंतनवाद के अंत न होने का कारण है दोनों ओर के दार्शनिकों का सकीर्ण दृष्टिकोण। दोनों पक्ष के दार्शनिकों के विचार से निराकारत्व और साकारत्व वस्तुओं में परस्पर विरोधी गुण हैं और जिस प्रकार और वस्तुओं में परस्पर विरोधी गुणों का एक साथ होना असंभव है उसी प्रकार ईश्वर में भी परस्पर विरोधी गुणों का आरोप करना युक्तियुक्त नहीं। जितनी शक्ति साकार और निराकार के विवेकावाद में व्यर्थ व्यर्थ की गई है उसका एक शेष भी यदि यह विचार करने में लब्ध की गई होती कि ईश्वर के संबंध में परस्पर विरोधी गुणों का एक साथ रहना कहीं तक असंभव है, तो शायद यह समस्या कभी की सृजन में ही हल हो गई होती। क्या ईश्वर साकार होते हुए भी निराकार और निराकार होते हुए भी साकार नहीं हो सकता? क्या वह अमृत, अदृश्य, अरूप और सत्ता-मात्र होते हुए भी अनंत रूपवान्, अखिल रसामृतमूर्ति, भुवन-मन-मोहन, प्रेम-पुण, कण्ठा-सागर और क्रीडा-कौतुक-पूर्ण, चिन्मय लीला-विग्रह नहीं हो सकता?

साधारण बुद्धि से तो यह बात बिल्कुल असंभव-सी ही प्रतीत होती है। जिस वस्तु का कोई रूप नहीं वह फिर रूपवान् कैसे हो सकती है और जो रूपवान् है वह अरूप कैसे कहीं जा सकती है? किसी वस्तु में यदि किसी गुण विशेष का होना स्वीकार किया जाय तो उसके विपरीत गुण का उसमें न होना तो अपने आप ही स्वीकृत हो जाता है। किसी वस्तु को यदि सफेद कहा जाय तो यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि वह उसी स्थान पर और उसी समय स्याह नहीं है। इसी प्रकार यदि ईश्वर के संबंध में कहा जाय कि वह ऐसा है तो यह भी कहना ही पड़ता है कि वह वैसा नहीं है, परन्तु ईश्वर के संबंध में यह कहना कि वह वैसा नहीं है, उसकी अपूर्ण स्वीकार करना है। उसमें किसी न किसी गुण का अभाव मान कर उसे सीमाबद्ध करना है। इसलिये वेदांतियों ने निर्णय किया है कि ईश्वर के संबंध में कुछ न कहना ही ठीक है, उसकी सब से श्रेष्ठ वर्णन यही है कि वह अवर्णनीय है।

यदि ईश्वर के लिये यही अंतिम शब्द है तब उसके विषय में कुछ कहना-सुनना श्रवण-चित्तन करना दूर रहा, उसके प्रति संकेत करना भी असंभव है और जिस वस्तु का चित्तन नहीं किया जा सकता, जिसका कथोपकथन नहीं हो सकता, जिसका अन्य किसी भी प्रकार से निर्देश नहीं किया जा सकता, वह वस्तु ही कहलाने योग्य नहीं रहती, परन्तु यह सिद्धांत कहीं तक सही माना जा सकता है कि ईश्वर के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कहना भी तो उसके विषय में कुछ कहना ही है, दूसरे शब्दों में यदि उसके विषय में जो भी कहा जाय असत्य है तो यह भी असत्य है कि "उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय असत्य है" और यदि यह असत्य है तो स्पष्टतः यह मत है कि उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय असत्य नहीं है।

इतना ही नहीं, उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय सब सत्य है, वह सर्वशक्तिमान, सर्वगुणसंपन्न, अनंत और सीमाहीन है। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसमें न पाई जाती हो, ऐसा कोई गुण नहीं जो उसमें विराजमान न हो। हमें जो कुछ भी दृष्टियोग्य होता है, जो कुछ भी हमारे चित्तन का विषय बनता है या बन सकता है सब उसी की अनंत शक्तियों में से किसी न किसी शक्ति का पुच्छ प्रकाश है^१। उससे कोई वस्तु अथवा गुण पृथक् नहीं। यदि होता तो वह उसी अंश में भूपूर्ण होता।

“सर्वदेव्यं परिपूर्णं स्वयं भगवान्।

तारे निराकारं करि काहु व्याख्यान ॥”

—चै० च०, मध्य ६।१४०

वह तो सभी प्रकार से पूर्ण है। उसकी अनंत शक्तियाँ और अनंत गुण हैं। उसे निराकार या निर्गुण कहना हमारी सबसे बड़ी भूल है।

वह अवर्णनीय अवश्य है, किन्तु इस दृष्टि से नहीं कि वह निर्गुण है, बल्कि इस दृष्टि से कि उसके अनंत गुण हैं और उसका कंसा भी वर्णन उसके एक अंश का वर्णन है, उसका नहीं। वह निराकार अवश्य है, पर केवल निराकार नहीं। साकार भी है पर केवल साकार नहीं, उसके अनंत रूप हैं—

“एकई विग्रह तार अनंत स्वरूप ॥”

—चै० च०, म०, २०।१६४

यही तो ईश्वरत्व है।

शास्त्रों में भी भगवान् के इस पूर्ण रूप का वर्णन है। कहीं साकार पर विशेष जोर दिया गया है, कहीं निराकार पर। जिन शास्त्रों में ईश्वर के साकार रूप का वर्णन है उन्हें निराकारवादी नहीं मानते, जिनमें निराकार ब्रह्म का वर्णन है उन्हें साकारवादी नहीं मानते और यदि मानना ही पड़े तो जहाँ अपने सिद्धांत का खडन होता देखते हैं वहाँ लक्षणा-वृत्ति-द्वारा शास्त्रों का उलटा-मुलटा अर्थ निगल कर अपने मत की पुष्टि करने की चेष्टा करते हैं। इसमें उनका दोष भी क्या है? दोष तो है उनकी सांप्रदायिकता का जो उनकी बुद्धि को आच्छादित किए रहती है। सांप्रदायिक और हठधर्मी लोग सत्य की उपलब्धि के हेतु शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते। वे शास्त्रावलोकन तो अपने कल्पित विचारों की शास्त्रों से पुष्टि कराने के लिये करते हैं। शास्त्रों का सरल अर्थ उन्हें तभी तक ग्रहण होता है जब तक उससे उनका मतलब सिद्ध होता है, अथवा उनके मत की पुष्टि होती है, पर जब मान्य किसी विपरीत सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं तब निष्पक्ष भाव से शास्त्रोक्त ग्रन्थ सिद्धांतों में उभार ममत्व करने की अपेक्षा शास्त्रों की खोजतान करने लगते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि निराकारवादी ने समन्वयात्मक वृत्ति का थोड़ा-बहुत आदर किया है, परंतु विशेष ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी समन्वयात्मक वृत्ति कुछ नहीं, वह पूर्ण रूप में सांप्रदायिकता से भरी हुई है। निराकारवादी साकार-निराकार का समन्वय उस प्रकार करते हैं—

“ब्रह्म वास्तव में निराकार है, परंतु भक्तों पर अनुग्रह कर कभी-कभी विभिन्न रूप से आविर्भूत होता है। जिस प्रकार जल जगत् में बर्फ हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म निरंतर रूप से हुए भी कभी-कभी साकार हो जाता है, परंतु उसका यह साकार रूप मयिभ होता है। यह धरा ही माया में अभिप्लित हो कर रूप धारण करता है।”

इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह है कि ब्रह्म निराकार है मात्रा नहीं। मात्रा रूप में आधिक्य हो तो वह किनारा ही मुद्रा और किनारा ही मयिभमान क्यों न हो ईश्वर वा ॥ २०१ ॥ २१

१. कुरंगेर अनंत शक्ति तने तीन प्रधान, विषयविन, मायाशक्ति, जीवाशक्ति नाम।

—चै० च०.

अन्य मायिक पदार्थों के समान तुच्छ है। इसलिये निराकारवादियों का यह कहना कि ईश्वर साकार भी है और निराकार भी, केवल साकारवादियों के लिये रचा हुआ शब्द-जाल-सा प्रतीत होता है, समन्वयात्मक होते हुए भी यह वास्तव में समन्वयात्मक नहीं है। ईश्वर के रूप को मायिक कहना सूर्य में अवधारका का आरोप करने के समान है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में अवधारका नहीं रह सकता, उसी प्रकार चैतन्य-सत्ता-पूर्ण भगवान् में माया का कोई स्थान नहीं हो सकता—

“जहाँ कृष्ण तहाँ नाह माया अधिकार।”

श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

“विलज्जमानया यस्य स्थातुमीशापयेऽमुया।

विमोहिता विकल्पते ममाहमिति दुर्विधः ॥”

—भागवत (गी० प्रे० स०) २।५।१३

जितनी दूर ईश्वर की दृष्टि जाती है उतनी दूर तक माया पास आते लजाती है, धुँढ़ि-जीवगण उस माया से विमोहित हो जाते हैं और ‘मैं’ और ‘मेरेपने’ का अभिमान कर नाना प्रकार की बातें किया करते हैं—

“कृष्ण-नाम, कृष्ण-गुण, कृष्ण-लीला-वृन्द।

कृष्णैर स्वरूप संग, सब चिदानन्द ॥”

—चै० च०, म० १७।१३५

भगवान् चिद् वस्तु है, इसलिये उनसे सबब रखने वाली सभी वस्तुएँ उनके रूप, गुण, लीला आदि सही चिन्मय हैं। बहुत से लोग भगवान् का मनुष्यों की भाँति जन्म-ग्रहण और धेड़-त्याग करना देख कर उनके शरीर को प्राकृत समझ बैठते हैं, परन्तु गीता में भगवान् का वाक्य है—

“जन्म कर्म च मे विव्येवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥”

—गीता ४।६

हे अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म विव्य, अर्थात् अलौकिक है। इस प्रकार जो पुरुष तत्त्व से जानता है वह शरीर त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता, किंतु मुक्त हो प्राप्त होता है।

“अवजानति मां मूढा मानुषीं सनुमाश्रितम्।

परं भावमजानतो मम भूतमहेश्वरम् ॥”

—गीता ६।११

तथा—

“तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

शिपास्यजस्रमशुभानासुरीण्येव योनिषु ॥”

—गीता १६।१६,

अर्थात्, मूढ़ व्यक्ति मेरी सच्चिदानन्द मूर्ति को मानव शरीर समझ कर यह स्थिर करते हैं कि मैं प्रपञ्च के नियमों में बँध कर मायिक शरीर ग्रहण करता हूँ। वह नहीं जानते कि मेरा शरीर नित्य सच्चिदानन्द है। उन क्रूर और अधम मनुष्यों को मैं संसार में आसुरी योनियों में बार-बार फँका करता हूँ।

ईश्वर के साकार रूप के मायिक होने के विरुद्ध इससे अधिक और क्या शास्त्र-अमाण हो सकता है। श्री चैतन्य ने कहा है—

“प्राकृत करिया माने विष्णु कलेबर।

विष्णु निबा और नाहिं इहार ऊपर ॥”

—चै० च० भा० ७।११५

भगवान् के शरीर को प्राकृत भालने से बढ कर भगवान् के श्री चरणों में दूसरा कोई अपराध नहीं हो सकता^१ ।

शास्त्रों में प्रत्येक स्थल पर भगवान् के नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह के स्पष्ट प्रमाण पाए जाते हैं। निराकारवादियों ने उन्हें लक्षणा-भूति-द्वारा तोड़-भरोड़ कर अपना मतलब निकालने में बड़ी चतुराई दिखाई है ।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य से शास्त्रार्थ करते समय इस संबंध में अपने विचारों को प्रकट किया है। वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य इस समय के सर्व प्रधान भाषावादी पंडित थे। चैतन्य महाप्रभु जब सन्यास-ग्रहण कर जगन्नाथपुरी में श्री जगन्नाथ के दर्शन करने आए उस समय यह घटनाक्रम से श्रीमदिर में ही उपस्थित थे। वह चैतन्य के रूप, लावण्य, भाव-भंगी को और उनके शरीर से स्पष्ट सात्विक-भावों का निरंतर प्रकाश होते देखकर सहसा उनकी शीर झटका हुआ और वे उन्हें उसी समय अपने निवास-स्थान पर ले गये और उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। एक दिन श्रीमदिर से लौट कर भट्टाचार्य जी शिष्यों को वेदांत पढ़ाने बैठे। उन्होंने श्री चैतन्य से भी यह कहते हुए वेदांत सुनने का आग्रह किया कि 'वेदांत-श्रवण' सन्यासी का मुख्य धर्म है। इसका पालन किये बिना सन्यास कदापि नहीं टिक सकता। श्री चैतन्य बोले—“आप मुझे अपना प्रिय जान कर सदा मेरे ऊपर अनुग्रह किया करते हैं। मैं अवश्य आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, ” और वेदांत सुनने को तत्काल प्रस्तुत हो गए, सात दिन लगातार श्री चैतन्य वेदांत श्रवण करते रहे, लेकिन झिज्जल मोन रहे। आठवें दिन सार्वभौम ने उनके गीन का कारण पूछा। श्री चैतन्य ने उत्तर दिया—“जै निगंत भूख है। सत्य-असत्य, भला-बुरा समझने की बुद्धि में योग्यता नहीं। मैं तो केवल आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर तथा वेदांत-श्रवण सन्यासी का धर्म समझ कर वेदांत-सूत्र का पाठ सुन रहा हूँ। फिर भी वित्तपूर्वक यह कहने की आज्ञा चाहता हूँ कि आप जो ईश्वर-तत्व को निराकार, निर्विकार और निःशक्ति बतला रहे हैं, वह वेदांत-सूत्र का कल्पित अर्थ प्रतीत होता है। उपनिषदों के मुख्य अर्थ को वेदव्यास ने निबड्डन सूत्र में वर्णन किया है। वही मुख्य अर्थ जानने योग्य है। आप मुख्यार्थ छोड़कर गौण अर्थ को कल्पना करते हैं। अथवा अभिधा-भूति छोड़ कर गौण लक्षणा-भूति से वेदांत-सूत्रों का अर्थ कहते हैं। वेद-व्यास स्वतः प्रमाण है, इसमें संदेह नहीं; परंतु उसी समय तक जब तक कि उनके मुख्य अर्थ पर ध्यान रखा जाय। सूर्य जिस प्रकार स्वयं प्रकाश होते हुए भी बादलों के धिर आने से छिप जाता है उसी प्रकार लक्षणा-भूति की सहायता से किया हुआ स्वकल्पित भाव्य वेद-सूत्रों के सरल और वास्तविक अर्थ को भाष्पादित कर देता है।”

‘वह कर्म करते हैं’—इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् के मनुष्य जैसी प्राकृतिक नर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं, बल्कि उनका शरीर और इंद्रियाँ अप्राकृत हैं।

१ ईश्वर श्री विग्रह सच्चिदानन्द-दाकारः । ते विग्रह कह जल नुबेर निकार ॥

जे न माने तेई तो पाखंड । प्रसूदय, इय जेह रूप बन ईश्वर ॥

—श्री० च०, म० ६।१६६-१६७

चिदानंद कृष्ण विग्रहे भायिक करि मानि । एई बड पाप तय चैनयें भागो ॥

—श्री० च०, म० २२।१५

२. उपनिषद शब्दे जेई मुख्य अर्थ हय । तेई अर्थ मुख्य व्यास पुने लग हय ॥

मुख्यार्थ छोडिया कर गौणार्थ कल्पना । अभिधा भूति दर्शिक कर शब्देर तजना ॥

प्रमानेर मध्ये भूति-अमान प्रवाल । भूति जे मुख्यार्थ बटे, तेई से प्रवाल ॥

—श्री० च०, म० ६।१३३-१३४

यही कारण है कि उनका शरीर मनुष्य जैसा दीखने पर भी उससे विलकुल भिन्न है। उसमें ऐसा विलक्षण सौंदर्य है कि उसे देखते ही जीव सब कुछ भूल कर उसमें तन्मय हो जाता है। अनेको बार देखने पर भी वह नित्य नवीन और उत्तरोत्तर अधिक सुंदर प्रतीत होता है। उसे जितना देखा जाय उतना ही उसे देखने की और प्रबल इच्छा होती है—

“तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शङ्खमनसो महोत्सवम्।”

—भागवत (गी० प्र० स०) १२।१२।४६

इसीलिए भक्त कहता है—

“जन्म अवधि हम रूप निहारल, नयन ना तिरपित भेल।”

—च० च०,

जिस प्रकार निराकारवादी निराकार ब्रह्म को सत्य और उसके साकार विग्रह को मायिक मान कर साकार और निराकार का समन्वय करने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार साकारवादी भी कभी-कभी भगवान् के साकार और निराकार दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं, परन्तु साकार को सत्य और निराकार को असत्य, अथवा जीव का भ्रम बतला कर इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करते हैं। उनका प्रयत्न भी उतना ही निष्फल होता है जितना निराकारवादियों का। यदि एक बार यह स्वीकार कर लिया जाय कि निराकार भी भगवान् का एक रूप है तो उसे किसी भी युक्ति से मायिक नहीं सिद्ध किया जा सकता। भगवान् के सविशेष रूप को उनका रूप मान कर फिर उसे मायिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है, सत्य के साथ असत्य का अथवा चित् के साथ अज्ञ का संबंध नहीं हो सकता।

भगवान् के रूप को ठीक प्रकार से निश्चित करने के लिए दो बाजों को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। एक तो साधारण बुद्धि की क्षमता और दूसरे भगवान् की पूर्णता। भगवान् की पूर्णता तो साकारवादी और निराकारवादी दोनों ही स्वीकार करते हैं, पर जिस बुद्धि से भगवान् के रूप का निर्णय किया जाता है उसकी कमजोरी दोनों में से कोई भी ठीक-ठीक स्वीकार नहीं करना चाहता। यद्यपि वेद बार-बार कहते हैं कि भगवान् साधारण बुद्धि की पहुँच से बाहर हैं और भारतवर्ष के अधिकांश तत्त्ववेत्तागण तथा बहुत से पाश्चात्य दार्शनिक एक प्रकार से इस बात को स्वीकार भी करते हैं, परन्तु फिर भी उनका यह विश्वास मालूम पड़ता है कि कम से कम भगवान् के मध्य में कुछ प्रश्नों का उत्तर हमारी साधारण बुद्धि की सहायता से अवश्य दिया जा सकता है। ‘भगवान् साकार हैं या निराकार’, ‘एक हैं या अनेक’, ‘ससार से पृथक् हैं या अपृथक्’ इन प्रश्नों को साधारण बुद्धि बगैर किसी कठिनाई के हल कर सकती है। ‘भगवान् की पूर्णता और उनके रूप को निर्धारित करने की हमारी साधारण बुद्धि में क्षमता’ इन दोनों बातों पर पूर्ण रूप से विश्वास कर हम भगवान् का रूप निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु जब विचारों के सर्प में एक विश्वास की दूसरे पर जबरदस्त ठेस लगती है, जब बुद्धि अन्य पदार्थों की भाँति भगवान् को भी अपने सचि में डाल कर उसे एक विशिष्ट रूप देने का प्रयत्न करती है और भगवान् का रूप बुद्धि के सीमित और सकीर्ण सचि में पूर्णतया नहीं समाता, तब स्वाभिमान के कारण अपनी बुद्धि की कमजोरी स्वीकार न कर भगवान् के रूप में काट-छोट करने का प्रयत्न करते हैं।^१ यदि वह साकार रूप को स्वीकार करते हैं तो निराकार को अस्वीकार करना पड़ता है और निराकार को स्वीकार करते हैं तो साकार को अस्वीकार कर देते हैं। उनकी तुलना प्राचीन ग्रीस के एक विख्यात डाकू ‘प्राक्तेस’ से की जा सकती है। उसका

^१ हस्त पद मुख मोर नाहिक सोचन । एई मत बेदे मोर करे विडंबन ॥

कासी से पढाय बेता प्रकाशानंद । एई बेदा करे मोर भंग दांड खंड ॥

नियम था कि जब कोई व्यक्ति उसके चगुल में फँस जाता तो वह उसे अपनी चारपाई पर लिटा दिया करता, यदि उसका शरीर चारपाई से लबा होता तो उसका सर काट डालता और यदि छोटा होता तो खींच-खींच कर चारपाई के बराबर कर लिया करता। इस खींचतान और काट-झट में बेचारे मनुष्य के प्राण निकल जाते और प्राकृतस्व उसे छठा कर फेंक दिया करता। प्राकृतन और तत्ववेत्ताओं में अंतर केवल इतना ही है कि प्राकृतस्व उस मरे हुए मनुष्य को फेंक दिया करता था, परन्तु तत्ववेत्ता अपने बुद्धि-कौशल से भगवान् के पूर्ण रूप की हत्या करने के पश्चात् उसके रहे-मड़े कृत्रिम रूप को ही उसका वास्तविक रूप समझ कर उसकी पूजा करते हैं और यदि कोई विपरीत विचार बाबा उसकी ओर उँगली भी उठा देता है तो इस अपमान के कारण उसका सर काटने को उद्यत रहते हैं।

भगवान् के अनत, अपार और पूर्ण रूप को समझने के लिए हमें अपनी बुद्धि की कमजोरी स्वीकार करनी होगी। साधारण बुद्धि के स्तर से थोड़ा ऊँचा उठना होगा। समस्त प्रकार के दुराग्रहों और काल्पनिक विचारों से मस्तिष्क को खाली करना होगा और यदि भगवान् के रूप को ग्रहण करने की कदाचित् हमारी बुद्धि में सामर्थ्य न हो तो उनकी पूर्णता की हानि न कर हमें अपनी बुद्धि को ही यथाशक्ति उनके पूर्ण रूप को ग्रहण करने के योग्य बनाना होगा। इस उद्देश्य से यदि हमें उन नियमों को भी उल्लंघन करना पड़े, जो हमारी बुद्धि को सर्व-प्रिय हैं और जिनके बगैर वह एक पग भी नहीं रख सकती, तो वह भी करना होगा। संभव है कि इस क्रिया में हमारी बुद्धि का कायापलट ही हो जाय। हमें इसके लिए भी तैयार रहना होगा। जब हम इतना बलिदान करने को तैयार हो जायेंगे तभी भगवान् के रूप का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे अन्यथा नहीं।”

श्री चैतन्य ने इस सबब में अपूर्व साहस का परिचय दिया है। उन्होंने हमारी जड़ बुद्धि की निर्बलता स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि जिन साधारण नियमों पर हमारी बुद्धि निर्भर करती है उनकी सहायता से हम भगवान् के संबंध में कुछ भी निर्णय नहीं कर सकते। हमारी बुद्धि का मुख्य नियम है विरोध-न्याय का पालन करना अथवा इस सिद्धांत के अनुकूल चलना कि एर वस्तु में एक ही समय पर दो विरोधी नहीं हो सकते, परन्तु भगवान् नियम के प्राप्ति नहीं हैं उनमें अनत गुण भी एक साथ रह सकते हैं। वह सभी परस्पर विरोधी गुणों का एक भाग आश्रय हैं^१।

भगवान् की अनत शक्तियों में (अविचित्य) एक ‘विरोध-भजिका’ शक्ति भी है जिगाा कर्तव्य है समस्त विरोधी गुणों का भगवान् के रूप में सुंदर समावेश करना। निम्नोक्त काव्यांशों में इसी शक्ति का सुंदर उल्लेख है—

“विरोधभजिका शक्ति युक्तस्य सच्चिदात्मनः ।
वर्तते युगपद्धर्माः परस्पर विरोधिनः ॥
सकृपत्वमक्षयत्वं विभुत्वं मूर्तिरेव च ।
निर्लेपत्वं कृपावत्वमजत्व जायमानता ॥
सर्वराध्यत्वं गोपत्व सर्वज्ञं नरभावता ।
सर्वज्ञोपत्व संपत्तिस्तस्या च निर्बिषोपता ॥
सीमायादयुक्तियुक्तानामसोमत्व यस्तुनि ।
तर्को हि विकलस्तस्माच्छ्रद्धाग्राये फलप्रदा ॥”

१ ग्रामि जेधे परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय ।

राधा प्रेम मेधे सदा विरुद्ध धर्ममय ॥

—जो ७०, भा ६।१२३

और देखिये सर्वसंवादिनी, पृष्ठ ६५ ।

अर्थात्, सच्चिदानन्द स्वरूप श्री भगवान् ने 'अविचित्य विरोध-भजिका' नाम की एक शक्ति है, जिसके बल से भगवान् ने समस्त विरोधी गुण अविरोध रूप से वर्तमान हैं। सरूपता और अरूपता, विभुता और श्री विग्रह, निर्लेपता और भक्त-रूपासुता, अज्ञत्व और जन्मबल्व, सर्वाराधत्व और गोपनशीलता, सविशेषत्व और निर्विशेषत्व इत्यादि अनेक विरोधी धर्म भगवान् में सुन्दर रूप से रह कर अपना कार्य करते हैं। इस विषय में जो तर्क करते हैं वह सत्य से वचित रह जाते हैं, क्योंकि नर सीमाविशिष्ट है और सत्य वस्तु असीम। भगवान् व्यक्ति शुद्ध तर्क का परित्याग कर 'आप्त वाक्यो पर ही विश्वास करते हैं।

इस शक्ति के कारण ही भगवान् पूर्ण हैं और इसके अभाव के कारण जीव तथा समस्त जड़ पदार्थ अपूर्ण हैं। भगवान् की भगवत्ता इसी में है कि उनके लिये असंभव भी संभव है और असंगत भी संगत है तथा जीव की क्षुब्धता इसी में है कि उसकी शक्ति सीमाबद्ध है और उसमें किसी एक गुण के होते हुए उसके विपरीत गुण के लिये स्थान नहीं रहता। भगवान् सर्वव्यापक होते हुए भी एक स्थान में विशिष्ट रूप से स्थित रह सकते हैं। जीव एक समय पर एक से अधिक स्थानों में निवास नहीं कर सकता। जीव तथा अन्य जागतिक वस्तुओं का एक समय में एक ही रूप होता है, परन्तु भगवान् एक ही समय अनन्त रूप धारण कर सकते हैं। आजकल के कुछ पाश्चात्य दार्शनिक तो जागतिक वस्तुओं के बारे में भी यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त रूप हैं, जिनका पृथक्-पृथक् दशा, में तथा पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से अनुभव होता है। जब जागतिक वस्तुओं के बारे में इस प्रकार की कल्पना की जा सकती है तब भगवान् निराकार, निर्विकार, निष्क्रिय तथा सत्तामात्र होते हुए भी सर्वशक्तिमान् अनन्त क्रीडा-कौतुक-पूर्ण चिन्मय विग्रह के रूप में देवकी आदि के गर्भ से जन्म लेकर सीला करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

भगवान् देश-कालादि से परिच्छिन्न प्रतीत होने पर भी देशकालादि से परिच्छिन्न नहीं हैं। देहधारी होकर भी मनुष्य के समान सीमित और जड़साधारण नहीं हैं। जो असीम शक्ति उनके महान् स्वरूप में है, वही असीम शक्ति उनके खड्ग-रूप से प्रतीत होने वाले छोटे शरीर में भी है। ब्रह्मांड में वह जिस 'पूर्णतुल्यतर' रूप में विराजमान है, एक परमाणु में भी उसी प्रकार पूर्णतर रूप से विराजमान है। ईशावास्यादि उपनिषदों के इस शांति-मंत्र से भी यही बात सिद्ध है—

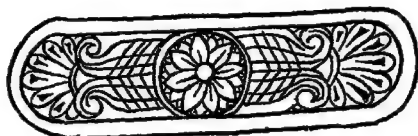
“पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णतुल्यमुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥”

आजकल के प्रमुख गणितज्ञ गणित-शास्त्र-द्वारा इसी बात को सिद्ध करते हैं। 'आस्ट्रेल्की' ने अपनी पुस्तक 'Tertium organum' में अनन्त सख्याओं की गणित Mathematics of Trans-Infinite Numbers पर जिसे वह यथार्थ गणित Real Mathematics के नाम से पुकारते हैं, प्रकाश डालते हुए कहा है कि अनन्त सख्याओं में यह विशेषता है कि उन्हें घटाइये-जड़ाइये अथवा उनका गुणन या भाग कीजिये, उनमें उसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है और फिर भी वह उसी की उसी ही बनी रहती है। जिस प्रकार सुन्न कोई भावा नहीं है, उसी प्रकार अगणित सख्या अथवा अनन्त भी कोई भावा नहीं है। सुन्न जिस प्रकार भावा के अभाव का चिन्ह है, उसी प्रकार अनन्त उस अविराम सत्ता Continuity of Existence का चिन्ह है, जिसे सीमाबद्ध करने के लिये हमें कल्पनात्मक रूप से स्वतंत्र हिस्सों में विभाजित करने की आवश्यकता पड़ती है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'आइंस्टीन' (Einstein) ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान के विभिन्न स्थल और विभिन्न दृष्टिकोण (Standards of Reference) होते हैं। जो बात एक स्थल पर अममब्र जान पड़ती है, वही दूसरे स्थल पर बिल्कुल संभव हो सकती है। मि० 'हिंटन' (Mr. Hinton) ने भी अपनी पुस्तक 'Scientific Romances' में कई सुन्दर उदाहरण देकर विस्तार सहित इस सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया है।

मान लीजिए कि एक जीव-सूची (Microbe) केवल दो परिमाणों की दुनियाँ (Two Dimensional World) में रहता है, अर्थात् उसे एक कागज के सफे पर रख दीजिये और कागज के बीच में एक काँटबोर्ड खड़ा कर दीजिये। जीव-सूची को काँटबोर्ड की तरफ धाने दीजिये। जब वह काँटबोर्ड तक पहुँच जायगा, तब वह अनेक चैप्टा करने पर भी न समझ पायेगा कि उसका रास्ता क्यों और किस प्रकार बंद हुआ, क्योंकि उसे ऊँचाई का कोई ज्ञान नहीं है। उसके लिये यह एक बहुत आश्चर्यजनक घटना होगी और इस स्थान से आगे बढ़ना उसे असंभव ज्ञान पड़ेगा। यदि उसे काँटबोर्ड से ऊँचा उठा कर काँटबोर्ड के दूसरी ओर रख दिया जाय तो ऊँचे उठते समय उसे एक प्रकार का विचित्र अनुभव होगा और दूसरी तरफ पहुँच कर वह फिर विस्मय में पड़ जायगा कि यह सब कैसे हुआ। यदि उसे ऊँचाई का ज्ञान होता तो यह बात साधारण प्रतीत होती, जो बात दो परिमाणों की दुनियाँ में असंभव थी वही तीन परिमाणों की दुनियाँ में विलकुल संभव हो गई। इसी प्रकार बहुत सी बातें जो तीन परिमाण की दुनियाँ में असंभव हैं तीन से अधिक परिमाण की दुनियाँ में संभव हो सकती हैं। जो बातें वर्तमान में असंभव हैं और आज की अवस्था में हमारे ज्ञान की सीमा के बाहर हैं उन्हें दर्शन-शास्त्र के मूल-सिद्धांतों से तथा बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की नवीन प्रगति से परिचय रखने वाले लोग मनुष्य के मस्तिष्क की कल्पना-शक्ति कह कर नहीं टाल दे सकते, क्योंकि वे स्वयं से अधिक परिमाण के ज्ञान से पूर्ण संभव हो सकती हैं। 'पॉल कैरस' (Paul Carus) के अनुसार उस ज्ञानस्थल पर वर्गाकार वृत्त (Squared circle) तथा वृत्ताकार सीधी रेखा भी हो सकती हैं। वहाँ १ तथा २ भी संभव हैं और २, २ तथा २ भी संभव हैं। इस सब में आजकल के वैज्ञानिक गणितज्ञ, दार्शनिक तथा रहस्यवादी सब एक ही भाषा का प्रयोग करते हुए ज्ञान पड़ते हैं।

यदि अपने ज्ञान-स्थल से एक ही परिमाण ऊपर उठने पर हमें इस प्रकार की असंभव बातें संभव प्रतीत होती हैं तो भगवान् के विषय में जो अनंत प्रकार से पूर्ण होने के कारण अनंत परिमाण-युक्त हैं क्या-क्या बातें संभव हो सकती हैं, उनकी तो हमारे लिये कल्पना करना भी असंभव है। इसलिये यदि भगवान् के सब कुछ में कोई बात असंभव अथवा विरोधात्मक ज्ञान पड़ती हो तो हमें उसे अपनी बुद्धि का ही दोष समझना चाहिये। यही भगवद्-ज्ञान-प्राप्त करने की पहली सीढ़ी है। इसे पार करते ही हमारी भगवद्-रूप-सबधी समस्याओं का तथा अनेक प्रकार के विवक्षावादों का अपने आप ही अंत हो जायगा, परंतु जब तक हम भस्मासुर की तरह भगवान् के दिये हुए बुद्धि-रूपी मय को उनके ही ऊपर चला कर उनके रूप में अनमानी काट-छाँट कर उन्हें अपनी बुद्धि के नियमों के अनुसार बनाने का प्रयत्न करते रहेंगे हमें भगवद्-ज्ञान का कुछ आभास भी प्राप्त न हो सकेगा।



श्री निवार्क-संप्रदाय के हिंदी कवि

श्री सत्येंद्र

श्री निवार्कचार्य जी का प्रादुर्भाव मध्यम यामनी काली तिथि में हुआ। निवार्कचार्य जी वेङ्कटसंप्रदाय में निरंजन-राधा-भक्तों का प्राचार्य प्रसिद्ध करने वाले हैं। ये कहा जाता है कि जिस मित्र की सेवा निवार्कचार्य जी का मन प्रवर्तित हुआ उसी परंपरा निवार्कचार्य जी ने बहुत प्रतिभे में कबीरा रची थी। इस लोग तो उनके गान गान वषं प्राचीन मानते हैं। जो भी हो ईशान-ईश ने मित्रा पर निवार्कचार्य जी ने उन वेङ्कट भक्ति का प्रतिपादन किया जिसमें राधा और कृष्ण का माध-माध मगभास ने गान और स्मरण किया जाता है। निवार्कचार्य जी ने 'राधा और कृष्ण' के जिन स्वप्न की उपासना स्वीकृत की वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

"स्वभावनोऽनाम्यसमस्तदोषमयेव कल्याणगुणकराणिम् ।

अहो गिन वाएपर वरेण्यं ध्यायेम कृष्ण कमलैक्षण हरिम् ॥

अग्रे तु वामे पुष्पनामजां मुदा विराजमानामनुत्पसीभगाम् ।

सतीसहस्रः परिमेयिता सदा स्मरेम देवीं सकलैष्टकामदाम् ॥"

यदि उपर्युक्त वचन श्री निवार्कचार्य जी के हैं तो राधा और कृष्ण का इस प्रकार का गंधर्व, ऐतिहासिक विधान की दृष्टि से कृष्ण-राधा के पूर्णतः पल्लवित होने के उपरान्त ११वीं—१२वीं शताब्दी में ही होना चाहिए। हमें यहाँ श्री निवार्कचार्य जी के समय का निरूपण नहीं करना, हमें तो केवल यह जानना है कि वेङ्कट-धर्म की प्रचार चार शाखाओं में से श्री निवार्कचार्य जी वाली शाखा थी, उन शाखा ने भी राधा और कृष्ण को उष्ट मान कर हिंदी में ब्रजभाषा-साहित्य का निर्माण किया और वेङ्कटसंप्रदाय के जंगे कितने ही उच्चकोटि के कवि प्रदान किए। यों तो 'गीत गोविंद' के प्रसिद्ध कवि जयदेव की भी कुछ महानुभाव निवार्क-संप्रदाय का मानते हैं, किंतु एक तो उनकी रचनाएं संस्कृत में हैं और दूसरे इनकी माधवाधिक-आस्था सदृश्य है, इसलिए इस संप्रदाय के सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध भक्त 'श्रीमट्ट' जी की ही इस संप्रदाय का सबसे पहला हिंदी का 'महाकवि' माना जा सकता है। श्रीमट्ट जी ने 'युगल-शतक' लिखा। इस 'युगल-शतक' का साधारणतः यह क्रम है कि पहिले एक दोहा है और बाद में दोहे के भाव को पद में विस्तृत किया गया है। श्रीमट्ट जी इस संप्रदाय के प्रथम ब्रज-भाषा कवि हैं और 'युगल-शतक' के द्वारा उन्होंने इस संप्रदाय के सिद्धांतानुसार वाक्य और राधा-कृष्ण की साधु-पुण्य सरस रागानुगाभक्ति का स्वरूप खड़ा किया है। इसीलिए इस 'युगल-शतक' को संप्रदाय में 'भावि वाणी' कहा जाता है। सैदांतिक दृष्टि से युगल-स्वरूप राधा-कृष्ण ही इष्ट होने से इस संप्रदाय के समस्त कवियों का क्षेत्र विषय की दृष्टि से बहुत संकुचित हो गया है। कृष्ण की, बाल्य-काल से अत-समय तक की लीलाओं को विस्तृत क्षेत्र में से यह संप्रदाय केवल राधा और कृष्ण के संयोग-संबंधी 'भृंगार रस' से ही अपनी रचनाएं अभिसिद्ध कर सकता है, वियोग तक को इसमें कोई स्थान नहीं है, किंतु इस संप्रदाय के कवियों को शब्दों की मधुरता का बरदान मिला हुआ है। इसका आभास हमें श्रीमट्ट जी के 'युगल-शतक' को देखने से ही मिल जाता है। इस एक उदाहरण को लीजिए, राधा और कृष्ण मृकुर (दर्पण) में अपनी छवि देख रहे हैं। श्रीमट्ट जी ने कंसी तन्मयता से कुशल चित्रकार की भांति एक सजीव गति-मत शब्द-चित्र उतार दिया है—

“सुकर मुकुट निरखत दोऊ, मुख-ससि नैन-चकोर ।

गौर-स्वामि अभिराम अति, छवि त फकी कज्जू थोर ॥

गौर-स्वामि, अभिराम बिराजें ।

अति उमग अंग-अंग भरे रँग, सुकर मुकुट निरखत नहिं त्याजें ॥

गंड सो गंड बाहु-प्रोवा मिलि, प्रतिबिंबित तन उपमा लाजें ।

नैन-चकोर बिलोकि बचन-ससि, आनक-सिबु मथैन भए भालें ॥

नील निचोल, पीत पद के तट, मोहन मुकुट मधोहर राजें ।

छटा छटा आलंकल कीर्तक, दोउ तन एक वेस छवि छाजें ॥

गावत सहित मिलत गति प्यारी, मोहन मुख सुरलो सुर बाजें ।

‘धीमट’ अटक परे बपति-वृग, भूरति . मनहुं एकही सारें ॥”

इस प्रकार श्रीमट जी ने ‘युगल-शतक’ के द्वारा अपने सत्रदाय के कवियों के लिए विषय और भाव के क्षेत्र का ही निर्देश नहीं किया, काव्य के रूप-सौंदर्य और शब्द तथा स्वर-भावों का भी आदर्श प्रस्तुत किया । इसी परिपाटी को प्रस्तुत करते हुए श्रीमट जी के शिष्य श्री तिखारक सत्रदाय की आचार्य-गद्दी की इकतीसवीं पीढ़ी के अधिकारी श्री-हरिव्यास देव जी ने ‘महावाणी’ की रचना की । श्री हरिव्यास जी के संबंध में ‘नामादास’ जी ने ‘भक्तमाल’ में यह छप्पय लिखा है—

“लेखर नर को शिष्य, निषट यहै अचरज आवैं ।

बिबित बात संसार संत-मुख कीरति गावैं ॥

वैरागिन के बूढ़, रहस्य संग स्वामि सनेहौ ।

ज्यो आगें नर भय्य मनो सोमित वैदेहौ ॥

‘हरिव्यास’ तेज हरि-भजन बल, देवी कों दीच्छा बई ।

‘धीमट’-धरन-रज-परसि कैं, सकल घृष्टि जाकी बई ॥”

इससे यह सिद्ध है कि ‘भक्तमाल’ की रचना के समय तक श्री ‘हरिव्यास’ देव जी का यह भी प्रकार व्याप्त हो चुका था । जो तो वैष्णव धर्म का प्यारही-वारही शताब्दी से आरंभ होने वाला, यह तृतीय पुनराहरण शक के आधाबाद के विषय था, किंतु उसी के साथ उसे प्राप्त होने का भी विरोध इस काल के भक्त-संप्रदायों को, विशेषतः उनके उत्तर-भारतीय स्थायी हो करना पड़ा था । हरिव्यास जी के जीवन में ही यह अस्कार समाविष्ट है कि उन्होंने देवी की वैष्णव बना लिया । साधारण दृष्टि से इसका अर्थ यही होगा कि समस्त शाक्त गाँव को हरिव्यास जी ने वैष्णव बना लिया । जो भी हो, ये श्री हरिव्यास देव जी निर्वार्क-सत्रदाय में अल्प प्रतिभावाली आचार्य हुए । यही कारण है कि इनके शिष्यों की परंपरा भलग हो ‘हरिव्यासी-सत्रदाय’ के नाम से अभिहित होने लगी । इस संप्रदाय का आधार-ग्रन्थ यही ‘महावाणी’ है । इस ‘महावाणी’ में गाँव मन्दा है, जिन्हें ‘मुख’ कहा गया है । इनमें सेवा, उत्सव, सुख, सहज और सिद्धांत सुखों का काव्यमय विवरण है । कुछ विद्वानों का विचार है कि यह ‘महावाणी’ वह भाष्य है जिसे ‘हरिव्यास देव’ जी ने रचा है । कुछ विद्वानों का विचार है कि यह ‘महावाणी’ वह भाष्य है जिसे ‘हरिव्यास देव’ जी ने अपने गुरु श्री श्रीमट जी की आज्ञा से उनके ‘युगल-शतक’ पर लिखा था, किंतु ‘धी निर्वार्क’ ‘माधुरी’ के संपादक ‘विहारी विहारी शरण’ के मतानुसार यह ‘महावाणी’ कई एक विषयों में ‘युगल-शतक’ से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र है । “युगल-शतक’ की रचना में अंग एन नित्य-नग्न का मिश्रण रूप से वर्णन है, पर महावाणी में युद्ध नित्य विहार-रम वर्णन है ।” महावाणी में उगी प्रणाली को अपनाया गया है, जो प्रणाली ‘युगल-शतक’ में है । आरम्भ में दोहा शीघ्र उनको आशा की भाँति पद । इन पदों में हरिव्यास जी ने अपनी छाप ‘हरिप्रिया’ रखी है । हरिव्यास जी ने पदों में भाव-सौंदर्य तो इसलिए मिलता है कि कवि सौंदर्य का पूर्ण रूप अपनी कल्पना के द्वारा प्रदर्शित देखा है और उसी के अनुकूल उम रूप को शब्दों में उतारने के लिए उसे अपनी रचना में ‘शब्द-

सौंदर्य भी समाविष्ट करना पड़ा है, किंतु भाव और शब्द-सौंदर्य से भी अधिक हरिव्यास जी की रचनाओं में नाद-सौंदर्य मिलता है। रस-मजरी श्री राविकाजी के इस वर्णन को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है—

“जै श्रीरावा रसिक रस-मंजरि प्रिय सिर-भौर।

रहसि रसिकिनीं सखी सब, बुंदावन रस-झीर ॥

जयति जै राविका रसिक रस-मंजरी, रसिक सिरभौर भौहन बिराजै।

रसिकिनी रहसि रस-बाँम बुंदा-विपिन, रसिक-रस-रसी सहचरि समाजै ॥

रसिक रस-प्रेम-सिगार-रंग रंगि रहे, रूप आगार सुखसार साजै।

मयूर मायुर् सौंदर्यतावर्य पै, कोटि कोटि ऐश्वर्य की कला लाजै ॥

नित्य नव नायिका, नित्य सुख-दायिका, नित्य नव कुंज में नित्य राजै।

नित्य नव कौल, नव नित्य नायक नवल, नित्य नव निपुनता भव्य भ्राजै ॥

कसिव कोसेय कोमल कौमल कौनक-छुति, चिकुर मेचक मुरित छुरित छाजै ॥

बिष्य भ्रामूषणामूषिता भौनूनी, भदभुतानंबवा जै सबा जै।

चंचला लोचनी, चातुरा चित-हरा, चादभा-चंद्रिका चंद्रिका जै ॥

सच्चिदानंद की सिद्धिदा सक्तिदा, स्यामा सुर्षा मा सुषादा मुभा जै।

चातिकी कृष्ण की, स्वांति की वारिदा, वारिषा रूप-गुन-गविता जै ॥

मदन-मद-मोचिनी, रोचिनी रति-कला, रतन-मनि-कुंडला जगमगा जै।

प्राँन प्रियतम प्रिया, प्रियतमा, प्रेयसी, पद-पदमपाधु पावनकरा जै।

परम रस-राखिनी, कराखिनी-चित्त-प्रिय, नित्य ह्रिय-हरखिनी श्रीहरिप्रिया जै।

हरिव्यास देव जी ने भाषा अथवा ब्रज-भाषा में केवल यही ग्रंथ लिखा है। इसके अतिरिक्त पाँच ग्रंथ और हैं, जो संस्कृत में हैं। श्री हरिव्यास देव जी के शिष्यों में से तीन शिष्यों का नाम हिंदी-साहित्य की दृष्टि से विशेष स्मरणीय है। एक श्री ‘परशुराम’ देव जी, दूसरे श्री ‘रूपरसिक’ जी, तीसरे श्री ‘तत्त्ववेत्ता’ जी। श्री परशुराम देव जी के संवत्स में श्री नामादास जी ने लिखा है—

“जंगली देस के लोग सब, श्री परशुराम किय पारखद।”

ॐ

उयो चंदन की पवन, निख पुनि चंदन करई।

बहुत काल तम-निबिड़, उदै दीपक ज्यो हरई ॥

श्रीभट पुनि हरिव्यास, संत मारग अनुसरई।

कया, कीरतन, नैम, रसैन हरि गुन उज्जरई ॥

गोविंद-भक्ति-गद-रोग गति, तिलक-बाँम सद-वंद हब ॥

जंगली देस के लोग सब, श्री परशुराम किय पारखद ॥”

इनके जीवन के संबंध में इतना ही विदित है कि ये जयपुर राज्य के किसी ग्राम में पंच-गौड ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए और श्री हरिव्यासदेव जी के शिष्य हुए। परशुराम देव जी ने ‘परशुराम-सागर’ नामक एक बृहद् ग्रंथ लिखा। यह अभी तक अप्रकाशित है। श्री बिहारी शरण जी के अनुसार इस ग्रंथ में २२०० दोहे, छंद, छंद और हजारों पद हैं। इस संप्रदाय में यह पहिले कवि हैं जिन्होंने रामा और कृष्ण की शोभा, शृंगार और स्तुति के अतिरिक्त प्रेम, वैराग्य, सतसंग, गुर-निष्ठा आदि पर भी पर्याप्त लिखा है। इनके दोहों में कहीं-कहीं कवीर की-नी झलक दिखाई पड़ती है। यद्यपि भाषा में कवीर ने अधिक मार्दव है। यह झलक भी गुरु तथा माधु-मधवी वर्णनों में विशेष मिलती है। इनके पदों में गद्या और कृष्ण-संबंधी शृंगार-माधुनी-विषयक मुग्धता और नम-

यता नहीं है। इनमें विनय का भाव विशेष है और इस विनय के अत्यंत वैराग्य भवका समांग को प्रेरणा है। उदाहरण के लिए इनका ऐसा ही एक यह पद है—

“मेरी तुम ही कों सब लाल बढाई।

ज्यो जानो त्योहीँ त्यो राखी, अपनो करि आपन हरि राई ॥
करम उपाइ बौहीत करि देखे, मति निरकलप तुपाति यहि भाई ॥
हरी-कल्प-सखर की छाया-बिन, कबहूँ मन कल्पना न जाई ॥
दीनानाथ, अनाथ निवाजन, कृपेन-पाल गोपास कँह्याई ॥
परम पवित्र, पतित पावन प्रभु, अवम उबारैन विरद सदाई ॥
पाप-हरैन, श्रेताप निवारैन, असरैन-सरैन बड़ी सरनाई ॥
अब न तजो तन, मन ह्वै भजि हो, हरि-अमृत-निधि प्यासै पाई ॥
श्री गुरु कही, सुनी में मोकों, कीरति प्रगटि सकल धरि छाई ॥
सेस आवि निगमावि सु महिमा, भव विरावि उर-परि मुख गाई ॥
दीनदयाल, कृपाल, कृपानिधि, हरि दुख-हरैन सकल सुखदाई ॥
सँ निबहैन को ‘परसुराम’ प्रभु, तुम बिन कोउ सुख न सहाई ॥”

श्रीरूपरसिक देव जी को दक्षिणी पंच प्रविष्ट-ब्राह्मण कुलोत्पन्न माना जाता है। २६ वर्ष की अवस्था में मथुरा में इन्होंने श्री हरिव्यास देव जी का शिष्यत्व स्वीकार किया, किंतु यह जनश्रुति है कि श्री रूपरसिक जी जब हरिव्यास देव जी का शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए मथुरा पहुँचे तो वहाँ विदित हुआ कि हरिव्यास जी की मृत्यु हो चुकी है, किंतु इन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आचार्य हरिव्यास जी के दर्शन नहीं कर लूँगा कोई कार्य नहीं करूँगा। यह विश्वास किया जाता है कि इनकी इस प्रतिज्ञा के कारण श्री हरिव्यास जी को प्रकट होना पड़ा और इन्हें विधि-पूर्वक मंत्र-दीक्षा देने के उपरांत उन्होंने अपना दिव्य स्वरूप लुप्त किया। इसके उपरांत ‘रूपरसिक देव’ जी का संगम इस संप्रदाय में विशेष हुआ। रूपरसिक देव जी ने तीन काव्य-ग्रन्थ लिखे। एक ‘बृहदोत्सव मणियाव’, दूसरा ‘हरिव्यास-यन्त्रामृत’ और तीसरा ‘नित्यविहार-मदावली’। इस संप्रदाय में रूपरसिक जी का जो समान है, वह अकारण नहीं, क्योंकि इनकी रचना में माधुर्य और वही श्री है जो हरिव्यास जी में मिलती है। यही नहीं, काव्य-सादृश्य इनमें अपने गुरु से भी अधिक मिलता है। इनकी कोई भी रचना, कोई भी पद ऐसा नहीं विदित होता, जिसमें कोई प्रभाव हो। जिस सौंदर्य का दर्शन इन्होंने किया है वह गतिमत्त सौंदर्य है। कृष्ण और वारिद का रूपक बहुत प्रचलित रूपक है, किंतु इन रचि ने ‘स्यामघन’ का वर्णन करने में जो एक नया सौंदर्य प्रस्तुत किया है, वह इस पद से विदित होता है—

“स्याम-घन, उर्मि-उर्मि इत आवै।

कीट, मुकुट, कुंडल, पीतांबर, अनु दामिनि दरसावै ॥
मोतिन-माल लसत उर ऊपर, अनु बग-पति लखावै ॥
मुरली-गरज मनोहर घुनि सुनि, लवन-मोर सबुपावै ॥
हृष पर कृपा करो हरि सानों नीर-नेह-सर लावै ॥
‘रूपरसिक’ यह सोभा निरखत, तन, मन, मँव सिरावै ॥”

रास के संबंध में भी इनका यह पद पठनीय है—

“निरखत-रास कैमल-बल-मैन, सरद सुरैन अति सुख-मैन ॥

श्री बृंदावन वंसीवट तट, जमुना पुलिन पवित्र ॥

पूरन बंद अमंद किरनि करि, रंजति शरिर बिलिख ॥

भवत फूल फूल अमुकले, माना रंग सुरग ॥

सबुकर पुंज लुब्ध-अधु गुंजत, लिए संग अरवर्ष ॥

त्रिविध पवन मन रवन सहायक, सुख-दायक सब काल ।
 परसत अंग अंग सचुपावत, उपजावत रस-जाल ॥
 द्वै-द्वै विच सुचि एक-एक तन, विहरत स्पर्श सुवेस ।
 कौनक-कौनी विच मनहुँ नील-मनि, सोहत सुघर सुवेस ॥
 मध्य जुगल मन-हरन बिराजत, छाजत छवि जु अपार ।
 राग-रंग बहु भाँति भेद भर, तरत रंग बिस्तार ॥
 नूपुर, कंकन, किंकिनि की धुनि, सुनि लज्जित कलहंस ।
 भुज फरकनि, तरकनि कुंठुकि कच-झुरि जु रहे दुरि अंस ॥
 कुंडल शलक, डलक सीसनि की, भलक भाल-छवि बैत ।
 पलक ललक नग चलक कलक मुख बलक संगीत स-हेत ॥
 पग-पटकौन, पट-शटकौन, लटकौन भूलै नख-खटकौनि ।
 लटकौन हार, भूलै न की मटकौन, अंग-अंग लटकौनि ॥
 मंद हँसन, मोहन की लसै, सु लुलै कसै तन-कूल ।
 रसै बसै तन सिथिल सु सम-कै, किरै सिरै ते फूल ॥
 पावनि, धावनि, धरनि सुहावनि, चावनि नृत्य करैते ।
 गावनि, सुरहि मिलावनि, पियहि रिखावनि, बच उचरैते ॥
 बंसी बजावै, भ्राम जमावै, कल सुर अधिक चढाई ।
 निकट आइ परसावै उरवर, अदभुत तान बढाई ॥
 डोलै मुकुट, सु कुंडल लोलै, थेई-थेई बोलै बोल ।
 पट शट-शोलै, ओप अतोलै, हरि-हरि बॅन तबोल ॥
 परसत, अरसत, सरसत तन, मन, मधुर सुवा-रस पाइ ।
 अमित जानि जम-कौन पिय पोछत, कहि रस-बॅन सुहाइ ॥
 क्रीड़त बहु-गत रास-विलासहि, यकित भए दोउ चंद ।
 'रूपरसिक' यह सोभा निरखत, वाढ़त अति आनंद ॥”

मुख और तन्मय करने वाली इस रस-अभिव्यक्ति की प्रचुरता होते हुए भी रूपरसिक जी ने सिद्धांत, उपदेश तथा भक्ति और नीति का वर्णन भी विविध छंदों तथा दोहों में किया है ।

इन्हें अपने गुरु श्री हरिव्यास जी ने अत्यंत श्रद्धा थी । ये उनसे बड़ कर किसी दूसरे को योग्य नहीं समझते थे, इन्होंने लिखा है—

“रीति चलाई आपनी, है कलि की यह टेक ।

बिना सरै न 'हरिव्यास' को, उपजै कहाँ विवेक ॥”

यही कारण है कि इन्होंने श्री 'हरिव्यास-यणामृत' नाम का प्रथम हरिव्यास जी की मूर्ति और प्रशंसा से युक्त पद्यों में लिखा । उनकी यह प्रशंसा अन्य कवियों की ईश्वर की कृपा के ममकक्ष प्रतीत होती है—

“रे मन, भजि हरिव्यास उदार ।

बिन हरिव्यास न जग में तेरी, मेरी बचै विचार ॥

मानस तन अति दुरसभ पायो, काहे करत दुवार ।

बेगि सँहारि भूढ मति वीरे, अब क्यों करत अवार ॥

जो दायक वंशति-मुल-मंपति, बुँदा-बिपिन-बिहार ।

पतित-उधार-हेत जग प्रघटे, आप जुगल भवतार ॥

असरै न सरै, हरै ससृति दुख, निराधार आधार ।

अमवानी सो रग धर्म की, सहा धर्म करतार ॥

दस-दिसि-जीति भक्ति-विस्तारी, तिन्ह की कथा अपार ॥

कृपा-सिधु सो दीन-सधु हैं सगुन-निगुन-आपार ॥

श्री हरि-प्रिया अनूप रूप सो, मूरति रस सिंगार ॥

‘रूपरसिक’ भक्तेस-भूष-विन, अंनत फणीता चार ॥”

‘रूपरसिक’ जी के उपरात ‘तत्ववेत्ता’ जी का नाम उल्लेखनीय है, तत्ववेत्ता जी भी श्री हरिव्यास जी के शिष्य थे। इनका जन्म भारवाड के जेतारेन (जयतारण) नगर के पास के किसी गाँव में छत्याती ब्राह्मण-वंश में हुआ, ऐसा कहा जाता है। ये हरिद्वार में श्री हरिव्यास देव जी से मिले थे और वही श्री हरिव्यास देव जी द्वारा श्री निबार्क-संप्रदाय में दीक्षित हुए। तत्ववेत्ता जी का अपना क्षेत्र राजस्थान ही था, यही इन्होंने निबार्क-संप्रदाय की गढ़ियाँ स्थापित की।

तत्ववेत्ता जी ने अधिकांशतः छप्पय लिखे हैं, जिनमें अपने सिद्धांतों का वर्णन किया है। इनकी भाषा में वह मुष्टता, मधुरता और सरसता नहीं है, जो इस संप्रदाय के अब तक के कवियों में मिलती रही है। कारण स्पष्ट है, इनका ध्यान काव्य-सौंदर्य की प्रेरणा सिद्धांत के र्म को स्पष्ट करने का विरोध रहा। उदाहरण के लिए एक छप्पय जो नीचे दिया जा रहा है, सत्तार के कल्याण के लिए उद्भावित विविध मार्गों का उल्लेख कर परम मार्ग की अनुभूति का संकेत करता है—

“धरम-मार्ग खय-भार, करम-भारग कछु, नार्हीं।

साध-मार्ग सिरताज, सिद्ध-भारग मन मर्हीं ॥

जोग-मार्ग जोगेंद्र, जोगि जोगेस्वर जानें ॥

हरि-भारग हरिराद, बेद-भागवत बजानें ॥

‘तत्ववेत्ता’ तिन्ह लोक में, विविध मार्ग बिस्तारि रह्या।

सब भारग की सुभिरत, परम मार्ग परबै भया ॥”

इन्होंने उत्सव के पद भी लिखे हैं।

हरिव्यास जी के इन तीन शिष्यों में से यद्यपि काव्य-प्रतिभा सबसे अधिक श्री रूपरसिक जी में थी, फिर भी श्री परशुराम देव जी की शिष्य परंपरा ने अच्छे कवि प्रदान किए हैं। रूपरसिक तथा तत्ववेत्ता जी की शिष्य परंपरा में भी हो सकता है कुछ अच्छे कवि हुए हों, किंतु उनके नाम और रचनाओं का अभी तक कोई पता नहीं है। परशुराम देव जी की शिष्य-परंपरा में तीसरी पीढ़ी पर श्री ‘वृंदावन देव’ जी हुए। ये परशुराम देव जी के शिष्य श्री हरिवंश देव जी के शिष्य श्री नारायण देव जी के शिष्य थे। श्री वृंदावन देव जी के जीवन के संबंध में कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है, केवल इनका ही विहित है कि ये राजपूताने के किसी गौड ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए। इन्होंने पद ही लिखे हैं, जो समग्र रूप में श्री ‘कृष्णामृत-मार्ग’ कहा जाता है। इनके काव्य में रस की सरस सहर के साथ अलंकारों की अलंकार भी बहुत सुंदर वन पड़ी है। यह अलंकार-नीति कवि के भावों को निखारता है। यद्यपि कभी-कभी ऐसा विदित होता है कि कवि भक्ति-भाव की रस-सरिता से निकल कर अलंकारों के बौवाल-आश में फस गया हो, उदाहरण के लिए यह पद दिया जा सकता है—

“सुकुमार सिवार से, भरकल-तार से, कज्जल-सार से, नार-निवारि सुकावति बाला।

भार के जार, सिंगार के चौर से, एड़ी छिपे पुनि ऐसे बिलावा ॥

स्नान घटा से मनो निकसे, मुल-बंद विपे तन रानिनि-भावा।

‘वृंदावन’ प्रभु झोड भए सौल, पानि परी सुत नंद के सत्ता ॥”

कवि ने अपनी अलंकार-प्रियता में नख-निखल का वर्णन करते हुए सूरदास जी की नीति ‘रूपकतिसयोक्ति’ भी लिखी है। जिसमें यथार्थ नख-निखल न होकर ‘शिक्ष-नख’ है, यथा—

देखी, अचरज कौनक-लताचल ता पर पूरन-जब ।
नील नलिन ता पर है राजत, तिन्ह पर बोइ भिसिद ॥
नीकें चंपकली इक सोहति, ता पर बिबी जु बोइ ।
तिन्ह मधि बसकति बीज-दाहिमी, तारे अंब-फन जोइ ॥
ता तर है लागति अति नीकें, अवन जु नलिन सनाल ।
तिन्ह-मधि है श्रीफल भल दीसत, तिन्ह तर बेलि सिवाल ॥
ताके मूल अलौकिक बापी, बैबी कनक-सोपान ।
ता तर है कदली, है तिन्ह पर कौनक-केतकी-कली समान ॥
तिन्ह तर है पुनि कौंसल अघोमुख, तिन्ह दल पर दस ईंद ।
'बृ'दावन' प्रभु बनमाली, जिहि रस सींचत गोविंद ॥

इस प्रकार बृ'दावन' देव जी में रस, अलंकार तथा शब्द-सौंदर्य की मनोरम त्रिवेणी मिलती है। बृ'दावन' देव जी की शिष्य-परंपरा में कई कवि हुए हैं। जिनमें से प्रमुख हैं 'श्री गोविंद देव' जी, श्री 'वाँकावति' जी तथा श्री 'सुंदर कुँवर' ।

श्री गोविंद देव जी की रचना 'जयाति चतुर्दशी' नाम से मिलती है। श्री वाँकावति जी कृष्णगढ-नरेश महाराजा 'राजसिंह' की रानी थी। कृष्णगढ का यह राज-घराना कवियों तथा कवियि-त्रियों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। साधारणतः यह संपूर्ण घराना 'निबार्क-संप्रदाय' की परम्परा में देव जी की शिष्य-परंपरा में सलेमाबाद की गद्दी का अनुगामी था। वाँकावति जी ने अपनी 'ब्रजदासी-भागवत' में स्पष्टतः अपने गुरु का नामोल्लेख किया है—

"नमो नमो गोपाल लाल, गोवरधन धारी ।
नमो नमो बृषभानु कुँवरि, पिय-प्रीति-पियारी ॥
नमो नमो मम गुरु प्रसिद्ध, 'बृ'दावन' नाम ।
नमो नमो हरि-भक्त, रसिक जे अति अभिराम ॥
नमो नमो श्री भागवत, कृपा-सिंधु मंगल करें ।
दिनकर-सैमान झलमलत सो, प्रघट जगत अघतम हरेन ॥"

इन्होंने भागवत के ग्यारह स्कंधों का भाषा में अनुवाद किया था। यही भागवत 'ब्रजदासी-भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है।

वाँकावति जी की पुत्री 'सुंदर कुँवर' भी इसी गद्दी की शिष्या थी। चार वर्ष की अवस्था में ही 'श्री बृ'दावन' देव जी से इन्होंने मन्त्र-दीक्षा ली थी। सुंदर कुँवर ने अपनी माता से भी कहीं अधिक काव्य-प्रतिभा थी। इन्हें विद्या-दान बृ'दावन' देव जी के पर-शिष्य 'सर्वेश्वर' जी ने दिया था, क्योंकि बृ'दावन' देव जी, इनके अश्व-काल में ही इन्हें मन्त्र-दीक्षा देकर ज़रीर त्याग चुके थे। सुंदर कुँवर ने स्वयं ही लिखा है—

"श्री बृ'दावन' देव प्रभु, जिन्ह को दासि जु छाप ।
तही बाल-यय में तबहि, जबए भाग अमाप ॥
सो अब ये दरसी प्रघट, महा भाग को ओप ।
ओ सरबेश्वर सरन प्रभु, बिए सुमेव निज गोप ॥
सुख सत्समाबाद की, हों दासानुज दासि ।
निहि प्रभाव ये रहसि किय, मेरे हृदें निवासि ॥"

—मित्र-शिक्षा

श्री सुंदर कुँवर-विन चारह वय प्रसिद्ध है। नेह-निधि (म० १=१७), बृ'दावन-गोपी-माहात्म्य (म० १=२३), गकन-मुगल (म० १=३०), रस-गुज (म० १=३४), प्रेन-नपुट (म० १=४४)।

रग-शर (सं० १८४५), गोपी-माहात्म्य (सं० १८४६), भावना-प्रकाश (सं० १८५०), राम-नहस्य (सं० १८५३), मित्र-शिक्षा (सं० १८६२) तथा फुटकल पद-रचना। इन्होंने पद तो रचे ही हैं, कवित्त, सर्वथा तथा कुछ अन्य छंदों का भी उपयोग किया है। बोहा छंद तो इनके स्वकुल-परंपरा की देन ही है। भाषा का भावपूर्ण आपके छंदों में बिखरा पड़ा है, जैसे—

“मेरी प्रान-सँजीवन राधा।

कब तुम बदन-सुधाधर बरसो, सो अँसियेन हरे बाधा ॥
ठमकि-ठमकि लरकोहीं चालेन, आउ सँसुहे मेरे।
रस के बचन पियूष पोषि कैं, कर-नाहि बैठो तेरे ॥
रंग-मँहल-सकेत सुगल करि, दहलैन करो सहेली।
आग्या लहो रहो तहँ ततपर, बोलत प्रेम-सहेली ॥
मन-मजरी जु कीन्हो किकर, अपनावो किन्ह बेग।
‘सुँवरि कुँवरि’ त्वामिनी राधा, हिय कौ हरो उदेग ॥”



“भद ब्रज-बिपिन-रसासव भावै।

जुगल-रूप भरि नैन-पियाले, छिन-छिन छाक चढ़ावै ॥
निभूत नवल निजुंज बिनोदैन, स्वाद बिबिध सधि पावै।
लगत बिभव बैकुंठ अभावैन, तासो सोल पिरावै ॥
इंद्र-लोक ठकुराइ तपावैन, मतवारिन ठुकरावै।
तीन लोक की रचना जेतौ, कछु न नजर सँ पावै ॥
जमुना-मुलिन, नलिन-रज-रजित, सत पछरि मुसिबपावै।
नवल नेह मतवारी कौ गहि, राधा आन उजवै ॥”

सर्वथा

“एहो सुजान-सिरोमैनि मोहन, क्यों मन जान अर्जान बने अति।
प्रीति प्रतीत रसासव बै छकि, कँ हितवारी सँ हारी सब सति ॥
तावै कछु बरसात यहँ नहि, चाहिए जैसँ सु सोचि लई हति।
तेरी सौ तोही सो पूछति हो, कहि मेरी सो, मेरी सो मेरी कहा गति ॥”

यहाँ श्री कृष्णगढापीय नागरीदास जी की पासवान ‘वनीठनी जी’ का भी नाम मूलाया नहीं जा सकता। आपका जन्म संवत् तो नहीं, पर मृत्यु संवत् १८२२ वि० आपाद शुक्ला १५ बुधवार निश्चित है। यह उनकी समाधि के शिला-लेख पर उद्धृत है। वनीठनी जी की ब्रज-माया उतनी नुदर तो नहीं जितनी कि कृष्णगढ की अन्य कवियित्री की है, पर उसमें भाव और राजस्थानी का मिश्रण बहुत धृष्ट है, जिससे वह खिल उठी है। आप स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परंपरा में प्रसिद्ध ‘श्री रसिक दास जी’ की शिष्या थी। कविता में आपकी छाप मुक्त—‘रसिक बिहारी’ है। जैसे—

“मन-मोहन, सोहन स्याम, नंब-झिठोनाँ रो।

बिन देखै पल कल न परत है, मेरो जीव लगोनाँ रो ॥
होरी सँ सो वँ ठगोरी-सो डारी, हो रिझई रोसि-रिखोनाँ रो।
खेलोगो मिति ‘रसिक बिहारी’ सौं, बा बिन खेल असोनाँ रो ॥”



ए बँसुरिया कारे, ऐसँ जिन्ह बतराइ रे।

यो न बोलिऐ अरे घर-बत्ते, ताजैन बहि गई हाइ रे ॥

हों घाई या गँलहि सो रे, नैक धल्यौ घों जाइ रे ।

‘रसिक बिहारी’ नाम पाइकें, क्यो इतनों इतराइ रे ॥”

इनकी रचना विशेष तो नहीं, जो कुछ है वह ‘नागर-समुच्चय’ में प्रकाशित है ।

श्री गोविंद देव जी के शिष्य श्री ‘गोविंद शरण देव जी’ तथा शिष्या छत्रकुँवर भी अछे काव्य-रचयिता हुए हैं । श्री गोविंद देव जी की रचना में शब्द और भाव दोनों का मनोरम संगम है । भावानुभूति का आधार सांप्रदायिक रखते हुए भी आप ने उसकी सीमाएँ विस्तृत कर दी हैं, जिससे अवलव और आश्रय के रूप में ‘रावा-कृष्ण’ कितने ही छंदों और उनकी व्यंजना से ग्राह्य होते हैं । गोविंद शरण देव जी की रचना में प्रवाह है और झलकारों की छटा भी । उपदेश तथा सिद्धांत-संबंधी रचनाओं में यद्यपि ये उतना कला-सौष्ठव नहीं ला सके, पर उनमें भी प्रवाह और हलकी सरसता अवश्य मिलती है । तुष्णा पर लिखते हुए आपने मनुष्य को अम-अस्त उद्योगों का वर्णन इस प्रकार किया है—

“घन को अम मन जान, महीतल-खोदि निहारयो ।

भसैम करीं गिरि-धातु, अरथ वित काठ बिगारयो ॥

सरिता को पति सिंधु, सोउ दुसतर रह्यौ भोई ।

सेए बहु नरदेव, कभी राखो नहि कोई ॥

मंत्र-साधि साधेन बक्यो, हाथ-जोर हो कहत तोहि ।

मिली न कौड़ी एक भव, हे तिसनौ, तू त्यागि मोहि ॥”

इनके रचे पद्यों व कवित-सवैया की संख्या बहुत अधिक है, जो इन की सलेभावाद (राज-स्थान) की गद्दी में सुरक्षित है । ‘वार है’ की समस्यापूर्ति के रूप में इस कविता को लीजिये—

“राले मुग-नैनी, पिक-बैनी, छवि-रैनी बोरी, लचकत लक छीन कटि सोभा भार है ।

बैगनिया सारी पै किलारी जरतारी भारी, देखि कैं सु भार भयो अति सुकुमार है ॥

मानो रूप-सागर में सरस सिंघार लसै, कैंधो चंद लपटनि पल्लव-कुंमार है ।

कैंवों मखतूल स्याम भरकत के तार कियो, ठाडी फुलवारी माँहि मुखवत वार है ॥”

छत्र कुँवरि वाई उसी घराने की हैं, जिसकी सुदरि कुँवरि थी । ‘प्रेम-विनोद’ में अपना परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है—

“रूप मगर नृप राजसिंघ, जिन्ह सुत नामरिदास ।

तिन्हें पुत्र जु सरदारसिंघ, हो तनया मे जास ॥

❧

छत्र कुँवरि मय नाम है, कहिये को जग माँहि ।

प्रिया सरन दास्युल ते, हो हित-नूर सर्वाँहि ॥”

छत्र कुँवरि की रचनाओं में काव्य-सौष्ठव अधिक है । इनमें चित्रमय वर्णन है, इनमें सहज भावुकता का स्पर्श भी है । चौपड़ के खेल में इस कवियित्री ने रूप-निधि में सहर उठा कर मन-मीन को कैसे कौशल से लीन किया है, यह इस रचना से विदित होगा—

“रसिक बिहारी-प्यारी खेलत खिलारी मिलि, बाढघी रंग भारी रंजि रंग रिखवारी है ।

रसकि उठाइ पसि, रसकि बलाइ प्रिया, रूप-निधि मानों कर-सँहर पसारी है ॥

ता में मन-मीन पिय लीन हूँ कलोलत है, निकस न चाहें कैतों मौन सुखकारी है ।

खंड है नैन आँन पान-कंज-संपुट में, कदत न लोभी अलि गति मतवारी है ॥”

भावों और झलकारों का शब्द-सौष्ठव के साथ इस रचना में छत्र कुँवरि जी ने अच्छा मयोग किया है । प्रेम-विनोद की रचना-समाप्ति स० १८४३ वि० में हुई थी । यह ग्रंथ बूढ़ी राजन की राजमाता-द्वारा सुदरि कुँवरि-कृत ग्यारह ग्रंथों के साथ प्रकाशित हो चुका है ।

श्री परशुराम जी की गद्दी की शिष्य-परंपरा में 'श्री सर्वेश्वर धारण देव जी के शिष्य 'रसिक गोविंद' जी का नाम भी उल्लेखनीय है। रसिक गोविंद जी का साहित्यिक महत्व हिंदी के इतिहास-कारों ने भी स्वीकार किया है। इनके नीचे ग्रंथों तक मिले हैं। वे ये हैं—

१, "रामायण सूचनिका"—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से राम-कथा।

२, "रसिक गोविंदानवधन"—सात-आठ सौ पृष्ठ का रीति-ग्रन्थ।

इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इसमें—रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, गुण, दोष आदि के लक्षण तथा विस्तृत विवरण और व्याख्या 'गद्य' में है। १९वीं शताब्दी की पुष्ट दश-भाषा-ग्रन्थ का स्वरूप इस पुस्तक में मिलता है। यथा—

"अन्य-न्याय-रहित जो आनंद सो रस। प्रदन—अन्य-न्याय-रहित आनंद तो निम्न है।

उत्तर—निम्न जड़ है, ये चेतन। भरत आचार्य सूत्र-कर्ता कौ भत विभाव, अनुभाव, सचारी-भावके योग से रस की सिद्धि ।"

इस पुस्तक में रसिक गोविंद जी ने संस्कृत के आचार्यों के मतों का उल्लेख विविध स्थलों पर करते हुए अपनी काव्य-गत आस्था का सुंदर ढंग से प्रतिपादन किया है।

३, "लक्ष्मिन-चंद्रिका"।

यह पुस्तक (सं० १८८६) में किन्हीं 'लक्ष्मिन कान्यकुब्ज' के अनुरोध से बनाई गयी। पुस्तक में काव्यांगों के लक्षण जो 'रसिक गोविंदानवधन' में प्रस्तुत किये गये थे उनका ही संग्रह है।

४, "अष्टदेश-भाषा"।

अजभाषा से लेकर पूर्वी तक आठ भाषाओं में राधा-कृष्ण का शृंगार वर्णन।

५, "पिपल"—छंद-शास्त्र।

६, "समय-अबंध"—साम्प्रदायिक, श्री राधा-कृष्ण की ऋतु-चर्चा।

७, "कलियुग रासो"—१६ कवित्तों में कलियुग-वर्णन। सं० १८९५,

८, "रसिकगोविंद-चंद्रलोक"—अलंकार-पुस्तक, सं० १८९०।

९, "पुणल-रस-भाषुरी"—राधा-कृष्ण-विहार तथा वृंदावन-वर्णन।

इन रचनाओं की विषयी पर दृष्टिपात करने से वह कारण स्पष्ट हो जाता है, जिससे इनका साहित्य में विशेष महत्त्व बढ़ा। इनकी अधिकांश रचनाएँ "साहित्य-शास्त्र" से संबंधित हैं।

रसिक गोविंद जी को भाषा पर पूर्ण अधिकार है, इसीलिए इनकी रचनाओं में वृत्ति-अनुकूलता विशेष है। राधा-कृष्ण के वर्णनों में भी इस रीति-कालीनता का कवि पर यह प्रभाव पड़ा है कि उसने प्रत्येक वर्ण-विषय को अवर्ण्य के अलंकार से हृदयगम्य कराना चाहा है। उसकी इस शैली में विहारी की अलक शिखरमिला उठती है। चिबुक के नीचे चिबु का वर्णन जैसे—

"ललित चिबुक-विच सुमग स्याम लोला सोमिंत भनु।

गिरछी मुलाब सुमनस भेक्षार मधु-खण्डों मधुप जनु ॥"

वासिका और बेसरि-मुक्ता पर कवि की उक्ति है—

"बीप-सिखा सी नाक, मुक्त पर मुख-द्विग डोलें।

भलो चंद की गोद, चंद की कुंजर किलोले ॥"

कपोतो की गाढ और उसके तिल की देखिए—

"हंसत कपोलें गाढ परत, पुलि इक तिल स्यामल।

सर्पों सुधा-सर-मध्य, सिल्यो इक नील-कैमल कस ॥"

कानों के तरोलाओं में जो सौंदर्य कवि ने प्रस्तुत किया है, वह तो अद्वितीय है—

"मुकुर-कपोलें स्तुति-मूर्धन, प्रतिबिंब सुहाए।

अभल-कैमल बर बहैन, अलक-अलि कौतुक आए ॥"

“करै न तरौनी तरल, झलमलत नीलांचल में ।

परथी प्रात प्रसिबिब-भाँनु जनु जमुना-जल में ॥”^१

अनूठी उक्तियो और अलंकारो की छटा कवि ने पद-पद पर प्रस्तुत की है—

“नीलांबर-भवि गौर-चंदन, सोभित सन-विलासा ।

जनु पावस-धौन-धौर, सरद ससि कियो प्रकासा ॥”

उपरोक्त उदाहरण कवि की कृति ‘युगल-रस-माधुरी’ के हैं ।

यहाँ तक ‘निवार्क-संप्रदाय’ की उस शाखा के कवियों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है जो “हरि व्यासी” कहलाता है । ये समस्त कवि श्री “हरिव्यास देव” जी की गिण्य-परंपरा में हैं ।

निवार्क-संप्रदाय की एक ‘दूसरी शाखा’ भी है जिसे “हरिदासी” कहते हैं । श्री हरिदासजी स्वामी से हिंदी-प्रेमी ऐसा कोन है जो परिचित न होगा । इनकी तुलना का ‘समीतज’ दूसरा नहीं मिलता^२ । हरिदास जी श्री निवार्क संप्रदाय के हैं । इनकी एक दीर्घ गिण्य-परंपरा है और डम परंपरा में भी अनेक उच्चकोटि के कवि हुए हैं ।

श्री स्वामी हरिदास जी के सवध में यह विख्यात है कि ये वृंदावन के पास ‘राजपुर’ नामक गाँव में उत्पन्न हुए थे । आप सनाढ्य ब्राह्मण थे । इनकी माता का नाम ‘चित्रा देवी’ और पिता का नाम ‘भगाधर’ था । पच्चीस वर्ष की अवस्था में इन्हें वैराग्य हुआ, तभी समवत ये श्री धामोधीर जी से दीक्षा लेकर निवार्क-संप्रदाय में प्रविष्ट हुए । ये प्रतिभाशाली महात्मा थे । अत इनका अपना अलग ही “हरिदासी”—संप्रदाय चल निकला, जो आगे चल कर “ललित किशोर देव” जी के समय में “टट्टी-संप्रदाय” भी कहा जाने लगा । श्री राधा-कृष्ण-भक्ति की तन्मयता की चरमावस्था श्री हरिदास जी में मिलती है । यही कारण है कि इनके भाव और गव्दो की कोमल सार्वक मयो-जना उत्कृष्ट सगीतिता से युक्त होकर मन और गरीरको ही नहीं प्रकृति के अणु-अणु को विमोहित करने वाली प्रतीत होती है । अस्तु इनके विषय में नाभादास जी ने लिखा है—

“जुपल-नाम सो नैन, जपत नित कुंज-बिहारी ।

अवलोकत रस-कैल, सखी-सुख के अधिकारी ॥

^१ यहाँ विविध कवियों के नीचे लिखे दोहे बरबस अपनी याद दिला रहे हैं, जैसे—

गोरे मुख मैं ‘तिल’ ससत, साहि करो परनाम ।

रूपे के अरघा मनो, पोडे सालिगराम ॥

सलित स्याम लीला सलैन, बडी चिबुक छवि बून ।

मधु-झाखी मधुकर परधी, मनो गुलाब-असून ॥

तिय-कपोल तिल सलैन की, मैं जान्यो यह हेत ।

रूप-पजाने की मनो, हबनी धौकी देत ॥

तिय-कपोल अनमोल तिल, सनि-चरनत सन-ओद ।

गई कहैं धरि मागिनी, कुँवर डदु की गोद ॥

मौनी हलत बुलाक की, ताकी मैं तफनीत ।

मनों नूर भरिपूर की, सटक रही कंदील ॥

छप्पी छबौली मुय लवै, नीचे अंबर नीर ।

मनों जनामिष अन्नमर्न, कालिंदी के नीर ॥

^२ उक्त दो शंभूजी की पाठशाखाएँ हैं । एक के आचार्य हैं श्री स्वामी हृन्दिम जी, ज्यो दूसरे के श्री गोविंद श्यामो । ये दोनों ही अष्टात्मा मनीष के प्रवाद पंडित थे ।

गान-कला गंधर्व, स्थाय-स्थायी के तोले ।
उत्तम भोग लगाइ, मोर-भरकट तिमि पोवे ॥
नृपति द्वार-डाढे रहै, बरसन-भासा जासु की ।
आसुधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिवासु की ॥”

इनके सबध में प्रसिद्ध है कि ‘दानसेन’ जैसा प्रसिद्ध गवैया इनका शिष्य था । ‘वैजू दास’ भी इनका शिष्य माना जाता है ।

इनके रचना ग्रंथ—“केलि-माला” और “सिद्धात के पद” नाम से मिलते हैं । केलि-माला में ‘नित्य-विहार’ के १०८ पद हैं और सिद्धात-पद की संख्या १८ है । इनके प्रतिरिक्त भी आपने कुछ पद-रचना और भी रची जो आज प्राप्त नहीं हैं । कभी-कभी इधर-उधर से कुछ पद प्राप्त हो जाते हैं ।

श्री स्वामी हरिदास जी की रचना में—संगीत की मधुरता, चरणों की दीप्ति और मल्ल तथा भावक शब्दों की अत्यन्तारी योजना से युगल श्री राधा-कृष्ण के सौंदर्य और केलि-श्रीरा की उल्लास में अद्भुत समय आ गया है । इनकी रचना ‘केलि-माला’ के कुछ उदाहरण जैसे—

“आज तुल-दूटत है री, ललित-निर्गंगी पर ।

चरै न चरै न पर, मुरली अघर धरै, चितलै न बंक, छबीली भू पर ॥

चलौ न बेनि राधिका पिय पै, जो भयो बाहूँ सरबोपर ।

ओ ‘हरिदास’ के स्वामी स्थाय-कुंजबिहारी को समयी नीको—

बन्यो री, हिलमिल केलि अटल रति नई भू पर ॥”

❀

“प्यारी जू, जब-जब देखो तेरी मुख, तब-तब मयी-नयी लागत ।

ऐसी संभ्रम होत न कबहुँ देख्यो न री, वृत्ति को वृत्ति लेखन कागत ॥

कोटि चंद तें कहा री कुराए, नए-नए रागत ।

ओ ‘हरिदास’ के स्वामी स्थाय-कुंजबिहारी कहत कम को साति—

न होइ, न होइ, सुपति रहो निसि-दिन जागत ॥”

★

“स्थायी प्यारी, आयें चलि-आयें चलि, गेहबर-बन-भीतर जहाँ कोलत कोइल री ।

अति ही बिचित्र फूल-पत्तन की सैया रची, दचिर सँबारी तहाँ तू सोइल री ॥

खिन-खिन, पल-पल, तेरी यैही कहाँनी, तो मग जोइल री ।

ओ ‘हरिदास’ के स्वामी स्थाय कहत छबीली, तू काम-रस-जोइल री ॥”

❀

“प्यारी तेरी बदन अंगुष्ठ को पंक, तारों बीजे नैन है ।

चित्त चल्प्यो काठेन को, बिकच संधि-संगुट में रह्यो भै ॥

बौहीत उपाइ आहि री प्यारी, पै न करत स्वै ।

ओ ‘हरिदास’ के स्वामी स्थाय कुंजबिहारी, ऐसे रह्यो हैं ॥”

एक सिद्धात पद, जैसे—

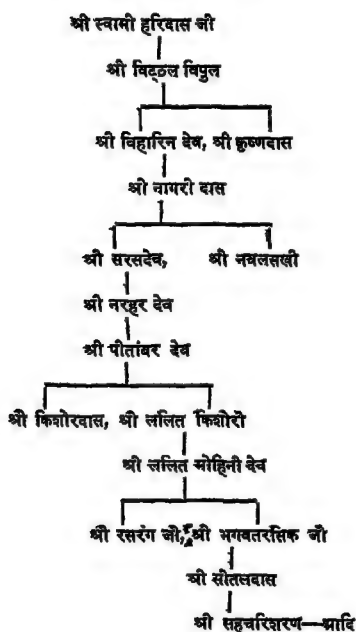
“ज्यों हों, ज्यों हों तुम्ह राखत हों, त्यों हों, त्यों हों रहियत हो हरि ।

और तो अचरचे पाँइ बरो, सो तो कहीं कोन के मंड भरि ॥

जबकि हो अपनों मन साथी कियो चाहो, धु तो कैसे कर सको जो तुम्ह राखो पकरि ।

कहीं श्री ‘हरिदास’ पिबारा के जिनावर लो, तरफराइ रह्यो उजिये को कितोऊ करि ॥”

स्वामी जी की शिष्य-परंपरा में व्रजभाषा-कवियों की सूची इस प्रकार दी जा सकती है—



ये सभी महानुभाव उत्कृष्ट कवि हैं, पर इनमें से विशेष प्रतिभाशाली हैं—“श्री विहारिन दास, श्री सरस देव, श्री किशोरीदास, श्री भगवत रसिक, श्री सीतलदास, श्री सहचरिहरण।” इन कवियों की पुनीत प्रतिभा ने अपने विषय को सांप्रदायिक-सीमाओं के रहते हुए भी चमकाया है। राधा-कृष्ण की मावमयी अवतारणा में भक्ति-विह्वल-हृदय उबेल दिया है और कल्पना के भ्रंतंकारों से सुसज्जित कर दिया है।

श्री विहारिन देव जी ने ७०० दोहा तथा पद रचे हैं, सभी रचना सिद्धांत-विषयक है। नागरीदास जी के १०० पद प्रसिद्ध हैं। सरस देव जी के पदों में प्रवाह तथा गति है, इनकी बाणी भी ‘आचार्य-बाणी’ की भाँति संप्रदाय में आवृत्त है। एक उदाहरण से आपकी विवेचना जानी जा सकती है—

“लाल, प्रिया की सिगार बनावत ।

कोमल कर कुसुम कंच-भूषत, मृग-मद-भाट-रञ्जत सुख पावत ॥
 अंजन मन-रंजन नख बर कर, चित्र बनाइ-बनाइ रिसावत ।
 सेत बत्ताइ, माद नब उपजत, रीति रसाल माल पैहरावत ॥
 अति आसुर आसक्त दीन अप, जितवन कुँवरि, कुँवरि मन-भावत ।
 नैनन में मुसिक्यात जात पिय, प्रेम-बिबस हंस कंठ लगावत ॥
 रूप, रम सोबा ओवा मुन, हेमन परतपर मदन न्दरावत ।
 ‘सरसदास’ मुख निरख निहात नए, गई निसा नब मुन-उपजावत ॥”

श्री पीतावर देव जी के रचे—“रस के पद, सिंगार के पद, श्री स्वामी हरिदासजी इस ‘केलि-माला’ की टीका (गद्य), सिद्धांत की साखी और सिंगार की साखी” कहे जाते हैं। श्री रसिक देव जी ने भी १०-११ ग्रंथ रचे। जो—“भक्त-सिद्धांत-मणि, पूजा-विलास, सिद्धांत के पद, रस के पद, रस-सिद्धांत के पद, कुज-कौतुक, रस-सार, गुरु-मंगल-यश, बाल लीला, ध्यान लीला और बारह संहिता-नाम से विख्यात हैं।

श्री ललित किशोरी जी ने भी चार सौ दोहा तथा पद रचे हैं। श्री ललित मोहिनी जी ने रचना भी ब्रजभाषा के पद विशेषों में मिलती हैं।

श्री किशोर दास जी ने ‘निजमत-सिद्धांत’ नामक ‘महाकाव्य’ लिखा तथा एक ‘सर्वथा-मयी’ भी लिखी। कुछ ‘पद’ भी रचे। निजमत सिद्धांत दोहे-चौपाइयों में लिखा गया है। श्री भगवत किरन जी ने पद, छप्पय, कुडलिया और दोहे लिखे हैं, जिनमें पद-साहित्य के अतिरिक्त भाषा और आर्वां की भी प्रचुर सरसता है। पदों में आपका निम्न पद बहुत प्रसिद्ध है—

“तेरी मुख चंद, चकोरी मेरे नैन।

अति आतुर, अनुरागी, लंपट, भूल गई गति पल्लु लगे ना ॥

अरबरात मिलने की निसचिन, मिलेई रहें मनो कबहुँ मिले ना।

‘भगवत रसिक’ रसिक की बातें, बिना रसिक, कोऊ समझि सकै ना ॥”

सीतल जी ने श्याल के डग की रचना ‘इक्क चमन’ और ‘गुलजार चमन’ का ‘भानद चमन’, ‘बिहान चमन’ नाम से की है, जो अमृती हैं। इनकी भाषा की मादकता बड़ी सुंदर है। भाव बेजोश है। उदाहरण नीचे—

“पंकज पर भोरे मधु-मति, ससि पर अहि-मति की भीरें हैं।

मखतूल, नील-मनि चार चोर, उपमा नहि आगत नीरें हैं ॥

कं बरक तिल्लई पै ‘सीतल’, ए खेंच दई तहरीरें हैं।

या सात बिहारी के मुख पर, क्या कहूर जुल्फ-अनोरें हैं ॥”

❀

“छवि सरब-कंज पर पुन्य-मुंज, मकरंद मधुवत किए हुए।

मखतूल, नील-मनि, केकी की गरदन पर दावा किए हुए ॥

सहराती घोबा चार चुनौ, कालिम कपोल को छिए हुए।

मुख-सरब-मुधाकर में बँठी अहि-वाल संठली किए हुए ॥”

★

“कारी, सटकारी, सहरवार, छविदार अतर से घाली हैं।

मखतूल, नील-मनि, चंचरीक, उपमा के जी में साली हैं ॥

कर साफ अतर से मुसंडे पर बेतरह पेचवाई डाली हैं।

इस साल बिहारी की जुल्फें मत छोड़ नागिनो काली हैं ॥”

❀

“बेबई-कानो से कड़ी हुई, देखत-हो चित में पैंछें हैं।

मोती से निकली जलम रह्यो, धुनी से मुख में एंछें हैं ॥

नीलम के तार सिवार किछो, छवि चंचरीक की भैंछें हैं।

जुल्फें इस साल बिहारी की, मनिदार-नागिनो बँठो हैं ॥”

★

“मखतूल, नीलमनि, चंचरीक, सब की उपमा को लेने हैं।

मुसंड-मरद चंद से सगी हुई, क्या सकुन की-की लेने हैं ॥

सहराती ठूँई नजर आई, बिल में जहरो की रेलें हैं ।
रुखसार-हेम के थालो पर दो चढी नागिनी खेलें हैं ॥”

❀

“मज्जन करने को जमुना पर, जानी उठ-धाया भोर कहीं ।
मुख सरव-कंज-सा खिला हुआ, छूटों जुल्लों दो ओर कहीं ॥
दे पेच निचोडी लहर-भरीं, टपके मुक्ताहल-कोर कहीं ।
ज्यो चंद नाग ने चूस लिया, मधु चूबा पूछ की ओर कही ॥”

सीतल जी की भाषा में बल है,—ताजगी है । रूपको मे अनूठापन है और भावो मे बहार है । काव्यगत वारीकियो की खासी घुसपेंठ है ।

श्री सहचरि शरण देव जी (जन्म स० — १=२६ वि०) के दो ग्रंथ—“ललित प्रकाश” और “सरस-मंजावली” प्रसिद्ध हैं । ये टट्टी-स्थान के अधिपति स्वामी श्री राधिका दास जी के शिष्य थे । राधिका दास जी श्री ललित मोहिनी जी के शिष्य थे । सरस-मंजावली मे १४० मंज (मंज—एक प्रकार का छंद विशेष) हैं, जो बड़े सुंदर हैं । वियोगी हरि ने ‘सरस-मंजावली’ की रचना के विषय में लिखा है—

“इसकी रचना बड़ी-ही उच्चकोटि की है । काव्य-वमत्कार के साथ-साथ ही इसमें ‘प्रेम-भाषुरी’ और ‘रसिक-वाक्पणी’ की एक निराली छटा और मादकता है ।”

ललित-प्रकाश और सरस-मंजावली दोनों ग्रंथ छप चुके हैं । ललित प्रकाश में श्री स्वामी हरि-दास जी से लेकर श्री ललित मोहिनी दास जी तक सभी गद्यस्थो—आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन विविध छंदो में किया गया है । सरस मंजावली के कुछ उदाहरण यहाँ देखिये—

“दामन गहँ रहँ जामे का, इती अरज मुदकंदे ।
बरस बिया कर, महर किया कर, महरबान हरफंदे ॥
छवि-चिराग रोशन चित चहिए, ‘सहचरि सरन’ अमंदे ।
ऐ गरीब परवर, गरीब हम इन कबसों के बंदे ॥”

❀

“हरबम याद किया कर हरि की, बरद निवान हरेगा ।
मेरा कहा न खाली ऐ बिल, अनंदकंद दुरेगा ॥
ऐसा नहीं जहाँ-बिच कोई, लगर लोग लरेगा ।
‘सहचरि सरन’ शेर दाँ बच्चा, क्या गजराज करेगा ॥”

★

“मंव हसन शमशेर भार, वर इश्क बलाइ मरौरे ।
रसिक आशिकी-बिल तसाल गहि, सबच रंग बिच जोरें ॥
शमक ‘सहचरी सरन’ बिदरदाँ, जुल्क-जाल शकशोरै ।
अज-बुंदाबनदे - मतवाले, प्रिय मुख-चंद चकोरें ॥”

❀

“समस्त लिया महबुब खूब, तुम कहत बात इतराते ।
ऐंढायल, अलबेले अगन बर, गुम रख हरसाते ॥
रसिक ‘सहचरी सरन’ स्याम-रस-बस जोवन उमदाते ।
आशिकाल की तरफ नजर कर, नव हुसनिन मदभाते ॥”

★

“बरीदार यगरी उदार, उर मुबतमाल थहरत है ।
खरद लपेटा फेंदा कटि से, गुब गरबोली गत है ॥

‘सहचरि सरन’ सयक-बदन की, मदन-मोहनी अत है ।

छवि-सागर की छवि को बरनै, कवि की क्या कुबरत है ॥”

इनके अतिरिक्त हिंदी के अत्यंत प्रसिद्ध महाकवि ‘वनानंद’ भी इसी संप्रदाय के थे । इनके कवित्त, सर्वथा और पद ब्रजभाषा-प्रेमियों के हृदय के द्वार हैं ।

विहारी चरण जी ने अपने ग्रंथ—“निर्वार्क-माधुरी” में महाकवि केशवदास, विद्यापति ठाकुर, महाकवि देव, महाकवि विहारी लाल, कुलपति मिश्र तथा कृष्ण कवि के साथ-साथ रसखान, सेनापति, लाल, वृंद आदि हिंदी के उच्चकोटि के प्रायः सभी कवियों को इसी संप्रदाय का माना है । रसखान और विद्यापति के अतिरिक्त शेष कवियों के सबब में कहा जा सकता है कि उनके लिए संप्रदाय का निजी महत्त्व कोई शले ही रहा हो, पर उनकी रचनाएँ तो शुद्ध काव्य-प्रतिभा को अभिव्यक्त करने के लिए हुईं । ये सभी कवि रीति-विषयक रचना करने वाले हैं ।

बुद्धेलखंड के ‘सेन’, ‘प्राननाथ’ जी को भी स्वामी हरिदास जी की शिष्य परंपरा में निर्वार्क-संप्रदाय का माना जाता है, फलतः उनका—“प्रणामी” या “वामी” संप्रदाय भी निर्वार्क-संप्रदाय के अन्तर्गत आ जाता है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि श्री निर्वार्क-संप्रदाय को देन हिंदी-साहित्य के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है ।^१

^१ यह निबंध मुख्यतः श्री विहारीचरणजी लिखित—“श्री निर्वार्क-माधुरी” नाम की पुस्तक के आधार पर लिखा गया है । इस संप्रदाय के कवियों का अधिकांश साहित्य प्रकाशित है और अधिकांश कवियों के नाम तक हिंदी-साहित्य के इतिहासकार नहीं जानते हैं । इस दृष्टि से विहारीचरणजी का यह उद्योग प्रशंसनीय है । अज के अन्य संप्रदायों पर भी ऐसी पुस्तकें प्रकाशित होने की आवश्यकता है ।



रासपंचाध्यायी : भागवत

श्री गोविंदलाल हरगोविंद भट्ट

श्रीमद्भागवत भगवान् का शब्दात्मक रूप है और "दशम स्कन्ध" उनका हृदय। कुछ लोगों के भगवानुसार दशम स्कन्ध भगवान् का मुख भी माना जाता है। श्री 'बल्लभाचार्य' जी दशम स्कन्ध के तीन अध्यायी (१२-१४) को प्रक्षिप्त मानते हैं। अतएव उनका अभिप्राय यह है कि २६ से ३० तक ये पाँच अध्याय 'रासपंचाध्यायी' नाम से कहे जाने चाहिए। अन्य विचारक १२ से लेकर १४ तक तीन अध्यायों को प्रक्षिप्त नहीं मानते, अतएव उनके मत से २६ से ३३ तक के पाँच अध्याय 'रासपंचाध्यायी' नाम से संबोधित होते हैं।

भारतीय दर्शन के इतिहास में इस रासपंचाध्यायी का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्री कृष्ण और गोपियों के प्रसंग का वर्णन इन पाँच अध्यायों में आया है जो उत्त्वज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। भगवान् के वेणुनाद से गोपियों का आकर्षण, गोपीजनो का त्याग और सर्वात्मभाव, उनका गर्व और भगवान् का तिरोधान, इनका विलाप और दैन्य, भगवान् का प्रादुर्भाव और गोपीजनो के ऊपर अनुग्रह, रासलीला का आरम्भ और भक्तानन्द का दिव्य अनुभव—ये सब प्रसंग काव्य और उत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यंत भर्मस्पर्शी हैं।

श्रीमद्भागवत के टीकाकारों ने इस 'रासपंचाध्यायी' का और विशेषतः इस 'रासलीला' का तात्पर्य भिन्न-भिन्न दृष्टि से दिखलाया है। 'वोषदेव' कहते हैं कि गोपिकाएँ सर्वथा शुद्ध हैं और इसीलिए भक्तिरस के अनुभव करनेका अधिकार भोगती हैं। इस भक्तिरस का अनुभव ही 'रासलीला' है। भागवत में जो शृंगार देखने में आता है उसका पर्यवसान भक्ति में है—ऐसा वोषदेव का अभिप्राय है। 'श्रीचरस्वामी' कहते हैं कि भगवान् की रासक्रीड़ा उनकी 'कामदेव' के ऊपर विजय प्रकट करती है।^१ रासलीला में वर्णित शृंगार रस की कथा का तात्पर्य विशेषतः काम-निवृत्ति में ही है। काम-विजय रूप इस रासक्रीड़ा के अवगण का फल भी काम-विजय ही है। अतएव शृंगार रस में आसक्त अत्यंत बहिर्मुख पुरुषों को भी भगवन्मय बनाने के लिये ही भगवान् ने यह शृंगार रसवाली लीला की है। श्रीचर-स्वामी का यह मतव्य अन्य बहुत से टीकाकारों को भी मान्य है।

चैतन्य संप्रदाय वाले 'सनातन गोस्वामी' के अनुसार भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन ब्रज-सुंदरियों के मनोरथ परिपूर्ण कर 'प्रेमरस' का विस्तार करना है। इसी संप्रदाय के 'विश्वनाथ चक्रवर्ती' कहते हैं कि भगवान् ने आठ वर्ष की अवस्था में रासक्रीड़ा की तथा इस रास से गोपियों को इतना अधिक सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वे सर्व सिरोमणि लक्ष्मी जी से भी अधिक संगान्ति हुईं।^२

^१ ब्रह्मानंदोदात्मसमुद्भूत भजनार्णवयोजने ।

लीला या युज्यते सन्यक् सासुर्यैर्विनिरुध्यते ॥

^२ ब्रह्माविजयसंस्कृत दर्पकंदर्पदर्पहा ।

जयति श्रीपतिगोपीरासमंडलमंडनः ॥

—श्रीचर स्वामी

रासो जयति यद्गत सौभाग्या गोपियोषितः ।

धरास्थाय अथरी चक्रुः सर्वोद्भवस्थां रमासपि ॥

—विश्वनाथ चक्रवर्ती

मध्वसंप्रदायी टीकाकार—‘विजयध्वज’ कहते हैं कि निर्दोष-भक्ति से उत्पन्न हुआ ब्रह्म-ज्ञान ही मुक्ति का साधन है—इस शास्त्रीय सिद्धांत का समर्थन करने के लिये रासपंचाध्यायी की कथा है। ‘धनपतिद्वार’ का अभिप्राय ऐसा है कि भगवान् ने नवें वर्ष में रासलीला की और गोपीजन स्त्री भ्रमरस्य सेगवाने कामदेव के साथ युद्ध में विजय प्राप्त की। यह रास-वर्णन सब भागवत का सार है। परमहंस शिरोमणि श्री ‘शुकदेव जी’ ने रास का वर्णन परम प्रेम से किया है, अतएव परमहंसों को भी भावर से उसका श्रवण करना चाहिये। श्रीमद्भागवत भक्ति-रस प्रधान और शांति-रस प्रधान है। इसमें शुकदेव जी ने प्रसंगोपात् शृंगाररस की अवतारणा करके निवृत्तिमार्ग का ही अपना गूढ़ सिद्धांत प्रकट किया है। श्री बल्लभाचार्य जी ने अपनी ‘सुलोचिनी’ नाम की टीका में ‘रासपंचाध्यायी’ के विषय में बहुत अच्छा विवेचन किया है। मूल भागवत में ही परीक्षित ने रासपंचाध्यायी के विषय में शका उठाई है और शुकदेव जी ने उसका समाधान दो प्रकार से किया है। एक प्रकार तो लोक-रीति के अनुसार है और दूसरा वस्तु-स्थिति के अनुसार है। श्री बल्लभाचार्य जी भागवत में ही वर्णित इन दोनों प्रकारों को लक्ष्य करके कहते हैं कि भगवान् सर्व-समर्थ और अतर्क्य हैं। उनको किसी प्रकार का बंधन होता ही नहीं है। वे क्रीड़ा करने के लिये पुरुष देह धारण करते हैं। उनकी इस लीला में किसी प्रकार का लौकिक काम नहीं और जो कोई अज्ञा से भगवद्-लीला का श्रवण करेगा वह अल्प समय में ही परा-भक्ति प्राप्त करके काम रूप हृदय-रोग से मुक्त होगा।^१

श्री बल्लभाचार्य जी के मत से भागवत में जो रासलीला का वर्णन आया है वह ‘सारस्वत कल्प’ की रासलीला है। भगवान् की समस्त लीलाओं में ऐतिहासिक और रूपक इन दोनों दृष्टियों का मिलना सहज है। भगवान् की प्रत्येक लीला का प्रयोजन होता है। भगवान् का प्राकट्य सबके उद्धार के लिये होता है और विशेषतः निस्साधन जीवों के उद्धार के लिये। भगवान् निस्साधन पुरुषों का उद्धार किस प्रकार करते हैं—यह बिलाले का प्रयोजन ही रासलीला है। गोपियों के समान साधन-रहित जनो का उद्धार करके भगवान्—‘पुष्टिमार्ग’ (कृपामार्ग) का उपदेश करते हैं और गोपी भगवान् के इस कृपा-मार्ग का प्रवर्तन करती हैं अतएव पुष्टिमार्ग की गुंव मानी जाती है।

शुद्धादित वेदांत में भगवान् का स्वरूप रसात्मक माना जाता है। सब रसों का अतर्क्य शृंगाररस में होने से भगवान् शृंगार-स्वरूप है। जो रसात्मक काम है वह अत्यंत गूढ़ है और उससे ‘काम-शास्त्र’ तथा ‘नाट्य-शास्त्र’ प्रवृत्त हुए हैं, अर्थात् काम-शास्त्र एवं नाट्य-शास्त्र केवल भगवान् के लिये ही हैं। गोपीजनो की निर्दोषिता और श्रेष्ठता भगवान् ने स्वयं कई बार स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है और उद्धव समान ज्ञानी भक्त तो गोपीजनो के धरण में गिर कर कहने लगे थे—

“वदे नंदव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।

यासां हरिकषोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥

—भागवत १०।४७।६३

रासलीला को वास्तविक प्रसंग मान करके शब्द और तर्क-प्रमाण से उसकी पवित्रता सिद्ध की गई है। रूपक की दृष्टि से भी यह कथा निर्दोष है, ऐसा सिद्ध होता है। इस लीला का सर्वथा गान और श्रवण अलौकिक भजनानंद का अनुभव कराता है।

रासलीला का रूपक की दृष्टि से निवार प्राचीन काल से ही होता आया है। सब वेद भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं—इस सिद्धांत को ही बरसाने के लिये रासलीला का प्रसंग है। गोपियों वेद की ऋचाएँ हैं और जिस प्रकार शब्द तथा अर्थ का संबंध नित्य है उसी प्रकार ऋचा स्त्री गोपियों और भगवान् का संबंध भी नित्य है। इसी का नाम ‘नित्य रासलीला’ है।

१. किया सर्वत्र संवापि परं कामो न विद्यते ।

भगवान् परमात्मा है, अतर्थांगी है और गोपिया प्रकृति है, अतः करण की वृत्तियाँ हैं—यह मान करके भी रासलीला का रहस्य रूपक की दृष्टि से समझा जा सकता है। रासलीला ब्रह्मानुभव का रहस्य प्रकट करती है। परमात्मा के साथ अनेको सबंध बाँधकर जीवात्मा भगवत्स्वरूप प्राप्त करता है। यह सबंध काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता और भक्ति से सिद्ध होता है। अतएव रासलीला इस जीवात्मा का परमात्मा के साथ का घनिष्ठ सबंध प्रकट करती है।

ऋग्वेद में विष्णु देवता के जो विशेषण हैं वही आगे भक्ति-संप्रदायो में कृष्ण के लिए प्रयोग किये गये हैं। कृष्ण वैदिक विष्णु एवं सूर्य के विकसित स्वरूप हैं। सूर्य अखिल चराचर विश्व की आत्मा है अतएव वे विश्व के आधार और मध्याब्जिदु बने हुए हैं तथा विश्व उनके चारों ओर फिरता है। इसी बात को श्रीकृष्ण की रासलीला का स्वरूप दिया गया है। रासलीला तो मनुष्य तथा विश्व का परमात्मा के साथ का सबंध प्रकट करती है।

कृष्ण सूर्य हैं और गोपीजन किरण हैं। सूर्य की किरणें सूर्य में रहती हैं, सूर्य से वे बाहर निकलती हैं और फिर सूर्य में ही प्रवेश कर जाती हैं। सूर्य गोलाकार है और सर्वदा गतिवान् है। यही सुंदर रहस्य रासलीला में सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन तत्त्व-चिंतको ने रासलीला की उदात्त भावना का विचार किया है। रासलीला की भावना काव्य की दृष्टि से और तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से अत्यंत मध्य और सुंदर है। अतएव इसका स्थान साहित्य और तत्त्व-ज्ञान के इतिहास में चिरंतन है।

—अनु० श्री अर्जुनराम नागर



रास के पद

राग-भैरव

मान लाम्यो, गिरिधर गावै ।

ता-ता-थेई, ता-ता-थेई, ता-ता-थेई-थेई, भैरो राग-मिलि मुरली बजावै ॥
नाँचत नच बृषभानि-बुलारी, औघर गति में गति उपजावै ।
गिरिधर-पिय-प्यारी की पद-रज, 'कृष्णदास' जै सीस चढावै ॥

ॐ

प्यारी भुज-भीबा मेलि निरतत पिया भुजान ।

मुदित परसपर खेति गति में गति, गुन-रास राखे गिरिधर गुन-निधान ॥
सरस मुरली-धुनि मिलै मधुर सुर, रास-रंग-माने गावै औघर तान-बसान ।
'चतुरभुज' प्रभु स्थासि-स्थासि की नटन देखि, मोहै लग, मृग जन, धकित ब्योम-विमान ॥

राग-रामकली

देखी, देखी री-नाग-रत्न, निरतत कालिदो-नाट, गोपिन् के मध्य राजै मुकट-नाटक ।
काछिनी, किकनी, कटि पीतांबर की चटक, कुडल किरन रवि-रच की भटक ॥
ता-ता-थेई, ता-ता-थेई सबब सकल उघटत, उरप-तिरप गति पग की पटक ।
रास में श्री राखे राखे मुरली में एक रट, 'नंददास' गावै तहाँ निपट निकट ॥

राग-टोडी

वचिर रमित वचि रासम् ।

कुहुमित कानन द्रुम, बेली अति, निज कृत उठय प्रकासम् ॥
जुवती जुगल जुगल-प्रति भावौ, करत विनोद विलासम् ।
खेनु, मूबंग, मंजोर, किकिनी, खनित मधुर मृदु हासम् ॥
जमुना-सीर, सीर खग-भूय को, अंद समीर सुवासम् ।
बरसत कुसुम इंद्र-सुर चावत, संकर तजि कंसासम् ॥
निरख नैन छवि मुरझाये मनमथ, सोझन पदम-पलासम् ।
'विष्णुदास' प्रभु गिरिधर कीइत, कथा-कथित सुख-व्यासम् ॥

राग-नट

नागरी, नट-नाराइन गावौ ।

तान, मान, बंधन सप्त सुर, राग सौ राग मिलावौ ॥
चरन घूषक जै भुजैन पर, सीको भौंक जमावौ ।
'व्यास' स्वामिनी धन-धन श्री राखे, रास में रंग-रचावौ ॥

राग-भूर्वी

निरतत गोपाल लाल, तरनि-सनय-सीरे ।

जुवती-जन संग लिये, मनमय-मन करलि किए भंग-भंग सुराव रिधे, राजन बन-सीरे ॥
सावन-निधि गुन-सागर, कोक-कला गुन-सागर, त्रिविज-ताप हटत भरत मोहन म्योरे ।
'आसकरन' प्रभु ओहुन नागर गुन-निधान, संगीत-सार गिरिवन ब्रज-मधु नागर कल्याण पटवारे ॥

रीतिकाल : पृष्ठ-भूमि

श्री सत्येंद्र

किसी भी युग के साहित्य का सृजन उस युग की भूमि पर होता है। कवि युग में रहता है। उसकी मुक्त-दृष्टि उस काल की ठोस परिस्थितियों के चक्र में होकर ही ऊपर उठती है। रीतिकाल के कवियों का हिंदी-साहित्य में एक विशेष स्थान है। वीर-गाथा-काल के कवियों ने वीर-पुरुषों की प्रशस्तियाँ प्रस्तुत की। उनका उस समय यह धर्म था कि राजा और राजनीति की दृष्टि से उस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करे। वे वीर-भूजा के भाव से उद्बलित थे, ऐसा कहा जा सकता है। सत-कवियों, सूफी-प्रेम-गाथाकारों तथा कृष्ण और राम के भक्त-कवियों ने जो रचनाएँ रचीं उनका उद्देश्य प्रत्यत स्पष्ट है। वे सृष्टि के मर्म और जीवन को समझ कर उनके पारस्परिक संबंध का निर्देश करना चाहते थे, जीवन के लिए एक आदर्श देना चाहते थे। ऐसे जीवन-संदेश देने वाले महान् युग के पश्चात् यह रीतिकाल। इसका क्या उद्देश्य था?

यह 'काल' रीतिकाल कहा जायगा, ऐसा ज्ञान इस युग के रचयिता कवियों को नहीं था। रीतिकाल से पूर्व के काव्य-आदर्शों को प्रस्तुत करने का जैसे एक विधिवत व्यवस्थित आंदोलन था, इस काल के कवियों के लिए वंसा कोई आंदोलन भी किसी महापुरुष ने—किसी महात्मा वा अवतार जैसे—आचार्य बलभ अग्नि के अवतार है, ने नहीं किया था। जैसे अपने आप ही कोई पौधा उग आता है, उसी प्रकार उस काल की भूमि में से यह रीतिकाल उदय हुआ और एक दीर्घ काल तक पोषित और पल्लवित हुआ, क्यों हुआ? वह भूमि कैसी थी? यह हमें अध्ययन करने की आवश्यकता है। बिना आंदोलन के, बिना किसी नेता के आदेश और निर्देश के स्वयमेव जो वस्तु उदय हो जाय, उसकी जड़ें गहरी ही होनी चाहिये। आज के समालोचक इस कार्य पर एक अनोखी दृष्टि से विचार करते हैं। वे कहते हैं कि यह काव्य कृत्रिम-अभिजात्य काव्य है, स्वाभाविक नहीं, अतः सूर और तुलसी तो युग की भावनाओं को प्रकट और अभिव्यक्त करने वाले—उस युग की आकांक्षाओं को रूप देने वाले प्रगतिवादी कवि हैं, विहारी और देव जैसे कवि नहीं। रीतिकालीन कवियों ने प्रगति-शामी-काव्य और समाज को तथा जन को पतन की ओर प्रवृत्त किया है। इस दृष्टि का पोषण सर्वत्र ही हुआ है। हमें इस दृष्टि के मर्म को भी समझने की आवश्यकता है, क्योंकि 'सूर' और 'तुलसी' तथा 'कबीर' जो सामयिक आंदोलन के प्रवाह और दबाव में लिख रहे थे, स्वाभाविक और प्रगतिवादी-काव्य के रचयिता हुए और क्यों सहज रूप से, बिना किसी आंदोलन और दबाव के जो रचनाएँ की गयीं वे अस्वाभाविक और अप्रगतिवादी हुईं। इसके लिए इतिहास को, काव्य की पृष्ठ-भूमि को समझने की आवश्यकता है।

इतिहास यह बात बतलाता है कि जन-जीवन के इतिहास के युगों में जो परंपरा मिलती है वह एक की बूझरे के प्रतिभिया के रूप में होती है। वैदिक-कर्म-कांड के विरुद्ध बौद्ध और जैन-धर्मों का उदय हुआ और बौद्धा का युग प्रतिष्ठित हुआ। इस बौद्ध-युग की प्रतिक्रिया ब्राह्मण-युग में हुई। इसी प्रकार सर्वत्र। फलतः 'रीतिकाल' भक्तिकाल की प्रतिक्रिया कहा जाना चाहिये—और यह है भी। भक्तिकाल में प्रेम को जन-जीवन के व्यावहारिक धर्म से अलग कर दिया, उसे अपने में दूतर पुरुष—निर्गुण प्रपञ्च सगुण के लिये समर्पित कर दिया, उसकी अपनी भावना का अपने ही हाथ-पास के लिए कोई भी स्थान और उपयोग नहीं रहा।

भक्ति एक भावावेश की चरमावस्था है। वह हृदय के भावों में उत्ताल गति चाहती है। ऐसी भावाविष्ट-वशा सदा नहीं बनी रह सकती, न सदा चंचल हो हो सकती है। रीति-काव्य ने उसी प्रेम-तत्त्व को दिव्य भरतल से उतार कर शरीर—हाड-मांस में अनुस्व कर दिया, यह एक प्रतिक्रिया थी। ईश्वर में से उन्होंने ईश्वरस्व निकाल कर अपने जैसा मग्न मानव नायक अथवा नायिका का रूप दे दिया।

आंदोलन में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की ओर विशेष आकर्षण होता है, प्रत्येक आंदोलन पूर्ण-मानव के लिए नहीं उठ सकता, वह उसके किसी अंग को समुष्ट करने के लिए प्रवृत्त होता है। फलतः मल-मानव कभी इन आंदोलनों का विषय नहीं बनता। शाश्वत और कुछ नहीं, मूल-मानव ही है। यही युग-युग में समान रहता है। आंदोलन केवल युग-धर्म को, एक विकार को अथवा एक हानि को प्रस्तुत करता है। वह जब सफल अथवा विफल हो जाता है तो शाश्वत-मूल्यों की ओर पुनः दृष्टि जाती है और मानव कुछ विराम की ओर आकृष्ट होता है। इसी मनोबला में रीतिकालीन-साहित्य की प्रेरणा निहित है। प्रत्येक साहित्यिक अभिव्यक्ति अपने लिए कोई न कोई रूप चाहती है। भक्तिकाल ने बहुधा प्रवचनमयता को प्रश्रय दिया। वह सर्वोच्च रही हो, जैसे—'रामचरित-मानस' में, अथवा सह-सह रही हो, जैसे—'गुर-सागर' में। भक्ति-काव्य ने वस्तु को प्राधान्य दिया, शैली-को—गीम-स्थान मिला। रीतिकाल ने इस स्थिति की प्रतिक्रिया में शैली और रूप को सुनिश्चित व्यवस्था देने का यत्न किया। ये कुछ अत्यंत स्थूल और स्पष्ट बातें हैं, जो यह प्रकट करती हैं कि रीतिकाल से भक्तिकाल की प्रतिक्रिया हुई। रीतिकाल भक्तिकाल को ह्रास का विकृत रूप नहीं था। इसे और भी स्पष्ट करने के लिये हम यो तुलना कर सकते हैं—

- | | |
|--|--|
| १, भक्तिकाल 'कृष्ण मगधाल' को नायक मानता है। | १, रीतिकाल नायक को 'कृष्ण' मानता है। |
| २, भक्तिकाल नायक को 'अधमार्ग' मानता है। | २, रीतिकाल नायक को 'मनुष्य' मानता है। |
| ३, भक्तिकाल संन्यास और आंदोलन का परिणाम है। | ३, रीतिकाल अंतर्प्रदायिक तथा स्वभाविक है। |
| ४, भक्तिकाल प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप देता है। | ४, रीतिकाल प्रेम को रति, इसी-मूल्य की स्मरण स्वभाविक ऐंद्रिक रति के रूप में ग्रहण करता है। |
| ५, भक्तिकाल प्रेम को अमोघ्य, बहु-समर्पणीय मानता है। | ५, रीतिकाल प्रेम को भोग्य और ऐंद्रिक विषय मानता है। |
| ६, भक्तिकाल सिद्धांत और दर्शन के आधार पर खड़ा होता है। | ६, रीतिकाल जीवन को ऐसे किसी माध्यम से नहीं देखता चाहता। |
| ७, भक्तिकाल विषय और वस्तु को महत्व देता है। | ७, रीतिकाल शैली और रूप को महत्व देता है। |
| ८, भक्तिकाल उपयोगितावादी है। | ८, रीतिकाल कलावादी है। |
| ९, भक्तिकाल प्रवचनमयता की ओर आकृष्ट है। | ९, रीतिकाल सर्वथा मूलक है। |

इस प्रकार और भी तुलना के विषय मिल सकते हैं, जो एक दूसरे के विरुद्ध नहीं मिल सकते हैं। अतः रीतिकाल भक्तिकाल की प्रतिक्रिया तो है ही; हमें वही प्रत्यक्ष रूप से स्मरण को भी समझ लेना है।

अस्तु, इस काल की ऐतिहासिक प्रवृत्ति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल का भारत मूल-साम्राज्य के वैभव के सपन होने के युग में हुआ था। यो तो इस रीतिकाल का बीजा-रोपण करने के लिये महाकवि 'केशवदास' 'अकबर' के समय में हुए^१, ठीक उस काल में जब भक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी और सूर-तुलसी जैसे महान् कवि अपनी रचना से काव्य को वह स्थान प्रदान कर रहे थे, जो किसी भी साहित्य को कठिनाई से ही मिला करता है। तुलसी और सूर स्वतंत्र कवि थे, केशव राजदरबार के कवि थे। अकबर का समय धार्मिक और साहित्यिक पुनराहरण का युग कहा जा सकता है। इस पुनराहरण में संस्कृत-भाषा के पुराण और धार्मिक ग्रंथों का ही अध्ययन और अनुवाद नहीं हुआ, काव्य-ग्रंथों की ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। केशवदास ने 'अलंकारवादी' संस्कृत आचार्यों का अनुकरण किया। अब उनकी शास्त्रीय रचना के प्रधान आधार 'दंडी' का 'काव्यादर्श', 'अमर' की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और 'केशवमिश्र' का 'अलंकार-शेखर' है। आगे के रीतिवादी आचार्यों ने भी संस्कृत-आचार्यों से प्रेरणा और समिप्री ली। यह पुनराहरण भी इस बात का द्योतक है कि ऐतिहासिक स्थिति, व्यवस्था और शांति के अनुकूल होती जा रही थी। आगे दो-तीन पीढ़ियों तक यह व्यवस्था और शांति बनी ही रही, यह स्वाभाविक ही था कि पूर्वकालीन भादोलनों का वेग आगे चलकर मंद पड़ जाता है, यही हुआ भी। इसी कारण कवियों का ध्यान दूसरी ओर गया। राज्य की व्यवस्था ठीक हो जाने पर राजा ने पुन श्रद्धा लौटी, उनके दरबारों में फिर ऐश्वर्य की भीड़ होने लगी। ऐतिहासिक जीवन में जो पतवार जनता के हाथ में चली गयी प्रतीत होती थी, वह पुन राजाओं के हाथ में आ गयी। भक्ति-आंदोलन जीवन की वैषम्य-पूर्ण दशा का द्योतक था, रीतिकाल में जीवन में सौम्य-दशा लौटी तो काव्य और साहित्य की भूमि भी बदल गयी। अब साहित्य माध्यम नहीं रहा, अब वह साध्य हो गया। उसका विषय हो गया जीवन की मासिक-छवि या सौंदर्य का निरूपण। इसके लिये उसे वैसे ही अलंकार-रस जैसे काव्य-साधन और उक्तियों का आश्रय लेना पड़ गया।

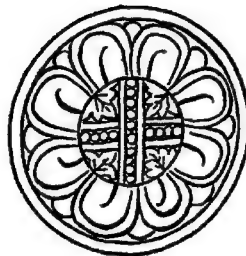
^१. ब्रजभाषा-रीतिकाल की नीम संस्कृत के सुबुद्ध रीति-ग्रंथों के आधार पर केशव के बहुत पहिले पड़ चुकी थी। अब तक की खोज से प्राप्त प्राचीन रीति-विषयक ग्रंथ कृपाराम की हित-तरिणी (सं० १५४२ वि०) का उल्लेख किया जाता है। यह ग्रंथ 'भरतमुनि' के प्रसिद्ध 'नाट्य-शास्त्र' के आधार पर बना। जैसे—

“कृपाराम यों कहत हैं, भरत-ग्रंथ अनुमान ॥”

इसके बाद उदाहरण और लक्षण के ग्रंथों में ब्रजभाषा-साहित्य के सूर्य भी सूरदास की 'साहित्य-सहरी' (सं० १६०७ वा सं० १६१७) का नाम लिया जाता है। श्री सूर का यह लक्षण ग्रंथ न होकर उदाहरण ग्रंथ है। 'स्वकीया, परकीया, स्वकीया के अंतर्गत मृग्या, मृग्या के दो भेद—ज्ञात और अज्ञात ज्ञेयता, फिर मध्या और प्रौढा, तदनंतर धीरा, ज्येष्ठा-कनिष्ठा, परकीया के—ऊदा-अमूढा भेद के बाद 'सुरतिगुप्ता', विदग्धा, सशिता, मुविता और अनुज्ञायता के बाद 'अन्य सुरति-गुप्ता, गविता, मानवती, प्रेषितमर्तुका, खविता, उत्कृष्टिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभि-सारका, पतिपमनी, आपतपतिका और कलहातरितादि' भाषिकाओं के उदाहरण लिखे हैं। श्री सूर के बाद 'पोहकर' कवि का 'रसरत्नाकर' (सं० १६१३), लक्ष्मीचंद और मोहनलाल कवि के 'भृंगार-सागर' (सं० १६१६), महाकवि नंददास (अष्टछाप) की 'रसमंजरी' (सं० १६२०), कविंद्र की 'कल्पलतावृत्ति' (सं० १६२२), निवाजी और किसी अज्ञात कवि रचित 'विक्रम-विलास' तथा 'रसमंजरी' (सं० १६४०), गोपाल कवि का 'रसविलास' (सं० १६४४), अदुर्हीम (रहीम) खानखाना का 'बरबनायिका भेद' तथा 'नगर शोभा वर्णन' (सं० १६४५), बुंदकवि की 'भाव पंचाशिका' (सं० १६४६) और नियाज कवि का 'जसवंत-विलास' तथा किर्ती नरेश कवि का 'नायिका-भेद' (सं० १६४७) बन चुके थे।

कोई भी साहित्य बिना आवश्यकता के नहीं पनप सकता, कम से कम उन्ना दुग भी नहीं हो सकता। रीतिकाल दीर्घ काल है। इस काल में अनेको कवि हुए। इनमें से अधिकांश राज्याश्रय में रहे, किन्तु इनका काव्य सर्वत्र फैला और समादृत हुआ। बिहारी की 'सतसई' पर रस टीकाओं का निर्माण यह सिद्ध करता है कि इस रीति-युगीन-साहित्य को गंभीर दृष्टि में अध्ययन व विषय बनाने का एक महत्-उद्योग होता रहा। फिर भी प्रश्न यह है कि यह ऐसा धार्मिक वादी साहित्य क्यों इतना अनिवार्य रहा ?

साधारण जन के जीवन में प्रत्येक भाव-धारा अपना एक विशेष स्थान रखती है। वह केवल न भक्त हो सकता है, न केवल वीर। ये उसके जीवन में अपना स्थान रखते हैं, पर इनकी सीमाएँ भी हैं। इस जीवन में उसे मनोरंजन, भक्ति-चमत्कार और ऐंद्रिय-नोद-विषय की भी आवश्यकता है। इसी रीति-साहित्य ने उसकी इस आवश्यकता को पूर्ण किया। दर रचना बिना काव्य-शिक्षा के नहीं हो सकती थी, यह केवल आत्मानुभूति का उद्गार नहीं था कि जिस रूप में भी प्रकट हो जायगी उसीमें ग्राह्य हो सकेगी, इसकी सहायता के बिना संगीत भी नहीं आ सकता था। इसे तो अपने रूप की व्यवस्था स्वयं करनी थी। इस आवश्यकता ने साहित्य जगत् की रीति को आवश्यक बना दिया। ये दोनों बातें युग-धर्म बन गयीं। यही कारण है कि इस काल में दोनों प्रकार के कवि मिलते हैं, एक वे जो आचार्य भी ह, दूसरे वे जो केवल कवि हैं। इनकी कविताएँ भी दो प्रकार की हुईं। एक रीति-युक्त और दूसरी रीति-युक्त। रीति-नाम के धर्म्य का यह भी एक रूप है।



ब्रजभाषा का नायिका-भेद

श्री राकेश गुप्त

ब्रजभाषा-साहित्य का नायिकाभेद अनेक साहित्यिक एवं असाहित्यिक परंपराओं का विकसित रूप है। अतएव इसकी आत्मा तक पहुँचने के लिये उन आधारभूत परंपराओं का, जिन्होंने इसके विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है, सम्यक् अध्ययन नितांत आवश्यक है।

नायिकाभेद का विषय सबसे पहले हमें 'नाट्यशास्त्र' और 'कामशास्त्र' विषयक ग्रंथों में मिलता है। इन दोनों विषयों के सर्वप्रथम प्राच्य ग्रंथ 'भरत' का 'नाट्यशास्त्र' तथा 'वात्स्यायन' का 'कामसूत्र' हैं। जैसा कि इन ग्रंथों में प्राप्त निर्देशों से ही स्पष्ट है। इन में से प्रत्येक अपने विषय का सर्वप्रथम ग्रंथ न होकर एक प्राचीन परंपरा का अत्यंत प्रौढ़ एवं विकसित रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यद्यपि इन ग्रंथों की रचना-काल के संबंध में विद्वानों में मत-भेद है, पर सामान्यतः हम इनका समय ईस्वी सन् के प्रारंभ के आस-पास मान सकते हैं। इन दोनों ग्रंथों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय के विभेद के कारण इनमें नायिका-भेद की रचना भी दो विभिन्न एवं स्वतंत्र दृष्टिकोणों से हुई है।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' अमृतम-संबन्धी ग्रंथ है। इसमें नायक एवं नायिकाओं का वर्णन नाटकीय पात्रों के रूप में किया गया है। भरत ने यद्यपि शील, स्वभाव^१ तथा सामाजिक-स्थिति^२ के आधार पर अनेक प्रकार की स्त्रियों का कथन किया है, पर शुद्ध नायिकाभेद के रूप में उन्होंने केवल आठ प्रकार की नायिकाओं का ही वर्णन किया है^३। भरत-कृत प्रत्येक भेद का लक्ष्य, चाहे वह स्त्रियों का हो चाहे नायिकाओं का, स्पष्ट रूप से नाटकीय दृष्टि से पात्रों की ही विभिन्न प्रवृत्तियों, स्थितियों एवं स्तरों का निर्देश करना है। भरत का यही दृष्टिकोण उन्हें उनके परवर्ती भाचार्यों से अलग करता है। इसका अक्रांश प्रमाण यह है कि यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथ में रस का भी विस्तृत विवेचन किया है, पर नायक एवं नायिकाओं का कथन उन्होंने श्रुत रस के आलवन विभाव के अंतर्गत नहीं किया, उससे बहुत दूर ग्रंथ के प्रतिम अध्यायो में नाटकीय पात्रों की चरचा करते हुए ही किया है।

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में स्त्री-पुरुष अथवा नायक-नायिकाओं के जिन भेदों का कथन है, उनका आधार मानव की काम-भावना अथवा उसीसे संबंधित अन्य कोई विषय है। मनुष्य की काम-वासना को अदम्य मानकर उसकी तृप्ति के लिये समाज ने विवाह नाम की सत्त्वा स्वीकृत की है, पर मनुष्य की प्रवृत्ति सदैव स्वीकृत मार्ग पर ही नहीं चलती, फल-स्वरूप पुरुष और स्त्री के बीच में कुछ ऐसे संबंधों की सृष्टि होती है, जिनके अस्तित्व को, समाज के लिये अप्रियकर मानते हुए भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते। पुरुष का इस प्रकार का संबंध जिन स्त्रियों से हो सकता है उन्हें वात्स्यायन ने चार वर्गों में विभाजित किया है—कन्या, पुनर्भू, वैष्णवा तथा परस्त्री।

^१ शील के आधार पर भरत ने स्त्रियों को देवशीला, असुरशीला आदि चार्लेन भेद किये हैं। स्वभाव अथवा प्रवृत्ति के आधार पर उन्होंने स्त्रियों को उत्तमा मध्यमा तथा अवमा में तीन भेद किये हैं।

^२ स्त्रियों को वैष्णवा, कुलजा, प्रेम्णा, तथा महावेरी, वेवो, अनुचारिका आदि भेद उनको सामाजिक स्थिति अथवा स्तर के आधार पर है।

^३ नायिकाओं के आठ भेद ये हैं—वासकसम्भवा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनपतिता, कलहातरिता, खंडिता, बिभलव्या, प्रोषितमनु का तथा अभिसारिका।

- वात्स्यायन-द्वारा किया गया यह विमर्श कुछ परिवर्तित रूप में साहित्य-शास्त्र के परवर्ती आचार्यों-द्वारा प्रमुख नायिका-भेद के रूप में गृहीत किया गया है। 'कामशास्त्र' के ग्रंथों में इस भेद के अतिरिक्त शरीर-रचना,^१ मानसिक-आवेश^२ तथा कामेच्छा-काल^३ के आधार पर भी स्त्री-पुरुषों के भेद किये गये हैं। पर ये भेद नायिका-भेद के साहित्यिक आचार्यों-द्वारा प्रायः स्वीकृत नहीं किये गये^४। वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ में नायक और नायिका को मिलाने में सहायता देने वाले द्रुत और द्रुतिगो का भी विस्तृत वर्णन किया है तथा उनके कार्य एवं गुणों के संवध में भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

काव्यशास्त्र में नायिकाभेद के विषय का ग्रहण सर्वप्रथम 'अग्निपुराण' के लेखक-द्वारा किया गया है। इस ग्रंथ में नायक-नायिका भेद सनधी विषय का प्रतिपादन अत्यंत सक्षिप्त होते हुए भी^५ मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है। नायक और नायिका को, जिनका भव तक रस से कोई संबंध नहीं था, अग्निपुराण के लेखक ने शृंगार-रस के आलवन-विभाव के अंतर्गत रखकर काव्य-शास्त्र में एक ऐसी परंपरा को जन्म दिया जो आज तक अक्षुण्ण है। आश्चर्य की बात तो यह है कि नाट्यशास्त्र-संबंधी ग्रंथों के लेखकों ने भी इस परंपरा को निर्विरोध रूप में स्वीकार कर लिया। यद्यपि नाटक के नायक की दृष्टि से किये गये नायक के चार प्रमुख भेदों का^६ शृंगार रस अथवा उसके आलवन-विभाव से कोई सीधा संबंध नहीं है।

अग्निपुराण के पश्चात् संस्कृत के काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र-संबंधी अनेक ग्रंथों में नायिका-भेद के विषय का प्रतिपादन किया गया। इन ग्रंथों के लेखकों ने अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार भारत, वात्स्यायन तथा अपने पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों का आधार ग्रहण करते हुए इस विषय का अपने मौलिक योग-द्वारा समर्थन एवं विकास किया^७। इस विकास की चरम सीमा हमें 'मानुष्य' मिश्र-कृत 'रसमंजरी' तथा 'विवेचना-कृत' 'साहित्य-दर्पण' में दृष्टिगोचर होती है।^८

इस प्रकार लगभग सौ वर्षों तक नायिका-भेद की यह चारों काम अथवा शृंगार-संबंधी मनोविज्ञान से अनुप्राणित होकर तथा नाट्यशास्त्र एवं कामशास्त्र के उपकुलो का अभिनिष्ठित करती हुई अपने शुद्ध शास्त्रीय रूप में प्रवाहित होती रही, पर इसके पश्चात् १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ में इसका भ्रंश एक दूसरी अर्थवत्तव्यता-द्वारा से हुआ और परिणाम स्वरूप इसने एक सर्वथा नवीन रूप धारण किया। यह दूसरी चारों कुण्ड-कल-वर्णन की। सामग्री तथा विषय-प्रतिपादन के दृष्टिकोणों में विभिन्नता

१. शरीर-रचना के आधार पर स्त्रियों को पद्मिनी, चित्रणी, शंखनी, हस्तिनी में अथवा मृगी, मड़ुवा, हस्तिनी में तथा पुरुषों को सशक, धुष, श्रव में विभाजित किया गया है।

२. मानसिक आवेश के आधार पर दोनों को मंदवेग, मध्यमवेग तथा चंद्रवेग में विभाजित किया गया है।

३. कामेच्छा-काल के आधार पर दोनों को शीघ्र, मध्य तथा धीरकाल में विभाजित किया गया है।

४. कुछ हिंदी-आचार्यों ने इन भेदों का भी कथन किया है।

५. अग्निपुराण में नायिका-भेद के संबंध में केवल निम्नांकित एक श्लोक है।

“स्वकीया परकीया च पुनर्नूरिति कोलिका।

सामान्या न पुनर्नूरित्याद्या बहु भेदाः॥” ३३६:४१

६. नायक के चार प्रमुख भेद ये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्वल, धीरसलिल, धीरशाल।

७. नायिकाभेद की विकास-परंपरा में निम्नांकित ग्रंथों के नाम उल्लेखनीय हैं—१. द्रुत द्रुत काम-संस्कार (नवीं शताब्दी), २. खड्गद्वल शृंगारतिलक (ग्यारहवीं शताब्दी), धनंजय कृत दशरूपक (ग्यारहवीं शताब्दी), ४. सरस्वती-कंठभरण तथा ५. शृंगार-अकाश भोजकृत (ग्यारहवीं शताब्दी)। विषय-प्रतिपादन में सबसे अधिक मौलिकता यद्यपि भोज के ग्रंथों में मिलती है, पर भोज का अनुकरण किसी भी पश्चवर्ती लेखक-द्वारा नहीं किया गया।

८. इन ग्रंथों की रचना ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुई।

होते हुए भी इन दोनों धाराओं में एक बहुत बड़ी समानता थी—शृंगार सदाही विविध परिस्थितियों का चित्रण ।

कृष्ण-कैलि-वर्णन की धारा का उद्गम खोजने के लिये जब हम अतीत की ओर बढ़ते हैं तो महाभाग के क्लिप्त-पर्व अथवा हरिवंश-पुराण पर पहुँच कर हमें रुक जाना पड़ता है। हरिवंश के अतिरिक्त पद्म, विष्णु, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में भी कृष्ण की शृंगार-श्रीधर्मों का वर्णन है^१। इन पुराणों में कृष्ण और गोपियों को लेकर शृंगार-सवधी जिन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है उनकी एक मधुसूत सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है—

१. हरिवंश पुराण—

छाद पूर्णिमा की रात्रि को कृष्ण के मन में गोपियों के साथ हृत्सीध-प्रीतन की इच्छा-
गोपियों का अपने पति आदि के वर्णन करने पर भी परकीया नायिकाओं के रूप में कृष्ण में मिलन—रति
का मुकते में वर्णन तथा रति के बाद की शारीरिक अवस्था का वर्णन ।

२. पञ्च पुराण—

नित्य व दावन में कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति तथा आद्या प्रकृति के रूप में राधा का वर्णन ।

३. विष्णु पुराण—

कृष्ण की गोपियों के साथ रास-श्रीड़ा करने की इच्छा, गोपियों का भ्रातृगता-पूर्वक भागमन, कृष्ण के भ्रष्टय होने पर गोपियों की व्याकुलता और निराशा, रासश्रीड़ा के पश्चात् गोपियों-द्वारा कृष्ण का भ्रातृगता और नृजन, कृष्ण को मयुरा जाते समय प्रवृत्त्यत्रेयमी के रूप में गोपियों का वणन, विरह की श्रवस्था में पीडित और निराश गोपियों के द्वारा कृष्ण के प्रति तीव्र व्यग ।

४. भागवत पुराण—

बालक कृष्ण के प्रति गोपियों के मन में अनुगम्य का श्रमश विकास, कृष्ण का स्नान प्राप्त करने के लिये बैचनी, कृष्ण की बड़ी के प्रति गोपियों का ईर्ष्या पूर्ण मयन्ती-भाव—गोपियों-द्वारा कृष्ण को वरण करने की इच्छा से काल्यायनी देवी की पूजा—यमुना में स्नान भग्नी दुर्-गोपियों के चम्रो का कृष्ण-द्वारा हरण, कृष्ण के ब्राह्मण से गोपियों का उनके समक्ष दिग्दर्शन में उपस्थित होना ।

कृष्ण की वशी का रव सुनकर पिता, पति, भाई के हाग गेते जाते पर भी गोपियों का कृष्ण के पाम पहुँचना—कृष्ण-हाग गोपियों का प्रातिगन—जवा, नीची घाटि का गल्ल—जगन्, गोपियों के गर्व-मनन के लिये कृष्ण का प्रहृष्ट होना, गोपियों की व्याकुलता—जगन् के चरण-विहारे के साथ एक घन्ट गोपी के चरण-विहारे के उत्सार दिव्य, कृष्ण के प्रहट होने पर उनकी प्रातिगि के साथ गल-नीला, गल-नीला के चक्का जल-विहारे तथा कल-विहारे ।

बिग-बीजिंग गोशियों को मानना है कि यदि उद्यम का दृष्टि में धारणा, प्रेमपूर्ण, धार्मिक, ज्ञान तथा प्रेम की परिणामता के प्रति मान-दार्ढ्य के ध्यान, पुरुषों में गोशियों में अंतर्गत है न कि ज्ञान, ज्ञान गोशियों का परिणाम ।

५. बह्वर्षेयनं पूराजः—

‘आदिभक्तानां मे वसति स्थानं तत्र विद्यते नान्यथा’ इति श्रुतिः अत्र विद्यते अत्र
वसतिभक्तानां मे वसति स्थानं तत्र विद्यते नान्यथा इति श्रुतिः अत्र विद्यते अत्र
वसतिभक्तानां मे वसति स्थानं तत्र विद्यते नान्यथा इति श्रुतिः अत्र विद्यते अत्र

१. इन प्रान्तों का प्रशासन विभिन्न प्रकार का है। इन प्रान्तों में अनेक प्रकार के प्रशासनिक व्यवस्थाएँ हैं। इन प्रान्तों में अनेक प्रकार के प्रशासनिक व्यवस्थाएँ हैं। इन प्रान्तों में अनेक प्रकार के प्रशासनिक व्यवस्थाएँ हैं।

ऊपर की सूची से यह स्पष्ट है कि पुराणकारों ने कृष्ण, राधा और गोपियोंको लेकर परितो-
मत्व एवं स्वकीयत्व, संयोग एवं विरह से सबंध रखने वाली विविध श्रृंगारी परिस्थितियों का चित्रण अत्यंत
विस्तार-पूर्वक किया है। पुराणों का काल सम्राट होने के पश्चात् ईसा की ग्यारवीं शताब्दी से हमारे
देश में एक प्रबल वैष्णव भक्ति-संप्रदायों का प्रादुर्भाव होना प्रारंभ हुआ। इनमें से कुछ ने हरि भगवा
नारायण अथवा राम की उपासना पर बल दिया और कुछ ने राधा और कृष्ण की। राधा
और कृष्ण को जनता की भक्ति तथा प्रेम का आलवन बनानेवालों में निवाकाचार्य (११ वीं शताब्दी),
भाष्वाचार्य (१४ वीं शताब्दी), बल्लभाचार्य (१६ वीं शताब्दी) तथा चैतन्य महाप्रभु (१६ वीं
शताब्दी) मुख्य हुए। इन्होंने पुराणों के आधार पर नारायण के वैकुण्ठ-लोक से भी ऊपर वृष्ण के
‘गोलोक’ की कल्पना की और इस लोक में कृष्ण की ब्रज की लीलाओं को नित्य रूप में माना। भगवान्
के प्रति प्रेम तथा नित्य गोलोक में भगवान् की लीलाओं का आस्वाद ही इन्होंने जीवन का परम
उद्देश्य माना।

इन धार्मिक एवं दार्शनिक भाचार्यों की अथवा इनसे भी बहुत पहले से केवल धार्मिक
रूप में चली आती हुई कृष्ण-भक्ति-परंपरा की प्रेरणा से अनेक श्रेष्ठ कवियों की वाणी राधा और कृष्ण
के पौराणिक व्यक्तित्व को और भी अधिक मनोरम रूप में प्रस्तुत करने के लिये तत्पर हुई। अपनी कल्पना
के द्वारा इन कवियों ने राधा, कृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीलाओं में अनेक नवीन एवं हृदयपूर्ण
परिस्थितियों की उद्भावना की और इस प्रकार कृष्ण के श्रृंगारिक व्यक्तित्व को क्षेत्र को और भी अधिक
व्यापक बनाया।

कृष्ण-काव्य की इस परंपरा का आरंभ कदाचित् चारहवीं शताब्दी में उमापति की उगना
में लिखी गई रचनाओं से हुआ। चारहवीं शताब्दी में संस्कृत कवि जयदेव ने अपनी प्रभुतोषण मयूर भागी
में राधा और कृष्ण के विलास का अत्यंत सजीव चित्र उपस्थित किया। पता नहीं कि हिंदी के रीति-
कालीन कवियों पर अश्लीलता का आरोप लगानेवाले आलोचकों की ‘जयदेव’ के मूढ विवरण-युक्त
विपरीत रति-वर्णन के प्रति क्या भावना होगी। चौदहवीं शताब्दी में ‘चंडीदास’ ने प्रेमोन्माद की गायन
प्रतिमा राधा की मर्म-भेदी व्याख्या को शब्दों में वाचने का सफल प्रयत्न किया। पद्मती दत्तात्री
में ‘विद्यापति’ ने ग्रीष्म और शैशव की सवि पर खड़ी हुई राधा के अमृत सौंदर्य-मपदा तथा विनाश-विग्रह
से पूर्ण व्यक्तित्व को सरस गीतों के साधने में ढाल दिया।

चंडीदास और विद्यापति के बाद भी कृष्ण-काव्य की यह परंपरा बगल और मिश्रता में
कई शताब्दियों तक चलती रही। इस परंपरा के कवियों की एक सामान्य विशेषता यह थी कि उन्होंने
राधा को परकीया नायिका के रूप में चित्रित किया। इस परंपरा के विरह ‘भ्रमदास’ ने गोमती-राज्य
में राधिका के स्वकीयत्व की स्थापना करके उनका कृष्ण के साथ खड़ी भूमिमान में विराट में बना
दिया। फल-स्वरूप सूर की राधा में हमें प्रेम के उद्देश्य और विकलता के दर्शन नहीं होते, उनके स्थान पर
मिलती है एक शरीरता। इस शरीरता तथा इस अनभुव प्रेम का विशेष परिणाम हमें राधा की विशेषता
में कृष्ण के मयूर चले जाने के पश्चात् मिलता है, पर इस शरीरता का वह धर्म नहीं कि मयूर
राधा और कृष्ण के संयोग श्रृंगार के चित्रण में किसी प्रकार का बाधन सिद्धता है।
इस क्षेत्र में भी जितनी विविध परिस्थितियों की प्रायोजना उन्होंने की है, उतनी उन्हीं की है।
कवि ने नहीं की। रति के स्पष्ट वर्णन में भी वे अपने पूर्वजों विद्यापति भगवा जयदेव से नहीं भिन्न।

१. पं० रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार ‘विद्यापति’ को हम भजन-कवियों की परंपरा में नहीं रख सकते।
संभव है, शुक्ल जो था यह कथन ठीक हो, पर कम से कम इनका तो मानना ही होगा कि विद्यापति
रचना को हम भजन-कवियों की रचनाओं की परंपरा से निम्नो प्रकार से अलग नहीं कर सकते।

“नखल गुपाल, नवेली राधा नये प्रेम-रस पाये ।
अंतर-वन-बिहार बोट झीड़त, आधु-आधु अनुसरणे ॥
सोभित सिधिल-बसैन मनमोहन, सुखवत स्रम के पाये ।
मानहुं वृक्षी मदन की ज्वाला, बहुरि प्रजारैन लागे ॥

—सूरसागर, दशम स्कंध, ६८६ वां पद (का० ना० प्र० सभा-संस्करण)

नायिका-भेद की शास्त्रीय-धारा को कृष्ण-केलि वर्णन की पौराणिक एवं काव्यमय धारा से मिलाने का महान् कार्य चैतन्य महाप्रभु को प्रधान शिष्य ‘रूप गोस्वामी’ द्वारा खोलहवीं शताब्दी में हुआ^१ । उन्होंने अपने ग्रंथ ‘भक्तिरसामृतसिंधु’ में शांत, वात्सल्य, दास्य, सख्य तथा मधुर इन पाँचों की भक्ति-रस के अंतर्गत स्थापना की और मधुर अथवा भृगुराज को भक्ति-रसों का सम्राट् मानते हुए अपने दूसरे ग्रंथ “उज्ज्वलनीलमणि” में इस रस की विस्तृत व्याख्या भी की थी । अतः उक्त रस के आलवन विभावों के अंतर्गत उन्होंने कृष्ण का नायक तथा उनकी वल्लभाओं का नायिकाओं के रूप में वर्णन किया^२ । उनके नायिका-भेद में तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१. गणिका के कथन का अभाव, २. भुग्धा, प्रगल्भा भेदों का परकीया के अंतर्गत भी कथन तथा ३. विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप में विभिन्न गोपियों का नामोल्लेख ।

रूप गोस्वामी-द्वारा इन दोनों धाराओं का समन्वय किये जाने के पश्चात् संस्कृत में इस विषय पर किसी महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना नहीं हुई, पर व्रजभाषा के नायिका-भेद सवधी विंगल साहित्य का समय रूप गोस्वामी के समय के आसपास से ही प्रारंभ होता है । व्रजभाषा का नायिका-भेद-सवधी प्रथम ग्रंथ है कृपाराम-कृत ‘हिततरंगिणी’ । इस ग्रंथ की रचना १५४१ ई० में हुई और इस प्रकार कृपाराम रूप गोस्वामी के समसामयिक हुए । अतएव जैसा कि स्वाभाविक है, इस ग्रंथ पर हमें “उज्ज्वलनीलमणि” का कोई भी प्रभाव दृष्टि गोचर नहीं होता ।

हिततरंगिणी के पश्चात् १६०० ई० तक नायिका-भेद-सवधी तीन प्रमुख ग्रंथों की रचना और हुई—नृददास-कृत ‘रसमंजरी’, रहीम-कृत ‘वरवै नायिका-भेद’ तथा केशवदास-कृत ‘रसिकप्रिया’ । इन ग्रंथों में से रसमंजरी में तो केवल विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के लक्षण ही गिनाये गये हैं । वरवै नायिका-भेद में, जिसकी भाषा अवधी है—केवल उदाहरण है और इन उदाहरणों पर भी रूप गोस्वामी का कोई भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता । रसिकप्रिया हिंदी अथवा व्रजभाषा का पहला ग्रंथ है जिस पर ‘उज्ज्वलनीलमणि’ के समन्वित दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है ।

केशवदास रीति-काल के आचार्य माने जाते हैं । उन्होंने केवल नायिका-भेद का ही नहीं, साहित्य-शास्त्र के अन्य सभी ग्रंथों का भी सम्यक् विवेचन अपने ग्रंथों में किया है । उनकी “रसिकप्रिया” पर उज्ज्वलनीलमणि का प्रभाव निम्नांशित सीमाओं तक दृष्टिगोचर होता है ।

१. केशव ने नायिकाओं का वर्णन जग-नायक श्रीकृष्ण की नायिकाओं के रूप में किया है ।
जैसे—

“जगनायक की नायिका बरनों केशवदास ।”

१. संभव है कि चैतन्य रस-शास्त्र की यह परंपरा पहले से भी चली आती हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसे निश्चित शास्त्रीय रूप ‘रूप गोस्वामी’-द्वारा ही प्रदान किया गया था ।

२. उज्ज्वलनीलमणि के पश्चात् संस्कृत में मिले गये नायक-नायिका-भेद-संबंधी दो ग्रंथ उपलब्ध हैं । १. केशव मिश्र कृत ‘भक्तिकार-शेखर’ (मोलहवीं शताब्दी उत्तरार्ध) तथा २. अच्युत दामन कृत ‘साहित्य सार’ (सं० १८३१), पर इन दोनों में इस विषय का प्रतीतिपूर्ण अर्थन नज़र में रखा गया है और साथ ही किसी प्रकार की मौलिकता के दर्शन भी इनमें नहीं होते ।

२. सामान्या का उन्होंने कथन तो किया है, पर एक बार उसका नाम-भाव कथन करते किए उसके संबंध में कोई चरचा नहीं की—उसका सज्जन या उदाहरण क्यास्थान नहीं दिया ।

३. नायक-नायिका का वर्णन परंपरागत नौ रसों में से शृंगार-रस के आलम्बन विभावों के रूप में है । रूप गोस्वामी के पाँच भक्ति-रसों की उन्होंने कोई चरचा नहीं की ।

४. केशव ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप में विभिन्न गोपियों का नाम से उल्लेख नहीं किया । केवल राधा का नाम कुछ उदाहरणों में पाया जाता है ।

रूप गोस्वामी का उज्ज्वलनीलमणि वास्तव में एक सांप्रदायिक ग्रंथ है । अतएव साहित्य प्रबंध पर उसका प्रभाव केवल एक सीमा तक ही पड़ सकता था और वह सीमा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी कि नायिका-भेद के शास्त्रीय ढाँचे में कृष्ण की शृंगार-कीटाग्रो का यथासम्भव ग्रहण हो । रस के परवर्ती कवियों ने इसी रूप में इस नये प्रभाव को ग्रहण किया । प्रत्येक नायिका को रस की ही प्रेयसी के रूप में चित्रित करने के आग्रह को छोड़कर उन्होंने "सामान्या" का भी यथावसर उपयोग वर्णन किया । इस प्रकार नायिका-भेद की नाट्यशास्त्र तथा कामशास्त्र से पोषित शास्त्रीय परंपरा को पूर्ण निर्विघ्न कृष्ण-केलिवर्णन की पौराणिक एवं साहित्यिक परंपरा के योग से उन्होंने और भी अधिक बलवान् बनाया । इतना ही नहीं, शास्त्रीय-श्लेष में अपनी अनेक मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा तथा वाच्य-श्लेष में अपनी अनेक मर्मस्पर्शी उक्तिओं एवं चुम्बते हुए भावों के योग से उन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य की शृंगार शीवृद्धि की ।

ब्रजभाषा के इस वैभव-संपन्न विशाल साहित्य का अध्ययन, इसकी आधारभूत परंपराओं के सबब में विचार कर चुकने के पश्चात्, तीन दृष्टिकोणों से और किया जा सकता है—

१. काव्योत्कर्ष-संबंधी, २ शास्त्रीयता (विभाजन की मौलिकता तथा वैज्ञानिकता) में तथा

३. सामाजिक ।

इनमें से एक ही दृष्टिकोण से इस साहित्य का, एक सम्यक् अध्ययन ने प्रस्तुत निष्कर्ष की सीमा के सर्वथा बाहर है^१ । यहाँ पर अल्पतः संक्षेप में इन दृष्टिकोणों में गवयित कृत्य मन्त्रमोह पर प्रकाश इस प्रकार डाला जा सकता है ।

ब्रजभाषा के नायिका-भेद-संबंधी साहित्य का महत्व सबसे अधिक उभरने पायो-गर्भ के कारण ही है, पर इस साहित्य में कला-मत्त की प्रधानता होने के कारण कुछ मयांतरण से उसे श्रेष्ठ काव्य अथवा काव्य मानने के लिये तैयार नहीं होने, यो तो कला-मत्त का सबको अधिकार है और कोई भी व्यक्ति, चाहे वह एक विद्वान् आलोचक हो, चाहे एक साधारण पाठक, किसी विशेष मत को मानने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता । पर यहाँ देखें कि यदि हम व्यक्तिगत मान्यताओं से ऊपर उठकर देखें तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि मान्यता अनिवार्य आधार स्तम्भ है—कला और भाव । बिना एक के दूसरे का अस्तित्व अचम्बित पर असत्य कठिन अवश्य है । यह दूसरी बात है कि किसी वाच्य-मत्त में एक को प्रधानता और किसी में दूसरे की । इसी प्रकार यह भी समझें कि किसी का शास्त्रीयता और दूसरी श्रेणी की रचना को वाच्य के प्रात में बहिष्कृत कर मानने की धारणा बतों में उभरती उदात्तामान ही होगी ।

मान्य में वाच्य के मुकाबल और प्रथम जो दो भेद बिना दूरे हैं, उनके बीच का अंतर प्रत्यक्ष के उद्गार के लिये अधिक उपयुक्त है और प्रथम भाव-मत्त के उद्गार के लिये अधिक उपयुक्त ।

१ इस विषय के विस्तृत एवं विवेक अध्ययन के लिये मेल्लर का निबंध ही प्रधान के रूप में ग्रंथ—“इंडीय इन नाट्य-नायिका भेद” देखिये ।

मुखी समस्याओं, रोमाचकारी परिस्थितियों एवं मर्मस्पर्शी भावनाओं का चित्रण, प्रबंध-काव्य के पट पर ही अधिक सफलता के साथ किया जा सकता है। पाठक अथवा श्रोता के हृदय में रसोद्रेक का होना भी, यदि रसोद्रेक का अर्थ पाठक का वर्ण्य-भावना से अभिभूत होना माना जाय तो, प्रबंध-काव्य की विस्तृत भूमि पर ही संभव है। कारण यह है कि पाठक किसी भी भावना से तभी अभिभूत हो सकता है जब उस भावना से संबंधित पूर्वापर परिस्थितियों से वह सम्यक् रूपेण अवगत हो और यह स्पष्ट है कि एक मुक्तक रचना के संबंध में ऐसा होना अत्यंत कठिन है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग मात्र से रस की निष्पत्ति मानना सर्वथा असमीचीन है।

मानव स्वभाव से ही विविधता का प्रेमी होता है। जीवन की गूढ़ और गंभीर परिस्थितियों के परिदर्शन से जब उसका जी ऊबता है, तब यही कला-पक्ष-प्रधान मुक्तक कविता उसके मन की एकरसता को दूर कर उसे स्फूर्ति और प्रफुल्लता से भर देती है। लेखक की हृदय को विदीर्ण करने-वाली विचित्र उक्तियों से वह घायल होकर भी सजीव हो उठता है और उसके भाव और शैली-संबंधी नाना-प्रकार के चमत्कारों से चमत्कृत होकर वह अनायास ही आनंद-विभोर हो जाता है। कवि की कल्पनाओं की मौलिकता-पूर्ण सुकुमारता एवं उसके अद्भुत रचना-कौशल की कमनीयता श्रोता अथवा पाठक की वाणी को प्रशंसा के शब्दों से बरबस मुखरित कर देती है।

ब्रजभाषा के नायिका-भेद-साहित्य में ऊपर दिग्दर्शित उक्ति वैचित्र्य और चमत्कार पूर्ण शब्द, भाव, योजना तथा अलंकार-विधान आदि तो हैं ही, पर इसके अतिरिक्त भी और बहुत कुछ है। उसमें है स्त्री-स्वभाव का शृंगार-संबंधी विभिन्न परिस्थिति में सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण, उसमें है मृगशा का कौतूहल, मध्या का भ्रष्टाई तथा प्रगल्भा का भ्रवाक्ष विलास-प्रेम। उसमें है सपत्नी की ईर्ष्या और परकीया के हृदय की ज्वाला। उसमें है स्वाधीनपतिका का सहज अभिमान और विप्रलब्धा की घोर निराशा, वासकसज्जा का सरल विदवास और खडिता की मर्म-भेदी विद्वाना, प्रवर्त्यत्रेयसी की आशंका और आगतपतिका का उत्साह। उसमें है संयोग के जीवन की मादकता से झलकते हुए चित्र तथा वियोग की वेदना से उमड़ते हुए आंसू। क्या विदग्ध-काव्य-रसिकों को मोहने के लिये यह सब पर्याप्त नहीं है ?

संभव है मौलिकता की कसौटी पर कसने से इनमें से बहुत से चित्र, बहुत सी उक्तियाँ जूठी जान पड़ें, पर इसमें सदेह नहीं कि इनमें सहस्रो उक्तियाँ और सहस्रो चित्र ऐसे भी भरे पड़े हैं जिनकी मौलिकता, सुंदरता, सजीवता और स्वाभाविकता के लिये उनके कवि-हृदय-लेखक ही परम साधुवाद के पात्र हैं। सच तो यह है कि इतना वैभव संपन्न, इतना अनुभूति पूर्ण साहित्य और इतने अधिक परिमाण में, ससार के किसी भी देश में, ससार की किसी भी भाषा में कठिनता से ही होगा।

शास्त्रीय-दृष्टिकोण से जब हम नायिका-भेद के इस विशाल साहित्य को देखते हैं तो हमें उसमें मौलिकता की कोई कमी नहीं दिखलाई देती, पर यहाँ पर नायिका के नवीन भेदोपभेदों का, जिनकी उद्भावना ब्रजभाषा के आचार्यों ने की है, परिगणन करना विशेष उपयोगी न समझ कर हम पाठकों का ध्यान नायिका-भेद-संबंधी कुछ ऐसी बातों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, जो कि भवैशानिक होने के कारण खटकनेवाली प्रतीत होती हैं।

पहली खटकने वाली बात है—नायिका-भेद-वर्णन का अत्यंत संकुचित ससार, जिसमें शृंगार के अतिरिक्त जीवन के और किसी भाव तथा और किसी परिस्थिति का प्रवेश किसी भी रूप में दलित

१. मौलिक-काव्य को इस दृष्टि से प्रबंध-काव्य के अधिक निकट समझना चाहिये, यद्यपि उसमें कला और भाव दोनों के उत्कर्ष के लिये पर्याप्त अवकाश रहता है।

२. लेखक के रस-संबंधी विचारों के लिये उसका—“साङ्कालाजिक स्टडीज इन रस” नामक ग्रंथ देखिये।

है। उदाहरण के लिये वास्तविक जीवन में नायिका के मान के कारण विविध प्रकार के हो सकते हैं, पर नायिका-भेद के ससार में उन कारणों का सीधा सबब एक मात्र पर-स्त्री-रति से ही होना चाहिये। इसी प्रकार परकीया के अतर्गत द्वितीय 'अनुवायाना' के उदाहरणों ने पितृ-गृह से ससुराल जाती हुई नायिका को उसकी सखियाँ यही सात्वना देती हुई दिखाई देती हैं कि तुम्हारी ससुराल में भी 'उपपति' से मिलने के लिये पर्याप्त उपयुक्त 'सहेट-स्थल' है, अतः तुम हृदय में धैर्य धारण करके प्रसन्नता के साथ स्वसुरालय को गमन करो। इस प्रकार के उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि उपपति को अपनी प्रेमिका से मिलने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है और वह बहुत आसानी से अपनी प्रेमिका के साथ-साथ उसके स्वसुरालय के नगर में पहुँच जायगा।

दूसरी श्रृङ्खले वाली बात यह है कि आचार्यों ने नायिकाओं की पूर्ण संख्या का एक दूसरे से गुणित कर दिया है, पर ऐसा करते हुए उन्होंने यह विचार नहीं किया कि एक वर्ग की कोई नायिका अन्य वर्गों में सब प्रकार की हो भी सकती है, या नहीं। उदाहरण के लिये देव ने 'भाव-विलास' में तीन वर्गों की १६, ८, तथा ३ प्रकार की नायिकाओं को मिला कर उनकी संख्या (१६×८×३=) ३८४ कर दी है। यह संख्या तभी समझ हो सकती है जब कि प्रथम वर्ग की सोलह प्रकार की नायिकाओं में से प्रत्येक दूसरे वर्ग के अतर्गत कहे हुए भेदों के अनुसार आठ प्रकार की हो तथा इस प्रकार प्राप्त १२८ प्रकार की नायिकाओं में प्रत्येक तृतीय वर्ग के अतर्गत कहे हुए भेदों के अनुसार तीन प्रकार की हो, पर विस्तार करने पर बहुत से योग असम्भव प्रतीत होते हैं। प्रथम वर्ग की छ कनिष्ठा नायिकाएँ द्वितीय वर्ग के अतर्गत 'स्वाधीनपतिका' किस प्रकार होगी? प्रथम वर्ग की धीरा, अधीरा और मध्यमा नायिकाएँ द्वितीय वर्ग के अतर्गत श्रद्धिता अवस्था को छोड़ कर अन्य अवस्थाओं में किस प्रकार रखी जा सकेंगी? प्रथम वर्ग की धीरा तृतीय वर्ग में अधसा तथा प्रथम वर्ग की अधीरा तृतीय वर्ग में उत्तमा कैसे हो सकेंगी?

तीसरी आपत्तिजनक बात यह है कि यद्यपि नायिकाओं के विभिन्न वर्गीकरण किसी न किसी सिद्धांत के आधार पर किये गये हैं, पर उन वर्गीकरणों को वैज्ञानिक ढंग से पूर्ण बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। उदाहरणार्थ अवस्था (अथवा परिस्थिति) के आधार पर किया गया नायिकाओं का वर्गीकरण देखिये। इसके अतर्गत 'स्वाधीनपतिका' का भी एक भेद माना गया है, पर इसे हम किसी नायिका की अवस्था विशेष नहीं कह सकते। इस वर्गीकरण के अतर्गत समयोपयोग की किसी अवस्था का निर्देश नहीं है, यद्यपि ऐसा होना अत्यंत उचित एवं आवश्यक था। परकीया के छ भेदों में से पाँच (कुसुमा के छोड़कर) उसकी विभिन्न परिस्थितियों के ही द्योतक हैं। उन भेदों का कथन भी इसी वर्गीकरण के अतर्गत होना चाहिये था।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी आपत्तिजनक बातें हैं, पर उन सबका निर्देश यहाँ पर समझ नहीं है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से अज्ञातों के आचार्यों ने जो इन त्रुटियों को हटाने का प्रयत्न नहीं किया, इसका एक मात्र कारण उनका संस्कृत के आचार्यों की दीर्घ परंपरा के प्रति शोध तथा प्रेम था, न कि उनमें विवेचन-शक्ति का अभाव।

नायिका-भेद-संबंधी साहित्य तथा उसके लेखकों पर अनेक विश्व आलोचकों-द्वारा सामयिक दृष्टि से कुछ अत्यंत गंभीर आरोप लगाये गए हैं। यहाँ पर संक्षेप में उनका निराकरण करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है।

पहला आरोप यह है कि नायिका-भेद-संबंधी साहित्य की रचना अत्यंत विलासिता के बला-वरण में हुई, उसकी सृष्टि कवियों-द्वारा अपने आश्रय-दाताओं की वासनाओं को उत्तेजित करने की दृष्टि से की गई। इस आरोप के संबंध में जब हम गंभीरता पूर्वक विचार करते हैं तो हमें तत्कालीन इतिहास से ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर उस युग के वातावरण को अन्य युगों के वातावरण की अपेक्षा हम अधिक विकासमय मान सकें। भारतवर्ष के प्राचीन कवियों ने

राजाओं तथा राज-दरबारियों के वैभव और विलास का बड़ा विषय एवं ऐश्वर्य पूर्ण चित्र खींचा है। उस वैभव-पूर्ण विलास का एक अंश भी रीति-कालीन राजा-महाराजाओं के दरबार में रहा होगा, यह मानना कठिन है। आश्वय-दाताओं की प्रसन्नता के हेतु उनकी वासना को उत्तेजित करने के लिये शृंगार-रस की वासना-पूर्ण कविता लिखी गई, यह कहने का अर्थ तो यह है कि शृंगार-रस केवल उन वैभव संपन्न राजा-महाराजाओं के ही आकर्षण की वस्तु थी, न तो स्वयं उन कवियों की उस रस में कोई रुचि थी और न साधारण जनता की, पर ऐसा सोचना अत्यंत भ्रम-मूलक है। शृंगार-रस के प्रति जन-साधारण का भी उतना ही आकर्षण है जितना कि किसी विशिष्ट वर्ग का। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि लोक-गीतों में भी शृंगार-रस को वही प्रधानता मिली है जो कि उसे सुपठित समाज के साहित्य में प्राप्त है। रीति-कालीन नरेशों के प्रति लगाये गए इस निराधार धृष्टित आक्षेप को त्याग कर हमें उनके काव्य-प्रेम एवं कवि-पोषण के लिये उनका आभार स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उनके सहयोग के अभाव में उस युग में कविता की धारा यदि सर्वथा लुप्त नहीं हो जाती तो भद तो अवश्य ही पड़ जाती।

दूसरा आरोप यह है कि नायिका-भेद के लेखकों ने राधा और कृष्ण को लेकर, जो कि जनता की भक्ति के आलवन थे, अश्लील लौकिक शृंगार की सृष्टि की और इस प्रकार उन्होंने अपनी कुशुचि का परिचय तो दिया ही, उनकी रचना का जनता के ऊपर भी अत्यंत दूषित प्रभाव पड़ा। राधा और कृष्ण जनता की भक्ति के आलवन थे, इसमें तो किसे संदेह हो सकता है, पर उनकी नायिका और नायक के रूप में स्वीकार करके नायिका-भेद के लेखकों ने किन्हीं अश्लील उक्तियों का कथन किया, यह बात मानने में जरा सकोच होता है। कृष्ण-केलि-वर्णन की पौराणिक एवं भक्त-कवियों की परंपराओं से, जिनका दिग्दर्शन पहले हो चुका है—परिचित कोई भी व्यक्ति 'नायिका-भेद' के लेखकों पर ऐसा आरोप लगाने का साहस नहीं कर सकता, फिर भी यदि कहा जाय कि भक्त-कवियों का दृष्टिकोण तो पारमार्थिक था और नायिका-भेद के कवियों का लौकिक, तो यह बात भी जरा कम समझ में आती है। पहली बात तो यह है कि नायिका-भेद के कवि भक्त नहीं थे, यह कैसे जाना गया? निश्चय ही वे विरक्त सन्यासी न होते हुए भी भक्ति-भावना से शून्य नहीं थे, इसका प्रमाण हमें उनकी रचनाओं में भी मिल जाता है। दूसरी बात यह है कि जब एक रचना में राधा और कृष्ण का नाम आ गया तो उसके पीछे उसके लेखक की भावना कुछ भी रही हो, पाठक के ऊपर तो उसका प्रभाव पाठक की भावना के आधार पर ही पड़ेगा। विद्यापति को भक्त-कवि नहीं माना गया, पर उनकी रचनाओं को गाते हुए स्वयं चैतन्य महाप्रभु प्रेम-मग्न होकर मूर्छित हो जाते थे और फिर नायिका-भेद की रचना आज के सिनेमा-संगीत की भाँति सुकुमार बालकों अथवा जन-साधारण की जिह्वा पर तो नहीं रहती होगी, वह तो बरसक साहित्य-मर्मज्ञों के ही आस्वादन की वस्तु थी। ऐसी परिस्थिति में उस रचना का जनता अथवा समाज पर कोई दूषित प्रभाव पड़ा होगा, यह कल्पना तो सगत अथवा विवशनीय प्रतीत नहीं होती।

उस प्रकार अल्प रूप में ब्रजभाषा के नायिका-भेद-सवधी-साहित्य की आधारभूत परंपराओं तथा उसके अध्ययन के सभावित दृष्टिकोणों का निदर्शन-मात्र संभव हो सका है। जिस विषय पर लगभग तीन शताब्दियों तक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ, उसके सम्यक् अध्ययन के लिये तो वास्तव में कई ग्रंथों के लिखे जाने की आवश्यकता है। भाषा है हिंदी के विद्वान् इस विषय के प्रति अपनी उपेक्षा का भाव हटाकर हिंदी-आलोचना के एक बड़े अभाव की पूर्ति की ओर प्रवृत्त होंगे।^१

^१. नायिका-भेद प्रकृति, अवस्था और स्थिति के अनुसार स्त्रियों को वर्णन को कहते हैं। बय के उतार-चढ़ाव के साथ प्रेम की अवस्था में उनकी विभिन्न दशाओं को अंकित करने के बाद प्रिय के मिलन और विरह तथा आगमन वा प्रतीक्षा के, प्रेम की प्रतिकूलता में अथवा काम के जागृत होने पर सज्जा और

संकोच के द्वंद्व में—और सपत्नी-प्रति ईर्ष्या के भावों में, स्त्री-मन की क्या-क्या वशाएँ होती हैं, कवियों-द्वारा यह वर्णन ही 'नायिका-भेद' है। ब्रजभाषा के कवियों ने संस्कृत-रति-शास्त्रों के आधार पर इसके सूक्ष्म से सूक्ष्म मये-नये भेद-विभेद करते हुए इसे वर्णनातीत बना डाला है। यदि हम इस नायिका-भेद सागर को सागर में भर कर निरखना-परखना चाहे तो इस प्रकार देख सकते हैं—

१, प्रकृति-अनुसार—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

२, वर्णानुसार—१, स्वकीया (ज्येष्ठा-कनिष्ठा)। २, परकीया-ऊँडा (परोडा) अनुदा (उद्बोधिका)। ३, गुप्ता-भूत, भविष्य, वर्तमान। ४, विदग्धा (चंचल और क्रिया)। ५, तक्षिता, ६, कुलटा। ७, अनुशयाता (संकेत विघट्टना, भाविसंकेतनष्टा, रमण-गमना)। ८, मुक्षिता, ९, स्वपक्षिका। १०, सामान्या (गणिका)।

३, वय-अनुसार—१, मुग्धा (अज्ञात-ज्ञात यौवना, नवोदा-विधग्गनयोदा)। २, मध्या, ३, प्रौढा—मान-भेदानुसार मध्या-प्रौढा के धीरा, अधीरा, धीराधीरा, क्रियाभेदानुसार-रतिप्रिता, धानव-समोहिता, स्वभावानुसार-अन्यसंभोगदुःखिता, वक्रोक्तिगविता, मानवती, गविता—रूप और प्रेम गविता।

४, अवस्थानुसार—प्रोक्षितपतिका, खडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कृष्टिता, बासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका (कृष्णाभिसारिका, शुक्लाभिसारिका, विद्याभिसारिका) प्रवत्स्यपतिका, अगत्पतिका।

५, जाति-अनुसार—पद्मिनी, चित्रणी, शंखनी, हस्तिनी।

६, लोक-भेदानुसार—विष्य, अधिष्य, विष्यातिविष्य वा विष्याविष्य।

७, भरतः मतानुसार—देवी, देविरीच, गांधर्वी, मानुषी, शुद्धमानुषी, गौरी, लक्ष्मी, सर-स्वती, कान्या, बाला, तच्चणी, प्रौढा।

१, रसलीन ने परकीया के असाध्या (सभीता, गुरुजन-सभीता, दूती-वर्जिता, अतिश्रुता, छल-पृष्टनायक), सुखसाध्या—बृद्धवधू, बालवधू, नपुंसकवधू, विषया, गुनीवधू, रिश्वतोवधू और निरंकुशा आदि भेद किये हैं। २, गुप्ता के प्रत्यक्ष और भुविभरत, ३, क्रियाविदग्धा के पतिवर्धिता, दूतीवर्धिता, तक्षिता के हेतुलक्षिता, सुरतलक्षिता, अकासलक्षिता, रमणगमना के स्वनाविष्ठिता, संकेतस्थलरचनानुगमन, अस्थानाविष्ठिता, संकेतवर्णननुगमननष्टमाना, सामान्या के मध्य-स्वतंत्र, अनयो आधीन, नेता, प्रेन-दुःखिता भेद माने हैं। मुग्धा के देव कवि ने—वय-सधि, नववधू, नवयौवना, नवलअनगा, सतज्ज-रतिका, रसलीन ने अंकुरितयौवना, वीषावयौवना, नवयौवना, अज्ञात तथा वीर्धातियौवना, नवल अंगों के (अवधित काम-विधितकाम), नवलवधू (नवोदा, लज्जाभ्रासपितरतिकोविदा) भेद माने हैं। देव ने मध्या के रुच-यौवना, प्रादुर्भूतमनोभवा, प्रगल्भवचना, विचित्रसुरता, रसलीन ने उन्नतयौवना उन्नतकाम, प्रगल्भवचना, सुरतविचित्र, लघुलज्जा भेद किये हैं। प्रौढा के देव कवि ने—सग्व्यापति, रतिकोविदा, आकाता, सविध्या, रसलीन ने निजपति अनुराधवती, उद्भटयौवना, मदनमाती, सग्व्यापति, समस्तरतिकोविदा, आनन्दसमोहिता और रतिप्रिया के अनंतर पतिदुःखिता, मूढपतिदुःखिता, बालपतिदुःखिता, मुष्टपतिदुःखिता के बाद मध्यापरोरा धीरा का आकृतिगोपना भेद माने हैं।

गुजरात के ब्रजभाषी शुक-पिक ✓

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

रसमूल ब्रजभाषा की श्रीवृद्धि में, उसके चिर प्रशसनीय अतुल भंडार को अधिकाधिक भरने में, केवल ब्रजवासियों अथवा उत्तर प्रदेश-निवासियों का ही सहयोग नहीं रहा, अपितु भारत के विभिन्न-प्रांतों— गुजरात, राजस्थान, पंजाब, विहार, बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण के उस प्रांत का भी, जिसकी भाषा के प्रति इतर प्रांतवासियों का कहना है कि वह 'मिट्टी' के पात्र में ककड़ भर कर बजाने जैसी है, का पूरा सहयोग था। कारण चाहे ब्रजभाषा की कोमलता हो या उसकी भाव-विभूति के प्रति उनका आदर अथवा उसके सांस्कृतिक सदेश तथा साहित्यिक सौष्ठव के प्रति उनकी भूरि-भूरि भक्ति, पर इन सभी का उसके प्रति हार्दिक स्नेह था, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। चौहानराज पृथ्वीराज के प्रसिद्ध कवि बंदरदाई, सिक्ख-संप्रदाय के आदि प्रवर्तक गुरु नानक, गुरु गोविंद सिंह, महाराज रणजीत सिंह, वीर-भूमि मेवाड़ के महाराणा कुम्भ, जोधपुर के राठीहराज महाराज जसवंतसिंह, बीकानेर के महाराज पृथ्वीसिंह, किशनगढ़ के महाराज भक्तप्रगण्य सावंतसिंह प्रसिद्ध नाम 'नागरीदास', आपके भ्राता, दासी बनीजनी, जयपुर के महाराज सवाई प्रतापसिंह, मध्यभारत के महाराज इंद्रीत—श्रीधरनरेश, महाकवि केशवदास तथा रायप्रवीण (स्त्री) आदि से लेकर 'छत्रप्रकाश' के रचयिता लालकवि, महाराज छत्रसाल, रीवा के महाराज विश्वनाथसिंह तथा महाराज रघुराजसिंह, महाराष्ट्र के हिदुत्व-रक्षक प्रात स्मरणीय महाराज शिवाजी, समाजी साहु उपनाम—'तुप शम्भु' कवि, विहार के मैथिल-कोकिल-विद्यापति, बंगाल की 'ब्रजवोली' के गायक—उसके अनन्यतम उपासक—अनंतदास, उद्धवदास, कविराज, कवि वल्लभ, कृष्णदास, कृष्णदास कविराज, गिरिधर, गोकुलानंद, गोपालदास, गोविंद घोष, गोविंद चक्रवर्ती, गोविंददास, गौरसुंदर, वनश्यामदास, चंडीदास, चंद्रशेखर, चंपतिपति, चाँद काजी, जगदानंद ठाकुर, जगदानंद ठाकुर—द्वितीय, जगन्नाथदास, जगमोहन, ज्ञानदास, दयालदास, दु खिनी, नरहरि चक्रवर्ती, नरोत्तमदास, नृसिंहदास, नेमानंद, परमानंद, प्रेमानंद, भीम द्विज, भूपति, मनोहरदास, माधवदास, माधवब्रह्मपुरी, मुरारिदास, मोहन, यदुनंदन, यदुनाथ, रघुनाथदास, राधाभोहन, राधावल्लभ, रामानंद, राय-शेखर, लक्ष्मीकांत, लोचनदास, बलराम, बल्लभ, बल्लभीदास, बसंतराय, बशीदास, बशीवदन, बासुदेव, बृ दावनदास, शंकर घोष, शचीनंदन, शशिशेखर, शिवराम, शिवा, शिवानंद, सायबेग, सुंदरदास और संपद मूसिबा आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात ब्रजभाषा के सेवक हुए हैं जिन्होंने ब्रजभाषा की—उसके साहित्य की तन, मन, धन से उपासना की। उसके श्रुति-मधुर अति कोमल गीत गाये। गुजरात-प्रांत भी ब्रजभाषा की साहित्य-साधना में भारत के किसी प्रांत से पीछे नहीं, अपितु आगे रहा है। उसने भी ब्रजभाषा के कितने ही कोमल-कवि उत्पन्न किए हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा साहित्य के भंडार को अपनी मुदर स्मरणीय रचना-रत्नों से भरा है। साथ-ही वह ब्रजभाषा-साहित्य के प्रसार में तथा उसके संरक्षण में भारत के अन्य प्रांतों से कहीं अधिक जागदक रहा है। उदाहरण के लिए सूरदास, नंददास, परमानंददास, कुमनदास, चतुर्गुणदास, गोविंदस्वामी तथा धीतस्वामी आदि अष्टद्वय के कवियों के अतिरिक्त इनके अंग-अस्थान-रूप अन्य अनेकों ब्रजभाषा-नेत्र-वद-रचयिताओं के नाम लिए जा सकते हैं। गुजरात ने इनके कीर्ति रूप समृद्ध-साहित्य का अपने कोठमें आदर के साथ भली-भाँति सात्वत-पालन किया है। ब्रज से दूर होने के कारण यद्यपि वहाँ ब्रजभाषा का प्रचार और प्रसार होना मुग्न न था। मुनलमानों तथा मरहटों के निरंतर आक्रमण हो रहे थे। अशांति का साम्राज्य चारों ओर फैला होने के कारण

साहित्य-सेवा का अभाव था। अन्य प्रातो की भाँति वहाँ कवियों की आश्रय देने वाले राजा, महाराज, जमींदार, जागीरदार, सेठ-साहूकार भी न थे। स० १७४० वि० के लगभग गुजराती-भाषा की भी उन्नति होने लगी थी। उसके प्रसिद्ध कवि प्रेमानंद अपने अनेक अनुयायियों के साथ गुर्जराभा को उठाने में तथा उसको निखारने में तन-मन-धन से जुट गए थे। अतः इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी उसने जो ब्रजभाषा की सेवा में सहयोग दिया है, वह अन्य प्रातो से कम नहीं अपितु अधिक ही कहा जा सकता है।

गुजरात-प्रात ने ब्रज से दूर बसते हुए भी ब्रजभाषा को जो इतना अपनाया उसके कारण थे। विक्रम संवत् की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व 'गुजराती-भाषा केवल वोलचाल की भाषा थी, वह इतनी प्रौढ़ भी नहीं थी कि उसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को मली-भाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती-भाषा के प्रथम कवि झुनागढ़ वासी भक्त प्रवर 'नरसी मेहता' हैं, जिनका कविता-काल संवत् १५१२ वि० माना जाता है। इस समय तथा इसके बाद भी गुर्जरदेश-वासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा-साहित्य को ही उलटा-मलटा करते थे। गुजराती-भाषा के साहित्यिक रूप ग्रहण करने से पूर्व—महाकवि चंद, जल्हण, पद्मनाभ, विद्यापति, शोरखनाथ, रामानंद, कबीर, सूर, तुलसी आदि अनेक कवियों ने शौरसेनी-भाषा के साथ-साथ ढिंगल तथा पिंगल अथवा 'ब्रजभाषा' की इतनी अधिक उन्नति कर दी थी तथा उसमें इतनी प्रौढ़ता भर दी थी कि उसके द्वारा प्रत्येक भाव, विशेषतः धार्मिक तथा आध्यात्मिक साध सुगमता से व्यक्त किए जा सकते थे। अस्तु गुजरात अपनी अपरिपक्व भाषा का मोह-त्याग एक उन्नत, संपूर्ण देख-प्रिय तथा भाव-भरी भाषा को अपनाने के लिए स्वाभाविक रूप से ही अग्रसर हुआ था और फिर गुजरात में वैष्णव-धर्म की प्रमुख शाखा 'वल्लभ-संप्रदाय', अर्थात् 'पुष्टिमार्ग' की अधिक प्रवृत्तता रही। पुष्टिमार्ग के आदि प्रवर्तक महाश्वामि श्री वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी ने स्वसंप्रदाय तथा स्वसिद्धांतों के प्रचारार्थ अति मधुर ब्रजभाषा को ही माध्यम बनाया। फलतः पुष्टिमार्ग का प्रायः समस्त साहित्य ब्रजभाषा में है। इन लोक-नमस्कृत पिता-पुत्र के साथ मुख्य शिष्यों जो 'अष्टछाप' नाम से प्रसिद्ध और ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के सुदृढ़ स्तंभ हैं, सांप्रदायिक सेवा-प्रणाली के अनुसार इन अष्टछाप के महाकवियों के 'कीर्तन' नित्य-प्रति सेवाओं के भवसर पर 'हजराये, दुलराये और मल्हराये' जाते हैं। इस कारण भी गुजरात में वैष्णव-धर्म-प्रचार के साथ ब्रजभाषा-प्रचार भी प्रवृत्तता से हुआ। वहाँ उसके प्रति श्रद्धा बढ़ी, मान बढ़ा। फलतः ब्रजभाषा को गौरवान्वित करने वाले श्रीकृष्णदास (अष्टछाप), दयाराम, मुक्तानंद तथा ब्रह्मानंद जी जैसे गैय-पद रचयिता भक्त कवियों के साथ-साथ ब्रजभाषा की 'रीति-कालीन परिपाटी के भी अनेक कोमल कवि वहाँ उत्पन्न हुए। इनका यश यद्यपि समय के पूछो पर अंकित हुआ फिर भी आज वह सुँवला पड़ जाता है।

गुजरात में श्री नरसी मेहता से पूर्व ब्रजभाषा या उस समय की भाषा का कोई कवि हुआ अथवा नहीं, इसका आज पता नहीं चलता। गुजरात में ब्रजभाषा का अग्रमुद्रण यथार्थतः संवत् १७०० वि० के लगभग हुआ, जिसे 'हिंदी के इतिहास में 'रीति-काल' के अग्रमुद्रण का समय कहा जाता है। इस समय गुजरात में किन्तु ही ब्रजभाषा के कवि हुए जिन्होंने अपनी-अपनी सुंदर रचनाओं से ब्रजभाषा-साहित्य को नई नारंगी बनाया। इसी काल में गुजराती भाषा तथा उसके साहित्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव भी गहरा पड़ा। यदि गुजराती भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव न पड़ता, तो आज उसका दूसरा ही रूप होता। 'रविदास पटेल के आश्रित 'श्यामल मठ' ने तुलसीदास रामायण को देख कर ही गुजराती में बोहा-बीपाई जैसे ब्रजभाषा के छंदों में काव्य-रचना की। इनकी कविता में ब्रजभाषा का अधिक न्यायेन है। संवत् १७४० के लगभग कवि प्रेमानंद ने अपने पैतृक शिष्य-अशिष्यों-द्वारा ब्रजभाषा के प्रति अथवा दक्षति हुए वर्तमान गुजराती-साहित्य की उन्नति की नींव डाली। इसके बाद ब्रजभाषा का ह्रास वहाँ होता गया। फिर भी सीराष्ट्र में ब्रजभाषा के प्रेमी और कवि अक्षि-से अधिक हुए। कुछ भावकों ने तो ब्रजभाषा को धार्मिक-भाषा समझ कर ही उसमें कविताएँ की।

विक्रम की १२ वीं शताब्दी के लगभग प्राकृत से शौरसेनी और शौरसेनी से ब्रजभाषा का विकास हो चुका था। उसके अपने इस वाक्यकाल में ही अधिक तो नहीं, पर जैगली पर गिनने योग्य 'पद्मनाभाचार्य', महाराज 'मानसिंह तोमर' (सनवर), 'लाला देवी' वैजू बाबला आदि अनेक उदाहरणों का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्होंने अपनी-अपनी शैली में नये-नये शब्दों का समावेश कर भाषा में स्थिरता लाते हुए उसका भट्टार-भरना प्रारम्भ कर दिया था। उधर गुजरात के तत्कालीन कवियों ने जो कुछ लिखा वह संस्कृत अथवा अपभ्रंश में ही लिखा। प्राकृत-भाषा का प्रतिम वैचारण 'हिमचन्द्र सूरि' गुजरात का था। उसने स० ११५४ में जन्म लिया और गुर्जरराज 'जयसिंह' की आशा से 'सिद्ध हेम-शब्दानुशासन' नाम का प्राकृत-व्याकरण रचा। ग्रन्थ लेखकों ने भी 'व्याकरण' तथा 'पिंगल' पर ग्रन्थ लिखे। इन में नीचे जो टिप्पणियाँ मावो को सुगमता पूर्वक ग्रहण कराने की इच्छा से दी गयी हैं, उन में ही उस समय की प्रचलित भाषा मिलती है, इसी में गुजराती का प्राचीन रूप है। 'मुग्धावबोध औचित्य' नाम का व्याकरण 'देवसुन्दरगुरु' के किसी शिष्य ने स० १४०० वि० के लगभग लिखा था, जिससे वर्तमान भाषाओं की उत्पत्ति का ज्ञान-प्राप्त करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है।

संवत् १४४४ से संवत् १६८० वि० तक ब्रजभाषा की बड़ी उन्नति हुई। सूरदास, तुलसीदास, हितहरिवंश, व्यास जी, स्वामी हरिदास आदि ने अपनी-अपनी ललित-मधुर रचनाओं द्वारा अपूर्व धार्मिक-श्रोत बढ़ा दिया था। मुगल-सम्राट् 'अकबर' ने भी कवियों तथा संगीतज्ञों को समान और आश्रय दे कर तथा ब्रजभाषा में स्वयं रचना रच कर ब्रजभाषा को अधिकाधिक उत्कृष्ट बनाने में किसी प्रकार की कसर नहीं रखी। इस समय गुजराती-भाषा के पाँच कवि हुए हैं। इन में से तीन तो केवल नाम मात्र के कवि थे। शेष दो ने जो कविताएँ रचीं उन में तत्कालीन उत्तर-भारतीय जैसी पुष्ट ब्रजभाषा का स्वरूप तो देखने में नहीं आता, पर गुजराती-मिश्रित ब्रजभाषा का शैशव रूप अवश्य ललित होता है। सच बात तो यह है कि वह समय 'शैव मत' के ह्रास तथा वैष्णव-धर्म के उत्कर्ष का था। वैष्णव-धर्म का मुख्य साधन 'भक्ति' है। अतः इस ब्रजभाषा के जीवन-रूप माध्यमिक-काल में 'भक्त-कवि' ही अधिक हुए, जिन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी के अमर वचनों—

“स्वातः सुखाय 'तुलसी' रघुनाथ-भाषा।”

को अपनाते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और विशेष कर लीलापुरुषोत्तम श्री कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त हो कर भक्ति-विषयक लोकोपकारी सरस रचनाएँ रचीं और समस्त भारत में धर्म का प्रचार बढ़ाया।

वैष्णव-धर्म की सभी शाखाओं ने कविता-द्वारा ही अपना-अपना मत फैलाया है, जिससे धर्म-परिवर्द्धन के साथ-साथ ब्रजभाषा-साहित्य की अच्छी उन्नति हुई। गुजरात में इस समय के तीन ब्रजभाषा के कवियों का पता चलता है। यों तो इनकी कविता का ढग कुछ निराशा है, पर इन तीनों में से एक ने ब्रजभाषा की अपेक्षा गुजराती में तथा शेष दो ने गुजराती की अपेक्षा ब्रजभाषा में अधिक रचना की।

गुजराती भाषा के प्रथम कवि 'नरसी मेहता' बदनगढ़ा नागर जाति के कुलीन ब्राह्मण 'भूनागढ़' (सीराष्ट्र) के वासी थे। मेहता जी के कुटुंबी शैव होने के कारण वैष्णव-धर्म के कट्टर विरोधी थे, पर आप की माता वैष्णव-धर्मावलम्बी थी, जिस से आप को वैष्णव-धर्म का कुछ-कुछ ज्ञान हो गया। एक बार आप अपनी 'माँ' से अपमानित हो घर-द्वार त्याग कर सगति-द्वारा श्री कृष्ण के पूर्ण भक्त हो गये। कहते हैं, इन के साथी निम्न श्रेणी के हिंदू थे। अतएव ससर्ग-शेष के कारण कुटुंबियों ने इन्हें जाति-व्युत् मान अपने जाति-भोज में सम्मिलित नहीं होने दिया। इस पर आप के साथियों ने उन पर आक्रमण कर मेहता जी को जाति में पुनः लेने को बाध्य किया। यह भी प्रसिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने ही मेहता जी की लाज रखने के लिए इन परागणित जातीय का रूप धारण कर आप की सहायता की थी। गुजरात के वैष्णव-समुदाय में आपके प्रति इस प्रकार की कितनी ही चमत्कार-पूर्ण रोचक कमाएँ प्रसिद्ध हैं।

नरसी मेहता के काल-निर्णय में मतभेद है। केशवराम-काशीराम जी शास्त्री ने आपका समय स० १४६६-७० वि० से स० १४३५ वि० के लगभग माना है। गुजरात के प्रसिद्ध कवीश्वर 'दलपतिराम' के यही हस्त लिखित पुस्तकों का भण्डार-खजाना है, उस में नरसी मेहता कृत 'हारपाठा' में 'रचना-काल' इस प्रकार दिया गया है,—

“सबत पद्मह बहोतरा, सपतमी सोम-वार।

बैसाख उजझाली परब, नरसीय भागी हार ॥”

नरसी मेहता गुजराती-साहित्य के जन्म-दाता थे। आपने गुजराती में—‘हारपाठा’, ‘रस-लीला’ तथा ‘फुटकल पद’ रचे। आप के इन काव्यों में ब्रजभाषा का बहुत कुछ प्रभाव है। इन्होंने ब्रजभाषा में भी कुछ पद तथा ‘सखिदास ना विवाह’ नाम से एक काव्य-रचना की। सिव सिंह जी ने अपने ‘सरोज’ में इनका उल्लेख ब्रजभाषा के कवियों के साथ किया है और ‘मिश्र-वृण्डा’ में अपने ‘विनोद’ में भी। स० १६०० के लगभग कृष्णानन्द व्यास देव ने अपने ‘राग-सागरोद्भव’ ‘राग-कल्पद्रुम’ में सूर, तुलसी, मीरा, तानसेन आदि अनेकों और कवियों की कविताओं के साथ इनकी भी रचनाएँ उद्धृत की हैं। राग-कल्पद्रुम, सरोज, तथा विनोद में इनकी जो रचनाएँ दी गयी हैं वही गुजराती में भी मिलती हैं। इस लिए इन्हें ब्रजभाषा का कवि तो नहीं कहा जा सकता, पर इनकी रचना में ब्रजभाषा की सुंदर शलक है, यह निःसंदेह कहा जा सकता है। स० १६४० वि० में ‘प्रेमानंद भट्ट’ ने इनके जीवन की मुख्य-मुख्य विलक्षण घटनाओं का वर्णन—“नरसी मेहता नू भास्कर” नामक काव्य-ग्रंथ में बड़ी सुंदरता के साथ किया है। अस्तु, इनकी कविता-रस-मूर्धन्य है और उसका प्रत्येक चरण भगवान् श्री कृष्ण के प्रेम में मत्त तथा आत्म-विस्मृत-मत्त-हृदय को व्यक्त करता है।

स० १५५३ के लगभग ‘चलोतर’ (गुजरात) से पुष्टिमार्गी ‘अष्टछाप’ के चतुर्थ-रत्न ‘कृष्ण-दास’ का जन्म यहाँ की ‘कुलवी’ जाति में हुआ। कृष्णदास ब्रजभाषा-साहित्य-सूर्य श्री सुरदास जी के बाद महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी के प्रधान शिष्य और उनके परम सेव्य श्री श्रीनाथजी के भविर के अधिकारी थे। ये भारतीय सगीत के परंपरा-मूलक गायक, काव्य-भण्ड और पद-रचना में अग्रणी थे। आप के रचे कोई ग्रंथ-विशेष तो नहीं मिलते, स्फुट-पद अधिक मिलते हैं। श्रीसूर के ‘सागर’ की भाँति आप की पद-रचनाओं का सागर—‘कृष्णसागर’ मिला है। सगीत, काव्य और कसामों के भण्ड गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी ने इनकी रचना सींठव को देख कर इन्हें पुष्टिमार्गी आठ प्रधान पद-रचयिताओं में, जिन्हें संप्रदाय में ‘अष्टछाप’ ग्रथवा भगवान् के ‘अष्टसखा’ कहा जाता है, समितित किया। हिंदी-साहित्य की ‘खोज रिपोर्टों’ में कई कृष्णदास-कवियों का उल्लेख है और उनके ग्रंथ—

“बुधाल मान-भरित्र, भ्रमरगीत, प्रेम-तत्त्व-निरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णव-जवन, प्रेम-

रस-रासि, हिंदोला लीला, वान लीला, और कृष्णदास की बानी”

—आदि लिखे हैं। परन्तु उक्त ग्रंथ-रत्न-समुच्चय अभी सधिय है। हिंदोला तथा दानलीला इतके रचे पदों का एक प्रकार से सफल है। कृष्णदास कोई कवि ही नहीं, अपितु प्रबन्ध-गुरु भी थे। श्री श्रीनाथ जी के भविर के अधिकारी (व्यवस्थापक) होने के कारण आपने भविर की सुव्यवस्था, भोग-रंग का प्रबन्ध बड़े भण्डे ढंग से किया था। इन के पद-साहित्य की भाषा सुंदर, भाव गंभीर और सतीत-पटुता स्पष्ट की वस्तु है। वो उदाहरण जैसे—

“भो मन गिरिधर-श्रमि न अटक्यो।

सलिल-त्रिभंगो-भंगेन न चलि, गयो तहाँ ही ठक्यो ॥

१, केशवराम-काशीराम जी शास्त्री ने नरसी मेहता के २७ ग्रंथों की सूचना दी है। और कवीश्वर दलपतिराम के पुस्तकालय में—“पदसंग्रह, हारसमय के कीर्तन (हारपाठा स० १४६४ की प्रति), चातुरी-श्रुती शी” तीन पुस्तकें हैं।

सजल-स्यारम-चैन-चरैन सीन हूँ, फिर चित्त भ्रंत न भटक्यौ ।
‘कृष्णदास’ कियौ प्रीन-नुछावर, ये तन जग-सिर पटक्यौ ॥”

ॐ

“वालिन, कृष्ण-वरस सो भटकी ।

बार-बार पनघट पै आगत, सिर जँमुना-जल-भटकी ॥

मनमोहन कौ रूप-सुवा-निध, पीयत प्रेम-रस गटकी ।

‘कृष्णदास’ बलि-धन्य राधिका, लोक-लाज सब पटकी ॥”

—नित्यकीर्तन-संग्रह

मेढतिया राठीबराज रत्नसिंह की कन्या ‘वाई मीरा’ का ‘बारिका’ (सौराष्ट्र) में अधिक समय रहने के कारण गुजराती-साहित्यकार उन्हें गुजरात की कवियित्री ही मानते हैं। मीरा का विवाह स० १५७३ वि० के लगभग चित्तौड़ के प्रसिद्ध सिसोदिया-कुल में हुआ था। विवाह के कुछ दिन बाद ही ये विधवा हो गई, पर इसका उन पर कुछ प्रभाव न पड़ा और उन्होंने श्री ‘गिरिधरलाल’ से नाता (स्नेह) जोड़ लिया। ये सदा साधु-सेवा और भगवद्-भजन में जीवन-व्यतीत करने के लिए चित्तौड़-स्थान कर वृंदावन चली आईं। वृंदावन भी थोड़े ही दिन रही तथा शेष जीवन बारिका में व्यतीत किया। ये रात-दिन ‘गिरिधर-गुणाल’ के गुण-गान में लीन रहती थी। कहा जाता है तत्कालीन राणा ने इनका चित्त साधु-सेवा और भगवद्-गुणानुवाद के गान से विरत करने के लिए कई गुप्त-भ्रष्ट षड्यंत्र रचे, पर ये अपने प्रण से न डिगी—न डिगी।

प्रेम-रस-मतवाली मीरा ने बारिका में रह कर ‘ब्रजभाषा’ तथा ‘गुजराती’ दोनों के साहित्य-क्षेत्र में पूर्ण अमृत-वर्षा की है। आपकी कविता में भक्ति-रस का अजस्त्र-स्रोत बहा है। गुजरात में नरसी मेहता तथा मीरा बाई का बड़ा सम्मान है। दोनों ने गुजराती-साहित्य को जन्म दे कर उसे अमर कर दिया है। इस लिए ही गुजरात की कवियों में इनकी गणना विशेष कर होती है।

मीरा के समय-निरूपण के सबब में विभिन्न मत हैं। कोई मीरा को ‘राणा कुमा’ की रानी अथवा भक्ति-भावना की पैतृक संपत्ति मान सक्त और थोड़ा वीर मेढतिया ‘जयमल’ की कन्या लिखते हुए इसके अनुसार ही जन्म-काल स्थिर करते हैं। चौरासी बँषण्वो की बातनुसार आपका जन्म स० १५५५ से १५६० वि०, प्रसिद्ध इतिहास-लेखक ‘मुंशी देवीप्रसाद’—‘कनैल टाड’ और ‘कार्तिक प्रसाद लखी’ के मतों का उल्लेख करते हुए स० १५५० तथा १५५५ वि० के बीच, हरिविलास सारदा, गोरीशकर-हीराचंद घोषा, डा० रामकुमार वर्मा और परसुराम चतुर्वेदी स० १५५५ वि० के आस-पास का समय मानते हैं। इसी प्रकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, वियोगी हरि स० १५५७, मेकालिक स० १५६१, वृहद् काव्य-बोहल के रचयिता—तनसुखराम-मनसुखराम स० १५५० से १५६० वि० के बीच, कुँवर कृष्ण, विष्णुकुमारी ‘मजु’ तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा आपका जन्म स० १५६० वि० मानते हैं। ऊपर उद्धृत जन्म-समय के निर्णयों में विभिन्नता होते हुए भी यह माना जा सकता है कि मीरा बाई का जन्म स० १५५० से १५६० वा ६१ के बीच का है। तथ्य जो कुछ हो, पर—
‘सत्यज्य सर्वविध्यास्तव पादमूलम्...।’

१, बाई मीरा ने गुजराती भाषा में भी पद रचना की यह समझ में नहीं आता; क्योंकि आप की प्राप्त रचनाओं का जो भी भंडार मिला है उसे देखने पर उसे ‘डिंगल-पिंगल’ जो ब्रजभाषा का ही डिंगल की जोड़ का अनुप्रास-युक्त (पिंगल) नाम है, का भ्रष्ट मिश्रण ही कहा जा सकता है। साहित्य के इतिहासकारों ने आप की टवर्ग-युक्त तथा सानुनासिक भाषा देख कर आपको गुजराती की कवियित्री मान लिया है। अतः—‘महाजनो येन गतः स पथा’ के अनुसार हम ने भी इन्हें गुजराती कवियित्री, लिखा है, पर वास्तव में यह बात नहीं है।

की एकमात्र उदाहरण गोपी-रूप 'भीरा बाई' की रम्य-रचनाओं में उनकी अलौकिक भक्ति, भावों का मधुर उद्रेक और रहस्योन्मुखी गंभीर प्रतिभा का सुंदर संयोग है और रचना अद्वितीय। वह सीधे हृदय पर चोट करती है। पदों में न तो कोई कथा की अंतर-व्याख्या है और न किसी साहित्यिक-परंपरा का सहारा, वह तो मुक्तक के रूप में अतः सलिला सरस्वती की भांति सीधे-सादे ढंग से बंदी है। भाषा सरल, स्पष्ट तथा सीधी है। छंद, भाव और अनुभूति का संयोग है। पदों में राग है, अदम्य भावों है—वर्णनों की सीमा उल्लंघन करने का उत्साह है, पर उनमें लोक-साज और समाज का भय नहीं। नाभावास जी ने ठीक ही तो कहा—

“सदुत्त-गोपिका-प्रेम, प्रगट कलिखुग विखरायो।
निर अंकुस अति निबड, रसिक-जस्त रसना गायो॥
दुष्ट-न बोध-विचार, मृत्यु को उद्यम कीयो।
वार न बाँकी मर्या, गरल श्रमूत ज्यो पीयो॥
भक्ति-निसान-बजाह कैं, काहू ते नाहिं लजी।
लोक-साज-कुल-सूँखला, तजि 'भीरा' गिरिधर-भजी॥”^१

—अक्षमाल

मुंबई देवीप्रसाद ने भीरा बाई रचित ग्रंथों की सूची में—“गीतगोविंद की टीका”, नरसी-मेहता का माहिरा, सोरठ-पद संग्रह और फुटकल पदों का उल्लेख किया है। पं० रामचंद्र शुक्त अपने इतिहास-ग्रंथ में “राग-गोविंद” का और कृष्णलाल-मोहनलाल शर्मा इनके रचित कुछ ‘गर्वा’ गीतों के रचने का उल्लेख किया है। गर्वा गुजरात की मधुर वस्तु है। संगीतज्ञों ने ‘भीरा की मलार’ प्रसिद्ध है।^२

✓ भीरा बाई के पदों की भाषा शुद्ध व्रजभाषा, व्रजभाषा-मिश्रित राजस्थानी अथवा व्रजभाषा-मिश्रित गुजराती देखने में आती है।

यहाँ भीरा बाई के शक-मधुर, भाषा-मधुर और समय तथा छंद की—राग की कोमलता से आयुक्त उदाहरण रूप में दो पद यथेष्ट हैं। जैसे—

१ श्री व्यास जी (हरीराम व्यास ओढछा) ने अपनी ‘घांभी’ में एक पद-द्वारा अपने सम-साधनिक भक्त-कवियों का वर्णन किया है—

‘विहार, स्वामी-बिन को गार्व।
बिन हरिबंस राधिका-वस्तन को रस-रीति सुगार्व॥
रूपसनातन बिन को बुँदा-विपिन-माधुरी पार्व।
कृष्णदास बिन गिरधरजू कैं, को अन्न लाहु-लड़ाव॥
भीरा के बिन को भक्तन कैं, पिता-जान उर-तार्व॥
स्वारथ-मरनारथ जैमल बिन, को सब-बंधु कहाव॥
परमानंददास बिन को अन्न, लीला-गाइ सुगार्व॥
सुरदास बिन पद-रचना को, कोन कबी कहि गार्व॥

यहाँ ‘स्वामी’ से मतलब ‘श्री हरिदास स्वामी’ से है।

२. भीरा की मलार में श्रद्धाभ-धैर्यत चढ़े, गाधार-मध्यम और निषाद उतरे लगाये गये हैं। आरोह में गाधार और निषाद को छोड़ देते हैं तथा अवरोह में भी इन्हीं कम ही लगाने हैं। मलार राग के अनेक भेद हैं, जैसे—मेघ मलार, शुद्ध मलार, गौड़ मलार, रामदासी मलार, नट मलार, धूर मलार, पूरिया मलार, भीरा की मलार, चरजूदास की मलार, मोरठ मलार, मोहन मलार, ममिया मलार, चंवल मलार, भावणी मलार, देश मलार और रूपमंजरी मलार।

“छाँड़ी लंगर, भोरी बहियाँ गहो ना ।

मैं तो नारि पराए घर की, मेरे भरोसे गुपाल रहो ना ॥
कित मेरो तुम बाँह गहत हो, नैन-जोर मेरे प्रान हरो ना ।

❀

वृंदावन की कुंज-गलिन में रीति-छाँड़ि अनरीति करो ना ।
‘भीरा’ के प्रभु गिरिबर नागर, वरेन कमल चित टारे टरी ना ॥

❀

सखी-री, मेरी नीब नसानी हो ।

पिय की पंथ निहारत सिगरी रैन-बिहानी हो ॥
सब सखियेन मिलि सोख दई, मन एक न मानी हो ।
जिन देखे कल नाही जिय, ऐसी ठानी हो ॥
अग-अंग व्याकुल भई, मुख पिय, पिय, जानी हो ।
अंतर बेबैन बिरह की, बी पीर न जानी हो ॥
ज्यों खातक घेन को रटै, भछरी जिमि पानी हो ।
‘भीरा’ व्याकुल बिरहनी, सुष-बुष बिसरानी हो ॥

भाषा-मणि ब्रजभाषा के ही नहीं, उसकी बर पुत्री ‘खडी बोली’ के नाते भी ‘दाढ़ दयाल’ का नाम ब्रजभाषा के क्षेत्र में ही लिया जाता है । रामानुज संप्रदाय की एक शाखा विशेष ‘दाढ़पथी’ के नाम से प्रसिद्ध है । दाढ़ उसको सस्थापक कहे जाते हैं । दाढ़ का जन्म समय स० १६०२ वि० माना जाता है, पर जन्म-स्थान पर मत-भेद है । किंवदन्ति तो ये है, कि ये—‘लोदीराम नागर ब्राह्मण को अमदावाद की साबरमती नदी में बहते हुए मिले थे ।’ अत जाति का निश्चय करना कठिन है । प० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन ने दाढ़ और दाढ़-पथ के सब में अधिक खोज की है । इन विद्वानों की खोज का निष्कर्ष अभी कम ही देखने में आया है । प० सुधाकर द्विवेदी इनका जन्म ‘जौनपुर’ (उत्तर प्रदेश) मानते हैं, पर उसमें कुछ तथ्य नहीं है । दाढ़ दयाल को कोई ब्राह्मण, कोई धुनियाँ और कोई—मोची मानते हैं । धुनियाँ मानने वाले इनका पूर्व नाम—दाऊद जो पीछे दाढ़ के रूप में बबल गया, इनके पिता का नाम—सुलेमान, स्त्री का नाम हूवा और गुरु का नाम बुरहानुद्दीन बताते हैं । इसी प्रकार इनके पुत्रों के नाम—गरीबदास और मिस्कीनदास तथा पुत्रियों के नाम—अब्बा और सब्बा । कुछ इनके नाम—तानी बाई व माता बाई भी बताते हैं ।

“गरीब, गरीबी गहि रह्या, भसकौनी भसकौन ।”

इनके गुरु के सब में भी सदेह है । कोई इनके गुरु कमाल (कबीर के पुत्र) और कोई बुरहानुद्दीन, तथा कोई—बृद्धानंद वा बुद्धन बाबा का नाम लेते हैं । दाढ़दयाल भी इस सब में चुप है । वे इतना ही कहते हैं—

“नीब साँहि गुरुदेव मिला, पाया हूँ परसाद ।

भक्त मेरा कर धरा, दखया हमें अगाध ॥”

—दाढ़वानी-दखया : प्रयाग

दाढ़ के इस कथन से गुरु-रूप किसी मुख्य-विशेष की ओर संकेत करना सखित नहीं होना । अपितु कई अन्य प्रयोगों-द्वारा ऐसा प्रतीत होना है कि यह किसी अलौकिक व्यक्ति वा स्वयं भगवान् की लिए यह उद्गार प्रगट किया गया है । लोगों का अनुमान है कि ये बुद्धन कबीर की दिव्य-परंपरा के थे, जिनका दश-वृष क्रम—कबीर, कमाल, जमाल, बिलाल और बुद्धन बनाया जाता है ।

दादू बड़े दयालु थे, क्षमाशील भी अत्यंत थे, इसी कारण इनका नाम—दादूदयाल पड़ा। इन्होंने प्राम. समस्त राजपूताने की यात्रा की थी। दादू की कविता से इनके धार्मिक विचार गली-भांति प्रगट होते हैं। ये हिंदू-मुसलमानों में भेद नहीं मानते थे। मूर्ति-पूजा, धनकेवलरत्नाय के कट्टर विरोधी थे। कबीर के समान इन्होंने भी अपने ज्ञान-मार्ग का प्रचार करने के लिए 'देहे' और 'साखिया' रची, पर कबीर और दादू में इतना भेद है कि इन्होंने किसी के मत का खंडन नहीं किया,—विवेक-पूर्ण शब्दों में निर्भय हो कर अपने मत का प्रतिपादन अवश्य किया है। दादू की कविता में छंदोमय की भरमार है, साथ ही उसमें भावों की उत्कण्ठता तथा सत्योक्ति—किसी से कम नहीं है। अपनी बहुत-सी कृतियों में ये कबीर से कहीं अधिक बड़ गये हैं। आपने पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भाषि मिश्रित भाषाओं में कविता की है, फिर भी भाषा सरल और शब्दों में यथेष्ट बल के साथ परिवर्तन किया गया है। दादू की कविता से पता चलता है कि ये 'राम-भक्त' थे। इनके राम नर-तन-धारी अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र नहीं—निराकार, निराधार, निर्लेप, सर्वज्ञ, व्यापक परब्रह्म हैं। दादू ने इनका संघोषन 'राम-राम में राम रहे' के कारण 'राम-नाम' से किया है।

दादू का संप्रदाय 'परब्रह्म-संप्रदाय' और उनके स्थान को 'अलख दरीवा' कहा जाता था—

“आसिक असली साथ सब, अलख दरीवे जाइ।

साहिब दर-बीदार में, सब मिलि बैठे आइ ॥”

—परचा-ग्रंथ

इस स्थान को दादू ने 'बीगान' की उपाधि भी दी है। इससे ज्ञात होता है कि ये उसे दैनिक प्रपंचों से परे विश्राम का स्थान मानते थे।

दादू की 'बानी' वीस हजार कहीं जाती है। जिसका अभी तक कोई प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध नहीं है। दादू के शिष्य सतदास और जगन्नाथ ने इनकी 'बानी' का सग्रह वर्गीकरण-रहित 'हरदे बाणी' नाम से किया था। इनके बाद इनके शिष्य 'रज्जव' ने इस सग्रह को ३७ विभिन्न अंगों या प्रकरणों में विभक्त कर 'अंग-बधू' नाम से उपस्थित किया। तत्पश्चात् १० भुषाकर द्विवेदी ने 'रज्जव-अंशाली' का अनुकरण करते हुए 'काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा' से २६२३ साखियाँ तथा ४४५ पद प्रकाशित कराये। इसी प्रकार—एक दूसरा सग्रह, डाक्टर राम दलबगसिंह का भी है, जो जयपुर से प्रकाशित हुआ था। इन सब से प्रामाणिक एक तीसरा सग्रह भी है, जिसे १० बद्रिका प्रसाद मिपाठी ने संपादित कर अजमेर से प्रकाशित किया। इस में भी रज्जव के अनुसार ३७ अंगों में २६५२ साखियाँ तथा २७ रागानुसार ४४५ पद हैं। प्रयाग के 'बैलवेडियर' प्रेस से भी इनका एक सग्रह निकला है।

दादू की कविता में गुजराती तथा राजस्थानी का बाहुल्य होते हुए भी ब्रजभाषा की शक्ति बहुत कुछ है। रचना में यथार्थोक्ति, गूढोक्ति, श्लोकोक्ति और उपमा-उत्प्रेक्षा-आदि का अन्वय जगद्विद है।

विक्रम सं० १६८० से सं० १८६० तक ब्रजभाषा का 'अलख-काल' माना जाता है। इस दो-तीन वर्षों के काल में ब्रजभाषा की प्रभूत उत्पत्ति हुई। इस समय काव्य का प्रवाह बर्न की ओर न बह कर अलौकिक की आब में लौकिक शृंगार की ओर बहा। इस प्रवाह के अधिनायक थे 'महा-कवि केशवदास'। यों तो इनसे प्रथम रीति-ग्रंथों का प्रणयन होने लगा था, फिर भी रीति-ग्रंथान-काव्य के ये ही आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। इस काल में महाकवि-सेनापति, महाराज जसवंतसिंह, मतिराम, बिहारी, सुदन, भूषण देव, दास, बेनी, बेनीप्रवीण, ठाकुर, पद्माकर, व्यस-आदि भगणित उत्कृष्ट कवि हुए हैं, जिन्होंने शृंगार-प्रधान रचनाएँ कीं। सुदन और भूषण ने नहीं वीर-रस-प्रधान कविता द्वारा निजीव प्राणों में वीरता का संचार किया—वहाँ गोपाल, मयुराज, जगन्नाथ, गणेश, गुलाबसिंह, जसवंतसिंह—तिरवा नरेश, मोनेराम, सुखदेव मिश्र, कर्नेसिंह, गजराय, द्विज, राजा लक्ष्मणसिंह, भूपति, सुमान आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात कवियों ने ब्रजभाषा के भंडार को—“हाथियों

का सालहोय, जबाहरात की तोल-विधि के लिए 'बीसर-चक्र', युद्ध के रीति-रिवाजों का वर्णन, दफ्तर के कार्य-विवरण, पक्षियों की चिकित्सा, धनुर्वेद, वाणिज्य-भेद, वागवानी, शतरंज-खेलने की विधियाँ, जड़ी-बूटियों का वर्णन, रत्न-परीक्षा, शकुन-शास्त्र, पहलवानों, समाधों के कायदा-कानून, राजनीति, गणित आदि विविध कलाओं पर प्रचुर ग्रंथ रच कर भरा—उसे अति समृद्ध किया, नाटकों की भी रचना हुई। रीति-ग्रन्थों का, विशेष कर 'नायिका'-भेद का निर्माण तो अति विशिष्ट था ही, भ्रलकार, छंद (पिंगल) आदि साहित्य के विविध अंगों का भी विशेष निर्माण हुआ, जो गिनती की परिधि में नहीं आ सकता। इस काल में अनुशास, यमक, श्लेष से ब्रजभाषा देवी को पूर्ण भ्रलकृत किया गया। इन प्रचुर रचनाओं में अनेकों ने भावी की अपेक्षा शब्द और उसके अलंकारों पर ही अधिक ध्यान दिया। इस समय गुजरात-प्रांत में शृंगार-विषयक रीति-प्रणाली की कविता का प्रचार नहीं हुआ था। वहाँ केवल 'दयाराम' ने सर्व प्रथम राधा-कृष्ण की भाव में शृंगार-विषयक-विशिष्ट रचना की, जो केवल गुजरात में ही फलफूल सकी। दयाराम कवि श्रीकृष्ण के पूर्ण भक्त थे, अतः उनकी कविता में विद्युत् शृंगार का समन्वय है। शृंगार के अतिरिक्त भक्ति, ज्ञान, उपदेश, राजनीति, लोकनीति, सदाचार और पिंगल-आदि पर भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ रचे गए। इसी समय गुर्जर-साहित्य की गौरवान्वित करने और उसे अधिकाधिक समृद्ध बनाने वाले प्रेमानंद, श्यामल मट्ट, बल्लभ, कालिदास (भेषहूत-रचयिता कवि-कुल-गुरु कालिदास से पृथक्), प्रीतम, रेवाणकर, मुक्तानंद, ब्रह्मानंद और दयाराम आदि प्रथम श्रेणी के अनेक कवि हुए। इन गुर्जर-भाषी कवियों में से अनेकों ने ब्रजभाषा में कविता की जो सुंदर ही नहीं, अति सुंदर है। प्रायः सभी कवियों ने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है।

गुजरात में ब्रजभाषा के भ्रलकृत-काल के सर्व प्रथम कवि के रूप में 'रघुराम' जी का नाम आता है। इनका वर्णन 'गिरमिह-सरोज' और 'मिश्रवन्-विनोद' दोनों में मिलता है। रघू जी भ्रम-दावाद के नागर ब्राह्मण थे। आपका रचना-काल स० १७५७ वि० माना जाता है। इन्होंने—
“समा-सार” और “माधव-विलास” नाम के नाटक ग्रंथ ब्रजभाषा में रचे। रामास्वमेय और लवकुश-आस्थान भी आपके कहे-सुने जाते हैं, जो देखने में नहीं आए। ‘माधव-विलास’ तो ब्रजभाषा के प्राचीन नाटकों में अग्रगण्य कहा जा सकता है। रघुराम जी की ब्रजभाषा साफ-सुथरी और भृङ्गावरेदार है।

मिश्रवन्-विनोद में रघुराम जी का रचना काल स० १७०१ वि० लिखा गया है, यह ठीक नहीं है। समा-सार में आपने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

“चिति पस्थम गुरजर सुधर, सँहर अहमदावाद।

भू-पर के सब नगर-सर, ऊपर मंडित बाव ॥

ता-महि सागरपुर सुभग, सुख-दायक सब बाँस।

नागर विप्र सु सग-भक्ति, कवि-पद-रज-रघुराम ॥

समै-सी सत्तवनी, चँच-सीज गुधवार।

पल-उज्जल, उज्जल सुमति, कवि-किय ग्रंथ-विचार ॥”

समा-सार, रघुराम जी की नीति-उपदेश आदि विभिन्न विषयों की फुटकल रचनाओं का संग्रह है, जिससे इनके ऊँचे काव्य-कौशल, पैनी-दृष्टि और भावुकता का पता चलता है। उदाहरण-रूप “फूटे डोल के साथ अस्थिर-चित्त मनुष्य की तुलना” वाला एक छंद नीचे देखिये—

“एक सौ कहत जात, एक कोँ बिसरि जात, सँस के बिचार और, औरहि प्रभात है।

जासो-जासो बात सब अंतर की कहें वेत, रोस-सीस एक है, न और से जगत है ॥

जो ही भरपाव ताकी बातें सब मानत है, कहत बुराई तासो अति-ही डरात है।

बोलत हैं जेतें बोल, एते सब सोल-पोल, ऐसी बिधि ‘फूटे डोल’ ते नर कहात है ॥”

कवि केवलराम, केशवराम नागर ब्राह्मण (वीसलनगर) भ्रमदावाद के पुत्र थे। इनका जन्म स० १७५६ वि० में हुआ था। ये झुनागढ़ के नवाब जो ‘बावी’ कहलाते थे, के आश्रय में

अनुसार कवि ने 'झकारात' के स्थान पर 'नकारात' शब्दों का वर्णन किया है। ईकारात शब्द जैसे—झाई, सौईडवा झकारात शब्द जैसे—भास, सास, बसा आदि शब्द भी दिए हैं। यही नहीं, कवि ने—मोहन, सोहन को मोहन, सोहन और नाम, धाम, काम, राम, गाम, वाम, धाम, दाम आदि को नाम, धाम, काम, राम, गाम, वाम, धाम और दाम रूप दिया है, जो ब्रजभाषा-उच्चारण तथा उसकी प्राचीन लेखन-प्रणाली के द्योतक है। णकारात शब्दों का उल्लेख भी नहीं किया है। कवि ने इस प्रकरण में सज्ञा-वाचक-शब्द ही दिए हैं। क्रिया-वाचक शब्द भाषा-धातु-माला नाम के तृतीय-प्रकरण में दिये हैं। इस प्रकरण में कवि ने—'क' से 'ह'-पर्यंत अक्षरात वाली धातुओं का वर्णन किया है।

यह ग्रंथ दोहा, सवैया आदि छंदों में लिखा गया है। कवि की भाषा प्रसादगुण-सयुक्त, सरल और सुंदर है। गुजराती-भाषा का रचक भी मिथुन नहीं है। कवि ने ब्रजभाषा-निंदकों के प्रति कितना सुंदर लिखा है—

“रेंवन भ्रम, पढिबौ सुगैम, ब्रजभाषा कौ ग्रंथ ।
ता ते बहुत नृप अनुसरत, या भाषा कौ पंथ ॥५
जो पंडित बेजान-बिद, तौ पुनि भाषा चाहि ।
निबत है ब्रजभाष कौ, पोंहवत बुद्धि न जाहि ॥६
भाषा कौ रस जान-हीं, भाषा-जाननहार ।
ज्यों केसव गिरजान को, जाकी बुद्धि अपार ॥७

अथ वा—

“बिब-गिरा अति कठिन है, बहुत दिन सो समुझात ।
ताते कवि नर-जानि सों, बहुत-बिधि ग्रंथ बनात ॥२,
सुर-जानी गिरजान सो, नर की ब्रज-मंहजान ।
अवर गिरा सो छूट की, भीत प्रवति न जान ॥३,
नर-जानी नर-लोक में, सुगम पढत संसार ।
ताकी बोलै-नीति को, कहौ कछूक बिचार ॥४,

ॐ

अगमित सागर सबद की, कछू बिनि कहूँ समुझाद ।
ज्यों कासी सत-कोल पै, अंगुरी-पंथ बताद ॥५,
जिहि जानी कौ ऊचरे, राम^१-कृष्ण नर-रूप ।
सो जानी सब देस में, पढ़त-सुनत कवि-भूप ॥६,
बैस, काल-अनुसार सो, लोक-गिरा फिरि जात ।
सास्त्र-बिग्य कवि-बदन में, मुद सारवा प्रात ॥७,

ॐ

“स्वाधिक सप्त बिभक्ति सों, पढ़त गिरा गिरजान ।
को-आधिक ब्रज-जानि में, पंच-बिभक्ति प्रमान ॥८,
प्रथमा के प्रत्यय नहीं, दुतिय-चौथि^२ इक अर्थ ।
ता दिन एक व बहुत बचै, प्रत्ये कहत समर्थ ॥९,

^१. श्री बलदेव जी ।

“प्रथम पद्य-भञ्ज-पुत्रि^१ कों, पुनि-पुनि करो प्रवर्त्त ।
जाकी प्रभुता सों रचो, भाषा-भाटु कि बरस ॥
जाको मित्र जु कवि मिले, भ्रमर नप महिपाल ।
नाहि मिले जा को कबी, ताहि भलि गयो काल ॥
ताहि भल गयो काल, कोट-जुग नाम न जाना ।
कहाँ जनम, कहाँ मरे, उठि गए तुर-समान ॥
ज्यो निवि में गत नीर रहै, बधित करि ताको ।
निज उचित न भ्रमर किए, कवि-मित्र सु जा को ॥”

❧

“देव-कृपा तें कवि बनै, न बनै करि अभ्यास ।
ता तें कवि को चाहते, बहु नृप गए निरास ॥”

ककारात और हकारात-शालु—

“सरक, खरक, चुक, छिरक, कटुक, शदक, पटक, भबलोक ।
जमक, दमक, बक, चोंक, सक, हुलक, बिलोक-हि रोक ॥”

❧

“कह, गह, बह, रह, गुह, लह, मोह, सोह, भवगाह ।
रोह, गाह, भवरोह, डह, सह, चह, निवह, सराह ॥”

इस समय के भास-भास ही किन्हीं ‘कुशलधीर’ उपाध्याय ने ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि फेदव-दास जी की ‘रसिक-प्रिया’ का गुजराती अनुवाद किया है। पुस्तक में प्रथम गुजराती-भाषा में छंद का विस्तृत अर्थ देकर बाद में रसिक-प्रिया के छंद उद्धृत किये गए हैं। श्रव्य-कर्त्ता का ‘गुजराती-साहित्य’ के इतिहास-ग्रंथों में कुछ पता नहीं लगता। केवल भाषा के सहारे जाना जाता है कि ये कोई काठियावाड़ के जैन-साधु थे। भाषा पुरानी नहीं है, पर उसे अवर्त्तमान गुजराती भी नहीं नज़ा जा सकता। फिर भी भाषा सुंदर, सरल, सरस और मूल-श्रव्य-कर्त्ता के भावों को शली-माति प्रष्ट करने में पूर्ण समर्थ हुई है। भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिये कहीं-कहीं संस्कृत तथा अजभाषा के रीति-मथों के अवतरण दिये हैं।

इस प्रकार इसी समय किन्हीं ब्रजभाषा के प्रेमी ने ‘विहारी-सतसई’ का भी गुजराती-भाषा में किया है। इस भाषांतर में उचित, कवन तथा दोहों में असंस्कृत श्लकारों का भी उल्लेख किया गया है। ध्वनि-व्यवस्था का भी कहीं-कहीं दिग्दर्शन है, जिससे अनुवादक की काव्य-प्रवीणता का पता चलता है।

दलपतिराम और बशीर दोनो कवि भ्रमदावाद के निवासी थे। दलपतिराम—भगवत (बनियाँ) तथा बशीर भीमाली ब्राह्मण थे। जोधपुर के महाराज जयवर्त्तमहि जी के प्रसिद्ध शरणाग्रंथ—‘भाषामुपण’ की टीका करते हुए इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

“भाषा-भूषण शलकुल, कहुँ-कहुँ सखन-हूँ ।
जम-करि ताहि सुधारि सो ‘दलपतिराइ’ प्रवीन ॥
अरय, कुशलदानद को, बौध्द दलपतिराइ ।
बसोघर कवि नें घरे, कहुँ कवित बनाइ ॥
भेदपाट भीमालि-कुल विप्र-महाजन फाइ ।
धासी भ्रमदावाद के, बनी-दलपतिराइ ॥”

अस्तु, जैसा कि ऊपर लिखा गया है—वशीवर-लखपतिराम वा राम ने प्रथक् जाति होते हुए भी अमित्र वधु की भाँति युगल नाम से 'भाषाभूषण' की टीका—ब्रजभाषा में 'अलकार-रत्नाकर' के नाम से स० १७६८ के लगभग की। इन दोनों कवियों ने बड़े प्रयास से अलकारों की सरलता से समझाने के लिये ब्रजभाषा-नाम में ग्रन्थ लिखा और उदाहरणों में ब्रजभाषा के चुने हुए ४४ कवियों की चुनी हुई सरस कविताएँ दी हैं। ये चुने हुए कवि इस प्रकार हैं—

“जसवंतसिंह—भाषाभूषण-कर्ता, सेनापति, केशव, बलभद्र, गोप, भगवतसिंह, गंग, बिहारी, मुकुन्द, बदरसिंह, शिरोमणि, सुखदेव, चतुर, सुरति मिश्र, नीलकण्ठ, मोरन, रामकृष्ण, झालम, बैबी, दास, घोरी, कृष्ण, देव, कालिदास, दिनेश, बिहूलराम, अनीस, कासीराम, चितामणि, धुली, शिव-कवि, रघुराम, नेही, मुबारक, रहीम, मतिराम, रसखान, निरमल, निहाल, निषट निरजन, नंबराम, महाकवि, राधाकृष्ण और ईश ।”

इन दोनों कवियों ने 'छन्द-शास्त्र' पर भी एक ग्रन्थ—'पिंगल-भाषा' बनाया है। कविता सुंदर और शुद्ध ब्रजभाषा है। उपाय, रूपक, उत्प्रेक्षा और अनुप्रास आदि पर पूर्ण ध्यान रखा गया है। उदाहरण जैसे—

“रहै सबी धिकसत बिमल, बरें वास-मृदु-मंज ।
उपज्यो नहि पै पक सों, प्यारी तब मुख-कंज ॥”



“मोहै कृटिल कमान-सी, सर-से येने नैन ।
बेषत ब्रज-जनितान-हिय, 'बंसीधर' दिन-रैन ॥”

—इत्यादि

कवि ने अपने नाम—वशीवर का कविता में किस प्रकार 'नाजायज-फायदा' उठाया है, जो देखते ही बनता है। लखपतिराम के गुजराती-भाषा में भी दो 'प्रकरण' मिलते हैं—'भूत-निवध' और 'रास-माला'।

सन् १८०० के आस-पास—तपागच्छीय 'कनक कुलशाल' के शिष्य 'कुँवर कुशल' ने 'लखपति-जस-सिंधु' नाम से अलकार का रीति-ग्रन्थ ब्रजभाषा में बनाया। लखपति कच्छ के राजा थे। कच्छ के इतिहास में इनका समय स० १७६८ से १८१७ वि० बताया गया है। अतः कवि के ग्रन्थ का समय इसके आसपास ही होना चाहिये। कच्छ के इतिहास के अनुसार कवि 'कनक कुशल' ने राजा लखपति को ब्रजभाषा के उत्तम प्राप्त काव्य-ग्रन्थों का अभ्यास करवाया था। राजधानी में बाहर से जो भी विद्यार्थी ब्रजभाषा पढ़ने को आते थे, उनके भोजनादि का प्रबंध राज्य की ओर से पेटियाँ (रसोई) का कच्चा सामान—आटा-दाल-इत्यादि—के रूप में होता था। कवि की भाषा सरल और सुंदर है—

“सकल देव सिर सेहरा, करत परम परकात ।

सबिता, कविता दे सफल, इच्छित पूरें आस ॥

कविन प्रथम जेजे कहै, अलंकार उपजाइ ।

कुँवर कुशल तेने लहे, उदाहरन सुखदाइ ॥”

गुजरात के अतर्गत 'आमोद' जिला मंडोच के निवासी “जसराम” कवि 'राजनीति' विद्यारद थे। जसराम जी ने अपनी रचना—'ब्रजभाषा-राजनीति' में अपने को 'चारण' जाति का लिखा है। जैसे—

“पढ़े ते मालुम परत, आछी नीति-अनीति ।

'जसराम' चारन कहै, राजनीति की रीति ॥”

यह ग्रन्थ स० १८१४ वि० में लिखा गया। कवि ने इस राजनीति-ग्रन्थ को 'आठ अंगों' में विभक्त किया है। जैसे—

“प्रथम श्रंग भूपाल, राजरानी श्रंग हूँ।
तीनों राजकुमार, संजि चौथी गनि लीजौ ॥
पाँच मुसाहिब-श्रंग, श्रीर रावत लढ भाँनों ।
सातें रैयत-श्रंग, कबो अस्दांग बखानों ॥
जुग नीति-रीति बरनें ‘जसु’, बिबिष बिबेक बिचार बहु ।
जे कर समरथ्य बस, अस्दांग बरनेन सहु ॥”

जैसा इस छंद में कहा गया है—राजा, रानी, राजकुमार, मंत्री, मुसाहिब, राव, प्रजा और कवि इन आठों के कर्तव्य-नियम बड़ी योग्यता से लिखे हैं, जिससे कवि का पांडित्य और काव्य-शक्तियुक्त भली-भाँति प्रगट होता है। पौराणिक-आख्यायिकाओं से उदाहरण देकर भावों को सुंदर रीति से स्पष्ट किया है। भाषा शब्द ब्रजभाषा है, कहीं-कहीं गुजराती की झलक है। अन्योन्यितियों से इनकी कवित्व-शक्ति सुंदर रूप से प्रगट होती है। साथ ही लोकोक्तियाँ भी खारी सुंदर बन पड़ी हैं। जैसे—

“राज के बजीरैन सबैं लोग ‘जसराम’,
‘तैबीर’ के पाँच ज्यो तैबारिबोईं चहिएँ।”

ॐ

“राजनीति राज के बजीरैन को ‘जसराम’,
‘गुर-ही’ ते मरै ताहि बिष ते न मारिएँ।”

ॐ

..... “भुत-भू के लच्छिन, सुपासन पैहचानिएँ।”

एक स्थान पर आप लिखते हैं—

“जसु न जाँवें जामि सो, बड़-माटेन की टेक ।

तेरें साँगल बौहौत है, मेरें भूप फलेक ॥”

इस से प्रतीत होता है कि जसराम जी प्रथम जामनगर (कठियावाड़) के राजदरबार में भी गये थे और पीछे कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण इन्होंने अपने भाष्य-दाता की इस प्रकार मर्मना की। आपकी रचना के उदाहरण, जैसे—

“चातक, दादुर, मोर छिति, सबैं निवाहत मेह ।

भूप ऐसी चहिएँ ‘जसु’, जैसी उत्तम मेह ॥

कबहुँ कलह न कीजिए, अपने घर में आप ।

कोई आप कुटिलता, सर्वन कों सताप ॥

जो बीज परबान-पब, तो कौन इतबार ।

जो इतबार न होइ तो—‘जसु’ परबान निवार ॥”

जसराम जी ने अपने उत्तम श्रम की छंद-सत्ता का भी उल्लेख किया है, जैसे—

“राजनीति कौन्हीं प्रथम, श्रंग नु कहिएँ आठ ।

छप्पे बस, छौंसठ कवित, बने बौहरा साठ ॥”

‘?’ कवि ‘रत्नपाल’ ने सं० १८३६ वि० में एक “प्रेम-रत्नाकर” नाम से ब्रजभाषा-श्रवण की रचना की है। इसकी खंडित प्रति मिली है। कवि ने इस पाँच तरंगों में विभक्त किया है। रत्नपाल कहाँ के और कौन थे इसका पता नहीं चलता, पर पुस्तक के अंत में कवि ने लिखा है।

“इति श्रीमन्महाराजकुमार जगन्नाथराजस भैया रत्नपाल नू बिरचते प्रेमरत्नाकरे पंचमस्तंभ ॥

प्रेमरत्नाकर संपूर्णाः ॥ सं० १८ उगणवासीस चईत्र बदे ७ बार बुधे संपूरण तिथी भरुव मध्ये ॥”
इससे सात होता है कि ये जाति के सोमवशी ठाकुर थे और भंडो (पुनगन) के पर्व जाते थे। प्रथम तरंग खंडित है, द्वितीय में—“नीर सूरज की प्रेम”, तीसरी में—“बकीर-नटमा की प्रेम”, चौथी में—अमर-नलिनी की प्रेम, समुद्र-बडवानल की प्रेम, और पाँचवीं में—दूत-नानी, मीनो मच्छी, परेवा आदि” के प्रेम का वर्णन किया है। अंत का छंद इस प्रकार है—

“जुग-जुग कीरति-बढ़ाइये कों राजें की, सभा में पुछाइये कों आछी गुन-गायी है।
प्रेमिन कौ प्यारी है, कृपारयी इन काहु-ही, जगत-भगत सो लौ सब को सुनायी है ॥
भूरज के बस राजा सगर के सगरेन, सत्य-जुग-महि जैसैं सागर खनायी है।
त्यो-हीं कुल-मोहि 'सोमवंस के सपूत भैया, रतन जू' में ये प्रेम-रतनाकर बनायी है ॥”
पुस्तक गुजराती भसरो में श्रीर वह भी बसीट में लिखी होने से, पढ़ने में बड़ी कठिनाई प्रस्तुत होती है।

संवत् १८५३ वि० में ग्रहमदावाद के सुखवासी भारद्वाज गोत्री पुष्करणा ब्राह्मण भटक—सेवक के ‘महासिंह’ ने ब्रजभाषा में “छन्द-सार-पिंगल” नाम से एक ग्रंथ विशेष की रचना की। महासिंह जी प्रथम—मेढता (माढवार) के रहने वाले थे। बाद में ये ग्रहमदावाद में रहने लगे, जैसा कवि ने स्वयं लिखा है—

“भारद्वाज गोत्र पुसकरनाँ, सेवक जात कहावै।
महासिंह कवि नगर मेरता, बसैं परम सुख पावै ॥”

ग्रंथ-रचना का समय देते हुए कवि लिखता है—

“सबत लोक, पांडव, नय, चंद, नभ मास, भबल तिथि पंचमीं कुजवार ठानियो।
स्वांति-नच्छत्र सुंदर, चंद सुला-रासि आए, मध्य रवि समैं इंद्र जोग आनियो ॥
छंद-संगार-नाम ग्रंथ जो समाप्त भयो, ‘नवानगर’ सहर निज मन-भानियो।
कहूँ कवि ‘महासिंह’ जोई पद-याँचैं सोई, मेरो नित-प्रति कौ जं श्रीकृष्ण जानियो ॥”

ग्रंथ उदाहरण में बचना का ‘छप्पय’ छंद नीचे दिया जाता है, जिससे इनके ब्रजभाषा-ज्ञान पर काफी प्रकाश पड़ता है। अस्तु—

“ग्रहन बरन, गज-वदन, सदन-बुधिवर सुख-दायक।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि-बुद्धि, नितप्रति गन-नामक ॥
बिमल ग्यान-धरदाँन, तिमिर-अग्यान निकंदन।
सब कारज सिधि लहै, प्रसन जासो जय-ववन ॥
गौरी सुनद भानद-मय, बिघेन, ब्याधि, भव-भै-हरैन ॥”

ग्रामों की पवित्र दीपकों की मेंट है।

कवि कल्याण, वैष्णव-धर्मानुयायियों के गढ़ श्रीर प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान ‘डाकोर’ जी के सत थे। इनका अखाड़ा ‘डाकोर’ में अब तक प्रसिद्ध है। कविता-काल स० १८४५ वि०। कल्याण जी ने—‘छन्द-भाष्कर’ तथा ‘रस-वद्रिका’ दो ग्रंथ लिखे हैं। कुछ कीर्तनों (पदों) का उल्लेख भी मिलता है। इनका एक उद्धोवन, जैसे—

“जीवन अपार जाकी जात कौ न प्राबं याह, किए कोख भाँति-भाँति रतनैँ की डेरी है।
सपति कौ सागर जगत में ‘कल्याण’ कहूँ, श्रीरें को दोजिए बडाँईं सव तेरी है ॥
अंग-अंग पुरेन तरंगन ते छाड़ रह्यो, सोहूँ चंद तात एक बात छट घेरी है।
बाट के बटाऊँ प्यासे पूछैं तीर कूप कहाँ, अहो खीर-सागर बडाँईं धिक तेरी है ॥”

गुजराती के उच्च कौटिक के कवियों में ‘मुक्तानंद’ का नाम गिना जाता है। मुक्तानंद के धार्मिक-विचार और कविता का गुजरात में विधेय आदर है। आप गढ़वा-निवामी स्वामी नागयण-संप्रदाय, के एक उत्कृष्ट और प्रभावशाली साधु थे। कविता-काल स० १८६० वि० है। मुक्तानंद जी ने—“विवेक-चिंतामणि, सत्संग-शिरोमणि, उदब-गीता, मुख-मिद्वान, स्त्री-गीता आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है। विशेषकर इन्होंने आनमार्गी-नीति और उपदेश-विषयक ही अधिक रचना की हैं, जो उत्तम हैं। उपमाएँ धनूरी लाये ह। वृद्ध कवि के समान दोहों के उत्तरपाद में सुंदर दृष्टान दिए हैं। संस्कृत के भी ये अच्छे ज्ञाता थे। किन्तु ही संस्कृत-श्लोको का सुंदर अनुवाद आपने किया है। ब्रज-

भाषा भी आपकी सुंदर है—आजल है। यो तो आपने विशेषकर गुजराती-साहित्य की ही अधिक बुद्धि की है, पर ब्रजभाषा में भी जो कुछ रचना की है वह उपेक्षणीय नहीं है। एक उदाहरण, जैसे—

“जब तो सीतल, रूप भनय सौ, देव गजानन से जय-जाने।

सिद्ध-सिरोमणि गोरख से, कविराज हूँ काव्य रचे सुख-साने ॥

सूर नरार्सेन-रावन से, रिपु-जीति कौं बेस सब घर अने।

ऐसी भयी तो कहा ‘सुखतानंद’, कारन-रूप श्रीकृष्ण न जाने ॥”

प्रारम्भिक काल के गुजराती-काव्य रचयिताओं में जो स्थान मीरा और दादूदयाल का है, वही स्थान इस अलंकृत-काल में ‘भक्त दयाराम भाई’ तथा ‘ब्रह्मानंद’ का है। मीरा तथा दयाराम और दादू तथा ब्रह्मानंद ने बहुत कुछ समानता भी है। दयाराम भाई गुजराती के प्रथम श्रेणी के प्रतिभाशाली कवि हैं। गुजराती में इन्होंने श्रीभगवद्गीता-भाषात्म्य, भक्तिपोषण-नीति तथा भक्ति के पद, शृंगार-सात्मक भजन भादि अनेक विषयों पर रोचक रचना की है। ब्रजभाषा में भी आपकी रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। इन्होंने ब्रजभाषा में ‘सतसई’ (बिहारी-सतसई के अनुकरण पर), ‘वस्तु-वृ-द-दीपिका’, ‘वृ-दावन-विलास’ तथा अनेक छुटकल पदों की रचना की है। इस कवि-कुल-भूषण ने अपना परिचय जो ‘सतसई’ के अंत में दिया है, उससे ज्ञात होता है कि ये नर्मदा-तट के चबौपुर ग्राम के रहने वाले साठोवर नागर ब्राह्मण थे। स० १८७२ वि० में आपका जन्म हुआ था। आप श्रीमत् भट्ट के वंशज तथा प्रभुराम के पुत्र वल्लभ-संप्रदायी परम वैष्णव थे। और ये, श्रीकृष्ण नगवान् के पूर्ण भक्त। प्रसिद्ध है कि आपका बाल्यावस्था में अच्छी संगति के अभाव के कारण चरित्र बहुत कुछ बिगड़ गया था, परंतु बाद में सत्संग के प्रभाव से इन्हें ज्ञान हुआ और ये अच्छे तथा कहे-सुनने योग्य वैष्णव बन गये। इनकी शृंगार-रस विषयक कविता भी मिलती है। आपकी श्रवण-रचनाओं में ‘सतसई’ सर्वोत्तम है। यह सतसई बिहारी-सतसई के १५० वर्ष बाद बनी है। जिससे अनुमान होता है कि ‘रामसहाय’, ‘मतिराम’ और ‘विक्रम’ के समान इन्होंने भी बिहारीलाल का अनुकरण किया है। भाई दयाराम को ब्रजभाषा-भुक्त-मणि कवि बिहारी के समान कहना तो बृष्टता होगी, फिर भी इनके रम्य-रचना रूप कुछ बोहे बिहारी की ओर के ही नहीं, सरसता तथा भाव-गभीरता में उनसे कहीं आगे बढ़ गये हैं। कवित्व-भक्ति में श्री बिहारीलाल इनसे कहीं अधिक ऊँचे हैं, इसमें संदेह नहीं, तो भी ये भक्ति-रस-विषयक कविता तथा चित्रालंकार-भुक्त नीति-वैराग्य विषय के बोहे रचने में बिहारीलाल जी से बाजी ले गये हैं। कुछ उदाहरण जैसे—

“ललना-सोजन तित-असित, गोलक-जोरे लाल।

यै निर्वैनि सज्जन लही, मुक्ति बिरह गोपाल ॥

मुकुट, मुकुट सब बल्लु भइ, नैन-रैन किय लाल।

दुग-मसारि जित-जित भली, तित-तित लखि गोपाल ॥

चाह बसाएँ हूँ मैं, घरों निरंगी भ्यानि।

ताते राख्यो कुदिल-उर, होइ भसी ज्यों भ्यानि ॥”

इन उदाहरणों से ज्ञात होगा कि आपकी ब्रजभाषा कितनी मधुर है। स्वेप-समुक्त अन्य अलंकारों से सुशोभित दोहों में काव्य-श्रीवृत्त के दर्शन होते हैं। ‘वस्तु-वृ-द-दीपिका’ में सत्या-वाची दायों का स्पष्टीकरण तथा शूबार्थ-कोष के समान पदों में सत्यामुक्त शब्दों की पूर्णतया व्याख्या की गई है। यह ग्रन्थ स० १८७४ वि० में समाप्त हुआ था। छुटकल पदों की संख्या अधिक है, जो संगीत और काव्य-श्रेष्ठियों के लिए रचिकर हैं। वृ-दावन-विलास बड़ा मूढ़ है। उसमें वृ-दावन की महिला का वर्णन बड़ी विचित्र रीति से किया गया है। ब्रजभाषा-रसिक श्रीदयाराम भाई के निम्न-लिखित ब्रजभाषा के ग्रन्थ देखने में आये हैं—

“पत्रलीला, अजानेल-आख्यान, सतसैया, वस्तु-वृंद-दीपिका, रसिक-रंजन, श्रीमद्भागवत-अनु-क्रमणिका, श्रीमद्गीता-माहात्म्य, ब्रजविलासामृत, रसिकवल्लभ, चतुर चित्त-विलास, कौमुद-रत्नावली, पिंगलसार, छंदरसावली, चरित्र-चंद्रिका, सिद्धांत-सार, संप्रदाय-सार, क्लेश-कुण्डार, श्रीकृष्ण-स्तवनामृत, पुष्टिपथसार-भणितम, विज्ञप्ति-विलास, श्रीकृष्णस्तवन-चंद्रिका, पुष्टिभक्ति रूप दीपिका, मूर्ख-लक्षण सप्तदशी, हरिदास-भणिमाला, ताल-माला, राग-माला, श्रीकृष्ण-नामामृतचारा, श्रीकृष्णाष्टोत्तरशत नाम, श्रीकृष्ण-नाम-माहात्म्य, विष्णुसामृत, मंगलानंद-माला, प्रस्ताव-वीथूय, स्वल्पापार प्रभाव, श्रीकृष्ण-नामावली, श्रीकृष्ण-नाम-चंद्रिका, श्रीकृष्ण-अनन्य-चंद्रिका, पुष्पोत्तम-पंचांग, सत्संग-काशी, श्रीकृष्ण-विवह, चौर-हृरण, वेणु-नाद, विरह-विलाप, रास और प्रेम की लावनियाँ, वृंदावन-विलास, श्रीहरि स्वप्न-सत्यता, भक्ति-विधान और अनुभव-मंजरी आदि।”

ब्रह्मानंद जी का यथार्थ नाम—‘लाड’ था। ये आदू के निकट खान ग्राम के थे। इनके पिता का नाम चंभूदान था। ससार से विरक्त होकर ब्रह्मानंद जी ने अपनी जीविका त्याग दी और काठियावाड चले आए। कठियावाड में इन्होंने ‘स्वामी नारायण-संप्रदाय’ के उस समय के प्रसिद्ध गुरु स्वामी सहजानंद से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद प्रथम तो आपने अपना नाम ‘श्रीरा’ रखा, फिर उसे बदल कर “ब्रह्मानंद” नाम धारण किया, जैसा ऊपर है। इन्होंने स्वामी सहजानंद को अपना गुरु बताया है। जैसे—

“संसार-विधेय सब मेटिकें, कियौ पार भव-कंद सौं।

‘ब्रह्मानंद’ ममता टरी, सद गुरु सहजानंद सो ॥”

आपकी कविता का विषय धार्मिक तथा सामाजिक है, वह नीति और सदाचार की शिक्षाओं से पूर्ण है। इन्होंने कविता-द्वारा कठि-भारण, भूति-पूजा आदि वैष्णव-धर्म के साधनों को निरर्थक कह कर कबीर के समान ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन सुंदर रीति से किया है। कबीर की भाँति ही इनकी कविता में छंदोभंग की भरमार है, पर भाव उनसे कहीं उत्कृष्ट है।

कविता में गुजराती का मिश्रण अधिक है, जिससे भाषा के सहज भाष्य में कुछ कर्कशता आ गयी है। आप दयाराम, भुक्तानंद आदि गुजरात के ब्रजभाषा-कवियों के समान ब्रजभाषा के अच्छे ज्ञाता नहीं थे। उदाहरण जैसे—

“दिन खै गए खेलन-बीरन में।

जुवा होइ रम्यो जुबतिन-रैनी, दिन खै गए खानन-बीरन में ॥

बूढ़ होइ बँधी अंग व्याधा, दिन खै गए साधन-सीखन में।

‘ब्रह्मानंद’ करतार अज्या बिन, धूर तेरे नर-जीवन में ॥”

दीन दरवेश, पालनपुर—गुजरात के आस-पास कहीं के रहनेवाले थे। इनका कविता-काल स० १८८० वि० के लगभग है। मिश्रवृ-विनोद में एक दीन दरवेश-बुदेलखड़ी का समय स० १८७७ दिया गया है। सम्व है ये दोनों एक ही हो और बूढ़ावस्था में पालनपुर त्यागकर बुदेलखंड में आ बसे हो। ये जाति के लुहार थे और बालनाथ साधु के शिष्य होकर सन्यासी हो गये थे। बालनाथ वडनगर के नाथ-मथी विरक्त साधु थे। दीन दरवेश ऐसे लोगों में से थे, जो परिस्थिति के कारण अपने जीवन की धारा पलट दिया करते हैं। एक समय इन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में काम करते समय तोप का गोला लग गया, जिससे इनकी एक बाँह कट गई तथा नौकरी से भी निकाल दिये गये। इस घटना से इनके जीवन में परिवर्तन आ गया और प्रवृत्ति निवृत्ति के रूप में बदल गयी। पश्चात् दूर-दूर तक भ्रमण कर इन्होंने अपने समय के अनेक साधु-महात्मियों के दर्शन किये और उनसे लाभ उठाया। ये पढ़े-लिखे तो अधिक नहीं थे, पर फारसी और हिंदी का साधारण ज्ञान अवश्य था। इन्होंने अनेक हिंदू-मुस्लिम तीर्थों की यात्रा की थी, जिससे इन दोनों प्रमुख धर्मों का आपको ज्ञान हुआ था। सूफी-संप्रदाय के साथ वेदांत व अन्य मतों का भी रंग गहरा चढ़ा था, पर इन्होंने आत्म-

चिंतन को ही अधिक महत्त्व दिया और स्वतंत्र रूप से अपने सिद्धांत स्थिर किये। फलतः अपने जीवन की पद्धति ही बदल डाली। कहते हैं कि ये अपने जीवन में प्रथम किसी प्रसिद्ध स्थान में रहकर प्रत्येक पूर्णिमा को सरस्वती में भक्ति-भावना के साथ स्नान किया करते थे। यह स्थान 'सिद्धपुर'—जिसे आज कल 'सीतपुर' कहा जाता है, हो सकता है। वही इनके निवासस्थान पालनपुर के निकट था। सिद्धपुर 'कपिलमुनि' का आश्रम, सरस्वती के तट पर है। इसे 'मातृ-गंगा' भी कहते हैं। दरवेश जी के दैनिक जीवन का कार्यक्रम अपने अनुभवों के अनुसार कुछ न कुछ रचना कर सर्वसाधारण में अपने मत का उपदेश रूप में प्रसार करना था। इस प्रकार इन्होंने अपने हृदय के शुद्ध उद्गारों को व्यक्त करते-करते सवा लाख कुंडलियाँ रच डाली, ये आज अप्राप्य हैं। यह 'सवा-लाख' की संख्या बहुतों के साथ जुड़ी हुई है, जिनमें—भक्ताग्रगण्य कविकुल शिरोमणि श्री सूर और श्रोद्धा के श्री हरिराम व्यास जी आदि प्रधान हैं।

दीन जी की उपलब्ध रचनाओं को निरखने-परखने से पता चलता है कि इनके विषय भी प्रायः वही थे जो अन्य सतों की कृतियों में पाये जाते हैं। सरल स्वतंत्र जीवन, संपूर्ण विश्व से प्रेम, परोपकार, ईश्वर की भक्ति, बाह्य विधानों वा प्रदर्शनों के प्रति विरक्ति आदि-आदि। फलतः हिंदू-मुसलमान का वर्ण-भेद ये नहीं मानते थे। वे अपनी एक रचना में कहते हैं—

“हिंदू कहें तो हम बड़े, मुसलमान कहें हम ।
एक भूंग को फाड़ है, कुण जावा, कुण कम ।।
कुण जावा, कुण कम, कभी ना करना कजिया ।
एक भगत हो राम, दूसरा मानें रखिया ।।
कहै 'बीन दरवेश' दोह सपिता-मिल सिंधू ।

सब का साहिब एक, एक मुसलमान और हिंदू ॥”

इस प्रकार अपनी शैली में सर्वसाधारण को जीवन की क्षण भंगुरता के प्रति सचेत करते हुए इन्होंने भाग्यवाद की ओर धमसर किया है। यव-यव पर कहा है कि जो कुछ होता है, वह सब करतार के किये ही होता है। बिना उसकी प्रेरणा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अस्तु—

“बंदा-बाजी झूठ है, मत साँची कर मान ।
कहाँ बीरबल-गंग है, कहाँ अकबर खान ।।
कहाँ अकबर खान, भले की रहै भलाई ।
फतेसिख महाराज, बेल उठ चल गए भाई ॥
कहै 'बीन दरवेश' सकल माया का घवा ।
मत साँची कर मान, झूठ है बाजी-बंदा ॥”

१७ कहान या कान भयवा कान्हू—रविनपुर गुजरात के रहने वाले थे। ये जाति के ब्रह्मण और एक ग्राँज से काने थे। कहा जाता है कि सिद्धपुर के एक भेले में इनसे तथा दीन दरवेश से एक कुंडलिया की रचना पर वाद-विवाद हो गया था। अतः इनका समय भी स० १६८० के लगभग कहा जा सकता है। इनकी कविता नीति तथा शिक्षा-परक है। जैसे—

“मिसरी घोरै झूठ की, ऐसे होंद हवार ।
जैहैर पियावै साँज की, सो बिरला-संसार ।।
सो बिरला-संसार, पटनर उनका ऐसा ।
मिसरी जैहैर-समान, जैहैर है मिसरी जैता ॥
कहै 'सुकविमा कान', भूलि मति जंयो भोरै ।
तिन के सिर पैजार (जु) झूठ की मिसरी घोरै ॥”

रणछोड कवि जाति के नागर ब्राह्मण शैव मतवाले झुनागढ के नवावो के यहाँ प्रधान-अध्यक्ष थे। इन्होंने शिवरहस्य, माया शिवपुराण, काम-दहन, सदाशिव-विवाह आदि कई ग्रंथों की रचना ब्रजभाषा में की है। इनकी शिव की स्तुति सुंदर है, जैसे—

“अहि बिन मनि जैसे, महि बिन धनी जैसे, कहे बिन सुनी जैसे, मोसी बिन पानी है।
राजा बिन ग्राम जैसे, लाज बिन बाम जैसे, दीपक बिन धाम जैसे सुखमा की हानी है ॥
बच्छ बिन छीर जैसे, बृच्छ बिन नीर जैसे, लच्छ बिन तीर जैसे, सत्य बिन बानी है।
‘राइ रंछोर’ कथा सरबथा सुनीं सिय की, और कथा बूचा जथा बाल की कहानी है ॥”

रणछोड जी के जन्मादि का समय अभी अज्ञात है। रचना प्रौढ, मुहान्वरदार और अल-कार-युक्त है।

रामानुज-संप्रदाय के सत कवि ‘हरिदास’ खादड़पुर—काठियावाड के वासी थे। इन्होंने स० १८८१ के आस-पास ब्रजभाषा का एक ग्रंथ—‘हरि-विलास’ नाम से रचा है, जिसमें लोकाचार तथा धार्मिक विषय के साथ नीति के अच्छे उपदेश हैं। ग्रंथ की ‘धार्मिक-तरंग’ में आध्यात्मिक विचारों के अतिरिक्त काव्य-चातुर्य की भी अपूर्व छटा है। जैसे—

“धंचल इंदुपुरी सुल पाइके, अत को बेर महा दुख पाईके।

जा सुख में दुख बौगुनी होत है, ता सुख के हो नजीक न जाईके ॥

दानो चुगाइ के पंख मरोरत, ऐसे चुगे पै में न रिखाईके।

कहि ‘हरिदास’ सुनीं सब सज्जन, ना गुर खाउ न कान - बिषाईके ॥”

हिंदी-श्रेष्ठ में संवत् १८६० वि० से ब्रजभाषा ने नया रूप धारण किया। उसने शृंगार-वेश त्याग खड़ी बोली का सभीन वस्त्र पहिना। ब्रजभाषा का ह्रास और उसकी पुत्री खड़ी बोली का प्रचार बढ़ने लगा। पत्र-पत्रिकाओं में केवल खड़ी बोली की ही कविताएँ अब लिखी जाने लगी, पर इधर गुजरात में खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा का ही अच्छा प्रचार रहा। गुर्जर-साहित्य भी खूब फला-फूला। गुजराती कवियों ने अपनी भाषा पर अधिक ध्यान दिया, उसे भली-भाँति सँवारा, जिससे यहाँ—गुजरात में, जैसे गुजराती के प्रतिभावाली कवि उत्पन्न हुए वैसे ब्रजभाषा के नहीं हुए। फिर भी ‘आदित्यराम’ और ‘गोविंद-गिल्सासाई’—दोनों ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि हुए हैं। इस समय भी गुजरात में ब्रजभाषा का काफी प्रचार बढ़ा।

काठियावाड के ‘मूली ग्राम’ के रहने वाले चारण ‘कालिदास’ राजा जसवंतसिंह के राज-कवि थे। चारण जी का कविता-काल स० १६२५ वि० के लगभग है। इन्होंने अपने आश्रय-दाता महाराज जसवंतसिंह की प्रशंसा में वीर-रस-पूर्ण शुद्ध ब्रजभाषा में सुंदर कविता की है। जैसे—

“साजें चतुरंग-सैन भूप फलमास’ सुत, भानु छिप जात आसमान राज अटके।

धसकि पहार यों धरनि भार धूजत है, लचक फनिद भै कमठ-भीति कटके ॥

कहै ‘कालिदास’ बल हू ते बाबा दारै के, पहुँच-दुपहुँचें भुंखली के रूप अटके।

भूप जसवंत तेरे सुनत निरतान अहो, भीम-नाज खोखा के समान रिपु अटके ॥”

ठाकुर केशरी सिंह प्रौढ के वासी और भूपसिंह के पुत्र थे। इनकी कविता का समय सी स० १६२५ वि० ही ठहरता है। ये अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त पालीताने में अपने मामा के यहाँ रहने लगे थे। बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, कविता सुंदर करते थे। केशरीसिंह ने नीति, शृंगार आदि पर शुद्ध ब्रजभाषा में सानुभास सरल-सुंदर कविता की है। यथा—

“चंपक, चनेसी और केतकी, कन्हैर, जुही, ताके बान साजिकें उमग सरसायी है।

दावदी के सुरा और मुकद हजारा कौ, हेगल हनेल इकमेचा मन-भायी है ॥

१. राजा फतेहमालसिंह।

२. पा०—खटके।

चिंतन को ही अधिक महत्त्व दिया और स्वतंत्र रूप से अपने सिद्धांत स्थिर किये। फलतः अपने जीवन की पद्धति ही बदल डाली। कहते हैं कि ये अपने जीवन में प्रथम किसी प्रसिद्ध स्थान में रहकर प्रत्येक पूर्णिमा को सरस्वती में भक्ति-भावना के साथ स्नान किया करते थे। यह स्थान 'सिद्धपुर'—जिसे आज कल 'सीतपुर' कहा जाता है, हो सकता है। वही इनके निवासस्थान पालनपुर के निकट था। सिद्धपुर 'कपिलमुनि' का आश्रम, सरस्वती के तट पर है। इसे 'भातु-गया' भी कहते हैं। दरवेश जी के दैनिक जीवन का कार्यक्रम अपने अनुभवों के अनुसार कुछ न कुछ रचना कर सर्वसाधारण में अपने मत का उपदेश रूप में प्रसार करना था। इस प्रकार इन्होंने अपने हृदय के शुद्ध उद्गारों को व्यक्त करते-करते सवा लाख कुंडलियाँ रच डाली, ये आज अश्राव्य हैं। यह 'सवा-लाख' की सख्या बहुता के साथ जुड़ी हुई है, जिनमें—भक्ताग्रगण्य कविकुल शिरोमणि श्री सूर और श्रीछाँ के श्री हरिराम व्यास जी आदि प्रधान हैं।

दीन जी की उपलब्ध रचनाओं की निरखने-मरखने से पता चलता है कि इनके विषय भी प्रायः वही थे जो अन्य सत्ता की कृतियों में पाये जाते हैं। सरल स्वतंत्र जीवन, संपूर्ण विश्व से प्रेम, परोपकार, ईश्वर की भक्ति, बाह्य विधानों वा प्रवर्णनों के प्रति चिरन्ति आदि-आदि। फलतः हिंदू-मुसलमान का वर्ण-भेद ये नहीं मानते थे। वे अपनी एक रचना में कहते हैं—

“हिंदू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहें हूँ।
एक भूँस दो फाड़ हूँ, कुण जादा, कुण कम ॥
कुण जादा, कुण कम, कमी ना करना कबिया।
एक भगत हो राम, दूसरा मानें रबिया ॥
कहूँ 'दीन दरवेश' बौद सरिता-मिल सिधू।
सब का साहिब एक, एक मुसलिन और हिंदू ॥”

इस प्रकार अपनी शैली में सर्वसाधारण को जीवन की क्षण मगुस्ता के प्रति सचेत करते हुए इन्होंने भाग्यवाद की ओर भ्रमसर किया है। पद-पद पर कहा है कि जो कुछ होता है, वह सब करतार के किये ही होता है। बिना उसकी प्रेरणा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अस्तु—

“बंदा-बाजी झूठ है, मत साँची कर मान।
कहाँ बीरबल-गंग है, कहाँ अकबबर खान ॥
कहाँ अकबबर खान, अले की रहे मलाई।
फतेसिध महाराज, बेख उठ चल गए भाई ॥
कहूँ 'दीन दरवेश' सकल माया का बंधा।
मत साँची कर मान, झूठ है बाजी-बंदा ॥”

17 कहान या कान भयवा कान्हू—रावनपुर गुजरात के रहने वाले थे। ये जाति के ब्राह्मण और एक श्राद्ध से काने थे। कहा जाता है कि सिद्धपुर के एक मेले में इनसे तथा दीन दरवेश से एक कुंडलिया की रचना पर वाद-विवाद हो गया था। अतः इनका समय भी स. १८८० के लगभग कहा जा सकता है। इनकी कविता नीति तथा शिक्षा-परक है। जैसे—

“भिसरी धोरें झूठ को, ऐसे होंद हजार।
जेंहेर दियाई साँच को, सो बिरता-संसार ॥
सो बिरता-संसार, पटंबर उनका ऐसा।
भिसरी जेंहेर-समान, जेंहेर है भिसरी जैसा ॥
कहूँ 'सुकविया कान', भूति नति जैयो धोरें।
तिन के सिर पैजार (जु) झूठ को भिसरी धोरें ॥”

रणछोड कवि जाति के नागर ब्राह्मण शिव मतवाले श्रृतागड के नवावो के यहाँ प्रचलन-अध्यक्ष थे। इन्होंने शिवरहस्य, भाषा शिवपुराण, काम-दहन, सदाशिव-विवाह आदि कई ग्रंथो की रचना ब्रजभाषा मे की है। इनकी शिव की स्तुति सुंदर है, जैसे—

“महि बिन मनि जैसे, महि बिन धनी जैसे, कहे बिन सुनी जैसे, मोती बिन पाँनी है।
राजा बिन प्रीम जैसे, राज बिन ब्रीम जैसे, दीपक बिन धीम जैसे सुखसा की हानी है ॥
बच्छ बिन छोर जैसे, वृच्छ बिन नीर जैसे, लच्छ बिन तीर जैसे, सत्य बिन बाँनी है।
‘राइ रंछोर’ कया सरबया सुनीं सिब की, और कया बूया जया बाल की कहाँनी है ॥”

रणछोड जी के जन्मादि का समय अभी अज्ञात है। रचना प्रौढ, मुहावरेदार और अलंकार-युक्त है।

रामानुज-संप्रदाय के सत कवि ‘हरिदास’ खादबपुर—काठियावाड के वासी थे। इन्होंने स० १८८१ के आश्विन-मास ब्रजभाषा का एक ग्रंथ—‘हरि-विलास’ नाम से रचा है, जिसमे लोकाचार तथा धार्मिक विषय के साथ नीति के भ्रष्टे उपदेश है। ग्रंथ की ‘धार्मिक-तरंग’ में आध्यात्मिक विचारो के प्रतिरिक्त काव्य-वातुय की भी अपूर्व छटा है। जैसे—

“चंचल ह्रदपुरी सुख पाइकें, अंत की बेर महा दुख पाँकें।

जा सुख में दुख बीगुनी होत है, ता सुख के हो नवीकन जाँकें ॥

दानों चुगाइ कें पंख भरोरत, ऐसे चुगे पै में न रिताँकें।

कहि ‘हरिदास’ सुनीं सब सज्जन, ना गुर खाँउन कान बिथौँकें ॥”

हिंदी-क्षेत्र में सुवत् १८६० वि० से ब्रजभाषा ने नया रूप धारण किया। उसने शृंगार-वेश त्याग खड़ी बोली का नवीन वस्त्र पहिना। ब्रजभाषा का ह्रास और उसकी पुत्री खड़ी बोली का प्रचार बढ़ने लगा। पत्र-पत्रिकाओं में केवल खड़ी बोली की ही कविताएँ अब लिखी जाने लगी, पर इधर गुजरात में खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा का ही अच्छा प्रचार रहा। गुर्जर-साहित्य भी खूब फला-फूला। गुजराती कवियों ने अपनी भाषा पर अधिक ध्यान दिया, उसे नवीन-मूर्ति सँवारा, जिससे यहाँ—गुजरात में, जैसे गुजराती के प्रतिभावाली कवि उत्पन्न हुए वैसे ब्रजभाषा के नहीं हुए। फिर भी ‘आदिश्वरराम’ और ‘गोविंद-गिल्लाभाई’—दोनों ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि हुए हैं। इस समय भी गुजरात में ब्रजभाषा का काफी प्रचार बढ़ा।

काठियावाड के ‘मूली ग्राम’ के रहने वाले चारण ‘कालिदास’ राजा जसवंतसिंह के राज-कवि थे। चारण जी का कविता-काल स० १६२५ वि० के लगभग है। इन्होंने अपने आश्रय-दाता महाराज जसवंतसिंह की प्रशंसा में वीर-रस-पूर्ण शुद्ध ब्रजभाषा में सुंदर कविता की है। जैसे—

“सार्जें चतुरंग-सैन भूप फतमाल’ मुत, भानु छिप जात आसमान रज अटके।

यसकि पहार धौं धरनि भार धूजत है, लचक फनिव में कमठ-पीठि कटके ॥

कहे ‘कालिदास’ बल हूँ दावा धारन के, पहुँन-नुपहुँन बुबली कें रूप अटके ॥”

भूप जसवंत तरे सुनत निसान अहो, भीम-गज छोळा के समान रिपु अटके ॥”

ठाकुर केशरी सिंह भील के वासी और भूपसिंह के पुत्र थे। इनकी कविता का समय भी स० १६२५ वि० ही ठहरता है। ये अपने पिता की मृत्यु के उपरांत पालीताने में अपने मामा के यहाँ रहने लगे थे। बुद्धि बहुत तीव्र थी, कविता सुंदर करते थे। केशरीसिंह ने नीति, शृंगार आदि पर शुद्ध ब्रजभाषा में सानुप्रास सरल-सुंदर कविता की है। यथा—

“चंपक, चमेली और कैतकी, कन्हैर, जुही, ताके धीन साजिकें उमंग सरसायो है।

दाउदी के दुर्ग और मुकड हजारा की, हेमल हमेल इस्कमेचा मन-भायो है ॥

१. राजा फतेहमालसिंह।

२. पा०—सटके।

‘किसरी’ कहत सब फूलन को सिंगार साजि, भकर को धुज सो लो केबरा बनायो है।

सैल के करन काज साजिके समान ऐसी, मानो रितुराज रति-राज बन भायो है॥”

जेठालाल चारण, बीजापुर के रहने वाले थे। इनका कविता-काल भी स० १६२५ ने आस-मास है। कविता की ब्रजभाषा शुद्ध है। हास्य-रस-प्रधान कविता लिखने में ये अधिक सफल हुए हैं। इनकी कविता में गूढ़ हास्य के साथ काव्य-चातुरी देखने-सुनने लायक है। जैसे—

“गोरे-गोरे मुजदंड, दीरघ बने हैं नैन, सोभा के ऐन सब-ही के मन-मानी है।

अजब जलेब सो अलेबदार जेबदेन, द्वारें गज, बाज, हेम-भूरें खजांने हैं॥

ऐसे सुन नर-नाह, सुजस की बाढ़ी चाह, ता ते कवि आस-मास भांनि मबराने हैं।

हम मरदाने जैन जस के कवित पढ़े, द्वारें बरजान कहैं साहब जमाने हैं॥”

कवि रविराज भी काठियावाड़ के मूली गाँव के निवासी चारण थे। इन्होंने जाडेजा ठाकुर केशरीसिंह की प्रशंसा में कविता की है। कविता का समय स० १६३५ वि० और मूल्य स० १६५१ वि० के आस-मास हुई। रविराज जी की ‘नर्मदा-सहरी’ ‘पद्माकर’ और ‘कवि ग्वाल’ की ‘वगल-सहरी’ तथा ‘यमुना-सहरी’ के तोड़ की बेजोड़ रचना है। इन्होंने कुछ फुटकल रचनाएँ भी की हैं, जो साधारणतः सुंदर हैं। इनकी अन्य रचनाओं का पता नहीं चलता। कविता की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। एक उदाहरण जैसे—

“सुंदर सरीर होइ, महा रनधीर होइ, बीर होइ भीम-सी लरैया भावो जौन की।

गरबी, गुमान होइ, वड़ी सावधान होइ, साँव होइ साहिबो प्रताप पुज धौन की॥

पढ़त अमान जो पै मधवा महीप होइ, वीर होइ वंस को जनेया सुल स्याम की।

सबं युग-न्याता होइ, जदपि बिबाता होइ, दाता जो न होइ सो हमारे कोन काम की॥”

काठियावाड़ के अंतर्गत ‘सीमडी’-राज्य के ‘जुगलकिशोर’ कवि भी जाति के चारण थे। ‘सुंदर निमित्त’ ये राज्यो में आया-जाया करते थे। इनका कविता-काल स० १६३५ है। इनकी रचना का विशेष पता नहीं चलता। फुटकल छंद ही मिलते हैं। एक उदाहरण जैने—

“गरजन लागी गूज गमन भूदगेल की, बीजुरी तरनि पावुरीन पाइमाल की।

अर के धरैन-सी परैन पिचकारिन की, धरैन में घाई धूम आनंद रसाल की॥

जैसिध महीपति के आज दरबार-बीच, पावस-सी भई रितु कागुन विसाल की।

धरी-धरी घर में किशोर घनघोर-सम, धूम, धूम आई घटा गरब गुलाल की॥”

आदित्यराम—कविता नाम ‘रविराय’ जामनगर (काठियावाड़) के प्रयोग नामक ग्रंथ है। ये संगीत और वाद्य के विशेषज्ञ थे। इनका ‘संगीतादित्य’ ग्रंथ मणीन-मिठा ने लिखे हुए प्रसिद्ध हैं। आपकी ब्रजभाषा सुंदर तथा सानुप्रास है। अनुप्रास-प्रेमी होने के कारण प्राचीन दक्षिण ‘पद्माकर’ जैसी सुंदर, यमक की शोषणी से ओषी हुई प्रति चमत्कारपूर्ण है। भक्ति धीन भी आपकी सरस कविताएँ हैं। उदाहरण जैसे—

“गान, तान, मान-जुत नाच्यो नट-नेत्र धरे, कामिनी बनीकरें देरी महा कर में।

करत विलास, रास, हास सुख-संपति सो, जमुना के तीर धीर धरे न घनद में॥

कहत ‘रविराम’ तोहि सुमत न कछ काम, धाम, धाम, धाम, धाम धनि मनि दुख-द्वेष में।

सिरी मदनमोहन जू की माधुरी सु भरति धी, मोहपो मन मेरी ज्यों मरिद मबरद में॥”

महारामण^१, गजकोट-गुजरात के ठाकुर थे। इन्होंने अपने एक कवि-मित्र और ब्रजभाषा का एक सुंदर ग्रंथ ‘महाराज’ भी लिखा है। यह नाम भी ‘महाराज’ का है।

१. यह ग्रंथ छप चुका है।

२. इनका नाम ‘महाराज’ भी लिखा है।

से सरस है। आप इस ग्रंथ की समाप्ति के पूर्वही दुर्भाग्य-वश काल-कवलित हो गये। पीछे 'कवि गोविन्द-गिल्ला भाई' ने स० १९४५ में इसकी समाप्ति की। कवि ने प्रवीण (प्रवीण) सागर स० १९३८ वि० में बनाना प्रारम्भ किया था। 'प्रवीण-सागर' अमदावाद से प्रकाशित हो चुका है जो गुजराती अक्षरी में है। काशी से भी इसका कुछ अंश-विशेष लावा मगवानदीन 'दीन' ने बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की सहायता से संपादन कर प्रकाशित किया था। भापा शुद्ध, सरस तथा कहीं-कहीं गुजराती के शब्दों से सुशोभित है, पर त्वामाविक है। जैसे—

“जैसे निरमल होत है, कौनक अँनल के संग।

तैसे प्रेमी बिरह-बल, जड़े सुरति के रंग ॥

❀

बेदरबी जरबी समर, ताकौ लग न तीर।

दरबी घटपट है नहीं, कैसे बचै सरीर ॥”

नीलकण्ठ कवि के विषय में कुछ पता नहीं चलता। इनके एक छंद के चरण से जाना जाता है कि ये 'श्रीमत् मल्हारराव गायकवाड' के समय में थे। जैसे—

“महिपति मल्हार सौ ह्वार हूँ गयी कंब, याकी ही बिचारी भेद ती हू पर-नारी है ॥”

मल्हारराव एक उर्दू शासक होने के कारण स० १९३२ वि० में बड़ोदा के सिंहासन से अंगरेजों-द्वारा हटा दिये गए थे। मल्हारराव की मृत्यु स० १९४० के आस-पास भद्रास (दक्षिण) में हुई थी। अतः नीलकण्ठ का कविता-काल स० १९४० वि० के लगभग होना चाहिये। ये बड़ोदा के ही वासी थे। इनकी व्रजभाषा-कविता में बहुत सरसता और मधुरता है। वशी-संबंधी एक छंद जैसे—

“वे जग-अंधन के मगद, जलिवी इन नौकल हू की बिचारची।

वे बलि बास-बसावत है, इन बास-उछारि कुबालेन पारची ॥

सुरेन पाह जतावत वे, इन प्रेम अथाह के वारिधि डारची।

बेलहूरी, हरि की बेंसरी, इन कैसे लुंवल को बंस बिबारची ॥”^१

हरिजीवन, काठियावाड—पोरबंदर के निवासी पूर्ण ब्रह्म-निष्ठ थे। समय अज्ञात है। काव्य-दोहन में जो भी कविता इनकी देखने में आती है, वह गुजराती-शब्द-बाहुल्य होते हुए भी सरस है। एक उदाहरण—

“कोउक रॉम-हि-रॉम रटे, और कोउक कृष्ण-हि-कृष्ण कों व्यावै।

कोउक जोग-समाधि धरे, प्रतिमा कोऊ पूजिकें पूंज बुढावै ॥

कोऊ ईमान रे, भान सौ जारत, कोउक एक अनंत ठहरावै।

चेतन चाह बन्धों अपनी, 'हरिजीवन' भाव निमित्त धरावै ॥”

काठियावाडी 'चौरामल्ल' साधारण श्रेणी के व्रजभाषा-कवि थे। इनका कविता-समय स० १९४५ के पास है। इन्होंने 'मारत-मुद्रंश' पर कुछ छंद लिखे हैं। जैसे—

“आया है कलू का बीर, धरो-धर काँगरील, पीर, पीर, डोर, डोर, पाप-बैलि जागी है।

केतो हुती रिढी-निढी, केते हुते संत-बुढ, छोड़ा द्विदवाना तुरकान हू सगी है ॥

श्रुं को नु सान करे, सान को बनावत श्रुं, पेसे जिन बात वहि सोभ-ज्वाल जागी है।

राजें को नीति गई, पंचन-अतीति गई, अब सौ अतीति सो अनीति हों सगी है ॥”

^१ यह प्रयोग—वारागंज से प्रकाशित हो चुकी है।

१. वशी पर सुरदास जी के पद तो दर्शनीय हैं ही, पर 'कविबर स्वात' ने भी 'वंशी-वीरता' रचकर उसे और भी जगमगा दिया है—चमका दिया है।

फकीरहीन सूरत के सीपाही थे। अन्य विवरण अज्ञात है। ब्रजभाषा मध्यम श्रेणी की, फिर भी भाषा में ऊँहा भन्धी है। एक रचना जैसे—

“सूरत की सार गयी, लोक-भौहार गयी, रोबगार डूब गयी, वसा ऐसी भाई है।
टूट गए साहूकार, उठि गई धीर-भार, नाहि कोऊ धार-बास बैरी सया भाई है।
खाने को जेहूर नहीं, रहने को डीर नहीं, बात कहा कहीं मार सब-ही दुखवाई है।
कहते ‘फकीरहीन’ सुनों हो चतुर जन्म, टूट गए तो भी पक्के सूरती सिपाई है।”

काठियावाड़ के हलार जिले के ‘मालिया’ गाँव के ‘मोहनजी’ कवि जाति के बाजेबा ठाकुर थे। इन्होंने स० १९५० के आस-पास अफ्रीका की निदा में ‘पोस्त-यचीसी’ एक सुंदर रचना की है। ब्रजभाषा अति सरलता से अपने मूल स्रोत में ही बही है। जैसे—

“होती जो मैं बिषवातो सांख्य के सिद्धांत होती, ध्यान-बारि ईश्वर-मंसन को सगावती।
होती जो सचवा तो प्रेम-जहीपेठ ते, प्रेम-सपटाइ अति नाथ को रिखावती ॥
होती जो कुमारिका तो पैखती न प्रम्य नर, जोग से अनुप सहा भोज्य को मिलावती।
हाइ नाहि बिषवा, न सचवा, कुमारिका न, अमली-मती ते नहि ऐकी पार पावती ॥”

कविवर ‘गोविंद-गीता-भाई’ का जन्म भावनगर (काठियावाड़) के पास सिहौर गाँव में स० १९०५ वि० की हुआ था। इनके पिता का नाम गीला (मिल्ला) भाई था और जाति चौहान-राजपूत थी। ये बड़े ब्रजभाषा के प्रेमी और उसके अग्रज रचयिता थे। घर में अनेको उपलब्ध और अनुप-लब्ध ब्रजभाषा के ग्रंथ विराज रहे थे। बीसवीं शती के ब्रजभाषा के ह्रास-काल में, गुजराती होते हुए भी उसके हितैषियों में ये अग्रगण्य थे। इन्होंने स्वरचित “राधा-मुख-मोड़सी” में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

“कोयत कमल बेल काठियावाड़ ता में जु, सुंदर सिहौरपुर पुनीत प्रख्यात है।
कुटुम्ब-कलित बा में रहत सर्वा-ही हम, जाति के खवास खास विषय में बिसात है ॥
विक्रम संवत बार उनईस पचास मधि, उर में उर्मग धरि नेह ते नितात है।
‘गोविंद’ सुकवि रची ‘राधा-मुख-मोड़सी’ वै, रसिक रिखाइवे को भाखी अबदात है ॥”

इन्होंने ब्रजभाषा में अनेक रचनाएँ रची हैं, जिनमें प्रमुख हैं—नीति-विनोद, पदकण्ठ-वर्णन, शृंगार-सरोजिनी, राधा-मुख-मोड़सी, विष्णु-विनय-यचीसी, विवेक-विलास, लक्षण-बत्तीसी, प्रवीण-सागर का उत्तरार्ध, पावस-य्योनिधि, समस्यापूति-अदीप, बभ्रुकित-विनोद, श्लेष-चक्रिका, गोविंद-ज्ञान-भावती और प्रारब्ध-पचासा। इन सभी ग्रंथों में प्रायः भक्ति, शृंगार, वैराग्य और नीति-विषयक कविताएँ हैं। भाषा—शुद्ध ब्रजभाषा, सानुप्रास और स्वभाविक अलंकारों से समृद्ध है। एक-दो उदाहरण जैसे—

“सुनिऐं चतुरविधि’ अरज हमारी एक, आप को उमग-बारि चाहत कहूँ को।
पूरब के पुन-भाप जो हूँ जमे होंइ मेरे, देहु फल ता के मन चाहें तो सहैँ को ॥
चाहें तो बरिज और कीजिए अनेस पुनि, चाहें तो बल तो वैर नपु सँहैँ को।
‘गोविंद’ सुकवि वै लिखियो लिलार नाहि, नीरस-नरैन-यास कबिता कहूँ को ॥”

प्रसादानुप-युक्त कुछ अन्य छंद, जैसे—

“अंगन वै गज-खाल नहीं, ये अंबर नील हमारी बिसाल है।
मुँउन की नहि माल-गरे, ये हाटक-हार-हमेत रसाल है ॥

१. ब्रह्मा

२. इतर पापफलानि यथेच्छया वितरतानि स हे चतुरात्मन ।

अरसिकेषु कविसनिवेन शिरसि मालिन मालिन मालिन ॥

सीस-जटा 'कवि गोविंद' ए नहि, ओपन सों अति धमल-जाल है।
रे रतिनाथ, सँहारि कों मारियो, ईस नहीं में कौमल बाल है ॥”



“है न जटा, ए बार बिराजत, नील न ग्रीव में मुस्क लगाए।
सीस न चंद-कला ये 'गुविंद' पुष्प-प्रभा बिलसे सुख बाए ॥
अंग बिभूत नहीं सितता, हम नाथ-वियोगन ते सन-साए।
रे भनमध्य, भहेस-भरन, हम बाल को भारन कहीं बसि आए ॥”

सन् १६१५ में दारौठ 'ब्रज' कवि ने 'हरि-विजय-विलास' नाम का एक ब्रजभाषा ग्रंथ बनाया, जिसमें भावनगर के गोहिलवंशी राजा जसवंतसिंह के दरबार का वर्णन सुंदरता से किया गया है। दीवान गौरीशंकर आदि मुसद्दियों, गौरीशंकर के पुत्र—बजल भाई, साबिलदास और परमानंददास के गुण-लक्षणों का वर्णन करते हुए हरि-विष्णु की महिमा का सवाद लिखा है। ग्रंथ का प्रथम-विलास मात्र ही मिलता है। भाषा ब्रज है, कहीं-कहीं ढिंगल से भूषित है। जैसे—

“साइ सप्त साइर करी, करी कलम बनराइ।
तदपि चरित्र हि साह कौ, जै कों कौन लिखाइ ॥
धावर, जंगम आप है, सब घट आप-निवास।
चेतन लीनी आप-ही, तऊ भयो घट नास ॥
धावर, जंगम, जल-हि-थल, मही, तूल आकास।
लख औरसी बान लख, चेतन आप प्रकास ॥”

औषध उपनाम—उद्धव काठियावाड़ के लखतर-निवासी जाति के प्रौढीच्य ब्राह्मण थे। इन्होंने कर्णसिंह ठाकुर ने नाम पर—‘कर्णभुक्त-भरि’ तथा ‘कुकवि-कुठार’ दो ब्रजभाषा ग्रंथ बनाये हैं।

जीवा भक्त जाति के राजपूत भावनगर के रहने वाले थे। ये ३५ वर्ष की अवस्था में संन्यास लेकर नर्मदा-तट पर रहने लगे थे। इनकी कविता ज्ञान-वैराग्य मय है। रचना भी साधारण है, जैसे—

“घोरज तात, छमा तिम भाल, अथ साति सुलोचन जाम प्रसारीं।
सत्य सुपुत्र, दया भगिनी, अथ भ्रात भले मन संजम अरिने ॥
र्यान कौ भोजन, बदन बसो बिसि, भूमि पलंग, सदा सुख-सनिने।
‘जीवन’ ऐसे सगे जग में, तब कष्ट कहा अब जोग कौ जाने ॥”

कवि माण जी भाई—गिरिनारा ब्राह्मण, मोन जी के पुत्र और कच्छ-भतर्गत मोठवी के रहने वाले थे। इन्होंने ‘माण-विलास’, ‘माण-बावनी’ आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। इनकी ब्रजभाषा साधारण है।

कवि भक्त का भी कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इन्होंने ‘पीपाजी की कथा’ ब्रजभाषा में रची है। रचना दोहा-चौपाई में है। जैसे—

“सब संतन की आत्मा पाँके, तो पीपा की कथा सुनाऊँ।
गगिरूपुर पादन स्थान, कौमो रास भ्रमंत बखान।
गंगरूपुर बरनों कैसा, पाप-हि छोड़ि, चरन तहँ बैसा।



साहि दास भ्रमंत कहँ, लहँ न सारद ओर।
सेसनाग गावँ सदाँ, नौतम पुन उठ ओर ॥”

ब्रजभाषा सरस और सरल है। अतः में तुलसीदासजी की प्रशंसा में भी दो छंद लिखे हैं।

कुछ ऐसे ब्रजभाषा-कवियों का और भी उल्लेख मिलता है, जिनके स्थिति-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ये हैं—विष्णुदास, मेहा (गैय-पद रचयिता), हरीसिंह, दीहल, भर्जुन, मोहनदास, कृष्णजित् आदि। हरीसिंह या हरिसिंह खानकोटडा-कच्छ के रहने वाले थे। जाति के जाड़ेजा ठाकुर और स्वामी रामदास के शिष्य। इन्होंने 'ज्ञान-कटारी' नाम की ब्रजभाषा-रचना की है। दीहल जाति के मुसलमान कठियावाड़ के कुछला गाँव में रहते थे। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति में विभोर होकर उन्होंने भी ब्रजभाषा में रचना की है, जो आज अज्ञात है। भर्जुन कवि ने—'दान समय के सर्वदा' और मोहनदास ने—'बप-फाँसी के पद' तथा 'मूल रामायण-सवधी पद' ब्रजभाषा में रचे। कृष्णजित् ने 'रत्न मालिका' नाम से ब्रजभाषा में इतिहास-ग्रन्थ की रचना की है। यही गुजरात के इतिहास-प्रेमियों के लिये मुख्य आधार-ग्रन्थ है। कवि ने गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह के विविध चरित्रों का अपनी श्रोजपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। जैसे—

“जस सिधरा-जैसिध की, सब ग्रंथन की सार।

पढ़ै-सुनें जो पुख सो, पावै बुद्धि अपार ॥”

कवि ने अपने इस ग्रन्थ के 'रत्न' नाम से कई विभाग किये हैं, जैसे—

“श्रीमद्गुरु पकज हृदिधारक द्विजराज कुलोत्पन्न काव्य-कला-कुसल कृष्णजिवाद्येन रचित ग्रंथ सिद्धराज जयसिंह चरित्ररत्नमालायाम् प्रथम रत्न”—आदि।

इस अवतरण से ज्ञात होता है कि ये जाति के ब्राह्मण थे और काव्यो का अच्छा ज्ञान था। कवि ने आनुपमिक रीति से 'चावड़ा वध' का आरम्भ से लेकर गुजरात का इतिहास सबतो-सहित समस्त रूप से ब्रजभाषा में लिखा है। कवि का विचार उक्त ग्रन्थ की जप-माला की १०८ रत्न-मणिकाओं की गति १०८ भागों में लिखने का था। जैसे—

“अष्टोत्तर-सत् रत्न की, रचि हो मंजुल-माल।

एक रत्न की मोल पुनि, जानै बुद्धि बिसाल ॥”

किंतु इसके सात रत्न पूर्ण और आठवाँ खंडित मिला है। भाषा सुंदर ब्रजभाषा है, पर जहाँ युद्धो तथा जन्मादि का वर्णन कथात्मक रूप से किया है, वहाँ ढिगल का विशेष प्रभाव पड़ा है। उदाहरण जैसे—

“दास की प्रनाम मन-धारिकें, दयालु मात, बीजिए हिंसत, बल, कल ब्रह्म-मालिका।

सबद रत्न ओकार ते अनेक कधि, पाए ग्रंथ-रत्न तो अपार दीन-मालिका ॥

मे पुनि सुनीं सुचात चाल हूँ निख्यात मात, 'रत्न' यों आयें कवि पादकें प्रनालिका।

तो को अवलंब कें सुपुख होत कोविद कौम, नाम मेरी रच्छन रची हो रत्न-मालिका ॥”

ढिगल-युक्त पुष्पिताया छंद जैसे—

“भवति चुलक-जस के जनाल, नृप सिधराइ चरित्र रत्न माला।

अनघ कवित बंध के जु प्रयत्न, रचत विचार उच्चार आदि रत्न ॥”

कृष्णजित् जी ने अपने को—'कविराज कुलोत्पन्न, गुर्जरधर भट्टन' और 'कृष्णजिवाह्वय' आदि विशेषण-युक्त लिखा है। ब्रजभाषा-व्याकरण के रचयिता 'रत्नजित्' ने भी अपने ग्रन्थ की दुष्टिका में कुछ इसी प्रकार—'श्रीमद्गुरुपदपकजदृष्टिधारक' आदि लिखा है, इनकी शब्दावली की साम्यता दरबत आने और ध्यान खीचती है। इन दोनों कवियों का आपस में कुछ संबंध भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इन अज्ञात-कुलधील ब्रजभाषा के कवियों में—'ब्रजनाथ' त्रिविक्रम मुत्त—भरौव निवासी और 'बालकृष्ण' भागलनगर (भमदाबाद) का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता। प्रथम ने 'सरस-रत्न' नाम के नायिका-मेघ और द्वितीय ने—'सूर गढ़ायें पव सप्रह सदीक' ब्रजभाषा में रचा। यह टीका सूर के दृष्टिकूट-भक्तों पर पड़ली टीका है, इसके बाद सरदार कविने टीका की है। सूर-गढ़ायें-पव सदीक प्रकाशित हो चुका है।

अज्ञात-काल की कुछ और रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनके कर्ता वा रचयिताओं का पता नहीं चलता। इनमें 'सोलकी वंश की वशावली' भी है, जिसके रचयिता अज्ञात है। इस वशावली में पीराणिक-काल के सूर्य वंशी राजा "अंबरीष" से लेकर 'घट टोडर' के सोलकी राजाओं की वशावली लिखी है। भाषा सुंदर ब्रज की है। जैसे—

"श्रीमद् श्री नाभाग तनै, असकंद कहायौ ।
सुरज बंस प्रताप सुजल, अमरीष जु गायौ ॥
दुरबासा-उत्पात चक्र-रणछा जो कीनों ।
उलटि विलायौ आस, भय्यौ मुनि बीन प्रवीनों ॥
सिब, अह्रा अरु बिष्णु-हुँ, कोउ न राखि सके सरैन ।
अगवंत हु ॥



सरमायौ आयौ सरैन, तब पायौ धानंद ।
समझायौ नृप चक्र को प्रवल छुड़ायौ फंद ॥"

—हत्पावि ।

चाँद खाँ, याकूब खाँ और राहत के नाम भी ब्रजभाषा-साहित्य रचयिताओं के नाते हृदय-मटल पर अंकित किये जा सकते हैं। बीसवीं सदी में इन मुसलमान कलाकारों ने भी ब्रज-साहित्य की बहुत कुछ सेवा की है।

चाँद खाँ, सोल राहत अली बडोदा के यामू थे। ये शैख संगीत के मधुर जगत में नई ठगन-युक्त 'ठुमरी-शेख' के प्रसिद्ध कथक धीरे उसके गायक थे। चाँद खाँ बडोदा-गायकवाड में ही रहा करते थे। याकूब खाँ भी बडोदा के रहने वाले 'जमादार याकूब अली खाँ गरवे वाले' के नाम से प्रसिद्ध थे। विशेष इतिवृत्त इनका नहीं मिलता, पर ये बड़े ब्रजभाषा-प्रेमी और अपने समय के प्रसिद्ध गायक तथा ठुमरी रचयिता थे। इनके उदाहरण जैसे—

ठुमरी, राग—तोड़ी-मैरवी, अताल-बिलजित, विषय-संज्ञिता नायिका



"माई रे, तोरी साँवरे लटपटी-चाल ।

भानों मद के रस झूमत, आवत हौ नंदलाल ॥

रैन जीती करत केलि सौतिन सँग, सिद्धर भरि गयो—

अमरैन 'चाँद' हरि-मुख अंजन गाल ॥"

खाँ साहब ने अपने नाम 'चाँद' को हरि-मुख से संबोधित कर एक सुंदर रूपक बाँध दिया है।

गरबा, राग—जगला ताल-दीपचंदी^१



"जावौ वहाँ हो गिरिबारी ।

जहाँ लट्खि लोई हँ सारी, जावौ वहाँ हो गिरिबारी ॥

चित चेत में लागी उवासी, मने चाँहा था लगजे फाँसी ।

जोले सारे ये ब्रज के वाली, याने पिया-बिन प्राँन तजा-री ॥"

^१. कुछ संगीतज्ञों का कहना है कि 'दीपचंदी' ताल का नहीं ठेके का नाम है। ताल का नाम तो 'जत' है और उसके ठेके का नाम दीपचंदी है। जत ताल का दूसरा ठेका झूमरा भी है, पर आज कल इन दोनों—दीपचंदी और झूमरा को ताल ही कहते हैं।

जब मगसिर फूला चंपा, तब जियराज मोरा झंपा ।
बिन तोरे थरहर कंपा, चंपा-बरन-वेह भई कारी ॥

★

मोरे पूस में पास न आए, कहीं औरैन-सय सुभाए ।
तुम आए ना, आए ना, ना आए, हम पाती लिखी कई वारी ॥

❀

रोई फागुन मोरी-मोरी, भई “पाकूव” यं गति मोरी ।
सब खेलें सबी मिल होरी, मोहैं मोरी कहैं जग सारी ॥^१

प्रसिद्ध ठुमरीकार मियाँ राहत अली लखनऊ के रहने वाले थे, इनके पिता का नाम था चिस्तू भाई। इनको नृत्य-गायन की शिक्षा इनके बड़े मामा और उस समय के प्रसिद्ध नर्तक कन्हैया जी से मिली थी। कन्हैया जी का असली नाम ‘महम्मद वस्ख’ और इनके पिता का नाम ‘मुराद अली’ था, पर प्रसिद्धि इनकी कन्हैया नाम से ही थी। कन्हैया जी को नृत्य ‘लल्लू जी नटवे’ (नट) ने सिखाया था तथा गायन प्रसिद्ध बिनकार ‘अमीरखाँ-उमराव खाँ’ ने। लखनऊ की नवाबी के समाप्त होने पर कन्हैया जी तथा इनके गुरु अमीरखाँ लखनऊ छोड़ कर रामपुर के नवाब यमुफ अलीखाँ के दरबार में आ गये। इसके बाद कन्हैया जी की नृत्य-कला की अति प्रशंसा सुनकर बड़ोदा के तत्कालीन महाराज ‘खडेरवा’ ने इन्हें अपने पास बुला लिया। खडेरवा के बाद जब महाराज बड़ोदा की गद्दी पर बैठे तब कन्हैया जी राहत अली को लखनऊ से बड़ोदा ले आए।

उस समय राहत अली की अवस्था आठ वर्ष की थी और इनकी जोड़ में इनके सपथकल ममेरे भाई ‘अजमद अली’ नाचा करते थे। राहत और अजमद अली का साथ-साथ नृत्य देख कर महाराज महाराज बहुत प्रसन्न हुए और तत्काल एक-एक सारी (कीमती) पोशाक तथा एक-एक हजार रुपया देकर इन्हें पुरस्कृत किया। फिर तो राहत अली बड़ोदा ही में रहने लगे और अठारें १२ मई सन् १९४२ ई० की रात्रि को बड़ोदा ही में अपना यह करीर छोड़ा।

राहत अली खाँ, नृत्य और गान के विशेषज्ञ तो थे ही, कवि भी अच्छे थे। इनके नामों भजन और ठुमरियों की संगीत-समाज में भारी कदर है। खाँ साहब के पास प्राचीन संगीत धरानों की मजी हुई चीजों का खासा भंडार था। गाने भी खूब थे। संगीत-विषयक कुछ मौलिक बातें भी आपने कविता-रूप में लिख रखी थी। इनकी बनाई ठुमरी का एक उदाहरण, जैसे—

ठुमरी, राग—काफी-सिद्धरा, ताल—त्रिताल

❀

मोरी बंगरी मुरकाइ डारी,—

झट पकर निडर नटवर । प्र० ।

कह्यौ न मानत निलज कछू तनक मेरी—

सगरे जतन कर-कर हारी । मोरी बंग०.....॥

★

ठुमरी-होरी, राग—काफी, ताल तीन प्रकार के बिलंबित

❀

भन जूदत बहुत कन्हैया ।

बरछी बिलाइ जितवन की तनक ॥ प्र० ॥^२

ताल के मोहैं कमान, भाई जब बान—

^१. यह ‘गरजा’ हमें पूरा नहीं मिला है, जितना सुनने में आया वह वे दिया है।

^२. ताल—दीर्घावली ।

बने नैन सिपाही लरैया ॥^१

सनमुख भावत ठौर रहे सब,—

इन चोटन कौ कौन सहैया ॥^२

लूटे गए बौहौतरे कटक ॥”^३

गुजरात में ब्रजभाषा के साथ-साथ उसकी पुत्री खड़ी बोली की भी यत्किञ्चित् रस-भारा वही, जो ब्याल-सावनी की परंपरा में पाई जाती है। ब्याल-बाजी उत्तर भारत की ही विशेष वस्तु थी, पर कुछ सग्रामो—लडाइयो को लेकर दूसरे-दूसरे प्रांतों में भी फैली। इन सग्रामो में ‘भरतपुर’—ब्रज का साका (लडाई) जो अंग्रेजों के साथ सन् १८०५ ई० में हुआ था, प्रधान विषय रहा। बडौदा—गायकवाड और अमदावाद आदि की लडाइयो का वर्णन भी ब्याल-सावनियों में अवश्य किया गया है, पर प्रधानता भरतपुर की ही रही। इस इतिहास प्रसिद्ध ‘रासे’ का किसी ‘धर्मा’ ब्राह्मण ने जिसका इतिवृत्त कुछ नहीं मिलता, इस प्रकार वर्णन किया है—

“भरतपुर का भड़ बंका धाना बलदेव का ।
करै रंजीत सिंघ राज बहादुर बेटा सूरजमल का ॥
स्याबास है सबाराम तुम को रंजीतसिंघ राजा ।
हिंदू पद की टेक राखी धन दू महाराजा ॥
डीग-ऊपर जड़ा फिरंगी लेकर सब साजा ।
निमक-हूराम दीवान बिभ्रा सेंग नहीं दिल में समझा ॥
फितूर कर-कर किला गैमाया, नहीं रज में डूजा ।
निमक-हूरामो दिवान दिया-सेंग जनम का खोजा ॥
डीग-ऊपर तेंबरा बाजा, देखो फिरंगी का ।
करै रंजीतसिंघ राज, बहादुर बेटा सूरजमल का ॥”

ॐ

धामा^४ जो महाराज बलदेव, खबर भई उनकूं ।
पैहूना पीताबर तन के ऊपर आए भरतपुर कूं ॥

ॐ

करो भजन सद्गुण का, सुकनगीर किया कहना ।

धरमा^५ बाबन पंथी गाते, बसमामी गोना ॥

इसी प्रकार किन्हीं ‘हरिवाला’ या ‘हरिवल्लभ’ ने—जसवंतराव सवाई (सन् १८०५ ई०) का पैवाडा (लडाई) रचा जो गुजरात प्रांत में अति प्रसिद्ध है। जैसे—

“सवाई जसवंत राव बहादुर, सवाई बंका बजा दिया ।
अंद सहर से मारा फिरंगी जा, जमना के पार किया ॥
अंद सहर में फूंच किया जब, सैन चली महा जंगी की ।
जमना नदी आए उतर कर, तब गाँठ पड़ी फिरंगी की ॥
मुकहरे का पकड़ा रास्ता, भाजी फौज फिरंगी की ।
उजाड़ छोड़ा बाँ एक नासा, रसवन गोरो पर झंगी की ॥

१. ताल—झाड़ा चौताला ।

२. ताल—धमार ।

३. ताल—दीपचंदी ।

४. धामाजी—घाऊजी ।

महाराज का सिपाही बंदू, ध्रुव करी बीने नक सेरी ।
जा कर मारे रसबन गोले, टोपी पानी में गिरती ॥”

❧

“लोक साहब ने चिट्ठी भेजी, जा पहुँची कलकत्ते कू ।
सब कंपनी मिलकर आया, लगे बाँचने चिट्ठी कू ॥
बनारस पर मारा फिरंगी, नहीं ठिकाना रहने कू ।
लोक साहब ने भला नहीं किया, लगी कंपनी रोने कू ॥
आया मीरसा नवाब यारो, सभी पिड़ारा साथ लिया ।
सहर फरक्काबाद के ऊपर महाराज से दगा किया ॥”

यह जावनी बहुत बड़ी है, अत मे रचयिता कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

“सवाई खडेराल प्रसन्न रहें, महाराज पर है छाया ॥
‘हरिबाला’ ने पाई लड़ाई, तमाम लड़कर खुशी किया ॥
मंद सहर से मारा फिरंगी, जा जमना के पार किया ॥”

यह संक्षिप्त वर्णन उन उपेक्षित कवियों का है, जिन्होंने सुदूर गुजरात-प्रांत में रह कर ब्रज-भाषा की तन-मन से सेवा की है। इनके अतिरिक्त और भी ब्रजभाषा-कवि वहाँ हो सकते हैं तथा ऐसे ज्ञाताज्ञात अन्य विद्वान् भी हैं, जो गुजराती भाषा-भाषी होते हुए वर्तमान समय में भी ब्रजभाषा के दीवाने हैं—उसके सहज माधुर्य पर मिटने वाले हैं। बड़े खेद की बात है कि हम उनके विषय में कुछ नहीं जानते और न उनके जानने का कोई साधन ही है।



काव्य-साहित्य में अलंकारों का स्थान

श्री मथुरानाथ भट्ट

साहित्य राष्ट्र के उत्कर्ष और सम्यता की कसौटी है। जिस देश का साहित्य जितना ही उन्नत और विस्तृत होगा उस देश का गौरव और सम्यता भी उतनी ही उन्नत गिनी जायगी। भारत का साहित्य कितना उन्नत और गंभीर है इसे हम भी नहीं निष्पक्ष विदेशी तक मान चुके हैं। भारतीय साहित्य में भी काव्यों का एक विशेष स्थान है। वेद उपनिषद आदि आध्यात्मिक-शास्त्रों से जिस तरह भारत का गौरव भूमंडल-विख्यात है, उसी तरह काव्यों ने भी इस देश के सम्भो का मस्तक उन्नत किया है। मला आज ऐसा कोन सा सुशिक्षित देश होगा जिस को भारत के महाकवि 'कालिदास' का थोड़ा भी परिचय नहीं मिला होगा। सात समुद्र-पार की वैदेशिक जातियाँ भी आज कालिदास के काव्यों की कीर्ति उद्गार हृदय से गा रही हैं। काव्यों की प्रशंसा में कह जाता है कि 'कवि' की वह उक्ति और तीरदाज का वह वाण ही क्या जो हृदय पर लगे ही सिरन घुमा दे।^१ वास्तव में काव्य का चमत्कार अलौकिक है। कविता करना यावन्मात्र सलित कलाभो में प्रधान गिनी जाती है। अतः काव्य में ऐसी कोन सी बात है जिसके कारण उसमें ऐसा अद्भुत चमत्कार आ जाता है।

साहित्य में सार है—मार्मिक विचार। साहित्य में जितना ही तल में पेंट कर गंभीर विचार किया जाता है, साहित्य की उतनी ही उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार काव्य में आज रस और भाव भी प्रधान गिने जा रहे हैं। विकासवाद ने आज यह दिन दिखाया है कि हम काव्य की आत्मा 'रस' को मान रहे हैं,^२ किंतु आरम से लेकर अब तक काव्य पर जिसका अखंड साम्राज्य चला आ रहा है वह तत्व है 'अलंकार'। काव्य में चमत्कार लाने वाला अलंकार ही एक मात्र सार है। प्राचीन अलंकारिकों में श्रेष्ठ आचार्य वामन का सूत्र है—

“काव्यं प्राह्यमलंकारात्।”

अर्थात् अलंकार के कारण ही काव्य उपादेय अथवा सर्वसेवनीय हो जाता है। अलंकार शब्द का अर्थ यहाँ जरूर सुदरता है, जिससे कि रसिकों के लिये काव्य रोचक हो जाता है। केवल यमक उपमादि ही अलंकार नहीं, क्योंकि अलंकार शब्द के दो अर्थ हैं। जिनके द्वारा असाधारण रूप से सुदरता लाई जाय वो करणव्युत्पत्ति से (अलक्रियते-अनेन) अलंकार शब्द का अर्थ होता है—यमक, उपमादि और 'अलकरणम्-अलंकार', अर्थात् सब तरह की वह सुदरता जो कि गुण-रस-भावादि के रहने से और काव्य दोषों के त्याग से होती है, वह भी अलंकार-यव वाच्य हुआ करती है। ऊपर कहे हुए सूत्र में आचार्य 'वामन' का तात्पर्य सब तरह की सुदरता से है, अर्थात् काव्य-दोषों के त्याग से और गुण-रस-अलंकारादि के उपनिषवन से अद्भुत एक सुदरता आती है और वही सुदरता काव्य को उपादेय बनाती है।

यह ठीक ही है, पर यदि अलंकार-शास्त्र के इतिहास को गंभीर दृष्टि से खोजा जाय तो बात दूसरी ही सिद्ध होती है। वर्तमान में यह मान लिया गया है कि काव्य में रस-भावादि व्यंग्याय

१. कि कवेस्तेन काव्येन कि काठेन अनुष्मत् ।

परस्य हृदयं सग्नं न धूर्णयति यच्छिरः ॥

२. वाच्यं रसात्मकं काव्यं ।

ही प्रधान है और वही काव्य की आत्मा भी है, किंतु पहले के जितने भी आचार्य हुए हैं, उनका दृष्टिकोण अलंकारों की प्रधानता पर ही था। अलंकार के इतिहास में सबसे पहले 'ईदी' फिर 'भामह' इसके अनंतर 'मट्टेव' 'मट्टरुद्रट' और पीछे आचार्य 'वामन' का समय आता है। इन सब ही ने अलंकारों को प्रधान माना है। वामन के समय में ध्वनि का आविर्भाव हो चुका था, अर्थात् ध्वनि (व्यंग्यार्थ) को साहित्य-शास्त्र में मान्यता मिल गयी थी, किंतु वामन ने उस व्यंग्यार्थ को भी वाच्यार्थ का उपलक्षण (शोभाजनक) बनाकर अलंकारों की कुक्षि (कोख) में ही डाल दिया था। इसीलिये वामनादि के मत में ध्वनि का स्वरूप समासोपित-अप्रस्तुतप्रशसा आदि उच्च जाति के अलंकारों पर ही था वही था और वामन ने रीति को ही, अर्थात् शैली को ही काव्य की आत्मा माना था। ईदी आदि प्राचीन आचार्यों से लेकर आज तक काव्य की शोभा का सर्वस्व अलंकार ही प्रधान रूप से रहा। इसीलिये तो इस शास्त्र का नाम अलंकार के आधार पर "अलंकार-शास्त्र" यही हुआ। गुण-रीति-वोपादि के निरूपण करने पर भी गुणादि के आधार पर नामकरण नहीं हो सका और हो गया, आज रस, भाव आदि ध्वनि को काव्य की आत्मा मान लेने पर भी इस शास्त्र का नाम 'रस-शास्त्र' अथवा 'ध्वनि-शास्त्र' न लेकर अलंकार-शास्त्र ही स्थिर रहा।

काव्य में अलंकारों की प्रधानता की एक उपपत्ति और भी सुझाई जाती है कि जैसे महर्षि गौतम का बनाया न्याय-शास्त्र प्रमाण, प्रमेय, सहाय, प्रयोजनादि षोडश पदार्थों के निरूपण करने पर भी परार्थानुमान रूप न्याय की प्रधानता के कारण आज तक 'न्याय-शास्त्र' नाम से प्रसिद्ध है, उगी भाँति दोष-गुण-रीति आदि का प्रतिपादक भी यह शास्त्र अलंकारों की प्रधानता के कारण अलंकार-शास्त्र नाम से ही प्रख्यात हुआ। जो कुछ हो, ध्वनि और व्यंग्य को काव्य की आत्मा मान लेने वालों को भी यह बात स्वीकार करनी पड़ी है कि अलंकार ही काव्य की सुदरता के लिए एकमात्र आश्रय है। ध्वनि के स्थापन करने वाले प्रधान प्रालंकारिक 'भानवर्धनाचार्य' तथा 'मम्मट मट्ट' ने भी कई स्थानों पर अलंकारों की प्रधानता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है। काव्य-व्यवहार के प्रयोजक अलंकार ही है, यह बात मम्मट मट्ट ने—

"काव्यवृत्तेस्तत्त्वमभ्यात् ।"

—मधुमोत्तास

अर्थात् काव्य-व्यवहार के संचालक अलंकार ही है, इस कारिका से कही है। उल्लेखार्थ में इसकी टीका भी की है कि "अलंकारों के बिना काव्य बन ही नहीं सकता, क्योंकि काव्य के सग्रह में शब्द और अर्थ का सावकार, अर्थात् अलंकार सहित होना अनिवार्य है।" मोटी बात है कि शब्द और अर्थ काव्य के रूप में तब ही आ सकते हैं जब शब्दालंकार के कारण शब्द में और अर्थानुसारों के कारण अर्थ में कुछ चमत्कार आ जाय।

ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर सर्वात्मना जोर देने वाले आचार्य मम्मट मट्ट ने एक और स्था पर भी अलंकारों को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है।

"स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरर्षिणी ।"

—मधुमोत्तास

इस पद्य में विशेषोक्ति और व्यतिरेक अलंकारों के कारण ही भावना की निर्दिष्ट है, अर्थात् "गुणादि चाहे हो न हो, पर यहाँ अलंकारों के कारण ही यह उक्ति वामन-शैली में आने लगी हुई है।" एक ध्वनिस्थापक आचार्य के मुख से निकलकर यह बात काव्य में अनिवार्य हो गयी है। देव का साहित्य (अलंकार-शास्त्र) तब में परिपुष्ट होगा तब तक तब तक ही होगा और हम रस, भाव, गुण, रीति आदि साहित्यिक पदार्थों का विवेक भी तब तक समझ सकेंगे तब तक ही होगा कि जिस मध्यमान में साहित्य (अलंकार) भाव्य ने अपने घर में आ गयी है। जिस मध्यमान में साहित्य (अलंकार) भाव्य ने अपने घर में आ गयी है।

गुप्त नहीं हुए थे, उस समय अलंकार-शास्त्र के पंडित और काव्य-कला के भागिक इन अलंकारों पर ही अपना सर्वस्व समर्पित किए हुए थे।

ब्रजभाषा का पुराना साहित्य देखिये—उसमें अलंकार ही एक मात्र काव्य की शोभा के आधार थे। उनमें भी शब्दालंकार की तरफ लोगोंका विशेष आकर्षण था। जो-जो लोकप्रिय प्राचीन कवि सूर, तुलसी, बिहारी, पद्माकर आदि हुए हैं उनकी कविता का चमत्कार पहले शब्द पर ही टिकता है, अर्थात् कवि का हार्दिक सरस इसी पर होता है कि शब्द-शय्या चमत्कार जनक हो। अतएव उनकी कविता सुनते ही कानों में पहले शब्दालंकार चमत्कार की सृष्टि करतें हैं। गुण-भरपूर महात्मा सूर को देखिये—

“तरनि-ताप तलफति चकोर गति, पिबत पियूष परान।

लोचन-नलिन नए राजत रति, पूरन भबुकर भाग ॥”

भक्त कवि तुलसी का बसीकरण भन्न सुनिये—

“जय रघुवंस जनक जन भान् । गहन वनज-कुल-बहुन कुसान् ॥

जय सुर-बिभ्र-धैनु उपकारी । जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी ॥”

बिहारी और पद्माकर तो शब्द चमत्कार के ही आचार्य हैं—

“नभ लाली चाली निसा, चटकाली घुति कीन ।”

रतिपाली आली धँसत, आए बनमाली न ॥

बिहारी : सतसई

को कोन नहीं जानता ? फिर इस वसत में पद्माकर तो—

“बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरयो बसंत है ।”^१

बोलते हुए वसत की बहार बगरा ही रहे है। यही नहीं, शब्दालंकार इतना प्रिय बना कि उसकी वृद्धि होते-होते, धीरे-धीरे शब्द चित्र, फिर चित्र-वच-काव्य, सङ्ग-चक्र, चामर-धनुष-पद्म बंधनादि चारों ओर चल पड़े। इनमें भी ब्रजभाषा के साहित्यकारों ने इतनी भरमार की कि अभूतपूर्व नये-नये चित्र-वचों की अद्भुत सृष्टि कर डाली। भारत विख्यात आयुर्वेदमार्तंड स्वर्गीय श्री लक्ष्मीराम स्वामी जी के यहाँ चित्र-वचों पर मैंने एक विशालकाय पुस्तक देखी थी जिसमें ऐसा कोई वृक्ष, पशु, पक्षी आदि नहीं जिनके आकार पर उसमें वच-काव्य नहीं बाँधा गया हो।

मर्म-विचार करने वाले संस्कृत के आलंकारिकों ने—उनमें भी अत्यंत बारीक विमर्श करने वाले पंडितराज जगन्नाथ ने, विशेषतः जोर दिया है कि—‘सङ्घ-धनुष-वधादि चित्रवच में काव्यत्व ही नहीं। शरीर में जैसे मेद (घेवा) आदि निरर्थक लटका करते हैं, उनमें जीवन-अंगों जैसा स्वारस्य नहीं, उसी तरह सङ्घ-वच-धनुर्वध आदि काव्य जैसे बीलने वाले भ्रसरगुफों में भी काव्य का स्वारस्य नहीं, पर

^१ कूलन में, कैलिन में, कछारैन में, कुंजन में, क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।

कहूँ ‘पद्माकर’ परागहूँ में, पौलहूँ में, पातन में पीकन पसासन पंगत है ॥

झार में, दिसान में, बुनी में, देस-देसन में, देखी वीप-बीपन में वीपति विगंत है।

बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरयो बसंत है ॥

—जगद्धिनोद : पद्माकर

तालन पै, ताल पै, तमातन पै, आलन पै, ताल, ताल, ताल पै रसाल सरस्वो परै।

कहूँ कवि ‘रामचंद’ कुंड, कंद, बंदन पै, चंदन पै, चंद पै, मल्लिह बरस्वो परै ॥

कोकी, कैलि, कोसर, करंज, कैलिकी पै कज, कारकुल, कोकिल, कर्वव परस्वो परै।

रंग-रंग रागन पै, संग ही परागन पै, बंवावन-बागन पै बसंत बरस्वो परै ॥

—हजार : श्फीमुल्लाह खाँ

ध्यान देने की बात है—आलोचना करने वाले क्वाक्ट डालते ही रहे, किंतु चित्र-काव्यो का निर्माण नहीं बंद हुआ। माघ-भारवि से लेकर आज तक के कवियों ने चित्रवचो में अपनी प्रतिभा का चमत्कार बराबर दिखाया है। बात यह है कि यदि छद्म-चतुष्टय-वचो के पद्यों में लोगो को चमत्कार और प्रदुभ्यता का अनुभव होता है और यह भी रचना करने वाले की विशेष शक्ति के बिना, साधारण प्रसार जोड़ देनेवाले से नहीं बन सकता तो इसके चमत्कार का प्रपञ्च (छुपाव) भी कौन कर सकता है? क्योंकि सबका सिद्धांत है कि 'काव्ये सारवचमत्कारः' (काव्य में चमत्कार ही सार है)।

अलंकारो को भव्यम दर्ज की चीज समझनेवाले, वाच्यार्थ को केवल उपाय (साधन) माननेवाले, व्यंग्यार्थ को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने वाले ध्वनिवादी अलंकारो को चाहे किना नीचा ठकेलें, परंतु काव्य से उनका आसन शिथिल नहीं होता। ध्यान देने की बात है कि यदि हम रस-भावादि व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा मान ली लेते हैं तो भी जनता के हृदयकारण में असंतोष ही बाजी ले जाते हैं, क्योंकि किसी मनुष्य को पहले पहल देखते ही सबसे पहले उसके शरीर पर ही दृष्टि पड़ती है। वह मन का कैसा है, उसकी आत्मा किन्तु उन्नत और शुद्ध है, यह हमें बहुत पीछे भावूम पड़ता है। इस ही तरह, किसी काव्य को सुनते ही सबसे पहले उसके शब्द और अर्थ हमारे हृदय में उतरते हैं। वर, उस ही समय शब्द और अर्थ के साथ-साथ अलंकार—हृदय पर अधिकार जमा लेते हैं, क्योंकि अलंकार इन शब्द और अर्थों के आश्रित ही होते हैं। अब आप ही देख लीजिए—काव्य के व्यंग्यार्थ, रस, भाव आदि पर पीछे प्रतिभा पहुँचेगी, पहले शब्द और अर्थ के साथ-साथ अलंकार ही हमारे हृदय को वशीभूत कर सकेंगे।

आप देखेंगे कि ध्वनि-स्थापना के लिये प्रकाश परिधम करने वाले आनन्दवर्धनचार्य जी मम्मट मृदादि को भी अलंकारो की प्रभावता कई स्थानों पर सब की अपेक्षा अधिक मानती पड़ी है। शास्त्रान्त अलंकारिको ने काव्य को 'कांतसंमित उपदेश' माना है। प्रभु की तरह निश्चय आशा देने वाले वेद की आशा पर, मित्र की तरह हित-अहित समझाकर अच्छे मार्ग का उपदेश करने वाले पुत्र, धर्म-शास्त्रो की शिक्षा पर, जो लोग आक्रान्त नहीं हो पाते उनको भी यह काव्य की मधुर उक्ति। प्रियतमा की हित-शिक्षा की भाँति रसास्वाद से आनन्दित बनाकर—

“संसार में राम की तरह बतवि करना चाहिये, रावण की तरह नहीं, जिसको कि एक दिन विनाश के घाट उतारना पड़ा।”

यों यह काता-समित काव्य के उपदेश वेद-धर्म-शास्त्रादि के उन उपदेशों से भी अधिक मान्य जनक सिद्ध होते हैं, जिन उपदेशों से किसी तरह भी असन्मार्ग से नहीं मुड़ने वाले विनाशी ज़ोर ने अच्छे रास्ते पर चलकर मोक्ष तक के अधिकारी हो जाते हैं। अब आप ही देखिए—जिनने निम्न (धर्मशास्त्रादि) के उपदेश पर कान नहीं दिया वे अपनी प्रियतमा विनको कि वे प्रपन्न मार्गान् गम्यन्ते हैं, उसके उपदेश को, उसकी शिक्षा को उपदेश्य (गिष्य) की तरह सुनने और उन पर अमन करने का प्रयत्न क्या सहसा ही सहन कर सकते हैं? नहीं, वही सावधानी में पहले उनके मन को हम को अपनी ओर खींचना पड़ता है। जब वह प्रसन्न होकर उपदेश सुनने के लिये प्रसिद्ध हो जायेंगे तब उपदेश दिया जाता है और वह सफल भी होता है।

कड़वी दवा नहीं लेने वाले बच्चे को जँमे 'गुडजिहिका' (दवा के साथ साथ मिठाई का मसुरा) दिया जाता है उन्नी भाँति काता-समित उपदेश के साथ काव्यमय रसास्वाद की 'अनुभूति' दी जाती है। जब वह आनन्दमग्न होकर प्रियतमा की बात सुनने के लिये आश्रित हो जायेंगे, तब रसास्वाद में लपेट कर—

“आमादिबद्धातिशयम्।”

अर्थात् इतिहास के अच्छे भाग की तरह हमको चढ़ना चाहिये, यह बताने का उपाय है, कि विनकुल मोटी बात है कि यदि काना की उन्नी सुनने ही बालों को घुनी नहीं पायेंगे तब ही

हृदय न झुका तो बेपरवाही ने मसार-धामा चलाने वाले विलासी जीव उसकी उक्ति को कम गुनने लगे ? इसी तरह काव्य मुनते ही प्रिय लगे इसलिए काव्य के ण्व और अर्थ में मधुरता भी साना भव्यत भावन्मक हो जाता है । शर और अर्थ में मधुरता साना उमका अर्थ ही यह है कि ण्व और अर्थ को मधुर बनाना, उनमें अलंकारों को स्थान देना ।

उनमें भी अध्यात्मिकों को बहुत महत्व दिया जाता है । आत्मिकारिक लोग कहते हैं कि "काव्य के गुण (श्रोग, प्रमाद आदि) चाहे हवे विरित न हो, किन्तु काव्य के अधर गगीत की भाँति हमारे कानों को प्रिय लगते हैं तो वह हमारे कानों में धमृत-आ उँडेलते हैं । मुदर मानती की पुणों की माला का गध चाहे हमारे तक न पहुँचा हो, किन्तु उनका गुणल-नातुन दूर गे देगने पर ही हमारी दृष्टि को आरुष्ट कर लेता है ।"^१

वन, काव्य में शब्दालम्बन यही गाम करने है कि मुनने वाली के कानों में ये काव्य के अधर-गगीत की भाँति मधुरता वरगता है जिनमें आरुष्ट होकर ये उग काव्य के उपदेम को मुनने के लिए बडे उल्हाह ने प्रमिभुर हो जाते हैं । आप ही कहिये, ण्व और अर्थ को अलंकारों का प्राप्तन निजना ऊँचा है ?

धरीर में आत्मा गवने उल्लुष्ट और ऊँची चीज है—यह बात ठीक है, किन्तु वह दीगने की चीज नहीं । क्या साधारण और गया उन्नत गुण, मबही दृष्टि में आने वाला होता है धरीर । धरीर के दृष्टि में आने ही यदि मनुष्यों की ध्रदा हो जानी है तो फिर पीरे-पीरे आत्मा तक भी पहुँचने का अवसर होता है, किन्तु यदि धरीर को देगने ही देगने वालों का मनोयोग न हुमा और उमकी जान मुनने को निमे ध्यान ही न दिया तो आत्मा तक पहुँचने का अवसर ही कदा भावेगा ? वन, इगलिये ण्व और अर्थ ही काव्य के धरीर को नोकार्पक बनाना अलंकारों का काम है । इगीलिये अलंकारों का उत्कर्ष कहा जाता है—

"तदतिशयहेतुवस्त्वलंकारः ।"

गुण आदि के द्वारा जो कुछ मुदगता आती है उनका प्रतिगय (पाधियव) दिगाने वाले (जिससे कि वह दृष्टि में पडे) अलंकार ही है । इम विषय में विधेय विस्तार की आवश्यकता नहीं । राजालक ह्य्यक ने 'अलंकारवर्णन' में, भागह-उद्भूट-वामनादि सबके मत संग्रह करके अत में स्पष्ट अक्षरों से उपमहार किया है कि—

"तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मतम् ।"

इम तरह अलंकार ही काव्य में प्रधान है यह प्राचीनों का मत है ।

हाँ, यह जरूर हुआ कि जैसे-जैसे अलंकारों की प्रधानता और काव्यों में उनके प्रति लोगो का आकर्षण बढ़ता गया जैसे-जैसे उनके प्रयोग के संबध में कवियों की ज्यादाती भी बढ़ने लगी । अलंकारों की एकदम अर-मार, स्थान-अस्थान न देगकर उनका प्रधाधुव प्रयोग, अर्थ चाहे विगड जाए, परंतु अलंकारों को ठेठ तक बसीटते जाना इत्यादि बहुत कुछ चल पडा था । यहाँ तक कि आलंकारिकों को उसकी रोक-थाम करनी पडी । 'ध्वन्यालोक' में असग एक प्रकरण है जिस के आरभ का शीर्षक है—

"एषा चास्त्य (अलंकारवर्णन) विनिवेदने सलोता ।"

अर्थात् यह उन अलंकारों के स्थान के विषय में आलोचना मीमासा है । इस शीर्षक ने अलंकारों के प्रयोग के नियम बनाने पडे कि ब्यथ को प्रधान मानकर उसके अनुकूल अलंकार रखने चाहिये, न कि अलंकारों

^१, अविदित गुणाधि सत्कविमणितिः कर्णेषु धमति मधुवाराम् ।

अनविगतपरिमलाधि हि हरति दुःखं मालतीमाला ॥



विबला तत्परत्वेन नागित्वेन कर्षचन ।

काले च ग्रहणत्वानी नाति निर्वहर्णैयिता ॥

को ही प्रधान मान कर। उचित अवसर देखकर ही अलंकार को स्वीकार करें, न कि अवसर-अनवसर सर्वत्र ही। फिर स्वीकार करने पर भी जहाँ अलंकार से अर्थ बिगड़ता हो उसे निःशक्त त्याग दे। यह न करें कि उस अलंकार के पूरे निवृत्ति पर ही कमर कस लें—इत्यादि।

अलंकारों के स्थापन के सवध में ऐसे-ऐसे कई नियम बनाए गए थे जिनके उदाहरण देने से व्यर्थ विस्तार होगा। यह एक अलग नियम का विषय है, किंतु यह सर्वथा सत्य है कि काव्यों में अलंकारों का प्रधान स्थान है। इन अलंकारों के सौंदर्य से आकृष्ट होकर आजकल के उदीयमान साहित्यकार निश्चक छिद्र करते हैं कि “काव्य-चमत्कार के भेद ही अलंकार है,” “भावना को मूर्त-स्वरूप देने का साधन ही अलंकार है”, आदि।^१”

^१, ‘विचार-वैभव’ पृष्ठ ४५ ले० प्रमुनारायण चतुर्वेदी एम. ए.



श्री ब्रजरत्नदास

सप्तहवीं शताब्दि विक्रमीय के अत तक हिंदी में बहुत कुछ साहित्य प्रस्तुत हो चुका था और उसके इतिहास के भक्तिकाल के सूर्य, चंद्र आदि प्रमुख कविगण अपनी रचनाओं से इसके भांडार को सजा चुके थे। हिंदी के उसी स्वर्णयुग में साहित्यकारों, साहित्यप्रेमियों तथा पाठकों को काव्य-कला के ग्रंथों की आवश्यकता ज्ञात हो चुकी थी और इसकी पूर्ति की ओर भी कार्य आरंभ कर दिया गया था। जिस प्रकार व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, उसी प्रकार रीति-ग्रंथों का प्रणयन भी उच्च कोटि के साहित्य-ग्रंथों के निर्माण के वाद ही होता है। हिंदी के सीमांत से उसे उसकी माता संस्कृत का अमूल्य साहित्य-भांडार प्राप्त ही था, जिससे उसके पास इतना अधिक साधन प्रस्तुत था कि उससे वह खूब लाभ उठा सकती थी, पर दैवदुर्विपाक से या अकर्मण्यता से वह उसका उचित उपयोग न कर सकी। हिंदी के आरंभिक कालों के प्रायः सभी सुकविगण संस्कृत के जाता थे और हिंदी में वैसे ग्रंथों के अभाव में भी वे काव्यकला के समर्पण थे। इस कारण इन सुकवियों को यह अभाव नहीं खला, परंतु इसी के अनंतर हिंदी साहित्य-इतिहास का रीति-काल आरंभ होता है, जो विक्रमीय सं० १७०१ से सं० १६०० तक माना जाता है। इस काल में कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः सभी ने काव्य-शास्त्र के एक-एक अंग को लेकर उस पर लिखा है, परंतु देखा जाता है कि उनमें बहुत कम कवि आचार्यत्व के उच्चासन तक पहुँच पाए हैं। अधिकतर कवियों ने अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा कहीं-कहीं आम्रक परिभाषाएँ देकर उनके उदाहरणों को प्रस्तुत करने में अपनी सारी कवित्व-शक्ति दिखलाई है। भलंकार, नायिका-भेद, नखशिख आदि पर बहुत ही रचनाएँ हुई, पर सभी के रचयिताओं की जो कवित्व-शक्ति उनके रचित पदों में प्रस्फुटित हुई वैसी शक्ति विवेचना में नहीं दिखलाई पड़ी। तात्पर्य इतना ही है कि संस्कृत के समान हिंदी में आचार्यवर्ग अलग न हो सका और इसका मुख्य कारण गद्य-साहित्य का अभाव था ? गभीर विवेचना का मुख्य साधन गद्य ही है।

रीति-काल में भाषा का भी नियंत्रण होना चाहिए था, पर वैसा न हो सका। इसके विपरीत यहाँ तक कह दिया गया—

“भाव अनुड़ी चाहिए, भाषा कैसिहु होइ।”

ऐसे विचार का यही फल हुआ कि शब्दों को तोड़-मरोड़कर प्रयोग करने का, त्रज-अवधी आदि भाषाओं के शब्दों का सुविधानुसार मिश्रण करने का तथा व्यवहार से उठे गले-सठे शब्दों को व्यवहार में लाने का जोम कविगण संवरण न कर सकते थे। घनलिप्ता के कारण प्रमुख कविगण तक घनाढ्य-आशयदाताओं को प्रसन्न तथा सतुष्ट करने के लिये असंख्य अनुष्यों के हृदयाचार आराध्यदेव श्रीराधाकृष्ण को साधारण नायिका-नायक रूप में मानकर एवं उनकी लीला का वर्णन कर अपने कलुषित हृदयों का परिचय देते थे और इन्हीं घनोपासनों का सुगम मार्ग बना लेते थे। इसी कारण इस काल में शृंगार रस पर अधिक कविता हुई और यह रस शृंगारिकता के नाम से प्रायः निज सा हो उठा, पर सर्प-मूल में पड़कर दुख के विष हो जाने से दुख विष नहीं हो जाता।

भक्ति-काल ही में काव्यशास्त्र के कुछ अंगों पर रचनाएँ हो चुकी थी। सं० १५३८ वि० में कोई कृपाराम अपनी ‘हितवर्त्तिनी’ में बीठा बहुत रस-निर्णय कर चुके थे। उन्होंने अपने कुछ पूर्ववर्ती कवियों की ऐसी रचनाओं का उल्लेख भी किया है, जो अभी तक अप्राप्य हैं। चार-पाँच दोहों में यह

रचना है जो अत्यंत सुंदर, सरस तथा भावमय है। इसके अनंतर स० १६१६ वि० में 'मोहनलाल मिश्र' ने 'भृगु-संगमर' नामक बड़ा ग्रंथ लिखा, जिसमें नायिका-नेद, भलकार आदि का साधारण विवेचन है। इसकी भाषा भी शिथिल है और कवि-शक्ति भी साधारण है। सनहरी शताब्दि विक्रमीय में ही इन कवियों ने और भी कई रीति-ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें गोप, महाकविराम सुंदरदास ग्वालियरी, हरीराम, देव, निधान आदि की रचनाएँ प्राप्त हैं। इसी शताब्दि में भक्त सुकवि नवदास जी ने 'सप्तमरी' में नायिका-नेद तथा 'विरहमजरी' में 'विप्रलभ भृगु' पर कुछ लिखा है। बलभद्र मिश्र ने 'नवमिष' पर एक छोटी रचना तैयार की और नवाब अब्दुरहीम खाँ खानखाना ने 'वरवै नायिका-नेद' में केवल उदाहरण प्रस्तुत किए। इतना होते हुए भी महाकवि केशवदासजी ही प्रथम आचार्य-कवि हैं, जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है। इनके बाद प्रायः पचास वर्ष तक कोई अच्छा रीति-ग्रंथ नहीं लिखा गया।

केशवदास जी का जन्म स० १६१२ में तथा मृत्यु स० १६७४ में हुई थी। वे शोधन-परीक्षित देव तथा उनके भाई इन्द्रजीतसिंह के आश्रित थे। ये हिंदी के सुकवि तथा संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के विद्वान् थे। इन्होंने हिंदी में काव्य-कला पर अंग्रेजों का न होना खला और इन्होंने इनकी पूर्ति करने का निश्चय किया। रामदह, दही, उझूट आदि प्राचीन भलकार-शास्त्रिकों के ग्रंथों के परिशीलन से इनकी मनोवृत्ति भलकार ही को प्राधान्य देने की ओर झुकी और यह भी रस, रीति आदि सभी को भलकार के अंतर्गत समझने लगे। इन्हीं आचार्यों के ग्रंथों के आधार पर केशवदास जी ने भलकारों पर 'कविप्रिया' तथा रस पर 'रसिकप्रिया' दो ग्रंथ लिखे। इनका एक ग्रंथ 'नवमिष' पर भी है। 'रामचंद्रिका' यद्यपि प्रबंध-काव्य है, पर यह अनेक प्रकार के छंदों के उदाहरणों के समूह-रूप में प्रस्तुत हुआ है। 'रसिकप्रिया' स० १६४८ की रचना है और इसमें रसों पर विशेषतया भृगु पर लिखा गया है। इस कारण नायिका-नेद, हाव-भाव आदि की भी विवेचना सा गई है। कविप्रिया स० १६४८ की रचना है, जिसमें भलकार, गुण-दोष, नवमिष, चित्र-काव्य आदि की विवेचना है। पर अवश्य कहा जा सकता है कि केशवदासजी का निज का विवेचन नाम मात्र को है, सारी भावों संस्कृत-ग्रंथों से ली गई हैं। इनके अन्य ग्रंथ 'रीति' पर नहीं हैं।

चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर उपनाम नीलकंठ ये चारों त्रिकुलीपुत्र-निवासी 'रत्नाकर' निपाटी के पुत्र थे। इनमें प्रथम तीन हिंदी-साहित्य के विधेय व्यातिरस कवि हो गए हैं। चिंतामणि ने स० १७०७ वि० में 'कविकल्पतरु' ग्रंथ लिखा जिसमें गुण, दोष, भलकार, ध्वनि, भाव आदि का विस्तार के साथ विवरण दिया है। पिंपल पर एक ग्रंथ 'छंदविचार' लिखा है। इनके निज 'काव्यविवेक' तथा 'काव्यप्रकाश' भी इनकी रचना कही जाती हैं। खोब में 'सप्तमरी' नाम की भी इनकी एक रचना मिली है। इस प्रकार चिंतामणि जी ने काव्य के सभी अंगों पर निरूपण किया है। इनकी रचना बहुत ही सुंदर साधुभास है। यह आचार्य तथा कवि दोनों ही थे। मृत्यु 'रस' के प्रसिद्ध कवि थे और सौमन्य से इन्हें सिखाजी, साहूजी तथा छपनाल जैसे भावपूर्ण कवि थे। ऐसे देशभक्त वीरों के यशकीर्तन से इनकी कविता सारे भारत में लोकप्रिय हो गई। इनका अन्य ग्रंथ 'शिवराजभूषण' भलकारों पर लिखा गया है। यद्यपि इनकी कविता बड़ी शोचनीय है, पर भी कारोका निरूपण ऐसे प्रसिद्ध कवि के समुच्चय नहीं हुआ है। भलकारों की परिभाषाएँ भी साधारण पाई हैं और भाषा भी अल्पव्यय है। मतिराम भी रीतिकान के प्रमुख कवि हैं। इनके अन्य ग्रंथों में 'सलिनसलाम' रस तथा भलकार पर बहुत अच्छे वन पड़े हैं। इनमें जो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, वे हैं 'रस' और 'भलकार'। इनके रस भलकारादि अच्छी प्रकार समझे जा सकते हैं और इनमें 'रस' के हारण दिए गए हैं उनके रस भलकारादि अच्छी प्रकार समझे जा सकते हैं और इनमें 'रस' के हारण दिए गए हैं। इनके अन्य ग्रंथ 'भृगु' (स० १७१८) 'नायिका-नेद', 'नवमिष' तथा 'रस' पर लिखे उपयोगी हैं। इनके अन्य ग्रंथ 'भृगु' (स० १७१८) 'नायिका-नेद', 'नवमिष' तथा 'रस' पर लिखे उपयोगी हैं। इनके अन्य ग्रंथ 'भृगु' (स० १७१८) 'नायिका-नेद', 'नवमिष' तथा 'रस' पर लिखे उपयोगी हैं।

में अपनी रचना की है, जो सहज स्वाभाविक तथा सरस है। भाषा ही के समान भावों में भी कृत्रिमता का लेश नहीं है और अभिव्यञ्जना सीधी तथा सरल है।

मारवाड-नरेश महाराज यशवतसिंह ने अपनी सारी प्रायः युद्ध-श्रेष्ठ ही में व्यतीत की थी। ये ऐसे प्रतापी थे कि औरंगजेब भी इनका पूरा सम्मान करता था। इनका जन्म स० १६८३ में हुआ था और स० १७३५ में मृत्यु हुई। ये संस्कृत तथा भाषा के अच्छे ज्ञाता और तत्त्वज्ञानी थे। ये साहित्य-मर्मज्ञ तथा सुकवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इनकी कई रचनाएँ हैं, पर इनमें विशेष प्रसिद्ध 'भाषामुषण' नामक अलंकार ग्रंथ है। यह 'चंद्रालोक' की संक्षिप्त प्रणाली पर लिखा गया है, जिसमें दोहे की एक श्रृंखला में 'परिभाषा' तथा दूसरी में 'उदाहरण' दिया गया है। इस ग्रंथ के कारण ये हिंदी-साहित्य के प्रधान प्राचार्यों में गिने जाते हैं और प्राचार्य के रूप में ही इन्होंने इसकी रचना की है।

कुलपति मिश्र महाकवि विहारी के भाँजे कहे जाते हैं। यह संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और जयपुर नरेश मिर्जाराजा जयसिंह के पुत्र 'रामसिंह' के आश्रित थे। स० १७२७ में इन्होंने मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर 'रसरत्नसूत्र' नामक ग्रंथ लिखा है, जिसमें कहीं-कहीं गद्य में कुछ टीका-सी भी कर दी गई है। गद्य-गद्य दोनों की भाषा मिलाप हो गई है और इस कारण विषय-प्रतिपादन स्पष्ट रूप से नहीं हो पाया है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखते हुए भी शास्त्रीय-निरूपण में ये विषेय सफल नहीं हुए। इनके अन्य ग्रंथ 'नखशिख', 'द्रोणपर्व', 'संभ्रामसार' तथा 'युक्तितरंगिणी' हैं। ब्रजभाषा पर इनका पूरा अधिकार स्वाभाविक ही था, क्योंकि यह प्रागरा के निवासी थे।

मुखदेव मिश्र कपिला निवासी थे और काशी में भी विद्याध्ययन के लिये बहुत दिन रहे। इन्होंने सात-आठ राजा-बाहुओं का क्रमशः आश्रय लिया और प्रायः इतनी ही रचनाएँ तैयार भी की। इनमें 'वृत्त-विचार', 'छंद-विचार', 'रसार्णव' आदि रीति-ग्रंथ हैं, जिनमें दो का रचनाकाल स० १७२८ तथा स० १७३३ दिया हुआ है। प्रथम दो में पिंगल का अच्छा वर्णन है और उदाहरण भी बहुत अच्छे मकित-रस से भरे दिए गए हैं। 'रसार्णव' में 'नवरस' का सुंदर वर्णन है तथा नायिका-भेद भी वर्णित है। 'फालिगुह्य-प्रकाश' में गणगण तथा रस-भेद वर्णित है। इनमें प्राचार्यत्व तथा कवित्व दोनों ही समान थे और ये साधु प्रकृति के पुरुष थे।

महाकवि 'कालिदास' त्रिवेदी कान्यकुब्ज के निवासी थे। इनके पुत्र 'कवींद्र' तथा पौत्र 'दूधसू' भी सुकवि हो गये हैं। स० १७५६ वि० में इन्होंने 'वारवधू-विनोद' लिखा जिसमें नायिका-भेद का अच्छा वर्णन है। ये शाहजहाँ बादशाह के आश्रित कहे जाते हैं। इन्होंने गोलकुंडा पर औरंगजेब की चढ़ाई का भोगपूर्ण वर्णन किया है। 'जजीराबद' बत्तीस कवित्तों का एक छोटा काव्य है तथा इनके स्फुट पद भी मिलते हैं। इनका एक संग्रह-ग्रंथ 'कालिदास-ह्वारा' भी प्रसिद्ध है, जिसमें २१२ कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। ये सिद्धहस्त निपुण कवि थे।

सुप्रसिद्ध महाकवि 'देव' सनाढ्य ब्राह्मण थे, पर कुछ लोग इन्हे दुसरिहा कान्यकुब्ज मानते हैं। इनका जन्म स० १७३० और मृत्यु स० १७८५ है। सोलह वर्ष की अवस्था ही से ये कविता करने लगे। उदार आश्रयदाताओं की शोख में ये बहुत धूने और बहुताई के लिये इन्होंने बहुत से ग्रंथ रच डाले। कहा जाता है कि इन्होंने वादन या वहतर ग्रंथ लिखे थे, पर नाम केवल छत्तीस के मिलते हैं। इनमें से भी सब प्रकाशित नहीं हुए हैं। देव जी अपने पूर्व-निर्मित ग्रंथों से कुछ पद लेकर तथा कुछ नये बनाकर अपने नये आश्रयदाता के लिए एक ग्रंथ तैयार कर लेते थे। यद्यपि यह बड़े प्रतिभा-शाली कवि थे, पर इनका प्राचार्यत्व समयानुसार ही रहा और यह भी उचित, मंजीर तथा निश्चय विवेचन एवं व्याख्या नहीं कर पाए। इनकी कविता बहुत उत्कृष्ट है, पर वह लोकप्रिय नहीं हो सकी। इनका काव्यश्रेष्ठ सौंदर्योपासना ही के भीतर रहा, पर लौकिक प्रेम भाव होने के कारण विरोध ऊँच नहीं उठ सके। भाषा पर पूरा अधिकार होते हुए भी भरती के तथा तोड़े-भरोड़े शब्दों की कमी नहीं है। 'भावविलास', 'भवानीविलास', 'सुजातविनोद', 'सुखसागर-तरंग', 'काव्यरसायन' आदि इनके अच्छे रीति-ग्रंथ हैं।

सुरति मिश्र आगरा-निवासी काव्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये सुकवि तथा साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनकी विद्वत्ता इनकी लिखी 'विद्यारी-सतसई', 'रसिकप्रिया' आदि की टीकाओं से प्रकट होती है। इन्होंने स० १७६८ में अलकाश्री पर दोहों में 'अलका-रत्ना' लिखी और एक-एक दोहे में परिभाषा तथा उदाहरण दोनों दे दिये हैं। नायिका-भेद तथा रसों पर—'सरत्नमाला' 'सरसरस', 'सरत्नाकर' आदि लिखे। 'काव्यसिद्धांत', 'नलशिक्ष' आदि भी इनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं। इनके सिवा कृष्णचरित्र आदि भी इनके अन्य ग्रन्थ हैं। इनमें कवित्व तथा प्राचार्यत्व दोनों ही प्रायः समान हैं।

श्रीपतिजी काव्यकुब्ज ब्राह्मण तथा कालपी के रहने वाले थे। भाषा-साहित्य के भाषाओं में वह समान्य है। इनमें कवित्वशक्ति अच्छी थी और इनकी कविता दोष-रहित तथा सरल हुई है। इन्होंने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है और अच्छा लिखा है। इनका 'काव्यसरोज' स० १७७७ 'वि० की रचना है, जिसमें इनके रचित 'काव्यकल्पद्रुम' का उल्लेख है। अतः यह इसके पहिले की रचना है। खोज तथा मिश्रवधुविनोद में—'विनोदाय काव्यसरोजो धर्मदोष-निरूपण' को लेकर एक नया ग्रन्थ मान लिया गया है, पर यह अशुद्ध है। एक ही ग्रन्थ का पूर्वांश एक ग्रन्थ तथा उत्तरांश दूसरा ग्रन्थ समझ लिया गया है। खोज में दिये गए उद्धरण को देखा जाता तो यह अशुद्धि न होती। इसी प्रकार 'अनुप्रास' रचना अश्वेजीमें लिखे जाने के कारण 'अनुप्रास' हो गई। यह भी स्वतंत्र ग्रन्थ है या किसी का अंश मान है, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। इनके सिवा विनोद में 'अलकाश्री', 'विक्रमनिवात' आदि इनके ग्रन्थ कहे गये हैं। श्रीपति जी ने भाषाओं के समान विवेचन करने में विशेष प्रयत्न किया है और बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। 'काव्यसरोज' इनका प्रौढ़ ग्रन्थ है। मिश्रारीदासजी ने अपने ग्रन्थों में इनकी रचनाओं से विशेष सहृदयता ली है।

मिश्रारीदास 'दास' श्रीवास्तव काव्यस्थ प्रतापगढ़ के अंतर्गत टटोला के निवासी थे। इन्होंने आठवीं ग्रन्थ लिखे हैं। 'रस सारण' स० १७६१ की रचना है, जिसमें प्रधानतः शृंगाररस का तथा अन्य रसों का वर्णन है। 'छंदोर्णव' या 'छंदार्णव' (स० १७६६), 'काव्यनिर्णय' (स० १८०३) तथा 'शृंगारनिर्णय' (स० १८०७) आदि इनके तीन मुख्य रीति-ग्रन्थ हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं। ये तीनों विषय ग्रन्थ हैं और इनमें क्रमशः पिगल तथा काव्य के विविध अंगों का विवेचनापूर्ण वर्णन किया गया है। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था तथा ये सरल आठवर्हीन भाषा के पक्षपाती थे। यद्यपि यह भी अपने समय के अनुकूल प्राचार्यत्व को कवित्व से अलग न रख सके, पर तब भी कह सकते हैं कि इनमें प्रथम के गुण विशेष हैं। दासजी के रीति-ग्रन्थ आज भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। विनोद में इनके रचे अन्य कई ग्रन्थों का उल्लेख है, पर वे रीति-ग्रन्थ नहीं हैं।

सोमनाथ माधुर ब्राह्मण तथा जयपुर के निवासी थे। इन्होंने स० १७६४ वि० में 'रसमीमृपति' नामक एक बड़ा ग्रन्थ तैयार किया, जिसमें काव्यकला के प्रायः सभी अंगों का अच्छा विवेचन किया है। पिगल, पदार्थनिर्णय, ध्वनि, रस, अलंकार आदि सभी की बड़ी सरल सुगम रीति से समझाया है। ये भावुक तथा सहृदय कवि भी थे और ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। सरल मधुर भाषा में दोष-रहित कविता करते थे और ये उन इने-गिने सुकवियों में से हैं, जो भाषा में कहे जाते हैं। उनका ग्रन्थ के सिवा इन्होंने कई अन्य काव्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं तथा रामायण के कई काव्य का पद्यमय अनुवाद किया है। रघुनाथ काशिराज बलवत्सिंह के आश्रित तथा उनके दरबार के राजकवि थे। इन्होंने स० १७६६ वि० में अलकाश्री पर 'रसिकमोह' स० १८०२ वि० में, नाय, रस तथा नायिका-भेद पर 'काव्य-कलाधर' और स० १८०७ वि० में 'अष्टयाम', अर्थात् वृद्धि की दिनचर्या वर्णन करते हुए अनेक विषयों पर 'जगतमोहन' लिखा है। राजनीति, न्याय, ज्योतिष आदि के साथ-साथ रत्न, सेना, धन आदि का भी अच्छा वर्णन किया है। 'इक्ष्मणोत्सव' में खड़ी बोली हिंदी का उद्गम अधिक है। ये सुकवि थे और काव्य-कला विषय को समझने का इन्होंने अच्छा प्रयास किया है। इनके पुत्र 'गोकुलनाथ', पौत्र 'धोषीनाथ' तथा शिष्य 'अण्णिवे' भी सुकवि हो गए हैं।

कालिदास त्रिवेदी के पुत्र 'उदयनाथ कवीन्द्र' सहृदय कवि हो गए हैं, जिन्होंने स० १८०४ वि० में 'शृंगार' पर 'रसचंद्रोदय' ग्रंथ लिखा। कवीन्द्र के नाम से स० १७६६ वि० में रचित एक ग्रंथ 'रसदीप' या 'रसदीपाक्ष' खोज में और मिला है, जो इन्हीं का हो सकता है। इनके पुत्र 'द्वलहराय' का 'कविकुल-कठामरण' प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह चन्द्रालोक के अनुसार अलंकारों पर लिखा गया है और छोटा होते हुए भी साधुयें, प्रौढता आदि के कारण लोकप्रिय है। कविता, सर्वथा आदि बड़े छंदों के कारण परिभाषा तथा उदाहरण दोनों के पूर्ण विवरण देनेका अच्छा अवकाश मिला है। इनके स्फुट छंद भी थोड़े से मिलते हैं।

वैनी प्रवीण लखनऊ निवासी बाजपेयी ब्राह्मण थे। इन्होंने 'नवरसतरंग' स० १८७४ में प्रस्तुत किया और इसके पहिले 'शृंगार-भूषण' लिख चुके थे। इनके अनंतर 'नानाराज-अकाश' के नाम से एक विशद अलंकार-ग्रंथ बनाया। प्रथम दोनों ग्रंथ नायिका-भेद, रस, भाव आदि पर लिखे गए हैं। अन्य स्फुट पद भी मिलते हैं। कविता में सरसता तथा साधुयें हैं और इस कारण ये रीतिकाल के सुकवियों में माने जाते हैं। इनकी भाषा सयत तथा प्रवाहपूर्ण है।

पद्माकर भट्ट वौदा के तैलंग ब्राह्मण 'मोहन भट्ट' के पुत्र थे, जो स्वयं विद्वान् तथा सुकवि थे। इन्होंने नागपुर, पद्मा, जयपुर आदि कई राज्यों में सम्मान तथा जामीन पाई थी। पद्माकर का जन्म स० १८१० में तथा मृत्यु स० १८६० में हुई थी। इन्होंने भी कई मराठा तथा राजपूत राज्यों में आश्रय प्राप्त किया था। इनकी रचनाओं में 'जगदिनोद' स० १८६७ में तैयार हुआ, जिसमें भाव, रस आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनकी यह रचना विशद होते हुए भी बहुत अच्छी बन पड़ी है और बहुत प्रसिद्ध है। इसी समयके लगभग इन्होंने अलंकारों पर 'प्रथामरण' ग्रंथ लिखा, जो दोहों में है। प्रथम ग्रंथ 'शृंगार रस पर' है। दोनों ही ग्रंथ इतने अच्छे बन पड़े हैं कि काव्यरसिकों के कठहार हो गये हैं। भाषा पर इनका-सा अधिकार कम कवियोंमें मिलता है। इनकी जैसी मधुर स्वाभाविक कल्पना है वैसी ही मूर्ति विचित्रिणी शक्ति भी है। कहीं सरल प्रवाह है, कहीं दर्पपूर्ण ओज है तो कहीं गभीर स्थिरता भी है। भाषा की ऐसी अनेकरूपता विरले ही कवियों में मिलती है।

चरखारी-नरेश विक्रमशाहि के आश्रित कवि 'प्रतापसाहि' ने आठ-नौ ग्रंथ रीति पर लिखे हैं, जिनमें कई प्रसिद्ध हैं। इन्होंने स० १८८२ में 'व्यंग्यार्थकीमुदी' शब्दशक्ति पर लिखी। स० १८८६ में 'युगल नलखिला' तथा 'काव्यविलास' दो ग्रंथ लिखे। इसके अनंतर स० १८३२ में 'शृंगारमञ्जरी', स० १८३७ में 'शृंगारशिरोमणि' तथा 'अलंकार-चिन्तामणि' और स० १८३६ में 'काव्यजिनोद' प्रस्तुत किए। इन्होंने काव्य के प्राय सभी अंगों पर लिखा है और सफल कवि होते हुए भी इनमें आचार्यत्व की मात्रा कम नहीं थी। रीतिकाल के यह प्राय अंतिम प्रसिद्ध कवि हुए हैं। भाषा इनकी कहीं शिथिल नहीं होने पाई है। इन्होंने और भी कई ग्रंथ लिखे हैं।

वा० देवकीनन्दन के आश्रित असनी के 'ठाकुर' कवि के पुत्र 'सेवक' भी इसी वंश के आश्रित थे। इन्होंने 'नलखिला' नामक नायिका-भेद का एक बड़ा ग्रंथ बनाया है और वररत्न छंद में 'नलखिला' नामक एक छोटा ग्रंथ भी लिखा है। इनका जन्म स० १८७२ में और मृत्यु स० १९३६ में हुई थी। इनके सर्वत्र आकर्षक तथा मनोहर हैं। पद्य में 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद भी किया था, ऐसा सुना जाता है।

भारतेन्दु वा० हरिवंश के पिता वा० गोपालचन्द्र 'गिरिवरदास' का जन्म स० १८६० में और मृत्यु स० १९१७ में हुई थी। इसी छोटी अवस्था में इन्होंने बालीस ग्रंथ रचे थे। इनका 'भारतीभूषण' अलंकारों पर विशद ग्रंथ है, जिसमें ३७८ दोहे हैं। इन्होंने एक दोहे में लक्षण तथा एक में उदाहरण दिये हैं। शब्द, भाव आदि पर 'सरस्लाकर' ग्रंथ लिखा है, जो अपूर्ण है। ग्रीष्म-वर्णन पर भी एक पुस्तक लिखी है। इन्हें यमक, अनुप्रास बहुत प्रिय थे और क्लृप्त काव्य करने के पक्षपाती थे।

ललितपुर-निवासी हरिजन के पुत्र 'सरदार' कवि काशीराज 'ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह' के आश्रित थे। ये साहित्य के अच्छे भर्मा तथा सुकवि थे। इन्होंने कैजबदास जी की 'कविप्रिया' नया

‘रसिकप्रिया’ पर विशद टीकाएँ लिखी हैं। इनके सिवा ‘साहित्य-सुधाकर’ तथा ‘व्यंग्य-विलास’ की रचना की है। ऋतुग्रो पर ‘ऋतुविलास’ ग्रन्थ लिखा है। इनके अन्य काव्य-ग्रन्थ बड़े मनोहर हैं तथा टीकाएँ विद्वत्तापूर्ण हैं। इन्होंने साहित्यिक विवेचन प्राचीन ढंग पर अच्छा किया है।

सं० १६२८ की लिखी हुई ‘वसन्तजुगन्ति-रस-कौमुदी’ नामक एक विशद ग्रन्थ की प्रति मिली है, जो श्री चैतन्य संप्रदाय के गोस्वामी श्री कृष्ण चैतन्य उपनाम ‘निज’ ने तैयार की थी। इसमें काव्य-कला के सभी ग्रन्थों का विस्तृत वर्णन ब्रजभाषा-भाषा में दिया है और उदाहरण भी कुछ ‘निज’ कवि ने स्वरचित दिए हैं, पर अधिकतर पूर्ववर्ती कवियों के चुनकर दिए गए हैं। यह सोलह कलाग्रो में विभक्त है और क्रमशः भाव, नवरस, नायिकाभेद, षट्श्रुतु तथा भलकारों का एक-एक दो-दो कलाग्रो में विवरण है। भारतेंदु जी-द्वारा प्रकाशित केवल एक ‘प्रथम कला’ देखने में आई है, पर ज्ञात होता है कि बार कलाएँ प्रकाशित हुई थीं। भारतेंदु जी ने इन गोस्वामी जी से काव्य-कला का कुछ अध्ययन किया था। यह ग्रन्थ अत्यंत सुंदर सारसमिश्र है और एक विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ तथा सुकवि के भाषावसाय के अनुकूल है।

यहाँ तक हिंदी-साहित्य-विज्ञान में प्राचीन-काल की रीति-मरंपरा प्रायः समाप्त हो जाती है और वर्तमान काल आरम्भ होता है। जितने रीतिकारों का ऊपर उल्लेख दिया गया है वे उस काल के प्रायः प्रमुख कवि तथा काव्य-कला के एक-एक ग्रन्थ को लेकर रचनाएँ तैयार की हैं। वर्तमान काल के आरम्भ में श्री ‘चाला भगवानदीन’ ने ‘भलकार-मञ्जूषा’ तथा ‘व्यंग्य-मञ्जूषा’ और वा० जगन्नाथप्रसाद ‘मान’ ने ‘छन्द-प्रभाकर’ तथा ‘काव्य-प्रभाकर’ लिखे, पर ये सब भी प्राचीन परिपाटी पर लिखे गए हैं, परन्तु अब समय गद्य का है और इस प्रकार के ग्रन्थ विशेष रूप से गद्य ही में लिखे जाने चाहिए। साथ ही संस्कृत के इस प्रकार के ग्रन्थों के अच्छे अनुवाद हिंदी में अपेक्षित हैं, कुछ के हो भी चुके हैं। प्राचीन भाषाओं में इन्हीं के ‘क्राव्यादर्श’ का अनुवाद मूल सहित प्रकाशित हो चुका है। बाद के आचार्यों में जयदेव के चंद्रालोक के, विश्वनाथ के ‘साहित्यदर्पण’ तथा कितराब जगन्नाथ के ‘रसगंगाधर’ के अनुवाद निकल चुके हैं।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का ‘काव्यकल्पद्रुम’ विशद ग्रन्थ है और गद्य में इसमें जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे बहुत भाण्डी बन पड़ी हैं। विवेचन के साथ समझाने का प्रयास सुलभ है। अब यह ग्रन्थ ‘रसमञ्जरी’ तथा ‘भलकारमञ्जरी’ नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

✓ १ ब्रजभाषा के अंतिम रीतिकालिक प्रसिद्ध कवि ‘श्री ग्वाल’ जी का इस लेख में कोई उल्लेख नहीं हुआ है। कविचर ग्वालजी ने-रस और भलकार पर काफी लिखा है। आपका भलकार-ग्रन्थ ‘भलकार-अमरंजन’ और रसग्रन्थ-‘रसिकानन्द’ बहुत सुंदर हैं। यही नहीं आपने अपने-से पहले के कवियों के काव्यों की भूलों का, उनकी साहित्यिक त्रुटियों का बड़े सुंदर, सरल और विशद ढंग से निराकरण करते हुए एक बृहद् ग्रन्थ—‘वृषभवर्णन’ की भी रचना की है। यह ग्रन्थ बड़ा विशद और तत्कालीन भाषाज्ञान-ज्ञान का जगन्माता सूर्य है, जो दीमक-राट्ट से प्रलित होते हुए भी जने-सुबे रूप में अपनी प्रभा से ब्रजभाषा के साहित्याकाश को प्रकाशित कर रहा है।

हिंदी के प्राचीन आलंकारिक आचार्य

श्री रामदहिन मिश्र

पहले वे ही आचार्य कहलाते थे, जो ऐसे नियमों का निर्धारण करते थे, जिन पर चलने से जन-समाज का जीवन-पथ प्रशस्त होता था। चाहे वे धर्माचार्य हो चाहे शास्त्राचार्य। वे आचार्य अपने निर्माण का कार्य अपने मस जो देखते थे उसीके अनुसार करते थे। वह ऐसा सकलित होता था कि उस से मस नहीं होने देता था। जिन आचार्यों में लोक-शास्त्र के निरीक्षण और परीक्षण की जितनी सामिकता होती थी समाज उनका उतना ही अनुगमन करता था। ये नये-नये सिद्धांतों की स्थापना भी करते थे। हमारे संस्कृत के आलंकारिक आचार्य ऐसे ही हुए।

संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों की परंपरा बड़ी लंबी है। महामुनि भरत के नाट्य-शास्त्र में ४, अग्निपुराण में १६, दंडी, उद्भट और वामन के समय तक वह संख्या ५२ हो गयी। फिर खट्ट, भोज, मम्मट और स्यक्त तक अलंकारों की संख्या १०३ हो गयी। तत्पश्चात् जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ तक अर्थात् १८ वीं शताब्दी तक अलंकारों की संख्या १६१ तक पहुँच जाती है। इनमें ऐसे अनेकों अलंकार हैं जो चमत्कार-शून्य हैं और कुछ में कुछ का अतर्भाव हो जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समाप्त होते-होते हिंदी-काव्य प्रौढता को प्राप्त हो चुका था। भाषा परिमाणित, परिष्कृत और सुसंस्कृत हो चुकी थी। उसमें विचारों की प्रौढता, गंभीरता तथा स्थिरता का समावेश हो चुका था। साथ ही ललित कलाएँ भी उसमें खुलकर लिलने लगी थी। कला की विदग्धता अपना वैभव खिलाने लगी थी। सरसता तथा मधुरता सहृदयों को सरस और मृग्य बनाने लगी थी। संक्षेप में यह कि काव्य अपने कला-विकास तथा सौंदर्य से परिपूर्ण हो गये थे।

जब लघु स्वरूप बहुत से काव्य-ग्रंथों का निर्माण हो चुका तो बहुत से कवियों ने उनको शास्त्रीय-दृष्टि से परखना प्रारंभ किया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उन्हें नियमबद्ध बनाने की प्रबल प्रेरणा अनुभूत हुई। इतिहास से पता चलता है कि अकबर के दरबारी 'नरहर' कवि के साथी 'करनेश' कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण' नामक ग्रंथ लिखे। आभरण और भूषण शब्द इनके अलंकार प्रथ होने की सूचना देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनका मूल संस्कृत के अलंकार प्रथ है, जिनका गठार उस समय तक मरपूर हो गया था।

संस्कृत में दो प्रकार के आलंकारिक आचार्य हुए। एक तो वे जिन्होंने काव्यागों में केवल अलंकारों को ही अपनाया और उसकी विवेचना करके मेढोपमेद किए। ऐसे प्राचीन आचार्यों में 'काव्यालंकार' के कर्ता आमह, 'काव्यादर्श' के प्रणेता दंडी और 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' के रचयिता उद्भट प्रधान हैं। 'काव्यालंकार सूत्र' के कर्ता वामन और 'काव्यालंकार' के प्रणेता खट्ट अलंकार ही के पोषक और समर्थक थे। काव्यादर्श को छोड़ कर आचार्यों के अपने ग्रंथों का नामकरण ही काव्य में अलंकारों की प्रधानता को जीतित करते हैं। इनमें काव्यागों का प्रतिपादन भी है, पर इनकी मुख्यता नहीं है।

दूसरे आलंकारिक आचार्य वे हैं जिन्होंने पाठ्य-पूर्ण मार्मिक विवेचन से साहित्य-शास्त्र को समुन्नत और सर्वांगपूर्ण बनाया। इनमें 'काव्यप्रकाशकार' मम्मट, 'ज्वन्यालोक' रचयिता आनंदवर्द्धन, 'साहित्य-दर्पणकार' विश्वनाथ भाषि हैं।

इसी प्रकार हिंदी के आचार्यों में भी दो दल विल पडते हैं। पहले में आचार्य केशव, जसवतसिंह, भूषण आदि आते हैं और दूसरे में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने अलंकार के अतिरिक्त अन्यान्य काव्यागों को भी

अपनाया। इनमें चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, भिखारीदास आदि हैं। मतिराम, देव और पद्माकर ने काव्यालो मे से रस को लिया,—पर उसमें नायिका-भेद ने प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया।

संस्कृत के कुछ आचार्यों और हिंदी के आचार्यों में दो-एक बातें ध्यान देने योग्य हैं। संस्कृत के आल-कारिक आचार्य बड़े ही उद्भट विद्वान् थे। उन्होंने न्याय-शास्त्रो के ज्ञाता होने के कारण अपने साहित्य-शास्त्र में उन विषयों की अवतारणा बड़ी योग्यता से की है। उनके साहित्य-शास्त्र में सर्वत्र दर्शन-शास्त्र की झलक पाई जाती है। उन्होंने काव्यार्थ-विचारने को अनेक दर्शन-शास्त्रों को अपना लिया है। अर्थ-निर्भर होने के कारण उनके अलंकारों ने अत्यंत सकीर्णता और सूक्ष्मता को प्राप्त कर लिया है। हिंदी के आचार्य ऐसे प्रवाह विद्वान् नहीं थे। इससे उनके ग्रंथों में मौलिकता और विवेक का अभाव बड़ा ही खलता है। दूसरी बात यह कि संस्कृत के आचार्य अपने अथर्व पाठित्य से सूक्ष्माशिक्या तात्त्विक विवेचन से 'अलंकार-संप्रदाय', 'रस-संप्रदाय', 'वक्रोक्ति-संप्रदाय' जैसे अपने-अपने सैद्धांतिक संप्रदाय स्थापित करने में समर्थ हुए, हिंदी के आचार्य जैसे अपना कोई संप्रदाय स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए। इसीसे हिंदी के आलंकारिक आचार्यों के अलंकार ग्रंथों में न तो कहीं मौलिकता का आभास है और न स्वतंत्र सत्ता का अस्तित्व ही प्राप्त होता है। इसीसे उनके ग्रंथों में न तो परिपूर्णता है और न संप्रदाय-विशेष की स्थापना का आशय।

एक बात और, संस्कृत-साहित्य में आचार्यों की श्रेणी पृथक् की और कवियों की पृथक्। यद्यपि अनेकों आचार्यों काव्य-शक्ति-संपन्न थे, तथापि उनकी प्रतिभा का विकास आचार्यत्व के पोषण में ही था। पंडितराव ही ऐसे थे, जिन्होंने साहकार कहा था कि अनुरूप उदाहरण बनाकर मैंने यह काव्य बनाया है। इसमें दूसरे का कुछ भी नहीं है। जो कस्तूरी के उत्पादन की समर्थ रखता है वह क्या फूलों की सुगंध को भी सूंघ सकता है? अस्तु, उनकी प्रतिभा का प्रखर प्रवाह कवित्व और आचार्यत्व के दोनों कूलों को प्लावित करता है। उन्होंने लक्ष्मण और लक्ष्मी दोनों की रचना में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। एक-दो और भी ऐसे आचार्य हुए। इसी प्रणाली को हिंदी के आचार्यों ने अपना लिया, पर वे दोनों विषयों में सफल न हुए। इन आचार्यों में वैसी कवित्व-शक्ति भी वैसी आचार्यत्व के अनुरूप सूक्ष्म-निरीक्षण और परीक्षण की शक्ति नहीं थी। इसीसे इनके द्वारा काव्यालो का सामिक विवेचन न हो सका।

हिंदी के आचार्यमाण कवियों के लिये नायिका-भेद और अलंकार को छोड़ कर अन्य काव्यांग अवचिकर प्रतीत हुए जिससे उनके वर्णन और विवेचन की ओर जिनकी आंखें नहीं गयीं, वैसे ही वे प्रवाह विद्वान् न हो पर वे भावुक, सहृदय और प्रतिभाशाली अवश्य थे। उन्होंने उदाहरणों के रूप में स्फुट काव्यों की जो धारा बहायी वह आज भी सहृदयों को आमज्जन-निमज्जन कराती हुई अनिवर्तनीय आनंद प्रदान करती है और करती रहेगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिका-भेद को उदाहरणों में ऐसे पक्षों की बहुलता देख पड़ती है। हिंदी के आचार्यों ने आचार्यत्व के अनुरूप भले ही अपना कौशल न दिखाया हो, किंतु उचित विशेषता में संस्कृत के आचार्यों से वे न्यून नहीं कहे जा सकते।

इस प्रणाली के अपनाने से भले ही और जो कुछ हुआ हो, पर एक नुकसान ऐसा हुआ जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। संस्कृत के आचार्यों ने अपने ग्रंथों में प्रतिपाद्य विषयों के भिन्न-भिन्न कवियों के ग्रंथों से जो उदाहरण दिये हैं, वे ही आज उन कवियों को सुप्त होने से बचाये हुए हैं। उनके ग्रंथ भले ही चुल हो गए हों, पर वे सूक्ति-रूप हमारे स्मरणातीत नहीं हुए। उन उदाहरणों के आधार पर ही आज उनके समय का निर्धारण हो रहा है और वे हमारे इतिहास की पूर्णता में सहायक हो रहे हैं। उन उदाहरणों पर अनुसन्धान कार्य चल रहा है और इसी के फलस्वरूप अनेक ग्रंथों का उद्धार भी हो रहा है। यही नहीं, उनके तात्कालिक साहित्य की गति-विधि का भी पता लगता है। यदि हिंदी के ये आचार्य अपने ग्रंथों में स्वनिर्मित उदाहरण न देकर तात्कालिक कवियों

१. निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपं कार्यमयात्र निहितं न परस्य किंचित् ।

किं सेव्यते सुमनसांमनसापिर्गणः कस्तूरिकाजवनशक्तिभूताभूषणः ॥

—रसगंगाधर

के उदाहरण देते तो उक्त सभी उद्देश्य सिद्ध होते। अच्छा होता कि ये कवि आचार्यत्व का मोह छोड़कर 'सुदामाचरित्र' जैसा छोटा-मोटा काव्य ही लिखते या 'घनानंद' जैसी स्फुट रचना ही करते। अपनी कविता के लिये शास्त्रीय विषयों को नहीं अपनाते। यह नहीं कि इन्होंने ऐसे प्रबंध-काव्य नहीं लिखे। ऐसे आचार्यों में से 'केशव', 'भतिराम', 'भूपण', 'देव' और 'पद्माकर' मुख्य हैं। संस्कृत के प्रायः सभी आचार्यों ने एक ही पुस्तक में सभी काव्यों का वर्णन किया है, पर उक्त पाँचों आचार्यों में से केशव ने 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया', 'भतिराम' ने 'रसराज' और 'ललित-ललाम' तथा पद्माकर ने 'जगद्धिनोद' और 'पद्माभरण' नामक रस और अलंकार के सबंध में भिन्न-भिन्न ग्रंथ लिखे। देव ने अपने 'काव्य-रसायन' नामक ग्रंथ में सभी काव्यांगों का वर्णन किया है, फिर भी उन्हें इससे सतोप नहीं हुआ तो 'भाव-विलास' नामक रस-ग्रंथ लिखा, जिसमें नायिका-भेद ने प्रधानता ग्रहण कर ली। ऐसे तो कहने को उसमें अलंकारों का भी उल्लेख हो गया है। भूपण ने 'शिवराज-भूषण' में केवल अलंकारों का ही वर्णन किया है। यद्यपि इनमें से पद्माकर और देव का मुकाबला रस के प्रति विशेष दीख पड़ता है, क्योंकि पृथक् रूप से 'भाव-विलास' की रचना तथा जगद्धिनोद की विशेषता इसके साथ भी है, तथापि इनके अलंकार-ग्रंथों की रचना इन्होंने आलंकारिक होने की धोपणा करती है।

आचार्य केशव

यह कहना अनावश्यक है कि हिंदी के आचार्यों ने संस्कृत-अलंकार-शास्त्र के आधार पर ही अपने अलौकिक ग्रंथ रचे हैं, क्योंकि इनके कार्यकाल पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि उस समय तक पंडितराज के 'रस-गंगाधर' तक की रचना हो चुकी थी। इन आचार्यों ने 'चंद्रालोक' जैसे सहज ग्रंथों को ही अपनाया, गंभीर विचार वाले ग्रंथों को नहीं। केशव ने अपनी अलंकार रचना के लिये केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' और अमरचंद्र की 'काव्यकल्पलता वृत्ति' को अपना आधार बनाया।

कविवर केशव के आधारभूत 'काव्यकल्पलता वृत्ति' का दूसरा नाम 'कविसिद्धावृत्ति' भी है। इस नाम से यह ज्ञात होता है कि यह 'काव्यकल्पलता' की वृत्ति, अर्थात् टीका है। इसका रचना-काल १३ वीं शताब्दी माना गया है। इसके पहले मूल पुस्तक की रचना हुई होगी। अलंकारशेखर के ५१ वें पृष्ठ में कविकल्पलताकार का जो उद्धरण है, समझें, उसी की यह वृत्ति हो, क्योंकि देवेश्वर वा देवेंद्र द्वारा रचित 'कविकल्पलता' में वह अंश नहीं मिलता, जिससे समय निर्देश नहीं किया जा सकता। हो सकता है वृत्ति के पूर्व कोई 'काव्यकल्पलता' नाम की पुस्तक रही हो, क्योंकि ६ वीं शताब्दी की 'काव्यमीमांसा' से यह प्रकट है कि ऐसे कवि-शिक्षा-विषयक ग्रंथों की रचना होती आ रही है। यह भी समझें कि मूल पुस्तक का ही यह नाम हो, क्योंकि इसकी रचना टीका-ग्रंथ की भी नहीं है।

'काव्यकल्पलतावृत्ति' के प्रथम प्रतान के पंचम स्तवक में और 'काव्यकल्पलता' के प्रथम स्तवक के तृतीय कुमुद में एक ही प्रकार का श्लोक है^१। उक्त श्लोक अलंकारशेखर में नहीं है। यह कहना कठिन है कि 'काव्यकल्पलतावृत्ति' पर से या 'काव्यकल्पलता' पर से 'अलंकार शेखर' बना है, किंतु यह स्पष्ट है कि अलंकार शेखर में उनकी अपेक्षा नूतनता है। काव्यकल्पलता और अलंकार शेखर में राजवर्णन का जो श्लोक है वह एक ही सा है^२। आगे के राजवर्णन के श्लोक भी प्रायः एक ही भाव के हैं, पर एक से नहीं हैं। केशव का यह दोहा उक्त श्लोक के ढंग पर चला है—

“प्रजा प्रतिष्ठा पन्थपन, परम प्रताप प्रतिष्ठ।

सासन नासन सत्रु के, धल-विवेक की बुद्धि ॥”

—कविप्रिया

^१ अथ वर्णानि कथ्यते तानि यानि कवीश्वरैः ।

महाकाव्यभ्रं त्रिषु प्रबंधेषु यद्यपि ॥

^२ नृपक्रीति प्रतापाना दुष्टदान्तिविवेकनाः ।

धर्मप्रयाणसंश्रम मन्त्राभ्यासनयसमाः ॥

यह नि सदेह कहा जा सकता है कि केशव ने अन्यान्य विषयों में काव्यकल्पलतावृत्ति तथा अलंकारखेचर से एव अलंकारों के विषय में काव्यदर्शन से सहायता ली।

हिंदी के आचार्यों ने अलंकार को क्या समझा और अलंकार के सब में उनका क्या भावार्थ रहा आदि विषयों का कहीं भी स्पष्ट विवेचन नहीं है। एक-दो आचार्यों ने अलंकार की परिभाषाएँ दी हैं, किन्तु उनमें अलंकार क्या है, इसका बोध होना बड़ा ही कठिन है। संस्कृत के आचार्यों ने अलंकार की जो परिभाषाएँ दी हैं उनमें मुख्य ये हैं। शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाला सामन अलंकार है^१। इसका उद्देश्य है सौंदर्य-संपादन,^२ जैसा कि इसका शब्दार्थ है। शब्द और अर्थ दोनों के शोभाधायक धर्म अलंकार है^३। काव्य के जायात्मक होने से अलंकार भी दो भागों में विभक्त है। शब्दालंकार और अर्थालंकार। अलंकार के उक्त व्यापक लक्षण के अंतर्गत सभी प्रकार के सौंदर्याधायक साधन आ सकते हैं।

कुछ आचार्यों के जो अलंकार-लक्षण हैं उनसे यह प्रकट होता है कि अलंकारों की इयत्ता नहीं। उनमें कुछ चमत्कार हीना आवश्यक हैं, क्योंकि वाग्विकल्प, कहने के निरासे बंग, अनत है और उनके प्रकार ही अलंकार हैं^४। इसी बात को इस ढंग से भी कहा गया है कि कथन के प्रकार-विशेष, अर्थात् कवि-प्रतिभा से प्रादुर्भूत उक्ति-वैविध्य ही अलंकार है^५। इनमें वाग्विकल्प और प्रकार-विशेष इस बात के द्योतक हैं कि काव्यमें कुछ चमत्कार होना चाहिये। जहाँ ऐसा होगा वहाँ अलंकार का अस्तित्व माना जायगा।

“सूर सूर तुलसी ससी, उद्गमन कोसौदास ।”

के अनुसार हिंदी-कविता में केशवदास को तीसरा स्थान प्राप्त है। केशव के पूर्व जो रीति-ग्रन्थ बने उनमें एका-गिता की अधिकता रही। इन्होंने ही हिंदी में लक्षण-ग्रंथों की रचना की परिपाटी सुदृढ़ रूप से चलायी। इन्होंने वे आचार्यों की उपाधि से विभूषित हुए। इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर अपनी कलम चलायी। ‘कविप्रिया’ उनके आचार्यत्व की उत्तरी विचारिका प्रतीत नहीं होती जितनी ‘रसिकप्रिया’। यद्यपि उनकी कविता धर्म-नाथ्य प्रवीत होती है, उसमें भाक्तिक प्रतिभा का स्फुरण कम दिखायी पड़ता है, तथापि वे अपने को स्वयं ‘कविराज’ कहने के अधिकारी थे।

केशवदास अलंकार के, अलंकारों में चमत्कार के^६ पक्षपाती थे। इससे वे अपनी अग्रस्तुत-भोजना में आकाश-माताल के कुलाचे मिलाते थे, दूर की कौड़ी साते थे। उनके सामने यह भी भावार्थ था कि ‘काता’ वा मुख सुंदर होने पर भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होता^७। यही कारण है कि उन्होंने—

“जवपि सुजात सुलच्छरी, सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषन बिनु न विराजई, कविता बनिता मित ॥”

१. अलंकृतिरलंकारः।

२. सौंदर्यमलंकारः।

—काव्यालंकार

३. शब्दार्थयोरित्यरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।

—साहित्यदर्पण

४. अनताहि वाग्विकल्पाः तत्प्रकारा एवालंकाराः।

—ध्वन्यालोक

५. अभिधानप्रकारविशेषा एवालंकाराः।

—अलंकारसर्वत्व

६. तत्र चमत्कारविशेषकारित्वमिति सामान्यलक्षणम्।

—अलंकारजोषर

७. न कान्तमपिनिर्भूषं विभ्राति धनितामुजम्।

—काव्यालंकार

का सिद्धांत स्थिर कर अपने अलंकारवादी होने का उद्घोष किया। इनके काव्यशास्त्र के प्रधान ग्रंथ 'कविप्रिया' में अलंकार का ही विशेष वर्णन है। अलंकार-विषयक उनका विवेचन प्राचीनों के इस मत को पुष्ट करता है कि काव्य में अलंकार ही प्रधान है।^१

केशव के उपर्युक्त दोहे में श्लेषगर्भित-वाचक-लुप्ता 'लुप्तोपमा' है। कोई-कोई समालोचक कविता-वनिता में 'रूपक' मानते हैं। इस दशा में पूर्वाह्न के पाँचो श्लिष्ट विशेषण अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकते। कविता पर वनिता के आरोप से कविता छिप जाती है और वह उक्त विशेषणों से विशिष्ट नहीं बनती।

केशव ने अपनी अलंकार-योजना में इस बात का ध्यान नहीं रखा कि अलंकारों का मुख्य उद्देश्य या तो प्रस्तुत का रूप खड़ा करना है या भावों को तीव्र करना है। केशव ने अपनी अलंकार-प्रियता और पांडित्य-प्रदर्शन के पचड़े में पढ़कर अस्थान-स्थान का बिना विचार किये ही जवर्दस्ती अलंकारों की कसरत करायी है। इससे उनके काव्यों में कुत्रिमता, जटिलता, दुरुहता, अस्पष्टता तथा कवियों की जाँच के लिये—“पूछत केशव की कविताई” जैसी उक्ति की चरितार्थता पाई जाती है।

“सुंदर सेत सरोरुह में, करहाटक हाटक की वृत्ति को है।

तापर और भली मनरोचन, लोक-विलोचन की खचि रोहूँ॥

देखि दई उपमा जल-वेवनि, वीरय देवन के मन मोहूँ।

केशव 'केशवराय' मनो, कमलासन के सिर-ऊपर सोहूँ॥”

श्वेत कमल के छतों पर बैठे सोरे पर की गयी यह उक्ति है। इसमें आये 'उपमा' और उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनो' ये दो शब्द दो अलंकारों को सिद्ध करते हैं। ब्रह्मा के सिर पर विष्णु के बैठने की बात ही तो उपमा कही जा सकती है और यदि उसकी सभावना हो तो उत्प्रेक्षा होगी, पर इस कल्पना की उडान में कौतूहल ही मालूम होता है। यह हमारे हृदय-राग को उद्दीप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। सरकसी करामात से आश्चर्य ही होता है, उल्लास नहीं।

“भृकुटी विराजत स्वेत मानहुँ मंत्र अद्भुत साँभ के।

जिनके विलोकित ही बिलात, असेस कामुकि काम के॥

मुख बास भास प्रकास 'कैसव' और औरैन राज हौं।

जनु साँभ के सुम स्वच्छ अच्छर, वही समच्छ विराज हौं॥”

इसकी अप्रस्तुत-योजनाएँ बड़ी ऊटपटांग हैं। मारहाज की मोहूँ एक ओर तो 'साँभ' के स्वच्छ मंत्र बनती है, दूसरी ओर 'काम' के धनुष को मात करती है। शात और शृंगार का गठबंधन किया गया है। काली मोहूँ उद्दीप्त होने के कारण 'काम कामुकि' की समता करती है, सफेद मोहूँ नहीं—उसमें भी बुढ़े मारहाज की। मंत्रों के स्वेत होने की बात भी विचारणीय ही है। मारहाज के मुख की सुगंध से सोरो की भीर लगी रहती थी। जान पड़ता है मारहाज जी इलायची चबाते होंगे या सुवासित शर्बत पिया होगा। ये सोरे काले हैं, पर उत्प्रेक्षा है सपक्ष स्वच्छ असरो की। ये अक्षर 'स्वेत मंत्र' से नहीं निकलते। ये अक्षर शायद काले कागज पर हो। इस प्रकार भावों में विपमता पैदा करने वाले अलंकारों को तमाशा दिखाने के सिवा दूसरा क्या कहा जा सकता है।

केशव ने अलंकारों के दो भेद किये हैं—सामान्यालंकार और विशेषालंकार। इनके सामान्यालंकार के चार प्रकार हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूमी और राजश्री। वर्ण और वर्ण्य में बताया गया है कि कवियों को किन-किन वस्तुओं का किस-किस रंग और किस-किस आकार की होने का वर्णन करना चाहिये। भूमी और राजश्री में किन-किन प्राकृतिक पदार्थों तथा उनकी किन-किन विशेषताओं का और राजमयी आदि का किना वर्णन होना चाहिये। जिन वस्तुओं का उद्देश्य कवियों को साम्प्रदायिक मित्रा देना था, उन्हें भी अलंकारों में मिला दिया है। एहें अलंकार की व्याख्या देना अनर्थक है। हाँ, विशेषालंकार में केशव ने ३७ अलंकारों का वर्णन किया है।

^१ अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राचा मनम्।

उपमा, आक्षेप आदि के भेदों तथा आश्लेष आदि अलंकारों के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि काव्यादर्श ही अलंकारों के लिये मार्ग प्रदर्शक रहा, किन्तु आश्चर्य ये हैं कि इन्होंने 'अतिसयोक्ति' जैसा अलंकार, जिसकी अलंकारभाषा में सत्ता मानी जाती है, छूट गया। ज्ञात होता है जिन-संस्कृत ग्रंथों को केशव ने अपना आदर्श बनाया उनको सम्हालने की पूरी चेष्टा नहीं की, क्योंकि इनके लक्षण और उदाहरण ऐसे स्पष्ट और आमक हैं कि शिक्षार्थी को इनकी तह में पेंठना असंभव ही है। इन्होंने अपने वणित अलंकारों में विशेषता लानेकी चेष्टा की, पर सर्वथा असमर्थ रहे। संस्कृत के पंडित होते हुए भी इन्होंने 'काव्यप्रकाश' जैसे प्रौढ ग्रंथों को समझ नहीं रक्खा, जिससे उन्हें अलंकारों के सबंध में परिपूर्णता प्राप्त न हो सकी। केशव के 'युक्त' और 'स्वभावोक्ति' अलंकार के एक से लक्षण हो गये हैं—

“जाको जैसो रूप बल, कहिए ताही रूप।

ताको कवि-कुल 'जुक्ति' कहि, बरनत विविध सरूप ॥

—युक्ति अलंकार

जाको जैसो रूप गुन, कहिए ताही साज।

तासो जानि 'स्वभाव' सब, कहि बरनत कवि राज ॥”

—स्वभावोक्ति

दही ने घमांखेप में घर्म से गुण का तात्पर्य लिया है, पर केशव ने घर्म से सीधे घर्म का आशय समझ लिया है। दही साफ कहते हैं कि “हे कृपागी, तुम्हारे भगों की जो सुकुमारता प्रसिद्ध है वह गूढ़ है। यदि सबमुच वह सुकुमार है तो मुझे अकारण क्यों कष्ट देता है। इस प्रकार इसमें प्रेमी सुकुमारता के विरोधी कर्म से नायिका के शरीर सुकुमारता का निषेध करता है, इससे यह घमांखेप है”। केशव का यह लक्षण है—

“राखत अपने घरन की, जहँ कारज रहि जाइ।

घरमांखेप सदां इहँ, बरनत सब सुख पाइ ॥”

यहाँ सीधी घर्म चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि केशव ने घमांखेप का तात्पर्य नहीं समझा। इनका पातितघत घर्म का उदाहरण बड़ा सुंदर है—

“जो हो कहो रहिए तो प्रभुता प्रवट होति, चलै न कहो तो हित-हानि नाहि सहिनो।

भावं सो करीतौ उबास भाव प्रनिनाथ, साथ लै बलौ कैंसे लोक साज बहिनो ॥

‘कैतौराव’ की सो मुस धुनो हो छबीले लाल, चलैही बनत जी पै नाहीं राज रहिनो।

तैसीये सिखावौ सीख तुम हो धुजाँन पिय, दुमहि चलत नोंहि जैसी कछू कहिनो ॥”

केशव के कुछ अलंकार तो प्राचीन परिपाटी पर हैं, पर अनेक अलंकारों के रूप इन्होंने अपने ढंग पर भी बनाये हैं। दही के ‘आश्लेष’ अलंकार को केशव ने विलुप्त रूप दिया है। अर्थात् रन्यास अलंकार के उपर से दही के समान है, पर लक्षणों और उदाहरणों में साम्यता नहीं है। इस तरह की अन्य कई बातें हैं जो इनके अलंकार-ज्ञान की गंभीरता में संशय उत्पन्न करती हैं।

अलंकार की अलंकारिता को केशव न समझ सके। अलंकारों में गणना की गणना इस बात को सिद्ध करती है। काव्यकल्पलतावृत्ति के चतुर्थ प्रतान के षष्ठ स्तवक में इसका वर्णन है। इसके प्रथम श्लोक में २ अलं-

१ तब तत्त्वानि मिर्येव रुढमयेषु भाववम् ।

यदि सत्यं मुद्रुत्येव किमकावेरुनाभिमां ॥

घमांखेपोऽयमाभित्पर्मगनाभाभावेवम् ।

कामुकैव यवैव कर्मणा तद्विरोधिना ।

—काव्यादर्श

२ औचित्यरचितं सख्या बंधुबंधुरतिक्रमं ।

उपमासंरलंकादौ सुधीर्यं ससर्भयेत् ।

कार का और आगे^१ भी अलंकार शब्द का उल्लेख देखकर केशव ने इसे अलंकारों में रख लिया, परन्तु केशव ने केशव मिश्र को इस कथन पर ध्यान नहीं दिया कि काव्य-कर्ता को एक से लेकर हजार तक जो-जो वस्तुएँ हैं उन्हें कवि-प्रयोगों से जान लेना चाहिये। अमरचन्द्र ने गणना के सवध में जो उद्धरण दिये हैं उनमें यत्र-तत्र सख्या-मूलक 'उपमालंकार' की झलक पायी जाती है,^२ पर केशव ने सख्या-सूचक वस्तुओं की गणना कर दी है।

केशव की कुछ अप्रस्तुत योजनाएँ ऐसी हैं जो हृदय को छूती हैं, जिनमें रागात्मकता है और भाव को तीव्र करने की शक्ति भी। एक उदाहरण ले —

“भातु सबै मिलिबे कहँ आई, ज्यो सुत को सुरभी सुलवाई ॥”

सब प्रसूता गये जिस प्रकार अपने बच्चे को दूध पिलाने और चाटने-मोछने को छटपटाती हुई दौड़ती है, उसी प्रकार माताएँ भरत से मिलने के लिये अकुलाई हुई दौड़ पड़ती हैं। यहाँ की अप्रस्तुत-योजना भावोत्कर्ष में जीवन डाल देती है।

“सोहँ धनस्यामल घोर धन, मोहँ तिन में बक-पाँति मनै।

सखावलि पी बहुधाँ जल सो, मर्गो तिनको उगले बल ह्यो ॥”

समुद्र-जल से बने बादल समुद्र-तट के शखों की भी पी गये। पानी के साथ मेघ में शख भी समा गये। बादल के नीचे उड़ने वाले 'बगले' ऐसे मालूम होते हैं जैसे मेघ के उगले हुए शख हों। ये अलंकार अपने स्वाभाविकता से सहृदय-हृदयावर्जक हो गये हैं।

कवि केशवदास के अनेकों निंदकों के साथ प्रशंसक भी हैं। हिंदी में ऐसा ग्रंथ न होने के कारण ही ये आचार्य नहीं हुए बल्कि इनमें आचार्यत्व के भी कुछ गुण थे।

आचार्य भूषण

कविवर भूषण अपने समय के अनुसार भृंगार के प्रवाह में नहीं बहे, पर रीति-ग्रंथों की रचना के प्रवाह में अवश्य बह गये। उनका उद्देश्य इस बोहों से स्पष्ट है कि वे शिवाजी के सुयश का बखान करने ही को इस ग्रंथ की रचना की, न कि अलंकार-विवेचना के लिये।

“सिध-चरित्र लखि यों भवौ, कवि भूषण के चित्त।

भर्ति-भर्ति भूषननि सो, भूषित करो कवित्त ॥”

इस प्रकार भूषण ने जो कवित्त बनाये उन्हें अलंकारों से ला भिडायी और दोहों में उनके लक्षण लिख डाले। यही कारण है कि लक्षणों और उदाहरणों में ऐसी अस्पष्टता आ गयी है कि आलंकारिक भी बक्कर में पड़ जाते हैं। एक उपमा अलंकार के विचार से ही इनके आचार्यत्व की समीक्षा हो जायगी। शिवराज-भूषण में उपमा की यह परिभाषा दी गयी है—

“जहाँ छुटन की बेसिए, सोभा बनत समान।

उपमा भूषन ताहि को, भूषन कहत जुजान ॥”

यह जयदेव के लक्षण का अनुवाद ज्ञात होता है, जिसका यह अशय है कि जहाँ दोनों की सादृश्य लक्ष्मी का विकास हो^३। यहाँ लक्ष्मी का अर्थ ऐसी शोभा हो जो चमत्कारक हो। ऐसे सादृश्य में ही उपमा होती है। 'उल्लसति' का स्थान 'देखिये' में ले लिया है और लक्ष्मी का स्थान शोभा ने। वस सब गुड गोबर हो गया है। उक्त लक्षण से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि समान शोभा ही उपमा है या उसके सौंदर्य-विशय का सादृश्यमूलक दर्शन। समान धर्म के कथन में ही उपमा अलंकार होता है।

^१ एवमन्येऽपि तत्सख्या अलंकारेण केनापि सकलितः काव्या सगृह्यते।

^२ पंचद्विधाणीवपरम्बजिन्या प्राग् द्रौपदेयानु विधुरीचकार।

—काव्यकल्पलतावृत्ति

^३ उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसतिद्वयोः।

—चन्द्रालोक जयदेव

यद्यपि इन्होंने पूर्णोपमा में उपमेय, उपमान, बाचक और धर्म इन चारों का उल्लेख किया है, पर प्रारम्भ में उपमान और उपमेय की बातें ही कह कर छूट्टी पा गये हैं। इसका भी उदाहरण —

“मिलतहि कुकल चकत्ता को नरखि कीन्हो, सरजा सुरेस ज्यो दुखित भजराज को।”

समुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रीरंगजेव को कृष्ण के स्थान पर और शिवाजी को इन्द्र के स्थान पर रखा गया है। दूसरी बात यह कि इन्द्र ही दुखित हुआ था कृष्ण नहीं। यहाँ बजराम को ही दुखित करने की बात कही गयी है। सभी भेदों की बात भी वे भूल गये हैं। भूषण ने ‘अमालकार’ को यह परिभाषा दी है—

“अनि बात को अनि में, होत जहाँ भ्रम भाइ।

तातों ‘भ्रम’ सब कहत है, भूषण सुकवि बताइ।”

अन्य बात का अन्य बात में भ्रम होना ‘अमालकार’ है। इस प्रकार सीप में चाँदी का भ्रम होना है अमालकार हो जायगा, पर ऐसा नहीं माना जाता। अमालकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु में जगो सदृश अन्य वस्तु का कवि-प्रतिभा-द्वारा उल्थापित चमत्कार होता है। भूषण का उक्त लक्षण ‘विषयनाय’ के लक्षण का अनुवाद प्रतीत होता है, पर उसमें से सादृश्य और प्रतिमास्थित का भाव छोड़ दिया गया है। यदि इसमें अमवश अन्य वस्तु को अन्य वस्तु समझ लेने की बात होती तो एक प्रकार से लक्षण कोटि में यह आ जाता। अस्तु अमालकार का उदाहरण है—

“बूबाबन बिहरत फिर, राधा-नन्दकिसोर।

नौरद-आमिति जाँति सँग डोलें, डोलें मोर॥”

राधा-नन्दकिसोर को नौरद-यामिनी मान लेना भ्रम है। इसमें सादृश्य भी है और कवि-प्रतिभा का चमत्कार भी। अब अमालकार का भूषण का उदाहरण है—

“पीय पहारें पास न जाहु, यों तीय बहादुर सो कहूँ सोयें।

कोन बचै हँ नखाव तुम्हें, अनि ‘भूषण’ भोसिता भूप के रोयें॥

बँदि सइस्तख हूँ कौँ कियो, जसवंत से भाउ करस से बोयें।

सिध सिवा के सुवीरन सों, गी अमीरन बीच गुनीजन घोयें॥”

इसमें अमालकार का अस्तित्व तक नहीं है। यह उदाहरण अमालकार का हो ही नहीं गया। जान पड़ता है भूषण को इसीमें अमालकार का भ्रम हो गया कि पति कहीं पहाड़ पर गया और वहाँ माँ न दिया जाय।

भूषण शब्दालकार के बड़े प्रेमी थे, उनकी भाषा में अनुप्रास और यमक गूढ़ जमे हुए हैं। एक कवित देखें—

“साजि चतुरंग बीर रंग में पुरज पद्धि, सरजा सिवाजी जंग जीतेन चलत है।

‘भूषण’ भनत नाँव बिहूद सगारन के, नदी, नद, मद, गहरें के रसत है॥

ऐल, फैल, लैल, मैल, लसक में गैल-गैल, गजें की ठैल पँस सैल जलत है॥

सारस सी सरजि धूरि-धारा में लपत, जिनि धारा पर पारा पागबार यों हनत है॥”

इसमें भूषण का अंतिम चरण तो अमाधारण है। पाल में पाग जैसे पचन होता है यों पाग में पचन नहीं होता है। इसकी दोनों अप्रस्तुत योजनाएँ इतनी स्वाभाविक हैं कि भूषण भी अन्तर्गत हो गया है। यह भी नहीं रहा जाना। इन प्रकार भूषण के अधिकांश अनुप्रास स्वाभाविक, उदात्त गानाओं में आये हैं, वे मध्य-कल्पित नहीं मान्य पड़ते और वही भी कुछ गड़बा नहीं पैदा करने।

“बुधा मधुर तेरे अघर, सुंदर सुमन सुगंध ।

पीय जीव को बंधु ए, बंधु जीव को बंध ॥”

मतिराम ने अलंकार का यह लक्षण लिखा है—

“रस अरथन ते भिन्न जो, सब्द अर्थ के मांझ ।

चमत्कार भूषन सरिस, भूषन मानत तहि ॥”

यह लक्षण विवचनाय के इस लक्षण पर बना मालूम होता है, जिसका आशय है कि “शब्द और अर्थ के शोभावाचक रस आदि के उपकारक जो अस्थिर धर्म हैं, वे ही अगद आदि के समान अलंकार कहे जाते हैं”^१, पर इसका उपपादन मतिराम के लक्षण में ठीक से नहीं हो सका है । अर्थ में अर्थ से भिन्न चमत्कार क्या ? यह शका पैदा होती है । शोभातिशायी धर्म के लिए उक्त लक्षण में ‘चमत्कार’ शब्द लाया गया है । रसादि^२ में जो आदि है उसका भाव अर्थ समझ लिया गया है, पर वहाँ आदि से रसाभास आदि है । अन्य बातों में विवचनाय के लक्षण से यह मिल जाता है । जहाँ अन्य आचार्यों ने लक्षण नहीं दिया वहाँ यह बहुत कुछ है ।

महाकवियों की कविता में जैसे अनायास वर्णन में अलंकार आ जाते हैं, वैसे ही मतिराम की रचना में अलंकार आ पड़े हैं । उनके लिये कहीं भी आयास नहीं करना पड़ा है । रस, भाव आदि का तात्पर्य ग्रहण करके अलंकारों का जैसा सन्निवेश होना चाहिए वैसी ही इनकी अलंकारिक योजना है । उनके शब्द और भाव ऐसे हैं जिससे अनायास ही आप से आप अलंकार आ पड़े हैं । शब्दार्थान्वृत्ति ‘दीपक’ का एक उदाहरण, जैसे—

“सकल सहैलिन के पीछे-पीछे डोलति है, मंद-मंद यौन आज्ञा आप ही करति है ।

सनमुख होत सुख होत ‘मतिराम’ जब, पीन लागें धूँध के पट उघरत है ॥

जमुना के तट बंसीखट के निकट, नंदलाल को सकोचन ते चाह्यौ ना परत है ।

तन ली तिया कौ बर भाँवरें भरत, मन साँवरे बदन पर भाँवरें भरत है ॥”

इसमें शब्दालंकार का लावण्य तो खालब भरा ही है । भाँवरे भरना गव्यो की आवृत्ति है, जिसका अर्थ एक स्थान पर चारों ओर घूमना, परिक्रमा करना है और दूसरी जगह क्यामसुंदर पर मुख होना है । इस प्रकार अर्थ की भी आवृत्ति है ।

मतिराम ने जयदेव के अनुसार स्मृति, भ्राति तथा सदेह अलंकारों का एक साथ लक्षण किया, पर स्पष्ट न कर सके । जैसे—

“एक वस्तु लखि आन कौ, सुमरै, भ्रम, संवेह ।

बरनत भूषन तीन बिधि, जे कविजन मति-गेह ॥”^३

क्या एक वस्तु को देख कर स्मरण, भ्रम और सदेह करने से स्मरण, भ्रम तथा सदेह अलंकार हो सकते हैं ? आम देखकर क्या इमली का स्मरण, भ्रम, सदेह होना संभव है ? जयदेव के लक्षण में ऐसी शका नहीं की जा सकती, क्योंकि सादृश्य के कारण स्मरण, भ्रम और सदेह होने से ही इन नामों के अलंकार हो सकते हैं । मतिराम का यह लक्षण आमक ही नहीं, अधूरा भी है । इनका स्मृति का उदाहरण भी ठीक नहीं है ।

^१. शब्दार्थभोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।

^२. रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽर्णवादिबन्तः ॥

—साहित्यदर्पण

^३. स्यात्स्मृतिभ्रातिसंवेहैस्तदेवात्मकृतिप्रथम् ।

—वदालोक

इसमें सदेह नहीं कि अधिकांश आचार्यों की अपेक्षा इनका भलकार-वर्णन विस्तृत तथा भेदोपभेद युक्त है और अधिकांश उदाहरण बड़े सुंदर बन पड़े हैं। मतिराम भाषा और भाव के कोमल और कात कवि थे।

आचार्य देव

भलकार के सबध में लिखते समय देव के सामने केशव का उक्त दोहा था जो संस्कृत के भाष्य पर बना था। यह ठीक वैसा ही है—

“कविता, कामिनि सुखद प्रद, सुवरन सरस सुजाति ।

भलंकार पहिरें अधिक, अद्भुत रूप लजाति ॥”

यह दोहा भी इस^१ श्लोक पर बना हुआ है—

“भलकार रस-सवध के, सोहत सुवरन रूप ।

अग्र-अग्र मनि-मानिके, धरे अरे ब्रज भूप ॥”

देव का यह दोहा विचारणीय है—

“भलंकार में मुख्य है, उपमा और सुभाव ।

सकल भलंकारन विधे, परसत प्रथम प्रभाव ॥”

इसमें सदेह नहीं कि उपमा भलकार भलकारों में सर्व श्रेष्ठ है। केशव मिश्र ने लिखा है कि उपमा काव्य-संपत्ति का सर्वस्व, भलकारों का शिरोरत्न और कवि-वश की माता के समान है^२। भूषण ने भी लिखा है—

“भूषण सब भूषणनि में, उपमाहि उत्तम चाहि ॥”

दही ने ‘स्वभावोक्ति’ भलकार को प्रथम स्थान दिया है। इससे भलकारों में इसका महत्त्व माना जा सकता है, पर सभी भलकारों के मूल में हो यह बात नहीं मानी जा सकती। उपमा भी सभी भलकारों का नहीं, सादृश्यमूलक भलकारों का प्राणभूत है। सभी भलकारों के मूल में, यदि कोई भलकार है तो अतिशयोक्ति। आचार्यों का यही मतव्य है^३। इससे सभी भलकारों में उपमा और स्वभाव के प्रकट रूप से प्रभाव परसने की बात नहीं जचती। देव ने स्वभावोक्ति के जोलक्षण और उदाहरण दिये हैं, उनसे कोई स्वभावोक्ति को नहीं समझ सकता। इसी समझ से स्यात् देव ने सभी भलकारों में स्वभावोक्ति के होने की बात कही हो।

देव को शब्दालकार पसंद नहीं। उन्होंने कई दोहों में इसके विरुद्ध अपना अभिमत प्रकट किया है। इसे प्रथम काव्य कहा है। उन्होंने—

“जिनहि न अनुभव अर्थ की, मानत नहि रस भोग ॥”

उनके लिए शब्दालकारों का वर्णन किया है। देव ने अर्थालकारों के मुख्य और गौण नाम ठे— जो दो भेद किये हैं वे अनावश्यक प्रतीत होते हैं। पृथक् रूप से गौण भलकारों का निर्देश भी नहीं किया है। ‘इति मुख्यालकार’ लिखकर ‘अथ तद्भेद गौणामिभित’ लिख कर पिंड छूटा लिया है।

१. गूणवत्यपिनिर्वोषेभलकारः काव्यराजनि ।

जायतेऽन्यैवभुषमा रत्नालकारणीरिव ॥

—भलकारशेखर

२. भलंकारशिरोरत्नं सर्वस्व काव्यसंपदाम् ।

उपमा कविर्वशस्यमातेवेति सतिर्मम ॥

—काव्यमीमांसा

३. भलंकान्तराणामप्येकमवः सपिपरायणाम् ।

बागौशमहितामुक्तिमिमांसातिशयाह्वयाम् ॥

—काव्यादर्श

देव ने शब्दालंकार-श्रेणियों पर बड़ा ही कुटिल कटाक्ष किया है, पर वे स्वयं शब्द-चित्र के फेर में पड़ कर 'वाम सुवाम चवाति' के शिकार बन गये हैं। एक नमूना ले—

"आई बरसाने ते ब्रसाई वृषभान-सुता, निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अर्य गई ।

चकि चकवान के चकाएँ चक चोटैन सो, चोक्त चकोर चकाचोषी सो चकई गई ॥

'देव' नंद-नदन के नैनन अनंद भई, नंद जू को मंदरनि चंद भई छै गई ।

कंजनि कलिन भई, कुजनि नलिन भई, गोकुल की गलिन अलिन भई कै गई ॥"

अद्भुत रस का उदाहरण अद्भुत है। इसमें चाम चवाने का स्वाद नहीं बल्कि उनके कथनानुसार दधि, घृत, मधु, पायस का ही स्वाद है। शब्दालंकारों की दृष्टि से यह पद्य बड़ा सुंदर है।

देव ने अलंकारों के लक्षण लिखे ही नहीं। केवल अलंकारों के नाम देकर उदाहरण दे दिये हैं। जो लक्षण दिये हैं, वे अस्पष्ट हैं, भ्रामक हैं। उपमा का उदाहरण देखिये—

"गुन भोगुन सम तोलि कै, जहाँ एक सम श्रीर ।

सो उपमा कहि बाच्य यह, सकल अर्थ लघु और ॥"

जहाँ उपमान और उपमेय भाव में समान धर्म का कथन हो वहाँ उपमा अलंकार होता है। वस्तुओं में विभिन्नता रहते हुए भी रूप, गुण और धर्म की समता का वर्णन किया जाता है, पर एक समान की बात और वह भी समान तीला हुआ समान होना चाहिये, ऐसा होना जरा कठिन है। जहाँ आकार-प्रकार की समता होती है, वहाँ भी उपमा अलंकार होता है। यह इस लक्षण के अतर्गत न आयेगा। उनका 'वाक्योपमा' के उदाहरण में उपमा को बूढ़ निकालना भी सबके लिये समझ नहीं।

इसमें सदेह नहीं कि 'काव्य-रसायन' एक उत्तम रीति-ग्रंथ है, पर अलंकार तक पहुँचते-पहुँचते देव कुछ गिथिल से हो गये हैं और अलंकारों के लक्षण लिखने से भी बाज आये हैं। उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि वे अलंकारों पर दृष्टि-पात करके नहीं लिख गये, बल्कि लिखे हुए काव्य को अलंकारों के उदाहरणों पर मिठा दिया गया है। मिठाने के समय उनके मन में जो भाव हो, पर पाठकों के लिये ये लक्षण और उदाहरण दोनों कठिन ही हो गये।

आचार्य पद्याकर

कौमलकांत पदावली के प्रसिद्ध पुजारी कविवर 'पद्याकर' ने अपनी रीति-परंपरा में 'पद्याभरण' नामक ग्रंथ की रचना की। इनके पूर्व चंद्रालोक के अलंकार प्रकरण का अनुवाद स्वरूप 'भाषाभरण' की रचना हो गई थी। उसकी छाप पद्याभरण पर भरपूर पड़ी हुई है, क्योंकि उनके अनेको दोहे ऐसे हैं जिनमें लक्षण और उदाहरण एक साथ ही आये हैं। इनके पहले 'बैरीसाल' का 'भाषाभरण' बन चुका था। यहाँ भी चंद्रालोक के आधार पर बना था। कहीं-कहीं पद्याभरण और भाषाभरण एक से मिल जाते हैं। जैसे—

"सबहुँ तें, कहूँ अर्थ तें, कहूँ दुहुँ तें उर आनि ।

अभिप्राय जिहि भति जहुँ, अलंकार सो मनि ॥"

—पद्याभरण

"कहुँ पद तें, कहूँ अर्थ तें, कहूँ दुहुँ ते गोइ ।

अभिप्राय जैसी जहाँ, अलंकार त्यो होइ ॥"

—भाषाभरण

पद्याकर ने जो अपना उक्त अलंकार का लक्षण लिखा है, वह चंद्रालोक के लक्षण पर ही बना भाष्य होता है, क्योंकि उसके लक्षण में शब्दार्थ का उल्लेख है, पर उसका भाव^१ भिन्न है।

^१ शब्दार्थयोः प्रसिद्धाया कवेः प्रौढिक्त्वेन वा ।

हारविषयलंकारः सन्निवेशोऽसौ नोदरः ॥

—चंद्रालोक

इनके लक्षण से ज्ञात होता है कि शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार होते हैं और उनमें अभिप्राय की प्रधानता है। अभिप्राय शब्दालंकार का श्रोतक नहीं हो सकता। वह अर्थ का ही—भाव का ही श्रोतक हो सकता है। उनके आगे के दूसरे दोहों से—

“अलंकार इक बलहि में, समुक्ति परें जु अनेक।

अभिप्राय कवि कौ जहाँ, वहाँ मुख्य गनि एक ॥”

—पद्माभरण

कवि का अभिप्राय समझा जाय तो अलंकार की लक्षण-कोटि में यह नहीं आ सकता। पद्याकर के पेट में अभिप्राय का जो अभिप्राय हो, पर अलंकार के लक्षण का निरूपक वह नहीं हो सकता। साफ बात यह है कि ‘कव्ये प्रौढिवर्णन’ का भाव बैरीसाल या पद्याकर की समझ में नहीं आया।

फिर भी पद्याकर के लक्षण अधिकांश स्थलों पर भ्रम-जनक नहीं। उनके उदाहरण अपने और सुंदर हैं। उनके लक्षणोदाहरण दोहों और चौपाइयों में ही सीमित हैं। ग्रन्थान्त आचार्यों के समान सर्वथा और कवित्त को नहीं अपनाया। यह प्रणाली अभ्यासियों के लिये श्रेयस्कर है। थोड़े में श्लकारों का अभ्यास हो जाता है। इनके सर्वे और कवित्तों में भी अलंकार योजना अच्छी हुई है। उपमा का उदाहरण जै—

“मंद-मंद उर पै अनंद ही के आसुन की, बरसैं सुदूर मुकताई ही के दानें-सो।

कहैं ‘पद्माकर’ प्रपची पंचवर्ग हू को, पुकानन के नैन पै परी खो घोर घाँ-सो।

ताजी बिबलीन में बिराली छवि छाजी सबै, राजी रोमराजी करि अमित उठानें-सो ॥

सोहैं पेलि पी को बिहलौं-भए योज दृग, सोहैं सुनि भोहैं गई उत्तरि कमानें-सो ॥”

इसमें शब्दों की जैसी मनोहर लब्धियाँ हैं, वैसी ही उपमा की बहार है। चारो उपमाएँ अनुपम हैं। अंतिम उपमा तो भाव को अपनी योजना से आसमान पर पहुँचा देती है। एक रूप का उदाहरण सर्वथा—

“जाहिरे जागत सी जमुना, जब दूई बहै उमहै बर बेंनो।

ख्यों ‘पद्माकर’ होर के हारैन, गप-सरगनि को सुखदेनो ॥

पाँहन के रँग सो रँग जाति-सी, भाँति-हि-भाँति सरसुति-सैनो।

पेरै जहाँ ई जहाँ यह बाल, तहाँ-तहाँ ताल में होत बिबेंनो ॥”

भाषा की कोमलता तथा सजीवता में रूपक की अपरूपता दर्शनीय है। कहीं-कहीं अलंकारों के समझाने और उदाहरणों में पद्याकर से भी भूल हुई हैं, पर अधिक नहीं। यह सब होने पर भी दूसरी ही अपेक्षा पद्याकर के लक्षण और उदाहरण स्पष्ट है।

हिंदी के इन प्राचीन आचार्यों के केवल अलंकार ग्रंथों की आलोचना और सम्युक्त वे आचार्यों के ग्रंथों के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिये एक-एक पृथक् पुस्तक की आवश्यकता है। फिर भी यह ‘स्थालीपुलाक’ न्याय से यह अध्ययन अलंकार-प्रेमियों के लिये एक दिशा का अवश्य निर्देश करेगा।

अलंकार : एक अध्ययन

श्री बट्टीप्रसाद बाजपेयी

अखिल भारतीय ग़ज़-साहित्य-मंडल की विशेष अनुकपा से आज मुझे श्रद्धेय सेठ 'कन्हैयालाल' जी पोद्दार के 'अभिनदन' का जो यह पुण्य-यर्व प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं 'पोद्दार-अभिनदन-ग्रन्थ' के संपादन-विभाग का चिर ऋणी हूँ। साहित्य-शास्त्र-विषयक जो कुछ भी मेरी पूँजी है, उसका अधिकांश श्री पोद्दार जी का ही उदार दान है, अतः 'उसके व्याज-रूप अपने 'सेठ' को यत्किंचित् प्रतिदान करने में मैं 'त्वदीय वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्प्यते' के अतिरिक्त और क्या कह सकता हूँ।

भारत की अलंकार-निधि संस्कृत-मंजूषा में ही सदा वद रही थी। समय-समय पर जो समर्थ हिंदी-जन उस मंजूषा में से जो कुछ भी निधि निकाल सकते थे, उसे निकालने का वे प्रयत्न करते रहे हैं। उसका कितना अंश अभी तक निकल कर हिंदी में आ पाया है, यह सब के समक्ष है। मैं तो केवल इतना ही देख पाता हूँ कि अभी तक निकालने लायक हम कुछ भी नहीं निकाल पाये। पर निकालने का कार्य अभी चालू है, इससे कुछ सतोष होता है—सविष्य आशा-प्रद है।

अन्यान्य संप्रदायों के समान भारत का अलंकार-संप्रदाय भी अत्यंत प्राचीन है—कदाचित् अनादि भी कहा जा सकता है। उसका क्रमिक विकास भी होता रहा है और आज भी हो रहा है—विकास की इच्छा नहीं। विकास-वाद जगत का अनादि और अनंत सिद्धांत माना ही जाता है।

संस्कृत-साहित्य में अलंकार-शास्त्र के तीन उत्थान उपलब्ध होते हैं—१ आदि-काल में अलंकारों का बीज-वपन तथा अक्रुरण प्राप्त होता है, जो क्रमशः विकसित होते-होते एक समृद्ध उद्यान का रूप धारण कर रहा था। इस काल के प्रधान मालियों में भागवत, उद्भट, खट्ट आदि उल्लेखनीय हैं। २ माध्यमिक-काल अलंकारोद्यान का रक्षा-काल है। उस समय एक और अतिवृष्टि, अनावृष्टि के लिए उपाय सोचे जा रहे थे और दूसरी ओर सभी ओर से उठे हुए क्षमावर्त एवं इति-भीति का प्रत्यवरोध किया जा रहा था। उस समय रीति-गुण-वाद तथा रस-ध्वनि-वाद आदि के विरुद्ध अलंकारोद्यान के चतुर्दिक चहार-दिवाली का निर्माण आवश्यक हो गया था। कुतक, मम्मट, रय्यक आदि इस काल के प्रधान संरक्षक थे। ३ उत्तर-काल में पिष्ट-पेपण, सक्षिप्तीकरण अथवा पांडित्य-प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति दिखायी देती है। सभी लोग यथाशक्ति कुछ न कुछ जोड़-बरा कर आचार्य पदवी प्राप्त कर लेने में लगे थे। अलंकारों के अध्ययन की दृष्टि क्षीण पड़ गयी थी—अध्यापन की दृष्टि से सस्ते लक्षण और उदाहरणों के निर्माण का कार्य चालू हो गया था। अपूर्ण एवं अव्यवस्थित विवेचन, अनुपादेय भेदोपभेदों की कल्पना और अनावश्यक विस्तार इस काल की विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

हिंदी में अलंकार-संप्रदाय का प्रसंगिक संस्कृत के उद्यत उत्तर-काल से ही हुआ और यही स्वाभाविक भी था। अतः हिंदी में अलंकारशास्त्र के उत्थान का क्रम संस्कृत के उत्थान-क्रम का 'बिलोम' समझना चाहिए। संस्कृत का उत्तर-काल हिंदी का आदि काल था। उस समय 'कुबलयालद' और 'चंद्रालोक' की पद्धति पर हिंदी-रीति-ग्रंथों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस काल के पश्चात् हिंदी में अलंकार के माध्यमिक युग की पुनरावृत्ति दिखायी देती है। रीति-कालीन अलंकार-संवेदी अव्यवस्था एवं अपरिपूर्णता को दूर कर व्यवस्थित विवेचन और सामंजस्य-स्थापन इस काल का प्रधान लक्षण है। इस समय मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' आधार-स्तम्भ बन चुका है और प्राचीन अलंकार-ग्रंथों के स्वच्छ, निर्मल एवं स्वस्थ प्रवाह का स्रोत खुल गया है, अधिकांश प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद हो चुके हैं और हो रहे हैं।

किन्तु हिंदी में अलकारोत्थान का उत्तर-काल अभी नहीं आया। अभी रय्यक, कुतक, अति-नवगुप्त, महिम भट्ट, मुकुल भट्ट आदि की परंपरा हिंदी में नहीं चली—उस प्रकार का मौलिक विवेचन, प्रतिमा-पूर्ण प्रतिपादन और भिन्न-भिन्न मतमतांतरो का आलोचन-विलोचन नहीं प्रारम्भ हुआ। अभी हमने प्राचीन परंपरा के सरण और मम्मट-निर्मित लीक को छोड़कर स्वतंत्र उद्भावना के क्षेत्र में प्रवेश पाने का प्रयत्न नहीं प्रारम्भ किया। 'वाचा-वाक्य प्रमाणम्' के कीचड़ में हिंदी-अलकार-गणक इस तरह धँस रहा है कि

“लीकें लीक गाड़ी जाय, और जाय कपूत।

लीक छोड़ के चलत है, सायर, सेर सपूत ॥”^१

की उक्ति अरण्य-रोदन बन गयी है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम अलकारों के प्राचीन लक्षणों की परीक्षा करें, विभिन्न अलकारों की सीमा का पर्यवेक्षण करें, उनके वर्गीकरण के सिद्धांतों की खोज करें, भेदोपभेदों की काट-छाँट करें और दुर्गम एवं दुर्मेख अलकारावली की जटिलता को एक सुरम्य उद्यान में सदा के लिए परिणत कर दें। यदि हम अलकारों के प्राचीन नामों, उनकी रूढ़ि-ग्रस्त परिभाषाओं और रस-वाद, ध्वनि-वाद आदि के सुलहनामों में ही बँधे रहे आये तो अलकार-परंपरा की भुक्ति असम्भव है। अतएव हम इसी प्रयत्न में पड़े हैं कि आज पर्यंत जितने भी अलकार प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध हो सकते हैं उन सभी का सकलन कर दिया जावे, उनका एक भी भेदोपभेद छूटने न पावे—यदि संभव हो तो दो-चार अवातर अनुभेद और जोड़ दिये जावें, कुछ न वन पड़े तो कुछ अलकारों के वितोम-रूपों की ही उद्भावना कर डालें। हर्ष है कि जिस प्रकार संस्कृत में मम्मटचार्य एक सामंजस्य-पूर्ण व्यवस्था उपस्थित कर ‘वाग्देवतावतार’ के पद पर आसीन हुए उसी प्रकार हिंदी में “संत कन्हैयालाल पोद्दार” अलकारावतार को दूर करने के लिए, ‘मम्मटावतार’ के रूप में अवतरित हो गये। हमें अब आगे बढ़ कर ‘पोद्दार’ जी के सफल अभ्यवसाय से उद्ग्रहण होकर प्रयत्न करना चाहिए।

अलकारों के प्राथमिक वर्गीकरण का आधार शब्द और अर्थ है—शब्दों की वाक्ता का साधन शब्दालकार और अर्थ की रमणीयता का साधन अर्थालकार माना जाता है। यह ठीक ही है, क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ की ही सत्ता तो उपलब्ध है। कवि कुछ शब्दों का प्रयोग कर किसी अर्थ को उपस्थित किया करता है। शब्द और अर्थ के प्रतिरिक्त काव्य की अन्य कोई स्पूल सामग्री नहीं। कल्पना, भाव, विचार आदि तो मन के सूक्ष्म उपादान हैं, जिनकी सत्ता कवि और श्रोता के अंतर्करण में रहता करती है। अतः अलकारों का प्राथमिक वर्गीकरण शब्द और अर्थ के ही आधार पर करना सर्वथा तर्क-संगत है। अलकारों के प्रथम दो भेद माने गये हैं—१ शब्दालकार २ अर्थालकार।

अतः शब्दालकारत्व क्या है और अर्थालकारत्व क्या है, इसका कोई विवेचन न करके मम्मट-चार्य शब्दालकार और अर्थालकार की भेदक कसीटी के निर्धारण में लग गये हैं—वे शब्दाल और अर्थाल के आधार पर कुछ अलकारों को शब्दालकार और कुछ को अर्थालकारों के वर्ग में रख देते हैं। वे इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझते कि पहिले अलंकारत्व का स्वरूप स्पष्ट कर दिया जावे। शब्दाल-व्यतिरेक^२ के आधार पर किसी शब्द-विशेष के प्रयोग में ही अलंकारता का प्रतीन होना और

१. लीक-लीक गाड़ी चलें, लीकहि चलें कपूत।

लीक छोड़ तीनों चलें, सायर, सूर, सपूत ॥

इसके विपरीत यह लोकोक्ति इस प्रकार भी कही जाती है—

लीक-लीक गाड़ी चलें, लीकहि चलें सपूत।

लीक छोड़ तीनों चलें, कायर, कूर, कपूत ॥

२. शब्दसत्त्वे अलंकारसत्त्वः शब्दयः।

शब्दाभावे अलंकाराभावः व्यतिरेकः ॥

उसी शब्द के किसी पर्यायवाची का प्रयोग कर देने से उस अलंकारता का नष्ट हो जाता शब्दालंकार की पहिचान है। इसी प्रकार यदि एक शब्द के स्थान पर उसके अन्य पर्यायवाची का प्रयोग कर देने पर भी अलंकारता ज्यों की त्यों बनी रहती है तो वहाँ 'अर्थालंकार' समझना चाहिए। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा हम अलंकार के आशय का पता लगा सकते हैं—यह जान सकते हैं कि कोई अलंकार शब्दाश्रित है अथवा अर्थश्रित, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आश्रयाश्रयी-संभव ही अलंकार-अलंकार्य-संभव है? क्या आश्रित होना ही अलंकरण करना कहा जाता है? क्या शब्दाश्रित अलंकार को शब्द का और अर्थश्रित अलंकार को अर्थ का अलंकरण करना ही चाहिए? क्या कोई किसी पर आश्रित भर हो जाने से उसे अलंकृत करने लगता है?

शब्द का अलंकारत्व वस्तुतः है क्या? नाद-सौंदर्य ही न, और शब्दाश्रित अलंकार यदि नाद-सौंदर्य की सृष्टि ही न करे तब भी क्या उसे शब्दालंकार मान लिया जावेगा? इसी प्रकार अर्थालंकारत्व दो अर्थों की सम-अनुभूति अथवा विषय-अनुभूति के अतिरिक्त और क्या है। अतः अर्थश्रित रहते हुए भी यदि कोई अलंकार दो पदार्थों अथवा वाक्यार्थों की समानुभूति अथवा विषयानुभूति नहीं उत्पन्न करता तो उसकी अर्थालंकारता कैसी? एक उदाहरण ले लीजिए—

“शली, भवर यूँज लगे, हीन लगे बल पात।

जहँ-जहँ फूले खूब तह, प्रिय पीतम कित जात ॥”

यह ‘पुनरुक्तिवदभास’ का दृष्टांत है और पुनरुक्तिवदभास शब्दालंकार भी माना जाता है और अर्थालंकार भी माना जाता है, अर्थात् वह उभयालंकार है। अब जरा इस पुनरुक्तिवदभास की शब्दालंकारता और अर्थालंकारता का विश्लेषण कीजिए—शली और भँवर, बल और पात, खूब और तह तथा प्रिय और पीतम शब्द आपाततः पुनरुक्तिवत् आभासते हैं, क्योंकि उनका अर्थ एक ही होता है, किन्तु व्यक्तिचित् विचार करने पर प्रतीत हो जाता है कि उनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु पुनरुक्तिवत् आभासित होनेवाले उक्त पदों में से एक ही एक पद परिवृत्ति-सह है, दूसरा पद परिवृत्ति-असह है—एक पद को उसके पर्यायवाची-द्वारा परिवर्तित कर देने से भी अलंकारता बनी रहती है, पर दूसरे पद को उसके पर्यायवाची-द्वारा बदल देने से अलंकारता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार शब्दाश्रित और अर्थश्रित दोनों होने के कारण ‘पुनरुक्तिवदभास’ को उभयालंकार कहना ही चाहिये। कुछ पदोंका परिवृत्ति-सह होना और कुछ का परिवृत्ति-असह होना ही उभयालंकार की कसौटी है। अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा परिवृत्ति-सहत्व और परिवृत्त्यसहत्व का निर्णय कर शब्दालंकार और अर्थालंकार का पृथक्करण कर लेना कितना सरल है! शब्द का परिवृत्ति-सहत्व अलंकार के अर्थश्रित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है और शब्द का परिवृत्त्यसहत्व अलंकार के शब्दाश्रित होने का निर्विवाद हेतु है। शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार है और अर्थश्रित अलंकार अर्थालंकार। आश्रयाश्रयी-संभव ही अलंकार-अलंकार्य-संभव है ॥

अन्वय-व्यतिरेक की कसौटी में इस बात को विचार की कोई आवश्यकता नहीं कि काव्याश्रित अलंकार में शब्दालंकारत्व और अर्थश्रित अलंकार में अर्थालंकारत्व भी है अथवा नहीं। शब्द की अलंकारता नाद-सौंदर्य की सृष्टि है और अर्थ की अलंकारता दो अर्थों की समानुभूति या विषयानुभूति है, किन्तु पुनरुक्तिवदभास में कोई नाद-सौंदर्य न रहते हुए भी शब्दालंकारता तथा दो अर्थों की कोई समानुभूति अथवा विषयानुभूति न मिलने पर भी अर्थालंकारता स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के अतिरिक्त आज तक अन्य कोई कसौटी ही नहीं बनायी गयी।

मुख-नि अतः ध्वनि को ‘शब्द’ कहते हैं, शब्द का मूल्यार्थ यही है। मुख-नि अतः ध्वनि को जब कपित चिह्नो (बर्णों) द्वारा लिखित रूप दे दिया जाता है तब उस लिपि-बद्ध ध्वनि को भी गीण अर्थ में शब्द कह देते हैं। शब्द की अलंकारता उसकी पुनरावृत्ति में है, क्योंकि पुन-मुन-एक ही ध्वनि जल्दी-जल्दी अथवा एक निश्चित अंतर पर सुनने में अत्यंत रमणीय प्रतीत हुआ करती है। बँद, भेरी आदि में ध्वनि की सुनिश्चित आवृत्ति ही तो पायी जाती है। ध्वनि की आवृत्ति-जन्य यह

रमणीयता ही शब्द की अलंकारता है । शब्दावृत्ति में नादात्मक सौंदर्य की मूर्ति होती है और नाद-सौंदर्य शब्द को अलंकृत कर देता है । अतः शब्दालंकार की सूक्ष्म कलाटी नाद-सौंदर्य और मूल्य-वर्णन शब्दावृत्ति होनी चाहिए, न कि अन्वय-व्यतिरेक । आशयाशयी-संभव ही अलंकारालंकार-नवय रचने नहीं है ।

इस दृष्टि से देखा जाय तो पुनरुक्तिवदाभास में शब्दालंकारता तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें शब्द की आवृत्ति ही नहीं पायी जाती—विभिन्न अर्थवाले दो पृथक्-पृथक् शब्दों का उपयोग पाया जाता है और उसे अर्थालंकार भी नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि उसमें वस्तु या व्यापार-रूप दो पदार्थों अथवा दो वाक्यार्थों की समानुभूति या विषयानुभूति भी नहीं पायी जाती ।

अब, आभास-मात्र की अलंकारता स्वतन्त्रता विवेचनीय हो सकती है ।

अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर तो यमक, इतरेव, वक्रोक्ति, आवृत्ति-दीपक, निश्चिन्ता, परस्पर-रूपक आदि अनेक अलंकार उभयालंकार सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनमें भी कुछ पद परिवृत्ति-रूप मात्र कुछ परिवृत्ति-असह-रहा करते हैं, किन्तु यहाँ पर मर्म-एक और सिद्धांत उपस्थित कर देने हैं—

प्राधान्येनव्यपदेशा भवति ।”

अतः अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा उभयालंकारता रहते हुए भी शब्द अथवा अर्थ की प्रधानता के आधार पर उन्हें शब्दालंकार और अर्थालंकार समझना चाहिए—केवल शब्दार्थ की सम-प्रधानता में ही ‘उभयालंकार’ कहना चाहिए और इस प्रकार पुनरुक्तिवदाभास के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाण उभयालंकार नहीं माना जा सकता, पर इस प्रधानता का निर्णय कैसे किया जावे—

“सहृदयानां हृदयमेव प्रमाणं तत्त्व ।”

तात्पर्य यह कि प्राचीन रुढ़ि में जो अलंकार जिस खूट से कम दिये गये हैं, वस ने वही बंधे रह ।

वस्तुतः उभयालंकारता ही असिद्ध है—अलंकार या तो शब्द को अलंकृत करना या अर्थ को अलंकृत करेगा । जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की अलंकारता रहेगी वहाँ अलंकार-‘संकर’ अथवा ‘प्रमाण-‘संसृष्टि’ हो जायगी । एक अलंकार की समय अलंकारता विरोधाभास है ।

शब्द तीन रूपों में मिला करता है—१ वर्णरूप में, २ पद-रूप में और ३ वाक्य-रूप में। अतः शब्दावृत्ति के भी तीन ही रूप होंगे—१ वर्णावृत्ति, २ पदावृत्ति और ३ वाक्यावृत्ति । शब्दालंकार भी तीन ही प्रकार के हो सकते हैं—१ वर्णावृत्ति-मूलक, २ पदावृत्ति-मूलक और ३ वाक्यावृत्ति-मूलक । अब इनके नाम चाहे जो रख लिए जावें ।

प्राचीनों ने नाना-नाम रूपात्मक अलंकारों की कल्पना की है और उन्हें अर्थान्तर-रूप व्यापि और अममव नामक दोष-अय-शून्य परिभाषाओं में जकड़ देने का प्रयत्न किया है । किन्तु उन्हीं रुढ़ि-वादी परिभाषाओं की स्वीकार करते बले जावेंगे तो अलंकारों की मुक्ति निश्चय ही संभव नहीं । अतः हमें अलंकार-शास्त्र के नव विकास के लिए नवीन दृष्टि का उन्नेय करना है । हमें प्राचीन परंपरा में अल्पवस्था उत्पन्न करना नहीं समझना चाहिए । हमें परंपरागतों के अल्पवस्था को त्यागना पड़ेगा और राजानक रूपक, कुतक, महिम भट्ट, मुकुल भट्ट आदि की परंपरा का नकार करना पड़ेगा ।

इस प्रणाली में बहुत न शब्दालंकार अर्थालंकार और बहुत न अर्थान्तर-रूप व्यापि होने लगेंगे । बहुत न अलंकार अलंकार हीन रह जावेंगे—वे विशाल-रूप या विशाल-रूप शब्दों के कई एक अलंकार एक ही अलंकार में अन्तर्भूत हो जावेंगे और वे अर्थान्तर-रूप व्यापि अलंकार-शास्त्र में एक मुख्यवस्था व्यापि होनी और अलंकारों के अल्पवस्थायान्न में अल्पवस्था अलंकार-परंपरा विलुप्त होने में बच जावेंगी ।

अभी अलंकारों का पठन-पाठन युक्तिवत् की ज्यामिति (जामेट्री) की शक्ति का उपयोग हो रहा है । उपमाओं का नंबर २८ लेने और उदाहरणार्थ की दृष्टि अलंकारों के अल्पवस्था में

समान अलंकारों का नाम और उनका लक्षण रट कर दिये हुए उदाहरण में उसे घटा सकते तक ही अलंकार-शास्त्र का अध्ययन आज सीमित हो गया है और इसलिए उसमें सड़ाई पैदा होने लगी है। जिस प्रकार 'ज्यामिति' के पठन-पाठन में आज न तो उपपाद्यों के नवरत्न को रटने पर ही बल दिया जाता है और न किसी पिटी-पिटाई आकृति का ही हल पूछ कर सतोष कर लिया जाता है, वरन् उसके स्थान पर प्रयोगपाद्य के वास्तविक स्वरूप और उसके व्यावहारिक प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया जाता है, उसी प्रकार अब हमें विभिन्न अलंकारों के नाम और उनकी रूढ़ परिभाषाओं की अपेक्षा अलंकारों के मौलिक स्वरूप तथा उनके वर्गीकरण के आधारों का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति पर करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। भिन्न-भिन्न अलंकारों और उनके भेदोपभेदों के सूक्ष्म-दर्शक यत्र बनाने की अपेक्षा आज साम्य, वैषम्य, अतिशय और आलंकारिक वक्रता के स्वरूप को समझने तथा ज्ञेय, लक्षणा और संकेत के महत्व को जानने की अधिक आवश्यकता है—इन्हीं के आधार अलंकार का भव्य भवन निर्मित है और ये ही काव्य-भाषा की अलौकिकता के प्रापादक हैं।

स्लेप, वक्रता और अतिशय को तो आज हमने अलंकार-विशेष के कठघरे में परिचय दकर दिया है और लक्षणा-व्यञ्जना की शब्द शक्तियों से अलंकार को सर्वथा भ्रष्टता रखने की एक सफल, किन्तु घातक योजना स्वीकार कर रखी है—अलंकार अभिधा-मात्र का विषय है, क्यों? क्योंकि ध्वनिवाद का भूत पीछे लग गया है। अलंकार-ध्वनि अलंकार थोड़े ही है, क्योंकि प्रतीयमान की गौणता-पर्यंत ही तो अलंकार का क्षेत्र है—उसके आगे बढ़ने से अलंकार पर 'दूस-पास' का अभियोग न चला दिया जायगा?

अनेकार्थता भाषा की विभूति है और आलंकारिक उक्तियों की तो वह सर्वस्व ही है। इसीलिये काव्य-भाषा में अनेकार्थता का अक्षुण्ण साम्राज्य स्वीकार कर लिया गया है। अब, यह अनेकार्थता रुढ़ि एवं व्युत्पत्ति तथा सामीप्य-समवाय-सादृश्य-वैपरीत्य-क्रियायोग आदि सबों और प्रसंगों की सांकेतिकता पर आश्रित रहता करती है। रुढ़ि और व्युत्पत्ति में शब्द की अभिधावृत्ति, सामीप्यादि सबों-द्वारा ज्ञात अर्थ, गौणार्थ या लक्ष्यार्थ कहलाता है और प्रसंग-प्राप्त अर्थ प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ माना जाता है। अनेकार्थता उसी समय उपस्थित हुआ करती है जब किसी पद अथवा वाक्य में अनेक वृत्तियों का व्यापार पाया जाता है—अभिधा-अभिधा की अनेकार्थता, अभिधा-लक्षणा की अनेकार्थता अभिधा-व्यञ्जना की अनेकार्थता और लक्षणा-व्यञ्जना की अनेकार्थता—अनेकार्थता अनेक प्रकार की हुआ करती है, जिसे अलंकार-संप्रदाय में 'स्लेप' नाम दिया गया है। इस अनेकार्थता में कभी एक अर्थ की प्रधानता और दूसरे की गौणता तथा कभी दूसरे की प्रधानता और पहले की गौणता संभव है। अर्थ की प्रधानता अथवा गौणता के कारण शब्द-शक्तियों की प्रधानता और गौणता भी कह दी जा सकती है, किन्तु शब्द-शक्तियों की प्रधानता और गौणता के कारण अनेकार्थता को आलंकारिता में कोई प्रसर नहीं आ सकता।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शब्द-शक्तियाँ हैं जो ब्यावसर उपस्थित हो-होकर अर्थ-बोध कराती रहती हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना अलंकार नहीं हैं—अलंकरण की साधन हैं। अलंकार-अर्थालंकार शब्द और अर्थ के बीच की वस्तु है। शब्द से किसी भी शब्द-शक्ति द्वारा, अर्थ का—पदार्थ और वाक्यार्थ का—बोध हो जाने पर अर्थालंकार प्रारम्भ हुआ करता है और विभिन्न शब्द-शक्तियों-द्वारा उपस्थित अनेकार्थता में साम्य अथवा वैषम्य की अनुभूति कराकर सफल हो जाता है। अर्थ तो, चाहे वह अभिधार्थ हो और चाहे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ, सदा वस्तु अथवा तत्पक्ष ही रहेगा और उनमें जो रमणीयता पायी जावेगी वह उस वस्तु अथवा तत्पक्ष की रमणीयता होगी। इसके विपरीत अलंकार 'लोकान्तिभ्रतमोचरता वाचाम्' या 'लोक-सीमातिवर्तिनी विवक्षा' है, उसकी रमणीयता उक्ति की रमणीयता होगी। उक्ति की रमणीयता और वस्तु अथवा तत्पक्ष की रमणीयता एक ही चीज नहीं है। वस्तु अथवा तत्पक्ष की रमणीयता स्वयं वस्तु अथवा तत्पक्ष में रहेगी जो भौतिक वस्तुओं और व्यावहारिक तत्पक्षों में प्रत्यक्ष होगी—अथवा जो लौकिक वस्तु-व्यापार की प्रतिकृतियों में, रंग-रसों और रजन-

पदों पर प्रदर्शित हो सकेगी। उक्ति की रमणीयता प्रत्यक्ष अनुभूति या प्रदर्शन की वस्तु नहीं है—कवि और श्रोता के मानस-प्रत्यक्षीकरण की वस्तु है और वह शब्द से उठकर अर्थ की उपलब्धि-मार्ग ही पायी जायगी। शब्द-द्वारा कवि के प्रयोजन पर पहुँचते ही अर्थालंकार अतर्प्य हो जायगा। अर्थालंकार शब्द और अर्थ की मध्यवर्तिनी मृत्खला है—अतः उसे शब्द-व्यक्तियों का अनुचर नहीं स्वीकार किया जा सकता। शब्द-व्यक्तियों अलंकार की अग्रचर अवश्य कही जा सकती है।

‘श्लेष’ का अर्थ—श्लिप् (श्लिष्यति) से व्युत्पन्न होने के कारण—चिपकना या जोड़ है, एकता में अनेकता की सधि है। जब एक ही शब्द में अनेक शब्द अथवा अनेक अर्थ चिपके हुए पाये जाते हैं तब वहाँ ‘श्लेष’ कहा जाता है—एक में अनेक का सश्लेष ही तो श्लेष की श्लेषता या श्लिष्यता है। श्लिष्ट एकता में से अनेकता का उद्घाटन श्लेष-विश्लेषण कहलाता है। राजानक स्यूक् एक शब्द-गत अनेक शब्दों के सश्लेष का पृथक्करण ‘जलुकाष्ट’-न्याय-द्वारा तथा एक शब्द-गत अनेक अर्थों के सश्लेष का पृथक्करण ‘एक वृत्त फल द्वय’-न्याय-द्वारा करते हैं और उद्धृष्टाचार्य ने शब्दों के सश्लेष को शब्द-श्लेष एवं अर्थों के सश्लेष को अर्थ-श्लेष नाम दिया है। यह नाम-करण सर्वथा अल्प है, किन्तु मम्मटाचार्य की अन्वय-व्यतिरेक वाली कसौटी उद्धृष्टाचार्य के उक्त शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष दोनों को ही अलंकार-अलंकार्य-सम्बन्ध माना करते हैं, अतः मम्मट के मत में पद की समगता एवं असमगता पर आधारित उक्त शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष शब्द के अलंकार हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि मम्मट ने शब्द की अलंकारता एवं अर्थ की अलंकारता का स्वरूप निदिष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया—उन्होंने अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा केवल आशयाशयी-सम्बन्ध देखकर शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का विसाजन कर दिया है।

अस्तु, श्लेष की अलंकारता पर विचार कीजिये। एकता में अनेकता का सश्लेष श्लेष की श्लेषता है, पर एक पद अथवा वाक्य से किसी भी शब्द-व्यक्ति-द्वारा अनेक अर्थों की उपलब्धि हो जाने ही से तो अलंकारता की योजना हो नहीं जाया करती। जब तक उन अनेक अर्थों में साम्य या वैषम्य का सम्बन्ध नहीं स्थापित होगा तब तक श्लेष श्लेष-मात्र रहा आवेगा—उसमें अलंकारता का विधान नहीं हो सकता। कोई अनेक अर्थों का बोध कराने के लिये ही अनेक अर्थों का बोध नहीं कराना करता—वह उन अनेक अर्थों की सम-अनुभूति अथवा विषम-अनुभूति कराने के लिये ही एक साथ अनेक अर्थों का विधान कर विधा करता है। अतः एक पद अथवा वाक्य के अनेक पदार्थों अथवा वाक्यार्थों की समता या विषमता ही श्लेष की अलंकारता होगी। साम्य-वैषम्य-विहीन अनेकार्थता शब्द-श्रीमात्र मान होगी जो काव्य-कौतुक की वस्तु है, न कि काव्यालंकार की वस्तु।

यहाँ विचारना होगा, कि श्लेषालंकार शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार? शब्द की अलंकारता नाव-सौध है, जो श्लेष में पायी नहीं जाती, क्योंकि नाव-सौध आधुति भूलक है और श्लेष में शब्दाधुति होती ही नहीं। अतः श्लेष शब्दालंकार कदापि नहीं हो सकता। उद्धृष्टाचार्य का यही मत है—उनके मत में श्लेष जब भी अलंकृत करेगा तब अर्थ को ही अलंकृत करेगा, वह शब्द को कदापि अलंकृत नहीं कर सकता, किन्तु मम्मटाचार्य, आशयाशयी-सम्बन्ध को ही अलंकारालंकार्य-सम्बन्ध मानने के कारण, श्लेष में शब्दालंकारता और अर्थालंकारता दोनों स्वीकार करते हैं।

मम्मटाचार्य की अर्थालंकार-भूत श्लेष की धारणा भी विचारणीय है। श्लेषार्थालंकार पर मम्मट ने दो प्रतिबन्ध लगाये हैं—एकवाक्यता का प्रतिबन्ध और दूसरा एकार्थक प्रतिपादक शब्दता का प्रतिबन्ध। श्लेषार्थालंकार “एकस्मिन्नेववाक्ये” सम्बन्ध है। इससे समग्र-पद-श्लेष तो अर्थालंकार हो नहीं सकता, क्योंकि उसके विश्लेषण में अनेक वाक्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त “एकार्थप्रतिपादकनामैव शब्दानां अत्रानेकार्थता” वही पर वह श्लेष अर्थालंकार हो सकेगा। इससे समग्र-पद-श्लेष भी अर्थालंकार नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें संवा अनेकार्थी ही पद रहा करते हैं।

पर, जब पद एकार्थ-प्रतिपादक ही रहेंगे तब उनसे अनेकार्थता की उपलब्धि कैसे सम्भव होगी ? स्वयं मम्मट-द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में "उदयमयते" आदि पदों के क्या भिन्न-भिन्न अनेक अर्थ नहीं लिए गये ? यदि "एक शब्द एकार्थप्रतिपादक" का सिद्धांत लगावे तो भी "उदयमयते" आदि में अनेकार्थ-वाची विभिन्न पदों का एक पद में सम्मेलन ही मानना पड़ेगा और उस दशा में "उदयमयते" आदि पदों में अनेक अर्थों का न सही, अनेक शब्दों का सम्मेलन कह दिया जायगा । इस प्रकार शब्द-श्लेष अथवा अर्थ-श्लेष की सत्ता श्लेषालंकार में सदा बनी ही रहेगी और मम्मट के "एकार्थप्रतिपादकानां एव अनेकार्थता" के विरोधाभास का परिहार असम्भव हो जायगा ।

इसके अतिरिक्त 'उदयमयते' आदि पदों के मम्मट ने जो अनेक अर्थ लिए हैं वे किस शब्द-शक्ति से निकले हैं, यह भी विवेचनीय है । शब्द के श्रुति-गत होते ही सर्वप्रथम उसकी अभिधा-शक्ति व्यापार किया करती है—रूढिवशात् उस शब्द का रूढार्थ उपस्थित होता है और तत्पश्चात् व्युत्पत्ति-वशात् उसका व्युत्पन्नार्थ उपस्थित हो सकता है । रूढि और व्युत्पत्ति दोनों में अभिधा-वृत्ति मानी गयी है, अतः रूढ और व्युत्पन्न (योगिक) दोनों अर्थ वाच्यार्थ कहलाते हैं । ये ही दोनों अर्थ शब्द के मुख्य अर्थ हैं और अभिधा शब्द की मुख्यावृत्ति है, किंतु यहाँ पर भी मम्मट व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ को मुख्य और रूढि-आप्त अर्थ को गौण कहते हैं, क्यों ? सो मम्मट ही जानें । इसी कारण 'कुशल' आदि शब्दों में मम्मट लक्षणा उठाते हैं । साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के इस मत का खंडन किया है ।

लक्षणा का उत्थापन अन्वय की अनुपपत्ति के कारण हुआ करता है—जहाँ पर अभिधा-व्यापार-द्वारा अर्थ-बोध नहीं हो पाता वहाँ पर लक्षणा-वृत्ति का व्यापार हुआ करता है । अतः "लक्षणा द्वितीय-स्थानीया गौणी वृत्ति" कहलाती है, किंतु जहाँ पर अन्वय उपपन्न हो जाने पर भी वक्ता के असीम तात्पर्य का अद्ययन नहीं हुआ करता वहाँ पर अभिधा के पश्चात् ही, अथवा अन्वय के अनुपपन्न होने पर लक्षणा के पश्चात् भी, व्यञ्जना-वृत्ति अपना व्यापार प्रारम्भ करती है । इस प्रकार व्यञ्जना भी, लक्षणा के समान ही एक गौणवृत्ति ही हुई—मुख्यावृत्ति^१ अभिधा ही है ।

अब, श्लेष में अनेकार्थता रहती है और इसलिए उन अनेक अर्थों का बोध कराने के लिए अनेक शब्द-शक्तियों का व्यापार अनिवार्य है—एक ही शब्द-वृत्ति से काम नहीं चल सकता, क्योंकि "विरम्य व्यापाराभाव" का नियम है, किंतु श्लेष में व्यंग्यार्थ का रहना साहित्य-संविधान के विरुद्ध है—क्यों ? क्योंकि व्यंग्यार्थ ध्वनि का विषय है और श्लेष एक अलंकार-विशेष है । गुणीभूत होकर व्यंग्यार्थ श्लेष ही अलंकार के क्षेत्र में घुस जाय, किंतु अलंकार ध्वनि की सीमा का उल्लंघन कैसे कर सकता है ? श्लेष वाच्यार्थ में ही रह सकता है—श्लेष की अनेकार्थता अभिधा की ही अनेकार्थता हो सकती है, लक्षणा और व्यञ्जना की अनेकार्थता उसके लिए अस्पृश्य है । श्लेष काला आदमी है—मुख्यार्थ जातीय होने से वह गौण और प्रतीयमान जाति के साथ कैसे बैठे—यह ध्वनि-वादी साम्राज्य है ।

वास्तविक बात यह है कि श्लेष के यदि अग्राढी-पिछाढी न लगायी जाय तो वह सारे ध्वनि-क्षेत्र को रोद डाले । इसीलिए श्लेष की ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य दोनों से सर्वथा पृथक् रखे रहने के अभिप्राय से उसे एक अलंकार-विशेष के अस्तित्व में जकड़ दिया गया है । इसके लिए अनेक प्रयत्न करने पड़े हैं—कई योजनाएँ बनानी पड़ी हैं । यह उद्भावना की गयी है कि अनेकार्थता के विधान में कवि के तीन असीम हो सकते हैं—१ या तो वह प्रासगिक ही प्रासगिक विषयों का वर्णन करेगा, २ या वह अप्रासगिक ही अप्रासगिक विषयों का वर्णन किया करेगा, अथवा फिर ३ वह प्रासगिक और अप्रासगिक विषयों का मिला-जुला वर्णन करने लगेगा । प्रासगिक वर्णनीय विषय को प्रकृत या प्रस्तुत अर्थ कहते हैं और अप्रासगिक अर्थों को 'अप्रकृत' या 'अप्रस्तुत' अर्थ कहते हैं, यदि कवि के पान

^१ मुख्या प्राथमिका न तु प्रधानभूता ।

कुछ प्रासंगिक विषय वर्णन करने के लिए है ही नहीं तो वह सब अप्रासंगिक ही अप्रासंगिक का वर्णन ही क्यों करने पला? इसी प्रकार यदि उसके पास सब प्रासंगिक ही प्रासंगिक विषय है और उन प्रासंगिक विषयों की किन्हीं अप्रासंगिक विषयों के साथ सब या विषय अनुसूति कराना उसे अभीष्ट नहीं तो वह एक ही पद भ्रमवा एक ही वाक्य-द्वारा अनेक अर्थों का बोध-मात्र करा देने के अतिरिक्त करता ही क्या है? और अर्थ का बोध-मात्र करा देना कवि-कर्म नहीं। था प्रासंगिक और अप्रासंगिक का मिला-जुला वर्णन करना तो सम्भव में आता है, पर प्रासंगिक ही प्रासंगिक भ्रमवा अप्रासंगिक ही अप्रासंगिक का वर्णन करना आलंकारिक-दृष्टि से सम्भव में न आने की ही बात है। मला, यह कोन मानेगा कि मम्मट-अवत उदाहरण में कवि का अभीष्ट राजा और रवि का एक साथ वर्णन भर कर देना था, न कि राजा और रवि के परस्पर साम्य की अनुसूति कराना था। यदि राजा और रवि का पृथक्-पृथक् और सर्वथा स्वतंत्र वर्णन करना ही कवि का अभीष्ट था तो उसने केवल दो अर्थों का बोध-मात्र करा दिया—उन अर्थों में अलंकारता का उसने क्या विधान किया? दोनों के एक साथ वर्णन कर देने में उसका अभीष्ट दोनों ही के प्रति उदासीलता कहीं जा सकती है, तब तो यही कहना चाहिए कि वह काव्य करने नहीं, कवि—कौतुक-वश शब्द-झेंडा भर करने लगा है और इस परिस्थिति में यहाँ श्लेष अलंकार भी नहीं कहा जा सकता—अनेकार्थता-मात्र के विधान में अलंकारता कहीं। क्या अनेकार्थता ही अलंकारता है? मम्मट अनेकार्थता को ही श्लेष की अलंकारता मान लेते हैं। यह सब श्लेष को एक अलंकार-विशेष सिद्ध करने और उसे शब्द-वाक्य-मूलक ध्वनि से पृथक् करने की सुराफात भर है—अन्यथा संपूर्ण शब्द-वाक्य-मूलक ध्वनि श्लेष में ही धतभूत हो जाय, क्योंकि श्लेष और शब्द-वाक्य-मूलक ध्वनि में केवल इतना ही तो अंतर है कि ध्वनि में खो-गादि सब-बाद अनेकार्थता के एक प्राकरणीक अर्थ में सीमित हो जाने पर भी अन्यायार्थ प्रतीत होने रहते हैं और श्लेष में अनेकार्थता संगोपादि सब-बाद प्रकरण-गत किसी एक अर्थ में सीमित नहीं हुआ करती, प्रत्युत असीमित रहती आती है। अब, अनिर्दिष्ट प्रकरण वाली अनेकार्थता में अलंकारता का प्रतिपादन ही मम्मट के अर्थालंकार-भूत श्लेष में मिलता है और इसी से वे श्लेष की अनेकार्थता को अभिधान्य सिद्ध कर लेते हैं।

वस्तुतः श्लेष कोई एक अलंकार विशेष नहीं—वह प्रायः सभी अर्थालंकारों का प्राण है—

“श्लेषः सर्वास्तु पुष्पाति प्रायः वक्त्रोक्तिषु श्रियम् ।”

इसीलिए तो उद्भटाचार्य को कहना पड़ा है कि श्लेष मिला-मिला अलंकारों का आधार दियाया देता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अनेकार्थता होगी वहाँ-वहाँ उन अर्थों में साम्य भ्रमवा वैषम्य का मध्य भी स्थापित हो जायगा और ऐसा हो जाने पर वे अनेक अर्थ केवल प्रकृत ही प्रकृत भ्रमवा केवल धातु ही धातु प्रकृत न रह जायेंगे—उनमें से कुछ प्रकृत और कुछ अप्रकृत बन जायेंगे और तब वे उनमें और उपमान होकर किसी न किसी अर्थालंकार-विशेष का रूप धारण कर लेंगे।

पर, इतना होने पर भी आचार्य-गण श्लेष को एक अलंकार-विशेष ही सिद्ध कर इतने ही धुन में उसका अन्याय्य अर्थालंकारों से भेद दिखाने का प्रयत्न करते चले आ रहे हैं।

यही दशा ‘वक्त्रा’ और ‘अतिघात’ की भी कर दी गयी है।

ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य

श्री शिवनाथ

यदि ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की श्री, समृद्धि का दर्शन करना है तो ब्रजभाषा के मूल स्रोत की एक झलक ले लेंगी होगी। भाषा, साहित्य की बाहिका जो ऊहरी, विना भाषा के साहित्य का अस्तित्व कहाँ? किसी भाषा का जो पूर्ण और सुष्ठु रूप दृष्टिगत होता है वह सहसा ही सपन नहीं हो जाता, उसकी यह सपन्नता क्रमिक रूप में होती है। किसी भी विकसित भाषा के विषय में यही बात कही जा सकती है। भाषा की सपन्नता में देश-काल की अनुकूलता का भी कम महत्त्व नहीं गिना जा सकता। भाषा न्यूनाधिक रूप में कई पीढ़ियों के उत्तराधिकार के क्रमशः ग्रहण करती हुई पूर्ण विकसित होती है। ब्रज की भाषा के साथ भी यह तथ्य लगा हुआ है।

ब्रज की भाषा को जिन भाषाओं का उत्तराधिकार मिला वे हैं—शौरसेनी प्राकृत, तदोद्भूत अपभ्रंश और अपभ्रंश तथा ब्रज की भाषा के मध्य की भाषा की एक अवस्था जिसे 'पुरानी हिंदी' कहा जाता है। शौरसेनी प्राकृत से यह स्पष्ट है कि इस प्राकृत का सवध 'शूरसेन-प्रदेश' से है, जो प्रदेश आज 'ब्रज-मंडल' के अंतर्गत आता है। इस प्राकृत का आधार शूरसेन प्रदेश की सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा रही। प्राकृत का अर्थ ही है प्रकृति से सबद्ध, स्वाभाविकता वा अकृत्रिमता से सबद्ध, अर्थात् प्राकृत का सवध उस भाषा से है जिसका आधार जन-सामान्य की स्वाभाविक बोली है। यद्यपि 'प्राकृत' का सवध जनता की स्वाभाविक बोली से है तथापि यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि उस बोली में साहित्य-निर्माण भी हुआ। इससे जन-सामान्य की भाषा ने साहित्य-निर्माण का साधन होने का गौरव प्राप्त किया और तब यह 'प्राकृत' भी, जो जनता की स्वाभाविक बोली थी, संस्कृत हुई। उसमें सुधार किया गया, उसका व्याकरण बना, वह इतनी समर्थ बनायी गई कि उसमें साहित्य-निर्माण हो सके। इस पर भी ध्यान रखना है कि जब कोई भाषा साहित्य-निर्माण के लिये गृहीत होती है तब उसका प्रसार कुछ व्यापक होता है, वह अपने मूलस्थान के साहित्यकारों-द्वारा ही व्यवहृत नहीं होती, प्रत्युत अन्य प्रदेश के साहित्यकारों-द्वारा भी व्यवहृत होती है, अर्थात् जब शौरसेनी का व्यवहार साहित्य-निर्माण के लिए हुआ तब उसकी व्याप्ति बड़ी। शौरसेनी प्राकृत का सवध मध्यप्रदेश-स्थित शूरसेन प्रदेश की बोलचाल की भाषा से है। उस मध्य देश से जहाँ की संस्कृत भाषा में महत्त्वपूर्ण साहित्य का निर्माण हुआ था। जहाँ की संस्कृत में 'रामायण', 'महाभारत' और कालिदास आदि के काव्य बने थे। अभिप्राय यह कि इस प्राकृत का क्षेत्र वह प्रदेश था, जहाँ संस्कृत का पूर्ण उत्कर्ष हुआ था। ऐसी अवस्था में हम यह भी देखते हैं कि इस प्राकृत पर संस्कृत का भी अच्छा प्रभाव रहा। इस प्राकृत तथा संस्कृत में साम्य भी विशेष है।

महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी प्राकृतों का व्यवहार नाटकों के लिए विशेष रूपसे होने के कारण इन्हें नाटकीय प्राकृत भी कहते हैं। भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में शौरसेनी की व्यवहार की व्यवस्था इस प्रकार दी गई है—

नायिकाणां सखीनां च शौरसेन्यविरोचिनी।

यौथनगरिकावीनां दाक्षिणात्या च विख्याताम् ॥

—भरत नाट्यशास्त्र १८।३६

शौरसेनी का व्यवहार उसकी कोमलता के कारण प्रायः नायिकाएँ (स्त्री-पात्र) करती हैं। इसका प्रयोग विद्रूपक भी करते हुए देखे जाते हैं, जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तल में। कर्पूरमञ्जरी में तो राजा भी इसी का प्रयोग करते हैं।

शौरसेनी प्राकृत का एक भेद 'जैन शौरसेनी' भी है, क्योंकि 'द्विग्वर-सप्रदाय' के धार्मिक श्रवों की भाषा किन्हीं श्रवों में 'शौरसेनी प्राकृत' से मिलती-जुलती है।

एक समय ऐसा भी था जब प्राकृत से पूर्वे की आर्य-भाषा 'पालि' पर भी शौरसेनी का प्रभाव पड़ा और इसीके अनुसार उस (पालि) में भी भोकारात् रूप की प्रतिष्ठा हुई। जैसे शौरसेनी प्राकृत में भोकारात् रूपों का बाहुल्य है वैसे ही ब्रज की भाषा में भी। इस विवरण से शौरसेनी प्राकृत के प्रसार और प्रभाव का परिचय मिल जाता है।

अर्थात् प्राकृतों में भी काव्यों की रचना हुई, तथापि नाटकों में विभिन्न पात्रों के लिये विभिन्न प्राकृतों के व्यवहार की व्यवस्था होने के कारण भी इसका प्रचुर प्रसार हुआ। इसकी अतिरिक्त जिस प्रकार बौद्धों ने 'पालि' को अपनाया उसी प्रकार जैनो ने 'प्राकृत' को। इनके द्वारा इसकी प्रभुत्व उत्पन्न हुई।

प्राकृत के जीवन-काल में एक समय ऐसा भी आया जब वह शौर साहित्यिकता तथा व्याकरण के नियमों से जकड़ गई, सामान्य जनता के लिए वह बोध-गम्य नहीं रह सकी और तब पुन जनता की व्यावहारिक बोली में साहित्य-निर्माण का भी गणेश हुआ। आरम्भ में जिस व्यावहारिक बोली का आधार न होने के कारण वह 'अपभ्रंश' नाम से पुकारी गई। साहित्यिकता तथा व्याकरण के नियम आदि से उस समय व्यूथ होने के कारण ही पश्चिमो ने इसे 'अपभ्रंश' कहा, परन्तु जब इसमें भी साहित्य-निर्माण अनवरत रूप से होने लगा तब वैयाकरणों की दृष्टि इसकी ओर गई और 'ह्रस्वचक्र' आदि ने इसका व्याकरण प्रस्तुत किया। अपभ्रंश, प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं को मिलाने वाली बीच की कड़ी समझी जाती है। अपभ्रंश के कुछ और विकसित रूप को, जो हिन्दी से बहुत ही निकट है, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' कहा है, परन्तु अपभ्रंश और 'पुरानी हिन्दी' के बीच में कोई निश्चित सीमा—रेखा नहीं खींची जा सकती, यही कारण है कि गुलेरी जी ने विकसित अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कह दिया है।

शौरसेनी प्राकृत की भाँति 'शौरसेनी अपभ्रंश' का भी अच्छा प्रसार और प्रभाव रहा। विक्रम की लगभग दशवीं शती से लेकर लगभग चौदहवीं शती तक संपूर्ण उत्तराप्रदेश में इस अपभ्रंश का प्रभाव था। मध्यदेश तथा अतर्वेद के शासक राजपूतों के सहायक राज्यों ने अपभ्रंश की प्रतिष्ठा में अधिक सहायता की। शौरसेनी प्राकृत की भाँति गुजरात के जैनो-द्वारा भी इसे अच्छी प्रतिष्ठा मिली।

प्राकृतसर्वस्वकार 'माकंडेय' ने अपभ्रंश के तीन भेद माने हैं—नागर, उपनागर और प्राच्य। नागर अपभ्रंशमें—जैसे पश्चिमी अपभ्रंश भी कह सकते हैं और जो राजस्थान, गुजरात में प्रचलित थी, पर शौरसेनी अपभ्रंश, अर्थात् मध्यदेशी अपभ्रंश का प्रभाव मिलता है। अपभ्रंश-काल में पूर्व के कवियों ने जिस पूर्वी अपभ्रंश का व्यवहार किया वह शौरसेनी अपभ्रंश ही है। इस प्रकार हम देखते यह है कि शौरसेनी प्राकृत की भाँति ही शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रचुर प्रसार और प्रभाव था। इसी शौरसेनी अपभ्रंश ग्रन्थवा इन्हीं का कुछ और विकसित रूप 'पुरानी हिन्दी' का उत्तराधिकार ब्रज की भाषा को मिला और इस 'ब्रजभाषा' का भी प्रसार-प्रभाव कम नहीं था।

इसका निर्देश ऊपर हुआ है कि अपभ्रंश और उसकी कुछ विकसित प्रवस्था 'पुरानी हिन्दी' में भेद कम है। इसी 'पुरानी हिन्दी' से हिन्दी की अनेक बोलियों का उद्गम हुआ जो अपनी सामर्थ्य के कारण भाषा कहलाई। ब्रज की भाषा उनमें से एक है। अपभ्रंश की ऐसी रचनाएँ जिनमें 'पुरानी हिन्दी' का रंग मिलता है, विक्रम की ग्यारहवीं शती से लेकर लगभग चौदहवीं शती तक मिलती हैं। जिनमें 'पुरानी हिन्दी' के साथ ही ब्रजभाषा के रूप भी मिलते हैं। इन उद्धरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी, जो कि चन्द्रधर शर्मा गुलेरी-द्वारा लिखित और नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित 'पुरानी हिन्दी' नामक ग्रन्थ में हीत किए गए हैं—

अबु 'मण्ड' मुणालवई सुव्वण 'गयड' न झुरि ।

बाह बिछोउ 'विजाहि' सुड्ड 'हउ' तेवेई को बोधु ।

जइयह 'रावणु जाईयउ' 'बहुमह' 'इन्कु सरीर' ।
जणणि बियंभी चितवइ कवणु पियावउं शीर ॥
'तइ' गडुआ गिरजार, काहें मणि 'मत्सुर बरिउ' ।

—प्रबध-चितामणि

माणि पणहुइ जइ न तणु तो बैसडा चइज्ज ।
मा बुज्जण कर-मल्लविहिं दसज्जिंतु 'भमिज्ज' ॥
कौ रवि पईवु सहस्स कइ, नगरी मज्जिम सामि ।
जइ न रडंतु तइ 'हरउं' (तइ) भगियांह पविसामि ॥

ॐ

बेस बसिहुइ 'वारियइ' जइवि मणोहर-गत ।
मई जाणियउं पिय विरहिं यह कवि घर होइ वियालि ।
जे परिरंभहिं पर रमणि ताहें, फुसिज्जइ लीह ।

—'कुमारपालप्रतिबोध-कार' सोमप्रभ-द्वारा उद्धृत

मंडु जंपइ 'पढ़इ' पर कव्व ।
कह एस बरचइ सुकइ—
'कहइ' मति मह धूयसत्त विवि ।

—सिद्धपाल

जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ, सत्तु वि मित्तु वि किहें वि हु भावहु ।

'अन्हें निबहु' कोवि जणु, अन्हइ वण्णउ कोवि ।
'अन्हारउं' 'गुन्हारउं' वि एहु मसत्तु न तासु ।

—हेमचंद्र

अंगहि अंग न 'मिलिअउ', अहरें अहच न पत्तु ।

—हेमचंद्र . व्याकरण

उपर्युक्त उद्धरणों में ब्रजभाषा के अनेक रूप मिलते हैं। गौरसेनी प्राकृत तथा ब्रजभाषा की ✓
श्रीकारात बहुला प्रवृत्ति की चर्चा हम कर चुके हैं। खड़ी बोली की आकारात पुल्लिङ्ग सजाएँ, विशेषण और
भूत कृत, यत्र-तत्र वर्तमान कृत भी श्रीकारात हो जाते हैं, जैसे—घोडो, बडो, जान्यो (जाणियउ), मिल्यो
(मिलिअउ) ^१ । ब्रजभाषा की आकारात सजाएँ और विशेषण उकरात हो जाते हैं, जैसे—दोनु, रावणु, एकु
(इन्कु), सरीर, मत्सुर । संस्कृत के स्वार्थ 'क' की भाँति ब्रजभाषा में 'रा' का प्राधान्य है। जैसे—जियग, हियग
आदि । ऊपर के उद्धरण में 'बैसडा' है, जो 'डलयोडसैंद' और 'रलयोडसैंद' के अनुसार 'ग' के शेष की ही वस्तु
है। गौरसेनी प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का 'ण' ब्रजभाषा में 'न' हो जाता है, इसके अनेक प्रमाण ऊपर
के उदाहरणों में मिलते हैं। साथ ही 'घ' और 'प' दोनों के लिये 'न' चलता है। ब्रजभाषा में 'घ' का प्रयोग 'न'
के लिये भी होता है। उपर्युक्त उद्धरणों में ब्रजभाषा के श्री-रूपों के मूल भी दृष्टिगत होने हैं, यथा—मनं
(भणइ), गयी (गयउ) जाहि, ही (हउ) जायी (जाईयउ), पियावो, तें (तइ), घग्घो (घग्घिउ), भ्रमोडें
(भमिज्ज), हरो (हरउ), वारियइ (वरजिए), परिरंभहिं, पढ़ (पटइ), कहैं (कहउ), भावइ, निदइ, रमानी
(रम्याणउ), गुन्हारो (गुन्हारउ) आदि ।

^१ ब्रजभाषा में कृतक शब्द—घोडो, बडो, जान्यो और मिल्यो नहीं बनते, इनका शुद्ध रूप—
घोडा, बडो, जान्यो और मिल्यो होता है। इसी प्रकार 'घ' भी आदि में छ और अंत द्वयग हो जाता है ।

ब्रजभाषा का प्रसार-प्रभाव उतना ही व्यापक था, जितना उसके प्रदेश की पूर्ववर्तिनी भाषाओं का प्रसार-प्रभाव। ब्रजभाषा सारे उत्तराखण्ड की काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई। दक्षिण के कुछ कवियों ने भी इसमें रचना की। इसके प्रसार-प्रभाव की इस व्यापकता का प्रचलन कारण था कि इसे बसन्धिय तथा राज्याश्रय दोनों मिले। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंस को ये आश्रय एक साथ और पूर्ण रूप से नहीं मिल पाए थे।

ब्रजभाषा का प्रयोग काव्य के लिये ही इतने व्यापक रूप से हुआ, जो प्रचलित पद्य में लिखा जाता था। इसका प्रयोग 'गद्य' के लिये विरल रूप से ही हुआ, अतः ब्रजभाषा का 'गद्य-साहित्य' उतना अधिक नहीं प्राप्त होता, जितना कि पद्य। ऐसा होने का स्पष्ट कारण है, वह यह कि गद्य में व्यक्त किए जाने वाले विषयों के लिये गद्य का प्रयोग हमारे साहित्यकारों ने नहीं किया। अतः हिंदी-साहित्य को गद्य में साहित्य-निर्माण की परंपरा घन्ची नहीं मिली। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंस सर्वत्र गद्य का ग्रहण विरल ही है। श्री चंद्रधर शर्मा-गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' में लिखा है—

"प्रबंध-वैततमणि" में केवल दो प्रसंगों में कुछ गद्य आया है। 'कुमारपाल प्रतिबोध' में भी गद्य की विरलता है।"

तात्पर्य यह कि हमारे साहित्य में पद्य के ग्रहण का आधिक्य और गद्य के ग्रहण की विरलता है। सभी विषयों को पद्य में ही व्यक्त करने की चाल थी। हिंदी-साहित्य में भी यही परंपरा चली। अतः ब्रजभाषा का ग्रहण गद्य के लिये कम होने के कारण उसमें साहित्य का निर्माण भी कम हुआ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य के अन्तिम और शृंगार-काल में ब्रजभाषा-साहित्य का प्रभूत निर्माण हुआ, परन्तु इनमें काव्य का ही अधिक निर्माण हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है कि ब्रजभाषा को धर्माश्रय और राज्याश्रय दोनों पूर्ण रूप से मिले, यह बात पद्य काव्य को ही दुष्टि-मय में रखकर समझी जानी चाहिए। ब्रजभाषा के गद्य को कोई धात्र्य मिला हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। भक्ति-काल में क्लृप्त-संप्रदाय के कुछ आचार्यों और भक्तों ने इसका ग्रहण बातों तथा स्व-स्व संप्रदाय के संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद आदि के लिये किया। भक्ति-काव्य को राज्याश्रय भी नहीं मिला, कारण कि उनमें भक्ति-प्रवृत्ति का प्राधान्य न था, विलास-प्रवृत्ति का ही आधिक्य था। शृंगार-काल में भी गद्य का ग्रहण केवल टीकाओं के लिए हुआ। इस काल में काव्य (पद्य) को राज्याश्रय मिला, गद्य को नहीं। काव्य-रचना के कारण ही राज-दरबारों में कविगण पूजे जाते थे, जहाँ कलावाणी विद्याना आवश्यक था। गद्य-द्वारा यह कार्य संभव नहीं था। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रजभाषा का जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह प्रचलित-स्वतंत्र या निरवलंब रूप से। फिर ब्रजभाषा-काव्य के इस आधिक्य काल में भी उसका जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह एकदम नगण्य तो नहीं कहा जा सकता, वह जितना रचा गया, वही क्या कम है। इसके अतिरिक्त सभी संपूर्ण हिंदी-साहित्य का पूर्ण अनुसंधान भी प्रस्तुत नहीं हो पाया है। समग्र हिंदी-भाषा का गद्य-साहित्य विशिष्ट स्थानों में दबा पड़ा हो।^२

ब्रजभाषा का जो गद्य-साहित्य हमारे संमुख है उसे हम दो श्रेणियों में रत सकते हैं—धार्मिक श्रेणी में और साहित्यिक श्रेणी में। धार्मिक का सबसे अन्तिम-काल से विशेष है, जिनमें बतारिए बनी, दुराणों एवं धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद हुए, आचार्यों तथा भक्तों ने अपने धर्म को लोगों पर प्रकट करने के लिये भाष्य किए वा गद्य ग्रंथ लिखे। साहित्यिक श्रेणी का गद्य शृंगार-काल में प्रचलित टीकाओं के लिये गृहीत हुआ। इसमें कुछ मौलिक रचनाएँ भी इस काल में हुई, जिनका संबंध साहित्य से है। इस प्रकार हम देखते हैं

१. ब्रजभाषा में गद्य का प्रयोग 'अनुवादों में प्रभाव रहा, अतः नीतः भाष्यरत आदि अनेक पुराणों के गद्यानुवाद हुए। उनमें आज बहुत कुछ मिलते हैं।

२. यह सत्यार्थ ही अतीत होता है, क्योंकि नवी शोध के परिणाम-स्वरूप ब्रजभाषा गद्य के नये ग्रंथों का निरंतर उत्पादन हो रहा है। यह शोध की रिपोर्टों से विवक्षित होता है।

कि ब्रजभाषा-गद्य का उपयोग धार्मिक साहित्य के लिए भी हुआ और साहित्यिक रचनाओं के लिए भी। इसका उपयोग वैष्णव, ज्योतिष, शालहोत्र आदि की रचनाओं के लिये भी हुआ, परन्तु ऐसी रचनाएँ कम हुईं।

जिस-जिस ढंग की रचनाओं के लिए ब्रजभाषा के गद्य का उपयोग हुआ है उसके अनुसार भी इस (ब्रजभाषा के गद्य) में निर्मित साहित्य का श्रेणी-विभाजन हो सकता है। प्रधानतः तीन प्रकार की रचनाओं के लिये इसका उपयोग हुआ है—“भौतिक, अनुवाद और टीका-टिप्पणी के लिए।” इन तीनों प्रकार की रचनाओं का एक-एक भेद और हो सकता है। वह यह कि इनमें से प्रत्येक कुछ तो केवल गद्य में है और कुछ ऐसी है जिनमें गद्य के साथ पद्य भी है। इनमें से किसी में गद्य का प्राधान्य है, किसी में पद्य का। ब्रजभाषा के गद्य में जो भौतिक रचनाएँ हैं, उनमें धार्मिक रचनाएँ भी हैं और साहित्यिक रचनाएँ भी। प्राधान्य भी ऐसी ही रचनाओं का है। प्रधान रूप से वल्लभ-संप्रदाय के भक्त-रचनाकारों से इन रचनाओं का सबंध है, जिनमें पुष्टिभार्या भक्त, वल्लभ-संप्रदाय के महाप्रभुओं और वैष्णवों की वार्ता वा उनका जीवन-विवरण तथा श्री कृष्ण की लीला आदि का विवरण है। स्वामी श्री हरिदास जी की संप्रदाय के भी कुछ ग्रंथ ब्रजभाषा-गद्य में बने। वल्लभ-संप्रदाय से सबंध रखने वाले रचनाकारों ने वार्ताओं की खूब रचना की। गोकुलनाथ की ‘चौरासी वैष्णवों की वार्ता’ और ‘दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता’ के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी वार्ताएँ लिखीं। गोकुलनाथ जी के समकालीन हरिराय जी ने ‘श्री आचार्य महाप्रभू की द्वादस निज वार्ता’, श्री आचार्य महाप्रभू के सेवक चौरासी वैष्णवों की वार्ता की ‘टीका’, श्री आचार्य महाप्रभू की निज वार्ता और घरू वार्ता आदि ग्रंथ लिखे। स० १८३३ के लगभग किसी ने ‘पुष्टिदुद्धाव भाषा की’ रचना की, जिसमें पुष्टिभार्या-सिद्धांतों का उल्लेख है। स० १८०० के लगभग टट्टी संप्रदाय से सबद्ध गुरु-शिष्य श्री ‘ललित किशोरी’ और ‘ललित मोहिनी’ ने ‘श्री स्वामी जी महाराज की बचनिका लिखी। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विठ्ठलनाथ जी ने ‘भृगुार-रस-मडन’ लिखा, जिसमें श्री कृष्ण की लीला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा-गद्य में वल्लभ-संप्रदाय से सबद्ध भक्तों, एवं संप्रदाय से सबद्ध श्री कृष्ण की लीला तथा उस के सिद्धांतों आदि का वर्णन खूब हुआ। इन रचनाओं की प्रवृत्ति मूल में प्रधानतः धार्मिक ही रही।

कुछ ऐसी धार्मिक वा पौराणिक रचनाएँ भी हुईं, जिनका सबंध किसी संप्रदाय से नहीं था। जैसे—स० १६८० के लगभग श्री वैकुण्ठमणि शुक्ल ने ‘भगवत माहात्म्य’ और ‘वैशाख माहात्म्य’ औरछा के राजा यशवतसिंह की रानी ‘चंद्रावती’ की आज्ञा के अनुसार लिखे। विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य के लगभग ‘भीमराज प्रधान’ ने ‘हरतालिका की कथा’ लिखी। इसी प्रकार स० १८६७ में ‘नवलसिंह’ ने ‘महाभारत वार्तिक’ में ‘महाभारत’ की कथा कही।

कृष्ण को लेकर ही भौतिक गद्य-ग्रंथ नहीं लिखे गए, राम को भी लेकर लिखे गए। ‘नाभादाम’ (स० १६५७ के आस-पास तक के) ने ‘अष्टयाम’ की रचना की, जिसमें राम की दिनचर्या का वर्णन है।

नाथ-संप्रदाय के भी कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जो गद्य में लिखे गए हैं और इनका समय स० १४०० के आस-पास है, जैसे—‘गोरखसार’।

ब्रजभाषा-गद्य में साहित्य-संबन्धी रचनाएँ भी हुईं। इनमें अलंकार, रस, नायिका-भेद आदि भी लिखे गए। जैसे—‘जयगोविंद बाजपेयी’ (स० १७१६-१७६५) का ‘कविसर्वस्व’।

शकुन-विचार संबंधी ग्रंथ भी ब्रजभाषा-गद्य में लिखे गए। ‘व्यास’ ने विक्रम की उन्नीसवीं शती के आरंभ में ‘शकुन-विचार-मन्थरी’ ग्रंथ लिखा है।

इस प्रकार विदित होता है कि ब्रजभाषा के गद्य में अनेक ढंग की भौतिक रचनाएँ हुईं, जिनमें धार्मिक विषयों का प्राधान्य है। साहित्यिक विषयों पर भी रचनाएँ हुईं।

पहले निर्देश किया गया है कि कुछ भौतिक ग्रंथ ऐसे भी बने जिनमें पद्य के साथ गद्य भी है। ऐसे ग्रंथों का सबंध प्रधानतः साहित्यिक विषयों से है, जैसे, पिंगल, प्रवरार नय-निगम, ऋतु-संग-ध्याय।

१. पुष्टिदुद्धाव भाषा की हरिराय की है।

‘बख्शी समनसिह’ (स० १८७८ के आस-पास) का ‘पिंगल-काव्य-भूषण,’ भारवाह के महाराज ‘मानसिंह’ कृत ‘नाय-प्रसन्न’ (ऋतु-वर्णन), वनारसीदास’ (स० १६६८) कृत ‘वनारसी-विलास’, ग्वाल कवि का भूषण-उल्लास या कवि-भूषण आदि ग्रन्थ ऐसे ही हैं।

गद्य-पद्य मय कुछ ग्रन्थ ऐसे भी मिलते हैं जिनका विषय कृष्णलीला, वेदांत या ब्रह्मज्ञान आदि से हैं। ‘वैष्णवदास’ (लगभग स० १८२६) कृत ‘भक्तमाल-प्रसंग’ में श्री कृष्ण की लीला का वर्णन है। जोधपुर के राजा ‘यशवर्तसिंह’ (विक्रम की १८ वीं शती का मध्य) के ‘सिद्धांतबोध’ में ‘ब्रह्मज्ञान’ का विचार है।

इस विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि ऐसी मौलिक रचनाएँ जो केवल ब्रजभाषा-गद्य में हैं, उनमें धार्मिक विषयो का प्राधान्य है और ऐसी रचनाएँ जिनमें गद्य-पद्य दोनों हैं, उनमें साहित्यिक-विषयो का प्राधान्य है।

जैसे ब्रजभाषा के कुछ मौलिक गद्य-ग्रन्थों में केवल गद्य का उपयोग किया गया है और कुछ में गद्य और पद्य दोनों का, वैसे ही कुछ ग्रन्थ केवल ब्रजभाषा-गद्य में अनुदित मिलते हैं और कुछ गद्य और पद्य दोनों में। अनुवाद प्रायः संस्कृत से किए गए हैं। संस्कृत के अतिरिक्त उस समय, अर्थात् अक्षि और शृंगार-काल में किसी अन्य भाषा का भारत में प्रचार भी नहीं था, जिससे अनुवाद किया जाता। कुछ ग्रन्थ फारसी से अनुदित भी मिलते हैं। गद्य और गद्य-पद्य मिश्रित दोनों में अनुदित ग्रन्थों के विषय प्रायः धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, कथा-कहानी, वैद्यक आदि हैं। धार्मिक ग्रन्थों में पुराणों के अनुवाद विशेष रूप से मिलते हैं। स० १६१७ के लगभग किसी ‘नवदास’ (प्रसिद्ध कवि नवदास नहीं) ने ‘नासकेतु पुराण’ का केवल ‘ब्रजभाषा-गद्य’ में ‘नासकेत पुराण-भाषा’ के नाम से अनुवाद किया। केवल गद्य तथा गद्य-पद्य-मिश्रित गद्य में वेदांत, उपनिषद्, भगवद्गीता आदि तत्त्वज्ञान-संबन्धी ग्रन्थों का अनुवाद भी हुआ। फारसी में अनुदित उपनिषद् से भी एक हिंदी-अनुवाद मिलता है। स० १७७६ के आस-पास किसी ने ‘शाहजहाँ’ द्वारा (स० १७१२ में) फारसी में लिखावाए गए कई उपनिषदों का अनुवाद हिंदी (ब्रजभाषा) में किया। इसका नाम ‘उपनिषद्-भाष्य’ है। ‘मनोहरदास’ निरञ्जनी ने लगभग स० १८२३ में वेदांत-विषयक किसी ग्रन्थ का अनुवाद ‘वृद्धदर्शी निर्णय’ नाम से गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में किया। जोधपुर के महाराज मानसिंह के समय में (स० १८६०-१८७०) किसी ने ‘गोरखनाथ’ द्वारा लिखित ‘सिद्धसिद्धांत-पद्धति’ का अनुवाद किया। इसका विषय वेदांत तथा परमनाथ की उपासना है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुवाद भी अधिक मिलते हैं, ब्रजभाषा गद्य में भी और गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में भी। स० १७५६ में ‘भगवानदास’ ने ‘भाषामृत’ नाम से भगवद्गीता का अनुवाद किया। स० १७६८ के आस-पास किसी ने ‘भगवद्गीता भाषा’ के नाम से गीता का अनुवाद किया। ये दोनों ग्रन्थ केवल गद्य में हैं। ‘मानद राम’ ने स० १७६१ में गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में गीता का अनुवाद किया।

‘प्रबोधचन्द्रोदय’ जैसे नाटको का अनुवाद भी ब्रजभाषा गद्य में हुआ। जोधपुर के राजा यशवर्तसिंह-द्वारा इस नाटक का अनुवाद मिलता है।

उपदेशात्मक कथा-कहानी के अनुवाद भी हुए। स० १८०० के आस-पास का किसी का ‘हिन्दी-पदेश-भाषा सटीक’ मिलता है। सूरत मिश्र ने ‘वैतालपंचविधति’ का अनुवाद किया।

बाद के पुनः किसी आलम ने स० १७४६ के बाद किसी वैद्यक ग्रन्थ का फारसी से गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में ‘ग्रन्थ सजीवन’ नाम से अनुवाद किया।

टीकाएँ भी मौलिक रचनाओं तथा अनुवादों की भाँति ही केवल गद्य तथा गद्य-पद्य-निर्मित ब्रजभाषा में बनीं। टीकाओं का समय लगभग विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य में सुरु उन्नीसवीं के अंत वा बीसवीं के आरंभ तक समझना चाहिए। विक्रम की अठारहवीं शती के मध्यतक प्रभुत साहित्य निमित्त हो चुका था और ऐसा साहित्य निमित्त हो चुका था, जिसके समझने में कुछ बाधा उत्पन्न हो सकती थी। ऐसी परिस्थिति में टीकाओं का बनना स्वाभाविक था। जिन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गईं निश्चित ही वे दुर्लभ हैं। जैसे—‘बिहारी सतसई’, ‘केशवदास कृत ‘रसिकप्रिया’ और ‘कविप्रिया’। विद्वारी

तथा केशव^१ की रचनाओं की अनेक टीकाएँ मिलती हैं। मतिराम कृत 'रसराम' तथा महाराज जशवंत-सिंह कृत 'भाषामूषण' पर भी टीकाएँ मिलती हैं, परन्तु उतनी नहीं, जितनी कि बिहारी और केशव की रचनाओं पर। इन ग्रंथों पर कुछ टीकाओं तथा उनके कर्त्ताओं के नाम इस प्रकार हैं—बिहारी के पुत्र^२ 'कृष्ण कवि' की 'बिहारी सतसई' की टीका (सं० १७८५-१७९० के मध्य), सूरत मिश्र कृत 'अमरचन्द्रिका' (सं० १७९४ बिहारीसतसई की टीका)। आपने^३ 'कविप्रिया-तिलक' नामसे केशव की 'कविप्रिया' के क्लिष्ट स्थलों की सामिक और स्पष्ट टीका की है। केशव की 'रसिकप्रिया' पर आपने 'रसगाहक-चन्द्रिका' नाम से टीका की। रघुनाथ (सं० १७९६-१८०७) कृत 'बिहारी सतसई' की टीका। काशी के बाबू देवकीनन्दन के अश्वि 'अकुर कवि' (सं० १८००) की 'सतसैयावरणार्थ' नामक बिहारी सतसई की टीका, हरिवरणदास कृत 'बिहारी सतसई', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' तथा 'भाषामूषण' की टीका। ये टीकाएँ लगभग सं० १८३४-३५ में बनीं। हरिवरणदास जाति के ब्राह्मण तथा कृष्णगढ (मारवाह) के निवासी थे। इस सब की बिहारी सतसई की टीका, प्रतापसाहि कृत 'रसराम' की टीका (१८६६), याकूब खाँ (सं० १७७५) कृत 'रसिकप्रिया' की टीका, दलपतिराय तथा वसीधर कृत 'अलंकार रत्नाकर' नामक 'भाषामूषण' की टीका; ये सभी टीकाएँ ब्रजभाषा-गद्य में हैं। बिहारी सतसई पर कुछ टीकाएँ ऐसी हैं जो गद्य-पद्य दोनों में हैं। जैसे—राधाकृष्ण चौबे कृत बिहारी सतसई की टीका (सं० १७५०), अमरसिंह कायस्थ (सं० १८४५) की बिहारी सतसई की 'अमरचन्द्रिका' नामक टीका।

सूरदास के दृष्टिकृत पदों की टीकाएँ भी यत्र-तत्र मिलती हैं। काशीस्थ-वल्लभ-संप्रदाय के गोस्वामी गिरधरलाल के शिष्य बालकृष्ण दास ने 'श्री सूरदास जी कृत कूट (सटीक)' लिखा, जिसमें एक सौ दृष्टिकृत पदों की टीका है। यह सं० १८८५-१९०० के लगभग लिखा गया।^४

संस्कृत ग्रंथों पर भी टीकाएँ लिखी गईं। श्री विठ्ठलनाथ जी की 'नवरत्न' पर टीका मिलती है^५, जिसमें वल्लभ-संप्रदाय के सिद्धांत हैं। जिन नददास ने 'नासकेतु पुराण' का अनुवाद किया उन्होंने ही 'विज्ञानार्थ प्रकाशिका' नामक संस्कृत-ग्रंथ की ब्रजभाषा गद्य में टीका लिखी।

कुछ टीकाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें गद्य-पद्य दोनों का उपयोग किया गया है। जैसे—जमुना दास कृत 'गीतरघुनन्दन' की टीका, जो रीवाँ के महाराज विक्कनाथ सिंह द्वारा सं० १९०१ में लिखी गई। इसका नाम 'गीतरघुनन्दन-अभाविका टीका' भी है। श्री नामादास के 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका पर टीका और दृष्टात का नाम 'भक्ति-रस-बोधिनी टीका' है। यह लगभग सं० १८४४ में रची गई। डमरे प्रथम कविता में अथकर्त्ता का नाम 'अग्रनारायण दास' है और अंत में दृष्टातकार का नाम 'वैष्णव दाम' है। अंत निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथ का रचयिता कौन है। मभवत टीकाकार अग्रनारायण दास ही और दृष्टातकार वैष्णव दास।

इस विवरण से ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की गतिविधि का आभास मिल जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की वैसी स्पष्ट और अनवरत परंपरा नहीं चली जैसी आधुनिक काल में खड़ी बोली के गद्य की चल रही है। इसमें बहुत थोड़ी मौलिक रचनाएँ हुईं। जिन्हें हम अभी मौलिक रचनाओं के रूप में स्वीकार करते हैं, वे यथार्थ में मौलिक हैं अथवा अनुदित, अभी इसका निर्णय अनुसंधान-द्वारा नहीं हो पाया है। इसमें अनुवाद भी थोड़े ही हुए। यदि अनुवाद ही प्रभुत मात्रा में होते तो ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य का अच्छा रूप खड़ा हो सकता था। मौलिक और

१. दे० ग्वाल कृत आलोचना जैसे—“सूरत में केशव की सूरत सुधार दी”।

२. ये बिहारी के पुत्र नहीं, भानजे (बहिन के पुत्र) माने जाते हैं।

३. श्री काशीराज के अश्वि सरदार कवि की टीका भी प्रसिद्ध है।

४. श्री आचार्य के 'नवरत्न' पर ही नहीं उनके प्रायः सभी घोडशाहि ग्रंथों पर आपकी, मंत्र-दास के अनेक आचार्यों तथा उनके शिष्य-अशिष्यों की 'ब्रजभाषा-गद्य' टीकाएँ हैं।

अमूर्तित रचनाओं में भी कुछ ऐसी हैं, जिनमें पद्य भुसा हुआ है। टीकाओं का भी यही हाल है। बहुत दिनों तक ब्रजभाषा का गद्य टीकाओं में उलझा वा लगा रहा, परन्तु परिणाम कुछ नहीं हुआ।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के अमृत और अनवरत रूप से निमित्त न होने के कारणों की ओर निर्देश किया जा चुका है। उन कारणों का स्मरण कराते हुए हम यहाँ यह भी कहना चाहते हैं कि गद्य-साहित्य की अनवरत परंपरा प्रायः तभी देखी जाती है जब जनता किसी भावोत्प्रेरण में सक्रिय रूप से हाथ बढ़ाए—विशेषतः राजनीति में। ब्रजभाषा-काल में राजनीति जनता की नहीं थी, वह शाहशाही और छोटे-मोटे राजाओं के बीच चलने वाली राजनीति थी, जनता उसकी तटस्थ दर्शक मात्र थी। ब्रजभाषा-काल में यदा-कदा धार्मिक भावोत्प्रेरण अवश्य चले, जिसमें जनता उभर नहीं पाती थी, अत्याचार उन्हें दबाए रहता था।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के क्रमिक विकास की रूपरेखा से परिचित होने के लिए उसके प्रमुख रचनाकारों और रचनाओं पर दृष्टि डालनी होगी। ब्रजभाषा-गद्य की प्रथम रचना सन् १४०० के आस-पास मिलती है। इसका नाम 'गोरखसार' है। कुछ लोग इसे गोरखनाथ की रचना मानते हैं, परन्तु यह उनकी रचना नहीं है, प्रत्युत उनकी रचनाओं का अनुवाद प्रतीत होता है। संभव है 'गोरख-पथ' के किसी व्यक्ति-द्वारा इसमें उपर्युक्त पद्य के सिद्धांत कहे गए हों। इस प्रकार यह मौलिक रचना भी हो सकती है। इसकी भाषा इस प्रकार की है—

“सो वह पुण्य संयुक्त तीर्थ स्नान करि चुकी, अथ संयुक्त पुण्य ब्राह्मणनि को दै चुकी, अथ सहस्र जग्य करि चुकी, अथ बेवता सर्व पुंजि चुकी, अथ पितरनि को संतुष्ट करि चुकी, स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकी, जा भगुण को मन खिन-मात्र ब्रह्म को विचार बैठी।” ‘पराधीन उपराति बंधन नाहीं, सुभाषीन उपराति मुक्ति नाहीं, चाहि उपराति पाप नाहीं, अचाहि उपराति पुनि नाहीं, कम उपराति मल नाहीं, निहिकम उपराति निरमल नाहीं, दुष उपराति कुबुधि नाहीं, निरदोष उपराति सुबधि नाहीं, धीर उपराति मंत्र नाहीं, नारायण उपराति ईसर नाहीं, निरंजन उपराति ध्यान नाहीं।”

यह ब्रजभाषा-गद्य का प्राचीन रूप है, जिसकी वाक्य-रचना तथा शब्द-रूप अवश्य अव्यवस्थित है, अन्यथा भाव स्पष्ट ही हो जाते हैं।

ब्रजभाषा गद्य के दूसरे लेखक श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विठ्ठलनाथ जी निर्धारित होते हैं। इनका जन्म सन् १४७२ और मृत्यु सन् १६४२ में हुई थी। इनका रचना-काल विक्रम की सत्रहवीं शती का आरंभ माना जा सकता है। इन्होंने 'शृंगाररस-मञ्जरी' मौलिक, 'यमुनापट्टक' और 'नवरत्न' पर टीका लिखी है। प्रथम ग्रंथ में श्री रामाकृष्ण का विहार-वर्णन है। इससे एक उदाहरण देखें—

“अथस की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरन बिबे सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमांशुत में डूबि के इनके मंच हास्य को जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुंज दिव्य शृंगार रस श्रेष्ठ रसना कीनों सो पूर्ण होत भई।”

अंतिम ग्रंथ की भाषा इस प्रकार की है—

“तहाँ प्रथम श्री भगवान कलिलुग में अथमं विवोह प्रवर्त भयो देखि के कर्म के स्थापिने को आप श्री कृष्ण रूप पूरण प्रगट होत भए, सो धर्म की स्थापना करि पोखें फलि के जीवन को मोक्ष के अधिकारतें हीन देवि के भक्तिसागं प्रगट करि जो वा समय भक्त हुते तिलकी उदार करि पुष्पी को भार उतार आप बैकुंठ को पधारत भए।”

प्रथम उदाहरण की भाषा उसकी अवश्य है, परन्तु द्वितीय की पूर्णव्यवस्थित भाषा स्पष्ट है। इसे समर्थ ब्रज-भाषा के गद्य की श्रेणी में अवश्य रख सकते हैं।

गोसाईं विठ्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ जी ब्रजभाषा-गद्य के प्रसिद्ध लेखक माने जाते हैं। इन्होंने 'चौरासी वैष्णवों की बातें' और 'दोसी वाक्य वैष्णवों की बातें' लिखी हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि “ये बातें उनके द्वारा नहीं, प्रत्युत उनकी मप्रदाय के किसी दूसरे व्यक्ति-द्वारा लिखी गईं जान पड़ती हैं।” प्रथम के विषय में उनका मत है कि “यह श्री गोकुलनाथ के किसी मुखाशी विषय की लिखी हुई हो सकती है। कारण कि इसमें गोकुलनाथ जी द्वारा कही गई बातों का उल्लेख है”

आदर और समान के साथ किया हुआ मिलता है।" द्वितीय के विषय में उनका मत है कि "बहु शीरग-जैव के समय में लिखी गई होगी। इन वार्ताओं को जीवन-सबबी विवरण वा कथा के रूप में समझना चाहिये। इनकी भाषा सामान्य बोलचाल की भाषा है।"

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की सन् ३२, ३३, ३४ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्टों में श्री गोकुल नाथद्वारा लिखे ये ग्रंथ भी मिले हैं—वनयात्रा, पुष्टिमार्य के वचनामृत (लिपि-काल स० १६०५), रहस्य-भाषना (लिपिकाल स० १६११), सर्वोत्तमस्तोत्र, सिद्धातरहस्य और बल्लभाष्टक। ये सभी ग्रंथ गद्य में हैं और इनमें पुष्टिमार्य के सिद्धांत तथा भक्ति का वर्णन है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' की भाषा ऐसी है—

"बहुरि श्री आचार्य जी महाप्रभू नैं श्री ठाकुर जी के पास यह मार्यौ जो मेरे आगें दामोदरदास की देह न छूटै और श्री आचार्य जी महाप्रभू दामोदर दास सों कछु गोप्य न राखते और श्री आचार्य जी महाप्रभू श्री भागवत अर्हन्स देखते, कथा कहते और मार्ग की सिद्धांत, भगवत-लीला-रहस्य श्री आचार्य जी महाप्रभू आप दामोदर दास के हृदय में स्थापन कीयो।"

'दो सी वावन वैष्णवों की वार्ता' की भाषा भी जनता में प्रचलित ऐसी ही बोलचाल की भाषा है। इस भाषा में इतनी शक्ति अवश्य है कि इसमें कथा कही जा सके।^१

श्री विठ्ठलनाथ और श्री गोकुलनाथ के समय के आस-पास ही श्री 'हरिराम जी' (बल्लभीय) हुए। इन्होंने भी ब्रजभाषा-गद्य में अनेक रचनाएँ की। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की सन् १६०६-१०, ११ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्टों में इनके इन ग्रंथों का उल्लेख है—'श्री आचार्य महाप्रभू की 'दावस निज वार्ता', श्री आचार्य श्री महाप्रभू के सेवक 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', श्री आचार्य महाप्रभू की 'निज वार्ता' और 'धरू वार्ता'। 'मिश्रवधु-विनोद' में इनके इन ग्रंथों के अतिरिक्त ये ग्रंथ और उल्लिखित हैं—'ढोलामार की वार्ता', 'भागवती के लक्षण', 'द्विदलात्मक स्वरूप विचार', 'गद्यार्थ भाषा', 'गुसाई जी के स्वरूप के चिंतन की भाव', 'कृष्णावतार स्वरूप निर्णय', 'सातो स्वरूपन की भावना', 'बल्लभाचार्य जी के स्वरूप की चिंतन भाव', 'बपौत्सव', 'यमुना जी के नाम'। सभा की सन् १६३२-३३-३४, की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्टों में इनके द्वारा लिखित इन गद्य-ग्रंथों का नाम भी है—'कृष्णप्रेमामृत', 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा भेद', 'सेवाविधि', 'बपौत्सव की भावना' और 'भाव-भावना'। 'भाव-भावना' से एक उदाहरण देखिए—

"सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया है सो सब स्वामिनी जी के भाव ते हैं। ताते मंगला-चरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरन-कमल को नमस्कार करत हैं जिनकी उपमा बैसे कों मन बसो दिसा दीरघी। परंतु कहुँ पायी नाहीं।"

श्री गोकुलनाथ की रचनाओं में प्रयुक्त गद्य का-सा चलतापन इस गद्य में नहीं है, परंतु ब्रज-भाषापन का अथ अधिक अवश्य लक्षित होता है।

एक नवदास का उल्लेख ऊपर कई स्थलों पर आया है। इनका समय भी लगभग विक्रम की सत्रहवीं शती का प्रथम चरण है, अर्थात् स० १६१७-२० के आस-पास। इनके अनूदित ग्रंथ 'नासकेत पुरान भाषा' का गद्य इस प्रकार का है—

"अहो बिप्र नारदांरा जन्मेजय नासकेतु पुरान ही कृतारख होत अयो है। और नासकेत पुरान कंठी है। महापवित्र है जैसे कोई प्राणी एकाग्र चित्त देकरि सुर्ण-यई जो पारप्राप्ती होइ। जैन राजा जनमेजय पार होत अयो और सहस्र गऊ दिये को फल होइ।"

^१ ब्रज में अब भी जो कथाकार—अर्थात् श्रीमद्भागवत-आदि की कथा बघाने वाले हैं, उनकी ब्रजभाषा इतनी परिमार्जित तथा मीठी है कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते हैं।

इस गद्य की भाषा में प्रश्नोत्तर वाली संस्कृत की गद्य-शैली विद्यमान है। भाषा में प्रयुक्त स्पष्टता नहीं है।

विक्रम की सतरहवीं शती के मध्य के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना नाभादास (मं० १६१७ ई-लगभग तक विद्यमान थे) के 'अष्टयाम' में देखा जा सकता है, जो इस प्रकार है—

“सब श्री महाराज-कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरण छुड़ प्रणाम करत भए। फिर श्री राजाविराज जू को जुहार करि के श्री महर्षिनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।”
इस गद्य में संस्कृत का पुट विशेष है।

सं० १६६८ के आस-पास के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना 'वनारसीदास' कृत 'वनारसी-विलास' में मिलता है—

“सम्यग्दृष्टि कहा सो सुनों। ससय, विमोह, बिभ्रम ए तीन भाव जामें नाहीं सो सम्यग्दृष्टि। संसय, विमोह, बिभ्रम, कहा ताकी स्वरूप दृष्टांत करि दिखाइयतु हैं सो सुनो।”
इसमें भी संस्कृत की प्रश्नोत्तरवाली शैली का आभास मिलता है।

सं० १६७५-८४ के आसपास के ब्रजभाषा-गद्य का रूप वैकुण्ठमणि शुक्ल कृत 'अग्रहत महात्म्य' और 'वैद्यल महात्म्य' में देखा जा सकता है। द्वितीय ग्रंथ से एक उदाहरण देखिए—

“सब देवतन की कृपा तैं वैकुण्ठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चंद्रावती के धरम पढ़िने के भरथ यह जय रूप ग्रंथ वैद्यल महात्म भाषा करत भए। एक समय नारद जू ब्रह्मा की सत्ता सो उठि के सुमेर पर्वत कों गए।”

इसकी भाषा तथा वाक्य-रचना सुलझी हुई है। अस्पष्टता नहीं है।

इसका निर्देश हो चुका है कि विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य से टीकाओं की रचना प्राधान्य लक्षित होता है, यद्यपि मौलिक तथा अनूदित ग्रंथ भी इस समय के आस-पास के मिलते हैं। सं० १७५० में राधाकृष्ण जीवे ने 'विहारी सतसई' की गद्य-पद्य मयी टीका लिखी, इसका एक उदाहरण देखें—

“यह संगलाचरण हैं श्री राधा जू की स्तुती प्रयकर्ता कहैं हैं। राधा नामनी प्रीत हू हैं यातें जा तन की झाँझि परें स्याम हरित-कुति होइ या पद तैं श्री अयभान-मुखा की प्रतीत भई।”
इस प्रकार की टीका में कोई भाषिकता लक्षित नहीं होती। कवि की बात को ही टेढ़े-गाँगे ढंग से कह दिया गया है।

सं० १७५६ में भगवान दास ने श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद “भागामृत” नाम से लिखा। अनुवाद रामानुजाचार्य के भाष्य के आधार पर है। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

“अर गीता भाष्य का अर्थ के बिरय बहुत खूबि हे। शरण मात्र हे तिनको समझ मे हू श्री गीताभाष्य। श्री रामानुजाचार्य जी प्रगट करि हे। ताकी अर्थ रची जो अमृत भगवानदास नाम श्रीवैद्यनवन की दासानुदास भाषा विस्तार करयो हैं।”

इसकी भाषा सामान्य है। ‘हैं’ को ‘हे’ के रूप में रखा गया है।

सं० १७६१ में आनंदराम ने श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद किया। इसके पद्य हैं :
यह अनुवाद उर्जैन में लिखा गया था। उदाहरण—

“हे अर्जुन, जो अनन्य चित्त हूँ मैं सदा सेरी सुमिरन करे सो पुण्य जिय हो को-रूपा है, एकाग्रचित्त हूँ, ताते यह भोकोँ मुप होतें पावैं अर श्री पुरख कोऊ पावेनाहैं।”
इसकी भाषा में मन्दत का पुट है। भाषा समर्थ आनंदराम की है।

सं० १७७६ में निमी ने कामी में अनूदिता कृत उदधिपदीना ब्रजभाषा गद्य का नमूना निपद्-नाथ नाम ने दिया। फारसी का अनुवाद साहजिक आनंदराम सं० १७८८ में कृत ‘अर’ का उदाहरण इस प्रकार का है—

“आत्मा को केवल ज्ञान ही के मार्ग प्राप्त हूयत है, काम जो कर्णों के जोग्य है सो यही है। अथ यह सारग ही ब्रह्म है अथ यही सत है। या मार्ग ज्ञान कैसे अज्ञात न चाह्य ॥ भाषा ॥ अथ या मार्ग को त्याग कर अवर मार्ग को अंगीकार न चाह्यो की या पुरातन रिषीसो ने याही मार्ग का अंगीकार किया है।”

इसकी भाषा लिखडी और अव्यवस्थित है। भाव स्पष्ट नहीं होते हैं।

विक्रम की अठारहवीं शती के अंतिम चरण के आस-पास ही मीनराज प्रवान ने (१) ‘हरतालिका की कथा’, किसी ने (२) ‘भगवद्गीता भाषा’ और एक ने (३) ‘श्री कृष्ण जी की लीला’ लिखी। तीनों के उदाहरण देखे—

(१) श्री गणेशायनमः। अथ हरतालिका कथा लिख्यते। कैसी है यह कृत जा कृत के करे ते अस्त्री भागवती होती है। सु यह कृत महादेव के गन ईश्वरी आदि दै ते रहत है। सो कथा कहत है ॥ एक समएँ विषे श्री महादेव जू अथ श्री पार्वती जू कैलास पर्वत पर बैठे हते। अथ भवार की माला श्री पार्वती जू पहिरे हतीं।

(२) श्री राजा धृतराष्ट्र संजें प्रत पृच्छत है हमारे पुत्र और पंडव के पुत्र कुशलेत भिसे मिले हैं हमारे पुत्र और पंडू के पुत्र कहा करत भए सो सुम हम सो कहौ।

(३) श्री राधा जी अपनी सधियन में आई। अर अपनी अपनी मनुकियाँ सिर पर धरी। अर सब सधियन सहित घर कू चली। तब पंडा बीच मुधरा मिली। तब मुधरा सब सहेली समेत श्री राधा जी की बाँह गहि कें घर कू लै चली। इहाँ आनि अन्न की भोजन करायी।

अंतिम उद्धरण की भाषा सामान्य है और दोनों की तो बहुत ही अव्यवस्थित है। सूरत मिश्र ने भी अनुवाद और टीकाएँ इसी समय की। इनके ब्रजभाषा-गद्य का नमूना देखिए—

“कमल नयन कमल से हैं नैन जिनके, कमलदल वरें कमलदल कहिए भेज की स्थाँम स्वरूप है कमलनाभि श्री कृष्ण की नाम ही है, कमल जिनकी नाभि तै उपज्यो है कमलय कमला लक्ष्मी ताके पति है तिनके चरन कमल समेत गुन को जाप क्यों हूँ मेरे मन में रही।”

यह उद्धरण ‘रसिकप्रिया’ की टीका ‘रसगाहक-चक्रिका’ से लिया गया है। इसकी शैली में पठिताऊन है।

विक्रम की उन्नीसवीं शती में भी ब्रजभाषा-गद्य की रचनाएँ होती रही। स० १८२३ के आस-पास मनोहरदास निरंजनी द्वारा गद्य-पद्य में अनूदित ‘पटदर्शनी-निर्णय’ नाम का ग्रंथ मिलता है। यह वैद्यत विषयक है। इसकी भाषा इस प्रकार की है—

“अपकरता शुद्ध कू भी इष्ट देवता सु अभेद करिकें प्रथ की विषयता हरि करिवे के हेत बहुरि निमसकार करत है।”

इस भाषा में इतनी गति अवस्थ लक्षित होती है जिसके द्वारा भाव वा विचार स्पष्टतः अभिव्यक्त किए जा सकें।

स० १८२५ के लगभग किन्नी ने ‘हितोपदेश-भाषा सटीक’ लिखा है। यह भी अनुवाद ही है। इसकी शैली में भी पठिताऊन है।

इसी समय के लगभग ब्रजवदास ने गद्य-पद्य में ‘भक्तमाल-प्रसंग’ लिखा, जिसकी भाषा इस प्रकार है—

“तब श्री कृष्ण ने अघोर बसी बजाई। अजगोपिकिनि सुनी राधिका, ललित, बिसा-वादि गोपी आई। रासमंडल रच्यो रागरंग, नृत्यगान, आलाप, आलिंगन, संभासन भयो। उहाँहि सर में जल कीड़ा स्नान गोपी कुच-कुंडल-केशर छूट्यो सो गोपीचदन भयो, गोपी तलाई भई, वृज प्राप्ति।”

इस भाषा में साहित्यिकता का कुछ रूप दृष्टिगत होता है।

स० १८३३ के आस-पास किसी ने 'पुष्टिदुदाव-भाषा' लिखी। उदाहरण—

“और जो माटी ही की पात्र होइ और जो उत्तमोत्तम सामग्री सो भूयौ होइ सो लीजिए ली
 सुख होइ ताते भीतर ही को गुन देखके संगत करनी। गुन देखे बिना संगत करे तो दुख पावे यह
 सिद्धांत पूर्ण भवौ।”

इसकी भाषा में ब्रज तथा खड़ी बोली की खिचड़ी है।

स० १८३५ के आस-पास व्यास ने 'शकुन विचार' विषयक एक ग्रंथ लिखा। इसकी भाषा इस प्रकार
 की है—

“सुन भी पृच्छक तोहि सत्रुन की आघीन एक बा . हाइगौ। पै जो मन चाहि है सो
 तेरी कालं होयगी।”

यह बोलचाल की सामान्य भाषा है।

विक्रम की उन्नीसवीं शती के अंतिम भाग के आस-पास के ब्रजभाषा-गद्य के नमूने भी देख
 लें। स० १८९६ में प्रतापसाहि-द्वारा लिखी गई 'रसरत्न' की टीका के गद्य का रूप ऐसा है—

“कवि सतिराम कहैं के भैंनें जो रसरत्न ग्रंथ कियौ सो जे रसिक रस के ज्ञानबारे
 सज्जन अथ कविन के समाज से शुनि समुझि के सब रीति हैं।”

गद्य का यह रूप स्पष्ट है।

स० १८९७ में नवलसिंह ने 'महाभारत वातिका' लिखी। इसके गद्य का उदाहरण भी दें—

“युन अधिष्य प्रादुर्भाव में पुष्कर छेत्र की उत्पत्ति की वर्तन है ताके स्वात, दान, हवन
 की महिमा है, सत सहस्र संहिता भारत व्यास जी के बोध पुठन के निकसी है, पुन्य की बढ़ावन
 वारी महा पवित्र है, पापन की हर्ता है।”

गद्य का यह रूप कथा कहने में समर्थ है।

इसी समय के आस-पास बालकृष्णदास-द्वारा लिखा गया 'श्री सूरदास जी के वृष्टि-कूट (स्टीक)'
 की भाषा में विचार के कथन का तारतम्य स्पष्ट नहीं है, उलझा हुआ है।

कालक्रमानुसार ब्रजभाषा गद्य के कुछ नमूने समुल्ल उपस्थित हैं। इससे स्पष्ट है कि
 विक्रम की चौदहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं के अंत या बीसवीं के आदि तक ब्रजभाषा-गद्य का कुछ
 न कुछ रूप दृष्टिगत होता है। आधुनिक काल के 'भारतेन्दु युग' में खड़ी बोली संशुद्ध होकर खड़ी हुई।
 इस खड़ी बोली में भी ब्रजभाषा-गद्य के किन्हीं रूपों का दर्शन होता है। तबलू जी लाल ग्रादि की भाषा 'ब्रज-
 रजित' है। इसे हम भली भाँति जानते हैं। भारतेन्दु युग के गद्य लेखकों की भाषा में भी ब्रजभाषा की रचना प्रायः
 दिखाई पड़ती है। ऐसा हुआ क्यों? क्या ब्रजभाषा के गद्य का प्रभाव खड़ी बोली के गद्य पर पड़ा? वास्तव में
 तो नहीं कही जा सकती। कारण कि उस समय ब्रजभाषा-गद्य का बोखवाला न था कि वह खड़ी बोली के गद्य से ब्रज-
 छोप रखकर उसे प्रभावित करती। ब्रजभाषा-गद्य की सूती तो कभी नहीं बोली। खड़ी बोली के गद्य के ब्रज-
 रजित होने का स्पष्ट कारण यह है कि जिस समय खड़ी बोली गद्य का आरम्भ हुआ उस समय काव्य-भाषा का
 पद्य का प्राभाव था। काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी। अतः खड़ी बोली के गद्य पर उस समय काव्य-भाषा का
 कुछ न कुछ पुट होना स्वाभाविक था। खड़ी बोली के गद्य के आरम्भ से तात्पर्य है जब न मंडी बोली न
 गद्य लिखने की अनवरत परंपरा का श्री गणेश हुआ। प्रमिश्राय यह कि खड़ी बोली के गद्य पर भी
 ब्रजभाषा का कुछ प्रभाव कुछ समय तक था, परंतु यह प्रभाव किया आदि के रूपों तक ही सीमित था।

ब्रजभाषा के गद्य का विकास नहीं हुआ। वह भाव तथा विचार की अभिव्यक्ति के नि-
 प्रयुक्त तो होता रहा, परंतु प्रयोग में आते-आते मंजना नहीं। ब्रजभाषा के गद्य में वह शक्ति नहीं पाई
 जो शक्ति सूत्र, बिहारी, घनानंद, रसखान आदि की पद्य-रूप ब्रजभाषा में स्थित है, अर्थात् ब्रजभाषा
 के काव्य की भाषा मंजी, परंतु उसके गद्य-साहित्य की भाषा नहीं मंजी। इसका कारण उक्त
 गद्य-साहित्य की कुछ समय तक अनवरत परंपरा का न चलना ही है। वह छुटपुट रूप से व्यवहृत है।

रही। यदि अनवरत रूप से कुछ काल तक इसमें प्रभूत साहित्य बनता तो निम्नच्य ही ब्रजभाषा के गद्य में माँज आती—शोष आती। कहना यह है कि ब्रजभाषा के काव्य की भाषा में जो साहित्यकता, जो शक्ति, जो सामर्थ्य का सन्निवेश हुआ वह ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की भाषा में नहीं सन्निहित हो सका। वह इतनी सशक्त नहीं हो सकी कि भाव तथा विचारों का वहन भली भाँति कर सके। उसकी श्रद्धमत्ता के कारण उसमें व्यक्त भाव तथा विचार प्रायः उत्तरे में रहे। ऐसा होने का भी कारण था, जिसका निर्वहण हो चुका है। अतः ब्रजभाषा के गद्य-साहित्यकारों को फोसा नहीं जा सकता।

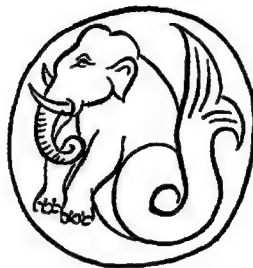
ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के दर्शन की ओर अभी हमारी दृष्टि लगी भी नहीं है। इसके प्रनु-सधान की ओर अभी हम भली भाँति प्रवृत्त भी नहीं हुए हैं। संभव है इसका साहित्य अभी पूर्णतः हमारे समुत्त न आया हो, वह अनुमधानित ही हो। यदि इसका सपूर्ण साहित्य समुत्त आ जाय तो संभव है कि इसमें सशक्त और साहित्यिक ब्रजभाषा के गद्य का भी दर्शन हो जाय। इस कार्य में हम कब से प्रवृत्त हो, इसका निर्णय कर ले।^१

^१ लेखक का अभिमत है कि 'ब्रजभाषा' के 'गद्य-साहित्य' का विकास और परिवर्द्धन संस्कृत के अनुदित ग्रंथों से हुआ और ब्रज से संबंधित संप्रदायों ने इसे काफी आगे बढ़ाया। इन संप्रदायों ने समय-समय पर अपने आचार्यवर्गों तथा सेवकों द्वारा अपनी-अपनी संप्रदायों के संस्कृत के अनेक उत्त-मोत्तम ग्रंथों के अनुवाद ही नहीं, मौलिक ग्रंथ भी रचे। इन ग्रंथ-रत्नों से ब्रज-भारती का गद्य-ग्रंथ भी उसके पद्य-ग्रंथ की भाँति चमकने लगा। वेद, उपनिषद् और पुराणों के अनुवादों ने तो इसमें चार-चाँद लगाये ही, इन सांप्रदायिक गद्य-ग्रंथों ने भी इसे बहुत कुछ पूर्ण बना दिया, किन्तु समय के प्रवाह ने इसे भी झकझोर डाला। फलस्वरूप ब्रजभाषा-गद्य के अनेक उत्कृष्ट ग्रंथ साहित्येतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर अपने नामों की छाप छोड़ कर छिप गये—आँखों से ओझल हो गये। जो कुछ बचे, वे आकाश की हीरक-हारारवलि की भाँति यदा-कदा भारत के पुस्तकालयों तथा जनता-जनार्दन के घरों में चमक जाते हैं। अस्तु, ब्रजभाषा के इन चमकने वाले गद्य-ग्रंथों में 'श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य-द्वारा स्थापित 'पुष्टि (शुद्धादित) संप्रदाय के ग्रंथों की ही अधिकता है। ये गद्य-ग्रंथ जो नयी खोज से प्राप्त हुए हैं, निम्न प्रकार हैं—

“श्रीवल्लभाचार्य कृत—चौरासी अपराध। श्री गोपीनाथ (श्री वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र) जी कृत—स्फुट वार्ता। श्री गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी कृत—कोसी (ब्रज) की वार्ता तथा स्फुट वार्ताएँ। श्री गोकुलनाथ जी कृत—चौरासी वैष्णवन की तथा दोसी भावन वैष्णवन की वार्ताएँ, श्री गुर्दाई जी और दामोदर दास की संवाद, स्फुट वचनामृत, श्रीवर दास्यामृत रस-रत्न-कोष, वनयात्रा, खट्वरितु की वार्ता, भावना वचनामृत, उत्सव-भावना, नित्य सेवाप्रकार, श्री जी के स्वरूप की भावना, श्रीवल्लभा-चार्य की चौरासी बैठक के चरित्र, अष्टादश बैठक के चरित्र, श्री गिरिधर जी की बैठक के चरित्र, रहस्य भावना, घर-वार्ता, घरण-चिन्ह भावना, भाव-सिंधु श्री हरिराय जी कृत—डावच निकुंज की भावना, चौसठ अपराध वर्णन, निजवार्ता, सात स्वरूप की भावना, श्री महाप्रभु और श्री गुर्दाई जी के स्वरूप की विचार, श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की प्रागट्य-वार्ता, चौरासी वैष्णव तथा दोसी भावन वैष्णवन की वार्ता पर 'भावना' (दीका), श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की प्रागट्य-वार्ता पर भावना, निजवार्ता तथा घर-वार्ता की भावनाएँ, घरण-चिन्ह की भावना (द्वितीय), सात स्वरूप की भावना (द्वितीय), वसंत-होरी, छप्पन-भोग-छाक-बीड़ी-सेवा-नित्यलीला, उत्सव-वनयात्रा,—श्री नाथ द्वारा, नवग्रह-सातों बालक के स्वरूप की भावनाएँ, श्री नाथ जी के घरण-चिन्ह वर्णन, भावना त्रय (मूल लीला), समर्पण-गद्यार्थ, रास-भ्रमण, श्री गोकुलनाथ जी की बैठक के चरित्र, चौरासी भाषा-शिक्षा के पत्र, जप-प्रकार, प्रधात्मक भगवत्स्वरूप, निरूपण, दस भर्म, मार्ग-स्वरूप सिद्धांत, पुष्टिदूदाव, श्री स्वामिनी जी के चरण चिन्हों की भावना, द्विदलात्मक स्वरूप विचार, समर्पण गद्यार्थ (द्वितीय) और स्फुट वचनामृत।

श्री गिरिधरलाल जी कृत—शरण मन्त्र-महार्थ तथा उत्सव-मालिका । श्री गोपेश्वर जी कृत—श्री हरिराय जी के 'शिक्षा पत्र' की टीका । श्री काका बल्लभ जी कृत—भाव्य वचनामृत । श्री धनुनाथ जी कृत—श्रीमुख की वार्ता । श्री बज्रभूषण जी कृत—नित्य-विनोद, नीति-विनोद, श्री महाप्रभु तथा श्री गुर्गाई जी के चरित्र, श्री द्वारिकाधीश जी की प्रागट्य-वार्ता । श्री ब्रजराय जी कृत—नित्यसेवा-विधि । श्री द्वारिकेश जी कृत—श्री आचार्य महाप्रभुन को जन्म-प्रकरण । श्री द्वारिकेश जी (द्वितीय) कृत—श्री श्री नाथ जी श्रावि सात स्वरूपन की भावना, धनुर्मास की भावना, उत्सव भावना, भाव-संग्रह तथा श्री धमुना नाम की टीका । श्री द्वारिकेश जी (गुप्तु जी) कृत—सप्त स्वरूपोत्सव वार्ता । श्री गोपिका-लंकार (महद्गु) जी कृत—श्री नाथ जी की सेवा-विधि । श्री ब्रजभरण जी कृत—बल्लभस्थान (गोपाल दास कृत) की टीका । श्री पुरुषोत्तम जी कृत—तृतीय घर की सेवा-विधि । श्री गिरिधर दास जी कृत—एक सौ बीस वचनामृत । श्री गिरिधर लाल जी (द्वितीय) कृत—सज्जन पट की ख्याल । श्री रमण लाल जी कृत—सेव्य-स्वरूपन की वार्ता, तथा प्रकीर्ण उपदेश । श्री बालकृष्ण लाल जी कृत—श्री द्वारिकाधीश जी की प्रागट्य वार्ता, श्री बल्लभाचार्य जी की जीवन-चरित्र, तथा पौराणिक प्रकीर्ण-रचना । श्री गोकुलाधीश जी कृत—पञ्चीस वचनामृत तथा श्री गोवर्धन लाल जी कृत—'बयालीस वचनामृत' विशेष उल्लेखनीय । इनके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ गद्य-ग्रंथ भी मिले हैं, जो इस प्रकार हैं—'श्री हितहरिवंश जी कृत 'राधासुधा-निधि' की टीका, टीकाकार अज्ञात है । श्रीहित-चौरासी की 'टीका'—प्रेमदास कृत । 'व्यवहार पाव' अर्थात् याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्यवहार-पाव की टीका प्रियदास कृत । संस्कृत की 'तत्त्वज्ञान-तरंगिणी' की टीका, टीकाकार अज्ञात । उत्तर पुराण-भाषा सुत्याल दास कृत । पुष्पाश्व-कथा-कोष-भाषा दौलतराय कृत । कविता-कल्पतरु सागर कवि कृत ।"

—ब० ब०



ब्रजभाषा के नाटक

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

जिस युग में ब्रजभाषा का बोलवाला था, वह युग आधुनिक युग से ठीक पूर्व से चल कर हिंदी के जन्म-समय तक फैला हुआ है, किंतु इतने दीर्घकाल में भारत की सांस्कृतिक स्थिति अत्यंत सुस्थ रही। यही कारण है कि 'नाटक' जैसी उपयोगी सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्ति का इस दीर्घ युग में यथार्थतया एकांत-अभाव रहा। ऐसी रचनाएँ तो मिलती हैं, जिनको नाटक नाम दिया गया है, इतिहासकारों ने ऐसी रचनाओं में 'निवाज' कृत—'शकुंतला नाटक', 'हृदयराम', 'मनजू' तथा 'राम' कवि कृत—'हनुमन्नाटक', ब्रजवासीदास तथा महाराज विद्वनाथ सिंह कृत—'आनंद रघुनंदन नाटक', गणेश कवि कृत—'प्रद्युम्न नाटक', इच्छादास कृत—'गंगा नाटक, जसवतसिंह (जोधपुर), ब्रजवासी दास और आनंद कवि कृत—'प्रबोधचंद्रोदय नाटक', रघुराम नागर कृत—'सभासार नाटक', बनारसीदास कृत—'समयसार नाटक', कीर्तिकेशव कृत—'सखी-समाज नाटक', प्राण चौहान कृत—'रामायण महा नाटक', मेघनाथ कृत—'यणवर्णन नाटक', देव कवि कृत—'देव-माया प्रपंच नाटक' और प्रभावती नाटक इत्यादि का उल्लेख मिलता है, पर इनमें से अधिक इस लिए नाटक-नाम से अभिहित किए जाते हैं कि वे सस्कृत के उसी नाम के नाटकों के अनुवाद हैं, जिनको इस नये रूप में ब्रजभाषा के प्रबन्ध-काव्यों के अंतर्गत ही सम्मिलित किया जा सकता है^१।

देव कवि कृत 'देवमाया-प्रपंच नाटक' अवश्य ही किसी सस्कृत नाटक अनुवाद तो नहीं, पर 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक की शैली पर लिखा हुआ है, इसीलिए देव ने उसे नाटक-नाम दिया प्रतीत होता है। इसके सबब में मिश्र-वचुश्रो ने लिखा है—

“यह नाटक नहीं है, यद्यपि नाटकों की भाँति इसमें नट, नटी, नेपथ्य, प्रवेश प्रस्थान आदि का कथन है। इसे अर्थ नाटक-सा कह सकते हैं। इसमें छह अंक हैं। आदि....”

—दे० हिंदी नवरत्न पृ० २६८,

प्रभावती आदि शेष नाटकों को कुछ-कुछ नाटक का रूप ग्रहण करते देखते हैं, यथार्थ नाटकीयता इनमें नहीं है, पर कुछ-कुछ रूप में नाटकीय शैली का प्रयोग इनमें हुआ है। नाटकों का यथार्थ आरम्भ तो आधुनिक युग के जन्मदाता श्री भारतेन्दु हरिश्चंद्र से हुआ। भारतेन्दु जी ने अपनी पुस्तक 'नाटक' में लिखा है कि हिंदी का सबसे पहला नाटक उन्हीं के पिता श्री 'गोपालचंद्र जी' का लिखा 'नहुष-नाटक' था। गोपालचंद्र जी का कवि नाम—'गिरिधरदास' अथवा 'गिरिधर' या 'गिरिधरन' था। यह हिंदी का प्रथम नाटक ब्रजभाषा में लिखा गया है। कहते हैं कि श्री भारतेन्दु जी ने भी प्रथम 'चंद्रावली

^१ ब्रजभाषा में इनके अतिरिक्त और भी नाटक मिलते हैं, जैसे—गोविंदसिंह कृत—'चंडी चरित्र', सोमनाथ कृत—'माधव विनोद', सच्चौराम कृत—'कल्याणभरण नाटक', परमानंद कृत—'हनुमन्नाटक दीपिका (हनुमन्नाटक का ब्रजभाषा में अनुवाद)', हरीराम कृत—'जानकीराम-चरित नाटक', अक्षयप्रसाद शाही कृत—'पुरुषो नाटक', गौरीशंकर (सुभाकर) कृत—'विश्वविलास नाटक', केदारनाथ कृत—'प्रह्लादचरित्र नाटक', भक्तराम (जैपुर) कृत—'मिथ्यत्व-खंडन नाटक' और शिवनाथ कृत—'रोशन नाटक'।

नाटिका' ब्रजभाषा में ही लिखी थी, जो आज नहीं मिलती है और उसका अभिनव रूप ब्रजभाषा और खड़ी बोली में ही मिलता है^१।

गिरिधरदास जी के 'नहुष-नाटक' का केवल एक अंक मिलता है^२। यह प्रथम अंक 'कवि बचन सुधा' के प्रथम वर्ष के अंक में छपा था। इसका रचना-काल जब भारतेंदु जी नव वर्ष के में, अर्थात् सन् १९४१ ई० कहा जाता है। अस्तु, नहुष-नाटक ब्रजभाषा का ही नहीं हिंदी का भी प्रथम प्रख्यात नाटक का रूप प्रस्तुत करने के लिए उसका प्राप्त कुछ अंश यहाँ प्रकाश किया जा रहा है।

॥ श्री ॥

नहुष-नाटक

"महाकवि 'गिरिधरदास' उपनाम—बाबू गोपालचन्द्र कृत"

प्रस्तावना

(दोहा)

नागर नट पटपीत-धर, जिमि धन विज्जू-बिलास ।

अव-आतप कौ भय हरत, होत सुखी सब बास ॥

(सगलाचरणांतर नादो—कवित्त)

मेचक बरन बर, जीवन निवास बर, बहुलनि की ससत सुदर परम दाम ।

सहित पर भंजन की गति बरें अवर बिराजै, प्रगटानै तिय-सन काम ॥

हिय हरखित महा सारंग बनष बरें, बरसत सर पर पूरे जन अभिराम ।

'गिरिधरदास' देखि नीलकण्ठ नृत्य करें, ऐसी बसो आइ मेरे मन को घनस्थान ॥

(अपिच—सर्वथा)

नित पावत सैत, सहैत, घुरैत सै, पावत बाधित भूष्य श्री भूषा ।

सुति कीरति निखल जासु महा, जग-पातक बूँदनि पातक कृत्या ॥

भव सारन को 'गिरिधरदास' जा मधि, आमुने सो अधिको घरी सत्या ।

वर आनव-धाम मुदाम गुनाकर-स्थान की नाम हतै सब हत्या ॥

(नाचतै सूत्रधार)

सूत्र०—सब कोऊ मौन हैं हमारी बात सुनो । विविध विनुष बुंदारक बूँद-बधित, बुंदावन-बन्ध

ब्रजबनिता-वनजवनी विभाकर, वसीधर विधु-बदन-चकोर घास चतुर चूरामनि चरचित धरन परमहम प्रगति ।

मायाबाद-बिध्वसकर श्रीमद् बल्लभचामे बंस अवतंस श्री गिरिधर जी महाराजधिराज नैं मोको आता दीन ।

हे, सो में 'गिरिधरदास' कृत 'नहुष-नाटक' आरभ करो हो ।

(तब आगे वधि हाथ जोरि के .)

इहाँ सब सुभ सभ्य सभाध्यक्ष अपने-अपने पच्छन के रच्छन में परम विवच्छन दगदग, दगो समच्छ इह दिठाई हैं, तथापि कृपा करि सब सुनो ।

(छापय)

जदपि मात-पितु आत, विषय गुन-गन अधिकाई ।

तदपि तोतरे बोल, सुनत सियु के मन लाई ॥

१. भारतेंदु जी के भाव 'गोप कवि' ने जो भारतेंदु जी के अभिनव मित्र थे, इसका ब्रजभाषा में किया या वह भी आज नहीं मिलता ।

२. सुनते हैं 'नहुष-नाटक' संपूर्ण काँकरोली (मेवाड़) के 'महमनी-भंडार' में सुरक्षित है ।

जबपि प्रकासक आप, सूर जग और न दूजा ।
तबपि भक्त जो दीप देति, तिहि मानत पूजा ॥
तिमि जबपि सब पडित सुघर, गुन बिन कोउ न लेखिऐ ।
यह तबपि हमारी नाट्य-विधि, चित दैकें अब देखिऐ ॥
(तब पारिपाश्वर्क)

(भाव) अहो, तुम्हारी बात सो मेरे गीत में आनन्द नाहि समात है । तासो कोन श्री गिरिधर जी महाराज है सो बतावौ ।

सूत्रधार(सानद)—

अहो, तुमने नाहि जाने । (तब सामुहें देखि कैं) वे सिंहासन पै सूरज समान तेजमान, चन्द-समान सीतल सुभाव, मंगल समान मंगल नाम, बुध-समान बुध, शुक्र-समान शुक्र, कवि-समान कवि, सप्तम ग्रह सो रहित विराजें है ।

(छापय)

क्षुति-उद्धारक मीन, कमठ निरजर कुल जयकर ।
महि-उद्धरण बराह, भक्त भय-हर नर-नाहर ॥
असुर मोह कर बटुक, दुष्ट-मद-हरन परसु-धर ।
धरम धीर रघुवीर, सीर-धर ब्रज-जन प्रियवर ॥
बुध सर्वा अहिंसा रति धरन, कलकी कलि-कलमस-हरन ।
गिरधर-सम दस अयुध धर प्रगट, 'गिरधरलाल' कृपा-करन ॥

पारिपाश्वर्क—तुमने जैसे कृपा करि श्रीमहाराजाधिराज को दरस कराव्यो, तैसे अब कृपा करि नाटक हूँ दिखानो चाहिये ।

(सवैया)

थावर, जंगम सृष्टि रची विधि, न्यायी करी सबहीन की रीतें ।
तामैं सिरोमनि मानव की तन, देवहू गावत जा गुन-गीतें ॥
बिद्या बनी सिगरी इहि हेत, विचारिकें जा मुख-सार प्रतीतें ।
सौई धरी अहै कंचन की बन, जो रस की चरचा-मधि बीतें ॥

सूत्रधार—धर सो सुघर धरनी को बुलाइ कैं यामें प्रवृत्त होउ हो । (यें कहि नेपथ्य की ओर देखिकें कह्यो) अरी, यहाँ आउ

(तब प्रविष्टि के नटी कही)

आर्यपुत्र, कहा आम्हा ।

सूत्रधार—(बोहा)

जा विधि राजा नहुष नैं, कियौ स्वर्ग की राज ।
सो नाटक चाहित करन, हुकम कियौ महाराज ॥

नटी—जो आज्ञा ।

सूत्रधार—सो तू सावधान हूँ कैं कारण को साधि ।

(इतने में नेपथ्य में)

अरे संन्यास,—

(सवैया)

जया क्षुति में बरन्यो बिसतार, तया हयमेष करे सतवार ।
हजारन पुन कैं पाप बहे, 'गिरिधारन' पूजे अनेक प्रकार ॥

मिलै तब प्राप्त होइ कौ स्वर्ग में, आइ करें सुर बृंह जुहार ।
कहै तिहि बैठिहुँ मानव छुद्र, भरे नट पापी, पैधार-ससार ॥

सुनवार (करन बैकें)—

(सवैया)

गौर सरीर अवीर से लोचन, मस्तक में कसमीर बनाएँ ।
छोस किरीट मफीस लसै, बिधि कुंडल कानन रत्न जराएँ ॥
ओ 'गिरिधारन' के बल सो, बधि बुत्तासुरै सब बेत नसाएँ ।
ओ बसियाँ सुनि कोप भरी, सुर-नायक आवत बच्य उगाएँ ॥

(दोहा)

यह हन सो सब बिधि बढौ, निरजर कुल कौ छत्र ।
अब इत रहिनो उचित नहि, तासो चनु अव्यग्र ॥
(यै कहि दोक निकरे)

इति प्रस्तावना

प्रथम अंक

स्थान—राजमवन

(तब प्रविष्टी इद्र)

अरे सैलूषाधम, (यह कहत फिरन लायौ) इतने में लेपथ्य में....

(सवैया)

देखहु तो बिपरीतता काल की, जो करतार हूँ आयता ठौनें ।
जैची सिधासन देइ अघो कहै, बस-भरे तिहि दारिद्र-साँनें ॥
माया बली 'गिरिधारन' की, जिहि नैन सहलैन सो पैहबाँनें ।
काटि कौ ब्राह्मण-मस्तक की, यह आपुने को बरमातमाँ साँनें ॥

इद्र (समय करन—कान बैकें)—

(कवित)

भलौ हूँ करत हाइ बिपति परत सोस, यह बिपरीति रीति बिधि की कुचाली-सी ।
लोक-लोक हरथौ हरि असुर कौ प्रासु तऊ, कदो ब्रह्म-हत्या बीह ससै सेत व्यासी-सी ॥
मेरे जान मेरी जान लैन पाछै आवति है, सुख लिऐँ कोप भरी प्रल-कपाली-सी ।
कुमति, कलंकनि, कुचालिनि, कुचैल, कूर, काल-सी कराल, कालरात की-सी, काली-सी ॥

(यह कहि चली, तब इद्र आभुगत)

(दोहा)

एक बार सारथी गुरु-हि, तब बिधि मारथी ताप ।

अब ब्रजौ हत्या लगी, हर, किमि जै है पाप ॥

(यह कहि निकस्यौ, तब प्रविष्टी ब्रह्म-हत्या)

ब्रह्म-हत्या—अरे, निज मुख निज प्रसक्त मुर्खस, ब्राह्मण-धम करनवादे, कहाँ भाय्यो जाय है ।

(यै कहि खलित मृत्यु कियो, फेरि निकरी)

(तब प्रविसे जयंत, कार्तिकेय)

जयत—(सवैया)

मैं जननी घर वैठी हुँतो, तित दूत नैं आइ हवाल उचार्यौ ।
नरमबासीर भवौ प्रति संगद, काल नैं दानव देख सँवार्यौ ॥

श्री 'गिरिधारेन' के परताप सो, बासव दूत्र की प्रान निकारयो ।
जानत ता कह्ये थाप अहो, सो कहौ किमि तात महारिपु-मारयो ॥

कातिकेय (साचरज) — दोहा

सुरपति-सुर यह वचन सुनि, अचरज मोहि बिसाल ।
कहा न तुम रैन में रहे, जो पूछत हौ हाल ॥

जयंत — (सवैया)

जा दिन सो अरि के भै भागि कैं, त्याग कियौ घर मेरे पिता नैं ।
ता दिन सो जननी नैं तज्यौ सब, धारे हिऐ 'गिरिधारेन'-व्यानि ॥
सेवन तासु लियौ हम प्रीति सो, सामा प्रसून-फलादिक आनि ॥
सगर में नहि संग रहे, कछु तासो न ता के हवालहि जानि ॥

कातिकेय — जब दूत्रासुर के भय सो सुर सब भागे, तब छीरनिधि के निकट जाइकें यह कहन लागे ।

(छप्पय)

जं रनेस, परनेस, सेस, सईं सुरेस हरि ।
जं अनंत, भगवत, संत बंदिता बानव-अरि ॥
जं दयाल, गोपाल, सास प्रतिपाल दयाकर ।
जं अनन्य गति अन्य, धरमधुर पंचजन्य-धर ॥
बुंदारक बुंद अनंदकर, कृपाकंद भव-कंद-हर ।
हरिवध भनोहर रूप धर, जै मुकुंद दुख-दंद दर ॥

जयंत (सानद) — तब कहा भयो ।

कातिकेय — जब देवतानि नैं ऐसी बीनती करी, तब आकासवांनी भई ।

(दोहा)

सब सुर जाहु दधीच पै, भांगहु तिन की गात ।
तासु अस्थि कौ कुलिस रचि, करहु दूत्र की घात ॥

जयंत (सानद) — तब कहा भयो ।

कातिकेय — यह सुनि प्रनाम करि देवता दधीच पै जाय हाथ जोरि कहन लागे . .

(दोहा)

जय मुनि-मंडन धरम धर, पर उपकारक आर्ज ।
वीनवधु कलना-संदन, साधहु सुर कौ फार्ज ॥

जयंत, — तब, तब,

कातिकेय — ऐसैं सब के वचन सुनि दधीच बोले —

(वरव)

जौ भोसो जांचत सुर, सहित सनेह ।
तौ मन-इच्छित बैहो, मम मत एह ॥

जयंत (सानद) — तब, तब,

कातिकेय — ऐसैं मुनि के वचन सुनि प्रसन्न होइ देवता योने . . .

(दोहा)

दूत्रासुर-भय-भीत हम, भांगत तुह्यंगी गात ।
बख धिरचि कैं अस्थि की, चरि हें तारों घात ॥
जदपि देह अन्नस सबहि, चान्त जगु रंग-नेप ।
तदपि परमधुन धरन को, तद्विषय, भन्ये देह ॥

जयंत,—तब, तब,

कार्तिकेय,—ऐसे बेवर्तान के वचन सुनि खिल मन होइ के (भुनि) बोले....

(सर्वथा)

बेखटु तो जग-जीव को रीति-हिं, आपुने-ही हित सो हित ठाँनें ।
देवद्व भूसि रहे इहि में, तब श्रीर की बात कहा कहि छाँनें ॥
का करतव्य, निसेध कहा, 'गिरिधारन' कोऊ नहीं पैहवाँनें ।
स्वारथ में मन दोरि रह्यौ, परमारथ ता सो अकारथ जानें ॥

(बोहा)

निज अरि कारन हेत चुन, अस्थि चहुँत मन बैव ।
कैसे दुख मोहि मरने को, सो नहि जानत भैव ॥
सक चाँप टंकारि केँ, हने अनेकौन पत्र ।
तिनहि सहत दौरत भयो, महाकाल-सम वृत्र ॥

(छप्पय)

तब सुरपति गहि-मदा, असुर-बलि भए जलावत ।
ताहि पकर कर बाँध, तजी लखि केँ ऐरावत ॥
तासो लूँकेँ बिकल भयो गज, भूतल आगत ।
जेत लोइ, जल गोइ, सुरत गिरि परधौ महावत ॥
सुरनाथ महा संभ्रम सहित, उत्तरि सैन्य ठावे भए ।
सो लखि अमरेंन हा, हा कियो, उर अति हो चिता-भाए ॥

जयंत (सकप)—तब,

कार्तिकेय,—

(बोहा)

तब भातलि लायौ सु रथ, सुंदर अर्ब लमाइ ।
ता पै बैठ सु पर्व-पति, निरे बृव सो जाइ ॥

जयंत—तब, तब,

कार्तिकेय,—

(अरिल्ल)

धूआसुर सह-कोपि, सुल कर धारि केँ ।
घायौ सुरपति-शेर, खोर ललकारि केँ ॥
सुनासीर, रनघोर, दौर तिहि डाटि केँ ।
कुलिस त्यागि सह सुल दियो भुज-काटि केँ ॥

जयंत (सानव)—तब, तब,

कार्तिकेय,—

(बोहा)

तब डूजे कर परिषद गहि, हन्यो बासवहि झूनि ।
ता प्रहार तैं हाथ सो, कुलिस निरचौ रत-भूनि ॥

(सोरठा)

लाज सहित सुर-राज, बख उठावन नहि चहै ।
तबहि बनुज-सिरसाज, धिहंसि बचन बोलत भयो ॥

(छप्पय)

बेह करम-आधीन, चलै ताके अनुसारहि ।
तासो बरबस जीव, लहै दुख-दुख ससारहि ॥
और चाह अनुसरै, काज तहँ औरहि जीवै ।
कोटि जतन कोज करी, जोन होनी सो होवै ॥

हैं करत जहाँ संगर तहाँ इक जीतत इक मरत ध्रुव ।
यह गुनि बुध इहि चितत नहीं, अति असार व्योहार भुव ॥

(कवित्त)

जेते जग-भोग जामें भूलि रहे लोग, ते करहि सब रोग, कहि सोग कैं बताइऐ ।
करम कौ गेह पंचभूत मई बेह, नासमान गुनि एह नेह काहे को बढाइऐ ॥
'गिरिधरदास' कोऊ काहु कौ न संगी स्वास करि बिसवास बुधैं प्रास उपजाइऐ ।
दारा, सुत बिरत ग्रहें सबहि अनित तासो, गुनि निज हित चित स्याम-पद लाइऐ ॥

(दोहा)

तातें तुम भय लाज तजि, वज्र उठावहु हाथ ।
जो भवितव्य सो होइ है, समर करहु मम साथ ॥

जयत (साचरज) — बाहु,
कालिकेय,—

(दोहा)

वृत्रासुर के बचन सुनि, चकित होइ सुर-राइ ।
सन्नुहि बहुत प्रससि कैं, कहत महत हरखाइ ॥

(सवैया)

सहि कैं यह तामस दानव को तन, जामें विवेक न नैंक रहै ।
गुनि-सी बर बाल बखानत ही, गुनि कैं जन जो भव-ताप दहै ॥
'गिरिधरदेन' भक्ति-प्रभाव महा, कहिए, किनि जा अस वेद कहैं ।
हरि-भक्त अनन्य में गन्य सबैं, तुम्हरे सम धन्य न धन्य ग्रहैं ॥

जयत (मानव) — तब,
कालिकेय,—

(दोहा)

इमि कहि कुलिस उठाइ कैं, प्रमुदित चित सुरताय ।
परिध सहित असुरेस को, काट्यो हूजो हाथ ॥
तब निज वचन पसारि कैं, वृत्रासुर अरिबाल ।
बाहुन सहित सुरेस को, लोल गयो बिकराल ॥
तपि सहसा सहसाच्य कहैं, निगलत नैमर भेंजार ।
देवों हा-हाकार किय, असुरन जैं-जैंवार ॥

(छप्पय)

असुर-उदर में सुरच-मलित चनि गए पुरंदर ।
जैंसे कोऊ जाइ, म्याम-गिरि-बंदर-पंदर ॥
इरण-वयच परभाव, भयो धनु को तभाव नहि ।
काटि कुलिस मो कुलि, गटे दुर्गति ना पच मति ॥

जिमि फारि महात्म निकर को, निकरत नम में नखत-पति ।
 तिमि कडत भए अरि-अग सों, सुरपति घर भट विमल मति ॥
 जयंत (सानद)—सब, तब,
 कार्तिकेय,—

(दोहा)

तब निजकर भें कुलिस गहि, रोस सहित सुरनाथ ।
 कँठ बरस भें काटि के, नहि पारचो अरि-भाय ॥

(कवित्त)

बुत्रासुर-धर जबै घरनी पै झाइ गिरथी, थर-थर हाले तीन लोक नव खंड ।
 मेरे जानि स्याम ने अपानी सता धरी साइ, तासो बची सुष्टि प्रलोकाल ना भयो अखंड ॥
 'गिरिधरदास' ना लौ कोन जाने कहा होतो, पाइके प्रहार महाकाल बड सौ अखंड ।
 छूटि जातो गज-गान, टूटि जातो कौल-रद, फूटि जातो सेल-फन, फूटि जातो ब्रह्म-अड ॥

(दोहा)

बुत्रासुर की ज्योति कटि भई ब्योम में लीन ।
 लखि अमाकुल भाग्य असुर, सुरेन नगारे बीन ॥
 जयंत (सानद)—पाप कटथो, पाप कटथो,

(दोहा)

अब मोहि उपकी चित्त में, पितु-बरसेन की चाह ।
 ते कित, बेहु बताइ मोहि, निरजर-सेता-भाह ॥

कार्तिकेय,—

(दोहा)

बुत्रासुर के नास लो, हृम देखे अमरेस ।
 अब तिनहुको जानत नहीं, अहं कोन से बेस ॥
 (दलने में मातलि झाइ दोरने के पाई-परि ठाढी भयो)

जयंत,—

(दोहा)

कहि मातलि अरि-भारि के, कित राजत सुरराज ।
 भें तिनकी दरसेन सहत, भयो सिद्ध सब काज ॥

मातलि,—

(दोहा)

बुत्रासुर को भारिके, छिज भय हूया पागि ।
 हूम नहि जानल कोन बल, गए बेब-यति भागि ॥

जयंत,—

(दोहा)

सबु भरघो, हल्यो लगी, मनु दुहरानी रोप ।
 अब बलि तिनको झोजिके, हरिऐ कोउ बिधि सोग ॥

कार्तिकेय, मातलि,—सत्य, सत्य,...

(इमि कहिके सब निकरे)

इति श्रीनट्युप-नाटक के प्रथमोक्त

॥ श्रीः ॥

श्री चंद्रावली-नाटिका

(भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र कृत)

दूसरा अंक

स्थान—केरान कौ बॅन

समै सक्ता कौ, कछुक बादर छाप भए है
(बियोगिनी जनीं भई श्रीचंद्रावलीजी आबैं है)

(एक बुच्छ के नीचे बैठ कैं) वा प्यारे, वा . तुम्ह और तुम्हारी प्रेम दोनो बिलच्छैन, और निसचैं विना तुम्हारी कृपा के याको भेद कोऊ नाहि जाँन सकै । जानैं कैसैं ? समी तो बाके अधिकारी नाहि है । जानैं जैसी समझी वानें वैसीही मान राख्यो है । हा, ये जो तुम्हारी अखंड परमानंदमै प्रेम है और जो ग्यान-वैराग को तुच्छ करि परैम साति देवे वारी है वाको सरूप कोऊ नाहि जानैं सब अपने-अपने सुख में और अभिमान में भूले भए हैं । कोऊ काहू स्त्री वा पुरुष सो, वाको सुंदर रूप निहारि कैं वासो चित्त लगानो और वासो मिलव के अनेक जर्तन करनो याही को प्रेम कहै है और कोऊ ईस्वर की बड़ी लदी-चौरी पूजा करिजे को प्रेम कहै है—पर प्यारे, तुम्हारी प्रेम तो इन दोनों सो बिलच्छैन है, क्योंकि ये भ्रमृत तो वाही को मिलै है जाहि तुम्ह आप देख हो । (कछु ठँहरि कैं)—हाइ कोन सो कहो और कहा कहो, क्यों कहो, कैसैं कहो, कोन सुनैं और सुनैं हूँ तो कोन समझै, हाइ

(सबैया)

जग जानत कोन है प्रेम-विषा, किहिसो चरचा या बियोग की कीजिए ।
पुनि को कहौ मानैं, कहा समझैं कोऊ, क्यों बिन बात की राखि लीजिए ॥
नित जो 'हरिचंद' जु' बीतै सहै, वकिकैं जग क्यों परतीतहि छोड़िजिए ।
सब पूछत मोन क्यों बैठि रहौ, पिय प्यारे कहा इन्हें ऊतर दीजिए ॥
क्योंकि—

भरैस को पीर न जानत कोइ ।

कासो कहो कोन पुनि मानैं, बैठि रहो घर रोइ ॥

कोऊ जरै न जाननहारी, बे भरसी सब लोइ ।

अपनी कहत सुनत नहि मेरी, किहि समझाऊँ सोइ ॥

लोक-लाज कुल की मरजादा, दीनीं है सब छोइ ।

'हरीचंद' ऐसैं हि निबहैगौ, होनी होइ सो होइ ॥

पर प्यारे, तुम्ह तो सुनवेवारे हो, यही तो अचरज है कि तुम्हारे होत मेरी ये गति होइ । प्यारे, जिनके 'नाथ' नाहि होइ वे 'अनाथ' कहा में हैं (अखिन सो अँसुवा गिरैं हैं) । (कछु ठँहरि कैं) प्यारे, जो येही गति करनी ही तो अपनायो क्यों ?

(सबैया)

पैहलैं भुसकाइ, लजाइ कछु, क्यों जितै मुरि सो तँन छाँम कियो ।

पुनि नैन लगाइ बड़ाइ कैं प्रीति, निबाहँन कौ क्यों कलाम कियो ॥

'हरिचंद' भए निरमोही इते निज नेह को यों परनाम कियो ।

भन-आहि जो तोरैनही को हुती, अपनाइ कैं क्यों बदनाम कियो ॥

प्यारे, बड़े निरमोही हौं। हाइ तुम्हें मोह हूँ तो नाहिं भावै ? (आँखिन में झेंसुवां गरि के)
अरे, इतनी तो वेहू नाहिं सतावैं हे जो पैहलें सुख देंह है, तुम्ह कोन से नति ते इतनी सताइ रहे हौं ?

(सवैया)

जिय सुधी चितोन को साचैं रह्यो, सबौ बातें में अँनखाइ रहे।

हैंसि के 'हरिचंद' न बोले कभू, जिय डुरि-ही सो ललचाइ रहे ॥

नहिं नेक बया उर भावत है, करिकें कहा ऐसे सुनाइ रहे।

सुख कोन-सौ प्यारे विमो पैहलें, जिहि के बलैं यो सताइ रहे ॥

हाइ, तुम्हें तो साज हूँ नाहिं भावै, लोग तो सात पेठ सग चले ये जैन-भरि बातों
निरबाह करे है और तुम्ह , नित की प्रीति कौ हूँ निरबाह नाहिं करी ? अरे, तुम्हारी तो ऐसी
सुभाव नाहिं हो, ये तो नई बात है, ये नई बात है या तुम्ह आय नए है गए हौं, भला कद, तो
साज करौ।

(सवैया)

कित को डरिगो को प्यार सबै, क्यों खलाई नई ये साजत हौ।

'हरिचंद' अए हौ कहा के कहा, अँनबोलिबें में नहिं छाजत हौ ॥

नित को मिलनो तो किनारें रह्यो, मुख देखत हौ डुरि भाजत हौ।

पैहलें अघनाइ बड़ाइ के प्रीति, न रुसिबें में अब साजत हौ ॥



ब्रजभाषा : साहित्य-शोध

श्री जानकीनाथ सिंह मनोज

ऊपर दिये हुए शीर्षक का अर्थ सदिग्ध है। इस कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शीर्षक-सवधी कठिनाई को थोड़ा स्पष्ट कर दिया जाय, जिससे लेख और शीर्षक में पूर्ण साम्य उपस्थित हो जाय, अन्यथा भ्रांति होने की सम्भावना बनी ही रहेगी। प्रथम ब्रजभाषा-साहित्य के विषय में कुछ कहा जाय, इससे शोध शब्द की व्याख्या कर लेना उचित है। 'शोध' शब्द प्रायः सुधार करना, शुद्ध करना, ठीक करना इत्यादि के अर्थ में लिया जाता है, परन्तु प्रयोग-सदम से अनेक अर्थ हो सकते हैं, जैसे—परीक्षा, अन्वेषण, खोज, अनुसंधान इत्यादि। पहले तो यही प्रश्न रहता कि उक्त शीर्षक के उपयुक्त कोल सा अर्थ लिया जाय। यदि प्रथम अर्थ लिये जायें तो हमें केवल उसी सामग्री का उल्लेख और विवेचन करना होगा जो संपादित है और उसमें भाषा एवं पाठ के स्वरूपों के सवध में निश्चित ढंग से व्याख्या देनी होगी। इस प्रकार की सामग्री इतनी स्वल्प है और साथ ही साथ दृष्टिकोण भी इतना अर्थज्ञानिक है कि इसके द्वारा इस भाषा के मूलस्वरूप का निर्धारण करने के लिये कुछ वर्षों का परिश्रम और समय चाहिये। दूसरा अर्थ लेख के लिये अधिक उपयुक्त जान पड़ा। अतः यह निश्चित किया गया कि इन दोनों का समन्वय कर दिया जाय।

ब्रजभाषा-साहित्य पर भी विचार कर लेना समीचीन है। ब्रजभाषा के दो रूप हैं—एक तो टकसाली शुद्ध ब्रजभाषा, जिसका प्रयोग हमारे ब्रज-प्रदेश के कवियों ने अपनी सुमधुर रचनाओं में किया है और दूसरा ब्रजभाषा—काव्य-भाषा वाला वह रूप जिसको ब्रज में न रहने वाले अथवा बहुत दूर बसने वाले कवियों ने काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया और अपनी प्रखर प्रतिभा और काव्य-कौशल से अपनी रचना का समुज्ज्वल प्रकाश प्रदान कर साहित्य-गगन को जगमगा दिया। ब्रज-भाषा ने हिंदी-साहित्य में काव्य-भाषा के रूप में लगभग ३५० वर्ष एकछत्र राज्य किया, क्योंकि ब्रजभाषा की परंपरा में महाकवि पद्माकर ही अंतिम कवि थे।^१ पद्माकर का समय स० १८२० तक है, इसके बाद से जो कवि 'ब्रजवाणी' के पुजारी हुए और अब भी हैं, उनपर भाषा की बदलती हुई धारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित है। भारतेन्दु बाबू 'हरिश्चन्द्र' ने जब देखा कि ब्रजभाषा के परिष्कार की आवश्यकता है, तो उन्होंने रुबियो से चले आते और जनता की रुचि और बुद्धि के बाहर रहने वाले शब्दों को व्यवहार से दूर कर दिया। इस परिष्कार से नवीन भावनाओं और नवीन योजनाओं के शब्दों के प्रयोग से उस काल में ह्रास की ओर जाती हुई ब्रजभाषा एक बार फिर चमक उठी। फिर भी भारतेन्दु के समय में खड़ीबोली अपनी पदार्पण काव्य-क्षेत्र में धीरे-धीरे कर रही थी। उनके समकालीन विद्वान् उस भाषा में अपनी रचना भी करने लगे थे। दिन पर दिन ब्रजभाषा-कवियों की वह अभिवृद्धि नहीं हो रही थी, जितनी कि नवीन भाषा की हो रही थी। नयी भाषा को लोग साहित्यिक-स्वरूप देने के लिये लावायित थे। गद्य के लिये ब्रजभाषा की अनुपयुक्तता मान्य हो गई थी। भारतेन्दुजी ने स्वयं ही गद्य के लिये खड़ीबोली को अपनाया था। यह परिवर्तन स० १८२० के उपरांत दृष्टिगोचर होता है। तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा का काव्य-क्षेत्र में स० १५५५ से लेकर स० १८२० तक

^१ ब्रजभाषा का ऐतिहासिक-काल—पद्माकर जी पर ही समाप्त नहीं होता है, अपितु वह 'नवीन' और 'श्री गाल' जो पर समाप्त होता है।

एकांत प्रभाव बराबर बना रहा। मैं 'सूरदास' का रचनाकाल स० १५५५ से ही मानता हूँ। सूरदास और महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य, जन्मोत्सव एवं साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार समवयस्क थे। सूरदास की दीक्षा का समय स० १५९१ के बाद पड़ता है। महाप्रभु से दीक्षा लेने के समय 'स्वामी सूरदास' गायक रूप से प्रसिद्ध थे। दीक्षा के अनंतर ही उनके 'सागर' का निर्माण हुआ। आचार्य महाप्रभु के गोलोकवासी होने पर उनके पुत्र गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी ने गद्दी को सुशोभित किया और इन्होंने ही 'अष्टछाप' की स्थापना की, जिसमें संप्रदाय के सर्वोत्तम आठ 'कविरत्न' थे। उस समय तक अष्टछाप के कवि प्रचुर मात्रा में अपनी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके होंगे। अतः ब्रजभाषा-साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ हम स० १५६० के बाद से मान सकते हैं।

ब्रजभाषा-साहित्य इतना अधिक है कि उसका अभी तक पूर्ण रूप से मूल्यांकन नहीं हो सका है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि साहित्य का यह अपार भंडार बिना अन्वेषण के अभी तक बहुत कुछ यो ही अवकाश में पड़ा हुआ है। इसका उत्तरदायित्व हमारी विगत सरकार पर भी था। साहित्य-सबधी खोज के सबसे में कुछ इतिहास पर भी दृष्टि डाल लेना चाहिये। साहित्य-सृजन एवं अध्ययन का कार्य बराबर प्राचीन काल से चला आ रहा था और यह एक प्रकार से जीविकोपार्जन का साधन भी था। हमारे देशी नरेशों के पुस्तकालयों में जो प्राचीन कवियों की रचनाओं की पोथियाँ (हस्त-लिखित) विद्यमान हैं वे उन नरेशों के विद्या-भ्रम एवं विद्या-व्यसन का फल हैं। राजाओं से पुरस्कार पाने के लिये ब्राह्मणों व अन्य विद्वानों व कवियों द्वारा गण्यमान कवियों की रचनाओं की प्रतिलिपियाँ होती रहती थीं। उनके द्वारा दो कार्य पूरे होते थे। एक तो कुछ इस लिये भी लिखी गई कि वे राजकुमारों के अध्ययन के निमित्त हो और कुछ इसलिये कि वे राजपुस्तकालय के कोष की वृद्धि करें। समय की दुर्दमनीय विनाश-शक्ति से रक्षित रहकर, इन पुस्तकालयों में विद्यमान कतिपय रत्न भारतीय मातृभाषा-सेवकों के कठहार बने हैं।

सर्वे प्रथम हिंदी-कवियों के बारे में एक 'वृत्त सग्रह' स० १६४० में 'शिवसिंह' सेंगर; 'सरोज' नाम से उपस्थित किया, जो अब 'शिवसिंह-सरोज' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका है। सन् १८५४ ई० (स० १९१४) के बाद भारत में मग्रेजी राज्य को स्थापित हुए २५ वर्ष हो चुके थे और भारत वरष शांत हो चुका था। कलकत्ते में फोर्ड विलियम कालेज में 'जाल गिलकास्ट' की अध्यक्षता में देशी गद्य का निर्माण स० १८६० से ही प्रारम्भ हो चुका था। ध्यान देने की वस्तु है कि विद्रोह होने के कुछ समय पूर्व ही छापखाने खुलने लगे थे और उनमें पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी थीं, कुछ स्कूल कालेजों के लिए और कुछ ईसाई-संप्रदाय के लिये, पाठ्यपुस्तकों-द्वारा। प्रेस प्रायः मिशनरियों के ही थे। स० १८९४ के विद्रोह के पूर्व मिर्जापुर से 'कोरिंग' साहिब के सरक्षण एवं सहायन में 'विद्रोह-ग्रन्थ', 'भूलोक विद्या' आदि पुस्तकें स० १९१२ से लेकर १९१६ तक प्रकाशित हुईं। इस उल्लेख से हम यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि उस समय लोगों और विदेशियों की भी अभिरुचि भारतीय भाषा में लिखने, प्रचार करने एवं यहाँ के साहित्य की खोज करने की ओर हो रही थी। इस स्तुत्य प्रयास को भारतीय हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा प्राप्त थी और इसके लिये विद्वानों ने अनवरत परिश्रम किया। ऐसे ही समय 'सरोजकार' की कृति प्रायेण आई। इसके ६ वर्ष के ही अनंतर डा० सर जार्ज 'ट्रिप्लिन' ने उसी प्रकार का कवियों का वृत्त-संग्रह—'मार्बल बरनाकुलर लिटरेचर आफ नार्दन हिंदुस्तान' नाम से स० १९४६ में प्रकाशित कराया। इसी समय सरकार की आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाने से 'नयन प्रचारिणी सभा' काशी ने राज-पुस्तकालयों तथा अन्य लोगों के पास से उन हस्त-लिखित प्राचीन ग्रंथों का पता लगाने का कार्य उठाया जो अब तक सहूलों की सख्या में अवकाश में अवस्था पाना रूप से पड़ी हुई थीं। नागरी प्रचारिणी-सभा की खोज की रिपोर्टें ८ भागों में स० १९७७ से लेकर १९६८ तक (या सन् १९०० ई० से सन् १९ तक) प्रकाशित हुईं।^१ इनमें बहुत बड़ी मात्रा में गीत

१. इसके उपरान्त भी कई ग्रंथों की रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं।

कवियों की रचनाओं की अनेक प्रतियों एवं विविध पृथक् रचनाओं का पता तो लगा ही साथ ही साथ प्रकाश में न आये हुए सैकड़ों कवियों की बहुमूल्य रचनाओं के स्थान, विषय, उदाहरण आदि का पुस्तक की रूपरेखा सहित पता लगा। डा० भियर्सन के ग्रन्थ, सरोज तथा खोज-रिपोर्टों आदि में दी गई संपूर्ण सामग्री का उपयोग करके स० १९७० में मिश्र वधुओं ने एक ग्रन्थ 'मिश्रवधु-विनोद' के रूप में प्रकाशित किया। इसमें न केवल प्राचीन लेखकों के बारे में सग्रह किया गया, वरन् वर्तमान काल के लेखकों को भी स्थान मिला। यह बहुमूल्य पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ ४ भागों में प्रकट हुआ। इस समय से कुछ पूर्व 'मिश्र-वधुओं' द्वारा 'हिंदी नवरत्न' नामक साहित्यिक समालोचना-युक्त ग्रन्थ हिंदी-ग्रन्थ-प्रसारक मंडली खैरवा द्वारा स० १९६८ में प्रकाशित हो चुका था। इसके उपरांत प्राचीन कवियों तथा उनकी रचनाओं को लेकर परिचय-रूप में 'हिंदी-साहित्य के इतिहासों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिनमें से स्व० क्यामसुंदरदास द्वारा 'हिंदी-रत्न-माला' स० १९६६ में, 'मिश्रवधु-विनोद' से पहले ही प्रकाशित हो चुका था। प० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा 'कविता-कौमुदी' के तीनों भाग स० १९७५ से लेकर स० १९८० तक प्रकाशित हुए। इसके अनंतर आचार्य शुक्ल जी का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' और वावू क्यामसुंदरदास का बृहद् इतिहास—'हिंदीभाषा और साहित्य' स० १९८७ में प्रकाशित हुए। वास्तव में ये कृतियाँ ऐसी हैं जिनमें कवि एवं रचना-परिचय के साथ-साथ साहित्य-संवर्धनी खोज और उसके वर्गीकरण को भी स्थान दिया गया। इन पुस्तकों में रचनाओं का परिचय समालोचनात्मक है। इसके बाद तो हिंदी-साहित्य के इतिहासों की परिपाटी-सी चल पड़ी, जिनमें कुछ हेर-फेर के साथ नयी बातें दुहरा-सी दी गईं, जो इन इतिहासों में थी।

ब्रजभाषा के साहित्य का पृथक् परिचय और उसके कतिपय मान्य कवियों की रचनाओं का वास्तविक स्वाद विलाने का श्रेय श्री 'हरिप्रसाद जी त्रिपाठी हरि' को है। उनका 'ब्रज-माधुरी-सार' ग्रन्थ स० १९८० में ही प्रकाशित हो चुका था। ब्रजभाषा के साहित्य के शोध में यह अमूल्य ग्रन्थ है। मिश्रवधुओं ने 'नवरत्न' लिखकर जो आलोचना की परिपाटी चलाई उससे हमारे साहित्य-सेवियों का ध्यान कवियों की रचना की परत की ओर गया और इस प्रकार का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ कि प्राचीन कवियों की रचनाओं का अच्छा सुसंपादित संस्करण विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित किया जाय।

यहाँ पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि एक बार संपूर्ण सामग्री का दिग्दर्शन करा दिया जाय। ब्रजभाषा-साहित्य की सामग्री दो प्रकार की प्राप्त है—एक प्रकाशित और दूसरी अप्रकाशित। अप्रकाशित सामग्री की जो सूचनाएँ खोज-रिपोर्टों में उपलब्ध हुईं, उसको लेकर जैसा ऊपर बताया गया है, हमारे हिंदी-साहित्य के इतिहासों का निर्माण हुआ। लेकिन इन इतिहासों में भाषा-संवर्धनी कोई वर्गीकरण नहीं किया गया। कवियों की रचनाओं की तिथि एवं उनके जन्म, मरण, जीवन आदि के विवरण के रूप में समयानुसार वर्णन इन इतिहासों में रखा गया। यद्यपि ऐतिहासिक क्रम का वर्णन अपनी महत्ता अवश्य रखता है, पर अमुक भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की उपादेयता पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक था। उदाहरण के लिये हिंदी की विविध बोलियों में कालक्रम निर्धारित करके उनके साहित्य-संवर्धनी अन्वेषणों का उल्लेख किया जाना चाहिए। इन इतिहासों के पढ़ने में किसी विशेष बोली में कितना साहित्य बना और उसके कोन-कोन से कवि थे, ग्रन्थों उन बोली में किस परिमाण में साहित्य-रचना हुई, इस बात का पता नहीं लग सकता, जब तक कि पाठक स्वयं बैठकर प्रत्येक कवि और उसकी रचना की पृथक् सूची तैयार करे। हमारे इतिहास-लेखकों ने उन दृष्टिकोण को अपने ध्यान में नहीं रखा। अतएव आवश्यक है कि अब हम इन पर नये माहिर के इतिहास की रचना की जाय।

ब्रजभाषा-साहित्य का एक अलग ही इतिहास हो नकन है, जिनमें नारा के नवियों एवं उनकी रचनाओं का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। माहिर के इतिहास में जो अनक्रान्ति नामों

है, उसका विस्तार पूर्वक यहाँ विवरण देना संभव नहीं है, क्योंकि इन ३०० वर्षों के अंतर में कवियों की सख्या सहस्रो के ऊपर है। स्थूल रूप से यदि हम देखें तो ५० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में हिंदी के काव्य में प्रयुक्त विशेष भाषाओं के आधार पर तो वर्गीकरण नहीं मिलता, पर उसको देखने से यह पता लगा लेना कठिन नहीं है कि किस बोली में कितना साहित्य उपलब्ध है। यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो इस इतिहास से विविध शीर्षकों के अलग-अलग ब्रजभाषा के काव्य-निर्याता कवियों की सख्या १६४ ही आती है। इनका व्योरेवार वर्णन कवि और उनकी रचना के साथ नीचे दिया जाता है। इसमें प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार की सामग्री समितित है। प्रकाशित सामग्री का जल्लेख यथा समव करने के पहले यह देखना है कि इन १६४ कवियों को शुक्ल जी ने विभिन्न शीर्षकों में किस प्रकार दिया और फिर उनकी प्रकाशित और अप्रकाशित रचना का जल्लेख किया जायगा। ब्रजभाषा में रचना करने वाले कवियों की सख्या रामभक्त-शाखा में ४, कृष्णभक्त-शाखा में १७, भक्तिकाल की फुटकल रचनाओं में १६, रीति-ग्रन्थकार कवियों में ५७, रीति-काल के अन्य कवियों में ४७ और पुरानी धारा के कवियों में २० है।

राम-भक्त शाखा

१. तुलसीदास—“रामचरितमानस, रामलला नहछु, वैराग्यसदीपनी, बरवै रामयण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञाप्रस्त, दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनय-पत्रिका (प्रकाशित)।”
२. स्वामी अग्रदास—“हितोपदेश, अपर भारतावनी, ध्यानमंजरी, रामध्यानमंजरी, कुबलिनी, (अप्रकाशित)।”
३. नामदास—“भक्तमाल (प्रियादास की टीका सहित प्रकाशित), राम-चरित्र-सवयी पद-संग्रह, अष्टयाम (अप्रकाशित)।”
४. हृदयराम—“हनुमन्नाटक (अप्रकाशित)।”

कृष्ण-भक्त शाखा

१. सुरदास—“सूरसागर, सूरसाखली, साहित्य लहरी, बारहमासा या मासी, गोपालगारी, दानलीला, बिसातिनलीला, कीरहरणलीला, बाँसुरीलीला, मोरध्वजलीला, (प्रकाशित), सूरगीत, सेवाफल (अप्रकाशित)।”
२. नंददास—“पाँची मंजरी—अनेकार्थ, मान, रस, निरह और रूप मंजरी, भागवत दशमस्कण्ड (पूर्वाह्द २६ अध्याय तक), रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपंचाध्यायी, श्यामसगाई, रविमयीमंगल, सुदामाचरित्र, भँवरगीत और पदावली, अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी (प्रकाशित) बाँसुरीलीला (अप्रकाशित)।”
३. कृष्णदास—“पद-संग्रह (कृष्णसागर अप्रकाशित)।”
४. परमानंददास—“परमानंदसागर (प्रकाशित)”, दानलीला, दक्षिणीला, ध्रुवचरित्र (अप्रकाशित)।”
५. चतुर्भुजदास—“द्वादश यश, भवित-प्रताप, हितजू की मंगल पद-संग्रह (अप्रकाशित)।”
६. छीतस्वामी—“पद-संग्रह (अप्रकाशित)।”
७. कुंजनदास—“पद-संग्रह (अप्रकाशित)।”
८. गोविंद स्वामी—“पद-संग्रह (१५२ पद-प्रकाशित)।”

१. परमानंद-सागर जयपुर से प्रकाशित हुआ कहा जाता है, पर वह कहीं देखने में नहीं आया। दान और दक्षिणीला एक ही पुस्तक के दो नाम हैं। ध्रुवचरित्र इन परमानंददास का नहीं किन्हीं और का है।

२. द्वादश यश, भवित प्रताप और हितजू की मंगल ये पुस्तकें अष्टदश के चतुर्भुजदास की कृतियाँ नहीं हैं।

६. हित हरिवंश—“राधा-सुवानिधि, हित-बीरासी, वृंदावन-सतक, हित-सुधा-सागर (प्रकाशित) ।”
 १०. गदाधर भट्ट—“केवल पद (अप्रकाशित) ।”
 ११. बीरासाई—“पद (प्रकाशित) ।”
 १२. स्वामी हरिदास—“हरिदास जी की वाणी, हरिदास जी के पद, हरिदास जी की प्रथ,^१ केलि-माला, सिद्धांत के पद (अप्रकाशित) ।”
 १३. सुरदास मदनमोहन—“फुटकल पद (अप्रकाशित) ।”
 १४. श्रीभट्ट—“युगल-सतक (पद), आदिवाणी (अप्रकाशित) ।”
 १५. हरिराम व्यास—“रसपंचाध्यायी, फुटकल पद (अप्रकाशित), व्यासवाणी (प्रकाशित) ।”^२
 १६. रसखान—“सुखान-रसखान, दोहावली, (प्रकाशित) ।”^३
 १७. ध्रुवदास—“वृंदावनसत, सिंगारसत, रसरत्नावली, नैहृमजरी, रहस्यमजरी, सुखमजरी, रति-मंजरी, धनविहार, रगविहार, रसविहार, आनंददश-विनोद, रगविनोद, नृत्यविलास, रग-कुलास, मानरसलीला, रहस्यलता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजन-कुडलिया, भक्तनामावली, भक्तशृंगार, भजन-सत, प्रीतिचीवनी, रसमुक्तावली, बृहद् वामन पुराण भाषा, सभामंडली, रसानंदलीला, सिद्धांतविचार, सिंहखिली, हित-शृंगारलीला, ब्रजलीला, आनंदलता, भक्तुरगलता, जीवदशा, वैद्यलीला, व्याहृती, भक्तनामावली (अप्रकाशित) ।”^४

सक्ति-काल के फुटकल कवि

१. छीहल—“पंचसहेली (अप्रकाशित) ।”
 २. सासदास—“हरिचरित्र (अप्रकाशित) ।”
 ३. कृपाराम—“हिततरंगिणी (प्रकाशित) ।”
 ४. नरहरि (बंदोजन)—“सक्तिमणी-मंगल, छप्पयनीति, कवित्त-संग्रह (अप्रकाशित) ।”
 ५. नरोत्तमदास—“सुदामाचरित्र (प्रकाशित) ।”
 ६. महाराजा टोडरमल—“स्फुट कविता (अप्रकाशित) ।”
 ७. महाराजा बीरबल—“स्फुट कविता (अप्रकाशित) ।”
 ८. गंग कवि—“स्फुट कविता (प्रकाशित) ।”
 ९. मनोहर कवि—“भक्तप्रश्नोत्तरी (अप्रकाशित) ।”
 १०. बलभद्र मिश्र—“नीति-शृंगार के फुटकल दोहा, नखसिख,^५ हनुमन्नाटक, वलभद्र-व्याकरण, रूपय-विचार (अप्रकाशित) ।”
 ११. केशवदास—“कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, विज्ञानगीता, वीरमहिदेव-चरित्र, नयमिर^६ (प्रकाशित), रत्नवावनी, जहाँगीर-चंद्रिका (अप्रकाशित) ।”
 १२. होतराय—“फुटकल रचना (अप्रकाशित) ।”
 १३. रहीम (अबुल-हीम खानखाना)—“बरख नायिका-भेद, रहीम-मनसई, शृंगार-मोठ, मदनाष्टक,

^१. हरिदास जी की वाणी, हरिदास के पद या हरिदास जी की प्रथ कोई प्रत्यक्ष ग्रंथ नहीं है, अपितु ये ‘केलिमाला’ और सिद्धांत-पद के नाम-रूपोंपर हैं। ^२. व्यास जी की वाणी वृंदावन से प्रकाशित हो चुकी है। ^३. रस की खान ‘रसखान’ के स्फुट छंद—रसखान और धनानंद, रममान-कवितावली, रसखान : दोहावली, रसखान : पदावली, रसखान : रत्नावली, रसखान : सतक क्रमशः बागो, सतनन, मयूर, प्रयाग और पटना से प्रकाशित हो चुके हैं। ^४. ध्रुवदास के ये सभी ग्रंथ—‘ध्रुव-प्रयावली’ के नाम से भारतजीवन प्रेस बागो से प्रकाशित हो चुके हैं। ^५. ये दोनों नखसिख—भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुके हैं।

रहीम-काव्य, (प्रकाशित), नगर-शोभावर्णन, फुटकल वरवा, फुटकल कवित्त-सद्वेश (अप्रकाशित) ।^१

१४. कादिर—“स्फुट कवित्त (अप्रकाशित) ।”
१५. मुबारक—“अलक सतक—तिल सतक (अप्रकाशित), कुछ स्फुट छंद ।”^२
१६. बनारसीवास—“बनारसी विलास, नाटक समयसार, नाममात्रा कोष, अर्द्ध कथामक, बनारसी-पद्धति, मोक्ष पदी, ध्रुव वदना, कल्याण मंदिर-भाषा, वेदनिर्णय पंचांगिका, मारण-विद्या (अप्रकाशित) ।”
१७. सेनापति—“कवित्त-रत्नाकर (प्रकाशित), काव्यकल्पद्रुम (अप्रकाशित) ।”
१८. गृहकर कवि—“रसरतन (अप्रकाशित) ।”
१९. सुंदर कवि—“सुंदरशृंगार, सिंहासनवतीसी, वारहमासा (अप्रकाशित) ।”^३
रौत-काल के ग्रंथकार कवि
१. चित्तामणि त्रिपाठी—“छंद-विचार, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, रामायण (अप्रकाशित), कवि-कुल-कल्पतरु (प्रकाशित) ।”
२. बेनी—“फुटकल कवित्त सुने जाते हैं ।”
३. महाराज असवंतसिंह—“अनुभव प्रकाश, आनंद विलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार, प्रबोध-चंद्रोदय नाटक (अप्रकाशित), भाषाभूषण (प्रकाशित) ।”
४. बिहारीलाल—“बिहारी-सतसई (प्रकाशित) ।”
५. मंडन कवि—“रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू कौ ब्याह, नैन-पचासा (अप्रकाशित) ।”
६. मतिराम—“छंदसार, साहित्यसार, लक्षणशृंगार (अप्रकाशित), रसरज, सलिल-सलाम, मतिराम-सतसई (प्रकाशित) ।”
७. भूषण—“शिवराज भूषण, शिवावावनी, छत्रशाल वधक, (प्रकाशित) ।”
८. कुलपति मिश्र—“रस-रहस्य, (प्रकाशित), द्रोणपर्व, युक्तितरंगिणी, नखसिख, सद्यहसार, गुणरहस्य (अप्रकाशित) ।”
९. सुखदेव मिश्र—“वृत्तिविचार, छंदविचार, रसार्णव, शृंगार-तता, भाव्यात्म-प्रकाश, दशरथराम (अप्रकाशित), फाजिल अली प्रकाश (प्रकाशित) ।”
१०. कालिदास त्रिवेदी—“कारवधू विनोद, जजीरावद, राधा-भाषवबुधमिलन विनोद, कविदास-हजारा (अप्रकाशित) ।”
११. राम कवि—“शृंगारसीरम, हनुमान नाटक (अप्रकाशित) ।”
१२. निवाज कवि—“शकुंतला नाटक, (अप्रकाशित), फुटकल कवित्त (अप्रकाशित) ।”
१३. देव कवि—“अमरतरंग, रागरत्नाकर, देवचरित्र, सुखसागर-तरंग, नूतनविलास, देवमाया-अंशव नाटक, पावसविलास, ब्रह्मवर्धन पचीसी, तत्त्वदर्शन पचीसी, आत्मवर्धन पचीसी, जगवर्धन, प्रेमदीपिका, सुमिल-विनोद, राधिका-विलास, नीतिसतक, नखसिख, प्रेम दर्शन (अप्रकाशित), भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, सुजान विनोद, प्रेम चक्रिका (अप्रकाशित) ।”
१. रहीम की कविताओं का संग्रह ‘रहीम-रत्नावली’ नाम से—“बोहावली, नगरशोभा, वरव मायिक भेद, फुटकल वरव, मयलाष्टक अन्य फुटकल छंद तथा पद”, पं० सयासकर यासिक के संपादकत्व में काशी से प्रकाशित हो चुके हैं । २. अलक और तिल-सतक भारतजीवन प्रेस काशी में छप चुके हैं । ३. सुंदरशृंगार भी भारतजीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुका है ।

१४. भीवर या मुरलीवर—“नायिका-भेद, नखसिख (अप्रकाशित), जगनामा (प्रकाशित) ।”
१५. सुरत मिश्र—“अलकार माला, रसरत्न माला, सरसरस, रसगाहक चक्रिका, नखसिख, काव्य-सिद्धांत, दिन रत्नाकर (पद्य), विहारी सतसई की टीका, रसिकप्रिया की टीका, कविप्रिया की टीका (गद्य-पद्य), बेताल पचीसी (अप्रकाशित) ।”
१६. कविद्वज (उदय)—“रसचन्द्रोदय, विनोदचक्रिका, जोगलीला (अप्रकाशित) ।”
१७. श्रीपति—“काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोज-कलिका, अलकार-भगा (अप्रकाशित) ।”
१८. वीर कवि—“कृष्ण-चक्रिका (अप्रकाशित) ।”
१९. कृष्ण कवि—“विहारी सतसई की टीका (प्रकाशित) ।”
२०. रसिक सुमति—“अलकार-चन्द्रोदय (अप्रकाशित) ।”
२१. गंजन कवि—“कमरुद्दीनखौ हुलास (अप्रकाशित) ।”
२२. अलीमुह्वि खौ (प्रीतम कवि)—“खटमल वाईसी, रस-धमार (अप्रकाशित) ।”^१
२३. दास (मिश्रारी दास)—“रससारास, शृंगारनिर्णय,^२ नामप्रकाश (कोष), विष्णुपुराण भाषा, छंदप्रकाश, शतरंज शक्तिका, अमर प्रकाश (अप्रकाशित), छद्मार्णव, काव्यनिर्णय (प्रकाशित) ।”
२४. भूपति (राजा गुरुवत्त सिंह)—“सतसई,^३ कठाभूषण, रसरत्नाकर, बारहमासा (अप्रकाशित) ।”
२५. तोषनिधि—“सुधानिधि,^४ विनय सतक, नखसिख (अप्रकाशित) ।”
- २६-२७. दसपतिराय-वशीवर—“अलकार रत्नाकर (भाषामूषण की टीका अप्रकाशित) ।”
२८. सोमनाथ—“रसपीयूषनिधि, कृष्णलीलावती, अर्थात् रासपंचाध्यायी,^५ सुजान-विलास (सिंहासन बत्तीसी), माधवविनोद नाटक (अप्रकाशित) ।”
२९. रसलील (सैयब मुलामनवी)—“रसप्रबोध, अगदपण (अप्रकाशित) ।”^६
३०. रघुनाथ—“काव्य-कलाधर, रसिक मोहन,^७ जगत मोहन, इस्क महोत्सव (अप्रकाशित) ।”
३१. ब्रह्म कवि—“कविकुलकामरण (प्रकाशित) ।”
३२. कुमारिल भट्ट—“रसिक रसाल (अप्रकाशित) ।”^८
३३. शंभुनाथ मिश्र—“रसकल्लोल, रसतरंगिणी, अलकार दीपक (अप्रकाशित) ।”
३४. शिव सहाय—“शिव चौपाई, लोकोक्ति-रस कौमुदी,^९ (अप्रकाशित) ।”
३५. रूप सहाय^{१०}—“रूप-विलास (अप्रकाशित) ।”
३६. ऋषिनाथ—“अलकार-मणि-मंजरी (अप्रकाशित) ।”
३७. बैरीसाल—“भाषामरण (प्रकाशित) ।”
३८. दत्त कवि—“लालित्य-लता (अप्रकाशित) ।”
३९. रतन कवि—“फतेह भूषण, अलकार दर्पण (अप्रकाशित) ।”
४०. हरिनाथ (नाथ कवि)—“अलकार-दर्पण (अप्रकाशित) ।”

^१. अलीमुह्वि खौ प्रीतम के—अलीमुह्वि खौ तथा अली महबूब खौ प्रीतम भी नाम मिलते हैं। ^२. शृंगार-निर्णय भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुका है। ^३. भूपति-सतसई भी छप चुकी है। ^४. सुधानिधि भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। ^५. सोमनाथ जी की रास-पंचाध्यायी दारांग प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है। ^६. ये दोनों ग्रंथ भी—भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुके हैं। ^७. रसिक मोहन—भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। ^८. कुमारिल भट्ट नाम ठीक नहीं है, ग्राम का नाम है—“कुमारमणि भट्ट”, रसिकरसाल छप चुका है—गंगाफाइन प्रार्थ प्रेस सखनऊ में। ^९ कवि का नाम—शिव सहाय नहीं “शिवदास राय” है। ^{१०} यह भी सुधार कर द्विवेदी के संपादकत्व में भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हो चुका है। —ज० व०।

४१. सतीरास—“छन्दोपनी, भानदमण (अप्रकाशित) ।”
 ४२. चंदन कवि—“शुगारसागर, काव्याभरण, कल्लोलनरिणी, केसरीप्रकाश, चंदनसतसई, पयिक-
 बोधिजा, नखसिख, नाममाला (कोप), पत्रिकाबोध, रत्नचंद्र, शीतवसंत (कहाणी)
 कृष्णकाव्य, प्राज्ञविलास (अप्रकाशित) ।”
 ४३. वेङ्कनंदन—“शुगारचरित्र, श्रवणचरित्र, सरफराजचंद्रिका (अप्रकाशित) ।”
 ४४. महाराज रामसिंह—“भलकार दर्पण, रसनिवास, रसविनोद (अप्रकाशित) ।”
 ४५. मान कवि—“नरेन्द्रभूषण (अप्रकाशित) ।”
 ४६. मान कवि—“दलेसप्रकाश (अप्रकाशित) ।”
 ४७. बेनी (बंदीजन)—“टीकैतराय प्रकाश, रसविलास (अप्रकाशित) ।”
 ४८. बेनी प्रबोध—“नवरस-तरंग (प्रकाशित), महीबा सग्रह, शुगारभूषण (अप्रकाशित) ।”
 ४९. जसवंतसिंह (द्वितीय)—“सालिहोत्र (अप्रकाशित) ।”
 ५०. यशोदानंदन—“शुगारशिरोमणि (अप्रकाशित) ।”
 ५१. करन कवि—“वरवै नायिका-भेद, साहित्य-रस (अप्रकाशित) ।”
 ५२. गुहदीन पंडे—“रसकल्लोल, वागमनोहर (अप्रकाशित) ।”
 ५३. ब्रह्मवत—“विद्रुविलास (अप्रकाशित) ।”
 ५४. पद्माकर—“जगद्बिन्दोद, पद्माभरण, प्रबोधपचासा, गगलहरी, रामरसायन, हिमवतहाडुर
 विख्यावली (प्रकाशित) ।”
 ५५. भाल कवि—“भक्तभावन, द्वेष-दर्पण, राधा-भाषव मिलन, राधापटक (अप्रकाशित), यमुना-
 लहरी, शृङ्गार, कृष्ण जू कौ नख-सिख, कुल्पापञ्चीसी (प्रकाशित) ।”
 ५६. प्रतापसिंह—“जयसिंह-प्रकाश, काव्यविलास, शुगारमंजरी, शुगारशिरोमणि, भलकार चिंतामणि,
 काव्यविनोद, रत्नचंद्रिका, रासराज (मतिराम कृत) की टीका, सीताराम-जुगल नयसिग,
 बलमद्रकूल नखसिख की टीका (अप्रकाशित), व्ययार्थ कौमुदी (प्रकाशित) ।”
 ५७. रसिक गोविंद—“रामायण सूचिका, रसिक गोविंदानंदन, लक्ष्मिभक्तिका, शृष्टदेव नाग
 पिंगल, समयप्रबोध, कलियुगरासी, रसिकगोविंद, जुलनरममाधुरी (अप्रकाशित) ।”

रोति-काल के अन्य कवि

१. जनवारी—“स्फुट रचना (अप्रकाशित)”
 २. सबलसिंह चौहान—“महामारत (प्रकाशित), रूपविलास, पिंगल (अप्रकाशित) ।”
 ३. बृंद कवि—“शुगारशिक्षा, भाव-यचासिका (अप्रकाशित), बृंदसतसई (प्रकाशित) ।”
 ४. छत्रसिंह (कायस्थ)—“विजयमुक्तावली (अप्रकाशित) ।”
 ५. बेताल—“कुडलिया—स्फुट (प्रकाशित)”
 ६. भानस कवि—“भाषवानलकामकदला (अप्रकाशित), भालमनेसि (प्रकाशित) ।”
 ७. गुरु गोविंदसिंह—“सुनीति प्रकाश, सर्वलोक प्रकाश, प्रेम मुमार्ग, बुद्धि नाग (प्रकाशित) ।”
 ८. श्रीधर वा भुरलोवर—“चंडीचरित्र, नगीतगिता, नायिकाभेद, जैन मुनियों के चरित्र, गंगा-नाग
 के पद, चित्रकाव्य (अप्रकाशित), जगनामा (प्रकाशित) ।”
 ९. ताल (गोरेताल)—“छत्र प्रकाश (प्रकाशित) ।”
 १०. धनानंद—“सुखानसगर, विहृतीला (प्रकाशित), कोरनाग (प्रकाशित) ।”
 ११. रसनिधि—“रसकैलि, वृषाकांड, अग्नि-ह्वारा (अप्रकाशित), गनन-रजाग (अप्रकाशित) ।”

१. यह ग्रंथ किशनलाल श्रीधर बंयर्स के दायेगाने में छप चुका है ।

२. श्रीधर-भुरलोवर कवियों के नाम दो बार आते हैं, छप भी चुके हैं ।

१२. नागरीदास—“मनोरथ-मजरी, सिंगारसमय, गोपीप्रेम-प्रकाश, पद-प्रसंगमाला, ब्रज-वैकुण्ठ तुला, ब्रजसार, भोरलीला, प्रातरस-मजरी, विहारचन्द्रिका, भोजनानन्द-अष्टक, जुगल-रस माधुरी, फूल-विलास, गोधन-आगमन-दोह, आनन्दलम्पाष्टक, फागविलास, श्रीष्म-विहार, पावसपञ्चमी, गोपीनेन-विलास, रासरस-सत्ता, नैन-रूप-रस, शीत-सार, हृषिकेशमन, मजलिस मडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षाच्छित्तु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्ण-जन्मोत्सव के कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवरधन धारण के कवित्त, होरी के कवित्त, फागु, गोकुलाष्टक, ह्रिहोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमग-दीपिका, तीर्थनिद, फागवहार, बालविनोद, बनविनोद, सुजनानन्द, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिक रत्नावली, कवि-वैराग्य वल्ली, अरिल्ला पचीसी, छूटक विधि, भागवत पारायण विधि, सिखनख, छूटक कवित्त, चाँचरियाँ, रेखता, मनोरथ-मजरी, रामचरित्र-माला, पद-प्रबोध-माला, जुगल भक्ति-विनोद, रसानुक्रम के दोहा, शरद की माँझ, साँझी-फूलवीनन—सबाद, वसत वर्णन, रस-अनुक्रम के कवित्त, फाग खेलन सभै अनुक्रम के कवित्त, निकुञ्ज विलास, गोविन्द परचई, बनज प्रशसा, छूटक-दोहा, उत्सव माला और पद मुक्तावली (अप्रकाशित), नागरसमुच्चय (प्रकाशित) ।”^१
१३. जोषराज—“हम्मीर रासो (प्रकाशित) ।”
१४. बख्शी हंसराज—“स्नेहसागर,^२ विरह विलास, रामचन्द्रिका, (अप्रकाशित) ।”
१५. जनकराज किशोरीभरण—“आदोलन रहस्य दीपिका, तुलसीदास चरित्र, विवेकसारचन्द्रिका, सिद्धात चौतीसी, वारहखड़ी, ललित-शृंगार-दीपक, कवितावली, जानकी-शरणभरण, सीताराम मुक्तावली, अनन्य तरंगिणी, रामरस तरंगिणी, आत्म-सबब-वर्णन, होलिका-विनोद-दीपिका, वेदातसार, श्रुतिदीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर-करुणाभरण (अप्रकाशित) ।”
१६. अलबेली अलि—“श्रीस्तोत्र, समय-प्रबोध पदावली (अप्रकाशित) ।”
१७. चाचा बुंदाबनदास—“बीस हजार पद, जिसमें भगवान कृष्ण के छद्म, अष्टयाम, नखसिख आदि विषय हैं (अप्रकाशित) ।”
१८. गिरिधर कविराय—“कुडलिया (प्रकाशित) ।”
१९. भगवत रसिक—“स्फुट-छन्द—पद, छप्पय, कवित्त, कुडलिया, दोहा तथा ध्यान मजरी, अनन्य-निश्चयात्मक (प्रकाशित) ।”
२०. हठी जी—“राधासुधा-शतक, (अप्रकाशित) ।”^३
२१. गुरुमान सिन्ध—“कृष्णचन्द्रिका (अप्रकाशित), श्री हर्ष के ‘नैपथ्य’ का पद्यानुवाद (प्रकाशित) ।”
२२. सरजूराम पंखित—“छदाटवी (अप्रकाशित) ।”
२३. अगवंतराय खीची—“हनुमान पचीसी (अप्रकाशित) ।”
२४. सुवन चौबे—“सुजान चरित्र (प्रकाशित) ।”
२५. हरिनारायण—“माधवानल-कामकदला, वेताल पचीसी (अप्रकाशित) ।”
२६. ब्रजबासीदास—“ब्रजविलास (प्रकाशित) ।”

^१. नागरीदास जी के ये संपूर्ण ग्रंथ—जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है—‘नागरसमुच्चय’ नामसे बर्बई के श्रीधर शिवलाल के ज्ञान सागर प्रेस में छप कर प्रकाशित हो चुके हैं। ^२. यह ग्रंथ ता० भगवानदीन के संपादकत्व में साहित्यभूषण कार्यालय काशी से छप कर प्रकाशित हो चुका है। ^३. यह भी भारत-जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। —ज० प० ।

२७. गोकुलनाथ-गोपीनाथ—“महाभारत और हरिवंश पुराण का अनुवाद केवल गोकुलनाथ-द्वारा (अप्रकाशित), चेतचंद्रिका (प्रकाशित)।”
२८. मणिवेव—“राधाकृष्ण विलास, राधा नखसिल, नामरत्नमाला, सीताराम-गुणार्णव, अमरकोष-भाषा, कवि-मुख-मंडन (अप्रकाशित)।”
२९. बोधा कवि—“विरह वारीस, इस्कनामा^१ (प्रकाशित), माधवानल-कामकदला (अप्रकाशित)।”
३०. रामचंद्र कवि—“चरण-चंद्रिका (अप्रकाशित)।”
३१. अंचित कवि—“सुरमदीन सीला, कृष्णायन (अप्रकाशित)।”
३२. मधुसूदन दास—“रामाश्वमेध (अप्रकाशित)।”
३३. मनियाँ सिंह—“महिम्न-भाषा, सौंदर्यलहरी, हनुमतछव्हीसी (अप्रकाशित)।”
३४. कृष्णदास—“सुदरकाड-भावार्थ-लहरी (अप्रकाशित)।”
३५. गणेश कवि—“वाल्मीकि रामायण-श्लोकार्थ प्रकाश (अप्रकाशित)।”
३६. रसमन कवि—“स्फुट दोहा (अप्रकाशित)।”
३७. (अ)—“स्फुट कवित्त, सतसई-वरणार्थ, ठाकुर-उत्सव’
३८. ललकदास—“सत्योपाख्यान (अप्रकाशित)।”
३९. सुमान—“अमर-प्रकाश, अष्टयाम, सरुमण-शतक, हनुमान-नख-सिल, हनुमान-पंचक, हनुमान-पचीसी, नीतिविधान, समरसार, नृसिंह-चरित्र, नृसिंह-पचीसी (अप्रकाशित)।”
४०. नथलाल सिंह कायस्थ—“रासपचाख्यायी, रामचंद्र-विलास, सकटमोचन, जौहरिल-तरण, रसिक-रञ्जनी, विज्ञानभास्कर, ब्रजदीपिका, रमा-शुक सवाद, नामाचितामणि, मूल भारत, भारत सावित्री, भारत कवितावली, भाषा सप्तसती, कवि जीवन, धाल्हा-रामायण, रविमणी मंगल, मूल बोला, रहस्य लावनी, अख्यात्म रामायण, रूपक रामायण, नारी प्रकरण, सीता-स्वयंवर, राम-विवाह खंड, भारत वास्तिक, रामायण सुमरिणी, पूर्व मगार खंड, मिथिला खंड, दान-लोभ सवाद, जन्म खंड (अप्रकाशित)।”
४१. रामसहाय (कायस्थ)—“रामसतसई, वाणी भूषण, कंकहुरा (अप्रकाशित)।”
४२. चंद्रसेखर कवि—“हम्मीर हठ, विवेक-विलास, रसिक-विनोद, हरिमन्ति-विलास, नखसिल, वृंदावन शतक, ग्रह-पचासिका, ग्रहज्योतिषा, माधवी-वसंत (अप्रकाशित)।”
४३. बाबा दीनदयालसिंह—“अन्योक्ति-कल्पद्रुम (प्रकाशित), अनुरागबाग, वैराग्य विनेश, विस्वनाथ नवरत्न, दृष्टांत तरंगिणी (अप्रकाशित)।”
४४. पजनेश कवि—“पजनेश-प्रकाश (प्रकाशित)।”
४५. गिरिधरदास—“जरासब-वध महाकाव्य, भारतीयभूषण, भाषाव्याकरण,^२ रत्नरत्नाकर, श्रीमन्-वर्णन, मत्स्यकथामृत, वाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, घामनकथामृत, परशुरामकथामृत, कनिकाथामृत, नहुष नाटक,^३ गर्गसंहिता, एकादशी महात्म्य, वाल्मीकि रामायण, छुदाधर्षनीति, अद्भुत रामायण, सरुमी-नख-सिल, वार्ता संस्कृत, ककारादि, सहस्रनाम, गद्य-श्यामा, गद्याष्टक, ब्राह्मणदलकमल, कीर्तन-सकपणायष्टक, दनुवारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, अगवत स्तोत्र, श्रीराम स्तोत्र, शिव स्तोत्र, गोपाल स्तोत्र, श्री राधा स्तोत्र, रामायट्टक, कालियकथाष्टक, (अप्रकाशित)।”

^१. विरहवारीस ललकदास से तथा इस्कनमन भारतजीवन प्रेस काशी से छप कर प्रकाशित हो चुके हैं।

^२. ३. ये दोनों ग्रंथ भी ‘हरिप्रबन्ध-चंद्रिका’ में छप चुके हैं।

४६. द्विजदेव (महाराज मानसिंह) — "शृंगारलतिका, शृंगारवत्तीसी (प्रकाशित) ।"

आधुनिक-काल पुरानी धारा

१. सेवक कवि — "बाग्विलास, नखसिख, (प्रकाशित) ।"
२. महाराज रघुराजसिंह — "रामस्वयंवर, रुक्मिणीपरिणय, आनदावुनिधि, १ रामाष्टयाम (प्रकाशित) ।"
३. सरदार कवि — "बाग्विलास, पद्मकृत, हनुमतभूषण, तुलसीभूषण, शृंगारभूषण, शृंगारसंग्रह, २ रामरत्नाकर, साहित्यसुधाकर, रामलीला प्रकाश, रुक्मिणीया की टीका, सूर के दृष्टिकूट, ३ विहारी सतसई की टीका (अप्रकाशित), साहित्य सरसी, कविप्रिया केशवदास की टीका (प्रकाशित) ।"
४. बाबा रघुनाथ दास (रामसनेहो) — "विधायक सागर (प्रकाशित) ।"
५. ललित किशोरी-ललित माधुरी (लखनऊ वाले) — "अमिलाष माधुरी-स्फुट रचना (प्रकाशित) ।"
६. राजा लक्ष्मणसिंह — "संस्कृत मेघदूत और शकुंतला नाटक के अनुवाद (प्रकाशित) ।"
७. लक्ष्मीराम — "मानसिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, लक्ष्मीश्वररत्नाकर, रावणोद्वक्तकल्पतरु, कमलानन्द-कल्पतरु (प्रकाशित) ।"
८. गोविन्द-गिल्लाभाई — "भूषण, नीतिविनोद, शृंगारसरोजिनी, पद्मकृत, पावसपयोनिधि, समस्या-पूति प्रदीप, वक्रोक्तिविनोद, श्लेष-चन्द्रिका, प्रारब्धपचीसी, प्रवीणसागर (प्रकाशित) ।"
९. भारतेंदु हरिश्चंद्र — "हरिश्चंद्र ग्रथावली" (प्रकाशित) ।"
१०. प्रतापनारायण मिश्र — "स्फुट रचना संग्रह (प्रकाशित) ।"
११. बदरीनारायण चौधरी — "प्रेमघन सर्वस्व (प्रकाशित) ।"
१२. ठाकुर जगमोहनसिंह — "मेघदूत का अनुवाद, प्रेम-संपत्ति-कला (प्रकाशित) ।"
१३. अंबिकादत्त व्यास और रामकृष्ण वर्मा (उप० जलबीर) — "व्यामलता, व्यामसरोजिनी, समस्यापूर्ति प्रकाश, विहारी-विहार (प्रकाशित) ।"
१४. लाला सौताराम (उप० भूप) — "रघुवशा और मेघदूत के अनुवाद (प्रकाशित) ।"
१५. हरिप्रोध — "रसकलस (प्रकाशित) ।"
१६. श्रीधर पाठक — "ऋतु-सहस्रार का अनुवाद (प्रकाशित) ।"
१७. बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' — "रत्नाकर-संग्रह, विहारी सतसई की टीका—विहारी रत्नाकर, सूरसागर (प्रकाशित) ।"
१८. राय बेबीप्रसाद पूर्ण — "पूर्ण संग्रह (प्रकाशित) ।"
१९. सत्यनारायण कविरत्न — "अमरदूत, स्फुट रचना—यद, मालती-माधव (प्रकाशित) ।"
२०. विष्णो जी हरि — "वीरसतसई (प्रकाशित) ।"

१. यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत का पूर्ण अनुवाद है और बंबई के बेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हो चुका है ।^२,^३. ये ग्रंथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हो चुके हैं । ४. हरिचंद्र-ग्रंथावली के जो खंड—द्वितीय और तृतीय छपे हैं । द्वितीय खंड में निम्न-लिखित काव्य ग्रंथ हैं—"भक्तिसर्वस्व, प्रेमसु-वर्षण, प्रेममालिका, कालिकलान, वैशाल महात्म्य, प्रेम-सरोवर, जैन कुतूहल, प्रेम-माधुरी, प्रेम-तरेंग, उत्तरार्थ भक्तमाल, प्रेमप्रसाद, भीतगोविंदानन्द, सतसई शृंगार (विहारी सतसई के १०१ बोहो पर कुंडलिया), होली, मधुसूक्त, राग संग्रह, वर्षाविनोद, विनय-प्रेम-व्यासा, फूलोंका गुच्छा, प्रेम फुलवारी और कृष्णचरित ।" तृतीय भाग में (जो अभी छपा है) आपके लिये नाटक हैं ।

ऊपर कुछ वर्गीकरण के साथ ब्रजभाषा की रचनाओं की सूची प्रस्तुत की गई है। इन यहाँ यह विचार कर लेना चाहिए कि ब्रजभाषा में सपादित सामग्री की क्या दशा है और सपादकों ने प्राचीन कवियों की रचना के स्वरूप-निर्धारण में किन सिद्धांतों का उपयोग किया है। प्राचीन कवियों की बहुत सी रचनाएँ नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के सराहनीय प्रयत्न और उसके सरक्षकों एवं भर्त्ताओं की लगन तथा प्राचीन साहित्योद्धार-भावना के फल-स्वरूप प्रकाश में आईं। कुछ ग्रन्थ-मालाएँ भी निकाली गईं और इन मालाओं में पूर्ण रूप से प्रमुख कवियों की रचनाओं ने कारागार के निविडतम ने मुक्त होकर जीवन का आलोक देखा और अपनी सुरभि से साहित्योद्धान और रसिक-सहृदयों के कठहार बन गए। इसके अतिरिक्त प्राचीन रचनाओं को प्रकाश में लाने का श्रेय बाबू 'रामकृष्ण' वर्मा काशी को है, जिन्होंने 'भारत जीवन प्रेस' से मुद्रित करके बहुत बड़ी संख्या में ब्रजभाषा की पुस्तकों को छपा। इसके अतिरिक्त नवन किशोर प्रेस लखनऊ तथा अन्य प्रांतों के प्रेस और उसके अधिकारियों-द्वारा भी यह महान् कार्य गगन हुआ, जिसके लिये हिंदी-संसार इन मातृभाषा-सेवियों से उज्ज्वल है।

जो ग्रन्थ इन प्रेसों और संस्थाओं-द्वारा प्रकाशित हुए, वे दो प्रकार के हैं। एक वह विनये कोई टीका-टिप्पणी एवं समालोचनात्मक भूमिका नहीं दी गई है। वरन्, जैसी उनकी कोई प्रतिनिधि मिली वैसी ही वह प्रकाशित कर दी गई है। इसमें अधिकारिता रामकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित धीरे धीरे नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित एवं स्वर्गीय बाबू (बाध में डा०) स्वामिसुंदरदास द्वारा सपादित है। इन ग्रन्थों के विषय में इतना ही बतलाना पर्याप्त है कि इनके सपादन के संबंध में कोई नियम निर्धारित नहीं किये गए हैं और न अनेक प्रतियों को सामने रखकर भाषा के स्वरूप को स्थिर करने का ही प्रयास किया गया है। इन पुस्तकों के सपादन में कोई दृष्टि नहीं रखी गयी, एक-आध प्रतियों भी उपलब्ध हो सकी उसको उसी प्रकार छाप दिया गया। इस प्रकार की कुछ पुस्तकों का मूल्य विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है जैसे—

१. जसवन्तभूषण ग्रंथ—यह महाराज जसवंतसिंह-द्वारा लिखित और जोधपुर के माधव-शंकर से स० १९५४ वि० में प्रकाशित हुआ। प० रामकृष्ण-द्वारा इसमें ससोधन भी किया गया है, पर ससोधन केवल यज्ञ-सत्र छापे या हस्तलिखित प्रति के शब्दों का है, कोई नियमपूर्वक मातृ-संशोधन नहीं किया गया है।

२. बिहारी सतसई—यह कृष्ण कवि के कवितो-सहित छठीबार मार्च १९०७ ई० में नवी किशोर प्रेस लखनऊ से मुद्रित हुई। छठे संस्करण में भी कोई विशेष बात उल्लेखनीय नहीं है।

३. ठाकुर शतक—बरखारी के निवासी ठाकुर कवि की कृति काशी प्रसाद द्वारा मद्रास में सन् १९०४ ई० में भारतजीवन प्रेस काशी से मुद्रित है। कोई टीका-टिप्पणी नहीं है और न भाषा के संबंध में कोई विचार ही उपस्थित किया गया है।

४. श्री रावसुखा शतक—यह प्रसिद्ध 'हठी' कवि रचित है। इनके मुख्य सहाय भाग्यसुंदर हरिश्चंद्र और हरिप्रकाश अग्रवाल से सन् १८९७ ई० में प्रकाशित है। इसमें बंबल मूल पाठ लिखा गया है।

५. हुम्नौर रातो—यह नागरी प्रचारिणी-संस्थान का १३ वाँ पुष्प है। बा० रामकृष्ण इसके सपादक हैं। यह स० १९०८ ई० में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के रचयिता कवि 'अश्वमेध' भूमिका तो इस पुस्तक में ७६ पृष्ठ की दो गई हैं, जिसके अन्त में लिखा है 'गोप' और 'सबम' में विचार उपस्थित किये गए हैं। इसके अनिश्चित काम-बला धन्यता माला में नहीं लिखा गया।

६. रविमणी स्वधर—यह महाराज रघुनाथ मिश्र द्वारा सन् १९०८ ई० में भारत माता यशालय टीका से मुद्रित है।

७. ध्वजप्रकाश—यह भी नागरी-प्रचारिणी सभा-ग्रंथ-माला का ३४वाँ पुष्प है जो सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक बाबू ध्याममुंदर दास और कृष्णवल्देव वर्मा हैं। भूमिका में केवल इतिहास वर्णित है। संपादन या भाषा के संबंध में एक शब्द भी नहीं दिया गया।

८. आलमकेलि—साला भगवानदीन द्वारा संपादित प्राचीन कवि-माला का पहला पुष्प है। इसमें आलम और उनकी पत्नी शेख की रचनाएँ हैं। संपादक महोदय ने केवल यह लिखा है—

“अपने विषय में मुझे यह कहना है कि मैंने इस पुस्तक देखा है, टिप्पणियाँ लिखी हैं

और यत्र-तत्र दोषों का संशोधन किया है, तो भी जहाँ-जहाँ छंदों का अर्थ समझ में नहीं आया वहाँ मैंने पाठ ज्यों का त्यों रहने दिया है।”

इसमें स्पष्ट है कि भाषा के संबंध में कोई विचार नहीं किया गया है।

९. हिमंत बहादुर विरदावली—संपादक साला भगवानदीन। यह सन् १९१६ ई० में नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से प्रकाशित हुई और उसकी ग्रंथ-माला का १६वाँ पुष्प है। भूमिका में संपादक की जीवनी और हिमंतबहादुर की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है। संपादन एवं भाषा-गोचन में कुछ ध्यान नहीं दिया है।

१०. दीनदयाल प्रयावली—संपादक ध्याममुंदर दास। यह नागरी प्रचारिणी सभा-ग्रंथ-माला २५वें के नाम से प्रकाशित हुई और सन् १९१६ में छपी।

इन प्रकार सन् १८६५ ई० में बाबू रामकृष्ण वर्मा के संपादन में उनके प्रेस भारतजीवन ग्रंथालय काशी में अनेक प्राचीन कवियों की कृतियाँ निकली, पर इनमें न भूमिका थी और न इनमें किसी प्रकार का भाषा-गोष्ठ। ‘देव’ का अष्टयाम सबसे पहले उन्होंने ही छापा। इस प्रकार हम देखते हैं, कि उस समय हिंदी के कितने ही गण्यमान कवियों की रचनाएँ प्रकाशित की गई, पर उस समय इस बात पर विचार नहीं किया गया कि इन कवियों की भाषा के संबंध में भी या तत्कालीन कवियों की भाषा के वास्तविक स्वरूप को निर्वारण करने के लिये भी यत्नशील होना चाहिए। इसके उपरान्त हमारे साहित्यिक विद्वानों ने कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन प्रारंभ किया, विहारी आदि की रचनाओं को लेकर श्रद्धाचलियाँ प्रकाशित की गई। इनमें प्रायः कवियों की समस्त रचनाओं को देने के साथ ही साथ सुंदर और विस्तृत एवं तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गई। उदाहरण के लिये ‘मतिराम-ग्रंथावली’ को लीजिये, इसका संपादन हिंदी के मुख्य विद्वान् पं० ‘कृष्णविहारी’ मिश्र द्वारा हुआ है और गंगा-पुस्तकमाला लखनऊ से प्रकाशित है। प्रथम संस्करण स० १९८३ वि० में निकला। विस्तृत भूमिका २४८ पृष्ठ की है। इसमें विद्वान् लेखक ने केवल साहित्य एवं मतिराम के काव्योत्कर्ष एवं काव्य-कला के विषय में ही अपने उन्नत और गवेषणात्मक विचार उपस्थित नहीं किये, वरन् तुलनात्मक ढंग से मतिराम की रचना की भी परीक्षा की है। मतिराम की तुलना अग्नेयी और संस्कृत कवियों से भी की गई है। जैसे—मतिराम-वेनीप्रवीण, मतिराम-कालिदास, मतिराम-शेक्सपियर। इस प्रकार की आलोचनाएँ अनेक कवियों की की गई। महाकवि विहारीलाल पर तो अलग साहित्य-सा ही बन गया—देव और विहारी, विहारी और देव, सतगई-महार इत्यादि अनेक ग्रंथ आए। सबसे प्रथम प्रयास भाषा के संबंध में यदि किसी ने किया तो वह ‘मिश्रवच’ थे। ४ अप्रैल १९०७ ई० को प्रकाशित भूपण-ग्रंथावली की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

“सहृदय पाठकों को ग्रंथावलोकन से विदित होगा कि इसमें शब्दों के लिखने में उनको शुद्ध संस्कृत के स्वर्ण से न लिखकर बिगड़े हुए (हिंदी) स्वरूप में लिखा गया है, यथा—जग (अम) शक्ति (अमि) भूखन (भूषण) दुग (दुर्ग) क्षिति (क्षति) इत्यादि। उस विषय में हमें केवल यही वक्तव्य है कि भाषा में जो रूप उसमें समाजा जाता है और जो रूप भूषण जो एवं अन्य कवियों परसं करते हैं, वही लिखा गया है। भाषा के कविवर्ग केवल कटुता बचाते एवं श्रुति-माधुर्य लाने के लिये ऐसा किया करते हैं और इसमें कोई दोष भी नहीं है।”

मिश्रबधुओं को इस कथन की हमें कोई आलोचना नहीं करनी है। अभिप्राय केवल इतना है कि इन विद्वानों ने वास्तव में कोई उचित प्रयत्न नहीं किया कि भूषण ने वास्तव में कौन से शब्द का कौन-सा स्वरूप रखा और उन्होंने किस आधार पर अपने संपादन में उस रूप को स्थापन दिया। हिंदी-साहित्य के प्रकांड पंडित एवं ब्रजभाषा-काम्य के एकमात्र कवि विहङ्गर 'रत्नाकर' जी ने इस ओर ध्यान दिया और 'विहारी-रत्नाकर' का संपादन करके भाषा के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर दिया। इसके उपरांत उन्होंने 'सूरसागर' का संपादन भी प्रारम्भ कर दिया, पर दैव-कोप से हिंदी-संसार उनके विषय से सूर की रचनाओं का वास्तविक रूप न देख सका और उन्होंने उसे अपूर्ण छोड़कर योत्सोकावस किया। विहारी-रत्नाकर के प्रकाशन के पूर्व भाषा के संबंध में विद्वानों में बहुत विचार-विनिमय हुआ और इस बात की भी आवश्यकता समझी गई कि अभी तक जो कुछ प्राचीन कवियों की सामग्री प्रकाशित हो चुकी है उसे तथा अन्वेषण के उपरांत प्राप्त होनेवाले श्रम्य प्राचीन कवियों की रचनाओं के संस्करण आनुवंशिक संपादन-कला के अनुसार निकाले जायें। स० १९२६ ई० तक भूमिष्ठ और प्रकाशित संस्करणों का अच्छा परिचय श्री 'दुलारेलाल भार्गव' ने 'विहारी-रत्नाकर' के संपादकीय निवेदन में दिया है। वे लिखते हैं—

“इसमें संदेह नहीं कि कुछ साहित्यिक गीताखोरी ने बल्ले की कंदराओं से निकल कर अनेक ग्रंथ-रत्नों का मुद्रण-उद्धार अवश्य किया है, परंतु वे भी प्रकाशित करके उस प्राचीन परिच्छेद में प्रकट हुए हैं, जो इस समय विलक्षण प्रचलित नहीं। इसके अतिरिक्त ये श्व रत्न जिस रूप में प्राप्त हुए हैं, उसीमें प्रायः प्रकाशित कर दिये गये हैं। उनका समुचित संशोधन और संस्करण करके भूमिका-टिप्पणी आदि की ओर तथा डाक देकर सुंदर सुसज्जित स्वरूप में साहित्य-संसार को समर्पित करने का ध्येय प्रयत्न नहीं किया गया है।”

पाठ-संशोधन का प्रयास सर्व प्रथम रत्नाकर जी ने ही किया। वे 'विहारी-रत्नाकर' के प्राक्-ग्रंथ में लिखते हैं—

“बोहो के पाठ शुद्ध करने में हमको बड़ा श्रम उठाना पड़ा। प्रत्येक बोहो के पाठ का मिलान पाँचों प्राचीन प्रतियों से करने के अतिरिक्त जो शब्द सतसई में अपभा प्रणाम्य ब्रजभाषा ग्रंथों में कई-कई रूपों से लिखे मिलते हैं, उनके विहारी-स्वीकृत रूपों को निर्धारित करने में बहुत समय व्यय हुआ और बड़ी कठिनाई पड़ी।”

इसके आगे के वक्तव्य में स्वरूप-निर्धारण के जिन उपायों को उन्होंने अपनाया है उनका वर्णन वे दिया है। उस समय के उपरांत यद्यपि अनेक प्रतियों के आधार पर अनेक स्वरूप निर्धारित रचनाओं के कुछ अच्छे संस्करण प्रकाशित हो गए हैं, पर ऐसा स्वरूप-निर्धारण जैसा रत्नाकर जी ने किया है किसी भी संपादक ने नहीं किया। सैरा विचार है इस दिशा में कार्य रूप से अवश्य ही हाथ डाला जाय। ब्रज-साहित्य-मंडल के तत्त्वावधान ने ब्रजभाषा के आचार्यों एवं विद्वानों का एक सहयोगी-समाज बनाकर ब्रज-साहित्य के शुद्ध रूप को वर्धन कराए जाएं। अतः मेरे ब्रजभाषा के कवियों और उन १८ विंगी गई आलोचनाओं को एक सूची देना आवश्यक समझता हूँ, जो कि यथा समय ब्रजभाषा-साहित्य पर प्रकाशित पूरी सामग्री पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर देगी। इससे विदित होगा कि पाठ्य तक ब्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन और अन्वेषण एवं शोधन कहीं तक हो सका है। लेख का कलेंबर अत्यधिक बढ़ने से आशा से हूँ इस सामग्री के विषय में विशेष नहीं लिखना चाहते हैं। पाठकों को हमने अवश्य स्पष्ट हो जायगा कि ब्रज-साहित्य का कितना अल्प प्रकाश में आ चुका है। यथा—

१. उमाशंकर श्रुत्स—गद्गदास (समालोचना तथा ग्रंथ), प्र०—प्रयाग विश्वविद्यालय, स० १९२५ ई०।

२. कवि किकर—बनारस रत्नावली, पद्माकर रत्नावली, रसखान रत्नावली (समालोचनात्मक), प्र०—

भारतवासी प्रेस दारागंज प्रयाग, स० १९४१।

३. कृपाराम—हित-सरणिणी (साहित्य शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेम कामी, स० १९१५।

४. कृष्णविहारी मिश्र—पुष्पसंग्रह (समालोचना), देव श्रीर विहारी (भालोचना), मतिराम ग्रथा-
वली (समालोचना-सहित) प्र०—गंगा पुस्तक-माला कार्यालय लखनऊ, मुद्रण समय क्रमशः
स० १९२५ तथा १९२६ ।
५. कृष्णशंकर श्रवण—केशव की काव्य-कला (समालोचना), प्र०—सीताराम प्रेस काशी, स० १९३४ ।
कविवर रत्नाकर (समालोचना) प्र०—देवेंद्रचंद्र काशी, स० १९३५ ।
६. केशवदास—रसिकप्रिया (साहित्य-शास्त्र), प्र०—बेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८७७ ।
२ प्र०—नारायण भारती—जसवत भारती बंबई, स०—१९०० ।
३. सरदार कवि की टीका सहित, प्र० नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९८
४, बेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १९१४ ।
२ कविप्रिया सटीक (साहित्य शास्त्र) प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६ ।
२ " (टीका-हरिचरणदास) प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९०
३ कविप्रिया (सटीक) टीका नाम—'प्रियाप्रकाश' टी०—ज्ञा० भगवानदीन—प्र०
नेशनल प्रेस, काशी स० १९२५
३ रामचंद्रिका (काव्य-सटीक), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८२
२ " (सटीक) जानकी प्रसाद कृत टीका, प्र०—बेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १९०७ ।
३. " स०—ज्ञा० भगवान दीन, प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२२ ।
४. " (सटीक-टीका का नाम 'केशव कौमुदी' कर्त्ता—ज्ञा० भगवान दीन, प्र०—
साहित्य-सेवासदन काशी, स० १९२३, दो भागों में ।
४ लक्ष्मण स०—रत्नाकर, प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९२३ ।
५ बीरसिंहदेव चरित, स०—रत्नाकर, प्र०—भोरछा-दरबार, स० १९४० ।
६ विज्ञान गीता (धर्म), प्र०—बेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८३४ ।
७. गंगाप्रसाद सिंह—पद्माकर की काव्य-साधना (समालोचना), प्र०—साहित्य सेवा-सदन काशी, स०
१९३४ ।
- ८ गजाधर—छंदोमंजरी (साहित्य-शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८८७ ।
९. गिरिधर कविराय—कुडलिया (नीति), प्र०—मुस्तफाये प्रेस लखनऊ, स० १८७४ ।
२ प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८३ ।
३ प्र०—गुलशन ए पजाब प्रेस रावलपिंडी, स० १८९६ ।
४ प्र०—जैन प्रेस लखनऊ, स० १८९७ ।
५ प्र०—किशनलाल श्रीधर बंबई, स० १९०२ ।
६ भार्गव वृकडिपी काशी, स० १९०४ ।
- १० गिरिधरदास (गोपालचंद्र)—जरासभ-वध (काव्य), प्र०—चौखवा काशी, स० १८७४ ।
२ भारतीभूषण (साहित्य-शास्त्र), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८१ ।
३ रस-रत्नाकर (साहित्य-शास्त्र), प्र०—सद्गुणविलास प्रेस बंकीपुर पटना, स० १९०६ ।
- ११ गिरिधर गोपाल तथा हरिचंद्र—प्रेमतरंग (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १८८४ ।
- १२ गुलाबसिंह (कविराज)—बृहद्भय्यार्थ-चंद्रिका (साहित्य-शास्त्र), प्र०—रामकृष्ण वर्मा काशी,
स० १८८७ ।
१३. गोकुलनाथजी गोस्वामी—वचनामृत (धर्म), प्र०—अगद शास्त्री धलीगढ़, स० १८७० ।
२ वचनामृत (धर्म), प्र०—हरीदास तेवरदास, वैष्णव ग्रहमन्त्रवाद, स० १९०९ ।
३. चौबीस वचनामृत (धर्म), प्र०—माणिकलाल छोटालाल भाई प्रेस अमदावाद,
स० १८८७ ।

२. चौबीस वचनामृत (धर्म), लल्लूभाई छगनलाल देसाई श्रमदावाद, स० १९२६।
३. गोवर्धनवासी चिंतन (धर्म), प्र०—हरीदास तेवरदास वैष्णव श्रमदावाद, स० १९०१।
४. वनयात्रा (धर्म), प्र०—हरिदास तेवरदास वैष्णव, श्रमदावाद, स० १९०७।
५. पवित्रा एकादशी नू. धौल (धर्म), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मीदास ववई, स० १८६५।
६. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (धर्म), प्र०—रणहर पुस्तकालय बाकौर, स० १९०१।
७. दो सी बावन वैष्णवन की वार्ता (धर्म), प्र०—रणहर पुस्तकालय ठाकौर, स० १९०३।
१४. गोरेलाल (कवि)—“छत्रप्रकाश (काव्य), प्र०—नागरीप्रचारिणी सभा काशी, स० १९०३।
१५. ग्वाल कवि—मनुनालहरी (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८१।
 २. षट्सुवर्णन (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस, काशी, स० १८९३।
 ३. नख-सिख (काव्य), प्र०—लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद, स० १९०३।
१६. वनानंद—सुजानसागर (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १८८७।
 २. विरहलीला (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९०७।
१७. चिंतामणि—कविकल्पतरु (साहित्य-शास्त्र), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७७।
१८. छत्रसिंह (कवि)—विनय मुक्तावली (काव्य), प्र०—मुहम्मद बजीर खाँ भागरा, स० १८९७।
 २. प्र०—कैशवप्रसाद भागरा, स० १८८१।
 ३. प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस ववई, स० १८९६।
१९. जगन्नाथदास (रत्नाकर)—समस्यापूर्ति (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १८९४।
 २. हिंदीला (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९४।
 ३. हरिश्चंद्र (काव्य), प्र०—नागरीप्रचारिणी सभा काशी, स० १८९४।
 ४. गगनतरण (काव्य), प्र०—द्वियन प्रेस प्रयाग, स० १९२८।
 ५. उदयशतक (काव्य) प्र०—द्वियन प्रेस प्रयाग।
२०. जवाहरलाल जलुबंदी—ग्रंथि श्रीर कविगण (भालोचना-सहित ब्रजभाषा के विविध कवियों के काव्य का तत्सर्वधी बृहद् संग्रह), प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १९३२।
 २. भक्त श्रीर मगवान् (भालोचना-सहित, ब्रजभाषा के विविध कवियों की मुक्तियों का संग्रह), प्र०—हिंदी साहित्य कुटीर काशी, स० १९३८।
 ३. रास पंचाध्यायी नन्ददास (संपादन), प्र०—छान हितकारी पुस्तकालय प्रयाग, स० १९३०।
 ४. भृगुगारलतिका-सीरम द्विजदेव (संपादन) प्र०—राजसदन प्रयोप्या, स० १९३८।
 ५. नन्ददास पदावली स०—१९४२।
 ६. दानलीला श्री हरिराय कृत (भालोचना सहित) प्र०—साहित्य सेवा मदन बागी, स० १९३२।
२१. ठाकुर (कवि)—ठाकुर-सतक (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १९३६।
 २. ठाकुर-सतक (काव्य), प्र०—साहित्य मेवक बापान्न काशी, स० १८७७।
२२. तुलसीदास गोस्वामी—गीतावली (काव्य), प्र०—चन्द्रशेखर प्रेस बागी, स० १८७७।
 २. प्र०—इन्द्रनारायण घोष कलकत्ता, स० १८६८।
 ३. प्र०—नृत्यलाल शील कलकत्ता, स० १८७३।
 ४. स०—वैजनाथ कुर्मी, प्र०—नवल निगोर प्रेस नगरऊ, स० १८७८।
 ५. प्र०—गमपुमार प्रेम काशी, स० १८८३।
 ६. कृष्ण गीतावली (काव्य) प्र०—राममुद्गान प्रेस बागी, स० १८७३।

- ३ कवित्त-रामायण (काव्य), प्र०—मधुसूदन शील कलकत्ता, स० १८६८ ।
२. प्र०—श्रीजीरता ग्रामरा, स० १८७० ।
- ४ विनय-पत्रिका (काव्य सटीक), टी०—शिवप्रकाश सिंह काशी, स० १८६८ ।
 २. " (सटीक) टीका—सा० भगवानदीन, स० १८२७ ।
 - ३ " (सटीक) टीका—विमोषी हरि, प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १८२३ ।
२३. दुलह कवि—कवि-कुल-कंठाभरण (काव्य-शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८८६ ।
 २. प्र०—गंगा फाइन घाट प्रेस लखनऊ, स० १९०६ ।
२४. देव (कवि)—अष्टयाम (काव्य), प्र० भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६२ ।
 - २ भावविलास (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६३ ।
 - ३, रसविलास (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६३ ।
 - ४, भवानी विलास (सा० शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९०० ।
२५. नन्ददास—वसुदेवीलीला, (काव्य), प्र०—ग्रहप्रेस दिल्ली, स० १८७१ ।
 - २ क्षयम-सगार्ड (काव्य), प्र०—ग्रहप्रेस दिल्ली, स० १८७४ ।
 - २ " प्र०—मोतीलाल फतेहपुर सीकरी, स० १९१० ।
 ३. " प्र०—अग्रवाल प्रेस प्रयाग, स० १९३४ ।
 - ३ अर्ध चन्द्रोदय (भाषा-वर्णन), प्र०—चम्पकर प्रेस अमृतसर, स० १९०० ।
 - ४ नाममाला (कोप), प्र०—अमीरसिंह बनारस, स० १८७७ ।
 - ५ अनेकार्थ और नाममाला (कोप), प्र०—अयाग विश्वविद्यालय ।
 - ६ रास-मंचाध्यायी (काव्य), प्र०—रामस्वरूप शर्मा मुरादाबाद, स० १८६६ ।
 - ७ भैरवगीत (काव्य), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मीदास, प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९०३ ।
 - ८ रासपंचाध्यायी और भैरवगीत, (काव्य), स०—जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्र०—छात्र हितकारी पुस्तकालय प्रयाग ।
 - ९ नन्ददास (नन्ददास जी के काव्य अथ और आलोचना) प्र०—अयाग विश्वविद्यालय ।
२६. नरोत्तमदास—मुद्रया चरित्र (काव्य), प्र०—काशी प्रेस दिल्ली, स० १८८२ ।
 - २ स०—ललीप्रसाद शुक्ल, प्र०—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग, स० १८९० ।
२७. नागरीदास—नागरसमुच्चय (काव्य-संग्रह), प्र०—श्रीधर शिवलाल ज्ञानसागर प्रेस बम्बई, स० १८९८ ।
२८. नाभादास—भक्तमाल (सा०शा०) प्र०—नृत्यलाल शील कलकत्ता, स० १८७३ ।
 - २ रामाष्टयाम (काव्य), प्र०—वैकटेश्वर प्रेस बम्बई, स० १८६४ ।
२९. पञ्जेश (कवि)—पञ्जेश-पञ्चीसा (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६२ ।
 - २ पञ्जेश-प्रकाश (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६४ ।
३०. पद्माकर—जगद्विनीद (सा० शा०), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७६ ।
 - २ पद्माकरण, (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९०० ।
 - ३ गंगालहरी (काव्य), प्र०—श्रीधर शिवलाल बम्बई, स० १८७४ ।
 - ४ पद्माकर-मचामृत, (काव्य-संग्रह, आलोचना), स०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र०—रामरत्न पुस्तकालय काशी, (पद्माकरजी के पाँच ग्रन्थ)
 - ५ रामरत्न (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९४ ।
 - २ " अयोध्या कांड—स० १८९९ ।

- ३ " अरण्य काठ—स० १८६५ ।
- ६ प्रबोधपंचासा (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६२ ।
- ७ हिमतवनह्यादुर विरुदावली (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९०८ ।
३१. परमानन्ददास (अष्टछाप)—दवि लीला (काव्य), प्र०—असनी प्रेस दिल्ली, स० १८६८ ।
२. परमानन्दसागर (काव्य), प्र०—रामचंद्र त्रिवेदी जयपुर, स० १९१४ ।
३२. पद्मसिंह शर्मा—सतसई-सीष्ण और सतसई-सहार (आलोचना) ।
३३. बेनीप्रवीण—नवरस-नरग (सा० शा०), प्र०—एम० एस० मेहता काशी, स० १९२५ ।
३४. बोधा (कवि)—विरह वारीश—माधवानल कामकदला (काव्य), प्र०—नानेशप्रसाद लखनऊ, स० १८६४ ।
- २ कामकदला-चरित्र, सपा०-सा० भगवान दीन ।
३५. भगवानदीन—सुकितसरोवर (सा० सं०) प्र०—मिश्रबबु कार्यालय जबलपुर, स० १९२३ ।
- २ बिहारी और देव (आलोचना), बनारस, स० १९२६ ।
- ३ संपादित ग्रंथ—तुलसीचरित, सूरचरित, केशव, रहिमान-सतक आदि । प्र० नदकिशोर ब्रदर्स काशी, रामनारायणचाल भगवान प्रयाग, साहित्य मूषण कार्यालय काशी ।
३६. मिलादीदास (शस कवि)—ईदार्णव (सा० शा०), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६८ ।
- २ रससारस, (सा० शा०), प्र०—राणाप्रतापबहादुरसिंह प्रतापगढ़, स० १८६३ ।
- ३ शृंगार-निर्यय (सा० शा०), प्र०—गुलशन ए ग्रहमदी प्रेस दिल्ली, स० १८६२ ।
- ४ काव्यनिर्यय (सा० शा०), प्र०—गुलशन ए ग्रहमदी प्रेस दिल्ली, स० १८६२ ।
३७. भूषण—शिवा-बावनी और छत्रसाल-दशक (काव्य), प्र०—गोवर्धनदास लखनऊ, स० १८६० ।
- २ शिवराज-बावनी (काव्य), प्र०—ब्रजजीवन भुवारी विपाठी, स० १८६३ ।
- ३ शिवराजभूषण (सा० शा०) प्र०—परमानन्दसुहाने लखनऊ स० १८६४ ।
- २ " प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९०८ ।
३८. अतिराम—रसरज (सा० शा०), प्र०—किशनलाल भागरा, स० १८१४ ।
- २ ललित-ललाम (सा० शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८१४ ।
३९. महाराज भानसिंह (द्विजदेव)—शृंगार-वत्सी (काव्य), प्र०—महाराज सर किलोकीनाथ सिंह अयोध्या, स० १८७७ ।
- २ शृंगार-ललिका (काव्य), प्र०—ब्रह्मसकर मिश्र काशी, स० १८८३ ।
- ३ शृंगारललिका-सौरभ, सटीक—ब्रजभाषा-टीका-कर्ता प० जगन्नाथ भवस्वी, हिंदी टीकाकार—महाराज प्रतापनारायण सिंह अयोध्या, स०—जवाहरलाल चतुर्वेदी मयूर, प्र०—महाराजी जगदवादेवी अयोध्या, मु०—इंडियन प्रेस प्रयाग स० १९६३ । यह पुस्तक इतनी सुंदर छरी है कि इसके तोल-मोल में हिंदी की कोई पुनर्काव्य तक नहीं । संपादन तथा पाठ-निर्यय मे दबा परिश्रम किया गया है ।
४०. मिश्रबबु—सबकुश चरित्र (काव्य), प्र०—नदकिशोर गोतार्ज्य लखनऊ, स० १८६६ ।
- २ देव-अंथावली (समालोचना), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९१० । (प्रेम-चक्रिका-रसविलास) -
- ३ भूषण-अंथावली (समालोचना सहित), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९१२ ।
४. देवसुखा (आलोचना और काव्य), प्र०—यंगा फाईन आर्ट प्रेस लखनऊ, स० १९२५ ।

४१. रणछोड़दास-वरजीवनदास—पंचमजरी नवदास (काव्य), प्र०—सूरतवाला मंदिर भूलेश्वर सामने ववई, स० १९१६। पंचमजरी जैसे—अनेकार्थ० नाममाला, विरह०, रस० और रूप० ।
४२. रसखान—रसखान शतक (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स०—१८९२ ।
 २ सुजान-रसखान (काव्य-संग्रह), प्र०—किशोरीलाल गोस्वामी, बृंदावन (मथुरा), स० १८६७ ।
 ३ प्रेमवाटिका (काव्य), प्र०—किशोरीलाल गोस्वामी, बृंदावन, स० १८६७ ।
 ४ रसखान-मदावली (काव्य), प्र०—हिंदी प्रेस प्रयाग, स० १९३० ।
४३. रसनिधि—रतन-हजारा (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८९२ ।
४४. रसलीन—रसप्रबोध (सा० शा०), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६६ ।
 २ अग्रदर्पण (काव्य० शा०), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८८५ ।
४५. रहस्य—नीति कुडलिया (धर्म), प्र०—वचनलाल मिश्र आगरा, स० १८९३ ।
 २ वरवै नायिका-भेद, (सा० शा०), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८९३ ।
४६. राधाकृष्णदास—कविवर बिहारीलाल (समालोचना), प्र०—चंद्रप्रभा प्रेस काशी, स० १८९६ ।
४७. रामचंद्र शुक्ल—(सपादक, तुलसी-ग्रथावली—समालोचना तथा अर्थ), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२३ ।
 २ बुद्धचरित (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२२ ।
 ३ अमरगीत-सार (आलोचना), प्र०—गयाप्रसाद शुक्ल काशी, स० १९२३ ।
४८. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—भूषण ग्रथावली, (समालोचना सहित सपादन) प्र०—साहित्य सेवक कार्यालय काशी, स० १९३१ ।
 २ पद्माकर-मचामृत (समालोचना, काव्य, सपादन), प्र०—रामरत्न पुस्तकालय काशी, स० १९३५ ।
 ३ विहारी की वाग्भूमि (आलोचना), प्र०—द्वारिकादास काशी, स० १९३६ ।
४९. विहारीलाल—सतसई (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९० ।
५०. वृंक्षकवि—वृंद सतसई (नीति), प्र०—खड्गबिलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १८९८ ।
५१. सुंदरदास—सवैया (धर्म) ।
 २ सुंदर-ग्रथावली, स०—हरिनारायण प्रोहित जैपुर, स० १८९० ।
५२. सुदम—सुजान चरित्र (काव्य), प्र०—बनारस लायट प्रेस काशी, स० १८६७ ।
५३. सूरदास—सूरसागर-रत्न (काव्य), प्र०—बनारस लायट प्रेस काशी, स० १८६७ ।
 २ सूरसंगीत-सार (काव्य), प्र०—अरुणोदय प्रेस कलकत्ता, स० १९०२ ।
 ३ विनय-पत्रिका (काव्य), प्र०—ज्ञानसागर प्रेस ववई, स० १८५७ ।
 २ „ (सटीक), टी०—सरदार कवि, प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६६ ।
 ३ सूर-विनय, स०—सरदार कवि, प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८७० ।
 ४ सूर-सतक (काव्य), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६६ ।
 ६ दृष्टिकूट (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९० ।
 ७ सूरपूवार्द्ध (काव्य), स०—भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्र०—खड्गबिलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १८८६ ।
 ८ सूर-रामायण (काव्य), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६६ ।
 २. „ प्र०—शिवलाल गणेशीलाल मुरादाबाद, स० १८६८ ।

- ६ बिसातिनलीला (काव्य), प्र०—कुसेनवक्त्र फलेगद, स० १८७६।
 १० गोपालगारी (काव्य), प्र०—श्रीनाथ ३१६ चितपुर रोड कलकत्ता।
 ११ भवैरगीत—(काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७८।
 १२ मयूरध्वज राजा की कथा (काव्य), प्र०—नदराम नवलराम, स० १८८३।
 द्वितीयबार—स० १८९०।
 १३ सूर-मचीसी—सूरसाठी (काव्य), प्र०—मनसुखदास शिवलाल मथुरा, स० १९३०।
 १४ सूर-वैराग सतक (काव्य), प्र०—मनसुखदास शिवलाल मथुरा, स० १९३०।
 १५ सूरसागर (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८२।
 २ „ कृष्णलाल आगरा, स० १८८२।
 ३ „ ईजाद ए किशन प्रेस आगरा, स० १८८६।
 ४ „ बेकटेइवर प्रेस, बबई, स० १८९७।
 ५ „ मुवै सलजलूम प्रेस मथुरा स० १८७८।
 ६ „ (सचिव), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, (८ खंड) अग्रणी, स० १९३४।
 ५४. सेनापति—कवित्त-रत्नाकर (काव्य), प्र०—हिंदी परिवर्द्ध प्रयाग, स० १९३४।
 ५५. सेवक कवि—नख-सिख (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८९३।
 २ वाग्विलास (सा० शा०), प्र०—राजा कमलानन्दसिंह पूर्णिया, स० १९६५।
 ५६ सोमनाथ—रासपचाध्यायी (काव्य), प्र०—भारतवासी प्रेस प्रयाग, स० १९३७।
 ५७. सोमनाथ गुप्त—अष्टछाप-गदावली (संपादन, साहित्य-इतिहास), प्र०—हिंदी भवन लाहौर, स० १९४०।
 ५८. हजारीप्रसाद द्विवेदी—सूरसाहित्य (समालोचना), प्र०—मध्य भारत हिंदी-साहित्य समिति, इंदौर, स० १९३६।
 ५९. हृषीकेशजी खन्ना—नवीन सग्रह (सा० इति०), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, (कानपुर प्रांत का छपा), स० १८८२।
 २ हजारा (सग्रह), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६।
 ३ षट्शतु-काव्य-सग्रह (काव्य-सग्रह), प्र०—नवल किशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६।
 ४ प्रेमतरंगिणी (काव्य), प्र०—शिगूफाए गुलनार अवध प्रेस बबई, स० १८९०।
 ५ मनमोहिनी (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९४।
 ६०. हरिनारायण प्रोहित—सुंदर-सागर (समालोचना), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९१८।
 २ ब्रजनिधि-अथावली (सा० इति०), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९३१।
 ३ सुंदर-अथावली (समालोचना तथा काव्य-सग्रह), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९३६।
 ६१. हरिप्रसाद द्विवेदी (विशेषी हरि)—संक्षिप्त सूरसागर (समालोचना और काव्य-सग्रह), प्र०—हिंदी-साहित्य-समेलेन, प्रयाग, स० १९२२।
 २ ब्रजमाधुरी-सार (समालोचना तथा काव्य सग्रह), प्र०—हिंदी-साहित्य-समेलेन प्रयाग, स० १९२३।
 ३ छत्रसाल-अथावली, (समालोचना), प्र०—छत्रसाल-स्मारक समिति, छत्रपुर, स० १९२३।
 ४ वीरसतसई
 ६२. हरिरायजी—गोवर्धननाथ जी की प्रागट्यवार्ता (धर्म), प्र०—मोहनलाल विष्णुनाथ पट्ट, बबई, स० १८७६।

- २ नित्यलीला भावना प्रकाश, (धर्म), प्र०—जोशी मूलचद बबई, स० १८६८ ।
 ३ वडे शिक्षापत्र (धर्म), प्र०—सुबोधिनी पाठशाला बबई, स० १८६१ ।
 ४ श्रीनाथ जी के प्रागट्य की वार्ता (धर्म), प्र०—अधिकारी चरणदास मथुरा
 स० १९६५ ।
 ६३. हरिश्चन्द्र (भारतेंद्रु)—विरह सतक (काव्य), प्र०—ज्वालाप्रसाद भार्गव अगारा, स० १८६७ ।
 २ प्रेमतरंग (सा० इति०), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६६ ।
 ३ सुन्दरी-तिलक (सर्वथा-संग्रह), प्र०—फौक काशी प्रेस काशी, स० १८८० ।
 ४ परिहासिनी (काव्य संग्रह), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस, काशी, स० १८८० ।
 ५ पावस कविता-संग्रह (संग्र०), प्र०—खड्ग विलास प्रेस दार्जीपुर पटना, स० १८९७ ।
 ६ रस-वरसात (काव्य-संग्र०), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १९०० ।
 ६४. हित हरिवंश—वृ दावन सतक (काव्य), प्र०—लक्ष्मी वैकटेश्वर प्रेस बबई, स० १८९४ ।
 २ हित चौरासी (काव्य), प्र०—गो० गोवर्धनलाल वृ दावन (मथुरा) स० १९०६ ।
 ३ हित सुधासागर (काव्य), प्र०—श्रीनारायण अलीगढ, स० १९३६ ।



मीराजी के पद

(सं० १६४२ की डाकोर वाली प्रति से)

हरि म्हाारा जीवण प्राण अघार ।^१

ओर आसिरो ना म्हाारा ये बिणा तोणू लोक मसार ।
ये बिणा म्हाणे जग ना सुहावा निरख्या जग संसार ।
मीरा रे प्रभु दासी रावली डीव्यो पेक गिहार ॥

ॐ

साँवरे भारघा तीर ।

री म्हाारा पार निकडुमया तीर साँवरे भारघा तीर ।
बिरहा भनड लायाँ उर अंतर व्याकुड म्हाराँ सरीर ।
चंचड चित्त चडवाँ ना चाड्याँ वाँघ्याँ प्रेम जँबीर ।
क्याँ जाणाँ म्हारो प्रीतम प्यारो क्या जाणाँ म्हा पीर ।
म्हारो कर्दि ना बस सवणी नैण सरयाँ दो नीर ।
मीराँ रो प्रभु ये बिछुडयाँ बिण प्राण घरत ना धीर ॥

ॐ

मण ये परस हरि रे चरण ।

सुभग सीतड कँवड कोमड जगत क्वाड़ा हरण ।
इण चरण प्रह्लाद परस्याँ इंद पदवी चरण ।
इण चरण ध्रुव अटड करस्याँ सरण असरण सरण ।
इण चरण बह्माड भेट्याँ णख खसियाँ सिरि भरण ।
इण चरण कालियाँ णाय्याँ, गोपड़ीडा करण ।
इण चरण धारयाँ मोवरघण गरद भववा हरण ।
दासि मीराँ लाल गिरबर अगम तारण तरण ॥

ॐ

स्याम शुंबर पर वाराँ जीवडा डाराँ स्याम ।
थारे कारण जग जण त्यागा डोक डाव कुड डारा ।
ये देख्याँ बिण कड ना पडताँ येणा चडता धारा ।
क्याँ सँ कह्याँ कोण बुसावाँ कठण बिरह रो धारा ।
मीराँ रे प्रभु दरसन दीव्यो ये चरणों आधारा ॥

ॐ

सखी म्हाारी पीड पशाणी हो ।

पिय रो पंय निहारता शव रीण बिहाणी हो ।
सखियाँ शव मिड सीस दया मण एक ना भाणी हो ।
बिण देख्या कड ना पडा मण रोस ना ठाणी हो ।
अङ्गलोन व्याकुड भया मूल पिय बिब बाणी हो ।
अम्तर बेवण बिरह री म्हाारी पीड ना जाणी हो ।
ज्यूँ चातक धन कूँ रटा मछरी ज्यूँ पानी रो ।
मीराँ व्याकुड बिरहणी सुपडुम बिसराणी हो ।

१. मीराजी ने 'न' के लिए 'ण' का प्रयोग किया है जो 'न' के लिए 'द' का प्रयोग

श्री किशोरीदास बाजपेयी

अब से लगभग पचास वर्ष पहले 'काशी-नागरी-प्रचारिणी समा' ने एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य अपने सिर लिया था—हिंदी-ग्रंथों की खोज का। इस काम में उसे सरकार से और रजवाडों से भी पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली, परंतु खोज का काम जैसा होना चाहिए था, न हुआ। 'समा' खोज की रिपोर्टें प्रति वर्ष प्रकाशित किया करती थी। उसकी ऐसी ही एक रिपोर्ट की आलोचना करते हुए पं० 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' ने लिखा था—

यह तो मासुम हुआ कि खोज में इतने रुपए खर्च हुए; परंतु (रिपोर्ट से) इसका कोई पता नहीं चलता कि यह खोज किसने की, कहाँ की और कब की।”

द्विवेदी जी की आलोचना बहुत विस्तृत और व्योरे-से थी। 'समा' के अधिकारी इससे बहुत चिढ़ गए थे, परंतु पीछे कुछ सुधार भी हुआ, किंतु वह 'खोज' वस्तुतः बड़ी विचित्र हुई थी। उसी खोज के आधार पर 'मिश्रबधुओं' ने अपना महाग्रंथ "मिश्रबधु-विनोद" तैयार किया। जहाँ-जहाँ खोज में गलती है, वही 'मिश्रबधु-विनोद' में हुई, होनी ही थी; फिर मिश्रबधु-विनोद के आधार पर ही आचार्य पं० श्री 'रामचंद्र' शुक्ल ने हिंदी-साहित्य का इतिहास सजा दिया। स्वभावतः शुक्ल जी के ग्रंथ में भी वे ही सब भूलें आयीं। उदाहरण के लिए—

‘युगल-शतक’

ले सकते हैं। ब्रजभाषा में सुंदर 'सी दोहे' श्री 'श्रीमट्ट जी' ने लिखे और प्रत्येक दोहे का विकास नीचे मधुर पद्य में किया। सी, सी दोहे और सी गेय पदों की समष्टि का नाम है—‘युगल-शतक’। 'युगल' से प्रभावित हैं श्रीकृष्ण तथा श्री राधिका जी। निश्चय ही खोज करने वाले ब्रज में न पहुँच पाये थे, यद्यपि बीच में न कोई हिमालय था, न कोई महासागर। मस्त्वलीय मैदान भी बीच में नहीं, न दुर्गम जंगल। रेल सीधी गयी है, परंतु 'युगल-शतक' जैसी पुस्तकों की खोज करने उतनी दूर कोन जाय। यह भी न हुआ कि 'पं० किशोरीलाल' गोस्वामी जी से पूछ-ताछ कर ली जाती जो उस समय काशी में ही रहते थे और उसी श्री निर्वार्क-संप्रदाय के अनुयायी थे, जिसके आचार्य श्री श्रीमट्ट जी 'युगल-शतक' के लेखक हैं। उस समय काई एक पैसे का ही मिलता था, सी भी खर्च न किया गया, नहीं तो भारतेंदु हरिश्चंद्र के अंतरंग मित्र वृंदावनवासी श्री 'राधाचरण' गोस्वामी से पूछा जा सकता था। यह भी न किया गया और खोज में मन-गढ़न बातें लिख दी गयीं। खोज में, मिश्रबधु-विनोद ने तथा साहित्य के इतिहास में 'युगल-शतक' के बारे में जो गपड़बायें हैं, उसका सार यह है—

“युगलशतक’ श्री श्रीमट्ट जी की रचना है। इस को 'महाबानी' भी कहते हैं।”

इस तरह 'महाबानी' के मवच में भी खोजी लोगों ने भ्रम फैलाया। वस्तुतः 'महाबानी' एक पृथक् रचना है और उसके रचयिता भी (श्री श्रीमट्ट से) पृथक् हैं—श्री हरिप्रसाद देव जी! ये श्री श्रीमट्ट के शिष्य थे। 'युगल-शतक' को निर्वार्क-संप्रदाय में 'आदिबानी' कहने हैं और श्री हरिप्रसाद देव जी के इस बड़े ग्रंथ को 'महाबानी'। 'महाबानी' की रचना 'युगलमनन' की ही पद्धति पर है—महले एक दोहा और फिर नीचे एक (टीका रूप) सुंदर पद। मैंने वृंदावन में अपने हाथ में 'युगल-मनन' की और 'महाबानी' की प्रतिलिपि की भी; इस लिए मेरी खोज को ग्रहण भी गलत नहीं बना मानें हैं।

यह एक उदाहरण है उस खोज का। और न जाने कितने ग्रंथों की कहीं खोज-खबर है ही नहीं। मैंने अपने हाथ से 'परशुराम-सागर' की भी प्रतिलिपि की थी। यह बड़ा ग्रंथ श्री परशुरामदास की रचना है, जो निवार्क-संप्रदाय में हुए है। इन्हीं से गोस्वामी 'तुलसीदास' की भेंट का वह गलत वर्णन है, जिसमें प्रचलित है कि परशुरामदास जी ने गोस्वामी जी से राम की उपासना छोड़ देने के लिए कहा था। यदि 'परशुराम-सागर' छप जाय, तो लोग स्वतः समझ जायें कि वह रिबदी कितनी झूठ है। भेंट होना ठीक है, पर वह उपासना वाली बात तो कतई झूठ मानलूम देती है, क्योंकि 'परशुराम-सागर' तो राम-नाम की महिमा में भरा हुआ है। नीति तथा सदाचार से भव्य रखनेवाले भी बहुत रोहे हैं।

ऐसे और भी बहुत से ब्रजभाषा-काव्य निकल सकते हैं, यदि खोज की जाय। ब्रजभाषा-गद्य-ग्रंथों की तो खोज बिलकुल ही नहीं की गयी है। निवार्क-संप्रदाय के 'वेदात्तात्मवेनु' नामक ग्रंथ की टीका ब्रजभाषा-नाथ में बहुत सुन्दर है, लगभग डेढ़ सौ वर्ष की पुरानी और श्रीमद्भगवद्गीता की टीका ब्रजभाषा-गद्य में देखिए—

“यत्र नाम जा पक्ष में, योगेस्वरः नाम सर्वकं चित्त की निवृत्ता स्वामी भैसो श्रीकृष्ण वर्तमान है, अथ यत्र नाम जा पक्ष में पार्थ जो अर्जुन जैसे धनुर्धर नाम गाढो धनुष को धारण कर के स्थित है”

यहाँ 'भैसो' शब्द ध्यान देने योग्य है। यह टीका ब्रज में नहीं, विद्याचल के पास गया जी के तट पर कहीं लिखी गयी थी—

“विष्य निकट सुरतदिनि-तट . . ।”

टीकाकार है, ५० अनतराम जी, जो भूमिका में कहते हैं—

“ता गीता-सास्त्र की प्रति यमीर अर्थ जानि के अनेक आचार्य अथ तिनके संप्रदायी अनेक पंडित व्याख्या करत भए। ताहू को व्याकरण, न्याय, वेदादि पंडित कर के से बुद्धिमत है, तेई ग्रहण करि सकें। जिनके यह सास्त्रन की अध्ययन नहीं है अथ गीता के पदार्थन की जिज्ञासा है, तिनके उपकार के अर्थ ग्रहण को अर्थ संग्रह करिके अपनी मति-अनुसार श्री गीतापदार्थ बोधिनी 'बचनिका' भाषा में करी है।”

‘अपनी मति-अनुसार’ श्री रामचंद्र वर्मा की ‘अच्छी हिंदी’ के अनुसार गलत है, पर भी अनतराम जी के समय में यह परिष्कार हुआ ही न था। गद्य को तब ‘बचनिका’ कहते थे क्या?

ब्रज-साहित्य मंडल

सो, ब्रजभाषा-ग्रंथों की सुव्यवस्थित खोज का काम अभी ज्यों का त्यों पड़ा है। यहाँ अन्धा हो कि ‘ब्रज-साहित्य-मंडल’ इस काम को अपने हाथ में ले और पूरी शक्ति लगाकर दृग्मनो बरस में पूर्ण करके संपूर्ण सामग्री का सखिप्त परिचय प्रकाशित कर दे। यह एक काम होगा, यदि की ‘सभा’ का पूरक और हिंदी-साहित्य के इतिहास का आधार।

आशा है, ‘पौद्धार-अभिनन्दन-ग्रंथ’ के सम्पन्न-महोत्सव पर ही हमें ‘ब्रज-साहित्य-मंडल’ ने १-२ श्रुतसकल्य की घोषणा सुनने को मिलेगी। अन्यथा, इस अभिनन्दन-ग्रंथ में वे वस्तियाँ गयी हैं, जिनकी कमी न कभी, किसी न किसी विविष्ट व्यक्ति या मत्स्या का दशन देकर जगता है। “ता पा” में इतना निवेदन किया है।

श्री चंद्रमान 'राधे-राधे'

ब्रजभाषा का जादू प्रायः समस्त मुगल बादशाहों पर अपनी करामत बिखाता रहा। अकबर से लेकर औरंगजेब तक सभी मुगल-बादशाहों की ब्रजभाषा-रचना की शोष श्री 'चंद्रमाली' पाँडे ने की है। अकबर ने दो धर्मों और सस्कृतियों को मिलानेवाली कडियों की खोज 'अवुलफखल' जैसे अध्येता के माध्यम से कराई। फलतः सांस्कृतिक सघर्ष का तनाव कम हुआ। शुष्क दर्शन-शास्त्र की खोज से ऊठे हुए अकबरी दरबार को 'ब्रजभाषा' के संगीत ने विमोह कर दिया। इस युग में ब्रजभाषा का संगीत अपने चरम पर था। इस प्रकार कला के क्षेत्र में भी एक समन्वय-समझौते की झाँकी हुई। अकबर के इन प्रयत्नों ने अनेक उलझनों को सुलझा दिया—समन्वय और एकता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। राजनैतिक दृष्टि से भी मार्ग निर्वाचित था। फलतः शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में ब्रजभाषा-काव्य का जादू सामने आया। ब्रजभाषा-काव्य के माधुर्य से दरबारों की शुष्क दरारें भरने लगी। काव्य-शास्त्र का गभीर और बारीक अध्ययन अवकाश-प्राप्त दरबारियों के मनोविनोद का साधन हो गया। अतः काव्यशास्त्र का अध्ययन विशेष रूप से और ब्रजभाषा-संबंधी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन साधारण रूप से हुआ।

औरंगजेब, उसके मंत्री अथवा उसके पुत्रों ने ब्रजभाषा-काव्य का किसी न किसी रूप में सरक्षण अवश्य किया। 'कालिदास त्रिवेदी' का नाम औरंगजेब के साथ संबद्ध है। स्व० श्री 'रामचंद्र शुक्ल' ने लिखा है कि "उक्त कवि सन् १७४५ वाली गोलकुंडा की चढाई में औरंगजेब की सेना में गया था।" औरंगजेब की प्रशंसा में इनका लिखा हुआ एक छंद भी शुक्ल जी ने उद्धृत किया है। 'सुतदेव मिश्र' का सरक्षण कुछ दिनों औरंगजेब के मंत्री 'फाजिलअली शाह' ने किया था। औरंगजेब का पुत्र 'आजम-शाह' ब्रजभाषा, ब्रजभाषा के कवियों और ब्रजभाषा-काव्य का बड़ा योग्य मरक्षक था। शुक्ल जी ने उन्हीं आजमशाह के यहाँ एक 'निवाज' कवि का रहना बतलाया है।^१ अन्य अनेक लोगों में भी आजम-शाह को ब्रजभाषा का अत्यंत प्रेमी बताया गया है।

आजमशाह 'भापा' का इनका प्रेमी था कि उसने निवाज कवि ने गम्कून के महाकवि बालिदास के 'गुलुल्ला नाटक' का 'भापा' में अनुवाद कराया था।^२ इनकी ही आजमा ने 'बिहारी-मनन' का गायन हुआ, जिसका नाम ही 'मंतसई आजमशाह' प्रसिद्ध हुआ। उन्हीं नपावन के आषाढ में दोहा ग बरमान गम लाली-कुछ निर्धारित किया गया है। यहाँ जिस ब्रजभाषा के व्याकरण या जिन होने जा रहा है, उसके लेखक का संबंध भी आजमशाह ही था। आजमशाह ने ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्ति करने में जिसे दो यह व्याकरण लिखाया था।

यह व्याकरण 'गुहकन-उल्लिखित' है, जना श्री ई—'भावनरंज का उल्लास'। उन्हीं रचनाओं में 'मो-जा रा', श्री-निगा हया है—फागनी भाषा में।

१. 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३१४।

२. यही, हि० मा० ३०, पृ० ३१७।

३. शिवादेव—'आमर भाष्य ब्रजभाषा', पृ० ३।

इसका सर्वप्रथम उल्लेख 'सर विलियम जोन्स' ने सन् १७८४ में, अपने एक लेख 'ग्रैंड दि मोड्स ग्रॉव हिंदुज' में किया था।^१ उन्होंने लेखक और पुस्तक का परिचय इस प्रकार दिया है—

“यह फारसी पुस्तक भारतवर्ष का उपहार मीरजाबां ने आजमशाह को सरक्षण में लिली थी। इसमें हिंदू-साहित्य का सुष्ठम विवरण है।”^२

जोन्स साहब ने जिस हस्त-लिखित प्रति को आधार पर यह परिचय दिया है, वह 'इंडिया आफिस-साइबेरी' में अब भी सुरक्षित है^३। इस प्रति के हाथियों पर जोन्स साहब की हस्तालिपि में कितने ही सकेत अंकित हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि उक्त विद्वां ने इस पुस्तक का गंभीर अध्ययन किया था। इस पुस्तक की कई प्रतियाँ अन्य स्थानों पर भी उपलब्ध हैं।

इस 'इंडिया आफिस' लायब्रेरी वाली प्रति के पृ० २६८ (अ) पर लिखा है कि “२८वीं रज्जव सन् ११८२ हि० शुक्रवार, ३ घंटे दिन चढ़े पुस्तक समाप्त हुई।” यह लेख किसी 'शाह्रयार खाँ' की हस्त-लिपि में है। उसी पृष्ठ पर एक दूसरी हस्त-लिपि में लिखा है—“१६ वीं शब्बल ११८२ हि०” ४३१ वें पृष्ठ पर लिपिकार ने इस कथन के साथ पुस्तक समाप्त की है—“मुख प्रति से तुलना करते हुए, यह प्रतिलिपि बहुत ही सावधानी के साथ की गई है। ५वीं शिलकादाह ११८२ हि० को समाप्त हुई,” किंतु इन सब में सन् ११८२ हि० समान रूप से मिलता है। डा० सुनीतिकुमार बाटुज्या ने इसका रचना-काल लगभग सन् १६७५ ई० से पूर्व माना है।^४ प्रत्येक दृष्टि से यही रचना-काल प्राभाषिक वीक्षण है।

'सुहृफत' की भूमिका में लिखा है कि इस पुस्तक की रचना बादशाह औरंगजेब के उन्म-काल में हुई। लेखक ने पुस्तक के दो पृष्ठों में बादशाह की प्रशंसा की है। कुछ हस्त-लिखित प्रतियों की भूमिका में इस प्रकार का उल्लेख है कि लेखक का सरसक बादशाह आजमशाह था। इसके विपरीत, कुछ प्रतियों में शाहजादा 'मुहम्मदीन जहाँदारशाह' का नामोल्लेख मिलता है। इसी नाम के साथ-साथ 'कुतुल्ताश खाँ' का नाम भी है जिसके कहने पर पुस्तक लिखी बताई गई है। कुतुल्ताश खाँ के सवध में थोड़ी प्रशंसा भी की गई है। उसको बादशाह का 'रजी-ए-शाह' कहा गया है। इस प्रकार के विभिन्न उल्लेखों से मीरजाबां के यथार्थ सरसक की समस्या जटिल हो जाती है, किंतु, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, जोन्स साहब ने आजमशाह को ही यथार्थ सरसक माना है।^५ जोन्स साहब के इस मत का समर्थन 'जियाउद्दीन' ने ऐतिहासिक आधार पर किया है।^६ निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँदारशाह और कुतुल्ताश खाँ पीछे से जोड़े गये नाम हैं जो पुस्तक की भूमिका में किसी ने लिख दिये हैं। इसका कारण यह है कि आजमशाह का नाम जहाँदारशाह के स्थान पर पीछे जुड़ा हुआ नहीं हो सकता, कारण ऐतिहासिक है। आजमशाह को उसके भाई 'मुहम्मद-शाह' ने सन् १७०७ ई० में अकबराबाद की लड़ाई में हराया था। आजमशाह इस युद्ध में पराजित ही नहीं हुआ, मारा भी गया। मुहम्मदशाह ने, 'बहादुरशाह' के नाम से ५ वर्ष तक दिल्ली में राज्य किया। ५ वर्ष पश्चात् उसका बेटा 'जहाँदारशाह' गद्दी पर बैठा। इस ऐतिहासिक क्रम को दृष्टि में रखते हुए

१. इ० Asiatic Researches, Vol III p 1

२. The Persian book, entitled, "A present from India" was composed under the patronage of Azam Shah, by the very delight and ingenious Mirza Khan and contains a minute account of Hindu literature in all or most of its branches'

३. इ० [LXXVIII, 18 X 19½, ff 431, II, 15, p 1 06]

४. इ० ग्रामर ग्रॉव दि 'ब्रजभाषा' (जियाउद्दीन) भूमिका, पृ० ६१०

५. इ० 'Asiatic Researches', Vol III, p 1

६. इ० Grammar of the Brizbhakha, p 3

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आजमशाह का नाम पीछे से जुड़ा हुआ नहीं है। यह सबब अवश्य हो सकता है कि जहाँदारशाह के राज्य-काल में किसी प्रति-लिपिकार ने वादशाह को प्रसन्न करने के लिए उसका नाम जोड़ दिया हो। साथ ही, पहले यह भी देखा जा चुका है कि आजमशाह 'भाखा' का बड़ा प्रशंसक और हिमायती था। 'भाखा' के कवियों का वह आदर करता था। अतः आजमशाह ही लेखक का यथार्थ सरसक माना जा सकता है।

लेखक के विषय में भी प्रतियों के लेखों से विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। विभिन्न हस्त-लिखित प्रतियों में उसके भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। एक में उसका नाम 'मिरजा-जान-अबू-फखरुद्दीन-मुहम्मद' दिया गया है^१। ब्रिटिश म्यूजियम के 'कैटलॉग' में—'मिरजा-मुहम्मद-अबू-फखरुद्दीन-मुहम्मद' पाया जाता है^२। यही नाम 'वोर्दलिअन लाइब्रेरी कैटलॉग' में मिलता है^३। इनमें 'खा' और 'जान' का नाम भी नहीं है। जोन्स और जियाउद्दीन साहब ने अपनी सुविधा के लिए 'मीरजा खा' ही लिखा है। यही लेखक का प्रचलित नाम हो सकता है।

इस पुस्तक में क्या है? सबसे बड़ी कठिनाई एक फारसी बोलने वाले के सामने यह थी कि वह ब्रजभाषा का शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ रहता था। इस प्रकार की कठिनाई का अनुभव प्रत्येक नयी भाषा सीखने के इच्छुक व्यक्ति को होता है। इस पुस्तक में सबसे अधिक परिश्रम कठिनाई को दूर करने के लिए किया गया है। ब्रजभाषा का शुद्ध, व्यावहारिक उच्चारण फारसी के माध्यम से समझाया गया है। इस कार्य को पुस्तक के चार छोटे-छोटे अध्यायों में संपादन करने की चेष्टा की गई है। प्रथम भाग में उन १८ ध्वनियों का विवेचन है जो 'भाषा' और अरबी-फारसी में समान है। फिर उन १७ ध्वनियों का विवेचन किया गया है जो अरबी-फारसी में नहीं मिलती और 'भाषा' में मिलती है। इन ध्वनियों को फारसी लिपि में किस प्रकार लिखा जाय, इसकी विधि बताई गई है। आगे के अध्याय में हिंदी अक्षरों की सख्या और परिचय है और उनकी ३२ फारसी अक्षरों से मिश्रता दिखाई गई है। इसी अध्याय के आगे के भाग में इन अक्षरों को फारसी में लिखने की विधि बताई गई है, फिर भाषाओं का परिचय दिया गया है। इसी अध्याय में सम्यक्ताक्षरों का भी परिचय है, साथ ही इस अध्याय में विशेष रूप से 'सदाच्छर' (सध्याक्षर), 'विसरग (विसर्ग)', 'विजन' (व्यजन)। अनुनासिक, 'लघ' (सधु), 'दीर' (दीर्घ) और 'पुलित' (प्लुत) भाषाओं का परिचय है। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों में भी लेखक ने प्रचलित उच्चारणों को ही लिया है। चतुर्थ अध्याय में स्वरों और उनके १६ प्रतीकों का अध्ययन है। पुस्तक का यह भाग ब्रजभाषा की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए बहुत उपयोगी है। इस प्रकार पुस्तक-विज्ञान के साधारण परिचय से यह ज्ञात हो जाता है कि इस पुस्तक में वैज्ञानिकता और व्यावहारिकता का मिश्रण ठीक प्रकार से किया गया है। पुस्तक के इस विभाग के पश्चात् 'ब्रजभाषा-व्याकरण' पर विहारे विचार है। व्याकरण के सामान्य नियमों का इस प्रकार परिचय देने के पश्चात् पुस्तक में ब्रजभाषा के काव्य-शास्त्र तथा छंदों के सबब में विस्तार से उल्लेख है। अंत में लगभग ३००० शब्दों का ब्रजभाषा-शब्दकोश जोड़ दिया है। इसमें ब्रजभाषा के शब्दों का फारसी में अर्थ दिया हुआ है।

एक बात यहाँ अवश्य विचारणीय है। श्री 'सी०री' ने इस पुस्तक का जो परिचय दिया है, उसमें उन्होंने ब्रजभाषा-व्याकरण और शब्द-कोष वाले अंतिम अध्याय की कोई चर्चा नहीं की है। कारण समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों? शब्द-कोष पुस्तक के आखिरी पृष्ठों में है। इसका एक कारण हो सकता है। अंतिम अध्याय का शीर्षक है 'सातिम', यह शीर्षक अवश्य ही आमक है। इसका शायद

^१ हे० W. Pertsch's Cat. (1888)। न०—३५,४०,२२४

^२ हे० MS No. ADD. 16,868.

^३ हे० पृ० १०२२ b.

उन्होंने 'तमामशुद' अर्थ समझ लिया हो। सम्भवतः इसी कारण से उन्होंने इसका जिक्र नहीं किया है। अन्य 'कौटलागो' में इसका विवरण मिलता है।

यह तो सर्व विदित है कि अकबर के समय में ब्रजभाषा घरेंबू प्रयोग में आने वाली भाषा थी। ब्रजभाषा के काव्य और संगीत की धूम प्रायः सर्वत्र थी। राज्य-कार्य फारसी में प्रवृत्त होता था; फारसी-काव्य का भी दरबार में मान था, किंतु 'भाषा' की लोकप्रियता भी बढ रही थी। इनका प्रमाण 'रहीम' का भाषा में काव्य करना है। पीछे के बादशाहों के दरबार में तो 'भाषा-काव्य' पर्याप्त समान पाने लगा। जब भाषा-कवियों का माधुर्य दरबारों का एक भग्न बन गया, तब बादशाहों, उनके वंशजों तथा दरबारियों को ब्रजभाषा का ज्ञान, उसके अलंकृत काव्य की समझ और भाषा तथा व्याकरण-सम्बन्धी कुछ नियमों की जानकारी परम आवश्यक हो गई। इसी दृष्टि से उक्त पुस्तक की रचना हुई, यह एक आवश्यकता की पूर्ति थी।

यह पुस्तक उस वर्ग के लिए लिखी गई जो ब्रजभाषा से नितात अपरिचित या गौरवों वर्य केवल फारसी ही जानता था। अतः लेखक का कार्य काफी कठिन था। ब्रजभाषा की वारोक्तियाँ उसे फारसी के माध्यम से बतानी थी। फलतः पुस्तक की शैली चाहे वैज्ञानिक कम हो, पर ठोस व्यावहारिकता पर टिकी है। साथ ही ब्रजभाषा-काव्य अपना लंबा जीवन उस समय तक पार कर चुका था; काव्य के लिए 'भाषा' का रूप निर्धारित हो चुका था और उर्दू-काव्य का वह शैशव-काल था। अतः उर्दू-काव्य ब्रजभाषा के अनेक तत्व और प्रभाव ग्रहण करने लगा, जो तत्कालीन उर्दू-काव्य में स्पष्टतः दृष्ट हो सकते हैं। इसलिए उर्दू के कवि, तथा पाठकों को भी ब्रजभाषा का ज्ञान आवश्यक हो गया। लेखक ने इन सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, उक्त पुस्तक की रचना की और शैली को व्यावहारिक रूप दिया।

इस व्यावहारिक शैली के विषय में एक बात और कही जा सकती है। अलवेदनी ने श्री हिंदू-जीवन का अध्ययन किया, पर उसका दृष्टिकोण यह था कि वह एक विदेशी, विजतीय मनुष्य समाज के जीवन और विचार-धारा के संबंध में शोध कर रहा है। अबुलफजल तक आते-आते मनोवृत्तियों में काफी अंतर आ गया। उसने हिंदुओं को विदेशी समझ कर अध्ययन नहीं किया। तब तब बहुत कुछ भ्रम-भाव दोनों वर्गों में हो चुका था। अकबर स्वयं तथा मुस्लिम-उच्चवर्ग हिंदुओं के जीवन, एवं और संस्कृति में रुचि रखने लगे थे। अबुलफजल ने इसी उच्चवर्ग की विज्ञानों की पूर्ति के लिए हिंदू-साहित्य, संस्कृति और धर्म का विवरण दिया और विश्लेषण किया। मीरजा खाँ की दृष्टि में उक्त पुस्तक लिखते समय निश्चय ही मध्यवर्ग और निम्नवर्ग रहे होंगे। उच्च वर्ग तो पहली भाषाओं में हिंदू-रहने-सहन से परिचित हो चुका था। साधारण वर्ग और मध्यवर्ग हिंदुओं के जीवन में निम्न-वर्गों के कारण परिचित हो चुका था। उनकी भाषा ने भी साधारण परिवर्तन हो गया था, पर ब्रजभाषा-काव्य के नियमों और ब्रजभाषा के व्याकरण के सामान्य नियमों ने इस वर्ग को परिवर्तन नहीं पा। इसीलिए व्यावहारिक शैली में 'गुरुफन' लिखी गई।

इस पुस्तक का अध्ययन करने में लेखक की एक विशेष चेष्टा के दायं होने हैं। ऐसा होता है कि लेखक सबसे अधिक यह स्पष्ट करने का उद्योग कर रहा है कि ब्रजभाषा का वास्तविक रूप में किस प्रकार लिखा जाय। कारण यह कि दरबारी भाषा फारसी थी। प्रायः सभी दरबारी उस भाषा को जानते-समझते थे। अतः ब्रजभाषा-काव्य का वास्तविक दरबार में वास्तविक रूप में लिखा जा सकता था। और राजा के अनेक प्रयत्न इस दिशा में मिलते हैं। उनसे ब्रजभाषा की 'शैली' का प्रथम सुधारक कहा जाता है। यही कारण है कि हिंदी-ध्वनियों और अक्षरों का प्रयोग एक विवेचन बहुत ही विचार में दिया हुआ है।

पुस्तक को अध्ययन से यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ तक उच्चारण, लेखन तथा ब्रजभाषा-व्याकरण का सबब है लेखक ने पर्याप्त मौलिकता के दर्शन होते हैं। जन्म-कोश में भी एक नयी प्रवृत्ति की झाँकी मिलती है। ध्वनियों के विवेचन में लेखक एक बहुत अच्छा निरीक्षक और व्यावहारिक ज्ञान-युक्त तो दीखता है, पर वैज्ञानिकता उतनी गहरी नहीं—निरीक्षण शुद्ध और समीचीन है, पर निष्कर्ष और परिभाषाएँ अधिक वैज्ञानिक नहीं हैं^१।

सबसे पहले इस व्याकरण का ऐतिहासिक महत्त्व है। इससे पहले के किसी भी ब्रजभाषा-व्याकरण की अभी शोध नहीं हुई है। इसलिए मीरजा खाँ के ब्रजभाषा-व्याकरण सबधी विचारों का ऐतिहासिक और शोध-विषयक मूल्य बहुत बढ़ जाता है। इससे पीछे के दो व्याकरणों का तो पता लगता है। एक तो 'कैटलर' (John Goshua Katelar) ने लगभग सन् १७१५ ई० में लिखी थी, जिसको सन् १७४३ में 'डेविड मिलियस' ने प्रकाशित किया था। एक दूसरे व्याकरण का उल्लेख डा० 'ग्रियर्सन' ने किया है। यह लक्ष्म लाल जी का लिखा हुआ 'मसादिरे भाखा' है^२। इनके अतिरिक्त और सभी व्याकरण काफी पीछे के हैं। मीरजा खाँ के व्याकरण का एक महत्त्व यह भी है कि व्यावहारिक धरातल पर संस्कृत-व्याकरण से प्रभावित न होते हुए, यह व्याकरण लिखा गया है। साथ ही फारसी-व्याकरण और ब्रजभाषा-व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन इसमें प्रस्तुत किया है। अतः सभी दृष्टियों से उक्त ब्रजभाषा-व्याकरण का महत्त्व है।

ब्रज और ब्रजभाषा की सीमाओं के विषय में 'ब्रजसाहित्य मंडल' मथुरा की मुख-पत्रिका 'ब्रज-भारती' में समय-समय पर काफी लिखा गया है। पर, मीरजा खाँ की पुस्तक का अभी तक उपयोग नहीं हुआ है। व्याकरण-भाग में सबसे पहले लेखक ब्रजभाषा और ब्रज का परिचय देता है। लेखक इस प्रकार आरम्भ करता है—

“धरें तो भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ हैं, जिन भाषाओं में पुस्तकें लिखी जाती हैं, काव्य होता है और जिनका संभ्रांत वगैरे में संभाल है, ऐसी भाषाएँ तीन हैं^३—सहस्रकिरत (संस्कृत), पराकिरत (प्राकृत) तथा भाखा।”

“सहस्रकिरत” वह भाखा है जिसमें कला और विज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। हिंदुओं का विश्वास है कि सहस्रकिरत देव-भाखा है। हिंदू इसे ‘आकाश-बानी’ या ‘देव-बानी’ के नाम से पुकारते हैं।”...

“दूसरी भाखा ‘पराकिरत’ (प्राकृत) है। इस भाषा का उपयोग मुख्यतः राजा-महाराजाओं तथा मन्त्रियों की प्रशंसा करने में हुआ है। इस भाषा का सबब पाताल से बताया जाता है और हिंदू इसे ‘पाताल-बानी’ या ‘नाग-बानी’ के नाम से पुकारते हैं। ... यह भाषा ‘सहस्रकिरत’ और ‘भाखा’ के मिश्रण से बनी है।

^१ मीरजा खाँ के इस ग्रंथ ‘गुहफतुल हिब’ में जिन विषयों का वर्णन है, वे तो कुछ और ही हैं। इस लेख के लेखक ने यहाँ तक जो परिचय दिया वह इस ग्रंथ का नहीं, इस ग्रंथ की भूमिका-भाग का परिणाम है। इस ग्रंथ का भूमिका-भाग चार अध्यायों में है। इन्हीं का परिचय ऊपर लेखक दे चुका है। ‘व्याकरण’ इसी भूमिका-भाग के चौथे अध्याय के दूसरे अंश में दी गयी है। इस भूमिका के उपरांत मूल तक का प्रथम अध्याय छंदशास्त्र (पिंगल) विषयक है। दूसरा ‘तुक’ विषयक, तीसरा रस-अलंकार विषयक चौथा शृंगार रस तथा नायक-नायिका-भेद पर, पाँचवाँ संगीत शास्त्र पर, छठा काम-शास्त्र विषयक, सातवाँ सामुद्रिक संबंधी है। परिशिष्ट में हिंदी-फारसी कोष है, यह ‘गुहफतुल-हिब’ की खरेद्वारा है।

^२ इसका भी पूर्व सन् १७४५ में ‘गुल्ज’ नाम के व्यक्ति ने हिंदुस्तानी की व्याकरण लिखी थी—देखिए प्रोसीडिंग्स एसिमाटिक सोसाइटी बंगाल, मई १८६५ ई०।

^३ Fol. 30 (a)

‘तीसरी भाषा’ है। ‘भाषा’ में जो काव्य मिलता है, वह सर्वज्ञ काव्य है। उसका मुख्य विषय प्रेमी-प्रेमिका को क्या है। यह व्यवहार की भाषा है। ‘सहसकित’ और ‘पराकित’ को छोड़कर प्रायः सभी बोली-भाषाओं का इसमें मिश्रण है। विशेषतः यह ब्रजवासियों की भाषा है। ब्रज भारत के उस प्रदेश का नाम है जो मथुरा को केंद्र मानकर ८४ कोस के बीच मंडलाकार स्थित है।^१ ब्रजवासियों की भाषा सब भाषाओं से अधिक मधुर, प्रवाहशील और प्रचलित है। गंगा-जमुना के बीच के समस्त प्रदेश की भाषा यही प्रचलित भाषा है। ‘चंदवार’ (एक प्रसिद्ध जिला) भी इसमें संमिलित है।^२

आगे चलकर लेखक उस कारण को स्पष्ट करता है जिससे प्रेरित होकर वह ब्रजभाषा का व्याकरण लिख रहा है। लेखक कहता है—

“क्योंकि ब्रजभाषा में रंगीन और मधुर अभिव्यक्ति-युक्त काव्य मिलता है; क्योंकि उसमें प्रेमी और प्रेमिकाओं की सरस प्रवृत्ति है और क्योंकि ब्रजभाषा प्रायः सभी कवियों और सम्बन्ध-सुसहसकित समाज में प्रचलित है, इसीलिए मैं ब्रज-भाषा-व्याकरण के नियमों को लिखता हूँ।”

ब्रजभाषा को इस व्याकरण का पूर्ण अनुवाद अविकल रूप में यहाँ दे सकना संभव नहीं है पर उसमें क्या है, इसका एक संक्षिप्त परिचय दिया जा सकता है और इसका विषय विभाजन इस प्रकार है—

प्रथम उप विभाग ‘भाषा का परिचय’ जिसका संक्षिप्त उल्लेख अभी हो चुका है।

द्वितीय उप विभाग (अ) ‘शब्द की परिभाषा और शब्द के प्रकार’।^३

शब्द के प्रकार—

१. ‘संपादन’ (Substantive)

२. ‘करतब’ (कर्तव्य, The Verb)

३. करत्ता (कर्ता, The Nominative)

(अ) संपादन की परिभाषा। संपादन के दो भेद—

१. संपादन, इसे अरबी में ‘इस्म’ कहते हैं।

२. वित्त, इसे अरबी में ‘हरफ’ कहते हैं।^४

(इ) ‘करतब’—क्रिया को कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—

१. ‘भूत’

२. ‘वर्तमान’ (वर्तमान)

३. ‘भविष्य’ (भविष्य)

४. ‘किरिया’ (क्रिया)

५. ‘किरत’ (कृत)

इसके पश्चात् काल-विवेचन है—

१. पृ० १६५ (b) पर लेखक वासियर को भी उस प्रदेश में संमिलित कर लेता।

ब्रजभाषा बोली जाती है।

२. चंदवार या जनवार का परिचय अबुलफजल ने इस प्रकार दिया है—यह एक जिला है।

से इटावा जाने वाली सड़क पर यमुना किनारे, आगरे से २५ मील पूर्व स्थित है। इसमें चौहान नबी ठाकुर रहते हैं (jarrets ain-i-Akbari, II, p 183)

२. Fol 31 (b).

४. Fol 31 (b).

१. भूतकाल ।^१

२. 'वर्तमान' काल

३. भविष्य काल ।^२

आगे 'क्रिया' (क्रिया) का विवेचन है^३ । उसके ये भेद हैं —

१. संभाव

२. असंभाव

३. 'भाव'

४. अन-भाव

इसके पश्चात् कर्त (कृत) का विवेचन किया गया है ।

(ई) कर्ता । कर्ता के दो भेद दिये हैं^४ —

१. स्वाधीन ।

२. पराधीन ।

कर्ता का विवेचन काफी विस्तृत है ।

तृतीय उप-विभाग-लिंग-विचार —

१. 'पुलिंग' (पुल्लिंग) इसके दो भेद किये गये हैं—

(क) निश्चित ।

(ख) अनिश्चित ।

चतुर्थ उप-विभाग स्त्री लिंग —

२. 'अस्त्रीलिंग' (स्त्रीलिंग) इसके भी तीन भेद हैं—

(क) निश्चित ।

(ख) अनिश्चित ।

अनिश्चित के फिर दो भेद किये गये हैं—

१. एक वह जिसकी तुलना का 'पुलिंग' हो, जैसे—'तुरंगिनी'-(तुरंग)

२. दूसरा वह जिसकी तुलना का पुल्लिंग न हो, जैसे—'बयार'

(ग) अनियमित (अस्त्रीलिंग)

इसी उप-विभाग में आगे चलकर पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने के नियम दिये गये हैं । इसमें उन 'प्रत्ययों' की एक सूची दी गई है जिन्हे यदि पुल्लिंग में जोड़ दिया जाय तो स्त्रीलिंग बन जायगा । वे प्रत्यय ये हैं—

१. 'आ' : जैसे—'निर्घ' (बूढ़) से 'निर्घा' (बूढ़ा) ।

२. 'ई' : जैसे—'देव' से 'देवी' ।

३. 'भानो' : जैसे—'छत्र' से 'रुद्रानो' ।

४. 'नी' : जैसे—'तुरंग' से 'तुरंगनी' ।

पंचम उपविभाग 'नपुंसक लिंग'

इसका बहुत ही साधारण-सा परिचय दिया गया है । लेखक लिखता है कि इसका विन्मृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है । विशेषतः यह लिंग महसकित (मस्कृत) में प्रयुक्त होता है, भाषा में नहीं ।

१. Fol 32 (a), 32 (b).

२. Fol 33 (a); 33 (b).

३. Fol 34 (a).

४. Fol 35 (a).

छठवा उपविभाग बहु वचन (बहु वचन)

इस उपविभाग में वचनों पर विस्तार से विचार है। साथ ही इस प्रकार के प्रत्ययों का भी विवेचन है जिनके जोड़ने से एक वचन का बहु वचन बन जाता है। जैसे—

‘न’ : पय (एक वचन) से ‘पयन’ (बहु वचन)

सातवाँ उपविभाग सकेत वाचक सर्वनाम

इस सर्वनाम के सात प्रयोगात्मक उदाहरण दिये गये हैं—

१. ‘व’ (that) एक वचन, अन्य पुरुष ।
२. ‘त’ (that) एक वचन, अन्य पुरुष ।
३. ‘य’ (thus) एक वचन, मध्यम पुरुष ।
४. ‘ज’ (whoever) एक वचन, अन्य पुरुष ।
५. ‘उन’ (they) बहु वचन, अन्य पुरुष ।
६. ‘इन’ (these) बहु वचन, मध्यम पुरुष ।
७. ‘जिन’ (whoever) बहु वचन, अन्य पुरुष ।

ये ७ सकेत-वाचक सर्वनाम दोनों लिंगों (स्त्रीलिंग और पुल्लिंग) में समान रहते हैं।

आठवाँ उपविभाग ‘पदवित्ति’ (पद-वृत्ति) वाक्य

इसका अर्थ वाक्य है। इसमें दो तत्त्व रहते हैं। उदाहरण—‘राम आयी’।

नवाँ उपविभाग ‘मवध’ (The genitive relation)

इसका विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। अरबी से स्थान-स्थान पर तुलना मिलती है।

दसवाँ उपविभाग

इसमें उपसर्ग तथा प्रत्ययों का विवेचन है। साथ ही इनकी एक बड़ी तालिका भी दी गई है।

यह ‘तुलना-उल-हिंद’ के व्याकरण की स्थूल रूप-रेखा ऊपर दी गई है। इसमें यह नहीं मनाया चाहिए कि यही समस्त व्याकरण का अनुवाद है। यह तो एक मात्र शीर्षको और मोटे-मोटे विभागों का साधारण परिचय है, जिनकी विवेचना यहाँ नहीं दी जा सकी है।

अभी तक ऐसे किन्हीं भी ‘ब्रजभाषा-व्याकरण’ की शोय नहीं हुई जो इसमें भी प्राणिनीय उक्त व्याकरण ब्रजभाषा के विद्वान् लेखकों और अधिकारी शोधकों की प्राणिनीय शोधों में फारसी भाषा में इस व्याकरण का अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है—उन्हीं की शिष्यावली ने किया है। यह इस समस्त पुस्तक का हिंदी में अनुवाद हो जाय, तो ब्रजभाषा और उसके संबंधी प्रत्येक शोध सामग्री मिल जाय। ‘ब्रजभाषा’ और वर्तमान हिंदी का तुलनात्मक और विद्वान्मय अध्ययन करने के लिए उक्त पुस्तक पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इसमें ध्वनि-शास्त्र, व्याकरण तथा शब्दांश-शास्त्र पर फारसी वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ‘इलाक़ातुल्ला’ में पृष्ठ ६८ पर ‘वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है’। इसका कारण यह है कि ‘इलाक़ातुल्ला’ में पृष्ठ ६८ पर ‘वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है’।

॥ श्री ॥

श्री गोपीजनवल्लभायनम ।

ब्रजभाषा-व्याकरण

बाबू गोपालचंद्र (गिरिधरदास) विरचित

दोहा

संस्कृत के मधि रहति, जैसैं सात विभक्ति ।
ते भाषा सहैं होति हैं, लिखति लिखनि की पक्ति ॥

आडिल्ल (अरिल्ल)

प्रथमा, द्वितीया, बहुरि तृतीया जानिएँ ।
बहुरि चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी मानिएँ ॥
सप्तमि सात विभक्ति, इही सिंगरे भनैं ।
एक वचन, बहु वचन, और सबोधनैं ॥

इनके रूप कवित्त

जो, सो, जे, ते, कौ, नको, सो, नसो, को, नको, तैं, नतैं, को, नको, नैं, नमैं, ए विभक्ति सात जानिएँ ।
करता, करम, करन, संप्रदान, अपादान, संबधौ सु अधिकरण सातों नाम मानिएँ ॥
संबोधन-बीच होत हैं ओ, ए कथन, पूर्व कहूँ एरी विभक्ति लोप कहूँ ठानिएँ ।
अर्द्ध लोप कहूँ जैसैं देव अरे कहूँ तहूँ, देव देवन कहूँ हूँ अर्थ आनिऐँ ॥

दोहा

इन विभक्ति बहु वचन कौ, अहैं नकार सु जोइ ।
ता ..कहहिं नकार हूँ, रीति वृधन की बोइ ॥
सब्ब हलतन में अहैं, सोभा सहित नकार ।
कै पुनि आकारात में, अरु थल नाहिं प्रकार ॥
पुल्लिगौ स्त्रीलिंग ए, सबद दोइ बिधि जान ।
होहिं हलत स्वरात तित, पहिलौ कहो अखान ॥
होत हलत सु सब नहिं, भाषा में कवि-कत ।
अकारात कौ कहत है, तातैं इहाँ हलत ॥
स्याम, राम, तान, मन, गगन, आविक सब हलत ।
सह विभक्ति वरनन अर्द्ध, उदाहरन कवि-कत ॥

कवित्त

देव जो सो सुखी देव जे हे ते सु पूजनीय, देव को नमत पूजें देवन को भति सित ।
देव सों मिलाप भेरी देवन सो रमैं मन, देव को सु दीनो चित देवन कौं गृह-वित ॥
देव तैं न डूजौ साथी, देवन तैं बडीहूँ न, देव कौ रसिक दास देवन कौ न गुन हित ।
देव में बिरति नति, देवन में सत गति, करौ कृपा हे देव, हे देवौ द्रवी नित ॥

दोहा

अहाँ विभक्ति कौ लोप हैं, तहूँ प्रसंग के जोर ।
प्रथमा आदि विभक्ति कौ, मानहिं कवि सिर मोर ॥
राम वचन सुनि कैं इहाँ षष्ठी लोप सु जानि ।
राम वचन कौ मानिएँ, इमि औरहुँ अनुमानि ॥

जहाँ विषे संबंध के भीर कथन कछु होइ ।
 बखी कौ को होत तहँ के जानहु सब कोइ ॥
 जैसे हरि के दास को नौसि कहँ सब लोग ।
 भावँ हरि कौ दास को, अहँ असुख प्रयोग ॥

छप्पय

बहुधा कबि कौ रीति, हलंतहि उकारात करि ।
 बराहिँ पै नहिँ अपर अरथ, जहँ होइ तहाँ परि ॥
 रामहिँ जैसे रामु होइ, धन धनु नहिँ होई ।
 राम रामु बोज सुद्ध, असुद्ध सु धनु है सोई ॥
 ये ह्रस्व उकारातहिँ लखी, सब विभक्ति में सुबुध जन ।
 सो उ एक बचन में होत है, तहँ न होत जहँ बहु बचन ॥

दोहा

जिमि धन धनु नहिँ होत है, तिमि सुर सुख नहिँ होइ ।
 पूर्व उकार निपात तें, जवन बिरोधी सोइ ॥
 चित्र, जमक, तुक अंत में, सबद हलंत सु जोइ ।
 अकारांतहु होत है, आकारांतहु होइ ॥
 तजि उकार आकार के, ईकारादिक अत ।
 सबद हलंत न होत है, नियम गुनहुँ गुनवंत ॥
 धन कौ धनु चित्रादि में, सुर कौ सुख न विषद ॥
 रामू रामा होहिँ सति, रामी आदि असुद्ध ॥
 अब हल स्त्रीलिंग को, बरनत सहित सनेह ।
 मान, सैन, दिग, तान, सिय आदि सब गुन नेहु ॥
 प्रथमा के बहु बचन में, सान, सैन ही जान ।
 सोइ संबोधन के बिये, जेद इतीई मान ॥
 और रूप पुलिंग सो, जानहुँ जर निरवार ।
 बरने 'गिरिधरदास' इमि, सबद हलंत बिचार ॥

अथ आकारात पुलिंग 'राजा' शब्द ।

राजा ये पुलिंग कौ, सबद सु आकारांत ।
 बरनत ताकौ रूप अब, समझहु कवि-कुल-कात ॥
 राजा प्रथमा इक बचन, राजे बहु बच होइ ।
 राजा कौ राजान को, इतिया जानहुँ सोइ ॥
 सो, को, तें, कौ में गुनो, राजा प्रथम लगाइ ।
 त्रितिया सौं, सप्तमी कौ, एक बचन कबिराइ ॥
 बरि नकार सो आदि कै, आदि बहु बचन होइ ।
 हे राजा, राजे कहँ, राजाभौ हैं सोइ ॥
 द्वितियादिक बहु बचन में, राजा सबद सु जोइ ।
 होत राज राजान पै, एक बचन में होइ ॥

आकारात पुलिंग 'बाजा' शब्द

होत सबद राजा सरिस, बाजा के सब रूप ।
 अधिकी एक इक बचन में, द्वितियादि को अनूप ॥

आकारात् हु होइ अरु, एकारात् हु होइ ।
बाजे को ऐसैं गुनहूँ, राजे को नहि सोइ ॥
बरवाना, लाजा, मजा, बीरा, चीरा जान ।
सेना उपरैनादि ए, बाजा सम पैहचान ॥
होत सु हीरा सब्द के, बाजा सम सब रूप ।
याहि हलत्तु कहैं तहैं, सब सरित कवि-भूप ॥

अथ आकारात् 'घाता' शब्द

घाता जो पुलिग है, आकारात् प्रसिद्ध ।
प्रथमा के बहु वचन में, घाते कहैं निषिद्ध ॥
द्वितियादिक बहु वचन में, रूप दोइ हीं आहि ।
घातेन को, घातान को, घातेन को सु नाहि ॥
या में राजा सब्द सो, अधिक इतीई जोइ ।
हे घाता सबोधनहि, हे घाताभी होइ ॥
करता, सहंरता, पिता, हरता, भरता जान ।
ग्याता, दातादिफँन को, घाता सम पैहचान ॥

अथ आकारात्-स्त्रीलिंग शब्द

सिया, तिया, सेना, प्रिया, नारि लिंग इन आदि ।
होइ सुधाता सब्द सम, समझौ कवि मरजादि ॥
आकारात् सियादि को, कहैं कवि करहि हलंत ।
सात सब्द सम रूप तब, होत लखौ कवि-कंत ॥
गगा-जमुना को कहैं गग, जमुन सब कोइ ।
बोझ सिद्ध प्रयोग है, जहैं थल जैसी होइ ॥

अथ आकारात्—'कमला' शब्द

नारि लिंग कमला सब्द, आकारात् सु जान ।
सब विभक्ति में इक वचन, राजा सम पैहचान ॥
प्रथमा के बहु वचन में, सब्द सोत्त अरु-बिंदु ।
कमलाँ सति, कमले असति, जालो कवि-कुल-खंडु ॥
सबोधन प्रथमा सरित, ए, हे, वै, कैं आदि ।
रमा, छमा, पदमा, घरा, कमला तुल्य जरादि ।

अथ आकारात्—'गैया' शब्द

गैया आकारात् के, कमला सम सब रूप ।
अधिक इती द्वितियादि बहु वचन बीच कवि-भूप ॥
आकारात् हलंत ए, बोझ सिद्ध प्रयोग ।
गैयेन को गैयाँन को, इमि जानहु कवि लोग ॥
कला, विमा, सोभा, प्रमा, स्वकिया-भरकौयादि ।
कथा, कृपा, चिता, बधा, इन से सब्द गयावि ॥

आकारात् 'राधा' शब्द में विशेष

गैया सम राधा सब्द, पै इक कवि की चाल ।
सब थल एकारात् करि, कहैं सुद्ध बोझ हाल ॥

राधा, राधे होत यह, प्रथमा श्री संबोध ।
राधे को, राधाँन को, इमि भौरतु कौ बोध ॥

अथ आकारात 'धारा'—शब्द

धारा प्रथमा के बिधे, सिया सब्ब सम होइ ।
आकारात हलन्त हू, सखो सुकवि सब कोइ ॥
द्वितिया सो सप्तमि अर्धधि, गैया सरिस प्रमान ।
एकारातहू होत है, तहूँ राधा सम जान ॥
धारैन को, धाराँन कोँ, धारेन कोँ जू प्रसिद्ध ।
संबोधन प्रथमा सरिस, धारा, धार सु सिद्ध ॥
कमला गैया सब्ब अरु राधा, सिया कहाँहि ।
धाराविक तिय-लिंग ए, कवि-भाषा के माँहि ॥
इनके संबोधन बिधे, लै ससुद्ध को रीति ।
एकारातहू कहत है, कहूँ-कहूँ कवि करि प्रीति ॥
हे कमले, गैये, सिये, राधे, धारे जान ।
इमि इक के संबोधने, बहुत नै नहि पैहजान ॥११॥

“इत्याकारांत शब्दा. आकारात शब्दे विशेषा ।”

‘आतादि शब्दे’

आता, जामाता, पिता, माता, दुहिता जानि ।
स्वस्रा, सब्ब पुलिंग-अर्थ, नारि लिंग अर्थ मानि ॥
ए सु सब्ब इक बचन नै, उकारांत हूँ हाँहि ।
सात विभक्तित नै सखी, संबोधन हूँ त्योंहि ॥
पूर्व पिता शब्द-हि कह्यो, माता नै कवि-भूष ।
इन सबदें को आगियो, ताते तैसी रूप ॥
‘शका, लका शब्दे विशेष’

सका, लका सब्ब ए, सिया सब्ब से बोड ।
उकारांत हूँ होत है, एक बचन नै सोड ॥

‘दिसा शब्दे विशेष’

दिसा सब्ब संका सरिस, इती अर्थिक या माँहि ।
इकारातहू होत सब, रूपन बोध सदाँहि ॥

‘इति इकारात शब्द नियमा’

अथ इकारांत पुलिंग—‘हरि’ शब्द

इकारांत हरि सब्ब है, पुरुष-लिंग कवि-भूष ।
बरनत गिरिधरदास अर्थ, भाषा नै सा रूप ॥
जो, सो आवि विभक्ति रिधि, बरनी पूर्व अनूप ।
हरि ५ तिनकोँ अरि सोई, कम सो बीवह रूप ॥
प्रथमा हरि जो, सो बहुरि, हरि जे, तै पैहजानि ।
द्वितिया हरि को, हरिन कोँ, भौरतु इहि बिधि जानि ॥
संबोधन—हे हरि कहूँ, इक हरि कोँ सब डोर ।
हे हरियो बहु बचन कोँ, कहहि सुकवि सिरमोर ॥

मुनि, मुरारि, त्रिपुरारि, करि, कपि, कवि, रवि, सनि, वारि ।
कलि, बलि, अलि, आराति, अहि, ए सब हरि अनुहारि ॥

अथ इकारात् स्त्री लिंग—‘सरि’ शब्द

इकारात् त्रिय-लिंग सरि, ताके हरि सम रूप ।
सह विभक्ति सबोधनहुँ, समझहु सत-कवि-भूप ॥
कोरि, खोरि, रति, गति, भगति, काति, पाति, मति, जाति ।
नीति, प्रीति, छिति, छवि, अवलि, ए सब ‘सरि’ की भाँति ॥

ईकारात् पुलिङ्ग—‘ग्यानी’ शब्द

ग्यानी ईकारात् है, सबद पुलिङ्ग सु जेन ।
होत दीर्घ (जो) अंत है, हरि सम सब थल तोन ॥
वनमाली, माली, छली, मानी, दानी, जानि ।
बली, धनी, चक्री, गृही, ग्यानी सम पैहचानि ॥

ईकारात् स्त्री लिंग—‘नदी’ शब्द

ईकारात् नदी सबद, नारि लिंग है जोइ ।
ग्यानी के सम रूप सब, ताके भाषा होइ ॥
सगी, लच्छमी, मोहनी, धानी, रानी और ।
लाली, काली, कामिनी, नदी सरिस सब ठौर ॥

इतीकारात् शब्दा । अथ इकारात् शब्द-नियमा
होइ दीर्घ ईकार लघु, लघुह दीर्घ न दोस ।
भाषा में, बोक लिंग में, इमि बरनहि दोउ कोस ॥
हरी, सरी ज्यो ग्यानि, नदि, तहूँ हूँ इती बिसेस ।
ताहि कहत संक्षेप में, समझहु सुकवि-नरेस ॥
आरातिन से सबद ए, आराती नहीं हौंहि ।
जोति आवि जोती नहीं, बली नहीं बलि त्योहि ॥
रानी रानि न होइ पै, एक वचन में एहु ।
नैस नाहि बहु वचन में भाषा में बुधि-भेहु ॥
अनुप्रास तुक अंत में, चित्र, जमक के माँहि ।
थल संकीर्ण इकार लघु-दीर्घ-दोस है नाहि ॥

इतीकारात् शब्द नियमा.

अथ उकारात् पुलिङ्ग—‘भानु’ शब्द

भानु सबद पुलिङ्ग है, उकारात् ता रूप ।
क्रम तो होत विभक्ति-जुत, हरि सम गुनहुँ अनूप ॥
कद, पद, गुरु, उरु, साधु, विधु, विभु, प्रभु, भनु, बनू जानि ।
अधु, बधु, संभु, स्वयंभु, मधु, भानु सरिस पैहचानि ॥

उकारात् स्त्री लिंग—‘बेनु’ शब्द

उकारात् त्रिय लिंग जो, बेनु भानु सम तासु ।
संबोधन सह रूप सब, बरनत ‘गिरचरसासु’ ॥
बेनु, रेनु, रंभोर, रिनु, चंचु, बिज्जु, बेनु जानि ।
कद, बस्तु अर सासु ए, बेनु सरिस पैहचानि ॥

‘ऊकारात् पुलिग-‘दाऊ’ शब्द
 बाऊ ऊकारांत है, सबव पुलिग प्रसिद्ध ।
 होत दीर्घ ऊ अंत सो, भांनु सरिस सब सिद्ध ॥
 भालू, सासू, कम...भू, बाजू, भांसू जांनि ।
 तिरसंकू, गेंहू, लहू, बाऊ सम ए मांनि ॥

ऊकारात् स्त्री लिग-‘गऊ’ शब्द
 गऊ सब स्त्री लिग है, दीर्घ ऊकारांत ।
 बाऊ सम ताके सकल, रूप लखहु कवि-कांत ॥
 बहू, बधू, सुधू, भटू, भाफू, जोरू जांनि ।
 बाळू, रु, बू भू, चभू, गऊ सरिस अनुमांनि ॥
 संभू, सासू, भांसू, बधू, विन चित्राविट्ट ठीक ।
 धभू, रिट्ट, चित्रादि में, कमल, भू, भट्ट, कवि-लीक ॥
 लघु-वीरघ ईकार के, नैम कहें जे सोइ ।
 तैसीई अहै उकार को चित्राविट्ट में सोइ ॥

इत्युकारात् शब्दाः ।

चरना : दोहा

इकारांत औ उकारात् लघु-वीरघ लिप हैं जोइ ।
 इनमें किते हलत, किते नहि, होहि कहों अब सोइ ॥

दोहा

बिना प्रयोजन सब ए, तजें न अपनों रूप ।
 स्वल्प होत कहें मध्य हित, अति हित कहें कवि-भूप ॥
 स्वल्प होत जिमि बार कहि, जात, मांन, औ वैन ।
 वीरघ ई, ऊकार ए, तजहि रूप मति ऐन ॥
 मध्यम हित आरात, छित, बाल, नार इमि जांनि ।
 तव अरु संभू सुअति कहि, बार लहु पंहचानि ॥
 सुकव, भगत अत्यंत में, मानसु रामिन होइ ।
 साख, बिज्ज औ भाल ए, आफ विमहु सम सोइ ॥
 सन कह मुन सर औगुनी, चक्रान सम काल ।
 पट, उर, विष, रंभोर, बन, गोह, नोह औ साल ॥
 कमल, भवाज, विसक, बहू, बध, चम आवि सदैव ।
 होहि हलंत कदापि नहि, आइ करें जो दैव ॥

अथ एकारात् पुलिग-शब्द

चीबे एकारांत है, पुरुष लिग विल्यात ।
 कम सों घरें विभक्ति कों, रूप होत द्वै-सात ॥
 प्रथमा चीबे जो कहें, बहु को जेतें जान ।
 चौबेन कों, चौबेन कों, इमि औरु अनुमान ॥
 द्वितीया आदि विभक्ति के, बहुत बचन में एहु ।
 होत हलंतसु सो जया, चौबेन कों गुनि-नेहु ॥
 हे चीबे, संबोधन हि, हे चीबेसो होत ।
 चीबे सम पांडे, दुवे, इमि जानहु मति-पान ॥

अथ एकारात स्त्रीलिङ्ग—‘स्यामदे’ शब्द .
 नारि लिङ्ग ए अंत है, सव्व ‘स्यामदे’ जोन ।
 बिन हलंत बहु वचन सब, सोवे के सम तौन ॥
 एकहि बहु को स्यामदे, संबोधन बुझ-कोतु ।
 ग्राम रीति तिय नाम के, पाछें देखे वेतु ॥
 जभै लिङ्ग ए अंत नहीं, जदपि अहैं प्रथम्य ।
 तदपि कहै ग्रामीन लै, कम हित करि मति-स्वस्थ ॥

अथ एकारात पुलिङ्ग—‘हूँ’ शब्द
 हूँ सव्व पुलिङ्ग है, भाषा में कवि-कांत ।
 होत स्यामदे सरिस सो, सब थल एकारांत ॥
 संस्कृत में बहुधा जदपि, नहि ‘ऐ’ अंत लखाहि ।
 यकारात सु हलंत बहु, तदपि इहाँ है जाहि ॥
 बिजै, घनंजै, है सदै, निरदै, हिरदै तूल ।
 राय, पीय, जिय, तोय ए, एकारात अमूल ॥
 एकारांत सु होहि बहु, एकारातहु अज ।
 हूँ जया पै नहि सदै, मध्य प्रयोजन तज ॥
 हृदयादिक ऐ अंत जहाँ, तहैं है ऐसी रूप ।
 जहैं हलत तहैं देव सम, इमि वरनाहि कवि-भूप ॥

अथ ‘यै’ शब्द .

पयस सव्व संस्कृत विपै, सोउ पय हूँ ‘यै’ होइ ।
 इक पै सव्व परंतु की, बाचक शब्दैं सोइ ॥

अथ एकारात स्त्रीलिङ्ग—‘यै’ शब्द .
 नारि लिङ्ग ‘यै’ खोट की, सूचक एकारांत ।
 हूँ सव्व सम रूप सब, ताके कवि-कुल-कांत ॥
 हूँ सरिस तिय लिङ्ग बहु, है हलंत ऐ अंत ।
 जै, लै, घालै, भै, प्रलै, पै सम सवै समंत ॥

अथ ओकारात पुलिङ्ग—‘प्यारो’ शब्द, . .
 प्यारो ओकारांत है, पुरुष लिङ्ग कवि-भूप ।
 इक प्रथमा इक वचन में, राखै अपनों रूप ॥
 प्रथमा के बहु वचन सो, सब थल एकारांत ।
 हे प्यारे, संबोधनाहि, बहुतेन को भी भात ॥
 उरहु को मत लं कहूँ, महा प्रयोजन पाइ ।
 आकारांत सु होत है ‘प्यारा’ पंडित राइ ॥
 सब प्रथमा बहु वचन सो पूरब सम मत मोइ ।
 द्वितिया सो आ अंत कहूँ, यै बारह थल होइ ॥

अथ ओकारात पुलिङ्ग में विशेष नियमा- .
 हिंदी आकारांत जै, ते व्रज ओकारांत ।
 होत बितेसन में बहुत, संभद्रहु कवि-कुल-कांत ॥
 लट्ठी, जट्ठी, नाँबी, पट्ठी, प्यारो आदिक जान ।
 भाँखे आकारांत ए, उरहु होन बुजान ॥

वाजादिक बहुत सब के, बोक होत सरूप ।
वाजा, वाजी सुद्ध बोक, सैमसद्ध कवि-कुल-भूप ॥
हीर, राजादिक सब, होत न ओकारात ।
कहैं असुद्ध बखानिये, यह समझहुँ मति भौति ॥

अथ ओकारात स्त्रीलिंग-वचनो शब्द

वनी सुद्ध है जदपि तज, कहैं वनो हू होइ ।
सब विभक्ति में एक ही, रूप राखि है सोइ ॥
जदपि लगत बहुत वचन में, था में अंत नकार ।
पै सो सुद्ध होत नहि, लीज मन-हैं विचार ॥
यासो बोक वचन में, ए सब एक सैमान ।
राखें सुद्ध होत है, जानहुँ कवि मति-मान ॥
साबो, मुनो भावि सब, जानहुँ याही रीति ।
नियम सु ओकारात के, कवि-जन करि अति प्रीति ॥

अथ ओकारात शब्द-नियमा

वकारात करि होत है, सब सु ओकारात ।
होत विभक्ति हलंत सो, यह समझहुँ कवि-कात ॥
राघो, जादो भावि सब, राघव, जावब होइ ।
बरनहिँ तिन कहैं राँम सम, यह जानहुँ सब कोइ ॥
वकारात जी होइ नहि, कहैं संजोग सरूप ।
तौ सब थल निज रूप में, रहि हैं पडित-भूप ॥
पासो, भादो भावि जे, सब सु सामुस्वार ।
तिनहुँ कों इमि जानिये, एकहि रूप विचार ॥

अथ अनुस्वार विसर्ग-नियमा

अनुस्वार नहिँ अंत में, कहैं भाषा-भाषि होइ ।
तैसेहिँ होत विसर्ग नहि, ए संस्कृत के बोइ ॥
होइ अनुस्वारांत जो, तौ है जाइ नकार ।
रात, सात, अष्ट हांत तिमि, अंत विसर्ग बिचार ॥
चित्र-काव्य में होत सोड, साधु कथें में नहि ।
ए इन दोऊन के नियम, जानहुँ भाषा-नहिँ ॥

अथ अन्य लघुट नियमा

अ, आ, इ, ए, औ होत है, सब इकार ईकार ।
तैसेहिँ होत हलंत सब, आकारात निरधार ॥
भाषा के इमि जानिये, सब-नियम-परकास ।
लिखहु, पढ़हु, कविता करहु, बरमत 'गिरधरदास' ॥

इति भाषा-व्याकरण संपूर्ण

ब्रजभाषा के कोष-ग्रंथ

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

कोष ग्रन्थ भाषा-विज्ञान तथा भाषा-शास्त्र के महत्त्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ हैं। मानव को व्याकरण के बिना अथवा और कोष के बिना बधिर (बहुरा) कहा जाता है।^१ व्याकरण यौगिक शब्दों की सिद्धि करता है, किन्तु रूढ़ तथा योगरूढ़ शब्दों के लिए हमें कोषों का ही सहारा लेना पड़ता है। कोष का अर्थ है—

“कोषानामार्थरासीनां जातं समूहो येन तं कोषः।”

—रघुवंश ५।१

भारत में वैदिक-काल से ही कोषों का महत्त्व स्वीकार किया गया है, वैदिक वाङ्मय में कोषों का ‘निषट्’ नाम था। वेदों पर निरुक्त रचने वाले ‘यास्क मुनि’ से पहिले ‘निषट्’ नाम के पाँच पृथक्-पृथक् कोषसंग्रह थे। इन पाँचों में पहिले तीन में एकार्थ वाले विविध शब्द संग्रहीत हैं। चौथे में अनेकार्थ शब्द और पाँचवें में वेद के देवताओं का वर्गीकरण करते हुए उनके नामों का संग्रह किया गया है। यों तो ये निषट्-कोष वाद की पद्धति-सर के लौकिक शब्द-कोषों से पृथक् पड़ते हैं, पर इनसे वेदादि संहिता-ग्रन्थों के अस्पष्ट अर्थों को समझने में जो सहायता मिलती है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लौकिक कोषों में कवियों एवं ग्रन्थ शास्त्र-रचयिताओं द्वारा प्रयुक्त इच्छित, उपयोगी, विविध विषयों के शब्दों का सचय है, निषट् में केवल नाम और धातुओं का। लौकिक कोषों में—नाम, अव्यय तथा लिपि-बोध कराने वाले अपार शब्द संग्रहीत हैं। अस्तु वैदिक कोष-ग्रन्थ (निषट्) वैदिक ग्रन्थों में वर्णित विषयों तथा सदर्थों की पूर्ति करने वाले हैं और वाद के कोष संस्कृत-वाङ्मय के संपूर्ण शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने वाले शब्द-माडार हैं।

निषट् के पीछे ‘यास्क’ के ‘निरुक्त’ में विशिष्ट शब्दों का और ‘पाणिनि’ की ‘अष्टाध्यायी’ में यौगिक शब्दों का विशाल समूह कोष की समृद्धि का विकास करता हुआ हमारे ज्ञान को पूर्ण बनाता है। पाणिनि के समय तक जितने भी कोष ग्रन्थ मिलते हैं वे सब गद्य रूप में ही उपलब्ध हैं। इसका वाद कोषों की रचना अनुष्टुप्-ध्यायी आदि वृत्तों (छंदों) में हुई। यह छंद-बद्ध पद्धति शब्दों को कठस्थ करने में अधिक सुगम और सफल हुई। इन कोष-ग्रन्थों में शब्दों के शोध की कोई पद्धति नहीं है, जिससे धातुनिक पद्धति-अनुसार आकारादि क्रम की अनुक्रमणिका आदि का अभाव झटकता है। प्रो० ‘कीर्ष’ का कहना है कि “इस प्रकार की रचना कदाच धातु-पाठ तथा व्याकरण की अन्य सूचियों के अस्तित्वकाल से विकसित हुई है।”

देव-भाषा संस्कृत के कितने ही प्राचीन कोष-रचयिताओं के नाम अर्वाचीन कोषों तथा काव्य-ग्रन्थों की टीकाओं में मिलते हैं। काल्यायन की ‘नाममाला’, वाचस्पति का ‘शब्दार्णव’, विक्रमादित्य का ‘संसारवर्त’, व्याडि की ‘उत्पलिनी’, भागुर का ‘विकाड’ तथा धन्वतरि का निषट्। इनके अतिरिक्त बाण, मयूर, मुरारि और श्रीहर्ष के—‘श्लेषार्ण-पद-संग्रह’ हैं, जो एक ही शब्द के दो या अधिक अर्थों के ज्ञोतन करने वाले हैं, पर प्राज्ञ धन्वतरि के निषट् के अतिरिक्त अन्य कोष उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध कोषों में ‘अमरसिंह’ का ‘नामलिङ्गानुशासन’, अर्थात् ‘अमरकोष’ ही प्राचीन हैं जो नूदर तथा अमृतपूर्व उपादेय हैं।

अमरसिंह से पहिले जो भी कोप-ग्रन्थ थे, वे नामानुशासन अथवा लिगानुशासन दरसाने वाले थे। साथ ही वे इतने अस्तव्यस्त थे कि उनसे किसी अक्ष तक लाभ नहीं उठाया जा सकता था। अमरसिंह के अमरकोष में—नामानुशासन, लिगानुशासन, अव्यय तथा नानार्थ शब्दों का समावेश किया गया है। इस स्तुत्य प्रयत्न को गागर में सागर भरने जैसा कहा जा सकता है। अमरकोष के प्रथम काण्ड में—स्वर्ग, व्योम, दिग्व्य, काल, धी, शब्द, नाट्य, पाताल, नरक तथा वारि, द्वितीय काण्ड में—“भूमि, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि जंतु, मनुष्य, ब्रह्म (ब्राह्मण), सत्रिय, वैश्य, शूद्र” तथा तृतीय काण्ड में—विशेष्यनिघ्न, सकीर्ण, नानार्थ, अव्यय और लिगादि वर्गों में संपूर्ण उपयोगी शब्दों का समावेश किया गया है। इस प्रकार लगभग १५०० अनुष्ठुप् छंदों—श्लोकों में यह कोष ग्रन्थ बड़ा ही सुंदर बन पड़ा है। लोगों ने जहाँ अमर की निंदा—

“अमरसिंहो हि पापीयान्तर्वं भाष्यमचूचुरत् ॥”

जैसी उक्तियों से की है वहाँ इनकी सरस-मधुर रचना से प्रभावित हो इन्हें प्रातः स्मरणयोग्य बनाने हुए २६ कोप-ग्रन्थ-कलाश्री में गिनाकर अमर कर दिया है—

“मेविन्यामरमाला च त्रिकाण्डो रत्नमालिका ।
रति केवो भायुरिदं व्याडिषाद्वार्धवस्तथा ॥
द्विरूपवच कलिपदच रमसः पुखलम ।
दुर्गोऽभिधानमाला च ससारावर्तं शाश्वती ॥
विश्वो बोधसितश्रवणं वाचस्पतिं हलानुषो ।
हारावली साहासंको विक्रमादित्य एव च ॥
हेमचन्द्रश्च चन्द्रचाम्यमरोऽर्थं समातनः ।
एते कोषाः समाख्याताः संख्या बद्धविशति स्मृताः ॥”

अमरकोष सस्कृतान्यासी विद्यानुरागियों को कितना प्रिय है, इसका ज्ञान उसकी अनेक टीकाओं से होता है। ये टीकाएँ निम्न प्रकार हैं—

- १ अमरकोषोद्धाटनम्,—श्रीरक्षामी ।
- २ अमरदीपिका,—बंधगतीय सवर्निव ।
- ३ पदचक्रिका,—राममुकुट (१४३२) ।
- ४ बुधमनोहरा,—वेदांती महादेव (स्वयंप्रकाश के सिध्य) ।
- ५ धीयूथव्याख्या,—रामकृष्ण दीक्षित ।
- ६ अमरचक्रिका,—परमानंद मैथिल ।
- ७ पदविबुक्ति,—लिंगहरि ।
- ८ व्याख्या सुधा,—भानु दीक्षित ।
- ९ अमरविबेक,—महेस्वर ।

इन पुरानी टीकाओं के अतिरिक्त नयी टीकाएँ भी हैं, जो उसको अधिक उपादेय बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं ।

अमरकोष के बाद कोप-ग्रन्थों की रचना में बाढ़-सी भाई। अस्तु विशिष्ट शब्दों की अनुपूर्व में रचा हुआ पुखलम का—“त्रिकाण्डशेष”, बारह वर्ष के विशेष प्रयत्न पूर्ण एकार्य तथा अनेकार्य शब्दों का छोटा सा संग्रह—“हारावली” तथा शाश्वत का—“अनेकार्य समुच्चय” अमरकोष जैसे ही प्राचीन कोप-ग्रन्थ हैं। अनेकार्यसमुच्चय में अनेकार्य शब्द तथा पूर्ण, अर्द्ध तथा चतुर्थांश श्लोकों में भी समाहित हो जाँय ऐसे अल्प अनेकार्य-भाजी शब्दों के साथ अव्यय शब्दों का भी संग्रह किया गया है। इनके बाद हलानुष (१५० ई०) का “अभिधानरत्नमाला”, इसके एक शताब्दी बाद यादवप्रकाश का “वैजयंती”

जिसमें श्रुति, लिग तथा आद्यवर्णों से लेकर व्यञ्जनात तक संपूर्ण शब्दों का क्रमपूर्वक संग्रह है। यह 'कोष' एक अनोखी रचना माना जाता है।

सन् १०८८ ई० में हेमचन्द्राचार्य ने पूर्व-अनुश्रुत एक महान् कोष—“अभिधानचिन्तामणि” नाम से रचा। इसके बाद—‘निघण्टु’, ‘अनेकार्थ संग्रह’, ‘हेमलिंगानुशासन’, ‘उपादिसूत्र’ तथा ‘देशी नाममाला’ आदि कोष-ग्रन्थ रचे गये। देशीनाममाला, देश्य शब्दों का संग्रह है, जो प्राकृत शब्दों के विकास पर अच्छा प्रकाश डालता है। हेमचन्द्र ने अपने इस कोष-ग्रन्थ में अपने से पूर्व के देशी कोष-कत्तियों की सूची में—अभिमानचिह्न, गोपाल, देवराज, धनपाल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक और शीलाक आदि के नाम दिये हैं। धनपाल का ‘पादग्रलच्छी नाम माला’ अति उपादेय कोष है। उसमें प्राथमिक पद्धति के अनुसार अकारादि से लिखे शब्दों के साथ, एकाक्षरी, द्वाक्षरी—आदि क्रम भी सुदस्ता से दिया गया है। जिस अक्षर से प्रारम्भ होने वाला शब्द जहाँ दिया है, वही उसके नानार्थ शब्दों का संग्रह भी दे दिया गया है। यही नहीं, कोष में उस समय के रीति-रिवाज, तथा विनोद सूचक शब्दों का भी संकलन है। इसकी-बाद, धनजय की ‘नाममाला’ ११२३ ई० के लगभग बनी, जिसमें २५० छंदों में अपने समय के प्रचलित शब्दों का सरस रीति से संकलन किया गया है। विश्वलोचन कोष तथा साधु सुंदरगणि के ‘शब्द-रत्नाकर’ की भी काफी ख्याति है। महेश्वर का ‘विश्वप्रकाश’ (११११ ई०), मल्ल का स्वोपयज्ञ टीका युक्त ‘अनेकार्थ कोष’ (११५० ई०), केशव स्वामी का ‘नानार्थार्णव’—संक्षेप (१२०० ई०), मेदिनीकार का ‘अनेकार्थ शब्द कोष’ (१४ वीं शती) तथा इत्युक्त द्वारा रचित ‘नानार्थरत्नमाला’ का विशेष महत्त्व है। अनिश्चित काल के अज्ञात-नामा कोषों में एक श्रुतिवाले ‘एकाक्षरी कोष’, पृथक्-पृथक् रूपों वाले द्विरूप, त्रिरूप कोषों का भी उल्लेख मिलता है, जो समय के पलट्टे पर तुलकर अदृश्य हो अपनी स्मृति मात्र छोड़ गये हैं।



ब्रजभाषा का कोष-ग्रन्थ भी उसके ‘रीति-शास्त्र’ की भाँति देववाणी संस्कृत के कोष-ग्रन्थ-रूप स्वस्थ स्वरूप पर अमरवैलि की तरह पल्लवित हुआ और फूला-फूला है। समय-समय पर इसमें भी अनेक कोष-ग्रन्थ रचे गये, जो संस्कृत के कोष-ग्रन्थों के समान परिपूर्ण, उपादेय तथा लोकप्रिय तो न बन सके, पर सरसता में उनकी बराबरी अवश्य कर सके हैं। ब्रजभाषा के कोष-ग्रन्थ-रचयिताओं ने भी ‘अमर’ की भाँति ही छोटे छंद वाली सरस-सरल शैली अपनाई, जो अद्वितीय सिद्ध हो चुकी थी। शीघ्र कठस्थ होने वाले अल्प ‘अनुष्टुप्-वृत्त’ के समान इन्होंने भी ‘दोहा’ जैसा छोटा छंद चुना। ब्रजभाषा के कवियों ने और उसके विद्वान् ग्रन्थ-ग्रंथेताओं ने भृगुराज-रस के भाव, विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावों के निरूपण में—विभावान्तर्गत आश्रय-अवलंब स्वरूप नायक-नायिका के भेदोपभेदों तथा उनके सर्वांग नख-शिला के उद्दीप्त वर्णनों के साथ-साथ दूत-भूतियों की सृष्टि में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जो बुद्धि का नैसर्ग दिखलाया है, इनकी बारीकी बिखाने में जिस तबीअतदारी का परिचय दिया है, वह गंगा-यमुना की भाँति अति पावन, सरस, सुंदर सिद्ध होने में अपनी वात्-रूपा संस्कृत से भी चढ़-बढ़ गया है। भृगुराज-रस के संग्रह-ग्रन्थ-ग्रन्थन में भी अति वातुर्य दिखलाया गया है। नये-पुराने अनेक कवियों के अपनी-अपनी दृष्टि से चोटी के छंद इन संग्रह ग्रंथों में चुनकर रखे गये हैं, पर कोष तथा व्याकरण जैसे उपादेय ग्रन्थ-ग्रन्थन में जितना चाहिये था उतना ध्यान ब्रजभाषा के कविवर्गों ने नहीं दिया है। कारण ब्रजभाषा का वह समय भृगुराजपूर्ण था, उसके बनने-सँवरने का था, भवत कवियों द्वारा अपने-अपने इष्ट देवों के चरणों में नित्य नये रूप से अपने-अपने अंतर्गत भावों को उलटने-पलटने का था। प्रात स्मरणीय ब्रजभाषा के इन भवत-कवियों को छोड़कर उस समय के और जो भी कवि थे वे नपुंसक-दरबारों की ही शोभा थे, अतः उस समय का प्रभाव ब्रजभाषा-साहित्य के सभी ग्रंथों पर पड़ा। कोष-ग्रन्थ-ग्रन्थन में भी वाचक रहा, फिर भी इस ग्रन्थ की जो कुछ भी पूर्ति हुई वह साधारण होते हुए भी ग्रन्थ-साधारण ही कही जा

सकती है। इन कोष-ग्रंथ प्रणेताओं में जिनका सर्व प्रथम नाम-वदन किया जा सकता है, वे हैं भट्टदास के प्रसिद्ध, अति विशिष्ट, अमर कवि—

“और कवि गडिया, ‘नवदास’ जड़िया ।”

नवदास जी ने कोष-ग्रंथ-अभिनन्दन जैसे नीरस विषय को संस्कृत के अमरकोष की भाँति सरस ही नहीं बनाया, उसे भगवच्छरित-गान-विषयक अपने व्येय के अनुकूल ढाल कर एक नयी स्फूर्ति उत्पन्न की—एक नयी-ही वदित्त बाँधी।

श्री नवदास ने—नाम-माला (गान-मञ्जरी) तथा अनेकार्थनाम-माला (अनेकार्थ-मञ्जरी) नाम से दो कोष-ग्रंथों का प्रणयन किया जो अति प्रसिद्ध हैं। इनसे पूर्व वज्रभाषा का कोई अन्य कोष-ग्रंथ न तो इतिहास प्रसिद्ध है और न अभी तक हमारे देखने-सुनने में ही आया है। इन दोनों कोष-ग्रंथों के प्रणयन में नवदास जी ने संस्कृत के अमरकोष को ही अपना आधार बताया है, जैसे—

“उबर सकत नहि संस्कृत, जान्यो चाहित नाम ।

तिन्ह-हित ‘नव’ सुमति लागि, रचत नाम की बाँस ।।

ॐ

अर्थेन्हू नाना नाम के अमरकोस के भाइ ।

अनिवसी के नाम पै, मिले अरथ सब आइ ॥”

—नाममाला,

अनेकार्थनाम-माला में बताया गया है कि “जो लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते उनके लिये मैंने (नवदास ने) अनेकार्थी संस्कृत-कोष की भाषा में लिखा ।” कहने को तो नवदास जी ने अपने दोनों कोष-ग्रंथों के लिए “अर्थेन्हू नाना नाम के अमरकोस के भाइ” को ही आधार बताया है, पर वास्तव में केवल आपकी ‘नाम-माला’ और ‘अमरकोष’ में ही विशेष साम्य है। अनेकार्थ-माला, शाब्दतः के ‘अनेकार्थसमुच्चय’ के अधिक समीप है। नाम-माला में श्री नवदास ने—“गान, सखी, वृद्धि, सरस्वती, शीघ्र, धाम, सुवर्ण, रूपा (चाँदी), उज्ज्वल, शोभा, किरण, मोर, सिंह, अरुन्ध, हाथी, सिद्धि, नवनिधि, मुक्ति, राजा, ईश, देव, अमृतादि” २०७ दो सौ सात शब्दों का संग्रह उनके पर्यायवाची शब्दों के साथ २६४ दो सौ बोलख दोहा छंदों में वर्णन किया है। इसी प्रकार ‘अनेकार्थनाममाला’ में भी—“गो, सुरग्री, मधु, कलि, भाला, धनुं, धनञ्जय, पद्म, पद्मी, बरुही, धाम, काम-आदि ११३ एक सौ तेरह शब्दों के विविध अर्थ १२० एक सौ बीस दोहों में वर्णन किया है। इन लोकप्रिय दोनों कोष-ग्रंथों की सैकड़ो-हजारों प्रतियाँ यन्त्र-मिलती हैं, जिनमें लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बहुत कुछ शब्दों और दोहों में घटावही की है। जिससे आद्य इनका मूलस्वरूप स्थिर करने में—शब्दों तथा छंदों की सख्या का निर्णय करने में बड़ी कठिनाई आ गयी है, परंतु इन सब कारणों के होते हुए भी उसकी सरसता और उपादेयता में कोई कमी नहीं आ पाई है। नाममाला की सबसे बड़ी प्रति में शब्दों की सख्या २५७ तथा छंद सख्या ३२४ पाई जाती है। नवदासजी के इन दोनों कोष-ग्रंथों के नामों (पुस्तक-शीर्षक) में बड़ी भिन्नता मिलती है। ‘नाममाला’ के—“नाममञ्जरी, नाममणि-मञ्जरी, नाम-चित्तामणिमाला” तथा ‘अनेकार्थनाममाला’ के—‘अनेकार्थमञ्जरी, अनेकार्थमणिमञ्जरी, अनेकार्थमणिमञ्जरी और अनेकार्थ नाम-चित्तामणिमाला’ नाम मिलते हैं। शिवसिंह, मिश्रवृद्ध, पं० रामचन्द्र शुक्ल, वा० श्यामसुंदरदास, डा० रामकुमार वर्मा, पं० बल्लुलाल गतगी आदि हिंदी साहित्य के इतिहास-रचयिताओं ने इन नामों के साथ खासी खिलवाह की है। इन नयी महानुभावों ने नवदास जी के रचना-समुच्चय में इनका उल्लेख कर प्रत्येक को पृथक्-पृथक् ग्रंथ माना है। उक्त ग्रंथों की तमिक भी मिलाकर वा समीप से देखने का कष्ट नहीं उठाना है। बग़ैर एक-दो पीछे दूसरे, तीसरे—“मक्षिकास्थाने मक्षिका पात” करते चले आये हैं।

श्री नवदास के इन दोनों ग्रंथों में उनके अगाध साधना-भास्विय तथा मृदु भाव्य-योग्यता का अद्भुत परिचय मिलता है। इन दोनों कोष-ग्रंथों में नवदास जी ने अपने कल्पनात्मक कपानक को प्रि-

मुदरता से सटाया है वह एक कलात्मक कार्य है। कवि की कल्पना स्थान-स्थान पर अनुपम उपमा और उत्प्रेक्षा के सुमधुर रूपों में अनिर्वचनीय सुदरता के साथ निखरी है। वाक्चतुर सखी के शिक्षा और उपासक से सने मधुर वाक्य छंदों के अंतिम चरणों में कुछ इस प्रकार मिलते-जुलते चलते हैं कि उनसे कवि की काव्यमयी मधुर-भाषा के परिचय के साथ-साथ उनकी वर्णन-शक्ति की महत्ता की छाप रसिक हृदयों पर बरजस पड़ती जाती है। उदाहरण-रूप में दो नाम, जैसे—

“गो इंद्री, बिबि, वाक, जल, सरग, बख, खग छंद ।

गो घर, गो तख, गो किरन, गो-पालक, गोविंद ॥”^१

—अनेकार्यमजरी

बानी, वाक, सरस्वती, गिरा सारवा नाम ।^२

बली मनामन भारती, बचन-चातुरी कांभ ॥”

—मानमजरी

सं० १६८५ में फतेपुर (सारवाड) के कवि ‘शीखजन्’ ने ‘भारती-नाम-माला’ नाम का एक ब्रजभाषा-कोष ग्रंथ रचा। कवि पुष्करणा आचार्य (आचार्य) ब्राह्मण देवीसहाय के पुत्र तथा दाहू-पयी सतदास के शिष्य थे।

सं० १७०० के लगभग शिरोमणि मिश्र ने ‘उर्वशी-कोष’ नाम से ब्रजभाषा का कोष-ग्रंथ रचा। मिश्र जी मुगल-सम्राट् ‘शाहजहाँ’ के दरबार में थे। ये मथुरा-निवासी मोहन कवि के पुत्र तथा गतावधानी परमानंद जी के पौत्र थे।

अचल गच्छीय कल्याण सागर सूरि के समय ‘विनयसागर’ ने सं० १७०२ में ‘नाम-माला’, ‘अनेकार्यनाम-माला’ कोष-ग्रंथ ब्रजभाषा में बनाये, जैसा कि आप कहते हैं—

“अनेकार्य जो अनेक विधि, प्रबल बुद्धि-प्रकाश ।

सास्त्र-समूहों सोधि कैं, विरच्यो विनय-विलास ॥”

किन्ही ‘बद्रीदास’ कवि ने ‘नन्ददास जी’ की नाममाला के आधार पर उन्हीं की भांति ‘नाम-माला’ अर्थात् ‘मान-मजरी’ लिखी। जैसे—

“बहु विध नाम निहारि, अरथ अमर जू कोष कैं ।

सरब सुभाव विचारि, मान छुड़ावति राधिका ॥”

प्राप्त पुस्तक पर सं० १७२५ लिखा है। यह प्रति ‘जेतारन (माडवार)’ में लिखी गयी है। भाषा सुंदर तथा प्राज्ञ है। उदाहरण स्वरूप एक छंद ‘मान-नाम’, जैसे—

“दरपक, सब, अहंकार, मान, गरभ, मति छोह-भरि ।

‘बद्रीदास’ आधार, मानिनि को अभिमान सुभ ॥”

कवि ‘महासिंह’ ने श्री श्री नन्ददास की ‘अनेकार्य-नाम-माला’ को सत्य में रत्नकर सं० १७६० में अपनी ‘अनेकार्य-नाम-माला’ रची। ये सभी महाकवि नन्ददास जी की भांति अपनी कृति में ‘अमर-कोष’ को आधार मानते हुए कहते हैं—

“अमर-आदि जो कोस अति, तिन्ह की सत ह्याँ लीन ।

‘महासिंह’ कवि यो भनै, अनेकार्य यह कौन ॥”

यही नहीं, कवि ने नन्ददास जी की ‘अनेकार्य-मजरी’ को ज्यों की त्यों अपना ली है, ‘मनीन’ भी हेर-फेर नहीं किया है। उदाहरण के लिये दोनों—नन्ददास और महासिंह के ‘अनर्थ’ नाम के—द देखिये, जैसे—

^१. पाठांतर—सरग सुदीठ अनिद ।

^२. ” —इला, सारदा नाम ।

“अग्नि, धनंजय कहत कवि, पवन धनंजय आहि ।

अरजुन बौहौरि धनंजय, कृष्ण सारथी जाहि ॥”

—अनेकार्थ नन्ददास

“अग्नि धनजय कहत कवि, पवन धनंजय आहि ।

अरजुन बहुरथी धनंजय, कृष्ण सारथी जाहि ॥”

—अनेकार्थ महासिंह

संवत् १७७० में किन्ही गुजराती कवि ‘रत्नजित्’ ने ब्रजभाषा-व्याकरण के साथ-साथ ‘भाषा-शब्द-सिंधु’ तथा ‘भाषा-घातु-माला’ नाम से कोष ग्रंथ रचे । इनका विवरण—ये कोन और कहाँ के थे, यात्रि कुछ भी नहीं मिलता । केवल नाम से ‘जैन’ प्राप्त होते हैं । आपने अपनी इस (ब्रजभाषा-व्याकरण) पुस्तक में ब्रज-भाषा की बड़ी प्रशंसा की है । जैसे—

“रचैल धरौल, पढ़िबौ सुगैल, ब्रजभाषा के ग्रंथ ।

ताते बहु नुप अंनुसरत, या भाषा कौ पंच ॥”

जो पंडित बैखानबिंद, तो मुनि भाषा चाहि ।

निदति है ब्रज-भाषीन को, पढ़वत बुद्धि न जाहि ॥

भाषा कौ रस जानै-हौं, भाषा जानै-हार ।

ज्यो केसव गिरवान को, जाकी बुद्धि अपार ॥”

“ते नैबोन्नत रसिकप्रियाया श्लोके”—

“गीर्वाणवाणीषु विशेष बुद्धिस्तथापि भाषा रस लोलुपोऽहम् ।

यथाऽभराशाममृतैरुसस्तुस्वर्गाग्निना नामधरेषु सुखिः ॥”

‘रत्नजित्’ ने अपने ‘भाषा-शब्द-सिंधु’ में ‘ककारात’ शब्दों से लेकर ‘झकारात’ तक संपूर्ण शब्दों का सग्रह अनुक्रमणिकानुसार विविध वृत्तों में वर्णन किया है । ये शब्दनाम, यद्यपि सना-वाचक हैं, क्रिया-वाचक शब्दों का सग्रह अपनी ‘घातु-माला’ में किया है । पुस्तक का आरम्भ इस प्रकार है—

“अथ भाषा शब्द सिंधु लिख्यते । जचलिका । ककारांत शब्दाः—

तिलक, किलक, पलक, खलक, तनक, नरक, वक, वृक, कटक, मसक, ससक आदि ।

इस प्रकार प्रत्येक शब्द (अक्षर) के तीस-तीस भेद दिये हैं । घातु-माला में “अथ देव’ वा वाचक

(सकर्मक) घातु यथा—

देख, अवदेख, लख, झलख, अवलोक, बिलोक, निरख, निहार, परेख, हेर, चितव (चितै) ।”

और अकर्मक घातु जथा—बरस, दीस

ककारात जथा—

“तरक, सरक, चुरक, झिरक, कुहूँक, अटक, पटक, अवलोक ।

चमक, बमक, बक, चोक, सक, झलक, बिलोक हि रोक ॥”

(अंत) अथ हकारात जथा—

“कह, गह, बह, रह, गूह, लहह, मोह, सोह, अवगाह ।

रोह, गाह, अवरोह, डह, सह, चह, निबह, सराह ॥”

सारंगधर कवि ने ‘विराहचरिका’ नाम से एक कोष ग्रंथ लिखा है, जिसमें विविध भ्रम शब्दों के साथ-साथ ‘स्वर्णकारी’—विद्या-सर्वकी पारिभाषिक शब्दों का भी संकलन किया गया है । इनकी प्रति सं० १७७४ की मिलती है । कवि के इतिवृत्त का कुछ पता नहीं चलता ।

संवत् १७९२ में हरिजु मिश्र ने ‘अमरकोष’ का ब्रजभाषानुवाद किया । भाषा की भाषा प्राप्त है—साफ-सुथरी है । हरिजु मिश्र आगरा के थे ।

खडन कवि ने 'नाम-प्रकाश' नाम से एक कोष ग्रंथ स० १८१५, विक्रमी में लिखा है।
खडन जी जाति के कायस्थ और दतिया के रहनेवाले थे।

कविवर 'मिलारीदास' उपनाम—'दास' ने स० १७६५ में 'नाम-प्रकाश' नाम से अमरकोष का अनुवाद ब्रजभाषा में किया। आप वहीवार साला के श्रीवास्तव कायस्थ थे। पिता का नाम छपालदास और पितामह वीरभानु थे। ये प्रतापगढ़ (अवध) के समीप मौजा टेंडगाँ के निवासी थे। नाम-प्रकाश की रचना विविध छंदों में हुई है।

तपागच्छीय साधु 'शुद्धविजय' जैन के शिष्य 'चैतनविजय' ने स० १८७७ में 'आत्मबोध-नाम-माला' नाम से एक कोष लिखा है। उन्होंने अपनी 'लघु-पिंगल' नाम की पुस्तक में अपने को बंगाल का होना बताया है, पर कहीं और किस ग्राम में—इसका कुछ पता नहीं है। आप 'आत्मबोध' में कहते हैं—

"भाषा आत्म बोध की, रचना रचो सुदाम।

वदत बस्तु है जगत में, तिनको कही बखान ॥"

सन् १८६३ में भिनगा के राजा जगतसिंह ने 'रत्न-मञ्जरी' नाम से एकाक्षरी कोष लिखा।
आपके इस कोष में 'क' से 'ह' तक तथा 'क्ष' 'ब' स्वरों की नाम-संज्ञा का भी वर्णन है, जैसे—

"सास्त्र-वातु अभिधान अथ अमित सबद ते साध।

भाषा करि 'एकाक्षरी', समस्त बुद्धि अगाधि ॥"

और 'क' नाम, यथा—

"ब्रह्मा, बायू, आत्म, अथ प्रकार परकास।

ए पाँचौ कः जानबी, बरनत बुद्धि-बिलास ॥"

स० १८६४ विक्रमी में 'सुवस' कवि ने 'उमरावकोष' रचा। ये जाति के ब्राह्मण शुक्ल टेढ़ा-बिहारीपुर जिला उन्नाव के रहनेवाले अमेठी के राजा उमरावसिंह बखेल के आश्रित थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता उमरावसिंह के नाम पर 'उमरावकोष' लिखा। भाषा सुंदर और मधुर है, इससे पता चलता है कि कवि का ब्रजभाषा पर यथेष्ट अधिकार है।

सन् १८७५ ई० के लगभग 'मीरजाखा' ने 'तुहफतुल-हिंद' नाम के फारसी ग्रंथ में परिशिष्ट की भाँति 'लुगत-ए-हिंदी' (हिंदी-फारसी) कोष दिया है। आधुनिक परिभाषा में कोष का जो रूप होता है उसके अनुसार 'मीरजाखा' का कोष पहला 'हिंदी-फारसी' कोष विधित होता है। इस कोष में तीन हजार से अधिक हिंदी शब्दों के अर्थ दिए हुए हैं। यहाँ हिंदी से 'ब्रजभाषा का मतलब है।

सन् १७०४ में फ्रांसिस्कस एम० फ़्लोरोनीसिस Franciscus M. Turonesis ने हिंदोस्तानी भाषा की डिक्शनरी लिखी जो सन् १७६१ ई० तक रोम की 'प्रोपार्गंटा लाइब्रेरी' में थी। सन् १७४० ई० में दयागम त्रिपाठी ने एक हिंदी कोष लिखा।^१

इस समय के लगभग ही 'उद्योत' कवि ग्वालियर वासी ने टीकमगढ़ में 'अनेकार्थ-मञ्जरी' नाम से ब्रजभाषा का कोष-ग्रंथ रचा। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। श्रीरामजी के दरबार में भी आपका जाना-माना था। इनकी इस 'अनेकार्थ-मञ्जरी' की रचना में पद-पद पर श्री नरदाम जी की 'अनेकार्थ-नाम-माला' की छाप है। प्रकाशना के स० १८६६ में संस्कृत के अमरकोष का ब्रजभाषानुवाद 'अब्दरत्नावली' नाम में किया—

"संबत नव, खट्, वसु, सती, ताम्र बुद्धि बुधवार।

अई 'सबद-रत्नावली', लिपि हाइसो प्रचार ॥"

संवत् १८७० में काशी के गोकुलनाथ भट्ट ने संस्कृत अमरकोष को भाषा-वृद्ध 'रत्न-माता' नाम से किया। गोकुल भट्ट वदीजन रघुनाथ कवीश्वर के पुत्र थे। रघुनाथ कवि की आश्रित-मंडली में आप भी थे। वही इनका कुछ रहने लगा। कवि ने अपने ग्रंथ का रचना-काल 'रत्न-माता' में—

^१. ३० 'ए शमर माँव की ब्रजभाषा : भूमिका, पृ० ८'।

“गगन, आकाश, वसु, विष्णु सवत वर, कालिक पुन्य कर्षभ ।
सुकुल पद्मनी पाइ पुन्य भव, किन्ही कोष प्रारम ॥”

उदाहरण-रूप “कमल-कौसर” नाम जैसे—

“कौसर, अक, किंजलव कहत है, होत जो वारिज-बीज ।”

और नाममाला में ‘विष्णु-नाम’, जैसे—

“विष्णु, नराइन, नरपती, वनमाली, हरि, स्याम ।

मधुसूदन अरु वैद्य-रिपु, रावन-अरि ओ रौम ॥”

उन्नीसवीं शती के आरम्भ में ‘सागर’ कवि ने ‘अनेकार्थी’ तथा ‘धनजी-नाम-माला’ नाम से दो उपादेय कोष-ग्रंथ रचे, जो नटदास जी की अनेकार्थी और नाममाला जैसे हैं । कवि के जन्म, स्थानादि का विवरण नहीं मिलता । अनेकार्थी में ६० और नाम-माला में १४५ पद्य हैं । उदाहरण रूप ‘सागर’ नाम, जैसे—

“कमल, कुरग, मराल, ससि, पावस, कुसुम, अमग ।

जातक, कोहरि, दीप, पिक, हँस, राग सारग ॥”

—अनेकार्थी,

अमरकोष-भाषा नाम से ‘शिवप्रसाद’ कायस्थ भिनगा-वासी ने स० १८७४ में एक कोष ग्रंथ लिखा । जैसे—

“अमरकोष भाषा किन्ही, लीजें सुकवि विचारि ।

सुर-बानी बुझ-लोग को, भाषा भवुष निहारि ॥

छंद अधिक बहु ग्रंथ में, है पढ़िबो अति मिलिष्ट ।

साते हैं अति सरल लखि, पढत सबै करि हृष्ट ॥

चौपाई औ दोहरा, ए हैं छंद प्रसिद्ध ।

हो इन ही में प्रथ किन्ही, है बोहैन को बूझि ॥”

और उदाहरण, जैसे—

“अमर तीसरे कांड में आठ वर्ग को देख ।

चारि बरग भाषा बिषै, आधत काज मिलेख ॥

सो में भाषा करि कह्यो, बोहा छंदें माहि ।

भाषा बिषै प्रबोनि सो, पढ़ि है जो करि पाहि ॥

चार धरग जो लिंग को, भाषा में नहि होइ ।

स्त्री, पुस, नपुसकहि, इस्त्रि-नपुसक सोइ ॥

साते भाषा नहि किप, नाम मात्र को काज ।

संस्कृत सबव जु होत है, आवत जे तब काज ॥

लिंग-भेद भाषा बिषै, बिन कारज को पेखि ।

साते छंदें चाहियें, स्वार्थ-रहित को देखि ॥”

खोज रिपोर्ट सन् १९२३-२५ के पृष्ठ १३६२ तथा ६६ पर इस पुस्तक का दो बार उल्लेख किया गया है । प्रथम उल्लेख में यह पुस्तक जैसा कि ऊपर विवरण दिया है—“शिवप्रसाद कायस्थ” के नाम से तथा द्वितीय में ‘शिवसिंह’ के नाम से है । निर्माणकाल दोनों में एक है, अर्थात् १८७४ ई। लिखा है । पृ० ६६ के विवरण में शिवप्रसाद जी के चौथे छंद—

“अमरकोष भाषा किन्ही, लीजें सुकवि विचारि ।”

को इस प्रकार बदल दिया गया है—

“अमरकोष भाषा कियो श्री सिर्वासिह बिचार ।”

घोर पुस्तक के अंत में इति श्री स्वरूप—“इति श्रीमहाराजकुमार विसेनवशावतश वरिवडसिंहात्मज सर्व-
दमसिंह तनुज शिवसिंह कृते अमरकोष भाषाया तृतीय खंड” लिखा है। इससे यह ज्ञात होता है कि “या तो यह ग्रंथ शिवप्रसाद कायस्थ ने जो इन महाराज के आश्रित कवि हो, अपने पालक-आश्रयदाता के नाम से लिखा, अथवा शिवप्रसाद जी इसके लिपिकर्ता हो।

स० १८७४ में ही ‘मातादीन’ शुक्ल ने ‘नानार्थनवसग्रहावली’ नाम का एक कोष-ग्रंथ रचा तथा झाँसी-निवासी श्रीवास्तव ‘नवलसिंह प्रधान’ ने भी ‘नामचिन्तामणि’ और ‘नामरामायण’ दो ब्रजभाषा-कोष ग्रंथ लिखे। प्रधान जी, समयर-नरेश हिंदूपति तथा दतिया और टीकमगढ़ के (मध्यप्रदेश) राज्यों में—उनके दरबार में आते-जाते थे। ये स० १९०६ वि० में विद्यमान थे।

किन्हीं ‘लाडलीप्रसाद’ ने स० १९०६ में ‘नाममाला’ नाम से ब्रजभाषा कोष-ग्रंथ रचा। ‘रत्नहरि’ ने स० १९२१ में ‘दूरादूरार्य दोहावली’ नाम में अनेक-अर्थात्मक एक कोष-ग्रंथ रचा। जैसे—

“संवत ससि, दृग, खंड ससि, चैत वरत ससिबार ।

दूरादूरार्य बई, दोहावलि दातार ॥”

और उदाहरण, जैसे—

“भज भव, भै करतार तें भज भज भै करतार ।

तज भव भय भरतार को, तज भव भय भरतार ॥”

ॐ

“भजन भजन तें भजन भव, तब भव भवम बहोइ ।

भजन भजन कौ भय बहै, है अभयद को जोइ ॥”

अज्ञात-कुलशील ब्रजभाषा कोष-ग्रंथ रचयिताओं में—चदनराम के अनेकार्थ और नामार्णव, सुबुद्धि कवि की ‘नाम-माला’ वा ‘आरभ-नाम-माला’, विष्णुदत्त के पुत्र रघुनाथ का ‘प्रदीपिका-नाम-माला’, चदनराम का ‘तत्त्वसज्ञा’ कोष तथा राय साहिबसिंह का ‘तुलसीरामायण’ कोष भी प्रसिद्ध हैं। सुबुद्धि कवि नाम-माला में कहते हैं—

“अमर-ग्रंथ में जो कहे, सुने, लहे करि सुद ।

कुछ उपजाए अर्थ सो, नए नाम निज चुद ॥

भाषा-महिर्मा अधिक है, दिन-दिन गुन अधिकहि ।

मूलक (जु) जीवित भज सो, तु हौं तो भाषा माहि ॥

जो कवित भाषा पढ़ें, जो रत भाषा सुद ।

तिन्ह को समुझै को इते, बरने विविध सुदुद ॥”

उदाहरण—‘जम’-नाम, जैसे—

“सूरज-सुत, जैम जगत-अरि, जिय-निपात करि जान ।

सिष्ट-भली, निरबई, अमुनि, रजितन जो परिबान ॥”

रघुनाथ कवि ने ‘प्रदीपिका-नाम-माला’ का प्रारंभ इस प्रकार किया है—

“अधिरल भव-रेखा बिपै, गनपति ललित कपोल ।

गध-सुव्य मनु भगन ह्वै, पटपट करत कलोल ॥

अब हो बरनी सबद-निधि, पार हौन की आस ।

चित विलसत ‘रघुनाथ’ कवि, नामा-शक्ति प्रकाश ॥

विविध नाम-रत्नावली, सुनत हरै हुए बंद ।

कृत ‘रघुनाथ’ प्रदीपिका, विष्णुदत्त के नद ॥”

चन्दनराय कृत 'तत्त्व-सज्ञा कोष' में—त्रिगुण नाम, ज्ञानेन्द्रिय नाम, सूक्ष्म इन्द्रिय नाम, ज्ञानेन्द्रिय-देवता नाम तथा कर्मेन्द्रिय नाम—आदि विभिन्न विषय-रूप शब्द दिये हैं और राम साहिबसिंह के 'तुलसीदास-यण-कोष' में आकारादि-क्रम से आधुनिक पद्धति-अनुसार गो० तुलसीदास जी कृत 'मानस' के सपुत्रं २२ तथा उनके अर्थ दिये हैं।

किसी अज्ञात कवि ने 'अनेकार्थ-नामावलि' नाम से ब्रजभाषा कोष-ग्रन्थ रचा, जिना ११ रिपोर्ट सन् १९०२ से लगता है। रिपोर्ट में इस ग्रन्थ के प्रति-रचयिता के लिये लिखा है—

“शायद यह कोष जोधपुर निवासी जालन्धरनाथ के किसी भवत ने रचा हो।”

दौलतराम ने 'पुण्याश्रव-कथा-कोष' लिखा, जिसमें केवल कथाओं का संग्रह है। यहाँ नहीं, ब्रजभाषा में बँधक के 'निघटु' कोष भी अनेक लिखे गये। इन निघटु कोषों में 'सदमण प्रसाद' का नाम 'चक्र' तथा 'मदनपाल' का 'निघटु-भाषा' अति प्रसिद्ध है।

ब्रजभाषा में संस्कृत कोषों का ही नहीं अपितु अरबी-फारसी के खालिकवारी और 'मुनिना' आदि के अनुवाद, अथवा वे हिंदी-लिपि में लिखे ही नहीं गये, किंतु उनमें नूतनता सायी गयी—गण्यता भंगी गयी। जैसे—

“खालिक वारी सिरजनहार, बाहव एक बिबा करतार।

रसूल पैगबर जान बसीठ, थार-बोस्त बोले जाई ईठ ॥”

यहाँ 'बसीठ' और 'ईठ' शब्द विचारणीय हैं। बसीठ का अर्थ—'सदेगवाहक', अर्थात् गवेग नाले और ले जानेवाला (बिद्धीरसा) होता है, जो उपयुक्त है, पर 'ईठ' का अर्थ 'थार-बोस्त' के पर्याय रूप में उचित नहीं बैठता। अतः ब्रजभाषा के कवियों—उसके अनुवाद-कर्ताओं ने बसीठ को 'बगिठ' और ईठ को 'इष्ट' कर जो सार्थक रूप दिया है वह ईठ की कष्ट कल्पना से परे है।

“तमना, बहम्, आरजू, चाह कहिए।

इदोदस्त, हाथो, कदम पाइ गहिऐ ॥”



हिंदी में शब्द-समस्या

श्री रामचंद्र जर्मा

हमारे यहाँ शब्दों को ब्रह्म कहा गया है। जिस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप समझना और उस तक पहुँचना बहुत कठिन है, उसी प्रकार शब्द का स्वरूप समझना और उसकी आत्मा तक पहुँचना भी बहुत कठिन है। बोलने को तो सभी लोग सदा कुछ न कुछ बोलते ही रहते हैं और सुननेवाले अपनी समझ से उनकी बातों का कुछ न कुछ अर्थ लगा ही लेते हैं, पर शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ समझ कर उनके मूल तक पहुँचनेवाले लोग बहुत कम होते हैं। तुलसी-कृत रामायण को ही लीजिए—धारे भारत में उसका नित्य थोड़ा-बहुत पाठ करनेवालों की सख्या लाखों-करोड़ों तक पहुँचती है, पर उसका ठीक आशय समझनेवालों की सख्या सैकड़ों या हजारों तक ही पहुँच कर रह जाती है। कबीर, सूर, मीरा, जायसी आदि प्राचीन कवियों की कृतियों के सबब में भी यही बात है।

हमारा देश भारतवर्ष अपनी और सब बातों की तरह आकार-अकार आदि में भी बहुत विस्तृत और विद्याल है। इसे एक छोटा महादेश ही समझना चाहिए। इसके अंतर्गत अनेक प्रदेश या छोटे देश, अनेक जातियाँ, अनेक धर्म, अनेक आचार-विचार, अनेक भाषाएँ और अनेक बोलियाँ हैं और उन सबका मिला-जुला एक ऐसा सहृद रूप है, जो अनेकता में एकता का बहुत बड़ा प्रतीक है। उस एकता का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिये सागे अनेकताओं पर ध्यान रखना पड़ता है—यह देखना पड़ता है कि वे अनेकताएँ कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुई और उनमें परस्पर कैसा सबब है। तभी हम उसकी आत्मा तक पहुँच कर उनके समष्टिगत रूप के दर्शन पा सकते हैं। फिर प्राचीन कवियों की कृतियों का ठीक अर्थ समझना कई कारणों से और भी कठिन होता है। एक तो अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि अनेक स्थानिक भाषाओं में प्राचीन हिंदी साहित्य लिखा गया है, तिसपर पुराने शब्दों का प्रयोग दिन-पर-दिन कम होता जाता है। भाषा नया रूप धारण करती रहती है—पुराने शब्द छूटते जाते हैं और नये आते या वनते रहते हैं। कवि और लेखक अपनी मातृ-भाषा के तथा अपने यहाँ के स्थानिक शब्दों का उपयोग भी करते हैं। अन्य भाषा-भाषी या दूसरे स्थानों के लोग उन शब्दों के ठीक-ठीक रूप और अर्थ सहज से नहीं समझ पाते। हमारे यहाँ के प्राचीन कवि और महात्मा, बहुत कुछ आजकल के कवियों और महात्माओं की तरह अन्यान्य प्रदेशों और तीर्थों की यात्रा भी करते थे और सब जगह के लोगों से मिल-जुलकर विचार-विनिमय भी करते थे—उनमें शब्दों और विचारों या भावों का आदान-प्रदान भी होता था। यदि उन्हें कहीं से नये या अच्छे विचार अथवा अधिक सुंदर और भाव-आश्रयक शब्द मिलते थे, तो उन्हें ग्रहण करके अपनी कृतियों में उनका प्रयोग करनेमें वे कभी सकोच नहीं करते थे। यही कारण है कि बहुत से प्राचीन कवियों में अनेक प्रकार की स्थानिक बोलियों के शब्द भी यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। आज-कल के आलोचक तो दृढ़-दृढ़ कर इस बात का पता लगाते हैं कि हमारे आलोच्य कवि ने किन-किन भाषाओं और किन-किन बोलियों के कैसे-कैसे शब्दों का प्रयोग किया है और इसी आधारपर उन्हें बहुत धीरे-बहुत तथा अनुभवपूर्ण पर्यटक के रूप में उपस्थित करते हैं वास्तव में इस प्रकार की प्रत्यापनाएँ हमें उन कवियों की आत्मा तक पहुँचाने में बहुत अधिक सहायक होती हैं।

‘ग्रामाणिक हिंदी-कोष’ का काम करने में मुझे प्राय प्राचीन कवियों के प्रयुक्त विषये दृग्गुण से शब्दों की छान-बीन करनी पड़ती है। ‘हिंदी शब्द-सागर’ के प्रणयन के समय तो ग्रामाणि-

श्रीर अन्ध्रा साहित्य बहुत कम था, पर अब बात दूसरी हो गई है। आज-कल अनेक प्राचीन कवियों की कृतियों के कई ऐसे सुंदर संस्करण प्राप्य हैं, जो बहुत ही परिश्रम तथा योग्यतापूर्वक संपादित हुए हैं और ऐसे संस्करणों से वास्तविक श्रीर शुद्ध अर्थ जानने में बहुत कुछ सहायता मिलती है, पर कोई विद्वान् सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। भाषा के स्वरूप के संबंध में ऊपर जो बातें कही गई हैं, उनके कारण अन्ध्रे संपादकों की कठिनाइयाँ श्रीर भी बढ़ जाती हैं। सभी लोगों से कही न कही भूलें हो ही जाती हैं, पर ऐसी भूलों के लिए न तो विद्वान् लोग दोषी समझे जाते हैं, न अप्रसन्न। यदि कहीं किसी से कोई भूल हो तो श्रीर लोग जाँच-पड़ताल करके, बिना किसी फालतू अभिमान के, वे भूलें सुधार सकते हैं। ज्ञान का क्षेत्र सदा से इसी प्रकार परिष्कृत और विस्तृत होता आया है और होता रहेगा।

शब्दों और अर्थों की छान-बीन करते समय बहुत सी बातें ध्यान में आती रहती हैं, पर समय के भ्रमाव से मैं उन सब बातों का कोई शृङ्खलाबद्ध सग्रह नहीं करने पाता। मेरे पास प्राचीन कवियों-द्वारा प्रयुक्त अनेक ऐसे शब्दों और प्रयोगों का एक अन्ध्रा-भाषा सग्रह रंगार हो गया है, जिनके अर्थ स्पष्ट नहीं होते और जो विद्वानों के लिए विचारणीय हैं। ऐसे शब्द बिना किसी निराकरण के प्रायः मेरे पास पड़े रहते हैं, और कभी-कभी महीनो बाद संयोग भ्रमवा प्रसंग से ऐसे शब्द स्वयं ही अपना अर्थ प्रकट कर देते हैं। यहाँ मैं कुछ ऐसे ही शब्दों की चर्चा करना चाहता हूँ।

कोई छ मास पूर्व मीरा के शब्द संप्रदीत करते समय मुझे “दोवडी” शब्द मिला। मीरा का पद है—

‘मैणो तो म्हारो माला, दोवडी और चदन की कुटकी।’

एक सुयोग्य टीकाकार ने दोवडी को ‘एक प्रकार का गहना’ बतलाया था, पर मुझे यह अर्थ इसलिए ठीक नहीं जैसा कि गहनो का तो मीरा तिरस्कार ही कर रही हैं—फिर दूसरा गहना कहाँ से आया ‘दोवडी’ तो गहनो से मिल कोई चीज होनी चाहिए। इधर हाल में जब ‘कबीर साहित्य का अध्ययन’ प्रकाशित हुआ और मैं उसमें के शब्द लेने लगा, तो उसमें मुझे कबीर का पद मिला—‘पाँव गज दोवडी मांगी, चूँन लीची सानि।’ यहाँ धाकर पता चला कि दोवडी और दोवडी दोनों एक हैं, और ‘दोवडी’ का अर्थ चादर, दुपट्टा या और कोई कपड़ा होना चाहिए। एक सुयोग्य मित्र से बात-चीत करने पर पता चला कि राजपूताने में ‘दोवडी’ साधारण मोटे देखी कपड़े को कहते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल में इसी अर्थ में ‘द्विपट्ट’ शब्द प्रचलित था, इसके विपरीत बड़िया रेसमी कपड़ा ‘दुकूल’ कहलाता था। इस प्रकार ‘दोवडी’ की मुख्यता जैसे-तैसे सुलझ गई है।

मीरा के एक और पद में आया है—‘मोती-भाणिक परत न पहरे, मैं कब की नटकी।’ यही टीका में मुझे ‘परत’ का अर्थ ‘इकहरे-दोहरे गहनें भ्रमवा जडाऊ गहनें’ मिला और ‘नटकी’ का अर्थ ‘अस्वीकार कर दिया।’ साधारणतः राजस्थानी में ‘का’ का प्रयोग भ्रमत्य के अर्थ में होता है, जैसे—‘राँडका, अर्थात् राँड (विचवा) के पुत्र की तरह भ्रमवा और दीन-हीन।’ जहाँ भी यह शब्द इसी अर्थ में अवतक बोला जाता है। इसलिए यह तो समझमें आ गया कि ‘नटकी’ शब्द ‘नटका’ का स्त्रीविभ रूप है और ‘नटका’ का अर्थ नट जाति का पुरुष, पर ‘परत’ वाली समस्या बनी रही। महीनो बाद, मातृ-भाषा पंजाबी होने के नाते, इस ‘परत’ का भी अर्थ एक बात-चीत के प्रसंग में ध्यान में आ गया। पंजाबी में ‘परतना’ के अर्थ होते हैं—(फ) लौटना या वापस आना और (ख) पीढ़ी की धारें मुड़ना या मुड़कर देखना। पंजाबी मुहावरों के अनुसार ‘परतकर कोई काम न करना’ का अर्थ होता है—‘मून कर भी कोई काम न करना। अतः मीरा के उक्त वचन का अर्थ हुआ—“मैं मूलकर भी मोती-भाणिक नहीं पहनती, क्योंकि मैं कोई नटनी (नट जाति की स्त्री) नहीं हूँ।” और धारे पद के प्रसंग में यही अर्थ बिनाकुल ठीक पड़ता है।

है। आज-कल अनेक सुयोग्य विद्वान प्राचीन कवियों की कृतियों का संपादन करते समय बहुत कुछ परिश्रम और खोज तो करते हैं, पर अनेक स्थानों पर उन्हें कल्पना का सहारा भी लेना पड़ता है। कभी तो तीर निशाने पर बैठता है और कभी चूक जाता है। धीरे-धीरे बहुतसे शब्दों पर प्रकाश तो पड़ेगा। ऐसे पुराने शब्दों तथा मुहावरों के ठीक अर्थ जानने के लिए सारे भारत में खोज करनेकी आवश्यकता होगी और फिर भी अनेक ठीक अर्थ मिलेंगे या नहीं, इसमें संदेह ही है और यदि यह खोज आज न करके ती-पचास वर्ष बाद की गई तो शब्दोंके अर्थ मिलना बहुत कुछ असम्भव हो जायगा।

राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा हो जाने के कारण हिंदी का सारे भारत में प्रचार हो रहा है। हजारों अन्य भाषा-भाषी हिंदी की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। ऐसे लोगों के हिंदी-अध्ययन में एक और प्रकार की समस्या वाचक होती है। खड़ी बोली या आधुनिक गद्य हिंदी तो वे सहज में समझने लग जाते हैं, पर हिंदी के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने में उन्हें इसलिए बहुत अधिक कठिनाई होती है कि अवधी, बज्ज, राजस्थानी आदि की प्रकृति और प्रवृत्तियों से वे परिचित नहीं होते। हमारे यहाँ के अनेक कवियों ने शब्दों को इतना अधिक तोड़ा-मरोड़ा है कि कभी-कभी हिंदी भाषियों तक को उनके ठीक रूप का जल्दी पता नहीं चलता औरों की तो बात ही क्या है, यदि तुलसीदासजी 'अतिदीन' को मिलाकर 'तिदीन' बनाते हैं तो भूषण 'कहा अब' से 'कहाव' और 'सो अब' से 'सोव' बना झलते हैं। पद्माकर, केशव आदि ने भी खूब तोड़ा-मरोड़ा की है। कभी-कभी छंदों के विचार से भी कवियों को शब्दों के विकट रूप बनाने पड़ते हैं। अमृत-ध्वनि छंद में तो बिना शब्द तोड़े-मरोड़े और साधारण वर्णों को द्वित्व वर्णों का रूप दिये रचना हो ही नहीं सकती। उसटवासियों और कूटों की कृपा से भी कविताएँ परम दुर्लभ हो जाती हैं। श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी कविताओं को जटिल बनाने में सहायक होता है। फिर कुछ शब्द कुछ विशिष्ट प्रसंगों में कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, और बिना उन प्रसंगों का पूरा-पूरा उल्लेख किए शब्दों के अर्थ बतलाए ही नहीं जा सकते। इस प्रकार की कठिनाइयाँ शब्द-कोषों में तो दूर ही नहीं सकती। महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के प्रामाणिक, सुसंपादित और सटीक संस्करणों से ही उक्त समस्याओं का निराकरण हो सकता है। सुयोग्य विद्वानों को इस काममें अधिक उत्प्रेरणा से लगना चाहिए।

शब्दों के सर्वश की अंतिम समस्या यदि विलकुल नहीं होती तो भी बहुत कुछ हाल की है और वह है—अंग्रेजी से सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण शब्दों के लिए हिंदी के उपयुक्त पर्याय ढूँढना और स्थिर करना। इस सर्वश में कई प्रकार के लोगों ने कई तरह के काम किये हैं और अपने-अपने अनुभव से इसके लिए लोगों ने कई तरह के उपाय सुझाये हैं। कुछ लोगों की समझ में यह काम अलग-अलग क्षेत्रों में होना चाहिए। कुछ लोगों के विचार से एक केंद्र में होना ठीक होगा। बहुत-से लोग यह चाहते हैं कि यह काम एक-साथ और जितनी जल्दी हो सके, हो जाय, और कुछ लोग यह समझते हैं कि यह धीरे-धीरे और क्रम से ही होगा। मेरी समझ में इस काम के दो भग होने चाहिये—एक साधारण और नित्य व्यवहार के शब्दों का और दूसरा वैज्ञानिक शब्दों का। पहले भग का जो काम अब तक कुछ राज्य-सरकारों या केंद्रीय सरकार ने किया-कराया है, वह प्रायः बहुत महंगा भी पड़ा है, और बहुत कुछ असतोषजनक भी हुआ है। यह काम अंग्रेजी और संस्कृत के कोरे विद्वान् उतना अच्छा नहीं कर सकते, जितना अच्छा तपे-सपावे और अनुभवी साहित्य-मेवी कर सकते हैं। जिन सुयोग्य साहित्य-सेवियों की इस ओर विशेष रुचि हो, उन्हें स्वयं अपने शोध में इस काम में लगना चाहिए और सरकारों की ओर से उन्हें उपयुक्त प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए। इनमें काम जल्दी और थोड़े खर्च में होगा। वैज्ञानिक शब्दावलियों का काम अलग-अलग विज्ञानों के विशेषज्ञों पर छोड़ देना चाहिए, पर उन्हें भी उसी प्रकार प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए हमें कई बातों का ध्यान रखना होगा। सभी नये शब्द गढ़े जाते ही काम में आने के योग्य नहीं हो जाते। प्रायः प्रयोग में आने पर उनमें कुछ परिवर्तन की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। उच्चारण

लेखन आदि के विचार से सुगम होने चाहिए, नहीं तो जल्दी ही या तो उनके अपभ्रष्ट रूप बनने लगेंगे या वे टकसाल-बाहर समझे जायेंगे। अतः नये शब्द ऐसे होने चाहिए जो प्रयोग की कमी-पटी पर पुरे उतरें और प्रयोग की कमी-पटी शब्दों को कसने के लिए कुछ समय लेती हैं। इधर हान ने अंग्रेजी शब्दों के कुछ ऐसे हिंदी पर्याय भी चले गये हैं, जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध या ग्राह्यता के दृष्टि से युक्त हैं और अब उन्हें बदलना कठिन है। अतः नये शब्द पहले से ही खूब सोच समझकर बनाये जाने चाहिए। हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि अंग्रेजी कई सौ वर्षों के व्यवहार के बाद इतने उन्नत रूप तक पहुँची है। हम दस-पाँच वर्षों में अपनी भाषा को उसका समकक्ष नहीं बना सकते। हाँ, उसके दिग्गजों से हमें मार्ग का अनुसरण करके हम अपभ्रष्ट कुछ जल्दी उसकी बराबरी करनेका प्रयत्न कर सकते हैं।^१

१. ब्रजभाषा के कवि-प्रयुक्त शब्दों, अर्थपूर्ण रूपों और उनके वास्तविक अर्थों को जानने की एक कठिन समस्या है। हिंदी के शब्द-कोषों से जो अवतक प्रकाशित हुए हैं, जहाँ इनके सुलझाने की आवश्यकता थी वहाँ उन्होंने उसे और भी बुरा ही बनाया है। ये कोष-कर्त्ता अपने आलोचकों-द्वारा शब्द विशेषों का ठीक-ठीक अर्थ बतलाने पर भी उसपर विचार नहीं करते—उसे नहीं अपनाते। उदाहरण के लिए ऐसे ही श्री घुरदास और गो० तुलसीदास प्रयुक्त दो शब्दों—“अतरीटा” और पात-भरी “सहरी” का उल्लेख यहाँ किया जाता है, जिसपर साहित्य-संसार में काफी चर्चा रही है। स्वर्गीय डा० जगन्नाथदास जी ‘रत्नाकर’ की जिज्ञासा के अनुसार ब्रज में खोज करने पर श्री घुर के ‘अतरीटा’ का अर्थ—उदर-आच्छादन के प्रयोग में आनेवाला वह वस्त्र विशेष है जो कन्धों (अंगिया) के साथ सदावित रहकर कमर के नीचे और घुटनों से कुछ ऊपर रहता है, किंतु इसका अर्थ अब भी वही शब्द के विकृत रूप के साथ जैसे—“अतरीटा” (संज्ञा पु०) (हि०) महीन साड़ी के नीचे पहनने का कपड़ा—“पेंटीकोट” ही माना जाता है। यहाँ यह विचार नहीं किया जाता है कि ‘अच्छादन’ के कवियों के समय ब्रज में पेंटी-कोट जिसे आजकल चनियाँ, साया आदि भी कहते हैं, चलन था, या नहीं। ब्रज के स्त्री-वस्त्रों में ‘श्रीदुना’, ‘अंगिया’ और ‘लहंगा’ तीन ही वस्त्र प्रचलन में और इनका ही चलन था। साड़ी का भी उल्लेख कवियों द्वारा मिलता है, पर पेंटीकोट का चलन ब्रज के स्त्री-वर्ग में तब भी नहीं था अतः आज भी नहीं है। शहराई स्त्रियाँ ही आज इसका प्रयोग करती हैं, वह भी साड़ी के साथ—‘लहंगा’ के साथ नहीं। हाँ, मुगल काल के राग-रंग-प्रधान समय में लहंगा के नीचे ‘पाजामे’ का प्रयोग स्त्रियाँ अवश्य करती थीं। इसी प्रकार गो० तुलसीदासजी के ‘सहरी’ या ‘सहरी’ शब्द की अवस्था है। गोस्वामीजी ‘कंबट’ की श्रुति, बीन-हीन अवस्था के साथ प्रकट करते हुए उसकी आजीविता (रोड़ी) की साधन “नौका” की भी श्रुति, अल्पता—हलकापन प्रकट करना है। सहरी का वास्तविक अर्थ जन में चलने वा रहनेवाला होता है, अतः सहरी का अर्थ ‘मछली’ ही क्यों माना जाय? जबकि जन में चलने वा रहने के कारण उसका अर्थ नौका (नाव) भी हो सकता है, जो कि यहाँ अभीष्ट है। भरी या अर्थ भी तुल्य, बराबर और हलके पने का द्योतक है। अस्तु, गो० तुलसीदासजी ने—‘पाहन’ से न पाट कठिनाई द्वारा नाव के हलके पने की ओर इशारा करते हुए उस (नाव) के, प्रभु के रज-रजित पाद-स्पर्श से सुदरी बन जाने का भय बिलसते हुए भक्त की चरण-अर्चना की उत्पन्न प्रतिभावा की प्रकट किया है, जो कि उनका अभीष्ट अर्थ है, पर आज भी इसके प्रति यही पाँधला चल रहा है—उसका नौका अर्थ न मान कर ‘मछली’ ही अर्थ माना जा रहा है, जो गलत है, रचना-रहित है और अर्थ के अभाव में शून्य है। अतः जो शब्द अर्थ को ऐसी गूढ़ता से गुप्त है जो उचित भाषा के विशेष जातकारी, वहाँ की संस्थाओं अथवा वहाँ जाकर जिज्ञासा करनी चाहिये, पर होंगे निर्गत हैं और उससे शब्दों के अर्थ की तुल्य सुलझने के बजाय उलझनी ही प्रसिद्ध है।

शिकार-साहित्य के रचयिता और विद्वान-भक्त रचयिता के उन्मत्त भावों में न-पै-राय शर्मा का ब्रजभाषा का एक शब्द ‘देमचरा’ जो ब्रज के श्रोत-प्रयोग में नहीं मिला (चर्चा) १९७७

हैं और जिसकी पत्रों में प्रायः चर्चा हो चुकी है, अभी अपने अर्थकी बात जोह रहा है। इनी प्रकार-
 लुक्का, गैत आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो अपने-अपने अर्थ की आकांक्षा अपने अंक में दिखाए हुए
 अज्ञात-कुलशील के रूप में पड़े हुए हैं। सूर-प्रयुक्त शब्दों का तो कहना ही क्या, क्योंकि उनके
 'सागर' का अभी तक कोई प्रामाणिक संस्करण नहीं है, जो भी है वे अपने से प्राणवाने की समकक्षता में
 अधिक भ्रष्ट के रूप में ही उल्लेखनीय हैं। ऐसी अवस्था में 'ब्रजावधी' के शब्दों, उनके कवि प्रयुक्त रूपों
 और अर्थों की एक विकट समस्या है, जिसे यदि चाहें तो काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' और राज का
 'अखिल भारतीय—'ब्रज-साहित्य-मंडल' सुलझा सकता है। आवश्यकता है, सहयोग की—उपेक्षा की नहीं।
 ब्रज-साहित्य-मंडल को अपने ग्रंथों और शब्द-कोशों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।



कवि-समय

श्री गुलाब राय

वैद्वत प्राचीन काल से कवि लोग अपनी बात को विशेष चुमनेवाली बनाने के अर्थ कुछ ऐसे विष्वासो, प्रसिद्धियो या प्रगस्तियो से काम लेते आए हैं कि जिनके पीछे एक पुरानी परंपरा लगी हुई हो और जिनके द्वारा कविता के मर्म जानने वाली पर गहरा प्रभाव डाला जा सके। इन विष्वासो और प्रसिद्धियो का आधार चाहे प्राकृतिक सत्य न हो, परंतु इनके सबब से सब सहृदय समाज एकमत रहता है और एक परंपरागत विना लिखा-पढ़ी का समझौता-सा बन जाता है कि कम से कम कविता में इन बातों का इसी प्रकार से वर्णन किया जाय। ये रेखागणित की पूर्व स्वीकृतियों (Postulates) की भांति मान-सी ली जाती हैं।

ऐसे विष्वासो को पारिभाषिक शब्दावली में 'कवि-समय' कहते हैं। समय—वायदे वा समझौते को कहते हैं। वानर-राज सुग्रीव जब राज और स्त्री-भाकर सीता जी की खोज-खबर लेना भूल गए थे तब श्री रामचंद्रजी ने रोष कर सुग्रीव से कहा था 'समये लिख सुग्रीव', अर्थात् अपने वाइदे पर रहो। समय, वह बात है जो सबके लिये सम, अर्थात् एक-सी हो। कवियों के आपस के समझौते को कवि-समय कहते हैं।

एक उदाहरण देकर यह बात अधिक स्पष्ट की जा सकती है। सासारिक मिलन का सुख कमल के पते के ऊपर की पानी की बूद की भांति क्षणिक और बहजाने वाला होता है। उसमें वियोग की वाधा लगी रहती है, किंतु परमात्मा के साथ आध्यात्मिक मिलन में यह बात नहीं होती। कवि यदि उस दैवी मिलन की चाह को प्रकट करना चाहे तो केवल इतना कह देने से न वक्ता को सतोष होगा और न श्रोता को ही पूरा-पूरा आनंद मिलेगा कि परमात्मा के साथ मिलन में वियोग का भय नहीं, किंतु वह चकवी और चकवे के सबब से इस विश्वास का सहारा ले कि रात में इस जोड़े का वियोग हो जाता है और यदि नर-पक्षी नदी के इस पार रहता है तो मादा दूसरी पार, यह कहे—

“बल बकई वा सर विषय जहँ नहि रैन-बिछोह।”

तो बात का कुछ गहरा प्रभाव पड़ेगा और हमारे सामने चिर मिलन की एक तस्वीर-सी खिंच जायगी। कवियों के ऐसे विश्वास प्रत्येक भाषा के साहित्य में वर्तमान हैं। वे कविता को कुछ और गौरव पूर्ण बना देते हैं। अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी परंपरागत इस विश्वास से परिचित हैं कि 'स्वान' (Swan), अर्थात् राजहंस मरते समय गीत गाया करता है। इसीलिए मरने से पहले किसी मनुष्य की सुभावनी बातों को 'स्वान गीत' (Swansong) कह देते हैं। इसी प्रकार अरब के रेगिस्तान की फिनिक्स (Phoenix) नाम की चिड़िया के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि मरते समय उसके शरीर से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और उसी चिता में उसका शरीर भस्म हो जाता है। फिर उनी भस्म से एक भड़ा निकलता है और उसके द्वारा चिड़िया पुन जन्म लेकर अपनी जीवन यात्रा एक नए निरे से चलाती है। यह कवि-प्रसिद्धि किसी सस्या के शिथिल होकर नष्ट होने और उसके पन्नात् फिर जन्म लेकर नये उत्साह के साथ काम करने की बात को बड़ी सुविधा के साथ व्यक्त कर देती है।

छूटे दिखावटी प्रामुखो को अंग्रेजी में 'क्रोकोडाइल टीअर्स' (Crocodile Tears) कहते हैं। इसके पीछे यह विश्वास है कि घड़ियाल वनावटी आँसु बहा कर अपने शिकार को आकर्षित कर लेना

हैं और उसका भक्षण करते हुए भी वह रोता ही रहता है। फारसी साहित्य में 'हुमा' नाम की एक चिड़िया का जिक्र आता है। वह हड्डी खाती है, किन्तु इसकी छाया जिस आदमी पर पड़ती है वह बावसाह हो जाता है।

संस्कृत और हिंदी के कवियों में कुछ ऐसी ही प्रसिद्धियाँ चिरकाल से चली आ रही हैं। राजशेखर जैसे 'काव्य-शास्त्र' के व्याख्याताओं ने इन कवि-समयों का विशद वर्णन किया है। उन्होंने पृथ्वी (भोग), पाताल और आकाश की वस्तुओं के सबब में अलग-अलग कवि-समय माने हैं। इन तीनों के भी तीन प्रकार के कवि-समय हैं—

१. अस्तु बात का कहना।

२. सत् बात का न कहना।

३. अनियत को नियत करना।

इनमें पृथ्वी से सबब रखने वाले कवि-समय मुख्य है। अस्तु, अस्तु बात को कहने के उदाहरण हैं—कमल का नदी में वर्णन करना, पर कमल झील या तालाब के बँचे हुए पानी में ही होता है, नदी के बहते पानी में नहीं। स्त्री की कमर को 'मुष्टि-प्राष्ट' अर्थात् मुट्ठी में आजाने वाली कहना और भषकार को 'सुखी-भेष'—सुई से छेदे जाने योग्य कहना। यह शायद उसकी प्रगाढ़ता के कारण ऐसा कहा जाता हो।

सत् के न कहने के उदाहरण हैं—चंदन के फूलों और अशोक के फलों का वर्णन न करना। वास्तव में चंदन में फूल और अशोक में भी फल होते हैं, किन्तु चंदन में फूल न मान कर कवियों को ब्रह्मा की अक्षर पर टीका-टिप्पणी करने का अवसर मिल जाता है। चंदन के सबब में यह सुना जाता है कि उसके तने पर सँप लिपटे रहते हैं^१ और उसकी खुसबू से नीम कटुक आदि वृक्ष भी चंदन हो जाते हैं। चंदन के सबब में एक विचित्र बात है कि उसके सूखने पर ही उसमें खुसबू निकलती है। इसी प्रकार यद्यपि शुक्ल पक्ष के उत्तरार्ध में भषकार होता है और कृष्ण पक्ष के उत्तरार्ध में उजाला होता है, तथापि कवि लोग न शुक्ल पक्ष में अंधेरे का वर्णन करते हैं और न कृष्ण पक्ष में उजले का। गोस्वामी तुलसीदास जी का इस ओर ध्यान गया था, देखिए—

“सम प्रकास तम पाख डुहूँ, नाम भेष बिधि कीन्ह।

सति पोसक सोसक समसि, अप जस अपजस वीन्ह॥”

—दोहावली, ३७२

अनियत को नियत कर देने के उदाहरण हैं—भगर का केवल 'गंगा' में और मोतियों का केवल 'ताम्रपर्णी' नदी में वर्णन करना। चंदन वृक्ष यद्यपि बहुत से स्थानों में होते हैं तथापि उनका वर्णन केवल 'भलपागिरि' पर ही किया जाता है। इसी प्रकार भोज-पत्र का वर्णन केवल हिमालय पर्वत पर किया जाता है और कोयल के बोलने का केवल वसंत में उल्लेख होता है। वरसात में कोयल का गीत धारण कर लेना कहा जाता है।

पशु-पक्षियों के सबब में भी कवि-श्रयुक्त प्रसिद्धियाँ हैं और वृक्ष तथा पौधों के विषय में भी। हंस कवियों का बड़ा प्यारा पक्षी है। वह सरस्वती जी का जो विद्या की देवी है, वाहन माना गया है। इसके बारे में कवियों का विश्वास है कि वह मोती चुगता है। तभी तो यह कहावत है—

‘कै हँसा मोती चुगै कै फाँके मर जाइ’।

यह ऐसे आदमियों के लिए कहा जाता है जो, या तो अपने आदर्श के अनुकूल धर्मी के धर्मी वस्तु से, या कुछ न लेंगे। हंस के सबब में दूसरी प्रसिद्धि यह है कि वह द्वेष और घोर पानी को अलग कर देता है, इसी लिये यह आलोचक का प्रतीक माना गया है। वह पानी में अलग

कर दूध को पी लेता है। तुलसीदास जी ने उसकी सज्जनों से उपमा दी है, जो दुनियाँ में बुराई छोड़ देते हैं और भलाई को ग्रहण कर लेते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं—

“जड़ चेतन गुंन-बोध-मय, बिस्व कोन्ह करतार।

संत हंस-गुंन गहहि पर, परिहरि बारि बिकार ॥”

हंस के लिये यह भी कहा जाता है कि इसकी जगह हिमालय—पर्वत पर ‘मानसरोवर’ है। वास्तव में उनका मोती चुगना और मानसरोवर में होना दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। मोती तो समुद्र में होता है और सीप के भीतर से निकलता है। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का यह विचार है कि मानसरोवर का जल मोती की तरह निर्मल होता है, इसीलिये हंस के मोती चुगने की बात चल पड़ी है। ऐसी ही बात उसके दूध पीने की है, नहीं तो मानसरोवर में उसके लिये गाय-मैंस कहाँ रखी है? इस सवध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने बहुत कुछ ज्ञान-बीन की है। उनका कहना है कि कमल की डडी से निकलने वाले तनुओं को वह बड़े चाव से खाता है। उनके चवान में दूध-सा रस निकलता है और उसी के आघार पर यह ‘कवि-प्रसिद्धि’ चल पड़ी है कि हंस दूध-दूध पी लेता है और पानी-पानी छोड़ देता है। हंस के सवध में यह भी प्रसिद्धि है कि वह वर्षा ऋतु में साधारण तालाबों को छोड़ कर मानसरोवर चला जाता है।

वर्षा में ‘खजनों’ का भी अभाव हो जाता है और कमल भी विलीन हो जाते हैं, तभी तो आचार्य केशवदास जी ने श्री रामचंद्र जी से कहलाया है कि जो वस्तुएँ श्री सीता जी की याद दिला सकती थी वे भी वर्षा में विलीन हो गईं, अब वे किसका सहारा लेकर जिये—

“कलहंस, कलानिधि, खजन, कंज, कछू दिन ‘केसव’ देखि जिए।

गति, प्रानन, सोचन, पाँइन, के अनुलपक से मन भौनि लिए ॥

यहि काल कराल ते सोचि सबै, हठि कै बरषा-मिस दूरि किए।

अब धौं बिन प्रान प्रिया रहि है, कहि कोन हितु प्रबलन हिए ॥”^१

—रामचंद्रिका, १३।२२

चकवी-चकवे की बात हम पहले बता चुके हैं। इस विश्वास को लेकर भी कविता में बड़ी सुंदर-सुंदर उक्तियाँ आई हैं। भरत जी के सवध में तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि कोई वहेलिया चकवी-चकवे की रात में एक पिंजरे में बंद कर दे तो भी वे एक दूसरे को नहीं देखेंगे। उसी प्रकार भरत जी ने भरद्वाज मुनि द्वारा उपस्थित की हुई राज-भोग की सामग्री की ओर नहीं देखा—

“संपति चकई, भरत चक, मुनि आयुस खिलवार।

तिहि निसि आलैन-मीजर, राखे करि भिनुसारा ॥”

—दोहावली २।६

चकवी-चकवे के अलग रहने के सवध में ‘स्टुअर्ट बैकर’ (Stuart Baker) तथा ‘व्हिस्लर’ (Whistler) के आघार पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि चकवी-चकवे का जोड़ा दिन में एक साथ रहता दिखाई पड़ता है और रात को अक्सर ये अलग-अलग देखे जाते हैं। सवध है कि इस विश्वास का यही आधार हो। इसके सवध में एक पौराणिक आख्यान भी है कि चकवी-चकवे ने सीता जी के वियोग में जाते हुए श्री रामचंद्र जी की हँसी उड़ाई थी, तभी तो उनको यह शाप दिया गया था कि वे रात को नहीं मिल सकेंगे। सूर्योदय होते ही चकवा चकवी से मिलन की आशा में प्रसन्न हो उठता है। सूर्योदय के वर्णन के साथ प्रायः कोकी के शोक के दूर होने का वर्णन भी आता है—

“बोत गई सिगरी रजनी, चहुँ ओर सो फँल गई नभ-साली।

कोक-वियोग मिट्यौ परिपूर, उदै भयो सूर महा छवि-साली ॥”

^१ पहली दो पंक्तियों में ‘कम’ प्रत्येकार की सुंदर छटा है।

कविवर विहारी लाल जी ने वर्षा-ऋतु के सवध में कहा है कि उस ऋतु में दिन और रात का भेद केवल चकवी-चकवा के संयोग-वियोग से ही जाना जाता है—

“पावस निति अँधियार में, रह्यौ भेद नहिँ लान ।

रात झोल जाँयों पर, सखि चकई-चकवाँन ॥”

पक्षियों में ‘चकोर’ के सवध में यह भी ‘कवि प्रसिद्धि’ है कि चकोर चंद्रमा की ओर देखता है और भाग को चुगता है। इस विश्वास को आधुनिक कवि प्रसाद जी ने भी ‘सौंदर्य की महिमा’ बतलाने के काम में लिया है—

“सौंदर्य छुपा बलिहारी, चुगता चकोर झंगारे ।”

सौंदर्य की उपासना में जो कठिनाइयों के अंधार से घुलने पड़ते हैं उसी के आधारभूत रूपक की बात को सत्य मान लेने से यह प्रसिद्धि चल पड़ी होगी। इस सवध में हिंदी के एक पुराने कवि ने ऊँची उछान ली है। वह कहता है कि चकोर इसलिये अंधार चुगता है कि उसका शरीर जल कर भस्म हो जाय और घायब भस्म के रूप में उसकी शिव जी अपने भाँपे से मस में और इस प्रकार उसकी पहुँच चंद्रमा तक हो जाय—

“चिनयो चुगत चकोर यों, भस्म होइ यह अंग ।

साहिँ शमावें शिव सहई, मिले पाँउ ससि-संग ॥”

अपनी कविता में तुलसीदास जी ने भी ‘चंद्र’ और ‘चकोर’ के परंपरागत प्रेम का खुब लाभ उठाया है। विनय में ये कहते हैं—“रामचंद्र चंद्र सु, चकोर मोहिँ कीजिये”। पुष्प-वाटिका के प्रसंग में उन्होंने सीता जी के मुख को चंद्रमा और रामचंद्र जी के नेत्रों को चकोर बना दिया है—

“असकहिँ फिर जितए तिहिँ ओरा । सिय मुख-सखि से नयन-चकोरा ।”

चंद्र और चकोर के प्रेम का आधार लेकर सूर ने व्यक्तित्व के महत्त्व पर बल दिया है, देखिए—

“हुइ सोचन जो बिरब किये, लुति गावत एक समान ।

भेद चकोर कियो ताहू में, बिषु पीतम रिपु जान ॥”

—अमरशीत-सार

सेनापति जी ने तो शिशिर-ऋतु के वर्णन में सूर्य को डतवा डोलव कर दिया है कि उसमें चंद्रमा का आभास होने लगता है और चकोरी उसकी ओर देखने लगती है। चंद्रोदय के भय से चकवा भी शक्ति हो उठता है और उसका चँय छूट जाता है। नीचे के छंद में सेनापति ने कई कवि-प्रसिद्धियों से काम लिया है, इसमें चंद्रोदय पर कुमोदिली के प्रसंग होने की और कमलिली के संकुचित हो जाने की बात का भी उल्लेख हुआ है, यथा—

“सितिर में सखि कौ सरूप पावै सखितहूँ, धौमहूँ में चाँदनी कौ दुति बेसकति है ।

‘सेनापति’ सीतलता होति है सहस्रगुनी, रजनी की झाँई दिनहुँ में झँकति है ॥

चाँहत चकोर सूर-ओर दृग जोर करि, चकवा की छाती तजि पीर भसकति है ।

चंद के भरोस होत मोह है कमोदनि कों, सखि संक पंखिली फूल ना सकति है ॥”

कोयल के सवध में भी एक कवि प्रसिद्धि यह है कि वह अपने अड़े स्वयं नहीं मेली है, वरन् वह कौबो के बोलों में रख पाती है। कौबो के बच्चों के साथ कोयल के बच्चे भी बड़े होने लगते हैं। वसंत ऋतु आने पर जब कोयल के बच्चे दूसरी बोली बोलते हैं तब या तो वे खुद ही जाति-भेद समझ कर भाग जाते हैं या कौबे मार-मार कर उनको भगा देते हैं। इसीलिये कोयल को ‘काक-याली’ भी कहते हैं।

१. तेरी मुख चंद, चकोरी मेरे नैनो ।’

—भगवत रागिक

इस कोयल विषयक कवि-समय का सूर की गोपियों ने कृष्ण के प्रति उपात्तम देने में बड़ा अच्छा उपयोग किया है। कृष्ण को भी तो वसुदेव जी नद-यथोदा के घर रख आए थे और बाद में वे भी कोयल-बच्चों की भाँति अपने कुल के लोगों के साथ जा मिले थे। देखिए गोपियाँ क्या कहती हैं—

“ज्यो कोइल-सुत काग जियावत, भाव-भगति-भोजनहिँ खवाइ ।

कुहुकुहाइँ आएँ वसत रिदु, अंत मिलैं कुल अपने जाइ ॥”

पपीहे के सवष में कवियों का यह विश्वास है कि वह बारहो मास ‘पिउ-पिउ’ पुकारा करता है, किंतु उसकी यह ध्यान है कि वह स्वाँति के नक्षत्र में जो वर्षा की दो-चार बूंदें मिल जाती हैं उसीसे अपनी प्यास बुझाता है। स्वाँति की बूंद के आगे वह गगाजल के पानी को भी तुच्छ समझता है। वह प्रेम की प्यास का प्रतीक और मछली की भाँति प्रेम की अनन्यता का द्योतक है। श्रोत्रामी तुलसीदास जीने भी “चातक-चोतीसी” लिखकर उसको भक्ति की अनन्यता का आदर्श बनाया है—

“रटत-रटत रसनाँ लटी, तृषा सुखिगे अग्र ।

‘तुलसी’ चातक-प्रेम की, नित नूतन खचि रंग ॥

चढत न चातक चित कबहुँ, प्रिय-मयोद के दोख ।

‘तुलसी’ प्रेम-मयोधि की, तातैं नाँव न जोख ॥

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।

चितव कि चातक मेघ-सजि, कबहुँ दूसरी ओर ॥”

—दोहावली, २८०, २८१, २८३

सूर की गोपियों ने भी ‘चातक-रट’ का सहारा लिया है—

“बरखा बरखत निसि-दिन ऊयो, पुहुमी पूरि अघात ।

स्वाँति-बूँव के काज पपीहा, छिन-छिन रहत रटात ॥”

स्वाँति-बूँव के विषय में यह भी प्रसिद्धि है कि जब स्वाँति नक्षत्र का वर्षा हुआ जल कैले पर पड़ता है तो उससे कपूर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वाँस से वसलोचन, सीप से मोती और सीप में मणि या विप (स्वाँति बूँद से) उत्पन्न होते हैं। सगति के प्रभाव के सवष में ‘रहीम’ ने स्वाँति-बूँद का उदाहरण दिया है—

“कबली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाँति एक, गुँन तौन ।

जैसी संगति वैठिए, वैसीई गुन बीन ॥”

चिड़ियों की भाँति पीदों के सवष में भी ‘कवि-समय’ है। पीली चपा से सुदरियों के वर्ण की उपमा दी जाती है। चपा के विषय में कवियों का यह विश्वास है कि उसके पास भीरा नहीं आता है। इस सवष में एक दोहा प्रचलित है—

“चंपा तो मैं तौन गुँन, रूप, रंग अरु दाख ।

औगुँन तो मैं एक हूँ, भँवर न आवत पास ॥”

महाकवि भूषण ने इसी प्रसिद्धि के आधार पर और राजाओं को दूसरे-दूसरे फूल बताया है, जिनसे श्रीरंगजेव रूप भीरा मधु-सूच्य करता है और शिवाजी महाराज को चपा बनाया, जिसके पास भीरा नहीं फटकता है। कवि ने एक अवगुण को गुण बना दिया है, देखिए—

“कूरम कँमल, कँमधुन है कर्बेम-फूल, गोरहे गुलाब, रानाँ केतकी विराज है ।

पाँडरि पैवार, जूही सोहते हैं चंद्रावत, सरस बुँदिला सो चमेसी साज-बाज है ॥

‘भूयन’ भँनत मुचकुव बड़भुजर है, बघले वसंत सब कुसुम समाज है ।

जेह रस एतेन की, बीठि न सकत अहे, असि नबरगजेव चंपा सिबराज है ॥”

—शिवा-दावनी, १६

इस छंद में राना (उदयपुर महाराणा) को केतकी कहा गया है, क्योंकि केतकी का फूल काँटेदार होता है। राना ने नावशाह को काफी कष्ट दिये थे।

साकेत की उमिला ने भी इस 'कवि-प्रसिद्धि' से लाभ उठाया है, देखिए—

“भ्रमर इधर मत भटकना, ये छूटे भ्रमर ।

लेना र्धक गंध भुम, रहो दूर ही दूर ॥”

भ्रमर, रूप के लोभी प्रेमी का प्रतीक माना जाता है।

बूझो के फूलने का सबध स्त्रियो से बताया जाता है। यह शायद नारी-सौंदर्य को महत्ता देने के लिये ही है। प्रियगु स्त्रियो के छूने से, बकुल (गोलभी) स्त्रियो के मुख से दिये हुए भवु के छोटो से, भक्षोक उनके पैरों के धाधात से और कर्णिकार उनके नाचने से फूलता है। इस सबध में नीचे का श्लोक प्रसिद्ध है—

“स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियगुर्विकसति बकुलः सीमु गंदवसेकात्,

पादाधस्ताद्वदोक्तिलककुरवकोवीक्षणात्तिगलाभ्याम् ।

संबारो नर्मवाक्यात्पटुमुधुहसनाच्चर्पको बकवातात्,

कूतो गीताभनेवविकसति हि पुरोर्नर्तनात् कर्णिकारः ॥”

—कविरहस्य, पृ० ८५

साकेत में अशोक के स्त्रियो के पदाधात द्वारा फूलने का उल्लेख उमिला के निरह-वर्णन में भी हुआ है—

आई हैं सवोक में बखोक, तेरे तले, माती है तुझे क्या हाथ । बुध उस बात की।

प्रियने कहा बर प्रिये, पहले ही फूला यह, भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाधात की ॥”

कर्णिकार को कोई कनेर कहते हैं, किंतु पक्षित हवारी प्रसाद द्विवेदी ने उसको भ्रमलताक्ष की जाति का एक वृक्ष माना है। इसके फूलों में खुशबू नहीं मानी जाती है। इसी विश्वास के आधार पर साकेत की उमिला कहती है कि गंध पुष्पी का सहज गुण है, जैसे—आकाश का शब्द, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि माता (पृथ्वी) के विपरीत गुण होने का दृष्टांत देने के लिये ही शायद कर्णिकार ने गंध के गुण को जो उसे माता की संपत्ति होने के कारण सहज प्राप्य था, त्याग दिया है। दूसरा कुछ इसारा मरत जी की ओर भी है। जैसे—

“सहज मातु-गुण गंध था, कर्णिकार का माग ।

विगुल रूप बुष्टात के, धर्म न हो यह त्याग ॥”

भारतीय साहित्य में 'कमल' और 'आम' को विशेष महत्ता दी गई है। आम. सभी धर्मों की कमल से उपमा दी जाती है। गोस्वामी जी ने श्रीरामचंद्र के नैव, मुख, हाथ और चरणों की कल्प से उपमा दी है, देखिए—

“नव कंज लोचन, कंज-मुख, कर-कंज पद-कजाधनम् ।”

इसीलिये गुप्त जी ने कहा है—

“एक मात्र उपमान तू, है अनेक उपमेय ।

रूप, रंग, गुण, गंध में, तू ही मुखम गेय ॥”

कमल सुषोदय के साथ विकसित होता है और सुषोदय के साथ मूंद जाता है। यदि और उसपर बैठो हो तो वह भी उसमें कंद हो जाता है। कमल का पत्ता जल में रहता है उससे भीगता नहीं है, इसीलिये 'कमलपत्रमिवर्णसि'—रूप बेवासी लोग ससार में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होते। आम के लिये कहा जाता है कि कोयल उसपर बैठती है। माधवी लता उसके ही सहारे बढ़ती है। साहित्य में आम के वृक्ष ही नहीं आम की लता भी मानी गई है और वास्तव में कहीं-कहीं होती भी है।

कुद की कलियों से कवि लोग दाँतो की उपमा दिभा करते हैं—“कुद-कली बाढ़िम बसन”। इसलिये वे उनको हमेशा सफेद ही मानते हैं, यद्यपि वास्तव में उसमें कुछ लालिमा भी होती है।

रगों के संबंध में भी कवियों का कुछ समझौता-सा बना हुआ है। ‘यश’ का वर्णन करते हुए वे उसे ‘चाँदनी’ की तरह ‘सफेद’ ही कहेंगे। पाप को ‘काला’ कहेंगे। अग्नेजी में भी ऐसी रुढ़ियाँ हैं। शैक्सपियर ने ईर्ष्या को ‘हरी श्राल’ वाला बतलाया है। पाप को उनके यहाँ भी काला ही माना गया है। हमारे यहाँ एक रग की बीजों की एक लवी फेहरिस्त गिनाई गई है। उदाहरणतः — शनियों के घर्म, रौद्र रस, कोकिल और कवूतर के नेत्र, तेज, भगल, तक्षक-जीभ, जुगनू, विजली आदि वस्तुओं का रग लाल माना गया है। इसी प्रकार श्री कृष्ण, चन्द्र-चिन्ह, व्यास, राम, अर्जुन, अग्ररु, पाप, मद और मोर का कठ नीला माना गया है। ये बातें बिल्कुल निराधार नहीं। कविता में श्याम, नील, कृष्ण एक-दूसरे के पर्याय मान लिये जाते हैं। केशवदास जी ने ‘नीले वर्ण’ की बीजों की सूची दी है। वह इस प्रकार है—

“बूब, बाँस, कुबलय, नलिन, अनिल, व्योम, तूँन, बाल ।

मरकत मनि, हय सूर के, नील वरन सैबाल ॥”

सूरदास जी ने तो भगवान् कृष्ण के मस्तक पर के लटकन में जड़े हुए रत्नों के रग के आधार पर शनि, शुक्र, बृहस्पति और मंगल आदि नक्षत्रों के रग का भी वर्णन कर दिया है। उसमें कमालकार की छटा भी आ जाती है —

“नील सेत पर पीत लाल मनि, लटकन माल सुनाई ।

सनि गुरु, असुर, देव-गुरु मिलि मनो, भोम-सहित सँभवाई ॥”

इस प्रकार पुरानी कविता में बँधी-बँधाई रुढ़ियों से अधिक काम लिया जाता था। इसमें यद्यपि कविता में नवीनता और निजी निरीक्षण के लिए कम गुंजाइश छोड़ी जाती थी, तथापि साथ में इस बात का भी आनन्द रहता था कि बहुत से लोग एक-सी शब्दावली का प्रयोग करते हैं और वह शब्दावली परंपरा से भँज कर साफ हो गई है।



विद्यापति-पद्यावली

श्रेष्ठ-श्री सूर्यनारायण का

(विरह)

भाष्य, कति परिवोधव राधा ।

हा हरि, हा हरि कहितहि बेरि-बेरि, सब जिऊ करब समाधा ॥
 धरनि धरिए बनि जतनहि, बइसाहि पुनहि उठए नहि पारा ।
 सहजहि विरहिन जग-मह तापनि, बौरि नदन-सर धारा ।
 भ्रवण नयन मोर^१ तितल^२ कलेवर, बिलुलित दीघल केसा ।
 मंदिर बाहिर करइत सशय, सहचरि गनतहि तेसा ॥
 आनि अनिल केओ रमनि सुताओल, केओ देई मुख पर नीरे ।
 निशाबद पैलि केओ साँस निहारए, केओ देई मंद समीरे ॥
 को कहब खेद भेद जनि भ्रंतर, धन-धन उत्तपत सास ।
 अनहि 'विद्यापति' से हो कलापति, जोब बंघल प्राप्त-पास ॥

ॐ

सखि हे, हजर दुखक नहि घोर ।

ई भरि भावर माहू भावब, सुनि मंदिर मोर ॥
 शंकधन^३ गर्जत संतत, सुवन भर बरसतिया ।
 कंत पाठन काम दावण सवन खर^४ सर हंतिया ॥
 कुलिस^५ कत शत पात भुबित मोर नाचत मातिया ।
 मस बाबुर डाक डाहक^६, फाटि जायत छातिया ॥
 तिमिर बुग भरि घोर जामिनि, अथिर^७ बिजुरिक पातिया ।
 'विद्यापति' कहु कोनाक गमायब, हरि बिना बिन-रातिया ॥

अभिसार

भाष्य, करिए सुमुखि समधाने ।

तुभ्र अभिसार^८ कएनि जत सुंदरि, कामिनि कइ के भाने ॥
 बरिस पयोधर धरनि धारि सरि, रयनि महा मय भीमा ।
 तइओ चललि धनि तुभ्र गुन मन गुनि, तसु साहस नहि सीमा ॥
 देखि भवन भित लिखल भुजग-पति, तसु मय परम तरासे ।
 से सुबहनि कर अपइत फनि-मनि, बिहूँसि आएलि तुभ्र पासे ॥
 निज परि-हरि आएलि कमल-मुखि, परि-हरि निज कुलबारी^९ ।
 तुभ्र अनुराग मधुर-नद मालित, किछुनई गुनलि धर नारी ॥
 ई रस रसिक बिनोदक बिदक, कथि 'विद्यापति' गावे ।
 काम प्रेम डुहु एक मत भए, कखने कोने करावे ॥

१. मोर, २. सींगना, ३. बादल, ४. तीक्ष्ण, ५. वध, ६. दुखद, ७. विर, ८. गमन, ९. पितृगृह ।

आधुनिक ब्रजभाषा के कुछ कवियों का परिचय

श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा

ब्रजभाषा का जो स्वरूप अपभ्रंश और वीरगाथा-काल के अंतराल में सगठित हुआ, तुलसी के पावन प्रयोग से जिसका पल्लवन और सवर्धन हुआ, सूर की मधुर वृत्तियों की शीतल छाया में जिसके प्रीत-माधुर्य को निखार मिला, केशव झादि ने जिसका चमत्कारपूर्ण प्रलक्षण किया, जिसके मनोरम शृंगार-विधान में योग देने के लिए अनेकानेक उद्भूत प्रतिभा-संपन्न वाणी के बरद पुत्रों ने अथक परिश्रम किया और संपूर्ण भारतेंदु-पुंग ने अपनी सरस चाँदनी से जिसे धवलित किया उसकी अस्तोन्मुख गति बीसवीं शताब्दि के आरम्भ से ही दिखाई पड़ने लगी थी। उत्तरोत्तर जिस क्रम से हिन्दी-कविता के राज्य में खड़ी बोली का प्राधान्य बढ़ता गया उसी क्रम से ब्रजभाषा की निगति उभड़ती आई। फिर भी कई शक्तिशाली प्रौढ कवि सर्जना के मैदान में सामने आए और प्राचीन कविता-पद्धति को पुनः उज्जीवित करने के लिए अनेक चमत्कारी प्रयोग सामने रखे। समाज ने भी कुछ दूर तक उनका अश्वत्थी तरह साथ दिया। इस प्रकार समाज-द्वारा अभिनवित और परिष्कृत होकर इस शताब्दि के तृतीय दशक तक ब्रजभाषा की कविता कहीं-सुनी गई। तबतक उसमें निर्माता और भावक की सगति साधारणतः समगति से चली आई थी। कवि-सम्मेलनों में, शिबिरालयों में और सबसे अधिक पत्र-पत्रिकाओं में ब्रजभाषा की कविताएँ निरंतर दिखाई पड़ा करती थी और समाज के अनुरजन में योग देती थी, पर चतुर्थ दशक में आकर वस्तुस्थिति में परिवर्तन होने लगा। लोगों की अभिरुचि धीरे-धीरे उस प्रकार की रचना-प्रणाली की ओर से हटने लगी। पठन-पाठन में तो उसका प्रयोग उसी तरह बना रहा पर समीक्षा और सत्सुति के क्षेत्र में उसकी चर्चा में कोई उत्साह नहीं दिखाई पड़ता था। लिखने वालों में भी 'रत्नाकर' ऐसा उद्भूत अथवा कोई कवि पनपा नहीं। दूसरी ओर खड़ी बोली में जो रहस्य-परक छायावाद की प्रवृत्ति बढ़ रही थी उसमें भी काव्य-सत्त्व का उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया और सरस अभिव्यजनाओं की प्रतिगम्यता बढ़ती गई। परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा की उक्ति-भंगिमा और मिठास की ही तरह आकर्षक चीजें खड़ी बोली में भी दिखाई पड़ने लगी। इसलिए कवित्त, सर्वथा और बोझाली रूप छंद-योजना और बँधी-बँधाई मधुर वृत्तियों के उद्घाटन की ऐकतिका कुछ पीछे छूटने लगी। इस तरह साहित्य-रचना के ऊपरी सतह पर खड़ी बोली का प्राधान्य ज्यों-ज्यों होता गया उसी क्रम से ब्रजभाषा में कविता बनाने वालों की सामान्य स्थिति दुर्बल और अग्रस्त होकर विस्मृति के अंतराल में पड़ती गई।

गत दशक में तो आते-आते ब्रजभाषा की वातचीत ही बढ़ हो गई। शिवा की भीमा के भीतर अवश्य उसकी अग्रगण्यता चल रही है, पर निर्माण और प्रालोचना के क्षेत्र में उसके प्रेमी प्रतिश्रिया-वादी और सामंती-सर्जना के प्रतिनिधि समझे जाने लगे हैं। ब्रजभाषा की शुद्ध—'स्वानुभाष' कविता-लिखनेवाले ही अब रह गए हैं। उनको न तो कोई पूछता है, न सुनता है और न बहो उनको कोई चर्चा ही चलती है। यथार्थ में यही दिखाई पड़ता है कि ब्रजभाषा के माध्यम में निर्माण करनेवाले साहित्य-समाज से प्रायः बहिष्कृत न हो गए हैं। न उनका कोई संगठन करने वाला है और न प्रगमा। इन स्थिति का परिणाम यह दिखाई पड़ता है कि ज़ारी मतलब पर न तो ब्रजभाषा-माध्यम विनिर्दिष्ट हो गया है, पर अतः नसिला पन्थिनी की भाँति यहाँ भी उन्माद मग्न अन्धत्व बना है। यहाँ भी

न जाने कितने ब्रजभाषा लिखनेवाले ऐसे हैं जो निरंतर रचनाएँ तैयार करने में सतत रहते हैं और एक से एक अनूठी कृतियाँ सजा कर अपनी मज्जापानों को सोमा बनाए चले रहे हैं।

इन पक्षियों को लेखकों को ऐसे उपेक्षित साहित्य-साधकों के प्रति बड़ा भयत्व रहता है। समय-समय पर प्रसंग प्राप्त होने से जब उसका सर्पक इन लोगों से स्थापित होता है तो सहृदयता पुकार उठती है और कहती है कि इनका ऐसा निरादर क्यों? खड़ी बोली की अमिट रचनाओं का प्रसार-प्राधान्य और परिष्कार अवश्य हो, पर इसका तात्पर्य यह नहीं होना चाहिए कि जो पुराने हो और पुरानी पद्धति का अनुगमन करने में ही अग्र्यस्त और कुशल हो उन्हें उपेक्षा के गर्त में डाल दिया जाय। इसे साहित्य की सच्ची आराधना नहीं कहा जा सकता। सच्ची बात तो यह है कि यदि किसी का अस्तित्व है तो उदारता पूर्वक उसको स्वीकृत करना चाहिए और उसका यथा योग्य ऐतिहासिक महत्त्व निरूपित होना चाहिए। इसीमें सजीव साहित्य का वैशिष्ट्य है, इसीमें साहित्य-प्रेमियों की रसवत्ता की पूरी परीक्षा हो सकती है और इसीमें पूर्वापार की सुसंबद्धता भी सुरक्षित रह सकती है।

मे इससे समुदाार का प्रश्न मानता हूँ, इसलिये हिंदी साहित्य के मर्मजो से निवेदन करना चाहता हूँ और उनकी भावुकता और संग्राहक बुद्धि को जगाना चाहता हूँ। चतुर्दिक न जाने किने ऐसे अनेक कवि और निमाता आज भी जीवित हैं, यथवा अमी-अमी भाँवो से ओझल हुए हैं जिनका बाणी में बल है, सौंदर्य है, काव्य का सत् स्वरूप निहित है और समय की गति-विधि के अनुरूप सजी-वता भी है। उनका सयह होना चाहिए, उनकी विवेकताओं का परिचय प्राप्त करना चाहिए और उनका लेखा-जोखा सुरक्षित रखना चाहिए। इस अभिप्राय से कुछ ऐसे ही ब्रजभाषा के लिखने वालों का यहाँ विवरण उपस्थित किया जा रहा है और आशा की जाती है कि साहित्य के सच्चे पारसी अपने-अपने समीप के कुशल निमाताओं के इतिवृत्तों और उनकी रचनाओं के कुछ नमूनों को संकलित करके प्रकाशित करेंगे। इसका एक साहित्यिक अभिप्राय और ऐतिहासिक उपादेयता है। इस प्रयास के परिणाम स्वरूप यह समझा जा सकेगा कि खड़ी बोली के वैभव पूर्ण साम्राज्य में आज भी ब्रजभाषा-काव्य की लज्जैर्भूत काया हिल-डोल रही है—अपनी प्राचीन गरिमा को बहुत करती हुई और अपनी गत संपूर्ण विभक्तियों की ध्वंसावशिष्ट झलक को बिखेरती हुई।

पं० अयोध्यानाथ (अवधेश)

काशी के अंतर्गत डूँवर गयी (नई बस्ती) में प्रसिद्ध ज्योतिषी और विद्वान्, पं० व्यामाचरण त्रिपाठी रहते थे। काशी के समाज में, विद्वानों में और राज-रियासतों में उनका बड़ा ममान था। उनके एक भात्र पुत्र महामहोपाध्याय पं० अयोध्यानाथ जी 'अधवेश' थे। 'अधवेश' जी का जन्म सन् १८६५ में प्रायशः की-पूषिमा की हुआ था। पिता के कठोर नियंत्रण में ही इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई, इसलिए बहुत छोटी अवस्था ही में वे पूर्ण पंडित हो गए थे और पिता-द्वारा म्यापिन की गई पाठशाला में अध्यापन कार्य भी वही उत्तमता से करने लगे थे। स्वभाव से वे बड़े सरल, दयानुशील सचरित्र व्यक्ति थे। सन् १९१० से १९२५ तक इनके जीवन का उत्तरां काल था। इनके श्मशानाश्रम का आदर में भारत सरकार ने उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि सन् १९२१ में दी थी। उनका भविष्य कथन सत्य होता था और इस विषय में इनकी बड़ी ख्याति थी। बीकानेर नरेश महाराज महाराजगिरी उनके अग्रज भक्तियों में से थे। 'सुक्त प्राण की भविष्य-द्रष्टा' के नाम से उनकी प्रसिद्धि थी। कुछ लोग तो उन्हें इष्टवली और सिद्ध मुष्ट मानते थे। काशी के तत्कालीन श्रेष्ठ नामगिर भागेंद्र हरिश्चंद्र, रत्नाकर आदि उनके शिष्य मिलते और आदर करने वालों में थे। भारत में ही उन्हें भार-वना की ललक दिखाई पड़ती थी और इनका अधिक समय हरि-वितन में बीतता था। बीकानेर में वे अग्रज उपासक थे और दिन-रात जप किया करने में। नहा जला है भाग एवं मय किं न का उनका लक्ष्य रहता था। उनके दोनो हाथों में मुनिली माला और मुमिनी दिन नर पिदमा

दिखाई पड़ती। पूर्वापर उनके घर की यही प्रथा थी। निरन्तर प्रयोग में आने के कारण उनकी सुमिरिनी माला घिस गई थी और उर्दू-शायर के शब्दों को चरितार्थ करती थी—

“नाम ऐसा उस बुले काफिर ने जाहिद का जपा।

शाये तसबीह सारा ‘रामदाना’ हो गया ॥”

इस प्रकार आराधन-परक दिनचर्या और शुद्ध सत्व से अनुप्राणित होकर ‘अवधेश’ जी का हृदय भावमय हो गया था। आशु कवियोंकी भाँति काव्य-वाणी उनके भीतर से फूट पड़ा करती थी। संस्कृत के प्रार्थना-श्लोकों के अतिरिक्त हिंदी में कवित्त, सबैया, पद आदि इन्होंने बहुत रचे हैं। उनकी प्रायः सभी रचनाएँ भक्ति-प्रधान हैं। उनका एक सामान्य नियम सा हो गया था कि नित्य भक्ति-विषयक कविता लिखकर ही रात्रि में शयन करते थे। उनके काव्य-निर्माण के विषय या तो ‘जानकी-वल्लभ’ होते थे अथवा ‘भगवती दुर्गा’ के विभिन्न स्वरूप। सरलता से इस विषय का अनुमान लगाया जा सकता है कि जो नियमित रूप में लिखता रहा हो उसने कितना लिखा होगा, परंतु खेद का विषय है कि अग्नी इतने समीप की बात होने पर भी उनकी लिखी समस्त कृतियों का सकलन ईद-खोज का विषय मालूम पड़ता है। अग्नी तो ‘अवधेश’ जी के पुण्य स्वरूप उनका वध फला-फूला वर्तमान है और इन भक्तियों के लेखक के प्रति उसका बड़ा प्रेम है, पर फिर भी इस भक्त कवि के कृति-भांडार का वर्धन नहीं हो सका। शुद्ध स्वात सुखाय के लिए जो कृति निर्मित होती हैं, उसमें—“तपो-दानायमानं च मतिमान् न प्रकाशयेत्” के अनुसार प्रचार की आकांक्षा तो रहती नहीं, अतएव उसकी सुरक्षा की उपेक्षा हो जाती है। ‘अवधेश’ जी जितने समयित रूप में काव्य-रचना करते थे, उतनी विता उसकी व्यवस्था की नहीं करते थे। सैकड़ों पद-कवित्त आदि उनके लिखे हैं, पर प्रकाशित केवल एक छोटी-सी पुस्तिका है—“श्री दुर्गामख-महोत्सवोपहार” (१९१८)। इसमें दुर्गाराधन के केवल पंद्रह कवित्त और अंत में एक श्लोक है। पूछ-ताछ करने पर विदित हुआ कि उनके एक शिष्य प० रामाज्ञा त्रिपाठी (आवमगढ) के पास ‘अवधेश’ जी की अधिकांश रचनाओं का संग्रह सुरक्षित है।

उदाहरण रूप में उनकी कुछ कविताओं को सामने रखा जाता है। इतने ही से दो बातों का ज्ञान हो सकता है—अनुभूति की प्रधानता और भाषा का अधिकार। सामान्यतः ‘अवधेश’ जी भक्त जन थे। इसलिए इनकी रचनाओं में एकनिष्ठ भावुकता का उद्रेक और विनतिपूर्ण आत्म-निवेदन अधिक मिलता है। भाषा का चलता और व्यवहारिक रूप ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः उनमें लाक्षणिक प्रयोगों का अभाव, चमत्कार प्रियता के प्रति अनास्था और उक्ति-महिमा की आकांक्षा कम मिलती है। कवि का सारा ध्यान विषय-निवेदन की ओर ही लगा मालूम पड़ता है। थोड़े में कहा जा सकता है कि ‘अवधेश’ जी में भाव-पक्ष की विगुदता और कला-पक्ष की न्यूनता है। यह स्थिति भक्त कवि के लिए उपयुक्त ही है। कवि का निधन-काल ४ जून स० १९२५ है।

कवित्त

“संयम-नियम जप-ताप की न सक्ति रही, प्रेम में भूल्यो सब समय सहएँ देत।
हाइ न पसीने तऊ निरख्य भए धो कैसे, बेद तो अलैद तुन्हें सदैव जनाएँ देत ॥
आपही भगानी बात राखें श्री मनावें हठि, डिज ‘अवधेश’ रीम तुमहीं दिखाएँ देत।
कठिन कुठार को कराल कलि-काल यामें, अब न निर्भयो भक्ति राखरी चिताएँ देत ॥”



“सावन सुहावन को पावन बनावन को, सौय मन-भावन सु पयलें सतिर्यान में।
ममित प्रमोद भरे झूलत हिंडोरे प्रनु, नवल प्रमोद बन दिव्य परिग्यान में ॥
कोन ‘अवधेश’ को बिसेसता बखानें कवि, कसक मिटावें कोन ऐनी लगियान में।
जाको बीछि कोरेन में जगत तमाम झूलें, सोई रीम झूलन लिया की करियान में ॥”

५६४

“कब मेरे आँखन कुहर से कहेगे भव, दुरगा सुभ नाम बसु-जोम जित जाऊँगे।
कब सब वासना बिहाइ विषय-भूधर पै, भाई विषयवासिनी की ध्यान उर लाऊँगे ॥
कब ‘अवधेस’ द्विज दीन तेरे दासैन में, हो हूँ बैठि तेरी लघु बालक कलाऊँगे।
कब तेरी चरैन सरोज मकरंद बिंदु, मंद-मंद पीवत भ्रमंद सुख पाऊँगे ॥”

ॐ

“कछु दिन ईक ही तें लंक लचकान लागी होन लागी छवि त्यो नितव गस्ता की है।
मनि ‘अवधेस’ त्यो पीतम सदेस सुनि, होत रचि कंदकित कैनक - लता-सी है ॥
राग, तान, गान, मान, भान लागे नामिनी कौं, ईतर सरैन लागीं मास मुक्ता की है।
ओरें गति, ओरें मति, ओरें रंग, ओरें डंग, ओरें सब बात भई नई बलिता की है ॥”

पद

दीन-जैन कैसे विनय करे।

धिर न जासु मन बचल योही, सोचत दुर्गेन भरे ॥
ओर विचार होत उर अंतर, ओरें करनि करे।
उसदोई परिनाम निहारत, सबसो प्रेम टरे ॥
बिना राबरी नैक बया वे, चाहें कछु करे।
ब्रह्मादिक हू सुख नहि पावत, यह बूझ जोड घरे ॥
निज कृत पाप-पहार बिलोकत, मेरी चित डरे।
चरन भक्ति ‘अवधेस’-हि दीजै, जो सब बिपति हरे ॥

डा० वैजनाथ सिंह (किंकर)

ठाकुर श्री वैजनाथसिंहजी ‘किंकर’ का जन्म काशी के औरंगाबाद स्थान में सन् १८२५
अगस्त सुदी चौदस को हुआ था। आप नगर के प्रतिष्ठित भूमिहार ब्राह्मण ठा० श्री हरनारायणसिंहजी
के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपकी प्रारंभिक शिक्षा हिंदी और उर्दू की हुई थी और अनेक वर्षों तक आप
काशी के प्रसिद्ध रईस राजा मोतीचंद के यहाँ प्रधान कार्यकर्ता के रूप में काम करते थे। जब से
महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन आरंभ किया तभी से आपकी रत्न राजनीति की ओर हुई।
फिर तो आपने छ बार कारावास तक का सामना किया और राजनीतिक गति-विधि के साथ निरंतर
चलते रहे। काशी की राजनीतिक मंडली में ब्याधिय के कारण आदर पूर्वक लोग उन्हें दादा नाम
से अभिहित करते हैं। कांग्रेस वालों में आप अपरिवर्तनवादी रहे और चरखा-खहर की बात को
पक्की तबीयत से मानने वाले हैं। स्वभाव से बड़े मिलनसार और मस्त प्रकृति के व्यक्ति हैं। सावे
ढंग की रहन-सहन आप को अत्यधिक पसंद है। स्वर्गीय बाबू शिवप्रसादजी गुप्त के अग्रिम दिनों
में ‘किंकर’ जी उन्हीं के साथ ‘सेवा उपवन’ में रहते थे।

श्री किंकरजी अल्पवय से ही ब्रजभाषा की कविताओं के पढ़ने तथा कवियों के सत्संग
के प्रेमी रहे हैं। आपकी स्मृति बड़ी अच्छी थी, इससे प्राचीन कवियों की कविताओं को आपने बूढ़
कठस्थ किया है। इतना सुंदर समग्र शायद ही किसी के पास हो। आपकी रची हुई कृतियों में भक्ति,
शृंगार, राजनीति, अयोध्या तथा पुराने श्रेष्ठ कवियों के पद्यों पर पद्यात्मक टीकाएँ हैं। विहाय सतसई
के एक-एक दोहे पर दो-दो और रसलील के कुछ दोहों पर लिखी आपकी बहुत अच्छी कुडलियाँ हैं।
गंगा की स्तुति, राधा रानी का इज्जाल और सुदामा-चरित्र आदि अनेक विषयों पर आपने लिखा है।
इनके अतिरिक्त विगत स्वतंत्रता युद्ध के वर्षों में ही आपने प्रायः तीन हजार से अधिक छंद लिखे
हैं। सत्संग के विचार से इतना बहुत कम लोगों ने लिखा होगा। आपकी कविताओं में प्रसाद गुण

पूर्ण प्रवाह अधिक मिलता है और इतिवृत्त-कथन की प्रधानता रहती है। आपकी चुनी हुई कुछ रचनाएँ यहाँ उपस्थित की जाती हैं—

“मुल-छवि निरखि चकोर अरु तैन-यानिप लखि मीन ।
पद-मंजु देखत भँवर, होत नयन रस लीन ॥”
होत नयन रस लीन, दीन भई सुखमा सारी ।
भाभरि भारति बैठि रही, समता न बिचारी ॥
लखि चकोर मन मीन, भौर भगि जात देखि रख ।
करै कितेक छल छंद, चंद तउ लहै न छवि-मुख ॥”

❧

“भोरै-पखौवन की रखि कें किरिट भास, गुंजन बटोर मुहि मालहि सँबारे हौ ।
कामरी पुरानी सो चिरांगी नंद रायजू की, तागि-तागि ताकों निज दिवस गुजारे हौ ।
धूरनि धुरेते पहिरे ते सब साथ लिये, ब्रज-बीथिकाँनि में कुकीरति पसारे हौ ।
सुनो हो कंधाई (अब) लाज हूँ पराई पेलि, राधा सो सगाई हैत होस हिय बारे हौ ॥”

❧

“कोन भाँति आए नाँय गज के मुहार हैत, कोन भाँति द्रौपदी के चीर में सँमाने हौ ।
कोन भाँति राजा अंबरीष काज महाराज, छाँड़ि कें सुवरसन ऋषिराज पै रिसाने हौ ॥
कोन भाँति भिच्छूक सुवामी को कुबेर कियो, कोन भाँति बामन हूँ बलि सों बिकाने हौ ।
‘किंकर’ पुकारत है भारत अति आरत सो, तारत न काहे कहाँ काहे सो भुलाने हौ ॥”

❧

“जग ना बुरघो है जोन संख को जखर परी, प्रस्थो नहि ग्राह नहि चक्र को चलाओगे ।
गहई गवाहू को परि है जखरत नाहि, ठाँव-ठाँव व्यर्थ कहां हाथहि थकाओगे ॥
पषा की कहा है पषासना सर्वा ही संग, जहाँ रुचि होइ तहाँ घुरतहि पाओगे ।
‘किंकर’ पुकारत है भारत अति आरत सो, खाली करि हाथ कबे इसको कढाओगे ॥”

❧

“भौलिक सहानुभूति कबहूँ न आबै काम, लाग बबि जाइ जब हँदी प्रतिहँदी सो ।
‘किंकर’ छड़दी मन धातु फरफंदी चाल, ताल को बजाइ ठाठ होइ निज हँदी सो ॥
बेस की सबकाई जबि भाई है तिहारे चित्त, करिले कमाई निज हियरा पसबी सो ।
चाहें अबे दार, चाहें तन सो कपार जाइ, भीति में चुनाइ जाई चाहें खु बदी सो ॥”

वलरामप्रसाद मिश्र (द्विजेश)

उत्तर प्रदेश के वस्ती नगर के एक किनारे पर पुरानी वस्ती नाम का एक मुहल्ला है। उसमें राजा साहब वस्ती की हवेली या प्रासाद है। राज-प्रासाद के निकट ही मिसरीसिया ग्राम है। उसमें सरयूपारीण पंक्ति मिश्रों का प्राचीन वंश निवास करता है। इसी वंश में १० हरिदयालजी मिश्र के पुत्र श्री “वलरामप्रसादजी मिश्र” उपनाम ‘द्विजेश’ का जन्म सन् १८७२ में हुआ। उन वंश के लोगो का राजा साहब वस्ती के यहाँ बड़ा मंगल रहा है और ‘द्विजेश’ जी के पिता बन्नी-राजगृह में मैनेजर भी रहे। ‘द्विजेश’ जी की आरम्भिक शिक्षा फारसी की हुई है। माय में उन्होंने संस्कृति और कुछ अंगरेजी भी पढ़ी है। आरम्भ से ही उनमें सत्य निष्ठा और अभिमान के प्रनिभत्व दिखाई पड़ने लगा था। सो तो भाग बटे मिलननगर और प्रेमी जीव है, पर देर की भावना

आपमें प्रबल है। इनके टेक-पालन के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। टेक में पढ़कर ही घर की सारी जमींदारी खो बैठे थे और अनवरत परेशानियाँ उठाकर इधर भाकर पुन उठे प्राप्त किया। एक मित्र के व्यंग से सुबुध होकर उन्होंने अधिक वय में गाना और सितार बजाना सीखा और अब तो अध्यवसाय पूर्वक इस विद्या में आपने सफलता भी प्राप्त कर ली है। उनके जीवन में लाग ने बहुत कुछ किया है। यही लाग उनके जीवन की कुजी है।

यो तो 'द्विजेश' जी आरम से ही वज्रभाषा-काव्य के रसिक प्रेमी थे और स्वयं भी रचना-कार्य में प्रवृत्त थे, पर जब से आप तीस वर्ष की अवस्था में उस प्रात के प्रसिद्ध कवि 'यशराज' की सगति में आए तब से साहित्यिकता उनमें बढ़ी। उन्हीं से 'द्विजेश' जी ने 'काव्य-निर्णय' और 'भाषा-भूषण' का अध्ययन किया और कवि-कर्म का पूरा ज्ञान आप में तभी से हुआ। आपके रचना-नौशल का एक समं रहा है। आपकी छन्द-योजना मन में ही गड़ी जाती रही है। सारी काट-छाँट भीतर ही संपूर्ण होती रही। उसपर भीना की पक्कीकारी भी भीतर ही समाप्त करके रसना उसे वहिर्गत होने देती है। यही कारण है कि आपकी अनेकानेक रचनाएँ आज तक लिखित रूपमें एकत्र नहीं हो सकी। प्रायः आपके प्रेमी मित्र समय-समय पर जो चीजें लिख लेते रहे हैं, वही ठीक से सुरक्षित हैं। उनके प्रमुख मिलने वालों में श्रीरंगाबाद काशी के पं० 'काशीपति' जी प्रभाठी हैं। उनके पास 'द्विजेश' जी की कृतियों का अच्छा संग्रह है। इस संग्रह की आधार पर ही अब कुछ छपाने की फिक्र हो रही है। काव्य-निर्माण के अतिरिक्त असन-बसन दोनों की ओर आपकी सुदूर अभिरुचि दिखाई पड़ती है। जीवन की उत्तमोत्तम सामग्री प्रस्तुत करने में आप विशेष कुशल है और आपके हाथ की कड़ी टोपियाँ देख कर लोग तर्जबारी सीखते हैं। लखनवी नवाबों की दरबारी ठसक आपमें अधिक उमरी नजर आती है—“पल्ला टोपी की बहार, चुस्त लवी भचकन और पायजामा की बक्षि तथा तिरकोनी रुमाली की लटक भाव भी वृद्धावस्था में खुब रग लाती है।”

'द्विजेश' जी के प्रवासकों में स्वर्गीय 'रत्नाकर' जी प्रमुख थे। इन पक्तियों के लेखक के सामने ही कई बार 'रत्नाकर' जी ने उनकी कविताओं में प्राप्त वर्ण-मैत्री और असकरण-पद्धति की स्तुति की थी। बात वस्तुतः सत्य भी है। 'द्विजेश' जी की मार्मिकता भाव-पक्ष में उतनी स्फुट नहीं है, जितनी—उत्तम-वैजय और चमत्कार-प्रदर्शन में। रीति कालीन कविता-शैली का प्रभाव आपकी रचनाओं में अधिक दिखाई पड़ता है। पद-साहित्य और कारीगरी की अन्य बातों की ओर ही आपका अधिक ध्यान जाता है। कहीं-कहीं तो उनकी कृति इसलिये क्लिष्ट-सी-हो-गई है कि अनेक प्रकार की चमत्कार-मिथ्या एक ही में उलसी मिलती है। काव्य-समर्थ विद्वानों में आप की बड़ी स्तुति होती रही है। आपके पदों में भी श्रोज की अच्छी झलक रही है। आपने उर्दू की भी बहुत धारपी की है। इतना सब होने पर भी समय की बलवता प्रवाल है। ऐसा प्रौढ और सरस कवि अपना ८० वर्ष का बूढ़ा वय लिए एक कोने में पड़ा है। आज तक किसी समाजोपक और प्रवासक ने उसकी ओर भाँख उठाकर देखा नहीं। इतिहास में नाम तो उन्हीं का होता है जिनके ग्रंथ सामने हो और कुछ लोगों की 'बाह-बाह' साथ लगी हो। इस मीढ़-माढ़ के युग में, उपेक्षा के अतराल में बड़ी पड़ी कृतियों अथवा कृतिकारों की ओर जाने की फुर्त किस है?

'द्विजेश' जी की रचनाओं में मुख्यतः अंकित, शृंगार और नीति विषयक कविताएँ प्रचिक हैं। नर-स्तुति भी आपने बहुत की है और अच्छी की है। कुछ छंद तो ऐसे भी आपने रचे हैं जिनमें प्रौढ चमत्कार की झलक है। बानगी रूप में निम्नलिखित कविताएँ देखिए—

वसंत का वर्णन

“बोरे पे नए रितु के मुँह नुमन बोरे, बोरे अब बोरे हूँ बियोगी बनिताँ के।
जदलैल ज्यो भोगार, करनैल कवनार, सुमन कनैर-कला कौन कपतान के।
मुँह के मुँह ए 'द्विजेश' लाले मुँह के, पुलिस पलात लाव लोने यो मलान के।
बोधि अब जात प्राँल कीने को चलान मानो हुकुम इतान है वसंत सुनतान के ॥”

“भारी या सुराज पाइबेते फग पैहौ कहा, यामैं हूँ जखर कछु रावरे बिचारो की ।
 बाहान अघ छत्री, सुत्र, सत्री हूँ एकत्री सबै, कीन्हो सहभोज देखि पत्री लेखचारो की ॥
 देखौ या सुराज के प्रतच्छ फल ये ई चार, जातैं हिब राज में भकाज हूँ हजारो की ।
 नित को निजा है, किते जीवो की कजा है, कास्तकारों की मजा है और सजा है जमीबारो की ॥”

मध्या नायिका

“भूमि तैन तो के भूमि भागी है भए ‘द्विजेस’, लाज श्री मनोज क्रम अंग में समाने के ।
 सो बिधि अमीन तखमीन कीन ऐसी कछु, राख्यो हूँ कर्मों न बेस काहूँ समाने के ॥
 ऊँचो भाग उर तें उरोजन तें नीचो भाग-बीचो हूँ उरोज पौन इमि उपमाने के ।
 भाँनो हूँ जमीपति के अगरे निवारिबे को गाडि बीन्हे पृथक पखानि हूँ सिवाने के ॥”

वचन-विदग्धा

“पथ की थकी हो मनमथ के अरथ की ना मथ की महुँकि भरी है ‘द्विजेस’ लखि लै ।
 छलकी परति याते हलकी करैना चाहो छल की कहुँना बलकि चाहौ तू बखि लै ॥
 जँहो भव, ऐहो पुनि, सोह तेरे तेरी सोह, करैना रिसोह भोह मेरी या परखि लै ।
 मानत नहौं तो जमानत में काँहूँ जानि, मेरी आँग-आँगी तू अमानत में रखि लै ॥”

कृष्ण-जन्म

“अलख निरंजन, मुनीन मन-रंजन, भंजन-विपत्ति के ‘द्विजेस’ है न मीमें संस ।
 आइ ब्रज-बीच यो प्रतच्छ परखाई सबै, बरखाइ अगिब, कहाइ काँहूँ-जहुँबस ॥
 काई कस गोब ‘जसुदा’ की यो निकाई करी; निज लरिकाई में तकाई अस पूरी अस ।
 परकाई पूतन, कुछोर कठ सरकाई, भज बंत बरकाई, करकाई छाती कंस ॥”

श्री

“पावन पतित पुरसोत्तम सो पारब्रह्म, परैम ‘द्विजेस’ प्रजा पीर हरवर हौ ।
 कृष्णचंद, कंसव कृपाल, कचना के सिधु, गुब गुबिब गिरिधर गरीब परवर हौ ॥
 घामिन के घीस, ईस अमित अरामिन के, कामिन के तुमही कल्प तयवर हौ ।
 करव कुकालन के, पूंज प्रतिपालन के, मुकुतो-मरालन के मान सरवर हौ ॥”

गंगा की स्तुति

“आचमन कीन्हें आचमन की समन होत, साँच मन होत तो तें जाँच मन कीन्हें ते ।
 कीन्हें ते सकल्प होत प्राग्निन कौ काया कल्प जीवै अल्प जीवी कोटि कल्प बास लीन्हें ते ॥
 तेरे दरसन जम-बरस न होत फेर, परस न पावै पाप परसन कीन्हें ते ।
 अरपेन कीन्हें बरपेन सो दिखात धिन्न, नरपेन जात तो में तरपेन कीन्हें ते ॥”

राजा साहिब भगोली की अग्नि से मृत्यु होने पर—

“तानें साहम्याने में जरी के नमगीर तानें, तानें खोख जाँदनी बिचित्र छत्र तानें हूँ ।
 तैर सम सिर तानें समखेर कर तानें, तिय सो नजर तानें सब सो मतानें हूँ ॥
 एतौ सब तानें अंत आनि धरि तानें जबै, तब तो ‘द्विजेस’ भाँनो कछु ये न तानें हूँ ।
 बीप सो बुतानें, सो बखिन पाँय तानें तानें, तानें एक चादर तें सोबत उतानें हूँ ॥”

पं० काशीपति त्रिपाठी “प्रेमीहरि”

सरयूपारीण कुलावतण ‘विचारल’ पंडित प्रवर श्री नारायणपति जी त्रिपाठी गान्धी की पंडित महती में बड़े समानित व्यक्ति थे । उनके कुल में पांडित्य की अति प्राचीन परंपरा चली आ रही थी । उने अपने सात्विक जीवनचर्या और पंडिताई ने उन्होंने अधुना बना गन्य ग । उनके

घराने के लोग चारों ओर के गुरु थे। इस प्रकार उनके कुल की प्राचीनता का अंदाज लगाया जा सकता है। दूसरी ओर भारत विख्यात महामहोपाध्याय पं० शिवकुमारजी शास्त्री ने वे बताया थे। उन्होने के श्रेष्ठ पुत्र पं० 'काशीपति' जी लिखा है। उनका जन्म सन् १८६३ में हुआ तथा बाल-जीवन सब प्रकार की संपन्नता और दिव्य-संस्कारों के बीच आरम्भ हुआ था। घर की परंपरा के अनुसार इनकी संस्कृत एवं हिंदी की पढ़ाई तो हुई ही साथ में युग-धर्म के अनुस्यू अंगरेजी की भी शिक्षा पूरी दी गई। स्थानीय 'क्वींस कालेज' में अध्ययन कर उन्होंने वी० ए० की परीक्षा पास की। काशी विश्वविद्यालय की स्थापना के उपरान्त जिपाठीजी उसमें अध्यापन-कार्य करते रहे और प्राप्ते चलकर उसके 'पीठ-स्थविर' (रजिस्ट्रार) बनाए गए। साथ में घर की जमींदारी और प्रबंध-कार्य भी करते रहे।

आप में आरंभ से ही साहित्य का अनुराग दिखाई पड़ा। निरंतर अध्ययन-अध्यापन के कार्यों से सबल रहने के कारण आपकी अभिरुचि परिष्कृत होती गई। काशी के घुरघर विद्वान् डा० 'मंगवान दास' की आप पर विशेष कृपा रही है, क्योंकि वर्षों में भी आपका अच्छा प्रवेश है। इसके अतिरिक्त अपने समय के काशी के श्रेष्ठ साहित्यिकों के समागम का आपको सुयोग प्राप्त था। समय के प्रसार में आप बाबू 'देवकीनंदन' खत्री, पं० 'किशोरीलाल' गोस्वामी, श्रीवाला 'मंगवानदीन', बाबू 'जगन्नाथ दास' 'रत्नाकर' पं० 'रामचन्द्रलाल' और बाबू 'अय्यकर प्रसाद' के संपर्क में अधिक आ चुके हैं। इसलिए कान्धानुराग को इनमें पनपने का खूब अवसर मिला। आप स्वयं तो कविता लिखते ही हैं, साथ ही रीति-कालीन कविता के अनुशीलन की प्रवृत्ति भी आप में अच्छी है। इसलिए कविकर्म की विशेषताओं में आप परिचित हैं। आपको लिखे हिंदी-अंगरेजी के संवादों तो बहुत हैं, पर कुछ भाषा में कविता-संवैया लिखने की ओर आप की विशेष रुचि है। आपकी लिखी 'स्नेह' नामक पुस्तक में विवेचना और काव्य दोनों का अच्छा समन्वय हुआ है। आपकी लिखी अग्रिकाश कविताएँ या तो भक्ति भूलक हैं, अथवा रीति-काल की परंपराओं को लिए हुए। भाषा में कहीं प्रसाद भावपूर्ण हैं और कहीं अोज, सामान्यतः आपकी गति-इतिवृत्त की ओर रहती है। भक्ति-परक कविताओं में वैयर्थ्य निवेदन और ममत्व कथन का अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। विषय-कथन में अलंकरण की भी उन्नत प्रवृत्ति है। घर के बातावरण का प्रभाव आप पर काफी पड़ा है। आरंभ से ही जो सात्त्विकोह हुआ और पूजा-पाठ, देवी-देवता, गुरुजन-सद्वचन चली उसने भक्ति-भावना अगाई और स्वस्थ सुशील शरीर, पुण्य वादिकादि का प्रेम, जीवन के सामान्य सुख-सुपास की सत्पुष्टि ने स्वभाव में एकांत प्रेम तथा संकोच उत्पन्न कर दिया। इसलिए कहा जा सकता है कि आपमें काव्य-प्रेम संस्कार-गत है और इसीलिए काव्य-रचना का शास्त्रीय पक्ष अथवा बहिरंग उतना निवार नहीं पा सका जितना भाव-गुण। आपकी कुछ रचनाएँ सामने रखी जाती हैं—

वाणी-सद्वचन

“अंध है जगह भौनकर बिस्वनाथ बौन, लीन करि जग मन मोहन कराने हैं।
‘प्रेमीहृति’ सुखि सुख प्राप्ति ग्यान-मोहि रूप, करि सचेत हृत् बौन घुनि गावें हैं ॥
बिस्व-सिरसीर नर, नरभोर मनि ग्यान, चेतन जु एक तोर मोर जो जतावें हैं।
कम भन हंस मोर करत कतोर तोर, पद-कंज मोर लं सुधीर सहाराने हैं ॥

विशेष-वरी-स्तुति

वास दुख दारिद दबे सों देखि ‘प्रेमीहृति’, नेह मेह दारिद की रूप दरसावें हैं।
घरिघु प्रबल बडाई लखि पाई कस, घेरि-घेरि घन घोर घुमइति आवें हैं ॥
करक करेजी करै दृढ़ सो बिपच्छिन की, मूक हिय धूरिय सपच्छिन में तावें हैं।
सरसति आवें कचना की भरी बूंदन लें, बिध-गिरि ‘काली’ पदा बरसति आवें हैं ॥”

नद-नदिनी—महिला

‘प्रेम के बिबिनि हेरो कोऊ भ्रमिरीम नैन, कोलो ब्रज-धाम हेत प्रीत सो हमारी को ।
तरनि-तनुजा-सीर सवन तमाल कुंज, झूलत झमाल जित नित ही बिहारी को ॥
होड़ करै रूप में जो ग्वाल बाल ‘प्रेमीहरि’, गजब भुवारिन मुकुट मनि नारी को ।
चेरे किरौ चट्टवाँ एकै कत के हम सब, चेरी अघ चेरे बुबभनि की डुलारी को ॥

ब्रजेश-स्मरण

भसी बुरी तजि के बिचार हम दँड परें, चित-वित आपुनो वै बाँकुरे बिहारी पै ।
एकते है एक रूपवत जाकी नाहीं अंत, काछनी जू काछें बारो कंत बनवारी पै ॥
काहू चहौ तोतें नहि जानों बखी ‘प्रेमीहरि’, जैन हित जात चित सुरति मुम्हारी पै ।
भोकी काम तोसो हो निकाम तोहैं तेरी, अहौ ब्रवि हौं न स्याम कबो दीनता हँमारी पै ॥

नायक-वर्णन

गोर गोर गत सुठि सुबर सलोन ग्वाल, अंग-अंग राचे है अलग रचिराई के ।
पीन बचड़, केहरि कटि, पटुतर पोड़ पीठि, छड़ छड़कीले रगरसेन कलाई के ॥
खम सम जंघ, खँमदार पेंडली है खची, ठमकि मतग मतवारी बीरताई के ।
बोल भीठि, सीलबत, दीरघ दुगंत देखै, रसिक बुभाषि कंत पैयें तनवाई के ॥

आधुनिक उद्यान

सुख समीर नीर-बिंदु लै फुहारन सो, हारन सो कुसुम कियारिन हिलावै है ।
लगत पलाकस भला कस सुरति मेरी कर वर बिना तोहि को नेटसर बिलावै है ॥
रग बेली छाड़ ब्रज नोनियाँ लै ‘प्रेमीहरि’, आइ-पोमियाँ को बेगम बेलि तै मिलावै है ।
आनंद करन फरन केर जोटन सो, रजित करोटन कौ खेल सौं खिलावै है ॥

कटोल

अधिक सुलै है, बौल पीन हूँ है घँनवारे, रोल कटोल पै डुकांनि अन्न सून है ।
ग्रीष्म बसन जु ध्वज और सिसिर आए, बाधक सहिष्णुता कौ सून अर ऊन है ॥
संपति धनी कौ करै चित को बिकार आबै, दीनता तै याव ईस बित कोनो खून है ।
नूनता है आहू और डून-डून निस-बिन, खानि कौं कौनू परिधान को कौनू है ॥”

अतः मैं निवेदन है साहित्य के प्रेमियों से और विशेष कर ब्रजभाषानुरागियों से कि अपने पास-पड़ोस के प्रातो में निवास करनेवाले कवियों का संक्षिप्त परिचय और रचनाएँ एकत्र करे और उक्त पद्धति से लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दें, अथवा मेरे पास ही भेज देने की कृपा करें ।^१

^१ इस विस्मृति और अनादर की बहिया में डूबने-उतरानेवाले ब्रजभाषा के ऐसे अनेक नये-पुराने उत्तमोत्तम कवि हैं, जिनकी सुमधुर सुश्रुति साहित्य-अगत और सहृदय ब्रजभाषा-प्रेमियों में आज भी समावृत है, पर उनके रचनेवाले अज्ञात-कुलशील हैं । उदाहरण के लिए निम्न छंद ही लीजिये—

“अगोम बसत कौ बिचारि कैं बिबेस-तजि, आयी मन-भाबँन सदन सरसनी सो ।
अनंद अनंत भयी नैनन-बिलोकति ही, अनिन अदैन धनुराय रंग-रंजी सो ॥
नीतिय वियोग कलि बिरह कौ जनि ताहि, काबची मन मोहन सनेह-सुख-धैवी सो ।
जौसौ प्यारी पीतम बिहार करै उर भर, तौ लो उर-हार तू बिहार करै बेनी सो ॥”

यह ‘आगतपतिका’ नायिका का प्रशंसनीय छंद है । इसकी तुलना किसी उच्च कोटि के कवि की उपयुक्त रचना से की जा सकती है । इसर खोज-खबर से जाना गया है कि उक्त रम्य-रचना ‘करीली’ (राजपूताना) के राजा ‘सुजानसिंह’ उपनाम—‘फकीरसिंह जी की है । सुजानसिंह जी ने लग-

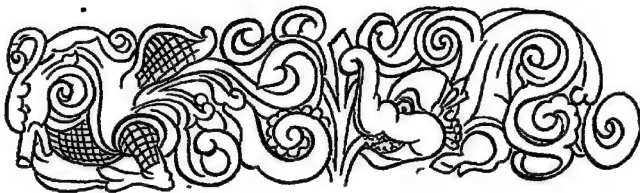
भग सं० १७८१-१८१२ वि० में 'सुजानविलास' नाम से रजभाषा में एक सुंदर रीति-ग्रंथ लिखा था। यह ग्रंथ अभी देखने में आया है और उससे ज्ञात हुआ है कि उपरोक्त सुप्रसिद्ध छंद आपकी ही अनोखी रचना है। आपका एक और छंद जैसे—

“कचन कौ रो किशों जरिया बिधि, नीलम कौ कानिका भरघो पावका ।
कै रवि कौ सुत जीव की गोद में, मोद भरघो दरसै रस-नायका ॥
अनिन चव, चकोर से नैन, लगी पुसरौन की काति सुहावका ।
गूजरौ ऊजरी के छोडी कौ बिट्ट, गुलाब कौ फूल मलिन कौ सावका ॥”

इसी प्रकार भोजपुराधीश महाराज प्रबल सिंह जी का भी उल्लेख किया जा सकता है। आपका रजभाषा का ग्रंथ—‘वारहमासा’ बहुत ही सुंदर है। उदाहरण रूप एक छंद इसका भी देखिये—

“माघ नहीं है निदाघ प्रचंड ये, श्रव नहीं तैम भौन बहै रो ।
राति नहीं दिने बाहुघी अपार, सो सीरे सँभोरन लूवें बहै रो ॥
फूले-री बारिज है सर में, भ्रम-भूलि कँमोदिन ताहि कहै रो ।
जाडौ नहीं ये आतप है ‘प्रबलेस’ बिना, दुख कैसेँ सहै रो ॥

—इत्यादि



ब्रजभाषा के आधुनिक कवि

श्री रामनारायण अग्रवाल

इस समय था, जब ब्रजभाषा लगभग सपूर्ण भारतवर्ष की सर्वसमत काव्य-भाषा थी, परन्तु हिंदी-गद्य के विकास के साथ ही साहित्य पर से ब्रजभाषा का एकलत्र राज्य समाप्त हो गया। इसके अनेक कारण थे, परन्तु प्रमुख कारण जिसे प्रायः सभी हिंदी इतिहासकारों ने मान्य किया है, वह था कि मधुरिमा की मजल मूर्ति 'ब्रजनागरी' आज के सधर्षशील युग की विभिन्निका के द्वंद्व और थपेड़ों को सहन करने के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हो सकी थी और इसीलिए उसने अपने स्थान पर खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के पद पर स्वेच्छा से ही अभिषिक्त कर दिया, किन्तु यह होने पर भी आज तक ब्रजभाषा के अनुरागी देश में एक छोर से दूसरे छोर तक अभी-भी यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं और निरंतर 'ब्रजभारती' का भटार भर रहे हैं। हमें दुःख है कि अपने साधनों के अभाव में हम ऐसे अनेक विगत और वर्तमान कवि-कविदों का उल्लेख इस स्थान पर नहीं कर सके होंगे, जिनका उल्लेख इस लेख की भी वृद्धि के लिए आवश्यक था, अतः हम अपनी अल्पज्ञता से विवश होने के कारण उनके प्रति विनम्रतापूर्वक क्षमा प्रार्थी हैं।

हम यहाँ रीतिकाल के उपरान्त हुए वर्तमान युग के ब्रजभाषा-काव्यकारों का संक्षिप्त परिचय उपस्थित कर रहे हैं, जिन्होंने ब्रज-साहित्य की सलमता से सेवा की है। मोटे रूप से इन कवियों के काव्य को हम तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं, (१) पूर्व भारतेन्दु काल—जिसमें भारतेन्दु जी से पूर्व के उन कवियों का उल्लेख हमने किया है जो प्रायः रीति-कालीन परंपरा से ही अधिक प्रभावित रहे हैं। जिन कवियों का विवरण यहाँ हमने दिया है उनमें ऐसे अनेक ब्रजवासी व अन्य प्रसिद्ध कविगण हैं जिनका उल्लेख हिंदी के इतिहास में नहीं हुआ है। (२) भारतेन्दु युग है, जिसमें ब्रजभाषा-काव्य को नई प्रेरणा मिली। (३) तीसरा युग—वर्तमान काल है जिसमें उन कवियों के विवरण हैं जो आज भी सलमतापूर्वक ब्रजभाषा-काव्य साधना में सलग्न हैं। भारतेन्दु मंडल का युग समाप्त होते ही हमें पं० श्रीधर पाठक के दर्शन होते हैं, जो प्रकृति के प्रति एक नया दृष्टिकोण और कुछ नई प्रेरणा लेकर साहित्य में अवतीर्ण हुए थे। वह खड़ी बोली के साथ-साथ ब्रजभाषा के भी कुशल कवि थे। अतः हमने उन्हीं से वर्तमान काल का आरंभ किया है। हमें आशा है कि ब्रजभाषा साहित्य की यह काव्य-मुद्या-निर्धारिणी आगे भी इसी प्रकार अपनी मधुरिमा-वर्षिणी काव्य-धारा को प्रवाहित रखेगी और भावुक रसिकगण इससे आगे भी रुचि से झकटे रहेंगे।

हम रीतिकाल के अंतिम स्तम्भ और महाकवि 'बालजी' से इस परिचय विवरण को आरंभ करने रीतिकाल के उपरान्त हुए अन्य ब्रजभाषा-कवियों का काल-क्रमानुसार संक्षिप्त विवरण उपस्थित करने का यहाँ प्रयत्न करते हैं।

१. इस लेख की सामग्री एकत्रित करने में लेखक को, मधुरा के वयोवृद्ध साहित्यसेवी श्री पुष्पोत्तमदास सैय्य, पं० जवाहरलाल मजुबंदी, कविधर रामलताजी और श्री गोविंद जी तथा दरबार कालिज के हिंदी विभाग के अध्यक्ष श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल से पर्याप्त सहयोग मिला है, जिसके लिए लेखक उक्त सज्जनों का आभारी है।

—लेखक

पूर्व भारतेषु काल

कविवर ग्वाल (रचना काल लगभग १८७६ से १९२५ तक)

ऐतिहासिक परंपरा के अंतिम स्तम्भ कविवर 'ग्वाल' जी ने अपना परिचय स्वयं निम्न प्रकार दिया है—

“दासी वृंदाविपन के, श्री मयूरा सुखवास ।
श्री जगदंब बई हूँ, कविता बिमल बिकास ॥
विविध विप्र बंदी बिसद, बरने व्यास पुराँन ।
ता कुल सेवारीम की, सुत कवि ग्वाल कुजान ॥”

✓ आपके काव्य-गुरु राधारमण जी के गोस्वामी श्री 'दयानिधि' जी थे। ग्वाल जी ने अपने जीवन में अनेक यात्राएँ की थी और महाराज 'रणजीतसिंह', 'लहनासिंह' तथा 'शेरसिंह' के दरबारों में भी आप रहे थे। ग्वाल जी उन महा कवियों में से थे—जिन्होंने 'पद्माकर' की शैली पर मुदर रचना करके ब्रजभाषा का अस्तक उन्नत किया है। आपकी वाग्बिदुता और भाषा की सुस्ती दर्शनीय है। ग्वाल जी के बहुत से छंद बानारू भी हैं, परन्तु वे निस्संदेह एक उच्चकोटि के कवि थे। उनकी मुख्य ग्रंथों में—“रसकानद, रसरंग, कृष्णजू की नखसिख, दूषण-दर्पण, अलंकार-भ्रम-भजन, गोपी-मञ्जीरी, राधा-भाष्य मिलन, राधा-अष्टक, कवि-दृढय-विनोद, रसिकोत्साह, भक्त-आवन, हम्मीरूठ” आदि सुने जाते हैं, जिनमें से अभी तक कई ग्रंथ अप्राप्य हैं।

ग्वाल जी के ब्रज में अनेक शिष्य थे, जिनके कारण ब्रज में काव्य-रसिकों का एक सुदृढ़ गड स्थापित था, जो उनके बाद भी निरंतर बना रहा। दुख है कि प्रथिक समय न होने पर भी उनके शिष्यवर्ग में से अनेकों के नाम और रचनाओं का विवरण अब उपलब्ध नहीं है। ग्वाल जी के एक गुरुमाई श्री 'नवीन' जी थे, जिनसे ग्वाल जी की प्रतिष्ठितता रूढ़ी थी। ग्वाल जी के दो पुत्र हुए जिनके नाम थे—‘खेमचंद और खूबचंद’। यह दोनों ही अच्छे कवि थे।

ग्वाल जी मयूरा की बृनाकंकड गली में निवास करते थे जहाँ उनकी हुबेसी आज भी बनी हुई है। आपने अपने घर के पास ही एक 'ग्वालेन्दर' महादेव की स्थापना भी की थी। इसी ग्वाल पर ग्वाल जी का स्मारक बनाने के लिए 'ब्रज-साहित्य-मंडल' प्रयत्न कर रहा है। आपका एक छंद नीति-विषयक यहाँ उद्धृत करते हैं—

“जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ, ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना ।
जाकी बजजाती बजजाती यहाँ चारन में, ताकी बजजाती बजजाती छ्वाँ उराहना ॥
‘ग्वाल कवि’ से ही परसिद्ध सिद्ध जो है जग, वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ बहाँ सराहना ।
जाकी यहाँ चाह नाह, ताकी बहाँ चाह नाह, जाकी यहाँ चाहना है, ताकी बहाँ चाहना ॥”

कवि उरदाम (उडदाम) जी चौबे

उरदाम जी का जन्म और मृत्यु सवत् यद्यपि हमें ठीक रूप में ज्ञात नहीं हो सका, परन्तु यह निश्चित है कि 'उरदाम' जी ग्वाल जी के समकालीन थे और दोनों में बड़ी प्रतिस्पर्धा रही थी। यद्यपि उरदाम जी की कविता किसी प्रकार भी 'ग्वाल' जी ने निरूप्य कोटि की नहीं है, परन्तु उन्होंने उतनी प्रचुर भाषा में नहीं लिखा, जितना ग्वाल जी ने लिखा है। इसके अतिरिक्त उरदाम जी मयूरा या करौली में ही स्थित रहे, जबकि ग्वाल जी ने राजदरबारों में प्रायः-प्रायः करने के साथ देशाटन भी खूब किया था। यही कारण है कि आज ग्वाल जी की सर्वत्र म्वाति है, जबकि उरदाम जी का हिंदी के इतिहास में नामोल्लेख भी नहीं मिलता, फिर भी उनकी महना जब तक ब्रजभाषा-प्रेमी हैं, सदा अनुष्ण रहेगी।

कहते हैं कि एक बार ग्वाल जी और उरदाम जी दोनों ने ही भगवान के चरणों में मृदुलों का वर्णन किया। दोनों का वर्णन लिखा। ग्वाल जी ने चाँदी के और उरदाम जी ने सोने के मृदुलों का वर्णन किया। दोनों

ही कवियों के छंद टकसाली थे, किसी एक के छंद को श्रेष्ठ कहना कठिन था। अतः मे दोनों कवियों ने स्वयं ही निश्चय किया कि भगवान के मंदिर में चलकर देखा जाय और जिसके वर्णन के अनुसार भगवान ने नूपुर धारण कर रखे होंगे उसी का छंद श्रेष्ठ समझा जाय। फिर क्या था, दोनों कवि तत्काल ही मंदिर में जा पहुँचे। जैसे ही कपाट खुले तो देखा गया कि भगवान ने स्वर्ण के नूपुर धारण कर रखे हैं।

इसी प्रकार की अनेक रोचक किंवदंतियाँ इन दोनों कवि महोदयों के सबब में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उरदाम जी को 'मैरो' का इष्ट था और आप प्रातःकाल ४ बजे उठकर 'चतुष्पथ' पर शौच जाया करते थे। इसपर विगडकर कालिकाप्रसाद नामक किसी चुगी के कर्मचारी ने कवि जी का चालान कर दिया, जिससे इन्हें बहुत कष्ट हुआ। अतः आपने एक छंद काली को समर्पण करते हुए लिखा, जिसका अंतिम चरण था—

“कालिका प्रसाद कौ कलैवा कर कालिका ।”

कहते हैं कि इस छंद को लिखे जाने के दूसरे दिन ही कालिकाप्रसाद का स्वर्गवास हो गया।

इसी प्रकार मथुरा के वयोवृद्ध साहित्य-मर्मज्ञ श्री पुष्पोत्तमदास 'संया' ने हमें बतलाया कि उरदाम जी मथुरा की चूड़ीवाली गली में रहने वाली एक 'रंगरेजिन' पर अनुरक्त थे, जिसका विवाह करौली में हुआ था। उरदाम जी का यह नित्य-नियम था कि प्रतिदिन एकवार जाकर उस रंगरेजिन को अवश्य देखना। वह प्रतिदिन उसके द्वार पर जाकर उसे आवाज देते और जब वह उनके सामने आ खड़ी होती तो वह उसे देखकर लौट आते, पहिले तो कुछ दिन रंगरेजिन के घरवालों ने उरदाम जी को रोकने की बड़ी चेष्टा की, परन्तु उनके हठ के कारण उन्हें अंत में झुकना ही पड़ा। इस प्रकार जब वह रंगरेजिन मथुरा रहती तो उरदाम जी भी मथुरा रहते, किंतु जब वह रंगरेजिन अपनी ससुराल करौली जाती तो कवि जी भी करौली ही रहा करते थे। उरदाम जी का उर अपनी प्रेमिका के कटिदार-नयनों से कैसा विदीर्ण था यह निम्न छंदों से प्रगट होता है—

“नैन नवला के नैक निरखें निहाल होत, हेरें रहि जात भृग-भौन लट गए हैं।
कहाँ 'उरदाम' काम बानन की नोकन पै, कहाँ यह रंग कवि कोटि रट गए हैं॥
भौह रूप सरस-सरोवर में सुख सौने, कँसल बल्लेन-डर-डार डट गए हैं।
आँन अबलान के भुमान घट गए मानों सैन चढ़ि केतिक सुजान कट गए हैं॥”

❀

“जोबन-मुलक सहि मर्देन महीप जू नैं, भौन-छाप बँके राखे भट जुग जोरदार।
उरज-बुरज दै मवासी छल रासो मनो, पीय-भन बंचल वनों के नौके मोरदार॥
'उरदाम' सिसुता सहर चढ़ि लूटि लीन्हों, सरैम, धरैन, रह्यो एकहूँ न छोरदार।
ये न काँज लंजन चकोर भौर गंजन सो, करत कजाकी कजरारे तैन कोरदार॥”

'भालती बसत'-श्रीपथ विशेष के निर्माण की 'रासायनिक क्रिया' को इन कवि ने अपनी नायिका में कितनी सुदरता से घटाया है, यह देखिये—

“लगत अतैन तैन, काँचन जरब पीरी, मर्देन-मरद खूबो खपरी रलाई हैं।
भखिन-भिलेन-मोद मुकता-मनोरथैन, चाँह की मिरच चटपटी चित्त लाई हैं॥
सौतिल के मन मनो निबुआ निचोरि दीनै, 'उरदाम' याही सो सरस सुहाई हैं।
बिरह बिषम जुर जानिकें हमारे जान, यह बाल 'भालती बसत' बनि आई हैं॥”

आपकी अधिकांश कविताएँ अतीत के अतस्तल में घिली हो गई हैं। केवल नवनीत जी के सुपुत्र कविरत्न 'गोविंद' जी चुबुंदी के यहाँ आपका कुछ संग्रह अभी वर्तमान है। अच्छा हो कि उने संतर्पण होने से पूर्व प्रकाशित करा दिया जाय।

नवीन कवि (बृंदावन)

कवि नवीन सन्वत् १९०० के लगभग वर्तमान थे और ग्वाल जी के गुरु भाई थे। इनके परिवार-वश आदि के विवरण के सबब में कोई प्रामाणिक बात अभी नहीं कही जा सकती। यह नामा नरेश महाराज देवेंद्रसिंह जी के यहाँ थे और वहाँ आपने एक प्रकार का राजकीय समान प्राप्त किया था। मिथवधुप्रो ने इनके 'सरस-रस' 'सुधासर', ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनका एक ग्रंथ 'रग-रत्न' मिथवधुप्रो के निजी संग्रह में भी था। ग्रंज में इनके बहुत से स्फुट छंद प्राचीन लोगों को याद है। मिथवधुप्रो ने इन्हें पद्माकर की कोटि का कवि माना है। सन्वत् १९०५ की शीव में 'नेह-निदान' नामक एक ग्रंथ नवीन कवि का और मिला है, जिसे मिथवधु इन्हीं नवीन जी का समझते हैं, किंतु हमारे विचार से ये नवीन इनसे भिन्न और पूर्ववर्ती हैं। नवीन जी का एक छंद यहाँ चट्ट है—

वह मनमानी सो बखानी हूँ रसिक जान, यह पटरानी जग जानी जस नौकी है।
 चाके अनुकूल माके कूल पे किलोले करे, वह स्थाया नाम यह स्थाय-रंग पीकी है॥
 दोऊ ए अनूप ब्रज-भूप के धकेन धुकीं, दोऊन के भाप में सुहाग हो की टोकी है।
 आसरी हमें तो निसि-बासर 'नवीन' सदा, भानु-नंदिनी के वृषभानु-नदनी को है॥

हरदेव

हरदेव जी भी ग्वाल जी के गुरुभाई और जाति के वैश्य थे। इनकी कविता बड़ी सरल होती थी। पिंगल-शास्त्र के भाप पंडित थे। आपने एक वृहद् रीति-ग्रंथ लिखा है, जिसकी एक प्रति मथुरा में "श्री मंया जी" के पास है। हरदेव जी बृंदावन के निवासी थे और अपने गुरु गोस्वामी दयानिधि जी के बहुत निकट रहने के कारण उनके विशेष कृपापात्र थे। इसलिए ग्वाल जी से इनकी कुछ कम् बनती थी। आपकी 'मुद्रिता नायिका' का एक वर्णन देखिये—

"गगन-नृणावन को नर नारि, चले हैं अरीस-परीस के लोख।
 दासी भी दास जिते 'हरदेव' जूँ रोकिऐ साहि रुक नहिं कोख॥
 सास कही सुनरी डुलही, घर रू रहि और रहै ननदोख।
 यों मुनिके उमग्याँ भँनुराग, समान न कुंचकी में कुज दोख॥"

लाला साधूराम

लाला 'साधूराम' भी अग्रवाल वैश्य और कविवर ग्वाल जी के शिष्य थे, जो मथुरा के चौक बाजार में कपड़े की दुकान करते थे। आप बड़े ही सरल स्वभाव के काव्य-प्रेमी जीव थे। इनका जन्म सन्वत् १८५३ में हुई। सुना जाता है कि इन्होंने बहुत प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना की थी, परंतु वह अब अभाप्य है। बड़ी कठिनता से हम केवल उनके कुछ ही छंदों का संग्रह कर पाये हैं, जो उनके परिवार के ही एक वयोवृद्ध सन्तान को स्मरण थे। गोपीचंद के योगी होनेकी कथा को लेकर आपने १०८ विविध छंदों में एक सुंदर 'प्रबंध-काव्य' भी लिखा है। यद्यपि यह अधिक पढ़े लिखे न थे, परंतु पिंगल-शास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इनकी भाषा में फारसी का पुट पर्याप्त है, एक उदाहरण—

"जानदं री, जमुना के कूल फूल-बोनव को, रोके मत गैल, सैल बागें कूँ जान दै।
 जानव री, झूलनाँ झुलाँव कूँ आज नैक, गढ़ी है हिंडोरा बट ताके लट जान दै॥
 जानदं री, अरसा बुढास दिन डै-दक में 'साधू' यों कहत री घटान घटि जान दै।
 जानदं री, सौमेरे सैलोने नंद-नंदन पै, भुँवरी चुवाल याकी रंग बहि जान दै॥

किशोर

कवि 'किशोर' ग्वाल जी के शिष्य और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। यह लाला साधूरामजी के समकालीन थे और उन्हीं की दुकान के पास चौक बाजार मथुरा में ही आपका दुकान था, जिसका वर्णन आपने

भरतपुर की एक पढत में भाग लेने के लिए जाने पर, अपना परिचय पूछे जाने पर अनायास ही 'आधु' कविता के रूप में निम्न प्रकार दिया था—

“बास थी मथुरा, निवास तट जमुनां कौ, बिकट चौरायों बधन भावत चहुँ ओर की ।

सेख, सैयद, मुगल, पठान तहाँ बाँक देत, ताके तल बैठे बानी कहत मरोर की ॥

नीम की है पेड़, नैक आगें चल पूँछ लीजै, सुनार की दुकान लंग-उत्तर के ओर की ।

बोली मत ताब सो, बदाव बयो करे हैरे, लदाव को नीचें दुकान है किसोर की ॥”

दुख है आपकी कोई पुस्तक अभी तक नहीं मिली, परंतु इनके स्फुट छंद वैसे बहुत से महानुभावों को याद हैं । आपकी रचना ‘किसोर नाम’ के अनेक कवियों के छंदों में इतनी घुल-मिल गयी है कि उनका अलग छांटना कठिन है । समस्त निम्न छंद इन्हीं किसोर का हैं—

“भुकुटी-कमान तान फिरत अनोखी भट्ट, बरने ‘किसोर’ कोए कज्जल-भरे हैं री ।

तेरी मुख-छवि लखि कान्हार डिंगत जासो, भववा निगोड़ी और रोष पकरे हैं री ॥

कीरति कुमारी, ए दुलारी बुधभानु जू की, भेरी कह्यो मान तेरी कहा बिगरे हैं री ।

चंचल चपल ललचोहे नैन मूढ़ तौलो, औलो गिरवारी गिरि नख पै घरे हैं री ॥”^१

• खडग कवि

खडग कवि जाति के माधुर ब्राह्मण मथुरा के थे । आपका पेशा यजमानी था और ‘दतिया नरेश’ भी आपके यजमान थे । एक बार कवि जी महाराज ‘भवानीसिंह’ जी से मिलने दतिया गये, उस समय वे भसनद के सहारे बैठे बेध्या का नृत्य देख रहे थे । वे कविजी को देखकर बैठे ही रह गये, उनकी अश्रमर्षणा के लिए उठे नहीं । यह देखते ही कविजी विगड गये और उन्होंने उसी समय एक छंद कहा, जिसका अंतिम चरण था—

“वेढी कौ बहिन जान कँ आप, पै वेढी हैं भसनद सीतला-बहिन ।”

इस पर महाराज भवानीसिंह विगड गये और आपको काठ (वेडी) में दे दिया, परंतु महाराज को सिंह के चिकार से लौटने पर आपने उन्हें देखकर एक दूसरा छंद कहा जिस से सुनकर महाराज आप पर अत्यंत प्रसन्न हो गये और आपको मुक्ति ही नहीं, साथ में कुछ जागीर भी दी ।

खडग कवि का अपनी चाची से जिसका नाम ‘सतिया’ था कुछ जायदाद सबकी झगडा था, जिससे दोनों में प्रायः लडाईं हुआ करती थी । कहते हैं कि सतिया भी कविता लिखती थी इस कारण दोनों की लडाईं भी कविता में ही होती थी । सतिया और खडग जी की लडाईं में विशेषता थी । लडाईं देखने के लिये दोनों की ओर से पाल तान दिये जाते थे और खडग की ओर से अपने दर्शकों के लिए भाँग की तथा सतिया के समर्थकों के लिए शर्बत की प्याक लगा दी जाती थी । सतिया के व्यवहार से कुपित होकर खडग जी ने एक छंद लिखा था—

“बिनाँ दाँत खाइ गई, साखँन को सतिया ।”

और इसी के उपरांत कवि की मृत्यु हो गई । आपने बहुत से स्फुट पद और भडौआ छंद लिखे हैं, जो आज में बहुत से लोगों को याद हैं और ५० तक छेड़ी तिवारी (कविअज्ञान) भडौआ संग्रह में छपे भी हैं । यहाँ आपका श्री यमुना जी के साहाय्य-वर्णन का एक छंद उद्धृत करते हैं—

पाठांतर—

१. बधू, ता पै ए बिसिल कोर ।

तोहि देखि भेरे गुबिद-भन डोलि उठै, भववा निगोड़ी उठै . ॥

बलि-बलि जाइ बुधभान की कुमारी तेरी, भेरी कह्यो . ।

चंचल चपल ललचोहे नैन मूढ़ि राखि . ॥

"जान कर बूझा मैं न पूजा करी ठीर ठीर, भानु की सैजवाँ नाम तेरी एक जान्यो है ।
 छाछो जान करत रहल जो निकाम काम, माया, मद, मोह सवाँ मदत मैं पाँच्यो है ॥
 'खरग कवि' कोन्हों ना बिचार तरिये की कछू, तौ पै ये चाख यों बिचार उर आँच्यो है ।
 गृहाइ जमुनी मैं जो पै तरिबी न सौबी तो पै पाप करि नक हूँ मैं परिबी न सौच्यो है ॥"

राजकुमार रत्नसिंह "नटनागर"

नटनागर जी मीतामऊ नरेश श्री राजसिंह जी के पुत्र श्री दाहूपयी श्री श्रृंगदास जी के शिष्य थे। आपका जन्म मवत् १८६५ वि० और मृत्यु सवत् १९२० में पिता के सामने ही हो गयी। महाराज कुमार बड़े गुरुमक्त, कलाविद, सहृदय और गुणग्राही थे। आपने गृहार आदि विषयों की अनेक सरस रचनाएँ की हैं। सितार बजाने में भी आप बड़े निपुण थे और अपने समय के समस्त सत्कवियों से आपका निकट का परिचय था। डिगल के प्रसिद्ध कवि सूर्यमल ने इनकी उदारता की कई छंदों में प्रशंसा की है। आपकी रचनाओं का संग्रह 'नटनागर-विनोद' नाम से छप चुका है। डिगल-पिंगल आदि कई भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार था। बरबैं में आपकी कुछ अनूठी विरह-सूक्तियाँ देखिये—

"साजन कया बिरह की, लिखी न जाइ ।
 कहि है यह अंबुव उत्त, कछू समुसाइ ॥
 बेजहू यह बिपरित मलि, करखत मेह ।
 तऊ भार नहि मिटती, पजरत बेह ॥
 देखहू यह कस लाग्यो, नैनन मेह ।
 बूडे जलहि रहत है, सुखति बेह ॥"

सेवक

कवि सेवक का जन्म सवत् १८७२ में और मृत्यु १९३८ में हुई थी। यह प्रसिद्ध कवि ठाकुर (पसनी वालो) के पीत्र थे। स्वयं आपने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

"श्री रिविनाथ कौ हों मैं पनाँसी, ओ नाँतो हो श्री कवि ठाकुर केरी ।
 श्री धनीराम कौ पूत मैं 'सेवक' संकर कौ लघु बधु, ज्यों चोरी ॥
 भान कौ बाप, बबा कसिया कौ, भजा मुरलीधर कृष्ण हूँ हेरी ।
 भासनी में घर कासिका में, हरिसंकर भूपति रच्छक मेरी ॥"

आपका 'बाम्बिलास' नायिका-भेद का बहुत बड़ा ग्रंथ है। 'बरवा' छंदों में आपने 'मखसिख' भी लिखा है। सेवक जी आजन्म एक ही आश्रयदाता के यहाँ रहे और कई नरेशों के नियंत्रण तक आपने स्वीकार नहीं किये, जहाँ से आपको यथेष्ट लाभ होता। यह बड़े स्वाभिमानी थे। आपकी 'अन्य-समोग-नु खिता' नायिका का एक वर्णन देखिये—

"अँगना में बूझाइ घेनी अँगना, कँगना पहिराइ बँ बोसनी कौ ।
 बखिना बिल सोल कँ बीजें भद्र, सो बवाई सुनाऊँ संतोसिनी कौ ॥
 कवि 'सेवक' पई परों सब के, बिधि दाहिने भाज सवोसिनी कौ ।
 बिन बीबद मे तौ अराम भई, पति आइगी मेरी परोंसिनी कौ ॥"

रीवाँ नरेश महाराज रघुराजसिंह

महाराज रघुराजसिंह अपने समय के बड़े प्रसिद्ध कवियों में से थे। 'राम-स्वयंवर' आपका प्रसिद्ध प्रबंध-ग्रंथ है, जिसमें राम और सीता के विवाह का विस्तार पूर्वक वर्णन है। इसके अतिरिक्त आपने 'कमिणी-परिणय', 'आनदाबुमिधि' (संपूर्ण श्रीमद्भागवत का व्रजभाषा में अनुवाद) 'रामायण' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। आपका जन्म सवत् १८८० और अवसान सवत् १९३६ में हुआ था। ये महाशय काव्य-प्रेमियों का बड़ा सत्कार करते थे। रसिक नारायण, रसिक विहारी, श्री गोविंद, बासगोविंद व रामचंद्र

शास्त्री आदि अनेक कवि उनके दरबार में रहते थे। इन कवियों ने भी बहुत स ग्रथ रचे हैं और इनकी कविता महाराज रघुराजसिंह के ग्रंथों में मिल गई है। इस प्रकार महाराज रघुराजसिंह के २६ ग्रंथों का उल्लेख मिश्रवन्-विनोद में हुआ है। आपकी एक रचना यहाँ दी जाती है—

“अनल उदङ्ग को प्रकास नखसङ्ग छाया, ज्वाला चङ्ग मानो ब्रह्मद फोरै जाइ-जाइ ।
पुरी न लखत ज्वाला-मालै बरसात एक, लोहित पयोधि भयो छाया इक छाइ-छाइ ॥
देवता, मनीस, सिद्ध, चारै न, गंधर्व जेतै, मानि महा प्रलै बेगि न्योम और घाइ-घाइ ।
देखि रमिराइ हेट बीन्ही लक साइ सबै, जाइ भरे नले कपि रमि-जस गाइ-गाइ ॥”

नारायण स्वामी

श्री नारायण स्वामी का जन्म राजलपिडी में सवत् १८८५ में और मृत्यु फाल्गुन कृष्ण ११ सवत् १९५७ वि० में ‘कुसुम सरोवर’ (गोवर्धन के निकट) पर हुई। आप जन्म से ही कृष्ण-भक्त के रंग में रँग गये थे। अतः आप सवत् १९१६ में ही गृहस्थ होते हुए भी वृंदावन में एकाकी निवास करने लगे और यही आपने लालादाबू के मंदिर के कार्यालय में नौकरी कर ली। बाद में उसे भी त्याग कर स्वामी जी विरक्त भाव से सन्यासी होकर ‘केशीघाट’ पर ‘खटपटिया’ बाबा के घेरे में निवास करने लगे। सवत् १९५५ में आप गोवर्धन गये और वहाँ की रमणीयता को देखकर वही रुक गये। यही कुसुम सरोवर पर उद्वह जी के मंदिर में आप रहने लगे और स्वर्गवासी हुए।

पञ्चावी होते हुए भी ब्रजभाषा पर आपका असाधारण अधिकार था और आपने प्रसाद-गुण-पूर्ण भाषा में ‘ब्रज-विहार’ नामक ग्रंथ की रचना की है, जो भक्तों में बड़ी लोकप्रिय हुई। आपकी सरलता और सहृदयता तथा वाक्पटुता की अनेक कथाएँ कही जाती हैं। भगवान को आप ‘लालजी’ कह कर पुकारते थे और समष्टि के कारण जो भी आपसे मिलता उसी को आप लालजी कहकर संबोधित करते थे। एक बार किसी व्यक्ति ने आपसे ‘हरिद्वार’ चल कर गंगा-स्नान कर लेने का आग्रह किया तो आप बोले—

“लालजी, हम तो महलों में रहने वाली प्रिया-प्रियतम की सहचरी हैं, हरि के अंत पुर में ही रहती हैं, द्वार पर नहीं जातीं।”

आपके सबब में प्रसिद्ध साहित्य-सेवी विद्वान् गो० राधाचरण जी (वृंदावन) ने अपनी नव-भक्तमाल में निम्न छंयय लिखा है—

“अच्छर अर्थ अनूप, अलंकारन सु अलंकृत ।
भाव हृदय गंभीर, अनुप्रासन-गुन-गुंफित ॥
राम नवीन नवीन, प्रवीनन की मन मोहै ।
नृत्य करत गति भरत, रासमंडल अति सोहै ॥
देस विदेस प्रचार श्री वृंदावन विज्ञात ।

श्री नाराइन स्वामी नखल (पद) रचना ललित ललाई ॥”

आपका एक वचार्थ का पद यहाँ उद्धृत करते हैं—

“आज सँहरि घर बेंचरी बघाई ।

सुभ लच्छिन सुंदर सुत जायौ, बड़नागिन है जसुमति भाई ॥
बुढ़ बघू सब जुरि मिलि आई, जया जोग कुल-रीति कराई ।
दाँन, माँन, विप्रन कों दीनों, मन-मुक्ता पट भूपनताई ॥
भूष-नैनी, कल कोकिल बेंनी, करि सिंगार बँठा भोगनाई ।
लैलै नाम नव-जसुमति कौ, गावत गारी परन सुहाई ॥
धुजा पताक, तोरन, मन-जाला, द्वारन बदनवार बँधाई ।
‘नाराइन’ बज अनिद छाथी, प्रपट नए जहाँ सुंदर कन्हाई ॥”

रंगीलाल

रंगीलाल जी का असली नाम खैरातीलाल था और यह 'ब्रजविहार' के लेखक श्री 'नारायण स्वामी' के समकालीन थे। इनके बचप काल और मृत्यु-समय का ठीक पता हमें नहीं लग सका। रंगीलाल जी कुशल कवि तो थे ही, साथ ही शतरंज के भी प्रसिद्ध खिलाड़ी थे और मथुरा के प्रसिद्ध राजाजी वालो के वंशजों के यहाँ आपका इसीलिए बड़ा आदर था। आप मथुरा के पुराने छापेखाने 'श्यामकाशी' प्रेस में लीथो की काफी लिखने का कार्य करते थे।

श्री रंगीलाल जी भावुक भक्त थे और श्री राधाकृष्ण की अनेक लीला और पौराणिक कथाओं को काव्य-बद्ध करके उन्होंने अपने समय में साहित्य की श्री वृद्धि की। अब उनकी अधिकांश रचनाएँ नहीं मिलती, परन्तु उनका 'ब्रजविहार' मिलता है। आपकी रचना का एक उदाहरण लीजिये—

“ए ओलियाँ मोहन सो भटकीं ॥

एक विना की बात त्याग की, छुधि नहिं मूलत बसीबट की।
 डोलत फिरी विदेँ गलबेवाँ, त्रिविध पवन कालिंदी-तट की॥
 कब धो भर-भर नैन सखी री, हम देखें छबि मागर-नट की।
 तबले भोर भात बुँदावन, सीत बरी गोरस की मटकी॥
 भिस-दिन आठो जाँम सखी री, बैरिन बंसी-धुनि उर-खटकी।
 'रंगीलाल' सब छुधि-नुचि त्यागी, कुल-भरजाद लाज घूबटकी॥”

राजा लक्ष्मणसिंह सवत् १८८७ से १९१६

राजा साहब आगरा में जन्मे थे। इन्होंने कालिदास के अर्थों के सरस अनुवाद करके सदा के लिए अपने को हिंदी-साहित्य में अमर बना लिया है। सबसे पहिले आपने गद्य में शकुंतला का अनुवाद किया था, जिसकी योरोप तक में घूम रही। इसके बाद राजा साहब ने गद्य-मध्य-युक्त शकुंतला का अनुवाद किया। 'मिश्रवृत्त' और 'रघुवंश' के भी आपके अनुवाद बड़े सरस हैं। इन अनुवादों के कारण जहाँ राजा साहब का नाम हिंदी-गद्य-निर्माताओं में अग्रगण्य है वहाँ आप एक सरस और भावुक ब्रजभाषा-कवि के रूप में भी सदा स्मरण किये जायेंगे। शकुंतला-नाटक में बालक भरत का भव्य विजय कवि ने निम्न प्रवाहरी में प्रकट किया है—

“ह्रांसी बिन-हेत मॉहिं दीखति बतीसी कछू, निकसी भनों है पॉति ओछी कलिकान की।
 बोलैत कहत बात निकसि आति टूटी-सी, लागति अनूठी मीठी बाँनी तुलन की॥
 मोव तैं न प्यारी और भावै मन कोऊ ठाँव, दोरि-दोरि बैठें छोड़ि भूमि भगवान की।
 बन्ध-बन्ध बें हैं नर भेले जो करत पात, कनिषाँ लगाइ धूरि ऐसे सुवर्नान की॥”

बेनी द्विज

आपका जन्म सवत् १९०० के लगभग कहा जाता है और आप काशी के निवासी थे। यह रीतिकालीन परंपरा की कविता करने वाले साधारण कोटि के कवि थे। आपका एक छंद नीचे दिया जाता है—

“सीता-राम-सखें बिलोक भ्रमि-नारी-भर, मोहित हैं ठाढ़े-इक टक लाइ के।
 तापें जे सयानी नारी अरज गुहारी इन जैनक, दुलारी भागें सीतें नवाइ के॥
 काकी हौ पिघारी दोऊ राजहंस-बसिन में, बेनी द्विज' दीजिये दया सो समुझाइ के।
 लाजें सजाइ शकुलाइ तवें नैनन सी, बॉन्हें हैं लसाइ रॉमैं मुरि मुसिकाइ के॥”

सरदार

सरदार कवि का कविता काल सवत् १९०२ से मवत् १९४० तक कहा जाता है और कवि की कविता से आपका 'सरदार' नाम मली प्रकार साफ होता है। आप काशी नरेश ईश्वरीप्रसाद-

नारायणसिंह के आश्रित थे। आपने अपने मौलिक ग्रंथों के अतिरिक्त केशव, सूर और बिहारी के ग्रंथों पर टीकाएँ भी बड़ी सुंदर लिखी हैं। इनके ग्रंथ हैं 'साहित्य-सरस्वी', 'बागिनास', 'पद्मश्रुति', 'हनुमत्-भूषण', 'शृंगार-समूह', 'राम-रत्नाकर', 'साहित्य-सुधाकर' और 'रामलीला-प्रकाश'। आपका एक छंद यहाँ उद्धृत करते हैं—

“बा दिन ते निकसी न बहोरि कैं, जा बिन आगि-बै अंदर बैठौ ।
हांकत हूँकत ताकत हैं मन, भाँखत मार-मरोर-उमैठौ ॥
पीर सहो न कहौ तुमसो 'सरदार' बिचारत चार कुँदैठौ ।
ना कुच-कचुकी छोरी लला, कुच-कदर-अदर बंदर बैठौ ॥”

गोविंद गिल्ला भाई

आप गुजरात के उन कवियों में अग्रगण्य हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा में सुंदर रचना की है। आपका जन्म सन् १९०५ ई। भूपण की कविताओं का प्रामाणिक संस्करण निकालने के अतिरिक्त आपने निम्न ग्रंथ लिखे हैं—“नीति-विनोद, शृंगार-सरोजिनी, पद्मश्रुति, पावस-यथोनिधि, समस्या-पूति, बक्रोक्ति-विनोद, श्लेष-चक्रिका, प्रारब्ध-मयासा, प्रवीन-सागर, राधा-मुख-धौडसी आदि। काशी के कवि समाज में इनकी समस्या-भूतियों की बड़ी धूम थी। एक पूति नीचे दी जाती है—

“बारिद के बुद मद-मद बरसत अरु मद-मद बोलत मयूर मन भावनों ।
चंचला चैमक चहुँ और लसै मद-मंद, मंद-मंद माखत सुहात मुख छावनों ॥
मंद-मद झूलत हिडोरेँ नर-नारी सबै, मंद-मंद पण्डित पुकारै पिय-भावनों ।
‘गोविंद’ अनेक ऐसे कौतुक उपावन को, आयो मन भावन ये सावन-सुहावनो ॥”^१

बाबा रघुनाथदास ‘रामसनेही’

रामसनेही जी अयोध्या के महंत थे और वही रामदास के निकट ‘रामनिवास’ नामक स्थान पर रहते थे। आपका रचना काल सन् १९११ के आस-पास है। आपका एक ग्रंथ ‘विश्राम सागर’ श्री रामचरित मानस के अनुकरण पर रचा हुआ मिलता है। यह ग्रंथ दोहा-चौपाइयों में है, जिसमें रामचरित के साथ कृष्ण-चरित और कुछ पौराणिक कथाएँ वर्णित हैं। ग्रंथ में कवि-कल्पना या मौलिकता यद्यपि नहीं है, परंतु धार्मिक-समाज में इस ग्रंथ का काफी आदर है। त्रिपुराई इसे बड़े प्रेम से पढ़ती है। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है। कस कहता है—

“नंद सग जे गोप है, लूट लेहु तुम झारि ।

उपसैंन बसुदेव को, अबहीं डारी मारि ॥

सुनत कृष्ण डिंग पहुँचे जाई । पकरि सिखा मँहि-कीन गिराई ॥

काढ़े प्राँन घसीट घसीटी । डारे सकल निसाचर पीटी ॥

सखि सुर हरषि सुँमन बरषाए । कलिलावत जमुनी-तट आए ॥

तहँ बिलास कीन मन भावा । सोइ बिलासघाट कहावा ॥”

हनुमान

हनुमान कवि प्रसिद्ध कवि मणिदेव बदीजन के पुत्र थे और बड़ी श्रेष्ठ कविता करते थे। कविता पढ़ने का ढंग भी इनका बड़ा प्रभावोत्पादक था, जिससे प्रसन्न होकर भारतेन्दु जी ने आपको एक बहुमूल्य बुधाला और हीरा-जड़ी भंगूठी भेंट की थी। दुख है कि ३८ वर्ष की अल्पायु में ही (सन् १९३६ में) आपका देहावसान हो गया। आपका कोई ग्रंथ तो नहीं मिलता किंतु स्फुट-छंद आपने बहुत से लिखे हैं। एक उदाहरण लीजिए—

^१. यहाँ, ० नक़्खेदी तिवारी—उपनाम ‘अज्ञान’ कवि जो ब्रजभाषा-काव्य के प्राचीन ग्रंथों के संप्रहर्कर्ता और उनके संपादक के रूप में भी प्रसिद्ध थे, उनका उल्लेख छूट गया है।

“निज चालसो श्रीर जे बाल तिन्हें, कुल की कुलकाँनि सिखावती है।
ननदी श्री जिठानी हँसावें तऊ, हँसी ओठें ही तो बितावती है॥
‘हनुमान’ न नैकी निहार कहूँ, बूग नाँचे किएँ मुख पावती है।
बड-भागिन पी के सुहाग-भरी, कबो आँगनहूँ लोन आवती है॥”

ललित किशोरी

भक्त कवि ललित किशोरी जी लखनऊ निवासी शाह बिहारीलाल जी के पीथ थे। आपका नाम शाह ‘फुदनलाल’ था। सन् १९१३ में आप वृंदावन आये और वही सन् १९३० में आपकी मृत्यु हो गई। आपने कई ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें कृष्ण भक्ति और प्रेम का हृदयशाही वर्णन है। आपने ब्रज-वर्णन के अतिरिक्त कृष्ण के ब्रज-गमन के उपरांत के चरित्र पर एक पंक्ति भी नहीं लिखी है। आपने कुछ कूट और खड़ी बोली की कविता भी लिखी है। वृंदावन का सुविख्यात शाहजी का मंदिर आपका ही बनवाया हुआ है। आपकी कविता में कृष्ण भक्ति की भाविकता और बिह्वलता की छटा दर्शनीय है। आपका एक ‘प्रभाती’ पद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

“कमल-मुख लोलो आज पियारे ॥

विकसित कमल, कुमोदनी मुकलित, अलिंगन भस् गुजारे।

प्राचीवसि रवि-थार आरती, लिएँ ठेनी छवि छारे ॥

‘ललितकिशोरी’ सुनि यह बानी, कुरकुट बिसद पुकारे।

रजनी राज बिदा माँगे बसि, निरखी पलक उधारे ॥”

ललित माधुरी

आपका नाम शाह फुदनलाल था और आप ‘ललित किशोरी’ जी के छोटे भाई थे। जन्मी के साथ वृंदावन आये तथा काव्य रचना भी की। इनकी कविता भी बिल्कुल ललितकिशोरी जी जैसी ही है और उसे पृथक् छांटना कठिन है। हाँ, जिन पदों में ललित माधुरी नाम (जो आपका—उपनाम था) आता है वे अवश्य पहँचाने जा सकते हैं। ललित किशोरी जी की मृत्यु के उपरांत उनके अपूर्ण ग्रन्थ आपने ही पूर्ण किये थे। आपका एक पद यहाँ उद्धृत है—

“प्रिया-मुख राजत कुटिनी अलकों।

मानहुँ चिबुक-कुंड-रस चालें, है नागिनि अति उँमगी बलकों ॥

बैनी छूट परी ऐँझी लौं, बिधुरी लट धुंधरारी हलकों।

मैं अरविब सुधारस कारें, भँवर बूब जुरि मानहुँ ललकों ॥

जबन भाल कुटिल भू मोरीं, ता पर यह उपमा है हलकों।

मैं जड़ि आध बड-सद अहिनी, अँमी लूटिबे भन करि बलकों ॥

पुहुँप सवित उरैमाल बिराजत, बरन-कमल परसत डल-डलकों।

मैनहुँ तरंग उठत पुनि ठिठुलत, रूप-सरोवर माँहि बिभलकों ॥

‘ललितमाधुरी’ बदन-सरोजहि, रास करत प्रिय लैन-कैन हलकों।

भू ग दूगनि पिय छवि नकरबहि, घूटत मुवित परत माँहि पलकों ॥”

लच्छीराम (ब्रह्मभट्ट)

इनका जन्म अमोडा गाँव जिला बस्ती में सन् १८६८ में हुआ था। ये अयोध्या के महाराज मानसिंह (सुप्रसिद्ध कवि द्विजदेव) तथा अन्य कई नरेशों के आश्रय में रहे और सब की ही प्रशंसा में इन्होंने कुछ न कुछ लिखा। समस्या-भूति में यह महानुभाव बड़े कुशल थे। सभी रसों पर इन्होंने थोड़ा बहुत लिखा है। इनकी रचनाओं में ‘प्रताप-रत्नाकर’, ‘मानसिंहशब्दक’, ‘प्रेम-रत्नाकर’, ‘तस्मी-स्वर-रत्नाकर’, ‘रावणेश्वर-कल्पतरु’ व ‘कमलानंद-कल्पतरु’ आदि अनेक ग्रन्थ हैं। इनकी मृत्यु अयोध्या में सन् १९६१ में हुई। आपका वसंत वर्णन देखिए—

“जैत चंद चाँदनी प्रकास छोरि छिति पर, मंजुल मरीचिका तरंग रंग बरसौ ।
कोकनद, किमुक, अनार, कचनार, लाल, बेला, कुद, बकुल, चनेली, मोती लरसौ ॥
श्रीपति सरस स्याम सुंदरी बिहार बल, ‘लखिराम’ राजें कुज अनंद भ्रमर सौ ।
यो ही ब्रज बागन बिधोरत रतन फैली, नागर बसंत रतनाकर सुघर सौ ॥”

गोप भट्ट (गोकुल निवासी)

गोकुल निवासी गोप^१ कवि भट्ट परिवार के थे और चित्रकला तथा काव्यकला के भर्त्ता थे । कई नरेशों के दरबार में भी आप समाहित हुए थे । आपका जन्म सन् १९०० से कुछ पूर्व हुआ था और आप लगभग ६५ वर्ष की अवस्था में स्वर्णवासी हुए । बल्लभ-संप्रदाय में आप अपने समय के सर्वमान्य कवि थे । आपका एक सबैया यहाँ दिया जाता है—

“चपक कानन मध्य हरी तट, ता मवि बेल बिरंच ह भूलौ ।
सुक-सैनकाविक, नारद, सारद, व्यासहृ के मुख जात न हूलौ ॥
ता छवि को कवि ‘गोप’ कहै, बड़वानल होइ रह्यौ अनूकलौ ।
भक्तन के हित बल्लभ को मुख, पावक-भुज में पंकज फूलौ ॥”

लाल बलवीर

इनका जन्म नाम बन्नीवास था और यह बुदावन निवासी अग्रवाल वैश्य थे । आपकी तवाकू की दुकान थी । पढत-समेलनों में लाल बलवीर जी बड़े उत्साह से भाग लेते थे । आपकी कविताएँ बहुत अधिक हैं । आपका ग्रन्थ ‘ब्रज-विनोद-ह्वारा’ बहुत समय पूर्व मथुरा के श्यामकाशी प्रेस से छप चुका है, जो अब अग्राप्य है । आपका एक ‘राधाष्टक’ भी छपा था । इधर ब्रज-साहित्य-मंडल की ओष में भी आपकी ‘बाल-विनोद-पञ्चीसिका’ मिली है ।

✓ राधिका जी के आप अनन्य भक्त थे और पहलवानी का आप को बड़ा शौक था । आपकी मृत्यु को लगभग ३० वर्ष हो चुके हैं । आपने अपना परिचय एक छंद में यों लिखा है—

“बाबा बनलंदी महादेव जग जाहिर है, व्यासजू की घेरी सो अनूप छवि छाहीं है ।
घारो ओर सदैव बने हैं लाल-साठिली के, चंद से दुखद तेज दिव्य बरसायौ है ॥
सदा ब्रजवासी रूप माधुरी निहारी करै, और सो न काम स्याम-स्याम-गुन गायौ है ।
‘लाल बलवीर’ नाम लै-लै सब टेरत है, राधिका-कृपा सो बात बुंवावन पायौ है ॥”

नवनीत जी चतुर्वेदी (सं १९१५ से १९७९ तक)

श्री नवनीत जी का स्थान आधुनिक ब्रजभाषा-काव्यकारों में बहुत ऊँचा है, परंतु उनकी रचनाओं का कोई ऐसा संग्रह प्रकाशित नहीं हो पाया है जिससे उनके कमनीय काव्य का ठीक स्वरूप सामने उपस्थित हो । नवनीत जी ब्रजभाषा के रस-सिद्ध कवि थे । कहते हैं कि काशी कवि-समाज में आपने किसी विषय पर एक बार चालीस कवियों की बोलती बंद कर दी थी । जिस पर प्रसन्न होकर काँकरीली नरेश गो० बालकृष्णलाल जी ने आपको “कवींद्र” की उपाधि दी थी । विदेशी विद्वान डाक्टर प्रियर्सन व मैक्समूलर ने स्वयं नवनीत जी के घर जाकर आपसे काव्य-रस का आस्वादन किया था । नवनीत जी की कविता से प्रभावित होकर तत्कालीन मथुरा के जिलाधीश ‘फ्रीमेटल’ ने भी आपको एक स्वर्णपदक प्रदान किया था । नवनीत जी का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला ५ मवत् १९१५ व मृत्यु आषाढ़ पूर्णिमा सवत् १९७९ में हुई । आपका गणगन-वसंत का एक रूपक यहाँ उद्धृत करते हैं—

^१ ब्रज में इस नाम के दो कवि हुए हैं—प्रथम हैं आप और दूसरे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के अभिन्न मित्र “राव कृष्णदेवशरणसिंह” जी उपनाम—‘गोप’ कवि । ये दोनों ही अपने समय के ब्रजभाषा-कवि-भूज थे ।

“लागत पौन-प्रभात पात ज्यो कान हला में ।
 कोमल सुख रसाल, मोर इक बंस ललामें ॥
 गुजल मोर विहंग छ, ध्वजिका बजाई ।
 चार भुजा सोई गध, धोद सरसो सुखवाई ।
 ‘नवनीत’ चरन बंसत जुगल, गुल-गुलाब के मोद में ।
 खेलत बसत गैरराज ए, बँन गिरजा की गोद में ॥”

भोलाराम ‘भंडारी’

भोलाराम जी भंडारी का जन्म सन् १९१४ के लगभग हुआ था और आपकी मृत्यु सन् १९९० के आस पास हुई। भंडारी जी अत्यंत ही विनयी और भगवद्भक्त थे। आपने ६५ वर्ष तित्तर मयुरा में भगवान् द्वारिकावीश जी के मंदिर में भंडारी पद को सफलतापूर्वक निवाहा। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। भंडारी जी प्रसिद्ध कवि तो थे ही, आपकी स्मरण-शक्ति भी गजब की थी। एक-एक विषय के सहस्रो प्राचीन कवित्त-सर्वया आदि आपको कठस्थ थे। उनकी इस विलक्षण प्रतिभा के कारण ही कविरत्न नवनीत जी ने उन्हें ‘कविता का कोष’ कहा था—

“छंद कवित्त अनेक विधि, राखत अपने पास ।

पद-रचना रस-भक्ति की, करत सर्वा परकास ॥



राखत है धैर्य पद छंद श्री प्रबंधन की रत्न भ्रंशोल, नवरस के अदोष है ।
 अलंकार पूरेन, रीति, भोज, भाषुरी, प्रसाद, कंचन रजत, पद पूरन सौतोष है ॥
 नायिकादि भेद, प्रस्तारविक लैन-बैन, करत विलेख सङ्कार के जोष है ।
 उबर की कोठी में भरे हैं सब-सिक्का घने, भोला जू भंडारी मनो कविता के कोष है ॥”
 यहाँ भंडारी जी द्वारा रचित उनके ‘होली बर्णन’ का एक छंद दिया जाता है—

“खेलन नवेली गई सावरे सुजान जू सों, छनि सो छवेली खेली बेदी सुति भाल की ।
 मोहन की लग भयो, रंग रह्यो खेल बीच, जामिनी की अंत भयो, सौन सुधि हाल की ॥
 बलन उतारि डारे, क्षारि डारे केस सबे, मोती पोछि डारे नय मूरति रसाल की ।
 कबुकि के बंधन ते क्षार के वियो है रंग, अलिन कपोल भाड़ भरव गुलाल की ॥”

यद्यपि भोला जी आज इस ससार में नहीं रहे, परंतु उनके सुपुत्र श्री साबिलीलाल जी भंडारी एक कुशल कवि और भागवत के अच्छे व्याख्याता हैं ।

नारायणदास ‘संगरिया’

संगरिया जी का जन्म वैशाख सन् १९०१ विक्रमी में हुआ और मार्गशीर्ष, सन् १९९६ में आप स्वर्गवासी हुए। आपके पिता का नाम ‘सुशालीराम’ था। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। संगरिया जी ब्रजभाषा के प्रख्यात आशुकवि थे। इनकी कविता ‘कविजीत’ या ‘नारायण’ नाम से हुई है।

आप कविताओं को प्रकाशित कराने के पक्ष में नहीं थे। अतः उनकी रचनाएँ केवल उनकी ही शिष्य-मंडली को स्मरण हैं। आप गिरिराज जी के अनन्य भक्त थे और गोवर्द्धन में ही निवास करते थे। इसी सबब का एक छंद यहाँ उद्धृत करते हैं—

“बदैन-कुबेर सेवें, सुनि-गिरि-सेव सेवें, रंभा-जैना होरि सेवें सुनन सुनदला ।
 गिरिजा-नयन सेवें, सारदादि सेव सेवें, नारद-महेस सेवें गानें गति छदला ॥
 बुद्धजन वीर सेवें, ‘नाराइन’ वीर सेवें, सकल अहीर सेवें, ज्ञान मत ददला ।
 सुर-सिरताज सेवें, नव महाराज सेवें, सेवें ब्रजराज राज गिरिबंद की कदला ॥”

प्रेमी जी (मुहराई-निवासी)

श्री प्रेमी जी मथुरा जिले के बड़े प्रसिद्ध कवि हो गये हैं, उन्हें अन्य कवियों के भी सहस्रो छंद याद थे। इन छंदों को एक बार लिखने का प्रयत्न भी ब्रज-साहित्य-मंडल की ओर से हुआ था और उसकी व्यवस्था हो ही रही थी कि अचानक १० वर्ष के वयोवृद्ध श्री प्रेमी जी की मृत्यु सन् २००४ में हो गई।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (जन्म संवत् ११०७ व अवसान संवत् ११४७)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिंदी-काव्याकाश के ऐसे उज्ज्वल तारा हैं, जिनकी शीतल चम्रिका से प्रत्येक हिंदी प्रेमी का मन कुमोद सदैव विकसित है। उन्होंने यद्यपि गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को स्थिर किया, परन्तु काव्य-भाषा के रूप में उनके रसिक हृदय ने अत तक ब्रजभाषा का साथ नहीं छोड़ा। वह युग-निर्माता महापुरुष थे और आज के ब्रजभाषा-काव्य पर उनके व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु जी ने ब्रजभाषा को भाषा की दृष्टि से परिष्कृत करके उसके उस ऐतिहासिक स्वरूप को सम्हाला जो जनता से दूर होता जा रहा था और उसको पुन जनता के लिये हृदय-गम्य बनाया। उन्होंने कविता को पहली बार नये विषय विये और कविता-कामनी को नायिका के केश-पाश के बंधन से मुक्त किया।

“आवहु सब मिल रोवहु भारत भाई।

हा हा भारत बुद्धि, न देखी जाई ॥”

या—

“अंग्रेज-राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन बिदेस चलि जात, यहै प्रति ख्वारी ॥”

जैसी बात कह कर उन्होंने ही कवि को समय के साथ चल कर ससार को या स्वदेश को अनुभूतिपूर्ण नेत्रों से देखने के लिये नेतृत्व प्रदान किया और उसे कल्पनाकाश का व्योम-विहारी पक्षीमान बन जाने से बचाया। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने कवियों के निर्माण में भी बड़ा योग दिया। वह सच्चे गुण-माहक थे और अपने समय के कुशल कलाकारों को मान, धन और हार्दिक प्रेम-प्रदान करके उन्होंने उन्हें हिंदी की सेवा के लिये तैयार किया। कवियों को प्रोत्साहन देने के लिये ही आपने ‘कवि-चचन-सुधा पत्रिका’ निकाली और ‘कविता-वर्द्धनी समा’^१ की स्थापना की। श्रेष्ठ है कि भारतेन्दु-जी का शैक्षिक शरीर बहुत कम समय तक ही हमारे बीच रहा और वह अपनी अल्पायु में ही स० ११४२ में हिंदी-जगत को अनाथ छोड़ कर चल वसे, परन्तु अपने यशशरीर से वह सदा ही माता नागरी के मानस-हृदय पर आसीन रहेंगे। भारतेन्दु जी अपनी छोटी-सी आयु में ही हिंदी का जो कार्य कर या करा गये, वह बहुत समय में कई संस्थाओं-द्वारा भी होना समभव नहीं हुआ। वास्तव में वह स्वयं अपने आप में एक चलती-फिरती संस्था थे। उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

^१ भारतेन्दु जी के समय कविता और समस्या-पुस्तियों की काशी नगरी केंद्र थी। भारतेन्दु जी द्वारा संस्थापित कवि-समाजों में गोष्ठियों की परिपाटी खूब चलती। इन गोष्ठियों में भाग लेने वाले अग्रगण्य कवियों में पं० सुभाकर द्विवेदी, अधिकारत ध्यास, बाबू रामकृष्ण वर्मा, ब्रजचंद्र जी वल्लभ, बेनी द्विज आदि थे। वर्मा जी इस समाज के सचिव थे। इस कवि-समाज में बाहर के भी बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवि उपस्थित होते थे या डाक से ही समस्या-पुष्टि करके भेजते थे, जिनमें से निम्न नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—बाबा सुमेरसिंह, श्रीमती अन्नकला बाई (भूंदी), बाबू शिवनंदन सहाय (सीहौर), गोविंद गिल्ला भाई (काठियावाड़), ठाकुर रामेश्वर बक्ससिंह (सीतापुर), कविराय लच्छीराम (अयोध्या) और श्री नवीन जी चतुर्वेदी मथुरा।

“रवि बहु बिधि के वाक्य, पुराँनन साहिं घुसाए ।
 सैब, साकत, वैष्णव, अनेक भत प्रगट चलाए ॥
 बिबवा-ब्याह निषेध कियौ, बिभचार प्रचारयो ।
 रोकि बिलायत - गैसन कूप-मंडूक दनायो ।
 बहु वैबी-वेवता, भूत-प्रेतावि पुजाई ।
 ईस्वर सो सब बिमुख किए, हिंदुन धरवाई ॥
 अपरस, सोल्ला, छूत रवि, भोजन प्रीति छुआइ ।
 किये तीन तेरहु सबै, चौका चौका लाइ ॥”

भक्ति-परक

“अज के लता-पता मोहि कीजै ।

गोपी-पद-पंकज-पावन को रज जाँमे सिर भीजै ॥

आवत-जात कुज की गलियौन, रूप-मुखा नित पीजै ।

ओ राखे-राखे मुख यह बर, मुँह माँग्यौ हरि दीजै ॥”

शृंगार-परक

“बिछुरे पिय के जग सुनो भयो, अब का करिए किहि पेसिए का ।

मुख-छाँड़ि केँ सगम को तुम्हरे, इन तुज्जैन को अबरसिए का ॥

‘हरिचंद जू’ हीरैन को व्यवहार के, काँचन को लं परेसिए का ।

जिम आँखिन में सुव रूप बस्यो, उन आँखिन सो अब बेसिए का ॥”

भारतेंदु जी ने प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ और सभी विषयों पर सुंदर कविता की है, वह भक्ति-काल व रीति-काल के साथ वर्तमान-काल का सामंजस्य करके कविता का सर्वांगीण-स्वल्प उपस्थित कर गए हैं ।

राव कृष्णदेवशरणसिंह जी ‘गोप’

गोप जी, भारतेंदु जी के समकालीन और उनके निकटवर्ती मित्रों में थे । आप मरठपुर के राजवंश से संबंधित थे । इनके बाबा ‘दुर्जनसाल’ ने राज-विप्लव-काल में एक बार मरठपुर राज्य पर अपने को आसीन भी कर लिया, किंतु सन् १८८१ में वह लार्ड ‘एम्हर्स्ट’ द्वारा पराजित कर दिये जाने पर ये प्रयाग में रहने के लिये चले गए । सन् १८६८ में काशी आ बसे । राव साहिब का सीन में भी दखल था ।

कृष्ण के आप अनन्य भक्त थे और प्रायः अपने यहाँ रासलीला कराया करते थे । जब काशी में कवि-समाज स्थापित हुआ तो आप भी उसके मदस्य हो गये । इनकी धार्मिक रचना ‘हरिश्चंद्र-चंद्रिका’ या ‘हरिश्चंद्र-मेगजीन’ में छपी थी । इनके निबंधों का एक ग्रंथ मिर्जापुर की ‘भालद-कादविनी’ पत्रिका जिसका संपादन भारतेंदु जी की सखी (आप अपने को सखी ही कहा करते थे) पं० बद्रोनारायण चौबरी करते थे—में भी छपा था । आपकी रचनाओं में से ‘प्रेम-संदर्प’, ‘मान-वर्गिन’ हरिश्चंद्र मेगजीन में तथा ‘दोहाबली’ हरिश्चंद्र-चंद्रिका में छपी थी । उदाहरण जैसे—

“प्यारी, मोहि अबचो प्रायी ।

सुनि त्रिभुवन में कोऊ सर नहिं, देखत ही मन भायी ॥

तो पदतर औरतु कोउ कहैं ते बिधि दूजौ सिरजायी ।

प्यारी भी मैं रह्यौ गयो नहिं, यहि सुनि हों उठि पायी ।

पूछि देखिए सखी संग में, जो मैं झूठ कहायी ।

‘गोप’ स्वामिनी भोरे लीकी, सब साँची करि पायी ॥”

—मान-वर्गिन, जनवरी मन् १८७४ की हरिश्चंद्र मेगजीन में ।

दोहावली

“बिबस करत आरीन पुन, बरी छु तबत लाज ।
बैरिन ये ब्रज मूरलिका, जारत जिय बेकाज ॥
बलत धूम श्रीखेम तनये, तरेन रहत छिन छाँह ।
तरफरात बाहर खरी, सोबत आपन नाँह ॥”

—हरिश्चन्द्र-चक्रिका सवत् १८७८ दिसबर सख्या ६ से ।

श्री ब्रजनारायण जीवरी 'प्रेमघन'

प्रेमघन जी की अनुप्रासमयी ललित रचना भारतेंदु-मंडल मे प्रसिद्ध थी । आप केवल काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतेन्दु जी से प्रभावित हुए । आपने 'आनन्द-कादचिनी' मासिक और 'नागरी-नीरव' साप्ताहिक प्रकाशित किया था । आप नागरी-प्रचार के पक्के समर्थक थे । प्रेमघन जी का जन्म सवत् १९१२ ई और आपकी मृत्यु सवत् १९७६ मे हुई । आपका अधिकांश जीवन 'मिर्जापुर' में व्यतीत हुआ । आपकी कविता का एक उदाहरण देखिये —

“दगियान बसंत बसेरी कियो, बसिए तिहि त्याग तपाइए ना ।
बिन काम कुतूहल के जो बने, तिन-बीच बियोग दुलाइए ना ॥
'घनप्रेम' बढ़ाइ के प्रेम अहो, बिथा-वारि धर्या बरसाइए ना ।
चित्त-वैत की चाँदनी चाँह मरी, चरचा बलवे की बलाइए ना ॥”

प्रतापनारायण जी मिश्र

प्रतापनारायण जी, भारतेंदु-मंडल के बहुत ही विनोद-प्रिय मस्त और सजीव महाकवि थे । आपने अपनी मन की मौज में सरस सवैयो से लेकर लावनियाँ तक लिखी हैं । मिश्र जी का जन्म सवत् १९१३ में और मृत्यु सवत् १९५१ मे हुई । जहाँ आपने अपने को वेजोठ निबन्धों के कारण इतिहास में अमर किया है वहाँ कविता मे 'हर गंगा' से लेकर 'गो रक्षा', 'दुदापा' आदि के सजीव वर्णनों के साथ देश की दुर्दशा पर भी निम्न प्रकार श्रुंषू बहाये हैं—

“तबहि लखी जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत ।
तहँ चौथाई जन रुखी रोटी को तरसत ॥
जहाँ कृषी, बानिज्य, सिल्प सेवा सब मँहीँ ।
बेसिन के हित कछु सत्व कहुँ कैसेहुँ नाहीं ॥
कहिय कहीं लगि नृपति बवे है जहँ रिन-भारन ।
कहँ तिनकी बन कथा, कोन जे गही सघारन ॥”

पं० नाथूराम जी शर्मा 'शंकर'

श्री शर्मा जी, प्रतापनारायण मिश्र जी के घनिष्ठ मित्र थे । आपका जन्म सवत् १९१६ में और अवसान १९८६ में हुआ । कवि समाजों में 'शंकर' जी की समस्याओं की सर्वत्र धाक थी और उनका सर्वत्र पगड़ी, दुशाली और पदकों से स्वागत होता था । आप ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि थे, किंतु बाद में आप खड़ी बोली की ओर आकषित हो गये थे । आपका एक बियोग-वर्णन यहाँ दिया जाता है—

“शंकर नदी नद नदीसँ के नीरें की, भाप बन अंबर तें ऊँचो चढ़ि जाइगी ।
बोनी ध्रुव छोरें जो पल में पिघल कर, धूम-धूम बरनी घुरी सी बढ़ि जाइगी ॥
झारोंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति, जारोंगे खमडल में आग मडि जाइगी ।
काहू बिधि बिधि की बनावट दबंगी नाहि, जो पं वा बियोगिनी की आह कडि जाइगी ॥”

ठाकुर जगमोहनसिंह

ठाकुर साहब का जन्म सवत् १९१४ और मृत्यु १९६० में हुई। आप भारतेन्दु-परिवार के अग्रगण्य कवियों में से थे। आपने लौकिक के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का व्यक्तिमय सुंदर वर्णन किया है। आलवन के रूप में प्रकृति की नैसर्गिक छटा के सुंदर शब्द-चित्र भी खींचे हैं, उदाहरण—

“याही भग हूँ कैं गए, दडक बन धीराम।
तासो पावन बेस बह, बिध्याटवी ललाम।।
बिध्याटवी ललाम, तीर तरवर सो छाई।
कोतकि, करव, कुमुद, कमल सब रहे सुहाई।।
भन ‘जगमोहनसिंह’, न सोभा जात सराही।
ऐसी बन रैमनीक, गए रघुवर भग याही।।”

ॐ

“साल, ताल तै तालवर, सोभित तरुन तमाल।
नव कदंब भरु भ्रंज बटु, बिससत निब बिसाल।।”

लाला सीताराम बी० ए०

लाला जी का जन्म सवत् १९१५ ई० है। आपने कई अंग्रेजी ग्रंथों का और महाकवि कालिदास के तीनो काव्यों के सफल अनुवाद किये हैं। रघुवश के अनुवाद का कुछ भंश यहाँ दिया जाता है—

“प्रिया फेरि अवघेस कृपाल। रच्छा कौन तासु तिहि काला।।
जत में चले भाइ करि आगे। सेवक सेस सकल मूप त्यागे।।
इन केवल निज बीज अपारा। मनु संतित तन रच्छन-हारा।।
कबहुँक मुहुं तुन नौचि खिआवत। हाँकि माँछि कहूँ तनहिं खुजावत।।
जो दिस चलत चलत सोइ राहा। इहि बिधि तिहि सेवत नरनाहा।।”

श्री राधाचरण जी गोस्वामी

विद्यावागीस गोस्वामी राधाचरण जी भारतेन्दु-मंडल के प्रभापूर्ण नक्षत्रों में थे। आपका जन्म सवत् १९१५ है। गोस्वामी जी अपने संप्रदाय के आचार्य व वृंदावन के प्रमुख रहस्य थे। आप आरंभिक हिंदी-लेखकों में अग्रगण्य माने जाते हैं, परंतु गोस्वामी जी ब्रजभाषा के कुशल कवि भी थे। आपकी कविता पुस्तक ‘नव-भक्त-माल’ ब्रज-साहित्य-मंडल के हस्तलिखित-ग्रंथों की शोध में प्राप्त हुई है। इसमें गोस्वामी जी ने भारतेन्दु जी की गणना नवीन भक्तों में करते हुए लिखा है—

“बनिज बस अवसंत धंज, धीरज बपु-धारी।
चौंसठ कला प्रबौन, प्रेम-भारण प्रतिपारी।।
बिद्या, विनय, बिसिष्ट सिष्ट समुदाइ समानित।
कविता कल कमनीय कृष्ण-लोला जग प्लावित।।
कई लच्छु बाँनी भगतमाल उत्तरारव करन।
आदि-अंत सोभित भए, हरीचंद प्रात स्मरन।।”

शायद यह पुस्तक ‘नैतन्य-चरितामृत’ खंड २ के अंतर्गत प्रकाशित भी हो चुकी है।

पं० श्रीविकादत ‘व्यास’

व्यास जी का जन्म सवत् १९१५ में और मृत्यु सवत् १९५७ में हुई। आप शास्त्र कवि थे और काशी की ‘ब्रह्मामृत-वर्षिणी’ समा ने आपको ‘घटिका घटक’ की पदवी प्रदान की थी। आपने ‘बिहारी’ के दोहों पर ‘बिहारी-विहार’ लिखा था, जिसमें बिहारी के प्रत्येक दोहे पर आपने ‘कुडलिया’

लिखी है। हिंदी के साथ आप संस्कृत के भी विद्वान् थे। खड़ी बोली पद्य में भी आपने 'कस-वध' लिखा था। एक कुडलिया यहाँ दी जाती है—

“मेरी भव-बाधा हरी, राधा नागरि सोइ ।
जा तैन की झई परै, स्याम हरित-कुति होइ ॥
स्याम हरित-कुति होइ, परत तैन पीरी-झई ।
राधा हूँ पुनि हरी होत, लहि स्यामलताई ॥
नैन हरे सखि होत, रूप रस रग अगाधा ।
'सुकवि' जुगल छवि-धाम, हरहु मेरी भव-बाधा ॥”

बाबू राधाकृष्णदास

आपका जन्म सन् १९२२ में हुआ था और आप भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे। आपने भारतेन्दु जी के काम को आगे बढ़ाने में बड़ा प्रयत्न किया। आप केवल कवि ही नहीं थे वरन् साहित्य के अन्य अंगों में भी अधिकारपूर्वक लेखनी उठाई है। 'रहीम' के दोहों पर आपने सरस 'कुडलियाँ' लिखी हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह भी 'राधाकृष्ण-ग्रंथावली' नाम से निकला था, परन्तु अभी आपकी बहुत-सी रचनाएँ अप्रकाशित हैं। एक सवैया देखिये—

“मोहन की यह मोहिनी मूरति, जीय सो भूलत नाहि भुलाए ।
छोरै न चहत नेह की नातौ, कोउ बिधि छूटत नाहि छुटाए ॥
'बासजू' छोरि कें प्यारे हहा हमें, और के रूप पै जाइ नुभाए ।
भूलि सकैं अब कोन जिया, इन तो हँसि कहैं पहिले ही भुराए ॥”

ब्रजचन्द्र जी वल्लभीय

वल्लभीय जी के कवित्त-सवैया भारतेन्दु जी की ही टक्कर के होते थे। यहाँ तक कि कुछ छंद तो 'ब्रजचन्द' के स्थान पर 'हरिचन्द' करके लोगो ने वाद में हरिचन्द्र जी के नाम से ही प्रचलित कर दिये। इनका कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला। काशी के भारतेन्दु-कालीन कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी एक समस्या पूर्ति यहाँ दी जाती है—

“आई मैं बिलोकिये को बोक रघुवसिन को, माँगी नहीं कोऊ मुख लोगें को हरकनि ।
जकित निहार छवि शकित भई है गति, जकित भई हो सखि, ठाढ़ी लगी तरकनि ॥
मयुराति मुख-श्री सहैलिन निहारत ही, बोक सुकुमारै की लाली छवि छरकनि ।
थरकै लगी देह मेरी बोक कानन में, ऐरी भौनकेत के भुजा की देख फरकनि ॥”

पं० विजयानन्द जी

आप बाबू 'रामकृष्ण' वर्मा के मित्र और सहयोगी थे। वर्मा जी को 'भारतजीवन' निकालने में आपने बहुत सहयोग दिया, जिसमें इनके बहुत से व्यय छपे हैं। ब्रजभाषा के साथ आप संस्कृत में भी कविता करते थे। एक उदाहरण देखिये—

“चुनि कैं चूनरी है पहिरावत, भाव कैं जावक देति है पैया ।
आपने हाथेन पाठी सेंवारि, सिंगार-सिंगार कैं सेत बलैया ॥
कँसी भई कछु जान परै नहीं, 'ओ कवि' पूछे पै भावत हँया ।
जीवन नाथ को जीवन-मूरि दै, मेरिउ जीवन-मूरि है दैया ॥”

वर्तमान-काल

पं० श्रीधर पाठक

पाठक जी का जन्म सन् १९१६ में ब्रज के ही 'जोबरी' नामक ग्राम में हुआ था, जो आगरा जिले में स्थित है। इस कारण ब्रजभाषा पर उनका जन्म ज्ञान अधिकार था। उन्नीसवें वर्षी

बोली काव्य के प्रवृत्तको मे होते हुए भी पाठक जी की अधिक मार्मिक कविताएँ ब्रजभाषा में ही हैं। पाठक जी ने नये शब्द, नये वाक्य-विन्यास और नये विषयों पर लेखनी उठा कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया और 'गोल्डस्मिथ' के 'डेजटेड विलेज' का ब्रजभाषा में 'ऊनड़गाँव' के नाम से सुन्दर अनुवाद किया। पाठक जी प्रकृति-वर्णन में बेजोड़ कवि थे और हिमालय प्रदेश की रमणीय शोभा को शब्दों में अंकित करने में उनकी प्रवृत्तियाँ खूब रमी हैं। सरकारी कार्य से पेंशन लेकर पाठक जी अपने अन्तिम समय में प्रयाग रहते थे, जहाँ सन् १९८५ में आपकी मृत्यु हो गई। आपके 'श्रुतु-नंहर' से वर्णन-वर्णन का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"बारि कुहार भरे बबरा, सोई सोहत कुनर ते मतवारे ।
बोबुरी जोति गुजा फहरै, घैन गरजन सख सोई हैं नपारे ॥
रोर के घोर की ओर न छोड, नरेसन की-नी छडा छबि धारे ।
कामिन को मन को प्रिय पावस, प्रायी प्रिये जब मोहिनी डारे ॥"
पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (जन्म सं० १९२२)

हरिऔध जी उन अमर महाकवियों में से हैं, जिनोंने लड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों का ही काव्य क्षेत्र में नमाल रूप से प्रतिनिधित्व किया। 'प्रिय-प्रवाण' और 'रस-कलश' यदि किसी अपरिचित के सामने एक साथ रख दिये जावें तो सहसा यह विश्वास नहीं होगा कि एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न धाराणाओं में इतने अधिकार के साथ मार्ग दर्शन कर गया है। 'हरिऔध जी' ने अपने घर निजामाबाद में ही सिन्धु-सप्रदाय के महत 'बाबा नुमेरसिंह' की काव्य-गोष्ठी में कविता का अभ्यास आरम्भ किया था। तब से अपनी मृत्यु के अन्तिम समय तक आप साहित्य-माधमा में तल्लीन रहे। रस-कलश में आपने नायिकाओं की सामयिकता का पुट देकर कुछ नये रूप में चित्रित किया है। 'ब्रज-साहित्य-मंडल' पर हरिऔध जी का आरंभ ने ही बरद हस्त था। मंडल के द्वितीय दिल्ली-अधिवेशन में आपको 'रात्रपत्र'-द्वारा समानित किया जाना निश्चित हुआ था, परन्तु आपने सहज नवीन की प्रवृत्ति और स्वास्थ की खराबी के कारण उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। दुःख है कि आप हाल ही में संवत् २००३ में इन संसार को त्याग कर गये। आपका जन्म वैशाख कृष्ण २ संवत् १९२२ में हुआ था। उनका एक छंद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"बसि बरवार में बिसारै घर बारिन कों, धरी-धरी बीच घेर-घारें के घेरते ।
तम में उझारी किए डर की उजरी लहि, देखि जग-जीवन के जीवन कों नरे ते ॥
'हरिऔध' कहै भेब सुलत भजेव की हैं, सारे फेर-घारें ते मानस कों फेरते ।
कानन को कानन की बार्तन को कानन करि, आश्रित की आश्रित कों आश्रित माहि हेरे ते ॥"

महापात्र—साल जी

महापात्र साल जी का जन्म विक्रमी नवत् १९१४ में 'भमनी' जिला फतेहपुर में हुआ। ये ब्रजेश जी के चाचा हैं और अच्छे कवि हैं। ये अबब के तान्त्रिकेन्द्रों में विशेष धादर की दृष्टि से देखे जाते हैं और वहाँ उनका अच्छा नमाल है। इन्होंने 'अस्तिनी-नरित्त' 'पद्म-श्रुति-निनोद' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। कविता का उदाहरण है—

"बरतें घनस्यान न कौनों वहाँ, राति चाव चकोरों की टरी हैं ।
उड़े चातक, मोर, मलिन कियों, मति कोकिल, बाहुल की अरी हैं ॥
अब तो धर आए न 'सालजी' हा, धी बिरंजि न भूमि हरी करी हैं ।
हर मारघी मनोज कौ फेरी छुरी, बिजुरी में कियों बिजुरी परी हैं ॥

दा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

आपका जन्म संवत् १९२३ में काशी में हुआ था। आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की और कई रजवाहों में उच्चपदी पर कार्य किया। आप पहिले अनागत राज्य में मेन्टरी के और बाद

में अयोध्या नरेश के निजी सेक्रेटरी रहे। अयोध्या नरेश की मृत्यु के उपरांत आप उनकी महारानी के साथ रहे। रत्नाकर जी हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, नागरी-अचारिणी समा काशी, रसिक-मंडल व अन्य अनेक साहित्यिक-संस्थाओं से संबद्ध थे। ब्रजभाषा की आपने बड़ी सलज्जता से सेवा की है। आपने मौलिक ग्रंथों की रचना तो की ही, साथ ही 'सूरदास' और 'नवदास' के ग्रंथों का संपादन करने की भी उनकी बड़ी इच्छा थी। सूरसागर के संपादन का कार्य बड़ी योग्यता से प्रारंभ किया, किंतु आपका अवसान सन् १९८६ में हृदिरुद्ध में हो गया और 'सूरसागर' के संपादन का कार्य अधूरा ही रह गया। आपकी काव्य-रचना के दो-एक उदाहरण जैसे—

“नद-जमुधा की अरु गाय-गोप-गोपिका की, बात ब्रजभोजन-भोजन की जनि कीजियो ।
कहै 'रत्नाकर' कहत सब हा-हा खाइ, यहाँ के परपचैन सो नैक ना पसीजियो ॥
आसु सरि ऐहें श्री उवास मुख हूँ है हाइ, ब्रज-बुल-बास की न यातें सँस लीजियो ।
नाम को बताइ नैन-नीर अवगाहि बस, स्याम सो हमारी राँम-राँम कहि बीजियो ॥”

❀

“छहरावति छवि कबहुँ, काहु सित सघेन घटा पर ।
फवति फैलि निमि जोन्ह-छटा हिम प्रचुर पटा पर ॥
तिहि घेन पर लहराति, लुरति, बपला बँन बँनकै ।
जल प्रतिबिम्बित दीपि-श्याम, दीपति सी दैमकै ॥”

लाला भगवानदीन

लाला जी का जन्म फतेहपुर जिले के बरबटा गाँव में हुआ था। लालाजी कुशल साहित्यकार और सफल अध्यापक थे। आपने छतरपुर सेंट्रल-हिंदू कालेज काशी तथा बाद में विश्व-विद्यालय काशी में भी अध्यापन का कार्य किया। दीन जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आप कवि के अतिरिक्त एक कुशल लेखक, समालोचक और संपादक भी थे। 'हिंदी-शब्द-सागर' के संपादन में सहयोग देने के अतिरिक्त आपने गया की 'लक्ष्मी' पत्रिका का भी संपादन किया था। लाला जी खड़ी बोली और ब्रज दोनों में ही सुंदर रचना करते थे तथा उर्दू में भी 'रोशन' नाम से लिखते थे। समस्या-पूर्ति में भी लाला जी बड़े सिद्धहस्त थे। आपका जन्म सन् १९२३ में व मृत्यु सन् १९८७ में हुई। आपकी प्रसिद्ध कविता 'श्री रामगिरिप्रियम' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करते हैं—

“रितु बसंत तून, तर, बल्लिरि सब नव बल फूलें छावें ।
ज्यो सुकृती जन राँम कृपा ते सुख-सपति जस पावें ॥
असैन सुच्चिकन कोमल-दल-जुत, बिटप बल्लरी सोहें ।
दिनकर किरन परस बिलकें अति जग-जैन-बीठनि मोहें ।
फूलत पिक, गूजत अलि-भाला, कलरव जन-मन मोहें ।
ज्यो उबार जन-द्वार सबौ हौं, जय-जय धुनि-जुत सोहें ।
वनवासी खग मृग उमंग जुत दंपति-भाव जनावें ॥
जैनी जैनक होन की इच्छा, सब मन बस बतावें ॥”

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

'पूर्ण' जी का जन्म सन् १९२५ में कानपुर में हुआ था। आप यहाँ की सभी साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के केंद्र थे और वहाँ के प्रमुख वकीलों में भी आपकी गणना थी। पूर्ण जी ने 'रसिक-समाज' को नवजीवन देकर उसे जमा दिया। आपने सरस-शृंगार के अतिरिक्त वेदांत व ऋतुओं पर भी लिखा है। प्रकृति की सहज शोभा को हृदयगम करने और कराने में पूर्ण जी ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। आप प्रकृति वर्णन की पाठ्य्यात्य प्रणाली में भी पूर्णतः परिचित थे। इनकी

भाषा सरस, मुहावरेदार व व्याकरण समत होती थी। आपका निधन सन्वत् १६७२ में हुआ। ससार की विविधता का वर्णन आपने एक छंद में निम्न प्रकार किया है—

‘कोऊ पाट ही के नौके अंबर जरी के सजे, कोऊ डुल-सगैँ नगैँस दीन काया है ।
कोऊ स्वाव-भूरे खात विजन सुषा सो ऊरे, काहू पै बिधाता की न साग हू की दायी है ॥
कहूँ लोक छापी, कहूँ आँद की पाखी रग, कोऊ अति छुद्र, कोऊ आसमान पाया है ।
‘पूरन’ बिचित्र है चरित्र भूमि-मडल के, रीमजी की माया कहूँ धूप, कहूँ छाया है ॥”

ब्रजेश जी

ब्रजेश जी का जन्म नरहरि वंशीय ब्रह्मभट्ट परिवार में सन्वत् १६२८ में हुआ था। आपके पूर्वज महापात्र ‘नरहरि’ जी सत्ताई ‘अकबर’ के दरबारी कवि थे। महापात्र इन की परंपरागत उपाधि है और इनका वंश ‘रीवा’ नरेशों-द्वारा बहुत समय से समानित है। आपने ‘रसाग-निर्णय’ नाम से एक रीति-ग्रंथ तथा ‘रमेश-रत्नाकर’ और ‘विश्वनाथ-भूषण’ दो अलंकार-ग्रंथ लिखे हैं। अन्य ग्रंथों में विरह-वाटिका, छात-शतक, सोरठ-शतक, रामायण आदि हैं। ब्रजेश जी पद्याकरी शैली के कवि हैं, जो पुराने ठाठ के कवि हैं। अब सत्तर वर्ष से अधिक की अवस्थामें भी आप दाढ़ी में खिजाव लगाते हैं। आप-द्वारा रचित एक नायिका का चित्र यहाँ दिया जाता है—

‘‘लोरभिन सारी सेत, सोहत सुमन-हार, सारवा ते सुषमा सवाई उछरति है ।
कहत ‘ब्रजेश’ बेठी आदरस आठी करि, ‘मा कौ, रंमा कौ रग-रूप निवरति है ॥
भार सो’ आंगुरी में चबन लगाइ बाढ़, चित्र चार गोलैँ कपोलैँ करति है ।
भारसी सु छवि स्यामा, भारसी करेँ स्यामैँ, भारसी से माँगीं जत्र भारसी भरति है ॥”

आपने अपना परिचय स्वयं यो ‘गवोक्ति’ में दिया है—

‘‘साहें के सुकवि महापात्र हरिनाथ जिन्हें, एक लच्छु दीन्हों रीम बाधव के रवि है ।
बसत हैं तिनके ‘ब्रजेश’ ब्रजभाषाचार्य, काव्याचार्य, कोविद-महीचने में ध्रुवि है ॥
जानें अलंकार-गूढ-तत्त्व-स्वनि-भाव-भेद, छंद-रचना में दास-बेव तें न बहि है ।
आज हैं नवीन पै प्रवीन कविराज हूँ, बाधव-अधिराज के पुराने राजकवि है ॥”

वलरामजी मिश्र ‘द्विजेण’

द्विजेण जी बस्ती जिले के वर्तमान नवोद्भूत ब्रजभाषा-काव्यकारों में प्रथम्य माने जाते हैं। हमें अत्यंत खेद है कि अधिक जानकारी के अभाव में हम यहाँ केवल करने पर भी उनसे मेल में अधिक नहीं लिख सके।

सेठ कन्हैयालाल जो पोद्दार

पोद्दार जी का जन्म सन्वत् १६२८ में हुआ था। सेठ जी ब्रज की ऐसी अनेनी विभूति हैं, जिन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ही समान रूप से काव्य-रचना की है। तात्पर्य यह कि प्रकाशित होने वाले ‘हिंदुस्थान’ में आप की भी कविताएँ प्रचार्य द्विवेदी जी के माध्यम से प्रकाशित होनी चाहीं। आपका भव्य-हृदय-शतक का अनुवाद श्री ‘हिंदुस्थान’ में ही प्रथम छपा था, जो ब्रजभाषा का एक सुंदर काव्य था। ‘मरुत्सवी’ (पत्रिका) में आपकी गद्दी बोली की अधिराज रचनाएँ छपी हैं। आपके ‘काव्य-कल्पद्रुम’ ग्रंथ में आपके आचार्यत्व और कवित्व-भक्ति का पर्याय रूप प्राप्त हुआ है। सेठ जी ने इस ग्रंथ में काव्य-मिठातों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है और उन मिठातों को स्पष्ट करने में अपने अन्य कवियों के साथ ही अपनी स्फुट मानित रचनाओं को भी उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। वसन के प्रति कवि को एक उत्ति देगिये—

‘‘भक्ति पुजन की भद पुजन सो, बन कुत्रन ननु बनाइ रह्यो ।
लगि अग अनग तरंगन सों, जनि-रंग-उमग बसाइ रह्यो ॥

विकसे सर कजन कपित कै, रज-रंजन लै छिरकाइ रह्यौ ।
मलयानिल नंद वसों बिस में, मकरंद अमद बहाइ रह्यौ ॥”

आप द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवियों में माने जाते हैं। आपने महाकवि कालिदास के मेघदूत का समझोकी अनुवाद खड़ी बोली में बहुत मुदर किया है। उसका गद्यानुवाद भी हिंदी भाषा में किया है, जिसमें ऐतिहासिक स्थानों का बृहद् विवेचन है। कालिदास की सूक्तियों के अनुकरण पर संस्कृत के अन्य कवियों द्वारा की गई रचना की तुलनात्मक आलोचना भी की है और ‘संस्कृत साहित्य का इतिहास’ दो खंडों में लिखा है, जो अत्यंत पाठ्यपूर्ण है। अब बहुत बृद्ध हो जाने पर भी आप युवकोचित-उल्लास से साहित्य-सेवा में सलग्न हैं।

मिश्रबंधु

यद्यपि मिश्रबंधु मुख्य रूप से समालोचक थे और वही उनका वास्तविक कार्य-क्षेत्र था, फिर भी अपनी सहज भावुकता-वश ब्रजभाषा काव्य रचना की ओर भी वह प्राकृष्ट हुए हैं। इनकी कविताएँ प्रभावपूर्ण और भाषा प्रौढ़ हैं। भोज, माधुर्य और प्रसाद तीनों गुण इनके काव्य में यत्र-तत्र अपनी-अपनी छटा देते हैं। डा० श्यामाविहारी मिश्र तो सन् २००३ में ससार को छोड़ ही गये थे, किंतु गत वर्ष ५० शुक्रदेव विहारी मिश्र भी स्वर्गवासी हो गये। आपका युद्ध-वर्णन-सबकी एक उदाहरण यहाँ दे रहे हैं—

“जब दगें धर धंढूक गाजत मेघ सी तिहि डोर ।
तब निकसि पावक-ज्वाल तिनसो जलें अरि की ओर ॥
मनु धारि रूप कराल दारुन घोर-गैल की कोप ।
रिपु ओर धावत तेज तिन्हकी, गुंनत करिबे लोप ॥”

राजा रामसिंह जी सीतामऊ नरेश

राजा रामसिंह जी उन अध्ययनशील व्यक्तियों और कुशल कवियों में हैं, जिन्होंने हिंदी और संस्कृत दोनों में ही सरस रचना की है। आपकी कविताओं को देखकर प्राचीन रीति-कालीन-कवियों का स्मरण हो आता है। विज्ञान और ज्योतिष में भी राजा साहब को बड़ी रुचि है और इन विषयों पर भी आपने लिखा है। राजा रामसिंह जी का जन्म सन् १९३६ में हुआ था और आप सन् २०५७ में गद्दी पर बैठे। आपकी कविताओं का संग्रह ‘मोहन-विनोद’ नाम से छपा है। आपके दोहे उच्च कोटि के होते हैं। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे—

“नैन बिहीनो नेह है, यहँ जगारत बात ।
ना तो क्यों न जकोर कौं, बिषु कौं अंक लखात ॥
जानत हरि की बाँसुरी, उर छेदैं की पीर ।
फिरतु सो उर छेबिबे, हा क्यों होत प्रवीर ॥
तब मूरति की लटक नित, अटक रही इन नैन ।
जिहि हूँडन भटकति फिरी, पटक सीस दिन-नेन ॥”

वचनेश जी

आप ब्रजभाषा के प्रसिद्ध और पुराने कवि हैं। पहिले आपकी कविताएँ प्रायः ‘सुकवि’ में प्रकाशित होती रहती थी। कालाकांकर नरेश महाराज रमेशसिंह जी को यहाँ आप बहुत रहे हैं, जो स्वयं ब्रजभाषा के एक महत्त्वपूर्ण कवि थे। शुद्ध व सामयिक विषयों के प्रतिरिक्त आपने ‘बावरी’ नामका एक खंड-काव्य भी लिखा है। उदाहरण—

“हाह, हाह आह कौं पराह गयो प्यारी कहाँ, भागी तजि गेह नहिं बेह की सुरति है ।
खोजे-खोजे खिरक घरीक कस धारे नहीं, कुंज-बैन-कूलन-कछारन भ्रमति है ॥

बूझ तब-बेलन, अग्रणी मृग-मृगन सो, जित को डुलत पात, तित ही को गति है ।
 टेरति मुरारी जोकि हेरत खरक सुनि, धाँह सो सुमति करि रोबति-हैसति है ॥”

साला किशनलाल जी (कृष्ण कवि)

किशनलाल मथुरा के प्रसिद्ध कवि तो ये ही सतरज के भारत-विख्यात सिलाडी भी थे। सतरज खेलने के लिये आपको दूर-दूर से बुलावे आते थे और आपने बहुत से अग्रजों और अन्य विदेशियों को भी सतरज में हराया था। आपका जन्म सम्भवतः सन् १९३१ में और मृत्यु लगभग १९६० के आस-पास हुई। मथुरा के प्रसिद्ध सेठ ‘राधाकृष्ण जी पोद्दार’ आपकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे और उन्हीं के कारण वे आर्थिक चिंता में सदा मुक्त रहे। आपने कई प्रथम लिखे जो अब नहीं मिलते। बहुत समय हुआ आपके दो बहुत छोटे-छोटे ग्रंथ ‘गर्जन-मोक्ष’ तथा ‘कृष्ण-कवितावली’ छपे भी थे।

कवि-किशनलाल जाति के माहौर वैश्य थे और आपके पिता का नाम सतिशाम था। आपने अपने परिचय में दो दोहे लिखे हैं जो आपकी सरल हृदयता को परिचायक हैं—

“लरिकाईं ते आज लो, कियो नहीं कछु बज ।

है बिछा बस सोख लीं, काव्य और सतरज ॥

‘महादेव’ सतरज के, काव्य-गुरु ‘नवनीत’ ।

इन बौद्ध सिद्धा बई, राखि पुत्र-सम प्रीत ॥”

आपकी खबिता नायिका का एक उदाहरण लीजिये—

“आए भोर उठिकें वित्ताई प्रिय रैन कहाँ, आलस उनीचेइय लाजेंन सो छूटी है ।

अंजन अबर छवि बेत मँनो नीलैम की, जाबक लिलार प्रभा मानिक सी तूटी है ॥

‘कृष्ण कवि’ कहे माल बिन-गुन मुकलैम की, और-और अंजन में राखत सुदूटी है ।

साँव कहि दीजै हा-हा नैक ना दुराव कीजै, को न से नवौन जोहरी की हाट सूटी है ॥”

बल्लभ सखा

आपका जन्म मथुरा में सन् १८६० ई० में और मृत्यु सन् १९३५ में हुई थी। बल्लभ जी जाति के मैथिल ब्राह्मण थे और आपके पूर्वज सहरपुरिया सरसव (जिला दरभंगा) के निवासी थे। इनके पूर्वज श्री भगवानदत्त जी को भरतपुर नरेश श्री सूरजमलसिंह जी के समय बजह की जागीर भी मिली थी, जो बाद में छीन ली गई। तब से इनके पूर्वज मथुरा में ही आकर बस गये।

बल्लभ जी अच्छे चित्रकार, गायक और कवि थे। श्री वियोगीहरि जी ने आपको ‘ब्रज के धूल-भरे हीरे’ बहुत ही ठीक कहा था। आपकी ‘ब्रज-प्रीति-माला’ नामक दोहों की एक अखिल-रत्न पूर्ण पुस्तिका प्रकाशित हुई थी, किंतु शेष रचना अभी तक अप्रकाशित ही है। आपने शकुन्तला, देश, कादंबरी, रघुवध, कृष्ण-जन्म, अग्रिमन्यु, स्कन्धगी-मंगल आदि नाटक भी लिखे थे, जिनमें से अधिकांश अब अप्राप्त हैं। आपका एक गीता का सुंदर अनुवाद भी आपके सुपुत्र के पास सुरक्षित है, जो स्वयं एक भावुक व्यक्तित्व और सहृदय कवि हैं। यहाँ आपकी कविता के दो उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—

“श्री राधा राधा रटें, अस्तिन अगार-अगार ।

तैं देखी नेरी कहूँ, प्यारी प्रांवाधार ॥”

“प्यारी प्रांवाधारी तैं निहारी हैं हमारी कहूँ, कोरति कुँमारी सो सिघारौं रिसियाँ ५ ।

ओड़ें नील सारी, जामें जरब किलारी जरौ, बंद-उजियारी मव होत मुख-भारनै ॥

‘बल्लभ’ बिलासी तू तो बारिज वरूयेंन कौ, बिरम रह्यो है मोहि मृदु-मुखस्परनै ५ ।

भूतिहूँ तिहारो मति ओलती न मारी, जो ५ होती ओड अरी तैं पियारी अघरनै ५ ॥”

सत्यनारायण ‘कविरत्न’

‘ब्रज-कोकिल’ कवि-रत्न सत्यनारायण जी जैसी मथुरा काकली उनके उपरांत फिर आज तक नहीं सुनी गई। दुख है कि उनका जीवन बड़ा विपिन था और वह आरम में अत-नक अपनी विष-

मताओं से जुसते रहे। इनकी कविता में सरसता, सरलता और सकृत्रिमता आदि से अत तक व्याप्त है। महाकवि रवीन्द्र भी आपकी मर्मस्पर्शी कविताएँ सुनकर मुग्ध हो गये थे। इनका जन्म भलीगढ जिले के सराय नामक ग्राम में सन् १९४१ में हुआ था और बाबा रघुवरदासजी ने इन्हें आरम्भिक शिक्षा दी। धौधपुर रहने पर आपने ब्रज के ठेठ निवासी होने के कारण इनके काव्य में कहीं-कहीं ग्राम्य शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। भगवान् श्री कृष्ण के प्रति अनन्य निष्ठा आपके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। साथ ही कविरत्नजी के काव्य में समयोचित नव्य भव्य भावों की प्रचुरता विशेष है। 'अमर-दूत' से आपका 'वृंदावन-वर्णन' यहाँ उद्धृत करते हैं—

“पहेले की सौ अब न तिहारी यह वृंदावन ।
याके चारो ओर भए बहु-विधि परिवरतन ॥
बने खेत चौरस गए, काटि घने धन-भुज ।
देखै न को बस रहि गए, निषवन सेवा-कुंज ॥

—कहाँ चरि है गऊ ॥

पहिली-सी तहि या जमुना हूँ मैं गैहराई ।
जल को थल अरु थल को जल अब परत लखाई ॥
कालीबहू को ठौर अहँ, चँमकत डण्जल रेत ।
काछी-माली करत तहँ, अपने-अपने खेत ॥

—चिरे झाड़ै सो ॥”

आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल

हिंदी-साहित्य के अग्रगण्य आलोचक आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल से हिंदी-जगत भलीभाँति परिचित है। आचार्य शुक्ल जी का गहन अध्ययन और साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों का विदलेषण करने की अनुपम सूक्ष्म-दृष्टि भी उनकी भावुक कल्पना और अनुभूति के वेग में किसी प्रकार बाधक नहीं थी, यह उनके प्रसिद्ध काव्य 'बुद्ध-चरित' से प्रगट ही है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त शुक्लजी ने खड़ी बोली में भी थोड़ी कविता की है। आपका जन्म अगोना (जि० बस्ती में) सरयूपारीण गंग गोत्रिय ब्राह्मण परिवार में आश्विन पूर्णिमा स० १९४१ को हुआ और काशी में जब आप हिंदू-विश्व विद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष थे, माघ शुक्ला ६ सन् १९९७ को रात्रि के ८ बजे अपनी जीवन-शीला समाप्त की।

यहाँ 'गौतम-बुद्ध' काव्य से चैत्र-पूर्णिमा की रात्रि में कपिलवस्तु के राज-प्रासाद की एक श्रांकी उपस्थित की जाती है—

“छिद्रकी विभल बिज्राम बन पै, जामिनी मृदुता-भरी ।
वासित सुगंध प्रसून परिमल सो, नखत्रन सो जरी ॥
ऊँचे उठे हिमवान की हिम-रासि सो मन-भावनी ।
सचरित सैल पुबायु सीतल, सद-संब सुहावनी ॥
जमकाय सुगन चंद जडि अब अमल अंबर पथ गह्वरी ।
अलकाय निद्रित भूमि, रोहिणि के हिलोरन को रहरी ॥
रस-वास के वंकि मुडेरन पै रहो छुति छाये है ।
अहँ हलत-डोलत नार्हि कोऊ कतहँ परत लसाय है ॥”

श्यामसेवक

आपका जन्म सन् १९४८ में हुआ था और आप 'मकुण्ज'—रीवाँ के निवासी तथा जाति के सनातन ब्राह्मण थे। आपने प्रेम-कौजवारी, ज्ञान-मंजरी, कीर्ति-मुक्तावली, गृहस्थोपदेश, प्रेम-अवाह आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। प्रेम-कौजवारी का एक छंद यहाँ उद्धृत है—

“हुती शरें गुंजन की माला, चहुँ विसि प्रभा-मसार ।
 मोर-पखन की मुकुट मनोहर, हुते सीत पर धारें ॥
 पदका पीत हुती कटि में, सुचि मटवर मेघ बनाएँ ।
 श्रैविशारे नैन-को काजर, सुंदर लाल पिन्हाएँ ॥
 देखत ही राधा प्यारी की, और गदे बे नैना ।
 बल पेंतरा तिरछोई छै, हव्यौ राधिका सैना ॥”

✓ रामाधीन, रीवाँ

आपका जन्म सवत् १९४१ में एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था । इनके पिता मुशी राम-चन्द लाल “मैहर राज्य” के एकाउन्टेन्ट थे । सत्तरहूँ वर्ष की अवस्था में ही रामाधीनजी ने “सुंदरकाव्य” की कथा कवित्त, घनाक्षरी आदि छंदों में लिखी थी । आजकल आप रीवाँ-नरेश के “राजकवि” हैं । श्रीरक्षा मरेश ने आपकी “अन्योक्त्याचार्य” की उपाधि प्रदान की है । रामाधीन जी को आठ ग्रन्थ ग्रन्थ तक प्रकाशित हो चुकी हैं । कृप्य के श्याम होने का कारण आपने यो लिखा है—

“मर्चौ हँ बिबाह ठीव-ठीवन में मेरी बीर, पुर प्रति गाँवन में सखि-सखियाँ में ।
 कहत बतात सब लोग कुण्ड कादे भए, धारें सीस सघन मयूर-पखियाँ में ॥
 रामाधीन मेरी जान जबत भए हँ स्याम, प्रेम-अन-मालिने की रवि रक्षियाँ में ।
 जब ते बसायो राधिका में शरबीली निज, कुटिल-कटीली-कजरारी-मैलियाँ में ॥”

✓ पुस्वोत्तमदास ‘सैर्या’

सैर्या जी मथुरा में ब्रजभाषा-साहित्य के भयंकर माने जाते हैं । आप एक कुशल कवि हैं श्रीर समय-समय पर आपने बहुत से स्फुट छंद लिखे हैं । कविता में आपका उपनाम ‘उत्तम’ है । श्री गवनीत जी चतुर्वेदी से आपने पिंगल पडा या श्रीर श्री भोलाराम जी भगरी की प्रेरणा से उसने प्रवीणता प्राप्त की थी । अब नैव-कल के कारण आप लिखने-पढ़ने में असमर्थ हैं, किंतु आपकी प्रसिद्ध-‘साहित्यिक दुकान’ आज भी साहित्य-सेवियों का प्रमुख केंद्र बनी हुई है । सैर्याजी अग्रवाल वैद्य हैं । आपका जन्म सवत् १९४२ में हुआ था । यहाँ आपका एक छंद उद्धृत करते हैं, जिसमें राजा बिराट के नगर में बृहन्नला के जेब में छिपे हुए अर्जुन का उत्तम को साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय का वर्णन है—

“कैकल करेन कटि, पिकनी बिराज रही, धीरता बिराज रही भव की उल्लस में ।
 ‘उत्तम’ गिहार लेंगे, सैनी मृग-लेंगे रहें, लौं की ललेंगे जान सोहत निर्दम में ॥
 बीरी, दान, हार, जायें बाँधि राखी तरवार, रथ के अगारी बैठौ केसरी सम्य में ।
 हीनरा के डंग में सुवीरता के रंग-रंथ्यो, उत्तर के संग जाइ पारय यो जंग में ॥”

नापूराम माहौर

माहौरजी का जन्म बाँसी में सवत् १९४२ में हुआ और वह ब्रजभाषा में सुंदर काव्य-रचना करते हैं । इनकी धीर-बैधू, धीर-बाला, अशु-भाल आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । आपके अप्रकाशित ग्रंथों में रस-अनाह, पट-श्रुत-दर्शन छत्रसाल गुणावली, सूर-सुधा, द्रोपदी-बुद्धल आदि तथा बहुत से स्फुट पद हैं । माहौरजी ब्रजभाषा के उत्साही सेवकों में से हैं । आपकी ब्रजभाषा के प्रति अनन्य मित्र मित्र छंदों से प्रगट है—

ब्रजनागरी-जंबना

“मधु भावनी है मधु-पति दुहैं, कवि को धरनें गुन माधुरी के ।
 दुहैं कोमल काति पदावली हँ, सख पकज लावें बिरावरी के ॥
 भलमोहक हँ सुधमा में दुहैं, तिरखे उपमान बराबरी के ।
 ब्रज-नागर के भव माहि रये, पद बढौं दुहैं ब्रज-नागरी के ॥”

ब्रजनागरी का शृंगार

“तुलसी भए भाग सुहाय के बिडु, सु देव दुगंजन आगरी के ।
कवि केसव अंग के राग भए, मुख-राग भे सूर उजागरी के ॥
भए ‘साहुर’ पकज पाँइन के, मेंहवी कवि बाल प्रभागरी के ।
मतिराम, रहीम, बिहारी घनानंद, भूषण भे ब्रज-नागरी के ॥”

नवीनवक्ता ‘फलक’

मुन्शी नवीनवक्ता ‘फलक’ दतिया के निवासी है। यही आपका जन्म १९५० में हुआ था। आप ब्रज, ब्रजचंद और ब्रजेश्वरीजी के भक्त्युपपासक हैं। राम और कृष्ण दो ही आपके काव्य के अविच्छेद्य हैं और आपका काव्य भक्ति-रस से ओत-प्रोत है। आपने आज भी उस परंपरा को जीवित बनाये रखा है, जिसके लिए भारतेंदु जी ने कहा था कि “इन तलमान हरि-जनन पै कोटिक हिंदू वारिए”। आपके द्वारा रसज्ञान जी की-सी वाणी आज भी प्रतिध्वनित हो रही है, फलक जी ने हाल ही में ७०० दोहों में ‘फलक-सतसई’ नामक ग्रंथ तैयार किया है। यह काव्य अभी प्रकाशित है। फलक जी की रचना का एक उदाहरण यहाँ देते हैं।^१

“राधा रानी के चरै, गहौ बेगि ही जाइ ।
बिगरे काज बनाइ लै, ‘फलक’ न बेर लगाइ ॥”



“राज के भरोसैं कोऊ, काज के भरोसैं कोऊ, साज के भरोसैं कोऊ, कोऊ बर बानी के ।
देह के भरोसैं कोऊ, गेह के भरोसैं कोऊ, नेह के भरोसैं कोऊ, कोऊ गुप्त रानी के ॥
नाम के भरोसैं कोऊ, ग्राम के भरोसैं कोऊ, दाम के भरोसैं कोऊ, कीरत कहानी के ।
ब्रज है भरोसैं सदाँ स्याम-ब्रजराज के तो, ‘फलक’ भरोसैं एक राधा-ब्रजरानी के ॥”

रामप्रसाद त्रिपाठी

डा० त्रिपाठी जी की वेबभूषा और रहन-सहन से यह तनिक भी भासित नहीं होता कि उनके हृदय में ‘ब्रज-साहित्य’ के प्रति अनुराग का एक प्रबल सागर तरंगित हो रहा है, परंतु त्रिपाठी जी स्वातन्त्र्यमुख्य ब्रजभाषा का शृंगार चुपचाप ही करते रहते हैं। आपका जन्म सन् १९४६ में मुजफ्फरनगर में हुआ था। १९७३ से प्रयाग में इतिहास के अध्यापक थे और अब वे ‘सागर-विश्व-विद्यालय’ के उपकुलपति हैं। आपने इंग्लैंड जाकर ‘डी० एस० सी०’ की प्रशस्त उपाधि प्राप्त की और अपनी योग्यता की गहरी छाप वहाँ के अध्यापकों पर छोड़ आये। आप कई भाषाओं के पंडित हैं। ‘ग्रंथा० ब्रज-साहित्य-मंडल’ ने अपने तृतीय शिकोहावाद सम्मेलन में आपको अपना सभापति निर्वाचित किया था। आपकी ब्रजभाषा में कविता बड़ी भावमयी है। जैसे—

“नैन बुझाइ बुझाइ थके, अनुराग की आग बरौई कर ।
कोटि निरास कुठार जलैं, तऊ प्रेम की बेलि फरौई कर ॥
नैनन नीर बह्यौ करै पै, छर अंतर नेह भरोई कर ।
मोन रहै हिय हारि तऊ, रसना सब नाम ररौई कर ॥”

ब्रजनंदन जी ‘कविरत्न’

श्री ब्रजनंदन जी का जन्म सन् १९४९ में जिला रायबरेली के मनुबामऊ ग्राम में हुआ। आपके पिता रामधीन ने कोई सत्तान न होने के कारण ब्रज आकर श्री गिरिराज जी की परिक्रमा की,

^१ बुझ है कि गत वर्ष श्री फलक जी स्वर्गवासी हो गये।

जिसके कुछ ही दिन उपरांत 'ब्रजनन्दन' जी का जन्म हुआ। आप ब्रजभाषा के बड़े अनुरागी और काव्य-रसिक हैं।

ब्रजनन्दन जी ने सन् १९६९ से काव्य रचना आरम्भ की थी। आपका सर्वप्रथम छंद यह है—

“मन-मोहन मोहि कें कूरि पै, निज प्रेमिन सों मुख भोरिऐ ना।
जेहि प्रेम भियुष पिपाएहु ताहि, बियोग के बारिब बोरिऐ ना॥
नित नेह कौ नातो बढाइ कियो तरु, सो तिनका इब तोरिऐ ना।
ब्रज-जीवन फेरि वसो ब्रज में, बिसवास नें यों बिस-बोरिऐ ना॥”

आप 'बरवै' लिखने में भी सिद्धहस्त हैं, 'वृंदावन-विरहनी-बरवै' के दो-चार नमूने यहाँ दिये जा रहे हैं, यथा—

✓ “श्री वृंदावन बल-फल, बल-जल जोहि।
आवत सुधि सु स्याम-छल, पल-मल मोहि॥
बरवै^१ करि^२ बारत है, बिरह दवारि।
बर वै^३ बारिद बरसो, बिनमय बारि^४॥
जबि बेला हिम बेला, हार पहार।
हार-हार हरि होत, हँ रही हार॥
बैजती जो आवैं, ब्रज ब्रजराइ।
तो मैं बिजै जयती, रमैहु सनाइ॥”

वियोगी हरि

वियोगी हरिजी का जन्म सन् १९५३ है, आप 'ब्रजभाषुटी' के अनन्य उपानक और एक मातृक जीव हैं। आजकल आप हरिजन-सेवा का कार्य कर रहे हैं और 'हरिजन-सेवक' के संपादक हैं। बीच में आपने साहित्य-क्षेत्र से सन्यास ले लिया था, परन्तु आप अब फिर से अपने पुराने कार्य-क्षेत्र में लौट आये हैं। आप 'ब्रज-साहित्य-मंडल' की मुखपत्रिका 'ब्रजभारती' के संपादक भी रहे हैं। आपकी 'वीर-मनन', 'प्रेम-गतक', 'प्रेम-पथिक' और 'प्रेमाजलि' उत्कृष्ट और हृदय-स्पर्शनी रचना हैं। 'वीर-सतसई' पर आपने 'मंगलाप्रसाद-भारतीपिक' भी प्राप्त हो चुका है। आपके 'भूरवीर' वर्णन का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

“खंड खंड हैं जाँय बर, बेत न पावैं पेंड।
सरत सूरमाँ खेत की, मरत न छाँड़त मेंड॥
सहज सूर रन-बूर उर, बहिऐँ चातक-वाह।
बहिऐँ हारिल-हठ बहै, बहिऐँ सती-उमाह॥
सल खडन, मंडन मुजग, सरत मुहुद सबिबेक।
गुन-मोरीर, रन सूरमाँ, मिलत साख मंह एक॥”

हरदयालु सिंह

आप आजकल के ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में से हैं, आप मध्यम रंगों के भागी हैं। ब्रजभाषा छंदों में इन प्रकार कातते हैं कि छंद में अनुवाद जैनी भविष्यता नहीं प्रतीत नहीं होती। आपका 'देव-यन्त्र' एक मौलिक ब्रजभाषा-काव्य है। आपकी दैन्य-बन पुस्तक पर 'देव-यन्त्र' प्रान्त हो चला है। देव-यन्त्र से 'संस्मृति' का स्वयंवर-मंत्र में आने समय का एक दृश्य देखें—

१. बेबर २. बरष करवै ३. बरष छंद ४. पानी।

“ठाढ़ी लजात तहाँ कैमला, न स्वयंवर-भौन सकी पगु धारी ।
भूवैन धौ सुधमा-झवि भारेन, जातिहँ मानो दबी सुकुमारी ॥
भानस को धन हस कुमारि को, ले चलैं तैंसैं चलैं सकी सारी ।
लोचन देवैन के उरहैं भग, कैंसैं बरै पग सिधु-नुसारी ॥”

डा० रामशंकर शुक्ल ‘रसाल’

रसाल जी का जन्म मऊ (जिला वादा) में सन् १९५५ में हुआ था। आजकल आप ‘प्रयाग-विश्वविद्यालय’ में अध्यापक हैं। आपने इस विद्यालय से ‘डाक्टर’ की उपाधि प्राप्त की है। रसाल जी योग्य लेखक और कुशल कवि भी हैं। आपके ‘अमरगीत’ का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

“यह अवसर स्याम-कथा की मिली, सो गयी रसना की रलारली में ।
कहिबे-सुनिबे की रही तो रही, इन बातें ही की बलाबली में ॥
मन-मौन मलीन भरे से परे, यहि ध्यान की कोरी बलाबली में ।
मन भावती हू कहि जाते कछु, अब ऊबव ऐसी बलाबली में ॥”

श्री अमृतलाल जी चतुर्वेदी

प० अमृतलालजी चतुर्वेदी आजकल के ब्रजभाषा के सरस कवियों में अग्रगण्य हैं। आपके कमनीय कठ से ब्रजभाषा-काव्य की निष्कर्षणी जब प्रवाहित होती है तो श्रोता मंत्रमुग्ध-सा खड़ा रह जाता है। आपकी एक पुस्तक ‘श्याम-सदेसों’ इंडियन प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है। चतुर्वेदी जी आगरा में बकासत का व्यवसाय करते हैं।

प० रामदयाल जी (सोहवन निवासी)

आप मथुरा जिले के वयोवृद्ध कवियों में हैं, ब्राह्मण हैं। इस समय आपकी अवस्था ७० वर्ष के लगभग है, किंतु कवि-समेलनों में आप आज भी युवकोचित उत्साह से भाग लेते हैं। वीर और हास्य-रस के आप सिद्ध कवि हैं।

उमरावसिंह पांडे (मैनपुरी)

ये मैनपुरी के जमींदार प० चिंतामणिजी के पुत्र हैं और खड़ी बोली व ब्रजभाषा दोनों में ही रचना करते हैं। इनका जन्मकाल स० १९५६ है। मैनपुरी के माधुर चतुर्वेदी पुस्तकालय की स्थापना में आपका मुख्य हाथ रहा है। इनका एक छंद देखिये—

“भोर-भला राजत, बिराजत उत चंद्रकला, बेसरि सुहाई उत बाँसुरी बनाई है ।
बानिक बनायो इतै कृष्ण जटु-नवन आज, उतै चंद-चंद्रिका सुनैनी चारु चारि है ॥
पीत पट भंग फहरात शहरात उत खूनरी सुधार चारु चित्रित जुनहारी है ।
गात की गुराई ‘उमराव’ कवि गारि उतै मुख-मधुराई इत ललित लुगारि है ॥”

अविकेश

प० अविका प्रसाद भट्ट ‘अविकेश’ का जन्म सन् १९६० वि० को रीवाँ में हुआ था। अविकेशजी रीवाँ-नरेश के तो पुरतनी राजकवि हैं ही, आपको ओरछा नरेश और सरगुज्जा-नरेश ने भी अपना राजकवि बनाया। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ग्वालियर, अखंड-भारतीय-कवि-सम्मेलन कानपुर तथा रीवाँ नरेश ने आपको ‘कवि-भारत’ की उपाधि प्रदान की है। ‘ज्योति’ नाम से आपका एक कविता-संग्रह स० १९४१ में छपा है। आजकल आप विध्य-सरकार के राजकवि हैं। आपका ‘वीर-रस’ का एक छंद देखिये—

“जाकी ओर ताकत न ताकत रहत तामें, ताकत कहा है मुरि एक बार हेरें है ।
पीठ ही दिखत ना दिखत फिर बीठि कबो, भयें अँच-नीच भूमि मान ना निबेरें है ॥

झूमत मतंग से बिखात झुग फोष मरे, लीलि जेहूँ बिस्व सेत तीखें तरेरें है।
 डुबन दरेरें बाबि कोलू सस घेरें घोर, प्रलं घन घेरें जब बीर दुग फेरें है ॥”

प० रूपनारायण पांडेय

माधुरी के यशस्वी सपादक प० रूपनारायण पांडेय ने अनुवादों के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, वह सर्व विदित है। पांडेय जी ब्रजभाषा के सुकवि भी हैं। ‘शिव-शतक’ और श्री कृष्ण-महिमा’ के अतिरिक्त आपने ‘गीत-गोविंद’ की टीका भी की है। पांडेय जी का जन्म स० १९६० में हुआ था। आपकी कविता का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

“बुद्धि बिबेक की जोति बुझी, ममता-मय-मोह-घटा-धनी बेरी।
 है न सहारौ, अनेकौन है ठग, पाप के पलग की रहै फेरी ॥
 त्यों अभिमान की कूप इतै, उतै कामना-रूप-सिलाँन की बेरी।
 तू जल मूढ़ सँभारि अरे मय, राह न जानी है रैन-अँबेरी ॥”

जगनसिंह सेगर

ठा० जगनसिंह सेगर अजीमठ जिले के प्रमुख साहित्य-सेवी हैं। आपका जन्म-स्थान सिकंदरा राज तहसील के गाँव राजनगर में सवत् १९६० की हुआ था। ‘मुरली’, ‘श्रीकी’ और श्री ज्ञान में किसान-सतसई नामकी आपकी तीन रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। आप अच्छे लेखक और पत्रकार भी हैं। विद्वत्समेवन ने अपने वार्षिक अधिवेशन में आपको ‘साहित्यालंकार’ व ‘साहित्य-रत्न’ की उपाधि प्रदान की है। आपकी ‘किसान-सतसई’ से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

“नीचे स्यामल निरबला, ऊपर मय नीलाम।
 पर बुझ कातर, तप निरत, जमहु हनी अभिताम ॥
 पटवारी, पतरील अरु, पुत्तिस, पटैल प्रथान।
 पंच प्रकार प्रपंच परि, पनप न सकत किसान ॥
 सुर-तप, सुर-मुनि, सुर-सुरभि, जानहु सकल असार। ✓
 मेरे मते किसान ही, अभिसत फल दातार ॥
 बिस्वभरा, बसुधरा, रसा, उरबरा, भूमि।
 जनति बिनीत किसान के, बार-बार पद चूमि ॥”

रामलला—(जन्म सवत् १९६४)

ब्रजकी उन गिनी-चुनी विभूतियों में रामलला जी का प्रथम स्थान है जिनके आकार-अकार, नेप-भूषा, बोल-चाल और काव्य-रचना सभी से ब्रज-संस्कृति का स्वरूप नेत्रों के समुच्च उपस्थित हो जाता है। श्री रामलला मथुरा के सतीवृज पर प्राय विजया और साहित्य की साधना में तल्लीन देखे जाते हैं। इस पवित्र ऐतिहासिक स्थल ‘सतीवृज’ पर कवि रामललाजी ने एक उत्प्रेक्षा लिखी है जो यहाँ दी जाती है—

“कैवों पुतनरों की एक उरज उत्तंग वृंग, स्वयं नैन पीयो सोई बाकी रह्यौ ठीकी है।
 ‘लला कवि’ प्यारे कैवों भूमि-सुल ठाढ़े, लह्यौ अवन अवन्य मत भानुजा रती की है ॥
 कैवो भरतविक की बीर रस भेलौ भयो, प्रज्वलित तेज ये अलख रवि ही की है।
 पति-भगती की स्वाद सहल अँबी की कैवों, कंस-नृप-भूती की नीकी बुरज-सती की है ॥” ✓

जाति से आप सनाढ्य ब्राह्मण हैं। आपने ‘श्रीपदी-कुंकूल’, ‘वीर विक्रमाजीत’ तथा ‘श्रीग-दास्यी’ नामक तीन ग्रंथ तथा सैकड़ों स्फुट छंद लिखे हैं। आपको प्राचीन कवियों के हजारों छंद याद हैं। आपकी रचना के कुछ उदाहरण देखिये—

“जब तो तिहारे नैन देखत डुरेहें बीर, अब तो तिहारे नेत्र सँवें सजाए है।
 ‘लला कवि’ जब तो तिहारे नैन ख्याली रहे, अब तो तिहारे अँभ पगों पगाए है ॥

जब ती तिहारे नैन कंज हे, निरंजन हे, अब ती तिहारे नैन खंजन सिसाए हूँ ।
जबती तिहारे नैन साजन लजाए धरी, अब ती तिहारे नैन नैन नैन छाए है ॥”

४३

“सुनि ब्रजरानी नंदबारे की कहाँनी, हँम राखि-राखि हारी तोऊ राखेन बचै नहीं ।
‘लला कवि’ प्यारे की अँनोखी करतूति, जिन्हें, भाँति-भाँति भाँलें कहाँ भाँखन बचै नहीं ॥
ताखेन छिपाइ हारी, ताखेन लगाइ हारी, ओचक निकाँर रच चाखेन बचै नहीं ।
जाखेन सुजान कान्हू घर-भुसि आवै बीर, लाखेन उपाइ किएँ भाँखन बचै नहीं ॥”

सेवकेद्र त्रिपाठी

आधुनिक ब्रजभाषा के श्रेष्ठ सुकवि श्री ‘रामसेवक’ त्रिपाठी ‘सेवकेद्र’ का जन्म कार्तिक शुक्ला पत्नी सवत् १९६६ को झाँसी में हुआ । आप के पिता प० रामचरणजी तिवारी हैं । आपने अंग्रेजी एवं मराठी-कविताओं का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया है । आपके मीरा-मानस, ताजमहल, सूरदास खनसाल आदि खडकाव्य अप्रकाशित हैं । बुदेलखंड और मध्यभारत के राजदरबारी में सेवकेद्र जी का अच्छा समान है । यहाँ ‘रास-भूषिमा’ का एक छंद उद्धृत करते हैं—

“उत सुभासर सुभासरि बिलसत मजु, इत सुभासर बर सुर की बिलासु है ।
उत भव चंद तारिकान मिलमिल जोति, इत दृग-तारिकान भ्रमिस्त उजासु है ॥
‘सेवकेद्र’ सोरहू कला की उत प्राँन दान, सोरहू सहस्र-कला की इत बिकासु है ।
उत नील अवर जुहैया की प्रकासु होत, इत पीत-अवर कहैया की प्रकासु है ॥”

गोविंद जी चतुर्वेदी

आप ब्रजभाषा काव्य के नवनीत कविवर नवनीतजी के पुत्र हैं । आपने अपने पिताजी से ही काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया है । आठ वर्ष की अवस्था में ही आप सुंदर कविता करने लगे थे । सामवेद का आपने विधिवत् अध्ययन किया है और सस्कृत की शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण है । आपको काँकरीली के गो० ब्रजभूषणलालजी ने स्वर्णपत्रक प्रदान किया था । आपकी कविता भोज से परिपूर्ण है । आपकी ‘ब्रजवानी’ पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है । आपका जन्म-सवत् १९६९ आश्विन कृष्ण १४ को हुआ था । आजकल आप ‘ध्वन्यालोक’ सस्कृत का सरस ब्रजभाषा में अनुवाद कर रहे हैं । उसी के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

मूल

“पथिक नास्त्यत्र संस्तर मनागपि प्रस्तरस्थले प्राप्ते ।
उन्नत पयोधरं प्रेक्ष्य पथि वससि तद्वत् ॥”

अनुवाद

“पथिक गाँव में लेख, पथरीली कछू नहिँ लहत ।
उठे पयोधर पेख, जो वसियो चाहिँ वसहु ॥”

मूल प्राकृत

अप्ता एत्थ शिमज्जइ एत्थ अहं विअसअं पतोएहि ।
मा पहिअ रत्ति अंधअ सेज्जाए महणिमज्जहिस्सि ॥”

अनुवाद

“सोवत सास यहाँ अरु हो यहाँ, हैं दिन देखिले पथ अँनारी ।
‘गोविंद’ हैक घरीक के जात, झुकंगी निसा घनघोर अँधारी ॥
चूक अऐं झुकि हैं गुद-लोग, सुझावत हो ये बात बिचारी ।
एरे बटोही रतोबिया तु, परियो जनि आइकें सेज हमारी ॥”

रामनाथ ज्योतिषी

ज्योतिषी जी ब्रजभाषा के एक कुशल कवि हैं। 'रामचन्द्रोदय' काव्य पर आपको 'देव-पुस्तकार' प्राप्त हो चुका है। रामनाथ जी का जन्म मौरमपुर ग्राम में हुआ था। आजकल आप ग्रयोव्या के राजकवि हैं। एक उदाहरण देखिये—

"कैथो अश्व-जाल-माल सिधिला नगर की है, कैथो सिधिलेस के मनोरथ की माला है।
कैथो राम-रूप माहि सागर सुमेर जुल, कैथो चाप-खंडन को सुजस निराला है ॥
कैथो मंद-भूषेन के मानस-कमल-पुष्पि, गूष हिय डारयो हार 'जोतिषी' विसाला है।
ताला प्रेम भोन की, बिचित्र मन-माला किथो, बीरेन-बिजै की कैथो कंठ 'जयमाला' है ॥"

रामचंद्र शुक्ल 'सरस'

आप डाक्टर रसाल जी के छोटे भाई हैं। आपका जन्म सन् १९६० में हुआ था। 'सरस' जी ने ब्रजभाषा में 'अभिमन्युवध' नामक एक सरस 'खंड-काव्य' लिखा है। एक शब्द-चित्र देखिये—

"सुमद सुमद्रा-सुत बीरेन की बीरेन में, चारो ओर कोसरी-किसोर लो गार्ज है।
'सरस' बखालें, देखि भीरि रिपु-बानन की, अनन प ओष लं सकोप कोष छाल है ॥
रंग बदरंग ह्यो बिपच्छिन्न की डग देखि, रंग निज लेखि मंद-हास मुख राज है।
रौद्र रस राख्यो ह्यो भयातक लो भाख्यो मनो, बीर-रस हास के बिलास में बिराल है ॥"

स्वर्गायि चौधरी लक्ष्मीनाराण सिंह 'ईश'

ईश जी काशी के निवासी थे। आपने अपने माता-पिता और गुरु के नाम क्रमशः पार्वती, शिवमगल और 'रसमय-सिद्ध' ग्रन्थ लिखे हैं। ईशजी ने 'लका-वहल' नामक एक सुंदर काव्य लिखा है, जो 'काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस काव्य में आपने काशी में प्रचलित अनेक-मिश्रित ब्रजभाषा को अपनाया है, फिर भी यह काव्य उच्च कोटि का है। हनुमान जी और मेघनाद के युद्ध का एक छंद देखिये—

"ऐँचि-ऐँचि पेचेंच पें पेच बाँचि-बाँचि बोक, बावेंच पें बाव कें कुदाच में सेंमाने जात।
झुटि-झुटि, जुटि-जुटि, दपटि-धपेट-जुति, लपटि-लपेटि कें चपेटि सेंमुहने जात ॥
अपटि-अपटि कें झुकाइ झट झोकन सो, झार वै-वै अरुझि, झुरझि बिछसाने जात।
जाने जात बिलग न चक्कर करत बोक, चक्कर सेंमान एक-एक में सेंमाने जात ॥"

श्री राजेशदायालु श्रीवास्तव

आप लखनऊ के निवासी हैं और श्री गणेशदायालु श्रीवास्तव के सुपुत्र हैं। राजेश जी हरिस्मरण में ही अपना जीवनकाल व्यतीत कर रहे हैं। आपने ब्रजभाषा में सुंदर अश्वि-रस से ओत-ओत काव्य रचना की है। 'श्याम-रसमयी', 'राजेश-सतसई', 'गीराग-जरीज', 'बालिका', 'राजेश-बोहावली' आदि आपकी अनेक सुंदर रचनाएँ हैं। राजेश जी कम लिखते हैं, परंतु जो लिखते हैं वह सुंदर लिखते हैं। इसका कारण आपने स्वयं एक स्रोत में लिख दिया है, जैसे—

"कह बुध बेंनु ललसु, गुन चाहिय, परिमामु नहि।
गुनहि करो परनामु, गुन परिमामो चाहियै ॥
ओ पें कलनु चलाइये, कबि नू कहो निहोरि।
कि लो डारिये तोरि ही, कि लो डारिये तोरि ॥
सैनरि चलौ साहित्य-मग, हँ काई कलि-काल।
ए सुख छैन के जागियै, बिनु मरजार बिरहात ॥
जातें भलौ कहूँ न सो, जाके भाव न कोइ।
ताहू भाँखें कबि रतनु, पहिलौ मूरख सोइ ॥"

भ्राता बोहा सोरठा, कविता के संसार ।
सबै गुंननि-तिरमौर ए, सबै गुंननु-भंडार ॥”

अनूप शर्मा ✓

शर्माजी के पिता का नाम ‘बदरीप्रसाद’ त्रिपाठी है, जो स्वयं ब्रजभाषा के एक सुंदर कवि हैं । अनूप जी सीतापुर के निवासी हैं । इनका जन्म सन् १९५७ में हुआ था । बहुत समय तक आप धामपुर में प्रधानाध्यापक रह चुके हैं । आप सनेही जी के शिष्य और वीररस के प्रमुख ब्रजभाषा कवि हैं । अनूप जी की ‘फेरि-मिलिबो’ पुस्तक पर ‘देव-पुरस्कार’ प्राप्त हो चुका है । अन्य ग्रंथों में ‘कुणाल’ और ‘सिद्धार्थ-चरित’ उल्लेखनीय हैं । आपकी रचना का एक उदाहरण देखिये—

“नाम रतनाकर जयारथ परगौ है यतौ, चौदहौ रतन धारौ सोहतै रहत है ।
तरल तरंगनि उमंगनि के सगनि सो, बिस्व-मोहिनी कौ मन मोहतै रहत है ॥
निखिल नदी-नब कौ निपुन निर्मान एकै, बोहित के वृंदनि बिमोहतै रहत है ।
एहो कुंभजात, एतौ बारिधि बढचौ तौ कहा, रावरी कृपा की कोर जोहतै रहत है ॥”

दुलारेलाल भार्गव

श्री दुलारेलाल लखनऊ के निवासी और हिंदी पुस्तकों के प्रमुख व्यवसायी हैं । आपका जन्म सन् १९५२ में हुआ था । ‘माचुरी’ और ‘सुधा’ के संपादक के रूप में आपकी विशेष ख्याति रही है । महाकवि विहारी के अनुकरण पर आपने ‘दुलारे-बोहावली’ नामक पुस्तक की रचना की है, जो इनकी प्रथम और अंतिम रचना है । उस पुस्तक पर ‘दुलारेलाल जी को देव-पुरस्कार’ मिल चुका है । कुछ दोहे देखिये—

“पट, मुरली, माला, मुकुट, धरि कटि, कर, उर, माल ।
मंद-मंद हँसि वसि हिएँ, नंद-दुलारे-लाल ॥
हो सखि सीसी आतसी, कहति साँच ही साँच ।
बिरह-आग खाई इती, तऊ न आई आँच ॥
बिन बिबेक यो मन भयो, ज्यो बिन-संगर पोत ।
भ्रमत-भ्रमत भव-सिंधु में, छिन न कहूँ थिर होत ॥
होइ सयान अयान हूँ, नुरि गुनवान सँगीत ।
जगमग एक प्रदीप सो, जगत अनेक प्रदीप ॥”

श्री रामलाल श्रीवास्तव ‘लाल’

आप जिला गोरखपुर के निवासी हैं और ‘सुकवि-सडल’ गोरखपुर के प्रमुख कवियों में से हैं । ‘सालजी’ ने खड़ी बोली में भी लिखा है और आपकी ‘काव्य-मीरभ’ और ‘विभावरी’ प्रकाशित हो चुकी हैं । ब्रजभाषा में आपकी ‘राधारमन-विनोद’ प्रकाशित हुई है । आप ‘किसान-सवेश’ नामक पत्र के संपादक भी हैं । आपकी कविता का उदाहरण जैसे—

“तरनि-तनूजा-सीर हेरि हरि रावरे को, पारावार पावरे पै पाव परिलो कहा ।
कोमल कलित कँमला की केलि-कला पेखि, बचला चला पै चित्त-चोर धरिलो कहा ॥
बिरह तपाए पाइ सुलभ सनेहिन को, पागल-मपीहै पै बिचार करिलो कहा ।
एक घनस्याम देह-नेह-नेह नातो छोरि, दूजौ घनस्याम-नेह-भाँहि तरिलो कहा ॥”

“ब्रज में और विशेष कर मथुरा में ब्रजभाषा के ही नहीं खड़ीबोली के भी ऐसे अनेक ‘कवि’ इस बीसवीं शताब्दी में हो गये हैं, जो—यदि उनकी असमय में ही मृत्यु न हो जाती तो ब्रजभाषा के भंडार को अपनी-अपनी रचनाओं से अधिकाधिक भरते । इन प्रात स्मरणीय मान-सूचीज में—”उस्ताद बिरजोसिंह, आपके शिष्य नरथनलाल जडिया, उस्ताद छीतूसिंह के अलाड़े के कवि, गुरु मनियाँ भट्ट,

और इन के शिष्य लाला नारायणदास, बाबू श्यामाचरण जी, सोहनलाल जी चतुर्वेदी, हीरालाल जी चतुर्वेदी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आप लोगो ने ब्रजभाषा की रीति-कालिक कविता ही नहीं अपितु खड़ी बोली में भी—झ्याल, लावनी, भगत (नोटकी), डंडेशाही, लोक-गीत, संस्कृत की उपयोगी पुस्तकों के अनुवाद आदि अनेक सुंदर रचनाएँ कीं। भगत-भाटक-साहित्य तो मथुरा की बहु भरम देन है, जिसने विकसित होकर अपने सौरभ से गोवर्धन, बृंदावन, माँट, राधा, हायरस, सासनो, अलोगड़ मेंढू, आगरा, भरतपुर आदि अनेक जगहों पर स्थानों को भर दिया—उन्हें सुवासित कर दिया। वर्तमान समय में भी कभी-कभी इसकी हिलोर समय-असमय आकर अपनी मधुरता से रसिक हृदयों को भर जाती है—मन को मतवाला बना जाती है। उदाहरण रूप—“उद्धव लीला” का स्वांग है, जो अमी-अमी मथुरा के क्लेस्ट-कठरा में बड़े ठाठ से खेला गया था। अस्तु, भगत-साहित्य का अपना अनोखा इतिहास है, जो रोचकता के साथ-साथ मधुरता से भी भरा हुआ है। साथ ही—

“कागद थोरौ, हित धनौ”

को बार-बार याद दिला रहा है, फिर भी ‘श्री हीरालालजी’ चतुर्वेदी की रीति-कालिक एक कविता यहाँ उद्धृत कर रहे हैं, यथा—

“मन-हि मनमोहन मधुर मुसिवयाउ कहा, वंठी उत मानिनीसो मान-मल-मूले हो।

फवन-फवीले फल पाउगे किए की आज्ञा, कहौ मन-भाँवले, सु कौन मन-मूले हो ॥

मुकवि ‘रसिक’ तेरी अथ ना गरंगी बार, परि-परि पीइन जो मनाउ मन-मूले हो।

अथ का करिहौ सो बताउ ना गुपाललाल, “कौन अँम-बैसिनि भ्रमर भान मूले हो ॥”

यह आपकी ‘समस्यापूर्ति’ मथुरा के सुप्रसिद्ध रीति-काल के अंतिम मधुर कवि स्व० श्री नवनीतजी द्वारा स्थापित ‘कवि-समाल’ में पढ़ी गयी थी। हीरालालजी की बारह खड़ी—

“कवका कहि कृष्ण-कृष्ण गाओ प्यारे।”

जो ‘कालाकाँकर’ (प्रबध) के राजा श्री रमेशसिंहजी द्वारा प्रशंसित होकर वहीं मुद्रित हुई थी, इतनी प्रसिद्ध है—भजनीको में इतनी प्रातःस्मरणीय बन गयी है कि उसकी हर समय माँग बनी रहती है। इस अतीत की झाँकी के बाद ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में भी इस खेल में आये हुए कवियों के अनंतर अनेक कवि रह गये हैं, जो ब्रजभाषा के उत्तम कवि हैं और उसकी उन्नति में बराबर संलग्न हैं। इन में कम से कम—धिवुरबेचजी चौबे, गोपालप्रसाद व्यास, गोपालवत्स एम० ए०, नागर-बंधु और ब्रज-भाषा की ‘जीती-जागती सायबेरी ‘सैयी’—ता० पुरुषोत्तमदास के सुपुत्र ब्रजलाल ‘शेव’ को नहीं गुलामा जा सकता। शेवजी ने तो अमी-अमी एक अनूठी रचना—‘लक्ष्मी-स्वयंवर’ नाम से प्रस्तुत की है, जो कि भाषा, भाव, अलंकारादि भाषा के जितने भी गुण हैं, उन सबसे श्रोत-श्रोत है।”



ब्रजभाषा और मुसलमान कवि-गण

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

विभूतमती ब्रजभाषा में मधुरता, मृदुता और सरसता उसके सुंदर वाक्यपन के साथ जन्म-काल १२ वीं शती से ही भर गई थी, जब कि वह डिंगल के पलड़े पर तुलकर 'पगल' नामसे भवतीर्ण हो चुकी थी, पर उसका सच्चा निखार 'सुर-समय' (१६ वीं शती) में ही हुआ। इस समय उसे— "नददास (अष्टछाप) जैसे 'जडिया', 'स्वामी हरिदास' और 'गोविंद स्वामी' जैसे वीत रागी सगीत-सम्राट्, 'रहीम' जैसे गुण-माहक, रस की खान 'रसखान' जैसे प्रेमी-भक्त, 'आनंदधन' जैसे आन के पक्के और 'रसलील' जैसे सुमधुर सूक्तिकार जिनकी यह रस-निर्झरणी सूचित—

“अमी, हलाहल मद-मरे, सेत, स्याम, रतनार।

जियत, भरत, झुक-झुक परत, जिहि चितवत इक वार ॥”

आज भी मरु-हृदयो में रस का सञ्चार कर बरवस अपनी ओर खींच लेती हैं—मिले। ब्रजभाषा का यह समय (१६ वीं शताब्दी) स्वर्ण-युग था। वह मुगल सम्राट्, अकबर जैसा सहायक पाकर दिन-दिन फनती-फूलती गयी। उसने अनेक मुसलमान कवि-हृदयो को जिनकी एक लवी सूची है—अपनी ओर आकर्षित किया। ब्रजभाषा इनकी गोद में पली और खेली। यह सूची दो प्रकार की है,—एक गेय-पद-रचयिताओं—सगीतज्ञों की और दूसरी रीति-न्य परा के कवियों की, जिनके लिए वृंदावनवासी स्व० प० राधाचरणजी गोस्वामी ने—

“इन मुसलमान-कवि जनन पै, कोटें दिहू वारिए।”

कह कर उनके रचना-माधुर्य की स्तुति की है। यह स्तुति अकारण नहीं है, वास्तव में अनेक मुसलमान कवि और कलाकारों ने ब्रजभाषा को जो अमर देन दी है, ब्रज के प्रति जो अपार श्रद्धा और निष्ठा दिखाई है वह आदरणीय और वदनीय तो है ही, स्वर्वा के योग्य भी है, नयोंकि—

“शायरी जुलवेस्त अज पंगबरी।

—यूनानी कवि रुमी

सचमुच, कविता अवतारी होने का एक भाग है, जो इन मुसलमान कवि और कलाकारों—सगीतज्ञों के पद-पद से प्रकट होता है। अस्तु, वह कवि-सूची अकारादि-अनुक्रमण में इस प्रकार है।

गेय पद-नायक और रचयिता

“अबिया (अलीया), अजगर, अजपल, अजब, अजवरंग, अजमेरी, अजीजुद्दीन, अजीब, अशारग, अललहक चिस्ती, अमीर खाँ, अलहक, अलहदाद, अलाजुद्दीन शाह, अलावदीन, अली, अली अकबर हुसैन, अली अहमदाली, अली खाँ पठान (रसखान), अली गुलाम शाह हामानी, अलीमन, अली मुरतजा, अली रतन, अशरफ, अस्तकर या अतगर अली खाँ, असतलम शाह (असलम), अहमद अली, अहमद शाह, आगर (आगार), आगा मौनुद्दीन सन्नी बहादुर, आजमशाह, आनंद-रग, आरिफ, आलमगीर, आलम, मवत शाह, आलम शाह, आलमहुवेन, अली, आनी म्नागे (आरी), आवमी, आदाक, आगकरग, आशिक, आमफद्दीन, आमान शेन, आमिफ, इब्नावरन, इम्ना, इनायत अली, इयलिस, इब्राहीम, इमानदीन (इमान), इमाम खाँ, इमामवदन, इम्नमान, इरर, इरक मुहब्बत, इरकमुहम्मद, इरकरंग, इसला शाह पागी, इरफ मने, उदोनमेन, उमरयन्म, उस्ताक (उस्ताक), ऐगाजुद्दीन हंडर, औरंगजेब, अमान, अमीर खाँ, अमात, अराम, अराम शाह,

कलवरिया, कशम शाह, काजम, काजी अकरम खाँ, कादिर, करीम, कायम खाँ, काले मिर्जा, काशिम शाह, कीरत शाह,^१ कुतुबमुसुक, कुतुबुद्दीन, केसर रंग, कौसर, खान आलम (नवाब), ख्याल खुशाल या खुशाल,^२ ख्वाजा कुतुब, ख्वाजाखिजर, ख्वाजा बीनशकरगंज, ख्वाजा मौजुद्दीन, कुतुबुद्दीन, ख्वाजा मीर, ख्वाजा हसन, ख्वाजाहूँ, ख्वाजे खिजर, खुशरंग, गफूर, गबर, गाली, गाम्, गुजर, गुलशन, गुलशन पीर, गुलामी, चाँव शाह, छन्नु खाँ, जगन्-मगन् खाँ, जलाल मुहम्मद, जलालुद्दीन मुहम्मद गाजी, जलालुद्दीन मुहम्मद बाकर, जलील, जहूर, जाम खाँ, जामजाना, जाफर खाँ, जाफर पीर, जाफर (जाकर) सादिक, जालिम, जिनद या जिन्ह, जीवन खाँ, जुलकर नैन, जुल्फकार, जैन लामुद्दीन, जैनुद्दीन, ताज, तामतरंग, तानप्रवीन, तान बरस, तानसेन, तुराज, वरिया खाँ, वारा शिकोह, विलरग, विसाराम, विलरा शाह, वूल्हे खाँ, दौलत खाँ, नजफ शाह, नजीर, नरीमुहम्मद, नवल अजय, नबी मुहम्मद, नसीबुद्दीन, नाजमुद्दीन, नाजामवीन, नाशर अली, नाशिर खाँ, नाशिर पीर, निजामी, निजामुद्दीन, निजामुद्दीन ओलिया, निजामुद्दीन ओलिया (तूसेरे), निजामुद्दीन चिस्ती, निबाज, निबाज खाँ, निशात, न्यामत खाँ, पंवी, पान खाँ, प्यार खाँ, पीर मुरताज अली, प्रेमजान, प्रेमी (शाहबुरकत का उपनाम), फकीर हुसेन शाह, फकीर सकरगज, फजल अली (फलन अली), फजायल खाँ, फरीद, फरीद शकरगंज, फारातुल, वक्स शाहिल, वदहद्दीन पीर, जहराम खाँ, वाँकाबरस, बागबहार, बाजबहादुर, बाजिबअली शाह (सखनऊ), बानीबिलास, बासद खाँ, बेबिल शाह, भजन, भदत अली, भदन साहिव, भवन हुंदरी, भवनायक, भनरंग, भर्दान अली, भर्दान ओलिया, भलिक नूर मुहम्मद, भस्तान, भस्ताब, भद्वूब, भद्वूब पीर, भद्वूब बाँबा, भहम्मदी, भहम्मद अली, भहम्मद इलाही, भहम्मद इकबाल, भहम्मद खाँ, भहम्मद नबी, भहम्मद बाकर, भहम्मद मँवी साहिव जमान, भहम्मद शाह, मान खाँ, माक, मियाँ मिरजा, भीम मुहम्मद, भीर अली शाह (शाह भूबर), भीर भाषी, भीर रस्तम, भुवारक हुजरत ओलिया, भुरतजा, भुराद, भुराब अली, भुरशा अली, मुहम्मद नबी, मुहम्मद बाकर (तूसेरे), भूरखाँ, भूरत शाह अली, भेंहवी मुहम्मद, मौज, मौजुद्दीन, मौजुद्दीन अजमेरी (मनुद्दीन अजमेरी), मौजुद्दीन ख्वाजा (मौजुद्दीन ख्वाजा), मौजुद्दीन शाह, यूसुफ अली खाँ (उपनाम—'आलम', रामपुर के नवाब), रंगबरस, रगरस, रज्जब, रसजान, रसरग, रहमतुल्ला, रहमान, रहीम, रहीम वक्स, रागरस पीर, रोशनशाह, लतीफ, लाल हुसेन, शाह आजम, शाह आलम, शाह जमन, शाह जमात, शाह जलाल, शाहजहाँ, शाह जहाँगीर, शाह निबाज, शाह पना, शाह बहादुर, शाह मुहम्मद, शाह मौजुद्दीन, शाह शफी, शाह सबाल, शाह साबी, शाह सिकंदर, शाह हुसेन फकीर, शुकरजामी, शोप्रयबाई, शेख फरीद, शेख मशायक ओलिया, शेख शाहजादा, शेख सलीम (सलेम), शीक रंग, शोरी मियाँ, सखन-मखन, सवारंग मुहम्मदशाह, सवारंग मुहम्मद शाह रंगीले, सरस रंग, सादीरताँ, सालारगंज, साह आलम (तूसेरे), साहजी, साहनशाह पीर, साह भीमपलासी, साहब किरान शाहेजहाँ, साहब पीर, साहबवीन, साहभवर्दान, साह सिकंदर (तूसेरे), साहूर (सहूर), सुजान अली, सुभान, सुलतान अली पीर, सुलतान इब्राहीम, सुलतान इलह, सुलतान मसादिक (मसादिक), सुलतान सलेम, सुलतानी, सुवलशाह, सेख नसीबुद्दीन, सेख फरीद (फकीर), संयब सालार, सोरोट पंचारे, हुजरत अली, हुजरत अली ओलिया, हुजरत वरजा ओलिया, हुजरत मिराज (मिर्जा), हुजरत शिराजी, हद्द पीर, हम-दम, हलपी, हसन साहिव, हस्सु खाँ, हाफिज, हाफिज तुरक, हाशिम बीजापुरी, हिदायत, हिदायत अजीज (आजिज), हिस्मत, हिस्मत बहादुर, हुमायूँ, हुसेन नारहरी, हुसेनशाह, हुसेन हानी खाँ (हलीपी), हुसेनी।"

१ ये हिंदू थे, पर याद में मुसलमान हो गये ।

२ ये भी हिंदू थे, याद में मुसलमान हुए ।

जिन गेय-पद-रचनाकार तथा संगीतज्ञ कवियों का ऊपर उल्लेख हुआ है, उनकी रचनाएँ विविध संगीत-पुस्तकों में जैसे—रागकल्पद्रुम, संगीत-रत्नाकर आदि में हुआ है। एक ह० लि० पुस्तक काँकरीली के सरस्वती-भंडार में भी—‘मुगल सम्राटों के ब्रजभाषा पद’ नाम से है।

ब्रजभाषा : रीतिकाल के कवि

“अकबर शाह (सं० १५६६) कवित्त, सबैया और पद, अकबर खाँ (१८८६) योगसार वा योगदर्पण-सार (बैद्यक), अकरमफज (१२०५) वृत्तरत्नाकर (छंदशास्त्र), अखतर (मूलनाम-बाजिद अली शाह लखनऊ) फुटकल छंद-ठुमरी आदि, अजवरंग, अजमत, अजमेरी मुंशी (१६३८), अजीनुद्दीन, अनवर खाँ (१७८५) बिहारी-सतसई पर टीका, अनीस (सं० १६११) स्फुट रचना, अफतोश, अब्दुल अजीज (१७६५) वरदै, अब्दुल जलील (रचना और रचना-काल अज्ञात), अब्दुलरहमान (१७६३) यमक-नाटक, अमीर खुशरो (१३१२), अलमस्त, अली महुबूब खाँ या मुहोब खाँ (पीतम) आगरा (१७८७) खटमल-बाईसी और रस-बभार,^२ अली खाँ, अहमद (१६६०) रस-विनोद (बैद्यक) और वारहमासा,^३ अहमदबुल्लाह बहरियाबाद दिल्ली (१७७३) दक्षिण-विलास, आजम (१८६०) नखसिल, षट्त्रिंशु-वर्ण, आजम खाँ (१७८६) शृंगार-दर्पण, आजम शाह (१७६४) स्फुट पद, आदिल (१७८५) स्फुट कवितादि, आदिलशाह इब्राहीम (१६०८) नबरस, आलम (१७२०) आलमकेलि (स्फुट रचना) तथा माधवानल-कामकंदला-नाटक, आलम—लखनऊ के नवाब बाजिदअली का दूसरा उपनाम, रचना—ठुमरियाँ,^३ आशक, आसिफ खाँ (१७३८) स्फुट रचना, आली^४ सिकंदरपुर बलिया के (१८६०) स्फुट रचना, इकरग, इलाअल्ला (१८७४) रानीकेलिकी की कहानी, इब्राहीम सैयद (१६५१) स्फुट रचना, इमबाद, इस्क, इस्कबीन, उलफतराय राजा (मस्तपिया), उसमान (१६१३) चित्रावली, औरगजेब (१६७५) स्फुट रचना, कबर—पुराना नाम “अलीकबर”, लखनऊ के नवाब बाजिद अली शाह के कोई रिश्तेदार, कबरपिया, कबीर (१४५५) प्रसिद्ध, कमाल (१६२२), करीम (१७५४) स्फुट रचना कवित्त-सबैया, करीम हुसरे (१७५४) स्फुट-रचना^५ करीम बक्स (१६४५) नगमए-मुहब्बत (ब्रज-भाषा में), काजम कायम, काजिम, काजी अशरफ महमूद, काजी कदम (१७०६) साखियाँ, कादर, कादर करीम, कादिरबक्स—पिहानी हरबोई वाले (१६३५) स्फुट रचना, कारेखाँ फकीर रहली—सागर (१८४३) कृष्णस्तव, कासिम शाह बरियाबाद—बाराबकी (१७८८) हुंस-जवाहिर की कहानी, किसवर अली—सार चब्रिका, कासिम—रसिक-प्रिया (केशवकृत) की टीका, कुतुब, कुतुब अली—स्फुट रचना, कुतुबन दोख (१५६०) मृगावती की कहानी, खलील, खलील हुसरे, खान सुल्तान (१६२५) स्फुट रचना, खालिश, खिरबमब, खुशहाल, खैराशाह, चाँदखाँ (बोह) राहत अली के नाम—बड़ोबा गुजरात) ठुमरियाँ, जमाल (१६२५) जमाल-पवीसी, जहाँगीर बादशाह, (१६२५), जान (कविजान) शूद्र नाम असफखाँ (१७११) प्रेम कथानक,—७० प्रथ,—रसमंजरी, रसवर्णन^६, जायसी (१५६७) पद्यावत, जुल्फिकार (१७१४) बिहारी-सतसई की टीका, जैनदी-

१. यह पुस्तक काँकरीली के ‘पुस्तक भंडार’ में है।

२. यह पुस्तक उदयपुर मेवाड़ के पुस्तकालय में है।

३. बाजिदअली शाह की प्रथम बेगम का नाम—‘आलम’ था, उन्हीं के नाम से कुछ ठुमरियाँ ब्रजभाषा में लिखी गई हैं।

४. पुरा नाम—जौलाना शाह अब्दुल अलीम आशों।

५. इनका उल्लेख ‘सूदन’ के सुजान चरित्र में आया है।

६. इनके संपूर्ण प्रथो का सग्रह स्व० हरिनारायणजी प्रोहित जयपुर के यहाँ है।

मुहम्मद^१ (१७३६) ताज (१७००) स्फुट रचना, गेय-पद^२ तथा कवित्त-संबंधा, तानसेन (१६४०) स्फुट गेय-पद, तानसेन (१६१७) गणेश स्तोत्र, रागमाला, सगीतसार, स्फुट रचना, गेय-पद, साहिब अली (१८०३) स्फुट रचना, साहिब शाह (१७६८) स्फुट रचना, तावो (समय अज्ञात) स्फुट रचना, साहिर अली (१६७८) कोकसार, तुराब अली, (समय अज्ञात) गेय-पद—ठुमरियाँ, तेग अली (१६४०) बबलास दर्पण, हरिया साहिब (१७३३) साखियाँ, दावन (समय अज्ञात), दानिनामखली (२७३७) स्फुट रचना, दाराशाह (१७१०) सार-संग्रह, बोहास्तब, बीनवरवेश—पालनपुर गुजरात (१८७५) बीनप्रकाश, स्फुट कुडलियाँ, भजन-मञ्जाक, नवम (समय अज्ञात), नजीर आगरा (१८३७) स्फुट रचना, नजीर (इसरे) पूरा नाम—हाफिज मुहम्मद नजीर वैद्यनाथी लखनऊ (समय अज्ञात) ठुमरियाँ और दावरे, नबीखेज (१६७६) जालबीष, निजामी—पूरा नाम निजामुद्दीन लखनऊ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, निजामुद्दीन औलिया (देहली के ख्वाजा) ठुमरियाँ और दावरा स्फुट, निवान (१८३०) विलग्राम-हुरबोई, स्फुट रचना, नूर (समय अज्ञात) बुंदावन रचना—नूर संग्रह,^३ नूरमुहम्मद (१८०१) इब्राहिमी, प्रेमी यवन (१८३५) कोष—अमर-कोष का अनुवाद, फकीरखुसेन शाह (समय अज्ञात) स्फुट छंद, फकीरुद्दीन (१६४०) स्फुट रचना, फरहत (समय अज्ञात) स्फुट रचना, फहीम (१६०७) स्फुट रचना, फाजिल अली (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, फाजिल शाह (१६०५) प्रेमरतन (कहानी), फैजी (१६००) स्फुट छंद, वस्तावर खाँ बिजावरवाले (१६२२) धनू-संख्या, बहुजन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, बहुदुर-शाह—जफर (१६६८) छुट रचना, बहुाव (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, बाबरी साहिबा (अकबर-काल से प्रथम) सत्यनामी पंथ की आदि प्रवर्तिका—स्फुट रचना, बाहिव (समय अज्ञात), स्फुट रचना, बीक साहिब (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, बुल्ला साहिब (समय अज्ञात) साखियाँ, भजन (१५६०) मनुभासती, मसूर (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, भक्तसूद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, भक्तद (समय अज्ञात) बीवान ए हिबी, भुहाव (समय अज्ञात) स्फुट रचना, महबूब और कालिम (१७६१) स्फुट रचना—कवित्त-कुडलियाँ, मीर अहमद विलग्रामी (१८००) स्फुट रचना, मीरन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मीर वस्तम (१७३५) स्फुट रचना—कवित्त-संबंधा, मुबारक अली विलग्रामी, पूरा नाम—‘सैयद मुबारक अली’ (१६४०) अलक मीर तिल सतक तथा स्फुट छंद, मुस्तान भालम (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मुल्ला बाजद (१२६०) स्फुट रचना, मुस्तरी (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मुहम्मद शाह (१७३५) बारहमास, सगीतमासिका,^४ मुहम्मद जलालुद्दीन (१६१५) स्फुट रचना, मुहम्मद शाह रगीले (१७७६) स्फुट रचना, मुहम्मद गीस (तानसेन के प्रथम गुरु) पूरा नाम—शेख मुहम्मद गीस (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मौलुद्दीन (समय अज्ञात) प्रसिद्ध ठुमरीकार, याकूब खाँ (१७७५) केशवदास कृत ‘रसिक प्रिया’ की टीका, रसभूषण, याकूब खाँ (इसरे) बडोदा वाले (समय अज्ञात) स्फुट रचना, यारी साहिब (१७२५) साखियाँ, यूसुफ खाँ (१२२०) केशवदास कृत रसिकप्रिया की टीका, रज्जब (१५६५) साखियाँ, रसदान (१६४०) स्फुट छंद—कवित्त-संबंधा-दोहा तथा प्रेमवाटिका, रसतिल, पूरा नाम—सैयद गुलाम नबी ‘रसलीन’ (१७४६) रसप्रवीण (नायिका भेद का ग्रंथ) अग्र-दर्पण (नरसिंह), स्फुट छंद, रसिया—नजीब खाँ (१८६६) स्फुट छंद, रहीम पूरा नाम—अब्दुल रहीम खानखाना (१६१०) बोहाबली, नगरशोभा, बरवं नायिका भेद, भूगार सोह्र, पद्माष्टक,

१. इनका नायिका की पीठ का वर्णन बड़ा ही सुंदर है।

२. ताज की १२॥ साठे बारह धमार प्रसिद्ध है।

३. यह संग्रह बड़ा सुंदर है, कवि ने अपने समय के प्राय सभी कवियों की रचना मी है।

४. ये ग्रंथ ‘अनूप-सम्पूट लायबेरी’ बीकानेर में हैं।

खेदकीतुक जातक तथा पद, रहीम—दूसरे (१७८०) स्फुट रचना, राहत-बड़ोवा, पूरा नाम—
शेख राहत अली (समय अज्ञात) स्फुट रचना, रूपमती—वेगम बाजबहादुर (१६३७) स्फुट रचना,
रूपरतन—वेगम भूपाल (भारतेंद्र-काल) स्फुट रचना, लतीफ (१८३४) स्फुट रचना, लतीफ हुसेन
(समय अज्ञात) स्फुट रचना, लालबास, (समय अज्ञात) स्फुट रचना, बार्जिब (समय अज्ञात)
स्फुट रचना, शहरभार (१६६२) स्फुट रचना,^१ शाद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शाहजहाँ
(१६४७) स्फुट छंद, शाह तुवक अली (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शेख रंगरेजिल^२ (१६२०)
स्फुट रचना, शेख अहमद (समय अज्ञात) वियोग सार, मोहिनी, शोखरंग—देहली के अंतिम
बादशाह बहादुरशाह, रचना—स्फुट विशेष कर टुंगरियाँ, सनद लखनऊ (समय लखनऊ के नवाब
वाजिदअली-काल) स्फुट रचनाएँ—टुंगरी और दादरा, सनद 'पिया' (समय अज्ञात) स्फुट
रचना, सरमद (समय अज्ञात) बदन-सरमद, सुंदर कली^३ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, सुल्तान
(समय अज्ञात) स्फुट रचना, सैयद अमीर अली 'मीर' सागर (१६३०) स्फुट रचना, सैयद
खेदाशाह पौहार—कानपुर (१६३७) स्फुट रचना, सैयद बकतुल्ला (समय अज्ञात) स्फुट रचना,
हकीम हाजी अली खाँ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हकीमुल्लाह खाँ करजई—हरदोईवाले
(१६१३) 'नवीन सग्रह' हकीमुल्लाह खाँ का 'हजार', 'प्रेम तरंगिनी', 'रसिक-संजीवनी', हाफिज
(समय अज्ञात), हामिद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हिम्मत खाँ (१८३०) स्फुट रचना, हुसेन
(१७०८) स्फुट रचना, हुसेन शाह (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हैदर (समय अज्ञात) स्फुट
रचना ।”

उपरोक्त सूची—नामावलि, अधूरी कहीं जा सकती है। साथ ही कवि-नामों में पुनिरुक्ति भी
उनकी रचना-वैविध्य—गेय-पद-रचना और रीति-कालीन कविता के कारण है। उदाहरण के लिए भुगुल
सम्राट् 'अकबर', 'रहीम' और 'ताज' को ले सकते हैं। अकबर की दोनो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त
होती हैं। गेय-पद पौदार अभिनदन-ग्रंथ में अन्यत्र दिये जा चुके हैं। रीति-कालीन कविता जैसे—

“साह 'अकबर' एक समें, चले काँहू बिनोद-बिलोकन बालहि ।

आहट ते अबला निरख्यो, चकि-बोकि चली करि आतुर चालहि ॥

स्यों बलि बेंनी सुधार घरी, सु भई छवि यो ललनो अस लालहि ।

चंपक चाच कर्मान अढ़ावत, काम ज्यो हाथ लए अहि-बालहि ॥”

रहीम के कवित्त-सर्वेया कम मिलते हैं, किंतु जो भी मिलते हैं, वे सुंदर ही नहीं अति सुंदर
हैं, यथा—

कोन बो सील 'रहीम' इहाँ, इन नैन अँनोखिए नेह की नाथनि ।

प्यारे सो पुसक-भेंट भई, पै लोक की लाज बड़ी अपराधनि ॥

स्यौल-मुघानिधि-आनन को, मरिऐ सखि, सुबें चितैवे की साधनि ।

भोट किए रहते न बनें, कहते न बनें बिरहानल-दाधनि ॥

ॐ

पुतरी-भैतुरीन कहुँ मिलि कँ, लगि-लागि गयो कहुँ काहुँ करेटी ।

हिरदी बहिने सहिने ही को है, कहिने कौं कहा कछ है पाहि फेंटी ॥

सुबें चितै तन हा-हा करे हूँ, 'रहीम' इतौ बुल जात सँभेटी ।

ऐसे कठोर सों श्री चितचोर सो, कोन सी हाइ घरी भई भेंटी ॥

१. इनका एक ही छंद मिला है ।

२. हिंदी-साहित्य-संसार में आप आलम कवि की स्त्री-रूप में प्रसिद्ध है ।

३. ये लखनऊ के किसी नवाब की वेगम थीं, आपकी कविता बड़ी सुंदर शृद्ध ब्रजभाषा में है ।

बोहे तो परम प्रसिद्ध है। एक उदाहरण जैसे—

“धूरि उड़ावत सीस धी, कहु ‘रहीम’ किहि काज ।
जिहि रज मुनि-पतिनी सरी, सो दूँइत गजराज ॥”

और आप की गेय-मह-रचना—

“कैमल-दल नैनन की उैनमौनि ।

विसरत नाहि सखी भो मन ते, मंद-मंद मुसिकानि ॥
ये वसनेन-कुति चपला हू ते, महा चपल जेमकानि ।
बसुवा की बस करी भगुरता, सुधा-भगी बतरानि ॥
चढ़ी रहै चित उर विसाल की, मुक्त-माल पैहरानि ।
नूत-समें पीतांबर हू की, फँहरि-फँहरि फँहरानि ॥
अनुविन श्री बूबावन में ते, आवन-नावन जौनि ।
अब ‘रहीम’ चित ते न टरति हूँ, सकल स्याम की बानि ॥”

कवि ‘ताज’ की वल्लभ-संप्रदाय में साठे बारहवमारी में से निम्न-लिखित ‘धमार’ अति प्रसिद्ध है । यथा—

“जहूरि डफ बाजन लागे हेली ।

खेलत मोहन सावरी हो, किहि मिस बेखैन जाज ।
सास-नैनद बैरिन भई मेरी, कीजै कोन उपाज ॥
भरी गायरी जोरिए हो, जमुना-जावन काज ।
इहि मिसि बाहर निकसिकें हो, जाइ मिसो सजि लाज ॥
आयो बछरा मेसिए नहि, बन कों बँहू बिबारि ।
बे बँहू मोको पढै, मैं रह्यो घरी छँ-वारि ॥
हा-हा री, हों जाति हों, मो पै नाहिल परत रह्यौ ।
तु हो सोचति ही रह्यो, तें भान्यौ नाहि कह्यौ ॥
राग-रंग गैहगढ़ भज्यौ री, नंदराइ-बरवार ।
गाढ़, खेल, हँसि लीजिए हो, फाय बड़ी त्योंहार ॥
तिन्ह में मोहन अति बने हो, नाचत संग लें ग्याल ।
बाजे बहुत बिभि बाज-नी हो, रंज, मुरज, डफ, ताल ॥
मुरली अघर बिराज्यौ हो, कठि पद-बावें पीत ।
निरस्त आवत ‘ताज’ के प्रभु, गावत होरी-गीत ॥”

और आप की रीति-काव्य की कविता तो सुंदर है ही । उदाहरण जैसे—

एरे विलजानी, मोड़े दिलवो कहाँनी, तुब दस्त हूँ बिकानी, बवनामी हूँ सहेगी में ।
देव-भुजा ठानी श्री निवाज हूँ भुखानी, तजे कलमा-कुरान ताजे धुनना गहूँगी में ॥
साँबला सलोना सिर ‘ताज’ सिर कुल्ले बिणै, तेरे मेह-बाग में निबाग हो रहूँगी में ।
नव के करजंद कुरवान तड़ो बूरत पर, तेरे नाल प्यारे, हिडुवानो हो रहूँगी में ॥”

ये अल्प उदाहरण उन मुसलमान कवियों की संगीत-परक कृष्ण-भक्ति-शास्त्रा और रीति-काव्य के हैं, जिसे—‘परवर्षोभयापह’ होते हुए भी इन महानुभावों ने अपनाया और अपनी-अपनी अमर कृतियाँ अजभारती को सेंट की । कृष्ण-भक्ति की इस सीतल-मद-सुगंधित पावन धारा में आकठ निमग्न रहते हुए भी इन्होंने अपने परंपरागत मूल धर्म को नहीं त्यागा । उसे सगीत के मज्जुल पद में लिपटा कर हृदय से लगाए रखे । उदाहरण, जैसे—

राग-भैरव

“बेचुन, बेचगुन, बेसुबे, बेनमून, दूसरी रज्ज्यो मर्हमद अचल आखर हकीक ।
पुनि कौन्हों चारो मार बासिफत आकरार प्रथम सदिक सावत हजरत —
अल्ला रसूल कौ पुरबीन दीनपुर, मज्जब जैसे बरिया अगम-अयाह अनीक ॥
कहत मुजान हजरत इमाम पाक इमान, नवी प्रान चाहत अली बली साहब ।
भारफुक रजेर महमदी बलमा कहायौ, सबनै मनायौ वह डुल्ला सरीक ॥

❀

मुसफिल आसान कीजें बेगि अल्ला साहब ।

वास्ते रसूल के हूँ मेरी सो मो मन की चिंता विसर जाइ, दुख-भाष कटें या रहीम रहमान ख ॥
अरज करत तिहारे दरबार जो, आप बाको बेति एक दिन में राज-पाट, अरज-खरब ।
मंगता हूँ, बाता तुम्ह धुन लीजें कीजें निहाल, अली-बली इबोतुल सफी दीजिए मुसल-संपत भव ॥

❀

प्रथम अल्ला हो अकबर कहि रे तू मेरे मन, हुजें रसूल चित-वरि रे ।

बेचुन, बेचगुन, बेसुबे, बेचमून, परब पोखवाना, पाक-जात याब करि रे ॥
ऐसो आलम करीम करम कौ करनहार, जो सुधि लेत तेरी नित निसि-बासरि रे ।
हिदायत अजीब को दीजें मुसल-संपत, दीन दुनी कुसल-छेमें तिहारे नाम के अघरि रे ॥

राग-टोडी

जो चाहें सो करं तूही तू, ऐसो पाक परवरदिगार ।

बेचुन, बेचगुन, बेसुबे, बेनमून, कुनफे, कुनके कहूँ कोन रचना अपनी मिकार ॥
जीव-जंतु, पवन-पानी, आसमान सब तोही रदत, तोही नाम कौ लिएँ अघार ।
जबते सुने तबते एक महमद नाम के कारन, कीच्चे नूर महर रसना चाहत दीवार ॥

राग-नूजरी

हजरत अली की सुदिष्ट भली सोपर जो, दुख जाइ सब तन ते भाज ।
हूँ सेवक तिहारी तुम्ह पाक करीम करम कीजें, राख लीजें जगत में मेरी श्रव लाज ॥
बेचुन, बेचगुन, बेसुबे बेनमून पाक, जात रियाज सो न्याज ।
‘तानिसेन’ ख रहमान करीम-रहीम, बिनती सुनिऐँ श्रवाज ॥

राग-आसावरी • ख्याल

महमदसा पातसा, आज हमसेन-तुमसेन भेंट भइलो,
कोटि बरस सूरजनुबी कजवा पुजील ।
जीबी, जागी कोटि बरस लो डोटवा तुम्हारा—
कायम वायम रहूँ ‘सदाँ रगोले’ कर मन चीते हुजील ॥

राग-चनाथी

पाक रसूल महमद अल्ला तेरी नूर जहूर ।
धेन-धेन परवरदिगार गुम्हंगार तू बखतन, तूही जग रमि रह्यो भरपूर ॥
बेचुन, बेचगुन, बेसुबे, बेनमून, अखल-आखिर सुही, निरुद सुही हूर ।
जित-तित देजों तूही-सुही व्यापि रह्यो, जल यल-थरनी-अकास तू ही हजूर ॥

❀

जाको मन अल्ला-संग रहूँ, जेमें पाछें-पाछें फिरत नरब ।
वो कोनहूँ खल्यो बेसियो, हजरत दगजे मीर दरद ॥

जिन्ह भूल-भ्यास मारि राखी, वे कहावत जग में मरव ।
 कबहूँ होत है सुए-वरन भौ कबहूँ होत है जरव ॥
 राग-भूरवी
 तुम्ही ही ओलिया निजामी बुन्ह जानौ नैकि,
 अस्ताह भबूदे हो याते जिकर-फिकर ।
 जिकर जाहूर साबत करना सुत मल कूत जबरुत,
 लाहूत मजकूर सुनों कहूँ गुपत, कहूँ प्रघट ॥
 ताकर राखो याते तिहूँ लोक मानत-जानत,
 नैकी बिबि घर-घर हो जीय घर ।
 कबहूँ अस्ता आसिक होत तुम मासुक,
 करत रहत अस्ता-अस्ता एक-एक घरी-मल ॥

—इत्यादि

अस्तु, इस प्रकार की रचनाएँ उतनी सुंदर और सरस तो नहीं, जितनी कि भारतीय रंग में रंगी कृष्ण-शक्ति-शाला की हैं। यहाँ उन्हें केवल लकीर-पीटनी थी, जो पीटते रहे और उसे शक्ति-शाला जैसी रोचक न बना सके, कारण आलवन अलस का था। सरस रचना का आकर्षण वहाँ ही होता है, जहाँ सुंदर आलवन प्राप्त हो और जिसे वे अलंकार की दृष्टि से उपयोग में ला सकें। वृत्त-परस्त न होते हुए भी वे इस्क के पाक पुजारी थे, अतः भारत के अनुपम आराध्यदेव—

“स्यौम सुंदर सबन-मोहन...”

और माधुर्य-रस की साकार अधिष्ठात्री ब्रजेश्वरी श्री राधा को कैसे अपनी आलोसे ओसिल रख सकते थे। इस युगल-माधुर्यमयी मूर्ति का अवलोकन आश्रय ले ब्रज-साहित्य को अपनी अनुठी रचनाओं से अधिक से अधिक ऊँचा उठा दिया। भाषा पर तो अधिकार था ही, विषय भी पूर्ण अधिकार के साथ ग्रहण किया।

कृष्ण-शक्ति का मूलाधार प्रेम-शक्ति ही है। प्रेम ही इसका तात्त्विक समस्थल है, जिसे इन विदेशी कवियों ने अपनी सत्कृति से बरदान-रूप में पाया। प्रेम की परंपरागत तल्लीनता और उसके ऊहात्मक आधार को लेकर ये विकल मुसलमान कवि राधा-कृष्ण जैसा मनचाहा आश्रय पाकर अपने मन्त्राजी इस्क को हकीकी में परवर्तित कर अपना सब कुछ त्योछाकर कर दिया। फल-रूप ब्रजभाषा को प्रेम-भाव के अंतर्लोक के अनेक चमकते हुए सुंदर भाव-रत्न अनायास ही मिल गये। अस्तु—

“इन्ह मुसलमान कवि-जैन पैं कोटैन हिंनु बारिऐ ।”



श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ



श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ

कृष्ण जो न होते . .

पढते पुराँन कोन पढित प्रवीन पाठ, प्रघट न होते रूप-ध्यान कोन धरते ।
बूझतो न बात कोऊ समझि न परती कछू बूँदावन-चंद जो न आँन अवतरते ॥
'दत्तू कवि' सूर और रसिक रस लेते कहा, कूर कसादिक ते कोन भाँति तरते ।
नंद के न होते कान्हू, राधा बूषमान जू के गुँनी गुंन-गाइ कहा कविताई करते ॥

—दत्तू कवि

श्री कृष्णावतार पर वैज्ञानिक दृष्टि

श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् 'श्री कृष्णचन्द्र साक्षात् भगवान् परमेश्वर परब्रह्म है'—यह आर्यजाति का अटल विश्वास है। श्रीकृष्ण-वर्णन से ही भक्तिमदार्शनिकों का सुधानिर्देश प्रवाहित होकर शांतिमय प्रवाह से संपूर्ण जगत् को आप्लावित करता हुआ ब्रह्मांड को वेष्टित कर वही पहुँच कर लीन होता है, जिसमें डूबकर सनातन धर्मावलम्बी समाज सदा से अपने आप को सफलजन्मा कृतकृत्य बनाता आया और आज भी बना रहा है। कृष्णलीला भक्त-जगत् का सर्वस्व है, उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ध्यान और अनुकरण में प्रलीन भक्तचित्त को तर्क, वितर्क, कुतर्क का अवकाश ही नहीं मिलता, उस आनन्द-स्रोत में लिप्त होने अपने आप को बड़ा दिया है, उनके आगे तर्क के तिनकों की कदर ही क्या है? भक्तिरत्नमय के सामने विज्ञान-दर्पण क्या प्रतिष्ठा रख सकता है? तथापि अपने-अपने अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न विज्ञानों जन की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है। बहुतेरे विज्ञानों जन प्रतिकूल तर्कों के आघात से विकल होकर 'ईश का जवाब पत्थर से चाहते हैं', बहुतेरे अपनी बुद्धि को सवुष्ट करने के लिये प्रत्येक विचार वा कर्तव्यता को वैज्ञानिक-भित्ति पर ही खड़ा रखना चाहते हैं। किसी को प्रत्येक बात की तह में आध्यात्मिक चासनी का चसका है, तो कोई प्रत्येक विचार को विज्ञान के मसाले से चटपटा बनाना चाहता है। किंतु आश्चर्य यह है कि इन सब की ही साथ श्रीकृष्णलीला में पूरी हो जाती है। उसे जिस दृष्टि से देखो, उसी दृष्टि से परिपूर्णता की ओर बढ़ते चले जाओ किसी अधिकारी को वहाँ निराशा की चट्टान से टकराना नहीं पड़ता। वैज्ञानिक दृष्टि से हमारा अभिप्राय उस दृष्टि से है जिसमें केवल श्रद्धा ही अवलंबन हो, शास्त्रों के वाक्य ही एकमात्र आचार न हो, किंतु प्रत्यक्ष और अनुभव का भी जिसमें सहारा लिया जा सके, तर्क के कर्कश प्रहार भी जहाँ कुठित होते जायें, प्रथमाधिकारियों की बुद्धि भी जिससे विकसित होती जाय और जो सब लोग जिससे लाभ उठा सकें।

पहले यह भी समझ लेना चाहिये कि मन, बुद्धि से अलग निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व में बुद्धि का प्रवेश कराने के जितने उपाय शास्त्रों में निर्धारित हुए हैं, उनमें 'अवतारवाद' सबसे उत्तम कहा जा सकता है। निर्विशेष ब्रह्म जब मन में नहीं आ सकता, तो उसकी उपासना भी नहीं हो सकती। इसलिये शास्त्र निषेधरूप से, उपलक्षण रूप से वा आरोपरूप से उपासना के भिन्न-भिन्न प्रकार बताता है। प्रत्यक्ष देखे जानेवाले पदार्थों में परमेश्वर के लक्षण देख कर उन्हें आलंबन मान ब्रह्मभाव से उपासना करना सब अधिकारियों के लिये उपयोगी है, अतएव वह श्रेष्ठ प्रकार है। उनमें भी चेतन में—विशेष कर मनुष्य-रूप में ब्रह्मदृष्टि उपासना का अत्यंत उपयोगी साधन है, क्योंकि उपासक मनुष्य का मन अपने सजातीय में विरोधरूप से प्रेम करे—यह प्रकृतिसिद्ध नियम है और प्रेम के द्वारा चित्तकी स्थिरता अति शुकुर है। यही अवतारोपासना कही जाती है। इस उपासना की सिद्धि के लिये ही परम दयासागर परमेश्वर अपने आप को चेतनरूप में विशेषतः मनुष्यरूप में प्रकट करता है और ईश्वर के अनन्य प्रेमी जानवान् महात्मा शास्त्रोक्त परमेश्वर-लक्षणों की प्रकटता देख परमेश्वर रूप से उसकी उपासना करने लगते हैं, उसे ही परब्रह्म का प्रकटरूप मानते हैं—यही अवतारवाद कहा जाता है। यह अवतारवाद सनातनधर्म का प्राण और उपासना का सर्वस्व कहा जा सकता है। मनुष्य-अवतारों में भी भगवान् श्री कृष्णचन्द्र पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर परब्रह्म कहे गए हैं, क्योंकि उनमें

परमेश्वर के सब लक्षण पूर्णतया प्रकट हुए हैं। अच्छा, तो इसी पर विचार^१ किया जाय कि परमेश्वर के कौन-से लक्षण हैं—और वे भगवान् श्रीकृष्ण में किस रूप में पाये गये।

त्रिपुरुष-विज्ञान

भगवान् श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में अपने आप को भगव्य आत्मा कहा है—

“अन्योऽपि सत्त्वमयात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्मया ॥”

—भगवद्गीता ४।६

इसी भगव्यात्म-स्वरूप का आगे पंद्रहवें अध्याय में विशेषरूप से स्पष्टीकरण—

“परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽन्यवतोऽन्यवतात्सनात्मनः ।

द्वाविनी पुरुषौ लोके सारस्वासार एव च ।

क्षरः सर्वानि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यभ्य ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽमृतरादपि कोसमः ।

अतीतस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥”

—भगवद्गीता ८।२०—१५।१६, १७, १८

लोक में दो पुरुष हैं—एक क्षर, दूसरा अक्षर। इन्द्रियो से जो जाने जाते हैं वे सब भूत क्षर हैं, उनमें कूटस्थ—नित्यरूप से रहनेवाला—विकृत न होनेवाला—पुरुष अक्षर कहा जाता है। वह अक्षर पुरुष भी भगव्य है, भगवत् इन्द्रियवाला नहीं, किंतु उससे भी पर और एक भगव्य नित्यभाव है, जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका धारण कर रहा है, उसे भगव्य या ईश्वर कहते हैं। मैं क्षर से परे हूँ, और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये (भगव्य पुरुषस्वरूप) मैं लोक में और वेद में ‘पुरुषोत्तम’ नाम से प्रसिद्ध हूँ।^१ यह उक्त श्लोकों का तात्पर्य है। इन तीनों पुरुषों का विवेचन ब्राह्मण-ग्रंथों में बहुत कुछ है, उसका संक्षेप यहाँ लिखा जाता है।

पुरुष का अर्थ है पुर में रहनेवाला, जगत् में जो पंचमूलात्मक मूर्तियाँ बिखारी देती हैं, वे पुर हैं।

✓ हम पुरों को ही देखते हैं, किंतु यदि इनका उपादानकारण ‘पुरुष’ इनके भीतर न रहे, तो ये पुर ठहर ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये—दीपशिक्षा एक पुर है, उसमें तैल पुरुष है, यदि तैल प्रतिक्षण उसे जलाता न रहे, तो दीपशिक्षा कभी की गायब हो जाय। वृक्षों में रस यदि न हो, तो वृक्ष कभी सूख जायें, ठहर ही न सकें, तभी तो रस की स्थिरता के लिये उनकी जड़ में बार-बार जल देना पड़ता है। यी ही हमारे शरीरों की रक्षा के लिये भ्रम-जलादि की आवश्यकता होती है, वे ही भ्रम-जलादि रस, अधिर आदि रूप में परिणत होकर शरीरों को स्थिर रखते हैं। यही मिट्टी, पत्थर आदि जगत् के सब पदार्थों की गति है। तात्पर्य यह कि जगत् के सब पदार्थों की स्थिति ‘पत्र’ पर निर्भर है। ‘भ्रम’ पाँच प्रकार की किया का नाम है—आदान, धर्पण, उत्सर्ग, अवश्य और विकार। अन्य वस्तुओं में से अपना भ्रम^१ लेकर उसे अपने स्वरूप में प्रविष्ट कर लेना आदान कहा जाता है, जैसा कि हम लोग वृक्ष, दीपशिक्षा, नदी आदि से फल, भ्रम, जन आदि लेकर उससे अपने स्वरूप की रक्षा करते हैं, वृक्ष जन लेते हैं, दीपशिक्षा तैल लेता है—आदि-आदि। इसके विरुद्ध अपने स्वरूप में न कुछ पदार्थ दूसरे की रक्षा के लिये भ्रम रूप से देना ‘धर्पण’ कहा जाता है—जैसे कि दीपक प्रकाश देता है, वृक्ष पुष्प, फल आदि देते हैं। यही दान यदि किसी व्यक्तिविशेष को लक्ष्य कर न हो, किंतु विश्वात्मा के लिये आत्मसमर्पण हो, तो उसे ‘उत्सर्ग’ कहते हैं, जैसा कि वृक्ष, सदा आदि अपने पुष्पों का

^१ जयपुर-नाम-संज्ञित गुरुवर जी ६ मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति के ‘भगवद्गीताविज्ञान-आज्य’ ग्रंथ के ‘कृष्ण-रहस्य’ प्रकरण की इस विचार का आधार बनाया गया है।

गंध धाम्य में देकर जगत् के उपकारमें लगा देते हैं, वृक्ष अपने बीज द्वारा एक नया वृक्ष उत्पन्न कर जगत् को दे देता है, प्राणी अपने शरीर के भाग से सतान उत्पन्न कर जगत् को अर्पण कर देते हैं, इत्यादि। अन्न जो अन्न^१ लिया गया है, वह अन्न, प्राण आदि अवस्थाओं में प्राप्त होकर उस-उस वस्तु की क्षीण होती हुई केंद्रशक्ति (प्रजापति) को जो आप्यायित करता रहता है—वह 'नैवज्य क्रिया' है और उस अन्न के द्वारा किसी नियत परिमाण तक जो उस वस्तु की वृद्धि होती है—वह 'विकास' समझा जाता है, जैसा कि वृक्षों का वा प्राणिलरीरो का अपनी-अपनी मात्रा तक बढ़ना, विद्या पढ़ने से बुद्धि का विकास होना—आदि-आदि। यह यज्ञ बराबर सर्वत्र होता रहता है, इसी प्राकृत यज्ञ के आधार पर हमारे घासिक यज्ञ भी अवलंबित हैं। अस्तु, यद्यपि जड़ वस्तु मिट्टी, पत्थर आदि में ये क्रियाएँ स्फुट रूप से नहीं देखी जाती, किंतु अनुमान से माननी अवश्य पड़ती है, तब ही तो ये जड़ वस्तुएँ भी क्रम-क्रम से पुरानी होती हैं, वा कालक्रम से निर्जीव हो जाती हैं। अर्पण की अपेक्षा आदान का अधिक होना जैसे बुद्धि का कारण है, वैसे ही आदान की अपेक्षा अर्पण अधिक होना ह्रास वा क्षीणता का हेतु है। आदान, प्रदान न होता हो, तो वह वस्तु सदा के लिये एक रूप रहे, किंतु ऐसी कोई वस्तु ससार में है नहीं। अतः जड़-वस्तुओं में भी आदान-प्रदान अवश्य है। सब ही वस्तुएँ सूर्य से प्रकाश लेती हैं, येषो से जल लेती हैं, पृथ्वी से जीवन लेती हैं और अपना-अपना भाग यथोचित सूर्य, वायु, पृथिवी आदि को देती भी हैं। लोहे पर जग लग जाना, पानी पर झाय जाना, पत्थर पर पपड़ी उत्तरना, मिट्टी का सडना आदि तो आदान-प्रदान के स्फुट उदाहरण हैं। अस्तु, यह यज्ञ जिनपर होता है, अर्थात् यज्ञ द्वारा भिन्न-भिन्न पदार्थों के उपादान जो बनते रहते हैं, वे क्षर-मुख हैं। वे स्वयं क्षीण होकर पुरो को बनाते हैं, उनका रूप परिवर्तन होता है, इसलिये उन्हें क्षर कहा जाता है। और जो उस यज्ञ-क्रिया के प्रवर्तक है, जिनकी प्रेरणा से यज्ञ-क्रिया होती है, जो क्षर-मुखों का परिणाम कराते हैं, वे अक्षर-मुख हैं। ये परिणाम में निमित्तकारण मात्र हैं, स्वयं विकृत नहीं होते—इसलिये इन्हें अक्षर-मुख कहते हैं। ये परिणामी पदार्थ, परिणामरूप यज्ञ-क्रिया और परिणाम के निमित्त—सब जिसके आश्रित हैं—वह सर्वाधार, कार्य-कारणभूत निर्विकार अव्यय पुरुष कहा जाता है।

इन तीनों पुरुषों को सृष्ट, प्रविष्ट और विविक्त-शब्दों से भी कहते हैं। क्षर-मुख की ही भिन्न-भिन्न रूप से सृष्टि होती है, इसलिये वह सृष्ट है, अक्षर उसमें प्रविष्ट और अव्यय विविक्त, अर्थात् सब में रहता हुआ भी सबसे पृथक्—बे-लाग रहनेवाला है। इस विषय को और थोड़ा स्पष्ट करने के लिये ऊपर से नीचे की ओर आइये। इस सब परिवर्तनशील, विकारी, अनित्य, परस्पर भिन्न पदार्थों के समूहरूप जगत् का एक नित्य मूल अवश्य है—यह श्रुति ने निश्चय किया है। इसके अनुकूल तर्क भी श्रुति उपस्थित करती है और अनुभव के प्रकार भी बताती है। प्रकरणांतर हो जाने के भय से इस विषय को यहाँ नहीं बढ़ाया जाता। विकार, परिच्छेद, गुण और धर्म—ये सब जगत् के अतर्गत हैं, इसलिये संपूर्ण जगत् के एक मूल में इनका होना संभव नहीं। अतएव वह तत्त्व इद्रियातीत मनोवागतीत, सत्तामात्र निर्विशेष कहा जाता है। यद्यपि निर्घर्मक, निर्गुण होने के कारण उसका कोई नाम नहीं हो सकता, तथापि व्यवहार के लिये उसे शुद्ध ब्रह्म, निर्विशेष वा रस कहा करते हैं। इस रस की जो शक्ति संपूर्ण जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, सहार का कारण बनती है, उसे बल-शब्द से समझिये। बल की तीन दशाएँ हैं, जब तक वह प्रकट नहीं होता, उस अव्यक्त वा प्रमुक्त दशा में उत्त-बल ही कहेंगे, जब वह कार्य करने को प्रस्तुत हो, तब प्राण कहावेगा और कार्यरूप में आकर विना-शोन्मुख होने की दशा में उसे ही क्रिया कहते हैं। बल की अविवक्षा कर शुद्ध-रस का निर्विशेष-शब्द ने व्यवहार करते हैं—और प्रसुप्त दशावासे बल-सहित रस का 'परात्पर' शब्द से। ये दोनों विद्वान्नीत हैं, सृष्टि में ये कोई भाग नहीं ले सकते। न इनका कोई सक्षण कहा जा सकता है। जब वह बल

१. अन्न सात प्रकार का होता है, इसका विस्तृत विवरण 'यह्वावरण्य-उपनिषद्' में है।

जागरित—कार्योन्मुख होता है, तो सब से प्रथम भसीम रस में सीमा—परिच्छेद (लिमिट) बनाता है, क्योंकि वह (बल) स्वयं परिच्छिन्न और अनित्य है, अतः जहाँ वह रहेगा उस रस को भी परिच्छिन्न रूप में ही दिखावेगा, जैसे कि घट, मठ आदि भसीम प्राकाश को परिच्छिन्न रूप में दिखाते हैं। भस्मित रस का मान (परिच्छेद, सीमा) यह बल कर देता है, इसीलिये इसे 'माया' (मान का कारण) कहा जाता है। भसीम का भसीम से सबब ही कैसे बना? निर्विकार, शुद्ध एकरस में विकारी, परिच्छिन्न, अनेक बल भावे कहाँ से—इत्यादि बातें बुद्धि के द्वारा भ्रम्य है—इसलिये इस बल वा माया को भविष्यवर्तनीय कहना पड़ता है। माया द्वारा सीमाबद्ध होने पर मायाविशिष्ट रस का नाम 'अव्यय पुरुष' होता है। अव्यय पुरुष में यद्यपि बल द्वारा परिच्छेद हो गया है, किंतु 'अधि' नहीं है, बल इसे बधन में न ले सका, इसलिये यह सृष्टि का उपादान वा निमित्त नहीं बनता, केवल भासवनमात्र रहता है। विकारात्मक सृष्टि से यह परे ही रहता है, इसलिये इसे पर-पुरुष वा पुरुषोत्तम कहते हैं।

अर्वाचीन वेदात-ग्रन्थों में इसे 'मायाधवलित ब्रह्म' कहा है और पञ्चदशीकार ने ससाररूपी चित्र के लिये घट्टित (चावल आदि के द्वारा चिकनाया हुआ) पट इसे बताया है। इसमें दो भाग हैं, जिन्हें रस और बल, ज्ञान और कर्म वा अमृत और मृत्यु कह सकते हैं। इसी अव्यय पुरुष का वर्णन यह श्रुति करती है—

“न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समद्वयाम्यविकल्पं ब्रूयते ।
परास्य ज्ञानिर्दिविषैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥”

—श्वेताश्वतर

“न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।”

—मगवद्गीता ५।१४

इत्यादि भगवद्गीता-वचन का भी यही प्रतिपाद है।

बल के द्वारा परिच्छेद होने पर परिच्छिन्न वस्तु का एक केंद्र भी अवश्य बन जाता है। उस केंद्र में इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे श्रुति ने 'एकोऽहं बहुस्याम्' (मैं एक ही बहुत रूप में प्रकट होऊँ, सृष्टि करूँ) इन शब्दों में कहा है, इस इच्छा शक्ति के द्वारा मायाबल पर काम, तप और श्रम नाम के तीन बल और उत्पन्न होते हैं, जिन्हें श्रुति ने—'सोऽक्रामयत्' 'सोऽभ्याम्यत्' 'सतपोऽप्यत' इन शब्दों में स्थान-स्थान पर प्रकट किया है। यो बल पर बल की चिति (चिन्ताई) प्रारम्भ होती है। यद्यपि प्रत्येक बल क्षणिक है, एक बल दूसरे का आघार बन नहीं सकता, किंतु स्थिर रस के आश्रय से धारा-वाही होकर वह स्थिर-सा बन जाता है और यो बलों पर बलों की चिति समग्र हो जाती है। बल पर बल के ससर्ग का नाम ही सृष्टि है। ससृष्टि में से 'स' का लोप कर देने पर 'सृष्टि' शब्द बनता है। इस चिति के द्वारा निष्कल अव्यय पुरुष में पंच कलाएँ प्रकट हो जाती हैं। इच्छाशक्ति उत्पन्न होती ही इसका नाम 'मन' होता है, चिति के कारण इसी मन की 'चित्पुरुष' वा 'चिदात्मा' भी कहाँ करते हैं। चिति दो प्रकार की होती है, अवस्थिति और बहिर्विचिती। जो सृष्टि की ओर प्रवृत्त करनेवाली है, जिसके द्वारा कर्म का प्रावल्य होकर रस का आवरण हो जाता है, उसे 'बहिर्विचिती' कहते हैं, यह 'अधि' ढालनेवाली चिति है और जिसके द्वारा कर्म-अधि छुलती जाय, कर्म तीन होता जाय

१. जैसे मकान बनाने में ईंट पर ईंट या पत्थर पर पत्थर रखकर चिति (चिन्ताई) की जाती है, उसी प्रकार बल पर बल की भी चिति होती है। ऊपर-नीचे जमाना ही 'चिति' शब्द का अर्थ है।

२. द्विपों में जिस मन की गणना है, वा भूतात्मा रूप जो मन है—यह इसके पुनरुक्त है।

—तेजक

और रस का विकास होता जाय, वह 'अतश्चिति' कहाती है। गाँठ लगना और गाँठ खुलना—दोनों कर्म के ही फल हैं, अतः दोनों चिति बल की ही हैं। वहिचिचिति सृष्टि का कारण बनती है और अतश्चिति मुक्ति का। वहिचिचिति से प्राण और वाक्—ये दो कलाएँ प्रकट होती हैं और अतश्चिति से विज्ञान और आनन्द का विकास होता है। यो आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पाँच कलाएँ अव्यय पुरुष की सिद्ध होती हैं। इन्हें ही तैत्तिरीय-उपनिषद् में पाँच 'कोश' बताया है। वाक् का नाम वहाँ 'अन्न' आता है और सब नाम यथाक्रम ये ही हैं। कोश, अर्थात् निधान-खजाना। जो अक्षर, क्षर, पुर आदि भागें बनने वाले हैं—उनका आलंबन-निधान—खजाना ये ही अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ हैं, जिनके बिना जगत् की सृष्टि वा स्थिति नहीं हो सकती।

जो पदार्थ परिच्छिन्न—सीमाबद्ध होता है, वह अपूर्ण समझा जाता है और अपूर्ण की प्रवृत्ति पूर्ण होने की ओर रहती है, यह स्वाभाविक है। पूर्ण ही अपूर्ण बना है, इसलिये विज्ञानानुमोदित आकर्षण^१-सिद्धांत के अनुसार वह अपनी पूर्ण दशा में ही जाना चाहता है। अव्यय पुरुष ज्ञान (रस) और कर्म (बल) उभयात्मक है—यह कहा जा चुका है, अतः रसरूप से यद्यपि वह पूर्ण है, किंतु बलरूप से सीमाबद्ध है। अपूर्ण बल पूर्णरूप में जाना चाहता है—क्योंकि उसका भी विकास पूर्ण से ही हुआ है। पूर्ण होने के लिये यह आवश्यक है कि जो अपने से भिन्न है, उन्हें अपने में लिया जाय—उनको 'अन्न' बनाया जाय—उनका 'अशन' किया जाय। इस प्रवृत्ति का हेतु जो बल होता है, उसे श्रुति में 'अशनाया' बल कहा गया है—मृत्युनैवेदमावृतमासीत्, अशनायया, अशनाया हि मृत्युः^२ (बृहदारण्यक) इत्यादि श्रुति में सृष्टि के आरम्भ में इस ही अशनाया बल की स्थिति बतलायी गई है। मरण-धर्मा होने के कारण बल का नाम मृत्यु भी है—यह कहा जा चुका है। अस्तु, अशनाया बल दूसरे बलों पर आक्रमण कर उन्हें अपनी ओर से लेता है—यह आदान-क्रिया है, आदान के साथ ही निष्क्रमण—विसर्ग भी आरम्भ हो जाता है। ये आदान और विसर्ग अनवच्छिन्न—निरन्तर रूप में चलें, तो किसी पदार्थ की स्थिति ही न बन सके, इसलिये साथ ही 'प्रतिष्ठा' बल भी रहता है, जो आदान, विसर्ग होते हुए भी वस्तु की सत्ता रखता है। ये सब बल अव्यय पुरुष की 'प्राण' कला को आलंबन बनाकर प्रकट होते हैं और ये ही 'अक्षर' पुरुष कहे जाते हैं। अक्षर पुरुष यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से बल-अधान-बलात्मक हैं, किंतु बिना 'रस' के आधार के बल की स्थिति ही नहीं, इसलिये रसात्मक अव्यय पुरुष इसमें अन्वित—अनुत्प्लुत (भीतर घुसा हुआ) है, वही इन बलों का आधार है, इसलिये अक्षर भी पुरुष है। इस अक्षर पुरुष की भी पाँच कलाएँ हैं—ब्रह्मा, बिष्णु, इंद्र, अग्नि और सोम। पूर्वोक्त प्रतिष्ठाबल से अवच्छिन्न रस का नाम ब्रह्मा है, आदान (यज्ञ) बलवाला बिष्णु और उत्क्रांति बलवाला इंद्र^३ कहा जाता है। जब आदान बल दूसरे बलों को अपनी तरफ लेता है, तो वहाँ अन्न, अन्नादमाव हो जाता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु के अंतर्गत हो जाती है। जो अंतर्गत होती है, वह अन्न, और जिसके अंतर्गत होती है, वह अन्नाव कहा जाता है। अन्न को सोम और अन्नाव को अग्नि कहते हैं। इन पाँच देवताओं के ही अवातर भेदों में सब देवता अंतर्गत होते हैं—जैसा कि निम्न विदिष्ट श्रुति में कहा गया है—

“यवक्षरं पञ्चविधं सनेति

युजो युक्ता अग्नि यत् संबर्हति ।

^१ जो जिसमें से निकला हो, जिसका अवयव हो, वह अपने घन की ओर गति रखे—यही आकर्षण-सिद्धांत है। जैसे मिट्टी का डेला पृथिवी की ओर अप् का विकार बूम अंतरिक्ष की ओर और तेज सूर्य की ओर स्वाभाविक गति रखता है।

^२ पौराणिक भाषा में इंद्र के स्थान में रुद्र कहा गया है, अप्रस्तुत होने से यह विचार यहाँ बढ़ाया नहीं जाता।

सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते

तत्र देवाः सर्व एकोभवन्ति ॥”

इन पाँच कलाओं में ब्रह्मा, विष्णु और इंद्र—ये तीन हृदय (केंद्र) में रहने के कारण हृद्य कहलाते हैं और अग्नि, सोम बाह्य कहे जाते हैं। जैसे अव्यय की प्राण-कला में अक्षर-पुरुष का विकास हुआ है, ऐसे ही अक्षर की ये अग्नि और सोम नाम की दो कलाएँ क्षर-पुरुष-बाह्यपिंड—भूतात्मा को बनाने में प्रधान भाग लेती हैं। शक्तिरूप अक्षर पुरुष से ही भूतरूप क्षर विकसित होता है, प्राण ही ‘रयि’ का उत्पादक है, फास् ही मंदर बनाती है, यह वैदिक सिद्धांत है। श्रुति में स्पष्ट कहा है—

“अद्वैतं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीर्वाहममृतम् ।”

अक्षर-पुरुषरूप प्रजापति का अद्वैत भाग मर्त्य—क्षर होता है और अद्वैत अमृत—अमर्त्य रूप में रहता है। इस क्षर-पुरुष का आलंबन अव्यय की पाँचवी कला ‘वाक्’ है। इसी लिये सब भूतों को श्रुति ‘वाक्’ ही कहती है—

“अग्नौ वागेवेदं सर्वम् ।”

क्षर-पुरुष की भी पाँच कलाएँ हैं, किंतु क्षर-पुरुष ही संपूर्ण सृष्टि का उपादान है, अतः वह अनेक भावों में देखा जाता है। प्रत्येक भाव में उसकी पाँच-पाँच कलाओं के पृथक्-पृथक् नाम हैं। आत्म-क्षर की कलाओं के अक्षर भावे ही नाम रहते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, अग्नि, वायु। मर्त्य-क्षर का विकास-क्षर दशा में इन पाँचों से क्रम से प्राण, आप, वाक्, अन्न और अन्नाद—इन पाँच कलाओं का विकास होता है। वेदांत की पंचीकरण-प्रक्रिया के अनुसार इन पाँचों मर्त्य-क्षरों का पंचीकरणात्मक यज्ञ होता है, अर्थात् ये पाँचो परस्पर मिलाये जाते हैं—जिनमें आधा भाग प्रधान का और आधे में शेष चार। इसी पंचीकरण-प्रक्रिया से पिंडों की उत्पत्ति है। जिसमें आधा भाग प्राण का और आधे में समान मात्रा में आप, वाक्, अन्न और अन्नाद चारो हो—वह प्राण-अधान ‘स्वयंभू’ मंडल कहा जाता है। जिसमें आधा भाग ‘अप’ का और आधे में समानमात्रा में प्राण, वाक्, अन्न और अन्नाद चारो हो—वह अप-अधान ‘परमेष्ठी’ मंडल बनता है। योही वाक्-अधान ‘इंद्र’ (सूर्य) मंडल, अन्न-अधान ‘चंद्र’ मंडल और अन्नाद-अधान ‘पृथिवी’ मंडल—पूर्वोक्त पंचीकरण की प्रक्रिया से बनते हैं। इस प्रकार यज्ञ-क्षर की पाँच कलाएँ, स्वयंभू, परमेष्ठी, इंद्र (सूर्य), चंद्रमा और पृथिवी नाम से कही जाती हैं। इसे ही लोक-सृष्टि या भुवन-सृष्टि कहते हैं। इसका विवरण अनुस्मृति के आरम्भ में ही इन श्लोकों में है—

“ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो ध्वंजयश्चिवम् ।

महाभूतादि वृत्तीजाः प्रादुरासीत्तमोनुवः ॥

योऽसावतीक्षिययाहधः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।

सर्वभूतमयोऽक्षित्यः स एव स्वयमुदभवौ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सितुर्बुधिविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जवी तत्तु बीजमवातुजत् ॥

तदंडमभवद्धर्मं स हृत्त्रिभुसमप्रभम् ।

तस्मिज्जले स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

तस्मिज्जले स भगवानुवित्वा परिवत्सरम् ।

स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदंडमकरोद्द्विधा ॥

१. यह हैम-अंड ही सूर्य है, इस मंडल में इंद्र ही की प्रधानता है—‘यथानिगर्मा पृथिवी तथा सौख्येण गमिणी’ श्रुति का वचन है। जैसे पृथिवी में अग्नि व्याप्त है, जैसे सूर्यमंडल में इंद्र-प्राण व्याप्त है।

२. यह ब्रह्मा सूर्यमंडलस्य प्रजापति है।

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।

मध्ये व्योम^१ दिशश्चाष्टावपां स्थालं च शाश्वतम् ॥”

इनमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व की व्याप्ति में उत्पन्न होता है और पूर्व से ही बढ़ उसके वक्ष में रहता है। चंद्रमा पृथिवी की व्याप्ति के अंतर्गत है और पृथिवी से बढ़ है, इसी के चारो ओर घूमता है। पृथिवी सूर्य से बढ़ है। सूर्य परमेष्ठी (इस नाम के मंडल) से बढ़ है, उसकी व्याप्ति में है, उसके चारो ओर घूमता है और परमेष्ठी भी स्वयम्भूमंडल से बढ़ है, उसके चारो ओर घूमता है। ये पाँचो मंडल विश्व की एक ‘ब्रह्मा’ (शास्त्रा) कही जाती है, ऐसी अनंत शाखाएँ अनंत आकाश में परिव्याप्त है। इन पाँचो क्षरमंडलो में एक-एक अक्षर-प्राण की प्रधानता है, इसलिये ये उन (अक्षर) नामो से भी कहे जाते हैं। स्वयम्भू में ब्रह्मा, परमेष्ठी में विष्णु, सूर्य में इन्द्र, पृथिवी में अग्नि और चंद्रमा में सोम प्रधान है, अतएव इन मंडलो को क्रम से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम नाम से भी कहा जाता है। इनमें पृथिवी और सूर्य के मध्य में जो अंतरिक्ष है, उसमें रहनेवाला चंद्रमा मंडलो की सत्त्वा में से लिया गया है, किंतु सूर्य और परमेष्ठी के मध्य के अंतरिक्ष के ब्रह्मणस्पति, वरुण आदि मंडल वा परमेष्ठी और सूर्य के मध्य के अंतरिक्ष के विद्वक्कर्मा आदि का मंडल पृथक् नहीं गिने गये हैं, क्योंकि उनसे हमारा (इस पृथिवी का) साक्षात् संबंध नहीं है, चंद्रमा से घनिष्ठ संबंध है। यदि उन दोनों अंतरिक्षो की भी गणना कर ली जाय तो सात लोक हो जाते हैं, जो कि भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्यम्—इन नामो से प्रसिद्ध हैं। भू—पृथिवी, भुव—अंतरिक्ष, स्व—द्युलोक—सूर्य, मह—अंतरिक्ष (दूसरा), जन—परमेष्ठी, तप—अंतरिक्ष (तीसरा), सत्य—स्वयम्भू। इनमें तीन पृथिवी, तीन अंतरिक्ष और तीन दिव (द्युलोक) हैं, किंतु दो जगह दिव और पृथिवी एकरूप हो जाते हैं—इसलिये सात ही लोक रहते हैं। जैसे हमारी पृथिवी की अपेक्षा सूर्य दिव है, किंतु उसे पृथिवी मान कर परमेष्ठी-दिव बनता है और परमेष्ठी की पृथिवी मान कर स्वयम्भू-दिव होता है, यो सूर्य और परमेष्ठी पृथिवी रूप भी होते हैं—और दिवरूप भी। अंतरिक्ष तीनों पृथक्-पृथक् रहते हैं। इसी आशय से श्रुति में तीन पृथिवी और तीन द्युलोकों का कई जगह उल्लेख हुआ है—

“तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेकः

तिस्रो द्यावो निहिता अंतरस्मिन् ।

तिस्रो भूमीवपरा षड्विधानाः ।”

—इत्यादि

ये स्वयम्भू आदि पाँच ‘यज्ञ-क्षर’ वा ‘अधिदैवत-क्षर’ कहे जाते हैं—इनसे क्रमसे पाँच ‘आध्यात्मिक-क्षर’ होते हैं—जो प्रत्येक प्राणी में वर्तमान है। इनके नाम अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान और शरीर हैं। यहाँ शरीरपद से स्थूल-शरीर लिया गया है। प्रज्ञान इन्द्रिय-सहित मन का नाम है, विज्ञान बुद्धि को कहते हैं, महान् तीन प्रकार का है—आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान् और अकृतिमहान्। पहले के अनुसार प्रत्येक प्राणी का आकार (अवयवसंनिवेश, छोटा-बड़ापन आदि) होता है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

“सर्वयोनियु कौतिय भूतयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥”

—भागवद्गीता, १४।४

दूसरे के अनुसार प्रत्येक प्राणी की प्रकृति (भावत) होती है, तीसरा महत्कारण है। ये तीनों (प्रज्ञान, विज्ञान और महान्) मिल कर सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं। अव्यक्त कारण शरीर है,

^१ व्योम—अंतरिक्ष—अंतरिक्षस्थ चंद्रमा ।

जिसमें से दोनों शरीरों का विकास है। इन पाँचो आध्यात्मिक क्षरो की समष्टि उक्त पाँचो प्राधि-
दैविक क्षर है, उन पाँचो मन्त्रों के 'रस' से क्रम से ये पाँचो उत्पन्न होते हैं। आध्यात्मिक क्षर की
पाँच कलाएँ दूसरी प्रक्रिया से भी कहीं-कहीं उल्लिखित हुई हैं—बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और
चित्। बीजचिति—कारण शरीर है, देवचिति—सूक्ष्मशरीर, भूतचिति—स्थूलशरीर, प्रजा-पुत्रादि और चित्त-
सपत्ति। इस प्रक्रिया में क्षर-आत्मा की व्याप्ति जहाँ तक है, उन सब बाह्य पदार्थों का भी सग्रह
हो जाता है। मतांतर में उन्हें 'पशु' शब्द से कहा गया है, तीन पुरुषों की गणना में नहीं लिया गया।
अस्तु, इस संक्षिप्त लेख में पुरुषत्रय के सबब में इससे अधिक नहीं लिखा जा सकता, इसका विस्तार जिन
विद्वान् सज्जनों को समझना हो, वे गुरुवर विद्यावाचस्पति श्री६ मधुसूदन जी भोक्षा का 'भगवद्गीता-
वैज्ञानिक भाष्य' वा उनके 'ब्रह्मविज्ञान' का 'सिद्धांतवाद' पढ़ें।

सारांश यह सिद्ध हुआ कि संपूर्ण जगत् का उपादान कारण क्षरपुरुष, उसमें अव्यक्त रूप से
रहकर शक्तिविशेष रूप से उसे चलानेवाला निमित्तकारण प्रक्षरपुरुष और दोनों का आलंबन कार्य-
कारणातीत अव्यय पुरुष कहा जाता है। यद्यपि अव्यय-पुरुष सृष्टि में कोई काम नहीं करता, वह
निर्विकार, निष्क्रिय है, किंतु वह रसमय है, उसी का रस प्रक्षर और क्षर दोनों में अनुस्यूत-समन्वित
है, उस रस का आश्रय न हो, तो शक्तिरूप प्रक्षरपुरुष वा उससे उत्पन्न क्षरपुरुष ठहर ही न सकें,
इसलिये समन्वय के कारण अव्यय-पुरुष ही सब सृष्टि का मूल कहा जाता है। उल्ल-कुद सब कुछ
जहरो की ही हैं, जहरे ही फेन आदि बनाती हैं, किंतु आचारभूत जल न हो तो जहरे रहें किसपर ?
जल को धारण करनेवाला घट ही है, किंतु आकाश न हो तो घट और जल दोनों ही कहाँ रहें ?
अतएव केवल अव्यक्त (प्रक्षर) से सृष्टि माननेवाले अव्यक्त को ही परतत्त्व कहनेवाले साख्यवाधियों
को भगवद्गीता में फटकार बतायी गयी है—

“अव्यक्तं व्यक्तित्मापरं मन्त्यते भामबुद्धयः ।

परं भावमजानतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥”

—भगवद्गीता ७।२४

निर्वृद्ध लोग भुक्त (परसब, परमात्मा को) अव्यक्त (प्रक्षर, शक्तिविशेष) रूप कहते हैं—
और अव्यक्त को ही व्यक्त (प्रकटता) को-जगत् मानते हैं, वे सबसे उत्तम अव्यय नाम के मेरे पर-भाव
(स्व-रूप) को नहीं जानते। इसीलिये परमपुरुष परमात्मा अव्यय अकर्ता होता हुआ भी कर्ता है—

“तस्य कर्तरि मयि मां विद्वद्यकर्तारमव्ययम् ॥”

क्षर की पाँच कला, प्रक्षर की पाँच और अव्यय की पाँच इन पंद्रह कलाओं का श्रुति
निष्कल अव्यय (मायाविशिष्ट रस) में ही लीन होना बताती है—

“गताः कलाः पंचवशा प्रतिष्ठा

देवाश्च सर्वे प्रतिवेद्यताम् ।

कर्माणि विज्ञानमपदञ्च प्राप्ता

परेऽव्यये सर्वं एकमवर्तते ॥”

यो यह अव्यय-पुरुष सब में समन्वित होकर भी असंग है। सग नाम आसक्ति का है,
जिसे 'बंध' भी कहते हैं। जैसे कि किसी पात्र में तेल डालने पर तेल का सग हो जाता है, कपड़े
में मेख का या रंगत का सग हो जाता है—इत्यादि। जिस प्रकार काच में प्रतिबिंब का सग नहीं
होता, कमल-पत्र में जल का सग नहीं होता, आकाश में मेघ का सग नहीं होता—वैसे ही अव्यय-
पुरुष में प्रक्षर, क्षर-अपञ्च का सग नहीं होता। वह बेलाग रहता है।

ईश्वर और जीव

इन पंद्रह कलाओं में, सर्वत्र अनुस्यूत-समन्वित, निष्कल 'परमस्वर' रस को भी एक कलारूप
में छोड़ दिया जाय तो सोलह कलाएँ हो जाती हैं। ये सोलह कलाएँ ईश्वर और जीव दोनों में हैं,

अतएव दोनों ही 'बोझी' (बोलहवाले) कहलाते हैं, किंतु भेद इतना ही है कि ईश्वर में (बोझी) अभ्यय-आत्मा का क्षर द्वारा आवरण नहीं होता, किंतु जीव में आनंद, विज्ञान आदि अभ्यय-पुरुष की कलाएँ क्षर से आवृत हो जाती हैं। आवरण करनेवाला 'काम' बल है, उसकी जीव में प्रधानता है, अतः जीव में अभ्ययात्मा आवृत रहता है। यद्यपि 'सोऽकामयत्'—इत्यादि श्रुतियों से ईश्वर में भी काम सिद्ध होता है, काम न हो, तो सृष्टि ही कैसे करे? किंतु 'सर्ग' काम ही उसमें है, 'भोग' काम नहीं है। आप्तकाम, आत्माराम होने के कारण सुख-दुःख भोग वह नहीं चाहता। इसीलिये काम उसके अभ्यय-स्वरूप का आवरण नहीं कर सकता। अनावृत अभ्ययात्मा की प्रधानता के कारण ही परमेश्वर अभ्यय-स्वरूप कहलाता है। जीव स्वयम् अक्षर होता हुआ भी क्षरानुगामी होने से क्षर-कोटि में अपने को मान लेता है। अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु आदि कलाएँ आपेक्षिक ईश्वर रूप में मानो जाती हैं।

क्षर की आध्यात्मिक कलाओं में—अभ्य में जिस विज्ञान (बुद्धि) का नाम प्राया है वही बस, भोग का प्रधान कारण है। उसके दो रूप हैं—एक रूप वचन का हेतु है, वही अभ्यय की कलाओं का आवरण करता है, दूसरा रूप मोचन (भोग) का हेतु है, वह आवरण को दूर कर अभ्ययात्मा का प्रकाश करता है। भोग-हेतु रूप को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं और वचन-हेतु रूप को अभ्यवसायात्मक। काम बल और उससे होनेवाले कर्म वा इन दोनों की वासन—जहाँ प्रबल होकर आवरण कर लेती है—वह अभ्यवसायात्मक रूप है और जहाँ ये न हों, वह व्यवसायात्मक। व्यवसायात्मक बुद्धि के चार रूप हैं—धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके विपरीत अभ्यवसायात्मक बुद्धि के भी चार रूप हैं—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। ये ही रूप 'पंचक्लेश' कहे गये हैं। ज्ञान के विरोधी अज्ञान (अन्यथा-ज्ञान) का नाम अविद्या है, ऐश्वर्य का विरोधी अनैश्वर्य ही अस्मिता (अहंकार, देहादिरूप से परिच्छिन्नता) रूप से प्रतीत होता है, अवैराग्य—राग और द्वेष दो शब्दों से कहा जाता है और अधर्म रज और तम की बुद्धि के द्वारा अभिनिवेश रूप में परिणत होता है। जीव इन पाँचो क्लेशों से ग्रसित रहता है, किंतु ईश्वरमें इनके विरोधी चारो रूप पूर्ण मात्रा में स्वतः सिद्ध रहते हैं। बुद्धिप्रसादका नाम ज्ञान है, स्वच्छ बुद्धिमें ज्ञान रूप अभ्ययात्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब होता है, यह बुद्धि का रूप अविद्या का निवर्तक है—इसका विवरण 'अमानिषमर्धमित्वम्' इत्यादि गीता वचनों में किया गया है। बुद्धि का विकास ऐश्वर्य है, इससे क्षरीरादि परिच्छेदरूप अस्मिता निवृत्त होती है। आसक्ति रूप अधिवच का अभाव वैराग्य है। इससे राग, द्वेष दूर जाते हैं। सत्त्वगुण की बुद्धि को धर्म कहते हैं, इससे रज और तम का अभिभव होकर अभिनिवेश निवृत्त होता है। बस, क्लेशों की निवृत्ति होने पर अभ्ययात्मा का आवरण नहीं रहता और उसकी कलाओं का पूर्ण विकास होता है। जीव में भी यह चतुःस्वरूपा व्यवसायात्मक बुद्धि अष्टांगयोग आदि प्रयत्नों से ईश्वर-भक्त होने पर उत्पन्न हो सकती है, किंतु वह यत्नसाध्य है, ईश्वर की तरह स्वतः सिद्ध नहीं। जीवों में विद्यमान आदेशों की ध्वसरूप निवृत्ति करनी पड़ती है, किंतु ईश्वर में क्लेशों का स्वतः सिद्ध अत्यन्तभाव है। प्रयत्न करने पर भी जीवों में चारो रूपों की परिपूर्णता नहीं हो पाती। जब तक जीवभाव है तब तक सूक्ष्म वा सूक्ष्म किसी रूप में क्लेशों का अनुभव रहता ही है, अतः अभ्यय की कलाओं का भी पूर्ण विकास जीवों में नहीं हो पाता। योग-सूत्रकार भगवान् पतंजलि ने भी ईश्वर का यही लक्षण किया है—

“क्लेशकर्मविपाकाद्यैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।”

बस, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य जिसमें स्वतः सिद्ध पूर्ण रूप से हों, अविद्या आदि पाँच क्लेशों का जहाँ लेशमात्र न हो, अभ्यय पुरुष की कलाएँ जहाँ अनावृत हों—यही परमेश्वर, परमात्मा का लक्षण सिद्ध हुआ।

अवतार का विवरण

वह परमेश्वर परमात्मा स्व-स्वरूप से अभिज्ञेय है, स्वरूप-लक्षण द्वारा हम उसे पहचान नहीं सकते। वह सब में निलीन—निगूढ है, किंतु जगत् जो कि प्रत्यक्ष है, वह भी उससे पृथक् नहीं।

वही जगत् है और वही जगत् का नियता है, इसलिये जगत् में जो-जो रूप उसके जगत् का नियम करते दिखायी देते हैं, उनके द्वारा ही हम परमात्मा को पहचान सकते हैं, उनके द्वारा ही उपलब्ध कर सकते हैं, वे ही परमेश्वर के 'भवतार' हैं, दूसरे शब्दों में यह कहिये कि शर-मुख में अव्यय-मुख की जो कलाएँ परिवर्तित होती हैं, वे ही 'भवतार' हैं, उनके द्वारा ही अव्यय-मुख उपात्त या ध्येय होता है। इसी कारण भवतार का वाचक श्रीमद्भागवतादि में 'आविर्भाव' शब्द भी आया है और जगद्वापी विराट्-रूप को ही भागवत में पहला भवतार बताया गया है—

“एतन्नाभावताराया निषाल बीजमव्ययम् ।”

—भागवत १।३।५

जगत् में परमात्मा जो आविर्भूत होता है, सो मानो अपने स्व-स्वरूप—स्वप्न से जगत् में उतरता है, अव्यय-मुख ही शररूप में उतरकर आया है, इसलिये उसे 'भवतार' कहते हैं। परमात्मा का रूप 'सत्य' है, वह तीनों कालों में, सब देशों में, सब दशाओं में अबाधित रहता है, कारणको सत्य कहते हैं, वह सबका कारण है—इसलिये परम सत्य है। वह सत्य जगत् में 'नियति' रूप से प्रकट है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक नियम काम कर रहा है, जल सदा नीचे की ओर ही जाता है, अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को ही उठती है, वायु सदा तिरछी ही चलती है, सूर्य नियत समय पर ही उदय होता है, हरिण के दोनों सींग बराबर नाप में बढ़ते हुए समान रूप से मुड़ते हैं, बेर के वृक्ष में प्रत्येक पर्व पर दो कटि पैदा होते हैं—जिनमें एक मुड़ जाता है, एक खड़ा रहता है। वसत-शत्रु भाते ही ग्राम के वृक्षों में मजरी निकलने लगती है। इस प्रकार सब जगत् को अपने-अपने वर्ग में नियत रूप से स्थिर रखनेवाली शक्ति जिसमें कि चेतना भी अनुस्यूत है, अतर्क्य, नियति वा सत्य-शब्द से कही जाती है। कह सकते हैं कि उस परम सत्य का नियति रूप से यह जगत् में भवतार है। इसी प्रकार सत्, चित्, आनन्द परमात्मा के रूप शास्त्रों में वर्णित हैं, उनका जगत् में प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ के रूप में भवतार होता है। सत्ता और विभूति ये दोनों प्रतिष्ठा के रूप हैं, प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है और अपने कार्य को अपने आचार पर चारण करता है। जैसा कि मृत्तिका-घट का बा तटु पटका—ये सत्ता के 'विश्वचर' रूप हुए। चित् (ज्ञान) का विश्वचर रूप 'ज्योति' है, इसके तीन भेद हैं—नाम, रूप और कर्म। इन्हीं से सब पदार्थों का प्रकाश (ज्ञान) होता है, ये ही सब पदार्थों के भेदक हैं। आनन्द का विश्वचर रूप 'यज्ञ' है, अन्नाद का अन्न-ग्रहण करना ही यज्ञ कहाँता है, इसलिये 'अन्न' नाम से भी इस रूप का व्यवहार करते हैं। अन्न-ग्रहण से वस्तु का विकास होता है और विकास ही आनन्द का रूप है, इस 'यज्ञ' का विवरण पूर्व में किया जा चुका है। इन तीनों विश्वचर-रूपों को भी 'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नामरूपे सत्यम्' इत्यादि श्रुतियों में 'सत्य' शब्द से कहा है—

“यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमय तपः ।

तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमर्च्यं जायते ॥”

इस श्रुति में सर्वज्ञ पर-पुरुष अव्यय से इन्हीं तीन विश्वचर-रूपों की उत्पत्ति कही गयी है। विश्वचर-रूपों का विश्वचर-रूप से भवतार ही उत्पत्ति है, श्रुति में ब्रह्म नाम प्रतिष्ठा का और अन्न नाम यज्ञ का है। इन तीनों सत्यों का भी सत्य परमात्मा है, इसलिये वह 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की 'गर्भस्तुति' आरम्भ करते हुए देवताओं ने कहा है—

“सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं

सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं

सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥”

जिनके व्रत-धर्म था सत्य सत्य है, (देवताओं के—अग्नि, वायु, सूर्य आदि के गर्भे अग्नि-चारी नहीं होते, इस विशेषण से सर्वदेवरूपता भगवान् की बतायी गयी है) सत्य ही जिनका पर—

आश्रय—आधार है (इससे पूर्वोक्त नियति-रूपता भगवान् की कही गयी) जो तीनों काल में सत्य—अवा-
चित है वा तीन रूप से जो सत्य है (अतर्क्य, वेद और सूत्रात्मा—ये तीन भगवान् के सत्य रूप हैं),
जो सत्य के (पूर्वोक्त प्रतिष्ठा, नाम-रूप और यज्ञ के) कारण है, जो उक्त तीनों सत्यों में निहित -
निगूढ रूप से प्रविष्ट है वा जो अश्वय पुरुष रूप भगवान् परम सत्य—शुद्धरस रूप ब्रह्म में निहित
आत्म रूप से स्थित है, जो सत्यके भी सत्य है, अर्थात् कारणों के भी कारण है (कार्य की अपेक्षा कारण
को सत्य कहा जाता है), अथवा प्रजापति का नाम सत्य है, उसमें भी जो सत्य है, अर्थात् प्रजापति की
सत्यता भी जिन पर अवलंबित है, श्रुत और सत्य दोनों जिनके नेत्र (सूत्र) है, (जिनका केंद्र न हो,
उन्हें श्रुत कहते हैं—जैसे वायु, जल आदि और जो केंद्रबद्ध हो, वे सत्य कहते हैं—जैसे तेज, पृथिवी आदि।
इन दोनों प्रकार के नेताओं में (रई चलाने की रस्सियाँ) से जिन्होंने सब प्रपञ्च की पकड़ रखी है, इन दोनों
भावों की अभिव्यक्ति परमेश्वर डल में होती है। इससे भगवान् का परमेश्वरी रूप बताया गया। स्वयं भी जो
सत्य स्वरूप है—उन भगवान् की हम शरण हैं।” इस श्लोक में भगवान् के सत्य रूपों का संक्षिप्त विवरण है।

उक्त (नियति, प्रतिष्ठा, नाम-रूप आदि) रूपों से परमात्मा का प्रथम अवतार स्वयम्भू में होता
है, वहीं विश्व का प्रथमोत्पन्न रूप है। अतः सत्य का प्रथम भाविर्भाव यही है। आगे परमेश्वरी में, सूर्य में,
चंद्रमा में और पृथिवी में क्रमिक अवतार है। पृथिवी द्वारा पृथिवी के सब प्राणियों में भी परमात्मा
के विश्वचर-रूपों का आश्रित अवतार होता है। अतः स्वयम्भू भगवान् का प्रथमावतार और आगे के
परमेश्वरी आदि भी अवतार कहे जाते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व का ‘प्राण’ उत्तरोत्तर में अनुसृत होता है, इससे
पूर्व-पूर्व के वर्ग न्यूनाधिक मात्रा में उत्तरोत्तर में संक्रात है, स्वयम्भू का ‘प्राण’ और उसके वर्ग पर-
मेश्वरी में, दोनों के सूर्य में, तीनों के चंद्रमा में, चारों के पृथिवी में और पाँचों के प्राणियों में संक्रात
होते हैं। कौन-कौन मंडल किस-किस ‘प्राण’ का अन्यत्र संक्रमण करता है—यह भी श्रुतियों से प्रमा-
णित हो जाता है। स्वयम्भू मंडल से सत्य, चित् और सूत्र—(श्रुत, सत्य), परमेश्वर मंडल से मृग,
अगिरा, अग्नि, सूर्य से ज्योति, गी, आयु, चंद्रमा से यश, रेत और पृथिवी से वाक्, गी, घी—ये
प्राण निकलते रहते हैं और अन्यत्र संक्रात होते हैं। इन सबका विवरण इस लेख में नहीं किया जा
सकता, संक्षेप में इतना ही कहना है कि प्राणिमात्र में, विशेषतः मनुष्यों में जो शक्तियाँ देखी जाती
हैं, वे इन्हीं भगवान् के अवतारों से प्राप्त हैं। भिन्न-भिन्न शक्ति के अविच्छेदन भिन्न-भिन्न आत्माओं का
विकास भी प्राणियों में इन मंडलों से प्राप्त प्राणों द्वारा ही होता है, जैसे खनिज आदि में केवल वैश्वान-
नर आत्मा, वृक्षादि में वैश्वानर और तैजस, आगे प्राणियों में वैश्वानर, तैजस और प्रज्ञान ये तीनों
भूतात्मा, मनुष्यों में भूतात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा आदि विकसित होते हैं। जहाँ-जहाँ
जिस मंडल के प्राण की अधिकता हो, उसीके अनुसार उसमें विशेष शक्ति पायी जाती है और उसे
उसका ही अवतार कहा जाता है। इस प्रकार सभी प्राणी एक प्रकार से भगवान् के विभूति-अवतार
कहे जा सकते हैं, किंतु जिसमें शक्तियों का जितना अधिक विकास होता है, वह उतने ही रूप में श्रीरो
का विभूति रूप से उपास्य हो जाता है। जिनमें जीव-कोटि से अधिक शक्तियों का विकास हो, बुद्धि के
चारों ऐश्वर्य-रूप या उनमें से एक, दो या तीन मनुष्य कोटि से अधिक मात्रा में जहाँ प्रकट हुए हो,
जीव साधारण आवरण हट कर अभ्ययात्मा की कलाएँ जिनमें आविर्भूत दीक्ष पड़े, उन्हें विशेष रूप से अवतार
माना जाता है और जहाँ पूर्ण रूप से सब शक्तियों का विकास हो, पूर्ण रूप से अभ्ययात्मा की सब कलाएँ
प्रकट हो, वे पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर रूप से उपास्य होते हैं।

श्री कृष्णावतार

यह ईश्वर और अवतार का रहस्य दृष्टि में रखकर अब भगवान् श्री कृष्ण के चरित्रों की
आलोचना कीजिये तो स्फुट रूप से भासित हो जायगा कि वे ‘पूर्णावतार’ हैं। दुराग्रह छोड़ दिया जाय, तो

१. देखिये, पहले क्षर-पुरुष की आधिदैविक कलाओं का निरूपण।

विषय होकर कहना ही पड़ेगा—‘कृष्णस्तु भगवान्त्वयम्’ (श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान्—परब्रह्म परमेश्वर है)। पहले बुद्धि के चारों ऐश्वर्य रूपों को ही देखिये (धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य), इनकी पूर्णता श्रीकृष्ण में स्पष्ट प्रतीत होगी। धर्मकी स्थापना के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार है, उनका प्रत्येक कार्य धर्म की कसौटी है, उनके सब चरित्र शुद्ध, सात्विक हैं, रज और तम का वहाँ स्पर्श भी नहीं है। ‘अमानिता’, ‘अदम’ आदि बुद्धि के धार्मिक गुणों को पूर्ण मात्रा में वहाँ मिला लीजिये। युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ में आगलुको के चरण-श्रमालन का काम आपने लिया था, महामारत में अर्जुन के सारथि बने थे। इन बातों से बड़कर निरभमानता क्या हो सकती है? भगवान् श्री रामचंद्र इसलिये धार्मिक-शिरोमणि-मर्बादा-मुख्योत्तम कहते हैं कि पिता की आज्ञा से उन्होंने राज्य छोड़ दिया था। भव विचारिये—वहाँ साक्षात् पिता की साक्षात् आज्ञा थी, किंतु कस के मारने पर जब भगवान् श्री कृष्ण से मयुरा का राज्य ग्रहण करने का सब वायवों ने अनुरोध किया तो आपने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि ‘हमारे पूर्व पुरुष यदु का महाराज ययाति ने बड़ा-परंपरा तक के लिये राज्याधिकार छीन लिया है—इसलिये हम राजा नहीं हो सकते’। यो आपने बहुत पुराने पूर्वपुरुष की परोक्ष आज्ञा का संमान कर राज्य छोड़ा, इतने आपका धार्मिक आदर्श कितना ऊँचा सिद्ध होता है? धर्म के प्रचलन भग सत्य में आप इतने सुदृढ़ थे कि शिशु-पाल की माता को शिशुपाल के ली अपराध सहन करने का वचन दे दिया था। युधिष्ठिर की वन-सभा में शिशुपाल के कटुभाषण पर तटस्थों की क्रोध आ गया, किंतु आप लौ की पूर्ति तक चुपचाप रहे, लौ पूर्ण होने पर ही उसे मारा। इसके अतिरिक्त धर्मके नाम पर जो लोग उलटे मार्ग में फँसते हैं, वो धर्मों का परस्पर विरोध दिखायी देने पर उस अधि की सुलझाने में जो बड़े-बड़े विद्वानों की भी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है और आविष्ट अधर्म को धर्म मान लेती है, उन अधियों को अपने आचरण और उपदेश दोनों से भगवान् श्री कृष्ण ने खूब सुलझाया है। धर्म के सब अंगों को पूरा निभाया है। धर्म का स्वरूप सदा देव, काल, पात्रसापेक्ष होता है, एक समय एक के लिये जो धर्म है, भिन्न अवसर में वा भिन्न अधिकारी के लिये वही धर्म हो जाता है। इस अविकार-भेद—‘जैयान् स्वधर्मः’ के आप पूर्ण ज्ञाता थे। धर्म का बलाबल आप खूब देखते थे। दुष्टों का किन्हीं भी प्रकार दमन आप धर्मानुमोदित मानते थे। कर्णार्जुन-युद्ध में रथ का पहिया पृथिवी में चले जाने पर, धर्म की दुहाई देकर अर्जुन से शस्त्र चलाता बंद करने का अनुरोध करते हुए कर्ण को आपने यही कहकर फटकारा था कि ‘जितने अपने जीवन के आचरणों में धर्म का कमी आकर नहीं किया, उसे दूसरे से अपने लिये धर्माचरण की आशा करने का क्या हक है?’ कालयवन जब अनुचित रूप से बिना कारण मयुरा पर चढ़ाई कर आया, तो उसे बोला देने में आपने कुछ भी अनौचित्य नहीं समझा। अधार्मिकों के साथ भी यदि पूर्ण धर्म का पालन किया जाय, तो अधार्मिकों का हौसला बढ़ता है और धर्म की हानि होती है। इसलिये समाज-व्यवस्थापक को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। रथचक्र लेकर भीष्म के सामने दौड़ते हुए आपने जब भीष्म पर आक्षेप किया कि ‘तुमने धार्मिक होकर भी अधर्म कुर्वेण का साथ क्यों दिया’ तब भीष्म के—‘राजा परं वैतव्यम्’ (राजा बड़ा देवता है, उसकी आज्ञा माननी ही चाहिये) रूप उत्तर देने पर आपने स्पष्ट कहा था कि ‘दुष्ट राजा कभी माननीय नहीं होता, तभी तो देखो मैंने स्वयं कस का निग-त्रण किया!’ यो सामाजिक नेता के धर्मों की आपने खूब शिक्षा दी है और धर्म के साथ नीति का क्या स्थान है, कहीं-कहीं नीति को प्रधानता देनी चाहिये और कहीं-कहीं धर्म को—इसे खूब स्पष्ट किया है। नीति का उपयोग वहाँ धर्म रक्षा में होता हो—वहाँ आप नीति को प्रधानता देते हैं। इस व्यवस्था को मूल जाने से ही मारतवर्ष विदेशियों का पादाक्रांत हुआ है और परिणाम में इसे धर्म की दुर्दशा देखनी पड़ी है। अस्तु, कर्ण-मर्ब में महाराज युधिष्ठिर के गाँधी-अनुष के निंदा करने पर सत्य-प्रतिज्ञा-निबन्ध के उद्देश्य से युधिष्ठिर पर शस्त्र चलाते के लिये उद्यत अर्जुन को ऐसे अवसर में सत्य-पालन का अनौचित्य बताते हुए आपने रोका था—और ‘बड़ो की निंदा ही उनका हून है’, इस अनुकूल्य से सत्य-रक्षा करवायी थी। सौन्दर्य-मर्ब में अस्वत्थामाने जब सोते हुए द्रौपदी के पैरों पुरों

को मार दिया और अर्जुन उसके वध की प्रतिज्ञा से, विलखती द्रौपदी को सात्वता देकर युद्ध में जीत-कर उसे पकड़ लिया—तब युधिष्ठिर और द्रौपदी कह रहे थे कि 'ब्रह्म-हत्या मत करो, इसे छोड़ दो' भीमसेन कह रहे थे 'कि ऐसे वृद्ध को भवस्य मार दो' अर्जुन की प्रतिज्ञा भी मारने के पक्ष में थी—उस समय भी आपने 'वन-हरण मारने के ही सव्य होता है, इसके मस्तक की मणि निकाल लो' यह अनुकल्प बताकर अर्जुन से दोनों गुरुजनों की आज्ञा का पालन कराया था और उसे ब्रह्म-हत्या से बचाकर अनु-कल्परूप से सत्य-रक्षा करवायी थी। ऐसे प्रसंग 'धर्मप्रथि' सुलझाने में आदर्श उदाहरण है। भगवद्गीता के प्रारंभ में अर्जुन के विचार स्थूल दृष्टि से विलकुल धर्मनिकूल प्रत्युत एक आदर्श धार्मिक के विचार प्रतीत होते हैं, किंतु आपने 'स्व-धर्म' विरुद्ध कहकर—'प्रज्ञावादास्त्व भावसे' के द्वारा उन विचारों को विलकुल अनुचित ठहराया और उसे युद्ध में प्रवृत्त किया, जो कि गीता का स्वाध्याय करने पर विलकुल ठीक मालूम होता है। बाल्यकाल में ही भोपो द्वारा इद्र की पूजा हटाकर आपने जो गोवर्धन-पूजा प्रवृत्त की, उसमें भी यही अधिकार-भेद का रहस्य काम कर रहा है। आपका यही अभिप्राय है कि ईश्वर जब सर्वव्यापक है, तो गोवर्धन जो हमारे समीप है और जिससे हमारी सब प्रकार पालना होती है, उसे ही ईश्वर की मूर्ति मानकर क्यों न पूजा जाय ? क्या वह ईश्वर की विभूति नहीं है ? 'इंद्र की पूजा करनेसे इद्र वर्षा करेगा' इस काम्य-धर्म के आप सदा से विरोधी रहे हैं, इसे आपने स्थान-स्थान पर 'इंद्रान्तरी' बताया है और धर्म-सीमा से बहिर्भूत माना है। अपना कर्तव्य समझ धर्म का अनुष्ठान करना—यही श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा है। अस्तु, विस्तार का प्रयोजन नहीं, सर्वांगपूर्ण, बलाबल-विवे-चना-सहित, आदर्श धर्म का आपकी कृति और उपदेशों में पूर्ण निर्वह है। इसीलिये उस कालके धार्मिक नेता भगवान् व्यास जी, बाल-ब्रह्मचारी भीष्म वा धर्मवितार युधिष्ठिर आदि आपको साम्राट् ईश्वर मानते थे और धर्मप्रथि सुलझाने में आपको प्रमाणित करते थे। महाराज परीक्षित का जब मृत बालक-दशा में जन्म हुआ, तो उसकी जिलाते समय भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी धर्मपरायणता का ही आधार रक्खा है—ऐसा महाभारत में भी आस्थान है। वहाँ उनकी उक्ति यही है कि 'यदि मैंने आजन्म कभी धर्म का वा सत्य का अतिक्रम न किया हो तो यह बालक जी उठे। इससे अपनी धर्मपरायणता का आवेश और धर्म की अलौकिक शक्ति भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रकट की है।

दूसरा बुद्धिका रूप 'ज्ञान' भी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वांगपूर्ण था। क्या व्यावहारिक ज्ञान, क्या राजनैतिक ज्ञान, क्या धार्मिक ज्ञान, क्या दार्शनिक ज्ञान—सबकी आप में पूर्णता थी। आप सर्वज्ञान-निधि थे, इसके लिये आपका एक 'भगवद्गीता' का उपदेश ही पर्याप्त प्रमाण है—जिसके ज्ञान की थाढ़ आज पाँच हजार वर्षतक भी मिल न सकी।

नित्य नये-नये विचार और नये-नये विज्ञान उस ७०० स्लोको के छोटे-से ग्रन्थ-से प्रस्तुति हो रहे हैं और भी श्रीमद्भगवत-एकादश-स्कंध आदि के आपके कई-एक उपदेश हैं, जो ज्ञान में आपकी पूर्णता के प्रबल प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त व्यवहार में भी आपका पूर्ण ज्ञान विकसित है। व्यावहारिक-ज्ञान कार्य-कारण-भाव-ज्ञान का नाम है, किस उपाय से कौन-सा कार्य सिद्ध हो सकता है, यह ज्ञान सेना ही व्यावहारिक ज्ञान होता है, इसका चिह्न है—सफलता। जितना व्यावहारिक ज्ञान जिसमें होगा, उतनी ही सफलता उसे होगी। जीव-कोटि के बड़े-बड़े विद्वान् और महान् नेता भी खास-खास अवसरों पर धोखा खा जाते हैं और सफलता से हाथ धो बैठते हैं, इसके इतिहासों में सैकड़ों उदाहरण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यावहारिक मार्ग बाल्यकाल से ही कितना कटकाकीर्ण था, यह उनके चरित के स्वाध्याय करनेवालों से छिपा नहीं है। बायो तरफ आसुर-भाव-पूर्ण राजाओं का दबदबा था, उन सबका दमन करना था, किंतु इस दशा में भी उन्हें वहाँ असफलता नहीं हुई। इतना ही नहीं, किसी दशा में चिंतित होकर सोचना भी न पड़ा, अत्यंत स्थान में सफलता हाथ बाँवे लड़ी रही। क्या यह विज्ञान की पूर्णता का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है ? क्या इससे भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व प्रकट नहीं होता ? भारत का सम्राट् जरासभ और उसका मित्र कालयवन अपने अतुल सैन्यसागर से मथुरा का घेरा दिये पड़े

हैं, उस दशा में सब यादवों को अपने प्रसन्न सामान-सहित सुदूर काठियावाड़ के द्वारका-स्थान में ले जाकर बसा देना और समुद्र के मध्य में एक आदर्श नगर बना उसे भारत के सब नगरो से प्रधान कर देना वास्तव में व्यावहारिक ज्ञान की मनुष्य-सीमातीत काष्ठा है। एक छोटे-से यादवों के राज्य का इतना दबदबा जमा देना कि संपूर्ण भारत के महाराजाओं को उनकी आज्ञा माननी पड़े, यह राजनैतिक-ज्ञान की सीमा है। महाभारत में भी आप का राजनैतिक ज्ञान स्थान-स्थान में अपनी अलौकिक छटा दिखा रहा है और वर्तमान युग के राजनैतिक भी आप के राजनैतिक ज्ञान का लोहा मानते हैं। ज्ञान की सर्वांगपूर्णता में किसी विचारक को सदेह नहीं हो सकता। अब ऐश्वर्य सीजिये, कहा जा चुका है कि बुद्धि के विकास का नाम ऐश्वर्य है, उसके प्रतिफल आध्यात्मिक श्रणिमा, महिला आदि सिद्धि और बाह्य अलौकिक संपत्ति आदि होते हैं। जिन्होंने द्वारका की समृद्धि का वर्णन पढ़ा है, उन्हें बाह्य अलौकिक संपत्ति की बात बतानी न होगी। बाल्यचरित्रों में—कालि-यदमन, गोषर्षक-भारण आदि वा प्राणों के चरित्रों में विषय-रूप-प्रदर्शन, अनेक रूप-प्रदर्शन आदि आध्यात्मिक शक्तियों की परा-काष्ठा के उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते हैं—जिन्हें आध्यात्मिक-ज्ञानशून्य भावकल की जनता असम-कोटि में मानती है। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य जन्मसिद्ध है, आध्यात्मिक शक्तियों की विमू-लियों के रूप में ही उनके अलौकिक कार्य हुए हैं। कालवश भारत के दुर्दैव से योगविद्या प्रायः नष्ट हो गयी, आध्यात्मिक-शक्तियों के कार्यों को प्रायः अश्वभाव समझा जाय, तो आश्चर्य नहीं, किंतु किसी बात को असंभव बता देना कोई बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। कार्य-कारण-भाव-पूर्वक उपपत्ति सोचना बुद्धि-मत्ता का लक्षण है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि का चौथा रूप वैराग्य है, जो कि राग-द्वेष का विरोधी है। इसकी पूर्णता का चिन्ह यह है कि सब काम करता हुआ भी—पूर्णरूप से संसार में रहता हुआ भी, सब में अनासक्त रहे, किसी वंश में न भावे। कमल-पत्र की तरह निलिप्त बना रहे। संसार छोड़ कर अलग हो जाना अभ्यासवश जीवों में संभव है, किंतु संसार में रहकर सबंथा निलिप्त रहना युद्ध ऐश्वर्य-धर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों में प्रादि से अतत्तक वैराग्य का—राग-द्वेषशून्यता का पूर्ण विकास है। कहाँ बाल्यकाल का गोप-गोपियों के साथ, नन्द-यशोदा के साथ वह प्रेम कि जिसमें बँधकर एक क्षण के बिना श्रीकृष्ण के न रह सकते थे और कहाँ यह आदर्श निष्ठुरता कि अरूर के साथ मयुरा जाने के बाद आप एक बार भी वृंदावन नहीं गये। उदय को भेजा, दलराम को भेजा, उन्हें सात्वता दी, किंतु अपना 'बिलाग' पन दिखाने को एक बार भी किसी से मिलने को स्वयं उधर मुख नहीं किया। पहले गोपियों के साथ रासलीला करते समय ही मध्य में अंतर्धान होकर अपनी निरपेक्षता आपने दिखा दी थी, प्रकट होने पर जब गोपियों ने व्यग्य से प्रसन्न किया कि अपने साथ प्रेम करनेवालों से भी जो प्रेम नहीं करते, उनका क्या स्थान? तब आपने कहा था कि वे दोही हो सकते हैं—

“आमारामा ह्याप्तकामा बहुस्तता गुष्ठुहः।”

या तो पूर्ण ज्ञानी या कृतज्ञ। साथ ही अपना स्वभाव भी आपने बताया था कि—

“माहं तु सत्यो भजतोऽपि जंतून् न जाम्यमीयामनुवृत्तिसिद्धये।”

वस, इस स्वभाव का पूर्ण निर्वाह आपने किया। यादवों के राज्य या सब काम आप नताने थे, किंतु बंधनरूप कोई अधिकार आपने नहीं ले रखा था, वहाँ भी 'बिलाग' ही रहे। महामारल-युद्ध प्राणी निर्माण ही बलाया, किंतु बने रहे 'पार्थ-भारवि।' बहुत-से दृष्ट गज्राओं को मारा, किंतु उनके पुत्रों को ही उनके राज्य या अधिकार दे दिया, राज्य-नोनूपना नहीं भी न दिया। अपने पुत्रों यादवों को भी जब सदा होने देगा, उनके द्वारा जयन् में अगति भी नमावना दूँ, तो उनका भी करने मान्य ही सर्वनाश कर दिया। वैराग्य या—गण्डे-संगुप्तता का ही लक्षण 'भगना' है जो प्राणी मानवों में

भोतप्रोत है, हरएक यही समझता था कि श्रीकृष्ण मेरे हैं, किंतु वे थे किसी के नहीं, सबके और सबसे स्वतंत्र। पटरानियो में भी यही दशा थी, चक्सणी अपने को पटरानी समझती थी, सत्यभामा अपने को अतिप्रिया मानती थी, सब ऐसा ही समझती थी। यह भगवान् श्रीकृष्ण की समता का निर्वाण है। नारद ने परीक्षा करते समय इसी 'समता' पर आश्चर्य प्रकट किया था। आप सत्य-भामा का हठ रखने को पाटिञ्जलहरण करते हैं, तो जाववती को पुत्र प्राप्त होने के लिये शिव की आराधना करते हैं, किसी भी प्रकार समता को नहीं जाने देते। महाभारत-युद्ध के उपस्थित होने पर दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही सहायता माँगने आते हैं और दोनों का मनोरथ पूर्ण होता है, अर्जुन से पूर्ण सौहार्द है, किंतु गर्व-भजन के लिये स्थान-स्थान पर उसका भी शासन किया जाता है। ये सब समता के प्रबल प्रमाण हैं। ये बुद्धि के चारो सात्त्विक रूप जिसमें हो, वही भगवान् कहा जाता है—

ऐश्वर्यस्य समप्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव धर्णा भग इतीरणा ॥

वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः ।

बुद्धयः श्रीयशश्चेति षड् वै भगवतो भगाः ॥

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामाणांति गतिम् ।

वेत्ति विद्यामविद्यां च स बाह्यो भगवानिति ॥

—इत्यादि

यश और श्री इन दो बाह्य लक्षणों को भग-शब्दार्थ में और अतर्गत किया गया है, सो इन दोनों का भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्णमात्रा में विकास सर्वप्रसिद्ध है, इसपर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। तृतीय ब्रह्मलोक में जो भगवान् का लक्षण लिखा है—भूतो की उत्पत्ति, प्रलय, लोक-लोकांतर-गति, वहाँ से लौटना, विद्या और भविष्य—इन सब का ज्ञान, सो गीता में इन सब विषयों का विस्पष्ट प्रतिपादन ही बता रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण में इन ज्ञानों की परिपूर्णता है। भगवद्गीता में उक्त चारो सात्त्विक बुद्धिरूपों का विचार निरूपण है। बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद है, उसमें—वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, ऐश्वर्ययोग और धर्मयोग, यह क्रम रखा गया है, इनको क्रम से राजर्षि विद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या-नाम से भी कहते हैं, इनको फल क्रम से अनासक्ति (समता), अनावरण, भक्ति और बचनमुक्ति द्वारा बुद्धि का अव्ययात्मा में समर्पणरूप योग है—यह सब 'भगवद्गीताविज्ञानमाध्य' में संगतिपूर्वक निरूपित हुआ है। इससे भी उक्त चारो रूपों की पूर्णता गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण में सिद्ध होती है, यो 'भग' लक्षण की पूर्णता से श्रीकृष्ण (अच्युत) भगवान् कहाते हैं। यद्यपि योगसाधन से जीवों में भी ये सात्त्विक-बुद्धि-लक्षण प्रकट हो सकते हैं, किंतु किसी मात्रा में ही होते हैं, एक कोई पूर्णरूप में प्रकट हो जाय—यह भी संभव है और ऐसे ब्रह्मर्षि, राजर्षि, मुनि आदि भी 'भगवान्' कहे जाते हैं, किंतु सब रूपों की परिपूर्णता जीव में अशत भी जीवभाव रहते असंभव है, सब की पूर्णता ईश्वर में ही होती है। फिर यह भी विलक्षणता है कि जीवों में ये लक्षण प्रयत्नसाध्य होते हैं और ईश्वर में स्वतः सिद्ध। भगवान् श्रीकृष्ण का योग-साधनरूप प्रयत्न किसी इतिहास में नहीं लिखा और बाल्यकाल से ही व्यवसायात्मक-बुद्धि के लक्षण उनमें प्रकट है, इससे उक्त बुद्धि-लक्षण उनमें स्वतः सिद्ध है—यही कहना पड़ेगा और उन्हें अच्युत भगवान्, ईश्वर का पूर्णावतार या साक्षात् परमेश्वर ही मानना पड़ेगा।

व्यवसायात्मिका-बुद्धि की पूर्णता के कारण 'अव्ययपुरुष' का आवरण संशत। भी भगवान् श्रीकृष्ण में नहीं है, अव्ययपुरुष की पाँची कलाओं का पूर्ण विकास है, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आपको भगवद्गीता में 'अव्ययपुरुष' कहा है। अव्ययपुरुष का लक्षण पूर्ण लिखा जा चुका है कि सब में समन्वित रहता हुआ भी, सब का आलंबन होता हुआ भी वह सर्वथा निलिप्त रहता है,—विल्कुल 'वैराग्य' रहता है, यह लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण में किस प्रकार समन्वित है, यह हम 'वैराग्य' निरूपण में

दिला चुके हैं। अब अभ्यय की कलाओं के विकास पर भी पाठक विचार करे। आनंद, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—ये अभ्ययपुरुष की कलाएँ पूर्ण लिली जा चुकी हैं—इनको क्रम से नीचे से देखिये। वाक् के विकास के लक्षण हैं भौतिक समृद्धि और वाक्शक्ति। भौतिक समृद्धि की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण में हम दिखा चुके हैं, वाक्शक्ति से भी आपने कई जगह काम लिया है—भगवद्गीता की घटना सुप्रसिद्ध ही है, युद्ध छोड़ कर भागते हुए एक दूधप्रतिज्ञा हठी वीर को अपनी वाक्शक्ति से ही आपने स्वर्ण में लगाया, छोटी-सी भवस्था में वाक्शक्ति से ही गोपो से इंद्र-पूजा छुड़वा कर गोवर्धन-पूजा करवा दी। भ्राम की भोलीमाली जनता का विश्वास—धार्मिक विश्वास बदल देना कितना कठिन काम है—वह आपने सात वर्ष की भवस्था में ही वाक्शक्ति के प्रभाव से कर दिखाया। गोप-कन्याओं का नग्न-स्नान रोकने में भी आपने वाक्शक्ति से काम लिया है, ऐसे वाक्शक्ति-विकास के कई-एक उदाहरण हैं। दूसरी प्राणकला के विकास के लक्षण हैं—बल, शौर्य, क्रियाशीलता आदि। जिनने 'शिशु' भवस्था में अपनी लात से बड़े शकट को उलट दिया, कुमारवस्था में पुराने अर्जुन-बूढ़ों को एक झटके में उखाड़ फेंका, किशोर-भवस्था में कंस के बड़े-बड़े मल्लो को भलाडे में पछाड़ दिया, मत्त हाथी को मार गिराया। जीवन में नग्नजित्-राजा के यहाँ सात भक्त वृषभों को एक साथ नाथ दिया, क्षत्रियत्व की पूर्णता के उस समय में—महामहाराज वीर क्षत्रियों के भारत में विराजमान रहते—जिनके सामने सबके कोई न जीत सका, सब दुष्ट राजाओं पर आक्रमण कर सका दमन जिन्होंने किया, सारे भूमंडल का मार उतारा, इफले इद्रपुरी पर चढ़ाई कर 'पारिजातहरण' में इद्रक का मानसंग किया—उनके बल और शौर्य के अमानुष-विकास में सदेह को स्थान ही कहाँ है? क्रियाशीलता भी आपकी जगद्विदित है। आज द्वारका में है, तो कल देहली में, परसे युद्ध में चढ़ाई हो रही है तो भगले दिन तीर्थयात्रा। हजारों रानियों के साथ पूर्ण गार्हस्थ्य-धर्म का निर्वह, यादव-राज्य का सब प्रबंध कर भूमंडल में उसे आवर्ष प्रतिष्ठित राज्य बनाना, पांडवों के प्रत्येक कार्य में सहायक और सलाहकार रूप से उपस्थित रहना, भूमार-हरण का अपना कर्तव्य-पालन भी करते जाना, महाशत्रुओं से द्वारका की रक्षा भी और शत्रुओं पर आक्रमण कर उनका विध्वंस भी, अत्यल्प समय में द्वारका से विदर्भ-देश पहुँच शक्तिशाली का मनोरथ पूर्ण कर देना आदि क्रियाशीलता के अमानुष उदाहरण हैं। यो अभ्ययपुरुष की दूसरी कला का विकास पूर्ण रूप में सिद्ध होता है। तीसरी कला 'मन' के विकास के लक्षण हैं—मनस्विता—उत्साहशीलता, मनोमोहकता (मनोहरता) आदि। शिशुपाल-जैसे वीर राजा के मित्रों और सेना-सहित उपस्थित होने का समाचार सुन कर भी अकेले कुडिनपुर चले जाना, भारत के सम्राट् परम शत्रु जरासभ से लड़ने को केवल भीम और अर्जुन को साथ ले बिना सेना जा पहुँचना, भरी सभा में कूदकर कंस जैसे राजा के केश पकड़ उसे गिरा देना, मणि-चोरी का कलक लगने पर सबके मना करते रहने पर भी अकेले अपार गुफा में चले जाना, ऐसे मनस्विता-हिम्मत के उदाहरण आपके चरित्रों में सैकड़ों हैं। मनोहरता तो आपकी प्रसिद्ध है, आपका नाम ही 'चितकोर' है। शत्रु भी लड़ने को सामने आकर एक बार आकृष्ट होकर चौकड़ी भूल जाते थे। विदेशीय क्रूर वीर कालयवन को भी अनुताप हुआ था कि 'ऐसे सुंदर नौजवान से लड़ना पड़ेगा।' चौथी कला 'विज्ञान' के संबंध में पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। बुद्धिप्रसाद रूप 'ज्ञान' के रहते अभ्ययपुरुष की इस 'ज्ञान' कला का विकास होता है। यहाँ विज्ञान-संसार-अधिसौचक आत्मविज्ञान ही अभिप्रेत है, सो उसके विकास में भगवद्गीता के उपदेश से बढ़कर किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

अब पाँचवीं सबसे उत्कृष्ट अभ्यय की (अथम) कला आनंद है, वही ब्रह्म का मुख्य स्वरूप बताया गया है—'रसो वै सः'।

इसका पूर्ण विकास अन्य अवतारों में भी नहीं देखा जाता। अयोध्या-अधिपति भगवान् श्रीरामचंद्र में अन्य सब कलाओं का विकास है, किंतु आनंद का सर्वांग में विकास नहीं है। उनका जीवन 'उदासीनतामय' है, उनमें शात्तानंद है, किंतु भगवान् श्रीकृष्ण में आनंद के सब रूपों का पूर्ण

विकास है। आनन्द के दो भेद हैं—एक समुद्रधानन्द, दूसरा शाल्यानन्द। जिस समय मनुष्य को किसी इष्ट वस्तु—धन-पुत्रादि की प्राप्ति होती है, तो उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, उस प्रफुल्लता को मनोवृत्तिरूप आनन्द वा समुद्रधानन्द कहा जाता है। यह प्रफुल्लता थोड़े काल रहती है, प्राये वरु इष्ट वस्तु—धन-पुत्रादि मौजूद रहती है—किन्तु वह चित्तविकास—वह प्रफुल्लता नहीं रहती, अब वह समुद्रधानन्द शाल्यानन्द रूप में परिणत हो गया, निर्बलन की अपेक्षा मनवान् को, अपुत्र की अपेक्षा पुत्रवान् को अधिक आनन्द है, किन्तु उस आनन्द का सर्वदा अनुभव नहीं। चित्तविकास सदा नहीं रहता। बस, अनुभवकाल में—चित्तविकास-दशा में, समुद्रधानन्द और अनुभव में न आने वाला, मनोवृत्ति से गृहीत न होने वाला आनन्द शाल्यानन्द कहलाता है। मनमें इच्छारूप तरंग न उत्पन्न होने की दशा में वा दुःख-निवृत्ति-दशा में भी शाल्यानन्द ही होता है। शाल्यानन्द के ब्रह्मानन्द, योगानन्द, विद्यानन्द आदि भेद पंचदशी आदि ग्रंथों में बताये गये हैं और समुद्रधानन्द के मोद, प्रमोद, प्रिय आदि भेद तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय के शिर, पक्ष आदि के रूप से कहे गये हैं। अभिमत वस्तु के दर्शन में 'प्रिय' रूप आनन्द है, उसके प्राप्ति होने में मोद और योगकाल में प्रमोद होता है—ऐसी भाष्यकारों की व्याख्या है। अस्तु, शाल्यानन्द तो ईश्वर के प्रायः सभी अवतारों में रहता है, क्योंकि ईश्वर ही ही आनन्दरूप, किन्तु मोक्ष-लक्षण समुद्रधानन्द का भगवान् श्रीकृष्ण में ही पूर्ण विकास है। चित्तविकास रूप आनन्द की पूर्ण मात्रा हमारे चरित-नायक में ही है। अनेक ग्रंथों में संक्षेप या विस्तार से भगवान् श्रीकृष्ण का जीवनचरित लिखा गया है, किन्तु कहीं आप के जीवन में ऐसा अवसर दिखाई नहीं देता, जहाँ आप हाथ पर कपोल रख कर किसी चिन्ता में निमग्न हो, जीवन भर में कोई दिन ऐसा नहीं, जिस दिन आप शोकाक्रांत हो आसू बहा रहे हो। कैसे भी क्षणतः सामने आये हो, सब को खेल-तमाशों में ही आपने सुलझाया। भय, चिन्ता वा शोक को कभी पास न फटकने दिया। बाल्यकाल में ही नित्य कस के भेजे असुर मारने को आ रहे हैं, किन्तु खेल-तमाशों में ही उन्हें ठिकाने लगाया जाता है। कस-जैसा घोरकर्मा पातकी ताक में है, किन्तु यहाँ गोबत्सों को चराने के मिश्र से गोप-सखाओं के साथ वशी के स्वरों में राग अलापे जा रहे हैं। गोपियों के शत्रु का माखन उड़ाया जा रहा है, वीर-हरण का विनोद हो रहा है, रास-लीला रची जा रही है। वर्तमान सभ्यता के अभिमानी जो महाशय इन चरित्रों पर आक्षेप करते हैं वे श्रीकृष्णावतार का रहस्य नहीं समझते। इन लीलाओं में धर्मातिक्रम क्यों नहीं है, इस विवाद को हम इस लेख में नहीं उठा सकते—यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है, किन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि यदि ये लीलाएँ न होती तो भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णवितार या साक्षात् भगवान् न कहाते, आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति उनमें न मानी जा सकती। प्राये जीवनचरित्रों में भी दुष्टों का सहार भी हो रहा है, राज्य की उन्नति भी हो रही है, और जो-जो सुदरी अपने में अनुरूप सुनी जाती है, उनके साथ विवाहों का आयोजन भी चल रहा है। सब प्रकार के क्षणतः भी सुलझाये जा रहे हैं और राजधानी को पूर्ण समृद्धिमय बना कर अनेक रागियों के साथ आदर्श गार्हस्थ्य-सुख का उपभोग भी हो रहा है। पारिजात-वृक्ष लाकर सत्यभामा के मान का भी अनुरोध रक्खा जा रहा है, भूमि को स्वरूप भी बनाया जा रहा है, अर्जुन-जैसे मित्रों के साथ सैन्य का आनन्द भी लूटा जा रहा है। कदाचित् कोई मनचले महाशय प्रश्न करे कि बहुतेरे पुरुष मद्यपानादि में वा अनेक स्त्रियों के सहवास में—ऐश्वर्यभोग में ही अपना जीवन बिताना जीवन का लक्ष्य मानते हैं—क्या उन्हें भी ईश्वर का पूर्णवितार समझा जाय, वे उत्तर होगा कि हाँ, समझा जा सकता था, यदि वे अपने धर्म से विभूत न होते, यदि सब प्रकार के ऐश्वर्यभोग में रहकर भी उनमें नित्य रह सकते, यदि विनोदमय रहकर भी अपने कर्तव्य को न भूलते, यदि लौकिक और पारलौकिक उन्नति से हाथ न धोते, यदि सब कुछ भोगते हुए भी क्षणमात्र में सबको छोड़ कर कभी याद न करने की शक्ति रखते, यदि ऐसे योग के परिणाम-रूप में नाता अधि-व्याधि वा भयानक शोक, मोह आदि से ग्रस्त न होते, यदि पूर्ण समुद्रधानन्द भोगते हुए भी शाल्यानन्द में निमग्न रहते, यदि उस दशा में भी अपने अनुभव के—

“आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशति सर्वं

स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥

—भगवद्गीता, २।७०

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नामवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥”

—भगवद्गीता, ३।२२

ऐसे सच्चे उद्गार निकाल कर ससार को शांतिसमुद्र में लहरा सकते । क्या ससार में कोई जीव ऐसा घुट्टात है जिसके जीवन में कुछ का स्पर्श भी न हुआ हो ? जिसने सब प्रकार के लौकिक सुख भोगते हुए भी अपना पूर्ण कर्तव्य पालन किया हो ? जो ससार में लिप्त दीखता हुआ भी आत्मविद्या का पारंगत हो । जो जगत्सर को अन्ध्या दृष्टाने की चिन्ता देता हुआ भी अथ भीरु चिंता से दूर रहे ? जिसदेह ने परमानन्द परमात्मा के लक्षण हैं, जीव-कोटि के बाहर की बात है ।

वेदात के ग्रंथों में आनन्द का चिह्न ‘प्रेमास्पदत्व’ को माना है, आत्मा को आनन्दरूप इसी युक्ति से सिद्ध किया जाता है कि वह परमप्रेमास्पद है । श्रीरो के साथ प्रेम ‘आत्मार्थ’ होने पर होता है, आत्मा में निरुपाधिक प्रेम है । भगवत में जब ब्रह्मा ने गोप, गोवत्सहरण किया था और भगवान् श्रीकृष्ण ने सब गोप-वत्स अपने रूप से प्रकट कर दिये थे, उस प्रसंग में कहा है कि गोभ्रो को या गोपों के पिताओं को उनमें बहुत अधिक प्रेम हुआ । परीक्षित के कारण पूछने पर शुकाचार्य ने यही कारण बताया कि आत्मा आनन्दरूप होने से परम प्रेमास्पद है, भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं, आनन्दमय हैं, अतः उनके स्वरूप से प्रकट गोप-वत्सादि में अत्यधिक प्रेम होना ही चाहिये । अस्तु, जिसमें अधिक प्रेम हो, वह आनन्दमय होता है । इस लक्षण के अनुसार परीक्षा करे, तो भी भगवान् श्रीकृष्ण की आनन्दमयता पूर्ण रूप से सिद्ध होती है । जैसा प्रेम का प्रवाह उन्होंने बहाया था, ऐसा किसी ने नहीं बहाया । बाल्यकाल से ही सब उनके प्रेम में बँध गये थे । ब्रज के खग, मृग, वृक्ष, जता भी वशी की ध्वनि से प्रेमोन्मत्त हो जाते थे । गोप, गोपागनाएँ अपने कुटुंबियों से प्रेम छोड़ उनसे प्रेम करते थे । जो आसुर भाव से दबे हुए थे उन्हें छोड़ श्रीकृष्ण-प्रेम का प्रवाह भूमंडल को प्लावित कर चुका था । शत्रु भी क्षणमात्र उनके प्रेम से आकृष्ट हो जाते थे—यह हम लिख चुके हैं । उस दिन ही क्यों ? आत्म ही सब श्रेणी के, सब धर्मों के, सब जाति के मनुष्यों का जितना प्रेम भगवान् श्रीकृष्ण पर देखा जाता है, उतना किसी पर नहीं देखा जाता । एक गर्वया यदि मान का अम्बास करता है, तो पहले श्रीकृष्ण उसकी जवान पर प्राते हैं, किसी जाति का कोई ऐसा अभाग गायक न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के पव न गाने हो, तुकड़वीवालो तक कोई ऐसा कवि न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के सर्वध में कभी अक्षर न छोड़े हो । चित्रकला पर जिसने बरा भी हाथ जमाया है, वह श्री कृष्ण की मूर्ति एकाक्ष बार अवश्य लिख चुका होगा, मूर्ति बनाने का शिल्प जानने वाला प्रायः ऐसा नहीं मिलेगा जिसने श्रीकृष्ण की मूर्ति कभी न बनायी हो । चामिक, भक्त, विलासी-रसिया, राजनैतिक, रिक्कार्मर-न्यूजेंटलमैन, दार्शनिक, निरपेक्ष—सबके कमरों में या मकान की दीवारों पर किसी न किसी रूप में आप नजर आ जायेंगे, ताना-दी-नी करने वाले छोटे बच्चे, कुमार, किशोर, मार्ग में अलापते हुए तानसेन को माव देने की इच्छा रखने वाले रसिया, खेतों के किसान, गाँवों की मौली-मासी स्त्रियाँ—सबकी चिह्ना पर किसी न किसी रूप में आपका नाम विचलित सुन पड़ेगा । और तो क्या, होली के उन्माद से उन्मत्त जनता भी आपके ही यश को अपनी बाणी पर नवाती है । भक्त लोग अपना सर्वस्व समझ कर, चामिक लोग धर्मरक्षक समझकर, विलासी विलास के आचार्य समझकर, दार्शनिक गीता के प्रवक्ता समझकर, राजनैतिक

नीति के पारंगत समझकर, देशहितवी देशोद्धारक समझकर और गोसेवक गोपाल समझकर समय-समय पर आपका स्मरण करते हैं। साम्प्रदायिक भेद रहते भी वैष्णव विष्णु का पूर्णावतार मानकर, शाक्त आद्याशक्ति का अवतार कहकर और शैव शिव का अनन्य समझकर आपको भजते हैं। शिव, विष्णु, शक्ति की उपासना में चाहे मतभेद रहे, श्रीकृष्ण-मूर्ति की ओर सबका झुकाव है। भारत के ही नहीं, अन्यत्र देशों के लोग भी कृष्ण प्रेम से प्रभावित हुए हैं, आपके उपदेशों का और आपके चरितों का स्फांतर में भावर सब देशों में हुआ है।^१ मुसलमानों में रसखान, खानखाना, निजाज, ताजबेगम आदि की बात तो प्रसिद्ध ही है। वर्तमान युग के ईसाइयों में भी कई विद्वानों ने इस बातकी चेष्टा की है कि क्राइस्ट को श्रीकृष्ण का रूपांतर सिद्ध किया जाय। आजकल के महात्मा गांधी के अनुयायी महात्मा गांधीजी का चित्र सुदर्शन हाथ में देकर या गोवर्धन-पर्वत भुजा पर रखकर श्रीकृष्ण रूप में देखने को उत्सुक है। यह बात क्या है? क्यों श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह सबको आप्लुत कर रहा है? उत्तर स्पष्ट है कि वे आनंद रूप हैं, सर्वात्मा हैं, परब्रह्म हैं, इसलिये प्राकृतिक रूप से सबको विवश होकर उनसे प्रेम करना पड़ता है। आसुर-भावावेश से जिनके अंतरात्मा पर आवरण है उनकी बात तो सदा ही निरासी है। भरतु, अव्यय पुरुष की पाँचों कलाओं का विकास भगवान् श्रीकृष्ण में परिपूर्ण है, यह संक्षेप में दिखा दिया गया। ब्रह्म के अन्य विवचर रूप प्रतिष्ठा, ज्योति, आदि जो पूर्व लिखे गये हैं उनका विकास पाठक स्वयं विचार सकते हैं। अब क्षर की आध्यात्मिक कलारूप स्वयम्भू आदि पाँच अवतार जो पूर्व लिखे आये हैं, उनके प्राण रूप शक्तियों का आविर्भाव संक्षेप में भगवान् श्रीकृष्ण में बताकर यह लेख पूर्ण किया जाता है।

पूर्व कहा जा चुका है कि परमेष्ठिमठल विष्णु प्रधान है और भगवान् श्रीकृष्ण विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं, अतः परमेष्ठिमठल के सबध पर ही मुख्यतया विचार किया जाता है।

श्री राधा और श्री कृष्ण

बहुतों के चित्त में यह शका होती है कि द्विजों का गौरवर्ण होना ही प्राकृतिक है, फिर ऐसे प्रतिष्ठित कुल के विशुद्ध सन्निध राम और कृष्ण कृष्णवर्ण क्यों हैं? कदाचित् कहा जाय कि ये विष्णु के अवतार हैं, विष्णु भगवान् कृष्णवर्ण हैं, इसलिये ये भी कृष्णवर्ण हैं, तो वहाँ भी प्रश्न होगा कि सत्त्वगुण के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु भी कृष्णवर्ण क्यों? सत्त्व का रूप शास्त्रों में श्वेत माना गया है, रज का लाल और तम का काला। तमोगुण का अधिष्ठाता कृष्णवर्ण हो सकता है, सत्त्व का अधिष्ठाता श्वेत वर्ण होना चाहिये। आइये, फिर पहिले इसी प्रश्न पर विचार करे। कृष्णवर्ण तीन प्रकारका है—अनुपाख्य-कृष्ण, अनिरक्त-कृष्ण और निरक्त-कृष्ण। सृष्टि के पहिले की अवस्था को कृष्ण कहा जाता है 'आसीद्विर्ब तमोभूतम्' (मनु०), यह अनुपाख्य कृष्ण है। जिसका हमें कुछ ज्ञान न हो सके, उसे कृष्ण और जो हमारी समझ में आ जाय, वह शुक्ल कहाता है। निगूढ को कृष्ण और प्रकाशित को शुक्ल कहते हैं। यह औपचारिक प्रयोग है, काला परदा पड़ने पर कुछ नहीं दीखता—इसलिये न दीखनेवाली वस्तु काली कही जाती है, प्रकाश श्वेत मान्य होता है, इसलिये प्रकाशमान वस्तु को श्वेत कहते हैं। कार्य जबतक उत्पन्न न हो, तबतक अपने कारण में निगूढ रहता है, उसका ज्ञान हमें नहीं होता इसलिये कार्य की अपेक्षा से कारणवस्था को कृष्ण और कार्योत्पत्ति-दशा को शुक्ल कहते हैं। सब जगत् जहाँ निगूढ है, जहाँ आज दीखनेवाले जगत् का कोई ज्ञान नहीं, उस सब जगत् की कारणवस्था—पूर्वावस्था को दृश्यमान जगत् की अपेक्षा से कृष्ण ही कहना पड़ेगा, इसीलिये सब जगत् के कारण भगवान् विष्णु वा आद्याशक्ति कृष्णवर्ण ही कहे जाते हैं। इस कृष्ण का हमें कभी अनुभव नहीं होता,

^१ किस-किस देश में किस-किस रूप से श्रीकृष्णचरित ध्यात है इसका विस्तृत विवरण जिन्हें देखना हो वे जयपुर के धर्ममित्र जी की लिखी 'धर्मदिवाकर' नाम की पुस्तक देखें।

यह केवल शास्त्र-वेद्य है, इसलिये इसे अनुपाख्य-कृष्ण कहेंगे। दूसरा अनिश्चित-कृष्ण वह है, जिसका अनुभव तो ही, किंतु इदमित्यम् रूप से एक केंद्र में पकड़ कर निर्वचन न किया जा सके। जैसे—ऊपर आकाश में, अथकार में वा अग्नि मीच लेने पर काले रूप का अनुभव होता है, किंतु वह सर्व रूप का अभाव कालेपन से भासित है, किसी केंद्र में पकड़कर उस काले रूप को निश्चित नहीं किया जा सकता। तीसरा निश्चित-कृष्ण कोयला आदि पदार्थों में है। इनमें अनुपाख्य-कृष्ण का अनिश्चित-कृष्ण में और अनिश्चित-कृष्ण का निश्चित-कृष्ण में अवतार होता है। या यों कहो कि पूर्व-पूर्व कृष्ण से ही उत्तरोत्तर कृष्ण का विकास होता है। चंद्रमा, पृथिवी और सूर्य ये तीनों मंडल निश्चित-कृष्ण हैं यह वैदिक सिद्धांत है। पृथिवी को वेद में 'कृष्ण' कहा जाता है, अथकार पृथिवी के काले किरणों का समूह है यह भी वेद में प्राप्त होता है। 'चंद्रमा च ब्रह्मा कृष्णः' (शतपथ १३।२।१७) इत्यादि श्रुतियों में चंद्रमा को भी कृष्ण कहा है और 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्मुत सूर्यं च। हिरण्यमयेन सविता रयेन देवो धाति नुवनानि पक्वम्।' इत्यादि मंत्रों में सूर्यमंडल को भी कृष्ण कहा है और हिरण्यमय-प्रकाशमान को सूर्य का रथ बताया है। तात्पर्य यह कि प्रकाशमंडल सयोगज है, कई भागों के सवध से बनता है, सूर्यमंडल स्वभावात् कृष्ण ही है। आधकल के वैज्ञानिक भी इस सिद्धांत के अनुकूल ही जा रहे हैं। अस्तु, इन तीनों से परे जो परमेष्ठीमंडल है वह अनिश्चित-कृष्ण है। रूपों का अविदेवता सूर्य है, सूर्यकिरणों से ही सब रूप बनते हैं, अतः सूर्यमंडल की उत्पत्ति से पूर्व परमेष्ठीमंडल में कोई रूप नहीं कहा जा सकता। उसे 'आपोमयमंडल' वा 'सोममयमंडल' कहा जाता है। सोम, वायु और आप—तीनों एक ही द्रव्य की अवस्थाएँ मानी जाती हैं, वायु घनीभूत होने पर 'आप'—अवस्था में आ जाता है और तरल होने पर 'सोम'—अवस्था में। इसी द्रव्य में 'अनिश्चित-कृष्ण' वर्ण प्रतीत हुआ करता है। यह द्रव्य परमेष्ठी की किरणों द्वारा बहुत बड़े आकाश प्रदेश में व्याप्त है। सूर्य मध्यि हमारे लिये बहुत बड़ा है, किंतु इस सोममंडल की अपेक्षा उसकी पोजीशन ऐसी ही है जैसे धीरे धक्कारमय जंगल में एक टिम-टिमाते दीपक की, एक सूर्य का प्रकाश नहीं तक पहुँचता है, उसकी परिधि कल्पनाकर वहाँ-तक एक ब्रह्मांड समझा जाता है, उस परिधि से बाहर अनंत आकाश में यह 'अनिश्चित-कृष्ण' सोम वा आप भरा हुआ है। वही अनिश्चित-कृष्ण काले आकाश के रूप में हमें प्रतीत हुआ करता है। वह कृष्ण है और सूर्य प्रकाश की प्रथिमा 'राश' है। 'राश' वायु का अर्थ है, 'सिद्धि' सूर्य प्रकाश में ही व्यावहारिक सब कार्य सिद्ध होते हैं—अतः 'राश' नाम वहाँ अन्वर्थ (सार्थक) है। कृष्ण स्वाम तेज है, राश गौर तेज। कृष्ण के धक् (मोदी में), अर्थात् स्वाम तेजोमयमंडल के बीच में राश विराजित है। ब्रह्मांड की परिधि के भीतर भी वह सोममंडल व्याप्त है। जैसे व्यापक आकाश में कोई दीवार (मिति) बनायी जाय, तो हमें प्रतीत होता है कि वहाँ अब आकाश (अवकाश) नहीं रहा, किंतु यह भ्रम है, उस दीवार के प्राधार रूप में आकाश वहाँ मौजूद है, उसीमें दीवार है और दीवार हटते ही फिर आकाश ही आकाश रह जाता है। इसी प्रकार सूर्य प्रकाश होने पर वह कृष्ण—सोममंडल हमें प्रतीत नहीं होता, किंतु प्रकाश उसीके आधार पर है, वह प्रकाश में अनुस्यूत है और प्रकाश हटते (सूयांति होते) ही फिर वह स्वाम तेज प्रतीत होने लग जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर बिना अथकार के प्रकाश और बिना प्रकाश के अथकार कहीं नहीं रहता, दोनों दोनों में अनुस्यूत है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जहाँ एक दीपक का प्रकाश हो, वहाँ दूसरा दीपक धीरे लाया जाय, तो प्रकाश अधिक प्रतीत होता है और तीसरा दीपक और धावे, तो धीरे भी अधिक। जितने दीपक अधिक होने उतनी ही प्रकाश में स्पन्दना घनी जायगी। भला यह क्यों? जब एक दीपक के प्रकाश में अपनी व्याप्ति के प्रदेश में न अथकार हटा दिया, तो फिर उसी प्रदेश में दूसरे दीपक का प्रकाश क्या विशेषता पैदा कर देता है कि हमें अधिक स्वच्छता प्रतीत होती है? मानना पड़ेगा कि एक दीपक या प्रकाश रहने पर भी उनमें अनुस्यूत अथकार था, जिसे हमारे दीपक ने हटाया, फिर भी जो था, उसे तीसरे ने धीरे धीरे ने। स्मरण में

व्याम तेज ही अवधारण रूप से प्रतीत हुआ करता है। यो प्रकाश में अनुस्यूत—व्यामतेज, जब सिद्ध हो गया, तो मानना होगा कि हजारों दीपों का वा सूर्य का प्रकाश रहने पर भी आधिक व्याम तेज की व्याप्ति हट नहीं सकती, वह आकाश की तरह अनुस्यूत रहती ही है। दूसरा प्रमाण यह है कि जिस स्थान में अनेक दीपक हों, वहाँ भी एक दीपक के सम्मुख भाग में कोई लकड़ी आदि आवरण पदार्थ रखो, तो उसकी धीमी-सी छाया उसके सम्मुख भाग में प्रतीत होगी। जितने अश्व में प्रकाश का आवरण होकर स्वतः सिद्ध तम दीपक पड़ता है, उसे ही छाया कहते हैं। जब एक दीपक के प्रकाश का आवरण होने पर भी दूसरे दीपको का प्रकाश उसी स्थान में मौजूद है, तो यह छाया की प्रतीति क्यों? मानना होगा कि प्रकृत दीपक जिस अवधारण के अग्र को हटाता था—उसके प्रकाश का आवरण होने पर वह अश्व छाया रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार निविड अवधारण में भी प्रकाश का कुछ भी अग्र न रहे, तो अवधारण का प्रत्यक्ष ही न हो सके। विना प्रकाश की सहायता के नेत्ररश्मि कोई कार्य नहीं कर सकती। सिद्ध हुआ कि गौरतेज और व्यामतेज—राधा और कृष्ण, अन्योन्य आलिंगित रूप में ही सदा रहते हैं, कभी कृष्ण के अग्र में राधा छिपी हुई है, कभी राधा के अग्र में कृष्ण डुबक गये हैं। इसीसे दोनों एक रूप माने जाते हैं, एक ही ज्योति के दो विकास हैं और एक के बिना दूसरे की उपासना निर्दिष्ट मानी गयी है—

“गौरतेजो विना यस्तु व्यामतेजः समर्चयेत् ।

जपेद्वा ध्यायेत् वापि स भवेत् पातकी शिवे ॥

तस्माज्ज्योतिरभूद् देवा राधामाधवरूपकम् ॥”

—समोहनतन्त्र, गोपालसहस्रनाम

इस विष्णु रूप परमेष्ठिमण्डल का अवतार होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का व्याम रूप या और गौरवर्णा भगवती श्रीराधा से उनका अन्योन्य सादात्म्य-संबन्ध था, निरतिशय प्रेम था। वहाँ राधा (प्रकाश भाग) परमेष्ठिमण्डल की अपनी नहीं, परकीया है, इसलिये यहाँ भी राधा के साथ कृष्ण का विवाह संबन्ध नहीं है। परमेष्ठिमण्डल की वेद में ‘गोसव’ और पुराण में ‘गोलोक’ कहा गया है, इसका कारण है कि गो—जिन्हें किरण कह सकते हैं, उनकी उत्पत्ति परमेष्ठिमण्डल में ही होती है, आगे के मण्डलों में उन गोओं का विकास है, अतएव सूर्य और पृथिवी के प्राणों में ‘गो’ नाम आया है। इन गोओं का विवरण ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत है, ये प्राण विशेष है। हमारे ‘गो’ नामसे प्रसिद्ध पशु में इस प्राण की प्रचानता रहती है, अतएव यह गो भी हमारी आराध्य है। अस्तु, गौका, उत्पादक और पालक होने से परमेष्ठी गोपाल है, प्रथमतः गो उसे प्राप्त हुई—इसलिये ‘गोविंद’ है। अतएव, हमारे चरितनायक भगवान् श्रीकृष्ण भी परमेष्ठी का अवतार होने के कारण गोओं के सहचारी बने, और गोपाल वा गोविंद कहालाये। इसी प्रकार परमेष्ठी का इद्र से सम्बन्ध (साहचर्य) है, (देखो, पूर्व आधिदैविक सारकलाओं का विवरण, परमेष्ठी के आगे इद्रमण्डल उत्पन्न होता है, और इद्र परमेष्ठी से ही बद्ध है) इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण का भी इद्राग्र अर्जुन मे साहचर्य-पूर्ण मौहूर्त्त रहा।

आगे चद्रमण्डल भी अवतारों में (अर की आधिदैविक कलाओं में) आया है, उसके प्राणों का प्रतिफल भी कृष्णचरितों में बहुत कुछ दीख पड़ता है। चद्रमा समुद्र (आपोमयमण्डल) में रहता है—

“चंद्रमा अप्सर्वतरा सुपर्णो धावते दिवि ॥”

—ऋग्वेद

इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण भी समुद्र के बीच में ‘द्वारका’ बनाकर रहे। चद्रमण्डल श्रद्धामय है—इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण में भी श्रद्धा बहुत अधिक थी। सामान्य ब्राह्मणों के भी अपने हाथों

१ आपोमय होने के कारण अतरिक्ष का नाम निर्घट्ट में समुद्र आया है।

से चरण धोना, स्वयं उनके चरण धवाना, देवयजन, गिबारावन आदि अर्था के बहुतसे निदर्शन हैं। रासलीला का भी चंद्रमा से बहुत संबंध है। चंद्रमा रागिचक्र से रासलीला करता रहता है। प्राचीन काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से की जाती थी, उसके अनुसार विनाक्षा (नक्षत्र) नव नक्षत्रों की मध्यवर्तिनी होने से 'रासेश्वरी' है, उसका दूसरा नाम राधा भी है, अतएव उनके आगे के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहते हैं। विनाक्षा पर जिस पूर्णिमा को चंद्रमा रहता है—उस दिन पूर्व कृत्तिका पर रहता है। संमुख स्थित सूर्य की सुपुणारक्षि से विनाक्षायुत चंद्रमा प्रकाशित होता है, कृत्तिका न सूर्य 'वृष' राशि का है। अतएव यह राधा वृषभानुसूता कही जाती है। फिर जब पूर्वचंद्रमा (पूर्णिमा का चंद्रमा) राधा के ठीक समुल भाग में कृत्तिका पर आता है, तो कार्तिकी पूर्णिमा रास का मुख्य दिन है—इत्यादि। ये सब घटनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण की 'रासलीला' में भी समन्वित होनी हैं। अब लेख बहुत बढ गया—इसलिये इस विषय का विस्तार किसी स्वतंत्र लेख के लिये छोड़ दिया जाता है, और अन्य मंडलो के सादृश्य का विवरण भी विस्तार के अब में छोड़ दिया गया है।

जो यूरोपीय विद्वान् वा उनके शिष्य हमारे इतिहासों को नर्बया रूपोलकल्पना मानते हैं, जिनके विचार में श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि कोई हुए ही नहीं—उन सब भिम्यात्ववादी वेदातिभिरोमणियों से तो कहा ही क्या जा सकता है? किंतु जो इस प्रकृति के मज्जन हैं कि इतिहास तो मानते हैं—किंतु उनमें आयी हुई 'अवतार' आदि अलौकिक घटनाओं में संदेह करते हैं, वे यदि इस दृष्टि से विचार करेंगे, तो आगाहें उन्हें भी भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्णवितार होने में संदेह नहीं रहेगा। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्त भी श्रीकृष्ण के इस गुणानुवाद से 'श्रीकृष्ण-कथा' में कालयापनकर प्रसन्न होंगे, ऐसी आशा है।



प्रकट लीला या नर लीला

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

सच्चिदानन्द भगवान् वृंदावन में अवतीर्ण होकर अपनी महिमामयी लीला का विस्तार करते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं,^१ उनके अवतार की क्या आवश्यकता है। गीता में स्वयं भगवान् ने ही अपने श्रीमुख से कहा है कि वे धर्म के संस्थापन के लिये, दुष्टों के विनाश के लिये और साधुओं के परित्राण के लिये अवतार धारण करते हैं,^२ किन्तु परवर्ती वैष्णव संप्रदायों का यह विश्वास है कि भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से, अपनी लीला का विस्तार करने के उद्देश्य से प्रकट होते हैं। यही उनके प्रकट होने का उत्तम हेतु है।^३ जब वह अवतीर्ण होते हैं तब दुष्टों का दमन भी हो जाता है, सिष्टों का पालन भी हो जाता है और धर्म की स्थापना भी हो जाती है, पर इन बातों के लिये स्वयं रूप में उनके अवतीर्ण होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह काम तो मयावतारों से भी हो जाता है। इसके लिये स्वयं रूप में अवतीर्ण होने की क्या जरूरत है। वस्तुतः भगवान् में 'रिरसावृत्ति' के साथ ही साथ सिस्टभावृत्ति और युयुत्सावृत्ति भी रहती है, पर ये दोनों वृत्तियाँ सामयिक होती हैं। रिरसा वृत्ति ही नित्य होती है। रिरसा, अर्थात् रमण करने की इच्छा। रिरसा वृत्ति उस शक्ति का परिणाम है, जिसे 'परा शक्ति' कहते हैं। यह जो भगवान् की नित्य रिरसा वृत्ति है वही सच्चिदानन्दमयी लीला में सदा अभिव्यक्त होती रहती है। यह नित्य लीला गोलोक में होती है। गोलोक की नित्य लीला प्रपञ्च गोचर न होने के कारण 'अप्रकट' लीला कही जाती है। इसमें विरह-भाव का अभाव रहता है। अतएव यह देव-लीला है। भगवान् के सभी लीला सहचर इसमें नित्य विराजमान रहते हैं। गोलोक में तो भगवान् अपने अनन्त प्रकाशों से नित्य श्रीढा करते रहते हैं, उनमें से किसी एक प्रकाश के द्वारा अपने सहचरों के साथ वृंदावन में प्रकट हो जाते हैं यह दुर्लभ संयोग है।^४

१. एते चासकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ।

—भागवत १।३।२८

२. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च कुष्ठताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

—भगवद्गीता ४।७, ८

३. स्वलीला कीर्तिविस्तारात् लोकेष्वनु जिघृक्षता ।

अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुस्ततः ॥

—सधु भागवतामृत २४३

४. सधान्तैः प्रकाशैः स्वलीलाभिन्नं स दीप्यति ।

तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचिज्जगदन्तरे ॥

सहैव स्वपरीवारैर्नन्मादि कुस्ते हरिः ।

—सधु भागवतामृत २५८

परन्तु जहाँ विरह की आशका नहीं, नयनपद्म में अश्रुगल का भार नहीं, हृदय में मिलनोत्साह की व्यग्रता नहीं, प्राणों में विरहाशका की झूक नहीं, वह देव-लीला उत्तनी मधुर भी नहीं हो सकती। अपने संपूर्ण ऐश्वर्य और महिमा के साथ यह लीला तब प्रकट होती है जब भगवान् नर लीला करते हैं। देवताओं को यह मुख अनुभव नहीं हो सकता, जो नर लीला के सहचरो को प्राप्त होता है। ब्रजमुद्गियो को जो मुख मिला उसे पाने के लिये वैकुण्ठ धामस्व भगवान् की परम प्रिया लक्ष्मी का चित्त भी चञ्चल हो उठा था। उन्होंने दीर्घकाल तपस्या कर के भगवान् में प्रार्थना की कि नाथ, ऐसा प्रसाद हो कि मैं वृंदावन में गोपी रूप में अवतीर्ण होकर तुम्हारा सहवास पा सकूँ, परन्तु भगवान् ने ऐसी अनुमति नहीं दी, फिर लक्ष्मी जी ने कहा कि यदि यह सम्भव नहीं, तो ऐसा हीं करदें कि जब आप वृंदावन में अवतीर्ण हो तो मैं आपके वक्षस्थल में सुवर्ण रेखा बन कर रहूँ। भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। यद्यपि इस प्रकार की कथा भागवत में नहीं पाती, तथापि भागवत में ऐसे वचन मिल जाते हैं जो इस कथा का समर्थन करते हैं।^१ उद्धव ने भी यह स्पष्टा की थी कि इन गोपियों की चरणरज पाने के लिये कहीं मैं वृंदावन के गुल्म लताओं के रूप में हो सकना ।^२

नर लीला ही प्रकट लीला है। वृंदावन इसका मुख्य क्षेत्र है। मथुरा और द्वारका सहकारी हैं, अतएव गौण हैं। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् वृंदावन में पूर्णतम, मथुरा में पूर्णतर और द्वारका में पूर्ण रूप में विराजित होते हैं। नर रूप को धारण करने के लिये वे वसुदेव और देवकी के घर में चतुर्भुज रूप में और नंद और यगोदा के घर में द्विभुज रूप में जन्म ग्रहण करते हैं। इनमें वसुदेव और देवकी तो भगवान् के वैकुण्ठ धाम के नित्य माता-पिता हैं और नंद यगोदा गोलोक धाम के नित्य पिता-माता हैं।

भगवान् का नित्य धाम गोलोक या कृष्णलोक और वैकुण्ठ या परम व्योम नाम से दो प्रकार का बताया गया है। ऐसा समझना चाहिए कि गोलोक पुण्य की कणिका के समान है और परम व्योम दानों के समान है, परम व्योम के सबसे ऊपर गोलोक का अवस्थान है। यह गोलोक ही वृंदावन के रूप में प्रकट हुआ है। शास्त्रकारों ने बताया है कि गोलोक का ही माधुर्य प्रधान प्रकाश वृंदावन है, माधुर्य और ऐश्वर्य उभय प्रधान प्रकाश मथुरा है। ऐश्वर्य प्रधान प्रकाश द्वारका है। गोलोक और वृंदावन में तात्त्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है, फिर भी वृंदावन की लीला की विशेषता है। गोलोक की लीला देवलीला है, उसमें विप्रलय-भाव नहीं है, इसीलिये श्रीकृष्ण-मिलन रूप वैष्णवजन के परम पुरुषार्थ की लक्ष्मि में जो आनन्द मिलना चाहिये वह जैसा वृंदावन में प्राप्त

१. भागवत में नाग-मलिन्यो ने कहा—

कल्पानुभावोऽस्य न देव विप्रहे

तवाग्निरेणुस्पर्शाधिकारः ।

यद्वाद्यया श्रीर्ललनाञ्जलरत्नयो

विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥

—भागवत १०।१६।३६

२. आसामहो चरणरेणुसुखामह त्वां

वृंदावने किमपि गुल्मलतायवौनाम् ।

या दुस्त्यक्तं स्वजनभार्यपथं च हित्वा

भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभक्तिमुन्माम् ॥

—भागवत १०।४७।६१

होता है वंसा अन्धन नहीं होता। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान का लोक एक होकर भी लीला-भेद से चतुर्थी प्रकाशित होता है—गोलोक, गोकुल, वृंदावन और मथुरा। भक्तों ने वृंदावन की लीला के उत्कर्ष का खजाना किया है, क्योंकि यद्यपि भगवान के लीला, धाम, रूप और गुण सभी नित्य और अनंत हैं तथापि उसका जो प्रकाश वृंदावन में होता है उसमें एक विशेष प्रकार का वैचित्र्य है। श्री वृंदावन की लीला एक ही साथ नित्य भी है और क्रमिक भी है, भूम या व्यापक भी है और परिच्छिन्न भी है। इस क्रमिकता और परिच्छिन्नता के कारण इस में प्रेमतत्त्व अधिक गाढ़ और आनन्दमूलक होता है। अन्याय साधनाओं में भोक्त को परम पुरुषार्थ माना गया है और इसीलिये जब मनुष्य एक बार परमपद प्राप्त कर लेता है और भगवत् स्वरूप का एकत्व प्राप्त कर लेता है तो उसका सब करणीय समाप्त हो जाता है। इस साधना में भगवान का प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। उनके मिलन का जो अलौकिक-अचिन्त्य-अप्राकृत आनन्द है, वही नित्य काम्य है। इस प्रेम के लिये क्रमिकत्व भाव पोषण का काम करता है। यही कारण है कि भक्तों में वृंदावन लीला का इतना मान है, नहीं तो लीला का तारतम्य बताना कौतुक-भाष्य है। लीला एक है और अनंत प्रकाशमयी है। वह भगवान् के अनंत आनन्द का प्रकाश है।

इस प्रपञ्चोच्चर नरलीला को उत्कृष्ट बताकर वैष्णव आचार्यों ने एक बहुत बड़े तत्त्व को स्वीकार किया है। सत्य, जब तक मनुष्य-निरपेक्ष है तब तक वह यथार्थ नहीं होता। जो सत्य मनुष्य की बुद्धि द्वारा, मन द्वारा और इन्द्रियों द्वारा अधिगम्य नहीं है वह कैसा है, यह हम नहीं कह सकते। जो कुछ जगत् में वीक्ष्य रहा है, अनुभव किया जा रहा है वह मनुष्य का जाना हुआ सत्य है और इसीलिये यथार्थ है, अर्थात् हमारा अपना सत्य है। विश्वव्यापक सत्ता का हम स्वरूप नहीं जान सकते हैं, जो हमारे अनुभव में आ सकता है। उसके बिना भी, अर्थात् हमारे अतःकरण के अनुभवों की कोई अपेक्षा न रख कर जो सत्य है वह केवल बात की बात है। हम ऐसी किसी वस्तु की धारणा तक नहीं कर सकते जो मानव-निरपेक्ष हो। इसीलिये सत्य का बड़ी रूप मनुष्य के काम का है जो उसकी अनुभूतियों का विषय बन सका है। नित्य लीला बहुत बड़ी चीज है, भगवान का शाश्वत रूप और भूम रूप निस्संदेह बड़े महत्त्व के हैं, लेकिन मानव रूप का माहात्म्य अधिक है, क्योंकि मनुष्य अपनी सीमाओं के भीतर से, अपने देश-काल परिच्छिन्न मन से, जो अनुभव करता है वही उसका अपना यथार्थ है। जो नित्य-सुख की भावना है, जिसमें केवल आनन्द ही आनन्द है, वह मनुष्य का स्वप्न हो सकता है, मनुष्य का अपना यथार्थ नहीं। सब आशाओं, आकांक्षाओं, व्याकुलताओं और आशकाओं के भीतर से नित्य-सत्य का वह मधुर रूप उपलब्ध होता है जो मनुष्य को चरितार्थता प्रदान करता है। मनुष्य अपनी सीमाओं से वैशा है। सीमाएं ही उसे वास्तविकता का अनुभव कराती हैं। इसीलिये भगवान के मनुष्य-निरपेक्ष नित्य रूप की अपेक्षा उनका वह रूप मनुष्य के लिये श्रेष्ठ है जिसे वह अपने प्राप्ति की व्याकुलता के भीतर से प्राप्त करता है। यही वह बहुत बड़ा तत्त्व है जिसका प्रति-पादन वैष्णव आचार्यों ने इतने सुंदर ढंग से किया है। भगवान् का सबसे आकृष्ट रूप जो मनुष्य को चरितार्थता देता है,—नर-रूप है।

ब्रज की लीला में इसी महासत्य की अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ मनुष्य का चरम प्राप्तव्य उसकी समस्त आशाओं—आकांक्षाओं और दुर्बलताओं के भीतर से प्राप्त हुआ है। यहाँ वे जन-निवास है, साधारण मनुष्य के साथ एक होकर वास करते हैं। यहाँ वे माता के हृद्वाह्यद्वय पुत्र हैं, पिता की स्नेह वृत्ति को चरितार्थ करने वाले बालक हैं, पुरजन-परिजन के हृदयानुदयात हैं, दुष्टों को दमन करने वाले और शिष्टों का पालन करने वाले धर्म-संस्थापक हैं और सबसे बढकर ब्रज-मुदरियों के प्रेम के आश्रय हैं—सब प्रकार से मानव-सुख भावों के आधार। इस ब्रजलीला का उत्कर्ष इसी मान-

वत्स के कारण है। देवलीला इसके सामने फीकी है। जय हो इस महिमामयी लीला के आश्रय नर-देह-धारी भगवान् श्री कृष्ण की—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादी
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोभिरस्यन्मधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनञ्च सुस्मितश्रीमुखेन
ब्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥

—भागवत १०।१०।४८



ब्रज का आध्यात्मिक रहस्य

श्री वासुदेवशरण अम्रवाह

“मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वै ।
मत्सारमूर्तं यद्यत्स्यान्मथुरा सा निगद्यते ॥”

—गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्

भारतवर्ष के धर्म प्रधान इतिहास में यहाँ के महानगरो ने जो भाग लिया है वह अत्यंत विलक्षण है। सप्त महापुरी यहाँ के विशाल अध्यात्म-साम्राज्य की सप्त राजधानियाँ हैं, जिन्होंने अपने ज्ञानमय वैभव के द्वारा इस राज्य की सीमाओं का अनंत विस्तार किया है। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवतिका, और द्वारका ये हमारे राष्ट्र के सप्त महा प्राण हैं, जिन्होंने सदा जागरूक रह कर राष्ट्रीय जीवन में स्फूर्ति और चैतन्य का संचार किया है। देवयुग में जब विघाता ने भारत-मही की रचना करके उसके श्रोमण्डल में अध्यात्म संदेश का मद्य फूँका था, तभी मानी इन सप्त पुरियों के लिए भी कर्तव्य निर्धारित कर दिया गया था—अर्थात् तपपूत जीवन के द्वारा अध्यात्म-भावो का शाश्वत प्रचार। इतिहास इस बात का साक्षी है कि काशी, मथुरा आदि पुरियों ने भौतिक साम्राज्य निर्माण के आसुरी प्रयत्नोंसे अपनी रक्षा करते हुए धर्म और सस्कृति के सवर्धन के लिए ही सदा यत्न किया है। इन सप्त महापुरियों ने सप्त महाप्राणों के सदृश ही राष्ट्र के अध्यात्म शरीर की रक्षा की है। श्रुतियों में कहा है—

“सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ।
सत रक्षन्ति समवप्रमादम् ॥”

शरीर पद से भौतिक वेह और राष्ट्र शरीर दोनों ही अभिप्रेत हो सकते हैं। सप्तपुरी रूपी सप्तर्षियों का इतिहास ही भारतवर्ष का सच्चा इतिहास है। जो भावी इतिहासकार इस दृष्टि से इन नगरों के अतीत का लेखा तैयार करेगा, वह अवश्य ही भारतीय प्रजाओं के प्रति अपने कर्तव्य से यथार्थ रूप में उद्गृह्य हो जायगा। एथेंस, रोम, परसिपोलिस अथवा पैरिस, लंडन और बर्लिन के जो इतिहास तैयार हुए हैं उनमें राज्यों के चलत फेर की दुखमरी गाथाएँ हैं, परंतु मथुरा, काशी, कांची के जो अतीत वृत्त सकलित होंगे उनमें सृष्टि और मानवी जीवन के गूढ़ प्रश्नों का समाधान ही प्रधानतया देखने को मिलेगा।

लेख के आदि में उपनिषद् का जो श्लोक है उसमें मथुरा की व्युत्पत्ति जिस ढंग से की गई है उस पर पर निरुक्त शास्त्र के पंडितों का चाहे जो मत हो, परंतु अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से वह निर्वचन यथार्थ है। ब्राह्मणकारों का सिद्धांत है—

“परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥”

यहाँ श्री ऋषि ने परोक्ष शैली के द्वारा यह बताया है कि समस्त विश्व का मथा हुआ जो सारभूत मज्जा, अर्थात् ब्रह्मज्ञान है वही ‘मथुरा’ है। वह मथित ज्ञान जहाँ हो उपचार से वह ब्रह्मज्ञान-मयी पुरी ही मथुरा है। अथवा मथुरा का ही नामांतर मथुरा है। ब्रह्म विद्या या आत्म विद्या की वैदिक-संज्ञा मथु-विद्या है। कारण कि जो रस या मिठास इसमें है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। वह देव-मथु या माधुर्य जहाँ प्रभूत मात्रा में हो वही मथुरा प्रदेश है।

मधुरा ही नामात्तर से मधुरा है। पूर्ण पुष्प भगवान् कृष्णचद्र की लीला भूमि मधुरा में भक्त और सत्तो ने जिस आधुन्य का अनुभव किया है उनका साक्षी हमारा साहित्य है। उनके वर्णनो के अनुसार आध्यात्मिक मधुरापुरी की महिमा अगम्य है।

ब्रज, गौएँ, ब्रजगोपाल, गोप, गोपी—कृष्णलीला के ये पाँच सूत्र हैं। उपनिषद् तथा अन्य रहस्य ग्रंथों में इनके अर्थ दिए गए हैं। यह शरीरब्रजभूमि है, इन्द्रियाँ गौएँ हैं, निर्लेप आत्मा गोपाल है, जीव गोप और वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। वैदिक साहित्य में भी सहस्रो स्थानो पर इन्द्रियो को 'गो' की मन्त्रा दी गई है। ये गौएँ जहाँ अमृतमय दुग्ध या सोम का प्रसवण करके गोपाल को अर्पण करती हैं, वह ब्रजभूमि घन्य है। सब प्रकार के सामंजस्य से समन्वित—स्थिर इन्द्रिय धारण से सपन्न—देह ही गोपाल की लीलास्थली है। प्रत्येक नवद्वारयुक्तापुरी में इस लीला के दर्शन हो सकते हैं। यह शरीर ही द्वारकापुरी है। गौ इन्द्रिय-द्वार और दसवीं विद्वति-द्वार ये दस फाटक हैं। इन से युक्त पुरी द्वारका है, उसका अधिपति द्वारिकेश या द्वारकाधीश आत्मा है। ब्रह्मज्ञानमयी मधुरा के द्वारकाधीश का यही रहस्य है।

कृष्णोपनिषद् और गोपालोत्तरतापिनी आदि उपनिषदो में और भी विस्तार से आध्यात्म-रूपको का वर्णन किया है।

“देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदेसमीयते।

निगमो बासुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः॥”

अर्थात् देवकी ब्रह्मपुत्री है जिसका वेदों में वखान है, वेद बासुदेव और वेदार्थ ही कृष्ण है।

“शोभ्यो याः ऋचस्तस्य॥”

अर्थात् वेद की ऋचाएँ ही गोपियाँ और गौएँ हैं। गोकुल नन्दनवन है तथा खोस-क्रोधादिक देख है, जिनके साथ गोपाल का गोमो की रक्षा के हेतु अञ्जल सग्राम हुआ—

“द्वेषञ्चाणुर मल्लोर्ध्वं मत्सरो मुष्टिको जयः।

ध्वजः कुञ्जलापीडो गवो रक्षः खगो वक्रः॥

वया सा रोहणी मत्ता सत्यभामा धरेति वै।

अघासुरो भगव्याधिः कलिः कंसः चमूपतिः॥”

अर्थात् काम-क्रोधादिक पाप-वृत्तियाँ अनेक असुर हैं। कंस स्वयं कलि या पाप रूप है।

“कंस—कलि—पाप—वृत्र

ब्राह्मण में—

पाप्मा वै वृत्रः॥”

अर्थात् पाप की सत्ता वृत्र है, यह परिभाषा पाई जाती है। शबर, वृत्र, नमुषि, बल आदि असुरो के साथ इन्द्र युद्ध के देवासुरी उपस्थानो की तरह ही कंस और अघासुर, बकासुर, लकटासुरादि बँत्यों के साथ कृष्ण-सग्राम की कथाएँ हैं। कृष्णोपनिषद् के अनुसार वृदा भक्ति है, अतएव वृदावन भक्तिवन है। भक्ति क्षेत्र में अवतरित गोपाल की लीलाएँ कृष्णलीलाएँ हैं। इसी उदात्त भक्तिभाव को अनेक प्रकार से अपने अनुभव से आत्मसात् करके भक्त कवियो ने कृष्ण चरित्र और ब्रज-भूमि का गान किया है। उनके आदर्श काव्य के वर्ण्य विषय कृष्ण हैं।

नवीन सशोधक इस आध्यात्म स्वरूप के प्रतिरिक्त मधुरा का एक ऐतिहासिक रूप भी स्वीकार करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे आदर्श तथा अखंड कृष्ण का बुद्धि और तर्क द्वारा ऐतिहासिक अन्वेषण के नाम पर उन्होंने वासन और सब युक्त वर्णन किया है। सत्य के सशोधक इतिहासज्ञ उद्धव के वनज, है। सत्य का रूप वासन और कल्पना का विराट् है। ब्रज भूमि की महिमा उद्धव के आदर्शों में नहीं शरत्-गोपियो के कल्पनामय भावार्थों में है।

वेदों में ब्रजलीला

श्री नीरजाकांत चौधुरी देव शर्मा

“श्रीकृष्णार्थं परं धाम जगद्भाम तमामि ते ।”

—श्रीधर स्वामी

परब्रह्म स्वयं श्रीभगवान् श्री कृष्ण भक्तों के प्रति अनुग्रह करके द्वीपर के भक्त में माया-मानुष रूप से ब्रजमण्डल में अवतीर्ण हुए थे ।

भगवान् की लीला दो प्रकार की है—ऐश्वर्यमयी और माधुर्यमयी । जिस लीला में वे कभी जन्म ग्रहण नहीं करते अथवा किसी के भी साथ पिता-माता-भाता आदि सबंध नहीं रखते, केवल अपने प्रापित्य ऐश्वर्य के प्रभाव से भक्त का मनोरथ पूर्ण करने के लिये अवतीर्ण होते हैं, श्री भगवान् की उस लीला को ‘ऐश्वर्यमयी’ कहते हैं । श्रीमत्स्य, श्रीविराट्, श्रीनृसिंह आदि में इसी प्रकार की ऐश्वर्यमयी लीला है । जिस लीला में वे जन्म ग्रहण करते हैं, एवं पिता-माता आदि सबंधों के अनुगत रहकर भक्त का मनोरथ पूर्ण करते हैं, वह माधुर्यमयी लीला है । श्री राम, श्री कृष्ण, श्री सत्कर्षण-रूप में ऐसी लीला है ।

श्री भगवान् का धाम—गोलोक

श्री भगवान् चिन्मय निविशेष ब्रह्म के रूप में सर्वत्र और अतर्क्य रूप में संपूर्ण जीवों के हृद्यों में स्थित हैं, परन्तु ब्रह्मांड या जीव-हृदय उनका लोक अथवा धाम नहीं है । श्री भगवान् का धाम ब्रह्मांड की भांति मायिक नहीं है, वह प्रकृति से अतीत सच्चिदानन्दमय है । अनंत ब्रह्मांडों में अनंत जीव अपना-अपना कर्मफल भोग करते हैं । श्री भगवान् भी अनंत वैकुण्ठों में अनंत श्री-मूर्ति प्रकट करके लीला-सास्वादन करते हैं ।

“स हि भगवान् कुत्र तिष्ठति ? नहिन्मि स्वे ।”

—गोपालतापनी उपनिषद्

अनंत वैकुण्ठों में गोलोक नामक वैकुण्ठ में ही उनकी लीला की परिपूर्णता है । वहाँ सभी पाप्य ऐश्वर्य-ज्ञानहीन विभुष्ट माधुर्यमय है । इसीसे उनके गोलोकधाम को ‘परमलोक’ अथवा ‘श्रेष्ठधाम’ कहा जाता है—

“परिपूर्णतमः साक्षात् श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम् ।

असंख्यब्रह्माडपतिर्गोलोके धाम्नि राजते ॥”

—गर्गसंहिता यो० ख० १।१८

असंख्य ब्रह्माडपति परिपूर्णतम साक्षात् भगवान् स्वयं श्री कृष्ण गोलोकधाम में विराजित हैं—

“सर्वोऽरि श्रीगोकुल ब्रजलोकधाम ।

गोलोक ध्वेतद्वीप वृंदावन नाम ॥

सर्वत्र अनंत विभु कृष्णतनुसम ।

अपयंये व्यापि प्राद्ये नाहिक नियम ॥

रुहादे प्रकाश तार कृष्णेर इन्द्राय ।

एकई स्वरूप तार नार्ह दूद काय ॥”

—चैतन्यचरितामृत

इस गोलोकधाम में श्री भगवान् गो, गोप और गोपियों के साथ नित्य लीलाविलास करते हैं—

“वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सरामो बालकैर्बुधतः ।
धृंदावर्नातरगतः सदा भीडति कंसहा ॥”
—स्कादे

कंस-निषूदन श्री कृष्ण-बलदेवजी, गोप-बालक तथा वत्सादि के साथ वृंदावन में नित्यविवहार किया करते हैं ।

किसी-किसी समय जगत् को कृतार्थ करने के लिये यह धाम, पार्षद और लीला किसी-किसी ब्रह्मांड में प्रकट होती है । इस ब्रह्मांड में—

“अष्टाविंश चतुर्गुणे द्वापरेर शेषे ।
अखेर सहित ह्य कृष्णे प्रकाशे ॥”

—वैतन्यचरितामृत

“वेदनागक्रोशभूमि स्वधाम्नः श्रीहरिः स्वयम् ।
शोवर्धनं च यमुनां प्रेषयामास भूपरि ॥”

—गर्गसंहिता वृ० ख० ३।३

स्वयं श्री हरि ने निजधाम (गोलोक) से चौरासी कोस भूमि शोवर्धनगिरि और यमुना को मूल पर भेजा ।

श्री भगवान् नराकृति में प्रपंच से अतीत धाम में नित्य लीला किया करते हैं । उनकी लीलाएं अनंत होने पर भी उनमें यही लीला सर्वोत्तम है—

“कृष्णेन यत्के खेला सर्वोत्तम नरलीला ।
नरवपु तद्धार स्वरूप ॥
गोपवेश्य वेणु कर नवकिञ्चोर नटवर ।
नर लीलार ह्य अनु रूप ॥”

—श्रीचैतन्यचरितामृत

श्री कृष्ण रूप में एक ही साथ ऐश्वर्य, माधुर्य, अवतारभाव और अवतारी भाव प्रकट करके श्री भगवान् अपने लीलाविलास से जगत् को कृतार्थ करते हैं ।

जगत् के जीवों को योगमाया का वैभव दिखलाने के लिये भगवान् ने इस मायामानुषदेह को स्वेच्छा से ग्रहण किया है—

“यन्मर्त्यलीलीपयिकं स्वयोगमायावलं वर्णयता गृहीतम् ।”

—भागवत ३।२।१२

श्रीकृष्ण हमारे सदृश मनुष्य न होने पर भी माया साधारण जीवों के मन में यही भारणा उत्पन्न कर देती है कि ये मनुष्य हैं । साधारण जीव इस लीला के अप्राकृत अंग को ग्रहण नहीं कर सकते—

“माहं प्रकाशः सर्वस्व योगमायासमायुतः ।
भूडोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥”

—गीता ७।२५

“महायोगमायाविशेषानुयुक्तः विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।”

—अ० रामायण क० १३।२८

हे ईश्वर महान् योगमाया के गुण विशेष से युक्त होकर आप लीलामानुष रूप में विराजमान हैं । यह जो अप्राकृत में प्राकृतबोध है, इसीमें मानो उनकी लीला का माधुर्य प्रकट होता है—

“धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥”

—गीता ४।८

भगवान्, धर्मलानि के अवसर पर धर्मसंस्थापन के लिये अवतीर्ण होते हैं—

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति सततम् ।
 अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
 तदाहं संप्रसूयामि गद्गेबु शुभकर्मणात् ।
 प्रसिष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥
 कर्मकाले पुनर्ब्रह्मविजित्यं सृजाम्यहम् ।
 आविश्य मानुषं देहं मयाविवर्धकारणात् ॥”

(महा० वन० १८६ । २७-३१)

मुनि मार्कण्डेय से वटपत्र पर शयन किये हुए श्रीभगवान् ने कहा था—‘जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मैं अपने को सृजन करता हूँ। मैं उस समय मनुष्य-देह धारण करके शुभकर्म करनेवालों के घर में उत्पन्न होकर सबका प्रशमन करता हूँ। कर्म के समय पुन मर्यादा-वचन के निमित्त मनुष्यरूप ग्रहण करके अर्चित्य शरीरों का सृजन करता हूँ, परन्तु मूढ़ और असुर प्रकृति के जीव केवल मायामनुष्य-रूपधारी भगवान् को पहचान नहीं पाते। इतना ही नहीं है—दुर्योधनादि श्री व्यास, भीष्म, विदुर तथा ऋषियों के सैकड़ों तरह से उपदेश करने पर भी, यहाँ तक कि कौरव-सभा में श्री कृष्ण का विश्वरूप देखकर भी, उनको नहीं पहचान सके और उनके प्रति द्वेष तथा भयाना ही की।

ख्रिष्टी-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में ग्रीक दूत ‘मेगास्थनीज’ ने सौरसेनों के द्वारा यमुना-तट पर स्थित मथुरा नगरी में ‘हरकेलस’ की उपासना का उल्लेख किया है।^१ यह श्रीकृष्ण-पूजा ही है। इसको Cambridge History of India में भी स्वीकार किया गया है।

अनेक विद्वानों के मतानुसार पाणिनि का काल १२०० ख्रिष्टी पूर्व है। उन्होंने वासुदेव-अर्जुन का उल्लेख (वासुदेवार्जुनाभ्याम्) किया है। भारत-युद्ध की बात भी आयी है।^२ पातञ्जल-महाभाष्य में भी महाभारत और श्री कृष्ण के सबष की वहुत-सी बातें मिलती हैं (अक्रूरो दवते मयिम्)। महर्षि पतञ्जलि का समय द्वितीय शताब्दी के बाद नहीं है।

राजपूताना के घोषुडी-शिलालिपि में (Luders, Brahmi Inscriptions no 6) राजा ‘सर्वतात’ के द्वारा वासुदेव-सकर्षण के लिये शिलाप्राकार बनाने की बात आयी है। यह अनुमानत ख्रिष्टी-पूर्व तीसरी शताब्दी की बात है।

वैशनगर में ‘हेलिथोडोरा’ के प्रसिद्ध गुरुध्वज के लेख में वासुदेव और भागवत धर्म के प्रति श्रीको की भक्ति का प्रमाण मिलता है। यह अनुमानत ख्रिष्टी पूर्व दूसरी शताब्दी है।

नानाघाट में १ मवर की गुफा में वासुदेव-सकर्षण की पूजा का उल्लेख है। यह समभवत ख्रिष्टी-पूर्व पहली शताब्दी का है।

महाकवि भास का समय ईसा से पूर्व का माना जाता है। उनके बहुत से नाटकों में कृष्ण, बलराम और महाभारत का प्रसंग है। कालिदास का काल ख्रिष्टी-पूर्व प्रथम शताब्दी का होना चाहिये।

१. “Thus Heracles is held in special honour by the Sourasenoi, an Indian tribe, who possess two large cities Methora and Cleisobora”

(Megasthenes quoted by Arrian—Mc Crindle p 206)

२. “There are satisfactory proofs of the anti-Christian growth of a Krishna legend in the Mahabharata story.”

(Seal : Comparative Studies, p 8)

“Patanjali's Mahabhasya (1 4 92, 4. 1. 14, 5 3 99) also conclusively establishes the fact that Krishna was worshipped as a God or Avatara long before the commencement of the Christian era” (Seal. Comparative Studies, p 9.)

उनके 'काव्यो' में ब्रज के श्री कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख है—'वर्तुणोव स्फुरितश्चिना गोपबेदास्य विष्णो'—(मेघदूतम् १५)। 'सकौस्तुभं ह्येयतीव कृष्णम्।' (रघु० ६।४६)

शाकान्दप्रवर्तक राजा घालिवाहन या सातवाहन ने 'गाथासप्तशती' की रचना खूबी प्रयत्न सताब्दी में की थी। इसमें श्रीकृष्ण और गोपीलीला का उल्लेख है—

"मूलमाद्येण तं कन्ह गोरभं राहिराए भवणंते ।

एताण वल्लवीणं भण्णार्णे वि गोरभं हरति ॥"

—गाथासप्तशती १।८६

'हे कृष्ण, तुम मूल-मास्त के द्वारा (फूंक भाकर) राधिका की आँखों से धूल निकाल रहे हो, इसके द्वारा अन्याय गोपियों का भी गौरव हरण कर रहे हो।'।

"अज्जवि बालो दामोअरो ति इअर्जयिए जसोदाए ।

कण्हमुहपेसिअण्णं निहणं हसिणं वअण्हं हि ॥"

—गाथासप्तशती २।१२

यशोदाजी कहती है कि दामोदर अब भी बालक हैं। इससे अज-वधुएँ छिपकर श्री कृष्ण-मूल देखकर हँस रही हैं।

उपर्युक्त श्लोको से केवल गोपी-लीला ही नहीं, राधाकृष्ण-लीला की प्राचीनता भी सिद्ध हो जाती है।

ज्योतिष और विभिन्न पुराणों को देखने से महाभारत-युद्ध का समय ३१०० वर्ष ख्रिष्टी-पूर्व प्रमाणित होता है। अतः १५०० ख्रिष्टी-पूर्व से बाद हो ही नहीं।

सर जी० हिगिंस (Sir G. Higgins) ने कहा है कि कृष्ण ईसा के बहुत पहले हुए हैं, यह बात भास्कर्य से और ग्रंथों से निःसंदिग्ध रूप में प्रमाणित है।^१ वे यह भी कहते हैं कि ब्राह्मणों ने एक नयी कहानी रचकर उसे शास्त्रों में घुसेडकर एक नये देवता को सर्वोच्च प्राप्त पर बँठाकर सब का समन्वय करके समझा दिया और करोड़ों लोगों को मिथ्या जानकर भी इसी को मान-कर उपासना करने लगे, यह क्या संभव है?

असल में देखा जाय तो ख्रिष्ट की जन्म-कथा, जीवन की घटनाएँ और धर्म-मत के साथ श्री कृष्ण-चरित्र की तुलना करने पर 'हेरड' की शिशु-हत्या घादि दो-एक गौण प्रसंगों के प्रतिरिक्त बाकी किन्नी बातें सार्वभौम ही नहीं मिलती।

ख्रिष्ट का असली नाम 'येशुआ' (हिब्रू) या जेसस (Jesus) था। अंग्रेजी क्रिस्त (Christ) शब्द बना ग्रीक क्रिस्टस् से। यह एक उपाधिविशेष है—अर्थ है, मसीहा या प्रतिनिधित्व। ग्रीक क्रिस्टस् शब्द को किन्नी कारीगरी से श्री कृष्ण में परिणत नहीं किया जा सकता। वर्ण का परिवर्तन नग्ने भाँडारकर और उन्होंने जिनकी प्रतिष्ठा की है उन पाश्चात्य विद्वानों का कृष्ण और क्रिस्ट के एकरूप का प्रयास नितात नगण्य है। ती बर्षों में श्री पहले 'मोरिस' ने कहा था कि 'भाषान्तर की दृष्टि से उन व्युत्पत्ति की कोई सत्ता नहीं है। कारण 'कृष्ण' शब्द के साथ ग्रीक 'क्रिस्टस्' शब्द का कोई भी नाग्य नहीं है।'

पटिन-नुतल-धुरधर श्रीमत् 'नीरकठ मूर्ति' ने अपनी प्रसिद्ध 'पितृव्यविमर्शिका' में कुछ ऐसी बातें या उल्लेख व्याख्या-महित बिना हैं। उन बातों या साधन-भाष्य भिन्न हैं, परन्तु नीरकठ का

^१ "In fact, the sculptures on the walls of the most ancient temples as well as written works equally old prove, beyond the possibility of doubt, the superior antiquity of the history of Christ to that of Jesus." *Archaeology*, Vol I, p 160 by Sir G. Higgins

पादित्य भी सर्वसमत है और उनकी व्याख्या भी सर्वजनग्राह्य है। इससे पता लगता है श्री कृष्ण की प्रायः प्रत्येक ब्रजलीला का ही वेद में उल्लेख है। यहाँ उन मन्त्रों को नीलकण्ठी टीका-सहित दिया जाता है—

१—शकटमंजन (हरिवंश विष्णु० ६।४७)

“पृथु रथो दक्षिणाया अयोध्येन देवासो अमृतासो अस्युः ।

कृष्णाद्बुद्धस्यादर्या विहायस्विकित्सन्ती मानुषाय क्षयायैतेन ॥”

—ऋग्वेद १।१२३।१

(पृथु) महान् (रथो) शकटं (दक्षिणायाः) विहाय संबंधी मृत्युकरमित्यर्थः (अयोधि) योजितः शत्रुभिरित्यर्थः लिख्यते । तम् (एन) रथं (देवासो) देवाः (अमृतासो) अमृताः आसन्तात् (अस्युः) परि-
वार्य स्थितवन्तः । एतस्मिन्नंतरे सः रथः (कृष्णात्) कृष्णं प्राप्य तत्प्रेरणेन (जबस्थात्) उत्थितः (विहायः) आकाशमाश्रितः विशेषेण हयते गच्छतीति वा, यंत्रोत्क्षिप्तगोलकबकाशमार्गोत्थाय पतितः सप्तपद इत्यर्थः । ततश्च (अर्या) ईश्वरी स्वामिनी माता तत्रत्यप्रजा वा, (चिकित्सती) संशयवती (मानुषाय) मानुषस्य (क्षयाय) नाशाय एतेन पतता रथेनार्यं बालकः कथं न नाशित इत्यत्र कारणविशेषमपश्यती संविहानैवातिष्ठ-
भत्त्वीश्वरकृत्यमेतदित्येवेति भावः । एवमेव सर्वेषामर्थानां प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वमुक्त्यै वैवोपबृंहणत्वावस्य शास्त्रस्य ।

शत्रुओं ने उस बृहत् और भयकर शकट को योजित किया था। अमर देवगण सड़क को घेरे हुए थे। इसी बीच में कृष्ण के द्वारा प्रेरित शकट आकाश में यत्र से फँके हुए गोलक की भाँति उत्क्षिप्त होकर गिरा और नष्ट हो गया। तदंतर माता या वहाँ के लोग ‘जिससे मनुष्य मर सकते हैं’ इस प्रकारसे पड़े हुए रथ के द्वारा वह बालक क्यों नहीं मरा? इसका कारण न समझकर सदेह में ही रह गये। यह ईश्वर का कृत्य है, ऐसा नहीं समझ सके।

इसी प्रकार सभी अर्थों को प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक समझना चाहिये, क्योंकि यह शास्त्र वेद के ही अर्थका विस्तार पूर्वक निरूपण करता है।

२—भूतनादघ (विष्णु० ६।३०-३४)

“हेतिः पक्षिणी न दभ्रात्यस्मा-

नाष्टृषां पदं कृणुते अग्निधाने ।

असौ गोम्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु

सा नो हिंसीविह देवाः कपोत ॥”

—ऋग्वेद १०।१६५।३, अथर्ववेद ६।२७।३

(हेति) आयुद्धवद्वधकारिणी (पक्षिणी) भूतनाख्या (अस्मान्) ब्रजस्थान् (न दभ्रति) नाभि-
भवति प्रत्युत (अग्निधाने) जाठरानेवैति निमित्ते शिशोर्जाठिरभग्नि स्तनदानेन तर्पयितुम् (आष्टृषाम्) ‘आय
गतिदीप्यादानेन’ आधर्याति परलोकं गमयति मृत्युना प्राहृत्यति वा देह दीपयति वा आष्ट्री कृष्णतनुस्तस्यां (पदं)
स्यात् (कृणुते) कृष्णं पाययितुं स्वमृत्युरूपां तां तनुं स्पृशति स्मैत्यर्थः ।

३—यमलार्जुन-उद्धार (विष्णु० ७।१७-२१)

“यत्र मन्या विबध्नते रश्मीन् यमितवा इव । उलूखलसुतानामवेद्विद्वं जल्लुगः, तानो अथ
यनस्पती, ऋष्यावृण्वेभिः सोतुभिः इन्द्राय मधुमत् सुतम् ॥”

—ऋग्वेद १।२८।४-८

(यत्र) उलूखले (मन्या) मन्यानमिव मन्यान् लोकं क्लेशकर मा (विबध्नते) विदोषेण दध्नति
भातरः (रश्मीन्) आदाय रश्मिभिरित्यर्थः (यमितवा इव) निगूहोत्तुमिव न तु वस्तुतो निगूहोत्तुं मानुषेन नमि

स्निग्धत्वात्, तेन (उलूखलेन सुतानां) पीडितानां कर्मणि षष्ठी । उलूखलपीडितान् अस्मान् हे (इंद्रं) मोचनसमर्थं (अथ) रक्ष । पादादित्वादा ध्रुवात्तमाख्यातम् । (इंद्रु) एषमेव त्वं (जलगुल-) अस्ति एनम् मुंचा-भोति जल्पितु मां च गोपितु ज्ञातुं लातुम् आदातुम् स्वावीर्नं कर्तुं च समर्थोऽसि यत अतः अथ मामित्यर्थः । एवं यदा सर्वान् प्रार्थयन्नपि न मोचनं लभते ततो वनस्पत्योरंतरा गत्वा बंधनदामं ज्ञोदितुं यावद्वलं करोति तावद्वनस्पती एव उन्मूल्यती दृष्ट्वा वदति—(ता नो) इति । एतौ (नो) अस्माकं व्रजवासिना वनस्पतिभूतौ अतिप्रसिद्धौ यमलौघगुनजातीयौ नो (वनस्पति अथ इन्द्राय) इन्द्रं प्रति गंतुं (युतं) तदुन्मूलनेन आत्मान पीडयंतं तदेव (ममृमत्) अमृतयुक्तम् अतिसम्यगित्यर्थः । यतः (ऋष्यौ) गतिमंती युवां स्यावत्त्वान्मुक्ती स्य इत्यर्थः । (ऋष्येभिः) गतिमद्भिर्जगैः जनैः (सोतुभिः) अस्मद्वनवनकरैरुपलक्षितौ ।



श्री कृष्ण का लीला-वपु

श्री बासुदेवशरण अमवाळ

साहित्य अध्यात्म सस्कृति का विकास है, साहित्य को प्राकर मनुष्य के मन का मेल घुल जाता है, पहले से भरी हुई मन की सकीर्णता मिट जाती है। साहित्य सपते हुए सूर्य के समान है, जिस के सपर्क में आकर मन में भरा हुआ अवकाश दूर किया जा सकता है। मानस व्याधियों की परम औषधि साहित्य के सहार में भरी हुई है। ऐसे पवित्र, प्रभावशील और जीवन के लिए मूल्यवान् साहित्य कभी तत्त्व के निकट कभी न आना चाहेगा ? सूर और तुलसी दोनों हमारे आदर्श हैं। दोनों ने ही स्पष्ट कहा है कि जिस साहित्य का उन्होंने सृजन किया उसकी रचना में उनका मुख्य हेतु मन के अंदरे को छूटना ही था। मन का अवकाश ही कर्मों में प्रकट होता है। अतएव समाज के विचारों और कर्मों में पवित्रता, नियमितता, सुव्यवस्था और सप्रतिष्ठा का भाव जाते के लिए सुंदर साहित्य से बंध कर और कोई साधन नहीं है। साहित्य सेवी के मन का आनंदमय प्रकाश साहित्य का स्रोत होता है। समाज प्रत्येक युग में और प्रत्येक दश में अपने ही विकसित सूक्ष्म मानस को साहित्य सेवी के रूप में पाता है। जब समाज में उत्तम साहित्य सेवियों को जन्म देने या उनका निर्माण करने की क्षमता घट जाती है तब समाज का जाता रस के समुद्र से टूट जाता है। साहित्य समाज की प्रगति का—'ब्रह्मसिद्धि मग्न' कहा जा सकता है।

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, सूर, तुलसी आदि के अमन काव्यों के साथ प्रत्येक पीढ़ी को फिर से नया परिचय प्राप्त करना पड़ता है। हमारे पूर्वजों के लिए वे श्रद्धेय थे, इससे हमें सतोष नहीं मिल सकता। हमें तो अपने ज्ञान-समुद्रों की फैली हुई शक्ति से स्वयं उनके रस-स्रोत तक पहुँचना होगा, उनकी व्याख्या करनी होगी और उनसे मिलनेवाली जो आनंद-धारा है, उस गंगा को अपने भूतल पर स्वयं लाना होगा। प्रत्येक पीढ़ी को इस 'गंगावतरण' की आवश्यकता होती है और ज्ञान की इस गंगा का अवतरण कराने वाले साहित्य सेवी ही होते हैं। साहित्य सेवियों के मानस के द्वारा ही प्राचीन काव्यों के रस-स्रोतों तक पहुँचा जा सकता है। साहित्य का अनुशीलन करने वाले व्यक्ति ही उन काव्यों में छिपे हुए रस के स्रोतों को ढूँढ निकालते हैं। सूर, तुलसी, जायसी का अध्ययन नयी शक्ति से और शक्ति से वर्तमान पीढ़ी में होने लगे इसके लिये नवीन प्रयत्न की आवश्यकता है। एक नई सच्चा साहित्य-सेवी अपने ध्यान की सचित शक्ति से 'सूरसागर' का अनुशीलन कर सके तो अवश्य वह उस अमृत-तत्त्व तक पहुँच सकेगा, जिसे सूरदास ने अपने अमृत-हृदय की वृष्टि के लिए उसमें भर दिया था। सूरदास और उनके एक ही एक वधु कवि ब्रजभाषा में जिस काव्य की रचना कर गए हैं वह उनका उत्तम दर्शन हृदय से किया हुआ शुद्ध प्रयत्न था। ब्रजभाषा की शक्ति रस की कविता ने कई सौ वर्षों तक ज्ञान-तत्त्व की रक्षा के लिए समाज में बीटा ही सहृदयपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था जैसा किसी समय उपनिषदों ने प्राप्त किया था। अनेक सत, महात्मा, साधक, आचार-शुद्ध भक्तों के ध्यान की साकार प्रतिमूर्ति ब्रजभाषा की कविता है। इस काव्य और तुलसी के रामचरितमानस काव्य में एक अविनाशी अचिंत्य ब्रह्म-तत्त्व की ही उपासना की गई है। जो व्यक्ति कृष्ण और राम को उस रूप में देखने या मानने में असमर्थ है, जिसमें सूर और तुलसी ने उन्हें देखा था वह इस काव्य के बाह्य रूप से तो परिचित हो सकता है, पर इसमें अतनिहित आनंद-तत्त्व या रस-सिंचन से उसका साक्षिण्य नहीं हो सकता, अर्थात् मन नहीं जुड़ सकता।

सूर के कृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। वैदिक साहित्य से लेकर भारतीय भक्तिष्क ने जिस चैतन्य-तत्त्व की बराबर खोज की है, युग-युग में नये-नये नामों और रूपों में समाज ने जिसका अनुभव किया है, जनता के मानस को जिसने प्राणवत्, उत्साहित और आनन्दित बनाया है। उनी आनन्दधन चैतन्य तत्त्व को सूर ने 'कृष्ण' संज्ञा प्रदान की। सूरसागर में वे इस सत्य को कहते हुए नहीं बकते। कृष्ण के आनन्द रूपी ब्रह्म-पक्ष का तिरोभाव हो जाये तो उनकी लीला का रस ही जाता रहे, वह तो जड़ शरीर से होने वाली चैष्टाओं की एक निरर्थक लड़ी बन कर रह जा सकती है।

कृष्ण के इस नित्य स्वरूप के साथ इतिहास को उलझन है। इतिहास मनुष्य को देव-काल में जड़कर पकड़ना चाहता है। वह सत्य घटनाओं को छूँटता है। लीला मानवी जीव की नित्य व्याख्या प्रस्तुत करती है। लीलावतु रसमय और आनदी होता है। इतिहास का व्यक्ति काल के गात में पड़ा हुआ वापुस प्राणी है। जिन अभिप्रायों (मोटिफ्स) के अनुसार जीवन ल्पी कमल अपने आनन्द केंद्र आकाश स्थित सूर्य की प्रेरणा पाकर निज पलङ्गियों का विकास करता है, वे सदा सर्वत्र सबके लिए एक हैं, एक सत्य उनका नियामक हैं। कमल के विकास के लिए भंषकार का तिरोभाव चाहिए। उसे आंतरिक जीवन, प्रेरणा, आनन्द, उत्साह, सौंदर्य और रूप मिलना चाहिए, तभी उसका विकास संभव है। यह आदर्श स्थिति कमल की जीवन लीला है, जो सब पक्षों के लिए आधारभूत सत्य है। एक कमल के जीवन में कौन सा सरोवर था, कितने जल में वह खड़ा था, उसे पुष्ट करने वाले फंदम में कितने रासायनिक तत्व थे, उनके कारण किस पल्लुड़ी ने सूर्य-दर्शन के लिए पहले अपने नेत्र खोले और किस गरि ने उसका चूवन किया इस प्रकार का लेखा इतिहास की उत्सुकता को अवश्य गात कर सकता है, किंतु कमल की नित-नित घटने वाली जीवन लीला इससे अधिक व्यापक और अनुभव्य है। आज हमारा शिक्षित भक्तिष्क ऐतिहासिक कृष्ण को पकड़ना चाहता है। हमारे मन के किमी परदे में ऐसी आशंका बनी रहती है कि जिस कृष्ण का जंजाल सूर ने खड़ा किया है, वह हमारी बुद्धि को उगले के लिए है। वैज्ञानिक बुद्धि बार-बार सूर के कृष्ण से टकराकर वापिस लौट आती है। यह हमारे लिए बड़ा असमंजस बन जाता है। न तो हम अपनी सत्यानुभवान की नयी पद्धति को ही छोड़कर जी सकते हैं और न उसके द्वारा चैतन्य को ही पकड़ पा सकते हैं। यह समझ सच्ची है और में समझता हूँ इससे इन्कार करना बुद्धि की ईमानदारी न होगी, परंतु ब्रह्म-सत्त्व, चैतन्य या नित्य आत्म-सत्त्व, इसी प्रकार की एक पहेली रही है जो पहले भी थी और आज भी है। हमारे लिए बुद्धिमानी यही होगी कि सूर ने कृष्ण का जो आदर्श रिया था उसे ही अपने मन की छवि में जीवित या प्राणमय बचाने का प्रयत्न करे। कम से कम सूर के मन में तो कृष्ण उस ब्रह्म रूप में ही सत्य प्रतिष्ठित थे और उसी स्रोत से ही सूरसागर का जगत् निमित्त हुआ है। अथवा जो मान लें कि सूर का सत्य भी तो किसी मानस में अपनी सत्ता रखता था, जो उनका अनुभव था उसकी खोज और पहचान भी तो वैज्ञानिक पद्धति का प्रग है। वस्तुतः कवि के सत्य को उसी के नेत्र से देव सन्ना ही सच्ची वैज्ञानिक बुद्धि कही जा सकती है।

सूर के मानस का मानचित्र कुछ इस प्रकार खींचा जा सकता है। सनार में एक अनृत ब्रह्मात्मक सत्य है जो आनन्द से परिपूर्ण, रस से तृप्त और ज्योति से भरा हुआ है। उस अनृत-सत्य की प्राप्ति मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है और उसके पाने का एक मार्ग है। उस मन्त्र के साथ एक अनृत पक्ष भी है, जो सत्य में विपरीत है वही अनृत है। जो ज्योति का प्रति पक्षी है वही तम है। तम को हटा कर ही ज्योति प्रतिष्ठापित होती है। यह निर्गुण वाचना है। उनी तीन वंछ सत्य की मणुष वाचना भी है। सूर के शब्दों में वह इस प्रकार है—'हूँ' ही परम के पूर्ण प्रतीक या रूप है। वे लीला में मानव पर वस्तुतः परब्रह्म हैं। उनमें प्रथम आनन्द या रस परिपूर्ण है। हूँ आनन्द के छूटने हुए फव्वारे हैं। अज के ईन्दरे वाचक के रूप में वे मन्त्रगीत ज्योति के स्फुलिंग हैं जो भवेरे को हटाकर सर्वत्र प्रकाश मन्ने हैं। जहाँ हूँ प्रकट होने हैं वही

वे शक्ति, तृप्ति, सौहार्द के वरदान से मनुष्य के मन को सींच देते हैं। कृष्ण को पा लेने पर और कुछ पाने की इच्छा शेष नहीं रहती। कृष्ण जीवन के रसात्मक आनंदी निर्भर हैं। वे इन्द्रियों के संसार के भीतर से उठती हुई आनंद ज्योति हैं। वे चैतन्य की सरसता हैं, जिससे समस्त जब जगत पुलकित और प्रफुल्लित होता है। सूर-दर्शन का यह प्रथम पद है।

कृष्ण रूपी इस अमृत सत्य को प्राप्त करने का मार्ग सूर दर्शन का दूसरा सत्य है। यह मार्ग हृदय की श्रद्धा है, वही भक्ति है। इसी एक रस्ती से चैतन्य तत्त्व बाँधा जा सकता है, अथवा यो कह सकते हैं कि चैतन्य को वधन में लाने के लिए प्रकृति ने श्रद्धा के अतिरिक्त और कोई रस्ती बनाई ही नहीं। बाँधने के लिए मनुष्य के हाथ केवल एक यही रस्ती भाई है। मन को चाहे देवता के साथ बाँधो, चाहे मातृ-भूमि या राष्ट्र के साथ, श्रद्धा या प्रेम की दामरी के सिवा और कोई उपाय नहीं है। लोभ या बल के वधन सब निष्फल हैं। कृष्ण को यगोदा बहुत सी रस्तियों में बाँधने लगी, पर सब व्यर्थ हुई। वे तो अंत में एक ही रस्ती से बाँधे जा सके। उस रस्ती का वैदिक नाम श्रद्धा और लौकिक नाम भक्ति है। निष्कृत के अनुसार अतः सत्य का पर्याय है (सत्य नामनु-पठितम्) या सत्य जिसमें रक्षा हो वह श्रद्धा है। बिना जीवन-सत्य के श्रद्धा की आग नहीं जलती। यही जीवन ध्रुव भविष्याली नियम है। जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वही है—

योयच्छ्रद्धः स एव सः ।

श्रद्धा ही जीवन को निष्ठा प्रदान करती है और श्रद्धा ही उसमें प्रेरणा भरती है। चैतन्य तत्त्व को पकड़ने, अनुभव करने या आत्मसात् करने का एकमात्र उपाय सुंदर सात्विकी श्रद्धा है, यही सूर के मानचित्र की दूसरी रेखा है।

सूर के भविर की तीसरी पेंडी ज्योति के बिरोधी तम की स्वीकृति है। यही कृष्ण के विरोधी असुरों के विनाश की कथा अथवा आसुरी तत्त्व के पराभव की लीला है। देवासुर संग्राम में देवों के साथ असुरों की मित्रता के वर्णन ऋग्वेद से आरम्भ होते हैं। इन्द्र और वृत्र के युद्ध को ज्योति और तम, आनंद और विषाद, अमृत और मृत्यु के सघर्ष का रूपक बता कर बहुत रोचना के साथ वेदों में कहा गया है। ब्राह्मणकारों ने उस ढक्कन के परे देखते हुए स्पष्ट कहा है कि यह देवासुरी युद्ध कोई इतिहास की घटना नहीं है।^१ यह तो प्रकाश और उसका आवरण करनेवाले पाप की लड़ाई है। 'पापा वै वृत्र', पाप ही वृत्रासुर है—यह वैदिक परिभाषा है। इसी का नाना रूपों में विस्तार (उपबृंहण) पुराणों में पाया जाता है। सूर की कृष्ण लीला भी उसी का एक नवीनतम संस्करण प्रस्तुत करती है। यही सूर के दार्शनिक त्रिकोण की तीसरी भुजा है। यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि आसुरी शक्तियों से युद्ध और उनका पराभव सृष्टि-प्रक्रिया का अत्यंत आवश्यक घर्म है। इन्द्र अथवा कृष्ण दोनों के जीवन में इसे प्रकट होना ही चाहिए। श्री 'कुमार स्वामी' के अनुसार असुर आदि के प्रतीक तत्त्वज्ञान की भाषा के लिए वैसे ही अत्यावश्यक बारहखंडी हैं जैसे दर्शन ग्रन्थ के लिए शब्द।^२

^१ न त्वं युयुत्से कतमञ्जनाहर्न तेऽभिप्रो मयवन् कश्चनास्ति ।

भायेत्सा ते यानि युद्धान्याहर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्सः ॥

—गतपत्र आह्वय, ११११६:१७

हे इन्द्र, तुम किसी विन लड़े नहीं, न तुम्हारा कोई शत्रु है, तुम्हारे युद्धों की बात माया (रूपक लीला) है।'

^२ .. Visual symbols being essentially the language of metaphysics, as words are of philosophy.—Angel and Titan (Diavasuram) निबंध, पृ० ४१४ पाद-टिप्पणी ।

कृष्ण के जीवन की लीलाएँ तत्त्व-ज्ञान की बारहसखी या अष्टशैली (अक्षरवर्तिका, हिज्जे) के रूप में ही सार्यक हो सकती हैं, अन्यथा वे बच्चों के मन बहलाने के उदाहरण हैं। उन में सभी हुई भीषण अग्नि का पान कृष्ण के जीवन की एक उमरी हुई लीला है। दावानल-आचमन का सूर सागर में अत्यंत चमत्कारी वर्णन है।^१ “दावानल अचयौ ज्वरराज, ज्वर-जन नस्तः वचाग्रीः।”

यह घटना नैतिक ज्वर-तक-सीमित नहीं है यह दावानल तो जीवन की कसल अग्नि है, जो उसे भस्म करने के लिए कहीं भी प्रकट हो सकती है। अग्नी-अग्नीः हमारे राष्ट्रीय जगत में एक कठोर दावानल फैल गया था। उसने मनुष्य मात्र के हृदयों को झुलसा डाला था, उसका आतंक से सभी प्राणी व्यकुल थे। इस दावानल का आचमन एक तपस्वी महात्मा ने किया और राष्ट्र के भस्म होते हुए शरीर और मन को उबार लिया। उस घटना को मानवी कहें या अति मानवी? हम सब उस चमत्कार के साक्षी रहे हैं।

इस प्रकार के दावानल को स्वतेज या शक्ति से शांत करने का अभिप्राय या अलंकार अर्जुन के जीवन में भी आता है। दावानल या विष की अग्नि, स्थूल रूप में भले ही भिन्न चीज पड़े, पर अध्यात्म-भाषा की दृष्टि से दोनों एक ही सूझा तत्त्व के प्रतीक हैं। समुद्र मथन से उत्पन्न विष की दाहक ज्वालाओं से जिस समय सब देवता जला रहे थे, उस-समय ‘शिव सन्नक’ वैषी तत्त्व ने, उस (विष) का पान कर लिया था—“जलत सकल, सुद-भुज, विषम, गरल जिहि पान किया।”

शिव जी विष पान न कर जाते तो समुद्र मथन से उत्पन्न अमृत, देवों की जाँट में कभी न आता। आता भी, तो उसका शांत उपयोग के कभी न कर सकते। जो शांति के रस से सिपत नहीं वह अमृत नहीं रह जाता। हमारे विगत राष्ट्रीय मथन से उत्पन्न जो, अमृत था उसके आस्वादन के लिए दावानल के आचमन या विषपान की, अनिवार्य आवश्यकता थी। समाज या राष्ट्र के जीवन का जो सत्य है वही व्यक्ति के जीवन का सत्य भी है। एकोबय और सर्वोबय दोनों धर्म एक ही वैषी विशेषता से प्रेरणा पाते हैं।

यमलार्जुन को उखाड़ फेंकने की छोटी-सी लीला भी आध्यात्मिक-भाषा के सचि में डली है। हम सभी यमलार्जुन से वैषे हैं, नाम रूप के ये दो, ठाड़े वृक्ष हमारे जीवन को रोकें सजे हैं। कृष्ण-लीला की परिभाषा में यमलार्जुन यक्षराज कुबेर के दो पुत्र थे, जो तिर, स्वरूप लोकर घाप से वृक्ष बने थे। वैदिक परिभाषा में नाम रूप दो महान् यक्ष हैं—

“ते (नामरूपे) ह्यमहती यसे महती अभवे।”

अर्थात् नाम और रूप ये दो बड़े यक्ष हैं, पर ऐसे यक्ष जिनकी सत्ता नहीं, जो अश्व हैं, दिखाई पड़ने पर भी जो हैं नहीं। जीवन को बाँधने वाले इन बूटों को जड़ामूल से उखाड़ फेंकना ही पुराना अध्यात्म का मार्ग है। श्री कुमार स्वामी ने वैदिक परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए ‘मुच्यु’ को वरुण-याश या मृत्यु का रूप कहा है और बताया है कि इस मुच्यु या मृत्यु पर विजय पान अध्यात्म धारण की आवश्यक सीखी है। उनके अनुसार मुचलिद नाम के ऊपर बुद्ध की विजय प्रांग मुचुकुद के ऊपर कृष्ण की विजय एक ही तत्त्व को कहने की दो परिभाषाएँ हैं।

^१ चर्चित देखि यह कहि नर नारी।

घर आकास बराबर ज्वाला, क्षपट लपट करारी।
नहि बरष्पी, नहि छिदरपी काहू, कहें बौं गयीं बिलाई।
अति आघात करत बन भीतर, कैसे गयी दुमाई।।
तून की धाग बरत ही वृक्ष गढ़, हंसि-हंसि कहत गुपाल।
सुनहुँ ‘सूर’ वह करनि, कहनि यह, कैसे प्रभु के दयाल।।

वरुण या आवरणात्मक पाश डालने वाली शक्ति ही अहि-वृक्ष है। उस वरुणा से छुटकारा पाना वैदिक अध्यात्म शास्त्र का प्रत्यत प्राचीन सकेत था। वरुण के पाशों में जकड़ा हुआ रोहित उनके छूटने का प्रयत्न करता है। यूरुप के उत्तराखण्डी देशों के 'नाडिक-नाथा' शास्त्र में भी समदरी बुद्धे (ओल्ड मेन ऑव दी सी) से छुटकारा पाने की कल्पना पाई जाती है। समुद्र-वासी यह जरठ बुद्धा जब पीछ पर सवार होता है, कठिनाई से उससे छुटकारा मिलता है। वरुण ही समुद्र वासी बुद्धे है। वे नद को पकड़ते हैं और कृष्ण उनसे नद का उद्धार करते हैं। कालिय-दमन कृष्ण के जीवन की अन्य प्रसिद्ध लीला है। वैदिक परिभाषा में आकाशवासी प्रकाश शक्तियों की सत्ता गख और भूतल पर रेगने वाली अमकार प्रचान वृत्तियों की सत्ता सर्प है। जीवना जल के सब स्रोतों पर नागों का अधिकार है। जीवन के जितने जल, कमल या शमित चक्र हैं, सब कालिय नाग के अधिकार में हैं। शक्ति का प्रतीक यह कालिय नाग सब के भीतर बैठकर जीवनी शक्ति को अपने ही वश में रखना चाहता है और अपने ही डग से चलाना चाहता है, किंतु उसके कालीदह में जीवन नहीं, वहाँ तो मूल्य का निवास है। नाग-नर्भया कृष्ण उन कमलों का उद्धार करते हैं जो जीवन के रूप हैं। नाग-नायन या कालिय-दमन भारतीय अध्यात्म शास्त्र की परंपरा की प्रसन्न परिभाषा है जिसके पीछे रक्खा हुआ अर्थ सरलता से समझा जा सकता है।

इत लीलाओं का अध्यात्म अर्थ समझते हुए हम कृष्ण को खोते नहीं, बरन् उन्हें एक नए लोक ~ प्राप्त करते हैं, जिस लोक में हमारे अध्यात्म शास्त्र की प्राचीन धारा का सारस्वत जल भरा हुआ है।

कृष्णलीला इस रूप में अकेली नहीं है, रामलीला और बुद्धलीला भी उसी अध्यात्म शैली पर निर्मित हैं। बुद्ध का मानवी रूप उनके लीला विग्रह में कही छिपा पड़ा है। श्रीमती 'राइस डेविड्स' ने 'गीतम दी यैन' पुस्तक में बुद्ध के मानवी रूप का आग्रह करके उसे उद्घाटित करने का प्रयत्न किया, किंतु बुद्ध का लीला विग्रह मानवी रूप का पदे-पदे निराकरण करके शास्त्रियों में बड़े प्रयत्न और कौशल से अध्यात्म-अर्थों का ताना-बाना बुन कर बनाया गया था। बुद्ध के तीन रूप हैं—मानवी (ह्रमन), अति मानवी (सुपर-ह्रमन) और अलौकिक (सुपर-मडेन)। मानवी रूप का आक तत्क पुरातत्त्व में कोई भी समसामयिक प्रमाण नहीं मिला। पिपरावा गाँव (वस्ती—मोरखपुर की सीमा) के स्तूप से मिली हुई धातु-नर्म-मजूषा के लेख से ज्ञात होता है कि सुकीर्ति आदि शाक्त्यों ने बुद्ध के शरीर से सम्बन्धित कुछ चिह्न (सलिल निषने वृषस भगवतो) उसमें रखे थे। वस बुद्ध के इतने ही मानवी प्रमाण से पुरातत्त्व बनी है। शेष परंपरागत अनुभूति और साहित्यिक प्रमाण है, जिसमें बुद्ध की अति मानवी लीला है—माता की दाहिनी कोख से जन्म लेना, जन्मते ही सात पैर चलना—बातें कब मानवी हुई हैं? इससे भी आगे एक-युग ऐसा आया जब महायान संप्रदाय के आचार्यों ने बुद्ध के धर्म कार्य की व्याख्या करते हुए यही तक कहा—वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि बुद्ध का भी हाड-मांस का शरीर कभी रहा होगा, वस्तुतः बुद्ध पृथ्वी पर कभी हुए ही नहीं, वे तो धर्म शरीर से सत्य हैं जो अनादि अनंत हैं। मानवी ढाँचे पर बुद्ध का लीला-विग्रह तैयार करने की एक युक्ति भारतीय अध्यात्म-परिभाषाओं के अनुसार जान बूझकर बनाई गई। उस युक्ति को मित्रालना और उसके अग्रोष्ठ अर्थ को समझना उन्हीं परिभाषाओं के अनुसार समभव है।

यही प्रक्रिया और तथ्य कृष्णलीला के विषय में भी घटते हैं। कृष्ण के तीन विग्रह हैं जिन्हें सृति शास्त्र के भाषा में—द्विभुजी, चतुर्भुजी और सहस्रभुजी कह सकते हैं। मानवी कृष्ण द्विभुजी है या उन्हें होना चाहिए। उनका इतिहास-पुरातत्त्व-गत बहुत दूर का प्रमाण, वस एक वृष्णि-गण का वषा हुआ सिक्का है जो काल के गाल से छटक कर हम तक था पहुँचा है। वृष्णिगण-राज्य के अर्थ मोक्षता राज्य की कुछ शलक महाभारत के शांति पर्व में हैं, जब अपने-अपने दलों का गण नरामें नेतृत्व करते हुए कृष्ण और अक्रूर की नौक-शौक भी हो जाती थी। कृष्ण के मानवी रूप के उद्धार

का प्रयत्न भी 'वक्त्रिभचद्र' ने अपने 'कृष्ण चरित' में किया पर वैज्ञानिक इतिहास की आधारसिला तो उसे प्राप्त नहीं हो सकी।

दूसरा ध्वनतायी कृष्ण का लीला विग्रह है जो चतुर्भुजी है। भागवत की आधार-भित्ति वही है। वह भक्ति से जन्मा है। इससे भी ऊपर कृष्ण का ऐश्वर्य रूप है जो सहस्रभुजी है और गीता के ६, १०, ११ वें अध्याय का विषय है। गीता के शब्दों में वह रूप अनन्त, अम्यय, शतसहस्र नानाविध, अद्भुत, उग्र, सदसत्, कालरूप, सुदुर्दश, विराट् और विश्व रूप है। उसे नरलोक में मनुष्य की आँखों ने पहले कभी नहीं देखा। ठीक उस वृद्ध विग्रह की तरह जिसके लिए महायान संप्रदाय के लोकोत्तर वादी आचार्यों ने डपट कर कहा था कि वृद्ध मानव धर्म-नेत्र से कैसे देख सकते थे। कृष्ण का ऐश्वर्य रूप भी चर्म चक्षुषों का विषय नहीं उसे देखने के लिए अर्जुन को दिव्य चक्षु दिए गए। मनुष्य तो क्या देवता भी उसे देखना चाहते हैं, पर देख नहीं पाते। वह दिव्य शाश्वत पुरुष सहस्रभुजी रूप केवल भक्ति से देखा जा सकता है। गीता की साक्षी के अनुसार ही जान पड़ता है कि नारद, असित, देवल, व्यास की परंपरा ने पंचरात्र दर्शन में कृष्ण के इस अनन्त विराट् विग्रह के निर्माण में भाग लिया। गीता में इस विराट् रूप से घबरा कर अर्जुन उसी सौम्य रूप को देखना चाहता है। वह 'उदेव' (वही) रूप कौन-सा था वो हाथों वाला मानवी नहीं, बल्कि गदा और चक्र लिए चतुर्भुजी रूप—

“किरीटिनं गघिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां द्रष्टुं महं तथैव ।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥”

—गीता ११/४६

भागवत में मिट्टी खाते हुए कृष्ण ने और रामलीला में राम ने माताओं को क्षण भर के लिए इस विराट् रूप की झाँकी दी थी। दुर्योधन को भी कृष्ण ने एक बार विराट् रूप की झलक दिखाई थी, किंतु यह विराट् या सहस्रभुजी रूप हमारे लिए ऐसे ही काम (या बेकाम) का है जैसे सृष्टि का निर्माण, निराकार तत्त्व। मधुर रस अपने परमाणु रूप से सृष्टि में ही है, पर वह किस काम का? मनुष्य को तो धन-परमाणु से आगे बढ़कर भिक्षु की डली चाहिए। इस भीखे डली के निर्माण का ही नाम लीला वषु है। प्रकृति का सूक्ष्म अंतरंगी ठाठ तो शायद कोर-कोर गणित के नियमों में समाप्त हो जाता है, पर वह अलभ्य है। उससे निमित्त स्वन रूप मानव के काम का है। गणित का मधु तत्त्व गले और गुड़ रूप में आना ही चाहिए। यही बात सगुण के विषय में है। राम कृष्ण जो भी उसका रूप बनाना चाहो बनाओ, सगुण के लिए लीला-वषु आवश्यक है और उसका प्रयोजन भी पदे-पदे निर्गुण-तत्त्व की महिमा की व्याप्ति ही है। निर्गुण की महिमा के बरदान से ही सगुण पर अस्तिमानवी आवरण पड़ता जाता है। उदाहरण के लिए शकटलीला को लें। बच्चे के जीवन में सामान्य रूप से छोटी गाड़ी का सप्ती को परिचय है। उसे ही शकटसुर मान कर बाल रूप द्वारा उसका वध लीला वषु का निर्माण करता है। लीला वषु की कल्पना में अध्यात्म-परिभाषाओं की सहायता लेनी पड़ती है।

बैदिक साहित्य में मानवी शरीर की कई सत्ताएँ हैं, जैसे—पूर्णचंद्र, देवी-नाव, देव-रथ या शकट। प्राण रूपी बेल इस शरीर के छकड़े को चला रहा है। इसीलिए प्राण को 'मनइवान' (मनद् या छकड़ेवाला) कहा गया है—

“अनडवात् प्राण उच्चते ।”

—अथर्व

इस शरीर रूपी शकट या शकटसुर को बाल-कृष्ण ने बिलट दिया। इनके गान कीर्तन-कल्पना से एक मधुर लीला बनी। छोटी गाड़ी के उलटने-मुलटने में कोई बैचिन्म या मायुर्य नहीं है, पर शकटसुर के बालकृष्ण द्वारा ज्वलत होने में लीला का मायुर्य है। लीला आनंद धन है। मनुष्य

के मन को आनन्द-धन वस्तु की आवश्यकता है। उसी तत्त्व पर लीला वपु का निर्माण होता है। आनन्द धन लीला चाहे वह कृष्ण की हो चाहे बुद्ध की माधुर्यमय या मिली की डली का रूप है। हमारा अपना जीवन जो उसी लीला के ठाठ पर बना है, उस मिली की चखने वाली जिह्वा है। मानव को यह विस्वाद्य या भ्रमा रानी ही पड़ती है कि लीला वपु माधुर्य और अमृत धन है, जितना मिठास अपने हम अपने जीवन की पुष्प-गलनभरी लीला में ले सकें वही हमारे काम का है। इस प्रकार जीवन की आवश्यकता के भीतर से भाँती ने प्राचीन अध्यात्म परिभाषाओं का सहारा ले कर लीला का विकास किया।

लीला का स्थूल रूप ही कवि के लिए अत्यावश्यक है। इसीलिए उद्धव की भाँति कृष्ण को ध्यान अथवा योग-भग्न बनाना सूर अथवा ब्रजवासियों को रुचिकर नहीं। सूर का बड़ा साका इस बात में नहीं है कि उन्होंने पुरानी परिभाषाओं की बारीक पाल्य-निष्ठा करके उनके भीतर छिपे हुए अध्यात्म को निन्द करने का प्रयत्न किया। सूर की सफलता इस बात में है कि उन्होंने देश-समत परिभाषाओं के स्थूल रूप की मातृना या गाँले को जैसा उन्होंने पाया वैसा स्वीकार करके चतुर गिल्सी या चिनेरे की भाँति अनेक गुदर रूप या आलेखन प्रस्तुत किए। सूर के चित्र अत्यंत सजीव हैं, उनकी वर्णना प्रकृति की प्रयत्न करने पर भी थाह नहीं मिलती। एक ही कृष्ण के चित्र को रंगों और तूनिषा की शक्ति से कितने अपरिमित भावों में वे सजा सके हैं, इससे उनके कवि रूप की महिमा प्रकट होती है। भूरनागर का 'भ्रमरगीत' तो कविता की पराकाष्ठा है। वह बुद्ध आनन्द का अधय सोता है। सहृदय के लिए उसमें रस-प्राप्ति की श्रुतल सामग्री है। हमारी दृष्टि में भ्रमर-गीत की तुलना में 'रपने के लिए विद्वत् साहित्य में हमारे पास बहुत कम कृतियाँ हैं। मन और बुद्धि के धावत द्वंद्व या सारतम्य का इसमें अधिक काव्यपूर्ण, पल्लवित, सरल और श्रद्धा से किया हुआ वर्णन अत्यंत मिलना कठिन है, किंतु भ्रमरगीत तर्क की कंची से तत्त्व की कतर-ज्योत नहीं है। मानवीय आत्मा में चैतन्य की भाषात् प्राप्ति के लिए जो जन्म-जन्म की आकुलता है वह भ्रमर-गीत का सार, उसका प्राण और रस है। स्त्री के मन में पुरुष के लिए जो सर्वात्म समर्पण का भाव प्रकृति ने स्वयं भरा है, उसमें जो अचित्य और अपरिमित प्रेम तत्त्व है—इसमें सदेह है कि विद्वत् में पूरी तरह उसकी थाह कभी लग सकेगी—और जो शरीर के स्थूल रक्त-मांस से लेकर मानस के सूक्ष्म तत्त्वों तक में प्रेम का स्वयं अनुभव करने की जो उत्तुकता या छटपटाहट है, आत्मा की चैतन्य के लिए जाग्रत् आकुलता की उपमा यदि किसी से दी जा सकती है तो केवल उससे ही। इसी सुंदर, स्वस्थ प्राणमय तत्त्व से भ्रमरगीत का निर्माण हुआ है। सूर ने भ्रमरगीत के भीतर इस भाँति को कही रस दिया है, जिसका प्रकाश घुबला नहीं पड़ता। भ्रमरगीत में ऐसा सोता उनके हाथ लग गया है जिसमें से कभी न छीजने वाली आनन्द की रसलब्धी सदा निकलती जान पड़ती है। भ्रमरगीत के वर्णन साहित्यिक ठाठ से सँवारे हुए हैं, फिर भी उनमें दायें-बायें नए-नए हेर-फेर की श्रद्धावत शक्ति सर्वत्र मिलती है। उसकी भाषा की टकसाली गठन ब्रजभाषा के प्रति नूतन श्रद्धा उत्पन्न करती है। उसके अर्थों की पंनी शक्ति दूर तक वेधती है—

“बिलग मति मानो ऊँची प्यारे ।

बी सधुरा काजर की उबरी, जे आवें ते कारे ॥

तुम कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे सधुर भँवारे ।

तिनहूँ साँझ अधिक छवि उपजत, कसल-नैन मनियारे ।

मानों नील माँट में बोरे, सँ जमनाँ बु पखारे ।

ता गुन स्थाँन भई कालिबी, 'सूर' स्थाँन गुन ग्यारे ॥

अथवा—

“ऊँची, तुम बेग हूँ ब्रज जाहू ।

सुरति सदैव सुनाइ नेदौ वल्लभनि की बाहू ॥

कर्म-पावक-पुलित मन में, बिरह-खास सेमीर ।

‘मसैन नाहिन हौन मावत, जोचननि के नीर ॥’

इस पद को लिखते समय मानो सूर-मुलसी ने एक दूसरे के साथ टीपने मिलाई हो । तुलसी की प्रसिद्ध उक्ति है—

“बिरह भोगिनि तन तुल समीर । स्वास जरे-धन-भाहू सरीरा ।

मयन-श्रवहि जल निज-हित लागी । जरे-न पाव वेह बिच्छागी ॥”

सूर के विनोदी मधुबनियाँ इषाम ने उद्धव के भवैत दर्शों रंग के साथ विनोद का एक प्रति शिष्ट रूप अमरगीत में रचा है । उसमें गोपियों की अपरिमित क्रसक और कृपा का व्यंग्य भरा है । उसके भीतर से सूरदास के भक्त हृदय की अमर चाणी प्राब भी सुनाई पड़ती है—

“कहौ खेस सूर” के प्रभु के, यह निस्सुग्न अधियायी ।

अपनी बोयी आप खोचिऐ, सुम आपहि निस्वारी ॥

अर्थात् हे ऊधो, सूर के सगुण प्रभु की बात कहो (तोभला) निर्गुण तो अधियाला है । निर्गुण की अपनी खेती बोई है तो आप ही काटो,—निर्गुण की गाँठ लगाई है तो आप ही सुलझाओ ।

सूर की यह सींग व्यक्तिके हृदयकी माँग तो है ही, हो सकता है निर्गुण की गाँठ न सुलझने पर कभी युग की माँग भी बन जाय । सगुण और निर्गुण की उलझन का लोक पक्ष भी है । राट्ट (स्टेट) निर्गुण, व्यक्तित्व या जन सगुण और प्रत्यक्ष सिद्ध है । उसी के कल्याण में रस है । कोरा सिद्धांत या वाद निर्गुण या अमूर्त है, किन्तु जन का जीवन मूर्त और प्रेम का प्राब है । हमारे सस्ता सिद्धांतों या मतवादी को सगुण जन-जीवन की कसीटी पर सरा उतरना चाहिये । जीवन ने पराक्रम भक्तवाद उद्धव के रूप है । जीवन स्वयं गोपियों की भाँति रस तृप्ति का इच्छुक है । सच्ची ब्रज-संस्कृति मध्य युग के बहके हुए व्यक्तियों का कर्म से बच निकलने का मार्ग नहीं है । यह तो आर्यवर्ष के कई सहस्र वर्षों के बार्मिक इतिहास के प्रचंड अध्यन से उत्पन्न हुआ भक्तमार्ग था, अथवा उस समूह में तैरता हुआ सुंदर कमल या जिसने देश की समन्वय, सप्रति और सयथाय का सुंदर संदेश दिया । यह वह महायान या चौड़ा मार्ग था जिस पर सकीर्णता को धूर करके सबको चलने का निमन्त्रण दिया गया । उस महायान की पताका पर यह मंत्र लिखा था—“हरि की अजै सो हरि की होई ।”

इन्हीं दीप्तिपटों से तो समाज के मन में नया प्रकाश मग जाया रहा जिसके जरने वाले अनेक ध्याती, ज्ञाती, आचार-पूत तपस्वी सत महात्मा और भक्त थे । वे ही ब्रज-संस्कृति के सत्यमार्ग थे । इसी संस्कृति के मार्ग से लोक के छटपटाते हुए मन को नया प्राणजामु पहुँचता रहा । मतवाद की आरदीवारी के लीह-आचीरो ने जब जीवन को रूँघ दिया, तब ब्रज की प्रेम-शक्ति-अधान संस्कृति ने सब प्राणियों के लिये जीवन को खोलने के योग्य बनाया और मानव को मानव के प्रति अद्भुत का माठ पढाया । समाज में जो सहस्रो वर्षों से पगु बने थे वे इस संस्कृति की कृपा से पर्वत झोपने लगे, जो झोपे बने थे वे सब कुछ देखने लगे, जो बहरे थे उनके फान कर्तव्य, समान, सदा के संदेश सुनने के लिये खुल गए और जो गूने थे उनके कळों में स्वर मग गया । ऐसे वचन-मुक्त कठों के गान आज भी भारत की सांस्कृतिक मिथि में रलो की भाँति सुप्रचित है—इस संस्कृति के द्वारा की गई ईश्वर के चरणों की अर्चना ऐसी सुसदाई और सिद्धि की देने वाली हुई—

“ब्रह्मो जी हरि-मद सुलझाई ।

जाकी कृपा भंगु गिरि लखे खँवे कौं सब कछु दरसाई ।

बहिरौ सुनै, गुंग पुनि जोलै, रक जलै तिर छब पराई ।”

मनुष्य ने जहाँ आपस में विवेक डाला या वही ईश्वर के चरणों की कृपा उन्हें बिताने वाली सुधा सिद्ध हुई ।

रासलीला

श्री मुंशीराम शर्मा 'खोम'

राम शब्द रस से बना है। रसो वै स, अर्थात् भगवान् स्वयं रस रूप है—आनन्द रूप है। उपनिषद् में कहा है—आनन्द रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। यह रसरूप ब्रह्म केंद्र है और उसकी परिधि है ब्रह्मांड का यह चक्र, जिसे उसकी 'लीला' कहा जाता है। कहाँ तो वैष्णव भक्ति का आचार्यों द्वारा वर्णित यह आनन्द रूप जिसके मूल में आनन्द और परिणाम में भी आनन्द और कहाँ ईसाइयों का वह घोर दुःखवाद एवं पाप-बोध की भावना ? मालूम नहीं पाश्चात्य विद्वानों ने भागवत-भक्ति को ईसाइयों की प्रायश्चित्त वाली भावना से कैसे मिला दिया। एघार्ट नामक ईसाई सत ने ईसाइयों की आध्यात्मिकता प्रिय वृत्ति को शास्त्रसममत रूप प्रवक्ष्य दिया था, जिसमें पाप-बोध, सत्कारों का सुधार, पवित्रीकरण, महनीय भाव की अनुमति और अंत में प्रभु के साथ तादात्म्य भाव की प्रधानता थी, परंतु ईसाइयों का यह भाव वैष्णव धर्म की आनन्द भावना से एकदम विपरीत है। वैष्णवों की रासलीला, इसी आनन्द-भावना के अनुभव करने का नाम है।

द्वितीय विद्वानों ने जहाँ वैष्णव भक्ति को विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है, वहाँ उन्होंने 'रासलीला' को भी विज्ञान समत सिद्ध किया है। इन विद्वानों की समिति में बाह्य जगत् में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित आकर्षण का एक नियम पाया जाता है। इस अनंत आकाश में अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह लगे हुए हैं, सूर्य केंद्र में है और वे समस्त ग्रह-उप-ग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। आकर्षण की शक्ति इनको परस्पर सबद्ध किए हैं, इधर-उधर गिरने नहीं देती। रासलीला में कृष्ण केंद्रस्थ सूर्य हैं, राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह और उपग्रहों के रूप में हैं।

इस विचार से भी अद्भुत एक और विचार है। भौतिक शास्त्र के आधुनिक अनुसंधान-कर्त्ताओं ने अपनी गवेषणा द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियों के समूह का नाम है। अणु का विस्फोटन करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच में एक केंद्र बिंदु है, जिसके चारों ओर अनेक गति और प्रगति के तार चक्कर काट रहे हैं। इनमें अनंत लहरें और अपरिमित कण हैं। रासलीला में वह केंद्रीभूत कृष्ण अपने चारों ओर गोपियों के रूप में ऐसी ही तो लहरें उत्पन्न कर रहे हैं।

किसी-किसी विद्वान् ने रासलीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में किया है, वे कहते हैं—यही तो शिव का नृत्य है। डम-डम डमरू की ध्वनि इस आकाश में फैली हुई अनंत शब्द ध्वनियाँ हैं और शिव के पद तल की कभी सम और कभी विषम गति लास्य एवं लाडल नाम के नृत्य को जन्म दे रही हैं। नृत्य का यही शाश्वत रूप रासलीला-द्वारा प्रकट किया गया है।

एक विचार और भी रासलीला के साथ सबद्ध है, जिसके अनुसार यह लीला शुद्ध रूप से अध्यात्म-शेष की धटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा है और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव, वृंदावन (बल्लभार्यो का गोकुल) सहस्र दल कमल हैं। यही तो आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है, परंतु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टिमार्गीय विचारों के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न-भिन्न रहते हैं। भुक्त जीव परमात्मा के साथ झींझा करते हैं, उसकी लीला में भाग लेते हैं। गोपिकाएँ भी रासलीला में कृष्ण के साथ खेल खेलती हैं।

उपरोक्त विचार से कम से कम एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि रासलीला एक प्रकार का रूपक है। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का एक नाम 'राधा' भी दिया है। यह नक्षत्र कृतिका नक्षत्र से चौदहवाँ

नक्षत्र है। पहले नक्षत्र-गणना कृतिका से होती थी। इस गणना के अनुसार विद्यासा, अर्थात् राधा नक्षत्र ठीक बीच में पड़ता है। वैष्णव भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रास-मण्डल के मध्य में स्थित होने के कारण, क्रम से क्रम, रासमण्डल के अनुसार उसका प्रधान स्थान है।

रास में राधा का पारकीया रूप

यह प्रश्न होता है कि लौकिक परिवेश में कृष्ण का राधा के साथ क्या संबंध है? वह स्वकीया है अथवा परकीया? महाभारत, विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण में कृष्णकी पत्नियों के नाम दिये हैं। जिनमें सत्यभामा, रुक्मिणी जाववती आदि नाम आते हैं, परन्तु राधा का नाम नहीं आता। राधा को किसी भी प्राचीन ग्रंथ में कृष्ण की पत्नी नहीं कहा गया है। तो क्या राधा परकीया है? 'सूर' ने ऐसा नहीं कहा। उसने अपने 'सूरसागर' में राधा और कृष्ण का विवाह वही ब्रूमधाम के साथ कराया है, परन्तु चैतन्य-संप्रदाय में राधा को परकीया ही माना गया है। यही वासना को कर्दम से निकाल कर भगवद्भक्ति रूपी परिमल में परिवर्तित कर देना है। दूसरा विचार है वैराग्य को निवृत्ति-भरायणता में परिणत कर देना। वैराग्य की यह भावना, जिसने हमारे हृदयों में घर कर रक्खा था और जिसके कारण हम सभार को भिन्ना समझने लगे थे, भक्ति की इस प्रबल धारा में बहकर न जाने कहाँ विलीन हो गई। कृष्ण की बाललीला एवं रासलीला में भग्न होकर मानव-मन खिन्नता से पृथक्, उदासीनता से दूर और नैराश्य से हटकर घर के कार्यों में उत्तर होकर भाग लेने लगा। वैष्णव धर्म की यह देन आर्य जाति के लिये रामबाण की शीपधि सिद्ध हुई है। धन्य है वे कवि जिन्होंने अपनी वाणी द्वारा इस भक्ति का जनता में प्रचार किया।

सूर की रास लीला

ऊपर जिस लीला के संबंध में हमने कुछ विचार प्रकट किये हैं, उसका वर्णन विष्णु-पुराण, हरिवंश, श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी पाया जाता है। सूर ने इस रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी से लिया है पर, जैसा हम लिख चुके हैं, भागवत में राधा का नाम नहीं आता। भगवान् की एक ऐसी आराधिका गोपी का वर्णन अवश्य आता है जिसे वे सर्वविध प्यार करते थे। सूर ने इसी गोपी को राधा नाम दिया है।

यद्यपि बल्लभ-संप्रदाय के अनुयायियों ने परकीया के स्थान पर स्वकीया को महत्व दिया है, परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में वगीय वैष्णव-शाखा से भी प्रभावित जान पड़ते हैं। तभी तो उस धार्मिक-चित्रकारीत निर्मल विभावरी में जब रास प्रारम्भ होने से पूर्व मोहन की मुरली बजती है, तो गोपिकाएँ अपने समस्त गृह-कार्यों को परित्याग करके, आर्य-अर्यादा का उल्लंघन करती हुई, अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, क्षीनल, मद, मुग्ध समीर से मादक-तरंग-मकुल यमुना तट पर जा पहुँचती हैं। सूर इन समय का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"जब मोहन मुरली अवर-धरी।

गृह स्वीहार धके आरज पय, तजत न तंक करी ॥
पद-रिपु-भट भटवयी आतुर ज्यों-ज्यों उलटि-उलटि डबरी ॥"

ॐ

"जबहिं दन मुरली अवन परी।

चकिन भई गोप-कन्या सय, कानि घाँस विमरी ॥
कुल-भरजाद बेद की आग्या, नैकहु नाहिं डरी ॥
स्वामि-गंगु, सरिता-नलनी-मोन, जन के डरेन डरी ॥
जो जिहिं भाँति धनी मो नैनै, निमि दन को जु मरी ॥
मुन-भति-नेह, भयन-जन-सरग, सज्जा नाहिं डरी ॥"

“मुरली, मधुर बजाई स्याम ।

भन हरि लियी भवन नहि भावै, व्याकुल बज की बाँम ॥
भोजन, भूषन की सुधि नाहीं, तन की नाहि सँभार ।
गृह-गुरु-लाज सुत सी तोरचौ, डरी नहीं व्योहार ॥”

ॐ

“मुरली सुनत भई सब बोरी,
छुटि सब लाज गई कुल-कानी, सुति, पति, आरज-गंध भुलानी ॥”

—सूरसागर

इन गीतों से श्री सूर ने जिस आर्य-पथ, कुल-मर्यादा, वेद की आज्ञा, सुत-पति-स्नेह, भवन, जन-शका, गुरु, गृह, लज्जा आदि के परित्याग का उल्लेख किया है, वह परकीया प्रेम को ही अभि-व्यजित कर रहा है। नीचे लिखे पदों में विश्वमोहक मुरली ध्वनि के प्रभाव को देखिये—

“लव हरि, मुरली-नाद, प्रकास्यौ ।

जंगम, जड़, थावर घर कीन्हें, पाहैं जलज बिकास्यौ ॥
सरग-मताल बसों विसि पुरैं, धुनि आच्छावित कीन्हो ।
निसि घर कल्प समान बढ़ाई, गोपिन को सुख दीन्हों ॥
ममंत भए जीव जल-थल के, तन की सुधि न सँभार ।
‘सूर’ स्याम-मुख बॅन मधुर सुनि, उलटे सब व्योहार ॥”

ॐ

“मुरली, गति बिपरीत कराई ।

तिहूँ भूषन भरि नाद सँभायो, राधा-रमन बजाई ॥
बखरा बन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तुन बॅनु ।
जमुनां उलटी धार चली बहि, पवन यकित सुनि बॅनु ॥”

—सूरसागर

मुरली की इस ध्वनि को सुनकर ऐसी किसमें सामर्थ्य थी जो चुपचाप बैठा रहता ? जो मुरली यमुना की धारा को उसट कर बहा सकती है, पवन को मूक, चद्र को स्तब्ध और सूर-गधर्वों को व्याकुल बना सकती है, जिसकी ध्वनि को सुन कर गायें चरना छोड़ देती हैं, बछड़े दूध नहीं पीते, शिव की समाधि भग हो जाती है, खग, मृग, तरु, सुर, नर, मुनि आदि सब पर जिसका अबाध अधिकार है, उसकी ध्वनि कान में पड़ते ही गोपिकाएँ कुल-लज्जा को दूर करती हुई कृष्ण के पास पहुँच ही तो गईं। कैसा जादू है इस मुरलिका में। सूर कहते हैं—

“लै-लै नाम सबनि कीं टेरें, मुरली-धुनि घर ही के नेरें ॥”

तथा—

“राधिका-रवन बन-भवन-मुख देखि कैं, अघर धरि बॅनु सु सलित बजाई ।
नाम लै-लै सफल गोप-कन्यानि के, सबन के सबन बह धुनि सुनाई ॥”

—सूरसागर

अर्थात् मुरली की ध्वनि कानों में पड़ते ही प्रत्येक गोपी ने अनुभव किया जैसे उसी का नाम ले-लेकर मुरली उसे ही बुला रही है। सोलह सहस्र गोपिकाएँ और प्रत्येक का नाम पुकारती हुई

१. गई सोलह-सहस्र हरि पै, छाँडि सुत-पति-नेह ।

वशी की एक-एक ध्वनि। सदैव भी सब के लिए पृथक्-पृथक्—अद्भुत है यह मुरली। यह जिसकी जिस ङग से चाहती है, वह वैसा ही सदैव उसके कानों में अपनी ध्वनि से डाल देती है। मुरली क्या है, मानो भगवान् की कार्य-साधिका यत्र रूप माया है, जो विश्व के समग्र भूतो को अपने-अपने कार्य में निरत कर रही है और यह कार्य क्या है? संसार के इस संसरण का, प्रत्येक व्यक्तित्व के स्व-कर्तव्य पालन का क्या भाव है? यह भाव एक ही है, अपना-अपना कार्य करते हुए उधर ही दौड़ लगाना, उसी केंद्र में समा जाना। गोपिकाओं का कृष्ण के पास आना अभ्यास-पक्ष में जीवात्माओं का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है, जो वारा संसार की ओर वह रही थी, उसे उलट कर ईश्वर की ओर वहाना है। सभी तो सूर लिखते हैं—

“मुरली स्थान अनुप बजाई। विधि-मरजावा सबनि भुलाई ॥
निशि जन को जुबती सब वाई। उलटे अंग अभूषन ठाई ॥
कोउ बलि चरन हार लपटाई। काहू धोकी भुजनि बनाई ॥
अंगिया कटि, लहंगा उर लाई। ये सोभा बरनी नहि जाई ॥”

—सूरसागर

अर्थात् गोपियों की जो वृत्ति गृहस्थी में, संसार में, रमण कर रही थी वह मुरली-नाद सुनते ही इधर से हट परमार्थ की ओर लग गई। साधक साधना करता हुआ कभी-कभी अनुभव करता है, जैसे कोई उसे बुला रहा है। गोपिकाओं को भी ऐसा ही अनुभव हुआ और वे चल पड़ी। नवों में चूर, मतवाले मनुष्य की अपने तन-वसन का स्मरण नहीं रहता, गोपियों की भी ऐसी ही दशा है, वे भी कृष्ण दर्शन के नवों में मतवाली बनी हुई हैं, सभी तो हार चरणों में लिपटाया जा रहा है और चौकी भुजाओं में पकड़ी जा रही हैं। सब अंगों में उलटे आभूषण धारण किये जा रहे हैं, पर यह सब हो रहा है, घर की निशा से निकल कर कृष्ण की चरित की दर्शन करने की धुन में, अंधेरे में मला कोन रहना चाहेगा?

“जा कौ भन हरि लियो स्यामधेन, ताहि सेंभारे कौन ?”

जिसकी वृत्ति इधर फिर गई है, वह इधर की सेंभाल क्यों करने लगा? गोपिकाएँ चल पड़ीं, पद-रिपु (कटकदि) रूपी बिम्बों को जैसे-तैसे पार करती हुई कृष्ण के पास पहुँचीं, परन्तु यह क्या? कृष्ण तो उन्हें डाट रहे हैं, कहते हैं—निधीयकाल में अपने पतियों को छोड़ कर तुम यहाँ कैसे आ गई? आर्य-मर्यादा की यह ध्वहेलना? जाओ, जाओ, लोट जाओ, जाकर घर में पति की सेवा करो। यही नहीं, कृष्ण गोपियों को मर्यादा-पालन का उपदेश भी देते हुए कहते हैं—

“इह विधि वेद-भारण सुनौ।

कपट-तजि पति करौ पूजा, कहाँ पुन जिय गुनौ ॥

कत मानहुँ नव तरीगी, और नाहि उपाइ ॥

ताहि तजि क्यों विपिन आई, कहा पयो आइ ॥

विरध अरु बिन भागहूँ की, पतित जो पति होइ ॥

जह मुरस होई रोगी, तन नाहीं जोइ ॥

इहें में पुनि कहत मुन्ह सो, जगत में ये सार ॥

‘सूर’ पति-सेवा बिना क्यों, तरीगी संसार ॥”

—सूरसागर

एक आर्य सद्गृहस्थ की मर्यादा यही है जो सूर के इस पद में प्रकट हुई है। सूरसागर ने रामलीला-अध्याय में यहाँ तक गोपियों का परकीया-भाव ही प्रकट हुआ है, पर इन्हीं ङग की दृष्टि परकीया-भाव रूपी अलंका को क्यों गोपियों ने आँग भीषकर स्वीकार कर लिया? नहीं, गोपियों ने

इन पदों में व्यावहारिक रूप से परकीया कहा गया है जो प्रातिभासिक सत्ता के अंदर स्थान पाता है। वास्तव में उनका प्रेम पारमाथिक दृष्टि से स्वकीया का ही प्रेम है। तभी तो गोपियाँ कहती हैं—

“तुम पावत हम घोष न जाहि।

कहा जाइ तेहें बज में हम, ये बरसन त्रिभुवन में नाहि ॥

तुम हूँ ते बज हित्त कोउ नहि, कोटि कहौ नहि मानें ।

काके पिता, मात है काकी, काहू हम नहि जानें ॥

काके पति, सुत, मोहू कोन की, घर है कहाँ पठावत ।

कैसे घरम, पाप है कैसे, आस निरास करावत ॥

हम जानें केवल तुम ही को, और दूयाँ संसार ।

‘सूर’ स्थायि निठुराईं तजिए, तजिय बचन विन-सार ॥”

घाड़-भार कर रोती हुई गोपियों की इस कातर एवं व्याकुल वाणी को सुनकर कृष्ण ने उनके अनन्य प्रेम का अनुभव किया—

“हरि सुनि दीन-बचन रसाल ।

विरह-व्याकुल देखि बाला, अरे नैन बिसाल ॥”

❧

“हरि बानी कहत पुनि-पुनि बन्ध घनि बज-बाल ।

‘सूर’ प्रभु करि कृपा जोह्यौ, सदा भए गोपाल ॥”

—सूरसागर

भक्त की वेदना का अनुभव करके भगवान् द्रवित हो गये और गोपियों के प्रेम को बन्ध बन्ध कहने लगे ।

रास प्रारंभ हुआ । कितना सुहावना समय है, शरद कालीन निर्मल नभ में पूर्ण चंद्र का प्रकाश, रोम-रोम में मादकता की तरंगें उत्पन्न करने वाली शीतल मद सुगंधित वायु, परम रुचिकर यमुना का तट, सूर कहते हैं—

“प्राज निसि सोमित सरब सुहाई ।

शीतल मंद सुर्यं पवन बहै, रोम-रोम मुखदाई ॥

जमुना-गुलिन पुनीत परम रुचि, रुचि मंडली बनाई ।

राधा बाँम अंग पर कर धरि, मध्यहि कुँवर कन्हाई ॥”

—सूरसागर

राधा और कृष्ण बीच में है । चारों ओर गोपियाँ हैं, वैसे ही समय, वैसे ही सौंदर्य, और वैसे ही हार्दिक प्रेम की उमग, रासलीला क्या है, भानो भगवान का एक-एक आत्मा के साथ तद्रूप हो जाना है, पहले राधा के साथ नृत्य प्रारंभ हुआ । उसे सूर के शब्दों में ही मुनिये—

“कुंडल सँग ताटक एक भए, खुगल कपोलनि झाई ।

एक उरग भानो गिरि ऊपर, है ससि उबै करीई ॥

चारि चकोर परे भनो फंद, चलत है चंचलताई ।

उरपति-गति तजि रह्यौ निरखि लजि, ‘सूरदास’ बलि जाई ॥”

—सूरसागर

रास में राधा और कृष्ण दो नही मालूम पड़ते ; दोनों मिल कर एक हो गये हैं । कृष्ण के कुंडल और राधा के ताटक भव पूयक-पूयक दिखलाई नही देते । दोनों कपोलों पर उनकी जलज मरपट रही है, यह शलक सर्प के समान लहरे ले रही है । राधा के स्तन रूपी पर्वत के ऊपर गंगा और कृष्ण दोनों के दो मुख दो चंद्रमाओं के समान उदय हो रहे हैं । दोनों की दो-दो मिन कग नार

भालें चबल हो रही हैं। एक दूसरे के जाल में फँसी हुई हैं और वह वास्तविक चक्रमा ? वह देखता है, मेरे जैसे दोनो चक्र भाज पृथ्वी मडल पर अपूर्व लीला कर रहे हैं। भ्रत वह देवते ही लज्जित हो जाता है और अपना चलना छोड़ कर चुपचाप खड़ा हो जाता है। हाँ, यह रासलीला ऐसी ही है। वह देखो, विमानों में बैठ कर देवता भी इस रास-दृश्य को देखन के लिये आ गये और ब्रजवालाओं को धन्य-धन्य कहते हुए उनके ऊपर पुष्पो की वर्षा करने लगे। धन्य है वह मुंदावन घाम, जहाँ उस लीला पुरुषोत्तम ने ऐसा अद्भुत रास किया।

शिव, शारदा और नारद, किन्नर, गवर्ध और मुनि सभी तो इस रास-दृश्य के दृष्टा बने हुए हैं। देवागनाएँ तो तरस रही हैं, चाहती हैं—वे भी ब्रजवालाएँ होतीं, तो इस रसिक शिरोमणि के साथ कुछ तो रस का आस्वादन कर सकती। भरे, यह नहीं तो मुंदावन की लताएँ और वृक्ष ही वे बन जाती, किसी प्रकार उस नटनागर का सामीप्य तो प्राप्त हो—

“हम को विधि ब्रज-वधू न कीन्हों, कहा भस्मरपुर-वास भएँ।

बार-बार पक्षितावत कहि-कहि, सुख हो तो हरि-संग रएँ ॥

कहा जनम जो नहीं हमारी, फिर-फिरि ब्रज भवतार मली।

बृंदावन दूध-लता हूजिए, करता सों माँगिए जली ॥”

रास अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है। सोलह सहस्र गोपियाँ, पर नृत्य की इति गति द्वारा सबको कृष्ण अपने ही साथ क्रीडा जरते दिखाई पड़ते हैं, एक गोपी में समाया हुआ एक कृष्ण और एक कृष्ण में समायी हुई एक गोपी। उस भ्रतयामी, घट-घट व्यापक छवीले की सर्वत्र फँकी हुई छवि का कुछ ठिकाना है ? सूर जैसा फावदर्शी कवि ही उसे कुछ-कुछ समझ और समझा सकता है। नीचे के पद से उस अलीकिक पारस्वी द्वारा अनुभूत रासलीला का दृश्य देखिये—

“मानो साईं, धन-धन-धन-धन-धन ॥

धन धामिनि, धामिनि धन भ्रतर, सोमित हरि-ब्रज-धामिनि ॥

जमुना-मुनिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई धामिनि ॥

सुंदर सति गुन रूप राग निधि, भ्रंग-भ्रंग धामिनि ॥

रक्षी रास मिलि रसिकराइ सों, मुदित भई गुन-धामिनि ॥

रूप निर्धन स्यामसुंदर धन, धनद मन धिलामिनि ॥

खंजन, मीन, मराल हिरन छवि, भाइ भेद गज-धामिनि ॥

को गति गुनै ‘सूर’ स्याम संग, काम विमोह्यो कामिनि ॥”

एक बादल अपनी उमड़-बुमड़ के साथ व्याप काति लिये हुए प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है, जिसमें क्षण-क्षण क्षण का प्रकाश हो जाता है, यह विद्युत् प्रभा अपनी चमक-धमक को लिये हुए राधा और गोपियों का ही तो रूप है, धनस्याम तो धन रूप है ही, इस दृश्य से ऐसा प्रतिबिंब होता है जैसे एक ही समय कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य में निमग्न हो रहे हों, रसिकराज श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप बनी हुई ब्रजवालाएँ हर्षपुलक से भ्रतप्रोत हो रही हैं। खंजन, मीन तथा मराल की गोभा को अपनी भ्रमद छवि से पराजित करने वाली इन अनिख रास-विह्वला गोपियों की गति का कोई क्या वर्णन करेगा।

रास लीला की कला ताल का तारतम्य भी देखिये —

“विराजत, मोहिन मडल-रास ॥

स्यामा-सुधा-सरोवर सानो, कोदल विविध बिलास ॥

ब्रज-जुबती सत जूय मंडली, मिलि कर परस करे ॥

मुज-मुनास-भूषन तोरन धुत, कंचन-खंन करे ॥

मुहु पद-न्यास, भंन मसयामित, विगलित सीस-निबोल ॥

नील, पीत, सित, अरुण धुजाचल, सीर-समीर झकोल ॥
 बिपुल पुलक कंचुकि बंद छूटे, हूबै अनंद भए ।
 कुच जुग चक्रवाक अवनी तजि, अंतर रैन गए ॥
 वसन-कुच-बाडिम धुति-बामिनि, प्रगटत श्री दुरिजात ।
 अधर-बिंब मधु अमी जलद-कल, पीतम वदन समात ॥
 गिरत कुसुम कबरी केसन ते, दूटत है उर हार ।
 सरद जलद मनु मंद किरन-कौन कहूँ-कहूँ जलधार ॥
 प्रफुलित वदन सरोज सुंदरी, अति रस-रंग रंगे ।
 पुहुकर पुंडरीक पुरन मनु खंजन कैलि खगे ॥
 पुथु नितंब पर भीर, कमल पद, नख मनि खंद अनूप ।
 माँगो लुब्ध भयी बारिज-दल, धनु किए दस रूप ॥
 स्मृति कुंडल धर गिरत न जानति, अति आनंद भरी ।
 चरन-परस ते चलत चहूँ बिसि, मानहुँ मीन करी ॥
 चरन चनित नूपुर, कटि किंकिनि, करतल ताल रसाल ।
 तस्नी नैन समेत सहज सुख, मुखरति मधुर मराल ॥
 सकल बिनोद सहित सुर-ललनार्, मोहे सुर, नर, नाग ।
 बिषकित उरपति-बिंब बिराजत, श्री मृपाल-अनुराग ॥
 आचक दास आस चरनन की, अपनी सरन बसाव ।
 मन अभिलाष खवन जस प्ररित, 'सूर' हि सुधा पिशाव ॥”

—सूरसागर : बेंकटेश्वर

ऊपर के पद में ब्रज की युवतियों का हाथ पर हाथ रखे हुए मुडुल पद विल्यास पडते ही वनता है, जिसमें रास करते हुए कभी उनके सिर से वस्त्र नीचे खिसक जाता है, केशपाशों में गुथी हुई कुसुमों की माला नीचे गिर पडती है, हार में पिरोंये हुए मोती दधर-उधर बिखर जाते हैं और कानों के कुडल पृथ्वी पर गिर पडते हैं। चरणों की गति से नूपुरों की बिजल नव रनझुन करने लगती है, तो कटि में पडी हुई किंकणी उसके साथ ताल मिलाने लगती है और करताल से उत्पन्न सुंदर तालिका की ध्वनि उसके साथ समवेत स्वर हो स्वर्गीय सम्राट् वाद देती है। साथ ही मृदंग, मुरज, मुरली आदि अनेक वाद्य वज रहे हैं, रासलीला के इस रसीले राग से व्योम में विमान-स्थित देव-वृ द आश्चर्य चकित हो रहा है और तारकावलि टकटकी लगाये इस नृत्य के निरखने में निमग्न है और अथा सूरदास ? वह भी चाहता है—इस अमृत का अनवरत आस्वादन करता रहे।

कितना अद्भुत इस रास का प्रभाव है। सत सूर की तो सपत्ति ही कितनी। इस रास-लीला ने तो नारद जैसे मुनीश्वर, शारदा जैसी विद्या की अधिष्ठाता देवी और शिव जैसे योगेश्वर तक को आत्मविस्मृत कर दिया। शिव जी ही नहीं, नारायण तक मुग्ध हो गये और अपनी प्रियतमा रमा से कहते लगे—प्यारी, सुनो, सुनो, आज श्याम वन में बिहार कर रहे हैं, जिस सुख-विलास में आज, ब्रजागनाएँ भग्न हैं, वह सुख हमारे भाग्य में कहाँ ? वन्य है ये ब्रजवामाएँ ।

“रास-रस मुरली ही तें जान्यो ।

स्याम-अधर पर बैठि नाँव कियौ, भारग चव हिरान्यो ॥
 धरनि जीव जल-मल के मोह्ये, नभ-मंडल सुर पाके ।
 तुन, हुम, ससिल, पवन गति भूले, खवन सबद परथी जाके ॥
 बन्धो नाहि पाताल-रसातल, कितिक उदै लो भाँन ?
 नारद-सारद सिव यै भाँखत, कछु तन रह्यो न स्यान ॥

ये अपार रस रास उपायी, सुखों न देख्यो नैन ।
 नाराइन बुनि सुनि ललचाने, स्थायि अथर बुनि बैन ॥
 कहत रमा सौं बुनि बुनि प्यारी, बिहरत है बन स्थायि ।
 'सूर' कहा हमको बँसो सुख, जो बिलसति ब्रज-बासि ॥”

और सब से बढ कर तो रास रस का स्वाद मुरली को मिला। वही तो श्याम-भवरो पर बैठी हुई शब्द कर रही है। चद्रमा का मार्ग विस्मृत हो जाना तो साधारण बात है, देवताओं के मुख होने में भी कोई विशेषता नहीं, पर तिनको और वृक्षानलियों से तो पूछो, इन्हें काठ क्यों मार गया? अरे, ये बिचारे क्या करे, जल और पवन तक अपना बहता भूख इस नाद-निना-दिनी में बहने लगे हैं। पाताल, रसातल और तलातल भी तो न बच सके, इस रस प्रवाह में बरबस बहे जा रहे हैं।

इसी रास के बीच में सूर ने राधा-कृष्ण का विवाह करवा है। इस विवाह का सूर ने बड़ा ही सागोपाग वर्णन किया है। कृष्ण की प्राप्ति के लिये राधा त्रत रखती है, यमुना के पवन पुलिन पर वेदी बनाती है। कृष्ण मण्डप का कार्य करते हैं। मुरली निर्माण देकर गोपिकाओं को बुला जाती है। गोपियाँ वर-वधू का ग्रन्थि बधन करती हैं। भाँवरे पडती हैं और वही वृमबाम के साथ विवाह की विधि समाप्त होती है। सूर ने यहाँ गालियाँ भी दिलवाई हैं, बिन्हें पढकर केशव-कृत 'रामचन्द्रिका' की याद आ जाती है। ककन-खोलने के समय का दृश्य भी चमत्कार युक्त है। विवाह के इस प्रसंग का समावेश करके सूर ने राधा के परकीया भाव का स्पष्ट रूप से निराकरण कर दिया है। विवाह के पश्चात् फिर रासलीला प्रारम्भ होती है।

विवाह होने के पश्चात् राधा को गर्व हुआ। उसने समझा, यह रासलीला उसीके लिये हुई है, यह सारा समाँ उसीके लिये जोड़ा गया है। वह है समस्त गोपियों की पटरानी, फिर गर्व का क्यों न अनुभव करे। सूर लिखते हैं—

“तब नागरि, जिय गरव बढ़ायी।

भो समान तिय और न कोऊ, गिरिधर में हूँ बस करि पायी ॥

जोद-जोद कहत, करत सोद-सोद पिय, भेरे हित ये रास उपायी।

सुंदर, खतुर और नहिं ओ-सी, वेह घरे को भाव बनायी ॥”

और इस गर्व में मूली हुई राधा कुछ धुष्ट भी हो गई। भक्ति पदा में सावक अभिमानी बन बैठा, उदबता करने लगा। सूर के शब्दों में ही सुनिये—

“कहूँ भूमिनी कंत सौं, सोहि कथ बढावहु।

निरत करत अति लँम भयो, ता लँमहि भिटावहु ॥

धरनी धरत बनें नहिं, पग अतिहि पिराने।

तिया-बचन बुनि गरब के, पिय मन-मुसकाने ॥”

राधा कहती है—मूल्य करते हुए मैं घब गई हूँ। पैरों में पीडा होने लगी है। पृथ्वी पर चलते नहीं बनता। जरा अपने कंधों पर बिठा लो, थोड़ी देर विधाम कर लूँ, जिसने पकावट डाली जाय। राधा के इन गर्वोंके वचनों को सुनकर कृष्ण मन ही मन मुसकराने लगे।

कृष्ण की यह मुसकान राधा के लिये अमृत के स्थान पर विप बन गई। थोड़ी ही देर में कृष्ण अतर्पित हो गये।

कृष्ण को न पाकर राधा बिलपती हुई एक वृक्ष के नीचे भूँझिन होकर गिर पड़ी। गोपिनी रुदन करने लगी—

“व्याकुल नई घोष-कुमारि।

स्थापि तजि संग ते वहाँ गए, ये कहति ब्रज-नारि ॥

“बृदावन हरि यहि बिबि क्रीडत, सबौ राविका-संग ।

और-निसा कबहू नहि जानत, सबौ रहत इक रंग ॥”

यह रास जिसमें हरि एव राधा दोनों में से किसी भी खेलनेवाले को न राधि का पता चलता है, न प्रभात का । जिसमें सर्वदा एक रस क्रीडा बनी रहती है, वह भगवान् का नित्य रास है,—शाश्वत लीला है ।^१ सूरसागर के दशम-स्कन्ध में इसी भाव का एक पद और आता है—

“नित्य धाम बृदावन स्याम । नित्य रूप राधा ब्रजवाम ॥

नित्य रास, जल नित्य विहार । नित्य माँन क्षणितानिसार ॥

ब्रह्म रूप एही करतार । करनहार त्रिभुवन ससार ॥

नित्य कुंज सुख, नित्य हिंदोर । नित्यहि त्रिविध सैनौर-सकोर ॥”

बृदावन भी शाश्वत धाम है और उसमें होने वाला राधा और कृष्ण का रास भी नित्य है । रास की इस नित्यता को सूर ने भगवान् की ‘शाश्वत लीला’ कहा है । आचार्य बल्लभ ने इसी शाश्वत लीला के सूर को वर्णन कराये थे ।

निर्गुण लीला का अत नही है, फिर भी उसका प्राविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है, गोलोक में यह लीला नित्य और सूक्ष्म रूप से कल्प के अत में भी होती रहती है । जो जीव रस-मार्गीय और नित्य लीला के भाकावी है, वे विष्णु की कृपा से इसे करते हैं, रास रसाविष्ट मुरलीधर मुक्त जीवों से सेवित हुआ रमा के साथ नित्य रमण करता रहता है । काल की भी यहाँ गति नहीं होती, प्रभु की साक्षात् एक इच्छा ही वहाँ कार्य करती है । श्लोक १४८ में लीला रूपिणी राधा का भी उल्लेख है, वृदा को कमल-सम्भवा लक्ष्मी और सुष्मता में प्रविष्ट भक्तों की वैष्णवी गति को ही विमुक्ति कहा गया है ।

फिर लिखा है—

योहं सामम लीला, या तु लीला सो स्म्यहंपुनः ।

अतरं नैव पश्यामि यथा वे शोव शोषिणोः ॥

हरि में और लीला में कोई अतर नहीं है । दोनों एक है ।

१. बृहद् ब्रह्मसंहिता में नित्य लीला का इस प्रकार वर्णन है । ब्रह्मा ने पूछा भगवान्, वृदावन किस प्रकार आपकी नित्य लीला भूमि है ? वृदा क्या है ? परमानंद नाम की विमुक्ति क्या है ? लीला क्या है ? (२,४,६८) श्रीनारायण ने उत्तर दिया—

निर्गुणायास्तुलीलाया यद्यप्यतीव विद्यते ।

आविर्भावस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना ॥

ॐ

गोलोक गोकुलोद्भूत दशैतद्वीमात्रि केलिवत् ।

नित्या सूक्ष्म स्वरूपेण कल्पति चाति वर्तते ॥

ये जीवाः कृपया विष्णोर्वीक्षिताः सुरसत्तम ।

वर्तन्ति रसमार्गीया नित्यलीलाभिकाक्षिण ॥

सदा रास रसाविष्टो वैष्णवाद्यधरो हरिः ।

मयूरपिच्छाभरण कोटिकंदर्प सुंदरः ॥

रमते रमया साकं नित्यं मुक्तैरुपाश्रित ।

नान कालगतिः साक्षादिच्छेदं का परमात्मन ॥

पहाड़ी लोक-गीतों में कृष्ण-लीला

श्री रामप्रसाद बहुगुणा

(अ)

“जा मेरा कान्हा, भँसियूं डुह्याल, हे मेरा, गौ को ऐंडाट मुण्ग्याल ।
 बूहण कू बुलोवी रवे रें गुपाल, जा मेरा कान्हा, भँसियूं डुह्याल ॥
 हे मेरा बालम, छाँछ छोल्याल, झटपट कर तो मेरों मोठघाल ।
 देर क्यूँगे कहूँया, भाखन खँयाल, खँर छोरा बोदा चौण चल्याल ॥
 चल भुला फिस्न, मुरली छोरघाल, चल भुला फिस्न, बँखी पैरियाल ।
 लाठी भी हाथू लियाल, गोपी खड़ी दोब देखियाल ॥
 गोक लि जौला जमुना किनारा, दीन-बोफरी कृष्ण घर सुना सारा—
 तब फिस्न बंसी बजै गोक बुलै, बंसी सुणी लोक समझला होणू खेलै ।
 और खँर छोरा हम लुकी-लुकी जौला, चौण चोरी तब देख भभी लौला ॥”

जा मेरे (लाडले) कहूँया भँसी को डुहले । हे मेरे (प्रिय) गोपाल, गायो का रँभाना गुन । दुहै जाने के लिए वे उत्सुक हैं । तुम्हें बुला रही हैं । हे मेरे बुलारे, दही बिलो (मथ) कर छाछ (मट्ठा) तैयार कर ली । जल्दी ही बघी-बेडो को छानी से बाहर कर दो । बड़ी देर हो गई है, जल्दी से मक्खन खा लो । गो-रक्षक गोपाल, छोहरे (छोकडे) वन चरने को जल्दी गुहार रहे हैं । चलो भद्रमा कृष्ण, मुरली साथ रख लो, (भंग-छाल, पट छाल की बनी) बोखी (कबल) पहन लो । लकड़ी भी ले लो । गोपी तुम्हारी ताक में छिपी खड़ी हैं, उसे भी देख लो, गायो को यमुना किनारे ले चलेंगे । मध्याह्न दुपहरी को जब सारे घर सुनसान पड़े हुए होंगे तब तुम बाँसुरी बजाकर गायो को बुला लेना । बंसी सुनकर लोग समझेंगे खेल में खाले मस्त हैं और इधर हम सब खाल लुक-छिप कर घरों में पहुँच जायेंगे । तनिक-सी देर में मक्खन उडा जावेंगे ।

(आ)

खेल गँवूया, खेल गँवूया, कनो खेलबो गँवूया चाँद जून बाँ ।

चाँदी न मखई छ रमा सोना का धुंधर, छम छम बाजब कनो, चम चम सुंदर ।

गेंद खेला जा रहा है । खेलो, खेलो, खेल जाओ । वह चंद्र जैसा (कृष्ण) कैसा अच्छा गेला है । वह स्पष्टही सोमा से आच्छादित है । खेलते समय तेजी से चलते पावों में मुवर्ण के रंगीन घुघरु छम-छम करते मुदर बज रहे हैं ।

(इ)

हम भी जानदा तुम्हारी कल गँ चावरी स्या नारी ।

बाँगे लोगे वीं तँ या त जमुना घारी, या त गौन बबैले भा चादरी ॥

बोल, बोल, बोल क्या करन हे वनवारी ?

गंगा को किनारी गायो को बढोले भेज दिया गया । इधर खानो ने उनकी बदल लुना दी । मीठने पर गंगा बजल ईंने लाते हैं । न पाण्डू खानो ने पड़ने हैं तुम ने नी देनी देरी बदा ? उगार में पूरा गता है—“हमने नहीं देनी तुम्हारी वह मुरर बारर नन्ने तो नी देनी देनी ।” गंगा गंगा है—“उने जमुना ती भाग बदा ने गई” । तीसरा गता है—“गाव उने गम गई है” ।

महारास

महाकवि श्री सुरदास

(ए, ए, ए, ए, ए, ए...) ^१ श्रीनंद-नैवेन नचत सुधंग, (नचत सुधंग) ^२
 वृंदावन जमुनी तट, अमित मनमथ मद-विभरवन,
 सधन कुंजन यंगु अभिनव जलज सुंदर धंग ॥
 (ए), तन विपत बामिनि छुतिकारी ^३ सुख सुधाकर-मानहारी—
 मुकुटी कुटिल कटाक्ष-संयुत चपल नैन कुरंग ॥
 (ए) संग गोपिन बीच राजत, भूषन मनमय किरन प्रलकत,
 लवन कुंडल गंड मंडित, सुभग वसन सुरंग ॥
 (ए) कठ-साल (प्र)द मंजीर, बंसी, मुरज, बीन, रबाब ;
 बफ, आनक, ^४ महुवर, उर्पंग, झाँझ, किलरी, मुखचंग ॥
 तत्तताविक, दिमक द्विभ द्विभ, मुदंग—
 बाजत थोड़ ताथेइ ता तत्ततावि दुरंग ॥
 सुर-गन विमाननि चढे ब्रह्मा, चंद्र, नारद, इंद्र, पुलकित ^५—
 'सूर' जय, जय, जयति, जय, जय, जयति तलित विभंग ॥

राग-ईमन

सलनाँ-सैंग रास-रंग लेति भान रसिक रैनन—
 प्र प्र ता, प्र प्र ता ततत-ततत थई-थेई गति लीने ।
 सा रो ग म प ध नी-बुनि सुनि बजरान कुँवर—
 गावत रो अति जति संगीत-निपुन—
 तनन, तनन, तनन भानि भानि गति चीने ॥
 उचित मूवित सरद-चंद, बंद दूटे कबुकि के—
 बैसब निरखि-निरखि कोठि मदन हीने ।
 बिरहृत जन रास-बिलास, बंपति मन ईषद हास—
 'छोत स्वाँमि' गिरिवरधर रस-अस तब कौने ॥

१. तास और स्वर मिलाने के लिये कोष्ठातर्गस ध्वनि का उच्चारण ।

२. पुनरुक्ति में पुनः उच्चारण ।

३. पाठ भेद में अन्य भी होगा ।

४. 'प्रावज' भी पाठ हो सकता है ।

५. प्राचीन रास के चित्रों में विमानाच्छ इन् देवों की ही रूपरूपति बतलाई गई है, अतः अधिकशत यही पाठ होगा ।

श्रीकृष्ण का ऐतिहासिक समय

श्री तिलकचर शर्मा

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास महाभारत और रामायण में उपलब्ध होता है। वेदों का काल इससे भी पहिले का है।

भारतीय धार्मिक परंपरा के अनुसार प्रत्येक कर्तव्य-परायण व्यक्ति कर्तव्य-अनुष्ठान के लिए सकल्प किया करता था और उसमें देश, काल, व्यक्ति, कर्म और कर्म के उद्देश्य का निर्वेश करता था। यह सकल्प-श्रधा प्रायः तक प्रचलित है और इससे सबसे बड़ा लाभ यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश, काल और उद्देश्य तथा कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान रहता है। इतना ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक घटनाओं के संकलन में भी सकल्प सहायक होते हैं। बहुत प्राचीन काल में जब इस देश में लिखने और छापने की प्रथा न थी तब इन सकल्पों के सहारे बहुत सी घटनाएँ प्रसर रही थी।

महाभारत में भगवान् श्री कृष्ण की धर्म-संस्थापना का सकल्प, एक राष्ट्रीय-सत्ता-निर्माण करने का सकल्प, कुत्सुकुल-पितामह भीष्म का धाजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प और उत्तरायण में निश्चित तिथि पर शरीर त्याग का सकल्प तथा इसी प्रकार के अन्य सकल्प महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं। उनसे परंपरागत श्रीकृष्ण के समय की ऐतिहासिकता बनी रही। उन्हीं के द्वारा चित्र, मूर्ति आदि निर्मित हुए तथा उन्हीं का संकलन करके कवियों द्वारा कुछ लिखा गया।

भगवान् श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता के प्रमाण में चार विषयों का स्पष्टीकरण चाहिये—

- (१) श्रीकृष्ण किस देश में हुए,
- (२) श्रीकृष्ण किस काल में हुए,
- (३) श्रीकृष्ण का क्या ध्येय था,
- (४) श्रीकृष्ण ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या किया।

महाभारत तथा अन्य ग्रंथों में श्रीकृष्ण के जन्म, जन्म-स्थान, कर्म आदि का संपूर्ण इतिहास प्राप्त होता है। अतः यहाँ केवल श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक काल का अनुसंधान करना ही हमारा मुख्य विषय है।

श्रीकृष्ण के काल का अन्वेषण करने में भारतीय धर्म-ग्रंथों से जो साधन उपलब्ध होते हैं, उनके अनुसार श्रीकृष्ण को हुए ५००० वर्षों से अधिक हो गए हैं। कलियुग के प्रारंभ से पहिले महाभारत और श्रीकृष्ण हुए थे, परन्तु पश्चिमीय लेखकों ने भारतीय इतिहास तथा संस्कृति को अल्पकालीन सिद्ध करने के लिए जो प्रयत्न किये उनसे प्रभावित होकर उनकी सभ्यता के अनुयायी अपने इतिहास को बहुत अल्पकाल का मानते हैं। वास्तविकता का निश्चय करने के लिए प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही मतों की समालोचना करते हुए श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता और समय पर जुटाए हुए प्रमाण हम पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं।

पुराणों द्वारा सृष्टि-काल का समय लगभग दो ध्रुव वर्ष पूर्व है और आज रेडियम के आविष्कारों भी पृथ्वी का जन्म पुराण-निर्दिष्ट मानने को तैयार है। विज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि आज से ५००० वर्ष पूर्व अतुर्य 'हिमयुग' की सीमा थी। यह 'हिमयुग' एक प्रकार की प्रलय कही जाती है। वह प्रलय महाभारत के युद्ध के समय हुई थी, जिसका निर्देश महाभारत में इस प्रकार किया गया है—

“प्रतिज्ञोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
 फेनायमाणाः कृपाश्व कूर्बन्ति वृषभा इव ॥
 पतंत्युल्का सनिर्घाताः शङ्का शनिसमप्रभाः ।
 कालाशमंदराभ्यासु तदा हिमवता विभो ॥
 सहस्रशो महाशब्दाः शिखराणि पतन्ति च ।
 महाभूता भूमिके चत्वारो सागराः वृषक् ॥
 घेतामुद्धतंर्यतीव क्षोभयतो वसुंधराम् ।
 वृक्षान्मूल्य वात्युप्राः वाताः शर्करवर्षिणः ॥”

नदियाँ उल्टी बहने लगी, नदियों का जल लाल (भूतिका-मिश्रित हो जाने से) हो गया, कृशों का पानी उफलने लगा और उनमें से 'ल' के हिंवाने का सा शब्द हो रहा था। उल्कापात होने लगे, हिमालय से बड़े-बड़े हिम-खंड हजारों भागों में विभक्त हो कर टूटने लगे। उस महाभूकप में चारों ओर से समुद्र पृथ्वी को क्षोभित करने लगा। आगियाँ वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर फेंकने लगी। इस प्रकार हस्तिनापुर में यह भयंकर भूकप हुआ था।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से इसी भूकप का हाल बतलाते हुए कहा—

“समुद्रः सप्तमेऽह्नयेतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥”

—भागवत ११।७।३

हे उद्धव ! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डूबा देगा।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से पता चलता है कि हस्तिनापुर के भूकप का प्रभाव द्वारका तक में था, क्योंकि भूकप के प्रथम दिन ही श्रीकृष्ण द्वारकावासियों से कह रहे थे कि—

“एते नै सुगहोत्पत्ता भ्युत्पिच्छन्तीह सर्वतः ॥”

आज द्वारका में चारों ओर से महा-उत्पात, आगि, दूफान आदि उठ रहे हैं।

इस प्रकार यह भूकप दो स्थानों में एक साथ पाया जाता है। एक तीसरे स्थान 'उर नगर' में भी इसी भूकप का वर्णन है और वहाँ से प्राप्त शिला-लेखों से उस भूकप के समय का भी निर्णय हो जाता है।

ईराक में बसरा नगर से १०० मील की दूरी पर पश्चिम दिशा में 'उफात' नदी के किनारे एक 'उर' नामक नगर था। उर नगर का वर्णन बाइबिल में भी मिलता है। आज वहाँ पर उल्लाह है। अनुसंधान कार्य के लिये सन् १९२६ में कुछ अमेरिकन अन्वेषक वहाँ पर गए थे। १९३० के, जनवरी मास में उन अन्वेषकों के अनुभव तथा उपलब्ध सामग्री के चित्र अमेरिका के मुख्य पत्र 'डेनल ज्योग्राफिकल मैगजीन' में प्रकाशित हुए थे। उसमें से एक लेख का भावव्यक्तीय अर्थ यह है—

“वैविलोनियम जनता में यह एक पुरानी आटपयिका प्रसिद्ध है कि प्रलय के बाद जो नगर

बसाए गए थे, उनमें उर नामक नगर मौजूद था ॥”

वैविलोनिया की 'कीलाशरी' लिपि में लिखा हुआ एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जोकि ईस्वी सन् से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का लिखा हुआ है। उस शिला लेख में प्रलय का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

“छै दिन एवं छै रातों तक भूसलवार वर्षा जारी रही और सातवें दिन आँवी का वेग तनिक घट गया। ज्योंही मेने लिङ्की खोल दीं त्यों ही मेरे मुख पर धूम्र-प्रकाश तनिक जा गिरा। समूचे खेत और मंड जल से सबालभ भरे बीज पड़ते थे ॥”

उर नगर के प्रथम नरेश की कबर खोदने पर सुवर्ण, चाँदी आदि के भामूषण भी प्राप्त हुए हैं, जो लगभग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के कहे जाते हैं, ईराक में सोने वा चाँदी की कामें विक्रिय नहीं हैं। भारत में निर्मित सुवर्णादि की वस्तुएँ ही वहाँ पामी गई हैं। उर नगर की खुदाई में (भारत-

निमित्त) ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन मुद्रों में से एक पर हाथी का और दूसरी पर यज्ञीय-स्तंभ से बंधे बैल का चित्र है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में भी यज्ञस्तंभ से बंधे बैल के चित्रवाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनका काल भी ५००० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। दोनों स्थानों की मुद्राएँ एक-सी होनेके कारण उन मुद्राओं का भारत से ही जाना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस समाधि की खुदाई तथा शिला-लेख से ईस्वी सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ईराक में भी भूकंप तथा प्रलय का होना सिद्ध होता है। हस्तिनापुर और वगदाद दोनों एक अक्षांश पर स्थित हैं। समान अक्षांशों के स्थान में एक साथ भूकंप का आना प्रकृति-सिद्ध है।

अमेरिका के उपनिवेशों में एक 'मय' जाति का उपनिवेश (मैक्सिको) है। उस उपनिवेश की खोज के बाद अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'नेशनल ज्योग्राफिकल मैगजीन' के अगस्त सन् १९३६ के अंक में उस खोज के कुछ अनुभव प्रकाशित हुए थे। उसमें लिखा था कि मय जाति का सन् ५००० वर्षों के कुछ पहलू का पाया जाता है। भूगर्भ से बाहर आये हुए पाषणरस (लावा) के नीचे दबा हुआ एक स्मृति-भवन भी प्राप्त हुआ है। मृदास्तरवेत्ताओं ने उसे ५००० वर्ष पूर्व का ठहराया है।

मय प्रदेश द्वारका के अक्षांश पर स्थित है, समवतला द्वारका के भूकंप के समय मैक्सिको में भी भूकंप के कारण भूमि विभक्त हुई हो और उसमें से लावा निकला हो और उसमें यह स्मृति-भवन ध्वस्त गया हो।

इन चारों भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ भूकंप का होना निश्चित करता है कि महाभारत तथा भागवतका वर्णन ५००० वर्ष पूर्व का है जिस समय महाभारत-महायुद्ध के बाद हस्तिनापुर में, द्वारका में, उर नगर में तथा मैक्सिको में एक साथ भूकंप हुआ उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे। अतः श्रीकृष्ण के जन्म का समय आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व कहा जा सकता है।

❀

जैसे वर्तमान काल में वर्ष का प्रारंभ चैत्र से होता है और महीनों की गणना करते समय चैत्र से मासों की गिनती की जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से वर्ष का आरंभ होता था और मार्गशीर्ष से ही महीनों की गिनती की जाती थी।

अरकोपकार ने जहाँ मासों की गिनती की है वहाँ लिखा है—

“मार्गशीर्षं सहायार्णं आप्रहायणिकञ्च सः ।”

मार्गशीर्ष प्रथम महीना है। वर्ष का आरंभ इसी मास से होता है, अतएव इसे 'आग्रहायणिक' कहते हैं।

‘काल-माधवकार’ ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

“मार्गमासाविकेस्त्रिभिर्द्वन्द्वैः कल्पितः कालः षणमासात्मकमुत्तरायणम् ।”

मगधिर से लेकर तीन ऋतुओंवाला छै महीनों का समय उत्तरायण होता है। काल-माधवकार के आदि शब्द से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके समय में वर्ष का आरंभ मार्गशीर्ष से ही होता था।

पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के 'आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक' (४।२।२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने भी मृगशिरा नक्षत्र युक्त पूर्णिमासी को, अर्थात् मगधिर की पूर्णिमा को आग्रहायणी कहा है। अतः पता चलता है पाणिनि के समय तक मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास माना जाता था।

किसी भी समूह की प्रथम अग्रगण्य वस्तु को महत्त्व देने की बहुत पुरानी प्रथा है। अकारणों का प्रथम अक्षर है, अतः इसे ईश्वर की विभूति माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में—‘अक्षरानामकारोऽस्मि’ कहकर अकार को विभूति बतलाया है। इसी प्रकार—‘ऋतूनां क्रुमुमाकर’ कहकर प्रथम ऋतु मत्तं को विभूति कहा है।

“प्रतिज्ञीतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
 फेनायभाणाः कूपाश्च कूर्वेति घुषभा इव ॥
 पतंत्युत्का सनिघाताः शका सनिसमप्रभाः ॥
 कैलाशमंदराभ्यां तु तवा हिमवता विभो ॥
 सहस्रजो महाशब्दाः शिखराणि पतन्ति च ।
 महाभूता भूमिकपे चत्वारो सागराः पृथक् ॥
 वेलासुहर्तयतीव शोभयतो वर्सुषराम् ।
 वृक्षानुन्मूल्य वात्युग्रा वाताः शर्करवर्षिणः ॥”

नदियाँ उल्टी बहने लगी, नदियों का जल साज (मृत्तिका-मिश्रित हो जाने से) हो गया, कूभो का पानी उफनने लगा और उनमें से ल के हिंवाने का सा शब्द हो रहा था। उल्कापात होने लगे, हिमालय से बड़े-बड़े हिम-खंड हजारों भागों में विभक्त हो कर टूटने लगे। उस महाभूकप में चारों ओर से समुद्र पृथ्वी को क्षोभित करने लगा। आधियाँ वृक्षों को उल्लाड़-उल्लाड़ कर फेंकने लगी। इस प्रकार हस्तिनापुर में यह भयंकर भूकप हुआ था।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्वेग से इसी भूकप का हाल बतलाते हुए कहा—

“समुद्रं सप्तमेऽङ्गयेतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥”

—भागवत ११।७।३

हे उद्वेग ! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डूबा देगा।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से पता चलता है कि हस्तिनापुर के भूकप का प्रभाव द्वारका तक में था, क्योंकि भूकप के प्रथम दिन ही श्रीकृष्ण द्वारकावासियों से कह रहे थे कि—

“एते वै सुमहोत्पाता भ्युत्पिच्छन्तीह सर्वतः ॥”

आज द्वारका में चारों ओर से महा-उल्कात, आंधी, तूफान आदि उठ रहे हैं।

इस प्रकार यह भूकप दो स्थानों में एक साथ पाया जाता है। एक तीसरे स्थान ‘उर’ नगर’ में भी इसी भूकप का वर्णन है और वहाँ से प्राप्त शिला-लेखों से उस भूकप के समय का भी निर्णय हो जाता है।

ईराक में बसरा नगर से १०० मील की दूरी पर पश्चिम दिशा में ‘उफात’ नदी के किनारे एक ‘उर’ नामक नगर था। उर नगर का वर्णन बाइबिल में भी मिलता है। आज वहाँ पर उल्लाड़ है। अनुसंधान कार्य के लिये सन् १९२९ में कुछ अमेरिकन अन्वेषक वहाँ पर गए थे। १९३० के जनवरी मास में उन अन्वेषकों के अनुभव तथा उपलब्ध सामग्री के विच अमेरिका के मुख्य पत्र ‘नेशनल ज्योग्राफिकल मैगजीन’ में प्रकाशित हुए थे। उसमें से एक लेख का आदश्यक्रीय अंश यह है—

“बैबिलोनियन जनता में यह एक पुरानी आख्यायिका प्रसिद्ध है कि प्रलय के बाद जो नगर बसाए गए थे, उनमें उर नामक नगर मौजूद था ॥”

बैबिलोनिया की ‘कीलाधारी’ लिपि में लिखा हुआ एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जोकि ईस्वी सन् से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का लिखा हुआ है। उस शिला लेख में प्रलय का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

“छे दिन एवं छे रातों तक भूतलधार वर्षा जारी रही और सातवें दिन आंधी का वेग तनिक घट गया। ज्योही मैंने लिङ्की छोल दीं त्यों ही मेरे मुख पर सूर्य-अकाश तनिक जा गिरा। समूने खेत और मेड़ जल से सवालब भरे दीख पड़ते थे ॥”

उर नगर के प्रथम नरेश की कबर खोदने पर सुवर्ण, चाँदी आदि के भानूपण भी प्राप्त हुए हैं, जो लगभग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के कहे जाते हैं, ईराक में मोने वा चाँदी की नानें बिन्दुन नहीं हैं। भारत में निमित्त सुवर्णादि की वस्तुएँ ही वहाँ पायी गई हैं। उर नगर की गुवाई में (भारत-

निमित्त) ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन मुद्रों में से एक पर हाथी का और दूसरी पर यक्षीय-स्तम्भ से बंधे वेल का चित्र है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में भी यक्षस्तम्भ से बंधे वेल के चित्रवाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनका काल भी ५००० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। दोनों स्थानों की मुद्राएँ एक-सी होनेके कारण उन मुद्राओं का भारत से ही जाना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस समाधि की खुदाई तथा शिला-लेख से ईस्वी सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ईराक में भी भूकंप तथा प्रलय का होना सिद्ध होता है। हस्तिनापुर और वगदाव दोनों एक अक्षांश पर स्थित हैं। समान अक्षांशों के स्थान में एक साथ भूकंप का आना प्रकृति-सिद्ध है।

अमेरिका के उपनिवेशों में एक 'मय' जाति का उपनिवेश (मैक्सिको) है। उस उपनिवेश की खोज के बाद अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'नेशनल ज्योग्राफिकल मैगजीन' के अगस्त स० १९३६ के अंक में उस खोज के कुछ अनुभव प्रकाशित हुए थे। उसमें लिखा था कि मय जाति का सन् ५००० वर्षों के कुछ पहलुओं का पाया जाता है। भूमण्डल से बाहर आये हुए पाषाणरस (लावा) के नीचे दबा हुआ एक स्मृति-भवन भी प्राप्त हुआ है। भूशास्त्रवेत्ताओं ने उसे ५००० वर्ष पूर्व का ठहराया है।

मय प्रदेश द्वारा का के अक्षांश पर स्थित है, समबतया द्वारा का के भूकंप के समय मैक्सिको में भी भूकंप के कारण भूमि विभक्त हुई हो और उसमें से लावा निकला हो और उसमें यह स्मृति-भवन दब गया हो।

इन चारों भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ भूकंप का होना निश्चित करता है कि महाभारत तथा भागवतका वर्णन ५००० वर्ष पूर्व का है जिस समय महाभारत-महायुद्ध के बाद हस्तिनापुर में, द्वारा का में, उर नगर में तथा मैक्सिको में एक साथ भूकंप हुआ उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे। अतः श्रीकृष्ण के जन्म का समय आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व कहा जा सकता है।

❦

जैसे वर्तमान काल में वर्ष का प्रारम्भ चैत्र से होता है और महीनों की गणना करते समय चैत्र से मासों की गिनती की जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से वर्ष का प्रारम्भ होता था और मार्गशीर्ष से ही महीनों की गिनती की जाती थी।

अरकोषकार ने जहाँ मासों की गिनती की है वहाँ लिखा है—

“मार्गशीर्षं सहामार्यं आग्रहायणिकवच्च सः ।”

मार्गशीर्ष प्रथम महीना है। वर्ष का प्रारम्भ इसी मास से होता है, अतएव इसे 'आग्रहायणिक' कहते हैं।

'काल-माधवकार' ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

“मार्गमासादिकैस्त्रिभिर्द्विभिः कल्पितः कालः षणमासात्मकमुत्तरायणम् ।”

मगधिर से लेकर तीव्र ऋतुभ्रोवाला छै महीनों का समय उत्तरायण होता है। काल-माधवकार के आदि शब्द से यह स्पष्ट विहित होता है कि उनके समय में वर्ष का प्रारम्भ मार्गशीर्ष से ही होता था।

पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के 'आग्रहायण्यस्वत्याहुक' (४।२।२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने भी मृगशिरा नक्षत्र युक्त पूर्णमासी को, अर्थात् मगधिर की पूर्णिमा को आग्रहायणी कहा है। अतः पता चलता है पाणिनि के समय तक मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास माना जाता था।

किसी भी समूह की प्रथम अभिगम्य वस्तु को महत्त्व देने की वहुत पुरानी प्रथा है। अकारणों का प्रथम अक्षर है, अतः इसे ईश्वर की विभूति माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में—'अक्षरानामकारोऽस्मि' कहकर अकार को विभूति बतलाया है। इसी प्रकार—'ऋतूनां कुन्नुमाकर' कहकर प्रथम ऋतु वसंत को विभूति कहा है।

“प्रतिस्तीतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
 फेनायभाणाः कृपावच्च कूर्दन्ति वृषभा इव ॥
 पतंत्युल्का सनिधाता शक्रा शनिसमप्रभा ।
 कैलाशनं वराभ्यां तु तवा हिमवता विभो ॥
 सहस्रशो महाशब्दाः शिखराणि पतन्ति च ।
 महाभूता भूमिकम्पे चत्वारो सागराः पृथक् ॥
 वैलामुद्वर्तयन्तीव क्षोभयन्ती वसुंधराम् ।
 वृक्षानुन्मूल्य वात्युधाः घाताः शर्करवर्षिणः ॥”

नदियाँ उल्टी बहने लगी, नदियों का जल लाल (भूतिका-मिश्रित हो जाने से) हो गया, कृशों का पानी उफानने लगा और उनमें से 'ल' के हिलाने का सा शब्द हो रहा था। उल्कापात होने लगे, हिमालय से बड़े-बड़े हिम-खंड हजारों भागों में बिभक्त हो कर टूटने लगे। उस महाभूतक में चारों ओर से समुद्र पृथ्वी को क्षोभित करने लगा। आंधियाँ वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर फेंकने लगी। इस प्रकार हस्तिनापुर में यह भयंकर भूकंप हुआ था।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्वज से इसी भूकंप का हाल बतलाते हुए कहा—

“समुद्रः सप्तमेऽङ्गुल्येता पुरीं च प्लावयिष्यति ॥”

—भागवत ११।७।३

हे उद्वज ! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डूबा देगा।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से पता चलता है कि हस्तिनापुर के भूकंप का प्रभाव द्वारका तक में था, क्योंकि भूकंप के प्रथम दिन ही श्रीकृष्ण द्वारकावासियों से कह रहे थे कि—

“एते वै सुमहोत्पाता ष्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः ॥”

आज द्वारका में चारों ओर से महा-उत्पात, आंधी, तूफान आदि उठ रहे हैं।

इस प्रकार यह भूकंप दो स्थानों में एक साथ पाया जाता है। एक तीसरे स्थान 'उर' नगर' में भी इसी भूकंप का वर्णन है और वहाँ से प्राप्त शिला-खेलों से उस भूकंप के समय का भी निर्णय हो जाता है।

ईराक में बसरा नगर से १०० मील की दूरी पर पश्चिम दिशा में 'उफ्रात' नदी के किनारे एक 'उर' नामक नगर था। उर नगर का वर्णन बाइबिल में भी मिलता है। आज वहाँ पर उजाड़ है। अनुसन्धान कार्य के लिये सन् १९२६ में कुछ अमेरिकन अन्वेषक वहाँ पर गए थे। १९३० के, जनवरी मास में उन अन्वेषकों के अनुभव तथा उपलब्ध सामग्री के चित्र अमेरिका के मुख्य पत्र 'नेशनल ज्योग्राफिकल मैगजीन' में प्रकाशित हुए थे। उसमें से एक लेख का आवश्यकीय अंश यह है—

“बैबिलोनियन जनता में यह एक पुरानी आख्यायिका प्रसिद्ध है कि प्रलय के बाद जो नगर बसाए गए थे, उनमें उर नामक नगर मौजूद था ॥”

बैबिलोनिया की 'कीलाक्षरी' लिपि में लिखा हुआ एक शिला-खेल प्राप्त हुआ है, जोकि ईस्वी सन् से लगभग ठाई हजार वर्ष पूर्व का लिखा हुआ है। उस शिला खेल में प्रलय का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

“छे दिन एवं छे रातों तक मूसलधार वर्षा जारी रही और सातवें दिन आंधी का वेग तनिक धट गया। ज्योंही मैंने सिड़की ढोल बें ल्यो ही मेरे मुख पर सूर्य-प्रकाश तनिक जा गिरा। समूचे खेत और मंड जल से सवालभ भरे दीख पड़ते थे ॥”

उर नगर के प्रथम नरेश की कबर खोदने पर सुवर्ण, चांदी आदि के सामूय भी प्राप्त हुए हैं, जो लगभग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के कहे जाते हैं, ईराक में मोने बा चांदी की नानें विन्तुन नहीं हैं। भारत में निमित्त सुवर्णादि की वस्तुएँ ही वहाँ पायी गई हैं। उर नगर की खुदाई में (भारत-

निमित्त) ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन मुहरों में से एक पर हाथी का और दूसरी पर यक्षीय-स्तम्भ से बंधे बेल का चित्र है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में भी यज्ञस्तम्भ से बंधे बेल के चित्रवाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनका काल भी ५००० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। दोनों स्थानों की मुद्राएँ एक-सी होनेके कारण उन भुवनाओं का भारत से ही जाना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस समाधि की खुदाई तथा शिला-लेख से ईस्वी सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ईराक में भी भूकंप तथा प्रलय का होना सिद्ध होता है। हस्तिनापुर और वगदाद दोनों एक अक्षांश पर स्थित हैं। समान अक्षांशों के स्थान में एक साथ भूकंप का आना प्रकृति-सिद्ध है।

अमेरिका के उपनिवेशों में एक 'मय' जाति का उपनिवेश (मैक्सिको) है। उस उपनिवेश की खोज के बाद अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'नेशनल ज्योग्राफिकल मैगजीन' के अगस्त स० १९३६ के अंक में उस खोज के कुछ धनुमय प्रकाशित हुए थे। उसमें लिखा था कि मय जाति का सवत् ५००० वर्षों के कुछ पहिले का पाया जाता है। भूमि से बाहिर आये हुए पापणरस (लावा) के नीचे दबा हुआ एक स्मृति-भवन भी प्राप्त हुआ है। भूशास्त्रवेत्ताओं ने उसे ५००० वर्ष पूर्व का ठहराया है।

मय प्रदेश द्वारका के अक्षांश पर स्थित है, समवतया द्वारका के भूकंप के समय मैक्सिको में भी भूकंप के कारण भूमि विभक्त हुई हो और उसमें से लावा निकला हो और उसमें यह स्मृति-भवन दब गया हो।

इन चारों भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ भूकंप का होना निश्चित करता है कि महाभारत तथा भागवतका वर्णन ५००० वर्ष पूर्व का है जिस समय महाभारत-महायुद्ध के बाद हस्तिनापुर में, द्वारका में, उर नगर में तथा मैक्सिको में एक साथ भूकंप हुआ उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे। अतः श्रीकृष्ण के जन्म का समय आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व कहा जा सकता है।

ॐ

जैसे वर्तमान काल में वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता है और महीनों की गणना करते समय चैत्र से मासों की गिनती की जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से वर्ष का आरम्भ होता था और मार्गशीर्ष से ही महीनों की गिनती की जाती थी।

अरकोषकार ने जहाँ मासों की गिनती की है वहाँ लिखा है—

“मार्गशीर्षं सहामार्गं आग्रहायणिकवद सः ।”

मार्गशीर्ष प्रथम महीना है। वर्ष का आरम्भ इसी मास से होता है, अतएव इसे 'आग्रहायणिक' कहते हैं।

‘काल-माघवकार’ ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

“मार्गमासादिकंस्त्रिभिर्द्वन्द्वैः कल्पितः कालः षणमासात्मकमुत्तरायणम् ।”

मगधिर से लेकर तीन ऋतुओंवाला छै महीनों का समय उत्तरायण होता है। काल-माघवकार के आदि शब्द से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके समय में वर्ष का आरम्भ मार्गशीर्ष से ही होता था।

पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के 'आग्रहायण्यवस्थादृक्' (४।२।२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने भी मगधिरा नक्षत्र युक्त पूर्णमासी को, अर्थात् मगधिर की पूर्णिमा को आग्रहायणी कहा है। अतः पता चलता है पाणिनि के समय तक मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास माना जाता था।

किसी भी समूह की प्रथम अग्रगण्य वस्तु को महत्त्व देने की बहुत पुरानी प्रथा है। अकारवर्णों का प्रथम अक्षर है, अतः इसे ईश्वर की विभूति माना जाता है। अगवान् श्रीकृष्णने गीता में—‘अक्षराणांकारोऽस्मि’ कहकर अकार को विभूति बतलाया है। इसी प्रकार—‘ऋतूनां कुसुमाकर’ कहकर प्रथम ऋतु वसंत को विभूति कहा है।

मार्गशीर्ष मास वर्ष का प्रारम्भिक मास है, अतएव इने भी श्रीकृष्ण अपनी विभूति वनवाते हैं। प्रसिद्ध 'परमार्थप्रपा' टीकाकार सूर्य पण्डित—'मासाना मार्गशीर्षोऽहम्' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"मार्गशीर्षः मृगशीरः पूर्णिमासंबन्धे वर्षादिरभिहितः सस्मिन्नेवाग्रहायणीत्वनिधानात् । अतः हायणं यस्यां सा आग्रहायणी, अत आग्रहायणक इति मार्गशीर्ष नाम । अतोऽन्य मासस्य मुख्यत्वाद् विभूति-मत्त्वम् ।"

मृगशिर नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा के संबंध से मार्गशीर्ष नाम है, यह आरम्भिक मान है, अतएव इसका नाम आग्रहायणिक है। सब मासों में मुख्य होने से इने 'विभूति' कहा है।

उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जिस समय श्रीकृष्ण पवित्र यमुना के किनारे विहार किया करते थे, जिन दिनों भारत-समरान्नि भारत-श्रीरो को स्वाहा करने को प्रमत्त थी, उन दिनों वसंत-संपात मार्गशीर्ष में होता था यही वर्षारम्भ का मास था।

अब हमें देखना है कि ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वह काल कितने वर्ष पहिले हो सकता है, जिसमें मार्गशीर्ष से वर्षारम्भ होता था।

श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय 'ज्योतिषशास्त्र' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"मार्गशीर्षात् वसंत संपात शक पूर्वा सुमारे ४००० हजार वर्षे या कालो होता ।"

अर्थात् मार्गशीर्ष में वसंत-संपात शकारम्भ के पहिले लगभग ४००० वर्ष पूर्व था और पू० ३४ पर सारांश निकालते हुए लिखा है कि शकारम्भ से लगभग ३००० वर्ष पहिले जब कृत्तिनादि नक्षत्रों की गणना होती थी तब मार्गशीर्ष से वर्षारम्भ होता था।

महामातृ में अन्य कई स्थानों पर भी मार्गशीर्ष से मासों की गणना की गई है।

इस प्रकार वर्तमान शक में यदि ३००० वर्ष और जोड़ दिये जायें तो १८७३+३०००= ४८७३ वर्ष आते हैं, इन्हीं दिनों मार्गशीर्षदि मास गिने जाते थे। अतः सिद्ध होता है कि ४८७३ वर्ष के लगभग का समय श्रीकृष्ण का समय है।

गीता में 'मार्गशीर्षोऽहम्' के साथ-साथ 'ऋतूनां कुसुमाकरः' भी लिखा है। जबकि मार्गशीर्ष ने वर्ष का आरम्भ होता था तब वसंत-संपात भी मार्गशीर्ष में होता था।

उस समय सबत्सर यज्ञ किया जाता था, जिसका वर्षान्त यज्ञपथ ब्राह्मणादि ग्रंथों में उपलब्ध होता है।

यह 'सबत्सर' यज्ञ आग्रहायणी के प्रयोग में ही होता है। इस यज्ञ में जो का सत्तु ही खाया जाता था। भारतवर्ष के प्राकृतिक नियमानुसार 'जौ' वसंत में ही पकता है, उन समय मार्गशीर्ष में वसंत-संपात होता था और उसी समय संवत्सरयज्ञ होता था और उनके लिये पके हुए जौ प्राण हो जाते थे, इसने यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि वसंत का आरम्भ भी आज से ४००० वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष में ही होता था।

श्रीकृष्ण ने गीता में जो—'मासाना मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकरः' कहा है, वह ४००० वर्ष पहिले ही कहा जा सकता था।

पुराण-वर्णित, ज्योतिष-शास्त्र की गणना-पद्धति से सिद्ध और भी प्रमाण है।

भारतवर्ष के ज्योतिष-शास्त्रविद् काल-गणना प्राकाशित्व मन् ऋषियों के आचार पर दिया करते थे। अकदेम परीक्षित से कहते हैं—

"ते त्वदीये द्विजाः काले अयुना चाभिता मयाः ।"

—भागवत १२।१।२८

अर्थात् सप्तापि तुम्हारे जन्म-समय में और अब भी मघा नक्षत्र में स्थित है।

सप्त-ऋषि एक नक्षत्र पर सौ वर्ष रहते हैं। नक्षत्र सत्ताईस है, अतः संपूर्ण नक्षत्रों का एक पूरा चक्कर $27 \times 100 = 2700$ वर्षों में होता है। आजकल सप्त-ऋषि कृतिका नक्षत्र में पाये जाते हैं। मघा से कृतिका नक्षत्र २१ वीं है, अतः मघा से कृतिका तक आने में सप्त-ऋषियों को २१०० वर्ष लगते हैं। यह समय महाभारत का काल नहीं हो सकता, अतः प्रतीत होता है कि मघा से मघा तक सप्त-ऋषि पूरा एक चक्कर लगा चुके हैं और दूसरी बार के इस चक्कर में कृतिका तक पहुँच गये हैं। इस प्रकार $2700 + 2100 = 4800$ वर्ष होते हैं। यह परीक्षित के समय का वर्णन है। श्रीकृष्ण इसमें भी कुछ पहिले थे, अतः आज से ५००० वर्ष पूर्व में श्री कृष्ण-काल कहा जा सकता है।

आज से २२३४ वर्ष पूर्व बृद्ध गर्ग नामक एक ज्योतिषी हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि युधिष्ठिर सबत् के आज २५६६ वर्ष वीत चुके हैं। आज भी सप्त-ऋषि मघा नक्षत्र पर हैं।

उपरोक्त गर्ग का वचन भागवत के कथन और हमारी युक्ति का समर्थक है।

श्रीयुक्तकिमचद्र इस सप्तापि-अमण-काल की समालोचना करते हुए लिखते हैं कि "सप्तापि-मङ्गल मघा नक्षत्र में कभी रह नहीं सकता, क्योंकि मघा नक्षत्र सिंह राशि में है। राशि-चक्र के भीतर बारह राशि हैं। सप्तापि-मङ्गल राशि-चक्र से बाहर है। जैसे इंग्लैंड भारतवर्ष में नहीं हो सकता वैसे ही सप्तापि-मङ्गल मघा नक्षत्र में नहीं हो सकता। पुराणकार ने क्या समझकर ऐसा लिखा यह हम नहीं समझ सकते।"

इससे पहिले श्री वकिमचद्र ने विष्णुपुराण के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका अर्थ लिखते हुए उन्होंने लिखा है—

"सप्तापि-मङ्गल के जो दो तारे आकाश में पूर्व की ओर उदय होते हैं, उनसे समानांतर पर बीच में जो नक्षत्र दिखाई पड़ता है उसी में सप्तापि सौ वर्ष रहते हैं। परीक्षित के समय सप्तापि मघा नक्षत्र में थे, उस समय कलि को लगे १२०० वर्ष हुए थे।"

उक्त श्लोको का अर्थ स्पष्ट है, हम नहीं समझते कि श्री वकिमचद्र इनको क्यों न समझ पाये। 'हादशाब्दशतात्मक' का अर्थ करने में तो वकिम बाबू बड़ी भारी भूल कर गये हैं, क्योंकि १२०० वर्ष प्रमाणवाला कलियुग प्रारम्भ हुआ, यह पूर्वोक्त पद का अर्थ है।

कलियुग १२०० वर्ष का नहीं होता, अपितु ४३२००० वर्ष का होता है, परन्तु १२०० वर्ष-यहाँ पर देवताओं के वर्ष लिये गये हैं, क्योंकि इसी अध्याय के ११५ के श्लोक में कलि का मान वत्स-साते हुए विष्णुपुराण में ही लिखा है—

"शतानि तानि दिव्यान्त सप्तर्षच्च संख्यया।

निश्चयेण गते तस्मिन् भविष्यति पुनः कृतम्॥"

अर्थात् १२०० दिव्य वर्षों के संपूर्ण कलि के बीतने पर 'कृतयुग' का आरम्भ होगा।

तीन सौ आठ भागवी वर्षों का एक दिव्य वर्ष होता है (विष्णु ६।३।१०)। इस प्रकार $1200 \times 260 = 312000$ मानव-वर्ष कलि का मान सिद्ध होता है।

यदि श्री वकिमचद्र के ही अर्थ को मान लिया जाय तो कलियुग के लगभग ११०० वर्ष बीतने पर श्रीकृष्ण का होना प्रमाणित हो जायगा, जो किनी भी इतिहासज्ञ को मान्य नहीं है। अब नन्दापि-मङ्गल की मघा स्थिति पर विचार किया जाता है।

मरीची, वसिष्ठ, भगिरा, ऋषि, पुलस्त्य, पुलह और ऋतु यह आकाशस्थित-नन्दापि-मङ्गल हैं। इनमें से पुलह और ऋतु नामक दो तारों को अन्य पाँच तारों से प्रथम दृष्टिगोचर होने के कारण 'मृगश' कहा जाता है। नन्दापि-मङ्गल के समीपस्थ भूवने विपरीत, अर्थात् दक्षिण दिशा में एक गौरी रेखा गौरी लाय तो वह रेखा अपने समानांतर में स्थित जिन नक्षत्र के मानने पर जाय वही नन्दापि-मङ्गल या नक्षत्र माना जाता है।

सप्तर्षि-मंडल में सात तारे हैं, उनमें से नक्षत्र-साधन पुलह अथवा ऋतु से ही किया जाता है, क्योंकि विष्णु पुराण के तथा श्रीमद्भागवत के कथनानुसार ये सप्तर्षि-मंडल के मध्य में स्थित हैं।

श्रीमद्भागवत के उक्त अभिप्राय के श्लोको (भा० १२।१।२७, २८) की व्याख्या करते हुए श्रीस्वामी श्रीधर ने भी हमारी उक्ति का समर्थन किया है।

प्रयाग प्रातः के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पं० इन्द्रनारायण जी द्विवेदी ने आज से कुछ वर्ष पूर्व उक्त रीति से गणित करके यह बतलाया था कि आजकल सप्तर्षि-मंडल उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में है। परीक्षित के समय से आज तक सप्तर्षि-मंडल ने मघा से मघा तक दो पूरे चक्कर काट लिए हैं, इस समय उत्तरा फाल्गुनी में है। इस प्रकार इनके मत में— $२७०० + २७०० + १०० = ५४००$ वर्ष परीक्षित से अब तक बीत चुके हैं। अयन गति के कारण लगभग ४०० वर्ष का इसमें अंतर पड़ गया है अतः आज से ५००० वर्ष पूर्व ही महाभारत काल कहना चाहिये, यही श्रीकृष्ण का काल है।

इसी प्रकार पं० बद्रीनारायण मिश्र ने भी पं० हरिनन्दन मिश्र नामक ज्योतिषी का भा दिखाते हुए स० १९७२ में पुलह और ऋतु नामक तारों के मध्य बिंदु से रेखा खींच कर बतलाया कि आज कल सप्तर्षि पुरवंसु नक्षत्र पर है। इस प्रकार इनके मत से भी $२७०० + २५०० = ५२००$ वर्ष पूर्व का समय महाभारत काल होता है यही हमारा कृष्ण-काल है।

बहुत से गणितज्ञ सप्तर्षि-मंडल के पुलह और ऋतु ताराओं से रेखा न खींच कर सानो में से मन माने तारे से रेखा खींच लेते हैं, अतः उनके काल में अंतर आ जाता है। जैसा कि श्री हरिमंगल मिश्र एम० ए० ने अपनी 'प्राचीन भारत' नामक पुस्तक में एक ज्योतिषी का मत दिखाया है। उन्होंने भरीची और वसिष्ठ नामक तारों से रेखा खींचकर गणित किया है। अतः उनका समय पुराणों में नहीं मिलता। इस प्रकार हम इस निकर्ष पर पहुँचते हैं कि सप्तर्षि-मंडल यद्यपि किसी राशि में स्थित नहीं होता और राशि, चक्र से बाहर ही रहता है, तथापि मघा आदि नक्षत्रों के समानान्तर पर स्थित होने के कारण उन्हें नक्षत्रस्थित कह दिया जाता है। हम वह कारण नहीं जानते जिससे यह सब कुछ होते हुए भी श्री श्री बकिम बाबू इसकी उपेक्षा करते हैं।

यूनान के प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय अपना इतिहास ६४६२ वर्ष पहले से शुरू करते हैं। मेगस्थनीज महाराज चद्रगुप्त के समय भारत में आया था। चद्रगुप्त का मगध ३२६ ई० पूर्व है।

मेगस्थनीज के इस वर्णन में यही स्पष्ट होता है कि भारतीय अपना इतिहास श्रीकृष्ण नर ही नहीं जानते थे, अपितु उमते भी पहिले का इतिहास उन्हें ज्ञात था। एक दूसरे स्थान पर मगध का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है—

'यहाँ शीरसेनी जाति के लोग रहते हैं और ये हरम्युसीनो के उपासक हैं।' हरम्युसीनो स्पष्टतया श्रीकृष्ण ही हैं। वह भागे चल कर उस समय के दूध आधारी एवं प्रमाण के हाथ निरता हैं—हरम्युसीनो टायोनिसियस ने १५ पीढ़ी पीछे हुए हैं। चद्रगुप्त और टायोनिसियस में यह १५३ पीढ़ियों का अंतर बताता है। इस प्रकार मेगस्थनीज के वर्णन से पता चलता है कि श्रीकृष्ण भोग चद्रगुप्त में १३८ पीढ़ियों का अंतर है। यदि ऐतिहासिकों की प्रथा का आश्रय लेकर प्रत्येक पीढ़ी २० वर्ष की मान ली जाय तो $१३८ \times २० = २७६०$ वर्ष हुए। हम पहिले बना चुके हैं कि चद्रगुप्त का मगध ईसा पूर्व ३२६ ई० में था। उन बातों तथा आज के ई० मन्वन् की यदि उक्त संख्या में घटा दें तो $२७६० + ३२६ = ३०९२ = ५०३८$ वर्ष होते हैं। यही भाग्य-युद्ध काल और यही कृतमान है।

श्री अश्विचन्द्र भीम की मृत्यु के समय तो मेजर 'नद्राको' वन भाँडियों' बचकर ब्रह्मण्य प्रमाण देते हुए लिखते हैं—'उस समय आश्विन मास में वर्षादि होता था। यही मास भी आश्विन में शुरू होता है।' ४४ घण्टा ४ मिनट मान लेंगे तो ईस्वी मन्वन् में १३९३ वर्ष होते हैं। इनके प्रतिने कृष्ण का युद्ध अभी भी नहीं हो गया।

हम प्रथम ही यह सिद्ध कर चुके हैं कि महाभारत-काल में वर्षारम्भ (वसंत-सप्तात) मार्ग-शीर्ष से होता था, ब्राह्मिन से नहीं और बड़ी पर काल-माधवकार का प्रमाण देते हुए हमने बतलाया है कि मार्गशीर्ष में ही सूर्य उत्तरायण हो जाता था। भीष्म ने—“माघोष्य समनुप्राप्तो” कह कर यह बतलाया है कि अब तो माघ भी आ गया, अर्थात् सूर्य तीन मास में पूर्ण उत्तर में पहुँच चुके हैं, अतः अब मुझे शरीर-त्याग करना चाहिये।

श्रीनारायण शास्त्रिवर ने अपनी पुस्तक ‘शकर का समय’ में बतलाया है कि जिस दिन भीष्म ने गरीरात किया था उस दिन माघ मास, उत्तरायण सूर्य, शुक्ल पक्ष, अष्टमी तिथि, रोहिणी नक्षत्र था। महाभारत में भी भीष्म के शरीर-त्याग का यही अवसर लिखा है (महा० सा० ४६।५.४)। उक्त समय का, हस्तिनापुर से श्रीकृष्ण का द्वारका प्रस्थान, महाभारत आरम्भत तिथियो आदि का समन्वय करके वी दीक्षित ने यह प्रमाणित किया है कि उक्त समय ३१३६ ई० पूर्व ही हो सकता है। इस प्रकार उनके मतानुसार भी ३१३६+१६५२=४७८९ वर्ष महाभारत युद्ध को हुए व्यतीत हुए हैं, यही कृष्ण-काल भी है।

मार्ग्य भट्ट ने २३ वर्ष की अवस्था में सवत् ५४६ में कलियुग का आरम्भ अपने से ३६०० वर्ष पहिले माना है, इस प्रकार उनके मतानुसार भी २००२-५४६+३६००=४०४६ वर्ष होते हैं यही महाभारत तथा श्रीकृष्ण-काल भी है।

श्री लोकमान्य तिलक ने भी गीता रहस्य के ‘सागवत धर्म का उदय और गीता’ नामक शीर्षक में लिखा है कि ‘ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहिले भारतीय-युद्ध और पाठव हुए होगे, अर्थात् श्रीकृष्ण का अवतार काल भी यही है।’

उसी प्रकरण में एक दूसरे स्थान पर मैथ्युपनिषद् का वर्णन करते हुए मैथ्युपनिषद् के ६।१४ के मंत्र—‘मघार्चं अविष्ठावर्षम्’ द्वारा प्राप्त उदययन (प्राचीनविज्ञान, अर्थात् पूर्व-दिशा का सिद्ध करना) से वेदाग ज्योतिष के उदययन का अंतर स्पष्ट करते हैं।

‘ज्योतिर्गणित से यह सिद्ध होता है कि वेदाग-ज्योतिष में कही गयी ‘उदययन’ स्थित ईसाई सन् के लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहिले की है और भावे नक्षत्र से उदययन के पीछे हटने में लगभग ४८० वर्ष लग जाते हैं, इसलिये गणित से यह बात निष्पन्न होती है कि मैथ्युपनिषद् ईसा के पहिले १८८० से १६८० वर्ष के बीच कभी न कभी बना होगा और कुछ नहीं तो यह उपनिषद् निस्संदेह वेदाग-ज्योतिष से पहिले का है। अब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि छादोग्यावि जिन उपनिषदों के अवतरण मैथ्युपनिषद् में दिये गये हैं, वे उससे भी प्राचीन हैं।

श्री लोकमान्य के मत में मैथ्युपनिषद् आज से ३८२५ वर्ष पूर्व का है, सब छादोग्यादि चार भयवा सत्रे चार हजार वर्ष पूर्व के सुतरा सिद्ध हो जाते हैं। छांदोग्य के निर्माण-काल से पूर्व कृष्ण विद्यमान थे, क्योंकि उसमें देवकीपुत्र श्रीकृष्ण का घोर आग्रह से शिक्षा पाने का उल्लेख है।

विद्वानों की समिति में ‘शतपथ ब्राह्मण’ और ‘छंदोग्य’ समकालीन ग्रंथ हैं। शतपथ ब्राह्मण में—‘कृतिका स्वादचीत। एता ह वै प्राच्यं न व्यसते सर्वाणि ह वा अयानि नक्षत्रानि प्राच्यं दिशश्च्यवते।’ अर्थात् कृतिका नक्षत्र में अग्नि का आधान करे, यह नक्षत्र और नक्षत्रों की भाँति पूर्वदिशा से च्युत नहीं होता, लिखा है।

श्रीशकर बालकृष्ण दीक्षित ने आज की और शतपथ-वर्णित खगोल स्थिति की ज्योतिष-नियमानुसार तुलना करके यह निश्चित किया है कि यह स्थिति ३००० वर्ष ई० पूर्व में थी।

इस प्रकार विदित होता है छंदोग्य उपनिषद् शतपथ के समकालीन होने से ३००० ई० पूर्व का है, अर्थात् ४६५५ वर्ष पूर्व का है, श्रीकृष्ण का उसमें उल्लेख है अतः वे उनसे भी ५०,६० वर्ष पूर्व के थे ऐसा सिद्ध होता है, परंतु लोकमान्य इस धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए भी श्रीकृष्ण-काल को न जाने कैसे ३३४५ वर्ष पूर्व ही मानते हैं।

हमारे मत में श्रीकृष्ण का काल आज से ५००० वर्ष पूर्व ही है और उसके लिये यथेष्ट प्रमाण भी हमने दिये हैं। इतने पर भी बहुत से विद्वान् श्रीकृष्ण का समय आज से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व ही मानते हैं। पुरातत्त्व-विभाग के अन्वेषणों से भी श्रीकृष्ण ३५०० वर्ष के पहिले होने सिद्ध किये जाते हैं। ये अन्वेषण अभी चल रहे हैं और आशा है कि इनकी खोज होते-होते ५००० वर्ष तक पहुँच जायगी।



माखन चोरी-रहस्य

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

भगवान् की लीला पर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् का लीला-धाम, भगवान् के लीला-यान, भगवान् का लीला-शरीर और उनकी लीला प्राकृत नहीं होती। भगवान् में देह-देही का भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

“न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः ।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः ॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः ।
भुखं तस्याबलोक्यापि सज्जैलः स्नानमाचरेत् ॥”

‘परमात्मा का शरीर भूतसमुदाय से बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्मा के शरीर को भौतिक ज्ञानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मों से बहिष्कार कर देना चाहिए, अर्थात् उसका किसी भी धार्मिक कर्म में अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि उसका मुँह देखने पर भी संचैत (बस्त्र-सहित) स्नान करना चाहिए।’

श्रीमद्भागवत में ही ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है—

“अस्मापि देव बहुषो मनुष्यस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।”

—भागवत १०।१४।२

‘आप ने भूत पर कृपा करने के लिए ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानन्द स्वस्व प्रकट किया है, यह पाचभौतिक कदापि नहीं है।’

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् का सभी कुछ अप्राकृतिक होता है। इसी प्रकार यह “माखन-चोरी की लीला” भी अप्राकृत—दिव्य ही है।

यदि भगवान् के नित्य परम धाम में अभिन्न रूप से नित्य निवास करने वाली नित्य-सिद्धा गोपियों की दृष्टि से न देख कर केवल साधन-सिद्धा गोपियों की दृष्टि से देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवांछाकल्पतः प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचाने के लिए ‘माखनचोरी’ की लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करे, ‘चौरहरण’ करके उनके रहे-सहे व्यवधान का परदा उठा दे और ‘रासलीला’ करके उनको दिव्य सुख पहुँचाएँ तो कोई बड़ी बात नहीं है।

भगवान् की नित्य-सिद्धा विद्वान्धमयी गोपियों के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थी, जो अपनी महान् साधना के फलस्वरूप भगवान् की मुक्तजन-नाश्रित सेवा करने के लिए गोपियों के रूप में अवतीर्ण हुई थी। उनमें से कुछ पूर्वजन्म की देवकन्याएँ थी, कुछ ‘श्रुतियाँ’ थी, कुछ ‘तपस्वी ऋषि’ थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी कन्याएँ विभिन्न पुराणों में मिलती हैं। श्रुतिरूपा गोपियाँ, जो ‘नेति-नेति’ के द्वारा निरंतर परमात्मा का वर्णन करते रहने पर भी उन्हें साक्षात् रूप से ज्ञान नहीं कर सकती, गोपियों के साथ भगवान् के दिव्य रसमय विहार की बात जानकर गोपियों की उपमाना करती हैं और अंत में स्वयं गोपीरूप में परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्ण को साक्षात् अपने प्रियतम

रूप से प्राप्त करती है। इनमें मुख्य श्रुतियों के नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकठिका और विपनी भादि।

भगवान् के श्रीरामावतार में उन्हें देख कर मुग्ध होनेवाले—अपने-आप को उनके स्वरूप-सौंदर्य पर न्योछावर कर देनेवाले सिद्ध ऋषिगण, जिनकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करने का वर दिया था, व्रज में गोपी-रूप से अवतीर्ण हुए थे। इसके प्रतिरिक्त मिथिला की गोपी, कोसल की गोपी, अयोध्या की गोपी—पुलिन गोपी, रमावैकुण्ठ, श्वेतद्वीप भादि की गोपियाँ और जालवरी गोपी भादि गोपियों के अनेको यूथ थे, जिनको बड़ी तपस्या करके भगवान् से बरदान पाकर गोपी रूप में अवतीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मपुराण के पातालखंड में बहुत-से ऐसे ऋषियों का वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्या भादि करके अनेको कल्पों के बाद गोपी-स्वरूप को प्राप्त किया था। उनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

१—एक 'उग्रतपा' नाम के ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बड़े दृढव्रती थे। उनकी तपस्या अद्भुत थी। उन्होंने पचदशाक्षर मन्त्र का जाप और रासोन्मत्त नवकिशोर ध्यामसुन्दर श्रीकृष्ण का ध्यान किया था। सौ कल्पों के बाद वे 'सुनन्द' नामक गोप की कन्या 'सुनन्दा' हुए।

२—एक 'सत्यतपा' नाम के मुनि थे। वे सूरसे पत्तो पर रह कर दशाक्षर मन्त्र का जाप और श्रीराधाजी के दोनों हाथ पकड़ कर नाचते हुए श्रीकृष्ण का ध्यान करते थे। दस कल्प के बाद वे 'सुभद्र' नामक गोप की कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३—'हरिषामा' नाम के एक ऋषि थे। वे निराहार रह कर 'क्ली' कामवीज से युक्त विशाक्षरी मन्त्र का जाप करते थे और माधवीमण्डप में कोमल-कोमल पत्तों की शय्या पर लेटे हुए युगल-सरकार का ध्यान करते थे। तीन कल्प के पश्चात् वे 'सारंग' नामक गोप के घर 'रगवैष्णो' नाम से अवतीर्ण हुए।

४—'जाबालि' नाम के एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वन में विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी। उस बावली के पश्चिम तट पर बड़े के नीचे एक तेज-स्विनी युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बड़ी सुन्दर थी। चद्रमा की शुभ्र किरणों के समान उसकी चांदनी चांदों और छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमर पर था और दाहिने हाथ से वह ज्ञानमूद्रा धारण किए हुए थी। जाबालि के बड़ी नम्रता के साथ पूछने पर उस तापसी ने बतलाया—

“ब्रह्मविद्याहमनुला योगीन्द्र्या च मृग्यते।

साहं हरिपदांभोजकाम्यया सुचिरं तपः॥

ब्रह्मानवेन पूर्णाहं तेमानवेन तृप्तधीः।

चराम्यस्मिन् वने धीरे ध्यायसी पुरुषोत्तमम्॥”

“तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना॥”

‘मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढा करते हैं। मैं श्रीकृष्ण के चरणकमलों की प्राप्ति के लिए इस धीरे वन में उन पुरुषोत्तम का ध्यान करती हुई दीर्घकाल से तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्द से परितुष्ट है, परन्तु श्रीकृष्ण का प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपने को शून्य देखती हूँ।’ ब्रह्मज्ञानी जाबालि ने उनके चरणों पर गिर कर दीक्षा ली और फिर ब्रजवीधियों में विहरनेवाले भगवान् का ध्यान करते हुए वे एक पैर से सटे हो कर बड़ी कठोर तपस्या करते रहे। सौ कल्पों के बाद 'प्रबल' नामक गोप के घर वे 'चित्रगवा' के रूप में प्रकट हुए।

५—‘कुण्डध्वज’ नामक ब्रह्मर्षि के पुत्र ‘शुचिश्रमा’ और ‘सुवर्ण’ देवतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने धीर्मान करके ‘ह्रीं’ ह्रस्व-मन्त्र का जाप करते हुए और सुन्दर कवर्प-मुत्पल गोकुलवासी दस वर्ष की उम्र के भगवान्

श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए घोर तपस्या की। कल्प के बाद वे ब्रज में 'सुधीर' नामक गोप के घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार श्री भी बहुत-सी गोपियों के पूर्वजन्म की कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभय से उन सब का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान् के लिए इतनी तपस्या करके इतनी लगन के साथ कल्पो तक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियों ने गोपियों का तन-मन प्राप्त किया था, उनकी प्रशंसा पूर्ण करने के लिए—उन्हें भानव-दान देने के लिए यदि भगवान् उनकी मनचाही सीला करते हैं, तो इसमें आश्चर्य और अनाचार की कौन-सी बात है? रासलीला के प्रसंग में स्वयं भगवान् ने श्री गोपियों से कहा है—

“न पारमेष्ठं निरवद्यसंयुजं
स्वसाधुकृत्यं विव्धायुषापि वः ।
या माभजन् तुर्जरगेहपुंजलाः
सर्वव्यस्य तद् वः प्रतयातु साधना ॥”

—भागवत १०।३२।२२

‘गोपियों’ तुमने लोक और परलोक के सारे बन्धनों को काटकर मुझसे निष्कण्ट प्रेम किया है, यदि मैं तुममें से प्रत्येक के लिये अलग-अलग अनन्त कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभाव से ऋण-रहित भानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।’ सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभाग्य गोपियों के ऋणी रहना चाहते हैं, उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

मला विचारिए तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णरसभावितमति गोपियों के मन की क्या स्थिति थी। गोपियों का तन, मन, धन—सभी कुछ प्राण-प्रियतम श्रीकृष्ण का था। वे ससार में जीती थी श्रीकृष्ण के लिये, घर में रहती थी श्रीकृष्ण के लिये और घर के सारे काम करती थी श्रीकृष्ण के लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रजुर्मल पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्ण के सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्ण के लिये ही, श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने के लिये ही, श्रीकृष्ण की निज सामग्री से ही श्रीकृष्ण को पूजकर—श्रीकृष्ण को सुखी देखकर वे सुखी होती थी। प्रातःकाल निद्रा दूटने के समय से लेकर रात को सोने तक वे जो कुछ भी करती थी, सब श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये ही करती थी। यहाँ तक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्ण में ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनों में ही वे श्रीकृष्ण की मधुर और शांत सीला देखती और अनुभव करती थी। रात को दही जमाते समय श्यामसुंदर की माधुरी छवि का ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी यह प्रशंसा करती थी कि मेरा दही सुंदर जमे, श्रीकृष्ण के लिये उसे बिलोकर मैं बढिया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे चतने ही ऊँचे छोके पर रखूँ, जिसने पर श्रीकृष्ण के हाथ आसानी से पहुँच सकें। फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाभो को साथ लेकर हँसते और जोड़ा करते हुए घर में पदार्पण करे, माखन लूटें और अपने सखाभो और बदरो को लुटाएँ, भानव में मत होकर मेरे प्रांगण में नाचें और मैं किसी कोने में छिपकर इस सीला को अपनी आँखों से देखकर जीवन को सफल करूँ और फिर अचानक ही पकड़ कर हृदय से लगा लूँ। सूरदासजी ने गाया है—

“मैया री, मोहि माखन भाव ।
जो मेबा, पकरवान कहति तू, मोहि नाहि रुचि भाव ॥
ब्रज-बुबती द्रक पाछें ठाड़ी, सुनत स्याम की बात ।
मन-मन कहति कबहुँ अपने घर, देखौ माखन-सात ॥

बैठें जाइ मयनियाँ के ढिग, नैं तब रहो छिपाँनी ।

‘सूरदास’ प्रभु अंतरजाँमी, ग्वालिन-मन की जानी ॥”

एक दिन श्याम सुंदर कह रहे थे, “मैया, मुझे माखन माता है, तू मेवा-भक्षण के लिये कहती है, परतु मुझे तो वे स्वते ही नहीं ।’ वही पीछे एक गोपी लड़ी श्यामनुंदर की बात नुन रही थी । उसने मन ही मन कामना की—“मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी, ये मयाली के पाद जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी ?’ प्रभु तो अंतर्धामी है, गोपी के मन की जान गये और उनके घर पहुँचे तथा उसके घर का माखन खाकर उसे सुख दिया—

‘गए स्याम तिहि ग्वालिन के घर ।’

और तब उसे इतना आनंद हुआ कि वह फूली न समायी । सूरदासजी गाते हैं—

“फूली फिरति ग्वालिन मन सँरी ।

पूँछति सबौ परसपर बातें, पायी परचो कछु कहूँ तेरी ?

पुलकित रोम रोम, गदगद मुख-बानी कहत न आवै ।

ऐसी कहाआहि सो सलिरी, हम कों क्यों न धुनावै ॥

तन न्यारी, लिय एक हमारी, हम तुम एकै रूप ।

‘सूरदास’ कहूँ ग्वालिन सखिन सो, देख्यो रूप अनूप ॥”

वह लुगी से छककर फूली-फूली फिरने लगी । आनंद उसके हृदय में समा नहीं रहा था । सहेलियो ने पूछा—‘अरी’ तुझे कहीं कुछ पड़ा घन मिल गया क्या?’ वह तो यह सुनकर और भी प्रेम विह्वल हो गयी । उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्गद हो गयी, मुँह से बोली नहीं निकली । सखियो ने कहा—‘सखि, ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं ? हमारे तो शरीर ही वो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं । भला, हमसे छिपाने की कौन-सी बात है?’ तब उसके मुँह से इतना ही निकला—‘मैंने आज अनूप रूप देखा है ।’ बस, फिर बाणी रुक गयी और प्रेम के आँसू बहने लगे । सभी गोपियो की यही दशा थी ।

“ब्रज घर-घर प्रघटी यै बात ।

दक्षि-माखन-भोरी करि कैं हरि, ग्वाल-सखा-सँग खात ॥

ब्रज-बनिता यै सुनि मन हरषति, सबैं हमारे प्रावै ।

माखन खात अर्चनिक पावै, नुज-अरि जरहि छिपावै ।”

मन हीं मन अभिलाष करति सब, हूवैं धरति यै ध्यान ।

‘सूरदास’ प्रभु कों घर में ले, बैठों माखन खान ॥”

❧

“सली ब्रज घर-घरनि यै बात ।

नंद-सुत, संग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात ॥

कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहि पेटे चाइ ।

कोउ कहति मोहि देखि द्वारें, उतहि गए पराइ ॥

कोउ कहति, फिहि भाँति हरि कों, देखो अपने धाम ।

हेरि माखन बैठुँ प्राछी, खाइ जितनो स्याम ॥

कोउ कहति मैं देखि पाऊँ, भरि घरों अँकवार ।

कोउ कहति मैं बाँधि राखों, को सकैं निरवार ॥

‘सूर’ प्रभु के मिलन कारन, करति विविध बिचार ।

जोरि कर बिधि को मनावति पुरुष नंद-कुमार ॥”

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रातःकाल होने की वाट देखती। उनका मन श्रीकृष्ण में लगा रहता। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छीके पर रखती; कहीं प्राणघन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करती और श्यामसुंदर की प्रतीक्षा में व्याकुल होती हुई मन ही मन सोचती—‘हा, आज प्राण प्रियतम क्यों नहीं आये? इतनी देर क्यों हो गयी? क्या आज इस दासी का घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखन का भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे? कहीं यशोदा मीया ने तो उन्हें नहीं रोक लिया? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखन की क्या कमी है! मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं।’ इन्हीं विचारों में आसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षण में दौड़कर दरवाजे पर जाती, साज छोड़कर रास्ते की ओर देखती, सखियों से पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युग के समान हो जाता। ऐसी भाग्यवती गोपियों की मन कामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते। सूरदास जी ने शायी है—

“प्रथम करी हरि माखन-चोरी।

रवालनि मन-इच्छा करि पूरत, आपु भजे ब्रज-चोरी ॥

मन में यह बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाई।

गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबको माखन खावै ॥

भाल रूप जमुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख-भोग।

‘सूरदास’ प्रभु कहत प्रेम सो, ए मेरे ब्रज लोग ॥”

—सूरसागर ३५२।८८६

अपने निज जन ब्रजवासियों को सुखी करने के लिये ही तो भगवान् गोकुल में पधारे थे। माखन तो नदवावा के घर पर कम न था, लाख-लाख गौएँ थी। वे चाहे जितना खाते-सुटाते, परन्तु वे तो केवल नदवावा के ही नहीं, सभी ब्रजवासियों के अपने थे, सभी को सुख देना चाहते थे। गोपियों की लालसा पूरी करने के लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तव में चोरी नहीं, यह तो गोपियों की पूजा-पद्धति का भगवान् के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्त की पूजा स्वीकार कैसे न करें?

भगवान् की इस दिव्यलीला—माखन चोरी का रहस्य न जानने के कारण ही कुछ लोग इसे आदर्श के विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किस की होती है और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरे की कोई चीज, उसकी इच्छा के बिना, उसके अनजान में और आगे भी वह न जान पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों के घर से माखन लेते थे उनकी इच्छा से, गोपियों के अनजान में नहीं—उनकी जान में, उनके देखते-देखते और आगे जनाने की कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दीखते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्व की यह है कि ससार में या ससार के बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान् की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियों का तो सर्वस्व श्रीभगवान् का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं? हाँ चोर तो वास्तव में वे लोग हैं, जो भगवान् की वस्तु को अपनी मानकर ममता-आसक्ति में फँसे रहते हैं और दड के पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियों से यही सिद्ध होता है कि माखन-चोरी चोरी न थी, भगवान् की दिव्य लीला थी। असल में गोपियों ने प्रेम की अधिकता से ही भगवान् का प्रेम का नाम ‘चोर’ रख दिया था, क्योंकि वे उनके ‘नितचोर’ तो थे ही।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् की लीला पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है, परन्तु उनकी दृष्टि से भी इस प्रसंग में कोई आपत्तिजनक बात नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग द्वातीन वर्ष के बच्चे थे और

गोपियाँ अत्यधिक स्नेह के कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थी । आशा है, इससे बंका करनेवालों को कुछ सलोप होगा ।^१

१. श्रीसुर ने गोपियों के घरों में माखन-धुरा कर खाते हुए 'श्रीमाखन-धोर' का बड़ा सुंदर वर्णन किया है, जैसे—

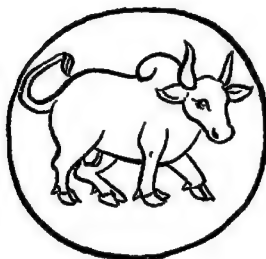
“आज सखी, मनि-खम-निकट हरि जहाँ गोरस की गो-री ।
निज प्रतिबिम्ब सिखावत क्यों सिधु, प्रघट करे जिन धोरी ॥
अरब-विभाग आज ते हैं-तुम्हें, भली बनीं हूँ जोरी ।
माखन खाहु कित-हिं डारत हौ, छाँड़ि देहु मति भोरी ॥
बाँट न लेहु, सबे चाहत हौ, इहे बात है धोरी ।
मीठी अधिक परेस खचि लागै, तो मरि लेहु कँसोरी ॥
प्रेम-जँसगि धीरज न रह्यो तब, प्रघट हँसो मुख-भोरी ।
'सुरदास' प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी ॥

अथवा—

गोपाल, दुरें-धुरें माखन-खात ।
वेष्टि सखी, सोभा जु बनीं है, स्थान-मनोहर-गात ॥
उठि अवलोकि ओट ठाड़ी हूँ, जिहि बिधि नहिं लखि लेत ।
अकित नैन, खहुँ बिसि चितबल, और सखन कोँ देत ॥
सुंदर कर-आनन-सँसीप अति राजत या आकार ।
जलरहू मँनो बैर बिधु सो तजि, मिलत लयें उपहार ॥
गिरि-गिरि परत बढें ते उर पर, दुग्ध-मुत के कछु बिद ।
मानो सुभग सुधा-कौन बरखत, प्रिय-जैन-आर्षेन इव ॥
बाल-बिनोद बिलोकि 'सुर' प्रभु, सिधिल भईं ब्रज-नारि ।
फुटै न बचें बरजिबे-कारेन, रही बिचारि-बिचारि ॥

* राग—गूजरौ ।

† राग—बनाव्ही ।



महाभारत और श्रीकृष्ण

श्री मुंशीराम शर्मा

महाभारत मुख्य रूप से कौरवों और पांडवों के वृत्तांतों से भरा पड़ा है, पर प्रासंगिक रूप से उसमें श्रीकृष्ण का चरित्र भी आ गया है। इस चरित्र का जितना और जैसा रूप महाभारत में अंकित हुआ है, उसको उसी रूपमें प्रस्तुत करना इस लेख का लक्ष्य है।

आदिपर्व

श्रीकृष्ण के प्रारम्भिक बालचरित्र का उल्लेख स्वभावतः महाभारत में नहीं किया गया। उनके जीवन का जितना सबब कौरवों और पांडवों के जीवन वृत्तों के साथ है, उतना ही महाभारत में पाया जाता है। श्रीकृष्ण का नाम सर्वप्रथम 'आदिपर्व' के अंतर्गत द्रौपदी-स्वयंवर में आया है। इस स्वयंवर को देखने के लिये अनेक क्षत्रिय रगभूमि में एकत्रित हुए थे। रुद्र, आदित्य, वसु आदि देवगण और सुपर्ण, उरग, गुह्यक, चारुण, विश्वावसु, देवर्षि आदि गंधर्व भी आये थे।^१ बलराम और कृष्ण आदि युद्धवीरों की भी वहाँ पहुँचे। महाभारत के अनुसार इसी स्वयंवर भूमि में श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम पांडवों को देखा और उनके द्वारा उनकी उपस्थिति बलराम को सूचित की।^२ अर्जुन के लक्ष्यभेद के उपरान्त श्रीकृष्ण पुनः पांडवों का परिचय देते हुए बलराम से कहने लगे—

“य एष सिंहर्षभखेलगामी महदनुः कर्षति तालमात्रम् ।
एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि सकर्षण बाधुदेवः ॥
यस्त्वेष वृक्ष तरसाऽवभज्य राजा विकारे सहसा प्रवृत्तः ।
वृकोदराज्ञाय इदृतदद्य कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥
योऽस्मीं पुरस्तात्कमलापतालास्तनुमहासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलबोच्चलचाशवोणो विनिःसृतः सोऽप्युत धर्मपुत्रः ॥”

—महाभारत, भा० पं० १६१।२०, २१, २२

“श्रेष्ठ सिंह की भाँति गतिवाले और लगभग पाँच हाथ के वनूष को खींचनेवाले निस्संदेह अर्जुन ही हैं। जिन्होंने शीघ्रता से वृक्ष उखाड़ लिया है और राजाओं का अंत करने में प्रवृत्त हुए हैं, वे भीम के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं। इनके पूर्व जो कमल के समान प्रशस्त नेत्रवाले, सिंह के समान गतिवाले, विनीत, गौर वर्ण, लंबी-उज्ज्वल और सुंदर नासिकावाले महापुरुष यहाँ से चले गये हैं, वे ही धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं।”

इसके पश्चात् जब राजाओं ने उपद्रव मचाया, तो श्रीकृष्ण ने ही समझाया और युद्ध से विरत किया।^३ पांडवों को श्रीकृष्ण का परिचय इसके उपरान्त ही हुआ।

१. आदिपर्व १८६।६७।

२. ” १८६।१०।

३. निवारयामास महीपतींस्तान् धर्मैर्लब्धैर्यत्पुनीत्य सवन् ॥

द्रौपदी-स्वयवर के अनंतर महात्मा विदुर पांडवों को हस्तिनापुर लाने के लिये महाराज द्रुपद के पास पहुँचे, तो उन्होंने बलराम तथा श्रीकृष्ण को भी वहाँ देखा ।^१ इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण स्वयवर के पश्चात् बराबर पांडवों के साथ लगे रहें और जब महाराज द्रुपद से आज्ञा पाकर पांडव द्रौपदी, कुंती तथा विदुर के साथ हस्तिनापुर को चल दिये तो श्रीकृष्ण भी उनके साथ गये । श्रीकृष्ण पांडवों की हित-चिन्तना में सदैव निरत रहते थे, यह बात द्रुपद ने स्वयं अपने शब्दों में स्वीकार की है—

“ययैव हि महाभागः कौतिया मम साप्रतम् ।
तयैव वासुदेवस्य पांडुपुत्रा न संशयः ॥
न तदध्यायति कौतियः पांडुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ययैवां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ॥”

—आदिपर्व २०६।८, ९

“हे विदुर, जिस प्रकार ये महाभाग पांडव मेरे प्रेमपात्र हैं, उसी प्रकार ये कृष्ण के भी प्रिय हैं । पांडवों के हित की चिन्ता इनकी पांडु-पुत्र युधिष्ठिर को भी नहीं है, जितनी इन पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्ण को है ।”

पांडवों के हस्तिनापुर पहुँचने पर धृतराष्ट्र ने संघर्ष वचाने के लिये इन्हें आधा राज्य दे दिया । पांडवों ने ‘खाडवप्रस्थ’ को अपनी राजधानी बनाया और श्रीकृष्ण की सहायता से उस नगर को स्वर्ण के समान सुसज्जित कर लिया । यहीं खाडवप्रस्थ ‘इद्रप्रस्थ’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ । जब पांडव खाडवप्रस्थ में सुखपूर्वक निवास करने लगे, तो उनकी अनुमति प्राप्त करके श्रीकृष्ण बलराम के साथ द्वारकापुरी को चले गये ।

इस प्रसंग के पश्चात् अर्जुन और श्रीकृष्ण का मिलाप प्रभास क्षेत्र में हुआ—

“आस्तां प्रियसखायौ सौ नरनारायणाव्यूधौ ।”

—आदिपर्व २२०।५

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों प्रिय सखा पूर्व जन्म में नर और नारायण नाम के ऋषि थे ।^२

प्रभास क्षेत्र से श्रीकृष्ण और अर्जुन ‘रैवतक’ पर्वत पर चले गये । रात भर यहाँ विश्राम करके, प्रातः काल होते ही अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ द्वारका पहुँचे और वहाँ के राजभवन में उन्होंने अनेक दिन निवास किया । महाभारत में इस स्थल पर रैवतक पर्वत पर जुड़े हुए ‘वृष्णि’ और ‘अचक’ वन के वीरों के उत्सव का भी मनोरम वर्णन किया है । इसी उत्सव में अर्जुन श्रीकृष्ण की बहिन और बलराम की सहोदरा सुमित्रा को देख कर कामासक्त हुए । श्रीकृष्ण ने उनके इस भाव को जान लिया और कहा—

स्वयंवराः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स षडशशयितः पार्ष्व स्वभावस्थानिमित्तः ॥
प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविधौ विदुः ॥
स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वैव विकीर्षितम् ॥

—आदिपर्व २२१।२१, २२, २३

१. आदिपर्व २०८ । ११

२. वनपर्व अध्याय १२ में श्लोक ११ से २० तक, तथा श्लोक २५, २८ और ४२ से ४४ तक श्रीकृष्ण के विविध योनियों में जन्म लेने, अशुरों का बध करने और बान, यज्ञ एवं तप करने का भी वर्णन पाया जाता है ।

“हे अर्जुन, क्षत्रियों में स्वयंवर विवाह का विधान है, पर इसमें संशय है कि सुभद्रा इस रीति से तुम्हारा वरण करेगी या नहीं, क्योंकि इस विषय में मनुष्य की रूचि के लिये कोई कारण नहीं होता। क्षत्रियों में वलपूर्वक अपहरण करके ले जाना भी विवाह का हेतु माना गया है। अतः तुम मेरी इस कल्याणी बहिन को हरकर ले जाओ।”

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से भी इस विवाह के लिये अनुमति माँगा ली और उनके सकेत से देवार्चन के पश्चात् द्वारका जाती हुई ‘सुभद्रा’ को वलात् अपने रथ में बिठाकर अर्जुन चल दिया। सुभद्रा के अपहरण से वृष्णी वीर उत्तेजित हो उठे। बलराम को भी यह कृत्य असह्य लगने लगा, पर वे श्रीकृष्ण के पुत्र रहने से कुछ न कर सके। श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया भी—

“नावमानं कुलस्याऽस्य गुडाकेश. प्रमुक्तवान्।

संमानोऽभ्यधिकस्तेन प्रमुक्तोऽयं न संशयः॥

उचितञ्चैव संबंधः सुभद्रा च यशस्विनी।

एव चाऽपीदृशः पार्यः प्रसह्य हृतवानिति॥”

—आदिपर्व २२३।२,६

“अर्जुन के इस कृत्य से हमारे कुल का अपमान नहीं, प्रत्युत समानवर्धन हुआ है। यह सब भी उचित ही है। जैसी सुभद्रा यशस्विनी है, वैसा ही अर्जुन भी यशस्वी है।” परिणामतः परमेश्वी पुरोहित अर्जुन को लौटा लाये और अर्जुन तथा सुभद्रा का विवाह विधिवत् हुआ।

महाभारत में आदिपर्व के अध्याय २२३ का नाम ‘हरणाहरण’ पर्व है। इस पर्व के अनुसार जब अर्जुन सुभद्रा के साथ इन्द्रप्रस्थ पहुँच गए तो श्रीकृष्ण, बलराम आदि दहेज की विपुल सामग्री लेकर वहाँ गये। इस दहेज को महाभारतकार ने ‘सुभद्रा का हरण’ नाम दिया है, (हरणं च सुभद्रायाःश्लोक ४४) अर्थात् ऐसा घन जिसे कन्या अपने मातृ-गृह से पति-गृह को हरण करके ले जाती है। कौरवों से समानित होकर बलराम आदि तो द्वारकापुरी को लौट आये, परन्तु श्रीकृष्ण वही पर रह गये और जब सुभद्रा से अभिमन्यु ने जन्म लिया, तो श्रीकृष्ण ने उसके जातिकर्म प्रभृति सभी भगल संस्कार कराये। महाभारत में लिखा है—

“कृष्णस्य समृद्धं शौर्यं वीर्यं रूपे तथाऽऽकृतौ।”

—आदिपर्व २२३।७७

अर्थात् अभिमन्यु शौर्य, वीर्य, रूप तथा आकृति में कृष्ण के ही सदृश था।

श्रीकृष्ण को मृगया तथा आश्वेत में विशेष रुचि थी। वे बाहर कानन, पर्वत आदि पर बिहार करने के भी प्रेमी थे। महाभारत में इस स्थल पर तथा अन्य कई और भी स्थलों पर इस विषय का उल्लेख हुआ है।^१

लाडव वन इन्द्र से रक्षित था, उसका सखा ‘तक्षक’ नाग भी अपने गणों के साथ इसी वन में रहता था। प्रजा इन सब के कारण सन्नत थी। अतः लाडव वन को जला देने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। कृष्ण और अर्जुन दोनों महारथी वन के दोनों ओर खड़े हो गये और चारों ओर भागते हुए भयानक प्राणियों का विध्वंस करने लगे। महा बलवान् नागराज तक्षक उस समय वहाँ पर नहीं था^२ और बच गया। तक्षक के भवन से निकल कर ‘मय’ नाम का असुर भी भागा जा रहा

^१ ग्यारहव्याध्याय की मृगयास महायज्ञाः।

मृगान्मिथ्यन्वराहांसिच रेमे सार्धं किरीटिना ॥

—आदिपर्व २२३।६४

^२ आदिपर्व २२६।४

था, पर वह पकड़ गया। यह दानवी का श्रेष्ठ गिल्ली था। अर्जुन की धारण ग्रहण करने से यह बच गया।^१

सभापर्व

मय ने अर्जुन से कहा—“महाभाग, आपने मेरे प्राण बचाये हैं। कहिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?” अर्जुन ने कहा—

“कृष्णस्य क्रियतां किञ्चित् तथा प्रतिकुलं भवि।”

—सभापर्व १।८

‘तुम श्रीकृष्ण का कोई कार्य कर दो, वही मेरे लिये प्रत्युपकार होगा।’ इसके अनंतर मय ने श्रीकृष्ण से निवेदन किया, तो श्रीकृष्ण बोले—“हे शिल्पियो में श्रेष्ठ, यदि तुम मेरा प्रिय कार्य करना चाहते हो, तो युधिष्ठिर के लिये अपनी इच्छानुरूप एक सभा बना दो। वह सभा ऐसी हो जिसे देखकर पृथ्वी का कोई मनुष्य वैसी दूसरी सभा न बना सके। मय ने एक उत्तम राजसभा का निर्माण किया। यह सभा चौदह महीनों से भी कुछ अधिक दिनों में बनकर तैयार हुई थी।”^२

इसके पश्चात् युधिष्ठिर ने ‘राजसूय यज्ञ’ पर विचार-विमर्श करने के लिये श्रीकृष्ण को, जो द्वारका चले गये थे, बुलाया। श्रीकृष्ण ने आकर युधिष्ठिर से कहा—

“राजन्, जब तक ‘जरासभ’ जीवित है, तब तक तुम मेरे विचार में राजसूययज्ञ नहीं कर सकते। इस जरासभ ने एल तथा इक्ष्वाकु-वंश के एक सौ राजाओं को गिरि-जल में डबी कर रखा है और उनकी राज्यलक्ष्मी को जीतकर सूर तथा असुर सबके लिये अपराजय बन गया है। इसे प्राणात्कारी मल्लयुद्ध द्वारा ही पराजित किया जा सकता है। जैसे तीन अग्निगो से यज्ञ संपादित होता है, वैसे ही मेरी नीति, भीम का बल और अर्जुन का रक्षा कार्य—इन तीनों से ही जरासभ मारा जा सकेगा।” महाभारतकार ने यहाँ स्पष्ट शब्दों में श्रीकृष्ण की नीतिज्ञता का उल्लेख किया है। युधिष्ठिर ने भी श्रीकृष्ण की बात का अनुरोध करते हुए कहा—

“गोविन्द, जिनसे लक्ष्मी विरुद्ध हो जाती है, उनके अग्रणी आप कभी नहीं बनते अतः आपकी नीति से हम निस्सन्देह ऐश्वर्य को प्राप्त करेंगे।”^३

श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन ने तेजस्वी स्नातको का वेप धारण किया और वे ‘गिरिव्रज’ पहुँच गये। यहाँ सर्वप्रथम उन्होंने अपनी विस्माल मुखाओं के आघात से मागधों के अत्यंत प्रिय ‘वैत्यक’ के प्राचीन, दृढ़ एवं विनाश शृंग को तोड़कर नीचे गिरा दिया (२१।२१)। फिर तीनों ने वेष्ट वस्त्र, भाला और कुशल धारण कर जरासभ के भवन में प्रवेश किया। इन बीरों को देखकर मगध-निवासियों को अत्यंत आश्चर्य हुआ (२१।३१)।

जरासभ के साथ वार्तालाप करते हुए श्रीकृष्ण ने अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया और कहा—“राजन्, तुमने भिक्ष-भिक्ष देशों में रहनेवाले क्षत्रियों को बंधन में डालकर जो पाप किया है वह हमें लगेगा, यदि हम उसका निराकरण न करें, नमोकि धर्मपूर्वक आचरण करनेवाले हम धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं। जाति के अस्मद्भय का ध्यान करके हम तुम्हारे जैसे जाति-नाशक का वध करने के लिये ही यहाँ आये हैं (२२।१०, १४)।

१. भाविपर्व २३।४३

२. सभापर्व १।११, १२

३. सभापर्व ६६।३, ३८

४. सभापर्व १४।५३, २०।२, ३

५. सभापर्व २०।१८

“स्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व भागव ।
मुञ्च वा नृपतीन्सर्वान् गच्छ वा त्वं यमसंयम् ॥”

—सभापर्व २२।२७

अतः युद्ध के लिये हम तुम्हें आहूत करते हैं । या तो तुम समस्त क्षत्रियों को छोड़ो, नहीं तो यमराज के घर जाओ ।

भीम तथा जरासन्ध में युद्ध प्रारम्भ हुआ । यह युद्ध कार्तिक मास की प्रतिपदा को आरम्भ हुआ और बिना भोजन किये चतुर्विंशती की रात्रि तक चलता रहा ।^१ जरासन्ध मारा गया । बड़ी क्षत्रिय कारागार से मुक्त किये गये । इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी वृद्धिमत्ता से प्रथम राजनैतिक विजय प्राप्त की और भारत के एक बड़े भाग के क्षत्रियों को अपनी ओर कर लिया । इन क्षत्रियों ने महाराज युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ में सहायता की ।

जरासन्ध का आश्रय पाकर ‘चेदि देश’ के अधिपति ‘शिशुपाल’ ने भी राजसूय यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करना चाहा । युधिष्ठिर के इस यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया था ।^२ जब योग्य राजाओं के सत्कार करने का प्रश्न आया, तो भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से सर्वप्रथम श्रीकृष्ण को अर्घ्य देने के लिये कहा । इस क्रिया पर शिशुपाल ने आपत्ति की^३ और श्रीकृष्ण को ऋत्विक्, आचार्य तथा राजा के सभी लक्षणों से रहित बतलाया । भीष्मपितामह उसकी बातों का उत्तर देते हुए बोले —

“नानबुद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां वत्ताधिकः ॥
वैश्यानां धान्यजनवान् शूद्राणामेष जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविदे हेतुं द्वावपि संस्थितौ ॥
वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां हिलोके कोऽप्योऽस्ति विशिष्टः केशवावृते ॥”

—सभापर्व ३८।१७, १८, १९

“ब्राह्मणों में विद्वान्, क्षत्रियों में बलवान्, वैश्यों में धनवान् और शूद्रों में जन्म से पूज्य माना जाता है । श्रीकृष्ण की पूजा में दो हेतु बड़े प्रबल हैं—एक तो इनमें बल की अधिकता है और दूसरे वे वेद—वेदांगों के विद्वान् हैं । अतः कृष्ण के अतिरिक्त मनुष्यों में इस समय अन्य कौन श्रेष्ठ हो सकता है ।”

“दानं वाक्यं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽभ्युते ॥
तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुहम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्जहम् सर्वं संक्षतुमर्ह्यम् ॥”

—सभापर्व ३८।२०, २१

^१ कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।

अनाहारं विचाराजसविधातमवर्तत ॥

चतुर्विंशत्या निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥

—सभापर्व २३।२६, ३०

^२ चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ॥

—सभापर्व ३५।११

^३ शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥

—सभापर्व ३६।३१

अथर्व दान, चतुरता, शूरता, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनम्रता, श्री, वैर्य, सतोष, पुष्टि—ये सब बातें श्रीकृष्ण में विद्यमान हैं। अतः लोकसपन्न, आचार्य, पालक, पूजनीय, अर्घ्य देने के योग्य और पूजा के योग्य पूजित हुए श्रीकृष्ण की पूजा करना सबके लिये उचित ही है।

इन शब्दों को सुनकर शिशुपाल भीष्मपितामह पर कटुवक्तव्यों की वर्षा करने लगा। उसने युद्ध के लिये श्रीकृष्ण का आह्वान किया। श्रीकृष्ण बोले —

“एष नः शत्रुत्स्यत पाथिवाः सात्वतीसुतः ।

अपराधं शतम् क्षाम्यं मातुरत्स्यैव याचने ॥

वर्त्तं मया याचितव तद्धै पूर्णं हि पाथिवाः ।

अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥”

—सभापर्व ४५। ७, २४, २५

“यह ‘सात्वती’ का पुत्र शिशुपाल हम सात्वतो का बड़ा भारी शत्रु है। इसकी माता के वर माँगे पर मैंने इसके ली अपराध क्षमा करने का वचन दिया था। वह अब पूरा हो चुका है। अब मैं आप सब राजाओं के सामने ही इसका वध करूँगा।” यह कह कर श्रीकृष्ण ने उसी क्षण शिशुपाल का शिर चक्रसे काट डाला। इस प्रकार जरासंध के पश्चात् अनार्य पद्धति के प्रबल अनुयायी इस शिशुपाल की मृत्यु से आर्य मर्यादा के प्रचार का पथ श्रीकृष्ण ने और भी अधिक प्रशस्त कर दिया।

वनपर्व

श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में विराजमान थे, उसी समय अपने आता शिशुपाल का उनके द्वारा मारा जाना सुनकर ‘सौम’ नगर के अधिपति ‘शाल्व’ ने द्वारका पर आक्रमण कर दिया और वृष्णि वंश के अनेक वीरों को मारकर नगर और बगीचों को नष्ट कर डाला। जब श्रीकृष्ण द्वारका पहुँचे, तो उन्होंने सौम नगर पर चढ़ाई कर दी और मायावी शाल्व को मारकर समस्त सौम नगर को बराशाही कर दिया। इसी समय दूत-जोड़ा में अपना सर्वस्व हारकर पावन वनवासी हुए थे। श्रीकृष्ण वन में ही पाठवों से मिले। दूत के साथ उन्होंने व्यभिचार, धिक्कार और सुरापान की निंदा की^१ और पाठवों को आपत्ति में प्रसित देखकर अत्यंत दुखी हुए पर, अब कुछ ही नहीं सकता था, अतः वे सुभद्रा तथा अभिमन्यु को लेकर द्वारका लौट गये।

विराटपर्व

जब पाठव वनवास के तेरहवें वर्ष में अपना नाम तथा वेप बदलकर अज्ञात रूप से ‘मत्स्य’ देश के राजा विराट के यहाँ रहने लगे, तो गोहृण-असुर को लेकर विराट और कौरवों में युद्ध छिड़ गया। अर्जुन विराट के पुत्र उत्तर के सारथी बने और उन्होंने विराट की ओर से युद्ध करते हुए दुर्योधन की विपुल चाहिनी को मार भगाया तथा गोधन का उद्धार किया। विराट ने इस विजय से प्रभावित होकर अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन से करना चाहा। अर्जुन ने इसे अस्वीकार किया और अपने पुत्र अभिमन्यु के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव किया। श्रीकृष्ण की अनुमति से महाराज युधिष्ठिर ने उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ कर दिया।

उद्योगपर्व

विवाह के उपरांत श्रीकृष्ण ने समागत राजाओं की सभा की और उसमें यह प्रस्ताव रखा कि पाठवों ने तेरह वर्ष के वनवास की अवधि पूरी कर ली है, अतः —

^१ सभापर्व ४५। १, २

^२ त्रिज्योत्सा भुगया पानमेतद् कामसमुत्थितम् ।

दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं वैश्वेरो अत्यन्ते भियः ॥

—वनपर्व १३। ७

“तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः शुचिः कुलीनः पुख्खोऽप्रमत्तः ॥

दूतः समर्थः प्रज्ञमाय तेवा राज्यार्बदानाय युधिष्ठिरस्य ॥”

—उद्योगपर्व १।२४, २५

यहाँ से धर्मार्था, आचारवान, कुलीन, अप्रमादी एवं समर्थ एक दूत कौरवों को शांत करने और युधिष्ठिर को उनका आधा राज्य दिलाने का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर भेजा जाय। ऐसा प्रस्ताव करके श्रीकृष्ण पुनः द्वारका लौट गये।

दुर्योधन को अपने गुप्तचरों से पता लगा कि श्रीकृष्ण भावी युद्ध में पांडवों का साथ देंगे, तो वह उन्हें अपनी ओर करने और उनकी सहायता प्राप्त करने के लिये द्वारकापुरी पहुँचा। इधर अर्जुन भी उसी दिन द्वारका पहुँच गये। महाभारतकार कहता है—

श्रीकृष्ण उस समय सो रहे थे। उनके शयन की अवस्था में ही दुर्योधन उनके भवन में चला गया और श्रीकृष्ण के शिर की ओर बिछे हुए उसम आसन पर जा बैठा। अर्जुन भी दुर्योधन के पीछे-पीछे श्रीकृष्ण के भवन में गये और उनके पैताने खड़े रहे।^१ श्रीकृष्ण के जगने पर उनकी सर्व-प्रथम दृष्टि अर्जुन पर गयी, फिर भी उन्होंने दोनों को सहायता देनेका आश्वासन दिया और कहा—

“मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।

नारायणा इति ख्याताः सर्वे संप्रामयोधिनः ॥

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः ।

अयुष्यमानः संप्राप्ते न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥”

इस कथन के अनुसार सहायता रूप में एक श्रीकृष्ण को ले सकता था जो युद्ध करने से विरक्त और निरस्त रहेंगे और दूसरा उनकी एक अरब गोपों से बनी समस्त ‘नारायणी’ नाम की सेना को जो उन्हीं के समान युद्ध करने वाली थी। अर्जुन ने निरस्त श्रीकृष्ण को और दुर्योधन ने उनकी सेना को स्वीकार किया (७।२१, २३)।

इधर धृतराष्ट्र ने सूत-पुत्र सजय को युधिष्ठिर के पास भेजा। उस समय श्रीकृष्ण भी पांडवों के पास आ गये थे। उन्होंने सजय से कहा—

“अविनाशं संजय पांडवानामिच्छाम्यहं भूतिर्मेवां प्रियं च ।

तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य दूतं समाशंसि बहुपुत्रस्य बुद्धिम् ॥

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद् द्यूते वाक्यं गहमिदं धर्मोपेतम् ।

स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गंतुं समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥”

“सजय, मैं पांडव और कौरव दोनों का हित चाहता हूँ। धर्म-प्राण युधिष्ठिर के साथ कौरवों ने जैसा व्यवहार किया है, उसे तुम जानते हो। फिर भी मैं इस बिगड़े हुए काम को बनाने के लिये स्वयं हस्तिनापुर जाना चाहता हूँ ॥”^२

“हे सजय, धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के साथ वन के समान हैं और पांडव व्याघ्र के समान हैं। तुम न वन को काटो और न व्याघ्र को वन से निकालो। वन के बिना व्याघ्र मारा जाता है और व्याघ्र के बिना वन काटा जाता है। अतः व्याघ्र को वन की ओर वन को व्याघ्र की रक्षा करनी चाहिये। कौरव यदि लता हैं, तो पांडव शाल वृक्ष हैं। लता वृक्ष के बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार कौरव भी पांडवों की सहायता के बिना सुरक्षित नहीं रह सकते। जाओ और धृतराष्ट्र से हमारा यह संदेश कह दो।”^३

^१ उद्योगपर्व ७।८, ९

^२ उद्योगपर्व २६।१, ४७

^३ उद्योगपर्व २६।५२-५५

सजय के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर जाने का निश्चय किया। कार्तिक मास का प्रारम्भ था। खेतों में वनधान्य की समृद्धि फैली हुई थी। ऐसे उत्तम समय में ब्राह्मणों की मागलिक मधुर वाणी सुनते हुए, प्रातःकाल का नित्यकृत्य, स्नान, शुद्ध वस्त्र-धारण और सध्या-हवन समाप्त करके भगवान् कृष्ण ने वृषभ की पीठ का स्पर्श और ब्राह्मणों को प्रणाम किया।^१ इसके अनन्तर रथ पर सवार होकर वे हस्तिनापुर को चल दिये।

समापन अध्याय ४५ श्लोक ६२ में श्रीकृष्ण के रथ का नाम 'मेघवधु' लिखा है—

“ततो मेघवधुप्रस्थं स्थंवन च सुकल्पितम् ।”

इस रथ पर गरुड च्वज था। यह रथ पर्जन्य के समान घोष करता था और आदित्य के समान चमक रखता था (वनपर्व १२।३१)। उद्योगपर्व अध्याय ८३ के श्लोक १७, १८ और २१ में भी श्रीकृष्ण के रथ के लिये इसी प्रकार के विशेषण दिये हुए हैं। यह भी लिखा है कि यह रथ विमान के समान कामग, अर्थात् इच्छानुसार चलनेवाला और व्याघ्र चर्म से भड़ा हुआ था। इस रथ में चार घोड़े, जुते हुए थे जिनके नाम—शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक थे।

“वाजिभिः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।”

—उद्योगपर्व ८३।१६

श्रीकृष्ण के आने का समाचार सुनकर दुर्योधन के अतिरिक्त अन्य धृतराष्ट्र के पुत्र, भीष्म, द्रोण, कृप आदि के साथ उनका स्वागत करने के लिये आगे आये। श्रीकृष्ण के स्वागत में नगर तथा राजमार्ग भलकृत किये गये। नगर के स्त्री, बालक तथा बृद्ध श्रीकृष्ण के दर्शनो के लिए लावायित हो उठे। भीष्म, द्रोणादि से घिरे हुए श्रीकृष्ण ने अट्टालिकाओं से शोभायमान श्वेतभवन में प्रवेश किया। श्रीकृष्ण राजमदिर की चौथी कक्षा में राजा धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। जब श्रीकृष्ण स्वर्ण के विशाल आसन पर बैठ गये, तो धृतराष्ट्र के पुरोहिता ने जल, मधुपर्क और दूध द्वारा नियमानुसार उनका स्वागत किया। इसके पश्चात् वे विदुर के भवन में पहुँचे और वहाँ से अपनी दूभा कुती के पास गये। कुती ने इस अवसर पर श्रीकृष्ण के द्वारा अपने पुत्रों को यह सन्देश भेजा कि क्षत्राणी जिस कार्य के लिये पुत्र उत्पन्न करती हैं, उसका समय अब आ गया है।^२ श्रीकृष्ण ने कुती को आश्वासन दिया और कहा कि वे क्षीघ्र ही अपने पुत्रों को ऐश्वर्य से युक्त और राज्यलक्ष्मी से भद्रित देखेंगी।^३

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण कौरवों के भवन में पहुँचे। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को भोजन के लिये निमन्त्रण दिया, पर उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि भोजन दो प्रकार से ही किया जाता

१. भगवत्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वन्वचं स्मृता ।

ब्रह्माणतां प्रतीतानामुषीणामिव वासव ॥

कृत्वा पीर्वाङ्गकं कृत्यं स्नातः शुचिरलकृतः ।

उपतस्थे विवस्वतं पावकं च जनार्दनः ॥

धूमन पृष्ठ आसन्ध ब्रह्माणतभिवाद्य च ॥

—उद्योगपर्व ८३।६, ९, १०

२. यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽप्ययागतः ।

—उद्योगपर्व ९०।७५

३. भरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं ब्रह्मसि पादवान् ।

ईश्वरान्तर्व लोकस्य हताभिधान् प्रिया वृतान् ॥

—उद्योगपर्व ९०।६६

है—या तो कोई प्रेमपूर्वक भोजन करावे या विपत्ति में प्रसिक्त कोई व्यक्ति किसी के यहाँ भोजन करे। यहाँ दोमें से एक भी प्रकार नहीं है।^१

श्रीकृष्ण ने विदुर के यहाँ भोजन किया। विदुर ने इस समय दुर्योधन की समस्त कुचालों का उल्लेख करते हुए कहा—‘केशव, आप का यहाँ आना उचित नहीं था। दुर्योधन नीति और धर्म का उल्लंघन कर रहा है और उससे कुछ भी कहना निरर्थक प्रतीत होता है (६२।१,२,१५)।’ श्रीकृष्ण विदुर से बोले—

“मैं दुर्योधन की दुष्टता और क्षत्रियों के वैरभाव को जानता हूँ, फिर भी कौरवों की सभा में आया हूँ। इस समय समस्त पृथ्वी मृत्यु के मुख की ओर जा रही है। जो मानव इस पृथ्वी को मृत्युपाश से छुड़ावे, वह उत्तम पुण्य प्राप्त करेगा। धर्म कार्य में शक्ति भर प्रयत्न करने के उपरांत भी यदि कोई मानव सफल न हो सके, तो भी वह उसके पुण्य को प्राप्त कर लेता है। अतः धृतराष्ट्र के पुत्रों को मेरी धर्म-संमत एवं हितकारी बात मान लेनी चाहिये।”^२

इसके अनंतर श्रीकृष्ण राजसभा में पहुँचे। उनके पहुँचते ही धृतराष्ट्र उनका स्वागत करते हुए अन्य वीर तथा राजाओं के साथ उठ खड़े हुए। श्रीकृष्ण के बैठने पर सब अपने-अपने आसन पर बैठ गये। राजसभा में मेघ के समान गरजते हुए श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र की ओर मुख करके सारी सभा को सुना कर कहने लगे—

“राजन्, कौरवों और पांडवों में संधि हो जावे तथा वीरों का भावी विनाश रुक जावे, मैं इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिये यहाँ आया हूँ। आपके पुत्रों का अपने धर्मत्मा भाई पांडवों के साथ अनुचित व्यवहार महाभयंकर विपत्ति को खड़ा कर रहा है। यदि आपने इसकी उपेक्षा की, तो यह समस्त पृथ्वी का विनाश कर डालेगी। इस समय शांति की स्थापना करना आपके और मेरे धर्म ही है। आप अपने पुत्रों को रोक लें, मैं पांडवों को रोक दूँगा। आप पांडवों के ज्येष्ठ पिता हैं। अतः उनके साथ की गयी भर्त्ता का आप पालन करें। पांडवों के सहयोग से आप समग्र संसार का राज्य प्राप्त कर लेंगे और शत्रुओं से निर्भय हो जावेंगे। पांडव आपकी सेवा करने के लिये भी तैयार हैं और युद्ध के लिये भी। आपको जिस कार्य में अपना हित दिखाई दे, आप वही कार्य करें (उद्योगपर्व ६३।३,६,१०,११,१३,२२)।”

धृतराष्ट्र बोले—

“न त्वहं स्वयशस्तात किममार्णं न मे प्रियम् ।

अंगं दुर्योधनं कृष्णं नंदं शास्त्रातिगं मम ॥

अनुनेतुं महाबाहो यतस्त्वं पुरुषोत्तम ।

न श्रुणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ॥”

—उद्योगपर्व १२४।३,४

‘केशव, आप का कथन यथार्थ है, पर मैं इस समय स्वाधीन नहीं हूँ और जो कुछ किया जा रहा है वह भी मेरे लिये प्रिय नहीं है। आप इस दुर्वृद्धि दुर्योधन को समझाइये, जो न शास्त्र की बात मानता है और न सत्पुरुषों के कथन को स्वीकार करता है।’

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को भी समझाया, पर उसने बार-बार यही कहा—

^१ सश्रित्तिभोग्यान्वयानि आपद्भोग्यानि वा पुनः ।

न च संश्रियसे राजसभयाऽऽपद्गता वयम् ॥

—उद्योगपर्व ६१।२५

^२ उद्योगपर्व ६३।४,५,६,१२

“मेरे जीवित रहते लीक्षण सुई की नोक के बराबर भी भूमि पांडवों को नहीं दी जा सकती।”^१

जब दुर्योधन क्रुद्ध होकर शर्प की तरह स्वास लेता हुआ अधिष्ठ की माँति खड़ा होकर राजसभा से चल दिया (१२८।२५, २७), तो श्रीकृष्ण भी धृतराष्ट्र आदि को समझाते हुए हस्तिनापुर से चल दिये और कुंती के पास होते हुए उपप्लव नगर में पांडवों के पास पहुँच गये (१४७।१)।

पांडवों के समक्ष उन्होंने कौरव-सभा का समस्त वृत्तत सक्षेप में सुनाते हुए कहा—

“भीष्म, द्रोण, विदुर, गांधारी और धृतराष्ट्र के बहुत समझाने पर भी भूर्ख दुर्योधन न माना। मैंने संधि का प्रस्ताव किया, पर उसने मेरे इस हितकारी प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। जब साम नीति से काम निकलता न देखा, तो मैंने भेद द्वारा तुम लोगों के बैवी एवं मानवी कर्मों का कथन करके उसे भयभीत करना चाहा। फिर शांति की बातें करके आधा राज्य देने का प्रस्ताव किया। मैंने यह भी कहा कि सारा राज्य कौरव ही लें, केवल पाँच ग्राम पांडवों को निर्वाह के लिये दे दें, पर बुद्ध दुर्योधन इन्हें कुछ भी भाग देने को उद्यत न हुआ। अब इन पापियों के प्रति चतुर्यं उपाय बंड का प्रयोग करना ही उचित है।”^२

परिणामतः दोनों दलों में युद्ध की तैयारी हुई। पांडव दल में द्रुपद, विराट, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, शिखंडी और मगधराज सहदेव—ये सात महारथी सेनापति के पद पर अभिषिक्त हुए। महासेनापति का अधिकार धृष्टद्युम्न को प्राप्त हुआ। इन सबके भी ऊपर अर्जुन को सेनापतियों का अधिपति बनाया गया और अर्जुन के भी ऊपर अर्जुन के रथ को चलानेवाले महावृद्धिमान् श्रीकृष्ण को नेतापद दिया गया।^३

भीष्मपर्व

महाभारत में भीष्मपर्व के अंतर्गत अध्याय २५ से ४२ तक अर्जुन के मोह और श्रीकृष्ण के उस उपदेश का वर्णन है जिसे ‘भगवद्गीता’ कहते हैं। इसमें श्रीकृष्ण ने आत्मा के अमरत्व की उच्च स्वर से घोषणा की है और अर्जुन को मोह छोड़कर सत्रियोचित कर्तव्य का पालन करते हुए युद्ध करने के लिये सज्ज किया है।

श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए गीता के कुछ महत्वपूर्ण वाक्य नीचे अंकित किये जाते हैं—

श्रीकृष्ण के अवतार लेने का हेतु

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥”

जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिये जन्म लेता हूँ।

उद्बोधन

“कुतस्त्वा कल्मषमिवं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यबुद्धमस्वयमकीर्तिकरमर्जुन ॥

कर्त्तव्यं मा स्म गमः पर्य नैतत्स्वय्युपपद्यते ।

शुद्रं हृदयदीर्घं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥”

१ उद्योगपर्व १२७।२५

२ उद्योगपर्व १५०।१, २, ३, १८, ६, १७

३ उद्योगपर्व १५७।११, १२, १३, १४, १५, १६

अरे धर्जुन, युद्ध के समय यह कबल कहाँ से आ गया ? यह तो अनार्यों को होता है। यह दुखद और अकीर्तिकर है। तुम कायर मत बनो। यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता छोड़कर, खड़े हो आओ।

आत्म-ज्ञान

“न जायते श्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अथो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥”

आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है और न ऐसा ही है कि यह पहले थी और फिर न रहेगी। यह अजन्मा, नित्य, समातन और सर्वदा रहनेवाली है। शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरती।

इसी सबब में गीता के द्वितीय अध्याय के १२, १३, १६, १६, २२, २३, तथा अध्याय ६ का १ वाँ श्लोक भी देखने योग्य हैं।

योग

“योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्धयसिद्धयोः समे भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

तस्माद् योगाद्युक्त्यस्य योगः कर्मसु कौशलम् ॥”

—गीता २।४८, ५०

“युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

यवा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥”

—गीता ६।१७, १८

“सिद्धि और असिद्धि में समान रहने का नाम योग है। योग कर्मों के करने में कुशलता है। युक्ताहार-विहार, कर्मों में युक्त चेष्टा, युक्त स्वप्नावबोध वाले को ही सुखद योग प्राप्त होता है। जब नियत चित्त आत्मा में स्थिर होता है और मानव समस्त कामनाओं से निःस्पृह हो जाता है, तभी वह योगी कहा जाता है।”

विनाश

“ध्यायतो बिषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।

संगात्सजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणवयति ॥

—गीता २।६२, ६३

“विषयों के ध्यान से आसक्ति, आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति भ्रम, इनसे बुद्धिनाश और बुद्धि के नाश होने से विनाश हो जाता है।”

शान्ति

“आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामो ॥

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमान्धरति निःस्पृहः।

निर्ममो निर्द्वन्द्वः स शान्तिमधिगच्छति ॥”

—गीता २।७०, ७१

“अचल रूप से स्थित, चारों ओर से ऊपर तक भरे हुए समुद्र में जैसे नदियों का जल ममा मगा है, वैसे ही कामनाएँ जिस व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाती हैं (पर उसके अंदर कोई हलचल या

उपद्रव उत्पन्न नहीं कर पाती) उसी को शांति प्राप्त होती है, कामनाओं के पीछे भागनेवाले को नहीं।"

"जो व्यक्ति समस्त कामनाओं को छोड़कर निष्कृष्ट होकर विचरता है, ममत्व और ग्रहण से रहित हो जाता है, वही शांति प्राप्त करता है।"

ज्ञानयोग

"सर्वं ज्ञानमननैव बुद्धिर्न सत्तरिष्यति ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
न हि ज्ञानेन सद्बुद्धं पवित्रमिह विद्यते ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥"

—गीता ४।३६, ३७।३८, ३९

"ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान की नीका पर चढ़कर मानव पाप के समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान से परम शांति शीघ्र ही प्राप्त होती है।"

कर्मयोग

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्यकर्मणि ॥
निष्कतं कुर्व कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धोऽयकर्मणः ॥
यज्ञायात्किर्मणोऽयत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौतिय मुक्तसंगः सभाव ॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निबलं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥"

—गीता २।४७, ३।८, ६, ३५

"करणीय कर्म के करने में ही मानव का अधिकार है, उसकी फल-प्राप्ति में नहीं। अतः न तो कर्मफल को कर्म करने का प्रेरक हेतु बनाओ और न अकर्म करो। अपने लिये नियत कर्म को करो। कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। यज्ञ धर्मवा परोपकार के लिये किये गये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म बंधन का कारण है। अतः आसन्नित छोड़कर कर्म करना चाहिये। अपना गुणरहित कर्तव्य दूसरे के मर्जी-मर्ति संपादित कर्तव्य की अपेक्षा श्रेयस्कर है। अपने लिये निश्चित कर्तव्य का पालन करते हुए मर जाना अच्छा है, पर दूसरे के लिये नियत किये हुए कर्म को कभी ग्रहण न करना चाहिए।"

भक्ति-योग

"बैबी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मामामेतां तरन्ति ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजैवैह स याति परमां गतिम् ॥
सततं कौतयतो मां यतंतश्च बृद्धताः ।
नमस्त्यजश्च मां भक्त्या नित्यमुक्ता उपासते ॥
अनन्यादिचतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥"

—गीता ७।१४, ८।१४, ९।२४, २२

"मेरी दैवी गुणमयी माया अनुल्लवनीय है, परंतु जो मेरी शरण आ जाते हैं, वे इस माया से भाग हो जाते हैं। शीघ्र भक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर को छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। लगातार मेरे नाम को जपता हुआ, दूध-शरीर बनकर मेरी सेवा करता हुआ और भक्तिपूर्वक मुझे प्रणाम करता हुआ जो व्यक्ति नित्य भक्ति-योग में निरत रहता है, वही मेरा सामीप्य प्राप्त करता है। अनन्य रूप से मेरा ही चिंतन करते हुए जो यज्ञ उपासना करते हैं, उनके योग क्षेम को मैं ही बहूत करता हूँ।

इही संवत् १२ वें अध्याय के २, ८ तथा १३से लेकर २० तक के श्लोक ध्यान देने योग्य हैं।

अध्याय १३ में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेचन, अध्याय १४ में सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की व्याख्या, अध्याय १५ में क्षर और अक्षर पुरुष का ज्ञान, अध्याय १६ में दैवी और आसुरी स्वप्न का वर्णन, अध्याय १७ में श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप आदि का त्रिविध विभाजन और अध्याय १८ में शल्याय से कर्ण की अपेक्षा प्रतिपादित की गयी है। गीता समस्त औपनिषद्-ज्ञान का सार कहलाती है। श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये ज्ञान से अर्जुन प्रबुद्ध हो उठा। उसका मोह नष्ट हो गया और वह युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

भीष्मपर्व से भीमसल्यपर्व तक

इस युद्ध में भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, द्रोण और दुर्योधन की मृत्यु श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता के कारण ही समझ हो सकती। महापराक्रमी भीष्म को मारने के लिये तो श्रीकृष्ण अत्यंत तीक्ष्ण चक्र मुलान को लेकर और रथ को छोड़कर स्वयं आगे बढ़ गये थे।^१ उनके उस समय के क्रोधावेग को रोकने में अर्जुन भी असमर्थ प्रायः हो गया था। जैसे आँधी में बूझ उठा चला जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण रोकनेवाले अर्जुन को अपने साथ लिये हुए वेगपूर्वक बढ़े चले जा रहे थे। बड़ी कठिनाई से अपने रीरों को अठाकर अर्जुन ने बसवें कदम पर उन्हें रोक पाया।^२

जयद्रथ-वध श्रीकृष्ण की योगजन्य माया और चातुर्य का ही परिणाम था। कर्ण के रथ के पश्चिमे बल भीरु ने घस गये और वह उनकी निकालने के लिये रथ से नीचे कूद पड़ा, तो श्रीकृष्ण अर्जुन की भाग चलाने के लिये प्रेरित करते रहे। कर्ण ने धर्म की दुहाई दी, तो श्रीकृष्ण ने ही उसे धागे हाथो लिया और उसके घामिक पाखंड को दूर किया। इस प्रकार मानसिक बल में आहत होकर जब कर्ण अर्जुन से युद्ध में पुनः प्रवृत्त हुआ, तो श्रीकृष्ण की अनुमति से अर्जुन ने महान् ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित 'अजलि' नाम का वाण चलाकर सूर्यपुत्र कर्ण का शिर काट डाला।^३

"द्रोणाचार्य जब तक शस्त्र वारण किये हैं, तब तक उन्हें कोई नहीं जीत सकता। जब वे मरने लगे हों, तभी मारे जा सकते हैं। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का संवाद किसी विश्वसनीय व्यक्ति से सुनकर ही वे शस्त्र रख सकते हैं।"^४—आचार्य द्रोण की मृत्यु का यह उपाय भी श्रीकृष्ण ने ही बताया था।^५

दुर्योधन का अंत भी श्रीकृष्ण ने माया (छल) द्वारा कराया, क्योंकि वर्षयुद्ध में भीम दुर्योधन को अपनी गदा द्वारा पराजित नहीं कर सकता था। अंत मायावी दुर्योधन माया द्वारा ही निहत्त हो सका।^६

इन सब बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि पाठकों का पराक्रम, श्रीकृष्ण की बुद्धि ने मनुष्य होकर ही कौरव-पक्ष के महान् वीरों को समाप्त करने में समर्थ हुआ।

वास्तव में पाठकों की विजय के मूल में श्रीकृष्ण ही थे। महाभारतकार कहता है—

^१ भीष्मपर्व ४६।८-६५। ^२ भीष्मपर्व ४६।१००-१०१। ^३ कर्णपर्व ६०।१०८-११६ तथा ६१।१ मे १२।१०२। ^४ शोणपर्व १४६।६४-१२२। ^५ शास्यपर्व ७।७, ८

उपद्रव उत्पन्न नहीं कर पाती) उन्हीं को शांति प्राप्त होती है, कामनाओं के पीछे भागनेवाले को नहीं।”
 “जो व्यक्ति समस्त कामनाओं को छोड़कर निःस्पृह होकर विचरता है, ममत्व और ग्रहकार से रहित हो जाता है, वही शांति प्राप्त करता है।”

ज्ञानयोग

“सर्वं ज्ञानप्लवेनैव धुजिनं सतरिष्यसि ॥
 ज्ञानग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
 न हि ज्ञानेन सर्वत्र पवित्रमिह विद्यते ।
 ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥”

—गीता ४।३६, ३७, ३८, ३९

“ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान की नौका पर चढ़कर मानव पाप के समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान से परम शांति वीज ही प्राप्त होती है।”

कर्मयोग

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
 मा कर्मफलहेतुर्बूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
 नियतं कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
 शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धचैवकर्मणः ॥
 यथायत्नकर्मणोऽप्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
 सर्वत्र कर्म कौतयेय मुक्तसंगः समाचर ॥
 श्रेयान्त्वचर्मो विगुणः परमर्तत्त्वनुष्ठितात् ।
 स्वधर्मो निबन्धनं श्रेयः परमर्मो भयावहः ॥”

—गीता २।४७, ३।८, २, ३३

“करणीय कर्म के करने में ही मानव का अधिकार है, उसकी फल-प्राप्ति में नहीं। अतः न तो कर्मफल को कर्म करने का प्रेरक हेतु बनाओ और न अकर्म करो। अपने लिये नियत कर्म को करो। कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। यज्ञ अथवा परोपकार के लिये किये गये कर्म के प्रतिरिक्त अन्य कर्म बंधन का कारण हैं। अतः आसक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिये। अपना गुणरहित कर्तव्य दूसरे के भलो-मार्ति संपादित कर्तव्य की अपेक्षा श्रेयस्कर है। अपने लिये निश्चित कर्तव्य का पालन करते हुए सर जाना अच्छा है, पर दूसरे के लिये नियत किये हुए कर्म को कभी ग्रहण न करना चाहिए।”

भक्ति-योग

“ईधी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
 मामेव ये प्रपद्यन्ते मामेतां तरन्ति ॥
 श्रीनित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहृत्यमानमुत्तरम् ।
 यः प्रयाति त्यजन्नेह स याति परमां गतिम् ॥
 सततं कौतयेतो मा यतस्तद्वच दृढव्रता ।
 नमस्त्यतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
 अनन्याशित्तयतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
 तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥”

—गीता ७।१४, ८।१३, ९।१४, ९२

“मेरी देवी गुणमयी माया अनुल्लघनीय है, परंतु जो मेरी शरण आ जाते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं। शोऽम् असर ब्रह्मा का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर को छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। लगातार मेरे नाम को जपता हुआ, बुद्ध-ब्रती बनकर मेरी सेवा करता हुआ और भक्तिपूर्वक भूषे प्रणाम करता हुआ जो व्यक्ति नित्य भक्ति-योग में निरत रहता है, वही मेरा सामीप्य प्राप्त करता है। अनन्य रूप से मेरा ही चिंतन करते हुए जो भक्त उपासना करते हैं, उनके योग लोभ को मैं ही वहन करता हूँ।

इसी सबब मैं १२ वें अध्याय के २, ८ तथा १३ से लेकर २० तक के श्लोक ध्यान देने योग्य हैं।

अध्याय १३ में लोभ-लोभन का विवेचन, अध्याय १४ में सत्तोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की व्याख्या, अध्याय १५ में सार और असर पुरुष का ज्ञान, अध्याय १६ में देवी और आत्मी सपत् का वर्णन, अध्याय १७ में श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप आदि का त्रिविध विभाजन और अध्याय १८ में सन््यास से कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। गीता समस्त औपनिषद्-ज्ञान का सार कहलाती है। श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये ज्ञान से अर्जुन प्रबुद्ध हो उठा। उसका मोह नष्ट हो गया और वह युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

भीष्मपर्व से मौसलपर्व तक

इस युद्ध में भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, द्रोण और दुर्योधन की मृत्यु श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता के कारण ही संभव हो सकी। महापराक्रमी भीष्म को मारने के लिये तो श्रीकृष्ण अत्यंत तीव्र शक्त सुदर्शन को लेकर और रथ को छोड़कर स्वयं भागे वढ गये थे।^१ उनके उस समय के क्रोधावेग को रोकने में अर्जुन भी असमर्थ प्राय हो गया था। जैसे आँधी में वृक्ष उड़ा चला जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण रोकनेवाले अर्जुन को अपने साथ लिये हुए वेपपूर्वक बढे चले जा रहे थे। बड़ी कठिनाई से अपने पैरो को अड़ाकर अर्जुन ने दसवें कदम पर उन्हें रोक पाया।^२

जयद्रथ-वध श्रीकृष्ण की योगजन्य माया और चातुर्य का ही परिणाम था। कर्ण के रथ के पहिये जब कीचड़ में बस गये और वह उनको निकालने के लिये रथ से नीचे कूद पड़ा, तो श्रीकृष्ण अर्जुन को बाण चलाने के लिये प्रेरित करते रहे। कर्ण ने धर्म की दुहाई दी, तो श्रीकृष्ण ने ही उसे घ्राडे हाथो लिया और उसके धार्मिक पाखंड को दूर किया। इस प्रकार मानसिक बल में आहत होकर जब कर्ण अर्जुन से युद्ध में पुन प्रवृत्त हुआ, तो श्रीकृष्ण की अनुमति से अर्जुन ने महान् ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित ‘अजलिक’ नाम का बाण चलाकर सूर्यपुत्र कर्ण का शिर काट डाला।^३

“द्रोणाचार्य जब तक शस्त्र धारण किये हैं, तब तक उन्हें कोई नहीं जीत सकता। जब वे शस्त्र रख दें, तभी मारे जा सकते हैं। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का समाद किसी विद्वत्सनीय व्यक्ति से सुनकर ही वे शस्त्र रख रख सकते हैं।”—आचार्य द्रोण की मृत्यु का यह उपाय भी श्रीकृष्ण ने ही बतलाया था।^४

दुर्योधन का अंत भी श्रीकृष्ण ने माया (छल) द्वारा कराया, क्योंकि धर्मयुद्ध में भीम दुर्योधन को अपनी गदा द्वारा पराजित नहीं कर सकता था। अंत मायावी दुर्योधन माया द्वारा ही निहत हो सका।^५

इन सब बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि पांडवों का पराक्रम, श्रीकृष्ण की बुद्धि से संयुक्त होकर ही कौरव-शत्रु के महान् वीरों को समाप्त करने में समर्थ हुआ।

वास्तव में पांडवों की विजय के मूल में श्रीकृष्ण ही थे। महामारतकार कहता है—

^१. भीष्मपर्व ३६।८८-८९। ^२. भीष्मपर्व ५६।१००-१०१। ^३. कर्णपर्व ६०।१०८-११६ तथा ६१।१ से १२ और ५०। ^४. द्रोणपर्व १४६।६४-१२२। ^५. शाल्यपर्व ७८।७, ८

कृष्णो हि भूले पांडूनां पार्थः स्कांध इवोदगतः ।

शाखा इवैतरे पार्थाः पांचालाः पत्र सक्षितः ॥

—द्रोणपर्व १८२-२३

"जैसे किसी वृक्ष का मूल उसका समस्त बोझ वहन करता है, उसका एक मात्र आश्रय होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण पांडवों की विजय रूप वृक्ष के मूल थे। अर्जुन इस वृक्ष का स्कांध (तना) था। अन्य पांडव शाखा और पांचाल पत्तों के समान थे।" श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता और अर्जुन के गाढीव ने मिलकर समस्त अनार्य प्रवृत्तिवालों को समाप्त किया और भार्यत्व की प्रतिष्ठा की। कौरवों की पराजय और पांडवों की विजय में इन दोनों व्यक्तियों का ही विशेष हाथ था।

समरभूमि में श्रीकृष्ण ने अर्जुन तथा अन्य पांडवों की भी कई बार रक्षा की। जब प्राग्यो-त्तिव के राजा मगदत ने अर्जुन के वाणों से पीड़ित होकर वैष्णवावध उठाया और उससे अपने अक्रुश को अभिमन्त्रित करके अर्जुन की छाती पर दे मारा, तो श्रीकृष्ण ने ही अर्जुन को अपने पीछे करके उसे स्वयं अपनी छाती पर ग्रहण कर लिया था, अन्यथा इस अक्रुश से अर्जुन का प्राणांत होने में कोई संदेह नहीं था।^१

अर्जुन के वाणों का निराकरण करनेमें अशक्त होकर जब क्षत-विक्षत कर्ण ने अपना समस्त पौरुष एकत्रित करके सर्प के समान भ्रज्ज्वलित, अत्यंत तीक्ष्ण एक शत्रुनाशक वाण धनुष पर चढाया जिसे उसने अर्जुन की भारने के लिये सुरक्षित रख छोड़ा था, उस समय श्रीकृष्ण ने उस प्रदीप्त वाण को अर्जुन की ओर वेग से भाते हुए देखकर बड़ी क्षीघ्रता से अश्वों को अपने पैरों से दबाकर घुटनों तक बैठा दिया। इस क्रिया-कौशल से रथ का बहुत सा भाग पृथ्वी में दब गया। रथ के नीचे झुक जाने से वह वाण अर्जुन के हृद् प्रदत्त किरीट को ही चीब सका।^२ इस प्रकार कर्ण का छोड़ा हुआ वह वाण श्रीकृष्ण के कौशल के कारण व्यर्थ हो गया। अर्जुन बाल-बाल बच गये।

कर्ण को जो भ्रमोघ शक्ति द्रुप ने दी थी उसे भी श्रीकृष्ण की नीति ने ही घटोत्कच पर चलाकर अर्जुन के प्राण बचा लिये थे।^३

युद्ध की समाप्ति पर, प्रथम दिन की रात्रि के समय श्रीकृष्ण ने समस्त पांडव-दल को शिविरो के बाहर रहने का आदेश दिया था और सब ने सरस्वती नदी के तट पर रात्रि व्यतीत की थी।^४ इस नीति ने भी पांडवों की रक्षा की।

जब पांडव, युद्ध के अंत में, धृतराष्ट्र से मिलने गये, तो धृतराष्ट्र ने भीम से मिलने की इच्छा प्रगट की। श्रीकृष्ण उनकी पुत्र-शोक से बचकती हुई कोपार्जि को समझ गये और उन्होंने भीम को लौह-भूति धृतराष्ट्र के सामने प्रस्तुत कर दी, जो उनकी भीषण वाह्यभौ में पड़कर चकनाचूर हो गयी।^५ इस प्रकार श्रीकृष्ण ने भीम को मृत्यु के मुख में से निकाल लिया।

जब युधिष्ठिर वैराग्य के हिंडोले में झूलते हुए राज्य करने से इनकार करने लगे, तो श्रीकृष्ण ने ही उनका शोक-शमन किया और निष्काम होकर प्रजा का अनुरजन करते हुए कल्याण मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया।^६

अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों सखा कहलाते हैं। महासमर के पूर्व जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण और उनकी सेना में से अपने लिये केवल श्रीकृष्ण को ही चुना, तो श्रीकृष्ण ने इसका कारण पूछा। अर्जुन बोले—

^१. द्रोणपर्व २६।१८। ^२. कर्णपर्व ६०।२७, २६, ३२। ^३. द्रोणपर्व १७६।५७। ^४. शाव्यपर्व ६२।३७, ३६। ^५. स्त्रीपर्व १२।१४, १६, १७। ^६. आश्वमेधिकपर्व २।१, ८

“अर्वास्तु कीर्तिमालोके तद्यशस्त्वां गमिष्यति ।

यशसां चाहुमाप्यर्थां तस्मादसि मया वृतः ॥”

—उद्योगपर्व ७।३६

“आपकी कीर्ति ससार में फैली हुई है। आपके हमारी ओर हो जाने से वह यश भी हमारी ओर आ जायगा। इसी हेतु मैंने आपको चुना है।” इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण अपने सद्गुणों के कारण उस समय विषय विस्मृत हो रहे थे। विषय-व्याप्ति का ऐसा महापुरुष जिसके साथ होगा, उसकी कीर्ति निस्संदेह विदिग्गत व्यापिनी होगी। अर्जुन के सबब में यही हुआ भी। उसका नाम आज तक श्रीकृष्ण के साथ लिया जाता है। महाभारत (भगवद्गीता) में लिखा है—

“यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पाथीं वनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयो भूतिर्भूवा नीतिर्मतिमम ॥”

—भीष्मपर्व ४२।७८

“जहाँ योगेश्वर कृष्ण और गाडीवधारी अर्जुन हैं, वही श्री है, वैभव है और विजय है।”

श्रीकृष्ण के ऐसे लोकोत्तर, पावन चरित्र पर कतिपय छिद्रान्वेषियों ने अनेक लाञ्छन लगाये हैं। उन्हें व्यभिचारी, असत्यमापी आदि कहकर अपमानित करने की चेष्टा की है पर, यह सब अनर्थ प्रताप है। वे वास्तवमें उच्च कोटि के उज्ज्वल तथा तेजस्वी-चरित्रवाले थे और शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों दृष्टियों से अत्यंत विकसित उदात्त कोटि के मानव रूप में साक्षात् ईश्वर थे।^१ महाभारत के अनेक स्थलों पर उन्हें बलिष्ठ शरीर वाले योद्धा, नीति-निपुण राजदूत, अत्यंत दक्ष सारथी, समर विद्या में पारंगत, वेदों के विद्वान्, योगाचार्य, सत्यवादी, इन्द्रियधी और अत्यंत विनय संपन्न महापुरुष कहा गया है। परीक्षित की जीवित करने के समय उनके मुख से जो वाक्य निकले हैं, वे उनके जीवन की समस्त साधना को निताव स्पष्ट कर देते हैं। वे कहते हैं—

“नीतस्तं पूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।

न च युद्धात्परावृत्तः तथा संजीवतामयम् ॥

यया मे वयितो धर्मो ब्राह्मणवच विज्ञेयतः ।

अभिमन्योः सुतो जातो भूतो जीवत्वयं तथा ॥

यया सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।

तथा भूतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः ॥

यया कंसश्च केशी च धर्मो न हितौ मया ।

तेन सत्येन वालो हि पुनः संजीवतामयम् ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन स वालो भरतर्षभ ।

शनैः शर्मनहारश्च प्रास्पदत सचेतनः ॥”

—शाक्यमेघिकपर्व ६१।१६, २०, २२, २३, २४

“मैंने खेलकूद में भी कभी मिथ्याभाषण नहीं किया है और युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखायी है। मेरे इस पुण्य के प्रभाव से अभिमन्यु का यह बालक जीवित हो उठे। यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष रूप से प्रिय हैं, यदि सत्य और धर्म मुझ में सदैव प्रतिष्ठित रहे हैं, यदि कंस और केशी

^१. प्रोणपर्व अध्याय ११ में वृतराष्ट्र ने संजय से श्रीकृष्ण के चल-चराकन का वर्णन किया है, जिसमें उनके बाल्यावस्था में ही अश्वराज, वृषभासुर, प्रलंब, नरकासुर, कंस आदि के मारने का उल्लेख है।

भीष्मपर्व में अध्याय ६५ से ६७ तक विश्वोपाख्यान है, जिसमें श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक-विकास का चित्रण ईश्वर के रूप में किया गया है।

धर्म पूर्वक हमारे हाथ से मारे गये है, तो उस सत्य और धर्म के प्रभाव से यह बालक जीवित हो उठे। बासुदेव के ऐसा कहने पर बालक धीरे-धीरे साँस लेने लगा।”

यदि बाणी में सत्य का बल है, तो वह निस्संदेह फलवती होती है। श्रीकृष्ण के वचन सफल हुए और परीक्षित के निर्जीव मासपिंड में चेतना का संचार हो उठा। जीवन-संचार का यह प्रभाव श्रीकृष्ण के निर्मल चरित्र और उज्ज्वल आध्यात्मिक शक्ति का ही परिणाम था।

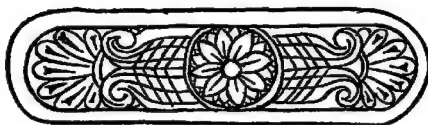
श्रीकृष्ण का जो चरित्र आशा और उत्साह का प्रतीक है, जिसने एक बार समस्त विश्व को अपने यश सौरभ से व्याप्त एवं प्रभावित किया था, जो सात्वत धर्म का प्रतिष्ठाता तथा अनासक्ति योग का आचार्य था, उस जीवन का पटाक्षेप जिन कथन स्मृतियों के बीच हुआ, उन्हें अनुभव करके मानव-हृदय कराह कर चीख उठता है। जिस महाप्राण ने महाभारतीय समर में पाठवो को विजय दिलायी, वह दैवाधीन हो अपने ही यादव-वंश को विनाश की कराल दावो में जाने से न बचा सका। उसकी आँखों के ही सामने उसके पुत्र-पौत्रादि, पारिवारिक वधु-बाधवादि पारस्परिक सघर्ष की भग्नि में पड़कर मस्तीभूत हो गये। अधिकांश उन्हींके हाथों से मारे गये। अतः में वे स्वयं भी एक बहेलिये के बाण से आहत होकर अपने लीला-भाम में प्रविष्ट हुए।^१ उनके पश्चात् अर्जुन जैसे धनुर्धर के रहते हुए भी यदुकुल की स्त्रियों की जो दुर्दशा हुई^२ उसे पढ़कर मानव का हृदय विचलित हो उठता है। तो क्या भारत ग्रीक-ग्रयो जैसा विषादात काव्य है?

महाभारत में सब कुछ है, यह सत्य है, पर उसके पढने से गृह-युद्ध की जो विभीषिका लड़ी हो जाती है, आत्म संहार का जो वीमत्स चित्र उपस्थित हो जाता है, वह हृदय-नगन को भेदकर निकली हुई हाहाकार की कथन ध्वनि से इस व्योमविबर को आप्नुत भी कर देता है। जो यथार्थ है, इतिहास (ऐसा ही निश्चय हुआ) है, उससे मानव अपनी आँखें कैसे मूँद सकता है?

महाभारत की कथा और श्रीकृष्ण का चरित्र हमारे सामने जीवन का कठोर सत्य उपस्थित करते हैं। जीवन का यह यथार्थवाद रामायण के आदर्शवाद से नीचे ही सही, पर वह हमारी आँखें खोलने के लिये पर्याप्त सामग्री रखता है। आदर्शवाद हमारी आँखों को ऊपर ले जाता है, पर प्रत्यक्ष-वाद उन्हीं सामने, पीछे और अगल-बगल देखने के लिये विवश कर देता है।

^१. मौसलपर्व, अध्याय ४।

^२. मौसलपर्व, अध्याय ७।



गीता-ज्ञान

श्री बासुदेवशरण अग्रवाल

गीता-ज्ञान मनुष्य के लिये है। मनुष्य के जीवन की समस्याओं को सुलझाने की सामग्री गीता में है, यही इसके नित्य-मूल्य का कारण है। आज भी वह जीवन के निकट की वस्तु है, इसी-लिये उसमें रस है। जीवन से परे किसी अनजाने स्वर्ग की टोह में गीताकार ने अपना प्रयत्न नहीं किया। नित्य प्रति जीवन में जो समस्याओं का जमघट है—जिसे सघर्ष कहा जाता है, उसे बुद्धि की सहायता से सुलझा कर निर्मल मन और स्पष्ट कर्म के द्वारा जीवन-यात्रा में अग्रसर होना इसी लक्ष्य के साथ गीताकार बार-बार हर सिद्धांत का सूत्र मिलाते हैं। यही उनका अविचल केंद्र है, जिस पर व्यक्ति को खड़ा करके वे विषय के साथ समता प्राप्त कराना चाहते हैं। यह दृष्टिकोण मानवी-बुद्धि को ग्राह्य है। हम में से प्रत्येक व्यक्ति इसे अपने लिये अपना कर उसके साथ तन्मय हो सकता है। गीता न केवल योगी के लिये है, न ससार छोड़कर वैराग्य-साधनेवालों के लिये है, न कर्म-काण्ड में रूचि रखनेवालों के लिये है और न नाम जपनेवाले भक्तों के लिये है, वह इन सब के लिये एव इनसे भी अधिक उन सब मानवों के लिये है जो जीवन के मार्ग पर कहीं न कहीं चल रहे हैं। उनमें से हर एक के जीवन की समस्या तय करने के लिये प्रकृति के दिये हुए साधनों में हमारे पास मन, शरीर, इन्द्रियाँ और बुद्धि है। इनसे ठीक प्रकार काम लेकर मनुष्य अपनी मानवोचित महिमा को प्राप्त करता है और जीवन में कठिनाइयों पर विजय पाता है। यह प्रश्न लगभग वैज्ञानिक स्वरूप रखता है और गीता उसके समाधान का वैज्ञानिक कर्म शास्त्र है।

गीताकार का दृष्टिकोण स्पष्ट, निश्चित और सरल ढंग से व्यक्त किया गया है, उसमें काव्य का सौंदर्य है। मानवी जीवन में भी एक छिपा हुआ सौंदर्य है जिसे प्रकट करना जीवन की कला है। गीताकार ने इस साहित्यिक शैली को भली प्रकार समझा था, अतएव उन्होंने 'भह करो, यह न करो' के उपदेशों की लड़ी गूँथने के बजाय जीवन की सरलता से भरा हुआ काव्य ही प्रस्तुत कर दिया है। गीता को प्राचीन परिभाषा में 'अमृत-तुल्य दूध' कहा गया है। यह दूध ज्ञान की उन बड़ी-बड़ी वेदोप-निषद् रूपी गौओं से दुहा गया था, जिन्होंने सैकड़ों वर्षों तक भारतीय ज्ञान-कातार में स्वच्छंद विवरण और पोषण प्राप्त किया था। इस देश में जो तत्व-चिंतन हुआ वह वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन आदि ग्रंथों में और लोक के मन में भरा हुआ था। उसके एकत्र स्पष्ट कथन की आवश्यकता थी, जिससे यह ज्ञात हो सके कि परिभाषाओं के घटाटोप के मूल में सच्चा अर्थ क्या है। गीता इस प्रकार के स्पष्ट-निश्चित कथन का सर्वोत्तम रूप है। जहाँ तक पूर्ववर्ती साहित्य का संबंध है गीता का दृष्टिकोण सम-न्वय-प्रधान है। दार्शनिक उल्लास-मल्लाह में गीताकार को कोई रूचि नहीं है। उनकी एक ही दृष्टि है—वे ज्ञान को व्यवहार के निकटतम लाकर उसे सरस और जीवन के लिये अधिक उपयोगी बनाना चाहते हैं, उस सब की कृषी मन है, जो मन अपने आप से जुझ रहा है, उसकी शक्ति बिखरी हुई है, वह भ्रष्टा है, वह समाधान नहीं—एक समस्या है। अतएव गीता की दृष्टि में पहली प्रावश्यकता मन में पड़ी हुई गौओं को सुलझाना है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अपने मन का संस्कार करे—मन्य अपना मित्र बने, तब वह दूसरों के लिये उपयोगी बन सकता है।

हर एक व्यक्ति को प्रकृति ने इन्द्रियाँ, शरीर और मन ये माधन प्रदान किए हैं। इन्द्रियों के विषय में कृष्ण का दृष्टिकोण एक शब्द में यह है कि उन्हें 'युक्त' बनाना चाहिए, यर्थात् उचित

अव्यय वृत्ति के अनुसार चलना चाहिए। न तो त्रिकाल समय का कन्दोष चढ़ाने से इन्द्रियाँ बग में आती हैं और न एक दम ढील छोड़ देने से ही। बुद्ध ने भी यह अनुभव किया था। ठीक आहार, ठीक बिहार, ठीक सोना, ठीक जागना, कामों में ठीक प्रवृत्ति—इस मार्ग से मनुष्य इन्द्रियो और विषयो के बीच की कशमकश को बहुत श्रमों में सुलझा कर मन-बुद्धि के तनाव को कम कर सकता है।

शरीर के विषय में कृष्ण का मत है कि शरीर एक क्षेत्र है, इस क्षेत्र का जो पेचीदा ठाठ है उसे ठीक तरह से पहिचानना, यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जो इस क्षेत्र को अच्छी तरह जानता है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। अतः करण का सही अपना आत्मा प्रत्येक क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के पारस्परिक संबन्ध, बलाबल और महत्त्व को जान लेता है और व्यवहार में उससे काम लेता है, वही सच्चा क्षेत्रज्ञ है। शरीर की 'क्षेत्र-ज्ञता' पुरानी वैदिक परम्परा थी। कहा है—

“अक्षेत्रविश्वक्षेत्रविदं ह्यप्राप्दं स प्रीति क्षेत्रविदानुशिष्टः ।”

—ऋग्वेद, १०।३२।७

“जो क्षेत्र को नहीं जानता वह जाननेवाले से पूछता है और उसकी सीख के अनुसार काम करता है ।”

बुद्ध ने भी आध्यात्मिक श्रमों के लिये खेत, खेतों और किसान के रूपक को स्वीकार करके कई तरह से उसे पल्लवित किया था, किन्तु कृष्ण का जो सबसे महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है वह मन से संबंध रखता है। मन को ठीक करने के लिये उन्होंने जो युक्तियुक्त दृष्टिकोण बताया है, वही गीता-ज्ञान का जगमगाता हुआ हीरा है। मन सबसे मूल्यवान् तत्त्व है, मन सबके भीतर बँठा हुआ अपूर्व यक्ष है। मन को मित्र बनाने से काम चल सकता है। यदि मन के नाम वाकी निकलती रही तो हलके होकर जीवन-यात्रा करना कठिन है। बुद्ध ने भी सब कर्मों के मूल में मन को ही श्रेष्ठ कहा है—

“अनो पुब्बंगमा रंभा मनो सेट्ठा मनोमया ।

मनसा वे पवुट्ठेन भासति वा करोति वा ।

ततो न पुक्खमन्नेति चक्क व बहो पवम् ॥”

—धम्मपद

“सब धर्म या अवस्थाएँ पहले मन में उत्पन्न होती हैं, उनमें मन ही मुख्य है, वे मनोमय हैं। यदि हम दुष्ट मन से बोलते या काम करते हैं तो दुःख पीछे-पीछे चलता है, जैसे बैल के पीछे—पूजिया ।”

मन की ठीक स्थिति प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए? इस विषय में श्रीकृष्ण का अभिमत संक्षेप में यह है कि मन इच्छामो की भूमि है, कोई ही मन ऐसा होगा जो कामनाओं का लीला-क्षेत्र न हो। कामनाओं को लेकर हम जब कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो मन पर एक बोझ रहता है। वैज्ञानिक शब्दों में कहे तो कह सकते हैं कि कामना से भरा हुआ मन तनाव की स्थिति में हो जाता है। यह तनाव हटाना आवश्यक है। तनाव के कारण मन की धारा कुटिल हो जाती है। तनाव मन की—‘ऋतुगति’ को डाँवाँडोल कर देता है, या दायें-बायें झुका देता है। मन को ऐसी तनाव की स्थिति से बचना आवश्यक है, सभी हम कर्म को परिशुद्ध बना सकते हैं, नहीं तो कर्म पर स्वार्थ की छाया पड़ जाती है और कर्म बहका हुआ हो जाता है। यह तनाव की स्थिति किस कारण से उत्पन्न होती है, इसका उत्तर यह है कि कर्म करते समय मन जब फल पर जाकर भटकता है, तब कर्म परिशुद्ध नहीं रह जाता। कर्म करने की इच्छा या कामना होना बुरा नहीं, वह तो स्वाभाविक और आवश्यक है, किन्तु कर्म-क्षेत्र से बाहर जाकर जब हम उसके फल की चालसा मन में ले आते हैं, तब मन पर बोझ पड़ जाता है और भय, शंका, लोभ, स्वार्थ आदि वृत्तियाँ हमारे समस्त व्यक्तित्व को तनाव से भर देती हैं। फल के लिये लोलुप न होना यही कर्म करने का सच्चा ढंग है, इसी

का नाम 'निष्काम कर्म' है। कर्म का त्याग करना कर्म-सत्यास नहीं, कर्म के फल की आशा से ऊपर उठ कर कर्म करना यही कर्म-सत्यास है और यही सच्चा कर्म-योग है। कोई कर्म शुरू ही न करे तो क्या वह इतने से ही बड़ा निष्कर्ष बन जायेगा ?

“न कर्मणामनारंभात्तन्कर्म्यं पुनरोऽश्नुते ।”

—गीता ३।४

कोई क्षण भर भी तो बिना कर्म के रह नहीं सकता। जनक आदि राजाधियों की लबी परंपरा में जिन्हें हम आदर्श मानते हैं, सभी ने तो कर्म किया, फिर कर्म से शिक्षक क्यों ? इत्यादि अनेक काव्यमय प्रश्न पूछकर हर एक पहलू से श्रीकृष्ण ने मूल प्रश्न को शकभोरा है। जीवन है तो कर्म भी साथ जुड़ा है। कर्म-त्याग जाय तो यह लोक ही ठप हो जाय। इससे ज्ञात होता है कि कर्म तो सरीरसारी को करना ही पड़ेगा। जब कर्म के बिना छुटकारा नहीं तो बुद्धि-पूर्वक उसका महत्व और उसकी युक्ति का निर्णय किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से गीता सत्तार के समस्त धार्मिक ग्रंथों में अकेली है, वह कर्म का शास्त्र है। प्राचीन या अर्वाचीन, चाहे जिस कसौटी से कर्म, कर्म की आवश्यकता माननी पड़ती है, फिर उसके करले का युक्तियुक्त ढंग जानना भी जीवन का आवश्यक और अनिवार्य प्रश्न बन जाता है। गीता इस प्रश्न का उत्तर है।

कर्म अनंत है। एक समय ऐसा था जब यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म मानते थे। अशोक ने धर्मानुशासन को श्रेष्ठ कर्म कहा—

“एष हि सेष्टे कमे य धर्मानुशासनम् ।”

कर्म के प्रकार युगधर्म के अनुसार परिवर्तनशील हैं। देश, काल और व्यक्ति के अनुसार कर्म अनेक प्रकार के हो सकते हैं और रहेंगे, किंतु उन सब की सामान्य विशेषता है, फल की आशा के साथ करनेवाले का सबब। फल का महत्व कर्ता की दृष्टि में जहाँ बड़ा वहीं कर्म के शुद्ध रूप को ग्रहण लग जाता है। इस दृष्टि से कृष्ण के निष्काम कर्मयोग का जीवन के लिये बहुत मूल्य है।

प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य के लिये इस प्रकार का निष्काम कर्म संभव है ? जैसा हमने आरम्भ में ही कहा है—“गीताज्ञान मनुष्य के लिये है”। अतएव इस प्रश्न का सच्चा उत्तर यही है कि कर्म करते हुए भी कर्म के तनाव और बोझ से बचने के लिये गीताकार ने जो निष्काम कर्म या कर्म-फल में लिप्त न होने की युक्ति बताई है वह भी मनुष्य के लिये संभव है। सब उसे प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः जीवन में जो कर्म उज्ज्वल हैं, जो कर्म गुणवान् हैं, जो कर्म मूल्य हैं, वे इसी ऊँचे चरातल से किये जाते हैं। कर्मों का सौरभ उनके निष्काम गुण की मात्रा पर ही निर्भर है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जब कर्म निष्काम धर्म बन जाता है, जब कर्म बिना फल की आशा के किया जाता है, तब समाज और विश्व के सत्पान के साथ मनुष्य की क्या स्थिति होती है ? किन्तु कारण से ऐसे व्यक्ति के कर्म में वदम्भन आ जाता है ? इस प्रश्न का जो उत्तर गीता में दिया गया है, वह गीताज्ञान का खिला हुआ पुष्प है। गीता में कई प्रकार की और काव्यात्मक शैली से इसे समझाया गया है। जब मनुष्य फल की इच्छा से ऊपर उठ कर अपने आपको तनाव से मुक्त कर लेता है तो वह प्रकृति के ही विरुद्ध सत्पान का भग्न बन जाता है। प्रकृति मनुष्य में बलवान् है, वह जगत् की प्रेरक शक्ति है, सुख-दुःख, शांति-क्षोभ, प्रकृति ही इनकी नियामक है। प्रकृति की स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है, राग और द्वेष, हानि और लाभ, लोभ और त्याग के प्रभावों ने प्रकृति ऊपर है। मनुष्य को भी उसी ब्राह्मी स्थिति के आदर्श के अनुसार अपने आपको डालना होगा। भारी दुःख हो या सुख हो—दोनों अवस्थायों में जो समता रख सकता है, वह ब्राह्मी स्थिति के निकट है, उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं।

स्थितप्रज्ञ ही गीताकार का आदर्श व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति हर-एक युग के लिये उपयोगी और आवश्यक है। प्रत्येक समाज और जन-समुदाय उन्हें चाहता है। जिस क्षेत्र में ऐसा व्यक्ति काम

करता है उसे ही उसझनो से रहित बनाता है। प्रत्येक सत्कृति, धर्म और दर्शन में युग-युग से जिस प्रकार के भावार्थ पुरुष की कल्पना की गई है, उस तरह का भावार्थ गीता के स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के गुणों में बहुत कुछ चरितार्थ हुआ है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति मानवमात्र के नैतिक भावार्थ की पूर्ति है। हमारे अपने युग में गीता की जो प्रधान व्याख्याएँ हुई हैं, उनमें लोकमान्य तिलक ने तो निष्काम-कर्मयोग को गीता के मथित धर्म के रूप में समझाने का प्रयत्न किया था एवं महात्मा गाँधी ने स्थित-प्रज्ञ के रूप में गीता के सारास को समझाने का प्रयत्न किया। दोनों ही धर्म गीताकार को मान्य हैं और वे एक दूसरे के पूरक हैं। लोक के लिये गीता का उपयोग है। गीताकार की दृष्टि में लोक का बहुत महत्त्व है। वेदव्यास के शब्दों में श्रीकृष्ण को—‘लोकविधानवित्’ कहा जाय तो ठीक होगा। लोक के विषय में श्रीकृष्ण का बहुत ही सुलझा हुआ और नवीन युग का-सा दृष्टिकोण है—

“लोक-व्यवहार के लिये कर्म करना आवश्यक है, मैं स्वयं इसी दृष्टि से कर्म करता हूँ। कर्म से भाग कर, जीवन के कर्तव्यों से मुँह मोड़ कर, अपनी परिस्थितियों से अलग शांति ढूँढना निरर्थक है। वैसी शांति यहाँ है ही नहीं, वह भ्रममयीचिन्ता है।” सधर्म में कर्तव्य-पालन से जो समस्थिति मिलेगी वह सच्ची शांति की स्थिति होगी। हम यह मानते हैं कि लोक में सभी कुछ अच्छा नहीं, यहाँ गुण हैं तो दोष भी है। हमें लोक के प्रति सहिष्णु बनना होगा। यदि यहाँ सब कुछ हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं तो खीझ कर लोक का परित्याग करना अनुचित है। वस्तुतः जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है—

“जड-चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कौन्ह करतार।

संत हस-गुन गर्हहि पय, परिहरि बारि-विकार ॥”

—रामचरितमानस

कृष्ण ने जगत् के सबध में वैदिक दृष्टिकोण को ही जो पुराना दार्शनिक मत था, स्वीकार किया है—यह ससार त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से इसका प्रत्येक भग्न नियन्त्रित है। सत्त्व-असत्त्व के मेल से विश्व बना है। जगत् की रचना के भीतर ही उसकी त्रिगुणमयी विषमता का ज्ञान भी हमें होता है। ससार की इस प्रकार सरल सुबोध व्याख्या सात्व्य-शास्त्र की पुरानी विशेषता थी। वस्तुतः सात्व्य शब्द गिनती परक सत्त्वा शब्द से न होकर ज्ञान-परक सत्त्वा शब्द से बना था। त्रिगुणात्मक जगत् का ज्ञान ही सच्चा चक्षु है। चक्षु धातु के स्थान पर ‘स्या’ भावेन करके सत्त्वा और उससे ‘सात्व्य’ शब्द की सिद्धि ऐतिहासिक सत्य के अधिक निकट जान पड़ती है। महाभारत में सात्व्य ही प्रमुख दार्शनिक दृष्टिकोण है, किंतु सात्व्य की परंपरा आरम्भ से ही मिथु-धर्म को साथ लेकर चली थी। इस कारण से यद्यपि सात्व्य के दार्शनिक दृष्टिकोण को गीता में स्वीकार किया गया, किंतु जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को गीताकार स्वीकार न कर सके। इस विषय में गीताकार ने एक नया और उच्चतर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और वह ‘कर्मयोग’ का मार्ग था। गीता में कई स्थानों पर कर्मयोग को केवल ‘योग’ ही कहा गया है—

“तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि भूतोऽधिकः।

कर्मिभ्योऽधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

—गीता ६।१६

इन श्लोक में तप नग्न के मार्गों का उल्लेख है—

१ ज्ञान, अर्थात् सारथ्य, २ तप, अर्थात् उग्र शरीर-साधना, ३ कर्म, अर्थात् वैदिक बर्गकांड और ४ योग, अर्थात् कर्म-जन का सत्यास या निष्काम कर्म-योग।

ऐतिहासिक दृष्टि में हम जानते हैं कि पहले तीन मार्ग प्राचीन धार्मिक जगत् में प्रचलित थे। गठित नाच्यार्थों ने निदि प्राप्त करने में पीछे बुद्ध ने भी बहुत धक्के मारे थे। उस ज्ञान के उन्निहाम में बने-बने त्रिगुण नग-गान्धों का उन्नेन निम्ना है। ज्ञानवादी मिथु या मत्स्य प्रसिद्ध ही है।

यज्ञो पर आश्रित वैदिक कर्मकाण्ड के बारे में जहाँ एक ओर विस्तृत ब्राह्मण और श्रौत साहित्य उपलब्ध है वहीं स्वयं कृष्ण ने भोग, ऐश्वर्य और स्वर्ग के लिये किये जानेवाले कर्मकाण्डों का उल्लेख किया है। वैदिक वाणी की यही उस समय सजी हुई फुलवाडी (पुष्पितावाक्) थी। कृष्ण ने इन तीनों मार्गों से ऊपर निष्काम कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है, किंतु उनका मौलिक दृष्टिकोण समन्वय प्रधान था, दूसरे मत के केवल निराकरण में उनकी रुचि न थी। साख्य और वेद इन दोनों की आलोचना वे ऊँचे स्तर से करते हैं।

कृष्ण ने कहा कि साख्य के त्रिगुणात्मक दृष्टिकोण को और निष्काम कर्मयोग के दृष्टिकोण को जो पृथक् या विरोधी समझते हैं, उनका दृष्टिकोण बच्चों का है, बुद्धिमानों का नहीं। बाल-बुद्धि व्यक्ति को भेद में कुतूहल होता है, किंतु पंडित भेद के मूल में छिपी हुई एकता को देखता है। मिथ्याचार या बाह्यरी डोंग को छोड़कर उचित ढंग से यदि साख्य और योग इन दो में से एक का भी पालन किया जाय तो दोनों का फल मिलता है—

“साख्ययोगी पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥” —गीता ५।४

वेद के विषय में भी गीताकार ने स्थान-स्थान पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया है—

“वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।”

सब वेदों या अंतर्धामी अर्थ या ईश्वर का ज्ञान कराना ही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के पुरुष सूक्त में स्पष्ट एक ईश्वर के अनुभव का उल्लेख हुआ है—

“पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं सर्वं यच्चमाव्यम् ।”

भूत और भविष्य सब ईश्वर ही है। अथवा—

“वेदाहमेतं पुरुषं महातमावित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।”

स्पष्ट रूप से वेदों के सारभूत अध्यात्म-पुरुष का वर्णन करता है। वेद के विषय में यह उच्चतर दृष्टिकोण ‘यास्क’ के समय में भी प्रलंबित हो रहा था, वहाँ कहा गया है कि मनो के द्वारा एक आत्मा का ही गुणगान किया जाता है—

“एक एव आत्मा बहुधा स्मूयते ।”

इंद्र, अग्नि आदि सब उसी के नाम हैं। वैदिक यज्ञों के सबब में सजे हुए शब्दों की कृष्ण ने उपेक्षा की और यही उस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि थी। उपनिषद् भी कह रहे थे—

“अदृढा ह्येते प्लवा यत्तत्प्राः ।”

जब कि गीताकार ब्रह्मज्ञान, ब्राह्मीस्थिति, स्थितप्रज्ञ अवस्था को सच्चा सार मानते हैं, निश्चित और ब्राह्मण ग्रंथों में दृढ़ पवते हैं—“जो अर्थ को नहीं मानता, केवल वेद के शब्द पर ध्यान देता है, वह मारवाही है।” उस समय भारतीय अध्यात्मज्ञान शब्दों के जिस दलदल में फँस रहा था, उससे कृष्ण ने उसे निकाला।

कृष्ण ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से जिन कई प्रश्नों का समाधान किया, उनमें देवताओं का प्रश्न भी एक था। बहुदेवतावाद धर्म का लोकपक्ष है। लोक में अनेक देवताओं की पूजा और विश्वास प्रचलित है। लोक को उनमें भक्ति और प्रतीति होती है और सम्भव आगे भी रहेगी। अनेक देवों में न एक अच्छा है, न दूसरा बुरा। वे सभी ईश्वर की विभूति हैं। यह विभूति शब्द पीछे से (पंचरात्र संप्रदाय में) विविध अवतारों के लिये पारिभाषिक हो बन गया था। गीता का ‘विभूति-योग’ नामक दसवाँ अध्याय ठेठ लोक पर आश्रित है। भूत, प्रेत, यक्ष, नाग, वृक्ष, पीपल, पर्वत, नदी, समुद्र, मगर, मछली आदि जब के प्रतीक, सूर्य, चंद्र, तारे इस प्रकार का एक बहुमुखी देवतावाद लोक-धर्म के रूप में फैला हुआ था जिसकी जड़ें भूमि के साथ सड़कित थी। इस धर्म के अस्तित्व का सबसे अच्छा प्रमाण ‘साँची’ और ‘अरकूत’ के स्तंभों पर अंकित देवी-देवताओं में मिलता है, जिनमें कितने

ही यस और नाग हैं। महाभारत के समापर्व में यक्ष, नाग और नदी देवताओं की लबी सूचियाँ मिलती हैं। बौद्धों के 'महागोटीय सुत्त' में भी कितने ही यक्षों के नाम आते हैं जिनकी लोक में मान्यता थी। 'महाभायूरी ग्रंथ' में भिक्षु-भिक्षु स्नानों के यक्षों की सूचियाँ हैं। भारतीय पुरातत्त्व में गणिमन्त्र, वैश्रवण आदि यक्ष, वसिकर्ण, एलापन्न आदि नाग, एव नवी, देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि लोक-जीवन की जो वास्तविक सच्चाई थी उसके तत्वों से गीता के दसवें अध्याय की रचना हुई, किन्तु उसमें गीताकार का समन्वय-प्रदान दृष्टिकोण मुख्य है। वे कहते हैं कि इस बहुदेवतावाद के भीतर ईश्वर के विराट् स्वरूप का दर्शन हमें करना चाहिए। अनेक विभूतियों के रूप में ईश्वर ही इस लोक में व्याप्त हो रहा है। इस दृष्टि से गीता के दशम अध्याय का ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ जाता है। वस्तुतः इस दृष्टिकोण को स्वीकृत और विकसित करके गायत्री ने धार्मिक समन्वय की दिशा में इस देश में बड़ा कदम उठाया। वीरे-वीरे सभी संप्रदायों को यह मत मान लेना पड़ा। ऐतिहासिक कथमकथ के भीतर से होता हुआ यह दृष्टिकोण धर्म के विषय में राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही बन गया।

गीता में जो जीवन के प्रति नीतिमत्ता और बुद्धिपूर्वक व्यवहार का दृष्टिकोण है, उसकी कुछ गुंज लोक-साहित्य में भी मिलती है। यह सर्व विदित है कि गीता का उपदेश कुरुक्षेत्र में हुआ। कुरुक्षेत्र-युद्ध की एक पुरानी कहानी 'कुरुक्षेत्र-जातक' के नाम से पाली जातकों के संग्रह में बची रह गई है।^१ उस कहानी का ठाठ कुछ अपूर्व है। उसमें राजा से लेकर रक तक लोक-जीवन के ११ प्रतिनिधि व्यक्ति लिये गये हैं। वे अपने कर्म में रहते हुए कठिन और सूक्ष्म शीलधर्म पालने का आदर्श अपने सामने रखते हैं। उनका मुख्य दृष्टिकोण यह है कि शील या गुणों का वाह्य रूप में पालन अधिक महत्त्व का नहीं, मन का भाव विशुद्ध होना चाहिए। यदि मन का भाव बिगड़ा हुआ है तो धर्म या शील आढरमात्र है। ये ११ व्यक्ति और इनके धर्म इस प्रकार हैं—

१. राजा	अहिंसा
२. राजमाता	समत्व
३. राजमहिषी	ब्रह्मधर्म
४. उपराजा	स्वामिधर्म
५. पुरोहित	अलोभ
६. रज्जुप्राहक	परतुल्य-निवृत्ति
७. सारथी	पशुधर्म पर दयाभाव
८. श्रेष्ठी	परब्रह्म के विषय में सूक्ष्म विवेक।
९. द्रोणमापक-महाभाष्य	प्रजानुर्कषा
१०. द्वारपाल	निष्ठुरवाक् का परित्याग।
११. वैश्या	कर्तव्य से उद्बुध होना।

यह जातक ११ कहानियों का संग्रह है जो सब समान दृष्टिकोण की परिचायक हैं। जातक की भूमिका में कहा गया है कि बुद्ध के जन्म से पहले ही पुराने पंडितों ने स्त्री-सहित घर में रहते हुए अल्पमान भी शील के अतिक्रमण करने में हिचकिचाहट प्रकट की थी। यह भिक्षु-धर्म के मुकाबले में गृहस्थ-धर्म का आदर्श था जो 'कुरुक्षेत्रपद' के साथ विशेष रूप से संबंधित दिखाया गया है। इन दृष्टान्तों का धर्म समझने के लिये एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

"कर्मिण के ब्राह्मण अपने देश में वर्षों न होने के कारण 'कुरुक्षेत्रपद' में शील का आदर्श-ग्रहण करने के लिये भेजे गये। उन्होंने जनपद के श्रेष्ठी के पास पहुँच कर धर्म की याचना की।

वह भी एक दिन जब धान की वाली निकल आई थी अपने धान के खेत में पहुँचा। देखकर उसने सोचा कि धान को वैधवाजंगा और धान के पूजे वैधवाकर मणनी के खेतों के पास रखवा दिए। तब उसे ध्यान आया कि इस खेत में से मृशे राजा का हिस्सा देना था, बिना लगान दिए गए खेत में से ही मैंने धान ले लिए। मैं कुशवर्म का पालन करता हूँ, वह भग हो गया होगा। उसने यह बात सुन कर कहा—

हे ब्राह्मणो, इस कारण मेरे मन में कुशवर्म के प्रति, सदेह है, इसलिये मैं उसे आपको सिखाने के योग्य नहीं हूँ। ब्राह्मणो ने कहा—‘आपकी चोरी की नीयत नहीं थी, बिना नीयत के चोरी का दोष घोषित नहीं किया जा सकता। कुछ न करने पर भी जब आप इस प्रकार सदेह करते हैं, तब आप किसी की चीज कैसे ले सकते हैं?’ ब्राह्मणो ने उससे झील ग्रहण कर सोने की पट्टी पर लिख लिया। इस जातक में कुशवर्म के विषय में तीन बातें विशेष रूप से ज्ञात होती हैं। प्रथम यह कि कुशवर्म सारे जनपद का धर्म था। राजा, ऋषि, मुनि, या केवल भिक्षुओं के लिये ही वह मार्ग न था। वेव्या, नौकर-वाकर, सेठ-भूनीम सभी इसका पालन कर सकते थे। यह गीता के—

“स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि पाति परांगतिम्।”

—गीता

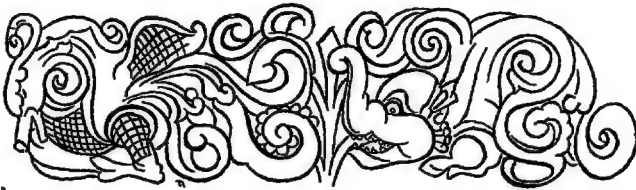
के अति निकट है।

दूसरी बात यह है कि कुशवर्म गृहस्थ-जीवन का धर्म था। धर्म में रहते हुए शीलधर्म पालन सबके लिये करना संभव है और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्म को ही इस धर्म के पालन का विषय बना सकता है।

तीसरी बात यह है कि कुशवर्म का सवध स्वर्ग, नरक से न होकर सीधे-सादे नीतिप्रधान जीवन-मार्ग से था। ईमानदारी से भरा हुआ जीवन ही इसकी विशेषता है।

इस कुशवर्म या गृहपतियो के आदर्श के लिये ही संभवतः लोक में—‘कुशगाह्वपत’ यह सार्वक शब्द प्रचलित हो गया था, जिसका उल्लेख ‘पाणिनि’ ने (लगभग ५०० ई० पू०) अपनी अष्टाध्यायी में किया है। ज्ञात होता है कर्म योग का कुशवर्म-आदर्श ही कुशदेश में कहे जानेवाले गीताधर्म के रूप में प्रकट हुआ था। भिक्षुधर्म से पृथक् यह गृहस्थों का जीवनमार्ग था। एक लोक कहानी के रूप में गीता के दृष्टिकोण की यह प्रतिष्ठा निम्न आश्चर्य-कारक नहीं।

गीता भारतीय जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित रही है। हमारी उदयोन्मुखी राष्ट्रीयता के निर्माण में भी गीता के दृष्टिकोण से सहायता मिली है। गीता-ज्ञान ने प्रेरक शक्ति के रूप में राष्ट्र का मार्ग-दर्शन किया है। यह इस शास्त्र की पर्याप्त प्रशंसा है कि अर्वाचीन जीवन के लिये भी इसकी उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई।



श्रीमद्भगवद्गीता-महिमा

— ० —

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-बिहारिनि, सुंदर सु पुनीते ॥
—जय भगवद्गीते ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्ति-हृदा ।
तत्त्व-ज्ञान-विकाशिनि, बिद्या-ब्रह्म-परा ॥
—जय भगवद्गीते ॥
निसञ्जल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल मलहारी ।
सरन-रहस्य-प्रदायिनि, सब बिधि सुखकारी ॥
—जय भगवद्गीते ॥
राग-द्वेष-बिहारिनि, कारिनि-भोव सब ।
भव-भय-हारिनि, तारिनि, परमानंद-प्रदा ॥
—जय भगवद्गीते ॥
आसुर-भाव-बिनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी ।
देवी सद्गुण-दायिनि, हरि-रसिका सजनी ॥
—जय भगवद्गीते ॥
समता-त्याग-सिखावनि, हरि-मुख की बाँनी ।
सकल-सास्त्र की स्वामिनि, स्तुतिभेन की रानी ॥
—जय भगवद्गीते ॥
दया-सुधा-जरखावनि भात-कृपा कीर्ति ।
हरि-पद-प्रेम-दान करि, अपनों करि लीजै ॥
—जय भगवद्गीते ॥

प्राचीन जैनग्रंथों में कृष्ण-चरित्र

श्री अगारचंद नाहटा

भारतवर्ष में श्रीकृष्ण और राम एवं बुद्ध और महावीर बहुत ही श्रद्धेय महापुरुष माने जाते हैं। प्राचीन ग्रंथों के अनुशीलन से पता चलता है कि वास्तव में इनका व्यक्तित्व असाधारण था। श्रीकृष्ण और राम के चरित्र ने तो लोक-मानस एवं साहित्य पर बड़ा भारी प्रभाव डाला। फलतः लोक-मानस में भक्ति की धारा उमड़ चली। इनका गुण-वर्णन कवियों का एक प्रिय विषय हो गया। कवियों की अलंकारिक भाषा एवं विलक्षण प्रतिभा ने इस दशा में खूब काम किया, अतः श्रीकृष्ण के सबब से तो इतना विचाल एवं विविध साहित्य का निर्माण हुआ है कि उसकी सूची बनाने से भी एक स्वतंत्र ग्रंथ बन सकता है। आज तो श्रीकृष्ण के वास्तविक इतिवृत्त का पता लगाना भी बड़ा कठिन कार्य हो गया है।

श्रीकृष्ण के चरित्र-संबन्धी जैन-ग्रंथों में सबसे प्राचीन ग्रंथ महाभारत है। जिसका उपलब्ध वर्तमान रूप पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ईस्वी की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है।^१ इसके बाद श्रीमद्भागवतादि में तो कृष्ण-चरित्र बहुत विकसित रूप से उपलब्ध है। अतः इस निबन्ध में उन्हीं प्राचीन जैन-ग्रंथों का आधार लिया गया है, जो कि एतद्विषयक जैन-ग्रंथों से प्राचीन ग्रंथों के समकालीन या उनसे प्राचीन हों। जैन-साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रंथ 'आगम' है, जो कि भगवान् महावीर के कथित कहे जाते हैं। अतः उनका वर्तमान रूप—लेखन-काल ई० सन् ३५३ होने से उससे पूर्ववर्ती है। इसके परवर्ती ग्रंथों में 'वसुदेव हिंडी' प्रधान है, जो कि ४-५ वीं शती का महत्त्वपूर्ण तथा कथा-ग्रंथ है। अतः श्रीकृष्ण के चरित्र का रहस्य जानने एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिये ये साधन महत्त्वपूर्ण हैं। आशा है कि जैन-विद्वान् भेरे इस प्रयत्न से समुचित लाभ उठावेंगे और जैनागमों के अध्ययन में विशेष रस लेने लेंगे।

प्रसंगवश यहाँ जैनागमों के महत्त्व पर भी दो शब्द लिख देना आवश्यक समझता हूँ। प्राचीन जैनागम भारतीय प्राचीन सस्कृति, सामाजिक परिस्थिति, रीति-भ्रमरिदा, साहित्य, कला, दर्शन आदि विविध विषयों की जानकारी के लिये महान् भांडागार हैं। ऐतिहासिक, साहित्यिक, भाषा-विज्ञान आदि सभी दृष्टियों से उनका बहुत महत्त्व है। इस बात का वास्तविक पता तो जब शोधक विद्वान् इनका गंभीर अध्ययन करने में प्रवृत्त होंगे तभी विदित होगा, मने तो प्रसंगवश केवल निर्देशमात्र कर दिया है। मूल आगमों के साथ उनकी निर्युक्ति, भाषा पूर्ण व टीकाओं में इतनी मूल्यवान् सामग्री भरी पड़ी है कि अनुभवी ही उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। खेद है कि इस ओर हमारे विद्वानों का ध्यान बहुत ही कम गया है।^२

^१ महाभारत के निर्माण काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का यह मत नितांत आम है। महाभारत का निर्माण काल ईस्वी सन् के पूर्व ३१०१ वर्ष है, जैसा कि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार इत "संस्कृत साहित्य का इतिहास" में स्पष्ट किया गया है।—सं०

^२ पचास वर्ष हुए बंगाल के छातनाम विद्वान् 'बंकिमचन्द्र' ने बड़ी छानबीन कर 'कृष्ण-चरित' प्रकाशित किया था, खेद है कि विगत पचास वर्षों में वह कार्य और आगे नहीं बढ़ सका। इस ग्रंथ के गुजरती अनुवाद की गवेषणा में 'मनसुलाल रत्नजी भाई मेहता' ने लिखा है कि यदि बंकिम बाबू जैन-साहित्य का उपयोग करते तो उनको तथ्य पाने में अधिक सफलता होती।

श्रीकृष्ण को जैनेतर लोग अवतार रूप से पूज्य मानते हैं, तब जैन उन्हें मावी तीर्थंकर के रूप में पूज्य मानते हैं। अतः जैनागमों में भी उनका महत्त्व कम नहीं है। जैनागमों में जैनों के बाईसवें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' का जहाँ भी वर्णन आता है, श्रीकृष्ण को वहाँ उस समय के प्रधान पुरुष के रूप में उल्लिखित किया है। जैनागमों के वर्णनों को पढ़ते हुए सहज यही विश्वास होता है कि श्रीकृष्ण महापुरुष थे। जब कभी भी नेमिनाथ द्वारका आते श्रीकृष्ण उनके बचनों को श्रद्धा से सुनते, उनके त्याग-मार्ग को आदर्श मानते थे। ऐसा होने का एक प्रधान कारण भी था, जिससे जैनागमों के कथन की प्राणामिकता में जोर दिया जा सकता है। वह यह है कि नेमिनाथ उन्हीं के (कृष्ण के पिता वसुदेव के बड़े भाई 'समुद्रविजय' के पुत्र) भाई थे। उनका त्याग महान् था, जिसके कारण श्रीकृष्ण को उनके प्रति विशेष आदर होना स्वाभाविक ही है।

जैनागमों की वर्णनात्मक शैली विस्तार से है। यहाँ उनका सार-मान ही दिया जाता है।

श्रीकृष्ण के माता पिता

“सौरिखपुर नगर में वसुदेव नामक महाद्विक राजा थे, उनके ‘रोहिणी’ एवं ‘देवकी’ नामक दो भार्याएँ थीं, जिनमें से रोहिणी से बलराम और देवकी से केशव, अर्थात् कृष्ण का जन्म हुआ था।”

द्वारकानगरी

उस समय में “द्वारका” नगरी बारह योजन (६७ मील) लंबी और नव योजन (७२ मील) चौड़ी (विस्तारवाली) थी। वह धनपति (कुबेर) की बुद्धि-द्वारा निर्मित स्वर्ण के प्राकारवाली, नानाविध पाँच रंग के मणिमय कागरो से सुशोभित मनोहर, झलकापुरी के समान सुंदर प्रमुदित श्रीढावाली, प्रत्यक्ष देवलोक रूप प्रसन्नता प्रदायक, दर्शनीय अभिरूप रमणीय थी।

वतपर्वत

उपरोक्त द्वारकानगरी के बाहर, उत्तर-पश्चिम भाग में ‘रैवत’ नामक पर्वत था। वह ऊँचाई में गगन-सल का अवलंबन कर रहा था, जहाँ नाना-विध वृक्ष, गुल्म-मल्ला, बलियों से परिणाम, हृद्य, मृग, मयूर, कौच, सारस, मैना, साल, कोकिल, आदि पक्षी-कुलों से व्याप्त, तालाव, झरने, पर्वत-शिखर से जल का प्रचुर मात्रा में प्रपात, अप्सराओं, देवसप, विद्याधरो के समूह ऊपर से नीचे उतर रहे हैं—झीड़ा कर रहे हैं। दशाईं वीर, पुष्पतिलक जहाँ बहुधा पधारते हैं। ऐसा वह पर्वत शोभ्य, प्रियदर्शन स्वरूप प्रसन्नता-दायक एवं प्रतिरूप था।

न वनवन

उस रैवत पर्वत के समीप ही ‘नन्दनवन’ था जिसमें सर्व ऋतुओं में पुष्पादि उत्पन्न होने से दर्शनीय था।

उस द्वारका नगरी में श्रीकृष्ण—वासुदेव राज्य करते थे। उनके समुद्रविजयादि १० दशाईं, बलदेवादि ५ महावीर, प्रद्युम्नादि ३१२ क्रोड कुमार, सावादिक ६० हजार कुदांतकुमार, महासेनादि ५६ हजार, वलवान् वीरसेनादित् २१ हजार वीर पुरुष, उग्रसेनादि १६००० हजार राजा, दक्षिणी भादि १६००० रानियाँ, अनेकों गणिकाएँ एवं और भी बहुत से राजेश्वर, शक्ति, सेनापति, तलवार, भांडाविध, कौटुहिक एवं सार्वबाहू वहाँ रहते थे। श्रीकृष्ण द्वारका नगरी एवं वंताढ्य पर्वत से सागर-पर्यंत दक्षिण (श्रद्धा) भारत का भाषिपत्य करते रहते थे।

अरिष्टनेमि का आगमन

एक बार ‘अरिष्टनेमि’ भगवान् १० वनूष के शरीर वाले द्वारका नगरी में—समबसरे, परिपक्वा बदनाम आए। भगवान् का आगमन सुनकर श्रीकृष्ण बहुत हर्षित हुए और उनका बढ़ा सत्कार किया।

१. उत्तराध्यायन सूत्र अध्यायन २२ की प्रथम पाशा।

श्रीकृष्ण के जीवन से पाटनो एवं द्रौपदी का चरित्र भी अवधारित है, अतः 'ज्ञातासूत्रानुसार' उसे भी यहाँ दे दिया जा रहा है।

द्रौपदी-चरित्र

(द्रौपदी का जन्म एवं विवाह)

जमुद्वीप के भरत क्षेत्र के पांचाल देश में कपिलवस्तु नगर था। वहाँ के नृपति 'द्रुपद' के 'चूतणी' नाम की रानी थी। उसके 'धृष्टार्जुन' नामक (युधराज) पुत्र एवं द्रौपदी नामक पुत्री थी। द्रौपदी के यौवनावस्था-प्राप्त होने पर द्रुपद राजा ने स्वयंवर मण्डप की रचना की एवं द्वारका के श्रीकृष्ण समुद्रविजयादि, हस्तिनापुर के पाँचों पांडव—युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, दुर्योधनादि १०० आता, गायेय, विदुर, द्रौण, जयद्रथ, शकुन क्लीब, अश्वत्थामा, चपा नगरी के कर्ण अश्वराज सत्यनदि, सोनितमती नगरी के राजा शिशुपाल दमघोषादि ५०० पुत्रों के साथ, हस्तिनापी नगर के दमदत्त राजा, मथुरा के धरराजा, राजगृह के राजा जरासंध के पुत्र सहदेव, कौडिन्ध नगर के भीष्मक पुत्र दम्पि राजा, विराट के कीचक राजा को १०० भाइयों के साथ, एवं अश्वमेध ग्राम, नगरी के राजाओं को (द्रौपदी के स्वयंवर में पधारन के लिये) आमन्त्रणार्थ दूत भेजे। आमन्त्रण पाकर कृष्णादि बहुत से राजा वहाँ पवारे। द्रुपद राजा ने गंगा नदी के पास अनेक स्तम्भोवाला सुंदर स्वयंवर-मण्डप बनवाया। कृष्णादि अतिथियों के ठहरने के लिये अतिथि-गृह बनवाये गये थे। चारों प्रकार के आहार, पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला, अलंकारादि से वासुदेवादि की भक्ति की।

नियत समय में स्वयंवर की उद्घोषणा की जाने के बाद सभी राजागण स्वयंवर में आये। द्रौपदी भी आई। वहाँ से दासियों के साथ उपस्थान शाला में जाकर ४ घटवाले अश्वत्थरथ पर स्वयंवर मण्डप में प्रवेश कर द्रौपदी ने वासुदेवादि सब को प्रणाम किया। सुख्या दासी न बाँए हाथ में स्वच्छ दर्पण रखा, जिसमें राजाओं के रूप-प्रतिबिम्बित हो और दाहिने हाथ से उनका परिचय कराने लगी। प्रथम यादव-वंशीय १० वंशजों आदि का, फिर उग्रसेन आदि के गुणादि वर्णन किये। द्रौपदी वह सुनती हुई जब पाँचों पांडवों के पास आई तो पाँचों पांडवों के गले में पंचवर्ण वाली माला डाल दी और कहने लगी मैंने इन पाँचों पांडवों को बरा। यह सुनकर कृष्ण—वासुदेवादि हजारों राजाओं ने बड़े जोर के शब्दों में कहा कि हे द्रौपदी, तूने अच्छा बरा। ऐसा कहकर वे अपने-अपने आवासों में चले गये। इधर धृष्टार्जुन कुमार ४ घटवाले अश्वत्थरथ में द्रौपदी एवं पाँचों पांडवों को बैठा कर अपने भवन में लाया। द्रुपद राजा ने द्रौपदी के साथ पाँचों पांडवों को पट्ट पर बैठा कर श्वेत, पीत कलशों से स्नान कराया। अग्नि-होम कराके पाँचों पांडवों के साथ द्रौपदी का पाणिग्रहण करवाया। द्रुपद राजा ने प्रतिदान में ८ करोड़ हिरण्य, प्रेषणकारी दासियाँ एवं विपुल धन एवं कनक दिया। वासुदेवादि आगत राजाओं को अशनादि से संतुष्ट व समानित कर विसर्जित किया। उस समय पांडु राजा ने वासुदेवादि राजाओं से प्रार्थना की कि हस्तिनापुर में पाँचों पांडव एवं द्रौपदी का कल्याणकारी उत्सव होगा, अतएव कृपा कर आप सब उसमें सम्मिलित हो। पांडु राजा के आग्रह से वासुदेवादि हस्तिनापुर पवारे। राज मंडल में पाँचों पांडवों को द्रौपदी के साथ पट्ट पर बैठा कर पूर्ववत् उत्सव किया। तत्पश्चात् पाँचों पांडव द्रौपदी के साथ बारी-बारी से भोग भोगते रहने लगे।

द्रौपदी-अपहरण

एक समय पांडुराजा, पाँचों पांडव, कुंती एवं द्रौपदी आदि परिवार-सहित अंतपुर में सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय कच्छूल्त नारद वहाँ पवारे। नारदजी को आते देव पाँचों पांडव, कुंती एवं पांडुराजा ने खड़े होकर बदन, नमस्कार करते हुए आनन देकर अभ्यर्थना की। तब नारदजी उस से पृथ्वी को छिड़क दर्शाने पर बैठे और पांडुराजा से कुशल-अंग पूछा। नारदजी का पांडुराजा ने आदर सत्कार किया, पर द्रौपदी ने उनका सत्कार नहीं किया। अतः नारद ने अपने असमान से रुष्ट होकर द्रौपदी को विपत्ति में डालने का निश्चय किया और

वहाँ से वे विशाखर-नति से घात की खड्गवर्ती 'अमरकंटक' नगरी में पवारे। वहाँ पद्मनाभ राजा जिनके ७०० रानियाँ एवं सुनाम युवराज कुमार था, अतः पुर में रानियों के साथ सिंहासन पर बैठे हुए थे। नारद को आते देख पद्मनाभ ने भी सत्कार किया और गविष्णु होकर राजा ने पूछा कि क्या आपने मेरी रानियों के सद्गुण स्वयं का समुदाय कहीं देखा है। नारदजी ने मृदु हास्य पूर्वक कहा— हे पद्मनाभ, पाटवों की पत्नी द्रौपदी के पैर के अंगूठे की समता करनेवाली भी तुम्हारी रानियों में कोई नहीं है। वह ऐसी अद्भूत रूपवती है। इन वचनों से उत्कण्ठित होकर पद्मनाभ ने अपने परिचित मित्रदेव का आराधन किया, देव ने द्रौपदी के सती होने की बात कही, पर अतः पद्मनाभ के अनुरोध से युधिष्ठिर के साथ सोई द्रौपदी को अवस्थापिनी निम्ना देकर वहाँ से उठाई और पद्मनाभ के भवन में लाके रख दी। जागृत होने पर द्रौपदी अपरचित स्थान में अपने को देख कर विस्मित हुई। उसी समय पद्मनाभ ने उपस्थित होकर अपना कुत्सित अभिप्राय विदित किया। द्रौपदी ने उससे ६ महीने की अवधि माँगी और तप करना प्रारम्भ कर दिया।

इधर थोड़ी देर बाद युधिष्ठिर ने जागृत होकर द्रौपदी को वहाँ नहीं देख पायो और तलाश शुरू की। फिर भी न मिलने पर उसने सारा घृतात पाट राजा को कहा, उन्होंने भी द्रौपदी का पता लगानेवालों को विपुल धन देने की घोषणा करवाई। फिर भी कोई पता न लगने पर उन्होंने कुत्ती को श्रीकृष्ण के पास भेजकर द्रौपदी का पता लगाने का निवेदन किया। कुत्ती ने द्वारका जाकर श्रीकृष्ण को सारी घटना कहते हुए द्रौपदी के अन्वेषण के लिये कहा। कृष्ण जी ने भी आवासन देकर कुत्ती को बिदा कर उद्घोषणा करवाई, पर पता नहीं चला।

द्रौपदी-अनुसंधान एवं आनन्दन

एक बार नारदजी के आने पर कृष्ण ने द्रौपदी के सवध में उनसे पूछा, उन्होंने कहा—अमरकंटक के राजा पद्मनाभ के भवन में द्रौपदी जैसी कोई स्त्री देखने में तो आई थी। कृष्ण ने आतिथिक रहस्य जानकर नारदजी से कहा—यह कथित आप ही की प्रतीत होती है। अस्तु, नारद के चले जाने पर कृष्ण ने अपने दूत को हस्तिनापुर भेजा और पाट राजा से पाँचों पाटवों को सेना-सह वैतलिक समुद्र के पास भेजकर वहाँ अपनी प्रतीक्षा करने को कहलवाया। इधर से श्रीकृष्ण भी ससैन्य नियत स्थान पर पहुँच कर पाटवों के साथ रथों-सह अमरकंटक पहुँचे। राजनीति के अनुसार श्रीकृष्ण ने सारथी को पद्मनाभ के पास दूत के रूप में भेजा। उसके समक्षाने पर भी पद्मनाभ के न मानने पर युद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रथम युद्ध पाटवों ने किया और वे हारे। माग कर पाटवों ने सारा ह्रात कृष्ण से कहा। तत्काल कृष्ण रथारूढ हो युद्ध में पधारे। सर्व प्रथम शंखनाद किया। उसके शब्द-श्रवण मात्र से पद्मनाभ की तिहाई सेना माग खड़ी हुई, फिर धनूष के टकार से तिहाई सेना और माग खड़ी हुई, तब हठात्त हो पद्मनाभ ने अपनी राजधानी में घुसकर नगर के द्वार बंद कर दिये। यह देखकर श्रीकृष्ण नगर के समीप आये और 'नृसिंह' रूप धारण किया और बड़े शब्दों के साथ पावों से आस्फालन करने लगे। इससे नगरी में भ्रमण भ्रमि गिरने लगे। अतः नगर में हल्ला-कार-सा मच गया। इससे भयभीत हो पद्मनाभ द्रौपदी की शरण में आया। द्रौपदीने कहा—हे देवानुम्रिय (मूर्ख), तुमने पहिले नहीं जाना कि तुम कृष्ण से बैर बाँध रहे हो। अब भी अविज्ञान कर भीगी साड़ी पाँव तक पहिन, अतः पुर की स्त्रियों एवं रत्नों के साथ मुझे भागे रख कर कृष्ण के चरणों में चले उनके चरण लो। वे उत्तम पुष्ट हैं, समव हैं कि ऐसा करने पर तुम्हें जीता छोड़ देंगे। पद्मनाभ ने अल्प उपाय न देख द्रौपदी के कथनानुसार वायुदेव के चरणों में पड कर कहने लगा कि "कृपया मेरी भूल क्षमा करिये, जो कहते हुए उसने द्रौपदी को कृष्ण के सुपुर्द की। कृष्ण ने भी उपाय देते हुए कहा, असमय की मृत्यु के प्रार्थी हे पद्मनाभ, तुने मेरी भगिनी (सद्गुण) द्रौपदी का हरण करते हुए तनिक भी विचार नहीं किया, जा चला जा। तदनंतर कृष्ण ने द्रौपदी को रथ में बैठा कर पाटवों के सुपुर्द की। पाँचों पाटव एवं द्रौपदी के साथ सवध समुद्र को पार कर जब द्रौप

के भरत क्षेत्र में पवारे। गंगा के समीप आकर कृष्ण ने पाटवो से कहा कि तुम गंगा के उस पार पहुँचो, मैं जरा सुस्तित देव से मिल के आता हूँ।

श्रीकृष्ण के चरित्र की अन्य घटनाएँ

जैनाग्रंथों के अन्तर्गत कृष्ण-चरित्र सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथों में 'वसुदेव हिंदी' सबसे प्राचीन एवं उल्लेखनीय ग्रंथ है, जिसकी रचना 'समदास' गणितवाचक ने ५ वीं शती के लगभग की है। उक्त ग्रंथ में प्रधानता तो कृष्ण के पिता वसुदेव के १०० वर्षों तक परिभ्रमण कर अनेक विवाह करने के वृत्तांत की है, पर कृष्ण, उनकी रानियों व पुत्रादि का भी उसमें अच्छा वर्णन पाया जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म हरिवंश यादव कुल में हुआ था। इस वंश में एक 'हरि' नामक राजा हुआ उसकी रानी का नाम हरिणी था। इसी हरि राजा का वंश आगे चलकर 'हरिवंश' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हरि के वंश में एक 'यदु' नामक राजा हुए। यदु के नाम से ही यादव प्रसिद्ध हुए। यदु के वंश में 'शौरि' और 'वीर' राजा बड़े भ्रातृ-प्रेमी हुए, जिनमें से शौरि ने शौरीपुर बसाया और वीर ने सौवीर। सौवीर के अधकवृष्णि और वीर के भोजवृष्णि ये दो पुत्र हुए। इनमें से अधकवृष्णि के भद्रा देवी से समुद्रविजय प्रसोभ, सिमिति, सागर, हिमवत, अचल, धरण, पूरण, अभिचंद्र और वसुदेव ये १० पुत्र एवं कुटी एवं गद्दी दो पुत्रियाँ हुईं और भोजवृष्णि के पुत्र उग्रसेन हुआ, जिसके वधु, सुवधु, कस आदि पुत्र हुए।

प्रस्तुत ग्रंथ में उपर्युक्त वसुदेव के पूर्वज व अनेक बन्धुओं से विवाह के वृत्तांत के पश्चात् कृष्ण की माता देवकी से विवाहादि का उल्लेख आता है।

मृतिकावलि के राजा देवक के देवकी नामक पुत्री थी। उससे विवाह करके वसुदेव वापिस मथुरा पवारकर कस, जो कि उनका बाल मित्र था—के यहाँ रहने लगे। एक बार कस ने मुनि-वचन से अपनी मूल्य देवकी के सातवें गर्भ से होना ज्ञात कर वसुदेवजी की प्रसन्नता के प्रसंग में उनसे देवकी के सात गर्भों की याचना की, उन्होंने भी सरलभाव से (मूल रहस्य को न जानकर) उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। देवकी से इसकी चर्चा होने पर उसने अतिमुक्त मुनिके वचन का सारा वृत्तांत वसुदेवजी को बतलाया। इससे वसुदेवजी की भी बड़ा पक्काताप हुआ, पर उन्होंने अपने वचन-प्रतिपालनार्थ 'देवकी' के ६ गर्भ-जात पुत्रों को कस को समर्पित कर दिये और कस ने उन्हें मार डाला। इसके पश्चात् देवकी के गर्भ में कृष्ण अवतरित हुए। इससे उसने सात महास्वप्न देखे। अतः उसको भावी महापुरुष जान कर देवकी ने वसुदेव से अनुरोध किया कि जिस किसी प्रकार भी इस गर्भ की रक्षा कीजिये। दैवयोग से प्रसव के समय कस के प्रेषित कचुकी (विषवासी पहरेदार) गाय निद्रा में सो गये। इसर कृष्ण का जन्म हुआ, वसुदेव बालक को लेकर यमुना पर जाने लगे। उस समय चंद्र श्रवण नक्षत्र के योग में था। बालक को ले जाते हुए को उग्रसेन ने पूछा कि इस भङ्गूत बालक को कहाँ ले जा रहे हो। वसुदेव ने कहा इसके प्रभाव से आप पुन राजा होंगे। अतः इस बात को गुप्त रखिये। आगे जाने पर यमुना नदी ने भी मार्ग दे दिया। अतः उसे पारकर व्रज-गोकुल में, वसुदेव पहुँचे। वहीं नंद गोप की पत्नी यशोदा के गोष्ठे समय पूर्व ही कन्या उत्पन्न हुई थी। वसुदेव ने कुमार को उसे सीपा और कन्या को स्वयं लेकर देवकी को सीपा दी और तब वसुदेव शीघ्र ही बाहर चले गये। इसी समय कस की परिवारिकाओं की मित्रा गग हुईं और कन्या होने की कस को खबर दी गई। कसने उसकी नाक काट के उसे नाक हीन बना दी।

कुछ समय बाद गौ-पूजा के बहाने से पुन के निरीक्षणार्थ देवकी व्रजमें गई। उसी समय से गौ-पूजा की परिपाटी चालू हो गई। इस प्रकार समय-समय पर देवकी व्रज में जाकर कृष्ण को खिलाने लगी। इसर कस ने नैमित्तिक से अपने शत्रु के सबंध में पूछा तो उसने—व्रज में वृद्धि पा रहा है, बतलाया। कस ने कृष्ण को मारने के उद्देश्य से—यशोदा को आदेश दिया कि वे नंद गोप के गोकुल में पहुँचें और गवे, भोष्ठे खुले छोड़ दें। तदनुसार उनके खुले छोड़ने पर वे लोगों को कष्ट देने लगे। इससे

कृष्ण ने उनको मार डाला। कृष्ण के कलाभ्यास के लिये वसुदेव ने सकर्षण उपाध्याय को वहाँ भेजा। कृष्ण ने उससे कलाभ्यो का अभ्यास किया।

कंस ने अपना पहला प्रयत्न विफल गया देख देवाधिपति धनुष सत्यभामा के गृहमें रखवा कर उद्धोषणा करवाई कि जो इस धनुष को चढावेगा उसके साथ सत्यभामा का विवाह किया जायगा। इस सूचना को पाकर सत्यभामा से विवाह करने का इच्छुक 'अनाशुट्टि कुमार' के व्रज में आने पर बलदेव एवं कृष्ण उनके साथ हो गये। मथुरा पहुँच कर अनाशुट्टि धनुष को चढाने में असफल रहे, तब कृष्ण ने उसे चढा दिया। अनाशुट्टि ने वसुदेव को जाकर कहा मैंने धनुष चढाया है। वसुदेवजी ने कहा अच्छा किया। पूर्व उद्धोषणानुसार धनुष चढानेवाले से सत्यभामा का विवाह होगा। वसुदेव द्विती का प्रथम खट वर्तमान में यही तक उपलब्ध होता है, अतएव पूर्ति के लिये उसे आचार्य हेमचन्द्र के त्रिपाट्टि शाला का पुरुष चरित^१ से यहाँ दे दिया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कृष्ण की जन्म-तिथि, गोकुल में बाल-सीता व कृष्ण के साथ गोपियों का बलदेव को भेजना, प्रेम होना, शकुनी और पूतना को मारना, कंस के प्रेषित अरिष्ट बेल, कैशी भव, खर और मेघ को मारना, धनुष चढाने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वसुदेव ने अनाशुट्टि को कहा कि यदि तुमने धनुष चढाया है तो धीरे यहाँ से चला जा, अन्यथा तुम्हें कंस मरवा देगा। इससे भयभीत होकर वह कृष्ण के साथ गोकुल आया व कृष्ण को वहाँ छोड़ कर स्वयं गीरीपुर चला गया।

कंस ने इस दावपेच में भी अपनी विफलता देख कर मल्लयुद्ध की उद्धोषणा करवाई, जिसे सुनकर बलराम ने कृष्ण से कहा चलो, मल्लयुद्ध मथुरा चलकर देख आवें। बलराम ने यशोदा को स्नानादि के लिये गरम जल तैयार करने के लिये कहा, पर अन्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण उसने देरी कर दी। तब बलराम ने यशोदा से कहा कि तुम मेरे भाई का पालन करने से रानी हो गई हो क्या? क्या तू अपना दासीपन भूल गई? कृष्ण अब तक यशोदा को अपनी सखी माता समझ रहे थे। अत बलराम का यह बचन उन्हें बहुत अस्वस्थ कर दिया। कृष्ण के साथ यमुना में स्नान करने की जाते हुए रास्ते में बलराम ने सारा वृत्तांत बतलाते हुए यशोदा से उनका वास्तविक सबब प्रगट किया। कृष्ण ने बलदेव को कंस के अभ्यास व अपने ६ भ्राताभ्यो के मारने का वृत्तांत बतलाकर तत्काल कंस को मारने की प्रतिज्ञा की यमुना में स्नान करते हुए कालियनाग को फुकार करते हुए देख कृष्ण ने कमल की नाल के सदृश उसको पकड़ कर ऊपर स्वयं चढ बैठे। उसका दमन कर दोनो भ्राता मथुरा के द्वार पर पहुँचे तो वहाँ 'पयोत्तर' व 'चपक' नामक दो हाथी उपद्रव मचा रहे थे। अत पहले को कृष्ण ने और दूसरे को बलदेव ने मार डाला।

तदनंतर दोनो भाई कंस के मल्लयुद्ध के स्थान पर पहुँचे। कंस की भाज्ञा से 'चाथूर मल्ल' कृष्ण से मल्ल युद्ध करने लगा, और 'भुष्टिक' बलराम से युद्ध करने लगा। अत में दोनो भाइयो ने दोनो मल्लो को मारकर बराशाही कर दिया। यह देखकर कंस ने कृष्ण बलराम को पकड़ने के लिये सेवकों को भ्राज्ञा दी। तब कृष्ण ने कंस के मस्तक पर पैर रखकर उसे मार डाला। तदनंतर कंस की रानी वहाँ से राजगृह जाकर स्वयं करते हुए अपने पिता जरासंध से सारा वृत्तांत कहा। पिता ने आम्नासन बैठे हुए कृष्णादि यादवों को परिवार मारने को कहा। सोमक राजा के द्वारा जरासंध ने समुद्रविजयी को कहलाया कि कंस के ब्रोही राम व कृष्ण को मुझे सौंप दो, पर समुद्रविजयी इसे कंसे स्वीकार करते। सोमक ने जरासंध के सेना, पराक्रमादि का मय बतलाया तो कृष्ण ने साफ कह दिया कि पिता के पास पुत्रो की याचना करते जरासंध व तुम्हें धर्म नहीं आती, जानो अब से जरासंध हमारा स्वामी नहीं, कंस के समान शत्रु है। हमारे भ्राताभ्यो को कंस ने मारा, यह हम अभी भूलें नहीं हैं।

कृष्ण और अनाशुट्टि से तिरस्कृत हो सोमक ने जरासंध के पास जाकर सारा वृत्तांत कह सुनाया।

१. जैन-धर्म प्रसारक संभा भावनगर से इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इधर उग्रसेन राजा ने अपनी सत्यमामा कन्या को कृष्ण से विवाह दी। सोमक के जाने के बाद दशहो ने इकट्ठे होकर कौष्टिक नैमित्तिक से पूछा कि अब त्रिलङ्गपति जरासब से हमारा बिग्रह खड़ा हुआ है कहीं, इसका क्या परिणाम होगा। नैमित्तिक ने कहा—“राम और कृष्ण थोड़े समय में उसे मारकर त्रिलङ्गपति बनें। फिर भी आप लोग पश्चिम दिशा के समुद्र-तट की ओर चले जावो और वहाँ सत्यमामा के युगलिक उत्पन्न हो वही नगर बसा के रहो।” कौष्टिक के वचन पर विश्वास होने से समुद्रविज-यादि ग्यारह कुलकोटि के साथ मथुरा से रवाना हो शौरीपुर आये और वहाँ से पाँच कुल कोटि यादवों को साथ ले उन्होंने पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया।

इधर जरासब सोमक से सर्व वृत्तात जानकर क्रोधित हुआ, इसी समय उसके पुत्र काल-कुमार ने कहा कि यादव हमारे सामने क्या है, मुझे आज्ञा दीजिये मैं उन्हें समुद्र, अग्नि व भ्राताश में भी होने तो पकड़ के ले आऊँगा। जरासब ने ५०० राजाओं की विद्याल सेना के साथ कालकुमार को चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी। तदनुसार कालकुमार ने यादवों का पीछा किया। चलते-चलते विध्या-चल के समीप पहुँचने पर यादव थोड़ी दूर रह गये, तब यादवों की कुल देवी ने कालकुमार को छल द्वारा बड़ी मत्स्य कर दिया। इससे यादव निविज्ज आगे बढ़े और सत्यमामा के युगलिक उत्पन्न होने के स्थान पर ठहर गये। युगलिक पुत्रों का नाम ‘मामु’ और ‘आमर’ रखा गया। कृष्ण ने स्नान कर ‘भद्रम तप’ द्वारा ज्वण समुद्र के अविष्ठाता सुस्थित देव का आराधन किया। उसने प्रसन्न होकर कृष्ण को ‘पाचवन्त’ शब्द व राम को ‘सुधीष’ शब्द देते हुए अपने को स्मरण करने का कारण पूछा। कृष्ण ने नगर बसाने के लिये प्रार्थना की। तब देव ने इद्र से निवेदन किया। इद्र की आज्ञा से कुबेर ने १२ योजन लंबी ६ योजन चौड़ी रत्नमयी द्वारका नगरी बसाई। कुबेर ने कृष्ण को पीतावर, नक्षत्र माला, हार, मुकुट, कौस्तुभमणि, शाङ्गधनुष, अक्षय वाणवाले भाथै, नदक खग, कौमोदकी गदा, गरुडध्वज रथ और राम को नील वस्त्र, लाल ध्वजादि दिये। कृष्ण ने दाहक नामक सारथि वाले रथ में बैठ कर द्वारका में प्रवेश किया। यादव अब वहाँ सुखपूर्वक रहने व बढ़ने लगे।

त्रिपल्ली सलाका पुरुष चरित में इसके पश्चात् कृष्ण के विवाहादि का उल्लेख आता है, वह वर्णन यशुदेव द्वितीमें भी आता है।

वलराम के ‘रेवती’ नामक पटरानी थी, जो उसके मामा ‘रेवत’ की पुत्री थी। कृष्ण के उग्रसेन की पुत्री सत्यमामा प्रिय पटरानी थी। समवायाग सूत्र में भी कृष्ण की आठ पटरानियों के नाम हैं, यथा—

१. रिटपुर के राजा रश्मिर की पुत्री ‘पद्मावती’ जिसको स्वयंवर-मंडप से श्रीकृष्ण ने हरण कर के विवाह किया था।
२. सिंधु देश के मेघ राजा की पुत्री ‘भीरी’।
३. गांधार-जनपद के राजा नग्नजित की पुत्री ‘गांधारी’।
४. सिंधल द्वीप के राजा हिरण्यलेस की पुत्री ‘लक्ष्मणा’।
५. अराकरी नगरी के राजा राष्ट्रबर्बल की पुत्री ‘सुसीमा’।
६. गगनंदन नगर के विद्यावर राजा की पुत्री ‘जादवती’।
७. विदर्भ जनपद के कुंडिनपुर नगर के राजा मेघक की पुत्री ‘रश्मिणी’।

रश्मिणी का सवध रश्मिणी के भाई रक्ष्मी ने दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ निश्चित कर दिया था, पर रश्मिणी की वृथा और रश्मिणी कृष्ण के साथ विवाह करना चाहती थी। अतः उनके द्वारा कृष्ण को सूचना देने पर विवाह के अवसर पर द्वारका से श्रीकृष्ण और वलराम कुंडिनपुर आकर रश्मिणी का हरण करके ले जाने लगे तब रश्मिणी के भाई रक्ष्मी ने श्रीकृष्ण-वलराम के साथ घोर युद्ध किया और उनसे परास्त हो गया। तदनंतर श्रीकृष्ण रश्मिणी को लेकर द्वारका के समीप पहुँचे तो यक्षों ने उनका विवाह सवध कर दिया। इस प्रकार सत्यमामा के पश्चात् उपर्युक्त सात न्यायों में पाणिग्रहण कर इन आठों को श्रीकृष्ण ने पटरानी-पद पर आसीन कर दिया।

इसके पश्चात् वसुदेव हिंडी में भी श्रीकृष्ण के पुत्रों के जन्म होने की कथा है, जिसमें रसिमणी के पुत्र प्रद्युम्न के प्रथम उत्पन्न होने, उसके हरण, शोष, पुनर्मिलन, चमत्कार दर्शन, रसमी की पुत्री वैदर्भी से विवाहादि का वृत्तांत जो कि वसुदेव हिंडी से सक्षेप में दिया जाने पर भी कृष्ण-चरित की महत्वपूर्ण एक घटना बाकी रह जाती है। अतः उसे 'त्रिपल्ली सत्ताका पुरुष चरित' से सक्षेप में यहाँ देकर वेंच समाप्त किया जाता है। वह घटना यह है—

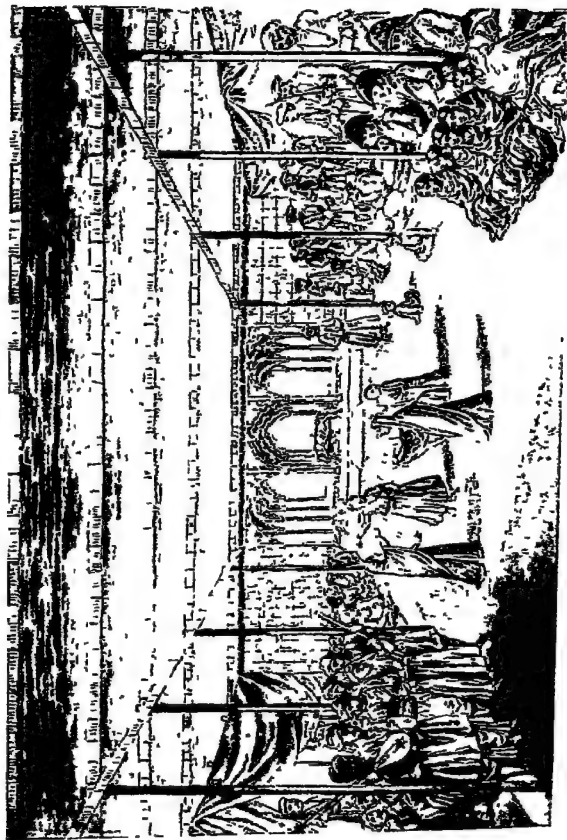
“जरासव को मार कर श्रीकृष्ण का अर्द्ध भरताधिपति वासुदेव होना, काशकुमार के साथियों के वापिस लौट कर आने पर उनके कथनानुसार यादवों के विनाश को जानकर जरासव और जीवयशा निश्चित हो गये थे, पर एक दिन कुछ व्यापारी यवन द्वीप जाते हुए जल-मार्ग से राजगृह पहुँचे और उनके द्वारा जरासव की पुत्री जीवयशा (कस की विषया स्त्री) को ज्ञात हुआ कि कृष्ण जीवित है, इस पर वह जरासव के पास जाकर कहने लगी कि मैं जलकर भस्म हो जाऊँगी। तब जरासव ने उसको आशवासन देकर सत्रियों के निवेचन करने पर भी द्वारका पर चढ़ाई कर दी और उसका श्रीकृष्ण से घोर युद्ध हुआ। अतः में जरासव ने अपनी विजय होते न देख कर कृष्ण पर चक्र फेंका। चक्र, श्रीकृष्ण ने हाथ में ले लिया और उसी चक्र से जरासव का वध कर दिया। तदनंतर श्रीकृष्ण नवम वसुदेव अर्द्ध-भरताधिपति हुए और देवताओं ने पुष्प वर्षा की।

कृष्णचरित-सवधी जैन-ग्रंथ

जैनागमों एवं वसुदेव हिंडी के परवर्ती जैन-ग्रंथों में निर्युक्तिचूणि भाषा आदि जैनागमों की प्राचीन टीकाओं का स्थान है। ग्रंथमानुयोग ग्रंथ में महापुरुषों के चरित थे, वे ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध स्वतंत्र महापुरुष चरित ग्रंथों में 'पडप चरित' ही सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जिसमें रामाग्रंथ की कथा भी वर्णित है। इसके रचयिता विमल सूरिने 'हरिवंश ग्रंथ' भी बनाया था, पर वह अब अनुपलब्ध है। उपलब्ध कृष्ण-चरित-सवधी स्वतंत्र ग्रंथों में 'दि० पुनाटसंघीय जिनसेन रचित 'हरिवंश पुराण' है जो कि शक सं० ७०५ में रचित है।

कृष्ण-चरित-सवधी परवर्ती जैन-ग्रंथों में हरिवंश पुराण, चडपन्न महार त्रिपल्ली पुरुष चरित, नेमिचरित एवं प्रद्युम्न चरित सजक ग्रंथ हैं। ये ८ वीं सदी से १६ वीं तक रचे गये हैं और वैसे अब भी नेमिचरित्रादि ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। उन ग्रंथों-द्वारा कृष्ण-चरित-सवधी विशाल जैन-साहित्य का परिचय पाठकों को प्राप्त हो सकता है। ये ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत, हिंदी, गुजराती, राजस्थानी यावत् कन्नड भाषा तक में लिखे गये हैं। उनकी सूची जिनसेन कोष, जैनगुरु कवियों अनेकादि में प्रकाशित, दिगंबर-ग्रंथ-सूची आदि के आधार से तैयार की गई है।





रामलाला के विदेशी-दर्शक

रासलीला के विदेशी दर्शक

श्री नारविन हईन हेवन

रासलीला मथुरा मंडल की अपनी विशेषता है, जिसमें व्रज की भक्ति, कला, संगीत और नृत्य धर्म-काव्य के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। इन पंक्तियों के लेखक को हिंदी भाषा-भाषियों से रासलीला के सबब में कुछ कहने में सकोच हो रहा है, क्योंकि इनको ने प्रत्यक्ष रूप से रासलीलाएँ देखी हैं, अथवा उनके विषय में पर्याप्त सुना है और बाल्यवस्था से ही रास-सवयी गीत वे गाते रहे हैं, किंतु तब ऐसे बहुभूत व्यक्तियों को भी रासलीला से संबंधित अंग्रेजी साहित्य के विवरण अत्यधिक रोचक प्रतीत होंगे तथा योक्ष के उन आदि यात्रियों के विवरणों का स्वागत करेंगे, जिनको व्रज के रास देखने का सीमाव्य प्राप्त हुआ था।

रासलीला धार्मिक कृत्य है, अतः विद्वानों को विस्मय होगा कि विदेशियों को ये लीलाएँ देखने का अवसर कैसे प्राप्त हुआ। रासलीलाएँ खुले राज-मार्गों और जन-श्रृंगारों में नहीं होती। सर्वसाधारण उन्हें देखने का अवसर भी नहीं पा सकता। रासधारी-वर्ग इन लीलाओं का प्रदर्शन कौतूहल मात्र के लिये भी नहीं करता। कृष्ण-भक्तों का यह आनंद रहस्य है, जिसे वे खुले मार्ग में सर्व-साधारण स्थल, सिनेमाघरों में नहीं दिखा सकते। कुजविहारी के मंदिर में अथवा रसिक भक्तों के निवास-स्थानों में रासलीलाएँ की जाती हैं। विद्वान् से विद्वान् यात्री भी जो उत्तरी भारत में दीर्घकाल तक रहे हैं और जिन्होंने यहाँ का पर्याप्त पर्यटन किया है, रास के आनंद-दायक दर्शनों से वंचित रहे हैं, वे नहीं जान सकते हैं कि 'सूरसेन' की इस प्राचीन नगरी में भारतीय 'नाट्य' की अनुकृति अपनी परंपरा सदा से बनाये हुए है और भारतीय-कलाओं में अपना विशेष स्थान रखती है। केवल थोड़े से विदेशी यात्री भाग्यवश अथवा अपनी प्रकृति के सौहार्द से इन रासलीलाओं का आनंद-लाभ कर सके हैं और उन्होंने अपनी अक्षुण्ण स्मृति को लेख-वद्ध किया है। यह सब विद्वान् यात्री एक मत है कि "रासलीला निश्चय रूप से अतीव आनंददायी दृश्य-काव्य है और साधारण नाच-समाधों से श्रेष्ठ है।"

इन विवरणों का पूर्वापर आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व लिखा गया है। अंग्रेजी भाषा में रासलीला का सर्वप्रथम उल्लेख 'जेम्स टाड' की कृति "दि टानल्स एंड एन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान" (१८२६ में प्रकाशित) में मिलता है। सन् १८०५ में मि० टाड को उनकी सरकार द्वारा डिप्लोमैटिक सर्विस में राजस्थान भेजा गया था। आप इबौर में श्रीमंत 'दीलतराव सिंघिया' के दरबार में दस वर्ष तक रहे। टाड लिखते हैं कि रासधारी वर्ग रास प्रदर्शन के लिये प्रत्येक वर्ष जन्माष्टमी के अवसर पर मथुरा से आया करता था तथा दरबार में जन्माष्टमी के दिन गोपी तथा कृष्ण-कान्हा का प्रसंग का दृश्य उपस्थित करता था। यही निश्चित रूप से रासलीला थी। यद्यपि टाड साहब इस उत्सव का विषय उल्लेख नहीं करते, फिर भी वह लिखते हैं कि 'राममंडल-नृत्य' हुआ था तथा व्रज की लय-धारा में मौखिक अभिनय हुआ था, अनेकों अवसरों के विवरणों का टाड साहब इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

"उन पात्रों को जो कृष्ण तथा उनके सख्ताओं और सखियों का अभिनय करते हैं, भाव-गीत अत्यंत प्रभावपूर्ण होते हैं, उनके कथोपकथन अत्यंत हृदयस्पर्शी होते हैं। मथुरा और बुदावन के बीच संगीत-विद्या में पारंगत हैं। इन गायक-अभिनेताओं की बरणाई खर-सहृदियों में जब

नक्त-हृदयो का आनन्द-रस संमिलित हो जाता है तो मुरली के स्वर में यह राग अत्यन्त आह्लादकारी प्रतीत होता है ।”

इस उल्लेख ने दूसरे विदेशी यात्रियों के विवरणों का पर्याप्त समर्थन पाया है ।

दूसरा अत्यन्त रोचक एवं पूर्ण रासलीला-संबन्धी उल्लेख सन् १८०६ में ‘टामस टूएर बोटल’ द्वारा लिखा गया था । ये माधोजी सिधिया के कंप में ब्रिटिश रेजिडेंट के प्रवान भग-रत्नक थे । ये विवरण “जैट्स रिटिन इन ए मरहूठा कंप ड्यूटिंग दी इयर १८०६” में मिलता है । ३० अगस्त सन् १८०६ का पत्र जो उदयपुर की उत्तरी सीमा पर ‘रुपहली’ नामक स्थान पर लिखा गया था, इस संवत् में महत्त्वपूर्ण है । जन्माष्टमी का पर्व था, शिविर में इस महोत्सव की सज्जाएँ हो रही थी । महाराजा ने इस वर्ष भी एक बड़ा शामियाना बनवाया था । मयूरा से रासचारी आये हुए थे । रासचारियों के कृत्य के संवत् में वह लिखता है—

“ये प्रायः किशोर होते हैं, ब्राह्मण होते हैं । मयूरा में रास-संबन्धी शिक्षा पाते हैं, जहाँ एक बड़ा भूभाग उनकी आजीविका का साधन है । इस ऋतु में वे देश के विभिन्न मार्गों में हिंदू राजाओं के दरबारों में रास करने के लिये निकल पड़ते हैं । गायकों के अतिरिक्त चार अभिनेता भी हैं और सब सुंदर वदन हैं ।”

महाराजा ने शिविर के प्रभावशाली व्यक्तियों को जन्माष्टमी के उत्सव में रात्रि को निमंत्रित किया । बोटन भी वृत्तार्थ मये और उन्होंने जिस उत्सव में भाग लिया, उसका उल्लेख वह इस प्रकार करते हैं—

“जिस शामियाने में हमें धिक्काया गया था, वह १५० फीट लंबा था । वह तीन मार्गों में विभाजित था, बाँसों और वस्त्रियों पर रंगीन कागज चढ़ा कर एक बाड़ खड़ी कर दी गई थी, जिन पर दीपक जल रहे थे । सामने दो फीट ऊँचा रंगमंच था । इसके स्तन और शिबिकाएँ अली प्रकार चित्र-वेषित थीं, इसे सिंहासन कहते हैं । इसके मध्य में फूलडोल था । फूलडोल में पुष्प, हीरक रत्न और बहुमूल्य मणियाँ सुसज्जित थीं । पुष्प-पुष्प, पुष्प-मालाएँ फूलडोल में बिहँसते हुए जालगोविंद को डकेल रहीं थीं । पंडितों, ब्राह्मणों का समुदाय अर्चना कर रहा था । कुछ व्यक्ति पंखा खींच रहे थे । शामियाने का मध्यभाग नर्तकों के लिये छोड़ दिया गया था । शेष दोनों ओर का स्थल बर्तकों से परिपूर्ण था ।”

मि० बोटन उस दृश्य का उल्लेख शब्दों में ही नहीं करते, बल्कि इस अवसर का तैल-चित्र भी उन्होंने रेखांकित किया है, जिसमें रंगमंच तथा पात्रों के वाद्य, आभूषण आदि सभी कुछ चित्रित है, शब्दों में उसका चित्रण इस प्रकार है—‘शामियाने के मध्य में कृष्ण और गोपियाँ नृत्य कर रही हैं, उनके वस्त्र वैसे ही हैं, जैसे आज भी राज की रासलीला में प्रचलित हैं । उनके बाईं ओर सगीत-समाज सुशोभित है, उसमें कुछ गायक ऐसे वाद्य बजाते हैं जिनका प्रचलन अब नहीं रहा है । बाईं ओर महाराजा अपने सिंहासन पर विराजमान हैं । उनके निकट उनके शरीर रत्नक लड़े हैं और विशेष प्रतिष्ठा बैठे हुए हैं । प्रतियोगियों में हनें लालकोट पहिने तीन ब्रिटिश अफसर बैठे दिखाई पड़ते हैं जो अपने समय का परिधान किये हुए हैं उनमें से एक सज्जत बोटन साहब हैं, जिन्होंने उस रात्रि का वर्णन इस प्रकार किया है—

“एक था दो नृत्य होने के उपरांत रासचारी जो सामने की ओर एक ऊँचे मंच पर बैठे थे और जिनके चारों ओर चौबदारो, चौरीबदारो तथा अन्य सेवकों का समूह था—आगे-आगे उनमें जो तरुण किशोर था वह कन्हैया के स्वरूप में था—कन्हैया, कृष्ण का—व्रज का और बाल-लीला का नाम है । सबसे छोटा किशोर कन्हैया की प्रेयसी—रामिका बिना था । रास ‘बैलेट’ (समूह-नृत्य) के समान हुआ, इसमें प्रेम की भावना और वाचस्पत्य का प्रादुर्भाव था, किंतु सब

कुछ रोजक और दिव्य था, गोपियों के साथ—गोकुल की बालाओं के साथ—भाषा में, जो ब्रज-भ्रात में बोली जाती है—गामन हुआ। ब्रज, मथुरा के आसपास का भू-भ्रात है, यहाँ कृष्ण का प्रारंभिक जीवन व्यतीत हुआ था। उस प्रदेश की भाषा का ज्ञान यूरोपवासियों को अधिक नहीं है, फिर भी सुनने में भी यह कर्ण प्रिय नहीं लगती—सुनी हुई—सी भी नहीं जान पड़ती, किंतु प्राचीन हिंदू-कवियों की अधिकतम निष्कर्ष इस भाषा में सुरक्षित है और मुझे विश्वास है कि इस भाषा के किसी भी विद्यार्थी के लिये यह आकर्षण और रचि की वस्तु है।”

मि० बोटन ने इस अवसर पर गाये हुए, दो पदों की भी प्रतिलिपि लेकर उन्हें अपने ‘पदों’ में संकलित कर दिया। पदों का अंग्रेजी-अनुवाद अत्यंत सुंदर है। ‘रासचारियों की यह रासलीला इस तथ्य की घोषक है, आज से एक सौ-पचास वर्ष पूर्व भी रासलीला पूर्णतः भारतीय विद्या थी, क्योंकि उसका स्वरूप भारतीय कथोपकथन के समान था। गीत, कृष्ण और गोपियों के प्रेमानुद्दीपिका है और इसी में गोपियाँ यशोदा को कृष्ण की माखन-चोरी का उपालम देती हैं—वैसे ही जैसा आचकल की ‘दागलीला’ और ‘माखनचोरीलीला’ में होता है। यद्यपि अंग्रेजी के अनूदित पदों में भी पर्याप्त सौंदर्य है तथापि उनका पुनर्निर्वाह देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है ऐसा करने से वस्तु की आत्मा खो जायेगी।

मि० बोटन ने जिस सौंदर्य से चित्रण किया है, मि० टाड भी उसका अनुमोदन करते हैं—

“रासचारियों का संगीत और नृत्य दोनों साधारण कलाकारों से उत्कृष्ट था। उनके हाव-भाव आकर्षक थे और उनका स्वर स्वाभाविकता का अतिरिक्त नहीं करता था। उनका परिधान रचि पूर्ण और समुचित था—विशेष रूप से कन्हैया जिनके सिर पर सूर्यकांत अग्नि थी, गले में रत्नों की माला थी; अत्यंत भव्य लग रहे थे। समस्त वस्त्र जो कन्हैया और अन्य पात्र पहने हुए थे महाराजा के भंडार से प्रदत्त थे। नृत्य के उपरांत कृष्ण की प्रमुखतम लीलाओं का प्रदर्शन हुआ और यह प्रदर्शन इतना सफल और संयत हुआ कि इतने छोटे बालकों में वैसी कला आश्चर्य की वस्तु जान पड़ी। रासचारियों के साथ जिसने भावक थे और बालक थे—सभी आह्लाष थे और यह अत्यंत आनंद का विषय था कि रास समाप्त होने के उपरांत उनमें से प्रत्येक राजा के समूह विनत होने के स्थान पर एक-एक करके महाराज के सामने आया—और अपने छोटे-छोटे हाथ उठा कर राजा को आशीर्वाद देने लगा। महाराज आशीर्वाद ग्रहण करने के लिये उनके समूह विनत हुए। उसके उपरांत शीघ्र ही हम चले आये। इस संध्या के उत्सव से हम अत्यंत प्रसुप्त थे।”

बोटन के पत्र उन विद्वानों का ध्यान ‘रासलीला’ की ओर आकर्षित नहीं कर सके जिन्होंने भारतीय नाटकों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके उपरांत सन् १८७४ ई० में दूसरा साक्ष्य श्रेयो-साहित्य में हमें प्राप्त होता है—एफ० एस० भूंस, मथुरा डिस्ट्रिक्ट भोमाया, गवर्नमेंट प्रेम इसाहाबाद का, लेखक ने इसमें ‘रासचारियों और रासलीला’ को समझाने का प्रयत्न किया है। रास-चारियों के विषय में वह कहता है—

“आह्लाषों का एक वर्ग जो मुख्यतः ‘करहला’ और ‘पिसाये’ के प्रामो में निवास करता है और जिनका मुख्य कार्य रास-लीलाओं का निरीक्षण है। रास अतिवृत्ति धार्मिक रूपक है, जिसमें कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाएँ व्यक्त होती हैं, यह मध्य कालीन यूरोप के ‘मिरेकिल-प्लेज’ के सम रूप है। संपूर्ण रास एक था उससे अधिक समय में समाप्त होता है। प्रत्येक दृश्य अपने भौतिक रूप में, भौतिक स्थल पर प्रदर्शित होता है। जिस दृश्य को बड़े सौभाग्य से मैं देख सका बिबाह का दृश्य था, जो संकेत में व्यक्त किया गया था। रंगमंच के स्थान पर एक चाटिका थी, पृष्ठ-भूमि में एक लाल पत्थर का मंदिर था, ऊपर गुणिना का चंद्रमा था, सामने से अनेकों रोग-रश्मियों का प्रकाश पानी के मुल पर बिखर कर एक अद्भुत दीप्ति फैला देता

था। दुसरे अत्यन्त सनोहारी था और प्रेम की सीला में भी किसी प्रकार के भविष्य का आभास नहीं था।”

मि० ब्रूस के कथन का यह अभिप्राय है कि यद्यपि रासलीला कृष्ण और गोपियों के प्रेम-तत्व का निर्वहण करती है और इसीलिये अनैतिकता सबकी प्रश्न उन पर उठाया जा सकता है, किन्तु मेरी सीताएँ वही समस्त कलुषित भावनाओं से परे हैं।

हमारे इन तीनों लेखकों का रास-संघर्षी विवरण वास्तव में अपर्याप्त है और वे कुछ ऐसे विचार व्यक्त कर गये हैं—जो अति-पूर्ण हैं। उदाहरण के लिये टाड ने लिखा है कि ‘जन्माष्टमी पर रास में जो गीत गाये जाते हैं वे जयदेव के ‘गीतगोविन्द’ का भाषानुवाद हैं’। इन बात का कोई प्रमाण नहीं है कि रासधारी सवियों तक गीतगोविन्द का ही अभिनय करते रहें, यद्यपि रासलीला में कभी-कभी जयदेव के सङ्कत के पद भी गाये आते हैं। मि० ब्रूस ने रासलीला को मधुरा प्राप्त की ही वस्तु मानी है और विश्वास प्रकट किया है कि रास ‘वनयात्रा’ के अवसर पर ही—

जो मधुरा की सीमा में ही विचरती है, होते थे।

जबकि हम देख चुके हैं कि ब्रूस के समय में वे ही रास-मंडलियाँ देश के विभिन्न भागों में रास करने जाती थीं। दूसरे अवतरण में जो यही उद्धृत नहीं किया गया है, ब्रूस ने यह लिख कर भूल की है कि रासलीला के अभिनेता भूक अभिनय करते थे और मण्डली का स्वामी कथनोपकथनों की प्रति करता था। भूटन और टाड के लेख इस बात के साक्षी हैं कि गत ई० शताब्दी के प्रारम्भ में ही रासलीला कथनोपकथन-पूर्ण अभिनय के रूप में थी और उसके सब पात्र कथनोपकथनों में भाग लेते थे।

इन तीनों लेखकों की कृतियों का मूल्य इस बात में नहीं है कि वे किसी सत्य का उद्घाटन करते हैं, वरन् वे हमारे ध्यान को मधुरा-श्राव की इस अपूर्व ‘नाट्य-कला’ की ओर आकर्षित करते हैं, जो परंपरा से बहुत चली आ रही है और कला की दृष्टि से जिसका परम मूल्य है। वे संपन्न अल्पत विद्वान् और प्रतिभाशाली मनुष्य थे। इनका कथन प्रभाव पूर्ण है। इन तीनों ने रासलीला की मुक्त कठ से प्रशंसा की है। जिन सीताओं को उन्होंने देखा, वे सामान्य उन्हें अच्छी लगी। वस्त्र, परिधान के विषय में वे लिखते हैं कि “बहु अत्यन्त आकर्षक, रंग-विरंगी और सुंदर थी, मण्डली का प्रत्येक पात्र अपना अभिनय सफलता से और प्रवाह-पूर्ण रीति से करता था।” रासधारियों के सतीव पर तो हमारे लेखक मूग्ध थे। हम जानते हैं कि विदेशियों के लिये किसी देशका मुद्रण मुद्रण भाग भावपूर्ण संगीत भी कोई धर्म नहीं रखता। वह उसका भानव उपलब्ध नहीं कर सकते और न अपने झण्डों में उसके स्वाद को व्यक्त कर सकते हैं। विदेशी संगीत शब्द प्रसन्ना और शब्दा में वसित रहता है, किन्तु रासलीला को इसका गर्व है। इन लेखकों ने उसके मणीत की प्रशंसा में कहा है कि “रासधारियों का स्वर कोमल है, मजा हुआ है और आकर्षक है।” मुझे यह और कहने का भाव्य है कि इन लेखकों ने ऐसा लिखकर कोई प्रतिशयोक्ति भ्रम या भूल नहीं की है—नहीं इसमें भी धारित या कहना भी आवश्यक है,—“बातक अभिनेताओं के कथनोपकथन अत्यन्त मृदु और पूर्ण होते थे—ने भाग के मृदु वाहक थे। जिस स्वाभाविक उत्साह से ये बातक अभिनय करते थे—मानिना करने में, उनमें इन बातकों के शिक्षकों का सर्व और प्रतिभा परिलक्षित होगी भी और धन में यह भी कह देता अनुचित नहीं है कि यद्यपि वे सीताएँ अतीव भक्ति पूर्ण हैं तथापि इनमें भावद और प्रभोर का वर्णन आवश्यक है।”

सीता हुईं घातकी के अन्ध जन-प्रिय विनोदी में रान ना गया तुनान्मा मर १२
अठारह और उमसीवी घातकी में हिंदू जाति की कला और कलात्मक जीवन दोनों मिल गए
ये। विद्वत्वं भी अपने प्राचीन नाट्य की भूल गया था, नामात्मक जीवन में प्राचीन रासलीला
कोई सूत्र उत्पन्न नहीं था। जन-प्रिय दुष्टि हो गई थी, किन्तु ऐसे समय भी रासलीला ने जन्म

समान और श्रद्धा प्राप्त की। भारतीय नाट्य के अवकाश युग से रासलीला क्यों अभ्रभावित—मजबूत रही? इसके कई कारण हो सकते हैं, किंतु दो कारणों का उल्लेख निःसंकोच किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि रासलीला अतः धार्मिक-रूढ़िवादी है। भारतवर्ष के सभी प्राचीन नाटक,—यह सत्य है नाम से तो धार्मिक है, किंतु रासलीला में केवल रूढ़ि के लिये ही धर्म की छाया नहीं रहती, वह नित्यतः भक्ति-पूर्ण भावावेशों का समीकरण है। इसके दर्शक भी वे भक्त-हृदय होते हैं, जो अपने इष्टदेव का लीनामृत पान करने के इच्छुक होते हैं ऐंद्रिक आनंद-प्रमोद ग्रहण करने वाले नहीं। इस प्रकार रासलीला सामूहिक उल्लास के कुप्रभाव से सदा सुरक्षित रही है।

रासलीला को दूसरा सलाह यह था कि इसे विद्वान् और भेषावी व्यक्तियों का नेतृत्व प्राप्त हुआ, जिन्हें जन-समान और पर्याप्त धन प्राप्त था। भारतीय अभिनेता को कालांतर से अत्यंत कठिन-जीवन व्यतीत करना पड़ा है। समाज में न उनका समान था न उन्हें अपने परिश्रम का पर्याप्त पारितोषिक मिलता था, समाज के उच्चतर और विद्वद्बर्ग में उन्हें समता प्राप्त नहीं थी। समाज के उच्च वर्ग के व्यक्ति भी आत्म-समान को ठेस लगाये बिना अभिनेता का जीवन नहीं अपना सकते थे। अतः भारतीय रम्यच नित्यतः रूप से अशिक्षित वर्ग के हाथ में दे दिया गया और इसका नैतिक तथा कलात्मक स्वरूप नष्ट हो गया। रासलीला का ऐसा नैतिक और सांस्कृतिक पतन अपने शिष्ट नेतृत्व के कारण समभव न हो सका। रासलीला के दिग्दर्शक और अभिनेता विद्याभ्यासी व्यक्ति थे, वे रास में सुंदर एवं उत्कृष्ट काव्य का प्रयोग करते थे। उनकी प्रायः भी पर्याप्त थी और दीनता-बखिरता के अभि-भाष से वे मुक्त थे। सभी प्रकार के समाज में उनकी पहुँच थी। ऐसे सुसंस्कृत और आत्मसमानी विद्वानों के नेतृत्व में रासलीला कला के दुर्द्धव युग में भी सुरक्षित और सुसंपन्न रही है।



कृष्ण की बुंदेलखंडी रास-मंडली

श्री कृष्णानंद गुप्त

“कृष्ण, तुम कौं बुला गई बिरज की गुजरिया ।
 तुलसी, दकमिन, पुनिया, मुनिया,
 मुनिया और खसनिया,
 वा^१ तो ओहें कुसुम-रंग-बुनरिया—
 कृष्ण, तुम कौं बुला गई बिरज की गुजरिया ॥
 खतुरा, मयूरा, बेंटी बैया,^२
 रैमबैया, हरबैया, जेबैया
 वा तो पैरें बज्जू नौनों^३ धुंधरिया—
 कृष्ण, तुम कौं बुला गई बिरज की गुजरिया ॥
 लक्ष्मिया, मंजी, बिरज की गोरी,
 हरकुरिया रैमकुरिया, मोरी,
 रोजई^४ करे सात की चोरी—
 वा तो पैरें चिलकनीं^५ नौनों मुंवरिया^६—
 कृष्ण, तुम को बुला गई बिरज की गुजरिया ॥
 जमूनी, सरसुतिया, परबतिया,
 तिजिया, पुतिया, सुतिया, बुंदिया,
 पैरें नाक में नौनों पुंगरिया^७—
 कृष्ण, तुम को बुला गई बिरज की गुजरिया ॥
 छूम छूम छेना न न नौं हूम चले भावें,
 तुम कौं गीत-मलार सुनावें ।
 नाच, गावें, ताल-बजावें,
 हूम तुम हिल-मिल रास-रचावें,
 घर के लोग कुठैम खिसयावें ।
 सिर सें उब-उड़ जावें सोरी, बुनरिया,
 कृष्ण, तुम कौं बुला गई बिरज की गुजरिया ॥
 कृष्णा प्यारे, बसी-बारे,
 जसुमत-बारे, नंद-बुलारे,
 सब के प्यारे, सबसे प्यारे,
 सब हि के हूँ तुम रखबारे ।
 तुमवें गिरिबर नख पै धारे,
 तुम वंहावा भवत से तारे,
 ऐसे दीन दयाल के प्यारे,
 फिर से ऊसियई^८ बजा बं पुन की मुरसिया,
 कृष्ण, तुम कौं बुला गई बिरज की गुजरिया ॥”

^१. वा तो—वह तो । ^२. बेंटी बैया—बेंटी बाई । ^३ नौनों—मली, छच्छी, दोमन ।

^४. रोजई—नित्य-ही । ^५. चिलकनीं—चिलकबार । ^६. मुंवरिया—मुंदरी, मंगूठी । ^७ पुंगरिया—
 पुंगरिया, नाक की कील । ^८. ऊसियई—उसी तरह की, बंसी ही ।

प्राचीन गुजराती-साहित्य में श्रीकृष्ण

श्री बेचरदास, दोषी

गुजराती भाषा के तीन युग माने जाते हैं, प्राचीन युग की गुजराती, मध्यम युग की गुजराती और शर्वावीन युग की गुजराती—प्रस्तुत लेख में केवल प्राचीन और मध्ययुग की गुजराती-भाषा में जो साहित्य लिखा गया है, उसमें श्रीकृष्ण के साथ सीधा या परपरा से जो साहित्य पद्य या गद्य में लिखा गया है उसका कुछ परिचय दिया जाता है।

प्राचीन युग की गुजराती में लिखा गया साहित्य केवल जैन पंडितों का ही लिखा हुआ है। जैन कवियों की दृष्टि में श्रीकृष्ण उत्तम प्रकार के मानव, बड़े वीर, बड़े पराक्रमी और प्रजा पालक थे। लगभग बारहवीं शताब्दी के महान् वैयाकरण, आलंकारिक और अपने देश की भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण बनाने वाले गुजराती के महा ज्योतिर्वर आचार्य 'हेमचन्द्र' ने गुजराती व्याकरण में बहुत से उदाहरण ऐसे दिये हैं, जिनका सबब श्रीकृष्ण के साथ है। देखिये—

“वलिमभ्यर्थने मधुमथनः लघुकी भूतः सोऽपि।

यदि इच्छति वृद्धत्वं बलत माभ्यागतः कस्यापि ॥”^१

अर्थात्, जब मधुमथन नारायण बलिराज के पास अभ्यर्थना के लिये गये तब वे भी लघु (छोटे) होकर ही गये थे, जो अभ्यर्थना करनेवाला है उसे छोटा होना ही पड़ता है। इसी प्रसंग का एक पद्य इस प्रकार लिखा है—

“मया मणितः बलिराजस्त्वं कोदुशः मार्यगो ह्येषः।

यादुशः सादुशः क्वापि भवति मूढ स्वयं नारायण एषः ॥”

हे बलिराज, मैंने तुमको कहा कि यह मिदुक कैसा है, बलिराज कहते हैं कि यह मिदुक कैसा भी है, किंतु हे मूढ़, यह तो स्वयं नारायण है और—

“एकामेकां यद्यपि पश्यति हरिः सुष्ठु सर्वावरेण।

तथापि दृष्टिं यत्र क्वापि राधाकः शक्नोति संवरीतुं बृद्ध नयनां स्नेहेन अभिप्राप्तम् ॥”

अर्थात्, श्रीहरि प्रत्येक गोपी को बड़े स्नेह भाव से आदर के साथ देख रहे हैं, तो भी जहाँ कहीं राधा जाती है वहाँ ही श्रीहरि की स्नेह दृष्टि जाती है, ऐसी स्नेह-दृष्टि को कोन खिया सकता है।

जैन-संप्रदाय में चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं, उसमें तेईसवें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' को श्रीकृष्ण के चचेरे भाई माने गये हैं। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव थे और माता देवकी थी, नेमिनाथ के पिता 'समुद्रविजय' थे और माता 'शिवा' देवी थी। नेमिनाथ बड़े बलिष्ठ थे, बालब्रह्मचारी थे, श्रीकृष्ण का पाचजन्य नाम का शब्द कोई नहीं पूछ सकता था। उस शब्द को नेमिनाथ ने झूठ कर बजा दिया था। तब श्रीकृष्ण को इनके विवाह की चिंता हुई कि इतना अवरदस्त बलिष्ठ भाई क्यों अविवहित रहे, अतः उनको विवाह के लिये मनाने को श्रीकृष्ण धंत पुर-उद्यान-श्रीढा करने के लिये उपवन में ले गये, उसका सरस वर्णन 'श्रीनेमिनाथ-काण' में है।

^१. लेखक महाशय ने जो पद्य लिखे हैं वे प्राकृत और उसका संस्कृत-रूपांतर दोनों लिखे हैं, यहाँ केवल संस्कृत का रूपांतर ही दिया गया है।—सं०

उसके अनुसार नेमिनाथ जब विवाह के रथ में बैठ कर गये तब मार्ग में एक बेरे में पशुओं को बँधे देख कर तथा सारथि से पूछने पर और यह ज्ञात होने पर कि इन पशुओं से आपके लिये सोन्य-सामग्री बनेगी तो नेमिनाथ रथ को चौटा कर गिरसार पर्वत पर जाकर तप करने लगे और वही उनका निवास हो गया। श्रीनेमिनाथ के प्राग का समय वि० सं० १४०५ का और उसके रचयिता 'राजेश्वर सूरि' हैं।

वैदिक-परंपरा के गुजराती कवियों ने कृष्ण के सबंध में जो काव्य प्राचीन अथवा मध्य-युग की गुजराती भाषा में लिखे हैं उनका नाम निर्वेश मात्र यहाँ दिया जाता है। वैदिक परंपरा में श्री-कृष्ण को परमात्मा का अवतार माना गया है—

१—भक्त कवि 'नरसिंह (नरसी) महता' ने श्रीकृष्ण को अपना इष्टदेव माना है और उनके सबंध में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने हार, डुब्बी, बोसाली और विवाह नामक काव्य लिखे हैं। नरसिंह महता की सभी कविताओं में श्रीकृष्ण का स्तवन-वदन प्रमुख है। यह कवि काठियावाड में तलावा गाँव के थे, उनका समय १४७०—१५३६ वि० है। गाँवी जी का श्रिय भजन—

‘बैष्णव जण तो तैणें कहिये, जे पीर पराई जाणें रे।’

नरसीजी का ही है।

२—“कवि-चरित्र”। लेखक—केशवराय-काशीराय शास्त्री।

३—“भयण छंद”। लेखक—कवि भयण, इसमें श्रीराधिका जी के मृगार का वर्णन है। समय लगभग वि० १४५०—१५०० है।

४—“उषा-हृरण”। लेखक—कवि वीरसिंह, समय लगभग वि० १५२०—१५२५ है।

५—“कृष्ण-श्रीदा-काव्य”। लेखक—केशवदास कायस्थ, समय वि० १५२६ है। यह कवि प्रभास-पाटण का रहने वाला था। यह काव्य चालीस सर्ग का है और अत्यंत सर्ग अनेक छंदों में रचा गया है तथा इस काव्य में कवि ने ब्रजभाषा के भी बहुत सुंदर पद लिखे हैं, जैसे—

“भक्त कही भक्त रिसानी, बोलै, यह अपराध हमारी।

धर में रहै सर्वा गुन-सागर, कोमल कुंजर तुम्हारी॥”

६—“सतभामा नूँ रूपणो”। लेखक—कवि मंडन वधारी, समय वि० १६ की शताब्दी। इसमें सत्यभामा का रूठना वर्णित है। इस काव्य में जैसे महाराष्ट्र में श्रीकृष्ण को विट्ठोवा कहते हैं, उसी प्रकार ‘विठला’ कहा गया है और इस काव्य में मरैली-माया का भी पुट मालूम होता है।

७—“श्रीभागवत दसमस्कंध”। लेखक—पाटन नगर निवासी ‘कवि भालन ब्राह्मण’, समय लगभग १५४०—१५४५ वि०। इस ग्रंथ में ४५७ पद हैं। इस कवि ने अपने समय की गुजराती में अनेक ग्रंथ लिखे हैं और ब्रजभाषा में भी सुंदर कविता लिखी है, जैसे—

“ब्रज की सुख सुमरन स्थान।

परम कुटी तो बिसरत नाहीं, नाहिन भावत सुंदर धाम॥

नवीर (?) भाव नखनीत के कारन, उसलें बाँधे ते बहु दाम।

चित्त में वे जू चुभी रही है, चोर-चोर कहत हैं नाम॥

निसनिन फिरतो जू सुरभी के संगे, डार पर परत सीत धन धाम॥”

८—“हरिलीला पोडस कला”। लेखक—कवि ‘भीम’, समय वि० १५४१—१५४६। कहा जाता है कि यह कवि काठियावाड में मुप्रमिद्ध तीर्थ ‘प्रभास-पाटण’ का था।

९—“ऊषा-हृरण”। लेखक—‘जनार्दन’ तिवारी, वि० १५४८। इनमें ऊषा के पिता बाणपुर के साथ कृष्ण के युद्ध का और ऊषा के विवाह का वर्णन है। यह कवि गुजरात में नडिमद के पान उमरौठ का रहने वाला ब्राह्मण था।

१०—“मीराबाई” । वि० १५६५-१६०३ । मीरा की कृष्ण-भक्ति और उनके रचित अनेक पद प्रसिद्ध हैं, जैसे—

“बंसीवाला आजो म्हारा देस ॥

आजो म्हारा देस, हो बंसीवाला आजो म्हारा देस ।
 पारी साँवली सुरत हृदय बसै, बंसीवाला आजो म्हारा देस ॥
 आवन, आवन कहूँ गए, कर गए कोल अनेक ।
 गणताँ-गणताँ विस गई जीर्मा, म्हारी आँगलियो नी रेख ॥
 एक वन बूँडो, सकल वन बूँडो, बूँडो सारी देस ।
 वारे कारन जोगिन हूँगी, कहँगी भगवाँ भेस ॥
 कागद नाहीं, म्हारे स्थाही नाहीं, कलम नाहीं लवलेस ।
 पंत्तो नूँ परवेस नाहीं, किण लिखूँ संदेस ॥
 मोर मुकट सिर छत्र विराजै, छूँघरवाला केस ।
 ‘मीरा’ के प्रभु गिरधर नागर, आबो नी जणै बेस ॥”

❀

“मूनिं, चाकर राखो जी, गिरिधारी लाला, चाकर राखो जी ।
 चाकर रहस्युं, बाग लगास्युं, नित उठ बरसण पास्युं ।
 विद्रावण री कुंज-गैल माँ, मोविद-लीला पास्युं ॥
 चाकरी माँ बरसण पास्युं, सुमरण पास्युं खरवी ।
 भाव-भगत-जागीराँ पास्युं, जणम-जणम री तरसी ॥
 मोर-मुकुट पीतांबर सोही, गल व्रजवर्ता-भालो ।
 विद्रावण माँ घेण खरावाँ, सोहण मूरजी वालो ॥
 हरे-हरे नवाँ कुंज लगास्युं, बीचाँ-बीचाँ धारी ।
 साँवरिया रो बरसण पास्युं, पैहण कसुंवी सारी ॥
 आबो रात प्रभु बरसण दीस्यो, अमणा जी रे तीराँ ।
 ‘मीरा’ रे प्रभु गिरिधर नागर, हिवड़ो घणो अघीराँ ॥”

११—“भोला-हरण” । लेखक—कवि ‘नाकर’, वि० १५७२-१६२४ । ये कवि वडोदा का रहनेवाला बीसावाल वैश्य था, इसकी कई और कृतियाँ भी हैं ।

१२—“अमर-गीत फाण” । लेखक—कवि ‘चतुर्भुज’, वि० १५७६ ।

१३—“विष्णु-पद” । लेखक—‘आसा भगत’, वि० १८ वीं शताब्दी ।

१४—“राधाजी नो गर्वो” । विष्णु-पद, विष्णु-विचार, राधा-कृष्ण नी चातुरी, लेखक—कवि ‘अन्नाराम’ ।

१५—“कृष्ण-चरित” । लेखक—कवि ‘आत्माराम’ ।

१६—“राधाजी नो गर्वो” । लेखक—कवि ‘उदयराम’ ।

१७—“कृष्ण-अत्म-वार्द्ध” । कवि—‘करनदास’ ।

१८—“गीत-गोविंद” । लेखक—‘महादेव’, वि० १६२५ ।

१९—“गजेंद्र-मोक्ष” । लेखक—‘लक्ष्मीदास’, वि० १६३८ ।

२०—“बाल-लीला” । लेखक—‘शिवदास’, वि० १६६७ ।

२१—“दशमस्कव” । लेखक—‘लक्ष्मीदास’, वि० १६७४ ।

२२—“कृष्ण-चरित ना श्लोका” । लेखक—‘डोसी बालाजी’, वि० १७०० ।

२३—“सुदामा-चरित” । लेखक—‘प्रेमानंद’, वि० १७३१ ।

२४—"नाग-संवाद"। लेखक—'ब्रह्मानन्द', वि० १७३१।

२५—"मथुरा-लीला"। लेखक—'केशवदास', वि० १७३३।

२६—"मथुरा नो काजल"। लेखक—'रघुराम', वि० १७७२।

२७—"रसिक-वत्सल"। लेखक—'दयाराम', वि० १८८४।

इसके सिवा और भी अनेक कृतियाँ गुजराती कविगणों ने श्रीकृष्ण के विषय में लिखी हैं, जिन सब का संपूर्ण निर्वेश यहाँ सम्भव नहीं, प्रस्तुत लेख में जिस सामग्री का उपयोग किया है, वह यह है—

१. कवि-चरित्र भाग—१, लेखक—केशवराज-काशीराज शास्त्री।

२. गुजराती—हस्त-लिखित ग्रंथों की संकलित यादी।

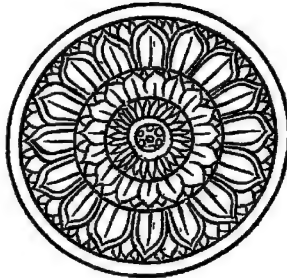
३. कृष्ण-लीला-काव्य—संबालालजी जानी।

४. हस्त-लिखित पुस्तकों की नामावली—संबालालजी।

५. प्राचीन विनोद-काव्य—छगनलाल रावत।

६. कवियों, भाग—१, २। संपादक—स्वर्गीय मोहनलाल भाई देसाई।

इस लेख में जिस-जिस ग्रंथ और ग्रंथकार का जल्लेख हुआ है उनका कृतज्ञता के साथ स्मरण करता हूँ।



इतिहास, पुरातत्त्व और कला

राग-केवारा

“ललित ब्रज-देस, गिरिराज राजे ।

घोष-सीमतनी-संग गिरिवरचरै, करत नित केलि तहाँ काम खाजै ॥

त्रिविध-पोग संवरै, सुखद क्षरनां क्षरै, ललित सोरभ, सरस मधुप गाजै ।

ललित तरु, फूल, फल-फलित अट-रितु सदा, ‘चन्द्रमुखास’ गिरिवर-समाजै ॥”

—चतुर्भुजास (अष्टदाप)



किशनगढ़चित्र-शैली में बनीठनी राधा'

श्री एरिक सी० डिर्किंसन

"यह एक ऐसी कला हमारे सामने है, जिसका वर्णन सारी-रूप में उचित होगा, क्योंकि अधिकांशतः स्त्री-सौंदर्य के चित्रण के लिये ही यह समर्पित की गई है। यह कला निश्चय ही मानवोन्मुख और प्रेम-रस से भरी है। वन-देवताओं की कल्पना प्रसूत सुवर छवियों से प्रसंस्कृत यह कला परिष्कार की उस सीमा को पहुँच गई थी, जहाँ से फिर वह ह्रास का किनारा छूने लगती है।"

—इवान स्चुकिन कृत 'भारतीय चित्रकला' (ल पायूर आदिश)
"..... सुवर्तन कला प्रायः उस कल्पना-शैली युग्म में प्रकटित होती है, जिसमें कल्पना-लोक में जन्म लेनेवाले सौंदर्य का प्रवाह पृथ्वी पर उतर कर कुछ भीमा पड़ जाता है और वास्तविक विषयोन्मुख सौंदर्य का प्रवाह उसकने लगता है और ये दोनों धाराएँ एक दूसरे में घुल-मिल जाती हैं। इसके फलस्वरूप एक उदात्त कला की सृष्टि होती है जो एक ओर कल्पना के सुगम से जुड़ी रहती है और दूसरी ओर चकाने-चकाने करनेवाले उदार, निर्मल एवं ईश्वर-प्रत्यक्ष में आनेवाले सारी-सौंदर्य का चित्रण करती है।"

—पी० ए० सोसोकिन कृत 'कला के रूपों की सोल गति' पलक्नुएरांस इन फार्मर्स ऑफ थार्ट, भाग १
मेरा किशनगढ़ (शुद्धरूप—कृष्णगढ़) से प्रथम संपर्क सितंबर सन् १९४३ में हुआ। उस समय सयोग से ही यह बहुमूल्य वस्तु हाथ लगी, जिसका वर्णन इस लेख का उद्देश्य है। किशनगढ़ के पुराने किले में चित्रों के सरसक प्रससनीय वर्ग के साथ हमें किशनगढ़ के मुगल-कालीन चित्रों का सग्रह दिखा रूँ। वैसे तो उसे देखने के बाद किसी नई वस्तु को पाए बिना ही हम किशनगढ़ से लौट आते, पर हिमाचल-शैली के चित्रों की मोहनी मेरे मन पर पहले पड़ चुकी थी। अतएव मैंने पूछा—जब राज्य का नाम किशनगढ़ है, तो क्या मगवान् कृष्ण के नाम के साथ इसका कोई आनन्दप्रद संबंध नहीं है? यदि है, तो क्या कृष्ण-नीला-सवर्णी कुछ चित्र भी यहाँ हैं?

अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। यह बताया गया कि ऐसे चित्र तो स्थानीय कलाकारों की ही कल्पना हैं और उनकी तुलना सम्भवतः उन मुगल कालीन विशिष्ट चित्रों से नहीं हो सकती, किन्तु हम देख रहे थे और अधिक जाँच-पड़ताल करने पर सहाय्य के सरसक सहोदय भविष्यपूर्वक वहाँ से गए और चपरासी के साथ एक बड़ा-सा गद्गर लादे हुए लौटे। यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय किशनगढ़ के पुराने महल में एकत्र हन लोगों में से किसी को यह पूर्वाभास नहीं था कि वीरप्र ही हम क्या देखनेवाले थे और किस प्रकार पाषाण जगत् से ऊपर उठकर क्षण भर में ही हम एक दूसरे अपायित लोक में पहुँच जाँनेवाले थे, पर हुआ मही, जब कि नीले आभरण के भीतर से एक-एक बड़े आकार के चित्र निकलने लगे। किन्तु देखकर हममें से प्रत्येक हर्ष से प्रकटित होकर आह्लाद-ध्वनि करने लगा। हमने ऐसा अनुभव किया जैसे हम मगवान् कृष्ण के समीहक स्वर्ण में प्रवेश पा गए हों।

भग्न हमारे नेत्रों के सामने चित्रों का ऐसा दृश्य उपस्थित था जो निताव, नया, विमुग्धकारी और रहस्यपूर्ण था और जैसा हम में से किसी ने पहले न देखा था। इन चित्रों के स्वर्ण लोक में निर्मल

१. अग्रणी का भावानुवाद, अनुवादक—वासुदेवसरण।

भरी बापियाँ, सघन वन, सगमभर की बेदियाँ और सुंदर माताजी से परिपूर्ण थे। उसकी भव्यगति सहायक सामग्रियों में सेवानिष्ठ सलियों के सुंदर शिखरित परिधान भी थे, जिनके बीच में कृष्ण और राधा की युगल मूर्ति विराजमान थी और दोनों एक दूसरे के सावहास-विलास और सुगन्धित पाक-फल के आदान-प्रदान में व्यस्त दिखाए गए थे।

उस समय की हमारी यह चित्र-शाली साजिश ही रही और कर्तव्य के आदेश से प्रेरित होकर बीस मिनट बाद हम अजमेर लौट आए। किशनगढ़ के चित्रों का यही प्रथम परिचय था।

राज्य का संघर्ष

किशनगढ़ के तत्कालीन दीवान डाक्टर आर० के० सिक्ख के आग्रह पर सन् १९४३ ई० में बड़े दिन की छुट्टियों में मैं फिर किशनगढ़ गया। उद्देश्य यह था कि किशनगढ़ के चित्र-संग्रह का निरीक्षण अधिक अवकाश के साथ कर पाऊँगा और उसकी विविधता और विस्तार से परिचित होने के साथ ही भारत की सांस्कृतिक धाती में उसके स्थान का मूल्यांकन भी कर सकूँगा।

हमारे मन में एक गुप्त प्रश्न बार-बार चक्कर काट रहा था 'क्या अविराज्य किशनगढ़ के चित्र राजस्थानी चित्र-कला की किसी अवस्थानी शैली के प्रमाण हैं? यदि हाँ, तो उसकी पहचान के कौन-कौन से विशेष लक्षण हैं? ऐसा मन में आया कि इन प्रश्नों के उत्तर को मुख्य रूप से और बावों से अधिक महत्व मिलना चाहिए।

हमारा दैनिक कार्यक्रम राज्य के चित्र संग्रह में से सैकड़ों चित्रों का निरीक्षण करना था। चित्रों के बस्ते बराबर सामने धाते-धाते थे और विषय के हिसाब से चित्रों को सरियाते का काम हो रहा था।

पहले ही 'शबीहा' या प्रतिष्ठा की श्रेणी, जो सख्या में सबसे अधिक थी। इसमें प्रसिद्ध सत, दरवेश, गायक, राजा-महाराजा, नवाब-बादशाह और नायिकाओं के चित्र थे। चित्र समूहों पर किशनगढ़ की चित्रशाला में ये चित्र लिये गए थे और कभी विस्मयनीय थे, किंतु ये उचित राजपूत कालीन चित्रकला की 'राजस्थानी' शबीहा की भाँति ही थी। राजा और उमरावों के चित्रों में जयपुर, जोधपुर और जयपुर का विशेष स्थान था। समस्त इनमें से कुछ चित्र प्रेमोपहार के रूप में किशनगढ़ आए होंगे।^१

एक श्रेणी ऐसे चित्रों की थी जिनमें शिकार के दृश्य थे। इनसे प्रकट होता था कि किशनगढ़ के अनेक राजा जंगली सुपरो के पीछे घोड़ा ढालकर शिकार करने के शौकीन थे। उनके चित्र घुड़सवारी की निपुणता चाहिए। इस श्रेणी के चित्रों में पशुओं का चित्रण विशेष रूप से यद्दत है, जिनमें 'राजबल्लभ सुर्य' और शाही हाथियों के चित्र बहुत से मिले। सख्या की दृष्टि से ये चित्र जितने प्रभावजनक थे, कला की दृष्टि से उतने अच्छे न थे।

केवल एक श्रेणी के चित्रों में ठीसी की विशिष्ट छाप प्रकट थी और वह भी नायिकाओं के चित्रों में। इनमें भी एक विशेष प्रकार के चित्र अत्यंत प्रामाण्य-अनक थे जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

कृष्ण-सीता के चित्र

कृष्ण-सीता-समूहों के चित्रों में नैतिकता की छाप थी और उनकी शैली में जो एक निजी चित्र-यत्ना थी। ये चित्र आकार में बड़े थे और चित्रकार के साहस-पूर्ण प्रयत्न के परिणाम थे। उनके

^१. किशनगढ़ का चित्र-संग्रह हमें अपनी नवंबर सन् १९४६ में देखने को प्राप्त हुआ। उसके प्रतिष्ठित जिनमें एक विशिष्ट संग्रह युष्टिभाषीय आचार्य एवं अष्टादश के कविताओं के चित्रों का है। गुरुराम, मोरार, कबीर, हित हरिवंश, बल्लभाचार्य, विद्वत्नाथ, उनके परिवार के मुसई आचार्य, एवं स्वयं महाराज चारुलाल या 'नागदीवास' के चित्र इस संग्रह में हैं। —बालुदेववरण

विषय संपुजन और वर्ण-सौष्ठव में भी काफी आकर्षण था, लेकिन सबसे अधिक आकर्षक उनकी अपनी 'अकन-शैली' थी। अकन को यह निजी विशेषता न तो चित्रों के विशेष प्रकार के पहनावे में थी और न आभूषणों में, यद्यपि इनके लिखने में भी चित्रकार ने बहुत ही सावधानी से काम लिया था। युगल-छवि के परिधान एवं राधा जी की चोली के ऊपर लहराते हुए मोतियों के बड़े-बड़े हारों में चित्रकार ने काफी निपुणता से काम लिया था, जैसी कि जयपुरीय 'रासलीला' के चित्रों में देखा जाता है, परंतु इसमें से किसी भी अलंकार या शृंगार की आकर्षण-शक्ति ऐसी न थी जैसी कि दुलहिन राधा या, दूल्हा भाव के 'एक चरमी' चित्रों की विशिष्ट अकन-शैली की मोहिनी छवि थी। चित्रों की शैली प्रचलित राजस्थानी-विधि के अनुसार होते हुए भी उसका एक अपना आकर्षक प्रकार था। इस अकन-शैली की विशेषताओं को हमें विशेष रूप से देखना आवश्यक है, क्योंकि कृष्णगढ़ के कृष्ण-लीला-सवर्षी चित्रों की पहचान इन्हीं गुणों से की जा सकती है।

सामान्यतः जिसे हम राजस्थानी अकन-विधि समझते हैं, उससे कुछ विशेष परे हटकर किशन-गढ़ के चित्रों ने अपने ये चित्र लिखे। ज्ञात होता है कि किसी अनुभवी उस्ताद के हाथों में कोई, बड़ा भावाविष्ट गुरुमंत्र उतर आया था, जिसका प्रयोग उसने 'राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के चित्रण के लिये ही किया है। किशनगढ़ जिसे हम 'किशनगढ़ की अकन-शैली' का नाम देते हैं, उसमें निजी आकर्षक विशेषता के अतिरिक्त बड़ा जीवन और प्राण है और वह अनजाने ढंग से अपनी मोहिनी शक्ति विखेरी हुई जान पड़ती है। जिन मूर्तकों में नायिकाओं के चित्र थे उनको देखते-देखते शोष ही हमें किशनगढ़-शैली की इस विशेषता का पुष्ट परिचय मिल गया।

लगभग आठ सौ चित्र जब हम देख चुके थे तब एक बड़े लिफाफे में १६" × २२" का एक बड़ा चित्र हमारे सामने आया। इस प्रकार कृष्णगढ़ की राधा हमारे आश्चर्य-वर्कित दृष्टिपथ पर अवतीर्ण हुई और उसके सौंदर्य के समवेग ने हमारे मन की समाधि को खिलारा दिया।^१ किशनगढ़ की जिस निजी अकन-शैली और सज्जन का सौंदर्य-प्रधान अकन-शैली और सज्जन का अनुभव हमें दूसरे चित्रों में मिल चुका था, उन्हीं की एक निकट की झाँकी राधा के इस चित्र में हमारे लिये सुलभ हो गई।

किशनगढ़ की अनुपम कृति—'राधा'

किशनगढ़ की राधा किसी बड़े कलाकार की एक अनोखी कृति है। इसकी अपनी धज है और अपनी वनठ है। कमान-सी तनी हुई जैसी मोहों के ऊपर पीछे को डलता हुआ माथा इसकी पहली विशेषता है। सुए-सी लवी नाक और आगेको ढुकी हुई ठोड़ी दोनों बहुत ही अनोखी बन पड़ी हैं, पर सुदरता में चार चाँद लगाने वाली बाँकी पखली के जैसी कटावदार आँख है। उसका अग्रभाग ऊपर की ओर झुकता हुआ भो की बकिम-कमानी के साथ झूटा हुआ जान पड़ता है। किशनगढ़ की इस राधा के लिये एक उपयुक्त विशेषण होगा—“कटाखवती नायिका”। निपुण चित्रकार ने उसे सँवारने के लिये एक और अनोखी कलम लगाई है, वह है ठोड़ी के पास तक लहराती हुई काली लट जो कपोल के प्रात-भाग की सीमित करने की रेखा सी जान पड़ती है।

किशनगढ़-शैली की इस छवीली नारी-कृति को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि इसके चित्रकर्ता ने अपनी सूक्ष्म-बूझ के साथ शृंगार की परंपरा का खूब मिलान किया है। सस्कुल और हिंदी-काव्यों में शृंगार-सौंदर्य का जो चित्रण किया गया है, चित्रकार ने मानो चित्र में लिख दिया

^१ सौंदर्य की अनुभूति से उत्पन्न होनेवाले इस प्रकार के मानसिक धक्के (इम्प्रेटिक शोक) को 'संवेग' कहा है। चित्र-सौंदर्य को जानने की दूसरी परिपाटी बौद्धिक है, जिसके द्वारा आचार्य या पंडित (विचक्षण) लोग चित्र की परख करते हैं, लेकिन रसिक-जन तो चित्र के सौंदर्य का रसानुभव करके लाहलौट हो जाते हैं।

है। कर्णाट को छूनेवाले विशाल लोचनो का आदर्श चित्र में साकार हो उठा है। स्त्री के लिये 'उत्पलाक्षी' विशेषण इस चित्र में सत्य होता जान पड़ता है।

अब हममें से अनेको के हृदय इस बात की सखी बने होंगे कि सचमुच इस कृति के द्वारा कोई एक महान् चित्रकार हमारे समुल्ल उपरित हुआ है। उसकी अनुपम राधा की यह एक चक्षुषी शब्दी इटली देश के पद्महवीं शताब्दी के अस्त्युत्थान-काल में उत्पन्न होने वाले 'सिस्तेनो' और 'बल्दोविनेती' जैसे चित्रकारों की कृतियों से लोहा लेने वाली है। प्रश्न यह है कि क्या इस तरह का कोई निशिष्ट चित्रकार किशनगढ़-शैली के इतिहास में पाया जाता है? अपनी खोज के फलस्वरूप हमें जो ज्ञात हुआ उसके अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है।

किशनगढ़ का उस्ताद चित्तेरा

यह बात सहज मानी जा सकती है कि जब किशनगढ़ में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उसकी चित्रशैली की कोई ऐसी निजी विशेषता होनी चाहिए जो पाश्चात्योस के चित्रकारों में विशेषतः—जयपुर, ओधपुर, लीकानेर के बड़े तिगड़े में कहीं भी देखने को न मिलती हो, तो इस प्रकार की एक विशेष रूपाकृति-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई और हमारा विश्वास है कि उसका उत्तर किशनगढ़ के राधा और कृष्ण की इस विशेष प्रकार की मुद्राकृति में प्राप्त हुआ। ऐसी मौलिक रचना किसी रहस्यवा-मरतवा चित्रकार के मान की न थी। प्रश्न होता है कि क्या किशनगढ़ के इतिहास में इस काम के लिये समर्थ किसी के सचिव की 'भली फैयालखा' से मुझे जो सूचना मिली उससे इसकी पुष्टि होती है।

कृष्ण-लीला के दो आकर्षक चित्रों पर लिखे हुए सुंदर नस्तालीक़ अक्षरों की ओर जब मैंने ध्यान दिया तब उनपर यह लिखा हुआ था—“अमल सुरधन निहालचंद”, अर्थात् सुरधन निहालचंद (चित्तेरे) का लिखा हुआ (चित्र)। दोनों ही चित्रों में उसी प्रकार की विशेष शैली थी, जैसी कि कृष्ण और राधा की युगल मूर्ति के लिये इस कला में मिली थी। इस कला के सुंदरतम चित्रों में शैली की जो निजी विशेषता है वह उस सूक्ष्म सीमा तक है, जिसका प्रतिफलन करने पर चित्र कथधार हो जाता है या भबज्जा बन जाता है।

निहालचंद चित्तेरे का नाम ज्ञात होने के बाद कुछ सामग्री जिस पर किशनगढ़-शैली के समय पर प्रकाश पड़ा, एक बड़े चित्र में श्री 'शुकदेव' जी गंगा के किनारे राजा परीक्षित और श्रद्धा-भृतियों को कथा सुना रहे हैं। चित्र उतना सुंदर नहीं था, पर उस पर लिखा हुआ था कि उसे सन् १७०० (१७५७) में 'सुरधन निहालचंद' ने बनाया, इससे यह निश्चित हुआ कि १८ वीं शती के दूसरे भाग के आरम्भ में निहालचंद दरबार के लिये सुंदरतम चित्रों के लिखने का काम कर रहे थे। निहालचंद की कलम की अपनी खूबी थी। किसी कच्चे उस्ताद के हाथों में पड़ कर उस कलम की किरकिरी हुए बिना न रहती। यह सका किशनगढ़ के ही 'अमरचंद' और 'सीताराम' नामक दो लिखे हुए अन्य चित्तेरों के लिखे हुए चित्रों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। समस्त वे निहालचंद के ही सहायक थे, पर उस्ताद निहालचंद की हठीती की अपनी शान है और वह अलग-अलग पहिचानी जाती है।

निहालचंद के बाद दूसरों के हाथ में पड़कर जब यह कलम कमजोर हुई, तब बेहरे में नाम और ठुंडी के एक ही ओर बढ़ाव के कारण शशक की आकृति का कुछ आभास आ गया। निहालचंद की कलम का पनापन दूसरे चित्रों में प्रायः जाता रहा है। किशनगढ़ के चित्राचारी (मुरक्तो) में सुरक्षित नायिकाओं के चित्र इस बात के सखी हैं। बडोदा-सम्राटसय में बल्लभाचारी के दो चित्रपट या पिछवाई हैं। मेरा अनुमान है कि ये किसी समय 'कल्याणराय' की मूर्ति के दोनों ओर दीवार पर टांगे जाते थे। कल्याणराय, कृष्ण के उस स्वरूप का नाम था जिसे महाराजा रूपसिंह ने किशनगढ़ के पुराने राजमहिलों के मंदिर में सन् १७११ में स्थापित किया। मेरे मित्र श्री० गौरी-

शकर ने किसी समय उन दो चित्रपट पिछवाइयो को वहीं लगा हुआ देखा भी था। किशनगढ़ किसी समय बल्लभ-सप्रदाय का प्रच्छा केंद्र था।

एक प्रश्न मेरे मन में यह भी उत्पन्न हुआ कि शैली की यह निजी विशेषता निहालचंद की कलम में स्वयं उत्पन्न हुई या उसने कहीं से उसे प्राप्त किया। किशनगढ़ के राजाओं के जो चित्र उपलब्ध थे उनमें महाराज 'सहस्रमल' (१६१६ ई०) के चित्र की छवि देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे निहालचंद ने किशनगढ़ के नरेशों में सबसे सुंदर सहस्रमल की प्रतिकृति या छवि को अपना आदर्श माना हो। मैंने सहस्रमल का यह चित्र 'हुँडले' की पुस्तक 'भारतीय नरेश' (कलर्स आफ इंडिया) के फलक १६ पर देखा, पर समझ है कि सहस्रमल का यह चित्र असली न हो, निहालचंद के बाद बनाया गया हो।

निहालचंद के समय में किशनगढ़ के शासक महाराजा 'सावतसिंह' जी थे। निहालचंद के साथ उनका अनूठा संबंध था।

कवि-नरेश

किशनगढ़ में सुरक्षित पत्रों से ज्ञात होता है कि निहालचंद को एक जागीर मिली थी। राजकीय चित्रशाला में काम करनेवाले चित्तेरो को तीन रुपये रोज मिलता था। समस्त यह वृत्ति सहायको के लिये थी। निहालचंद को इससे दूना या और अधिक मिलता होगा। उनका घर भव भी किशनगढ़ में है और उनकी धावीह भी जो उनके सहयोगी अमरचंद ने बनाई थी,—जिसमें 'रूपनगर' के राजमहल में महाराज 'सरदारसिंह' की राजसभा में दूसरे दरबारियों के साथ निहालचंद भी दिखाए गए हैं। समस्त निहालचंद की कलम का यत्न अन्य राजबादों में भी पढ़ा, जैसे बूढ़ी के महल में बने हुए एक भित्ति-चित्र में निहालचंद की कलम की छाप दिखाई पड़ती है। यो तो किशनगढ़ के कई राजाओं की निहालचंद पर कृपा रही, पर महाराज सावतसिंह उसपर विशेष रूप से ढरे थे।

किशनगढ़ के चित्रों को देखकर मेरे मन में जो सौंदर्य-बोध उत्पन्न हुआ उससे मुझे कुछ ऐसा लगा कि इन चित्रों का प्राण और भाव-स्रोत किसी साहित्यिक की आत्म-प्रेरित मुक्तक कृति में होना चाहिए। धीरे धीरे मुझे इसका प्रमाण भी मिल गया। दरबार की कृपा से कृष्णगढ़ के वीस चित्र इस बिचार से अपने साथ ले आया था कि मैं उन्हें प्रकटित करूँगा। एक चित्र के पीछे कुछ कविता लिखी हुई थी। मेरे मित्र पं० 'बालसहाय शास्त्री' ने जो स्वयं पुष्टि सप्रदाय के है, उसका पता-ठिकाना 'नागर-समुच्चय' नामक ग्रंथ में निकाल लिया। उन वीस चित्रों में से निम्नचय ही राधा, दीवाली, तिराही, प्रेम की नौका और वन-मेंट—नागर-समुच्चय पर प्राप्ति वे।

और चित्रों के वर्णन का यहाँ स्थान नहीं, परंतु 'दीवाली की रात' नामक चित्र का जिस पर वह कविता लिखी हुई थी—परिचय आवश्यक जान पड़ता है। काली जमीन पर दीपकों की झिलमिल में कुछ भवन बने हैं और सामने की ओर एक सरोवर के तट पर ऊँचे आसन पर दिव्य रूपित रूप में राधा और कृष्ण पूर्ण शृंगारी शेष में विराजमान हैं। सामने सखियों के मध्य में एक सखी अञ्जलि से फूलझड़ी देवती हुई दिखाई गई है। कंसा सुंदर अनुपम दृश्य है। चित्र में मानो कृष्ण के लीला-लोक की एक छाँकी साकार हो उठी और स्वयं चित्र की आत्मा ज्योति के पक्ष लगाकर सौंदर्य के भाव-लोक में विचरण करती-सी जान पड़ती है।

किशनगढ़ के महाराज सावतसिंह ही कवि 'नागरीदास' थे, जिन्होंने समुच्चय की रचना की। महाराज सावतसिंह कृष्ण के अन्त्य भक्त और लीलाओं में अत्यधिक रस लेनेवाले थे। उनके मन में भक्ति और वैराग्य का उदय हुआ और वे राजपाट त्याग कर वृंदावन-वास करने लगे। कहते हैं, उनकी एक दासी जिसका नाम 'बनीठनी' था, जो अंत तक वृंदावन में महाराज की सेवा में रही। किशनगढ़ दीली में निर्मित राधा की छवि एक अत्यंत यशस्वी कृति है। मुगल-चित्र-कला के रास के

बाद राजस्थानी-कला थीर राजस्थान की यात्रा का जो सगर्व उत्थान हुआ, उसकी पूरी क्षलक किशनगढ़-चित्र-शैली में है।

किशनगढ़ के चित्रों की विशेषताएँ उनके रंग हैं, जो राजस्थानी शैली के चटकीले रंगों की अपेक्षा कुछ ठंडे हैं और इस बात में कुछ-कुछ मिलते हैं। इन चित्रों की दूसरी विशेषता राजदरबारों के ठाट-बाट है। जान पड़ता है मानो दर्शक वे रोक-टोक सहस्रों के अत पुर के वैभव को विश्रब्ध होकर देखने की अनुमति पा गया हो। इन चित्रों की तीसरी विशेषता भक्ति के साथ शीघ-शृंगार का मेल है। भौतिक-जीवन के राग-भोग को पूरी तरह सँवार कर धार्मिक जीवन के साथ साधने की प्रवृत्ति बल्लभ-संप्रदाय की विशेष रीति थी। वही इन चित्रों की प्राण-दायिनी सुंदरता है। इन चित्रों में शृंगार का पक्ष बहुत प्रबल है, लेकिन वह हमारे मन में जमे हुए शृंगारी मेल को बाहर उठेलने में सहायक बनता है और निजी (अपनी-अपनी) मानसिक तैयारी के अनुसार हमें बिस्व से भी हुए प्रेम, सौंदर्य और कल्याण के साक्षात् दर्शन के योग्य बनाता है।





5



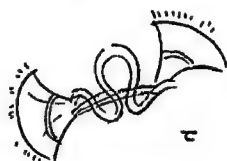
7



9



11



13



15



17



19



21



23



25



27



29



31



१८



१८ अ



१८



२०



२१



२२ अ



२२ अ



२३



२४



२५



२६



२७



२८



२९



३०



३१



३२



३३



३४



३८



३५



३६



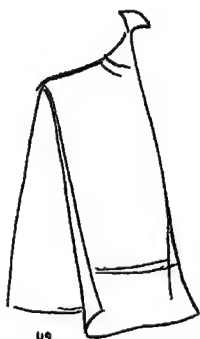
३७



३९



४०



47



42



43



48



43



49



42



45



44



46



47



42



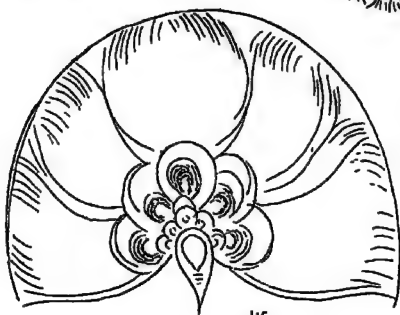
43



48



44



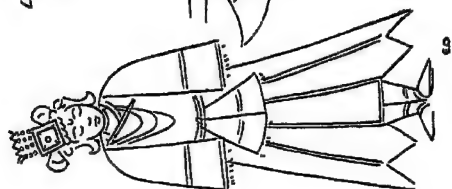
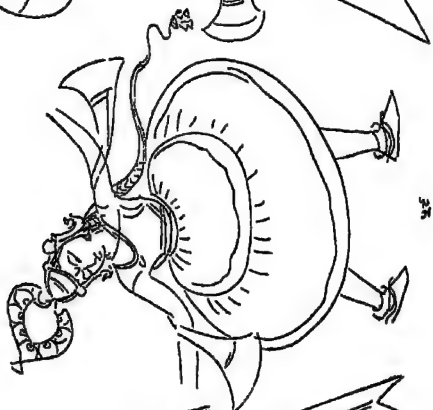
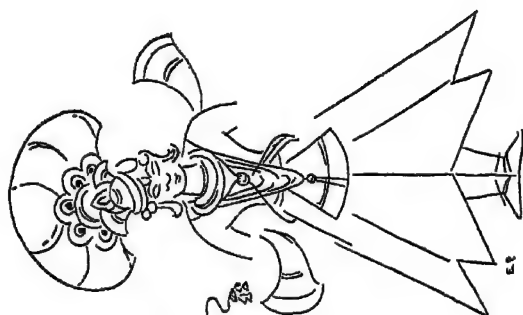
45



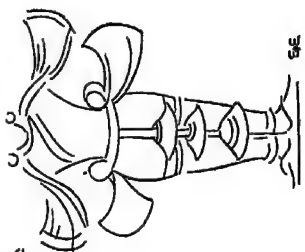
49



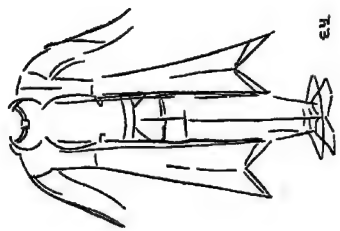
42



64



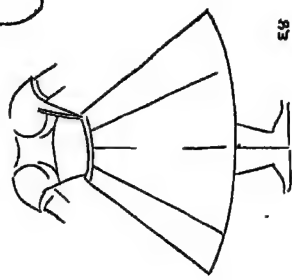
65



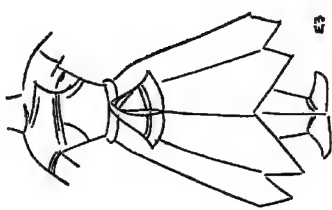
62

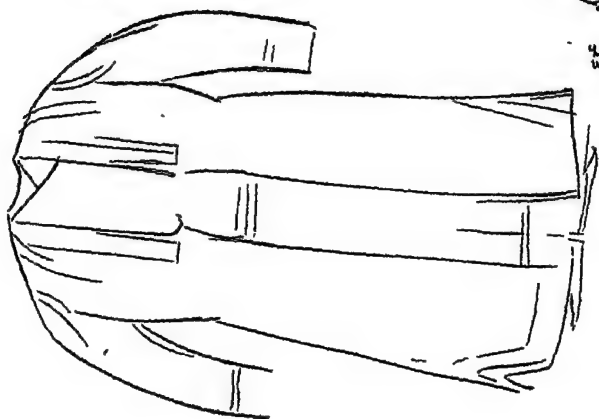
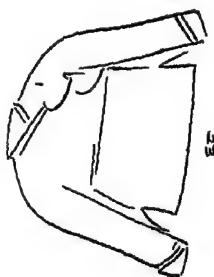
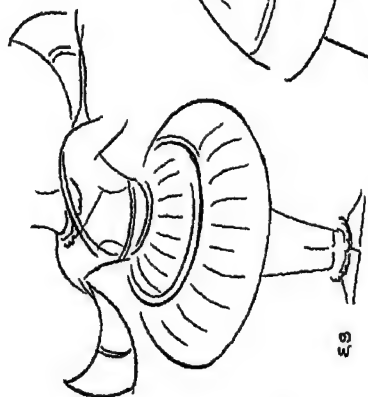
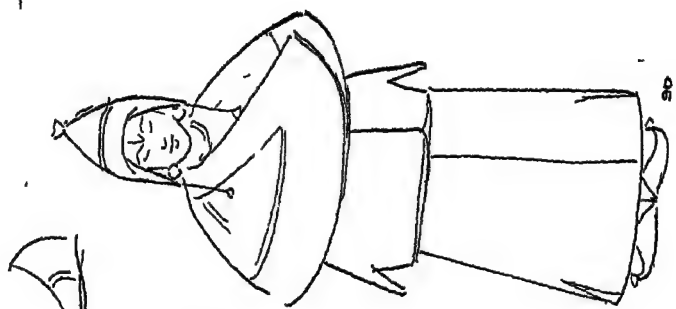


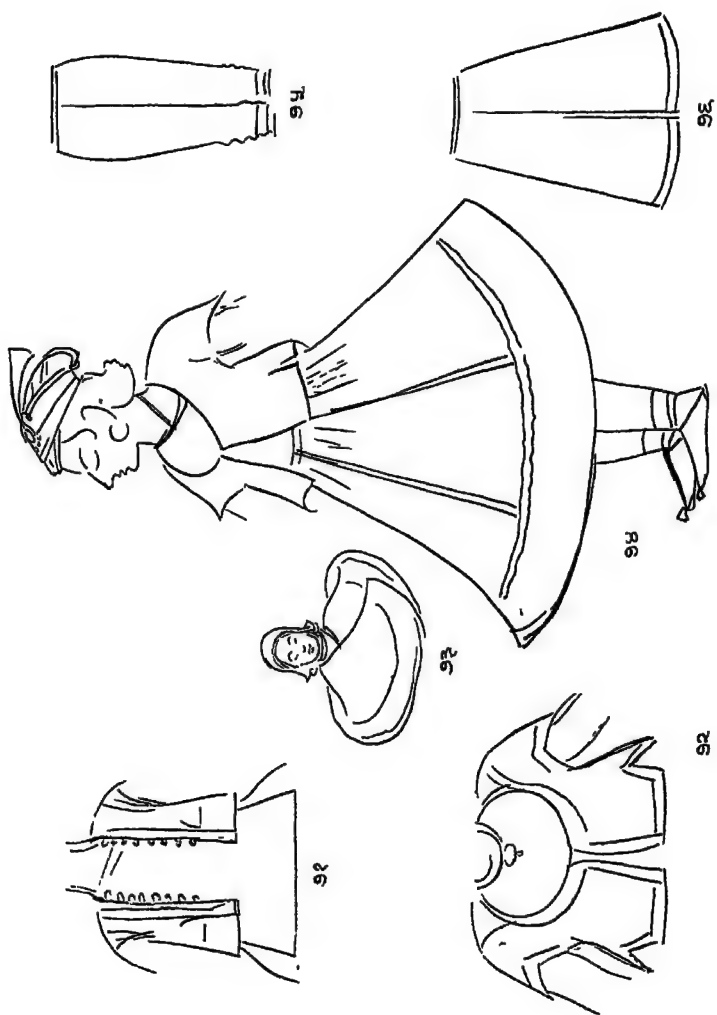
68

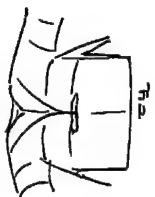


67

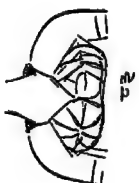




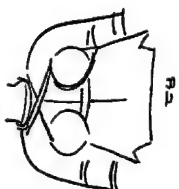




7a



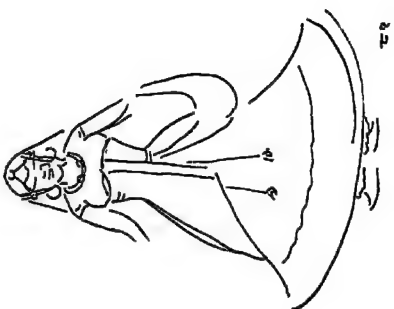
2a



8a



7a



2a



3a



2a



6a



0a

छिन-छिन बानिक और-ही-और

श्री जगन्नाथ अधिवासी

गुप्त-समय के पीछे सोरहवीं शताब्दी में श्रीमद्वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विठ्ठलनाथ (गुसाईंजी) प्रगट हुए। तैलंग-संस्कृति को लँके आप व्रज में पवारे और व्रजवास करिकें व्रजवासी बने। आपने जो भगवद्-रस दहायी की—

“वा परल्यो करमठ और ओगी, अटक रह्यो रसिकन के मन में।”

वा रस सागर में जो कोई भायी वो तरावोर हूँ गयी, यहाँ लो कि वा समय अकबरसाह तया बाके दर-बार के कछु, रसिक-जन हूँ न वामें गोता लगाए।

आपने ‘अष्ट-छाप’ की स्थापना करी, तामें भक्त शिरोमणि श्री ‘सूरदास’ जी प्रभूति अष्ट सर्जान नें जो भगवद्-रस भायी वी हूरें-हूरें सारे भारतवर्ष में फैली।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ती परम त्यागी हूते और आपने श्रीजी की सेवा-सिंघार प्रणाली बड़ी-ही सूक्ष्म बाँधी, जैसे सिंगार में मोर-पिच्छ की मूकुट और गुजा की माला, वस्त्रन में हार-सिंघार के फूलन की डाँडी सँ रँगें भए केसरी वस्त्र और मृत्तिका की झारी और भोग में गीजे भए छोला (चना), परंतु जब श्री गुसाईंजी के अनेक राजा और धनिक धिण्य भए और आपकी सरन में आए तथा स्वयं श्री गुसाईंजी हूँ अपने दीक्षित नाम के संग ही महाराज-पद पर सुगोष्ठित भए और सरनागत आए भए राजा-महाराजान के तथा वैष्णवन के द्वारा सेवा करे भए प्रव्य कू श्रीमद् वल्लभाचार्य जी की आशानुसार—

“धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।

कृष्णार्थं तत् प्रयुज्यते कृष्णोन्नयैश्च वारकः॥”

प्रभु में विनियोग किया। अपने उपास्य श्री ठाकुर नवकुमार-लाडिली, ठकुराइन वृषभान-सली कू मध्य रात्रिकें अनेक प्रकार के मनोरंजन की रचना करी और विविध-भक्ति के भोग-सिंघार, रंग-राग, सुगंधन^१ आदि, पलना, हिंडोरा, रस, हठरी, सुखपाल, सिंहासन, चौकी, चौपड, गेद चौगान, सतरज आदि खेल-खिलोना, आरती, साँझी आदि की रचना, हाथी-दाँत, चाँदी-सोने और अनेक रत्तनेन की कलात्मक वस्तुएँ आपने जहाँ सू देखी और मिली वे सब प्रभुन कू भगीकार कराई। मंदिर की वगलत हूँ तत्कालीन समय की ‘हवेलीन’ के अनुसार बनवाई। पोशाक में हूँ आपने वा समय के राजान के तथा शाही पोशाक में सू सुंदर कलात्मक वस्त्र प्रभुन कू भगीकार कराए। रामैन में हूँ रंगन की विविध-रचना समयानुकूल राग, ऋतु और सवि के रागन की योजना करी। आपने संप्रदाय के नकनेन के सिवाय अन्य भक्तन के हूँ जैसे—स्वामी श्री हरिदास जी, श्री हितहरिवंश जी, श्री व्यासजी, श्रीमद् जी, श्री गदाधरजी मठ आदि वृंदावन के महानुभाव और अन्य हूँ हरिजन भायकन के पद जैसे—‘तानमन, धोषी, रसखान, वनागद आदि के पद हूँ अपनाए। वास्तव में आपने जहाँ सू सुंदर सरस और भाव-

१. श्रीवल्लभ संप्रदाय में चार सुगंधित-द्रव्यों—‘सोंधो’, ‘अरगजा’, ‘शलकरवव’ (यक्षकंदव) और ‘जबाब’ का प्रयोग प्रभुकी सेवा में होता था, अष्टछाप के कवियों ने भी इनका वर्णन अपनी रचनाओं में किया है और बाद में भी इनके प्रयोग कवि-रचनाओं में मिलते हैं, जैसे—‘लाल तिहारी ‘अरगजा’, उर हूँ लागी अबोर’—आदि, पर ये क्या हैं ? कैसे बनते हैं ? इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

भरी वस्तु देखी लई और प्रभुन कू अर्पण करी। यह है आपको विद्याल हृदय और परम दयालुता। 'हो सौ वाचन बल्लवन की बातों में एक प्रसंग प्रायी है—जब तानसेन गोकुल आए होते और वही गुलाम जी ने उनकी गान सुन्यो तब अति प्रसन्न हुईं कें एक सहस्र मुद्रान के संग एक कोठी धरि कें तानसेन को समान किया। कोठी कू देखिकें तानसेन ने विपत्ती करी जो जे राज, या कोठी की कहा कारन है? तब आपने आज्ञा करी—

“जो तुम गुनी हो, राज्य-नायक हो, आपके समानार्थ तो एक सहस्र मुद्रा हैं, परंतु ऐसी सुंदर संगीत यदि प्रभुन में विनियोग न भयो तो एक कोठी के ही मूल्य को है।”

तब तानसेन ने आपसु वीसा के लिए प्रार्थना करी और आपने बाकू वीसा दई। तब सु जितने पद तानसेन ने गाए वे सब पद प्रभु कू सवोधन करकें ही गए, जैसे हरेक पद में—

“तानसेन के प्रभु तुम बहुनायक..।”

कौ आशय राख्यो। परमावद दास जी ने कही है—

“सोई कुलीन दास परमानंद, जो हरि सनमुख जाई।”

विद्या, कला, चतुराई, सुधरता, रूप, गुन आदि वही उत्तम है जो प्रभुन कू अंगीकार होइ।

आपने जा मामिकता सू सेवा कौ परिपाटी बाँधी है सो ऐसी ती सुंदर, कलात्मक और सम-प्रतिवे साधक हैं, बाके लिए ती एक प्रलग ही भय लिख्यो जाय सकी है। या लेख कौ विषय तो 'श्रीमंत्र' के वस्त्र आधादिकन की ही है, उनको वर्णन नीचे प्रमान है। जैसे—

पाग-अनेक प्रकार की

छज्जेदार पाग—(चित्र १-३) यह पाग राजपूत राजान के तथा बादशाहन के प्राचीन चित्रन में दीखवे में आवै है। पीछे की ओर छज्जे जैसी आकार निकारिबे सू 'छज्जेदार पाग' कहें है।

या पाग के कबू और हू मेढ़ हैं, जैसे—'खिबकी' की और 'भीतर की खिबकी' की। खिबकी की पाग दो प्रलग-प्रलग पेचन सू बाँधी जाइ है, तामें एक गहरी और एक हलकी रंग होइ है। जो खिबकी की रीति सू बीच-बीच में दीखते रहें हैं। जैसे शाहजादा 'दारा शिकोह' के चित्र में है।

भीतर की खिबकी—यमी के बिनान में गहरे रंग के पेच कू महीन वस्त्र सू गाँध करकें पाग बाँधी जाइ है, जायु याकू भीतर की खिबकी की पाग कहें है।

गोल पाग—ती भरी तक हू ब्रज में बाँधी जाइ है, जो एक आधी बिसेय ढरकोही रहे है (चित्र ४)। जया—

“रही भति पाग साल-आमे सिर।”

लठपटी पाग—यह डीली-डासी बाँधी जाइ है और बाकी ऊपर को एक ही पेच कस्ती जाइ है। जैसे—बादशाह जहाँगीर के चित्र में है (चित्र ५, ६)।

खूट की पाग—या में दोनो आधी खूट के-से आकार निकरें है (चित्र ७)। उदयपुर के महाराजान की पाग ऐसी ही है।

सुरंग-सुरंग पाग—या में एक ही पेच दो रंग में रँग कें बाँधी जाइ है। जैसे साल और हरथी। कोई जगह सुर जाइ और कोई जगह दीसै।

बुधेची पाग—यह पाग गरमीन में रात कू बाँधी जाइ है और झुली छोटी होइ है कि दो ही पेच आवैं है (चित्र ८)।

जोरा—यह छोटी पाग होइ है और बरी की होइ है (चित्र ९)। पागन में खोर नहीं दिखाय जाइ है। खोरन के हेर-फेर सू और हू अनेक प्रकार के भेव हैं जाइ हैं। जैसे—स्वरन के हेर-फेर सू रागन में भेव हैं जाइ हैं।

पेच या पेची—यह पाग के ऊपर को पेच होइ है। वो और हू रंग की तथा बरी की हू होइ है। राजा-महाराजा जहाऊ रतनेन को पेच हू बाँधे हैं। याकू 'पेची' हू कहें हैं। तदुपरात

पागन पै मोतिन की लर, सिरपेच, कलगी, तुरा, लूम, कतरा, पख, दाहल, चर इत्यादि अनेक अलंकार हूँ पहरे जाइ है। 'सिखा-चर' ठंड में पहरे जाइ है। जो बई को होइ है और पाग के नीचे रहै है।

फेंटा—यह पाग जैसी ही होइ है, या को केवल एक छोर बगल में निकारि के बांधी जाइ है (चित्र १०)।

ऐठनी फेंटा—जो ऐठ के बांधी जाइ, याकू 'मरोछी' को फेंटा हूँ कहें है (चित्र ११)।

पगा—पाग के मध्य में छोर दीखती रहै है तो या कू 'पगा' अथवा—'गाल-पगा' कहें है (चित्र १२)।

गोटी-पगा—पाग के बीच में गोटी जैसे गोल आकार निकरें है। यासू याकू 'गोटी-पगा' कहें है (चित्र १३)।

कुलहा-पगा—कुलहा टोपी पहरिके चारो आडी सू ऐसी पाग बांधनो कि कुलहा दीखती रहै और बाकी एक छोर बाहर कू निकरती रहै (चित्र १४, १५)।

दुमाला खूट कौ—यह भारियान की पोशाक है। काठियावाड में याकू 'बोवाला' कहें है। याके छोव दोनो आडी निकरते रहै है और पाग की भाँति बांधी जाइ है (चित्र १६)। याके ऊपर 'मयूर-पिच्छ', मयूर-पिच्छन के 'कतरा' उरसे जाइ है। गायन कू खिलावने के लिए गाय के कान के आकार के 'गोकर्ण' हूँ दुमाले पै उरसे जाइ है।

दुमाला बीच कौ—एक छोर बगल में और एक छोर बीच में भाइवेसू 'बीच कौ दुमाला' बाजें है (चित्र १७)।

श्री मस्तक के मुख्य शृंगार

(कुलहा वा कुलहैया मुकुट, विपारी और सेहरी)

कुलहा वा कुलहैया—यह शृंगार शाही है (चित्र १८ और १८ अ)। कुलहा टोपी को नाम है, जो समयानुकूल जरी की, रतन की, मोती की, चदन के चित्र की होइ है। टोपी पहरिके गोटी दीखती रहै है और चारो ओर पाग बांधी जाइ है। या पाग कू 'कुलहा की मेंढ' हूँ कहें है। दोनो आडी दोनो छोर बाहर रखे जाइ है। जैसे—पंजाबी या पठान बाँधे है। यह कुलहा गुर्दाई जी कू बड़ी सुंदर जैसी और हरेक बड़े उत्सवन पै याही को मुख्य सिंगार राखी गयी है। छोटे बालकन कू जब यह पहरायी जाइ है तब या कू कुलही वा कुलहैया कहें है।

मुकुट—मुकुट (चित्र १९) ती श्री कृष्ण के सिंगारन में मुख्य है। यामें मोर-मुकुट 'बर्हापीठ' मुख्य है। यदि मयूर-पख विना को मुकुट होइ तो याकू 'खूप को मुकुट' कही जाइ है।

किरीट—यह राजान की मुकुट है (चित्र २०)। कागरा के चित्रन में बहुतायत सँ दीखै है।

सेहरी—यह व्याह की सूचक पोशाक है। याकी नाम 'भीर' हूँ कहें है (चित्र २१)।

१. आन की बानिक कही न जाइ।

रही बेंसि पाग लाल-आवे सिर, कुलहा-चपक-भरी ता सधि हीरा लटकाइ ॥

बस्नो पीत पैहरें, छूटे बंद धरगजा मौजे, तन बिबित स्थान झाइ ॥

बरससि बजमाल, तिलक, निरखि बिथके कोटि सदन, 'गोविंद' बलि-बलि जाइ ॥

—गोविंद स्वामी (अष्टछाप)

२. जुगत वर आवत है गठ-जोरें।

संग सोहत व्यभिचन-नंदिनी, सतिताविक तुन तोरें ॥

सोस सेहरी बल्योरी लालन के, हरखि, निरखि चित-भोरें ॥

निरखि-निरखि बलि जाइ 'गवधार', छवि न बढी कछु भोरें ॥

—गदाधर भट्ट

टिपारी^१—यह स्वारियान की शिरोभूषण है। मल्ल-काष्ठ के सग पहरणी जाइ है। छोर-बार एक टोपी पैहके ताके उपर पाग की मेंड कू बाँध के दोनो घाडी दोनो छोरन कू राखे जाइ है, अर्थात् दो बगल के और एक टोपी के ऊपर ऐंसे मिल के तीन छोरन की टिपारी बाँधे है। टिपारे के उपर मयूर-चंद्रिका, मोर-शिखा व मयूर के पखन के कतरा धरे जाइ है। प्राचीन चित्रन में श्री कृष्ण के श्री मस्तक के उपर गोघन के सग देखिबे में आने है (चित्र २२-२२ 'अ')। और हू—टोपी (चित्र २५), टोपा (चित्र ३८), टोप (चित्र ३४), छोई आदि श्री मस्तक के सिंगार है। जैसे—

कुजा की टोपी (चित्र ३१), शमला (चित्र ३२), दुपल्ली (चित्र ३५), चौपोखिया (चित्र ३६), ग्वाल टोपी (चित्र ३०), बावरी की टोपी (चित्र ३३) और मुकुट की टोपी (चित्र २४)।

टोप—यह स्वर्ण को होय है और रुई के टोपा के उपर पहरणी जाइ है (चित्र ३४)।

टोपा—सादा (चित्र ३८), वृंदावनी (चित्र ४०) और कानदार (चित्र ३८) में तीन प्रकार के होइ है।

अंग-वस्त्र बाधा (बाधा)

चाकदार या चौबगला बाधा—यह राजपूती पोशाक है (चित्र ६३)। जहाँगीर के समय के चित्रन में बहुधा दीस है। कमर के नीचे के भाग कू दामन और ऊपर के भाग कू चोली कहें हैं। चोली सभ्यानुकूल अनेक रंगीन बस्त्रन की, चित्र की, चदन की, घबीर-गुलाल की पैहरी जाइ है।

चेरदार बाधा—यै हू राजपूती पोशाक है, घोटू सू नीचे ताई होइ है और या में घोड़ी घेर होइ है (चित्र ६४)।

छूटे बंद कौ—चाकदार बाधा कू बिना तनी बाँधे पहिरिबे सू 'छूटे बंद कौ बांधी' कहें हैं (चित्र ६५)।

काख्नी (काख्नी)—यह नृत्य की पोशाक है और छाती सू ऊपर कसिके पैहरी जाइ है। बाँधे घेर में दो-नीरुंग होइ है और मुकुट के नीचे रास में खास पैहरें हैं। यामें घेर बिघेप होइ है (चित्र ६७)। मयूर की समता के लिये साँधे-मुकुट और घेरदार काख्नी पैहरी जाइ है। कथा—

“इन मोरें की भाँति देखी नाचत योपाला।”

फतवी या फतुरी—यै कब्जा के ढग की होइ है। बिना बाँह की व आधी बाँह की हू होइ है और बाधा के ऊपर पैहरी जाइ है (चित्र ७१-७२)।

आतम-मुख—याहि ठठ में रुई के गद्दल के नीचे पहरे हैं।

गद्दल—यह रुईदार अंगरखी की नाम है (चित्र ६८)।

फरगुल—यह शाही पोशाक है और ठठ में उपर सू पैहरी लई जाइ है, याकी आकार पूर्ण गोल होइबे सू कदाचित्त भा की नाम फरगुल परधी होइगी (चित्र ७३)।

बद—यह यावनी पोशाक है और कब्जा की भाँति एक भाडी कुदा और एक भाडी घुदी-दार होइ है। ठठ में नाचा के ऊपर पहरे हैं (चित्र ७१-७२)।

कबाय—यह पाँद तक की अंगरखा होइ है, यामें तनी नही होइ है और सब पोशाकन के ऊपर पैहरी लियी जाइ है (चित्र ६९)। यदि रुईदार होइ ती बाकू 'लबावी' कहें हैं।

१. यामें के पाखें-पाखें नटवर काखें-काखें, बन्धों हैं 'टिपारी' आखी साल गिरवारी के।
घामू की तिलक किये, बनी गुजमाल हिये, बन के सिंगार आखे बिसिन-बिहारी के।
नटवर-भेव किये, ग्वाल-मडनी संग लिये, भावत-बजावत बेत कर तारी के।
'मोबिद' प्रभु बनतें ब्रज-भावत, पीर-पीर ब्रज-नारी भाँकत भवि जारी के।

कटि लूँ नीचे के बस्त्र

घोटी, परखनी, आढबंब, जोगिया आढबब, जाँघिया, मल्लकाछ (चित्र ६६), पटका, पिछौरा, सूयन (चित्र ७५), तमाम (चित्र ७६) और तनियाँ। नीचे सू चौड़े सूयन का नाम 'तमाम' है और तनियाँ लँगोटी की भाँति सूयन (चित्र ७६) के भीतर पहरेवाँ जाड़ है।

मोजा—ऊड़ में रईदार मोजा पाँदल में पैहरे जाँड़ है (चित्र ६५)।

याही प्रकार हरेक सिंगार के संग गहने कुन्दाविक, हार, हस्त और चरणन के भूषण हूँ पूथक, पूथक पैहरे जाँड़ है। इन वस्तुन के विशेष परिचय के लिये पुष्टि-संग्रदाय के मर्मज्ञ वैष्णवन द्वारा समस्त लैनों चहिए। सेवा-सिंगार की और हूँ अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी संग्रह कर लैनों अति आवश्यक है।

भक्ति-मय में मनोनिग्रह का यह एक सरल उपाय है, जाके द्वारा वैष्णव-जन अपने प्रभून को सहज ही पाद सकें हैं। जया—

“आज और काल्ह और बिन प्रति और और, देखिये रसिक श्री गिरिराज-धरैन।

छिन-छिन प्रति नई छवि बरनै सो कौन कवि, गित ही सिंगरि बावो बरनै-बरनै ॥

सोभा-सिधु भंग-भंग, मोहल कोटि अनंग, छवि की उठत तरंग, विस्व की भन-हुरैन।

‘चरभुज’ प्रभु गिरिधर को सकुप सुवा-पान कीजै, जीजै रहिये सर्वाँ हों सरनै ॥”^१

ॐ

“श्री अहिवासी जी ने ‘वल्लभ-संग्रदाय’ की जो भृंगार-असावन सामग्री—वस्त्र-विशेषों का यहाँ उल्लेख किया है उसमें कुछ वस्तुएँ और हैं, जैसे पाग—गोखड़ावार, बत्तीवार, चूबड़ी की, गुलाबी, हरी, लाल, नीली आदि विविध रंगों की, तिकोनी, चौखूटी, बत्ती की, मंवील (मंडील), दुमाला, मुच्छा, पिछौरा, पीतांबर, काछा, बागा—कटाववार, खड़ी, चौबगला, पटका, जीतनियाँ (जीतनी), झगुली, तनियाँ, गाली, लीमा, सेला इत्यादि और भामूषण—मुकुट (आढा-और लड़ा), मोर-मुकुट, कीट-मुकुट, टोपीवार मुकुट, मोरचंद्रिका, जोड़ की चंद्रिका, कारचौबी की, डाक की, पिठारा, कतारे, बाँक, टिकरा, बेंकड़ा, पान, चखौड़ा, दुमाला, पगा, छोर (दिपारे के दोनो ओर धराया जानेवाला भामूषण), लटकन (यह प्रिया-श्रीतम दोनों की धराये जाते हैं), मोरशिखा, पतुवा (कलंगी के पास धराने का भामूषण), सीका (यह टोका के दोनो ओर धराया जाता है), वाड़ी (कलंगी के साथ धरायी जाती है), खोड़ा (पक्षी के समान आभरण जो मस्तक पर धराया जाता है), पुगोटी (कुल्हू के साथ धरायी जाती है), टकमा (यह जड़ाऊ होता है और बीच में डेकड़ा भी होता है), दुर्गा, पानदुर्गा, भावि...। ये सब भामूषण श्री ठाकुर जी के मस्तक के भृंगार हैं। श्री प्रियाजी के—शीशफूल, बेंवियाँ, मँड़ी-बंबी (बेंतावबी), लर (यह प्रिया-श्रीतम दोनों की धरायी जाती है), अलकाबली, चंद्रमा, चोटी, पानड़ी, झूमर और चाक, बाँध के भृंगार हैं। कान के भामूषण जैसे—कुंडल (मकराकृति, मोनाकृति, मयूराकृति और शुक्राकृति), लोलबंदी, मुरकी, बाला, झूलकड़ी या बिचकड़ी। श्री प्रियाजी के कर्णभूषण—वारी, सेला, कर्णफूल, तरकी, पीपलपत्ता, झूमका, झूमकी, पत्ते, चौकड़ा, काँच, दुव, लरभर और झीरा आदि...। नासिका के भामूषण प्रिया-श्रीतम के—बेसद, बुलाक, चौकड़ी, लौक, फूल, भोगली, नय, नयूनी। छोड़ी का भामूषण—चिबुक। कंठ के भूषण—ठुस्तो, पीप, हार, जंघहार (एक प्रकार का कठना), भाला, त्रिबल, कंठी, कंठा, पदक, हाँस, कंठाभरण, कंठमाल, कंठमणि (कौतुब मणि), कंठी बिजोरा की, बघनला (केहरि-नख), बोलना (इसे तापत भी कहते हैं), कठना, बज्रमाल

^१. या लेख में बंबईवारे गोस्वामी श्री गोपीनाथजी ने भृंगारन के भेदन की सुझाव दीयी है।

(हीरा की), तोड़ा, सिकरी, चौकी, त्रिलेठिया, डुगुगी (बुकभुकी), बड़ी, बादला, चकती, चढ़ना की कंडी, तिलकहार, हाथसा का हार, नवग्रही-हार, हँसुलिया, तिमनियाँ। हस्त-कमल के आभूषण—चरा, बाँकड़ा, जोसन, थपिया, बाबूबंद, बाजू, पोंछनी, छत्र, ब्रुस, बंगली, ककना-ककनी, चरा, कड़े, रतनचौक, पखेली, गुजररी, साँकड़ा, चाँगट, जोड़ी, हथपूल (हस्त-साँकला), बेंड, आरत्ती, छाप, छल्ला, अँगूठी (भुजिका), कंकण, नख-भूषण। कमर के—कटिपेच, छुरघटिका, किकणी, करघनी (कंधनी-कंदोरा), मल्लकाछ और सेलला जो कंधनी से विशेष चौड़ी होती है। पद-आभूषण—चूरा (ठोस व पोले), कुरा, जेहर, तेहर, साँकड़ा, पायल, पायजेब (इसे पैजनी भी कहते हैं), गुजररी लच्छे, साँसन, साँसरी, पद-पान, तोड़ा, अनबट, बिछिया, नूपुर, छल्ला, छल्ली, (इन्हें भडुर भी कहते हैं) और चीप इत्यादि अनेक प्रकार के होते हैं।

संप्रदाय में ये आभूषण—हीरा, पद्मा, माणिक मोती, भूषा, नीलम के अवाजदार और खुले अर्थात् जड़े हुए होते हैं। मोती के आभूषण जड़े हुए और पोए हुए होते हैं। यही नहीं, ये आभरण सोने-चाँदी के और विविध रंग की 'मीमा' के साथ-साथ जरी—(छुनहली और खपहली) के और सीप के भी होते हैं।”

—ब० चतुर्वेदी



छिन-छिन बानिक और-ही-और : चित्र-परिचय

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मित्रवर श्री ग्रहिवासी जी ने मदिरों में ठाकुर जी के वेध और भृगार के विषय में यह सुघर लेख २३ जून १९५० को मेजने की कृपा की थी। ३० अक्तूबर १९५० को अपनी वंदई-यात्रा में इस लेख के चित्रों को मुझे उन्हीं से समझने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय जो स्पष्टीकरण मिला वह यहाँ दिया जाता है। कृष्ण-सवधी साहित्य में वज्रभाषा के कवियों ने वेध-भूपा-सवधी जिन अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, उनका सचित्र परिचय श्री 'ग्रहिवासी' जी के लेख से प्राप्त होता है। जैसे—

चित्र १—'छज्जेदार' पाग। यह पाग मुगलकालीन पहनावे की एक विशेषता थी। शाहजहाँ से बहादुरशाह के समय तक इसका प्रयोग रहा। अकबर के समय में 'लटपटी पाग' का रिवाज था। जहाँगीर के समय में लटपटी पाग में डेढ़पेच या लपेट पाया जाता है। उसके बाद शाहजहाँ (१६२७-१६५८) कालीन चित्रों में छज्जेदार पाग मिलने लगती है। पाग के पीछे गुद्दी की रेखा से निकलते हुए जो लपेट हैं उन्हीं का नाम 'छज्जा' है, जो कुछ नीचे की ओर झुका हुआ है। चिर पर पट्टेदार बालों के कारण पाग को घोडा पीछे तक निकलता हुआ बाँधना आवश्यक था।

चित्र में देखिए, पाग के ऊपर कलगी है। 'कलगी' में खोसा हुआ 'तुरा' है। तुरे से पीछे की ओर लटकता हुआ 'मलतूल' है। कलगी और तुरा पूरे भृगार के साथ चलते हैं। शयन के समय सादा पाग रहती है। छज्जेदार पाग में कुछ समय बाद एक जडाक 'सरपेंच' या चौड़ी 'पेची' बाँधी जाने लगी। सरपेंच में तीन नग या पाँच नग लगाए जाते थे और वह पाग के ऊपर डोरियों से बाँधा जाता था।

छज्जेदार पाग का ही भेद 'खिड़की की पाग' है। पाग का हर एक लवा वस्त्र पेच कहलाता है। जब अलग-अलग दो रंगों के पेचों की पाग बाँधी जाती है तब वह खिड़कीदार कही जाती है। इसके दो प्रकार हैं—'बाहर की खिड़की और भीतर की खिड़की।' जब नीचे के पेच का रंग प्रधान हो और ऊपर के पेच का गीण तब बाहर की खिड़की हुई, जैसे—'दाराशिकोह' के प्रसिद्ध चित्र में है। सहरे रंग का पेच प्रधान और हल्के रंग का गीण समझा जाता है। हल्के रंग का पेच ही 'खिड़की' समझनी चाहिए। जैसे हरी पाग पर लाल रंग की खिड़की देनी हो तो नीचे हरे रंग का पेच बाँधा जाय और उसके ऊपर लाल रंग का पेच बाँधना चाहिए। यह बाहर की खिड़की हुई। इसके विपरीत जब नीचे खिड़की का रंग गीण हो और उसके ऊपर की पाग का रंग प्रधान हो तो भीतर की खिड़की हुई। बाहर और भीतर की खिड़की के चित्र यहाँ नहीं दिए गए, क्योंकि यह भेद रंगीन चित्र में अधिक स्पष्ट होता है।

चित्र २—छज्जेदार पाग सामने से दिखाई गई है। सरपेंच के ऊपर पाग में सामने तीन कल-गियाँ लगी हुई हैं।

चित्र ३—छज्जेदार पाग बड़े बूदे की, अर्थात् जिसका छज्जेवाला भाग कुछ बड़ा है।

चित्र ४—‘गोल पाग’। यह पाग सिर के आधी ओर को ढरकी हुई बांधी जाती थी। इसे—‘ढरकोही पाग’ भी कहते हैं।

चित्र ५—‘लटपटी’ पाग। जहाँगीर के समय में इसे ‘डेहपेची पाग’ भी कहने लगे। पूरी पाग डोली बांधी जाती है। अल का डेह पेच कसकर बाँधा जाता है। आखिर का पेच थोड़ी जगह छोड़ते हुए जरा ऊपर कसा जाता है, जिससे बाल दीखते रहें। चित्र में यह स्पष्ट दिखाया गया है।

चित्र ६—लटपटी पाग का सामने का भाग।

चित्र ७—‘खूँटादार पाग’। इसके दो भेद हैं—एक खूँटे की जो सिर्फ ‘खूँटादार’ कहलाती है और दूसरी दो खूँटे की जो ‘दो खूँटादार’ कही जाती है। जयपुर के महाराणा खूँटादार पाग पहनते हैं।

चित्र ८—‘दुपेची’। इसमें छोटा ‘पिछौरा’ लेकर ही पाग की तरह बाँध लिया जाता है। बांधने के डग में पाग का पेच दो बार ऊपर से लपेटा हुआ दिखाई पड़ता है। बड़े शरज की के सिर पर धवन के समय हल्की ‘दुपेची पाग’ लपेट दी जाती है। ठंड के समय में टोपे के ऊपर भी दुपेची बाँध लेते हैं।

चित्र ९—‘बीरा’। छोटी जरी की पाग।

चित्र १०—‘छोटा फेंटा’। जिसे कभी-कभी ‘बड़ी पाग’ के अभाव में पहनते हैं।

चित्र ११—‘फेंटा’। वह पाग जिसमें एक छोर हो। यही ‘मुरोरी का फेंटा’ या ‘एँठवाँ फेंटा’ भी कहलाता है।

चित्र १२—‘बड़ा फेंटा’। जिसे गवये और खालिये प्रादि बाँधते हैं। इसमें भी सामने की ओर एक छोर है।

चित्र १३—‘गोटी पग’। इसके बीच में गोटी के से आकार की छोटी टोपी रहती है जो चित्र में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

चित्र १४—‘कुलह पग’। वह पाग जिसमें बीच में ‘कुलह टोपी’ मुख्य रहती है। हिंदी कुलह ईरानी ‘कुलह’ से निकला है। यह टोपी मृगत काल में सासानवशी ईरान की संस्कृति के संपर्क में आने से हमारे देश में भी चल गई थी। बाणभट्ट ने कुलह का संस्कृत रूप ‘खोल’ हर्षचरित में दिया है। हिंदी का ‘कुल्हिया’ (कुल्हैया) शब्द इसी कुलह से बना जात होता है। आज भी पठानों में कुलहे की टोपी का व्यापक प्रचार है।

चित्र १५—यह भी कुलह पग ही है। पहले की भाँति इसमें भी एक ही छोर है, किंतु बीच में कुलहे की गोटी दर्शनीय है। गोटी के नीचे चारों ओर जरी का काम दिखाई पड़ता है। गरिमों में जो ठाकुर जी का शृंगार होता है, उसमें कुल्हे के ऊपर चदन से ही यह सजावट बना दी जाती है।

चित्र १६—‘दुमाला खूँट का’। दुमाला दो छोर का नाम है। खालिये लोग दुमाले का पग पहनते हैं। पग पाग से बड़ा होता है। पाग छोटी होती है। पाग में छोर गोल होते हैं, छोरों को उन्ध लेते हैं, लेकिन पग में छोर अवक्स रहते हैं और प्रायः दो होते हैं। खूँट के दुमाले में दोनों छोर दो कोने या खूँट में दिखाए गए हैं।

चित्र १७—‘दुमाला बीच का’। इसमें एक छोर तो खूँट या कोने में है और दूसरा छोर बीचो-बीच दिखाया गया है।

चित्र १८—‘कुलह’। सामने का दर्शन है। बीच में पान और कोनों में दो छोर हैं। कुलह के ऊपर बीच में गोटी है। बेलन की तरह घूमा हुआ किनारा ‘मंड’ कहलाता है।

बल्लभाचार्य जी ने उत्सवों में ठाकुर जी के शृंगार के लिये 'मुकुट' रखा था। 'विट्ठल-नाथ' जी ने उत्सव-शृंगार में 'कुलह' कर दिया और उसके ऊपर बल्लभाचार्य जी बाला शृंगार भी शामिल कर लिया।

चित्र १६—'मुकुट'। इसमें सब से नीचे मुकुट की टोपी है। उसके ऊपर पात के आकार का मुकुट है और उसके भीतर मयूर-मख है, जिनमें चंद्रक साफ दिखाई पड़ते हैं। सबसे ऊपर छोर या तुराई है।

चित्र २०—'किरीट-मुकुट'। नीचे किरीट और ऊपर मुकुट है। राजाओं के लिये 'किरीट-मुकुट' का वाता है। रामनवमी के उत्सव में ठाकुरजी को किरीट धारण कराते हैं।

चित्र २१—'सेहरा'। यह विवाह में पाग के ऊपर बाँधा जाता है। सेहरे के बीच में चौकोर टिकरा है, जो जडाऊ होता है या जरी के काम का काँचकर बनाया जाता है। टिकरे के ऊपर मोतियों की पाँच लड़ है। हर एक लड़ के अंत में तुराई है। टिकरे के नीचे भी लटकते दोहरे मोती हैं।

चित्र २२—'टिपारा तीन छोर का'। एक छोर बीच में, दो कोनों में हैं। बीचो-बीच तिकोनी घोबे कुड्डल जैसी आकृति ही 'टिपारा' है। उसके ऊपर पाग की मेड लिपटी हुई है। टिपारे के छोर के ऊपर 'मोरशिक्षा' है। मोरशिक्षा वास्तविक मोर के पंखों से बनाई जाती है और देखने में बड़ी कलात्मक मालूम होती है। श्री ग्रहवासी जी ने अपने ठाकुर जी के शृंगार की असली मोरशिक्षा हमें दिखाई। कवियों ने कृष्ण की शिरोमूषा में प्रायः मोरशिक्षा का वर्णन किया है।

चित्र २२ (आ)—'टिपारा पाँच छोर का'। एक छोर तो बीच में टिपारे की टोपी का हो। दो रंगों की दो पाग बाँधने से चार छोर और हैं।

चित्र २३—यह प्राचीन पगडा या पगडा है। बीच में टोपी है। उसकी जड़ में मेड के रूप में पाग लिपटी हुई है। पाग में छोर नहीं दिखाई देते।

चित्र २४—'किरीट की टोपी'। नीचे किरीट की, ऊपर पाँच कंगूरे और हर एक कंगूरे के सिरे पर गोले टिकरे जड़े हुए हैं।

चित्र २५—'टोपी बनारसी'।

चित्र २६—'छोर की टोपी'। इसे ही 'छोपा' की टोपी भी कहते हैं। टोपी के ऊपर छोर है।

चित्र २७—'किशोर्नुमा टोपी'। इसे ही 'नोकदार' टोपी भी कहते हैं।

चित्र २८—'सादा टोपी'। नीचे टोपी की वाड, ऊपर छोटे कंगूरे और ऊपर फुली है।

चित्र २९—'शाही टोपी'। बादशाहों के पहनने की 'ताजनुमा' टोपी है। नीचे वाड और ऊपर 'सरबुजिया' आकृति की फाँकदार टोपी है। उसके ऊपर तुराई है।

चित्र ३०—'खाल टोपी'। प्रायः पहाड़ी चित्रों में खालवालों के सिर पर देखी जाती है। टोपी की पीछे को शूटी हुई नोक के सिर पर गोले लटकन हैं।

चित्र ३१—'कुजा की टोपी'। मिस्री के कुजे की आकृति की होने से यह नाम पडा। फारसी कुजा, हिंदी कुजा से बजभाषा का कुजा शब्द बना है। चित्र में टोपी के ऊपर छोर है।

चित्र ३२—'शमला की टोपी'। इसमें बीच में टोपी है। टोपी के आगे तुराई और पीछे बूम रहते हैं। तुराई के आगे छोर या शमला है।

चित्र ३३—'बाबरी की टोपी'। यह बच्चों के लिये होती है। टोपी के पीछे गर्दन को ढकने के लिये रेशम के काले बाल लटकते रहते हैं। शेर की अयाल की तरह होने के कारण इसे 'बम्बरी' या 'बाबरी' कहते हैं। चित्र में टोपी की चोटी पर फूटा लगा है।

चित्र ३४—'टोप'। ठंड के समय में टोपा पहनकर ऊपर टोप पहनते हैं। सोने के बने टोप पर

बीच में मीने का काम रहता है। टोप के ऊपर छतरी है और छतरी के नीचे मोती लटकते दिखाए गए हैं।

चित्र ३३—‘हुपल्ली टोपी’। दो पल्लो को बीच में सीकर नीचे गोम बाढ लगा कर बनाई जाती है। पहले इसका देहाती में भ्रम रियाज था।

चित्र ३६—‘बीगीशिया टोपी’। इस टोपी में बीच में कुलह जैसा चंदोवा, उसके ऊपर तुरा और टोपी की चार लूटो में चार कान निकले हुए हैं। चित्र ३६ में ये कान ऊपर की ओर भूजे हैं।

चित्र ३७—‘बीगीशिया’। इसमें चारों कान बाहर की ओर निकले हुए हैं। बच्चों के खेले के लिये इसका बहुत रियाज था।

चित्र ३८—‘टोपा सादा’। टोपे में कान अवश्य डकने चाहिए। उसी के लिये दोनों ओर कनपटे लटकते हैं जो तनी से बाँध लिये जाते हैं।

चित्र ३९—‘टोपा मुटा हुआ’। जब कान न डकने हों तब कनपटो को ऊपर की ओर मोड़ लेते हैं।

चित्र ४०—‘बूदावनी टोपा’। इससे सिर का भगला भाग ही डकते हैं। कान गवने नहीं डकते यह कुछ टेढ़ा झोठा जाता है।

चित्र ४१—‘जोई’। इसे घोषी (घुघ्नी) भी कहते हैं। यह मेह बरसते में ग्यालबालों के सिर पर डकने के काम में आती है।

चित्र ४२—‘कतारा’। चित्र में दुहरा कतारा दिखाया गया है। हर कतारे की नोक पर एक मोती की लटकन है।

चित्र ४३—‘कतारा दूसरा’। इस कतारे में चार तारों में चार मोती लटकते दिखाए गए हैं।

चित्र ४४—‘तुरा’। यह पगड़ी के ऊपर लगाने का बावले का गुच्छा होता है।

चित्र ४५—‘तुरा दूसरा’। यह तुरा सामने की ओर फैला हुआ है।

चित्र ४६—‘तुरा-कलगी’। नीचे तुरा है और उसके ऊपर बीच में से कलगी निकली है।

चित्र ४७—‘लूम’। लूम का अर्थ पूछ है। जरी या जडाक काम के फूँदनों का तवा गुच्छा जो टोपी, पगड़ी आदि में लटकता हुआ लगाया जाता है।

चित्र ४८—‘लूम दूसरी’। अपेक्षाकृत सादा।

चित्र ४९—‘मोरशिला’।

चित्र ५०—‘मोरशिला’ (दूसरी)। इस चित्र में तुरे बाँधकर उनसे मोर-शिला बनाई गई है।

चित्र ५१—‘मोरचविका डाँक की’। जरी के बाल जैसे महीन तारों को डाँक कहते हैं। डाँकों का गुच्छा बाँध कर मूल में मोरपल के चवक की आकृति रखकर मोरचविका बनाई गई है।

चित्र ५२—‘गोकर्ण’। गायों के साथ खेल के लिये बच्चे में जाते समय ‘गोकर्ण’ पाग के ऊपर पहरे जाते हैं। अथकूट के दिन भी गोकर्ण कुलह के ऊपर पहने जाते हैं।

चित्र ५३—‘खबेला’। डडी के एक ही तरफ का भाग मोरपल ‘खबेला’ कहा जाता है।

चित्र ५४—‘लूम का कतारा’। इसमें धुक में तुरा, फिर तीन कतारे और उनके प्रत में लूम है। यह ‘तिहेरा लूम का कतारा’ कहा जाता है।

चित्र ५५—‘जरी की लूम’।

चित्र ५६—‘मोरचविका का जोड या मुकुट’। पाँच मोरपल जोड़कर बनाए जाने के कारण इसका नाम ‘पाँच का जोड’ है।

चित्र ५७—‘मोर की गरदन के पक्षों का जोड या मुकुट’। यह बिल्कुल ‘भिमनील’ होता है। इसे कुलह के ऊपर उत्पवी में धारण कराते हैं।

चित्र ५८—‘मोरसिखा’। मोर के सिर पर जो मुकुमार कसगी होती है उसी की असली मोर-सिखा बनती है। उसके अभाव में रेखमी या जरी की या जडाऊ मोरसिखा भी बनाई जाती है। सब की भाङ्गति हूबहू असली मोरसिखा जैसी बनते हैं।

चित्र ५९—‘मुकुट काङ्कनी का शृंगार’। सिर पर पहले टोपी है, फिर मुकुट है, उसके ऊपर छोर है। बाहो पर पिछीरे की फहरान है। कटि में दो रंग की काङ्कनी है। पहले बेर तक एक रंग है, दूसरे बेर तक दूसरा रंग है। नृत्य के समय कटि-काङ्कनी का शृंगार बहुत मनोहर होता है। साहित्य में काङ्कनी का बहुत वर्णन आता है। रास-नृत्य में भी मुकुट-काङ्कनी का शृंगार बरा जाता है।

चित्र ६०—‘बुल्ले या ब्याहले का शृंगार’। सिर पर सेहरा है। कंधों पर उपरना सीधा पहना जाता है। कमर में पटका है। नीचे चाकदार बाधा है।

चित्र ६१—‘कुलह का शृंगार’। इसमें श्रीकृष्णजी के सिर पर टोपी, उसके दोनों ओर दो छोर, बीच में पान ऊपर पाँच मोर के पल और सबसे ऊपर मुकुट है। बाहिनी बगल से बाएँ कंधे के पीछे तक उपरने के छोर फहरा रहे हैं। कमर में पटका बंधा है जिसके दो छोर सामने लटके हुए हैं। नीचे चाकदार बाधा या चाकदार जामा पहने हुए हैं। जहाँगीर ने चाकदार जामा चलाया। राजपूतों के साथ ठाकुर जी के शृंगार में इसका चलन हुआ।

चित्र ६२—‘मलकाछ और टिपारे का शृंगार’ किए हुए कृष्ण जी। इस चित्र का शृंगार अत्यंत सुंदर है। सिर पर बीच में तिकोनिया टिपारा है जो बकिपन से बरा है। टिपारे के सामने की ओर जरी का फूल है। इसे बाहरी चित्र का टिपारा कहते हैं। टिपारे के नीचे पाग की मेढ है। टिपारे के ऊपर बीच-बीच में एक छोर या छोगा है। दोनों खुदों में दो छोर या छोग और है। बगल के छोगों में एक-एक कतरा है। बीच के छोगे में मोरसिखा है। मोरसिखा असली, जरी की या जडाऊ भी हो सकती है।

कृष्णजी के कंधों पर उपरना पड़ा है, जिसका बाहिना छोर बगल के नीचे से और बायाँ कंधे के ऊपर से होता हुआ बाह के नीचे की ओर फहरा रहा है। बाईं ओर चोटी गूँधी हुई लहरा रही है। चोटी के अंत में फूँदना है। कमर में पटका या पिछीरा बंधा है। वह दोनों कूल्हों के पास गठियाया जाकर दाएँ-बाएँ झूटे छोरों के साथ फहरा रहा है। कमर में छ.प्रपटिका बंधी है। इन्हें ही साहित्य में ‘कटि-ककिणी’ भी कहा गया है। पैरों में गुप्तर पहने हैं—

“पंडित नृपुन मंभु बजें, कटि किफिलि में धुनि की मधुराई।

मायें किरिट बड़े दुग बंचल, मंद हंसो मुख-मंद-मुन्दारि ॥”

सामने की ओर तीन छोर दिखाए गए हैं, जो टोपी के बीच में लटके हुए हैं।

चित्र ६३—‘चाकदार बाधा या जामा’। बाधा और जामा एक ही वस्तु है। जिस बाधे में कानें निकले रहते हैं उसे ‘चाकदार बाधा’ या ‘जामा’ कहते हैं।

चित्र ६४—‘घेरदार बाधा’। कमर से ऊपर चोली या धोतना है और नीचे वामन है। चोली और वामन मिलकर बाधा या जामा बनता है। बाधे से नीचे सूयना पहना जाता है। सूयने के ऊपर घुटने से ऊपर तक की दुर्गी, तिरगी कछनी पहनी जाती थी। मयूर-नृत्य में मोरपंखों की बनी कछनी पहनते थे। यदि कछनी घुटने से नीचे तक की हो तो वही घेरदार ‘बाधा’ कहा जाता है, जो मुगल चित्रों में प्राय मिलता है।

चित्र ६५—‘झुलेंबंद का चाकदार बाधा’। इसे ‘झूटे बंद’ का बाधा भी कहते हैं, क्योंकि बंद झुले रहते हैं, बांधे नहीं जाते। टोपी में सूयना, पैरों में मोजा पहने हुए हैं।

चित्र ६६—‘शृंगार मल्लकाक्ष का’। कंधे पर उपरला, कमर में पिछोरा है। बिना नृत्य के समय का सीधा मल्लकाक्ष घुटनों से ऊपर तक पहना हुआ है। सामने तीन छोर हैं।

चित्र ६७—‘शृंगार काक्षी का’। घेरदार दो हरे रंग की काक्षी घुटने से ऊपर तक पहने हुई दिखाई गई हैं।

चित्र ६८—‘गद्गल’। रईदार ‘अगरखी’ जो कमर में आधी दूर तक रहती है और अकेली पहनी जाती है। इसके सामने के परत एक दूसरे के ऊपर चबे रहते हैं। बंद बगल में बांधे जाते हैं। यह सर्दों की पोशाक है।

चित्र ६९—‘कबा’। यह भी ठंड की पोशाक है। इन विविध कस्नो का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए। सबसे नीचे बाधा, उसके ऊपर फतुही और उसके ऊपर कबा। कबा बांह-दार होती है। कमी-कमी बांहें पहनते गही, योही लटका ली जाती हैं।

चित्र ७०—‘ठंड की पोशाक’। बिना रई भरा हुआ पैर के टखनो तक का भ्रंगरखा कबा हुआ। वही यदि रईदार हो तो ‘लवादा’ हुआ। रईदार भ्रंगरखी लवान में यदि आधी हो तो ‘गद्गल’ कहलाती है (चित्र-६८)। गद्गल के ऊपर कडाके की सर्दों में दोनों बाहों को ढकनेवाला जो रईदार वस्त्र पहना जाता था वह ‘फरगुल’ कहलाता था।

बाधा, फतुही, कबा या लवादा, गद्गल, फरगुल यही इन कपड़ों का उत्तरोत्तर क्रम था। चित्र ७० में सिर के ऊपर टोपा है। पैरों में भोजे हैं। शरीर पर सबसे नीचे टखनो तक लंबी कबा है। कबा के ऊपर रईदार आधी दूर तक का गद्गल है। उसके ऊपर लपेटा हुआ फरगुल है।

चित्र ७१—‘फतवी’। इसे फतूरी या फज्जा भी कहते हैं। अधिक ठंड के समय नीचे बाधा, ऊपर फतवी पहनते हैं। इसमें सामने दाहिनी और कुछे और बाईं ओर चुड़ी लगी हैं, पर उन्हें लगाते नहीं खुला रखते हैं। चित्र ७१ में बिना बांह की फतवी है।

चित्र ७२—इस चित्र में आधी बांह की फतवी है। बांहें कोहली से ऊपर कोनेदार कटाव लिये खुली रखी जाती हैं।

चित्र ७३—‘फरगुल’। ठंड की पोशाक जो बांहों की नीचाई तक गद्गल के ऊपर पहनी जाती थी। फरगुल साटन का बनाकर उसमें रई भरते थे। निमल्लाव भी दो परत की बिना रई की फरगुल हो सकती है। लेकिन ऊनी कपड़े की नहीं। कहते हैं कि ऊनी कपड़ा, लाल भिन्न और गोरोचन ये तीन वस्तुएं कमी मंदिर में गही जाती।

चित्र ७४—‘छज्जेवारपाग, घेरदार बाधा और बिना बांह की फतवी या फुल्ली की पोशाक’। जैसे ऊपर कहा जा चुका है, बांधे के ऊपर फतवी पहनी जाती थी। बोली और दामन मिलकर बाधा या जामा कहलाता था।

चित्र ७५—‘सूयन’। टंगो में कसा हुआ पाजामा। पाजामे को ‘मानसोल्लास’ में ‘द्विपदी’ कहा है।

चित्र ७६—‘तमाम’। खोलीदार डीली मोहरी का पाजामा। नीचे से चौड़ा जिसे पीछे के बाद-धाहो ने चलाया। ठंड के समय एक दिन ठाकुर जी को ‘तमाम’ का शृंगार पहनाते हैं। मृगलो के निशान या शब्दों के रखने का खोस ‘तूयान’ कहलाता था। उसी से समस्त यह शब्द निकला है।

चित्र ७७—‘चोती या साड़ी ओढ़ने का प्रकार’। पल्ला या मुरपाटा बाएं कंधे पर डाला हुआ है।

चित्र ७८—इस वेप में साड़ी का पल्ला बाईं बगल में खोसा हुआ है।

चित्र ७९—इस भाँति में साड़ी का छोर चोती में उन्सा हुआ है। यह गूजरी स्त्रियों का रित्थान था।

चित्र ८०—इसमें साड़ी का पल्ला एक लपेटा लेकर सिर के ऊपर भोझा हुआ है।

चित्र ८१—इसे गुजरानी वेब कहेंगे। सिर पर थोबनी है, जिसका एक ठोक (छोर) चोली में उन्सा हुआ है। अंग में आधी बांह की चोली है। कटिप्रदेश से नीचे लहंगा या घाघरा है। इस चोली का यथार्थनाम 'अंगिया'—स० अंगिका है। अहिच्छत्रा (बरेली) से प्राप्त सप्तम शती की स्त्री-मूर्ति में अंगिया का पहनावा पाया गया है। अंगिया का साहित्यिक पर अहिंवासी जी ने इस प्रकार सुनाया—

“अंगिया लैयक लएँ वनीं, कुच सँ भरसादे।

बवत नाहिन खालिनी, जोवन के मारे ॥”

चित्र ८२—‘चोली’। यह मुलकट के कटाव की ‘धांगी’ कहलाती है। इसमें स्तन के नीचे का भाग खुला दीखता है।

चित्र ८३—‘खरबूजा की चोली’। इसमें अलग-अलग टुकड़े या कलियाँ सीकर चोली सी जाती हैं।

चित्र ८४—‘अंगरली की चोली’। यह बहुत ही नुस्त स्त्री-वेप है।

चित्र ८५—‘अंतरीटा की अंगिया’। इसमें बीच का कपडा (अंतरपट) स्तनों के बीच से लटकता रहता है।



मथुरा-महिमा

श्री बृहद्गुरसिहर्षद छावङ्गा

जयतितरां व्रजभूमिर्भन्या पुण्याप्यनन्यसामान्या ।
सकलकलासंपूर्णा भववान् अवतीर्णवान् यस्याम् ॥

२

जयति पुनर्मथुराख्या व्रजभूमेः सारभूता सा ।
अनुयमुनं विनिविष्टा स्कीता रम्या महानगरी ॥

३

श्रीकृष्णबाललीलास्यलीति साक्षापि तीर्थरूपेण ।
वर्मायकामनोस प्रवर्णः संजीयते भक्त्या ॥

४

भुवनं भूषति कृष्णे मथुरा सुतरां बभूव संपन्ना ।
कालक्रमेण कितु प्राप्नोत्सोष्णावचान् भावान् ॥

५

सर्वकर्तारि शासति भूमे श्रीविक्रमादित्ये ।
पुनरेकदाय लोके भाग्यं ह्युदियाय मथुरायाः ॥

६

समवर्ततैकमयनं नानावर्मानुयायिनां मथुरा ।
येषां मृत्वा धार्तछूता बौद्धाश्च जैनैश्च ॥

७

तेषामेव महिम्ना सालंकारेव सा पुरी भजे ।
मंदिरविहारचैत्यैर्यूपस्तूपादिभिश्चापि ॥

८

किंचोत्तरापथीये महापथे सुस्थितं निविष्टेति ।
मथुरा जभूव नूनं वाणिज्यस्यापि गृह केंद्रम् ॥

९

सर्वास्तु दिव्यं द्रव्यं धातायार्तं हि सार्यवाहनाम् ।
शकटैरनिशं बहतां मथुरागमोति भावनि ॥

१०

तद्वत्सलितकलायां मथुरासौतदा सबाबास ।
मूर्तिकला तु विशेषात् तवारोहस्यरां काष्ठाम् ॥

११

मथुरां निकषा सख्या भग्नाभन्नाः सहस्रशः प्रतिमा ।
मृखरं प्रमाणयति प्राचीनं तत्कलौत्कर्षम् ॥

१२

एतादृशी समृद्धा मथुरा कथोद्बहूजिगीषून् यत् ।
तत्स्वाभाविकमासीन्मूर्त्तीं अमरां कथं जह्युः ॥

१३

भीर्षाः दुंगा यवनाः शकाः कुषाणास्तथान्यराज्याः ।
क्रमशः शशासुरेतां मथुरां निजविवर्माकताम् ॥

१४

यावद्विक्रमवतः संत्ययुना हंत नामरोषान्ते ।
तावत्त्वा मथुरा महीमते पूर्ववत्लोके ॥

श्रीकृष्ण : जन्मभूमि या कटरा केशवदेव

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि 'मथुरापुरी' भारतवर्ष की सप्तमहापुरियों में एक विख्यात नगरी है। भारतीय धर्म-शाण जनता के हृदय में मथुरा नगरी का एक अद्भुत प्रभाव रहा है। त्रेतायुग में यहाँ मथु नामक असुरवर्षीय राजा की राजधानी—'मथुरापुरी' में थी। यही स्थान आजकल 'महोली गाँव' के नाम से वर्तमान शहर के दक्षिण-पश्चिम में करीब ४ मील दूर है। साहित्यिक किंवदन्ती यह है कि जब शत्रुघ्नजी ने लवण-दंष्ट्र का दमन कर दिया तब उन्होंने मथुरापुरी के नाम से नगर की स्थापना यमुना के किनारे पर की। यह मथुरापुरी या मथुरा ही 'मथुरा' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राकृत उच्चारण-के नियमों के अनुसार मथुरा और मथुरा दोनों ही शब्द मान्य हैं।^१

इस नवीन स्थापना के बाद मथुरापुरी का उत्कर्ष बहुत बढ़ा। यही यमुना के तट पर महाभारत कालीन मथुरापुरी बसी हुई थी, जिस समय कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म इस पृथ्वीभूमि पर हुआ। विद्वानों के अनुसार इस प्राचीन मथुरा नगरी का केंद्र 'कटरा केशवदेव' होना चाहिये। 'कनिष्कम साहब' ने स्वलिखित पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्टों में इस प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार करने के बाद यही समति निश्चय की है कि कटरा केशवदेव के उत्तर-पश्चिम की ओर फैले हुए खंडहरो का सिलसिला ही प्राचीन मथुरा नगर है।

श्रीभूत 'आर्यभट्ट' महोदय का भी जो मथुरा के प्रसिद्ध कलकटर और स्थानीय सप्रहालय के संस्थापक थे और जिन्होंने मथुरा पर एक अमर ग्रंथ की रचना की है, यही मत था कि कटरा केशवदेव ही पुरानी बस्ती है। कटरा केशवदेव की भूमि के सिलसिले में ही क्रम से क्रम दो सहस्र वर्ष के पुराने स्थान जैसे—चौरासी, ककाली, चौबारा, गणेशपुरा, पालीखेडा आदि का ताता है। सैकड़ों टीले मीलों तक फैले हुए प्राचीन नगर के भग्नावशेषों का स्मरण दिलाते हैं।

कटरा केशवदेव के संबंध में जिस प्राचीनतम जनश्रुति का श्री कनिष्कम साहब ने ऊपर उल्लेख किया है, उसकी पुष्टि में लाखों हिंदू जनता का सनातन काल से चला आता यह विश्वास है कि कटरा केशवदेव ही भगवान् श्री कृष्णचन्द्र की 'जन्मभूमि' है। इसी स्थान से लगा हुआ 'पोतराकुड' है जो एक बहुत ही विशाल और पक्का सरोवर है। जन्मभूमि के पास ही पोतराकुड का होना भी स्वाभाविक है। कनिष्कम साहब ने कटरा के प्राचीन इतिहास पर विचार करते हुए अपनी समति इस प्रकार दी है—

"वर्तमान कैलापुरा मुहल्ले में कटरा स्थान है। इसमें सबैह नहीं कि केशवदेव का प्राचीन मंदिर इसी स्थान पर बना हुआ था। यह मंदिर कितनी ही बार नष्ट हुआ है। मेरे विचार से कैलापुरा ही वह स्थान है जिसका नाम 'एरायन' में 'किलसोबोरा' या 'कैलोबोरा' और 'प्लिनी' ने 'किलसोबोरा' लिखा है।"

इस प्रकार किलसोबोरा या कृष्णपुरा और कैलोबोरा या केशवपुरा पर्यायवाची शब्द हैं। यदि कनिष्कम साहब का यह अनुमान ठीक है तो यह सिद्ध हो जाता है कि केशवपुरा का अस्तित्व यूनानियों के आगमन काल, अर्थात् ईस्वी चौथी शताब्दी में अवस्थ था। कटरा केशवदेव की भूमि से जो प्राचीन मूर्ति और पत्थर के टुकड़े मिले हैं उनके आधार पर भी इसी बात की पुष्टि होती है कि केशवदेव का स्थान अवश्य ही इतना प्राचीन माना जा सकता है।

^१. देखिये—माधुरिय सुसांत मज्जिमनिकाय २/४१४

सन् १९१८ में पुराने सिक्के ढालने के तीन जोड़ सचि स्व० पं० राधाकृष्णजी को बुवाई करते समय प्राप्त हुए थे। श्री पन्नालाल जी आई०सी०एस० ने जून सन् १८ के हिस्टोरिकल सोसाइटी के जनरल में इन सौचों के संबंध में एक विस्तृत लेख लिखकर उनका समय निर्धारित किया था, अर्थात् पुराण नामक प्राचीन भारतवर्षीय सिक्के ढालने के यह सचि कम से कम छठी शताब्दी ई० पूर्व से भी पहले के होने चाहिये। मनु, कौटिल्य और पाणिनि ने इन सिक्कों को 'पुराण कहा है।' बुद्ध के जीवन काल में भी यह पाली-ग्रंथों के अनुसार पुराण ही कहलाते थे। श्री दुर्गाप्रसाद जी ने हाल ही में पुराण-मुद्रा के ऊपर विशेष अनुसंधान करते हुए उनका प्रचलन काल १००० ई० पूर्व तक माना है। कम से कम शुंग काल के पूर्व तक अवश्य ही इन सिक्कों का प्रचार रहा। यदि उस समय भी उनके टांसे-वाले सचि बनाए गए हों तो भी कटरे का प्राचीन स्थान तीसरी शताब्दी के आठ-पास अवस्थ था।

मथुरा के अजायबखर में सुरक्षित बहिर्द्वार तोरण की सिरदल का पत्थर है। यह तोरण जनरल कनिंघम को १८६२ की शीत ऋतु में कटरे की खुदाई करते समय मिला था। उसके एक ओर नी ऊँचे तोरण खुदे हुए हैं, जिनमें से स्त्री और पुरुषों की मीड झाँक कर देख रही है। दूसरी ओर नी बुद्ध मिक्षु हैं जो बिहार के भदर भोजनशाला में भोजन प्राप्त कर रहे हैं, उनके पास ही स्तन स्तूप और बोधिवृक्ष अंकित हैं। यह तोरण लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व या शुंग काल का होना चाहिये। इससे विदित होता है कि शुंग काल में कटरे की भूमि में बौद्ध-बिहारों का अस्तित्व अवस्थ था। इसका एक अकाट्य प्रमाण यह भी है कि कटरा से महाराजा वासुक कुपाण सम्राट् 'वासिष्क' का एक लेख मिला है जिसमें सन् ७६, अर्थात् १५४ ई० ? में एक बौद्ध स्तूप के जीर्णोद्धार का वर्णन है। सम्राट् वासिष्क द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में हुए, जिस स्तूप के जीर्णोद्धार का वर्णन कुपाण कांत में ही उसका—निर्माण अवश्य ही शुंग काल में हुआ होगा।

कटरा में खुदाई के अवशेषों का जो वर्तमान रूप है उनके आधार पर वहाँ एक से अधिक लगभग चार-पाँच स्तूपों के अस्तित्व का अनुमान होता है। स्तूपों की शृंखला केन्द्रबद्ध के हिन्दू मंदिर की कुर्सी से उत्तर की ओर थी। मालूम होता है कि मंदिर के स्थान के पान ही बौद्धों की भी स्तूप और बिहार बनाने का स्थान दे दिया गया था, उस समय की धार्मिक सहिष्णुता तो प्रसिद्ध ही है। एक ही स्थान पर बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों के देवस्थान बनाए गए, ककाली-टीला इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यद्यपि यहाँ जैनो का सबसे बड़ा स्तूप था तथा वहीं बौद्धों के चैत्य और टिड्डों के मंदिर भी थे, जैसा कि उस स्थान से मिली हुई बौद्ध और विष्णु-मूर्तियों से सिद्ध होता है। कटरा केन्द्रबद्ध से भी जैन-मूर्तियाँ मिली हैं, जिसको 'सगर' और 'सागरिक' नामक भाइयों ने स्थापित किया था। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कटरा केन्द्रबद्ध केवल बौद्धों का ही स्थान नहीं बल्कि पार्श्व पर जैन-मंदिर भी थे। चूंकि जैन और बौद्ध स्तूपों का स्थान वर्तमान केन्द्रबद्ध के मंदिर या इन्हीं चतुर्दशरे से हट कर उत्तर की ओर है, इससे यह भी अनुमान होता है कि ब्राह्मण-धर्म-नवमी मंदिर प्राचीन काल में अपने वर्तमान स्थान पर ही था, उस भूमि के विषय महत्त्व और पवित्रता के कारण बौद्ध और जैनो ने भी उसे अपनाया। भगवान् बुद्ध भी मथुरा जी में आए और 'क्षेत्रताप' के क्षेत्र में अनुत्तम बुद्ध भगवान् के बाद यहाँ स्तूपों का निर्माण हुआ। गुप्त काल में यह स्थान बहुत ही समृद्ध दशा में था। एक बुद्ध-मूर्ति पर मुद्रा हुआ गुप्त काल का एक प्रसिद्ध लेख इस समय 'मन्त्र-मन्त्र-हाल' में सुरक्षित है। उनमें मालूम होता है कि निम्नो जी 'जयनट्टा' ने गुप्त सन् ४३०, ४४१, ४४६ ई० में एक बुद्ध-प्रतिमा 'अजीविहार' की दान में दी। इसके अनिश्चित चतुर्दश द्वितीय विष्णु-मंदिर तक की वंशावली या उत्पत्ति करने वाला एक प्रसिद्ध लेख भी कटरा से ही उत्तरतः बतियन को सन् १८५३ में मिला था। वह लेख इस प्रकार है—

पंथित, १—सर्व राजाकेन्दुपुत्रिय्य मिप्रतिरव

" २—स्व अतुरदति सतिनो स्वावित भानो य

पंक्ति, ३-नद वरगैर्वातकस मस्य कृतांत पपशोः

" ४-न्यायागतानेकगो हिरण्य कोटि प्रदस्य चिरो

" ५-स्तत्तावमेवाहुतुर्नहाराज श्री गुप्त प्रणीत स्य

" ६-महाराज श्री घटोत्कच पीत्रस्य महाराजाधिराज

" ७-श्री चंद्रगुप्त पुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महा दे

" ८-व्यासकुमार देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज

" ९-श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगु

" १०-हीतेन महादेव्या वत्तदेव्यामुत्पन्ने

" ११-न परम भागवतेन महाराजाधिराज

" १२-श्री चक्रगुप्तेन

गुप्त सम्राटो के अन्य लेखों के अनुसार ही यह वशावली भी है, परंतु इसमें माकों की बात यह है कि महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त तक समाप्ति करके चंद्रगुप्त के द्वारा किसी महत्वपूर्ण कार्य के होने का वर्णन इसमें था। परम भागवत महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त ने अपने अनुरूप कौन-सा कार्य इस कटरा केशवदेव की गुण्यभूमि पर किया होगा, इसका अनुमान कर लेना कुछ कठिन नहीं माना जाता। समस्त उत्तरापथ के राजाओं का उल्लेख करके जिनमें देव पुत्र बाहानुशाही 'शकपुच्छ' भी शामिल थे,^१ विजयी समुद्रगुप्त ने मथुरा के राजा 'नागसेन' को परास्त करके मथुरा को भी गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया था। उनके परम भागवत पुत्र ने अवश्य ही अपने नये विजय को चरितार्थ करने के लिए यहाँ पर कोई विशेष धर्म-सबधी कार्य किया। कटरा केशवदेव-स्थान ही उस कार्य के लिए चुना गया, इस बात से हमें भागवत शिरोमणि विक्रमांक चंद्रगुप्त के देय-धर्म का अनुमान करने में सहायता मिलती है।

हमारी समिति में हिंदू धर्म और संस्कृति का सब प्रकार से नवामुत्थान करनेवाले सूर्य के समान तेजस्वी महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने जिन्होंने अपने पराक्रम का मूल्य देकर मानो समस्त पृथ्वी को मोल ले लिया, अपने 'राजाधिराज' और 'परम भागवत' इन नवीत्यति उपाधियों को अवश्य करने के लिए पुराकाल से विभूत श्री कृष्ण की जन्मभूमि के स्थान पर अवश्य एक नव्य मंदिर का निर्माण कराया, वह देव-स्थान अत्यंत विशाल और कला का एक श्रद्धा उदाहरण होगा।

कटरा की तत्कालीन बौद्ध-प्रतिमाओं से सूचित बौद्ध-कला के समान ही ब्राह्मण मंदिर की कला भी सर्वगुण संपन्न रही होगी। शिला स्तंभ में अवशिष्टाक्षर—

"श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृहीतेन महादेव्या वत्तदेव्यामुत्पन्ने..."

इन उत्तीयात पदों से निकलनेवाली जिस ध्वनि के आधार पर हमने चंद्रगुप्त के देय-धर्म की कल्पना की है उसका समर्थन भी एक प्रकार से मिल जाता है। कटरा केशवदेव से मिली हुई मूर्तियों से उपरोक्त अनुमान की पुष्टि होती है। अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए हम दो मूर्तियों का वर्णन करेंगे जो कटरा केशवदेव से ही प्राप्त हुई हैं, यह दोनों ही निःसंदेह गुप्त-काल की ब्राह्मण-कला में हैं।

पहली रायबहादुर 'प० राधाकृष्ण' को सन् १९११-१२ ई० में कटरा की खुदाई करते समय मिली थी।^२ यह एक मंदिर के द्वार का उपरी भाग है, जिस पर जल-मार्ग, कीर्ति-मुख और सिंह-मुखों की श्रृंखलाएँ हैं, हो न हो यह पत्थर केशवदेव पर बने हुए किसी ब्राह्मण मंदिर का भाग है, यह सब प्रकार से ठेठ गुप्त-कला का नमूना है। इससे भी अधिक निश्चयात्मक दूसरी मूर्ति गुप्त-कालीन स्तम्भ

^१ समुद्रगुप्त की प्रयागवार्ता प्रशस्ति। ^२ म्यूजियम नं० के० टी० २४३।

का एक टुकड़ा है जो इसी वर्ष हमें कटरा केशवदेव के स्थल पर वषे हुए एक घर से मिला था^१ यह दरवाजे की चौखट का बगली खंभा या तमंचे का टुकड़ा है, जिसके सामने की ओर कच्छप बाहन पर खड़ी हुई यमुना जी की मूर्ति है, दाहिने हाथ में पूर्ण घट और बाँये हाथ में फूलों की बाली है। गुप्त-कालीन केश-विन्यास कंठ में एकावली माला और सूक्ष्म चिमल वस्त्र—इनसे स्तन और मूर्ति के सम्य-निर्धारण में सदेह नहीं रहता।

कच्छप बाहन पर भास्कर नदी की अविष्णानी देवी (यमुना) का मधुरा से कितना अनिष्ट संबंध है, यह भी अनुमान किया जा सकता है। पुरातत्त्व और काव्य दोनों इस बात के साक्षी हैं कि द्वार के पार्श्व स्तंभों पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ चित्रित करने की प्रथा सर्वप्रथम हिन्दुत्व के अनुयायित गुप्त-कालीन मंदिरों में ही मिलती है^२। कालिदास की निम्नलिखित पंक्तियों से इसी प्रकार का संकेत मिलता है—

“मूर्तेषु गंगा यमुने त्वयानीं सचामरं देवमसेविष्यताम् ॥”

—कुमारसंभव ७।४२

अर्थात्, गंगा और यमुना अपने नदी रूप को त्याग कर—‘समुद्रगारुप विषयमेजिष’ मनुष्य-विषह में चामर-आहिणी बन कर देव की सेवा करने लगी।

उपरोक्त दोनों मूर्तियाँ इस बात के प्रकाट्य प्रमाण हैं कि गुप्त-काल में कटरा केशवदेव की भूमि पर एक अत्यंत विशाल और भव्य हिंदू मंदिर का निर्माण हुआ। चद्रगुप्त विष्णुस्थल के असमाप्त लेख के साथ उसका संबंध दिखाते हुए हम यह दिखा चुके हैं कि गुप्त सम्राटों में परम भागवत महाराजाधिराज की यज्ञ-गाथा से विभूत श्री चद्रगुप्त द्वितीय ने ही इस परम विशिष्ट धार्मिक कार्य का सूत्रपात किया होगा। हमारा विश्वास है कि भविष्य की खुदाई में इस मंदिर के संवध के अन्य प्रमाण भी अवश्य मिलने चाहिये। कम से कम यह तो प्रतीत होता है कि वर्तमान ऊँचे स्थल से भी नीचे जो कुर्सी हैं, वह इसी मंदिर की रहीं हों। उस कुर्सी के चतुर्दिग नक्काशीदार गोले दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान ‘कृष्ण-चवूतरे’ से दस फीट नीची और चौड़ाई में उससे उत्तर की ओर लगभग २० फुट निकली हुई पुराने मंदिर की कुर्सी है, इस चौकी के चारों तरफ खुदाई करने से इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश पड़ने की आशा है।

चद्रगुप्त द्वितीय (३७५ से ४१३ तक) के बाद महाराजाधिराज कुमारगुप्त (४१३ से ४५२ ई० तक) और उसके बाद स्कंदगुप्त का शासन हुआ। कुमारगुप्त के अंतिम वर्षों में हूणों के आक्रमण प्रारंभ हो गए थे, पर गुप्तों की विजयी सेना के समक्ष वे ठहर न सके। स्कंदगुप्त ने समरागण में सोह्रा लेकर अपने भुजदंडों से मेदिली को कंपायमान ही कर दिया था।

“हूणैर्यस्य समागतस्य समरे बोन्मां विरः कपिता ।”

—गीतरी चिन्तालेख

गुप्त-वधका वीर सेनानी ने अपने विपुल पराक्रम से हूणों की घाघ को रोकने के लिये तीक्ष्ण ‘कुतप्रास’ और ‘भातो’ की एक शयेंध प्राचीर ही खड़ी कर दी थी। कल यह हुआ कि मधुरा के देवस्थान उस समय में सुरक्षित रह गए। हूणों की आँधी छद्मी शताब्दी के प्रारंभ में समाप्त हो गई। हमें सन् ५५० ई० की मूर्ति में मिथुनी जयमट्टा के यशोविहार का वर्णन मिला है, जिनमें यह प्रकट होता है कि हूणों के बाद तक वहाँ यौद्ध विहार और मंदिर अधूरे बने रहे। ‘पारिपता’ ने मधुरा में (४०० ई०) तीन हजार भिक्षु और बीस विहार तथा छे स्तूपों का वर्णन किया है, जिनमें मिला

१. म्यूजियम नं० २६३६६।

२. बेसिए—चंद्रगुप्त द्वितीय की उदयगिरी-गुफा का विष्णु-मंदिर।

दो सौ वर्ष बाद 'हर्ष' राजा के राज्य-काल में चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' (६३० से ६४५) भी मथुरा आया। उसने यहाँ २००० भिक्षु और पाँच ब्राह्मण-धर्म संबंधी देवालय देखे।

हमारा अनुमान है कि इन मंदिरों में एक मंदिर कटरा केशवदेव का गुप्त-कालीन मंदिर भी होगा, जो ह्वेनसांग के बाद भी सुरक्षित रह गया था, परंतु भिक्षुजी जयमट्टा की मूर्ति गुप्त-मंदिर से लगे हुए उत्तर-पश्चिम के कोने में स्थित कुँए में पड़ी हुई मिली थी। जिससे यह ज्ञात होता है कि यशोविहार और उसके साथ के अन्य देवालय भी छठी शताब्दी के बाद किसी समय विध्वंसकारियों द्वारा नष्ट कर दिए गए थे।

मथुरा का आक्रमण

इतिहास में मथुरा के आक्रमणों का जो वृत्तान्त मिलता है उससे तो यही ज्ञात होता है कि गुप्त-काल के अन्त्युदय का प्रवाह 'महमूद गजनवी' के समय में आकर छूटा। सन् १०१७ ई० में उसने केशवदेव के मंदिर को आकर लूटा। भल्लूली जो महमूद का मीरमुखाँ था, अपनी 'तारीख यामिनी' में कटरा केशवदेव के विषय में लिखता है और मि० ग्रावस साहब ने उसका अवतरण यों किया है—

“महूर में सुलतान ने एक इमारत देखीं जिसे लोग देवताओं की बगई हुई कहते थे।”

वह भागे चलकर कहता है—

“और महूर के बीच में एक मंदिर सबसे बड़ा और सुंदर था, जिसे से या शब्द से उसका पूरा वर्णन असंभव है, सुलतान ने उसे देख कर कहा कि अगर कोई ऐसी इमारत बनवाये तो लगभग दस करोड़ दीनार खर्च होंगे और बनने में दो सौ वर्ष लगेंगे।”

बीस दिन की लूट

महमूद का आँखो देखा वर्णन और उसके आचार पर किया हुआ अनुमान दोनों ही सत्य हैं, क्योंकि गुप्त काल से १००० ई० तक लगभग ६०० वर्षों की अवधि में केशवदेव का विराट् मंदिर संभारा गया था और इस दीर्घ समय में वहाँ अतुल धन-संपत्ति और सुवर्ण-राशि एकत्र हो चुकी थी। उसका वर्णन भी यथार्थ ही महमूद के मीरमुखाँ ने किया है। बीस दिन की लूट में पाँच सोने की प्रतिमाएँ मिली, जिनमें माणिक्य की आँखें जड़ी हुई थी। उनका मूल्य ५० हजार दीनार था। एक और सोने की मूर्ति मिली जिसका वजन ६८३०० निष्कल या लगभग १४ मन या इसमें करीब डेढ़ सेर का एक नीलम जड़ा हुआ था। चाँदी की सौ भारी-भारी मूर्तियाँ सौ ऊँटों पर लाद कर ले जाई जा सकी। इस मेरु-तुल्य राशि या कुबेर के कोष को, जिसे देख कर लुटेरों की आँखें फट गई थी और उन्होंने समझा था कि रत्नों की खान ही हाथ आ गई। खान-खाने, सचय करने का श्रेय महा वैभवशाली हिंदू-सम्राट् और धर्म-प्राण प्रजा को था। लगभग ६०० वर्षों तक वे विविध-रीति से मनुष्यसिंहा की भाँति इस कोष का सचय करते आ रहे थे। अंत में डक-बल के क्षीण पड़ जाने के कारण उन्हें उससे हाथ नोना पड़ा।

इसी आपत्ति-काल में अनेकानेक बौद्ध तथा हिंदू मूर्तियों को कुम्भों में फेंक दिया गया। जयमट्टा की मूर्ति भी उसी समय केशवदेव के कुँए में फेंक दी गई होगी, अग्नी इस कुँए में सफाई करने से शायद अनेक मूर्तियों के मिलने की आशा है। महमूद के कुछ काल बाद शांति और व्यवस्था स्थापित होने पर मथुरा फिर से आबाद हुई। गुप्त-कालीन कुर्सी के ऊपर बनी हुई कुर्सी का मंदिर महमूद के बाद किसी समय बना।

सिफंदर जोड़ी द्वारा विध्वंस

उसका विध्वंस भागे-चलकर फिर हुआ। इस मंदिर के जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण का समय निर्दिष्ट करने के लिये भी कुछ साधन उपलब्ध होते हैं। सन् १८८६ के फरवरी मास में डा० 'ब्यूहरर' ने मथुरा में कई स्थानों पर खुदाई कराई थी, उस समय कटरे के टीले को काट कर

मथुरा-वृन्दावन रेलवे की लाइन बनायी जा रही थी। १० फरवरी सन् १८८६ को खोदने वाले मजदूरों को कटरे के टीले में एक लेख प्राप्त हुआ, जो इस समय लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। लेख संस्कृत पद्य में है और उसमें २६ पंक्तियाँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि सन् ११०७ भर्माद, सन् १०५० ई० में इस स्थान पर एक विष्णु के विशाल मंदिर (विष्णोहर्म्यमलम् ..) का निर्माण हुआ, उस समय मथुरा में महाराज 'विजयपाल देव' का राज्य था। उन्हीं के किसी प्रतिष्ठित अधिकारी ने मंदिर की रचना में विशेष भाग लिया। उस व्यक्ति का नाम 'जज्ज' भ्रमवा 'यत्त' था। मंदिर के प्रबंध के लिये एक गोष्ठी (सभा) थी, जिसमें १४ सदस्य थे। उनके नाम भी इसी शिवा लेख में अंकित हैं। जज्ज उसका प्रधान था। मंदिर के बनवाने के बाद देवता की पूजा के लिए वृत्ति या भी प्रबंध किया गया था, जिसमें उस समय के राजा और प्रजा ने ध्यान दिया था। छठ्ठे कुर्सी और एक बड़ी बाटिका यह मंदिर की संपत्ति थी। इस लेख का संपादन डा० 'बूलर' ने 'एग्जिक्यूटिव' इण्डिक पत्र की पहली जिल्द (नवंबर १८९० के पृष्ठ २०७ से २३३) में किया है। इस प्रकार जो मंदिर भी विष्णु का वहाँ बनाया गया उसका विध्वंस सुलतान सिकंदर लोदी के हाथों (सन् १४८८-१५१९) हुआ, उसके १२५ वर्षों बाद जहाँगीर के शासन-काल में हिंदुत्व के अधिमानों द्वारा के दुबले राजा 'बीरसिंह देव' ने करीब ३३ लाख रुपये लगाकर केशवदेव के विशाल मंदिर का निर्माण करवाया। इस मंदिर को सन् १६५६ ई० के लगभग 'टैबलियर' ने और सन् १६६३ ई० में 'बनियर' ने देखा था, टैबलियर लिखता है—

“बनारस और जगन्नाथ के बाद सबसे प्रसिद्ध मंदिर मथुरा का है। यहाँ का मंदिर इतना बड़ा है कि वह छः कोस दूर से ही दिखाई देता है। इसकी बड़ी कुर्सी प्रभूवल्ल बनी है। मंदिर के चारों ओर पत्थरों पर नक्काशी है, जिसमें भाँति-भाँति के जानवर खुदे हुए हैं। चित्रों की एक पट्टा जमीन से दो फुट ऊँची और दूसरी शिखर से दो फीट नीचे है। विवाल चट्टानों पर आये से मंदिर और आये से 'जगमोहन' बना है, बीच में एक बड़ा मंडप बना है। मंदिर में अनेक छिड़कियाँ और गोल हैं, मंडप के भीतर बनी हुई जाली की दीवार के पास से मुंसे पुनारियों ने मूर्ति का दर्शन कराया। मैंने देखा कि मूर्ति काले पत्थर की बनी हुई है और आभूषण तथा वस्त्र पहने हैं।”

संक्षेप में हमारा अनुमान है कि इस मंदिर की रचना वृन्दावन के गोविन्ददेव जी के सद्यः ही थी जो अफवर के समय में बना था।

यह मंदिर सन् १६६६ ई० में औरंगजेब की कट्टरता का शिकार बना। उस समय मंदिर के मध्य और जगमोहन को विध्वंस करके सब मूर्तियाँ आगरे भेज दी गईं। मंदिर को जो विवाल कुर्सी यह गई उसके पूर्वी भाग पर औरंगजेब ने मसजिद बनवा दी।

मसजिद के फर्श में दो देवतागरी के लेख जड़े हुए हैं, जिनमें संवत् १७१३, भर्माद, सन् १६५६ ई० और संवत् १७२०, भर्माद, १६६३ ई० जुदा हुआ है। मंदिर का ही मशाला मसजिद के काम में लाया गया। बहुत से खुदे हुए पत्थर अब भी उसकी चौकी में जावजा लगे हुए हैं। मसजिद की पक्की कुर्सी ७२ फीट लंबी और ८६ फीट चौड़ी है, जिसपर मसजिद की चौड़ाई ६० फीट तक है। पाँच फीट नीचे एक कच्ची कुर्सी है, जो तंबाई-नीड़ाई से २६८×२५८ फीट है। मसजिद का नाम 'ईजाद' है और इसके पीछे करीब १७० फीट लंबी मंदिर की पुरानी कुर्सी पूर्व-पश्चिम है। उत्तर-दक्षिण के बीच में उसकी चौड़ाई ६६ फीट है। इसमें दोनों तरफ १६×१६ फीट चौड़ा फूटा है, जिसे सिकंदर लोदी से पहले की कुर्सी की सीध में राजा 'बीरसिंह देव' ने बड़ा कर परिक्रमा-यथ का काम देने के लिए बनवाया था। इससे करीब १० फीट नीची गुप्त-कालीन मंदिर की कुर्सी है, जिसका वर्तन ऊपर हो चुका है।

फिर मरहटों ने बनवाया

श्रीराजेश्वर के बाद कटरा केशवदेव मरहटों की अमलदारी में आया। किंवदन्ती है कि मरहटों ने केशवदेव के प्राचीन मंदिर को श्रीकृष्ण-जन्मभूमि की मान्यता के कारण प्राचीन कृष्ण-चवूतरे पर फिर मंदिर बनवाना चाहा। मथुरा के पंडितों ने उसके लिए अपनी समिति भी दे दी, परन्तु काशी के पंडितों से मतभेद हो जाने के कारण यह विचार स्थगित हो गया।

ईस्ट इंडिया के द्वारा नीलाम

जिस समय सन् १८०२ में मरहटों की पराजय के बाद मथुरा अंग्रेजी राज्य में आया, उस समय कटरा केशवदेव की भूमि को ईस्ट 'इंडिया कंपनी' ने नीलाम चढाकर 'राजा पटनीमल' के नाम तमाम कटरे की बोली खोद दी। श्रीकृष्ण-जन्मभूमि या चवूतरे पर अविकार पानर राजा पटनीमल की जन्म-मर्यत यह अभिलाषा रही कि फिर से केशवदेव के मंदिर का निर्माण करावे, परन्तु अपने जीवन-काल में वे इसे पूर्ण नहीं देख सके। तब से अब तक उस भूमि पर राजा पटनीमल के वंशजों का अधिकार चला आता है। कई बार सरकारी अदालतों में भी इस प्रकार के निर्णय हुए हैं।

इसी वर्णन से यह भी ज्ञात हो जाता है कि कटरा केशवदेव का स्थान पुरातत्त्व की दृष्टि से लगभग ढाई हजार वर्ष प्राचीन अवस्थ है। साहित्यिक सामग्री के आधार पर श्रीकृष्ण के अवतार को ५००० वर्ष हुए। स्थानीय परंपरा इस बात को सदा से मानती रही है कि कटरा ही प्राचीन कृष्ण-जन्म-भूमि है। उसका समर्थन इस बात से होता है कि ऐतिहासिक काल में अनेक बार कृष्ण या विष्णु-मंदिरों का बारबार इसी स्थान पर निर्माण हुआ। जैसा 'आउस मैनीयर' पृष्ठ ६४ में लिखा है कि "कई युगों से केशवदेव के अनेक मंदिरों का निर्माण इसी भूमि पर हुआ।" चंद्रगुप्त द्वितीय के मंदिर का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। गुप्त-समय की कई सुंदर मूर्तियाँ इस समय मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, उनमें से एक चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति है, जो सुंदर किराट, मकरिका, कुडल, श्रगद, वैचरी, यज्ञोपवीत, स्थूल-मुक्ताकलाप चंद्रहार, मेखला और सूक्ष्म परिधानीय घोंटी पहने हुए है। यह मूर्ति गुप्त-कालीन विष्णु-मूर्तियों में सर्वोत्तम कही जा सकती है। दुर्भाग्य से इसके प्राप्ति-स्थान का कुछ उल्लेख अजायबघर के पुराने रजिस्ट्रो या रिपोर्टों में लिखा नहीं मिलता। इस मूर्ति का नंबर 'ई० ६' है। डा० 'बोगल' ने अपनी सूची में इस पर यथोचित प्रकाश नहीं डाला। इस मूर्ति से मिलती हुई मूर्ति कटरे की पूर्वी दीवार के सहारे एक चवूतरे पर अभी तक स्थापित है। बहुत समय है कि यह अजायबघरवाली मूर्ति भी कटरे की खुदाई में या उसी स्थान पर किसी जगह मिली हो। उस हालत में इस मूर्ति का सबंध गुप्त-कालीन मंदिर के साथ ही रहा होगा।

विष्णु की मूर्तियों का आदि रूप हमको कुषाण-काल से पहिले की एक भी विष्णु-मूर्ति में अभी तक मथुरा या सारनवर्ष में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला है। ऐसा मालूम होता है कि मथुरा के भक्ति-प्रधान क्षेत्र में ही सर्वप्रथम विष्णु-मूर्तियों का निर्माण हुआ, पुरातत्त्व-विभाग की साक्षी भी इसी के अनुकूल है। कुषाण-काल में शिव-मूर्तियों की भी अधिकार प्रसिद्धा हुई। वेमकैडकसिज कनिष्क, हविष्क आदि सम्राट् 'परम माहेस्वर' थे। उनके सिक्कों पर शिव और वृष की मूर्तियाँ पायी जाती हैं। अंतिम सम्राट् 'वासुदेव' के नाम से ही विदित होता है कि उसके राज्यकाल में विष्णु वासुदेव की प्रवल पूजा हुई। समस्त कुषाण-युग, अर्थात् ईस्वी प्रथम और द्वितीय शताब्दी में कोई नया विष्णु मंदिर बना हो। अभी तक कुषाण-काल के एक शिला-पट्ट पर वासुदेव का कृष्ण को लेकर यमुना पार करने का दृश्य अंकित पाया गया है।^१ यह शिला-पट्ट कुषाण-कालीन किसी ब्राह्मण-मंदिर में लगा हुआ होगा।

^१. मथुरा—संग्रहालय नं० १३४५।

इसमें पहिले प्रथम गताब्दी ईस्वी पूर्व में 'महाक्षत्रप सुदास' के समय मथुरा में भगवान् बामुदेव का एक स्थान अवस्थ था। उसके प्रमाण स्वरूप सुदास का तोरण मथुरा-नगरहात्त में नुगिंह है। मारुतवर्ष में ध्रुव तक के मिले हुए संस्कृत लेखों में भगवान् बामुदेव के महास्थान में नग्न गन्त-वाला यह लेख सबसे पुराना है। यथा—

पंक्ति-६ वसुना भगव (तो बामुदे)

" ७ वस्य महास्थान (चतुःशाल)

" ८ तं तोरणं व (विकः प्रति)

" ९ प्लापितो श्रीतो । (वसु बामु)

" १० देवः स्वासिष्य (महाक्षत्र)

" ११ पस्य शोडास (स्य)

" १२ संवर्षेयाम् ।

अर्थात्, "भगवान् बामुदेव के महास्थान में चतुःशाल तोरण और वैदिक 'वसु' वं डाग स्थापित की गई। बामुदेव प्रसन्न हो। स्वामी महाक्षत्रप सुदास शोडास का राज्य स्थायी हो।" इन तोरण-लेख का प्राप्ति स्थान भी सदिग्ध है। यह नगर से पूर्व की ओर एक कुँए में नै पं० रागाहा जी को मिला हुआ बताया जाता है। करीब ८ फीट लंबे तोरण का कुँए में गिर कर साक्षि पत्थर समव नहीं मालूम होता। हमारा अनुमान यह है कि भगवान् बामुदेव का महास्थान कटरा बेगवरे में ही होना चाहिये। युगकाल में और उसके आस-पास नगरी में बामुदेव और संकषण के मंदिरों का लेख और वेश नगर में गरुणज्ज-सवधी लेख मिल चुके हैं। मथुरा में भी उसी प्रकार के लेखों की प्राप्ति बहुत स्वाभाविक है और चूँकि कटरा ही अत्यंत प्राचीन काल में कृष्ण-जन्म-भूमि की तरह प्रसिद्ध रहा है। अतएव कृष्ण-मंदिर का पुरातन स्थान यहीं होना चाहिये। इन प्रकार समावना यही है कि रायवहादुर प० राधाकृष्ण जी को यह महत्त्वपूर्ण लेख कटरा में ही प्राप्त हुआ हो। युगकाल में नग्न एक समृद्धशाली नगरी थी। भाष्यकार पातञ्जलि ने लिखा है—

"सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिस्ततरा इति ।"

—ग्रन्थ ५।३।१७

अर्थात्, भाग्य (वर्तमान सक्रिया) और पाटलिपुत्र (पटना) के निवासियों ने भी मथुरा के रहनेवाले अधिक सुंदर और समृद्ध हैं। इन बाल में ब्रह्मणस्वामिभुग नृपतियों के मास्त्रान में मथुरा समितित थी। जब अन्य बामुदेव के मंदिर बने तब मथुरा में भी उनका बनना अनुमान किया जा सकता है। विवेकित, जबकि यहीं स्थान भागवत-प्रदाय का प्राणभूत केंद्र था। बाराहपुत्रान में लिखा है—

"न केशवसमो देव, न माथुरसमो द्विज ।"

अर्थात्, केशव के समान कोई देव महान्मय-भुक्त नहीं है और माथुरा ब्राह्मणों के समान भी ब्राह्मण नहीं है। कृष्ण-जन्म-भूमि होने के कारण ही कटरा बेगवरे को दत्त गोत्र प्राण हुआ माना है। इस प्रकार कोई महत्त्व बाँटो का इतिहास कटरा बेगवरे का प्राण होगा है। और युगलक्ष दोनो की समिति मास्त्रो ने उनारे अनुमानों की पुष्टि होगी है कि नग्न युगान "कृष्ण-जन्म-भूमि" है और उनका वर्तमान "कृष्ण-नगरी" नाम धारण करता है।

गुर्जर-चित्रशैली में लिखित गीतगोविंद : एक सचित्र प्रति'

श्री नान्हालाळ चमनलाळ मेहता

पश्चिमी भारत की चित्र-शैली जो 'गुर्जर-चित्रशैली' के नाम से भी विख्यात है, भारतीय चित्र-कला में अपना विशेष स्थान रखती है। लगभग ११०० से १६०० तक की पाँच शताब्दियों में पश्चिमी भारत एवं मध्यभारत में इस चित्र-शैली का प्रमुख महत्त्व रहा और सैकड़ों की संख्या में अत्यंत सुंदर सुवर्णशरीर-कल्पसूत्र इस शैली में लिखे गए। जैन-कल्पसूत्रों के अतिरिक्त कालकाचार्य-कथालक, निधीय चूर्ण, उत्तराध्यायनसूत्र, सप्रहणीसूत्र आदि की सचित्र प्रतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। इस हाल में जैनधर्म-ग्रंथों के क्षेत्र से बाहर के ग्रंथ भी इस चित्र-शैली में प्राप्त हुए हैं। उनमें श्री मज्जुलाल जी मज्जुमदार ने गीतगोविंद, बालगोपालस्तुति, देवीमाहात्म्य, रति-रहस्य और श्रीमद्भागवत के कुछ फुटकर चित्रों का (१६१० ई० में लिखित) अध्ययन प्रस्तुत किया है। स्वयं मूक्षे 'वसत-विशाल' नामक एक 'कुंडलित पट' प्राप्त हुआ था, जिसमें ७६ चित्र लिखे हुए थे। सबसे बड़े चित्र की माप ५७" X ७६" थी। यह चित्रपट १४५१ ई० में लिखा गया था। वनमें वसत का अवतार एवं नर-नारियों के उदास जीवन की प्रदीप्त करने वाली उसकी कल्याणी शोभा का अत्यंत सजीव चित्रण इस पट के चित्रों में हुआ है और उसी के अनुरूप भाव-नोवक संस्कृत-गुजराती छंद भी लिखे गए हैं।

गुर्जर-चित्र-शैली को महिमा प्रदान करनेवाला एक अन्य ग्रंथ कवि 'विल्हण' कृत 'चौर-पचाशिका' भी मूक्षे प्राप्त हुआ है, जिसमें कविराज विह्वल और उनकी प्रेयसी 'चपावती' की प्रणय-लीला का आलेखन है।

प्रस्तुत लेख का विषय गीतगोविंद की एक आदर्श प्रति है। डा० मज्जु मज्जुमदार ने जिस गीतगोविंद का अध्ययन किया था, उसमें कृष्ण के दस भों से केवल छ अवतारों का उल्लेख है और भारत में धारवा का आलेखन है। डा० 'स्टे ला क्रैमरिख' ने 'जर्नेल ऑव दी इंडिया सोसाइटी ऑव ओरिएंटल स्टार्ट' की पत्रिका के दिसंबर १९३४ के अंक में गीतगोविंद की अन्य उपलब्ध प्राचीन सचित्र प्रतियों का वर्णन किया था। जो प्रति मूक्षे उपलब्ध हुई है वह गीतगोविंद की समस्त अलिखित प्रतियों में सन्नत सिरमौर है। उसमें १५६ पत्रे हैं, चार पत्रे गुम गए हैं। प्रति सन्नत १६ वीं शती के भारत में लिखी गई थी और अभी तक बहुत अच्छी दशा में है। पत्रों की माप १२ $\frac{1}{2}$ " + ७" है।

महाकवि जयदेव कृत 'गीतगोविंद काव्य' प्रति विचित्र है। उसमें राधा और माधव की विलास-लीलाओं का सरस काव्यमय वर्णन है। साथ ही कवि ने भक्ति के उन्मुक्त भाव से उस शृंगार को अध्यत्म की भूमिका प्रदान की है। यही जयदेव के गीतगोविंद का महत्त्व है। मानवी-पृष्ठभूमि में ईवी पात्रों की कैल स्वयं एक वैचित्र्य है, जिसका जयदेव ने काव्य-कौशल से अपने वर्णनों को सजाने में लाभ उठाया है। बगाल के राजा 'लक्ष्मणसेन' की राजसभा में (१२ वीं शती) गीतगोविंद-काव्य की रचना हुई थी। जयदेव के अवसान के दो सौ वर्षों के भीतर ही गीतगोविंद पश्चिमी भारत, अर्थात् गुजरात-राजपूताने में लोकप्रिय हो गया। वैष्णव धर्म की भक्ति-प्रवाह धारा का जो उत्थान इस समय हो रहा था, गीतगोविंद उस उत्थान के प्रारंभ में प्रकट हुआ और उसके पक्ष

लगाकर चारो ओर फँस गया। यही वैष्णव-धर्म भारत वर्ष के मनस्तत्त्व को पोषण देनेवाला मुख्य धर्म बन गया और लगभग सत्तरहवीं शती तक पल्लवित होता रहा। न केवल संस्कृत के प्रेमी और वैष्णव भक्त-जन गीतगोविंद के अनुरक्त थे, बल्कि चित्र-कला के प्रेमी चित्तरे भी गीतगोविंद को अपने आलेखन से १८ वीं शती के अंत तक अथवा १९ वीं शती के आरम्भ तक अलंकृत करते रहे। बवई के श्री 'कवस जी जहाँगीर' के सग्रह में मुझे गीतगोविंद के कुछ पन्ने देखने को मिले थे, जो लगभग अकबर के समय की मृगल-शैली के चित्रों से युक्त थे। महाराज टीहरी के यहाँ गीतगोविंद की एक अति भव्य सचित्र प्रति है जिसके कुछ चित्र मैंने अपने ग्रन्थ 'स्टैब्लिज इन इन्डियन पेंटिंग' में प्रकाशित किये थे। गीतगोविंद की एक दूसरी विलक्षण प्रति यह है जिसके कुछ पन्ने 'लाहौर संग्रहालय' में प्रदर्शित थे। यह प्रति 'बसोहली' चित्र-शैली में लिखी गई और इसका चित्रकार 'माणकू' था, जिसने सन् १७८७ (१७३० ई०) में यह प्रति लिखी।

उत्तरकालीन राजस्थानी शैली में भी गीतगोविंद की कुछ अत्यधिक साज-सज्जानटवाली प्रतियाँ मेरे देखने में आई हैं, किन्तु 'टीहरी नरेश' अथवा 'लाहौर संग्रहालय' की प्रतियों के जोड़ के सुंदर चित्र जन्म नहीं हैं। गीतगोविंद की जिस प्रति का यहाँ वर्णन कर रहा हूँ उसमें गुजराती शैली के चित्रों की सख्या समस्त सबसे अधिक है। हर एक पन्ने के ऊपरी भाग में संस्कृत पद का कुछ अक्षर लिखा हुआ है, शेष पन्ने भर में चित्र बने हैं। चित्र के चारों ओर लाल लकीरों से चौखटा बनाया गया है। पन्ने के केवल एक ओर चित्र लिखे गए हैं।

शैली और सौंदर्य की दृष्टि से चित्र ध्यान देने योग्य हैं। रेखाओं में गति, निश्चिन्ता और जीवन है। चित्तेरा आत्मविश्वास से एक दृष्य से दूसरे दृष्य का चित्रण करता बढ़ता है। चित्रों में एक प्रकार की सजीवता है जो प्रत्युत गुजराती शैली के चित्रों में नहीं पाई जाती। रंग चटकीले हैं और बड़े तर हैं। लाल, नीले, सफेद और हरे रंग का प्रयोग हुआ है। रंगों को फैला कर मिश्रित रंगों दिखाए का प्रयत्न इन चित्रों में नहीं पाया जाता। चित्रों में रेखा और रंगों की सरसता है जिससे चित्तेरे और पाठक दोनों ही परिचित जान पड़ते हैं। प्रायः प्रत्येक चित्र को बढ़ाकर प्रभावशाली भित्ति-चित्र का रूप दिया जा सकता है। ऐसा ज्ञात होता है मानो भित्ति-चित्र सिक्कुड कर पुस्तक के छोटे पन्ने में समा गए हों। सचित्र पन्ने इस प्रकार हैं—

सर्ग,— पत्र-संख्या,—

१	१-४०
२	४१-४१
३	४२-४८
४	४९-७०
५	७१-८४
६	८५-८९
७	९०-११०
८	१११-११५
९	११६-११९
१०	१२०-१२८
११	१२९-१४१
१२	१४२-१६३

चित्रों में यमुना-तट का अंकन हुआ है। यमुना की धारा शांत है, जिसके किनारे कदव के वृक्ष फैले हैं और जल में मछलियाँ मरी हैं। यह यमुना पहाड़ी चित्रकारी की यमुना से भिन्न है, जिनमें नदी की धारा पहाड़ी ढोको पर उछलती-कूदती अत्यंत रमणीय वृक्ष-सन्तता घोर पुष्पों से भरे बनों के

भीतर होकर बहती है। गुजराती चित्रकार की जमुना ब्रजमंडल की शांत और धीर ग्रहस्थी पुरखिन जैसी है। इन चित्रों में चित्रकारों ने गीतगोविंद का एक सुवोच रंग भरा और सपाटेदार अंकन किया है। इन चित्रों की आकृतियों को देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो किसी 'स्वाग' या 'भावई' नामक देहाती नाटक-मंडली के पात्रों को देख रहे हों।

चित्रों में बनी आकृतियों के चेहरे लगभग एक से हैं। चित्तेरे ने उनमें जो अर्थ भरा है वह उनके शरीर की मुद्राओं या अंग-संचालन की अभिव्यक्ति के द्वारा किया गया है। हाथों की मुद्राएँ और शरीर के विभिन्न कोंठे चित्रकार की बारहखड़ी का काम देते हैं। प्रेम के अधिवेगता कामदेव का प्रायः चित्रण विशिष्टता के साथ हुआ, एक पैर से खड़े होकर वह अपने पुष्प-बाणों को चलाते हुए दिखाया गया है।

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव का भी पात्रों में चित्रण हुआ है। वे घोटी, दुपट्टा और टोपी पहने और एकतारा बजाते हुए दिखाए गए हैं। यह उनकी प्रतिकृति (धवीह) न होकर केवल पटपटा के अनुसार एक विनीत भक्त की छवि है। चौड़े पतों से लदे हुए बूझ, उनकी झुकी हुई छाँई, गुंजास्ते हुए मोरे और चहचहाती हुई चिड़ियाँ इन के द्वारा मेघाच्छन्न आकाश के नीचे राधा और कृष्ण की प्रेम-नीलाश्रों के लिये अनुकूल वातावरण तैयार किया गया है। जब औबेरी रात में भीष कृष्ण जमुना के उस पार अपने घर अकेले लौटने में मग्न खाते थे। मोरे और कोयल चित्रों में वसंत की आगमन की सूचना देते हैं।

मुगलों से पहले लोगों की जो वेश-भूषा थी उसका कुछ परिचय इन चित्रों से होता है। मंद शीना चाकदार जामा पहने हुए हैं और स्त्रियाँ महीन चूनड़ी ओढ़े हैं। इस प्रकार का चाकदार अंगरखा आरम्भिक अकबरकाल के चित्रों में पाया जाता है, विशेषतः हिंदुओं की पोशाक में। ज्ञात होता है कि यह राजस्थान की पोशाक थी, आगरा और दिल्ली के दरबारों में जिसे ग्रहण कर लिया था। पुरुष वेशी जूता, टोपी और कमरबंद पहने हुए हैं। नोकदार उठी हुई टोपी 'वसंत-विलास' के चित्रों में भी पाई गई है। बारहवीं शताब्दी के 'अभिलषितार्थ चिंतामणि' ग्रंथ में 'टोपिका' शब्द आया है जो विशेषतः वर्षा ऋतु में ओढ़ी जाती थी। स्त्रियाँ सिर पर चूनड़ी ओढ़े, उनके बालों की वेशी बँधी है और कलाइयों में काले फुँदने बँधे हैं। इस प्रकार के काले फुँदने अकबर-कालीन चित्रों में तो मिलते हैं, पर सोलहवीं शती के बाद प्रायः नहीं पाए जाते। माथे पर बिंदी लगाने का रिवाज बस आरम्भ ही हुआ था। स्त्रियों के वेश को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि यह ग्रंथ नायक-द्वारा-सदृश राजस्थान के किसी एक केंद्र में रखा गया। पुरुष दुपट्टा, पाजामा और साफा पहने भी दिखाए गए हैं।

गीतगोविंद की इस पोथी का समय निश्चित करना कठिन है। सब बातों पर विचार करके मैं समझता हूँ कि ये चित्र सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखे गए होंगे, लेकिन फिर भी इस विषय में सावधानी रखने की आवश्यकता है। साड़ी का पल्ला सिर के ऊपर आया हुआ है। यह प्रथा सोलहवीं शती के शुरु में चली, उससे पहले सिर नंगा या मुकुट पहनने की प्रथा थी। इसमें सदेह नहीं कि इस संस्करण के किसी निपुण चित्रकार ने जयदेव के गीतगोविंद का प्रमूठा भाव्य चित्रों के द्वारा प्रस्तुत किया।

गीतगोविंद : एक पद

भारतेदु वा० हरिश्चंद्र

राग-वसंत

हरि बिहरत लखि रसमय बसत ।
जो बिरही-जन कहै अति दुरत ॥
बृंदावन-कुंजन सुख-समस्त । नाचत-गावत कामिनी-कस्त ॥
लै ललित लवंग-लता सुवास ।
डोलत कोमल मलयज बतास ॥
अलि-पिक-कलरव लहि आस-पास ।
रह्यो गूज कुंज-बैह्वर अवास ॥
उंनमादित ह्वै तपि मदन-ताप । मिलि पयिक-बधू ठाँनहि बिलाप ॥
अलि-कुल कल कुसुम-समूह-हाप ।
बन सोहत भौरसरी-कलाप ॥
भृगमव-भौरम के आस-बास ।
सोहत बहु नव ललबल तमाल ॥
फूले पलास बन लाल, लाल । जुव-हुवै-बिदारन नख-कराल ॥
बन प्रकुलित केसर-कुसुम आनि ।
मनु कनक-छरी लिए मदन रानि ॥
अलि, सह गुलाब लागे पुहानि ।
बिल-बुझे मन के मनो बानि ॥
नव नीबू-फूलन कर बिकास । जग निसज निरख मनु करत हास ॥
तिमि बिरही हिय-छेदत हतास ।
बरछी-से केतिक-पत्र पास ॥
लपटत दो मायबिका सुवास ।
फूली मल्ली मिल कर उजास ॥
मोहे मुनि-जन कर काम-आस । लखि, तरुन-सहायक रितु-प्रकास ॥
पुसपित लतिका नव संग पाइ ।
पुलकित बौरनि आनि आइ ॥
लहि सीतल जमुना-नैहैर बाइ ।
पावन बृंदावन रह्यो जुहाइ ॥
'जयदेव'-रचित यह सरस गीत । रितु-पति बिहरन हरि-जस पुनीत ॥
गावत जे करि 'हरिचंद' प्रीत ।
ते लहत प्रेम, तजि काम-भीत ॥



बहुभ-सम्प्रदाय के देवाल्यों में ललित कलाएँ

वल्लभ-संप्रदाय के देवालयों में ललित कलाएँ

श्री रमणलाल नागर मेहता

मूर्ति-भजक यवनो के विरुद्ध अविरत एवं अभिय सघर्षों ने पराक्रमी हिंदू-रसक को पराभूत तथा ध्वस्त कर दिया था और उसके सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक निर्माण में नियोजन तथा विनाश का समावेश होने लगा था। वस्तुतः अंतर में अब भी वीर-भावना संचरित थी, परंतु मानवी सीमाओं का आभास होना आरंभ हो गया था और इसका स्वाभाविक परिणाम हुआ सर्व-शक्तिशाली वैद-इच्छा के समूह नतमस्तक होना। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत एवं सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में 'वीर-काव्य' का स्थान, कबीर, नानक, दादू, मीरा, चैतन्य और अन्य अनेक सतों के भक्ति-काव्य ने ग्रहण किया। भक्ति-संप्रदाय का उत्कर्ष हो रहा था और अग्रणीत साधारण व्यक्तियों ने, जो बुद्धि एवं मनवरत इह से पीडित थे द्वितीय जीवन के आनंद के विचार का आश्रय लिया।

ऐसे युग में अनेक महात्मा धार्मिक जीवन का उपदेश दे रहे थे। सभ्यत पूर्व में चैतन्य सर्व अधिक सफल उपदेशक थे और पश्चिम में पुष्टिमार्ग के समर्थक वल्लभाचार्य अत्यधिक अनुयायियों पर स्वाधिकार उद्घोषित करने लगे थे। वल्लभाचार्य (१५२६ व १५३५-१५८७ वि० स०) कृष्ण-यजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा के ब्राह्मण थे। उन्होंने कृष्ण भगवान् की आराधना का उपदेश दिया और उनके मतानुसार परब्रह्म कृष्ण के प्रति संपूर्ण भक्ति-सहित आत्म-समर्पण इस कलियुग में मोक्ष प्राप्त करने का एक आदर्श उपाय था। उन्होंने ब्रज के स्वामी एवं बाल गोपाला रूप में कृष्ण की वदना तथा भक्ति का परामर्श दिया।^१ उपासक को अपने अतस्तल में नष्ट, यथोदा तथा गोपियों^२ के सुख और दुःख का अनुभव करने का प्रयास करना चाहिये और विभिन्न रूपों में कृष्ण की आराधना करनी चाहिये, उदा-हरणार्थ—दर्शन, श्रवण, पादसेवन, कीर्तन इत्यादि।^३

१. परं ब्रह्म तु कृष्णोऽहि सच्चिदानंदकं बृहत् ।

तथा कृष्ण परब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ॥

—सिद्धांतमुक्तावली ३-१४

२. सर्वभागेषु नष्टेषु कलौ च खलवर्माणि ।

पाषाणचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ —कृष्णाश्रय १

३. सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

—चतु श्लोकी १

४. यच्च दुःख यथोदाया नंदादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूतमे भगवान् किं विधास्यति ॥

५. हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्वर्गं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥

श्रवण कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

—निरोधलक्षण १, २, १७, १८

इस युग में वैष्णव-संप्रदाय का समुचित समुत्थान हुआ। उत्तरी भारत में गुजरात, काठियावाड़ (सौराष्ट्र) राजपूताना तथा द्रव्य में यह समुन्नत तथा समुत्थित हुआ। इस संप्रदाय के धार्मिक-प्राचरणों ने सेवा-पद्धति को जन्म दिया, जिसका आज भी पालन किया जाता है।

इस संप्रदाय में शिल्प विद्या, संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्रकला, कल्पना, साहित्य इत्यादि ईश्वर-उपासना के हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं। आगे की पंक्तियों में इन कलाओं का उपयोग एवं साव-रण कला की परंपराओं में उनका स्थान विवृत करने का—सारांश देने का प्रयास किया गया है।

वैष्णवों ने अपने शरीरधारी परमात्मा के आदर्शानुसार शिल्प-कला की उन्नति की। उनका देवालय शैव, जैन तथा बुद्ध-मंदिरों से भौतिक रूप में भिन्न है। इस संप्रदाय का उत्कर्ष यवनों के समुद्रय एवं धर्मनिरपेक्षता के युग में हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप हिंदू धार्मिक केंद्रों का विनाश हो गया। इन श्रमपातों से सुरक्षा प्राप्त करने के अभिप्राय से जैनियों ने उत्तर मध्य-शालीन समय में अपने मंदिरों पर शिल्पज्ञात शिल्पियों का निर्माण इस हेतु करना प्रारंभ किया कि वे उनको निवास स्थानों का रूप प्रदान कर सकें। शरीर-मयियों, सिक्खों तथा रामानंदियों के मंदिरों में इसी विधि का अनुकरण किया गया है। वैष्णवों ने भी इसी विधि का अनुगमन किया और उन्होंने अपने पूजा-गृहों को देवालयों के नाम से संबोधित न करके 'हवेली' अथवा 'राजप्रसाद' का नाम दिया। गुजराती में हवेली शब्द का आशय है एक धनी व्यापारी अथवा सामंत का निवास-भवन। कांकरोली तथा नाथद्वारा (जो पूर्व उदयपुर-राज्य में थे) में प्रयुक्त 'महल' शब्द का आशय धनी-कुलीन मनुष्य के निवास-स्थान या भवन से है।

वैष्णव-देवालय में एक विशाल भवन अथवा कमरे में जिसके अग्रभाग में एक खुला प्रकोष्ठ होता है, प्रतिमा प्रतिष्ठित रहती है। मध्य खुले प्रकोष्ठ के चतुर्दिश हवेली का शेष भाग वल्लभाचार्य के वंशजों अथवा देवालयों के पदाधिकारियों के निवास के लिये प्रयोग किया जाता है। यदि कोई इससे परिचित नहीं है तो वह इसका बाह्य रूप देख कर इसको मंदिर नहीं समझ सकता।^१

इस संप्रदाय के कुछ देवालय सौभाग्यवत् अवस्थ हैं, परंतु उनकी निर्माण-कला आकर्षक नहीं है। जिस निर्माण-कला का व्यवहार किया गया है, वह केवल अलंकृत करने के अभिप्राय से है और वह तौकिक निवास-स्थानों की भवन-निर्माण-शैली के अनुरूप है, पर उसपर कृष्ण की जीवन-कथाओं के चित्रण का बाहुल्य है, पर यह वैष्णव-मंदिरों की विशेषता नहीं है, क्योंकि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के व्यक्तिगत-गृहों में इस प्रकार के दृश्य उमड़ी आकृति में दृष्टिगोचर होते हैं।

भवन-निर्माण के शिल्पज्ञात रूप के प्रयोग का कारण यह हो सकता है कि यवन उससे धृष्टा करते थे और उसे ध्वंस करने के अवसर को हाथ से जाने नहीं देते थे, पर भवन-निर्माण की अपूर्णता

^१. यह संप्रदाय निम्नलिखित रूपों में एक रूप की प्रतिमा प्रतिष्ठित करता है—

- (१) गोवर्धननाथ जी—कृष्ण अपना बाण हस्त उठा कर अपने भक्तों को निकुंज में आने को आमंत्रित करते हैं।
- (२) नवनीत-प्रिया जी—कृष्ण अपने हाथ में मक्खन लिये हुए हैं।
- (३) मयूरेश जी—कृष्ण गोश्यों को चरा रहे हैं।
- (४) किल्लेश जी—गोपियों के गीत-गाते समय कृष्ण का कटि पर भुजाओं का रखना।
- (५) द्वारकानाथ जी—कृष्ण का चतुर्हस्त रूप—तीन भुजाओं में शंख, चक्र और गदा लिये हुए।
- (६) गोकुलनाथ जी—कृष्ण एक भुजा से गोवर्धन पर्वत उठाये हुए, दूसरे में शंख लिये हुए और शेष दो से बाँसुरी बजाते हुए।
- (७) गोकुल-चंद्रमा जी—रासलीला के कृष्ण।
- (८) बालकृष्ण जी—बालक के रूप में कृष्ण, एक हाथ में मोदक लिये हुए।
- (९) मदनमोहन जी—कृष्ण बाँसुरी बजाते हुए और गोपियों को आमंत्रित करते हुए।

को चित्रकारी का मुक्त प्रयोग करने पूर्ण कर दिया गया है। अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक उत्थान में यह संप्रदाय दिल्ली, जयपुर, उदयपुर तथा अन्य स्थानों के चित्र-विद्या-विशारदों के आश्रय एवं अवलंबन का प्रदाता हुआ और नाथद्वारा में चित्रकारी का अधिष्ठाता बना।

चित्रकारी का यह विभाग अवर्तिन समय में चित्रकला की दृष्टि से विभिन्न मूल्य की वाणिज्य वस्तुओं की अपरिवर्तनशील प्रतिनिधियाँ निमित्त करता है। वैष्णव अपने देवताओं के प्रतिमा-स्थापन एवं अभ्यर्चना हेतु पत्थर के छापे के चित्र अथवा भालोक-चित्रों का प्रयोग नहीं कर सकते, अपितु विभिन्न रंगों से रजित हों रंगराज के चित्र के ही प्रयोक्ता होते हैं। पत्थर के छापे के चित्रों अथवा भालोक-चित्रों के अवरोध ने फलस्वरूप ही आज भी मौलिक चित्रों की माँग है और इसीलिम्बे ही स्थानीय चित्रों एवं नाथद्वारा-चित्रकारी के अभ्ययन का संरक्षण हो रहा है। इन चित्रों के अतिरिक्त किरमिच के चित्रों की भी सदैव माँग रहती है, जिनका प्रयोग भद्विरो को सुसज्जित करने में किया जाता है। विभूषण करने की इस सामग्री में सिद्धि, सिंहासन, पिछवाई, पीठिका इत्यादि होते हैं। साधारणतया ये चित्र आसन में बड़े होते हैं और उनमें से अनेक विभिन्न कौतुक-भंडारों में स्थान पा चुके हैं। अतः तो गत्ता नाथद्वारा-स्था के चित्रकार आज पर सांसारिक चित्र भी चित्रित कर देते हैं, पर ऐसा केवल गुप्त रूप से ही होता है।

इस संप्रदाय के देवालयों की भित्तियों, चित्रों एवं एक विशेष प्रकार की पिछवाई अथवा आवरणों से अलंकृत होती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप इस कला के चित्रों को अपनी योग्यता प्रदर्शन वा समुचित अवसर प्राप्त हो जाता है। उदयपुर-राजप्रसाद तथा अन्य पूर्णतया सांसारिक स्थानों में नाथद्वारा-चित्रियों की कला की स्पष्ट छाप लगी हुई व्यक्त होती है।

वैष्णव-धर्म में संगीत का भी एक अति विशिष्ट स्थान है। भारतीय संगीत की मधुर ध्वनि प्रायः प्रत्येक देवालयों में कर्णोन्नित तक पहुँचती है और प्रायः प्रत्येक मंदिर-संगीतज्ञों के समूह का समय-यातन करता है। ध्रुपद तथा वमर-पद्धति का शास्त्रीय संगीत मंत्र-मुग्ध कर देता है। रामकली जया समय की मिर रागिनी है। सारंग, विसावल एवं अन्य राग-रागिनीयों की दिवस के निदिष्ट समय पर श्रवण की जा सकती है।

संगीत एवं सूचना-सहित भक्तों के दर्शनार्थ भगवान् के पद खुलते हैं। इस समय दर्शन तथा परिष्कार का यथेष्ट अवसर प्राप्त होता है। जिस कोष्ठ में प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, वह रादकीय रीति के अनुसार समस्त सौंदर्य-सहित सुसज्जित किया जाता है। यह शुभ रात्रि दिवस के विभिन्न दर्शन अवसरों, विभिन्न पर्वों एवं विभिन्न ऋतुओं पर परिवर्तित होता रहता है। प्रातः काल के मंगल-दर्शन पूर्णतया सामान्य होते हैं। भगवान् केवल एक बोली और शिर पर पाग धारण किये रहते हैं। उनके भामूषण न्यूनतम होते हैं और वातावरण साधारण। राजभोग-दर्शन में, जो मध्यकाशीन दर्शन भी होता है, भगु को ऋतु के अनुकूल वस्त्रों एवं अलंकारों से सुसज्जित किया जाता है। वे एक मित्र-सदन पर, जिसके समस्त सोपान दृष्टिगोचर होता है, आसीन होते हैं। सोपान के निम्नभाग में निकट एक काष्ठान होता है जिस पर तीन छोटी-छोटी काष्ठ-वेदियाँ रखी रहती हैं और उनमें से एक पर वस्तु-रा का खेल फैला रहता है। ये सभी आवरण सुवर्णीय वस्त्रों से गोमयीय रहते हैं। मित्र-सदन पर आस्तरण विशेष और दोनों ओर दो उपधान होते हैं। निहायन के पार्श्व भाग में पिछवाई अथवा चित्रित, रजित एवं कमीदा किया हुआ आवरण लटका रहता है। इनके दोनों ओर दो दिवाल गीर्तियाँ होती हैं और पिछवाई के समुल प्रतिमा के समीप पीठिका नामक एक मुद्रण चित्र-भाग होता है। ये अति भामूषित वस्त्र-भाग दर्शन को शुभ रात्रि की ऋतु, समय एवं अवसर का परिचय प्रदान करने हैं। उदाहरणार्थ दानतीना की पिछवाई तथा वृंदावन की दानतीना की पटना नामक चित्र प्रभावित करती हैं। इन प्रत्नाव की माँजी नामक मुंगोमन में, जो नटुन, कनौ, पुंगो एवं च

^१ इसकी तुलना बंगाल एवं महाराष्ट्र के अत्यन्त तथा गगनचुम्बी रंगमन्त्री या रंगीनों से की जा सकती है।

वस्तुमो से किया जाता है और भी गभीरता प्रदान कर दी जाती है। यह भलकृत वेष ब्रज-यात्रा की घटना, जो इसी मास में हुई थी, प्रस्तावित करता है। इस अवसर पर गाये हुए गीत भी उपयुक्त संगीत-सहित 'दान-नीला' का वर्णन करते हैं। इन संपूर्ण सौंदर्य-साधनों एवं श्रावणा की सामग्री के धामजस्य के फलस्वरूप भक्त के मस्तिष्क पर वाञ्छित प्रभाव प्रबल प्रकार से अधिकार जमा लेता है। ऐसा मेवाड के शासक जगतसिंह जी (१६२८-१६५२ ई० प०) के साथ, जो एक बार ग्रीष्म ऋतु में गोकुल के मदिरो में दर्शन करने गये थे, हुआ। वे उस देवालय में गये जो विठ्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र 'बालकृष्ण जी' के पौत्र 'गिरिधर जी' (१६१४-१६६२ ई० प०) के रक्षण में था और वे वहाँ की मनमोहक पूजन-विधि एवं सादृश्यता से इतने उल्लसित हुए कि वे इस संप्रदाय के अनुयायी हो गये। इस अवध ने गविष्य में श्रीरघुबेब के क्रोध से दो प्रतिमाओं की रक्षा की, क्योंकि जयसिंह जी के राज्य-काल में उन्हें मेवाड में सुरक्षित गुप्त स्थान प्राप्त हुआ।

इन देवालयों में गाये जानेवाले वैष्णव-गीत संस्कृत, ब्रजभाषा अथवा प्राचीन हिंदी में होते हैं।^१ संप्रदाय की अभिवृद्धि के साथ अधिकतम गीतों एवं प्रार्थनाओं की आवश्यकता-पूर्ति मुख्यतः आठ सत कवियों के समूह ने की जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस अष्टछाप के अंतर्गत—'सूरदास, कुमनदास, चतुर्भुजदास, परमानन्दास, नन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी एवं गोविन्दस्वामी' सच्चकोटि के प्रसन्न कवि थे। इन कवियों ने सहस्रों अत्युत्तम श्रेष्ठ श्रेणी के भक्ति-गीतों की रचना की है, जिनमें उन्होंने कृष्ण, राधा तथा गोपियों के अनेक प्रकार के कृत्यों का गुण-मान किया है। इन कवियों ने न केवल काव्य-रचना ही की अपितु उसको अपने देवता के समक्ष गाया भी और वे किसी रूप में भी निम्न-प्रकार के संगीतज्ञ न थे, वस्तुतः वे गहन विचार-युक्त थे। इनमें से 'सूरदास' भारत के कोने-कोने में सुविख्यात हैं।

आधुनिक काल में परम पवित्र काँकरोली के महाराज, पंडित कठमणि शास्त्री, वैसासिक वल्लभ-शुभा के सपावक श्री द्वारकादास परीक्ष एवं सर्वाधिक मथुरा के ब्रजभाषाचार्य प० जवाहरलाल चतुर्वेदी के सतत प्रयासों द्वारा अष्टछाप कवियों के साहित्य का जनता को परिचान करवा जा रहा है।

कविता के अतिरिक्त इस संप्रदाय ने ब्रजभाषा में गद्य-लेखन को भी पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया है। ऐसे लेखों में चौरासी एवं दो सौ वाचन वैष्णवों की बातों विरोधरूपेण उल्लेखनीय हैं।

इन देवालयों में कृष्ण-जन्म के हर्ष को व्यक्त करने के लिये छोटे-छोटे नाटकों का अभिनय किया जाता है। गोप-गोपिकाओं के वेष में अनेक भक्त नाचते, गाते और कूबते हैं, एवं दर्शकों के ऊपर हरिदा-भूषण युक्त दधि फेंकते हैं। इसी प्रकार शरद-पूर्णिमा के दिन कृष्ण की रासलीला का अभिनय होता है। इस प्रकार के प्रदर्शन के लिये ब्रज में एक विशेष प्रकार के नृत्य और गान करनेवाले होते हैं, जो 'रासबाटी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस धर्म का कला-संवर्धित जीवन विभिन्न नेदों से युक्त तथा अति भावना-पूर्ण है। कला के स्थायी रूपों के अतिरिक्त, हिंडोला अथवा झूला-उत्सवों के अल्पकालिक रूप भी हैं, जिनका श्रावण मास में अवलोकन होता है। जब वर्षा ऋतु में पृथ्वी नव फलों एवं पत्तों से सुवासित रहती है तथा प्रकृति नव वर्षागमन से प्रफुल्लित होती है, तब संगीत की मधुर ध्वनि से निनादित अति आह्लाद-पूर्ण वातावरण में, पुष्पो, फलों तथा पत्तों से सुसज्जित काष्ठ, रजत अथवा सुवर्ण के हिंडोले में प्रभु के झूलने का आनंद लेते हैं।

^१. वल्लभ-संप्रदाय के मदिरो में संस्कृत और ब्रजभाषा के ही पद गाये जाते हैं, प्राचीन हिंदी आदि के नहीं।

इस प्रकार भगवान् के माधुर्य ग्रयवा सौंदर्य को विशेष महत्त्व देकर उनके—‘सत्व, गिब, सुन्दर’ रूप का बोध होता है। प्रभु के प्रति भक्ति मुख्यतः एक भावना-पूर्ण अनुभव है, जिसमें विनम्र होकर भक्त ब्रज की गोपिकाओं के सदृश भगवान् को सपूर्ण स्व समर्पण कर देता है।

हिन्दू-समाज की सुरक्षा, समुत्थान, सस्कृति एवं सुधर्म के लिये वत्सल-संप्रदाय की यह अनूच देन है, जो वस्तुतः अद्वितीय और अपूर्व है।



पश्चिमी-शैली में बालगोपाल-स्तुति : एक और प्रति?

श्री मंजुलाल रणछोड़लाल मजूमदार

सन् १९४८ के 'इंडियन 'हिस्टोरिकल रेकॉर्ड्स कमिशन' की बैठक पर मैं दिल्ली आया। सेठ का निमित्त तब श्रीमान् डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने पश्चिम-हिंदी गैली में तालाब और खेत पर विनित्त एक प्रति मुझे दी। उसमें के चित्र प्रभग और सम्पुन-धनोक्तों में उन्होंने बताया था कि यह प्रति जेनेतर विषयक है। बाद में उसके मूढम भवलोक्त से मुझे निश्चय हुआ कि 'शृण्णकण्ठित' के रचयिता 'दिल्लमगल लीलागुक्त स्वामी' रचित 'वाल-गोपाल-स्युति' नामाः प्रकीर्ण प्रोग अग्रमिद स्तोत्र सग्रह की यह प्रति है, क्योंकि इसी स्तोत्र की दूसरी ऐसी पाँच सन्धि प्रनियाँ दगके पहले मैं देख चुका था।

प्रस्तुत प्रति वीकानेरवामी राजस्थानी-भाषा-साहित्य के अपूर्व प्रेमी श्रीयुक्त अग्ररत्न जी माहटा के सग्रह से प्राप्त हुई थी। श्री माहटा जी की समति से मेरे अभ्यास की सुविधा के लिये उन मार्ग प्रति की फोटो कापी परम प्रेसास्पद डा० अग्रवाल जी ने करवाई थी। उसके बाद प्रति को निय-नीकी के एक साक्षणिक नमूने के तीर पर उसमें का एक पत्र अमल रंग और कद में प्रसिद्ध करने का भी उन्होंने स्वीकार किया। इस तरह प्रस्तुत प्रति की खोज से लेकर यथायोग्य स्वर्ण में वा-विमिश्रित ता पट्टधान की योजना का पूरा श्रेय श्रीमान् डा० अग्रवाल जी को है। तेरह उनमें निमित्त मात्र हूँ।

आनन्द-निर्दोष और निःस्वार्थ-प्राप्त करना समुच्च योग का परम ध्येय है। ऐसा आनन्द-
भारतीय कला मीर्य-दर्शन में से मिलता है। कला श्रीग माहित्य-मीर्य पैदा करने योग्य अभि-
न है। अभने ढग गे मूर्त करते है। कला का अभिन-उद्देश्य आनन्द प्राप्ति योग्य धा गुप्ति
श्रीग के प्रत्येक धर्म और सप्रदाय ने कला को अभिनाया और पूजा का मायन बना वर अभि म्यान दिया।

मालिन्यारो ने पुराण, गाथा, जातक वनाफ कलापारो के लिये प्रथम मालिन्य-मार्गिन दी है। उनमें से विश्वार, मालिनी, मातृपार, ननक और मायको ने मित्र-मित्रमय में प्रवर्तित धर्म-व्यवहार के लिये प्राच्यक सुंदर कलाप्रिया बनाई। उनमें की मुद्रा तावृत्तियों के मिते एक ध्वनि-प्रयोग बना ने सुषम युग वा स्मरण कराते हैं।

बौद्ध-शास्त्रों का श्रवण, अथवा के भिन्न-भिन्न और गिन्य के घरों में दक्षिण-हस्त-
स्थानें स्थान हैं। जोगी तो गिन्य कृष्णों देव-देवियों के आराधनों तो गिन्य हस्तगत दक्षिण हैं।
जि-भारत का पण्डित उनके कथा-प्रयोगों के विषय द्वारा विवेक मीत-भक्त्यो धर्म प्रभावितताएं
हैं। देशी-भारत (पट्टी-गठ) की विद्वत्-शक्ति आशाओं में गिन्य भाव-निर्दिष्ट भवती हैं। जग-
विषय के प्रभावों का वर्णन उन प्रयोगों के विचारों के दृष्टिकोण में ही गिन्य जीव-भक्त्यो हैं।

१. इस प्रति में मेरे प्रार्थ के मंत्र, मानस, मित्रावर, जगत्पि के स्वागत के अन्त में...

१. श्री श्रीरक्षर जी बेसांती द्वारा मृत गुजराती से हिंदी में अनुवादित। अनुवादक श्रीरक्षर जी बेसांती हैं, कलाप उन्नीस हिंदी-गोनी से गुजराती की भाषा में लिखे हैं।

हुए। भारतवासियों ने कला को मानवीय संपत्ति और भक्ति का परम साधन माना, इससे देवस्थान कला-केंद्र बने हो यह स्वाभाविक है।

निराकार की साधना आकार द्वारा होती है। इसीसे आकार का हेतु भारतीय शिल्प की आत्मा है निराकार का साकार और इसीसे ही उसकी मुख्य ध्वनि भी आध्यात्मिक या 'आवात्मक' है।^१ मंदिर स्वरूप-निर्माण हिंदू-धर्म का शरीर है। हिंदुओं का साहित्य, संगीत, शिल्प, स्थापत्य, चित्र-नृत्य इन सब कलाओं का रचना कोशल वही इकट्ठा होता है और साथ समाज वहाँ आकर वहाँ की कला-भावना को समझ से और प्रत्यक्ष दर्शन से मिलता आनंद जीवन में भरते हैं। इसी से कला जो मंदिर में थी, वह घर में भी थी, गावों में और नगरों में भी थी। धर्म से जैसे जीवन व्याप्त था वैसे जीवन कला से व्याप्त था।

एशिया की चित्र-कला के प्राचीनतम अवशेष अजंता की गुहाओं में के मिति-चित्र हैं। यद्यपि एशिया की प्राचीनतम उसके अस्तित्व का पता जगत् को अक्समात ही सबसे पहले सन् १८१६ में चित्र-संपत्ति चला। एक ओर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से सातवीं शताब्दी तक के अजंता, वाघ और सितलवासल में हिंदू के सिगरिया तथा अनुराधापुर में सिंहल के एव मध्य-एशिया के मिति-चित्रों के संप्रदाय का पता था, दूसरी ओर सोलहवीं शताब्दी से हिंदी, फारसी संप्रदाय से उत्पन्न राजपूत और मुगलकला के छोटे कद के पोथी-चित्रों का अति प्रचार देखने में आया।

पर, इन दोनों शताब्दियों के बीच करीब आठ सौ वर्ष के अंतर का हिंदी चित्र-कला का सात सौ साल के अंतर इतिहास ठीक रूप से मिलाया नहीं गया था। अजंता की विकसित स्वरूप का अज्ञान में अभिव्यक्त मिति-चित्रों की कला सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में हिंदू 'राजपूत कला' के नाम से इतने लंबे अरसे के बाद यथावक छोटे कद के पोथी-चित्रों के रूप में कैसे आ पड़ी यह एक पहली सी थी।

दरमियान, ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक के कुछ श्वेतांबर सचिव जैन पुस्तक की जैन ग्रंथों से ताड़-पत्र और कागज की पुस्तकों के छोटे चित्रों का पता बीसवीं शताब्दी के शुरू में करीब १८२० के आस-पास विद्वानों को चला। ई० सन् 'कालक कथा' १८१३ में 'बलिन म्यूजियम' के एक 'सचिव कल्पसूत्र' का नोट डा० कुमारस्वामी ने 'नोड्स आन जैन आर्ट्स' से अमेरिका के बोस्टन म्यूजियम की चित्र सामग्री का परिचय कराया। सन् १८२४ में उन्होंने उसका विस्तृत परिचय दिया।

इसी साल में श्री एन० सी० मेहता ने 'रूपम्' में बताया कि 'वसंत-विलास' के चित्रपट की 'वसंत विलास' के जिसका विषय धर्मोत्तर यानी अजैन तदरिक्त वसंत की शुभारंभ-सामग्री का चित्रपट्ट की खोज परिचायक है, शैली जैन-कल्पसूत्र से ठीक मिलती है और यह चर्चा शुरू की कि इस संप्रदाय की कला का परिचय किस नाम से दिया जाय? किसी भी धर्म के नाम के बनाय प्रादेशिक नाम देने की भी उन्होंने सूचना की।^२ हिंदी-चित्रकला का विस्तृत प्रकरण इस गुजराती चित्रपट्ट द्वारा मिल गया और मुगल संप्रदाय की चित्रकला के अस्तित्व में आने से पहले के भारतीय चित्र-संप्रदाय की यह महत्त्व की कड़ी है, ऐसा प्रतिपादन किया।

इस अरसे में सन् १८२६ में 'डी० वी० रोमसन' ने 'रूपम्' के २६ वें अंक में इतूर की गुफा के मिति-चित्रों का अस्तित्व खोजा। एक ओर अजंता के मिति-चित्र और दूसरी ओर श्वेतांबर

१. न काळो विद्यते देवीन शिलामां न कर्दमे।

भावैषु विद्यते देवतस्मात् भावो हि कारणम् ॥

२. 'रूपम्' के १८२४ के अंक के बाद १८२६ में 'स्टेडोल्ड इन इन्डियन ऐंटीक्व' पुस्तक में एक स्वतंत्र प्रकरण 'सैक्यूलर ऐंटीक्व आफ गुजरात', इस चित्रपट्ट पर लिखा और उसका सिलसिलेवार अध्ययन सन् १८३१ में 'इंडिया सोसाइटी आफ आर्ट सर्वे' के जर्नल में प्रकाशित किया।

८ वीं १६ वीं शताब्दी जैन-ग्रन्थों के छोटे चित्र इन दोनों के बीच संयोगी कड़ी की तरह इलोरा के भित्ति-के इलोरा के भित्ति-चित्र है। करीब ८वीं शताब्दी में अकिल इन चित्रों में गुजराती चित्रों की चित्रों की खोज मूलाकृतियों का साम्य सबसे पहले नजर आता है। कानों तक पहुँची हुई आँखें, तीन चतुर्बाण चेहरे के आलेखन में दूसरी आधी आँख का निदर्शन, नुकीली नाक और आगे उकसा हुआ सीने का हिस्सा ये सभी लक्षण इलोरा में सबसे पहले मिले हैं। उसकी परंपरा गुजराती ताड़-पत्तियों और कागज की पोथी के चित्रों में मिलती है। इस तरह इलोरा के भित्ति-चित्र गुजराती छोटे कद के चित्रों के पुरोगामी हैं, ऐसा सिद्ध हुआ।

इलोरा के चित्रों का पता लगने के बाद दो-तीन वर्षों में ही गुजराती अथवा पश्चिमी हिंदी-‘बाल गोपाल-स्तुति’ चित्रकला का एक और प्रमाण प्रकाश में आया। सन् १९२६ में श्री अर्धेंद्रकुमार की वैष्णव पोथी गागुली को पश्चिम राजस्थान से ‘बाल-गोपाल-स्तुति’ (वैष्णव स्तोत्र) की सचित्र की खोज प्रति मिली। उसके चित्र ‘जैन-कल्पसूत्र’ और ‘शालक-कथा’ के चित्रों से सर्वांगीण सम्य मिले। तदतिरिक्त उनमें पूरा वैविध्य भी देखा गया। २६ वीं चित्रों वाली सचित्र प्रति के विषय में उन्होंने तीन लेख लिखे। बाद में वह प्रति ‘बोस्टन म्यूजियम’ में अमेरिका चली गई। वहाँ प्रो० ‘नार्मन ब्राउन’ ने सन् १९३० के ‘ईस्टर्न आर्ट’ वैमासिक में उन्हीं चित्रों का विस्तार से परिचय कराया।

‘बाल-गोपाल-स्तुति’ ‘वित्त्वमगल स्वामी’ के वैष्णव स्तोत्र-ग्रन्थ की गुजराती शैली के चित्रों-वाली प्रति की खोज से गुजरात में—उस जमाने के विस्तृत गुजरात में, यानी जिसमें राजस्थान और मालवा का भी समावेश था—एक विशिष्ट प्रकार के छोटे कद के पोथी-चित्रों (मिनिचर) का प्रचार था, ऐसा मानने का कारण मिला। यह प्रादेशिक चित्रशैली किसी एक धर्म या संप्रदाय की नहीं, पर समस्त पश्चिम-हिंद-वासियों की थी, यह भी स्वीकार किया गया।

श्री गागुली की खोज के तीन साल बाद सन् १९३३ में उसी ‘बाल-गोपाल-स्तुति’ की दूसरी बाल-गोपाल-स्तुतिकी दो सचित्र प्रतियों का परिचय बड़ोदे में हुई ‘भाल इधिया थोरियटल कॉलेज’ में और सचित्र पोथियाँ प्रस्तुत करने का मुझे मौका मिला। ऐसी अजैन चित्र विपुलता के कारण गुजरात में से प्राप्त जैन-धर्मी, सांसारिक तथा वैष्णव-धर्मी पोथियों में एक-सी चित्र-पद्धति का प्रयोग हुआ है, यह सुलभ और साधारण हुआ। बाद में दूसरी तीन विशिष्ट सचित्र प्रतियाँ भी मिली। इससे स्पष्ट होता है कि इस दक्षिणी सत की वैष्णव स्तोत्र-ग्रन्थ रूपी रचना की पश्चिमी हिंद में कितनी प्रसिद्धि और लोक-प्रियता थी। इस विषय में कलकत्ते के ‘जर्नल आफ दी इंडियन सोसायटी आफ ऑरिएण्टल स्टडीज’ १९४२ में और ववई यूनीवर्सिटी जर्नल १९४८ में मैंने विस्तृत लेख प्रकाशित किये हैं।

गुजराती संप्रदाय की मेरी अपनी खोज में प्राप्त सचित्र अजैन-ग्रन्थों में ‘डुर्गाहिमाल्य’ (चंडी पश्चिमी हिंद की सप्तशती) की तीन प्रतियाँ, ‘गीतगोविंद’ की तीन, ‘भागवत दशम स्कंध’ चित्र-शैली की यह की दो, सांसारिक ग्रन्थ ‘रतिरहस्य’ की दो प्रतियाँ, एवं शकुन-शास्त्र-विषयक आठवीं प्रति ‘काकवत’ प्रति के आलेखन संपूर्णतया जैन-चित्रों में मिलते-जुलते हैं। ‘माधवानल-गामकला-कथा’ और ‘चौर पचाशिका’ जैसी मृगार-कथाओं की इस शैली में चित्रित प्रतियाँ मिलने में शैली की व्यापकता स्पष्ट रूप से ध्यान में आती है।

चित्रशैली का नामकरण

ऊपर संक्षेप में देखा कि गुजराती चित्र-शैली की खोज का इतिहास पचीस साल में अधिक पुराना नहीं है। इसलिये इस चित्र संप्रदाय की पहचान के लिये अनेक नामों की सूचना की गई। आज तक तो इन चित्रों का सबसे बड़ा संग्रह जैन-ग्रन्थों में मिला। इसमें उसे जैन-चित्र-कला के नाम से पहचाना गया, पर जब गुजरात, मारवाड़, मालवा और राजपूताना में भी दूसरे मंत्रधर्मी में और साहित्य-ग्रंथों में उसी शैली के चित्र मिलने लगे तब कला-निष्णातों के मन में सारी परंपरा गूँथी गई।

गुजरात के राजपूत राने और बाद के सुलतानों के जमाने में गुजरात की सीमाएँ विस्तृत थी। इसके पश्चिम हिंद में सुरक्षित इस कला को 'गुजराती कला' या 'पश्चिमी हिंद की कला' का नाम सुचित हुआ। बौद्ध लेखक 'तारानाथ' के उल्लेख के अनुसार 'स्कूल आफ एंथेंड वेस्ट' मध्यम में सातवीं शताब्दी में परिचित था। उसी की एक धारा ताड-पत्रीय चित्रों की 'बलमी राज्य' के पतन के बाद नेपाल और ब्रह्मदेश में गई। दूसरी पश्चिम हिंद में व्याप्त हुई। पगान (बर्मा) के मंदिर के चित्र-चित्रों में लवी नुकीली नाक और डेढ़ आँख का आलेखन इस चित्र-शैली के प्रवास को ध्यान में लिये बिना समझाना शक्य नहीं है। नेपाली ताड-पत्रों में 'प्रज्ञापारमिता' आदि के चित्रों की शैली और रंग-भूति गुजराती ताड-पत्र के चित्रों के साथ खूब मिलती-जुलती है।

गुजराती चित्र-शैली का प्रधान उद्देश्य वृत्तात-निरूपण का होने से लेखन में जो कार्य खर्च से बनता है वही कार्य चित्रकार रंग और रेखा से, अधिकतर रेखा से ही साथ लेते हैं, इसलिये यह चित्र-शैली भावात्मक साकेतिक बनी दीखती है। इससे अजन्ता की मध्य और संस्कृत परंपरा के अनुसंधान में विकसित हुई यह छोटे रुब की चित्र-शैली बड़ी भद्दी और भाव-व्यंजना रहित दिखाई पड़ती है। इससे उसका नाम 'अपभ्रंश शैली' दिया जाय तो सार्थक हो ऐसा थी 'राम कृष्णदास' का मत है और डा० मोतीचंद के मत से, यह शैली पश्चिम हिंद से दूर-दूर भी पाई जाती है, इसलिये इसका नामकरण फिर सोचना चाहिए, यह भी विचारणीय है।

गुजराती चित्र-संप्रदाय का महत्त्व

सोलहवीं शताब्दी तक विशिष्ट स्वरूप में व्यापक इस अपभ्रंश चित्र-मंडार को किसी नाम से पहचानने पर इसका महत्त्व अनेक दृष्टि से ध्यान में आता है, जैसे—

१. शताब्दियों से चली आई अजन्ता, बाघ और इंसोरा की मिति-चित्र-परंपरा को समग्र और साधन-संकोच और परिवर्तन के साथ छोटे कद में ताड-पत्र पर सुरक्षित रक्खा।

२. मिति-चित्र-कला और राजपूत-मुगल-कला के बीच के अंतर को समझाने के लिये यह संप्रदाय ध्यान देने योग्य बना।

३. यह गुजराती चित्र-शैली राजस्थान और राजपूत-कला की जन्मदात्री है। खासकर पञ्च-महाभूतों का आलेखन पर्वत, जल (बड़ी-सागर) पृथ्वी, अग्नि, बड़ल, मेघ, सितिल, मूस आदि का आलेखन गुजराती चित्रशैली से राजस्थानी में उत्तर आया और उसके आकार और परंपरागत चित्र-भावना भी। प्रसिद्ध 'राममाला' के चित्रों का मूल लाटवासियों की चित्र-कला में है।

४. अकबर की दरबारी चित्र-कला में काम करने वाले हिंदी चित्रकार, ईरानी और फारसी-कला के संस्कार लब्धी ग्रहण कर सके, उसका यही कारण है कि देवाज-मदति में वे पारंगत थे, इसलिये परदेशी वातावरण का अनुकरण उन्हें चुल्लु हुआ। अकबर की शाही चित्रशाला में गुजरात के करीब सात चित्रकार थे। उनमें से केशव, माधव और भीम विशेष प्रसिद्ध हैं।

इस पूर्व भूमिकावाली चित्र-शैली के तीन दृष्टांत 'बाल-गोपाल-स्तुति' में देकर शैली के लक्षणों का परिचय करेंगे, उससे पहले वैष्णव स्तोत्र-ग्रंथ की रचना के विषय में ज्ञान लेना आवश्यक है। भक्ति में बासुदेव की भक्ति कब से शुरू हुई यह भी सोच लें।

नववा भक्ति-मार्ग की परंपरा भक्ति प्राचीन है। वेद के समय में भी मानव-हृदय शक्तिबले थे, पर उसका साहित्यिक वेद में सगृहीत न होकर कुछ अलग रहा। फिर बासुदेव ने 'गीता' बड़ी। तब से भक्ति-मार्ग को स्थिर रूप मिला। धीमे-धीमे उसका विकास, विस्तार, प्रचार बढ़ता गया। बासुदेव-भक्ति महाभारत में प्रतिपादित हुई हो ऐसा मानने के लिये कारण है। उनके एक

श्लोक—

“बासुदेवाभ्यंतर्गतमिति सृष्टिसंहारकारकम् ।
सर्ववन्द्यो देव देवो परमात्मा सनातनम् ॥”

में प्रयुक्त दो विनोदण जिनका उल्लेख ई० पू० दूसरी शताब्दी के वसुनगर (विदिशा) के लेख में देव-देव वासुदेव का गह्वर्यज्ज खडा करवाया ऐसा उल्लेख है और राजपूताने में घोसूखी के उसी समय के लेख में सर्वेश्वर भगवान् सकर्षण और वासुदेव का पूजा गिला-प्राकार करवाया, ऐसा उल्लेख है।

इससे यह सिद्ध होता है ई० पू० दूसरी-तीसरी शताब्दी में वासुदेव के मन्दिरों और उनकी पूजा का विस्तृत प्रचार था। मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में (ई० पू० ३२०) प्रचलित धर्मों के परिचय देने हुए लिखता है कि "हिंदी औरसेनी-प्रजा में 'हिरेक्लीस' पूजा जाता है। औरसेनी-प्रजा का एक शहर मयुरा, नदी यमुना और शूरसेन प्रजा क्षत्रिय था।" इससे लगता है कि मेगस्थनीज का हिरेक्लीस मयुरा के कृष्ण ही होने चाहिए।

बौद्ध-धर्म के पुरातन ग्रंथ 'पालीनिदेश' में अनेक प्रचलित धर्मों में—गो-पूजा, श्वान-पूजा, वासुदेव-पूजा, बलदेव-पूजा आदि को गोण माना है, जो समय के प्रवाह में बौद्ध-धर्म और अन्यभागों को दबाकर डम देग में व्यापक हुई। ई० पू० पाँचवी शताब्दी के मध्य में पाणिनि की अष्टाध्यायी के—

"वासुदेवाजुनभ्यां वुन् ।" (४।३।६८)

मूल से कहा जा सकता है कि उनके समय में वासुदेव नि सशय देव माने जाते थे।

इन श्रावरो से यह फलित है कि ई० पू० प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम शतक में वासुदेव वासुदेव की पूजा प्रचलित थी। उसका प्रथम दर्शन महाभारत के 'नरायणी पर्व' में होता है।

उस पूजा का मूल भगवद्गीता है। जिस समय तीक्ष्ण तपश्चर्या और त्याग से समाज में अथर्वस्या फल रही थी, तब जनक के द्वारा उज्ज्वल किये हुए निष्काम कर्म रूप आश्वासक और सर्व-महाह्व धर्म का वासुदेव ने उपदेश किया। परिणामतः भक्तिमार्ग का धर्म लोक-प्रिय हुआ और कुछ समय में गीता के भगवान् वासुदेव परमेश्वर के रूप में पूजे जाने लगे। क्रमशः उनके उपदेश के बराब पूजा-धर्म का प्रचार हुआ।

भक्ति-मार्ग का प्रवाह 'गीता' से चला। इस भक्ति-मार्ग के उपदेशक वासुदेव का जो चरित्र मिलता है वह वही उमर का है, बाल्यावस्था का नहीं है। इस कमी को पीछे से महाभारत के 'खिल-पर्व' रूप—'हरिवंश' में पूरा किया गया। पीछे के भक्ति-संप्रदायों में कृष्ण के बाल-चरित्र का अधिक उपयोग हुआ है।

'हरिवंश' का समय ई० स० दूसरी-तीसरी शताब्दी से अर्धशतक नहीं है। उसका कुछ भाग शायद इतने भी प्राचीन हो। हरिवंश के दूसरे पर्व में कृष्ण-जन्म से लेकर पूरा चरित्र विस्तार से दिया है।

हरिवंश में जो कथा है वही कुछ घटा-बढाकर ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में है और भाग-का शीर ब्रह्मवर्त में 'कुछ अधिक बढावा किया है।

हरिवंश, विष्णुपुराण और भागवत के कृष्ण-चरित्र को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शृण्ण के बाल-चरित्र को भागवतकार ने ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखा। उनकी दृष्टि में भगवान् की भक्ति-श्रेष्ठ कथा है। खासकर गोपियों और कृष्ण की मूल बातों का भक्ति-प्रेषक कल्पनाओं में विस्तार दिया और वन-वृत्त जैसे प्रसंग बढाये। उसके द्वारा भक्ति के आवेग में भक्त लोग लोक-सज्जा, लोक-बुद्धि और लोक-व्यवहार को छोड़ देते हैं, इस सिद्धांत का उदाहरण दिया। विष्णुपुराण के रासक्रीडा के प्रथम के पंच अध्याय करके प्रसंग को विस्तृत महत्त्व दिया। इतना ही नहीं वर्णन को ऐसी मर-सता दी कि 'रामपचाध्यायी' पाँच अंकों का गीत-मय नाटक बन गया। भागवतकार का मित्रात किन्हीं महत् मन को कृष्ण में जोडना है। काम से भी भगवान् में मन जोडने का उदाहरण गोपियों का दिया, क्योंकि जार बुद्धि से कृष्ण को भजने पर गोपियाँ भगवान् में लीन हो सकी। तेरहवीं शताब्दी में 'विष्णुमगल स्वामी' ने रास-प्रसंग का अष्टक बनाया, जिसके प्रत्येक छंद का ध्रुवपद—

“संजयी शेषना देवकीन्दनः ।” १

यह बालगोपाल-स्तुति के अन्तर्गत है।

कृष्ण के साथ राधा का स्मरण कब से होने लगा यह सोचने का विषय है। इन्द्रेव के साथ उसकी पत्नी के भजन की प्रथा तो वेद-काल जितनी पुरानी है। विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का उल्लेख मिलता है, दो हजार साल से पुरानी लक्ष्मी की मूर्तियाँ मिलती हैं। रामावतार की पूजा से सीता-राम का युगल रामायण द्वारा पूजा जाने लगा। इसी तरह कृष्ण-पूजा प्रचलित होने से शक्तिश्री-कृष्ण के युगल की पूजा होनी चाहिए थी, पर एक महाराष्ट्र को छोड़कर (और उन्नीसवीं शताब्दी में गुजरात के स्वामीनारायण संप्रदाय में लक्ष्मी-नारायण की पूजा होती है) कृष्ण के साथ शक्तिश्री का स्मरण नहीं प्रचलित नहीं है। रामानुज तथा मध्व-संप्रदाय में विष्णु या वासुदेव के साथ लक्ष्मी का पूजन है, लेकिन सोलहवीं शताब्दी से तो ‘गोपीजनवल्लभ-कृष्ण’ के साथ राधा का नाम शक्तिश्री जुड़ा हुआ मिलता है।

अब राधा का नाम कहाँ से मिला यह देखें। कृष्ण-चरित्र-ग्रंथानुसार पुराणों में से हरिश्चन्द्र, विष्णु-पुराण या भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है, पर ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहिता, पद्मपुराण और स्कन्दपुराण के कुछ भागों में है। विष्णुपुराण में जो स्थान लक्ष्मी का है वह ब्रह्मवैवर्त में राधा का है। भागवत में रासलीला-प्रकरण में एक गोपी के विषय में लिखा है—

“अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वर ।”

—भागवत १०।३०।२८

ऐसे, जिसने आराधन (भजन) किया वह ‘राधा’ है। इस तरह भागवत के बाद विशेष भाग्यवती गोपी ‘राधा’ नाम से प्रसिद्ध हुई। राधाहरी शताब्दी में जयदेव की राधा-भक्ति प्रसिद्ध है, पर जयदेव से पहले हेमचन्द्रसूरि (११४५-१२२६) ने काव्यानुशासन में राधा-कृष्ण के विहास-वर्णन के श्लोक उद्धृत किये हैं। श्रीचिन्मय विचार चर्चा में क्षेमेंद्र ने अद्भुत रस के उदाहरण रूप—‘कृष्णतदो’ प्रतीक उद्धृत किया है।^१ वहीं हेमचन्द्र ‘काव्यानुशासन’ में देते हैं। वही श्लोक विलम्बगल या सीताश्रु के ‘कृष्णकण्ठित प्रथ’ में सकलित है और बाल-गोपाल-स्तुति में भी। विलम्बगल भी जयदेव की तरह राधा-कृष्ण के विहार का गान करते हैं।

सीताश्रु का प्रकीर्ण स्तोत्र-ग्रंथ ‘बालगोपाल-स्तुति’ “खण्डित और अप्रकट है। इसकी सत सचित्र प्रतियाँ शिर्ष पश्चिम द्विज से प्राप्त हुई हैं। अतिथि सचित्र प्रति श्री नाहटा जी के सग्रह से मिली है। उसकी चित्रशैली का परिचय इस लेख का प्रयोजन है।

हेमचन्द्र से भी प्राचीन स्रष्टृ के ‘काव्यालकार’ परममिसाधु (१०६८) की टीका में यह श्लोक है—

“यो गोपीजनवल्लभः स्तनसद्व्यासगलव्यास्पदः ।

किं राज्ये मधुसूक्तो नहि नहि प्राणाधिकचोक्तः ॥”

इसी समय के क्षेमेंद्र ‘दशमवतारचरित्र’ में कृष्ण-चरित्र-वर्णन के चार श्लोकों में राधा का उल्लेख करते हैं। तात्पर्य यह कि जयदेव से पहले सी बर्ष पर कृष्ण के साथ राधा का उल्लेख दम्भीर तब पहुँच गया। लेकिन मध्व-हिंदू में राधा के विषय में इससे भी पुराना उल्लेख मिलता है।

गोत्र (१००४।५४) के ‘सरस्वती-कंठभरण’ में राधा-कृष्ण-विषयक चार श्लोक हैं। आनन्द-वर्धन (तीसरी शताब्दी) ‘धन्यालोक’ में उसका उल्लेख करते हैं। ये उल्लेख साम्प्रदायिक या धार्मिक-साहित्य में नहीं हैं, अर्थात् इन लेखकों ने अपने जमाने की प्रचलित मान्यता या सुभाषित उद्धृत किये हैं, यानी राधा-कृष्ण की बात जयदेव या विलम्बगल के संस्कार पूर्वजों की अपनी उत्पत्ति की हुई नहीं है।

१. इस प्रसंग का, बड़ा बनाकर छपा हुआ रत्नाकर ‘जर्नल आफ दी इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल स्टडीज’ कलकत्ता के सन् १९४२ के अंक में प्रसिद्ध है।

२. इस प्रसंग का रत्नाकर चित्र ‘अर्बई यूनिवर्सिटी जर्नल १९४८ के अंक में प्रकाशित है।



परिचमी - दैली में बालगोपाल - स्तुति : एक और प्रति

पचतन (तन्त्र ५) में अमत्कारिक लकड़ी के गरुड पर बैठकर बाधुदेव के बेष में एक जुलाहा राजकुंवरी से कहता है—

“तुम राधा नाम से गोकुल में जन्मी हुई मेरी स्त्री हो।”

यह उल्लेख पौचवी शताब्दी का समझा जाता है। ऐसा दूसरा उल्लेख ‘हाल’ कवि की ‘गाहासप्तसई’ में इस अर्थ की गाथा है कि “हे कृष्ण, गौश्री के चलने से राधा के मुँह पर पड़ी हुई रज को तुम फूँक से उबाते हो, तब और गोपियों के दर्प का हरण करते हो।”

पचतन या गाहासप्तसती का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अति उपयोगी है, क्योंकि इस समय भागवत जैसे पुराणों में भी राधा का उल्लेख नहीं है। इसे स्पष्ट है कि कृष्ण के साथ राधा का प्रयोग सबसे पहले ग्रामीण लोगों में हुआ होगा। ग्रामीरों के राज्यकाल में यह राधा-कृष्ण-कथा, कृष्ण की बाल-कथा के साथ विकसित हुई। फलित यह कि राधा-कृष्ण की पूजा का मूल लोक-कथा या लोक-कविता में है।

बालगोपाल-स्तुति में पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अवतार-चरित्र के साथ श्रीर-और अवतार-कथाओं से प्रसंगों की लेकर भुक्तक रचे या उद्धृत किये हुए मिलते हैं। असल रंग में छपे हुए पत्र में राम-चरित्र से अहल्पीद्वार का प्रसंग चित्रकार ने लिया है।

दृष्टांत—चित्र परिचय

प्रथम—संस्कृत चित्र, दोनों श्लोको में अहल्या का उद्धार राम-चरण-रज-स्पर्श से हुआ, उसका वर्णन है। अनेक वर्षों के बाद गीतम फिर गृहस्थी हुए वह प्रताप राम-चरण-स्पर्श का है। यह उन दोनों का पिंडितार्थ है, जैसे—

“सकृदपि किलजंघुर्यैरभिष्यानमात्रैः परिमृदितकषाय कल्पते मोक्षणाय ।

रघुकुलकुमुद्वेहोतै तैरेव पुण्यैः पदकमलरजोभिर्गोतमोऽभूत् कुटुंबी ॥

चरण नलिन सगानुग्रह ते भर्जती भवतु चिरमिय न. श्रीमती पातपात्री ।

उपलतनुरहिल्या गीतमस्वर्गशापात् इयमपि मुनिपत्नी शापिता कापि बाध्यात् ॥

सारी पोथी में यह पत्र इसलिये लाक्षणिक है कि इसमें तीन चतुर्थांश मुख के आलेखन के साथ ही अर्धमुखालेखन की परंपरा मानो बिदा लेती हो, ऐसा एक ही स्थान में प्रतिबिंबित है। वि० सोलहवीं शताब्दी के अंत तक ‘डेह चरम तस्वीर’ की पद्धति इसमें देखी जाती है, पर उसी समय की और उसके बाद की राजपूत-कला में निरपवाद देखी जाती एक-चरम-तस्वीर (प्रोफाइल) ही चित्रकार का विषय बन जाती है, उसकी यहाँ शुरुआत देखी जाती है।

धनुर्धारी राम के पीछे धनुर्धारी लक्ष्मण हैं। सिर पर जटा और ध्वजधारी गीतम ऋषि उनके पीछे खड़े हैं। सामने अहल्या माला लेकर राम का अभिवादन करती है। बनवामी राम-लक्ष्मण के मुँह पर पतली श्मश्रु-राजि प्रसंग की सचाई को प्रकट करती है। लक्ष्मण की जटा भी दीखती है।

चित्र की पृष्ठभूमि लाक्षणिक ढंग से पक्की डेंट के लाल रंग की है जो प्राचीन परंपरा के अनुसार है। राजस्थानी के बाद राजपूत और मुगल-समय में चित्र की पृष्ठभूमि बदल जाती है। गीतम-आश्रम टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों द्वारा बताया गया है। चित्र की पाली जगह को फूलों के गोमन से भर दिया है।

अहल्या और लक्ष्मण की मुख-मुद्रा के आलेख में दूसरी आँख स्पष्ट दीखती है, पर गीतम और राम के आलेखन एक चक्षु (प्रोफाइल) अर्ध-स्वरूप के हैं।

वस्त्र-परिधान ध्यान देने योग्य हैं। छपा कपडा पश्चिम हिंद की प्रगल्भ कला मानी गई है, जिसमें फोस्टाट के खंडहर की खुदाई में से हजार वर्ष पहले के ठप्पे में छपे नपटों के टुकड़े मिले हैं। वे खनात-बदर होकर प्राचीन काल से पश्चिमी देशों में निर्यात होते थे।

गुजराती सैली के ताड़-पत्र, लकड़ी की पाटली, वस्त्र पट या कागज पर अश्लेषित रंगीन चित्रों में छपा कपड़ा स्त्री-मुख्य दोनों पहनते थे, ऐसा दिखाया गया मिलता है। पुरुष के वेश में शोली और उत्तरीय, स्त्री के वेश में वस्त्र, उत्तरीय और चोली ये तीन वस्त्र अलग-अलग रंग के होते हैं।

अहल्या की खुली वेणी के भ्रत में काला गुच्छा लटकता है। गुजरात की स्त्रियाँ पद्मवी सताब्दी तक साड़ी सिर पर नहीं ओढ़ती थी, ऐसा चित्रों का आशय है। मुगल-समय के नये शिष्टाचार में डका सिर और धूमट शिष्ट समाज में प्रविष्ट हुआ ऐसा समझ है।

पुरुष और स्त्री के कान में चद्राकार कर्णफूल का शौक सदियों से परिचित है। गुप्त-समय के बाद के 'चतुर्भुजा' नामक चार भागों में लाटवासियों के शौक का निरूपण है। शिल्प कृतियों में भी गोल बड़े कर्णफूल पश्चिमी हिंद की आभूषण-शैली की विशिष्टता संभाले रखे हैं।

'कुंज' जैसा फूल का मुकुट स्त्री-मुख्य दोनों पहनते हो, ऐसा चित्र से मालूम होता है। इतने बाह्यलक्षणों से स्त्री-मुख्य चित्रों में पहचाने जाते हैं, बाकी व्यक्तित्व विशिष्ट भिन्न-भिन्न पात्रों के बजाय इस सैली के चित्रकार एक जैसा आकार स्वरूप ही पेश करते हैं। प्रसंग और वातावरण को समझ कर हमें उसका परिचय पाना होता है, अर्थात् वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्व सोजनेवाले को ये चित्र निराश करते हैं।

दूसरा चित्र-प्रसंग—

राधा-कृष्ण मिलन का है। सप्रमाणता के ख्याल से अक्षित दो-दो घटादार पेड़ों के मुड़ के बीच एक लाल वृक्ष है, जो चित्र की पश्चाद् भूमि में है। पेड़ की घटा छाया-चित्रानुसार ढग पर व्यक्त की है।

पीछे को दो-दो पेड़ों के बीच की लाली जगह में दो-दो फूल की आकृति बनाकर चित्रकार ने वृंदावन की घेरी-घटा की समझाने का यत्न किया है। पीछे सिंघिज की समांतर तीन लकीरे छारे आकाश को सीमित करती हुई दिखाई गई हैं।

कृष्ण और राधा के वस्त्राभूषण प्रथम पत्र से एकदम भिन्न हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, फिर भी राधा और कृष्ण के मुख पर हृष्य, पंर, अंगुलियों की मरोड़ में और वातावरण की व्यञ्जना से जो गीत-तत्व उत्पन्न होता है वह प्रथम चित्र में नहीं है। यानी हकीकत यह है कि पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट और सुरेख एवं छोट कर पकड़ में नहीं आ सकता, फिर भी अन्ततः वातावरण से चित्र का मन समझ में आ जाता है।

तीसरा चित्र—

यमुना नदी के किनारे 'मधुवन' में ध्रुव के तप का है। चित्रकार ने परंपरागत ढग से सादी उलटी लकीरो को काटकर जल की तरंगों द्वारा का सुचन किया है। तपस्तिष्ठित मत्स्य भी उसमें दिखाये हैं। किनारे पर हृष्य, सारसयुग्म वच्चों के साथ देश में बसते दिखाकर किनारे को सरा है। दाये कोने में ऊपर तुलसी की बगारी, किसी बड़े बयारे में ऊपर हुए घटादार छोट के साथ दिखाई गई है। खजूर का पेड़ चित्र के मध्य में चित्र-वस्तु की सप्रमाणता दिखाने के लिये रखा है। आस-पास गोल सुशोभन हैं।

इस चित्र में सब पात्रों की दोनों आँखें प्रकट हैं। श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप से बर देने आए हैं। ध्यान से आगे हुए बालक ध्रुव की स्वाभाविक निर्दोषिता और अजित करके एवं मुटने की नीचा करके बैठने का ढग अक्षित जगाता है।

इन तीनों चित्रों की देखने के बाद ऐसा असर होता है मानो यह भित्ति-चित्र वा विपय है और सजीवता भी इन्हीं ढग पर की है। केवल कागज के छोटे सामन में इतना विस्तृत विषय

भर दिया है, यह चित्रकार की खूबी है। इस चित्र को अधिक विस्तार से देखा जाय तो वह भित्त-चित्र ही मालूम हो।

इन उदाहरणों से गुजराती चित्र-सम्प्रदाय के सामान्य लक्षण ध्यान में लिये जायें तो लगता है कि गुजराती सम्प्रदाय उसकी खास खूबी, सरल रेखाओं में डूबड़ कथा-निरूपण करने की उसकी शक्ति सामान्य लक्षण में है। बाह्यमय के साथ चित्र-कला का सुमेल दिखाने में यह शैली बहुत कामयाब होती है। आकृति और रंगों के अनेक संकेत-पूर्ण प्रयोग द्वारा इन चित्रों में साहित्य, विचार और दृष्टि को उद्दीपन करने वाली सामग्री है।

गुजराती-सम्प्रदाय के चित्र भाव से अधिक वृत्तांत निरूपण पर बल देते हैं और इसी से कल्पसूत्र, कालक-कथा, भागवत दशमस्कंध और देवी-माहात्म्य के चित्र देखते हैं तब चित्रों से ही वृत्तांत समझ में आ जाता है। कथानक का चोखापन और एक-सा चित्रांकन इस शैली के मुख्य लक्षण हैं। इस शैली का चित्रकार किसी तरह चित्र से हकीकत प्रकट करना चाहता है, जिससे पत्थर में खुदी हुई रामायणी-कथा, कृष्ण-कथा या जातक-कथाओं को परंपरा की तरह अनपढ़ को भी इन चित्रों से समझने को और देखने को मिल जाता है। धर्म-अचार की सार्थकता यही इन चित्रों का ध्येय और फल है।

इस सम्प्रदाय के पोथी-चित्र सभी एक-से सज्ज कक्षा के नहीं होते, फिर भी चित्रों की महत्ता जितनी वृत्तांत-कथन की ओर है उतनी बल्कि कुछ विशेष तत्कालीन रिवाज, वस्त्रभूषण, घर, मंदिर की स्थापत्य रचना, खान-पान, आसन-शयन उपकरण इन सब का रस-अद्वय खयाल इन चित्रों द्वारा मिल जाता है। वि० म० म्यारहवीं से सोलहवीं का पश्चिम हिंद का लोक-जीवन इन चित्रों में मिल सकता है।

रंग-विधान-कला में चित्रकार ने भाव-व्यञ्जना और रस-ध्वनि का परिचय दिया है। प्रमथा-नुसार ऋतु और काल-दर्शक वृक्ष, वेली, मनुष्य, जानवर, पक्षी आदि से सब अनुमान हो सकता है। नदी, सर, कुड, जल-मैदर रेखाओं से मालूम हो जाता है। जलचर—मत्स्य, कच्छप, सर्प भी दिखाये जाते हैं।

वृक्ष, फल, वनस्पति ठीक पहचानी जाय इसलिये पत्ते आदि चित्रित दिखाई पड़ते हैं। वास्तव-दर्शन से अधिक ऐसा लाक्षणिक-दर्शन चित्र-कर्म के नियमों में अधिक उपयोगी माना है।

गुजराती चित्र कुछ तेजी से खींचे हुए लगते हैं। उनमें राजपूत-कलम-सी पूर्णता और शोध (फिनीश) का अभाव है। साथ-ही ऐसा ही कि चित्र-कर्म के लिये कुछ खास आधारभूत आकार निम्नित हुए हों, जिनके अनुसार चित्र कैसा बनावे जाय, उसकी समझ चित्रकार तत्काल पा ले।

एक ही ग्रंथ की भिन्न-भिन्न समय की प्रतियों में वैविध्य कम होता है। फिर भी अवचित्ति निरकुश कलाकार नयी ऊँच, नयी छटा, नये प्रसंग साता है। सामाजिक वातावरण भी अपने समाज का बताता है। इन चित्रों में कुछ विचित्रता भी है। खासकर आँखें प्रकट करने की रीति अजीब ढंग की है। अजन्ता के चित्रों में अर्धमुखाकृति कम है, राजपूत-कलम में वह विनोद है। गुजरात के चित्रों में अर्धमुखाकृति होते हुए भी दबे हुए अर्धमुख की सूचना के तौर पर आँख और मोँह धानिचिन हैं। उसे दाबकर राजस्थानी कलम का आरम्भ होता है।

इन चित्रों में आकाश, वादल, पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प आदि के आलेखन के लिये चित्रकार ने अपने रूपों की कल्पना की है।

गुजरात के ये चित्र वर्णनात्मक हैं। उनमें आलसित वस्त्र, असङ्गण धौन्य सामग्री में तत्कालीन गुजरात का दिग्दर्शन है। चित्र-कर्म ध्यान से किया गया है, पर भावनेत्रन में अर्धन सूचकध्वनि की व्यञ्जना विनोद है।

वस्त्र-परिधान की दृष्टि से गुजरात के चित्र रस-दायक हैं। स्त्रियों के वेप में मुगल-समय के पहले के चित्र में सिर खुला है, केशकलाप की शैली वर्तमान गुजरात में प्रचलित छूटी वेणी जैसी है। वेणी के नीचे सिर पर काला गुच्छ सटक रहा है।

स्त्रियाँ षोली पहनती हैं, पर लेंहगा कहीं दीखता नहीं है, वह सबसे पहले राजस्थानी और राजपूत-कलम में दिखाई देता है। उसके साथ चुनरी आती है, पर गुजराती चित्रों में स्त्रियाँ उत्तरीय गले में डालती थीं। पुरुष धोती और उत्तरीय।

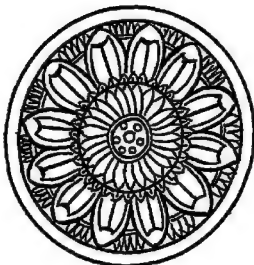
वालों की शोभा जितनी स्त्रियों को उतनी पुरुषों को भी प्रिय दित्ती है। बड़े बाल, पीछे वेणी या चोट्टला, साथ-साथ मूँछ और दाढ़ी। स्त्री-पुरुष दोनों बालों में फूलों के धौकीन हैं। मुगल अरर में स्त्रियों ने जैसे सिर ढकना वैसे पुरुषों ने वेणी, दाढ़ी निकालना शुरू किया।

भ्राम्पण में भी दोनों समान धौकीन हैं। दोनों में बड़े गोल कर्णकूल, हाथ में कनक-बलय, पैरों में नूपुर, गले में मात्ता।

पहनावे की रसम तरह-तरह की है। विविध बेल-बूटे, नक्काशीदार छाप-काम अधिक लोक-प्रिय होगा। पुरुष की धोती, स्त्री की साड़ी और दोनों के उत्तरीय यह रस-दायक सामग्री है।

गुजरात की कला प्रधानतया भ्रामवर्ण की है। उसकी प्रेरणा, विकास और पोषण गुजरात के सत्कार जीवन से घुसा हुआ है। इसलिये सुखी मध्यमवर्ण के आश्रय से कला फूली-फली है।

भजता की कला को सुसंस्कृत पंडितों की बाणी कहा जाय तो गुजराती और राजपूत-कला में लोक-गायको का सुरीलापन और जमावट है, जिसे 'भ्रमन्नग-शैली' नाम दिया जा सकता है। उसकी सुलना में राजदरबारी, सयानी और भठ्ठीवाली मुगल-कला मिल्कुल भलग हो जाती है।



असम लोक-नृत्य में कृष्ण लीला

श्री कमलनारायण

असम प्रदेश मुख्यतः ६५ जातियों का निवास स्थान है। इस नग्डे से प्रदेश में इतनी जातियों का समागम कब और कैसे हुआ, इसका उत्तर तो इतिहासकार दे सकेंगे। एक करोड़ बस लाख की आबादी में जातियों का आ जाना, संभव है समाज-शास्त्रियों को विस्मय में डाले।

इन जातियों का अपना अलग समाज, अलग भाषा, अलग आकृति, अलग पोशाक-पहिना-दे-रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, अदब-कायदे, साहित्य, सांस्कृतिक परंपरा, धर्म और विश्वास सब कुछ अलग-अलग है।

सर्वप्रथम हम 'असमीया जाति' को लें। जनसंख्या में यह कोई २५ लाख है। इसमें मुख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय—कविता और कायस्थ हैं। इस जाति के अधिकांश लोग उत्तर भारत से आए और अपना उपनिवेश स्थापित कर यहीं रह गए। तेरहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक इस प्रदेश पर 'आहोम' राजाओं का आधिपत्य रहा। यह जाति असम के उत्तर-पूर्व की ओर से आई थी। हिंदू संस्कृति से इसका कोई संबंध न था, पर कुछ ही दिनों के बाद इस शासक जाति ने अपना धर्म-परिवर्तन कर, शासित प्रजा का हिंदू-धर्म स्वीकार कर लिया। किसी शासक ने शासित का धर्म स्वीकार किया हो ऐसा उदाहरण ससार में विरला ही मिलेगा। जो हो, आहोम जाति भी 'आर्य संस्कृति' के अंतर्भूत होकर प्राचीन 'असमीया जाति' का ही एक अंग बन गई।

इस 'सांस्कृतिक समन्वय' के फलस्वरूप असमीया जाति ने भी आहोम लोगों की बहुत-सी छोटी-सी बातें अपना लीं। 'आहोम' जाति के अलावा 'कोच', 'कछारी', 'चुटीया' आदि कुछ छोटी-छोटी आरंभिक जातियों ने भी कुछ दिनों तक असम के कुछ हिस्सों पर राज्य किया और बीरे-बीरे प्रजा-धर्म में विलीनता प्राप्त कर ली। इनका कुछ हिस्सा आज भी आरंभिक अवस्था में ही है।

असमीया जाति चौदहवीं सदी तक शाक्त-धर्म को मानने वाली थी। शाक्त-धर्म असम-प्रदेश में कब से प्रचलित हुआ, इस पर भिन्न-भिन्न ऐतिहासिकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। उत्तर भारत के नवागतों का प्रायः स्मार्त और बौद्ध थे। यहाँ आने के बाद वे शाक्त हुए। फिर भी उनमें स्मार्त-धर्म की छाप लगी रही। सूर्य, विष्णु, शिव आदि देवताओं के मंदिर जहाँ-तहाँ असम में मिलते हैं। इन मंदिरों से प्रमाणित होता है कि कुछ लोग शीत, वैष्णव और शैव रहे हों। पंद्रहवीं सदी में एक विराट् धर्म-क्रांति हुई। क्रांति के अग्रदूत थे महापुरुष 'शंकरदेव'। शंकरदेव असम के 'गुलसी-दास' हैं। आप के ही पुरुषार्थ और एकांत साधना के फलस्वरूप वैष्णव-धर्म असम में आया। आधुनिक असमीया जाति 'महापुरुषीय-धर्म' मानती है। इतना होते हुए भी यहाँ शाक्तों की संख्या कम नहीं है।

धर्म और संस्कृति के इस व्यापक समन्वय का प्रभाव असमीया नृत्य-कला पर स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। असमीया समाज में 'भोजपाली', 'दिओबनी', 'दिओबाइ', 'मंदिर', 'भावना', 'खुलीया', 'दुलीया', 'पुतला', 'विहू'—आदि नृत्य विशेष प्रचलित हैं।

इनमें 'भावना' और 'पुतला' को छोड़कर बाकी नृत्य 'आदि निवासियों' के नृत्य में सबव रखते हैं। भावना की दृष्टि से 'भावना' और 'पुतला' वैष्णव-नृत्य हैं। वैष्णव-धर्म के ही साथ इनका आरंभ हुआ। उक्त सभी नृत्यों की अपेक्षा 'भोजपाली' नृत्य अधिक पारंपरिक है। 'विहू' नृत्य सबविषय

अधिक प्राचीन है। दरअसल यह नृत्य 'मीरा' और 'कधारी' जाति का नृत्य है, जिने अयम के हिंदुओं ने अपना लिया है। रूप नज्वा, आदर्श और 'टेकनिक' की दृष्टि से इनमें पर्याप्त भेद है।

अगर यह कहा जाय कि 'मयूराभक्ति' से परिष्कारित गूढ़ वैष्णव-संस्कृति भारत में नहीं जीवित है, तो नौकड़ों मीलों में फँसे हुए घोर अरण्य और गगनचुम्बी पर्वतों को पार कर हमें 'मणिपुर' ही पहुँचना होगा। कहा जाता है—भक्ति द्रविड देश में उपजी, वहाँ ने उत्तरापथ में उसे 'रामानन्द' ले आया और उनका प्रचार 'कबीरदास' ने किया। किसी जमाने में भक्ति-रस के उच्छ्वसन में भारत का सारा वायुमंडल उच्छ्वसित हो उठा था, पर आज वह कहाँ पाया जाता है? भारत के वैष्णव माधुओं में? गार्हस्थ्य जीवन में भक्ति का पूर्ण संचार नहीं हो सका। बौद्ध-धर्म की भी यही हानत हुई। भक्ति बेचारी ठोकरें खाती हुई अपनी विहार भूमि को छोड़कर, चूँकड़ों मीलों का दुर्गम पथ पार कर मणिपुर की कदराओं में जा पहुँची। चैनन्य-पधियों ने मणिपुर को ही अपनी 'मयूराभक्ति' का सुचरित निराशा उपनिवेश बनाया। भक्ति का सागर उमड़ पड़ा। मणिपुरी जनता उनी में गर्क हो गई। गार्हस्थ्य जीवन में उसे सुंदर आलन प्राप्त हुआ। वह वहाँ का जीवन धर्म बना बैठी। अरना हुआ, मैंने हिंदी कवि निराशा जो की एक कविता पढ़ी थी। उनकी पंक्तियाँ अब मुझे ठीक-ठीक याद नहीं हैं, पर शायद वह—

“चलचरणों का व्याकुल पनघट... कहाँ गया वृंदावन घाम।”

कुछ ऐसी रही हो, सो अब 'पनघट' और 'वृंदावनघाम' की रासलीला के लिये उन्हें तड़पने की जरूरत नहीं है। वे इधरा मणिपुर में तनरीक लाएँ। यहाँ वे छक कर 'पनघट' की बहार का मजा लूट सकेंगे, 'वृंदावनी रासलीला' का रसस्वादन कर अपने प्यासे हृदय को तृप्त कर सकेंगे।

भारत में जब कभी नमानित शास्त्रीय-नृत्य (क्लासिकल डांस) की चर्चा होती है, तो सबसे पहले 'मणिपुरी-नृत्य' की ओर इंगित किया जाता है। सब पूछा जाय तो भारत में तीन ही नृत्य आब जीवित हैं। दक्षिणात्य नृत्य, उत्तर भारतीय नृत्य और मणिपुरी नृत्य। मायु के विचार ने 'दक्षिणात्य नृत्य' सबसे अधिक प्राचीन है। इसका प्रभाव सुदूर पूर्व के देश जावा, सुमात्रा, लंका, हिंद चीन, वर्मा, श्याम यहाँ तक कि चीन और जापान के नृत्यों पर भी दृष्टिगोचर होता है। 'फामरपी देव-दासी नृत्य' भी नम्रव है दक्षिण की ही देन हो, क्योंकि वह नृत्य दक्षिण में ही प्रचलित था। दक्षिणात्य-नृत्यों में मालावारी 'कथकलि' नृत्य का प्रचार सबसे ज्यादा है।

भारत के तीन शास्त्रीय-नृत्यों में सबसे शुद्ध, सबसे सुसंस्कृत और सबसे महत्वपूर्ण नृत्य है—'मणिपुरी नृत्य'। यह विजातीय-प्रभाव से सर्वथा मुक्त है।

'मणिपुरी नृत्य' भक्ति-मूलक गूढ़ वैष्णव-नृत्य है। गीति-मूलक वैष्णव-साहित्य को अपनी नृत्य-कला द्वारा मूर्त रूप देना ही इसका अपना आदर्श है। मणिपुरी लोक-संप्रदाय कृष्ण का उपासक है। यहाँ की जनता अपनी आंतरिक भक्ति, भिन्न-भिन्न प्रकार की नृत्य-सीलाओं के त्सारक चिह्नों में व्यक्त कर उपास्य देवता कृष्ण को समर्पित करती है। नृत्य के साथ गाये जानेवाले गीत—'कीर्तन' कहलाते हैं। यह नृत्य कृष्ण की नपूर्ण जीवन-सीला अपनी मूद्राओं द्वारा अभिव्यक्त करता है।

मणिपुरी नृत्य में गोपियों के अकृत्रिम प्रेम की प्रशानता रहती है। इस प्रेम के रूपकार्य की तुलना पुरानी इंग्लैंड (शेल्ड टेस्टामेंट) के गीतों के गीत (साग अब सास) से की जा सकती है। यह प्रेम परमात्मा के प्रति जीवात्मा के अकृत्रिम प्रेम का एक लौकिक रूपक मात्र है। आप अथ ने इति तक नृत्य देखते जाइए, कहीं भी वामना या कामोत्तेजना की गंध नहीं मिलेगी। नृत्य में सर्वत्र 'परम प्रेम' और 'परामर्श' का बातावरण रहता है। नर्तकों की कठोर विधि-निषेधों का पावन करते हुए नाचना पड़ता है। कमर-लवकाने, निर्वह-हिलाने, बाँकी-तिरछी बनलियों, नाच-नखरे व चौबले-बालियों पर बड़ा पहरा रहता है। नर्तक बड़ी सावधानी से इनका बहिष्कार करते हुए नाचते हैं। इस नृत्य में दक्षिणात्य-नाटकीय मनोवृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है।

मणिपुरी नृत्य में दूसरी जो सङ्घ कराने की बात है, वह है 'प्राकृतिक-सौंदर्य की हृदय भूमि-व्यक्ति'। अनंत प्रकृति में हम सौंदर्य के जिन उठते हुए हिलोरो का दर्शन करते हैं, मणिपुरी नृत्य में उनकी अभिव्यक्ति की चरम भावुकता पाई जाती है। नृत्य देखते समय हमें कभी अनुभव होगा जैसे किसी उद्यान में हम भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों की सुरभि से मजबूत हो रहे हैं, कभी चाँदनी रात की सफ़ली-शीतलता का अनुभव होगा, कभी गोधूलि के सुनहले मधुर, स्निग्ध, उष्ण, निर्मल रश्मि-स्रोत में भ्रमगाहन करने का आनंद मिलेगा और कभी शिशिर-स्निग्ध-उषालोक में सिहर उठनेवाले चैतन्य की सनसनी का अनुभव होगा। अठसैलियाँ करती हुई लहरो की तरह मणिपुरी-नर्तकों की लहरदार, घुंघराली नृत्य-भंगमाएँ बरबस हमारे हृदय को ले जाकर सुंदर प्रकृति के हृदय में बोन कर देती हैं।

असम के प्रचलित लोक-नृत्य, जो आरम्भिक-जातियों में प्रचलित हैं, यति प्राचीन अनार्य-नृत्य हैं। असम में आर्यों के उपनिवेश स्थापित करने के पश्चात्, अनार्य-नृत्य असम के नवागत आर्यों में भी धीरे-धीरे प्रचलित हो गए। आज का असमीया 'विहू नृत्य', जो यहाँ के हिंदुओं में भी प्रचलित है, उन्हीं प्राचीन अनार्य आरम्भिक-नृत्यों में से है।

नवी शताब्दी के आरम्भ (खिलास) में, असम में प्रचलित नृत्य-भंगमाओं का निर्वर्धन पाया जाता है। हाजी, बुवि और देरगांव के मंदिर में जिस नर्तकी के नृत्य की ओर कामारूप-मंदिर में जिस 'देवता' और 'देवधनी' के नृत्य की भंगमाएँ अंकित हैं, वे आज भी प्रचलित हैं। असमीया समाज में आज 'अकीया-मावना' (एकाकी नाटक) और सूत्रकारी नृत्य का विशेष आदर देखा जाता है। इस नृत्य का सबब वैष्णव-धर्म से प्रत्यक्ष है। कतिपय पुरानी हस्तलिखित पोथियों में भी नृत्य-गीत-परायण नर्तकी के चित्र मिलते हैं। असम में नृत्य-मुद्रा सङ्घित 'श्रीहस्त-मुद्रावली' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रंथ भी मिलता है। यह ग्रंथ 'गुमकर' नाम के किसी नृत्य-कला-विशारद कवि ने संस्कृत भाषा में लिखा है। खेद है यह उपयोगी ग्रंथ अब तक हस्तलिखित-अवस्था में ही पड़ा है। कामरूप-अनुसूचन समिति अपने मुखपत्र में क्रमशः इसे प्रकाशित कर रही है। सीमांत से इसकी एक प्रतिलिपि भेरे पास भी है। आद्यत पढ़ने से मालूम होता है कि यह ग्रंथ भारत के नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

सुदूर असम में भारत के 'नाट्यशास्त्र' के टक्कर का यह ग्रंथ इस प्रदेश की प्राचीन नृत्य-कला का शास्त्रीय विवेचना करता है। ६०० से ६५० ई० तक कामरूप पर कुमार 'मास्कर' वर्मा ने राज किया था।

कहा जाता है कि मास्कर वर्मा अपने युग के एक श्रेष्ठ कला-रसिक थे। नृत्य-गीत के प्रति उनका प्रबल आकर्षण था। उन्होंने प्राचीन अधिवाहित रङ्गकर अपने को 'कुमार' उपाधि से विभूषित किया था। ऐतिहासकों का कहना है कि मास्कर वर्मा ने एक वेश्या को उपपत्नी बनाकर रक्खा था। उसी वेश्या के गर्भ से 'अवती वर्मा' नाम का एक पुत्र भी हुआ, जो मास्कर वर्मा के पीछे राज-सिंहासन पर बैठा। 'कुमार' के मरने पर उनकी प्रेयसी वेश्या ने भी उन्हीं की वित्ता में जल कर अपने उज्ज्वल सतीत्व का परिचय दिया। मास्कर वर्माने उस वेश्या को केवल नृत्य-गीत की चर्चा के लिये ही रक्खा था। नृत्य-संगीत से राजा की महफिल हमेशा गरम रहती थी। चीन के प्रसिद्ध यात्री 'ह्वेन त्सांग' को भी राजा ने कामरूपी नृत्य दिखाया था। ह्वेन त्सांग ने यहाँ की नृत्य-कला की मूर्ति-श्रुति प्रशंसा की थी। कामाख्या में गोबूली के समय 'नृत्य-शिल्पी' का 'भारती-नृत्य' देखकर वह आश्चर्य-चकित हुआ था।

नुमलीगड के देव पर्वत के ध्वसावशेष में नटराज शिव के 'आनंद ताडव' की एक मूर्ति पाई गई है। इसके साथ बीणावाद्यरता 'पार्वती' की भी एक मूर्ति है। 'प्रलय ताडव' की एक मूर्ति 'तिजपुर' पहाड़ के ध्वसावशेष में मिली है। बड़ी हलेव्वर बीजा में एक तालाब के किनारे पाँच फीट लंबी गणेश के 'आनंद नृत्य' की एक मूर्ति पाई गई है, जो मास्कर-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। ऐसी ही एक मूर्ति 'भयूरज राज' के लिपि में भी मिली है। आकाशी गंगा वशिष्ठाश्रम के मंदिर में

भी गणेश की एक नृत्यमान मूर्ति का सधान मिला है। तेजपुर के वामुनी पहाड़ में 'देवदासी नृत्य' की कई मणिमात्रो का निदर्शन है। 'कामरूप में एक समय नर्तक-नर्तकी के युग्म नृत्य का भी प्रचलन था।' 'देवदासी नृत्य' को यहाँ 'कुमारी-नृत्य', 'पुजारिणी-नृत्य' और 'मंदिर-नृत्य' भी कहते थे। वैष्णव-धर्म के आगमन के पहले यहाँ इसी 'कुमारी-नृत्य' की प्रथा थी। 'कुमारी-पूजन' के महत्त्व को आज भी यहाँ मूलाया नहीं जा सका है।

भावना-नृत्य

असम के वैष्णव सतो में इस नृत्य का प्रचार अधिक है। महापुरुष शंकरदेव स्वयं इसके उद्भावक और सस्थापक हैं। श्रीकृष्ण के जीवन वृत्तों को लेकर 'भावना' में अभिनेता अभिनय करते हैं। यह 'नाटक कोटि' की वस्तु है। इसमें शंकरदेव लिखित 'रत्नमण्डीहरण', 'कालियदहन', 'पारिजात-हरण' आदि नाटक अभिनीत होते हैं। इसके नर्तक पहले से ही रंग-मंच पर नृत्य के साथ आते हैं और अंत में नाचते-नाचते ही जाते हैं। नृत्य के साथ मृदंगताल बजाए जाते हैं। अभिनय के बीच-बीच दर्शकों के मनोरंजन के लिये 'बहुआ', 'नटुआ' आदि परिहास-नृत्यो की संयोजना भी की जाती है।

मणिपुरी-नृत्य

मणिपुरी-नृत्य की उत्पत्ति के बारे में एक ऐतिहासिक प्रचलित है। वह यों है—

“श्रीकृष्ण की रासलीला के पहरदार शिष्यजी थे। रासलीला-समाप्त होने पर शिष्य कैलाश पहुँचे। पार्वती ने उनसे रासलीला बिल्लाने का आग्रह किया। महादेव ने कहा 'वह एक ऐसी गुप्त लीला है, जो डूबारा खोली नहीं जा सकती।' पर पार्वती का त्रिधा-दृढ़ कैसे दूर हो? न हो तो भी आकत। शिष्यजी बड़े पेशोपेश में पड़े। बोले—'वह तो एक ऐसी रहस्य-लीला थी, जिसमें आत्मा-परमात्मा की रहस्यमयी मिलन-लीला नृत्य द्वारा बिल्लाई गई थी। उसका पुनरायोजन आसान काम नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि सभी देवी-देवता आमंत्रित किए जायें, फिर किसी निराली जगह में रासलीला में बिल्लाओं।' पार्वती खुश हो गई। लीलाभूमि का चुनाव हुआ। शिष्य जी पार्वती के साथ 'मणिपुर' पवारे। सचमुच वही निराली जगह और कहाँ मिल सकती थी—यवत-प्राचीरो से आवेष्टित मणिपुर गणर्वलोक। देवी-देवता आमंत्रित किए गए। रासलीला आरंभ हुई। शिष्य अपनी पार्वती के साथ रंगमंच पर आए, पर शिष्यजी जैसी लीला बिल्लाना चाहते थे, वही लीला बिल्लाना न सके। उनका नृत्य 'सांबव' हो गया और पार्वती का नृत्य हुआ 'सात्य'। मणिपुरी जनता का विश्वास है कि सात्य और सांबव नृत्य की उत्पत्ति का यही कारण है।”

मणिपुर की प्राकृतिक सुसज्जता को देखकर वेचारे देवता मुग्ध हो गए। सबों ने वही अपना-अपना उपनिवेश स्थापित किया। सदाशिव ने गवर्ध नगरी बसा दी। आज की मणिपुरी जाति गवर्धों की सतति मानी जाती है। गवर्ध राजाओं की परंपरा चल पड़ी। वही के गवर्ध राना की कुमारी सखी 'विश्रागदा' के अनुपम सौंदर्य पर मोहित होकर अर्जुन ने बभ्रुवाहन को जन्म दिया था। आज तक उसी बभ्रुवाहन की सतति मणिपुर-राज्य पर शासन करती चली आई है। वर्तमान राजा उसी वंश का है।

इसी प्रसंग में एक और आख्यायिका प्रचलित है। कहा जाता है मणिपुर के महाराज 'भगीपचंद्र' (जिन्हें महाराज जयसिंह भी कहते हैं) ने एक बार सन् १७७६ ई० के लगभग रासलीला-भूमि वृद्धावन की यात्रा की। वहाँ से वे श्रीकृष्ण के प्रेम की मस्ती लेकर वापस आए। एक दिन रात को राजा ने सपना देखा। सपने में श्रीकृष्ण ने बतलाया—'राजा, भ्रमूक जगह एक कदहल का पेड़ है। उसे काटकर मेरी एक मूर्ति तैयार कर किसी मंदिर में प्राण-प्रतिष्ठा करो और साथ ही तुम ऐसा प्रयत्न करो कि दुनिया में 'रास-नृत्य' का प्रचलन हो।' श्रीकृष्ण ने सपने में रासलीला के विभिन्न नृत्यों की तरकीबों भी बतलाई। महाराज जयसिंह ने श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन किया। सन् १७७६ ई० में

मार्गशीर्ष महीने की 'शुक्ला एकादशी' के दिन स्वप्नानुसार मूर्ति स्थापित हुई। प्राण-प्रतिष्ठा के समय जो पाँच रातों तक नृत्य हुआ, वही मणिपुरी रासलीला-नृत्य का प्रारम्भ माना जाता है। शिवजी ने जो रासलीला दिखाई थी, उसे 'लाइहराजवा' कहते हैं। जयसिंह द्वारा प्रगुणित रास-नृत्य उसी 'लाइहराजवा' की श्रेणी का नृत्य हुआ। 'रसपन वेइचेइ' की तरह महाारास-नृत्य हुआ। गौतमीविंद के अनुसरण पर 'वसंत-रास' हुआ। इस रास-नृत्य की ये तीन अवस्थाएँ हैं।

(क) 'लाइहराजवा'

इसके सबब में एक और अंतर किया है। मणिपुरियों का विश्वास है कि सृष्टि के रहस्य का एक काल्पनिक रूप है। 'लाइहराजवा' या रास-नृत्य उसी का एक अवतार है। मणिपुरी मानते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'सिंदवा' नाम के एक गुरु थे। सीमाहीन, देवीप्यमान् शून्य-मंडल में वे घिरे हुए थे। अकस्मात् उस विराट् शून्य में इन्द्र-वनस्प-जैसी चमकमाती सतरंगी किरणें दिखाई दीं। किरणों से उत्पन्न होते ही वह इन्द्र-वनस्प अमकार और आलोक के दो टुकड़ों में बँट गया। तब सद्गुरु ने उसमें प्रवेश किया। उन्होंने जल-गुल्म, जन-प्राणियों से परिपूर्ण एक महान् विश्व के देखने का सकल्प किया। सकल्प के साथ ही उनके दायें कंधे से ६ पुरुष और दायें कंधे से ७ नारियाँ पैदा हुईं। सद्गुरु ने इन १६ पुत्र-पुत्रियों को सृष्टि का कार्य करने का आदेश दिया। इसी कल्पना की याददाश्त के लिये मणिपुरी लोग 'रास-नृत्य' करते हैं।

सृष्टि के इस रहस्य को लेकर 'लाइहराजवा' नृत्य के १२ प्रकार हैं। पहला रूप है—'नदाई जो गाई'। शून्य के दो टुकड़े हो जाने का रहस्य इस नृत्य में व्यक्त किया जाता है। नाचने के समय नर्तक अपने हाथों को आकाश की ओर उठाकर भिन्न-भिन्न मुद्राओं द्वारा उस दो टुकड़ेवाले शून्य में सृष्टि पैदा होने की लीला दिखाते हैं।

'लेनेन'

लेनेन-नृत्य में कटि प्रदेश वर्तुलाकार घुमाकर गोल भूमंडल की सृष्टि का अभिनय किया जाता है। लेनेन—नृत्य में पैर के अँगूठे पर खड़ा रह कर बतलाया जाता है कि पृथ्वी किसी आधार पर टिकी नहीं है। 'सेइतेइ' में महाभूम्य के कई भागों में विभक्त होने की स्फुट मुद्राएँ दिखाई हैं। 'लाइहराजवा' के १२ स्तवकों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

१ 'सेइकोवा'—पहले दिन का नृत्य है। इस स्तवक में पुजारि और पुजारिन दोनों आत्मा का महान् कर रूप-धारण करने की प्रार्थना कर माटघ करते हैं।

२ 'हेलेवा'—सृष्टि के प्रारम्भ होने पर गुरु 'सिंदवा' के महान् आनंद का नृत्य है।

३ 'अमम कथी कोफया'—आत्मान् के पश्चात् आत्मा के रूप धारण के उपलक्ष्य में आनंद का अभिनय है।

४ 'चौया नृत्य'—'पुजारिन का नृत्य' है। गुरु 'सिंदवा' ने सृष्टि के किसी संकट पर एक देवी को भेजा था, उसीकी स्मृति में यह नृत्य होता है।

५ 'पाँचवाँ नृत्य'—गुरु 'सिंदवा' के रुष्ट होने का नृत्य है। यह नृत्य बहुत-सी रमणियों हाग होता है।

६ 'छठा नृत्य'—पुरुषों का है, जो 'सिंदवा' की मूर्ति को स्थायी रूप देने के उपलक्ष्य में होता है।

७ 'परिहास नृत्य'—यह देवी-देवताओं के पारस्परिक हास-परिहास का नृत्य है।

८ 'हिरावो'—चरने बटिन नृत्य है। अग-भगी और ताल की दृष्टि में शक्ति नहीं, बल्कि शक्ति में शक्ति का भी पुष्टि हुई, कि देवता का अभिप्राय पद। यह 'निंदवा' के मूर्ति-मन्त्री पदान का नृत्य है।

९ 'लेबाओ'—कथोपकथन और भग-भगी द्वारा शरीर के अवयवों की रचना का नृत्य है।

१० 'फांगारेल'—फांगा का अर्थ है अग्नि। मनुष्य के पारस्परिक जीवन के प्रारम्भ होने में 'अग्नि' की आवश्यकता को लेकर यह नृत्य किया जाता है।

११ 'ओओ हांजेन'—मानव जीवन के इतिहास का यह नृत्य है।

१२ 'लाइरेल मयेक'—(वक्र सर्प)। इस नृत्य में सर्प की गति पर सृष्टि को निर्धारित करके समाप्त किया जाता है।

'साइहराजवा' नृत्य को संपूर्ण करने में १५ दिन लगते हैं।

पहले मणिपुर-राज्य के तीन हिस्से थे—'मोइराँ', 'खुमन' और 'भैते'। 'साइहराजवा-नृत्य' का जन्म 'मोइराँ' में हुआ था। यही शिव की रासलीला हुई थी। नृत्य के बीच-बीच में गान भी होता जाता है। पुरुष पगड़ी बाँधते हैं, स्त्रियाँ मेखला पहनती हैं। यह मणिपुर का शास्त्रीय नृत्य है। विभिन्न मुद्राओं द्वारा गूढ़ भावों की व्यञ्जना की जाती है। नृत्य की समाप्ति के दिन स्त्री-पुरुष दोनों की शोभा यात्रा होती है। लगातार दो-तीन दिनों तक स्त्री-पुरुषों में कुस्ती दगल होता रहता है।

(ख) 'शायन-बोवा'

यह 'साइहराजवा' की एक शाखा है। होली के समय रात में यह नृत्य होता है। इस नृत्य में स्त्री-पुरुष एक दूसरे का हाथ पकड़ कर मृदग के ताल-ताल पर उछलते हुए मडलाकृति में नाचते हैं। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं द्वारा सृष्टि के छोटे-बड़े सभी प्राणियों की गति-विधि की व्यञ्जना की जाती है।

(ग) सकीर्तन या गौर-लीला

यह चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित नृत्य-भगिमा है। चैतन्य महाप्रभु के बैरागी हो जाने पर 'विष्णुप्रिया' को जो विरह हुआ था, उसी विरह की गूढ़ भावनाओं को नृत्य द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह चार भागों में विभक्त है—(१) निपापाला, (२) नूपीपाला, (३) निपाखुवाक इशे, (४) नूपी खुवाक इशे।

१ निपापाला—इसमें तीस या चालीस भादमी सिर पर विशाल पगड़ी बाँधे करताल के साथ नाचते और गाना भी गाते जाते हैं। इसमें मृदग वजानेवाले कमल कर देते हैं। ताल पर विशेष दृष्टि रखी जाती है। ताल चाहे जितना द्रुत हो, पर मजाल क्या कि एक भी मात्रा इमर-उमर हो जाय।

२ नूपीपाला—इसका प्रचलन कम है। औरतें करताल लेकर मृदग के साथ नाचती-गाती हैं।

३ निपाखुवाक इशे—यह नृत्य रथ-यात्रा के समय होता है। नृत्य के साथ 'गीतनोविद' के पद गाए जाते हैं। दल के दस भादमी एक से पहिनावे, एक से भ्रांशुषण पहनकर अभिनय करते हैं, तालियाँ बजाते हैं, चुटकियाँ बजाते हैं और कठिन से कठिन मुद्राएँ दिखलाते हैं। यह एक दिस रहलानेवाला भतवाला नृत्य है।

४ नूपीखुवाक इशे—यह महिलाओं का एक मनोहर नृत्य है। अपनी कोमलता, और माहि-कता को लेकर यह नृत्य अपना सानी नहीं रखता। कृष्ण, कंस-वध के लिये रथ पर सवार होकर मथुरा जा रहे हैं। गोपियाँ जाने देना नहीं चाहती। विरह प्रसहनीय है। वे लाख चेष्टाएँ करती हैं, पर कृष्ण नहीं मानते। रथ के छोटे चल पड़ते हैं। गोपियाँ उन्हें रोकने के लिये रथ के भागे सबक पर लट जाती हैं, अपनी भालुसायित केजराशि से रथ के पहिए बाँध देना चाहती हैं। किन्तु कण्व दुस्स है यह। इस नृत्य में यही दुस्स दिखलाया जाता है। इस नृत्य में कृष्ण की शैशव-नीडा भी दिखलाई जाती है। यह इतना कण्व नृत्य है कि देखनेवालों की आँखों में बरबस धाँसू दुलफ पड़ते हैं। सास कर यह नृत्य आपाठ और आवण के महीने में होता है।

(घ) श्रमधेयता

यह श्रीकृष्ण की वात्स-लीलाओं का एक महत्वपूर्ण नृत्य है। फाल्गुन में इसका आयोजन होता है। तीस-चासीस गोप-साखाओं के साथ हाथ में बाँसुरी लेकर कुमार कृष्ण के नाचने की अभिव्यक्ति इस नृत्य द्वारा होती है। 'मंदात' में ही यह नृत्य दिखलाया जाता है। 'गोचारण', 'चोरी', 'असुर-वध' आदि के दृश्य नृत्य द्वारा दिखलाए जाते हैं। नृत्य में 'वात्सल्य रस' का पूर्ण समावेश रहता है। कभी-कभी 'रोद्र रस' की रसात्मक लीलाएँ भी होती हैं। मणिपुरियों का यह बहुत प्यारा नृत्य है। साल भर में कई बार इसका आयोजन होता है। यह नृत्य विशेष कर लड़कों द्वारा दिखलाया जाता है। लड़के रंग-विरंग की वेप-भूषा धारण करते हैं। मृदंग बजते हैं। एक गायक गाना गाता है। करतार बजानेवाले भ्रमण होते हैं। एक सूत्रधार भी होता है। एक प्रौढ स्त्री यशोदा सजती है। इनके अलावा कई महिलाएँ गोपिकाओं की भूमिका में उतरती हैं। लड़कों की पोशाक एक ढंग की होती है। नृत्य सवेरे आठ बजे शुरु होकर शाम को पाँच बजे खतम होता है।

(ङ) 'रासलीला'

यह उच्च कोटि का कलात्मक मणिपुरी-नृत्य है। पहले रासमंडल सजाया जाता है। उसकी सजावट अनुपम होती है। सारा मंडल मृन्मय प्रदीपों से जगमग हो उठता है। पहले सकीर्तन होता है। सकीर्तन के समाप्त होने पर स्त्रियाँ गोपियों के रूप में आकर मंडप के एक कोने में बैठती हैं। दो नायिकाएँ दूसरी तरफ बैठती हैं। गोपिकाओं के पास ही दो मृदंग-बजाने-वाले होते हैं। नृत्य में शुरु से आखिर तक ताल-मृदंग और गाने का प्राबल्य रहता है। जब राक्षसविनि सुनाई पड़ती है, तो श्रीकृष्ण की अभिधार-यात्रा आरम्भ होती है। कृष्ण का अभिनय काले वाला लडका ६-१० साल का होता है। नृत्य में अभिधार की रहस्यमयी गूढ लीलाओं को देखकर दर्शक आत्महारा हो जाते हैं। मिसनकुल में पहुँचने पर कृष्ण अपनी बाँसुरी बजाने लगते हैं। साथ ही राक्षसविनि भी गूँज उठती है। तब राधा की बीच में लेकर गोपियाँ मृदु-मधुर गति से नाचती हुई कृष्ण से मिलने आती हैं। कृष्ण को सजाने के लिये फूल चुनते समय प्रधान गोपी का 'भयूरी-नृत्य' देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इसके बाद राधा कृष्ण के चरणों में पुष्पाब्जि चढाती है। कृष्ण उसे उठाकर जब आलिंगन करते हैं, अनन्ता ब्रह्मानन्द में डूब जाती है। उस मिलन की मणिपुरी लोग जीवात्मा-भरमात्मा का मिलन समझते हैं। यह जितना पवित्र है, उतना ही उदात्त, उतना ही आह्लाद-जनक। रास-नृत्य के तीन प्रकार हैं—(१) वसंत-रास, (२) महारास और (३) नृत्तरास। वसंत-रास, वसंत ऋतु में, महारास आपाल-श्रावण में और 'नृत्तरास' प्रायः सदा हुआ करता है।

वस्तुतः श्रीकृष्ण के 'रासलीला-नृत्य' का जन्म मणिपुर में ही हुआ। गोपियों ने श्रीराधा की प्राण-पीडा की सहचरी होकर न जाने कितना स्वयं-विलाप किया है, किंतु फिर भी कृष्ण का हृदय नहीं पसीजा। मणिपुर शहर या गाँव के प्रत्येक मुहल्ले में एक-एक देवमंदिर है। किसी में राधा-कृष्ण, किसी में कृष्ण-वल्लभ, किसी में चैतन्य-महाप्रभु के विग्रह मिलेंगे। मंदिर के सामने दिखलाई पड़ेगा एक सुसज्जित मंडप। उसी के पास नाट्य-मंदिर भी रहता है। सभा-समिति, गान-नृत्य आदि सामाजिक उत्सव उन्हीं नाट्य-मंदिरों में हुआ करते हैं।

भूलन-यात्रा और रासपुर्णिमा ये नृत्य के दो बड़े-बड़े उत्सव हैं। सुर-गितियों के सुकठ-मिसृत भक्ति-विह्वल गानों से वैष्णव-धर्मावलंबी मणिपुरियों का मन उन्माद में भर जाता है। राधा के विरह-यात्रा-भ्रम के समय जन-मंडली के बीच में भावोन्मत्त नर-नारियों को सिसक-सिसक कर रोते देखकर हृदय कण्ठा से विह्वल हो जाता है। रास-नृत्यों में कुमारियों की रूप-सज्जा देखते बनती है।

नृत्य-नाट्य और नृत्याभिनय से जो समझा जाता है उसका पूर्ण विकास मणिपुरी नृत्य में देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण के रासलीला-नृत्याभिनय के समय रंगमंच की सजावट, गोपिकाओं

की वेद्यभूषा, रूपसज्जा, सिर की समाभूषित मूकुट-बूझाएँ, चाक-चिक्कतमय सुवर्ण-रजित चापरा आदि साज-सज्जाओं से आभूषित होकर बीस या उससे भी अधिक रास-शिल्पी जिस बक्त रसमय पर अपनी-अपनी गाथाओं के साथ समशोषयोगी गान माधुर्य की सृष्टि करते हैं तथा नियमित ताल और छंद के साथ नृत्य करते हैं तो यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि संधार के नृत्याभिनयों में मणिपुरी-नृत्य का क्या स्थान है। मणिपुरी युवक-युवतियों की कला-निपुणता उनका श्रेष्ठ अवदान है।



मोहेंजोदड़ो से प्राप्त यमलार्जुन-दृश्य : मिट्टी-गुटिका

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मोहेंजोदड़ो से मिट्टी की तीन सबसेतरी गुटिकाएँ मिली हैं, जिनमें से एक यहाँ सवित्र, प्रकाशित की जाती है। श्रीयुत 'मैके' महोदय ने अपनी सन् १९२७।३१ की खुदाई में इन्हें पाया था और अपनी पुस्तक 'फर्दर एक्सवेल्स एट मोहेंजोदड़ो' में इनका वर्णन करते हुए इन पर प्रकृत दृश्य को 'यमलार्जुन-घटना' अनुमान किया है (जिल्द १, पृष्ठ ३५४।५५ जिल्द २, प्लेट ६०, चित्र २३, २४)। आरम्भ में श्री मैके के शब्दों में ही इनका प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

“फलक ६० पर चित्र २३ (डी० के० १०२३७) एक अत्यंत रोचक रत्ना-गुटिका का है जिस पर प्रकृत दृश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनके समझने में कठिनाई नहीं होती।

चौकोर गुटिका के दो और दृश्य प्रकृत हैं। उनके दो भाग अलग-अलग साँचों में बजाकर निकाले गए थे और बाद में जोड़ मिला कर एक कर दिए गए।

पहली ओर—शुरू में एक नए ढंग का 'गोरखवंश' है। उस तरह का दूसरा मेरे देखने में नहीं आया, यद्यपि उसकी पेचक लगन से प्राप्त लुगल-अंबा की एक मुद्रा से मिलता-जुलता है। गोरखवंश की रेखाओं से बाहर निकलते हुए फदे हैं, जैसे प्रायः मोहेंजोदड़ो में नहीं मिले। इस तरह के फदेवार पेचक प्राचीन 'युनेर' में देखे जाते हैं और हो सकता है कि ये वहीं से भारत में लाए गए हों। अगस्त्य ही उनका महत्त्व रक्षात्मक या तावीज-परक था। इसके बाद चित्रात्मक लिपि के चार अक्षरों वाला कोई शब्द है, अंत में एक व्यक्ति वृक्ष-शेवता के लिये कुछ चढ़ा रहा है।

दूसरी ओर—गुटिका की दूसरी ओर के दृश्य और भी रोचक है। बाईं ओर शुरू में एक संबोत्तरा ढक्कनवार खंभू है। इस तरह के गिलास मिट्टी, ताँबे और चाँदी के बने हुए मोहेंजोदड़ो से मिले हैं।

इसके बाद के दृश्य में एक व्यक्ति पैड़ पर चढ़ा हुआ है और बाईं ओर जमीन पर खड़ा हुआ एक बाघ गर्वन घुमाकर उसे घूर रहा है। हमारी समझ से यह भी कोई धार्मिक दृश्य है।

बाहिनी ओर के तीसरे दृश्य में दो व्यक्ति दिखाए गए हैं, जो अपने हाथों में दो उखाड़े हुए पेड़ किसी वृक्ष-शेवता को वंघन-मुक्त करने के लिये पकड़े हुए हैं, अथवा जो उन वृक्षों को रोपना चाहते हैं। वृक्ष-शेवता ने उनकी ओर अपने दोनों हाथ बढ़ा रखे हैं, जो मुद्रा उसके आशीर्वाद या प्रसन्नता को प्रकट करती हैं। वृक्ष-शेवता की भुजाएँ धोल-गोल कड़ों से भरी हुई हैं। उन्हें पत्तों व समझ लेना चाहिए। इस दृश्य में दो वृक्षों का वैवाहिक गठबंधन मानना मुझे उपयुक्त नहीं जैवता। भारत के कई भागों में यह प्रथा प्रचलित है, पर उसमें दोनों वृक्ष अलग-अलग जाति के होते हैं।

मेरी समझता है कि इस दृश्य की तुलना भागवत के उस दृश्य से की जा सकती है जिसमें कुबेर के दो पुत्र 'नलवक्र' और 'मणिश्रीव' नारद के शाप से अर्जुन के दो वृक्षों के रूप में बदल गए थे और जिन्हें कृष्ण ने 'यमलार्जुनोद्धार-लीला' के द्वारा भाग्य-मुक्त किया था। कृष्ण-लीला की यह कथा अनुमानतः किन्नी प्रति प्राचीन कथा का अवशेष है। ”

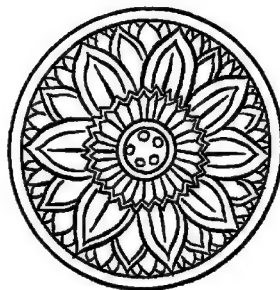
श्री मैके ने जिस दृश्य में यमलार्जुन लीला का अनुमान किया है उसकी व्याख्या भारतीय प्राचीन अध्यात्म-परंपराओं से और भी अच्छी तरह समझी जा सकती है। इनकी कुछ व्याख्या हमने अन्यत्र प्रकाशित अपने 'श्रीकृष्ण का लीला वपु' धीर्बक लेख में प्रस्तुत की है। पुराण के अनुसार नलकूवर और मणिश्रीव यक्ष-परंपरा के अग्र हुए, जिसकी मान्यता जातक और पाणिनि के समय में सारे लोक-जीवन में फैली हुई थी। वृद्ध से भी पूर्व उपनिषदों और अथर्ववेद के समय में भी यक्षों और नागों की पूजा लोक-समत थी। कुबेर इन्द्र, वरुण, अर्यमा ये सब अपने-अपने क्षेत्र में महान् यक्ष समझे जाते थे। 'भरद्वाज' की लोक-शिल्पकला में कुबेर यक्ष (कुपिरोयखो) की एक मूर्ति भी मिली है। गीता के अनुसार यक्षों में भी कुबेर भगवान् की विमूर्ति है। अब इसी प्रकार की जो बहुत सी विमूर्तियाँ कही गई हैं वे लोक में मान्य देवी-देवताओं के रूप हैं, जिन्हें सार्वत धर्म ने भगवान् के अवतार रूप में स्वीकार करके उनका समन्वय श्रुति-समत धर्म के साथ स्थापित किया।

यमलार्जुन यक्षों की तुलना उन दो यक्षों से की जा सकती है जिन्हें 'शतपथ ब्राह्मण' में 'नाम-रूप' कहा गया है—

“अथ ब्रह्मपराङ्मगच्छता तत्पराङ्गत्वा ऐक्षत कथचेन्मात्स्योक्तान् प्रत्यवेयमिति ।
तद्ब्रह्माम्यमेव प्रत्यवेत् रूपेण चैव नात्मा च ॥”

—शत० ११।२।३

अर्थात् ब्रह्म का त्रिपाद, अमृत या परार्ध-भाग तीन लोकों से बाहर निकला हुआ था, उसने सोचा कि इस प्रकार इन लोकों में फिर लौट कर जाऊँ। तब वह इन दो के द्वारा वापिस आया, नाम के द्वारा और रूप के द्वारा। नाम और रूप ही दो बड़े यक्ष हैं, जो हैं नहीं, पर फिर भी हुए से जान पड़ते हैं।



मथुरा-कला

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राचीन ब्रूरेन-जनपद की राजधानी 'मथुरा' भारत की सप्त महापुरियों में विख्यात है, उत्तर-राज्य को अलङ्कृत करने वाला गंगा-यमुना का जो कठहार है, उसमें सुंदर मुक्ताफल की तरह यमुना के दक्षिण तट पर मथुरापुरी का सन्निवेश है। किसी पूर्व युग में आर्यों का लोक-सनादन चक्र पूर्व से पश्चिम तक पृथ्वी को आत्मसात् करता हुआ फैल रहा था। उस समय पाँच नदियों के बाहीक देश और गंगा-यमुना के मध्यदेश की मिलती हुई सीमाओं पर जहाँ उनके रथ का पहिया भू-मापन के लिये ठहरा होगा, वह स्थान 'मथुरा' ही हो सकता है। देश के पूर्व और पश्चिम-भागों के बीच में यातायात की जो बमनी थी, उस पर जैसी सहस्रपूर्ण भौगोलिक स्थिति मथुरा की थी, वैसी अन्य किसी नगर की नहीं। मध्यप्रदेश के पश्चिमामिमुखी जलाट पर मथुरा सुंदर तिलक कहा जा सकता है।

यह भौगोलिक स्थिति मथुरा के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई। पूर्व और पश्चिम के समन्वय का मंत्र मथुरा के भाल पर लिख गया था। समन्वय ही मथुरा की सस्कृति का बीज है। उससे जो अक्षुर पल्लवित हुए उनसे समस्त देश का हित हुआ। मथुरा के बहुविध इतिहास का अंतर्दानी सूत्र अनेक सस्कृतियों का मेल या समन्वय है, जिसके द्वारा अनेक प्रकार की विविधता को स्वीकार करते हुए जनता ने उसके भीतर से पारस्परिक प्रेम, समिलन और एकता को प्राप्त किया। मथुरा से इतिहास और शिल्प की जो बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे इस समन्वय के सबब में कई बातें स्पष्टतया ज्ञात होती हैं।

मथुरा की भूमि में पहला समन्वय भारतीय, यूनानी और ईरानी सस्कृतियों के समिलन के रूप में हुआ। ये तीनों वाराण्य ऐतिहासिक क्रम से मथुरा में एक दूसरे के साथ टकराईं, परंतु दो-एक शताब्दियों में ही वह सघर्ष समन्वय के रूप में बदल गया और फलस्वरूप भारतीय सस्कृति की मूल-धारा ईरानी और यूनानी-प्रभावों को अपने भीतर समेट कर और भी अधिक वेग से आगे बढ़ी। इस सांस्कृतिक समन्वय का स्पष्ट परिणाम मथुरा की कला में लक्षित होता है। भारतीय कला की बार्मिक सत्यता, ईरानी कला की स्पष्ट सरलता और यूनानी कला की बाह्य सुंदरता एवं मानवीय शरीर के बाहरी आकर्षण को चित्रित करने की प्रवृत्ति, इन तीन गुणों के एकत्र होने से मथुरा कला का सौंदर्य और आकर्षण निखर कर अभूतपूर्व हो गया। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी में मौर्यों के राज-संगलन के दूटने पर यूनानीराज्य-शक्ति के पीछे-पीछे यूनानी सस्कृति और कला ने भी प्रसार पाने के लिये इस देश में पैर फैलाए। लगभग सौ वर्ष बाद प्रथम शती ई० पूर्व से प्रथम शती ई० तक ईरान के शकों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रचल पर विशेष रूप से प्रसार पाया, पर मथुरा तक पहुँचते-पहुँचते ये दोनों कलाएँ और सस्कृतियाँ शुद्ध भारतीय सस्कृति के सामने नतमस्तक हो गईं। जान पड़ता है मानो मध्यदेश की प्राणवंत संस्कृति ने उन्हें पचा लिया हो। ईसा की पहली-दूसरी शताब्दियों में शक और कुषाणवर्षी राजाओं का राज्य मथुरा में स्थापित हुआ, पर उससे भारतीय कला अभिभूत होनेके स्थान में और भी अधिक तेजस्वी बनकर प्रकट हुई। भारतीय कला के इस प्रभावशाली अस्तित्व के कारण ही आगतुक शक, यवन-संस्कृति और कला की गुणमयी विशेषताएँ उसमें पच गईं। ईरानी, यूनानी, भारतीय इन तीन सस्कृतियों और कलाओं के मिलन की पहली विवेणी मथुरा की समन्वय-श्रवण भूमि में प्रकट हुई।

प्राचीन भारत की तीन बड़ी धार्मिक विचार-धाराओं का समिलन, मथुरा के इतिहास की दूसरी विशेष घटना है। ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म और जैनधर्म ये तीनों मथुरा के समन्वय-प्रधान वातावरण में कई शताब्दियों तक एक साथ मिलकर फूलते-फूलते रहे। भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसा दूसरा स्थान हो, जहाँ तीनों धर्मों की एक साथ इतनी भारी हलचल इतने अधिक दिनों तक एक साथ चलती रही हो। प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से लगभग पाँचवीं शताब्दी तक तीनों धर्मों के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थद्वय के लिये यहाँ भरसक प्रयत्न किया। बौद्धों के सर्वास्तिवादी, महासंघिक और धर्मगुप्तक संप्रदायों के केंद्र मथुरा में थे, यह यहाँ के शिलालेखों से ज्ञात होता है। सर्वास्तिवादी आचार्यों का जो एक समय गंधार से लेकर सारे उत्तर भारत में फैले हुए थे मथुरा ही बड़ा धड़ा था। सम्राट् कनिष्क स्वयं सर्वास्तिवादियों के पोषक थे। बौद्धों के ये विभिन्न संप्रदाय थोड़ा-थोड़ा मतभेद रखते हुए भी आपस में मिलकर रहते और मथुरा के धार्मिक जीवन में चहल-पहल बनाए रखते थे। इसी प्रकार जैनधर्म के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि मथुरा के देव-निर्मित जैन-स्तूप में जैन-संघ के अनेक गण, शास्त्रार्थ और कुल मिलकर विद्या और धर्म की उत्पत्ति के लिये काम कर रहे थे।

ब्राह्मण धर्म का मथुरा के साथ सवध भगवान् कृष्ण के युग से था। मथुरा से प्राप्त जो पुरातत्त्व की सबसे पुरानी सामग्री है, उससे इतनी बातें तो निश्चित रूप से ज्ञान पड़ती हैं कि प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से मथुरा ब्राह्मण-धर्म का एक बड़ा केंद्र बन गया था। मथुरा से लगभग ढाई सौ मील दक्षिण में स्थित वेस नगर में यवन राजपूत हेलेनियोदोर ने भगवान् वासुदेव का 'गुरुध्वज' स्थापित किया। वेस नगर के पास ही साँची में मथुरा के लाल पत्थर की बौद्ध-मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मथुरा का प्रभाव-क्षेत्र वहाँ तक विस्तृत था। पश्चिम की ओर राजपूताने के 'घोसुडी' नामक गाँव से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ सकर्षण और वासुदेव के मंदिर थे। स्वयं मथुरा में वासुदेव के एक मंदिर की सिरख पर लिखा हुआ शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो शोकास के राज्य-काल (प्रथम शती ई० पूर्व) का है। इससे सिद्ध होता है कि वासुदेव और सकर्षण की भक्ति पर आश्रित भागवत-धर्म का प्रभाव मथुरा से लेकर पश्चिम में चित्तौड़ और दक्षिण में साँची-मेलघा तक के बड़े प्रदेश में फैला हुआ था। समय के साथ यह प्रभाव बराबर बढ़ता गया और धार्मिक जीवन के जो उपयोगी तत्त्व हैं उन्हें साथ समेटकर भक्ति-प्रधान भागवत धर्म के रूप में प्रकट हुआ। परम-भागवत गुप्त राजाओं के समय में धर्म का यह रूप बहुत अधिक विस्तार और प्रभाव को प्राप्त हुआ। ज्ञान पड़ता है कि भागवत धर्म के निर्माणकारी तत्त्वों ने सहिष्णुता और समन्वय के प्रचार में सबसे अधिक योग दिया। इनकी छाप समस्त महाभारत-बौद्ध-धर्म पर भी पड़ी, जो सर्वथा भक्ति-प्रधान और लोक-समग्र का समर्पण करनेवाला मार्ग था। न केवल ब्राह्मण, जैन और बौद्ध इन तीन धर्मों को हम मथुरा की भूमि में पनपते हुए देखते हैं, बल्कि ब्राह्मण-धर्म के अंतर्गत भी जो शैव और वैष्णवों के भेद हैं, उन दोनों ने भी मथुरा को अपना केंद्र बनाया। शैव और उनके भेद पाशुपत धर्म की महत्त्वपूर्ण सामग्री मथुरा के पुरातत्त्व में पाई गई है।

तीन प्रधान भारतीय धर्मों का विचार केंद्र होने के कारण यह स्वामाधिक है कि मथुरा में जिस शिल्पकला का निर्माण हुआ उसकी इन धर्मों से प्रेरणा मिली। मथुरा-कला—ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध धर्म और जैन-धर्म इन तीनों धर्मों से अनुप्राणित है। उन धर्मों के माननेवालों की जो भक्ति-भावनाएँ थी, उनकी स्पष्ट व्याख्या आज तक हम उन मूर्तियों के रूप में अंकित देखते हैं जो मथुरा में मिली हैं। यद्यपि शैली की दृष्टि से मथुरा-कला का अखंड व्यक्तित्व है, फिर भी धार्मिक भेदों के अनुसार मथुरा की शिल्प-सामग्री के तीन विभाग सरलता से हो जाते हैं—

“बौद्ध, जैन और ब्राह्मण ।”

मथुरा के भक्ति-प्रधान वातावरण का ही यह फल मालूम होता है कि इतने विभिन्न तत्त्व एक साथ मिलकर यहाँ रह सके और एक समन्वय-प्रधान संस्कृति का निर्माण करने में समर्थ हुए।

पारस्परिक सद्भाव की नींव पर विकसित उस समन्वयात्मक संस्कृति ने गुप्तकाल में समस्त देश में फैलकर राष्ट्रीय संस्कृति का ही रूप धारण कर लिया। आज तक वही सहिष्णुता-प्रधान विचार-बारा भारतवर्ष की मूल संस्कृति के रूप में देश में व्याप्त है।

मध्यदेश की यह समन्वयात्मक संस्कृति ही हमारी राष्ट्रीय संस्कृति है। मेदो को मिलाकर एतन्न करने की इसमें अद्भुत विशेषता है। भारतवर्ष के धार्मिक, सांस्कृतिक और शिल्प-स्थापत्य सबों के इतिहास में मथुरा का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसका सबसे उत्कृष्ट प्रमाण यहाँ से प्राप्त शिल्प की सामग्री में मिलता है। अतएव मथुरा की 'शिल्प-कला' का विशेष अध्ययन आवश्यक है। उससे अपने प्राचीन सांस्कृतिक विकास को समझने में सहायता मिलती है।

संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय

पुराणों की अनुश्रुति के अनुसार मधु नाम के असुर ने एक पुरी की स्थापना की थी, जो उसके नाम से 'मधुपुरी' कहलाई। उसका पुत्र लवणासुर हुआ। मधु के नाम से धमी तक मथुरा से लगभग चार मील दूरी पर 'महोली' नाम का गाँव बसा हुआ है और उसी के पास लवणासुर से संबंधित 'नोनासुर की गुफा' भी बताई जाती है। लवणासुर को परास्त करके शत्रुजन् ने वर्तमान मधुपुरी की स्थापना की। संभवतः इस अनुश्रुति के पीछे निषाद-संस्कृति-संबंधी प्रागैतिहासिक इतिहास का सत्य छिपा है। लवणासुर की राजधानी ही पीछे चलकर मथुरा या मधुपुरी नामक आर्य-संनिवेश बनी। उच्चारण-भेद से 'मथुरा' ही 'मधुरा' कहलाई। जैन और बौद्ध-ग्रंथों में इसका नाम 'मधुरा' या 'महुरा' ही पाया जाता है। मथुरा के इतिहास की दूसरी बड़ी घटना भगवान् कृष्ण का जन्म है, जिसके कारण यह पुरी अमर हो गई।

महाभारत के बाद महाजनपदों के युग में मथुरा के इतिहास पर प्रकाश की किरणें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। छठी शती ई० पूर्व में मथुरा का सबब 'अवन्ति' के राजघराने से था। अवन्ति के राजा प्रद्योत की एक कन्या वासवदत्ता वत्सराज उदयन को ब्याही थी। दूसरी कन्या का विवाह मथुरा के राजा के साथ हुआ था। इस प्रकार मथुरा का राजा अवन्ति-युव वासवदत्ता की बहिन का लवका था। माधुरिय सुतत के अनुसार अवन्ति-युव ने बुद्ध के शिष्य महाकात्यायन से मथुरा के युद्धन में भेंट की। बुद्ध के दूसरे शिष्य महाकाश्यप की स्त्री भद्रा कपिलानी मथुरा की ही थी। यद्यपि त्रिपिटक सूत्रों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता कि भगवान् बुद्ध ने मथुरा में निवास किया हो, फिर भी एक बार हम उन्हें मथुरा और 'वेरंजा' के रास्ते पर जाते हुए देखते हैं। समाचना तो यही है कि शूरसेन जैसे महाजनपद की राजधानी को भगवान् बुद्ध ने अपनी दीर्घकालीन यात्राओं में अवश्य देखा होगा। बाद की बौद्ध-अनुश्रुति बुद्ध की मथुरा-यात्रा को निश्चित रूप से मानती है। दिव्यावदान के अनुसार बुद्ध ने यह भविष्य वाणी की थी कि आगे चलकर मथुरा बड़ी नगरी होगी (पृ० ३४७)।

पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व में पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों में मथुरा का नाम नहीं है, किन्तु—“वरणाश्विन्ध्व” (४।२।८२) सूत्र के गणपाठ में मथुरा की भी गणना है।

गौतम कास में मथुरा का बौद्ध-धर्म के साथ विशेष संबंध हुआ। शोणवासी नामक आचार्य ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये एक विहार की स्थापना की जिसका नाम 'नटभट विहार' था। इस आचार्य के शिष्य मथुरावासी उपगुप्त ने सम्राट् अशोक को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। कहा जाता है कि अशोक ने मथुरा में बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के नाम से कई बड़े स्तूप बनवाए थे, जिनका वर्णन चीनी यात्री स्युआन चुआन ने किया है।

सुरा काल में मथुरा के महत्त्व का कुछ आभास पतञ्जलि के नन्मलिखित उदाहरणों से चलता है—

“सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति। सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकेभ्यश्च आभुताः अभिरूपतरा इति ॥”

अर्थात्, साकाश्य के नागरिकों से पाटलिपुत्र के निवासी अधिक सुदूर हैं। एवं मथुरा के नागरिक साकाश्य और पाटलिपुत्र दोनों स्थानों के नागरिकों से शोभा में बढकर कर हैं।

प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के लगभग मथुरा पर क्षत्रपवर्षी शकों का अधिकार हुआ। उन महाक्षत्रप रञ्जुवुल और उसके पुत्र महाक्षत्रप शोडास के नाम ज्ञात हैं। सिक्को से क्षत्रप हर्मास का नाम भी मिलता है। क्षत्रप शकों के बाद मथुरा में कुछ समय के लिये दत्त-वर्षा का अधिकार हुआ जिस के राजाओं के नाम के सिक्के मथुरा में पाये गए हैं। शकों के सिक्कों से ही मिलते-जुलते कुछ और सिक्के मथुरा में और उसके भास-भास मिले हैं, जो 'राजन्य जनपद' (राज्य जनपदस) के हैं।

इसके बाद मथुरा के इतिहास में एक भारी परिवर्तन हुआ और ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग शक-वर्षी राजाओं ने मथुरा को किसी तरह अपने अधिकार में जीप लिया। इन राजाओं की तालिका इस प्रकार है—

कदफ प्रथम (कुजल कर), कदफ द्वितीय (वेमत्कम) इन दोनों राजाओं ने प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ से ७८ ई० तक राज्य किया।

कमिष्क, ७८ ई० से १०२ ई० तक,

वासिष्क, १०२ ई० से १०६ ई० तक,

हुविष्क, १०६ ई० से ११८ ई० तक,

वासुदेव, १३८ ई० से १७६ ई० तक,

ये सम्राट् शकों की कुषाण शाखा से संबंधित होने के कारण कुषाणवर्षी कहलाते हैं। वासुदेव के राज्यकाल के बाद भी उत्तरकालीन कुषाणों की शाखा चलती रही, अतएव मथुरा के इतिहास में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों का समय 'शक-कुषाण'-काल के नाम से प्रसिद्ध है। कला की दृष्टि से पहली-दूसरी शताब्दी का समय मथुरा का स्वर्ण-काल माना जाता है। इस समय की कला ने नव निर्माण की अद्भुत शक्ति प्रदर्शित की। कुषाणकालीन शिल्पकला में नैन और मन दोनों को प्रसन्न करने की अद्भुत क्षमता और पर्याप्त सामग्री है। उसशिवा से पाटलिपुत्र तक का प्रदेश कुषाण सम्राटों के राज्य विस्तार या राजनैतिक प्रभाव के अंतर्गत था। मथुरा उस प्रभाव का सबसे बड़ा मध्यवर्ती केंद्र था।

मथुरा के शिल्पियों ने इस समय कला के क्षेत्र में बड़ा साका किया। उन्होंने जिस नई शिल्पकला-शैली को जन्म दिया वह उत्तरी भारत में सर्वत्र फैल गई। मथुरा की बनाई हुई बौद्ध-मूर्तियाँ और शिल्प के अन्य उदाहरण साँची, सारनाथ और श्रावस्ती जैसे दूर के स्थानों में पाए गए हैं।

कुषाणों के बाद लगभग ३०० ई० से ६०० ई० तक का समय 'गुप्त-युग' कहलाता है। मथुरा-कला की परंपरा गुप्त-युग में और भी विस्तृत हुई। परम भागवत महाराजाधिराज की चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल के दो लेख मथुरा से मिले हैं। गुप्तों का मथुरा के साथ घनिष्ठ संबंध ज्ञात होता है। ४०० ई० के लगभग चीनी यात्री फाहियान मथुरा में आया था। उस समय उसने मथुरा के चारों ओर के प्रदेशों की मध्यदेश कहा है। चंद्रगुप्त के समय में मथुरा सचमुच मध्य-देश की संस्कृति का केंद्र था। उस समय यहाँ बौद्ध और जैन-विहारों के अतिरिक्त ब्राह्मणों के भी कई देव-मंदिर थे। विष्णु आदि देवताओं की उपलब्ध गुप्त-कालीन प्रतिमाओं से यह बात सिद्ध होती है। सातवीं शताब्दी के लगभग मथुरा की शिल्पकला का प्रवाह मंद पड़ जाता है। उसमें न तो जीवन की दृष्टि से नवीन कल्पना करने की शक्ति दिखाई देती है और न कला की दृष्टि से ही कोई विशेषता रह जाती है। शिल्पी मानो ललित कला का संदेश भूल जाते हैं और कुछ गिने-गिनाए लक्षणों के अनुसार स्फूर्तिहीन मूर्तियों का निर्माण कर सतोंप भान लेते हैं। मथुरा में सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी का समय कला-निर्माण की दृष्टि से मूल्य है। उसमें किसी प्रकार से विचित्र नई प्रतिमाओं के दर्शन नहीं होते। उस युग में कला-निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केंद्र

मथुरा से बाहर अन्यत्र स्थापित हो जाते हैं, एवं मध्यकालीन मिल्पकला की बागडोर उनके हाथ में चली जाती है।

बुद्ध की मूर्ति

मथुरा-कला की सबसे बड़ी विशेषता बुद्ध की मूर्ति का निर्माण है। बुद्ध की मूर्ति का आविष्कार कुपाण-काल के प्रारम्भ में प्रथम शती ई० के लगभग हुआ। इससे पहले शुंग काल की कला में बुद्ध का चित्रण मनुष्य रूप में नहीं पाया जाता। मृपाल के निकट सार्ची नामक स्थान में और मध्यभारत की नागोद रियासत के भरहुत नामक स्थान में शुंग-कालीन कला के दो बड़े केंद्र पाए गए हैं। सार्ची और भरहुत की कला भारतीय बुद्ध-कला में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वहाँ के स्तूपों की चहार दीवारी के खम्भों (वेदिका स्तंभों) पर और तोरणों पर बुद्ध की जीवन-घटनाएँ और उनके पूर्व जन्म की कथाएँ जिन्हें 'जातक' कहते हैं, अनेक प्रकार से अंकित की गई हैं। उन सब में बुद्ध का चित्रण केवल प्रतीक रूप में दिया गया है। बुद्ध के प्रतीक की कल्पना कई प्रकार के चिन्हों द्वारा की गई है। उदाहरण के लिये बोधगया में सर्वोधि प्राप्त करनेवाले बुद्ध के प्रदर्शन के लिये बोधिवृक्ष का संकेत काम में लाया गया है। सारनाथ में उपदेश देते हुए बुद्ध का चित्रण धर्मचक्र अंकित करके बताया गया है। बुद्ध ने जो धार्मिक उपदेश सारनाथ में दिया था, उसे बौद्ध-साहित्य में धर्मचक्र-प्रवर्तन कहा गया है। इस घटना के चित्रण के लिये धर्मचक्र सुंदर और उपयुक्त चिह्न समझा गया। इसी प्रकार बुद्ध के परिनिर्माण का संकेत चिह्न स्तूप था। कहीं-कहीं पर बुद्ध की चरण-मातृका की छाप भी चिह्न रूप में प्रयुक्त हुई है। बोधि वृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, चरण-मातृका, उष्णीष, बोधिमंद, शिक्षापात्र आदि चिह्नों के द्वारा बुद्ध को व्यक्त करने की सुक्ति भरहुत, सार्ची, बोधगया की कला में प्रयुक्त हुई है।

अशोक (तीसरी शताब्दी ई० पू०) के समय से लेकर शुका राजाओं के प्राने तक जो बीच का काल है उसमें बौद्ध-कला ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये विलक्षण कार्य किया। शुंग कालीन तोरण और वेदिका, प्राचीन भारतीय कला के महाकोश की तरह हैं, जिनमें प्राचीन जीवन का अनेक प्रकार से चित्रण हुआ है, पर केवल सांसारिक जीवन का चित्रण उस कला का उद्देश्य न था, उसकी मूल भावना बौद्ध-धर्म से प्रेरित है। बुद्ध के महान् जीवन की अनेक रोचक घटनाओं को शिल्प में गूँथने पर भी कहीं बुद्ध को मूर्ति रूप में व्यक्त करने की आवश्यकता शिल्पी को नहीं जान पड़ी। यह बात नहीं है कि शुंग-कला में मनुष्य की मूर्तियों का विलकुल अभाव हो। वह कला अनेक प्रकार के यक्ष, नाग, मनुष्य, राजा और तपस्वियों की मूर्तियों से भरी पड़ी है। जो शिल्पी अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी मानवीय मूर्तियाँ बना सकते थे, उन्होंने बुद्ध-मूर्ति का निर्माण क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का सच्चा उत्तर 'बेर नाह' की धार्मिक भावना में ही पाया जाता है। हीनयान की मूल विचारधारा नकारात्मक थी। व्यक्ति का निर्वाण में पहुँचना जीवन का अंतिम लक्ष्य समझा जाता था। निर्वाण तक पहुँचने के लिये ही बीच के जीवन की हलचल है। जो बुद्ध एक बार निर्वाण स्थिति में जा चुके हैं, उनका सर्पक स्थूल मूर्तमूर्तों के साथ से किसी तरह हो ही नहीं सकता। बुद्ध की मूर्ति की कल्पना प्रचलित धार्मिक भावना पर सबसे बड़ा कुठाराघात होता। आस्ता का पंच भौतिक गरीर जब एकबार विशीर्ण हो गया तब तीन लोक और तीन काल में भी उसके उस दिव्य रूप का दर्शन असंभव है। देवता और मनुष्यों में कहीं भी कोई उसे फिर नहीं देख सकता। इस भावना के समर्थन में सबसे प्रामाणिक बचन भगवान् बुद्ध के मुख ने ब्रह्मजाल सूत्र में कहालाया गया है—

“उच्छिन्नमवनेमित्तिको भिक्खवे सयामतस्स कायो तिष्ठति। यावत्स कायो उत्तसति ताव न दक्षिंति देय मनुत्ता। कायस्स भेदा उद्धं जीहित-परिमादाना न दक्षिंति देवमनुत्ता।”

—दीपनिकाय-ब्रह्मजाल सूत्र २:३:२३।

अर्थात् 'ऐ भिक्षुओ, तयागत का स्थूल शरीर तुम्हारे सामने है, पर जो उसको फिर भव-बधन में बाँधने का कारण है वह कट चुका है। जब तक उसकी यह काया ठहरेगी तभी तक देवता और मनुष्य उसे देखेंगे। काया के नष्ट होने पर जीवन की परिसमाप्ति के बाद, न उसे देवता देख पायें न मनुष्य।'¹

निर्वाण पर अधिक से अधिक गौरव देने का अर्थ ही मूर्तरूप का सर्वथा निराकरण है। निर्वाण किसी भी प्रकार के भौतिक और भौतिक सस्थान को सहन नहीं कर सकता। यह विचार-धारा पूरे वेग के साथ आरम्भिक बौद्ध धर्म को प्रेरित कर रही थी। इसी कारण हम देखते हैं कि लगभग तीन शताब्दियों तक कला का निर्माण करते रहने पर भी शिल्पियों को बुद्ध की मूर्ति बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। उस युग के इस मूल धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता थी।

बुद्ध-मूर्ति का निर्माण पहले मथुरा में हुआ था गंधार में, इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। बहुधा यूरोपीय विद्वान् इस पक्ष में हैं कि यूनानी कला के प्रभाव से गंधार-कला में पहले-पहल बुद्ध-प्रतिमा का आविष्कार किया गया, उसी की देखा-देखी मथुरा के शिल्पियों ने भी बुद्ध की मूर्ति गढ़ डाली। भारतीय विद्वान् जिनमें श्री 'कुमार स्वामी' अग्रणी हैं, बुद्ध-मूर्ति की सर्वप्रथम रचना मथुरा में मानते हैं,² उनके अनुसार मथुरा की कला में बुद्ध-मूर्ति को बनाने के सारे तत्त्व और सूत्र वर्तमान थे। वस्तुतः प्रश्न गंधार के शिल्पियों की सामर्थ्य और मथुरा के शिल्पियों की असामर्थ्य का नहीं है, जैसा कि श्री फूले मानते हैं। मथुरा के शिल्पी अच्छी से अच्छी यत्न-मूर्ति बना ही रहे थे, तब बुद्ध-मूर्ति बनाने में उनकी अयोग्यता की दलील में क्या सार है? असली बात यह है कि जब तक बौद्ध-धर्म की ऊपर कही हुई मूल विचार-धारा में क्रांतिकारी परिवर्तन पूरा न हो लेता तब तक बुद्ध के अनुयायी किसी प्रकार मूर्ति का स्वागत करने के निम्ने तैयार न थे। यदि गंधार के कुछ शिल्पी बुद्ध की प्रतिमा बना भी लेते तो भी मथुरा के कलाकार उसका श्रद्धा कभी न करते, यदि मथुरा के बौद्धों के हृदयों में उसके लिये धर्मानुमोदित स्वागत की भावना उत्पन्न न हुई होती। हीनयान की निर्वाण-प्रधान विचार-पद्धति में सर्वप्रथम मौलिक क्रांति की आवश्यकता थी, जिससे बुद्ध की मूर्ति को धनीकार किया जा सकता।

विचारों के इस परिवर्तन का श्रेय भागवत-धर्म को है, जिसका अशोक मौर्य के बाद प्रति-क्रिया-रूप में दूसरी पहली घाती ई० पू० में विकास हुआ। शुंगों के राज्य-काल में उत्तरी भारत में वैदिक यज्ञ-प्रणाल कर्मकांड ने भागवत-धर्म के साथ मिलकर हिंदू-धर्म का एक नया लोक-ग्राह्य रूप सामने रखा। स्वयं पुण्यभिन ने अवलोकित यज्ञ किया था और उसी के समय में पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'कृष्ण' और 'सकृष्ण' का उल्लेख किया है—

“सकृष्णद्वितीयस्य जलं कृष्णस्य वर्षात्मा”³

अर्थात्, सकृष्ण के साथ कृष्ण की सेवा की जय हो। पतञ्जलि ने यह भी लिखा है कि 'कसबध-मातृक' का अभिनय उनके समय में होता था (भाष्य २।३६)। केशव और राम के मदिरों का भी भाष्य में उल्लेख है—'प्रासादे धनपति राम केशवानाम्', (भाष्य २।४३६)। नगरी (प्राचीन मध्यमिका) से मिले हुए सेख से (जिसकी एक प्रति चोखुडी गांव में भी मिली थी) अश्वमेधयात्री भागवत राजा

¹. श्री अर्धकुमार 'गंगुली कृत'—'बी ऐंटीविटो ऑव दी बुद्ध इमेज', बी कल्ट ऑव दी बुद्ध, पृ० ४३ (ग्रोट आसियाटिक् त्साइतमिपट, भाग १४)।

². आनंदकुमार स्वामी—'बी ओरिजिन ऑव दि बुद्ध इमेज', आर्ट बुलेटिन (१९२७) ६। २८७-२९७, चित्र २-६७।

सर्वतात के द्वारा स्थापित संकषेण और बाबुदेव की पूजाशिला के चारो ओर बनी हुई पत्थर की 'शेदिका' (पूजा-शिला-आकार) और 'नारायण वाटिका' का स्पष्ट उल्लेख है।^१ वस नगर में महाराज भागवत की सभा में समागत यवन-भूत भागवत हेलिओदर ने बाबुदेव के प्रासादोत्तम के समुख एक गखडध्वज स्थापित किया। भेलसा से प्राप्त एक दूसरे लेख में महाराज भागवत के बारहवें वर्ष में भगवान् के प्रासादोत्तम में गखडध्वज की स्थापना का वर्णन है। मथुरा के एक तीरण पर उत्कीर्ण लेख में महाक्षत्रप शोबास के समय में भगवान् बाबुदेव के महास्थान में तीरण, शेरिका और चतु शाल की स्थापना का उल्लेख है। शोबास के समय में ही 'भोरा' नामक गाँव से मिले एक लेख में पाँच वृष्णि वीरो की मूर्तियों के एक मंदिर (शैलदेव गुह) में स्थापित किए जाने का वर्णन है। सौभाग्य से वृष्णि वीरो की पाँच प्रतिमाओं में से तीन खडित प्रतिमाएँ भी मिली हैं। यह सब प्रमाण-सामग्री प्रथम शती ई० पूर्वं की है। इससे यह ज्ञात होता है कि भागवत धर्म राजस्थान-मथुरा-भेलसा के प्रदेश में एक लोक-व्यापी आंदोलन के रूप में फैल रहा था। भक्ति का भावार्थ लोक-समूह की भावना के साथ मिलकर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न कर रहा था। इस विचार-धारा ने जनता को दूर तक प्रभावित किया। आनेवाले युग का धर्म व्यक्तिगत देवता में केंद्रित भक्तिके रूप में परिणत हुआ, परंतु यह भक्ति अपने आपको देवता में लीन करके केवल अपने लिये मोक्ष प्राप्त करने का उपाय न था। यह एक सामूहिक कल्याण का धर्म था, जिसके मूल में कर्म और लोक-समूह की भावना बहुत प्रबल थी। इस दृष्टिकोण का प्रभाव देश के सब सप्रदायो और धर्मों पर पड़ा। बुद्ध के प्राचीन धर्म पर इस भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, जो प्रथम शती ई० में महायान सप्रदाय के रूप में प्रकट हुआ। महायान-धर्म भागवत-धर्म का वीर्य रूपान्तर कहा जा सकता है। इन दोनों धर्मों की समान विशेषताएँ थीं। गृहस्थ-आश्रम की महत्ता, व्यक्तिगत कल्याण की अपेक्षा सामूहिक लोक-हित या सर्वजन-हित भावना, एवं भक्ति इस क्रांति में वीरों के सप्रदायो ने आगे बढ़कर भाग लिया। महायान का दृष्टिकोण व्यक्ति के निर्वाण से हटकर 'सर्व सत्वों के हित सुख' (सब जीवों के कल्याण) पर केंद्रित हुआ।

‘सर्व सत्त्वानां हित सुखाय, सर्व सत्त्वानां हित सुखार्थम् ।’

यह वाक्य बौद्धा कुवाण-कालीन बुद्ध-मूर्तियों की चौकी पर खुदा हुआ मिलता है। समाज के हित की भावना ज्ञान-प्रधान निर्वाण धर्म से उत्पन्न होकर भक्ति-प्रधान-धर्म की ओर प्रवृत्त हुई। बुद्ध के जिस भौतिक शरीर को लोग सदा के लिये नितात अधुलन और कल्पना से बाहर समझते थे, उसके दर्शन की सन्तुष्टि हर समय आवश्यकता जान पड़ने लगी। निर्वाण का मार्ग मन को शून्य करता हुआ जीवन को रीता बना देता है। सामाजिक कल्याण का मार्ग मानवी जीवन को चारो ओर से भरा-पूरा देखना चाहता है। समूह जीवन की खोज में बुद्ध का अपना जीवन ही लोगों को सबसे बड़ा भावार्थ जान पड़ा। जनता की दृष्टि में बुद्ध का जन्म, कुल, शरीर, प्रलक्षण, वैष, मुद्रा सब लोकोत्तर सौंदर्य और आकर्षण से भरे हुए दिखाई दिए। बुद्ध के सारे निर्गुण-विचारों का सगुण प्रतीक उनका अपना शरीर ही तो था। बुद्ध का वह भौतिक स्वरूप नाथ या निराकरण के लिये न था, वह तो सानिध्य, साक्षात्कार और स्वागत की वस्तु थी। जनता के मन का सामाजिक भावार्थ बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन में केंद्रित हुआ। व्यक्ति के लौकिक जीवन का प्रतिमान बुद्ध का जीवन बना और बुद्ध के जीवन के प्रति लोक का मानस नए उत्साह और उमंग से उमड़ पड़ा।

सम्राट् कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष का 'बुद्ध-चरित' उसी सार्वजनिक मार्ग की साहित्यिक पूर्ति थी। कनिष्क के समय में निर्मित बुद्ध की पाषाण-मूर्ति उसी मार्ग का कलात्मक उत्तर

^१ कश्चित् यं राजा भागवतेन राजाधनेन पाराशरी पुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्-अर्पं संकषेण बाबुदेवाभ्यां अनिताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारे—'नारायण वाटिका'।

या। अश्वघोष का काव्य ठेठ भारतीय है, उसके सारे उपकरण इसी देश के थे, और वे जनता के जाने-पहचाने हुए थे। ठीक उसी प्रकार बुद्ध की मूर्ति भी ठेठ भारतीय थी। जब हम बुद्ध-मूर्ति के उपकरणों को देखते हैं तो उनकी भारतीयता स्पष्ट हो जाती है। पद्मासन, ध्यान-मुद्रा या भयम-मुद्रा, नासाग्र-मुष्टि, योगी की प्रघात मुद्राकृति, भ्रुकुटि के बीच का मर्माबिंदु या ऊर्ध्वा, उष्णीष, एकाग्रित उत्तरीय, हाथ पैरों में अंकित धर्मचक्र, त्रिरत्न आदि महापुरुष-लक्षण, कुषाण-कालीन बुद्ध-मूर्ति के ये ही मुख्य उपकरण हैं। इनमें से किस अंग को हम बाहर से उधार लिया हुआ कहें? इनमें से प्रत्येक की परंपरा भारतीय है। अश्वघोष ने बुद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है—

“महर्षि अस्ति नै बाली की गोब में आश्वर्य-चकित होकर वासक बुद्ध के वर्णन किए। उनके पैरों के तलवों पर चक्र-चिह्न था, हाथ और पैर की अंगुलियाँ त्वचा से जुड़ी हुई थीं। सौंहों के बीच में रोए का आवर्त या उर्णा का निशान था; उनके वृषण-कोश हाथों की तरह गुप्त थे।”^१

कुषाण-काल से पुराने बौद्ध या सत्कुत-साहित्य में भी इन उपकरणों का अस्तित्व प्राप्त होता है। बुद्ध योगी थे, बोधगया में समाधि और ध्यान के द्वारा उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था। योगी बुद्ध की मूर्ति की कल्पना विदेशी परिभाषाओं की सहायता से बननी समय ही नहीं है। प्रथम शती ई० पू० की धार्मिक पृष्ठभूमि और बुद्ध-मूर्ति के उपकरण दोनों इसी बात का संकेत करते हैं कि बुद्ध-मूर्ति भारतीय धार्मिक विकास की स्वाभाविक देन है। वह विदेशी यूनानी विचार-धारा या कला से प्राप्त कोई आकस्मिक घटना नहीं है।

गधार-कला में जो उपलब्ध सामग्री है, उससे भी इस प्रश्न पर सचाई के साथ विचार करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार के विवाद में पुरातत्व की सक्षी वस्तुस्थिति को निश्चित करने का सबसे प्रबल साधन मानना चाहिए। गधार-कला में अभी तक एक भी बुद्ध की मूर्ति ऐसी नहीं मिली जिसे हम निश्चय के साथ कुषाणों से पूर्व की कह सकें। प्रथम तो गधार-कला की बुद्ध-मूर्तियों में निश्चित सवत् या तिथि में उत्कीर्ण मूर्तियों की सख्या बहुत ही कम है। श्री स्टेन-कोनो के खरोष्ठी लेख संग्रह में केवल तीन मूर्तियों पर सवत् पाए गए हैं—

“लोर्पिया तांग की मूर्ति सवत् ३१८ (लेख ४०)। ह्वत नगर की मूर्ति सं० ३८४ (लेख सं० ५३)। स्कार डेरी की मूर्ति सं० ३६६ (लेख ६०)।”

यह गणना पुराने शक-सवत् के अनुसार मानी गई है, जिसका आरम्भ डा० स्टेनकोनो के मतानुसार ई० पूर्व ८८ के लगभग हुआ। इस प्रकार ये मूर्तियाँ तीसरी-चौथी शताब्दी ई० की हैं और इनसे गधार-मूर्ति के पौराणिक का निर्णय करने में हमें कुछ महत्त्व नहीं मिलती। स्टेनकोनो ने इन प्रश्न पर पूरी तरह विचार करते हुए लिखा है कि: ‘गधार-कला’ में सवत्-सवत् वाली बुद्ध की मूर्तियाँ बहुत बाद की हैं। ‘टार्न’ के अनुसार गधार की कला-युगीन कुषाणों के बाद मुक्त होगी हैं।^२

^१ चक्रांकपाद स तथा महर्षिजातावनद्वागुत्तिपाणि पादम् ।

सौर्यभ्रुवं धारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं दवर्गं ॥

—बुद्धनग्नि १।६४

^२ All dated statues of Buddha are very late in Gandhāra.... The Gandhāra school begins after the Kushāna period (Tarn *Greeks in Bactria and India*, p. 390).

कार्टरिगटन का मत है कि फूले के तिथि-क्रम में एक भी तारीख बुद्धरूप से निश्चित नहीं है जिससे हम बुद्ध-मूर्ति को गधार से आई हुई कह सकें। स्वयं गधार-कला को मथुरा से पहले मानने का कोई भी कारण नहीं है।^१

‘हर्जफील्ड’ के मतानुसार भी गधार-कला के अवशेष बाल्हीक के यूनानी राजाओं से कई शताब्दी बाद के हैं।^२

कला की शैली की दृष्टि से मथुरा-कला में जो श्री या सौवर्ण है, वैसी उत्कृष्ट शोभा का गधार-कृतियों में नितात अभाव है। गधार-कला भारतीय-कला का श्री-हीन रूप जान पड़ती है। मथुरा की स्मित वदन कुषाणकालीन बोधिसत्व-मूर्ति (मथुरा संग्रहालय ए १) की तुलना में रखने के लिये एक भी मूर्ति गधार-शैली के पास नहीं। मथुरा की वेदिकाओं पर जो ‘शालभजिका’ रूप में स्त्रियों की विविध मूर्तियाँ हैं, गधार-कला में उसी मुद्रा की स्त्री-मूर्तियाँ नौसिलियों की हथौटी से निकली हुई जान पड़ती हैं। विविधता, मौलिकता और रूप-विधान की दृष्टि से मथुरा-कला को कुबेर का कोष कहें तो गधार-कला रक्त की कौड़ी-सी लगती है। मथुरा का शिल्प-सौंदर्य उसकी निजी विशेषता है। सर्वाँ, मधुत की प्राचीन शालभजिका-मूर्तियों में जो शोभा का अमृत गधार और शृंगार-अधान लीलाओं का अवन है, वही नए सौष्ठव से परिष्कृत होकर मथुरा की वेदिका-स्त्रियों में प्रकट हुआ है। अशोक-गुप्प-अश्वामेधा आदि क्रीडाओं के विषय भी दोनों में एक जैसे हैं। तात्पर्य यह है कि विषय और शैली दोनों दृष्टियों से मथुरा का कुषाण-शिल्प मुख्यतः भारतीय है और वह अपनी निजी विकास की धारा के सर्वथा अनुकूल है।

जब कि गधार में मिली हुई बुद्ध की मूर्तियों पर उत्कीर्ण तिथियों से हम उनकी प्राचीनता नहीं सिद्ध कर पाते, मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ इस विषय में निश्चित प्रमाण उपस्थित करती हैं। मट्टिवाली चित्तियोंवाले लाल पत्थर की बनी हुई मथुरा-शैली की मूर्तियाँ मथुरा से बाहर कौशावी, आवस्ती, सारनाथ और सर्वाँ तक से मिली हैं। कौशावी की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष में, और सारनाथ की विशाल बोधिसत्वमूर्ति कनिष्क के तीसरे वर्ष में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य ‘मिश्रबल’ के द्वारा स्थापित की गई थी। स्वयं मथुरा में कनिष्क और ह्विष्क के राज्यकाल की बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं। इनसे निश्चय है कि कनिष्क का राज्यकाल जैसे ही प्रारम्भ हुआ, बुद्ध की मूर्तियाँ मथुरा में बननी प्रारम्भ हो गई थी। कनिष्क के पूर्वकाल की सवत् के साथ उत्कीर्ण कोई बुद्ध-मूर्ति अब तक नहीं पाई गई। अतएव प्रामाणिक रीति से कोई यह नहीं कह सकता कि मथुरा की बुद्ध-अतिमा का प्रादुर्भाव कनिष्क से पहले हो चुका था। कनिष्क के सिक्के के एक ओर बुद्ध की मूर्ति पाई गई है। कनिष्क से पहले राजा ‘वेमत्तक्षम’ थे, जिनकी बँटी हुई एक बड़ी प्रतिमा मथुरा में मिली है। उनके एक सिक्के पर भी बुद्ध की आकृति बताई जाती है, किंतु अभी तक कोई सिक्का इतनी अच्छी हालत में नहीं मिला, जिससे इस बात को पक्के रूप में मान लिया जाय। स्वयं सम्राट् वेमत्तक्षम शैव थे। सिक्कों पर वडे गर्व से उसने अपने लिये ‘माहेस्वर’ विरह का प्रयोग किया है।^३ उनका एक भी सिक्का ऐसा नहीं है जिसके पट्टाव (पीछे की ओर) शिव अथवा नवी की मूर्ति न बनी हो। इस बात से

१. Foucher's chronology does not contain a single fixed point and there is no reason to antedate Gandhara art in order to provide a borrowed origin for the Graeco-Bactrian empire (टार्न, वही, पृ० ३६८)

२. Herzfeld has put the Gandhara monuments later by many centuries than Graeco-Bactrian empire (टार्न, वही, पृ० ३६९)

३. वेमत्तक्षम की मुद्रा पर पूरा लोकोटि लेख इस प्रकार है—

“महर्षयस् रजधिरजस् सर्वलोमहर्षयस् माहेस्वरस विभक्तविक्रान्त श्रवर ।”

यह तो निश्चित रूप से प्रकट होता है कि कनिष्क से पहले ही शकों का हिंदू-धर्म के साथ बहुत घनिष्ट परिचय हो चुका था और उन्होंने हिंदू-धर्म की पुजा-पद्धति और देवताओं को अपना लिया था। ऐसी स्थिति में भागवत-धर्म के द्वारा जिस भक्ति-प्रधान मार्ग का हिंदू-धर्म में प्रचार हो रहा था, उसे बाहर से आनेवाले शकों ने भी अपनाया होगा, यही स्वाभाविक जान पड़ता है। वेमत्तसम्म ने उस भक्ति-प्रधान मार्ग के द्वारा शैव-धर्म को स्वीकार किया। ज्ञात होता है कि उसके बाद आनेवाले सम्राट् कनिष्क ने अपने जीवन में वही स्थान बौद्ध-धर्म को दिया जो वेमत्तसम्म के जीवन में शैव-धर्म को मिला हुआ था। इन सब ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करते हुए यही सत्य जान पड़ता है कि कनिष्क के समय में ही प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति का निर्माण मथुरा-शैली में हुआ।

श्री कोह्ल^१ का मत है कि अतः साक्षी के आचार पर बुद्ध-प्रतिमा ठेट भारतीय भाविका रूप में जान पड़ती है। 'शोरमान' के अनुसार किसी समय मथुरा ही बुद्ध-मूर्ति के निर्माण का प्रथम स्थान सिद्ध होगा, यद्यपि अभी इसके लिये निश्चित साक्षी नहीं है।^२

यह कहा जा चुका है कि मथुरा की कला में पहले से ही वे तत्व मौजूद थे, जिनकी सहायता से बुद्ध की मूर्ति का निर्माण सरलता से किया जा सकता था। मथुरा में मिली हुई बुद्ध की मूर्तियाँ दो तरह की हैं—

१. विशालकाय खड़ी हुई मूर्तियाँ, जिनकी ऊँचाई कभी तो आदमकब और कभी मालवी के काय-परिमाण से भी अधिक है।

२. पद्मासन में बैठी हुई मूर्तियाँ।

पहले प्रकार की मूर्तियों की परंपरा मथुरा-कला की उन पुरानी मूर्तियों के साथ संबंध रखती है, जिनमें परश्वर गाँव से मिली हुई यक्ष की विशाल मूर्ति सिरभर है। ये यक्ष-मूर्तियाँ मौर्य-शुंग-कालीन कला के उदाहरण हैं। मथुरा, पटना, ग्वालियर आदि स्थानों में इस प्राचीन कला के उदाहरण पाए गए हैं। किसी समय यह कला उत्तरी भारत भर में फैली हुई थी। जिस समय भक्ति-धर्म के उदय के साथ मूर्तियों का निर्माण होने लगा, पहली मूर्तियाँ इसी कला-शैली में बनाई गईं। इन मूर्तियों का ठाठ यह था—

“ऊँचा कब और भारी डील-डौल, दाहिना हाथ चमर या फूल लिये हुए या प्रभय-मुद्रा में, बाँया हाथ लता-हस्त-मुद्रा में शरीर के साथ सदा हुआ, या कटि-विलम्बस्त-मुद्रा में कमर पर रक्खा हुआ, कालो में भारी कुबल, गले में कंठा और तिर्छूदा चपटा हार, हाथों में कड़े या कंगन, कंधे पर उत्तरीय, और नीचे धोती की घेष-भूषा।”

ये सब लक्षण पूरी तरह मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्तियों में घटित होते हैं। सारलाय से मिली हुई बोधिसत्व की मूर्ति मथुरा की परश्वर-यक्ष-मूर्ति की कला-शैली को व्यक्त करती है। दोनों की अनुहार एक है और इसमें तबिक भी संदेह नहीं कि मथुरा की खड़ी हुई प्रथम बोधिसत्व-मूर्ति परश्वर-यक्ष के उत्तराधिकार को सर्वाधिक में प्रकट करती है। दोनों में एक जैसा डील-डौल और उदात्त-भावित का प्रदर्शन है। शैली की दृष्टि से परश्वर यक्ष और सारलाय-बोधिसत्व का सूत्र बुद्ध-मूर्ति के प्रथम विकास की पूरी व्याख्या कर देता है। इस सूत्र में श्री कुमार स्वामी के मतानुसार रत्ती-भर भी विदेशी प्रभाव की संभावना या उसके लिये स्थान नहीं है।

१. On internal grounds the Buddha statue must be a purely Indian invention—

—डार्न द्वारा उद्धृत, पृ० ३६७।

२. “The time will come when Mathura will stand forth as the sole place of origin of the Buddha statue, even though it cannot be proved”

—डार्न द्वारा उद्धृत, पृ० ३६७।

भयुरा-शैली की दूसरे प्रकार की बुद्ध-मूर्तियाँ 'बोधिवृक्ष' के नीचे पद्यासन में बैठी हुई हैं। इनमें सबसे उत्कृष्ट बोधिसत्व की एक मूर्ति है जो कटरा केरावदेव से मिली थी (भयुरा संग्रहालय ए १)। उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

१. बुद्ध सिंहासन पर बैठे हैं।
२. उनके दोनों पैर पल्लोयी लगाए हुए पद्यासन-मुद्रा में हैं।
३. बाहिना हाथ असम-मुद्रा में हैं और बायाँ हाथ घुटने के पास रक्ता हैं।
४. हथेली और तलुवों पर 'त्रिरत्न' और 'वर्म-चक्र' आदि महापुरुष-लक्षण बने हुए हैं।
५. बारीर पर कोई आभूषण नहीं है।
६. नाँवे कंधे पर सलवटदार उत्तरीय पड़ा हुआ है और नीचे धोती पहने हुए है। छाती पर वस्त्रात-सूचक यन्त्रोपवीत के ढंग की रेखाएँ हैं।
७. मस्तक पर उठा हुआ उष्णीष है जो केसों से ढका है।
८. बाकी सिर का हिस्सा सपाट है, साथे पर बालों को सूचित करनेवाली केवल एक रेखा है।
९. मोहो के बीच उर्ण-बिंदु है।
१०. सिर के पीछे गोल प्रभा-मंडल है, जो बिलकुल सादा है। उसके चारो ओर चुड़ी-नुमा कटाव की (बंगड़ीदार) किनारी है।^१
११. मूर्ति के पीछे पीपल के पत्ते और शाखाएँ अंकित हैं, इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे बैठा हुआ दिखाया गया है।
१२. बुद्ध के दाईं-बाईं ओर एक-एक पार्श्वचर हैं जो जैवर लिये हैं। पार्श्वचरो का वेष साधारण गृहस्थों जैसा है। वे मुकुट, कुंडल, हार, कड़े, उत्तरीय एवं धोती पहने हुए हैं। न तो उन्हें 'ईश्वर' और 'ब्रह्मा' कह सकते हैं और न 'भगवान्' तथा 'अवलोकितेश्वर'। इस प्रकार के गृहस्थ-वेषधारी पार्श्वचर इन आरम्भिक मूर्तियों में पाए जाते हैं।
१३. मूर्ति के ऊपर के कोनों में विषय पुष्प-मृष्टि करते हुए दो व्योमचारी देव हैं।
१४. मूर्ति की मुखमूद्रा भावपूर्ण है। उसकी मंत्र-मुसकान आंतरिक ज्ञाति को प्रकट करती है, किंतु यह आध्यात्मिक ज्ञाति बाह्य-जगत् से पराङ्मुख नहीं है। यह मूर्ति इस कारण से अपने समय की ठीक उपज है और महायान के धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रकट करती है।

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार बनी हुई यह बुद्ध-मूर्ति ठेठ भारतीय शैली में है और भयुरा की अत्यंत प्राचीन मूर्तियों में है। डा० बोगल के अनुसार यह मूर्ति कुषाण-काल के आरम्भिक काल की है। इस मूर्ति की चौकी पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

१. बुध रक्षितस मातरे अमोह आसिये बोधिसत्त्वो पसिठापितो।
२. साहा मातापितिहि सके विहारे
३. सव सत्वाना हित सुखाये

अर्थात्, बुद्ध रक्षित की माता अमोहा ने जो श्रद्धापूर्वक ज्ञाति की (आर्षी) थी, अपने माता-पिता के साथ स्वकीय विहार में सब सत्वों के सुख के लिये 'बोधिसत्व' को स्थापना की।

बुद्ध और बोधिसत्व

उपरोक्त कटप की मूर्ति की तरह की ही आन्वीर गाँव से मिली दूसरी मूर्ति के लेख में उसे बुद्ध की मूर्ति कहा गया है। मूर्ति-कला की दृष्टि से बुद्ध और बोधिसत्व के अवन में अंतर है।

^१ अंग्रेजी स्कैलपड् बार्डर (scalloped border), ब्रह्मा चूड़ियों की श्रृंखला (बंगड़ी-चूड़ी)।

बोधि प्राप्त करने से पहले गौतम बुद्ध की संज्ञा बोधिसत्त्व है, अर्थात् वे बोधि प्राप्त करने के मार्ग में बंध रहे हैं। बोधि या ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद वे 'बुद्ध' कहलाते हैं। बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ राजकुमारों की तरह मुकुट और आभूषण पहने रहती हैं, परंतु बुद्ध की मूर्तियाँ, सादे वेष में चीकर पहने दिखाई जाती हैं। वस्तुतः मूर्तियों में यह भेद कुछ काल पश्चात् उत्पन्न हुआ होगा। शुरु में जनता का ध्यान मूर्ति द्वारा गौतम बुद्ध की वास्तविक प्रतिरूपिणी प्रकट करने की ओर था। अतएव बोधिसत्त्व की मूर्तियों में भी गौतम बुद्ध को आभूषणों से रहित दिखाया गया था, क्योंकि सोच-गया नें बोधि-आप्त करने में पहले ही जब गौतम बुद्ध ने घरबार से बिदा ली थी, तभी ने वे अपना राजनी वेप छोड़ चुके थे। सन्यासी का वेप ही गौतम के लिये उपयुक्त वेप था। मथुरा-कला के धारण में बुद्ध और बोधिसत्त्व का भेद निराकरण और सामरण मूर्ति का भेद नहीं है। केवल चीनी पर बुरे हुए लेख बताते हैं कि मूर्ति बुद्ध की है, या बोधिसत्त्व की। सारनाथ में प्राप्त निखुबल की मूर्ति सादा वेष में है, पर वह बुद्ध नहीं बोधिसत्त्व कही गई है। इस प्रकार की प्रतिमाओं में 'बोधिवृक्ष' का चित्रण उन्हें गौतम बुद्ध के जीवन की एक वास्तविक घटना से संबन्धित कर देता है। बुद्ध के नाम से और बोधिसत्त्व के नाम से गिल्पी की गौतम बुद्ध का ही चित्रण अभीष्ट था। अन्य अनेक बोधिसत्त्व और बुद्धों के चित्रण की परिपाटी का उदय गौतम बुद्ध की मूर्ति के कुछ काल बाद, नमन ह्विष्क के राज्यकाल में हुआ। यहाँ पर मथुरा के मंगलालय में सुरक्षित एक खडित मूर्ति (ए ६६) की ओर ध्यान दिलाता आवश्यक है, जो कटारा और धान्यार के बोधिसत्त्वों से मिलती हुई है। चीनी पर लुपे हुए लेख से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति बोधिसत्त्व की है और 'सर्वास्तिवादी मयदाय' के आचार्यों के लिये समर्पित की गई थी। मूर्ति की स्थापना किसी क्षत्रप के राज्यकाल में की गई थी, जिसका नाम अब खाल है। मूर्ति की शैली बिल्कुल आरम्भिक काल की है, और यदि इसमें शासक का माल मिल जाता तो यह मूर्ति इस जटिल प्रश्न पर बहुत कुछ प्रकाश डाल सकती। इतना अवश्य सूचित होता है कि सर्वास्तिवादी बौद्ध-आचार्यों की प्रेरणा से ही कटारा से प्राप्त बोधिसत्त्व-शैली की अभयमुद्रा और पद्मासन में बैठी हुई मूर्तियाँ बनाई गई थी।

मथुरा में कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिनमें पीपल का पेड़ मूर्ति के शिखर-पट्ट के पीछे चित्रित है। इस प्रकार के अंकन की मूर्तियों का दर्शन समूह और पीछे-पीछे दोनों तरफ से होता था और वे खुले हुए बोधि-मंड पर रख कर पूजा जाती होगी। यही विशेषता लिये हुए एक दूसरी मूर्ति है (मथुरा सं० ५१४), जिसमें गौतम बुद्ध की प्रतिरूपिणी के साथ उसका सादृश्य मूर्चिन्तन चलेवा और भी अधिक प्रयत्न किया गया है। इसमें बुद्ध की मण्डलीकरी की तरह चल्न-सही को चीकर बनाई गई है। बौद्ध-साहित्य में गौतम बुद्ध के चल्न की उपमा मगधदेश में फैले हुए धान के खेतों से दी गई है। जैसे एक बड़े चक्क के भीतर में डूबे हुए अलग-अलग खेत और खेतों में कपासियाँ होती हैं, उसी तरह सब चीकोर पैवबो को जोड़कर बुद्ध का परिधान बनाया गया था (विनय-पिटक २।१२।१ महावग्ग)। इस साहित्यिक वर्णन से लाभ उठाकर ऐसी मूर्ति बनाने की कोशिश की गई जिसे देखते ही बुद्ध-रूप में उसके पहचाने जाने में किसी को संदेह न रहे।

मथुरा में एक वर्षा ऐसी मूर्तियों का है जो मुकुट, चल्न और आभूषणों से अलङ्कृत राजनी वेष में है। ये खड़ी हुई और बड़ी हुई दोनों मुद्राओं में हैं। खेद है कि इस प्रकार की मूर्तियों पर भी लेख नहीं है, जिससे कटारा-मूर्ति से उनके पहले या पीछे होने का निश्चय किया जा सके। इसमें से खड़ी हुई मूर्तियों की वेष-भूषा और सज्जा मथुरा की अन्य गृहस्थ-मूर्तियों के जैसी है। बड़ी हुई मूर्तियों में आभूषणों का प्रयोग बहुत अधिक है। गले में मोतियों की माला, हार, पदक और रक्षा करंडको' से युक्त रक्षा-सूत्र पहने हुए हैं। अग्रिम विशेषता साधारणतया गंधार की मूर्तियों में पाई

* तावोन या अंग्रेजी के 'पुम्पूलेट' के लिये संस्कृत का शब्द 'रक्षाकरंडक' काश्मिर द्वारा 'गर्जुतल' में प्रयुक्त हुआ है।

जाती है। मथुरा-कला में इस प्रकार की मूर्तियाँ सभ्यत बाद की बनाई गईं, लेकिन उनके निश्चित तिथि-क्रम के विषय में लेखों के अभाव से ठीक निर्णय संभव नहीं।

अन्य बुद्ध और बोधिसत्व प्रतिमाएँ

मथुरा-कला में बुद्ध-मूर्ति का चित्रण गौतम बुद्ध तक ही सीमित नहीं रहा। गौतम बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ मूर्तियाँ दूसरे बुद्ध और बोधिसत्वों की भी हैं। बुद्ध से पूर्ववर्ती दूसरे बुद्धों की मान्यता पुरानी थी। राजा अशोक ने 'कनक मुनि' नामक एक पूर्व बुद्ध के स्तूप का जीर्णोद्धार करवाया था, ऐसा उनके एक स्तंभ लेख से विदित होता है। बौद्धों के अनुसार विपश्चित्, शिखी, विज्जामित, ककुच्छद, कनक मुनि, काश्यप और क्षान्ध मुनि ये सात बुद्ध हुए हैं। आठवें अग्नी भविष्य में जन्म लेंगे, जो इस समय बोधिसत्व मैत्रेय की अवस्था में हैं। काश्यप नामक छठवें बुद्ध की एक खड़ी मूर्ति मथुरा की कुषाण-कला में मिली है। सप्त बुद्धों से चित्रित कई शिलापट्ट भी पाये गए हैं। मैत्रेय बोधिसत्व की भी कई मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी विशेष पहचान यह है कि मैत्रेय एक हाथ में एक अमृत-घट लिए रहते हैं (मथुरा सं० ८६८)। मथुरा के साल पत्थर की बनी हुई कुषाण-काल की एक मूर्ति अहिच्छन्ना से प्राप्त हुई है। उसकी चौकी पर उत्कीर्ण लेख में मूर्ति को 'मैत्रेय-प्रतिमा' कहा गया है।

महायान-बौद्ध-धर्म में अन्य अनेक प्रकार के बुद्ध और बोधिसत्वों की कल्पना का विकास हुआ। इनमें पाँच बोधिसत्व और उनके उत्पादक पाँच ध्यानी बुद्ध मुख्य हैं।

भूमिका

बौद्ध-धर्म के अनुसार देवलोक के उत्तरोत्तर ऊपर सोलह ब्रह्मलोक हैं। जो साधक पहले, दूसरे और तीसरे ध्यान में परिपूर्ण हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोकों के प्राथमिक लोकों में क्रमशः जन्म लेते हैं। एक-एक ध्यान के लिये तीन-तीन ब्रह्मलोक हैं। जो चौथे ध्यान की साधना में परिपक्व हो जाते हैं, वे दसवें और ग्यारहवें ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं। अंतिम पाँच ब्रह्मलोक उन साधकों के लिये हैं जो पृथ्वी पर ध्यान की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करते हैं और अगले जन्म में निर्वाण प्राप्त करने के अधिकारी बनते हैं। ध्यान की इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक को फिर सत्सार में नहीं आना पड़ता, एवं उसके भीतर विषय और पाप-बुद्धि का सर्वथा लोप हो जाता है। महायान धर्म के अनुसार इन अंतिम पाँच ब्रह्म लोकों में एक-एक बुद्ध रहता है जिसे 'ध्यानी बुद्ध' कहते हैं। ये पाँच ध्यानी बुद्ध जिन पाँच मानवी बुद्धों के रूपांतर हैं वे गौतम बुद्ध समेत चार अंतिम बुद्ध, एवं पाँचवें भविष्य में जन्म लेनेवाले मैत्रेय हैं। प्रत्येक मानवी बुद्ध अपने समकक्ष बोधिसत्व और ध्यानी बुद्ध से संयुक्त हैं। ध्यानी बुद्ध ब्रह्मलोक में उसका तेजस्वी स्वरूप है जो भौतिक जीवन की सब पापावस्थाओं से रहित है। मानवी बुद्ध उस ध्यानी बुद्ध का रूपांतर होता है जो सदा ब्रह्मलोक में ध्यानावस्था में लीन रहता है। इन बुद्ध और बोधिसत्वों की तालिका इस प्रकार है—

ध्यानी बुद्ध	बोधिसत्व	मानवी बुद्ध	भुवरा	बाहन	स्वध-रूप में स्थान	वर्ग	मस्तक पर चिह्न
१. वैरोचन	साधतभद्र	ककुच्छद	वर्मचक्र	नाग	रूप, मध्य	कवच	चक्र
२ अशोभ्य	वज्रपाणि	कनकमुनि	भूमिस्पर्श	हाथी	विज्ञान, पूर्व	चक्र	वज्र
३ रत्नसंभव	रत्नपाणि	काश्यप	वरद	सिंह	वेदना, दक्षिण	तन्त्र	रत्न
४ अमिताभ	समपाणि या	गौतम	समाधि	मयूर	संज्ञा, पश्चिम	द्वय	पद्म
५ अमोघसिद्धि	विश्वपाणि	मैत्रेय	अभय	गर्दभ	सत्कार, उत्तर	पर्वत	विश्ववज्र (बोहरा वज्र)

यह अटिल कल्पना हिंदुओं के प्राचीन दार्शनिक मूलभूत पंचतत्त्व, पंचप्राण, पंचविषय, पंच-इन्द्रियाँ आदि के साथ बुद्ध-दर्शन का मेल मिलाने के लिये की गई। इसी के जोड़ की कल्पना शैवी में भी विकसित हुई, जिसके अनुसार पंचमुखी शिव की मूर्तियों का निर्माण हुआ। वे पंचमुख क्रमशः— 'ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात' कहलाते हैं। मथुरा में पंचमुखी शिव की कई मूर्तियाँ मिली हैं। वस्तुतः इस पञ्चात्मक मूर्ति-संघ की कल्पना का प्रारम्भ भागवतो के चतुर्व्यूह और पंच वृष्णि-वीरो की कल्पना से ज्ञात होता है। मथुरा के 'मोरा'-शिलालेख में, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, पंच वृष्णि-वीरो की मूर्तियों का स्पष्ट वर्णन है। चतुर्व्यूह में भगवान्—सकृषण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की गणना है। इनके साथ पाँचवें साव को मिलाकर पंच वृष्णि-वीरों की कल्पना प्रथम शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आ चुकी थी। विष्णु, शिव और बुद्ध के अनुयायी मन्त अपनी-अपनी मूर्तियों का चतुर्व्यूहात्मक या पञ्चात्मक विभेद करते हुए एक ही मूल-अवृत्ति या विचार-धारा का अनुसरण कर रहे थे। वैष्णवों में जैसे चतुर्व्यूह है, शैवों में उसी प्रकार चतुर्मुखी शिवलिंग है। बौद्धों के चतुर्व्यूहात्मक स्तूप जिनमें स्तूप की एक-एक दिशा में एक-एक बुद्ध अंकित किया गया है, उसी शैली के हैं। उसी समय की मथुरा-कला में जैन चौमुखी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें लेखों में प्रतिमा 'सर्व-तोमदिका' कहा गया है। उनकी एक-एक दिशा में एक-एक तीर्थंकर अंकित है। ये मूर्तियाँ भी उसी दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रकट करती हैं। जान पड़ता है कि इस समस्त धार्मिक प्रपञ्च के मूल में एक योग-श्रवण या तांत्रिक दृष्टिकोण काम कर रहा था। मनुष्य का शारीर पञ्चात्मक है। पाँच तत्वों या पंचभूतों के अनुसार शरीर के पाँच चक्र, पाँच इन्द्रियाँ, पंच विषय, पंच प्राण कार्य करते हैं। पाँच चक्रों और सृष्टि के पंच महामूतों के अनुसार देवताओं की व्याख्या और वर्गीकरण, धर्म का तांत्रिक विकास है। उपलब्ध मूर्तियों के देखने से ज्ञात होता है कि कुषाण-काल में इस प्रकार का तांत्रिक विवेचन बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव इन चारों सम्प्रदायों में विकसित हो चुका था। मथुरा से प्राप्त ध्यानी बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्ति-सामग्री उत्तर प्रदेश इतिहास-परिषद् (१९३८) में वर्णित है।

मथुरा की गुप्त-कला

कुषाण-काल में मथुरा की शिल्प-कला सब दिशाओं में उन्नति को प्राप्त हुई, किंतु उसके बाद भी उसका प्रवाह भाग्य बड़ा और गुप्त-काल में मथुरा की कला अपने उस श्रेष्ठरूप में विकसित हुई जो उस स्वर्णयुग की कला की देश-व्यापी विशेषता थी।

कला के साथ साहित्य और धर्म भी अपने निखरे हुए स्वच्छ और सस्कृत रूप में उन्नति को प्राप्त हुए। उस युग का आदर्श 'अनुत्तर ज्ञान' या 'अनुत्तर सम्यक् सवोधि' की प्राप्ति थी, जिसके लिये मंकडों, सहस्रों की सख्या में उच्च धराने के नवयुवक अपने जीवन और धन का समर्पण करते हुए सामने आए। सद्धर्म पृथरीक^१ के कुछ अवतरणों में हमें युग की आत्मा के वर्णन होते हैं। प्रवरमहर्षि, परमार्यदर्शी, लोक-विनायक भगवान् बुद्ध ने चारों ओर दृष्टि डालकर (मन्त पशु) लोक-हित की कामना से (लोकहितानुकी) कुल-पुत्रों का आवाहन किया—'हे कुलपुत्रों, धर्म-प्रपादन-रूप दुष्कर कर्म के लिये कटिबद्ध हो जाओ।' 'जिसके हृदय में इस धर्म को प्रकाशित करने का सचन उत्पन्न हुआ हो मैं उसका सिंहनाद सुनना चाहता हूँ। अग्नि और अविधात भाव मे जो दग्ग आ को धारण करेगा, वह तयागत के पुत्रों में भग्न्रा (धुरावह) समझा जायगा। अनुत्तर सम्यक् परोधि में एत बार मन लगाकर फिर मैंने अपने मन को उधर से नहीं घुमाया। अनग्व जो सच्चा दूर है

१. सद्धर्म पउरीक ११।११—४०।

"चित्तेय कुलपुत्राहो सर्वं सत्यानुकंपया।

मुदुष्करमिदं स्यान्ममुत्सहति विनायका।"

—मंदर्म ३१।१६

वह इस कठिन कर्म को धारण करे।' व्यक्तिगत रूप में परमोच्च ज्ञान की प्राप्ति और सामाजिक क्षेत्र में लोकहित के साधन इन दोनों ने गुप्तकालीन बुद्ध-धर्म को विलक्षण सरसता प्रदान की। इसी की तरह गुप्त-कला में भी दो भन्व्य तत्वों सौंदर्य और अध्यात्म का समन्वय हुआ। बुद्ध की मूर्ति एक ओर सौंदर्य की प्रतीक है और दूसरी ओर जिस व्यक्ति को सर्वोच्च सर्वोधि प्राप्त हुई है उसकी प्रज्ञात मूर्ताकृति को भी पूर्णतया व्यक्त करती है।

गुप्त-काल की बुद्ध मूर्तियों में भिक्षु यशोवर्धन द्वारा स्थापित खड़ी हुई मूर्ति अत्यंत सुंदर और भव्य है। भारतवर्ष की चुनी हुई सुंदर मूर्तियों में इसकी गणना है। बुद्ध की प्रज्ञात मुख-मुद्रा के अंकन में शिल्पी को विशेष सफलता मिली है और हम प्रथम बार अनुत्तर ज्ञानावाप्त अथवा सम्पक् सनुद्ध योगी को कला में प्रत्यक्ष देखते हैं।

बुद्ध के दोनों कभो पर (उभयासिक) सघाटी पड़ी हुई है। उसके सूक्ष्म विमल वस्त्र के भीतर से मेखला और शरीर आकृति हुआ दिखाई पड़ता है। नासाग्र-वृष्टि, जुड़वां भौंहें, लंबे कर्ण-पाश, चौड़ा ललाट, कुचित केशों से ढँका हुआ छात्राकार चिर, ये सब गुप्तकालीन कला के स्पष्ट लक्षण हैं जो इस मूर्ति की विशेषता हैं। चिर के पीछे जो अलंकृत प्रभा-मण्डल है उसके कारण मूर्ति और भी भव्य जैवती है। रघुवज्र में इस प्रकार के 'प्रभा-मण्डल' के लिये 'पद्मात-पत्र छाया-मण्डल' शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसा कि रघु के वर्णन में कवि ने लिखा है—

“छायामंडलस्वयेण तमद्वया किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण सेजे साभ्राज्यदीक्षितम् ॥”

—रघुवज्र ४।१५

'रघु के मस्तक के पीछे जो प्रभा-मण्डल था, उसमें उस कमल के छाते की परछाई व्यक्त हो रही थी, जिसे भद्रव्य लक्ष्मी उसके ऊपर लगाए थी।' गुप्तकालीन प्रभा-मण्डल को कालिदास ने 'स्फुरत् प्रभामण्डल' भी कहा है।^१

कमल की पंखुवियाँ, फुल्लावली और पत्र-लता, बीच-बीच में मोरजी, इन अलंकरणों से गुप्त-कालीन प्रभा-मण्डल सजाए रहते हैं। कुषाणकालीन प्रभा-मण्डल बहुत सादा था, जिसके बाहरी कोर पर एक वेंगडीदार किनार रहती थी। भिक्षु यशोवर्धन की यह बुद्ध-मूर्ति उस समय की है जब कि गुप्त-कला अपने सर्वोच्च रूप में थी। पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध इसका समय ज्ञात होता है। इसके सीवर्ष बाद की एक दूसरी बुद्ध-मूर्ति 'कटरा केशवदेव' से मिली थी, जिस पर गुप्त सन् २३० का एक लेख उत्कीर्ण है। लेख के अनुसार भिक्षुणी 'जयमट्टा' ने 'यशोविहार' में इस मूर्ति की स्थापना ५४६-५० ई० में की थी।

मथुरा में बौद्धों के अनेक विहार थे। शिला-लेखों के आधार पर अब तक निम्नलिखित विहारों के नाम मिल चुके हैं—

१. हुविष्क-विहार— यह जमालपुर टीले के स्थान पर था, जिसकी स्थापना हुविष्क ने की थी।
२. स्वर्णकर-विहार—यहाँ के महोपदेशक आचार्य कुषाण-काल में प्रसिद्ध थे (मथुरा संग्रहालय स० २६०)।
३. श्री-विहार— इसमें समितीय संप्रदाय के आचार्य रहते थे (मथुरा संग्रहालय स० ४६२)।
४. सेलिय-विहार— यह विहार धर्मगुप्तक (धर्मगुप्तिक) संप्रदाय के आचार्यों का था (मथुरा संग्रह स० १२१)।
५. वृत्तक-विहार— यह विहार महासंघिक संप्रदाय के भिक्षुओं का था। (मथुरा संग्रहालय संस्था १३५०)।

६. अपानक-विहार—यह विहार भी महासचिक सभ्रदाय के भिक्षुओं का था। (मथुरा सग्रहालय १६१२)। महासचिक विहार का एक केंद्र मथुरा में था और दूसरा पालीलेडा गाँव में, जैसा कि वहाँ से प्राप्त पत्थर की कूडी पर लिखे हुए लेख से विदित होता है (मथुरा सग्रहालय स० ६६२)।

७. मिहिर-विहार—यह विहार सर्वास्तिवादी आचार्यों का था। इसकी एक शाखा कामवन में थी, जैसा कि वहाँ से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है (ल्यूडर्स लेख-सूची, स० १२, एपिग्राफिया इंडिका भाग २, पृ० २१२)। मिहिर-विहार का मुख्य केंद्र मथुरा में था। अभी हाल में ककाली टीले के कुएँ से प्राप्त कुबेरयज्ञ की चौकी पर उत्कीर्ण लेख में मिहिरगृह का उल्लेख पाया गया है, जहाँ यह मूर्ति पषराई गई थी।

८. गुहा-विहार—

९. औष्टिकीय-विहार—यह विहार महासचिक आचार्यों का था। मथुरा के कसलार मुहल्ले से प्राप्त एक लेख में इसका उल्लेख मिला है (मथुरा सग्रहालय स० २७-४०)।

१०. रोषिक-विहार—मथुरा की एक बौद्ध-चौकी पर उत्कीर्ण लेख में यह नाम आया है। यह मूर्ति इस समय ववई के सग्रहालय में सुरक्षित है (जर्नल बी० बी० आर० एस० या० २० पृ० २६६)।

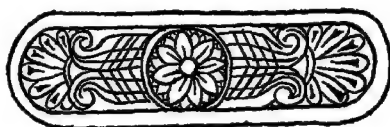
११. ककाटिका-विहार—(ल्यूडर्स लेखसूची, स० १४०)।

१२. प्रावारिक-विहार—इस विहार का एक केंद्र कटरा केशवदेव में था (मथुरा सग्रहालय स० के० टी० १३२)। इसकी दूसरी शाखा गिरधरपुर गाँव में थी (मथुरा सग्रहालय १३१६, नागी प्रतिमा)।

१३. यथान-विहार—यह विहार कटरा केशवदेव की भूमि पर गुप्त-काल में विद्यमान था, जैसा कि ऊपर लिखे हुए भिक्षुणी जयमट्टा के लेख से ज्ञात होता है।

१४. खडविहार—यह विहार महोली गाँव में था (मथुरा सग्रहालय २७६८)।

विहारों की इस सूची से हम इस बात का कुछ अनुमान कर सकते हैं कि मथुरा में धार्मिक जीवन की हलचल कुषाण और गुप्तकाल में कितनी बढ़ी-बढ़ी थी। प्रत्येक विहार शिक्षा और सत्कृति का विशिष्ट केंद्र था। बौद्धों की कला, धर्म और सत्कृति के प्रतिरिक्त जैनो का भी मथुरा में इसी समय सबसे बड़ा केंद्र था। इसके कारण मथुरा उत्तर भारत में धर्म और सत्कृति का सबसे महान् केंद्र बन गया था। मथुरा-कला में बौद्ध, जैन और वैष्णव-धर्मों के देवताओं की जा मूर्तियाँ बनाई गईं उनसे आगे आनेवाली एक सहस्राब्दी के लिये उन कृतियों का रूप और आदर्श निर्धारित हो गया।



अंकोरवाट के मंदिर में कृष्णलीला के दृश्य

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

अंकोरवाट का प्राचीन नाम 'यसोवर्धपुर' था। यह कंबोडिया (प्राचीन कंबुज) देश की पुष्पती राजधानी थी। यहाँ बारहवीं शती के आरम्भ (लगभग ११२५ ई०) में विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ, इनमें सबसे महत्वपूर्ण मंदिर सम्राट् 'सूर्य वर्मन्' द्वितीय का बनवाया हुआ है, जिसमें रामायण और महाभारत के अनेक दृश्य शिलापट्टों पर अंकित हैं। वेगवान् चित्रण की दृष्टि से ये मूर्तियाँ 'खावा' के 'बोस बुदुर' की मूर्तियों से कहीं अधिक प्राणवत् हैं।

इस मंदिर में महाभारत-युद्ध के प्रथम अंकनों में वीर नेता कृष्ण भी हैं, परन्तु मंदिर के मध्य के दक्षिण-पश्चिमी कोने में कृष्ण की बाललीला के कई दृश्य अंकित हैं। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं^१—

१, यमलार्जुन-उद्धार—अंकित यशोदा के सामने बालकृष्ण बिसहते हुए देख रहे हैं। पीछे दो गोपियाँ खड़ी हैं। उनके पीछे बाईं ओर यमलार्जुन वृक्ष और उनसे उत्पन्न कुबेर के दो पुत्र नल-कुहर बने हैं।

२, गोवर्धनचारी कृष्ण—यह दृश्य बड़ा प्रभावोत्पादक है। कृष्ण की मूर्ति सबसे बड़ी है। बीच में खड़े हुए वे दहिने हाथ के ऊपर पर्वत उठा रहे हैं, बाँए हाथ में एक मोड़दार छड़ी है। उनके समीप एक सखा है। नीचे दो पक्षियों में खाल-बाल और गाय-बछड़े अत्यंत चकित मुद्रा में भक्ति-भाव से कृष्ण की ओर देख रहे हैं और कुछ उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

३, एक ही शिलापट्ट पर अंकित दो दृश्यों में एक बालल-साधन का है और दूसरे में कृष्ण प्रसवासुर का वध कर रहे हैं। कृष्ण का रूप चतुर्भुज है। हिरण्य-नाथ आदि जंगली जीव धवरा कर भाग रहे हैं, आग की लपटें खड़ रही हैं, कृष्ण अविचल भाव से अग्नि की ओर देख रहे हैं।

४, इंद्र के लिये जो मोक्ष्य-यवार्थ लाए गए थे, उन्हें कृष्ण चतुर्भुजी रूप से प्रकट होकर ला रहे हैं। खाल-बाल भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

^१. "La Legende de Krishna dans les bas-reliefs d'Angkor-Vat" by J. Przyluski, PP 91-97, pl xxvii-xxix, figs 1-4, *Revue des Arts Asiatiques*, Vol V, No 2

एक : पद

संस्कृत : गीतगोविंद का प्रजभाषालुवाद

राग-मालव

जय, जय जगदीश हरे ॥

प्रलंभयानक जलनिधि जल-धैरि, प्रभु तुम बेब-उषारे ।
करि पतवार पुच्छ निज विहारे, मौन-सरीरहि धारे ॥

जय जगदीश हरे ॥

कठिन पंथि मवर मथन किन छिति-भर तिल-सैम राज ।
गिरि-धूमन-सुहरान नंद-वस, कमठ-रूप अति छाव ॥

जय जगदीश हरे ।

कौनक-नैन-वध-रुधिर-छौंठ-मिलि, कौनक-बरैन छवि छापी ।
रद-आगें धरि सति-कलंक मनु, रूप बराह सुहायी ॥

जय जगदीश हरे ॥

कर-नख-केतिक-पत्र ध्रुप अलि, कौनक-कसिपु-सन-सारघी ।
ख-फारि निज-जन-रच्छन-हित हरि नरहरि-वपु धारघी ॥

जय जगदीश हरे ॥

अदभुत वामन बनि बलि छलि कें, तीन पेंड जग-नाथी ।
बरसेन, भज्जन, पाँन समन अथ, निज-नख जल धिराथी ॥

जय जगदीश हरे ॥

अभिमानो छत्री-नैन वधि तिन रुधिर सौंवि धर सारी ।
इकदस बार निछत्र करी भूष, हरि भृगुपति-वपु-धारी ॥

जय जगदीश हरे ॥

वस-विति दस सिर मौल दियो बलि, सब सुरगैन-भै-हारे ।
सिय-लछमैन-सह सोहत सुंदर, राम-रूप हरि धारे ॥

जय जगदीश हरे ॥

सुंदर गौर सरीर नील-पद, सति मै ध्रुव लपटापी ।
करसन कर हल सौं जमुना-जल, हलधर-रूप सुहापी ॥

जयजगदीश हरे ॥

अति कर्ना करि दीन पसुन पै, निदे निज-मुख बेवा ।
कलिजुग-वरैन कहे हरि ह्वै कें, बृद्ध-रूप हर-खेवा ॥

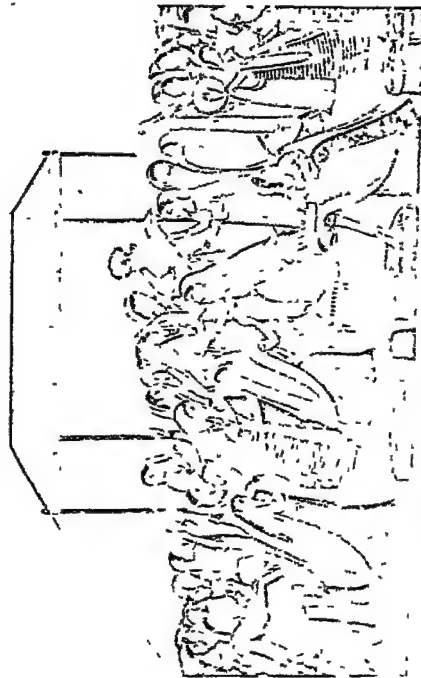
जय जगदीश हरे ।

म्लेच्छ-वधेन-हित कठिन-बार-सरबार-धारि कर भारी ।
नासे जवन सत्यजुग थापी, कल्कि-रूप हरि धारी ॥

जय जगदीश हरे ॥

नंद-नदन जग-बंदन दस वपु, धरि लीला-विस्तारी ।
गाई कवि 'जदेव' सोई 'हरिचंद' भक्त-भै-हारी ॥

जय जगदीश हरे ॥



चंदकला जुनि धेनरी चारु, वई पहराउ मुनाउ सु होरी ।
 धेनी खियाला रवीं पदमाकर, अंजल-यात्रि ममाल ऊरोरी ॥
 लागी गये काजिता पेटोमनि, खोम मों क्युनै कनति-बोरी ।
 डेरि हर सुमिताइ रती, अंजल मुग दे मुपसोल-किबोरी ॥

ब्रजजनपदीय

ब्रजजनपदीय-भाषा : भहिमा

हमारे ब्रज-वानी ही वेद ।

भावभरी या मधुवानी कौ, नाँइ मिल्यौ रस-भेद ॥
निगमागम-कृत सवद-जाल मे वा सुख की कहँ आस ।
जो सुख मिलत चाखि ब्रज-पद-रस, सोंबी सहज मिठास ॥
जा वानी मे मचलि कन्हैया, कहँ मैहरि सों रोइ ।
‘ना मैया, अब ही मँगाइ दै, चंद-खिलोनै मोइ ॥’
जा वानी मै जसुमति रानी, हरि सों कहत रिसाइ ।
‘दारी कौ इत-उत भाजै है, दीनो मोइ थकाइ ॥’
जा वानी मे कहँ छबीली, छोहरियाँ इठलाई ।
‘पाँइ कौकरो गड़ै साँकरी-खोर, माइ-री-भाइ ॥’
जा वानी मै अष्टछाप सुभ, थाप्यौ ब्रह्मनंद ।
प्रेम-प्रवाहित कियो चराचर, दियौ सवै रसकंद ॥
जा वानी मै बन-बिहार कौ गायौ रस ‘हरिदास’ ।
‘हित हरिवंस’ कियो नित जामें, हित कौ पंथ-प्रकास ॥
जा वानी की ललित-श्रुंज मे कविता करति बिहार ।
जावै ‘हरि’ वा ब्रज-वानी पै, दलि-दलि सौ-सौ बार ॥

—वियोगी हरि

अष्टादश पुराणों में मथुरा

श्री भास्करनाथ मिश्र

मथुरा का गौरवमय इतिहास अति प्राचीन है। इसका उल्लेख रामायण, महाभारत, गर्ग-संहिता, अष्टादश पुराण तथा अनेकानेक उत्कीर्ण संस्कृत-ग्रन्थिलेखों में हुआ है, किंतु पुराणों में 'मथुरापुरी' का वर्णन जितने विषद रूप में पाया जाता है, उतना अन्यत्र नहीं। पुराणों में भी बराहपुराण, पद्मपुराण, भाद्रपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, देवीभागवत आदि इस सबंध में विशेष सहायक हैं। मथुरा-मंडल और मथुरा के इतिहास का सुंदर परिचय भाद्रपुराण और देवीभागवत पुराण में दिया गया है। इसके भौगोलिक परिचय के लिए विष्णुपुराण, बराहपुराण और पद्मपुराण विशेष महत्वपूर्ण हैं। वनों और तीर्थों का इतिहास बराहपुराण और पद्मपुराण में अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक मिलता है। मथुरा-मंडल की परिक्रमा के लिए बराहपुराण में दो हुई परिक्रमा-सूची पूर्ण और वैज्ञानिक है। वनों में श्रेष्ठ वृक्षावन-निषयक सामग्री पद्मपुराण में सबसे अधिक मिलती है। गोवर्धन-सबधी सामग्री बराहपुराण में भौगोलिक स्थिति का वैज्ञानिक अनुमान लगाकर दी गई है। यमुना-माहात्म्य के लिए बराहपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, शिवपुराण तथा पद्मपुराण विशेष उपयोगी हैं। गोकुल-सबधी इतिहास के लिए पद्मपुराण ही एक सहायक ग्रंथ जान पड़ता है, वैसे इसका उल्लेख लगभग सभी पुराणों में हुआ है।

पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से तत्कालीन मथुरा-मंडल का सुस्पष्ट, उज्ज्वल तथा प्रांमाणिक इतिहास प्राप्त होता है। भौगोलिक दृष्टि से तो पुराण और भी उपयोगी है और यदि मथुरा के समान ही अन्य शेत्रों, तीर्थों, नगरों, नदियों, पर्वतों एवं मंडलों का इतिहास लिखा जाय तो पुराण इस विषय में बड़े सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

यही नहीं, मथुरा का प्रचुर वर्णन बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य, ग्रीक-साहित्य आदि भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रों में भी हुआ है। फाहियान तथा 'ह्वेन सांग' नामक चीनी यात्रियों ने (४०० और ६५० ई० पू० क्रमशः) मथुरा को बौद्धों का तीर्थ माना है। जनरल 'कनिंघम' की पुरातत्त्व-सबधी रिपोर्टें इस सबंध में महत्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। जिस समय पुष्यमित्र शुंग (१८७-१५१ ई० पू०) पाटलिपुत्र में राज्य कर रहा था, उस समय यूनानी राजा मिनांडर ने (१५५ ई० पू०) सिन्धु तलहट्टी, काठियावाड़, (सौराष्ट्र) और यमुना-तट पर स्थित मथुरा को अपने आधिपत्य में कर लिया था। मथुरा के क्षत्रप राजाओं में से शोडश (११० ई० पू०) का एक उत्कीर्ण अभिलेख अभी तक मथुरा में है।

कुषाण राजाओं के समय में मथुरा उनके कब्जे में रही, किंतु उस समय वहाँ जैनियों का बोलचाल था। कुषाण-काल के कुछ अवशेष अब भी मथुरा में अवशिष्टावस्था में हैं।

गुप्त-कालीन स्वर्णयुग के दिन भी मथुरा ने देखे और संप्रतिपालिनी बनी, किंतु बाद में हर्षवर्धन-काल समाप्त होते ही ग्यारहवीं शताब्दी से मुसलमान आक्रमणों ने उसके प्रचुर-भवन डीले कर दिये। सन् १०१७ ई० में महमूद गजनवी ने २० दिन तक और १५०० ई० में सिकंदर लोदी ने मथुरा तथा उसके आसपास की वस्तियों को खूब लूटा। मुगलों और मराठों, मराठों और राजपूतों तथा अंग्रेजों और देशी राज्यों के सघर्षों का मथुरा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। दिल्ली और आगरे के बीच में होने के कारण मथुरा सदियों तक इसी प्रकार पीसी जाती रही, तो भी धर्मप्राण और भारतीय संस्कृति की प्रतीक यह नगरी शून्य में विलीन नहीं हुई।

मयुरा-महत्त

वैभे तो मयुरा-भक्त का वर्णन मगधम गनी पुराणों में गमोवेन मिलता है ; किन्तु वयपुराण और वगहपुराण में इना जैसा विवर वर्णन हुआ है, वैसा और किसी पुराण में नहीं है। उन दोनों पुराणों में भी वगहपुराण तो दम दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वयपुराण का पानानन्द बड़े दृष्टियों में बड़े काम का है। मयुरा-महत्त के भाग में भगवान् कहे हैं—

"तस्मात्प्रसोषमप्येतु पृथ्वीधन्येति विश्रुता ।
यस्मान्मायुरकनाम विष्णोरेवतयस्तत्तमम् ॥
स्वस्मानमधिक नाम ध्येय मायुरमहत्तम् ।
विष्णुचक्रपरिमाणं ज्ञातुं यत्नयामदभुतम् ॥"

—पद्य० पृ० ५८३, श्लो० १२, १३

"यहां प्रमाण के मध्य में जिन महत् पुरी (मयुरा-महत्त) ग्रन्थ हैं और बहुविध हैं। यह विष्णु भगवान् का प्रति प्याग मयुरा नामक स्थान है। यह भेग स्थान है और मैं इस मयुरा-महत्त की प्रागधना करता हूँ। उगाता परिमाण विष्णुचक्र के जिनता है और वैष्णवों का प्रदूत धाम है।" आगे भगवान् मयुरा-महात्म्य का वर्णन करने हुए करते हैं—

"ग्रहो न जानति नरादुरागयाः पुरोमदीयां परमासनातनीम् ।
सुरेन्द्रनाथैर्मुनीन्द्रसंस्तुता मनोरमा सा मयुरा सनातनीम् ॥
काश्यादयो यद्यपि सति पुर्वस्तासां तु भव्ये मयुरं धत्वा ।
यज्जन्मभोजीप्रसूतमृदाहर्तुणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम् ॥"

—पद्य० पृ० ५८६, श्लो० ४३-४४

"इतनी महत्त्ववाली सनातनी मेरी पुरी (मयुरा) को दुराग्रही लोग नहीं जानते। वे नहीं समझते कि सनातनी मनोरमा मयुरपुरी की स्तुति इन्द्र, योग और मुनीन्द्रगण तक करते हैं। यद्यपि काशी आदि अन्य नगरियां सबो की अतिप्रिय हैं, किन्तु ऐसी अनेक पुरियों में मयुरापुरी धन्य है, सेवा करने योग्य है। यहाँ यदि भक्तगण यावज्जीवन प्रसादिकों का अनुष्ठान करते रहें, निवास करते रहें, तो मृत्यु, दाह आदि चार प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाते हैं।"

भगवान् अपने परमभक्त बालक ध्रुव के बारे में कहते हैं—

"बालकौग्रि ध्रुवो यत्र समाश्रायतत्परः ।
प्राप स्थानं परं शुद्धं यत्र युक्तं पितामहं ॥"

—पद्य० पृ० ६००, श्लो० ५३

"यही (इसी मयुरा में) राजा उत्तानपाद के पुत्र बालक ध्रुव ने मेरी आराधना करके एव तत्पर होकर की और इतनी निष्ठा के साथ अपने उद्देश्य में सफल हुआ कि वह उन्मुक्त होकर परम शुद्ध पितामह ब्रह्मा के लोक को प्राप्त कर गया।"

कृष्ण और बलराम की लीलामृति का उल्लेख करते हुए भगवान् कहते हैं—

"कदंबमूल आसीनं पीतवाससमदभुतम् ।
वनं द्वापारं नाम नवपल्लवमदितम् ॥
कोकिलभ्रमराराव मनोभवमनोहरम् ।
नवीमपश्य कालिंदीमिंदीवरधरप्रभाम् ॥
गोवर्धनं तथापश्य कृष्णरामकरोद्धुतम् ।
महोदधर्पनाशाय गोपीपातसुखावहम् ॥"

—पद्य० पृ० ५६८, श्लो० १६, २०, २१

वहाँ से बलिह्व को जाए जहाँ कृष्ण क्रीड़ा करते थे। उनके दर्शन करके (१६०१३) उस स्थान को जाए जहाँ कृष्ण और कुकुट ने मिलकर क्रीड़ा की थी। तदनंतर नारायण के स्थान की परिक्रमा कर (१६०१३६) आगे कृष्ण की पाली-पोसी हुई दो बाह्यण-स्त्रियो—कुन्जिका (कुवरी) और वामना के दर्शन करके वही गणेश्वर भगवान् के दर्शन करे (१६०१४१)। आगे महाविदेवरी देवी के दर्शन करे, जिन्होंने कृष्ण की रक्षा की थी (१६०१४२-४३)। वहाँ से सकेतवेश्वरी के स्थान को जाकर उनके दर्शन पाए (१६०१४६)। वही महादेव गोकर्णेश्वर के दर्शन प्राप्त करे (१६०१४७) फिर सरस्वती नदी के दर्शन करके (१६०१४८) वहाँ साज्जी और महापातक नाशिनी गया के दर्शन करे, उनका स्पर्श करे, ध्यान करे और अपने सभी कार्य सफल बनाने (१६०१५०)।

तदनंतर भगवान् रुद्र के महादेव मुक्ताकार नामक मंदिर में जाए। फिर क्षेत्रपत नामक क्षेत्र में बास करे (१६०१५१) और आगे जाकर उत्तर कोटि तीर्थ में गणेश्वरदेव के दर्शन करे (१६०१५२)। वहाँ से यमुना-जल में स्थित महातीर्थ को जाए (१६०१५६) फिर गार्ग्य तीर्थ को जाकर भद्रेश्वर के महातीर्थ सोमतीर्थ को जाए (१६०१५७)। सोमेश्वर के दर्शन करके वहाँ से सरस्वती संगम को जाए। तत्पश्चात् घटाभरणतीर्थ, गरुडतीर्थ (१६०१५९) होता हुआ चारालोदनतीर्थ, वैकुण्ठतीर्थ, सखवेलकतीर्थ, मदाकिनी और समयमनतीर्थ, असिकुडतीर्थ को जाए (१६०१६०)।

फिर गोपीतीर्थ, मुक्तिकेश्वरतीर्थ, बयलक्ष, गरुडतीर्थ को जाकर (१६०१६१) विवाहि-सज्जक तीर्थ को जाए। वहाँ से सप्तऋषियो द्वारा स्थापित अविमुक्तेश्वरदेव के दर्शन करता हुआ (१६०१६३) अपनी यमुरा-परिक्रमा को सफल एवं पूर्ण करे (१६०१६४)। वहाँ से चलकर विश्रांतितीर्थ में फिर स्नान करना चाहिए और सुमंगला देवी के दर्शन लाभ करना चाहिए (१६०१६६)।

भगवान् बराह बोले—“मे यमुरा में चार रुओ द्वारा निवास करता हू। (१) बाराह (१६०१४), (२) नारायण (१६०१११), (३) वामन (१६०१११) और (४) बलभद्र (१६०१३३)। जो मनुष्य असिकुड (१६०१३३) में स्नान करके इन मूर्तियों का दर्शन-स्नान करता है, वह चारो समुद्रो-समेत पृथ्वी-परिक्रमा का फल पाता है।

इतिहास

आदिपुराण के ७४ व ७५ वें अध्याय में लिखा है ब्रह्मादिक देवताओं ने वीरसागराधिपति गरुडवज्र भगवान् की स्तुति की और भू-मार उतारने के लिए उनसे विनय की। भगवान् ने तथास्तु कहा। यह सुनकर कि देवकी के आठवें गर्भ में भगवान् जन्म लेंगे, कस ने वसुदेव और देवकी को बंदी-गृह में डाल दिया। कृष्ण-जन्म होने के पश्चात् जो कन्या देवकी के हुई उसने कस के हाथ से छूट कर और अष्टभुजी मूर्ति-धारण कर के कस को चेतावनी दी कि तेरा नाश करने वाला जन्म ले चुका है। ७६ वें और ७७ वें अध्याय में लिखा है कि कस ने तदनंतर देवकी और वसुदेव को कैद से मुक्त कर दिया। कृष्ण ने पूतना को मारा और राजसी के डर से सब लोग गोकुल छोड़ कर वृषावन में जा बसे। ७८ वें, ७९ वें और ८० वें अध्याय में गोवर्धन पर्वत द्वारा अविष्टि ने गोवर्ध की रक्षा, वेनुकासुर और प्रलवासुर का वध आदि की वीलाएँ हुईं। ८२ वें अध्याय में कस द्वारा बलराम और कृष्ण को बलवान् बनने के पहले ही विचार करने की बात का उल्लेख है। ८५ वें अध्याय में कृष्ण द्वारा कस का वध होता है, कृष्ण और बलराम वसुदेव-देवकी के पास जाते हैं, उत्तमन को कापगृह से छुड़ाकर सिंहासनारुढ़ करते और अवलिपुर निवासी सादीपनि गुह से छ दिनों में सभी दिखाएँ पढ़ लेते हैं। ८७ वें अध्याय में मगधावीर जरासब की कृष्ण से १७ बार पराजित होने की कथा है। जब वह १८ वीं बार युद्ध करने आया तो उसी समय दक्षिण समुद्र में कालववन भी ससैन्य कृष्ण से लड़ने आ पहुँचा। कृष्ण ने अपने को इस समय निर्बल जान पाठियाबाड जाकर भ्रम-

रावती के समान द्वारकापुरी बसाई और वही एक सुदृढ किला भी निर्माण कराया। मथुरावासियों को वहाँ बसाकर कृष्ण मथुरा वापस आए और कालयवन को राजा मुचुकुद की गुफा में ले गए। मुचुकुद की शोचान्ति से कालयवन मत्स्य हो गया। ८८ वें अध्याय में बलराम और रेवती के विवाह आदि का वर्णन है। ८९ वें अध्याय में रुक्मिणी-हरण, ९३ वें में उषा-अनिरुद्ध के विवाह का, ९६ वें अध्याय में साव और दुर्योधन-मुनी के विवाह का, ९८ वें में लौह-मूपल का समुद्र में फेंका जाना और एक दूटे हुए मत्स्य को मछली का निगलना व मछली का एक लुब्धक द्वारा पकड़ा जाना, यादवों का प्रापस में काट मरना, कृष्ण की लुब्धक द्वारा हत्या, बलराम की योगिक मृत्यु आदि का भाूमिक वर्णन है। साथ ही कृष्ण की रानियों, बलराम की रानियों तथा उपसेन आदि की रानियों का स्वर्गारोहण भी भक्ति है। अर्जुन का द्वारका जाकर वधे-शुचे यादवों को पचनद लाना, वहाँ आभीरो द्वारा उनका भ्रमण और यादव-स्त्रियों की छिछलावेदर होने की गाथा भी उल्लिखित है। कृष्ण के संपूर्ण जीवन का इतिहास अनेक पुराण में किसी न किसी रूप में विस्तार अथवा संक्षेप में दिया गया। पुराणों में से श्रीमद्भागवत आदि ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में तो कृष्ण-चरित्र का विशद वर्णन है। मथुरा और द्वारका प्रमुख रूप से और साथ ही भारत के अन्य नदी-नद पहाड़-पर्वत, ग्राम तथा नगर भी पुराणों में स्थान-स्थान पर आए हैं। कृष्ण-चरित का इतिहास ही मथुरा का इतिहास है, अन्यथा मथुरा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही क्या है? शौरसेनी मायुर लोगो की पुण्यभूमि होनेवाली और यादवों का प्रथम चरण विह्वल पहचाननेवाली मथुरा नगरी ही है।

भौगोलिक परिचय

(मथुरा-मंडल)

बराहपुराण (अध्याय १५२, १५७ और १६२) के अनुसार 'मथुरा-मंडल' का प्रमाण २० योजन अर्थात् ८४ कोस का है। १५७ वें अध्याय में लिखा है कि इस मंडल को 'कमलवत्' मानना चाहिए, जिसके कणिका-स्थान में केशव भगवान् (श्लोक १८) स्थित हैं। मथुरा रूपी कमल के पश्चिमी दल में गोवर्धन-निवासी भगवान् (श्लोक ७), उत्तरी दल में श्री गोविंद भगवान् (श्लोक ५), पूर्वी दल में विश्रान्ति नामक ईश्वर और दक्षिणी दल में बराह भगवान् (श्लोक ४) हैं।

मथुरा-मंडल में मथुरा, बुदावन, गोकुल, गोवर्धन आदि नगर और ग्राम एवं वन, कुंड, तडाग, मंदिर और असंख्य तीर्थों का विधान है। पुराणों में उनका विशद वर्णन है। साथ ही गंगा के समान ही शौरवशालिनी यमुना का भी पर्याप्त विवेचन किया गया है।

मथुरा

लगभग सभी पुराणों में स्थान-स्थान पर मथुरापुरी का उल्लेख किया गया है। इसकी भौगोलिक स्थिति पर भी बड़ा ही प्रामाणिक और युक्ति-युक्त प्रकाश डाला गया है, जिसकी पुष्टि भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रों से भी होती है। बराहपुराण में मथुरा की स्थिति पर निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण श्लोक आया है—

“गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च सहान्वी ।

तयोर्मध्ये पुरोरम्या मथुरा लोकविश्रुता ॥

—अध्याय १६५, श्लोक २३

बराहपुराण में वर्णन आया है कि मथुरा के पश्चिम भाग में दो योजन (अर्थात् ८ कोस) की दूरी पर—‘मथुरा पश्चिमभागो अद्वाराद्योजन द्वयम्’ के अनुसार गोवर्धन नामक क्षेत्र परम दुर्लभ क्षेत्र है (१६५।१)। यहाँ ‘वैवस्वत-सुता रम्या यमुना’ बहती है (१५२।३४)। मथुरा और गोवर्धन के बीच का आधुनिक अंतर १४ मील का है। वायू साधुचरण प्रसाद विरचित ‘भारत-भ्रमण’ (प्रथम खंड) के

पृ० २४६ पर लिखा है कि ब्रजमण्डल का कोण पुण्ड्रको के कोण के अनुसार माना जाता है। 'पुराण में चार हाथ का धनुष और एक सहस्र धनुष का कोण लिखा है'। इन दृष्टि में मथुरा और गोवर्धन की दूरी दोयोजन = ३ कोण = ३२,००० हाथ के हर्षाश्रोः आधुनिक दूरी १४ मील = ७ कोण = ७३,१२० हाथ हर्षा। इन आंकड़ों के अनुसार यह सिद्ध होता है कि आधुनिक मथुरा से प्राचीन काल की मथुरा का विस्तार गोवर्धन गिरि की ओर पश्चिम में काफी दूर तक था और वही विस्तृत मथुरा-मण्डल अब अत्यंत सीमित हो जाने के कारण गोवर्धन गिरि में दूर होता चला गया। ममब है कि आधुनिक मथुरा और गोवर्धन गिरि के बीच में यदि पुनरावस्था विभाग द्वारा मनन-कार्य किया जाय तो प्राचीन संस्कृति पर प्रकाश डालने वाली नवीन शोधों का गुणग लगे।

वराहपुराण (अध्याय १६३) में लिखा है—“अयोध्यापति राम ने रावण को मार कर वराह की मूर्ति को अयोध्या में स्थापित किया। जब जम्बून ने लवणानुर का वध किया तो इस मूर्ति को ले जाकर मथुरा में स्थापित की (श्लोक ६४)। वराहपुराण के सृष्टि-वृत्त में लिखा है कि गंगा जी के दक्षिण किनारे श्री वामन भगवान् की प्रतिमा स्थापित करने श्री रामचन्द्रजी ने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और पुष्पक विमान पर चढ़ कर मथुरापुरी की यात्रा की। वहाँ सपरिवार ठहरे हुए शत्रुघ्न से मिलकर श्री रामचन्द्रजी मनुष्ट हुए। उनका आगमन सुनकर समस्त मथुरावासी जिनमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी, उनके दर्शन करने आए। भगवान् मथुरा में पाँच दिन रहे और चलते समय जम्बून से बोले अब मथुरा के राज्य पर अपने दोनों पुत्रों का अभिषेक करो।

वाल्मीकि रामायण (सर्ग ६२) में लिखा है कि शत्रुघ्न की युद्ध-यात्रा में तत्पर देख कर भगवान् राम ने उनसे कहा कि मैं तुमको मधुनगर का राजा नियुक्त करूँगा। तुम वहीं जाकर यमुना के किनारे सुन्दर-सुन्दर जनपद और नगर बसाओ (श्लोक १५, १६, १७, १८)। विष्णुपुराण के अश्वत्थार में स्पष्ट लिखा है कि शत्रुघ्न ने मधु-युद्ध लवण राक्षस का जो बड़ा बलवान् और पराक्रमी था, हल किया और मथुरा नामक नगर बसाया—“शत्रुघ्नेनाप्यमितबलपराक्रमो मधुपुत्रो लवणो नाम राजसो निहतो मथुरा च निवेशिता” (४।४।१०१)।

देवी भागवत (स्कंध चार अध्याय २०) में लिखा है कि यमुना नदी के किनारे मधुवन में लवण रहता था, शत्रुघ्न ने उसको मारकर मथुरा नामक नगरी बसाई और बाद में अपने पुत्रों को वहाँ का राज्य देकर स्वयं स्वर्ग को सिधारे।

विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक भी इस बात की ओर पुष्टि करते हैं—

“कृत्यं कृत्यमिवात्मानं मन्थमानस्ततो द्विज ।
मधुसंतं महापुण्यं जगाम यमुनातटम् ॥
पुनश्च मधुसंतो ब्रह्मेनाविष्कृतं यतः ।
ततो मधुवनं नाम्ना स्यातममम नहीतले ॥
हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्र महाबलम् ।
शत्रुघ्नो मथुरा नाम पुरीं यत्र अकार स ॥”

अर्थात्, अपने को कृत-कृत्य-सा मानकर वह यमुना-तटवर्ती अस्ति पवित्र मथुरा नामक वन में आया, क्योंकि पीछे उस वन में मधु नामक वृक्ष रहने लगा था, इसलिये वह इस पृथ्वी-तल में ‘मधुवन’ नाम से विख्यात हुआ। वही मधु के पुत्र लवण नामक महाबली राजस को मारकर शत्रुघ्न ने मथुरा (मधुरा) नाम का पुरी बसाई।

वराहपुराण में मथुरा को सात मोक्षदायिनी पुरियों में गिना गया है—

“अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवसिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायका ॥”

जरायव के आक्रमणों से पीड़ित होकर जब कृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारका जाते हैं, तब का उल्लेख महाभारत में हुआ है।^१

सलिलविस्तर (पृ० २१) नामक प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ में मथुरा को वैभवशालिनी और घनी आबादीवाली तथा कस के बणज राजा मुन्नाहू की राजधानी बताया है।^२ दिव्यावदान में मथुरा की रहनेवाली प्रत्यात गणिका 'वासवता' का उल्लेख आया है—

“मथुरायां वासववत्ता नाम गणिका तस्य दासी उपगुप्तसकाय गत्वा गवान् क्रीणीति ॥”^३

यूनानी राजदूत मेगास्थनीज की प्रसिद्ध पुस्तक 'इंडिका' के एक गद्यांश का अनुवाद करते हुए प्रिंसिपल एम० सी० क्रिडिल कहते हैं—

“But that Hercules who is currently reported to have come as a stranger into the country, is said to have been in reality a native of India, that thus Hercules is held in especial honour by the Souraseni, an Indian tribe possessing two large cities, Methora and Cleisobora, while a navigable river called the Iobares flows through their country.”^४

अर्थात्, लेकिन वह हर्कुलीज (कृष्ण) जिसे इस देश में आया हुआ एक अनजान व्यक्ति बताया गया है, वास्तव में भारत का ही निवासी है। इस हर्कुलीज को मेथोरा (मथुरा) और क्लैसोबोरा^५ (कृष्णपुर), जहाँ से होकर जहानराती के उपयुक्त नदी आयोवैरस (यमुना) बहती है, के अधिनायक शूरसेन लोग बड़े आदर और शक्ति-भाव से देखते हैं।

वैवस्वत मनु ने भी अपनी स्मृति में मथुरा के शूरसेन लोगों का उल्लेख किया है—

“कुशक्षेत्रं च मत्स्याक्षं पद्माला शूरसेनकाः ।

एवं ब्रह्मविदेशोऽयं ब्रह्मावतान्तरः ॥”

—श्रुत १, पृ० ११२-२।१६

यमुना

वराहपुराण में 'यमुना' को 'वैवस्वतसुता' कहा गया है (१५२।३४)। इसका दूसरा पर्याय 'कालिदी' नाम से आया है (१५३।७)। कहा जाता है कि पाञ्चान-विषय में एक कापिल्य नामक पुर या जो घन-धान्य से युक्त था और जहाँ राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। वहाँ के एक तितुक्ष नाम के एक नाई ने कालांतर में अपने परिवार के विनष्ट हो जाने पर मथुरा आकर दुबली होकर यमुना में स्नान करने लगा। उसके गहाने का स्थान बाद में 'तितुक्षतीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ (१५२।४८)। समयनदीर्थ की कथा इस प्रकार है—एक दुष्ट स्वभाववाला पापी निषाद था। वह निमिशारण्य में रहता था। किसी समय वह मथुरा गया और कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन कालिदी के तट पर पहुँचा। यमुना में स्नान करने पर उसका मन संयम-पूर्ण (पवित्र) हो गया। उसी से समयन तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ (१५३।१५-८)। यमुना नदी के 'धारापतन-तीर्थ' में स्नान करने से 'नागलोक' मिलता है (१५४।१२-१३) और दिव्यमूर्ति चतुर्भुज भगवान् विष्णु का लोक प्राप्त होता है (१५४।१४)। यमुना और गोवर्धन के बीच में मथुरा है—

^१. महाभारत (पुना-संस्करण) सभाषर्ष, अ० १३, वसो० ६५।

^२. डा० विमलचरण लॉ—ज्योफ्रेफिकल एसेज, पृ० २६।

^३. दिव्यावदान (काबेल और नीलवाला संस्करण) पृ० ३५२।

^४. एम० सी० क्रिडिल—'दि इंडिका आन एरियाना', पृ० १६-१७।

^५. प्लाहनी ने इसे 'Charisobora' लिखा है। वे० बहो, पृ० ६८ (फुटनोट)।

“गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च महानदी ।
तपोर्मध्ये पुरीरम्या मथुरा लोकोविभृता ॥”

—च० पु० १६५।२३

इसका अर्थ स्पष्ट है—‘मथुरा-पश्चिम-भाग में अद्वैताश्रम-द्वयम्’ के अनुसार गोवर्धन गिरि ठीक मथुरा के पश्चिम है और मथुरा के ठीक पूर्व में यमुना है। गोवर्धन और मथुरा की स्पष्ट दूरी का पुराणकार ने स्पष्ट उल्लेख करके मथुरा और यमुना की बीच की दूरी के सच में कही कुछ गद्दी कहा, इसे उसकी अपेक्षा या भूल नहीं कह सकते हैं। बराहपुराण (अ० १५२।३४) में स्पष्ट इस बात का संकेत है कि यहाँ (मथुरा में ही) वैवस्वतमुना रम्या यमुना बहती है।

विष्णुपुराण में यमुना को—‘सागरगमा’ (अ० ५।७।७) और ‘कालिंदी लोलकलोलशालिनीम्’ कहा है (अ० ५।७।२)। वसुदेव जब भगवान् कृष्ण को लेकर यथोदा के यहाँ जाने लगे तब रास्ते में यमुना पार करती पड़ी थी। यमुना उस घोर गहरी थी और हहरती हुई वह रही थी; किंतु भगवान् के चरण का स्पर्श पाते ही वह गम्या हो गई—

“यमुना चातिगंभीरा नानावर्तशताकुलाम् ।

यसुदेवो बहन्विष्णु जानुमात्रबहा ययी ॥”

—वि० पु० ५।३।१८

हलायुध वतराम एक बार वृंदावन में रमण कर रहे थे। उस समय उन्होंने यमुना को वृंदावन में बुलाना चाहा, पर उसके इनकार करने पर उन्होंने अपने हल से उसे खींचा। तब वह वृंदावन के पास बहने लगी (५।२५।१४)।

जेष्ठ शुक्ल की द्वादशी के दिन यमुना-जल में स्नान करके मथुरा में हरि का दर्शन करे तो पुरुष को अत्यंत कल-प्राप्ति होती है (६।८।३१-४०)। यमुना में स्नान करके पितृगण का आदरपूर्वक अर्चन करने से मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं (३।१४।१८)।

ब्रह्मपुराण में यमुना-समेत सभी नदियों को—‘विश्वसातरः सर्वाः सर्वाः पापहराः स्तुता’ कहा है (२७।४०)। सागरगमा और—‘कालिंदी लोलकलोलशालिनीम्’ के भी उल्लेख आए हैं।

शिवपुराण (सूट ८ अध्याय ११ वाँ) में वर्णन है कि सूर्य की पत्नी सती से आद्यदेव और यम नामक दो पुत्र और यमुना नामक एक कन्या उत्पन्न हुई।

पद्मपुराण में यमुना-छवि का वर्णन इस प्रकार दिया है—

“कालिंदी चाकरोक्षस्य कणिकाया प्रवक्षिषाम् ।

लीलानिवर्णनशीरं जलं सौरभमोहनम् ॥

आनंदामृततन्त्रि (समि) अमरकंदयनालयम् ।

पद्मोत्पलाक्षः कुसुमैर्नानावर्णसमृज्ज्वलम् ॥

चक्रवाकादिबिहृगं मंजुनामाकलस्वर्णः ।

शोभमानं जल रम्यं तरंगान्तिमोहरम् ॥

तत्प्रीत्यतदीरम्या बुद्धकांचननिमिता ।

गंगाकोटिगुणः प्रोक्तो यत्र स्पर्शवरादकः ॥

कणिकाया कोटिगुणो यत्र भीडारता हरिः ।

कालिंदीकणिका कृष्णमलिनमेकमिदम् ॥

—प० पु० ५० ५८५, स्तोक ७४-७८

अर्थात्, “कालिंदी के दक्षिण में ‘कणिका तीर्थ’ स्थित है। यहाँ कालिंदी का जल गंभीर और सौरभ-युक्त होता है। रत्नवर्ण के कमल तथा माँति-माँति के पुष्प अपनी-अपनी छटा लिए मकरद की सुगंध बघार रहे हैं। चक्रवाक (चक्रवा) आदि पक्षीगण नाना-प्रकार का कलरव कर रहे हैं और

तयों सेते हुए, सहरे मारते हुए कालिंदी के शोभित जल में रमण कर रहे हैं, जो अपने दोनों तटों-समेत ऐसी लगती हैं मानो सोने की निर्माण की गई हो। इस पवित्र तीर्थ के जल को स्पर्श करने से ऐसा फल प्राप्त होता है, जो गंगा-जल के स्पर्श करने के फल का कोटि-गुणा है। इस तीर्थ में भगवान् हरि क्रीड़ा किया करते हैं। यथार्थ है कि कालिंदी श्रीर कर्णिका अभिन्न है—भगवान् कृष्ण के लिए श्री अभिन्न हैं।

यूनानी इतिहासकार मेगास्थनीज ने यमुना को 'Jobares' ^१ अथवा 'Jobares' ^२ लिखा है। प्लाटनी इसे 'Jomanes' ^३ के नाम से पुकारता है और टालेमी ने इसका नाम 'Diamounas' दिया है।^४

वन

(१) तालवन—यहाँ वेनुकासुर को बलराम ने मारा था (व० पु० १५३।३५)। यह वन मथुरा के पश्चिम में अर्धयोजन (२ कोस) की दूरी पर स्थित है, जिसकी रक्षा वेनुकासुर करता था। यहाँ के कुछ में नील कमल खिलते हैं और स्नान करने से मनुष्य को मनोवाञ्छित फल मिलता है (व० पु० १५७।३६-४०)। यह वन ताल-वृक्षों से पूरित था (विष्णुपुराण ५।८।१)। ब्रह्मपुराण (१८६।१-१२) में लिखा है कि तालवन में राम और केशव गायों को चराते हुए वन में भ्रमण करते हुए घूमने लगे। वहाँ खर एव गर्दभाकुतिवाला मासाहारी दानव वेनुका रहता था। उस वन में ताड़ (ताल) वृक्ष होते थे, जिनमें फल लगेते थे—'तालवन रम्य फलसपत्समन्वितम्' जो वृक्ष से गिरकर पृथ्वी पर डेर के डेर लग जाते थे—'क्षणेनोत्कृता पृथ्वी पक्वेस्ताल फलस्ताय' (१८६।१२)। इसे देखने से यात्री नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)।

(२) मधुवन—मथुरा में विष्णु-स्थान रूप यह एक प्रसिद्ध और रमणीक वन है। इसके कुछ में स्नान करने का, विशेषकर भाद्रपद शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन बड़ा माहात्म्य होता है (ब्राह्मपुराण—१५३।३३-३४)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। मथुरा का मधुवन अत्यंत उत्तम है (पद्म पु० पातालखंड—६६ वाँ अध्याय)।

(३) कुम्भवन^५—यहाँ भाद्रपद कृष्णपक्ष की एकादशी के दिन कुछ में स्नान करने से मनुष्य को वरलोका की प्राप्ति होती है (व० पु० १५३।३६)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। कुम्भवन (पद्मपुराण-पातालखंड-६६ वाँ अध्याय) सप्तवत् कुम्भवन का ही पर्याय है।

(४) काम्यवन^६—यह वन ग्रन्थ वनों से श्रेष्ठ है। इस वन में सर्व पापों से मोक्ष देनेवाला 'विमल कुंड' है (व० पु० १५३।३७-३८)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (व० पु० १६१)। काम्यवन (पद्मपुराण, पातालखंड-६६ वाँ अध्याय) सप्तवत् काम्यवन ही है।

^१ जे० डब्ल्यू० एम० सी० क्रिडिल—'दि इंडिका अँव एरियन' १८७६ (संस्करण); पृ० १६-१७।

^२ वही, पृ० ८६।

^३ "Amnis Jomanes in Gangem per Palibothros decurrit inter oppida Methora et Charisobora" —वही, पृ० ६८।

^४ वही, पृ० ६८।

^५ इसे आजकल 'कुम्भवन' कहते हैं।

^६ कामवन।

- (५) बकुलवन—यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को अनिलोक प्राप्त होता है (ब० पु० १५३।३६)। पद्मपुराण (पातालखण्ड-६६ अध्याय) में इसका उल्लेख है। समस्त बराहपुराण १७।१-३ का बकुलवन यही बकुलवन है, जो यमुना-पार के मत्स्याजुन तीर्थ के पास ही स्थित है।
- (६) भद्रववन—यह यमुना के उस पार स्थित है। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य भगवान् बराह का भक्त और तद्रूप—मत्स्यरायण हो जाता है और इस वन के प्रभाव से यात्री को नागलोक की प्राप्ति होती है (ब० पु० १५३।४०-४१)। यहाँ जाते यात्री नरकगामी नहीं होता (ब० पु० १६१ और पद्मपुराण-पातालखण्ड, ६६ वाँ अध्याय)।
- (७) जलिरवन—यह लोक-विश्रुत तीर्थ है। यहाँ की यात्रा करने से नरको भगवान् बराह का लोक प्राप्त होता है (ब० पु० १५३।४२)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (ब० पु० १६१)। (पद्मपुराण पातालखण्ड-६६ वाँ अध्याय) में भी इसका उल्लेख है।
- (८) महावन—भगवान् बराह को यह वन अति प्रिय है। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को इन्द्रलोक की प्राप्ति होती है (ब० पु० १५३।४३)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (ब० पु० १६१)। पद्मपुराण (पातालखण्ड, ६६ वाँ अध्याय) में इसे गोकुल का अत्युत्तम वन कहा गया है। बाबू साधुचरण का कथन है कि 'गोकुल' (वर्तमान गोकुल) से लगभग एक मील दूर महावन (पुराना गोकुल) स्थित है (भारत-भ्रमण, प्रथम खंड पृ० २८७)।
- (९) भांडीरवन—यहाँ वासुदेव भगवान् के दर्शन करने से यात्री को पुनर्जन्म से मुक्ति मिल जाती है (ब० पु० १५३।४७)। भांडीरक नामक तीर्थ अति उत्तम है (ब० पु० १५६।३)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (ब० पु० १६१)। विष्णुपुराण (५।६।२) में 'भांडीरवट' नामक एक वृक्ष का उल्लेख आया है और पद्मपुराण के (पातालखण्ड, ६६ वाँ अध्याय) में भी।
- (१०) लोह-जंघवन—यह वन सर्वपातक विनष्ट करनेवाला है (ब० पु० १५३।४४)। लोहार्गव वन में जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (ब० पु० १६१)। पद्मपुराण (पातालखण्ड, ६६ वाँ अध्याय) में इसे लोहवन कहा गया है।
- (११) विल्ववन—इसे देवगण तक पूजते हैं। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को ब्रह्मलोक का लाभ होता है (ब० पु० १५३।४५)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (ब० पु० १६१)।
- (१२) वृंदावन—वृंदावन तीर्थ में केशी नामक राजस मारा गया था। यहाँ पिंडदान करने से गया में किये गए पिंडदान का-सा पुण्य-फल मिलता है। यहाँ कालिंदी के प्रसिद्ध सूर्यतीर्थ में कालिय नाग रहता था (१५६।१०-१४-ब० पु०)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता (ब० पु० १६१)। वृंदावन-वासी गोविंद भगवान् के उत्तर में वसते हैं (ब० पु० १६३)। भगवान् बराह पृथ्वी से कहते हैं—

“वृंदावनं द्वावशकं वृंदया परिरक्षितम् ।

मम चैव प्रिय भूमे महापातकनाशनम् ॥

वृंदावनं च गोविंदं मे पश्यति वसुंधरे ।

न ते यमपुरं याति याति पुण्यकृता गतिम् ॥”

—ब० पु० १५३।४८-४९

अर्थात् हे वसुंधरे, अज के द्वादश वनों में वृंदावन भी है, जो तदेव वृंदा देवी द्वारा रक्षित रहता है। जो जन महा पातक-विनाशी वृंदावन और वहाँ के श्री गोविंदजी के दर्शन करते हैं, वे कदापि यमपुर नहीं जाते, अत्युत्तम मद्गति को प्राप्त होते हैं।”

विष्णुपुराण (अध ५।६।२८ और अध ५।७।१) में वृंदावन का उल्लेख है। जगमा सभी पुराणों में वृंदावन को गोविंद भगवान् का भावाम कहा गया है। वृंदावन में अष्टमिनर वन के वृक्ष होते हैं (वि० पु० ५।२५।४)।

ब्रह्मपुराण (१८५।१ और १८६।२३-२४) में भी बृंदावन का रमणीक वर्णन किया गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (कृष्ण जन्म खंड, ११ वाँ अध्याय) में लिखा है कि सत्ययुग के एक राजा केदार की पुत्री बृंदा ने जिस वन में तप करके बृंदावन-विहारी कृष्ण को पतिरूप में प्राप्त किया था, वही वन 'बृंदावन' कहलाया।

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १०—अध्याय ११) में कालिय-धमन की बृंदावन स्थित कालीदेह में सपत्न सीला का उल्लेख है।

पद्मपुराण में भी बृंदावन विषयक पर्याप्त सामग्री दी गई है। भगवान् कृष्ण को बृंदावनेश्वर (पृ० ५८६) और राधा को बृंदावनेश्वरी (पृ० ५८७) की उपाधियों से विभूषित किया गया है। बृंदावन का वर्णन करते हुए पुराणकारने लिखा है कि रमणीक बृंदावन में बड़े-बड़े वृक्ष झूमते हैं। जिनके नीचे सुरभी गाएँ बँठकर विश्राम किया करती हैं। यहाँ स्त्री-रूप लक्ष्मी और पुरुष-रूप विष्णु का वास है (पृ० ५८५।६१)। मधमाती कीर्तिले और मरि मनोहर रूप से कूजन करते हैं। कपोत और शक सहस्रो की सख्या में संगीत अलापा करते हैं। मोक्ष में विभोर होकर मोर-गण (भुजगशत्रु) यहाँ पूव नर्तन करते हैं। सुगंधित पराग (रेणु) में परिपूरित नाना-प्रकार के पुष्प विकासमान होते रहते हैं (पृ० ५८५।६४-६५)।

इसी पुराण में अन्यत्र लिखा है—

“सहस्रदलपद्मस्य बृंदारण्यं वराटकम्।

यत्स्यस्पर्शनमात्रेण पृथ्वी घन्या जगत्त्रये ॥

गुह्याद्गुह्यतरं रम्यं मध्ये बृंदावनं भुवि।

अक्षरं परमानंदं गोविंदस्थानमव्ययम् ॥”

—पृ० पु० ५८५।७०-७१

अर्थात् बृंदावन रूपी कमल सहस्रदली है। इसके स्पर्शमात्र से ही पृथ्वी त्रैलोक्य में घन्या कह कर मानी गई है। पृथ्वी के मध्य में स्थित यह बृंदावन अति रहस्य-मय और रमणीक स्थल है। यह गोविंद का अक्षर, अव्यय एवं परमानंदमय स्थान है।

इस बृंदावन में इसके अंश के अंश वैकुण्ठ आदि सभी लोक विद्यमान रहते हैं—‘वैकुण्ठादि-तदंशान् स्वयं बृंदावनं भुवि’ (पद्म० पृ० ५८३।६)। श्री बृंदावन की स्थिति यमुना के दक्षिण में है। इसमें गोपेन्द्वर नामक एक शिवलिंग की प्रतिष्ठापना भी की गई है—

“श्रीमद्बृंदावनं रम्यं यमुनायाः प्रदक्षिणम्।

शिवलिंगमधिष्ठानं बृष्टं गोपीदेवराभिषेकम् ॥”

—पद्म०, पृ० ५८४।३६

एक अन्य स्थान पर लिखा है—

“भूर्गामृतनिधेमंध्ये द्वीपं ज्योतिर्मयं स्मरेत्।

कालिदासेच्छित्तं तत्र ध्याये बृंदावनं वनम् ॥”

—पद्म०, पृ० ५८७।१३५

अर्थात्, “कालिदा से चिरा हुआ बृंदावन एक ज्योतिर्मय द्वीप के समान है।” (१३) श्रीवन—इसका उल्लेख पद्मपुराण के पाताल खंड, अध्याय इस में आया है।

पद्मपुराण (पाताल खंड—६६ अध्याय) में लिखा है कि बारह वनों (मन्त्रवन, शिववन, सोह्रवन, माडीरवन, महावन, सालवन, खदिरवन, नकुलवन, कुमुदवन, काम्यवन, मन्वुवन और बृंदावन) में से सात यमुनाजी के पश्चिमी तट पर और पाँच पूर्वी तट पर अवस्थित हैं। उन में भी गोकुल का महावन, मथुरा का मधुवन और बृंदावन अत्यंत श्रेष्ठ वन हैं। इन बारहों को छोड़कर और भी बहुत से वन हैं।

“कणिकापर्णविस्तारं रहस्यद्रुममीरितम् ।
 प्रधानं द्वावहारण्यं माहात्म्यं कथितं क्रमात् ॥
 भद्रञ्जोलोहर्माडीरमहातालखदीरकाः (?) ।
 वक्रुलं कुमुदं काम्यं मधुबुंदावनं तथा ॥
 द्वादशीतावती सख्या कालिन्ध्याः सप्तपञ्चिने ।
 पुर्वे पञ्चवनं प्रोक्तं तत्रास्ति गृह्यमुत्तमम् ॥
 महारण्यं गोकुलाख्यं मधुबुंदावनं तथा ।
 अन्यच्चोपवनं प्रोक्तं कृष्णकौडारसस्यलम् ॥”

—पृ० पु० ५८३ श्लो० १५, १६, १७, १८

गोकुल

पुराणों में कृष्ण-चरित्र के सिलसिले में गोकुल का उल्लेख हुआ है, परंतु इसके विषय में विस्तृत सामग्री का अभाव है। पद्मपुराण (पृ० ५८४, श्लो० २१-२६) में गोकुल को सहस्रपत्नी कमल की उपमा दी गई है—

“सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत्पद्मम् ॥”

तीर्थ-माहात्म्य

- (१) विष्णाति तीर्थ—यह त्रैलोक्य-विश्रुत तीर्थ है। हे देवि, इसमें स्नान करने से मनुष्य को मेरा लोक प्राप्त होता है (व० पु० १५२।३४-)। सब तीर्थों में स्नान करने का फल एक साथ केवल यही स्नान करने से प्राप्त हो जाता है (व० पु० १५२।३५)। मथुरा-परिक्रमा यहीं से आरम्भ की जाती है (व० पु० १६०)। मथुरा नगर के ५ कोस की परिक्रमा विषाम घाट से आरम्भ होकर करीब ६ घंटे में फिर उसी जगह समाप्त होती है (सामुद्रण कुल भारत-भ्रमण, प्रथम खंड, पृ० २४१)।
- (२) प्रयाग तीर्थ—इस तीर्थ में स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है और भोक्ष-पाकर स्नान करनेवाला भक्त मेरे लोक को जाता है (व० पु० १५२।३५-३६)। ‘यहाँ वैष्णोमाधव की मूर्ति है (भारत-भ्रमण, प्र० ख० पृ० २४२)।
- (३) कनकल तीर्थ—यह परम गुह्य तीर्थ है (व० पु० १५२।४०)। आधुनिक श्यामघाट में यह है (भा० भ्र०, प्र० ख० पृ० २४२)।^१
- (४) तिडुक तीर्थ—आधुनिक श्यामघाट में यह तीर्थ है (भा० भ्र०, प्र० ख० पृ० २४२)।^२ देगिए यमुना-वर्णन।
- (५) सूर्य तीर्थ—यह तिडुक तीर्थ के पास है। यहाँ वैरोचन-मुन राजा बलि ने सूर्य की आगवना की थी और भगवान् सूर्य ने ‘चित्तामणि’ नामक एक दिव्य मणि प्राप्त की थी। इन तीर्थों में स्नान करने से राजमुन्य यज्ञ संपन्न करने का फल मिलता है (व० पु० १५२।४५-४६)। ‘यहाँ सूर्य की मूर्ति है’ (भा० भ्र०, प्र० ख० पृ० २४२)।^३
- (६) ध्रुव तीर्थ—इन तीर्थों में स्नान करने से मनुष्य को ध्रुवलोक मिलता है। यहाँ नौग घाट-आदि धुवि-भर्म करते हैं (व० पु० १५२।४६-६०)। ‘यहाँ पिण्डदान होना है। घाट के पास एक टीले पर छोटे मन्दिर में ध्रुवजी की सुवन मूर्ति है। इसी स्थान पर ठहरने ठन किंग या (भा० भ्र०, पृ० २४२)।

^१ यह श्यामघाट से ही नहीं, रामघाट से भी दक्षिण में आगे है।

^२ यह भी श्यामघाट, रामघाट और बनव्यन तीर्थ (क्षेत्र) से आगे है।

^३ यहाँ श्रीकृष्ण-मुन्य ‘सावि’ ने भी तपस्या की है।

- (७) ऋषि तीर्थ—यह तीर्थ द्रुव तीर्थ के दक्षिण में स्थित है (व० पु० १५२।६४) ।
- (८) मोक्ष तीर्थ—यह तीर्थ ऋषि तीर्थ के दक्षिण में स्थित है (व० पु० १५२।६४) ।
‘यहाँ से यमुना जी छूट जाती है । दाहिने घूमना होता है । यहाँ सप्तपिथों का टीला है, जहाँ सफेद मिट्टी (भस्म) मिलती है, जिसको लोग यज्ञ की विभूति कहते हैं । टीले पर साधुओं का गठ है (भा० भ्र०, प्र० ख० पृ० २४२) ।
- (९) कोटि तीर्थ—यह देव-दुर्लभ तीर्थ मोक्ष तीर्थ के समीप ही है । यहाँ पितरो और देवताओं को जलाजलि दी जाती है (व० पु० १५२।६५-६६) ।
- (१०) वायु तीर्थ—यहाँ पिबदान देने से मनुष्य पितृ-लोक को जाता है । यदि बेटा भास में यहाँ पिबदान किया जाय तो गया में किये गए पिबदान के समान पितृगणों की तृप्ति होती है (व० पु० १५२।६७-६८) ।
- (११) संयमन तीर्थ—देखिए यमुना वर्णन । यह तीर्थ शिवकुंड के उत्तर में नौ तीर्थों के पास है (व० पु० १५३।१-३) और देखिए (व० पु० १५६।६०)
- (१२) विमल कुंड—यह कुंड काम्यक वन में स्थित है और सब पापों से मोक्ष देने वाला है (व० पु०-१५३।३७-३८) ।
- (१३) घारापतन तीर्थ—यह तीर्थ यमुना नदी पर है । इसमें स्नान करने से नागलोक की प्राप्ति होती है और मनुष्य दिव्यमूर्ति चतुर्भुज विष्णु-लोक को जाता है (व० पु० १५४।१२-१४) । ‘पत्थर का घाट बना है’ (भा० भ्र०, प्र० ख० पृ० २४४) ।
- (१४) नाग तीर्थ—यह तीर्थ अन्य तीर्थों में उत्तम है । इसमें स्नान कर लेने से पुनर्जन्म की यातना मनुष्य को नहीं भोगनी पड़ती (व० पु० १५४।१५-१६) ।
- (१५) वंदामरण तीर्थ—यह सर्व पाप-प्रमोचन तीर्थ है । इसके जल में डुबकी लेने से सूर्य-लोक मिलता है और अतः समय में मनुष्य मेरे लोक को जाता है व० पु० १५४।१६-१७) और देखिए (व० पु० १५६।५६) ।
- (१६) श्रद्धालोक तीर्थ—यह श्रद्धा प्रसिद्ध और तीर्थोत्तम है । यहाँ स्नान करने तथा यहाँ का जल-पान करने से मनुष्य विष्णु-लोक को जाता है (१५४।१८-व० पु०) ।
- (१७) सोम तीर्थ—यमुना-तट पर स्थित यह एक पवित्र तीर्थ है । यहाँ द्वापर-युग में सोम (चंद्रमा) को विष्णु के दर्शन हुए थे (व० पु० १५४।२०) । ‘यहाँ सोमतीर्थ और पत्थर के घाट के ऊपर सोमेश्वर महादेव हैं (भा० भ्र०, प्र० ख०, पृ० २४४) ।
- (१८) सरस्वती-पतन तीर्थ—इस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य योगी (यति) हो जाता है (व० पु० १५४।२२-२३) ।
- (१९) वशाश्रमेष्ठ तीर्थ—यह तीर्थ ऋषियों द्वारा पूजा जाता है । इसमें नियमपूर्वक स्नान करने में स्वर्ग-प्राप्ति दुर्लभ नहीं होती (व० पु० १५०।२५-२६) । ‘एक और थोड़ा घाट बड़ा हुआ है । वर्षा-काल में यमुना यहाँ धाती है ।’ (भा० भ्र०, प्र० पृ० २४४) ।
- (२०) मानस तीर्थ—यह तीर्थ मयुरा के पश्चिम में स्थित है । जहाँ द्वारा इसका निर्माण होने के कारण ऋषिगण इसकी आराधना करते हैं (व० पु० पु० १५४।२६-२७) ।
- (२१) विष्णुराज तीर्थ—गणपति गजानन का यह तीर्थ मानस तीर्थ के पास ही है । अपने जल में स्नान करनेवालों को विष्णो में मुक्त करना है (व० पु० १५४।२८-२९) ।
- (२२) कोटि तीर्थ (द्वितीय)—इन पद्म पवित्र तीर्थ में स्नान मात्र से एक करोड़ गीर्वाण दान करने का फल मिलता है ।
- (२३) सिद्धेश्वर तीर्थ—कोटि तीर्थ (द्वितीय) में भ्रमर कोम की दूरी पर यह तीर्थ स्थित है । यहाँ चंद्रकर भगवान् हर मयुरा की रक्षा करते हैं । यहाँ के जल में स्नान करने में व जन पीने में मयुरा-मदन

- के सभी तीर्थों का फल प्राप्त होता है (ब० पु० १५४।३४-३५)। इस वर्णन से प्रगट है कि उस समय भी वैष्णव-संप्रदाय शैव-संप्रदाय के प्रति कितना सहिष्णु एवं उदार था।
- (२४) अक्षर तीर्थ—भगवान् बराह का यह अत्यंत प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ स्नान-लाभ करनेवाले मनुष्य को राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के संपन्न करने का फल प्राप्त होता है। यह तीर्थ तीर्थराज है और गुह्य तीर्थों से भी गुह्य है। जो फल प्रयाग तीर्थ में स्नान करने से होते हैं, वे ही यहाँ प्राप्त होते हैं। इस तीर्थ के समान तीर्थ न दुआ है न होगा (ब० पु० १५४।३६-६, १५४।७१)।
- (२५) वत्सक्रीडन तीर्थ—यह तीर्थ भगवान् को प्रिय है। यहाँ स्नान करने से वायुलोक की प्राप्ति होती है (ब० पु० १५६।१-२)।
- (२६) भाडीरक तीर्थ—समस्त यह तीर्थ भाडीरवन का है। इसे (ब० पु० १५६।१०) में प्रति उत्तम तीर्थ कहा गया है।
- (२७) वृंदावन तीर्थ—समस्त यह तीर्थ वृंदावन का है। यही केशी नामक राक्षस का वध हुआ था। यहाँ पिंडदान करने से गया-मुल्य फल होता है। यहाँ के एक ग्रन्थ (सूर्य तीर्थ) में जो कालिंदी-तट पर है, कालिय-दमन-सीला हुई थी (ब० पु० १५६।१०-१४)।
- (२८) मलयार्जुनकुंड तीर्थ—यह जमुना-पार है। यहाँ जेठमास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को स्नान करने का बड़ा माहात्म्य है। यही पास ही बहुलवन है (ब० पु० १५७।१-८)।
- (२९) मांडह्वर तीर्थ—(ब० पु० १५७।१०)।
- (३०) अर्कस्थल कुंड—मांडह्वर के पास स्थित है (ब० पु० १५७।११)। यह मथुरा-परिक्रमा की यात्रा में पड़ता है (ब० पु० १६०।२०)।
- (३१) विमलोदक कूप—इसका नाम सप्त सामुद्रिक कूप भी है (ब० पु० १५७।१२)। इसका जल जाड़े में गर्म और गर्मी में ठंडा रहता है और न वर्षा-काल में बढ़ता है और न गर्मी में सूखता है। जैसे—
 “हेमते तु मवेन्जोष्णां सीतलं प्रीष्मके भवेत् ।
 न वर्षते च वर्षसि प्रीष्मे क्षापि न हीयते ॥”
 —ब० पु० १५७।२४।२५।
- (३२) विरस्थल क्षेत्र—भगवान् बराह का परम गुह्य क्षेत्र है। यहाँ जल में कमल खिले हुए हैं (ब० पु० १५७।२८-२९)। यह क्षेत्र मथुरा की परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है (ब० पु० १६०।२०)।
- (३३) कुशस्थल क्षेत्र—यह विरस्थल के पास ही है (ब० पु० १५७।३७)। यह क्षेत्र मथुरा की परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है (ब० पु० १६०।२७)।
- (३४) पुण्यस्थल क्षेत्र—यह शिव का क्षेत्र है और कुशस्थल क्षेत्र के समीप है (ब० पु० १५७।१९)।
- (३५) गोपीधवर तीर्थ—यह तीर्थ महापातकों का नाश करने वाला है। यहाँ कृष्ण सोलह हजार गोपियों के साथ स्मरण करते थे (ब० पु० १५७।२१)।
- (३६) वसुपत्र तीर्थ—यह तीर्थ परमोत्तम और पुण्यमय है (ब० पु० १५७।३५)।
- (३७) फाल्गुन तीर्थ—यह मथुरा के दक्षिण में है (ब० पु० १५७।३६)।
- (३८) वृषभाजन तीर्थ—यह दुर्लभ तीर्थ है (ब० पु० १५७।३७)।
- (३९) तालवनकुंड तीर्थ—देखिए तालवन-प्रकरण। इस तीर्थ में स्नान करने से अनवाञ्छित फल मिलता है (ब० पु० १५७।४०)।
- (४०) सपीठक क्षेत्र—भगवान् बराह का यह क्षेत्र है। यहाँ के कुंड का जल मयलमय और उत्साहवर्धक है। यहाँ स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है (ब० पु० १५७।४१)।
- (४१) मुचुकुंद तीर्थ—(ब० पु० १५८।५६)

- (४२) ऋतुःसामुद्रिक रूप तीर्थ—(ब० पु० १५८।४२) । यह तीर्थ त्रैलोक्य विद्युत है और इसमें स्नान करने से मनुष्य को देवताओं के साथ रहने का लाभ मिलता है ।
- (४३) दक्षिणकोटि तीर्थ—(ब० पु० १६०।१६) । यह मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है ।
- (४४) वल्लभ तीर्थ—(ब० पु० १६०।२०) यह मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है ।
- (४५) महात्म्य तीर्थ—(ब० पु० १६०।२१) । यह क्षेत्र मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है ।
- (४६) हयमुक्ति तीर्थ—(ब० पु० १६०।२४) । यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है ।
- (४७) अश्वमुक्ति तीर्थ—(ब० पु० १६०।२४) । यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है ।
- (४८) शिवकुंड तीर्थ—(ब० पु० १६०।२६) । यहाँ मल्लिका देवी के दर्शन होते हैं । यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है ।
- (४९) कर्बवल्ड तीर्थ—(ब० पु० १६०।२७) । मथुरा-परिक्रमा करनेवाले यहाँ योगिनी चर्चिका देवी के दर्शन करते हैं । यथा—

“कर्बवल्डकं नंदं ननं नंदीश्वरं तपा ।

ननं ननं ननं च पलाशाशोककेतकी ॥”

—पद्य० पा० ख० पृ० ५८४, १६

- (५०) वर्षलात कुंड—यह पापहर तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पड़ता है (ब० पु०-१६०।३०) ।
- (५१) क्षेत्रपाल तीर्थ—(ब० पु० १६०।३०) । यह भूतेश्वर शिव का स्थान है । मथुरा-परिक्रमा की यात्रा में यह पड़ता है ।
- (५२) वलिहृद तीर्थ—यहाँ कृष्ण जल-क्रीडा करते हैं । (ब० पु० १६०।३४) मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में यह पड़ता है ।
- (५३) नारायण-न्याय तीर्थ—(ब० पु० १६०।३६) मथुरा-परिक्रमा में पड़ता है ।
- (५४) सकेतकेवरी तीर्थ—(ब० पु० १६०।४६) मथुरा-परिक्रमा में यही महादेव गोकर्णेश्वर के दर्शन होते हैं ।
- (५५) विष्णुराज तीर्थ—(ब० पु० १६०।४६) मथुरा-परिक्रमा ।
- (५६) महादेवमुखाकार मंदिर तीर्थ—(ब० पु० १६०।५१) मथुरा परिक्रमा ।
- (५७) क्षेत्रपंत तीर्थ—(ब० पु० १६०।५१) मथुरा-परिक्रमा ।
- (५८) उत्तर-कोटि तीर्थ—(ब० पु० १६०।५२) मथुरा परिक्रमा ।
- (५९) महातीर्थ—यह यमुना तट पर है (ब० पु० १६०।५६) । मथुरा-परिक्रमा ।
- (६०) गार्ध तीर्थ—(ब० पु० १६०।५७) मथुरा-परिक्रमा ।
- (६१) सोम तीर्थ—(ब० पु० १६०।५७) मथुरा परिक्रमा ।
- (६२) सरस्वती-संगम तीर्थ—(ब० पु० १६०।५९) मथुरा परिक्रमा और देखिए,—ब० पु० १६०।४८ ।
- (६३) गरुड तीर्थ—(ब० पु० १६०।५९) मथुरा-परिक्रमा ।
- (६४) धारातोषण तीर्थ—(ब० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा ।
- (६५) वैकुण्ठ तीर्थ—(ब० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा । यहाँ एक मिथिलावासी को यही गति मिली थी जो ब्रह्म हत्या का पातकी था (ब० पु० १६३।१-१०) । ‘यह पत्थर का घाट है, जिन पर पानी में निकले हुए पाच व छ मुंदर पुस्ते हैं’ (भा० अ०, प्र० ख० पृ० २४५) ।
- (६६) खंडवेलक तीर्थ—(ब० पु० १६०।६०) मथुरा परिक्रमा ।
- (६७) मंदारिनी तीर्थ—(ब० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा ।
- (६८) अश्विकुंड तीर्थ—(ब० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा और देखिए (ब० पु० १६३।१३) । चारों सागरों में घिरी हुई पृथ्वी पर त्रिनने तीर्थ हैं, उनमें मथुरा के तीर्थ प्रथिम फल देने-

- वाले हैं, पर इनमें से भी असिकुड तीर्थ महत्तर है (व० पु० १६६।२८) ।
 (६६) गोपी तीर्थ—(व० पु० १६०।६१) मयुरा-परिक्रमा ।
 (७०) मुक्तिकेश्वर तीर्थ—(व० पु० १६०।६१) मयुरा-परिक्रमा ।
 (७१) शङ्ख तीर्थ—(व० पु० १६०।६१) मयुरा-परिक्रमा ।
 (७२) चक्रतीर्थ—यह तीर्थ मयुरा के उत्तर में स्थित है^१। यहाँ भद्रेश्वर महादेव के दर्शन होते हैं (व० पु० १६२।१, ४६, ४७) । यहाँ आने पर शहर और यमुना मिल जाती है । घाट पत्थर से बना है (भा० अ०, प्र० ख० पृ० २४४) ।

(७३) सीकरव तीर्थ—(व० पु० १६३।३) ।

(७४) गंधर्व तीर्थ—(व० पु० १६३।३) ।

(७५) गोवर्धन क्षेत्र—(व० पु० १६४) । 'यह मयुरा के पश्चिम में दो योजन (आठ कोस) पर स्थित है । वहाँ एक तालाब है जिसमें चार तीर्थ हैं—(१) पूर्व में इन्द्र तीर्थ है, (२) दक्षिण में यम तीर्थ है, (३) पश्चिम में वरुण तीर्थ और (४) उत्तर में कुबेर तीर्थ है । जो व्यक्ति इस तालाब में जिसका नाम—'मानसगंगा' है, स्नान करके गोवर्धन में हरि के दर्शन करता है और वही अन्नकूट (पर्वत) की परिक्रमा करता है, वह सभी चिताओं से मुक्त हो जाता है । यहाँ पृथ्वी तीर्थ और आप्सराकुंड है । शकर्वण तीर्थ की रक्षा बलराम स्वयं करते हैं । अन्नकूट के पास ही इन्द्र तीर्थ है । एक समय जब कृष्ण ने यहाँ इन्द्र की पूजा रोक दी तो इन्द्र ने रुष्ट होकर खूब पानी बरसाया, किंतु कृष्ण ने गिरि को ऊपर उठाकर उसके नीचे सबकी रक्षा की । तभी से यह पर्वत अन्नकूट नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

"यही पर कर्दवखंड नामक कुंड है । यहाँ का राधाकुंड सभी पापों को हरनेवाला है । अरिष्ट, राधाकुंड और मोक्षराज तीर्थ मुक्ति प्रदायक हैं । अरिष्ट, राधाकुंड के पूर्व में इन्द्रवज्र तीर्थ है । इन्द्रवज्र तीर्थ से जाकर चक्रतीर्थ में स्नान करना चाहिए और अन्नकूट पर्वत की परिक्रमा करनी चाहिए ।"

गोवर्धन-क्षेत्र—(व० पु० १६५) । 'गोवर्धन-गिरि और यमुना के बीच में रमणीक और लोकविभूता मयुरा नगरी स्थित है ।' (व० पु० १६८)—गोवर्धन और अकूर तीर्थ (मयुरा) की उत्तर-दक्षिण-स्थित दो कोटियाँ हैं ।

विष्णुपुराण (अध ५।१०।३८) में गोवर्धन शैल का उल्लेख आया है । ब्रह्मपुराण (२७।४४ और ६१।१) में गोवर्धन को महात्मा मार्गव का रम्य एवं पुण्य स्थान बताया है । ब्रह्मपुराण (१८७ और १८६ अध्याय) में गोवर्धनलीला का वर्णन है । अथिनास पुराणों में कृष्ण-चरित का संक्षेप होने से मयुरा, गोकुल, गोवर्धन का विभिन्न प्रकार से और बार-बार वर्णन किया गया है ।

सारांश में इस विशाल भारतवर्ष में मयुरा का अन्यान्य तीर्थों में विशेष स्थान है । भारत भूमि का एक-एक कण अपना निजी इतिहास अपने अंतर में छिपाए हैं । वह इतिहास उस गौरवमय स्वर्णिम विनो का है और यही कारण है कि भारतवासी अनंत सीमांत और अक्षय पुण्य वाले हैं । भारतवासी धन्य हैं और मयुरापुरी से अलंकृत यह भारतवर्ष धन्य है, जिसकी वन्दना करते हुए पुराणदि नहीं भ्रमते—

"अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जंबूद्वीपे महामुने ।

यतो हि कर्मभूमेया ह्यस्तोम्या भोगभूमयः ॥

^१ इसे अब असकुंडा घाट कहते हैं । 'यह पत्थर का घाट है जिस पर पानी में निकले हुए कई मुर्ते हैं । इस स्थान को 'बाराह क्षेत्र' भी कहते हैं । यहाँ एक मंदिर में बाराह जी और गणेश जी की मूर्ति और शिवताल कुंड है (भा० अ०, प्र० ख० पृ० २४५) ।

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि संतमम् ।
कदाचित्प्रभतेजं तुमन्विष्य पुण्यसंचयात् ॥”

ॐ

“भार्यति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापिबर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

ॐ

कर्माण्यसंकल्पिततत्त्वज्ञानि संनस्य विष्णो परमात्मभूते ।
अनाद्य तां कर्ममहीमनते तस्मिन्नेत्यर्थं ये त्वमलाः प्रयाति ॥”

—विष्णुपुराण २।३।२२-२५



श्री मथुरा : महिमा

साहित्य-सूर्य—सूरदास

रग-मलार

जै, जै, जै श्री मथुरा सुखकारी । *

चक्र सुबरसन-ऊपर राजति, केसव बू को प्यारी ॥
हाटक कौट कँगूरा राजत, हीरा रतन जरे ।
भनि-नै जवन जतग सुहाए, नवधा-भक्ति जरे ॥
घर-घर मगल महा सहोच्छव, हरि-रस-भाति लोग ।
मधु मेवा पकवाँन मिठाई, छट-रस-बिजन-भोग ॥
दही-दूध के डेर सु जित-तित, सुरमी सब सुवेस ।
अष्ट महा सिधि बीषिन-बीषिन, सुमन रहै सुर केस ॥
परम धर्म बैकुण्ठ ते आगर, श्री बाराह वर्यानी ।
भक्ति-भक्ति के बाजन बाजे, कीखत सारंग-यानी ॥
तीरथ सकल मधुपुरी-सेवत, सुर, नर, मुनि-जन प्राजे ।
सर्वा प्रीति-हित कौल बिराजे, नारदादि गुन गावे ॥
अखिल मूवन की सोभा मथुरा, महिमा कही न जाइ ।
धनि-धनि मथुरापुरी-सिरोमनि, निज मुख करी बढाइ ॥
अगतिल की गति (जै) श्री मथुरा, हरि-बरसन-रजवाँनी ।
मथुरा-छाँड़ि अंत रति करिऐ, जाते और न हानी ॥
मथुरा निकट कबहुँ नहि निरखै, ते सतिमब अभाये ।
जननी मोक्ष दूषा ही मारी, जम के कायर बाये ॥
निमिष एक मथुरा की बासी, जननी-खडर न धावै ।
जै बढ भागी रहै निरतर, तिन की कौन सलावै ॥
मथुरा-सरन सदा मोहि राखी, बिनती करो सो बीजै ।
'सूरदास' द्वारें त्वं गावै, कृष्ण-चरन-रति कीजै ॥

ब्रज और राजस्थान

श्री श्रोताराम गौड़

वैदिक-सरस्वती राजस्थान के टीलो में लीन हो गई, पर उसके रग से धाकभरी के रूप का सावण्य 'सुकुमार-भधुरा काल-भगिनी' में फूट पड़ा। शमी की समिधा ने 'अर्बुद' के यज्ञकुंड से छत्तीस राजकुलो को जन्म दिया और ब्रज के करील-कुजों में जो आचार बनाया गया उसका उपयोग संपूर्ण आपावर्त ने किया। कूर्म का हृदय और मत्स्य का जीवन एक ही 'सरस्वान्' है। ब्रज-धन के भक्तों की शरण विराट् राजस्थान है, यही पर उनकी लोह-अर्गलाएँ चलती हैं। ब्रजकिशोर के चरणों की धूल इकट्ठी करते-करते यह राजस्थान राजस्थान बना—वह महिमाययी रज जिसमें निराकार को आकार मिला। ब्रज तो ससार को कहते हैं। वह स्वयं एक विराट् भूमंडल है—अपने में ही त्रिलोकी है—वल्कि तीन लोक से भी त्यागी है, पर यदि पृथ्वी से ऊपर उठी हुई त्रिलोकी का दर्शन आप करना चाहते हैं तो श्याम के मुख की रज देखिये। इसीलिए ब्रज और रज के इस अभिन्न संबंध से दो प्रदेश धन हुए—एक ब्रजमंडल और दूसरा राजस्थान—

'यह ब्रज रज है वह रज-ब्रज है।'

ब्रज-रज में तो रज ही मुख्य और यदि आप कहते हैं कि 'गोकुल गोंब को पैड़ी ही न्यारी'—तो महर्षि विश्वामित्र-विनिर्मित 'मार्गहीन यह रेगिस्तान' भी तो ब्रह्मा के विषयसे अलग ही है। पुष्कर और गोकुल एक ही विस्वाम्या की दो शक्तियों के रूप हैं।

आसीर देव की एक आसीर-वाला ने अपने आपको एक आर्यपुत्र की दासी बना डाला। विराट् के स्वर-संकेत पर वह आँवी की तरह उस क्यामधन से मिलने गई और उसमें मिलकर एक हो गई। राधा के बिना कृष्ण और कृष्ण के बिना राधा की कल्पना भी कौन कर सकता है? कृष्ण चले गये—राधा को अकेली छोड़कर। राधा ने एक आँसू भी न गिराया—ब्रज में। उसने 'छठी राती' बन कर अपने आँसू अपने नँहर की धूल में तीन सौ हाथ गहरे गाड़ दिये। ब्रज आज राधा के विरह को मूल गया है, पर हम राजस्थानी जब 'अपनी राधा को याद करते हैं' और उसके आँसूओं को जेठ की गर्म-गर्म आँहों के साथ पीते हैं तो हम भी 'विरा' जाते हैं, अर्थात् विरहा जाते हैं—यानी विरह की पीर से मर जाते हैं।^१

प्यास, राजस्थान का एक मात्र धन है और धन्य है वह प्यास जो ब्रजकिशोर की रूप-भाधुरी में ही बुझती है। राजस्थान की अनेक प्रताप्याओं ने अपने आप को इस प्यास पर न्योछावर किया। प्रेम-विह्वला मीरा ने—'आँसूओं के जल से सींच-सींच कर प्रेम की बेलि बोर्ड और उन्नीसवें पुराण नया पाँचवें वेद के बक्ता भट्टाराज पृथ्वीराज ने उस बेलि का ललित विलास दिखलाया।

ब्रज और राजस्थान का स्वर यही एक है, भाषा एक है, भाव एक है। राजस्थानी और ब्रज में अंतर ही क्या है? राजस्थान के पड़माया-अवीणो ने ब्रज-भाषा को तो 'घर की रोटी गवर्दी' समझा और सबने अधिक उसी में लिबा और कुछ ने अपनी मातृ-बोली को मुना कर बाप्य केवन 'पिंगल' में ही रखा तो कीर्टी बगवर दोनों में लिखना रहा, पर एक क्षण के लिए तो राजस्थान ब्रज को

^१ राजस्थानी में विराने का अर्थ है लारे पानी के बिच में मरना। इसमें शरीर कात्ता हो जाता है और प्यास बढ़ जाती है। समस्त यह विराना विरह से ही बना हो।

भूल नहीं सका। इसीलिए ब्रज और राजस्थानी दोनों मिलकर एक हो गयी और उनका इतिहास एक साथ लिखा गया। सूर आदि भक्तों की छाप राजस्थान के भक्तों पर स्पष्ट है और डिगल के वीर-कवियों का प्रभाव भूषण, साल, सुदन आदि पर भी पडे बिना नहीं रह सकता था। ब्रज की भूमध्य साहित्य-निधि राजस्थान के कीटो का कलेवा बन रही है और राजस्थान के गौरवपूर्ण साहित्य के बिना सपूर्ण हिंदी-साहित्य प्राणों की प्रतीक्षा कर रहा है—इस विषय पर बहुत कम लोग सोचते हैं।

भारतीय संस्कृति में समन्वय पाया जाता है। समन्वय विभिन्न घटकों होता है। राजस्थान और ब्रज ने इस समन्वय में योग दिया। राजस्थान ने समर्पण सीखा है, ब्रज ने भी आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण सीखा है। राजस्थान ज्वाला है जिसकी चिंगारी ब्रज में है। राजस्थान में जो होली के साज सजाये गये—वे अनंत दूरी के दीपक—‘काल-जाह्नवी की तरंगों’ में कभी बुझ न सकेंगे। राजस्थान ने अपने दीर्घ तपस्या-काल में उपासना सीखी है। राजस्थान ने क्षिति की उपासना की थी, आज भी वह शक्ति का ही उपासक है। पहले रणचंडी की उपासना की थी, भव तस्फी की उपासना कर रहा है और भैरवी—चक्रों में त्रिपुर-सुंदरी की उपासना भी कर चुका है। ब्रज उपास्य देवों की भूमि है—महाकाल, इन्द्र, गोवर्द्धन और नटनागर की भूमि है।

राजपूती-जीवन का सार है—वीरत्व और ब्रज-जीवन का सार है—नटनागर से प्रेम। वीरत्व और प्रेम दोनों मिल कर राजपूती जीवन का भावार्थ बनते हैं—

“तोखा तुरी न माणवा, भड़ सिर खग्न न भग्न।

जलम अकारख ही गयो, गौरी गले न लग्न ॥”

राजस्थान और ब्रज का सबस वीरत्व और प्रेम का सबस है।” एकलिंग और श्रीनाथजी में दूरी ही क्या? अर्जुन की चोटियाँ तो केवल गोवर्द्धनधारी के चरणों में ही झुकी हैं।

राजस्थान ने अपने रक्त से मृत्यु की उपासना की और ब्रज ने अपने हृदय से अमृत की और दोनों की समिलित उपासना ने आध्यात्मिको सदा के लिए अमर बना दिया। प्रेम की पीर के पायल कीरो ने हृदय के रक्त से जिस दिव्य सदेश के लिए स्थाही तैयार की थी, उसका तलवार की नोक ने काल की छाती पर के सदा के लिए लिख गये।



प्राचीन जैन-साहित्य में मथुरा

श्री जगदीशचन्द्र जैन

जैन छेद सूत्रों के अतर्गत बृहत्कल्प सूत्र (१।५०) में कहा गया है—“निग्रीथ और निग्रीथिनी सफेद (अयोध्या) के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशावी तक, पश्चिम में स्मृणा (स्थानेन्दवर) तक और उत्तर में कुणाला (उत्तर कौशल) तक बिहार कर सकते हैं, इसके आगे नहीं। इतने ही आर्य-क्षेत्र हैं, क्योंकि इन्हीं क्षेत्रों में साधुओं के ज्ञान, दर्शन और चरित्र अक्षुण्ण रह सकते हैं।” इससे मालूम होता है कि भारत में जैन-अमणों का बिहार-क्षेत्र आधुनिक बिहार और पूर्वीय और पश्चिमीय उत्तर प्रदेश के कुछ भागों तक ही सीमित था। जैन-सूत्रों से पता लगता है कि अशोक के पुत्र तथा आर्य ‘सुहस्ती’ और आर्य ‘महागिरी’ के समकालीन ‘उज्जयिनी’ के राजा ‘समप्रति’ ने इस सीमा में अभिवृद्धि की। समप्रति ने साढ़े पच्चीस देशों को ‘आर्य-क्षेत्र’ घोषित किया। इनमें अधिकतर बिहार तथा पूर्वीय उत्तर प्रदेश के ही स्थान गणित हैं। पश्चिमीय उत्तर प्रदेश कुश, कुशावर्त (भागरा के आस-पास का प्रदेश), पाचाल (खेल खड), जागल (गंगा और उत्तर पाचाल के बीच का प्रदेश), वरणा (बुन्द शहर) और शूरसेन (मथुरा के आस-पास का प्रदेश) नामक प्रदेशों की गणना भी उक्त साढ़े पच्चीस देशों में की गई है। इससे मालूम होता है कि मथुरा तक जैन-धर्म पहुँचने में काफी समय लग गया।

निषीथ सूत्र (६।१६) और ठाणग सूत्र (१०।७।१८) में बपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, सकेत, कापिलपुर, कौशावी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह ये भारत की दस मुख्य राजधानियाँ गिनाई गई हैं। जैन-ग्रन्थों में मथुरा अथवा उत्तर मथुरा (दक्षिण की मथुरा—मथुरा से भिन्न) को उत्तरापथ का महत्त्वपूर्ण नगर बताते हुए उसे ‘ग्रहूत-प्रतिष्ठित’, ‘विरकाल-प्रतिष्ठित’ आदि रूप में उल्लिखित किया गया है। इस नगर में खेती नहीं होती थी और यह व्यापार का केंद्र-स्थल था, इसलिये मथुरा को ‘स्थल-मुट्टन’ के उदाहरणों में गिनाया है। मथुरा बस्त्र के लिये प्रसिद्ध था।

जैन-सूत्रों में मथुरा को ‘पाखंडिगम’ कहा है, इससे मालूम होता है कि यहाँ अनेक साधु-सन्ध्यासी रहा करते थे। आनन्दक चूर्णि (१, पृ० ४११) से पता लगता है कि युग-अधान आर्य-रक्षित आचार्य बिहार करते हुए मथुरा में आये और वे ‘भूतयुद्धा’ नामक चैत्य में ठहरे। यहाँ आर्य मगध काल-धर्म को प्राप्त हुए और मरकर निदबधन यक्ष हुए। यहाँ उनका चैत्य निर्माण किया गया (वही २, पृ० ८०)।

मथुरा ‘महीरवन’^१ की यात्रा के लिये प्रसिद्ध था। महीर नाम का एक वट-वृक्ष था। महा-भारत (२।४३।८) और हरिवंश पुराण (२।११।२३) में भी महीर नामक ‘न्यग्रोध-वृक्ष’ का उल्लेख मिलता है। यह वृक्ष पर्वत के अग्र भाग के समान विशाल (पर्वताग्राम) था और इसपर कृष्ण अपने साथियों के साथ क्रीडा किया करते थे। आनन्दक चूर्णि (२, पृ० २८०।१) में मथुरा के ‘जिनदास आचक’ की कथा आती है। जिनदास बड़ा धर्माला था और वह वत-अत्याख्यान किया करता था। उसके घर एक महीरल (आसीरी) वृक्ष बचने आती थी। एक बार की बात है, महीरल के लड़के का विवाह होनेवाला था। उसने जिनदास को विवाह में संमिलित होने का निमंत्रण दिया। जिनदास विवाह में तो संमिलित नहीं हो सका, परन्तु उसने वर-वधु के लिये नाना-अकार के वस्त्र और आभरण भेंट दिये। कुछ समय बाद महीरल ने जिनदास को दो-तीन वर्ष के हष्ट-मुष्ट दो बछड़े भेंट में भेजे। जिनदास के

^१. शुद्ध नाम—महीरवन।

मना करने पर भी वह इन बछड़ों को जवर्दस्ती जिनदास के घर बांध कर चली गई। एक बछड़े का नाम था 'कवल', दूसरे का 'शवल'। एक बार श्रावण का कोई मित्र महीरवट^१ की यात्रा के लिये जा रहा था। वह इन बैलों को गाड़ी में जोतकर ले गया। इस प्रकार और भी बहुत से भोग जिनदास के बैलों को मांग कर ले जाते। इससे बैल बहुत अशक्त हो गये और घास-घाटा न मिलने के कारण मर गये। दोनो बैल मरकर 'नाग कुमार' देवों की धोनि में उत्पन्न हुए और महावीर भगवान् की रक्षा करने लगे। स्मरण रखने की बात है कि ब्राह्मणों के हरिवंश पुराण (२।२६।१५) में भी हाथ में चामर लिये हुए 'कवल' और 'अश्वतर' नामक दो नागों का उल्लेख आता है, जी कृष्ण भगवान् की पूजा-उपासना में दत्तचित्त रहते थे। दीर्घनिर्णय (२।२५८) और जातक (६।१६५) में भी सुमेध पर्वत के पादतल में रहने वाले 'नागवशीय' कवल और अश्वतर का उल्लेख मिलता है।

विविध तीर्थ-कल्प (६) के अनुसार मथुरा में 'अनकस्थल', 'वीरस्थल', 'पंचस्थल', 'कुशस्थल', 'महास्थल' नामके पाँच स्थल और 'लोहजघन', 'मधुवन', 'विल्ववन', 'तालवन', 'कुमुदवन', 'बृंदावन', 'गंडीरवन', 'खदिरवन', 'कामियवन', 'कोलवन', 'बहुलावन' और 'महावन' नाम के बारह वन^२ थे। मथुरा के 'विश्रांतिक', 'असिकुठ', 'वैकुण्ठ', 'कालिजर' और 'चक्रतीर्थ' नामके पाँच तीर्थों का उल्लेख भी उक्त ग्रन्थ में मिलता है।

जैन-सूत्रों में मथुरा में देव-निर्मित (रामायण ७।७०।१५ में भी मथुरा को देव-निर्मित कहा गया है) 'रत्न-स्तूप' होने का उल्लेख मिलता है। बृहत्कल्प भाष्य (५।१५३६) में कहा है कि जैसे 'धर्मचक्र' के लिये उत्तरापथ और 'जीवत स्वामी' प्रतिमा के लिये कोशल प्रसिद्ध है, उसी प्रकार देव-निर्मित स्तूप के लिये मथुरा प्रसिद्ध है। मथुरा के इस स्तूप का सब से प्राचीन उल्लेख ब्यवहार भाष्य (५।२७।२८) में उपलब्ध होता है। एक बार किसी क्षपक (जैन-श्रमण) ने मथुरा में आकर तपस्या की। देवता ने प्रसन्न होकर बरदान मांगने को कहा, परंतु क्षपक ने कहा कि तुम असत्य हो, इसलिये तुमसे मेरा प्रयोजन सिद्ध न होगा। देवता ने मथुरा में एक रत्नयय स्तूप का निर्माण किया। इस स्तूप को रक्तपट (बौद्ध) अपना वताने लगे। बौद्धों के साथ जैन-संघ का छ महीने तक विवाद चलता रहा। सच ने क्षपक से देवता का आसन कपामयान करने को कहा। देवता ने उपस्थित होकर सच से कहा—

“तुम लोग राजा के पास जाकर निवेदन करो कि यदि कल स्तूप पर रक्त पताका फहरायी तो वह रक्तपटवो काहे और यदि शुक्ल पताका दिखाई बैगी तो वह जन-संघ का है।”

देवता ने स्तूप पर शुक्ल पताका फहरा दी। इस पर राजा ने स्तूप जनों को दे दिया।

बृहत्कल्पसूत्र भाष्य (६।१६२७५) से मालूम होता है कि एक बार कुछ साध्वियों और आधिकार्यों इस स्तूप की पूजा के लिये जा रही थी कि उन्हें बौद्धिक चोर भगा कर ले गये।

मथुरा में जैन-धर्म का बड़ा प्रभाव था, जिसके फलस्वरूप मथुरा नगरी में जो नये गुहों का निर्माण होता था, उनके आसी (उत्तरग) में मंगलार्थ 'अर्हंत-प्रतिमा' स्थापित की जाती थी, अन्यथा उन घरों के गिर जाने का श्राप रहती था। इस प्रकार के 'मंगलवैत्य' मथुरा नगरी और उसके आस-पास के छिपानवें ग्रामों (ग्रामार्थ) के घरों और चौराहों पर बनाये जाते थे (वही, १।१७७४ आदि)।

मथुरा के जैन-स्तूप की कथा 'विविध तीर्थ-कल्प' में भी उल्लिखित है। एक बार की बात है कि 'धर्मरक्षि' और 'धर्मधोप' नाम के दो मुनि विहार करते हुए मथुरा में आये। यह नगरी घबल — बकुल, बापी, कूप, पोखरिणी, जिन-भवन, हाट आदि से सुशोभित थी^३ और यहाँ ब्राह्मण पंडित

^१. महीरवट।

^२. मथुरा में अभी भी महावन, कवबवन, पीतुवन, मधुवन, खदिरवन, तालवन और बृंदावन नामके जूट हैं। देखिये आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट १८८२-३, जिल्द २०, पृ० ३, कनिनयन।

^३. मथुरा नगरी के वर्णन के लिये देखिये ब्राह्मणों का हरिवंश पुराण (१।५४।५६ इत्यादि)।

निवास करते थे। ये मुनि चातुर्मास व्यतीत करने के लिये 'भूत-रमण' नामक एक उपवन में ठहर गये। मुनियों की तपस्या से प्रसन्न होकर कुबेर देवता उनके समक्ष प्रकट हुई और वर माँगने को कहा, परंतु साधुओं ने मना कर दिया। साधुओं ने सध-सहित मेरु पर्वत के चैत्यों की बदना कराने का देवता से अनुरोध किया, परंतु देवता ने कहा कि वह केवल 'दो' व्यक्तियों को मेरु की बदना करा सकती है। इस पर देवता ने वहीं पर प्रतिमाओं सहित मेरुभाकार प्रदर्शित करने के लिये सोने का ए० रत्न-वर्णित स्तूप बना दिया जो तोरण, ध्वजा, मालाओं और तीन छत्रों से अलंकृत तथा तीन मेखलाओं में विभाजित था। प्रत्येक मेखला में चारों ओर पंच वर्ण के रत्नमय बिंब बनाये गये, जिनमें प्रधान मूर्ति 'सुपास्व स्वामी' की थी। प्रातः काल स्तूप देखकर लोग परस्पर कहने लगे। कोई उसे 'वासुकि-साक्षन स्वयम्भू' कहता, कोई 'शेषशायी नारायण', कोई 'ब्रह्म', कोई 'वरप्रेक्ष', कोई 'सूर्य', कोई 'चंद्र' और कोई उसे 'बुद्धाब्ज' बताता। अंत में निश्चय किया गया कि सब अपने-अपने देवों को चित्रपट लिखकर स्तूप पर लगाएँ, जिस देव की मूर्ति स्तूप में होगी, उस देव का पट बच जायगा, बाकी पट नष्ट हो जायेंगे। जैन-सध ने सुपास्व स्वामी का चित्र पट बनाया। राधाी रातको बहुत जोर का अश्रु आया जिसमें सब पट फट-फट कर गिर पड़े, केवल सुपास्व का पट बाकी बचा। इस पट को नगर में घुमाया गया, पट का अभिषेक किया गया और पुष्प, धूप, वस्त्र, महाध्वज आदि से उसकी पूजा की गयी। इस समय 'धर्म बोध' और 'धर्म खचि' नामक दोनो मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की और उस समय से मथुरा 'सिद्ध-क्षेत्र' माना जाने लगा। बहुत काल तक यह स्तूप अनाजुत पड़ा रहा। आगे चलकर इसे ईंटों से ढक दिया गया।

महावीर के मोक्ष प्राप्त करने के १३०० वर्ष पश्चात् (लगभग ७५० ईसवी सन्) वप्पभट्टि का जन्म हुआ। उन्होंने इस तीर्थ का उद्धार किया और इसे कानन, कूप, कोह आदि से मण्डित किया तथा चौरासी^१ एणिका (स्तूप) बनवाई। जब इस स्तूप की ईंटें गिरने लगी तो इसे पत्थरों से वेष्टित किया गया। इसमें हजारों मूर्तियाँ, देवकुल, रहने के स्थान (आवासनिग्रामएस) और गध-कुटी से सज्जित किया तथा 'नर बाहुना', 'कुबेरा', 'सिंहबाहुना', 'अबिका', और कुत्ते की सवारी किये हुए 'क्षेत्रपाल' इसकी रक्षा करने लगे।

दिगंबर परंपरा में मथुरा के जैन स्तूप की दूसरी कथा दी गई है। मथुरा में 'पूतिमुख' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम 'उर्विल्ला' था। उर्विल्ला जैन-धर्म की अनुयायिनी थी। एक बार राजा किसी बौद्ध-आचार्य द्वारा पोषित 'दरिद्रिका' नामक एक सुंदर कन्या को देप कर मोहित हो गया। राजा ने बौद्ध-भिक्षुओं को बहुत-सी दान-दक्षिणा देकर कन्या के साथ विवाह कर लिया और उसे पटरानी बना दिया। एक बार की बात है, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन उर्विल्ला 'जैन-रथ-यात्रा' निकालना चाहती थी, परंतु बौद्ध पटरानी ने इसका विरोध किया और कहा कि पहले बौद्ध-रथ निकलने के बाद ही जैन-रथ निकल सकेगा। उर्विल्ला 'सोमदत्त' मुनि के पास पहुँची। सोमदत्त ने 'वैर कुमार' के पास जाकर सब हाल कहा। इस पर वैर कुमार 'अमरावती' गये और वहाँ से देव और विद्याधरो को अपने साथ लेकर मथुरा आये। देव और विद्याधर भीषण-रूप धारण कर आकाश में छा गये। उन्होंने बौद्ध-रथ को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उर्विल्ला के गोले के रथ को नगर में घुमाया। इस अवसर पर जिन-गृह के सामने महा रजत निर्मित पाँच

^१. देखिये प्रबंध कोश में वप्पभट्टि सूरि-प्रबंध।

^२. मथुरा के ककाली टीले के पास चौरासी टीला है। इसकी दुबई से चौरासी स्तूपों पर कुछ प्रमाण पड़े सकते हैं। मथुरा में चौरासी नामक स्थान आज भी दिगंबर जनों द्वारा पवित्र धाम माना जाता है।

स्तूपों का निर्माण किया गया। इन स्तूपों की पूजा-उपासना करके देव और विद्याधर अपने-अपने स्थानों को लौट आये (बृहत्कथा-कोष १२)।

दूसरी परंपरा कवि 'राजमल्ल' विरचित 'जबू स्वामि-वर्ति' (१) में दी गयी है। एक बार भटानिया (कोल-असीगढ़) के निवासी 'साहु टोडर' सिद्ध क्षेत्र की यात्रा करने के लिये मयुरा आये। यहाँ अत्यन्तैवली जबू स्वामी का नि सही स्थान (नधियाँ) बना हुआ था और उनके चरणों में 'विद्युच्चर' नामक मुनि का स्तूप विद्यमान था। उसके आसपास 'भोक्षगामी' ग्रन्थ अनेक मुनियों के स्तूप मौजूद थे। ये स्तूप कहीं पाँच, कहीं आठ, कहीं दस, और कहीं बीस की संख्या में बने हुए थे। स्तूप जीर्ण हो गये थे। साहु टोडर को इनका जीर्णोद्धार कराने की प्रवण इच्छा हुई। उन्होंने इस कार्य में बहुत-सा धन व्यय करके ५०१ स्तूपों का एक समूह और १३ स्तूपों का दूसरा, इस प्रकार ५१४ स्तूपों का निर्माण करवाया। इन स्तूपों के पास १२ द्वारपाल आदि की स्थापना की। स्तूपों की प्रतिमा का यह कार्य विक्रम संवत् १६३० में ज्येष्ठ शुक्ला १२ को बुधवार के दिन संपन्न हुआ।

मयुरा के जैन-स्तूप की अनुश्रुति की सत्यता उत्कीर्ण लेखों से प्रमाणित होती है। कनिंघम आदि पुरातत्त्व-वेत्ता विद्वानों की खोजों से इस बात का पता लग गया है कि मयुरा में स्थित 'कमाली टीला' ही प्राचीन काल का जैन-स्तूप है। यहाँ से अनेक जैन-मूर्तियाँ, आयागपट्ट और उत्कीर्ण लेख पाये गये हैं। इन उत्कीर्ण लेखों में जो विभिन्न गण, कुल और शाखाओं का उल्लेख है वह उल्लेख 'भद्रबाहु' के कल्प सूत्र की 'स्थविरावलि' से मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में मयुरा में जैनो का काफी प्रभाव था^१। बौद्ध-परंपरा के अनुसार 'बुद्ध भगवान्' जब विहार करते हुए मयुरा आये तो कहते हैं कि 'नक्षत्रराज' नामक देवता नग्न होकर उनके सामने खड़ी हो गयी। इससे भी मयुरा में 'नग्न जैन-श्रमणों' का प्राबल्य मान्य होता है।^२

मयुरा जैन-आगमों की वाचना के लिये भी प्रसिद्ध था। इन आगमों की 'पाटलिपुत्र' में प्रथम वाचना होने के पश्चात् जब कालक्रम से जैन-आगमों का विच्छेद होने लगा तो महावीर निर्वाण के ८२७-८५० (३६०-३७३ ई० स०) वर्ष पश्चात् 'आर्यस्कंदिल' की अध्यक्षता में मयुरा में दूसरी परिषद् बुलाई गई। नदि जूँण (पृ० ८) से मालूम होता है कि इस समय महान् दुष्काल पड़ा जिससे जैन-श्रमणों को भिक्षा प्राप्त होना दुष्कर हो गया। जिससे अनेक श्रमण कालघर्षों को प्राप्त हो गये और आगमों का अध्यापन रुक जाने के कारण जैन-सूत्रों का अधिकांश भाग विनष्ट हो गया। दुष्काल के समाप्त हो जाने पर मयुरा में परिषद् बुलाई गयी, जिसमें इक्षर-उधर से जो आगम के ग्रंथ एकत्रित किए जा सके उन्हें एकत्रित किया गया। विविध तीर्थकल्प के अनुसार 'जिन मद्राणि समाश्रमण' में यहाँ दीमकों से खाए हुए 'महानिशीथ' नामक आगम को जोड़-तोड़ कर ठीक किया था।

^१. देखिये आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स,—भाग ३, प्लेट्स १३-१५; बृहत्तर, पृ० इंडियन सेकट ऑफ दी जैन्स, पृ० ४२-६०; बियना ओरिएंटलिस जनरल जिल्ब ३, पृ० २३३-४०; जिल्ब ४, पृ० ३२३-३३२

^२. देखिये, मूल सर्वास्ति बाद—विनय वस्तु, गिलगिट सैनस्क्रिप्ट्स, जिल्ब ३, भाग १, पृ० १५. यहाँ पर मयुरा को प्रादिराज्य कहकर उल्लिखित किया है। बुद्ध यहाँ पर वासुवंशविमुक्ति का उपदेश देने आये थे। यहाँ हजारों भक्त-भक्तिपी निवास करते थे। मयुरा में पाँच क्षत्राज (श्रावीन) बसाये गये हैं—यहाँ की भूमि पत्थर आदि के कारण विषम थी, यहाँ बहुत घूल उड़ती थी, नयामक कुत्ते थे, अथवा यहाँ का वास था और भिक्षा मिलने में कठिनाई होती थी। देखिये अनुतर निकाय, ३, पृ० २५६।

विदेशी लेखकों का मथुरा-वर्णन

श्री कृष्णवत्स बाजपेयी

प्राचीन मथुरा-जनपद तथा नगर का वर्णन भारत आनेवाले या यहाँ के सवध में अन्य प्रकार से जामकारी प्राप्त करनेवाले अनेक विदेशी लेखकों ने किया है। इन लेखकों में यूनानी, चीनी, मुसलमान, फ़ारसी तथा अंग्रेज़ मुख्य हैं। इन्होंने मथुरा के विषय में जो कुछ लिखा है उससे इस नगर के सवध में अनेक महत्वपूर्ण एवं मनोरंजक बातों का पता चलता है। इस लेख में हम इन लेखकों के वृत्तांतों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

मथुरा-संबंधी सबसे पुराने लेख यूनानी लेखकों के मिले हैं। ई० पू० चौथी शती के अंत में 'मेगास्थनीज़' नामक यात्री चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में पाटलिपुत्र (पटना) आया था। उसने भारत के सवध में कितनी ही बातें लिखी हैं। उनमें शूरसेन प्रदेश का भी उल्लेख आया है। ई० दूसरी शती के लेखक 'एरियन' ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में मेगास्थनीज़ के इस उल्लेख की चर्चा की है। इस ग्रंथ में लिखा है—

"शौरसेनाइ (Souraseni) लोग 'हेराक्लीज' को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। शौरसेनाइ लोगों के दो बड़े नगर हैं—मेथोरा (Methora) और क्लीसोबोरा (Kleisobora)। उनके राज्य में जोबरेस (Jobares)^१ नदी बहती है, जिसमें नावें चल सकती हैं।"^२

प्लिनी नामक एक दूसरे यूनानी लेखक ने लिखा है—

"जोमनेस (Jomanes) नदी मेथोरा और क्लीसोबोरा (Clisobora) के बीच से बहती है।"^३

इस लेख का भी आधार मेगास्थनीज़ का उपर्युक्त लेख है।

टॉलमी नाम के लेखक ने मथुरा का नाम 'मोदूरा' Modura दिया है और उसकी स्थिति १२५-२७ ३०' पर लिखी है। उसने मथुरा को 'देवताओं का नगर' कहा है।^४

यूनानी इतिहासकारों के इन वर्णनों पर विचार करने से पता चलता है कि मेगास्थनीज़ के समय में मथुरा-जनपद 'शूरसेन'^५ कहा जाता था और उसके निवासी शौरसेन। हेराक्लीज से यहाँ तात्पर्य श्री कृष्ण से है। ई० पू० चौथी शती में शूरसेन-जनपद के सात्वत लोग श्रीकृष्ण को यदि देव के रूप में नहीं तो महापुरुष के रूप में अवश्य मानते रहे होंगे और उनके प्रति बड़े आदर का भाव रखते रहे होंगे। शौरसेन लोगों के जिन दो बड़े नगरों का उल्लेख किया है उनमें पहला तो स्पष्ट ही मथुरा है। दूसरा क्लीसोबोरा कौन-सा नगर था, यह विवादास्पद है। जनरल 'एलेक्जेंडर कनिंघम' ने अब से

^१ किसी-किसी प्रति में यह नाम Jobares मिलता है।

^२ इंडिका, ८ मैक्किडल—एश्वेत इंडिया, मेगास्थनीज़ ऐंड एरियन, पृ० २०६ (कलकत्ता, १९२६ ई०)

^३ प्लिनी—नेचुरल हिस्ट्री, ६, २२।

^४ मैक्किडल—एश्वेत इंडिया ऐंड इल्लुस्ट्रेशन्स बाइ टॉलमी (कलकत्ता, १९२७) पृ० १२४

^५ जनपद का यह नाम शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम पर पड़ा और संभवतः ईस्वी सन् के प्रारंभ तक जारी रहा। इसके अनंतर जनपद का नाम उसकी राजधानी मथुरा के नाम पर 'मथुरा प्रजा'—लिप्त हो गया।

लगभग ८० वर्ष पूर्व अपना भारतीय भूगोल लिखते समय यह स्थापना की कि क्लीसोबोरा वृदावन के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसकी पुष्टि में उन्होंने लिखा है कि कालिक नाग के वृदावन में रहने के कारण इस नगर का नाम 'कालिकावर्त' था। यूनानी लेखकों के क्लीसोबोरा का शुद्ध पाठ वे कालिसोबोर्क (Kalsoborka) या कालिकोबोर्त (Kalkoborta) समझते हैं। उन्हें इटाली की एक पुरानी प्रति में 'काइरिसोबोर्क' (Cyzoborka) पाठ मिला, जिससे उन्हें इस अनुमान को बल मिला,^१ परन्तु कनिंघम का यह अनुमान ठीक नहीं है। वृदावन में रहनेवाले नाग का, जिसका श्रीकृष्ण ने दमन किया नाम कालिय मिलता है, न कि कालिक। पुराणों या अन्य किसी साहित्य में वृदावन की सत्ता कालियावर्त या कालिकावर्त मिल सके, इसमें भी संदेह है। कनिंघम ने कालिकावर्त नाम जिस पुस्तक में देखा, यह उन्होंने नहीं लिखा है। यदि हम क्लीसोबोरा को वर्तमान वृदावन मानें तो 'प्लिनी' का यह लिखना कि मथुरा और क्लीसोबोरा के बीच से यमुना नदी बहती थी असंगत सिद्ध होगा, क्योंकि वृदावन और मथुरा दोनों ही यमुना नदी के एक ही तीरे स्थित हैं।

कनिंघम ने अपनी सन् १८८२-८३ की खोज रिपोर्ट में क्लीसोबोरा के सबब में अपना उपर्युक्त मत बदलकर इस शब्द का मूल रूप 'केशवपुरा'^२ माना और उसकी पहचान उन्होंने मथुरा के केशवपुरा या कटरा केशवदेव भुवने से की। केशव या श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान यहाँ होने के कारण यह स्थान केशवपुरा कहलाया। कनिंघम का कहना है कि यूनानी लेखकों के समय में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बड़ी शाखा वर्तमान कटरा केशवदेव की पूर्वी दीवाल के नीचे से बहती रही होगी और उसके दूसरी ओर मथुरा शहर रहा होगा। उन्होंने इस दीवाल के नीचे की आधुनिक निचली भूमि की ओर संकेत किया है, जो उत्तर में सीधी 'सगम तीर्थ-घाट' तक दिखाई पड़ती है और लिखा है कि यह उस प्राचीन धारा की सूचिका है जो प्राचीन काल में इधर से बहती थी और कटरा के कुछ भाग से दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़कर यमुना की वर्तमान बड़ी धारा में मिलती रही होगी।^३ जनरल कनिंघम का यह मत भी विचारणीय है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि किसी काल में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बड़ी शाखा वर्तमान कटरा के नीचे से बहती रही होगी, पर इस धारा के दोनों ओर एक-एक बड़ा नगर रहा हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। यदि मथुरा से भिन्न केशवपुर या कृष्णपुर नाम का बड़ा नगर वास्तव में वर्तमान कटरा केशवदेव और उसके आस-पास होता तो कोई कारण नहीं कि उसका नाम पुराणों या अन्य साहित्य में न दिया जाता प्राचीन साहित्य में 'मथुरा' या 'मथुरा' का नाम तो बहुत मिलता है, पर कृष्णपुर या केशवपुर नामक नगर का पृथक् रूप से उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अतः ठीक यही जान पड़ता है कि यूनानी लेखकों ने मूल से मथुरा और कृष्णपुर (या केशवपुर) को, जो वास्तव में एक ही थे, अलग-अलग लिख दिया है। भारतीय लोगो ने मेगास्थनीज को बताया होगा कि क्षुरसेन जनपद की राजधानी मथुरा-कृष्ण-पुरी है। उसने इन दोनों नामों को एक-दूसरे से पृथक् समझ कर उनका उल्लेख अलग-अलग नगर के रूप में किया होगा। यदि क्षुरसेन-जनपद में मथुरा और कृष्णपुर नाम के दो प्रसिद्ध नगर होते तो मेगास्थनीज के कुछ समय पहले उत्तर भारत के जनपदों के

^१ देखिए कनिंघम एंसाइकलॉपिडिया ऑफ इंडिया (सं०—एल० एन० अनुबवार कलकत्ता, १९२४), पृ० ४२६।

^२ लैसन ने भाषाविज्ञान के आधार पर क्लीसोबोरा का मूल संस्कृत रूप 'कृष्णपुर' माना है। उनका अनुमान है कि यह स्थान आगरा में रहा होगा (इंडियन आल्टरटुम्सके' बोन, १८६६, जिल्ड १, पृ० १२७, नोट ३)।

^३ कनिंघम—आर्कैथोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, जिल्ड २०, (१८८२-८३) पृ० ३१-३२।

विदेशी लेखकों का मथुरा-वर्णन

जो वर्णन भारतीय साहित्य (विशेषकर बौद्ध एवं जैन ग्रंथों) में मिलते हैं उनमें जहाँ दूरगम जन-पद के मथुरा नगर का उल्लेख है वहाँ इस जनपद के कल्पपुर या केमपुर^१ नगर का भी उल्लेख किया जाता, परन्तु इन ग्रंथों में कहीं इस दूसरे नगर की चर्चा नहीं है।

यूनानियों के बाद चीनी-यात्रियों के द्वारा मथुरा का वर्णन मिलता है। इन यात्रियों में 'फाह्यान' तथा 'झुआन्-चुआङ' बहुत प्रसिद्ध हैं। फाह्यान पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत पहुँचा और ४०० ई० के लगभग मथुरा नगर में आया और यहाँ लगभग एक मास तक रहा। इस ने लिखा है—

"यहाँ (मथुरा) के छोटे-बड़े सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। शाक्यमुनि (बुद्ध) के बाद से यहाँ के निवासी इस धर्म का पालन करते आ रहे हैं। मोटलो (मथुरा) नगर तथा उसके आस-पास गुता (गुता) नदी के दोनों ओर २० संघारास (बौद्धमठ) हैं, जिनमें लगभग ३००० भिक्षु निवास करते हैं। छः बौद्ध स्तूप भी हैं। सारिपुत्र के संभाल में बना हुआ स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा स्तूप आनंद के तथा तीसरा मुद्गल-युत्र की याद में बनाया गया है। शेष तीनों कमजोर अभिषेक, सुन और विनय के लिये निर्मित किये गये हैं, जो बौद्ध-धर्म के तीन अंग (त्रिपिटक) हैं।"

फाह्यान के इस वर्णन से पता चलता है कि उसने समय में मथुरा में बौद्ध-धर्म उन्नति पर था, यद्यपि उसका यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि शाक्यमुनि के बाद से यहाँ के लोग इस धर्म का पालन करते आ रहे थे। भगवान् बुद्ध के बाद मथुरा में हिंदू-धर्म जोर पर था, न कि बौद्ध-धर्म। फाह्यान ने जिन बौद्ध-संघारासों का उल्लेख किया है वे वर्तमान मथुरा नगर के दोनों ओर काफी दूर तक फैले रहे होंगे। 'आरज' का अनुमान है कि इनमें से कुछ स्तूप वर्तमान महाबल तक रहे होंगे।^२

फाह्यान के बाद ई० सन् ६३५ के लगभग 'झुआन्-चुआङ' मथुरा-राज्य में आया। उसने इस राज्य का विस्तार ५००० ली (लगभग ८३३ मील) तथा उसकी राजधानी (मथुरा नगर) का विस्तार २० ली (लग० ३।१ मील) लिखा है। यहाँ की भूमि की बाबत उसने लिखा है—

"यह अच्छी और उपजाऊ है। यहाँ आम बहुत पैदा होता है, जो छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है। पहले प्रकारवाला आम छड़पन में हरा रहता है और पकने पर पीला हो जाता है। बड़ी किस्मवाला आम सदा हरा रहता है। इस राज्य में उत्तम कपास और पीला सोना उत्पन्न होता है।"

यहाँ के निवासियों की बाबत उसने लिखा है कि—

"उनका स्वभाव कोमल है और वे दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। वे लोग उत्पन्नता का गुण रूप से अध्ययन करना पसंद करते हैं। वे परीपकारी हैं और विद्या के प्रति बड़े संभाल का भाव रखते हैं।"

मथुरा की तत्कालीन वार्षिक स्थिति का परिचय 'झुआन्-चुआङ' के निम्नलिखित वर्णन से प्राप्त होगा—

^१ वैशिष्ट्य ग्रंथतरनिकाय १, २१३; २५२-५६; भगवतीसुत्र आदि।

^२ ए० एफ० एल० ग्राउज का अनुमान है कि यूनानियों का कनोसोवोरा वर्तमान महाबल है; वैशिष्ट्य-ग्रन्थ—मथुरा में बायर (द्वितीय सं०, इलाहाबाद, १८८०), पृ० २५७-८। क्रॉसल बिलफीर्ड का मत है कि कनोसोवोरा यह स्थान है जिले मुसलमान 'मूरा नगर' और हिंदू 'कनिसपुर' कहते हैं—एशियाटिक रिसर्च (लंदन, १७६६), जि० ५, पृ० २७०, परन्तु उसने यह नहीं लिखा कि यह मथुरा नगर कीन-सा है। कर्नेल डॉड ने कनोसोवोरा की पहचान आगरा जिले के अडेडवर से की है (ग्राउज—वही, पृ० २५८)

^३ ग्राउज—वही, पृ० २५७।

“इस नगर में लगभग २० संधाराम हैं, जिनमें २,००० भिक्षु रहते हैं। इन भिक्षुओं में ‘हीनयान’ और ‘महायान’—इन दोनों मतों के माननेवाले हैं। यहाँ पाँच देवमन्दिर भी हैं, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते हैं। राजा ‘अशोक’ के बनवाये हुए तीन स्तूप यहाँ विद्यमान हैं। विगत चारों दुखों के भी अनेक चिह्न यहाँ दिखाई देते हैं। तथागत भगवान् के साधियों के पवित्र अवशेषों पर भी स्मारक रूप में कई स्तूप बने हुए हैं।.... विभिन्न धार्मिक अवसरों पर सन्ध्यासी लोग बड़ी संख्या में इन स्तूपों का दर्शन करने आते हैं और बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट में चढ़ाते हैं। ये लोग अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार भलग-भलग पवित्र स्थानों का दर्शन-भूजन करते हैं।.... विशेष उत्सवों पर भड़े और बहुमूल्य छत्र चारों ओर प्रदर्शित किये जाते हैं। सुगन्धित पदार्थों का भुँगा वादलों के समान छा जाता है और सब ओर से फूलों की वृष्टि होने लगती है। सूर्य और चंद्रमा जिल्कुल छिप जाते हैं और पहाड़ों की धारियाँ सुमुख घोष से निनादित हो उठती हैं। बेशक का राजा तथा उसके मंत्री लोग भी बड़े उत्साह के साथ धार्मिक कार्यों को करते हैं।”

“नगर के पूर्व ५-६ ली (लगभग १ मील) चलने पर एक ऊँचे संधाराम में पहुँचते हैं। उसके अगल-जगल गुफाएँ बनी हैं।.... यह संधाराम पूज्य ‘उपगुप्त’ के द्वारा बनवाया गया था। इसके भीतर एक स्तूप है जिसमें तथागत के नाखून रखे हैं। संधाराम के उत्तर में २० फुट ऊँची और ३० फुट चौड़ी एक गुफा है। इसमें चार ईब लगे लकड़ी के टुकड़े भरे हैं। महात्मा उपगुप्त जिन लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर उन्हें अर्हत्त्व पद प्राप्त कराते थे (उनकी सन्ध्या मालूम रहे, इसलिये) उनमें से प्रत्येक विवाहित युग्म एक टुकड़ा उस कमरे में डाल देता था। जो लोग अविवाहित होते थे, उनके अर्हत्त्व हो जाने पर भी उनकी कोई गणना नहीं रखी जाती थी।”

“यहाँ से २४-२५ ली (लगभग ५ मील) दक्षिण-पूर्व एक बड़ा सूखा तालाब है, जिसके पास ही एक स्तूप है। यहाँ पर जब भगवान् बुद्ध धूमधाम रहे थे, एक नवर ने उन्हें थोड़ा शहव दिया, जिसे बुद्ध ने थोड़े जल के साथ मिश्रित कर उसे अपने शिष्यों में बँटवा दिया। इससे बंदर को इतनी अधिक खुशी हुई कि वह एक जङ्घे में गिर कर मर गया और अपने पूर्वोक्त पुण्यजन्य-कृत के कारण अगले जन्म मनुष्य-योगि प्राप्त की। इस सूखे तालाब के उत्तर में थोड़ी-ही दूर पर एक घना जंगल है, जिसमें पिछले बार बुद्धों के चरण-चिह्न सुरक्षित हैं। इसके निकट ही उन स्थानों पर बने हुए स्तूप हैं, जहाँ सारिपुत्र तथा बुद्ध के अन्य १२५० महान् शिष्यों ने कठोर तपस्या की थी। यहीं धर्म-प्रचारार्थ आये हुए भगवान् बुद्ध के स्मारक स्थान हैं।”

मधुरान्-नुभाङ्ग के उपर्युक्त लगे वर्णन से कई बातों का पता चलता है। उसके समय में मधुरा-राज्य का विस्तार काफी था। कनिष्क का अनुमान है कि तत्कालीन मधुरा-राज्य में वर्तमान ‘वेराट’ और ‘अतरजीलेडा’ के बीच का सारा प्रदेश ही नहीं अपितु भागरा के दक्षिण में ‘नरवर’ और ‘सिन्धु-पुरी’ तक तथा पूर्व में ‘काली सिन्धु’ नदी तक का भू-भाग रहा होगा। इस प्रकार इस राज्य में मधुरा भागरा जिलों के अतिरिक्त भरतपुर नदीली और धौलपुर तथा ग्वांसियर राज्य का उत्तरी भाग भी शामिल रहा होगा। पूर्व में मधुरा-राज्य की सीमा ‘जिन्नीती’ से तथा दक्षिण में ‘मालवा’ की सीमा से मिलती रही होगी।

१. टामस वाट्स—ग्रॉन मूबान ज्वाल्स टुवेल्स इन इंडिया (लंदन, १९०४), जिल्व १, पृ०

३०१-११

२. कनिष्कस जिल्लाप्रकी, पृ० ४२७-२८

इस यात्री के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि ई० सातवीं शती में मथुरा की भूमि अधिक उपजाऊ थी। वर्तमान समय में यहाँ आम नाममात्र को होता है और कपास की उपज भी बहुत कम होती है। समग्र है कि अब से १३०० वर्ष पहले यहाँ इन वस्तुओं की तथा अन्य की पैदावार अधिक होती रही हो, परन्तु हुएनसांग ने सोने की उत्पत्ति के बारे में जो लिखा है वह बड़ा आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, क्योंकि मथुरा की ज़मीन में कहीं भी सोना नहीं निकलता।

झुआन्-चुआड का वर्णन मथुरा की धार्मिक स्थिति का अच्छा दिग्दर्शन कराता है। सातवीं शती के पूर्वार्ध में भी यहाँ बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार था, पर फाह्यान के समय (ई० ४००) को देखते हुए अब यहाँ के बौद्ध-मतावलम्बियों की संख्या में कमी आ गई थी। फाह्यान ने मथुरा के बीस बौद्ध-संघारामों का उल्लेख किया, जिनमें लगभग ३,००० बौद्ध सन्यासी रहते थे। झुआन्-चुआड के समय यहाँ संघारामों की संख्या तो उतनी ही रही पर बौद्ध-सन्यासियों की संख्या घटकर २,००० के ही लगभग रह गयी। मथुरा में बौद्ध धर्म की क्रमशः भ्रानति का प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि हिंदू-धर्म की यहाँ उत्पत्ति हो रही थी। हुएन सांग ने मथुरा के पाँच बड़े हिंदू-मंदिरों का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से पुजारी थे।

झुआन्-चुआड ने मथुरा राज्य के किसी भी नगर का जिक्र नहीं किया। यहाँ तक कि राजधानी मथुरा नगर का भी नाम उसके वर्णन में नहीं आया और न प्रसिद्ध यमुना नदी या यहाँ के पहाड़-वनो आदि का ही। उसने मथुरा-राज्य का बहुत ही अपर्याप्त वर्णन दिया है। बौद्ध-धर्म-संबंधी जो बातें इस यात्री ने लिखी हैं, वे भी अपूर्ण हैं और कई बातें तो भ्रामक हैं, जैसे विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी बौद्ध-सन्यासियों द्वारा विशेष अवसरों पर पूजन का वर्णन, बदरवाला किस्सा, १२५० शिष्यों की संभाषि तथा बुद्ध के कई बार मथुरा आने का कथन। यदि हम केवल पिछले तथ्य को लें तो हमें बौद्ध-ग्रंथों से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध केवल एक बार मथुरा पधारे थे, न कि अनेक बार। झुआन्-चुआड ने मथुरा के बड़े बौद्ध-विहारों का नाम नहीं दिया, उसके वर्णन से केवल इतना ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत से बौद्ध-स्तूप एवं विहार थे। एक बात जिस पर विद्वानों में काफी मतभेद है वह है—झुआन्-चुआड द्वारा वर्णित उपगुप्त के संघाराम की पहचान। इस यात्री के लेखानुसार मथुरा नगर के पूर्व में लगभग एक मील चलने पर यह संघाराम मिलता था। कनिंघम ने 'पूर्व' की जगह 'पश्चिम' पाठ ठीक माना है और इस प्रकार उक्त संघाराम की स्थिति वर्तमान कटरा मुहल्ले में प्राचीन 'पक्षो-विहार' के स्थान पर मानी है, परन्तु इस पूर्व की जगह पश्चिम पाठ क्यों माना जाय, यह समझ में नहीं आता। शास्त्र का कहना है कि 'उपगुप्त' वाला विहार 'ककाली टीला' पर रहा होगा,^१ परन्तु इस संबंध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया। ककाली टीला बहुत प्राचीन काल से जैनियों का बड़ा केंद्र था और ऐसा कम से कम ई० ११ वीं शती तक रहा। उस स्थान पर बौद्धों के किसी बड़े स्तूप या विहार का पता नहीं चलता, यह दूसरी बात है कि एकाध छोटी बौद्ध-मूर्ति या इस जगह से प्राप्त हुई है। अधिक संभव यही दिखाई पड़ता है कि उपगुप्तवाला संघाराम या तो वर्तमान 'सप्तपि-टीला'^२ पर था और या उससे पूर्व की ओर कुछ आगे उस स्थान पर जिसे आजकल 'बुद्ध तीर्थ' कहते हैं।

चीनी यात्रियों के अनवर मुसलमान यात्रियों ने भी मथुरा का बड़ा-बहुत वर्णन किया है। इनमें सबसे पहला लेखक 'अल-उल्वी' ज्ञात होता है। यह महमूद गज़नवी का मंत्री था। इसने अपनी किताब 'तारीख यासिनी' में महमूद के द्वारा सन् १०१७ ई० में भारत पर किये गये नवें हमले का वर्णन

^१ पाण्डव—बहो, पृ० ११२

^२ इस टीले पर एक लोहे का अभिलिखित शीर्षभाग पाया गया है। उसपर के लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ गुहा विहार नामक बौद्धों का प्रसिद्ध विहार ई० ५०० पहली शती में था, जिसका निर्माण मथुरा के शक-अश्वर्यों ने कराया था।

करते हुए मथुरा की चर्चा की है। यह हमला विशेष रूप से मथुरा को बर्बाद करने के लिये ही किया गया। उल्टी ने मथुरा को एक स्थान पर 'महस्तुल हिंद' लिखा है।^१ उसने लिखा है—

“महावन में उस समय 'कूलचंद' नामक राजा का किला था।^२ यह राजा बड़ा शक्तिशाली था और उससे कोई विजय नहीं प्राप्त कर सका था। उसका राज्य बहुत बड़ा था, वह अपार धन तथा एक बड़ी सेना का स्वामी था और उसके सुबुद्ध किले को कोई भी हमला नहीं उठा सका था। जब उसने सुलतान (महमूद) की चढ़ाई की बाबत जाना तो अपनी फौज इकट्ठी करके मुकाबले के लिये तैयार हो गया, परन्तु उसकी सेना शत्रु को हटाने में असफल रही और सैनिक भयान होकर भग गये, जिससे नदी पार निकल जावे। जब कूलचंद के लगभग ५०,००० आदमी मारे गये या नदी में डूब गये तब राजा ने एक खंजर लेकर पहले अपनी स्त्री को समाप्त कर दिया और फिर उसी के द्वारा अपना भी अंत कर लिया। सुलतान को इस विजय से १८५ बड़िया हाथी तथा अन्य माल हाथ लगा।”

इसके बाद सुलतान महमूद की फौज मथुरा पहुँची। यहाँ का वर्णन करते हुए उल्टी लिखता है—

“इस शहर में सुलतान ने निहायत उम्मा डग की बनी हुई एक इमारत देखी, जिसे स्थानीय लोगो ने मनुष्यों की रचना न बताकर देवताओं की कृति बताई। नगर का परकोटा पत्थर का बना हुआ था, उसमें नदी की ओर ऊँचे तथा मजबूत आधार-स्तंभों पर बने हुए दो दर्वाजे थे। शहर के दोनों ओर हजारों मकान बने हुए थे, जिनसे लगे हुए देवमंदिर थे। ये सब पत्थर के बने थे और जोड़े की छतों द्वारा मजबूत कर दिये गये थे। उनके सामने दूसरी इमारतें बनी थीं, जो सुबुद्ध लकड़ी के खंभों पर आधारित थीं। शहर के बीच में सभी मंदिरों से ऊँचा एवं सुंदर एक मंदिर था जिसका पूरा वर्णन तो चित्र-रचना द्वारा और न लेखनी द्वारा किया जा सकता है।^३ सुलतान महमूद ने स्वयं उस मंदिर के बारे में लिखा कि 'यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार की इमारत बनवाना चाहे तो उसे बस करोड़ दोनार (स्वर्ण-मुद्रा) से कम न खर्च करने पड़ेगे और उसके निर्माण में २०० वर्ष लगेंगे, चाहे उसमें बहुत ही योग्य तथा अनुभवी कारीगरों को ही क्यों न लगा दिया जाये।' सुलतान ने आश्चा की कि सभी मंदिरों को जला कर उन्हें धराशायी कर दिया जाय।^४ बीस दिनों तक बराबर शहर की लूट होती रही।”

महमूद के आक्रमण के कुछ समय बाद ही 'अलबेल्की' नामक प्रसिद्ध मुसलमान यात्री भारत आया। इसने यहाँ सस्फुट में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली और भारत में कुछ दिन ठहरने के बाद इस देश के सवष में १०३० में 'तहकीके हिंद' नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने भारतीय इतिहास, साहित्य, धर्म, ज्योतिष आदि के सवष में तथा यहाँ के लोगों के विषय में विस्तृत विवरण लिखा है। अपने इस ग्रंथ में अलबेल्की ने वायुपुराण, बृहत्संहिता आदि पुस्तकों की भौगोलिक सूचियों के आधारपर शुरू से तथा मथुरा का उल्लेख किया है।^५ उसने लिखा है कि मथुरा नगर मनुना-

१. कनिंघम-आर्कैओलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, जिल्द २०, पृ. ३४।

२. संभवतः उस समय मथुरा-राज्य की राजधानी महावन में थी।

३. यह मंदिर भगवान् कृष्ण का प्रतीत होता है और वर्तमान कटरा के केशवदेव में जन्म-स्थान पर रहा होगा। शायद इस मंदिर का निर्माण गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय हुआ था। हर्षन-सांग ने जिन पाँच बड़े देवमंदिरों का उल्लेख किया है उनमें एक यह भी रहा होगा।

४. पिछले मुसलमान लेखकों के वर्णनों से पता चलता है कि महमूद ने कुछ भयं इमारतों को उनके सौंदर्य से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण भान नहीं कराया।

५. प्राञ्जल—वही, पृ. ३१-३२।

६. ई० सी० साची—अलबेल्कीज इंडिया (लंदन १९१४), जिल्द १, पृ. ३००, ३०८।

तट पर बसा है। भगवान् बामुदेव (कृष्ण) के मथुरा में जन्म का तथा उनके चरित का वर्णन अल-वेल्नी ने विस्तार से किया है,^१ परंतु उसने कई बातें भ्रामक लिखी हैं। एक जगह पर वह लिखता है कि कृष्ण के पिता बसुदेव शूद्र थे और वे जट्टवर्ग के पशुपाल थे।^२ अपनी पुस्तक में अलवेल्नी ने मथुरा में व्यवहृत सवत् का उल्लेख किया है और लिखा है कि मथुरा तथा कन्नौज के राज्यों में श्रीहर्ष (कन्नौज के सम्राट् हर्षगीलादित्य) का सवत् चलता था।^३

अन्य कई मुसलमान लेखकों ने भी अपने ग्रंथों में मथुरा की चर्चा की है।^४ इनमें से विशेष उल्लेखनीय १६ वीं शताब्दी के 'अलबदाऊनी' तथा 'मोहम्मद कासिम फारिस्ता' के विवरण हैं। पहले लेखक ने अपनी किताब 'मुत्तख्बुत्तवारीख' में मथुरा का जिक्र करते हुए लिखा है—

“मथुरा काफ़िरो के पूजा की जगह है। यहाँ बसुदेव के लड़के कृष्ण पैदा हुए। यहाँ पर अक्षय्य देव-मंदिर है। सुलतान (महमूद गजनवी) ने मथुरा को फतह किया और उसे बर्बाद कर डाला। मुसलमानों के हाथ बड़ी धौलत लगी। सुलतान की आज्ञा से उन्होंने एक वैद्यमूर्ति को तोड़ा, जिसका वजन ६८,३०० मिशकल^५ खरा सोना था। एक वैद्यकीमती पत्थर मिला, जो तोल में ४५० मिशकल था। इन सबके अतिरिक्त एक बड़ा हामी मिला, जो पहाड़ के मानंद था। यह हाथी राजा गोबिंदचंद का था।^६”

१६०० ई० के लगभग फारिस्ता ने भारत का विस्तृत वर्णन लिखा। मथुरा के सबब में उसने कई उल्लेख किये हैं। महमूद गजनवी की बर्बादी का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि महमूद मेरठ से महावन^७ पहुँचा था। महावन को लूटने के बाद वह मथुरा पहुँचा। फारिस्ता ने लिखा है—

“सुलतान ने मथुरा में मूर्तियों को भग्न करवाया और बहुत सा सोना-चाँदी प्राप्त किया। वह मंदिरों की भी तोड़ना चाहता था, पर उसने यह देख कर कि यह काम बड़ा अयसाम्य है, अपना विचार बदल दिया।^८ कुछ लोगों का अनुमान है कि मंदिरों के सर्वर्ष से प्रभावित होकर सुलतान ने उन्हें नष्ट करने का ज़पाव छोड़ दिया। उसने गजनवी के गवर्नर को मथुरा की बाबत को लिखा उससे प्रमाणित होता है कि इस शहर तथा यहाँ की इमारतों का उसके चित्त पर बड़ा असर पड़ा। सुलतान मथुरा में बीस दिन तक ठहरा। इस अवधि में शहर की बड़ी बर्बादी की गयी।”^९

फारिस्ता ने दूसरे बड़े मूर्ति-मजस सिकंदर लोदी के द्वारा भी मथुरा की बर्बादी का हाल लिखा है। वह लिखता है—

^१ बेसिए साची-बही, पृ० ४०१-४०५।

^२ वही, पृ० ४०१।

^३ वही, जिल्द २, पृ० ५।

^४ उदाहरणार्थ—लिबामुद्दीन, इब्न असीर, अलबदाऊनी, फारिस्ता आदि।

^५ एक मिशकल तोल में ६६ जो की तोल के बराबर होता है।

^६ जी० रैकिंग—मुत्तख्बुत्तवारीख ऑफ अलबदाऊनी (कलकत्ता, १८४५), जिल्द १, पृ० २४-५।

यह राजा गोबिंदचंद कीन था, यह जताना कठिन है। निस्संदेह वह कन्नौज के गाहड़वाल राजा गोबिंदचंद से भिन्न था।

^७ अल उल्वी ने 'महावन' नाम नहीं लिखा, यद्यपि उसका अभिप्राय इसी नगर से था।

^८ परंतु उल्वी ने लिखा है कि सुलतान ने आज्ञा दी कि सभी मंदिरों को जलाकर बराशाही कर दिया जाय। फारिस्ता का कथन ठीक मालूम पड़ता है।

^९ जॉन रिक्स—हिस्ट्री ऑफ दि राइज, फॉक दि मोहमेडन इन इंडिया (कलकत्ता, १९०८), जिल्द १, पृ० ५७-५८।

“सिकंदर ने मंदिरों और घाटों को बर्बाद कर उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी कीं और आशा की कि घाटों पर कोई भी हिंदू स्नान न करने आवे तथा कोई भी नाई उनकी हजामत न बनावे।

हिंदू-यात्री मयूरा भाले पर नियमानुसार चाँद पर क्षीर-कर्म करवाते थे, पर अब यह प्रथा बंद कर दी गई।”

मुसलमान लेखकों के विवरणों के बाद अब हम युरोपीय यात्रियों के मयूरा सबंधी वर्णनों की चर्चा करेंगे। मुगल-काल में सबसे पहला युरोपीय यात्री जिसने मयूरा खिले का कुछ भाग देखा ‘जान डे साएट’ प्रतीत होता है। इसने अपनी पुस्तक ‘इंडिया वेरा’ में मयूरा खिले का मामूली वर्णन किया है। दोतना गाँव (छाता और कोसी के बीच) की बाबत उसने लिखा है कि यहाँ बहुत से मुसलमान-पीरो की कब्रें हैं, जिनके दर्शन के लिये बहुत से यात्री आते हैं।^१

१६५० ई० के लगभग फ्रांसीसी यात्री ‘टैबगियर’ मयूरा आया। इसने श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर बने हुए केशवराय या केशवदेव-मंदिर को देखा, जो कोई ३५ साल ही पहले श्रोवछा के राजा^२ ‘वीरसिंहदेव’ के द्वारा प्रभूत धन से बनवाया गया था। टैबगियर ने इस प्रसिद्ध मंदिर का विस्तृत वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

“जगन्नाथ और जनारस के मंदिरों के बाद मयूरा का मंदिर सबसे अधिक विख्यात है। यह आगरा से लगभग १८ कोस की दूरी पर बिल्ली जानेवाली सड़क पर स्थित है। यह मंदिर भारतभर में अत्यंत उत्कृष्ट मंदिरों में से एक है। किसी समय इस स्थान में सबसे अधिक यात्री आते थे, पर अब उनकी संख्या कम हो गई है। इसका कारण यह है कि पहले येमेना (Yemena—यमुना) नदी मंदिर के बिल्कुल समीप से बहती थी, परंतु अब उसकी धारा लगभग आठ कोस दूर हट गई है।^३ यमुना में स्नान करने के अनंतर मंदिर तक पहुँचने में यात्रियों को अब काफी समय लग जाता है और रास्ते में उन्हें अपवित्र हो जाने का डर रहता है।”

“यह मंदिर इतना विशाल है कि यद्यपि वह नीची जगह में अवस्थित है तो भी ५-६ कोस की दूरी से दिखाई पड़ता है। मंदिर की इमारत बहुत ही अच्छी एवं भव्य है। उसमें जो पत्थर इस्तेमाल किया गया है वह लाल रंग का है और आगरा के समीप एक बड़ी खान से लाया गया है....।”

“मंदिर एक बड़े अठपहलू चबूतरे के ऊपर बना है। चबूतरे के चारों ओर की दीवारों पर कामदार पत्थर लगे हैं और चौतरफा दो पंक्तियों में अनेक तरह के जानवरों विशेषकर बंदरों की मूर्तियाँ चकरी हुई हैं। पहली पंक्ति जमीन की सतह से दो फुट ऊपर है और दूसरी ऊपर की सतह से दो फुट नीचे है। इस चबूतरे पर चढ़ने के लिये १५-१६ सीढ़ियों के दो जोने बने हैं। सीढ़ियों की लंबाई २-२ फुट है, जिससे दो आदमी एक साथ ऊपर नहीं चढ़ सकते। एक ओर के जोने से चढ़ने पर मंदिर के मुख्य द्वार के सामने पहुँचते हैं और दूसरे से चढ़ने पर मंदप के पीछे जा पहुँचते हैं।”

“मंदिर चबूतरे के आगे भाग के ऊपर बना है। दोष आधा भाग मंदिर के सामने एक विस्तृत चौक के रूप में खुला है। अन्य मंदिरों की तरह यह भी एक कुश (Cross) के रूप में

^१ ब्रिग्स—वही, पृ० १८६।

^२ भावज—वही, पृ० ३४०-४१।

^३ भावज—वही, पृ० ११८-२०।

^४ यात्री का यह कथन इस बात का सूचक है कि यमुना की धारा अगर के पूर्व की ओर की होती रही है।

है। इसके बीच के भाग पर एक बहुत ही ऊँचा शिविर है, जिसके दोनो ओर एक-एक छोटा शिविर है। इमारत का सारा बाहरी भाग नीचे से ऊपर तक मेढ़ा, बंदर, हाथी आदि जानवरों की प्रस्तर-मूर्तियों से भनकृत है। चारो ओर भाले ही भाले बिछाई पड़ते हैं, जिनमें विभिन्न दानवों की प्रतिमाएँ हैं। तीनों शिखरों में नीचे से लेकर ऊपर तक जगह-जगह ५-६ फुट ऊँची लिङ्गकियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक के सामने इतने चौड़े छज्जे लगे हैं कि उन पर चार व्यक्ति बैठ सकते हैं। प्रत्येक छज्जे के ऊपर एक छोटा जँदोआ बना है। छज्जों को थामने के लिये उनके नीचे ४-४ या ८-८ जोड़ीवार जँभे एक-दूसरे को छूते हुए लगाये गये हैं। शिखरों के चारो ओर भी भाले बने हैं, जिनमें दानवों की मूर्तियाँ भरी हैं। एक दानव के चार हाथ हैं, दूसरे के चार पैर हैं। कुछ मानवों के सिर पशुओं के ऊपर प्रदर्शित हैं। ये पशु सींगवाले हैं और उनकी संजी पूँछें उनकी डींगों में लिपटी हुई हैं। बंदरों की तो बेगुमार मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार दानवों के भारी दल का दृश्य देखनेवाले को सपनीय कर देता है।”

“मंदिर में प्रवेश करने के लिये केवल एक ही द्वार है, जो बहुत ही ऊँचा है। उसमें बहुत से खम्भे लगे हैं और दोनों ओर जानवरों तथा मानवों की कितनी ही प्रतिमाएँ हैं। मंदिर के भीतरी भाग में चारो ओर ५-६ इंच व्यासवाले पत्थर के खंभों की एक घूरी जाली बनी है। उसके धंदर मुख्य ब्राह्मण पुजारियों को छोड़ कोई नहीं जा सकता। ये पुजारी किसी गुप्त-द्वार से भीतर पहुँचते हैं, जिसे मैं नहीं देख सका।”

“जब मैं मंदिर में गया और कुछ ब्राह्मणों से पूछा कि क्या मैं बड़े “रामराम” (बड़ी मूर्ति) को देख सकता हूँ तो उन्होंने जबाब दिया कि कुछ मिलने पर वे अपने प्रधान अधिकारी से अनुमति प्राप्त कर सकते हैं। मैंने उन्हें कुछ रुपये दिये और वे अनुमति ले आये। लगभग आध घंटे के बाद ब्राह्मणों ने जालीदार घेरे के बीच का एक भीतरी बरवासा खोला यह घेरा अन्य सभी तरफ से बंद था।”

“बरवाछे से मैंने भीतर की ओर देखा कि कोई १५-१६ फुट की दूरी पर एक चौकोर चौकी है, जिसपर सोने-चाँदी के कामवाला पुराना वस्त्र बिछा था और उसके ऊपर बड़ी मूर्ति थी, जिसे ‘रामराम’ कहते हैं। इस मूर्ति का केवल सिर दिखाई पड़ता था, जो बड़े काले सगमरवर का बना था और जिसमें आँखों की जगह दो लाल मणि जड़ी हुई थीं। गरदन से लेकर पैरों तक मूर्ति का सारा शरीर कड़े हुए लाल मलमली कपड़े से ढँका था। मूर्ति के हाथ नहीं दिखाई पड़ते थे। बड़ी मूर्ति के दोनो ओर एक-एक और मूर्ति थी, जो ऊँचाई में लगभग २ फुट की थीं। उनकी बनावट बड़ी मूर्ति जैसी ही थी, केवल भेद इतना था कि उन दोनों के चेहरे सफेद थे। इन दोनों मूर्तियों को ‘बेच्छोर’^१ कहते हैं।”

“मैंने मंदिर में १५-१६ फुट की एक चौकोर वस्तु और देरी, जो ऊँचाई में १२ से १५ फुट तक होगी। यह एक रथीय वस्त्र से ढँकी थी, जिस पर सभी प्रकार के दानवों के चित्र बने थे। इससे चार छोटे पहिरो के ऊपर ढाढ़ा किया गया था। लोगों ने मुझे बताया कि यह चल-सकने वाली वस्तु है,^२ जिस पर बड़े पर्वों के अवसरों पर बड़े देवता को सवार कराते हैं और

^१. ये वास्तव में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ थीं, जिन्हें टैग्नियर ने कई जगह भ्रमान-वदा मान्य कहा है।

^२. शास्त्र ‘यत्तदेव’ की मूर्ति में अभिप्राय है।

^३. यह वास्तव में रूप था, जिसपर विशेष अवसरों पर प्रधान मूर्ति को ढँकाकर बाहर ले जाने से। ब्राह्मण के रंगजी के मंदिर में यह ‘रथोत्सव’ अब भी पुनर्वास में मनाया जाता है।

उसे अन्य देवताओं से मिलने के लिये ले जाते हैं। मुख्य उत्सवों पर इसे भूति-सहित लोगों के समुदाय के साथ-साथ नदी तक ले जाते हैं।”

टैवर्नियर का यह विस्तृत वर्णन तत्कालीन मयुरा के सर्वोत्तम मंदिर का एक गव्य स्वल्प सामने खड़ा कर देता है। इस यात्री के लगभग १३ वर्ष बाद १६६३ ई० में बर्नियर नामक दूसरे यात्री ने भी इस महान् मंदिर का उल्लेख किया है। वह लिखता है—

“बिल्ली और आगरे के बीच में, जिसका फासला ५० या ६० मील होगा, कोई भग्ना नगर नहीं है। यह सारा सड़क उत्ताप्त-रहित एवं नीरस है। केवल मयुरा ही एक उल्लेखनीय स्थान है, जहाँ अब भी एक प्राचीन एवं विशाल देव-मंदिर दिखायी पड़ता है।”^१

बर्नियर के इस लेख के कोई ६ वर्ष बाद ही यह देव-मंदिर औरगजेब की कट्टरता का शिकार बन गया।

सन् १७४३ ई० में ‘जॉसिफ टीफेंबेल्स’ नामक फ्रांसीसी यात्री भारत आया और यहाँ लगभग ४२ वर्ष तक रहा। वह मयुरा में भी आया और यहाँ के अनेक स्थानों का उसने वर्णन किया है। गोकुल की बाबत वह लिखता है

“यहाँ की स्त्रियों की शादी यहीं हो जाती है, बाहर नहीं की जाती।”^२

शायद उसने भूल से मयुरा के स्थान पर गोकुल लिख दिया है, पर हो सकता है कि अब से लगभग दो सौ वर्ष पहले गोकुल में भी वह प्रथा रही हो, जो अब तक मयुरा के चौबी में चली आती है। मयुरा नगर का वर्णन करते हुए यह यात्री लिखता है—

“यहाँ की गलियाँ सड़की और गंदी हैं और शहर की अधिकांश इमारतें झूटी-फूटी हैं। किला बहुत बड़ा और विशाल है, भानों कामदार पत्थरों का पर्वत है। उस पर एक बेधशाला है, जो जयपुर की बेधशाला की एक छोटी प्रतिकृति है, पर इसमें एक खूबी यह है कि यह बहुत ऊँचाई पर स्थित है।”^३

इस यात्री ने मयुरा के ‘विश्रांत घाट’ की भी प्रशंसा की है।^४ वृंदावन की बाबत ‘टीफेंबेल्स’ लिखता है—

“इस नगर में केवल एक बड़ी सड़क है, जिसके दोनों ओर सुंदरता के साथ उठते हुए पत्थर की बड़िया इमारतें हैं। ये हिंदू राजाओं तथा सरदारों के द्वारा या तो केवल शोभा के लिये और या कभी-कभी निवास करने या धार्मिक प्रयोजन के लिये बनवाई गई थीं।”

इस यात्री को वृंदावन की धार्मिकता अच्छी नहीं लगी और इसने यहाँ धर्मार्थ आनेवाले यात्रियों की सीखी एवं कटु आलोचना की है।^५

१६ वीं शताब्दी में अनेक यूरोपीय यात्रियों ने मयुरा आने पर यहाँ का धोड़ा-बहुल वर्णन लिखा है। इनमें से ‘विषाप हेवर’ तथा ‘विक्टर जैकेमाट’ नामक दो यात्रियों के वर्णन देकर हम इस लेख

^१. प्राउज—वही, पृ० ११८; इटालियन यात्री मनुचीने केशवदेव-मंदिर की बाबत लिखा है कि इसका सुवर्णच्छादित शिखर इतना ऊँचा था कि वह १८ कोस दूर आगरा से भी दिखाई पड़ता था।

^२. प्राउज—वही, पृ० १० (नोट)।

^३. इस यात्री के समय में मानसिंह द्वारा १६वीं शती के अंत में निर्मित किले की इशा प्रशंसा ही अच्छी रही होगी। सवाई राजा जयसिंह जयपुर (१६६६-१७४३ ई०) द्वारा उसके ऊपर बनवाई गई बेधशाला तो यात्री के मयुरा-आगमन के समय बिलकुल नवीन अवस्था में रही होगी।

^४. प्राउज—वही, पृ० १४१ नोट।

^५. प्राउज—वही, पृ० १७४।

को समाप्त करेंगे। हेबर १८२५ ई० में मथुरा आया। इसने मथुरा के प्रसिद्ध द्वारकाधीश मंदिर का मनोरंजक वर्णन किया है। वह लिखता है—

“शहर के लगभग बीचोबीच एक सुंदर मंदिर है, जो आवास-स्थान का भी काम देता है। यह मंदिर हाल में ही बना है और अभी तक पूर्ण नहीं हुआ। सिंधिया के कोषाध्यक्ष ‘गोकुलपति सिंह’ ने इसे बनवाया है।... इमारत का बर्खासा यद्यपि छोटा है पर बहुत अलंकृत है। उसमें पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी हैं। सड़क से सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद चौकोर आँगन मिलता है, जो चारों ओर से घिरा हुआ है। आँगन के बीच में एक चौकोर इमारत है, जो खंभों की तिलिही पकित पर बनी है। खंभे तथा छत बड़ी सुंदरता के साथ उत्कीर्ण एवं चित्रित हैं।^१ बाहर की ओर का पत्थर का कटाव अत्यंत सुंदर है...।”^२

हेबर ने अपने लेख में ‘घोतना गाँव’ का तथा सिर पर चढ़ा रखकर नाचने वाली ग्वालिनो का भी उल्लेख किया है।^३

जैकमाट सन् १८२६-३० ई० में ब्रज आया था। उसने इस प्रदेश का वर्णन करते हुए लिखा है—

“यहाँ की जमीन रेतीली है। खेती के योग्य जो जमीन है उसके आस-पास ऊँतर भी बहुत है। जमुना नदी में कोई आकर्षण नहीं है। यहाँ के गाँव एक दूसरे से काफी दूर हैं। उनकी हालत बिगड़ती जा रही है। बहुत से गाँवों के चारों ओर भस्मवत बीचालें हैं।”^४

द्वारकाधीश-मंदिर के सवय में यह यात्री लिखता है कि “वह ऐसा लगता था मानो एक बरकर हो भयवा रुई का कारखाना हो।”^५ मुंदावन के सवय में इस यात्री ने लिखा है—

“यह बहुत ही प्राचीन शहर है और मथुरा से भी अधिक महत्वपूर्ण नगर कहा जा सकता है। हिंदुओं के जितने बड़े पवित्र तीर्थ हैं उनमें से यह एक है। यहाँ के मंदिरों में बड़ी संख्या में यात्री आते हैं और नदी के किनारे सुंदर घाटों में प्रजा करते हैं। सभी इमारतें लाल पत्थर की बनी हैं, जो आगरा के पत्थर से उम्दा हैं.....। मुंदावन में मुझे एक भी मस्जिद नहीं दिखायी दी। नगर के छोटी पर अच्छे पैड़ों के घने कुंज हैं, जो बहुत ही सुंदर लगते हैं।”^६

मथुरा-मुंदावन की छोटकर इस यात्री को ब्रज के किसी अन्य स्थान में सौंदर्य नहीं दिखायी पड़ा। मथुरा की गलियाँ भी इसे बिल्कुल नहीं माईं। वह लिखता है—

“ऐसी सँकड़ी, टेढ़ी-मेढ़ी, डालू और गंदी गलियाँ मैंने कहीं नहीं देखीं।”^७

१. खेद है कि यह प्राचीन चित्रकारी अब नष्ट हो गई है।
२. प्राउब—वही, पृ० १४५।
३. वही, पृ० ३४०। यह नृत्य अब भी ब्रज में प्रचलित है। इसका ‘चरकला’ नामक रूप सबसे अधिक मनोरंजक है।
४. प्राउब—वही, पृ० ६५-६६।
५. वही, पृ० १४५।
६. प्राउब—वही, पृ० १७४-७५।
७. प्राउब—वही, पृ० १४१ (नोट)।

भगवान् श्री कृष्ण के ब्रज : नाम

(श्री नागरीदास)

राग-सारंग

ब्रज-सैन और न कोऊ घाँम ।

या ब्रज में परमेश्वर हूँ के, सुखरे सुंदर नाम ॥
कृष्ण नाम मैं सुन्यों गरग ते, कान्हू-कान्हू कहि दोलें ।
बाल-कैल-रस-भगन भए सब, भानंद-सिन्धु-सकोलें ॥
जमुषा-नवन, दामोदर, नवनीत-प्रिय दधि-चोर ।
चोर-चोर, चित-चोर चिकनियाँ, चातुर नवल-किसोर ॥
राधा-चंद-चकोर सांवरी, गोकुलचंद, दधि-दाँनी ।
श्री बृंदावन-चंद, चतुर चित, प्रेम-रूप-अभिधानी ॥
राधा-रमन सु राधा-वल्लभ, राधा-कांत रसाल ।
वल्लभ-मुल, गोपी-जन-वल्लभ, गिरिवर-धर, छवि-जाल ॥
रास-बिहारी, रसिक-बिहारी, कुंज-बिहारी स्थान ।
विपिन-बिहारी, धंक-बिहारी, झटल-बिहारी राम ॥
छेल-बिहारी, लाल-बिहारी, बनवारी, रस-कंद ।
गोपीनाथ, मदनमोहन पुनि, बंसोधर, गोविंद ॥
ब्रज-सौचन, ब्रज-रमन मनोहर, ब्रज-उज्ज्वल, ब्रज-नाथ ।
ब्रज-जीवन, ब्रज-वल्लभ सब के, ब्रज-किसोर सुभ गाय ॥
ब्रज-भूषन, ब्रज-मोहन, सोहन, ब्रज-नायक, ब्रज-चंद ।
ब्रज-नागर, ब्रज-छैल-छबौली, ब्रजवर सो नंद-नंद ॥
ब्रज-भानंद ब्रज-बूढ़ नित ही, अति सुंदर ब्रज-साल ।
ब्रज-गोवन के पार्थ-पार्थ, सोहत ब्रज-गोपाल ॥
ब्रज-संबंधी नाम लेत ए, ब्रज की सीसा गावैं ।
'नागरीदास' हि मुरलीवारी, ब्रज की ठाकुर भावैं ॥

अन्नकूट

श्री कृष्णकांत बागोरा

भारतवर्ष में अन्य धार्मिक समारोहों की भाँति प्रतिवर्ष सनातन धर्मावलंबी जनता द्वारा मनाया जानेवाला 'अन्नकूटोत्सव' भी अपना एक विशिष्ट इतिहास लिये हुए है। इसका प्रारम्भ-काल महाभारत के समय से माना जाता है।

जिस प्रकार प्राचीन समय में किसान व गोप राजाओं को राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि बनाये रखने को कर दिया करते थे, उसी प्रकार वर्षा के अंत में इन्हें बलि (भेंट) दिया करते थे, किंतु भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उस समय की जनता को इन्हें बलि (भेंट) देने की आवश्यकता बतलाई और निम्न-विधि द्वारा उत्सव समारम्भ करने की प्रेरणा दी गई—

“भूत्वायं सर्वं संभारं भक्तियुक्तोन्नितैर्द्वयः। सहस्रं क्षीरार्धमंत्रेण हृदये स्नानं च कारयेत् ॥
गं गाजलेन धमुना जलेनापि द्विजैः सह। शुक्लगोष्ठ्यध्वधाराभिस्ततः पंचामृतैर्गिरिम् ॥
स्नापयित्वा गवधुष्यैः पुनः कृष्णाजलेन च। वस्त्रं विभ्यं च नैवेद्यमासनं सर्वतोऽधिकम् ॥
मालाभ्रं कारनिचयं बत्सा दीपावलिपरम्। ततः प्रदक्षिणां कुर्वाणमस्तु योऽततः परम् ॥
कृतार्जलिपुटो भूत्वा त्विदमेव मुदीरयेत्। नमो वृंदावनां काय तुभ्यं गोलोकमौलिने ॥
पुष्पं बह्यातपभायनमोगोवर्द्धनाय च। पुष्पांजलिततः कुर्वाणो राजनमतः परम् ॥
घटाकांक्ष्य मर्दगाक्षीर्वा विभ्रं मधुरस्वनैः। वेदाहमेतं मंत्रेण वर्षं लाजैः समाचरेत् ॥
तत्समापे चाक्षकूटं कुर्याच्छ्रद्धा समन्वितः ॥”

—गर्गसंहिता—गो० ख० १५—२२

उपरोक्त श्रवण में एक स्थान पर उल्लेख है, कि “कलियुग की आदि में चार हजार भात की वर्ष पीछे गिरिराज की गुहा के मध्य से सब के देखते-देखते भगवान् का एक स्वरूप स्वतः सिद्ध प्रगट होगा। उस रूप को श्रीनाथ जी, देवदमन सर्वश्रेष्ठ जन वर्णन करेंगे।”^१ इस भेदानुसार श्रावण सुदी नागपञ्चमी सवत् १४६६ के दिन श्रीनाथ जी की उर्ध्वभुजा का प्राकट्य होकर कार्तिक १५ पूर्णमासी सवत् १७२८ से श्रीजी सेवादातर्गत श्रीनाथद्वार (सिंहाड) नगर में विराजमान है। जहाँ प्रतिवर्ष ‘दीप मालिका’ के अवसर पर जगद्-विख्यात अन्नकूटोत्सव समारम्भ में भाग लेने के लिये देश-विदेश से अस्थायी नर-नारी आकर श्री देवदमन के दर्शन पाकर अनुपम सौख्य को प्राप्त कर ऊठार्य होते हैं।

श्रीनाथद्वार में प्रतिवर्ष कार्तिक मास की दीपावली के दिन श्रीजी की गौ माता जी गौ-शाला से मंदिर के सानिध्य में आती हैं। जहाँ विश्राम कर प्रतिपदा के दिन श्रीजी की परिक्रमा कर श्रीजी के मंदिर में जहाँ श्री गिरिराज का स्वरूप प्रतिष्ठापित रहता है आकर पुष्टि-मार्ग के प्रधान गोस्वामी तिलकायित द्वारा पूजित होती हैं।

^१. वेदाहमेतं पुष्पं महानमादित्यवर्णतमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वा तिमृत्युमेतिनात्यः पंचाविद्यतेयनाय ॥

^२. गर्गसंहिता—गिरिराज खंड।

श्री श्री के संमुख जहाँ अन्नकूट का स्वरूप स्थित होता है उसके नीचे रोपन (स्वेत चावन और हृदी मिला हुआ) द्वारा स्थान को रेखांकित किया जाकर भास का मूढा (चौकी) बनता है। फिर उसे वही-वही पत्तों से ढक दिया जाता है। उसके ऊपर दो चौ मन स्वेत पके हुए चबलो का श्री गिरिराज की प्राकृति के अनुसार ढेर किया जाता है। श्रीजी के चारो आयुषो की तरह चार गुँजे (जिन चारो की शख, चक्र, गदा, पद्म की प्राकृति होती है) भात के मध्य में गिहर-वैते रीते जाते हैं। कोट के ऊपर तुलसी की माला इतनी बड़ी होती है कि वह समग्र सामग्री को ढक ले। भात के साथ आरोग्य के लिये घी की चार मिट्टी की चपटिया आती है। श्रीजी के डायी (बाईं) बगल में मोठे के ऊपर एक जल का चौड़ा पात्र आता है और सकडी सामग्री निम्न प्रकार की आरोग्याई जाती है—

बड़ा, मँगोड़ा, तिल-बड़ी, रोचक, पापड़, डेवरी, पान-बड़ा, पतर-बड़ा, टेंदी की कचरिया, ग्वार की कचरिया, चिबड़ा की कचरिया, खरबूजे की कचरिया, करेलों की कचरिया, तोरनी की कचरिया, भिभी की कचरिया, कमल की कचरिया, निता की कचरिया, जितने तरह के फोके बन सकते हैं उतने, जितने तरह के साग प्राप्त होसकें सब। बेंगल देव-सोते होने पर भी अरोग्यते हैं।

कंद

सूरन, रतालू, शरबी, सकरकंद, आलू।

मिष्टान्न

भूली, सेव (छत्तीस-छत्तीस नावें) चोसठ चपटिया छाछ जिनके अंदर भात में बड़ा, भात में मँगोड़ा, भात में पतर-बड़ा, भात में पान-बड़ा, भात में दूदी, भात में बूली के भारे की सेव, भात में बेंगल के भुलीने, भात में पकोड़ी। आखे मूंग, मूंग की दाल (बोनी तरह की), तुअर (अड़हर) की दाल, चने की दाल। कड़ी ३ कंदे, बड़ी का साग ३ कंदे, कमरख का साग ३ कंदे, सूरन का कजूर ३ कंदे। खीर चार तरह की—रवा, मलक, सेव और चबल की। पाँच तरह के भात—मेवा-भात, सिकरन-भात, दही-भात, राई-भात और बड़ी-भात। पेठे का बिलसाह, कैले का बिलसाह। रायते चार तरह के—दाख (मीठा), बेंगल, नीता और कोले (मीठा) का। नोन, संधानी, नींबू, आदा-माचरी, माखन-मिथी।

अनसकड़ी

सेव के लड्डू, गुस्ता, मठरी, मेवा-भाटी, फेनी (केसरिया और सफेद), खरमंडा, इंदरसा (अंदरसा), कपूर-नारी, सकरपारा, छूटी बूंदी, मनोहर, पुवा (कठपुवा, मालपुवा), जलेबी, बाबर (सफेद और केसरिया), श्रीखंड-बड़ी, तेल के संधाने की चपटिया, बदाम, पिस्ते, खोपरा (गोसा), चिरोजी इन चारों की दालनी याने मोहनयाल।

दूध-घर की सामग्री

बर्फी, पेड़ा, दूध-भुड़ी, गुजिया, बासूदी, साग-घर के मीठे चार तरह के—अमरस, अनार, नारंगी, सेव, खोआ मिलमा, बदाम, पिस्ता, चिरोजी और कोले की बर्फी, पेठे की बर्फी, सूरन की बर्फी, कोले के बीज की, खरबूजे के बीज की, दूध खूब थोड़ा हुआ आदि।

शास्त्रीय रीति में पूजन होने व अन्न-साधारण के दर्जन कर लेने के बाद रात को १२ बजे राजस्थान के विभिन्न भागों से आये हुए सैकड़ों मील एकमात्र लँगोटी लगाकर अन्नकूट के विद्यान बहकते हुए ढेर को लूटने के लिये दूट पड़ते हैं, जिसे गले में लटवती झोली में भरकर बोधे ही मनग में साफ कर देते हैं। इन लूटे हुए प्रसाद को ये लोग दूर-दूर अपने हिस्सों को लेने हैं।

इन दम को देखने के लिये देग के सब भागों में अन्नगण आते हैं।

अन्नकूट की सांस्कृतिक परंपरा

श्री कृष्णचंद्र

इंम सभी जानते हैं कि जब सृष्टि उत्पन्न हुई और उसका धन धन विस्तार बढ़ा तो उसके साथ ही मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढ़ी, एवं उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कार्य-प्रणालियाँ बनती गईं। प्रकृति के जिन तत्वों से उन्हें भय ज्ञात हुआ, एवं जिनसे आनंद एवं पोषण-सत्त्व मिले ऊँही से वे प्रसन्नता का अनुभव कर उन तत्वों को देव रूप से मान उनकी पूजा के लिए प्रवृत्त हुए। वर्षा के न होनेसे उसके अग्रि देवता इंद्र की एवं जल, सूर्य, वायु की उपासना में सलग्न हुए। आर्यों के द्वारा जो उपासना इस प्रकार आरम्भ हुई, वह किसी न किसी रूप से अनवरत चलती रही।

कृष्णावतार का समय

कृष्णावतार का समय—द्रापर के अंत और कलि के आदि में जब भगवान् श्री कृष्ण लोको-पकार एवं धर्माभ्युत्थान और समाज-रक्षा के लिए ब्रज-भूमि में देवकी के गर्भ से जन्म ले गोकुल में नंदराजी के यहाँ बाललीला करने पचारे तो एक बार परपरागत इंद्र-पूजन के प्रसंग पर भी आपकी दृष्टि गई और सात वर्ष के आपने नंदराय जी से इसका महत्त्व पूछ ही लिया कि तात, यह सामग्रियों का समार क्यों तैयार हो रहा है ? क्या कोई महान् देव का पूजन-समारम्भ है ? या अन्त्य कोई उत्सव ! इस पर नंदराय ने अपने भोले लाल को गोदी में बैठाकर पुचकारते हुए कहा कि लाल, हम ब्रजवासी अनेक वर्षों से अपनी सुरक्षा, गोपन की पूर्णता, सद्बुद्धि, सत्य-वान्य की वृद्धि के लिए देवाधिदेव इंद्र की पूजा करते हैं और उनसे हमें सब प्रकार का आनंद मिलता है। नन्दन ने बाबा की बात को बड़ी धाति से सुना और अपनी कोमल-आकर्षक वाणी से इंद्र के विरुद्ध वास्तविक विचार प्रकट करते हुए कहा तात, हम ब्रजवासी हैं, वन एवं पर्वत ही हमारे सब कुछ हैं, यहाँ हमारी गौएँ चरती हैं, हमें सुंदर वृष, शरनो का शीतल जल मिलता है, अतः इस सामग्री से यदि इंद्र की पूजा न कर पर्वत राज गिरिराज की पूजा करें तो श्रेयस्कंद है, इससे हमें सर्वथा लाभ और सुख होगा। श्री कृष्ण की सार-सरी वाणी ने विश्वासी ब्रजवासियों के हृदय में असर किया और सचित्त-समार से उन्होंने इंद्र की पूजा भेट गिरिराज की पूजा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। वह समय सुख-समृद्धि का था। प्रत्येक में ममता, सह-भ्रातृता, प्रेम का साम्राज्य था, अल-धन की पुष्कलता थी। श्री कृष्ण सब के प्राण-धन ये अतः द्रिगुणित उत्साह से कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को विविध जाति के पकवानों को गाड़ों में भरकर अपनी गायों को सजा, स्वयं सज्जन ब्रज-मणियों को साथ ले, गिरिराज की पूजा के लिये चल पड़े। पर्वत के समीप आ सवों ने आनंद-मग्न हो गिरिराज को प्रणाम किया। अनंतर विविध जाति से स्वच्छ कर गिरिवर की परिसर भूमि को गोमय से वीथ गाढ़-बाछो से परिक्रमा कर पूजा करने लगे। प्रथम स्वच्छ जल, पश्चात् द्वय, दही, हरिद्रा, रोजी (कुक्रुम) और स्वच्छ जल से स्नान करा वस्त्र, चंदन आदि से भूषित कर सुगंधित पुष्प-माला समर्पित की। धूप-दीप के बाद भोग समर्पण किया। पकवानों का समूह इतना था कि एक प्रकार से अन्न का कूट (कोट—पर्वत) बन गया और उसमें गिरिराज भी छुप गये।^१ श्री कृष्ण ने एक स्वरूप से ब्रजवासियों के साथ गिरि का पूजन किया और अपने दूसरे रूप से अनेकों भुजाओं के

^१. नयी भात की कोट ओट, गिरिराज छिपानो।

द्वारा गिरिराज से समूत हो ब्रजवासियों के पकवानो का भोग लगाया। इस प्रकार भगवान् का गिरिराज से प्रकट होकर भोग-भगाना देख ब्रजवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। भोग के बाद वचे प्रसाद को अपने परिवार, ब्राह्मणों से लेकर सभी जातियों में बाँट दिया और सानद अपने घरों को चले पड़े।

इधर जब समय बीत गया और पूजा न हुई तो इन्द्र के हृदय में विचार उठा और अपने प्रकारतर से किये हुए ब्रजवासियों के सारे कृत्य को समझ लिया और अभिमान में भरकर अपने निकटस्थ मेघों को बुला भावैष दिया कि आज एक साधारण से घोष-कुमार के कहने से मेरी पूजा में द्रव्य-सियों ने 'गिरि' की पूजा की है, अतः इनके बड़े मद को चूर कर देना है और ब्रज-मंडल को डबाकर ही शक्ति लेनी है। आज्ञानुसार ब्रज पर मूसलाधार वर्षा होने लगी। इन्द्र का कोप देख सब ब्रजवासी सन्नत हो इधर-उधर दौड़ने लगे और अपने सहायक नेता श्री कृष्ण को पुकार कर सारी कथा कह सुनाई। मृदुल हास्य करते हुए श्री कृष्ण ने बबडाहट-भरी ब्रजवासियों की दशा का अवलोकन कर उनके भय को दूर करते हुए कहा तुम सभी भय-रहित हो सपरिवार गोवन के सहित गिरिराज के समीप चलो, वही तुम्हारी रक्षा करेगा। गोप-गोपियों ने अपने परम प्रिय श्री कृष्ण की जब बात मानी और सब के सब शीघ्र वहाँ पहुँच गये, तब अतुल बलशाली श्री कृष्ण ने सबों के देखते-देखते गिरिराज-पर्वत को सहसा उठा लिया और सात दिन तक उसे धारण कर अपने ब्रजवासियों की उसके नीचे रक्षा कर चकित कर दिया। इन्द्र अपनी सारी शक्ति लगाकर थक गया और ब्रज का कुछ भी न विगाड़ सका, तब सुरभि को साथ ले ब्रज भूमि में आया और श्री कृष्ण की अनुपम रूप-माधुरी को देख लोटपोट हो गया तथा 'गोविन्द' नाम रख विनीत हो गया माँगी। इस कृत्य से ब्रजवासी बड़े ही प्रसुखित हुए और गिरिराज की महत्ता कहने लगे।

गिरिराज की उत्पत्ति

गिरिराज की उत्पत्ति के विषय में पुराणातरो में यही उपलब्ध होता है कि मोनो-धाम-स्थित श्री कृष्ण के हृदय में एक समय 'रास-विहार' की इच्छा उत्पन्न हुई, परंतु विहार के लिए स्थान चाहिए, तब मुकुंद ने सजल-भेम-भूरित तेज को प्रकट किया, वही गिरिराज है। जब पूजाविहार श्री कृष्ण मोलोक से लोका-रक्षार्थ ब्रज-भूमि में पधारे तब वृंदावन आया, श्रुति-रूपा गोपियों ने जन्म-ग्रहण किया तो वही गिरिराज शालमलि द्वीप के बीच श्रोणाचल पर्वत की स्त्री से उत्पन्न हुआ और ब्रजभूमि में नाया गया। किसी के द्वारा इसे प्रतिदिन घटने का घाप भी मिला।

अनेक वर्षों के बाद श्री कृष्णावतार के समय इसकी महानता बड़ी और यह भगवद्-विग्रह के रूप में माना तथा पूजा जाने लगा। कृष्ण-द्वारा संचालित पूजा का क्रम सदियों तक चलता रहा और 'भद्र-कूट' होता रहा, पर वीरों एवं यवनों के आक्रमणों से इसमें न्यूनता आई और पूजा का क्रम यद हो गया। भक्ति-मार्ग का स्थान ज्ञान और कार्य-मार्ग ने ग्रहण कर लिया। काल-क्रम में भगवान् धर्मगानार्थ ने गीतों का मूलोच्छेदन किया और रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निंबार्काचार्य ने भक्ति की पुनः गुरु-गति बनाई, परंतु समुचित भक्ति का प्रचार और ब्रज-मंडल का उद्धार जैसा होना चाहिए—यह न हो सका।

श्री बल्लभाचार्य का समय

कालान्तर में संवत् १५३५ वं० अ० ११ की अपराध-म्याल में 'श्री चणनानाथ' का जन्म तथा श्री उग्र-उषी दिवस संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण एकादशी की गर्गमहिमा के 'नारद-भट्टानाथ' नाम के १-३३ वंशों के अनुसार श्री शीलाय—'दिव्यमन' का प्रावट्य हुआ। यथा—

'धेन रतेज दृष्टो न पुनो गोषट्ठनोगिरि ।

सद्रूपं विद्यते तत्र मूष. शृंगारमंडनम् ॥

अन्दाश्च नृनृत्तानि तथा चाष्टीनानि च ।

गताम्रत रत्नेश्वरी शंवे शृंगारमंडिते ॥

गिरिराजम् ॥ गम्यान् गवेषां पश्यतां मूष ।

स्वतः सिद्धं च तद्वर्षं हरे प्रादुर्भविष्यति ।।

श्रीनाराय 'देववसनं' तं वदिष्यति सज्जनाः ।।"

—गर्गसंहिता—वि० ख० २८-३१

इस प्रकार आपने प्रादुर्भूत होने के कुछ वर्षों बाद क्षारखंड में श्री बल्लभाचार्य को अपने उत्पन्न होने का स्वप्न दिया। आचार्य मयूरा होते हुए गिरिराज पधारे और वहाँ श्रीनाथ के दर्शन कर अपने को कृतार्थ माना तथा एक छोटा मंदिर बनवा सेवा का क्रम प्रारंभ कर दिया। आपके स० १५७२ में विठ्ठलनाथ जी का जन्म हुआ और बड़े होकर आपने श्रीजी के सेवा-क्रम को व्यवस्थित रूप दिया। जो गिरिराज की पूजा और अन्नकूट छिन्न-मिन्न हो गया था, उसका कार्य-क्रम भी पुनः प्रारंभ किया। सवत् १६२८ में गिरिराज पर्वत पर अपने संप्रदाय के—

- (१) मयूराचार्य जी—कोटा ।
- (२) विठ्ठलनाथ जी—नाथद्वारा ।
- (३) द्वारकाधीश जी—कांकरोली ।
- (४) गोकुलनाथ जी—गोकुल ।
- (५) गोकुलचंद्रमा जी—कामवन ।
- (६) बालकृष्ण जी—सूरत ।
- (७) मदनमोहन जी—कामवन ।

जो संप्रति विराजते हैं इन सात सेव्य-स्वरूपों के साथ श्रीनाथजी की गोद में नवनीतप्रिय जी को पधारा अन्नकूट का उत्सव क्रिया, तब से यह परंपरा अविच्छिन्न चल रही है।

यवनों के आक्रमण

संवत् १७२२ या २३ में श्रीराजेश्वर की क्रांति हुई और उसने मंदिरों को तोड़ मसजिदें बनाने, हिंदुओं को धर्म-अप्टकर मूर्तियों के तोड़ने का आयोजन किया। उस समय सभी प्राचीन हिंदू-संस्कृति के उपासक घबड़ा गए और इधर-उधर रक्षा के लिए स्थान ढूँढने लगे। श्रीनाथजी ने भी पूर्व-प्रार्थना के अनुसार मेवाड़ में आने की बात कही और स० १७२६ में आप ब्रजघाम से श्री दाऊजी, श्री गोविंदजी एक गवावाई के साथ चले। बीच में आगरा प्रदेश में आपका 'अन्नकूट-उत्सव' हुआ। यहाँ गोमय का गिरिराज बना, उसके बीच में गिरिराज की शिला रख पूजन किया गया तथा अन्नकूट भोग धरा। यहाँ से चलकर श्रीनाथ जी अनेक स्थानों में परिभ्रमण करते हुए सिंहाड ग्राम में आकर विराजे और यह उत्सव हुआ। गोवर्द्धनेश जी ने यहाँ के सेव्य सात स्वरूपों को पधराये। सवत् १८३५ से १८५८ तक मेवाड़ में मेरो और हाँकरो का उपद्रव हुआ, उस बीच अन्नकूट का उत्सव उदयपुर और 'वसियार' में पूर्व-क्रम से होता रहा। स० १८६४ में श्रीनाथजी वसियार से वापस सिंहाड (नाथद्वार) पधारे और राणा भीमसिंह जी के समय दाऊजी महाराज ने उपर्युक्त उत्सव सेव्य छह स्वरूपों को पधाराकर किया। इसके अनंतर गोवर्द्धनराज जी महाराज ने, जिनका जन्म संवत् १९१७ है, चार सेव्य स्वरूपों को पधाराकर उत्सव किया। उधर ब्रज-भूमि में यवनों के आक्रमण कुछ न्यून हुए और गिरिराज की विशेष रूप से प्रतिष्ठा तथा क्रांतिक सुखा प्रतिपदा को पूजन का क्रम श्रीगोकुलनाथ जी द्वारा बल्लभ-संप्रदाय के सेव्य स्वरूप के साथ अन्नकूट का उत्सव प्रचलित हुआ। वह अभावधि चल रहा है, किंतु जो वास्तविकता और संस्कृति का पूर्णत्व हमें नाथद्वार में प्राप्त होता है—वह अन्यथा नहीं। यहाँ अन्नकूट के एक-दो मास पूर्व से ही यात्रियों, राजा-महाराजाधो का आगमन शुरू हो जाता है और सेवा का क्रम भी तभी से होने लगता है।

अन्नकूट का उपक्रम

नाथद्वार में वस्तुओं का संग्रह अनेक मास पूर्व से होने लगता है, किंतु विजय दशमी के दिन से ठीक कार्य प्रारंभ होता है। इस दिन यहाँ श्रीनाथ जी के बाल-भोग की मट्ठी का पूजन कर पकवानों का बनना प्रारंभ हो जाता है। ये पकवान आज से लेकर दीपावली तक बनते रहते हैं। इधर-धर और

साय-वर की वस्तुएँ भी दक्षिणी से ही बनने लगती हैं। ये पक्वान् मनों के रूप में बनते हैं और सभी प्रकार के बनते हैं। पक्वान्मों के बनाने के लिये एक लकड़ियों का ढेर गोवर्धन पूजा के चौक में सजा है, उसमें हवाएँ मन लकड़ियाँ रहती हैं और मुहूर्त से यहाँ के अधिकारी एवं सभी आवास-वृद्ध-वैष्णव उन्हें पक्वान्म-गृह तक पहुँचाते हैं। शरद-पूर्णिमा के दूसरे दिन से मंदिर में नवीन चित्रकारी प्रारम्भ होती है और उसमें यहाँ के गण्यमान् चित्रकार भाग लेते हैं। कार्तिक कृष्ण में अन्नकूट की रसोई में कच्चा अन्न (सखड़ी) बनना प्रारम्भ होता है। इसके बनाने के लिए सैकड़ों भट्ट मेवाडा-बाति के व्यक्ति उदयपुर से और साँचीहट गिरनारा अन्य देशों से आमंत्रित किये जाते हैं। उनके साथ यहाँ के सेवक भी सेवा में भाग लेते हैं। यह सामग्री अखंड रूप से अन्नकूट तक बनती रहती है। कार्तिक कृष्ण-पक्ष में ही मुहूर्त से घण (पापठ) की सेवा होती है।

कार्तिक वदी १० के दिन से यहाँ के 'टीकैती शृंगार' प्रारम्भ होते हैं और अन्नकूट-उत्सव का प्रारम्भ आज से ही मान लिया जाता है। प्रत्येक दर्शनों पर नीवत (नक्कारे) बजती हैं तथा गो-धूवन गी के शृंगार करने एवं उनके खिलाने के अष्टछाप के कवियों के कीर्तन यहाँ के प्रसिद्ध कीर्तनियाँ करते हैं। श्रीजी की डोल-तिवारी—भणिकोठा में काँच की हँडियों में शयन के समय रोषानी होती है। यह रोषानी का क्रम घन-त्रयोदशी (घनतेरस) तक चलता रहता है। रम-चतुर्दशी को रोषानी नवनीतप्रिय के मंदिर में होती है और नवनीतप्रिय अपने निज के चबूतर पर काँच के बेंगले में विराजते हैं। रम चतुर्दशी को हरे शाक की सेवा सारे दिन असंख्य वैष्णव करते रहते हैं। एक प्रकार से शाक का कूट-सा लग जाता है। रात्रि-भर इनके सिद्ध करने की सेवा होती है। दीपावली को श्रीजी का मंगला के अनंतर अम्भ्यग होकर शृंगार होता है। आज श्वेत जरी का चाकदार वागा, लाल सूचन, श्वेत कुल्हे तथा मस्तक पर मयूर-पच्छ वा पाँच का जोड़ धारण कराया जाता है। केसरी ठाढावस्त्र कदरा पर, तथा मोती, भाणिक, हीरा और विभिन्न रत्न-जडित आभूषणों का शृंगार होता है तथा शृंगार के अनंतर यहाँ की विविध अनुसार भोगादि आने पर खाल एवं राजभोग के दर्शन होते हैं। राजभोग के बाद यहाँ के टीकैत, सेवक-वृद्ध, वैष्णव-समाज एकत्रित हो खासा-मडार पहुँचते हैं और वहाँ से चावल की टोकरीयाँ लेकर अन्नकूट की रसोई तक जाते हैं। यह चावलों के पधारने का क्रम बहुत समय तक चलता रहता है। इनमें बड़ी भीड़ होती है, सभी सेवा कर अपने को कुर्वाय करना चाहते हैं। इस समय श्रीजी के ग्रनोमर (गणन) हो जाते हैं, फिर समय-क्रम से उत्थापन, भोग, सध्या-भारती के दर्शन होते हैं। भारती में श्रीजी गायों के घेरने के भाव से ठाढा घेज धारण करते हैं।

उसी दिन रत्न-चौक में एक विधाल काँचों के टुकड़ों का बडा ही सुंदर बेंगला बनता है और उसके सामने चाँदी के बड़े-बड़े हाथी, गायें, सखी साजी जाती हैं और गोवर्धन-चौक के पीछे स्थान में कटहरा लगा दिया जाता है, जहाँ नवनीतप्रिय जी विराजते हैं, बाकी हिस्सा गायों के लिये छोड़ दिया जाता है, वहाँ गोरों एकत्रित होती हैं तथा खेलती हैं। साय ५ बजे यहाँ की गोसाला के गोप जो कि ब्रजवासी होते हैं, अपनी पागपर मयूर-पच्छ की कलगी धारण कर गायों को रंग-विरंगी सजा उनके गीन पर मयूर-पच्छ की पट्टियाँ बाँध लाते हैं। पहिले गायों को यहाँ एक विधाल चौक में छोड़ देते हैं और गोंग-गण एकत्रित 'हो हीरा'—जो कि एक अन्नकूट-ममय का गोपी का प्रधान गीन होता है गाने हुए श्रीजी की परिक्रमा करते हैं। जब समय हो जाता है, यहाँ के टीकैत, मजानीय मेवाम-वृद्ध, वैष्णव-मजान, स्थानीय कीर्तनियाँ गाने-बजाते ग्यले हुए सुवर्ण के मृत्तपाल में श्री नवनीतप्रिय को विराजमान कर पधारते हैं और सुरजपोल की गीडियों पर उन्हें विराजमान कर पान धारोमाने हैं। उषः गोप माग में गायों को खिसाते हुए गोवर्धन चौक में लाकर डबट्टी करने हैं नया यहाँ पाग-गिनारों २। नवनीतप्रिय को पान के बाद दूध के मटके धारोमाए जाते हैं, फिर यहाँ के टीकैत नव्यम की गाय का पूजन कर काम में 'गन खेनने को बेगी भाना' यह बट्टे हैं। गोप अधिक उन्माद में गायों को गिनारों हैं। इन्हे ही 'गान्ठ (गान) जगाई' कहते हैं।

इसके बाद नवनीतप्रिय 'रतन-चौक' के विशाल बंगले में विराजते हैं और दर्शन खोले जाते हैं। सर्वत्र दीपावली जोड़ी जाती है। दर्शनानंतर भजन होते हैं और श्रीजी के मस्तक से मयूर-पञ्च का जोड़, प्राचा शृंगार बहा कर लिया जाता है। रात भर नवनीतप्रिय वही रहते हैं।

अन्नकूट

भोज का दिन बड़ा ही सुंदर होता है तथा खास रूप से आनंद-प्रद। प्रातः नवनीतप्रिय के अपने निज मंदिर में पधारने पर यहाँ काँच का बेंगला उठा लिया जाता है और श्रीनाथ जी के मंगला के दर्शन होते हैं तथा कदरा पर गहल धराया जाता है। इसके अनंतर शृंगार, न्वाल, राजभोग के दर्शन होते हैं और मस्तक पर मोक्षार्ण, हस्त में पीत पिछोरी, गायो को घेरने के लिये ठाढा बेज धारण कराया जाता है। दर्शन हो चुकने पर अनोसर हो जाते हैं।

डोल-तिवारी में मंगला के बाद से ही सफेद चंदोदा तथा काँच की हूँडियाँ तेल भरकर जोड़ कर लटका दी जाती हैं। गोल देहली के यहाँ पाटिये लगा दिये जाते हैं। नीचे छुरिया से चौक पूर दिया जाता है। सभी दरवाजों से चाँदी के किवाड उतारकर लकड़ी के किवाड चढा दिये जाते हैं, फिर रतन-चौक में घास का पीढा रखते से बाँधकर तैयार किया जाता है। उसे डोल तिवारी में ले जाकर गोल बाँधते हैं। इसकी सेवा भी सभी वैष्णव एवं यहाँ के सेवक करते हैं। इसमें मनो चोखे (चावल) भरे जाते हैं। यह एक पुख ऊँचा और करीबन ३-४ गज की गोलाई से कम नहीं होता, इसके ऊपर पतलें लगायी जाती हैं। डोल-तिवारी और रतन-चौक में घास बिछा दिया जाता है।

इसपर गोवर्द्धन-पूजा के चौक में कटहरे के भीतर गो-मय का गोवर्द्धन बनाया जाता है, जो श्रृङ्गा बजा होता है। उसमें कई झाड (वृक्ष) लगाये जाते हैं तथा ऊपर रुई डाली जाती है। अन्य आवश्यक उपकरणों से उसे सजाया जाता है। बीच में एक स्थान गिरिराज की शिला पधारने को रक्खा जाता है। पीछे गली छोड़ी जाती है, जहाँ पूजन के समय कीर्तनिये खडे होकर कीर्तन—गोवर्द्धन-पूजा के करते हैं। पूर्व दिन की भाँति सूरजपोल की सिंघियों एवं नीचे के स्थान पर चालनी माँड दी जाती है। तथा पूजन के योग्य सादे पदार्थ सेवक-गण लाकर साज देते हैं।

श्रीजी के मंदिर में अन्नकूट का भोग-सजना प्रारंभ हो जाता है। केवल एक गली छोड़ दी जाती है, जिसमें होकर स्वरूप पधराये जाते हैं। निज मंदिर मणि-कोठा में दूध-घर, शाक-घर, अन्न-सखी के पदार्थ और डोल-तिवारी में एवं रतन-चौक में सखी सजने लग जाती हैं। इसमें करीबन ५-६ घंटे लगते हैं और जिसमें सैकड़ों व्यक्ति काम करते हैं।

ठीक षेड-दो बजे के समय यहाँ के अधिकारी समाधानी, छडीदार, कीर्तनियाँ एवं वैष्णव-समाज को साथ ले सप्रदाय के संव्य स्वरूपों को पधारने जाते हैं और गादियों के क्रम से सब स्वरूपों को पधारते हैं। सब स्वरूप वद-मुखपाल से पधारते हैं। अन्यत्र से पधारनेवाले स्वरूपों के लिये स्थानीय फौज, हथौथे, घोडे, वाजा और सरकारी प्रबध नायकद्वारा पधारने तक भेजा जाता है। सब स्वरूपों के पधारने के अनंतर नवनीतप्रिय को सभी एकत्रित हो पधारकर लाते हैं और पूर्व दिन के अनुसार सीढियों पर सुखपाल को विराजमान करते हैं। वहाँ पान और दूध का भोग घर यहाँ के तिलकामित गोस्वामी जी गिरिराज का पूजन करते हैं। सर्वप्रथम गो-मय के गिरिराज में गिरिराज की शिला पधारायी जाती है, फिर शुद्ध जल, दूध, छुरिया, कुंकुम आदि के बाद शुद्ध जल, दूध, से स्नान करा वस्त्र, माला, तुलसी धारण करायी जाती है तथा गिरिराज-शिला को बदन-वंचित की जाती है। भूप-धीप कर भोग धरपाया जाता है। भोग के पश्चात् प्राचमन करा बीडा घर आगती की जाती है। यहाँ के न्वालो और नेव्य-स्वरूपों के न्वालो को तिलककर प्रसादी उपरला बाँध और गिरिराज का भोग दिया जाता है। उनके हाथ के थापे लगाये जाते हैं। गोवर्द्धन पर गाय चढाई जाती है और नवनीतप्रिय श्रीजी

१. ये चालनी बिबिध रंगों से भरी होती हैं।

के मन्दिर में पधारते हैं^१। बाकी का अवशिष्ट भोग श्रीजी के समक्ष रख दिया जाता है। वहाँ की विधि के अनुसार धूप-दीप हो जाता है। गाएँ गोधाला भेज दी जाती हैं। भोग करने के अवतर टीक, अधिकारी-नर्त, कीर्तनियाँ, गोप-गण, वैष्णव-समाज, स्त्रियाँ, बालक सहस्रो की सख्या में श्रीजी की दक्षी परिक्रमा करते हैं।

भील लोग अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ सम्मत् हो गाते-नाचते हुए अधिक से अधिक परिक्रमा लेते हैं और महान् आनन्द का अनुभव करते हैं। वे मस्त होकर नाचते व गाते हैं।

दो घंटे के अनंतर मन्दिर एवं भस्मकूट की रसोई के धूल जाने पर पक्वान का भोग सत्ता प्रारम्भ होता है। यह भोग मणि-कोठा, छठी-कोठा, भासा-गली होता हुआ भस्मकूट की रसोई में पहुँचाया जाता है। भोग के टोकरे उठाकर नहीं रखे जाते, सरझाये जाते हैं, सब कहीं अनेक व्यक्तियों से यह भोग सत्ता है, फिर दर्शन खुलते हैं। स्त्रियाँ अलग मार्ग से और पुरुष अलग मार्ग से आकर दर्शन करते हैं और उन्हें रोक-रोक कर व्यवस्था-पूर्वक यहाँ के अधिकारी वर्गों के द्वारा दर्शन कराये जाते हैं।

श्रीनाथ जी के दोनों भोर मधुराधीश, द्वारकाधीश एवं विठ्ठलनाथजी आदि स्वस्थ विराजते हैं। सामने अनेको टोकरे पक्वान के रखे रहते हैं और सखड़ी का भोग सत्ता रहता है। एक भोर वैष्णव श्रीनाथ जी के दर्शन एवं दूसरी भोर सखड़ी भोग के दर्शन करते हैं। ये दर्शन बहुत समय तक होते रहते हैं। बीच-बीच में आर्पितियाँ उत्तरती हैं। फिर क्रम से द्वारकाधीश, विठ्ठलनाथजी आदि अपने-अपने मन्दिरों में पधारते हैं। बाहर गोवर्द्धन-मूजा के चौक की एक कोठड़ी में अनसखड़ी-भोग सत्ता लगता है, जो कि राजा-महाराजाओं, और वैष्णव-समाज में बाँटा जाता है और इसके बादने में एक मास लग जाता है। इसके बाद कुछ प्रसाद पीठा बाँधनेवाले भवर जाकर लेते हैं और फिर दरवाजा खोल दिया जाता है। दरवाजे के खुलते ही मेवाड के भील सहस्रो की सख्या में खोल-तिवारी, खत-चौक में घुस पड़ते हैं। उनकी स्त्रियाँ बाहर अपने टोकरे लेकर बैठ जाती हैं। भील चावल में लथपथ हुए झोली भरकर भाते हैं और "म्हूँ-बाली" इस प्रकार पुकार-पुकार कर अपनी-अपनी स्त्रियों के टोकरे में चोखे (चावल-भात) बाँट जाते हैं। कोई गिरता है, कोई पडता है, परन्तु भील इतनी मस्ती में सराबोर रहते हैं कि उन्हें देह का ध्यान भी नहीं रहता। एक भोर भात का लूटना, दूसरी भोर श्रीनाथ जी के दर्शन करना, यही उनका कृत्य हो जाता है। यह लीला घटो चलती रहती है, फिर भीलों का पता भी नहीं लगता। भीलों के लूटने के बाद नवनीतमय अपने मन्दिर में पधारते हैं और श्रीनाथ जी के उत्थापन, भोग, सत्ता-आरती, शयन की सेवा होती है। सारा मन्दिर धुलता है।

इस प्रकार यहाँ प्राचीन सस्कृति का पोषक 'भस्मकूट-महोत्सव' होता है, जिसमें गोधन का पूजन, गायो का शृगार, गोपो का पूजन-शृगार एवं अपने आराध्य गिरिराज और भस्मरज-भस्मर श्रीनाथ जी को विविध भाँति के पक्वानों का भोग पर सर्वतोभावेन प्रसन्न करते हैं। सप्रदाय में यह एक प्रकार का पन माना जाता है। इन दिनों में बालक से लेकर बृद्ध तक अपने कार्यों को भूल जाते हैं और वही पन हजार वर्ष पूर्व का श्री कृष्ण के समय के गिरिराज-पूजन और भस्मकूट का सर्वाँ नेवों के सामने बंध जाता है। सहस्रो नर-नारी पीठ की अधिकता से दब उठते हैं, पर उन्हें उस दबने में भी आनन्द ही होता है। इस तरह के विविध भोगों की तैयारी भी अन्यत्र दुर्लभ है, क्योंकि सत्ताविद्वज्य आरिष्ये। वैष्णव-जन इस उत्सव के दर्शन से अपने ग्रहोभाग्य समझते हैं और सहस्रो रुपये खर्च कर-कर भाते हैं। इन दिनों जिवर देखिये उधर भज-भूमि, वही आनन्द, वही प्रेम, वही उन्मत्ता दीप्त पडती है। यम में यह निर्विवाद रूप से कहना पडता है कि जिसके हृदय में भक्ति का अक्षुर है, जो हिंदु-मस्तिष्क का अद्भुत है वह एकबार यहाँ के इस उत्सव के दर्शन कर अपने को कृतार्थ कहे।

— ०० —

^१. चावलों (भात) पर पाँच गुंठा पधराये जाते हैं।

यमुना का प्रदेश

श्री असुतवसंत पंड्या

यमुना का महत्त्व

आर्यवंत की नदियों में सरस्वती और सिंधु की महिमा वेदों के मन्त्र-दृष्टा ऋषियों ने गायी है। गंगा का सुगंध सुतो ने और महर्षि वेदव्यास ने पुराणों में विस्तार-पूर्वक बखाना है और यमुना? भारतवर्ष का ऐसा कौन-सा कवि होगा जिसने भगवान् श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं के साथ 'यमुना' की कीर्ति का बखान कर अपनी लेखनी को धन्य नहीं बनाया होगा। यमुना तो भारत-वासियों के कठ-कठ पर रम रही है। भारतीय इतिहास के महत्तम-पुरुष, गीता के गायक भगवान् श्री कृष्ण जिसके तट पर जन्मे, विचरे, खेले और अपनी बाल-लीलाओं की स्वयं क्रीडा-स्मृती बनायी वह यमुना वास्तव में धन्य है। भारतीय आर्य-संस्कृति के विकास में यमुना का एक बड़ा भाग है। इस यमुना और गंगा के सम्पर्कों प्रदेश ने भारतीय इतिहास-चित्र में विविध रंग प्ररित किये हैं और आगे करेगा। आर्यवंत के आगम में आर्य-संस्कृति का आदि ध्वज जहाँ फहराया वह प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान झूरी जो प्रयाग के समीप है) यमुना के तट पर गंगा-यमुना के संगम के समीप ही बसा हुआ था। इसी यमुना के तट पर 'मधुवन' से 'सौराष्ट्र' तक राज्य का विस्तार करनेवाले मधु ने मधुपुरी (मथुरा) नगरी बसायी थी। जैन-साहित्य का प्राचीन नगर सौरिपुर भी इस यमुना के ही तट प्रदेश पर बसा था और महान् नगरी कोशावी भी इसी यमुना के तट पर बसायी गयी थी।

प्राचीन साहित्य में यमुना

पुराणों में लिखा है कि यमुना विश्वामान् (सूर्य) की पुत्री तथा यम और वैवस्वत मनु की वंशि थी। यम और यमुना दोनों एक ही माता—'समा' से जन्मे थे। यमुना का दूसरा नाम 'यमी' भी है। ऋग्वेद में यम और यमी का सनाव मिलता है। हिमालय के 'कालिंद' पर्वत से निकलने के कारण यह 'कालिंदी' (कालिंद-पर्वत की पुत्री) भी कहलाती है। इसके अन्य नाम सूर्य-तनया, तरणि-तनया, सूर्यजा, नियामा भी हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७५ वें सूक्त में यमुना का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (४-६-१०), शतपथ ब्राह्मण (१३-४-४-११), ऐत ब्राह्मण (८-१३), जैमिनीय ब्राह्मण (३-२३), तैत्तिरीय ब्राह्मण (६-४-१०) इत्यादि ग्रंथों में भी यमुना के उल्लेख हैं। पुराण, महाभारतादि इतिहास-ग्रंथों में तो यमुना के वर्णन पर्याप्त रूप में मिलते हैं।

यमुना की उपत्यिका

यमुना, गंगा की मुख्य सहायक नदी है। यह उत्तर से हिमालय के अदर पृथ्वी पर्वत (प्राचीन-कालिंद) गढवाल जिले से निकल कर ८५ मील का मार्ग तै कर प्रयाग में गंगा से जा मिलती है। उत्तर-प्रदेश के पश्चिमीय भाग में उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई कालसी (जहाँ झोका का लेल है) से गार्हपुर (कोसी के पास) तक पूर्व पंजाब और दिल्ली प्रांत के साथ उत्तर प्रदेश की सीमा बाँधती है। उत्तर प्रदेश—गढवाल, देहरादून, सहरनपुर, मूजफ्फरनगर, मेरठ, बुलंदशहर, अलीगढ़, मथुरा आगरा, मेरठ, इटावा, बालीन, हमीरपुर, बदायूं और इलाहाबाद जिलों में यह यमुना नदी बहती है। भारत की ऐतिहासिक राजधानी 'दिल्ली' इस यमुना के ही तट पर है। अन्य व्यापार के नगर—मथुरा, आगरा इटावा, काली, हमीरपुर और प्रयाग आदि नगर हैं। बुदावन, मथुरा, गोकुल, महावन, नौरिपुर—बटेनवर और प्रयाग जैसे तीर्थ भी यमुना के तट पर हैं। सौरिपुर एक जैन-तीर्थ है और मथुरा भी कई अग्र्यों

जैन लोगो द्वारा तीर्थ माना जाता है। वीर-इतिहास में भी मथुरा का प्रमुख स्थान है। ऐतिहासिक स्थानों में कालसी (जहाँ भक्तों का लेख है) वाघपत (प्राचीन व्याघ्रप्रस्थ), दिल्ली, इन्द्रप्रस्थ, प्राचीन इन्द्रप्रस्थ जो नयी दिल्ली के बन जाने से समाप्त हो गया है, बृन्दावन, मथुरा, भगवारा, कोट, कौशाबी (प्राचीन कौशाबी) पमोसा (जहाँ भक्तों का लेख है), मोटा और प्रयाग आदि स्थान हैं। इसकी सहायक नदियाँ टोस, ह्विन, चबल, वेतवा और केन हैं और दो नहर हैं—अपर जमुना और लोअर जमुना। यमुना के जल में टाइफाइड ज्वर के जंतुओं के नाश कर देने के गुण हैं।

यमुना की उत्पत्ति

उत्तर भारत की नदियाँ मानव जाति के देखते-देखते उत्पन्न हुई हैं। पुरातत्त्व के अग्रिम से अग्रिम शोध और अनुसंधान बतलाते हैं कि पीले पाँच लाख वर्ष पूर्व मानव जाति ने हिंद में प्रवेश किया था^१ और उस समय उत्तर भारत में हिमालय की तलेटी में जहाँ आज 'शिवालिक' पर्वत-माला है एक तीन हजार मील लंबी बड़ी नदी आसाम से पश्चिम पंजाब तक बहती थी, जिसको भूस्तर-शास्त्रियों ने 'इंडोब्रह्मा' (Indo-Brahma) नाम दिया है।^२

उस समय सिंधु, सरस्वती, सतलज, गंगा, यमुना इत्यादि प्राधुनिक उत्तर भारत की नदियाँ नहीं थी। मानव जाति उस समय इसी इंडोब्रह्मा नदी की उपत्यिका में रहती थी और उसकी संस्कृति पूर्व-अस्तर युग (Palaeolithic age) की थी। लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व भूकंपों की परंपरा यहाँ आई। ये भूकंप इतने प्रलय हर थे कि इनके असर से इंडोब्रह्मा नदी का पट ऊँचा उठने लगा और उठते-उठते यह शिवालिक पर्वत-श्रेणी बन गया। यह शिवालिक पर्वत-श्रेणी हिमालय की तीसरी पर्वत-माला गिनी जाती है और इसके पाषाणों में से जलचर प्राणियों के अस्थि-अवशेष आज भी मिल जाते हैं। इस दुर्घटना के परिणामस्वरूप इंडोब्रह्मा महा नदी नाश को प्राप्त हुई और उसके तीन भाग हो गये। पहला भाग ब्रह्मपुत्रा, दूसरा गंगा-यमुना और तीसरा सिंधु-सतलज बना। इस तरह यमुना-गंगा आदि नदियाँ मनुष्य के देखते-देखते तीन लाख वर्ष पूर्व उत्पन्न हुई हैं। यह हिमयुग (Ice Age) के समय की बात है। हिमयुग का अंत आज से २५ हजार वर्ष पूर्व ही हुआ है।

यमुना-तट पर पूर्व-अस्तर युग का मानव

हिमयुग-कालीन फॉसिल (अश्वीमृत प्राणी का अवशेष) तथा तत्कालीन मानव जाति के पत्थर के औजार यमुना तट के प्रदेश में मिल जाते हैं। इनके विषय में मि० ए० सी० लोमन लिखते हैं—

"The gravels (कंकड़ों की स्तर) of the Jamna contains much the same fossils as those of the Narbada and after no doubt of the same age Mr Cockburn collected the fossil of several extinct species in these gravels in Hunavatu in the Banda district, and found some chert and quartzite implements in association with the bones"

यमुना-तट प्रदेश में खास कर उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में हिम-युग (यह युग ६ लाख वर्ष से २५ हजार वर्ष पूर्व तक रहा था) कालीन प्राणियों और मानवियों की अश्वीमृत अवशेषों सन् १८३३ ई० से मिलने लगी हैं। गंगा-तट प्रदेश में ऐसे अवशेष अभी नहीं मिले हैं। 'मि० ई० स्मिथ, आर० डी० ओल्डह्याम, आर० सी० डेकर, ई० डीन और टी० एस० बर्ट आदि विद्वानों ने इन पर अपने-अपने जर्नल ऑफ एथियॉलॉजिक सोसायिटी ऑफ बंगाल के सन् १८३३, १८३६, १८५५, १८७५, १८८५ और १८८५ के अंकों में प्रगट किये हैं।

१. Ice age in India and associated Cultures by Terra and Paterson, 1939
Carnegie Inst Washington

२. Quart-Journal-Geog-Soc-London १८१६ LXXV

३. Old chipped stones of India by A G Logan P 31

यमुना-प्रदेश की रचना

हिमालय पर्वत भी समुद्र की सतह से झुकने के परिणाम से ही निकला है, यह प्रसिद्ध बात है। जब हिमालय पर्वत की तीसरी शृंखला शिवालिक पर्वत-माला खड़ी हुई तब इसकी तलहटी में एक खाई बन गई थी और इस खाई में गंगा-यमुना एवं अन्य नदी नदियों ने हिमालय के टील, कंकड़-पत्थर, मिट्टी आदि ढालना प्रारम्भ किया, जिन जिन यह खाई पटने लगी और इस प्रकार सहस्रों वर्षों में बाकर गंगा-यमुना का यह मैदान बन गया है।^१

इस प्रकार नदियों द्वारा बनायी गयी मिट्टी 'एल्युवियम' (Alluvium) कहलाती है। गंगा का प्रदेश इसी 'एल्युवियम' मिट्टी का है, किन्तु यमुना के प्रदेश में एक अन्य प्रकार की और मिट्टी भी मिलती है जिसे 'जूस' (loess—सोइस) कहते हैं। यमुना तट के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में यह मिट्टी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। यह मिट्टी हिम-युग के अन्तिम काल में दूर देशों से श्रमियों ने उड़-उड़ कर आई थी और यमुना-प्रदेश तथा पूर्व राजपूताना में फैली थी। इस प्रकार हिम-युग के अन्तिम काल में अब से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व यमुना-प्रदेश की रचना पूरी हुई थी।

यमुना और सरस्वती

भूत-शास्त्रियों (Geologists) का कहना है कि यमुना नदी पहले सरस्वती नदी में मिलती थी और सरस्वती का प्रवाह प्राग-ऐतिहासिक काल में सूख जाने से यमुना गंगा में मिली है।^२

यमुना-तट पर प्राप्त प्राग-ऐतिहासिक अवशेष

यमुना के किनारे मानव-जाति हिम-युग के अन्तिम काल में बस चुकी थी, यह बात वाँदा जिले से प्राप्त अवशेषों द्वारा सिद्ध होती है, किन्तु इस हिम-युग की मानव-जाति का नाश हो गया है, इसके बाद आने से २५ हजार वर्ष पूर्व यमुना के तट-प्रदेश पर मानव-समुदाय ने बसाहट कब से प्रारम्भ की इसका पक्षेपण और अनुसन्धान होना अभी बाकी है। जिला वाँदा में यमुना-किनारे सन् १८८२ ई० तक 'जे० क्रैकवर्ग' को लगभग पच्चीस स्थानों पर उत्तर प्रस्तर-युग के (Neolithic Age) पत्थर के औजार (हथियार), मिट्टी के बर्तन एवं अन्य अवशेष मिले थे। इन सब का वर्णन उन्होंने—रायल एशियाटिक सोसायिटी बंगाल के जनरल सन् १८७६, १८८२, १८८४ के कितने ही अकों में दिया है। सन् १९०७ में मि० ए० सिल्वरडॉ के इसी वाँदा जिले में पत्थरों पर प्राग-ऐतिहासिक काल के चित्र भी मिले।^३ सन् १८३७ में कनिंघम को मथुरा के 'चौबारा टील' (फटरा केशवदेव से उत्तर पश्चिम १॥ मील दूरी पर) की खुदाई में ताम्र-युग की तल्व की बनी कितनी ही वस्तुएँ मिली थी।

इससे विदित होता है कि मथुरा प्राग-ऐतिहासिक काल में बसा था। यमुना-तट वाँदा जिला से मिले हुए उत्तर प्रस्तर-युग के अवशेष तथा चौबारा-टीला मथुरा से प्राप्त वस्तुएँ ताम्र-युग की होनी चाहिये।

वेद-काल

यमुना-प्रदेश का इतिहास-सबकी विशेष वृत्त वैदिक-साहित्य में नहीं मिलता है। वेद-मन्त्र एक युग के नहीं हैं और उनका इतिहास या प्राचीन परंपरा के साथ सबंध भी नहीं है। वैदिक साहित्य में राजनैतिक इतिहास की खोज करना कठिन है। ऋग्वेद में 'दक्षिणाक्ष' युद्ध का वर्णन है, जिसमें भरत-

^१ The origin of the Indo-Gangetic through Proc Royal Society 1915
XCL A - Sir C G Burrard

^२ The Saraswati and the lost river of the Indian Desert by C F Oldham
Journal of the Royal Asiatic Society, 1893, P. 49.

^३ J Asiatic Soc Beng. 1907 P. 567.

^४ आर्योत्थानिकात्तल सर्वे की रिपोर्ट ३, १८७३, पृ० १३—४६।

वशी 'सुवास' के साथ 'यमुना' के यादव लोगो का होना दिखाया है। यमुना-प्रवेश का आरम्भिक इतिहास तो पुराणों से मिलता है।

यमुना-तट के प्राचीन प्रदेश

यमुना-संहिता (२।१६) से पता लगता है कि सरस्वती और यमुना के बीच का प्रदेश 'ब्रह्मपि-देश' कहलाता था। इस काल में यमुना के प्रदेश में घने वन थे। 'यमु' नामक अनुर ने यमुना-तट से लेकर आनन्त (गुजरात) तक फैले हुए इन वनों का 'यमुवन' नाम रखा था। इसके पश्चात् यमुना-तट का प्रदेश कुङ्ग, शूरसेन, काश्य और वत्स प्रदेशों में बँट गया था।

पुराण-काल

पुराणों में लिखा है कि मगध में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' से ३६ वीं पीढ़ी पूर्व में 'जरासन्ध' नामक राजा 'राजगृह' में हुआ था जो महाभारत-युद्ध के समय होने से श्री कृष्ण के समकालीन था। बाणपुराण (म० ६६) और मत्स्यपुराण (म० ५०) में मगध के 'बृहद्रथ', 'प्रद्योत', 'शिशुनाग' तथा 'नववंश' के राजाओं का जो राज्य-काल दिया है, उसके अनुसार जरासन्ध चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यान्तर (३२३ ई० पूर्व) से १५-६६ वर्ष पूर्व होता चाहिये। अतः १५६६-३२३=१६२२ ई० पूर्व के लगभग महाभारत-युद्ध होता चाहिये। पुराणों के अन्य राजवंशों के विवरण के आधार पर महाभारत-युद्ध ई० पू० १४५० से ई० पू० ६५० तक होना माना जाता है। इसमें ई० पू० १४५० का वर्ष कुछ प्रामाणिक प्रतीत होता है। व्योतिष के आधार पर ई० पू० ३१०२ के मत को पुरातत्त्व और इतिहास के विद्वान् मान्यता नहीं देते। पुराणों की वधावलिओं का सर्वश्रेष्ठ अभ्यास श्रीराम अग्नेज विद्वान् श्री एफ० ई० पाण्डितर का समझा जाता है (ऐंस्पट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन १६२२ आक्सफोर्ड)। बाण आदि पुराणों के आधार पर पाण्डितर द्वारा दिये गये वधानुक्रमिका के अनुसार जरासन्ध, युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण से ६३ पीढ़ी पूर्व 'वैवस्वत-मनु' हुआ था। जल-प्रलय के पश्चात् यह मनु भरतखंड में सर्वप्रथम राजा हुआ था। इसीने सबसे पहली 'अयोध्या' नगरी भारत में बसाई थी। पुराणों के कवनानुसार अयोध्या भारत की प्राचीनतम नगरी है। वैवस्वत मनु मंत्र-मुष्टा थे (ऋग्वेद ८।१७।३१), अतः वे ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनकी पुत्री 'इला' थी, जिसका विवाह चद्र के पुत्र बृध के साथ हुआ, अतः इनकी सतिता चन्द्रवंश से प्रसिद्ध हुई। इसे 'ऐलव-वंश' भी कहते हैं। इन मनु के पिता विवस्वान् का दूसरा नाम सूर्य होने से इनका वंश 'सूर्य-वंश' भी कहा जाता है और 'मानव-वंश' भी कहलाता है। इला और बृध को मनु ने यगा-यमुना के संगम के पास का राज्य दिया था। वहाँ उन्होंने प्रतिष्ठापनपुर (प्रयाग के समीप आधुनिक झूसी) नामक नगर बसाया। मनु ने अपने अन्य नौ पुत्रों को अन्य प्रदेशों का राज्य दिया, जैसे—इक्ष्वाकु को अयोध्या का अपना उत्तराधिकारी बनाया। नामाग—गुग को यमुना का प्रदेश दिया, काश्य को बघेलखंड, नामानेदिट को वैशाखी प्रदेश, यय—नामाग को गया का प्रदेश दिया। श्याप्ति ने गुजरात-सौराष्ट्र में सगर-तट पर राज्य की स्थापना की। वृष्ट-बाह्म (वलख) का राजा बना इत्यादि। बृध, नामानेदिट और श्याप्ति के रथे हुए मन्त्र ऋग्वेद के दशम मंडल में मिलते हैं, अतः वे ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं और ये शायद वे, क्योंकि इनके नाम-व्युत्पत्ति की दृष्टि से शायद-भाषा के हैं।

मनु-पुत्र नामाग और उसका वंश

मनु-पुत्र—नामाग (गुग) पाण्डितर के अनुसार यमुना प्रदेश का राजा हुआ उसका पुत्र अवरौन था। ये नामाग और अवरौन अयोध्या के नामाग और अवरौन से पृथक् थे। सूर्य (मानव) वंश से चद्र (ऐल) वंश विशेष प्रतापी हुआ है। प्रतिष्ठापनपुर में बृध का पुत्र 'पुरुखा राजा' हुआ, जिसका पुत्र 'आयु' और उसका 'नहुष' हुआ। नहुष का पुत्र 'ययाप्ति' 'सम्राट्' कहलाया। जिसने यगा-यमुना के संगम से लेकर पश्चिम में सरस्वती नदी तक अपने राज्य का विस्तार किया था। अतः इनके इस दिग्निजय के परिणाम स्वरूप ही सबवत. यमुना के प्रदेश से नामाग के वंशजों की सदा समाप्त हो गयी थी।

यदु-कुल

ययाति के पाँच पुत्र हुए—पुरु, अну, द्रुह्य, दुर्वसु और यदु। इन पाँचों में ययाति द्वारा जीता हुआ विद्याल राज्य बाँट दिया गया। पुरु—प्रतिष्ठापुर में ययाति का उत्तराधिकारी हुआ। अनु को यमुना के उत्तरी भाग का राज्य मिला, द्रुह्य को पश्चिम का भाग, दुर्वसु को दक्षिण-पूर्व और यदु को मध्य-भाग का राज्य मिला था। यदु जिस प्रदेश का राजा हुआ बाद में उसी का विशेषांश 'शूरसेन' प्रदेश कहलाया। उस समय मथुरा का अस्तित्व नहीं था? यमुना से लेकर चवल (चर्मवती), वेतवा (वेनवती) और केन (शक्तिमति) के प्रदेशों तक यदु का राज्य था। इन राजाओं की शाखा उनके नामसे प्रसिद्ध हुई और ऋग्वेद में वर्णित दाशरथि युद्ध में उनके नाम आते हैं। यदु के ही वंशज 'यादव' कहलाये। यदु के दूसरे पुत्र से जो वंश चला वह 'हैहय वंश' कहलाया। हैहय लोग वेतवा नदी के दक्षिण प्रदेश में चले गये जहाँ आज के मालवा और अनूप (तर्मदा-उपत्यका) प्रदेश में वे अपना राज्य चलाने लगे। इनकी राजधानी 'माहिष्मती' थी, जिसे हैहयवंशी राजा माहिष्मान् ने बसायी थी। मोहोदये से भी प्राचीन महत्त्वपूर्ण इस नगरी के अवशेष हाल ही में मिले हैं। यादवों की इस हैहय-शाखा में 'सहस्रार्जुन' वंश ही प्रतापी राजा हुआ है, जिसका वंश भार्गव 'परशुराम' ने किया था। सहस्रार्जुन से तीन वंश चले। एक पुत्र 'जयभोज' अवन्ति (मालवा) देश का राजा हुआ। दूसरे पुत्र शूरसेन के नाम से यमुना-तट का प्रदेश जहाँ यादव लोग राज्य करते थे—शूरसेन कहलाया।

भरत खट के बहुत बड़े भाग पर चद्रवश की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फैल गयी थी। सहस्रार्जुन के समय से चद्रवश की बहुत वृद्धि हुई। माहिष्मती के हैहयों ने समस्त भार्य राजाओं को जीत कर उत्तर हिमालय से लेकर दक्षिण में 'ताप्ती' तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। इन हैहयों को अयोध्या के 'सगर' राजा ने हराया और माहिष्मती नगरी का नाश हुआ। ब्रह्मस्वत् मनु से ४१ वी पीढ़ी में 'सगर' हुआ था। सगर की एक ही पीढ़ी बाद प्रतिष्ठापुर में दुष्यंत राजा हुआ जिसका पुत्र भरत हुआ, जिससे यह वंश 'भरत-वंश' कहलाया। भरत से ८ वी पीढ़ी में 'हस्तिन' राजा हुआ जिसने हस्तिनापुर बसाकर वहाँ अपनी राजधानी की। हस्तिनापुर के अवशेष मेरठ जिले में 'मनाना' के समीप हैं। सूर्यवंशी रघु के काल में स्वयंवर में मथुरा के राजा 'सुषेन' ने भाग लिया था।^१

लगभग इसी काल में यादव शूरसेन के वंश में सात्वत आदि राजा हुए और इसी यदुवंश में मधु हुआ जो यमुना-तट के प्रदेश पर राज्य करता था और इसके राज्य का विस्तार यमुना-तट के प्रदेश से लगाकर गुजरात-सीराष्ट्र तक फैला हुआ अति विस्तृत था तथा इस प्रदेश में बड़े भारी वन थे। यह सब मधुवन कहलाता था और उसने अपनी राजधानी यमुना-तट पर मधुपुरी नाम से बसायी थी। वह मधुपुरी आज की मथुरा के उत्तर में बसी 'महोली' ग्राम में थी। इस मधु के वंशज होने से ही श्रीकृष्ण 'माधव' कहलाये। हरिवंशपुराण (अध्याय १४) में यदु-वंश की उत्पत्ति के विषय में कुछ और ही कथा वर्णित है। इस पुराण के अनुसार मधु दानव ययाति के वंश में था। इसकी एक कथा थी। 'इक्ष्वाकु कुल' के निर्वासित राजकुमार 'हर्म्य' को मधु ने अपनी कन्या 'यधुमती' विवाहित की और उसे अपने राज्य-विस्तार में से आनर्त-सुराष्ट्र (गुजरात-सीराष्ट्र) प्रदेश का राज्य दे दिया। उसने 'कुशस्पती' नगरी बसाकर वहाँ राजधानी बनायी। हर्म्य का पुत्र 'यदु' हुआ जिसके वंशज यादव कहलाये। मधु का राज्य भी सुराष्ट्र के इन यादवों को मिला जो कालांतर में आनर्त-सुराष्ट्र पर अन्य भीषण आक्रमण होने से यादवों ने सीराष्ट्र से आकर यमुना-तट पर बसी मथुरा को अपनी राजधानी बनाया और यहाँ राज्य करने लगे।

^१ रघुवंश ६ ठा लगे

श्री यमुनाजी के पद

राग—विभास

दीऊ कूल-खभ, तरंग-सिद्धी, जमुना-जगत बँकुठ की निसँनी ।
 अति प्रेम्कूस कलोलन के भर लिएँ जात हरि के चरँन सुख-देनी ॥
 जँनम-जँनम के पाप द्वरि-करि काटत करँम धरँम-धार पनी ।
 'छोतस्वामि' गिरिधर जू की प्यारी, साँवरे भँग कँमल-वल-नैनी ॥
 प्रकुलित बन विविध रंग, झलकत जमुना-तरंग, सौरभ धँन मूवित अति सुहृमनी ।
 चिंतामनि कँनक-भूमि छबि भद्रभूत, लता झूमि सीतल मद अति सुगंध मयत भ्रमनी ॥
 सारस, हंस, सुक, चकोर चित्रित निरतत सु मोर, कल-कपोत कोकिला मयूर गायनी ।
 जूगल रसिक वर बिहार, 'परमानंद' छबि अपार, जयति चार दू बावन परँम भूमिनी ॥

राग—रामकली

श्री जमुना जू, पतित-पावन करे ।
 प्रभ्रम ही जब दियो वरसन, सकल पातक हरे ॥
 जल-तरंग जब परस कोन्हो, पान सो मुख भरे ।
 नाम-सुमरति गई दुरमति, कृष्ण-जस बिस्तरे ॥
 गोप-कन्या किमो मज्जन, लाल गिरिधर-बरे ।
 'सुर' श्री गोपाल-सुमरत, सकल कारज सरे ॥

पिय-सग रँग-भरि करि बिलास ।

धुरत-रस-सिंधु भँ अति ही हरखित भई, कँमल ज्यो फूलत रजि-प्रकास ॥
 तँन ते, भँन ते, प्राँन ते सरजवाई, करति हँ हरि-सग मुकुल-हास ॥
 कहत 'नृनपति' अहो सबैन तौं समझाइ, भिदँ जँम-प्रास इनहिँ उपास ॥

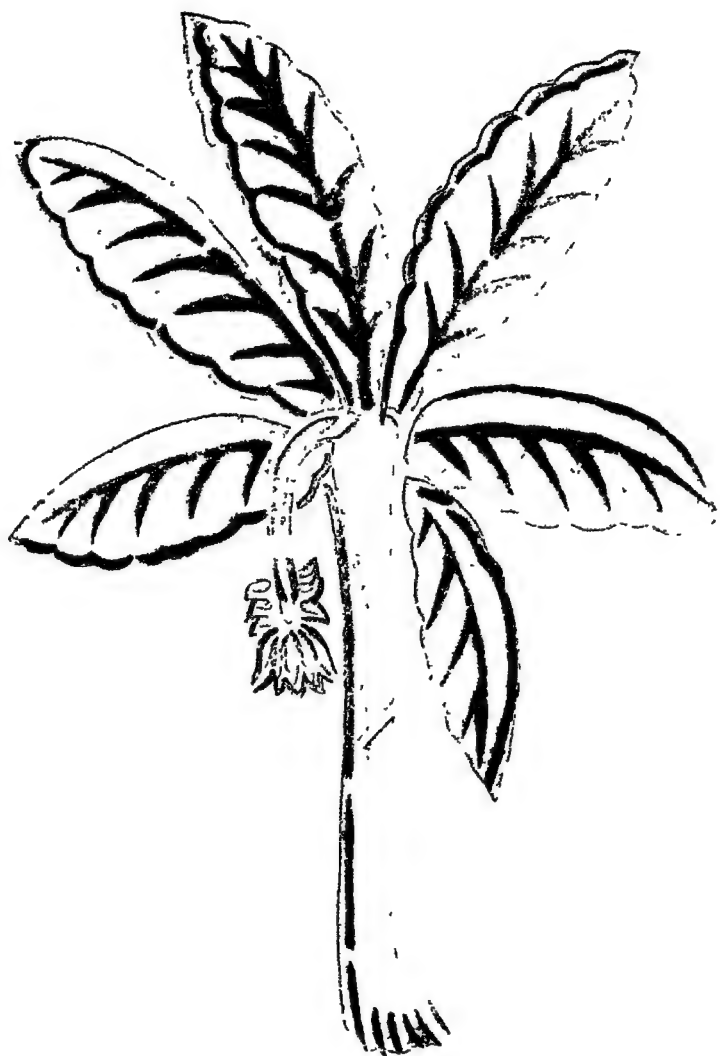
राग—असावरी

दिनकर-धर भ्रानद उदित बढ्यौ, जलि सलि आज बचाएँ ।
 प्रबट भई जमुना जग-सारँन, सब भित्ति भंगल गायँ ॥
 धन्य कोल सम्रा रानी की, ऐसी सुता जू जाई ।
 कृष्ण-प्रिया पटराँनि जनम-सुनि, जित-तित बजत बघाई ॥
 जैत-भास सुभ लगँन महूरत, छठ गुंवार उजैरी ।
 धुरत निराल नचत नर-नारी, गावत बँ-बँ हेरी ॥
 घर-घर मंगल मूवित मनाबँ, मोतिन-बीक पुराबँ ।
 घुजा, पताका, कदली दोपत, बदनवार बघाबँ ॥
 अघँस-उषारँन-कारँन भू पर भागँन बँ वरसाई ।
 मँहमाँ अपरंपार कहा कहौं, बँव-मुराँनव गाई ॥
 मज्जन-करत हरत अघ-ओखँन, भस्ति-मुक्ति की बेनी ।
 भावौं बिनि बँकुठ-वर्धन को, दू तट रचौ निसँनी ॥
 सोभा श्री मयूरा-भञ्जल को, चरँन-सरँन रहो ता की ।
 भाबूर-भुनि पोखत-तोखत नित, जिएँ भरीसँ जा की ॥
 श्री बिसरात-निकट बहुत हँ, लागत धार सुहाई ।
 जा के दरस-परस जम-किंकर, कबहुँ न देति दिखाई ॥
 कीजँ कृपा निज-दास जानँ कँ, मन-बाँछित-फलपाई ।
 'इच्छाराम' मधुपुरी-बसिकँ, जनम-करँम-गुन-गाई ॥



मलकी सॉम्मी - कला





द्रजको माँझी - कला

साँझी-कला

श्री ज्योतिषी राघेश्याम द्विवेदी

भारतीय चित्र-कला में ब्रज की साँझी-कला और उसका प्रदर्शन एक अत्यंत उपयोगी और मनोरम कला-प्रदर्शन है। चित्र-कला के क्षेत्र में तथा इस कला की शिक्षा और विकास के लिये साँझी-कला सबसे सुलभ और सरल साधन है। साँझी-कला वस्तुतः रूप-सर्जन या रूपांकन (डिजाइन) कला की जननी है। केवल हस्त-कला-कौशल तक ही सीमित न रहते हुए यह कला भीमितक-ज्ञान एवं नैसर्गिक सर्पक-ज्ञान और अनुभूति की भी अपेक्षा रखती है। इसके रूपांकन शिल्प, स्थापत्य, वस्त्र-छपाई, आभूषण-निर्माण और नक्काशी तथा अन्य व्यावसायिक क्षेत्रों के लिये महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

प्रारंभ

साँझी-कला-प्रदर्शन श्री कृष्ण के समय से ही ब्रज में चला आता है। साँझी शब्द 'संध्या' या 'साँझ' से बना है। पौराणिक आस्थान के अनुसार श्री कृष्ण ने राधिका जी को प्रसन्न करने के लिये शरद्-काल में सायंकाल के समय साँझी बनाई थी। सायंकाल को जब श्री कृष्ण और राधिका तथा अन्य गोपिकाएँ जपनों में विहार करने जाते थे; वहाँ वे विविध प्रकार के फूल-चयन करते थे और यमुना-कुल पर अथवा किसी उपवन या उद्यान में उन पुष्पों को भूमि पर कलात्मक रूप में प्रदर्शित करते थे। साँझी बनाने के अवसर पर वे अपना सुंदर, कलात्मक शृंगार बनाकर जाते थे और पुष्पों की सुंदर प्रदर्शनी करते थे। इस प्रकार यह कला श्री कृष्ण से तथा 'साँझ' शब्द से संबद्ध रहती है। तभी से यह कला-प्रदर्शन शरद्-काल में (आविर्भूत ११ से ३० तक) पाँच दिन का ब्रजवासियों का एक सांस्कृतिक किंवा कलानुरजन पर्व-आव है। शनैः शनैः ब्रजवासी कलाकारों ने इस कला को उत्तम करते-करते पूर्ण विकसित एवं सुसंस्कृत-स्विति को पहुँचा दिया। ब्रज के निकटवर्ती अन्य प्रांतीय कलाकारों ने भी इसे अपनाया और इसके विकास में अपना योग दिया। राजस्थानी कलाकार इसमें सिद्धहस्त हो गये। ब्रज के कलानुरागियों ने इसको अनेक प्रकार से प्रदर्शन का रूप दिया, फूलों की साँझी, राँग के फूलों की साँझी, पानी पर रंग की साँझी, सूखे रंग की साँझी आदि अनेक प्रकार से साँझी-कला ब्रज-प्रदेश में विशेष कर, श्री कृष्ण के लीला-व्याम नमुदा-नुदावन में प्रदर्शित होती थी। ग्रामों में ब्रज-वासक-जालिमात्रों ने गोबर की साँझी बनाकर अपने अनुराग और सत्कृति को जीवित रखा। ब्रज में ही नहीं, राजस्थान के ग्रामों में भी इन दिनों गोबर की साँझी बनाई जाती है। वल्लभकुल-संप्रदाय ने इस कला की रक्षा और विकास में अपना पूर्ण योग दिया। वल्लभकुल-संप्रदाय के मंदिरों में, उनके उत्सवों में इस कला-प्रदर्शन के लिये ऊपर लिखे गये विविध नियत किये गए और इस समय के कर्तव्य के लिये साँझी के सुंदर साहित्यिक, भावात्मक पद बनाये गए। प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्रीस्वामी हरिदास जी कृत साँझी का एक लंबा पद है जिसका कुछ अंश यहाँ देते हैं—

“सजी-बूब सब आइ जूरी, वृषभान-नृपति के द्वारि।
बीजनि-फूल चली बन राखै, सब सत साजि सिगारि।।
यै सुनि कीरति जू हँसिकें, प्यारी की कियो सिगारि।
कबरी-कुसुम पुही है मानो उरपन की अनुहारि।।
जलति चाल मराल-बाल सी राधा लखियेन-नीसि।
बीनति फूलनि जमुना-कूलनि, खेलति 'साँझी' लसि।।

जाल-रंझ बेखत मनमोहन, दुष्टि परीं ब्रज-बाल ।
 तिरिया रूप कियो है तबहूँ, आइ मिले ततकाल ॥
 छवि-निरखति बुबभानु-बुलारी, मोत करी मनुहारि ।
 बीनति फूल अकेली हेली ; को है तू सुकुमारि ॥
 कोनै गाँउ बसति ही सुवरि, कहा सिहारी नाँव ।
 आबु अबारि भई है प्यारी, चलो हमारे घाँव ॥
 नंबगाँउ में बास बसति हो, 'साँवरि' मेरी नाँव ।
 साँझी-मिसि आई हो या बन, पूजे मन के काम ॥
 सोनबुही, चमेली, चंपा, राइबेलि औ बेलि ।
 गुलाबाँस के गंव करे कर, करत परसपरि केलि ॥
 कँमल, कँनर, केतकी, निबारी, सेबति सबौ गुलाब ।
 गुलतुरी औ सबौसुहागिनि, फूलन की भरि छाव ॥
 ललिता, चपकलता, बिसाखा, स्यामा, भौमा जेह ।
 चद्रभगा, तुंगा, चंद्राबलि, आई करि अति मेह ॥
 ठौर-ठौर सब कहति सखिन सों, चलो भट्ट बर-जाहि ।
 स्यामा जू औ नवल सखी बोज, गही परसपरि बाहि ॥

ॐ

फूल-गेंद सबहिन लिए कर, गावत साँझी-गीति ।
 गज-गति चाल चलति ब्रज-सुंदरि, बढ़ी परेय रस-गीति ॥

ॐ

केसर, चवन और अरगज, युग-मव, कुंमकुम गारि ।
 कौसर्वेनु को गोबर ले कैं, 'साँझी' धरित सँभारि ॥

अत नै—

बरनो कहा अल्प मति मेरी, रसनाँ एक बनाइ ।
 श्री 'हरिदास' प्रभु की मैं सोभा, निरखति मन न अघाइ ॥

उक्त पद से 'साँझी' के कलात्मक और सांस्कृतिक पर्व की विशेषता स्पष्ट होती है कि इस पर्व पर ब्रज के गोप-गोपियों कितना कलात्मक पर्व मनाती थी। पराधीनता के युग में विदेशी शिक्षा, सस्कृति और कला के प्रचार से इस विशुद्ध भारतीय कला का उस रूप में हास होता चला गया, किंतु वह रग-द्वारा प्रदर्शन के रूप में आ गई।

आधुनिक साँझी का प्रकार

सप्रति यह कला कागज के कटे हुए साँचों द्वारा सूखे रंगों से मूमि पर मिट्टी (गारे) के ८-९-इंच ऊँचे अष्टकोण या आठ पहलवाले चोतरे पर प्रदर्शित की जाती है। यह चोतरा घुटा हुआ, किंतु कुछ तर रहता है जिससे रंग जमा रहे। साँझी का चोतरा अत्यंत कलात्मक, गलेदार, भौमविक्रम की भाँति का अष्टकोण या अष्टपहला बनाया जाता है। चोतरे का कोई भी भाग या पहल रचनात्मक छोटा बड़ा नहीं होता। चोतरे पर साँझी बनाने से पूर्व सिद्धर से रंगी हुई पतली डोरी से एक नक्शा जैसा नीचे बतलाया गया है, बनाया जाता है, जिसमें मारवाड़ी (किनारे की सबसे छोटी बेस), अन्य छोटी-बड़ी बेल, जाल-फूल, बेसों की लपेट के भाग एवं मध्य में किसी लीलाविशेष के प्रदर्शन का स्थान निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं। मध्य-स्थान श्री राम, कृष्ण अथवा अन्य देवताओं की लीला सूखे रंग से बनाने के लिये रखा जाता है। बेल-बूटे, फूल, जाल चारों ओर और मध्य में कोई लीला की मूर्तियाँ और स्थल, जलाशय, वृक्षावली, मकान सब उचित रीति से अत्यंत आकर्षक

जाल-रंभ देखत भगमोहन, बुष्टि परों ब्रज-बाल ।
 तिरिया रूप कियो है तबहीं, भाइ मिले ततकाल ॥
 छवि-निरखति वृषभानु-बुलारी, भौत करी मनुहारि ।
 धौनति फूल अकेली हेली ; को है तू सुकुमारि ॥
 कोनै गाँव बसति ही सुवरि, कहा त्रिहारी नौम ।
 आवु भवारि मई है प्यारी, चलो हमारे धौम ॥
 नंदगाँव में बास बसति हो, 'साँबरी' मेरी नौम ।
 साँसी-मिसि भाई हों या बन, पूजे मन के काम ॥
 सोनजुही, जमेली, चंपा, राइबेलि श्री बेलि ।
 गुलाबाँस के गँद करे कर, करत परसपरि केलि ॥
 कौमल, कौनैर, केतकी, निबारी, सेवति सर्वा गुलाब ।
 गुलबुरी श्री सदांघुहागिनि, फूलें की भरि छाव ॥
 सलिला, चपकलता, बिसाखा, स्यामा, भाँमा जेह ।
 चब्रमगा, तुगा, चद्राबलि, भाई करि प्रति नेह ॥
 ठौर-ठौर सब कहति सखिन सो, चली भद्र भूर-जाहि ।
 स्यामा जू श्री नवल सखी बोध, गही परसपरि बाँहि ॥

❧

फूल-मंद सबहिन लिए कर, गावत साँसी-गोति ।
 गज-गति जाल चलति जल-सुंदरि, बड़ी परेन रस-भोति ॥

❧

केसर, चदन श्रीर भरगजा, मुग-मद, कुंमकुंम गारि ।
 कामवैनु की गोबर लै के, 'साँसी' धरित सँभारि ॥

अत में—

बरनो कहा अल्प मति मेरी, रसनाँ एक बनाव ।

श्री 'हरिदास' प्रभु की यै सोमा, निरखति मन न भवाह ॥

उक्त पद्य से 'साँसी' के कलात्मक और सांस्कृतिक पर्व की विशेषता स्पष्ट होती है कि इस पर्व पर ब्रज के गोप-गोपियाँ कितना कलात्मक पर्व मनाती थीं। पराधीनता के युग में विदेशी शिक्षा, संस्कृति और कला के प्रचार से इस विशुद्ध भारतीय कला का उस रूप में ह्रास होता चला गया, किन्तु यह रग-द्वारा प्रदर्शन के रूप में आ गई।

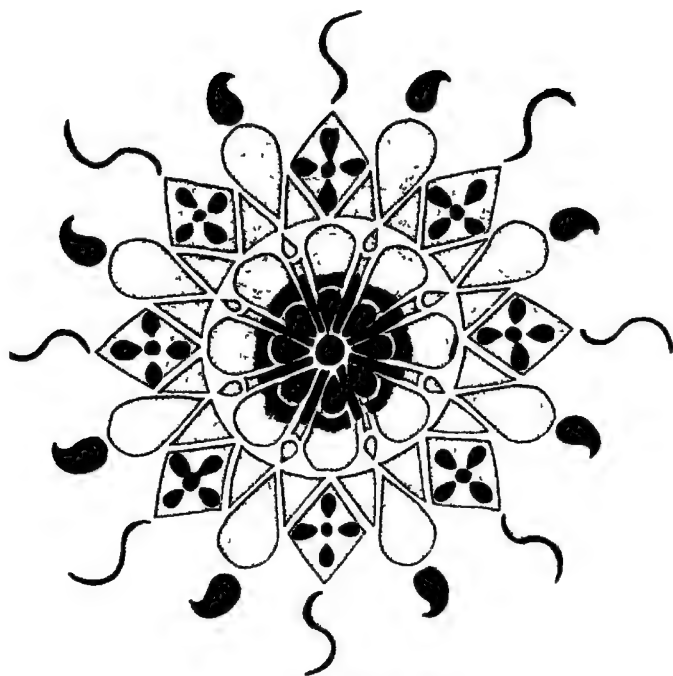
प्राथमिक साँसी का प्रकार

सप्रति यह कला कागज के कटे हुए साँचो द्वारा सूखे रंगों से मृमि पर मिट्टी (गारे) के ८-९ इंच ऊँचे अष्टकोण या घाट पहलवाले चौतरे पर प्रयत्नित की जाती है। यह चौतरा घुटा हुआ, किन्तु कुछ तर रहता है जिससे रंग जमा रहे। साँसी का चौतरा अत्यंत कलात्मक, गल्लेदार, भौमितिक ठीक नाप का अष्टकोण या अष्टपहला बनाया जाता है। चौतरे का कोई भी भाग या पहल रच-भाज छोटा बड़ा नहीं होता। चौतरे पर साँसी बनाने से पूर्व सिंदूर से रंगी हुई पतली डोरी से एक नक्शा जैसा नीचे बतलाया गया है, बनाया जाता है, जिसमें मारवाडी (किंवारे की सबसे छोटी बेल), अन्य छोटी-बड़ी बेल, जाल-फूल, वेलो की लपेट के भाग एवं मध्य में किसी लीलाविक्षेप के प्रदर्शन का स्थान निश्चित कर दिये जाते हैं। मध्य-स्थान श्री राम, कृष्ण अथवा अन्य देवताओं की सीला सूखे रंग से बनाने के लिये रखा जाता है। बेल-बूटे, फूल, जाल चारों ओर और मध्य में कोई सीला की मूर्तियाँ और स्थल, जलाशय, वृक्षावली, अकाय सब उचित रीति से अत्यंत भावपूर्ण





ब्रजकी माँको - फटा



ब्रज की साँझी-कला

श्रीर कलात्मक रूप से बनाये जाते हैं। प्राकृतिक दृश्य, आकाश, जलानय नुसावली को छोड़कर अन्य वस्तुएँ बेल-बूँटे, जाल, मकान, वृक्ष, पशु, पक्षी, नर-नारी, देवताओं के कागज के कटे हुए कई छांके (अथवा स्टेसिल, सस्केल—पत्रच्छेद) रहते हैं, जो बड़ी कारीगरी और योग्यता पूर्वक बनाये और काटे जाते हैं, परन्तु रंग द्वारा इनसे चित्र बनाये जाने में रंगों की मिलावट, वस्तु का यथोचित निर्देश और उपयुक्त रंग कलाकार की योग्यता, अनुभव और ज्ञान पर अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार चोतरे पर सल्ल या नक्शों के बनाने का काम भी कलाकार के गौणमतिक एवं स्वापत्य-ज्ञान की अपेक्षा रहता है। विविध प्रकार की बेलों की लपेट और जाल की विद्यावट के नक्शे साँझी के कलाकार के मस्तिष्क में रहते हैं, जिनकी एक पृथक् पुस्तक ही बन सकती है। साँझी-कला के लिये यह ज्ञान सबसे आवश्यक है और सबसे कठिन है। स्थानाभाव से हम यहाँ प्राचीन और अर्वाचीन कलाकारों के २-४ छांके देते हैं। न० १ नक्शा अष्टकोण के चोतरे पर बनाये जानेवाले अनेक नक्शों में से एक है और न० २, ३, ४ के नक्शे एक ही अठपहले नक्शे में अठपहले चोतरे के नक्शों में हैं।

छांके

साँझी बनाने का मुख्य माध्यम कागज पर कटे हुए 'सचि' होते हैं। अनेक बेल-बूँटे, जाल, फूल, वृक्ष, पशु, पक्षी, पुष्प, स्त्री, देवताओं की अनेक लीलाओं के ये सचि मोटे कागज पर बनाये जाकर एक विषय प्रकार की कंबी से काटे जाते हैं। इनका बनाना कुशल चित्रकारी और काटना कुशल कारीगरी का ही काम है। ये सचि १ से लेकर ४० छांके तक के बनाये गए हैं। चित्र में बनाई गयी प्रत्येक वस्तु सचि में लाने की अनेक छांके बनाये जाते हैं। बेल और जालों के, फूल-पत्तियों के ५-५ और ४-४ छांके होते हैं। देवताओं और उनकी लीला से सबब रखनेवाली मूर्तियों के अनेक छांकों में भग, वस्त्र, आभूषण, भगो की छोट, साइट, पायि जहाँ लीला उपयुक्त होना है उस छांके में काटा जाता है, जिससे वस्तु यथार्थ स्वरूप में प्रदर्शित हो सके। रूपाकन (डिजाइनिंग) और सचि (स्टेंसिल) बनाने की यह कला भी परिश्रम-साध्य होने से और गुण-माहता की कमी से भव तुल्य हो रही है। कला के प्रत्येक क्षेत्र में रूपाकन का तत्त्व बोधे-बहुत अथवा में विद्यमान रहता ही है। प्रत्येक कला, चाहे वह शिल्प-कला हो, चाहे स्वापत्य-कला हो, चाहे चित्र-कला हो, रंगी में रूपाकन का साधन महत्त्व है। रूप-सर्जन और कला के प्रकार इस देश में ही नहीं विदेशों में भी भूम्यवान् और कला की सग्रहणीय सामग्री समझे जाते हैं। कास्मीरी दुआलो पर की बेलें, साँझियों के बूँटे और बाँधनी, विदेशों में अत्यंत आदर की वस्तु मानी जाती हैं। कास्मीरी शाल और गलीचे, मूवी-जैनी छोटें, छपी हुई साँझियाँ और चादरे, जाजम, शतरजी मादि वस्तुओं पर बनाये गए बूँटे और बेल के नमूने हमको साँझी-कला के प्रदर्शन में सहज देखने को मिलते हैं। साँझी के लिये बनाये गये इन साँचों से सहज पता लगता है कि ब्रज के कलाकारों में चित्र-कला का कितना ज्ञान और मौलिकता थी। ये सचि वास्तव में इन कलाकारों के अत्यंत परिश्रम का फल हैं और चित्रकला के मंडार की अमूल्य निधि हैं, जो सर्वथा सग्रहणीय हैं। ब्रज में सचि का अपूर्व मंडार है, जो आज इस कला के जोष होने से प्राचीन पुस्तकों (ग्रंथों) की गति कौटिल्यो के मोल बँचा जाता है। इनकी रक्षा और सग्रह ब्रज की ही नहीं, एक विशिष्ट भारतीय-कला की रक्षा करना है।

बनाते समय का-सक्य

साँझी का कलाकार साँझी-प्रदर्शन द्वारा अपनी कल्पना से मोडे ही समय में इच्छित वैसागिक, काल्पनिक, आलंकारिक, भौमतिक, विविध रूप की कला का सुंदर प्रदर्शन करता है। साँझी बनाने में छ से आठ घंटे का समय लगता है। इसकी मनोहरता, सुंदरता होने से और चोतरे की तरी कम हो जाने के बाद ये सुखे रंग फीके पड़ जाने से दिन में प्रदर्शन में महत्ता लवती है। दिन में यह प्रदर्शन इतना सोमनीय और मनोहारी नहीं होता जितना रात्रि के दीपकों के प्रकाश में। साँझी बनाते समय साँचो का ठीक-ठीक मिलान करना, साँचों में काटे हुए स्थानों का स्मरण रखना, उपयुक्त

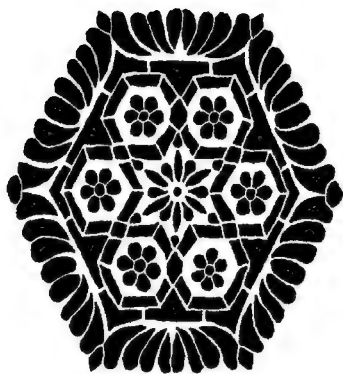
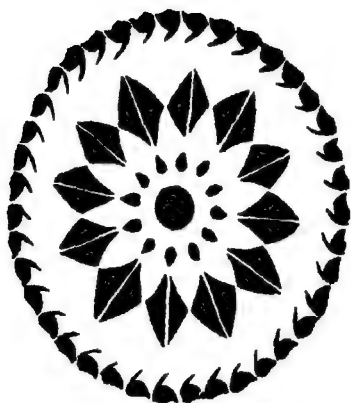
उपयुक्त रंग छानना और रंग की मिलावट ठीक-ठीक करना कुशल कलाकार का ही काम है। किन्तु भी बेमेल रंग होने से या रंग की मिलावट न होने से सब रंग भीका जैसता है और सारी साँझी में भीकापन आ जाता है। अतः साँझी के कलाकार के लिये सयोजन-चातुर्य और रंग-विद्या की कला का पूर्ण ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। सचि द्वारा कोई भी प्राकृति बनाने में यह पूर्व ही निश्चय करना पड़ता है कि कैसे रंग दिये जायें, जिससे प्राकृति के रंग खिल उठें और उसमें वास्तविकता आ जाय। गीले रंग की चित्रकला में हम अनेक बार वास्तविकता लाने के लिये उपयुक्त रंग की कलम (कूची) काम में ला सकते हैं, परन्तु साँझी के कलाकार को एक ही बार मस्तिष्क में निश्चय करके अपनी कृति पर वह रंग छानना पड़ेगा। अधिक रंग छानने से कृति भद्दी हो जाती है और कलात्मकता जाती रहती है, अतः रंग छानना भी चातुर्य और ज्ञान की अपेक्षा रखता है। साँझी के कलाकार को प्रकृति का सचक साबकर उसकी सुंदरता और रंगों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर रंग उसी प्रकार के बनाकर अपनी कलाकृति को तैरूप देना होता है। इसके कलाकार का अपने हाथ की पहली उँगली पर पूरा अधिकार होना चाहिए। जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार या फोटोग्राफर के लिये उसके हाथ पर काबू होना आवश्यक है, इसी प्रकार इस कला में भी अपेक्षित है। जितनी मात्रा में जितना रंग डालना है उतना ही तर्जनी उँगली से छानकर डाला जाय, सभी की अन्य कृति या सचि के अन्य भाग पर विशेष न्या लेखमात्र रंग उड़कर न जाय, यह साँझी के कलाकार के लिये खास लक्ष्य रखने की बात है। जितना ध्यान रंग उड़कर न जाने का और सफाई का रखा जायगा उतनी ही अधिक सुंदरता उस कृति में आयेंगी और प्रदर्शन प्रशंसा-प्राप्त होगा।

वस्तुनाम

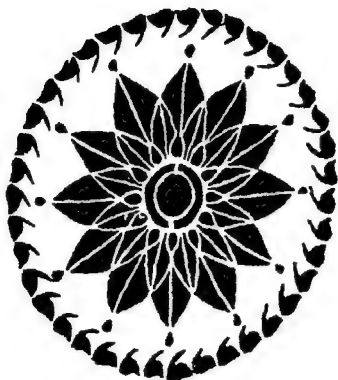
साँझी में जो बेल-बूटे बनाये जाते हैं, उनके अपने नाम हैं। बीच में तो किसी देवता की सीला प्रदर्शित होती है, उसके चारों ओर नक्षों के अनुसार यथास्थान फूलों के जाल और छोटी-बड़ी देवें लपेट के साथ बनाई जाती हैं। अतः चारों ओर एक बेल सेंकड़ी बनाई जाती है, जिसे 'मारवादी' कहते हैं और सबसे नीचे 'गल्ला' बनाई जाती है। इस प्रकार ठेठ नीचे से ऊपर तक मिट्टी का सारा चक्करा सुखे रंग से अद्भुत प्रकार से चित्रित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ यहाँ एक-दो नमूने इन वस्तुओं के देखें हैं।

साँझी में प्रयोग किये जानेवाले सूखे रंग भी पूर्णतः भारतीय होते हैं। वे अति सरलता से बहुत कम व्यय में बरों में ही बना लिये जाते हैं। सफेद रंग चावल पिसाकर, काला रंग कोयले पिसाकर, पीली, सफेद मिट्टी छनी हुई, दूँट पीसी हुई का मलयागिरी, सफेद में काला कुछ मात्रा में मिलाने से खाकी, सफेद में थोड़ा साल मिलाने से कजई, चहरई आदि रंग, हरा मिलाने से कपूरी, नीला मिलाने से आसमानी आदि-आदि रंग बना लिये जाते हैं। हाँ थोड़ा पीला, हरा, नीला और सिंदूर विशेष सुंदर बनाने के लिये अवश्य प्रयोग में लिये जाते हैं।

अभी कुछ वर्षों पूर्व तक ब्रज के बालक घर-घर अपनी-अपनी साँझी बनाया करते थे। कुछ खास मदिरों में और कलानुरागियों के यहाँ बड़े रूप में विशेष कलात्मक रूप में साँझी बनाई जाती थी। ये कलाकार स्वयं ही सचि बनाते थे और साँचों में काटी गयी चित्रकला को सूखे रंग से साँझी में स्वयं ही परिष्करण करके अत्यंत उत्साहपूर्वक प्रदर्शित करते थे। दुख है कि वह कलानुराग इस ग्रीष्म में झाई और गुणग्राहकता की न्यूनतावश लोप हो गया और हो रहा है, जिसके संरक्षण की अति आवश्यकता है। आज प्राचीन कठे हुए और कठे हुए सेंकड़ों सचि तो विद्यमान हैं, परन्तु वे प्रदर्शन लोप हो गये, जिनके अभाव में वे सचि भी नष्ट हो जायेंगे। ब्रज के कलानुरागियों का, सांस्कृतिक संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे इस पूर्व-काल की जीवित रखें और साँझी-कला-प्रदर्शन के साथ साँचों की भी प्रदर्शनी को जाने की योजना करें, जिससे ब्रज की ही नहीं, भारत की यह कला अमर रहे और इससे संस्कृति, कला और उद्योग विकसित हो।



ब्रज की साँझी - कला



1

1

1

1

1

ब्रजवाटिका के पशु-पक्षी

श्री सुरेशसिंह

कौत्सिदी के स्नेहपाश से आवद्ध हमारी पवित्र 'ब्रज-भूमि' हमारे साहित्योद्यान का सबसे सुरभित अंग है। राधा-भाव की इस पवित्र लीलास्थली के कण-कण में कृष्ण-प्रेम की सुगंध व्याप्त है और इसी पवित्र धूलि से अंकुरित होकर कृष्ण-भक्ति की बेल सारे देश में फैली है।

जिस प्रकार ब्रज-भूमि की पवित्र रज्जु को भक्त जन माथे पर बद्ध कर अपने को धन्य मानते हैं, उसी प्रकार ब्रज-भाषा के भक्त-कवियों की रसमयी वाणी को सुन कर प्रेमी जन आनन्द विभोर हो उठते हैं।

कृष्ण-विभोग से तन्त्र और भक्ति भूमि पर झल भक्त-कवियों ने प्रेम और भक्ति की ऐसी गंगा-यमुना बहाई कि सारी ब्रज-वाटिका इस रस-स्वावन से लहलहा उठी और सारे देश के प्रेमी-प्रियर यही आकर सँबराने लगे।

इस आनन्दमयी भूमि के बीच से यमुना मयूर गति से बह रही है, जिसका नीला जल जैसे स्वाम से प्रतिबिम्बित हो रहा है। किनारे पर कदम की सवन छाया में रासलीला हो रही है, बर्फ, मृदंग और करताल से चारों दिशाएँ गूँज रही हैं। बीच-बीच में जब स्वाम की मुरली बज उठती है तो सब की जो दशा हो जाती है उसका वर्णन सुनिए—

"सुनि बके बेच बिमान, सुर-बभू चित्र-समान।

सरला शरत् पाबान, गंवरब मोहे गान ॥

सुनि खग, मृग सौन घरे, फल, दल, वृत्त सुधि बिसरे।

सुनि बैनु पकित रहे, तन बंठहुँ नहि गहे ॥

बछवा न पीवें छीर, पंछी न मन में खीर।

दूध बेली कपल भए, सुनि पल्लव प्रगटि भए ॥

धुनि सुनि जली ब्रज-नारि, सुत, वैहा गेह बिसारि।

सुनि पकित भयो सँभोर, बहै उलटी जमुना-नीर ॥"

सारे ब्रज-मंडल में कृष्ण-प्रेम की धवल चाँदनी छिटक रही है और कृष्ण-भक्ति की यमुना फूल-किनारे को तोड़ कर ऐसी समझ रही है कि जान पड़ता है कि सारे ब्रज को डुबो देगी। चारों ओर आनन्द ही आनन्द है।

ब्रज के इस सुख-समृद्धि-पूर्ण प्रदेश में प्रत्येक युवती की शोभा किसी वाटिका से कम नहीं है। इसका सुंदर वर्णन सुरदासजी के शब्दों में सुनिए—

"अद्भुत एक अनूपम बाग।

भुगुल कौमल पर गजब रफीद, तापर सिंह करत अनुराग ॥

हरि पर सरबर, सर पर गिरिजद, गिरि पर फूले कंज पराग।

फल पर पुष्प, पुष्प पर पल्लव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग ॥

संजन धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक कनिधर नाग ॥

अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताकी करत न त्याग।

'सूरदास' अद्भुत पियदु सुधा-रस, मीनदु अघरेन की बड़ बाग ॥"

और श्री राधाजी की शोभा तो और भी अपूर्व है। गदाधर भट्टजी से उसका वर्णन सुनिए—

“रावे-रूप, भद्रभूत-रीति।

सहज जे प्रतिकूल तो तन, रहे छाँड़ि अनीति॥

कचैन रचना राहु डिंग ही, मूढित बदन मयंक।

तिलक-बान, कमान-बुग, मृग रहें निपट निस्कं॥

अबर सुघर सु पक्व बिबा, भुमग दसन भेमार।

धीर धरि कैं कीर-नासा, करत नहि संचार॥

निकट ही कडि केहरी पै, गज-गति न भेटी जात।

प्रघट गज-गति जहाँ जंघा, कदलि रचि हुलसाति॥”

लेकिन यह आनन्दोत्सास अचानक रुक क्यों गया? ठोल, डफ और मृदंग अचानक नीरव क्यों हो गए? श्री कृष्ण कर्तव्य-मालन के लिए प्रेम-वधनो को तोड़ कर मथुरा चले गए और सारा वृंदावन कृष्ण-विभोग की दावागिरी और गोपियों की उदासी से झुलस गया।

व्याम के विरह से राधा की दशा सबसे शोचनीय हो गई। “मदमुत भनूपम वाप” की समानता करनेवाले शरीर की क्या हास्य हो गई, यह सूखासजी के शब्दों में सुनें—

“रावे, विधि बिपरीत छई।

कदलि-पत्र सी पीठि मनोहर, सो जानु उलटि बई॥”

लेकिन कृष्ण फिर अपनी क्रीडास्थली को न लौटें तो न लौटें, लेकिन क्या उन्होंने अपनी गोपियों को भुला दिया? नहीं गोपियों को वे भुला कैसे भुला देते। देखिए कोई मथुरा से था तो रहा है। यह तो उद्वबजी है, जो गोपियों को कृष्ण का सदेख सुनाने आ रहे है। लेकिन गोपियाँ उनसे कहती हैं—

“सदेखेन, मधुवन-कूप भरे।

जें कोई पथिक गए हैं ह्यति, फिर नहि गवन करे॥

मति छूटी, कागद जल सीज्यौ, सर लौ-सागि जरे।

पाती लिखैं कहीं क्यों करि जो, पलक कथाट भरे॥”

फिर जब उद्वब उनको निर्गुण की उपासना का उपदेश देते हैं, तो वे उनसे पूछती हैं—

“निरगुन कौन देस को बासी?”

और अपनी असमर्थता इन शब्दों में व्यक्त करती हैं—

“ऊचौ, मन न होंहि दस-बीस।

एक हुतो, सो ययौ स्याम-सँग, को आरार्य ईस?”

अंत में उद्वब को चुप देख कर वे उन्हीं को प्रेम की सहृदय बताने लगती हैं—

“ऊचौ, प्रीति न भरै विचार।

प्रीति पतंग जरै पावक-परि, जरत भंग नहि दारै॥

प्रीति मधुप केतकी-कुसुम-बसि, कंठक आपु सहारै।

प्रीति कुरंग नाद-रस-सुब्धक, ताँनि-ताँनि सर-मारै।

‘सूर’ स्याम सो प्रीति योगिब की, कहुँ कैसें निरवारै॥”

सत्य ही तो जिस सगुण मूर्ति की वे उपासिका हैं, वह निर्गुण ब्रह्म से कम श्रेष्ठ नहीं है और जिसको योगी योग और समाधि के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उसे उन्होंने अपनी प्रेम-पूजा से ही प्राप्त कर लिया है।

हमने ब्रज-बाटिका की एक श्रांती देख ली, अब आइए कुछ देर इसकी संर की जावे। हमारे भाव के इस भ्रमण का एक तात्पर्य भी है, हमें देखना है कि हमारे भक्त-कवियों ने इस बाटिका

की सोभा बढ़ाने के लिए कौन-कौन से पशु-पक्षी यहाँ एकत्र किए हैं और उनसे अपने सौन्दर्य-वर्णन में क्या-क्या सहायता ली है।

सबसे पहले सुरदासजी का एक पद देखें, जिसमें उन्होंने आत्मा को पक्षी मानकर बहुत सुंदर रूपन सींचा है—

“जा विन, मन-पंछी उड़ि जैहै ।

ता विन तेरे तन तरवर के, सब पात झरि जैहै ॥

घर के कहैं बेगि ही काढ़ी, भूत भएँ कोठ खैंहै ।

जा पीतम सौं प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहै ॥

कहैं वह ताल, कहाँ वह सोभा, देखत भूरि उड़ैहै ।

भाई-बंधु भद्र कुटुंब-कबीला, सुमरि-सुमरि पछितैहै ॥

बिल-मुपाल कोऊ नहिँ अपना, लसु-अपजसु रहि जैहै ।

जो ‘सूरज’ दुरलभ देवन को, सत-संगत में पैहै ॥”

बीकन की मयार्यता का कैसा सुंदर चित्र है।

चलिए अब हम लोग ब्रजवाटिका में चलें, लेकिन यहाँ तो वर्षा होने लगी। कुछ चिंता न कोलिए, ब्रज में तो इस प्रकार स्नेह के बादल समझ कर बरसते ही रहते हैं। योही देर इस कदम के तले बैठ कर इन कवियों का बर्णन-वर्णन सुनिए, आपको इसमें भी बहुत से पशु-पक्षी देखने को मिल जावेंगे। पहले ‘हरिचमजी व्यास’ का एक पद सुनिए—

“आबू कछु कुंजन में बरखा-सी ।

बाबर-बल में देखि सखी री, चमकत है चपला-सी ॥

नाल्लूँ-नाल्लूँ धुँवन कछु घुरबा-से, पवन वहै घुरवा-सी ।

भंद-भंड गरजनि सी सुनियलु, नाँचति मोर-सभा-सी ॥

ईंद्र-धनुष बग-भंगति डोलति, बोलत कोक-कला-सी ।

इंद्र-बधू छवि-छाड़ रही मनु गिरि पर अरुन-घटा-सी ॥

उभैलि महीछह-सी महि कूली, भूली भुग-भावा-सी ।

रदति ‘भ्यास’ चातक ज्यों रसनाँ, रस-सीवत हो म्यासी ॥”

इस वर्णन में वर्षा से संबंधित बहुत से पक्षी आ गए। काली-काली घटाओं के बीच बवल वक्र-पतित की सोभा और भेष के गरजने पर मोर का आनंद-मत्त होकर नाचने का सुंदर दृश्य बर्णन की एक विशेषता है। अब सत्यनारायणजी का वर्णन सुनिए—

“अलबेली कहूँ बेलि, हुमान सौं लपटि सुहाई ।

धोए-धोए पातें की, अनुपम कंसवाई ॥

चातक बलि, कोइल ललित, बोलत मधुरे बोल ।

कूक-कूक केकी ललित, कुंजन करत किलोल ॥

—निरखि धँन की घटा ॥”

देवजी का वर्णन भी कहीं से कम नहीं है, सुनिए—

“सुनिकें धुनि चातक मोरन की, चहुँमोरन कोकिल कूकनि सो ।

अनुराग-अरे हरि बालें में, सखि रामन-राम-अचूकनि सौं ॥

कबि ‘बिष’ घटा उनई जू नई, जन-भूमि भई बल कूकनि सौं ।

रंभरतो ह्यो हहरतो सत, झुकि जाती संभार के झूकनि सो ॥”

कैसा स्वाभाविक वर्णन है। वर्षा-ऋतु के सभी प्रमुख पक्षों इस काल्पनिक चित्र में विपुल-मान हैं। लेकिन सूरदासजी को यह चिन्ता है कि मयूरा में वर्षा हो रही है या नहीं, जो श्री कृष्णचन्द्र को गोपियों के निष्ठा आने के लिए प्रेरित करे। सुनिष्ट वे क्या कहते हैं—

“किधों घेन गरजत नहि, उन देखें ।

किधों वहि ईअ हठिहिं हरि घरज्यो, बाहुर जाए सेसैं ॥

किधों वहि देस दकौन भग-छाँडपी, घर-बुझत न प्रवेशैं ॥

किधों वहि देस मोर, चातक, पिक, बधिकन बधे बिसेसैं ॥

किधों वहि देस बाल नहि भूलति, गावति गीत सहैसन ।

पथिक न चलत ‘सूर’ के प्रभु पै, जासों कहाँ सँदेसन ॥”

प्रेम की आतुरता का कैसा सुन्दर वर्णन है। मोर, पिक, चातक, बाहुर, बक और सर्प सभी वर्षा से सर्वथा रहने वाले पशु-पक्षी तो भा गए ।

‘आलम’ का भी इसी ढंग का एक कवित्त है, उसे भी सुन लीजिए । वन्ही को क्यों शिकायत रह जावे—

“कैधों मोर सोर-तजि गए री अँवत भजि, कैधों उत बाहुर न बोलत है एवई ।

कैधों पिक, चातक बधिक काहू मारि डारे, कैधों बग-भाँति उत अँत गति छै गई ॥

‘आलम’ कहत आलो अजहूँ न आए कंत, कैधों उत रीति बिपरोति बिधि नैं छई ।

मदन महीप की बुहाई फिरि तैं रही, जूति गए मेघ, किधो बीजुरी सती भई ॥”

लीजिए वर्षा भी थम गई, आइए बलिये भव इस प्रेम-नगरी में प्रवेश किया जावे, लेकिन कबीर ने प्रेम के बारे में जो कहा है, उस पर पहले सोच लीजिए—

“प्रेम न बाढ़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाइ ।

राजा-मरजा जो कहै, सीस देह सँ जाह ॥”

सूरदासजी भी पहले आगाह करते हैं—

“प्रीति करि, काहू छुल न लह्यो ।

प्रीति पतंग करी दीपक सों, आयै प्राँन बह्यो ॥

अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो ।

सारंग प्रीति करी जू नाँव सों, सनमुख बोन सह्यो ॥

हम जो प्रीति करी मायब सो, चलत न कछू कह्यो ।

‘सूरदास’ प्रभु-विन कुछ दूनों, नैन-नौर बह्यो ॥”

इससे पुरा सोच-समझ कर भागे बढ़िये, क्योंकि यह प्रेम-पथ बहुत कँटीला है, लेकिन सच्चे प्रेमी को बाधाओं की परवाह नहीं होती । सुनिष्ट सूरदासजी क्या कहते हैं—

“सब जग तजे प्रेम के नाते ।

चातक स्वाँति-बूँब नहि छाँड़त, प्रघट पुकारत ताते ॥

समुझत मीन नीर की बातें, सजत प्राँन हठि हारत ।

जाँनि कुरंग प्रेम नहि त्यागत, जदपि ब्याध सर-मारत ॥

निमिष बकौर नैन नहि लावत, ससि-जोबत जुग बीते ।

जोति पतंग देखि बसु पारत, भए न प्रेम-भट रीते ॥

कहि अलि क्यों बिसरत वे बातें, संग जो करी बजरज ॥

कैसे ‘सूर’ स्वयं हम छवि, एक नैह कौं काजें ॥”

सच है, सच्चा प्रेमी अपने आराध्य को कैसे छोड़ सकता है। वह तो प्राणीवन प्रेम के पथ का पथिक बना रहना चाहता है, लेकिन प्रेमी अन्त ‘रसखान’ की कामना और भागे बढ गई है—

“मानुस होंडें तौ वही रसखान, बसों ब्रज-गोकुल-गाँव के चारें ।
जो पशु होंडें तौ कहा बस मेरो, चरो नित नंद की बँनु-भँझारें ॥
पाँहन होंडें तौ वही गिरि की, जो बरषो कर छत्र पुरंदर चारें ।
जो खग होंडें तौ बसेरी करो, मिलि कालिंदी-कुल कदंब की डारें ॥”

भाइए, भव भागे चलें । देखिए सामने जो सुंदर सरोवर है वह ‘भारतेंदु हरिश्चंद्रजी’ का बनवाया हुआ है । उन्होंने उसकी शोभा बढ़ाने के लिए तरह-तरह के पक्षी इसमें एकत्र किए हैं । भाइए, थोड़ी देर यहाँ भी विश्राम करके उन्हीं के मुख से इसका वर्णन सुनें—

“कूलत कहुँ कलहंस, कहुँ भजत पारावत ।
कहुँ कारंडव उड़त, कहुँ जल-कुक्कुट धावत ॥
चक्रवाक कहुँ घसत, कहुँ बक ध्यान-लगावत ।
सुक-पिक जल कहुँ पिबत, कहुँ भ्रमराबलि गावत ॥
कहुँ तट पर नाचत मोर धनु, रोर विविध पच्छी करत ।
जल-पान नहान-करि सुख भरे, तट-सोभा सब जिय धरत ॥”

कौंसा स्वामाविक वर्णन है, कहीं जरा भी अस्वामाविकता नहीं आने पाई । ‘कलहंस’ (सोना बतक) और ‘कारंडव—बतक’ पानी में तैर रहे हैं और कवूरत आ-आकर सरोवर में पानी पी जाते हैं । ताल के एक किनारे चक्रवाक (चकई-बकवा) का जोड़ा बैठा है और पानी की सतह पर इधर से उधर जल-मुरगियों का झुंड दीडता हुआ चला जाता है । सुक और पिक भी बीच-बीच में आ-आकर पानी पीते हैं और किनारे पर मोर अपने नाच ही में मस्त हैं । सारा वातावरण भीरो की गुंजार से और पक्षियों के कलरव से गुंज रहा है ।

भाइए, भव भागे वढें । सामने की ढाल पर हमारा चिर परिचित ‘कौआ’ बैठा है । इसको भला कौन नहीं पहचानता । हमारे नित्य के जीवन में इसने जिस प्रकार अपना एक स्थान बना लिया है, साहित्योद्यान में भी उसी प्रकार इसकी अपनी एक सत्ता है ही । इसकी कर्कश बोली हमें भले ही नापसंद हो और सर्वभक्षी होने के कारण भले ही हम इसको घृणित समझें, लेकिन हमारे कवियों ने इसको जो समान दिया है वह और किसी पक्षी को समब नहीं । गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो सारी रामायण ‘काकमुषुंडजी’ के मुख से कहला कर इनको अमर ही कर दिया है । ब्रज-वाटिका में भी जहाँ ढाल-ढाल पर कोयल की कुहू-कुहू और पपीहे की पी कहीं । पी कहीं ! सुनाई पडती है, कवि लोग इसे नहीं भूले हैं । सूरदासजी तो इसके उड़-उड़कर फिर उसी स्थान पर लौट आने के कारण इसकी तुलना नेत्रों से करते हैं । सुनिए—

“नैन भए बोहित के काग ।

उड़ि-उड़ि जात पार नहि पावत, फिरि आवत तिहिँ लाग ॥”

लेकिन ‘सत्यनारायण’जी कोए से प्रिय के आगमन की सूचना देने का काम लेते हैं । सुनिए—

“कहुँ रे कागा परम प्रिय, पिय-आवन की बात ।

तिन्हुँ आएँ हों बँडेंगी, तोहिँ दूख भ्रम भात ॥”

लेकिन ‘रमरानजी’ का काग दूध-भात की प्रतीक्षा नहीं करता और वृष्णजी के हाथ में मागन-गेटी धीन पर भाग जाता है । उसके भाग्य की सराहना करते हुए रमरानजी ने कहे हैं—

“धूरि-भरे अति मोहत स्थाँम जू, तैनी बनी तिर सुंदर कोटी ।

खेतत छात फिरि आगना, पण-पैजनी बाजती, पीरी-कछोटो ॥

बा छवि को ‘रसदान’ बिनोपत, भारत कान बनानिपि-कोटी ।

काग के भाग बड़ा कहिए, हरि-हाथ में सं गयी जीवन-रोटी ॥”

रत्नाकर जी का कौआ गंगा-तट-वासी है। उसे गंगाजी पर ऐसा विश्वास है कि वह उसे छोड़ कर इब्रासन भी नहीं चाहत—

“लोडि-लोडि लेत सुख कलित कछारन को, सुरत-भारन को गौरव यहू नहीं।
कहै ‘रतनाकर’ स्यों कँकर औ साँक चुनि, चार मुक्ताफल पै नैंक उँसहूँ नहीं॥
हेम-हंस होन को न राखत हिए सँहँस, नबन के कोकिल को कलित कहूँ नहीं।
गंगा-जल तोषि, दोषि सुकृति भुषासन को, काक पाकसासन को आसन चहूँ नहीं॥”

चलिए, आगे चलिए और इनकी गंगा-सेवन करने दीजिए। आगे ग्राम पर जो काली चिड़िया बैठी है उसको भी कहीं कौआ न समझ लीजिएगा। यह हमारे यहाँ की प्रसिद्ध ‘कोकिल’ है, जो हमें वसंत के आगमन की सूचना देती है और जिससे विरहिणी नायिकाओं की विरह-वेदना और बढ़ जाती है। ‘पद्माकरजी’ इन काली और क्रूर चिड़ियों को कोसते हुए कहते हैं—

“ए ब्रजचंद्र चलो किन बा ब्रज, सुनो वसंत की ऊँकन लागी।
त्यो ‘पद्माकर’ पेखो पलासव, पावक-सी भनो फूँकन लागी॥
बै ब्रजनारी बिचारी बूध, बन आवरी लो हिएँ हूँकन लागी।
कारो क्रूर कसाइन पै सु छुह-छुह क्वँलिया कूँकन लागी॥”

लेकिन सुरदास कोयल की छुह-छुह से ऊबते नहीं, बल्कि वे उससे प्रार्थना करते हैं कि वह श्री कृष्ण के पास जाकर बोलें, जिससे वे फिर अपने ब्रज को लौट आवें। सुनिए—

“कोकिल, हरि कौं बोल दुनाव।

भबुवन तँ उचटाइ स्याम कहूँ, या ब्रज-महँ सँ आव॥

कौबै कछु उपकार परायो, यहँ सयानों काज॥

‘सूरदास’ प्रभु कहूँ या भवसर, बन-बन बसत बिराज॥”

पता नहीं कोयल सुरदासजी की प्रार्थना स्वीकार करके मयुरा गई या नहीं, लेकिन कृष्ण ने इसके छुह-छुह की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, यह तो मालूम ही है।

कोयल की तरह पपीहा भी विरही-जनों को अपने ‘पी कहाँ, पी कहाँ’ के शब्द से व्याकुल कर देता है। इसके लिए कवियों ने कल्पना यह की है कि यह केवल स्वाति-नक्षत्र का जल पीता है, चाहे जान क्यों न चली जावे। सुरदासजी का एक पद सुनिए—

“बहुत दिन जियौ पपीहा प्यारी।

बासर-रॅनि नाम लै बोलत, भयो विरह-जरि कारी॥

आप दुखित, पर दुखित जाँनि जिय, चातक नाम तुम्हारी॥

देखो सकल बिचारि सखा जिय, बिछूरन की दुख न्यारी॥

जाहि लगै सोई पै जाँनै, प्रॅम-बान प्रॅमियारी॥

‘सूरदास’ प्रभु स्वाँति-भूँद-लगि, तज्यो सिधु फरि सारो॥”

अरे कविये, देखिए सामने कैसा भयंकर साँप है। यह तो बड़ी जहरीली काली नागिन है। सुरदासजी ने इसकी उपमा काली रात से की है। देखिए उनका कैसा सुंदर वर्णन है—

“पिय-बिन नागिन कारो रात।

जो कबहूँ कहूँ उम्रति जुहँया, डति उसटो हँ जात॥”

काली रात विरहिणी के लिए काली नागिन की तरह है, लेकिन चाँदी रात से बिग्न भी और भी बड़ा देती है। उस समय यह जान पड़ता है कि काली नागिन घाट कर उलट गई है और उसका सफेद पेट दिखाई पड़ रहा है, कैसा सुंदर वर्णन है। जहरीले साँपों के लिए प्रसिद्ध है कि जब वे काट कर उसट जाते हैं तो फिर आदमी सह्य भी नहीं सेना और उनकी तन्पाव मृग्य हो जाती है।

यह नागिन जिस झाड़ी में जाकर घुसी थी, उससे यह कौन सुंदर पक्षी निकल कर भागा जा रहा है। भरे, यह तो चकोर है। ब्रज-वाटिका का बहुत परिचित पक्षी। इसका चंद्रमा के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है। कवियों ने कल्पना की है कि चंद्रमा के प्रति चकोर का ऐसा आकर्षण होता है कि वह बराबर उसी की ओर देखा करता है और अगारे को चंद्रमा के टुकड़े समझ कर उसे प्रेम-वश खा लेता है। इसी कल्पना के आधार पर प्रेमी का प्रेम-अवधान करने के लिए 'चंद्र-चकोर' का सहारा कवियों ने लिया है और प्रेमी के मुख को 'चंद्रमा' और नैनो को 'चकोर' मान कर बड़ी भाव-पूर्ण रचनाएँ की हैं। देखिए 'भगवत रसिक' जी क्या कहते हैं—

“तेरी मुख-चंद, चकोरी मेरे नैन।

अति आरत, अनुरागी लपट, भूलि गई गति पलहुँ लबों ना ॥

अरबरात मिलिबे को निल-बिन, मिले रहत मनो कबों मिले ना ॥

‘भगवत रसिक’ रसिक की बातें, रसिक-बिना कोऊ समुझि सकै ना ॥”

‘ललित किशोरी’ की भी इसी प्रकार प्रार्थना है—

“हे निरमोही, दरस बिछाड़ जा।

‘ललित किशोरी’ नैन-चकोरें, दुति-मुख-चंद बिछाड़ जा ॥”

‘सत्यनारायण’ जी की भी सुनिए—

“सोहत राधा चंद-मुख, किरन-हँसी, मुहु-कोर।

जागति जनु घनस्यामि के, सखि धिर नैन-चकोर ॥”

‘रत्नाकर’ जी का वर्णन भी किसी से कम नहीं है, सुनिए—

“वाही मुख मंजुल की चहुति मरीचें सदाँ, हम को तिहारी ब्रह्म-ओति करिबो कहा।

कहै ‘रत्नाकर’ सुधाकर-उपासनि को, भाँनु की प्रमानि को जुहारि जरिबो कहा ॥

भोगि रह्यो बिरचे बिरचि के संजोग सबै, ताते सोग सारन को जोग जरिबो कहा ॥

जब ब्रज-चंद को चकोर चित्त चार भयो, बिरह-चिंगारिन सो फेरि डरिबो कहा ॥”

नैनो के लिए चकोर के अलावा एक और पक्षी का सहारा कवि लोग लेते हैं। वह है ‘खजन’, देखिए पानी के किनारे जो छोटी-सी चितकबरी चंचल बिडिया इधर से उधर दौड़ रही है, यही खजन या ‘खडरिच’ पक्षी है। जिस कवि ने पहले-पहल इसकी तुलना नैनो से की है उसकी जितनी तारीफ की जावे वह थोड़ी है। सिवा ‘सूरदास’ जी के और कौन इतना ऊँची उड़ान भर सकता है। सुनिए उनका प्रसिद्ध पद—

“खजन-नैन रूप-रसमति।

अति सँ चार चपल प्रेमियारे, पल-पिंजरा न समति ॥

चलि-चलि जात निकट खजनैन के, उलटि-पलटि तारटक फँवाते ॥

‘सूरदास’ खजन-मून अटके, नतर अबहँ उड़ि जाते ॥”

नैनो के लिए मृग भी कवियों द्वारा बहुत याद किए जाते हैं। सामने देखिए, एक मृग और मृगा खड़े तो हैं। कंसी सुंदर भाँखें हैं। इनको देखकर कैसे इनकी तुलना नायिकाओं के नैनो से न करते? विहारी ने ठीक ही लिखा है—

“बर जीते सर मँन के, ऐसे देखे मँन।

हरिनी के नैनान लें, हरि नीके ए मँन ॥”

‘सूरदास’ जी ने भी इसी प्रकार वर्णन किया है—

देखि री, हरि के चंचल नैन।

खजन, मोन भुगल, चपलाई, नहि पदतर इक सँन ॥

नैनो के लिए कवि लोग ‘अमर’ की भी काम याद नहीं करते। ‘सूरदास’ जी कहते हैं—

“लोचन, मूँच भए री मेरे ।

लोक-लाज बँन-घँन-बेली सजि, आतुर हँ जु गड़े रे ॥

स्यमि-रूप-रस बारिज-लोचन, तहाँ आइ लुब्धे रे ।

सपटे लटक पराग विलोकनि, समुद्र लोभ परे रे ॥

हँसनि-भ्रक-स विभास देखिकेँ, निकसति पुनि तहँ बैठत ।

‘सूर’ स्यामि भंयुज-कर-चरणन, तहँ-तहँ भ्रमि-भ्रमि पैठत ॥”

घन्य है सूरदासजी, क्यों न हो, आपने तो पूरा चित्र उतार दिया है । चाचा हित बूढ़ावनदास जी देखिए क्या कहते हैं—

“छवि भरे नव कंज-बल से, नेह पुरित नैन ।

पूतरी मधु मधुप-झोमा, बँठि भूने नैन ॥”

विहारीलाल जी भला ऐसा अवसर कैसे छोड़ देते । नैनो के वर्णन में उनकी दो पत्नियाँ न सुनना उनके साथ अग्न्याय करना होगा । देखिए, वे अपने छोटे दोहे में कैसा गभीर भाव भर देते हैं—

“बारों बलि तो दूगँ पै, भलि, खंजन, भृग, मीन ।

आबी बँठि चितोन जिन, किए लाल आर्षीन ॥”

बाहू, विहारीलाल जी, क्यों नहीं, आपके दोहों के बारे में ठीक ही कहा गया है—

“सतसँया के बोहरे, ज्यो नाविक के तीर ।

देखत में छोटे लगें, घाव करे गभीर ॥”

नेत्रो के बारे में आपका एक दोहा और देखिए—

“लाल-सर्गाम न मानहीं, नैनां मो-बस नाहि ।

ए मूँहलोर-सुरंग-लो, ऐंचत हँ बलि जाहि ॥”

कैसा सजीव वर्णन है, ब्रज-वाटिका में ऐसे मूँहजोर सुरंगो की कभी नहीं है, लेकिन ‘भारतेंद्र हरिश्चन्द्र’ जी ने इन नैनो की तुलना मतवाले हाथियों से की है । सुनिए—

“सखी ऐ, अति अरसोंहें नैन ।

उरसि परत, सुरसखी नहि जानत, सोचत-समुद्रत हँ न ॥

कोऊ जो बरजै जो इनकोँ, बने मस जिमि रँग ।

‘हरीचँब’ इन बैरिन पाछें, भए लैन के दें ॥”

बड़े अनुभव की बात कह रहे हैं हरिचन्द जी, लेकिन यह अनुभव तो बाद में होता है, पहले जो होता है उसका वर्णन देवजी से सुन लीजिए—

“भार में घाह घँसी निरधार हँ, जाह फँसी उकली न भँबेरी ।

री अंगराह गिरी गहिरी, गहि फँरें-फिरी न गिरी नहि घेरी ॥

‘देब’ कछू अपनी बस ना, रस-लालच लाल चित्त भई घेरी ।

बनि ही बुझि गई पखियाँ, भँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ॥”

नेत्रो के वर्णन से आप ऊब गए होंगे, लेकिन आपने इन्हीं के बहाने सजन, मीन, भृग, कुरंग, सुरंग और गयद आदि को इस ब्रज-वाटिका में एक ही जगह देख लिया, नहीं तो इनको ढूँढ़ने में बहुत दिक्कत पड़ती ।

देखिए सामने के पेड़ पर ‘तोतो’ का झुंड कैसा शोर मचा रहा है । इनके बिना तो बाग की घोसा ही नहीं बढती, फिर हथारे कवि लोग भला इनको कैसे मुला देते । ये नाक की तुलना के लिए याद किए जाते हैं । देखिए ‘सूरदास’ जी का कैसा कवित्व-पूर्ण वर्णन है—

“देखि सखी, अवरेन की सत्ती ।

मनि भरकत तँ भुजग कलेवर, ऐसे हैं बनमाती ॥

कंधो तरुन-समाल-बेलि-चढ़ि, जूग-फल-विव सु पावयो ।
नासा कीर आइ मनो बैठ्यो, लेत बनत नहि तावयो ॥”

‘नवदास’ जी भी इसी प्रकार कहते हैं—

“उसत नासा, अशर बिब, सुक की छवि छीनी ।
तिहू-बिच अदभुत भाँति लसत कछु, इक भसि भीनी ॥”

लेकिन सुरदासजी शुक महाशय को दूसरा ही उपदेश देते हैं, सुनिए—

“सुभा, चल वा बन की रस लीज ।

जा बन कृष्ण-नाम-अमरित-रस, जवन-यात्र मरि पीज ॥

को तेरी पुत्र, पिता तू काकी, मिथ्या भ्रम जग केरी ।

काल-भँजार लँ जै है तोको, तू कहै भेरी-भेरी ॥”

जीवन के विषय में ऐसा नग्न-सत्य सुरदासजी के ही मुख से श्रद्धा लगता है, लेकिन तब तो बालक-वसत को किस्से-कहानी सुनाने से पुरसत तो मिले । देखिए, देवजी कहते हैं—

“पवन झुलावै, केकी-कीर बतरावै ‘देव’, कोकिल हलावै, हुलसावै करतारी वै ।

मदन महीप जू की बालक-वसंत ताहि, प्रात हिएँ लावत गुलाब चटकारी वै ॥”

आप चलते-चलते थक गए होंगे, आइए, चल कर किसी सरोवर के किनारे थोड़ा विश्राम किया जावे । मही बैठ कर हम पशु-पक्षी-निरीक्षण भी करेंगे । देखिए, कुछ दूर पर जो कमल से भरा हुआ तालाब दिखाई दे रहा है आइए, उसी के किनारे चलें ।

यह कौन पक्षी अपने चंगुल में लकड़ी लिए उड़ा जा रहा है ? यह तो ‘हारिल’ है । इसके बारे में यह कहावत है कि यह हमेशा उड़ते समय अपने चंगुल में लकड़ी पकड़े रहता है । सुरदासजी ने इसी को लक्ष करके कहा है—‘हमारे हरि, हारिल की लकरी ।’ हारिल को जाने दीजिए, देखिए सामने मोर नाच रहा है, कैसा सुंदर दृश्य है, देखिए विहारीजी क्या कहते हैं —

“नँचि अचानक ह्री उठे, बिन-पावस वैन मोर ।

जानति हौं नँचित करी, इहि बिसि नब किसोर ॥”

सीजिए तालाब का किनारा आ गया । आइए, इसी तालाब के नीचे बैठ कर हम लोग इसकी शोभा देखें । ताल में कैसे सुंदर कमल के पुष्प खिले हुए हैं और उनके ऊपर भीरी की भीड़ लगी हुई है । इन भ्रमरावलियों को देख कर भला प्रेमी कवियों की वाणी कैसे नीरव रहती । सुनिए सुरदास जी क्या कहते हैं—

“अलकनि की छवि, अलि-कुल गावत ।

अँजन, मीन, मृगज लज्जित भए, नैन-नचावनि गतिहि न पावत ॥”

नवदास जी की सुनिए—

“नौलोत्पल-वल-स्थानि, अंग नव जीवन आनै ।

कुटिल अलक मुख-कौमल, मनो अलि-अवलि बिराजै ॥”

सरोवर के निर्मल जल में जो चपल मछलियाँ इधर-धर दौड़ रही हैं, इनको कवियों ने नेत्रों के वर्णन में याद जकड़ लिया है, लेकिन ये अधिकतर अपने जल के वियोग में अपने प्राण देने के लिए स्मरण की जाती हैं । ‘सुरदास’ जी से इनका वर्णन सुनिए—

“नैनौ, भए अनाव हमारे ।

मदनगुपाल जहाँ ते सजनी, सुनिमसु डूबि सिधारे ॥

ये हरि जल, हम मीन बापुरी, कैसे जिएँ निनारे ।

‘धूर’ स्थान कौन्हौं पिय ऐसी, भुतकहँ ते पुनि नारे ॥”

इन्हीं से एक पद और सुनिए—

“ऊषी, ना हम विरहिन, ना तुम दास ।

कहत-सुनत घट अति रहत है, हरि तजि मज्जु अकास ॥

विरही-मौन मरे जल-विछुरे, छाँडि जियन की आस ।

दास-भाव नहिं तजत परीहा, बर सहि रहत पिआस ॥”

‘ध्रुवदास’ जी ने भी ‘मीन’ के प्रेम की तुलना करते हुए ‘बाबुर’ को याद किया है। सुनिए—

“जिन नहिं समझ्यो प्रेम यह, तिन सो कौन असाप ।

बाबुर हँ जल में रहै, जानें मौन मिलाप ॥”

सरोवर के बीच में हंसों की पवित कैंची यसी लग रही है। सूरदासजी ने इनको कई स्थलों पर याद किया है। देखिए—

“नटवर-भेष काछें स्याम ।

पद-कैमल-नख डंडु-सोभा, ध्यान पुरन कौन ॥

कनक छुद्रावली पंगति, नामि कटि के भीर ।

मनो हंस-रसाल-पंगति, रहे है छब-तीर ॥”

और देखिए—

“यकित भई, राधा ब्रज-नारि ।

जो मन ध्यान करति अवलोकति, ते अंतरजाभी बनवारि ॥

रतन-अटित पम सुभय पाँवरी, नूपुर-धुमि-कल परम रसाल ।

मौनहुँ चरन-कमल-बल-लोभी, निकटहि बँडे बाल-मराल ॥”

अब तो सच्चा होने को आई, आप भी थक गए होंगे, अतः अब लौटना चाहिए। यह कौन पक्षी इतने कातर स्वर में बोल रहा है ? अरे इसे तो हम लोगोंने एकदम मुला ही दिया था। यही तो हमारा प्रसिद्ध परिचित पक्षी चकवाक है। हमारे साहित्य में इसके—कोक, चक्र, चक्राम, रबाग, सुखवि आदि अनेकों नाम हैं, लेकिन प्राणीय जनता इसको ‘चकई-चकवा’ के नाम से ही जानती है। इसके लिए हमारे कवियों ने यह कल्पना की है कि इनका जोड़ा दिन-भर तो साथ रहता है लेकिन रात होते ही ये दोनों रात-भर के लिए अलग-अलग हो जाते हैं। यह कल्पना केवल कल्पना ही है, लेकिन इसी के सहारे हमारे कवियों ने विछोह का बहुत कष्ट और हृदय-आही चित्र खींचा है। चलते-चलते दो-चार पदों में इन पक्षियों की भी वियोग-कथा सुन लीजिए। सेनापतिजी शीत-काल में कोक-कोकी का क्षणिक मिलन भी समझ न देख कर दुखी है, क्योंकि शीतकाल में दिन इतने छोटे होते हैं कि जब तक कोक कोकी के पास तक पहुँचने तक रात हो जाती है और चकवा बेचारा अश-बीच से ही लौट आता है। सुनिए—

“शीत के सहसकर सहस-चरन छूँ कैं, ऐसे भागि जातु तम आवत है चिरि कैं ।

जो लो कोक कोकी कौं मिलत तो लौं होति राति, कोक अश-बीच ही ते आवत है फिरि कैं ॥”

बिहारीलाल जी तो और भी आगे बढ़ गए हैं। वर्षा-ऋतु में ऐसा घोर अंधकार छा गया कि दिन और रात में कोई भेद ही नहीं रह गया है और लोग चकई और चकवा देख कर ही जान पाते हैं कि रात है या दिन। उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

“यावत् निति अंधियार में, रह्यो भेद नहिं आन ।

राति-धीस जाग्यों परत, लखि चकई-चकवाँन ॥”

बाह बिहारीलाल जी, क्यों न हो, आपकी उड़ान को कौन पट्टे सकता है। देवजी का भी वर्णन किसी से कम नहीं है। सुनिए—

“बा चकई की अयो चित-धीली, चितौत चहूँ-दिसि चाहें सौं नाँची ।

छँ गई छीन धपाकर की धधि, जामिनि जोन्ह अनौं जैव जाँची ॥

बोलत बैरी बिहंगम 'बैव', सु बैरिन के घर संपत्ति साँची ।

सोहू पियो जु बियोगिनी को, सु कियो मुँह साल पिसाचिनी प्राची ॥”

प्रभात का कैसा अनुपम वर्णन है । रस का कैसा सुंदर परिपाक हुआ है ।

‘गग’ कवि का भी प्रभात-वर्णन सुनिए । उनकी मानिनी नायिका नायक से मिलने के लिए जाने को तैयार नहीं है और सबेरा होनेवाला है । चतुर सबी प्रभात होने के सब चिन्हों की ओर संकेत करके उसको नायक के पास चलने का अनुरोध करती है । सुनिए—

“चकई बिछुरि मिली, तू न मिली पीतम सौं, ‘गग कवि’ कहै ऐसो कियो मनि ठानि री ।

अथए नखत-ससि, अथई न तेरी रिस, तू न परसल परसल भयो मनि री ॥

तू न खोल्यो मुख, खोल्यो कंज श्री गुलाब मुख, चली सीरी बाइ, तू न चली भौ बिहानि री ।

राति सब घटी, नाहीं करनी री घटी तेरी, दीपक मलीन, ना मलीन तेरी मनि री ॥”

बहुत ही सुंदर वर्णन है । ऐसा मनोहर चित्र उतार देना कवि ‘गग’ ही के लिए समर्थ है । अब हमारी यात्रा भी समाप्त हो गई और हमने थोड़े ही समय में इस ब्रज-वाटिका के बहुत से पशु-पक्षियों को देख भी लिया । आइए, अब हम इन सब प्रेमी जीवों से छुट्टी लेकर अपने स्थान को चले और इनको इसी वाटिका की शोभा बढ़ाने दें ।



गली साँकरी भाय, काँकरी पाँइ गड़त है

रामनिवास विद्यार्थी

जो अतीत संगीत गुँजाती है उरमाँही ।
जिहि सो सरस रसायन आन बरा पर नाहीं ॥
अभिय धुला बानी में भाषा रतन जड़ित है ।
रसिक-जनन-मन अब लो सहज सुलभ मोहत है ॥

२

जिहि में नटवर गिरिवरधर को छटा बिराजै ।
गोकुल-मुंवाषाम-भधुपुरी हू छवि-छाजै ॥
अगम सूर-सागर में रसगागरि ढरकत है ।
स्याम जौन बोली में ऊँठत, नढत, मनत है ॥

३

तरनि-तनूजा सरसाहू कल-कल धुनि सोहै ।
प्राणों को बरवस मुरली मुरलीधर मोहै ॥
नदिर मामिनी रास सास को साज सजत है ।
जिहिसों जड़-जंगम पुलकित हरखित-जैमगत है ॥

४

भीराँ बरब-बिबाणो के सरवस जिहि माहीं ।
किहि कों सूर पबाबलि बरवस मोहत नाहीं ॥
सूर प्रवर सौं भारलेंकु-पणत लसत है ।
कबहुँ न सो मनभावन मोहि उर सो बिसरत है ॥

५

जिहि उदार नें छाँड़ि भेद सबहू अपनायो ।
रसिक बिहारी, धनानंद, रसनिधि सरसायो ॥
जिहि सो अगमित बिरस आन रसखान जनत है ।
आलम बा रसलीन, रहौन, निवाज लसत है ॥

६

जो साहित्य-भाधुरी में सर्वोत्तम नीकी ।
बीना-बानि बिनंबक, पावन मूरि अभी की ॥
ज्योत पुटन में सरस सुधा-धारा उमड़त है ।
गली साँकरी भाय, काँकरी पाँइ गड़त है ॥

गैयों के तकवैया : एक बुंदेलखंडी लोक-गीत

श्री कृष्णानंद

बन में घौरी^१ गैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।
 कुसनचंद उठ बड़े सवेरें, बिद्रावन सँ गाय उबेरें^२ ;
 गोबरवन वी जाइ कँ घेरें, उसरन^३ से सब मुरभी फेरें ।
 सँग बलदाऊ जी मैया, बन में घौरी गैया ॥
 सरमन^४, टीकुल^५, बेंदी^६, गेंदी^७, सोझऊ^८, पट्टिन^९, बई^{१०}, बगुरेदी^{११};
 कारी^{१२}, कजरी^{१३}, कजल^{१४}, करोदी^{१५}, लंबू^{१६}, लंमछर^{१७}, फुलइ^{१८}, गुलेंदी^{१९} ।
 नवलाल तकवैया^{२०}, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 मुंडी^{२१}, मंडी^{२२}, जेंडी^{२३}, धरई^{२४}, खोंडू^{२५}, धोसू^{२६}, स्यामा^{२७}, भौरई^{२८} ;
 कैंडी^{२९}, डूंडी^{३०}, झिलौली^{३१}, खरई^{३२}, धंचल^{३३}, चपला^{३४}, चौकन^{३५}, चेरई^{३६} -
 चंबसला छिकवैया^{३७}, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 लखौ^{३८}, लाल^{३९}, लखरी^{४०}, लीली^{४१}, बंबरी^{४२}, बबक^{४३}, बदासी^{४४}, हंसी^{४५};
 घौरी^{४६}, पड़ई^{४७}, रसीली^{४८}, छीमर^{४९}; छरकन^{५०}, छिपट^{५१}, छनीली^{५२} ।
 छरो छल छिकवैया^{५३}, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 बगुली^{५४}, बगला^{५५}, बिचक^{५६}, बगंसी^{५७}, कबरी^{५८}, कामधेनु^{५९}, अलबेली^{६०};
 कनकर^{६१}, करछल^{६२}, तिलई^{६३}, चमेली^{६४}, मोतिन^{६५}, मुकटऊ^{६६}, खरई^{६७}, हमेली^{६८};
 बाघन^{६९}, संग लिबैया^{७०}, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 केसर^{७१}, रेसम^{७२}, रोजी^{७३}, राजन^{७४}, मरक^{७५}, मतवारी^{७६}, बघराजन^{७७};
 मस्ताली^{७८}, गड्डल^{७९}, गजराजन^{८०}; हिल्लाई^{८१}, शबर^{८२}, सिंहासन^{८३} ।
 कहें फेरी बड़े भैया, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 घुरहिन^{८४}, घुरई^{८५}, मुकरतन^{८६}, डंसी^{८७}, चटकुल^{८८}, सटकुल^{८९}, उजरक^{९०}, बंसी^{९१},
 सूरत^{९२}, मूरत^{९३}, कपला^{९४}, लासी^{९५}; पबमिन^{९६} गोपिन^{९७}, भेंडऊ^{९८}, वतासी^{९९} ;
 तर्कें बसी के बजबैया, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 सरजू^{१००}, सुपतु^{१०१}, नरबद^{१०२}, नागर^{१०३}, घूंमर^{१०४}, झूंमर^{१०५}, बरसन^{१०६} सागर^{१०७}
 जमनी^{१०८}, गुगीं^{१०९} बंदी^{११०}, बोड़ल^{१११}, मरगज^{११२}, बागर^{११३}, मोर^{११४}, मुनागर^{११५} ।
 लें पकवान रो घरैया^{११६}, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 सखन-सहित मिल करे कलेबा, घुरी-कचौरी अउर जु सेबा ;
 प्रभु की देव करे सब सेवा, सुमुनि बसिछट्ट ध्यावें देवा ।
 कहें धन जसोबा भैया, लएँ कुँवर कन्हैया ॥
 बरसव पार्क जे बज-नारी, गावें लगौं^{११७} स्याम को गारी;
 मन भुसक्यावें जुंजबिहारी, हीरासाल प्रभु सरन तिहारी ।
 पार लगावेब नैया, लएँ कुँवर कन्हैया ॥॥

* गरीठा के बीना अहीर से प्राप्त—लोकगीत ।

अर्थों की टिप्पणी

- १ सकेद ।
२. निकालें, हाकें, छोरे ।
- ३ उसरा का बहुवचन उसरन, दालान, सामवान ।
- ४ सरमन, शिरोमणि से बना जान पड़ता है । बहुधा पुरुषों का नाम होता है ।
- ५ जिसके माथे पर शरीर के रंग से भिन्न रंग का बड़ा टीका हो ।
६. माथे पर छोटा टीका हो, जो बेंदी की तरह जान पड़े ।
७. गेंद की तरह छोटी, ठिगनी, गोल-मटोल । अथवा गेंद जैसी नहीं, बल्कि गेंदा के फूल जैसी हलकी-फुलकी, गोल-मटोल और मन को लुभानेवाली से ही मतलब होना चाहिए । इसके अतिरिक्त गेंदा की एक छोटी जाति को भी गेंदी कहते हैं ।
८. भीड़े अथवा मटमले रंग की । जो देखने में भीड़ी हो उसे भी भीड़क कह सकते हैं । नोट लिखते-लिखते एक अहीर ने बताया कि यह शब्द भीरक होना चाहिए । जिसके माथे पर भीरी हो वह भीरक । ठीकल और बेंदी के साथ इसकी सगति अधिक ठीक बैठती है और यही ठीक है ।
- ९ जिसके माथे पर सींगों के मध्यस्थल से लेकर शूथरी तक भिन्न रंग की पट्टी हो । पहिल, पट्टी-वाली ।
- १० अहीर लोग बताते हैं कि पच्छिम (मारवाड-देश) से जो गायें आती हैं 'बई' कहलाती हैं । उनके कान कोसमारे (मुलायम), बीच में चौड़े, सिरे पर नुकीले, लंबे, माथा चौड़ा, सींग पीछे को । बई के साथ प्रायः बौडन का नाम लेते हैं । वेशी, जैची, बड़ी गाय बौडन कहलाती हैं ।
११. बगुरदी, अहीर लोग इसका ठीक गुणवाचक अर्थ नहीं बता सकते । एक ने बताया कि छोटी के लिये बगुरदी शब्द का प्रयोग होता है । दूसरे ने बताया कि गहूँ को कुचल कर गेंद बनाते हैं । उसमें घुमचू चिपकाते हैं । इसे बगुरदा कहते हैं । इसमें रस्ती डाल कर फेंकते हैं तो गेंद मनमनाती हुई ऊपर जाती है । इसका कहना है कि सभव है कि यह बगुरदी शब्द उची बगुरदा से बना हो । गायों के लिये इस शब्द का प्रयोग खूब होता है ।
बगुरदा एक हथियार का भी नाम है । दीना भी इसे स्वीकार करता है । कहता है कि बगुरदा शायद एक छोटा पैना हथियार होता है, जिसे मूठ की जगह हाथ में पहिनकर और छिपाकर रक्खा जा सकता है । मने जब उससे कहा कि तो फिर बगुरदी का यह अर्थ तो नहीं कि जिसके सींग बगुरदा की तरह पने हो, तो कहता है हाँ, बिलकुल ठीक, ऐसा भी हो सकता है ।
- १२ काली ।
- १३ कजरी, जिसकी आँख के नीचे काजल की तरह काली रेखाएँ हो ।
- १४ काजल, कजरी के ही अर्थ में । जिसकी आँखें कुछ अधिक कजरी हो ।
- १५ करोदी, जगली करोदा (जिसे करोदी भी कहते हैं) के मधुपके फल की तरह जिसका रंग गहरी ललाई लिये हुए धनकण्य हो । बगीचे का बड़ा करोदा तो पकने पर लाल हो जाता है, परन्तु करोदी पहले गहरी लाल और फिर धीरे-धीरे गहरी काली हो जाती है । उची अधपके रंग में मतलब है ।
- १६ लंबू, लवी ।
- १७ लमखर, लवोतरी, एकहरे वदन की लवी, पतली ।
- १८ फुलई, जिसके वदन पर भिन्न रंग की फूल जैसी छोटी-छोटी बुंदकियाँ हो ।

गुलेंदी, गुलेंदा का स्त्री-वाचक गुलेंदी। महुए के फल को गुलेंदा कहते हैं। उसके भीतर जो बीज निकलता है वह गुली कहलाती है। दोनों से ही इस शब्द का संबंध हो सकता है, चिकनी, छोटी, गोल-मटोल। गुली को अनार लिया जाये तो उसके चिकने दादामी रंग का चित्र भी सामने आ जाता है।

तकवैया, देखने वाले।

मुडी, जिसके सींग न हों, अथवा जिसके सींग बहुत ही छोटे हों, केवल दिखाई देते हों।

मैंदी, जिसके सींग मेंडा की तरह भागे की ओर आकर फिर पीछे मुड़ गए हों।

मूँदी, जिसके सींग मेंडे—टेडे-नेडे अथवा नमे हुए हों। एक सींग आगे एक सींग पीछे।

बेरई, बड़े सींगों की। एक दूसरे अहीर के अनुसार जिसके सींग बड़े और पीछे को मुड़े हों।

बोडू, जिसके सींग आगे को झुके हों।

घोघु, कुछ सफेद कुछ मटमैले रंग की अथवा जो घाँसती हो। किसी बजह से जानवर का गला खराब होने पर अथवा सर्दी लगने पर वह घाँसने लगता है। अतः इस घाँसने से घोघु का संबंध हो सकता है।

घोसू का संबंध घूसर से भी हो सकता है। मटमैली घूल को घोस कहते हैं। छपर में मकर-जारा और घोस लगी रहती है, जिसे बाँस में झाड़ बाँधकर छुड़ाते हैं। अनाथ में घोघ निकलती है। दीना अहीर का कहना है कि भूरा—सफेद, अर्थात् एक रोम काला और एक सफेद वह घोसू।

गोरद, जो सबसे आगे आगे चलती हो। बोलचाल की भाषा में पैले मोंरा, पैले हल्ला इत्यादि मुहावरों का प्रयोग पहले नवर के अर्थ में होता है।

केंडी, जिसका एक सींग आँख के पास आकर दँठ गया हो, दूसरा आगे निकला हो।

डूडी, जिसका एक सींग टूटा हो। एक सींग-टूटे बैल को डूडा कहते हैं।

खिलोनी, जो छुटपन में बहुत खेल-कूद करनेवाली रही हो। देखने में सुंदर, सुडील।

खैरई, खैर (कल्या) के रगवाली।

३३ अर्थ स्पष्ट है।

३५ चीकन, चिकलनी या चिलकनी।

चैरई, जिसकी पूछ सफेद बालों का चैवर जैसा गुच्छा हो।

छिकवैया, कनेवाले।

लखली, लाल के रंग की।

अर्थ स्पष्ट है।

लखरी, लाल के रंग की, अधिक गहरी।

अर्थ स्पष्ट है।

बैदरी, नवर के रंग जैसी भूरे रंग की। एक दूसरे अहीर के अनुसार जिसकी पूछ का शीरा लाल, बरीनी लाल तथा रोमावली लाल हो, यह अधिक ठीक जान पड़ता है।^१

बदक, बतख-जैसी छोटी।^२

बदासी, दादामी। दीना बतलाता है कि यह तो बतासी होना चाहिए।

अर्थ स्पष्ट है।

अर्थ स्पष्ट है।

^१ बज में बैदरी या बदरी—जादल के-से रगवाली को कहते हैं।

^२ बदक का अर्थ भी बज में चिकनेवाली होता है।

४७. पडई, पडेलू रग की ।
 ४८. अर्थ स्पष्ट है ।
 ४९. छीमर, चितकवरी, विशेषकर जिसकी घाँटी (गर्दन) पर सफेद बूँदके हो ।
 ५०. छरकन, छरकनेवाली या विचकनेवाली ।
 ५१. छिपट, एकहरे वदन की पतली । लकड़ी की पतली फव को छिपट कहते हैं ।
 ५२. छत्रीनी, सुवर ।
 ५३. ५४ ५५ अर्थ स्पष्ट हैं ।
 ५६. विचक, विचकनेवाली । दुहुते समय जो विचक जाती है और दूध न देती हो । छरकन शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हो सकता है ।
 ५७. जगैली, जगला जैसी ।
 ५८. ५९ ६० स्पष्ट हैं ।
 ६१. कनफर, जिसके कान कटे हो । कभी-कभी पहचान के लिये गाय के कान फाड़ डालते हैं ।
 ६२. करछल, करिया (काली) छालवाली । काले हिरन जैसी छालवाली ।
 ६३. तिलई, जिसके कान पर तिल हो ।
 ६४. ६५ अर्थ स्पष्ट हैं ।
 ६६. मुकटऊ, जिसके सींग एक दूसरे की ओर मुड़े हो । मुकुट जैसे सींगवाली ।
 ६७. खरई, जिसके सींग मोटे, कान बड़े हो (खरहा जैसे) भयवा जो खरहा जैसी छोटी ।
 ६८. हमेली, जिसकी गर्दन में शरीर से भिन्न रंग की कठी (हमेल) सी पड़ी हो वह हमेली । हमेल एक पहना विशेष है जो हमारे बुदेलखड में भी पहना जाता है ।^१
 ६९. बाघन, बाघ से बाघन ।
 ७०. लिबैया, लेनेवाले भयवा हुँकनेवाले ।
 ७१. ७२ अर्थ स्पष्ट हैं ।
 ७३. रोजी, रोज के रग की ।
 ७४. राजन, राजा ने बना है ।
 ७५. मरक या मरकू, मारनेवाली ।
 ७६. ७७ ७८ अर्थ स्पष्ट हैं ।
 ७९. गदूल, मोटी-नाजी, ठिनगी, जिसकी खाल मोटी हो । गदूल कमल की तरह का फूल होता है । जो पोखरो—तलियों में पाया जाता है, कमल से छोटा । उस मिले हुए फूल की तरह गोद-मटोण, फूली हुई और ठिनगी के अर्थ में ।
 ८०. अर्थ स्पष्ट है ।
 ८१. हिंम्राई, जिसके हिरन-जैसे सींग हों भयवा जिसकी बनावट हिरन-जैसी हो । भयवा जिसमें सींग गटे हुए, सींगे भयवा मोटे पीछे की ओर मुटे हो ।
 ८२. शबू या शबर, बड़े सींग मुलायम मानवाली ।
 ८३. ८४. अर्थ स्पष्ट हैं ।
 ८५. मुगई, जिसकी पुच्छ मुग गाय की तरह हो । चंवर जैसी गुच्छवाली ।
 ८६. मुगगन, मुगी की गी-बानी मुगगा । जो गीगी-बानी, गीगी की ओर धिमा गी गीगी हो । गीग मुगगन होने में जिनमें गीगने में पुन हो ।

^१ बुदेलखड में ही नहीं बरत का यह प्रमाण प्राप्त है ।

डाँसी, इसका ठीक गुण-वाचक अर्थ समझ में नहीं आता। वैसे डाँस तो बड़े जगली मच्छर को कहते हैं, जो बहुधा जानवरो को ही काटता है। समझ है यहाँ पर कोई दूसरा शब्द हो। जो दूसरे को बहुत सताता है उसे 'डाँस' कहते हैं। ऐसी दशा में सुरहिन, सुरई और सुकतरन के साथ एक डाँसी का होना भी आश्चर्य की बात नहीं, फिर भी शब्द खटकता है।

८१ चटकुल मटकुल चटकीली-मटकीली। बहुल वचल (चटकीली) मटकनेवाली (मटकीली) बोल चाल में। जो लड़की काम करने में बहुत तेज हो, दौड़-दौड़ कर काम करती हो उसे चटकीली कहेंगे।

उजरळ, उजार करनेवाली। चोरी से खड़ी फसल चरनेवाली।

वाँसी, जिसका वाँसा (नाक की हड्डी) लबा उठा हुआ और मजबूत हो।

१३ १४ अर्थ स्पष्ट है।

सासी, जिसके बदन पर लहसुन (काले तिल की तरह का बड़ा चिह्न) हो।

१७ अर्थ स्पष्ट है।

भँडळ, चोर।

वतासी, वताशा से वतासी। प्यार का नाम।^१

सरल्ल, नदी विशेष के नाम पर।

सुपल्ल, सफेद।

नरवद, सरजू की माँति, नदी विशेष के नाम पर।

नागर, अर्थ स्पष्ट है।

धूमर, यह शब्द धूमर के स्थान पर धूमरही होना चाहिए। धूमर, धूम-धूम कर चलनेवाली।

धूमर, धूम-धूम कर चलनेवाली।

१०७ दरसन-सागर एक शब्द भी हो सकता है और दो अलग-अलग भी। अहीर लोग अच्छी गस्ल की बड़ी, सुडौल गायों के लिये दरसन^२ शब्द का प्रयोग करते हैं।

जमनी, अर्थ स्पष्ट है।

गुर्मी, छोटी।

बटी, बटा से बटी।

बोडन, वैसी बड़े डील की गाय।

नरगज, बड़ी भारी कम के अर्थ में।

वायर, जो वाग जाती हो, झुड से अलग हो जाती हो।

मोर, अर्थ स्पष्ट है।

मुनागर, ठीक गुण-वाची अर्थ समझ में नहीं आता। ऐसा जान पड़ता है कि मोर का अनुशास मिलाने के लिये उजागर या मुनागर की ध्वनि के सादृश्य पर कवि ने मुनागर शब्द यहाँ रख दिया है।

घरैया, घर के लोग।

लबी, (गाँव लगी स्पॉम को गारी) लेकर अथवा जोड़कर (अ्याम का नाम लेकर गान्ती हैं)।

^१ ब्रज में बतासी—बतासे जैसे रगवाली (सफेद में कुछ पोलापन हो) को कहते हैं।

^२ दरसन-दर्शनीय—देखने योग्य।

गोचारन के पद

राग-सारंग

टेरत, जँची-टेर गृपाल ।

दूर जात गैयाँ भैया हो, सब मिल घेरो ग्वाल ॥
लै-लै नाम बूमरी, धोरी, मुरसी मधुर रसाल ॥
चडि कदंब चहुँ-दिसि को हेरत, अबुल-नैन-बिसाल ॥
सुनत सबद सुरभी सँमुहानी, उलटि पिछोरी चाल ॥
'सुरभुज' प्रभु पीतांबर फेरयो गोबरचैन-धर लाल ॥

राग-भूषी

आगें गाय, पाछें गाय, हत गाय, उत गाय, गोबिंद को गायन में वसिबौई भाव ।
गायन के संग धावै, गायन में सचु पावै, गायन की खुर-रैनु अंग-लपटावै ॥
गायन सो ब्रज छाया, बँकुठ हूँ बिसरायो, गायन के हित करि गिरि लं उठावै ।
'छीतस्वामि' गिरिधारी, बिहुल-अपुधारी, गवारिया को भेष बरें गायन-संग भावै ॥

हाँकत हटक-हटक, गाय रही ठठक-ठठक, गोकुल की गैल प्रति साँकरी ।
जारी, अटारी, क्षरोलैन, मोलैन झाँकत डुरि-डुरि, ठौर-ठौर तेपरत काँकरी ॥
चंपकली, कुदकली बरखत रस-भरी, तामें देखियत कछु लिखे हूँ झाँकरी ।
'नंदवास' प्रभु जहाँ-जहाँ डारें ठावे होत, तहाँ-तहाँ बचन मागत लटक-लटक जात—
काहू सो हूँ करी, काहू सो नाँ करी ॥

राग-गौरी

भावै माई, ब्रज-ललता-बुल-भोचैन ।

भोचैन-संग कचलित कर मुरली, सरब-कंसल-लल-लोचैन ॥
कटि-लट लाल काछिनी काछें, ओढें पीत पिछोरी ।
आयन हँसत हँसावत ग्वालैन, राग अलापत गौरी ॥
सुलसी-पत्र पौहोप की माता, गुहि ग्वालैन पैहरावै ।
बाल गृपाल नंदजू के डोठा, मधुरी बैनु बजावै ॥
बरखत कुसुम बेव-मुनि हरखत, सोही ब्रज की नारी ।
'कृष्णदास' प्रभु रसिक-मुकटमनि, लाल गोबरचैन-धारी ॥

मैया, या तें भई अबेर ।

आवत भाजि गई इक गैया, जाइ घंसी-बैन फेर ॥
दोरे ग्वाल सब बाके पाछें, पकरेन की करि आवत ।
चडि-कदंब पीतांबर फेरयो, भाइ गई मो पात ॥
मे धुधकार पीठ-कर परत्यो, लँहड़े सई सगाइ ।
बसियाँ सुनत 'रसिक'-पीतम की, फूली जमुमति भाइ ॥

वे देखी, आवत हूँ गिरिधारी ।

कछुक गाय आगें भव पाछें, सोहत संग सदा री ॥
तमि रही पाग-लटपटी सुंदर, अपने हाथ सँवारी ।
मोतिन की तर उर ऊपर हरकत श्री बैन-माता री ॥
अग-अग दधि उठत तरंगेन, बापें जात निहारी ।
'यो बिटुन गिरिधर' सचैन में, चाँट तिहारी न्यानी ॥

रसिया को भाव-भूमि

श्री देवेन्द्र सत्याश्रयी

ब्रज की प्राचीन मौलिक परंपरा में 'रसिया' का स्थान कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं। वैसे तो ब्रज में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। बालको के खेल-गीतों में लोरी के स्वर धुले हुए प्रतीत होंगे। खेल-गीतों में स्वर-रूपन से कहीं अधिक विशेषता रखते हैं। जीवन के अनेक चित्र जो शृङ्खलाबद्ध न होते हुए भी बालक का दृष्टिकोण बड़ी सफलता से हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसे गीत भी मिलेंगे जो व्रत और पूजा से संबद्ध हों। देवी और माता के भजन, तीर्थ और पर्व-स्नानादि के गीत, त्योहारों के गीत, घोड़ियों, कुम्हारों और मछीरों आदि विभिन्न-वर्गों के गीत, कढ़ाई और जिकड़ी के भजन, सावन में झूले के गीत—यह सब सामग्री ब्रज-लोक-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। विवाह के गीत तो इतने विस्तृत हैं कि इनके साथ विवाह की एक-एक क्रिया गुंथी हुई है। बालक के ऊपर पर गाये जानेवाले सोहर की भी ब्रज में कुछ कमी नहीं। होली की फागों के लिए तो ब्रज विशेष रूप से प्रसिद्ध ही है, पर सब पूछो तो ब्रज के 'रसिया' की अपनी ही विशेषता है।

"रसिया की क्या बात है।" ब्रज के एक लोक-गीत-श्रेयी ने हँसकर कहा था, "जब आप रसिया सुनेंगे तब और सब गीत भूल जायेंगे।"

"रसिया की प्रशंसा पीछे कीजिए", मैंने उत्सुक होकर कहा था,— "पहले यह प्रबंध कीजिए कि कोई गायक 'रसिया' गा-गाकर मेरी झोली भर दे।"

"यहाँ आप को असंख्य 'रसिया' मिलेंगे, जितने चाहो लिखते चले जाओ।"

"रसिया शब्द ही को कीजिए, कितना प्रिय है। नाम से तो यही सूचना मिलती है कि इस गीत में इसका धारणा बहता है।"

उस लोक-गीत-श्रेयी के साथ हुई बातचीत भाव भी मानस-पटल पर अंकित है। 'रसिया' की रस-सिद्धि के लिए यह तो आवश्यक है कि किसी अच्छे 'रसिया'-गायक की सहायता ली जाय, जिसके गले से 'रसिया' के बोल पूर्ण प्रतिष्ठा और भावना के साथ संगीत-लहरियों पर उड़ सकें। मुझे याद है किस प्रकार मेरा वह मित्र स्वयं ही 'रसिया' गाने बैठ गया था, किस प्रकार उसने पंक्ति पर पंक्ति बैठाने की कला दिखा कर मुझे अन्न-मृग्य कर दिया था।

इससे पहले दो-चार ऐसे व्यक्ति भी मुझे मिल चुके थे जो 'रसिया' के नाम से ही विदकते थे। उन्हें यह शिकायत थी कि 'रसिया'-गायक, प्रायः अश्लीलता पर उतर आते हैं और बस चलते वे मर्यादा का उल्लंघन करने से नहीं चूकते और इसी लिए मले लोगों की गोष्ठी में 'रसिया' नहीं गाया जा सकता। यह अच्छा ही हुआ कि मैंने यह सब सुनकर भी 'रसिया' के प्रति किसी प्रकार की अवहेलना को अपने मन में स्थान नहीं दिया था।

अब 'रसिया' सुनने को मिला तो मैंने देखा कि जैसे सभी लोक-गीत अपनी मर्यादा स्वयं स्थिर करते हैं, 'रसिया' भी स्वयं भागे बढता है। मुझे इस परिणाम पर धड़कते देर न लगी कि 'रसिया' की विशेषता उसकी सर्वग सुंदरता में है। यह सत्य है कि 'रसिया' के स्वर कभी-कभी इनमें चंचल हो उठते हैं कि उन्हें किसी भी मर्यादा की दीवारों अपने भीतर बंद नहीं कर सकती।

‘रसिया’ के हृदय-स्पर्शी स्वरो की उठान इसकी नुदरता की प्रतीक है। जी हाँ, ‘रसिया’ आनन्द-विभोर मन की वाणी है और दैनिक जीवन ही इसका धरातल है।

जहाँ तक रसिया की भाव-भूमि का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि स्नेह-धारा और शृंगार-प्रियता ही इसकी विशेषताएँ हैं। विश्व के लोक-नगीत में प्रेम-गीत अपना अलग स्थान रखते हैं और इस क्षेत्र में ब्रज का रसिया किसी भी देश के प्रेम-गीतो से पीछे नहीं। रसिया-गायक एक प्रेमी के रूप में ही शब्दों और स्वरो में तारतम्य स्थापित करता है।

‘रसिया’ को एक और विशेषता है, इसकी चित्र-मुलम शैली। हो सकता है कि दोन्वारा अस्त-व्यस्त-सी रेखाओं में ही पूरा चित्र प्रस्तुत करने का मूल किया गया हो। माया और मावो का जो-जो ओल रसिया में मिलता है, वह ब्रज के लोक-नगीत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। मावारण शब्दों में भी जैसे रसिया के स्पर्श ने नये अर्थों का नचार हो उठता है।

रसिया-गायक आगे बढ़कर प्रेयसि के समुच्च पहुँचने के लिए उत्सुक रहता है। वह अपने मन पर किसी की अवहेलना नहीं जमाने देता। स्नेह ही रसिया का मूल-स्वर है और यही उसकी समूची भाव-धारा पर छाया रहता है। प्रत्येक रसिया-गायक ने यही स्वर निकलता है कि स्नेह ही महान् है और स्नेह का पक्ष छोड़कर मानव का कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता।

रसिया की प्रशंसा करते समय बात को रस्ती-भर भी बढ़ा कर कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि रसिया का प्रत्येक बोल कुछ न कुछ नवीनता लिए रहता है, यही नवीनता चित्र में रंग भरती है, यही नवीनता रसिया की भाव-भूमि पर बार-बार मचल उठती है।

रसिया के बोल जब एक बार वातावरण में गूँज उठते हैं तो यह प्रतीत होता है कि वतुर्दिक् रसिया का आधिपत्य हो गया है—

१. “उठोए ज्वानी या हब ते, जैसैं आँवी में भबूड़ो बल-खाइ।”
२. “मेरे इन हायेंन की मेंहदी, काऊ बिन सुपनों हैं जाइगी।”
३. “हेल मो पै गोबर की, लड्डूआ काहे कूँ बिछावै संबरदार।”
४. “चना के लड्डूआ चो लायी, मेरे पीहर में जलेबो रसदार।”
५. “संबरदार की लुगाई, तो ते राम डरपै।”
६. “तेरी खसैंम बरोगा, अब डर काहे कौ।”
७. “बंवे पै बोली तीतरिया, दू बन परबाइवे कब जाइगी?”
८. “भैसोली न लड्यी, मेरी गुंठी पामन जाइ।”
९. “बिलकने गोटे पै, तेरी सब जोवन सहराइ।”
१०. “तेरे भंवे बालें धीछिया, बदलवाइ लै।”
११. “बैठक पोखर पै बनवाइ बै, कलावती के बाद।”
१२. “काँवनी सौने की, बनवाई बै बाबेवार।”
१३. “मेरी रातेंन जरी मसाल, बगद गयो पुल पै ते।”
१४. “गँलऊमा गोला दै जैयो, कंरी हरिअल एक रही ज्वार।”
१५. “लपट आबै निबुअन की, रस बगिया कितनी हूर।”
१६. “अगिया गोटाबार, भूति आई जंगल में।”
१७. “पदमा पुजारिन बन बैठी, तुलसी के पात चबाइ।”
१८. “बछेरी डोलै पीहर में, जा पै को होइगी अयवार।”

१. पाठांतर—भैसोली ना लायी, अयबा—भैसोली चो ना लायी।

२. ” —कंती।

१९. "ब्रह्मा झोक लगे लटकन की, सो पै भटा चढधौ ना जाइ ।"

२०. "हरे को भोगिया जो परे, जाइ रोहँ सबरदार ।"

२१. "घटा गई पीहर कूँ, परसेसर है गई माँदी ।"

२२. "सबरदारी भें लगाइ बै बैरी भाग, परेला लै बै काँचन को ।"

ये सब रसिया के आरम्भिक वीज हैं जो ब्रज के वातावरण में सर्वत्र तैरते रहते हैं । कुछ लोग तो टेक ही में उलझकर रह जाते हैं, परन्तु रसिया का पूरा रस पूर्ण रूप में ही पनपता है । रसिया के चार पूरे उदाहरण भी लीजिए—

२३. "तु भँवर बन्धी बँठयो रहिगो, चल बस मेरे प्योसार ।"

घोड़ी लँ बळें माँचनी, हरयो बनाती जौन ।

—चल बस मेरे प्योसार !

नथ के गढाइ बळें गोलक, खनवारे की छल्ला छाप ।।

—चल बस मेरे प्योसार !

बही जमाजें भूरी भेंस की, झौड पुरा भर खाँड ।

—चल बस मेरे प्योसार !

चदन-चौकी पै बँठनो, झौड भँचन डोक विपार ।।

—चल बस मेरे प्योसार !"



२४. "लँ आए हमारे महाराज, आज हमें छल करकें !

ए सइयाँ, तेरे राज में कवहूँ न परी चूरियाँ, कलहियाँ भर-भरकें,

लँ आए हमारे महाराज, आज हमें छल करकें !"



२५. "कारी कूँवरिया रेंगाइ दै, मेरी जोवन लच्छेदार ।

जब ते आई तैरे घर में, गुजर करी टूटे छप्पर में ;

ना देखें तेरे महल तिवारे, ना सोई पलंग-निवार ।

—मेरी जोवन लच्छेदार !"



२६. "ज्वानी सरर-सरर सराबि, जँसें भ्रंगरेजन को राज !

भ्रंगरेजन को राज, जँसें उड़ै हवाई जहाज !

ज्वानी सरर-सरर सराबि, जँसें भ्रंगरेजन को राज !

काजर दै में का कलैं, मेरे बँसेई नैन-कटार !

ज्वानी सरर-सरर सराबि, जँसें भ्रंगरेजन को राज !



जाते मिल जाइ निगाह, बुहो मेरी हूँ जाइ तावेदार ।

ज्वानी सरर-सरर सराबि, जँसें भ्रंगरेजन को राज !



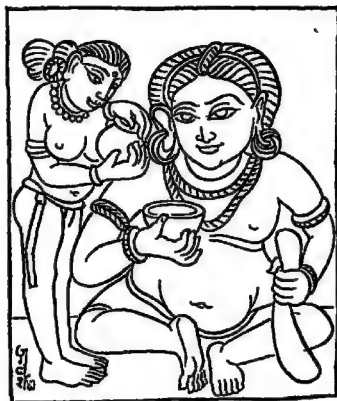
उमर-लिखे पै कोई न पूछै, ज्वानी को संसार ;

ज्वानी सरर-सरर सराबि, जँसें भ्रंगरेजन को राज !"

ब्रज के रसियों का विस्तृत अध्ययन किया जाना चाहिये । क्या यह आभा नहीं की जा सकती कि कोई माई का साल ऐसा भी निकलेगा जो नैकड़ो नहीं, हजारा रमियान्मह धगने के पक्षपात इन पर एक ग्रथ लिखने का प्रत पूरा करे ?

में यह भी आशा करता हूँ कि रसिया के सगीत-पक्ष को भी भुलाया नहीं जायगा। यह व्यवस्था होनी चाहिए कि जुने हुए रसिया-गीतों के रेकार्ड भर लिए जायें, पर जहाँ तक रसिया की भाव-भूमि का संबंध है, इसमें इतनी शक्ति प्रवक्ष्य है कि वह आधुनिक कवियों को भी प्रेरणा दे सके और उनकी थकी, हारी प्रतिभा को अगली मंजिल तक ले चले।

मेरा आग्रह है कि रसिया की शक्ति का साहित्यिक मूल्यांकन किया जाय। कोई कारण नहीं कि आधुनिक हिंदी-कविता में रसिया की शैली और भाव-भूमि से प्रेरणा न ली जाय। आधुनिक चित्रकला में यामिनीराय ने बंगाल की लोक-कला के प्राण-तत्त्व फिर से स्थापित करने में मार्ग-प्रदर्शन का महान् कार्य किया है। कविता के क्षेत्र में भी हम लोक-गीतों से ऐसी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं।



श्री रामनारायण अग्रवाल

ब्रज की रस-सिक्त भूमि में रसिक-गिरोमणि लीला-मुसपोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला का आरम्भ किया, यह सभी स्वीकार करेंगे। हरिवंशपुराण जिसे कि विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से सब पुराणों में अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीनतम स्वीकार किया है, भगवान् कृष्ण की सरसर रासलीला के वर्णन से युक्त है। हरिवंशपुराण के द्वितीय पर्व के तीसवें अध्याय "हल्लीसक क्रीडन" में भगवान् कृष्ण की रासलीला का कलात्मक विवरण उपलब्ध है। ब्रज के सघन वन में शरद्-युग्मिमा की ज्योत्सना-मयी छवि ने रसिक-गिरोमणि के हृदय में रास-क्रीडा की प्रेरणा की थी, यह १५ वें श्लोक से स्पष्ट है। हरिवंशकार कहता है—

"कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चंद्रमसो वनम्।

शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति ॥"

और इसके उपरान्त ब्रज में रासलीला के लिये गोपिकाओं के आगमन और रासलीला का सरस वर्णन हुआ है।

भगवान् कृष्ण द्वारा रासलीला के आरम्भ की यह बात समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य और कलात्मक वातावरण में इतनी रम गई थी कि प्राचीनतम अनेक साहित्यकारों और आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। यही नहीं अजन्ता की कदराओ में रास के ही हल्लीसक^१ रूप का एक चित्र मिला

१. "ब्रज की लोक-संस्कृति" पुस्तक के ब्रज की कला—स्वापत्य, मूर्ति, चित्र तथा संगीत अध्याय में पृ० १४२ पर पं० श्रीकृष्णवत्स जी बाजपेयी ने लिखा है कि रास का पूर्व रूप हल्लीसक नृत्य है। उनके इस कथन के प्रति आदर रखते हुए हमारा मत है कि 'हल्लीसक नृत्य' रास का ही एक भेद था, उसका पूर्व रूप नहीं। भरतमुनि ने 'रासक' के जो तीन भेद—१. ताल रासक, २. बड रासक और ३. मंडल रासक किये हैं, उनमें से हल्लीसक नृत्य, 'मंडल रासक' अथवा उसका एक रूप ही है, उसका 'रासक' से भिन्न अपना कोई पृथक् स्वरूप नहीं माना जाना चाहिये। हमारे इस कथन को पुष्टि स्वयं उक्त लेख में दिये हुए श्री बाजपेयीजी के ही उद्धरणों से हो जाता है। वात्स्यायन के कामसूत्र में लिखा है—"हल्लीसक क्रीडनकैर्गायनैर्नाट्य रासकः"। अंतर केवल यह है कि जिसे भरतमुनि ने मंडल रासक कहा है उसे वात्स्यायन 'नाट्यरासक' कहते हैं, परंतु कामसूत्र पर जो गई टीका से ज्ञात होता है कि वात्स्यायन ने संभवतः इस रासक को 'नाट्यरासक'—किसी गीत विशेष के गाये जाने के कारण लिखा है, जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में प्रचलित था—"नाट्यरासकैरन्योपदेशोपैः तेषां आभ्युत्पाद् गीत विशेषणमेतत् ।" हो सकता है कि यह 'नाट्यरासक' भरत के 'मंडल रासक' का बाद में विकसित कोई उपभेद हो, जो किसी गायन विशेष के आधार पर कर दिया गया होगा, परंतु इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि "हल्लीसक नृत्य" रास या रासक का ही एक रूप था। यद्योवर ने अपनी टीका में स्पष्ट रूप से हल्लीसकनृत्य का वर्णन भी किया है—

"मंडलेन च यत्तत्रोणा नृत्यं हल्लीसक तु तत् । नेता तत्र भवेद्वेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥"

यह श्लोक मानो यह घोषणा करने के लिये ही रचा गया है कि हल्लीसक नृत्य मंडल रासक से भिन्न नहीं था।

है जो यह सिद्ध करता है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी कलाकार इस ओर आकर्षित थे और उस समय भी लोग रास-नृत्य का आयोजन करने भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा सत्यापित रास-रस का आस्वादन करते थे।

संस्कृत-साहित्य में 'रास' के लिये 'रासक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ईसा की पहली शताब्दी में विद्यमान नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य 'भरतमुनि' ने अपने प्रसिद्ध 'नाट्य-शास्त्र' में 'रासक' का उपलक्षणों में उल्लेख किया है। यह रासक साहित्यदर्पणकार के मत से एक भ्रम में समाप्त होनेवाला नाटक है, परन्तु इसकी यह परिभाषा तो इसके विकास-काल की है। आचार्य भरत ने तो रासक के तीन भेद निम्न प्रकार बतलाये हैं—

“तालरासक नामस्यात् तत्रैवा रासकंस्मृतम्।

दंडरासमेकं तु तथा भट्टल रासकम् ॥”

इस प्रकार 'रासक' या रास के भरतमुनि ने तीन भेद किये हैं—(१) ताल रासक, (२) दंड रासक (जिसे कहीं-कहीं लकुट रासक भी कहा गया है) तथा (३) भट्टल रासक। हमारा विश्वास है कि यह रासक शब्द रास से भिन्न नहीं है, क्योंकि इसके यह तीनों भेद आज भी ब्रज के रास में ज्यों के त्यों प्रचलित हैं। वर्तमान रास में तीनों का सुंदर समन्वय है, जैसा कि हम ने आगे उल्लेख किया है, परन्तु रास का मूलाधार इतना दृढ़ होने पर भी प्राचीन साहित्य में ऐसे वर्णन नहीं मिलते जिससे रासलीलाओं के सब पर लाये जाने की किसी प्रकार की परंपरा या श्रृंखला का पता लगता हो। यों तो यदा-कदा शायद कहीं रास के आयोजन होते रहे होंगे, परन्तु रास के लिये एक व्यवस्थित रंगमंच तैयार करने का कोई श्रृंखला-बद्ध उद्योग कहीं नहीं हुआ और अतोगत्वा ब्रज में ही रास के रंगमंच की स्थापना का सफल प्रयास किया गया। यह सब क्यों और कैसे हुआ? इसका इतिहास भी बड़ा रोचक और रहस्य-रचित है।

अब से कई सौ वर्ष पूर्व ब्रज के कलाकारों ने रासिक-चिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण की सन्तति-लीलाओं का अमृत-रस सर्वसाधारण को वितरित करने के लिये इस कलामय ब्रज-भूमि में रासलीलाओं का रंगमंच स्थापित करने का सफल प्रयास किया था, जो आज ब्रज की मधुरिमा का सदैव चर-चर पहुँचाता हुआ ब्रज-संस्कृति के सजीव रूप में विद्यमान है। इन रासलीलाओं का आरम्भ यद्यपि धार्मिक उद्देश्य से हुआ था, परन्तु ब्रज की लालित्यमयी भूमि और सुसज्जित कलाकारों ने इसमें तत्कालीन ब्रज-संस्कृति, कला (जिसमें संगीत का प्राधान्य था) और नाटकीय तत्त्वों का सुंदर समिश्रण कर के इसे लोक-जीवन के इतने निकट ला दिया कि आज भी ब्रज की जनता का अनुराग इस पर ज्यों का त्यों बना हुआ है।

पूर्व-इतिहास

रास का आरम्भ कब और किसके द्वारा हुआ, यह प्रश्न सांप्रदायिक मनोवृत्तिवाले कुछ साधुओं ने बड़े झमेले का विषय बना दिया है। उस विषय की भीमासा में जाना हमें न तो अभीष्ट ही है और न आवश्यक ही। रास के आरम्भिक इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला कोई प्राचीन ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं है, अन्यथा बहुत-सी भ्रात-भारणाओं को प्रश्न ही न मिलता। कुछ ग्रंथों में अर्ध-रास रास का नामोल्लेख मिलता है। स्वर्गीय श्री राधाकृष्णजी ने जो स्वयं ब्रज की एक प्रसिद्ध रास-मंडली के सचालक थे, 'रास-सर्वस्व' नाम से एक छोटी-सी पुस्तिका प्रस्तुत की थी। वर्तमान समय में केवल इस पुस्तक से ही रास के संबंध में कुछ अपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है।

रास के आरम्भ के संबंध में पर्याप्त छानबीन कर के हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रास सन् १६०० से पूर्व ब्रज में प्रचलित हो चुका था। यह किंवदन्ती ब्रज के सभी रासवाहियों में प्रचलित है कि 'मथुरा के विभ्रातघाट पर रास के आरम्भ का सर्वप्रथम निश्चय श्री बल्लभानन्द जी तथा स्वामी हरिदास जी द्वारा किया गया और मथुरा चतुर्वेदी ब्राह्मण भक्तों से आठ बातों का मौनकर वहीं

रास का शृंगारम हुआ। आचार्य जी द्वारा रास का मनोरथ करने पर आकाश से एक मुकुट उतरा और भगवान् कृष्ण के अभिनेता के मस्तक पर इसे धारण कराया गया, किन्तु रास में से भगवान् कृष्ण बननेवाले स्वरूप के लोप हो जाने के कारण यह रास पूर्ण न हो सका और श्री वल्लभाचार्य व स्वामी हरिदासजी ने 'धमदेवजी' को फिर से रासमञ्जरी के नये संगठन की आज्ञा दी। तब श्री धमदेवजी ने करहला जाकर 'उदयकरण' और 'खेमकरण' नामक दो ब्राह्मणों की सहायता से रास का आरम्भ किया।^१ कहा जाता है कि रासलीलाओं के आरम्भ के समय ही करहला में एक मुकुट का मन्दिर स्थापित हुआ, जो अभी तक वर्तमान है और उसमें उसी मोर-पखो के मुकुट के अवशेष रखे वतलाये जाते हैं, जो रासलीला के आरम्भ के समय धारण कराया गया था। रासधारियों का यह विश्वास है कि यह मुकुट कलियुग के कारण एक तिल नित्य लोप होता जाता है और जब यह एकदम लोप हो जायगा तो घोर कलियुग आ जायगा और रासलीला की यह परंपरा समाप्त हो जायगी। इसी मन्दिर में एक ताम्र लेख है, जिसमें करहलावालों को रास का अधिकारी कहा गया है। यह अधिकार-पत्र श्री धमदेवजी का माना जाता है।

रास सर्वस्वकार ने भी अपने ग्रंथ में उक्त घटना को प्रामाणिक मानकर इसका उल्लेख किया है, किन्तु उसने श्री वल्लभाचार्यजी का नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया। केवल विष्णुस्वामी मत के पोषक आचार्य कहकर उनकी ओर अस्पष्ट संकेत मात्र किया है, किन्तु स्वामी हरिदासजी का नाम रास के प्रेरक के रूप में उसने स्पष्टता से लिखा है। उसने लिखा है कि "ललिता सखी के अवतार स्वामी हरिदासजी को महल से रास-रास प्रगट करने की आज्ञा हुई, तब उन्होंने मयुरा धारक विष्णुस्वामी-मत के पोषक आचार्यजी से, जो उस समय विध्यातपाट पर रह रहे थे, सहमति लेकर मायूर भक्तों से घाट बालक मांगे। स्वयं आचार्यजी ने भगवान् कृष्ण और हरिदासजी ने राधा बननेवाले स्वरूप का शृंगार किया। इसी समय आकाश से मुकुट उतरा और रासलीला का आरम्भ हुआ, किन्तु भगवान् कृष्ण के अभिनेता के प्रतर्प्या हो जाने से हरिदासजी ने स्वयं रास करने का विचार त्याग कर श्री धमदेवजी की पुनः रास आरम्भ करने को कहा और फिर धमदेवजी ने करहला जाकर 'उदय-करण' और 'खेमकरण' नामक ब्राह्मणों की सहायता से रास की वर्तमान परंपरा चलाई।" इस कथन के अतिरिक्त भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादासजी ने भी कई स्थलों पर श्री हरिदासजी के रासलीला से संबंधित होने का उल्लेख किया है, जिससे हरिदासजी का रास से संबंध होना और अधिक प्रमाणित हो जाता है। प्रियादासजी ने कहा है—

"रतन सुदेसमरी अवनि निजुल धाम, अति अभिराम पिय-प्यारी-केलि-रास है।"

तथा—

"स्वामी हरिदास रसरस को बखान सकै, रसिकता की छाप जोई जाई मध्य पाईरे।"

उक्त उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि उक्त किंवदन्ती कल्पना नहीं है। स्वामी हरिदासजी और वल्लभाचार्यजी का रास से अवश्य ही संबंध रहा होगा। बाल-लीलाओं का रास में प्राधान्य होना और अब तक ब्रज की श्रेष्ठ रासमञ्जरी को श्रीनाथजी का मुकुट प्रदान किए जाने की प्रथा भी यह प्रगट करती है कि वल्लभाचार्यजी का रास की स्थापना में सहयोग था।

श्री वल्लभाचार्यजी की जीवनी से यह पता लगता है कि आप संवत् १५४८ में ब्रज आये और मयुरा में विभ्रातघाट पर ठहरे थे^२, अतः रास का आरम्भ अवश्य इसी समय हुआ होगा। यदि रास इसके बाद भी आरम्भ हुआ हो, तब भी वह संवत् १५८७ से पूर्व अवश्य आरम्भ हो चुका होगा, क्योंकि यह वर्ष ही श्री वल्लभाचार्यजी का निर्वाण-काल है।

^१. देखिये, ब्रज-भारती वर्ष १ अंक ४ यावण १९६८ वि० में पृष्ठ १२ पर प्रकाशित लेख।

^२. देखिये, काँकरीली का इतिहास पृ० ३१।

आचार्य शुक्लजी ने स्वामी हरिदासजी का कविता-काल भी अनुमान से सवत् १६०० से १६१७ तक माना^१ है, अतः वह भी अवश्य ही सवत् १५५० के लगभग वृंदावन में विद्यमान रहे होंगे। कौन जानता है कि रासलीला के प्रादुर्भाव ने ही हरिदासजी जैसे महान् सगीतज्ञ को सवत् १६०० के लगभग स्वयं काव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान की हो। उक्त तथ्यों के आधार पर ही हमारी चोरणा है कि ग्रथिक से अधिक व्रज में सवत् १६०० तक अवश्य ही रास प्रचलित हो चुका होगा, क्योंकि २०-२५ वर्ष के अवकाश काल में श्री घमडदेवजी ने रास का आरम्भिक रूप अवश्य निश्चित कर लिया होगा, परन्तु श्री 'आजस महोदय' ने श्री 'नारायणभट्ट' को रास का आरम्भकर्ता कहा है। यह ठीक है कि रास के विकास में नारायणभट्टजी का भाग बड़ा महत्वपूर्ण है और इसी कारण उनके संप्रदायवालों ने उनको अपने कुछ साम्प्रदायिक ग्रंथों में रास का आरम्भकर्ता भी कह दिया है, जिसके आधार पर कुछ महानुभावों को प्रायः भ्रम हो जाता है।^२ शायद आजस महोदय भी कुछ ऐसी ही पुस्तकों के आधार पर अपने 'मेमोयर' में निम्न वाक्य लिख गये हैं—

“ It was disciple Narayan Bhatt who first established the Banjatra and Rasila ”

किन्तु यदि रासलीला के आरम्भकर्ता श्री नारायणभट्टजी को माना जाय तब रास का आरम्भ सवत् १६०० के बाद मानना होगा, क्योंकि स्वयं भट्टजी सवत् १६०२ में व्रज आये थे। यहाँ आने पर ही सुरत रास की स्थापना कर देना दक्षिण से आये हुए किसी भी व्यक्ति द्वारा समभव न था। पहले तो उन्हें यहाँ अमने के लिये ही कम से कम ४-५ वर्ष का अवकाश आवश्यक हुआ होगा, फिर बल्लभाचार्यजी का निधन स० १५८७ में हो चुका था। यदि नारायणभट्टजी को रास का सस्थापक माना जाता है तो फिर बल्लभाचार्यजी से उसके सबब का कोई सामंजस्य सिद्ध नहीं होता। कुछ महानुभाव 'भक्तमाल' के आधार पर रास के आरम्भकर्ता श्री नारायणभट्टजी को कहते हैं, परन्तु श्री नामादासजी ने स्वयं भट्टजी के रास से संबंधित होने का कोई उल्लेख नहीं किया है। प्रियादासजी ने अपनी टीका में केवल यही कहा है कि नारायणभट्टजी ने—

“और-और रास के बिलास लै प्रवास किए...।”

इसका अर्थ हमारी सुच्छ बुद्धि के अनुसार यही है कि इन्होंने स्थान-स्थान पर रास के बिलास (रास-स्थल) स्थापित कराये। इस उल्लेख से भी यही प्रकट होता है कि रास व्रज में पहले ही प्रारम्भ हो चुका होगा, जिसके प्रचार की ओर ध्यान देकर भट्टजी ने स्थान-स्थान पर रास-मंडल बनवाये होयें। यदि रास उस समय प्रचलित न होता तो रास-स्थल बनवाने की उन्हें इतनी वीर्यता न होती, परन्तु चाहे भट्टजी रास के सस्थापक न हो फिर भी रास के उत्थान और विकास में भट्टजी की रास के प्रति सेवाएँ रास के सस्थापकों से भी अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण हैं। रास-सर्वस्व से प्रतीत होता है कि भट्टजी ने रास का सारा बाँचा ही बदल दिया था और उसे केवल सगीत-भाव ही न रख कर अभिनय का रूप भी आपने ही दिया था। उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख हम आगे करेंगे।

दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक प्रयत्न करने पर भी श्री घमडदेवजी के जीवनवृत्त की उचित शोध नहीं लग सकी है। जनश्रुति के आधार पर केवल यही निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वे रासलीलाओं के सस्थापक थे। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि करहवा गाँव से भी श्री घमडदेवजी का निकट का संपर्क था और कदाचित् उनकी मृत्यु भी वहीं हुई थी, अन्यथा उनकी

^१ देखिये, आचार्य शुक्लजी का हिंदी-साहित्य का इतिहास (सवत् १९९१ का संस्करण, पृष्ठ २०८।

^२ देखिये, व्रज-भारती वर्ष ४ अंक ४, ५६ संवत् २००३ वि० के पृष्ठ ६ पर प्रकाशित 'नारायण भट्ट' शीर्षक लेख।

समाधि जो श्रद्धाविधि करहला में वर्तमान है, वहाँ न बनाई जाती। रासलीला को करहला जाकर भारभ करना भी यह सिद्ध करता है कि करहला से उनका अवश्य ही निकट का सम्पर्क था। कुछ रासचारियों का मत है कि करहला ही घमडदेवजी का जन्म-स्थान भी है, परन्तु कुछ निर्वार्क-संप्रदायी सज्जन उनका जन्मस्थान पञ्जाब को बतलाते हैं। पञ्जाब में निर्वार्क-संप्रदाय के अतर्गत घमडदेवजी द्वारा स्थापित कुछ प्रसिद्ध गढ़ियाँ भी हैं, किन्तु यह भी अभी शोध का ही विषय है कि करहलावाले घमडदेवजी और पञ्जाबवाले घमडदेवजी एक ही महानुभाव थे या पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व थे। यहाँ हमें इस विवाद में जाने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी हम इस सच में इतना तो कह ही सकते हैं कि हमारी रास-लीलाओं के जनक घमडदेवजी स० १५४८ के लगभग अवश्य वर्तमान रहे होंगे, अतः यदि वह नारायण भट्ट के पूर्ववर्ती नहीं भी हो तो भी उनसे बयोबुद्ध अवश्य थे। हमारा अनुमान है कि घमडदेवजी की मृत्यु नारायणभट्टजी के आगमन से पूर्व ही हो चुकी थी, अन्यथा नारायणभट्टजी रास के विकास और संस्कार में अवश्य ही उनका सहयोग प्राप्त करते, किन्तु उसका उल्लेख 'रास-सर्वस्व' तथा अन्य ज्ञातव्य-सामग्री में नहीं होता है।

जैसा उल्लेख है कि घमडदेवजी ने करहला निवासी खेमकरण तथा उदयकरण के सहयोग से रास का भारभ किया और तभी से करहला गाँव (जो पुराणों में राधिकाजी की भ्रान्त्य सहचरी ललिता जी की जन्मभूमि के नाम से उल्लिखित है^१) रासलीला का केंद्र बना और आज भी है। जब नारायणभट्टजी ने रास को आस्थायी रूप दिया तो उन्हें भी करहला के ब्राह्मण 'रामराय' और 'कल्याणराय' का सहयोग लेना पड़ा था।

इस विवरण से भी यही प्रगट होता है कि घमडदेवजी ही नहीं बल्कि उनकी पीढ़ी के उदय-करण और खेमकरणजी, नारायण भट्टजी के ब्रज भाते-भाते अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चुके थे, अन्यथा श्री नारायणभट्ट को करहला के ही दूसरे ब्राह्मणों को अपने सहयोग के लिये बुलाने की आवश्यकता न पड़ती।

यह सोचना भी अमूर्तपूर्ण है कि श्री नारायणभट्टजी ने किसी ईर्ष्या या द्वेष के कारण इन लोगों का सहयोग न लिया होगा, क्योंकि वे अत्यंत ही निष्पक्ष भगवद्भक्त-विभूति थे। साथ ही यदि वह किसी ऐसी भावना से प्रेरित होकर कुछ व्यक्तियों की उपेक्षा करते भी तो उपेक्षित लोगों का एक पृथक् विरोधी दल अवश्य ही उनके विरुद्ध उठ खड़ा होता, जैसे कुछ समय पहले ही दार्ये-नार्ये मुकुट के एक व्यर्थ के विवाद को उठाकर ही रासचारियों में घोर द्वंद्व हो चुका है, परन्तु उस समय ऐसी किसी भावना का आभास तक नहीं मिलता। श्री नारायणभट्टजी को तो ब्रजवासी मात्र का सहयोग रास के विकास के लिये प्राप्त हुआ था।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि आज से लगभग ४५० वर्ष पूर्व कला के विकास की दृष्टि से ब्रज में यह कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण हुआ। जिस प्रकार ब्राह्मणों ने ऋग् से पाठ, साम से गायन, यजु से अभिनय और अथर्व से रस लेकर सस्कृत-साहित्य में नाट्य-शास्त्र का पंचम वेद बनाया ठीक उसी प्रकार से ही ब्रज के कलाकारों ने भी भागवत से प्रेरणा, छन्दोबोध से गायन, अनुभवी कलाकारों से अभिनय और रसिक धिरोमणि भगवान् श्री कृष्ण के जीवन से रस लेकर ब्रज-संस्कृति का प्रभर मदेन घर-घर वितरित करने के लिये 'रासलीला' को प्रवर्तीक किया।

श्री घमडदेवजी के बाद सन्-संवत्वार रास के स्थापकों का उल्लेख रास-सर्वस्वकार ने किया है। कहते हैं कि घमडदेवजी के साथी उदयकरण और खेमकरण के बाद 'उदयकरण' के पुत्र 'विक्रम' ने रासलीला की बागदोर संभाली और रास का चमत्कार दिखाकर न केवल श्रीरंगदेव को ही चकित किया बल्कि बाद में महाराज जयसिंह को भी प्रभावित कर के करहला के रानबागियों के

^१. श्री सत्तिताराजी की जन्म-भूमि करहला नहीं 'रीठौर' ग्राम है, जो बरसाने के निरन्तर है।

मकान पक्के बनवाये, जो भव भी वहाँ वर्तमान है और 'झूलावारा' मंदिर तथा 'रास-चौतर' भी उक्त महाराज से ही बनवाकर अपने आप को 'महल-हूवेलीवाले रासवारियो' के नाम से विख्यात किया। इन महल-हूवेलियों के खड्हर और उन रासवारियों के वंशज भव भी करहला में विद्यमान हैं और यह भव भी 'महल-हूवेलीवाले रासवारी' बहे जाते हैं, परन्तु इसके बाद ही अष्टाचार फैल जाने के कारण करहला के रास का प्राचीन गौरव क्षिप्त-भ्रष्ट हो गया, जो फिर से विहारीलाल ब्राह्मण (रास-सर्वस्वकार के पिता) द्वारा स्थापित किया गया। ग्रंथ में इन घटनाओं का जो काल दिया गया है, उनका विवेचन स्थानाभाव के कारण यहाँ उचित न होगा फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि 'रास-सर्वस्व' में घटनाओं का जो समय दिया गया है वह अधिकशत अनुमान पर ही आधारित प्रतीत होता है। करहला रास का मुख्य गढ़ रहा है, यह उस गाँव के वातावरण से ही स्पष्ट लजित होता है, परन्तु कालांतर में उसने उसके विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया। वास्तव में उसके व्यापक प्रचार, मौलिक सुधार तथा विकास का सारा श्रेय श्री नारायणभट्ट और उनके परिकर को ही है।

हमारा अनुमान है कि ब्रज में आकर श्री नारायणभट्ट ने रास का जो स्वरूप प्रचलित देखा वह उन्हें अधिक भावार्थक प्रतीत नहीं हुआ। भट्टजीने करहला के ही दो ब्रह्मण 'रामराय' और 'कल्याणराय' के अतिरिक्त वादवाह की सेवा से भवदाश प्राप्त सुप्रसिद्ध नर्तक 'वल्लभ' के सहयोग से रास को शास्त्रीय रूप देकर प्रचलित किया और रास के नव विकास की योजना बनायी। रासलीलाओं की इस शास्त्रीय परंपरा का आरम्भ इस बार बरसाने की रस-सिक्त भूमि से—जो करहला के अति निकट रासेश्वरी राधिकाजी का प्रसिद्ध स्थान है, से हुआ। इन रासलीलाओं के आरम्भ की स्मृति भव भी बरसाने में प्रत्येक भाद्रपद मास में राधा-अष्टमी के पुष्प-मर्च पर "बूढ़ी लीलाओं" के मेले के रूप में समस्त ब्रजवासियों द्वारा बड़ी श्रद्धा और प्रेम से मनाई जाती है। श्रीनारायणभट्टजी ने ही इस बूढ़ी लीला को आरम्भ किया और स्थान-स्थान पर पृथक्-पृथक् लीलाओं का स्थान निर्दिष्ट कर के रास-मंडलों का निर्माण भी कराया, बैसा कि भक्तमाल के अतिरिक्त ध्रुवदासजी के निम्न दोहों से भी प्रकट होता है—

“भट्ट नराइन अति सरस, ब्रज-मंडल सो हेत ।

छोर-छोर रचना करी, निकट जान सकेत ॥”

नारायणभट्टजी द्वारा संस्थापित यह परंपरा बड़ी लोकप्रिय सिद्ध हुई और रासलीला का बड़ा विकास हुआ। नर्तक वल्लभ का सहयोग रास की सफलता का एक प्रमुख कारण बना। यह नर्तक बड़ा गुणी था। वल्लभ की नृत्य-कुशलता की सराहना स्वयं नामादासजी ने निम्न छंद्य में की है—

नृत्य-गान-गुन-निपुन, रास में रस-बरसावत ।

भव लीला ललितारि बलित, वंपतिहि रिसावत ॥

अति उदार विस्तार, सुजस ब्रज-मंडल राजत ।

महा भट्टोच्चय करत, बहुत सबही सुख साजत ॥

श्रीनाराइन भट्ट प्रभु, परस प्रीति रस-वस किए ।

ब्रज वल्लभ वल्लभ परस, दूरसम सुख नैन दिए ॥”

वल्लभजी की नृत्य-कुशलता और नट-नागर भगवान् श्रीकृष्ण के नृत्य-प्रधान व्यक्तित्व का रास पर बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ा है। रास के प्रत्येक संवाद और कवनों में इगितो और नुलों का प्रचलन सर्वत्र व्याप्त रहता है।

इस प्रकार नारायणभट्टजी ने रास के मूल रूप का जीर्णोद्धार कर के उसे शास्त्रीय रूप दिया और इस दृष्टि से वह निश्चित रूप से रास-लीलाओं के एकमात्र आधार बने जाने चाहिये, क्योंकि उनके बाद रास की निश्चित प्रणाली में कोई विशेष परिवर्तन किये गये ही ऐसा प्रतीत नहीं होता। उन्होंने स्थान-स्थान पर रास-मंडल स्थापित करा कर उनका लोक-जीवन में अग्रिम भूषण तो स्थापित किया ही जैसा कि प्रियादासजी ने लिखा है, साथ ही उन्होंने इस से भी महत्त्वपूर्ण कार्य यह

किया कि रास को केवल संगीत तक ही सीमित न रख कर नृत्य, वादन और गायन के साथ-साथ अत में उसे अभिनय का रूप भी दे दिया, यद्यपि यह किया उन्होंने धार्मिक-कारणों से ही था। इस प्रसंग को रासधारी 'रावाकृष्णजी' ने निम्न प्रकार लिखा है—

“कुछ दिन पीछे भए विचार। प्रघटचौ भाव जबपि संसार॥
रास-बिलास स्वामिनी प्यारी। सखी-भाव जिन नहिं अधिकारी॥
प्राकृत रंपति लीला माहीं। परिचारक कोउ प्रबसति नाहीं॥
रहै पास तिहि अवसर दासी। जो स्वामिनि की कृपा निवासी॥
प्रभु के भक्त अनेक विधाना। उज्जल सख्य, दास्य रस-नाना॥
तिन कहैं सुख उपजै जिहि भाँति। प्रभु-यव में मन रह दिन राती॥

अस बिचारि हरि की ललित, लीलें की अनुहारि ।
रसिक नाराइन भट्ट नें, प्रयित किया ससार ॥
जिहि प्रकार रहि प्रेम दुःख, निखिल भक्ति जिय होइ ।
तिन-जिज रवि हरि-भाव कर, सुख पावैं सब कोइ ॥”

इस प्रकार नित्यरास के साथ होनेवाली भगवान् की जीवन-वटनाशो के अभिनय का सुन-पात करने का श्रेय भी भट्टजी को ही है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि श्री नारायण भट्टजी ने यद्यपि रास का स्वरूप एकदम बदल दिया, परंतु फिर भी उन्होंने नित्य-रास की उस प्रणाली को ज्यों की त्यों रास के आरंभ में हीर्य स्नान दिया, जो श्री धमदेवजी द्वारा सस्थापित श्री और इन प्रयत्नों का ही यह परिणाम था कि रास लोकप्रिय हो गये और यह लीलाएँ ब्रज की कला के संरक्षण के साथ ही कृष्ण-चरित के प्रचार का मुख्य माध्यम बनी। इन रासलीलाओं का जनता पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता था। भक्तमाल में लिखा है कि प्रसिद्ध रामोपासक भक्त 'अलि भगवान्' रास-लीला के देखने मात्र से अपनी सारी भट्टरता छोड़कर कृष्णोपासक हो गये^१ और गुरु के देहावसान से व्यथित हरिदासजी के शिष्य विठ्ठल विपुल जिनका कविता-काल स० १६१५ के लगभग है,—रास देखते ही देखते इतने रस-मग्न हो गये कि उनका शरीरात्^२ ही हो गया। इस घटना से रास में रस की निष्पत्ति की चरमसीमा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची प्रतीत होती है। भक्तों की दृष्टि में तो उस समय यह अभिनय ही भगवान् का वास्तविक रास था, तभी तो शरदपूर्णिमा के रास में नृत्य करते हुए राधा बने हुए स्वरूप के चरण का घूँघरू टूट कर गिर जाने पर सुप्रसिद्ध भक्त कवि श्री आसजी ने निस्संकोच अपना जनेऊ तोड़कर बाँध दिया था, जैसा कि भक्तमाल में उल्लेख है^३—

सरद ज्यारी रास रच्यो पिय प्यारी तामें, रंग बाढ्यो भारी कैसें कहि कें सुनाइए ।
प्रिया भति गति लई, बिजरी ली कोंधि गई, चकाचोंधि भई छवि-मंडल में छाइए ॥
नपुर सो टूट-छूट परची अवरेख्यो मन, तोरिकें जनेऊ कस्यो बाही भाँति भाइए ॥
सकल समाज में यो कहैं आज काम आयो, दीयो हो जनस ताकी बात जिय भाइए ॥”

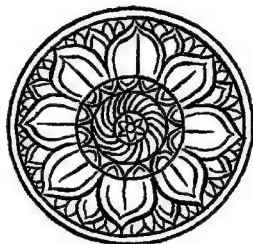
इस प्रकार ब्रज में ब्रज-संस्कृति और हिंदी का यह प्रथम रंगमंच अपने आरम्भकाल से ही रागात्मक, व्यापक और प्रचलित रहा, परंतु आश्चर्य है कि हिंदी का रंगमंच स्थापित करने में इससे कोई प्रेरणा नहीं ली गयी, यद्यपि इसमें सभी नाटकीय तत्वों का उचित समिश्रण मिल जाता है। वैसे भी रास का रंगमंच बहुत सरल तथा आबबर हीन है।

१. अलि भगवान् राम-सेवा साधवान मन, बुंदावन आए कछु औरें रति भई है ।
वेखे रासमंडल में बिहुरत रस-रास बाही छवि-न्यास दृग सुधि-बुधि गई है ॥
२. जगल सरूप प्रबलोकि नाना नृत्य-भेद, यौन, तान सुनि रहौ न सहार है ।
मिल गए बाही छोर, पायो नाम तन और, कहै रस-सागर सो ताकौ यो बिचार है ॥

एक छोटे से भ्रामताकार मंच पर पीछे एक पिछवाई और आगे एक यवनिका डालकर ही रास का मंच तैयार हो जाता है। मंच के ऊपर मध्य में राधाकृष्ण का एक छोटा सिंहासन और पार्श्व में गोपिकाओं के लिये चौकियाँ या आजकल प्रायः कुर्सियाँ डाल दी जाती हैं। मंच के नीचे आगे की ओर मडलाकार या चतुरस्त स्थान नृत्यादि के लिये खाली छोड़ दिया जाता है और इसके बाद सामने फिर रंग-विरंगी वगलवदियाँ डाले और मस्तक पर पागो की पताका-सी फहराता हुआ रास-मडली का सगीत-समाज बैठता है। पर्दा पुलते ही कटि-काछनी व किरीट-धारण किये भगवान् ब्रजराज की बजागनाओं से घिरी हुईं झाँकी होती हैं। ब्रज-गोपिकाएँ राधा-सहित यहाँ की प्रसिद्ध पोशाक "लहंगा-फरिया" धारण करती हैं। रासारम के पूर्व रास-मडली का सगीत-समाज विविध-पदों द्वारा भगवाचारण करता है फिर भारती के उपरांत "नित्यरास" आरंभ होता है, जिसमें गायन व नृत्य का प्राधान्य होता है। नित्यरास के उपरांत किञ्चित् विश्राम होता है और फिर भगवान् कृष्ण की किसी एक जीवन-घटना का अभिनय होता है।

रास की सब से बड़ी विशेषता है उसका नृत्य प्रधान होना। जैसा कि हम पहले निवेदन कर चुके हैं, यह नृत्य ब्रज के ठेठ नृत्य है, जो आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व की ब्रज-संस्कृति के मर्म की छिपाये अपने उसी रूप में किञ्चित् परिवर्तनों के साथ विद्यमान है, परन्तु इन सब नृत्यों का आधार भी अति प्राचीन 'भरतमुनि' के 'नाट्य-शास्त्र' में उल्लिखित "रासक" के ही अनुसार है। भरत ने रासक को एक उपलम्भ माना है और उसके तीन भेद किये हैं। इन तीनों भेदों का मिश्रण रास के वर्तमान नृत्यों में मिल जाता है। ताल के अनुसार विभिन्न नृत्यों द्वारा रास में—"ताल-रासक" और हाथ में डंडा ले कर उन्हें बजाते हुए नृत्य में—"दंडरासक" और "द्वै-द्वै गोपी विच-विच साधव" का मडलाकार नृत्य द्वारा प्राचीन "मडलरासक" का स्वरूप रासलीलाओं में आज भी दृष्टिगम्य है।

रास के इतिहास और विकास से यह अली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अब तक रास का ब्रज के लोक-जीवन से घनिष्ठ संपर्क रहा है, परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि अब धीरे-धीरे यह संपर्क घटता जा रहा है। इसका कारण यह है कि रास पर वास्तविकता का जो भारी आवरण पड़ा है वह नव-शिक्षित महानुभावों की दृष्टि सहज ही इस ओर आकर्षित नहीं होने देता। साथ ही रास-मंडलियों के गढ़ गाँवों में होने के कारण नगर की परिवर्तनशील रुचि के अनुसार रासलीला-अंशाली में कोई सुभाव नहीं दिया जा सका है। रास को दीर्घजीवी बनाने के लिये अब शीघ्र ही कोई प्रयास होना अत्यावश्यक है।



ब्रज-जनपद की एक विशेष काव्यधारा : ख्याल-लावनी

श्री रतनलाल धंसल

ब्रज-जनपद की यदि हम उन काव्य-धाराओं का पर्यवेक्षण करें, जिन्होंने साधारण जनता की रसभूति को जाग्रत रखा और उस पर धार चढ़ाई तो हमें ज्ञान होगा कि ख्याल या लावनी ने इस महत् कार्य में कितना महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

ख्याल या लावनी मुख्यतः उस वर्ग का साहित्य है जिसे हम नगरों में रहनेवाला श्रमजीवी-वर्ग कह सकते हैं। यह वर्ग ग्रामों से दूर पठ जाने के कारण एक ओर राजपूती होली, जिकडी के भजन, डोला, रसिया आदि ग्रामीण-साहित्य के उपादानों से अपनी तृप्ति करने में असमर्थ था तो दूसरी ओर अपनी शिक्षा-सवयी विशेष स्थिति के कारण पचाकर-बिहारी जैसे कवियों के काव्यामृत से भी लाभ न उठा सकता था। ऐसी स्थिति में ख्याल-लावनी-साहित्य की उत्पत्ति हुई और उसके प्रचार, प्रसार का भी मुख्य श्रेय जनता का यही वर्ग रहा है।

ख्याल-लावनी का ब्रज से संबंध

आज भारतवर्ष और पाकिस्तान के उन सभी भागों में ख्याल-लावनी के कहने-सुननेवाले मिलते हैं जहाँ हिन्दी-उर्दू बोली—समझी जाती है। यह स्थिति इस शका को उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त है कि फिर भी क्या हम ख्याल-लावनी-बोली की जन्म-भूमि ब्रज को मान सकते हैं।

इस सवध में इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि ख्याल-लावनी-बोली की उत्पत्ति और विकास का कोई ऐतिहासिक और प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, किंतु यह निश्चित है कि आगरा और उसके आस-पास ही इस बोली का जन्म और विकास हुआ है। ख्याल-गोई के एक पुराने आचार्य श्री रिसालगिरी जी आगरे में ही थे और आज भी ख्याल-बाजों के एक प्रधान संप्रदाय तुर्रवाले के प्रधान गुरु जनाब मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब 'आशिक' आगरे की इस विशेषता और महत्त्व को कायम रखते हुए हैं। इसके अतिरिक्त ख्याल-गोई के जितने संप्रदाय हैं, जैसे—'कलगीवाले', 'तुर्रवाले', 'सिहरवाले', 'छतरवाले', 'मुकुटवाले', 'डडावाले', 'दतवाले', 'लोडेवाले' आदि उन सबकी यदि गुरु-परंपरा का अन्वेषण किया जाय, तो इन सबका विकास 'ब्रज-जनपद' से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं है कि ख्याल-लावनी की जन्म-भूमि होने का गौरव ब्रज-भूमि को ही प्राप्त है।

भिन्न-भिन्न संप्रदायों का आधार

ऊपर ख्याल-गोई के अनेक संप्रदायों के नाम दिये गये हैं। वास्तवमें मुख्य संप्रदाय दो ही हैं—(१) तुर्रवाले, (२) कलगीवाले। तुर्रवाले अपने को 'ब्रह्मवादी' और कलगीवाले अपने को 'भाषावादी' कहते हैं। यह मान्यता इस अन्वेषण की अपेक्षा रखती है कि कहीं इस विभिन्नता का प्रारंभिक सवध योगी-संप्रदाय के पुराने मत-मतान्तरों से तो नहीं है? पर इतना स्पष्ट है कि दार्शनिक सिद्धांतों सवधी मत-भेद यदि कभी इस विभिन्नता का आधार रहा भी, तो वे कुछ ही दिन चले और बाद में तो इनका आधार केवल भिन्न गुरु-परंपरा ही रहा है। इनके अतिरिक्त जो अन्य संप्रदाय हैं, वे प्रायः इन दोनों संप्रदायों से ही निकले हुए कुछ ऐसे बिग्रीही प्रकृति के आचार्यों को देन हैं, जिन्होंने अपने गुरु से थोड़ा-सा मतभेद उत्पन्न होते ही उनकी छाप अपनी रचनाओं पर लगानी छोड़ दी और अपना एक स्वतंत्र 'अखाड़ा' कायम कर लिया।

क्याल : लावनी-शैली की लोक प्रियता का रहस्य

वास्तव में क्याल-लावनी की शैली ही हमारे काव्य-साहित्य की एक मात्र ऐसी शैली है, जो यद्यपि एक विशेष जनपद में उत्पन्न हुई, फिर भी वह शीघ्र ही समग्र हिंदी-उर्दू-भाषा-भाषियों के मध्य लोक-प्रिय हो गई। भाषा सबधी बड़े-बड़े कटु विवाद चले, राजनैतिक कारणों से भी सांप्रदायिक उत्तेजना अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची और उसने समस्त देशको जला डाला, किंतु क्या यह कुछ कम गौरव और भास्वर्य की बात है कि 'माँ सरस्वती' के उपासकों का यह छोटा-सा वर्ग इस भाग से न केवल अछूता ही रहा, बल्कि निरंतर इस भाग को बुझाने में प्रयत्नशील रहा है।

इसका एकमात्र कारण यह है कि क्याल-लावनी-शैली का जन्म ही साधारण जनता के लिये सुबोध-सरल-साहित्य को जटिल करने के उद्देश्य से हुआ था। बोल-वाल की भाषा ही इस साहित्य की भाषा थी, अतः न कहीं हिंदी-उर्दू का प्रश्न था और न हिंदू-मुसलमान का। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक जनपद के एक विशेष वर्ग ने इस शैली का स्वागत किया और इसके कलाकार उत्पन्न किये।

क्याल-लावनी-शैली की लोक-प्रियता का दूसरा आधार उसकी निरंतर प्रगतिशीलता है। ऊपर कहा जा चुका है, कि इस शैली का क्षेत्र नागरिक अभिक-समाज रहा है। देश की राजनैतिक, सामाजिक प्रगतियों का इस समाज से सीधा संपर्क रहता ही है अतः उसका प्रभाव इस शैली की रचनाओं पर भी पड़ता रहा। यही कारण है कि आपको प्रत्येक क्याल-गो से दो चार ऐसे क्याल सुनने को मिल सकते हैं, जो देश और समाज की वर्तमानस्थिति से संबंधित होंगे।

कुछ उदाहरण

क्याल-लावनी-शैली के इस विवरण को जान लेने के पश्चात् अब उत्कृष्ट क्यालों के कुछ उदाहरण सुनिये। ये विरह-अधान एक क्याल के कुछ अंश हैं —

“तकूँ हूँ मारग, मैं बन बियोगन खबर हमारे न कत की है।
तब्य रहे हैं ये प्रान पी-बिन, अनीति ता पै बसत की है ॥
तजी है पीतम ने प्रीति मेरी, सखी ये लीला लिखत की है।
लगन बुझाऊँ मैं मन की कैसे, सखी ये अगिनी इकत की है ॥
तपन बढ़ाये मदन बिलासी, बिचल गद्दी गति अपत की है।
तनी है तल में मदन की गरमी, जहाँ न हिंमत हिंमत की है ॥
त्रिकाल मो पै प्रबल चढ़ाई, इतै तो इति पति असत की है।
तरस गनी उस बसंत की है, रिनु में होली के तत की है ॥
तमाल फूल अनेक तिन पै, अनीति मयुकर अनत की है।
तब पलासन पै जोग छापी, मदन की गद्दी महत की है ॥”

वियोग के इस वर्णन के पश्चात् एक सुंदरी का नय-सिख-वर्णन सुनिये—

“तोहि रूप की रासि बिरचि-रची, चित्तचोर अपल चपला रबनी।
चपक-चरनी, भुनि-मन-हरनी, रतिनाय-बिमोहन ससि-यवनी ॥
अति कोमल अंग अनग-भरी, कल-कचन-रंग जुगय सनी।
कच कंचित कृस्न कपोलन पै, लट लटफत जनु लहरात फनी ॥
भूकुटो बर बंक विसाल बिसब, बिलसत बसनी अति तीव्र तनी।
मनु विस्व-विजै-रहित कोप किये, कुटिलकृत काम कमान तनी ॥

शेर

कहूँ क्या-क्या मैं इन आँखों की करनी,
किये मृग मीन बस कर-कर के भरनी।

निरख अजन छुपे खजन विचारे,
ये अंजन मान, रजन प्राण बरनी ॥

नासा तिल-सुधुम-समान सुभग, मुक-नुड-निलडन सुख-सदनी ।
चंयक-वरनी, मुनि-भन-हरनी, रतिनाथ-विमोहन ससि-बदनी ॥”

इसी प्रकार किसी सुदरी के शीशफूल का वर्णन करते हुए ख्याल-गोई के एक पुराने आचार्य
५० ‘रूपकिशोर’जी ने कहा है—

“हूँ सीस पर ससिफूल सोमित, सरूप आभा अखड का हूँ ।
मनो भुजगो की भूमिका पै, निवास श्री भारतड का हूँ ॥
सजाये तौनें विचित्र भूषन कि जैसी भूषित तू सुदरी है ।
खिला है जमना में पीत-पकज कि जिसमें दिनकर की बुत्ति भरी है ॥
ये फूल तेरे ने आज उपमा, गगन में गुरु की हरन करी है ।
कलक-सिखर पर कि वासुकी ने, उगल के मस्तक पै मनि धरी है ॥

शेर

धृतावी औ सची रति काम चेरी,
कोई यह कर सकें समता न तेरी ।
रची तू बाल विधि ने बिस्व-मोहन,
भये है स्याम वस मुख बब हेरी ॥
बनाया किसने ये फूल जिसमें, प्रकास भनि-गन प्रबंड का है ।
मनो भुजगो की भूमिका पै, निवास श्री भारतड का है ॥

(२)

उदित अवेरी में आज भुगु है कि जिनमें आभा है सोवरन की ।
मथंक हो निष्कलक बंठा, बिछा के पर्जक नीलमन की ॥
चढ़े है काली के सीस केसव, सपथ उठा के प्रकासपन की ।
किया है मंगल ने बास चौको-बिछा के मरकत कनो के गन की ॥

शेर

किवों कर बास गोलाकार धन में,
चपल थिर हो के बंठी स्याम-धन में ।
तेरे भूषन ने सौ दूषन लगा के,
कलकित कर दिखे गहने धरन में ॥
धरन डटोले हैं आतरन सब, न बल किसी में धमड का है ।
मनो भुजगो की भूमि का पै, निवास श्री भारतड का है ॥

(३)

दिया सुवरसन ने दिव्य दरसन, वो आके कज्जल के कूट-ऊपर ।
कि नील परबत की इक सिखर पर, गिरा है नच्छत्र टूट ऊपर ॥
या निसिचरो ने समूह सज के, समर में सुरपति से लूट ऊपर ।
शुषा-भरित सोवरन का कलसा, घरा धरन कालकूट-ऊपर ॥

शेर

सुमन की जोति ऐसी जगमगी है,
अंधेरी रात में अगिली लगी है ।

किन्धो अलि-माल पै तारा-भवन-जुल,

प्रबानक आई अरुनोदय जगी है ॥

कहीं है सिर सीसफूल चंबा, ये राति आधी निखंड का है ।

मनो भुङ्गो की भमिका पै, निवास श्री मारतंड का है ॥”

सहृदय पाठक अनुभव करेंगे कि उपमा-उत्प्रेक्षादि अलंकारों की दृष्टि से यह रचना हमारे साहित्य की अच्छी से अच्छी रचनाओं से टक्कर ले सकती है । शृंगार के पश्चात् अब मन की चंचलता पर भी कुछ पवितर्या सुनिये—

“फिरै है बहुत और मन ये चंचल, फिरै तो चिरना इसे नहीं है ।

अनै है भोरे की भाँति नित-दिन, कभी कहीं और कभी कहीं है ॥

कभी तो कूँदै सुमेर-ऊपर, कभी गिरै अचकूप में यह ।

कभी गहँ छाँह उपवनो की, कभी जलै ज्वाल-धूप में यह ॥

कभी बने धर्म-ध्यान की धुल, कभी मिलै पाप रूप में यह ।

कभी तो दुख-बाहू भूरि भोग, कभी वसै सुख अनूप में यह ॥

घोर

कभी चैतन्यता तज के, जो मूरखता में आता है,

तो सोना फेंक बेता है, उठा मिट्टी को लाता है ।

कभी हो काम-वस अथा, विषय-वन में बिचरता है,

जती, सुरपति सरिस तज के, बरिद्धो इसको भाता है ॥

न अँच देखै, न नीच देखै, सगै जहाँ रम रहै घहीं है ।

अनै है भोरे की भाँति नित-दिन, कभी कहीं और कभी कहीं है ॥”

स्वानुभूति

ख्याल-लावनी-पद्धति पर रीति-कालीन काव्य की भी छाप प्रमुखता से दीख पड़ती है, इसी लिये पुराने ख्याली में प्रायः वही राधा-कृष्ण की प्रणय-कथाएँ या नायिका का नख-चिख-वर्णन है, किंतु कभी-कभी किसी ख्याल से स्वानुभूति-परक भी बड़े सुंदर खयाल सुनने को मिल जाते हैं, जिसमें कवि अपने निज का सुख-दुख गाकर अपने मन का भार हलका करता है । ऐसे ही एक ख्याल में कोई कवि आये (पीहर) गई हुई अपनी पत्नी के वियोग से व्याहत होकर गा उठा था—

“प्रभात परसो से प्राण प्यारी, गई है पीहर बियोग करके ।

बिरह के बारिधि में प्राण भेरे, बिकल हूँ प्यारी-वियोग करके ॥

रही न नैनो में नींद बैरिन, लगे पलक पर पलक न भेरे ।

सताई संताप-ताप तन में, बिनोद सब तज गये बसेरे ॥

बिलास बिसरे निरास करने, झुलास अपने रहे न भेरे ॥

न अंग में कुछ उमंग छोड़ी, न तंग छोड़े, फिरै हूँ घेरे ।

अरे बिसासी बियोग बैरी, बने हूँ जानक विचित्र तेरे ॥

लगे न जप-तप में चित्त अपना, जो मुझ को जीतूँ प्रयोग करके ।

बिरह के बारिधि में प्राण भेरे, बिकल हूँ प्यारी-वियोग करके ॥

तड़ित घटा-धन, मराल, मधुकर, कुरंग, मातंग, मीन, खजन ।

कपोत, करमंड, कीर, केकी, चकीर, चकया, कमींद, कजन ॥

प्रयक, मुक्ता, प्रवाल, उटुगन, गुताय, कदली, अनार, चदन ।

सरोज, ओफल, मनोज, मृग-मद, प्रिया, भये है बिना मुबित मन ॥

ये आज सब मन-मगन हैं जैसे, जनम दरिद्री को मिल गया धन ।
करे न लज्जित तू इनको आके, ये मान मेरे करे हैं छडन ।।
वियोग तेरे में बन को जाऊँ, तो कैसे जीऊँगा जोग करके ।
विरह के धारिणि में प्रान मेरे, बिकल हूँ प्यारी-वियोग करके ।।”

हास्य

हास्य-विनोद की भी ख्याल-लावनी में कमी नहीं है। शिष्ट हास्य का एक नमूना देखिये। कवि कल्पना करता है कि श्री कृष्ण जी एक रात को देर से राधा जी के द्वार पर पहुँच कर उनके किवाड़ खट-खटते हैं। माननी राधा समझ जाती हैं कि किवाड़ खटखटानेवाला कौन है, पर वे चुप हो जाती हैं। तब श्री कृष्ण जी उनको आवाज देते हैं और इस पर राधा से उनका कैसा विनोद-पूर्ण वातावरण होता है—

“हे प्रान प्रिया, उठ, खोलो कँक-किचारे। तुम को हौ, पिछली रात पुकारन-हारे ?
हम माघव हैं, सधुरी धुनि-धारन हारे। तो बसौ आइ, तिरवेंनी नखी किनारे ।।
हम हैं ब्रज नायक, ब्रज-वन-विचरन-हारे। जाओ टोडे 'मैं, जहाँ बसे बनजारे ।।
हम हैं स्योन, तो घर-घर करी उतारे। तुम को हौ, पिछली रात पुकारन-हारे ।।
हे प्यारी, हम तो हैं घनस्थान पिधारे। तो बरसौ, वन-बागन में गरज-सहारे ।।
हम भोगी हैं, बस भोग-बिबास हमारे। तो चाहिये वन में बास, इकत तुम्हारे ।।
हम हैं बनबारी, वन में करी गुजारे। तुम को हौ पिछली रात पुकारन-हारे ।।
हम रागी हैं, अनुरागी पुरुष विचारे। ती राय-अलापी, द्वार बजा इकतारे ।।
हम हैं विरही, ब्रजचव विरह के भारे। तो बसौ, विरहनी-ललिता के घर न्यारे ।।
हैं हरी, तो क्यों बँकूठ बिहार-बिसारे। तुम को हौ पिछली रात पुकारन-हारे ।।”

इस प्रकार श्री कृष्ण एक के पश्चात् एक नाम और संबोधन बताते गये और राधा मनजानी-बनी उनको यथोचित उत्तर देती गयी, पर अंत में यह समस्या कैसे सुलझी, इस सब में कवि चुप रह गया है।

सामयिक

ऊपर कहा जा चुका है कि ख्याल-लावनी-शैली की एक विशेषता उसकी निरंतर प्रगतिशीलता है। वह जिस समाज का साहित्य है, उस राष्ट्र और समाज के अतर्गत चलनेवाले प्रत्येक सधर्ष में उसका मुख्य भाग रहता है, अतः सामयिक समस्याओं और घटनाओं से यह साहित्य अछूता रह भी कैसे सकता था ?

सामयिक घटनाओं पर भी ख्याल व लावनी के कवि की अभिव्यक्ति कैसे सफल होती है, उसका प्रमाण निम्नांकित प्रतियाँ हैं, जो किसी ख्याल-वाज ने 'राष्ट्र-पिता' के वलिदान पर लिखी थी—

“एक वधिक जाचक वन आया, दे जीवन का वान चले ।
इंद्रप्रस्थ से इन्द्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले ।।
तीन गोलियों के लयते हौ, सरीर को सज प्रान चले ।
गगन-मही परचरा उठे और अस्ताचल को भान चले ।
चंद्रकला बिलगाई गई, उड़गन भी कर प्रस्थान चले ।।
सर-सरिता श्री-हुत से निरखें, गीताविक बुझ मान चले ।
इंद्रप्रस्थ से इन्द्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले ।।

(२)

ब्रह्मा, विष्णु, अखंड अजन्मे, अखंड ज्योति-निधान चले ।
अपने को आपे में मिलाने, आप रूप भगवान चले ।।
भारत माँ की वव छुड़ाई, पाके पद-निर्बान चले ।
भुक्त हुआ जब वस आप भी, ले मुक्ति का मान चले ।।

अग्नि, धरन, आकास, पवन, पानी का कर मुक्तान चले ।
इन्द्रप्रस्थ से इन्द्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले ॥

अथवा—

न दूढ़े बयो हाथ वो सितम गर, चलाई थीं गोतिर्यां जी भर के ।
हिला न जालिम का किस लिये दिल, हुए न दुकड़े रिवालवर के ॥
बना कलेजे को अपना पत्थर, चला तमचे को ध्यान करके ।
छिपाया हाथों के बीच उसको, मुका था पावों पे शीश धर के ॥
यह पास आने का था बहाना कि सीढ़ियों पे से चढ़-उतर के ।
कठोरता के विचार बदले, अभाग उस नारकीय नर के ॥

और

महत्मा को अपने निसाना बनाके,
किया अंग छलनी तमचा चलाके ।
रहे हाथ जोड़े खडे वो सभा में,
हरे राम, हरे राम को रट लगा के ॥

खबर किसी को हुई न इसकी, जो बार पे इन बे-खबर के ।
हिला न जालिम का किस लिये दिल, हुए न दुकड़े रिवालवर के ॥”

ख्याल-सावनी-शैली के भविष्य के सवष में आज कोई आशावाद बात नहीं कही जा सकती ।
रास-सीताओं में आज जनता को वैसा आकर्षण नहीं रहा, जैसा १५-२० वर्ष पहिले था । होली, डोला,
आल्हा आदि के भी पहिले जैसे अखावे अब नहीं जमते । मानव-स्वभाव ही परिवर्तन ग्रिय है और वह
प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन चाहता है । पिछले दस वर्षों में ख्याल-सावनी के प्रति जनता के आकर्षण में
भी न्यूनता ही आई है, पर यह कोई चिंता की बात नहीं है । चिंता का विषय केवल यह है कि ख्याल-सावनी-
शैली में तो उच्चकोटि की रचनाएँ हैं, वे कहीं काल-समुद्र में लुप्त न हो जायें । इस शैली के
प्रधान-प्रधान आचार्यों की स्मृति-रक्षा का भी प्रयत्न होना चाहिये । खेद है कि इस सवष में हमने
ही कम ध्यान दिया है । आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व श्री ‘अयोध्या प्रसाद’जी पाठक^१ और श्री ‘स्वामी
नारायणानन्द’जी ने ‘विद्याल-भारत’ में दो लेख इस सवष में अवश्य लिखे थे, किंतु इसके पश्चात् इस विषय
पर कोई दूसरा लेख देखने में नहीं आया ।

ख्याल-सावनी-शैली अधिक से अधिक आगामी पच्चीस वर्षों में विगत स्मृति का विषय बन
जावेगी, पर पिछली अनेक शताब्दियों में इसने इस का जो अक्षय दान किया है, उसके लिये हमारे
साहित्य का इतिहास इसे कभी भुलान सकेगा । विशेषतः ‘ब्रज-जनपद’ के इतिहास में तो इसकी उपेक्षा
किसी भी प्रकार भी नहीं की जा सकती, क्योंकि इस शैली की रचनाएँ हमको साधारण जनता की
मानस-भारा के वास्तविक क्षय का परिचय देने की सामर्थ्य रखती हैं ।

— ०० —

^१ प्रस्तुत लेख में पाठकजी के लेख से बहुत सी सामग्री ली गई है, जिसके लिये लेखक श्री पाठकजी
का आभारी हूँ ।—लेखक

सत्यनारायण : कविरत्न

श्री बनारसदास चतुर्वेदी

“जो भोसो हँसि मिले, होत नै तासु निरंतर बेरी ।
बस गुन ही गुन निरखत तिहि भवि, सरल प्रकृति को प्रेरी ॥
यह सुभाष की रोग जानिएँ, मेरी बस कछु नाहीं ।
नित नव विकल रहत याही सो, सहृदय-बिछुरन भाँहीं ॥
सदाँ दास-भोषित-सम बेवस, आध्या मुदित-प्रमानेँ ।
कोरो सत्य ग्राम को बासी, कहाँ ‘तकल्लुफ’ जानेँ ?

—सत्यनारायण

चाँचीस-इकतालीस वर्ष पहले की बात है। श्रीमान् ‘वरमगा-नरेख’ के साथ महामना ‘मालवीय’ जी ‘हिन्दू-विश्वविद्यालय’ का बंदा करने के लिए आगरे पधारे थे। सैकड़ों ही विद्यार्थी उनका मायण सुनने के लिए गये थे। मैं भी इन दिनों आगरा में ही नवें दर्ज में पढ़ता था और श्रोताओं की भीड़ के पीछे दूर खड़ा हुआ था। माननीय अतिथियों के स्वागतार्थ कविताएँ पढ़ी गईं। खास तौर पर एक कविता ने जादू जैसा असर कर दिया। गजी की मिर्जई और दुपलू टोपी पहने हुए युवक ने जब अपने मधुर स्वर में पढ़ा—

“सरल हृदय सहृदय सुख पोहन, अखिल दुरित बल दूषन ।
श्री सखगुन-गान-सदन-मदन-मोहन मालवि कुल-भूषन ॥
जासो ये पाँहुने हमारे, निज-जम को फल जाखे ।
पूरन होइ सकल विधि सो तिन उत्तम हिय अभिलाखे ॥
सकल अभ्युदय सूर्य बेब की, किरन-माल परकासे ।
हृदय-सरस-सर ओज भरै, नित मोद-सरोज-बिकास ॥
जिमि वसंत के राज मुदित मन, बुझावलि चहुँ फूल ।
नैह निरंतर मगन रहे सब, निज पतझर-दुख भूल ॥
तिमि सुठि सुजन रसाल फरै, मुहु मनु भंजरो छावै ।
उपकृत मधुस रसिक गुजारत, तिन को सुजस सुनावै ॥”

उस समय सहस्रो की जनता मंत्र-मुग्ध-सी उस कविता को सुन रही थी। महामना मालवीयजी को भी वह कविता बहुत पसंद आई थी। जब सभा समाप्त हुई तो श्रीमान् मालवीयजी ने उस युवक को अपने पास बुलाकर प्रोत्साहन प्रदान किया। कुछ दूरी पर खड़े हुए हम विद्यार्थी लोग यह दृश्य देख रहे थे। मैंने अपने एक साथी से पूछा, “ये कौन हैं ?” उन्होंने उत्तर दिया, “आगरे में रहते साल भर हो गया है, तुम इन्हें नहीं जानते, ये—‘सत्यनारायण’ हैं ।”

सत्यनारायणजी की साक्षी पर और उनके मधुर स्वर पर यद्यपि मैं उसी दिन मुग्ध हो गया था, पर उनसे साक्षात् परिचय-प्राप्त करने का सौभाग्य ‘भारतीय-भवन’ फीरोजाबाद में ही प्राप्त हुआ था। पिछले चाँचीस वर्षों में यद्यपि सैकड़ों ही साहित्य-सेवियों के दर्शन करने तथा परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य हमें मिला है, पर सत्यनारायणजी जैसा सहृदय, उन जैसा भोलापन कहीं नहीं दोख पड़ा। उनके व्यक्तित्व में एक विशेष आकर्षण था और उसका विश्लेषण करना कठिन है।

सत्यनारायणजी के जीवन की जो बात हमें सबसे अधिक भावित करती है वह है उनकी निस्वार्थ साहित्य-सेवा।

उन्होंने अपने जीवन में कभी रुपये, आने, पाई की हिसाबी-वृत्ति से काम नहीं लिया और वे उस वणिज-वृत्ति से जो हमारे अनेक साहित्य-सेवियों को असमय में ही ग्रस लेती है, सर्वथा दूर ही रहे। जहाँ तक हम जानते हैं उन्होंने अपनी किसी पुस्तक से एक भी पैसा नहीं कमाया। उनकी कविताएँ—स्वात सुखाय होती थी और यद्यपि उन्हें कभी-कभी दूसरों के दबाव में आकर व्यक्ति-विषेषों की प्रशंसा में तुकबंदी करनी पड़ती थी, पर वे अपने १५ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उस कोकिल की तरह ही रहे जो अपने मधुर गीतों के बदले कभी पैसे की इच्छा नहीं करती। वह गाती है, क्योंकि गाना उसका कर्तव्य है, गाने बिना वह रह नहीं सकती—गाना उसका स्वभाव है।

स्व० सत्यनारायण की कविता के विषय में फेसला देते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि वे कुल ३८ वर्ष ही जीवित रहे। २४ फरवरी सन् १८८० में उनका जन्म हुआ और १६ अप्रैल सन् १९१८ को उनकी मृत्यु। इसमें सन् १९१० तक तो उनकी शिक्षा ही चलती रही। इस प्रकार अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद केवल ८ वर्ष ही उनके स्वाधीन साहित्यिक जीवन के शेष रहे। इस बीच उन्होंने सैकड़ों समयोपयोगी कविताएँ और गीत लिखे, 'उत्तर-रामचरित' और 'भारती-माधव' नाटकों का अनुवाद किया और रघुवंश के कुछ सर्गों का भी रूपांतर किया। अंग्रेजी कवि 'टनीसन' की कुछ कविताओं का और 'होरेसन' का भी अनुवाद किया। वास्तव में उनकी कविता का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा था। लेकिन जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं सत्यनारायणजी के कवित्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनका व्यक्तित्व था। घोर से घोर शारीरिक और आर्थिक कष्ट, गार्हास्थ्यक दुर्विचाराएँ और भयंकर से भयंकर मानसिक सताप भी उनके स्वभाव की सरलता, सरसता तथा कोमलता को नष्ट नहीं कर सके। उन्होंने अपने हृदय-पटल को कभी कलुषित नहीं होने दिया, वह सदा स्पष्टिक की भाँति स्वच्छ रहा। उनके स्वाभाविक माधुर्य को कठोर कटुता स्पर्श भी नहीं कर सकी।

ठेठ-प्रजवासी

सत्यनारायणजी सच्चे अर्थों में—जनपदीय व्यक्ति थे, पृथिवी-पुत्र थे। कविवर नवीनजी ने अपने विषय में जो कहा है—

"तुम पृथ्वी के सुवन अरे, तुम ओ मूर्तिका प्रसूत निरे।

तुम खेतों एवं खलहानों के सुत, तुम घरती के पूत निरे॥

घास और कड़वी सेंग शंशव काल बिताने वाले भी।

तुम हो सबका, ज्वार, चने के, संग-संग समूत निरे॥"

वह सत्यनारायण पर भी ज्यों का त्यों लागू होता है। सत्यनारायणजी की कविताओं में यन्त्रय जो ग्रामीण शब्द तथा ग्रामीण दृश्य छिटके पड़े हैं, उनका पूर्ण आनंद प्रजवासी-संज्ञन ही उठा सकते हैं। अपने अमर दूत में 'जसोदा मैया' द्वारा भगवान् कृष्ण के पाम सदेश भिजवाते हुए वह कहते हैं—

"माही कारन निज प्यारे दिन तोहि पठाऊँ।

कहियो बातों बिया सबै, जो अब चुनाऊँ॥

जंयो पदपद पाइऊँ, घरि निज कृपा बिसेस।

सो यो फान बनाइऊँ, ई मो यह सदेस॥

—सिंदोरी लोटियो।"

मिदोने^१ में (जो पायद सयग का बिगडा हुआ या मुयग हुआ रूप है ?) जो साक्ष्य है, उमरा जायरा मिनी प्रजवासी ने ही प्रकट जा मरगा है। यहाँकनु में एक ग्रामीण दूर देन नौबिने—

^१ मिदोनी=ममय रहने, नौप्र।

“सुखद घुरीलौ गामिन में, ललनाँ-गोन-गामिन ।
भरि उछाह घर सो तिल भ्रामन, झूलन जामिन ॥
पवन उड़त खसि ए पट को, झटपटहि सँभारै न ।
भंजुल लोल-कलोलनि, बोलनि-बिबिध-मल्लहारै न ॥
एक-एक को पकरि बुलावन, करि-गहि लावुन ।
जोरावरी धलवन, झूला झमकि झूलावन ॥
मधुर 'मिसमिसी' सो मित्रकी दै, जाहि हिलावन ।
“राखी, मेरी सोह, मरी” कहि तासु रखावन ॥”

होली के अवसर पर वसंत का स्वागत करते हुए—

“कोऊ सरसो-सुमन फूल, जी सिर लो बाँवत ।
गरियारन गौरिन-सँग कोऊ झूल मचावत ॥
कोड बाबरे भये गुलालहि गगन उड़ावत ।
करि कणुवारन साल, गीत फागुन के गावत ॥
झुरिहारन की चूम और रँग-रेलनि पेलनि ।
देखहु तिनकी उमँग, खेल-खेलनि झकझेलनि ॥
ऊँचम उमड़्यो परत रँग्यो, जग सब रस रागत ।
गारी, पिचकारी, तारिन सो तेरी स्वागत ॥”

यद्यपि ब्रजभाषा अपने प्राचीन गौरव को कदापि प्राप्त नहीं कर सकती, समय की गति उसे बहुत पीछे छोड़ चुकी है और वह क्लासिक की श्रेणी को प्राप्त कर चुकी है, तथापि 'जनपदीय-वोली' के रूप में उसका महत्त्व ब्रज की भूमि में तो अवश्य रहेगा ।

खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के पक्षपातियों में जो साहित्यिक वाद-विवाद छिड़ा हुआ था वह अब हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक अध्याय बन चुका है और उसके बारे में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं । हाँ, इतना तो कहना ही पड़ेगा कि ऐसे समय में, जब कि पं० 'श्रीधर पाठक' मुख्यतया खड़ी बोली में ही कविता करते थे और कविवर 'रत्नाकर' जी अयोध्याराज्य की मुकुटमैवाजी में व्यस्त थे, सत्यनारायण कविरत्न ने ही ब्रजभाषा का प्रबल पक्ष-समर्थन किया था । बड़े मर्म-स्पर्शी शब्दों में उन्होंने लखनऊ के हिंदी-साहित्य-समेलन के अवसर पर कहा था—

“क्यों या सो मन फिरघो, कृपा करि कछुक बतावो ।
बूधा भ्रातमा या ब्रजभाषा की न सतावो ॥
जिनके तुम बस परे, अहाँहि ते सकल बिमाता ।
ब्रजभाषा ही सुदृढ संस्कृत, साँची माता ।
टपकावति प्रेमाखु पुलकि, तन पूत प्रेम सो ।
भरि-भरि देखत नैन तुमहि, जो सत्य नैम सो ।
काज नु जब कछु करत, सिधिलता तन में व्यापत ।
यही सोचि, जननी ब्रजभाषा निसि-बिन काँपत ॥
सुत-सेवा-हित तासु रुचिर, रुचि रहत सदाँ ही ।
जनमें पूत-कपूत, कुमाता माता नाहीं ॥
को बरनन करि सकत, भला ब्रजभाषा कोटी ।
मचलि-मचलि माँगी, हरि जाँमें लखन-रोटी ॥”

यद्यपि सत्यनारायणजी स्वयं इस बात को समझ गए थे कि वे एक ऐसे युद्ध में मलग्न हैं जिसमें उनकी हार निश्चित है, तथापि उन्होंने भत तक ब्रजभाषा के झंडे को उठाये रखा ।

अपनी मृत्यु के बीस-पच्चीस दिन पूर्व जब उन्होंने 'इंदौर-समेलन' के अवसर पर ब्रजभाषा में अपनी कविता 'गांधीस्तव' सुनाई थी, दस-बारह हजार व्यक्ति मंत्र-मुग्ध से रह गये थे। महात्मा गांधीजी की ओर भक्ति पूर्वक नमस्कार करके जब उन्होंने कहा था—

“तुम से बस तुम हीं ससत श्रीर कहा कहि चित भरै ।

सिबि, प्रताप अथ मेजिनी, किन-किन सो तुलना करै ?”

तो उपस्थित जनता का हृदय प्रेम से विह्वल हो गया था। गांधीस्तव का अंतिम पद अब भी हमारे कानों में गूँज रहा है—

“आपहि सारथि बने, कमल-दल आयत लोचन ।

अर्जुन सो बतरात बिहंसि, त्रयताप-बिमोचन ॥

धीरज सब विधि बैत, यही पुनि-पुनि समझावत ।

‘ईश्वर’, ‘पलायन’ एकहु ना, मोहि रन में भावत ॥

इक निमित्त मात्र है तू अहो, फिर क्यों चित-विस्मय धरै ।

गोपाल कृष्ण, मोहन मदन, सो तुम्हरी रक्षा करै ॥”

समय की बढ़ती हुई गति को कौन रोक सकता है ? ब्रजभाषा में उतनी दम नहीं थी कि वह प्रगतिशील बन सकती और इस कारण उसकी द्वार अव्यवस्थायी थी, पर इससे सत्यनारायणजी कविरत्न का गौरव कुछ भी कम नहीं होता, क्योंकि वे स्वयं तो समय की गति के साथ निरंतर चल रहे थे। न जाने कितने भारतीय नेताओं को उन्होंने अपनी ‘विनम्र अर्द्धांजलि’ अर्पित की थी। उनकी रवींद्र-चंदना, तिलक-चंदना, सरोजिनी-पद्मदी, रामतीषाण्टक, गांधीस्तव इत्यादि रचनाएँ आज भी सुपाठ्य हैं। इनके अतिरिक्त कुली-प्रथा, दक्षिण-अफ्रीका के प्रवासी भारतीय और कोमानाटाभार-दुर्घटना इत्यादि बीसियों सामयिक प्रश्नों पर भी उन्होंने लिखा था।

अंतिम दिन

श्री गोस्वामी लक्ष्मणाचार्यजी ने सत्यनारायणजी के सम्मरण-लिखते हुए लिखा था—

“सत्यनारायणजी ने इंदौर-समेलन के अवसर पर अपनी कविता पढ़ने के पूर्व रसखान के कविच पढ़े थे—

“जो खग हो तो बसेरौ करो बहि कालिंदी-कूल कर्ब की डारनि ।”

कविता-पाठ करने के बाद आप मेरे पास आकर मेरी आँधी कुर्सी पर बैठ गए। मैंने कहा “आपने रसखान के कविच क्यों पढ़े ? उनका यहाँ क्या अवसर था ?” कविरत्नजी बोले—

“मैंने समेलन के आग्राओं के सामने ये कविच इसलिए कहे हैं कि जिससे ये सब साक्षी हो कि चलती बार अवश्य भगवान् से ‘सत्य’ ने चाहे किसी रूप में हो, ब्रजवास ही मँगा था ।” मैंने कहा “बस रहने दीजिए, मृत्यु का विनोद मुझे नहीं सुहाता” आपने कहा—“हरि-इच्छा” इस घटना के २०-२५ पक्ष बाद ही १६ अप्रैल सन् १९३८ को कविरत्नजी अपने ग्राम काँवपुर में ही स्वर्गवासी हुए ।”

अंतिम पत्र और अंतिम कविता

इंदौर में मैंने सत्यनारायणजी से निवेदन किया था कि मेरी पुस्तक ‘प्रवासी भारतवासी’ के टाइटिल पृष्ठ के लिए कोई पद्य बना कर भेज दें। ८ अप्रैल सन् १९१८ को कविरत्नजी का निम्न-लिखित पत्र मुझे मिला—

श्रीमान् नाई बनारसीदास जी,

प्रणाम, यहाँ सकुशल आ पहुँचा। आपके अनुग्रह का इसे फल समझिये। आप लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। आपकी आज्ञानुसार टाइटिल के लिए दो पंक्ति भेजता हूँ। पसंद आने पर काम में लाना। बहुत सोचा, किंतु इसके सिवाय कुछ न सूझा—

“कोई मंत्र” हो, कोई तंत्र” हो, कैसा ही हो काज ।

सत्याग्रह स्वरूप ही केवल, सबका एक इलाज ॥”

यहाँ प्लेन का बड़ा प्रकोप है, इसलिए अकल घात-वरने चली गई है। समा करिये और कृपा बनाये रखिये। श्रीमान् ‘द्वारिकाप्रसाद’ से सेवक का प्रणाम-नमस्ते कह दीजिये। करवे आदि प्रेमियो को प्रणाम।

आपका—

सत्यनारायण

सत्यनारायण कविरत्न की स्मृति-रक्षा के लिए चार-पाँच कार्य सोचे गये थे, जैसे—

१. सत्यनारायण-कुटीर-निर्माण ।

२. कविताओं का संग्रह ।

३. जीवन चरित ।

४. चित्रोद्घाटन ।

५. उनके समस्त ग्रंथों का एक जिल्द में प्रकाशन ।

इनमें पहले चार कार्य संपन्न हो चुके हैं। सत्यनारायण कुटीर सम्मेलन-कार्यालय प्रयाग में बन चुकी है। हृदय-तरंग तथा जीवन-चरित भी छप चुके हैं और भारतीय-भवन फीरोजाबाद, धौलपुर तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा आगरा में उनके चित्रों का उद्घाटन भी हो चुका है। पाँचवाँ कार्य अभी बाकी है। ब्रज-साहित्य-मण्डल का कर्तव्य है कि वह अपने ब्रज-कोकिल की समस्त रचनाओं को एक जिल्द में प्रकाशित कर दे।*

ब्रजभाषा के सबभूति वा कृष्णरस की साक्षात् भूति स्व० श्री सत्यनारायण जी का—
‘मोहन कब लो मोन गहूँगे’ सुन-भुनाते आना और दावी, ‘पकीरिन कौ क्षोर’ कहकर खिलखिला पड़ना अब भी बिसारने की नहीं, हृदय में सँजोकर रखने की वस्तु है। यही नहीं—

सावध, आप सर्वाँ के कोरे ।

दीन-बुखी जो तुव को जानित, सो दानिन के भोरे ॥
कितु बात ये तुव भुभाव बे नैकहूँ जानित नाहीं ॥
सुन-सुन सुजस रावरी तुव ढिग, आवन को सलबाहीं ॥
नाम वरें तुमको जग-मोहन, मोह न तुल को आवें ॥
कवन-निधि तब हवें न नैकहु, कवन-बिडु समावें ॥
लेत एक कौ बेत दूसरेहि, दानी बन जग-नाहीं ॥
ऐसी हेर-केर नित नूतन, लाग्यो रहत सदाहीं ॥
भाति-भाति के गोपिन के जो तुम प्रभु जीर-बुराए ॥
अति उदारता सो लै वे ही, दोषदि कौ गहराए ॥
रतनाकर कौ मयत सुधा की कलस आप जो पायो ॥
मद-मद भुसिकात मनोहर, सो देवें को प्यायो ॥
मत्त-मयद-कुवलिया के जो खेल-भान हरि लीने ॥
बड़ी दया दरसाइ दयानिधि ; सो गर्जो को दीने ॥

* मन्त्र, मन्त्रि-मंडल ।

* तंत्र, शासन-पद्धति, राजतन्त्र, प्रजातन्त्र ।

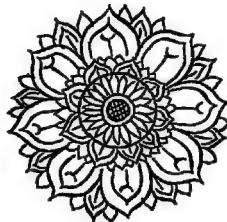
करिकें निर्वेन बालि-रौमन को राज-पाट जो आयी ।
 तहें सुधीज-बिभीषेन को करि प्रति ऐहसाज बिठायी ॥
 पृथ्वीक को सर्वनास करि माल-मत्ता जो लीयो ।
 ताको बिप्र सुदर्मा के सिर, कर सनेह मद्धि दीयो ॥
 ऐसी तूभा-मलटी के गूँन, नेति-नेति छूति गावें ।
 सैस, महेस, धुरेस, गेंनेसहु, सहसा पार न पावें ॥
 इत माया भगवत-सागर तुम, डोबी भारत-नैया ।
 रचि महभारत कहैं सरावत, आप-आप में भैया ॥
 या कारेन जग में प्रसिद्ध तुम, 'निबटी-रकम' कहायो ।
 बड़े-बड़े तुम मठा-धुंगारे, क्यों साँची खुलवायो ॥

अथवा—

मायब, तुमहें भए बे-साख ।

बुझी डाक के तीन-पात हूँ, करे क्यों न कोऊ लाख ॥
 भक्त-भक्त एक-से निरखत, कहा होत गूँन-गाएँ ।
 जँसेई खीर-खबाएँ तुमको वैसेई सींग दिखाएँ ॥
 सब धान 'बाईस पैसेरी, नित तोलें सो फाँम ।
 बलिहारी, नहि नैक बिदित तुम्हें, ऊँच-नीच को नाम ॥
 बे-पेदी के लोटा के सँभ, सब मति-गति दरसब ।
 कछु कौ कछु प्रभु काज-करेन मैं तुम्हें लाज नहि भाव ॥
 जगत-पिता कहि बाह, भए क्यों अब ऐसे बे-वीर ।
 दिन-दिन तुमूँन बढ़ावत जो नित ब्रह्म-बोपवी-वीर ॥
 जुगकर-जोरि प्रार्थना यही निज माया धरि राजौ ।
 'सत्य' दीन-मुखियेन के हित कों सबै-हुँवें अभिलाखी ॥

आदि उपालम्भ से अरे गेय-साहित्य को लोकोक्तियों की सलित शान पर बढ़ाकर जब वे रखा करते थे उस समय की कथा शकव-कथा ही कही जा सकती है । वास्तवमें आपका नाम 'ब्रजकोक्ति' सत्य ही था, जिसे काल ने असमय में ही मरोर डाला । ब्रजभाषा का वसंत आज उसके बिना फोका है और आगे भी फोका ही रहेगा ।



प्राचीन मध्यमिका की नारायण-वाटिका

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

उदयपुर में चित्तौरगढ़ से आठ मील उत्तर 'नगरी' नामक प्राचीन स्थान है। यहाँ से प्राप्त 'विजि-जनपद' के सिक्कों से इस स्थान का पुराना नाम 'मज्जमिक' या 'मध्यमिक' ज्ञात होता है। किसी समय यह स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण था। पतञ्जलिने महाभाष्य में लिखा है—

“अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।”

—सूत्र ३।२।१११ पर वातिक २ का उदाहरण

अर्थात्, यवन राजा ने मध्यमिका नगरी का घेरा डालकर उस पर अधिकार कर लिया। यह घटना पतञ्जलि की समकालीन थी, क्योंकि जिस व्याकरण के नियम के लिये पतञ्जलि ने यह उदाहरण दिया है, उसके अनुसार यह कोई लोक-प्रसिद्ध एवं वक्ता की सभ-सामयिक घटना होनी चाहिए। सीमाव्य से भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रों से इस घटना का पता चल जाता है। दूसरी शती ई० पू० में यवनराज 'मीनडर' और उसके सेनापति “डिमिट्रियस” ने पंजाब पर अधिकार करके मनु-जनपद के प्रधान नगर 'शाकल' को अपनी राजधानी बनाया और तब उसने मध्य देश की ओर हाथ-पैर फैलाए। उसके इस सैनिक अभियान का पता एक ओर मथुरा और साकेत की तरफ बढ़ा और दूसरी ओर राजस्थान में मध्यमिका की तरफ। इन दोनों घटनाओं की स्मृति व्याकरण के उदाहरणों में बच गई है। इसी सूत्र में पतञ्जलि का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

“अरुणद् यवनः साकेतम् ।”

महाभाष्य के प्रतिरिक्त जैनैर् व्याकरण सूत्र २।२।६२ की अभयनदि कृत महावृत्ति में भी दो उदाहरण बच गए हैं—

“अरुणद् यवनः साकेतम् ।

अरुणन्महेंद्रो मथुराम् ॥”

इसमें यवन के द्वारा साकेत के घेरे का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही किसी महेंद्र के द्वारा मथुरा के अवरोध का भी वर्णन है। वस्तुतः राजा का नाम महेंद्र नहीं था, बल्कि मेनद्र था जो मीनडर का ही भारतीय नाम था, जैसा उसके सिक्कों पर मिला है। पीछे के लेखकों ने मेनद्र नाम की ठीक पहचान न समझकर उसका पाठ महेंद्र कर डाला। इस उदाहरण से यह निश्चित हो जाता है कि यवन राज मीनडर ने मध्य देश में घुसकर पहले मथुरा और फिर साकेत को छेक लिया था। साथ ही उसकी बढ़ती हुई सेना की दूसरी बांह मध्यमिका के चारों ओर फस गई थी। ज्ञात होता है कि उसका दाँत उज्जयिनी पर रहा होगा, क्योंकि मध्यमिका पर अधिकार जमाने के बाद उज्जयिनी का राज्य स्वयं ही उसकी गोद में आ टपकता। उस काल में शुगो का अधिकार विदिशा पर था। इस क्षेत्र में मध्यमिका, उज्जयिनी और विदिशा ये तीन बड़े केंद्र थे। ज्ञात होता है मध्यमिका पर अधिकार करके उज्जैन-विदिशा पर दाँत गढ़ानेवाली यवनसेना की भिन्न विदिशा के शुगो की प्रबल सेना से काली सिंध के कछारों में हुई जिसमें यवन परास्त हुए। अन्तिम कड़ी जानने का साधन कालिदास का—‘मालविकाग्निमित्र नाटक’ है।

राजनीतिक महत्त्व के अतिरिक्त मध्यमिका का सांस्कृतिक और धार्मिक महत्त्व भी कम न था। वस्तुतः राजस्थान में अर्बुद पर्वत के दक्षिण-पूर्व के प्रदेश में मध्यमिका में ही तत्कालीन धार्मिक आंदोलन के चिह्न पाए गए हैं।

मथुरा-मध्यमिका-विदिशा का भौगोलिक-त्रिकोण भागवत आंदोलन का प्रधान स्वतः था। मथुरा इस नवीन भक्ति-प्रधान धार्मिक हलचल का मूल केंद्र था और उसी की भाराएँ उफान कर विदिशा एवं मध्यमिका तक पहुँच रही थी। मथुरा में भगवान् कृष्ण या वासुदेव और उनके नाई धर्म-पंथ—वल्लभ की पूजा के कई पुरातत्त्व-मूल प्रमाण पाए गए हैं। मोरा गाँव से प्राप्त लेख में वृष्णिओं के पंचवीरों के एक मंदिर और उसमें प्रतिष्ठित मूर्तियों का उल्लेख है। यह शैल-गृह महाशयप राजबुल (प्रथम शती ई० पू०) के समय का है। उसके पुत्र महाशयप शोडास के राज्य-काल का मथुरा से दूसरा लेख मिला है, जिसमें भगवान् वासुदेव के महास्थान में बने हुए तीरण और वैदिका का उल्लेख है। उस युग में भागवत धर्म के प्रधान पूज्य पुरुष भगवान् कृष्ण थे। उस काल के अन्य देवों के मंदिर स्थान कहलाते थे, किंतु महिमा में उनसे अधिक कृष्ण के मंदिर महास्थान कहे जाते थे।

मथुरा की तरह विदिशा भी भागवत-धर्म का केंद्र थी। विदिशा (धामुनिक मेल्सा) के पास बेसनगर नामक स्थान में (जहाँ बेस नदी और बेनवती का संगम है) यवन राजदूत हीलिभोदोर ने—जिसने भागवत धर्म स्वीकार कर लिया था, विष्णु का गड-ध्वज स्थापित किया। वैष्णव धर्म के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। मेल्सा में एक दूसरा गठपहल गड-स्तंभ भी पाया गया है, जिस पर निम्नलिखित लेख है—

“गौतमीपुत्रेन भागवतेन... भगवतो प्रासादोत्तमस
गडध्वजकारितो द्वादश वसभिधिते भागवते....”

अर्थात् भागवत् गौतमी पुत्र ने किसी भागवत महाराज के १२वें वर्ष में गड-ध्वज स्थापित किया।

ऊपर के त्रिकोण के तीसरे बिंदु अर्थात् मध्यमिका में भी वैष्णव पूजा का एक विशिष्ट केंद्र गुग-काल प्रथम शती ईस्वी पूर्व में स्थापित हो चुका था, चित्तौड़ के पास धामुनिक नगरी गाँव में यह स्थान ‘हाथी-बाड़ा’ कहलाता है। जब सम्राट् अकबर की सेना ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी तब इसी जगह बाड़े में उसके हाथी रक्खे गए थे। तब से लोक में यह हाथी-बाड़ा नाम से मशहूर हो गया, किंतु यह बाड़ा मुस्लिम-काल से बहुत पहले का था। इसका प्राचीन नाम ‘नारायण-वाटिका’ था जिसकी स्थापना अकबर से १६ सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

हाथी-बाड़ा, नगरी गाँव से पूर्वदिशा में आध मील की दूरी पर है। यहाँ एक बुला, बीकोर बाड़ा अभी तक है, जिसकी लंबाई २६६’ १०” है और चौड़ाई १५१’ है। इसकी दीवार पत्थर की थी। उस चार दीवार के ऊपर एक मूठेरी या उष्णीष थी, जिसे मिलाकर भीत की ऊँचाई ६१।२ फुट थी। इस दीवार के भारी पत्थरों पर तीन जगह एक ही लेख खोदा गया था। सीमाग्र्य से उसकी तीनों प्रतिभियाँ प्राप्त हो गई हैं। एक लेख तो हाथीबाड़े की दीवार में ही लगे हुए पत्थर पर खुदा है। दूसरा लेख नगरी से ६ मील दूर घोसूँडी गाँव के एक कुएँ में किसी समय लोगों ने खे जाकर लाया था। कवि राजा क्यामलदास ने सबसे पहले उसे ढूँढ़ निकाला और प्रकाशित किया, भव यह कुएँ से हटवाकर उदयपुर के संग्रहालय में रखवा दिया गया है। लेख की तीसरी प्रति जिस पत्थर पर थी वह हाथीबाड़े की दीवार से निकालकर घोसूँडी गाँव की सीमा पर लगा दिया गया था। उसके तीन टुकड़े १६१५-१६ में डा० जी० आर० भट्टाकर को मिले थे और उनके बाद १६२६-२७ में श्री श्रीरामकर हीराचंदजी श्रीवा ने पुन उन्हें ढूँढ़कर प्रकाशित किया। तीनों प्रतिभियों पर एक ही लेख था जो तीनों प्रतिभियों को मिलाकर डा० भट्टाकर ने पूरा पढ़ लिया और प्रकाशित किया। लेख इस प्रकार है—

- “पंक्ति १. (कारितो य राजा भागव)तेन गाजायनेन पाराशरीपुरेण स—
पंक्ति २. वं ततेन अश्वमेधयाजिना भगव (५ इ) भ्यां संकर्षण-वासुदेवाभ्यां
पंक्ति ३. अनिहताभ्या सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारो नारायणवाटिका।”

अर्थ

‘यह पूजाशिला, प्राकार और नारायण-वाटिका सबके स्वामी अर्पगजिन भगवान् सकर्षण और वामुदेव के लिये अश्वमेध याजी भागवत राजा सर्वतात ने जो पारागरी के पुत्र और गाजायन गोत्र के थे, बनवाई।’^१

लेख के सुदवानेवाले राजा सर्वतात थे। उनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिला, किंतु वे कण्व-वर्ण के होने चाहिए ऐसा डा० भंडारकर ने अनुमान किया है, क्योंकि उनका जो गोत्र था वह गाजायन गोत्र मत्स्यपुराण की गोत्र-सूची के अंतर्गत धारिस्त गोत्रगण के अंतर्गत कण्व-शाखा में मिलता है। पारागरी उनकी माता का नाम था। राजा सर्वतात प्रतापी जाल पडते हैं, क्योंकि उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसकी परंपरा गुप्त-मिश्र युग के राज्य-काल से पुनः प्रारंभ हो गई थी।

लेख में स्पष्ट कहा है कि वह स्थान भगवान् सकर्षण और वासुदेव के लिये बनवाया गया था। सकर्षण-वासुदेव इन दो नामों का जोड़ा युग-काल में साथ-साथ प्रसिद्ध हो गया था। पतंजलि ने महाभाग्य में—

“संकर्षण द्वितीयस्य बल कृष्णास्य वर्धताम्।”

—सूत्र २।२।२५,

इस वाक्य में सकर्षण और कृष्ण को द्वंद्व रूप में साथ माना है। महाभारत-उद्योगपर्व (४७।७२) में कृष्ण को ‘बलदेव द्वितीय’ कहा गया है और आरण्यकपर्व (१३।३६) में कृष्ण को ‘बलदेव सहायवान्’ कहा है। पाणिनि सूत्र ८।१।१५ पर द्वंद्व या दो नामों का ऐसा उदाहरण देने के लिये जिसमें उनकी एक साथ लोक-प्रसिद्धि (साहचर्य) अभिव्यक्ति) प्रकट हो, काणिका में—

“संकर्षण-वासुदेवौ”

कहा गया है। निश्चय ही यह उदाहरण काणिका से बहुत प्राचीन था। उसका स्तर पतंजलि के महाभाग्य के युग में ही रक्खा जाना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि युग-काल में कृष्ण-बलदेव की पूजा एक साथ होने लगी थी। महावीर के पाँचवें वर्ष के विवरण का वर्णन करते हुए उनके वासुदेव-मंदिर और बलदेव-मंदिर में ठहरने का उल्लेख आता है। मथुरा के पुरातत्त्व में भी इसका प्रमाण पाया जाता है कि जहाँ वासुदेव का मंदिर था उसीके पास-पास बलराम के मंदिर भी थे। मोर गाँव में वृष्णि-यक्षवीरो की प्रतिमाएँ मिली हैं। उसीके समीप जुनसुटी गाँव में बलराम की युग-कालीन मूर्ति मिली है, जो इस समय लखनऊ-संग्रहालय में सुरक्षित है।

लेख में वासुदेव-सकर्षण के दो विशेषण दिए गए हैं। एक में उन्हें ‘सर्वेश्वर’ अर्थात् अन्य सब देवों में अधिपति कहा है। वस्तुतः इस युग के धार्मिक आंदोलन में यक्ष, नाग, नदी, पर्वत आदि जितने देवी-देवता थे उनमें सबसे अधिक मान्यता ‘कृष्ण-बलराम’ की हो गई थी। यही भागवत-धर्म की सिद्धि थी। इसने कृष्ण को केंद्र में रखकर अन्य देवों का भागवत-दृष्टिकोण के साथ समन्वय कर दिया। उन देवों का निराकरण नहीं किया गया, किंतु भगवान् वासुदेव की पूजा के साथ उनका मेल मिला दिया

^१. देखिए, श्री देववत रामकृष्ण भंडारकर का लेख—

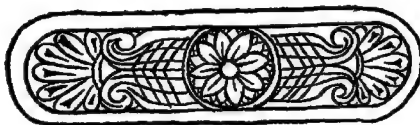
“मगरी का हाथी-बाड़ा ब्राह्मी ‘अभिलेख’, एपिग्राफिया इंडिका, भाग २२ (१९३३-३७), पृ० १६८-२०५। मैं इस लेख की अधिकांश सामग्री के लिये श्री भंडारकर जी का ऋणी हूँ।”

गया। गीता के दसवें अध्याय में जो 'विभूति योग' का वर्णन है वह कृष्ण को केंद्र में रखकर अन्य छट्ठारह देवी-देवताओं को उनकी विभूति बताकर दोनों में समन्वय स्थापित करने के लिये ही है, किन्तु भेल-भोल का मार्ग अपना लेने पर भी कृष्ण उन सब में प्रधान थे। इसी कारण और देवताओं के मंदिर 'स्थान' या 'धान' कहलाते थे, किन्तु कृष्ण के मंदिर को शोडास के मथुरा के लेख में 'महास्थान' कहा गया है। इसी प्रकार भेलसा के दूसरे लेख में जो ऊपर उद्धृत किया गया है भगवान् वासुदेव के मंदिर को 'प्रासादोत्तम' अर्थात् अन्य मंदिरों में उत्तम कहा है। 'सर्वेश्वर' पद का संकेत भी तत्कालीन धार्मिक भाषा में यही था।

लेख में कृष्ण-वलराम को 'अनिहत्' अर्थात् अविजित विशेषण दिया गया है जिसका अर्थ-प्रायः यह है कि उस युग की धार्मिक कक्षमक्ष में भागवत-धर्म की और उनके पूज्य देवों की विजय का बड़ा विश्वास जनता में था।

लेख का—'पूजाशिलाप्राकार.' पद वास्तुशास्त्र और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भट्टारकर ने 'पूजा' के लिये पत्थर की दीवार' ऐसा अर्थ माना जो ठीक नहीं जैचता। वस्तुतः 'पूजा-शिला' पद अलग है और 'प्राकार' अलग है। नारायण-वाटिका में दो चीजें बनवाई गईं, एक पूजा का शिलापट्ट और दूसरी उस स्थान को घेरनेवाली ऊँची चार दीवारी, जिसे 'प्राकार' कहा गया। बौद्ध-स्तूपों के चारों ओर जो स्थान वेदिका का था वही यहाँ प्राकार का है। प्राचीनतम मंदिरों का यही स्वरूप था। बीच में एक स्थल, मण्डप या चबूतरे पर पूजन का शिलापट्ट रक्खा जाता था और उसके चारों ओर शान को घेरने के लिये बाड़ा या वेदिका या प्राकार बना दी जाती थी। बौद्ध-स्तूपों के भी वास्तु का ढाँचा यही है। बीच के स्तूप के चारों ओर वेदिका बनाई मिलती है। यहाँ पूजा-शिला ही पूजन का मुख्य साधन थी। 'पूजा-शिला' वही है जिसे मथुरा से प्राप्त जैन लेखों में 'आराग-पट्ट' या 'आराग पट्ट' कहा गया है। आराग पट्ट का अर्थ आराग पट्ट या पूजन का पट्ट किया जाता है (देवसट थॉफ होमिंग, न्यूहलर)। 'पूजा-शिला' का भी वही अर्थ है। डा० भट्टारकर ने हाथी-बाबा या नारायण-वाटिका की जो खुदाई कराई थी उसमें हाथी-बाबा के पश्चिमी हिस्से में ईंटों का एक छोटा चबूतरा या स्थल प्राप्त हुआ था। उसी पर पूजाशिला रखी जाती थी। यही आरम्भिक देवा-पूजन का प्रकार था। मूर्ति-निर्माण से पहले देवता के प्रतीक रूप में एक पत्थर की चौकोर पट्टियाँ पर पुष्प-मंत्र आदि से पूजन किया जाता था। यह पूजा-विधि समस्त प्राचीन यक्ष-पूजा की विधि से अनपनाई गई।

नगरी या मध्यमिका की नारायण-वाटिका भारतवर्ष भर में अपने ढंग का एक ही अवशेष है। यह प्राचीनतम वैष्णव-मंदिर कहा जा सकता है। हाँ, आरम्भिक अवस्था में इस मंदिर का स्वरूप निर्माणात्मक नहीं था, किन्तु प्राकाश की खुली छत के नीचे एक छोटे चबूतरे पर पूजा का शिला-पट्ट रखकर और उसके चतुर्दिक् एक ऊँची चारदीवारी घेरकर इस प्रायः कालीन देवस्थानों का स्वरूप बनाया जाता था।



ब्रज का लोक-साहित्य

श्री सत्येंद्र

ब्रज की ऐतिहासिक और भौगोलिक सीमाएँ आज अनिश्चित और विवादास्पद हैं, किंतु ब्रज की छाप समस्त भारत पर पड़ी है, इसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता। इस ब्रज को, इसकी भाषा को और इसके साहित्य को अभी कुछ विशिष्ट ग्रंथों के द्वारा ही जाना जा सका था, किंतु ब्रज आज भी जीवित है, ब्रज-लोक का एक सुंदर अस्तित्व है। यह ब्रज-लोक प्रकाशित अथवा अप्रकाशित-ग्रन्थ-साहित्य में अभिव्यक्त ब्रज से कहीं अधिक मनोन्मा और प्राणवान है। यह मूल ब्रज युगो-युगों से भाव-संपत्ति को मौखिक-परंपरा द्वारा सुरक्षित किये हुए है। आज उसी मूल ब्रज की लोक-संपत्ति का परिचय कराना हमारा अग्रणीकृत है।

ब्रज-वाणी की अभिव्यक्ति के दो प्रमुख प्रकार हैं—गीत और कहानियाँ। इन दोनों का ब्रज में प्रसङ्ग भट्ठार है। क्या पुरुष, क्या स्त्री और क्या बालक-बालिकाएँ सभी किसी न किसी सरस अभिव्यक्ति में प्रवृत्त मिलेंगे।

प्रातः होते ही चक्की की घरघराहट के साथ और बुहारी की सरसराहट के साथ मद, मधुर स्वर में गूहलक्ष्मी का कठ सी फूट पड़ता है। वृक्षों पर चहचहानेवाली चिड़ियाँ ही ब्रज के प्रातः को सबाक् नहीं बनाती, गूहलक्ष्मियों की स्वर-लहरी उसे मधु-स्नात कर देती है, जब वह गाती है—

“जागिए ब्रजराज कुँवर मोर नयी भ्रंगना।

बाढ के बढोही चाले, पँछी चाले चुगना ॥

—हम चले सिरि जमुना ॥”

इन शब्दों की विरकाती प्रभाती ब्रज के घर-घर को भुलरित कर देती है। इनसे प्रेरित होकर करवटें बदलते हुए पुरुष और औरों मिलते हुए बालक शय्या-त्याग कर नित्य-कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। घर का समस्त वातावरण प्रफुल्ल प्रार्थना-गुण-विनय के भाव से परिपूर्ण हो जाता है। तभी माताएँ बच्चों को मुँह धुलाती हुई जब भाँस का कीचड़ स्वच्छ करती होती हैं, लाढ़-भरे स्वर में वे गाती हैं—

“कीची-कीची कौआ खाइ, दूध-चतासे सल्लू-खाइ।”

तब अस्फुट तोतले शब्दों में बालक भी माँ का साथ देता है और दूध-चतासे की स्वाद-कल्पना से उसका मन किलक उठता है। माँ की हृदय-तंत्री भी झंकृत हो उठती है।

पुरुष खेलों पर पहुँच कुँआ चलाता है और ‘भाइ गए राम’ के साथ पुरहा लेने और राम-मिलने के आनंद और सुख को व्यक्त करता हुआ अपनी आस्तिक भावना सिद्ध करता है। बीच-बीच में वह भी कुछ गा लेता है।

झर घर से निकलकर बालक खेल में लगते हैं और उन खेलों में भी कहीं न कहीं कुछ न कुछ गेय शब्दों का पुट मिलना अनिवार्य है। कबड्डी तो पूरी सौल का संगीत है। चील-झपट्टा, पानी की मछली आदि कितने ही खेलों में वह धारीरिक गतियों को गेय-स्वर-लहरी से एक प्रकार ताल देता है।

क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक प्रत्येक के जीवन-क्रम में जैसे गेय-स्वर समा गया हो। ब्रजवासी उस नित्य के गीत से अघाता नहीं, वह ऐसे अवसरों की वाढ जोहता है जब वह उत्सवों और अनुष्ठानों पर अपने संगीत-भ्रम को विशेष प्रोत्साहित कर सके। चैत्र के महिने में देवी के गीतों से घर-आंगन गूँज उठता है। देवी ‘जालपा’ और ‘लंगूरिया’ स्त्रियों के कंठों की समस्त श्रद्धा और विनोद को

आकांक्षित कर लेते हैं, तो उधर घुस 'जागरण' का अनुष्ठान कर तान-तमूरो के साथ 'भगतों' को, जागरण के गीत गाने और देवी को प्रसन्न करने के लिये निमग्नित करता है।

चैत्र के ये स्वर श्रीमं के बढते उत्ताप में क्षुब्ध हो जाते हैं, किंतु जैसे ही वर्षा का आगमन होता है पृथ्वी में फूटनेवाली हरियाली के झुर्रों की भाँति कठकठ से मधुर, तरल मल्हारे ब्रज को तरंगित करने लगती है।

“परे रे हिडोला नीलख बाग में जी, एजी कोई झूलत रानी राज-कुमारि।”

गादि-भाते गाँव का प्रत्येक पेड़ चपा-चाग अथवा नीलख-बाग का रूप ग्रहण कर लेता है। झूले पड़ जाते हैं और झूलती रमणियों के रंग-विरंगे वस्त्र श्रुतु के ध्याम-सजल वातावरण में फरफराने लगते हैं, उनके साथ स्वरो के उत्तार-चढ़ाव से उभगते हुए विविध गीत सुनाई पड़ते हैं—विविध गीत और अनंत गीत, प्रात से दिन-भर सध्या तक, सध्या से रात में न जाने किस समय तक ये स्वर चलते रहते हैं; इनको पीते-पीते सावन की भयावनी रात मनोरम स्वप्नों में सो जाती है।

कहीं-कहीं गाँवों की चौपालों पर, वर्षा के अवकाश में गरजते बादलों, चमकती बिजली, झनकारती झिल्ली और टरति दाडुरों के गुमुल में किसानों की भीड़ एकत्रित होकर 'आल्हा' या 'डोला' का गीत सुनती मिलती है। दुलैया अथवा अलहूत का तीखा स्वर सावन-भादों की उस आद्र रात्रि को चीरता हुआ श्रोताओं को ही आहूत नहीं करता, दूर दिशाओं के अवकाश में झिल्ली को चिन्ती देता हुआ चूमता चला जाता है। सावन-भादों के महिनों में यह संगीत 'रसा-वसन' की पूर्णिमा के दिन तो पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच जाता है और कृष्ण-जन्माष्टमी का त्यौहार, जन्मोत्सव के गीतों का आल्हाव उपस्थित कर देता है।

सावन-भादों के इन रसीले गीतों की गूँज मच होते-होते क्वार के वनहरा और पूर्णिमा के निकट पुन देवी के गीतों और गया-स्नान तथा तीर्थ-यात्रा के गीतों में संजीवित हो उठती है। उधर लड़के-लड़कियाँ टेसू, बाँकी लिये घर-घर में घूमकर गाते दिखाई पड़ते हैं—

“टेंसुराई की सात बौहरियाँ, लँचि-कदें चढ़ें अटारियाँ।”^१

वालक-बालिकाओं के खेल-कूद के गीतों से चंचल हुआ क्वार का वातावरण कांतिक-स्नान की पवित्र धर्ममयी गीत-ध्वनि से परास्त हो जाता है। प्रात कांतिक के क्षीत में ठिठुरती सीमांत-काक्षिणी धर्म-आणा स्त्रियाँ ओबेरे ही उठकर कूप वा नदी में स्नान करके राइ-दामोवर के गीत गाने लगती हैं। गाँव के कूप या उठते हैं। प्रात की मंथर मदिर-समीर भक्ति की इस स्वर लहरी को चतुर्विध मध-मंद वितरित करने लगती है। क्षीत के प्रकोप के बढने पर पुन कुछ काल के लिये जन-कठ मुख मूछित-सा हो उठता है, किंतु फाल्गुण के लगने से पहले ही फिर झप-ताल खटकने लगते हैं। इस बार तो स्वर-संगीत में बाढ़ ही आ जाती है। उन्माध से परिपूर्ण मानव के मादक स्वर खयाल, जिकरी के सजन और सबसे अधिक होली और रसिया में मचल उठते हैं। ब्रज की प्रकृति का भगु-भगु बिरकने लगता है। होली और रसिया तो ब्रज की बिल्कुल अपनी ही विशेषता है। इसके पक्ष, उदात्त और सावेग स्वर शरीर को ही रोमांचित नहीं करते मानसिक स्तब्धता प्रस्तुत करते हुए आत्मा को आदोलित कर देते हैं। यहाँ शब्द नहीं स्वर और उनका लय-विधान ही भासिक हो उठता है। होली और रसिया के न जाने कितने प्रकार ब्रज में मिलेंगे, पर 'रजपूती होली' में शरीर की वायुओं को प्रकषित करने की अनूठी शक्ति है। इस होली से उन्मत्तता मन, वाणी और मस्तिष्क पर छा जाती है।

इस नियमित क्रम के अतिरिक्त ब्रज में सस्कारों के विशेष अवसर जब-जब आते ही रहते हैं। जन्म और विवाह ये दो सस्कार सबसे प्रधान हैं और इन दोनों अवसरों पर गीत उमड़ पड़ते हैं। प्रत्येक कार्य के लिये वह कितना ही छोटे से छोटा धर्मो न हो, कोई न कोई गीत अवश्य है और

१. अथवा—“टेंसुरा धंटा रजैयो, इक नगरी दल गनि बसैयो।” ... इत्यादि।

इन गीतों के साथ मंगल की भावना इतनी धनिष्ठ है कि इनका गाना एक प्रकार से अनिवार्य है। दिन-निफलन के पहले से रात के पिछले पहर तक ये गीत चलते रहते हैं। विवाह में 'रतजगे' के अवसर पर तो रात-भर गीत गाये जाते हैं। नाम ही इस अवसर का—'रत-जगा' या रात्रि-जागरण पड़ गया है।

ब्रज, इसीलिये गीतों का देश है। क्या यह समझ है कि ब्रज के इन समस्त गीतों का संग्रह किया जा सके और उसे प्रकाशित किया जा सके? जो गीत-परंपरा से चले आ रहे हैं वे ही इतने अधिक हैं कि संग्रह करना कठिन है, इस पर गाँव का गायक स्वरकार ही नहीं शब्दकार भी है। स्याल, होली, रसिया, भजन, जिकड़ी आदि न जाने कितने रागों के गीत वह प्रति वर्ष नये-नये बनाया करता है। जिससे ब्रजभाषा के मौखिक साहित्य में निरंतर नयी वृद्धि होती रहती है। यह भी कठिन है कि इनमें से सर्वोत्तम गीतों का चयन करके कह दिया जाय लीजिए, वस इस समस्त भंडार में इतने ही उच्च कोटि के रत्न हैं। फलतः हमने यहाँ कुछ गीत ही दिये हैं, अधिक के लिये स्थान भी नहीं हो सकता था। ब्रज के जीवन में गीतों की व्यापकता नीचे के चक्र से समझी जा सकती है।

नियमित

चैत्र—होली-फूलडोल। नवदुर्गा—जात के गीत, देवी के गीत, जागरण।

वैशाख—अखतीज (बहुधा विवाह के होते हैं—विवाह संस्कार से संबंधित गीत होते हैं)।

जेष्ठ—गंगा-व्रशहरा—गंगा-स्नान की यात्रा के कारण यात्रा-संबंधी गीत।

सावन—हिंडोले, मल्हार आदि (सावन-भादों में झूल पड़ जाते हैं दोनों महिनों में गीत-बाहुल्य रहता है)। हरियाली तीज, हरियाली मावस, नाग-पंचमी, रक्षा-बंधन आदि।

भादों—नाग-पंचमी, जह्णपीर (जह्णपीर) का जागरण, कृष्ण-जन्माष्टमी—जन्मोत्सव के गीत, अनंत चौबस, चट्टा चौब—चट्टा के गीत।

म्बार—नी देवी—देवी के गीत, ज्योरी के गीत प्रातः, टेसू—टेसू के गीत (लड़कों-द्वारा), झाँसी झाँसी के गीत (लड़कियों-द्वारा)।

कार्तिक—कार्तिक-स्नान पुरे महिने, प्रातः, भक्ति के गीत विशेषतः राई-बसोदर (राधा-दामोदर) के। करवा चौथ के गीत, स्याह—स्याह के गीत (विवाली के दूसरे दिन प्रातः) मँया-दौज के गीत, देवढाल (देवीस्थान) के गीत।

अगहन—गोपी-व्रत (व्रतचर्या) के गीत।

माघ—अंत-पंचमी, होली-रसियों का आरंभ।

फाल्गुण—होली का महिना—पुरे महिने होली-रासियों की घूम।

ब्रज में प्रत्येक पूर्णिमा को ब्रज की परिक्रमा होती है। परिक्रमा के गीत अलग हैं। इन नियमित गीतों के साथ विवाह तथा जन्म के गीत यथावसर गाए जाते हैं। फिर डौला, जिकड़ी के भजन, आल्हा, निहालदे, चौबोले चाहे जब मनोनुकूल गाये-गवाये जा सकते हैं। साधारणतः डौला, आल्हा और निहालदे वर्षाश्रुतु में अच्छे जमते हैं। जिकड़ी के भजन और चौबोले फागुन-चैत्र में सर्वां वंधते हैं।

विवाह-जन्मोत्सव आदि के ऐसे अवसर हैं, जिनका सबध मनुष्य की सत्ता मात्र से है। मानव मात्र इन अवसरों पर बहुत क्षुभ-अशुभ का विचार करता है। इसका अभिप्राय यही होता है कि जीवन में जन्म और विवाह से जो नयी अवतारणाएँ होती हैं, वे सफल हों और सुखद हों। इन से श्रद्धा-सविष्य का सबध जुड़ जाता है। ऐसे सबधों के प्रति मनुष्य अपने उद्योग के विष्वास पर निश्चित नहीं हो सकता। उसे श्रम्य शक्तिशाली भरोसा करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर संस्कृत-सम्य-समाज में भी मानव के प्रादिम संस्कार जागृत हो उठते हैं। यही कारण है कि ब्रज में भी जन्म और विवाह के अवसरों के सारे अनुष्ठान स्त्रियों के हाथ में चले जाते हैं, जो बहुधा प्राज हमें अर्थ-रहित और रहस्यमय विदित होते हैं। ऐसे सभी अनुष्ठान गीतों-सहित होते हैं। इन गीतों में अर्थ-

की गहराई नहीं मिलती, न स्वरो में कोई विशेष मधुर ताल-सय का सधान होता है, पर ऐसा प्रत्येक गीत-गानेवाकियों की समस्त कल्याण-भावना से निस्कृत होता है। आदिम मानव के जैसे टूटे-फूटे स्वरों पर इनमें रहते हैं, जिनमें टोने (चर्म) का अभिप्राय अवश्य निहित मिलता है। इन गीतों में मिलनेवाले मानस का प्रतिबिम्ब समस्त भारतीय समाज में प्रायः समान मिलेगा। इनका सबब गहन जीवन-तत्व के संरक्षण की भासिक मूल मानवीय भावना से होता है।

इन्हीं अवसरों पर इन आनुष्ठात्मिक टोने-सवधी गीतों के उपरांत 'खेल के गीत' गाये जाते हैं। इन गीतों में सभी प्रकार के गीतों का समावेश हो सकता है। इनमें युग की नवीनता भी अपना स्थान पा सकती है।

नियमित गीतों की जो व्यापकता ऊपर दिखाई गई है वे प्रायः सभी स्त्रियों के द्वारा गाये जाते हैं। पुरुषों के गीतों में कोई नियमितता नहीं रहती, न इनमें टोने का भाव रहता है। हाँ, देवी के जागरण और जाहरपीर आदि के कुछ गीत ऐसे हैं जो पुरुषों द्वारा गाये जाते हैं तथा जिनके टोने का मूल्य उतना चाहे न हो पर आनुष्ठात्मिक मूल्य अवश्य होता है। पुरुष के अन्य गीत—आल्हा, डोला आदि मनोरंजनार्थ होते हैं, होली, रसिया अधिकांशतः पुरुषों द्वारा ही गाये जाते हैं।

गीतों में विषयों की दृष्टि से यह विशेषता लक्षित होती है—

स्त्रियों के गीत—विवाह-जन्मादि

१. टोने के गीतों में छोटे देवी-देवताओं का उल्लेख होता है।
२. मंगल के गीतों में कृष्ण-शक्तिणी की भी स्थान मिल जाता है।
३. खेल के गीतों में प्रेम-वृत्ति का बाहुल्य होता है।
४. अनुष्ठात्मिक के गीतों में अनुष्ठात्मिक की विधि—तेगादि का उल्लेख विशेष रहता है।
५. तीर्थारवि के गीत—कृष्ण, राम, गंगा आदि का उल्लेख, वान की और भक्ति की महत्ता।
६. देवी के गीत—देवी, सांगुरद, मविर, यात्रा की कठिनाइयों का, विशेष भक्तों का, जैसे घातू का, कान्हर का।
७. कार्तिक के गीतों में—राई-दामोदर (राजा-दामोदर), गणेश, भक्ति, विविध देवताओं के गीत।
८. सावन के गीतों में—मल्हार, वर्षा का वर्णन, पति-वियोग, बारहमासा, भाई का प्रेम, झूलने का आनंद, प्रेम की रोमांस के गीत।

पुरुषों के गीत

१. जागरण के गीतों में देवी के भक्तों की चमत्कार पूर्ण गाथाएँ रहती हैं, जैसे—जाहरपीर, जगदेव आदि की।
 २. होली और रसिया में कृष्ण और राधा के प्रेम की प्रधानता रहती है, जिसके साथ किसी भी प्रकार के प्रेम की यहाँ तक कि नग्न और अवलील वासनाओं की भी रेखाएँ उभर आती हैं।
 ३. डोला में नल-भोतिनी या नल-चमयती, डोला-भाऊ तथा किशोरसिंह आदि के विवाह और विपदाओं तथा चमत्कार पूर्ण कार्यों का वर्णन रहता है; रोमांस, साहस, आश्चर्य और विलक्षण बातों से परिपूर्ण। देवी का महत्त्व अंतरतः व्यापक है।
 ४. आल्हा में बीर रस की प्रधानता, युद्धों के वर्णन, राजपूतकालीन संस्कृति का चित्रण, जाहू-टोने के चमत्कारों से परिपूर्ण।
 ५. जिकड़ी के भजनों में बहुतों रामायण-महाभारत से ऐसे कथा-प्रसंग लिये जाते हैं जो बहुत प्रचलित नहीं होते, प्रचलित वृत्तों पर भी रचना होती ही है।
- इन गीतों पर सरसरी दृष्टि डालने से व्रज में आज तीन संस्कृतिमयों के सार विद्यमान मिलते हैं—
१. आदि मानवीय—केवल स्त्रियों के बीच।

२. देवी की भक्ति—स्त्रियों और पुरुषों दोनों में व्यापक ।

३. वैष्णवीय—दोनों में समान रूप से व्यापक ।

किंतु ब्रज गीतों का ही देश नहीं, कहानियाँ भी इसे अत्यंत प्रिय हैं । कहानियों में हमें चार प्रकार मिलते हैं—

१. आनुष्ठानिक—ये व्रतो आदि के अवसरों पर कही-सुनी जाती हैं । इसका संबंध स्त्रियों से होता है ।

२. कालिक में प्रत्येक दिन की एक कहानी होती है, अन्य देवी-देवताओं की कहानियाँ भी कही जाती हैं । भैया ब्रज, अहोई भाठें, करवा चौथ, स्याहूँ—आसर्ग्या-प्यासर्ग्या, अनंत चौदस, गाल-पूजा आदि ऐसे अवसर हैं जिनपर कहानी सुनना अनिवार्य है ।

३. विद्वांस-भाषाएँ—किसी भी कार्य के लिये कारण निरूपिणी ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनपर कहनेवाला पूर्ण विद्वांस करता है और जिन्हें अंगरेजी में मिथ (Myth) कहा जा सकता है ।

४. नीति-कथाएँ—ऐसी कहानियाँ जिनमें अवसरोपयोगी कोई शिक्षा निहित होती है और अवसर विशेष के लिये ही जो बनाई गई प्रतीत होती हैं ।

५. मनोरंजन-संबंधी—ऐसी कहानियाँ जो मनोरंजन के काम में आती हैं । नानी या दादी जो बच्चों को सुनाती हैं, या चौपाल पर बैठकर कहानी-सुनानेवाला श्रोताओं को सुनाता है ।

हम उन कथाओं को यहाँ समिलित नहीं करते जिसे कोई पंडित विशेष निमंत्रण पर धार्मिक-भाव से पूजा-उपचार आदि के उपरांत सुनाता है, जैसे-गणेश जी की कथा या सत्यनारायण की कथा आदि ।

ब्रज की मौलिक, मौखिक कहानियों का एक सुंदर संग्रह 'ब्रज-साहित्य-मंडल' प्रकाशित कर चुका है । यहाँ तो हम उदाहरणार्थ और मनोरंजनार्थ ही कुछ कहानियाँ दे रहे हैं ।

मूल ब्रज, जनपद-कहानियों का मूल प्रदेश प्रतीत होता है । विश्व में आज प्रचलित कहानियों के विश्लेषण से प्राचिकाश विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत ही वह देश है जहाँ से कहानियों का जन्म हुआ । भारत में ब्रज वह जन-पद है जहाँ से भाषा ने समस्त भारत को ऐक्य प्रदान किया । इसी क्षेत्र में उली सस्कृत समस्त भारत के अन्य साहित्य का माध्यम बनी । यही वह प्रदेश है जहाँ के कृष्ण-चरित्र से गुंथी अनेकों कहानियाँ देश-देशांतरी में प्रसारित हुईं, किंतु यह प्रश्न अभी विशेष गोज-बीन चाहता है और हमें भी इस विषय में कोई विशेष आग्रह नहीं ।

ब्रज की कहानियों में हमें चार स्तर मिलने चाहिए । एक आदिम मानव की मौलिक भावना को गुरक्षित रखनेवाला, दूसरा योरोपीय आर्यों से संचित ; तीसरा सांस्कृतिक चेतना-युक्त, चौथा स्थानीय रूप से रचित ।

आनुष्ठानिक कहानियों में हमें आदिम मानवीय भावना को झाँकी मिल सकती है । यद्यपि वह बहुत कुछ समोपित हो चुकी है । योरोपीय आर्य-जनों की कहानियाँ वे जो समस्त विश्व के आर्यों की मौलिक परंपराओं में आज तक विद्यमान मिलती हैं । नाम-स्थान के रूपांतर को हटा देने पर समस्त धर्म-जातियों की इन कहानियों का ढाँचा एक-सा मिलता है । ब्रज की समस्त कहानियों का तो इस प्रकार अभ्यवर्तन अभी नहीं हो सका है । हमने कुछ ऐसी कहानियों पर विचार किया है, जो इस प्रकार हैं ।

भारतेतर भाषाओं में इस विषय पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किये गए हैं । हम यहाँ उन विषय के अन्य विद्वानों का उल्लेख नहीं करते, केवल 'बर्न' का नाम लेना चाहते हैं । उन्होंने 'भारोपीय' जनों की पुराणियों का तुलनापूर्वक अध्ययन करके सत्तर ऐसे 'रूप' प्रस्तुत किये जो सर्वत्र समान रूप में मिल जाते हैं । इन समान रूपों को समझने के लिये तो हमें बर्न की पुस्तक की ही धारण लेनी पड़ेगी । यहाँ तो हम उनके द्वारा निदिष्ट कुछ रूपों के सबसे में यह विचार करना चाहते हैं कि वे ब्रज में किन रूप में मिलते हैं । हमने पहले बर्न के रूप दिये हैं, अंग्रेजी से अनुवाद करके उनके नीचे ब्रज की गद्यांशों का अनौपचारिक उल्लेख कर दिया गया है । हमने पाठ्य का विनोद होगा ; वह पान्थान्य उद्योगों

के रूप को समझेगा, उसे लोक-जीवन में सर्वत्र साम्य का आभास मिलेगा और उसे प्राये कुछ इसी दिशा में उद्योग करने की प्रेरणा मिलेगी।

१. क्यूपिड तथा साइक*

१. एक सुन्दर लड़की को एक दिव्य जाति (Supernatural race) का मनुष्य प्रेम करता है।
२. वह मनुष्य के रूप में रात्रि में प्रकट होता है और लड़की को समझा देता है कि उसे देखें नहीं।
३. वह उसके आदेश का उल्लंघन करती है और उससे हाथ धो बैठती है।
४. वह लड़की उसकी खोज में निकलती है, कितनी ही कठिनाइयों का सामना करती है, कितने ही कठिन कार्यों का उसे संपादन करना पड़ता है।
५. वह अंत में उसे पा लेती है।

यह कहानी पुर्नवा-उर्वशी की वैदिक कहानी के तुल्य है। यद्यपि थोड़ा हेरफेर है। पुर्नवा-उर्वशी की कहानी यजुर्वेद के ब्राह्मण में आती है। उसमें उर्वशी ने पुर्नवा से कहा है कि वह उसे नग्न न देख पाये। पुर्नवा मनुष्य योनि का है, उर्वशी दिव्य योनि की। वस्तुतः 'मेलूसिना' से इसका अधिक साम्य है। पुर्नवा-उर्वशी की कहानी का उत्तराश्व विशेष दृष्ट्यर्थ है। उसमें पुर्नवा जब प्राण तक देने को सन्नद्ध हुआ तो कश्यप ने उर्वशी से कहा कि वर्षात में आना तब मैं मिलूंगी। पुर्नवा गया, तब उर्वशी ने कहा तुम गाधवों से यह बददान माँग लेना कि मैं भी तुम में से एक हो जाऊँ। इस उत्तराश्व की घटना लोक-कहानियों में अत्यंत प्रचलित है। एक मनुष्य एक अश्वरा के प्रेम में फँस जाता है। अश्वरा उसे इद्र के समक्ष ले जाती है। वह नाचती है, पुरुष तबला बजाता है और इद्र से पुरस्कार में इस अश्वरा को माँग लेता है। स्पष्ट ही इस लोक-वाता में यजुर्वेद के ब्राह्मण के 'पुर्नवा-उर्वशी' का रूपांतर ही जीवित है।

२. मेलूसिना

१. एक मनुष्य दिव्य जाति की स्त्री से प्रेम करने लगता है।
२. वह उसके साथ इस अर्थ पर रहने के लिये तत्पर हो जाती है कि वह उस स्त्री की सप्ताह के एक विशेष दिन नहीं देखेगा।
३. वह उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है और उससे हाथ धो बैठता है।
४. वह बहुत बड़बता है, पर उसे नहीं पाता।

यह कहानी शातनु-गंगा की कहानी जैसी है। इस पौराणिक कहानी में गंगा की धातं यह है कि शातनु उसे कोई भी कार्य करने से नहीं रोकेंगे। जिस समय रोकेंगे उसी समय वह चली जायगी। गंगा अपने पुत्रों को गंगा में बहाती है। अतः शातनु रोक देते हैं। गंगा शातनु को छोड़ जाती है। लोक-कहानियों में डोला में मोतिनी की कहानी भी इसी प्रकार की है। मोतिनी मनुष्य योनि की नहीं, भीमासुर दाने के पाम रहती है। नल से इस अर्थ पर विवाह करती है कि वह दूधग मोहन (विवाह का मुकुट) धारण नहीं रखेगा। जब रत्नेगामी मोतिनी से हाथ धो बैठेगा। दम्पती में विवाह के समय यह नल गिर पग मोहर पड़ता है, मोतिनी ने वियोग हो जाता है।

३. हंसकुमारी

(Swan-Maiden Mype)

१. एक मनुष्य एक स्त्री को स्नान करते देखता है, उस स्त्री की अनियमित पोशाक (cham dress) बिनारे पर है।

* कहानियों के अर्थों के दो शीर्षक भी समीक्षकों की धृष्टि—“ए. ई. डब्ल्यू. साय की बानी” में मिले हैं। वे उहाँ के दिव्य नाम हैं।

२. वह उसे चुरा लेता है, स्त्री उसके वश में हो जाती है ।

३. कुछ वर्षों के उपरांत वह अपनी भूषा—पोशाक हस्तगत करने में सफल होती है और भाग जाती है ।

४. वह उस स्त्री को पुनः प्राप्त नहीं कर पाता ।

इस कहानी की ऊपर की दो घटनाएँ 'गोपी-वीर-द्वरण' से मिलती हैं । यद्यपि इन घटनाओं की व्याख्या पुराणकार ने और ढंग से कर दी है, पर ढाँचा वही है । गोपियाँ वस्त्र-उतार कर स्नान कर रही हैं, कृष्ण उन्हें चुरा लेते हैं । परिणाम वही है, सभी गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में पागल हो जाती हैं । हाँ, यहाँ वस्त्रों को न तो अभिमंत्रित ही बनाया गया है, न कृष्ण ने उन्हें अधिक समय तक ही रखा है ।

४. पेनीलोप

१. पुण्य यात्रा पर बाहर जाता है, स्त्री घर रहती है ।

२. वह पातिव्रत की रक्षा करती हुई प्रतीक्षा करती है ।

३. पुण्य उसके पास लौटकर आता है ।

यह कहानी कथा-सरित्सागर की 'उपकोशा' की कहानी है । उपकोशा की कहानी के विश्व-साहित्य और लोक-साहित्य में कितने ही रूपांतर हुए हैं । यही कहानी स्काट की—एबीशनल अरेबियन नाइट्स में लेडी आव कैरी एंड गैलेंड्स (कैरी की महिला और उसके चार वीर) के नाम से आयी है, थियूस्वरी ने अपने एक संग्रह में इसे 'सीदागर की स्त्री और उसके चार प्रेमी' शीर्षक दिया है । पश्चिमा में प्रचलित 'अरीया' भी यही है । मूमि में तो यह अत्यंत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है । इसका नाम है—

'कास्टेंट डू हूमेल अथवा—'सा डैम क्रुड एट्स अल पेडि, अल प्रिवोट एट्स अल फारेस्टियर' ?

किंतु भारत में भी इसके कई रूपांतर मिलते हैं । ब्रज में यही कहानी 'ठाकुर रामप्रसाद' की कहानी के रूप में है । उपकोशा की कहानी की और 'ठाकुर रामप्रसाद' की कहानी की तुलना बड़ी रोचक है । इससे हमें विदित हो सकता है कि ढाँच की तीलियों को सुरक्षित रखते हुए भी कहानियाँ किस प्रकार स्थानीय वातावरण और ज्ञान-गरिमा के अनुरूप बन जाती हैं, 'बरखि' ठाकुर रामप्रसाद बन जाते हैं, उपकोशा ठाकुरानी ; सारा वातावरण ग्रामीण हो जाता है । राजधानी के प्रधान कर्मचारियों का स्थान से लेते हैं, पटवारी मुखिया आदि ।

५. जेनोनीवा

१. पुण्य युद्ध पर जाता है, स्त्री घर रहती है ।

२. स्त्री पर मिथ्या होवारोपण किया जाता है, वह स्त्री को मृत्युदंड का आदेश देता है ।

३. वह भारी नहीं जाती, पर इतस्ततः हो जाती है ।

४. लौटने पर पति को अपनी भूल विदित होती है ।

५. वह उसे पुनः प्राप्त कर लेता है ।

स्त्री पर मिथ्यादोषारोपण और मृत्युदंड तथा भ्रंत में पुनः प्राप्ति की बात कितनी ही लोक कहानियों में है । यथार्थ में इस कहानी का मूलोपार 'डुप्यत-शकुंतला' की कहानी हो सकती है । डोला में नल के पिता राजा प्रथम ने इसी प्रकार मिथ्या दोष पर अपनी स्त्री को मृत्युदंड दिया था । मंझा पर वधिको को दया आ गई । उन्होंने उसे छोड़ दिया । वह अन्यत्र सेठ के यहाँ चली गई । बाद में राजा को अपनी भूल विदित हुई, वह दुखी हुआ और अंत में उसे उसने पुनः ग्रहण किया । गुन गुणा बाहुरीपर की मा के साथ भी ऐसी ही घटना हुई । उसे मारने की आज्ञा नहीं दी गई, घरने अप-मानित कर निकाल दिया गया । राजा को अपनी भूल विदित हुई तो पुनः लिबा लाया ।

१. कथा सरित्सागर (अंग्रेजी) सो० एच० डाउनी, एम० ए० द्वारा अनुवादित पृ० २० की दूसरी पाठ-टिप्पणी ।

६. पंचकिन

(प्राण-प्रतीक—Life-Index Type)

१. एक दाना (दानव) जिसकी आत्मा किसी बाह्य पदार्थ में रहती है, एक ऐसी स्त्री से विवाह कर लेता है जिसका एक प्रेमी है।

२. प्रेमी उस स्त्री को छोड़कर पा लेता है और उसे प्रेरित करता है कि वह अपने पति को मार डाले।

३. वह यह जानने की चेष्टा करती है कि पति के प्राण किसमें रहते हैं, दाना बार-बार उसे टाल देता है, पर अंत में रहस्य बता देता है।

४. वह प्राण-प्रतीक वस्तु को नष्ट कर डालती है, जिससे पति मर जाता है।

५. वह प्रेमी के साथ भाग जाती है।

उत्तरी भारत में ऐसी एकानेक कहानियाँ हैं। एक अंतर उनमें विशेष मिलता है, वह यह है कि यहाँ की कहानियों में बहुधा वह 'लड़की' बेटी की भाँति दाने के गृही रहती है वह उन दाने की स्त्री नहीं बनी। पंचकिन की कहानी दक्षिणी भारत की कहानी है। उत्तरी भारत में विशेषतः ब्रज में उस कहानी का एक रूप हमें प्रसिद्ध 'ढोला'—गीत में मिलता है। इसमें राजा नल के बाल्यकालीन इन्धों में से एक कृत्य 'भोतिनी' के विवाह से संबंधित है। भोतिनी भीमासुर दाने की बेटी है। नल उस दाने को मार कर ले जाता है। उस दाने के प्राण एक बगुली में थे। उस बगुली का नेद भोतिनी ने स्वयं दाने में प्रोक्षक जाना था और राजा नल को बताया था। यह कहानी एक नान (नार्वे की) कहानी से बिल्कुल मिलती है। नार्वे की कहानी में नायक उसी प्रकार दाने के प्राणों का पता लगाता है और उसे मारता है, जैसे पंचकिन अथवा नल। ब्रज में जो कार्य नल—'ढोला' में करता है, वही 'बूढ़स' यूप की कहानियों में करता है। नान कहानी में दानव अपने प्राणों के संबंध में कहते हैं—

"बहुत दूर एक झील में एक द्वीप है, उस द्वीप में एक गिरजाघर है। गिरजा में कुर्छा है। कुर्छा में एक बतख तैरती है। बतख में एक झंडा है। उस झंडे में मेरा हृदय (प्राण) है।"

गालिक (Gaelic) कहानी में, जिनका नाम है—"यंग किंग आब इत्सेव रघाय" में भी उसी प्रकार प्राणों का उल्लेख बताया गया है।

७. सेमसन

१. पति की दानवी-शक्ति किसी बाह्य पदार्थ में है।

२. स्त्री जो विश्वासघातिनी है, पति से उसका रहस्य पृथ्वी है, बहुत बार टालने पर भी अंत में वह रहस्य प्रकट कर देता है।

३. वह उसके शत्रुओं को रहस्य बता देती है, वह मारा जाता है।

जे० जे० मेयर द्वारा संग्रहीत 'हिड टेल्व' नाम की पुस्तक में एक जैन-कहानी में एक नैन-पुत्र की शक्ति तनवाग की मूठ में बसाई गई है।

८. सर्प-पुत्र

१. एक माँ के पुत्र नहीं। वह मानता करती है कि उसे कोई पुत्र मिले, नन्ने हो वह माँ हो या पापु।

२. जमा करने चारा बंसे हो पुत्र का वह प्रयत्न करती है।

३. उन बच्चे का वह एक स्त्री या पुरुष में विवाह कर देती है। वह रत्न में अमृत का रस धारण कर लेता है।

४. उसकी माँ उनके बर्ष की पा लेती है और जमा दानवी है, वह पुत्र का मरना पा पापु का रूप धारण करना प्यार देता है।

यह कहानी ज्यो की त्यो ब्रज में प्रचलित है। जर्मनी की एक कहानी में रीछ की खाल का उल्लेख है। इसमें तो किसी दुष्टात्मा के वश में पड़े होने के कारण सात साल तक शर्त के अनुसार रीछ की खाल थोढ़ कर रहना पड़ता है। इसी अवस्था में वह बादशाह की लडकी से विवाह करता है। 'ह्रस्व दीर्घ हो' में वह रीछ ही है, उसका चर्म जला दिया जाता है, तब वह मानव रूप में रह पाता है। भारत में दक्षिण ओर की कहानियों में ऐसे राजा १ उल्लेख हैं।

६ गैबर्ट-शैतान

१. माता पिता यह संकल्प करते हैं कि उनके यदि बालक होगा तो वे उसे एक शैतान (evil being) को चढ़ा देंगे। २. बालक पैदा होता है, शैतान माँगता है। ३. बालक बच निकलता है, उससे लड़ता है, या उस दुरात्मा से छल करता है। ४. अंत 'उस पर विजयी होकर अपने को मुक्त कर लेता है।

इस कहानी का दाँवा वेद के हरिश्चन्द्र की कहानी से मिलता है। हरिश्चन्द्र सतान की कामना करता है। जो बालक होगा उसे वरुण को प्रदान करने का वचन देता है। रोहित पैदा होता है, वरुण माँगता है। विविध कहानियों से पहले वरुण को डाला जाता है, फिर रोहित बड़ा होने पर जंगलों में भागा जाता है। यह वरुण से छल करने के समान है। अंत में अपने स्थान पर धुन शेष की बलि देने का विचार करता है। धुन शेष को विद्वामित्र बचा लेते हैं। वस एक बड़े भेद की बात यह है कि वेदों में वरुण देवता है और उसका संपूर्ण चरित्र सामारण्यत उदारता से परिपूर्ण है।

ब्रज की लोक कहानी में "दू भाई और दाँनी" नामक कहानी का भी ऐसा ही रूप है। दाने के आधीवाँद से दो लडके होते हैं। एक को दाना माँग ले जाता है। पहले लडके को वह खा जाता है और दूसरा छल से उसे मार डालता है और दाने की लडकी से अमृत लेकर अपने पहले भाई को जीवित कर लेता है।

१० स्वर्ण-पुत्र (Goldchild Type)

१. एक माँ एक विशेष पदार्थ खाने के लिये माँगती है, जिससे वह गर्भवती हो जाती है। २. उस भोजन का कुछ भाग वह फेंक देती है, जिसमें से कुछ को एक घोड़ी या कुतिया खा लेती है, ये भी गर्भवती हो जाती हैं, शेष जमीन पर जग आता है। ३. स्त्री का बच्चा, घोड़ी का बछेड़ा या कुतिया का पिल्ला और वह पौधा परस्पर सहजात सहानुभूति रखते हैं। ४. माँ अपने बच्चे को मार डालना चाहती है, पर उसके सहजात वंधु बछेड़ा अथवा पिल्ला उसे बचा लेते हैं। ५. वे और भी साहस का काम करते हैं।

१. जाह्नपुर, गुरुगुप्ता की ब्रज में प्रचलित कहानी में लीली बछेड़ी, गुरुगुप्ता के साथ ही पैदा होती है और वही उसकी सवारी में काम आती है। २. ब्रज की एक अन्य कहानी में पुत्र एक घोड़ा खरीद कर लाया है, इससे माँ रुष्ट होकर उसे मार डालना चाहती है, पर घोड़ा उसे हर बार बचाता है। ३. एक जर्मन कहानी में एक दरिद्र मनुष्य को एक मछली पकड़ाई आ जाती है। उसके आते ही वह हँसियों के भजन का अधिकारी बन जाता है। मछली कहती है मुझे छेड़-टुकड़ों में काट डालो। दो टुकड़े स्त्री को दिये जाते हैं, दो घोड़ी को दो पृथ्वी में गाड़ दिये जाते हैं। दो पुत्र, दो बछेड़े और दो कमल उत्पन्न होते हैं। आगे के सूत्र प्रधान कहानी की भाँति चलते हैं। ४. ब्रज की एक और कहानी में रानी के फेंके हुए पुत्र को घोड़ा पिता की भाँति पालता है।

११. लीखर

१. एक पिता के तीन पुत्री हैं, पिता उनके प्रेम की परीक्षा करता है। छोटी विशेष प्रेम घोषित नहीं करती, अंत. उसे निकाल देता है।

२. पिता सकट-ग्रस्त है, पहली दो पुत्रियाँ सहायता नहीं देतीं, छोटी से ही सहायता मिलती है।

इसी कहानी के आधार पर शेक्सपीयर का 'किंग लोअर' नाटक लिखा गया है। यह ब्रज में भी प्रचलित है। इसके दो रूप मिलते हैं। एक तो ठीक ऊपर के ढंग का है, पिता को सकट में सहायता करती है, छोटी परित्यक्त पुत्री। दूसरे ढंग की कहानी में पुत्री अपने भाग्य से राजा की समानता करनेवाला पति प्राप्त करती है। वह पति से कहती है कि राजा को निमंत्रण दे। राजा को भोजन में मिठाई दी जाती है, राजा कहता है नमकीन चाहिए। पुत्री स्वयं नमकीन परोसती है और कहती है पिता नमक अधिक प्रिय है या मीठा। राजा मूल स्वीकार करता है और पुत्री का आदर करता है।

१२ हाप ओ माई थू

१. पिता अत्यंत दरिद्र है, बच्चों को त्याग कर बसे जाते हैं। २. सबसे छोटा कई बार सबको घर से जाने का उद्योग करता है, पर असफल रहता है। ३. वे एक दिव्य प्राणी के बस में पड़ जाते हैं, किंतु सबसे छोटा उसे छल लेता है, और वे सब बच निकलते हैं।

इस सविधान से ब्रज की 'गुरु चेला' कहानी कुछ मिलती है। पिता दरिद्र है, दो बच्चे हैं। वह उन्हें एक गुरु के पास पढ़ने छोड़ आता है। छोटा बालक गुरु से सभी विद्यायें सीख लेता है और अंत में गुरु को समाप्त करके गुरु के जगुल से छूट कर घर आता है।

१३ होल्ले

१. एक सीतेली मा, सीतेली लड़की को घरकी बासी बना लेती है। २. उस लड़की के अच्छे स्वभाव के कारण उसका भाग्य धनक उठता है। ३. दूसरी लड़की को अपने दुःस्वभाव के कारण दुःख भोगने पड़ते हैं।

यह कहानी 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' में आती है। इस कहानी का नाम 'फूलनदेई-कोलनदेई' (कानीटिप्पो) रखा गया है। 'कोलनदेई' सीतेली लड़की है। इस कहानी में सीतेली माँ के अत्याचार का चरम बर्णन है जहाँ वह 'कोलनदेई' के सिर पर कील ठोक कर उसे बिडिया बना देती है और अपनी लड़की फूलनदेई का विवाह कोलनदेई के स्थान पर कर देती है। अंत में कोलनदेई का रहस्य उद्घाटन हो जाता है। वह अपने रूप में आ जाती है और पति को प्राप्त कर लेती है।

अवकाशाभाव से हम यहाँ रुकते हैं। वस्तुतः मनोरंजन की कहानियों में ठगों से संबंधित ऐसी अनेकों कहानियाँ हैं जो 'मास्टर थोफ-चोर—सिरताज की कोटि में आती हैं और जिनके अनेकों रूपांतर योरोपीय देशों में मिल जाते हैं। मुस्लीमल की अनेकों कहानियाँ ऐसी ही हैं। इस विषय पर विधिवत् अध्ययन की आवश्यकता है। श्री 'वेरियर ऐलविन' ने भारत की आदिम जातियों के मौखिक साहित्य को लिपिवद्ध करने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किया है, उससे अब भारतीय आदिम मानवीय स्तर की कहानियों के अभिप्रायों का भी मूल्यांकन किया जा सकेगा। ब्रज की इन कहानियों में इन स्तरों के साथ जो अन्य कहानियाँ प्रस्तुत होती हैं उनमें विक्रमादित्य, भोज, द्रुप, चक्र, क्षत्रिचक्र आदि, विष्णु, लक्ष्मी, गौरा—पार्वती, शिव, धर्म आदि तो आते ही हैं, वीरवल और अकबर भी आ जाते हैं, पर आश्चर्य यह है कि राम-लक्ष्मण और राधा-कृष्ण ब्रज की इन लोक कहानियों में स्थान नहीं पा सके हैं।

ब्रज के अनेकों स्थानों से कृष्ण का संबंध रहा है—उन स्थानों से सबवित कोई न कोई कृष्ण-वार्ता अवगत है, वह वार्ता विनोद सांप्रदायिक वार्ताकारियों के पास ही मिलती है। साधारण लोक में कृष्ण के नाम को लेकर चलनेवाली कहानियाँ कम ही मिलेंगी।

कहानियों और गीतों में ही मौखिक लोक-साहित्य समाप्त नहीं होता। उसके अन्य अनेकों भेद हैं, पर न हमने उनका यहाँ सकलन ही किया है, न उन पर यहाँ विनोद वक्तव्य ही दिया जा सकता है। उन पर विनोद प्रकाश 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन' नामक पुस्तक में टाला जा चुका है।

ब्रज : लोक-गीत

जन्म के गीत

"भारत के सामाजिक जीवन में जन्म के गीतों का वही महत्त्व है, जो किसी वैदिक-संस्कार में मग्नो का हो सकता है। ब्रज-प्रदेश के जन्म-विवाहादि सबधी गीतों में से कुछ का यहाँ संग्रह किया जा रहा है। जन्म-संस्कार पुत्र-जन्म के समय से लगभग दस दिन तक विविध नाम, रूप और अनुष्ठानों के साथ चलता है। यहाँ पर तत्सवधी प्रायः समस्त गीतों का सकलन दिया गया है। इनका अध्ययन मनुष्य समाज की मौलिक मनोवृत्ति के समझने में सहायक होगा। ये गीत—चंद्रमान लोहवन और ब्रज-गाँवों के अनेक महानुभावों ने सकलित किये हैं।"

आजु महलों के बीच जच्चा^१ नें सोर कियो ऐ।

आवी, आवी, सामु मेरी आवी, मेरी सोवरि^२ के बीच चरभा^३ बरावी ॥^४

आवी, आवी, दाईरी मेरी आवी, नैंक हँसिकें नाह^५ कटावी।

आवी, आवी, नैनद मेरी आवी, नैंक कीरे^६ से सतिया^७ बरावी ॥

आवी, आवी, जिठानी मेरी आवी, नैंक भीतरि पलपु विछावी ॥

आवी, आवी, दोरानी मेरी आवी, नैंक हँसिकें व्यारि^८ हुलावी।

आवी, आवी, ससुर मेरे आवी, दरवाजे पै थैली खुलावी ॥

२

प्रसव

अलबेले कुँवर, तैनें विरद^१ उठाई। सामु-नैनद बाकी धोली-डोली^{१०} भारे,
कुत्ता-बिलैया केँ टूक न डारयो, अब कैसेँ होइ निस्तारी। अलबेले कुँवर, तैनें विरद उठाई ॥
सामु-नैनद सो बोस जो बोले^{११}, अब कैसेँ होइ निस्तारी। अलबेले कुँवर, तैनें विरद उठाई ॥
वैहँमि-मानजी की मानु न राख्यो, अब कैसेँ होइ निस्तारी। अलबेले कुँवर, तैनें विरद उठाई ॥
अबऊ ब्याँनु बरी हरि जू की, अब तिहारो होइ निस्तारी। अलबेले कुँवर, तैनें विरद उठाई ॥
जे नौ, जे दस मास ब्याकेँ हरिख सबद सुनाए, हुँगी रे निस्तारी। अलबेले कुँवर, तैनें विरद उठाई ॥

३

सगा-बाँधने^{१२} के दिन पाये जानैवाले गीत

ठाडी वही घें सीर^{१३} दुवार, ए घें सीर-दुमार।

बाहिर ते भाए पातरिया^{१४} से नाह, ए मजलसिया नाह ॥

मेरी घें कहा-गुन अनमनी, उपजत ए जरजोधाऊ भूत।

^१ जनन करनेवाली। ^२ संतान-उत्पन्न होने का स्थान तथा वह स्थान जहाँ बालक और जच्चा छठी तक रहते हैं। ^३ वह मांगलिक घट जो संतान उत्पन्न होते ही अनुष्ठान पूर्वक स्त्रियाँ रखती हैं। इसके नीचे सदा आग रहती है और इसी का पानी छ दिन तक जच्चा को पिलाया जाता है। ^४ चरभा—चरभा बराना एक अनुष्ठान है, जिसमें मांगलिक घट पर विविध साँतिये आदि अंकित करके, गीतों के साथ 'सोभर' के पास आग पर रखा जाता है। ^५ नाह। ^६ दो दिवाले जहाँ कोणाकार मिलती हैं उस स्थानके पास की भिन्नी। ^७ स्वस्तिक। ^८ हवा। ^९ उत्पल। ^{१०} व्यंग, ताने। ^{११} बोल-बोले—बचन-बाण मारे। ^{१२} संतान-उत्पन्न होने के उपरांत पूर्णतः शुचि हो जाने के उपरांत प्रायः दसवें दिन नामकरण संस्कार होता है, वहाँ संस्कार गायों में 'सगा बधने' का संस्कार कहा जाता है। ^{१३} कहाँ से। ^{१४} पतला डुबला।

ए कुल-भांडन पूत, उनके करति उकांमने^१, तिहारी घन जा गुन अनमनी ।
 ए पिया, हमें पीअरे^२ की साध, पीअरी चो न रंगाइऐ ।
 ए पिया, हमें खीचरी की साध, खिचरी चो न रंगाइऐ ॥
 ए पिया, हमें लडुअरे की साध, लडुआ चो न बंधाइऐ ।
 ए घन, पीअरो बीरन पै ते मांगि, हम पर राती मांगिऐ ॥
 खिचरी भवज पै मांगि, लडुअरे माइ पै ते मांगिऐ ।
 हम पर केवकी^३ मांगिऐ ॥

ए पिया, धनियो धनोली ते लाइऐ ।
 अजमाइन अजमेर ते लाइऐ, जीरी जिरीली ते लाइऐ ॥
 ए घन, हम पै इतनो न होइ, तो होरिलु^४ कैसे खिलाइऐ ।
 ए पिया, पिछवारेक सूर^५ बखेर, ए पिया, बैरिअरा सब झुरि मरे ।
 ए पिया, घागन उरद बखेरि । भाई अरे सब झुरि मिलें ॥^६

४

तगा का दूसरा गीत

ए पिया, काँहर ऊनरे^७ और काँहर बरस्पी जाइ ।
 ए पिया, बरस्पी ए बबुलरे के खेत, ए पिया, बरस्पी बाबुलजी के बेस में ॥
 ए पिया, मेरे मन भाई ऐ चूदरी^८, ए घन^९, अपने विरल^{१०} पे मांगि ।
 ए मैना, काँहर के छीपिअरा^{११} बुलाउं, काँहर बैठि रंगाइऐ ॥
 ए मैना, नैहनी-नैहनी बंधनि बंधाइऐ, पचरंगी डोबु लगाइऐ ।
 ए मै ती ओहूँगी अपने हुरिल के चौक, अपने कुँवर के सोइले^{१२} ॥

५

जंति के गीत

बाँटि लेउ कोई पीर^{१३} हमारी ।

तुम सुनिओ साबु हमारी, मेरी नारि^{१४} की हँसुवा^{१५} भारी ॥
 तुम सुनिओ जिठानी हमारी, मेरे बाँह बाजूबंद भारी ।
 तुम लीजो चौरीनी हमारी, मेरे हाथ भरसिया^{१६} भारी ॥
 तुम लीजो ननद हमारी, मेरे हाथ ककनवा^{१७} भारी ।
 तुम लीजो दिबर हमारे मेरे हाथ भँगूठी भारी ॥
 ज्वाके होरिलु सबडु सुनाए, बाँटि लई सब पीर हमारी ।

१. कं, उतरी । २. पीले रंग का वस्त्र, पीमचा । ३. अच्छा के लिए धी बूरे और गीत में नीचे वर्णित धनियाँ सोठ इत्यादि मसालों के लड्डू । ४. हाल का दुआ शिशु । ५. काटे । 'सूर-बखेरने' और 'उरद बखेरने' के परस्पर विरोधी मुहाविरें दृष्टव्य हैं । ६. रुठे हुए मिल जायें । 'खरि' शब्द 'रोरना' क्रिया का रूपांतर है । ब्रज में 'रोरना' क्रिया का एक विशेष अर्थ है—मिट्टी प्रथवा दाल या अनाज में से अच्छी वस्तु छोट कर एकत्र करनी होती है, तो दोनों हाथों की फँसा कर बिखरी वस्तु को एकत्र किया जाता है । यह क्रिया रोरने की क्रिया कहलाती है इसी से बिखरे हुए प्रथवा रुठे हुआँ के मिलने का भाव यहाँ होता है । ७. उठे । ८. रंग-विरंगी श्रोतनी । ९. स्त्री, पत्नी । १०. भाई । ११. 'छोपी' का सप्त-वाचक ग्राम्य-रूप कपड़े छापनेवाला । १२. सोहिले—सोभर के गीत । १३. पीड़ा । १४. प्रीति, शरदन । १५. प्रीति में पहुँचे जानेवाला एक ग्राम्यण । १६. प्रारत । १७. कंगन ।

तैनं सासु कहा कीयी, मेरी सल्ला राँम नें दीयी, फेरिजा^१ मेरी हँसुला हजारी ॥
 तैनं जिठानी कहा कीयी, मेरी सल्ला राँम नें दीयी, फेरिजा मेरे बजुआ^२ हजारी ।
 तैनं खोरीनी कहा कीयी, मेरी सल्ला राँम नें दीयी, फेरिजा मेरी भरखी^३ हजारी ॥
 तैनं नैनद कहा कीयी, मेरी सल्ला राँम नें दीयी, फेरिजा मेरे ककना^४ हजारी ।
 तैनं दिवर कहा कीयी, मेरी सल्ला राँम नें दीयी, फेरिजा मेरी भँगूठी हजारी ॥

६

भाजु आनंद भए, आनंद भए जा नगरी, भाजु आनंद भए ।
 ननंद^५-भवज^६ दोऊ पानी कूँ निकरी, भावज वात चलाई ॥ भाजु०
 जी बीबी मेरे दुगगे नंद लाला,^७ ती में दुगगी गले की दुलरी^८ और कमरि की तगडी ।
 गगरी^९ उतारि घरनि घरि दीनी, व्वाके होरिल सबहु सुनाइ, भाजु आनंद० ॥
 बाहिर तें नैनद (नंद) राँनी झगरे, भाभी दै देउ गरे की दुलरी और कमरि की तगडी । भाजु आनंद०
 भावि-भाजि यति^{१०} जारी नैनदिया, छोडी^{११} छिनारि^{१२} की घँवरी^{१३} और छिनारि की उडनी^{१४} ॥
 बाहिर ते भाए प्यारे-से मैया, हमरी वैहिन को^{१५} झगरी । भाजु आनंद०
 तिहारी घनौ^{१६} नें मैया, वदनि^{१७} वदी ई, तुमें दुगगी गरे की दुलरी और कमरि की तगडी ॥ भाजु०
 मैया, छोड़े हमारी बाँधरी, मैया छोड़े चाँद^{१८} की चूँदरी । भाजु आनंद०
 अपनी वैहिन कूँ दुलरी गढाइ वळें और कमरि की तगडी ॥ भाजु आनंद०
 याँ ते निकरि तू जच्चा घारी^{१९} छिनरी, हमरी वैहिन ते को भटकी ।
 भाजु आनंद भए, आनंद भए जा नगरी, भाजु आनंद भए ॥

७

जच्चा मेरी भोरी-भारी रे ।

स्यापै^{२०} चारि बगल में सोवै, वीछी घरि सिरहानें, जच्चा मेरी मच्छर सें डरपी रे ॥
 चारि चरस^{२१} पानी के पीवै, नीबोतल सरखत की पी गई, जच्चा मेरी पीनो न जाँवें रे ।
 चारि कनस्तर घी के खाइ गई, डूँ बोरी मेवा री, जच्चा मेरी खानो^{२२} न जाँवें रे ॥
 सासु-नैनद के लहँगा फारै, वडी जिठानी की फरिआ^{२३}, जच्चा मेरी लडनो न जाँवें रे ।
 जच्चा मेरी कछु न जाँवें री, जच्चा मेरी भोरी-भारी रे ॥

८

तुम खोली जसरथ फाटका, तिहारे वह^{२४} ठाडीऐ द्वार, हिरनी जी करै ।
 वह रीती^{२५} जाउ कुम्हार कें, भरिअ^{२६} हमारे आउ, हिरनी जी करै ॥
 तुम खोली राँम जी फाटका, तिहारे वह ठाडीऐ द्वार, हिरनी जी करै ।
 वह रीति जाउ कुम्हार कें, भरिअ हमारे आउ, हिरनी जी करै ॥

१. लौटा जा । २. बाजूबद नामका आभूषण । ३. हाथ का आभूषण । ४. पति की वैहिन । ५. भाई की पत्नी । ६. पुत्र । ७. गले का बोलड़ोवाला आभूषण । ८. छोटा घड़ा, पानी भरने का । ९. यहाँ से । १०. छीनना क्रिया का यह रूपांतर भाषा-वैज्ञानिकों के लिए विचारणीय है । छीनो, छोड़ी हो गया है । ११. छिनल एक गाली, अर्थ है परसुखी से, एक से अधिक से सबध रखनेवाली । १२. घँवरिया—लहँगा-धुमावदार कटि से बँधकर पँरो तक आच्छादित करनेवाला वस्त्र । १३. भोडनी, फरिया । १४. बयो । १५. हनी । १६. शर्त-बदला । १७. सिर । १८. एक गाली । १९. सर्प को । २०. जेतो को सोचने के लिए कुँए से पानी निकालने वाला चपट्टे का एक बड़ा डोल । २१. कुछ भोजन भी । २२. भोड़नी, चुनरी । २३. वह, संतान देनेवाली शक्ति । २४. रिस्त । २५. सरी हुई ।

६

राजे, गया किनारे एक तिरिया, सु ठाडी भरज करे ।
 गये, एक लँहूरि हमें देव ती जामें डूबि जँए, भरे जामें डूबि जँए ॥
 कै दुखुरी तोइ साधु री ससुर की, कै तेरे पीया परदेस ।
 कै दुखुरी तोइ मात-पिता की, कै तेरे मा-जाए वीर, काए^१ दुख डूबि जँए ॥
 नाँ दुखुरी मोइ मात-पिता की, नाँ मा-जाए वीर ।
 नाँ दुखुरी मोए साधु री सुसर की, नाँए मेरे पिया परदेस ॥
 साधु, बहू-कहि नाँ बोले, नैनद, भाभी नाँ कहै, नैनद भाभी नाँ कहै ।
 नहो राजे, वे हरि^२ बाँझ कहि टेरें^३ ती छतियाँ जू फटि गई ॥
 जाई दुख डूबिहो सो जाई दुख डूबि हो ।
 राजे, लौटि-उलटि घर जाउ' लाल सिहारे होइ, ललन सिहारें होइ ॥
 भाई बँन तँन-मँन-भाति, राजे, मेरे पिछवारे बढई की ।
 लाला, तू मेरी देव-जेटु, राजे, एक कल्ला मेरी कीजिए ॥
 काठ-पुतर^४ गडि देउ, सो ब्वाइ लैकें उठि हों, ब्वाइ लैकें बैठि हो ।
 राजे, न्हाइ-बोइ भई ठाडी, ती सुरजु भनायें ॥
 राजे, काठ-पुतर जिउ डारी, ती जाइ लैकें उठि हों, जाइ लैकें सोइए ।
 राजे, जे नी, जे दस मास बीते गरम के, ती होरिल-सबद सुनाइए ॥
 राजे, साधु बहू-कहि बोले, नैनद भाभी कहि बोले, नैनद-भाभी बोले ।
 वे हरि, जल्मा कहि बोले, ती छतियाँ जुडि गई ॥
 सुनि-सुनि रे मेरे दिवर छतारी, ती वनसी-बजायो, मुरली-बजायो ।
 भैया ऐ लामो जगाइ, ती देखें मेरी सोइलौ ।
 बाजँन लागे बाजे, भुरैत^५ लागे तबल-निसान, गवँन लागे भगलचार ।
 धनि-धनि गये तोइ बलि ऐ, तुमनं वडावो मेरी मान ॥

१०

चौकी पै बैठे राजा दसरथ आए, नीचें कौसिल्या ।
 राजे, हमें ओ संपति की ऐ साव^६, संपति फलु देउ, कुँमर तुम्हारे होइ ॥
 बोली भ्रजुध्या के पंडित, हाल चले धर्म, तुरत चले धर्म ।
 साटी के भाखत^७ डारी, कुँमर मेरे होइ, लाल तुम्हारे होइ ॥
 चिद्दी ती होइ जाए बाँचि सुनाके, करमु भो पै नाँ बँचै ।
 कृष्ण रे होइ जाइ पादु, सँभूव मोपे ना पटै ॥
 बोली भ्रजुध्या के माली, हाल चले धर्म, तुरत चले धर्म ।
 राजे, जैनम-भुटी दै जाउ, झीखदि वतलामो, दवा वतलामो न रे ॥
 पहलें ती पीई ऐ कौसिल्या, पीछें सुमित्रा, सिल-बोइ पीई ऐ केकइया, तीन्वो गरम सूँ न रे ।
 कौसिल्या कें भए राजा राम, सुमित्रा कें लखियन—केकई कें बरत-सरत दोनो भए, ती चारि कुँमर भए ॥
 ती बाजत तबल-निसान, गवँन लागे सोइले, राजा जसरथ बेली लुटाइ, गीधन-दान कराइए ॥
 नीतर ते बोली केकइया, राजा थोरी-थोरी ब्रव लुटाओ, जे लाला वन कू जी जाइये ।
 ऐसे बोल मति बोली केकइया, घुरि रहे तबल-निसान ॥

^१. कित । ^२. पति । ^३. बलावें—मुकारते हैं । ^४. पुतली भयवा पुत्र । ^५. घोर होना ।

^६. इच्छा, मनोरथ । ^७. साठी के चावल ।

११

पाँच पाँच पंच विरियाँ^१, अए पाँच सुपरियाँ, न हो राजे ।
 सो मेरी नैनवए देव, तो विरैन जगाइ लामें, सो मँयाए जगाइ लामें, न हो राजे ॥
 उठि, उठि विरैन छतारे मेरी आखिन-तारे, मेरे जगत-उजारे ।
 राजे, तिहारे मैहल कछ सोइ, तो भवज बुलावै, सो भाभी बुलावै, न हो राजे ॥
 सो चिनि-चिन बाँध^२ पगडियाँ वेन^३ से उठि आए, हाल उठि आए ।
 भागें, भागें डोला वैहिन कौ, सो पीछें ते मँया जु आए, सो पीछें ते विरैन चले आए ॥
 राजे, एक पगु चढ़ाए पलिकियाँ^४ डूजी देहरिया ।
 राजे, लई वैन हियरा लगाइ, कहौ वैन वेंवैन^५ होइ ॥
 राजे, लाज-सरम कीए बात, हाकिम तुम ते नाँ कहूँ, साहिब तुम ते नाँ कहूँ ।
 राजे, बाँधति किन हूँ न जानी, राजे खुलति सग जग-जानीए ॥
 गोरी, छम्भ होइ उठाऊँ, जने दस लाऊँ, मँया दस दुलाऊँ ।
 गोरी, जे करता-गठरिया, सखिन-विच खोली, जाइ रामु छुडावै जाइ कृष्ण छुडावै ॥
 ए ब्रज-बासी के बालक, वेगी जनमु लै, तुरत जनमु लैन रे ।
 तेरी मँया बहुत दुखारी, तो वेगि जनमु लै ॥
 राजे, भँ कैसँ वेगि जनमु लेंउ, तुरत जनमु लेंउ ।
 माटी के कुडिल^६ न्हावाओ झटोले^७ सुलाओ ॥
 फाटी गुदरिया^८ विछाओ, छोरा^९ कहि-कहि बोली ।
 ब्रजबासी के बालक वेगि जनमु लै, तुरत जनमु लै ॥
 सोने के कुडिल न्हाऊँ, सूत के पलिका सुबाऊँ ।
 राजे, पीतावर विछाऊँ, ललैन कहि बोलूँ, हरिल कहि बोलूँ ॥
 जो जा जन्नाए गामें, गाइ-सुनामैं, जन्नाए रिझावैं, बच्चा ऐ सुनामैं ।
 कटें जैन के पाप, सपति-सुख पावैं, गोद लै खिलावैं ।

१२

जेठ के अँगना निवरियाँ^१, सो झिलर-मिलिर करे ।
 जेठ की नारि गरम ते 'सो कुनुर-कुनुर करे'^२, सो चिरयाँ चुहँक-चुहँक करे ॥
 राजे, जेठ की नारि दुखारी, तो हम पर ह्वम करे ।
 राजे, बिना बुलाई मति जाउ, अदर^३ नहि होइ ॥
 सासु मेरी आई लैनहार, नैनव मेरी फिर गई ।
 राजे, जेठ खडे बहलीज^४ बुलाएँ ते जाइए ॥
 सासु कूँ डारयो पीढ़ला^५, नैनव कूँ डारयो मूढ़िला^६ ।
 राजे, घोराणी कूँ पेंचरेंगु पलेंगु, ललैन दुवकाइए ॥
 राजे, सोईए चादरि-ताँनि, ललेंगु दुवकाइए ।
 राजे, उलटि लौटि घर आइए, राजे, नैनव-बहाए नीर, ललैन दुवकाइए ।
 राजे, दिबर के भ्रंगना निवरियाँ, सो झलर-मलर करे ।
 राजे, दिबर की नारि गरम ते, सो कुनुर-कुनुर करे ॥

१. पान की बीड़ी । २. चुनचुनकर । ३. शीघ्रता से । ४. बेचना । ५. स्नान कराने का पात्र । ६. बह
 साठ (पलग) जिसकी मुनाबत टूट कर डीली हो गई हो । ७. गुदड़ी, फटे-पुराने बस्त्र । ८. बालक के लिए एक
 साम्य शब्द । ९. नीम का वृक्ष । १०. पीड़ा से कराहती है । ११. आदर । १२. पौरी । १३. पीड़ा । १४. मूढ़ ।

राजे, दिवर की नारि गरम ते, सो हम पर हुकुम बढाइए ।
 धनियाँ, बिना बुलाई मति जाऊ, भदर नई होइ,
 सासु मेरी आई लैनहार, नैनद मेरी फिरि गई ।
 राजे, दिवर जो ठाई दहलीज, बुलाएँ ते जाइए ॥
 सासु कूँ डारयो पीढला, नैनद कूँ डारयो मूढिला ।
 राजे, जिठानी कूँ पँचरंग पलंग, ललन सुढकाइए ॥
 जीजी, लट छोटि लागुमी पाँइ, ललन दुँगी गोद में ।
 जीजी, तुमनें तो लीएँ छिपाइ, तिहारीई, हैकें जी परं ॥

१३

भरी भामी, हौलें-हौलें बोलि, भ्रंगना में गैया ठाढे ।
 ऊपर ठाढी भवजिया, नीचे ठाढी नैनदिया ॥
 भरी बीबी, सुपनो जु देखी राति, 'मालिन लाई गल-हार ।
 चुप रहि भवजिया', चुप रहि बैरीन, सुनि पामें तिहारें नोए महीना हुँगे लाल ॥
 जी बीबी, मेरे हुँगे लाल, नँदलाल, तुमैं दुँगी गल-हार' ।
 जे नौ, जे दस मास, 'वाके होरिल सबद सुनाए ॥
 डोलिभरा के^१ हौलें-हौलें डोलु बजाइ, नैनदीन सुनि लइ' मो पे माँगिगी गल-हार ।
 नैनदुलि सुनत जु भाजिए, भामी, दै वेच गल-हार ॥
 लाली, ज हरवा मेरे बाप की, तिहारे बिरन गढायो सोई लेच ।
 पूत-जनती भावजी, जनिबी^२ नौ-दस धीम ॥
 मेरे बिरन के चलति इकहरी सीर, चलिमी चौहरी सीर ।
 बगदौ नैनदिया, बगदौ^३, हरवा पैहरि घर जाउ ।
 धीम-जनती भावजी, जनियाँ नौ-दस पूत, भ्रंगना में ॥

१४

हमरे बिरन के लाल भए ऐं, खबरि परी सई-सोसि ।'
 भवई मेरे को सुनरा के जाइ, हाल मेरे को सुनरा के जाइ ॥
 एक भीहर के कुरत-टोपी, भसी मुहर खंगबारी ।
 भवई मेरे को सुनरा के जाइ, हाल मेरे को सुनरा के जाइ ॥
 कचहरी बैठते बाबुल पाए, भली भई धीम आई ।
 भवई मेरे को सुनरा के जाइ, हाल मेरे को सुनरा के जाइ ॥
 मदरसा-मढेते वीरन पाए, भली भई बैहिन आई ।
 भवई मेरे को सुनरा के जाइ, हाल मेरे को सुनरा के जाइ ॥
 मुढिला बैठती भाइल पाई, भली भई वेदी आई ।
 भवई मेरे को सुनरा के जाइ, हाल मेरे को सुनरा के जाइ ॥
 सोसरि में ते भावज बोली, किन्हें नैनद बुलाई ।
 भवई मेरे को सुनरा के जाइ, हाल मेरे को सुनरा के जाइ ॥
 राति की राति डटन दै^४ भामी, मोर भएँ उठि जाँउ ।
 भवई मेरे को सुनरा के जाइ, हाल मेरे को सुनरा के जाइ ॥
 तोइ बाँधू, तेरे लरिकन बाँधू, भीरु छिनरी की मया ॥

^१. डोल-बजाने वाले । ^२. पंदा करना । ^३. लीटो । ^४. रहने दे ।

एक रनैया को रस्सा मगाऊँ, और अघेली को खूटा ।
 चों री भेना तेनें देखी, नैनदुलि जाती देखी ॥
 अब मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ ।
 एक रनैया के रस्साए ले गई, और अघेली को खूटा ॥
 अब मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ ।
 हाँ, हाँ, बेहिना हमनें देखी, खूटा लटकतु जाइ ॥
 अब मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ ।

१५

आयी जेठ-असाढ राजे, नैनद-भवज पानी-नीकरी ।
 राजे, मूखी^१ ऐ बरद-विजार, राजे नैनदुलि, हाथ-पखारिऐ ॥
 हात-पखारत लाग्योऐ दोसु, अब कहा कीजे मेरी भावजी री ?
 पहली महीना जब लागिऐ, ब्वाकी फूलु गहरी फलु लागिऐ ॥ अब कहा कीजें ।
 ए ब्वाइ दूजी महीना जब लागिऐ,
 राजे, तीजी महीना जब लागिऐ, ब्वाकी खीर-खाई मन भाइऐ ।
 अपुविस^२, अपुविस खीर रेंचाइऐ, लज्जा राखू^३ नैनद की ॥
 राजे, चौथी महीना जब लागिऐ, ए ब्वाकू कोल^४ के भ्राम मंगाइऐ ।
 ए ब्वाइ पंचयी महीना जब लागिऐ, ए में अपुविस भ्राम मंगाइऐ, मन जी राखू^५ नैनद की ॥
 राजे, छठयी महीना जब लागिऐ, ए ब्वाइ सातयी महीना जब लागिऐ ।
 ए में अपुविस, अपुविस साखू^६ पुजाऊँ, ती लज्जा राखू^७ नैनद की ॥
 राजे, अठयी महीना जब लागिऐ, ए में अपुविस, अपुविस महल खराऊँ, लज्जा राखू^८ नैनद की ।
 ए ब्वाइ नौयी महीना जब लागिऐ, ए में अपुविस, अपुविस दाई बुलाऊँ, ती हुरिल जनाऊँ नैनद की ॥
 ब्वाकी दाई देहरि^९ भाइऐ, ब्वाकें गाइ की बन्ध्या है परधी ।
 बाहिर ते 'आए पतुरिया' नाहू^{१०} ती गोरी, हमरी बैहिन कहाँ गई ।
 राजे, तिहारी बैहिन की दूखें अखि, लैरे अतीजे ऐ सोइ रही ।
 राजे, आयो ऐ जेठ-असाढ, हरहारे^{११}, नैं हर रे सम्हारिऐ ।
 राजे, बोलीऐ गोरी धेन भाइ, सुनि-सुनि रे मेरे समरथ साहिबा ?
 राजे, बछराऐ गारी न दीखिऐ, बछरा ती जागें तिहारी भानजी ॥
 गोरी, तिहारी ती काटुंगो मूँड, राजे, जाकी अरथ बसाइऐ ।
 राजा, काए कू काटीगे मूँड, लज्जा राखी तिहारी बैहिन की ॥
 राजे, मूखी ओ बरद-विजार ती नैनदुलि हाथ-पखारिऐ ।
 राजे, हात-पखारत लग्योऐ दोसु, ती लज्जा राखी तिहारी बैहिन की ।
 गोरी, तेरी अँ असल गुलाम, लज्जा राखी मेरी बैहिन की ॥

१६

राजे, नैनद-भवज दोऊ बैठिऐ, भामी कैसेर सुरति देखी, रँगनु चिरिचि लिखि दिखराइऐ ।
 भामी, मैया की नारि गरभ ते, ठाढे हैं कें काबिऐ ॥
 वाली, तिहारे बिरन की ऐ बैरी, राजे, जी सुनि पाइऐ, घर ते हाल निकारिऐ ।

^१. पेशाब किया । ^२. अपने बहाने । ^३. अलीगढ़ का पुराना नाम । ^४. साधु या साध-पुजाना
 एक संस्कार होता है, जो गर्भ के सातवें महीने में संपन्न होता है । ^५. बेहली, बहलीज । ^६. स्त्री । ^७. पति ।
^८. हलचर, कुचक-अभिप्राय गृह-पति से है ।

भामी नें बुहलेरी समुझाइये, हठीली हट परि गई ॥
 राजे, पुरी जी रीमनु लिखि द्यौ, भवज जु ठचोकी करि दई, राजे, बीरन बिभ-दिसाइये ।
 बोलीओ छोटे भैया ओ लखिमन, राजे, सीता ऐ वनखंड मारिये, नैनन लाम्री निकारिये ॥
 चंदन-रख जूरवाइये, लखिमन भए रखवार ।
 राजे, इक बनू नांखि, हूजौ बनू नांखी तीजे बनू पहुँच्योऐ जाइ ॥
 राजे, सीताऐ लगि भाई प्यास, देवर पानी लाइये ।
 भामी, बैठौ तरवर की छाँह, हमतौ रे पानी लाइये ॥
 सीता सोई ऐ चादरि ताँनि, राजे, लाला जी पानी कूँ गए ।
 लखिमन लाए ऐ दोनां-मरि नीर, तरवर के टांगे डार पै ॥
 राजे, लखिमन रख जौ हाँकिऐ, राजे, टपक बूद मुखड़ा-मरी ।
 सीता, देखति भाँखि पसारिये, राजे, रोमति नार-बेजार ॥
 राजे, सुनि-सुनि सबडु कुइलिया, कुटी में ते निकरे बाबा जी ।
 बेटी, बली हमारे साय, मेरी कुटीऐ करी विसराम जी ॥
 राजे, कोइल सबडु सुनामती श्रीर हँमई जनाँन नंदलाल ।
 धन की कुइलिया दाई बनिगी, मँना बनिगी मेरी सासु, बाबा मेरे करिजे सहाई ॥

१७

बघैया, बघैया, म्वाँ हतिनापुर कूँ जाउ, श्री कृष्ण कें वेटा भयी ।
 वे कैंसे, वे कैंसे यामें भ्राजु, विन डोला, विन पालकी ॥
 बघैया, बघैया म्वाँ रुकैम-नगर कूँ जाउ, बेटी रुकमिनि कें वेटा भयी ।
 वे कैंसे, वे कैंसे यामें मडुआ भ्राजु, विन रे राते, विन पीसरे ॥

१८

नरैगफल का गीत—जज्जा

जे नौ, जे दस मास, राजे, राजकुँमरि गरभ ते नरैगफलु माँगिये ।
 राजे, कौन दिसा में ब्वा की पेड़, कहाँ फलु लागिये ?
 राजा, पुरव-दिसा में ब्वाकी पेड़, फुलक^१ फलु लागिये ॥
 गोरी, ब्वा फलु कौ लाइवौ कठिनऐ, कैंसे फलु लाइये ?
 गोरी, एक लख दिवला^२ जौ जुरव, सवा लख त्याँ कूकरा^३ ॥
 रानी, एक लख हूँ पैहरेदार, सवा लख रखवारिये !
 राजा, जी रे नरैगफलु नाई लाम्री, तौ मखँगी जहल-बिसु खाइ ॥
 राजे, मारि घुडिल म्वाँ ते बलि दिए, राजे, पहुँचेऐ देस-विदेस, घर-विता छाइये ॥
 मुडिला-बैठती माइ तौ रीमु मनाइ, सुरजु मनाइये ।
 राजे, कव की वैरिन भई बहूम, वेटा चोरी तें गए ॥
 राजे, गुडिया खिलती ऐ वैहिन, सो रीमु मनाव, सुरजु मनाव ।
 मेरी कव की वैरिन भई भामी, विरन चोरी गए ॥
 राजे, सेज-चढती ओ धनिया, सो रीमु मनार्ने, सुरजु मनार्ने, मेरी कव की वैरिन भई कौलि, चलैम चोरी गए ॥
 राजे, पहुँचि नरैगफल के पास, चढे जु घोडा खोलिये ।
 राजे, बढि^४ गए एक लख दीप, सोए सवा लख कूकरा ॥

१. वृक्ष के ऊपर की कोटी । २. दीपक । ३. कुत्ते । ४. स्त्री । ५. ब्रह्म गये ।

राजे, सोइ गए इक लख पैहरेदार, सवा लख रखवारिया ॥
 राजे, धुडिला की पीठ-लगाइ, पेड पै राजा बढि गए ।
 राजे, झटकि लियो फलु तोरि, जेव-रखि लीजिए ॥
 राजे, सुनिक्कं झडाकौ^१ जागे कूकरा, राजे, जरि गए इक लख दीवला ॥
 राजे, भाए ऐं एक लख पैहरेदार, सवा लख रखवारिया ।
 राजे, चलति खाँडे की धार, पकरि डारे जेल में ।
 राजे, चली कर्चहरी के बीच, चोर हूँ पकरिए ॥
 राज, पूछत बैठे जाँ हाकिम, कही, कैसें आइए ।
 राजे, कौन बताई तुमें थाँग^२, फलु चोरी जो करि लई ।
 राजे, कोन की नारि गरम ते, नरँगफलु माँगिए ॥
 राजे, मेरी ई नारि गरम ते, नरँगफलु माँगिए ।
 लाला, लै जाग्रो भाजु उज्जगर^३ काए बूँ डुवकाइए ॥
 राजे, जो कोई गरभिनी नारि, धाकूँ नाईं रोकिए ।
 राजे, लै जाड ठै के चारि, बिनई जाइ कें दीजिए ॥
 राजे, मारि धुडिलु म्बति चलि दए, राजे, पहुँचे ऐं मैहलनु आइ, मैहल खुलबाइए ।
 राजे, छैम-छैम आई ऐ नारि, खोलि दीए मैहल जी ॥
 राजे, दै दीए दोऊ नरँगफल, जाड तुम लीजिए ।
 राजे, झटपट सासु जगाई, नरँगफलु देखिए ॥
 राजे, झटपट नैनद जगाई, नरँगफलु देखिए ।
 भाभी, खाइ लेउ झटपट जाइ, ललैत तिहारे होंड, कुँमर तिहारे होइ ।

१६

छोछक का (भेली लेने के समय का) गीत

उडि, उडि काम सुलाकने^४, उडि मेरे पीहर^५ जाड ।
 मेरी कहिअरी माइ समझाइ, धीअरि माँगे लाडुए ॥
 मेरे कहिअरी बबुल समझाइ, बेटी तौ माँगि खीचरी ।
 मेरे कहिअरी विरैत समझाइ, मैना तौ माँगे पीअरी^६ ॥
 मेरी कहिअरी भवज-समझाइ, नैनदुलि तौ माँगे खीचरी ।
 बेटी, नित उठि जैनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ लाडुए ।
 लाली, नित उठि जैनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ खीचरी ।
 बीबी, नित उठि जैनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ पीअरी ॥
 मेरी बीबी, नित उठि जैनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ खीचरी ॥
 गरमैलि^७, सोई ऐ चादरि-तानि, माइलि बोले बोलने, भावज बोले बोलने ।
 जाको छोटी नैनद वडी अचपली^८, भाभी उठि चो^९ न करो सिंगार—
 गरजतु आवै पीअरी, लुडकत आँसें लाडुए ॥
 दूटत बँहूँगीनु^{१०} बाँस, खीचरी के बोझ ते ।
 झूठे तिहारी लाली, मेरी पीहर-सासुरी,
 जो तू री भावज, मानति झूठ, बढि बीबारेनु^{११} देखिए ॥

^१. जोर की आहट । ^२. पता । ^३. बिना छिपे । ^४. शूभ (सुलाभणिक) । ^५. पितु-गृह ।

^६. पीला वस्त्र, पोंमचा । ^७. दुखियारी । ^८. चंचल । ^९. बयो । ^{१०}. बँहूँगी-कहार जिसपर माल ढोते हैं ।

^{११}. बीबारा—घार दरबाजोवाला दालान ।

साँची तिहारी ऐ बोल, साँची पीहर-साधुरी ।
बीबी, लट-छोड़ि लागूगी पाम, गिरी^१ रे-बुधारे त्वारी मुल-महँ ।
मेरी बरूए सज्जन की ऐ भीम, सो झगड़ि मँगायी पीमरी ॥

२०

चों ऐ बिधूकी^२ री जानकी, चो ऐ बिधूकी री ।
इंद्रपुरी ते नगाड़े मँगामें, तेरे द्वार घुराळें^३ री, सीया बेटी चौ० ॥
विरैम-पुरी ते बिरमाँ^४ बुलामें, तेरे सुत को नाम घुराळें, सिया बेटी० ॥
कजरी बन ते हल्टी मगाळ, तेरे द्वार झुकाळ री, सिया बेटी० ॥

२१

सीता ठाड़ी पछिताइ, कुस बन में भए ।
जो घर होती साधु कुसल्या, बरूए देती घरबाइ ॥
जो घर होती नैनद हँसारी, सँतिऐ देती घरबाइ ।
जो घर होती ससुर हँसारे, नौबति देते घरबाइ ॥
जो घर होते दिबर हँसारे, तीर देते सँघबाइ, कुस बन में भए ॥

२२

जब पहला नहान निकलता है, उस दिन गोबर के सँतिऐ धरे जाते हैं और यह गीत गाया जाता है ।

बरती के दरबार, नौहवति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रहीऐ फूलवारी, चंपा मौरि^५ रही ऐ, मरुभरी मेहकि रह्यो ऐ ॥
माता के दरबार नौहवति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रही ऐ फूलवारि, चंपा मौरि रही ऐ ॥
सेठ-मसानी^६ के दरबार, नौहवति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रही ऐ फूलवारि, चंपा मौरि रही ऐ, मरुभरी मेहकि रह्यो ऐ ॥

२३

सँतिऐ^७

ननद, घर के कोरे से सँतिऐ रखती है । सात एक हँडिया पर पाँच सँतिऐ गोबर के रखती है । इसे चरमा कहते हैं । दस दिन तक जच्चा इसी हँडिया के पानी को पीती है । इस दिन का नाम चरमा-सँतिया है । इसी दिन यह गीत गाया जाता है ।

घरहुँ छुहड़ा^८ सँतिऐ, अपने विरै^९ दरबार, बघाई बाजी नंद के ।
गँहनू में बड़ी हँमुला, जो मेरी नैनदी ऐ देव ॥
जाळ ऐ नैनद नाई लेंति, हठीली, हठि परि रही ।
पीहल^{१०} में बड़ी नँधि ऐ, सो मेरी नैनदी ऐ देव ॥
जाळ ऐ नैनद नाई लेंति, हठीली, हठि परि रही ।
बकुचनि^{११} में बड़ी चूंदरी, सो मेरी नैनदी ऐ देव ॥
जाळ ऐ नैनद नाई लेंति, हठीली, हठि परि रही ।

१. नारियल की मिनी । २. दुलही । ३. बजपाई । ४. बहया । ५. मौरना—बीरना—कुली से युक्त होना । ६. देवी-देवता । ७. स्वस्तिक । पुत्र-जन्म पर घर पर गोबर से स्वस्तिक रखना एक आवश्यक अनुष्ठान है । ८. सुनहला—यहाँ तात्पर्य 'बहिन' से है । ९. नाई । १०. पशुओं । ११. लँगूर या पिटारा ।

बासँन सँ बड़ी टोकनाँ, सो मेरी नँनदी ऐ देउ ।
 जाऊ ऐ नँनद नाँइ लँति, हठीली, हठि परि रही ॥
 भाभी, हँसुलाही देउ अपनी सासु ऐ, चसआ चढाए को नेगु^१ ॥
 भाभी, भँसि भरारेनु^२ देउ, तिहारी सोमरि भरारे को नेगु ।
 भाभी, चूदरि ती नाँइन ऐ देउ, नगर बुलाए को नेगु ॥
 भाभी, टोकनाँ ती देउ झोरानी ऐ, विजनु^३ दुराए^४ को नेगु ।
 भाभी, हम ती बुही लिगो, बदनि-बदी ऐ भावी राति ॥
 भाभी, सोली ककनवा की कील, बदनि-बदी ऐ सोई देउ ।
 लाली, जिह^५ ककनाँ मेरे बाप को, तिहारे बिरँन गढायी सोई लेउ ॥

२४

छटी का बसरा गीत

तेरे हाथ झुझुना लाल रे ।

बाबा के प्यारे खेलि रे, ताऊ के प्यारे खेलि रे ॥

तेरी दादी खिलावै तू खेलि रे, तेरी ताई खिलावै तू खेलि रे ।

तेरे फूफा^६ लाए झुझुना, तेरी भूमा^७ खिलावै तू खेलि रे ॥

तेरे नाना की टूटयो झुझुना खेलि रे, नानी छिनरी खिलावै तू खेलि रे ॥

२५

छटी का तीसरा गीत

घतूरी, माँचनों रे साल ।

कोनो बीयी, कोनो जोत्पी, कोनो डारपी ऐ बीजु, घतूरी माँचनो रे साल ॥

भरत साल नें जोत्पी, लछिमन नें जोत्पी, रम नें डारपी ऐ बीजु ।

घतूरी, माँचनो रे साल ॥

कोनो घोटपी, कोनो छान्यो, कोनो भरि लीयो घूट ।

खुति-कीरति नें घोटपी, उरमिसा नें छान्यो, सीता नें भरि लीयो घूट ।

घतूरी, माँचनो रे साल ॥

२६

छटी का चौथा गीत

टोडरमल झूलै पालनाँ ।

काए की तेरी चदन-पलकिया, काए के वान^८ बुनाइ ।

काए की भदमादनि बीजि ऐ, टोडरमल झूलै पालनाँ ॥

जसरख के चवन-रुख कटाइऐ, चदन-पलकिया टुकाइऐ ।

रेसम वनि बुनाइऐ, टोडरमल झूलै पालनाँ ॥

टोडरमल बीए ऐ पौडाइ,^९ टोडरमल झूलै पालनाँ ।

बाकी ताई, चाची, भूमा झुलावै पालनाँ, टोडरमल झूलै पालनाँ ॥

१. किसी संस्कार अथवा अनुष्ठान में विविध काम करने वाली को उनके अधिकार के रूप में जो कुछ दिया जाता है, वह 'नेग' कहलाता है । २. भड़री जो निष्कृष्ट दान लेते हैं । ३. पंखा । ४. हिलाने या करने । ५. यह । ६. पिता की बहिन के पति । ७. पिता की बहिन । ८. बाल—बहु भूँज की रस्ती जिससे पलंग-छाट बुनी जाती है । ९. बुलाना ।

बाबा के प्यारे झूलि रे, चाचा-ताऊ के प्यारे झूलि रे ।
तेरी दादी झुलारै तू झूलि रे, टोडरमल झूलै पालनै ॥

२७

छटी का पाँचवाँ गीत

बिलगु^१ मति मानै री जच्चा, जि तौ भंगी कौ लला ।
बिलगु मति मानै री जच्चा, जिती कुँह्वार कौ लला ॥
बिलगु मति मानै री जच्चा, जिती चमार कौ लला ।
बिलगु मति मानै री जच्चा, जिती कोरी^२ कौ लला ॥
बिलगु मति मानै री जच्चा, जिती खटोक^३ कौ लला ।
बिलगु मति मानै री जच्चा, जिती बनियाँ कौ लला ॥
बिलगु मति मानै री जच्चा, जिती धोबी कौ लला ।
सबु जगु झूठी री जच्चा, जिती साँची रीमजी कौ लला ॥

२८

छटी का छठवाँ गीत—'दमोदरिया'

पडिनु जवरिया कौ याद, जानै लिखि डारथी जगु-ससार, ज्वानै एक न लिखी दमोदरी ।
कुँह्वार कौ^४ जवरिया कौ याद, जानै मानि^५ डारथी सबु ससार, ज्वानै एक न मानि दमोदरी ॥
चमरा कौ जवरिया कौ याद, जानै गौठि^६ डारथी जगु-ससार, ज्वानै एक न गौठी दमोदरी ।
कोरिया जवरिया कौ याद, जानै बुनि डारथी जगु-ससार, ज्वानै एक न बुनी दमोदरी ॥

२९

छटी का सातवाँ गीत—'लपसी'

मन गुरु, मन गुरु, हँ मन मैदा, करउ कौसल्या लापसी ।
सब गुरु, सब गुरु, घरघौऐ उठाइ, तौ निपट झलोनी लंगर लापसी ॥
जेतौ री, जेतौ दारी सुमित्रा के काम, केकई विचारी कहा करे ।
चूल्हे-माँझें, चूल्हे-माँझें, घरघौऐ खबैरा, लखिमनु जानै मोकुँ लापसी ॥
सरपट, सरपट लाला भरि लीयी गाल, हलकत डोलें सरि देस में ।
आँगन, आँगन मंसि कौ चोय, नँवडुलि जानी मोकुँ सिंग बरी ॥
सरपट, सरपट लाली भरि लीयी गाल, बुकि-भरी सब री देहरी ।
तेरी, तौ तेरी, खड्डेरा बोहुँ जाति, निकरि हलक ते बाहिरी ॥
तेरी, तौ तेरी बोहुँ चोय जाति, निकरि हलक ते बाहिरी ।

३०

छटी का आठवाँ गीत^७

सोझी कँ जागी हुरिल के बाबा-ताऊ, गामनहारी राजे बर चवी ।
गामन हारिन के लहँगा-बुगरा सेउ उत्तारि, करी हुरिल की गडतनी ॥
नए-भए देउ पहराइ, पुराँनन की करि सेउ गडतनी ।
गामन-हारिन देउ तँमोल, गोद भरी तिल-नमरी ॥

^१. बुरा । ^२. कपड़े बुनने का काम करने वाली जाति का आदमी । ^३. भेड़, ऊन और तंत का व्यवसाय करने वाली जाति का मनुष्य । ^४. कुँह्वार का पुत्र । ^५. भालना—बनाना । ^६. गौठना—जूता सोने और सँभालने का काम । ^७. यह गीत गालेवालिपों को बिदा करते समय गाया जाता है ।

३१

छठी का नववाँ गीत—'कठुला'

लाला की नानी भ्रावंगी, दरवज्जी वांछु गदावंगी, जि थैई-थई नावंगी ।
जि कीडी-कीडी जोरंगी, लाला काँ छोछक^१ लावंगी ॥
लाला की माई भ्रावंगी, भ्रजध्या जी में सेज बिछावंगी ।
बूढे-बारेनु^२ मोहंगी, जब रोक-रूपैया लावंगी, लाला कूँ कठुला गदावंगी ॥
लाला काँ मामा भ्रावंगी, जब धुनि की रई धुनावंगी, जब फोझा-फोझा जोरंगी ।
भेना कूँ सौरि^३ भरावंगी, लाला कूँ टोपा भरावंगी ॥
लाला की मौसी भ्रावंगी, धवला^४ में सोठि चुरावंगी ।
मौसी की पेट्ट कवाडी ऐ, दस रोटी की एकु निवारी ऐ ॥
देखी रे जला, तेरी नैनसार, फिट्टि रे लाला, तेरी नैनसार ।
लाला की दादी भ्रावंगी, बु हँसुली-खटुआ लावंगी, लाला ऐ लै पहरावंगी ॥
पहिरै वाकी झांसनियाँ, पहरावै वाकी माइ ।
पहिरै कुल-माँडनियाँ^५, पहरावै वाकी माइ ॥
छज्जे पै वैठि खिलावंगी, भ्रगिन में वैठि खिलावंगी ।
देखी रे लाला, तेरी ददसार, खूबु रे वनी तेरी ददसार ॥

३२

जगमोहन-सुगरा

एजे, नैनद-भवज दोनो वैठिये, एजे रुक्मिनि नौ-दस माँस गरम ते, एजे नैनदुलि वात चलाइये ।
एजे, जो तिहारे होइ नैदलाल, जगमोहन-सुगरा दीजिये ॥
बीबी, जो मेरें होइ नैदलाल, जगमोहन-सुगरा दीजिये ।
एजे, नैनद चली ऐ अपने साधुरे, बाके होरिनु सबदु सुनाइये, जगमोहन-सुगरा माँगिये ॥
एजे, कैसेँ बचाऊँ अपने भ्रान, नैनदुलि ते छिपाइये ।
एजे, धुरि गए तवल-निसान, वजैन लागे सोहिले ॥
एजे, नौआ के ऐ लेज बुलाइ लुचन^१ लैकेँ भेजिये ।
एजे, जाधौ मेरी माइ, कही समझाइ, रुक्मिनि नें जाए हीरा-लाल ।
एजे, इक वनु नाखि दुजे वनु नाख्यी, तीजे वनु पढ़ेजे ऐँ जाइ, रुक्मिनि के वबुलकें ।
भरी रे कचहरी वबुल जी की वैठी ऐ ।
एजे, विरैन जो वैठे उनके पास, एजे नौआ के नें लुचन दिखाइये ।
व्वाके बाबुल खुसी रही सर छाइ, विरैन व्वाके सुनि रहे ॥
एजे, हाथी बँचे ऐँ हथसार, जरद भवारी दीजिये ।
एजे, घोडी बँधी ऐँ घुडसार, अच्छी-सी जीनु बराइ, झाँसन पहिराइये, नौआ के ऐ वेग बढाइये ।
एजे, भरी रे कचहरी बाबुल छठि चले ।
एजे, छोटे विरैन उनके साथ, मँहलतु जाइ पहुँचिये ॥
एजे, कही ऐ माइ समझाइ, भवज उनकी सुनि रही ॥
एजे, रुक्मिनि जाए ऐँ नैदलाल, बसाई लैकेँ भाइये ।

^१. छोछक—माँ के माता-पिता-माई-बाँधुप्राँ द्वारा भेजी हुई सामग्री, जो पुत्र-उत्पन्न होने की बचाई में आती है । ^२. छोटे । ^३. भोदने की रजाई । ^४. लँहगा । ^५. कुल-मंडन करने वाला, कुल की शोभा । ^६. निमंत्रण का दीवज, रोली ।

एजे, पटरस भोजन बनाइ तो सोरन^१-थार लगाइए ॥
 एजे, तोडा^२ देउ प^३हिवाइ, तो लामो पाँचो कपडे वेवते^३ के सोहिले ॥
 एजे, करी भोजन रचिमान, विदा करि दीजिए ।
 एजे, जगमोहन-लुगरा श्री साउ, नाऊ ऐ धरि दीजिए ।
 एजे, लै जाउ बगल दवाइ, काऊ नाहि दिखाइए ।
 एजे, बीच में वसति ऐ सुह्रा^४, तो जने न दिखाइए ॥



एजे, इक वनु नाँखि हूजे वनु नाखिए, तोजे वनु भाइ भँझारि सुह्रा के मँहल में ॥
 एजे, पूँछति पोद्दार की बात कहा लै आइए ।
 एजे, बाजि रहे तवल-निसान, गवत छोडे सोहिले ॥
 एजे, हँम तो लूचन लँके भेजे, रकिमिनि के ववुल कँ ।
 एजे, तुमहूँ बचाए लँके आए, किसन लँवे आइए ॥
 एजे, सोने के तोडा लाँच, नाऊ ऐ पहिवाइए ।
 एजे, साल-दुसाल श्री साउ, नाऊऐ उडाइए ॥
 एजे, उडाऊँ भतीजे के सोहिले ॥
 एजे, पटरस भोजन बनाइ, नाऊ ऐ जिमाइए ।
 नौमा के, भोजन करिवे कूँ भाउ, तो आसन विछाइए ॥
 नौमा के, जिह^५ का बगल^५ तिहारी, लौ जाइ दिखाइए ।
 साली, नहल-उस्तरा ऐ पेटी, तो जाकौ कहा देखिए ।
 नौमा के, हँमते दगा मति खेलै, गाम कोऐ नाऊ ।
 तेरी बगल जगमोहन-लुगरा दबि रहे, तो हँमते छिपाइए, एजे को न दिखाइए ।
 नौमा के, चलूँगी तिहारेई, साध, बदन पुरी है गई ॥
 साली, तुम लौ बाबरी-नौमारि, मेरे संग ना चली ।
 तिहारे बिरन तो भामिँ लैनहार, आदर करि जाइए ॥
 साली, बिना रे बूलाएँ मति जाओ, आदर नाएँ होइ ।
 एजे, रकिमिनि को डोला ऐ साध, नाऊ के संग चलि दई ।
 एजे, एक वनु नाँखि हूजी वनु नाँखि ऐ, एजे, तीजे वनु पहुँची ऐ जाइ, बबुल जी के मँहल में ॥
 एजे, बिरन जी बँडे चटसार, देखि भौनाएँ हँसि दए ।
 भौना, देखि भतीजे को सोहिली, भावहि तुम आइ ऐ एजे, मँहलन भावज सुनि रही ।
 एजे, हथियेन में बड़ी हाती, जरद ऐ अबारी ।
 एजे, भरजुन नैनदेक बैठि जाऊ, नैनद सुख पाइए ।
 एजे, घोड़ियन में बड़ी घोड़िला—
 एजे, चदा-सूरज से मेरे भानजे, जा चढि जाइए, नैनद सुख-पाइए ।
 राजे, बकुलिन में बड़ी चूँदरी, एजे, जाइ नैनदिया ऐ देउ, भोडि घर-जाइए ।
 एजे, गँहनैनु में बड़ी हाँसुला, सी जाइ नैनदिया ऐ बीजिए, जाइ पहरि घर-जाउ ॥
 भाभी, हथिया बँधे बहूतेरे, घुड़िल घुडसार में ।
 भाभी, बदन-बदी ऐ सोई देउ, जगमोहन-लुगरा दीजिए ॥

^१. सुवर्ण । ^२. सोने की लड़ । ^३. पुत्री का पुत्र । ^४. सुमहा—कृष्ण की बहिन । ^५. यह ।

^६. शरीर के पार्वर्ध और भुजा के बीच का भाग, जिसे 'कॉल' भी कहते हैं ।

भाभी, चुंदरी तो मेरें बौहीत ऐं, सो हँसुला तौ मेरें बहू बने ।
 भाभी, बदनि-बदीऐ सोई देउ, जगमोहन-सुगरा बीजिए ॥
 लाली, जे सुगरा नाँ दँउ, कुँमरजी के सोहिले ।
 लाली, भेज्यो ऐ जनम दिखामनि माइ, मजलसिया बाबुल मोलु लै ॥
 लै आबो री मेरी तरकसु-बदी वीर, एजे, अपनी भवजु को ऐ साहिवा ।
 एजे, जाइ नाइ दुँगी, ओढू तौ अपने चीक पँ ॥
 लाली, को तिहारें गए लँनहार, को तौ छेता^१ धरि गए ।
 भाभी, ना कोई गए लँनहार, नाऐं छेता धरि गए ॥
 भाभी, हमारे बबुलु की अर्थया^२, इन देखिबे आइऐ ।
 भाभी, हमारी माइ की रसोइया, इन देखेन आइऐ ॥
 भाभी, हमरे विरैन घर-सोहिलौ, सुनि कँ घर आइऐ ।
 लाली, लौटि-वगद घर जाउ, तौ फेरि मति आइऐ ॥
 एजे, नैननु भरि लाई नीर, तौ हिलकिनु रोइऐ ।
 भाभी, हमरे बबुल के ऐ देख, जनम-भुमि मेरी रही ॥
 भाभी, तुम न जेसन देउ आजु, लौटि घर जाइऐ ।
 लाली, बँठी ऐ तन-मन मारि, नैननु जलु छाइऐ ॥
 एजे, बाहर तँ आए मा के जाए विरैन आए मैहल में, एजे, हमरी वैहिन कँसें अनमनी^३ ।
 एजे, भीतर ते बोली रुक्मिनी, वैहिन तिहारी रुठिए ॥
 एजे, साथी जगमोहन-सुगरा मोल, वैहिन कूँ बीजिए ।
 रुक्मिनि, जो कहूँ बिकते जे मोल, तौ हाल जु लाइऐ ॥
 चाहै आमँ लाख, द्वै लाख, छै लाख, खरीदिकँ लाइऐ, वैहिन लै पहिराइऐ ।
 रुक्मिनि, जुरि रही पटनाँ की पँठ, माँ तौ रे हम जाइऐ ॥
 भेना, लाइ दऊँ दखिनी-सौ चीर, बाइ ओढि घर जाइऐ ।
 एजे, ब्याऊ ऐ वैहिन नाँऐ लँति, हठीली हठि परि रही ॥
 रुक्मिनि, जौ तुम वैहिन न देउ, जाई हम पँठ कूँ ।
 गोरी, करे दूसरी ब्याह, सौति तुम पर लाइऐ ॥
 रुक्मिनि, करहु सोलहो सिंगार, निकरि पीहर जाइऐ ।
 रुक्मिनि, बनियाँ बहुत-सी लाऊँ ब्याहि, वैहिन नाँऐ पाइऐ ॥
 रुक्मिनि, निकरि बाहर तुम जाओ, बुलिया तो ठाडी द्वार पै ।
 लाली, वगदी, वगदि घर भाउ, जगमोहन-सुगरा पहिरिए ॥
 लाली, पँहरि-ओढि घर जाउ, तौ मल-मरि असीस जु बीजिए ।
 भाभी, अमर रहै तिहारी चुरियाँ, अमर तिहारे बीछिया ॥
 भाभी, जीयो तिहारे कुँमर कँहूँया ।
 कुँमर तिहारे चीक में, खेलें तिहारे भ्रमन में ॥

— ० —

१. लिवा कर लाने की तिथि का निश्चय और निर्भ्रमण । २. स्यान । ३. उदास ।

(आ)

विवाह के गीत

“भारतीय समाज में मनुष्य के विविध-संस्कारों में विवाह-संस्कार का सबसे अधिक महत्त्व है। लोक-जीवन में किसी संस्कार के महत्त्व के अनुसार ही एक लौकिक अनुष्ठान का राग-रहस्य-मय वातावरण प्रस्तुत होता है। इस अवसर पर होनेवाली प्रबल भावाभिव्यक्ति का जो रूप नारी-लोक के गीतों में प्रस्तुत होता है, उसकी एक झाँकी यहाँ दी जाती है। यह व्रज के क्षेत्र से संबंधित है। इन गीतों का सकलन-संपादन श्री जदुमानुजी आदि अनेक महानुभावों ने किया है।”

सगाई

चंदन की चंदन-पलिकिया, गडि ल्याउ लाल लुहार के।
 भवनि-मचवनि भंमर डराए, पाटिन भरसी लगाइ ऐ॥
 रेसम-बाँन बुनाई पलिकिया, दोनि लगाई मसलल की।
 आदित-पादित गिहुआमी लागे, सबाउ दरियाए की सीरि ऐ॥
 जा पर बैठि दोउ मिलि साजँन खेलत झुंझना-सारि ऐ।
 खिरकी के ओलें-ओलें भोजी भौ डोलें, का पिय झुंझना खेलिऐ॥
 को जिअ हारो, को जिअ जीतो, कोन के परि गए दाइ ऐ॥
 बाबुल हारे, साजनु जीते, परे ऐ दुलह के दाइ ऐ॥
 सँनु बँनु हारे, रूप बँनु हारे, हारे बछा सो गाइ ऐ॥
 एकु जो हारे कुँमरि लडिलडी, भाजी के बसत पिरान ऐ॥
 सँनु बँनु दे हो, रूप बँनु दे हो, दे हो बछा सो गाइ ऐ॥
 एकु न दे हो कुँमरि लडिलडी, भाजी के बसत पिरान ऐ॥
 खिरकी के ओलें-ओलें मँयाभी डोलें, का पिय झुंझना खेलिऐ॥
 खिरकी के ओलें-ओलें चाचीभी डोलें, का पिय झुंझना खेलिऐ॥
 खिरकी के ओलें-ओलें भाभीभी डोलें, का पिय झुंझना खेलिऐ॥
 को जिअ हारो, को जिअ जीतो, कोन के परि गए दाइ ऐ॥
 बाबुल हारे, साजनु जीते, परे ऐ दुलह के दाइ ऐ॥
 बाबुल हारे, साजनु जीते, परे ऐ दुलह के दाइ ऐ॥
 वीरनु हारे, साजनु जीते, परे ऐ दुलह के दाइ ऐ॥
 सँनु बँनु हारे, रूप बँनु हारे, हारे बछा सो गाइ ऐ॥
 एकु जो हारे कुँमरि लडिलडी, मँया के बसत पिरान ऐ॥
 एकु जो हारे कुँमरि लडिलडी, चाची के बसत पिरान ऐ॥
 एकु जो हारे कुँमरि लडिलडी, भाभी के बसत पिरान ऐ॥
 सँनु बँनु दे हो, रूप बँनु दे हो, दे हो बछा सो गाइ ऐ॥
 एकु न दे हो कुँमरि लडिलडी, मँया के बसत पिरान ऐ॥
 एकु न दे हो कुँमरि लडिलडी, चाची के बसत पिरान ऐ॥
 एकु न दे हो कुँमरि लडिलडी, भाभी के बसत पिरान ऐ॥
 धीरे धीरे गुड़िया भौ छोडी, रोवत छोडी सहेल रो।
 कोटि तरे तें निकरी पलिकिया, कोइन मवद सुनाइ ऐ॥
 तू बा बोने दारो बन को कोटनिया, छूटी बबुल को देगु ऐ॥
 गिए पनारि जनहु पर आए, मटपु देतो ओयिया ऐ॥

मैया के रोजनि नदियाँ बहति ऐँ, बबुल रोवत दरिआउ ऐ ।
 विरन के रोजनि पटुका श्री भीजै, भाभज मीँ मसकोरि ऐ ॥
 अब सुख सोओ मेरी दीरि-जिठानी, नैनव गई ऐँ परदेस ऐ ॥

२

हाथ गड्डधरा लेउ बाके बाबा, ससुआ बाँधी डेढ सेर, वर बूँदन कूँ नीकरे ।
 अगिम बूँदची लाडी, पच्छिम बूँदची, बूँदी है सब गुजरति ।
 तिहारी जोडी को वर ना मिलै—

(ऐसे ही नाम ले लेकर सब शहरों के लिए)

एकु न बूँदची अगिलास^१ (या जो गाँव हो) तिहारी जोडी को वर माँ मिलै ।

लगुन

हाथ डडा, मुख बाँसुरी और खेलत ऐँ चौहान^२, मनोहर साँभरे ।
 घर आधौन जाल लडाइते, लगुनाइत ऊँ^३ द्वार, मनोहर साँभरे ॥
 लला, कोन रुके तुम नाँतिया, अर कोन बबुल के पूत, मनोहर साँभरे ।
 लला, अपने अजुल^४ के नाँतिया, अर अपने बबुल रजपूत, मनोहर साँभरे ॥
 लला, कोन के भाइ-भतीजे रे, और कोन के लीहरे-जेठे बीर, मनोहर साँभरे ।
 चाबुल भाइ-भतीजी और कीरन लीहरे बीर, मनोहर साँभरे ॥

भूँड^५ नारियरे^६ को भूँडिऐ, यखँ आँसू-सीखाँप^७ ऐँ, और भाँहनि चढि ऐ कमान, मनोहर साँभरे ।

दात दरोँ^८ कैसे बीज ऐँ, और ओठनि रची ऐ तँमोरि^९, मनोहर साँभरे ॥

जिविआ^{१०} कँमल कँसी फूल ऐँ, और नाँक सुआ^{११} कँसी चोचि, मनोहर साँभरे ।

कानन कुँडल खुलि बने, और चुन्नी ओले लेइ, मनोहर साँभरे ॥

वाँह^{१२} पियर^{१३} कँसी डार^{१४} ऐँ, और गोड^{१५} मरुआ^{१६} के खभ, मनोहर साँभरे ।

अँगुरी तो फरियाँ^{१७} रमास^{१८} की, छडियाँ सोभा देइ, मनोहर साँभरे ॥

सिर पर चीरा खुलि बने, और कलेंगी ओलें लेइ, मनोहर साँभरे ।

बदन में झुझिता खुलि बनी, करिआ^{१९} गाई^{२०} में समाइ, मनोहर साँभरे ॥

कटि पीतावर खुलि बनी, और मोजा ओलें लेइ, मनोहर साँभरे ।

सजि वरनाँ ठावे मए, और सुरज मए हूँ असोप^{२१}, मनोहर साँभरे ॥

अब काहे सो करिहौ आखी, ना घर में राई-नोन, मनोहर साँभरे ॥

राई बिकति बनारसु, और साँभर^{२२} हाट बिकाइ, मनोहर साँभरे ॥

को मेरे जाइ बनारसँ, और को मेरे हाटें जाइ, मनोहर साँभरे ।

बाबुल जाइ बनारसँ, और चाबुल हाटें जाइ, मनोहर साँभरे ॥

अब करि मैया, भाँचनो, अब घर राई-नोन, मनोहर साँभरे ।

लला, ब्याहि बहूअ लै आइऐ, ओ फूली अँग न समाइ, मनोहर साँभरे ॥

१. उस गाँव का नाम जहाँ घर मिला हो। २. चौहान। ३. उकता रही हूँ, थकी जा रही हूँ।

४. बाब। ५. भूँड, सिर। ६. नारियल। ७. फाँक। ८. दाढ़िम, अमार। ९. ताबूस-माल। १०. जिह्वा।

११. शुक, तोता। १२. वाँह। १३. पीयल। १४. डाल, आखा। १५. टाँग-जानू। १६. मरुआ (एक वृक्ष)।

१७. फली। १८. सोविय। १९. कटि। २०. अगूठे और उसके पास की उगली से दूसरे हाथ का अंगूठा और उस के पासवाली उँगली मिलाने पर बीच में जो अचकाश रहता है वह गाई कहलाता है—अगूठे और उसके पासवाली उँगली के बीच का भाग भी 'गाई' कहलाता है। २१. लुप्त।

२२. साँभर, नोन।

अव करि वैकुण्ठ^१ आरती, माये पै तिलकु सेंजोड, मनोहर सांभरे ।
राम-सिया जोड़ी बनी, और सोमा बरनी न जाई, मनोहर सांभरे ॥

वधाया

राम आए अजुध्या अँनद भए, अँनद भए माई, सुख-बैन भए ।
माई, राजा जसरत^२ के चारि बेटा भए, चारो घूमें अजुध्या अँनद भए ॥
माई, राजा जसरत के चारि हाती^३ हुए, चारो ठाडे दरवाजे, अँनद भए ।
राजा जसरत के चारि बहुअलि^४ हुए, चारो तपे^५ रसोई, अँनद भए ॥
राजा जसरत के चारि बेटी हुए, चारघो साई वधाई, अँनद भए ।
माई, राजा जसरत के चारि नांती हुए, चारो खेलें आँगनवा अँनद भए ॥

१

चित्तरसारी में रामचंद्र पीढिए^६, इनकी चद-बदन-सुख-सेज ।
बैनच नबै कछु साहिबु नबै, सिद्धिबैन में भगिनी अडि रही ॥
भामी, जे बटुआ हमें देख, बैनच नबै कछु साहिबु नबै ।
साली, जे बटुआ मेरे बाप की, तिहारे बिरैन गढायी सोई लेज ॥
चित्तरसारी में लछिमन पीढिए, इनकी चद्र-बदन-सुख-सेज ।
बैनच नबै कछु साहिबु नबै, सिद्धिबैन में भगिनी अडि रही ॥
भामी, जे बटुआ हमें देख, बैनच नबै कछु साहिबु नबै ।
साली, जे बटुआ मेरे बाप की, तिहारे बिरैन गढायी सोई लेज ।

२

भाई, भाई नंद जू की पीरि^७, वधाई साई मालिनियाँ ।
कहा साई सल्ला की वधाई, सुघड-पट मालिनियाँ ॥
फूल साई मालिन, तो पान तमोलिनियाँ ।
गदका^८ साई सल्ला की वधाई, सुघड-पट मालिनियाँ ॥
हरे-हरे गोवर अँगन लिपायी कि सुघड-पट मालिनियाँ ।
गज-मोलिन के चौक-पुराभी, सुघड-पट मालिनियाँ । भाई-भाई^९ ।
कुम-कलस इमिरिनु भरि लाए, चपे की डार झकोरी, सुघड-पट मालिनियाँ ।
ऐपनु-चोरि पटा गहि भारी, साटी के आछत डारी, सुघड-पट मालिनियाँ । भाई-भाई^{१०} ।
जा चौक बैठे रामचंद्र, सभ सजन की जाई, सुघड-पट^{११} ।
मृआ-मैना करे आरती^{१२}, क्षगरति अपनो नेगु, सुघड-पट मालिनियाँ । भाई-भाई^{१३} ।
मोलिन के गजरे बेटी सुमद्रा ऐ लै पहिराभी, सुघड-पट मालिनियाँ ।
दैंत असोस चली मसुवन कू, जिअरी तेरी कुँमर कँहाई, सुघड-पट मालिनियाँ । भाई-भाई^{१४} ।

३

सुनि, सुनि रे मेरे समरथ साहिब, नैनद परीसि न राखिए ।
सोई, सोई देखें, सोई सोई यागे, निष्ठ लठि कोसै राजा वीर ॥
छप्पेनु-छप्पे मेरे कुँमर जू डोलें, आँगन डोलै मेरे भाँजजे ।
सोंने की तोडा मेरे कुँमर जो पैहिरे, बाँकी को पैहिरे मेरे भाँजजे ॥

१. वहिन । २. आरती । ३. बशरथ । ४. हाथी । ५. बहुरे । ६. करे । ७. सोमे ।
८. पीली, देहली, देहलीज । ९. बच्चे को हाथों, पैरों और कमर में काले डोरे पहनाये जाते हैं;
यही काले डोरे के पहुँची, कपची और गदका कहलाते हैं । १०. आरती की भाँति का एक अनुष्ठान ।

सोरन-आर मेरे कुंमर जो जंमैं, बेलनू जंमैं मेरे भानजे ।
अंगिया बखेरी मेरी नैनद बहुतेरी, टोपी बखेले नैनदक बहुतेरे ।
सपया बखेले घना बहुतेरी, माँ की रे जाई कहाँ पाइए ॥

४

आजु की घड़ी मेरे अनंद-बधाए जी राज ।
भूरी-सी हथिनी जरद अवारी, जा चढि आए मेरे पञ्च हजारी, जी राज ॥ आजु की०
सुस की घडिनु साहिब घर आए जी राज, सुसर-विआई मेरी सासु कहाई जी, राज
सासु के जाए देवर-जेठ कहाए, जी राज ॥
जेठ विआही मेरी जिठांनी कहाई जी राज, जिठांनी के जाए जेठौत कहाए, जी राज ।
नंद कू व्याहे नैनदेऊ कहाए जी राज, नैनद के जाए भानंज कहाए, जी राज ॥

५

यह गीने को जाते समय गाया जाता है ।
खोलुंगी डिब्बा में पैहिलेगी गहनो, जी राज ।
खोलुंगी बकुचा में पैहिलेगी कपड़े जी राज, पैहरि दिखाने छोटी बाई जी के बीरा जी राज ।
सोग की लकड़ी साहिब हँस मारे जी राज, कछु मारे, कछु लाठ-लढाए जी राज ।

६

कोकिला, बनि जइयो नैनदिया ।
जइयो नैनदिया, बघाई लेके अइयो नैनदिया ॥
कानो में ऐरन-तरकी सोहै, बिजली की साही देके अइयो नैनदिया ।
नारि में हरवा-निकलस सोहै, लौकट की साही देके अइयो नैनदिया ।
बाँह में बाजु-जोसन सोहै, भरो पै नग जडबइयो नैनदिया ॥ कोकिला बनि०
हाथो में दस्ते-खडला सोहै, हाडियो की साही देके अइयो, नैनदिया ।
कमरि में पेटी-तगडी सोहै, भच्छी में नग जडबइयो नैनदिया ॥

कोकिला बनि जइयो नैनदिया
पैरो में छल्ले-छागल सोहै, पाइल पै नग जडबइयो नैनदिया ।
भग में साड़ी-जफल सोहै, बौकी की साही देके अइयो नैनदिया ॥

७

जसरत के चारो लाल, दिन-दिन नीकी लगै ।
कोन के बाजे डोलक-भैरवीरा, कौसल्या के घुरत निसान ।
केकई के बाजे डोलक-भैरवीरा, कौसल्या के घुरत निसान ॥
कोन ने बाटे बीडा-बतासे, कोन ने नागर पान । दिन-दिन०
केकई ने बाटे बीरा-बतासे, कौसल्या ने नागर पान ॥ दिन-दिन०
केकई ने पूजे कुआ-बावरी, कौसल्या ने सागर-ताल । दिन-दिन नीकी०
केकई के बाजे नीबत-नगारे, कौसल्या के घुरत निसान ॥ दिन-दिन नीकी लगै ।

८

हरे, हरे गोबर अंगनू सिपायी, रग-मैहल में ।
अरी, बूनेन बीक पुराए री माई, अरी आजु तो बघाई बाजी रंग-मैहल में ॥
अरी कूम-करस इमिरत मरि लाए, ऐसन मोर पटा घरि दीए, रग-मैहल में ।
कुल पटा पै नैठेरी, सग सजन की जाई री माई, रग-मैहल में ॥

अरी भूमा-वैहिन करति आरतौ, उन री झगरति अपनो नेनु, रग-मैहल में ।
देति असीस चले ब्रज-वन कूँ, जियौ तुम्हारे कुँमर कँहवाई री माई, रग-मैहल में ॥

६

आबु बडी की ओसरी^१ रे, अरे रस भोरा रे ।
रचि-पचि^२ कीयी ऐ सिगाह, अरे रस भोरा रे ॥
सासु पै माँग्यौ कोरी^३ दीवला, नैनद पै तेलु-फुलेलु ।
सासु नें दै दीयी फूटघी-सी दिवला, नैनद नें कलघी-सी तेलु ॥
रचि-पचि कीयी ऐ सिगाह, पाटी^४ ती पारी चोखे मोम की ।
हाथ-पलंग^५ सिर-सीरि^६, बेमकि अटरिया चढि गई ॥
खोली ती खोली किवरिया, नाहि उलटि घर जाछें अरे, रस भोरा रे ॥
आई धन तैन-मैन मारि, सासु-नैनद पूछें बात, कही बहू रैन की बात ।
सेजैन पै पयरा परे, और पिय पै परघी ऐ तुसार ॥
आबु लहीरी^७ की ओसरीरे, अरे रस भोरा रे ।
सासु पै माँग्यौ कोरी दीवला, नैनद पै तेलु-फुलेलु ।
सासु नें दै दीयी फूटघी दीवला, नैनद नें तेलु-फुलेलु ॥
रचि-पचि कीयी ऐ सिगाह, पटिया ती पारी चोखे मोम की ।
हाथ-पलंग, सिर-सीरि, बेमकि अटरिया चढि गई ॥
खोली पति सैनन-किवार, नाहि ती उलटि घर जाछें ।
छटपट खोलीऐं किवार, काए कूँ उलटि घर जाछ ॥
आई धन रहसी^८ री फूली, ब्वाकी और^९ जिठानी पूछें बात ।
सेजनिरी^{१०} फुलवा परे, कोई पिउ पै उलट गुलाब ॥ अरे रस भोरा रे ।

भात

जानें कँसी कागा बोली रे, नीवा तेरी डारिया ।
भेनि चलीऐ बीर कँ कोई गुर की गोनि भराइ ॥ जाने कँनी कागा^१
गैल-बटोई नीकरी, कोई है बतियाँ सुनि लेउ रे ।
हैमरे विरैन सो यो कही, त्पारी बँहैन-घर ब्याह रे ॥ नीवा तेरी डारिया ।
कब की रे भेनि तेरे माँझी, और कब की छिकी है विभाह रे ।
परिवाकी रे माँझी श्रीर मेरे दीज को छिकी ऐ विभाह रे ॥ नीवा तेरी डारिया ।
गँउभा ई गँउभा मति करै, मैं ती लाखें बोरा-नदाइ रे ।
कपडे ई कपडे मति करै, मैं ती लाखें बकस-भगाइ रे ॥ नीवा तेरी डारिया ।
रुपिया ई रुपिया मति करै, मैं ती लाखें वगनी-भराइ रे ।
हैम सो बुनाए बीर माँड गें, तुम धाए बडहार रे ॥ नीवा तेरी डारिया ।
जो मरचें तेरे माँझ, और गोउ मरचूँ तेरी बडहार रे ।
भातु तो उनदी माँड ऐ, और छाल गई पिउवार रे ॥ नीवा तेरी डारिया ।

^१. भवभर, बागे । ^२. जमी प्रकार, भोजन कर । ^३. दुष्ट, जिससे कोई शर्म न किया गया हो । ^४. दीपक वा मिट्टी का पात्र । ^५. पाटी पारना, पटिया पारना, आनो की मोम निरानना ।

^६. ओझने की रजाई । ^७. छोटी । ^८. आनद मान । ^९. छोटीनी, देवगनी । ^{१०}. मेज पर ।

२

भाजु मेरे बागनि रंग चूए रे, बाग की फूली फुलबाहि, कलियाँ तुरावै^१ राजा भातई रे ।
 भाजु मेरे तालनि रंग, चूए रे, ताल की ऊँची-नीची पारि, करहा^२-मियावै मेरी भातई रे ॥
 भाजु मेरे ऊसरनि रंग, चूए रे, ऊसरा की हरी-हरी दूव, करहा-चुगावै मेरी भातई रे ॥
 भाजु मेरी गलियेनि रंग चूए रे, गलियेनि की नेंही-नेंही घूरि, करहा नचावै मेरी भातई रे ।
 भाजु मेरे द्वारनि रंग चूए रे, बँठे हँ देवर, जेठ सीस-नवावै राजा भातई रे ॥
 भाजु मेरे भँड़नि रंग चूए रे, बँठी हँ बीर-जिठाँनी, भातु पँरावै राजा भातई रे ।
 भाजु मेरी रसोइन रंग चूए रे, परसति लोहरी-सी नद, भातु-भलोरे^३, राजा भातई रे ॥
 परसति लोहरी-सी नद, सैन-चलावै राजा भातई रे ॥

३

भैंसि चली ऐ बीर कँ रे, चौपट चादरि ओढि, राजा भातई रे ।
 एकु वनु नाखी, दूसरी रे, तीजे वनु पहुँची हँ जाइ, राजा भातई रे ॥
 नीआ की बोली बोलने रे, भ्रजुध्या मँ परत न पाई, राजा भातई रे ।
 जब बेंटी पहुँची ऐ द्वार पँ रे, भावज जडे ऐ किवार, राजा भातई रे ॥
 जो तुम कुल की धी भावजी रे, खोलि देउ वजुर-किवार, राजा भातई रे ।
 ककुल^४ बबूल सिव^५ देखिए रे, बीरँनु कहूँ न दिखाई, राजा भातई रे ॥
 पितीआ के बोलत बोलने रे, त्यारे^६ विरँन दस मास, राजा भातई रे ।
 लोहरी गतीजी भचपली रे, खोलि दए वजुर-किवार, राजा भातई रे ॥
 नैनद-भवज दोळ भँटि ऐ रे, जँसँ साँमन कौ ऐ मेउ, राजा भातई रे ।
 त्यारे विरँन हँ विरछ लगाए, एकु महुआ एकु आँम, राजा भातई रे ॥
 आँम मिली हँ रोइ कँ रे, महुआ ऐ छाती फारि, राजा भातई रे ।
 महुआ की फटि किरवै^७ भई रे, बँठे हँ गुँजलक^८ मारि, राजा भातई रे ॥
 जिअरँन^९ पयरा परे रे, मरेनु पँ माँय्यी ऐ भातु, राजा भातई रे ॥
 कव कौ भैंसि तेरे माढयो रे, ओष कव कौ छिकीऐ^{१०} ब्याहु, राजा भातई रे ।
 परिवा-बीज की माढयो रे, ओष तीज कौ छिकीऐ ब्याहु, राजा भातई रे ॥
 जाउ भैंसि घर आपने रे, ओष हूम पँरासिगो भातु, राजा भातई रे ।
 एका वचनु बेंटी मानिए रे, महुआ पटा न चौकें डारि, राजा^{११} भातई रे ॥
 पैलें तो आँवगी आँधिया रे, ता पीछें आँवगी मेउ, ता पीछें आँमिने बीर, राजा भातई रे ।
 भातु खरीदत विरमिए रे, वकुचा-बँधत भई देर, राजा भातई रे ॥
 गँहू खरीदत विरमिए रे, गाड़ी-सदत भई देर, राजा भातई रे ॥
 भवसव आयी मेरी भातु कौ, रोवति अनी-अनी भाँसि, राजा भातई रे ।
 पँ जँ तो आई भँचा आँधिया रे, तो पीछें आँयो ऐ मेउ, ता पीछें आए हँ बीर, राजा भातई रे ॥
 चारि पैहर बरसा भई रे, ओष पैहरायी सिबु परिवार, राजा भातई रे ।
 नीआ की छरतीसिआ रे, महुआ पटा चौकें डारि, राजा भातई रे ॥
 सरपटि मए हँ अलोप, राजा भातई रे ।
 एकु अँधेसी मेरे मन रह्यो रे, मिलती रे जिअरा हिलोरि, राजा भातई रे ॥

१. चुडवा रहा है । २. ऊँठ । ३. खाते हैं । ४. चाका । ५. सब, समस्त । ६. आप के ।
 ७. टुकड़े । ८. सर्प की गुँजल के । ९. जीवितों पर । १०. छिका हँ, पछित द्वारा शोष कर निश्चित
 किया गया है । ११. छत्तीसिया—छत्तीसा-चतुर ।

अवका मेंनि मेरी मन पछिताओ भेंटिल वेदी की लमू, राजा भातई रे ।
मति रे विरैनु भइया भेंटिए रे, मँना भेंटू वेदी लमू, राजा भातई ॥

बरनी पं तेल चढ़ाने के समय के गीत ।

अलवेली तमोलिनि, मेरी लाडी कू पान चववाड ।

जब मेरी लाडी ने हरदी सँजोई, रोरी पं अजब बहार ॥

जब मेरी लाडी ने मँहदी सँजोई, कवन पं अजब बहार ।

जब मेरी लाडी ने मँहनी सँजोयी, कपडा पं अजब बहार ॥

जब मेरी लाडी ने सुरमा सँजोयी, भिस्नी पं अजब बहार ।

जब मेरी लाडी ने डोला सँजोयी, डूल पं अजब बहार ॥

रतजगे

सई^१ साँस को तिलवा पटक ल मेरी नैनदी, नातो बरी उगइ ।

तेरी ती भैया अलवेली बारी नैनदी, गूद चोरी को खाइ ।

बरज्या जाइ बरजि ल नैनदी, तेरी भैया पर घर जाइ ।

बारी होइ ती बरजू मेरी भाबी, भैया से लगति ऐ लाज ॥

घरकी खीर किरकिरी लागे भाभी, पर-घर की मँहरी खाइवे जाइ ।

घर की खाँड किरकिरी लागे भाभी, पर-घर सककर खाइवे जाइ ॥

बारी होइ ती बरजू मेरी भाभी, विजरा न बरज्या जाइ ।

कूसा होइ ती पादू मेरी भाभी, सँग न पाटथो जाइ ॥

चिठिया होइ जाइ बाँचू मेरी भाभी, करैनु न बाँच्यो जाइ ॥

२

बरद-भरी मँहदी पिरै ऐ कोई मँहदी ऐ लेइ, मँहदी राँचनी ।

लिग्ये हमारे रामचद से भोगिया, जिनकी सीता जीऐ जोगु, मँहदी राँचनी ॥

चरत-चरत से भोगिया, जिनकी माता ऐ जोगु, मँहदी राँचनी ॥

तेल—विचाह

रतजगे से दूसरे दिन तेल चढ़ता है, उस समय के गीत, भाभी दो बहनें या भूआ जाती हैं ।
इन्हें 'हयलग' कहते हैं ।

तेलिन विठिया तेल मेरी, राम चमेसी को तेल ऐ ।

बहू सीता तेल चढ़ाइऐ, बँटी रामेसुरी तेल चढ़ाइऐ ॥

घरई लखिमन जी बावइयाँ, बहू उरभिला तेल चढ़ाइऐ ।

तेलिन विठिया तेल मेरी, राम-चमेसी को तेल ऐ, भैया बँहन (नाम) तेल चढ़ाइऐ ॥

घोड़ी

एक मयुरा सहइ^२ नजीक,^३ नई तेजनि^४ आई ऐ ।

बाके बाबा खरचिग्ये दाम, सीदागइ साई ऐ ॥

घोडी बाबुग्यो सीर-कुआर, बरो^५ के पेड़ से ।

घोड़ी नीरंगी^६ नागर पान, चना के खेत में ॥

१. साँस । २. शहर । ३. नजदीक (पास) का ऊपांतर । ४. घोड़ी । ५. अनाद, दाड़िम ।

६. सत्कार करुंगा ।

घोड़ी लाइगी हरी ऐ चना की दारि, कटोरा दूबे के ॥
 राई बर^१ हुए असवार, चावुक और जीन ते ।
 चंचल बर हुए असवार, चावुक और जीन ते ॥
 घोड़ी लं च्लु अचक^२ वैठारि, सज्जन के खेत^३ में ।
 चंचल बरं जु लाउ जिताइ, सज्जन^४ के दुआर ते ॥^५

घुड़-चढ़ी का गीत

वीर, कहाँ हर की तू मालिनि ऐ श्रीर सेहरी किस घर जाइ री ?
 भैंनि बँयो री कुँमर को सेहरी ॥
 वीर, अजुध्या की हैम मालिनी, श्रीर सेहरी रज्जन-घर जाइ ।
 री वैहनि, बँयो री कुँमर को सेहरी ॥
 वीर, कोन रज्जन की मालिनी, श्रीर सेहरी कौन कू जाइ ?
 री वैहनि, बँयो ऐ कुँमर को सेहरी ॥
 लाला, जसरत की हम मालिनी, श्रीर सेहरी उन घर जाइ ।
 री वैहनि, बँयो री कुँमर को सेहरी ॥
 लाला, बाबा के नाँवी सिरी^६ चढ़ै, जसरत के वेढा सिरी चढ़ै—
 लछिमन के मँया सिरी चढ़ै श्रीर सेहरी रज्जन-घर जाइ ॥
 री वैहनि, बँयो री कुँमर को सेहरी ॥
 श्रीर मालिनि, गुह्यो री गुह्यायी सेहरी ।
 श्रीर घड़ायी ऐ राम जी के सीस, री वैहनि बँयो ऐ कुँमर को सेहरी ॥

बरना (बिबाह) का गीत

सो अक्खपुरी में बरनाँ गाँमें ।

नाहिन^७ नगर बुलाए^८ देंति, लगन राम-घर घरवाँमें ॥
 सब सखियाँ जुरि मिलि कैं आँमें, कोसल-भैमन^९ भरति आँमें ।^{१०}
 मधुर-मधुर सब सुर गाँमें, सो अक्ख पुरी बरनाँ गाँमें ॥
 झुड के झुड सखिन के आँमें, भरि-भरि डला चाब^{११} लामें ।
 हीरा, लाल, जवाहर, मोती, भरि-भरि डला चाब लामें ॥
 चंचल नारि नचति अँगना में, जैनर-जैनर नेवर^{१२} बाजें ।
 जब रचवर की राति जगामें^{१३}, मेहदी हातें नु रचवाँमें, सब सखियाँ मगल गाँमें ॥
 जब रचवर पै तेलु चढाँमें, हरद तेल में लिपटाँमें ।
 भूआ-भैना करे आरती, माँथें मसमदि^{१४} लगवाँमें, ऊपर चारमर चुपटाँमें ॥

^१ राधावर-कृष्ण । राधा का रूप 'राई' हो जाता है, यथा—राधा दामोदर के लिए 'राई-
 दामोदर । ^२ बिना हिले-डुले । ^३ देस । ^४ सप्तमी (सज्जन) का विशेषार्थ । ^५ पाठांतर—मेरे,
 रहिवर लाइगी जिनाइ सज्जन की वीर ते । ^६ श्री । ^७ नाहिलि । ^८ निमंत्रण । ^९ भवन ।
^{१०} आती है । ^{११} डलिया से बड़ा—अरहर की लकड़ियों—लौचो का बना हुआ वस्तु ऐ रत्न के एक
 बड़ा पात्र—पला । ^{१२} बवाई-स्वरूप प्रसन्नता प्रकट करने के लिए भूआ या बहिन जो मँड आती है, वह
 'चाब' कहलाता है । ^{१३} नूपुर । ^{१४} रत्नगा करती है । बिबाह के संबंध में कुछ विशेष कियाएँ करने
 के लिए एक रात स्त्रियाँ जागरण करती हैं । ^{१५} हलदी चढ़ जाने के बाद रौली के टीके मुख पर लगाये
 जाते हैं, यह रौली मसमद कहलाती है ।

रघवर की निकरौसी^१ कीनी, मोहर^२ रॉम पै बँधवाँमें ॥
 छचन चुरी सोतिन के गजरे, बेहिनैन लै कें पैहराँमें ।
 हूल्हे की निकरौसी कीनी, बोडी रॉम कूँ सँगवाँमें ॥
 पिता जु जसरथ लिएँ सग में, यँली ऊपर लुटवाँमें ।
 माइ कौसिल्या लिएँ गोद में, मंदिर-मंदिर उक्षकौमें वे ऊमट^३ ऊमट उक्षकौमें ॥
 कुआ-बावरी उक्षकौमें, जब धूप-सरैयाँ^४ फुरवाँमें, वाग वैहिन पै मुरवाँमें ।
 माइ कौसिल्या ठाड़ी समझाँमें, सो जनक पुरी सू जल्दी अइयो ॥
 सो व्याहि जानकी ऐ घर लइयो ।
 नाऊ-नेगी आसामेदी^५, सब कौ सैनमुख धरि अइयो ॥
 राजा जसरथ कौ नामु बढी ऐ, नेग चुकाइ कें घर अइयो ।
 सारी-सरहज ठठा करिगी, सबु के आगें हँसि जइयो ॥

बारौठी—विवाह

बारौठी है रही द्वार पै, तिरियेन भोगल गाए, रँगु बरसंगी ।
 हाँ-हाँ रॉमु, रँगु बरसंगी, सीतिन कौ पेडू फरकंगी ॥
 धन्य-धन्य वी पिता तिहारे, धन्य मातु जिन जाए, रँगु बरसंगी ।
 हाँ-हाँ रॉमु, रँगु बरसंगी, सीतिन कौ पेडू फरकंगी ॥
 कारी-आरी मात तिहारी, तुम मलूक^६ न्यो जाए, रँगु बरसंगी ।
 हाँ-हाँ रॉमु, रँगु बरसंगी, सीतिन कौ पेडू फरकंगी ॥
 तीजे पनमें व्याह रन्वायी, हूमऊँ आइ लजाए, रँगु बरसंगी ।
 हाँ-हाँ रॉमु, रँगु बरसंगी, सीतिन कौ पेडू फरकंगी ॥
 मैं ती जानू पीहर से लाई, समझिन लाला जाए, रँगु बरसंगी ।
 हाँ-हाँ रॉमु, रँगु बरसंगी, सीतिन कौ पेडू फरकंगी ॥
 सबरी परजा हँसी करै, तुम बूढे व्याहैन भाए, रँगु बरसंगी ।
 हाँ-हाँ रॉमु, रँगु बरसंगी, सीतिन कौ पेडू फरकंगी ॥
 एक जवी तो न्यो^७ उठि बोली, अपनी मँया ऐ न्यो नाँ लाए, रँगु बरसंगी ।
 हाँ-हाँ रॉमु, रँगु बरसंगी, सीतिन कौ पेडू फरकंगी ॥

३

सिर तेरे ककरेजी चीरा बरनाँ, पंचो से लागी अंबर-बेल, चमेली की तेल ॥
 बरनी^८ कौ राजा बरनाँ, तेरी उमेद मैंने सच्चे मोती पोए बरनाँ ।
 कान तेरे नीटकी कौ मोती बरनाँ, लौरो से लागी अंबर बेल^९ ॥

१. डूलह को दयपुराल भोजने के लिए जो समस्त गाँव की प्रदक्षिणा की जाती है वह 'निकरौसी' कहलाती है । २. मुकुट । ३. जब सड़का विवाह करने के लिए अपना गाँव छोड़ने को प्रमत्त होता है तो उससे कुआ उक्षकवाया जाता है । मैं कुँए में एक पैर डाल के बैठ जानी है और कहती है मैं कुँए में गिरती हूँ । सड़का कहता है गिरे मत मैं तो तेरे लिए बहू लाऊंगा । ४. दुप्रा प्राकने के उपरांत सड़के को दयपुराल जाने की दिशा में रत्नी हुई कच्ची मिट्टी को सरैयाँ (सरदों) को पंर रगकर फोड़ते हुए आगे बढना होता है । इसके उपरान्त बरपोछे घर की ओर नहीं देन सरना ओर बिना बहू-लाए सीट नहीं सकता । ५. आधा करनेवाले । ६. मुँवर । ७. पाठानर—जो । ८. बरनी, बरेनी । ९. बेलि ।

३

बरना, धीरे चली सुसराल-गलियाँ ।
 तिहारी पैरों सँभारेगी वेई सलियाँ ॥
 जिनके लवे लवे केस, सलोनी भँखियाँ ।
 म्हाँ ती सोइ रहे स्याम बनाइ बतियाँ ॥—बरना धीरे चली० ॥

गारी—ज्यौनार

जेठ जी उत्तरचीऐ असाइ जी लाम्बी, इदर सुखा डारी ।
 रँग-बरसंगी, हौं, हौं, रँग रँग-बरसंगी ॥
 राजा जनक नें पडित बुलाए, किस बिधि सुखा डारी ।
 देस-देस के पडित बुलाए, करि रहे सोच विचारी ॥ रँग-बरसंगी ।
 राजा जनक जी, बुरी न मानो, सुनि लेउ अरज हमारी ।
 राजा जनक तुम हर सँ निकरी, रानी ऐ चकरारी ॥ रँग-बरसंगी ।
 आक-ढाक की हूँ बनबाझी, पीपर की पनिहारी ।
 सुरई गऊँ के हर जुरवाझी, सत की कुसि डरवाई ॥ रँग-बरसंगी ।
 राजा जनक जी हूँ लै निकरे, रानी है चकरारी ।
 राजा जनक नें हूँ हाँवयी, तब कुस कन्या आई ॥ रँग-बरसंगी ।
 राजा जनक नें कन्या लेकें, रानी गोद गहाई ।
 राजा - रानी लै घर आए, घर-घर बढति बघाई ॥ रँग-बरसंगी ।
 तीन दिना की बे भई कन्या, जब सोभरि खुसवाई ।
 छटए दिन की जब भई कन्या, जब की छटी पुजाई ॥ रँग-बरसंगी ।
 दसए दिन की जब भई कन्या, जब व्या को नाम बरायी ।
 छै महीना की जब भई कन्या, सब नें गोद खिलाई ॥ रँग-बरसंगी ।
 एक बरस की बे भई कन्या, सरभि कचहरी आई ।
 तीन बरस की बे भई कन्या, गलियैन खेलै आई ॥ रँग-बरसंगी ।
 सात बरस की बे भई कन्या, सलियैन खेलै आई ।
 सुनो बराती प्रेम-म्यार तें, जगत मातु गुन गाई ॥ रँग-बरसंगी ।

२

गारी

जी हरि प्राजु हमारे आंन, केसरि अँगनु ब्रुहाल्लेनी, फूलन-माला डाल्लेनी ।
 चदन-चोकी दळें बैठनी, डूबैँ पाम-पखाल्लेनी ॥
 हरे-हरे गोवर्ध अँगनु लिपाळें, मोतिन चौक-पुराळेंनी ।
 कूँभ-करस इमिरिखु मरि लाए, चपे-भार झकोल्लेनी ॥
 सकल धीर आंघन बैठल्ले, छाठी के भालत डाल्लेनी ।
 जनक के अँगनी नीर भई भारी, जुरि आई सबु नारी ॥
 चारधो भूष बरावरि बैठे, कहा परस्सी मँहसारी ।
 जो कगन की गाँठि न बूटै, बोलि लेउ मँहसारी जी ॥
 भचर-ओठ सिया मूसिक्यानी, जो सकुचौ तुम नारी जी ।
 दोरत बनस पलक नाँ लाम्बी, कगन-गाँठि कहा भारी जी ॥
 ऊनी श्रीर रेसिमी, सुती, दिए कुसासेन डारी जी ।
 थार, गिहास, कटोरा, मोटा, घोइ-बोइ घरे भगारी जी ।

सीता की मंगलु

रामु अहेरें^१ नीकरे लखिमनु लागे हैं साथ, सीता की मंगलु गाइए ।
 मति चली लखिमनु, मति चली ; मरि हो भूँक-पियास, सीताकी मंगलु गाइए ॥
 ना हमें भूँक ना प्यास ऐ, चलि हैं तुमारे हैं साथ ; सीता की मंगलु गाइए ।
 एकु बन नाखी, दूसरी नाख्यो, तीजे बन लागी ऐ पियास ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 ना जौ कुमटा, ना बावरी, ना जौ जसरथ के ऐ ताल, सीता की मंगलु गाइए ।
 झुंडी^२ पीपरि झकझालरी मां^३ बड़ि लखिमनु देखिए, सीता की मंगलु गाइए ॥
 तनिक बिटरिया^४ भाट की, रखावति ऐ जो की खेतु, सीता की मंगलु गाइए ।
 तनिक तलैया जल-भरी, मां चली जलु पी लेंद ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 प्यास होउ तो जलु पिया, भूँकें जो रे चवाउ, सीता की मंगलु गाइए ।
 भाट-बिटरिया जानुकी और जे हैं गे श्रीराम ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 राम-सिया जोडी बनी, दोउ मिलि होइयो व्याउ, सीता की मंगलु गाइए ।
 जसरथ पाती लिखि दई है, रखी है जनक जू के हाथ ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 बिन-^५ घर क्वारी है जानुकी, अरु हम घर हैं श्रीराम ; सीता की मंगलु गाइए ।
 जनक ने पाती लिखि दई, घरी ऐ जसरथ हाथ ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 हम ती रे भाट-भिलाखिया और तुम राजा-महाराज, हमें-मुमें कैतें होइगी सजनई ॥
 कोरे से कागद मंगाइए, हरदी, दूब मंगाइ, सीता की लगुन लिखाइए ॥
 पाँच सुपारी और नाखिर, मोहरे दई हैं बराइ ; सीता की लगुन पठाइए ।
 लगुन चढी बाजे बजे, सजा ऐ बरायत जाइ ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 नां गो रे बैनी-बाइजौ^६ ना कलसनि के ऐ जोड ; सीता की मंगलु गाइए ।
 राम-सिया भामरि परी, बिरमां बेद उचारि ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 व्याह चली री जसरथ की छोरा, भवविपुली कू जाइ, सीता की मंगलु गाइए ।
 हाथ-ओरि जनक भए ठाढे, मो पै कछू बनि वही आई, सीता की मंगलु गाइए ॥
 खोई-तपन कू सीता सीनी, जेमें सिधु-परिवार, सीता की मंगलु गाइए ।
 सीता की मैया यों कहैं, मेरी सिया भकिली न होइ, सीता की मंगलु गाइए ।
 दोस^७ सहेलिन-भूठ है, राति कौसल्या की गोद ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 सीता की मैया यों कहैं मेरी सिया भूखी न होइ, सीता की मंगलु गाइए ।
 दिन कू ती जेमें सुलपुरी, राति कटोरनि दूष ; सीता की मंगलु गाइए ॥
 सीता की मैया यों कहैं, मेरी सिय प्यासी न होइ, सीता की मंगलु गाइए ।
 दिन कू ती पीवें पानिया, और राति कू सरजू की नीर ; सीता की मंगलु गाइए ॥

२

बेटी सितलदे^८ ने लिपनो डारी^९, धनुष भरथी ऐ उठाइ, न हो ।
 बाहिर ते रे जनकु घर आए तो किलें जिम धनुष उठाओ न हो ॥
 सीता की मैया यों उठि बोली, बेटी सितलदे नें लिपनो डारी, ती धनुष भरथी ऐ उठाइ न हो ।
 राजा जनकु मन बतिरजु^{१०} सोनी, ती भई ऐ व्याह के जोग, न हो ॥
 देस-देस के पडित जोरे, ती देस-देस परमाने, न हो ।
 देस-देस के राजा आए, भूप जुरे अभिमानी, न हो ॥

^१ शिकार के लिए । ^२ जिसका एक ओर का भाग टूट गया हो । ^३ वहाँ । ^४ बेटी ।

^५ उनके । ^६ दहेज । ^७ छोट, दिवस, दिन । ^८ सीता देवी । ^९ लीप रही थीं । ^{१०} आश्चर्य ।

जो जा वनूष कूँ टोरै, सोई सिया-वर होइ, न हो ॥
 विस्वामितर जनक-धर आए, सँग जसरथ के डोटा, न हो ।
 सियरे^१ राजा वलू करि-करि हारे, परि तिलु भरि टारें-टारी, न हो ॥
 विस्वामितर जब आग्या दीनी, रीम उठे हरखाइ, न हो ।
 दाई भुजा सूं वनूष उठावौ, तौ करि दए न्यारे-न्यारे दूँक, न हो ॥
 वनूष री दूँनि, वदरा की गरजनि, धोर भई तीनों लोक, न हो ।
 रीम-सिया की भूमि परी, बिरमाँ वेद उचारै, न हो ।
 व्याह चले जसरथ के छौंन^२, देव करे जै जै, न हो ॥

झौंचारी

कुंद-कुल्हाडी धरी रे कँहूँयाँ, दवँन लागे नाँइ कान्हा कदरी-से वन कूँ ।
 कौन से वन कूँ रीम सिघारे, कौन वन कूँ मेरे लछिमनु दिवर ।
 कजरी से वन कूँ रीम सिघारे, नवन वन कूँ मेरे लछिमनु दिवर ॥
 पात-पात कजरी बन बूँडवौ, कहूँ न पायी आली चवनार पिंडुला ।
 सीरी-सीरी व्यारि चलै पुरबैया, महुकि रह्यौ चवनार पिंडुला ॥
 काटि-कूटि कान्हा नैया बनाई, जाइ डारी जाइ जंमून-जल घटवा ।
 दूँडी-दूँडी कान्हा पार रे उतारी, जमान पठिया ऐ राखी घर बिरमाइ ॥
 एक लँगु धरी कान्हा दधि की जपटिया, एक लँगु धरि साढे सोलै सै गुजरिया ।
 गोरी धनाँ की कान्हा बईया रे मरौरी, सँभल वैन के चुरिला डारी भसकोरि ॥^३

२

ढव-ढव डोलै बजि रह्यौ, बिकट बनी के बीच, वन मे हरी ऐँ सीया जानुकी ।
 लका ते रीमनु चल्थी, कोई धरि जोगी की भेलु ॥
 सीता भिच्छा डारिदै, तेरे जोगी ठाढी द्वार ॥ वन में० ।
 मेँ कैसेँ भिच्छा डारि दूँ घर, देवर दै गए अनि ॥
 सीता भिच्छा डारि दै तेरे जोगी ठाढी द्वार । वन में० ।
 घर^४ भरि मोती सीया साइऐ, कोई लै जोगी के भीखु ॥
 अनि की भिच्छा ना लऊँ, देखा ते बाहिर भाउ । वन में० ।
 सीता भिच्छा साइऐ, भीतर लईऐ क्षोरिया^५ में डारि । वन में० ॥

विषाह

भूभा-भतीजी दोऊ पाँनी कूँ चाली, धरि गागरि पै लेजु, बेटी घरजुन की ।
 ए जी, भूभा तो उचि कँचलि दई, दीनी भतीजी पल्लीपारि, बेटी घरजुन की ॥
 ए जी, जाइ उतारी बाग में, निवृधन ते भरि लाई क्षोद ।
 ए जी, जाइ उतारी बजार में, लख धन ते भरि लाई गोद ॥ बेटी घरजुन की ।
 ए जी, जाइ उतारी मेंठ में, कोई विछुअन भरि लाई क्षोद ।
 ए जी, जाइ उतारी बारू रेत में, विछुअन भरि गयो रेत ॥ बेटी घरजुन की ।
 ए जी, कुची ते निखाक तिहारे दीछिया, कोई दुपटा ते पोछू तिहारे पमि ।
 ए जी, जाइ उतारी मँहल में श्रीर मँहल क्षिगारे ल्होरी सीति ॥ बेटी घरजुन की ।
 ए जी, कै तुम लाए ल्होरी दूसरी भीर कँ लाए मँहमान ।
 ए जी, ना में लायो ल्होरी दूसरी भीर नहिँ लायो मँहमान ॥ बेटी घरजुन की ।

^१. समस्त । ^२. पुत्र । ^३ यह गीत कहाँ से ही गाया जाता है । ^४. बाल । ^५. क्षोनी ।

ए जी, राति पिसाझी इन पीसतो श्रीर चौस खिलार्व नंदलाल ।

ए जी, अगर बरकेरु तिहारी पीसतो श्रीर बरि-पटकू नंदलाल । वेटी भरजुन की ।

भाँसर पड़ने के समय का गीत

जुरि भाई नर-नारि, जनक जी के अँगना में सखियाँ ।

हरे-हरे गोबर अँगन लिपाए, मोतिन-चौक पुराए । जनक जी के० ।

कुँम-कलस इमरत भरि लाझी, ऊपर मरूप की डार । जनक जी के० ।

सिया-रघुबर की जोरी बैठी, रामचंद दोऊ भाई । जनक जी के० ।

रामचंद की होति निछावर, हीरा, लाल, जवाहर । जनक जी के० ।

पानन मढझी^१ छवाइ^२ मेरे बाबुल, लोगन भूँधि दिवाझी । जनक जी के० ।

सिया-रघुबर की परे भैरिया, बिन भाइल, बिन बाप । जनक जी के० ।

कगन-गाँठि^३ खुलै हति^४ नाएँ^५, सखियाँ हँसैं दै-दै तारी । जनक जी के० ।

कगन-गाँठि खुलै हति नाएँ, एक भाइ, दू बाप । जनक जी के० ।

२

धनुष कैसे तोरीगे हरि वारे ।^६

हरे-हरे गोबर अँगन लिपाए, मोतिन-चौक-पुराए ॥

कुँम-कलस इमरित^७ भरि लाए, चपे की डार झकोरि ।

आज मेरी सीता ऐ रघुवर व्याहूँन आए ॥

ऐमनु^८ चोरि यहाँ रहि मारी, साझी^९ के झलत^{१०} डारी ।

आज मेरी सीता ऐ, रघुनंदन व्याहूँन आए ॥

कजरी बन के खम मँगाए, गाढे हैं सीम्र दुआरे—आज मेरी सीता ऐ० ।

खमन-खमन दिबला जोरे, जग-मग जोति सवाई—आज मेरी सीता ऐ० ॥

सीता-सिरीपति^{११} फिरत भैरिया^{१२} सखिअन मगल-गाए—आज मेरी सीता ऐ० ।

पंडित वेद पढ़े अति निरमल, अच्छे-अच्छे सगुन बिचारे—आज मेरी सीता ऐ० ॥

पट्टे पर बैठने का गीत

ए अब बोलि न रे हरे हरे सुंघन^१, साडी चौकें बैठी ।

ए ब्वाके बाबा नें व्याहु संजोपी, साडी कलसन जोड़ी ॥

ए तेरे पिजरा में मोतीभरा बिलेरु, सुंघन^२ रंगि-चुगि जाइ ।

ए ब्वाके भैया नें व्याहु संजोपी, वामन जोड़ी ॥

बाबुल नें पांति संजोई, साडी लट्ठ भूँन जोड़ी ।

एक हीमनी, एक पीसनी, राति की रतमानियाँ ॥

इननो ती रे मेरे बाबुल दीपी, सर्जन नली न मानिएँ ।

^१. सुंघन । ^२. मढझ, मढवा । ^३. छवाइ—लटकी के विवाह के अवसर पर भाँवर पड़ने की वेदी के ऊपर धूपर जैसी छोटी छाल छवाई जाती है । ^४. कंकण की गाँठ गोलने का एक अनुष्ठान विवाह के अवसर पर होता है । ब्रज में दुल्हा और दुल्हन दोनों के विवाह से पूर्व मंडप के दिन हाथ में विशेष विधि और धुआ के साथ कंकण बाँधा जाता है । विवाहोपरान्त, जहाँ-जहाँ भाँवर पड़ने के बाद ही द्यमुगत में हों, जहाँ पर आने पर कंकण की गाँठ गोलने का अनुष्ठान होता है । लटकी लट्टे का कंकण गोलनी है, लटका लटकी का । इस अवसर पर गंगा-अरेविनी मंजार भी बगनी है । ^५. हँ । ^६. नरी । ^७. फिरते छोटे हंगि । ^८. धमन । ^९. बाघन के घाटे का घोन । दुल नाम—दूना ^{१०}. सुंघन । ^{११}. मारी । ^{१२}. मरन—दुल्हा पाठ बाघन । ^{१३}. श्रीपति—राम । ^{१४}. मारी ।

दूधवाती

भाँवरो के समय धीआवाती खिलाया जाता है। उस समय का गीत
सा मेरे दुलहा धीआ-वाती।

भूँडी कौ जायो ऐ, लप-लप लै गयो ॥

अन्नानी कौ जाई ऐ, जोरति^१ जाँति ऐ ॥

वैन^२-वीनत जायो ऐ कारी खँकरी ॥

मेरी मरभन जाई ऐ, गोरी दमदमौ ॥

वैन-भोटनु^३ जायो री कि छीमत^४ गिरि-परषी ॥

मैहलैन वेटी री जाई, री कि नच-कूदनी ॥

सबरे का कूकर

जागी, जागी, लाडलडी^५ के बबुल, ती अन्न क्षरि लागी कूकुरा।

जागी, जागी लाडलडी के बबुल, ती अन्न क्षरि लागी कूकुरा ॥

राजे, लै गइआ^६ मुख घोइऐ, उठि देरै न गन के दान ॥

त्यारे द्वार पेह्रआ^७ जागिए श्रीर तुम ती रे सोबी सुख-नीद ॥

राजे, तुम्हें कैसें भावै सुख नीद, ती अन्न क्षरि लागी कूकुरा।

श्रीर तुम घर पसरौ वीधि, ती अन्न क्षरि लागी कूकुरा ॥

राजे, कोन रजनि कौ कूकुरा^८ श्रीर कोन कुटम वन मोरि^९।

राजे, राज-रजिन कौ कूकुरा श्रीर समबी-कुटम वन मोरि ॥

राजे, कहिरि^{१०} वसैरे कूकुरा श्रीर कहाँ रे वसै वन मोरि।

राजे, द्वार बसैगी कूकुरा श्रीर बाग वसै वन मोरि ॥

राजे, कहिरि^{११} पिएंगी कूकुरा श्रीर कहिरि चुनै^{१२} वन मोरि।

राजे, दूध पिएगी कूकुरा श्रीर दाख चुनै वन मोरि ॥

राजे, कहिरि करैगी कूकुरा श्रीर कहिरि करै वन मोरि।

राजे, घूसत भावै कूकुरा श्रीर कौहकति भावै वन मोरि ॥

॥

काए कू^{१३} चाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे।

काए के कारन बाबुल मैहल चिनाए, काए कू चाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे ॥

बेटा के कारन लाडो मैहल चिनाए, तुम कू चाए परदेस री, सुनि लाडो मेरी।

हम ती रे बाबुल तेरी अँगना की चिरियाँ^{१४}, खगि-चुगि कें उड़ि जाई रे, सुनि बाबुल मेरे ॥

हम ती रे बाबुल तेरे अँगना की कुरी^{१५}, क्षरि-पुछि कें फिकि जाई रे, सुनि बाबुल मेरे।

हम ती रे बाबुल, बूँटा की गइयाँ^{१६}, जित हाँकौ हैंकि जाई रे, सुनि बाबुल मेरे ॥

भैया के कारन बाबुल, मैहल चो चिनाए, हम कू चो चाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे।

एकई पेट में जनम लियो सुनि बाबुल मेरे, एक संग खेले आँगन में रे, सुनि बाबुल मेरे—

हम कू चाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे ॥

जा दिन लाडो मेरे तुम जु भई ई, भई वज्जुर की राति, सुनि लाडो मेरी।

जा दिन तिहारे, बिरैल भए ऐं, भई सोने की राति, सुनि लाडो मेरी ॥

^१. जोड़ती जाती है, खाती नहीं। ^२. कपास। ^३. कपास से बिनोले प्रयत्न करना। ^४. छूले ही—स्पर्श करते हो। ^५. होनहार दुलहिन, लड़की। ^६. लोटा, झारी। ^७. पहरेदार। ^८. हुता। ^९. मोर। ^{१०}. कहाँ। ^{११}. क्या। ^{१२}. चुनौती। ^{१३}. कपो। ^{१४}. चिड़ियाँ। ^{१५}. कूटा-वज्जुर। ^{१६}. गाय।

बहू की बिदा का गीत

हूँ तोइ^१ बूझों बारी रे मौरा, कोन विरछ तेरे मन-बसी ।
 सब रे विरछ मेरे भनी-भनी भाँति, बौहीत नीकी भाँति भकिली सदाफल मन-बसी ।
 हूँ तोइ बूझों ए बहुभ-बोहरिआ^२, कोन सजँन^३ तेरे मन-बसी ।
 सब रे सजँन मेरे भनी-भनी भाँति, बहुत नीकी भाँति, बँड नरत मे^४ बसी ।
 वेई राँम मेरे मन-बसी ॥

बहू-आगमन

बहू के आते समय का गीत

तू ती निकरि चँचूदरि^५ बाहिरी, तू ती निकरि री सासुलि बाहिरी ।
 घरवार बहू को ऐ, कि छेड़ी^६ सासु की ॥

❧

शोने का गीत

मेरी बारी-सी लाइलड़ी, सुहाग-भागि भाँग ।
 बाबा छतारे एकु जस लीजो, लैहूद्वारी चोर पकरि चो न लीजों ॥
 काए की लैहूद्व काए की ऐ डोरि ।
 सोने की लैहूद्व. रेसम की ऐ डोरि, मेरी बारी सी० ॥
 लैहूद्वारे चोर भजुध्या बसत ऐ ।
 म्वाँक^७ ते पकरि वृत्ताइ चों न लेज, मेरी बारी सी० ॥

❧

घमारों की लगन का गीत

जौ तू रे मारु बँगन अति बड़ी, बारी-बिन सोभा न होइ, कै बँगन अति बड़ी ।
 जौ तू रे बावूल मेरे अति बड़ी, मैअन-बिन सोभा न होइ, कै मारु बँगन अति बड़ी ॥
 जौ तू रे पड़ित अति बड़ी, पोकी-बिन सोभा न होइ कै मारु बँगन अति बड़ी ।
 जौ तू री भाइज मेरी अति बड़ी, धोर-जिठानी-बिन सोभा न होइ, कै मारु बँगन अति बड़ी ॥

❧

अँगियों का गीत

तिलिया की तेल बनेनियाँ की हुरदी ।

मेरी लाइलड़ी अति सुकवार, सही न जाइ तेल की धार ॥
 तुम बँठी लाइलड़े चौक, तुमारी भुआ जी कलिया आरती ॥

—

^१. सुझे । ^२. बहू । ^३. पति । ^४. छछूंदर । ^५. पाखाना भयवा कूड़ा-करकट या ईषन रखने की गंदी कोठरी । ^६. बहू । ^७. ते ।

(इ)

सामन के गीत

मनिरा

कोन-दिसा ते मॅनिरा^१ आइये और कोन दिसा कूँ जाइ ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 पुरख-दिसा से आइये और पञ्चिम-दिसा कूँ जाइ ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 गलिन-गलिन मॅनिरा फिर बीबी, मॅनिरा कूँ लाउ बुलाइ ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 हरी-जगाली^२ मॅनिरा, नाँ पैहलूँ, मॅनिरा हरे ऐँ राजा जी के बाग ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 बीली-जगाली मॅनिरा नाँ पैहलूँ, मॅनिरा, बीली ऐँ राजा जी को घोडा ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 कारी-जगाली मॅनिरा नाँ पैहलूँ, मॅनिरा, कारे ऐँ राजा जी के केस ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 पीरी-जगाली मॅनिरा नाँ पैहलूँ, मॅनिरा, पीरे ऐँ राजा जी के लोडे ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 ऊदी-जगाली मॅनिरा नाँ पैहलूँ, मॅनिरा, ऊदे मेरे राजा जीके दाँत ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 साल-जगाली मॅनिरा, नाँ पैहलूँ मॅनिरा साल मेरे राजा जी के होठ ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥
 पैहरे-ओठ ठाढी भई, मॅनिरा, कहूँ दे चुरीन को मोल ।
 चूड़ी तो मेरी जान, चूड़ी तो हाती-दाँत की ॥

२

भँगना बुहारत सीक जी दूटी, रति^३ सामन की ।
 सासुलि-मैया गारी बॅह, सो भाई रति सामन की ॥
 उडि जा रे कागा दखिन-देस कू, सो भाई रति सामन की ।
 बिरें खबरि लै आभौ, सो भाई रति सामन की ॥
 कागा बिचारी उडन न पायी, सो भाई रति सामन की ।
 भाइ गए मैया-जाए बीर, सो भाई रति सामन की ॥
 कहाँ-बैठाळें बीरें मैया, सो भाई रति सामन की ।
 बीका बैठाळें बीरें मैया, सो भाई रति सामन की ॥
 खुदीन (बराई) सुई पाय^४, सो भाई रति सामन की ।
 सजि गई हुलिया, सजि गए कहुरबा^५, सो भाई, रति सामन की ॥
 सजि गई मैया-सँग भैंन, सो भाई रति सामन की ।
 जमुना किनारे दुलिया उतारी, सो भाई रति सामन की ॥

^१. मनिरा—चूड़ी पहनाने वाला । ^२. चूड़ी । ^३. ऋतु । ^४. झही-भाग । ^५. बहार ।

मोह देख भेना वन की लकड़िया, सो आई रति सौमन की ।
 लै आलें जेमुना की थाह, सो आई रति सौमन की ॥
 झूनी ऐ झुलिया, झूने कहखा, सो आई रति सौमन की ।
 झूनी ऐ भैया-सँग भेनि, सो आई रति सौमन की ॥
 गाइ कहति बेटा धीअ लिबोआ, सो आई रति सौमन की ।
 सासु कहति प्योहार, सो आई रति सौमन की ॥

३

सौमन आयी सुनइ^१ सुहामिनो जी, एजी कोई आई है अजब बहार ।
 भेन हूँ रे रेगाइ दे अंभा मेरी सीकिया जी, पचरंगी छविदार ॥
 झूला तो झूलें सलियाँ बाग में जी, एजी कोई गावत गीत-मलार ।
 घर-घर टूटें अंभा मेरी सेंमरी^२ जी, राजा, आयी तीर्जन की लोहार ॥
 नूरी-खाइले पाहुँन चल दिए जी, राजा, पहुँचे अपनी-अपनी सुसरार ।
 पेंढी-^३ देखत नैना दोउ थक गए जी, एजी नहि आए मेरे भरतार ॥
 रञ्छा-बचन भेना मेरी देखि के जी, एजी कोई मन में चुसी अपार ।
 जो नहीं आएँ भेना मेरे बालमाँ जी, एजी गलें मारि मल्लेगी तरवार ॥
 प्यारे 'बुद्ध' भेना मेरी यो कहें जी, एजी हम तो बरमा के तावेदार ॥

४

गडघौ री हिडोला, चपा-बाग में जी ।
 सैयाँ मोह जान न देख, गड़े रे हिडोरे ० ॥
 सासु जी कहें बहुअलि मति जइयाँ जी, नैनद कहें भाभी जाउ ।
 छोटी-सी दिवरा^४ मेरे सँग चलें जी ॥
 सासुलि जी ते कहियो मेरी मीनती^५, सैयाँ सो कहियो मेरी सलाम ।
 नैनद जू सें कहियो मेरी मीनती ॥
 राजा जी सो कहियो करि लेउ दूसरी व्याहृ ।
 मेरे भरोसे सई ना रहें जी ॥

५

झूला पै रानी राबिका जी, एजी कोई गावत गीत-मलार ।
 नैन्ही-नैन्ही बुँदियाँ, देखौ सर लग्यो जी, एजी कोई बरसत मूसल-भार ।
 पटुली-भरि कर जोँटा दे रहे जी, एजी कोई झुकि-झुकि कृष्णमुपार ॥
 पिहू-पिहू पपिहा देखौ री करि रह्यो जी, एजी कोई पग-पाइल की सैनकार ।
 कारे-कारे बदरा वैहना मेरी चढ़ि रहे जी, एजी कोई डरपी कामिनि नार ॥

६

भल्हार

सौमन-महिलाँ मलार गावें कामनी जी, एजी कोई घटा सठति घनभोर ।
 पपिहा पी-पी करै येरी-थाम में जी, एजी कोई वन में कोहकच भोर ॥
 भाँग की डारन वैठी कुहलिया जी, एजी कोई करति निराते सोर ।

^१. सुघड़ । ^२. सेमरी (सैमई)—मँदा या भाटे की पतली लंबी बत्तियाँ जँती, जो रत्नाभजन पर पका कर लायी जाती हैं । ^३. बाट जोहना । ^४. देवर । ^५. विनती ।

राधा भ्रमागिन बर बैठी रोवती जी, एजी कोई भाए न नदकिसोर ।
को समझावै व्याकुलता बढ़ि रह्यो जी, एजी कोई रहि-रहि उठत मरोर ॥

७

वियोग

कारी-सी आई वादरी जी, शक-क्षलरि आयी मेह ।
बरसै भसाढी मेहरा, एजी कोई इत बालेम परदेस ॥
भीजै तवू-साइफौ, एजी कोई भीजै लसकरिया लोग ।
साहिब-सिर भीजै पागडी एजी कोई चूऐ कसूमी रंग ॥
सोने की बुंदियाँ उत परी जी, एजी कोई उत मेरी माके जाए वीर ।
पानी की बुंदियाँ इत परी जी, एजी कोई इत नैनबुल के वीर ॥
अचर-फारि गज कहै, एजी कोई उंगली तराच^१ कलम ।
नैनन की स्याही^२ करू, एजी कोई लिखूँ सदेसी भेज ॥
पगडी के पेचु लचपचे, एजी कोई बैठे मारू तखत बिछाई ।
चिट्ठी तो आई बढनारि की, एजी कोई वाँचत भए दिलगीर ॥
पाँच मुहर खर्ची दई जी, एजी कोई चिटिया तो दई बगदाई ।
हमरी धनियाँ ये यों कह्यो, एजी कोई दिन दस भ्रमिन नाई ॥
भ्रमिन-भ्रमिन है रह्यो जी, एजी कोई बीते वारे माँस ।
छप्पर पुराने परि गए जी, एजी कोई तबकन लागे वाँस ॥

८

मल्हार

गमिँ गीत मल्हार महीनाँ सयिन की ।
तीज सँनू^३ झूलै प्यारी, ओढै सुआ-कसूमी सारी ।
है भीकौ ल्योहार, सँनूनाँ माँमिन की । गमिँ ॥
मूस पँ ठिढी^४ बिदनी सोहै, करनफूल-झुमिका मन-भोहै ।
परचौ गले-बिज हार, कीमती दामन की । गमिँ ॥
करि सिंगार बढी मन-फूलै, हिलि-मिलि कै सवु झूला-झूलै ।
बाग नौलखा डार, रसमी कामन की । गमिँ ॥
गमिँ गीत लहरभा गमिँ, कोइल कुहुँक-कुहुँक रहि जमिँ ।
'भागीरथी' बिचार, घाँमु जिह्वाँमन की । गमिँ ॥

९

मैया की प्यारी रे लाला मैया की प्यारी, प्रति की प्यारी लाला सुसरारि की जी ।
मैया बरजै लाला, मैनऊ बरजै, दिन गोने सुसरारि मति जाघी जी ॥
कहाँ रो घरे ऐँ भंभा पाँचोरी कापडे, कहाँ रो घरे पाँची हयियार ।
बकस घरे ऐँ पाँची कापडे, छूटी टेंगे हयियार ॥
छीकत पहिरे बेटा मेरे कापडे, श्री बरजत बांधे हयियार ।
छीकत खोल्ही लाला मेरे घोड़िला रे, बरजत भयी असवार ॥
लाला, सोचि-समझि बगदि घर आग्री रे ॥
पहली बनू नाय्यो रे लाला, दूसरी बनू नाय्यो ।

१. तरास । २. स्याही । ३. सलून । ४. बिठी ।

सरपु भगारी काटि जाइ, लाला हिरनु भगारी काटि जाइ ।
 बेटा, सोनि-समसि बगदि घर आग्री रे ॥
 तीजी बन नखी रे लाला, पड्डि सुसर-दरवार ।
 छोटी-सी सारी रे लाला, मौतु अचपली, सो बेगि सैं हुक्का-भरि लायो ।
 छोटे-से जीजा मेरे हुक्का तो पीओ जी ॥
 सुसर जी भीतर छठि दए जी ।
 बिस में तो सेकी री रानी पूरिया, बिसई में खीरि रँधाओ ।
 बिसई में छोकी सागु जी ॥
 सँग की सहेलिन नें चलि दई जी, कहि देउ भेना मेरी मन-गुन बात ।
 भाजू विरोधी* आयी भेना मेरी पाहुने जी ॥
 अकलि बतयो री भेना, मूँडे लग्यो, जा परदेसी की जानि बच्यो री ।
 बिसई में सेकी भेना मेरी पूरिया, बिसई में खीरि-रँधाइ ।
 बिसई में छोकी भेना मेरी सागु री ॥

१०

छोटी-सी सारी री भेना मौत अचपली, छोटे-से जीजा मेरे रोटी तो खाइ लेउ जी ।
 एकास्सी बरगु रहे ऐं सारे, रोटी न जेमें तेरे हाव की ॥
 कचैहरी ते सुसर जी आइए जी, छोटी जमैया लियो साध, न्हवान कुं जी ।
 खडि की धार जी बाबुल हाथ दवाई जी, खिनक में मारपी रे लाला बन में पछारपी—
 भरे में दीयो गढ़बाइ, विरोधी जी ॥
 छठि-छठि बेटी मेरी किबरी जी खोली जी, हाथ बुवैयो री लाओ पीनी जु लाओ जी ॥
 कौती रे बाबुल मेरे हिरनु बिनास्यो, कौ कोई जीव सतायो जी ।
 काए रँगी ऐ बाबुल, तेरी पगडिया रे, काए रँगे दोऊ हात जी ॥
 एकत-रँगी ऐ बेटी मेरी पागडी, छोटे जमैया दोनो हाव, विरोधी जी ॥
 तेरी तो जैयो सस्यानास बाबुल जी, बन की हिरनियाँ तेनें भीतु सताई जी ।
 चदन-चौकी व बेटी मेरी बैठियो जी, चारपी भोजैया तिहारो हुकुमु बजानें जी ॥
 सेंमद* बहाऊ रे बाबुल चदन-चौकिया रे, मोई-सी डोलें रे बाबुल चारपी भोजैया जी ।
 घर ते तो बेटी मेरी चलि दई जी, एकु न्धारिया भैया पीरी* चरावै जी ॥
 तेनें जो देख्यो रे भैया, परदेसी बिनासतु जी ।
 खिन में तो मारपी री लाली, बन में पछारपी री, भारे* में दीयो गढ़बाइ विरोधी जी ॥
 बन में तो वीनू रे भैया सुखी लफडिया रे, चित्ता चिनाऊँ भैया, परदेसी के सग जी ।
 आँच तो लैयो रे भैया, मोइ भंग्यो जी, तेरी न गुन भूलूँ ब्याऊँ जैनम में जी ॥
 एक भंग्यो री भेना गडि रखी खेत में जी, अपनेई हात री भेना उखारिऊँ लैयो री ।
 सुनि सुनि रे मेरे बन के भैया रे, बिजयी जी आवै मेरी जेठु जी ।
 पत्ती जी पूछें रे आइ बतयो रे भैया, मेरी चिताए रे ॥
 • सुनि-सुनि री मेरी अगिली भेना री, जो जू न आवै भेना बिजयी जेठ जी ।
 तौजू चित्ता मेरी बुझै न पावै जी ॥

१. विरोधी । २. समग्र । ३. पोहारि । ४. कुँए का वह साग जहाँ चरस खींच कर से जाने वाले बंस चरस नीचे खींच लें जाने के लिए ठहरते हैं ।

सोल्हें दिनां भेनां बीति गए जी, भवई न भायी तेरो बिजई जेठ जी ।
छिन री पलक में भेनां भाइ गए री, पूछन बोलें भेनां सब रे सँहर में जी ॥
युनकी परदेसी की पत्ती हूमेंक बतैयो जी ॥
बुहो गवारिया भैया भाइ जी पायो री ।
भाभी रे भैया, मेरे परदेसी की पत्ती बताऊँ जी ॥
जितो चिता रे भैया, तेरे परदेसी की जी ॥
इमिरितु छिरक्यो रे भैया जे कारे बोलै जी ।
हरे-हरे करि कैं ठाढे भए ऐं जी, बैया-पसारि कैं दोनो ऊ भंटे जी ॥

१०

खेलत रूप-सरूप रानी के दोनों बालिका ।

जुरि-मिलि बालकु खेलु बनायो रामाँ, भाइ गए लखिमन-राम—
रानी के दोनो बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥
माँझि-बोइ जोटा भरि लाए रामा, पानी ती पीझी भगवान ।
रानी के दोनो बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥
तिहारै हात जनु नाँ पीमें बालिका, जाति बताओ माई-बापु ।
रानी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥
मास हमारी सीता जी कहियेंतु रामा, पिता की सुधि नाहि ।
रानी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥
वा सीता कू हमें रे दिखइयो रामा, कहाँ रे बसति तिहारी भाइ ॥
रानी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥
ठाढी सीता केस सुखावै रामा, भाइ रहे लखिमन-राम ॥
रानी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥
फटि जाइ बरती, समाइ जाइ सीता रामा, जीयत दियो वन-वास ।
रानी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥
फटि गई बरती, समाइ गई सीता रामा, केस रामू जी के हात ।
रानी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप रानी के० ॥

११

ऊँची-ऊँची मथुरा, हरे-हरे बाँस, इन बाँसन की पीजरा बेटी चंद्रावलि लई रत्नबाइ ।

सात सहेलिन झूड, चंद्रावलि पानी-नीकरी जी ।
भागें डेरा पठान के, चद्रावलि लइ ऐ छिपाइ ॥
सरग-खड्की चीलिया^१, उठि मेरे पीहर जाउ ।
जाउ बबुल ते यों कही, बेटी चद्रावलि लई ऐ छिपाइ ;
जाउ बिरैन ते यों कही, भेना चद्रावलि लई ऐ छिपाइ ॥
बबुल जो सुनिकें रोइऐ जी, भाइ लै खाई ऐ पछार ।
बिरैन जो सुनि कैं रोइऐ जी, भावज खाई ऐ पछार ;
ऐसी चद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुमारि ॥
बैली तो बाँधी डेड सँ जी, रुपिअँनु ओर न छोड़ ।
लै रे मुगल के छोहरा, हमरी चंद्रावलि देउ छुडाइ ;

१. चिरहुली ।

ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुमारि ॥
 गिल्ली ती बाँधी डेढ सै, मोहरैनु ओर न छोड़ ।
 लैके विरैन जी चलि दए, बैहनाएँ लामि छुडाइ ;
 लै रे मुगल के छोहरा, हमरी चंद्रावलि देउ छुडाइ ॥
 छपिया ती मेरे बहुत ऐं, बलीनु भीर न छोड़ ।
 गिल्ली ती मेरे बहुत ऐं, मोहरैनु ओर न छोड़,
 ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुमारि ॥
 जाओ वदुल घर आपने, जाउ विरैन घर आपने, राखूँगी दोउ कुल-साज ।
 पानी न पीके पठान की, सेजैनु बल्लेगी न पाँच ॥
 सरग-उडती चीलिया, जा मेरे सासुरें जाउ ।
 मेरे कहियौ सुसर सैमझाइ, बहु चंद्रावलि लई ऐ छिपाइ ॥
 मेरे कहियौ दिवर सैमझाइ, भासी चंद्रावलि लई ऐ छिपाइ ॥
 मेरे कहियौ बल्लेम-सैमझाइ, चनियाँ लई ऐ छिपाइ ॥
 मेरे कहियौ जेठ सैमझाइ, बहुभरि लई ऐ छिपाइ ॥
 सुसर जी सुनि के रोइऐ जी, सासुलि खाई ऐ पछार ।
 जेठ जी सुनि के रोई ऐ, जिठाँनी खाई ऐ पछार ।
 दिवर जू सुनि के रोईऐ, घोरानी खाई ऐ पछार ॥
 हतिया लै ससुर चालिए जी, बहुभरि लामि छुडाइ ।
 लै बुडिला जेठ चले, बहुभरि लामि छुडाइ ;
 ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुमारि ॥
 लै जेटिला वालें चले जी, बँनियाएँ लामि छुडाइ ।
 गेद लै दिवरा चले जी, भासी ऐ लामि छुडाइ ।
 लै रे मुगल के छोहरा, हमारी चंद्रावलि देउ छुडाइ ॥
 हतिया ती ह्यारे भीतु ऐं, हतिनिनु ओर न छोड़ ।
 बुडिला ती ह्यारें भीतु ऐं, घोडीन ओर न छोड़ ,
 ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुमारि ॥
 जेट ती हमारे भीतु ऐं, जेटिनिनु ओर न छोड़ ।
 गेद ती ह्यारें भीतु ऐं, बल्लेनु ओर न छोड़ ।
 ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुमारि ॥
 जाओ सुसर घर आपने, जाउ जेठ घर आपने, राखूँगी पगडी की लाज ।
 लानी न खाके पठान की, सेजैनु बल्लेगी न पाँच ॥
 जाओ दिवर घर आपने, राखूँगी टोपी की लाज ।
 जाओ बल्लेम घर आपने, राखूँगी दोउ कुल-साज ।
 लानी न खाके पठान की, सेजैनु बल्लेगी न पाँच ॥
 सुनि रे पठान के छोहरा, पानी ती भरि लाउ ।
 माँजि-बोइ लोटा भरि लाउ, ऐसी चंद्रावलि प्यासी मरी जाइ ॥
 मृगलैनु पीठि जी फेरिऐ, तमुअन दै लई आगि ।
 ऐसी चंद्रावलि जरि गई, जेसँ राज-कुमारि ॥
 हाइ जरें जेसँ लाकडी, केन जरे जैसँ दूब ।
 हाइ-हाइ मुगला करे, तोबा करै पठान ॥

१२

गीत-चंद्रावलि

ऊँचो नगर गढ़ ग्वालियरी, नीचें हरे-हरे बाँध, सासु पसीजे ओबारें, बहू विजनां री ल्याउ ।

दूँवें विजनु नहीं पाइए, बहू विजनां री ल्याउ ॥

पहलें तो भाई जल-माछरी, खिरकनि धायी हूँ दूध, फोज तो भाई पठान की, भौस पटनां लीओ ऐ घेरि ।

चीरि न पाई जल-माछरी और ओटि न पाई दूध, खान न पाई खीचरी, पटनां लीओ ऐ घेरि ॥

सासु गई ऐं माइ केँ और ससुर गए ऐं लैनहार, जेठ महीवे की चाकरी और दिबर पठें चटसार ।

फोज तो भाई पठान की, पटना लीओ ऐ घेरि ॥

सरग-चंडती चीलरी, सरगें रहौ मँडराइ, मेरे सुसर ते यो कहौ बहू बदि परी ।

सरग-चंडती चीलरी, सरगें रहौ मँडराइ, मेरे जेठ ते यों कहौ बहू बदि परी ॥

सरग-चंडती चीलरी, सरगें रहौ मँडराइ, मेरे दिबर ते यो कहौ बहू बदि परी ।

सरग-चंडती चीलरी, सरगें रहौ मँडराइ, मेरे साहित्य ते यो कहौ गोरी बदि परी ॥

सरग-चंडती चीलरी, सरगें रहौ मँडराइ, मेरे वदुल ते यो कहौ वेटी बदि परी ।

सरग-चंडती चीलरी, सरगें रहौ मँडराइ, मेरे विरैन ते यो कहौ भैन बदि परी ॥

लै हतिया ससुर गए सो हाती एक लाख, बहूए छुडाऊँ चद्रावलि, बिन के लवे-लवे केस ।

जिभ लै मुगल के छोहरा, हतिया इक लाख, बहूअ छुडाऊँ चद्रावलि, वा के लवे-लवे केस ॥

काहू रे कलैं तेरे हातिया, हतिया मेरेई भीतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पान-चवाइ ।

लै करहा जेठ चले, सो करहा एक लाख, बहूअ छुडाऊँ चद्रावलि जाके लवे-लवे केस ॥

जिभ लै मुगल के छोहरा, करहा एक लाख, बहूअ छुडाऊँ चद्रावलि जाके लवे-लवे केस ।

कहा रे कलैं तेरे काछा, करहा मेरेई भीतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पान-चवाइ ॥

लै घुडिला देवर चले, सो घुडिला एक लाख, भाभी छुडाऊँ चद्रावलि जैसी राज-कुमारि ।

काहू रे कलैं तेरे घोडिला, घुडिला मेरेई भीतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पान चवाइ ॥

लै डोला साहित्य चली, सो डोला एक लाख, गोरी छुडाऊँ चद्रावलि जैसी राज-कुमारि ।

जिभ लै मुगल के छोहरा, डोला एक लाख, गोरी भली चद्रावलि जैसे राज-कुमारि ।

काहू रे कलैं तेरे डोलानु को, डोला मेरेई भीतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पान-चवाइ ॥

१३

पाँच पेठ मँहदी नए^१ केसरिया लाल, एउपजे ऐं नी दस पेठ कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ॥

बा लसकरिया ते यो कहौ, माइ मरे घर-आउ, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ।

माइ मरी तो भली भई, घर के बिलहर^२ जाइ, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ॥

बा लसकरिया ते यो कहौ, भैन-मरी घर-आउ, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ।

भैन मरी तो बुरी भई, आए सजैन फिरि जाइ, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ॥

बा लसकरिया ते यो कहौ, बहू मरी घर आउ, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ।

बहू मरी तो बुरी भई, कोई लरिका दारैबाट^३, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ॥

माडल गाढी देहरी कोई ऊपर घामन जाइ, मंडुल^४ गाढी खेत में कोई ऊपर सुर-बदर^५ ।

बैनकुलि गाढी बाग में कोई ऊपरि फूल गुलाब, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ॥

मायल पाई कातती और भैन सहेलिन-बीच ।

लरिका पाए पालन और बना^६ रसोई-बीच, कि मँहदी रंग चुऐ जी महाराज ॥

१. नये। २. दरिद्रता, गदगी। ३. बारह बाट—नष्ट-भष्ट। ४. बहिन। ५. काटे। ६. पत्नी।

१४

आयी है जेठु-असाढ करेला मारु जी, सोमन आयी घन को नीहरी जी ।
 सन-सन पीहुर जाई करेला मारु जी, हुमेंके पठे देख हंमरे बाप के जी ॥
 को जी आयी लैनहार समल-वन गोरी जी, गोरी जी, कोन आयी जेठा घरि गयी जी ।
 वीर मेरे आए लैनहार करेला मारु जी, मारु जी, नउभा को आयी जेठा घरि गयी जी ॥
 काए की बगडोर करेला मारु जी, मारु जी, काए^१ की कंऐ^२ पटुली लचपची जी ।
 रेसंम की बगडोर समलघन गोरी जी, गोरी जी, सोने की कंऐ पटुली लचपची जी ॥
 झूलंगी विज-नारि करेला मारु जी, मारु जी, झोटा ती दिग्ये उनके साहिवा जी ।
 लैगई मचक बढाइ करेला मारु जी, मारु जी, लागी झटोका मरमन मिरि परी जी ॥
 विआह करु डै-वारि समलघन गोरी जी, गोरी जी तुम-सी हो मरमन ना मिले जी ।
 जैगी हमारै प्योसार करेला मारु जी, मारु जी, हम हूँ ते ल्होरी बैहिनी दो परी जी ।
 कै तिल रूप-सरूप समलघन गोरी जी, गोरी जी, कै तिल आगरी जी ।
 इक तिल रूप-सरूप करेला मारु जी, मारु जी, दो तिल कंऐ आगरी जी ॥
 चदन-रूप कटाइ करेला मारु जी, मारु जी नदिया-किनारें मसम करैगी जी ।

१५

संयोग

बंठे मारु सखत विछाड़, चिठिया ती आई दक्खिन देस ते जी महाराज ।
 उठि घनि दिवला हो जोरि, चिठिया ती आई दक्खिन देस ते जी महाराज ॥
 मेरी तो उठेगी बलाइ, चदा-उजारी चिठिया बाँधिऐ जी महाराज ।
 ढिग-ढिग लिखी ऐ जुहार, बीच लिखी बैरिन नोकरी जी महाराज ॥
 अक्के ससुर जी कूँ भेज, अक्के चौमासे राजा घर रहौ जी महाराज ।
 गलिअन परेगी चवाव, बाप-पठाए, बेटा घर रहे जी महाराज ॥
 अक्के जेठ जी कूँ भेज, अक्के हरियाली तीजे राजा घर करी जी महाराज ।
 भैया जी की कुंवारी कन्या धीध, व्याह सेंजोमें अपने घर रहे जी महाराज ॥
 अक्के पडोसीऐ भेज, अक्के जनमठमी राजा घर करी जी महाराज ।
 पडोसी की सडिहाई नारि, सजि^३-सबेरें वो ती लड़ि परे जी महाराज ॥
 अक्के मितर जी कूँ भेज, अक्के अँनत-बौदस घर करी जी महाराज ।
 मितर की चमकन नारि, ए अनवट-विछुआ मारि नित नए जी महाराज ॥
 अक्के घन देख भयीस, कैसी लगीगी ए चकरिया की चाफरी जी महाराज ।
 संगकेन कूँ मिलियो गौम, तुम कूँ मिलिगी हजारो राजा पगले जी महाराज ॥

१६

भोरा

भर मादा की भोग देन अंधेर, राजा की गनी पानी-नीहरी जी ।
 काए की गगरी रे भोरा, काए की लेज, काए जगज्ज घन की टंडरी जी ॥
 मोने की गगरी रे भोग, मेमंमु की लेज, नैन-जगज्ज घन की टंडरी जी ।
 भागै-भागै भोग पाने, पाँदे पनपानि, जा पीछे राजा जी के वैहमा जी ॥
 एउ वर गोमो भोग, दूजो वर नारि, तीजे वर पटुली ऐ आखें जी ।
 जोई भरे मागि भोग देद सुआन, वग-वगानि भोरा जव गिऐ जी ॥

१. जाटे । २. बहिने । ३. गाम ।

परं रे सरकि जा मोरा, भरन दे नीर, मो घर सासु रिसाइवी जी ॥
 त्यारी तो सासुल बँनियाँ हमारी हो माद, भ्राज बसेरी हरियल बाग में जी ।
 परं रे सरकि जा मोरा, भरन दे नीर, मो घर नैनद रिसाइवी जी ॥
 त्यारी तो नैनदुल बँनियाँ हमरी हो भैन, भ्राज बसेरी हरियल बाग में जी ।
 उठि-उठि सासुल ह्यारी मगरी उतारि, ना तो फोडू चौडे चोक में जी ॥
 किन तो रे बहुमज तो सँ बोले ऐं बोल, कोनँ धीने तोइ ताइने जी ।
 ना काऊ सासुल मोसँ बोले ऐं बोल, ना काऊ दीने ऐं ताइने जी ॥
 वैन को मोरा सासुल वैन में ही रहत है, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।
 उठि-उठि बेटा मेरे मोरै पछारि, तेरी बँन रीझी वैन के मोरला जी ॥
 मोइ देव भ्रमा म्हारी पाँची हथियार, मोइ देव पाँची कापड़े जी ।
 एक वैन नाँची राजा डूजी वैन नाँधि, तीजे वैन मोर पछारिऐ जी ॥
 मारि-मूरि राजा लाए लटकाइ, लाइ धरी ऐ वैन की देहरी जी ।
 उठि-उठि बँनियाँ मेरी हरदी जो पीस, मोरा छोकि बनाइऐ जी ॥
 हरदी के पीसँ राजा जल्दी न होइ, मोरा के छोकेँ मेरी जी जलँ जी ।
 वैन की हो मोरा राजा वैन ही में रहत, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
 जो तुम्हें रँनियाँ मेरी, मोरा की साधि, कोरे प मोर कडाइऐ जी ।
 कोरे की मोरा राजा लिपि-मुक्ति जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
 जो तुम्हें बँनियाँ मेरी मोरा की साधि, सोने की मोर गडाइऐ जी ।
 सोने की मोरा रे राजा, चोरी में जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
 जो तुम्हें बँनियाँ मेरी, मोरा की साधि, काठ की मोर बनाइऐ जी ।
 काठ की मोरा रे राजा, जरि-बरि जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।
 जो तुम्हें बँनियाँ मेरी मोरा की साधि, छाती प मोर गुदाइऐ जी ।
 छाती की मोरा रे राजा बोले न बोल, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।^१

१७

हरिअल साविन आयी मेरी सोहनी जी, एजी कोई बरसँ मोला-ढार ॥
 गई सहेली भ्रमा मेरी सग की जी, एजी कोई झूला डालें बर की डार ।
 हरिअल जपा भ्रमा मेरे बाग में जी, एजी कोई मोर करत गुँजार ॥
 ता पर झूलें झुँमारी निहालदे जी, ऐजी सँग झूलत झुँमरि-झुँमार ॥
 पूरव ते बादल भ्रमा मेरी छाइ गयी री, एजी कोई बरसँ मूसल-बार ॥

१८

भरी भेनाँ, सातो सहेली जली सग, झूला प चलि कें झूलनी ।
 कसँ खडी हो री भेनाँ भ्रनमनी, भरी बीवी कसँ तिहारी सतसग ॥
 इतनी सुनि कें सातो चलि दई, भरी भेनाँ मन में भरी ऐ समग ।
 जपा-जमन के भदर जाइ कें, भरी भेनाँ, सातो सहेली बैठी सग ॥
 कारे-कारे वादर भेनाँ छाइ रहे, भरी भेनाँ, मेहा की हँ रहरी बग ।
 न्हैनी-न्हैनी दूवें री पडि रही, भरी भेनाँ, चूंदरि की छुटि गयी रग ॥

१. स्व० उमिला—सत्येंद्र-द्वारा

१६

बाग बहाली भाली है रही जी, है रही मेरे महाराज ॥
 गेंदा हजारी रीसनु खिलि रह्यो, चंपा खिली है अपार ।
 बेला-बसेली फूली मोतिया, फूली हारसिंगार ॥
 अजब सुगंधी भाली उडि रही, झुकी है कंदम की बार ।
 हिलि-मिल झूलूँ सखिभनु-साथ में, गांधी मिल गीत-मल्हार ॥

२०

मोरली रंजनारी जी, जैपुर में झोका लै रही जी, ऊँची सी खेरा बहेली भैना में सुनी जी ।
 भईया जी आए बहेली भैना में सुनी जी, ऐजी कोई, लिल धोड-असवार, मोरली० ॥
 घोडा ती बाँची भईया धुडसार में जी, एजी कोई तँन बैठी चौपार, मोरली० ।
 चमिर राँधू भईया जी कूँ ऊजरे जी, एजी कोई हरी भँगोरी, घोडा दारि, मोरली० ॥
 पूरी ती सेकूँ भईया जी कूँ लपकपी जी, एजी कोई साग कळ दस-बीस, मोरली० ।
 और करी ऐं भईया जी कूँ सेंमरी जी, एजी कोई घेवर भंगाळ भईया जी कूँ खूब सौ जी ।
 एजी कोई फेंनी भंगाई दस-बीस, मोरली० ॥

चदन-चौकी भईया जी बैठिए जी, एजी कोई हूध पखाळें त्यारे पाँइ, मोरली० ।
 मथुरा के थार भईयाजी जैमिए जी, एजी कोई भँचरल डोलेनी व्याधि, मोरली० ॥
 का तुम देखे भईया जी मेरे लाडिले जी, एजी कोई दिम्मे मौहूर पचास, मोरली० ।
 ऊँची सी खेरा बहेली भैना वंठनी जी, एजी कोई देवर जी आए बहेली भैना में सुनी जी ।
 एजी कोई कौनी शवईया असवार, मोरली० ॥

चाँसर राधू देवर जी कूँ किसकिने जी, एजी कोई हरी ऐ भँगोडी, घोडादार, मोरली० ।
 पूरी ती सकूँ देवर जी कूँ लचपचीजी, एजी कोई साग करे दस-बीस, मोरली० ॥
 घेवर भंगाळ देवर जी कूँ हूरि तें जी, एजी कोई फेंनी कोस पन्वीस, मोरली० ।
 आज ती आए देवर जी मेरे पाहुँने जी ।

चदन-चौकी देवर जी मेरे बैठिए जी । एजी कोई पानी ते धोक त्यारे पाँइ; मोरली० ॥
 सीरल-थार देवर जी जैमिए जी, एजी कोई पखन डोलेनी बियाद, मोरली० ।
 का तुम देखे देवर जी मेरे लाडिले, एजी कोई दिम्मे लट्ट पचास, मोरली० ॥

२१

चमारों के सामन का गीत

बर के रे गोवें झूलती, मेरी डावर नैनी, सात सहेलीनु बीच ॥

सातौन के मुख ऊजरे बहुभरि, तिहारी ची मैली मेखु ।

सातौन के डोला घर रह्यो जी, हमरे गए ऐ परदेस ॥

एक बढोही यो कह्यो, मेरी डावर नैनी, चली हमारे साथ ।

सोनेनु करि दऊँ पीयरी जी, और चाँदीनु-सेतु सुपेत ॥

ठाढी ती रहियो नार्द गैल में, बटाक डोला, सासु-नैनद आक पूँछि ।

एक बढोही यो कह्यो मेरी सासुलि रानी, चली हमारे साथ ।

कैसी सुरति की बढोहिया, मेरी बहुभल रानी, कैसी घोडी असवार ॥

लीली ती बापें घोडिला सासुल, छोटे दिवर-उनहारि ।

रवे ती ऐ तिहारे साहिबा, मेरी बहुल रानी, रवे ऊ गए ऐ परदेस ॥

ठाढी ती शाळें न्वाके बाप की, मेरी सासुल, पोछन धरैनी भंगार ।

नैना ती फोळें न्वाके रस-भरे, मेरी सासुल, तकनु बिर्तनी-नार ॥

२२

एक झूलती लड़की से सुना हुआ गीत
 रँगरुँग-रँगरुँग^१ मेहा बरसे, जि^२ पानी कित जाइजी ।
 आषी पानी नदी किनारे, आषे में मेरी मैया न्हाइ जी ॥
 आप कूँ लाए, बाप कूँ लाए, माँ की तीअर लाए जी ।
 वैहिन कूँ तीअर ना लाए ती, सौ-सौ नाम बराए जी ॥
 रँगरुँग-रँगरुँग मेहा बरसे, जि पानी कित जाइ जी ।
 आप कूँ कठला, बाप कूँ कठला, मा कूँ हँसला लाए जी ॥
 वैहिन कूँ हँसला जब ना लाए, ती सौ-सौ नाम बराए जी ।
 रँगरुँग-रँगरुँग मेहा बरसे, जि पानी कित जाइ जी ॥^३

२३

भर^४ भावो की मोरा रँग^५ अँवेरी, राजा की रानी पानी नीकरी जी ॥
 काहे की गगरी रे मोरा काहे की लेज, काहे जडाऊ बँन की ईबरी^६ जी ।
 सोने की गगरी रे मोरा रेसैम की लेज, रतँन-जडाऊ बँन की ईबरी जी ॥
 आगे-आगे मोरा चाले पीछे पनहारि^७, जा^८ पीछे राजाजी के पैहूआ जी ।
 एक बँन नाँवी मोरा, हूजे वन नाँव^९, तीजे बँन^{१०} पहुँची ऐ जाइके^{११} जी ॥
 जोई भरे मोरा देइ जुडकाइ, पख पसारि मोरा जल^{१२} पिये जी ।
 परे रे सरकि जा मोरा भरँ^{१३} दै नीर, मो घर साधु रिसाइगी^{१४} जी ।
 त्पारी ती साधुल धँनियाँ हमरी हो साइ^{१५}, आज^{१६} बसेरी^{१७} हरिअल^{१८} बाग में जी ॥
 परे रे सरकि जा मोरा भरँ दै नीर, मो घर नँनद रिसाइगी जी ।
 त्पारी ती ननदुल धँनियाँ हमरी हो भँनी, आज बसेरी हरिअल बाग में जी ॥
 उठि-उठि साधुल म्हारी गगरी उतारि, ना ती^{१९} फोरुं^{२०} चौडे^{२१} चौक में जी ॥

१. रिंगरिंग-रिंगरिंग । २. यह ।

३. बाबाजी के बाग में-वो चिड़ियाँ चूँ चूँ करती थीं ।
 बाबाजी के बाग में हम झल्ल-झल्लरि झूलती थीं ॥
 उतते आए भईया-काका, का-का सौदा लाए जी ।
 आपकूँ छोड़ा, बापकूँ छोड़ा, माँकूँ जोड़ा लाए जी ॥
 भँन की चुबरी मूलि आए, ती सौ-सौ नाम बराए जी ।
 बहू कूँ लाए अटकन-बटकन, लेउ बहू तुम खेती जी ॥
 बहू कूँ लाए पान-सुपारी, लेउ बहुअल तुम चावी जी ।
 हम क्यों खेले इकली-बुकली, सु जाता नंद बुलाओ जी ॥
 हम क्यों खावे इकली-बुकली, सुजाता नंद बुलाओ जी ॥
 आओ नँनदुल, वँठी नँनदुल, मुतियँन-मोग सराओ जी ।
 जो नँनदुलि तुम लड़ी-भिड़ीगी, सोदँन^{२२} ते धनकाऊँगी ॥

४. उच्चारण शोध—भरि । ५. रँग । ६. ईडूरी । ७. पनहारि । ८. ता । ९. नाँधि ।

१०. जाइ । ११. कं । १२. जलु । १३. भरले । १४. रिसा हुई, रिसामनी । १५. मा । १६. आजु
 (साधारण 'उ' ध्वनि से लघु, जो अ के निकट पहुँचती है) । १७. बसेरा । १८. हरिअल, १९. नदियें तो ।
 २०. फोड़ू । २१. चौरे । २२. मूलन ।

किन ती रे बहुअल तो सँ^१ बोले हँ^२ बोल, कोनँ दीने^३ तोइ तौइने जी ।
 ना काऊ सासुल मोसँ^४ मोलँ ऐँ^५ बोल, ना काऊ दीने ऐँ तौइने जी ॥
 बॅन को मोरा सासुल बन में ही रहल^६ ऐँ^७, बाकी कौहक^८ मेरे मन बसी जी ।
 उठि-उठि वेटा मेरे मोरें पछारि, तेरी बॅन रीझी बन के मोरला जी ॥
 मोइ^९ देउ अमा म्हारी^{१०} पाँची हथियार^{११}, मोइ देउ पाँची कापडे जी ।
 एक^{१२} बन नाँवो राजा हुआ बन नाँव, तीजे बन मोरा पछारिऐ जी ॥
 मारि-मूरि राजा साऐ^{१३} सटकाइ^{१४}, लाइ घरी ऐ बॅन की^{१५}, देहरी जी ।
 उठि-उठि धनियाँ मेरी हल्दी जो^{१६} पीसि, मोरा छोकि बनाइऐ जी ॥
 हल्दी के पीसँ राजा जल्दी न होइ^{१७}, मोरा के छाँकि मेरी जी^{१८} जलै जी ।
 बन को ही मोरा राजा बन ही में रहल, बा की कौहक मेरे मन बसी जी ॥
 जो तुम्हें^{१९} रैनियाँ मेरी मोरा की साधि^{२०}, कौरे पै मोर कडाइऐ जी ।
 कौरे की मोरा राजा लिपि-मुत जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
 जो तुम्हें^{२१} धनियाँ मेरी मोरा की साधि, सोने^{२२} की मोर गडाइऐ जी ।
 सोने की मोरा रे राजा चोरी में जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
 जो तुम्हें^{२३} धनियाँ मेरी मोरा की साधि, काठ की मोर बनाइऐ जी ।
 काठ की मोरा रे राजा जरि-जरि जाइ, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
 जो तुम्हें^{२४} धनियाँ मेरी मोरा की साधि, छाती पै मोर गुदाइऐ जी ।
 छाती की मोरा रे राजा बोलै न बोल, बाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥

२४

मेरे सिर पै बिराजै गोबर-हेल, ए बोला नँ ब्याह लई दूसरी ।
 हूँ तो लेंजेंगी बबुल बलबाइ, काहे कूँ ब्याह लई दूसरी ॥
 हूँ तो लेंजेंगी पटवारी अपने साथ, आगरे में अरजी देखेंगी ।
 बोला, हाकिम पूँछै तोइ बात काहे पै ब्याह लई दूसरी ॥
 गोरी, गुन थोरे ऐँ श्रीगुन भीसु, ए जाई पै ब्याह लई दूसरी ।
 तेरे ब्याह कूँ आयी आधी-मेल, ए गौने^{२५} कूँ ओरे परि गए ॥
 तेरे रोने^{२६} कूँ है गए बारें बाट, चाले^{२७} कूँ सूखा परि गई ।
 बोला, मर्दनि बढि गए भारी सोच, लुगाई बौलें हँ गई ॥
 बोला, दूँधी पै परी ऐँ तुसाब, सरखो कूँ, ए सरखो कूँ मौक^{२८} नँ गई ।
 बोला, चन्ना पै परी ऐँ तुसाब, बेझरि पै, ए बेझरि पै ओरे परि गए ॥
 बोला, मटरा कूँ साइ गई सुबिया, सगु गेँहुनु कूँ, ए गेँहुनु कूँ खुसा^{२९} लगि गयी ॥

२५

बड़ी निबू बढी-री गॅमार, छोटी-सी निबू रस-नरी ।
 हौं तुमँ पूछति सासु, हमारी पति कोन सी ?

१. ने। २. ऐँ। ३. बए ऐँ। ४. मोलँ। ५. ऐँ। ६. रहल। ७. हल। ८. कौहक-कौहक।
 ९. मोइ। १०. मेरी। ११. हथियार। १२. एक। १३. साए। १४. सटकाइ। १५. की। १६. धु।
 १७. होइ। १८. साब। १९. सोने। २०. तुमँ। २१. गौना—ब्याह के उपरांत जब दूसरी
 बार बहू को पति अपनी ससुराल से लेने जाता है, तो वह सस्कार गौना कहलाता है। २२. गौने
 को उपरांत की बिवा 'रीना' कहलाता है। २३. रोने की उपरांत की बिवा आता। २४. २५. २६. २७.
 कृषि कीट जो फसलों को नष्ट करते हैं।

सिर मलमल सुई^१ पाग कचे पै नागिन झुकि रही ।
हों तुमें वरजति माइ, गरमी में गोनी मति करै ॥
गरमी को मारी भरतार, जरद पीरी परि गयो ।
जाढे की प्यारी बेटा सीरि,^२ गरमी को प्यारी बीजनी^३ ॥
सिबु-सिबु^४ परिओ अकालु, चोतीसा^५ बैरी मति परै ।
चोतीसा को मारी भरतार, बरदा^६ कूँ भजि गयो ॥
मन के विकाइ गए बेर, सब मन के गोलुङ्ग ।
नरै^७ को विकाइ गयो सागु, गाजरि, मूरी है गई ॥
धरी ऐ डरा^८ भरि भून, बीरनू भूँखे उठि गए ।
सिबु-सिबु परिओ अकालु, चोतीसा बैरी मति परै ॥

२६

गाम पिछौडे ए मेरे प्यारे नीबरी ।
लखु भावै लखु जाई, एकु न आयो मेरी साहिवा, मै ती मल्लै रे जहर-बिस खाइ ॥
सासु-बिना ती मेरो सब रंग फीकी सासुरी श्रीर सुसर-बिना कैसी लाज ।
दिवर-बिना होरी नहीं, मेरे पिया-बिन विकट उजार ॥
हँवै, माइ-बिना ती मेरी सब रंग फीकी माइकी ।
श्रीर बबुल-बिना कैसी लाज, बिरल-बिना मिलिबो नहीं ।
मेरे पिया-बिन विकट उजार ॥

२७

ज्याँतें जब ज्यो न बिसिल्यो लेंमनी^१ श्रीर अब बिसिलन जायी ईट ।
दरवाजें बुध^२ बाप के अबकें बकसि भरतार ॥
जामें बगल में मंदिर बनवाइ देंकें बीनानाथ को ।
अब पधराइ देंकें सालिगरीम, दरवाजें बुध बाप के ॥
ज्याँतें बलि चाहें तो छेरी^३ को बढाइ देंकें बोकरा ।
अब मध^४ की दिवाइ देंकें धार, दरवाजें बुध बाप के ॥
ज्याँति सोने में मढाइ देंकें दरवाजे तेरी कंगूरा^५ ।
बिषवा को दोषु मिटि जाइ, दरवाजें बुध बाप के ॥

२८

अरे डरा रे भरि कें करो पीसनी पीसत-पीसत हो हारी ।
समुझत गौड़ बलेंधु अंनारी, साझे में नारि दुबारी ॥
हवै सब तें गोरी तेंने चो न कही, तोइ बीहरी लैहंगा लै देंती, तोइ बीहरी उडनियाँ लै देंती ।
चौपटिया चादरि लै देंती, चादरि पै चैन टकाइ देंती ॥
हवै तब तें डोला तेंने चो न कही, तोइ लीजी-बीरी बधियाँ लै देंती ।
हर पै हर-हारी करि देंती, श्रीर पानी लगाइने पै हो रेंती ॥

^१. सूही, हरी । ^२. रजई । ^३. पंखा । ^४. समस्त । ^५. संवत् ३४ । ^६. एक स्थान । ^७. नर ।
साग या मूले बह होता है जिसकी नसें इतनी पक्क जाती और कठोर हो जाती है कि पकाने से
गल नहीं पाती । ^८. डला-पला, (मूल अथवा कागज कपड़ा की लुगदी से बनाया हुआ छबरा) । ^९. बीवाल पर
नीपने से बना हुआ भारी पतं । ^{१०}. 'माह' के पिता का नाम । ^{११}. बकरी । ^{१२}. मध, अराब । ^{१३}. कंगूरा ।

२६

सरसो फटकि न जानें नल की नारि, तेलिनिभ्रां गारी बै रही । हरे०
तेरे का रे सिखायी माई-बाप, कहा रे तेरी भामजें ॥
भैना, समुद चराए मैने हस, सखिन-सँग खेली हेसुआ रे ।
भैना, मेरी-सौ नाँओ माई-बाप, मेरी-सौ नाँओ सासुरी ॥ हरे०
भैना, भिगरि गई ऐ तकदीर, बोली तो तैनें कहि लई ।
भैना, नीलखु^१ खुटिया चबाइ, मछली तो तालें रिंगि गई ॥
भैना, भूक मरें रे दिनु-राति, बिपता तो हल पं परि गई ॥ हरे०

३०

मेरे घर बैठी रे मेंहमानु, मेंह तो ठाढे खेत में । हरे०
तू तो बैठई रहि मेंहमानु, ए रोटी तो बैठगी जेठ में ॥
मेरे रथ पं पठाइ बै रथमानु^२, ए रोटी तो, ए रोटी तो बीजें जेठ में ।
मेरी चूलि गई ऐ गमा-पार, ए चाकी तो, ए चाकी तो चमिल^३ पार कू ॥ हरे०
मेरी पीसनहारी पीसार,^४ ए पसनहारी पेठ सों ।
हूँ तो रीघन कैती^५ रस-खीर, ए मेंसि तो, ए मेंसें तो डिलि गई झील कू ।
हूँ तो रीघन कैती घोवा दारि, चौकलिमाई^६ रेंधि गई ॥

३१

डोला, हुकूम करी तो पीहर-जाउ, मिलि भाऊ माई-बाप सो ।
गोरी को तोकू आयी लेंसनहार, को तेरी छेला धरि गयी ॥
डोला, लौहरे बिरैन भाए लेंन, नौआ को छेला धरि गयी ।
गोरी, भरि-भादो की रैनि (भेंबेरि), अकेली मति सोझी ।
लौहरे बिरैन लीखी साथ, हिलि-मिलि कं दोनो सोझी ॥
डोला, भरि भादो की रैनि (भेंबेरि), अकेले तुम मति सोझी ।
डोला, लौहरी नैनद लीखी साथ, हिलि-मिलि कं दोनो सोझी ॥
लाजो, चौरे में काटू तेरी भूँड, संहैज गारी दं चली ।
डोला, कहिकू काटी मेरी भूँड, अदले की बदली दं चली ॥

^१. नीलखा हार जिसे खँटी निगल गयी थी, (नल की कहानी में) । ^२. रथवान । ^३. चबल लगी ।
^४. माइके । ^५. कहली, चाहली । ^६. झिलकेदार ।

(ई)

अवसरों के गीत

विविध अवसरों पर गीत गाये जाते हैं, ऐसे ही कुछ अवसरों के गीत यहाँ दिये जा रहे हैं ।

परभाती

(बुहारी)

उठो री मुहागिल नारि, बुहारी दै लेउ भगना ।
 बीध मेरी साधु कैं, वहु मेरी बाप कैं ।
 कोन बुहारै मेरो बासी घर भगना ॥ उठोरी०
 बहू ऐ बुलाइ लेउ, बीध ऐ रहै देउ ।
 बुहो बुहारै तिहारो बासी घर भगना ॥ उठोरी०
 दीए की लोइ फीकी, चाँदनी की चढ़ना ।
 मुख की तँमोल फीकी, नैन में की सुरमा ॥ उठोरी०
 गैयन के गल-बदन छूटे, पछी चले चुगना ।
 उठो री मुहागिल नारि, हँम चले जमुना ॥ उठोरी०

२

कांगुन सुदी बीज को घरों में घरघुली खोदी जाती है । उसको सजाते समय स्त्रियाँ यह गाती हैं ।

राजा बलि के द्वार मढी ऐ होरी, राजा बलि के ।

कोन के हाथ रंगीली डपु सोहै, कोन के हाथ गुलाब की छड़ी, राजा बलि० ॥

किस्न के हाथ रंगीली डपु सोहै, दाऊ जी के हात गुलाब की छड़ी, राजा बलि० ॥

१. घरघुली या घरघुली—यह शब्द 'गृह-होली' से विकसित हुआ प्रतीत होता है । ऋज में एक होली तो समस्त गाँव की एक स्थान पर रखी जाती है । इस होली की बुद्धि गाँव का प्रत्येक व्यक्ति करता है । घर-घर से कंठे-लकड़ी इसे बढ़ाने के लिए दिये जाते हैं । इसी के साथ प्रत्येक घर में भी एक होली जलाई जाती है, इसके लिए गोबर की गूलरियाँ तय्यार की जाती हैं । गूलरियाँ गोल-गोल गोबर की टिकुलियाँ बनाकर बीच में जँगली से खेद करके बनती हैं । प्रतिदिन नियम से कुछ गूलरियाँ तय्यार की जाती हैं । साथ ही गोबर से एक ढाल, तलवार, चंद्र, सूर्य आदि भी बनाये जाते हैं । जिस दिन होली जलाई जाती है, उसी दिन गूलरियों की कुछ मालाएँ तय्यार की जाती हैं । ढाल-तलवार-चंद्र-सूर्य की भी एक माला भ्रमण बनाई जाती है । घर के आँगन में एक स्थान पर इन्हें एक के ऊपर एक रख कर सूर्यकार छोटी होली तय्यार कर ली जाती है । जिस स्थान पर इन्हें रखा जाता है । उस स्थान पर 'घरघुली' खुदी होती है । इस घर की होली की पूजा हो जाने के बाद ढाल-तलवारवाली माला तो कहीं सुरक्षित रख दी जाती है, शेष में गाँव की होली से प्राण ला कर गृह-होली प्रज्वलित की जाती है ।

घरघुली, कांगुन सुदी बीज को खोदी जाती है । उसकी आकृति भट्टी जैसी होती है । उसे चंद्राकार चून को टिकुलियों से बना जाता है और और-नास चंद्र तथा सूर्य बनाए जाते हैं । यह घरघुली इस प्रकार प्रति संध्या-समय सजाई जाती है, चून से । एकादशी को गुलाल से भरी जाती है ।

३

न्यौरता^१ का गीत

गीरि री गीरि^२ खोलि किबरिया, बाहिर ठाढी तेरी पूजनहारी ।
 गीरि पुजतरि बेटी आई सुभद्रा ॥
 गीरि पुजतरि बेटी कहा फलु माँग ।
 मातु-पिता को राजु जु^३ माँग, भैंरेंनु की जोड़ी माँग, भाभी-भोद भतीजी माँग ॥
 गीरि री गीरा बेटी, खोलि किबरिया, बाहिर ठाढी तेरी पूजनहारी ।
 गीरि पुजतरि बहू आई ऐं सीता ।
 गीरि पुजतरि बहू कहा फलु माँग ।
 सासु-सुसर को राजु जी माँग, होरी-खिलन छोटे दिबरा माँग ।
 हरी-हरी चुरिया, मुतियन भरि माँग जु माँग ।
 अमर बोलि के बिछुआ^४ माँग, अपनी गोद सँझला^५ माँग ॥

४

करवा चौथि पर अर्घ्य देते समय का गीत

मैं तौ बरखु रही ऊँ करवा-चौथि, दहीन के अरथ दीए ॥
 मैं नें माँग्यो ऐं अजुध्या की राजु, सुसर राजा जसरथ-से ।
 मैं नें माँग्यो कौसल्या-सी सासु, सुसर राजा जसरथ-से ॥
 मैंनें बर माँग्यो ऐं सिरि राम, दिबर छोटे लछिमन-से ।
 मेरे चरत-भरत देबर-जेठ, नैनद छोटी भगिनी-सी ॥

५

सिते का गीत^६

बनि-बनि री कौसल्या की कोख, जिन जाए रामचंद से लाल, माँग सुहाग-भरी ।
 बँडी ऐं रानी तखतु बिछाह, बीअ बहू सग लिऐं, माँग सुहाग-भरी ॥

६

पुरहा लेने तथा पैर चलाने के गीत

कारी फरिया चटकु रँगु प्यारे, भों^७ कारे नैनाँ ॥
 भैंवे-गूँगे बाबरे सो प्यारे, भैनकहनी केहनाँ ।
 इरिख्यो^८ हार हँसल मैं प्यारे, भुरझाँमें नैनाँ ॥
 कारी फरिया चटकु रँगु प्यारे, भो कारे नैनाँ ।
 उछिटि धार बरती परी, सो प्यारे तेरे कहाँ लागे नैना ॥
 जलु आठे कामिनी खडी, फरि केसन की छाँह ।
 भूलेनु डगर^९ बताइ दे नेंकु करि ऊपर कूँ बाँह ॥

^१. न्यौरता—'नवरात्र' से विकसित हुआ प्रतीत होता है। व्रज में व्रार के महीने में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी तक न्यौरता खेला जाता है। यह गौरी-पूजन या देवी-पूजन का ही एक रूप है। बीवाल के सहारे एक छोटा-सा मिट्टी का घर जैसा 'न्यौरता' बनाया जाता है। प्रति दिन प्रातः गीत-गाकर उस पर मिट्टी की गोरेँ चढ़ाई जाती है। यह कार्य सुप्रोबय से पूर्व ही कर लिया जाता है। ^२. गीरी रे गीरा। ^३. जी। ^४. जुडी, माँग और बिछुए सोभाग्य के चिह्न है। ^५. पुत्र। ^६. खेत कट जाने के उपरान्त जो खेत में अन्न बिखरा रह जाता है, वह 'सिता' कहलाता है। उसे बीजते समय यह गीत गाया जाता है। ^७. भौर—अमर जैसे। ^८. इरिख्यो—उलझ गया। ^९. मार्ग।

गाम पैछाई^१ पीपरी, बानी सीतलु^२ छाई ।
 म्मां है कें तेरी गैल है, सो मेरी दूखें बाई ॥
 ऊँची पारि समंद की प्यारे, नीर हिलोरें लेइ ।
 प्यासेनु पीनी प्याइ कें, जसु अपनी करि लेइ ।
 दो गोरी, है समिरी, है बिरहुलि, है बाई ॥
 इन पै जोवन जवु चढ़े, जव होती आवै साई ॥
 काग पढायी पीजरा पढ़ि गयो बारधो वेद ।
 जब सुवि आई कुटुंम की, रह्यो डेठ को डेठ ॥
 राम बढाए सबु बढे, बलु करि बढयी न कोइ ।
 बलु करिकें रामनु बढायो, छिन में डारयो खोइ ॥
 राम-नाम लीयी नही, कियो न हरि सें हेत ।
 वे नर यो ही जाइये, मूरा^३ की-सी खेत ॥
 राम-नाम जपति रह्यो, जब लग घट में ग्रान ।
 कबहुँ दीन दयाल के, भनक परंणी कान ॥

देवी के गीत

ब्रज में देवी का बहुत मान्यता है। कितने ही स्थानों की देवियों की जात करने ब्रज के लोग जाते हैं। वर्ष में दो बार—बवार और जैत में प्रत्येक घर में नौदुर्गा, नौदेवी अथवा नवरात्र के ब्रत रखे जाते हैं और पूजा होती है। अष्टमी को 'कन्या-संगुंर' नैति जाते हैं। इन दिनों घर में देवी के गीत गाये जाते हैं। इन्हीं में से कुछ गीत यहाँ दिये जा रहे हैं।

कन्या-रूप भर्मातीं मेने आजु देखी ।

बच भगवारे मेया, बच पिछवारे, पीपस धरें डुआर, मेने आजु देखी ।
 -मेया के द्वारे एक बांस पुकारे, रोखी की काया करि देउ, मेने आजु देखी ॥
 -मेया के द्वारे एक कोडी पुकारे, रोखी की काया करि देउ, मेने आजु देखी ।
 मेया के द्वारे एक अंधरा पुकारे, अंधरे की आँखें करि देउ, मेने आजु देखी ॥
 मेया के द्वारे एक निरखन पुकारे, निरखन कूँ भन-बन देउ, मेने आजु देखी ।
 जोइ सुभिरुं मेया तेरी छँडु गाँक, भसने^४ में होउ, सहाई, मेने आजु देखी ॥

२

मेया रही ऐ नदन-वन छाई, फूलन की लोभिनियाँ ॥

माता के द्वारे एक आँधरी पुकारे, मेया देउ नैन घर जाएँ, फूलन की लोभिनियाँ ।
 माता के द्वारे एक कोडी पुकारे ठाडी, मेया देउ काया घर जाएँ, फूलन की लोभिनियाँ ॥
 मेया के द्वारे एक बांस पुकारे ठाडी, मेया देउ पूत^५ घर जाएँ, फूलन की लोभिनियाँ ।
 मेया के द्वारे एक निरखन पुकारे ठाडी, मेया देउ भन-बन घर जाएँ, फूलन की लोभिनियाँ ॥

३

मेरे पिछवारे गैल, गाड़ी-ढरकन में चुनी हो माइ ।
 बली पिया, धोल मिलि जाइ परसें देवी झालिका^६ हो माइ ॥
 घर थोडी, घर मेसि, बाल ऐ^७ छोड़ें नाँ बनें हो माइ ।
 घर दूध, घर पूतु, बाल ऐ, छोड़ें नाँ बनें हो माइ ॥
 दूध गुजरिया देउ, लडिकेन माइ लगाइये हो माइ ॥

^१. पिछाई । ^२. मूरा—मूली । ^३. विपत्ति । ^४. पुत्र । ^५. जालिया । ^६. उसे भी ।

घर बरभरि^१, घर बीभ^२, बाळ ऐ छोड़ें नां बनें हो माइ ।
 धिभरि पठइ देच ससुरारि, बळभरि घर-बर सोपिए हो माइ ॥
 देखि पराए-से नाहु, मनु न डुलाइए हो माइ ।
 जो मनु डुगलें हाथ, वीरनु महिकें हेरिए हो माइ ॥
 देखि पराई सुदरि नारि, मनु न डुलाइए हो माइ ।
 जो मनु डुगलें हाथ, मना^३ कहि कें टेरिए हो माइ ॥
 देखि पराए सुदर लालु, मनु न डुलाइए हो माइ ।
 जो मनु डुगलें हाथ, गोव लै खिलाइए हो माइ ॥
 देखि चैननि को खेतु, मनु न डुलाइए हो माइ ।
 जो मनु डुगलें हाथ, मोल लै कें खाइए हो माइ ॥

४

अगिम भारी, सो मैया तेरी पयु फजिन भारी ॥
 को आं भावै डोली-डाली^४, को जा असवार ।
 को आं भावै नगे पामन, मैया के दरबार, अगिम० ॥
 रानी भावै डोली-डाली, राजा असवार ।
 रैअत भावै नगे पामन, मैया के दरबार, अगिम० ॥
 को आं चढ़ावै हीरा-मोती, को आं नरियार-फूल-सुपारी ।
 को आं चढ़ावै सोने को छतर, मैया के दरबार, अगिम० ॥
 राजा चढ़ावै हीरा-मोती (औ) रैअत नरियार ।
 और रैनियां चढ़ावै सोने को छतर मैया के दरबार, अगिम० ॥

५

मैया, मुवन में आच, मेरी आस लागी तेरे दरसन की ।
 एक वनु कहियतु फूलनि की, फूल रहै सँहकाइ, देवी जी बिरमि रही बाई बन में ॥
 एक वनु कहियतु लोगनि की, लोगों रहै सँहकाइ, देवी बिरमि रही बाई बन में ॥
 एक वनु कहियतु सतेंनि की सत बोलें रावेस्याम, देवी जी बिरमि रही बाई बन में ।
 एक वनु कहियतु भक्तनि की, भगत बोलें जै-जकार, देवी जी बिरमि रही बाई बन में ॥

६

सो धन मेरी ज्वाला मैया, जै-जै रानी ।
 पत्यर-फोरि पहाड़ निकरी, अगिनि जोखि-खी हैहरानी ॥
 कैंची आसनु भटल सिघासनु, तीनि लोक नो जग-जानी ।
 सिघ-पौरि पै सिघ ब्रह्मरै, लंगुरा^५ जोषा अभिमानी ॥

७

नीकी^६ री मैया, ह्यारी बर्बनु बटी नीकी ।
 टेरी पटिन पोथी धोर्न, कोन मो है दिनु नीकी ॥
 मोर दीज-तीज कू चलनु न होइगो, सानें सँजीवर दिनु नीकी ।
 निरिया^७ बिन को भगनु निपावै, माझन चौकु पुरावै, भनि सँजोवै जनकी टीकी ॥
 परदी में बावुन बरजैन लागे, फजिन पयु देवी की, देवी को मैया, निष कड़ाइ कजरी गो ।

१. बरभरि । २. धिभरि—बेटी । ३. महि । ४. पालकी । ५. जसो । ६. लंगुरा । ७. मोषा—
 भगनु । ८. निरिया ।

बारह कोस बन ई बन कहिए, सिध बढाए कजरौ कौ ; श्रीर सिध-मारि जालिका परसो ।
तो बालकु जननी कौ, नीकौ री मैया० ॥

८

लेउ मैया वीरा,^१ मैं कब की ठाडी ॥

कोंनै चढाए मैया धजा^२-नारियर, कोंनै चढाए लाल-हीरा, मैं कब की ठाडी ।
रजवा चढाए मैया, धजा-नारियर, रनियाँ चढाए लाल-हीरा, मैं कब की ठाडी ॥
माँगन होइ सो माँगि लै रानी, जो मन-भावनि होइ, मैं कब की ठाडी ।
राजु-पाटु मैया तुमरी दिओ^३ है, रजो अमर करि दीओ^४, मैं कब की ठाडी ॥
जा घरती पै रानी कोई ना अमर है, रजवा अमर कैसें होई है, मैं कब की ठाडी ।
अमर बलफदे^५ की चुदरी कहिए, अमर लँगुरिया की पगिया, मैं कब की ठाडी ॥

९

एक हरी लोपैनु की बागु, मैया लकडिनि को^१ निकरी ।
एक-एक लकडी बीनि मैया, जूने^२ गठरी बाँधी ॥
छुतते आयौ असुर, असुर बाकी लकडी बखेरी ।
सुनि रे लँगुरिया बीच, असुर मेरी लकडी बखेरी ॥
नी-नौ ठोकौ कील, दरहु नैकौ^३ मति करियो ।
असुर की चतुरा नारि, असुर संझाइ दए ॥
मैया जू के चरननि जाउ, सुदरि जू के चरन पलोटी ।
एक-एक लकडी बीनि, मैया जू को गठरी बाँधी ॥
सुनि रे लँगुरिया बीच, असुर मेरे चरननु आयौ ।
नी-नौ खँचौ कील, कसरि नैकौ मति राखौ ॥

१०

धानू की धनुअलि ज्यों^१ कहूँ, कैसे पिया वे देस कि जिन भूमि तुम गए ।
छाटी तो लगी ऐँ पहार की, लगे ऐँ घरैन के खंभ, सुरति बाई देस की ॥
रामचंद जी की धनउलि^२ ज्यों कहूँ, कैसे पिया वे देस कि जिन भूमि तुम गए ।
अधेनु नेत्तर दै रही, कोडिन काया दै रही, बाँझन पुत्तर दै रही, सुरति बाई देस की ॥

११

मैया, लेजु कसनि कसि डारि, जिअरा मेरी तोई सों लगौ ।
परवत चढि देखै मोरी माह, जाती मेरी कहाँ बिलमो ॥
वाके बानुल राखे बिलमाह, खरचु बँधावत में ।
वाके चानुल राखे बिलमाह, ती खँया गिनावत में ॥
वाके वीरैनु राखे बिलमाह, पुरिया^१ सजावत में ।
वाकी माइल राखे बिलमाह, पुरिया सिकावत में ॥
वाकी बाची राखे बिलमाह, ती लडुआ बँधावत में ।
वाकी वैडुलि^२ राखे बिलमाह, देवी-खँद गावत में ॥
वाकी बधुआ में राखे बिलमाह, ती पथु सिरावत में ।
मैया, लेजु कसनि कसि डारि, जिअरा मेरी तोई सों लगौ ॥

^१. बोझा । ^२. पुजा । ^३. दिया हुआ । ^४. देउ । ^५. जालपा देवी । ^६. कूँ । ^७. जूना— मूल की या घास की मोटी रस्ती । ^८. किञ्चित भी, नैक भी । ^९. ज्यों । ^{१०}. बलकुलि । ^{११}. छोड़े । ^{१२}. बहिन ।

१२.

चलि पीया, दोऊ मिलि जाई परसें देवी जालिपा ऐ ओ माइ ।
 घर चोडी, घर सैसि, दोऊन चालें नां वनें ओ माइ ॥
 घोडी तौ देउ घुससारें, सैसि खारिअन सोपिए ओ माइ ।
 घर बहुअरि, घर धीअ, दोऊन चालें नां वनें ओ माइ ॥
 धीअ पठे देउ सुसरारि, बहुअरि सोपी घरवार, परसें देवी जालिपा ओ माइ ।
 घरै दूष ओर पूत, दोऊन चालें नां वनें ओ माइ ॥
 दूष गुजरियनु देउ, बालक संग लगाइऐ ओ माइ ।
 चलि पीया, दोऊ मिलि जाई, परसें देवी जालिपा ओ माइ ॥

१३

जाती पंडित बोली रे आपुने ओर निरमल बडीऐ बताइ, आयी लाडो चैत सुहामनी ॥
 जाती बाबुल बोली रे आपुने, ओर पूरी सी खरचु वैवाइ ।
 जाती, माइल बोली रे आपनी, सिअरी सी पथु सिराइ, आयी लाडी ॥
 जाती, नहुँहुलि बोली रे आपनी, ओर केसरि-तिलक सँजोइ ।
 जाती, मावज बोली रे आपनी, ओर अच्छे-अच्छे देवी छँद गाइ, आयी लाडो ॥
 जाती, चँनचलि बोली रे आपनी, जाती बालक बोली रे आपने ।
 ओर जिल पर बोली ऐ जात, आयी लाडो चैत सुहामनी ॥

१४

करि लीए दूसरी ब्याह लँगुरिया, मेरे भरोसें मति रहिए ।
 मोइ लीपि न आवै लीपनी ओर फाडि न आवै खूँट, लँगुरिया मेरे भरोसें ॥
 मोइ पीसि न आवै पीसनी ओर डारि न आवै कौर ।
 मोइ राखि न आवै राखनी ओर मोइ परसि न आवै बाव, लँगुरिया मेरे भरोसें ॥

१५

माता बँठी भवन में लँगुरा डोरै ब्यार ।
 अगारी कँधम हँ मेरी प्यारी, पीछें वर की डारी, दै ब्याँन सँमरीवारी ॥
 ठाडी नदिया के तीर महल पै देरही हेली १ ।
 मल्ला के डोगा डारि, जुरी जनकपुर-मेला, उतरे गुरु ओर बेला ॥

१६

भैया लँगुरा रे, अपनी जाति बताउ ।
 कौन सखस के बालका, उपजे कौन के पेठ ।
 वंमन के ह्रम बालका रे, उपजे तुलसी के पेठ, भैया ० ॥
 लँगुरा की माँ न्यो (यो) कहै रे, लँगुरा कछुअ न खाइ ।
 बारा बाटी मडु पिय, सी रे दुकरा २ खाइ ॥
 लँगुरा की माँ न्यो कहै रे लँगुरा सोबतु नाइ ।
 छै महीना की रातिहँ रे, लँगुरा मोबतु नाइ, भैया ० ॥

१७

मेरी चितम-भरन दिनु जाट, लँगुरिया बडी पियया गावे की ।
 फँ बीया गाँवो यमो, फँ बीया बट ददँ भोग, लँगुरिया यदो ॥

हूँ, दस धीया गाँजी बगो, नौवीषा वड्डई माँग, लँगुरिया बडी० ।
हूँ, लागुर लौ गाँजी पिएँ महादेव नँ पी लई माँग, लँगुरिया बडी० ॥

१८

देखी तेरी संहस सेलौनी रोरी जीपर की बाजार ।
जामैं बेचत मालु पसारी पूरी साहूकार ॥
तेरे री भँगन कारीगर धायी, जानैं सुतु लगायी ।
लौकी-टौकी परखतु काटपी, डंडा जामैं छेकें चारि, देख्यो० ॥
तेरे री भँगन एक रहति सुहागिल, पाइल बाजें, जाके पग नेवर बाजें ।
धीचकूल सिर बँदा सोलह रानी कीयो ऐ सिंगार, देख्यो० ॥
तेरी रे महल एक बँदन-गलकिया, रेसम-वान बुनाई, जाकी हरी ऐ डलाई ।
पाँडे मेरी आदि भैयानी, लागुर कोरे व्यादि, देख्यो० ॥

१९

लँगुरिया बूँडत खोले, मोरी माइ ।
कै मेरी मैया सोइ गई है, कै गई बरनी-समाइ, लँगुरिया० ॥
ना तेरी मैया सोइ गई है, परि ना गई बरनी-समाइ, लँगुरिया० ।
कनही^१ जाती कें होम रची ऐ, परि माँ हरि जागी सिव^२ रात ।
धुना^३ श्री नारियर, लौंग, सुपारी, वे मो दए ऐ चढाइ ॥
सेलैं को दिअला कपूर की धाली, परि आरति लई ऐ उतादि, लँगुरिया० ॥
चोइ सुमिर मैया तेरी खँद गाऊ, परि संकट होइ सहाइ, लँगुरिया० ॥

तीर्थ-व्रत-संबंधी गीत

ब्रज की परिक्रमा बहै समय गंगा-स्नान अथवा कार्तिक-स्नान अथवा किसी अन्य तीर्थ करने के समय गीत गाये जाते हैं । उनमें से कुछ यहाँ दिए जा रहे हैं ।

सिख पीर के निकट सरोवर छावि कुंडकी छवि न्यारी ।
मोतीकुंड मनोहर दाता, पास श्रीर भ्वाँ फुलवारी ॥
टेर कदैं श्रीर वट कदैं, सारस की अर व्यापारी ।
कूभा, कीकू केस विराजें, भ्रंग भवूत जटाधारी ॥
बरनौं मैहमाँ कुस्तकुंड की, संतन की बैठक न्यारी ।
गिरत गुपाल विराजें ठाकुर, सुदर मूरति है प्यारी ॥
कोई मोटे, कोई रंग लगाने, कोई-कोई छुट्टे त्यो नारी ।
भरि-भरि सोटा पीमैन लाये, नंद भँगन के पूजारी ॥
पद्मकुंड पित्तवन प्यारी कौ, जैह पीडे श्री गिरधारी ।
जल-विहार जगमगी जगत में, टेर-कदैं लीला न्यारी ॥
सप्ताह हौंइ वजें पाराइन हौंइ जीव जैह उढारी ।
आसिपुर महादेव विराजें, गरें फूल-माला न्यारी ॥
वहकौ जोग श्रीन लगरा की, भँठारी कीयो भारी ।
सेन वन में सखा-मंडली, बढे छाक न्यारी-न्यारी ॥
बैठक तो अकलर मगत की, भाइ विराजे गिरधारी ।
वस्तरकुंड वने नव नाली, पाँवर खडी है प्यारी ॥

सूरजकुंड वने सर सुंदर, गऊअन की बैठक न्यारी ।
 उदयकुंड कहाँ तक बरनों, छप्पन चौक छिके प्यारी ॥
 पूरनमासी परि पूरन जी, दोऊ मिलि रासु रच्यो भारी ।
 रनकी-सुनकीकुंड वने हैं, तिनकी मैहिमा अति भारी ॥
 बैठक के पै गऊ चरई, कुंड जसोदा छवि छाई ।
 सैम-कैम को और रावरी, मटि बिलोवन जसुधारी ॥
 वेलनवन और कोठेली, मकसूदनकुंड जता प्यारी ।
 पनिहारीकुंड की है परिक्रमा, रोखोखर की करि त्यारी ॥^१

२

ब्रज-वनिता वन करिबे घाई ।

मधुवन, ताल, कंभोद, वीहलाबल, सातुनकुंड जो न्हाई ॥
 राधाकुंड कुंड की मैहमा, कछु बरनी नही जाई ।
 गोबरधन की करि परिक्रमा मानसी-गंगा न्हाई ॥
 परमदरी और आदि बहरी^२, संकर खोह रचाई ।
 कामों काम कामना-पूरन, जिह वन है सुखदाई ॥
 वसि बरसानों-नवगामु, बसि कोकिल दाहन आई ।
 वट सकैल, खिदरवन वसि कैं, तब यह जैरन बुझाई ॥
 जाव और बठेन को मैहमा, कही कौन पै जाई ।
 बरन-गहाडी दरखैं करिकैं, तब दधि गाय पठाई ॥
 सेसनाग-सिज्जा हरि दरसे, जहाँ पीठे श्री जगुराई ।
 खेलनवन और धीरघाट, नदघाट सुखदाई ॥
 श्री मैराम रच्यो बलदाऊ, उत्तर जमुना वहि आई ।
 बलभदर, माँडीर, कुवरवन, मानसरोवर न्हाई ॥
 करि बिसासि लोहवन बसि कैं, दाऊ जी परिस्थी आई ।
 गोकुल और महावन की छवि, सारद लिखी न जाई ॥
 घनि बिदावन बसि श्री मथुरा, घन जसोदा माधई ।
 तिनकी मैहमा कहाँ तक बरनूँ, प्रपटे कुँसर कँहाई ॥
 बारह वन और बारह उपवन, तिनकी सीला गाह सुनाई ।
 कृष्णदास, प्रभु करिय सफल तैन, आबागैमन-मिटाई ॥

३

कार्तिक-स्नान या तीर्थ-आत्रा के समय गायी जाने वाला गीत
 हरे रामा, गंगाजी में बाँसु गढघो ऐ, बापरि चढ़ि गयी कछनी कछि कैं ।
 भाएली मेरे, आयी री स्याम नट बनि कैं, सहेली मेरे, आयी री स्याम नट बनि कैं ॥
 हरे रामा, मथुरा जी में बाँसु गढघो ऐ, बापरि चढ़ि गयी कछनी कछि कैं ।
 भाएली मेरे, आयी री कँहैया नट बनि कैं, भाएली मेरे, आयी री स्याम नट बनि कैं ॥
 हरे रामा, अघर कला खा गयी कँहैया, बापरि चित्तु चुरायी हँसि-हँसि कैं ।
 भाएली मेरे, आयी री कँहैया नट बनि कैं, सहेली मेरे, आयी री स्याम नट बनि कैं ॥

^१. यह गीत नव गाँव की परिक्रमा का है, वहाँ के सब तीर्थों का उल्लेख किया गया है ।

^२. बहरी—घमेलीनाथ ।

हरे राँमा, गँहवरवन में बाँधु गढची ऐ, बापरि चढि गयी कछनी कछि कै ।
 भाएली मेरे, भायी री स्याम नट वनि कै, सहेली मेरे भायी री कँहूँयाँ नट वनि कै ॥
 हरे राँमा, नई-नई ती रे तान कँहूँयाँ, बापरि नाँचु दिखावै नवि-नवि कै ।
 भाएली मेरे, भायी री स्याम नट वनि कै, भाएली मेरे भायी री स्याम नट वनि कै ॥
 हरे राँमा, नई-नई धुनि ते वसी बाजै, बापरि रसिया मारे भरि-भरि कै ।
 सहेली मेरे, भायी री स्याम नट वनि कै, भाएली मेरे, भायी री कँहूँयाँ नट वनि कै ।
 हरे राँमा, सुधि गई सबरी भूलि वदन की, बापरि डोलूँ पगली वनि कै ।
 भाएली मेरे, भायी री स्याम नट वनि कै, सहेली मेरे भायी री स्याम नट वनि कै ॥

५

काँन्हा वरसाने में आइ जइयो, बुलाइ गई राधा प्यारी ।
 जो काँन्हा, तोइ गैल न पावै, सिङ्गिन-सिङ्गिन चढि अइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥ (दो बार)

पतरी-पतरी पोई ऐं फुलकियाँ, गरज परै ती जे^१ जइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥

जो काँन्हा तोइ गैल न पावै, खोर में हँ कै आइ जइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥

सोंने की लोटा गंगा-जल-मानी, गरज परै ती पी जइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥

जो काँन्हा, तोइ गैल न पावै, भानोखर हँ कै आइ जइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥

पाँच-पचीस की बीड़ा लगायो, गरज परै ती चढाइ^२ जइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥

जो काँन्हा, तोइ गैल न पावै, राधा-बागि में हँ कै आइ जइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥

कोरी-सी हँडिया में दही जमायो, गरज परै ती खाइ जइयो ।

—बुलाइ गई राधा० ॥

काँन्हा, वरसाने में आइ जइयो, बुलाइ गई राधा प्यारी ।

५

बनि गयी वैद आप बनवारी ।

गली-गलीन में काँन्हा डोलै, निरखत डोलै नारी, बनि गयो० ॥

इतैं भाई कुँभरि राधिका, लै देखी नवज हमारी, बनि गयो० ॥

सरद-गरम भीत भई तिहारे भारी, बनि गयो० ॥

सँग की सहेलीन बाहिर काढी, मूँदी मैहल-किंवारी, बनि गयी वैद० ॥

एक जइी तोइ ऐसी री दुम्पो, मिटि जाइ अजक^३ तिहारी, बनि गयो० ॥

सँग की सहेली बाहिर काढी, मूँदी मैहल-अटारी ।

फानन कुडल सिर पै मुकट हो, वसी की छवि न्यारी बनि गयी वैद० ॥

६

मेरे किसनी, एक कदम की ऐ पेठ, फूलन लरफरि हँ रह्यो नगवान ।

मेरे किसनी, झोरी भरि तोरे ऐं फूल, मंदिर में चढाइए नगवान ॥

१. लाइ । २. खाइ । ३. रोग-भीड़ा ।

मेरे किसनी, सब मंदिर चढ़ाए, राधा की मंदिर छेकिए भगवान ।
मेरे किसनी, राधा ऐ धायी रोस, किवरिया जड़ लई मेरे भगवान ॥
मेरी सखी, रिमझिम बरसत मेहु, छुल्ल भीजें द्वार पै भगवान ।
मेरी सखी, मोड़ दै लुटिया डोर, छुल्ल जाइए द्वारिका भगवान ॥
मेरी सखी, झटपट खोलिए किवार, कर्मरिया गहि लई भगवान ध
मेरी सखी, बिनई कंदमन की छाँह, छुल्ल बिलछाड़ गए भगवान ॥

७

मैं तो गोबरखन कूँ जाऊँ मेरी बीर, नाई-मानें मेरी मनुआँ ।
सात सेर की कलैं कट्टैया, भरी मैं तो पेंड-पेंड पै खाऊँ मेरी बीर ।
नाई मानें मेरी मनुआँ, मैं तो गोबरखन० ।
सात कोस की दै परिकमा, भरी मैं तो मानसी-गंगा न्हाऊँ मेरी बीर ।
नाई मानें मेरी मनुआँ, मैं तो गोबरखन कूँ ।
चकलेसुर के दरसन करिकें, गमि लौटि कें भाऊँ बीर, नाई मानें मेरी मनुआँ ।
मैं तो गोबरखन कूँ जाऊँ मेरी बीर, नाई मानें मेरी मनुआँ ॥

८

नाई मानें मेरी मनुआँ, मैं तो गोबरखन कूँ जाऊँ मेरी बीर । टेक—
सीमोती को न्हँवु परचा ऐ, परची न्हावे जाऊँ मेरी बीर ॥ नाई० ।
पाँच सेर की कलैं कोथरी, पेंड-पेंड पै खाऊँ मेरी बीर । नाई० ।
राधाकुंड की राधा रानी, कुसुम खरोबरि न्हाऊँ मेरी बीर ॥ नाई० ।
गोबरखन, आँव्यौर, पूछरी, जतीपुरा लौटि भाऊँ मेरी बीर । नाई० ।
जतीपुरा ते भाइ गोबरखन, मानसी-गंगा न्हाऊँ मेरी बीर ॥ नाई० ।
गोबरखन ते राधाकुंड मैं, भाइ कें नाँव बिजाऊँ मेरी बीर । नाई० ।
सात कोस की दै परिकमा, बाम्हान-न्योति बिजाऊँ मेरी बीर ॥ नाई० ।

९

सखी री, चलीं तो दरसन करि आँमैं, रोप्यो-रोप्यो ऐ नद के नें रासु । सखी री०
कोन बरैन रानी राधिका, श्रीव कोन बरैन नंदलाल ॥ सखी री०
कोई गोरे बरैन रानी राधिका, श्रीव स्याम बरैन नंदलाल । सखी री०
कोन गमि रानी राधिका, श्रीव कोन गमि नंदलाल ॥ सखी री०
कोई बरखाने की रानी राधिका, श्रीव नद-गमि नंदलाल । सखी री०
वृषभानु-डुलारी रानी राधिका, श्रीव नद-डुलारे धनस्याम ॥ सखी री०

१०

बरखाने ते चली गुजरिया सिर पै धरि लीइ मटकी ।
मैं तेरे काजें स्याम ब्रज बन भटकी ॥^१
मथुरा-छोड़ि वृंदावन छोड़यो, मैं सुखी बरखाने माई सटकी ।
मैं तेरे काजें स्याम ब्रज बन भटकी ॥
ताती पानी भरयो ततेंरा, भरे कि मेरी न्हाते ते कहा भटकी ।
मैं तेरे काजें स्याम ब्रज बन भटकी ॥
पतरी रे पतरी पोई^२ फुलफियाँ, भरे कि मेरी छाँने ते कहा भटकी ।
मैं तेरे काजें स्याम ब्रज बन भटकी ॥

तातो दूध घरघौ बेला में, अरे कि कान्हा मेरी पीवे ते कहा भटकी ।
मे तेरे काजें स्याम ब्रज बन भटकी ॥
वरसाने ते जली गुजरिया, सिर पर घर लई भटकी ।
मे तेरे काजें स्याम ब्रज बन भटकी ॥

११

जुरघो रघु राँमजी कौ जामि^१ सीमा बैठी जाइ । टेक
एकु रघु ती जा की मामी नें सजायी, प्यारे मैया नें जोरे दोनो बैल ।
जुरघो रघु राँमजी कौ, जामि सीमा बैठी जाइ ॥
एकु रघु ती यानू चाची नें सजायी, चाचा नें जोरे दोनो बैल ।
जुरघो रघु राँमजी कौ, जामि सीमा बैठी जाइ ॥

१२

सखी री, नंदगाम अनोखी नद कौ, जहँ चपल-चबाई लोग । सखी री, नंदगाम०
सखी री, पाल सरोवर हम गई हो, अरे कोई मिल सखिभान के शुद्ध ।
निपट अँनैबी साविरी रे, मोते हँसिकें लडावै दोऊ नें ॥ सखी री, नंदगाम अनोखी०
रोक-टोक गैल में, मोते घोल रसीले बोल । सखी री, नंदगाम अनोखी०
जब देखू पनघट पै धबी रहू रे, अरे मोऐ भर-भर देइ उचाइ ॥ सखी री, नंदगाम०
फाँल फाँल की ना करे री, अरी या की रखिया सगरी गाम ।
सग^२ के री दिल में बसै हो, यै मूरति पनस्याम ॥ सखी री, नंदगाम अनोखी नद कौ ।

१३

घर आठ गए लखिमैन-राम पुरी में आनंद भए । टेक
हरे-हरे गोवर अँगनु लिपाए, भुतिर्येन चौक-पुराए ।
अरी, मातु कौसल्या करै आरती, तिरियेन मँगल-नाए ॥ पुरी में०
मात कौसल्या पूछन लागी, कही लक की बात ।
कैसें तो गढ लका तोरी, कैसें तो लाए सीमा नारि ॥ पुरी में०
आठ घाट लखिमैन नें घेरे, श्रीघट घेरे राम ।
दरबानो धगद नें घेरयो, लका में कूदे हँनुमान ॥ पुरी में०
राम भजी, सिमा राम भजी, गुह चरनन बित लाइ ।
चारो मैया हँ इकठो रे, फूलन की होइ वरसात । पुरी में०

१४

राम, राम, राम, रतन^३ लागी छिविया^४ ।
पाँव कहें कछु करल रे तीरय, हाथ कहें कछु करल रे दान ।
पाँन कहें कछु करल रे ग्यान ॥ रतन लागी० ॥
दाँत कहें कछु करल रे भोजन, आँल कहें कछु करल दरसन । रतन लागी० ॥

१५

घाघु गैल नें बागू लगायो, एरी बे घाघु भए रखबारी, जलु-भरैन राति में भाई ।
एरी धू कौन जलुए बेनिहारी, जलु-भरैन राति में भाई ॥ हरे०
घाघु राम नें तालु मुदायो, एरी बे घाघु भए रखबारी । जलु-भरैन राति में भाई ।
घाघु गैल नें मँहनु पिनायो, एरी बे घाघु भए रखबारी । जलु-भरैन राति में भाई ॥ हरे०

१. जामि । २. मनी । ३. रतन । ४. छिविया ।

१६

चलै-चलै न वे हरि करे अरु सीता चलै न देह, हमारे मन रीम जी वसैं ।
 जो तुम हरि मेरे जात ओ मन रीमजी वसैं, अरु हमहि कहा बुधि देउ मन रीम जी वसैं ॥
 कंनिक-कुलीला धौउ कूपिया अरु करिओ भोग-बिलासु, हमारे मन रीम जी वसैं ।
 एक अंदेसी मेरे मन रह्यो मन रीमजी वसैं, और सासु न ज्याए देवर-जेठ हमारे मन रीम जी वसैं ।
 और न सरै न वैठती रे, अरु लडती रे वैद्या-पसारि, हमारे मन रीम जी वसैं ।
 और अंदेसी मेरे मन रह्यो मन रीमजी वसैं, माइ न ज्याए राजा बीर, हमारे मन रीम जी वसैं ॥
 गोद में लैके खिलावती, सासुरे में हेरति बाट, हमारे मन रीम जी वसैं ।
 और अंदेसी मेरे मन रह्यो मन रीम जी वसैं, कोखि न जाए नंदलाल, हमारे मन रीम जी वसैं ॥
 चलत फिरत रे देखती, करतु अबुध्या को वासु, हमारे मन रीम जी वसैं ॥

१७

पग होलैं धरी रे धनुष-धारी ।

आगे-आगे रीम चलत है, पीछे लखिमें चलधारी ।
 बीच-बीच में चलैं सिया जी, सोभा लगे अधिक प्यारी ॥
 गवा बनखैं न प्यास लगी ऐ, कुंमिलाई गई जैसैं फूलधारी ।
 देवर लखिमें जल भरि लाओ, भरि लाओ जल की झारी ॥
 'तुलसीदास' भास रघुवर की हरि-चरन नित बलिधारी ।
 जाके घर सैं तीनों निकरे, कैसैं जी में इनकी मंहतारी ॥

१८

उठि मिलि लेउ रीम, भरत आए ।

बिदावन में करी रे तपस्या रीमा, मयूरा जी में फल पाए । हरे,
 उठि मिलि लेउ रीम, भरत आए ॥
 हरे-हरे गोबर अंगन लिपाए रीमा, भीतिन चौक पुरत आए ।
 उठि मिलि लेउ रीम, भरत आए ॥
 हाती के हौवा चढे री भारी मैया रीमा, ऊपर चोर दुखत आए ।
 उठि मिलि लेउ रीम भरत आए ॥
 बईयाँ पसारि मिले री चारही मैया रीमा, नैनन-नीर डरत आए ।
 उठि मिलि लेउ रीम भरत आए ॥

१९

गगे कहती ऐं, मोह दुखी करे ससार ॥

याँ बाहुनि नारी आती ऐं, आकर कैं खनु मर्माति ऐं ।
 मैं कहाँ ते लाऊँ नंदलाल, गगे कहती ऐं, मोह दुखी ॥
 याँ विषवा नारी आति ऐं, आकरि कैं खनु मर्माति ऐं ।
 मैं कहाँ ते लाऊँ भरतार, गगे कहती ऐं, मोह दुखी ॥
 याँ कोढी-फलकी आति ऐं, आकरि कैं खनु मर्माति ऐं ।
 मैं कहाँ ते लाऊँ निरमल काया, गगे कहती ऐं, मोह दुखी ॥
 याँ अंधे-बुधे आते ऐं, आकरि कैं खनु मर्माति ऐं ।
 मैं कहाँ ते लाऊँ बड़बड़ी आधि, गगे कहती ऐं, मोह दुखी ॥

२०

गंगा जी की उन रेतिन में रंभा, वसी बजावै जन घोर ।
सखी री, मैंने मोहन लै लए मोल ॥
काहे के पलरा, काहे की डाँडी रंभा, काहे में लै लए तोल ।
सखी री, मैंने मोहन लै लए मोल ।
मोहन की डाँडी, नैनन के पलरा रंभा, हिरवे में लै लए तोल ।
सखी री, मैंने मोहन लै लए मोल, हरि भाली^१ मैंने मोहन लै लए मोल ॥ हरे० ॥

२१

आपन जाइ गंगा जी में छाए रंभा, सुधि न लई घर-आमन की ।
मो ते कोई ती कही हरि-आमन की, हरि-आमन की, मन-आमन की ॥
आपन जाइ गोकुल जी में छाए रंभा, सुधि न लई घर-आमन की ।
मो ते कोई ती कही हरि-आमन की ॥
ए दोऊ नैन कही नाई मानें रंभा, घटा डठी ऐ जैसैं सामन की ।
मो ते कोई ती कही हरि-आमन की ॥
आप नहिं आए, खरन नहिं भेज्यौ रंभा, ए अखियाँ ती सामन की ।
मो ते कोई ती कही हरि-आमन की ॥

२२

ए तिरवैनी गंगा, करि दै तू सब दुख-दुखि, निस्तारिनि मैया, करि दै तू सब दुख दुखि ।
जो जा गंगा जी ऐ मोरे ई गावै, सोने की लोटा-झारी दाँतिन पावै ॥ तिरवैनी०
जो जा गंगा जी ऐ भीपर कू गावै, खीर-खड के भोजन पावै । तिरवैनी०
जो जा गंगा ऐ राखि कू गावै, तोसक-तकिया-गद्दा बिछावै ॥ तिरवैनी०

२३

गंगा जी कौ ब्याह

कठ घुसुती-सुमिरि सहारि अनिद मनाऊँ, मेरी मात-पिता डबीत, समा कूँसीसु नमाऊँ ।
आपु बुद्धि परगट मई, गुरु-गलेस मनाइ, गंगा-ब्याह सुनें जो कोई, सुनत पापु कटिजाइ ॥
अन ते जबू चलो तीर-गंगा के आयी, पानी पियो अचाइ, कूदि गंगा में न्हायी ।
पूँछ मरोरे, सिर धुँनें, कर-मी डै पछिताइ, देखि सकष गंगा रानी जो जबू गयी ऐ सुभाइ ॥
जब गंगा ने कही स्यार, तू वैनू-वैनू डोलै, तेरे मन में कहा आइ, नित हमसे^२ बोलै ।
झमिरत लोक पाताल में, निकट बहूँ बँकुठ, जो तेरे घर भीतर जबू, जाइ तू हमते कहै निसंक ॥
तू तौ गंगा आँसी जैनन की मेरे अतर जाँमी, मेरे मन में वसी बहूँ गंगा-सी रानी ।
गंगा तेरे फाले मैंने सब धनू दीयो खोइ, कै तौ प्राँन तजू ठाकुर पै, कै ब्याहूँ गंगा तोइ ॥
जबू भारी बन्यो मलूफ काम अछे करि आवै, गाम-सामूह^३ परै फालु जब तेरी आवै ।
वैठे बूतर टेकि कैं तेरे कुल कौ जिह्वा सुभाउ, करि ऊपर कू धूपरी, देइ ऊकरी भाइ ॥
गंगा, जा नगर में जाउँ नगर की दुनियाँ मोहै, पानी-मीमन जाउँ देखि पैनिहारी मोहै ।
बूली नाऊँ, लँगो नाऊँ, बने हात श्रीर पाँइ, हँस सी कुँमर छोडि कैं गंगा और बरोगी काइ ॥
जबू, छिब-सकर से जती, सीस-अरि उननें राखी, गंगा राज-कुँमारि, यार कहा तेरी दासी ।
मोइ भागीरथ लै गयी कुटुम्ब-चवारै-काज, हँस तौ वैठी भजन करति ऐ, क्या ब्याहीगे स्यार ?^४

^१. पाठा—हेरी भाली । ^२. ते । ^३. सामूह । ^४. यह गीत अचूरा यहाँ तक मिला है ।

२४

सिवा मोरी मानीं साधूरा संन्यासी ॥

पूजा मोरी मानो गनपति गुरु, श्री खोली मेरे हिरदे का ताता जी ।
 भक्त चढाऊ देवा भक्त ना भछूती, भक्त माली ने दिया है बिबाह, सिवा मोरी० ॥
 जल तो चढाऊ देवा जल ना भछूती, जल तो मछली ने दिया है बिबाह, सिवा मोरी० ।
 फूल चढाऊ देवा फूल ना भछूती, फूल तो भोरा ने दिया है बिबाह, सिवा मोरी० ॥

२५

गरभु^१ कीयी चढा-सूरज नें हरी, जा के मान गहन^२ नें मारे ।

गरभु कीयी जोई हारपी हरे ॥

गरभु कीयी गगा-जमुना नें, भरी जाके मान परव नें मारे ।

गरभु कीयी जोई हारपी हरे ॥

गरभु कीयी वेटा की मां नें, भरी जा के मान बहू नें मारे ।

गरभु कीयी जोई हारपी हरे ॥

गरभु कीयी ऐ दूध-बही नें, भरी जा के मान जीम नें मारे ।

गरभु कीयी जोई हारपी हरे ॥

गरभु कीयी मायाबारे नें, भरी जा के मान चोर नें मारे ।

गरभु कीयी जोई हारपी हरे ॥

गरभु कीयी बेटी की मा नें, भरी जाके मान जेमाई नें मारे ।

गरभु कीयी जोई हारपी हरे ॥

२६

तिरिया, तीनी पैन बिगरीगी, जो तुम पति ते दगा करोगी ।

पैहले पैन तुम बील्ह बनोगी, तिरिया आघे-सरग उडोगी, जो तुम० ।

दूजे पैन तुम बनौ गबैया, तिरिया पराई गीनि लवोगी, जो तुम० ।

तीजे पैन तुम बनौ टैहसिनी, तिरिया फरि-फरि काम मरोगी, जो तुम० ॥

कथा-गीत

यहाँ कुछ ऐसे गीत बिये जा रहे हैं, जिनमें किसी न किसी कथा का वर्णन है ।
 इनमें से अधिकान्त देवी के जागरण में गाये जाते हैं ।

लव-कुश-जन्म

उडी विहगम बिडी जाइ सीता समझाई, जा बॅन रही बिलसाइ कोन की नारि कहाई ।
 कोन पुरख की नारि कहा तो पै बनि भाई, जा बॅन दई ऐ निकारि ॥
 जब सीता नें कही बिपति की कहियो जाई, वर पाए सपूराइ भूलूप्या व्याही भाई ।
 जखरत-बहू, जनक की बेटी, रामचंद की नारि, बिनई खून समूरख कता, जावॅन दई निकारि ॥
 तू तिरिया बड़ नारि बचनु एक मेरी सीजै, बाल-बली बॅन रहूँ, सरॅन उनकी जाइ सीजै ।
 मोइ कहत भावै नही तोइ मारग देखें बताइ, काक दिनाँ रामचंद जी, तेरे करे निहोरे भाई ॥
 भागें विहगम बिडी पाछें ते सीता रानी, बनखंड पोहची जाइ जहाँ तपसीनु की सारी ।
 तपसी बैठपी भजॅन पै धरि ठाकुर की ध्यानु, सीता सरकि मडी में बैठी खैंचि आपनी आनि ॥
 धरि ठाकुर की ध्यानु, मडी के जोरे आए, फिरि आए चहूँओर मडी की डार न पाए ।
 ठाठो तपसी मो कहूँ मेरे सिला जु बसकी नाइ, ऐसी बली भव को मुक्ति आयो सीनी मडी धिजाई ॥

१. गर्ब । २. गहन :

बाबा, बँन में सीयो जनम, आजु अजुध्या में होते, बँते दिरब लुटाइ लखिमें देवर होते ।
साख बुरी मेरी भगनी नैनहुलि घरति साँति ए द्वार, ऐसे में कौसल्या होती गामती मगलचार ॥
वालजती नें कही, सुनो मेरी सीता बेटी, निघरक बेठी रही कहूँ ना बिन ते खोटी ।
कहै घरवाळें साँति ए, कहै तो मगलचार, कै निसान घुराऊँ बेटी, तपसीन के दरबार ॥

२

सीता-व्याहृतो

कठ घुरसुती-सुमिरि प्रेम आनंद मनामें, जो गुरु अग्या देइ, कै हरि के गुन गाँमें ।
प्रान वुडि परगट^१, भई, गुर-गखेस मनाइ, सीता-व्याह रीम की चरचा जामें हर-जधु कहूँ बनाई ॥
राजा अपने नाम, जैनकपुर-गाम बसायो, सीया लियो भीतार पिता की नाम चलायो ।
चारथी कोने सारिकें लीयो चौका लियो बनाइ, वै रूमाल मगन भई रानी म्वाँ हँसै जैनक तेरी नारि ॥
रानी-राजा वैठि बोलि एकु मती कमायो, अघु कूँ मूढा डारि, राज कूँ पवँग नबायो ।
आजु की बात कहा कहूँ राजा, अतरज^२ मेरे गात, परसराम की बानु^३ कुँमरि नें घरथी एक ई हात ॥
भव राजा नें कही मोह परतीति न भावै, जे बेटी चौका देइ बान कूँ फेरि उठावै ।
परसराम के बान कूँ सीया सावै अवर उठाइ, जो कोई बान समा नें तानें में सीया ऐ दुगो व्याहि ॥
रानी, कहा भोस की नीध, कहा वादर की छाया, कहा भोखे ते प्रीति, कहा सपने की माया ।
सपने सचि ना भए मेरी रानी राज-कुँमरि, परसराम की बानु उठै ना जे तीन लोक की भार ॥
राजा जे सपने की नाहि, कहूँ में आखिन देखी, लीयो बानु उठाइ कुँमरि तेरी सीता बेटी ।
सीता सत की आगरी, बित की कही न जाइ, तीन लोक कर प धरि राखे, कुँमरि तेरी मदमद-मुसकाइ ॥
रानी, कोन कूँ टीकौ कहूँ कोन बर व्याहैन भावै, राजा, घर-बर लेउ पैहनाँनि जानि बर समरथु बूढी ।
सिया भई बर-जोग, व्याह बर मारग भेजी ॥
सिया सत-गुन-आगरी भई व्याह सजोग, जूरि-मिलि मती करी मैहलें में सब, राजु जैनक की लोग ॥
रानी, कोन कूँ टीकौ कहूँ कोन बर व्याहन भावै ? बढे भूप की पूत फेरि माता ना ज्यावै ।
भायें साहसी^४ सुसुत नाँएँ, सीया भई बर चूक, घरई बँटे बोलि लुगो सब देख, सकल भुनि, भूप ॥
राजा, करथी जय की ठाढ़ भूप सबु नाँति बुलाए, देस-देस के भूप खोबि सिगासन^५ आए ।
तीन लोक चिढ़ी फिकी, सब देवनु मानी आनि, उभहे कटक, छए दल-बादल म्वाँ जैनक सिहारे गाम ॥
भायें वेलाभिन^६ पाछें ते लखिमें वारे, जे दोऊ आए वीर, लगे सबु देवैनु प्यारे ।
जोगिनु पै भृग-छाया कहिएँ, सोमा कही न जाइ, पहुँचि निकट जैनकपुर-गोडे^७, जोति दई छुटकाइ ॥
जूरि आए सब भूप बान के सैनमुख धाए, साठिक जोभा गए बान के जोरे आए ।
कठिन बान गभीर की कबु लाए अघर उठाइ, उतरि गयो जोवन की पानी सबु भूप गए कुँमिल्लाई ॥
जो जू न आए दोऊ वीर, बान किनऊ नाँ तान्यो, वीस भुजा, दस सीस, गरव रीमन की मान्यो ।
भसलि जीव संचे परथी, कठिन बान गभीर, सुनतई पैज सुखिगी रीमनु म्वाँ उरथी नैन ते नीर ॥
जब मदोदरि कहै सुने रीमन बलदानी, सेज सुकन गए भूलि सखि^८ तैन कोन की मानी ।
जल-विन कमल, तेल-विन बाती, तलपि-तलपि बुझिजाइ, कोन की सखि करी पिया रीमन, तेरी बढैनु रह्यो-
कुँमिल्लाई ॥
जब रीमन नें कही, सुनो मदोदरि रानी, रपी जैनकपुर पैज, सखि मने म्वाँ ते मानी ।

^१. परगट । ^२. आनन्द । ^३ प्रसिद्ध शिव-धनुष के स्थान पर यहाँ परशुराम का वाण हो गया है ।
लोक-मानस शिव-धनुष के लिए परशुराम की व्यग्रता का समाधान नहीं कर सका, अतः शिव-धनुष के लिए परशुराम का वाण हो गया । ^४. सायो, साह्यो विवाह का दिन । ^५. सिहासन । ^६. विवाभिन ।
^७. पार्व । ^८. संक, आसक, भय ।

जोबेन भागें बान परयो, घर बैठि रह्यो नौ जाइ, तौने^१ नाइ भुजा बीसैनु ते, मेरी मरैनु मरोसी जाइ ॥
 बलम, बिरप रे भए, बुद्धि भोछी वनि आई, मुखते निकरै बात, खिन्नक में होइ पराई ।
 मैं तोते ऐसी कहूँ सुनि बिसवा के वंस, कूमकरैनु^२ कू भोजि बीजो, तुम घरई रहियो कृत ॥
 कूमकरैनु से बली काम मेरे कब-कब आए, कब के कामी भए, काम मेरी सर करिलाए ।
 बार-बार मेरें को कहूँ रानी, वचन कहूँ समझाइ, तेरी कह्यो कस्यो तिरिया ब्याई ऐ बँड खेदाइ ॥
 कूमकरैनु रहे टेरि कठ ते कठ लगायो, ब्याकी ठोकी पीठि नैन राते करि लायो ।
 ऐसे बान बहुत घर मेरे, खेलत निपन अजान, खड-खड करि दँड बान के मोइ विरप^३ की भानि ॥
 कूमकरैनु से बली जाइ के दल में दाले, हातैनु छीयो नाहिं चरैनु ते बान निहारे ।
 बैठि गयी घरनी में जोषा, इल-उत करिकें धूरि, और बान के थोकें डोलें बान रह्यो जर धूरि ॥
 भाबु कहा सो हरि पै बँनुष तनै नाँ, जिन पै बँनुष तनै नाँ जे दोऊ बारे जी ।
 देख-देख के भूषति आए लवे परे बिछोना, बेस्वामिय सग गुरु जिनके जे आए बसलत जी के छोना ।
 जिन पै बँनुष तनै नाँ, जे दोऊ बारे जी ॥
 पीतबर की कछनी काँछें हातैनु में कबे मुरमा^४, माँधे मुकटु खौरि जवन की स्थाम-वरन हरि के दोऊ नैनौ ।
 जिनपै बँनुष तनै नाँ, जे दोऊ बारे जी ॥
 कहति सुनैनाँ सुनि मेरी भेनाँ, जाइ चलै न टोनाँ ।
 जो भाबु हरि पै बँनुष न टूटै, मलैनी जहस-बिसु खाइ मेरी भेनाँ—दोऊ बालक एँ ॥
 इसनी सुनि कैं लखिमैन बोले, ठाकुर हुकमु करी नाँ ।
 तुलसी दास भास रचवर की तोरि बँनुष टूटूक करी नाँ ॥—जिनपै बँनुष तनै नाँ, जे दोऊ बारे जी ॥
 राजा माला लेउ मंगाइ जोरि सीया ऐ गहाणी, जापै देगी बारि कुँमरि ज्यवाई^५ कू ब्याही ।
 मरे कटक में सीया डोलै, नजरि नईं ठहराइ, देखि रूप लखिमैन बारे को बई रोम पै टारि ॥

३

जगदेव को पमारो

जगि^६ रची रैनचौर-भूप, सब नीति बुलाए, देख-देख के भूप आइ पार-तैन छाए ।
 बामन गढ चिट्ठी फिकी सब भैया लए बुलाइ, जगरदेव सौ भैया छोड्यो, जाइ रही खबर हति नाइ, सोस देवी गइ ॥
 सगु भैयानु जुरि कही वचन एक भानि हेमारी, भैया ऐ लेउ बुलाइ जगि में होइ सहायी ।
 सो सीतो एकु गोत को मेरी सुनि भैया रैनचौर, ऊँच-नीच तोहें है जाइगी, जे करे और ते और, मीत देवी गइ ॥
 नाऊ दियो खेदाइ मैहँस जगदेव के आयो, सुनि दादा जगदेव, कुँमर तो कू नोतो लायो ।
 पाटमदे^७ डोला सज्यो करि सोलह-सिंगार, पाटमदे और कुँमर जगदेव पहुँचै जगि-मैसागि, मीम देवी गइ ॥
 डोला में ते उतरि पाँच मँहनैनु में बीयो, दीबलदे^८ मुर-मोरि नाइ जाकी आदर कीयो ।
 मैं तो बैठी भजेन पै मेरी देवर निपट अजान, जगि रची रैनचौर-भुमन में मेरी पनि गगी मगमान ॥
 घाघी राति मोहटी डयो, रानति भनी-भनी भानि, घाग तो नगरी पमार की ।
 बोनै, या को बेटा न्यो^९ कहँ, मेरी सुनि तै माता बात, पाग तो नगरी पमार की ॥
 माता, कै काऊ नै गारी बई, कै काऊ बोले बोज, पाग तो नगरी पमार की ।
 बेटा, ना पाऊ नै गारी बई, ना काऊ बोले हँ बोन, पाग तो नगरी पमार की ॥
 बेटा, मैहँस गइ रैनचौर के म्या मोगे मोने मोन, पाग तो नगरी पमार की ।
 सुनि तै माता, पाग नौ नौं बनि टाम, माग्यो रैनचौर गग पाग की पाऊ ॥

१. तोहें । २. कुमकरैनु । ३. निरप-भूप । ४. मुरमा—मुहं हूँ । ५. जाई । ६. जगि—जग ।
 ७. जगदेव को माँ । ८. रैनचौर की माँ ।

माझी रैनघोर-भुंभर कूँ गादी पै परभात, दीबलदे श्रीर सरिका-बारे, मै करि दजै बारह वाट ।
 श्री माता, दांत-खुरपिया, जोरि कैं, एक छोटी-सी गढाई दै साग ॥
 बेटा, नाई बाने कोनी लामनी, नाई बाने की ए नराव—बारा ती नगरी पॅमार की ।
 भरे बेटा, तेरे पिता की तोष ऐ, वृ धरी ऐ लखैरी जुजै ॥
 न्यति मेरी राजा चलि दयो कोई साहिर गहि लई गेल, इडियनु-सिडियनु चढि गयो दै-दै भँवर कलीन में पाजै ।
 सैरी ऐ भँमानी हिंगुलाज की, जाकी बँठी ऐ भुजैन पै भ्राइ ॥
 हावु लगार्जे मेरी सिव नवै, मेरी पति बाने की जाइ ।
 ठोकर मारी दाँए पाँइ की, तकुमा सी लई ऐ उठाइ, देदी ने सांग बगाई ॥

खुहार का घुतांत

तयो-कठौटी बेचि कैं चलि अत करिगें गुजराँन ॥

जगदेव रनघोर के यहाँ जाता हूँ ।

माई मेरे, सगु भँयें कूँ रमरमी,^१ भँया कू सात सलाम ।

बैठे ऐँ सहेली गगा-भार के, जिनकी नगिन धरी ऐँ तरवारि ॥

सांग का गाड़ना-उखाड़ना ।

पनघट पै हाती लहें, हातिन की करि दै बीच, धारा ती नगरी पॅमारकी ।

भँया, कै मारु तरवारि ते कै फेंकि दजै असमान ॥

भाई, मारे ते मरि जाइगे न्योई मालु पिता की जाई, धारा ती नगरी पॅमार की ।

उन बोने का पिता अनबोला रानी के यहाँ बँधा था । अब जगदेव छुड़ाने को चलते हैं ।

माता, हम तो जात परदेस कूँ, फूलमदे की सरजा तोइ ।

बेटा, मूर ते प्यारी ब्याज ऐ, कोई तोउर ते प्यारी तेरी नारि ॥

बेटा, राजु बुरी ऐ रैनघोर की, तू तो लँजा सग लिवाइ ।

फूलमदे द्वार से

दँ परिकमा खेरे खूट की नवि-नवि करत सलाम ।

जीमत रहिग्ये फेरि भिलिग्ये, नरवर कोट खुहार ॥

घोडा भीजँ, तगु चुगें, भीजति जीन लगाम ।

तिहारी ती भीजँ सुई पगडी, मेरी रँगु चूँनरि की जाइ ॥

२

अमरसिंह को साकी

सारद माइ सुरत करि गाजै, गृध-उस्ताद भनाजै ।

पच पीर और सबे श्रीलियाँ, सबई कू माँची नाजै, खेरे की चाँमुडी माता, पहिलें तोइ भनाजै ।

बीरा-बतासे और रेवडी, हरि की भेंट चढाजै ॥

ॐ

अमरसिंह नें कियो पॅमारी, कही ती गाइ सुनाजै ॥

कहाँ तँ उनिपति भई, कहीं ते भई ऐ लडाई । दीघ सईस उतिपति भई, आगरे ते भई ऐ लडाई ॥

काए की तेरी बँनी कचैहरी, काए को वेंगला छापी ।

कचन की तेरी बँनी कचैहरी, कचनु-काटि लगायी ॥

विसकरमा^२ तेरी सोभा बरनी, ढिंग-ढिंग पदेंमु लगायी ।

ढिंग-ढिंग पदेंमु लगाइ कि वेंगला पानन ई तँ छापी ॥

^१. राम-राम । ^२. विश्वकर्मा ।

जल में खमू, खम में जलहुल, जामें कर्मलु बिराजै ।
जगमग जोति जरै ठाकुर की, सिकिलि मिठाचिह्नु बाजै ॥
काऊ नें लादी लोग-सुपाडी, काऊ नें लादी राई ।
कबिरा लादी राम-नाम, बैकुण्ठ की गादी पाई ॥

ॐ

वास्याह निकरि तखत पै बैठषी, सबु उमराह बुलाए ।
सबु उमराह नजरि भरि देखे, अमरसीग नहिं आए ॥
बारह हजारी, तेरह हजारी, बेऊ तो मुजरे कूँ आए ।
सत्तरि खानि बहतरि उमरा, बे मुजरे कूँ आए ॥
बुगल-खोर कौ बुगलई खाई, तेरी अमरसिंग काए कौ राउ ।
तेरे मुजरेँ धावै ना जाइ, बाईछ परगने बैठषी खाइ ॥
दू दगरे दिल्ली के खाइ, सब अगरे कौ चौधर खाइ ।
गाम जोधपुर बैठषी खाइ, सुनि कें वास्या गयो रिस्याइ ॥
राउ अमेठी करै जुबाब, है कोई मेरी उमराह ।
'चोबदार कूँ लियो बुलाइ, सुनि रे चोबा मेरे ज्वाब ॥
ऐदी के कूँ जल्दी लाउ, ज्यो बैठषी त्योई लै भाउ ।
चोबदार कौ भाज्यी जाइ, ऐदी के डेरें पीहज्यौ जाइ ॥
चोबदार कौ करै जुबाब, सुनिरे ऐदी मेरे ज्वाब, यदि किसी वास्या-दरबार ॥
ताते से पानी ऐदी न्हाइ, न्हाइ-धोइ कें हूँगी त्पार ।
सबजा घोडा लियो-सजाइ, जीन सुनैरी बरी जमाइ ॥
मुहरी, पट्टी, लर्नाम चढाइ, धमकि भयी ऐदी असवार ।
गलिभैनु-गलिभैनु ऐदी जाइ, ऐदी कौ सबजा नाँचतु जाइ ॥
नाँचतु जाइ भीर कूँचतु जाइ, चौक-चाँदनी धुलम्यो जाइ ॥
चोबदार कूँ सेजि कें जानें ऐदी हाल बुलायी ।
करी सलाम घस्यो भीतर कूँ, दरवाजे पै आयी ॥

ॐ

राउ अमैठी करै जुबाब, है कोई मेरी उमराह ।
जोई मंगाळें जोई लै-लै भाउ, कौरी-खी कागडु लियो मंगाइ ॥
दवात-कलम-स्थाही मंगवाई, धीरे पै रुक्का धरषी बनाइ ।
पहलें लिखि दई राम-राम, दूजें लिख्यो खुदा की नाउँ ॥
तीजें लिखिदई बुरी काइ, चौथे कूँ लिखि दई सात सलाम ।
पाँचवें अमरसीग बरे बनाइ, लिखि परमानी वियो गहाइ ॥
लै रे ऐदी जोधपुर जा, अमरसिंग कूँ जल्दी ला, न्यो बैठषी न्योई लै भा ॥
जब ऐदी कौ करै जुबाब, अमरसिंग भारी सिरदार ।
मेरे कहै कूँ माने ना, खिग ते जैमदरि देह चलाइ ॥
मेरे सीस कूँ सेगी काटि, मेरी खलरी डारै कटबाइ, खाल-काबि भुस दे भरबाइ ।
राइ अमैठी करै जुबाब, एकु रुक्का हम पै मियबाइ ॥
सब सनु पलटलि देउ सजाइ, दास-गोला बेउ अरजाइ, सोप पै सोप देउ खुतबाइ ॥
पाँच सोप भीर वारह हाती, हुजरत हाल खँदायी ।
हुकूम भयी वास्याह कौ, जब राठौरी बुलवायी ॥

भूरीसींग में हतिनी लई सजवाइ, हरी वनांत-झूल डरवाइ ।
 दारू की बोलत लई भरवाइ, सेर की सुलफा लियौ मूल्याइ ॥
 सेरक मंगवी लई मूल्याइ, तीन्यो भंटा लिए चढाइ ।
 न्याऊँ ऐदी चलतौ जाइ, घमकि भयो ऐदी असवार ॥
 ऐदी कैं गरमी है जाइ, घोरि-घोरि मिसिरी पीमत जाइ ।
 पीमनु जाइ और चलतौ जाइ, कारी नदी पै झुलम्यौ जाइ ॥

ॐ

जब ऐदी को करै जुबाव, मलहा के मोइ पार लगाइ ।
 भूरा मलहा को करै जुबाव, कहा की भूमियाँ कहा को राउ ? कहा सिपाही भाई तेरो नाउ ?
 जब ऐदी की करै जुबाव, न्याई की भूमिया, न्याई की राउ, हलका ऐदी मेरी नाँम ॥
 रोक-रैया दिगी गहाइ, पटक संदेसौ है गोपार ।
 चना-चनैनाँ लियौ मुल्याइ, मसकनु जाइ और चलतौ जाइ, गाम जोषपुर पहुँची जाइ
 मसका-मसकु चढयो ऐदी की, गाम जोषपुर आयौ ।
 गाम जोषपुर जाइ कैं जानै हलका सोइ मचायो ॥

ॐ

पैहली बँगला, दूजी बँगला, तीजे बँगला आयौ ।
 तीजे बँगला, चौथे बँगला, पँच मँहला में आयौ ॥
 पाँचौ बँगला छटे बँगला, सत मँहला में आयौ ।
 सातो बँगला आठौ बँगला, नी मँहला में आयौ ॥
 पैहली खैनी पै बरि गी पाउँ, दूजी खनी पै झुलम्यौ जाइ ।
 तीजी खैनी ते पल्ली पारि, हरे-हरे वास छई चौपारि, म्वाँ राठौरी खेलै सार ॥
 गवि कैं ऐदी करै सलाम, राजा लेगी सीस जवाइ ।
 राजा राइ भँमेढी करै जुबाव, है कोई मेरी उमँराव ॥
 ऐदी के डेरा देख लगवाइ, पाँच मुहर हम पै ते लेउ, है बकरा रातिव के देउ ।
 जब ऐदी को करै जुबाव, तेरी मुहर हम कूँ ना लीन, तेरे बकरे हम कूँ मुरदार ॥
 जो सुनि पावै भकबर वास्याइ, जन-बज्जा डारै पिरवाइ ।
 मेरी खलरी डारै कटवाइ, खाल-काटि भुस देइ भरवाइ ॥
 खाल दरवज्जे दे ठँगवाइ, खाऊ में देगी आगि लगाइ ॥
 ऐदी जुबाव करन नाइ पायो, जो जूँ ऐदी बूसरी आयौ ।
 कमरि ते पट्टी झोलि कैं, परमानौ हाल गहायो ॥

ॐ

पैहले पना कूँ खोलै राउ, वाचै राउ मगनु है जाइ ।
 दूजे पना कूँ खोलै राउ, मन दलभीरी झुलमी भाइ ॥
 तीजे पना कूँ खोलै राउ, नारी बोली कोठनु भाइ ।
 चौथे पना कूँ खोलै राउ, तन-मन राउ भसँम है जाइ ॥
 पाँच पना कूँ खोलै राउ, जाँय निकसे अमरसँग राउ ॥

ॐ

कमरि-कटारी, सिर ऐ डुपट्टा, राजा रावर आयौ ।
 बेदी बीटनिकीरि की राजा की दरखँनु पायो ।

ताते पानी धरी तर्करा, मलि माँवे ते न्हायी ।
 पीतबर की करी घोवती, सूरज-व्यान लगायी ॥
 सबा पँहैर सुमिरै न करपी, जल सूरज ढरकायी ।
 मलियागिरि ते चदनु लायी, धिसि-धिसि अंग लगायी ॥
 हीरा पाँडे तर्प रसोई, महाराजा जँमन आयी ।
 पँहली ग्रास दियो धरती कूँ, डूजी गळ चढ़ायी ॥
 तीजी ग्रास दियो कुत्ते कूँ, चौथी रँग चढ़ायी ।
 पाँच ग्रास किए राजा नँ, थार परँ सरकायी ॥

ॐ

हीरा पाँडे बर-बर काँपे, राजा ऐ अन्नु न भायी ।
 कै ती मेरी कची रसोई, कै रही दारि भलोनी ॥
 नाई पाँडे तेरी कची रसोई, नाँ रही दारि भलोनी ।
 अमल्लास पै भीर परी, म्वाँ पेठ भरँ नाँ होनी ॥
 हिङ्गु पारँ तीतर मँना, मुसलमान घर डूती ।
 बैठि रहँ दरबार ते मेरी, डूवि जाइ रजपूती ॥

किसुनाँ नाई लियो बुलाइ, अमरसिंग हँसि-हँसि बतराइ, मे तोइ ले चलूँ संग लिबाइ ।
 किसुनाँ नाई करे जुबाब, मैं ती तिहारी तानेदार, मारी चाहँ छोड़ी सरकार ॥
 राव भँसेवी करे जुबाब, पाँची कपड़े लाच निकारि ।
 साभी पाँची जल्द हतियार, हनि-हनि राजा बाँधे हतियार, घोड़ा तीन सए सजबाइ ॥
 लीली वछेरा लीली तग, बाँधि दर्द तोने की जंग ।
 मखमल-फूल सुनहरी जीन, ऐसे सजे वछेरा तीन, अमरसिंग के पँने तीर ॥
 डुकम् अमरसिंग दियो सुनाइ, घोड़ें धीर भए असवार ।
 न्याँक ते राजा चलतौ जाइ, मचिल-मजिल राजा जाइ, किले-आगरे पहुँचे जाइ ॥
 दरबाजे पै पहुँच्यौ जाइ, दरबनियाँ ते करे जुबाब ।
 सुन दरबनियाँ मेरे ज्वाब, दरबनियाँ दरबाजी लोलि ।
 भोइ बात्साइ ते मिलने दै, मोकूँ पल-मल ह्रीइ भवार ॥
 जब दरबनियाँ करे जुबाब, सुनि रे राजा इस^१ गँभार ।
 दरबनियाँ की सुनि केँ बात, अँमरसिंग ने दीनी सात ॥
 अमरसिंग ठोकर किले सगाइ, नाई के किसुनाँ कूँ घोड़ा सोपि गयी बलबाइ ।
 कसी कमरि तरवार, साहू की कुलसि^२ नही बजाई ॥
 बावत्साइ के पास जाइ पाजी मो बुगली खाई ।
 देखौ तौ सिर्फार बढिगी तक भी नही सुनाई ॥
 बाँधि ढाल-तरवार आप के चोरे ठाढ़ी बाई ।
 अमरसिंग कूँ बड़ा गरूर, जाकूँ देनी सजा जखर ॥
 सुनी सलामत छाँ की बात, मोड़ी बात्सा दोळ हात ।
 सात लाख जूरसानी लेच, नई ती होल जेल में देच ॥
 इतनी सुनी सलामत बात, फूल्यी नही जू अँग सँगाइ ।
 राठौरी के कितनी जोर, देखूँ तेरी आजु मरोर ॥

हुकम बास्या दीयो मोइ, आजु जेल में दुगो तोइ ।
 सात लाख जुरमानों देउ, नहीं तो ठाँसि जेल में देंउ ॥
 सुनी सलामत खाँ की बात, अमरसीग कौ जरि गौ गात ।
 इतनी कही खैंचि तरवारि, मीयाँ जी की काटी नारि ॥
 मीयाँ ऐं मारि चल्थी रजपूत, नाएँ परति गुसा की कूत ।
 बास्याइ के जोरे जाइ, कहैं लम्पी ऐसैं समझाइ ॥
 बादस्या लेउ ल्हास सम्हारि, परचो ऐ सारी गाँडि उठाइ ।
 देखि पैमारी अमरसीग की, बादस्याइ धवड़ायो ।
 छोडि कबहूरी रैनमासैं में, पास दुरैं के आयो ॥
 सरमन^१

कास-बास दोऊ अँवा बसैं, अमर-लोक नाराइन बसैं ।
 अची कहति अघ ते बात, हँम-सुम चलैं रीम के पास ॥
 कहा रीम हरि तेरी लयी, रूकुं न बालक हमकूँ दयो ।
 बालक देउ भलो-सी जानि, मात-पितैं की राखैं कानि ॥
 नाँइ मेरी कथा नाँइ मेरी गोद, पूत सरकनो कहाँ ते होइ ।
 पहले भवि भवे नीर, दूजें कला पलटि गए खीर ॥
 तीन मांस तिरखेनी रची, चौथे मांस गरब में परी ।
 पाँच मांस पैव अँगुरी रची, छठए मांस मुकलानि केस ॥
 सात मांस सतोसी होइ, आठ मांस कौ जीवै न कोइ ।
 जीवै तो बलवारी होइ, आँख बढ न छत्तरवारी होइ ॥
 नौए मांस दुनियाँ संसार, दसए मांस सरमैंनि औतार ।
 ज्या दिन सरमैंनि बेटा भए, मैनि-मानजी मंगल कहे ॥
 कीरे सीक-साँतिए घरे, भँन-भानजी तीयारि दई, ब्राह्मन कूँ गायैं के दानि ॥
 दिन-दिन बालक बढवै लगे, मात-पिता-कुल प्यारे भए ।
 बसुँ दिनाँ के सरमैंनि भए, घरती माता जानि गई ।
 दोई बसैं के सरमैंनि भए, जब बदा-सुरज मानि गए ।
 तीन बसैं के सरमैंनि भए, जब तीव्यो लोकनु मानि गए ॥
 चारि बसैं के सरमैंनि भए, पाँचो पढनि जानि गए ।
 छैई बसैं के सरमैंनि भए, जब छटे नराइन मानि गए ॥
 सात बसैं के सरमैंनि भए, जब सातो समदुर न्हावै गए ।
 आठ बसैं के सरमैंनि भए, जब अष्ट कुली नाराँन नैं लिखे ॥
 नौई बसैं के सरमैंनि भए, जब नौक नाराँन जानि गए ।
 दसई बसैं के सरमैंनि भए, ले पोथी ब्रह्मा-घर गए ॥
 ब्रह्मा बचन कही दोइ-बार, बिद्या देक अरध-बल-बार ।
 खेती करे न वंजी जाँइ, बिद्या के बल बैठे खाँइ ॥
 ग्यारह बसैं के सरमैंनि भए, जब बिद्या में भरपूरन भए ।
 बारह बसैं के सरमैंनि भए, गज-घोड़न पै पाखर परे ॥
 खेलैं पूत कुँज बन गए, कुँज-सरवा उठी घराइ ।

१. अरब कुमार,—यह गीत सावन के सहोने में कुछ विशेष व्यक्ति गा-गाकर निशा माँगते हैं ।

कुलंग राजा पूछै बात, कोन तेरी माता कोन तेरी पिता ।
 कोन राज में हूँ नैनसार, मात-पितेन के नाम बता ॥
 तुम कूँ बर दें साँविल नारि, भ्रँनसूख माता भँनसूख पिता, रघवसोन में हूँ ननसार ।
 आक-आक के सभेद भँगाड, हरे-हरे पातेंनु मँडप छाई ॥
 कुलंग राजा टीकी करै, सरभँनि के मुख बीरा भरै ।
 आक-आक के सभेद भँगाड, हरे-हरे पातेंनु मँडप छाई ॥
 केरन के दए खंभ लगाड, सुरै गऊन के धीम भँगबाड ।
 हवनकुंड दीए भरबाड, घरड के ब्रह्मा लए बुलबाड ॥
 बिरमा देी बारक पढै भँमाता न्वाँ मगल करै ।
 कुलंग राजा टीकी करै सरभँनिसुत की भामिरि परै ॥
 व्याह बरनि वृष निचू भए, भँटनु कूँ ज्याँनै गौठा दए ।
 डोंभन कूँ हाती दै दए, बिरमन कूँ गाइन के दान ।
 श्रीरु बोला भँवैठारी नारि, व्याह-बरनि गल^१ लाए नारि ॥
 जब लग तिरिया आनै लही, सासु-सुसर के कहूँ रही ।
 ज्यो-ज्यो तिरिया स्यानी भई, त्यो-त्यो सीख विरानी लई ॥
 जब तिरिया हूँ गई घर-जोग, कुकि बोले सरभँनि ते बोल ।
 सुन लै पीया, सुनि भरतार, ज्याह कहूँ ज्याह मानै आज ॥
 कहूँ तिरिया जो मन हौंड, सोंने को हार गढ़ाइ दउँ तोड ।
 कहा माँगूँ कहा देउगे बँनी, कोन बात भँहलै नें कमी ॥
 अन्न-घन ते सब दिन सुखी, दोह पुरिखें नें कलई डुली ।
 समिया-रातें खो-खों करै, भरि भँगना में धूकें भरै ॥
 सीतेली बुढ़िया ज्ये भरिबाइ, सीतेला बुढ़रा ज्ये भरि बाइ, जिते सँहैल फंडु कटि बाइ ।
 मोई लै चली मेरे प्योहार, मेरे पीअर सार-बहार, बैठे पीया खेती सार ॥
 कँभरि कोदनी दळै गढबाइ, नारि दोलना दळै वनबाइ ॥
 कोठे-ऊपर अट्टा कल्लै, भुँआई बलम मे न्यारी दहूँ ।
 बुपरी कुलकिया पै-पै धरुँ, बोवा दारि उद की कल्लै ॥
 जँधी कल्लै जिमायो कल्लै, श्रीरु भरि-भरि हुक्का प्याओ कल्लै ।
 भरि-भरि बेला दूष के बेंडें, कुठिला ते मोटी करि लेंडें ॥
 ना पीवै दोह गुल्वा बेंडें, मुमुरिहा^२ दोह घस में कल्लै ।
 जब सरभँनि नें दयो जुबाब, बुप्य रे तिरिया सन्धि गँमार ॥
 मा-बापेन को कोन हवाल, अघी भँया बुरबल^३ पिता ।
 जो गाहूँ मै अंधी साइ, पीयो दूष बाद हूँ जाय ॥
 जो त्यागूँ मे बुरबल पिता, तीनि लोक में ठौर जु नाई ।
 नाई मारी नाई गारी दई, फूलि नारि कुप्पा हूँ गई, छठि नारि अट्टा चटि गई ॥
 मूँगा बाँदी लई बुलाइ, रग-मँहल में दीपक बारि, गोषन पुरजा सिलै बनाइ ।
 पहलें तिले श्री भगवान, जा पीछें कुँहुरा को जाय ॥
 कुँहुरा कहूँ कै देवर-जेठ^४, एकु करि हँडिया है करु पेट, पाँच टका कोरवा के सेठ ।
 तिल पुरजा बाँदी कूँ दयो, बाँदी नें डारि जब में सयी ॥

१. घर । २. न्वाँ—यहाँ । ३. बुबल । ४. पाठा—कुँहुरा के मेरे देवर-जेठ ।

कुम्हरा के घर पीहरी जाइ, कुम्हरा ऐ परचा दीघी महाइ, कुम्हरा बाँच खुस है जाइ ।
 कुम्हरा कौं चतुर सुजान, लै बैठयो हँडिया को ग्यान ॥
 गोंदा गानें लयो बनाइ, पीट-पाट कियो तैय्यार ।
 पानी को पीचारी दयो, बीच में आढो पर्दा दयो ॥
 ठोकि-ठाकि म्हाँडो करयो एक, नैक फरैरी हँडिया भई, दसका-दसमाँ बीतन लगी ।
 दावि कुम्हरिया मँहलैन गई, कैसेँ धसू महल के बीच, राजनैं कें पर्वन की रीति ॥
 मूला दादी लई बुलाइ, रंग मैहल में हँडिया जाइ ।
 जब चातुरि के भागें धरी, चातुरि देख मागों हैं गई ॥
 कर्तवहारी नै करतबु करे, छीकत चौका बतन धरे, छीक सीति मेरो कहा करि लेइ ।
 कै सामल कौ जियरा नाइ, डुकरी-डुकरैनु लेउ लुठकाइ ॥
 एक में राँची निरमलि खीरि, एक में घोरि महेरी धरी, निरमलि खीरि ग्वाकौ बलमाँ खाइ ।
 खट्टी महेरी दुआँ को तेल, जे बाँध्यो पुरिल्लैन को नेगु ॥
 खाइ लेउ बुढरा रेलम-पेल, कबळ न चले तुम्हारे पेट ।
 खात-पीत दिन भीतक भए, मरिखे के दिन सातक रहे ॥
 सरमनि फूलि कुठीला भए, तिरिया फूलि गोनि है जाइ ।
 एक दिन सरमनि पूछे बात, कैसेँ पिता धुरबले गात ॥
 जब अघा ने दीघी जुवाव, कछु दुख मति पूछे मेरे लाल ।
 जा दिन विहा तुम्हारे भए, आदर-भाव मैहल तें गए ॥
 जा दिन आइ गई समलि नारि, कबळें न खाई खीरि अघाइ ।
 सरमनि नें तब दयो जुवाव, एकई तिरिया एकई नारि, एकई नारि परोसैन हार ॥
 एकई नारि मैहलैन में रखी, तोहूँ हूँकी को करि गई ।
 जब अघे नें दयो जुवाव, साँची ऐ तू सरमनि लाल, हँम बोनी झूठे सिरदार ॥
 इक दिन वेदा करनी करै, जब लाला तोइ माजूम परै ।
 इक दिन सरमनि परची लेइ, काळि हूष मैहलैन में देइ ॥
 खिरक कुहाइ लई तीसों गाइ, गाँठ भरे मडुका भरवाइ ।
 टेव न छूटे बाँनि न जाइ, कुत्ता मूँतें टाँग-जठाइ ।
 पुहरे चटुआ दए जमाइ, सरमनि पोहचि पिता पै जाइ ॥
 एक कथा पै अघी माइ, एक कथा पै धुरबलि पिता ।
 मैहलैन में जब दए सतारि, चंदन-जीकी दई जमाइ ॥
 जब भोजन है गए तैयार, अपनो थार मातु कूँ दयो, हूँकी थार आप लै लयो ।
 चल्हे ते भूनांगी नारि, भरे बलम तेरो कहा सुभाइ ॥
 अपनी थार आप लै लेउ, जिनें के थार जिनें है देउ ।
 जो अंगन कौ झूटी लाउ, तुमळ बलम अघे है जाउ, त्याई अंग सकडियाए को लै जाइ ॥
 इतनी बात डुकरिया सुनी, लेहा-लेहु खीरि की करी ।
 जुग-जुग जीघी सरमनि पूत, बारह वसं में खाई ऐ खीरि ॥
 मारि गुस्सा के सरमनि ज्वानि, खूटी खँबि दुधारा लयो ।
 तिरिया मारल कूँ चलदयो, जब बुद्धे ने पकरयो हात ॥
 मति मारै मति गारी देउ, तिरिया मारें लगे अपराधु ।
 ज्याके पीहर रज्यो ऐ विभाव, ज्याइ करि भाभी ज्याके प्योसार ॥
 पीहर को चदमादी नारि, पति ते पहलें है गई त्यार ।

कारे डोला कारे कहार, कारे बानें दए पैहराड, लील के काँटे दए सभाइ ।
 डोला में बैठारी नारि, आपु भए घोडा असवार ॥
 इक बन नाँखि दूसरे नाँखु, तीजे बन में विकट उजार ।
 उतरी तिरिया राज-कुमारि, ज्याँ झाड़ गयो तिहारी प्योसार ॥
 डोला में ते देखै नारि, जानति ऊँ बलमा भरतार, ज्याँ कैसे मेरी प्योसार ।
 अवकें लै चली सँग लिबाइ, मात-पितैं की सेवा कहै, दानो-दरिया दरिबो कहै ।
 इतनी बात सरमैनि नै सुनी, म्वाँ सातैं की मारें दई ।
 नाँक काटि नकटी करि दई, कम कुहारी सरमैनि घरी, जाइ काटो चदन की गिरी ॥
 चंदन विरवा लियौ झुकाइ, खोंधि-खाँचि खाती के द्वार ।
 खाती के मेरे चतुर सुजाँन, काँवरि गडि दै जुग परमान ॥
 काँवरि गडि दै चितम-चित, मात-पिता वैंडें निहूँचित ।
 बड़ई को वो चतुर सुजाँन, लै बैठथी काँवरि को म्यान ॥
 गडि-गडाइ कें सुधि करी, लै सरमैनि के भागें घरी ।
 गगा-जमना लिखी बनाइ, काचदी नामें धार बनाइ ॥
 छडसठि तीरथ दए लिखवाइ, लै काँवरि मेहलैं में जाइ ।
 हरे-हरे गोबर भोग लिपाइ, मोंतीन चौक दीए पुरबाइ ॥
 मात-पिता दोऊ दए छन्हवाइ, चदन-खीरि दई लगवाइ ।
 भगले पल्ला घुरवल पिता, पिछले पल्ला भची माइ ॥
 कंठी बाँधी तूमी लई, सब नगर परिकमा दई, कथा पै काँवरि घरि लई ।
 म्वाँ ते सरमैनि सूखें जाइ, विदरावन में पौहूँवे जाइ, जमुनी-जल ते दए न्हाइ ॥
 विदरावन ते सूखें जाइ, भाँडीलवन में पौहूँवे जाइ, परिकमा मुथो दई लगवाइ ।
 कुठ-कुठ चिन्नामित लाइ, मानसी गगा दए न्हाइ ॥
 दाऊजी में पौहूँवे जाइ, दरसैन गुनकूँ दए करवाइ ।
 कासी-गंगा पौहूँवे जाइ, गंगा पिंड दए भरवाइ, बद्रीनाथ में भटके जाइ ॥
 इक बन नाँखि दोसरे में जाइ, तीजे बन में विकट उज्यारि ।
 म्वाँ कोहूँकी ऐ भंवी भाइ, पूत सरमनाँ पानी प्याइ, प्यास के मारें जिसरा जाइ ॥
 न्याँ पानी कहाँ ऐ मेरी माइ, ज्याँ ती बनी ऐ विकट उज्यारि ।
 कै पानी गया की घर, कै पानी माँमाँ के ताल ॥
 माँमाँ पानी भरैं न देइ, माँमाँ ताल की पँहरी देइ ।
 सूनी काँवरि कैसेँ घ, मै तो धिब की म्हाँया डई ॥
 कदेम ते काँवरि दई लटकाइ, पत्तन में वानें दई डुवकाइ ।
 लै लोटा जब सरमैनि जाइ, माँमाँ के जब ताल में झाइ ॥
 पँहली लोटा सरमैनि भरषी, हात-थोड म्हाँ-कुल्ला कगथी ।
 दूसरी लोटा सरमैनि भरषी, गेंनि बान जगरत में दयो ॥
 जब हानी जनगत की टोरि, मग्गो नानजी दारथो कोरि ।
 अबकें जाँधी मानजे ताल, मो लारि गउरें कळे निहाल ॥
 जब मग्गैनि नैं उयो जुवाय, मेने मने कूँ यनि पटिनाइ, मान-पिनैव कूँ पानी प्याइ ।
 लै लोटा जब उभरत जाइ, पोटिचि गयो काँवरि के पास ॥
 पो लै रो केरी भयो माइ, पुन मग्गमाँ पानी प्याइ ।
 जब भगी में दिवो उपास, नाँद मेरी सरमैनि, नाँद केरी मान ॥

सूती रे परदेसी लाल, तू आयी मेरे सरमनि मारि ।
 बाई हाल ते सरमनि मरचो, जाई सोग में हम मरि जाइ ।
 म्वां जसरत कूं ब्यो सराधु, रांमु-रांमु कही अघी मरी, कृष्ण-कृष्ण करि अघी मरचो ॥
 सरमनि लीला पूरी भई, लटी बोवती खिरफैनु दई ।
 पुनबंझ्या जे सुनिवो करें, श्रीरु गबैया जे गायो करें ॥
 सरमनि-कथा अत के द्वार, गए दिलिद्वार पल्ली पार ।
 गुरु नवलकिसोर कया गामे, श्रीरु जे सरमनि लीला सर्व सुनमैं ॥

२

गुरु-उस्ताद सुमिरि लऊं अपनों, सुमिरुं सारद माई ।
 तोइ सुमिरि फिरि कोनें सुमिरुं, जसुदा जी के कुंभर केन्हाई ॥
 सुमिरुं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गवरी गनपति सुमिरुं लाडिले, जिन दीनी मोइ बुद्धि बिसेस ।
 गनपति के चरननि की बलिहारी,
 मे तेरीई धरि रह्यो ध्यानु, सिव-संकर से पिता गवरि जिन की सहतारी ॥
 गवरी के सुत गिरजा के लाडिले, नैक राखि सभानें भाइ कें भनि ।
 तोइ सुमिरि फिरि कोनें सुमिरुं मेरी रखि पचनमें लाज ॥
 बडे परमात करेन को धैहरी, राजा पिरयम नें अपनों घोडा सजबायी ।
 सवु सिंगार करयो घोडा कौ श्रीरु सोने की उडाळ जीन घरवायी ।
 गमकि बान्धी असवार, नरवरवारी गढपती कैसें खेलें जातु सिकार ।
 करी बलिन की त्यागी श्रीरु दीनी ऐं हुकम सुनाइ सार ते सग लगि लीयी स्वानु सिकारी ।
 घोडा हांकि दीयो छतरवारी, हांन हार बलवान करेन-माति टरै न टारी ॥
 इत-उत देखतु बाइ अगारी भगिनि भाई, श्रीरु तीन पोत गई थूकि पाम ते घूरि उडाई ॥
 घोडा पै सोवैं छतरवारी, भगिनि पीठि फेरि गई ठाडी ॥
 राजा मन ही नें रह्यो विचारि, नरवरवारे भूप नें घोडा दीयो ऐं पिछमनो अपनो डारि ।
 सो घोडा ती बूढसार लगायो राजा बँठयो कचहरी जोरि कें सोव रह्यो ऐं छाडि ।
 नरवरवारे भूप नें भव भूप लीयो ऐं बुलाइ, कहि रह्यो हीयो खोजि ।
 चिता मंगी की घरवारी ऐं लायी सिपाही नैक जल्दी बोलि ॥
 सुगत लेंम भव नोकह बायी, पल ना करी अवार द्वार, भगी के प्रायी ।
 श्रीरु भगी लीयो बुलाइ, अपनी घरवारी ऐं मेजि दै, नैक ब्वाइ लै जाई संग लिवाइ ॥
 कहा कहि भाई जनें तेरी घरवारी, श्रीरु बोलि रहे ब्वाइ छतरवारी ।
 इतनी सुनि कें भगी घर अपने में बँसि गयो, भगिनि लई बुलाइ, कहा कहि भाई भूप ते ।
 मेरे माळें तिरिया चाहि, सो तोइ बोलिबूं कूं आयो सिपाई, भाजू नरवरवारे भूप को, भव कहि कैसें होइ ॥
 भाधु मरंगी नारि हमारी, भेरे जनें लै बैठंगी ब्याहता मोइ ।
 सवरी माइ पेट की खोली, फिरि भगी ते भगिनि बोली ।
 अवर बास कूं अबरई जाळें, छै-छै जूबाब जाते करि भाळें ॥
 कै राजा मोइ मरबाइ देगो, नाहि बचन ते राजा ऐं हुराळें ।
 भति जिय में घरपाइ, सवु सक्या ऐं छोडि दै, घर-बैठी मौज उडाइ ॥
 इतनी कहिकें भगिनि भाई, नैकन कीनी देर सग नीकर के भाई, ब्वांनैं वरयो कचहरी नें पाम ॥
 नरवरवारे भूप कूं सो दीयो ऐं सीसु नवाइ ।
 जब राजा नें बात सुनाई, मोइ नादि मारग में पाई ॥
 पीनि पोत गई थूकि पाम ते घूरि उडाई, दीजो मेद वटाइ, जीतू खैरि जीय की चाहें, ती मोइ सवरी हाल सुनाई ।

हात जोरि भगिनि भई ठाडी, नीच जाति वैंसें सुपच हमारी, तूम राजा, हम रैयत त्यारी ।
 मैं राजा तुमैं सँचु वताऊँ जी भीब-दानु देच छत्तरधारी ॥
 जब राजा को सरज्मी हूँगी, जीह-दान हमनैं तोड़ दीयी ।
 इतनी सुनि भगिनि बतराई, फिर राजा ऐ बात सुनाई, व्याकुल करिकें गात ॥
 निरबसिन की मौहूँ ना देखूँ, मैं बड़े मोर परमात ।
 तम राजा परबीन, बिन बेटा सुनि नरवरबारे तेरी दरसन नाएँ करिबी बीन ॥
 अलफ-बिसा तिहारे बलत अगारी, ओर ज्याई ते राजा मैं है गई ठाडी, दीनी बूरि उडाइ ।
 निरबसी आगें ते आयी, मति मेरी अलफ बिसा टरि जाइ ।
 सो भाइ गई मेरी बचूँ न बचाएँ, धरि ऐ कालु अबरमी लैं उडे ॥
 राजाऐ है गयी होसु भगिनि की तैं कहि रह्यी, जा तेरी नाएँ तिरिया बोसु ।
 नाई कछु बात सुपचिनी मैली, करैम-छीट चचरी मेरी पैहली सका ऐ हूरि ह्दाइ ।
 सबु दुविधाएँ छोड़ि दै, घर वैठी भीज उडाइ ।
 सो करैम-छीट हँम ही कूँ लागी, जामैं दोस कोन कूँ बियो जाइ ॥

लड़के-लड़कियों के गीत

लड़के-लड़कियों के लिए भी ऐसे अवसर आते हैं, जब उन्हें गीत गाने पड़ते हैं । ऐसे अवसर विशेषतः दो आते हैं । एक अवसर खार में दशहरे के अवसर पर टेबु-झांसी खेलने का : लड़के टेबु लेकर घर-घर जाते हैं, गीत गाते हैं और भीख माँगते हैं । लड़कियाँ झांसी लेकर घर-घर जाती हैं । दूसरा अवसर चट्टाचीव का आता है । इस दिन बच्चे अपने-अपने विद्यालय से एकत्रित होकर चट्टा उड़ा बजाते हुए घर-घर जाते हैं और गुरु के लिए दक्षिणा माँगते हैं । ऐसे ही अवसरों के कुछ गीत यहाँ संकलित हैं । चट्टो के गीतो में खड़ी बोली का पुट रहता है ।

मइया को-को बनकूँ चाले रे, बनराइ केसुरा^१ ॥

मइया कहा-कहा बन जी ते लायी रे, बनराइ केसुरा ॥

भाइ कूँ ती हँसुला, बहैन कूँ कठुला, तो गोरीबैन कारी-कठी लायी रे, बनराइ केसुरा ।

भाइ बाकी खिलकै, बहैन बाकी खिलकै, तो गोरीबैन रोमति डोलै रे, बनराइ केसुरा ॥

भाइ पै ते छीक, बहैन पै ते छीबी, तो गोरीबैन जाइ पहिराई रे, बनराइ केसुरा ।

भाइ बाकी रोवै, बहैन बाकी टिनकै, तो गोरीबैन खिलकति डोलै रे, बनराइ केसुरा ॥

२

इमली की जर में बलूरे की माला म्वाँ खेलें गँगरी के लाला ।

कोई खेलें सात काकरी, कोई खेलें खाई ॥

कूद परे लखिमन के लबका, नी से गऊ बराई ।

बिन गऊँ के लाल झूमका, पीरी गई उडाई ॥

आगरे में छमक-छमक, दिल्ली में सकराई ।

पँचक में नाहर आरे, करै राम बढाई ॥

३

इमली की जर में तेचडी पतंग, नौलें मोली नी से जग ।

जंग-जग में ने खीर पकाई, खीरजू में ने मोराऐ बढाई ॥

मोरा भईया पंखा दै, पंखा नैं मोह हाती दियी ।

हाती नें मोइ कुतपाल दियो, कुतपाल नें मोइ वजाज दियो ।
वजाज नें मोइ घोवती दई, फारि-तोरि लगेटी भई ॥

४

कोई कारो-सौ घोडा, करिहुलु-सौ घोडा, करकर लोह-चवाइ ।
सांकर तोरे गजा बेल की, कोई नखरगढ कूँ जाइ ॥
भेड परोसै भात, वकरिया सक्कर ई माँगि ।
नबिजा बेटा गौडुआ,^१ नाँचत हूँ आँमैं ॥
नखरगढ दो चिरीटियाँ, दो चिरीटियाँ कोई हुमी-दुमा लावें जाइ ॥

५

छोटी-सी गैया, कचपेदरिया, अस्सी डला भुस खाइ ।
बडे ताल की पानी पीवै, हँगन बटेसुर जाइ ॥
छोटी-सी गैया, छुटमासी, कोई छोटी सौ चामर खाइ ।
पीवै पानी समुदर की, कोई नगर दुर्हामन जाइ ॥
दुबै ते पोखर भरी, धीअन जेम गई पार ।
लँहै-लँहै गँडर काढ़ै, कोई काढ़ै सल्ले बाँस ॥
हरे बाँस की बाँसुरी, कोई खेलूँ वारी भाँस ।
खेलत-खालत कहाँ पोहँचे, कौ राजा के दरबार ॥
घोडा चढूँ तो गिर पडूँ, कोई ऊँट चढूँ दुगलाऊँ ।
कोई हाती लै दै भोजे को, कोई धूमत-धूमत जाऊँ ॥

६

कैसुरा वगैरे नकवैना, बारह मोती, बारह गैना ।
गैन-गैन की पतर चलाई, पतर चलायत कौडी पाई ॥
कौडी लै मैंने गग बहाई, गगा माता रेती दई ।
रेती लै मैंने भरभूजा ऐ दीनी, भरभूजा नें ठुड्डी दीनी ॥
ठुड्डी लै मैंने मोर चुगाए, मोर नें मोइ घोसी दीनी ।
घोसी मैंने फारि-चौरि लगेटी कीनी ॥

७

सैन में ते सैनवरिया निकल्यो, लाम्रो तैमाखू पीवे कूँ ।
तेरी तैमाखू जरि-वुझि जइयो, मैं तौ बैठी न्हावे कूँ ॥
चारि कुतगा इस घरि बैठी, चारि कुतगा उत घरि बैठी, कैंठि चली बँन पीहर कूँ ।
मेरी केसू रग-विरंगो, कैसे जाइ मनाइवे कूँ ॥

८

कैसुरा, कैसुरा घटार बज्यो, दस नगरी दस गाँव बस्यो ।
बसे-वसाए कोर गली, इन कोर गलीन ते टके भंग्यो, इन गलियौन में चितते ज्यो ॥
चित-मित को करो सिंगार, सुंमन के मूँह देउ अंगार ।
सुंम-सोम तिहारी चतुराई, हाती के डेरे लै गई काई ॥
वा काई को बडौ तलाव, बाँसि पोढे कैसूला ।
कैसूला की सात बहोरिया^२ भैन-भैन पीसैं भैन-भैन खाई, बडे मल्ल में जुझनि जाई

^१. रहीबुआ । ^२. बहोरिया—पत्तियाँ ।

बड़े मल्ल की पतलुरी, बाते काढी भलापुरी, भलापुरी में सौ-सौ तीर ।
 एक तीर भोड़ माँगी दै रे माँगी दै, दिल्ली जाइ पुकारेंगे ॥
 दिल्ली की ती कच्ची कोट, जाइ परी चूले की ओट ।
 चूली माँगी नौ-नौ रोट, एक रोट घटिगी, चूली बेटा लटिगी ॥

६

पातरिया रे पातरिया, तेरी पतरी तीर-कैमान रे ।
 गाइ ऊँ भाई, भैंस ऊँ भाई, भैंसा चो नई आयी रे ॥
 आधी रात नगाडो बाज्यो, भैंसा रेंकलु आयी रे ।
 हरीराम की प्याऊ चलती, बापँ जाइ सुकायी रे ॥
 पीमल, पीमल होटो नाएँ, दै भाली होटायी है ।
 भाली की तो भाली दूटो, लाख लाख भैल भोगायी है ॥^१
 लाख लाख भैल में दियो साँदी, सनसौ बी भजायी है ॥

१०

केसूला^२ घंटार बजइयो, बस नगरी, बस गाम बस्यो ।
 बस गए तीतुर बस गए मोर, सरी डुकरिया ऐ लै गए चोर ॥
 चोरन के घर खेती भई, खाइ-खाइ डुकरी मोटी भई ।
 बाक कू लै गयी बडा लियारी ॥
 बडा लियारी नें खीर पकाई, सबरे ग्वाख्या नोति जिभाए !
 डुकरी बँडी क्यारी में, लिरिया^३ बँटी कूड में, दै सारे के मूड में ॥

११

चिकनी मलरिया चिकने लड्डु, जाइ परे सरमन के टट्टु ।
 टाटिम टाम^४ भेंजीरा बाजें—
 लामो मलिका सैन की डोर, माहेलो गिरधारी डोर^५ ॥
 गिर्द-गिर्द की इंट पसार ।^६
 एक राई सूझा, एक राई परेबा ॥
 लाइ-लाइ हर जोतैन जइयो, चिल्लक चोटि गिलोदे जइयो ।
 कछु साई, कछु बाँधी पोटा, जाइ परी चिल्लो की चोट, चिल्लो डोलें लइयो-भइयो ॥
 घेरत-घाेरत चली पुकार, चलियो रे मेरे घासा ग्वाार ।
 भासा ग्वाार की नीली घोड़ी, दानो खात किरोड़ी^७ बोरी ॥
 फोरी ऐ जी, फोरी ऐ, दिल्ली जाइ पुकारी ऐ ।
 दिल्ली की है कारी कोट, जाइ डुबकी चूल्हे की ओट ।
 चूल्ही माँगी नौ-सौ रोट, एक रोट घटि गयो, चूल्ही बेटा लटि गयो ॥

१. इतते भागे एक पाठांतर ये मिलता है—

लट्टेन पँ लट्टु टूटि गए, सेलेन ते भरकायो रे ।
 जीतरा पँ रीत-बातसे, बँडा मोर नचायो रे ॥
 बँडा मोर में मारपी-साँदी, तार नौ मारपायो रे ।
 तार मारी रीत में, तरवारि मारी रेत में ॥

१. टेटुरा । २. निरिया-भेंडिया । ३. टाटमटाट । ४. ओट । ५. पकाई । ६. बनोने ।

(उ)

लड़कियों की गीत

फूहरि पीसै पीसनो, मेरी रावरिया, जैसी गिरारे कौ रेनु, भली मेरी रावरिया ।
 फूहरि छानै छाननो मेरी रावरिया, जैसी गिरारे कौ रेनु, भली मेरी रावरिया ॥
 फूहरि माड़ै माँडनो मेरी रावरिया, जैसी भादो की कीच, री मेरी रावरिया ।
 फूहरि पबै पवनो मेरी रावरिया, जैसी कुँम्हार कौ चाकू, री मेरी रावरिया ॥
 पैहली बिटोरा खोलती मेरी रावरिया, तऊ न सिकौ मेरी अगा, भली मेरी रावरिया ।
 दूसी बिटोरा खोलती मेरी रावरिया, तऊ न सिकौ मेरी अगा, भली मेरी रावरिया ॥
 तीजी बिटोरा खोलती मेरी रावरिया, भली सिकौ मेरी अगा, भली मेरी रावरिया ।
 पैहली कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, तऊ न चुपरो मेरी अगा, भली मेरी रावरिया ॥
 दूसी कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, तऊ न चुपरो मेरी अगा, भली मेरी रावरिया ।
 तीजी कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, भली चुपरो मेरी अगा, भली मेरी रावरिया ॥
 पैहली गगरी फाँसती मेरी रावरिया, सरकि परी बहवद, भली मेरी रावरिया ।
 सुसरई-सुसर पुकारती मेरी रावरिया, सुसर कचहरी बीच, भली मेरी रावरिया ॥
 जेठ ई जेठ पुकारती मेरी रावरिया, जेठ डुहल ऐँ भँसि, भली मेरी रावरिया ।
 दिवस ई दिवस पुकारती मेरी रावरिया, देवर खोलतु ऐ गँद, भली मेरी रावरिया ॥

२

माँ, भैया कहाँ व्याहे, परेवरिया, बेटा, दिल्ली-आगरे व्याहे, परेवरिया ।
 माँ, भावी कैसी आई परेवरिया, बेटा, कौआ ऊँ तें कारी आई, परेवरिया ॥
 माँ, भाभी को मोहूँ कैसी, परेवरिया ।
 नाँक चनाँ-सी, म्हो बटुआ-सी, धूँधट में मन लाई रे परेवरिया ॥
 थोरो खानो, बहुत कमानी, जे जगु जीती आई, परेवरिया ॥
 माँ, दरजबे कहा-कहा दीयो परेवरिया, आठ बिलैया, नौ चकचूँदरि, सोलहें मूँसे लाई परेवरिया ।
 माँ, भाभी कहा-कहा लाई परेवरिया, बेटा देहरि-से गूजा, छप्पर-सी पूरी लाई परेवरिया ॥
 माँ, भाभी कैसी खाली^१ परेवरिया, बेटा, चका पै चका उड़ाती^२ परेवरिया ।
 माँ पाँनी कितो पीती^३ परेवरिया, बेटा कल्ला पै कल्ला झुकाती^४, परेवरिया ॥
 माँ, रोटी कैसी करती^५ परेवरिया, बेटा, चकला से सरकाती^६ परेवरिया ।

३

ओलाती तर जी बए, सुगनाँ, उपजे नौन्दस पेड़ सुगनाँ ।
 एक ललाजू कें सात बहुरिया, ती एक ते एक भलूक सुगनाँ ॥
 एक ललाजू की गोबर करति ऐ, ती एक उर्चामन जाइ सुगनाँ ।
 तीजी ललाजू की पाँनी भरति ऐ, ती चौथी खँवन जाइ सुगनाँ ॥
 पाँचई ललाजू कू रोटी पेमति ऐ, ती छटई परोसेन जाइ सुगनाँ ।
 एक ललाजू को बीहोतई प्यारी, ती पलिका ते धाम न देड सुगनाँ ॥
 फूलि बिटोरा हूँ गई सुगनाँ, ती पर के द्वार न सँयाइ सुगनाँ ।
 ज्याई गम के बढई ऐ बोलो, ती पर को द्वार छिलाइ सुगनाँ ॥

१. पाठांतर—खाली । २. उड़ाती । ३. पीती । ४. झुकाती । ५. करती । ६. सरकाती ।

४

भोग लिपामत है मोती मोड़ पाए (री) माँ, वे मोती मैंने सासु कुँ गहाए (री) माँ ।
 सासु निपूती नें भरि पत्थर पै फोरे (री) माँ, फूटेक फुटाए मैंने माइ कूँ दे चाले (री) माँ ।
 माइ विचारी नें गगा-जमना बहाए (री) माँ, गंगा-सी मेरी माइल कहिए (री) माँ ।
 और जमना-से मेरे भईया जो कहिएँ माँ, सोने की लोठी मेरे बीरेन कहिएँ (री) माँ ॥
 कंजरिया-सी बीरानी जो कहिए (री) माँ ।
 जो के खेत कइआ उपजे, हुल-मुसर मेरे नैनदेक (री) माँ ।
 कमल-फूल मेरी भोजइया जो कहिए (री) माँ, कारे ई कारे मेरे देवर कहिए (री) माँ ॥

५

झाँसी

बाबाजी के चेली-बेला, भिच्छा माँग आए जी ।
 भरि चुटकी^१ मैंने भिच्छा डारी, चूँदरिया^२ रेंगि लाए जी ॥
 चूँदरिया की उरकनि-मुरकनि^३, है मोती मोड़ पाए जी ।
 वे मोती मैंने सासु ऐ दिखाए जी, सासु निपूती ने भरि पत्थर पै फोरे जी ॥
 फूटे-फाटे मैंने माइ कूँ दे चाले^४ जी, माइ विचारी नें वे गगा-जमना बहाए जी ।
 गगा से मेरे बीरेन कहिएँ, कमल-फूल भोजाई जी ।
 कारे-कारे देवर कहिएँ, कजरिया बीरानी जी ॥

६

सातो रे भैया जुरि बैठते, रंगीली झाँसी ।
 जिनमें हमारे भैया कोन से, रंगीली झाँसी ॥
 पगड़ी ती बाँधी भैया लचपची, रंगीली झाँसी ।
 सातो री भावज जुरि बैठती, रंगीली झाँसी ।
 सातो री भावज जुरि बैठती, रंगीली झाँसी ॥
 इनमें हमारी भाभी कोन सी, रंगीली झाँसी ।
 बिछुआ ती पैहिरा भाभी, रंगीली झाँसी ॥

७

तुम सुखवार कैं हौं सुखवार ॥
 झमेली की जर मैंने निकरी पतग, ताकी हुवा सगी मेरे भग ।
 जो नाँ देती अपटि किवार, तो उडि जाती कोस हवार ॥ तुम०
 मेरी परोसिल कूटै धान, ताकी भनक परी मेरे कान ।
 वा रँडिया नें ऐसे छरे, मेरे हातनि छाले परे ॥ तुम०
 एकु मिलो खसखस की दानो, नौ दिन कूटो, दस दिन छानो ।
 ताकी मैंने राँधी खीरि, नौ दिन परी पेट की पीर ॥ तुम सुगवार०

८

बाँसन के घर बनिवाँ आया, आकर उसने भाँन नवाया ।
 पानामें मिस्तर महाराज, न्याँतो कहेँ मुम्हारी भाज ॥

^१. चुटकी—अगुहा और एन ऊँगलियों से जिनकी धनु उठाई जा सके, उतनी 'चुटकी' बटनाती है । ^२. चूँदरिया । ^३. उरकनि-मुरकनि । ^४. दे चाले ।

ब्रज का लोक-साहित्य

जम से कह बजार को आया, हलवाई से सौदा लाया ।
 मालपुत्रा, रवडी, पकवान, सबी तरह की भाजी जौन ॥
 भिस्मर की फिर दीजे आए, जल्दी से फिर पाँव धुवाए ।
 चाँकि में निठलाए जाइ, सबही साल परोसे जाइ ॥
 बनियाँ वाली भरि-भरि देइ, दामन खाँची करि-करि देइ ।
 जब बनियाँ ने पीटा पेट, कहै वनैनी सुनि लै सेठ ॥
 ऐसी दामन कबहुँ न न्योहूँ, भ्राज होइ सो वैंसी भुगलूँ ।
 थापी बसत कि फूली दामन, हारखी बनियाँ जीखी दामन ॥

६

भावी नें देवर सलकारपी, गारी बई ओर गुलचा मारखी ।
 जाइ भइया पै करी पुकार, भइया बोली भरे गैमार ॥
 तू कहा जानें भावी की सार, कीसी होगी तो पै प्यार ।
 एक सात भोज मैं बई, सरैभ के मारें मैं ना कही ॥
 सा भइया, उठि बै भेरे प्यारे, हँस-नृत्य दोनों हुग्ये न्यारे ॥

१०

बढ-भागिनि जो होवै नारि, बट्टा आमैं ताके द्वार ।
 हँसि मुसिकाइ सवै ते बोलै, रैसी फूली अगन डोलै ॥
 हुरे धन्य भाल श्रिपुरारी पूरै भासा भई हमार ।
 ऐगे बट्टा नित-नित आनि, मन हुरे की कसी छिलामैं ॥
 गेवा सब की कहै बनाइ, चिरजीवै सबके लरकाइ ।
 मन-विचारि हिय सँ भस बोलै, पुत्र-कुली में सब तिय डोलै ॥
 पुत्र-दुप जा तिय कूँ होइ, ताकी गति प्रभु जानै सोइ ।
 सो तिय गनपति पूजा करै, ताके सब दुख गनपति हरै ॥

११

गुरु गोविंद का कर ध्यान, सेठ-बूही का कहै वयान ।
 एक चूही नौ मन में डरी, सखरि सेठ की बोली परी ॥
 पू, पूँ, पू धोती में करै, बनियाँ बोली-भकरे फिरै ।
 जब बनिए नें बई दुहाई, घर सँ दौढ वनैनी आई ॥
 रूपा घोर कोनाहल मारी, गीर हुई बनियो की भारी ।
 कोइ लेइ सेर-दुखेरी, कोइ ले पक्की पेंसिरी ॥
 गोइ देवता गुमिरन साथे, सब नें मिलिपंचायत कीनी, बार-केर चूही कुँ दीनी ॥
 सा चूही तू बाहर भा, धी-सफ़र का भोगु लगा ।
 जब चूही ने दाँत दिखाए, सात-पाँच बनियाँ लुडकाए ॥
 जब चूही ने दिखी झटोका, खुलि गई बोली चले पिटोका ॥
 गोइ न्यो बिन में गई चूही, फहन लगे भव हारी तू ही ।
 भारी बन्जर सुनि लेठ मही, बीर सेठ की चौपई कही ॥

१२

चूही नौ मन में डरी, सखरि सेठ की बोली परी ॥
 पू, पूँ, पू धोती में करै, बनियाँ बोली-भकरे फिरै ॥

अब तो मैं पीढ़र^१ कूँ जाऊँ, करि कैं भोजन तुम्हें बिभाऊ ।
 अब फूहर नैं र्हानु सैंजोयो, तातो-सीरो नीर मिलोयो ॥
 र्हाय-भोइ चौका में आई, धोती-फाड़ि आभि-सिलगाइ ।
 अब फूहर नैं रौषी कढी, जब उफने तब रोवैं खडी ॥
 र्हो की फूँक उफान में मारें, दोउ हातें ते माँखी मारें ।
 फिर फूहर नैं पिया बुलाए, अपने ल्हंगा पै बैठाए ॥
 फिर फूहर नैं कियो सिगार, माथे पै बिदा असल रंगार ।
 अब फूहर ने सुरमा सारधो^२, सुरमा बहि होठें पै आयी ॥
 फिर फूहर पीढ़र कूँ गई, फरिया^३ नीचें लटकति रई ।
 बाप कहैं मेरी लाडो आई, सिर के वार कहाँ धरि आई ॥
 ऐ बाबुल, मैंने दोऊ कुल तारे, सास-सुसर हातें ते मारे ।
 बडे जेठ ते करी लडाई, नैनदेऊ की डाडी जारी ॥
 एकु रह्यो मेरे अरमान, खसैम निखट्ट के काटूँ कान ।
 आ यौ बसतक सुनि लेउ सही, फूहर रौड की चौपई कही ॥

१३

उठ, उठ री मोहन की मा, भीतर ते तू बाहर आ ।
 गढे-गढाए रुपिया ला, पडित जी कूँ बागो ला ॥
 मिसरानी कूँ तीहर ला, चट्टन^४ कूँ मिठाई ला ।
 चट्टा दिग्ये बडी असीस, बेटा हुग्यो नौ सी तीस ॥
 आयो बसतक सुन चकपैया, अब का देखो लायो रुपैया ।

खेल के गीत

विवाह, जन्म आदि के उत्सवों पर स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, उनके दो प्रकार होते हैं ।
 एक तो अनुष्ठान संबंधी होते हैं—जो परंपरा से बंधे हुए हैं, जिनका गाया जाना अनिवार्य है ।
 इन गीतों के हो जाने के उपरान्त फिर उन्हें यह अवकाश मिलता है कि वे चाहे जैसे गीत गाएँ । यही
 दूसरे प्रकार के गीत 'खेल के गीत' कहे जाते हैं ।

अरे मेरी चरखा हुल्लेदार, परीसिन सुनियो बँहना ।
 जा दिन ते मेने करी कताई, नयु सोने की बनवाई,
 बनबायी गये कौ हार, परीसिन सुनियो बँहना ॥ मेरी चरखा०
 लकडी बिसि पच्छिम ते आई, पाए गए-नए रंग चढाई,
 ये लकुआ पै भजव बहार, परीसिन सुनियो बँहना ॥ मेरी चरखा०
 जा दिन मेरी चरखा चटकै, मोह मरी खाट पै पटकै,
 या पै लुटो मौज बहार, परीसिन सुनियो बँहना ॥ मेरी चरखा०

२

सिमा, लछिमन और रंग, राजि कैं चले अजुध्या-नाम, पूजे मात-पिता के पाम, चले री बन कूँ ।
 ए जी परयो नगर में सोर, सबरी बस्ती रही ऐ रोक, ऐसी लायो ऐ जी तोख, बिन के तन कूँ ॥
 दोउ कुँमरि जेमरि के बारे, वे तो नगे ई पाम सिवारे, जसरत की आखिन के तारे, छोड़ि चले रजवाँनी कूँ ।
 रोइ-रोइ कहैं सुमिया मया, तरपूँज्यो बछरा बिन गैइया, बावर फारे हाइ केकईया, अब कहाँ दूहु मन मोहन कूँ ॥

१. पीढ़र—मातृ-गृह । २. सारधो—लगाना—'सारना' क्रिया से । ३. फरिया—भोड़नी ।

४. चट्टन—विचारों ।

३ सामयिक

या वनखंड में मेरे भैया नाएँ, बाबुलनाएँ रमा, नाई भैया रघुवीर ।
 वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 रोड़-रोड़ भीजै हरि की पीरी-सौ डुपट्टा रमा, कोन बँधावै हरि कूँधीर ।
 वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 या वनखंड में मेरे चाची नाएँ चाचा रमा, नाई भैया रघुवीर ।
 वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 रोड़-रोड़ बहि रही हरि की भँसुअन बारा रमा, कोन बँधावै हरि कूँधीर ।
 दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥
 या वनखंड में मेरे भैया नाएँ भाभी रमा, नाई भैया रघुवीर ।
 वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 रोड़-रोड़ भीजै हरि की पीरी-सौ डुपट्टा रमा, कोन बँधावै हरि कूँधीर ।
 वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 मात कैसै ते कैसै कहिने रमा, कहाँ छोड़ि आयी अपनो वीर ।
 दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 रोड़-रोड़ भीज्यो हरि की पीरी-सौ डुपट्टा रमा, कोन बँधावै हरि कूँधीर ।
 दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 मात सुमना ते कैसै कह्यो रमा, सीआ काजें दे आयी वीर ।
 दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे
 रोमैं हरि छाती फारि अकेले रमा, कोन बँधावै हरि कूँधीर ।
 वारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयी तीर ॥ हरे

४

पिया आवन कहि गए परसो, कब आवंगी बैरिन परसो ।
 मन चाहत लोग-सग जाइ मिलो में, मोषे उढी ऊ न जाइ बिना परसो ॥ पिया आवन०
 कोई भाज कहै, कोई काल कहै, परसो कब आवंगी बैरिन परसो ।
 मन चाहत भव छोड़ लाज-सरम सब, खोल किवरिया मिलौ हर सो पिया-आवन कहि गए परसो ॥

५

मैंने ओढी स्याम रजाई जवते, जग-जडी बडि भाई ।
 सील-सुल कतवाइ बुनाई, धरमें के घोषी पै धुलवाई ॥
 कारीगर करतार, आप छेरी मैं करी छपाई ।
 सत की सुई, प्रेम की पेचक, भगजी मोच्छ लगवाई ॥ मैंने ओढी०
 पूरव-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, लवाई-नोढ़ाई ।
 'दूरीदास' ने ऐसी ओढी, तीन लोक में छाई ॥ मैंने०

६

तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ॥ हेर
 बलि कृष्णा, बागो में बलिये, सुम माली हम मानिन रनिने ।
 दोनां मिलि कुनवा लोडिगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ॥
 बलि कृष्णा, तानो पै बलिये, हम घोविन नून पोनी रनिने ।
 दोनां मिलि साडी घोविने कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ॥

चलि कृष्णा, मँहलो में चलिये, तुम राजा हँम रानी बनिये ।
 दोनो मिलि सेज विछाविये कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ॥
 चलि कृष्णा, रसोई में चलिये, तुम बाँमन हम बाँमनी बनिये ।
 दोनो मिलि सेकें फूलकिया रे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ॥
 चलि कृष्णा हम मंदिर में चलिये, तूँम पुजारी, हँम पुजारिन बनिये ।
 दोनो मिलि पूजा करिये कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ॥

सामयिक गीत

री बँहिन मेरी, भारत में फिरगी डाकू बँसि गए ।
 जिन नें डारी ऐ लूट-मचाड, बँहिन मेरी भारत में ० ॥
 री बँहिन मेरी, माल-खजाने सबु लै गए ।
 जिन्नैं दीने ऐ लोटु चलाइ, री बँहिन मेरी भारत में ० ॥
 री बँहिन मेरी, गायन के खिरक खाली है गए ।
 जिन्नैं दीनी ऐ सबु कटबाइ, री बँहिन मेरी भारत में ० ॥
 री बँहिन मेरी, दम्-बही भुपनो है गयो ।
 और दुरलभ है गई छाछ, री बँहिन मेरी भारत में ० ॥
 री बँहिन मेरी, जानें सत्य-नीति नहि जानी ।
 और करि दीयो सकतल गान, री बँहिन मेरी भारत में ० ॥
 री बँहिन मेरी, माल हरांमी खन रहे ।
 जिन्नैं करि दए तग-किछन, बँहिन मेरी भारत में ० ॥
 री बँहिन मेरी, मन कपट, छल-बसि रह्यो,
 जाको करि रहे विमखान, बँहिन मेरी भारत में फिरगी डाकू बँसि गए ।

२

मेरे दिल के भंदर जाइ जाँने डारयो किनैं ॥
 दुनिया कहति गँह-गँह, चावल कोन चीज ऐ ।
 सगु तो जाइयो जी को घाटी खाँव कोन ऐ ॥
 दुनिया कहति खँया-खँया, भौहर कोन चीज ऐ ।
 सग तो जाइयो कच्ची-मईसा, बिलस कोन ऐ ॥
 दुनिया कहति बँटा-भावी कोन चीज ऐ ।
 उडि जाइयो हसु भकेली, मनवति मानें कोन ऐ ॥
 दुनिया कहति मँहला-मँहला, कबरा कोन चीज ऐ ।
 उडि जाइयो हसु भकेली, जाइ बिलस कोन ऐ ॥

३

बदे जेन-जीन नाइ मोचें, तोइ ऐगो राँम दबोचें ।
 मन करे देही प गुमान, पाऊ दिन घरनी में मिनि जाइयो ॥
 नु पापु बरे छोटक में, नी ईयर देन मरग में । पाऊ दिन घरनी में ०
 जब पापु-नटा मुटंगी, जब निर घरनी बूटंगी । पाऊ दिन घरनी में ०
 सीना की नाँम जो जेन, देहु मे देहु मरग में, किंकि विजे भगमान ॥ ५

घटे जख गए जाने है

मैंने मनुष्य मेरे दीर्घरे री मनुष्य, मोनीन न जंज । देव
 गर मनो मनुष्य जाने री भेन, मोनीन निबाइ ॥

तोह पानीरा कैसें पिवाऊँ लाला, ये व्याहूँ कौं खोलु ॥
 व्याहो-व्याहो मति करे भैरवाँ, में तेरो मा कौ जायौ वीर ।
 मा कौ जायौ वीरा रे भैया भरपु बताइ ॥
 तेरी सब कुनवा भच्छे ऐं री, भैया बीमार ।
 मेंनें डोल कुऐं में छोड़यो, सासुलि भैया बीमार ॥
 में कोस चली नौ है कोस, वीरा लागि आई मोइ प्यास ।
 भैया-भैया मति करे, गोरी में तेरी भरतार ॥
 तू ब्रजन किनरिया खोलि री भैया, में लायौ बड़ नारि ।
 तेरो व्याहूँ भयी न सगाई लाला, कहाँ ते लायौ लिवाइ ॥
 कुऐं की पनिहारी भमा, में लायौ लिवाइ ।
 सोचि-समझि कैं रहियौ रे बेटा, बहू ऐं जवान ॥
 मेंने कच्चे दूध पीए जो सासुलि, है गई जवान ।
 तैंनें खट्टी छाछि पिवाई री सासुलि, जाते है गए नादान ॥

५

कान्हा, गागरिया मति फोरे, मेरी सासु लहंगी रे । टेक
 सासु दुकरिया मोरी खोटी, गारी देह न देगी रोटी । हरे०
 नद बढी छरछरी मेरी सुवा धरंगी रे । कान्हा, गागरिया० ॥
 है की चारि, चारि की सोलै, कहि-कहि बूँठ पिया ते बोलै । हरे
 सौति बढी खेहारी पिया के कान भरंगी रे । कान्हा, गागरिया० ॥
 कछू न बिगरे स्याम तिहारो, मेरी होइगी बेश-निकारी ।
 दै-दै गारी बिरन की परजा, हँसी करंगी रे । कान्हा, गागरिया० ॥
 हा-हा खाले, पल्ले तिहारे पैयाँ, डारी मती गले गल-बैदियाँ
 'हुकमसिंग' मोतीन की लरी मेरी टूटि परंगी रे । कान्हा, गागरिया० ॥

६

एक बिरछ तर दुखिया रोवै राँमा, सुखिया भनावन जाइ री, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ।
 कहा दुखु री तोइ भैया-वबूल की राँमा, कैं दुख मा-जाए वीर कौ, भाएली मेरी, कोन के लाल हरे ॥
 कैं दुखु री तोइ सासु री सुखर कौ राँमा, कैं परवरिया नाह कौ, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ।
 ना दुखु री मोइ सासु-रि-सुखर की राँमा, ना परवरिया नाह कौ, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ॥
 ना दुखु री मोइ भैया री वबूल कौ राँमा, ना दुखु मा-जाए वीर कौ, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ।
 तेरे भैरव मेरी भौ-दस बेटा राँमा, एकु उधारी देह री, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ॥
 एकु दुखु री मोए कूखि री बैरिनि को राँमा, जनि मारे मेरे मानरी, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ।

७

पति, न्यारी है जा, रोज़ रवंगी रख-खीरि ॥ टेक
 पति, खानो लाई, खाने में लाई पूरी चारि ।
 पति, खानो खादलै, छोटी नैनदिया के वीर ॥ पति न्यारी०
 पति, प्याली लाई, प्याले में लाई सरजत-धोरि ।
 पति, प्याली पी लेच, छोटी नैनदिया के वीर ॥ पति हिहू है जा०
 पति, दोनों लाई, दोनों में लड़ू लाई चारि ।
 पति, लडुआ खाइ लेच, छोटी नैनदिया के वीर ॥ पति हिहू है जा०
 पति, चौपट लाई, चौपट पै लाई मोटें घाठ ।

पति, बाजी जीती, छोटी नैनदिया के बीर ॥ पति न्यारो०
 पति, सेज बिछाई, सेजो पे नगि रहे तकिया चारि ।
 पति, पलिकनु सोइ चार, छोटी नैनदिया के बीर ॥ पति हिहू०
 पति, तांगे मंगाए, तांगे पे भाए झुका चारि ।
 पति, मोटर बंठी, छोटी नैनदिया के बीर ॥ पति हिहू० ।

८

अब रंगवाड दे सुरत नुंदरिया, अब रंगवाड दे ।
 जाना, जाना सँहर कूँ राई लाना, मेरे राजा कीहूँ गई सगई ॥ अब०
 जाना, जाना सँहर कूँ लाना मेड़ा, मेरे राजा के परि गए फेर । अब०
 जाना, जाना सँहर कूँ लाना सोना, मेरे राजा का हुँगा गोना ॥ अब०

९

सामुलि, सँमरीअलि मिलि आजु, अलीरी बिदा कराइ दे री ।
 हरे-हरे गोवर अँगल लिपाइ, मोतियनु चीक पुराइ लै री ॥
 नाइनि चुलाइ मेरी सिर खुलवाइ, मेरी सिर धुलवाइ दे री ।
 चंदन-रुख कटाइ मेरी सामुलि, चित्ता चिनाइ दे री ॥
 बार बरे जँसँ रेसँम-से, हाइ जरे जँसँ चंदन की-सी सकड़ी ।
 मँया-मँया रोइवे अँमँ, जनकूँ धीर बँधाइ दे री ॥

१०

सामुलि सँमरीअलि मिलि आजु, अलीरी बिदा कराइ दे री ।
 हात कंगी डोरा बाँधी पे गुभाए बार, सुरई की कीसु कीड़ीन ते झूरे बार ॥
 भाये ऊपर बँना-बिबी, बिदिया सँ लागे लाल ।
 नाँक में बुलाक मेरी भजव बनीएँ लाल, सामुलि लै देव जाले आजु, फेरि नहिँ अँनि की ।
 कानन में करेन फूल बालेन में लागे लाल, सामुलि लै देव जाले आजु, फेरि नहिँ अँनि की ।
 गारो हरवा-हँसुली, चंपाकली लागे लाल, बीर की जंजीर मेरे गरे में परी ऐ लाल ।
 सामुलि, लै देव लोगन हार में फेरि नहिँ अँनि की ।
 बहिन में बाजूबंद, हय फूल सँ लागे लाल, सामुलि लै देव मुँवरी आजु फेरि नहिँ अँनि की ।
 कमरो में भाड़ी साने, पेटी सँ लागे लाल, सामुलि जोवन की झंनकार, मोरै गैल चल्थो नावाइ ।
 पामन में छागल-लच्छे, बिछुअन ते लागे लाल, सामुलि बिछुअनि की झंनकार, फेरि नहिँ अँनि की ।
 हरीचंद के हात मेरी भाएली बुलाइ दे लाल, मँना मिलि लेज हात पसार, फेर नहिँ अँनि की ।
 रामचंद के हातेन मेरी रसु दीयो जुरवाइ ।
 संग की सहेली न्यो ठठि बोली, एक दिना सबई नो जाना ।
 ऐसी तुलोचनि अब न मिलैगी, अलीरी बिदा कराइ दे री ॥

१०

चल-चल पिया, तू चाग कूँ, क्या-क्या बची तेरे ध्यान में ।
 माली-मलिनियाँ दो जने, नीकू चने मेरे ध्यान में रे ॥
 चल-चल पिया तू ताल कूँ, क्या-क्या बची तेरे ध्यान में ।
 भीमर-भिमरिया दो जने, मछली बली मेरे ध्यान में ॥
 ध नी ए में छोटी नागिनी चल-चल पिया, लिए कुएँ, क्या-क्या बची तेरे ध्यान में

मकिन * मकिनियाँ दो जने, मसए^२ बसो मेरे ध्यान में ॥
 चल-चल पिया बिस मैहल कूँ, क्या-क्या बसो तेरे ध्यान में ।
 रजवा-रजनियाँ दो जने, खिडकी बसो मेरे ध्यान में ॥
 चल-चल पिया, बिस रसोई में, क्या-क्या बसो तेरे ध्यान में ।
 बौनन-बौननियाँ दो जने, कौनो बसो मेरे ध्यान में ॥

११

राजा सिलबिल्ला, मैं तेरी गँभ खाँऊ रे ।

जब मेरे राजा ऐ प्यास लगैगी, फूटी कुल्हरिया, पुखरिया कौ पानी रे ॥
 जब मेरे राजा ऐ मूख लगैगी, बी की फुलकियाँ, चौरिया कौ सांग रे ।
 बी मेरे सैयाँ ऐ सुरमाँ बहिएगी, सौने की छराई, अलीगढ की सुरमाँ रे ॥
 जब मेरे राजा ऐ जाडी लगैगी, फाटी गुदरिया, कँवरिया कौ धुरी रे ।
 जब मेरे राजा ऐ ओष लगैगी, टूटथी सटोली, कँवरिया कौ धुरी रे ॥

१२

जरद की दारि गैहून के फुलका अब जेमम में कहा बीजुरी परे ।
 हनेली ते बनि-बनि के निकरे, अब कहा मेरे सैया कौ सोरी लगे ॥
 रातो पानी बरघो रे ततेंडा^३ अब कहा न्हाइने पै बीजुरी परे ।
 आधी राति छिटकि रहे तारे, खेलत में कहा बीजुरी परे ॥
 फूलन की सेज मैहल में बिछि रही, सोमत में कहा बीजुरी परे ॥

१३

कवळ न बोयी ज्वारि-बाजरी कवळ न जाए लढा-भरि के ।
 अब के लावे ज्वारि-बाजरी, अब के लावे लढा-भरि के ॥
 कवळ न बाध्वा हरघो-हरघो स्वाफा, कवळ न जाए जमाई बनि के ।
 अब के बाधू हरघो-हरघो स्वाफा, अब के भामे जमाई बनि के ॥
 कवळ न जाए गाडी-बैहली, कवळ न बैठी मनु-कर के ।
 अब के लाँगे गाडी-बैहली, अब के बैठी मनु करके ॥
 कवळ न जाए स्वाफी में लडुया, कवळ न जाए मनु करके ।
 कवळ न रोई मैया-मैया करि के, कवळ न भाई मनु करके ॥
 अब के भइयो मैया-मैया करि के, अब के भइयो मनु करके ॥
 कवळ न जाए सूत के पलिका, कवळ न सोई मनु करके ।
 अब के साँके सूत के पलिका, अब के सोओ मनु करके ॥
 कवळ न जाए साली-साला, कवळ न बैठी गोद-भरि के ।
 अब के जाओ साली-साला, अब के बैठी गोद-भरि के ॥

१४

रे गुन देनो रे सोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥ टेक
 चँटी जदो पहाड पै रे, नौ मन काजर सार ।
 हानी तो बाने गोद लियो ऐ, ऊँट लियो लटकाइ ॥
 रे गुन देनो रे सोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥
 एए चबो मे मुन्यो जंगल में उपज्यो डूइ ।

बीटी के धँन पाँसुरे, कोई पीमँन लागे ऊँठ, रे मन ऐसी भावे ॥

रे तुम देखो रे लोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥

एक भचभी मै सुन्यो पोखरि में लगी गई आगि ।

पाँनी-पाँनी जरि गयी, जामें मछली खेलें सार ॥

रे तुम देखो रे लोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥

एक भचभी मै सुन्यो कूआ में लगी गई आगि ।

घरती के क्योला भए, भबर की है गई राखि ॥

रे तुम देखो रे लोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥

पैहिलें तो रे मै नई, जा पीछें दोल भाई ।

जाके पिछें पिता हमारे, जा पीछें मेहतारी ॥

रे तुम देखो रे लोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥

सुसर हँभारे अस्सी वरस के, सास हँभारी ब्बारी ।

सास-सुसर की परे भँवरिया, जेठ करे भग्गारी ॥

रे तुम देखो रे लोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥

छीर-छिठाँनी बैठि कें रे, करि रही सोच-विचार ।

बलेंभ हमारे पाँलनं रे, मैई झुलामन हार ॥

रे तुम देखो रे लोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥

सई-साँझ बेटा भयी, शीर आधी पै है गयी बाप ।

ग्याँनी होइ सो ग्यान बताओ, मोरई है गई माठ ।

रे तुम देखो रे लोगी, नईया में नदिया डूबी जाइ ॥

१५

सैयाँ मिले मन-भुँमनी, हाइ मेरी ऐसी नसीब । टेक

मारि-मारि मँनेँ पनियाँ कूँ पठाए, फोरि आए गगरी, सँमेंटि ल्याए लेजू ॥ सैयाँ०

मारि-मारि मँनेँ हरु सँ कें पठाए, टोरि आए जुआ, बखेरि आए बीजु ॥ सैयाँ०

मारि-मारि मँनेँ सुसरारि पठाए, टोरि आए नाती, लिबाइ लाए मोइ । सैयाँ०

मारि-मारि मँनेँ सेजो पै पठाए १, टोरि आए पलिका, ढकेलि आए मोइ ॥ मेरी ऐसी नसीब ।

१६

मेरी जीजी, मै तो न्यारीअ रहूँगी ॥

मँहला-दुमँहला सब लै लउँगी, फूटी मडैया ददा जू कूँ दउँगी ।

दउँगी तो दउँगी, नही बग्याँ लै लउँगी, फूटी मडैया मेरी सोवरि कूँ होइगी ॥

गैया-भँसिया सब लै लउँगी, दूडी-सी छिरिया ददा जू कूँ दउँगी ।

दउँगी तो दउँगी, नही बग्याँ लै लउँगी, दूडी-सी छिरिया मेरे लकिँनु कूँ होइगी ॥

साल-डुसाला गिव लै लउँगी, फटी मुदगिया ददा जू कूँ दउँगी ॥

दउँगी तो दउँगी, नही धीऊ लै लउँगी, फटी मुदगिया मेरे जलने कूँ होइगी ।

गरिया-गिरिया बक लै लउँगी, फूटी बटुरिया ददा जू कूँ दउँगी ।

दउँगी तो दउँगी, नही बग्याँ लै लउँगी, फूटी बटुरिया मेरी छोरी कूँ होइगी ॥

मँहने-गुगिया गिव लै लउँगी, दूटी भग्गिया ददा जू कूँ दउँगी ।

दउँगी तो दउँगी, नही बग्याँ लै लउँगी, दूटी भग्गिया मेरी नवेदी कूँ होइगी ॥

१७

लेते क्यों नहीं भ्राए पिया, मेरी अञ्जल सुरमाँ चानी ।
 कौन के ने बाग-बगीचा, कौन की हलदी, कौन की जिभ जाल अटरिया, खिचगई रेसम डोरी ।
 नेठ के ने बाग-बगीचा, देवर की हलदी, चिनई पिया की लाल अटरिया, खिचि गई रेसम डोरी ॥ लेते क्यों०
 कौन हमारी पिसनो-कुटनो, कौन भरंगी पानी, कौन हमारी तपें खुइया हँम फूलवे रानी । लेते क्यों०
 नेठ हमारी पिसनो-कुटनो, दिवद भरंगी पानी, साहव हमारे तपें खुइया हँम फूलवे रानी ॥ लेते क्यों०
 कौन के ने पेरा-सहू, कौन की जलवी, कौन की जे बालूसाही, गरि सिरहानें सोई ।
 पेरा लाए, सहू लाए, खाइ लई और जलवी, बालूसाही कुतिया खाइ गई वैठि पलंग पै रोई ॥ तुम लेते क्यों०

१८

सुख सोइले की बतियाँ भैया, सुनते जाइयो रे ॥
 भैया, भाभी के-से निकलिस-हरबा लेते भइयो रे ।
 भैनि क्या पागल है गई हौ, भैनि क्या सिरिन है गई हौ ।
 भैनि क्या छिडिखा फाँदिगे, भैनि क्या लरिका बेचिगे ॥ सुख सोइले की०
 भैया, भाभी के-से दस्ते-बडिया लेते भइयो रे ।
 भैनि का पागल है गई हौ, भैनि का सिरिन है गई हौ ।
 भैनि का छिडिखा फाँदिगे, भैनि का डाँकी डारिगे ॥ सुख सोइले की०
 भैया, भाभी कै-सी लगडी-पेटी लेते भइयो रे ।
 भैनि का सिरिन है गई हौ, भैनि का पागल है गई हौ ॥
 भैनि का लरिका बेचिगे, भैनि का तिरिया बेचिगे ॥ सुख सोइले ०
 भैया, भाभी कै-सी पाइल-बच्छे लेते भइयो रे ।
 भैनि का सिरिन है गई हौ, भैनि का पागल है गई हौ ॥
 भैनि का छिडिखा फाँदिगे, भैनि का लरिका बेचिगे ॥ सुख सोइले ०
 भैया, भाभी कै-सी साड़ी-अफर लेते भइयो रे ।
 भैनि का पागल है गई हौ, भैनि का सिरिन है गई हौ ॥
 भैनि का डाँकी डारिगे, भैनि का छिडिखा फाँदिगे ॥ सुख सोइले ०

१९

साईं सिलबिल्ला, में तेरे मारें मरी रे ॥
 जब सिलबिल्ला नें कपडे पहिरे, पासी की जामा, मुसीका की टोप रे ।
 जब सिलबिल्ला नें बाँचे हथियार रे, सुजा की बरछी, सिरकिया की टोप रे ॥
 जब सिलबिल्ला नें घुडिला सजायी रे, चरखा की घुडिला, वीनि की लगाम रे ।
 जब सिलबिल्ला चलो री सधुरारि रे, राति-दिन चलें वु तौ डाई-सीन कोस रे ॥
 जब सिलबिल्ला बु पहुँची बजार रे, पैरनि के धोकें खपट्टा लै भ्रायी रे ।
 जब सिलबिल्ला मेरे दिग भ्रायी रे, पैरनि के धोकें खपट्टा चवाइ रे ॥
 जब सिलबिल्ला खपट्टा चवाए रे, मारी जो लात गिरी ऐ सद-खाट रे ।
 जब सिलबिल्ला गिरी है पाट-सर, तब जोरें हात कि लू मेरी जोड़ू हू तेरा गुलाम रे ॥

२०

धरी नें बाई बाप की घेटी ॥
 जाके घाट वरप नो घेटी, बाकें रत्नल चले भैसोनी, में बाई बाप की घेटी
 जेठ की प्यारी, जिठानी की प्यारी, धरी भैया-बाप की बहुत पिगरी ॥ हरे ०

५

नैनी भरत उडान, गोरी वैन ली होरी में ।
इस्क बुरी अजार, काल दिन फँसि जागे चोरी में, रंग भरें फिरें होरी में ॥

६

ओ ओ नीदी खिलाल, जुल्फो की धूर झारि झार रे ॥
सोमत देर भई गुलशन में, अब तो जगिजा कुँमर हजारी ।
बेटा, करमन की गति त्यारी, सो लाला मेरी दुख ना निबटेगी, मेरी सोमत जैनमु कटैगी ॥

७

रंग डालें रे तो पै रंग डालें, नेंकु भायें भा ।
नेंकु भायें भा स्याम तो पै रंग डालें, नेंकु भायें भा ॥
रंग डालें तेरे अर्गन डालें, अरे तेरे गालन पै गुलचा डालें चार । नेंकु भायें भा०
एबी-टेबी पगिया बाँधें, अरे तेरी पगिया पै फूल री डालें यार ॥ नेंकु भायें भा० ।
अज दूल्हें पै छल मनोखी, अरे तोपें तैन-मैन-जोवन डालें मेरे यार । नेंक भायें भा०
नैक भायें भा स्याम, तो पै रंग डालें, नेंक भायें भा ॥

८

होरी-खेल स्याम घर आए ।
मातु जसोदा करति आरती, सब सखियन मगल गाए, होरी-खेल स्याम घर आए ॥

९

कान्हा, धरें रे मुकट खेले होरी, कान्हा धरें रे ।
इक ओर खेलें कुँमर कान्हाई, इक ओर राधा गोरी रे ॥
कान्हा, धरें रे मुकट खेले होरी ॥

१०

ऐसी होरी मचाई दीनानाथ, विरज-अनंद भए ।
खडत गुलाल लाल भए बादर, सब रंग होत गए ॥
सगरी सखी रंग में बोरी, भूषन मीन गए ।
झटका-पटकी मत कर मोहन, होइ जतपात गए ॥
कब-कब के दानवी भए मोहन, कब-कब दान लए ।
विरज-अनंद भए, ऐसी होरी मचाई० ॥
दधि की मटकी सिर ते पटकी कब-कब दान दए ।
मीरा सखी, फागुन के महिना, चच्छव होत गए ॥
सब ब्रज-बासी अनंद-मगल, होरी तो खेल रहे ।
विरज-अनंद भए, ऐसी होरी मचाई दीनानाथ विरज-अनंद भए ।

११

चूंदरिया रंग में बोर गयी कान्हा बसीबारी
भर पिचकारी सनमुख मारी, सो पै कैसर गागर बोर गयी ॥ कान्हा बसी०
विदावन की कुज गलिन में नथ-मुलरी ऐ तोर गयी । कान्हा बसी०
गहवर वन भर खोर-साँकरी दधि की मटकी फोर गयी ॥ कान्हा०
चंद सगरी मजि बालकृष्ण छवि, चितवन में चित बोर गयी ॥
कान्हा, बसी बारी, चूंदरिया रंग में बोर गयी, कान्हा बसी बारी ।

१२

अइयो, अइयो रे कन्हैया नंदलाल, रंगीली होरी में ॥
 ऊँची गाम घाम बरसानो, खेलें गोपी-नवाल ।
 बुलहैन प्यारी राविका रे, डूलह नद-कुमार ॥
 रंगीली होरी में, अइयो-अइयो कन्हैया नंदलाल ॥
 फेंट-गुलाल, हाथ-पिचकारी, रंग की उडै फुहार ।
 पिचकारी याकी छीनकें रे, गाल-मल्यो ऐ गुलाल ॥
 रंगीली होरी में, अइयो-अइयो रे कन्हैया नंदलाल ॥
 जो सुख रमा तनिक नहि पायो, जदपि पलोडत^१ पाई ।
 श्री वृषभानु-सुता-पद-अवुज जिनके सदा सहाइ ॥
 रंगीली होरी में, अइयो-अइयो रे कन्हैया नंदलाल, रंगीली होरी में ॥

१३

को भैया खेलें होरी-फाग, को भैया ठाढ़े ई डोलें ।
 झुपन जी खेलें होरी-फाग, दाऊ जी ठाढ़े ई डोलें ॥
 खेला भैया फागु-सुहागु, तुमैं भाई राम-मुहाई ।
 खेलत-खेलत जाई विदावन की कुज-गलिनु में ॥
 विदावन की कुज-गलिनु में, चपा मीरि रही ऐ ।
 चपा के नी दस पेड़, अतार की एक कली ऐ ।
 ददा जू की गेंद गई ऐ, गेंद गई असमान कन्हैया जो न लति लई ऐ ॥

१४

लडका, मस्त महीना फागुन को, कोई जीवें सो खेलें होरी-फाग ।
 मुख पर टेढ़ी बदनी सोहै, धुमकिन अजब बहार ॥ मस्त०
 नाक धुनी नकवेसरि सोहै, तेरे भलुका अजब बहार । मस्त०
 हाथ-हमेल, गुदी-खेंगवाए, जाकी चौकी अजब बहार ॥
 बांह बरा-बाजूबंद सोहै, जाकी धुडिनु अजब बहार । मस्त०
 लडकें लै चलि पलंग-अटरिया में रे, चौबरिया में, मेरी पीरी में सोबेगी बलाइ ॥ मस्त०

१५

कान्हा धरें रे मुकट खेलें होरी ।
 खेलें होरी रे, खेलें होरी कान्हा धरें री ० ॥
 एक लंग खेलें जाकी कुंभक कन्हैया प्यारे, एक लंग खेलें राधा गोरी । कान्हा धरें०
 की मैन रग भरे मेहलैन में, की मैन केसरि घोरी । कान्हा ०
 नी मैन रग भरे मेहलैन में, नी मैन लै केसरि घोरी ॥ कान्हा०

१६

कान्हा, बरसाने में आइ जइयो, बुलाइ गई राधा प्यारी ।
 जो कान्हा तू गैल न जानें, सरक-सरक आइ जइयो ॥ बुलाइ गई०
 जो कान्हा तू डीर न जानें, भरे बिषमौन की पीरी आइ जइयो । बुलाइ गई०
 कान्हा, बरसाने में आइ जइयो, बुलाइ गई राधा प्यारी ॥

^१. पलोडना—बढाना । “जो सुख रमा तनिक नहि पायो”०.... यह नंदबास (अष्टछाप)
 कृत ‘नवलकिशोरी’ की धमार से ज्यो का त्यो लिया गया है ।

१७

तनक दही पिबा जइयो, सुनि बरसनि-बारी ।

सब ल्योनी माँखन की लइयो, अपने ई हात खवा जइयो ॥ सुनि बरसनि-बारी ।
 जो तेरी सास लड़े घर तोते, बाऊऐ सींग-दिला अइयो । सुनि बरसनि-बारी ।
 जो तेरी पत्नी सती तोड़ बरजै, बाऊ ऐ खिरक बसाइ अइयो ॥ सुनि बरसनि-बारी ।
 चदसखी मजि बालकूल-छवि, हरि-चरन-चित लाइ जइयो ॥ सुनि बरसनि-बारी ।

१८

बनि गए मदलाल लिलहार, कै लीला गुदवाइ लेउ प्यारी ॥
 लहँगा पैहरि, भोडि सिर सारी, अँगिया पैहरी जरव किनारी ।
 सीस पै सीसफूल अर बेंना, लगाइ लियो काजर दोऊ नेंना ।
 पैहरि लियो नख-सिख ते गेहना ॥
 बलिहारी बा कृष्ण की, आप बने लिलहार ।
 सीस-लिख गिरवारी रे, भाये पै मोहन-भुरारि ॥
 लिखी तुम वुगैन पै वीनबयाल, कपोलन पै श्री कृष्णगुपाल, नासिका पै लिखि दै नदलाल ॥
 खवर्नन पै लिखि सारिरी, अरब नारि निज कत ।
 ठोडी पै ठाकुर लिखी तो गल में योकुल चद ॥
 छतियेन पै लिखि छैल तो, बाँहन पै लिखी बिहारी ॥ बनि०
 हातन में हलधरजू की भईया, लिखी अगुलीन पै तुम गैया ।
 पेट पै लिखि दै परमान व, जाँघ पै लिखि दै जै गोविंद ॥
 लिखी घोड़न पै कैसबचद रोम-रोम पै लिखी रसापनि, राखे-स्वाम बनवारी ॥ बनि०

१९

काँटी लाग्यो रे देवरिया, सो पै गैल चली नौ जाइ । टेक
 काँटी निकारी कहा दळै, सो पै कछू हनु नाइ ॥
 नाऊ के भूँ नौ टका, देवर भूँ छोी मैन ।
 काँटी लाग्यो रे देवरिया, सो पै गैल चली नौ जा ॥
 जो मेरी काँटी जेठु निकारै, जोवनु दळै गहाइ ।
 काँटी लाग्यो रे देवरिया, सो पै गैल चली नौ जाइ ॥
 काँटी लाग्यो रे देवरिया, सो पै गैल चली नौ जाइ ॥

२०

मीठी लागी मठा की रावडी रे ।

तेल-घाल चूल्हे पर रख दी, अरे दो लगाती लकडी रे, मीठी लागी मठा की रावडी ।
 रोष-रूँध चूल्हे पर रख दी, अरे मुरस गई जावडी रे, मीठी लागी मठा की रावडी ॥

२१

भमौर कारे रे भमौर कारे, छिटकाइ भाईकैस भमौर कारे ॥
 कोन पै पैहरी तँनें हरी-हरी चुरिया ।
 कोन पै नैन करे कारे ॥ छिटकाइ०
 दिवर पै पैहरी मने हरी-हरी चुरिया प्यारे ।
 थार पै नैन करे कारे ॥ छिटकाइ०

२२

अलबेली की रे, अलबेली की, न्योई जाइगी जुवन अलबेली की ।
गोरो वनी ऐ मयुरा की-सी थरकी प्यारे, रसिया ऐ सौरु जलेवी की । न्योई जाइगी०
गोरो वनी चौपट की-सी बाजू प्यारे, रसिया ऐ खगु हवेली की ॥ न्योई जाइगी०

विविध

गोतो के कुछ अन्य अष्टपटे प्रकार अज में प्रचलित हैं । उनमें से कुछ के नाम नीचे उदाहरण में हैं —

ठप्पे

मिग्ग की, मिग्ग-झाल बिछाएँ बैठे बसी राघोगड ।
हात खीने बीरा हनुमान ते कहे ममझाइ ॥
जाघी रे जाघी बीरा, हमारे काज सारीये ।
मुदर मे मरीरमन सोचन बहन ऐ, जानुकी-बिना हम विपता सहन ऐ ॥

२

काए कू दुगियाओ राम, देगी चों न मेरी काम, छिनके ऊ में खवरि लाखें हग चारो देस की ।
कागद मे फारि ठाळें, समुदर मे विलोड डाळें, बूद न छोट पा पानी के पलेछ की ॥
आग्या देव तो राम, लका सठाड लाखें रामन मे नरेम की ॥

३

चामिल-पार^१ जान की गानी ॥

चामिल-पार जान की ठानी, जब ना वचति दिखानी ।
भो मुनि पाई देवमिग ने, तब मन में प्रति करी गलानी ॥ चामिल०
नुरतई चले गाम भपने ते, मिले बनी में भानी ।
का करि दें गे, पुलिस तुम्हारी, नाहक में भैया भै मानी ॥ चामिल०
धनि बिजई पुहरी बोले, जब ना वचति दिखानी ।
पुलिस हमारे पीछे परि गई, लीहै पकरि पूब हँम जानी ॥ चामिल०
दावसि कालि साठ मेरे घर, कही देवसिग बानी ।
इतनी सुनि कें डाकू बोले, हँमने बात मित्र की मानी ॥ चामिल०

४

में हरि-बिन ना जीऊँ माई ।
पान ते पीरी भई भीरा, बिषा तन छाई ।
श्रीलक्ष्मि-भूल असर नहि लावै, बँद फिरि जाई, में हरि-बिन ना जीऊँ ॥
सीकर दूटि, जंजीर दूटी, तोष ऊ खेम खाई ।
ऐसी गाली मारि सतगुरु, पार है जाई, में हरि-बिन ना जीऊँ ॥
लाल गिरधर की दानी भीरा, उपजी सुखदाई ।
अबकें दरसन देहु मोहन मुक्ति है जाई, में हरि-बिन ना जीऊँ ॥

५

नंदगाम चहु ओर से, फूल रही फूलदार ।
मालिन माला गूँथती, नदराइ के द्वार ॥

स्निग्धपीर बजरत्न की, ढाँडी वोल्पी भाइ ।
 जो माँय सो देख गो, गोपेन के जस गाइ ॥
 नद नदीस्वर राज ही, बरसाँयें वृषमान ।
 दोनो कुल दीपक बरें, बाँचै घेद-गुराँन ।
 गोपेन पूजै नौकसी, रैयाँ सव के हाथ ।
 कै तो पूजू एकली, कै काँह्ला के साथ ॥

६

तेरो वील्पी ऐ फागुन माँसु, भाइ गयो जैत सुहामनो ।
 न्याँ तो सत्य कया ऐँ सत की खानि, सभा में होइगी आमनो ॥
 भारे सुख-भयूम असुर महिकासुर, रोप्यो जनिँ भरि ज्वाला की समुद खतनागर सोल्यो ।
 गहि लिए छष्ट भुजैन में दान ।
 निरवगिन्यु कूँ वैनू दीयो, अम्यागिन्यु दीयो न्याँन ॥

७

कोन कहाँ पर रहति हैं, क्यों रोती क्या बात ।
 भूतक अग संग कोन हैं, लाई आधी रात ॥
 ए अजह्या के राजा चक्रवर्ती मेरे प्राँनपति ।
 यँ औ राज-कुँमार, एक में थी रानी तारावति ॥
 बनि-बनि रे विषनाँ तेरी कोन जानें न्यारी गति ।
 आए साबू एक सुजान, पति ते करी याचना आन, सारा राजपाट किया दान, द्विज को दीना है ॥
 दाकी रह गया कर्ज, जब कि छोड़ि भूके राजपाट ।
 कासी में विक चीनो प्राँनी, है गयो कुनवा बारह-बाट ॥
 भरि गयो राज-दुलारी, जाते भाई में तिहारे घाट ।
 विवि ने दुख दिखायो, तोरै फूल बाग में बायो,
 मेरी किसियर नें डसि छायो, कुँमर नगीना है ॥
 जगिजा मेरे लाल, मुख ते मँया-मँया कहि कँ टेरि ।
 जानें कहाँ होइ पिता तिहारे, पूछें तो कहा कहि हूँ फेरि ॥
 भो अवका निरसागिनी पै क्या विधि नें दीनो सकट गेरि ॥
 जाग लाडिले जाग, कर-बिन कैसे दळें तोइ दाग ।
 मेरी अवल भरी सुहाग, विधि नें छीना है ॥
 कहती है क्या सत्य मेरी तू पटरानी क्या तारा है ।
 भूतक-सरीर सग तेरे क्या, रोहित राज-दुलारा है ॥
 मानबंस का प्रिय तारा क्या हो गया अस्त सितारा है ।
 दपति भए निरास, लखि लई सुत अपने की ल्हास,
 'कलसन' बिना कुभैर रोहितास, निरसाँ जीना है ॥

(ए)

कहानियाँ

“ब्रज में कहानियों का प्रसिद्ध भंडार है। इन कहानियों में से कुछ का संग्रह ब्रज-साहित्य-मंडल मयूरा द्वारा प्रकाशित हो चुका है, जिसका नाम है—‘ब्रज की लोक-कहानियाँ’। ब्रज की कहानियों के विशेष परिचय के लिए उसे पढ़ा जा सकता है। यहाँ केवल कुछ कहानियाँ उदाहरण स्वरूप भी जा रही हैं।”

बिल्ली की बीहरी

चारो यार सीखीन ए। एक यार ने पारो मूर्गा। एक ने पारो कुत्ता। एक यार ने पारी बिल्ली, एक यार डब-कुत्ती करै।

एक दिना मूर्गा कुत्ता ते बोल्थी—“कै हे यार, कै मोकू बिल्ली भारवे कूँ डोले ऐ। जो मो पै परवस्ती राखी ती मेरे दिन गुजरान है जाई।”

एक दिना सबेरे की वखत मूर्गा चूगती डोले श्री। सो बिल्ली ने बापें क्षपट करी, सो मूर्गा किल्लायी सो यार अइयो। सो कुत्ता कूँ मालिम परी, सो कुत्ता ने बिल्ली घेरी। घिरतें-घिरतें कुत्ता सँ बिल्ली जगल कूँ चल दई। भाजतें-भाजतें एक गंदुआ की भाटि में घुस गई। जो बिल्ली भीतर देखै ती गंदुआ सोइ रह्यो ऐ। सो गंदुआ जाग्यो का, सो बिल्ली देखी। सो गंदुआ बोल्थी—“कै तू कैसे आई।” जब बिल्ली बोली—“मैं जेठजी, आपके पास एक काँपु आई जे।” गंदुआ बिल्ली ते बोल्थी—“कि तेरो कहा काम परयो।” सो बिल्ली बोली गंदुआ ते—“तिहारी भैया ती घर है ना। बरात कूँ गए है। सो मेरे पास बीहरी^१ आयी। मैं उनते बोल्नू नाकें और तिहारे भैया बरात कूँ गए है। सो बीहरे ऐ तुम समझाइ देइ।”

सो गंदुआ बाहर कूँ निकरी। सो कुत्ता दरवज्जे पै ठाडी। सो गीदरा ने बाहर कूँ मुँह किया। सो कुत्ता ने मोहड़ी भर लिया। कुत्ता बाहर कूँ एँचै और गीदब भीतर कूँ एँचै। ऐचतें-ऐचतें घटा दो घटा है गए। एक वखत कुत्ता की मुँह ढीली परि गयी। सो गंदुआ भीतर कूँ भागी। सो गंदुआ बिल्ली तें बोल्थी—“कि गुरू की लोड़ी ऐसे ते लैन-दैन किया। बोले न बोलेनु देइ और चूप-चाप ले।”

सो बिल्ली की गाँठे दो लात दई। निकर गुरू की लोड़ी। सो बिल्ली वहाँ ते भागि आई।^२

२

न्योरा भइया

एक राजा के सात लडका^३ ऐ^४। सो सातोन की व्याहृ है गयो। सो छैन के ती छोरा भए और एक के न्योरा भयो।

ती छैऊ कुँमर घोडा पै चढिकें सिकार खेलिवे गए। ती न्योरा बोल्थी—“भमा, भमा, मैं जे सिकार खेलिवे कूँ जाऊँगे^५।” ती बाकी माता बोली—“कै तोइ को लै जाइयो।” न्योरा बोल्थी—“मैं इनके पीछे-पीछे चली जाऊँगे।” बाकी भमा बोली—“कि बेटा, जा।”

ती चलत-चलत भ्रम की पेठ मिली। ती वे छैऊ कुँमर बोले—“कि हमारी न्योरा भइया हो ती ती भ्रम तोरती।” न्योरा बोल्थी—“भइया, ठाडे रहियो। मैं आई रह्यो जे।” ती न्योरा भ्रम के पेठ पै चढिकें भ्रम तोरिवे लाग्यो, ती पके-पके भ्रम आप खावें और कच्चे-कच्चे बिनकूँ तोरे। सो कुँमर बोले—“कै सुसर, नीचें उतर। आई माटी में मारि के गाढि दिगे।” सो वु नीचें उतरि आयी, ती फिर चलिवे लगे।

^१. बीहरी। ^२. सं० क०—हंसनलाल अग्रवाल, बिलाठी। ^३. लरिका। ^४. हे। ^५. जाँगो।

मो चलत-चलत जामुन की पेठ मिली। ती छेरी कुँमर बोले—“कँ न्योरा भईया होती ती जामुन सोगती।” न्योरा बोली—“ठाठे रहियो ने भाइ रह्यो ऊँ।” ती न्योरा जामुन के पेठ पे चढ़ि गयी। मो पक्री-पकी जामुन भाप खाई और कच्ची-कच्ची दिनकूँ डारै। बे छैऊ कुँमर बोले—“कि या मुम, नीचे उतर तोइ यही^१ भाइ चले।” ती मास्त-मास्त भबमरी करि दियो। सो परे तें एक कुँम्हार भाइ रह्यो। सो बाए अपने घर कूँ लंगी^२। सो बाए खूब खवायो करै। सो कुँम्हार के नें वही—“कि न्योरा, न्योरा, या छोराए निभटा ला^३।” सो बु गयो, ती छोरा ते बोली—“पेसाव करै ती निभटै मत। निभटै ती पेसाव मति करै।” सो छोरा उल्टी अपने घर कूँ बगदि गयी। सो फिर अपने बाप ते बोली—“कि काका, ई तो कहूँ कि पेसाव मति करै।” बानें कही—“चल ती।” फिर बोली—“कि छोरा पेसाव करै ती निभटै मत और निभटै ती पेसाव मति करै।” सो बा छोरा की थाफन धाई गई। मो न्योरा बोली—“अच्छी या बात कूँ बता कि तेरी माँ के खँया कहीं गदि रहे हँ और तेरे बाप के खँया कहीं गदि रहे हँ।” सो बु छोरा बोली—“कि माँ के खँया ती बागी (चाकी) के फाँने में गदि रहे हँ और काका के खँया बूले की बगल में गदि रहे हँ।” सो बा छोराए निभटाइ लायो।

किर क्या न्योरा नें अपने पजेन ते सब खँया खोदि लिए और वे खँया बाँनें कानी गँयाए मयाउ दिऐ। मो परे ते बे छैऊ कुँमर भाइ रहे। सो वे बोले—“न्योरा भईया, घर कूँ पलें^४” मो बानें कही कँ चली भईया। ती कुँम्हार बोली—“न्योरा, कछु लेइ सो लैलें।” बानें रही—“मैं तो कानी गवैया ऐ लुंगी।” सो कुँम्हार बोली—“कि अच्छी-सी लै जा।” बु बोली—“मैं तो कानी गवैया ऐ ई लुंगी।” सो दै दई।

मो वे ती घाँडाँन पे बैठे जाइ, और बु गवैया पे बैठी जाइ। सो बैठी-बैठी यो कहूँ कि—

“अर्धन लिख्यो अमा, अर्धन लिख्यो अमा।

कुँम्हार के ते सोगरी सोंगरी अमा।”

मो बागी माँ नें अगिन सीप राखी और कुँम्हार की एक डबा धरि राखी। सो अपने घर जागे^५ वा गवैया में मूय सोटा लगाए। सो दादरी^६ खूब लीडु करै। सो खँयान ते अगिन भरि गयीं सो फिर मे टूँड कुँमर बोले—“कि या गवैया कूँ बेचैगी^७” न्योरा बोली कँ—“बेचुंगी।” सो तिन टुंगनु नें बु गवैया लै लई।

मो रे ना गवैया में सोटा देवे लये। सो कछु न डारै। बु जानते भारि दई परि कछु न निगरी। रे बाप मान ऐ बेचिये गए सो यो कहे—“कि लेव गवैया की माँडु।” सो काक नें न नियो। बिरो बु न्योरा बोली—“कि लामो में बेचि कँ भाऊँ।” सो यो कहती डोलै—“कँ लेव गवैया तो माँडु। माँ लै निधी। बेचकें अपने घर कूँ भाइ गयी। सो खँया विनकूँ दै दिए।

३

गोदड़ की चालाकी

एँ ऊँट भाग गोरख^१ की यारी डै। सो एक दिन^२ ऊँट एक बारी में जाइ लयी। सो गोरख^३ गवैया में मूय सोटा लगाए। सो गोरख^४ बोली—“यार, यार, तू कहीं कूँ जाइ^५” सो गोरख^६ बोली—“तू मी मो चरिने कूँ जायो करे।” बु बोली—“कहीं चरी करे?” ऊँट बोली—“तुम जाओ। मा तू बोली—“मैं हँ चलिने^७।” सो वे दोऊ चरिने चले।

गोरख^८ गवैया में मूय सोटा लगाए। सो गोरख^९ बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{१०} लै चलो^{११}” सो गोरख^{१२} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{१३} लै चलो^{१४}” सो गोरख^{१५} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{१६} लै चलो^{१७}” सो गोरख^{१८} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{१९} लै चलो^{२०}” सो गोरख^{२१} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{२२} लै चलो^{२३}” सो गोरख^{२४} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{२५} लै चलो^{२६}” सो गोरख^{२७} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{२८} लै चलो^{२९}” सो गोरख^{३०} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{३१} लै चलो^{३२}” सो गोरख^{३३} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{३४} लै चलो^{३५}” सो गोरख^{३६} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{३७} लै चलो^{३८}” सो गोरख^{३९} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{४०} लै चलो^{४१}” सो गोरख^{४२} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{४३} लै चलो^{४४}” सो गोरख^{४५} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{४६} लै चलो^{४७}” सो गोरख^{४८} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{४९} लै चलो^{५०}” सो गोरख^{५१} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{५२} लै चलो^{५३}” सो गोरख^{५४} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{५५} लै चलो^{५६}” सो गोरख^{५७} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{५८} लै चलो^{५९}” सो गोरख^{६०} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{६१} लै चलो^{६२}” सो गोरख^{६३} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{६४} लै चलो^{६५}” सो गोरख^{६७} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{६८} लै चलो^{६९}” सो गोरख^{७०} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{७१} लै चलो^{७२}” सो गोरख^{७४} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{७५} लै चलो^{७६}” सो गोरख^{७८} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{७९} लै चलो^{८०}” सो गोरख^{८३} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{८४} लै चलो^{८५}” सो गोरख^{८८} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{८९} लै चलो^{९०}” सो गोरख^{९४} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{९५} लै चलो^{९६}” सो गोरख^{९८} बोली—“भाई, मोइ पीठ पे बैठो^{९९} लै चलो^{१००}”

१. गोरख। २. एक दिन। ३. निभटाइ। ४. जाइकें। ५. बारी। ६. दिना। ७. जायो। ८. चलो। ९. चलो। १०. मूय डेट भरकर।

गयो, ऊँट नाई झिकी। सो गीदरा बोली—“भाई, मेरी हुकहुकी को वखत भाइ गयो। सो मैं ती हुकहुकी लगाऊँ।” सो ऊँट बोली—“भाई, मोइ एक फूट और खा^१ लिंदै^२।” सो वानें एक फूट खाइ जियो। फिर गीदरा बोली—“अब मेरी बोली को वखतु भाइ गयो।” ती ऊँट बोली—“भाई, एक फूट और खा लिंदै।” ती गीदरा न मान्यो। सो वारी-वारे की खाट के नीचे जाइ के हुकहुकी लगाई, सो वारी-वारी जागि परी, सो वारी माऊं भग्यो। माँ ऊँट चरि रह्यो घो। सो ऊँट भारत-यात भ्रमरो कर दियो। ऊँट भग्यो चलयो गयो और परे तें गीदरा भग्यो चलो भाइ रह्यो। सो वाको यार नदी पै ठाढो मिलि गयो। सो ऊँट बोली कं—“बलि यार घर कूं चले।” सो गीदरा बोली—“कं यार, मोइ ले पीठ पै बैठार लै।” सो बैठाइ लियो। बीच वार में जाइ के ऊँट बोली—“कि मेरी लुटलुटी को वखत भाइ रह्यो ऐ।” सो गीदरा बोली—“कं भाई भर जाऊँयो।” ऊँट न मान्यो। लुटलुटी लैत खेम गीदर बह्यो चलयो गयो।

फिर वाए एक गहा^३ मिली। सो बु गीदर बोली “कं भाई मोइ निकार लै।” सो वाने निकार लियो। बाकी और बाकी यारी ई जुर गई। सो एक दिनाँ गहा नें गीदर ते कही—“कं भाई, आज तोइ हमारी माँ बोल रही है।” सो गीदर खूब पके-पके तीन-चार बेर लै गयो।

सो गीदरा नें जाकें^४ बाकी माँ तें रॉम-रॉम करी। सो बा नें रॉम-रॉम लै लई, सो गीदरा नें बाकूं बेर दिए। सो बाकी माँ खाकें^५ खुस है गई। सो बु गहा तें बोली—“कं वेटा, याके बेर इतेक मीठे है सो याकी करेजा कितेक मीठी होगी^६।”

सो आ नें अपने यार ते कही—“कि जो यार तेरे बेर इतेक मीठे है सो तेरी करेजा कितनो मीठी होगी।” सो गीदरा सोच्यो कं भाई, यानें मारे।

सो वानें कहा काम करी कि यो कहि लई कि “ई, जबलें जो नाई कही। अब ती मैं अपने करेजा कूं धार पै सुखाइ धायी ऊँ। ई, जब ते कह दें ती ती नाई सुकाती।” सो फिर गीदरा बोली—“कं मैं लै भाऊँ।” सो घर में ते निकरि के कही कि कहुँ करेजा झारें पै नाई सुखें।” सो गहा बोली—“कं देखी जाइयो।”

सो फिर दूसरे दिनाँ धायो का पानी पीवे सो गहा नें बाकी टांग पकरि लई, सो गीदरा बोली—“कं ये ती बर की जर पकरि राखी है।” सो टांग ती छोड़ि दई और वर की जर पकरि लई। सो कही—“कि सैं सुसर, टांग पकर लै।” ती फिर गहा बोली—“कं देखी जाइयो।”

सो फिर एक दिनाँ वाके घर में गहा जाइ घुसी। सो गीदरा चरिकें धायो। वाए बाकी मिसरामें दीख गई। सो कही—“कि घर रॉम-रॉम”, सो बोली—“कं और दिनाँ ती हमारी घर बोलें ओ भाज क्यों ना बोलें।” सो गहा बोली—“रॉम, रॉम” ती फिर गीदरा बोली—“कं कहुँ भर बोली नाई करे।”

५

तीन चोर और एक राजा

एक दिनाँ तीन चोर चोरी करिखे कूं चले। सिंहर की राजा बाई वखत गस्त लगाइवे कूं मेषु बदलि के निकरयो। वानें तीन्यो चोटा देखे। राजा नें उनतें जाइ के पूछी—“भाई तुम को भो?” उनतें कही—“भाई हेंम चोर ऐ, और चोरी करिखे कूं आए ऐ।” फिर उन नें राजा ते पूछी—“और तू को ऐ भाई?” ती राजा नें कही—“मैं ऊ चोर ई ऊँ।”

फिर राजा नें पूछी—“भाई तुम में गुन कोन-कोन से ऐ?”

एक नें कही—“मैं भरि नजरि तारे मोऊ देखि दंऊ ती तारे खुल जाई।”

दूसरे नें कही—“मैं भरती ऐ सूँधि के जताइ सकतू कि ज्यौ बँन ऐ।”

^१ खाइ । ^२ लिनदं, लिंदं । ^३ मगर । ^४ जाइके । ^५ खाइके । ^६ होगी ।

तीसरे ने कही—“मं जा भावमी ऐ देखि लुंगो, ब्वाइ सी वसं पीछेके पैहिवालि सकतू।”
तीन्यो चोट्टान ने अपने-अपने गूँन बटाइ दिए। अब बिन ने राजा से पूछी—“भाई नए चोर,
अब तुक बताइ कि तो पै कहा गूँन ऐ?” राजा ने ज्वाब दीया—“जो इतने नारि-हसाइ दूँ तो
फाँसी पै चढ़ाइ दूँ और जो इतने हलाइ दूँ तो फाँसी पै ते जतारि दूँ। और जो तुम मोइ अपने
संग सेज तो चोरी के माल में ते भावी मालु मैं लुगो।”

चोट्टान ने सोची—“भाई, हमें फाँसी ते जादातर काम परतु^३ ऐ। जाइ लिवाइ चलो।”
अट्ट वृह अपने संग लगाइ लीयो।

राजा उन्हें अपनेई खजाने में लिवाइ गयी। गैहले ने तारे खोलि दए, दूसरे ने भेंगु बटाइ
दिया। सब धनुऐ लैके चोट्टा निकरि आए। राजा तो चलकैया-बिलुकैया दैके निकरि आयी और
अपने सिपाइन ने इसरी दैके बे तीन्यो चोट्टा गिरफ्तार करवाइ दिए।

दूसरे दिना राजा की कब्रहरी जुरी। तीन्यो चोट्टा दरबार में आए। अब द्वै चोट्टान ने
तीसरे से कही—“भाई हम तो अपने-अपनी काँमु करि चुके। अब तू अपनी काँमु करि और बताइ वु राति-
वारी कहूँ दीखतु ऐ।” ब्वांने देखि-मारि के कही—“कि होइ न होइ जी राजाई थी।”

अब राजा ने फाँसी की हुकम सुनाइ दीयो। चोरेंगु ने ब्वाते कही—“राजा, हम तो तीन्यो
जने अपने-अपनी काँमु करि चुके। अब तू अपनी काँमु करि। राजा ने अट्ट अपनी नारि इतने हसाइ
वई। सोई फाँसी हटि गई।

चोरी की भावी मालु तो राजा ने अपने खजाने में डरवाइ दीयो और भावी चोट्टान ने दैके
उनतें कही—“जाओ अब कबळ ऐसी गति करिया^४।”

५

फूलनदेई : कौलनदेई

एक फूलनदेई और कौलनदेई दो बँहल थी^१। फूलनदेई की माँ हठी^२ और कौलनदेई की माँ
नाई। कौलनदेई गया चरायो करे ई। तो बाकी मोसी ऊपर-ऊपर चून और नीचे गोबर की रोटी करिके
भेजे ई। तो कौलनदेई चून-चून तो घाट लेंई और गोबर ऐ गाँबि देई। तो एक दिना बाकी माँ, बाइ
सुपने में बीवी। तो बाकी मानें पूछी—“बेटी, दुखी कै सुखी?” बानें कही—“मैया, बहुत दुखी।”
बाकी अमा ने कही—“मं बवे पै बेरिया बनूगी।” बानें कही—“माँ, फूलनदेई न खान देगी।” कौल-
नदेई को मा ने कही—“कि तू बेर खाइगी तो पीरे-पीरे और फूलनदेई खाइगी तो वही^३ हरे—कच्च।

एक दिन कौलनदेई बेर खाइ^४ रही ई। तो फूलनदेई रोटी लैके आई। बानें पूछी—“बीवी,
का खा रई ऐ।” बानें कही—“बीवी, बेर खा रई ऊँ, तुवी खा लो।” जब कौलनदेई खाइ तो पीरे-पीरे
और फूलनदेई खाइ जब हरे—कच्च। जब वी^५ फूलनदेई घर गई तो बानें अपनी माँ से कही—“मा बवे
पै एक बेरिया ऐ। जब कौलनदेई खाइ तो पीरे-पीरे पके और जब मैं बेर जहाँके तो बी हरी—कच्चद।
तो बाकी मा असटपाटी^६ लैके परि गई।

जब फूलनदेई को चाचा आयी तो बानें पूछी—“कि तू कैसे पड़ी ऐ।” बानें कही—“बवे
पै जो बेरियाऐ बाऐ कटवावें तो रोटी खाऊँ, नहीं तो रोटी न खाऊँ।” बाके चाचा ने बेरिया कटवाई।
जब वु बेरिया कटि गई तो कौलनदेई की माँ सुपने में फिर आई। बानें पूछी—“बेटी, अब दुखी कै
सुखी।” बानें कही—“माँ, अब मैं औरकी दुखी।” बानें कही—“देखि बेटी, मैं तेरे घर में ‘मोखी’ बनूगी
बामें जब तू खाया करेगी तो लड्डू-पेडा और जब वु फूलनदेई खाइ करेगी तो कंकड़-तत्पर।”

१. बजें। २. जो। ३. पतु-पतु। ४. स० क०—बँहलान, तोहवन के संग्रह से। ५. ही।

६. भई। ७. खाइ रई ऐ। ८. वु। ९. लटपाटी।

एक दिन कौलनदेई लड्डू-पेडा खा रई। इतने में आ गई फूलनदेई। तो बानें कही—“बीबी, का खा रई ऐ।” कौलनदेई नें कही—“बीबी, लड्डू-पेडा खा रई ऊँ। भाजा, तू बी खा ले।” जब कौलनदेई खावें तो लड्डू-पेडा और फूलनदेई खाद तो ककड़-पत्थर। फूलनदेई नें अपनी भ्रमा ते जाइके ली कहि रई—“कि भ्रमा, कौलनदेई तो लड्डू-पेडा खाद करे।” बाकी भ्रमा फिर भ्रमसटपाटी लेंके परि रई। फूलनदेई को चाचा आयी तो बानें पूछी—“कि तू जो भ्रमके कैसे पड़ी।” बानें कही—“कि हमारी या मोखी ऐ बढ करा देओ तो भ्रजल-पानी^१ कहे, नई तोमै मरगयी।” बानें मोखी भी बढ करा रई।

एक दिन फूलनदेई को मानें कही—“कि तुम कौलनदेई की ऐसी जगें सगाई करियो कि जो सकडी बेचती हो। और भेरी बंटी की ऐसी जगह सगाई करियो जो राजा-महाराजा हो।” तो बानें ऐसी जगें सगाई करी।

तो फूलनदेई की बरात खूब सजवज के आई और कौलनदेई की बरात मामूली आई। फूलनदेई की बरात में खरजोरिया मचिगी और कौलनदेई की बरात में खूब शमशमाहट आ^२ गयी। फूलनदेई पै कछ भी गैहू तो न रछी और कौलनदेई पै खूब गैहू हो गयी। तो बाकी मौसी नें कही—“कि कौलनदेई, तू कछ गैहू तो अपनी गैहू कू दे-दे।”

जब फूलनदेई की माँ नें कौलनदेई की सिर बाँधी तो बाकी सिर बाँधती जाइ और कील ठोकती जाइ। तो जब सवरी कील ठुकि चुकी तो वोह चिडिया बनि के उड़ि गई। तो कौलनदेई की जगें बानें फूलनदेई भेजि देई। तब बाके पती नें पूछी—“कि तू तो कारी नाई, भब तू कारी क्यों है गई।” तो बानें कही—कि मेरी मोखी मोमे कोला पिसवायी करेई। सो मैं कारी है गई।” बानें कही—“भ्रच्छा।”

जो चिडिया बनके कौलनदेई उड़ गई तो बु रोज उनके घर पे बैठि के ग्यो कछी करेई—“कि कौलनदेई डोले मारी-भारी। फूलनदेई सोई चित्तारसारी।”

तो एक दिनी बु चिडिया कौलनदेई के पती नें पकड़ लई, जब बाके सिर में से कील निकारी तो देखी तो कौलनदेई। जब कौलनदेई नें यह बात देखी तो बानें कही—“कौ फूलनदेई ऐ देस निकारी देओ।” तो कौलनदेई गैहू लें में उड़न लगी और फूलनदेई कू देस निकारी दे दी।^३

६

ठाकुर रामपरसाद

ठाकुर रामपरसाद और उनकी ठकुरानी जे घर में खाली^४ हैं पिरानी ए। हलुकी-पतरी सेजुज करवै। बापें एक मैसि, हैं बरव ए। मैसिया बूब देंगी। खेत में कज ऐसी पैदा न भई। ऐतें करि के तीन बरस की बापें भेज सकि गई। कारिदा, पटवारी और सबरदार को नित लगावो भायो करे। जब कारिदा को सिपाई तगावे कू भावै, जबई नित छाछि लें जायो करे और जब पटवारी तगावे कू भावै तो बाको सबु वहीऐ लें जायो करे और जब कबज कारिदा को चककर होइ तो बु सबु रूप लें जाइ। बिचारी रामपरसाद बडी तगु है गयी और भूलनु मरेन लग्यो।

भब कारिदा-पटवारी बोले—“कौ तो तीन बरस की मालगुजारी दे जा, नही कुडकमीन लाइके हम कुडक करोगे।” रामपरसाद आइके अपनी बहू ते बोली—“कौ आज कुडकमीन आवैगी सो मैं तो कुचकि जालें और तू तारी बैके घर में बैठि जइयो। मैं अवेरी-सी राति में आउंगी।” रामपरसाद कुचकि गयो।

^१ भस्मा विज्ञान का एक विशिष्ट उदाहरण है—“भस्म-जल = जल”। इसका एक अर्थ यह था और यह भस्म का पर्याय बन गया। पानी तब और जोड़ना पड़ा। ^२ आइ। ^३ जगदीदा भसाइ कोसी कला, मु० ताताबसाही, मयुरा के संभट से। ^४ केवल।

अब रामपरसादु की बहू हात-पाँम धोइक, नई करिया ओढिके पानी मरिखे गई। गैल में पटवारी मिल्यो। बोल्थी—“कै कोऐ, रामपरसादु की-सी बौहोदिया ?”

“येजी हवै, फिरिके ठाडी है गई।

“रामपरसादु कहाँ गयी ऐ। मेजि देह, नही कुडकी होगी।” ठकुरानी बोली—“ये जी, वे ती तिहारे घर के मारे कैऊ दिनाँ के भगि गए।

“मली।”

“हाँ जी।”

“तो पोहे-डोरैन की कैसे होति होगी ?”

“ये जी, मेई करजू।”

“कोई चिता मति कर। हँम आजायौ करिखे।”

आगे चली ती कारिदा पायो। बोल्थी—“कै, को जाति ऐ। रामपरसादु की-सी बहू।” बहू, फिरिके ठाडी है गई—“ये जी, हवै।”

“तो रामपरसादु कहाँ गयी ऐ। मेज-मेज दे-डाइ दे नही कुडकी होगी।”

“ये जी, वे ती कैऊ दिनाँ के भगि गए।”

“मली ?”

“हाँ जी।”

“तो डोर-पोहेन की को करि रखी है।”

“ये जी, सबु मँ ई करि रई हँ।”

“कोई चिता मति करिखी, राति कूँ हम आइ जाइगे।”

आगे चली ती सिपाई पायो। बोल्थी—“कै ठकुरानी ऐँ का।”

बोली—“हुँवै जी।”

“रामपरसादु कहाँ ऐँ ?”

“ये जी, वे ती भगि गए।”

“मेज-मेज को देखो ? नही कुडकी भावैगी। परि कोई बात नाएँ। घबडैयो मति, राति-विराति कूँ हम आइ जायो करिखे। ओर मेजक की देखी जाइगी।”

अब दिन सुधी, राति भई, ती सिपाई आयो। फाटिकु खटखटायो। बोल्थी—“कै रामपरसादु हल्वै का ?” ठकुरानी बोली—“ठेरियो, आई।” फाटिकु खोल्थी, भीतर गए। खाट बिछाई दई सिपाई बैठि गयी, बोल्थी—“कै, रामपरसादु भगि चो गयो। मैं मेज दै बैठौ।”

इतेकई में पटवारी आइ गयी। बोल्थी—“कै, रामपरसादु हल्वै का।” ठकुरानी बोली—“ठेरियो आई।”

सिपाई बोल्थी—“को ऐ ?”

“पटवारी जी ऐँ।”

“तो वीर, तू मोइ डुबकाइ। तू मेरी घरैम की बँहँनु, मैं तेरी मईया। मोइ बचाइ।”

ठकुरानी बोली—“कै, सबु सत्ता उतारी।”

आनँ सबु सत्ता उतारे। ठकुरानी नँ पोतनी लँकेँ सवरी पोति दयी ओर भूँदु पँ माटी धरिकेँ ओर ऊपर दीयो धरि केँ कोने में ठाडी कर दीयो। अब फाटिकु खोल्थी। पटवारी आए। खाट पँ बैठि गए। बोले—“चिता मति करिखी। तीखो नरस की मेज स्वाहे में दाखिल करि दियो।” इतेकई में कारिदा आयो। बोल्थी—“रामपरसादु हल्वै का ?” ठकुरानी बोली—“ठेरियो जी, आई।”

पटवारी बोल्थी—“को ऐ ?”

“ये जी, करिदा ऐँ।”

पटवारी बोल्थी—“भगमाँनु, मोइ डुबकाइ।”

वानें कही—“सबु लसा उतारी ।”

वानें मट्टई उतारि दिये । बु बोली—“कोठी की छानि के नीचें घुसि जाओ । परि मूँहु नेंकु नीचई राखियों, ज्या में एकु कारो स्थापु कैऊ दिना की बैठयो ऐ । जानें कहुँ भाषरो है गयो का । फिटक कू जाई नाएँ ।” वानें कही—“भागमानु, कान तो हलाउगोई ना ।”

ठकुरांनी नें फाटिकु खोली । कारिदा आयी और खाट पै बैठि गयो । बोली—“कै, रामपर-साधु कबते नाएँ । ठकुरांनी बोली—“ये जी, बिनें तो मठवारेनु है गए ।” कारिदा बोली—“कोई बात नाएँ । मैं सबु देखि-भारि लुगो और तीन साल भगिली और तीन साल पिछली सबु मेज माँफु करि दुँगो बु बोली—“ये जी, वे ती गए । अब तुम्हें दीखें जैसैं करी ।” इतेकई में रामपरसाधु भाइ गयो बोली—“कै, फाटिकु खोलियो ।” ठकुरांनी बोली—“ठेरियो, दूखें घरि भाऊँ, भाई ।”

कारिदा बोले—“को ऐ ?”

ठकुरांनी बोली—“बैई ऐ ।”

“को, “रामपरसाधु?”

“हाँ जी ।”

“अरी तो पँनमेसुरी, मोइ दुबकाइ ।”

“ये जी, कहाँ दुबकाऊँ ?”

“अरी बीर ! तू मेरी घरँम की बेटी ऐ । परि मोइ दुबकाइ । नहीं मेरी बढी जाति बिगारेगी ।”

“भण्डी तो, लत्तानिछौरा बेगि उतारी ।”

वानें डर के मारें सबु उतारि दए । बु बोली—“देखौ तुम कोठी में घुसि जाओ । परि एक कामु करियो पामें मेरी पर की दवाईन की तेलु भरपी ऐ, कहुँ हलियो-मलियो मति । नहीं सबु तेल फैलि जाइयो । चुप बैठे रहियों । मेरें गठिया को दुल कबऊँ-कबऊँ है जातु ऐ । फैलि गयो तो कोन पै भंगवंगी ।” कारिदा बोली—“भागमानु, उसासऊँ तो लुगोई नाँ और की कहा चलाई ।”

अब फाटिकु खोली । रामपरसाधु आयी । बोली—“भाई, मैं दिन भरि की भूखी ऊँ कोई रोटी-कोटी, दरिया-महेरी होइ ती दै । परि जि ती बताइ, कोई तगादे-फगादे कूँ ती नाइ आयी ।” बु बोली—“आएँ ती हले । अवेरे-से आएँ ।” ठकुरांनी नें महेरी परोसि दई और बाई में दूधु करि दीयो । रामपरसाधु बोली—“भाई, जितो नैंक ताती ऐ ।” बु बोली—“बोजनाँ लै लेउ । सीरी करि लेउ ।”

अब बु मन में बोली कै न जानें पटवारी कहुँ भूखी है का । बढी देरते इतई कूँ छानि में ते देखि रह्यो ऐ । न होइ ती ज्यादा दूधु दै भाऊँ । पटवारी ते बलाइ कामु परतैं । बेला में दूधु लैकै, गई और कोछे के ऊपर दें लगी । बु ती बिचारी डरके मारें चुपु बैठयो ओ, ताती बेला हाल में ते छुटि गयो । कोछे के ऊपर फैलि गयो । बिचारी पटवारी भुरसि गयो । फफोला परि गए और घँमारे में हैकें कोछी में भीतर गयो । म्वाँ कारिदा बैठयो ओ, बाकी पीठि पै परयो । सबु सरीर पै परयो, बाऊ के सबु सरीर में फफोला परि गए । बोली—“भागमानु, मंनं नाहिँ फैलायी जि तेरी तेलु, आपई फैलि गयो ऐ, परि वडो गरमु ऐँ ।” पटवारी बोली—“हल्यो मैं ऊँ नाऊँ । ओ ताई कँसैं आइ गयो ।” रामपरसाधु बोली—“महेरी तो पीछेई खारवंगी, परि जि को कोछी में बबरयो बैठयो ऐ । ज्याइ देखूँ ।” बु गयो और कारिदा को हातु पकरि कँ खैलि लयो । वानें कही—“कै, तैनें बडे पाम उखारे । अब बताइ दै ?” कारिदा नें हान जोरे और बोली—“कै भाई, जन्म-भरि भेज मति बीजो परि मोइ छोडि दै ।” कारिदा जी छोडि दीए ।

फिर बोली—“कै, जि छानि में को हलि वे बारी ऐ, ज्याइ देखूँ ।” बिचारी पटवारी पाम पकरि कँ खैलि लयो और खूब मारि लगाई । पटवारी बोली—“कै भाई, तेरी खातो माँफोबार में करि दुँगो । तू ओ ऐ छोडि दै ।” पटवारीऊ छोडि दयो ।

अब बोल्यो भाई, मैंने जे बड़े-बड़े आदमी मारे हैं। जे अब मोड़ पिटवामिगे। सो चलि राति मेंई भगि चलें। सबु सीमानु बौध्यो। बोल्यो—“सोदिल-लकडियाए को लै चलै, भरन दै, परि एकु कामु करि, मेरो डडा ला। देखि जि तैं बौबटि कैसी नीठि ते रचि-पचि कैं बनाई ऐ श्रीर कान, नाँक, आँख, भोह कैसे बढिया बनाए ऐ। कोई बेसैं तो लै जाइगो। ज्याइ फोरि चलें।” इतनी सुनिकें सिपाई बोल्यो—“कै भजी ठाकुर साब, मरि जाँउगो।”

ठाकुर बोल्यो,—“कि अरे कै सारे, मेरी छाछक तक नाई छोडतो।”

“भजी मैं ज्या नीकरीए ई न करैगो। कबळैन भाउँगो मोइ छोडि देउ।” बाळ कूँ छोडि दयो। बेला काळ कूँ न दयो।^१

७

ठगों को ठगनेवाला

एकु राजा भो। ब्वाकें एकु बेटा भो। ब्वा बेटा पै ब्वाको बौहीत भारी प्यार भो। परि ब्वाको भनू नाँ भोलगु। एकु दिना राति कूँ उठि कैं बु चलि दीयो। चलाचल—चलाचल बु एकु ओर दूसरे सँई भो। ब्वा सँई भो एकु साहूकार रह्यो करतो। बु साहूकार बहुत धनी भो। ब्वाके धन को कछू बार-बार नाँभो। परि ब्वाकें कोई बेटा नाँभो।

जब राजा को बेटा ब्वा नगर में पाँई ब्यो तो ब्वा साहूकार ऐ खबरि परी। ब्वा नें बु बुलायो, बु गयो तो साहूकार नें ब्वाते पूछी—“कि रे तू कोऐ, कहाँ ते आयो ऐ?” ब्वा नें अपनी सबरी ऐह-बाबु कहि दीनी। साहूकार नें बु राखि लीनी।

साहूकार के सँई भो एकु सरोवरि ई। साहूकार को जि हुकूम भो कि कोई आदिमी ब्वा सरोवरि में न अन्हावै। साहूकार जब जाइकें ब्वा नें बुबकी लगामो करतु भो, तो ब्वाके हाथें में हीरा, पत्थर, जवाहिराति आइ जायो करत ई। परि ब्वा नें राजा के बेटा ते तो न्हावने की कहि राखी ई। राजा को बेटा जब ब्वा नें बुबकी लगामै तो ककर-पत्थर ई ब्वा के हात में आँभे।

तीनु दिना राजा के बेटा ऐ भ्वाँ रहत-रहत हूँ गए। एक दिना बानें साहूकार ते कही—“पिता जी, अब हनैं अपने मानाप की यादि आइ रहै ऐ। अब हम उनके जीरे हूँ जाँगे।” साहूकार नें कही—“तीनु अच्छा बेटा, परि लं कहा जाउगे।” ब्वा नें कही—“एक घोडा देउ और पोसाक पहिरवे कूँ देउ और डूँ-वारि साल दै देउ।” साहूकार नें सबु चीज ब्वाकी भेंट करी। अब राजा को बेटा चलि दीनी।

(२)

दर कूँच, दर मजिल तै करतु भो बु अपने नगर कूँ चलिवे लग्यो। आगें जाइकें ब्वाइ एकु ठगन को नगरी परी। एकु ठगु जो सबु ठगनू को सिरदार हतुकाभो, समझि गो कि जितो कोई सौने को चिरैया ऐ। बु ब्वाते सूठी-साँची बात वनाइकें अपने घरकूँ लिबाइ लँगी।

ब्वा ठग की टूँ बेटो ई। ब्वा नें अपनी बेटोन ते कही—“देखी जि सौने को चिरैया ऐ, जैसे बनें तैसे जाइ ठगी। बेटोन नें कही—“अच्छा पिताजी।”

राति भई, राजा को बेटा ऊपर चित्तरखारी में सोइवे कूँ भेज्यो। अब एक बेटो बीमुख-दिवला एक हात में लँकें और तरवारि लँकें ब्वाके जोरें गई। जाँतखें ब्वाकी छाती पै चढि बैठी, ओर ब्वाते कही—“तो पै जो कछु होइ सो धरि दै, नई तो तोइ मारति अँ।” ब्वा नें कही—“भागमान, मो पै कछु नाँएँ। जो तू मोइ मारि देगी तो ऐवेंई पछिनाबैगी जैसे साखा बजारी अपने कुला ऐ मारि कें पछिनायो का भो।” ब्वा नें कही—“साखा बजारी कैंसे पछिनायो।” ब्वा नें कही—“जो तू मेरी छाती पै ते उतरि परे तो बताऊँ।” सोई बु छाती पै ते उतरि परी। अब बु कहिवे लग्यो—

“देखि ठग की बेटी, एक लाख बजारी ओ। व्वाप एक कुत्ता ओ। एक पोत व्वाप भीता परी। व्वापे पाँसो रुपया में अपनी कुत्ता गैहन धरि दीयो, एक साहूकार के याँ।

व्वा साहूकार के एक दिनाँ चोर चोरी करिबे आए। कुत्ता उन चोरों नु कू देखि रह्यो ओ। व्वापे सोची—“जो, जो मे घूसतु ओ, तो-तो जे मोह मारि दिगे। जातें ला चुप्पु-चापुई देखतु रहूँ कि जे कहा करत ऐँ।” चोरों नु नें सब मालु-असबावु निकारि लीयो। सबु रुपया और माल-असबावु उन चोरों नु नें जाइकेँ एक ताल में गाडि दियो। कुत्ता नें सब बात देखि लीनी।

सबरे भएँ हल्ला-शोर मँच्यो। कुत्ता सबेन के लत्तानु कू पकरि कँ खँचै। परि काठ की घमस में व्वाकी बताईन आवै। फिरि एकु डोकरा नें कही—“भाई, जा कुत्ता के सग चली, जि कबू बतावंगी।” सोई सबु जने व्वा कुत्ता के पीछे-पीछे चलिवे लगै। कुत्ता व्वाई ताल में जाइकेँ कूरि परयो। नोर्गेन सोची—“कुत्ता करतु कहा ऐ।” कुत्ता नें डूबक मारी और अपने म्ही में एक रुपयान की धली उठाइ लायो। नोर्गेन नें सोची—“भाई, मालु जाई में ऐ,” कै ते उननें घुसि के व्वा में ईंझा-खँखोरी मँचाई, सोई उनें सबु मालु-मता पाइ गयो अब वु साहूकार कुत्ता पै बड़ी राखी भयो और व्वाते कही—“जा, अब तू अपने मालिक के जोरे जा।” व्वापे सब बात एक चिट्ठी में लिखिकेँ व्वाकी नारि में बाँधि दीनी।

अब वु कुत्ता, लाख बजारे के जोरे चलयो। जब लाख बजारे ने कुत्ता भ्रामतु देख्यो तो व्वापे अपने मन में सोची—“कि, कुत्ता साहूकार ते दगा करिकेँ चलयो आयो ऐ।” सोई व्वापे ठगरि निकारि कँ कुत्ता को मूड काटि दियो।

जब व्वाइ व्वाकी नारि में चिट्ठी दीखी तो व्वापे वु खोजि कँ पडै। पडिकेँ एकु दम व्वाइ धमा भाइ गयो और वु हाइ कुत्ता, हाइ कुत्ता करिकेँ रोइवे लग्यो। सो ए ठग की बेटी, जो तू मोह मारि देगी तो तूह ऐसै ई पछिताइगी, चाँकि मेरे पास कछु हतु नाँ ऐँ।”

❧

व्वा राजकुमार नें वे लाल अपनी जीब-जीरि कँ व्वा में भरि लए।

दूखरे दिनाँ दूसरी ठग की बेटी भाई और वु ऊ व्वाकी छाती पै चडि बैठी। राजा के वेटा नें व्वाते कही—“जो तू मेरी जानि ले लेगी तो तू ऐसैई पछितावंगी जैसेँ राजा अपने बाज ऐ मारिकेँ पछितायो काजो।” व्वापे पूछी —“राजा कैसेँ पछितायो ?” व्वापे कही—“मेरी छाती पै ते उतरि तब तोइ बताऊँ।” वु छाती पै ते उतर परी। राजा की वेटा कहिवे लग्यो—

“देखि ठग की बेटी, एक राजा नें एकु बाजु पारि राख्यो ओ। जब राजा सिकार खेलिवे जायो कतौ तब वु अपने पखन ते व्वाकी छायाँ करतु जायो करतु ओ। एक दिनाँ राजा ऐ बडी पारा लग्यो, परि पाँसो कहै नाँ। व्वाई बखत एक चील एक स्याँप ऐ मारिकेँ एक पेठ पै डारि गई, व्वाते म्ही में ते जहर की बूँद डरयो करै। राजा नें समझी कि ईशुर नें मेरे काजें पानी बरसायो ऐ। सोई एक कटोरा में उन बूँदनु कू लैवे लग्यो। बाज ऐ सब बातें की खबरि ई। सोई व्वापे राजा के कटोरा पै सपटा मारयो, सो कटोरा गिरि परयो। राजा ऐ बडी रिप आई। व्वापे नोर्गेन-मोर्गेन ते झट बाजु मारि दीयो।

अब वु ऊपर कू चाह्यो सोई व्वाइ स्याँपु दीख्यो। अब वु हाइ बाज, हाइ बाज करिकेँ रोइवे लग्यो। सो ए ठग की बेटी, मेरे पास कछु ऊँ नाँ ऐँ। जो तू मोह मारि देगी तो तूज तेमै पछितावंगी।”

वु ग्या दिनाँ बीटि गई और अपने पिता ते जाइकेँ कही—“पिताजी, जाके पास कछु नाँ ऐँ।” वु नें कही—“हनु कँ नें नाँ ऐँ।”

❧

नोर्गेन दिनाँ नु पैहनी ठग की बेटी फिरि आई। व्वापे भाइकेँ व्वापे उहाँ—“देखि गना ३ ६३३ गना गनु ठगु में। गनाके चगुन में ते तू बचि नाई मजनु। जाने तू मेरी गनु कँ नो

यानि। मेरे बाप की है कैटिनी ऐ। एक अस्सी कोस जाति ऐ और एक साठ कोस जाति ऐ। तू अस्सी कोस बारी कैटिनी ऐ खोलि लीजो और मोठ ऐ अपने सग बैठारिके भाजि निकरिओ।”

राजा के बेटा नें हांभी मरि लई। अब बु कैटिनी ऐ खोलिबे चल्थी। परि ब्याइ पैहचानि न परी कि कुनसी कैटिनी अस्सी कोस चलिऐ ऐ। ब्यानें साठ कोस-चलिबे बारी कैटिनी खोलि लई।

अब वे दोठ ब्या पै बैठिके भाजि निकरे। भागे जाइके साठ कोस पै कैटिनी बैठि गई। अब ठग की बेटी नें कही—“मेरी बापु आइके अन्हाल पकरे लेंतु ऐ। चाँकि बापे अस्सी कोस-बारी कैटिनी रहि गई ऐ। सो तू ती अब जा पेठ पै चढि जा और मं नीचे ठाडी ऊँ।

पीछे ते ब्याकी बापु आइ ई चोन गयी। अब ब्याकी बेटी नें कही—“पिता, बुज्या ते अन्हाल ई भाजि के गयो ऐ। तूम साठ कोस-बारी कैटिनी पै चढिके जाओ और ब्याइ पकरि लाओ। मैं अब तक जा अस्सी कोस-बारी पै चढिके अपने घर कूँ जाति ऊँ।” ठग नें कही—“अच्छी बात ऐ।”

ठग ब्याइ बूँबिबे चल्थी। ब्याकी बेटी अस्सी कोस-बारी कैटिनी पै बैठी और राजकुमार ऊ बैठारपी। अब राजा की बेटा कैटिनी पै चढिके अपने सैहर कूँ चल्थी। रस्ता में ब्यानें अपने मन में सोची—“जीजि अपने बाप की ई नाइ भई तो मेरी कहा होगी।” सोई ब्यानें तरवारि ते ब्याक की नारि उठाइ लई।

अब बु अपने घर आइ गयी और राज-पाटु करिबे लयी।^१

६

चोर घरी में जनम

एकु साहूकार बडी मालदार ओ। परि ब्याके कोई सतान नाई। भगमानु की ऐसी करली भई कं बुआपे में विनुके एकु लरिका पैदा भयी। साहूकार नें बडी खुशी मनाई। खुब डटौनु^२ किमी। माया गोविंद की ऐसी भई कं ज्या दिन ते लरिका पैदा भयी ब्या दिन ते पईसा में घटोतरा होन लगी और धीरे-धीरे जब बु लरिका स्थानो^३ भयी ती अनेक बुरी आदति ब्यामें परेन लगी। पढिबे ते ज्यो^४ बुरीमन लयी। नसेबाजी, सराफखोरी, जुआलेसिबी बौहीत-सी बुरी टेव ब्या में परि गई। धीरे-धीरे घर को पईसा जब बरबादु है गयी, ती चोरी करेन लयी।

ब्यानें कहा कामु करपी कं एकु सुहार के जाइके लोहे की एकु मेख बनवाई और एकु हतारा लयी। राजा के मेहलें में चोरी करिबे जाइ। भीत में मेख गाडि दे और चढि जाइ। ऐसै ऊपर चढि गयी। और ऊपर चढिके सोरी में लेजु^५ बाँधिके भीतर मेहलें में उतरि गयी। और राजा की छोरी की चीज-वस्तु^६ गैहनें-गांठि ऐ लै भायो। चोतायो^७ भयी ती मेहलें में हस्ता मच्ची कं राजा की बेटी को जेवर चोरी चल्थी गयी।

राजा नें मुनी। राजा नें सुनिके पैहरेदारनू ते कही। पैहरेदार बोले—“महाराज, तारी^८ टूटपी नां, ओही^९ लयी नां, अब और बात की कहा इतनाम करें।” राजा नें कहा कामु करपी अपने पैहरेदार और सिपाही सब बुलाए और बुलाइके हुकमु बीपी कं और कूँ को पकरेंगी। दरोगा बी बोले—“कै, भाजु पहरी में दुगो और मं ई चोर ऐ पकैयो।”

इतमें साहूकार के लरिका की एक सिपाही ते थारो डं। सिपाई ब्याके बिंग गयी और ब्याते सबु किस्ता कहि दियो कि—“भाजु तोठ पकरिबे की बीरा दरोगा जी नें क्षायी ऐ।” बु बोल्थी—“बेनी जागी^{१०}।” दरोगा नें कहा कामु करपी कं चौराहे के खरबा पै खईया बखेर दए। और हुतकबी-बेडी लेके पैहरी देंन लयी।

^१ स० क०—चंद्रभान, सोहबन। ^२ दण्डोन्-नाम-करण सत्कार का भोज। ^३ बढ़ा। ^४ जी।

^५ रस्ती। ^६ वस्तु। ^७ प्रातःकाल। ^८ ताला। ^९ ओझा—बीयाल को लोबकर जाने सायक मार्ग बनाया। ^{१०} जाइयो।

जब राधी रात को समया भयो तो चोर नें कहा कामु करघी कें जेतानो भेप बनायी और खूब बधिया लैहंगा पैहरघो, और खूब बधिया फरिया ओढी और सोलह ऊँ सिंगार बनायी। और पामन में गुर की लपटी लपटी और हात में चौमुख दिवला जोरि कें ब्वा दरोगा कें जोरें बलि दीयो। जब ब्वा दरोगा के जोरे पौहच्यो तो दरोगा बोल्थो—“कोन, राधी राति पै कहा जाहू ?” बु बोल्थो—“श्री महाराज, आज ह्ये श्री दुरगाजी की बरतु रही, सो जोती-वाती करिकें पथवारी ऐ पूजन करिये जाइ रही ऊँ।” इतनी बात सुनिकें दरोगाजी नें ब्वाकूँ छोडि दीयो। परें ते जब बापिस हुँकें आईतो दूसरी सड़क की गैल आइकें सब रुईया पामन में चूपचाइ लए और फिर दरोगा के डिग आयी और दरोगा जी ते घूँघट की ओट करकें धीरे-धीरे बोली—“श्री महाराज, तिहारे हात में जि कहा ऐ ?” दरोगा जी बोले—“जि हात-पामन की हतकडी-बेड़ी ऐ।” सो बु दरोगा जी पै ते लैकें अपने हात-पामन में पैहरें लगी और कहूँ लगी—“श्री महाराज, कैंसे पैहरत ऐ ?” दरोगा जी बोले—“नेकबबत, ऐसैं नाइ पैहरें। देखि, जि हातेंनमें पैहराई जाति ऐ और जि पामन में पैहराई जाति ऐ और ऐसैं तारी लगायी जातै।” दरोगा जी या सबु काम कूँ अपनेई हात-पामन में करेन लगे और तारी लगाइ कें बोले—“लेउ, तुम खोलि देउ।” ए, सब ऐसैं पैहरी जाति ऐ।”

ले तारी कूँ बु लगी परी। दरोगा हतकडी-बेड़ी में बेंबे पडे रहे। सबेरे भएँ खबरि लगी कें दरोगाजी हतकडी-बेड़ी में बेंबे परे ऐँ और कहूँ लगे कें बोकी है गयो।

दूसरे दिन दीर्मानु साव नें वीरा खायो। कें आजु हँम पकरिगे^१। सिपाई नें ब्वाते जाइकें कही—“कें, आजु दीर्मानु साव नें पकरिये की वीरा खायो ऐ।” बु बोल्थो—“देखी जागी।”

चोर नें कहा कामु करघी कें फटे-मुराने लत्ता बांधि कें और घोत्रिनि को भेप बनाइकें ताल पै लत्ता जाइ बोए। राधी-सो राति पै दीर्मानु सावु ग्राहट सुनिकें ताल पै पडूँचे और घोविनि से बोले—“तू इतने लैन क्यों लत्ता धोइ रही ऐ।” घोविनि बोली—“महाराज, फसल कटिये की वखतु ऐ। दिन में नाज-पानी की आस में डोलें, पाते महाराज, याई लैन सोफती परलें।” दीर्मानु बोल्थो—“इतैं^२ कहुँ तैं^३ कोई आदिमी देख्यो। घोविनि बोली—“महाराज, कहा बताऊँ मेरी एक घोवती ये पटवारी की घोवती घोइये लाई सो ले गयो।” दीर्मानु बोल्थो—“कहा गयो?” बु बोली—“महाराज, ब्रह्माल^४ ई जाई गली में घुसि गयो ऐ। परि साहबु^५, तिहारे या भेप और घोडा की टापेन के ग्राहट सुनिकें तो भागि जाइगो^६। एकु काम करी, कें ज्या भेप ऐ तो उत्तारि देउ और तुँम मेरे बनि ऐ पहिरि कें लत्ता धोमी। न्याई मिलि जाइगो।” दीर्मानु की समझ में आइ गई। अपनी भेषु ती उत्तारि दीयो और न्याके लत्ता पहिरिकें लत्ता-धोमैन लयो।

बु चोर सैं ब्वाके लत्ताभे^७ ले चडि घोडा पै भगि गयी। घोताई खबरि मिली कें दीर्मानु मावु पै धुवु लना पुवाऐ ऐँ। सबेरे भएँ कोतवाल सावु नें वीरा खायो। कें आजु हँम पकरिगे। सिपाई नें आइ कें कही—“कें आजु कोतवाल साव नें पकरिये की वीरा खायो ऐ।” चोर बोल्थो—“देखी जागी।”

कोतवाल साव नें कहा कामु करघी कें एक ऊँट पै खूब बँन-माल लादि कें छोडयो और कही कें देगे यादगो पकरें। पूँमतु-धूमतु जब ऊँटु प्रायो तो अट ब्वाणें घर में घुसाइ^८ लियी और धेनु-माँस लैकें फूँ से घर में ऊँट काटिकें दावि दियो।

यब कोतवाल नें ऊँटु बुँडवायो। म्वा कहुँ होइ तो ऊँटु पावै। वजी-नी नारी डूँट-गोज गरी, परि एते न चने। राजानें एक दूती बुनाई और ब्वाते कही—“कें, तू ऊँट को पती लगाइ ई,

^१. पकरिगे। ^२. इधर। ^३. तैंने। ^४. ब्रह्माल। ^५. साव। ^६. जाइगो। ^७. बपड़े। ^८. लत्ता ऐ यह बज-बोली में चल रही नवीन सदतिष्ठता की प्रवृत्ति का द्योतक है। अर्थात् में इमरा उज्जरण साधारण 'मैं' से निम्न है, यह प्रकार 'उदात्त स्वर' से बोला जायगा। ^९. जायगो। ^{१०}. दुगाय।

जो माँगे सो दूगो।" दूती चली, और ठोर-ठोर बईयरें में बैठि-बैठि कें कसोबा^१ लगायति बोलै। एक ठोर बानें सुनी—“कै बँहनी, ब्याइ तो उर ई नाई लगै, परि देखियो काऊ दिनो अजामकई^२ जान जाइगी।” इतनी बात सुनिकें दूती म्वाई बैठि गई और बोली—बँहनी, मेरी भाँखिसे दो महीना है गए। बूझा मारते-मारते। बौहीतेरी ऐलाबु करवाइ लयी परि कोई फाड़दा ई नाई^३ परे।” इतेकई^४ में म्वां चोढ़ा को माँ बोली—“कै बँहनि^५ कोई दवाई करि।” दु बोली—“दवाई कहा कसे। वैइ ऐसी अँनखटोटी दवाई बतामते जो कहूँ न मिलि सकै।” दु बोली—“कहा दवाई बताई ऐ।” दूती बोली “ऊँट को खूनु बतायो ऐ। काजर की तरै भाँजिले।” दु चोर की माँ बोली—“तू को ऐ।” दूती बोली—“बँहनि मे गैल चलती ऊँ।” चोर की माँ बोली—“काऊ ते किस्सा मति करियो। कलई मेरे छोरानें एकु ऊँट काटयो ऐ। चलि मे दऊँ।” दूती बोली—“बीर, तेरी रामु भलो करे। तैन मे बचाइ लई।” बानें एक खीपरा भरिकें खूनु दे दीयो। दूती नें कहा कामु करघो, लगायो सो लगायो ब्वाकी के ते ब्वाके दरबजे पे साँतिऐ काडि भाई। इतेकई में ब्वाकी छोरा आयो। बानें बु साँतियो कढघो देख्यो। बानें कहा कामु करघो कै लै खीपरा में खून गली-गली में घर-घर पे साँतिऐ काडि दए^६। बाँदी कोतवाल कूँ लै कें भाई। कै महाराज, मे ब्वाके दरबजे पे साँतिऐ को निसान बना भाई ऊँ। भब कोतवाल साबु और दूती दोऊ देखतु बोलें। म्वां^७ गली-गल, में घर-घर पे निसान बनि एए। दूती चकराड गई। हारि कै लौटि भाई।

अब राजा साबु नें फिर बीरा डाखी। बीरा काऊ नें न लछायी तो सिपट्टर^८ साब नें बीरा लामो और कही के आज हँम पकरिगे। सिपट्टर ने हुकूम दीयो कै हँम चोढ़ा की जब तारीफ जनिं जब हँमारे हात में हात पकराइ दे। राति के समया पे चारघों और रोसनी कराइ दई और एक कोने पे डेरा तानि कें सिपट्टर साब नें अपनी बोकी लगाई लई और ठोर-ठोर सिपाही पहरे पे कानि दीए। चोर के बार न खबरि दई—“कै, आज सिपट्टर साब नें बीबा लायो ऐ। और जि सरारति^९ ठहराई ऐ कै जब जनिं तब हात में हात पकराइ दे।” दु बोली—“देखि जागी।”

भाबी-सी राति के भरसा में बु चल्थो। एक हात में तरवार लई और एक मेरे-से महा गरीब बनियाँ की दूकान पे आयो। ब्वाते बोल्थो—“कै बनियाँ के।” बनियाँ डरपतु-काँपतु बेगि-सीनी^{१०} बोल्थो—“हाँ जी।” “तेरें बूरी हलु ऐ।” बनियाँ बोल्थो—“हलु ऐ जी।” बु बोल्थो—“ई ती एक रुपईया को।” बनियाँ बिचारी बूरी तौलिकें लायो और ब्वाऊ के भागें तौल्यो। बानें कहा कामु करघो कै तरवारि ते ब्वाकी कुहनी पे ते बाँह काटि दई। लै बाँह कूँ चलि दीयो और सिपट्टर के डेरान की ओर चल्थो, एकु ओर ते डेरान में ईंट फेंकी।

ईंट के लगत ई सिपाई ब्वा ओर गये। इतमें सिपट्टर साबु अकेले रहि गए। बु झट तबु में घुसि गयो और सिपट्टर साब ते बोल्थो—“लेज मेरी बाँह पकरो, मे चोढ़ाऊँ।” और ब्वा बनियाँ-बारी बाँह लनी करिकें पकराइ दई और आपु भाग गयो।

इतनेई^{११} में सिपट्टर साब नें हल्ला मचायो कै चले भाओ, मे नें चोढ़ा की बाँह कतर लई ऐ। अब बु बोल्थो कै सँमेरे^{१२} एकु-एकु आदिमी की जाँच करो। ब्वा काऊ को बाँह कटी मिले ती सँमओ कै बुई चोढ़ा ऐ।

जब पोतायो मयो ती एकु-एकु आदिमी देख्यो गयो। बु बनियाँ देख्यो ती ब्वाकी बाँह कटी पाई। वे बोले—“तेरी बाँह कहाँ गई।” बु बोल्थो—“महाराज, राति एकु बूरी-निबैया आयो, सो बूरी-

१. टोह-खोज। २. अजानक ही। ३. नाई। ४. इतने ही। ५. बँहनि-भँन। ६. बचाइ।

७. मुर्गा-मुर्गा। ८. इत्पन्दर। ९. ‘शत’ का सादृश्य-साम्य से ‘सरारति’ हो गया है। १०. से।

११. इत्ने। १२. प्रातःकाल।

फूरी तो कहा लीयो मेरी बाँहें काटि लैगी ।" राजा बोल्थी—“बड़े अचभे की बात ऐ, चोट्टा हात नाई आवै ।” राजा बोल्थी—“आजु हँम पैहरी दिग्यो ।

चोर के थार ने खबरि दई के आज राजा तुमैं पकरिग्यो । बु बोल्थी—“देखी जाइगी ।”
जाने कहा कामू करयो के एक बोरी नाजु भरि के ओर एक दतरा^१ लैके चमरिया को भेरु बनाइके एक दुकान पै दानो दरेन लग्यो । जब राजा पैहरी देतु आयी तो ब्याते बोल्थी—“तू गो ऐ । जो इनने वखत चाखी चलाइ रही ऐ ?” बु बोली—“महाराज, दिन में ती किसाननु कां पेनु काटिबे जानो परतव और इनकी दाने की भारी तगावी हो तव । सो श्री महाराज, ब्याते याई वखन दगिबे माई हूँ ।” राजा बोल्थी—“कोई और आदिमी तो ना देखी ?” चमरिया बोली—“महाराज, अमेलई न्याँ हूँके एक आदिमी गयो ऐ । ओ तुम कहा करते ?” “अरे बु चोर ऐ, हँम ब्याइ पकरिगे ।” बु बोली—“महाराज, चोर ज्या तरह ते तिहारे हात न आवैगी । हाँ, एक तरें ते हात आइ सकतव, के तुम मेरे दाने कू पहिरि लेउ और ज्याई ठौर पै बँठि जाओ । भलें दानो मति इरियो । मैं ती फिरिज दरि लुगी । परि आवैगी ऐसँई हात । और मैं तिहारे घोड़ा-फोडा ऐ तिहारे मँहल पै पोहोचाइ आऊँ ।”

राजा की समझ में आइ गई और ब्याकी दानो पैहिरि के दानो दरेन लग्यो । सेमेरे की होनि में खबरि लगी के राजा पै राति-भरि दानो दरवायी ऐ । राजा के कपडा और घोड़ा कू लैके रमती भयो ।

राजा बोल्थी—“माई, हँम हारे और चोर जीत्यो, परि अबु बु हमते मिलि जाइ । हम ब्याकूँ आवी राजु दिग्यो ।” चोट्टा, राजा के ढिंग या बात ऐ सुनि रखी ओ । बु बोल्थी—“राजा साव, तिरवाचा भरी । मैं लाऊँ वाकूँ ।” राजा तिरवाचा भरि गयो । बु बोल्थी—“भारी चाहै छोडी मैं के चोर ।” राजा ने पीठ ठोकी और आची राजु दै दियो ।^२

६

सुपने की बेसु

गाम ते बाहिर एक बहेलिया की झोपडी ई । बहेलिया के एक बेटा ओ । बहेलिया रोजु निकार लेतिबे कू जायो करे । जब ब्याकी बेटा कछू समरप भयो, ब्यानें बुही एक दिना निकार कू भेज्यो । बु छोरा, लै तीर-कैमान बनखड में चली जाइ रह्यो । एक पेड़ की डार पे ब्याई एक हप-हगिनी की जोडा दीस्यो । बा छोरा ने हसु ती पकरि लीयो, हसिनी उठि गई ।

हप ऐ लैके बहेलिया की छोरा अपने घर कू आयी । ब्याकी मां और ब्याकी बापु बडे गुन भए । बहेलिया ने कही अपनी बहू ते—“दिखि, आजु ई ती हमारी सासा निकार लेतिबे कू गयी मोइ आजुई ऐसी मुदर पछी पकरि लायो । आजु ती अपने बेटा की सिकार ऐ घर ई राधियो, देखिबे नाएँ जात ।” बहू ने कही—“बडी अच्यी बात ऐ ।” पीजरा में बंद करिके हसु छप्पर ते टोंग दीयो । पीजरा में टेंग-ई-टेंग व्या हम ने बहेलिया की भीटिया^३ ते वही—“भरी तू जी मेरे प्राणि ब्यादे ते भी तोइ नी रुप्या दिवाउ दऊँ ।”

बहेलिया ते आजके ब्याकी बहू ने सवरी बात बही । बहेलिया ने रजावु दीयो—“हमारी गहा घटरी ऐ सो जाइ मारे । हमें तो नी रजाव मिलि जागे तो और कामू चवैगी ।”

हम ने वही—“अब मोइ तू बनार कू मैं चवि । ब्यादे मोई न तोई मो रज्या में मोन में जाइगी ।”

^१ दतग—दान दत्तने की चरकी । ^२ बन्द्यानाल अचरपुर के मयूर मे । ^३ ब्याँ, बहू ।
बुर-बुर (धन-पता-घोनक)—बहूटिया-बहूटिया—ब-र-म-ऊ—भीटिया । इनके ‘टिया’ प्रत्यय का कोन भेद देना ही उद्धारण—‘भीटिया’ ।

बहेलिया ब्याके पीजरा ऐ लैकें सबरे बजार में बोल्यो। सब लोग ब्योती कहे कि भाई, जिं तो कोई बढी सुदर पखी ऐ। परि सी स्या काऊ नें न लगाए। ब्याई सैहर कौ राजा ब्याई बखल की होणि पै भाई निकरयो। राजा नें सोची—“सा लै बलू। सुदर पखी ऐ। मैहलें में टैयो रह्यो।” ब्यानें शत्रु ब्याइ सी स्या दै दए ओर बु हस मोल लै लयो।

(२)

राजा के याँ हस ऐ रहत-रहायत बहुत दिनाँ हँ गए।

एक दिनाँ राजा नें राति कूँ सुपनी देख्यो—“सात समुंदर-पार एक बहुत कछु सुदर एक परीनु की देसु ऐ। म्वाँ के राजा की लडिकी ऐसी सुदर जैसी चढा की-सी किरनि। रोज़ सबेरें ई कौमलन के फूलें ते बु तौली जायी करे। गोरी-गोरी ब्याकी वदनु ओर आँखि ऐसी जैसैं ग्राम की-सी फाँफ। बु फूलें की सेज पै सोयी करे।

राजा जब दूसरे दिनाँ जग्यो। कचैहरी सझसडाई। सबु सूर, समित, बजीरजादे इकिठे भए। मरी सभा में पिन कौ बीडा खारि दयो ओर राजा नें हुकम चढायो—“जा बीडा ऐ बुही चवान, जो जा परीजादी ऐ दिखाव।” छेँ दिनाँ बीडा ऐ परे-परे हँ गए, परि कोई ऐसी भाई की लालुन निकस्यो जो ब्या बीडा ऐ चाव। इतमें तो बीडा कुम्हलायी ओर जतमें राजा के प्राँन सुखिने लगे। राजा नें कही—“धन में दै-एक दिनाँ में अपने प्राँन छोडि द्यो।”

हसु टैयो-टैयो जिं सबरी बात देखि रह्यो ओ। ब्यानें अपने मन में सोची—“मई, हमनें राजा के काजें कछु ना करयो।” ब्यानें राजा अपने पास बुलायो ओर ब्याते कही—“राजा, ऐसे प्राँन छोडिबो ठीक नाँऐ। तू मेरी पीठि पै भसवार हैजा ओर में ओर तू बोळ ब्याँ ते उडि चलें। देखें बु सैहँ कहीं ऐँ ओर कहीं बु परीजादी ऐ।” राजा नें हस की मती मानि लीयो ओर चलिबे की तैयारी करि लई। एक दिनाँ सुभ-बडी में हसु राजा ऐ लैकें उडि दियो।

(३)

कूँच, दर कूँच, मजिल, दर मजिल, हसु उड्योई चली जाइ। सातो समुंदर चलत-चलामत पार हँ गए। सात समुंदर-पार जाइकें राजा नें एकु सैहँ दीस्यो। कंगूरनुदार, छज्जेनुदार, ब्या सैहँ के घर बनि रहे। चारयो ओर सरोवरि बनि रही। मोर कोहोकि रहे। चिरयाँ कलोल करि रही। राजा नें हस ते कही—“भाई, होइ न होइ, मेरे सुपने कौ देसु तो जिही मासिम परतु ऐ, ज्योई उतरि परि।” हस उतरयो। राजा ओर हनु दोऊ एक अटिआरिन की सराई में ठेरि गए।

हस नें राजा ते कही—“राजा, तुमवो योई रहीं ओर में जाँवूँ ओर ब्या परीजादी की पती लगायो।” जिं बात सुनिकें हसु तो उडि गयो ओर राजा म्वाँई रहि गयो।

हस नें जाइकें कछा देखी कि चितरसारी पै बुही परीजादी अपने केस सुखाइ रही। जैसैं कारी नागिन लहराइ रही होइ। हस ब्याइ देखिकें शत्रु लौटि आयो ओर राजा ते भाइकें सबु बात कहि मुनाइ।

राति के बारह बजे हस पै चडिकें राजा परीजादी की चितरसारी पै पोहँच्यो। म्वाँ जाइकें देखें तो परीजादी फूलें की सेज पै अचैन सोइ रही। राजा नें ब्याकी ती भ्रंमूठी उतारि लई ओर अपनी भ्रंमूठी पैहराइ बई। शत्रु म्वाँबे दोऊ लोटि आए।

सबेरे परीजादी फूलें ते लीनी गई। परि काऊ तरे बु पूरी ई न बँडी। सबु लोग बघे मसपन में कि “भाई भानु नहा बान मई, जी जू राँती नाँऐ तुजति।” परीजादी की नजगि द्या भ्रंमूठा पै परी। सोई नवनें नमसि लई कि “भाई, कोई लीगा लगि गयो।” परीन के राजा नें हुकम चढायो—“भानु ते मैहन पे चारयो ओर मगीनेन कौ पैहरी नगै।” पैहरी लगाइ दीयो।

दूसरे दिनाँ राति कूँ हस पै चडि कें राजा फिर परीजादी की चितरसारी पै पोहँच्यो। ईस्यर की कग्नी, होनी बनवाँनु, पैहरेदार छोइ गए। राजा नें अपनी जूती ब्या ते पाँउन पे पैहराइ

दई और ज्वाकी जूती ऐ सतारि कें लै भायी। दूसरे विना सब जणे और बि बलुआ देख्यो। भव
सु सोन बडे मसपन में। कछु समझि में ई न भावै।

(४)

कछु सोचि-समझि कें राजा नें अपना बेटी की सेज के जोरे लीले रय की एकु हीजु
भवायो। कंसजोर लकड़ियेन ते बु हीजु पटवायी। पैहरीक और कडौ करवाइ दीयो।

दूसरे विना राजा हंस की पीठि पै सवार हूँ कें फिरि ज्वाई चितरसारी पै पौहैंची। कैं ती
या होइ पै पांच परषी, सोई ज्वाकी लकड़ियाँ गई दूटि और गम राजा ज्वा हूँद में। सवरे कपडा
ज्वाके लीले रय नें तरवतर हूँ गए। जैसे-तैसे करिकें बु ज्वा हीद के ऊपर आयो और ज्वा हंस पै
चढ़िकें फिरि सराइ में लौटि आए।

लौटि कें सवरे लता घोवी कें डारि दए।

राजा के रेसिमी लता, लपट छूटि रही। घोवी के मन में थाई कि जा एक विना इन
नरतन नें पैहरि कें सवरे सँहर में डोलि जलैं। घोवी नें न्हाइ-मोइ कें बु लता पहरे और सँहर में
भूमिमें निकरयो। राजा नें अपने सिपाइन ते कहि ई राखी कि जो लीले लता पैहरे दीलैं ज्वाई ऐ
पहरि लाओ। राजा के सिपाइन नें गम घोवी कूँ पकरि लीयो। घोवी के ऐ राजा के जोरे बाँधि कें
नें भाए। घोवी नें सवरी कज्जी हालू बताइ दीयो।

राजा नें सराइ में अपने हरकारे भेजे और बु राजा पकरवाइ मंगायो और ज्वा देस के
राजा नें हुकमु दीयो—“जाइ विना कछु पूछे-माछे आजुई फाँसी पै चढाइ देज।”

(५)

फाँसी दीवें की तैयारी भई। हंस ज्वा जौरे ई एक पेड़ पै बैठयो दिरणें ते आँसु भरि रह्यो।

फाँसी ते पहले राजा ते कही गई—“तोड एक घंटा भरि में जो कछु करना होइ सो
कर लें। एक बटा की तोड मौलति ऐ।” राजा नें ज्वाबु दीयो—“कि, माइयो, बचपन ते मोइ
पेड़ पै चढ़िये की चाबू रह्यो ऐ। मोइ हजाबति देज ती मैं जा पेड़ पै चढ़ि लूँ।” राजा नें पेड़ पै
चढ़िये की हुकमु दे दीयो।

राजा पेड़ पै चढ़यो। ज्वा हंसु बैठयो ई ओ। मट्टु ज्वाकी पीठि पै राजा बैठि गयो और
हंसु ज्वाऐ बँठारि कें उठि बल्यो। राजा के सिपाई देखत के देखत ई रहि गए।

हंस राजा ऐ लैंकें सँहरपना ते बाहिर लावो और राजा ते वचन सवारे—“राजा, भव अपने
गम कूँ लौटि चलो।” राजा नें कही—“भाई, ऐसे नाँऐ ई सकतु। नेहार कूँ ती जा रानी ऐ लैंके
ई चमिये। बलि जाई सँहर कूँ फिरि लौटि बलि।”

हंस और राजा दोऊ ज्वा सँहर में लौटि आए और एक दूसरी सराइ में ठेरि गए। हंस नें
ज्वा ते कही—“राजा मेरी हसिनी मोते बलाइ दिता कि बिछुडी ऐ। हमारी मौलसरोवरि ऊ ज्वा
भोग ई हूँ। कहूँ तो ब्लाऊ ऐ लैं भाऊ।” राजा ने कही—“लैं भा बंधा।”

उतमें ज्वा परीजादी नें सोची—“जि कोई मेरी बडी सच्ची प्रेमी ऐ। मेरे पीछें अपनी
जानि की ऊ सका माइ करी। ब्याहू कहेंगी ती मैं जाई ते कहेंगी।”

उनमें हंस ऐ अपनी हसिनी भिलि गई। बु ज्वाइ लैंकें राजा के जोरे लौटि आयो। भव
बु राजा ते प्रेमि कें भक्तलौई परीजादी के जोरे गयो और ज्वाते बावचील करी। परीजादी ऊ जूदाई
सो भागि में जगि रही। ज्वाने कही—“जैसे बने जेनें तुम मोइ ज्यति लैं बली।” हंसु ज्वाते राति के
बाग दजे सो नाम मैं आयो और फिरि राजा के जोरे भागिस बल्यो गयो।

राजा के थारहू बने पै हंसु, हसिनी और राजा ज्वाकी चितरसारी पै भाए। हसिनी नें
परिजादी बँठारी हम नें राजा बँठारयो और तीनों प्राणी बलि दीए। जलज-जलत एकु पीपर की

रानी बड़ी दुःख हुई और बोली कि मैंने तो केवल देखने के हेतु कि आप भावेंगे कि नहीं घटा बजाया था, सच्ची बातपर तो भ्रम के घटा बजाओंगी। राजा बड़ा नाराज हुआ और यह कहता हुआ चला गया कि चाहे वह अब सारा दिन घटा बजाए वह नहीं आवेगा।

जब वच्चा पैदा होने के कुछ ही दिन अवशेष थे रानी हिरणावती ने अपनी और रानियों से पूछा कि वच्चा कैसे पैदा होता है। वे तो सब इससे जली थी उन्होंने उपाय सुनाया कि ब्रह्मी पर पट्टी बांध लो और कोठी में बँध दे लो। रानी बड़ी सीखी थी, उसने वही किया जो कहा था। जब वच्चा हुआ तो रानी ने घटा बजाया, किन्तु राजा ने समझा कि घटा झूठमूठ बजाया जा रहा है और नहीं आया। रानी के एक लडका हुआ और एक लडकी हुई, पटरानी ने सोचा कि राजा अब इसे पटरानी बना देगा क्योंकि इसे तो बालक है और हमारे कुछ नहीं, तो उसने भगिन बुलवाई और उसे एक अशफियों से भरी थैली देकर बोली कि तू इन बच्चों को कहीं फेंक दे और ककड-पत्थर इनकी जगह लाकर रख दे। भगिन ने वही किया। शाम को राजा आया और रानी से पूछा कि क्या हुआ तो पटरानी ऊपर से आकर बोली हुआ क्या यह ककड-पत्थर हुए हैं। राजा ने हिरणावती रानी को उसी वक्त काग-विहारी कर दिया। हिरणावती को बड़ा दुःख हुआ कि कहीं तो राजा उसे इतना प्यार करते थे कहीं अब महल के कोए उड़बाते हैं। यह काम उसे करते-करते वो ही माह हुए होंगे कि उसकी सुदरता और भोलापन क्रूरता तथा कठेपन में बदल गई, रानी विक्षिप्त-सी वशा में काग-विहारने का काम करती रही।

इधर भगिन उन भाई-बहिनो को एक कुम्हार के मिट्टी खोदने के गढे में फेंक गई थी। दूसरे दिन जब कुम्हार मिट्टी खोदने आया तो उसने उनको पड़ा देखा कुम्हार के सतान न थी इसलिए उसने इन्हें दैवी वरदान समझ कर और अपने घर ले आया जब वे कुछ बड़े हो गए तो कुम्हार ने लडके को एक मिट्टी का घोड़ा तथा लडकी को मिट्टी की एक चाकी तथा तौला बना दिया। सारे दिन वे इन्हीं वस्तुओं से खेला करते थे। रानी की एक दासी कुएँ पर पानी भरने आया करती थी। एक दिन उसे ये लडके-लडकी कुएँ पर मिले लडका घोड़े से कह रहा था चल रे माटी के घोड़ा पानी पी ले, यह सुन कर दासी बोली—“अरे कुम्हार के, क्यों इतरावें ऐ, कहीं माटी के घोड़ा पानी नहीं पिया करते हैं”। लडका दूनकर बोला—अरी बाँदी, क्यों इतरात है, कहीं रानी ककड-पत्थर नहीं जना करती।” दासी यह सुन कर सुन्न रह गई, वह समझ गई कि ये बड़ी लडके-लडकी हैं। उसने सारा हाल पटरानी को सुनाया पटरानी बहुत बड़ी बबुवाई अंत में उसने एक तरकीब उन्हें नष्ट करने की सोची। उसने वहाना किया कि मैं बड़ी बीमार हूँ और करिया हिरन के दिल से अच्छी हो सकती हूँ। राजा ने करिया हिरन का दिल मंगा दिया, रानी ने उसमें मीठा मिलाया तथा जाड़ू के मंत्र पढ़कर दो लड्डू बनाये। दो डोरो पर भी उसने मंत्र पढ़ा फिर इनको उसने दासी को देकर कहा कि वह इन्हें कुम्हार के लडकी-लडके को खिला कर उनके गले में ये डोरे बांध दे। यदि वह ऐसा नहीं करेगी तो उसे जिंदा कोल्हू में पिसवा दिया जावेगा। दासी सब सामान लेकर लडके-लडकी के पास पहुँची और दोनों के हाथ में एक-एक लड्डू रखते हुए बोली बड़े मीठे लड्डू हैं इन्हें खा लो और ये गार में गढे बांध लो। लडके ने लड्डू खा लिया और गडा जैसे ही गले में बाँधा वह काला हिरन बन गया। लडकी ने अपना लड्डू नीले में रंग लिया, जब उसका भाई वन को भागने लगा तो वह भी साथ-साथ चली गई। वन में जाकर वह रान को एक पेड़ पर चढ़ गई, उसका भाई भूँड में कमी ककड़ी, कमी भोग जगली फल-फूल ने आया करता था थी उन्हें खा लेती थी।

एक दिन वही राजा जिनके कि ये बच्चे थे उसी वन में गिरफ्तार खेलने आया। सारे दिन उसने गिरफ्तार मंगा, रान को उसने उगी पेट-सतें डेग डाला जिनपर वह लडकी बड़ी बैठी थी। ऊपर लटकी बड़ी टुसी हुई। वह सोचने लगी कि और दिन तो मंग भाई घाम को फल-फूल दे जाता था, यदि प्रातः प्रातः तो यह राजा मार लेगा। वह फूट-फूट कर रोने लगी, परंतु चुपचाप वे। उनकी

माँसुओं की धूँ में राजा की छाती पर पड़ी, वह उठ कर बोला—“पेड़ पर कौन है ?” आदमियों ने बतलाया—“हुजूर, एक सुंदर लड़की पेड़ पर बैठी रो रही है।” राजा ने नीचे लड़की को उतरवाया और पूछा कि “वह वहाँ क्यों बैठी रोती थी तथा कौन है,” कहाँ रहती है, लड़की ने बताया कि “मैं और मेरा भाई है, एक दिन राजा की दासी हमें मलीदा खिलाने आई, मेरे भाई ने उसे खा लिया और हिरन हो गया, जब वह हिरन हो कर भागा तो मैं भी साथ-साथ चली आई। इस वन में आकर मैं इस पेड़ पर चढ़ गई और अब रोती यो हूँ कि यदि मेरा भाई मेरे लिए कुछ खाने को लावेगा तो तुम उसे मार लोगे। राजा ने उसे पुचकारा तथा उससे पूछा कि यदि बहुत से हिरन लाकर खड़े कर दिए जाय तो वह अपने भाई को पहचान लेगी। लड़की ने कहा—“हाँ।” तब राजा ने दरघों को हुक्म दिया कि सब हिरनों को जिंदा ही पकड़ लो।

सब हिरन पकड़ने पर राजा ने लड़की को कहा—“पहचान लो, तुम्हारा भाई कौन है।” लड़की ने एक काले हिरन की ओर इशारा करके कहा कि—“यह मेरा भाई है” और वह उसके गले से लटक गई। ऐसा करने से उसके गले का डोरा टूट गया और वह हिरन से सड़का हो गया। भाई-बहिन खूब मिले। राजा ने लड़के से सब हाल पूछा तो उसने बताया कि—“मैं क्रुप पर घोड़े से यह कह रहा था कि चल पानी पी ले, इसपर एक बौधी ने भ्रूषसे कहा कि कहीं माटी के थोड़ा पानी नहीं पीते हैं। मैंने उससे कहा कि यदि मिट्टी के थोड़े पानी नहीं पीते तो रानी भी ककड़-पत्थर नहीं पेंदा कर सकती। इस पर वह स्त्री घर चली गयी तथा दूसरे दिन उसने हमें एक मलीदा खिलाया जिससे मैं हिरन हो गया। मेरी बहिन ने वह मलीदा अपने तौला में रख छोड़ा है। और ऐसा कहके उसने अपनी गहिरा वाला मलीदा राजा के हाथ पर रख दिया। राजा ने उसे जान कर कहा कि यह तो करिया हिरन का दिल है जिसमें मिठा मिलाया है और उसे पुरानी बातें याद आने लगी। उसे अपनी पटरानी का भँव बात हो गया। राजा जंगल से महल में उन्हें ले आया वहाँ उसने कुम्हार को बुला कर पूछा कि उसे ये सब कहाँ मिले थे ? उसने बतलाया कि आज से ११ वर्ष पहिले। ठीक ११ वर्ष पहिले रानी ने दूसरा घटा चनाया था और पटरानी ने ककड़-पत्थर रखवा दिये थे। राजा को खूब विश्वास हो गया कि ये उसीके लड़के-लड़की हैं और दूसरे दिन उसने दरबार में आकर यह हुक्म सुनाया—

ये सबके तथा लड़की मेरे हैं। तथा मेरी हिरणावती रानी जो आज कल काग-बिहारने का काम कर रही है इसकी सत्तान है। पटरानी की नीचतापूर्ण चाल से मैंने उसे काग-बिहारनी बना डाला। इसके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ और पटरानी के लिए यह आज्ञा देता हूँ कि उसे जिंदा ही जमीन में गाड़ दिया जाय और प्रत्येक दरबारी उसके सिरपर दो-दो ठोकर लगाए।

रानी को जमीन में जिंदा गाड़ दिया गया और हरएक ने उसमें ठोकर लगाई। इसर काग-बिहारनी हिरणावती रानी हुई। अब वह पटरानी हुई, राजा-रानी सुख से सँकड़ो वर्षों तक राज करते रहे। बाद को लड़का शाहूहाह हुआ।

११

आदमी की उँमरि

परमात्मा ने पहिले चार बीज पैदा करी, एक आदमी, एक बरछु, एक कुत्ता और एक बुल्लू। चारघों की उँमरि चालीस-बालीस वर्ष की घरी। पहिले बर्ब ने कही इतनी उँमरि चलाइवै मेरे बस की बात नाएँ। ईस्वर ने पूछी कि तू कितनी उँमरि चलाइ सकतु ऐ। मैंने कही बीस वर्ष। आदमी ने कही कि लाभी जिन बीस बर्बनु ने मोई ऐ दे देव। ईस्वर ने वे बीस बर्ब आदमीएँ दे दई। अब आदमी की उँमरि साठ वर्ष की है गई।

फिर कुत्ता ने कही—“कि महाराज, चलनी चालीस बर्ब मोक पै नाएँ।

वो कि मोठ पैठ-भरिबे कूँ दर-दर भटकनी परतु ऐ।” कुत्ता ने बारह बर्ब माँगी। आदमी ने बाळ की २८ बर्ब ले गई।

अब चुन्चू नें ऊ कही—कि महाराज, मैं ऊ बीस बर्ष ई राखि सकतूँ। आदमी नें बेक बीस बर्ष ले लई। आदमी की उँसरि अब १०८ बर्ष की है गई।

२

चालीस बर्ष तक तो बुढ़ी अवस्था रहति ऐ, जो आदिम की मिली काई। चालीस बर्ष तें ऊपर बर्ष-बारी उँसरि लागि जाति ऐ, फिरि दु दिन-राति कर्मांतु ऐ। तिसनां बढि जाति ऐ। बैल की नैयां बढिबे लगतु ऐ। औ साठि ते ऊपर जीवै तो ह्रास-पाँस तो थकि जाति ऐ, जीम में बलु भाइ जांतु ऐ श्रोव कुत्ता की तरह घुँघियातु ऐ, काऊ ऐ गारी दै, काऊ ऐ ललकारि। जाऊ उँसरि ऐ पार करि जाइ तो फिरि घुवू-बारी उँसरि लागि जाति ऐ। फिर बाकी नौऊ इन्दी सिथिल पड जाति ऐ। बैठौ-बै थी फिरि दु चाहौ करतु ऐ। न कछु कहिबे की, न सुनिबे की।

जिही आदमी की चारि तरें की उँसरि ऐ।

१२

सगुनियां कोरी

एकु कोरी राजा ओ, वु सुसरारि कूँ चल्थी। बानें अपनी मा ते कही कि—“अमा मेरे कावें सतुआ बाँधि दै।” सतुआ लेंके वु चल्थी। मा नें बा ते कहि दई कि—“बेटा, जो आदिमी रस्ता में मिले वाते रीमु-रीमु करियो।” कोरिया चलि दीयो।

रस्ता में एकु कपासु की खँसु मिल्यो। बाँ में कपासु के डेंट खिलि रहे। बानें सतुआ-बोरि मीरु मव पेड़न पै छिरकि दीयो और सबसे रीमु-रीमु कर्तु बोले। सतुआ सबु निमिटि गयो। फिरि चलि दीयो चलत-चलत अपनी सुसरारि पाँहँथ्यो। ससुरारि के ज्योरें एक गर्बया चरि रही और स्याई एकु अँधीआ कूआ थो। गर्बया के मोड बाँधिके बानें अँधीआ कूआ में डारि दई, अब वु भावें चल्थो। राति है गई, घर के पिछवार बाइके वु ठेरि गयो। सुसरारि में रोटी पई जा रही। एकु चँदिया और पाँच रोटी पई। कोरिया को सबरी बात सुनि रह्यो। अब बाकी सासु नें बटवारी करयो। आधी दू लै, एक दू लै। चँदिया दू लै। बाइसी कें सबु सोइ गए। सासु ऐ आधी राति पै मुतासु लगी। कोरिया पनारे-तर परयो ई ओ। सासु नें पनारे पै ते मूली और एकु पदरका भारि दीयो। कोरी राजा ने अपने मन में कही बरस्यो सो बरस्यो परि तबक्यो ऊ खूब।

सबेरी भयो। कोरिया उठि कें अपनी सुसरारि में भाइ गयो। बाकी सासु नें पूछी—“साला, कब के आए।” बाने कही—“हम ती जब ई भाइ गए, जब चँदिया और पाँच रोटीन को बाँटु है रह्यो ओ। मुसराणि में नामवरी फैली कि कोरिया की जैमाई बड़ी सगुनियां ऐ।

अब कुँम्हार के ऐ सवरि परी। बा की गर्बया खोइ गई। वु कोरी जैमाई के जीरें भायो। बा नें भाइ कें अपनी गर्बया की बात पूछी। कोरिया नें कही जगल-झाडी फिरि भावें, रोटी-धानी खाइवें बतावें। मव ते फारिस है के बानें कुँम्हार ते कही—जा तेरी गर्बया अँधीआ कूआ में गोड-बयो परी ऐ। कुँम्हार गयो, बाइ अपनी गर्बया पाइ गई, अब बाकी बड़ी नामवरी फैली।

२

म्याँ के राजा तो हार छोइ गयो, बानें ऊ कोरिया की बात सुनी। बानें कोरिया बुलायो और बा नें कोरिया ते कही कि—“जो तू हमारे द्वार की ओरु देगो तो तोइ एकु हजार रुपया म्गि और जो न बनावेगो तो जेन तें मरवाइ दयो जाइगी। कोरी राजा नेंकही—“सबरे बतावें।

कोरिया के ऐ राति-भरि नीर न भाई। सबेरी भयो। सिपाई देखे आए। बानें कही रँ—“गुन्ना-दानि करि कें बतावें।” राजा नें सिपाईन ते कही—“जाओ, जल्दी लिवाइ लाओ।” कोरी नें जाइके राजा पै ते एकु दिन की और नीलति मांगी। राजा नें एकु दिन की नीलति दई।

कोरिया घर नौटि के भायो। जगत-जगत बाए आधी राति है गई। जानें हार चुपयो रा ओ मा पो नांमु नौदरिया ओ। कोरिया कही—“भाइ जँओ नौदरिया, तेरी ओर फटेगी मूंदरिया।”

अब नींदरिया भजति आई। धानें कही—“हाथ तो मोई पे ऐ। परि मोई जैसें बनें जैसें मरिबे ते बचाइ।” कोरिया नें पूछी—“हाथ कहाँ ऐ।” बानें कही—“राजा के आंगन में घिरौंची है, धाके नीचे गड़ि रखी ऐ।” कोरिया नें कही—“जा तेरी नारि न कटैगी।”

अब कोरिया तप्राइ के सोयी। सबेरे सिपाई बोनिबे आए, बानें लवबि मेजी आगत ऐं अब हवाल। बोरी देर नें राजा के दरबार नें गयी। बानें बतायी ह्या घिरौंची^१ के नीचें गड़ि रखी ऐ। राजा नें गुदाई करवाई ह्या पाइ गयी। राजा नें हुकमु दीयी जितनों जि स्या मणि उतनों स्या दे देल।

फिरि बु एकु हाती पे बँ ररघी गयी। अब बु हाती पे बैठि के अपने घर नूँ चली। हाती पे हकका लगतें ई ऐं। कोरिया ऐ अब दर लग्यो। बु किल्ला—

“चार पाँइ जाके धामक-बैया, एकु पाँइ नैचकैया।

ता पे चढ़ि के सरगु दिखायो, तकन मरघीमेरी मैया।।

—मैंटी, मैंटी रे मेरे मैया ॥”^२

१३

कोरिया की मेहमानी

एक कोरिया गरमी के दिनें नु में ठाकुर के संग बाकी मुसगारि कूँ गयी। ठाकुर की मुसगारि नें बड़ी-बड़ी आतिरि आई। जात ई भांग-उगाई, छिरकावु करवायी। बकिया पलका बिछवायी। दरी ओर दरी के ऊपर पिछोरा ओर पिछोरा ई उढ़ईया दयी। एबु लीर-पूरी, बूरी, घ्यी ते मेहमानी करी। तीन दिना तक बड़ी मेहमानी करी। फिर गाम कूँ आए। कोरिया मन नें मोल्यो कै—“मैं के मुसगारि में जाइ के ऐसी ई रातिरि करवाऊँगी।”

बाकी जेठमास में ती छटकारीन भयी। जाइने में गयी। पैहलें ती बानें छिरकावु करवायी। फिर पलका बिछवायी और दरी बिछाई ओर दरी के ऊपर पिछोरा बिछायी। पिछोरार्ई बांकिबे कूँ लयी ओर एबु लीर-पूरी ते मेहमानी करवाई। राति कूँ अब सोयी ती घरवारने नें कही के उढ़ैया ओर लामें जी। बाँ नें नाही करि दई, बिरकुलि ठाकुर की नकल करी।

अब बाकी राति पे जाटी लयी ती गजी धुनबे के गह्म में जाइ दुबगयी। राति में बाकी सागु पेगावु करिबे आई। ती गट्ठाई में पेगावु करि गई और पाँइ ऊ गई।

अब पोनायो भयो तो बाके घर के बोले—“मेहमान पलका तो पाली परघी रखी ऐ, तुम कहाँ सोग।” बु बोली—“अजो, हम त्वा सो रहे अहो वरग्यो तो बरस्यो, परि गरज्यो बड़ी।” बाकी सागु मुनिकें लेंक है गई।^३

१४

मिथ और मिथानी

एकु मिसर और मिसरानी ए। सो मिसरानी मिसर ते बोली—“कै हे महाराज, तुम झूठ गत बोना।” जब मिसर मिसरानी ते बोली—“मो कूँ रोटी कर दे, मैं झूठें छोटि आऊँ। सो मिग-रानी नें बाके फाजें रोटी करदई। सो मिसर रोटीनें लेंके चलि दीयो।

गो गाँव ते बाहर बगीचा में आइ सोयी। रोटी ग्राऊँ, पी ठंडी जल दूरी बिरमाई। मीठ के बगत बगीचा में ते घर कूँ आयी। जब मिगरानी बोली—“कै महाराज, झूठें छोटि आए।” मिग बोई—“कै तैंने, रोटी थोरी कर दई सो बे थोहीत दूर नाँइ पीहूँकी, सो मे बाग आइ गयी।” मिगरानी बोली मिसर ते—“कै चुम्हारी झूठ घाले बिना नाँइ निठे।” सो मिगरानी नें बिचार नियो कि इनके बिबे एक कुंजा गनुआ घोरि के दळे, बानें गनुआ घोरि के कुंजा में भगि दियो।

सो गबरे मिगरानी बोली—“कै नैच महाराज, छोट आयी नव।” मिसर नें कुंजा कूँ पली

१. पानी रखने की पट्टरी। २. सं० क०—चंद्रमान सोहबन। ३. सं० क०—पातीराम अमरपुर के संग्रह से।

सो कुंजा को म्ही एक जंगरिया की बराबर चोरी। सो मिसर का ह्री वा सतुआ ऐ जंगरिया से खाइ, सो मिसर को पेटु ई न भरेवे में भावै। सो मिसर नें रिसाइ कौं कुजा पेठ ते दै भारी। सो बाँमें, ते कछ खाइ-यी कौं साँम कूँ अपने धरे कूँ चली। सो मिसरानी के पास आयी।

जब मिसरानी बोली—“महाराज, झूठन कूँ छोड़ि आए।” तब मिसर बोल्थो कै—“मैं झूठन कूँ छोड़ि आयी, और मोड़ तेरी भैया मिली।” जब मिसरानी बोली—“कै मेरे भैया की राजी-खुसी बताओ।” तब मिसर बोल्थी—“कै राजी-खुसी जब बताऊँगे तब मैं मोकूँ न्हाइवे कूँ पानी ताती कर, फिर रोटी करिगी। जब खाऊँ राजी-खुसी बताऊँगे।” सो मिसरानी नें न्हावे कूँ पानी ताती कर दिया और रखोई करि गई। सो मिसर जो रोटी जेवे कूँ बुलाए। जब मिसर आए तब मिसरानी बोली—“अब मेरे पीहर की राजी-खुसी बताइ देओ।” मिसर बोली—“कै मैं रखोई जेके तैयार हूँ जाऊँ और तूक रखोई जेके, चारपाई बिछाई कै मैं लेट जाऊँ, तब तू मेरे कावें हुक्का भरि कौं लईयो, तू मेरे पास पाँव दाबती रह्यो मैं हुक्का पीतो रहूँगे, तब कहूँगे।”

जब बाँनें रोटी जे लई और चारपाई बिछा गई और हुक्का भर दीयो। वु लोट गयी। मिसरानी पाँव दाबवे लगी गई। जब मिसरानी बोली—“अब मेरे पीहर की बात बताइ देत।” मिसर बोली—“मैं हुक्का पी लऊँ तू पाँव दाबि कौं निदरक हूँ तै।” मिसरानी बोली—“अब तू अपने हुक्काक पी लियो, अब बताओ।”

अब वु बोली—“कै मैं बीयाबान जगल के बीच में पहुँची सो मेने झूठन की गठरिया बाँध-बाँध कौं चारी दिसान कूँ फँकी। फँकते-फँकते मैं बकि गयी, सो मेरी नजर एक रीछ परयो, सो रीछ मेरे माऊँ भाइ रह्यो। सो मैं रीछ की दैहसति के आरे भाज्यो। सो मेरे पीछें रीछ ऊभयो। सोमं भजि कौं एक घेर के पेठ पै चढ़ि गयी। सो रीछ पेठ के नीचें बैठि गयी। सो दैहसत के मारें मेरी मूत निकरि गयी। जो वु रीछ पेसाव-निकरि कौं चढ़ि बे, लग्यो सो वु मोते चार-छै आँगूर बुर रह्यो। सो मेने पेसाव बंद कर लीयो और रीछ गिरी और भाग निकरि गयी। मैं पेठ पै ते उत्तरि कौं चली ई भाइ रह्यो जे।” मिसरानी बोली—“कै निपुते, इन टलननं देहून दै, और नई-नई भति पधरावै।”

१५

चार पार

चार पार ऐ, एकु बहरी और एकु आँधरी एकु लंगडो और एकु गरीब। चारपी कहूँ कूँ मनसुआ करि कौं जाइ रहे। ती कछू डूरि चलि कौं रस्ता में बहरी बोल्थी—“कै भाई, मोड़ कछू ऐसी सुनाई दै रह्यो ऐ, मति कहूँ कोई फीज गोला-से बलामति भाइ रह्यो ऐ।” आँधरी बोल्थी—“भाई, मोड़ ऐ घुआँवार-सो कछू गर्ब-मर्व-सी मालूम परि रह्यो ऐ।”

लंगडो बोल्थी—“भाई प्रामति ऊ दीखैयी ती दू ई फुड़क मे म्वाँ दीखैयो।” गरीब बोल्थी—“कै भाई, तिहारी कछू न बिगरेगी, तुम मोड़ लुटवाओगे।”

१६

नित्यानबें का फेर

एकु बनियाँ ओ, परि लोमी भीतु। ठाढे तीनि पैसा की साग लायो करे और वाइ दै दिना कूँ करपी करे। कवजें न भिठाई लावें और न भज्यो खाइवे कूँ खावै।

ज्वा के परीसु में एकु नित-लावा, नित-लावा को घर ओ। वु रोज कैमाइ के लावें और सबरी कैमाइ ऐ रोज खाइ जे। खूब साग करवावें और खूब मीठी लावें।

सेठानी सेठजी से बोली—“हम सो कछू नाई, जि रोज कैमाइ के लावें और सबरी कैमाइ ऐ रोज खाँमतु ऐ, परि हयती जाके अगार न काज गिती में न दरोज में। हमारे भागिमान हवै

कूँ घरकार ऐ ।" सेठजी बोले—“अबई बापे नित्याँनवें को फेर नाई परधौ । जा आजु जाकूँ की छति ऐ ११ रुपया धरिमा और फिर देखि तैमासी ।” वनेनी नें जिह्मी कामु कियो ।

अब वा मजूर की बहू ऐ नित्याँनवें रुपया पाइ गए । सजा कूँ बाँने अपने मालिक ते रुपया पाइवे की बात कही । बाँने कही—“धोख मति, कलिल की मजदूरी में ते एकु रुपया बचाइ के जाँने और मिलाइ दिने और सो रुपया करिके गाढि दिने ।

दूसरे दिनाँ वाके ज्यौ आधीई समान आयी और एकु रुपया बचायी, आ तरे सो रुपया ते खासी, खासो ते डेढ सो करिवे की सोचत जाई और खान-पान में घाटो भ्रामिषु जाइ ।

वनिपाँ ने कही—“देखिलै री, परि गयी सारी नित्याँनवें के चक्कर में ।”

१७

जाट की कहानी

काई गाम में एकु मेव रहै ओ । बापे घर को कोई काम नहीं होतो । थालें वानें घर के काम-धन सँभारिवे कूँ एकु जाट रहि लियो । वा मेव के और वी भैया-बद ए । सबु आलसी ए ।

एकु दिनाँ वाके घर में ते एकु आदिमी मरि गयो, सो भैया, वे बाए रोमते-पीटते और कबरस्तान में गाढिवे कूँ ले गले । वाके घर में साँझ कूँ आदिमी मरौ ओ परि कबरि तक ले ज्वावे में उलूनने राति हँ गई । जब वे बाए गाढ चुके तो ब्यापु कियो के भाई, कोई जीव-जंतु था ऐ नाई खोद के निकार ले जाइ । याते तुम एकु कामु करी, आज राति कूँ जाट के ऐ जो हमारे झूँठोरी काम करै ऐ, बाए रखवारी पै करि देव । कँ बाए कोऊ जीवु नाई उखारि के मागि जाइ । राति कूँ जाट की रखवारी कबरि को बनाइ दयो ।

वे ती घर कूँ चले गए और वहाँ जाट रहि गयी । जाट के भईया दिनाँ ए और जाट के ऐ भ्राह गई कबरि के ढौरें भोख, सो बु ती एक पेड की जर के जीरे सोइ गयी । आधी राति कूँ आया भईयन के हो एकु जरखु सो वा मीयाँ कूँ उखारि कँ ले मयी । सबरें बु जाट की जागी ती कबरि खुदी पाई और बाँने कोऊ मुदाँ न फुर्दा, बडे ख्यास में डूब्यो ।

अब ती कँ उँन भैयन ते कहा कह्यो । इतने में मेव भी घर ते वहाँ कबरि के ढौरें भ्राह पहुँचे । वहाँ कबरि खुदी परी, सो भैया, अब मीयाँ भी सोच में । उन्होंने वा जाट के ते कही—“ओ जाट के, इस कबरि को कून उखारि के हियाँ डाल गयो और मुदाँ कूँ ले गयी ।” जाट ने कही—“जी, मोहै वी पती नाँएँ । यहाँ एक ले जाती तो मैंने ऊँ देख्यो ओ ।” इतने में वा मेव के भईया और बच्चा बोले कँ—“अबवा जान, कोई खुदा का फिरस्ता लेगा होगा ।” जाट को भी कहँन लगी—“हबै जी, खुदा कोई फिरिस्ती ले गयो । मोहै वो जब ते याद ना रही । अब तुम्हारे कहँ ते मोहै वी याद सा गई हँ ।” अब म्याँ ओ सबे खुशी भई, इतने में जाट बोली कँ—

“बात भाई, बात भाई, बात में परिगी फरक ।

तुम कहाँ बाए खुदा को फिरिस्ती, हम कहँ बाद जरख ।”

१८

गधा ते आदिमी

एकु चटसार में एकु पडिप पढाओ करतो । वाकी चटसार में एकु छोरा पढतो । बु चालीस-पैरो गयास ओ । पडित ने एक दिनाँ बु बोहील मारयो । छोरा बहुत भारी रोइवे लग्यो । पडित ने कही “मरे मुखिय, मैंने तू गधा ते आदिमी बनाइ दीयो ।”

एकु कुँम्हार म्याँ वाहिर अपने गधा चराइ रखी । बाकें कोई आलादि नाई, बु पडित जी के ओरें गयो, ओख पालान करी । पडित जी ने बाते पूछी—“कि माई, कहा बात ऐ ।” वानें कही—

“महारज, एकु किरपा तो भोक पै करि देख। मै तुम्हें एकु गथा दै जाँगो, बाड मेरें काजें ब्रादिमी बनाइ देख। मै तिहारो कबळ गुनु न मुर्खगो।” पठित जी नें सपत्ति लई किज विरकुलि ई गँवार ऐ। जैननं कुँम्हार ते कही—“कि ला लेधा अपने गथा ऐ, छोरा बनाइ कैं दै दुगो।” कुँम्हार एकु चाक तो गथा लाइ कैं पठित जी कूँ दै गयो। पठित जी नें कही—“जा, घाठ महीना पीछें अपने छोरा ऐ ले जँयो।” कुँम्हार चल्पा आयो।

(२)

घाठ महीना जँस-सँस करि कें कुँम्हार नें काटे, जब घाठ महीना नीति गए का सोई वु पैहलें ई बेधि दीयो। कुँम्हार ऐ देखत खँस पठित जी नें वाते फटकारि कें कही—“अरे, तू इतनी देर करिकें आयो ऐ। वु गथा तो तेरो मैनें ब्रादिमी बनाइ दीयो श्रीक वु तो जज्जु बनाइ कें मँजि ऊ दीयो। देखि फलाने सँहँच में वु जज्जु ऐ, श्रीक वा की नामु ऊ बताइ दीयो।”

(३)

कुँम्हार मारे खुसी क फूल गयो श्रीक बाई सँहँच कूँ चल्पा। इजलास में पहुँच्यो। सिपाई नें रोका-रुकी करी। कुँम्हार नें कही—“अरे, तुम्हें खबरि न सुधि, ज्यों आई के पीछें बरवाद है गए, तुम्हें अपनी ई अपनी परी ऐ। घाठ महीना ते मै जाई ऐ बूँडि रह्यो ऊ।” सिपाई विचारे बूझु-नाप है गए। वु कुँम्हार वा जज्जु के इजलास में पहुँच्यो श्रीक वाते कही—“अरे मेरे बेटा, तेरे काजें मैनें कूँजें में घास डारि दिव, चलि अब अपने घर कूँ चलि। मैनें ई तू गथा ते ब्रादिमी बनवायो ऐ।” जज्जु ऐ भाई रिस। वानें वानें सात मारिबो सुरू करयो। कुँम्हार नें कही—“अरे गथा ते ब्रादिमी बनवायो, परि अबई वु पुरानी लाल मारिबो की टेब नाइ छूटी।”

१६

सत्त की जड़हरी

एकु डोकरी महादेव जी की भगतनि ई। वाकी एकु नाँतिनी ई श्रीक कोई हलु नाँ श्री। अपने घर ते ई वु महादेव कूँ झारी में जलु भरि कें ले जायो करती। एकु दिन ई पानी भरि कें ले गई, म्याँ डकिवारे बँडे। उन्हें बडी खोर की तिरखा लागि रही ई, उन्हें कही—“डोकरी हँनें पानी प्याइ।” डोकरी नें कही—“जीनें तुम्हें पानी प्यामति ऊँ तो मेरी निज नें मु छूटु ऐ।” झट्टु बानें नाई करि दई। डकिवारेनु नें कही—“जीन ई मैया, तेरी राजी।”

अब वानें महादेव के ऊपर लोटा ओषो करि दीयो, परि जलु निकर ई ना। वानें कही, आधु कहा वारें, ला उन्हें पानी ई प्याइ गाँऊ। वु पानी प्याइवे लगी, सवनें पानी पी लियो श्रीक महादेव जी पै चढाद बे कूँ फिरि ऊ पानी बचि रह्यो।

डकिवारेनु नें पूछी—“तेरे श्रीक को ऐ।” वानें कही—“बेटाभो, मेरे एक ब्वारी नाँतिनी ऐ।” डकिवारेनु नें कही—“जब वाकी व्याह्र होइ तब हँस पै खबरि करि दीजो।” डोकरी नें कही—“अच्छी बेटा।”

(२)

छोरी की व्याह्र आयो। डोकरी ऐ तो कछ, यादि ऊ न रही। डकिवारेनु नें कहू ते सुनि लई। बिनैं अँट, हापी, बोडा श्रीक गऊ, गादीन पै समानु सवबाइ दीयो श्रीक आइ गए। डोकरी ऐ यादि ऊ न रही। वाके सवु काँस ऐ घेई करि दयी करे, परि डोकरी पहिचान न पाई। कप्या-दानु करि कें डकूननं भाइ के रँगु-रँगु करी। डोकरी नें कही—“बेटाभो, मै तो तुम्हें पहिचान नाइ पाई।”

डकिवारेनु की बारँदु भो। बाई बखत सिपाई आए श्रीक डोकरी के सामुई वु गिरफ्तार करि लिए। डोकरी नें अपने मन में बडी थिरकारी मानी श्रीक महादेव जी ते बडी दीगती करी। महादेव जी की करामाति ते बेटी सिपाई डारे श्रीक बे खुलि जाई। फिरि उन्हें कुतवाल के जोरें ले गए। वानें वे हवालात में बंद करवाइ दिए। जब वु उन्हें हवालात में बंद करे सोई झट्टु वा के छारे खुलि जाई। फिरि वु डोकरी बुलाई। वाते जब पूछी-करी कहा वारें तो डोकरी नें सवु किस्सा कहि दीयो।

फिर कुतबाल ने उन डाँकून से पूछी—“भाई, कहा तुम कहत थीं।” उन्हें कही—“साब, सत
न हर हर होति ऐ, हमनें डोकीरी की सत्तु देखि लीयौ। अब हम सिब जी के भगत हैं जाँगे और
हम-हम काम कियो करिगे।”

कोनबाल ने डकिबारे छोड दए।

२०

धरमराज

राज भीम में एक फकीर और जाट रह्यौ करें। जाट के एक छोरा भो। फकीर के
पानी पोसाव न होने के उस जाट के लडके से अपने हुक्का की चिल्ले भरि वायी करे भो। जब जाट
ने गरी रजो तो फकीर को कह्यो कि—“या तो मेरी चिल्ले भरिजा, नहीं तो मैं तेरे ऊपर मर्दान
मर्द भो।” जाई फकिर में जाट की लड़िका भूखिने लगी। एक दिन जाट अपने खेत पै ते
भारे शक्तिने दोल्यो—“कि लड़िका क्यो भूखिती जाइ रह्यौ ऐ। आहि का दुख है।” जाटिनी बोली—
“कि दुःख तो जाट कछु बी नाई परि जि फकीर जाते चिल्ले भरवाव ऐ और जब लड़िका मने
भरने तब कह्यो ऐ कि चिल्ले न भरैगी तो मैं तेरे ऊपर मर्दान छोडि दूंगी। जाई फकिर ते लड़िका
दिग गयो ऐ।”

फिर जाट ने फकीर से कही कि—“क्यो रे फकीर के, तू लडके को क्यो घमकावै ऐ और
चिल्ले भरवाव ऐ, तेरो हम पै कछु भावै ऐ का।” फकीर ने कही—“कि मैं तो जाई पै मरवाऊँगे और
मर्दान तो मर्दान छोडि दूँगे।” जाट ने कही कि तू यो न मानैगी तो मैं धरमराज छोडि दूँगे।
फकीर ने गोपी के जोई घमकावतु ऐ। कही—“छोडि दीजौ।”

फिर जाट ने वाई वरखत पोखरा में ते एक कछुआ लाइके वाके ऊपर गीली मिट्टी गोपि
पै पर पै वार करि लियो। फिर घावी रात के समे पै कछुआ के ऊपर कई दीए जोरि के वा गीली
मिट्टी में ज्वाइ दए और कछुआ के पैर में रस्सी बाँधि के अपने द्वार पै लाइके रस्सी पकड़ि के बैठि
गयो। फकीर की पर-सामने ई थो। कछुआ सीधी फकीर के ई घर लगी और धीरे-धीरे घर में
जात जावै लगी। इतने में ई वा फकीर की मोयट्टी जगि परी और वा कछुआ ऐ देखि के बोली—
“मोग-मोग, भो बुआ के भब्या, जाट की धरमराज तो भामी गया, और तुम्हारा मर्दान जाने कब
जात।” फकीर भोया सूती, सो जागो और वा धरमराज ऐ चलती देखि घबड़ाइ उठी और जाट
बोली—“कि जाट के, जा अपने धरमराज कूँ रोक मैनें वस्था और मेरे खुदा ने वस्था। अब
मर्दान ने मैं अपनी चिल्ले नहीं भरवाऊँगा।”

फकीर के बोहोत अनुन-विन करिने पै जाट ने अपनी धरमराज लौटाइ लियो, कछुआ
पानी घाट गोर में लँके जाट घर में भीतर चली गयो। कछुआ के ऊपर ते मिट्टी हटाइ के सबेरे
ते सबेरे जाट में कछुआऐ डारि आयो।^१

२१

अबरे ने घर छोडि लयो

एक गाय-बेदा ऐ। अनेने ई ऐ। कोई बइभर-बीनी घर में हति ई ना। बिचारे एक
गो-बेदा गाय बन ऐ। मर्दान एक कोने में रोटी बनाइ तैत ऐ। जाई तरे उनकी जीबनु चली
गयो।

एक दिन एक गीम ते पारयो आयो। यु भाइके वा छोरा को सगाई करि गयो। अब
गो-बेदा के गोपी भाई, अब तो एक कोठी बनामने चाहिए। यह भाईकी जी बहाँ बैठी। सोई से
गो-बेदा ने।

^१ अ० ४०—सबोपम नामा सुबोपा, पौ० घाटा, जि० मधुरा।

कोठी बनाइ केँ वु उननै पाटि दीयो। विनु सुँघी, राति भाई। राति कूँ छोरा वा कोठे में चुस्पी। सो देखै तो म्मा भँबेरी ई भँबेरी। वानें किल्लाई केँ अपने वाप ते कही—“भरे दादा देखियी, हमनै तो इतनी नीठि ते कोठी बनायो और जि कोठी आजु ई भँबेरे नें छीड़ि लयो। भव कसँ होइ, कितकूँ जाइ।” वाप नें ओ भाइ केँ देख्यो तो बाइ भँबेरी ई भँबेरी दीस्यो। भव दोळ नैचारे डरपि गए। कोई भीतर चँस्यो ईन। फिर उन दोळन नें सोचा-विचारी करिकेँ कही ला लवरदार केँ ज्याँ चलें। वु कछु करे तो मलें ई करे।

(२)

दोळ वाप-वेदा मुकदँम केँ ज्याँ पहुँचे, वा ते जाइ केँ कही—“लवरदार जी, हमनै कल्लि तो अपना कोठी बनाइ केँ तैयार करायी और और आजु ई भँबेरे नें छीड़ि लीयी, भव कहा करे, कित कूँ जाइ।” लवरदार समझि गयी कि जे चालीस-सेरे गँमार एँ। जैननै फँसला दीयो केँ अपने कोठे ऐ खोदि-खोदि केँ हमारे लेत में डारि आओ। भँबेरी छुम्हारे घर ऐ छोबि देयो। जैननै कही बढी भञ्जी बात ऐ। भाइ केँ वे अपने कोठे ऐ फाँवरे ते खोदिवे लगे। ई घटा लोदा-खादी करी परि वा नें उबीतो ई न भयो, हार-झलमारि केँ वाप नें वेदा ते कही—“कि वेदा जा, और अपनी बहू ऐ लिवाई केँ ला, वा पै कोई तरकीब भामति होइ तो मलें ई भामति होइ।” वेदा अपनी सुसरारि कूँ चल्पी।

(३)

सुसरारि नें पहुँचि केँ वा नें कही—“हमारी घर भँबेरे नें छीड़ि लीयी ऐ। भव मेरी बहू ऐ भेजि देव। स्याइति जिही वापिस ले ले।” बहू केँ पीहर वारेनु नें पहुँचै तो नाही-नूकर करी, परि वु गोहल परि गयी कि लिवाई जाँगे। पीहर वारेनु नें भेजि दई।

घर भाइ केँ बहू नें देखा-मारी करी, वानें जनते कही—“बसि, इतनी-सी बात ऐ। लाम्ही नें वापिस लुगी जा घर ऐ।” वानें जनते कही कई लाम्ही, तेल लाम्ही और एकु सरदा लाम्ही। वाप-वेदा एक लेहमा नें लै आए। बहू नें दीयो बनायो, जोरयो और घर नें धरि दीयो। भँबेरी भाजि यो। वाप-वेदा बडेँ खुस गए, जो मिलै जाई ते कहें—

“भरे मैया, हमारी घर भँबेरे नें छीड़ि लीयो ओ, हमारी बहू नें अपनी करामति ते भँबेरी हराइ दीयी और घर वापिस ले लयो।”

२२

एक ठाकुर की चतुराई

यस बारहू जने मिलिकेँ काळ मेले कूँ गए। तीन-चार दिन तक मेले खूब देख्यो। फिर गाम कूँ आए। मेले में सबु दाम लचुँ हूँ गए। एकु भवेलाळ काळ पै ना रह्यो।

गैल में मिलेँ भूँज लगी और गामु बोहीनु दूर, और साँस वँसै हूँ भाई। भव वे भवरे और भूप केँ मारे विकल। गैल में एकु गामु आयो। जाई में डटि गए और हलवाई की दुकान पै पोहँचे। सबु जने मिठाई तुलवाई केँ खामन लगे। खूबु झिकि केँ खाई। लाइ-यी केँ कुल्ला-बाँतिन करि केँ निचुँ हूँ गए। भव बनियाँ बोली—“लाम्ही जो दामु।” एकु बोल्पी—“भाई, दाम दिगें बोताएँ। भव का भागे जतें। तेरी दुकान पै सोमिगे।” बनियाँ बोल्पी—“कोई बात नाएँ, बोताएँ दै दिजी।” वे बोले—“भाई सेठ, भव सोइवे कूँ कहूँ ठोर बताइ दै।” बनियाँ नें एक दूधरी दुकान को तारी सोलि दियो। और वे वामें सोइ गए। बनियाँ नें बाहिर ते तारी दै दियो।

भव वे बोले—“भाई, बोताएँ कसँ होगी।”

एकु बोल्पी—“भव दिन निकलाज होइ तब द्वै-बारि ददं की मूठी बनइओ और द्वै-बारि उसामु मचि जंमो। सबु में देनि लुगी।” भव धोतायो भयो, कोई किल्लाई, कोई कछु करे।

बनियाँ धायो, तारी बोल्यो। बनियाँ किल्लामनि चुनिकें घबड़ायो, बोल्यो—“ठाकुर माह, वा घाम में।” ठाकुर बोल्थो—“बातें छूरि, जानें मिठाई में राति तेनें कहा खवाइ दिया, मेरे तो बाँटि भागीये मेरे परे ऐं श्रीर कछुन के पाँम दूटे जाँतें, किल्लाई रहे ऐं कं पाँम दूटि चले। कछु नरे के धारे मेंटि रहे ऐं।” अब बनियाँ घबड़ायो। जि भली गई। मेरी ती बाणि कूँ नीवति आइ पः। वो ठाकुर ने बोल्यो—“भाई, अब कहा होतो चाहिए।” ठाकुर बोल्यो—“पहिलें तो डाकदर कूँ बुझाते ताईयो, पीछें कछुं कह्यो।” बनियाँ बोल्यो—“ठाकुर साब, जेसं वनें जेसं त्याई फंसलो कर न। गगरां माह कूँ बोले। आ फंसलो करि लजे, भाई, सो-सोही खपईया तू ले-ले।” ठाकुर बोल्थो—“अग्या नगो मानम गेल सो। हम सवु वारह जने है। वारह सो खपईया खुयो। नही हूटि जा, मोह जाँत है।” बनियाँ बोल्थो—“नाइ ठाकुर, कछुँ मति जाइ, भई तू वारह सो ई ले जा। अपनी कला समेट।” ठाकुर ने न वारह सो खपईया, बिते कही के उठो रे, गाम में मरियो चलो झट।” अब आठे ईया श्रीर ने सो-सो खपईया अपने घर आए।

२३

धर्म की जरूरी।

एक विरामनु श्रीर एक विरामनी काऊ गाम में रहत ऐं। ऐसी बखतु आइ गयी के उनकी गन्ना न तू वे नगी श्रीर काऊ दूसरे सँहर में जाइ के रहे।

विरामनु राजा के न्या भीक माँगिबे गयो। राजा काऊ ऐं कबळ भीक नाएँ देतो। परि क न्या जाँतें बाके मन में कहा आइ गई के बाँचें एक गिल्ली वा विरामनु ऐं दे दई। विरामनु ने कही—“गोश की जरूरी भई हरी ऐं।” श्रीर अपने घर कूँ लौटि आयो।

अब विरामनु सीध गयो। सो रोज बाके न्या जाइ श्रीर एक गिल्ली ले के श्रीर “घरेंम की न हरी ऐं” फलि के चल्थो धावे।

अब राजा ने रानी से कही—“वि विरामनु तो बढी गोल्थो, श्रीर जा तरह ते खजाँतो गयो तू ता-यो।” रानी ने कही—“कल्लि बाते न्यो कहियो के भीक अब गिल्ली, अब तू मोइ धर्म की री तर सिद्ध देयो।

राजा ने रूग्ने दिना बिही कामु करयो। विरामनु बिचारी बिला भीक लएँ ई चल्थो आयो।

(२)

विराजन्तु नें दूसरे दिनाँ फिर कही राजा ते जाइ कें कि "सिरी महाराज, भ्राजु श्रीर चली श्रीर घरम की जर देखि भायो।" राजा राजी है गयो, श्रीर विरामन के संग चलि दीयो।

मदिर पै पीहुँचे। तारी खोली सो देखै तो म्वाँ एक गधा नैथ्यो भो। गधा ऐ देयत खँम राजा की सीमा ठनक्यो। राजा गधा पै बैठयो श्रीर गधा उड़ि गयो। जाइ कें देखै तो नरक की दरवज्जी खली परयो श्रीर सुरग के तारे ठुकि रए। राजा नें पूछी—“भाई भ्राजु जि कहा बात।” उननैं कही—“बु राजा जँसैं-तँसैं तो दानु करिखी सीख्यो श्रीर फिर वानें वद करि दीयो, सो वाकूँ नरक की दरवज्जी खुलि गयो श्रीर सुरग की वद है गयो ऐ।” राजा नें पूछी—“भव सुरग की रस्ता मेरे काजें कैसें खुले।” उननैं कही—“तू बारह बसैं तो भिष्टा खाइ श्रीर राजु वा विरामन ऐ दानु में दै देइ तब खुले।” राजा नें कही चाएँ सुरगु भार में जायी, में भिष्टा न छाँगी।” गधा बाइ फिरि वा मदिर में लै भायो।

राजा नें रानी ते भाइ कें सबु हवास्तु कहि दीयो। रानी नें कही—“अच्छा।” रानी रोजु धारी भरि के राजा कूँ भोजन करावै श्रीर भगिनि पै सीक ते नेंकु भिष्टा अरवाइ देइ। राजा ऐ कछु खबि न, श्रीर रोजु भोजन करि जाइ। जा तरह ते बारह बसैं वीतती है गए।

बारह बसैं पीछैं रानी नें राजा भेज्यो कै जा देखि आ। घरम की जर हरी हल्य कैं नाई। बु मदिर में पीहुँच्यो। म्वाँ ते बैठि घोडा पै म्वाँ भगवान जी के लोक में पीहुँच्यो म्वाँ जाइ कें देखै तो सुरग की द्वार खुलि रह्यो श्रीर नरक वद, पर वानें पूछी भाई, जि कहा बात ऐ। उननैं कही—“वा राजा नें बारह बसैं तक भिष्टा खाइ सई, भव वाकूँ सुरग की दरवज्जी खुलि गयो।” राजा ऐ बड़ी अचमो भयो, रानी के जौरे भायो।

रानी नें राजा ते सबु बात कहि दई। राजा नें विरामन्तु बुलायो श्रीर बाइ एक गिरी दई। विरामन्तु नें कही “घरम की जर सदाँ हरी ऐ।”^१

२४

जि कौन की बहू होगी।

एकु बाइ के छोरा, एकु सुनार के छोरा, एकु दर्जी के छोरा श्रीर एकु विरामन के छोरा में यारी ई। एकु पोत वे चारयो व्यापार करिबे कूँ गए। एक सँहरपनाँ के बाहिर एकु बगीचा में राति बसेरी करयो, म्वाँ सावा-पीई करी। खाइ-नी कें जब सोइबे सगे तब उननैं सोची—“भाई, जगल की मामली ऐ। राति की मामली ऐ। राति की सयैया ऐ। ई-ई चटा जागि कें सबु जने पैहरी देव।” सबु जा बात पै राजी है गए।

पँहलमपत. बड़ई के छोरा की पैहरी भायो। बड़ई की बेटा जागि परयो ही तीनो सोइ गए। बड़ई के बेटा नें सोची “ला है चटा में पूतरी ई बनाइ सक। बैसैं ई बैठयो-बैठयो कहा कस्यो।” सोई वानें अपने पैहरे में एक बौहीत कछु मलूक काठ की पूतरी बनाइ दई। अपने पैहरे ऐ बनाइ कें बड़ई की बेटा सोइयो श्रीर दर्जी की बेटा जागि परयो।

दर्जी के नें दू पूतरी धरी देखी, वा नें अपने मन में सोची—“ला में ई बैठयो-बैठयो कहा कस्यो, ला वा पूतरी के काजें पोसाकई बनाइ दू।” सोई वानें ई चटा में पूतरी के काजें खुदु अच्छी पोसाक बनाई श्रीर बाइ पैहराइ दई। फिरि बाऊ की पैहरी लतम् भयो श्रीर सुनार की जाग्यो।

सुनार के नें पूतरी के काजें गँहतो गढ़यो श्रीर नख-सिखते गँहने ते लावि दई, फिरि बाऊ की पैहरी वीति गयो श्रीर बाँम्हन की जग्यो।

बाँम्हन के नें सोची "बढई के नें पूतरी बनाई, दर्जी के नें पोसाक सी ई और सुनार के नें हुता बनाई के पैहरायो, अब मैं कहा कहूँ।" बाने कही—"बा, जाँयें में जीऊ ई डारि दजें।" सोइ बानें अपनी जोगरिया चीरि के बा पूतरी के म्हे में निचोरि दई। सोइ बु पूतरी जी उठी। सबेरें सठि के चारघील में लढाई है बे लगी, बु कहै जाइ मैं लुगी, और बु कहै जाइ मैं लुगी।

(२)

राजा के ज्याँ न्याच पाँहेंच्यो। राजा नें सोचि-समझि के हुकूम सुनायो—"भाई, बढई के बेटा नें पूतरी बनाई, सो बाकी ती बेटी रही, बाँम्हन के नें जीउ डारयो सो बु ऊ बाप थानिक-ही रह्यो। दर्जी के बेटा नें सीकें कपडा पैहराए, जि काँमु भातई को ऐ, सो दर्जी के की बु बँहन लगी। सुनार के नें बु काँमु करयो ऐ जो भालिक को काँमु ऐ। बँइअरबानी हमेसा ई गँहने की फिराव अपने भालिक ते करति ऐ। जाते जि बैअर सुनार के की रही।"

२५

दीन और दोजख

एक पंडित जी कासी ते जोतिस पडि के आइ रहे। रस्ता में एकु सँहै परयो। म्वाई पंडित जी कूँ राति है गई। पंडित जी नें एक दुकान के सखता पै विस्तार लगाइ लीयो और सोइ गए। बा दुकान के ऊपर एक रंडी रह्यो करति ई।

पंडित जी थोरी-सी देर ही सोइ पाए कि म्वाई है के एक मुरदा निकरयो। पंडित जी नें 'राम-राम सति है' सुनी। रंडी नें अपनी नोकरीनी ते कही—"कि देखिओ री, जि दीन कूँ गयो कि दोजख कूँ।" नोकरीनी बाहिर निकरी। लौटि के बानें रंडी ते कही—"अरी, जि ती दोजख कूँ गयो।"

पंडित जी जि सबरी बात सुनि एए ऐ। उनें अपने मन में सोची हमनैं बँसई १२ बसैं कासी की घूर फाँकी और जि विद्या आई ऊ न। जा विद्या के कायें रंडी ई ऐ शुरू बनारें।

पंडित जी जि सोचि के ऊपर रंडी के अटा पै चढि गए। रंडी ने पंडित जी को आदर-सत्कार करयो। पंडित जी नें अपने मन की बात रंडी ते कही। रंडी ने कही—

"जाकी ल्हास के सग १० आदिमी कानाफुसी करत जाई कि भली भयो जि मरि गयो। बाद समझो कि जि दोजख कूँ गयो, और जाकी ल्हास के सग सबु लोग सोग मनावत जाई श्रीस बाकी तारीफ करत जाई, बाद समझो कि जि दीन कूँ गयो।"

२६

एक चतुर नारि

एकु गाँव के पास ई एक हरहारी खेत जोत रह्यो ओ। बाई गाँव की एक स्त्री बा हरहारे के खेत की गेह पै हुँकेँ ऐसे समनैं निकरी जब कि धूप बौहौत तेज पडई ई और हरहारे सें बोली कि—

"धूप परै भरती जरै, पाँव न मिट्टी खाइ।

हारी हर मत जोतियो, जब तक पार बसाइ ॥"

तब हरहारे ते इसको कोई जवाब देते न बनो। स्त्री अपने घर कूँ चली गई और हरहारे नें भी सवे पै हर छोडि के अपने घर को रहा लई और घर जाइकेँ जि बोहा कह्यो कि—

"धूप परै भरती जरै, पाँव न मिट्टी खाइ।

हारी हर मत जोतियो, जब तक पार बसाइ ॥"

तब वा की स्त्री ने कहा कि—“फिर आपने कुछ जवाब जा दोहा की दिया कि नाई” सो तो बोली—“भोते कुछ उत्तर देंत नाई बनो। तो वाकी घरकी में द्वे दोहा बता दए कि कल बु फिर भावें तो पहिले इस दोहे को और दूसरी बार इस दोहे को कह देंगी। हरद्वारे में बोक दोहा सीखि लए। दूसरे दिना हरद्वारी ने हर जोब दिया और बाई खेत की मेढ पे हूँ के जब बु पहिले बारी स्त्री निकसी तो हारी ने कहा कि—

“लोली लहंगा पहिर के, नारि नगर कू जाइ।

सत-चदनो बारी जब बर्दू, हर को बयी भ साइ ॥”

स्त्री ने ऊ अपने पहले दिन के कहे भए दोहा को जवाब पादके कही कि—

“सीखी-साखी तें कही, जो कहीं कहती कालि।

घर की बलें बिसारि के, तू पिया में नारि ॥”

फिर मंद ने कहा—

“झोंड़ी जोतू धिन बजें, ठोकि लगाइ दजें बारि।

जो लागि जाइ मेरी एक बरी, तो तोसी करि सजें बारि ॥”

एसो कोरी-सी जवाब पाइ बु स्त्री अपने घर कू चली गई।^१

२७

जा जुग में रह्यो, कछ बाऊ के गुन गाओ

एकु ग्यानी-ध्यानी पंडित जी ए। वे एक राजा के ज्या रह्यो करत ए। बा राजा के ज्या वे कोई अन्याय साँए होन देत ए। सदा धरम की ई बात करवाओ करत ए।

वे पंडित जी एकु गाय में रह्यो करत ए और रोखु राजा के दरबार में आयो करत ए। एकु दिना रस्ता में जने कलजुग मिल्यो, कलजुग ने पंडित से आदक पासाये करी। पंडित जी ने पूछी—“तू को ऐ।” बावें कही—“मैं कलजुग ऊ, मैं तुमते द्वे बात करेन कहूँ।” पंडित जी ने कही—“कहा बात है भाई।” जा पे कलजुग ने कही—“महाराज, जि तुम जानत ई श्री कि आजु की घरी मेरी ई सब जगें राजु ऐ। तुम राजा पे कवळ मेरे मर्जी-मुताबिक काँमु नाएँ होन देंत। जाते मैं तुम्हारे जोरे आयो ऊँ। कछ पापु, कछ अन्याय ऊ है जान दे करी। मेरी पूजा ई जिनते होति ऐ। जा जुग में रही कछ बाऊ के गुन गाओ।”

पंडित जी ने कही—“जातु नाएँ परे में। हम जहाँ रह्यो म्याँ पापु है जान दिगे? जा चल ज्या ते। हम कवळ राजा के ज्या पापु न होन दिगे।”

कलजुग ने कही—“तुम्हारी राजी महाराज, और जि कहि के कलजुग हटिगी।

(२)

दूसरे दिना पंडित जी अपने गाय मेंते राजा के दरबार में जाइ रहे। रस्ता में कलजुग ने कहा काँमु करयो कि एक बोहीत ई फली-फूली बारी अपनी माया ते लगाइ राखी। बा में बेंगन लागि रहे। कासीफलु लागि रहे। पंडित ने बोहीत सुदर बेंगन के फल देखिके सोची—“ज्या कोई तो हटु नाएँ और बेंगन जे राजा के सादक ऐ, अब कहा कहूँ।” फिर जनेन चार बेंगन तोरि लीए और बा बेंगन के पीछा के जोरे चारि पैसा धरि दीए। जाते घरेमु ऊ न जाइ और काँमु ऊ है जाइ। अब वेउन बेंगन में लं के राजा के ज्या पीछे और राजा ते कही—“राजा, आजु हम बहुत ई कछ अच्छे फल साए ऐ।” राजा ने कही—“निकारी महाराज, देखू कँसे ऐ।”

कै तो पंडित जी ने अपने रुमाल में ते वे फल खोले, सोई इस्वर-करनी वे चारि घंटा नुभर के बच्चा है गए। अब तो राजा बड़ी नाराज भयो और बावें पंडित जी ते कही—“जाई जगत मेरे

दरबार में ते निकरि जाओ। तुममें मेरे दरबार में मेरे संग जा तरह की बरसाव करयो।” पंडित जी बिचारे वारि नीचे कूँ करे, बिना कछू कहें-सुनैं दरबार में ते निकरि आए और अपने घर की रस्ता गई लई।

२८

चतुर की चतुराई

किसी गँम में एक मियाँ और मीयट्टी रहते। समें पाकर उन पर ढकीमी भइ गई और मियाँ जी ढकीमी भा जाने की वजह से दूर देस में निकरि गए। वहाँ उसमें किसी बादशाह के खाँ नोकरी कर ली। मियाँ जब घर से निकलीं ओ तब मीयट्टी के पास कुछ तो अनाज और एक मोटा, दूसरी डोर, तीसरी छाज, चौथा कुत्ता, पाँचवी बिल्ली येई सामान छोड़ि गयी। उस मीयट्टी ने कुछ दिन तो उस अनाज से और कछू दिनों मँहनत-मजदूरी करके काटे, पर उसी भरसे में मोटा तो डोर-टूट जाने से कूँपा में गिर पड़ी और बिल्ली मरि गई और कुत्ता भागि गयी। पैहनने के कपड़े भी ऐसे फटि गए कि बिल्कुल खोसे गए। सिर्फ एक छाज ई बाके पास रहि गयी।

बीबी मौनी मीयट्टी को इस बात का तो पती थी ही कि मियाँ जी अमूक बादशाह के खाँ नोकर हिये। उस बीबी ने सोच-विचार के मीयट्टी में मियाँ जी के लिए खत लिख दीयो और खत में ऐसी बातें लिखी कि उसके खास मियाँ जी ई समझ सकें। खत में अपनी व मियाँ जी की वहीन होने की वजह से मोटा का नाम डिव्वन साहब और डोर का नाम रुम साहब, व बिल्ली का नाम बिलाव साहब और कुत्ते का नाम कोतवाल साहब तथा छाज का नाम फटकन साहब लिखकर भेज दिया। खत मियाँ जी के पास पहुँचा तो मियाँ जी खत को बाँच कर बड़े उदास भए। तब बादशाह ने मियाँ से पूछा—“कि मियाँ जी, आज आप इतने उदास क्यों हैं।” शत्रु मियाँ जी ने खत बादशाह के हाथ में दे दिया। बादशाह खत को पढ़न लाग्यो तो बादशाह की समझ में और तो सब खत आ गयी, पर खत में जो यह लिखा था—“कि बासीराम ने घर घेर लिया ऐ, डिव्वन साहब मर गए। रुम साहब बाकी टूट गए। बिलाव साहब मर गए। नमक हरायी कोतवाल साहब भागि गए। फटकन साहब बाकी रहे हैं। सो बढिया की लड़ाई इधर से उधर और उधर से इधर दोनों से ले रहे हैं।”

इसका मतलब मियाँ तो समझ गया था कि बासीराम-भास घर में उपज आई होगी और रोटी न मिलने से कुत्ता भाग गया होगा। बाकी रहा छाज सो कपड़े न होने की वजह से मीयट्टी उस छाज को कभी तो आगे लगा लेती होगी और कभी पीछे। बादशाह ने तो अपने मन में यही समझा कि यह मियाँ किसी रियासत का मालिक होगा और यह मेरे यहाँ छोटे पद पर रह रहा ऐ। इसके यहाँ तो कई साहब भी घबी में रहते थे। ऐसा सोचकर बादशाह ने मियाँ जी से मौफ़ी मौगी और कहा—“कि यह बहुत ही अनुचित हुआ जो आप मेरे यहाँ इतने छोटे से पद पर ही रहे हैं। अब आपको जितनी जरूरत हो उतना ही रुपया ले जाओ और जल्दी ही अपने घर की राह लो।”

मियाँ जी बहुत-सा रुपया लेकर अपने घर पहुँचे और अपनी बीबी के साथ कुछ पूर्वक दिन बिताने लगे। ठीक तो है चतुर की चतुराई को चतुर लोग ही जान सकते हैं।”

२९

आँधरी और रजौदुआ

एक गँम के दो आदमी एक आँधरी और एक रजौदुआ वे दोन एक ई गँम में व्याहे। एक दिना वे दोन जने आपुस में बोले—“कै भाई, भरत-जीमत अवकें काळ दिना चलि के

सुसपादि है भाई। दूसरी बोली—“भाई, बात तो साँची कहलै, चलनो बहिएँ पर भाई, भारकसु जरूर चहिएँ। भाई, मेरे तो बरब हूँ और तू अपनी बहली ऐ ल चल।” बानें कही—“भाई, ठीकै।”

अब दोऊ पाग-भैरखी पैहरि के टिबन^१ है के बहली लै के गए। सखि कूँ भ्राँ पौहें गए। नैक झुकपुकी सी है गयी। एक बोली—“भाई, निबटि-फिबटि चलें नही भ्राते कोई सग न परषी तो जरकटा भटकैगी।” दूसरी बोली—“भाई, बात तो ठीकै पर मोह तो अब कछ दीखतु नाएँ। निमटि के आए और बहली न पाई तो।” अब वृ अब बोली—“भाई, पाग ते पाग बाधि लें और छोर पकरि लें। निमटि के जब भ्राँगिगे तब घेरि के पकरि लिये।” विसें जिही काम करषी। निमटि के हात-भानी लैके बहली कूँ घेरत डोलें पर बहली तक न पौहें।

इतेकई में बरहे ते कछू आदमी आइ रहे। वे बोले—“तुम को श्री जी, कहा करि रहे श्री। बहली ठाही करि राखी है बरब उकताइ रहे। करि कहा रहे श्री तुम।” वे सरै के मारे बोले—“भजी, ज्या खेत नाप रहे ऐ। जि तो कहि रह्यो है के डेड़ बीघे की ऐ, मैं कहि रह्यो क के जि बीघे-भरि की ऐ।” वे बोले—“भजी भा जाभ्री, जि नंबर तो बीघे कौ ई ऐ।” वे बोले—“भजी ठेर जाभ्री, हमक चवतें, बहली में ई वैठि चलियो।” वे बोले—“आइ जाभ्री तो।” वे बहली के ढिग बाँस के सहारे ते आइ गए और बहली में वैठि गए।

अब सभ में आए और चौपारि के सहारे बहली छोड़ि गई। बरब बाँधि दए। आपु चौपारि में जाइ बैठे। सुसपादिबारे बरबन कूँ भुस डारि दयो और बिनकूँ हुक्का भरि दीयो, खाट-विछैया करि दीयो।

नैक ठेरि के एक छोरा रोटीन कूँ बोलिबे आयी। वे रोटी जंमें गए। जब वे पीरी में पौहें तो छोरा छोड़ि नें भगि गयो, वे विचारे पीरी में ठिबिरियात डोलें। पीरी में नाज की खी है, परि खाली परी। बिन भैलें एकु वा खी में गिरि परषी। बड़ी देर भई। घर के बोले—“लाला, मँह-मान आए ना नें।” छोरा बोली—“आइ गए ऐ, पीरी में हुगे, मेरे सग पीरी तक तो आए ई हते।” घर के दीयो लैके पीरी में गए। देखें तो एकु खी में परषी ऐ। घर के बोले—“भजी कैसे भई। खी में कैसे गिरि परे।”

वृ बोली—“भजी कैसे क ना भई, ज्यानें मानी नाई। मने कही खी खाली परी ऐ और ज्या नें कही के भरि रही ऐ।” वे बोले—“भजी भ्राभाभो, अब के संवत कहा ऐ जो खी भरी जाइ, अब के तो पेट भरिबे भारी परि रहे ऐ। चली रोटी सीरी भई जाँति ऐ।” खी वारी बोली—“नँकु हातु पकरि लेइ।” हात पकरि के ऊपर निकरषी। अब वे रोटी जंमे गए। वारी परोसि दई, खीर-धुरी की मँहमानी करी, वे जंमैनु लगे।

बिन को एकु पड़ेरूटपी डोलि रह्यो श्री। वृ बेरि-बेरि जिनके जोरें भा जाइ, वे बाइ बेरि-बेरि टारि दियो करे।

बिन की एकु बूढ़ी सासु ई, वृ क विचारी भाँचरी ई। वृ खीरि परोसिबे भाई और घरती में करि के चली गई। वे विचारे घरती में खामन लगे। एकु बेर वृ डोकरी फिरि खीरि दैबे भाई। विसें जानी कि वृ पड़ेरू भाइ गयो। जोर ते एकु बप्पड मारषी, डोकरी की कनपटी ऐ सग्यी। बप्पड के लगत ई डोकरी गँहोत हूँ के गिर परी।

बड़ी देर में होनु आयी। बोली के—“मँहमान, तुमक ऐ कमु दीखतु ऐ। बेचारे सरै के मारें-नँकु है गए।”^२

१. टिबन—तैवार। २. पातीराम भकबरपुर के संग्रह से।

जुगती और टल्ली

एक दिन जुगती बोली टल्ली ते—“कै तू बिना मेरे देखे टल चलाइ ऊ देह।” टल्ली रोयो—“देखि चलोगे कै ना।” टल्ली चली और एक अचाने पै दस-बीस आदिमी बंठे तापि रहे ए, मो माँ आपु वू ऊ जाइ बैठयो और तापन लख्यो। नैक देर पीछे बोली—“कै सिरदारो, आजु एकु वडा भारी भवभी देख्यो।” वे बोली—“कहा अबभी देख्यो भाई।” वु बोली—“अजी राति मेने आबे मग कुता रोमति देख्यो।” वे बोली—“अरे तौ झूठा, नैकु सवि कौ ई झूठ बोलि। कहूँ आजु तक ऐसी भयोऊ ए कै आबे सरग कुता रोयो होइ, कै राति ई रोयो ऐ।” टल्ली बिचारी शकमारि कै पति ठगारि आयो।” भाइके उदास बैठि गयो। जुगती आयो और बातें बोली—“कहि भाई, टल गयो कै ना चली। टल्ली बोली—“भाई, नाई चली।” जुगती बोली—“चलि, अब हमारे साथ चलि, ओह भाई चलि जहाँ कलि कही काई और बाई बातें फिर कहियो।” जुगती और टल्ली दोऊ गए और बाई अचाने पै जाइ बैठे। जुगती बोली—“बेजी, कलि जाने ऐसी कहाबात कही।” वे बोले—“बात कही याने धरि, कहूँ कुता आबे सरग रोमत ऊ हुंगे।” जुगती बोली—“साँची तौ कही, याने कहा झूठ बोली ऐ जितौ नैक ऊ नैक साँची ऐ। देखो, राति कुतिया ब्याई सो जाके हरी-हरी पिल्ला वाके जोरे डोलि रहे, ऊपर ते एक भैरानी भई चील भाई, और पजेन में एक पिल्ला ऐ दवाई तै गई, सो वु पिल्ला आबे सरग काँड़-काँड़ कर रह्यो ओ। बताओ सिरदारो, वु पिल्ला आबे सरग काँड़-काँड़ कर रह्यो कुता नाओ तौ कोल ओ। सिरदार बोले—“भाई, साँची कह्यो। जरु कुताई रोयो। ऐसँ हमें कहा खबर ई तै नई तौ बताई ऐ।” अब जुगती और टल्ली शीशं धाड़-धाने घर कू आए। जुगती बोली—“कही टल चली।” टल्ली बोली—“चली माव, चली।”

३१

जितो वु चोँ, वु तौ जित चोँ

एक विरामनु परदेसन कूँ गयो। बाकी बहू और छोरा घर पै रहि गए वु अपनी बहू ते नहि गयो कि जा छोरा ऐ खुष भञ्जी तरें राखियो। वा विरामनी कौ एकु गैर आदिमी ते भेलु ओ। वु रोजु वा के जोरे आयो करतु ओ। एतु दिना एकु रस्ता चलती विरामनु आयो और बाई की पोरी में ठहरयो। राति कूँ वा लुगाई कौ यात्रायो। जब वे दोऊ खुब घुलि-मिलि कै बात करिबे लगे, सोई छोरा रोइ उठयो। बानें कही—“भारो, अपने छोरा ऐ राखि आ।” वु छोरा के जोरे गई और दबदोरि कौ सुबाइ भाई। पोरी देर पीछे वु घोच मारि दियो।

जब भीतु देर हई गई, तब वा लुगाई के यार नें पूछी कि—“री, तेरे छोरा ऐ भीतु देर में गई रोयो ओ नाई।” बानें कही—“तोइ का फिकिर परी ऐ, सोइ रह्यो होइयो सीला।” बानें रही—“धरी ना, ला देखि भाऊँ।” वु देखिबे गयो, पीछे ते वु लुगाई ऊ तरवारि लेके गई और एतु एक ई हाथ में बाकी मूड भूटा-सो उड़ा दीयो। फिर फावरी लाइ और कोठे में गइयो और कौ धानो छोरा ओह अपनी यात्र गाडि दए। वु विरामनु जो बाकी पोरी में ठहर्यो का ओ जा नु भोजन ऐ देसि रह्यो।

गरेरे हेनि वु विरामनु उठि के चलि दीयो।

(२)

पाने चली मो जाइके एक सराइ में ठहरयो। ईतुर की ऐसी करनी भई कै बाई दिना ई सराइ चली ओह बाई सराइ में ठहरयो दोऊन को भेंटो हई गयो। वा विरामनु नें कही—“यार,

जगान्नी बड़ी बुरी आइ गयी ए। कालु राति कूँ हमनें बडो भंतुकालु^१ देख्यो ऐ।" बाँने पूछी—“भाई, कहा बात ऐ।” बाँने बाते सवु किस्सा कहि दीयो। अब वा बिरामनु ऐ कछ सुभा भयी, बाँने कही—“भार, चलि मोइ वा घर पै सँ चलि, मोइ दिखाइ भ।।”

वे दोर वा सँहरपनो में आए। बाँने घर बतायी और खुदि वा पीरी में ठैर गयी।

बाकी लुगाईनें पूछी—“कै आइ गइ का।” बाँने कही—“आइ गए”। थोरी देर बैठि-जठि कै पूछी—“छोरा कहा गयो।” बाँने कही—“भाई कहुँ खलि रह्यो होयो।” फिर बाँने कही—“सा, फावरी लै आ। जो मालु-मली लायी काको बाइ गाछि दें।” वु फावरी लै आई।

बाइ वा अर्थ की तो खबरि ई, बाँने म्वाई खोदिवो सुरू करयो। सोई वा लुगाईनें पीछे ते तरवारि भारी और वु ऊ मारिके गिराइ दीयी और हल्ला मचायी कै “भेरी मालिकु चोहाननें मारि दीयो।” सोई म्वा लोग-बाग इच्छि अए अब वा लुगाईनें कही—“कै, मैं सती हूँगी।” कुनवा-गोताकेन नै नहि-नुकर करी, परि वु न मानी।

चिता रची वा पै बौम्हल की ल्हस घरि दई और वु बिरामनी ऊ बँठारि दई। अब बिरामनु पँहल्यो और वा नें जाइ कै बाते पूछी—“री, तैनें अपने छोरा मारि दीयो, अपने मालिकु और अपने याह ऊ मारि दीयो और अब ऐसी घरमेसुरी बनी ऐ कि अपने मालिक के सग सती होति ऐ, जि कहा बात ऐ।” बाँने ज्वावु दीयी—“कै, जा बात को ब्यानु^२ भेरी माली की भाएली ऐ, वु देगी।” बिरामनु जि सुनि कै वा मालिन के जौरे पायी।

(३)

मालिन ते जाइके बाँने सबरी ओखता कही। मालिन नें कही कै चिता मति करे वा को म्याँनो में दुगी।”

एक दिना मालिन जाहगरली नें बिरामनु भंगायो और वा में बिरामनु कूँ बँठारि के द्वर के अखाडे में लै गई और बाइ परी और अपसरान् की नाँवु दिखायो। थोरी देर में वा बिरामनु ऐ खतारि लाई।

अब तो वु बिरामनु हाइ परी, हाइ परी किल्लाइवे लयी। मालिन नें कही—“कै वु परी अब नाँइ मिलनी।” बिरामन नें पूछी—“कब मिलैगी।” तो मालिनि नें कही—“तुम अपने पँहलोठी के छोरा की चीमूडी पै बलि चढाइ देव, जब मिलैगी।” बिरामनु राजी है गयी।

बाकी पँहलोठी की छोरा अठारे बसं को ओ। दूसरे दिना बिरामनु बाइ लेंके चीमूडी के मदिर में गयी और काठिबे कूँ तैयार है गी। सोई मालिनि नें जाइके बाकी हावु पकरि लयी और कही—“महाराज, लेउ अब मैं तुमें वा बात को म्याँनो देंति ऊँ। जि आगि ऐसी ई भयी करति ऐ। जा अगि कै पीछे तुम अपने ज्वान-जमान वेढा ऐ मारिबे तैयार है गए, बाई आगि में बाँने अपने वेढा मारची और डर के मारे अपने याह और अपने सबेमु मारि दीयो।” बिरामनु चुप है कै अपने घर कूँ चली आयी^३।

१. भयानक कांड। २. बिबरण (उत्तर)। ३. स० क०—चंद्रभान : लोहवन अपने भंसा ते सुनी।

(ऐ)

ब्रज : लोकोक्तियाँ

ब्रज-साहित्य में लोकोक्तियाँ—कहनावतों का भी अक्षय भंडार है। ये लोकोक्तियाँ ब्रज-साहित्य के भारि रूप 'गेय-गवो' (सुर-काल से भी प्रथम) से लेकर 'रीति-काव्यों' में भरी पड़ी हैं। यहाँ तक कि एक काव्य ने जो केवल लोकोक्तियों के सहारे ही रीति-परंपरानुसार 'नायिका-भेद' की रचना कर डाली है। अतः, यहाँ उन सबका चयन न कर केवल 'मुकवि जयतानंद' कृत 'सौ बातें की बात' या 'वशम-कर्म (भागवत) उपखान' की सभी लोकोक्तियाँ दी जा रही हैं। इन सभी कहावतों का चयन और संपादन जगहरलाल जतुर्वेदी ने किया है।

अ

- १ अभी बाँटे जेवरी, पाछें बछरा खाइ।
- २ अपनी ओर निवाहिए चाकी वो जाँने
- आ
- ३ आखिन देखें चेतनी, मुख देखें गयीहार।
- ४ आगि-लगते शोपरे, जो निकसी सो लाम।
- ५ आते कौं सँहजा कहें, जाते को कहें मुक्त।
- ६ आयी नाम न पूजिए, बाँवो-पूजन जाइ।
- ७ आर्वे-जाई सु हरि के लेखें।

ए

- ८ एक पथ है काज।

क

- ९ कर्गेन देखी हाथ में कहा आरसी ताहि।
- १० करे-काराव आप ही, सिर औरेंन के देइ।
- ११ कहै-कहै गोपाल की गई सिट्ठली भूलि।
- १२ किस बिरखें पर तत्ता पानी।
- १३ कूसा-पानी, कुर्बेन-धेन, गल-बाँधे निकसाइ।
- १४ कूसा में को भेंडका, करे सिवु की वात।
- १५ कुकुर चोक चढाई दे, चाकी चाटेंन जाइ।
- १६ कं गुर जाँने कोयरा, कं वनियाँ की हाट।
- १७ कोऊ रुख जहाँ नहि, तहाँ अरंडे रुख।
- १८ कोडी नाही गाँठ में करे ऊँट की मोल।
- १९ कोडी नाही गाँठ में चले वाग की सैर।
- २० कोडी मार बिटोरा चुकै।

ख

- २१ गोए-पिए वषामनो, सिर-चुपरे ल्पीहार।

ग

- २२ गई छठी की बाँनियाँ, गुड दै पित्री खाइ।
- २३ गई बात रे पाँहुने, घी-दै, आँव्यों तेल।
- २४ गवा चढे पाँची असवार।
- २५ गाढर आनी ऊँन की, बाँधी चरे कपास।
- घ
- २६ घर के घर, बाहर के बाहर।
- २७ घर की जोगी जोगनी, अग्न गाँव की सिद्ध।
- २८ बी सोबी जी देखिदे, कहि गोबर सो कोथ।

च

- २९ चली छाछ को नागरी, पाछें पीठि कॅमोरि।
- ३० चारि दिना की चाँदनी, फेरि भँवरी रात।
- ३१ चेरी लातेंन-कूटिए, दह्यो गुसाइन खाइ।

छ

- ३२ छाँड़े वने न समझे, ज्यों कुल-माँहि कपूत।
- ३३ छोटें मुँह बड़ी बात।

ज

- ३४ जग में देखी रावरे, मुख-देखे की प्रीति।^१
- ३५ जाके सिर पै बोज है, सोई करे निवाह।
- ३६ जाकी कोऊ गिनै न गूँधे, सो लाठी की भूआ।
- ३७ जे हरिआई गीं चरे, ते क्यो चरे पियारि।
- ३८ जैसै कजा घरे रह्ये, तैसै रह्ये विदेस।
- ३९ जैसी देखी चोल्हरा, तैसी रह्यो बनाव।^२
- ४० जैसी देखी साँघरी, तैसी पाँइ पसारि।^३
- ४१ जो दिन जाई अँनद सों, जोवन की फल सोइ।

^१. पाठा०—बिते। ^२. कहै समुद्र की०। ^३. तहाँ भंड की०। ^४. कहति ग्वालनी रिसभरी, मुल-सेते०। ^५. तो साला०। ^६. कौं चरे। ^७. क्यो बिलह। ^८. जैसी देखी साँघरी, तैसै पाँइ०।

४२ जो हँ बाझ्या हूष की, पीवै फूँके छाछ ।
 ४३ जी गदहा हर-बोतिये, ती बयो लीजै बैल ।
 ४४ ज्यों-ज्यों भीजै काँसरी, त्यों-त्यों सारी० ।

ठ

४५ टट्टू-भारैताजी बास ।^१
 ठ
 ४६ ठाली नाँइन मँडै पटा ।

ड

४७ डेठ बकाइन देखिये, मीयाँ बैठे बाग ।^२
 ४८ डेठ सुहारी छाक भें, परखे ही ते गीत ।

ड

४९ डाक बढत बारी गिरै, करै राव सो रोस ।
 त
 ५० तेरे धाले घलि गए, काँदा-खाँनी राँड ।
 ५१ तोहि बिरानी का परो, तू अपनी निखरे ।

ड

५२ दुधार गाढ़ की सातह भली ।
 ५३ देत न बने धुनामनी, हरषी लगवै सूत ।^३

घ

५४ घोबी कीसी कूकरा, घर की भयी न घाट ।
 ५५ घोबी-वेढा चाँद-सी, सीटो और फटाक ।

न

५६ नए चिकनियाँ, बगल में हँट ।
 ५७ नदी-किनारे खड़ा, जव-तव होइ विनास ।
 ५८ नाँच न आवै, भाँगन टेंडो ।
 ५९ नाँचन निकसी ती भलें, पूँघट काहे देति ।
 ६० नाँच-कूँदै बाँहरा, टूक जोगनाँ छाह ।
 ६१ नाक बार कितेक हँ, भायें परि हँ भाइ ।
 ६२ नाज बोहरी ले गयी, भुस लै गई विपार ।
 ६३ नातरि तोहि मँधारि हो, गुड दै काने साह ।

घ

६४ परगना की दोष ना, अपनी याँटो दाँम ।
 ६५ पानी में की बाम हँ, करै मगर मो बँर ।
 ६६ पिमनहारी के छोहरा, पारनाँ की पाम ।

ब

६७ बग्न दिताँ ते नानवें, एक बगना होंद
 ६८ बाग न मानी मेंडिकी, बंदा तीरै न दाज ।
 ६९ बाग बिनीग बापुरो, पूरा जयो चीनाग ।

७० बूढ़ी बरद, पाट की नाँच ।
 ७१ बैठे ते बेगार भली ।
 ७२ बेल न कूची, कूदी गोन ।

स

७३ भात-लपेटघी साग हँ, साग लपेटघी भात ।
 ७४ भुस-ऊपर की लीपनी, ज्यो बाखू की भीत ।
 ७५ भेंड जू, माँती देखिये, भेंगनि माँती देख ।

स

७६ भाँग भेंस रुकामनी, करै पडा की मोल ।
 ७७ भार बफाती खीचरी, यँ घर भाज न कास ।
 ७८ भारघी घोदू भाइ केँ, फूटघी जाइ लिवार ।
 ७९ भूँग-भोट में कोन बढी ।
 ८० भँहता दुरे पयार में, को कहि बँरी होइ ।
 ८१ मो पिय बात न बूँस हँ, धन्य सुहागिनि-नाम ।
 ८२ भ्दो भँ रीम, बगल में छुरी ।

र

८३ रोवै कोऊ मुडामनी, कोऊ रोवै मूढ ।
 स
 ८४ रागि जँहूँ ती तीर, नातर बुझका जाँन ।
 ८५ सरिका रोवै माँड की, भाँयें पितर सरास ।
 ८६ साँडे भाई होकरी, लागी गूजर खान ।
 ८७ सेहूँ परोसिन क्षोपबी, नित उठि करती रार ।
 ८८ लँह्या-टाट, पाट की तनी ।

स

८९ सपल होइ ती घर भली, नातर भली विदेस ।
 ९० साँप जो मारी चाहियेँ, दियो पाँहुने-हाथ ।
 ९१ सात भाया की भानबी, सदाँ मरै हँ भूँस ।
 ९२ सीखें बंदा नाक की, कटै बढोही जाँन ।
 ९३ सुनै घर की पाँहुनो, ज्यो भावैं त्यों जाइ ।
 ९४ सूनी घर भिड़वैन की राज ।
 ९५ मोई नारि सबते बडी, काकी कोठी ज्वार ।
 ९६ मोनो और मुगस ।
 ९७ सो गाहा मूसा पत्रघी, घत बिनाई गाऱ ।
 ९८ मो यानैत की बात ।

ह

९९ हँमिया निगलत ही मुग पड हँ ।
 १०० हट्टवा बंडेन देति नहि, कँहूँ झुपनी-मो धीन ।
 १०१ हगियाँ के मग में, पपिलाहूँ को नाँग ।

१. बूगरा रूप—बाजी-भारें, सुकौँ बानें । २. भेंड बगाइन दे० । ३. पाठो—बुनवी न आवै, हरषी लगवै० ।

ग्राम्य-लोकोक्तियाँ

संकलन-कर्ता—बालमुकुंद भारद्वाज

अ

१. अघरें अँनु फलतु ऐ, पाँच वरस या सात वरस ।
२. अन्न-बैन अँनेक बँन, सोनो-बाँदी आघो बँन, पूछि किरामत नास-बँन ।
३. अपनी-अपनी तूती औ अपनी-अपनी राग ।
४. अपनेई मरे सरग दीखत्व ।
५. अपनेई दाम खोटी तो, परखनवारे ऐ कहा दोसु ।^१
६. आँखि की काजर, नाँक कू भारी होइ है ।

आ

७. आँनहार बहू, बड़ेडाऐ स्थाप बसावै ।^२
८. आप काज, महा काज ।
९. आयो और बरात को, बूल्हँ गाजर खाइ ।
१०. आलस-नीद किसानों खोवै, चोरों खोवै खाँसी । टका-ब्याज बाबाजी ऐ खोवै, राँडे खोवै हँसी ॥
११. आस विरानी जे करे, सो जीमत ई मरि जाँइ ।

अ

१२. उवारिया, पासगै नाँप देखै ।

आ

१३. अघो कौ जैन, न माघी कौ दें ।

ए

१४. एकुलौ धुरी, ओर बूरेई गीत गावै ।
१५. एकु पूत मति जैनमें माइ, घर रहै के बाहर जाइ ।
१६. एकु लटो द्वै असाइ, कान्ती आँखि चँमकदार । चारिवे गई ब्रूँरि कौ हार ॥
१७. एकु लिखतें, सी वक्तें ।

ऐ

१८. ऐसीई नकटी देवी ओर ऐसीई पैदू पुजारी ।

ओ

१९. ओछे की प्रीति, झोल^३ की तापनो ।

२०. ओछो बास, कुल कौ नास ।

२१. ओड, गडरिया, नाऊ, जि भेद न दिगे काऊ ।^४

क

२२. कषा-वरि लई होरी, चँमार गिनै ना कोरी ।
२३. कौमीनवार, कुद-हथियार, कबजें न उतरै पार ।
२४. करकंटा की चोट बिटीरा प ।
२५. करनी तो जोई करे, जाके कुल बनि आई होइ ।
२६. करम बनी कौ, जसु लटियाई कौ ।
२७. कहे ते कुँम्हाइ गषा प नाँ चढे ।
२८. कागा हसु न गषा जती ।
२९. काठ की तो एकु ई पोत चढे ।
३०. कारी अच्छर भँस-बरावरि ।
३१. किसवी किसवु करे तो छजे, नाँई तो भूड-भोगरा बाजे ।
३२. कूआ की माँटी कूआ ई में लगि जाऐ ।
३३. कोरिया की छाँरी, केसर की तिलक ।
३४. क्वारी कन्या, सँस^५ वर ।
३५. कौवा हस, न बगुसा जती । (बनि-अपीपारी)

ख

३६. खेती, खसँम सहेती, बँन आस-पास ।

ग

३७. गँमार की टाँटि में अकलि होइ है ।
३८. गषा न कूदी, कूदी कौन ।^६
३९. गषा ना ओ, रँगटा ओ ।^७
४०. गयो मरद जनिं खाई लटाई, गई राँठ जनिं खाई मिठाई
४१. गई ठुकानू जहाँ भई अयाई ।
४२. गाम कौ जोगी जोगना, अँन गाम कौ सिद्ध ।
४३. गाम में दूसर, बाबे में ऊसर ।
४४. गाडी ऐ देखिके लाडी के पाम फूज जीऐ ।
४५. गाडीवारे की नारि जैनस दुसिया ।

^१. अपनेई दाम खोटी होइ तो परखनवारे ऐ कहा लगत्व । ^२. आँनहार बहू बड़ेडाऐ स्थाप बसावै । ^३. झोल कौ तापनो । ^४. जति-संबंधी । ^५. सहल का बजपाषा रूप । ^६. पाठां—गषा न कूदी, कूदी गोन । ^७. गषा नाँऊ, रँगटाऊ ।

४६ गिले न गूँठे में लाला की भूषा ।^१

४७ गुरु-खाँड़ गुलगुलुन तँ भौन करे ।

घ

४८ घर आए नाग न पूजिए, बाँची पूजन जाइ ।

४९ घर खोर तो बाहर खोर ।

५० घर-घर चूल्हे माँटी के ।

५१ घर-घर देखो, एक ही खेखो ।

५२ धो सँभारे रखोई, नामू बहू की ।

५३ घुटथी बाबाजी पिसी बवाई, इनकी-साल
कहा पै भाई ।

५४ घुड़-सवार गिरि परे, गिरे का पीसैबुहारी ।
भायावारी लुटै, लुटै का जैनमु-भिकारी ॥

५५ ध्यो कहाँ गयी, बँसाँवर में ।

५६ ध्यो न खाथी कुप्पा ई बजायी ।

घ

५७ चलि वीठी सड़कु को, चाएँ फेरई चो न होइ ।
रहिवी तो मँयान को, चाएँ बैरई चो न होइ ॥

५८ चलि वी मली न कोस को, दुहिता मली न एकु ।
करजा मली न बाप को, जोहरि राखै टेकु ।

५९ चारि पैसा की हँडिया तो फूटी, परि कुत्ता
की जाति पहँचानी गई ।

६० चारि मरिणी रामजनी, जब एकु मरंगी
जिवा ।^२

६१ चारि महीना ताल को, चारि महीना ह्रास को ।^३

६२ चालनी में बार काढ़े, कर में टटोरे ।

६३ चीजु गँमावै अपनी, चोरें गारी दे ।

चोर बिचारी कहाकरै, जब धँसी खबरि ना लेइ ॥

६४ चोरखे तो पिटती देखें, खामिती न देखें ।

६५ चोमनि के रिपटे को श्रीर राज के पिते को डर
नाएँ ।

घ

६६ छाछि-भाँगन चली पीठि-पीछें बोली ।^४

ज

६७ जब ई मंडू पसर कूँ निकरी, तब ई लै गयी
ल्यारी ।

६८ जब ई मुड़िया में मूड़-मुड़ायी, तब ई परि गए
झोरे ।

६९ जब गीदरा की मोलु भ्रामिले तो गाँधु-सामिई
भागै ।

७० जबरदस्त कौ ठेंगा सिर-पर ।

७१ जमीन-जोरु जोर को, जोर-घटे पै भीर की ।

७२ जान न पहँचानु, चारि महीना मासों रहि
जान है ।

७३ जाकी ती हरेनु में ई फूटी ऐं ।

७४ जाकी चारि सुलाखिनी, जाके कोठे बाँनु ।

७५ जा कोने जो ब्याके द्वार ।

७६ जाको बँनियाँ माघ, बाइ दुसमनु का दरकार ।

७७ जा घर-नाएँ बहू, सो घर डिगै-
दिग्या ।

७८ जाट, भिखारी, भिड़हरा, बार न जानें कुवार ।

७९ जैसी तेरी कोमरी, वैसे मेरे गीत ।^५

८० जैसे चले बाबुला, वैसे चले काबुला ।

८१ जैनी गुरु बारंगी, बैसीई मीठी होइगी ।

८२ जैसी देखु, वैसी मेखु ।

८३ जोर-जोर मरि जाइगी, मालु जैसाई खाइगी ।

झ

८४ झूठा खईए मीठे कूँ ।

ड

८५ डाँट-पिटाँमनी डोकरी, चूल्हे कूँ डबोत ।

ड

८६ डाली बहू के नोन में ई हायु ।

ड

८७ दानुषा चूँ, पुल पै खोई ।

८८ तेरी मानें ससँमु नियी, बुरी करी जो छोड़
दियो ।

८९ तेलु तो तिलीनु में ते ई निकरे ।

प

९० पोथी फटिके उड़ि-उड़ि जाइ ।

ब

९१ बतुला-ससँमु की हाँसी न सगिी ।

९२ बल रोहु, न बीसु उषार ।

९३ बावो धँगा, एकुई खेखे ।

९४ बेबी दिनु काटे श्रीर पडा परजोई मांगे ।

९५ बेना-बेना डार, कुना-कुना ब्याहार ।

^१. कोई गिले न गूँठे पर सं० । ^२. पाठा०—चार मरंगी रामजनी तब एक मरंगी बंदा ।

^३. पाली के दिवस में । ^४. पाठा०—पीठ-पीछें बोली । ^५. पाठा०—जैसी तेरी सुंदरी० ।

- ध
; बलूके की राजु ।
उस सब नगे ।
न
गाए, पैहरें वेठे संग ।
गुर ते ।
१ भें मवासा ।
हाइ, कहा निचोरे ।
सा को होइ ।
तीतौ न दो जैने भौने ।
बरसा भुस भौने ।
वसु को नहना ।
भौने नाई, भौगनु टेढ़ी बताव ।
भौस पुजारी, बन्हें छोटि कीजै
- यारी भौस जी की अंजाल ।
भौन डोक-सा ।
लच्छि बेवते पै ।
पूत करै, बेवता डड भरै ।
सावै, ना घटा बाजै ।
वा, बगल यें हंट ।
धई^३, बाएँ तनखा कधुई मति देइ ।
१, भरभूजैनु ।
बुगार्ड, देसु की भासी ।
१ पीरे टकागु ते कामु,
है वैंडी रांड है जाइ ।
१ कैं छौके पाँमु ।^४
- य
११ शवपी ती ऐ पर गुंथो नाँरें ।
१२०. पवौ न पीसी, भावी ई दीख्यौ ।^५
१२१ परायी पूत परदेसी दाखिल होइ ।^६
१२२ परायी भनु परदेस-बराबर ।
१२३ पाँव पंच मिलि कीजै कामु, हारें-जीतें न
भावै साज ।
१२४. पीठ में लहु मवाली करै, सबरी घर पूजा
कू चलै ।
- १२५ भूत के पाँमु पालने में दीखजावैं ।
१२६ पैसा स्वाद कू, कैं वाद कू ।
ब
१२७ वर रहै, बराती रहै, परि माँगे क्षमाबारी-
क्यो रहै ।
१२८. बामन-भाऊ-कूकरा ए जाति-देखि बुराऊ ।
१२९. बासी बचै न कुत्ता खाइ ।
१३०. बिटोरा में ते ऊपरा ई निकरें ।
१३१. विना बुलाएँ जाइ टाडें-टाडें गावै ।
१३२. बिबु देइ परि बिसवास न देइ ।
१३३. बीने कबा, गावै भात ई ।
१३४. बुही छिनरा बुही डोला के संग ।
१३५. व्याज-भाड़ी-दच्छिना, पोखें रहै सो कच्छ ना ।
अ
१३६ भरै न भरैनु देइ ।
१३७ मोतु फूटै, भीतना ई बनै ।
१३८ भूत-बिद्या-मलई, बारह बरस चल लई ।
१३९. भैया काठी में कैं लाठी में ।
१४०. भैं सोवै, मूखन मरै, जमै की बहैन बरात ।
अ
१४१ मति बारे की मा मरी, मति बूढे की जोइ ।
१४२ मन चगा ती कठोती में गया ।
१४३. मन भोगिया, करैमु दरिजी ।
१४४. मलि न मलि में तेरी मैहमान ।
१४५. माँनें तो देउ, नाई तो भीत को लेउ ।
१४६. मा तो डोलै पुथी-मुथी कू पूत बिटीराई नकसै ।
१४७. मा तो मरी बीभ कू, बीभ मरी बोगरान कू ।
१४८. मूँह मारे की बागवी, बँलाए की जार ।
१४९. मैना-भूबर कजर, कुत्ता-बिल्ली-बवर ।
जो ए छैन होतैं, तो खोल किवरिया सोवैं ॥
र
१५०. रँडुआ की बेटी, कहा जनिं कुनवा की सारि ।
१५१. रैन जाइ न रावर बूझै ।
१५२. रहिए मुखल ती रहिए मुखल ।
१५३. रहै ती रँडुआ रोटी खाइ, जाइ तो रँडुआ
का लै जाइ ।

१. पाठा०—जानी लसमु कर, बेवता० । २. पाठा०—नाम घनिभा, बगल० । ३. धरिई—
पारे । ४. पाठा०—नंगी भतो कैं छौके पाँइ । ५. जो महभाल जल्दी-जल्दी आ जाता है, उस पर ।
६. पाठा०—भपनो पुत लकायो, उसरे की छीमरा ।

- १५४ राँड के पाँच सुहागिलु लागी हूँ जा भेनौ
मो-सी ।
- १५५ राँड ते आगें कोसनो नाँ, ओर सँझ ते आगें
अवार नाँ ।
- १५६ गँड ती बुड़ी जाकी सँया मरि जाइ, खसैमु
तो दूसरी ऊ करि खे ।
- १५७ राँड न मानें वीनती, चनाँ न मानें जोत ।
- १५८ राँड रँडानी जब काटे तब रँडुआ काटेनु दँइ ।
- १५९ राँड, साँड अरु अन्ना भेंसा, बिगरि जाइ
तो होवै कैसा ।
- १६० राजा को दान, परजा को न्हाँन, बराबरि
होइ ।
- १६१ राजा हूँ चंरो करे, न्याय कोन घर जाइ ।
- १६२ रिपटि परे को हरि-गंगा ऐ ।
- स
- १६३ लट्ठा मारी पाँसुरी, भरि-भरि धोनी दँइ ।
- १६४ लपसी ते तो भेंटा नाँइ होइ, फिर दिलहर
को जेटु क्यो छोडै ।
- १६५ साखु जाट पिंगल पढे, परिकु मुच लागी
रहै ।
- १६६ सैनाँ एक, न दैनाँ द्वे ।
- ब
- १६७ वा दाता ते सँम भली जो पँहलें ई करि दे नाँई ।
- स
- १६८ सजोगी को जामु, कबजें न आवै कामु ।
- १६९ सर्वाई चरवाई वालमाँ, इनको बाहर माँजें
पूछ ।
- १७० सब राति पीसवी और परिया में सकेर ।
- १७१ सबरी राति रोई परि एकु ई भरघो ।
- १७२ सबरे को मेहुँ, साँझ को मेहमानु टार ते
नाँइ नरे ।
- १७३ सगुलै सोई हारै ।
- १७४ समनु के आँधरे ऐ हरघी ई हरघी सुझै ।
- १७५ सात-पाँच की लाकडी, एक जने को वोझ ।
- १७६ सुतैमनि तो वोहवैरी, परि छोकू का खसैमु
के हाड ।
- १७७ सेर के तो लटकते ई आँमें ऐ ।^१
- ह
- १७८ हवे कूँ हैंगिऐँ, पाप-दोष नाँ गिनऐँ ।
- १७९ हाँ को मरे, नाँ को जीवै ।
- १८० हाकिमु की अगारी और घोडा की पिछारी
न आवै ।

^१. सस्ता—थोडे मूल्य में बहुत मिलने पर ।

(ओ)

ब्रज-मंडल के मेले और उत्सव

यदि हम मथुरा की सीमाओं को 'ब्रज-मंडल' मान ले तो इन मेलों का विवरण एक नवी-नता रखता है। विशेष रूप से ये मेले श्री कृष्ण तथा अन्य देवताओं से संबंधित हैं। यहीं नहीं मेलों के साथ-साथ उत्सव भी बढ़ गये हैं। इसलिये यह उचित होगा कि उनका पृथक्-पृथक् विवरण दिया जाय। ये मेले तिथि और मास में अनेक विधियों से रचे जाते हैं। चैत्र से फाल्गुन तक का व्यौरा निम्न लिखित है। प्रत्येक मास के अतिरिक्त इनका ऋषि स्थान से भी होता है। मथुरा-भंडल वनों, उप-गंगो का प्राचीन केंद्र और कूपों, नगरों, तडागों आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। प्रभु को परम पावन इस जन्म-भूमि की महिमा जानने का किसे चाव न होगा ?

"नाराइन ब्रज-भूमि की सुर-पुर नावें माथ ।

जहाँ आइ प्रभु अवतरे, श्री कृष्णचंद्र बजनाथ ॥"

यदि इस प्रकार की निष्ठा रखकर इन मेलों का आनंद प्राप्त हो तो उसकी भावना का प्रगट करना असंभव है—

"नाराइन यह प्रेम सुख, मुख सो कह्यो न जाइ ।

ज्यो गुंगी गुड़ खात है, सैनन स्वाद लखाइ ॥"

इस दोहे के अनुसार मुख्य स्थान ये हैं—

"ब्रज-चौरासी कोस में, चार गाम निज धाम ।

बृन्दावन और मधुपुरी, बरसानो, नंदगाँव ॥"

प्रसिद्धि की दृष्टि से यहाँ सर्व प्रथम मथुरा का वर्णन किया जाता है।

मथुरा

चैत्र शुक्ल पट्टी को श्री यमुना जी का जन्मोत्सव-मेला होता है। श्री विश्रामघाट पर फूल-गंगा व गीतो आदि का प्रबंध वहीं श्रद्धा एवं उत्साह से होता है।

१. राम-नवमी—रामजी-द्वारा ।
२. जैन तीर्थंकर महावीर का मेला चौरासी में ।
३. गंगा दशहरा—यमुना-स्नान ।
४. जन्माष्टमी ।
५. दशहरा—पाँच दिन तक महाविद्यालय के मैदान में ।
६. दीपावली ।
७. यमदुत्तिया ।
८. मोहरस ।
९. हर एकादशी को मथुरा की परिक्रमा की जाती है ।
१०. गोपाष्टमी-गोचारण का मेला कार्तिक सुदी ८ को होता है ।
११. अश्विन नवमी को भी मथुरा की परिक्रमा की जाती है ।
१२. देवोत्पान एकादशी को मुगल-जोड़ी की परिक्रमा की जाती है ।
१३. कार्तिक पूर्णिमा—यमुना-स्नान ।
१४. वसंत पंचमी—श्री केशवदेव जी का मंदिर ।

१५. सलून—आवण पूर्णिमासी। श्री कैशव देव जी का मंदिर।
१६. कातिक शुक्ल सप्तमी—धोबी-व्रत।
१७. कातिक शुक्ल दशमी—मंस-व्रत।
१८. अश्वनि-कृष्ण पक्ष अष्टमी, परिक्रमा मयुरा की पाँच रोज।
१९. साँसी।
२०. राम-सीला।
२१. अश्वनि शुक्ल पक्ष एकादशी—भरत मिलाप।
२२. अश्वनि शुक्ल १५—शरद-पूर्णिमा।
२३. कातिक प्रतिपदा अन्नकूट का मेला।
२४. यमदुतिया।
२५. अत्साव—देव-सोमनी एकादशी।
२६. फाल्गुन शुक्ल पक्ष नवमी—बहू जी के बात की होली।
२७. चैत्र कृष्ण पक्ष १—कैशव देव जी के मंदिर का मेला।
२८. चैत्र कृष्ण १ से ११ तक—कूल डोल का मेला।
२९. वैशाख कृष्ण ३—अक्षय तृतीया का मेला।

मयूरा में श्री द्वारिकानाथ जी, श्री मदनमोहन जी, तथा श्री दाऊ जी के मंदिरों में उत्सव और मेले होते हैं। ये उत्सव ब्रज-वासियों की अभिप्रेत नगवत्सव के लिये प्रसिद्ध हैं, जो किसी भी उत्सुक व्यक्ति को आकर्षक और रोचक लगेँगे। एक उत्सव वसंत के दिन से ब्रज-विज्ञान के कीर्तन का प्रारम्भ होता है और पूरा होने पर नगर कीर्तन होस है।

कातिक शुक्ल पक्ष १—अन्नकूट, ६ वजे गिरिराज-पूजा, दो वजे से चार वजे तक परिक्रमा होती है। फिर अन्नकूट के दर्शन। भैया-द्वज।

अष्टमी—गोपाष्टमी-उत्सव गायी की पूजा, भगवान का गौचारण। एकादशी और द्वादशी को साँकी होती है।

अगहन सुदी १२—व्यजन-द्वादशी।

पौष कृष्ण सप्तमी—श्री द्वारिकानाथ जी का छप्पन भोग।

पौष शुक्ल दशमी—अत्यंत रविवार, पूर्णिमा और भ्रमावस्था को सुषोध्य से पहले राज-भोग होता है।

माघवदी भ्रमावस्था और नवमी को मंगल-भोग होता है।

वसंतोत्सव—श्रीजी की होली का खेल—गुलाब, अबीर और चंदन की होली। शयन के पश्चात् श्री मागवत का पूजन।

साध-पूर्णिमा—को डोल-दप पर स्वांग होते हैं।

फाल्गुन कृष्ण सप्तमी—श्रीनाथ जी का पाटोत्सव, श्री चरण का दर्शन।

फाल्गुन कृष्ण अष्टमी—श्री यमुना जी पधारती हैं और रंगीली होसों का उत्सव।^१

फाल्गुन कृष्ण एकादशी—कुंजीत्सव।

फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी—शमी के उत्सव (मंदिर में)।

फाल्गुनी भ्रमावस्था—होली पूजन।

चैत्र कृष्ण १—दोलोत्सव, ४ साँकी।

^१. इस दिन श्री मदनमोहनलाल जी अपने मंदिर से होती खेलते —गुलाब उड़ते हुए बगीचे पधारते हैं और वहाँ होनी खेलकर तथा भोग आरोग्यकर पुनः अपने मंदिर को बाजारों में घूमने—रंग उड़ाने हुए पधारते हैं।

- चैत्र कृष्ण दोज—पाटोत्सव । राजभोग से फूल मंडली में विराजमान वैशाख शुक्ल द्वितीया तक ।
 वैशाख कृष्ण एकादशी—श्री बल्लभाचारी जी का जन्मोत्सव ।
 वैशाख सुदी अक्षय तृतीया—राजभोग के समय श्रीभागवत जी का पूजन ।
 वैशाख चतुर्विंशती—श्री नरसिंह जी का उत्सव ।
 ज्येष्ठ वदी—को सूर्य जिस दिन रोहणी नक्षत्र में हों उस दिन से श्रीजी के वदन में चंदन उत्सव ।
 ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी—श्री यमुना जी साक्षात् श्रीजी के सामने पधारती हैं । फूल बगले अक्षय-
 तृतीया से रथ-यात्रा तक बनते हैं ।
 ज्येष्ठ शुक्ल दशमी—श्री गंगाजी का उत्सव ।
 ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी—श्री द्वारिकाधीश जी महाराज का बड़ा उत्सव ।
 आषाढ़ कृष्ण एकम—ज्येष्ठा नक्षत्र के प्रारम्भ में श्रीजी के स्नान का परमोत्सव, स्नान के समय वेद-मंत्रों से स्नान-दर्शन ।
 आषाढ़ कृष्ण अष्टमी—श्री द्वारिकाधीश जी का पाटोत्सव । श्री पारख जी ने श्रीजी को विराज-
 मान किया है ।
 आषाढ़ शुक्ल द्वितीया—पुष्प-नक्षत्र में रथ-यात्रा का उत्सव ।
 आषाढ़-पूर्णिमा—पूर्णमासी का उत्सव ।
 आषाढ़ कृष्ण एकादशी—श्रीजी का हिंडोला-उत्सव । प्रत्येक दिन हिंडोला झूलते हैं, घटाएँ
 बनती हैं ।
 हरयासी अमानस्या का उत्सव—बटा, फुहारे, रोखनी की धूम-धाम रहती है ।
 आषाढ़ शुक्ल तृतीया—ठाड़ली जी का उत्सव, श्रीजी का फूलों के हिंडोला में विराजना ।
 आषाढ़ शुक्ल चतुर्थी—झामुनी घटा ।
 आषाढ़ शुक्ल पंचमी—नाग पंचमी-उत्सव ।
 आषाढ़ शुक्ल षष्ठ—साल घटा ।
 आषाढ़ शुक्ल अष्टमी—गुलाबी घटा ।
 आषाढ़ शुक्ल दशमी—श्याम घटा, चंद्र मंडल, तारामण प्रकाश करते हैं ।
 आषाढ़ शुक्ल एकादशी—पवित्रा धारण ।
 आषाढ़ शुक्ल द्वादशी—श्री गुरुदेव को पवित्रा रक्खा जाता है । हिंडोला रोहिणी-जीक में पधारना ।
 आषाढ़ शुक्ल चतुर्विंशती—सफेद घटा का उत्सव ।
 पूर्णमासी—रक्षा-त्रयण ।
 भाद्रपद अष्टमी—जन्माष्टमी उत्सव । श्रीजी का पचामृत स्नान, भृंगार, नई ध्वजा, व्रज का
 महान् उत्सव ।
 भाद्रपद कृष्ण नवमी—नव बजे नदोत्सव, नद बावा, गोपी, ग्वाल । श्रीजी पालने में झूलते हैं,
 यशोदा जी झुलाती हैं । भाद्र पद शुक्ल सप्तमी तक प्रतिदिन श्रीजी पालने
 में झूमते हैं ।
 भाद्रपद कृष्ण एकादशी—प्रत्येक एकादशी को जागरण, सावन से रासलीला होती है । नव-
 उत्सव का रास होता है । ढाँड़ी-ढाँड़ा नाचते हैं । यह भाद्र रोज का उत्सव
 होता है । अनेक जगह प्रभु-लीला होती है ।
 राधा-अष्टमी—श्री राधाजी का छै दिन उत्सव होता है । भाद्र दिन तक ढाँड़ी-ढाँड़ा नाचते हैं ।
 भाद्रपद शुक्ल एकादशी—दान-लीला उत्सव । गोपी-बाल का दाम-लीला उत्सव ।
 भाद्रपद शुक्ल द्वादशी—श्री वामन-जयंती-उत्सव ।
 भाद्रपद शुक्ल ६ से—नौ दिन का सकट-काखनी का अंतर्गत ।

आश्विन शुक्ल १०—श्रीजी शस्त्र धारण करते हैं। बोढा-पूजन व भक्तकूट-आरंभ होता है।

आश्विन शुक्ल १५—शरद-पूर्णिमा उत्सव के दर्शन।

कार्तिक शुक्ल १५—दीपदान आदि बोधर्चन-पूजन। श्री पुष्पोत्तम मास, काँसा-पात्र दान। नई सामग्री का भोग। यह परम उत्सव नियम पूर्वक एवं भाग्य-वश ब्रज-वासियों को ही मिलते हैं।

श्री वृंदावन

१ वसंत पंचमी—वसंत पंचमी के दिन शाह जी का मंदिर कई प्रकार से सजाया जाता है। उसी में एक कमरा वसती रग के कपड़ों, झाड़-फानूसों से सजाया जाता है जो कि वड़ा सुंदर लगता है। श्री बकिविहारी जी की झांकी।

२ शिवरात्रि—गोपेश्वर महादेव के मंदिर में झांकी होती है।

३ होली—श्री बकिविहारी जी के मंदिर में।

४ रथ का मेला—श्री रगनाथ जी का उत्सव १० दिन तक रहता है। ठाकुर जी की सवारी प्रत्येक दिवस निकलती है। नवमी को रथ निकलता है, जो कि श्री मंदिर से निकलकर बगीचे तक जाता है। गीत चलता है—“भग रथ पहुँचौ सबलिया कौ दूर।” होली बड़े धूम-धाम से होती है। बगीचे में फुहारे भी चलते हैं। चारों ओर से रक्षियों की ध्वनि सुनाई पड़ती है। दशमी को बोढे पर श्री रगनाथ जी महाराज की सवारी जाती है और बगीचे में पधारती है। रात्रि को आतिथवाजी छूटती है। यह मेला ‘रथ का मेला’ के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री रामानुज-संप्रदाय के भक्त इस उत्सव को मनाने आते हैं और प्रभु के दर्शन पाकर जीवन सफल समझते हैं। ब्रज-मठल के स्त्री-पुरुष चारों ओर से एकत्रित होकर श्री वृंदावन के वसस्थल को सुशोभित करते हैं। श्री रामचंद्रजी के उपासक श्री तुलसीदास जी ने भी श्री बकिविहारी जी से उसी रूप की इच्छा की थी। भगवान् ने उनकी ऐसी इच्छा के अनुसार वैसे ही दर्शन दिये।

“कहा कहौ छवि आज की, भले बने हो नाम।

तुलसी मस्तक तब नभै, जब धनुष-बाँन सेठ हाथ ॥”

उसी प्रेरणा के अनुसार आज भी श्री रामचंद्रजी की भक्ति की ज्योति प्रकाशित है। यह मंदिर दक्षिण के आकार पर बनाया गया है। सेठ जी के द्वारा श्री विग्रह ने अपने भक्तों की अभिलाषा पूरी की। इनको प्रेमी-जन ही अपने जीवन को सफल बनाने के हेतु भाग्य करते हैं। यह होली का उत्सव शृंगार-रस के नव भ्रमों में से है।

“नौ हो अँग सिंगार के, होरी, चोरी, धौन ॥”

—नागरिया

५, चैत्र शुक्ल अष्टमी—नगौर का मेला गणपति-गौरी की पूजा।

६ चैत्र शुक्ल नवमी—रामनवमी, राम-जन्मोत्सव।

७ शुक्ला एकम—श्री बकिविहारी जी का पचाग-श्रवण।

८ पूर्णमासी—श्री हनुमन्जयंती।

वैशाख

९ वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया—श्री बकिविहारी जी महाराज के सर्वांग चरण-दर्शन होते हैं। मयूर और वृषासन की परिक्रमा, वन-विहार की कौ जाती है और रास-लीला गान इत्यादि के प्रतिरिक्त हृदि-कीर्तन का भी आयोजन होता है। कुछ स्थानों पर नाचुओं का—वन-विहार के लीला का उत्सव आदि होते हैं।

१० वैशाख शुक्ल नवमी—ज्ञानकी-नवमी। सीता जी का उत्सव भक्रूर घाट पर।

- ११ बंशाल शुक्ल १० बी—रास-मङ्गल, हित जी उत्सव, श्री राधावल्लभी संप्रदाय का होता है।
 १२ बंशाल शुक्ल अतुलसी—गुह्यावतार। श्री गृह-अथवा वडे घूम-घाम से मनाई जाती है।
 १३ बंशाल सुदी—सूर्य-अथवा।

ज्येष्ठ

- ब्रज भर में प्रवाहन श्री बुंदावन में फूल-बगलो का पूर्णमासी के दिन आनंद रहता है।
 १४ ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया—वन-विहार-परिक्रमा। आज के दिन श्री कृष्णमुरारी सखियों से खेले थे।
 रास-विहार बुंदावन में बसी-बजाकर खेले थे। जल-पात्रा का उत्सव होता है,
 फुहारे चलते हैं। माधोदास जी के स्थान में रासोत्सव बड़ी घूम-घाम के साथ
 होता है।

- १५ ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी—वन-विहार, रात्रि में परिक्रमा होती है।

- १६ ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी—रास-मङ्गल का मेला।

- १७ ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी—निरजला-व्रत रक्खा जाता है।

- १८ ज्येष्ठ पूर्णमासी—अल-याथा होती है। गज-प्राह की लबाई तालाब के ऊपर सेठ जी के मंदिर में
 होती है।

आषाढ़

आषाढ़ शुक्ल द्वितीया की रथ यात्रा का उत्सव होता है। श्री बुंदावन में शाम को बड़े रथ
 पर श्री ठाकुर जी विराजमान होकर 'जान-मुक्ती' में पधारते हैं और भक्त जनों को दर्शन देते हैं। ठाकुर
 जी को चने की दाल और आम-जामुन का भोग लगता है।

आषाढी पूर्णिमा को श्री मदनमोहन जी के मंदिर में भी धौओ का मेला तथा पवन-परीक्षा का
 मेला होता है।

श्रावण

श्री बुंदावन में हिंडोला के मेलों का उत्सव बड़ी घूम-घाम से होता है। श्रावण में
 हिंडोला राग (मलार) गाने का महत्त्व है। श्री ठाकुर जी प्रिया जी समेत हिंडोले में पधारते हैं।
 गायक हिंडोला-राग गा-गा कर हिंडोला में ठाकुर जी को सुलाया करते हैं। श्री स्वामी हरिदास जी महा-
 राज, जिन्होंने श्री विहारी जी को साठ-लड़ाये में और जो गान-कला में प्रवीण थे वह इस उत्सव को केवल
 एक ही दिन मनाया करते थे। भक्ति के कारण हिंडोले के राग में वे स्वतः सुख हो जाते थे। उप-
 स्थित भक्तों को वह सुनने को मिलता था। रास-सीता एवं गीतो से मंदिरों की शोभा और भी बढ़ जाती
 है। प्रिया जी गान करती हैं और कवि कहता है—

“नारिह झूलुंगी नारिह झूलुंगी, रथ-भ के संग में नारिह झूलुंगी।

फालिबी के लीरे-लीरे, हों झुलत हो धीरे-धीरे ॥

कंदक ते उरझायी जीरी सो नथिया में।

नारिह झूलुंगी, नारिह झूलुंगी स्वयं के संग में नारिह झूलुंगी ॥”

श्री ललितनिखोरी जी श्री धाह जी के मंदिर में पदार्पण करती हैं। कहते हैं १०८ जोषी श्री
 श्री १०८ श्रीकृष्ण जी का रास करते थे। श्रावण-मेले इत्यादि उसी ढंग से रखते थे। उनके मंदिर का
 फाटक रासलीला के लिये उसी प्रकार से बनाया गया है। अब रासलीला वहाँ नहीं होती है। असली-कमरा
 में जो कि एकादशी से त्रयोदशी तक खुला रहता है वही पर होती है।

श्रावण मास विशेष करके स्त्रियों के प्रफुल्लित होने का समय है। यह ऋतु हीली और वसंत
 का-सा सबंध अनुभूति के उत्साह का समय है। मलार राग इन दिनों में ही गाया जाता है।

“सावन भाय्य भजब बहार, रिम-रिम दिन-दिन पड़े फुहार।
 सखियाँ गावें मेरी मलार, गुला जमन-जमन में बाले ॥”

श्री वृंदावन के दैनिक मेले और उत्सवों का वर्णन पूर्ण रूप से एक पुस्तक में किया जा सकता है ।

“बृंदावन के राजा बोक, स्वामि-राधिका रानी ।
चार पवारय करत मंजुरी, भुक्त भरे जहँ पानी ॥
करम-धरम जहाँ बटत लेबरी, घर-भाए ब्रह्म-पानी ।
घट-घट प्रेम-भक्ति की भैरवा, सहचरि व्यास-बखानी ॥”

१९. आषण कृष्ण पंचमी—राधारमण जी का मेला । गोस्वामी गोपाल भट्ट जी का उत्सव ।

२०. आषण कृष्ण अष्टमी—लोकनाथ गोसाईं जी का उत्सव ।

२१. आषण शुक्ल तृतीया—दिन में चतुर्दशी तक हिंडोला-खूलन ।

२२. आषण शुक्ल नवमी—ब्रह्म-कुंड का मेला ।

२३. आषण शुक्ल एकादशी—पवित्रा धारण ।

२४. आषण शुक्ल पूर्णमासी—ज्ञानगुदड़ी में मेला ।

रासलीला और हिंडोला उत्सव नित्य-प्रति मंदिरों में होता है और खूब सजावट रहती है ।

भाद्रपद

श्री राधा-जयंती, श्री रासिक शिरोमणि स्वामी श्री हरिदास जी का पाटोत्सव तथा इसी दिन श्री कुंजविहारी जी महाराज के मंदिर में मध्याह्न में रासलीला होती है और शाम की मंदिर से आप की सवारी बजे समारोह से गोस्वामी बालक-समाज श्री निधन-राजा के समेत पधारती है ।

“ओ स्वामी हरिदास के, प्राण विहारी सास ।

बाँकी-साँकी निरख के, छिन-छिन होई निहाल ॥”

जन्माष्टमी पर श्री बाँकेविहारी जी के मंदिर में मागवत-पाठ होता है । रात्रि को जन्म होने पर दर्शन नहीं होते हैं । एक ही दिन मंगला-भारती तीन बजे रात को होती है । मंगला-भारती प्रतिदिन नहीं होती ।

२५. भाद्रपद कृष्ण अष्टमी—बाँकेविहारी जी के मंदिर में एक बार साल भर में मंगला होती है ।

२६. भाद्रपद कृष्ण नवमी—श्री वृंदावन में लट्टा का मेला होता है । उसमें रंग जी के मंदिर में लठ्ठे पर बहने के लिये आपस में होड़ होती है । १ बोरी, १ लोटा, ५ सेर मिठाई और २५ रुपये उसके सिर में बाँध दिये जाते हैं और जो कोई उस पर चढ़ जाता है उसको ही वह चीजें मिल जाती हैं ।

२७. भाद्रपद शुक्ल अष्टमी—श्री वृंदावन में मौनीदास जी टट्टी के स्थान पर मेला होता है । श्री बाँकेविहारी जी के मंदिर में सिर्फ नाम मात्र की ही रासलीला केवल एक ही दिन होती है । उसी रोज संव्या समय श्री बाँकेविहारी जी के साथ आप निधन-न को जाते हैं । गोसाईं श्री रासविहारी के साथ जो कि हाथी पर सवार होते हैं, बड़े घूम-घाम के साथ, बाजें-गाजें के साथ निधन को जाते हैं । बहो रासलीला होती है । उसी दिन श्री राधावल्लभ जी के चवतरे में रास होता है । वह जुगल उत्सव अत्यंत सुंदर और भक्ति-पूर्ण होता है ।

२८. भाद्रपद शुक्ल एकादशी—खल-खूतनी का मेला होता है । विष्णु भगवान् चार मास की निद्रा से करवट बदलते हैं । कल्पवृक्ष की पूजा का मेला होता है ।

२९. भाद्रपद कृष्ण एकादशी—दशमी, ५ दिन तक अनदी बाई जी के मंदिर में ।

३०. भाद्रपद शुक्ल एकम—दान-लीला, ज्ञान-गुदड़ी ।

३१. भाद्रपद शुक्ल दशमी—दशहरा ।

३२. भाद्रपद शुक्ल एकादशी—परिक्रमा का मेला होता है ।

**स्व. डा. श्री रामचन्द्र जी पुरोहित के संग्रह
का उनके पुत्रों अजय एवं संजय पुरोहित
द्वारा सावर सम्प्रेम में**

- ३३ आश्विन शुक्ल पूर्णिमा—शरद-पूर्णिमा। शरदोत्सव बड़ी धूम से होता है। इसी दिन श्री कुंजविहारी जी महाराज मुरली, मुकुट, काछनी इत्यादि धारण करते हैं।
- ३४ कार्तिक कृष्ण तृतीया—दीपोत्सव। विहारी जी के मंदिर में दीपावली उत्सव बड़ी धूम-धाम के साथ होता है।
- ३५ कार्तिक शुक्ल एकादश—अन्नकूट, झांकी श्री घानदी वाई जी के यहाँ।
- ३६ कार्तिक शुक्ल अष्टमी—परिक्रमा, गोधारण।
- ३७ कार्तिक शुक्ल द्वादशी—शिवानल का मेला।
- ३८ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी—देवी दानव-वध, कैलीघाट वृंदावन पर।
- ३९ कार्तिक शुक्ल चतुर्विंशती—काली-मर्दन घाट पर नाग-लीला होती है।
- ४० अग्रहण कृष्ण पक्ष एकम—रामलीला, हंसदास जी के मंदिर में वनपट्टी महादेव पर एकादशी से कृष्ण पक्ष से पूर्णिमा तक।
- ४१ अग्रहण कृष्ण पक्ष तृतीया—गारे भास कलकत्तेवाले की कुंज में रासलीला होती है।
- ४२ अग्रहण शुक्ल पक्ष पंचमी—विहार-पंचमी, जन्मोत्सव, भरत-मिलाप।
- ४३ अग्रहण शुक्ल पक्ष एकादशी—डाऊ जी का मेला होता है।
- ४४ पौष शुक्ल एकादशी से माघ बदी पंचमी—चातुर-मामोत्सव, श्री रगनाथ जी के मंदिर में वैकुण्ठ-द्वार।
- ४५ मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी—श्री कुंजविहारी जी का प्रागट्ठोत्सव तथा श्री स्वामी आशुधीर जी महाराज तथा श्री विठ्ठलविपुल जी महाराज का जन्मोत्सव। श्री बंकिविहारी जी पंचमी को निधिवन में पघारे थे।
- ४६ माघ—वसंतोत्सव, वसंती-रमरा, श्री बंकिविहारी जी का उत्सव।
- “वन्य वन्य होरी प्रति प्यारी, सात कपोलन की छवि न्यारी।”
- ४७ फाल्गुन कृष्ण—महाशिवरात्रि, श्री गोपेश्वर महादेव जी का मेला।
- “नाराइन ब्रज-भूमि को, सुर-पुर नावें माय।
जहाँ आइ गोपी भए, श्री गोपेश्वर नाथ ॥”
- ४८ फाल्गुन ११—मानसरोवर का मेला हर एक पूर्णिमा को होता है।
- ४९ फाल्गुन शुक्ल पक्ष ११—फूल-डोल।
- ५० एकादशी से पूर्णिमा—विहारी जी का होली-उत्सव।
- ५१ चैत्र कृष्ण पक्ष एकम—विहारी जी का डोल।
- ५२ चैत्र कृष्ण पक्ष पंचमी—कालीदह, फूल डोल।
- ५३ चैत्र बदी द्वितीया—ब्रह्मोत्सव। १० दिन का रथ का मेला होता है।
- विषय दृष्टि सों देखिए, ब्रज की वैभव भीत।
वही स्याम-वृषभानुजा, वही प्रेम की रीति ॥
वही मोर-सुक-सारिका, वही मधुप-गुजार।
वह सरकट की नटखटी, सखि की धुंधकार ॥
वह पावस मन-मोहन, वही हिलोल मलार।
कुंज-गली वह ही भली, सहित सो सेवा-कुंज।
वह ही निधवन राज हों, धीर-समीर सजुंज ॥”
- बलदेव, महावन, गोकुल और रावल
- १ चैत्र-पूर्णिमा—बलदेव जी में मेला।
- २ बलदेव छठ—माद्रपद शुक्ल पक्ष।
- ३ गोधारण लीला—गोकुल, महावन, बलदेव।

४ अखंड कीर्तन—गोकुल-वलदेव ।

अगहन सुदी पूर्णमासी के दिन सात दिन का मेला लगता है । नदोत्सव ।

गोकुल

१ भावों कृष्ण पक्ष अष्टमी—जन्माष्टमी ।

२ अन्नकूट—कातिक शुक्ल पक्ष एकम ।

३ मेला तुषाब्रत—कातिक कृष्ण पक्ष चतुर्थी ।

४ महावन—आश्विन मास में राम-लीला ।

५ कातिक शुक्ल अष्टमी—पूजा मेला ।

६ भाव मास—रविवार, मेला जलैया ।

७ फाल्गुण शुक्ल एकादशी—रमणरेती का मेला ।

८ कातिक शुक्ल पंचमी—परिक्रमा महावन, गोकुल और रावल की ।

चैत्र

वलदेव जी के मंदिर में पूर्णमासी को रावण मारा जाता है और रामनवमी से राम-लीला आरम्भ होती है ।

गोवर्धन-राधाकुंड

१ आषाढी पूर्णिमा—पूजा ।

२ वीपमालिका—अन्नकूट ।

प्रत्येक चतुर्दशी और पूर्णिमा को परिक्रमा होती है और मेला भरता है ।

३ कातिक कृष्ण पक्ष अष्टमी—राधाकुंड में मेला भरता है ।

छाता तहसील

ब्रजमंडल का यह खंड विशेष रूप से ब्रज-सभ्यता का केंद्र रहा है । यहाँ पर अब भी वही प्राचीन शांति-भाव रूप से भक्ति देवी विराजमान है ।

१ कोसी कला—यह नद बाबा का कोशस्थल है । यहाँ के मुख्य मेले तीन हैं । दशहरा—यह मेला ८० वर्ष से होता चला आ रहा है । इसे लालसिंह खत्री और दरबारीसिंह बनियाँ ने आरम्भ किया था ।

२. मोहरस ।

३ फूलबोल—चैत्र शुक्ल पक्ष की द्वितीया को होता है । आसपास के गाँवों से जाट-भोग मेले में इकट्ठे होते हैं । गोमतीकुंड पर फूल-बोल होता है । यह एक बड़ा भारी तीर्थ और रमणीक स्थान है ।

भाद्रपद की पूर्णमासी को जल-यात्रा का भी मेला होता है ।

४. वठैन कला—चैत्र कृष्ण पक्ष की तृतीया को 'दुरगा' का मेला होता है । यहाँ पद्म-सोलह हजार आदमी इकट्ठा होता है । नदों की स्त्री और पुरुषों में लीला-युद्ध होता है । पुरुषों के पास बबूल की डाली होती है ।

भाद्रपद शुक्ल पक्ष की दशमी को यहाँ 'राम-लीला' होती है । लगभग दश-बारह हजार आदमी इकट्ठे होते हैं ।

महाराजा 'सुरजमल' का वनवाया हुआ श्री भवनमोहन जी का मंदिर है । सब जाट ही इसके शिष्य हैं और चैत्र कृष्ण पक्ष द्वितीया को मेला होता है । फूलबोल में भी सभी इकट्ठे होते हैं ।

५. निधमला—में ५।६ रबी उसधानी को मुसलमानों का मेला होता है ।

दधिग्राम के पास भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को मेला होता है । लगभग तीन-चार हजार मनुष्य एकत्रित होते हैं । बंरूक से बनावटो युद्ध होता है । ब्रजभूषण ठाकुरजी का मंदिर है, जो कि राजा मानसिंह का वनवाया हुआ है ।

६. सेही—बैद्यल और कार्तिक की अमावस्या को दो मेले होते हैं, जिनमें हिंदू और मुसलमान सभी मेलों में जाते हैं। जलेश्वर के पास जाति बूझती है। चढावा हिंदू-मुसलमान दोनों अलग-अलग लेते हैं।

७. शानीपुर—में भाद्रपद की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को नटवर-लीला होती है। यहाँ पर डोगा (नाव) प्रेम-सरोवर में पडता है।

भाद्रपद शुक्ल पक्ष की अष्टमी को रासलीला और चैत्र शुक्ल पक्ष की पंचमी को फूलडोल होता है।

८. करहला—भाद्र पद शुक्ल सप्तमी को रासलीला होती है। यहाँ ललिताकुंड और कृष्णकुंड हैं।

“हे कामिनी तु कर हिला, स्पर्श पियासी जात ॥”

राधारमण का मंदिर, कदमलडी है। यहाँ पर कृष्णकुंड पर मेला होता है। गोपीनाथ जी का मंदिर टोडरमल-द्वारा निर्मित यही पर है।

९. सेंवरी—देवी श्यामला का मंदिर है। चैत्र की नवरात्रि भर यहाँ मेला रहता है।

१०. साँचीली—चैत्र शुक्ल पक्ष की अष्टमी को ऐसा ही मेला होता है और दूसरा मेला अक्षय तृतीया को होता है।

११. सिथारी—माधवराव सिथिया के बनवाये हुए तीन छोटे-छोटे मंदिर हैं। यहाँ फाल्गुन सुदी एकादशी को फूलडोल का मेला होता है।

१२. कौकिलावन—पाँडर गंगा और कुंड पर भादो सुदी १० को मेला होता है।

ब्रज-मंडल तथा मथुरा जिले के मेले

सतोहा—आतनकुंड स्नान, भाद्रपद शुक्ल पक्ष छट्ट वा द्वादशी।

महोली—वनयात्रा, भाद्रपद।

जैसिहपुरा—कार्तिक शुक्ल नवमी—पूगाद नवमी। आषाढ कृष्ण पक्ष एकादशी से कार्तिक शुक्ल पक्ष एकादशी तक प्रति एकादशी को परिक्रमा होती है।

जतीपुरा—भाद्रपद शुक्ल पक्ष एकादशी को रासलीला, कार्तिक शुक्ल पक्ष एकम को अन्नकुट और प्रत्येक पूर्णमासी को परिक्रमा होती है।

छ्दीकरा—वृष का दिन, ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा।

बादी—भाद्रपद कृष्ण पक्ष द्वादशी।

कैली गाँव—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को दोपहर से पहले मेला भरता है।

भोवा—चैत्र शुक्ल पंचमी फूलडोल, श्रावण शुक्ल पंचमी को हिंडोला।

तरौली—कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी से पूर्णमासी तक (बूढ़े नाना) का मेला।

सिथारी—फाल्गुण शुक्ल पक्ष एकादशी फूलडोल।

सेवरी—चैत्र शुक्ल पक्ष की नवमी को मेला, अक्षय तृतीया।

साँची—भाद्रपद शुक्ल पक्ष पूर्णिमा रासलीला।

पिसायाँ—भाद्रपद शुक्ल पक्ष नवमी, वनयात्रा।

पारसौली—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी।

मानपुर—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मानलीला, देवता का मेला।

गंडोई—भाद्रपद शुक्ल पक्ष द्वादशी फूलडोल।

सायरी—मेला-कृष्णकुंड।

करहला—भाद्रपद शुक्ल सप्तमी।

कमड़ी—वनयात्रा, भाद्रपद शुक्ल षष्ठी रासलीला, चैत्र शुक्ल पंचमी को फूलडोल।

गालीपुर—भाद्रपद शुक्ल पक्ष की द्वादशी।

बिकसौली—भाद्रपद शुक्ल नवमी और त्रयोदशी को मोरकुटी पर मेला।

सेही—बैशाख और कार्तिक पूर्णमासी को मेला ।
 साँचौली—चैत्र शुक्ल पक्ष सप्तमी, आश्विन शुक्ल सप्तमी को देवी का मेला ।
 फारन—फाल्गुन सुदी पूर्णिमा को प्रह्लाद का मेला ।
 पे बाँव—आश्विन कृष्ण सप्तमी, नरसी नागा जी का मेला ।
 भंसोई—देवी का मेला, चैत्र शुक्ल अष्टमी, आश्विन शुक्ल अष्टमी ।
 कोटवन—चैत्र कृष्ण तृतीया दुरगा का मेला ।
 खरील—चैत्र शुक्ल चतुर्दशी आश्विन शुक्ल चतुर्दशी बाराही-मेला ।
 जाव—जनयात्रा कैत्र, दुरगा चैत्र कृष्ण द्वितीया ।
 हसनपुर नगर—चैत्र कृष्ण तृतीया को फूलडोल ।
 हुनगना—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी, दाऊ जी का मेला ।
 गिडोयो—चैत्र कृष्ण तृतीया, फूलडोल ।
 घमाँसिया—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी रासलीला ।
 गौहारी—चैत्र कृष्ण पंचमी फूलडोल ।
 बह गौब—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को मेला ।
 निशमवरा—चैत्र में मेला ।
 बरहना—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी, रासलीला ।
 काँवर—चैत्र कृष्ण द्वितीया—फूलडोल ।
 कौकिलावन—हर शनिवार को और भाद्रपद की पूर्णमासी को मेला भरता है । भाद्रपद शुक्ल दशमी रासलीला ।
 अठन कलाँ—चैत्र कृष्ण तृतीया, होली का मेला जिसमें लगभग पंद्रह-सोलह हजार मनुष्य इकट्ठे होते हैं ।
 कोसी कलाँ—भाद्रपद की पूर्णमासी को जलयात्रा, चैत्र शुक्ल द्वितीया को फूलडोल, दशहरा और मुह-रम को भी मेला भरता है ।
 खानपुर—फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को फूलडोल ।
 मानसकुंड—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी ।
 राबाकुंड—कार्तिक कृष्ण अष्टमी को मेला होता है ।
 सारसी—भाद्रपद शुक्ल एकादशी ।
 पानी गाँव—फाल्गुन कृष्ण एकादशी ।
 रावल—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी ।
 फुकर गाँव—चैत्र कृष्ण सप्तमी फूलडोल ।
 डारीली—चैत्र शुक्ल एकम ।
 मरना सुर्द—चैत्र शुक्ल द्वितीया ।
 अकबरपुर—साहू गावूरीशरण, चैत्र शुक्ल अष्टमी ।
 अमानुल्लापुर—बूडे बाबा का मेला ।
 नरी-सैमरी—चैत्र शुक्ल अष्टमी और नवमी ।
 पसौली—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी ।
 लाङ्गुर—मेला सती, बलदेव पूर्णमासी को होता है ।
 मसौड़—कार्तिकी पूर्णमासी ।
 मानपुर—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मानलीला का मेला ।
 चौमुहा—ब्रह्मा जी का मेला, भाद्रपद शुक्ल पूर्णमासी ।

स्म. डा. श्री रामचन्द्र जी प्रोहित के संग्रह
 का उनके पुत्रों अजय एवं सांजय प्रोहित
 द्वारा सावर समेत भेंट

छटीकरा—गण्डगोविंद का मेला, आवण शुक्ल अष्टमी को पचती है।
 मसीई—वैत्र शुक्ल अष्टमी और भास्विन शुक्ल अष्टमी को मेला होता है।
 ब्रज-मंडल के नवीन मेले —
 मयुरा—गीता का मेला २३ दिसबर को विरला-मंदिर जैसिहपुरा में भरता है।
 बुंदावन—गुरुकुल का मेला। २५ दिसबर से ३१ दिसबर को होता है।
 ब्रज में होली के मेले

ब्रजमंडल में मुख्यतः इस सबब के मेले फाल्गुन के प्रारम्भ ही से प्रारम्भ होने लगते हैं। वस-
 तोत्सव को मयुरा में गुलाल की होली श्री केशवदेव जी और द्वारिकानाथ जी के मंदिर में होती है। बुंदा-
 वन में शाहू बिहारीलाल जी के मंदिर में वसन्ती-कमरा खुलता है, जो कि यात्रियों एवं ब्रजवासियों को आक-
 र्षित करता है।

“धन्य धन्य होरी अति प्यारी, लाल कदोलें की छवि म्यारी ॥

कुंज-भवन में कुंजबिहारी, प्रवीर-गुलाल उड़ावत है।

सुनों सखी ये कुंजबिहारी, राग बसंती-गावत है ॥”

मुख्य मेले

बरसाने का दुरगा (नवमी फाल्गुन शुक्ल)—एक व्यक्ति के अनुभव पर।

“ऐसी रस बरस बरसनि, सो रस तीन लोक में नहि।

सुरतेतीसन की सत बोरी, भज कैं चले सरण की पीरी,

बेल बेल ये ब्रज की होरी, जह्या मन-मछताइ ॥

ऐसी रस बरस बरसनि, सो रस तिरलो की में नहि ॥”

मेला-राधारानी—पाँट, टाया, खेडा के मनुष्य प्रति हैं।

अलंड कीलन—महावन में, लगभग पाँच मील से आदमी आते हैं।

रंगीली होली—बरसाना और नंदगाँव में क्रमशः होती है।

रंगभरती एकादशी—पुरीर और नौखील में मेला भरता है।

रथ का मेला—बुंदावन में।

फूल-डोल—प्रायराखेडा।

जैत्र पूर्णमासी—वसुदेव।

व्यास-पूर्णमा—गोवर्धन में जो कि कोसी कला से भाठ मीन है।

वसुदेव धनु—बलदाऊ जी सादाबाद, मयुरा और पाँट के आदमी

बूढीलोला—बरसाना।

मेला चतुर्मुखी—चौमहा, तरोड़ी—हैंटर।

अहोई अष्टमी—राधाकुंड, हूँ-हूर से आदमी आते हैं।

गोचारण—गोकुल, नंदगाँव, महाबल, जैसिहपुरा, बरसाना और साँख।

बड़े बाबा का मेला—जरीली में ५० मील के घेरे में

बड़ी सेमरी—जैसिहपुरा।

ब्रज-मंडल के रासलीलोत्सव

रासलीलोत्सव ब्रज-मंडल के सब सुखदायनी मेलों में से परम रा-
 परम आनंद देनेवाली प्रणाली है। श्री नागरावास ने लिखा है—

“नबरस में कवियन कहुँ, सरस अधिक सिंगार।

ताहू में पुनि अति सरस, सो यह रास-बिहार ॥”

नौ ही अंग तिगार के, होरी, चोरी, दान ।
 छस हि करन श्री रित-मनन, बिरह-मिलन और मान ॥
 नागरिया नव नागरी, खेतत रास विलास ।
 पल-पल बारो हे सखी, नित नव नागरि वास ॥”

श्री बुंदावन नित्य रास-स्थली युगल स्वरूप श्री प्रिया-प्रीतम का है। वहाँ नित्य रासलीला क्रम १ से ११ वजे तक प्रतिदिन श्री बसीवट में होती है और सक्षि को श्री ब्रह्मचारी के मंदिर में होती है। अगहन में कलकत्तावाले मंदिर—श्री राधावल्लभ जी के घेरे में होती है। मुख्य स्थान श्री बंकिबिहारी जी का वगीचा, श्री हरिदास जी की झुज, श्री उड्यावावा जी का स्थान इत्यादि है। रास-लीला श्री ब्रजमंडल-यात्रा में श्री गोसाईं जी की यात्रा में नित्य-प्रति और मुख्य-मुख्य स्थानों पर होती है।

इसके अतिरिक्त रास-लीलाएँ जिन तिथियों पर होती रहती हैं। उसका व्योरा निम्न-लिखित हैं—

कोकिलावन-नंदग्राम—भाद्रपद शुक्ल पक्ष दशमी ।
 बरहूवा—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी ।
 कैमई—चैत्र शुक्ल पक्ष पंचमी ।
 करहूवा—भाद्रपद शुक्ल सप्तमी ।
 सखी—भाद्रपद पूर्णमासी ।
 सकेत—श्रावणी पूर्णमासी ।
 रासमंडल बुदावन—वैशाख शुक्ल दशमी ।
 बन-बिहवार—ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी ।
 रास-मंडल—ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी ।
 ब्रह्मकुंड—श्राविकन कृष्ण एकादशी से पूर्णमासी तक ।
 मानगुदड़ी-बुदावन—श्राविकन शुक्ल एकम ।
 काली-भरवनघाट—बुदावन—नागलीला, कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी ।
 चैनघाट—जाग की लीला, रासमंडल बुदावन, अगहन कृष्ण एकम ।
 गोकर्णनारायण—जन्माष्टमी, भाद्रपद कृष्ण अष्टमी ।
 ब्रह्मांडघाट—सहावन—प्रति रविवार। अब शायद नहीं होती ।
 चित्ता-हरणघाट—प्रति सोमवार ।
 बडेन कलाई—भाद्रपद शुक्ल दशमी ।
 सखीसिद्धा—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी ।
 सतोहा (मथुरा)—शावनकुंड, भाद्रपद शुक्ल द्वादशी ।
 महोली (मथुरा)—वनयात्रा, भाद्रपद ।
 जैसिहपुरा—कार्तिक शुक्ल नवमी, युगाद नवमी ।
 जतीपुरा—भाद्रपद शुक्ल एकादशी रासलीला ।
 सखी—भाद्रपद पूर्णमासी, रासलीला ।

इसके अतिरिक्त बाऊजी में डुरगा, दोन के दिन देखने लायक होता है। अतएव छत और मेले फूलबोल के करीब अच्छे रूप से ब्रज-मंडल में मनाये जाते हैं।

